काशी संस्कृत ग्रन्थमाला
१५६

महर्षिणा सुश्रुतेन विरचिता

सुश्रुतसंहिता

'आयुर्वेदतत्त्वसन्दीपिका' हिन्दीव्याख्या-वैज्ञानिकविमर्श-टिप्पणीसहिता

(उत्तरतन्त्रम्)

व्याख्याकार:-

कविराज डॉ० अम्बिकादत्तशास्त्री, ए. एम. एस.

आयुर्वेदाचार्य, साहित्याचार्य, साहित्यरत्न, काव्य-पुराणतीर्थ, भूतपूर्व प्रिन्सिपल; श्री हरनन्दराय रुईया आयुर्वेद
रामगढ़, श्री गुरुकुल कांगड़ी आयुर्वेद कालेज, हरद्वार, श्री दि० जै० संस्कृतायुर्वेद कालेज, जयपुर,
वाइसप्रिन्सिपल, श्री राजकुमार सिंह आयुर्वेद कालेज, इन्दौर तथा
प्रोफेसर : गुलाब कुंवर बा आयुर्वेद कालेज, जामनगर

चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी-१

सुश्रुत-उत्तरतन्त्र

विषयसूची

तीसरा अध्याय

चौथा अध्याय

पाँचवाँ अध्याय

छठा अध्याय

सातवाँ अध्याय

आठवाँ अध्याय

नवाँ अध्याय

दसवाँ अध्याय

ग्यारहवाँ अध्याय

बारहवाँ अध्याय

तेरहवाँ अध्याय

चौदहवाँ अध्याय

पन्द्रहवाँ अध्याय

सोलहवाँ अध्याय

सत्रहवाँ अध्याय

अठारहवाँ अध्याय

उन्नीसवाँ अध्याय

बीसवाँ अध्याय

इक्कीसवाँ अध्याय

बाईसवाँ अध्याय

तेईसवाँ अध्याय

चौबीसवाँ अध्याय

पच्चीसवाँ अध्याय

छब्बीसवाँ अध्याय

सत्ताईसवाँ अध्याय

अट्ठाईसवाँ अध्याय

उन्तीसवाँ अध्याय

तीसवाँ अध्याय

इकतीसवाँ अध्याय

बत्तीसवाँ अध्याय

तैंतीसवाँ अध्याय

चौंतीसवाँ अध्याय

पैंतीसवाँ अध्याय

छत्तीसवाँ अध्याय

सैंतीसवाँ अध्याय

अड़तीसवाँ अध्याय

चालीसवाँ अध्याय

इकतालीसवाँ अध्याय

बयालीसवाँ अध्याय

तैंतालीसवाँ अध्याय

चवालीसवाँ अध्याय

पैंतालीसवाँ अध्याय

छियालीसवाँ अध्याय

सैंतालीसवाँ अध्याय

तिरपनवाँ अध्याय

चौवनवाँ अध्याय

पचपनवाँ अध्याय

छप्पनवाँ अध्याय

सत्तावनवाँ अध्याय

अट्ठावनवाँ अध्याय

उनसठवाँ अध्याय

साठवाँ अध्याय

इकसठवाँ अध्याय

बासठवाँ अध्याय

तिरसठवाँ अध्याय

चौसठवाँ अध्याय

पैंसठवाँ अध्याय

छियासठवाँ अध्याय

॥ श्रीः ॥

आयुर्वेद-तत्त्वसन्दीपिकाख्यव्याख्या-समुल्लसिता

सुश्रुतसंहिता

उत्तरतन्त्रम्

टीकाकारकृतमङ्गलाचरणम्—

ध्यात्वा साम्बमहेशपादकमलं सर्वार्थसिद्धिप्रदं नत्वा नीलसरोजसुन्दरतनुं श्रीरामचन्द्रं तथा ॥
वैद्यानाञ्च शिरोमणिं गुरुवरं श्रीसत्यनारायणं श्रीताराचरणं नृसिंहविबुधं श्रीढुण्ढिराजं तथा ॥ १ ॥
श्रीकृष्णं पितरं तथैव जननीं श्रेष्ठांस्ततः सादरं-भक्त्या श्रीजयकृष्णदासपदभाग्वैश्योत्तमैः प्रेरितः ।
व्याख्यार्थं किल सुश्रुतस्य विशदं वैद्योत्तमो ह्यम्बिका-दत्तोऽहं रचयामि निर्मलधिया तत्त्वार्थसन्दीपिकाम् ॥ २ ॥

प्रथमोऽध्यायः ।

अथात औपद्रविकमध्यायं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥ २ ॥

अब इसके अनन्तर औपद्रविक अध्याय का वर्णन किया जाता है जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने कहा था ॥ १-२ ॥

विमर्शः—अथ—यह माङ्गलिक है 'ओंकारश्चाथशब्दश्च द्वावेतौ ब्रह्मणः पुरा । कण्ठं भित्त्वा विनिर्यातौ तस्मान्माङ्गलिकावुभौ ॥' 'अथ' शब्द नवीन विषयारम्भ का द्योतक भी है क्योंकि इसके पूर्व में कल्पस्थान का वर्णन किया जा चुका है । अन्य वेदान्तादि ग्रन्थों में भी इसी प्रकार की परिपाटी देखी जाती है—'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' । औपद्रविकम्—उपद्रवान् गौणरोगानधिकृत्य कृतोऽध्याय औपद्रविकस्तम् । पूर्व के निदान तथा चिकित्सा स्थान में अनेक रोगोंके उपद्रवों का वर्णन किया गया है इसी तरह कल्पस्थान में विषजन्य आगन्तुक व्रण का विष और निज व्रण का विष भी अनेक उपद्रव उत्पन्न करता है अतएव कल्पस्थान के पश्चात् प्रारम्भ किये गये उत्तरतन्त्र में उन उपद्रवभूत रोगों की चिकित्सा का वर्णन होने से इसे 'औपद्रविकाध्याय' कहते हैं। यही बात सूत्रस्थान में भी कही गई है—'अधिकृत्य कृतं यस्मात्तन्त्रमेतदुपद्रवान् । औपद्रविक इत्येष तस्मादस्यासिरुच्यते ॥' उपद्रवों के विचारार्थ या चिकित्सार्थ यह तन्त्र रचा गया है अतएव इस तन्त्र के प्रारम्भिक अध्याय को 'औपद्रविकाध्याय' कहते हैं । अत उपद्रवचिकित्साधिकारसामान्यात् सर्वोपद्रवचिकित्सार्थमुत्तरतन्त्रारम्भः । अथवा सविंशमध्यायशतं परिसमाप्य परिशिष्टत्वादुत्तरतन्त्रं प्रतिपाद्यं भवति । तस्य च तन्त्रस्योपद्रवानधिकृत्य प्रवृत्तत्वान्निरुक्त्या औपद्रविकार्थं प्राप्तमध्याये व्यवस्थितम् । (डल्हणः) । 'उपद्रवा हि व्याधीनां कृच्छ्रत्वमसाध्यत्वं वाऽभिनिर्वर्तयन्तीति कृत्वा तेषां प्राधान्यं सम्प्रधार्य तानेवाधिकृत्योपदेशात्तन्त्रमिदमौपद्रविकेतिगौणं नामविशेषं प्राप्नोति अतस्तत्सम्बन्धित्वादध्यायोऽयमौपद्रविक उच्यते' (हाराणचन्द्रः) । उपद्रवलक्षणं—'रोगारम्भकदोषप्रकोपजन्योऽन्यविकार उपद्रवः' (मधुकोषः)। 'व्याधेरुपरि यो व्याधिर्भवत्युत्तरकालजः । उपक्रमाऽविरोधी च स उपद्रव उच्यते ॥' उपद्रवों को (Complications) कहते हैं ।

अध्यायानां शते विंशे यदुक्तमसकृन्मया ।
वक्ष्यामि बहुधा सम्यगुत्तरेऽर्थानिमानिति ॥ ३ ॥
इदानीं तत्प्रवक्ष्यामि तन्त्रमुत्तरमुत्तमम् ।
निखिलेनोपदिश्यन्ते यत्र रोगाः पृथग्विधाः ॥ ४ ॥

पूर्व के एक सौ बीस अध्यायों में मैंने जहाँ-तहाँ बार-बार यह कहा कि इन विषयों को उत्तरस्थानमें अच्छी तरह से (विस्तारपूर्वक) कहूँगा इसलिये इस समय उस उत्तम उत्तरतन्त्र को कहता हूँ जिसमें कि अनेक प्रकार के रोग सम्पूर्ण रूप में पृथक् रूप (नानाविध रूप) से कहे गये हैं ॥

विमर्शः—अध्यायानां शते विंशे—सूत्रस्थान के ४६ अध्याय, 'षट्चत्वारिंशदध्यायं सूत्रस्थानं प्रचक्षते' निदानस्थान के १६ अध्याय 'हेतुलक्षणनिर्देशान्निदानानीति षोडश' शारीर स्थान के १० अध्याय 'निर्दिष्टानि दशैतानि शारीराणि महर्षिणा' चिकित्सास्थान के ४० अध्याय, कल्पस्थान के ८ अध्याय 'अष्टौ कल्पाः समाख्याता विषभेषजकल्पनात्' ऐसे ये एक सौ बीस अध्याय

होते हैं जो कि चिकित्सा के बीच (मुख्य) कहे जाते हैं। 'बीजं चिकित्सितस्यैतत् समासेन प्रकीर्तितम् । सविंशमध्यायशतमस्य व्याख्या भविष्यति ॥' यदुक्तमसकृन्मया—पूर्व के सूत्रादिस्थानों में शेष विषयों को उत्तरस्थान में कहने की प्रतिज्ञा की है जैसे—'तच्च सविंशमध्यायशतं पञ्चसु स्थानेषु सूत्रनिदानशारीरचिकित्सितकल्पेष्वर्थवशात् संविभज्य उत्तरे तन्त्रे शेषानर्थान् व्याख्यास्यामः' (सु. सू. अ. १)। 'अध्यायानां शतं विंशमेवमेतदुदीरितम् । अतः परं स्वनाम्नैव तन्त्रमुत्तरमुच्यते ॥' (सु. सू. अ. ३)। 'सविंशमध्यायशतमेतदुक्तं विभागशः । इहोद्दिष्टाननिर्दिष्टानर्थान् वक्ष्याम्यथोत्तरे ॥' (सु. क. अ. ८)। कुछ लोगों का यह अभिप्राय है कि पूर्व काल में सुश्रुतसंहिता के केवल उक्त पांच स्थान ही थे उत्तरतन्त्र बाद में मिलाया गया है और सुश्रुतकृत भी नहीं है किन्तु यह उनका भ्रम है क्योंकि उक्त तीनों सूत्रों में स्पष्ट कहा है कि शेष विषयों का उत्तरतन्त्र में फिर से विवेचन किया जायगा। तन्त्रमुत्तरमुत्तमम्—इस तन्त्र को उत्तम (सबसे श्रेष्ठ) माना है क्योंकि इसमें शालाक्य, कौमार, भूतविद्या, कायचिकित्सा और तन्त्रभूषणादि अनेक विषयों का सङ्ग्रह है। उत्तरशब्द का अर्थ भी श्रेष्ठ होता है—'उपर्युदीच्यश्रेष्ठेष्वप्युत्तरः' (अमरः)। अतः महर्षियों ने इसका नाम उत्तरतन्त्र रखा है। 'श्रेष्ठत्वादुत्तरं ह्येतत् तन्त्रमाहुर्महर्षयः । बह्वर्थसङ्ग्रहाच्छ्रेष्ठमुत्तरञ्चापि पश्चिमम् ॥' (सु. सू. अ. ३)। पश्चिमत्वाद्वा इदं तन्त्रमुत्तरम्। सबसे पीछे वर्णन हुआ इससे भी इस तन्त्र को उत्तरतन्त्र कहा जा सकता है।

शालाक्यतन्त्राभिहिता विदेहाधिपकीर्तिताः ।
ये च विस्तरतो दृष्टाः कुमाराबाधहेतवः ॥ ५ ॥
षट्सु कायचिकित्सासु ये चोक्ताः परमर्षिभिः ।
उपसर्गादयो रोगा ये चाप्यागन्तवः स्मृताः ॥ ६ ॥
त्रिषष्टी रससंसर्गाः स्वस्थवृत्तन्तथैव च ।
युक्तार्था युक्तयश्चैव दोषभेदास्तथैव च ॥ ७ ॥
यत्रोक्ता विविधा अर्था रोगसाधनहेतवः ॥ ८ ॥

विदेह (देश) के अधिपति (स्वामी) निमि नामक आचार्य द्वारा कहे हुये शालाक्यतन्त्र के रोग तथा पार्वतक, जीवक, बन्धक प्रभृति आचार्यों द्वारा विस्तार से कहे हुये कुमारों (बालकों) को बाधा (पीडा) पहुंचाने में कारणभूत स्कन्दग्रहादिकजन्य रोग, इसी तरह अग्निवेश, भेड, जातूकर्ण, पराशर, हारीत और क्षारपाणि इन ६ द्वारा कही हुई कायचिकित्साओं में ऋषियों ने जो रोग बतलाये हैं वे तथा उपसर्गादिक रोग एवं आगन्तुक रोग और मधुरादि रसों के ६३ प्रकार के संयोग, स्वस्थवृत्त, युक्तार्थ, तन्त्रयुक्तियां, वात-पित्त-कफादि दोषों के भेद और रोगों के ठीक करने के अनेक साधन (उपाय) तथा रोगों के कारण आदि विविध अर्थ (विषय) जहां कहे हैं ऐसे उत्तरतन्त्र का वर्णन किया जाता है ॥ ५-८ ॥

विमर्शः—शालाक्यतन्त्र—शलाकया यत्कर्म क्रियते तच्छालाक्यम्, शलाकाप्रधानं कर्म शालाक्यम्, तत्प्रधानं तन्त्रमपि शालाक्यम्। जिस तन्त्र में शलाका (सलाई Rods) का प्रयोग अधिक होता हो उसे शालाक्यतन्त्र कहते हैं। 'शालाक्यं नामोर्ध्वजत्रुगतानां श्रवणनयनवदनघ्राणादिसंश्रितानां व्याधीनामुपशमनार्थम् ॥' (सु. सू. अ. १)। जत्रु (अक्षकास्थि Clavicle) के ऊपर के अङ्गों में उत्पन्न होने वाले रोगों के निदान, चिकित्सा आदि का वर्णन जहां होता हो उसे शालाक्यतन्त्र (Surgery of the parts above the clavicle) कहते हैं। इसी कारण वाग्भट ने इसे ऊर्ध्वाङ्ग-चिकित्सा नाम से लिखा है। अन्य विद्वानों ने इसे उत्तमाङ्ग-चिकित्सा भी कहा है क्योंकि चक्षुरादि ज्ञानेन्द्रियों का आधारभूत शिर उत्तमाङ्ग कहा जाता है—'प्राणाः प्राणभृतां यत्र श्रिताः सर्वेन्द्रियाणि च । तदुत्तमाङ्गमङ्गानां शिर इत्यभिधीयते॥' शालाक्यतन्त्र में निम्न विषयों का समावेश होता है—'शिरोरोगा नेत्ररोगाः कर्णरोगा विशेषतः । भ्रूशङ्खकण्ठमन्यासु ये रोगाः संभवन्ति हि ॥ तेषां प्रतीकारकर्म नस्यवर्त्यञ्जनानि च । अभ्यङ्गमुखगण्डूषक्रियाः शालाक्यसंमिताः ॥ षट्सप्ततिर्नेत्ररोगा दशाष्टादश कर्णजाः । एकत्रिंशद् घ्राणगताः शिरस्येकादशैव तु ॥ संहितायामभिहिताः सप्तषष्टिर्मुखामयाः ॥ एतावन्तो यथास्थूलमुत्तमाङ्गगता गदाः । अस्मिञ्छास्त्रे निगदिताः संख्यारूपचिकित्सितैः ॥ (सु. ३-२७)। 'दृष्टिविशारदाः शालाकिनः' अर्थात् नेत्र विद्या के पण्डितों को 'शालाकी' कहते हैं तथा शालाक्य शास्त्र के ज्ञाता को भी 'शालाकी' कहते हैं। (डल्हण)। वर्तमान एलोपैथिक सायन्स में शालाक्यतन्त्र के लिये कोई ऐसा एक शब्द नहीं है जिस से उस का बोध हो सके किन्तु शालाक्य में आने वाले ऊर्ध्वाङ्गों की निदान-चिकित्सादि विवेचन के लिये उनके तीन विभाग कर दिये गये हैं। (१) नेत्ररोगादि विज्ञान (Ophthalmology)। (२) दन्तरोगादिविज्ञान (Dentistry)। (३) कर्णनासागतरोगादिविज्ञान (The Science of Ear, Nose & Throat diseases) इन तीनों विभागों की विशेष शल्यक्रियाओं (Special Surgery) के बोध के लिये एक बड़ा वाक्य हो सकता है जैसे Treatment of the diseases of the part above the Clavicle or Special Surgery of Eye, Ear, Nose, Throat and Dentistry. (४) शिरोरोग (Diseases of the Head) को एलोपेथी में कायचिकित्सान्तर्गत मान लिया है। विदेहाधिपकीर्तिताः—विदेहाधिपो निमिस्तेन कीर्तिताः प्रणीताः। षट्सप्ततिर्नेत्ररोगाः, न करालभद्रशौनकादिप्रणीताः। यद्यपि शालाक्यतन्त्र के विषय में कराल, भद्रक, शौनक, चक्षुष्येण, विदेह, सात्यकि, भोज आदि अनेक आचार्यों ने विवेचन किया है। यह बात प्राचीन संस्कृत टीकाओं में इन के आये हुये उद्धरणों से स्पष्ट हो जाती है किन्तु उन की कृतियां उपलब्ध नहीं हैं। इन के अतिरिक्त तन्त्रान्तर शब्द से अन्य तन्त्रों के होने का भी प्रमाण मिलता है। सम्भव है उस समय उन की ग्रन्थरूप कृतियां प्राप्त होती रहीं होंगी। किन्तु आचार्य सुश्रुत के समय केवल विदेहाधिपति निमि द्वारा प्रणीत प्राचीन शालाक्यतन्त्र मिलता रहा होगा उसी के मूल आधार से सुश्रुताचार्य ने अपनी सुश्रुत का उत्तरतन्त्र पूर्ण किया हो। विदेहाधिपनिमिपरिचयः—शालाक्यतन्त्र के आदि प्रणेता आचार्य विदेह देश के राजा निमि हो चुके हैं। सुश्रुत ने अपना उत्तरतन्त्र उन्हीं के निमितन्त्र का आधार लेकर लिखा इस को वे स्वयं स्पष्टतया स्वीकार करते हैं—'निखिलेनोपदिश्यन्ते यत्र रोगाः पृथग्विधाः । शालाक्यतन्त्राभिहिता विदेहाधिपकीर्तिताः ॥' अतएव शालाक्यतन्त्र को विदेहतन्त्र या निमितन्त्र भी कहा जाता है। यद्यपि वर्तमान में

शालाक्य के विषय में न कोई अन्य तन्त्र मिलते हैं और न निमितन्त्र या विदेहतन्त्र मिलता है किन्तु उसके उद्धरण अनेक सङ्ग्रहों और टीकाओं में उद्धृत मिलते हैं। डल्हणाचार्य ने शालाक्यरोग-प्रसङ्ग में अपनी टीका में अनेक स्थानों पर निमि या विदेह के वचनों को उद्धृत किया है आचार्य निमि का पुराणों में पर्याप्त वर्णन मिलता है।

श्रीमद्भागवत ९ स्कन्ध, अ० १३ की कथा में इन्हें राजा इक्ष्वाकु का पुत्र कहा गया है। एक समय इक्ष्वाकुपुत्र महाराज निमि ने यज्ञार्थ वशिष्ठ जी को ऋत्विज नियत करना चाहा किन्तु उन्होंने अपने को प्रथम ही इन्द्रद्वारा वरण कर लिये जाने से पुनः लौटने तक प्रतीक्षा करने को कहा। वशिष्ठजी के आने में अधिक विलम्ब होता जान अन्य ऋत्विजों द्वारा यज्ञारम्भ कर दिया। कुछ काल बाद लौटने पर वशिष्ठजी ने यज्ञारम्भ कर देने पर निमि को नष्ट होने का शाप दे दिया इस पर निमि ने भी वशिष्ठ को नष्ट होने का शाप दे दिया। ऋत्विजों ने निमि के मृतदेह को सड़े न अतएव सुगन्धित पदार्थों में रख दिया फिर यज्ञपूर्णता के समय आये हुए देवताओं के प्रभाव से निमि पुनर्जीवित हो गये किन्तु निमि ने देह धारण कर रहना पसन्द नहीं किया अतः देवों ने उन्हें विना देह के ही सब मनुष्यों के पलकों पर रहने का आदेश दे दिया। इसी कारण निमेष शब्द भी निमिपरक माना गया है क्योंकि पलकों के खोलने व बन्द करने को 'निमेष' कहते हैं तथा उसी क्रिया के समय निमि का वहां निवास लक्षित होता है। रामायण में भी जानकीजी का निर्निमेष नेत्रों से राम को देखते समय तुलसीदासजी ने उत्प्रेक्षा की है कि मानों जानकीजी के पलक-निवासी निमि ने रामचन्द्रजी को अपनी वंशपुत्री जानकी द्वारा देखने में लज्जा का अनुभव कर कुछ काल के लिये वहां से हट से गये अतएव जानकीजी राम को प्रेमनिमग्न हो कर निर्निमेष नेत्रों से देख सकीं—'भरी विलोचन चारु अचञ्चल। मनहु सकुचि निमि तजेउ दृगंचल ॥' निमि ही को जनक भी कहते हैं क्योंकि उस वक्त उन ऋषियों ने निमि के मृत देह का मन्थन किया जिससे एक बालक उत्पन्न हुआ वह जन्म से 'जनक', विदेह से उत्पन्न होनेके कारण 'वैदेह' और मन्थन कर के उत्पन्न होने से 'मिथिल' कहा गया जिसने की 'मिथिलापुरी' बनाई। डल्हण ने भी निमि के परिचयार्थ ऐसी ही अन्य कथा लिखी है—'विदेहाधिपतिः श्रीमान् जनको नाम विश्रुतः। आलम्भयज्ञप्रवणः सोऽयजद्वाह्मणैर्वृतः ॥ तस्य यागप्रवृत्तस्य कुपितो भगवान् रविः। दृष्टिं प्रणाशयामास सोऽनुतेपे महत्तपः। दीप्तांशुस्तपसा तेन तोषितः प्रददौ पुनः। चक्षुर्वेदं प्रसन्नात्मा सर्वभूतानुकम्पया ॥' जिस तरह अन्याङ्गों के साथ शल्यतन्त्र के प्रवर्तक भगवान् धन्वन्तरि का समुद्र-मन्थन से उत्पन्न होना—'मन्थानं मन्दरं कृत्वा नेत्रं कृत्वा च वासुकिम्। ततो मथितुमारब्धा मैत्रेय तरसाऽमृतम्। ततो धन्वन्तरिर्देवः श्वेताम्बरधरः स्वयम्। बिभ्रत् कमण्डलुं पूर्णममृतस्य समुत्थितः ॥' (विष्णु. पु. अ. ९)। एवं ऋषियों द्वारा निमि के मृत शरीर का मन्थन करने से उत्पन्न होना एक ऐसा पौराणिक रूपक है जिसे तज्ज्ञ ही समझ सकते हैं। शल्यशास्त्र-प्रवर्तक धन्वन्तरि का समुद्रमन्थन व शालाक्यशास्त्रप्रवर्तक निमि का उनके मृतदेह मन्थन से प्रादुर्भूत होना दोनों अपनी मन्थन क्रियारूपी एकता से साम्य रखते हैं। यद्यपि पर्जिटर नामक पाश्चात्य विद्वान ने पुराणों को प्राचीन भारत के सच्चे इतिहास ग्रन्थों के रूप में स्वीकृत किया है तथा उस ने निमि का निर्देश नहीं किया है फिर भी पुराणों के अनुसार महाराज निमि काशिराज दिवोदास धन्वन्तरि के बहुत पूर्व के होते हैं तथा ये निमि अयोध्या के राजा विकुक्षि शशाद और ऐल राजा पुरूरवा के समकालीन थे। विकुक्षि शशाद की सोलहवीं पीढ़ी में प्रसेनजित हुये जो यादव राजा चित्ररथ, हैहय राजा कुन्ति, कान्यकुब्ज राजा सुहोत्र, पौरव राजा मतिनार, काशिराज धन्वन्तरि और आणव राजा पुरञ्जय के समकालीन थे। इस तरह निमि का समय धन्वन्तरि से ३२० वर्ष पूर्व का हो सकता है। पाश्चात्य इतिहासकार मूल सुश्रुततन्त्र तथा आचार्य सुश्रुत का समय महाभारत काल के बहुत पूर्व का मानते हैं। प्रायः ऐतिहासिकों ने महाभारत का समय ईसा से १००० वर्ष पूर्व माना है तथा सुश्रुत का समय ईसा से २००० वर्ष पूर्व का होता है और यही समय धन्वन्तरि का भी है एवं निमि का समय धन्वन्तरि से ३५० वर्ष पूर्व का होता है। इस तरह निमिमुनि या उनके निमितन्त्र को ईसा से २३५० वर्ष पूर्व का मान सकते हैं।

वर्तमान में सुश्रुत के समान चरक, वाग्भटादि अन्य संहिता ग्रन्थों में शालाक्यतन्त्र का विशद विवेचन नहीं है। नेत्ररोगों की गणना करते समय चरक ने स्पष्ट लिख दिया है कि इनका विशेष विवेचन तथा चिकित्सा शालाक्यतन्त्र में है तथा हम पराधिकार में विशेष विस्तार नहीं करना चाहते हैं। 'नेत्रामयाः षण्णवतिस्तु भेदात्, तेषामभिव्यक्तिरभिप्रदिष्टा। शालाक्यतन्त्रेषु चिकित्सितञ्च पराधिकारे तु न विस्तरोक्तिः ॥ शस्तेति तेनात्र न नः प्रयासः।' अन्यच्च—'अत्र धान्वन्तरीयाणामधिकारः क्रियाविधौ' (च. चि. अ. २६)। इसी तरह अष्टाङ्गहृदय तथा अष्टाङ्गसंग्रह का शालाक्यतन्त्र-सम्बन्धी विवेचन भी पर्याप्त नहीं है अत एव इस तन्त्र के विस्तृत ज्ञान के लिये एकमात्र सुश्रुतसंहिता ही प्रमुख आधार है। सुश्रुत के उत्तरतन्त्र के प्रारम्भ के सत्ताईस अध्यायों में क्रमशः नेत्र, कर्ण और शिरो-रोगों का वर्णन मिलता है। मुखरोगों का वर्णन निदान स्थान के अन्तिम तथा चिकित्सा स्थान के बाईसवें अध्याय में प्राप्त होता है।

कर्ण का छेदन, बन्धन तथा सन्धान एवं नासा और ओष्ठ के सन्धान, कर्ण (Plastic surgery) का वर्णन सूत्र-स्थान के सोलहवें अध्याय में किया गया है। चरक में शालाक्यतन्त्र का वर्णन निम्न अध्यायों में प्राप्त होता है—च. सू. अ. १७ में शिरोरोग, सू. अ. १८ में उपजिह्वा, गलशुण्डी रोहिणी, चि. अ. ११ में दन्त, मुखादिरोगों की चिकित्सा एवं २६ वें अध्याय में नासा-शिरोरोग, मुखरोग, कर्ण-नेत्ररोगों की चिकित्सा तथा सिद्धिस्थान अ. २ तथा अ. ९ में शिरोविरेचन, शिरोबस्ति, शङ्खक, अर्धावभेदक, अनन्तवात आदि रोगों के लक्षण और चिकित्सा का वर्णन मिलता है। वाग्भट के उत्तर-स्थान के ८ से २४ तक के अध्यायों में शालाक्य रोगों का वर्णन मिलता है। पं० जगन्नाथप्रसादजी शुक्ल ने भी हिन्दी में मुख, कर्ण, नासादि रोगों पर पुस्तकें लिखी हैं। आधुनिक चिकित्सा शास्त्र (एलोपेथी) में शालाक्यतन्त्र के विषय में

नेत्र, नासा, कर्ण आदि रोगों पर विशदरूप में अनेक ग्रन्थ लिखे गये हैं। जैसे एण्डवर्थ के नेत्ररोग तथा आई सिम्पसन हॉल ने कर्ण, नासा और गलरोग लिखे हैं। डा० मुञ्जे ने नेत्रचिकित्सा तथा डा० हंसराज मेहता ने नेत्ररोगविज्ञान नामक ग्रन्थ हिन्दी में लिखा है। कुमाराबाधहेतवः—पार्वतकजीवकबन्धकप्रभृतिभिः कुमाराबाधहेतवः स्कन्दग्रहप्रभृतयः। पार्वतक, जीवक (वृद्धजीवकीय तन्त्र या काश्यपसंहिता) बन्धक आदि के द्वारा कुमारों (बच्चों) को बाधा (पीड़ा) पहुंचाने वाले स्कन्दादि ग्रहों का तथा तज्जन्य रोगों का वर्णन इसमें है। स्कन्दादिग्रहोत्पत्तिः—'पुरा गुहस्य रक्षार्थं निर्मिता शूलपाणिना। मनुष्यविग्रहाः पञ्च सप्त स्त्रीविग्रहा ग्रहाः॥ स्कन्दो विशाखो मेषाख्यः श्वग्रहः पितृसंज्ञितः। शकुनिः पूतना शीतपूतना दृष्टिपूतना। मुखमण्डलिका तद्वद् रेवती शुष्करेवती॥' षट्सु कायचिकित्सासु–वातपित्तकफसन्निपातशोणितागन्तुजभेदेन षड्विधासु किंवा अग्निवेशभेडजातूकर्णपराशरहारीतक्षारपाणिप्रोक्तासु कायचिकित्सासु। यहाँ पर सुश्रुतमत से वातादिभेद से ६ प्रकार की तथा चरकमत से अग्निवेशादि ६ शिष्यों द्वारा कही हुई षड्विध कायचिकित्सा। सुश्रुत सू. अ. १ में संशोधन, संशमन, आहार और आचार ऐसे चिकित्सा के चार भेद लिखे हैं। संशोधन–चिकित्सा (Eliminative or medical treatment) जो शरीर के दोषों को बाहर निकाल दे उसे 'संशोधन' कहते हैं। संशोधन के बाह्य तथा आभ्यन्तर दो भेद होते हैं। वमन, विरेचन, शिरोविरेचन और चतुःप्रकारकवस्ति ये अन्तः संशोधन हैं तथा यन्त्र, शस्त्र, क्षार, अग्नि, जलौका द्वारा छेदन, भेदन, वेधन, लेखन, उत्पाटन और प्रच्छानकर्म से बाह्य संशोधन होता है। 'यदीरयेद्बहिर्दोषान् पञ्चधा शोधनञ्च तत्। निरूहो वमनं कायशिरोरेकोऽस्रविस्रुतिः॥ (अ. सं. सू. अ. २४)। संशमन (Sedative treatment)—'न शोधयति यद्दोषान् समान्नोदीरयत्यपि। समीकरोति विषमान् शमनं तत्॥ (अ. सं. सू. अ. २४)। आहार—मधुरादिभेद से ६ प्रकार का, पेयादिभेद से ४ प्रकार का या छः प्रकार का, शीतोष्णवीर्य भेद से २ प्रकार का या पृथिव्यादिभेद से ५ प्रकार का—'पञ्चभूतात्मके देहे आहारः पाञ्चभौतिकः'। आचार चिकित्सा—(Regimenal treatment)—उपसर्गादयो रोगाः–'उपसर्गादयो ज्वरादयः, आगन्तवोऽस्रोन्मादादयः' इति डल्हणः, 'व्रणाद्युपद्रवभूता ज्वरादय' इति हाराणचन्द्रः। गयी तु–'उपसर्गादयः अमानुषोपसर्गादयः, ते चापस्मारोन्मादा भूतविद्याऽभिहिताः, त एवागन्तव' इति व्याख्यानयति। अर्थात् उपसर्गादि से ज्वरादि का बोध होता है किन्तु गयदासाचार्य अपस्मारादि का ग्रहण करते हैं तथा उन्हीं को आगन्तुक रोग भी मानते हैं उपसर्ग से धूमकेतु, सतत उल्कापात, ग्रहनक्षत्र–वैकृत आदि अशुभसूचक औत्पातिकदर्शन के समय उत्पन्न हुये रोग भी माने जाते हैं। पाश्चात्यदृष्टि से उपसर्ग को इन्फेक्शन (Infection) कहते हैं तथा रोगी के प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष संसर्ग से उत्पन्न हुये औपसर्गिक (Infectious) रोग ऐसा अर्थ हो सकता है तथा डल्हणाचार्य भी ऐसा ही अर्थ मानते हैं—'उपसर्गजा ज्वरादिरोगपीडितजनसम्पर्काद्भवन्ति'। ये उपसर्गज रोग मैथुनादि द्वारा स्वस्थ मनुष्यों पर संक्रान्त होते हैं जैसा कि सुश्रुत के कुष्ठनिदान से भी स्पष्ट है—'प्रसङ्गाद्गात्रसंस्पर्शान्निश्वासात् सहभोजनात्। सहशय्यासनाच्चापि वस्त्रमाल्यानुलेपनात्। औपसर्गिकरोगाश्च संक्रामन्ति नरान्नरम्॥' चरकमत से—रोगमार्ग के तीन भेद माने गये हैं (१) बाह्य रोगमार्ग, (२) मध्यम रोगमार्ग और (३) आभ्यन्तरिक रोगमार्ग, जैसा कि कहा है—'त्रयो रोगमार्गा इति–शाखा, मर्मास्थिसन्धयः कोष्ठश्च। तत्र शाखा रक्तादयो धातवस्त्वक्च, स बाह्यो रोगमार्गः। मर्माणि पुनर्बस्तिहृदयमूर्धादीनि अस्थिसन्धयोऽस्थिसंयोगास्तत्रोपनिबद्धाश्च स्नायुकण्डराः, स मध्यमो रोगमार्गः। कोष्ठः पुनरुच्यते महास्रोतः शरीरमध्यं महानिम्नमामपक्वाशयश्चेति पर्यायशब्दैस्तन्त्रे, स रोगमार्ग आभ्यन्तरः। तत्र गण्डपिडकालज्यपचीचर्मकीलाधिमांसमषककुष्ठव्यङ्गादयो विकारा बहिर्मार्गजाश्च विसर्पश्वयथुगुल्मार्शोविद्रध्यादयः शाखानुसारिणो भवन्ति रोगाः। पक्षवधग्रहापतानकार्दितशोषराजयक्ष्मास्थिसन्धिशूलगुदभ्रंशादयः शिरोहृद्बस्तिरोगादयश्च मध्यममार्गानुसारिणो भवन्ति रोगाः। ज्वरातिसारच्छर्द्यलसकविसूचिकाकासश्वासहिक्कानाहोदरप्लीहादयोऽन्तर्मार्गजाश्च विसर्पश्वयथुगुल्मार्शोविद्रध्यादयः कोष्ठानुसारिणो भवन्ति रोगाः'। (च. सू. अ. ११)। स्मृतिकारों ने इसी दृष्टि से एक दूसरे के वस्त्र–माल्यादि के धारण का निषेध किया है—'उपानहौ च वासश्च धृतमन्यैर्न धारयेत्। उपवीतमलङ्कारं स्रजं करकमेव च'। (मनुः)। औपसर्गिक रोग– मसूरिकाश्च रोमान्त्यो ग्रन्थिवीसर्प एव च। उपदंशश्च कण्ड्वाद्या औपसर्गिकसंज्ञकाः'॥ भावप्रकाशमत से–'कण्डूकुष्ठोपदंशाश्च भूतोन्मादव्रणज्वराः। औपसर्गिकरोगाश्च संक्रामन्ति नरान्नरम्'॥ उरश्रमत से—'ज्वरक्षिरोगापस्मारराजयक्ष्ममसूरिकाः। दर्शनात् स्पर्शनाद् दानात् संक्रामन्ति नरान्नरम्॥' डल्हणमत से—'अत्र नासारन्ध्रानुगतेन वायुना श्वासकासप्रतिश्यायाः, त्वगिन्द्रियगतेन ज्वरमसूरिकादयश्च। सायणाचार्यमत से–अस्माकं शरीराणि व्रणमुखेन अन्नपानादिद्वारेण प्रविष्टाः। इस तरह इन आचार्यों ने औपसर्गिक रोगों के नाम तथा उनके उपसर्ग या जीवाणु के शरीर में प्रविष्ट होने के मार्ग आदि का वर्णन किया है। आधुनिक मत से इन मार्गों को तीन भागों में विभक्त कर सकते हैं।

त्वचा—इसमें प्रसङ्ग (मैथुन) से उपदंश, फिरङ्ग और पूयमेह, सहशय्यासन तथा वस्त्रमाल्यानुलेपन से विसर्प, मसूरिका आदि। व्रणमुख से धनुःस्तम्भ, जलसंत्रास, एन्थ्राक्स आदि रोग उत्पन्न होते हैं।

श्वासप्रश्वास के द्वारा राजयक्ष्मा (T. B.), एन्फ्लुएञ्जा, कुक्कुर खांसी, रोहिणी (डिफ्थीरिया), प्रतिश्याय, श्वसनक ज्वर (न्यूमोनिया), फौफ्फुसीय प्लेग तथा रोमान्तिका आदि रोग उत्पन्न होते हैं।

मुख या खाद्य-पेय के द्वारा—आन्त्रिक ज्वर (टायफाइड), विसूचिका (कॉलेरा), अतिसार, प्रवाहिका आदि रोग उत्पन्न होते हैं।

कीटदंशज रोग—पिस्सू के काटने से प्लेग, मच्छर के दंश से मलेरिया, श्लीपद, पीतज्वर तथा डेंग्यू ज्वर, भुनगों से काला अजार, जूंए और चिचली के दंश से टायफस ज्वर तथा परिवर्तित ज्वर। इन कीटदंशज रोगों को त्वचा द्वारा फैलना ही मानना चाहिये। कुष्ठ रोग के जीवाणु कुष्ठी की नासा के स्राव में तथा फोड़े-फुन्सी के पूय में रहते हैं एवं उस कुष्ठी के साथ संभोग, एकबिस्तर–शयन, उसके वस्त्र–पात्रादि के उपयोग व उसकी सेवा करने से एवं किसी भी तरह से त्वचा में उत्पन्न

क्षत (व्रण) द्वारा जीवाणु शरीर में प्रविष्ट हो रोग उत्पन्न करते हैं। त्रिषष्टी रससंसर्गाः—संयोगभेद से रसों के तिरसठ भेद किये गये हैं—'भेदश्चैषां त्रिषष्टिविधविकल्पो द्रव्यदेशकालप्रभावाद्भवति तमुपदेक्ष्यामः' (च. सू. अ. २६)। 'स्वादुरम्लादिभिर्योगं शेषैरम्लादयः पृथक्। यान्ति पञ्चदशैतानि द्रव्याणि द्विरसानि तु॥' इत्यादि। युक्तार्थाः—प्रमाणोपपन्नार्थाः। युक्तयः—तन्त्रयुक्तयः। धार्यते शरीरमनेनेति तन्त्रं शास्त्रं, चिकित्सा च तस्य युक्तयो योजनास्तन्त्रयुक्तयः। (डल्हण) अर्थात् जिससे शरीर की रक्षा की जाय उसे 'तन्त्र' कहते हैं तथा उसके लिये की जाने वाली योजना (कल्पना=प्रयोग) को 'तन्त्रयुक्ति' कहते हैं। ये बत्तीस होती हैं—'द्वात्रिंशत्तन्त्रयुक्तयो भवन्ति शास्त्रे'।

महतस्तस्य तन्त्रस्य दुर्गाधस्याम्बुधेरिव ॥
आदावेवोत्तमाङ्गस्थान् रोगानभिदधाम्यहम्।
सङ्ख्यया लक्षणैश्चापि साध्यासाध्यक्रमेण च ॥ ९ ॥

दुर्गाध अर्थात् अत्यन्त गहरे समुद्र के समान महान् इस बड़े तन्त्र में सर्वप्रथम उत्तमाङ्ग (शिर) के रोगों को उनकी संख्या, लक्षण और साध्यता-असाध्यता आदि क्रम से कहता हूं ॥ ९ ॥

विमर्शः—इस श्लोक के द्वारा सुश्रुताचार्य ने निमितन्त्र को महान् तथा समुद्र के समान गम्भीर कह कर स्तुति की है तथा इसी तन्त्र के क्रमानुसार स्वसंहिता (सुश्रुत) में रोगों की संख्या, लक्षण और साध्यासाध्यता आदि का वर्णन किया है। अन्य अध्याय में भी आचार्य ने इस तन्त्र की पूर्ण गम्भीरता को हजारों तथा लाखों श्लोकों से भी नहीं जानी जा सकती है ऐसी प्रशंसा की है—'समुद्र इव गम्भीरं नैव शक्यं चिकित्सितम्। वक्तुं निरवशेषेण श्लोकानामयुतैरपि ॥ सहस्रैरपि वा प्रोक्तमर्थमल्पमतिर्नरः। तर्कग्रन्थार्थरहितो नैव गृह्णात्यपण्डितः॥' (सु. उ. अ. २०)। उत्तमाङ्ग—इस शब्द से शिर (मस्तिष्क Brain) का ग्रहण होता है जैसा कि चरक में कहा है 'प्राणाः प्राणभृतां यत्र श्रिताः सर्वेन्द्रियाणि च। यदुत्तमाङ्गमङ्गानां शिरस्तदभिधीयते'। अथर्ववेद में भी लिखा है—'तद्वा अथर्वणः शिरः देवकोशः समुब्जितः। तत्प्राणोऽभिरक्षति शिरोऽन्नमथो मनः'। भेलसंहितायामपि—'शिरस्ताल्वन्तर्गतं सर्वेन्द्रियपरं मनः। तत्रस्थं तद्धि विषयानिन्द्रियाणां रसादिकान्॥ समीपस्थान् विजानाति त्रीन् भावांश्च नियच्छति। तन्मनःप्रभवश्चापि सर्वेन्द्रियमयं बलम्॥ कारणं सर्वबुद्धीनां चित्तं हृदयसंस्थितम्। क्रियाणाञ्चेतरासाञ्च चित्तं सर्वस्य कारणम्॥ ऊर्ध्वमूलमधःशाखमृषयः पुरुषं विदुः। मूलप्रहारिणस्तस्माद् रोगान् शीघ्रतरं जयेत्'॥ वाग्भटेऽपि—'सर्वेन्द्रियाणि येनास्मिन् प्राणा येन च संश्रिताः। तेन तस्योत्तमाङ्गस्य रक्षायामादृतो भवेत्'॥

विद्याद् द्व्यङ्गुलबाहुल्यं स्वाङ्गुष्ठोदरसम्मितम्।
द्व्यङ्गुलं सर्वतः सार्द्धं भिषङ्नयनबुद्बुदम्॥
सुवृत्तं गोस्तनाकारं सर्वभूतगुणोद्भवम्॥ १० ॥
पलं भुवोऽग्नितो रक्तं वातात् कृष्णं सितं जलात्।
आकाशादश्रुमार्गाश्च जायन्ते नेत्रबुद्बुदे॥ ११ ॥

वैद्य नयनबुद्बुद (अक्षिगोलक Eye ball) को अपने अङ्गुष्ठ के उदर (मध्य भाग) के प्रमाणानुसार दो अङ्गुल बाहुल्य (अन्तःप्रवेशप्रमाण=अग्रपश्चात् व्यास) वाला जाने तथा आयाम और विस्तार (लम्बाई और चौड़ाई) में ढाई अङ्गुल प्रमाण जाने। इस तरह इस नेत्रगोलक को सुवृत्त (गोल) तथा गौ के स्तन के आकार का और पृथिव्यादि सर्व (पञ्च) भूतों के गुणों से उत्पन्न हुआ जानो। नेत्रगोलक में पृथिवी से मांसल भाग, अग्नि से पित्तरूप रक्तवर्ण का भाग, वात से कृष्ण भाग, जल से नेत्रगत श्वेत भाग तथा आकाश नामक महाभूत से अश्रुमार्गों की उत्पत्ति होती है ॥ १०–११ ॥

विमर्शः—आचार्य सुश्रुत ने उक्त श्लोक के द्वारा नयनबुद्बुद (अक्षिगोलक या नेत्रगोलक Eye ball) के शारीर (Anatomy) का वर्णन किया है। द्व्यङ्गुलबाहुल्यम्—इदमन्तःप्रवेशप्रमाणम्, द्व्यङ्गुलमानताङ्—स्वाङ्गुष्ठोदरसम्मितम्—एतेनैतदुक्तं भवति-स्वाङ्गुष्ठोदरसमितं यदङ्गुलं तदङ्गुलद्वयप्रमाणं नेत्रबुद्बुदस्यान्तः प्रवेशं विद्यात्। इस तरह डल्हण ने प्रत्येक व्यक्ति के अपने अङ्गुष्ठोदर को एक अङ्गुल मान कर ऐसे दो अङ्गुल प्रमाण का नेत्रगोलक का अन्तःप्रवेशप्रमाण (Vertical diameter) २३.४८ मि० मीटर आधुनिक मत से माना गया है—द्व्यङ्गुलं सार्धमिति अर्धतृतीयाङ्गुलमित्यर्थः, सर्वत इति आयामतो विस्तारतश्चेत्यर्थः। नेत्रगोलक का आयाम (लम्बाई) व्यक्तिविशेष की अङ्गुली से ढाई अङ्गुल तथा विस्तार भी ढाई अङ्गुल होता है। आयाम को अग्रपश्चिम व्यास या पूर्वपश्चिम व्यास (Anteroposterior or Sagital diameter) कहते हैं तथा यह प्रमाण २४.१५ मिलीमीटर (१.०२३ इञ्च) होता है। विस्तार को अनुप्रस्थव्यास या उत्तरदक्षिणव्यास (Horizontal diameter) कहते हैं और यह प्रमाण २४.१३ मि० मीटर होता है। प्रायः सभी व्यास १ इञ्च होते हैं। आयुर्वेद में बुद्बुद को ढाई अङ्गुल लम्बा, ढाई अङ्गुल चौड़ा तथा दो अङ्गुल मोटा माना है। यदि हम अङ्गुष्ठोदर को १ इञ्च या १॥ अङ्गुल मान लें तो नेत्रगोलक की चौड़ाई १॥ अंगुल, मुटाई २ अङ्गुल तथा लम्बाई २॥ अंगुल बैठती है। सुवृत्त और गोस्तनाकार से उपमा देने का भी यही अभिप्राय है कि चौड़ाई की अपेक्षा नेत्र की कुछ लम्बाई अधिक होती है। फिर भी आजकल नेत्र की लम्बाई—चौड़ाई में इतना अन्तर नहीं होता। सम्भव है कि लगभग २ हजार वर्ष के काल में शरीर के विभिन्न अङ्गों के प्रमाण में भी परिवर्तन हो गया हो। नेत्रगोलक आयु के साथ बढ़ता जाता है।

सर्वभूतगुणोद्भवम्—सर्वेषां भूतानां गुणा उद्भवन्ति अत्र, सर्वभूतगुणानामुद्भवो यत्रेति वा। पञ्चभूतोत्पन्नमित्यर्थः। (हाराणचन्द्रः) अर्थात् इस नेत्रगोलक में पञ्चमहाभूतों के गुण विद्यमान हैं। सर्वभूतेभ्यस्तद्गुणेभ्यश्चोद्भवो यस्य तत् सर्वभूतगुणोद्भवम्। सर्वभूतेभ्यो नेत्रगोलकं सिरास्नाय्वस्थिसहितं साश्रुमार्गमुत्पन्नं तद्गुणेभ्यश्च रक्तसितकृष्णगुणा उत्पन्ना इत्यर्थः। नेत्रगोलक को सर्वभूतगुणों से उत्पन्न माना है। अर्थात सिरा, स्नायु, अस्थि और अश्रुमार्ग इनके सहित नेत्रगोलक पाँचों भूतों से उत्पन्न हुआ (बना) है तथा नेत्रगोलक की रक्तता, श्वेतता और कृष्णवर्णता इन भूतों के गुणों से उत्पन्न होती है। कुछ टीकाकारों ने गुण शब्द का अर्थ भूतों के गुण न लेकर उनके प्रसाद अर्थ को माना है किन्तु यह अर्थ जेज्जट तथा डल्हण दोनों ने स्वीकृत नहीं किया है।

आधुनिक शारीररचना (Anatomy) शास्त्र में नेत्र से सम्बन्ध रखने वाले अङ्गों को दो भागों में विभक्त कर दिया है। (१) अङ्ग (Organs) (२) उपाङ्ग (Appendages)।

(१) नेत्राङ्गों में—१ नेत्रगोलक या नेत्रबुद्बुद (Eye ball, २ धमनियां (Arteries), सिराएं (Veins), रसवाहिनियां (Lymphatics) और वातसूत्र (Nerves), ३ नेत्रचालकमांसपेशियां (Ocular muscles), ४ नेत्रश्लेष्मावरण (Conjunctiva)।

(२) उपाङ्गों में—१. पलक या नेत्रच्छद (Eye lids)। २. भ्रू (Eye brow), ३. अश्रुजनक पिण्ड—(क) अश्रुग्रन्थियां (Lachrymal glands), (ख) अश्रुप्रणालिका (Lacrymal Ducts), (ग) अश्रुद्वार (Puncta lachrymalis), (घ) अश्रुवाहक नालिका (Canaliculi), (ङ) अश्रुवाशय (Lachrymal sac), (च) नासागत अश्रुवाहिका (Nosal duct) ४. नेत्रगुहा (Orbit)।

नेत्रगोलक या नेत्र बुद्बुद (Eye ball or ball of the Eye) के निम्न मुख्यभाग होते हैं—(१) शुक्लमण्डल (Cornea) (२) नेत्रबाह्यपटल (Sclerotic coat or sclera) (३) तारामण्डल (Iris) (४) तन्तुसमूह (Ciliary body) (५) नेत्र मध्यपटल (Choroid) (६) नेत्रदर्पण या दृष्टिवितान (Retina) (७) पूर्वजलमयरसखण्ड (Anterior chamber) (८) पश्चिमखण्ड (Posterior chamber) (९) दृष्टिमणिका च (Crystalline lens) (१०) दृष्टिमणि आवरण (Lens capsule) (११) काचरूपरससान्द्रजल (Vit'reous hu'mor) (१२) दृष्टिनाडी (Optic nerve) (१३) दर्शननाडी सिरा (Optic disc)।

दृष्टिप्रमाणवर्णनम्—'दृष्टिश्चात्र तथा वक्ष्ये यथा ब्रूयाद्विशारदः॥ नेत्रायामत्रिभागन्तु कृष्णमण्डलमुच्यते।। कृष्णात् सप्तममिच्छन्ति दृष्टिं दृष्टिविशारदाः॥' (सु. उ. अ. १)। **अथ दृष्टिवर्णनम्**—'पञ्चभूतात्मिका दृष्टिर्मसूरार्धदलोन्मिता' शार्ङ्गधरटीकायाम्। 'मसूरदलमात्रान्तु पञ्चभूतप्रसादजाम्। खद्योतविस्फुलिङ्गाभामिद्धां तेजोभिरव्ययैः॥ आवृतां पटलेनाक्ष्णोर्बाह्येन विवराकृतिम्। शीतसात्म्यां नृणां दृष्टिमाहुर्नयनचिन्तकाः॥' (सु. उ. अ. १)। मसूर के दल के तुल्य प्रमाण की तथा पञ्चमहाभूतों के प्रसाद (सार) भाग से निर्मित होती है। उसकी आभा जुगनू या विस्फुलिङ्ग (अग्निकण=चिनगारी) के समान कुछ कुछ पीली होती है तथा अव्यय (नाशरहित) तेज (आलोचकपित्त) से (समृद्ध या व्याप्त) रहती है एवं गोलक के पटलों से आवृत (ढँकी हुई या घेरी हुई) रहती है। बाहर से यह विवर (छिद्र) की आकृति सी दीखती है। इसके स्वास्थ्य के लिये शीत गुण औषध तथा आहार विहार-उपयुक्त होते हैं। अस्तु आयुर्वेद में दृष्टि की निम्न विशेषताएं मानी गई हैं। १. कृष्णमण्डल के सातवें भाग के बराबर (कृष्णात् सप्तममिच्छन्ति दृष्टिं दृष्टिविशारदाः) २. मसूरदल के आकार या परिमाण वाली। ३. पञ्चमहाभूतों के प्रसाद से निर्मित। ४. खद्योत तथा स्फुलिङ्ग (अग्निकण) के समान चमकदार एवं अव्यय तेज से समृद्ध। ५. बाह्यपटल से आवृत (ढकी हुई)। ६. गोल छेद वाली (विवराकृति)। ७. शीतल पदार्थ जिसके लिये हितकर हो।

दृष्टिश्चात्र तथा वक्ष्ये यथा ब्रूयाद्विशारदः॥ १२॥
नेत्रायामत्रिभागन्तु कृष्णमण्डलमुच्यते।
कृष्णात् सप्तममिच्छन्ति दृष्टिं दृष्टिविशारदाः॥१३॥

जैसा नेत्ररोग के विशेषज्ञों का कथन है तदनुसार दृष्टि का वर्णन करता हूँ। नेत्र के आयाम (लम्बाई) का तृतीयांश अर्थात् एक तिहाई भाग ($\frac{1}{3}$) कृष्णमण्डल कहा जाता है तथा कृष्णमण्डल का सातवां भाग दृष्टि होती है ऐसा नेत्ररोगविशारदों का कथन है॥ १२–१३॥

विमर्शः—पूर्वोक्त नेत्र-बुद्बुद में जो दृष्टि या दृष्टिमण्डल माना गया है उसका प्रमाण उक्त श्लोक द्वारा बताया गया है। नेत्र का आयाम (Antero posterior diameter) २॥ अंगुल (२४·१५ मि० मि०) पूर्व में बता आये हैं उसका तृतीयांश कृष्णमण्डल तथा कृष्णमण्डल का सातवां भाग=$\frac{1}{7}$ का $\frac{1}{3}$=$\frac{1}{42}$ अंगुल दृष्टि है। अन्य शालाक्यतन्त्र—प्रणेताओं ने इसका प्रमाण मसूरदल के बराबर माना है (मसूरदलमात्रान्तु) तथा सुश्रुत ने आतुरोपक्रमणीय अध्याय में दृष्टि का परिमाण बतलाते हुये लिखा है कि 'नवमस्तारकांशो दृष्टिः' अर्थात् तारक (कृष्णमण्डल) का नवम भाग दृष्टि होती है तथा यहां पर सप्तमांश लिख रहे हैं। इस परस्पर विरोधसूचक वाक्य कैसे? आचार्य डल्हण ने लिखा है कि महापुरुषों तथा पूर्णायु का भोग करने वाले व्यक्तियों की विशेषतावश यह भिन्नता है। 'महापुरुषाणां पूर्णायुषा भिन्नविषयमभिधानमिति न दोषः'। देखने से ऐसा ज्ञात होता है कि मानो नेत्रगोलक दो भागों में विभक्त है। आगे का $\frac{1}{6}$ भाग हिस्सा जो घड़ी के कांच के समान दीखता है उसे कृष्णमण्डल कहते हैं। यह पारदर्शक (Transparent) होता है। दृष्टिमण्डल का आयाम यदि कनीनिका (Pupil) का आयाम माना जाय तो एलोपैथी की दृष्टि से यह व्यास सबमें समान नहीं होता है। लगभग २·५ मि० मी० से ६ मि० मी० तक का होता है। कृष्णमण्डल का आडा व्यास ११६ मि० मि० का होता है। इस तरह पाश्चात्य वैज्ञानिकों ने कृष्णमण्डल (Cornea) को नेत्रगोलक (Eye ball) का षष्ठांश स्वीकृत किया है। इस तरह आयुर्वेद में वर्णित इस दृष्टि को हमें तुलनात्मक पद्धति से समझना होगा कि वर्तमान पाश्चात्यचिकित्साशास्त्र में इसे हम किस रूप में या किस नाम से पुकार सकते हैं। सुश्रुत के उक्त वर्णन से स्पष्ट है कि प्राचीन आचार्य (Pupil)—जो कि नेत्रगोलक के भीतर प्रकाश जाने के लिये एक छिद्र मात्र है—को दृष्टि कहते हों अत एव उसे कृष्णभाग का सप्तमांश माना है तथा उसकी गणना मण्डलों में की है। यह आधुनिक दृष्टिकोण से कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं रखता है अपितु तारामण्डल (Iris) का छिद्र है जिसके द्वारा किरणें नेत्र के अन्दर पहुंचती हैं। प्राचीन आचार्यों द्वारा उसे छिद्र रूप में मानना तथा पटल (Cornea) से आच्छादित रहना, सत्य है तथा वह छिद्र मसूरदल के समान भी है और उसमें से किरणें सी निकलती दिखाई भी देती हैं अत एव उसे खद्योतविस्फुलिङ्ग समान मानना भी सत्य है। कुछ व्यक्ति या जानवरों में यह चमक अधिक दिखाई देती है। इस प्रकार प्राचीनों के उक्त सब लक्षण (Pupil) को ही दृष्टि मानने का निर्देश करते हैं। किन्तु दृष्टिगत रोगों का वर्णन

पाश्चात्य नेत्ररोगविज्ञान के प्रायः उन रोगों के वर्णन से मिलता-जुलता है जिनका समावेश Diseases of the refracting media के रोगों में होता है इसलिये दृष्टिगत रोग वास्तव में एक्वस, (Aquous), लेंस (Lens), विट्रियस (Vitreous) और दृष्टि नाडी (Optic nerve) के रोगों से मिलते हैं अत एव तारक या कनीनिका (Pupil) को दृष्टि मानना आधुनिक सम्मत नहीं है। दृष्टि का मुख्य रोग तिमिर व लिङ्गनाश जो कि (Lens) की खराबी से होता है अत एव हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि आचार्यों ने दृष्टि को दो अर्थों में ग्रहण किया है। एक सामान्य दर्शन (Vision) और दूसरा विशिष्ट अर्थ दृष्टिमणि (Lens) ही समझना चाहिये क्योंकि यह Lens मसूर के दल (पत्र) के आयाम (लम्बाई, चौड़ाई) का भी होता है। कुछ लोग दल का अर्थ मसूर की दाल ऐसा करते हैं किन्तु वह गलत है क्योंकि संस्कृत में दाल के लिये द्विदल या विदल शब्द प्रयुक्त होता है। उस लेन्स में पञ्चमहाभूतों की भी कल्पना की जा सकती है। इस तेजोमयी दृष्टि में खद्योत (जुगनू) और आग की चिनगारी की आभा होती है। ये खद्योत और चिनगारी तैजस पदार्थ होते हुए भी जैसे किसी अङ्ग को नहीं जलाते उसी प्रकार यह भी नेत्र के भागों को नहीं जलाती। दृष्टि में यह तेज अव्ययरूप में यावज्जीवन स्वस्थावस्था में रहता है न उसमें वृद्धि होती है और न ह्रास (उपचयापचयरहित इति डल्हणः)। अब प्रश्न यह है कि यदि यह तेजोमयी दृष्टि है तो बाहर से क्यों नहीं दीखती ? इसका उत्तर अनेक पटलों से आवृत होना माना जा सकता है। यह दृष्टि शीतसात्म्य है अर्थात् शीत से इसे लाभ और उष्णता से हानि। तेजोमय पदार्थ शीतसात्म्य कैसे हो सकता है? जल और अग्नि के पृथक् पृथक् रहने पर उनमें विरोध होता है किन्तु एक साथ उत्पन्न तथा एक ही कार्य करने वाले जल और अग्नि का। प्रभाव से तेजोमयी दृष्टि को शीतसात्म्य माना जाता है। कुछ लोगों का आशय है कि आयुर्वेद की वर्णनशैली तथा दृष्टि के लक्षणों से Lens को दृष्टि नहीं कह सकते हैं अत एव Lens तथा Pupil दोनों को मिलाकर दृष्टि मान सकते हैं।

मण्डलानि च सन्धींश्च पटलानि च लोचने।
यथाक्रमं विजानीयात् पञ्च षट् च षडेव च ॥ १४ ॥

नेत्र में मण्डल, सन्धियां और पटल यथाक्रम से ५, ६ और ६ होते हैं ॥ १४ ॥

विमर्शः—नेत्रगोलक में वक्ष्यमाण पक्ष्मवर्त्मादि पांच मण्डल, पक्ष्मवर्त्मादि ६ सन्धियां तथा वर्त्मादि ६ पटल होते हैं जैसा कि अन्यत्र भी कहा है—'लोचने मण्डलान्यन्तान् सन्धींश्च पटलानि च जानीयात् क्रमशः पञ्च चतुरः षट् षडेव च ॥'

पक्ष्मवर्त्मश्वेतकृष्णदृष्टीनां मण्डलानि तु।
अनूपूर्वन्तु ते मध्याश्चत्वारोऽन्त्या यथोत्तरम् ॥ १५ ॥

पक्ष्म, वर्त्म, श्वेत, कृष्ण और दृष्टि इनके पांच मण्डल होते हैं जैसे पक्ष्ममण्डल, वर्त्ममण्डल, श्वेतमण्डल, कृष्णमण्डल और दृष्टिमण्डल। उनमें से चार (वर्त्म, श्वेत, कृष्ण तथा दृष्टि) मण्डल पूर्व क्रम से मध्य में रहते हैं। अर्थात् सबसे बाहर वर्त्ममण्डल, उसके भीतर श्वेतमण्डल फिर उसके भीतर कृष्णमण्डल तत्पश्चात् उसके भीतर दृष्टिमण्डल होता है तथा वे ही चार मण्डल यथोत्तर क्रम से अन्त में रहते हैं। अर्थात् सबसे मध्य में दृष्टिमण्डल और उसके अन्त में कृष्णमण्डल, तत्पश्चात् श्वेतमण्डल और उसके भी अन्त में वर्त्ममण्डल होता है ॥ १५ ॥

विमर्शः—ते पक्ष्मादयो दृष्ट्यन्ताः। अनुपूर्वं = यथापूर्वम्। मध्याश्चत्वारः = कृष्णाद्यः, यथोत्तरमन्त्याः। अर्थात् पक्ष्म के बाद वर्त्म, वर्त्म के बाद श्वेत, श्वेत के बाद कृष्ण और कृष्ण के बाद दृष्टिमण्डल आता है परन्तु उत्तरोत्तर क्रम में दृष्टिमण्डल के बाहर कृष्णमण्डल, फिर श्वेतमण्डल, फिर वर्त्ममण्डल और फिर पक्ष्ममण्डल आता है। आचार्य सुश्रुत ने नेत्ररचना तथा रोगाधिष्ठान-सौकर्य की दृष्टि से नेत्र को ३ भागों में विभक्त कर दिया है। १. मण्डल, २. सन्धि और ३. पटल। मण्डल को सर्किल्स् (Circles), सन्धि को जंक्शन्स् (Junctions), तथा पटलों को लेयर्स या ट्यूनिक्स (Layers or tunics) कहा जा सकता है। मण्डलों की संख्या ५ मानी हैं।

१. पक्ष्ममण्डल को आई लेशेज (Eye lashes) कहते हैं। ऊपर तथा नीचे के पलकों में जो बाल (रोम-केश) हैं वे परस्पर मिलकर एक मण्डलाकृति घेरा (Circle) बना देते हैं।

२ वर्त्ममण्डल को टार्सी या आई लिड्स् (Eyelids) कहते हैं। यह नेत्रगोलक को ढांपने वाले ऊपर और नीचे के नेत्रच्छदों के मिलने से एक सर्किल सा बन जाता है। पलकों के भीतर श्लैष्मिक कला का आवरण है तथा बाहर त्वचा है एवं दोनों का जहां संगम होता है उसे पलक का किनारा कहते हैं। इस किनारे पर एक श्वेत रेखा होती है उस पर बालों की एक पंक्ति है तथा बालों के मूल में कई सूक्ष्म पिण्ड (Zeis glands) होते हैं जिनके स्राव से बाल (बरौनी) तर व मृदु रहते हैं तथा पक्ष्म का पोषण भी होता है।

प्रवाल के शस्त्रकर्म में उक्त श्वेतरेखा महत्व की है। अर्थात् इस रेखा में शस्त्रको प्रविष्ट करके पलकों को चीर कर दो भागों में विभक्त कर देते हैं। इस वर्त्म में नेत्रोन्मीलनी तथा नेत्रनिमीलनी दो मांसपेशियां रहती हैं। प्रत्येक पलक की धारा के भीतरी सिरे पर एक एक अश्रुछिद्र (Lachrymal puncta) होता है।

३. श्वेतमण्डल या नेत्रश्लेष्मावरण (Conjunctiva)—यह पलक की धारा से प्रारम्भ होता है तथा उसके भीतर होता हुआ पूरे नेत्रगोलक पर एक श्लैष्मिक त्वचा का आवरण बनाता है जो कि एक थैली सा दीखता है अतः इसे Conjunctival sac भी कह सकते हैं। बाहर से देखने पर जो नेत्र का श्वेत भाग दिखलाई देता है वह श्वेत मण्डल (Sclera) कहा जाता है या इसे नेत्र बाह्यपटल (Sclerotic coat) भी कहते हैं। इससे नेत्र गोलक का ⅚ भाग बना हुआ है। यह पटल सौत्रिक तन्तुओं से निर्मित श्वेत और चिकना होता है एवं यह अन्य मण्डल या पटलोंसे स्थूल या दृढ़ होता है यही पटल गोलक के अग्रभाग में आता है तो अत्यन्त स्वच्छ और पतला हो जाता है जिससे इसके द्वारा प्रकाशकिरणें भीतर प्रवेश कर सकें। यह भाग स्वच्छ मण्डल या कृष्ण मण्डल (Cornea) कहलाता है। इस नेत्र बाह्यपटल के पिछले भाग में एक छिद्र है जिसके द्वारा

दर्शन सूत्रिका (Optic nerve) और रक्तवाहिनियां नेत्रगोलक में प्रवेश करती हैं। इस छिद्र के आस-पास अन्य भी छोटे-छोटे अनेक छिद्र हैं जिन्हें चालनी पटल (Lamina cribrose) कहते हैं।

४. कृष्णमण्डल या स्वच्छमण्डल—बाहरसे देखने पर नेत्र-गोलक के अग्रभाग में जो काला सा पारदर्शक भाग दिखाई देता है उसे कृष्णमण्डल (Corneal circle) कहते हैं। यह भाग समस्त चक्षु पर घडी का कांच जैसे एक गोल गेंद पर बिठाया गया हो वैसा प्रतीत होता है। यह चमकीला, पार-दर्शक तथा गोलाकृति व नेत्रबाह्यपटल के साथ चिपकाया हुआ सा प्रतीत होता है। इसका आडा व्यास (Transverse diameter) ११·६ मि० मीटर है तथा खडा व्यास (Vertical diameter) १०·६ मि० मीटर है। युवावस्था तक यह पूर्णरूप से पारदर्शक होता है तथा वृद्धावस्था आने पर कुछ व्यक्तियों में शुक्लमण्डलकी परिधि का भाग अपारदर्शक (Opaque) और श्वेत होने लगता है इसे Arcus senilis कहते हैं तथा इससे देखनेमें कोई बाधा नहीं होती है।

यह पांच स्तरों से बनता है:—

(१) अग्रिमस्तर (Anterior epithelial membrane), (२) बाउमेन का स्तर (Bowmen's membrane) इस स्तर तक स्वच्छमण्डलके क्षत के पहुंचने पर फूला हो जाता है। (३) गर्भस्तर (Stroma) (४) (Des emet's membrane) (५) पश्चिमस्तर (Posterior epithelial membrane) इस स्वच्छमण्डल में धमनियां तथा सिराएं नहीं होती हैं किन्तु सांवेदनिक वातसूत्रिकाएं अधिक होने से सामान्य चोट लगने पर भी वेदना अधिक होती है। इस मण्डल के पीछे में जल-मयरसका पूर्व खण्ड (Anterior chamber) रहता है। स्वच्छमण्डल और बाह्यपटल (Cornea and sclera) के सङ्गम या जोड (Sclero corneal junction) के स्थान पर एक जलमार्ग (Canal of schlemm) बनता है जिसका अधिमन्थ (नील मोतिया बिन्द) रोग के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध रखता है। इस मार्ग से अधिक उत्पन्न जलरस नेत्रगोलक से बाहर निकल जाता है जिससे नेत्र के भीतर का दबाव या नेत्रगोलक की कठिनता एक सी रहती है।

५. दृष्टिमण्डल जैसा कि पूर्व में कह आये हैं कि दृष्टि शब्द से कनीनिका (Pupil) और दृष्टिमणि (Lens) इनका बोध कर सकते हैं। कनीनिकाको मानने पर दृष्टिमण्डल को सर्किल ऑफ् दी प्यूपिल (Circle of the pupil) कह सकते हैं। यह कनी-निका (Pupil), तारामण्डल (Iris) से निम्न प्रकार से बनती है। कृष्णमण्डल (Cornea) के पीछे जलमयरसखण्ड (Anterior chamber) रहता है तथा उसके पीछे यह तारामण्डल (Iris) होता है। यह सूक्ष्म, मृदु और रंगदार एक प्रकार का पर्दा है जो भारतीयों में प्रायः काला तथा गोरे मनुष्यों में भूरा होता है। भारतीयों में भी किसी-किसी में भूरा होता है किन्तु जो जन्म से ही भूरे होते हैं उनमें रक्ताभ भूरा होता है। इसी के बीच में एक गोल छिद्र होता है उसी को कनीनिका (Pupil) कहते हैं। कनीनिका में संकोच और विस्तार का गुण होता है। नेत्र पर प्रकाश गिरने से संकोच तथा अन्धकार में विस्तृत होता है। दूरी की वस्तुको देखते समय यह कनीनिका विस्तृत हो जाती है और समीप में देखने पर संकुचित होती है। भय, विस्मय तथा दुःख में भी यह विस्तृत हो जाती है। निद्रा के समय सङ्कुचित रहती है। इसका व्यास २·५ से ६ मि० मीटर होता है। गर्भावस्था में कनीनिका के भाग में श्लैष्मिककला (Pupillary membrane) का आच्छादन रहता है जो गर्भ के आठवें मास तक नष्ट हो जाता है किन्तु जब किसी बच्चे में यह नष्ट नहीं होता है तब वह बच्चा जन्म से ही अन्धा होता है। तारामण्डल के आगे Anterior chamber तथा पीछे posterior chamber रहता है और उसके पीछे lens रहता है। तारामण्डल में दो मांस-पेशियां होती हैं। प्रथम कनीनिकासंकोचक (Sphincter pupillae) पेशी है। इसके तन्तु गोल होते हैं। दूसरी कनी-निका प्रसारक (Dilator pupillae) पेशी है तथा इसके तन्तु किरणों के समान लम्बे रूप में व्यवस्थित रहते हैं।

तारामण्डलके दो मुख्य कार्य हैं। (१) नेत्र में प्रवेश करने वाले प्रकाश और दृष्टिकिरणोंको कनीनिका के सिवाय नेत्रगोलक के अन्य भाग में न जाने देना। (२) कनीनिका के संकोच और विस्तार से नेत्र को समीप तथा दूर की वस्तुओं को देखने में शक्ति देना।

इस तरह हम आयुर्वेद के मण्डलों की निम्न तालिका दे सकते हैं। १ पक्ष्म (Eye lashes), २ वर्त्म (Eye lids), ३ श्वेतमण्डल (Cornea or conjunctiva) ४ कृष्णमण्डल (Iris), ५ दृष्टि (Pupil and lens) प्रायः इनमें से किसी की आकृति कुछ गोल तथा किसी की पूर्ण गोल होने से इन्हें मण्डल नाम दिया गया है।

पक्ष्मवर्त्मगतः सन्धिर्वर्त्मशुक्लगतोऽपरः।
शुक्लकृष्णगतस्त्वन्यः कृष्णदृष्टिगतोऽपरः।
ततः कनीनकगतः षष्ठश्चापाङ्गगः स्मृतः॥ १६॥

सन्धियां ६ होती हैं जैसे—(१) पक्ष्म तथा वर्त्म की सन्धि, (२) वर्त्म और शुक्ल की सन्धि, (३) शुक्ल और कृष्ण-भाग की सन्धि, (४) कृष्ण और दृष्टिभाग की सन्धि, (५) कनीनकगत सन्धि तथा (६) अपाङ्गगत सन्धि॥ १६॥

विमर्शः—दो भागोंके मिलनेके स्थान को 'सन्धि' कहते हैं। पक्ष्मवर्त्मगत सन्धि (Free margins of the lids.) वर्त्म-शुक्लसन्धि (Forni x) जिस स्थान पर पलक और नेत्रगोलक (Palpebral and bulbur conjunctiva) के ऊपर मढे श्लेष्मावरण का सङ्गम होता है उसे प्राचीनों ने वर्त्मशुक्लगत-सन्धि माना है। इस स्थान पर चार स्थानों में निम्न पुट बनते हैं—(क) ऊर्ध्वपुट, ऊर्ध्ववर्त्मकोण (Superior fornix), (ख) अधःपुट, निम्नवर्त्मकोण (Inferior fornix) (ग) मध्य-पुट, मध्यवर्त्मकोण (Medial fornix), (घ) पार्श्वपुट, पार्श्व-वर्त्मकोण (Lateral fornix)।

शुक्लकृष्णगतसन्धि (Limbus)-श्वेतमण्डल से Sclera का ग्रहण करके जहां पर कृष्णमण्डल (Cornea) के साथ सङ्गम होता है। उस स्थान को शुक्लकृष्णगत सन्धि (Corneo scleral junction) कह सकते हैं।

कृष्णदृष्टिगत सन्धि (Free margin of the iris)—यह कृष्णमण्डल और दृष्टिमण्डल के मध्य का सङ्गमस्थल है। सम्भव है इस सन्धिसे सन्धान मण्डल (Ciliary body) का

वर्णन हो। यह सन्धानमण्डल मुख्यतः तीन भागों से बना है—(१) तन्तुमयमण्डल या सन्धानवलयिका (Ciliary muscle), (२) तन्तुमयपुटसन्धानदर्शिका (Ciliary processes), (३) तन्तुमयपेशी या सन्धानपेशिका (Orbicularis ciliaris) Ciliary body cornea scleral junction और Lens के दन्तुरधारामण्डल (Ora serrata) के भागके साथ पीछे की ओर जुडी है। इसे 'तन्तुमयपेशी' कहते हैं। नेत्रबाह्यपटल की ओर रहनेवाली, सपाट तथा चिकनी है। भीतर की तरफ ७०, ८० लम्बे पुटों से बनी है अतः इसे Ciliary processes कहते हैं।

कनीनकगतसन्धि—medical palpebral commisure आचार्य डल्हण ने कनीनकगत सन्धि को नासासमीपस्थित सन्धिविशेष बतलाई है। यह भाग नासा के समीप दोनों वर्त्मों के मिलने से बनता है इसे नेत्रान्तः कोण (Inner canthus) कहते हैं।

अपाङ्गसन्धि—आचार्य डल्हण ने इस सन्धि की स्थिति भ्रू (भौं) के पुच्छ के अन्त भाग में स्थित मानी है। यह दोनों वर्त्म के बाहर के सङ्गम स्थल की द्योतक है। इसे नेत्रबहिः कोण (Outer canthus) कहते हैं। अन्तःकोण अण्डाकार होता है तथा इसमें अश्रु संगृहीत होते हैं तथा यहां से अश्रुछिद्र द्वारा नासिका में चले जाते हैं। इसी कोण में नेत्रपिण्ड (Canaticule lacrimatis) रहता है।

द्वे वर्त्मपटले विद्याच्चत्वार्य्यन्यानि चाक्षिणि।
जायते तिमिरं येषु व्याधिः परमदारुणः ॥ १७ ॥
तेजोजलाश्रितं बाह्यं तेष्वन्यत् पिशिताश्रितम्।
मेदस्तृतीयं पटलमाश्रितन्त्वस्थि चापरम् ॥
पञ्चमांशसमं दृष्टेस्तेषां बाहुल्यमिष्यते ॥ १८ ॥

नेत्र में ६ पटल होते हैं जिनमें दो वर्त्मपटल तथा चार पटल अक्षिगोलक में होते हैं। इन्हीं नेत्रगोलक के चार पटलों में अत्यन्त दारुण (दुःखदायक) तिमिरनामक रोग होता है। इन चार पटलों में से प्रथम बाह्यपटल तेज व जलके आश्रित है। दूसरा पटल मांस के आश्रित है। तृतीय पटल मेद के आश्रित तथा चौथा अस्थि के आश्रित है। इन चारों की स्थूलता (मोटाई) दृष्टि के पञ्चम भाग के बराबर है ॥१७-१८॥

विमर्शः—पटल को Tunic of the eye कह सकते हैं। आक्षगोलक के पटलों में बाहरी भाग तेजोजलाश्रित होता है। यहां तेज शब्दसे आलोचक तेज का आश्रयभूत सिरागत रक्त तथा जलसे त्वचागतरस धातुविशेष (Blood vessels and lymphatics) समझना चाहिये। अत्र तेजःशब्देनालोचकतेजः-समाश्रयं सिरागतं रक्तं बोद्धव्यं, जलं त्वग्गतो रसधातुरिति डल्हणः। आधुनिक दृष्टि से भी वर्त्म (Eye lid) में दो ही प्रधान पटल माने जाते हैं। (१) बाह्य त्वचा का तथा (२) आन्तरिक श्लैष्मिकावरण। शेष चार पटल कौन से हैं यह समझना कठिन है। आयुर्वेद के इन चार पटलों का आधुनिक नाम क्या है यह नहीं कहा जा सकता क्योंकि आयुर्वेद ने इन पटलों का वर्णन दो स्थानों पर दो दृष्टियों से किया है।

(१) प्रथम रचना प्रकरण में आश्रय या स्वरूप की दृष्टिसे जैसे—(१) तेजोजलाश्रित बाह्य पटल। (२) पिशित (मांस) आश्रित। (३) मेदःसमाश्रित। (४) अस्थ्याश्रित।

द्वितीय दृष्टि से रोगों का वर्णन करते हुये तिमिर रोगों के अधिष्ठान स्वरूप जैसे कहा भी है—'जायते तिमिरं येषु व्याधिः परमदारुणः'। अब प्रथम दृष्टि से यदि हम पटलों का ज्ञान करना चाहें तो सोचना होगा कि आधुनिक विज्ञान क्या इस प्रकार पटल मानता है? प्रथम पटल को हम Cornea कह सकते हैं क्योंकि वह चमकदार है और उसके पीछे Anterior chamber में जल भी रहता है अतः उसे तेजोजलाश्रित कहा जा सकता है। दूसरे पटल को क्या कहा जाय यह कहना कठिन है। मध्यपटल (Choroid) व अन्तःपटल (Retina) को दूसरा पटल नहीं कह सकते क्योंकि वे मांसाश्रित नहीं हैं। केवल Ciliary body को ही किसी प्रकार दूसरा पटल कहा जा सकता है क्योंकि वह मांस से निर्मित है। तीसरा मेदःसमाश्रित होता है अतः इसको Lens माना जा सकता है क्योंकि इसका सम्बन्ध पीछे सान्द्रजल (Vitreous humour) से होता है जिसकी संज्ञा मेद मानी जासकती है या केवल Vitreous humour को ही तृतीय पटल मान सकते हैं। चौथा पटल अस्थि-आश्रित होता है। इसका तात्पर्य है कि सब से बाद का पटल। इसको नेत्रदर्पण या दृष्टिवितान (Retina) के अतिरिक्त अन्य मानने में अधिक आपत्तियां हैं अतः Retina माना जा सकता है। किसी प्रकार इन नूतन नामों को देकर भी यह नहीं कहा जा सकता कि आयुर्वेद की कल्पना के अनुसार ये नाम ठीक हैं।

कुछ लेखकों का मत है कि सुश्रुत में चक्षु को बाहर से देखकर सामान्य वर्णन किया गया है तथा आन्तरिक भागों के विषय में कल्पना से काम लिया हो और बाह्यरूप से नेत्र का वर्णन दो दृष्टियों से किया हो। (१) बाहर से दिखाई देने वाले मण्डल रूप अवयव को देख कर। (२) पुनः नेत्रगोलक को बाहर से अन्दर तक काल्पनिक विभाग सोचकर। यही कारण है कि श्वेतमण्डल और बाह्यपटल दोनों का वर्णन एक सा है और उनमें भेद करना कठिन है। भेद करना ही हो तो शुक्लमण्डल को Conjunctiva और प्रथम पटल को Cornea कहा जा सकता है। दृष्टि को छोड़कर शेष मण्डल स्पष्ट हैं क्योंकि दृष्टि के विषय में उनकी दोहरी कल्पना ज्ञात होती है। (१) दृष्टिनामक विशेष अवयव जो विवेचन से Pupil ज्ञात होता है। (२) दृष्टि अर्थात् दर्शनशक्ति Sight जिसे कम करने वाले तिमिर रोगों का वर्णन है। शेष तीन पटलों का रूप काल्पनिक ज्ञात होता है क्योंकि तिमिर रोग के वर्णन में ऊपर लिखे आधुनिक नामों को स्वीकार कर लेने पर भी स्थिति स्पष्ट और सत्य नहीं दीखती।

एलोपेथी में नेत्रगत तीन पटलों का वर्णन मिलता है। (१) बाह्यपटल, (२) मध्यपटल और (३) अन्तःपटल। प्रथम बाह्यपटल में सौत्रिक पटल (Fibrous tunic), नेत्र बाह्यपटल (Sclera) तथा कृष्णमण्डल (Cornea) प्रधान हैं। द्वितीय मध्यपटल में रक्तवाहिनीमयरञ्जित पटल (Vascular Pigment tunic), तारामण्डल (Iris), नेत्रमध्यपटल (Choroid) तथा सन्धानमण्डल (Ciliary body) मुख्य हैं। तृतीय पटल में नेत्रान्तर नाडीपटल (Nervous tunic), दृष्टिवितान (Retina) प्रधान हैं। पञ्चमांशसममिति—तेषां चतुर्णां पटलानां मिलितानां बाहुल्यं स्थौल्यं दृष्टेः=स्वाङ्गुष्ठोदरस्थूलस्य नेत्रस्य

पञ्चमांशसममिष्यते। अर्थात्–अक्षिगोलकगत पटलों की स्थूलता या मोटाई दृष्टि के पञ्चमांश के समान (⅕ का ⅙)= 1/30 अङ्गुल की होती है।

सिराणां कण्डराणाञ्च मेदसः कालकस्य च।
गुणाः कालात्परः श्लेष्मा बन्धनेऽक्ष्णोः सिरायुतः १९

सिरा से लेकर कालकास्थि पर्यन्त अर्थात् सिराओं, कण्डराओं, मेद तथा कालकास्थि इनके जो यथोत्तर उत्कृष्ट गुण हैं वे दोनों नेत्रों (नेत्रगोलकों) के बन्धन में सहयोग देते हैं तथा कालकास्थि के निकट स्थित श्लेष्मा भी सिराओं से युक्त होकर दोनों नेत्रगोलकों को बांधने में सहयोग देता है ॥१९॥

विमर्शः—बहुवचन प्रयुक्त सिरा शब्द से धमनियों तथा वातसूत्रों (Nerves) का ग्रहण होता है। कण्डरा शब्द से स्नायु का ग्रहण होता है। निःसन्देह सिरा, कण्डरा, मेद, श्लेष्मा ये सभी नेत्रगोलक को स्थिर रखने तथा उसका स्वरूप निर्माण करने में सहयोग देते हैं। मेद से यहां सान्द्रजल (Vitreous humour) अथवा केवल मेद ही ले सकते हैं। इसी तरह श्लेष्मा से सजल द्रव (Acquous humour) तथा Vitreous humour या केवल Acquous humour लिया जा सकता है।

कुछ आचार्यों ने उक्त श्लोक का निम्न अर्थान्तर किया है—सिरा से लेकर मेदपर्यन्त के गुण (प्रसाद भाग) नेत्र के कृष्ण भाग (अक्ष्णोः कालकस्य = कृष्णभागस्य) को बांधने में सहयोग देते हैं तथा कृष्णभाग से परे जो श्वेत भाग है (कालात्परः कृष्णभागाद्यः परः शुक्लो भागः) उसके बन्धन में सिराओं के सहित श्लेष्मा सहयोग देता है। इसी अर्थ के अनुकूल उक्त श्लोक में भी कुछ परिवर्तन करते हैं—सिराणा कण्डराणाञ्च मेदसः कृष्णबन्धने। गुणाः कालात्परः श्लेष्मा बन्धनेऽक्ष्णोः सिरायुतः॥ इस प्रकार आयुर्वेद की दृष्टि से नेत्र शारीर (Anatomy of the Eye में–(१) नेत्रबुद्बुद (नेत्रगोलक= Eye ball), (२) दृष्टि (Pupil or lens), (३) मण्डल (Circles), जैसे पक्ष्ममण्डल (Eye lashes), वर्त्ममण्डल (Eye lids), श्वेतमण्डल Cornea or conjunctiva), कृष्णमण्डल (Iris) और दृष्टिमण्डल (Pupil)। (४) सन्धियां—पक्ष्मवर्त्मसन्धि, वर्त्मशुक्लसन्धि, शुक्लकृष्णगतसन्धि (Cornea Scleral junction), कृष्णदृष्टिगतसन्धि, कनीनकगतसन्धि (Inner canthus), अपाङ्गगतसन्धि (Outer canthus)। (५) पटल (Tunics of the Eye) तथा (६) नेत्र के बन्धनों का वर्णन मिलता है।

आधुनिक नेत्र शारीर शास्त्र (Anatomy of the Eye) से निम्न नेत्राङ्गों का स्थूल ज्ञान हो जाना इस युग के चिकित्सक के लिये परमावश्यक है।

(१) दृष्टि से सम्बन्ध रखने वाले अङ्ग—इस वर्ग में कृष्णमण्डल, जलमयरस, तारामण्डल, तन्तुसमूह या सन्धानमण्डल, दृष्टिमणि के बन्धन एवं आवरण (Zonule of zinn and Lens capsule), नेत्रमध्यपटल, दृष्टिवितान, सान्द्रद्रव तथा दर्शननाडी—इन अङ्गों के द्वारा विभिन्न कार्य होकर परिणामस्वरूप वस्तु दृश्य हो जाती है।

(२) नेत्रगोलक आर्द्र रखने वाले भाग—अश्रुजनक पिण्ड, अश्रुवाहक नलिकाएं प्रभृति रचनाएं हैं। इनके द्वारा नेत्र को द्रव रखने के लिये जितना द्रव चाहिये उतना अश्रुस्राव उत्पन्न होकर नेत्र की प्रकृतावस्था बनी रहती है।

(३) नेत्रगोलक के संरक्षक अवयवों की क्रिया–इनमें नेत्रगृह (Orbit), पलक (वर्त्म), पक्ष्म (बरौनी), मेई बोमियन और जाइसपिण्ड आदि रचनाएं हैं। ये नेत्र की रक्षा करते रहते हैं।

(४) नेत्रगोलक के चालक भाग—नेत्रगोलक को विभिन्न भागों में चालन करने वाली मुख्य ६ पेशियां हैं—१. बाह्यस्था सरला (External Rectus), २. अन्तःस्था सरला (Internal Rectus), ३. ऊर्ध्वस्था सरला (Superior Rectus), ४. अधःस्था सरला (Inferior Rectus) ५. ऊर्ध्वस्था वक्रा (Superior oblique), ६. अधःस्था वक्रा (Inferior oblique), इनके द्वारा नेत्रगोलक नामानुसार सरल या वक्रदिशा में ऊपर या नीचे की ओर हुआ करता है। इन पेशियों के चालन पुनः मस्तिष्कगत वातसूत्रों की क्रियाओं से होती हैं। छठे वातसूत्र द्वारा बाह्यसरला, चतुर्थ वातसूत्र द्वारा ऊर्ध्ववक्रा तथा तृतीय वातसूत्र द्वारा शेष पेशियां चालित होती हैं। बाह्यस्था और अन्तःस्था भेद से नेत्रगत मांसपेशियां दो प्रकार की होती हैं। उपर्युक्त ६ पेशियों की गणना बाह्यस्था में होती है। निम्न तीन अन्तःस्था पेशियां मुख्य हैं—
(क) कनीनिकासंकोचक (Sphincter pupillae muscle)
(ख) कनीनिकाविस्फारक (Dilator pupillae muscle)
(ग) सन्धानपेशिका (Ciliary muscle)

(५) नेत्रगोलक की आकृति तथा कठिनता के संरक्षक अंग—नेत्रगोलक के आकारसंरक्षक अवयव—नेत्रबाह्यपटल, शुक्लमण्डल, टेनन का आवरण, नेत्रगोलक की पेशियां, सान्द्रद्रव (V, H.), सजल द्रव (Acquous humour) तथा दृष्टिमणि (Lens) आदि रचनाएं हैं। संक्षेपतः नेत्र के तीनों पटल, (बाह्य, मध्य तथा आन्तर) नेत्र के आकार को प्रकृतावस्था में बनाये रखते हैं। नेत्रगतमध्यपटल या कर्बुरवृत्ति (Choroid) का प्रधान कार्य पोषण का होता है। इनसे पोषक स्राव उत्पन्न होता है तथा नेत्रगोलक में अवस्थित जो उसके समीप या संसर्ग में है उसका पोषण करता है। इस पटल में धमनी, सिरा और रंग के परमाणु रहते हैं। इन भागों में मुख्यतया दृष्टिवितान (Retina), दृष्टिमणि (Lens) और सान्द्रद्रव (V. H.) आदि का अन्तर्भाव होता है। पोषण के हेतु इस मध्यपटल में रक्त की पूर्णता होने से वह मोटा बनता है तथा रक्त की न्यूनता होने से पतला पड़ जाता है। ऐसे अवसर पर यह नेत्र के भीतरी द्रव के दबाव को न्यूनाधिक करने में अति महत्त्व का भाग लेता है।

सिराऽनुसारिभिर्दोषैर्विगुणैरूर्ध्वमागतैः।
जायन्ते नेत्रभागेषु रोगाः परमदारुणाः॥ २०॥

नेत्ररोग-सम्प्राप्ति—प्रथम मिथ्या आहार-विहार से विगुण (विकृत) होकर वातादि दोष सिराओं का अनुसरण कर देह के ऊर्ध्वभाग (सिर) में आते हैं जिससे नेत्रगोलक के विविध भागों में अत्यन्त भयङ्कर रोग उत्पन्न होते हैं ॥ २०॥

विमर्शः—डाक्टरी मत से नेत्ररोग-सम्प्राप्ति (Pathology of the Eye diseases) में नेत्र के भीतर कीटाणु तथा विष के प्रवेश को प्रधान माना गया है तथा यह प्रवेश बाह्य और आभ्यन्तर दो प्रकार से होता है।

१. बाहर से नेत्र में कीटाणु प्रवेश होने से नेत्रगोलक के अवयवों में व्रण, शोथ, रक्ताधिक्य, रक्तवाहिनियों का प्रसार एवं लसीकास्राव एवं उससे पूयस्राव भी होने लगता है।

२. शरीर के किसी भी प्रदेश में पाक (Suppuration) होने से उसका पूय, जीवाणु या उनका विष रक्त में प्रवेश कर रक्तवाहिनियों द्वारा नेत्र में पहुँच जाता है जिससे नेत्रगोलक में शोथ, लालिमा, स्रावादि लक्षण उत्पन्न होते हैं।

तत्राविलं ससंरम्भमश्रुकण्डूपदेहवत् ॥ ।
गुरूषातोदरागाद्यैर्जुष्टञ्चाव्यक्तलक्षणैः ॥ २१ ॥
सशूलं वर्त्मकोषेषु शूकपूर्णाभमेव च ॥ २२ ॥
विहन्यमानं रूपे वा क्रियास्वक्षि यथा पुरा ।
दृष्ट्वैव धीमान् बुध्येत दोषेणाधिष्ठितं तु तत् ॥ २३ ॥

नेत्ररोग पूर्वरूप—नेत्र में आविलता (कलुषता=धुंदलापन), संरम्भ (स्वल्प लालिमा तथा वेदना) तथा बार-बार आंसू आना, खुजली चलना और स्राव होने से पलकों का परस्पर चिपकना तथा कफप्रकोप से गुरुता (भारीपन), पित्तप्रकोप से ऊषा (ऊष्मा=दाह), वातप्रकोप से तोद (सूचीवेधवत् पीड़ा) एवं रक्तप्रकोप से राग (लालिमा) ये लक्षण अल्पमात्रा में प्रगट होते हैं। इसी प्रकार वर्त्म (पलकों) के कोषों में शूल तथा उनमें शूक (जौ की दांगी=बाल के ऊपरी शालू) भरे हुये की सी प्रतीति होती है एवं नेत्र रूप के दर्शन या प्रकाशसहन में तथा अवलोकनादि विभिन्न क्रियाओं में पूर्व के समान कार्यशील नहीं होते हैं। इस तरह बुद्धिमान् वैद्य इस पूर्वरूप को देखकर नेत्र को दोष से युक्त है ऐसी कल्पना करे ॥ २१-२३ ॥

तत्र सम्भवमासाद्य यथादोषं भिषग्जितम् ।
विदध्यान्नेत्रजा रोगा बलवन्तः स्युरन्यथा ॥ २४ ॥

नेत्ररोगों के उक्त पूर्वरूप को देखकर वातादिदोषों के अनुसार औषध-व्यवस्था करनी चाहिये अन्यथा (उपेक्षा करने से) वे रोग उत्पन्न हो जाने पर बलवान् होते हैं ॥ २४ ॥

विमर्शः—भिषग्जितम् = भेषजम्।

सङ्क्षेपतः क्रियायोगो निदानपरिवर्जनम् ।
वातादीनां प्रतीघातः प्रोक्तो विस्तरतः पुनः ॥ २५ ॥

नेत्ररोग-सामान्य चिकित्सा—संक्षेप में निदान का परिवर्जन अर्थात् जिन कारणों से नेत्ररोग उत्पन्न होते हैं उनका परित्याग ही क्रियायोग (चिकित्सा) है फिर वातादि दोषों का प्रतीघात (विनाश) करना यह शास्त्र में दूसरा विस्तृत उपाय बताया है ॥ २५ ॥

विमर्शः—संक्षेप और विस्तार ऐसे नेत्ररोग-चिकित्सा के दो विभाग कर दिये गये हैं। क्रियायोगः-क्रियाणां संशमनसंशोधनादीनां, सम्यग्योगः। निदानपरिवर्जनम्—निदानानां दोषकारकहेतूनां रोगकारकहेतूनाञ्च सर्वतो वर्जनम्।

उष्णाभितप्तस्य जलप्रवेशाद्
दूरेक्षणात् स्वप्नविपर्ययाच्च ।
प्रसक्तसंरोदनकोपशोक-
क्लेशाभिघातादतिमैथुनाच्च ॥ २६ ॥
शुक्तारनालाम्लकुलत्थमाष-
निषेवणाद्वेगविनिग्रहाच्च ।
स्वेदादथो धूमनिषेवणाच्च
छर्देर्विघाताद्वमनातियोगात् ।
बाष्पग्रहात् सूक्ष्मनिरीक्षणाच्च
नेत्रे विकाराञ्जनयन्ति दोषाः ॥ २७ ॥

नेत्ररोग हेतु—धूप में गरम हुये मनुष्य का सहसा शीतलजल में प्रवेश करने से, दूर की वस्तुओं को अधिक देखने से, शयन में वैपरीत्य करने से तथा निरन्तर रुदन, कोप, शोक, क्लेश, अभिघात (चोट) और अति स्त्रीसम्भोग करने से एवं शुक्त (सिरका), आरनाल (काञ्जी), अम्लपदार्थ, कुलथी, उड़दी इनका निरन्तर सेवन करने से, मल-मूत्रादि, अधारणीय वेगों के धारण करने से, अधिक पसीना आने से, अधिक धूम्रपान करने से, वमन के वेग के रुक जाने से तथा अधिक वमन होने से, बाष्प (नेत्राश्रु) को रोक लेने से, सूक्ष्म वस्तुओं के देखने का कार्य (घड़ीसाजी आदि) करने से वातादि दोष प्रकुपित होकर नेत्र में रोग उत्पन्न कर देते हैं ॥

विमर्शः—आचार्य सुश्रुत ने व्याधिसमुद्देशीय अध्याय में रोगों को सात भागों में विभक्त किया है—'ते पुनः सप्तविधा व्याधयः, आदिबलप्रवृत्ताः, जन्मबलप्रवृत्ताः, दोषबलप्रवृत्ताः, संघातबलप्रवृत्ताः, कालबलप्रवृत्ताः, दैवबलप्रवृत्ताः, स्वभावबलप्रवृत्ता इति' (सु. सू. अ. २४)। पाश्चात्य चिकित्सा-विज्ञान में भी नेत्ररोग के कारणों को सात भागों में विभक्त कर दिया है—

१. (क) आदिबलप्रवृत्त कुलज या (Heriditary defects)
(ख) जन्मबलप्रवृत्त या सहजविकार (Congenital defects)

संघातबलप्रवृत्तकारण—
२. देहाभिघातजन्य (physical injuries)
३. यन्त्राभिघातज (Mechanical Injuries)
४. रासायनिकाभिघातज (Chemical injuries)

दोषबलप्रवृत्त—
५. कीटाणुजन्याभिघातज (Parasitic injuries)
६. अपक्रान्तिजविकृति (Degenerative changes)
७. अर्बुदजन्यविकार (Newgrowths) दोषबलप्रवृत्त नेत्ररोग।

प्राचीनों के दो कारण और हैं—

(१) कालबलप्रवृत्त ऋतुजन्यरोग—वसन्त में (Spring catarrh)

(२) दैवबलप्रवृत्त जैसे बिजली (Lightening) इन्द्रवज्र द्वारा आकस्मिक आघात।

जन्मबलप्रवृत्त विकृतियों (Congenital defects) में नेत्रगोलक या अन्य अवयवों के पूर्ण विकास का अभाव, जैसे पलक उठाने में अशक्ति (Ptosis), तारामण्डल का न होना, काच (केटैक्ट) नेत्रगोलक का अभाव आदि।

आदिबलप्रवृत्त विकृतियों (Heriditary) में माता या पिता से अथवा वंशपरम्परा से होने वाले रोग जैसे नेत्र शुक्लाङ्गता (Albinism), नक्तान्ध्य (Night blindness) आदि।

भौतिक कारणों (Physical injuries) में सूर्य, अग्नि तथा तीव्र विद्युत्प्रकाश इनका अतियोग, अयोग एवं मिथ्यायोग

नेत्रों के लिये हानिकर है। कांच के कारखानों में काम करने से मोतियाबिन्द (Glass blowers cataract) हो जाता है। भारत तथा अफ्रीका के अत्युष्ण-स्थानवासियों को भी मोतियाबिन्द अधिकतर हो जाया करता है। अत्यधिक शीत भी नेत्ररोगजनक है। बरफ पर चलनेवालों को (Snow blindness) हो जाता है इसी तरह दूरेक्षण (मायोपिया= समीपदृष्टि) तथा सूक्ष्मेक्षण (मेट्रोपिया दूरदृष्टि) रोग भी आंखों पर जोर (Strain) पड़ने से हो जाया करते हैं।

यान्त्रिकाभिघात (Mechanical injuries) के दो भेद होते हैं। १. छिद्रसहित (With perforation) २. छिद्ररहित (Without perforation)

छिद्रसहित अवस्था के भी दो भेद हैं। (१) छिद्र करके बाह्यपदार्थों का भीतर रह जाना। (२) छिद्र करके बाह्य पदार्थों का निकट जाना। नेत्रगोलक पर बलपूर्वक धक्का (Concussion) लगने से या जोर से दबाव (Compression) पड़ने से रक्तस्राव होकर जलमय रस के पूर्वखण्ड के अन्दर रक्त सञ्चित हो जाता है। दृष्टिमणि (Lens) के स्तरों पर चोट पहुंचने से अभिघातज काच बिन्दु (Traumatic cataract) हो सकता है या लैंस स्वस्थान से च्युत हो सकता है।

रासायनिक द्रव्यजनित व्यथा (Chemical injuries)— ये द्रव्य (१) बाह्य (जो कि नेत्र में डाले जाते हैं) तथा (२) आन्तरिक (जो कि रुग्ण को मुख द्वारा दिये जाते हैं) भेद से दो तरह के हैं। बाह्य रासायनिक द्रव्यों में एट्रोपिन, क्रिसारोबिन, नेफ्थेलीन, क्षार, अम्ल तथा अग्निदाह का समावेश है। इन द्रव्यों के मिथ्या तथा अतियोग से नेत्रों में विकृति हो जाती है। एट्रोपिन से नेत्रश्लेष्मावरणदाह, क्रिसारोबिन के मलहर के आंख में लग जाने से पलकों पर शोथ, नेफ्थेलिन से काचबिन्दु, क्षारों (कास्टिक पोटास, कास्टिक सोडा, अमोनिया तथा चूना) से शुक्लमण्डल और नेत्रश्लेष्मावरण का दाह हो जाता है।

अम्लपदार्थ—जैसे गन्धक द्राव (Sulphuric acid), सोरक द्राव (Nitric Acid), लवण द्राव=Hydrochloric Acid एवं कार्बोलिक एसिड, इनके मिथ्या प्रयोग (शत्रुता होने पर किसी के मुख पर छिड़क देने) से नेत्रपलक तथा गोलक को हानि होती है।

अग्निजदाह—अतितप्त घृत या तैल में पूड़ी, पकोड़ी, मालपूए बनाते समय छींटा आंख में लगने से, प्रदीप्ताग्नि को जल से बुझाने पर उठनेवाले धुंए से तथा भट्टी व इञ्जिन में कार्य करते समय आग की लपट लग जाने से शुक्लमण्डल तथा नेत्र-बाह्य पटल पर हानि पहुँचती है।

आन्तरिक हेतु—नेत्रप्रविष्ट कीटाणु विष (Toxins) संखियायुक्त औषध, क्विनाईन, मेथिलेटेड स्प्रिट, उदरकृमिनाशार्थ बच्चों में प्रयुक्त सेण्टोनिन आदि के मिथ्या तथा अतियोग से नेत्रों में हानि होती है।

कीटाणुजन्य व्यथा—कीटाणु नेत्र तथा नेत्रोपाङ्गों पर आक्रमण कर (Ectogenous) के एवं रक्त में प्रवेश कर रक्तभ्रमण द्वारा नेत्रप्रान्त में आकर नेत्ररोगोत्पत्ति में (endogenous) हेतु होते हैं जैसे स्टेफिलो कोकाई आल्बस, ज़ेरोसिस बेसिलाई, स्टेफिलो कोकस औरियस ये पलकों पर हानि करते हैं तथा नेत्रश्लेष्मावरण में न्यूमो कोकाई, स्ट्रेप्टो कोकाई, गोनोकोकाई प्रभृति विकार पैदा करते हैं।

अपक्रान्तिजनित विकृतियों में शुक्लमण्डल की अपारदर्शकता (Arcus senitis), नेत्रश्लेष्मावरण पीतदाग (Pinguecula), प्रौढिभूतदृष्टि (Presbyopia) प्रधान हैं। ग्रन्थि-अर्बुद (Tumours)—नेत्रपलक, अश्रुपिण्ड, नेत्रमध्यपटल, नेत्रदर्पण आदि अनेक स्थानों में ये ग्रन्थियां उत्पन्न होती हैं जिनके मुख्य कारण का यथार्थ ज्ञान नहीं है किन्तु देहविकास के समय उसमें न्यूनता के रह जाने से वह बाद में अर्बुद के रूप में विकसित होती है।

वाताद् दश तथा पित्तात् कफाच्चैव त्रयोदश।
रक्तात् षोडश विज्ञेयाः सर्वजाः पञ्चविंशतिः॥
तथा बाह्यौ पुनर्द्वौ च रोगाः षट्सप्ततिः स्मृताः॥२८॥

दोषानुसार नेत्ररोग गणना—वातसे दस, पित्त से दस, कफ से तेरह, रक्त से सोलह, सर्वज पचीस तथा बाह्य (एकोऽभिघातजातः सनिमित्तो द्वितीयश्च सुरर्षिगन्धर्वादिदर्शनाभिहतदर्शनशक्तिरनिमित्तः) दो ऐसे कुल मिलाकर छिहत्तर नेत्ररोग होते हैं॥ २८॥

हताधिमन्थो निमिषो दृष्टिर्गम्भीरिका च या।
यच्च वातहतं वर्त्म न ते सिध्यन्ति वातजाः॥ २९॥
याप्योऽथ तन्मयः काचः साध्याः स्युः सान्यमारुताः।
शुष्काक्षिपाकाधीमन्थस्यन्दमारुतपर्ययाः॥ ३०॥

वातज नेत्ररोगों में हताधिमन्थ, निमिष, गम्भीरिका दृष्टि और वातहत वर्त्म ये असाध्य हैं। वातज काचरोग याप्य है एवं शुष्काक्षिपाक, अधिमन्थ, अभिष्यन्द, वातपर्यय और अन्यतोवात ये पांच रोग साध्य माने गये हैं॥ २९-३०॥

विमर्शः—हताधिमन्थ (Atrophy of the Eye Ball) निमिष (Blepharosposm), गम्भीरिका (Paralysis of the VIth cranial nerve), वातहतवर्त्म (Paralysis of the VIIth cranial nerve Lagopthalmus or ptosis), काचरोग (Cataract), शुष्काक्षिपाक (Opthalmoplagia), वाताभिष्यन्द (Acute conjunctivitis), वातपर्यय (Vth cranial nerve atrophy), अन्यतोवात, (Neuralgia of the Vth cranial Nerve)

असाध्यो ह्रस्वजाड्यो यो जलस्रावश्च पैत्तिकः॥
परिम्लायी च नीलश्च याप्यः काचोऽथ तन्मयः॥३१॥
अभिष्यन्दोऽधिमन्थोऽम्लाध्युषितं शुक्तिका च या।
दृष्टिः पित्तविदग्धा च धूमदर्शी च सिध्यति॥३२॥

पैत्तिक नेत्ररोगों में ह्रस्वजाड्य और जलस्राव असाध्य माने गये हैं तथा परिम्लायी काच और नीलकाच याप्य माने गये हैं। पित्तजन्य अभिष्यन्द, अधिमन्थ, अम्लाध्युषित, शुक्तिका, पित्तविदग्धदृष्टि और धूमदर्शी ये विकार साध्य माने गये हैं॥ ३१-३२॥

विमर्शः—ह्रस्वजाड्य (Retinitis pigmentosa), जलस्राव (Watery discharge), परिम्लायी काच (Glaucoma),

नीलकाच (Black cataract), अभिष्यन्द (Conjunctivitis), अधिमन्थ (Glaucoma acute), अम्लाध्युषित शुक्तिका (Xerosis), पित्तविदग्ध दृष्टि (Retinitis pigmentosa), धूमदर्शी (Glaucomatic stage)।

असाध्यः कफजः स्रावो याप्यः काचश्च तन्मयः ।
अभिष्यन्दोऽधिमन्थश्च बलासग्रथितञ्च यत् ॥ ३३ ॥
दृष्टिः श्लेष्मविदग्धा च पोथक्यो लगणश्च यः ।
क्रिमिग्रन्थिपरिक्लिन्नवर्त्मशुक्लार्मपिष्टकाः ॥ ३४ ॥
श्लेष्मोपनाहः साध्यास्तु कथिताः श्लेष्मजेषु तु ॥३५॥

कफज नेत्ररोगों में कफजस्राव असाध्य तथा कफज काच याप्य है एवं अभिष्यन्द, अधिमन्थ, बलासग्रथित, श्लेष्मविदग्ध दृष्टि, पोथकी, लगण, क्रिमिग्रन्थि, परिक्लिन्नवर्त्म, शुक्लार्म, पिष्टक, श्लेष्मोपनाह ये एकादश रोग साध्य कहे गये हैं ॥ ३३–३५ ॥

विमर्शः—कफजस्राव (Mucus discharge), कफजकाच (Cataract), अधिमन्थ (Glaucoma Acute), बलासग्रथित, श्लेष्मविदग्ध दृष्टि (रतौंधी) (Nyctalopia. Night blindness), पोथकी (Granular conjunctivitis or tracoma), लगण (Calazion केलेजियन or Meibomian cyst), क्रिमिग्रन्थि, परिक्लिन्नवर्त्म (Ankylo Blepharon), शुक्लार्म (Pterygium टेरिजियम), पिष्टक (Pinguecula), श्लेष्मोपनाह ।

रक्तस्रावोऽजकाजातं शोणितार्शोव्रणान्वितम् ।
शुक्रं न साध्यं काचश्च याप्यस्तज्जः प्रकीर्त्तितः ॥ ३६ ॥
मन्थस्यन्दौ क्लिष्टवर्त्म हर्षोत्पातौ तथैव च ।
सिराजाताऽञ्जनाख्या च सिराजालञ्च यत् स्मृतम् ॥३७॥
पर्वण्यथाव्रणं शुक्रं शोणितार्मार्जुनश्च यः ।
एते साध्या विकारेषु रक्तजेषु भवन्ति हि ॥ ३८ ॥

रक्त से होनेवाले सोलह रोगों में रक्तस्राव, अजकाजात, रक्तार्श तथा सव्रण शुक्र ये चार असाध्य हैं तथा रक्तजन्य काच याप्य होता है एवं रक्तज अधिमन्थ, अभिष्यन्द, क्लिष्टवर्त्म, सिराहर्ष, सिरोत्पात, अञ्जननामिका, सिराजाल, पर्वणी, अव्रण शुक्र, शोणितार्म तथा अर्जुन ये एकादश रोग साध्य माने गये हैं ॥ ३६–३८ ॥

विमर्शः—अजकाजात (Anterior staphyloma), सव्रण शुक्र (Ulcerative keretitis or corneal Ulcer), क्लिष्टवर्त्म (Angio Neurotic oedema), सिराहर्ष (Orbital cellulitis), सिरोत्पात (Hyperemia of the conjunctiva), अञ्जननामिका (External stye), सिराजाल (Pannus पेनस), पर्वणी (Magrinal ulcers of cornea), अव्रण शुक्र (Opacity of cornea), अर्जुन (Subconjunctival Echymosis or phlyctenular conjunctivitis) ।

पूयास्रावो नाकुलान्ध्यमक्षिपाकात्ययोऽलजी ।
असाध्याः सर्वजा याप्याः काचः कोपश्च पक्ष्मणः ॥३९॥
वर्त्मावबन्धो यो व्याधिः सिरासु पिडका च या ।
प्रस्तार्यर्माधिमांसार्मस्नाय्वर्मोत्सङ्गिनी च या ॥ ४० ॥
पूयालसश्चार्बुदश्च श्यावकर्दमवर्त्मनी ।
तथाऽर्शोवर्त्म शुष्कार्शः शर्करावर्त्म यच्च वै ॥ ४१ ॥
सशोफश्चाप्यशोफश्च पाको बहलवर्त्म च ।
अक्लिन्नवर्त्म कुम्भीका विसवर्त्म च सिध्यति ॥४२॥
सनिमित्तोऽनिमित्तश्च द्वावसाध्यौ तु बाह्यजौ ।
षट्सप्ततिर्विकाराणामेषां सङ्ग्रहकीर्तिता ॥ ४३ ॥

सन्निपातज या सर्वगत नेत्ररोगों में पूयास्राव, नकुलान्ध्य, अक्षिपाकात्यय तथा अलजी ये चार रोग असाध्य होते हैं। एवं काच तथा पक्ष्मकोप याप्य होते हैं। इसी तरह वर्त्मावबन्ध, सिरापिडका, प्रस्तारि-अर्म, अधिमांसार्म, स्नाय्वर्म, उत्सङ्गिनी, पूयालस, अर्बुद, श्यावकर्दम, श्याववर्त्म, अर्शोवर्त्म, शुष्कार्श, शर्करावर्त्म, सशोफपाक, अशोफपाक, बहलवर्त्म, अक्लिन्नवर्त्म, कुम्भीका, विसवर्त्म ये उन्नीस रोग साध्य कहे गये हैं। बाह्यज अर्थात् आगन्तुक सनिमित्त (कारण से उत्पन्न) और अनिमित्त (बिना कारण से उत्पन्न) ऐसे दो रोग असाध्य होते हैं। इस तरह उक्त प्रकार से नेत्र के छिअत्तर रोगों का संक्षेप से वर्णन कर दिया है ॥ ३९–४३ ॥

विमर्शः—पूयास्राव (Purulent discharge), नकुलान्ध्य (Retinitis pigmentosa or central opacity of the lence), अक्षिपाकात्यय (Hypopyon or keratomalacia), अलजी (Phlyctenule), पक्ष्मकोप (Trichiasis districhiasis and entropion), वर्त्मावबन्ध (Non inflamatory oedema of the eye lids), सिरापिडका (Deep scleritis), उत्सङ्गिनी (Chalizion), पूयालस (Acute dacryocystitis), अर्बुद (Tumour), श्यावकर्दम, श्याववर्त्म, अर्शोवर्त्म (Papillary form), शर्करावर्त्म, सशोफपाक, अशोफपाक, बहलवर्त्म, अक्लिन्नवर्त्म, कुम्भीका, बिसवर्त्म।

नव सन्ध्याश्रयास्तेषु वर्त्मजास्त्वेकविंशतिः ।
शुक्लभागे दशैकश्च चत्वारः कृष्णभागजाः ॥ ४४ ॥
सर्वाश्रयाः सप्तदश दृष्टिजा द्वादशैव तु ।
बाह्यजौ द्वौ समाख्यातौ रोगौ परमदारुणौ ।
भूय एतान् प्रवक्ष्यामि सङ्ख्यारूपचिकित्सितैः ॥४५॥

इति सुश्रुतसंहितायामुत्तरतन्त्रान्तर्गते शालाक्यतन्त्रे औपद्रविको नाम प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

उक्त छिहत्तर नेत्ररोगों में से सन्धियों में नौ रोग होते हैं, वर्त्मप्रदेश में इक्कीस रोग होते हैं, शुक्लभाग में ग्यारह रोग होते हैं, कृष्णभाग में चार रोग होते हैं, सर्वाश्रय रोग सतरह होते हैं, दृष्टिमण्डल में बारह रोग होते हैं, बाह्यकारणों से अत्यन्त भयंकर दो रोग होते हैं। इन रोगों की संख्या (भेद), स्वरूप (लक्षण) और चिकित्सा पुनः आगे के अध्यायों में कहूंगा ॥ ४४–४५ ॥

इत्यायुर्वेदतत्त्वसंदीपिकाभाषाटीकायामुत्तरतन्त्रे प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

द्वितीयोऽध्यायः ।

अथातः सन्धिगतरोगविज्ञानीयमध्यायं व्याख्यास्यामः॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥ २ ॥

अब इसके अनन्तर यहां से नेत्र की सन्धियों में होने वाले रोगों का वर्णन करनेवाले अध्याय का व्याख्यान किया जाता है जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने कहा था ॥ १-२ ॥

पूयालसः सोपनाहः स्रावाः पर्वणिकाऽलजी ।
क्रिमिग्रन्थिश्च विज्ञेया रोगाः सन्धिगता नव ॥ ३ ॥

पूयालस, उपनाह, विविध प्रकार के अर्थात् चतुर्विध स्राव, पर्वणिका, अलजी और क्रिमिग्रन्थि इस तरह नेत्र की सन्धियों में नौ प्रकार के रोग होते हैं ॥ ३ ॥

पक्वः शोफः सन्धिजः संस्रवेद् यः
सान्द्रं पूयं पूति पूयालसः सः ।
ग्रन्थिर्नाल्पो दृष्टिसन्धावपाकः
कण्डूप्रायो नीरुजस्तूपनाहः ॥ ४ ॥

पूयालस तथा उपनाह—नेत्र की सन्धि में प्रथम शोफ होकर वह पाक के पश्चात् सान्द्र (गाढे) तथा दुर्गन्धित पूय के रूप में स्रवित होता है उसे 'पूयालस' कहते हैं तथा नेत्र की सन्धि में बड़े आकार की तथा नहीं पकनेवाली एवं कुछ कण्डुयुक्त और वेदनारहित ग्रन्थि होती है उसे 'उपनाह' कहते हैं ॥ ४ ॥

विमर्शः—पूयालस को अश्रवाशय-शोथ (Acute or chronic dacryocystitis) अथवा अश्रवाशय-विद्रधि (Lacrymal abscess) कह सकते हैं जिनमें कनीनक सन्धि में शोथ, पाक, वेदना और पूयास्राव होता है। उपनाह को Lacrymal cyst कहते हैं। विदेहोक्तलक्षणम्—वायुः श्लेष्माणमादाय दृष्टिसन्धौ व्यवस्थितः। अरुणं कठिनं ग्रन्थिं जनयत्यल्पवेदनम् ।

गत्वा सन्धीनश्रुमार्गेण दोषाः
कुर्युः स्रावान् रुग्विहीनान् कनीनात् ।
तान् वै स्रावान् नेत्रनाडीमथैके
तस्या लिङ्गं कीर्त्तयिष्ये चतुर्धा ॥ ५ ॥

नेत्रस्राव—मिथ्या आहार-विहार एवं शीतोष्णादि कारणोंसे प्रकुपित हुये वातादि दोष अश्रुमार्ग (Lacrimal duct) के द्वारा सन्धियों में जाकर कनीनक प्रदेश नासा-समीप स्थान Inner canthus से पीड़ारहित स्रावों को करते हैं। कुछ आचार्य उन स्रावों को नेत्रनाडी (Sinus) कहते हैं। अब इनके चार प्रकारों के लक्षण कहता हूं ॥ ५ ॥

विमर्शः—विदेहे नेत्रस्रावसम्प्राप्तिः—'अश्रुस्रावः सिरा गत्वा नेत्रसन्धिषु तिष्ठति। ततः कनीनकं गत्वा चाश्रु कृत्वा कनीनके ॥ ततः स्रवत्यथास्रावं यथादोषमवेदनम् ॥ वस्तुतस्तु ये चतुर्विध स्राव कनीनिका सन्धि (Inner canthus) से होते हैं। आधुनिक नेत्ररोगविज्ञान ने कनीनकसन्धि से होने वाले स्रावों को अश्रुवाहकावयव रोग (Diseases of the Lacrymal apparatus) माने हैं जो कि निम्न होते हैं—(१) अश्रुद्वार का बाहर की ओर मुड़ना (Eversion of the punctum), (२) अश्रुद्वार-संकोच या अवरोध (Stenosis or occlusion of the punctum), (३) अश्रुवाहकनलिकावरोध (Obstruction of the canaliculus), (४) नासानलसंकोच (Stricture of the nasal duct), (५) अश्रवाशयशोथ (Dacryocystitis) ।

पाकः सन्धौ संस्रवेद् यश्च पूयं
पूयास्रावो नैकरूपः प्रदिष्टः ।
श्वेतं सान्द्रं पिच्छिलं संस्रवेद्यः
श्लेष्मास्रावो नीरुजः सः प्रदिष्टः ॥ ६ ॥
रक्तास्रावः शोणितोत्थः सरक्त-
मुष्णं नाल्पं संस्रवेन्नातिसान्द्रम् ।
पीताभासं नीलमुष्णं जलाभं
पित्तास्रावः संस्रवेत् सन्धिमध्यात् ॥ ७ ॥

चतुर्विधस्रावलक्षण—सन्धिप्रदेश में पाक होने पर वहां से पूय स्रवित होता है उसे 'पूयास्राव' कहते हैं तथा वह अनेकरूप का होता है। जो स्राव श्वेत, सान्द्र (गाढा), पिच्छिल तथा पीड़ारहित स्रवित होता है उसे 'श्लेष्मास्राव' कहते हैं। रक्त की विकृति से उत्पन्न एवं रक्तयुक्त तथा उष्णता लिये हुये एवं अधिक मात्रा में तथा नातिसान्द्र (पतला) जो स्राव बहता है उसे 'रक्तास्राव' कहते हैं। पीले वर्ण का आभास लिये हुये तथा नीलवर्ण, उष्ण और जल के समान पतला ऐसा जो स्राव कनीनक सन्धि के मध्य से होता है उसे 'पित्तास्राव' कहते हैं ॥

ताम्रा तन्वी दाहशूलोपपन्ना
रक्ताज्ज्ञेया पर्वणी वृत्तशोफा ।
जाता सन्धौ कृष्णशुक्लेऽलजी स्या-
त्तस्मिन्नेव ख्यापिता पूर्वलिङ्गैः ॥ ८ ॥

पर्वणी तथा अलजी—रक्त की विकृति से कृष्ण और शुक्ल-मण्डल की सन्धि (Sclero corneal junction) में ताम्र (लाल) वर्ण का, पतला वृत्ताकार शोफ होता है जिसमें दाह और शूल ये लक्षण होते हैं, उसे 'पर्वणी' कहते हैं। यदि यही वृत्तस्वरूप का शोफ पतला न हो के स्थूल (मोटे) स्वरूप का हो तो उसे 'अलजी' कहते हैं ॥ ८ ॥

विमर्शः—यद्यपि इन दोनों रोगों का एक स्थान तथा लक्षण और चिह्न प्रायः समान से हैं किन्तु पर्वणी रक्तदोष से उत्पन्न होती है तथा इसे साध्य माना है किन्तु अलजी सान्निपातिक एवं असाध्य होती है एवं पर्वणी तन्वी तथा अलजी स्थूल होती है जैसा कि विदेह ने भी कहा है—शुक्ल-कृष्णान्तसन्धौ तु चीयन्तेऽलुकफान्विताः। पर्वणी पिडका तैस्तु जायते स्वङ्कुरोपमा ॥ ताम्रा सदाहचोषोष्णपीतकाश्रुसमाकुला। कफ-पित्ते तु सम्मूर्च्छ्य सह रक्तेन मारुतः ॥ शुक्लकृष्णान्तसन्धौ तु जनयेद् गोस्तनाकृतिम्। पिडकामलजीं तान्तु विद्धि तोदाश्रुसङ्कुलाम् ॥

क्रिमिग्रन्थिर्वर्त्मनः पक्ष्मणश्च
कण्डूं कुर्युः क्रिमयः सन्धिजाताः ।
नानारूपा वर्त्मशुक्लस्य सन्धौ
चरन्तोऽन्तर्नयनं दूषयन्ति ॥ ९ ॥

इति सुश्रुतसंहितायामुत्तरतन्त्रे सन्धिगतरोगविज्ञानीयो नाम द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

कृमिग्रन्थिरोग—वर्त्म (Eye lids) तथा पक्ष्म (Eye lashes) की सन्धि में तथा वर्त्म और शुक्लमण्डल की सन्धि में अनेक प्रकार के कृमि पड़कर कण्डू तथा छोटी-छोटी ग्रन्थियां पैदा कर देते हैं उसे 'कृमिग्रन्थि' रोग कहते हैं। इस रोग में ये कृमि नेत्र के वर्त्म तथा शुक्लमण्डल की सन्धि को खाते हुये (चरन्तः = चर-गतिभक्षणयोः) अन्तर्नयन (Eye ball) के आभ्यन्तरिक विभागों को भी दूषित कर देते हैं ॥ ९ ॥

विमर्शः—जैसे सिर आदि स्थानों में यूका-लिक्षा (जूं) पड़ जाती है उसी तरह वर्त्म (पलक) के बालों में तथा वर्त्म और पक्ष्म (बालों) की सन्धि में ये जन्तु पड़ कर वहां शोथ, कण्डू पैदा करते हैं जिससे रोगी बलपूर्वक उस स्थान को अङ्गुलि से रगड़ता रहता है जिससे पलक की धारा (Lid-margin) छिल जाती है और उसमें उन जन्तुओं या जूंओं के अण्डे भर जाते हैं।

इत्यायुर्वेदतत्त्वसंदीपिकाभाषाटीकायामुत्तरतन्त्रे सन्धिगतरोगविज्ञानीयो नाम द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

तृतीयोऽध्यायः ।

अथातो वर्त्मगतरोगविज्ञानीयमध्यायं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥ २ ॥

अब इसके अनन्तर 'वर्त्मगतरोगविज्ञानीय' नामक अध्याय का वर्णन किया जाता है। जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने कहा था ॥ १-२ ॥

पृथग्दोषाः समस्ता वा यदा वर्त्मव्यपाश्रयाः ।
सिरा व्याप्यावतिष्ठन्ते वर्त्मस्वधिकमूर्च्छिताः ॥ ३ ॥
विवर्द्ध्य मांसं रक्तञ्च तदा वर्त्मव्यपाश्रयान् ।
विकाराञ्जनयन्त्याशु नामतस्तान्निबोधत ॥ ४ ॥

वर्त्मरोगसम्प्राप्ति—जब वात-पित्तादि दोष पृथक्-पृथक् रूप में या समस्त रूप में अत्यधिक प्रकुपित होकर वर्त्म के मध्य में रहनेवाली सिराओं में फैल कर वर्त्म में स्थित हो जाते हैं तथा वहां पुनः अत्यधिक प्रकुपित होकर वहां के मांस तथा रक्त को बढ़ाकर शीघ्र वर्त्मभाग में रोग उत्पन्न कर देते हैं। आगे उन वर्त्मगत रोगों के नाम कहता हूं सो उन्हें सुनो ॥३-४॥

विमर्शः—वर्त्मपरिभाषा—नयनगोलकावरकं निमेषोन्मेषाश्रयं पटलद्वयं वर्त्म उच्यते। द्वे वर्त्मनी, 'वर्त्मनी नयनच्छदौ' इति कोशः। इन्हें आईलिड्स (Eyelids) कहते हैं तथा इनमें होने वाले रोगों को वर्त्मरोग (Diseases of the eyelids) कहते हैं।

उत्सङ्गिन्यथ कुम्भीका पोथक्यो वर्त्मशर्करा ।
तथाऽर्शोवर्त्म शुष्कार्शस्तथैवाञ्जननामिका ॥ ५ ॥
बहलं वर्त्म यच्चापि व्याधिर्वर्त्मावबन्धकः ।
क्लिष्टकर्दमवर्त्माख्यौ श्याववर्त्म तथैव च ॥ ६ ॥
प्रक्लिन्नमपरिक्लिन्नं वर्त्म वातहतन्तु यत् ।
अर्बुदं निमिषश्चापि शोणितार्शश्च यत् स्मृतम् ॥ ७ ॥
लगणो विसनामा च पक्ष्मकोपस्तथैव च ।
एकविंशतिरित्येते विकारा वर्त्मसंश्रयाः ॥ ८ ॥

वर्त्मरोग नाम—उत्सङ्गिनी, कुम्भिका, पोथकी, वर्त्मशर्करा, अर्शोवर्त्म, शुष्कार्श, अञ्जननामिका, बहलवर्त्म, वर्त्मबन्धक, क्लिष्टवर्त्म, कर्दमवर्त्म, श्याववर्त्म, प्रक्लिन्नवर्त्म, अपरिक्लिन्नवर्त्म, वातहतवर्त्म, अर्बुद, निमेष, शोणितार्श, लगण, विसवर्त्म तथा पक्ष्मकोप ये २१ रोग वर्त्मप्रदेश में होते हैं। इनका नामतः उक्त प्रकार से वर्णन कर दिया है, अब आगे उनका लक्षणों से वर्णन करता हूं ॥ ५-८ ॥

विमर्शः—वर्त्मरोगों को (Diseases of the eye lids) कहते हैं। उत्सङ्गिनी, कुम्भिका, अञ्जननामिका ये तीनों वर्त्म की ग्रन्थियों के रोगों (Diseases of the lid glands) में समाविष्ट हो सकते हैं। उत्सङ्गिनी तथा कुम्भिका को Chalazion or meibomian cyst कह सकते हैं। अञ्जन नामिका को स्टाइ (stye) कहना चाहिये। पोथकी को ग्रेन्यूलर कञ्जंक्टीवाइटिस या ट्रेकोमा (Granular conjunctivitis or tracoma) या ग्रेन्यूलर लिड (Granular lid) कह सकते हैं। वर्त्मशर्करा को (Infection of meibomian gland) के साथ तुलना कर सकते हैं। बहलवर्त्म को पिडकायुक्तवर्त्म (Multiple chalazion or meibomian cyst or stye) कह सकते हैं। क्लिष्टवर्त्म को एञ्जियोन्यूरोटिक इडिमा (Angioneurotic oedema) कह सकते हैं। वर्त्मकर्दम (Non ulcerative blepharitis), श्याववर्त्म (Ulcerative blepharitis) वास्तव में वर्त्मबन्ध से लेकर अक्लिन्नवर्त्म तक के छः वर्त्मरोग अक्षिपुटशोथ (Oedema of lids) के ही प्रकार हैं। वातहतवर्त्म (Prarlysis VIIth cranial nerve supplying the muscle orbicularis palpebrum), निमेष (Affections of the III cranial nerve supplying the muscle levator palpebral), वर्त्मार्बुद (Tumour of the lids), वर्त्मार्श (Warts), पक्ष्मकोप (Trichiasis, distichiasis), अर्शोवर्त्म (Papillary form), शुष्कार्श (Chronic papillary form)।

वस्तुतस्तु वर्णनानुसार पोथकी, वर्त्मशर्करा, अर्श वर्त्म, और शुष्कार्श एक ही रोग की विभिन्न अवस्थाएं हो सकती हैं। जैसे—पोथकी (Trachoma or Granular lid), वर्त्मशर्करा (Granular form of lids of trachoma), अर्शोवर्त्म (Papillary form of trachoma), शुष्कार्श (Chronic form of papillary trachoma) इनमें मुख्य रोग पोथकी (Trachoma) है तथा अन्य रोग उसी की बढ़ी हुई अवस्था या उसके उपद्रव हो सकते हैं।

नामभिस्ते समुद्दिष्टा लक्षणैस्तान् प्रचक्ष्महे ।
अभ्यन्तरमुखी बाह्योत्सङ्गेऽधो वर्त्मनश्च या ॥ ९ ॥
विज्ञेयोत्सङ्गिनी नाम तद्रूपपिडकाचिता ।

उत्सङ्गिनी—अधोवर्त्म के उत्सङ्ग (क्रोड या गोद) में तथा वर्त्म के भीतर मुख वाली किन्तु बाहर की ओर उभरी हुई तथा तद्रूप (इन्हीं लक्षणों वाली) एक या अनेक पिडकाओं से घिरी हुई (व्याप्त) पिडका को 'उत्सङ्गिनी' समझो ॥

विमर्शः—उत्सङ्गिनी यह वर्त्म में होने वाली ग्रन्थि है इसे Chalazion or meibomian cyst कह सकते हैं। विदेह ने इस पिडका को सन्निपातज तथा स्पर्श में कठिन और मन्दवेदनायुक्त मानी है एवं इसके फूट जाने पर मुर्गे के अण्डे के

रस के समान द्रव निकलना लिखा है, जैसे—वर्मोत्सङ्गेऽप्यधो जन्तोः सन्निपातात्प्रजायते। अभ्यन्तरमुखी स्थूला बाह्यतश्चापि दृश्यते॥ पिडका पिडकाभिश्च चिताऽन्याभिः समन्ततः। उत्सङ्गपिडका नाम कठिना मन्दवेदना। सा प्रभिन्ना स्रवेत् स्रावं कुक्कुटाण्डरसोपमम्॥ (विदेहः)।

कुम्भीकबीजप्रतिमाः पिडका यास्तु वर्त्मजाः॥ १०॥
आध्मापयन्ति भिन्ना याः कुम्भीकपिडकास्तु ताः।

कुम्भीकपिडका—कुम्भी के बीज के स्वरूप की वर्त्म प्रदेश में उत्पन्न पिडकाएं जो कि फूटने के बाद पुनः फूल (भर) जाती है उन्हें 'कुम्भीकपिडका' कहते हैं॥ १०॥

विमर्शः—कुम्भीका कच्छदेशोद्भवा दाडिमफलाकारफला लता, तद्बीजेन प्रतिमा यास्ताः। यह भी वर्त्म का ग्रन्थि रोग है तथा इसे Internal stye hordeolum कह सकते हैं। यह भी सन्निपातज होती है जैसे—वर्त्मान्तःपिडका ध्माता भिद्यन्ते च स्रवन्ति च। कुम्भीकबीजसदृशाः कुम्भीकाः सन्निपातजाः।

स्राविण्यः कण्डुरा गुर्व्यो रक्तसर्षपसन्निभाः।
पिडकाश्च रुजावत्यः पोथक्य इति संज्ञिताः॥ ११॥

पोथकी—वर्त्म प्रदेश में लाल सरसों के स्वरूप वाली पिडकाएं उत्पन्न होती हैं जिनमें से स्राव बहता है तथा वे कण्डु (खुजली), भारीपन और पीडा से युक्त होती हैं उन्हें 'पोथकी' कहते हैं॥ ११॥

विमर्शः—अधोवर्त्म (Lower lid) के श्लेष्मावरण (Palpebral conjunctiva) में छोटी-छोटी पिडकाएं हो जाती हैं जिन्हें ट्रैकोमा (Trachoma) या ग्रेन्यूलर कंजंक्टिवाइटिस (Granular conjunctivitis) या ग्रेन्यूलर लिड (Granular lids) कहते हैं। इस रोग में पोथकी के लक्षण मिलते हैं।

यह एक चिरकालिक तथा अतिसंक्रामक रोग माना जाता है। इस रोग में पलक के भीतर अनेक पिडिकाएं निकल आती हैं जिससे नेत्रों से अश्रुस्राव, कंकर के समान गड़ना, पलक खोलने में कष्ट, प्रकाशासह्यता आदि मुख्य लक्षण होते हैं। रोगारम्भ में यदि योग्य चिकित्सा न की जाय तो अनेक उपद्रव उत्पन्न होकर दृष्टि को भी हानि पहुंच सकती है।

हेतु तथा प्रसार—अभी तक वैज्ञानिकों में इस रोग के जनक कीटाणुओं के विषय में एक मत नहीं है। 'नगूची' नामक जापानी वैज्ञानिक ने एक विशिष्ट प्रकार के कीटाणुओं को इस रोग की उत्पत्ति में कारण माना है। एक जर्मनी वैज्ञानिक ने एक विशिष्ट प्रकार के पिण्ड (Provozek's inclusion bodies) को इस रोग का उत्पादक माना है। वातातपरजोधूमयुक्त वातावरण में काम करने वाले व्यक्तियों में भी यह रोग अधिकता से पाया जाता है। इस रोग का उत्पादन संसर्ग से होता है। पोथकी से पीडित रोगी का नेत्रगत स्राव स्वस्थ व्यक्ति के नेत्र में लगने से रोग उत्पन्न होता है। रोगी अपने हाथ से, रूमाल या वस्त्र से नेत्र को पोंछता है उसी रूमाल से स्वस्थ व्यक्ति अपनी आँख पोंछे तो रोग हो सकता है। किसी स्त्री को पोथकी होने पर उसके दूषित हाथ या कपड़ा बच्चे की आंख में लग जाने से उस बच्चे को भी पोथकी हो जाती है। जिस बिस्तर या तकिया पर पोथकी का रोगी सोता है उस पर अन्य स्वस्थ व्यक्ति सोवे तो उसे यह रोग हो सकता है। पोथकी-ग्रस्त रुग्ण के नेत्र में काजल लगाकर यदि उसी शलाका से दूसरे व्यक्ति को काजल लगाया जाय तो उसे यह रोग हो जाता है। काजल लगाने की प्रथा भारत में अत्यधिक है अतः यह दूषित शलाका रोगप्रसार में अत्यधिक भाग लेती है।

लक्षण तथा चिह्न—(१) उत्स्राव—धूप, धूम तथा वायु से यह बढ़ जाता है। 'स्राविण्यः'। (२) प्रकाशासह्यता—कुछ रोगी कई दिनों तक अंधेरे कमरों में पड़े रहते हैं। रोग के सौम्य होने पर काले चश्मे लगाकर बाहर निकलते हैं। प्राचीनों ने भी स्पष्ट कहा है—'शक्तो नार्कप्रभां द्रष्टुम्'। (३) वेदना—दानों के कारण नेत्र में किरकिरी या गड़न होती है जिससे वेदना असह्य हो जाती है। रात्रि के समय यह वेदना अत्यधिक होती है और दिनमें किरकिरी कम प्रतीत होने से वेदना भी कम होती है। प्राचीनों ने इसे 'शूकपूर्णाभमेव च' कह कर वर्णन किया है। नेत्रोन्मीलनाक्षमता—नेत्र में लाली, अश्रुस्राव तथा मल (गीड या कीचड़) के अत्यधिक होने से नेत्र चिपक जाते हैं। इसी का वर्णन आचार्यों ने 'न नेत्रोन्मीलनक्षमः' इस रूप में किया है।

दर्शनपरीक्षा—पलकों को उलट कर देखने से वे लाल दिखाई देते हैं। स्पर्श से खुरदरे प्रतीत होते हैं। उनके भीतरी भाग में सर्षप के समान उभरे हुये अनेक दाने होते हैं। किसी में ये दाने साबूदाने जैसे श्लेष्मावरण में भरे हुये दिखाई देते हैं। अथवा शहतूत के फल के ऊपर जैसा खुरदरापन होता है वैसा श्लेष्मावरण बन जाता है। ऊपर के पलक में ये दाने अधिक होते हैं जिस से पलक शोथयुक्त हो जाता है। कुछ सप्ताह के बाद छोटे दाने कठिन दानों के रूप में परिवर्तित हो जाते हैं, इनका वर्ण पिङ्गल, देखने में स्वच्छ तथा गोलाकृति तथा नेत्र श्लेष्मावरण को उभारे हुये होते हैं। कुछ मास के बाद यह उभरा भाग या दाने शोषित हो जाते हैं तथा उनके स्थान पर श्वेत पंक्ति या दाग दिखाई देते हैं।

क्रमिक अवस्थाएं—प्रथमावस्था (Ist stage)—इस दशा में नेत्र में लाली, अश्रुस्राव, प्रकाशासहिष्णुता, नेत्रोन्मीलन में कठिनाई, प्रातःकाल में पलकों का चिपकना, आंखों में किरकिरापन (गड़न) आदि। यह स्थिति ४ से ६ सप्ताह तक रहती है तथा इस समय योग्य उपचार किया जाय तो रोग शान्त हो जाता है कुछ रोगियों में तीक्ष्णावस्था के लक्षण और चिह्न प्रतीत न होकर नेत्र में रोरे बढ़ते हैं जिससे ऊर्ध्ववर्त्मगत श्लेष्मावरण (Tarsal conjunctiva) में उभार अङ्कुर (Papilla) दिखाई देते हैं।

द्वितीयावस्था—(IInd stage) इसमें प्रथमावस्था की अपेक्षा दाने कुछ मोटे हो जाते हैं। ये देखने में भूरे (Grayish) या पीतवर्ण (Yellowish) गोल तथा प्रकाश के परावर्तक होते हैं। ये अधिकतर वर्त्मकोणों (Fornix) में होते हैं। इस दशा में एक सिराओं का गुच्छा कृष्णमण्डल (Cornea) की ओर जाता हुआ दिखाई देता है। जो कि प्रारम्भ में श्वेत-कृष्णमण्डल के ऊपर के आधे भाग तक पहुंचने तक काफी

तेजी से बढ़ता पश्चात् ऊपरी स्तर पर वहां एक पिन के बराबर का व्रण बना लेता है जिसे Trachomatous ulcer या 'पोथकी व्रण' कहते हैं। अन्त में सम्पूर्ण कृष्णमण्डल व्रण से ग्रस्त हो जाता है। इस अवस्था में दृष्टि-शक्ति मन्द पड़ जाती है। रोग के अधिक तीव्र होने पर तारामण्डल शोथ (Iritis) भी हो जाता है।

तृतीयावस्था (Third stage)—इसमें रोपण का कार्य होता है अतः इसमें उक्त दोनों अवस्थाओं के लक्षण मिलते हैं। अङ्कुर (Papilla) तथा दाने अदृश्य होने लगते हैं किन्तु नेत्रश्लेष्मावरण अपनी प्राकृतिक स्थिति में प्राप्त नहीं होता है। वर्त्मगत श्लेष्मावरण (Tarsal conjunctiva) में पतली धारियाँ (Bands) तथा व्रणवस्तु (Scars) बन जाती हैं जो कभी-कभी जालोपम दिखाई देती हैं। रोपणावस्था में वर्त्मकोण का श्लेष्मावरण पाण्डु व नील (Blaish white) दिखाई देता है।

चतुर्थावस्था (Fourth stage)—इस दशा में कृष्णमण्डल (Cornea) पोथकी द्वारा आक्रान्त होता है अतएव अनेक उपद्रव उत्पन्न होते हैं—वर्त्मगतश्लेष्मावरण में व्रणवस्तु का संकोच हो जाने से पक्ष्मकोप, वर्त्म का अन्तरावर्त्तन (Entropium) या बाह्यावर्त्तन (Ectropium) अजकाजात (Staphyloma) तथा शुक्ति (Xerosis) प्रभृति उपद्रव हो जाते हैं।

उपद्रव—प्रारम्भ में उचित चिकित्सा न करने से रोग जीर्ण होने पर निम्न उपद्रव एक या अधिक प्रमाण में हो सकते हैं—रक्तराजि (pannus), अव्रण तथा सव्रण शुक्र (Opacities and cornea ulcer), पक्ष्मकोप (Trachiasis distichiasis and entropium), वर्त्मशोथ या वर्त्मबन्ध या (Blepharitis) पलक और गोलक की संलग्नता (Samblepharon), नेत्रश्लेष्मावरण शुष्कता (Xerosis), अश्रवाशय शोथ (Dacryocystitis)।

पिडकाभिः सुसूक्ष्माभिर्घनाभिरभिसंवृता।
पिडका या खरा स्थूला सा ज्ञेया वर्त्मशर्करा॥ १२॥

वर्त्मशर्करा—वर्त्मप्रदेश में खर (कर्कश) एवं स्थूल (मोटी) एक पिडका अन्य सूक्ष्म (छोटी-छोटी) तथा घनी (कठोर) पिडकाओं से व्याप्त रहती है उसे 'वर्त्मशर्करा' कहते हैं॥ १२॥

विमर्शः—विदेह ने वर्त्मशर्करा को सन्निपातज मानी है यथा—सुसूक्ष्मपिडकाकीर्णा या स्थूला पिडका खरा। जायते सन्निपातात्तु वर्त्मशर्करिकेति सा॥ वर्त्मशर्करा भी पोथकी ही की एक अवस्था-विशेष होनी चाहिये। इसे Granular form lids of Trachoma कह सकते हैं।

एर्वारुबीजप्रतिमाः पिडका मन्दवेदनाः।
सूक्ष्माः खराश्च वर्त्मस्थास्तदर्शोवर्त्म कीर्त्यते॥१३॥

अर्शोवर्त्म—वर्त्मप्रदेश में ककड़ी (खीरे) के बीज के आकार की, मन्द वेदनायुक्त, सूक्ष्म तथा खर (तीक्ष्णाग्रवाली) पिडकाएँ उत्पन्न होती हैं उन्हें 'अर्शोवर्त्म' कहते हैं॥ १३॥

विमर्शः—विदेह ने इन पिडकाओं को वर्त्मपक्ष्मसन्धि के अन्दर तथा बाह्य प्रदेश में सन्निपात से उत्पन्न होना लिखा है, जैसे—नीरुजा कठिना वर्त्मपक्ष्मान्तर्बहितोऽपि वा। पिडका सन्निपातेन तदर्शोवर्त्म निर्दिशेत्॥ यह अर्शोवर्त्म Papillary form of trachoma हो सकता है।

दीर्घोऽङ्कुरः खरः स्तब्धो दारुणो वर्त्मसम्भवः।
व्याधिरेष समाख्यातः शुष्कार्श इति संज्ञितः॥१४॥

शुष्कार्श—वर्त्मप्रदेश में उत्पन्न लम्बे लम्बे अङ्कुर सदृश, खर, स्तब्ध (कठोर) और अति कष्टदायक विकार को 'शुष्कार्श' कहते हैं॥ १४॥

विमर्शः—विदेह ने शुष्कार्श को सन्निपातजन्य तथा वर्त्म के भीतरी प्रदेश में होना लिखा है, जैसे—वर्त्माभ्यन्तर्गतं श्लक्ष्णं शुष्कं स्थूलञ्च दारुणम्। जायते सन्निपातेन तच्छुष्कार्शः प्रकीर्तितम्॥ आधुनिक विचार से शुष्कार्श भी Chronic form of papillary trachoma ही है।

दाहतोदवती ताम्रा पिडका वर्त्मसम्भवा।
मृद्वी मन्दरुजा सूक्ष्मा ज्ञेया साऽञ्जननामिका॥१५॥

अञ्जननामिका—वर्त्मप्रदेश में उत्पन्न पिडका जिसमें दाह, सूई चुभोने की सी पीड़ा होती हो तथा वर्ण में ताम्र, स्पर्श में मृदु, अल्प पीड़ा एवं सूक्ष्म स्वरूप की हो उसे 'अञ्जननामिका' कहते हैं॥ १५॥

विमर्शः—अञ्जननामिका—इसके बाह्य तथा आभ्यन्तर दो भेद होते हैं, बाह्य को (External stye hordeolum) कहते हैं। उसकी उत्पत्ति ज़ाइस पिण्ड (Zeiss gland) के शोथ से होती है। आभ्यन्तरिक अञ्जननामिका को 'कुम्भीकपिडका' (Internal stye hordeolum) कह सकते हैं। इसकी उत्पत्ति पलक की कोमलास्थि में अवस्थित मेइबोमियन पिण्ड के प्रदाह से होती है। इसका अवस्थान बिल्कुल धारा पर न होकर कुछ ऊपर के भाग में होता है। बाह्य में वेदना कम तथा आभ्यन्तर में अधिक होती है।

वर्त्मोपचीयते यस्य पिडकाभिः समन्ततः।
सवर्णाभिः समाभिश्च विद्याद् बहलवर्त्म तत्॥१६॥

बहलवर्त्म—जिस मनुष्य का वर्त्मभाग चारों ओर से त्वचा के समान वर्ण वाली तथा एक समान आकृति की पिडकाओं से आच्छादित हो जाता है उसे बहलवर्त्म रोग जानो॥ १६॥

विमर्शः—बहलवर्त्म को बहुपिडकायुक्त वर्त्म (Multiple chalazion or meibomian cyste or stye) कह सकते हैं।

कण्डूमताऽल्पतोदेन वर्त्मशोफेन यो नरः।
न समं छादयेदक्षि भवेद् बन्धः स वर्त्मनः॥ १७॥

वर्त्मबन्ध—जो मनुष्य खुजली वाले तथा कुछ सुई चुभोने की सी पीड़ा से युक्त वर्त्मशोफ से नेत्र को पूर्ण रूप से बन्द नहीं कर सकता हो उस रोग को 'वर्त्मबन्ध' कहते हैं॥ १७॥

मृद्वल्पवेदनं ताम्रं यद्वर्त्म सममेव च।
अकस्माच्च भवेद्रक्तं क्लिष्टवर्त्म तदादिशेत्॥ १८॥

क्लिष्टवर्त्म—नेत्र का वर्त्म भाग (पलक) सहसा (बिना किसी कारण) मृदु (पिलपिला) तथा अल्प पीड़ा से युक्त एवं वर्ण में प्रथम ताम्र तथा बाद में रक्त हो जाता है उसे 'क्लिष्टवर्त्म' कहते हैं॥ १८॥

विमर्शः—विदेह ने कफ से दूषित रक्त के द्वारा दोनों वर्त्म के मांस के विकृत होकर बन्धुजीव (गुलदुपहरिया=जपापुष्प) के समान हो जाने को 'क्लिष्टवर्त्म' लिखा है—श्लेष्मदुष्टेन रक्तेन क्लिष्टं मांसमिवोभयम्। बन्धुजीवनिभं वर्त्म क्लिष्टवर्त्म तदुच्यते॥ क्लिष्टवर्त्म को 'एंजियो न्यूरोटिक इडिमा (Angio neurotic oedema)' कह सकते हैं।

क्लिष्टं पुनः पित्तयुतं विदहेच्छोणितं यदा।
तदा क्लिन्नत्वमापन्नमुच्यते वर्त्मकर्दमम्॥ १९॥

वर्त्मकर्दम—क्लिष्टवर्त्म रोग की दशा ही में पित्त से युक्त होकर रक्त विदाह उत्पन्न करके वर्त्म भाग को क्लिन्न (आर्द्र) कर देता है इस अवस्था को 'वर्त्मकर्दम' कहते हैं॥ १९॥

विमर्शः—वर्त्मकर्दम का Non ulcerative blepharitis के साथ समता हो सकती है। इसमें वर्त्म मोटे तथा कीचड़युक्त हो जाते हैं। यह रोग सन्निपातज होते हुये भी साध्य माना गया है।

यद्वर्त्म बाह्यतोऽन्तश्च श्यावं शूनं सवेदनम्।
दाहकण्डूपरिक्लेदि श्याववर्त्मेति तन्मतम्॥ २०॥

श्याववर्त्म—जिस मनुष्य का वर्त्म बाहर तथा भीतर से श्याव (धूम्र, काला) हो जाय तथा उसमें शोथ, वेदना, दाह, कण्डू और क्लेद उत्पन्न हो जाय उसे 'श्याववर्त्म' कहते हैं॥

विमर्शः—श्याववर्त्म का सादृश्य Ulcerative blepharitis के साथ हो सकता है। विदेह ने श्याववर्त्म को त्रिदोषज माना है—दुष्टः श्लेष्मा मरुत्पित्तं वर्त्मनोश्चीयते यदा। अग्निदग्धनिभं श्यावं श्याववर्त्मेति तद्विदुः॥

अरुजं बाह्यतः शूनमन्तः क्लिन्नं स्रवत्यपि।
कण्डूनिस्तोदभूयिष्ठं क्लिन्नवर्त्म तदुच्यते॥ २१॥

क्लिन्नवर्त्म—इस रोग में वर्त्म का बाह्य भाग शोथयुक्त तथा पीडारहित होता है किन्तु वर्त्म का आन्तरिक भाग क्लेद तथा स्रावयुक्त होता है एवं उसमें कण्डू तथा सूई चुभोने की सी पीड़ा अधिक होती है इसे 'क्लिन्नवर्त्म' कहते हैं॥ २१॥

विमर्शः—किसी आचार्य ने इसका 'प्रक्लिन्नवर्त्म' नाम रखा है तथा चक्रपाणि ने 'पिल्ल' नाम लिखा है—भृशं प्रक्लिद्यते वर्त्म कण्डूमन्मन्दवेदनम्। विद्यात्प्रक्लिन्नवर्त्मेति तत् पिल्लं सन्निपातजम्॥

यस्य धौतानि धौतानि सम्बध्यन्ते पुनः पुनः।
वर्त्मान्यपरिपक्वानि विद्यादक्लिन्नवर्त्म तत्॥ २२॥

अक्लिन्नवर्त्म—जिस मनुष्य के वर्त्म बार-बार धोने पर भी चिपक जाते हों तथा पाक न हो उसे 'अक्लिन्नवर्त्म' कहते हैं।

विमर्शः—विदेह ने अक्लिन्नवर्त्म की पिल्ल संज्ञा रखी है जैसे—प्रक्षालितेऽथवा मृष्टे बध्यते पुनः पुनः। अपरिक्लिन्नवर्त्मेति तत्पिल्लमिति निर्दिशेत्॥ कुछ आचार्यों ने पिल्ल रोग को स्वतन्त्र मानकर ही उसका पृथक् वर्णन किया है—पित्तश्लेष्मप्रकोपेण वर्त्मान्तः परिपाच्यते। तात्रं निर्लोम तच्चापि विशिष्टं पिल्ललक्षणम्॥ आचार्य वाग्भट ने कुकूणक आदि अट्ठारह रोगों की पिल्ल संज्ञा रखी है। उक्त वर्त्मबन्धादि से अक्लिन्नवर्त्मपर्यन्त ६ वर्त्म रोग अक्षिपुटशोथ (Oedema of lids) के अन्दर समाविष्ट होते हैं। वर्त्मशोफ दो प्रकार का माना गया है—(१) शोफ या निष्क्रियशोफ—(Non inflammatory edema) (२) व्रणशोथ या सक्रिय शोथ—(Inflammatory edema) प्रथम प्रकार का शोथ वृक्कविकृति, हृदयविकृति, यकृत्विकृति तथा फुफ्फुसविकृति से होता है। क्वचित् इस शोथ में अलर्जी (Allergy) भी कारण होती है। अलर्जीजन्य शोथ को 'एंजियो न्यूरोटिक इडिमा' कहते हैं। सुश्रुत का क्लिष्टवर्त्म इसमें समाविष्ट हो सकता है। वर्त्मबन्ध रोग भी इस निष्क्रिय शोफ में समाविष्ट हो सकता है। द्वितीय प्रकार के शोथ में वर्त्मकर्दम, श्याववर्त्म, क्लिन्नवर्त्म तथा अक्लिन्नवर्त्म का समावेश हो सकता है। वर्त्मशोफ को ब्लिफेराइटिस (Blepharitis) कहते हैं। यह ब्लिफेराइटिस अभिघात, विसर्प, विद्रधि, अञ्जननामिका, अभिष्यन्द, मधुमक्षिकादिकीटदंश एवं अन्य नेत्ररोग तथा नासाकोटरशोथ प्रभृति कारणों से उत्पन्न होता है। ब्लिफेराइटिस के भी दो भेद हैं—(१) सव्रणवर्त्मशोथ (Ulcerous blepharitis) तथा (२) अव्रण या शुष्क वर्त्मशोथ (Squamous blepharitis) सुश्रुतोक्त वर्त्मकर्दम तथा क्लिन्नवर्त्म का समावेश प्रथम प्रकार के ब्लिफेराइटिस में तथा श्याववर्त्म का समावेश द्वितीय प्रकार के ब्लिफेराइटिस में हो सकता है।

विमुक्तसन्धि निश्चेष्टं वर्त्म यस्य न मील्यते।
एतद्वातहतं विद्यात् सरुजं यदि वाऽरुजम्॥ २३॥

वातहत वर्त्म—जिस मनुष्य के वर्त्म तथा शुक्ल भाग की सन्धि के मुक्त हो जाने से वर्त्म खुली हुई अवस्था में तथा चेष्टारहित हो जाते हों और नेत्र बन्द नहीं होते हों तथा किसी रोगी के वर्त्म में पीड़ा होती है तथा किसी में पीड़ा का अभाव होता है उस रोग को 'वातहत वर्त्म' कहते हैं॥ २३॥

विमर्शः—इस रोग में सातवीं मस्तिष्कीय नाड़ी (Nerve) का घात या विकृति हो जाती है (Paralysis of the vii cranial nerve supplying the muscle orbicularis palpebrum) जिससे पलकों का स्वाभाविक कार्य नष्ट हो जाता है। निम्न दशा या रोगों में पलकों के बन्द न होने से आंखें खुली रहती हैं—(१) वातहतवर्त्म—इस रोग का Lagopthalmus लैगोपथाल्मस रोग के साथ लक्षण मिलता है। इस रोग में पलक खुले ही रहते हैं जिससे नेत्र बन्द नहीं होते यहां तक कि निद्रावस्था में भी आंखें खुली रहती हैं। वास्तव में मस्तिष्क की सातवीं वातवाहिनी (Nerve) का घात हो जाने से ही यह दशा उत्पन्न होती है। (२) बहिर्गलगण्ड (Exopthalmic goitre)—इस रोग में नेत्रगोलक (Eye ball) के बड़ा हो जाने से नेत्र बन्द नहीं हो पाते हैं। (३) नेत्रगोलकभ्रंश—इसमें नेत्रगोलक अक्षिगुहा से बाहर लटकने लगता है।

वर्त्मान्तरस्थं विषमं ग्रन्थिभूतमवेदनम्।
विज्ञेयमर्बुदं पुंसां सरक्तमवलम्बितम्॥ २४॥

वर्त्मार्बुद—वर्त्म (पलकों) के आन्तरिक भाग में उत्पन्न होने वाले तथा आकृति में विषम और ग्रन्थिभूत (गांठदार) एवं वेदनारहित तथा पित्त और रक्त के अनुबन्ध से लालवर्ण

वाले व वर्त्म के किनारों से लटकते हुए होते हैं इन्हें 'वर्त्मार्बुद' कहते हैं ॥ २४ ॥

विमर्शः—वर्त्मार्बुद को Tumour of the lids कहते हैं तथा रक्तविकृतिजन्य होने से रक्तार्बुद (Angeomas) की श्रेणी में गिने जाते हैं।

निमेषिणीः सिरा वायुः प्रविष्टो वर्त्मसंश्रयाः।
चालयत्यति वर्त्मानि निमेषः स गदो मतः ॥ २५ ॥

निमेष—प्रकुपित वात वर्त्माश्रित निमेषिणी सिराओं में प्रविष्ट होकर वर्त्म को अधिक चलायमान (गतियुक्त) कर देता है उसे 'निमेष रोग' कहते हैं ॥ २५ ॥

विमर्शः—यद्बलेन निमेषोन्मेषौ भवतस्ताः सिरा निमेषिण्यः। वायुः वर्त्मसंश्रया निमेषिणीः सिराः प्रविष्टः सन् वर्त्मानि चालयतीत्यन्वयः। 'वर्त्मसंश्रयाः' इत्यत्र 'सन्धिसंश्रयाः' इति पाठान्तरम्। तत्र सन्धिसंश्रया वर्त्मशुक्लगता इत्यर्थः। चक्षुष्येण ने निमेषिणी सिरा के स्थान पर उन्मेषिणी सिरा का ग्रहण किया है। तथा च विदेहः—उन्मेषिणीः सिरा वायुः प्रविश्य व्यावतिष्ठते। अत्यर्थं चालयेद्वर्त्म निमेषः स न सिद्ध्यति ॥ वर्त्मसंश्रितनिमेषिणी सिरा से यहां पर तृतीय मस्तिष्कीय वातसूत्र की विकृति (Affections of the III cranial nerve supplying the muscle levator palpebral) हो जाने से तात्पर्य है। वस्तुतस्तु एक नेत्रोन्मीलनी पेशी (Levator palpebral superioris) जो कि पलक को ऊपर उठाती है तथा दूसरी नेत्रनिमीलिनी पेशी (Orbicularis palpabram) जो कि वर्त्म को नीचे गिराती है, नेत्रवर्त्म की चेष्टाओं से सम्बन्धित है। इन पेशियों में मुख्यतया दो रोग होते हैं प्रथम को अक्षिपुटनिमीलन ((Ptosis) तथा द्वितीय को अक्षिपुटनिमीलनाभाव (Lagopthalmus) कहते हैं। प्रथम रोग (अक्षिपुट-निमीलन = Ptosis) वातहत वर्त्म के अन्दर समाविष्ट होता है। इस रोग में रोगी ऊपर के पलक ऊंचा नहीं उठा सकता है किन्तु ऊपर की ओर देखने की इच्छा होने पर रुग्ण ललाटपेशियों को ऊपर की ओर खींचता है जिससे भ्रूप्रदेश में सिलवटें पड़ जाती हैं। इससे भ्रू ऊपर उठता है किन्तु पलक उसी दशा में रहता है। ऊर्ध्वाक्षिपुटनिमीलन (Ptosis blepharoptosis) के भी दो भेद होते हैं। (१) मिथ्यानिमीलन जो कि पोथकी (Trachoma) में होता है। (२) यथार्थनिमीलन। इसके भी २ भेद होते हैं। प्रथम को 'जन्मबलप्रवृत्त' (Congenital) तथा द्वितीय को 'जन्मोत्तरकालज' (Acquired) कहते हैं। इस तरह उक्त निमेष नामक रोग तृतीय तथा सप्तम मस्तिष्कीय सञ्चालक वातवाहिनियों के विकार से होता है। अष्टाङ्गहृदय में निमेष का निम्न लक्षण है—चालयन् वर्त्मनी वायुर्निमेषोन्मेषणं मुहुः। करोत्यरुङ् निमेषोऽसौ···॥ (अ. हृ. उ. अ. ८) 'वायुर्वर्त्मनी चालयन् निमेषोन्मेषणं पीडारहितं पुनः पुनः करोति' (सर्वाङ्गसुन्दरी)

छिन्नाश्छिन्ना विवर्द्धन्ते वर्त्मस्था मृदवोऽङ्कुराः।
दाहकण्डूरुजोपेतास्तेऽर्शःशोणितसम्भवाः ॥ २६ ॥

वर्त्मार्शः—वर्त्मप्रदेश में रक्त की दुष्टि से उत्पन्न होने वाले तथा स्पर्श में मुलायम अङ्कुर तथा जो बार-बार काटने पर भी बढ़ते ही हों एवं जिनमें पित्तानुबन्ध से दाह, कफानुबन्ध से कण्डू तथा वातानुबन्ध से वेदना होती हो उन्हें 'वर्त्मार्श' कहते हैं ॥ २६ ॥

विमर्शः—वर्त्मार्श-इसमें कोई सन्देह नहीं कि अर्श एक शत्रु के समान प्राणनाशक भयंकर रोग है इसी लिये कहा है कि—अरिवत् प्राणान् शृणातीत्यर्शः। प्राचीनों ने अपान, हस्त, पाद, नाभि, लिङ्ग, नेत्र आदि स्थानों में कुपित हुये दोष त्वचा, मांस और मेद को दूषित करके अनेक आकृति के मांसाङ्कुर उत्पन्न कर देते हैं उन्हें 'अर्श' कहा है। दोषास्त्वङ्मांसमेदांसि सन्दूष्य विविधाकृतीन्। मांसाङ्कुरानपानादौ कुर्वन्त्यर्शांसि तान्जगुः ॥ किन्तु वर्तमान चिकित्साविज्ञान ने अर्श को सिराओं का विकार माना है। आचार्य विदेह ने तो आधुनिक विज्ञान के आविष्कार के पूर्व ही अर्श को स्पष्टतया सिराविकार कहकर लिखा है—वायुः शोणितमादाय सिराणां प्रमुखे स्थितः। जनयत्यङ्कुरं ताम्रं वर्त्मनि च्छिन्नरोहणम्। तच्छोणितार्शोऽसाध्यं स्यादुक्तमाद्यथ नीरुजम् ॥ आधुनिक मत से वर्त्मप्रदेश में होने वाला अङ्कुराकृति यह विकार वार्टस (Warts) कहलाता है।

अपाकः कठिनः स्थूलो ग्रन्थिर्वर्त्मभवोऽरुजः।
सकण्डूः पिच्छिलः कोलप्रमाणो लगणस्तु सः ॥२७॥

लगणः—वर्त्मप्रदेश में कोल (छोटे बदरीफल) के प्रमाण की ग्रन्थि जो कि पाकरहित, स्पर्श में कठिन, स्थूलाकृति, पीडारहित या अल्पपीडाकारक, कण्डुयुक्त और पिच्छिल हो उसे 'लगण' कहते हैं ॥ २७ ॥

विमर्शः—लगण को 'अलगण' तथा कुछ लोग 'नगण' भी कहते हैं। यह श्लेष्मजन्य विकार है जैसा कि सात्यकि ने लिखा है—वर्त्मोपरिष्टाद्यो ग्रन्थिः कठिनो न विपच्यते। नीरुजो लगणो नाम रोगः श्लेष्मसमुद्भवः ॥ आधुनिक विज्ञान में इस रोग को Chalazion कहते हैं। इस रोग में पलक की स्वेदवाहिनी नलिका के मार्ग के बन्द हो जाने के कारण Meibomian gland बढ़ती है तथा साथ ही टार्सल के आसपास के तन्तुओं में भी चिरकालीन शोथ हो जाता है इसी को Tarsal cyst तथा Tarsal tumour भी कहते हैं।

शूनं यद्वर्त्म बहुभिः सूक्ष्मैश्छिद्रैः समन्वितम्।
बिसमन्तर्जल इव बिसवर्त्मेति तन्मतम् ॥ २८ ॥

बिसवर्त्मः—वर्त्म में शोथ तथा अनेक सूक्ष्म छिद्र हो जाते हैं, जैसे कि जल में होने वाली बिस (मृणाल) में अनेक छिद्र होते हैं अत एव इस रोग को 'बिसवर्त्म' कहते हैं ॥२८॥

विमर्शः—यह रोग सन्निपातज होते हुये भी साध्य है किन्तु सात्यकि ने इसको दुश्चिकित्स्य माना है—बिसस्येवोपचितस्येव बहुमांससिरामुखम्। बिसवर्त्मेति जानीयाद् दुश्चिकित्स्यं त्रिदोषजम् ॥ वर्तमान ग्रन्थों में इसका वर्णन नहीं मिलता है। सम्भव है पीतसर्पपिका (Kanthalasma) के समान यह भी एक विकार है।

दोषाः पक्ष्माशयगतास्तीक्ष्णाग्राणि खराणि च।
निर्वर्त्तयन्ति पक्ष्माणि तैर्घृष्टञ्चाक्षि दूयते ॥२९॥
उद्धृतैरुद्धृतैः शान्तिः पक्ष्माभञ्चोपजायते।
वातातपानलद्वेषी पक्ष्मकोपः स उच्यते ॥३०॥

इति सुश्रुतसंहितायामुत्तरतन्त्रे वर्त्मगतरोगविज्ञानीयो नाम तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

पक्ष्मकोप—प्रकुपित वातादिदोष पक्ष्माशय (वर्त्म) में जाकर पक्ष्म (बालों) को तीक्ष्णाग्र (नोकीले) और खुदरे कर देते हैं तथा पलक भी मुड़ जाते हैं और उससे नेत्र में रगड़ पैदा होने से नेत्र में पीड़ा होती है। इस रोग में पक्ष्म के कई बार निकाल देने से शान्ति होती है। इस रोग से रोगी वात, धूप और अग्नि को सहन नहीं कर सकता है। इस रोग को 'पक्ष्मकोप' कहते हैं ॥ २९-३० ॥

विमर्शः—अन्य आचार्यों ने इस रोग को उपपक्ष्म नाम से वर्णित किया है—पक्ष्मोपरोधो वातेन कोठोऽन्तर्मुखरोगवान्। रोमैरन्तर्मुखैरन्यैरुपपक्ष्म मलैश्चिभिः। पक्ष्मकोप को लौकिकभाषा में 'परवाल' कहते हैं। दोनों पलकों की धारा (Lid margin) पर स्वाभाविक बाल (पक्ष्म) के सिवाय अन्य बाल उगते हैं, उन्हें 'परवाल' कहते हैं। स्वाभाविक पक्ष्म (बालों) की दिशा ऊपर तथा बाहर की ओर होती है किन्तु पक्ष्मकोप में जो नये बाल उगते हैं उनकी दिशा गोलक की ओर तथा नीचे को होती है जिससे पलकों को जब-जब घुमाते हैं वे बाल कृष्णमण्डल (Cornea) पर घर्षण करते हैं। घर्षण होने के कारण नेत्र से जलस्राव होता रहता है तथा कृष्णमण्डल में व्रण (Corneal ulcer), सफेदी (अव्रण शुक्र = Corneal opacity) आदि अन्य रोग पैदा हो जाते हैं। यदि पलकधारा पर बालों की एक ही पंक्ति निकले तो उसे Districhiasis डिस्ट्रेकियासिस तथा एक से अधिक पंक्तियां निकले तो उसे ट्रेकियासिस (Trichiasis) कहते हैं। कारण—पलक धारा का चिरकालिक शोथ तथा पोथकी (Trachoma) ये ही दो मुख्य कारण हैं।

लक्षण—(१) निरन्तर नेत्र जलस्राव, (२) प्रकाशासह्यता, (३) नेत्र खोलने में कष्ट, (४) बालों का अक्षिगोलक में गड़ना। इस रोग की वास्तविक चिकित्सा शस्त्रकर्म ही है जैसा कि प्राचीनाचार्य भी मानते हैं—उद्धृतैरुद्धृतैः शान्तिः पक्ष्मभिश्चोपजायते' पक्ष्मकोप के समान लक्षणों वाला एक अन्य रोग भी पलकों पर होता है जिसे वर्त्मान्तर्निवर्त्तन (Entropium of the lids) कहते हैं। यद्यपि जनसाधारण इसे 'परवाल' ही कहते हैं किन्तु यह स्वतन्त्र रोग है। पक्ष्मकोप के समान इस रोग में पलकधारा पर नये बाल उत्पन्न नहीं होते किन्तु जो स्वाभाविक पक्ष्म (बाल) होते हैं उनकी स्थिति पलट जाती है। पलक के भीतर की ओर मुड़ जाने से नेत्रगोलक पर बाल गड़ते रहते हैं पक्ष्मकोप के समान ही सब लक्षण होते हैं।

कारण—नेत्रश्लेष्मावरण का चिरकालिक शोथ और पोथकी (रोहे) ये ही दो मुख्य कारण हैं। शोथ के कारण पलक की तरुणास्थि (Cartilage) मोटी हो जाती है तथा उसके मुड़ने से अन्तर हो जाता है। कभी-कभी नेत्रनिमीलिनी मांसपेशी में खिंचाव होकर यह स्थिति हो जाती है।

इत्यायुर्वेदतत्त्वसंदीपिकाभाषाटीकायामुत्तरतन्त्रे वर्त्मगतरोगविज्ञानीयो नाम तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

चतुर्थोऽध्यायः

अथातः शुक्लगतरोगविज्ञानीय-
मध्यायं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥ २ ॥

अब इसके अनन्तर 'शुक्लगतरोगविज्ञानीय' नामक अध्याय का वर्णन करते हैं जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने कहा है ॥

विमर्शः—इस शुक्लमण्डल को Sclera कहते हैं। शुक्लभाग में एकादश रोग होते हैं ऐसा पूर्व में कह आये हैं—'शुक्लभागे दशैकश्च'।

प्रस्तारिशुक्लक्षतजाधिमांस-
स्नाय्वर्मसंज्ञाः खलु पञ्च रोगाः।
स्युः शुक्तिका चार्जुनपिष्टकौ च
जालं सिराणां पिडकाश्च याः स्युः ॥ ३ ॥
रोगा बलासग्रथितेन सार्द्ध-
मेकादशाक्ष्णोः खलु शुक्लभागे ॥ ४ ॥

शुक्लभागगतरोग—प्रस्तारि-अर्म, शुक्ल-अर्म, क्षतज-अर्म, अधिमांस-अर्म, स्नायु-अर्म ऐसे ये पांच तथा शुक्तिका, अर्जुन, पिष्टक, सिराजाल, सिरापिडका और बलासग्रथित ये एकादश रोग नेत्र के शुक्लभाग में होते हैं ॥ ३-४ ॥

प्रस्तारि प्रथितमिहार्म शुक्लभागे
विस्तीर्णं तनु रुधिरप्रभं सनीलम्।
शुक्लाख्यं मृदु कथयन्ति शुक्लभागे
सश्वेतं सममिह वर्द्धते चिरेण।
यन्मांसं प्रचयमुपैति शुक्लभागे
पद्माभं तदुपदिशन्ति लोहितार्म ॥ ५ ॥
विस्तीर्णं मृदु बहलं यकृत्प्रकाशं
श्यावं वा तदधिकमांसजार्म विद्यात्।
शुक्ले यत्पिशितमुपैति वृद्धिमेतत्
स्नाय्वर्मेत्यभिपठितं खरं प्रपाण्डु ॥ ६ ॥

प्रस्तारि-अर्म—नेत्र के शुक्लभाग में प्रसरणशील तथा कुछ पतली रक्त के समान लालवर्ण तथा कुछ नीलवर्ण की गाँठ या रेखा जैसी रचना को 'प्रस्तारि-अर्म' कहते हैं। शुक्लार्म—नेत्र के शुक्लभाग में मृदु, श्वेत तथा समानान्तर में धीरे-धीरे बढ़ने वाली ग्रन्थि या रेखा सी रचना को 'शुक्लार्म' कहते हैं। लोहितार्म—नेत्र के शुक्लभाग के मांस में लाल कमल के समान वर्ण की उत्पन्न मांसवृद्धि को 'लोहितार्म' कहते हैं। अधिमांसजार्म—नेत्र के श्वेतभाग में यकृत् के समान वर्ण का, मुलायम मोटा, विस्तीर्ण और श्याववर्ण की रचना को 'अधिमांसजार्म' कहते हैं। स्नाय्वर्म—नेत्र के शुक्लभाग के मांस में खुरदरी तथा पाण्डुवर्ण की उत्पन्न वृद्धि को 'स्नाय्वर्म' कहते हैं ॥ ५-६ ॥

विमर्शः—अर्म को टेरिजियम (Pterygium) कहते हैं। जिस प्रकार आचार्य सुश्रुत ने इसके पांच भेद किये हैं वैसे वर्तमान चिकित्सा में इसके कोई विशिष्ट भेद नहीं माने जाते हैं। आयुर्वेदोक्त वर्णनानुसार अर्म की व्याख्या निम्न हो सकती है—नेत्रश्लेष्मावरण (Conjunctiva or sclera) की एक

पतली झिल्ली जैसे बढ़ने वाली विकृति जो अधिकतर वर्ण में लाल होती है और आकार में त्रिकोण सी होती है उसे 'अर्म' कहते हैं। प्रायः अर्म रोग एक ही नेत्र में होते देखा गया है क्वचित् दोनों नेत्रों में भी होता है। जब तक यह अर्म कृष्णमण्डल (Corneal circle) के मध्य तक नहीं पहुंचता है तब तक दर्शनशक्ति या नेत्र में कोई हानि नहीं होती है परन्तु अधिक बढ़कर कृष्णमण्डल के मध्य तक पहुंचने से प्रायः दर्शनकार्य बन्द हो जाता है। ऐसी स्थिति में शस्त्रकर्म करके अर्म को निकाल देने से दर्शनक्रिया पूर्ववत् हो जाती है।

कारण—प्राचीन तथा आधुनिक दोनों ग्रन्थों में इस रोग के वास्तविक कारणों का कोई उल्लेख नहीं मिलता है। सम्भव है कृष्णमण्डल की परिधि पर सूक्ष्म क्षत होने से या नेत्र में किसी बाह्य पदार्थ (Foreign body) के प्रविष्ट हो जाने से वहां पर सूक्ष्म घर्षणजन्य व्रण होकर उसके रोहण होने के समय नेत्रश्लेष्मावरण के किसी हिस्से के भीतर आ जाने से अर्म की उत्पत्ति हो सकती है।

श्यावाः स्युः पिशितनिभाश्च बिन्दवो ये
शुक्त्याभाः सितनयने स शुक्तिसंज्ञः।
एको यः शशरुधिरोपमस्तु बिन्दुः
शुक्लस्थो भवति तमर्जुनं वदन्ति ॥ ७ ॥

शुक्तिका तथा अर्जुन—नेत्र के श्वेतभाग (Conjunctiva) पर पाण्डुश्यामवर्ण तथा मांस के समान चमकते हुये एवं जलशुक्ति के समान सूक्ष्म रचनायुक्त बिन्दु हो जाते हैं। ऐसे रोग को 'शुक्तिका' कहते हैं तथा नेत्र के श्वेतभाग में खरगोश के रक्त के समान चमकता हुआ यदि केवल एक बिन्दु ही हो तो उसे 'अर्जुन' कहते हैं ॥ ७ ॥

विमर्शः—आचार्य वाग्भट ने शुक्तिका रोग को पित्तजन्य तथा साध्य माना है—पित्तं कुर्यात् सिते बिन्दूनसितश्यावपीतकान्। मलाक्तादर्शतुल्यं वा सर्वं शुक्लं सदाहरुक्॥ रोगोऽयं शुक्तिकासंज्ञः सशकृद्भेदतृड्ज्वरः॥ (वाग्भटः)। शुक्तिका रोग के कुछ लक्षण क्षेरोसिस (Xerosis) के साथ मिलते हैं। क्षेरोसिस में नेत्र का श्लेष्मावरण शुष्क, सिलवटें युक्त तथा निस्तेज हो जाता है एवं नेत्रबाह्यपटल (Sclera) के कारण जो उसका स्वाभाविक श्वेत रंग भासित होता है वह श्याव (मलिन) हो जाता है। अर्थात् इससे शुक्लमण्डल में घिसे हुए काच के समान अपारदर्शकता आ जाती है लक्षणों में विशेषतया अश्रुप्रवाह से जो नेत्रश्लेष्मावरण की आर्द्रता रहती है वह न रहकर उसमें रूक्षता आ जाती है। नेत्र से गाढा तथा चिपचिपा लसदार स्राव बहता है। कारण—यह रोग स्वतन्त्र किंवा पोथकी (रोहे) तथा अधिमन्थ आदि के उपद्रवस्वरूप में दिखाई देता है। अर्जुन—यह रक्तविकृतिजन्य तथा साध्य माना गया है—शशकोपमिमं शुक्लेऽर्जुनं रक्तप्रकोपतः। तन्त्रान्तर में भी यही वर्णन मिलता है—कृष्णभागे सितं बिन्दुं शुक्लं विद्यात्कफात्मकम्। रक्तश्च शुक्लभागस्थमर्जुनं शोणितोद्भवम्॥ अर्जुन को फ्लक्टिन्यूलर कञ्जंक्टिवाइटिस (Phlyctenular conjunctivitis) कहते हैं।

कारण—आधुनिकों ने इस रोग का मुख्य कारण भोजन में जीवनीयद्रव्य (Vitamin) ए और डी की अल्पता मानी है। इस रोग में प्रथम कृष्णमण्डल (Corneal circle) के किनारे (परिधि) पर नेत्रश्लेष्मावरण (Conjunctiva) में एक छोटी सी फुन्सी (पिटिका) उत्पन्न होती है जो कि नीचे की तरफ चौड़ी तथा ऊपर की ओर नोकदार होती है। एक-दो दिन के पश्चात् उसका शिखर प्रदेश घिस जाता है जिससे वहां छोटा सा क्षत (व्रण Ulcer) बन जाता है और पिटिका अदृश्य हो जाती है इस तरह कृष्णमण्डल तथा नेत्रश्लेष्मावरण के सन्धिस्थल (Clero corneal junction) पर एक क्षत मात्र दिखाई देता है। इस क्षत के समीप से रक्तवाहिनियां प्रारम्भ होकर नेत्रश्लेष्मावरण के बाहर के भाग की ओर फैलती रहती हैं जिससे एक त्रिकोणाकृति लालवर्ण का चिह्न बन जाता है। नेत्रश्लेष्मावरण का शेष भाग श्वेत ही बना रहता है। प्रायः ऐसा क्षत एक ही बनता है किन्तु कभी-कभी एकाधिक भी हो सकते हैं जो कि कृष्णमण्डल के चारों ओर थोड़ी-थोड़ी दूरी पर दिखाई देते हैं। आधुनिक शालाक्यतन्त्र में एक अन्य रोग भी है जिसे नेत्रश्लेष्मावरणाधोरक्तस्राव (Subconjunctival Echymosis) कहते हैं जिसके साथ अर्जुन की समता हो सकती है। यह रोग अकस्मात् उत्पन्न होता है। प्रथम नेत्रगोलक (Eye ball) के श्वेत भाग (Sclera) में छोटा या बड़ा श्यामाभ रक्त बिन्दु प्रतीत होता है कुछ समय के बाद वह काला पड़ने लगता है यह स्थिति आठ दिन तक रहती है पश्चात् रंग कम होने लगता है। प्रायः बीस दिन के भीतर नेत्र स्वस्थ हो जाता है।

कारण—(१) कई बार यह रोग अज्ञात कारण से होते दिखाई देता है। (२) कुक्कुरकास (Whooping cough) से पीडित बच्चों के नेत्रश्लेष्मावरणगत रक्तवाहिनियों के फट जाने से नेत्रश्लेष्मावरण के नीचे रक्तस्राव हो जाता है जिससे यह रोग दिखाई देता है। (३) हृदय, वृक्क के विकार, मधुमेह, अभिघात आदि कारणों से भी यह रोग हो जाता है।

उत्सन्नः सलिलनिभोऽथ पिष्टशुक्लो
बिन्दुर्यो भवति स पिष्टकः सुवृत्तः।
जालाभः कठिनसिरो महान् सरक्तः
सन्तानः स्मृत इव जालसंज्ञितस्तु ॥ ८ ॥

पिष्टक तथा सिराजाल—नेत्रश्लेष्मावरण में चावल की पिट्ठी के समान श्वेत वर्ण का किंवा जल के समान स्वच्छवर्ण का उन्नत (उठा हुआ) वृत्ताकार बिन्दु (चिह्न) होता है उसे 'पिष्टक' कहते हैं। सिराजाल—नेत्रश्लेष्मावरण में बड़ी-बड़ी तथा कठिन सिराओं से लाल रङ्ग की जाली के समान इधर-उधर फैली हुई रचना बन जाती है उसे 'सिराजाल' कहते हैं ॥ ८ ॥

विमर्शः—यद्यपि यह एक साध्य कफजविकार है किन्तु माधवकार ने इसे कफवातजन्य माना है—श्लेष्ममारुतकोपेन शुक्ले पिष्टं समुन्नतम्। पिष्टवत् पिष्टकं विद्धि मलाक्तादर्शसन्निभम्॥ आधुनिक नेत्ररोग-विज्ञान की दृष्टि से पिष्टक रोग की तुलना पीतबिन्दु (Pinguicula) नामक रोग से की जा सकती है। यह रोग कृष्णमण्डल (Cornea) के किनारे पर नेत्रश्लेष्मावरण (Conjunctiva) में होता है। इस रोग में किञ्चित् मलिन रङ्ग की मेद के समान पिटिकाएं उठी हुई सी प्रतीत

होती हैं। इस रोग में किसी प्रकार की भी नेत्रपीडा तथा दर्शनकार्य में कोई बाधा नहीं होती है। इसी कारण रोगी इसकी चिकित्सा की ओर ध्यान नहीं देता है। यदि पिटिका अधिक बढ़ जाय तो कर्तरी द्वारा उसका कर्तन किया जा सकता है। सिराजाल—इस रोग के लक्षण आधुनिक नेत्र रोग में वर्णित नेत्रबाह्य-पटलशोथ (Scleritis) के साथ मिलते हैं। इस रोग के दो भेद हैं (१) उत्तान (Episcleritis) तथा (२) गम्भीर शोथ (Deep scleritis)। (१) नेत्रबाह्यपटल का उत्तान शोथ (Episcleritis) कारण—आमवात, वातरक्त, फिरङ्ग, क्षय तथा गण्डमाला इन रोगों के उपद्रवस्वरूप में होते देखा गया है। विकृति—नेत्रश्लेष्मावरण (Conjunctiva) के नीचे काला सा लाल अथवा नीला सा लाल दाग हो जाता है जो कि कुछ उभरा हुआ सा दिखाई देता है इस स्थान का श्लेष्मावरण भी लाल हो जाता है। नेत्र से किसी प्रकार का स्राव नहीं निकलता है, वेदना का भी अभाव होता है या क्वचित् स्वल्प वेदना होती है। पांच या छ सप्ताह के अनन्तर धीरे-धीरे घटने लगता है। एक बार शमन होने के पश्चात् पुनरुत्पत्ति होने की प्रवृत्ति रहती है। इस तरह यह रोग कई मास या वर्षों तक होता रहता है किन्तु नेत्र में कोई नुकसान नहीं होता है अतः इसका कोई विशिष्ट उपचार भी नहीं लिखा गया है किन्तु उक्त आमवात, वातरक्तादि मुख्य-कारणीभूत रोगों की चिकित्सा करने से लाभ होता है।

शुक्लस्थाः सितपिडकाः सिरावृता या-
स्ता विद्यादसितसमीपजाः सिराजाः।
कांस्याभो भवति सितेऽम्बुबिन्दुतुल्यः
स ज्ञेयोऽमृदुररुजो बलासकाख्यः॥ १०॥

इति सुश्रुतसंहितायामुत्तरतन्त्रे शुक्लगतरोगविज्ञानीयो नाम चतुर्थोऽध्यायः॥ ४॥

सिराजपिडिका तथा बलासग्रथित—कृष्णमण्डल के पास (असित समीप) नेत्र के शुक्लमण्डल (Sclera) में सिराओं से घिरी हुई श्वेतरङ्ग की पिडकाएं उत्पन्न होती हैं उन्हें 'सिराजपिडिका' कहते हैं। बलासग्रथित—नेत्र के श्वेत भाग (Sclera) में जल की बिन्दु के समान श्वेत वर्ण की अथवा कांसे के समान श्वेताभ (मलिन) पिडकाएं जो कि स्पर्श में कठोर तथा वेदना रहित होती हैं उसे 'बलासग्रथित' रोग कहते हैं॥ १०॥

विमर्शः—सिराज पिडकाओं का Deep scleritis के साथ समता होती है। कुछ लोगों ने इस रोग की तुलना पिटिका-मय व्रण (Phlyctenular conjunctivitis) के साथ की है। लक्षणदृष्ट्या यह मिलान सङ्गत प्रतीत होता है किन्तु चिकित्सा दृष्टि से ठीक नहीं है क्योंकि Phlyctenular conjunctivitis ओषधिचिकित्सा से ठीक हो जाता है तथा सिराजपिडका औषधसाध्य न होकर शस्त्रसाध्य रोग है अत एव यह मिलान असङ्गत है अर्थात् यह रोग नेत्रबाह्यपटल शोथ (Scleritis) का ही अवस्थाविशेष रोग है। सम्भवतः नेत्रबाह्यपटल के गम्भीर शोथ (Deep scleritis) के पश्चात् शुक्लमण्डल के भाग पर कुछ ग्रन्थियां दिखाई देती हैं जो कि श्वेतवर्ण की होती हुई भी नीचे के मध्यपटल के काले होने के कारण कुछ श्यामाभ प्रतीत होती हैं तथा इनकी चिकित्सा में शस्त्रकर्म से लाभ भी होता है अत एव सिराजपिडका का इसी में अन्तर्भाव करना उचित है।

बलासग्रथित—यह रोग भी बाह्यपटलशोथ का ही सौम्य प्रकार हो सकता है। इसमें शस्त्रकर्म लाभदायी न होकर औषधव्यवस्था ही हितकर होती है। सुश्रुतोक्त लक्षणों के आधार से इस रोग का साम्य पेरीनाड के अभिष्यन्द (Perinaud's conjunctivitis) के साथ हो सकता है। इस रोग में नेत्रश्लेष्मावरण पर रक्त तथा पीत दाने हो जाते हैं। वर्त्म चिपक जाते हैं। शरीर के अन्य भागों की रसवाहकग्रन्थियों में शोथ हो जाता है। कारण—यह रोग सड़े हुये पदार्थों के स्पर्श या रुग्ण पशुओं के स्पर्श से होता है। विदेह ने इस रोग को कफ तथा वात से उत्पन्न माना है—मारुतोत्पीडितः श्लेष्मा शुक्लभागे व्यवस्थितः। जलबिन्दुरिवोच्छूनो ह्यमृदुः कफसम्भवः॥ वाग्भट ने शुक्लगत रोगों में सिरोत्पात तथा सिराप्रहर्ष नामक दो रोगों का अधिक वर्णन किया है—रक्तराजीनिभं शुक्ले उष्यतेऽपि सवेदनम्। अशोथाश्रुपदेहश्च सिरोत्पातः सशोणितम्॥ उपेक्षितः सिरोत्पातो राजीस्ता एव वर्धयन्। कुर्यात् सास्रं सिराहर्षं तेनाक्ष्युद्वीक्षणाक्षमम्॥ सुश्रुत ने इन दोनों रोगों को सर्वगत-रोगों में लिखा है।

इत्यायुर्वेदतत्त्वसन्दीपिकाभाषाटीकायामुत्तरतन्त्रे शुक्लगत-रोगविज्ञानीयो नाम चतुर्थोऽध्यायः॥ ४॥

पञ्चमोऽध्यायः

अथातः कृष्णगतरोगविज्ञानीयमध्यायं व्याख्यास्यामः॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः॥ २॥

अब इसके अनन्तर 'कृष्णमण्डलगतरोग-विज्ञानीय' नामक अध्याय का वर्णन करते हैं जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने कहा है॥ १-२॥

विमर्शः—पूर्व में संक्षेपतः कहा है कि कृष्णभाग में चार रोग होते हैं। 'चत्वारः कृष्णभागजाः'। अब उन्हें स्फुट (स्पष्ट) करने के लिये यह अध्याय है। कृष्णभाग को कार्निया (Cornea) कहते हैं।

यत्सव्रणं शुक्रमथाव्रणं वा
पाकात्ययश्चाप्यजका तथैव।
चत्वार एतेऽभिहिता विकाराः
कृष्णाश्रयाः सङ्ग्रहतः पुरस्तात्॥ ३॥

कृष्णमण्डलगतरोग—आचार्य ने पूर्व में संक्षेप से कृष्णभाग के आश्रित सव्रण शुक्र या शुक्र, अव्रण शुक्र या शुक्र, पाकात्यय तथा अजकाजात इन चार रोगों का वर्णन किया है॥ ३॥

निमग्नरूपं हि भवेत्तु कृष्णे
सूच्येव विद्धं प्रतिभाति यद्वै।

स्रावं स्रवेदुष्णमतीव रुक् च
तत् सव्रणं शुक्रमुदाहरन्ति ॥ ४ ॥

सव्रणशुक्र—नेत्र के कृष्णभाग में गहराई में स्थित ईषद् दृष्ट या कठिनाई से दीख पड़ने वाला तथा सूई से विद्ध हुये की तरह प्रतीत होनेवाला व्रण जिसमें से उष्णस्राव (गरम आंसू) स्रवित होता हो तथा तीव्र पीड़ा होती हो उसे 'सव्रण शुक्र' कहते हैं ॥ ४ ॥

विमर्शः—शुक्र शब्द के कई अर्थ होते हैं जैसे-दैत्यगुरु शुक्राचार्य, ज्येष्ठ का महीना, वैश्वानर (अग्नि), वीर्य, अक्षि (नेत्र) रोग। 'शुक्रः स्याद् भार्गवे ज्येष्ठमासे वैश्वानरे पुमान्। रेतोऽक्षिरुग्भिदोः क्लीबम् ॥' (इति मेदिनी)। लोकभाषा में शुक्ररोग को 'फूली' कहते हैं। विदेह ने इस रोग को रक्त-जन्य तथा असाध्य माना है—रक्तराजीनिभं कृष्णे छिद्राभं यत्र लक्ष्यते। सूच्यग्रेणेव तच्छुक्रमुष्णाश्रुस्रावि सव्रणम् ॥ वाग्भट ने सव्रण शुक्र को क्षतशुक्र लिखा है तथा उसके लक्षणों में उष्णाश्रुस्राव, दर्शनाक्षमता, तीव्रवेदना, श्वेतमण्डल (Conjunctiva) की लालिमा आदि लिखा है तथा इसे कष्टसाध्य रोग माना है किन्तु पित्तदोषके पटलों के भेद करने के अनुसार कृच्छ्रसाध्यता, याप्यता और असाध्यता मानी है अर्थात् पित्त दोष के प्रथम पटल में छेदन करने पर कृच्छ्रसाध्य, द्वितीयपटल का भेदन करने से याप्यता और तृतीयपटल का भेदन करनेसे असाध्य माना है—पित्तं कृष्णेऽथवा दृष्टौ शुक्रं तोदाश्रुरागवत्। छित्त्वा त्वचं जनयति तेन स्यात् कृष्णमण्डलम्। पक्वजम्बूनिभं किञ्चिन्निम्नञ्च क्षतशुक्रकम्। तत्कृच्छ्रसाध्यं याप्यन्तु द्वितीयपटलव्यधात्। तत्र तोदादिबाहुल्यं सूचीविद्धाभकृष्णता ॥ तृतीयपटलच्छेदादसाध्यं निचितं व्रणैः ॥ सुश्रुताचार्य ने वाग्भट के तृतीय पटलगत क्षतशुक्र को 'अव्रण शुक्र' के नाम से लिखा है तथा असाध्य माना है। यद्यपि आचार्य सुश्रुत ने इस सव्रण शुक्र के पटलानुसार भेद नहीं किये हैं किन्तु उत्तान शुक्र से एकपटलगत एवं अवगाढ शुक्र का अर्थ द्वितीय तथा तृतीयपटलगत माना जा सकता है ऐसा डल्हणाचार्य ने भी इस प्रसङ्ग के श्लोकों की टीका में यही व्याख्यान किया है। कुछ आचार्यों ने कृष्णभाग में मूंग के प्रमाण की पिडका तथा उससे उष्णाश्रुपात होने को शुक्ररोग लिखा है तथा उसे असाध्य माना है—उष्णाश्रुपातः पिडका च कृष्णे यस्मिन् भवेद् मुद्गनिभञ्च शुक्रम्। तदप्यसाध्यं प्रवदन्ति केचिदन्यच्च यत्तित्तिरपक्षतुल्यम् ॥ आधुनिक शालाक्यतन्त्र के मत से सव्रणशुक्र को कृष्णमण्डलशोथ (Inflamation of the cornea or keratitis) का एक प्रकार कहा जा सकता है। कृष्णमण्डलशोथ दो प्रकार का होता है। (१) क्षतरहित (Non ulcerative keratitis)। (२) क्षतसहित (Ulcerative keratitis) सव्रण शुक्र का अन्तर्भाव क्षतयुक्त-कृष्णमण्डल शोथ (Ulcerative keratitis)। या कृष्णमण्डल-व्रण (Corneal ulcer) में होता है। कृष्णमण्डलव्रण भी दो प्रकार का होता है—(१) प्रधान (Primary) तथा (२) औपद्रविक (Secondary)।

लक्षण—(१) इस रोग में नेत्र के कृष्णमण्डल में व्रण उत्पन्न होता है जिसके कारण उसमें शोथ उत्पन्न होता है और इसी से कृष्णमण्डल में सफेदी दिखाई देती है। व्रण के अधिक गहरे होने से असह्य वेदना होती है जिससे रात्रि में निद्रा नहीं आती है एवं शिरःशूल भी होता है।

(२) अश्रुस्राव (Lacrymation)—यह गाढा व चिपचिपा न होकर जल के समान पतला होता है। किसी-किसी में यह स्राव अत्यधिक होता है जिससे रोगी हाथ में रूमाल लेकर निरन्तर पोंछता रहता है। प्रकाशासह्यता (Photophobia) होने से तथा अत्यधिक पीडा होने से पलकों को खोल नहीं सकता है, इस दशा को Blephrospasm कहते हैं।

(३) नेत्र में लालिमा—आंख में कृष्णमण्डल के चारों ओर शुक्लमण्डल में लालिमा होती है।

सव्रणशुक्र के उपद्रव—(१) स्वस्थ दशा में कृष्णमण्डल पारदर्शक होता है किन्तु व्रण होने पर अपारदर्शक हो जाता है। व्रन (व्रण) स्थान पर श्वेत चिह्न या गढा पड़ जाता है। ऐसे अनेक व्रण हो सकते हैं। कभी-कभी कृष्णमण्डल के व्रणों के साथ उपद्रव रूप से Anterior chamber में पूय संग्रह हो जाता है इसे हाइपोप्योन (Hypopyon) कहते हैं।

(२) व्रण (Ulcer) के सौम्य होने पर वेदना, लालिमा और स्राव कम होकर क्रमशः व्रण का रोपण हो जाता है किन्तु व्रण के रूढ होने पर वहां व्रणवस्तु (Scar) बन जाने से कृष्णमण्डल का भाग अपारदर्शक हो जाता है इसी को प्राचीनों ने अव्रणशुक्र (Corneal opacity) के नाम से लिखा है। व्रण के गहरे (Deep) होने पर अपारदर्शकता (फूली) अधिक तथा उत्तान (Superficial) होने पर कम होती है।

(३) यदि व्रण का रोपण न होकर वह अधिक गहरा हो जाय तो कृष्णमण्डल का व्रण फूट जाता है और सच्छिद्र हो जाता है। छिद्र के छोटे होने पर उसमें से तारामण्डल (Iris) का कुछ भाग बाहर निकल कर काले बिन्दु सा प्रतीत होता है इसी को सुश्रुत में शुक्ल के लक्षणों में 'मुद्गनिभञ्च शुक्लं', 'विच्छिन्नमध्यं' 'पिशितावृतम्' वर्णित किया है।

(४) इस प्रकार कृष्णमण्डल के छिद्र से निकला हुआ तारामण्डल (Iris) आजीवन उससे चिपका हुआ रह जाता है। तारक (Pupil) का आकार अनियमित सा हो जाता है। कभी-कभी तारक के अधिक खींच जाने पर वह बन्द हो जाता है इस स्थिति को तारामण्डल के अग्रभाग की संलग्नता (Anterior synechia) कहते हैं।

(५) यदि व्रण अत्यधिक गहरा हो कर कृष्णमण्डल का छिद्र अधिक बड़ा हो जाय तो कृष्णमण्डल के अग्रभाग का बहिर्निःसरण (Anterior staphyloma) हो जाता है। प्राचीनों ने इसी को अजकाजात कहा है तथा अजा (बकरी) के पुरीष (मिंगणी) के साथ उपमा दी है।

(६) व्रण में न्यूमोकोकाई, रोहिणी तथा पूयमेह के जीवाणुओं का संसर्ग होने पर सम्पूर्ण नेत्रगोलक पूयमय हो जाता है इसी को पूयमय शोथ या सशोफ अक्षिपाक (Panopthalmitis) कहा जाता है।

(७) इसी रोग के परिणामस्वरूप नेत्रगोलक एक बड़ी विद्रधि का रूप धारण कर लेता है तथा पन्द्रह-बीस दिनों तक असह्य पीडा बनी रहती है इसे 'अक्षिपाकात्यय' कहते हैं।

(८) कालान्तर में गोलक की विद्रधि फूट कर पूय निकल जाता है तथा नेत्रगोलक के गल जाने से अक्षिगुहा एक गढे कूयें या गर्त के स्वरूप की हो जाती है इसी को अक्षिशोष (Thisis bulbii थाईसिस वल्बाई) कहते हैं।

कारण—(१) कृष्णमण्डल की बाह्यवृत्ति में सरोंच या व्रण होने से पूयोत्पादक जीवाणुओं का उपसर्ग होकर शोथ हो के कृष्णमण्डल में व्रण बन जाता है। (२) पोथकी नेत्रश्लेष्मावरण-शोथ (Conjunctivitis) की उचित चिकित्सा न करने पर कृष्णमण्डल में व्रण हो आया करता है। (३) साधारण दौर्बल्य तथा वृद्धावस्था के कारण कृष्णमण्डल का पोषण पर्याप्त न होने से वहां की रोगप्रतिरोधक शक्ति क्षीण हो जाने से साधारण उपसर्ग भी कृष्णमण्डल में व्रण पैदा कर देता है। इसी कारण वृद्धावस्था में कृष्णमण्डल कोथ (कैरेटो मेलेशिया) हो जाता है। इस दशा का कारण दृष्टिगत आलोचक पित्त का अभाव प्राचीनों ने माना है। (४) दन्त तथा गले के उपसर्ग से भी सव्रण शुक्र उत्पन्न होता है।

> दृष्टेः समीपे न भवेत्तु यच्च
> न चावगाढं न च संस्रवेद्धि।
> अवेदनावन्न च युग्मशुक्रं
> तत्सिद्धिमाप्नोति कदाचिदेव ॥ ५ ॥
> विच्छिन्नमध्यं पिशितावृतं वा
> चलं सिरासक्तमदृष्टिकृच्च।
> द्वित्वग्गतं लोहितमन्ततश्च
> चिरोत्थितञ्चापि विवर्जनीयम् ॥ ६ ॥
> उष्णाश्रुपातः पिडका च कृष्णे
> यस्मिन् भवेन्मुद्गनिभञ्च शुक्रम्।
> तदप्यसाध्यं प्रवदन्ति केचि-
> दन्यच्च यत्तित्तिरिपक्षतुल्यम् ॥ ७ ॥

साध्यासाध्यता—जो अव्रण शुक्र या शुक्ल दृष्टि के समीप न हो, अधिक गहरा स्थित न हो, जिसमें से अश्रुस्राव होता हो, वेदना से रहित हो एवं युग्म (संख्या में दो) न हों वह अव्रण शुक्र उपयुक्त चिकित्सा करने से कदाचित् ठीक हो जाता है किन्तु जो सव्रण शुक्र उस स्थान की धातुओं के विदीर्ण हो जाने से मध्यभाग में छिन्न या छिद्र युक्त हो गया हो अथवा आच्छिन्नमांस के समान उठे हुए मांस से आवृत (युक्त या घेर लिया गया) हो, किंवा सिराओं से संसक्त होने से चञ्चल हो, दर्शनशक्ति का निरोध करता हो एवं जो दो पटलों में आश्रित हो तथा जिसका प्रान्तभाग लाल रहता है और जो चिरकाल से उत्पन्न हुआ हो ऐसे सव्रण शुक्र की चिकित्सा करना वर्जित है। उक्त लक्षणों के अतिरिक्त जिस सव्रण शुक्र में नेत्र से गरम आंसू निकलते हों तथा कृष्णमण्डल के भाग में पिडकाएं उठी हुई हों या मूंग के समान आकृति की पिड़का हो वह भी असाध्य माना गया है अथवा जो सव्रण शुक्र तीतर के पक्ष के समान रङ्ग का हो वह भी असाध्य होता है ऐसा कई एक आचार्यों का मत है॥

विमर्शः—अष्टाङ्गहृदयकार ने साध्यासाध्यता के विषय में तीन पटलों के अनुसार सव्रण शुक्र का विभाजन किया है तथा प्रथमपटल गत को साध्य, द्वितीयपटलगत को याप्य एवं तृतीयपटलगत शुक्ररोग को असाध्य माना है। आचार्य सुश्रुत ने 'दृष्टेः समीपे न भवेत्' आदि इस चतुर्थ श्लोक में वर्णित उत्तान शुक्र को उचित चिकित्सा करने से साध्य माना है और यह प्रथमपटलगत हो सकता है तथा 'द्वित्वग्गतं लोहितमन्ततश्च' यह द्वितीयपटलगत का वर्णन है एवं 'उष्णाश्रुपातः पिडका च कृष्णे' इस वर्णन से तृतीयपटलगत असाध्य शुक्र समझना चाहिये। आचार्य विदेह ने भी एकत्वग्गत तथा द्वित्वग्गत इस प्रकार से पटलभेदानुसार ही साध्यासाध्यता का विवेचन किया है—एकत्वग्गतमेतं स्याद् द्वित्वग्गतमिदं भवेत्। चोषोष्णस्रावदाहास्तु तृष्णा च पिडकोद्गमः॥ व्यक्तमुद्गफलाकारं शुक्रं द्वित्वग्गतं भवेत्।

नव्यमत से साध्यासाध्यता (Prognosis)—(१) व्रण कृष्णमण्डल की परिधि (प्रान्तभाग) पर से रोपण होने पर दर्शनशक्ति में कोई दोष नहीं आता है किन्तु व्रण के कृष्णमण्डल के मध्य में होने पर रोपण के अनन्तर व्रणवस्तु (Scar) उत्पन्न होने से अपारदर्शकता (अव्रणशुक्रता (Opacity) होकर दर्शनशक्ति में बाधा उत्पन्न होती है। व्रणों के गहरे (अवगाढ) स्थित होने पर अपारदर्शकता अधिक होने से दर्शनशक्ति में आजीवन रहने वाली विकृति हो जाती है तथा व्रणों के उत्तान होने पर अपारदर्शकता अल्प होती है एवं चिकित्सा से मिट सकती है। (२)व्रण के शीघ्र रोपण होने पर दर्शनशक्ति में हानि अल्प तथा चिरकाल से रोपण होने पर हानि अधिक होती है। (३)व्रण के कारण कृष्णमण्डल में छिद्र हो जाय तथा तारामण्डल का पर्दा या अन्य भाग बाहर निकल आवे तो दर्शन में अधिक हानि होती है। (४)व्रण के कारण नेत्रगोलक का बहिर्निर्गमन हो जाय या व्रण के गहरे होने से उसका पूय तारामण्डल, तन्तुसमूह में होकर पूरे नेत्रगोलक में व्याप्त हो जाय तो नेत्र ही नष्ट हो जाता है इसी लिये प्राचीन आचार्यों ने इस रोग को कष्टसाध्य, याप्य, असाध्य या कदाचिद् योग्यचिकित्सा से साध्य होना लिखा है।

रोगनिदान—(१)साधारणतया उक्त लक्षण तथा चिह्नों के आधार पर अनुभवी चिकित्सक सव्रण या अव्रण शुक्र का निदान कर लेते हैं। रासायनिक परीक्षा—(२)रोगी के नेत्र में फ्लुओसीन की ३–४ बूंदे छोड़ कर दो मिनट के बाद बोरिक लोशन से नेत्र को प्रक्षालित करके देखने से यदि नेत्र में व्रण या क्षत हो तो वह स्थान पीला-नीला हो जाता है और यदि वहां व्रण न हो तो रंग ग्रहण नहीं करेगा। (३)सूक्ष्म व्रणस्थान को बृहद्दर्शक यन्त्र की सहायता से रोगी को प्रकाश में रख कर देखने से कृष्णमण्डल का व्रणितस्थान गड्ढा जैसा दिखाई देगा।

> सितं यदा भात्यसितप्रदेशे
> स्यन्दात्मकं नातिरुगश्रुयुक्तम्।
> विहायसीवाच्छघनानुकारि
> तदव्रणं साध्यतमं वदन्ति।

---

(१) 'यतः सिराः स्वभावतश्चलाः, तदाश्रितं शुक्रमपि चलमिति भावः'।

(२) अर्थविचयशोहानिसुपक्रोशमसङ्ग्रहम्। प्राप्नुयान्नियतं वैद्यो योऽसाध्यं समुपाचरेत्॥

गम्भीरजातं बहलञ्च शुक्रं
चिरोत्थितञ्चापि वदन्ति कृच्छ्रम् ॥ ८ ॥

अव्रण शुक्रलक्षण—अभिष्यन्द के कारण नेत्र के कृष्णभाग में जो सफेदी आ जाती है उसे 'अव्रण शुक्र' कहते हैं। इस रोग में पीड़ा या अश्रुस्राव नहीं होता है। इस रोग की सफेदी की आभा स्वच्छ पतले मेघ से घिरे हुये आकाश की तरह होती है। यह अव्रण शुक्र 'साध्य' है किन्तु जो अव्रण शुक्र अधिक गहराई में स्थित हो अर्थात् द्वितीय तथा तृतीय पटल तक स्थित हो आकार में मोटा हो और अधिक दिनों से उत्पन्न हुआ हो उसे 'कृच्छ्रसाध्य' कहते हैं ॥ ८ ॥

विमर्शः—स्यन्दात्मकम्–अभिष्यन्दहेतुकम्। विहायसीव=आकाश इव 'पुंस्याकाशविहायसी' इत्यमरः। अच्छघनानुकारि=प्रतनुमेघखण्डानुकारि। हाराणचन्द्रस्तु—'अच्छघनानुकारि' इत्यत्र 'अभ्रदलानुकारि', इति पाठं पठित्वा व्याख्याति–अभ्रं नामोपधातुविशेषः तच्च श्वेतमेवेह प्रत्येतव्यम् तस्य दलं पत्रं तदनुकर्तुं शीलमस्येत्यभ्रदलानुकारि, श्वेताभ्रमिवेति निष्कर्षः। अव्रण शुक्र को Opacities of Cornea कहते हैं। अभिष्यन्द के कारण नेत्र के कृष्णभाग में व्रण होकर उसके रोपण हो जाने के परिणाम स्वरूप में जो सफेदी आ जाती है वही अव्रण शुक्र है। कृष्णभाग का व्रण ऊपर से नीचे की ओर पहुँच कर कुछ न कुछ अंश कृष्णमण्डल को अपारदर्शक बनाता है क्योंकि व्रण के रोपण के पश्चात् जो वहाँ नई व्रणवस्तु (Scar) बनती है उसमें कुछ विजातीय सेल आ जाने से वह प्राकृतिक कृष्णमण्डल के समान पारदर्शक नहीं होती। लोकभाषा में इस अव्रण शुक्र को फूली या फूला कहते हैं। ये कृष्णमण्डल की परिधि या मध्य के भाग में एक या अधिक एवं छोटे या बड़े हो सकते हैं। वर्तमान शालाक्यतन्त्र में इसे तीन प्रकार का माना है या इसकी तीन अवस्थाएं होती हैं। प्रथम को 'नीबुला' कहते हैं इसी को प्राचीनों ने 'अच्छघनानुकारि' लिखा है द्वितीय को 'मेक्युला' कहते हैं जिसका वर्णन प्राचीनों ने चिरोत्थित और गम्भीर लिखा है। तृतीय भेद को 'ल्यूकोमा' कहते हैं इसे सम्पूर्ण कृष्णगत माना है।

संच्छाद्यते श्वेतनिभेन सर्वं
दोषेण यस्यासितमण्डलन्तु।
तमक्षिपाकात्ययमक्षिकोप-
समुत्थितं तीव्ररुजं वदन्ति ॥ ९ ॥

अक्षिपाकात्यय—जिस रोगी का समग्र कृष्णमण्डल श्वेत सदृश दोष (श्वेतावरण) से आच्छादित हो जाय उसे 'अक्षिपाकात्यय' कहते हैं। यह रोग अक्षिकोप (अभिष्यन्द) से उत्पन्न होता है तथा इसमें तीव्र पीड़ा होती है ॥ ९ ॥

विमर्शः—वर्तमान शालाक्यतन्त्र में इस रोग को 'हायपोपियान' कहते हैं। यह क्षतयुक्त कृष्णमण्डल शोथ (Ulcerative karatitis) के उपद्रव स्वरूप में उत्पन्न होता है। इस रोग में अग्रिमा 'जलधानी' (Anterior chamber) में पूय स ञ्चित हो जाता है। यह पूय जीवाणुरहित होता है। यह पूय तारासन्धानमण्डल (Iris and Ciliary body) की रक्तवाहिनियों का स्राव है। अक्षिपाकात्यय रोग की समता केरेटो मेलेशिया (Kerato malacia) से भी की जासकती है। यह रोग भी कृष्णमण्डल के व्रणयुक्त शोथ के उपद्रव स्वरूप में उत्पन्न होता है। यह वृद्धावस्था में पोषण के अभाव से उत्पन्न होता है। इस रोग में कृष्णमण्डल की पूरी भित्ति गलने लगती है।

अजापुरीषप्रतिमो रुजावान्
सलोहितो लोहितपिच्छिलाश्रुः।
विदार्य कृष्णं प्रचयोऽभ्युपैति
तच्चाजकाजातमिति व्यवस्येत् ॥ १० ॥

इति सुश्रुतसंहितायामुत्तरतन्त्रे कृष्णगतरोगविज्ञानीयो नाम पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

अजकाजात—नेत्र के कृष्णमण्डल को विदीर्ण (फाड़) करके निकलने वाला तथा बकरी की मींगणी के समानाकृति एवं पीड़ाकारी, लालवर्ण का तथा कुछ लाल वर्ण के पिच्छिल (चिपचिपे) स्राव से युक्त जो पदार्थ निकलता है उसे 'अजकाजात' कहते हैं ॥ १० ॥

विमर्शः—अजापुरीषप्रतिमः=शुष्काजपुरीषतुल्यः। प्रचयः=उद्गमः। तृतीयत्वग्गतत्वेन मेदसः प्रचयो बोद्धव्यः। अभ्युपैति=समन्तादागच्छति। कफजोऽयमसाध्य श्च। विदेह ने भी निम्नरूप से इस रोग का वर्णन किया है—कृष्णोऽक्ष्णोर्यद्भवेच्छुक्लं छागलीविट्समप्रभम्। सान्द्रपिच्छिलरक्तास्रं त्विच्छगमजकेति सा॥ अजकाजात को Anterior staphyloma कहते हैं। कृष्णमण्डल व्रण के अधिक गहराई पर स्थित होने से मण्डल का अत्यधिक भाग ध्वस्त होकर व्रण के विदीर्ण होने से नेत्र के आभ्यन्तरिक पटल आदि भाग बाहर की ओर निकल आते हैं। निकला हुआ भाग धीरे–धीरे बढ़ता जाता है और कुछ काल में पलकधारा के बाहर भी निकल आता है। कभी–कभी नेत्र पर साधारण आघात होने से यह निसृत भाग स्वयमेव फूट जाता है और आंख बैठ जाती है।

रोगहेतु—कृष्णमण्डल का व्रण रोपित होकर जो वहाँ व्रणवस्तु बनती है वह अत्यधिक निर्बल होती है ऐसी स्थिति में यह नेत्र गोलक के आभ्यन्तरिक पदार्थों (सजलद्रव, दृष्टिमणि और सान्द्रद्रव) के भार को सहन न करने में असमर्थ होने से वह बाहर की ओर उभरता है तथा इसमें तारामण्डल (Iris), दृष्टिमणि (Lens) आदि फस जाते हैं।

इत्यायुर्वेदतत्त्वसंदीपिकाभाषाटीकायामुत्तरतन्त्रे कृष्णगतरोगविज्ञानीयो नाम पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

षष्ठोऽध्यायः।

अथातः सर्वगतरोगविज्ञानीयमध्यायं व्याख्यास्यामः ॥१॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥ २ ॥

अब इसके अनन्तर 'सर्वगतरोगविज्ञानीय' अध्याय का वर्णन करते हैं जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने कहा है ॥१–२॥

विमर्शः—'सर्वगत' शब्द से यहाँ पर नेत्र के समस्त भाग में होने वाले रोगों से तात्पर्य है। अर्थात्—जिन रोगों के

उत्पन्न होने से नेत्र के किसी एक भाग में पीड़ा या लक्षण न होकर नेत्र के समस्त भाग में उन रोगों के लक्षण उत्पन्न होते हैं अत एव उन्हें 'सर्वगत रोग' कहा है। पूर्व में कह आये हैं कि सर्वगत रोग सत्रह होते हैं 'सर्वाश्रयाः सप्तदश'।

स्यन्दास्तु चत्वार इहोपदिष्टा-
स्तावन्त एवेह तथाऽधिमन्थाः।
शोफान्वितोऽशोफयुतश्च पाका-
वित्येवमेते दश सम्प्रदिष्टाः॥ ३॥
हताधिमन्थोऽनिलपर्ययश्च
शुष्काक्षिपाकोऽन्यत एव वातः।
दृष्टिस्तथाऽम्लाध्युषिता सिराणा-
मुत्पातहर्षावपि सर्वभागाः॥ ४॥

सर्वगतरोग गणना—सर्वगत रोगों में चार प्रकार के अभिष्यन्द अर्थात् वाताभिष्यन्द, पित्ताभिष्यन्द, कफाभिष्यन्द और रक्ताभिष्यन्द और उतने ही (चार प्रकार के) अधिमन्थ तथा सशोफपाक और अशोफपाक ऐसे ये दस रोग और हताधिमन्थ, वातपर्यय, शुष्काक्षिपाक, अन्यतोवात, अम्लाध्युषित दृष्टि, सिरोत्पात और सिराहर्ष ये कुल मिल कर सत्तरह सर्वगत रोग होते हैं॥ ३-४॥

विमर्श—अभिष्यन्द (Conjunctivitis), अधिमन्थ (Glaucoma acute), सशोफपाक अधिमन्थोपद्रव, अशोफपाक अधिमन्थोपद्रव, हताधिमन्थ (Secondary glaucoma) Atrophy of the eye ball or sinking of the eye ball) अनिलपर्यय या वातपर्यय (अधिमन्थोपद्रव) Afection or Atrophy of the vcranial nerve, शुष्काक्षिपाक (अधिमन्थोपद्रव), (Ophthalmoplegia), अन्यतोवात अम्लाध्युषित दृष्टि अधिमन्थोपद्रवभूत, सिरोत्पात (Hyperemia of conjunctiva), सिराहर्ष (Acute orbital cellulitis)।

प्रायेण सर्वे नयनामयास्तु
भवन्त्यभिष्यन्दनिमित्तमूलाः।
तस्मादभिष्यन्दमुदीर्यमाण-
मुपाचरेदाशु हिताय धीमान्॥ ५॥

प्रायः सर्व प्रकार के नेत्ररोग अभिष्यन्द के कारण ही उत्पन्न होते हैं इस लिये बुद्धिमान् रोगी या वैद्य हित के लिये उत्पन्न होने वाले अभिष्यन्द की शीघ्र ही चिकित्सा करे॥५॥

विमर्शः—अभिष्यन्दाश्च तन्निमित्तानि च, तान्येव मूलं येषान्ते तथोक्ताः। अर्थात्—सर्व प्रकार के नेत्ररोगों में अभिष्यन्द और अभिष्यन्द के जनक आहार तथा विहार कारण होते हैं। यहां पर निमित्त शब्द से दुष्ट दोष तथा दोषप्रकोपक दोनों का ग्रहण किया गया है।

परिभाषा—अभिष्यन्द या स्यन्द अर्थात् बहना या स्रवित होना। जिस नेत्ररोग में स्राव अधिक निकलता हो उसे 'अभिष्यन्द' कहते हैं। लोकव्यवहार में आंख का दुखना, आंख का आना या उठना कहा जाता है। वर्तमान नेत्र चिकित्सा में इसे 'नेत्रश्लेष्मावरणशोथ' (Conjunctivitis) कहते हैं। इस रोग में नेत्र के श्लेष्मावरण (Conjunctiva) का भाग ही अधिकतर रक्ताधिक्ययुक्त या शोथयुक्त रहता है। यह रोग ग्रीष्मकाल में अधिक हुआ करता है। धनवान् की अपेक्षा निर्धन मनुष्य इससे अधिक आक्रान्त होते हैं। यह तीव्र औपसर्गिक (सांसर्गिक = Infective) रोग है जो एक से दूसरे को अर्थात् व्याधित से स्वस्थ को सहज में हो जाता है। रुग्ण के नेत्र का स्राव तथा कीचड़ (गीड़, पूय आदि नेत्रमल) किसी माध्यम या वाहक द्वारा स्वस्थ पर पहुंच कर नेत्ररोग उत्पन्न करता है जैसा कि प्राचीन आचार्यों ने भी इसे एक से दूसरे व्यक्ति पर संसर्गित होना स्पष्ट लिखा है। प्रसङ्गात् गात्रसंस्पर्शान्निश्वासात्सहभोजनात्। सहशय्यासनाच्चापि वस्त्रमाल्यानुलेपनात्॥ कुष्ठं ज्वरश्च शोषश्च नेत्राभिष्यन्द एव च औपसर्गिकरोगाश्च संक्रामन्ति नरान्नरम्॥

सामान्यलक्षण तथा चिह्न—

(१) वेदना (Pain) शोथ की तीव्रता से अधिक पीड़ा तथा शोथ की सौम्यता से पीडा कम रहती है। प्रथम ऐसा प्रतीत होता है कि नेत्र में कोई बाह्यवस्तु गिर गई हो जिससे रोगी बार-बार आंख को मसला करता है। बाद में यही वेदना तीव्र रूप धारण कर लेती है जिसे आचार्य 'सुश्रुत' ने निस्तोदन (सूई चुभोने की सी पीडा), संघर्षण (आंख में गड़ना या किरकिरी पड़ना) और शिरोऽभिताप शब्दों से व्यक्त किया है।

(२) लालिमा (Redness)—शोथ की तीव्रता से अधिक तथा शोथ की सौम्यता से लालिमा कम होती है। लालिमा का कारण श्लेष्मावरण की धमनियों में रक्त की परिपूर्णता का होना है। आचार्य सुश्रुत ने इसे 'राज्यः समन्तादतिलोहिताश्च' इस रूप में वर्णित किया है।

(३) प्रकाशासह्यता (Photophobia)—यह लक्षण भी शोथ की तीव्रातितीव्र से अधिक व अल्प रहता है। रोगी को शीत स्थान सात्म्य है 'शिशिराभिनन्दा' तथा अन्धेरा स्थान सुखकर प्रतीत होता है थोड़े से भी प्रकाश या सूर्य किरण में चकाचौंध या कष्ट होता है यही सुश्रुताचार्य ने भी स्पष्ट लिखा है—'शक्तो नार्कप्रभां द्रष्टुम्'।

(४) स्राव (Discharge)—साधारण रोग में जलसमान स्राव तथा प्रबल रोग में गाढा, लसदार और श्वेत प्रवाही स्राव निकलता है। इसी को आचार्य ने 'पिच्छिलस्राव' लिखा है। इस स्राव के सिवाय नेत्रों में पीले रङ्ग का मल (गीड़ = कीचड़) भी दिखाई देता है जिसका वर्णन 'मलोपलिप्तता' या 'उपदेह' नाम से किया है। उक्त स्राव तथा कीचड़ के कारण नेत्र चिपचिपे बने रहते हैं एवं पूरे खुल भी नहीं पाते हैं। सुबह सोकर उठने पर यह स्राव तथा कीचड़ अधिक रहता है। इस तरह नव्य शालाक्यविज्ञों ने अभिष्यन्द के उक्त चार मुख्य लक्षण कहे हैं। सुश्रुतादि आचार्यों ने अभिष्यन्द को वातिक, पैत्तिक, श्लैष्मिक और रक्तज ऐसे चार भागों में विभक्त कर पृथक्-पृथक् लक्षण दिये हैं वे निम्न हैं।

निस्तोदनं स्तम्भनरोमहर्ष-
सङ्घर्षपारुष्यशिरोऽभितापाः।

विशुष्कभावः शिशिराश्रुता च
वाताभिपन्ने नयने भवन्ति ॥ ६ ॥

वाताभिष्यन्द लक्षण—वातदोषयुक्त अभिष्यन्दी के नेत्र में सूई के चुभोने की सी पीडा, जकड़ाहट, रोमहर्ष, गड़ना या किरकिरी पड़ी हुई सी मालूम होना, विशुष्कभाव अर्थात् नेत्र में कीचड़ का न होना, शीतल आंसू निकलना ये लक्षण होते हैं ॥ ६ ॥

दाहप्रपाकौ शिशिराभिनन्दा
धूमायनं बाष्पसमुच्छ्रयश्च ।
उष्णाश्रुता पीतकनेत्रता च
पित्ताभिपन्ने नयने भवन्ति ॥ ७ ॥

पित्ताभिष्यन्द लक्षण—पित्तदोषयुक्त अभिष्यन्दी के नेत्र में दाह तथा पाक होता है। शीतल पदार्थ सेवन की इच्छा, धूंए के निकलने की सी प्रतीति, बाष्प या आंसू की बहुलता, गरम आंसू का निकलना तथा पीले नेत्रों का होना ये लक्षण होते हैं ॥ ७ ॥

उष्णाभिनन्दा गुरुताऽक्षिशोफः
कण्डूपदेहौ सितताऽतिशैत्यम् ।
स्रावो मुहुः पिच्छिल एव चापि
कफाभिपन्ने नयने भवन्ति ॥ ८ ॥

श्लेष्माभिष्यन्द लक्षण—उष्ण पदार्थ खाने तथा धूप में बैठने पर आनन्द प्रतीत होना, नेत्र में भारीपन, सूजन, कण्डू, उपदेह (नेत्रों में मल लिप्त रहना), श्वेतता, स्पर्श से नेत्र में अधिक शीत-प्रतीति तथा नेत्र से बार-बार पिच्छिल वर्ण का स्राव निकलना ये लक्षण कफ दोष से व्याप्त नेत्र के हैं ॥ ८ ॥

ताम्राश्रुता लोहितनेत्रता च
राज्यः समन्तादतिलोहिताश्च ।
पित्तस्य लिङ्गानि च यानि तानि
रक्ताभिपन्ने नयने भवन्ति ॥ ९ ॥

रक्ताभिष्यन्द लक्षण—ताम्रवर्ण के आंसुओं का निकलना, नेत्रों में लाली होना, चारों ओर नेत्र में लाल रङ्ग की रेखाओं का दिखाई देना तथा अन्य भी पित्तप्रकोप के लक्षणों (दाहादिक) का प्रादुर्भाव होना, रक्तदोष-व्याप्त नेत्र (रक्ताभिष्यन्द) के लक्षण हैं ॥ ९ ॥

विमर्शः—पित्तज तथा रक्तज अभिष्यन्द के लक्षण आधुनिक नेत्र-श्लेष्मावरण-रक्तसंग्रह (Hyperemia of the Conjunctive) नामक रोग से मिलते हुये हैं। रक्त की अधिकता होने से नेत्रों में दाह, बाष्पधूमायन, उष्णाश्रुस्राव तथा शीताभिलाष आदि लक्षण होते हैं। पाश्चात्य चिकित्सा में नेत्र-श्लेष्मावरण-रक्तसंग्रह के निम्न भेद माने गये हैं—(१) Catarrhal conjunctivitis Acute (नेत्रश्लेष्मावरणशोथ), (२) Angular conjunctivitis (नेत्रकोणगत-श्लेष्मावरणशोथ), (३) Pneumococal conjunctivitis., (४) Follicular conjunctivitis (कुकूणक), (५) Gonorrheal conjunctivitis., (६) Ophthalmia-neonatorum. (शिशु-सपूय-नेत्रावरणशोथ), (७) Diphtheritic conjunctivitis (रोहिणीजन्य-नेत्रश्लेष्मावरण शोथ), (८) Croupous conjunctivitis (९) Phlyctenular conjunctivitis (पिटिकाक्षतमय-नेत्रश्लेष्मावरणशोथ), (१०) Parinaud s conjunctivitis, (११) मस्तिष्कावरणशोथजन्याभिष्यन्द ।

वृद्धैरेतैरभिष्यन्दैर्नराणामक्रियावताम् ।
तावन्तस्त्वधिमन्थाः स्युर्नयने तीव्रवेदनाः ॥ १० ॥

अधिमन्थ—अक्रियाशील (मिथ्या आहार-विहारसेवी) मनुष्यों के उक्त अभिष्यन्द रोगों के बढ़ने पर नेत्र में तीव्र पीडादायक उतने ही अधिमन्थ रोग होते हैं ॥ १० ॥

उत्पाट्यत इवात्यर्थं नेत्रं निर्मथ्यते तथा ।
शिरसोऽर्द्धं च तं विद्यादधिमन्थं स्वलक्षणैः ॥ ११ ॥

अधिमन्थ सामान्यलक्षण—जिसमें रोगी को ऐसा प्रतीत हो कि मानों कोई नेत्र को निकाल रहा है अथवा नेत्र का अत्यन्त मथन कर रहा हो तथा शिर के अर्द्धभाग में भयङ्कर पीड़ा होती हो उसे स्वलक्षणों (वातादिजन्य-अभिष्यन्द-लक्षणों) से 'अधिमन्थ' जानना चाहिये ॥ ११ ॥

नेत्रमुत्पाट्यत इव मथ्यतेऽरणिवच्च यत् ।
सङ्घर्षतोदनिर्भेदमांससंरब्धमाविलम् ॥ १२ ॥
कुञ्चनास्फोटनाध्मानवेपथुव्यथनैर्युतम् ।
शिरसोऽर्द्धञ्च येन स्यादधिमन्थः स मारुतात् ॥१३॥

वाताधिमन्थ—वात से होने वाले अधिमन्थ रोग से नेत्र भीतर से उखाड़ा जाता हो ऐसा प्रतीत होता हो, नेत्र में अरणी के मन्थन करने के समान पीड़ा होती हो तथा नेत्र में सङ्घर्ष (किरकिरापन), सूई चुभोने की सी पीड़ा, एवं नेत्र में शस्त्र द्वारा विदारण करने के समान वेदना और नेत्रगत मांस में संरब्धता (मांसशून्यता) तथा नेत्र का मल से आविल (व्याप्त) रहना एवं नेत्र में कुञ्चन (सङ्कोचन), आस्फोटन (फटने के समान अनुभव), आध्मान (तनाव Tension), वेपथु (कम्पन) आदि व्यथाओं का होना तथा शिर के आधे भाग में तीव्र वेदना होती है ॥ १२-१३ ॥

विमर्शः—वाग्भटाचार्य ने वाताधिमन्थ के उक्त लक्षणों के अतिरिक्त कर्णनाद, भ्रम तथा ललाट, आंख और भ्रू में वेदना होना विशिष्ट लिखा है—अधिमन्थे भवेत्तत्र कर्णयोर्निदनं भ्रमः। अरण्येव च मथ्यन्ते ललाटाक्षिभ्रुवादयः॥

रक्तराजिचितं स्रावि वह्निनेवावदह्यते ।
यकृत्पिण्डोपमं दाहि क्षारेणाक्तमिव क्षतम् ॥ १४ ॥
प्रपक्वोच्छूनवर्त्मान्तं सस्वेदं पीतदर्शनम् ।
मूर्च्छाशिरोदाहयुतं पित्तेनाक्ष्यधिमन्थितम् ॥ १५ ॥

पित्ताधिमन्थ लक्षण—नेत्र लाल वर्ण की रेखाओं से व्याप्त हो गया हो, स्राव निकलता हो, अग्नि से जलने के समान दाह होता हो तथा नेत्र-गोलक यकृत् पिण्ड के समान गहरे ताम्रवर्ण का हो गया हो, उसमें क्षार से लिप्त क्षत में जलन होने के समान जलन होती हो तथा वर्त्म के प्रान्त भाग पके हुये तथा शोथयुक्त दिखाई देते हों, पसीना आता हो एवं रोगी

को सब वस्तुएं पीली दिखाई देती हों तथा कभी-कभी मूर्च्छा आ जाती हो एवं शिर में दाह होता हो उसे 'पित्तजन्य-अधिमन्थ' जानना चाहिये ॥ १४–१५ ॥

शोफवन्नातिसंरब्धं स्रावकण्डूसमन्वितम् ।
शैत्यगौरवपैच्छिल्यदूषिकाहर्षणान्वितम् ॥ १६ ॥
रूपं पश्यति दुःखेन पांशुपूर्णमिवाविलम् ।
नासाध्मानशिरोदुःखयुतं श्लेष्माधिमन्थितम् ॥ १७ ॥

श्लेष्माधिमन्थलक्षण—जिस रोगी का नेत्रशोफ के समान अत्यधिक दाह, राग और वेदना से युक्त न हो किन्तु स्राव, कण्डू, शैत्य, गौरव, पैच्छिल्य, दूषिका (नेत्रमल) तथा हर्षण (रोमाञ्च) से युक्त हो एवं रोगी को धूलि से व्याप्त प्रत्येक पदार्थ कष्ट से दिखाई देते हों तथा नेत्र गंदले हों साथ ही में नासा में आध्मान (रुकावट होने से फूली हुई सी) और शिर में वेदना का अनुभव होता हो उसे 'श्लेष्माधिमन्थ' पीड़ित जानो ॥ १६–१७ ॥

बन्धुजीवप्रतीकाशं ताम्यति स्पर्शनाक्षमम् ।
रक्तास्रावं सनिस्तोदं पश्यत्यग्निनिभा दिशः ॥ १८ ॥
रक्तमग्नारिष्टवच्च कृष्णभागश्च लक्ष्यते ।
यद्दीप्तं रक्तपर्यन्तं तद्रक्तेनाधिमन्थितम् ॥ १९ ॥

रक्ताधिमन्थलक्षण—जिस रोगी के नेत्र बन्धुजीव (जपा-पुष्प) के समान लालवर्ण युक्त हों तथा वह रोगी घबराता हो एवं उसके नेत्र स्पर्श करने से पीड़ाजनक हों, नेत्रों से रक्त या रक्तवर्ण का स्राव निकलता हो तथा सूई चुभोने की सी पीड़ा प्रतीत हो, रुग्ण को सब दिशाएं अग्नि से जलती हुई सी दीखती हों एवं रोगी का कृष्णभाग रक्त में डूबे हुये रीठे के सदृश दिखाई देता हो तथा नेत्र दीप्त (जलते हुए से) हों तथा उनके आस-पास लालिमा दिखाई देती हो तब उन्हें 'रक्ताधिमन्थ' रोगयुक्त समझें ॥ १८–१९ ॥

विमर्शः—वाग्भटोक्तलक्षणं—रागेण बन्धूकनिभं ताम्यति स्पर्शनाक्षमम् । असृङ्निमग्नारिष्टाभं कृष्णमग्न्याभदर्शनम् ।

हन्याद् दृष्टिं सप्तरात्रात् कफोत्थोऽ-
धीमन्थोऽसृक्सम्भवः पञ्चरात्रात् ।
षड्रात्राद्वै मारुतोत्थो निहन्या-
न्मिथ्याचारात् पैत्तिकः सद्य एव ॥ २० ॥

अधिमन्थपरिणाम (साध्यासाध्यता)—कफजन्य अधिमन्थ उचित चिकित्सा न करने से या मिथ्या आहार-विहार करने से सात दिन में, रक्तजन्य पांच दिन में, वातजन्य ६ रात्रि में तथा पित्तजन्य अधिमन्थ तत्काल ही दृष्टि को नष्ट कर देता है ॥ २० ॥

विमर्शः—यह सर्वगत नेत्र रोगों का एक प्रधान तथा समस्त नेत्र पर प्रभाव डालने वाला रोग है। कई विद्वानों ने इस रोग की तुलना तीव्रनेत्रगुहाशोथ (Acute orbital cellulitis) से की है तथा कुछ ने इस मत को ठीक न मान कर इसकी तुलना ग्लौकोमा (Glaucoma) से की है। किसी-किसी अंश में दोनों मत ठीक हो सकते हैं किन्तु अधिमन्थ के आयुर्वेदोक्त लक्षण तथा वर्णित चिह्न, उपद्रव और चिकित्सा ग्लौकोमा से बहुत मिलते-जुलते हैं। जैसे अतिशय करके मन्थनवत् का होना, आविलदर्शन (धुंधला दिखाई देना), आकुञ्चन, आस्फोटन, आध्मान (Tension) आदि कुछ ऐसे लक्षण हैं जो ग्लौकोमा की ओर ध्यान दिलाते हैं। द्वितीय प्रमाण यह भी है कि अधिमन्थ के आयुर्वेदोक्त जो परिणाम या उपद्रव हैं वे भी ग्लौकोमा के उपद्रवों के समान ही हैं। जैसे हताधिमन्थ—इसमें वातसूत्रों का शोष (Atrophy होकर नेत्रशोष (Atrophy or sinking of the eye ball) हो जाता है। इसी प्रकार वाग्भटोक्त दृष्टिहा लक्षण भी ग्लौकोमा के उपद्रव में होता है। अन्यतोवात, वातपर्यय, शुष्काक्षिपाक आदि सुश्रुतोक्त स्वतन्त्र रोग भी ग्लौकोमा के उपद्रव में हो सकते हैं। इसी तरह सुश्रुतोक्त नेत्राध्मान तथा वाग्भटोक्त 'नतं कृष्णमुन्नतं शुक्लमण्डलम्' यह उपद्रव लक्षण ग्लौकोमा के अन्दर eye ball के बढ़े हुये Tension का ही द्योतक है जो कि Acute glaucoma की अवस्था में पाया जाता है। नेत्रगोलक के भीतर के द्रव की वृद्धि होने से दबाव पाकर Iris नीचे की ओर झुक जाता है जिससे कृष्णमण्डल नष्ट हो जाता है और शुक्लपटल ऊँचा उठ जाता है। ग्लौकोमा रोग में नेत्रगोलकविकृति निम्न वर्णन से स्पष्ट हो जाती है—The pupil is dilated, ovale, immobile and of ten presents a greenish reflex. The iriss is conjetsed, discoloureol and dull. The anterior chamber is shallow, the agueous some times turbid, The lens and the periphery of the iris are pusliedfor ward, the lids are swollen and oedematous etc. सशोफ नेत्रपाक तथा अशोफ नेत्रपाक को स्वतन्त्र त्रिदोषज नेत्ररोग माने हैं किन्तु ये भी अधिमन्थ के ही उपद्रव ज्ञात होते हैं। सांघातिक ग्लौकोमा (Glaucoma fulmirous)—इसके लक्षणों में वर्त्मदाह, वर्त्मपाक तथा कृष्णमण्डल (Cornea) पर संक्रमण पहुंचने से उसमें पूय पड़कर छिद्र होने से नीचे का भाग संक्रमित होकर पश्चात् सारा नेत्र गोलक संक्रमित हो जाता है जिससे नेत्रपाक होकर दृष्टि नष्ट हो जाती है। इस रोग का आरम्भ अकस्मात् होता है तथा शीघ्र ही दृष्टि को नष्ट कर देता है सम्भवतः सुश्रुत का 'मिथ्याचारात् पैत्तिकः सद्य एव' यह वाक्य इसी आशय को प्रकट करता है। आधुनिकों का वर्णन भी ऐसा ही है—Glaucoma fulminous is a name given to a form rare occurrence in which very volents symptoms of inflamation develops sucldenly and in which blindness may issue in a few hours unless proper treatment be instituted. उक्त वर्णन की अवस्था पैत्तिकाधिमन्थ तथा उस के उपद्रव सशोफ नेत्रपाक अथवा अशोफ नेत्रपाक की दर्शक है अन्याध्युषित भी तीव्राधिमन्थ के परिणामस्वरूप में होने वाला उपद्रव ही है। उक्त सर्व प्रकार के वर्णनों से हम इस तथ्य पर पहुंच सकते हैं कि प्राचीनों द्वारा वर्णित अधिमन्थ रोग Acute conive estus glaucoma ही हो सकता है।

अधिमन्थ—यह भारत में अधिक होने वाला तथा शीघ्र उचित उपचार न करने से सदा के लिये दर्शन शक्ति को नष्ट कर देने वाला रोग है। इस रोग में नेत्रगोलक कठिन होता जाता है एवं भीतर का भार (Tension) बढ़ता है जिससे

मन्थ तथा तीव्र शूल आदि लक्षण होते हैं। कारण (Predisposing)—(१) तन्तुसमूह (Ciliary body) का मोटा होना जैसे वृद्धावस्था तथा दीर्घदृष्टि वालों में। (२) दृष्टिमणि (Lens) का काठिन्य या दीर्घता जैसे ४०-४५ की आयु में लैंस कठोर हो जाता है तथा उसकी स्थिति-स्थापकता कम हो जाती है। (३) नेत्रबाह्यपटल (Sclera) का काठिन्य और स्थिति-स्थापकता का ह्रास जैसे वृद्धावस्था में। (४) सजलद्रव के पूर्वखण्ड (Ant chember) की गहराई कम होना। (५) नेत्रगत रक्तवाहिनियों का रक्तपूर्ण होना जिससे नेत्राभ्यन्तरीय दबाव बढ़ कर रोगोत्पत्ति होती है। (६) रक्तचाप (High blood pressure), क्रोध, चिन्ता, मानसिक आघात, निद्रानाश, मलावरोध, जरावस्थाजन्य धमनी-काठिन्य (Arterio sclerosis) होने से नेत्रगत धमनियों में भारवृद्धि होती है। प्रकोपक कारण—उक्त कारणों में से कोई एक कारण पूर्व में हो तथा अन्य कारणों जैसे—अतिश्रम, सूर्यताप, एट्रोपीन या होमेट्रोपीन से तारक (Pupil) प्रसारित हो जाय तो 'अधिमन्थ' रोग हो जाता है। सम्प्राप्ति--नेत्रान्तर्भार वृद्धि या अन्तःसंगृहीत द्रव्य के अधिक दबाव से होती है। जब प्रवाह के स्वाभाविक योजना में अन्तर आता है तब यह रोग होता है। सजल द्रव के पश्चिमखण्ड से तारामण्डल के परिधिप्रान्त में स्थित अनेक छिद्रों द्वारा क्षारीय जल पूर्वखण्ड में आता रहता है। एवं यही द्रव पश्चिमखण्ड में से सान्द्रद्रव के खण्ड में भी गति करता रहता है। वह तन्तुमय समूह (Ciliary body) से स्रवता है। इस स्राव का आधार देह की धमनियों तथा तन्तुसमूह और मध्यपटल की धमनियों के भीतर के दबाव पर एवं नेत्र के भीतर संगृहीत प्रवाही के ऊपर निर्भर करता है। यदि धमनियों में रक्त का दबाव कम हो तो उक्त प्रवाही स्राव कम मात्रा में स्रवित होता है और इसके विपरीत स्थिति हो तो स्रवण क्रिया अधिक होती है। एक ओर प्रवाही या द्रव बनता है दूसरी ओर निकलने का मार्ग भी प्रस्तुत रहता है। कुछ तो दृष्टिवितान की रसवाहिनियों द्वारा निकलता है कुछ उसी खण्ड की रक्तवाहिनी केशिकाओं के द्वारा वापस होकर रुधिर में शोषित हो जाता है और दूसरा मार्ग सजल द्रव पश्चिमखण्ड से पूर्व खण्ड में और वहां से 'कृष्णमण्डल, बाह्यपटल, और तारामण्डल (Cornea, Sclera, Iris) के संगम के पास अग्रिम जलमार्ग या श्लेम की नलिका द्वारा बाहर निकलने का है। इस प्रकार प्रवाही या द्रव के बनने के साथ अधिक मात्रा में संगृहीत द्रव को निकालने का भी प्रबन्ध है जिससे भार का सन्तुलन रहे। किसी कारण से यह सन्तुलन बिगड़ जाय तो अधिमन्थ रोग हो जाता है। केवल स्राव के अल्पनिकास से ही रोगोत्पत्ति नहीं होती बल्कि उत्पत्ति ज्यादा हो और निकास कम हो तब रोगोत्पत्ति होती है।

भेदः—ग्लौकोमा के पाश्चात्यों ने निम्न भेद व उपभेद माने हैं। (१) प्राथमिक (Primary) स्वस्थ नेत्र में स्वतन्त्र रोगोत्पत्ति। (२) औपद्रविक (Secondary) अन्य नेत्ररोगों के उपद्रव रूप में रोगोत्पत्ति। (३) बाल्यकालीनजलनयन (Hydrophthalmus) प्राथमिक के भी ४ भेद होते हैं।

(१) तीव्ररक्ताधिक्ययुक्त (Acute congestive) (२) चिरकालिक रक्ताधिक्ययुक्त (Chronic congestive) (३) सामान्य या चिरकालिक (Simple or chronic) (४) सम्पूर्ण (Absolute) औपद्रविक अधिमन्थ निम्न रोगों के उपद्रव स्वरूप में होता है—(१) कृष्णमण्डल शोथ या सव्रण शुक्र, (२) तारामण्डल या आयरिस के रोग इसमें श्लेम की नलिका का मार्गावरोध हो जाता है जिससे आभ्यन्तरिक भार बढ़कर अधिमन्थ रोग हो जाता है। (३) तन्तुमयसमूह या मध्यपटलशोथ। (४) दृष्टिमणि का भ्रंश। (५) नेत्रान्तर्गत अर्बुद। (६) नेत्रगृह की सिराओं का अवरोध। (७) नयनाभिघात—इससे पूर्वकोष्ठ में रक्तसञ्चय हो जाता है जिससे श्लेम का मार्ग अवरुद्ध होकर रोग हो जाता है। (८) सहजविकार-(क) लघुनेत्र, (ख) तारामण्डल का अभाव जिसमें प्रारम्भ से श्लेम का जलमार्ग छोटा होता है। (९) दृष्टिवितान की मध्यसिरा का रक्तस्राव।

तीव्राधिमन्थ (Acute congestive or inflammatory glaucoma) इसी का प्राचीनों ने अधिमन्थ नाम से वर्णन किया है। लक्षण—(१) शिरःशूल-चौबीसों घण्टे बना रहता है जिससे रोगी व्याकुल हो जाता है। इसका कारण सांवेदनिक वातसूत्रों पर दबाव होता है। प्राचीनों ने इसका वर्णन 'उत्पाट्यत इवात्यर्थं नेत्रं निर्मथ्यते तथा' इस रूप में किया है। (२) अश्रुस्राव—जल के समान तथा चिपचिपाहट रहित आंसुओं का अत्यधिक निकलना। इसी को 'स्रावकण्डूसमन्वितम्' इस रूप में कहा है। (३) दृष्टिमान्द्य— शूल के चलने से दृष्टि मन्द हो जाती है। प्राचीनों ने भी 'हन्याद् दृष्टिम्' तथा 'आविलदर्शनम्' इस प्रकार इस लक्षण का निर्देश किया है। (४) वमन, शीतज्वर, एवं हृद्गतिमान्द्य हो जाता है। (५) वर्त्मशोथ-न्यूनाधिक मात्रा में पलकों पर शोथ होता है। कुछ रोगी अत्यधिक शोथ होने से नेत्र खोल नहीं सकते हैं। प्राचीनों ने इसको 'शूनवर्त्मान्तम्' के रूप में लिखा है। (६) नेत्रलालिमा—नेत्रगोलक की रक्तवाहिनियां रुधिर से भर जाती हैं जिससे नेत्र अत्यधिक लाल हो जाता है। अवरोध के कारण रक्तवाहिनियों में स्रवित द्रव नेत्रश्लेष्मावरण के नीचे चूकर संगृहीत हो जाता है जिससे वह बुद्बुद के समान फूल जाता है। इसी आशय को प्राचीनों ने 'पक्वोदुम्बरसन्निभः', 'बन्धुजीवप्रतीकाशम्', 'यकृत्पिण्डोपमम्', 'रक्तराजिचितम्' इन भावों में प्रकट किया है। (७) कृष्णमण्डल की तेजोहीनता—स्वस्थ पुरुष में कृष्णमण्डल वहां की सम्यक् रुधिराभिसरण से चिकना और तेजोयुक्त होता है किन्तु इस रुधिराभिसरण में बाधा होने से कृष्णमण्डल निस्तेज उस पर बाष्प, बादल या धुआं चढ़ा हुआ होने से प्रतीत होता है। यही आशय प्राचीनों ने 'रक्तमग्नारिष्टवच्च कृष्णभागश्च लक्ष्यते' इस रूप से प्रदर्शित किया है। (८) सजलद्रव के पूर्वखण्ड की लघुता—ग्लौकोमा होने पर पूर्वखण्ड स्वाकार में छोटा हो जाता है। उसका तरल गंदला हो जाता है तथा उसकी पारदर्शकता जाती रहती है। प्राचीनों ने इसको 'आविलदर्शनम्' नाम से लिखा है। (९) इस रोग में तारामण्डल (Iris) राख के समान काला हो जाता है। (१०) दृष्टिनाडी (Optic nerve) का प्रान्तभाग (सिरा) तीव्रावस्था में लाल तथा चिरकालीन अवस्था में वहां एक गढ़ा सा दीखता है। (११) नेत्राभ्यन्तरभारवृद्धि—ग्लौकोमा में आभ्यन्तरिक भार (Tension) बढ़ जाता है जिसे अङ्गुलियों द्वारा या भारमापक यन्त्र द्वारा जान सकते हैं। (१२) तारक (Pupil)—

परिवर्तन—इस रोग में तारक का न्यूनाधिक प्रसार होता ही है तथा उस पर टार्च की रोशनी डालने पर भी सङ्कुचित नहीं होता। इस तरह तारक की प्रकाश-प्रतिक्रिया भी नष्ट हो जाती है।

कण्डूपदेहाश्रुयुतः पक्कोदुम्बरसन्निभः।
दाहसंघर्षताम्रत्वशोफनिस्तोदगौरवैः ॥ २१ ॥
जुष्टो मुहुः स्रवेच्चास्रमुष्णशीताम्बु पिच्छिलम्।
संरम्भी पच्यते यश्च नेत्रपाकः स शोफजः।
शोफहीनानि लिङ्गानि नेत्रपाके त्वशोफजे ॥ २२ ॥

सशोफपाकलक्षण—नेत्र में खुजली होना, मल (कीचड़) का जमना तथा अश्रुस्राव होना एवं नेत्र का पके हुये गूलर फल के समान दिखाई देना तथा नेत्र में दाह संघर्ष या संहर्ष (रोमाञ्चता), ताम्रवर्णता, शोफ, सुई चुभोने की सी पीड़ा और भारीपन तथा कभी गरम और कभी ठण्डे और पिच्छिल स्राव का बार-बार निकलना एवं संरंभ (संक्षोभ या शोथ) और पाक होना ये सशोफ नेत्रपाक के लक्षण हैं तथा उक्त लक्षणों वाला किन्तु शोथ न हो उसे अशोफ नेत्रपाक कहते हैं॥

उपेक्षणादक्षि यदाऽधिमन्थो
वातात्मकः सादयति प्रसह्य।
रुजाभिरुग्राभिरसाध्य एष
हताधिमन्थः खलु नाम रोगः ॥ २३ ॥
अन्तः सिराणां श्वसनः स्थितो दृष्टिं प्रतिक्षिपन्।
हताधिमन्थं जनयेत्तमसाध्यं विदुर्बुधाः ॥ २४ ॥

हताधिमन्थलक्षण—अधिमन्थ रोग की उपेक्षा (चिकित्सा न) करने से सिराओं में सञ्चरित होने वाला वात कुपित होकर नेत्र को शोषित कर देता है तथा उग्र पीड़ा होती है एवं यह रोग असाध्य है, इसे हताधिमन्थ कहते हैं। इसी प्रकार सिराओं में स्थित प्रकुपित वात नेत्र को बाहर निकाल देता है जिससे नेत्रगोलक कोटर से उभरा हुआ (Exopthalmos) दिखाई पड़ता है। इसे भी असाध्य हताधिमन्थ कहते हैं॥ २३-२४ ॥

विमर्शः—सुश्रुत ने हताधिमन्थ का दो श्लोकों के द्वारा वर्णन कर दो भेद या अवस्थाएँ प्रदर्शित की हैं। प्रथम भेद जो कि ऊपर वर्णित किया है इसमें रोगी का नेत्रगोलक सूख जाता है जैसा कि विदेह ने शोष के रूप का वर्णन किया है—अथवा शोषयेदक्षि क्षीणतेजोबलादयम्। तत्पक्वमिव संशुष्कमवसीदति लोचनम्॥ हताधिमन्थं तं विद्यादसाध्यं वातकोपतः। इसमें वात प्रकुपित होकर मणि (Lens), तेज, बल, और अग्नि को कम करके नेत्र की सिराओं को सुखा कर (Due to atrophy of the nerves) अक्षिगोलक को सुखा देता है जिससे दर्शन-शक्ति नष्ट हो जाती है (इस रोग को Sinking of the eye ball) कहते हैं। दूसरे भेद में नेत्रगोलक बाहर उभरा सा दीखता है। इसका विदेह ने निम्न रूप से उल्लेख किया है—अन्तर्गतः सिराणान्तु यदा तिष्ठति मारुतः। स तदा नयनं प्राप्य शीघ्रं दृष्टिं निरस्यति॥ तस्यां निरस्यमानायां निर्मन्थन्निव मारुतः। नयनं निर्मथत्याशु शूलोदाधिमन्थनैः॥

पक्ष्मद्वयाक्षिभ्रुवमाश्रितस्तु
यत्रानिलः सञ्चरति प्रदुष्टः।
पर्यायशश्चापि रुजः करोति
तं वातपर्यायमुदाहरन्ति ॥ २५ ॥

वातपर्यायलक्षण—मिथ्या आहार-विहार से प्रकुपित वात पर्याय (क्रम) से कभी दोनों पक्ष्म में तथा कभी नेत्रों में अवस्थित होकर सञ्चरण करता हुआ पीड़ा उत्पन्न करता है उसे 'वातपर्याय' रोग कहते हैं॥ २५ ॥

विमर्शः—इस रोग में मस्तिष्क से निकलने वाली पांचवीं नाड़ी विकृत होती है।

यत् कूणितं दारुणरूक्षवर्त्म
विलोकने चाविलदर्शनं यत्।
सुदारुणं यत् प्रतिबोधने च
शुष्काक्षिपाकोपहतं तदक्षि ॥ २६ ॥

शुष्काक्षिपाक—जिस मनुष्य का नेत्र तथा पक्ष्म कूणित (सङ्कुचित), स्पर्श में रूक्ष और कठिन हो एवं देखने में उसे धुंधला दिखाई दे तथा नेत्र खोलने में दारुण (भयङ्कर) कष्ट हो ऐसे लक्षणों वाले रोगी की आंख 'अक्षिपाक' रोग से ग्रस्त समझनी चाहिये॥ २६ ॥

विमर्शः—यह रोग रक्त तथा वात की विकृति से होता है जैसा कि तन्त्रान्तर में लिखा है—कूणितं खरवर्त्माक्षि कृच्छ्रोन्मील-विलेक्षणम्। सदाहं सासृजो वाताच्छुष्कपाकान्वितं वदेत्॥

यस्यावटूकर्णशिरोहनुस्थो
मन्यागतो वाऽप्यनिलोऽन्यतो वा।
कुर्याद्रुजोऽति भ्रुवि लोचने वा
तमन्यतोवातमुदाहरन्ति ॥ २७ ॥

अन्यतोवात—अधिमन्थ के चिरकालिक होने से तथा नेत्र के किसी स्थान की नाड़ी विशेष (पञ्चमी मस्तिष्कीय नाड़ी) के शोथ या विकृति होने से मन्या, ग्रीवा एवं पार्श्व की कर्ण, सिर और हनु की नाड़ियों में से किसी के या सिर के पिछले भाग में वात कुपित होकर भ्रू या नेत्र में अत्यधिक पीड़ा हो जाती है उसे 'अन्यतोवात रोग' कहते हैं॥ २७ ॥

विमर्शः—आचार्य विदेह ने दोनों मन्या के मध्य या पृष्ठ में वायु प्रकुपित होकर वहां भेदने तथा सुई चुभोने की सी पीड़ा का होना एवं शङ्ख प्रदेश, नेत्र और भ्रू प्रदेश में भी उक्त प्रकार की पीडाएँ होती हैं उसे 'अन्यतोवात रोग' कहते हैं—मन्ययोरन्तरे वायुरस्थितः पृष्ठतोऽपि वा। करोति भेदं निस्तोदं शङ्खे चाक्ष्णोर्भ्रुवोस्तथा॥ तमाहुरन्यतोवातं रोगं दृष्टिविदो जनाः॥

अम्लेन भुक्तेन विदाहिना च
सञ्छाद्यते सर्वत एव नेत्रम्।
शोफान्वितं लोहितकैः सनीलै-
रेतादृगम्लाध्युषितं वदन्ति ॥ २८ ॥

अम्लाध्युषित—अम्ल पदार्थों के सेवन से अथवा विदाही द्रव्यों के सेवन से प्रकुपित हुआ पित्त चारों ओर से नेत्र को लोहित (रक्त) वर्ण तथा नील वर्ण का कर देता है तथा नेत्र में शोफ भी हो जाता है इसे 'अम्लाध्युषित' कहते हैं॥ २८ ॥

विमर्शः—अल्पेनात्यन्तमध्युषितमल्पाध्युषितं पित्ताध्युषितमित्यर्थः। यह भी सम्भवतः ग्लौकोमा की किसी अवस्था या लक्षण विशेष का द्योतक है।

अवेदना वाऽपि सवेदना वा
यस्याक्षिराज्यो हि भवन्ति ताम्राः।
मुहुर्विरज्यन्ति च ताः समन्ताद्
व्याधिः सिरोत्पात इति प्रदिष्टः ॥ २९ ॥

सिरोत्पात—जिस मनुष्य के नेत्र में पीड़ा के बिना या पीड़ा के सहित रेखाएँ ताम्बे की रङ्ग की हो जायँ तथा वे नेत्र को कुछ काल में चारों ओर से रक्त वर्ण कर दें उसे 'सिरोत्पात' रोग कहते हैं ॥ २९ ॥

विमर्शः—यह सिरोत्पात रोग रक्तविकृतिजन्य तथा साध्य है इसे (Hyperemia of conjunctive) कहते हैं।

मोहात् सिरोत्पात उपेक्षितस्तु
जायेत रोगस्तु सिराप्रहर्षः।
ताम्राच्छमस्रं स्रवति प्रगाढं
तथा न शक्नोत्यभिवीक्षितुञ्च ॥ ३० ॥

इति सुश्रुतसंहितायामुत्तरतन्त्रे सर्वगतरोगविज्ञानीयो नाम षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

सिराप्रहर्ष—यदि मोह (अज्ञान) से सिरोत्पात की उपेक्षा की जाय तो 'सिराप्रहर्ष' नामक रोग हो जाता है। सिराप्रहर्ष रोग में रोगी के नेत्र से ताम्र वर्ण का गाढ़ा तथा स्वच्छ रक्तस्राव होता है तथा रोगी किसी भी पदार्थ को देखने में असमर्थ होता है ॥ ३० ॥

विमर्शः—यह रक्तविकृतिजन्य तथा साध्य रोग है। इसको Acute or Bital cellulitis कह सकते हैं। वाग्भट ने सिरोत्पात तथा सिराहर्ष का लक्षण निम्न रूप से लिखा है—रक्तराजीनिभं शुक्लं उष्यतेऽपि सवेदनम्। अशोथाश्रुपदेहश्च सिरोत्पातः सशोणितम् ॥ उपेक्षितः सिरोत्पातो राजीस्ता एव वर्धयन्। कुर्यात् सास्रं सिराहर्षं तेनाक्ष्युद्वीक्षणाक्षमम् ॥

इत्यायुर्वेदतत्त्वसन्दीपिकाभाषाटीकायामुत्तरतन्त्रे सर्वगतरोगविज्ञानीयो नाम षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

सप्तमोऽध्यायः।

अथातो दृष्टिगतरोगविज्ञानीयमध्यायं व्याख्यास्यामः ॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥ २ ॥

अब इसके अनन्तर 'दृष्टिगत रोगों के वर्णन का अध्याय प्रारम्भ करते हैं जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने कहा है ॥१–२॥

विमर्शः—दृष्टि के अन्दर बारह प्रकार के रोग होते हैं ऐसा पूर्व में कह आये हैं। 'दृष्टिजा द्वादशैव तु' अर्थात् ६ प्रकार के लिङ्गनाश (तिमिर की ही विशेष अवस्था) तथा पित्तविदग्ध दृष्टि, धूमदर्शी, ह्रस्वजाड्य, नकुलान्ध्य, श्लेष्मविदग्धदृष्टि और गम्भीरिका ऐसे ये बारह रोग दृष्टि में होते हैं।

मसूरदलमात्रान्तु पञ्चभूतप्रसादजाम्।
खद्योतविस्फुलिङ्गाभामिद्धां तेजोभिरव्ययैः ॥ ३ ॥
आवृतां पटलेनाक्ष्णोर्बाह्येन विवराकृतिम्।
शीतसात्म्या नृणां दृष्टिमाहुर्नयनचिन्तकाः ॥ ४ ॥

दृष्टिलक्षण—मसूरदल के समान आकृति की पञ्चमहाभूतों के प्रसाद भाग से बनी हुई, खद्योत (जुगनू) तथा अग्निकण के समान आभा (चमक) वाली एवं अव्यय (नाशरहित या उपचयापचयरहित) तेज से व्याप्त तथा बाहर से नेत्रगोलक के कई पटलों से आवृत (ढकी हुई) किन्तु बाहर से देखने पर विवर (छिद्र) के स्वरूप की तथा शीत आहार–विहार जिसके सात्म्य (हितकर) हों उसे नेत्रज्ञान–विशारद लोग 'दृष्टि' कहते हैं ॥ ३–४ ॥

विमर्शः—बाह्येन रसरक्ताश्रयेण प्रथमपटलेन यदाह प्राक्—'तेजो जलाश्रितं बाह्यं तेष्वन्यत् पिशिताश्रितम्'। रस और रक्त का आश्रयभूत प्रथम पटल। पटलों को 'ट्युनिक ऑफ् दी आई' मान सकते हैं। दृष्टि में होने वाला मुख्य रोग तिमिर है और यह पटलाश्रित होता है। विवराकृतिम्—विवरस्य छिद्रस्याकृतिरिवाकृतिर्यस्याः सा तां विवराकृतिम्। यद्यपि बाह्यपटलावृतत्वाद् दृष्टे रूपग्रहणसामर्थ्योपघातः प्राप्तः, तथापि पटलस्यात्यन्ताच्छत्वाद् रोमकूपविवरान्तरत्वाच्च तेजःपरमाणूनां बहिश्चरत्वे रूपग्रहणसामर्थ्यं दृष्टेर्नोपहन्यते' (इति डल्हणः) दृष्टि को बाहर से विवर की आकृति की सी मानी है तथा उसे बाह्यपटल से ढकी हुई भी मानते हैं ऐसी दशा में शङ्का हो सकती है कि यदि पटलावृत है तो रूपग्रहण कैसे करती है इसका उत्तर डल्हण ने दिया है कि आच्छादक पटल अत्यन्त पतला है जिससे प्रकाश किरणें भीतर जा सकती हैं क्योंकि तेज के परमाणु बहिश्चरणशील होने से रूप को ग्रहण करने में समर्थ हो सकते हैं। इस प्रकार उक्त वर्णन से विदित होता है कि प्राचीन विद्वान् Pupil को दृष्टि कहते थे इसी लिये उन्होंने उसको कृष्णभाग का सप्तम भाग माना है और उसकी गणना मण्डलों में की है। पाश्चात्त्य शालाक्य शास्त्र की दृष्टि से Pupil कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं रखता है। वह तो केवल Iris में छिद्रमात्र है। इसके द्वारा किरणें नेत्र के अन्दर पहुंचती हैं। यद्यपि Pupil विवराकृति है तथा उसके ऊपर बाह्यपटल चढ़ा है यह लिखना भी सही है क्योंकि आज भी उस पर cornea चढ़ा रहता है जो कि श्वेत तथा अत्यन्त पतला होने से पारदर्शक (Transparent) होता है। यह Pupil मसूरदल के समान भी दिखाई देता है तथा उसमें से चमकती हुई किरणें सी निकलती हुई भी दिखाई देती हैं अतः उसे खद्योत और विस्फुलिङ्ग की आभा के समान भी माना है अतः प्राचीनों के सर्व लक्षण Pupil को ही दृष्टि मानने की पुष्टि करते हैं किन्तु दृष्टि के अन्दर होने वाले कुछ रोग ऐसे हैं जो कि Lens दृष्टि–नाडी (Optic Nerve) दृष्टि-वितान (Retina) आदि में होते हैं अत एव दृष्टि से केवल Pupil ही न लेकर एक सामान्यदर्शन (Vision) और दूसरा विशिष्ट अर्थ दृष्टिमणि (Lens) करना चाहिये।

रोगांस्तदाश्रयान् घोरान् षट् च षट् च प्रचक्ष्महे।
पटलानुप्रविष्टस्य तिमिरस्य च लक्षणम् ॥ ५ ॥

दृष्टिगत रोग—दृष्टि को आश्रय कर उत्पन्न होने वाले बारह

घोर रोगों का वर्णन करता हूँ तथा चारों पटलों में होने वाले तिमिर रोग का लक्षण भी कहता हूँ ॥ ५ ॥

विमर्शः—६ प्रकार के लिङ्गनाश तथा ७ वां पित्तविदग्ध दृष्टि, ८ वां श्लेष्मविदग्ध दृष्टि, ९ वां धूमदर्शी, १० वां ह्रस्वजाड्य, ११ नकुलान्ध्य और १२ वां गम्भीरिका।

सिराभिरभिसम्प्राप्य विगुणोऽभ्यन्तरे भृशम् ।
प्रथमे पटले दोषो यस्य दृष्टौ व्यवस्थितः ॥ ६ ॥
अव्यक्तानि स रूपाणि सर्वाण्येव प्रपश्यति ॥ ७ ॥

प्रथमपटलगत-तिमिरलक्षण—जिस मनुष्य के नेत्र के प्रथम पटल में दोष व्यवस्थित होते हैं उस पुरुष के मिथ्या आहार-विहार से विगुण हुये दोष सिराओं के मार्ग द्वारा नेत्र के अभ्यन्तर में जाकर विकृति उत्पन्न कर देते हैं जिससे वह रोगी सब पदार्थों का अव्यक्त (अस्पष्ट) रूप से देखता है ॥ ६-७ ॥

विमर्शः—प्रथम पटल से यहां पर First tunic को ग्रहण करना चाहिये। संस्कृत टीकाकारों ने प्रथम पटल को कालकास्थिसंश्रित माना है। आचार्य विदेह ने प्रथमपटलगत तिमिर का निम्न वर्णन किया है—यथा दोषाः प्रकुपिताः प्राप्य रूपवहे सिरे। दृष्टेरन्तरमागत्य पटलं समभिद्रुताः। एकैकमनुपश्यन्ते पर्यायात् पटलान्तरम् ॥ प्रथम पटलगत तिमिर की अवस्था के लक्षण Progressive cataract के साथ मिलते हैं इसके सिवाय शुक्ररोग, तारामण्डलशोथ और विषमदृष्टि (Astigmatism) में ये लक्षण मिलते हैं।

दृष्टिर्भृशं विह्वलति द्वितीयं पटलं गते ।
मक्षिका मशकान् केशाञ्जालकानि च पश्यति ।
मण्डलानि पताकाश्च मरीचीः कुण्डलानि च ॥ ८ ॥
परिप्लवांश्च विविधान् वर्षमभ्रं तमांसि च ।
दूरस्थान्यपि रूपाणि मन्यते च समीपतः ॥ ९ ॥
समीपस्थानि दूरे च दृष्टेर्गोचरविभ्रमात् ।
यत्नवानपि चात्यर्थं सूचीपाशं न पश्यति ॥ १० ॥

द्वितीयपटलगत-तिमिरलक्षण—दोषों के द्वितीय पटल में व्यवस्थित होने पर दृष्टि पहले की अपेक्षा अधिक विह्वल हो जाती है। अनेक प्रकार के मिथ्या पदार्थ दिखाई देने लगते हैं जैसे आंखों के सामने मक्खी, मच्छर, बाल और मकड़ी के जाले जैसा दिखाई पड़ता है इनके सिवाय मण्डल, ध्वजा, मृगतृष्णा, कुण्डलाकृति रचना, परिप्लव (चञ्चल नक्षत्र) जैसी विविध रचना, वृष्टि, मेघ तथा अन्धकार आदि दिखाई पड़ते हैं। रोगी को अधिक बढ़ी हुई अवस्था में दूर की वस्तुएं पास में तथा पास की वस्तुएं दूर दिखलाई पड़ती हैं। इस प्रकार दृष्टि के विभ्रम हो जाने से अत्यन्त यत्न करने पर भी रुग्ण सूई के छिद्र को नहीं देख सकता है अर्थात् उसमें तागा नहीं पिरो सकता है ॥ ८-१० ॥

विमर्शः—उक्त लक्षण Progressive cataract तथा अन्य रोग जैसे नेत्र-मध्यपटलशोथ, सान्द्रद्रव की अपारदर्शकता, सन्धानीय पेशियों की अकार्यक्षमता (Ciliary muscles paralysis), तारामण्डल और तन्तुसमूह के शोथ (Iridocyclitis) तथा विषमदृष्टि में दिखाई देते हैं।

ऊर्ध्वं पश्यति नाधस्तात्तृतीयं पटलं गते ।
महान्त्यपि च रूपाणि च्छादितानीव वाससा ॥ ११ ॥
कर्णनासाऽक्षियुक्तानि विपरीतानि वीक्षते ।
यथादोषञ्च रज्येत दृष्टिर्दोषे बलीयसि ॥ १२ ॥
अधः स्थिते समीपस्थं दूरस्थञ्चोपरिस्थिते ।
पार्श्वस्थिते तथा दोषे पार्श्वस्थानि न पश्यति ॥ १३ ॥
समन्ततः स्थिते दोषे सङ्कुलानीव पश्यति ।
दृष्टिमध्यगते दोषे स एकं मन्यते द्विधा ॥ १४ ॥
द्विधास्थिते त्रिधा पश्येद् बहुधा चानवस्थिते ।
तिमिराख्यः स वै दोषश्चतुर्थं पटलं गतः ॥ १५ ॥

तृतीय पटलगत दोष लक्षण—तृतीय पटल में दोषों के अवस्थित होने से दर्शन में अक्षमता तथा दृष्टिविषमता हो जाती है जिससे रुग्ण ऊपर की वस्तुओं को देख सकता है किन्तु नीचे की वस्तुओं को नहीं देख सकता है। बड़ी वस्तु को वस्त्र से ढकी हुई सी देखता है। कर्ण, नासा और आंख वाले व्यक्ति को उन अङ्गों से रहित सा देखता है। दोष के बलवान होने से यथादोष दृष्टिमणि (Lens) के रङ्ग में परिवर्तन हो जाता है। दोषों की स्थिति नीचे के हिस्से में हो तो समीप की वस्तुओं को नहीं देख सकता है एवं दोष की स्थिति ऊपर को हो तो दूर की वस्तुओं को नहीं देख सकता है और दोषावस्थान पार्श्व में होने पर पार्श्व की वस्तुओं को नहीं देख सकता है। दोषों का चारों ओर अवस्थान हो जाने से वस्तुओं को सङ्कुल (परस्पर मिश्रित) सी देखता है। दोष के दृष्टि के मध्य में स्थित होने से एक वस्तु को दो के रूप में देखता है इसी तरह दोष का अवस्थान दृष्टिमणि के दो स्थानों में अवस्थित हो तो एक वस्तु को तीन के रूप में देखता है। यदि दोष की स्थिति ठीक रूप से अवस्थित न हो तो एक वस्तु को अनेक रूप में देखता है। इस अवस्था विशेष को 'तिमिर' नाम से कहा गया है ॥ ११-१५ ॥

रुणद्धि सर्वतो दृष्टिं लिङ्गनाशः स उच्यते ।
तस्मिन्नपि तमोभूते नातिरूढे महागदे ॥ १६ ॥
चन्द्रादित्यौ सनक्षत्रावन्तरीक्षे च विद्युतः ॥ १७ ॥
निर्मलानि च तेजांसि भ्राजिष्णूनि च पश्यति ।
स एव लिङ्गनाशस्तु नीलिकाकाचसंज्ञितः ॥ १८ ॥

लिङ्गनाश, नीलिका, काचलक्षण—तिमिर को उत्पन्न करने वाला वही दोष चतुर्थ पटल में प्राप्त होने पर दृष्टि को पूर्ण रूप से अवरुद्ध कर देता है उसको 'लिङ्गनाश' कहते हैं। लिङ्ग का अर्थ चक्षुरिन्द्रिय की दर्शन शक्ति है उसका नाश होना लिङ्गनाश है। यदि यह अवस्था पूर्ण रूप को प्राप्त हुई तो उस रुग्ण के लिये सारा दृश्य जगत् तमोभूत हो जाता है और यदि दोष नातिरूढ (नातिवृद्ध) रहा तो उस रुग्ण को प्रकाश ज्ञान होता रहता है जिससे वह चन्द्रमा, सूर्य, प्रकाशमान नक्षत्र, विद्युत्, निर्मल अग्नि आदि तथा प्रकाशमान पदार्थ को देखता है इस प्रकार इस रोग को लिङ्गनाश, नीलिका या काच कहते हैं ॥ १६-१८ ॥

विमर्शः—लिङ्गनाश—लिङ्ग्यते ज्ञायतेऽनेनेति लिङ्गं चक्षुरिन्द्रियशक्तिस्तस्य नाशो यस्मिन् स लिङ्गनाशो दोषः। जिस रोग के

अन्दर देखने की शक्ति नष्ट हो जाती है उसे 'लिङ्गनाश' कहते हैं। आधुनिक परिभाषा में इसे केटेरेक्ट (Cataract) कहते हैं। लोकभाषा में इसे 'मोतियाबिन्द' कहते हैं। नेत्र के ताल (Lens) तथा उसके आवरण (Capsule of the lens) में अपारदर्शकता उत्पन्न हो जाने से यह रोग उत्पन्न हो जाता है। आचार्य सुश्रुत ने प्रथम और द्वितीय पटलगत दोषों के कारण जिन लक्षणों का उत्पन्न होना लिखा है वैसे लक्षण Choroiditis, cyclitis, vitrious opacities, paralysis of ciliary muscles, commencing cataract आदि में मिलते हैं। इसी प्रकार तृतीय पटलगत दोषों के लक्षण Dislocation of lens, Detachment of retina, optic neuritis, Exudate in pupil, opacities in the lens, Amblyopia and Meta morphosia आदि रोगों के कुछ लक्षणों से मिलते हैं। वाग्भट ने सुश्रुत के तृतीय पटलगत दोषों के कुछ लक्षण द्वितीय पटलगत दोषों के लक्षणों में ही लिखा है इसके सिवाय वाग्भट ने दोषों के द्वितीय पटल को दूषित करने पर ही तिमिर की उत्पत्ति मान ली है। इनके मत से दोषों के तृतीय पटल में प्रवेश करने पर यही तिमिर 'काच' नाम से पुकारा जाता है और चतुर्थ पटलगत दोष होने पर काच, लिङ्गनाश का रूप धारण कर लेता है। गदाधर ने तृतीय पटलगत दोष का 'काच' और चतुर्थ पटलगत दोष का 'नीलिका' नाम रखा है, आचार्य निमि ने तृतीय पटलगत दोष का नाम 'काच' रखा है तथा उसे याप्य माना है एवं चतुर्थ पटलगत दोष को 'लिङ्गनाश' कहा है तथा प्रत्याखयेय माना है—'काच इत्येव विज्ञेयो याप्यस्त्रिपटलीस्थितः। चतुर्थपटलप्राप्तो लिङ्गनाशः स उच्यते॥ प्रत्याख्येयश्च कफजो व्याधिः साध्यस्तु तद्विदा'॥ किन्तु इस बात से सभी सहमत हैं कि तिमिर ही बढ़कर काच, लिङ्गनाश और नीलिका कहलाने लगता है अत एव वाग्भटोक्त तिमिर की विविध अवस्थाओं (काचादि) का समावेश सुश्रुतोक्त अपूर्ण और पूर्ण लिङ्गनाश में हो जाता है। तिमिर Optic atrophy या Glaucomatous optic atrophy का नाम है, यही एट्राफी जब तक पूर्णरूप से नहीं हुई रहती तब तक बहुत चमकीली वस्तुएं यथा सूर्य, विद्युत् आदि की कुछ झलक रोगी को मालूम होती है। मोतियाबिन्द के आधुनिकों ने कई दृष्टि से भेद किये हैं—(१) स्वतन्त्र मोतियाबिन्द, (२) उपद्रवभूत मोतियाबिन्द। स्वतन्त्र मोतियाबिन्द के कारणानुसार तीन भेद किये गये हैं—१. जराजन्य (Senile cataract) २. जन्मजात (Congenital cataract) ३. अभिघातज मोतियाबिन्द (Traumatic cataract)।

जराजन्य—केटेरेक्ट प्रायः ४० वर्ष के बाद उत्पन्न होता है। इस रोग में लेंस तथा उसके केप्स्यूल में विकृतियां उत्तरोत्तर होती हैं। जन्मजात—(Congenital catarect)—गर्भावस्था में बच्चे के नेत्र के विकास की न्यूनता तथा गर्भावस्था में नेत्रप्रदाह होना ये दो मुख्य कारण हैं। अभिघातज केटेरेक्ट—कभी-कभी नेत्र में चोट लगने से उसके लेंस में केटेरेक्ट बनने लगता है।

उपद्रवभूत मोतियाबिन्द मधुमेह, वृक्कशोथ, वातरक्त, सव्रण शुक्र (Ulcerative keratitis, choroiditis, अभिष्यन्द (Glaucoma) Iridocyclitis एवं Detachment of retina इन रोगों के उपद्रव स्वरूप में होता है।

डाक्टर यादवजी हंसराज ने अपने नेत्ररोग विज्ञान में केटेरेक्ट के निम्न विभाग किये हैं—(१) प्राथमिक काचबिन्दु (Primary cataract), अ. पूर्ण मोतियाबिन्दु (Total cataract), १. जन्मलब्ध (Congenital cataract), २. शैशवावस्थागत (Infantile cataract), ३. युवावस्थागत (Tuvenile cataract), ४. वृद्धावस्थागत (Senile cataract), ५. व्यथाजन्य (Traumatic cataract), ६. मधुमेहजन्य (Diabetic cataract), ७. कृष्णकाचबिन्दु (Black cataract), आ. अपूर्ण काचबिन्दु (Partial cataract), १. अग्रवर्ति मध्यस्थ (Anterior polar cataract), २. पश्चाद्वर्ति मध्यस्थ (Posterior polar cataract), ३. बिन्दुमय (Punctate cataract), ४. चक्राकार (Zonular or lamellar), ५. पश्चाद्वर्ति गर्भगत (Posterior cortical) (२) अनुषङ्गी काचबिन्दु (Secondary cataract) अ. आवरणगत शेषकाचबिन्दु (Capsular opacity), आ उपद्रवरूपकाचबिन्दु (Comliticated cataract),

शस्त्रचिकित्सानुसार भी इसके दो भेद किये जाते हैं—(१) अपक्व मोतियाबिन्द (Immatured cataract) इसीको प्राचीनों ने नातिरूढ या नातिवृद्ध के नाम से लिखा है। (२) पक्व मोतियाबिन्द (Matured cataract) इसको लिङ्गनाश, नीलिका, काच आदि नामों से व्यवहृत किया है। इस पक्वावस्था में Lens प्रायः बिल्कुल श्वेत हो जाता है। रोगी केवल तीव्र प्रकाश की झलक मात्र अनुभव करता है। यही अवस्था शस्त्रकर्म के लिये उपयुक्त मानी जाती है केटेरेक्ट की प्रारम्भिक दशा में प्रायः निम्न लक्षण उत्पन्न होते हैं—(१) रोगी की दृष्टि उत्तरोत्तर मन्द हो जाती है। (Acutenes of vision)। (२) रोगी को दृश्य पदार्थों में धब्बे दिखाई देते हैं। (३) दूर की वस्तुएँ नहीं दिखाई देती हैं (Myopia) (४) द्विधादृष्टि (Diplopia) और बहुधा दृष्टि (Polyopia) होती है।

तत्र वातेन रूपाणि भ्रमन्तीव स पश्यति।
आविलान्यरुणाभानि व्याविद्धानि च मानवः ॥१९॥

वातिकतिमिरलक्षण—वात के कारण मनुष्य प्रत्येक रूप (दृश्य वस्तु) को घूमती हुई सी, मलिन, किञ्चित् रक्तवर्ण एवं व्याविद्ध (कुटिल) सी देखता है॥ १९॥

पित्तेनादित्यखद्योतशक्रचापतडिद्गुणान्।
शिखिबर्हविचित्राणि नीलकृष्णानि पश्यति ॥ २०॥

पैत्तिकतिमिरलक्षण—इसमें रोगी को सूर्य, जुगनू, इन्द्रधनुष, विद्युत्, मयूर के पङ्ख के समान चित्र-विचित्र तथा नील और कृष्ण दृश्य दिखाई देते हैं॥ २०॥

कफेन पश्येद्रूपाणि स्निग्धानि च सितानि च।
गौरचामरगौराणि श्वेताभ्रप्रतिमानि च ॥ २१॥
पश्येदसूक्ष्माण्यत्यर्थं व्यभ्रे चैवाभ्रसम्प्लवम्।
सलिलप्लावितानीव परिजाड्यानि मानवः ॥ २२॥

श्लैष्मिकतिमिरलक्षण—इसी में रोगी कफ की प्रबलता से रूपों (दृश्य पदार्थों) को स्निग्ध श्वेत तथा गौरचामर (श्वेत चँवर) के समान गौरवर्णयुक्त अथवा सफेद बादल के

समान रङ्गयुक्त देखता है। इसी प्रकार छोटे पदार्थों को अत्यधिक मोटे रूप में देखता है। आकाश में मेघ न होने पर भी मेघों को दौड़ते हुए देखता है। सम्पूर्ण पदार्थों को जल में डूबे हुये के समान देखता है। इसके सिवाय पदार्थों के जड़ या चारों ओर से स्तम्भित (जकड़े हुये) सा देखता है॥२१-२२॥

तथा रक्तेन रक्तानि तमांसि विविधानि च।
हरितश्यावकृष्णानि धूमधूम्राणि चेक्षते॥ २३॥

रक्तदोषजतिमिरलक्षण—रक्तदोष की प्रबलता से उत्पन्न तिमिररोगी प्रत्येक वस्तु को लाल, तमोमय (अन्धकार व्याप्त), हरे रङ्गयुक्त, श्यामवर्णयुक्त, काली तथा धूएँ से आच्छादित देखता है॥ २३॥

सन्निपातेन चित्राणि विप्लुतानि च पश्यति।
बहुधा वा द्विधा वाऽपि सर्वाण्येव समन्ततः।
हीनाधिकाङ्गान्यथवा ज्योतींष्यपि च पश्यति॥ २४॥

सन्निपातजतिमिरलक्षण—तीनों दोषों के प्रकोप से उत्पन्न तिमिर में रोगी चित्र या विचित्र तथा चारों ओर से विप्लुत (अवकीर्ण या घेरा हुये सा) पदार्थों को देखता है। कभी एक पदार्थ को बहुधा (अनेक में विभक्त) तथा कभी द्विधा (दो में विभक्त) या चारों ओर से विभक्त देखता है। कभी एक पदार्थ को उसके अन्य अङ्ग-प्रत्यङ्गों से हीन या अधिक अङ्गों से युक्त देखता है। इसी प्रकार आकाश में ताराओं को हीन, अधिक या विकृत रूप में देखता है॥ २४॥

पित्तं कुर्य्यात् परिम्लायि मूर्च्छितं रक्ततेजसा।
पीता दिशास्तथोद्यन्तमादित्यमिव पश्यति।
विकीर्यमाणान् खद्योतैर्वृक्षांस्तेजोभिरेव च॥ २५॥

संसर्गज तिमिर या परिम्लायिकाच—इस रोग में पित्त रक्त के तेज के साथ मिलकर परिम्लायि काच रोग को उत्पन्न करता है। ऐसा रोगी सभी दिशाओं को पीली या उदीयमान सूर्य के समान अरुणवर्ण की देखता है। इसी तरह वृक्षों को उन पर खद्योत (जुगनू) व्याप्त होने से या अन्य सूर्य आदि की किरणों से व्याप्त सा देखता है॥ २५॥

वक्ष्यामि षड्विधं रागैर्लिङ्गनाशमतः परम्॥ २६॥

रागप्राप्तषड्विध लिङ्गनाश—अब इसके अनन्तर राग (रञ्जन) प्राप्त होने की दृष्टि से छः प्रकार के लिङ्गनाश का वर्णन करता हूँ॥ २६॥

रागोऽरुणो मारुतजः प्रदिष्टः
पित्तात् परिम्लाय्यथवाऽपि नीलः।
कफात् सितः शोणितजस्तु रक्तः
समस्तदोषोऽथ विचित्ररूपः॥ २७॥

रागप्राप्त लिङ्गनाश के दोषानुसार लक्षण—वातविकृति से दृष्टि का रञ्जन होने से उसका वर्ण लाल, पित्तविकृति से दृष्टि का रञ्जन होने से उसका वर्ण पीत इसे परिम्लायि या नील कहते हैं तथा कफविकृति से दृष्टि का रञ्जन होने से उसका वर्ण श्वेत, रक्तविकृति से दृष्टि का रञ्जन होने से उसका वर्ण लाल तथा त्रिदोषविकृति से दृष्टि का रञ्जन होने से उसका वर्ण चित्र-विचित्र हो जाता है॥ २७॥

रक्तजं मण्डलं दृष्टौ स्थूलकाचानलप्रभम्।
परिम्लायिनि रोगे स्यान्म्लाय्यानीलञ्च मण्डलम्।
दोषक्षयात् कदाचित् स्यात् स्वयं तत्र च दर्शनम्॥ २८

पित्तज परिम्लायिलक्षण—रक्त के प्रसाद से या रक्त के तेज से उत्पन्न हुए इस परिम्लायि रोग में दृष्टि का आकार मोटे काच सा हो जाता है तथा उसका वर्ण अग्नि के समान लाल हो जाता है एवं दृष्टिमण्डल म्लायि (म्लानता या क्षययुक्त) तथा किञ्चिन्नील वर्ण हो जाता है। इस परिम्लायि रोग की अवस्था से कर्मक्षय के कारण दोषक्षय हो जाने से रोगी को कभी-कभी दिखाई भी पड़ने लगता है॥ २८॥

अरुणं मण्डलं वाताच्चञ्चलं परुषं तथा॥ २९॥
पित्तान्मण्डलमानीलं कांस्याभं पीतमेव वा।
श्लेष्मणा बहलं स्निग्धं शङ्खकुन्देन्दुपाण्डुरम्॥ ३०॥
चलत्पद्मपलाशस्थः शुक्लो बिन्दुरिवाम्भसः।
सङ्कुचत्यातपेऽत्यर्थं छायायां विस्तृतो भवेत्॥ ३१॥
मृद्यमाने च नयने मण्डलं तद्विसर्पति।
प्रवालपद्मपत्राभं मण्डलं शोणितात्मकम्॥ ३२॥
दृष्टिरागो भवेच्चित्रो लिङ्गनाशे त्रिदोषजे।
यथास्वं दोषलिङ्गानि सर्वेष्वेव भवन्ति हि॥ ३३॥

दोषभेद से षड्विधलिङ्गनाश वर्णन—वायु के कारण उत्पन्न हुये लिङ्गनाश में दृष्टिमण्डल अरुण वर्ण का, चञ्चल और स्पर्श में रूक्ष प्रतीत होता है। पित्त के कारण उत्पन्न हुये लिङ्गनाश में दृष्टिमण्डल किञ्चिन्नील वर्ण, कांसे के समान श्वेतनील अथवा नीलापन लिये हुये पीतवर्ण का हो जाता है। कफ के कारण उत्पन्न हुये लिङ्गनाश में दृष्टिमण्डल स्थूल, चिकना तथा शंख, कुन्दपुष्प या चन्द्रमा के समान पाण्डुर वर्ण का हो जाता है तथा हिलते हुए कमलपत्र पर रखी हुई जल की बूंद जैसी दिखाई देती है उसी प्रकार की दशा इस लिङ्गनाश की भी होती है। यह धूप में अत्यन्त सङ्कुचित होकर छोटा हो जाता है तथा छाया में विस्तृत हो जाया करता है। नेत्र के पीडन करने पर मण्डल इधर-उधर चलायमान सा हो जाता है, रक्तदोष के कारण उत्पन्न हुये लिङ्गनाश में दृष्टिमण्डल कमल के पुष्पदल के समान या प्रवाल के समान लाल हो जाता है। त्रिदोष के कारण उत्पन्न हुये लिङ्गनाश में दृष्टिमण्डल चित्र-विचित्र रङ्गों से युक्त हो जाता है तथा वातादि दोषों के अनुसार बहुविध लक्षण भी मिलते हैं॥ २९-३३॥

विमर्शः—तिमिर, काच और लिङ्गनाश में भेद—लिङ्गनाश और परिम्लायि काच एक ही रोग है। यह लिङ्गनाश की ही एक अवस्था विशेष है जिसमें दो दोषों (पित्त और रक्त) का संसर्ग रहता है। उसी परिम्लायि रोग में यदि राग या रञ्जन न हुआ हो तो उसे 'तिमिर' कहते हैं और राग प्राप्त हो जाय तो उसे 'काच' कहते हैं और यदि काच ही आगे बढ़कर दृष्टि शक्ति को नष्ट कर दे तो उसको 'लिङ्गनाश' कहा जाता है यही भाव निम्न उद्धरण से स्पष्ट है—एक एवाऽसौ परिम्लायी रोगोऽरागप्राप्तः सन् तिमिराख्यः, रागप्राप्तस्तु काचाख्यः, स एव किञ्चिद्दर्शननाशकारी लिङ्गनाशः॥ (सु. उ. तं. अ. ८ डल्हण टीका)। तिमिर, काच तथा लिङ्गनाश की साध्यासाध्यता-

प्रथम, द्वितीय तथा तृतीय पटलगत सर्व प्रकार के तिमिर साध्य होते हैं किन्तु तृतीय पटलगत तिमिर में रागप्राप्ति हो कर काचसंज्ञक होने पर याप्य हो जाते हैं और इन्हीं में दर्शनशक्ति का नाश होने पर लिङ्गनाश संज्ञा हो जाती है तथा इन लिङ्गनाशों में श्लेष्मज लिङ्गनाश को छोड़कर अन्य लिङ्गनाश असाध्य हो जाते हैं। आधुनिक शस्त्रकर्म से प्रायः सभी लिङ्गनाश साध्य हो गये हैं। सुश्रुत में डल्हण ने लिखा है—सर्वाण्येव तिमिराणि प्रथमद्वितीयपटलगतानि साध्यानि, तृतीयपटलगतानि रागप्राप्त्या काचाख्यानि भवन्ति तदा याप्यानि, एषु लिङ्गनाशेषु केवलश्लेष्मजलिङ्गनाशं विहायाऽन्ये लिङ्गनाशा असाध्याः (सु. उ. तं. अ. ८ डल्हण टीका)।

षड् लिङ्गनाशाः षडिमे च रोगा
दृष्ट्याश्रयाः षट् च षडेव च स्युः।
तथा नरः पित्तविदग्धदृष्टिः कफेन चान्यस्त्वथ धूमदर्शी।
यो ह्रस्वजाड्यो नकुलान्धता च
गम्भीरसंज्ञा च तथैव दृष्टिः॥ ३४॥

दृष्टिगतरोग निर्देश—पूर्व में कहे हुये छः प्रकार के लिङ्गनाश तथा अग्रे वक्ष्यमाण पित्तविदग्ध दृष्टि आदि छ रोग इस तरह कुल मिलाकर दृष्टि के आश्रित बारह रोग होते हैं। वक्ष्यमाण षड्रोग जैसे पित्त से पित्तविदग्ध दृष्टि अर्थात् दिवान्ध्य, कफ से श्लेष्मविदग्ध दृष्टि अर्थात् रात्र्यान्ध्य, धूमदर्शी, ह्रस्वजाड्य, नकुलान्धता और गम्भीरिका॥ ३४॥

विमर्शः—छ प्रकार के लिङ्गनाश अर्थात् (१) वातिक, (२) पैत्तिक, (३) श्लैष्मिक, (४) रक्तज, (५) सन्निपातज और (६) संसर्गज तिमिर या परिम्लायिकाच या लिङ्गनाश (Cataract), (७) पित्तविदग्ध दृष्टि (Day blindness), (८) श्लेष्मविदग्ध दृष्टि (Night blindness), (९) धूमदर्शी (Glaucoma), (१०) ह्रस्वजाड्य (Night blindness), (११) नकुलान्धता (Night blindness), (१२) गम्भीरिका (Paralysis of VI Cranial Nerve).

पित्तेन दुष्टेन गतेन दृष्टिं
पीता भवेद्यस्य नरस्य दृष्टिः।
पीतानि रूपाणि च मन्यते यः
स मानवः पित्तविदग्धदृष्टिः॥ ३५॥
प्राप्ते तृतीयं पटलं तु दोषे
दिवा न पश्येन्निशि वीक्षते च।
रात्रौ स शीतानुगृहीतदृष्टिः
पित्ताल्पभावादपि तानि पश्येत्॥ ३६॥

पित्तविदग्ध दृष्टि लक्षण—मिथ्या आहार—विहार के द्वारा दूषित हुआ पित्त दृष्टि में पहुंच कर दृष्टिमण्डल को पीतवर्ण का कर देता है। इस रोग का रोगी सभी दृश्य पदार्थों को पीतवर्ण देखता है। यदि दोष की स्थिति तृतीय पटल में हुई हो तो वह रोगी दिन में नहीं देख सकता है किन्तु केवल रात्रि में देख सकता है क्योंकि रात्रि में दृष्टि पर शीत का प्रभाव (अनुग्रह) होने से पित्त की अल्पता हो जाने से रात्रि में पदार्थों को देख सकता है॥ ३५-३६॥

विमर्शः—पित्तविदग्ध दृष्टि को दिवान्ध्य (Dayblindness) कहते हैं। इस रोग में रोगी की दर्शनशक्ति मन्द या धूमयुक्त प्रकाश में देखने में समर्थ तथा तीक्ष्णप्रकाश में देखने में असमर्थ होती है। पित्तविदग्धदृष्टि रोग के लक्षण निम्न कई रोग में मिलते हैं जैसे (१) दृष्टिमणि (Lens) तथा कृष्णमण्डल (Cornea) की अपारदर्शकता होने पर मन्द-प्रकाश में स्पष्ट दिखाई देता है। इसका कारण यह है कि लेंस का आवरण स्फीत होने से प्रकाश की किरणें उसके स्वच्छ भाग से अन्दर प्रवेश कर सकती है। (२) जराजन्य लिङ्गनाश (Senile cataract) के कारण लेंस के अपारदर्शक हो जाने से ऐसे लक्षण दिखाई देते हैं। इसमें रुग्ण को सभी पदार्थ कपड़े या ओस से ढके हुये की भांति दिखाई देते हैं किन्तु प्रातःकाल, सायङ्काल या ठंड के समय में उसे स्वच्छ दिखाई देता है किन्तु मध्याह्न तथा तीव्र प्रकाश में देखने में असुविधा होती है। (३) वर्णबिन्दुसह नेत्रदर्पणप्रदाह (Retinitis Pigmentosa)—इस रोग में पचास वर्ष की आयु के बाद मध्यस्थ मोतियाबिन्दु बनता है। इसमें रोगी को तीव्र प्रकाश में अल्प दिखाई देता है। इसलिये दिवान्ध्य रहता है तथा रतौंधी आने से रात्रि में चलना भी कठिन होता है अर्थात् दिवान्ध्य और नक्तान्ध्य दोनों लक्षण मिलते हैं।

तथा नरः श्लेष्मविदग्धदृष्टि-
स्तान्येव शुक्लानि हि मन्यते तु॥ ३७॥
त्रिषु स्थितोऽल्पः पटलेषु दोषो
नक्तान्ध्यमापादयति प्रसह्य।
दिवा स सूर्यानुगृहीतचक्षु-
रीक्षेत रूपाणि कफाल्पभावात्॥ ३८॥

श्लेष्मविदग्ध दृष्टि लक्षण—श्लेष्मा के प्रकोप से विकृत हुये नेत्र वाला रोगी सर्व दृश्य पदार्थों को श्वेत देखता है तथा श्लेष्मदोष के तीनों पटलों में अवस्थित हो जाने पर नक्तान्ध्य या रात्र्यान्ध्य उत्पन्न हो जाता है। इस रोग का रोगी दिन में सूर्य की किरणों या तेज के द्वारा दृष्टि पर अनुग्रह (कफशामक प्रभाव) होने से या कफ की अल्पता हो जाने से रूपों (दृश्य पदार्थों) को देख सकता है॥ ३७-३८॥

विमर्शः—आधुनिक चिकित्साविज्ञान के अनुसार नक्तान्ध्य कोई स्वतन्त्र रोग नहीं है किन्तु यह तो अन्य रोगों का एक लक्षणमात्र है जैसे दृष्टिवितान के अपक्रान्तिकारक रोगों (Degenerative disease of Retina) में बहुधा यह लक्षण मिलता है। रोगों के अतिरिक्त दृष्टिवितान की संज्ञाहीनता पोषक पदार्थों तथा जीवतिक्ति द्रव्यों (Vit. A. B. I. D.) की कमी, रक्ताल्पता और पाण्डु रोग में भी यह लक्षण मिलता है। अपक्रान्तिकर दृष्टिवितान के रोगों में चार रोग मुख्य हैं जैसे (१) वर्णबिन्दुसह दृष्टिवितान शोथ (Retinitis Pigmentosa)। (२) श्वेतबिन्दुसह दृष्टिवितान शोथ (Retinitis Punctate Albescent)। (३) अन्धतासहपारिवारिक मूकता (Amaurotic Family Idiocy)। (४) मध्यस्थ दृष्टिवितान अपक्रान्ति (Retinal Degeneration)। उक्त चारों अवस्थाओं में से प्रथम और द्वितीय में नक्तान्ध्य एक प्रधान लक्षण होता है। प्रथमावस्था एक पारिवारिक रोग है। नक्तान्ध्य कुटुम्ब के एक आध व्यक्ति को होता है। यह रोग

प्रायः छोटी आयु से शुरू होता है। आयु के बढ़ने के साथ २ दृष्टि कम होती जाती है तथा रोग बढ़ता जाता है और धुंधले प्रकाश में या सन्ध्या के बाद देखने में साधारण बाधा पहुंचने लगती है। जब रोग अधिक बढ़ जाता है तो रात्रि में बिल्कुल नहीं दिखाई देता है। प्रायः पैंतीस वर्ष की आयु में रोग इतना बढ़ जाता है कि रोगी रात्रि के समय घर से बाहर भी नहीं निकलता।

कारण—रतौंधी लक्षण वाले रोग का यथार्थ कारण अभी तक प्रायः ज्ञात नहीं हुआ है। यह वंशज या पारिवारिक विकार है। माता-पिता के रज-वीर्य के दोष ही इसके कारण हो सकते हैं। कुछ पाश्चात्य विद्वानों ने इस रोग का दूसरा कारण सगोत्र सम्बन्ध बतलाया है परन्तु भारतवर्ष में सगोत्र विवाह आर्य जाति में होता ही नहीं है फिर भी उनमें यह रोग देखा जाता है। आचार्य वाग्भट का मत है कि उष्णता से सन्तप्त व्यक्ति सहसा शीतोदक में अवगाहन कर लेता है उस समय शरीर की गरमी सिर में जाकर नक्तान्ध्य रोग उत्पन्न करती है—उष्णतप्तस्य सहसा शीतवारिनिमज्जनात्। त्रिदोषरक्तसम्पृक्तो यात्यूष्मोर्ध्वं ततोऽक्षिणि ॥

शोकज्वरायासशिरोऽभितापै-
रभ्याहता यस्य नरस्य दृष्टिः।
सधूमकान् पश्यति सर्वभावां-
स्तं धूमदर्शीति वदन्ति रोगम् ॥ ३९ ॥

धूमदर्शी लक्षण—शोक, ज्वर, आयास (शारीरिक श्रम) और शिरोऽभिताप इन कारणों से जिस मनुष्य की दृष्टि अभिहत हो गई हो वह व्यक्ति सभी पदार्थों को कुहरे से आच्छन्न अथवा धूम से ढके हुये के सा देखता है ऐसे रोग को 'धूमदर्शी' कहते हैं ॥ ३९ ॥

विमर्शः—आधुनिक चिकित्साविज्ञान में धूमदर्शी कोई स्वतन्त्र रोग नहीं है किन्तु अधिमन्थ (Glaucoma) के अन्दर ऐसा लक्षण मिलता है। अधिमन्थ में शिरःशूल, दृष्टिमान्द्य, नेत्रों के सामने बादल-सा छा जाना आदि लक्षण मिलते हैं, इस रोग की चिकित्सा न करनेसे अन्त में पूर्णान्धता भी हो जाती है। आचार्य वाग्भट ने इस धूमदर्शी रोग का 'धूसर' नाम से वर्णन किया है।

स ह्रस्वजाड्यो दिवसेषु कृच्छ्राद्
ह्रस्वानि रूपाणि च येन पश्येत् ॥ ४० ॥

ह्रस्वजाड्य लक्षण—इस रोग में रोगी दिन में बड़ी कठिनाई से देखता है तथा स्वाभाविक वस्तुओं को भी छोटे आकार में देखता है ॥ ४० ॥

विमर्शः—ह्रस्वजाड्य रोग का नक्तान्ध्य (Naght-blindness) में समावेश होता है। तथा यह आधुनिक मत से रेटिनाइटिस पिग्मेण्टोजा के साथ मिलता है, आचार्य विदेह के वर्णनानुसार भी यह नक्तान्ध्य का ही भेद प्रतीत होता है उन्होंने लिखा है कि पूर्व में कहे हुये चार प्रकार के नक्तान्ध्यों में नकुल और ह्रस्वजाड्य असाध्य होते हैं—नक्तमन्धास्तु चत्वारो ये पुरस्तात् प्रकीर्तिताः। तेषामसाध्यौ नकुलो ह्रस्वजाड्यस्तथैव च ॥ विशेषेण भवेयातां द्वौ चतुःपटलाश्रितौ। तौ च सम्भ्रान्तरागत्वादसाध्यौ परिकीर्तितौ ॥

विद्योतते येन नरस्य दृष्टि-
र्दोषाभिपन्ना नकुलस्य यद्वत्।
चित्राणि रूपाणि दिवा स पश्येत्
स वै विकारो नकुलान्ध्यसंज्ञः ॥ ४१ ॥

नकुलान्ध्य लक्षण—वात, पित्त, कफ दोषों से व्याप्त जिस मनुष्य की दृष्टि नकुल के समान चमकती है तथा वह दिन में चित्र-विचित्र रूपों को देखता है तथा रात्रि में बिल्कुल नहीं देखता हो उसे 'नकुलान्ध्य' नामक रोग कहते हैं ॥ ४१ ॥

विमर्शः—यह रोग भी नक्तान्ध्य (Night-blindness) का ही एक भेद है तथा यह त्रिदोषजन्य होने से असाध्य है।

दृष्टिर्विरूपा श्वसनोपसृष्टा
सङ्कुच्यतेऽभ्यन्तरतश्च याति।
रुजावगाढा च तमक्षिरोगं
गम्भीरिकेति प्रवदन्ति तज्ज्ञाः ॥ ४२ ॥

गम्भीरिका लक्षण—श्वसन (वात) दोष के द्वारा उपसृष्ट (आक्रान्त) होने से दृष्टि विरूप या विकृत हो जाती है तथा उसमें सङ्कोचन हो जाता है एवं नेत्रगोलक भीतर को धस जाता है तथा नेत्र में तीव्र वेदना भी होती है इस नेत्ररोग को तज्ज्ञों ने 'गम्भीरिका' नाम से सम्बोधित किया है ॥ ४२ ॥

विमर्शः—प्राचीन आचार्य इस रोग को सर्वपटलाश्रित वातजन्य तथा असाध्य मानते हैं। आधुनिक विचार से इस रोग का छट्ठी वातनाडी विकृति (Paralysis of VI Cranial nerve) में समावेश हो सकता है। वस्तुतस्तु यह दशा नेत्र की चालक पेशियों के स्तम्भ या आक्षेप के कारण किंवा उनके नियामक वातसूत्रों के मन्द हो जाने के कारण उत्पन्न होती है। मस्तिष्कीय छठी नाडी बाह्य सरला मांसपेशी से सम्बद्ध रहती है अत एव इस नाडी के विकृत होने से उक्त पेशी स्तम्भित हो जाती है। गोलक का भीतर की ओर खिंचाव होता है। रुग्ण व्याकुल रहता है तथा उसे चक्कर आता है। नेत्रगोलक भीतर की ओर निम्न कारणों से प्रविष्ट हो जाता है—(१) स्तम्भ (Spasm of the muscle), (२) आक्षेप (Convulsion of the muscle as in tetanus or meningitis), (३) षष्ठमस्तिष्कनाडी-विकार (Paralysis).

बाह्यौ पुनर्द्वाविह सम्प्रदिष्टौ
निमित्ततश्चाप्यनिमित्ततश्च।
निमित्ततस्तत्र शिरोऽभितापा-
ज्ज्ञेयस्त्वभिष्यन्दनिदर्शनैश्च।
सुरर्षिगन्धर्वमहोरगाणां
सन्दर्शनेनापि च भास्वराणाम् ॥ ४३ ॥
हन्येत दृष्टिर्मनुजस्य यस्य
स लिङ्गनाशस्त्वनिमित्तसंज्ञः।
तत्राक्षि विस्पष्टमिवावभाति
वैदूर्यवर्णा विमला च दृष्टिः ॥ ४४ ॥

सनिमित्त तथा अनिमित्त लिङ्गनाश लक्षण—आचार्य सुश्रुत ने दृष्टिगत रोगों के कारणों के वर्णन प्रसङ्ग में अनेक कारणों के साथ २ बाह्य दो कारणों को भी माना है। एक सनिमित्त

अर्थात् सकारण लिङ्गनाश तथा द्वितीय अनिमित्त अर्थात् कारणरहित लिङ्गनाश। सनिमित्त में सिर के अभिताप से लिङ्गनाश उत्पन्न होता है तथा उसमें अभिष्यन्द के लक्षण मिलते हैं जिस मनुष्य की दृष्टि सुर (देवता), ऋषि, गन्धर्व तथा महोरग (बड़े या दिव्य सर्प) के देखने से तथा अत्यन्त भास्वर (तेजोयुक्त) पदार्थों के अवलोक से नष्ट हो जाती है वह अनिमित्तसंज्ञक लिङ्गनाश कहा जाता है। इस रोग में नेत्र पूर्व अवस्था से विशेष स्पष्ट भासित होते हैं तथा दृष्टि वैदूर्यवर्ण (श्याव या प्राकृतिक वर्णयुक्त) एवं विमल (काचादिमलरहित) रहती है ॥ ४३-४४ ॥

विमर्शः—दृष्टिगत रोगोत्पादक या लिङ्गनाशोत्पादक कारण

- बाह्य
  - सनिमित्त
    1. शिरोऽभिताप
    2. विषसम्पर्क
    3. पुष्पसम्पर्क
    4. पुष्पगन्धसम्पर्क
    5. तेज वायु (इन में अभिष्यन्द के समान लक्षण मिलते हैं तथा रोग साध्य होगा)
  - अनिमित्त (औपसर्गिक लिङ्गनाश)
    1. देवर्षि,गन्धर्व, महासर्प इत्यादिके दर्शन से
    2. अत्यन्त चमकयुक्त भास्वर पदार्थ के कारण इसमें आंख पूर्णरूप से नैसर्गिक रहती है एवं वैदूर्यमणि के समान आभा रहती है। रोगीको आंख से दिखाई नहीं देता है। यह अवस्था असाध्य है। वर्तमान शालाक्य विज्ञान में भी ऐसे लिङ्गनाश को असाध्य माना है।
- अन्तः (दोषानुसारपटलों में अवस्थानके अनुसार) छ प्रकार
  1. वातिक
  2. पैत्तिक
  3. श्लैष्मिक
  4. रक्तज
  5. सन्निपातज (अभिघातज)
  6. संसर्गज (पित्तरक्तज)

अनिमित्तजन्य लिङ्गनाश में सुरर्षि-गन्धर्वादि के दर्शन को कारण माना है जिसमें नेत्र तथा नेत्रगोलक आदि अवयवों में कोई शारीरिक विकृति न होकर केवल दर्शनशक्ति का विनाश होता है क्योंकि देवादि अवयव-दुष्टि नहीं करते हैं, जैसा कि चरक में लिखा है कि देवादिक अष्ट महानुभाव पुरुष के देह को दूषित न करते हुये अदृश्यरूप से देह में प्रविष्ट हो जाते हैं जैसे छाया दर्पण में तथा आतप सूर्यकान्तमणि में उन्हें दूषित नहीं करते हुये प्रविष्ट हो जाते हैं—देवादयोऽष्टौ हि महानुभावा न दूषयन्तः पुरुषस्य देहम्। विशन्त्यदृश्यास्तरसा यथैव छायातपौ दर्पणसूर्यकान्तौ ॥

विदीर्यते सीदति हीयते वा नृणामभीघातहता तु दृष्टिः ॥

अभिघातजलिङ्गनाशलक्षण—अभिघात (पत्थर, लकड़ी आदि की चोट) से हत हुई मनुष्य की दृष्टि विदीर्ण हो जाती है, दुःखयुक्त हो जाती है अथवा बिलकुल नष्ट हो जाती है ॥४५॥

इत्येते नयनगता मया विकाराः
सङ्ख्याताः पृथगिह षट् च सप्ततिश्च।
एतेषां पृथगिह विस्तरेण सर्वं
वक्ष्येऽहं तदनु चिकित्सितं यथावत् ॥ ४६ ॥

इति सुश्रुतसंहितायामुत्तरतन्त्रान्तर्गते शालाक्यतन्त्रे दृष्टिगतरोगविज्ञानीयो नाम सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥

नयनगतरोगोपसंहार—इस प्रकार मैंने इस शालाक्यतन्त्र में इन छिहत्तर नेत्रगत रोगों को पृथक्-पृथक् निदान-सम्प्राप्ति-लक्षण-भेदादि रूप से वर्णित कर दिये हैं। अब इसके अनन्तर इन रोगों का और विस्तार से वर्णन तथा यथाक्रम से उनकी चिकित्सा का भी वर्णन करूंगा ॥ ४६ ॥

इत्यायुर्वेदतत्त्वसंदीपिकाभाषाटीकायां दृष्टिगतरोगविज्ञानीयो नाम सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥

अष्टमोऽध्यायः।

अथातश्चिकित्सितप्रविभाग-
विज्ञानीयमध्यायं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥ २ ॥

अब इसके अनन्तर 'चिकित्सितप्रविभागविज्ञानीय' अध्याय का व्याख्यान करते हैं जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने कहा है ॥

विमर्शः—नेत्ररोगों में कौन रोग छेद्य हैं तथा कौन भेद्य हैं एवं कौन साध्य हैं और कौन असाध्य हैं आदि रूप से चिकित्सार्थ उनका प्रकर्षरूप से किये हुए विभाग के विशिष्ट ज्ञान का अवबोध जिस अध्याय में हो उसे 'चिकित्सितप्रविभागविज्ञानीय' अध्याय कहा जाता है—'छेद्यत्वादिना साध्यासाध्यत्वादिना च चिकित्सार्थः प्रविभागः प्रकर्षेण विभजनं तस्य विज्ञानमवबोधो विद्यते यस्मिन्नध्याये तं चिकित्सितप्रविभागविज्ञानीयम्।

षट्सप्ततिर्येऽभिहिता व्याधयो नामलक्षणैः।
चिकित्सितमिदं तेषां समासव्यासतः शृणु ॥ ३ ॥

नेत्ररोगचिकित्सातिदेश—पूर्व में नाम, लक्षण, हेतु, पूर्वरूप, रूप, उपशय और सम्प्राप्ति के रूप में छिहत्तर प्रकार के जो नेत्ररोग कहे हैं इस समय उनकी संक्षेप तथा विस्तार से चिकित्सा कहता हूं उसे सुनो ॥ ३ ॥

छेद्यास्तेषु दशैकश्च नव लेख्याः प्रकीर्त्तिताः।
भेद्याः पञ्च विकाराः स्युर्व्यध्याः पञ्चदशैव तु ॥ ४ ॥
द्वादशाशस्त्रकृत्याश्च याप्याः सप्त भवन्ति हि।
रोगा वर्जयितव्याः स्युर्दश पञ्च च जानता।
असाध्यौ वा भवेतां तु याप्यौ चागन्तुसंज्ञितौ ॥ ५ ॥

नेत्ररोग-साध्यासाध्यविचार—उक्त छिहत्तर रोगों में छेद्य नेत्ररोग ग्यारह होते हैं, लेख्य रोग नौ होते हैं, भेद्य रोग पाँच होते हैं, व्यध्य रोग पन्द्रह होते हैं, अशस्त्रकृत्य बारह होते हैं, 'चकार' से बाह्यज दो रोग अधिक अशस्त्रकृत्य होते हैं, सात रोग याप्य होते हैं, पन्द्रह रोग वर्जयितव्य (असाध्य) होते हैं,

आगन्तुसंज्ञक दो रोग असाध्य अथवा याप्य होते हैं ॥४-५॥

विमर्शः—यद्यपि मूलश्लोकार्थ से कुल रोगों की संख्या बिहत्तर ही होती है किन्तु डल्हणानुसार चकार से दो रोग अधिक बाह्यज मान लेने से यह संख्या ७४ हो गई है जो कि चिन्त्य है।

अर्शोऽन्वितं भवति वर्त्म तु यत्तथाऽर्शः
शुष्कं तथाऽर्बुदमथो पिडकाः सिराजाः।
जालं सिराजमपि पञ्चविधं तथाऽर्म
छेद्या भवन्ति सह पर्वणिकामयेन ॥ ६ ॥

छेद्यादिरोगनामनिर्देश—अर्शोवर्त्म, शुष्कार्श, वर्त्मार्बुद, सिरापिडका, सिराजाल, पञ्चविध (प्रस्तारि, शुक्ल, लोहित, अधिमांसज, शुक्र) अर्म और पर्वणिका ये एकादश छेद्य रोग होते हैं ॥ ६ ॥

उत्सङ्गिनी बहलकर्दमवर्त्मनी च
श्यावञ्च यच्च पठितं त्विह बद्धवर्त्म।
क्लिष्टञ्च पोथकियुतं खलु यच्च वर्त्म
कुम्भीकिनी च सह शर्करया च लेख्याः ॥७॥

लेख्यरोगनामनिर्देश—उत्सङ्गिनी, बलहवर्त्म, कर्दमवर्त्म, श्याववर्त्म, बद्धवर्त्म, क्लिष्टवर्त्म, पोथकी, कुम्भीकिनी और वर्त्मशर्करा ये नौ रोग लेख्य होते हैं ॥ ७ ॥

श्लेष्मोपनाहलगणौ च बिसञ्च भेद्या
ग्रन्थिश्च यः कृमिकृतोऽञ्जननामिका च।
आदौ सिरा निगदितास्तु ययोः प्रयोगे
पाकौ च यौ नयनयोः पवनोऽन्यतश्च ॥ ८ ॥
पूयालसानिलविपर्ययमन्थसंज्ञाः
स्यन्दास्तु यान्त्युपशमं हि सिराव्यधेन।
शुष्काक्षिपाककफपित्तविदग्धदृष्टि-
ष्वम्लाख्यशुक्रसहितार्जुनपिष्टकेषु ॥ ९ ॥
अक्लिन्नवर्त्महुतभुग्ध्वजदर्शिशुक्ति-
प्रक्लिन्नवर्त्मसु तथैव बलाससंज्ञे।
आगन्तुनाऽऽमययुगेन च दूषितायां
दृष्टौ न शस्त्रपतनं प्रवदन्ति तज्ज्ञाः ॥ १० ॥

भेद्यरोगनिर्देश—श्लेष्मोपनाह, लगण, बिसवर्त्म, कृमिजन्य ग्रन्थि तथा अञ्जननामिका, ये पांच भेद्यरोग हैं। व्यध्यरोग निर्देश—जिनके प्रयोग में प्रथम सिराओं का कथन कर आये हैं वे दो रोग अर्थात् सिरोत्पात और सिराप्रहर्ष, नेत्र के दो प्रकार के पाक अर्थात् सशोफ नेत्रपाक तथा अशोफ नेत्रपाक, अन्यतोवात, पूयालस, वातविपर्यय, चार प्रकार के (वातिक, पैत्तिक, श्लैष्मिक, रक्तज) अधिमन्थ, चार प्रकार के (वातिक, पैत्तिक, श्लैष्मिक, रक्तज) अभिष्यन्द, इस प्रकार ये पन्द्रह प्रकार के व्यध्य रोग हैं जो सिरावेधन द्वारा रक्तस्रुति कराने से शान्त होते हैं। अशस्त्रकृत्यरोगनिर्देश—शुष्काक्षिपाक, कफविदग्धदृष्टि, पित्तविदग्धदृष्टि, अम्लाध्युषित, अव्रणशुक्र, अर्जुन, पिष्टक, अक्लिन्नवर्त्म, हुतभुग्ध्वजदर्शी (धूमदर्शी), शुक्तिका, प्रक्लिन्नवर्त्म, बलासग्रथित तथा आगन्तुक दो रोग, इन रोगों में शस्त्रचिकित्सा निषिद्ध है ॥ ८-१० ॥

सम्पश्यतः षडपि येऽभिहितास्तु काचा-
स्ते पक्ष्मकोपसहितास्तु भवन्ति याप्याः।
चत्वार एव पवनप्रभवास्त्वसाध्या
द्वौ पित्तजौ कफनिमित्तज एक एव ॥
अष्टार्द्धका रुधिरजाश्च गदास्त्रिदोषा-
स्तावन्त एव गदितावपि बाह्यजौ द्वौ ॥११॥

इति सुश्रुतसंहितायामुत्तरतन्त्रान्तर्गते शालाक्यतन्त्रे चिकित्सितप्रविभागविज्ञानीयो नामाष्टमोऽध्यायः ॥८॥

याप्यरोगनिर्देश—६ प्रकार के (वातिक, पैत्तिक, श्लैष्मिक, रक्तज, सन्निपातज और परिम्लायि) काचरोग तथा सातवां पक्ष्मकोप ये याप्य रोग हैं। असाध्यरोगनिर्देश—वातविकृति से उत्पन्न चार प्रकार के रोग जैसे हताधिमन्थ, निमिष, गम्भीरिका और वातहतवर्त्म, पित्तविकृति से उत्पन्न दो रोग जैसे ह्रस्वजाड्य और पित्तज जलस्राव, कफविकृति से उत्पन्न एक कफजस्राव, अष्ट से आधे अर्थात् चार रक्तविकृतिजन्य रोग रक्तजस्राव, अजकाजात, शोणितार्श और सव्रण शुक्र तथा उतने ही (चार प्रकार के) त्रिदोषविकृतिजन्य रोग जैसे पूयास्राव, नकुलान्ध्य, अक्षिपाकात्यय और अलजी तथा सनिमित्त और अनिमित्त संज्ञक दो बाह्यज रोग असाध्य माने गये हैं ॥ ११ ॥

इत्यायुर्वेदतत्त्वसंदीपिकाभाषाटीकायामुत्तरतन्त्रे चिकित्सितप्रविभागविज्ञानीयो नामाष्टमोऽध्यायः ॥ ८ ॥

नवमोऽध्यायः।

अथातो वाताभिष्यन्दप्रतिषेधं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥ २ ॥

अब इसके अनन्तर 'वाताभिष्यन्दप्रतिषेधक' अध्याय का व्याख्यान करते हैं जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने कहा है॥१-२॥

विमर्शः—सब प्रकार के नेत्ररोगों में अभिष्यन्द प्रधान कारण होता है अतएव उद्देश क्रम को भी छोड़ कर दोषक्रम के अनुसार प्रथम वाताभिष्यन्द की चिकित्सा का प्रारम्भ करते हैं। 'प्रतिषेध' शब्द का अर्थ 'चिकित्सा' है।

पुराणसर्पिषा स्निग्धौ स्यन्दाधीमन्थपीडितौ।
स्वेदयित्वा यथान्यायं सिरामोक्षेण योजयेत् ॥ ३ ॥
सम्पादयेद्वस्तिभिस्तु सम्यक् स्नेहविरेचितौ।
तर्पणैः पुटपाकैश्च धूमैराश्च्योतनैस्तथा।
नस्यस्नेहपरीषेकैः शिरोवस्तिभिरेव च ॥ ४ ॥

अभिष्यन्दचिकित्साक्रम—अभिष्यन्द तथा अधिमन्थ रोग से पीडित रोगी में प्रथम पुराण घृत से स्नेहन कर्म करके स्वेदन करे पश्चात् उपनासिका, ललाट अथवा अपाङ्ग प्रदेश की सिरा का यथान्याय (यथाशास्त्रविधि) से वेधन करके

रक्तमोक्षण करना चाहिये पश्चात् स्नेहपान करा के विरेचन देना चाहिये। विरेचन के अनन्तर स्नेहबस्ति अथवा निरूहण-बस्ति से चिकित्सा करनी चाहिये। स्थानिक उपचारों में तर्पण, पुटपाक, धूमपान, आश्च्योतन, नस्य, स्नेह, परिषेक और शिरोबस्ति तथा प्रदेह और अभ्यङ्ग का प्रयोग करना चाहिये ॥ ३-४ ॥

विमर्शः—स्थानिक उपचार—ततः प्रदेहाः परिषेचनानि नस्यानि धूमाश्च यथास्वमेव। आश्चोतनाभ्यञ्जनतर्पणानि स्निग्धाश्च कार्याः पुटपाकयोगाः ॥ पुराण घृत के विषय में कुछ आचार्यों ने एक वर्ष के पश्चात् घृत को तथा कुछ ने दस वर्ष के घृत को पुराण संज्ञा दी है—'पुराणसर्पिः संवत्सरोषितं घृतम्, अन्ये दश-वर्षस्थितं घृतं पुराणं कथयन्ति' (डल्हण) किन्तु पान कर्म में एक वर्ष स्थित घृत श्रेष्ठ होता है—वर्षादूर्ध्वं भवेदाज्यं पुराणं तद् त्रिदोषनुत्' नेत्रचिकित्सा करते समय प्रथम यह जानना आवश्यक है कि नेत्र रोग किस अवस्था में है। नेत्राभिष्यन्द की तीव्रावस्था आमावस्था मानी गई है। इसमें चार दिनों तक लङ्घन (Fast) करना पथ्यकर है तथा घृतसेवन, गरिष्ठ भोजन, कषाय, अञ्जन एवं स्नान निषिद्ध है—अञ्जनं सर्पिषः पानं कषायं गुरुभोजनम्। नेत्ररोगेषु सामेषु स्नानञ्च परिवर्जयेत् ॥ (यो० र०) आमावस्था में लङ्घन प्रशस्त माना गया है। पञ्चरात्रि तक लङ्घन करने से नेत्ररोग, उदररोग, प्रतिश्याय, व्रण और ज्वर ये पांच रोग नष्ट हो जाते हैं—अक्षिकुक्षिभवा रोगाः प्रतिश्यायव्रणज्वराः। पञ्चैते पञ्चरात्रेण रोगा नश्यन्ति लङ्घनात् ॥ आचतुर्थदिनादाममभिष्यन्देऽपि लोचनम् ॥ (यो० र०) प्राचीन वर्णनों के अनुसार अभिष्यन्द तथा अधिमन्थ की चिकित्सा में कई एक सार्वदैहिक तथा स्थानिक उपक्रमों का उल्लेख पाया जाता है डल्हणटीका में विदेहाचार्य का वचन है कि जब नेत्ररोग का पूर्वरूप ज्ञात हो तब तीन रात तक उपवास करे या पूर्णतया लङ्घन करे अथवा दिन भर उपवास करके रात्रि में लघुभोजन कर ले तथा चौथे दिन रोग के लक्षण व्यक्त हो जांय तब नेत्ररोगों में प्रयुक्त होने वाले नस्य, सेक, धूम, अञ्जन प्रभृति कर्मों का प्रयोग करना चाहिये। प्रागवेक्ष्यामये भक्तं त्रिरात्रमगुरु स्मृतम्। उपवासस्त्र्यहं वा स्यान्नक्तं वाऽप्यशनं हितम् ॥ ततश्चतुर्थे दिवसे व्यक्ते लब्धलक्षणे। यथोक्तास्तु क्रियाः कार्या नस्यसेकाञ्जनादिकाः ॥ (विदेह) नेत्ररोग की आमावस्था के पाचन के लिये स्वेद, प्रलेप, तिक्तान्न का सेवन तथा लङ्घन ये छः कर्म प्रशस्त माने गये हैं—स्वेदः प्रलेपस्तिक्तान्नं धूमो दिनचतुष्टयम्। लङ्घनञ्चाक्षिरोगाणामामानां पाचनानि षट्। नेत्रश्लेष्मावरण शोथ या अभिष्यन्द की आधुनिक चिकित्सा नेत्र को पूर्ण विश्राम देना। लिखाई, पढ़ाई, सिलाई प्रभृति कार्य जिनमें आँखों को परिश्रम (Strain) हो न करना चाहिये। प्रकाशयुक्त या अधिक प्रकाश में काम करना, नेत्र को हवा, धुँवा, धूलि आदि से बचा कर रखना, अतितेज प्रकाश या अतिमन्द प्रकाश में लिखना-पढ़ना प्रभृति कार्य न करना और मलावरोध हो तो मृदुरेचनों के प्रयोग से कोष्ठशुद्धि करना चाहिये। स्थानिक चिकित्सा—(१) नेत्रस्नान-प्रक्षालन (Eye bath) नेत्र का दिन में कई बार टङ्कणविलयन (१ औंस मन्दोष्ण पानी में ५-१० ग्रेन बोरिक एसिड) से प्रक्षालन करना चाहिये। आचार्य सुश्रुत ने इसी कर्म को अक्षिधावन नाम से निर्दिष्ट किया है तथा इस कर्म का प्रयोग रोग की तीव्रावस्था में न करके जीर्णावस्था में करने का निर्देश किया है। न चानिर्वान्तदोषेऽक्षिणि धावनं सम्प्रयोजयेत्। दोषप्रतिनिवृत्तः सन् हन्याद् दृष्टेर्बलं तथा ॥ (सु० उ० अ० १८) (२) शीतोपचार—पीड़ित नेत्र पर शीत जल का सिञ्चन, किंवा नमक पर ठण्डे किये गुलाबजल अथवा बर्फ के टुकड़े को कपड़े में पोटली बाँध कर रखने की क्रियाएँ की जाती हैं। आचार्य सुश्रुत ने इसी कर्म को 'सेक' के नाम से निर्दिष्ट किया है जिसमें नेत्र को बन्द करके ऊपर से बकरी के दुग्ध, मातृ-स्तन्य अथवा ओषधियों के शीतकषाय या क्वाथ को ठण्डा करके नेत्रों के ऊपर धारा सी दी जाती है किंवा इन्हीं तरलों में पट्टी भिगो कर रखी जाती है। सेकश्च सूक्ष्मधाराभिः सर्वस्मिन्नयने हितः। मीलिताक्षस्य नेत्रस्य प्रदेयश्चतुरङ्गुलः ॥ दोषानुसार वात में स्नेहुक, रक्तपित्त में रोपक तथा कफ में लेखक सेक करना चाहिये—सर्वोऽपि स्नेहनो वाते रक्तपित्ते च रोपणः। लेखनश्च कफे कार्यः तत्र मात्राऽधुनोच्यते ॥ स्नेहन में छः सौ बोलने तक, रोपण में चार सौ बोलने तक तथा लेखनकर्म में तीन सौ बोलने तक सेक नेत्र का करते रहना चाहिये तथा प्रायः सेक दिन में करें किन्तु आत्ययिकावस्था में रात्रि में भी सेक कर सकते हैं—षड्वाक्शतैः स्नेहनेषु चतुर्भिश्चैव रोपणे। वाक्शतैश्च त्रिभिः कार्यः सेको लेखनकर्मणि ॥ कार्यस्तु दिवसे सेको रात्रौ वात्ययिके गदे ॥ (यो० र०) प्रायः सेक करने के लिये तरल (विलयनों) को स्वादु और तिक्त रस के द्रव्यों के योग से बनाते हैं। इनसे पित्त का संशमन होकर दाह की शान्ति होती है तथा संकोचन भी होता है जिससे विस्तृत रक्तवाहिनियां सङ्कुचित होकर अभिष्यन्द में लाभ पहुँचता है। (३) उष्णोपचार—अभिष्यन्द रोग को उत्पन्न हुये तीन-चार दिन हो गये हों तो शीतोपचार की अपेक्षा उष्णोपचार विशेष लाभकारी होता है। इसके लिये गरम जल से कपड़ा भिगो कर निचोड़ के आँख पर रख कर सेकना, लवण या टङ्कण का विलयन बना के उसे कुछ उष्ण करके सेंकना, अथवा गरम पानी में अफीम के छिलके डाल कर एक उबाल आने के बाद उनको सुहाता-सुहाता आँख पर रख के सेंकना लाभदायक होता है। आयुर्वेद में नेत्र का मृदु स्वेदन प्रशस्त माना है अतः इसके लिये रुई या कपड़े को गर्म पानी में भिगो कर निचोड़ के (उष्णाम्बुसिक्त कर्पट-स्वेद) सेक या बाष्पस्वेद या करस्वेद (हस्ततल को गर्म करके सेकना) आदि उपाय बतलाये हैं। (४) द्रवनिक्षेप, बिन्दु या आश्च्योतन (Drops) इन ओषधियों में मुख्य ओषधियां जैसे ओर्जिराल (Orgerol), प्रोटार्गल (Protargol) और कोलार्गल (Collargol) प्रभृति हैं। ओर्जिराल का २० प्रतिशत का घोल (१ औंस डिस्टल वाटर में १५० ग्रेन), प्रोटार्गल का २० प्रतिशत (१ औंस डिस्टल वाटर में १०० ग्रेन) का घोल किंवा मर्क्युरो क्रोम २ प्रतिशत का घोल, किंवा मेटाफोन (१ औंस डिस्टल वाटर में ½ ग्रेन) के घोल का प्रयोग करना चाहिये। सुश्रुतोक्त आश्च्योतन को हम वर्तमान (Eye drops) कह सकते हैं। वैद्य लोग नेत्र में डालने के लिये कई प्रकार के निक्षेप, बिन्दु या आश्च्योतनों को बनाते हैं जैसे (१) नेत्र-बिन्दु, (२) कुप्पिकाद्रव आदि। नेत्रबिन्दु में गुलाबजल दो बोतल, कपूर ६ माशे, अफीम २ तोले, रसौंत ८ तोले इन्हें

परस्पर मिला के छान कर शीशी में सुरक्षित भर के रख लेवें। सुबह-शाम दोनों समय नेत्र में डालने से नेत्रगत शूल, अभिष्यन्द, नेत्रदाह, स्राव, कण्डू आदि ठीक हो जाते हैं। फुल्लिकाद्रव में परिस्रुत जल या गुलाबजल २ सेर, मिश्री ४ तोला, सैन्धव ४ तोला, शुद्ध स्फटिका १ तोला, इन सबको परस्पर मिला के छान कर नेत्र में सुबह-शाम छोड़ने से अभिष्यन्द, कण्डू, शोथ, स्राव आदि नेत्ररोग शान्त होते हैं।

वातघ्नानूपजलजमांसाम्लक्वाथसेचनैः ॥ ५ ॥
स्नेहैश्चतुर्भिरुष्णैश्च तत्पीताम्बरधारणैः।
पयोभिर्वेसवारैश्च शाल्वणैः पायसैस्तथा ॥ ६ ॥
भिषक् सम्पादयेदेतावुपनाहैश्च पूजितैः।
ग्राम्यानूपौदकरसैः स्निग्धैः फलरसान्वितैः ॥ ७ ॥
सुसंस्कृतैः पयोभिश्च तयोराहार इष्यते।
तथा चोपरिभक्तस्य सर्पिष्पानं प्रशस्यते ॥ ८ ॥
त्रिफलाक्वाथसंसिद्धं केवलं जीर्णमेव वा।
सिद्धं वातहरैः क्षीरं प्रथमेन गणेन वा ॥ ९ ॥

वाताभिष्यन्दचिकित्सा—वातनाशक तथा आनूप देश में उत्पन्न हुये जलजन्तुओं के मांस तथा अम्लद्रव्यों के क्वाथ से नेत्र का सेचन (फोमेण्टेशन) करना चाहिये। चार प्रकार के (घृत, तैल, वसा, मज्जा) स्नेहों को उष्ण करके उनमें मुलायम वस्त्र की पट्टिकाएं डालकर निचोड़ के नेत्र पर रख कर सेक करना चाहिये। बकरी आदि के उष्ण दुग्ध से तथा वेसवार से, किंवा शाल्वण स्वेद की ओषधियों को उबलते पानी में डाल कर उसके बफारे से नेत्र का सेक करना चाहिये अथवा पायस (दुग्ध में चावल डाल के पका कर उस) से नेत्र का सेक करना चाहिये। भिषक् को चाहिये कि वह अभिष्यन्द तथा अधिमन्थ के रोगियों के नेत्र को उक्त विधानों के अतिरिक्त उपनाह (पुल्टिस) के द्वारा भी ठीक करने का प्रयत्न करे। इसी प्रकार ग्राम्य (गांव में होने वाले), आनूप देश में होने वाले तथा जल में होने वाले पशु और पक्षियों के मांसरस से, स्निग्ध द्रव्यों से तथा उनमें दाडिम और आंवले के फलों के स्वरस को मिलाकर उनसे अभिष्यन्द और अधिमन्थ वाले रोगी के नेत्र का सेक तथा अन्य उपचार करे। शतावरी, शृङ्गवेर आदि द्रव्यों से संस्कृत दुग्ध के साथ अभिष्यन्द और अधिमन्थ वाले रोगी को चावलों के भात का भोजन कराना चाहिये एवं भात का भोजन करने के बाद ऊपर से घृतपान कराना चाहिये। त्रिफला के क्वाथ के द्वारा सिद्ध किया हुआ घृत या दुग्ध अथवा केवल पुराण घृत या जीर्ण (पकाया हुआ) दुग्ध किंवा वातनाशक दशमूल आदि द्रव्यों के क्वाथ से अथवा प्रथमादिगण (विदारीगन्धादिगण) की ओषधियों के क्वाथ से सिद्ध किया हुआ दुग्ध का सेवन कराना चाहिये ॥ ५-९ ॥

स्नेहास्तैलादिना सिद्धा वातघ्नैस्तर्पणे हिताः।
स्नैहिकः पुटपाकश्च धूमो नस्यश्च तद्विधम् ॥ १० ॥
नस्यादिषु स्थिराक्षीरमधुरैस्तैलमिष्यते।
एरण्डपल्लवे मूले त्वचि वाऽऽजं पयः शृतम् ॥ ११ ॥

वाताभिष्यन्द तथा अधिमन्थ की अन्य चिकित्सा—चतुःस्नेहों में से तैल को छोड़ कर अन्य स्नेहों को वातनाशक द्रव्यों के क्वाथ से सिद्ध करके उनके द्वारा तर्पण चिकित्सा करनी चाहिये। स्नैहिक पुटपाक का प्रयोग तथा स्नेहयुक्त धूम्रपान और स्नेहयुक्त नस्य का भी प्रयोग करना चाहिये। नस्य-पुटपाकादिकों में स्थिरा (शालपर्णी) क्षीरविदारी तथा मधुर वर्ग की ओषधियों से सिद्ध किये हुये तैल का प्रयोग उत्तम होता है किंवा एरण्ड के पत्र, एरण्ड की जड़ और एरण्ड की छाल के साथ शृत किया हुआ (उबाला हुआ) बकरी का दुग्ध नस्य-पुटपाकादिकों में प्रशस्त होता है ॥ १०-११ ॥

कण्टकार्याश्च मूलेषु सुखोष्णं सेचने हितम्।
सैन्धवोदीच्ययष्ट्याह्वपिप्पलीभिः शृतं पयः ॥ १२ ॥

अन्य सेचनादिक उपाय—कण्टकारी की जड़ के कल्क और क्वाथ के अन्दर सिद्ध किया हुआ दुग्ध अथवा सैन्धवलवण, नेत्रबाला या नागरमोथा, मुलेठी तथा पिप्पली इनके कल्क और क्वाथ से शृत (पकाया हुआ) दुग्ध अभिष्यन्द तथा अधिमन्थ के रोगी के नेत्रों को सेकने में लाभकारी होता है ॥ १२ ॥

हितमर्द्धोदकं सेके तथाऽऽश्च्योतनमेव च।
ह्रीवेरवक्रमञ्जिष्ठोदुम्बरत्वक्षु साधितम् ॥ १३ ॥

अर्द्धोदक दुग्धसेक—अभिष्यन्द तथा अधिमन्थ के रोगी के नेत्रों का सेक तथा आश्च्योतन करने के लिये आधा पानी मिला हुआ उष्ण दुग्ध श्रेष्ठ होता है किंवा ह्रीबेर (नेत्रबाला), वक्र (तगर), मजीठ और उदुम्बर की छाल इन द्रव्यों के कल्क और क्वाथ में सिद्ध किये हुये दुग्ध का प्रयोग भी श्रेष्ठ है ॥ १३ ॥

साम्भश्छागं पयो वाऽपि शूलाश्च्योतनमुत्तमम्।
मधुकं रजनीं पथ्यां देवदारु च पेषयेत् ॥ १४ ॥

अञ्जन प्रयोग—मुलेठी, हरिद्रा, हरड़ और देवदारु इनको समान प्रमाण में लेकर जल या बकरी के दुग्ध में घिस कर तैयार किया हुआ अञ्जन वाताभिष्यन्द में लाभदायक होता है।

आजेन पयसा श्रेष्ठमभिष्यन्दे तदञ्जनम्।
गैरिकं सैन्धवं कृष्णां नागरञ्च यथोत्तरम् ॥ १५ ॥
द्विगुणं पिष्टमद्भिस्तु गुटिकाञ्जनमिष्यते।
स्नेहाञ्जनं हितं चात्र वक्ष्यते तद्यथाविधि ॥ १६ ॥

गुटिकाञ्जन—सुवर्णगैरिक १ भाग, सैन्धव लवण २ भाग, पिप्पली ४ भाग, शुण्ठी ८ भाग लेकर खांड कूट के जल से पीस कर बना हुआ गुटिकाञ्जन बकरी के दुग्ध के साथ घिस कर आंजने से अभिष्यन्द में लाभकारी होता है। अभिष्यन्द रोग में स्नेहाञ्जन भी हितकारक होता है उसका क्रियाकल्प के अध्याय में वर्णन करेंगे ॥ १५-१६ ॥

रोगो यश्चान्यतोवातो यश्च मारुतपर्ययः।
अनेनैव विधानेन भिषक्तावपि साधयेत् ॥ १७ ॥

अन्यतोवात तथा वातपर्यय रोग में भी उपर्युक्त वाताभिष्यन्दोक्त विधान से ही चिकित्सा करनी चाहिये ॥ १७ ॥

पूर्वभक्तं हितं सर्पिः क्षीरं वाऽप्यथ भोजने।

वृक्षादन्यां कपित्थे च पञ्चमूले महत्यपि ॥ १८ ॥
सक्षीरं कर्कटरसे सिद्धं चात्र घृतं पिबेत् ।
सिद्धं वा हितमत्राहुः पत्तूरार्त्तगलाग्निकैः ।
सक्षीरं मेषशृङ्ग्या वा सर्पिर्वीरतरेण वा ॥ १९ ॥

अन्यतोवात-मारुतपर्यय विशिष्ट चिकित्सा—इन रोगों में भक्त (अन्नसेवन) के पूर्व में घृत का पान करना हितकारक होता है अथवा भोजन के साथ दुग्ध का सेवन करना श्रेयस्कर है इनके अतिरिक्त वृक्षादनी (आकाशबेल), कपित्थ, बृहत् पञ्चमूल (बिल्व, सोनापाठा, गम्भारी, पाढल, अरणी) इन ओषधियों का कल्क तथा क्काथ एवं दुग्ध तथा कर्कट (केंकडा) के मांस का रस इन्हें यथोचित मात्रा से लेकर इनके साथ घृत सिद्ध कर उसका पान कराना चाहिये। अथवा पत्तूर (शालिञ्च शाकविशेष), आर्त्तगल (काली कटसरैया) तथा अग्निक (अजमोदा) इन ओषधियों के कल्क और क्काथ से तथा दुग्ध से सिद्ध घृत इस रोग में हितकारक कहा जाता है। किंवा मेढासींगी के क्काथ और कल्क में दुग्ध के साथ सिद्ध घृत अथवा वीरतर्वादिगण की ओषधियों के कल्क और क्काथ के द्वारा दुग्ध के साथ सिद्ध किये हुये घृत का सेवन करना चाहिये ॥ १८–१९ ॥

सैन्धवं दारु शुण्ठी च मातुलुङ्गरसो घृतम् ॥ २० ॥
स्तन्योदकाभ्यां कर्त्तव्यं शुष्कपाके तदञ्जनम् ।
पूजितं सर्पिषश्चात्र पानमक्ष्णोश्च तर्पणम् ॥ २१ ॥
घृतेन जीवनीयेन नस्यं तैलेन चाणुना ।
परिषेके हितश्चात्र पयः शीतं ससैन्धवम् ॥ २२ ॥
रजनीदारुसिद्धं वा सैन्धवेन समायुतम् ।
सर्पिर्युतं स्तन्यघृष्टमञ्जनं वा महौषधम् ॥ २३ ॥

शुष्काक्षिपाकचिकित्सा—सैन्धव लवण, दारुहरिद्रा, सोंठ इनका चूर्ण बनाकर बिजौरे नीबू के रस के साथ घोटकर सुखा के घृत के साथ मिश्रित कर शीशी में भर देवें। फिर थोड़े से दुग्ध तथा जल में मिला कर अञ्जन करना चाहिये। इसके अतिरिक्त घृतपान करना तथा नेत्रों का तर्पण करना प्रशस्त है। जीवनीय घृत अथवा अणुतैल (शालाक्यतन्त्रोक्त न तु वातव्याध्युपदिष्ट) से नस्यकर्म करना चाहिये तथा सैन्धवलवणयुक्त शीतल जल नेत्रसेक के लिये हितकर है। अथवा हरिद्रा और दारुहरिद्रा के कल्क और क्काथ द्वारा घृत सिद्ध करके उसमें कुछ सैन्धव लवण मिलाकर उसका सेवन करे किंवा उसका अञ्जन करना चाहिये। अथवा दुग्ध से अञ्जन घिस आंखों में लगावे। किंवा महौषध (शुण्ठी) को दुग्ध में घिस कर उसका आंखों में अञ्जन करना चाहिये ॥ २०–२३ ॥

वसा वाऽऽनूपजलजा सैन्धवेन समायुता ।
नागरोन्मिश्रिता किञ्चिच्छुष्कपाके तदञ्जनम् ॥ २४ ॥

शुष्कपाक रोग में आनूप अथवा जल में होने वाले प्राणियों की वसा में सैन्धव लवण तथा शुण्ठी का चूर्ण मिला कर अञ्जन करना श्रेष्ठ है ॥ २४ ॥

पवनप्रभवा रोगा ये केचिद् दृष्टिनाशनाः ।
बीजेनानेन मेधावी तेषु कर्म प्रयोजयेत् ॥ २५ ॥

इति सुश्रुतसंहितायामुत्तरतन्त्रान्तर्गते शालाक्यतन्त्रे वाताभिष्यन्दप्रतिषेधो नाम नवमोऽध्यायः ॥ ९ ॥

सर्ववातज नेत्ररोग चिकित्सोपदेश—वायु के प्रकोप से उत्पन्न रोग जो कि दृष्टि को नष्ट कर सकते हैं उनकी उक्त क्रम से ही बुद्धिमान् वैद्य चिकित्सा करे ॥ २५ ॥

चरकोक्त नेत्ररोग चिकित्साक्रमः—उत्पन्नमात्रे तरुणे नेत्ररोगे बिडालकः। कार्यो दाहोपदेहाश्रुशोफरागनिवारणः॥ नागरं सैन्धवं सर्पिः-मण्डेन च रसक्रिया। निघृष्टं वातिके तद्वन्मधुसैन्धवगैरिकम्॥ तथा शावरकं लोध्रं घृतमृष्टं बिडालकः। तद्वत्कार्यो हरीतक्या घृतभृष्टो रुजापहः॥

उत्पन्न तरुण नेत्ररोग में बिडालक लगाने से दाह, उपदेह, अश्रुस्राव, शोफ और लालिमा नष्ट होती है। वातिक नेत्ररोग में सोंठ, सेंधा लवण की रसक्रिया करके घृत या मण्ड के साथ अञ्जन करना चाहिये। उसी प्रकार शहद, सेंधा नमक और स्वर्णगैरिक को अच्छी प्रकार पीस कर अञ्जन करे किंवा शावर लोध्र को घृत में घिस कर बिडालक लगावे अथवा हरड़ को घृत में घिस कर लेप करने से रुजा नष्ट होती है।

इत्यायुर्वेदतत्त्वसन्दीपिकाभाषाटीकायामुत्तरतन्त्रे वाताभिष्यन्दप्रतिषेधो नाम नवमोऽध्यायः ॥ ९ ॥

दशमोऽध्यायः ।

अथातः पित्ताभिष्यन्दप्रतिषेधं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥ २ ॥

अब इसके आगे 'पित्ताभिष्यन्दप्रतिषेध' नामक अध्याय का व्याख्यान करते हैं जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने कहा है ॥ १–२ ॥

पित्तस्यन्दे पैत्तिके चाधिमन्थे
रक्तास्रावः स्रंसनञ्चापि कार्यम् ।
अक्ष्णोः सेकालेपनस्याञ्जनानि
पैत्ते च स्याद्यद्विसर्पे विधानम् ॥ ३ ॥

पित्तजन्य अभिष्यन्द तथा पित्तजन्य अधिमन्थ रोग में (१) रक्तविस्रावण तथा (२) विरेचन आदि सार्वदैहिक उपक्रम एवं स्थानिक उपचारों में पित्तजन्य विसर्प के समान (१) सेक, (२) आलेप, (३) नस्य और (४) अञ्जन प्रभृति उपाय करने चाहिये ॥ ३ ॥

विमर्शः—पित्ताभिष्यन्द में पित्तनाशक सर्वक्रियाएं प्रशस्त मानी गई हैं 'क्रियाः सर्वाः पित्तहर्यः प्रशस्ताः'

गुन्द्रां शालिं शैवलं शैलभेदं
दार्वीमेलामुत्पलं रोध्रमभ्रम् ।

पद्मात्पत्रं शर्करा दर्भमिक्षुं
तालं रोध्रं वेतसं पद्मकञ्च ॥ ४ ॥
द्राक्षां क्षौद्रं चन्दनं यष्टिकाह्वं
योषित्क्षीरं रात्र्यनन्ते च पिष्ट्वा ।
सर्पिः सिद्धं तर्पणे सेकनस्ये
शस्तं क्षीरं सिद्धमेतेषु चाजम् ॥ ५ ॥
योज्यो वर्गो व्यस्त एषोऽन्यथा वा
सम्यङ्नस्येऽष्टार्द्धसङ्ख्येऽपि नित्यम् ।
क्रियाः सर्वाः पित्तहृय्यः प्रशस्ता-
स्त्र्यहाच्चोर्द्ध्वं क्षीरसर्पिश्च नस्यम् ॥ ६ ॥

उक्त दोनों रोगों में गुन्द्रा (तृणविशेष) शालि चावल की जड़, शैवल (काई अथवा दूर्वा), पाषाणभेद, दारुहरिद्रा, इलायची, नीलकमल, लोध्र अभ्र (मोथा), श्वेतकमल, शर्करा, दर्भ की जड़, ऊख की जड़, ताल (मूसली या ताड़) लोध, बेंत, पद्माख, द्राक्षा, शहद, लालचन्दन, मुलेठी, योषित्क्षीर (स्त्री या गौ का दुग्ध), हरिद्रा, अनन्तमूल इन सब द्रव्यों को समान प्रमाण में मिश्रित कर कल्क बना के उससे चतुर्गुण घृत तथा घृत से चतुर्गुण पानी मिला के घृतावशेष पाक कर घृत को छान लेवें। यह सिद्ध घृत तर्पण, सेक तथा नस्य में प्रशस्त है। इसी प्रकार उक्त द्रव्यों के द्वारा सिद्ध किया हुआ बकरी का दुग्ध भी तर्पण, सेक और नस्यादि क्रियाओं में श्रेष्ठ होता है। इन्हीं उक्त द्रव्यों को पृथक् पृथक् या सबको संयुक्त करके अष्टार्धसंख्यक अर्थात् प्रतिमर्ष, अवपीड, नस्य और शिरोविरेचन इन चार प्रकार के नस्यकर्म में प्रयुक्त करना चाहिये। इसके अतिरिक्त सर्व प्रकार की पित्तनाशक क्रियाएं करें और तीन-तीन दिन के बाद क्षीरसर्पि (क्षीरमन्थनजन्य-सर्पि=मक्खन) का नस्य देना चाहिये ॥ ४-६ ॥

पालाशं स्याच्छोणितं चाञ्जनार्थे
शल्लक्या वा शर्कराक्षौद्रयुक्तम् ।
रसक्रियां शर्कराक्षौद्रयुक्तां
पालिन्द्यां वा मधुके वाऽपि कुर्यात् ॥ ७ ॥

अञ्जनप्रयोग—पलाश के पुष्प अथवा जड़ के स्वरस (शोणित) में किंवा शल्लकी-स्वरस में शर्करा और शहद मिला कर अञ्जन करने से पित्ताभिष्यन्द नष्ट होता है। रसक्रिया—पालिन्दी (काली निशोथ) अथवा मुलेठी की रसक्रिया करके उसमें शर्करा और शहद मिला कर अञ्जन करने से पैत्तिक अभिष्यन्द नष्ट होता है ॥ ७ ॥

विमर्शः—पलाश की जड़ को खांड कूट कर उसका अर्क खींच कर शीशी में भर देवें तथा-उसे सुबह-शाम दोनों समय आंख में टपकाने से अभिष्यन्द, मोतियाबिन्द, अव्रण शुक्र आदि नेत्र रोगों में अच्छा लाभ होते देखा गया है। रसक्रिया—किसी भी औषध का यवकुट करके क्वाथ बनाकर उसे छानकर पुनः अग्नि पर चढ़ा के फाणित के आकार का घनीभूत कर लेना चाहिये—गृहीत्वा क्वाथकल्पेन क्वाथं पूतं पुनः पुनः। क्वाथयेत् फाणिताकारमेषा प्रोक्ता रसक्रिया ॥

मुस्ता फेनः सागरस्योत्पलञ्च
कृमिघ्नैलाधात्रिबीजाद्रसश्च ।
तालीशैलागैरिकोशीरशङ्खै-
रेवं युञ्ज्यादञ्जनं स्तन्यपिष्टैः ॥ ८ ॥

पित्ताभिष्यन्दे मुस्ताद्यञ्जन—नागरमोथा, समुद्रफेन, कमल, वायविडङ्ग, इलायची, आंवला और विजयसार इन्हें परस्पर महीन पीस कर या रसक्रिया करके अञ्जन करना चाहिये। इसी प्रकार तालीसपत्र, इलायची, स्वर्णगैरिक, खस तथा शङ्ख की नाभि इन्हें प्रथम महीन चूर्णित कर पश्चात् स्त्री या गौ के दुग्ध के साथ तीन दिन तक खरल करके घोट कर सुखा के शीशी में भर दें। यह अञ्जन भी नेत्ररोगों में अच्छा लाभ करता है ॥ ८ ॥

चूर्णं कुर्यादञ्जनार्थे रसो वा
स्तन्योपेतो धातकीस्यन्दनाभ्याम् ।
योषित्स्तन्यं शातकुम्भं विघृष्टं
क्षौद्रोपेतं कैंशुकञ्चापि पुष्पम् ॥ ९ ॥

आंवला और सांदन (स्यन्दन) को महीन पीस कर अथवा इनकी रसक्रिया करके स्त्री या गोदुग्ध के साथ अञ्जन करना चाहिये। अथवा सुवर्ण को स्त्री के दुग्ध के साथ घिसकर किंवा किंशुक (ढाक=पलास) के पुष्पों को चूर्णित कर शहद के साथ मिला कर अञ्जन करना चाहिये ॥ ९ ॥

रोध्रं द्राक्षां शर्करामुत्पलञ्च
नार्य्याः क्षीरे यष्टिकाह्वं वचाञ्च ।
पिष्ट्वा क्षीरे वर्णकस्य त्वचं च
तोयोन्मिश्रे चन्दनोदुम्बरे च ॥ १० ॥

लोध, द्राक्षा, शर्करा, कमल, मुलेठी और वचा इन्हें चूर्णित कर दुग्ध के साथ पीस कर अञ्जन करना चाहिये। अथवा वर्णक (अमलतास या वरने) की छाल को दुग्ध के साथ पीस कर अञ्जन करें। किंवा तोय (नेत्रबाला), चन्दन और गूलर की छाल इन्हें भी चूर्णित कर स्त्री-दुग्ध में पीस कर अञ्जन करना चाहिये ॥ १० ॥

विमर्शः—यहां पर तोय शब्द से नेत्रबाला अर्थ न करके तोयोन्मिश्र को चन्दनोदुम्बर का विशेषण मानकर चन्दन और उदुम्बर की छाल को तोयोन्मिश्र (जल में घिस) कर अञ्जन करें। यह अर्थ प्रशस्त प्रतीत होता है।

कार्यः फेनः सागरस्याञ्जनार्थे
नारीस्तन्ये माक्षिके चापि घृष्टः ।
योषित्स्तन्ये स्थापितं यष्टिकाह्वं
रोध्रं द्राक्षां शर्करामुत्पलञ्च ॥ ११ ॥

समुद्रफेन को स्त्रीदुग्ध और शहद में घिस कर अञ्जन करना चाहिये। अथवा मुलेठी, लोध, मुनक्का, शर्करा तथा कमल इनको स्त्रीदुग्ध में कुछ देर तक रख कर महीन पीस के अञ्जन करना चाहिये ॥ ११ ॥

क्षौमाबद्धं पथ्यमाश्च्योतने वा
सर्पिर्घृष्टं यष्टिकाह्वं सरोध्रम् ।
तोयोन्मिश्राः काश्मरीधात्रिपथ्या-
स्तद्वच्चाहुः कट्फलञ्चाम्बुनैव ॥ १२ ॥

आश्च्योतन—उक्त मुलेठी, लोध, मुनक्का, शर्करा तथा कमल इनका चूर्ण बनाकर क्षौम (रेशमी) वस्त्र में पोट्टली के रूप में बांध कर स्त्रीदुग्ध में उस पोट्टली को भिंगो-भिंगो कर नेत्र पर आश्च्योतन कर्म करना चाहिये। अथवा मुलेठी और पठानी लोध को महीन चूर्णित कर घृत के साथ घिस कर अञ्जन या आश्च्योतन करना चाहिये। अथवा गम्भारी की छाल, आंवले के फल और हरड़ को महीन पीस कर पोट्टली बना के जल के साथ भिंगो कर आश्च्योतन करना चाहिये। इसी तरह केवल कायफल के चूर्ण की पोटली को पानी में भिंगो कर आश्च्योतन करना चाहिये ॥ १२ ॥

एषोऽम्लाख्येऽनुक्रमश्चापि शुक्तौ
कार्यः सर्वः स्यात्सिरामोक्षवर्ज्यः ॥ १३ ॥

अम्लाध्युषित तथा शुक्तिका रोग में भी सिरामोक्ष को छोड़कर उक्त क्रम अर्थात् सेक, लेप, नस्य, आश्च्योतन आदि चिकित्सा क्रम का प्रयोग करना चाहिये ॥ १३ ॥

सर्पिः पेयं त्रैफलं तैल्वकं वा
पेयं वा स्यात् केवलं यत् पुराणम्।
दोषेऽधस्ताच्छुक्तिकायामपास्ते
शीतैर्द्रव्यैरञ्जनं कार्यमाशु ॥ १४ ॥

अम्लाध्युषित में त्रिफलाघृत का पान, तिल्वकघृत का पान, अथवा केवल पुराने घृत का पान करना चाहिये। शुक्तिका रोग में भी उक्त घृतों के पान से अथवा विरेचन के के द्वारा दोषों के अधोमार्ग से निकल जाने पर शीतल द्रव्यों के द्वारा बनाया हुआ अञ्जन शीघ्र आंजना चाहिये ॥ १४ ॥

वैदूर्यं यत् स्फाटिकं वैद्रुमञ्च
मौक्तं शाङ्खं राजतं शातकुम्भम्।
चूर्णं सूक्ष्मं शर्कराक्षौद्रयुक्तं
शुक्तिं हन्यादञ्जनं चैतदाशु ॥ १५ ॥

वैदूर्याद्यञ्जन—वैदूर्यमणि, स्फटिक मणि, मूंगा, मोती, शङ्ख की नाभि, चांदी की भस्म या वरक, सोने की भस्म या वरक इन्हें समान प्रमाण में लेकर महीन चूर्ण बना के शर्करा और शहद के साथ मिश्रित कर नेत्रों में आंजने से शुक्ति रोग शीघ्र ही नष्ट हो जाता है ॥ १५ ॥

युञ्ज्यात्सर्पिर्धूमदर्शी नरस्तु
शेषं कुर्याद्रक्तपित्ते विधानम्।
यच्चैवान्यत् पित्तहृच्चापि सर्वं
यद्वीसर्पे पैत्तिके वै विधानम् ॥ १६ ॥

इति सुश्रुतसंहितायामुत्तरतन्त्रान्तर्गते शालाक्यतन्त्रे पित्ताभिष्यन्दप्रतिषेधो नाम दशमोऽध्यायः ॥ १० ॥

धूमदर्शी रोगी घृत का प्रयोग करे तथा रक्तपित्तोक्त चिकित्सा का प्रयोग करना श्रेष्ठ है अथवा पित्तनाशक अन्य चिकित्साक्रम किंवा पैत्तिक विसर्प में जो चिकित्साविधान कहे गये हैं उनका सेवन करना चाहिये ॥ १६ ॥

इत्यायुर्वेदतत्त्वसंदीपिकाभाषाटीकायामुत्तरतन्त्रे पित्ताभिष्यन्दप्रतिषेधो नाम दशमोऽध्यायः ॥ १० ॥

एकादशोऽध्यायः।

अथातः श्लेष्माभिष्यन्दप्रतिषेधं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥ २ ॥

अब इसके अनन्तर 'श्लेष्माभिष्यन्द-प्रतिषेधक' नामक अध्याय का व्याख्यान करते हैं जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने कहा है ॥ १-२ ॥

स्यन्दाधिमन्थौ कफजौ प्रवृद्धौ
जयेत् सिराणामथ मोक्षणेन।
स्वेदावपीडाञ्जनधूमसेक-
प्रलेपयोगैः कवलग्रहैश्च ॥ ३ ॥
रूक्षैस्तथाऽऽश्च्योतनसंविधानै-
स्तथैव रूक्षैः पुटपाकयोगैः।
त्र्यहात्त्र्यहाच्चाप्यपतर्पणान्ते
प्रातस्तयोस्तिक्तघृतं प्रशस्तम् ॥ ४ ॥
तदन्नपानञ्च समाचरेद्धि
यच्छ्लेष्मणो नैव करोति वृद्धिम्।
फणिज्जकास्फोतकुठेरबिल्व-
पत्तूरपील्वर्ककपित्थभङ्गैः ॥ ५ ॥
स्वेदं विदध्यादथवाऽनुलेपं
बर्हिष्ठशुण्ठीसुरकाष्ठकुष्ठैः ॥ ६ ॥

श्लेष्माभिष्यन्द सामान्यचिकित्सा—कफ की वृद्धि से उत्पन्न अभिष्यन्द तथा अधिमन्थ रोगों को प्रथम सिरामोक्षण विधि से दूषित रक्त का निर्हरण कर जीतना चाहिये। रक्तमोक्षण के पश्चात् स्वेदन, अवपीडन नस्य, अञ्जन, धूमपान, सेक, प्रलेप, कवलग्रह, रूक्ष ओषधियों से बने क्वाथादि का आश्च्योतन, रूक्ष ओषधियों का पुटपाक और अपतर्पण का प्रयोग करना चाहिये। अपतर्पण के अनन्तर तीन-तीन दिन के पश्चात् प्रातःकाल कुष्ठाधिकारोक्त तिक्तघृत का पान करना चाहिये। इसके सिवाय जो अन्न और पेय पदार्थ कफ की वृद्धि करने वाले न हों उनका सेवन करना चाहिये। स्वेदन कर्म के लिये कुटन्नट (तगर), आस्फोट (श्वेत आक, अथवा निर्गुण्डी), फणिज्जक (तीक्ष्ण गन्ध वाला मरुवक), बिल्व की जड़ की छाल या पत्र, पत्तूर (शालिञ्चशाक), पीलु, अर्क (श्वेत आक) और कैथ इनके पत्रों से स्वेदन करना चाहिये। अथवा बर्हिष्ठ (ह्रीबेर या नेत्रवाला), सोंठ, सुरकाष्ठ (देवदारु) और कूठ इनका नेत्रों पर लेप करना चाहिये ॥ ३-६ ॥

सिन्धूत्थहिङ्गुत्रिफलामधूक-
प्रपौण्डरीकाञ्जनतुत्थताम्रैः।
पिष्टैर्जलेनाञ्जनवर्त्तयः स्युः
पथ्याहरिद्रामधुकाञ्जनैर्वा ॥ ७ ॥

त्रीण्यूषणानि त्रिफला हरिद्रा
विडङ्गसारश्च समानि च स्युः।
बर्हिष्ठकुष्ठामरकाष्ठशङ्ख-
पाठामलव्योषमनःशिलाश्च ॥ ८ ॥
पिष्ट्वाऽम्बुना वा कुसुमानि जाति-
करञ्जशोभाञ्जनजानि युञ्ज्यात्।
फलम्प्रकीर्यादथवाऽपि शिग्रोः
पुष्पञ्च तुल्यं बृहतीद्वयस्य ॥ ९ ॥
रसाञ्जनं सैन्धवचन्दनञ्च
मनःशिलाऽऽले लशुनञ्च तुल्यम्।
पिष्ट्वाऽञ्जनार्थे कफजेषु धीमा-
न्वर्त्तीर्विदध्यान्नयनामयेषु ॥ १० ॥

अञ्जन-अञ्जनवर्ति—(१) सैन्धवलवण, हींग, त्रिफला (हरड़, बहेड़ा, आंवला), मुलेठी, प्रपौण्डरीक, अञ्जन, तुत्थ और ताम्र इन द्रव्यों को जल में पीस कर यव के आकार की वर्तियाँ बना के सुखाकर शीशी में भर देवे। फिर इन वर्तियों को गुलाबजल या जल में पीसकर श्लेष्माभिष्यन्द में अञ्जन करना चाहिये। (२) हरड़, हरिद्रा और मुलेठी इन्हें चूर्णित कर जल में पीस के वर्ति बना कर अञ्जन करे। (३) त्र्यूषण (सोंठ, मरिच, पीपल,) त्रिफला (हरड़, बहेड़ा, आंवला), हरिद्रा और विडङ्गसार इन्हें बराबर-बराबर लेकर खांड कूट कर जल के साथ पीस के वर्ति बना कर अञ्जन करे। (४) बर्हिष्ठ (नेत्रबाला), कूठ, अमरकाष्ठ (देवदारु), शङ्ख, पाठा, मल (नख), व्योष (सोंठ, मरिच, पीपल) और मैनसिल इन्हें समान प्रमाण में लेकर खांड कूट के जल के साथ पीस कर वर्तियां बना के सुखा कर अञ्जन करें। (५) चमेली के फूल, करञ्ज की बीजगिरी या फूल और सहजन के बीज या फूल इन्हें समान प्रमाण में लेकर पीस कर जल के साथ वर्ति बना के अञ्जन करें। (६) पूतिकरञ्ज के फल या पुष्प, सहजन के फल (और पुष्प), छोटी तथा बड़ी कटेरी के फल (और पुष्प), रसाञ्जन, सैन्धवलवण, लालचन्दन, मैनसिल, हरताल और लहसुन की गिरी इन सबको समान प्रमाण में लेकर खांड कूट कर छान के जल के साथ पीस कर वर्तियां बना के सुखा कर कफजन्य नेत्ररोगों में प्रयुक्त करे ॥ ७–१० ॥

रोगे बलासग्रथितेऽञ्जनज्ञैः
कर्त्तव्यमेतत् सुविशुद्धकाये।
नीलान् यवान् गव्यपयोऽनुपीतान्
शलाकिनः शुष्कतनून् विदह्य।
तथाऽर्जकास्फोतकपित्थबिल्व-
निर्गुण्डिजातीकुसुमानि चैव ॥ ११ ॥
तत्क्षारवत्सैन्धवतुत्थरोचनं
पक्वं विदध्यादथ लोहनाड्या।
एतद् बलासग्रथितेऽञ्जनं स्या-
देषोऽनुकल्पस्तु फणिज्झकादौ ॥ १२ ॥

बलासग्रथित रोग में—प्रथम वमन, विरेचन, शिरोविरेचन और रक्तमोक्षण द्वारा देह का संशोधन करके अञ्जनज्ञ वैद्य निम्न क्षाराञ्जन का प्रयोग करे जैसे नील यव अर्थात् अर्धपक्व या दुग्धयुक्त एवं शूकदार जौ को लेकर गाय के दुग्ध में सात दिन तक भावित करके सुखा लेवें। साथ ही अर्जक, आस्फोतक, कपित्थ, बिल्व, निर्गुण्डीपत्र और चमेली के फूल इनमें से प्रत्येक को समान प्रमाण में मिला कर जला लेवें। फिर उस जली राख को एक प्रस्थ भर लेकर ६ गुना (६ प्रस्थ) जल मिला के २१ बार छान कर क्षारोदक को एक घण्टे के लिये निथरने देकर कलईदार कड़ाही में भर कर उसमें सैन्धव लवण, नीलतुत्थ और रोचना (गोरोचन या हरिद्रा) इनका मिलित चूर्ण क्षारोदक के प्रमाण से ३२ वां भाग मिला कर पका के शुष्काञ्जन स्वरूप कर शीशी में भर देवें। फिर इस अञ्जन को बलासग्रथित रोग में लोहशलाका या शीसशलाका द्वारा अञ्जनरूप में आंजना चाहिये। फणिज्झक प्रभृति पुष्पों से भी इसी प्रकार क्षार अञ्जन का निर्माण कर सकते हैं ॥ ११–१२ ॥

महौषधं मागधिकाञ्च मुस्तां
ससैन्धवं यन्मरिचञ्च शुक्लम्।
तन्मातुलुङ्गस्वरसेन पिष्टं
नेत्राञ्जनं पिष्टकमाशु हन्यात् ॥ १३ ॥

पिष्टक-नेत्ररोगहराञ्जन—सोंठ, पिप्पली, नागरमोथा, सैन्धव लवण और श्वेत मरिच इन्हें समान प्रमाण में चूर्णित कर बिजोरे नीबू के रस से खरल करके सुखा कर आँखों में आंजने से पिष्टक रोग नष्ट हो जाता है ॥ १३ ॥

फले बृहत्या मगधोद्भवानां
निधाय कल्कं फलपाककाले।
स्रोतोजयुक्तं च तदुद्धृतं स्या-
त्तद्वत्तु पिष्टे, विधिरेष चापि ॥ १४ ॥

पिष्टकहराञ्जन—बड़ी कटेरी के फल जब पकने वाले हों, उन फलों में पिप्पली का कल्क (चूर्ण) और स्रोतोञ्जन भर कर रख दें। एक सप्ताह के पश्चात् उनमें से निकाल कर बिजौरे नीबू के रस में खरल करके सुखा कर पिष्टक रोग में अञ्जन करना चाहिये ॥ १४ ॥

वार्त्ताकशिग्र्विन्द्रसुरापटोल-
किराततिक्तामलकीफलेषु ॥ १५ ॥

उक्त विधि से ही वार्त्ताक (बड़ी कण्टकारी), सहजन, इन्द्रसुरा (इन्द्रवारुणी), परवल, चिरायता और आंवला इनके फलों में पिप्पली का चूर्ण और स्रोतोञ्जन भर कर सात दिन रख के नीबू के रस में खरल कर सुखा के पिष्टक में अञ्जन करना चाहिये ॥ १५ ॥

कासीससामुद्ररसाञ्जनानि
जालास्तथा कोरकमेव चापि।
प्रक्लिन्नवर्त्मन्युपदिश्यते तु
योगाञ्जनं तन्मधुनाऽवघृष्टम् ॥ १६ ॥

प्रक्लिन्नवर्त्म में योगाञ्जन—हीराकसीस, समुद्रफेन, रसा-

अन, चमेली की कलिका, इन्हें शहद के साथ पीस कर प्रक्लिन्नवर्त्म रोग में अञ्जन करना चाहिये। इसे योगाञ्जन कहते हैं ॥ १६ ॥

विमर्शः—कुछ लोग समुद्र से सामुद्री लवण लेते हैं किन्तु 'सर्वलवणम चक्षुष्यमृते सैन्धवात्' इस शास्त्रनियम से नेत्र रोगों में सैन्धव लवण लिया जाता है और यहां सैन्धव वाचक कोई शब्द न होने से समुद्र शब्द से समुद्रफेन का ही अर्थ करना प्रशस्त है।

नादेयमग्र्यं मरिचञ्च शुक्लं
नेपालजाता च समप्रमाणा।
समातुलुङ्गद्रव एष योगः
कण्डूं निहन्यात्सकृदञ्जनेन ॥ १७ ॥

नेत्रकण्डूचिकित्सा—अग्रय अर्थात् उत्तम नादेय (सिन्धु नदी के पास होने वाला) लवण, श्वेत मरिच और मनःशिला इन्हें समान प्रमाण में लेकर बिजोरे नीबू के रस में खरल कर सुखा के एक बार ही अञ्जन करने से नेत्रकण्डू रोग नष्ट हो जाता है ॥ १७ ॥

सशृङ्गवेरं सुरदारु मुस्तं
सिन्धुप्रसूतं मुकुलानि जात्याः।
सुराप्रपिष्टन्त्विदमञ्जनं हि
कण्डूवां च शोफे च हितं वदन्ति ॥ १८ ॥

कण्डूशोफहराञ्जन—सोंठ, देवदारु, नागरमोथा, सिन्धूप्रसूत (सैन्धव लवण) और चमेली की कलिकाएं इन्हें समान प्रमाण में लेकर खांड कूट के सुरा के साथ खरल कर अञ्जन करने से नेत्र-कण्डू और शोफ में हित होता है ॥ १८ ॥

स्यन्दाधिमन्थक्रममाचरेच्च
सर्वेषु चैतेषु सदाऽप्रमत्तः।
विशेषतो नावनमेव कार्यं
संसर्जनं चापि यथोपदिष्टम् ॥ १९ ॥

इति सुश्रुतसंहितायामुत्तरतन्त्रान्तर्गते शालाक्यतन्त्रे कफाभिष्यन्दप्रतिषेधो नामैकादशोऽध्यायः ॥ ११ ॥

बलासग्रथित, पिष्टक, प्रक्लिन्नवर्त्म प्रभृति उक्त सर्व रोगों में सर्वदा सावधानीपूर्वक वैद्य अभिष्यन्द और अधिमन्थ के चिकित्सा क्रम का प्रयोग करे तथा विशेष कर इन रोगों में नावन (नस्य) कर्म एवं यथाशास्त्र संसर्जनविधि (पेया, विलेपी आदि विरेचक या मृदुसारक) का उपयोग करना चाहिये ॥ १९ ॥

इत्यायुर्वेदतत्त्वसंदीपिकाभाषाटीकायामुत्तरतन्त्रे कफाभिष्यन्दप्रतिषेधो नामैकादशोऽध्यायः ॥ ११ ॥

द्वादशोऽध्यायः।

अथातो रक्ताभिष्यन्दप्रतिषेधं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥ २ ॥

अब इसके अनन्तर यहां से 'रक्ताभिष्यन्दप्रतिषेध' नामक अध्याय का व्याख्यान करते हैं जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने कहा है ॥ १-२ ॥

मन्थं स्यन्दं सिरोत्पातं सिराहर्षञ्च रक्तजम्।
एकैकेन विधानेन चिकित्सेच्चतुरो गदान् ॥ ३ ॥
व्याध्यार्तांश्चतुरोऽप्येतान् स्निग्धान् कौम्भेन सर्पिषा।
रसैरुदारैरथवा सिरामोक्षेण योजयेत् ॥ ४ ॥
विरिक्तानां प्रकामञ्च शिरांस्येषां विशोधयेत्।
वैरेचनिकसिद्धेन सितायुक्तेन सर्पिषा ॥ ५ ॥

चिकित्सक को चाहिये कि वह रक्त की दुष्टि से उत्पन्न अधिमन्थ, अभिष्यन्द, सिरोत्पात तथा सिराप्रहर्ष इन चार रोगों की चिकित्सा एक ही प्रकार के क्रम से करे। अत एव उक्त चारों प्रकार की व्याधि से पीडित चारों रोगियों को प्रथम कौम्भ घृत के पान के द्वारा अन्तः संशोधनार्थ स्नेहन करके अधिक मांसरस का सेवन करावे। इसके अनन्तर सिरामोक्षण द्वारा अशुद्ध रक्त का निर्हरण करे। सिरामोक्षण के साथ वातादि दोषों के विनाश के लिये त्रिवृतादि विरेचक द्रव्यों के कल्क तथा क्वाथ द्वारा सिद्ध किये हुये घृत में शर्करा डालकर विरेचन देना चाहिये। इस तरह यथेच्छ या पूर्णरूप से विरिक्त हुये रोगियों को शिरोविरेचक द्रव्य सुंघा कर उनके सिर का संशोधन करना चाहिये ॥ ३-५ ॥

विमर्श—दस वर्ष के पुराने घृत को आचार्यों ने पुराणघृत तथा इससे अधिक पुराने घृत को प्रपुराण घृत, एवं एक सौ वर्ष पुराने घृत को कुम्भसर्पि तथा इससे भी अधिक पुराने घृत को महाघृत कहते हैं। परन्तु कुछ वचन ऐसे भी हैं कि जिनमें शत वर्ष पुराने घृत को कौम्भघृत तथा कुछ में एकादश शत वर्ष पुराने घृत की कुम्भसर्पि परिभाषा की है—'कौम्भन्तु शतवत्सरम्' एकादशशतञ्चैव वत्सरानुषित घृतम्। रक्षोघ्नं कुम्भसर्पिः स्यात्...... ॥

ततः प्रदेहाः परिषेचनानि
नस्यानि धूमाश्च यथास्वमेव।
आश्च्योतनाभ्यञ्जनतर्पणानि
स्निग्धाश्च कार्याः पुटपाकयोगाः ॥ ६ ॥

स्थानिक उपचारों में—प्रदेह, परिषेचन, नस्य, धूमपान, आश्च्योतन, अभ्यञ्जन (अभ्यङ्ग), तर्पण तथा स्निग्ध पुटपाक का प्रयोग करना चाहिये ॥ ६ ॥

नीलोत्पलोशीरकटङ्कटेरी-
कालीययष्टीमधुमुस्तरोध्रैः।
सपद्मकैर्धौतघृतप्रदिग्धै-
रक्ष्णोः प्रलेपं परितः प्रकुर्य्यात् ॥ ७ ॥

प्रलेप—नीलकमल या नीलोफर, खस, दारुहरिद्रा (कटङ्कटेरी), कालीयक (अगर), मुलेठी, नागरमोथा, लोध्र और

पंचाख इनके समभाग गृहीत चूर्ण को शतधौत घृत में मिला कर आंखों के चारों ओर लेप लगाना चाहिये ॥ ७ ॥

रुजायां चाप्यतिभृशं स्वेदाश्च मृदवो हिताः ।
अक्ष्णोः समन्ततः कार्यं पातनञ्च जलौकसाम् ॥ ८ ॥
घृतस्य महती मात्रा पीता चार्त्तिं नियच्छति ॥
पित्ताभिष्यन्दशमनो विधिश्चाप्युपपादितः ॥ ९ ॥

नेत्ररुजाहरण—नेत्रों में अत्यधिक असह्य पीड़ा होने पर आंखों के चारों तरफ मृदु स्वेदन करना चाहिये। अर्थात् बोरिक पाउडर गरम पानी में डालकर उसमें कपड़ा या रूई भिगो कर निचोड़ के आंखों पर सेक करना चाहिये। स्वेदन के अनन्तर जोंक लगा के अशुद्ध रक्त का निर्हरण करे। घृत की अधिक मात्रा के पान करने से भी वेदना नष्ट हो जाती है। इसके सिवाय पित्ताभिष्यन्द की चिकित्सा का प्रयोग करना चाहिये ॥ ८-९ ॥

कशेरुमधुकाभ्यां वा चूर्णमम्बरसंवृतम् ।
न्यस्तमप्स्वान्तरिक्षासु हितमाश्च्योतनम्भवेत् ॥ १० ॥

आश्च्योतन कसेरु तथा मुलेठी के चूर्ण को मलमल के कपड़े में बांध कर पोटली बना के आन्तरिक्ष जल (वर्षाकालीन संगृहीत आकाशजल) में भिगो कर आंखों पर आश्च्योतन करना चाहिये ॥ १० ॥

पाटल्यर्जुनश्रीपर्णीधातकीधात्रिबिल्वतः ।
पुष्पाण्यथ बृहत्योश्च बिम्बीलोटाश्च तुल्यशः ॥ ११ ॥
समञ्जिष्ठानि मधुना पिष्टानीक्षुरसेन वा ।
रक्ताभिष्यन्दशान्त्यर्थमेतदञ्जनमिष्यते ॥ १२ ॥

अञ्जनप्रयोग—पाढल, अर्जुन, श्रीपर्णी (गम्भारी), धाय, आंवले और बिल्व तथा छोटी और बड़ी कटेरी के फूल तथा बिम्बीलोट (भिल्होट या लोध) एवं मजीठ इन सब को समान प्रमाण में लेकर महीन खांड कूट करके मधु तथा ऊख के स्वरस के साथ खरल करके सुखा कर शीशी में भर देवें। रक्ताभिष्यन्द की शान्ति के लिये इस अञ्जन का प्रयोग करना चाहिये ॥ ११-१२ ॥

चन्दनं कुमुदं पत्रं शिलाजतु सकुङ्कुमम् ।
अयस्ताम्ररजस्तुत्थं निम्बनिर्यासमञ्जनम् ॥ १३ ॥
त्रपु कांस्यमलं चापि पिष्ट्वा पुष्परसेन तु ।
विपुला याः कृता वर्त्यः पूजिताश्चाञ्जने सदा ॥ १४ ॥

वर्तिप्रयोग—चन्दन, कुमुद (श्वेत कमल), तेजपात, शिलाजतु, केशर, लोहभस्म, ताम्रभस्म, नीलतुत्थ, निम्ब का निर्यास, रसाञ्जन, त्रपु (पीतल) और कांसे का मल भाग इन सब को समान प्रमाण में लेकर खांड कूट कर चूर्ण बना के प्रथम निम्बनिर्यास के साथ खरल करे पश्चात् पुष्परस अर्थात् शहद के साथ घोट कर विपुल (बड़ी २) अथवा यवाकृति वर्तियां बना के अञ्जन करने से रक्ताभिष्यन्द नष्ट होता है ॥ १३-१४ ॥

विमर्श—तन्त्रान्तर में लेखनादिकर्मानुसार वर्तियों का प्रमाण लिखा है जैसे लेखनकर्म में हरेणुका की आकृति की वर्ति, प्रसादनकर्म की वर्त्ति का प्रमाण डेढ़ हरेणुका तथा रोपणकर्म में वर्ति का प्रमाण द्विगुण होता है—हरेणुमात्रा वर्तिः स्याल्लेखनस्य प्रमाणतः। प्रसादनस्य चाध्यर्धं द्विगुणा रोपणस्य तु ॥

स्यादञ्जनं घृतं क्षौद्रं सिरोत्पातस्य भेषजम् ।
तद्वत्सैन्धवकासीसस्तन्यघृष्टञ्च पूजितम् ॥ १५ ॥

सिरोत्पात चिकित्सा—इस में अञ्जन (रसाञ्जन), घृत और मधु को खरल कर अञ्जन करना चाहिये। इसी प्रकार सैन्धव लवण और कासीस को समान प्रमाण में लेकर चूर्णित करके गोदुग्ध के साथ पीस कर सुखा के अञ्जन करना चाहिये ॥ १५ ॥

मधुना शङ्खनैपालीतुत्थदार्व्यः ससैन्धवाः ।
रसः शिरीषपुष्पाच्च सुरामरिचमाक्षिकैः ।
युक्तन्तु मधुना वाऽपि गैरिकं हितमञ्जनम् ॥ १६ ॥

शङ्ख की नाभि, मनःशिला, नीलतुत्थ, दारुहरिद्रा और सैन्धव लवण इन्हें समान प्रमाण में लेकर खांड कूट के मधु के साथ अञ्जन करने से सिरोत्पात रोग में लाभ होता है। इसी प्रकार सुरा, श्वेतमरिच और माक्षिक (सोनामाखी या शहद) इन्हें शिरीषपुष्प के स्वरस के साथ घोट कर अञ्जन करने से सिरोत्पात रोग नष्ट हो जाता है। इसी तरह स्वर्णगैरिक को मधु के साथ खरल कर अञ्जन करने से लाभ होता है ॥१६॥

सिराहर्षेऽञ्जनं कुर्यात् फाणितं मधुसंयुतम् ।
मधुना तार्क्ष्यजं वाऽपि कासीसं वा ससैन्धवम् ॥१७॥
वेत्राम्लस्तन्यसंयुक्तं फाणितन्तु ससैन्धवम् ॥ १८ ॥

सिराहर्ष-विशेष चिकित्सा—इस रोग में (१) फाणित (राब) को मधु में मिलाकर अञ्जन करना चाहिये। अथवा (२) तार्क्ष्यज (रसाञ्जन) को मधु के साथ मिला कर अञ्जन करे। किंवा (३) कासीस और सैन्धव को मधु के साथ मिश्रित कर अञ्जन करे। अथवा (४) वेत्राम्ल (अम्लबेंत) स्त्रीदुग्ध, राब और सैन्धव लवण को परस्पर खरल कर अञ्जन करना चाहिये ॥ १८ ॥

विमर्श—फाणित-ऊख के रस को कुछ गाढ़ा होने तक पकाने से जो बहुद्रव वस्तु बनती है उसे फाणित कहते हैं—इक्षो रसस्तु यः पक्वः किञ्चिद्गाढो बहुद्रवः। स एवेक्षुविकारेषु ख्यातः फाणितसंज्ञया ॥

पैत्तं विधिमशेषेण कुर्यादर्जुनशान्तये ।
इक्षुक्षौद्रसितास्तन्यदार्वीमधुकसैन्धवैः ॥ १९ ॥
सेकाञ्जनं चात्र हितमम्लैराश्च्योतनं तथा ।
सितामधुककट्वङ्गमस्तुक्षौद्राम्लसैन्धवैः ॥ २० ॥
बीजपूरककोलाम्लदाडिमाम्लैश्च युक्तितः ।
एकशो वा द्विशो वाऽपि योजितं वा त्रिभिस्त्रिभिः ॥२१॥

अर्जुन रोग की शान्ति के लिये पित्ताभिष्यन्द की समग्र चिकित्साविधि का प्रयोग करना चाहिये। इसके अतिरिक्त इस रोग में ऊख, शहद, शर्करा, दुग्ध, दारुहरिद्रा, मुलेठी और सैन्धव लवण इन्हें भलीभांति पीस कर नेत्र का परिषेक तथा अञ्जन करना चाहिये एवं अम्लवर्गोक्त दाडिमादिद्रव्यों के

स्वरस से नेत्रों का आश्च्योतन हितकारक होता है। इसी तरह शर्करा, मुलेठी, श्योनाक (कटूवङ्ग), दही का पानी, शहद, अम्लपदार्थ (काञ्जी), सैन्धवलवण, बिजौरा नीबू का रस, बदरी फल, खट्टे अनार के दाने अथवा उनका रस और अम्ल द्रव्य इनमें से एक-एक या दो-दो अथवा तीन-तीन को युक्तिपूर्वक संयुक्त करके नेत्र का आश्च्योतन करना चाहिये ॥ १९-२१ ॥

स्फटिकं विद्रुमं[1] शङ्खो मधुकं मधु चैव हि।
शङ्खक्षौद्रसितायुक्तः सामुद्रः फेन एव च ॥ २२ ॥
द्वाविमौ विहितौ योगावञ्जनेऽर्जुननाशनौ।
सैन्धवक्षौद्रकतकाः सक्षौद्रं वा रसाञ्जनम् ॥
कासीसं मधुना वाऽपि योज्यमत्राञ्जने सदा ॥ २३ ॥

अर्जुननाशक योगद्वय—(१) स्फटिकमणि, विद्रुम (प्रवाल), शङ्ख की नाभि, मुलेठी और शहद इन्हें परस्पर महीन पीस कर अञ्जन करने से अर्जुन रोग नष्ट होता है। अथवा (२) शङ्ख की नाभि, शहद और शर्करा और समुद्रफेन इनका अञ्जन करने से अर्जुन रोग नष्ट होता है। ये उपर्युक्त दो योग अञ्जन रूप में प्रयुक्त करने से अर्जुन रोग को नष्ट करते हैं। अथवा सैन्धव लवण, शहद, निर्मलीफल इन्हें पीस कर किं वा केवल रसौत को शहद के साथ पीस कर अञ्जन करे। किंवा कासीस को शहद के साथ पीस कर अर्जुन रोग में सदा अञ्जन रूप से प्रयुक्त करना चाहिये ॥ २२-२३ ॥

लोहचूर्णानि सर्वाणि धातवो[2] लवणानि च ॥ २४ ॥
रत्नानि[3] दन्ताः शृङ्गाणि गणश्चाप्यवसादनः।
कुक्कुटाण्डकपालानि लशुनं कटुकत्रयम् ॥ २५ ॥
करञ्जबीजमेला च लेख्याञ्जनमिदं स्मृतम्।
पुटपाकावसानेन रक्तविस्रावणादिना ॥ २६ ॥
सम्पादितस्य विधिना कृत्स्नेन स्यन्दघातिना।
अनेनापहरेच्छुक्रमव्रणं कुशलो भिषक् ॥ २७ ॥

अर्जुननाशक लेख्याञ्जन—लोह (अर्थात् सर्व प्रकार की सुवर्ण, रजत, ताम्र, नाग, वङ्ग आदि एवं अन्य धातुएं जैसे मनःशिला, गन्धक, अभ्रक आदि, तथा सर्व प्रकार के सैन्धव सामुद्र, विड, सौवर्चल, रोमक, लवण, सर्व प्रकार के रत्न जैसे मुक्ता, प्रवाल, माणिक्य, पन्ना, हीरा, पुखराज, वैडूर्य आदि, हस्ती आदि के दांत, गो आदि के सींग, अवसादक गण की ओषधियां जैसे मिश्रकाध्यायोक्त कासीसादिक एवं मुर्गे के अण्डे के छिलके, लहसुन की गिरी, कटुकत्रय (सोंठ, मरिच, पीपल), करञ्ज के बीज, इलायची, इन द्रव्यों को समान प्रमाण में लेकर खांड कूट कर शीशी में भर देवें। इस को 'लेख्याञ्जन' कहते हैं। इस अञ्जन को रक्तविस्रावण से प्रारम्भ कर पुटपाक की क्रिया की समाप्ति तक अभिष्यन्दनाशक सम्पूर्णविधि पूरी करके पश्चात् प्रयुक्त करना चाहिये। कुशल वैद्य इस लेख्याञ्जन से अव्रण शुक्र को भी नष्ट करे ॥ २४-२७ ॥

उत्तानमवगाढं वा कर्कशं वाऽपि सव्रणम्।
शिरीषबीजमरिचपिप्पलीसैन्धवैरपि ॥ २८ ॥
शुक्रस्य घर्षणं कार्य्यमथवा सैन्धवेन तु।
कुर्य्यात्ताम्ररजःशङ्खशिलामरिचसैन्धवैः ॥ २९ ॥
अन्त्याद् द्विगुणितैरेभिरञ्जनं शुक्रनाशनम्।
कुर्य्याद‌ञ्जनयोगौ वा सम्यक्श्लोकार्द्धिकाविमौ ॥ ३० ॥
शङ्खकोलास्थिकतकद्राक्षामधुकमाक्षिकैः।
क्षौद्रदन्तार्णवमलशिरीषकुसुमैरपि ॥ ३१ ॥

सव्रणशुक्र-चिकित्सा—सव्रण शुक्र चाहे, उत्तान (Superficial) हो अथवा अवगाढ (Deep) हो किंवा वह कर्कश भी हो तो उसका शिरीष के बीज, काली मरिच, पिप्पली और सैन्धव इनके समभाग निर्मित चूर्ण से घर्षण करना चाहिये अथवा केवल सैन्धव चूर्ण से घर्षण करना चाहिये। अथवा ताम्र का चूरा, रजत का चूरा, शङ्ख की नाभि, मनःशिला, काली मरिच और सैन्धव लवण इन द्रव्यों को अन्त्य अर्थात् सैन्धव की ओर क्रमशः द्विगुण करते हुये लेकर खांड कूट के चूर्ण बनाकर अञ्जन करने से शुक्ररोग नष्ट होता है। अथवा आधे आधे श्लोक में कहे गये निम्न योगद्वय का प्रयोग करना चाहिये जैसे (१) शङ्ख की नाभि, बेर की गुठली, निर्मलीफल, द्राक्षा, मुलेठी और शहद इन्हें पीस कर अञ्जन बना लें इसी प्रकार (२) शहद, गोदन्त, समुद्रफेन (अर्णवमल) और शिरीष के पुष्प इन्हें महीन पीस कर अञ्जनरूप में प्रयुक्त करें ॥ २८-३१ ॥

क्षाराञ्जनं वा वितरेद्बलासग्रथितापहम्।
मुद्गान् वा निस्तुषान् भृष्टान् शङ्खक्षौद्रसमायुतान् ॥३२॥
मधूकसारं मधुना योजयेच्चाञ्जने सदा।
बिभीतकास्थिमज्जा वा सक्षौद्रः शुक्रनाशनः।
शङ्खशुक्तिमधुद्राक्षामधुकं कतकानि च ॥ ३३ ॥

बलासग्रथित रोग को नष्ट करने वाला क्षाराञ्जन सव्रण-शुक्ररोग में प्रयुक्त करें। अथवा निस्तुष मुद्ग लेकर भाड़ में भुना के चूर्णित कर उनमें शङ्ख की नाभि का महीन चूर्ण तथा शहद मिलाकर अञ्जन करे। अथवा महुए के सार को मधु के

---

१. विशिष्टो द्रुर्वृक्षोऽस्त्यस्येति विद्रुमः प्रवालः 'द्युद्रुभ्यां मः' इति मप्रत्ययः। शङ्खः=कम्बुः। 'भूतादिमिन्द्रियादिं च द्विधाऽहङ्कारमीश्वरः। बिभर्ति शङ्खरूपेण शार्ङ्गरूपेण च स्थितम् ॥' इति विष्णुपुराणम्। प्रसङ्गाद् श्रीदेवीभागवताद्युक्तं शङ्खोत्पत्यादिकमुच्यते—'अस्थिभिः शङ्खचूडस्य शङ्खजातिर्बभूव ह। नानाप्रकाररूपेण शश्वत् पूता सुरार्चने ॥ प्रशस्तं शङ्खतोयं च देवानां प्रीतिदं परम्। तीर्थतोयस्वरूपं च पवित्रं शम्भुना विना ॥ शङ्खशब्दो भवेद्यत्र तत्र लक्ष्मीः सुसंस्थिरा। स स्नातः सर्वतीर्थेषु यः स्नातः शङ्खवारिणा ॥ शङ्खो हरेरधिष्ठानं यतः शङ्खस्ततो हरिः। तत्रैव वसते लक्ष्मीर्दूरीभूतममङ्गलम् ॥ स्त्रीणां च शङ्खध्वनिभिः शूद्राणां च विशेषतः। भीता रुष्टा याति लक्ष्मीः स्थलमन्यत् स्थलात्ततः ॥' इति।

२. धातवः—'सुवर्णरूप्यताम्राणि हरितालं मनःशिला। गैरिकाञ्जनकासीससीसलोहाः सहिङ्गुलाः। गन्धकोऽभ्रकमित्याद्या धातवो गिरिसम्भवाः ॥' इति।

३. रत्नानि—'वज्रं गारुत्मतं पुष्पं रागो माणिक्यमेव च इन्द्रनीलञ्च गोमेदस्तथा वैदूर्यमित्यपि। मौक्तिकं विद्रुमश्चेति रत्नान्युक्तानि वै नव ॥' इति।

साथ खरल कर सदा अञ्जन के लिये प्रयुक्त करे। अथवा बहेड़े के फल की मज्जा को महीन पीसकर शहद के साथ खरल करके अञ्जन करने से शुक्ररोग नष्ट हो जाता है शङ्ख की नाभि शुक्ति, शहद, द्राक्ष, मुलेठी, निर्मलीफल इन सबों को यथा विधि महीन पीस कर अञ्जन करने से भी शुक्र रोग नष्ट होता है ॥३२-३३॥

विमर्श—क्षाराञ्जन-श्लेष्माभिष्यन्दरोगनाशक प्रकरण में 'नीलान् यवान् गव्यपयोऽनुपीनान्' इत्यादि श्लोक द्वारा कहे गये क्षाराञ्जन का प्रयोग करना चाहिये।

द्वित्वग्गते सशूले वा वातघ्नं तर्पणं हितम् ॥ ३४ ॥
वंशजारुष्करौ तालं नारिकेलञ्च दाहयेत्।
विस्राव्य क्षारयेच्चूर्णं भावयेत्करभास्थिजम् ॥
बहुशोऽञ्जनमेतत्स्याच्छुक्रवैवर्ण्यनाशनम् ॥ ३५ ॥

द्वित्वग्गत अर्थात् द्वितीय पटलाश्रित शुक्ररोग में शूल होता हो तो उसे नष्ट करने के लिये वातनाशक पदार्थों के स्वरस या क्वाथ से तर्पण करना चाहिये।

शुक्रवैवर्ण्य नाशन के लिये बांस के अङ्कुर, शुद्ध भल्लातक, ताड़ और नारिकेल इन्हें तिलनाल के साथ जला कर भस्म कर ले। फिर दूसरे दिन इन भस्म को षड्गुण अथवा अष्टगुण पानी में घोल कर अनेक (इक्कीस) बार छान के क्वाथ कर चौथाई शेष रहने पर छान लेवे। फिर इस क्वाथ से हस्ती के बच्चे की अस्थि की भस्म को सात दिन तक अच्छी प्रकार घोट कर सुखा के शीशी में भर देवें। इस अञ्जन को आंखों में आंजने से शुक्रवैवर्ण्य नष्ट होता है ॥ ३४-३५ ॥

विमर्शः—मधुलिप्त शलाका को इस आञ्जन में डुबो कर फिर नेत्र में जहां शुक्र हो वहां घर्षण करते हुए लगा दे। कुछ देर के बाद नेत्र को त्रिफला क्वाथ से धो लेना चाहिये। इस अञ्जन से शुक्ररोग की सफेदी नष्ट होकर वहां कृष्णता उत्पन्न हो जाती है।

अजकां पार्श्वतो विद्ध्वा सूच्या विस्राव्य चोदकम् ॥३६॥
व्रणं गोमांसचूर्णेन पूरयेत् सर्पिषा सह।
बहुशोऽवलिखेच्चापि वर्त्मास्योपगतं यदि ॥ ३७ ॥

अजकाजात रोग में—सूई से पार्श्व में वेधन करके पानी को निकाल देवे तथा व्रण में गोमांस को गोघृत के साथ मिला कर भर देवे। यदि इस अजकाजातरोग में नेत्रवर्त्म कुछ उठा हुआ सा हो गया हो तो अनेक बार शस्त्र द्वारा उसका लेखन कर देना चाहिये ॥ ३६-३७ ॥

विमर्शः—इस रोग को Anterior staphyloma कहते हैं तथा कृष्णमण्डल में व्रण बन कर वह ठीक होकर वहां व्रण वस्तु बन जाती है जो कि निर्बल होती है। यदि यह नेत्रगोलक के भीतरी अवयवों (सजलद्रव, दृष्टिमणि और सान्द्रद्रव) के भार को सहन करने में असमर्थ हो तो वह बाहर की ओर उभरता है तथा इस उभरे हुये भाग में तारामण्डल (Iris), दृष्टिमणि आदि अवयव फंस जाते हैं।

चिकित्सा—यदि अंश अपूर्ण हो अर्थात् कृष्णमण्डल का कुछ भाग पारदर्शक तथा स्वस्थ हो तो उस स्थान पर तारामण्डल के आंशिक छेदन (Iridectomy) करके चिकित्सा करनी चाहिये। इस क्रिया से दृष्टिशक्ति बढ़ती है और नेत्रान्तर्गत दबाव कुछ कम हो जाता है। यदि बहिर्निःसरण पूर्ण हो तथा साथ में वेदना तथा दृष्टिशक्ति का पूर्णनाश हो गया हो तो उसे काट देना चाहिये या नेत्रगोलक को ही निकाल देना चाहिये। 'अजकां पार्श्वतो विद्ध्वा' इस रूप में किया गया सुश्रुतोक्त वर्णन पाश्चात्य चिकित्सा से मिलता हुआ ही है। अजका के निकले हुये भाग को एक सूई के द्वारा वेधन करने से (Aquous humour) का स्राव होकर नेत्रान्तर्गत भार कम हो के अंश का भाग यथास्थान बैठ जाता है। गोमांस और घृत का पूरण व्रण के रोपण के लिये किया जाता है। तन्त्रान्तरों में कहा है कि यदि अजका-शमन पूर्णरूप से न हो तो निकले हुए भाग को स्वर्णशलाका से जला देना चाहिये—सर्वथाऽनुपशान्तान्तु दहेत् स्वर्णशलाकया। अजकां पार्श्वतो विद्ध्वा ततो रन्ध्रं समाचरेत् ॥

सशोफश्चाप्यशोफश्च द्वौ पाकौ यौ प्रकीर्त्तितौ।
स्नेहस्वेदोपपन्नस्य तत्र विद्ध्वा सिरां भिषक् ॥
सेकाश्च्योतननस्यानि पुटपाकांश्च कारयेत् ॥ ३८ ॥

नेत्रपाक चिकित्सा—पूर्व अध्यायों में सशोफ नेत्रपाक तथा अशोफनेत्रपाक ये जो दो रोग कहे गये हैं उनमें वैद्य प्रथम रोगी को स्नेहन तथा स्वेदन करा के सिरावेध द्वारा अशुद्ध रक्त का मोक्षण कर देना चाहिये। इसके अनन्तर वहां सेक, आश्च्योतन, नस्य और पुटपाक का प्रयोग करना चाहिये ॥३८॥

सर्वतश्चापि शुद्धस्य कर्त्तव्यमिदमञ्जनम् ॥ ३९ ॥
ताम्रपात्रस्थितं मासं सर्पिः सैन्धवसंयुतम्।
मैरेयं वाऽपि दध्येवं दध्युत्तरकमेव वा ॥ ४० ॥

नेत्रपाकहर अञ्जन—जिस रोगी का सर्वप्रकार से शोधनकर्म कर दिया हो अर्थात् वमन और शिरोविरेचन से ऊर्ध्व संशोधन तथा विरेचन से अधःसंशोधन कर दिया हो उसके नेत्रों में निम्न अञ्जन लगाना चाहिये। अञ्जनविधि—एक ताम्र के पात्र में घृत तथा सैन्धव लवण मिश्रित कर भर देवे तथा एक मास पर्यन्त ढक के रख देवे। अथवा मैरेय (सुरा तथा आसव का एकत्र सन्धित कर बनाया हुआ भाग) किंवा दही या दही के ऊपर की मलाई या दही का पानी इन्हें एक मास तक ताम्रपात्र में भर कर रखें। इस तरह महीना भर बाद उस पात्र और द्रव को खरल में पीसकर अञ्जन कर ले। अच्छा हो कि ताम्रपात्र अत्यन्त पतले पत्र का हो अथवा ताम्र के चूरे को उक्त तरल द्रव्यों में एक मास तक भिगोकर रख के खरल कर अञ्जन कर ले। इससे नेत्रपाक रोग नष्ट हो जाता है ॥ ३९-४० ॥

घृतं कांस्यमलोपेतं स्तन्यं वाऽपि ससैन्धवम्।
मधूकसारं मधुना तुल्यांशं गैरिकेण वा ॥
सर्पिः सैन्धवताम्राणि योषित्स्तन्ययुतानि वा ॥ ४१ ॥

घृत तथा कांसे के मैल को महीन खरल कर अञ्जन बना लेवे अथवा सैन्धवलवण को दुग्ध के साथ घोटकर अञ्जन बना ले और नेत्रपाक में अञ्जन करे। किंवा महुए का सार या मुलेठी सत्त्व तथा स्वर्णगैरिक दोनों को समान प्रमाण में लेकर मधु के साथ खरल करके अञ्जन करने से नेत्रपाक रोग

नष्ट हो जाता है। इसी प्रकार घृत, सैन्धवलवण और ताम्र-भस्म इन्हें स्त्रीदुग्ध (या गोदुग्ध) के साथ खरल कर अञ्जन करे ॥ ४१ ॥

दाडिमारेवताश्मन्तकोलाम्लैश्च ससैन्धवाम् ।
रसक्रियां वा वितरेत्सम्यक्पाकजिघांसया ॥ ४२ ॥

नेत्रपाक में रसक्रिया—अनार, आरेवत (अमलतास का गिरी), अश्मन्त (अम्लोटक), कोल (बेर), काञ्जी और सैन्धवलवण इन्हें पीस कर पानी में उबाल के चतुर्थांशावशेष क्वाथ कर छान के रसक्रिया कर ले। इसके नेत्र में लगाने से नेत्रपाक नष्ट होता है ॥ ४२ ॥

मासं सैन्धवसंयुक्तं स्थितं सर्पिषि नागरम् ।
आश्च्योतनाञ्जनं योज्यमबलाक्षीरसंयुतम् ॥ ४३ ॥

नेत्रपाक में आश्च्योतन—सैन्धवलवण तथा सोंठ दोनों के चूर्ण को घृत में मिलाकर एक मास तक रख देवे फिर उसे स्त्री-दुग्ध के साथ मिलाकर आश्च्योतन तथा अञ्जन करने से नेत्रपाक नष्ट हो जाता है ॥ ४३ ॥

जात्याः पुष्पं सैन्धवं शृङ्गवेरं
कृष्णाबीजं कीटशत्रोश्च सारम् ।
एतत् पिष्टं नेत्रपाकेऽञ्जनार्थं
क्षौद्रोपेतं निर्विशङ्कं प्रयोज्यम् ॥ ४४ ॥

जातीपुष्पाञ्जन—चमेली के फूल, सैन्धवलवण, शृङ्गबेर (आर्द्रक), कृष्णाबीज (पिप्पली के बीज), कीटशत्रु का सार (वायविडङ्ग) इन्हें समान प्रमाण में लेकर महीन चूर्णित करके शहद के साथ खरल करके नेत्रपाक रोग में निःशङ्क होकर प्रयोग करना चाहिये ॥ ४४ ॥

पूयालसे शोणितमोक्षणञ्च
हितं तथैवाप्युपनाहनञ्च ।
कृत्स्नो विधिश्चेक्षणपाकघाती
यथाविधानं भिषजा प्रयोज्यः ॥ ४५ ॥

पूयालस रोग में—रक्तमोक्षण और उपनाह दोनों के करने से हितसाधन होता है। इनके सिवाय नेत्रपाक की नाशक सम्पूर्ण विधि जैसे अन्तःशुद्धि तथा बाह्यशुद्धि करने वाली शास्त्रानुसार क्रिया करनी चाहिये ॥ ४५ ॥

कासीससिन्धुप्रभवार्द्रकैस्तु
हितं भवेदञ्जनमेव चात्र ।
क्षौद्रान्वितैरेभिरथोपयुञ्ज्या-
दन्यत्तु ताम्रायसचूर्णयुक्तैः ॥ ४६ ॥

कासीसादि रसक्रियाञ्जन—कासीस, सैन्धवलवण और अद्रक इन्हें शहद के साथ अच्छी प्रकार खरल करके पूयालस में अञ्जन करे। अथवा इन्हीं उक्त द्रव्यों में ताम्र और लौह का बारीक चूर्ण या भस्म मिलाकर शहद के साथ खरल करके पूयालस में अञ्जन करे ॥ ४६ ॥

स्नेहादिभिः सम्यगपास्य दोषां-
स्तृप्तिं विधायाथ यथास्वमेव ।
प्रक्लिन्नवर्त्मानमुपक्रमेत
सेकाञ्जनाश्च्योतननस्यधूमैः ॥ ४७ ॥

प्रक्लिन्नवर्त्म रोग में—प्रथम स्नेहन, स्वेदन, विरेचन, शिरोविरेचन और रक्तमोक्षण प्रभृति उपायों द्वारा शरीर का अन्तः तथा बाह्य संशोधन करके शरीर के दोषों का नाश कर यथादोष तर्पणादि क्रिया कर के पश्चात् सेक, अञ्जन, आश्च्योतन, नस्य और धूमपान आदि उपायों द्वारा चिकित्सा करनी चाहिये ॥ ४७ ॥

मुस्ताहरिद्रामधुकप्रियङ्गु-
सिद्धार्थरोध्रोत्पलसारिवाभिः ।
क्षुण्णाभिराश्च्योतनमेव कार्य्यं-
मत्राञ्जनं काञ्चनमाक्षिकं स्यात् ॥ ४८ ॥

आश्च्योतन—नागरमोथा, हलदी, मुलेठी, प्रियङ्गु, सरसों, लोध, कमल और सारिवा इन्हें खांड कूट कर वर्षा जल अथवा साधारण जल में रात भर भिगो कर रख दें। दूसरे दिन उस पानी को छान कर उससे आश्च्योतन करना चाहिये। पश्चात् स्रोतोञ्जन और शहद दोनों को खरल कर अञ्जन लगावे ॥ ४८ ॥

पत्रं फलञ्चामलकस्य पक्त्वा
क्रियां विदध्यादथवाऽञ्जनार्थे ।
वंशस्य मूलेन रसक्रियां वा
वर्त्तीकृतां ताम्रकपालपक्वाम् ॥ ४९ ॥

आंवले के पत्ते तथा फल दोनों को ५ तोले भर लेकर ४० तोले पानी में पका के अष्टमांश शेष रहने पर छान के पुनः ताम्रपात्र में पकाकर रसक्रिया (घनवर्ति) बना ले। अथवा बांस की जड़ को कषायकल्पनानुसार पका कर ताम्रपात्र में रसक्रिया करके वर्ति बना लेवें। इसका अञ्जन करने से प्रक्लिन्नवर्त्मरोग नष्ट होता है ॥ ४९ ॥

रसक्रियां वा त्रिफलाविपक्वां
पलाशपुष्पैः खरमञ्जरेर्वा ।
पिष्ट्वा छगल्याः पयसा मलं वा
कांसस्य दग्ध्वा सह तान्तवेन ॥ ५० ॥

अथवा त्रिफला का क्वाथ कर ताम्रपात्र में रसक्रिया करके वर्ति बना ले। किंवा पलास के पुष्प अथवा अपामार्ग का क्वाथ कर ताम्रकटाह में रसक्रिया कर वर्ति बना लें। अथवा कांसे के मल को कार्पास के वस्त्र के साथ जलाकर बकरी के दुग्ध के साथ पीस के अञ्जन करना चाहिये ॥ ५० ॥

प्रत्यञ्जनं तन्मरिचैरुपेतं चूर्णेन ताम्रस्य सहोपयोज्यम् ॥

उपर्युक्त कांस्य-मलादि से निर्मित अञ्जन को मरिच चूर्ण तथा ताम्र के चूर्ण या भस्म के साथ संयुक्त कर गुलाब जल या पानी के साथ खरल करके प्रत्यञ्जन करना चाहिये ॥ ५१ ॥

समुद्रफेनं लवणोत्तमञ्च
शङ्खोऽथ मुद्गो मरिचञ्च शुक्लम् ।
चूर्णाञ्जनं जाड्यमथापि कण्डू-
मक्लिन्नवर्त्मान्युपहन्ति शीघ्रम् ॥ ५२ ॥

प्रक्लिन्नवर्त्मन्यपि चैत एव
　　योगाः प्रयोज्याश्च समीक्ष्य दोषम् ।
सकज्जलं ताम्रघटे च घृष्टं
　　सर्पिर्युतं तुत्थकमञ्जनं च ॥ ५३ ॥

इति सुश्रुतसंहितायामुत्तरतन्त्रान्तर्गते शालाक्यतन्त्रे रक्ताभिष्यन्दप्रतिषेधो नाम द्वादशोऽध्यायः ॥१२॥

अक्लिन्नप्रक्लिन्नवर्त्मरोगाञ्जन —समुद्रफेन, सैन्धवलवण, शङ्खभस्म, मूंग और श्वेत मरिच इन्हें खांड कूट कर छान के चूर्णाञ्जन बना लें। यह चूर्णाञ्जन नेत्रजाड्य, कण्डू और अक्लिन्नवर्त्म को शीघ्र नष्ट करता है। इन्हीं योगों को दोषों के विचारानुसार प्रक्लिन्नवर्त्म में भी प्रयुक्त कर सकते हैं। इसी प्रकार नीलतुत्थ, रसाञ्जन और काजल को ताम्र के पात्र में गुलाबजल या जल के साथ खरल कर सुखा के घृत मिलाकर अञ्जन करने से अक्लिन्नवर्त्म तथा प्रक्लिन्नवर्त्मरोग नष्ट हो जाते हैं ॥ ५२-५३ ॥

इत्यायुर्वेदतत्त्वसंदीपिकाभाषाटीकायामुत्तरतन्त्रे रक्ताभिष्यन्दप्रतिषेधो नाम द्वादशोऽध्यायः ॥ १२ ॥

त्रयोदशोऽध्यायः ।

अथातो लेख्यरोगप्रतिषेधं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥ २ ॥

अब इसके अनन्तर 'लेख्यरोगप्रतिषेधक' अध्याय का वर्णन करते हैं जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने कहा है ॥१-२॥

विमर्शः—छेद्यास्तेषु दशैकश्च नव लेख्याः प्रकीर्तिताः। इस सुश्रुत के वर्णन में प्रथम छेद्यरोगों की संख्या का निर्देश होने से उन्हीं का चिकित्साक्रम लिखना था एवं उनके अनन्तर लेख्य रोगों की चिकित्सा लिखनी थी किन्तु छेद्य आदि रोगों की प्रथमावस्था में लेखनकर्म की ही आवश्यकता होती है अत एव इस क्रम का उल्लंघन करके प्रथम लेख्यरोगप्रतिषेधात्मक अध्याय का आरम्भ किया गया है।

नव येऽभिहिता लेख्याः सामान्यास्तेष्वयं विधिः ।
स्निग्धवान्तविरिक्तस्य निवातातपसद्मनि ॥ ३ ॥
(आप्तैर्दृढं गृहीतस्य वेश्मन्युत्तानशायिनः ॥)
सुखोदकप्रतप्तेन वाससा सुसमाहितः ।
स्वेदयेद्वर्त्म निर्भुज्य वामाङ्गुष्ठाङ्गुलिस्थितम् ॥४॥
अङ्गुल्यङ्गुष्ठकाभ्यान्तु निर्भुग्नं वर्त्म यत्नतः ।
प्लोतान्तराभ्यां न यथा चलति स्रंसतेऽपि वा ॥५॥
ततः प्रमृज्य प्लोतेन वर्त्म शस्त्रपदाङ्कितम् ।
लिखेच्छस्त्रेण पत्रैर्वा ततो रक्ते स्थिते पुनः ॥ ६ ॥
स्विन्नं मनोह्वाकासीसव्योषार्द्राञ्जनसैन्धवैः ।
श्लक्ष्णपिष्टैः समाक्षीकैः प्रतिसार्योष्णवारिणा ॥७॥
प्रक्षाल्य हविषा सिक्तं व्रणवत् समुपाचरेत् ।
स्वेदावपीडप्रभृतींस्त्र्यहादूर्ध्वं प्रयोजयेत् ॥
व्यासतस्ते समुद्दिष्टं विधानं लेख्यकर्मणि ॥ ८ ॥

लेख्यरोग-सामान्य-चिकित्सा—पूर्व में आचार्य सुश्रुत ने नौ प्रकार के लेख्य रोग कहे हैं उनमें सामान्य चिकित्सा-विधि यह है कि रोगी को स्नेहन कराके वमन करावे और वमन के पश्चात् विरेचन देकर झोंके की वायु तथा आतप (धूप) से रहित स्थान (शस्त्रकर्म-भवन) में उत्तान (सीधे) लिटा (शयन करा) के हितचिन्तक सहायकों से मजबूती के साथ हाथ-पैर तथा वक्षो-भाग को नियन्त्रित कराके वाम हस्त के अङ्गुष्ठ और अङ्गुलि के बीच वर्त्म को पकड़ कर उलटा करके सुखोष्ण पानी में प्रतप्त हुये कपड़े (मलमल वस्त्र या गाज) से स्वेदन करना चाहिये। इसके अनन्तर उलटे हुये वर्त्म को वस्त्रान्तरित (मलमल वस्त्र से ढके हुये) अङ्गुली और अङ्गुष्ठ से यत्नपूर्वक पकड़े जिससे वह वर्त्म हिले और छूटे नहीं। पश्चात् उस वर्त्म को प्लोत (कपड़े) से पोंछ कर मण्डलाग्र शस्त्र से प्रच्छान (Scarification चांचवे लगा) कर पुनः मण्डलाग्र शस्त्र से किंवा शेफालिका, गोजिह्वा आदि खुरदरे पत्र से लेखन (Scraping) कर्म करना चाहिये। फिर लेखन द्वारा स्रुत होने वाले रक्त के स्थिर होने पर प्रथम उस वर्त्म का पुनः स्वेदन कर मैनसिल, कासीस, सोंठ, मरिच, पिप्पली, आर्द्राञ्जन (रसाञ्जन), सैन्धव लवण इन्हें अत्यन्त महीन पीस कर शहद मिला के प्रतिसारण कर ५-१० मिनट के पश्चात् मन्दोष्ण पानी से उस वर्त्म का प्रक्षालन कर घृत से सिञ्चित करके व्रण के समान उपचार करे। अर्थात् गाज, रूई आदि रखके पट्टबन्धन कर देवे तथा पुनः शास्त्रनियमानुसार पट्ट खोलना, नेत्र को धोना और दवा लगाना आदि क्रिया करनी चाहिये। किन्तु तीन दिनके बाद नेत्र का स्वेदन, अवपीडन प्रभृति करना चाहिये। इस तरह लेख्यकर्म की विधि का विस्तार से वर्णन कर दिया है ॥ ३-८ ॥

विमर्श—९ लेख्यरोग— उत्सङ्गिनी, बहलवर्त्म, कर्दमवर्त्म, श्याववर्त्म, बद्धवर्त्म, क्लिष्टवर्त्म, पोथकी, कुम्भिका और वर्त्मशर्करा। इस लेखन कर्म के तीन विभाग हैं। (१) पूर्वकर्म (Preparation of the patient) इसमें स्नेहन, वमन, विरेचन, निवातातपस्थान में रोगी का शायन, आप्त पुरुषों द्वारा रोगी का नियन्त्रण, पलक का उलटना, वामाङ्गुष्ठ और अङ्गुली से पकड़ना और उसका स्वेदन करना आदि। इसी क्रम को आचार्य वाग्भट ने भी लिखा है—निवातेऽधिष्ठितस्याप्तैः शुद्धस्योत्तानशायिनः। बहिः कोष्णाम्बुतप्तेन स्वेदितं वर्त्म वाससा। निर्भुज्य वस्त्रान्तरितं वामाङ्गुष्ठाङ्गुलीधृतम्। न स्रंसते चलति वा वर्त्मैवं सर्वतस्ततः॥ इसमें प्रथम वर्त्म को बिना उलटे ही बहिः प्रदेश को स्वेदित करना लिखा है। आजकल उलटे हुये वर्त्म को स्थिर करने के लिये फोरसेप्स का प्रयोग होता है। आप्त आदमियों के द्वारा रोगी का नियन्त्रण करने की भी आवश्यकता नहीं रही है क्योंकि स्थानिक और सार्वदैहिक संज्ञाहारक औषधियों (Local and general anasthetic medicins) का आविष्कार हो गया है इसके लिये नेत्र में कोकेन या नोवेकेन का द्रव भर देने से वहां लेखनादिकर्म में वेदना का अनुभव ही नहीं होने पाता

है। (२) प्रधानकर्म (Main operation) इसमें लेखन कर्म प्रधान है। (३) पश्चात्कर्म (After treatment) इसमें रोगी के आंख पर पट्ट बांधना, संज्ञास्थापन करना, हृदयोत्तेजक औषध देना तथा शस्त्रकर्म स्थान से उसके कमरे में स्ट्रेचर द्वारा ले जाकर सुलाना आदि आते हैं। यहां पर आचार्य सुश्रुत ने लेखन के अनन्तर स्वेदन, मनःशिलादि चूर्ण का प्रतिसारण, उष्ण जल से प्रक्षालन, घृतसे सिञ्चन और व्रणवत्समुपाचरण आदि दिया है यह इस शस्त्रकर्म के पश्चात् का कर्म है। आचार्य वाग्भट ने भी प्रधान और पश्चात्कर्म का निम्न वर्णन किया है—मण्डलाग्रेण तत्तिर्यक् कृत्वा शस्त्रपदाङ्कितम्। लिखेत्तेनैव पत्रैर्वा शाकशेफालिकादिजैः॥ फेनेन तोयराशेर्वा पिचुना प्रस्रुतासृक्। स्थिते रक्ते सुलिखितं सक्षौद्रैः प्रतिसारयेत्॥ आचार्य वाग्भट ने पश्चात् कर्म में सुश्रुतापेक्षया अन्य विशेषताएं लिखी हैं जैसे—घृतेनासिक्तमभ्यक्तं बध्नीयान्मधुसर्पिषा। ऊर्ध्वाधः कर्णयोर्दत्त्वा पिण्डीश्च यवसक्तुभिः॥ द्वितीयेऽहनि मुक्तस्य परिषेकं यथायथम्। कुर्याच्चतुर्थे नस्यादीन् मुञ्चेदेवाह्नि पञ्चमे॥ अर्थात् घृत सेचन के पश्चात् मधु और सर्पि लगा के यवसक्तु कृत पिण्डिकाएं ऊपर-नीचे देकर बन्धन बांधना चाहिये। पुनः दूसरे दिन पट्ट खोल कर नेत्र का परिषेचन करना चाहिये। चौथे दिन नस्यादि प्रयोग करे और पांचवे दिन पट्ट बांधना छोड़ देवे।

असृगास्रावरहितं कण्डूशोफविवर्जितम्।
समं नखनिभं वर्त्म लिखितं सम्यगिष्यते॥ ९॥

सम्यग्लिखितवर्त्मलक्षण—रक्त की स्रुति तथा अन्य प्रकार के स्राव का नहीं होना, कण्डू तथा शोथ का अभाव लिखित स्थान या वर्त्म का अन्य स्थान से समान रहना और नख के समान वर्ण होना ये सम्यग्लिखित वर्त्म के लक्षण हैं॥ ९॥

रक्तमक्षि स्रवेत् रुक्त्रं दत्ताच्छस्त्रकृताद् ध्रुवम्॥१०॥
रागशोफपरिस्रावास्तिमिरं व्याध्यनिर्जयः।
वर्त्म श्यावं गुरु स्तब्धं कण्डूहर्षोपदेहवत्॥ ११॥
नेत्रपाकमुदीर्णं वा कुर्वीताप्रतिकारिणः।
एतद्दुर्लिखितं ज्ञेयं स्नेहयित्वा पुनर्लिखेत्॥ १२॥

दुर्लिखितवर्त्मलक्षण—आंख लाल हो जाती है, शस्त्र द्वारा किये गये क्षत से गाढा रक्त अधिक निकलता है तथा नेत्र में राग (लालिमा) और शोथ हो जाता है, नेत्र से स्राव बहता है, आंखों के सामने तिमिर (अन्धेरा) सा हो जाता है, रोग का शमन नहीं होता है, नेत्रवर्त्म श्याव (काले) रङ्ग का, भारी, स्तब्ध (कड़ा), कण्डुयुक्त, हर्षान्वित तथा उपदेह (कीचड़) व्याप्त हो जाता है। यदि यथोचित चिकित्सा न करे तो उत्कट (तीव्र) नेत्रपाक हो जाता है। ये सब दुर्लिखित वर्त्म के लक्षण हैं। इन लक्षणों के होने पर प्रथम स्नेहन कर्म करके पश्चात् लेखनकर्म करना चाहिये॥१०-१२॥

व्यावर्त्तते यदा वर्त्म पक्ष्म चापि विमुह्यति।
स्यात् सरुक् स्रावबहुलं तदतिस्रावितं विदुः॥
स्नेहस्वेदादिरिष्टः स्यात् क्रमस्तत्रानिलापहः॥१३॥

अतिलिखितवर्त्मलक्षण—यदि पलक उलट जाय तथा पक्ष्म शिथिल हो जाय या टूट जाय, रुजा और स्राव की बहुलता हो जाय उसे अतिलिखित वर्त्म कहा है। इसकी चिकित्सा में स्नेहन, स्वेदन तथा वातनाशक क्रम करना चाहिये॥ १३॥

वर्त्मावबन्धं क्लिष्टञ्च बहलं यच्च कीर्त्तितम्।
पोथकीश्चाप्यवलिखेत् प्रच्छयित्वाऽग्रतः शनैः॥१४॥

वर्त्मावबन्ध, क्लिष्टवर्त्म, बहलवर्त्म और पोथकी इनमें प्रथम प्रच्छान करके पश्चात् वृद्धिपत्रादि शस्त्र से अवलेखन कर्म करना चाहिये॥ १४॥

समं लिखेत्तु मेधावी श्यावकर्दमवर्त्मनी॥ १५॥

श्याववर्त्म और कर्दमवर्त्म में बुद्धिमान् वैद्य न अधिक गहरा तथा न अधिक उथला किन्तु समानरूप से एक बार ही लेखन करना चाहिये॥ १५॥

कुम्भीकिनीं शर्कराञ्च तथैवोत्सङ्गिनीमपि।
कल्पयित्वा तु शस्त्रेण लिखेत् पश्चादतन्द्रितः॥१६॥

छेदनपूर्वकलेखन—कुम्भीकिनी, वर्त्मशर्करा और उत्सङ्गिनी इन्हें प्रथम शस्त्र से काटकर पश्चात् सावधानी से लेखन करना चाहिये॥ १६॥

भवेयुर्वर्त्मसु च याः पिडकाः कठिना भृशम्।
ह्रस्वास्ताम्राश्च ताः पक्वा भिन्द्याद्भिन्ना लिखेदपि॥१७॥

वर्त्म (पलकों) में जो अतिशय कठिन, ह्रस्व तथा ताम्रवर्ण की पिडका हो जाय एवं वह पक जाय तो प्रथम उसका भेदन कर पश्चात् लेखन कर्म करना चाहिये॥ १७॥

विमर्शः—वाग्भट ने-पिडिकाओं के विषय में प्रथम पिडिकाओं का व्रीहिवक्त्र नामक शस्त्र द्वारा भेदन करके पश्चात् निष्पीडन करना चाहिये-ऐसा कहा है। पिडिका व्रीहिवक्त्रेण भित्त्वा तु कठिनोन्नताः। निष्पीडयेदनुविधिः परिशेषस्तु पूर्ववत्॥ (वा० उ० ९)

तरुणीश्चाल्पसंरम्भाः पिडका बाह्यवर्त्मजाः।
विदित्वैताः प्रशमयेत् स्वेदालेपनशोधनैः॥ १८॥

इति सुश्रुतसंहितायामुत्तरतन्त्रान्तर्गते शालाक्यतन्त्रे लेख्यरोगप्रतिषेधो नाम त्रयोदशोऽध्यायः॥१३॥

वर्त्म के बाह्यभाग में उत्पन्न, तरुण (तत्कालोत्थ) एवं अल्प संरम्भ (वेदना, सरसराहट) वाली पिडकाओं को प्रथम भलीभांति समझ कर पश्चात् स्वेदन, आलेप और संशोधन आदि उपायों से देहशुद्धि करके उनका संशमन करना चाहिये॥

इत्यायुर्वेदतत्त्वसंदीपिकाभाषाटीकायामुत्तरतन्त्रे लेख्यरोगप्रतिषेधो नाम त्रयोदशोऽध्यायः॥ १३॥

चतुर्दशोऽध्यायः।

अथातो भेद्यरोगप्रतिषेधं व्याख्यास्यामः॥ १॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः॥ २॥

अब इसके अनन्तर 'भेद्यरोगप्रतिषेध' नामक अध्याय का प्रारम्भ करते हैं। जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने कहा है॥१-२॥

स्वेदयित्वा बिसग्रन्थिं छिद्राण्यस्य निराशयम् ।
पक्वं भित्त्वा तु शस्त्रेण सैन्धवेनावचूर्णयेत् ॥ ३ ॥
कासीसमागधीपुष्पनेपाल्येलायुतेन तु ।
ततः क्षौद्रघृतं दत्त्वा सम्यग्बन्धमथाचरेत् ॥ ४ ॥

बिसग्रन्थि रोग में—प्रथम उसका स्वेदन करके पकी हुई जान कर इसके छेदों का आशय सहित भेदन कर सैन्धव लवण, कासीस, पिप्पली, पुष्पाञ्जन (यशद=जस्ते का फूल), मैनसिल और इलायची इनके महीन चूर्ण का अवचूर्णन (प्रक्षेपण=डस्टिङ्ग) कर पश्चात् शहद और घृत का अवलेपन करके ठीक तरह से बन्धन बांध देना चाहिये ॥ ३-४ ॥

रोचनाक्षारतुत्थानि पिप्पल्यः क्षौद्रमेव च ।
प्रतिसारणमेकैकं भिन्ने लगण इष्यते ॥
महत्यपि च युञ्जीत क्षाराग्नी विधिकोविदः ॥ ५ ॥

लगण रोग में—प्रथम व्रीहिमुख शस्त्र के द्वारा भेदन (Incision) कर देने पर गोरोचना, यवक्षार, नीलतुत्थ, पिप्पली और मधु इनको महीन पीस कर प्रतिसारण कर देवें। इन द्रव्यों में से एक-एक द्रव्य के चूर्ण का भी प्रतिसारण (Dusting) किया जा सकता है। यदि लगण रोग की ग्रन्थि बड़ी हो तो भेदन करके क्षारकर्म तथा अग्निकर्म क्रमशः करना चाहिये। शास्त्रानुसार शस्त्र-पातनादि विधि को जानने वाला वैद्य शस्त्रकर्म, क्षारकर्म तथा अग्निकर्म करे पश्चात् व्रणवत् उपचार करे ॥ ५ ॥

स्विन्नां भिन्नां विनिष्पीड्य भिषगञ्जननामिकाम् ।
शिलैलानतसिन्धूत्थैः सक्षौद्रैः प्रतिसारयेत् ॥ ६ ॥
रसाञ्जनमधुभ्यां तु भित्त्वा वा शस्त्रकर्मवित् ।
प्रतिसार्याञ्जनैर्युञ्ज्यादुष्णैर्दीपशिखोद्भवैः ॥ ७ ॥

अञ्जननामिका को—प्रथम स्वेदित करे तथा उसे स्वयं भेदित जान कर दबा कर पूर्णरूप से पूय निकाल देवे। बाद में मनःशिला, इलायची, तगर, सैन्धव लवण और शहद इनसे प्रतिसारण करे। यदि अञ्जननामिका स्वयं भिन्न न हुई हो तो शस्त्रकर्म का ज्ञाता वैद्य इसका भेदन करके रसाञ्जन तथा मधु का प्रतिसारण कर दीपशिखा से उत्पन्न (पारे हुये) उष्ण अञ्जन को लगावे ॥ ६-७ ॥

सम्यक् स्विन्ने कृमिग्रन्थौ भिन्ने स्यात् प्रतिसारणम् ।
त्रिफलातुत्थकासीससैन्धवैश्च रसक्रिया ॥ ८ ॥

कृमिग्रन्थि रोग में—प्रथम भली प्रकार स्वेदन करने के पश्चात् उसका शस्त्र द्वारा भेदन करना चाहिये। अनन्तर पूयादि को पूर्णरूप से निकाल कर अञ्जननामिकोक्त द्रव्यों का प्रतिसारण करे। इसी प्रकार त्रिफला, नीलतुत्थ, कासीस और सैन्धव लवण इनकी यथाशास्त्र रसक्रिया करके वर्ति बना कर आंखों में लगावे ॥ ८ ॥

भित्त्वोपनाहं कफजं पिप्पलीमधुसैन्धवैः ।
लेखयेन्मण्डलाग्रेण समन्तात् प्रच्छयेदपि ॥ ९ ॥

कफजन्य उपनाह में—शस्त्र द्वारा भेदित कर पिप्पली, मधु और सैन्धव लवण का प्रतिसारण करे। महान् तथा रुजा रहित उपनाह में मण्डलाग्र शस्त्र द्वारा लेखन कर्म करना, रक्तानुबन्धी उपनाह में प्रच्छान (पाछने लगा) कर पश्चात् प्रतिसारणादि कर्म करना चाहिये ॥ ९ ॥

संस्नेह्य पत्रभङ्गैश्च स्वेदयित्वा यथासुखम् ।
आपाकाद्विधिनोक्तेन पञ्चभेद्यानुपाचरेत् ॥ १० ॥
सर्वेष्वेतेषु विहितं विधानं स्नेहपूर्वकम् ।
सम्पक्वे प्रयतो भूत्वा कुर्वीत व्रणरोपणम् ॥ ११ ॥

इति सुश्रुतसंहितायामुत्तरतन्त्रान्तर्गते शालाक्यतन्त्रे भेद्यरोगप्रतिषेधो नाम चतुर्दशोऽध्यायः ॥ १४ ॥

उक्त पांच भेद्य रोगों में—सामान्यतया प्रथम स्नेहन कर्म करके पश्चात् यथासुख सुविधानुसार पत्रभङ्ग अर्थात् निम्बादिपत्र-चूर्ण को पानी में डाल कर उबाल के उसके बफारों से स्वेदनकर्म करना चाहिये। इस तरह पूर्व में कही हुई पाकपर्यन्त विधियों (अपतर्पणादि सामान्य शोथप्रशमनकारकों) से पांच प्रकार के भेद्य रोगों (बिसग्रन्थि लगण, अञ्जननामिका, क्रिमिग्रन्थि और श्लेष्मोपनाह) का संशोधन संशमनादि उपचार करना चाहिये। इन सबमें स्नेहपूर्वक ही विधान (स्नेहन, स्वेदन, रक्तस्राव, विरेचनादि) करना चाहिये। इन क्रियाओं के करते समय या करने के पश्चात् उक्त पञ्चप्रकारक रोगों के पक जाने पर उन्हें शस्त्र द्वारा भेदित (चीर) कर संशोधक कषायों से व्रण का प्रक्षालन कर पश्चात् व्रणरोपणविधि के अनुसार चिकित्सा करनी चाहिये ॥१०-११॥

इत्यायुर्वेदतत्त्वसन्दीपिकाभाषाटीकायामुत्तरतन्त्रे भेद्यरोगप्रतिषेधो नाम चतुर्दशोऽध्यायः ॥ १४ ॥

पञ्चदशोऽध्यायः ।

अथातश्छेद्यरोगप्रतिषेधं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥ २ ॥

अब इसके अनन्तर 'छेद्यरोगप्रतिषेधक' अध्याय का प्रारम्भ करते हैं जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने कहा है ॥१-२॥

विमर्शः—सुश्रुताचार्य ने पूर्व के अष्टमाध्याय में छेद्य रोगों की संख्या ग्यारह लिखी है—'छेद्यास्तेषु दशैकश्च' (सु०उ०अ० ८) जैसे पञ्चविध अर्म, ६ सिराजाल, ७ सिरापिडका, ८ पर्वणिका, ९ अर्श, १० अर्बुद, ११ पक्ष्मकोपादि पक्ष्मरोग।

स्निग्धं भुक्तवतो ह्यन्नमुपविष्टस्य यत्नतः ।
संरोषयेत्तु नयनं भिषक् चूर्णैस्तु लावणैः ॥ ३ ॥

पञ्चविधार्मच्छेदन प्राक्कर्म—प्रथम रोगी को स्निग्ध भोजन कराना चाहिये। अथवा प्रथम रात्रि में स्नेहपान कराके दूसरे दिन भोजन करा कर उसे यत्नपूर्वक बिठावे जिससे उसको कोई बाधा प्रतीत न हो। फिर वैद्य महीन लावणिक चूर्ण को आंख में अञ्जनविधि से लगा कर नेत्र को संरोषित (क्षुभित) करे ॥ ३ ॥

विमर्शः—अर्मच्छेदन के पूर्व रोगी को वमन, विरेचन और शिरोनस्य द्वारा ऊर्ध्वाधः संशोधन किंवा अन्तः और

बहिः परिमार्जन करना चाहिये। दूसरे दिन स्निग्ध भोजन कराना चाहिये। रोगी को बिठाकर अर्मयुक्त प्रदेश पर लावणिक चूर्ण का प्रक्षेपण (Dusting) कराने से अर्मप्रदेश में प्रक्षोभ होकर वह शिथिल हो जाता है। यह अर्मच्छेदन क्रिया में पूर्व कर्म (Preparartion of the Patient) कहा गया है।

ततः संरोषितं तूर्णं सुस्विन्नं परिघट्टितम् ।
अर्म यत्र वलीजातं तत्रैतल्लगयेद्भिषक् ॥ ४ ॥
अपाङ्गं प्रेक्षमाणस्य बडिशेन समाहितः ।
मुचुण्ड्याऽऽदाय मेधावी सूचीसूत्रेण वा पुनः ॥ ५ ॥
न चोत्थापयता क्षिप्रं कार्यमभ्युन्नतं तु तत् ।
शस्त्राबाधभयाच्चास्य वर्त्मनी ग्राहयेद् दृढम् ॥ ६ ॥
ततः प्रशिथिलीभूतं त्रिभिरेव विलम्बितम् ।
उल्लिखन्मण्डलाग्रेण तीक्ष्णेन परिशोधयेत् ॥ ७ ॥
विमुक्तं सर्वतश्चापि कृष्णाच्छुक्लाच्च मण्डलात् ।
नीत्वा कनीनकोपान्तं छिन्द्यान्नातिकनीनकम् ॥ ८ ॥
चतुर्भागस्थिते मांसे नाक्षि व्यापत्तिमृच्छति ।
कनीनकवधादस्रं नाडी वाऽप्युपजायते ॥
हीनच्छेदात् पुनर्वृद्धिं शीघ्रमेवाधिगच्छति ॥ ९ ॥

अर्म का प्रधान कर्म—उक्त लावणिक चूर्ण प्रयोग से संरोषित (प्रक्षुभित=फूले हुये) अर्म प्रदेश का स्वेदन करना चाहिये। स्वेदन के बाद उस स्थान का परिवट्टन (चालन) करना चाहिये। जिस स्थान पर अर्म में वलि (झुर्रियां) पड़ जाय वहां पर बडिश यन्त्र (Hook) लगाना चाहिये। फिर रोगी को अपाङ्ग (Outer canthus) की ओर देखने को कहे तथा वैद्य रोगी के सामने बैठ कर मुचुण्डी (Forceps) से उस फूले हुए अर्म को पकड़ कर ऊँचा उठावे अथवा सूई में डोरा पिरो कर उसे अर्म के नीचे डाल कर ऊपर उठावे। वैद्य अर्म को आहिस्ते से ऊपर उठावे। प्रमादवश शीघ्रता नहीं करे अन्यथा अर्म के टूटने का भय रहता है। रुग्ण के ऊपर तथा अधोभाग के वर्त्म को अच्छी प्रकार दृढ़ता से पकड़ना चाहिये अन्यथा शस्त्रकर्म करते समय शस्त्र चलाने में बाधा होती है अथवा वर्त्म के कटने का भय हो सकता है। इस तरह नेत्र-गोलक से शिथिल हुये अर्म को तीन बडिशों से पकड़ कर कुछ ऊँचा उठा के तीक्ष्ण मण्डलाग्र शस्त्र (Round headed Scalpel) से काट देवे। कृष्णमण्डल तथा शुक्लमण्डल एवं अन्य सर्व भाग से जब यह अर्म मुक्त हो जाय तब उसे कनीनिका की ओर लाकर कनीनिका का अतिक्रमण न करते हुये अर्थात् इसे बचाते हुये काट देवें। अर्म को काटते समय उसका चौथाई मांसल भाग नेत्रगोलक पर लगा रहने देना चाहिये। ऐसा करने से नेत्र में या दर्शन शक्ति में कोई नई व्यापत्ति (उपद्रव) नहीं होती है कनीनक का वध (छेद) होने से अस्र (रक्त) की स्रुति होती है अथवा नेत्रनाडी (नासूर) रोग हो जाता है एवं हीन (अल्प) से पुनः वह अवशिष्ट अर्म शीघ्र बढ़ जाता है ॥ ४-९ ॥

अर्म यज्जालवच्चापि तदप्युन्माज्य लम्बितम् ।
छिन्द्याद्वक्रेण शस्त्रेण वर्त्मशुक्लान्तमाश्रितम् ॥ १० ॥

जो अर्म मत्स्य पकड़ने की जाल के समान नेत्रगोलक पर फैला हुआ हो तथा वर्त्म और शुक्ल प्रदेश के पास तक स्थित हो उसे भी लावणिक चूर्ण प्रक्षेप से प्रक्षुभित कर बडिश या मुचुण्डी से पकड़ कर ऊँचा उठा के मण्डलाग्र शस्त्र से काट देवे ॥ १० ॥

प्रतिसारणमक्ष्णोस्तु ततः कार्यमनन्तरम् ।
यावनालस्य चूर्णेन त्रिकटोर्लवणस्य च ॥ ११ ॥
स्वेदयित्वा ततः पश्चाद् बध्नीयात् कुशलो भिषक् ।
दोषर्तुबलकालज्ञः स्नेहं दत्त्वा यथाहितम् ॥ १२ ॥
व्रणवत् संविधानन्तु तस्य कुर्यादतः परम् ।
त्र्यहान्मुक्त्वा करस्वेदं दत्त्वा शोधनमाचरेत् ॥ १३ ॥

पश्चात्कर्म या प्रतिसारणविधि—अर्म का पूर्णतया छेदन करने के पश्चात् यवक्षार, सोंठ, मरिच, पिप्पली और लवण इनके चूर्ण से नेत्र के छिन्नार्म के स्थान का प्रतिसारण करे। पश्चात् नेत्र का स्वेदन कर कुशल वैद्य वहां पर मुलायम रुई, गाज की कवलिका (पेड) रख कर पट्टबन्धन कर देवे। यहां पर व्रणबन्धन में दोष, ऋतु, रोगी के बल और काल का ज्ञाता वैद्य इनका पूर्ण विचार करता हुआ जैसा हितकारक हो वैसे स्नेह (पित्त में घृत, कफवात में तैल) को लगा कर व्रण के समान उपचार करे। तीन दिन के बाद पट्टी खोल कर हाथों को गरम करके उन्हें रुग्ण के नेत्र पर रख कर स्वेदन करे तथा शोधन-रोपण चिकित्सा करे ॥ ११-१३ ॥

करञ्जबीजामलकमधुकैः साधितं पयः ।
हितमाश्च्योतनं शूले द्विरह्नः क्षौद्रसंयुतम् ॥ १४ ॥

अर्मोपद्रवचिकित्सा—यदि अर्मच्छेदन के पश्चात् नेत्र में शूल होता हो तो करञ्जबीज, आंवला और मुलेठी इनके कल्क और कषाय से सिद्ध किया हुआ दुग्ध लेकर उसमें मधु का प्रक्षेप दे के उससे दिन में दो बार नेत्र का आश्च्योतन करना चाहिये ॥ १४ ॥

मधुकोत्पलकिञ्जल्कदूर्वाकल्कैश्च मूर्द्धनि ।
प्रलेपः सघृतः शीतः क्षीरपिष्टः प्रशस्यते ॥ १५ ॥

शूलहरप्रलेप—उक्त आश्च्योतन के साथ २ मुलेठी, कमल-केशर और दूर्वा इन्हें दुग्ध के साथ पीस कर घृतमिश्रित करके सिर पर या नेत्र पर उससे प्रलेप करने से शूल नष्ट होता है॥

लेख्याञ्जनैरपहरेदर्मशेषं भवेद्यदि ॥ १६ ॥

अर्मशेषचिकित्सा—यदि अर्म का कुछ भाग बच जाय तो उसे लेख्य अञ्जन लगा कर नष्ट करना चाहिये ॥ १६ ॥

विमर्शः—रक्ताभिष्यन्दचिकित्सा प्रकरण में 'लोहचूर्णानि सर्वाणि धातवो लवणानि च' इस प्रकार कहे हुये लेख्याञ्जन का प्रयोग करना चाहिये।

अर्म चाल्पं दधिनिभं नीलं रक्तमथापि वा ।
धूसरं तनु यच्चापि शुक्रवत् तदुपाचरेत् ॥ १७ ॥

अर्म में शुक्रचिकित्सा—जो अर्म छोटा, वर्ण में दही के समान श्वेत अथवा नीला या लाल हो किंवा धूसर वर्ण (मट-मैला) हो एवं पतले स्तर का हो उसकी शुक्र की भांति चिकित्सा करनी चाहिये ॥ १७ ॥

विमर्शः—दधिनिभ अर्म शुक्लार्म, नील वर्ण का प्रस्तारि तथा लाल वर्ण का लोहितार्म है। वाग्भट ने भी अर्म के अन्दर शुक्रचिकित्सा का निर्देश किया है—अर्मोक्तं पञ्चधा तत्तु तत्तु धूमाविलञ्च यत्। रक्तं दधिनिभं यच्च शुक्रवत्तस्य भेषजम्॥

चर्मार्म बहलं यत्तु स्नायुमांसघनावृतम्।
छेद्यमेव तदर्म स्यात् कृष्णमण्डलगञ्च यत् ॥१८॥

जो अर्म चर्म के समान मोटा तथा स्नायु और मांस के घने (अधिक) भाग से आवृत (घेरा हुआ) हो एवं जो अर्म कृष्णमण्डल तक पहुंच गया हो उस अर्म का अवश्य ही छेदन करे ॥ १८ ॥

विशुद्धवर्णमक्लिष्टं क्रियास्वक्षि गतक्लमम्।
छिन्नेऽर्मणि भवेत् सम्यग्यथास्वमनुपद्रवम् ॥१९॥

सम्यक् छिन्नार्मलक्षण—अर्म के ठीक तरह से छेदन होनेपर नेत्रगोलक का वर्ण विशुद्ध (स्वाभाविक) हो जाता है, नेत्र अपनी सङ्कोच, प्रसार तथा अवलोकनादि क्रियाओं में क्लेश (पीडा) रहित हो जाता है। नेत्र की ग्लानि (म्लानता) दूर हो जाती है। एवं अन्य शूल, शोथ—पाकादि उपद्रव उत्पन्न नहीं होते हैं ॥ १९ ॥

विमर्शः—अर्म को टेरिजियम (Pterygium) कहते हैं। आचार्य सुश्रुत ने इसके पांच भेद किये हैं किन्तु प्रतीच्य शालाक्य ग्रन्थों में इसके कोई विशेष भेद नहीं माने हैं। प्राचीन आचार्यकृत पांचों भेद इसी टेरिजियम में समाविष्ट हो जाते हैं किंवा इस रोग की अवस्था-विशेष कही जा सकती है। नेत्रश्लेष्मावरण की एक पतली झिल्ली जैसी बढ़ने वाली विकृति जो अधिकतर वर्ण में लाल होती हो तथा आकार त्रिकोण सी हो उसे 'अर्म' कहते हैं। इसका प्रारम्भ शुक्लभाग की परिधि के आगे से होता है तथा श्लेष्मावरण पर लालरङ्ग का त्रिकोणाकार भाग सा दिखाई देता है। This is a peculiar encroachment of the conjunctiva on the cornea. It is traingular in shape। यह प्रायः नासा Inner canthus) की ओर होता है। दोहरा होने पर अपाङ्ग (outer canthus) की ओर भी हो सकता है। यह प्रायः एक ही नेत्र में होता है, कभी-कभी दोनों नेत्रों में भी देखा जाता है। जब तक यह अर्म कृष्णमण्डल के मध्य तक नहीं पहुंचता तब तक प्रायः दर्शनशक्ति में कोई बाधा नहीं होती है किन्तु आगे बढ़ कर कृष्ण मण्डल के मध्य तक पहुंच जाने पर प्रायः दर्शनक्रिया बन्द हो जाती है। ऐसी स्थिति में शस्त्रकर्म करके अर्म को निकाल देने पर पूर्ववत् दर्शनक्रिया प्रारम्भ हो जाती है। वर्तमान में निम्न प्रकार से अर्म का शस्त्रकर्म किया जाता है—प्रथम दिन रुग्ण को विरेचन देकर दूसरे दिन रोगी को ऑप्रेशन टेबिल पर लिटाकर नेत्र को खोल के पारद के विलयन से अथवा बोरिक विलयन से प्रक्षालन कर विशोधन कर ले। पश्चात् नेत्र में कोकेन का २५% के प्रवाही तरल की पांच-पांच मिनिट पर दो बार कुछ बूंदें छोड़ कर स्थानिक संज्ञाशून्यता कर लेनी चाहिये। फिर बडिशयन्त्र (Hook) को शुक्लमण्डल की परिधि से कुछ दूरी पर अर्म के नीचे से निकालने का प्रयत्न करना चाहिये। यन्त्र को नीचे-ऊपर ले जाकर इस प्रकार निकाले कि अर्म का भाग ऊपर उठ आवे और यह यन्त्र सहायक को दे देवें। पश्चात् मुक्त हुये अर्म के भाग को संदंश से पकड़ कर शेष भाग को नेत्रगोलक पर से मुक्त कर दें तत्पश्चात् निम्न दो पद्धतियों में से किसी एक के द्वारा शस्त्रकर्म करना चाहिये। (१) अर्म को बिल्कुल नेत्रगोलक के कोण (अपाङ्ग या कनीनिका) तक मुक्त करके त्रिकोणाकार में काट लेवे। पश्चात् इस प्रकार काटने से नेत्रश्लेष्मावरण के मुक्त हुये दोनों भागों का सन्धान एक दो टांकों से करे। (२) दूसरी पद्धति यह है कि कृष्ण मण्डल की परिधि के आगे के अर्म के हिस्से में से सूई के दो तागे निकाल कर उससे अर्म को दृढ बांध दे। इससे चार-पांच दिनों में अपने-आप अर्म गिर जायगा।

परिणाम—अर्म शुक्ल भाग के मध्य में न हो तो शस्त्रक्रिया से दृष्टि साफ हो जाती है किन्तु मध्य में हो जाने से दृष्टि न्यून रह जाती है। शस्त्रक्रिया के बाद शुक्ल भाग पर कुछ श्वेत दाग प्रायः रह जाता है।

पश्चात्कर्म (After treatment)—शस्त्र कर्म के पश्चात् नेत्रों को धोकर ऊपर गाज, रुई रख कर पट्टबन्धन कर देना चाहिये। २४ घण्टे के बाद पट्टी खोल कर नेत्र को धो के खुला ही रहने दे। कुछ दिनों तक नेत्र में लाली रहती है फिर वह धीरे-धीरे कम होती जाती है। नेत्र में चिपचिपा या पूयसदृश स्राव हो तो Zinc sulphate या Argyrol के बूंद डालने चाहिये। इस प्रकार दोनों क्रियाओं के देखने पर आयुर्वेद और एलोपेथी की शस्त्रक्रियाओं में विशेष अन्तर प्रतीत नहीं होता है।

सिराजाले सिरा यास्तु कठिनास्ताश्च बुद्धिमान्।
उल्लिखेन्मण्डलाग्रेण बडिशेनावलम्बिताः ॥ २० ॥

सिराजालचिकित्सा—सिराजाल रोग में जो सिराएं कठिन या मोटी-मोटी हों उन्हें बडिश से पकड़ के ऊपर उठा कर मण्डलाग्रशस्त्र से काट देनी चाहिये ॥ २० ॥

विमर्शः—सिराजाल को नेत्र-बाह्यपटल-शोथ (Scleritis) कह सकते हैं। यह दो प्रकार का होता है (१) उत्तान-प्रदाह (Episclerttis) तथा (२) गम्भीरशोथ (Deep scleritis)। कारण—यह रोग आमवात, वातरक्त, फिरङ्ग, क्षय और गण्डमाला के उपद्रव स्वरूप में होता है। लक्षण इसमें नेत्रश्लेष्मावरण के नीचे कृष्णाभ रक्त या नीलाभ रक्त का दाग हो जाता है तथा उस स्थान का श्लेष्मावरण भी लाल हो जाता है। नेत्र से स्राव प्रायः नहीं निकलता, वेदना भी अल्प होती है। एक बार ठीक हो जाने पर पुनः आक्रमण होने की प्रवृत्ति होती है। इस तरह वर्षों तक यह रोग विद्यमान रहता है। इससे नेत्र को कोई विशिष्ट हानि नहीं होती है। चिकित्सा भी कारणानुसार की जाती है। सिराओं का छेदन कर लेख्याञ्जनों का प्रतिसारण करना चाहिये।

सिरासु पिडका जाता या न सिध्यन्ति भेषजैः।
अर्मवन्मण्डलाग्रेण तासां छेदनमिष्यते ॥ २१ ॥

सिरापिडिकाचिकित्सा—सिराओं में उत्पन्न पिडकायें यदि औषधोपचार से ठीक न होती हों तो उनका अर्म के समान मण्डलाग्रशस्त्र से छेदन कर देना चाहिये ॥ २१ ॥

विमर्शः—यह नेत्र-बाह्यपटल का गम्भीर शोथ (Deep-scleritis) है। कृष्णमण्डल के समीप नेत्र के शुक्ल भाग में श्वेत रङ्ग की पिड़काएं निकलती हैं जो सिराओं से आवृत रहती हैं। कुछ लोगों ने इसकी तुलना Phlyctenular conjunctivitis से की है जो कि लक्षणदृष्ट्या ठीक है किन्तु चिकित्सादृष्ट्या असङ्गत है क्योंकि फ्लीक्टीनुलर कञ्जक्टीवाईटिस औषधसाध्य रोग है और यह सिराजपिडका औषधसाध्य बिल्कुल नहीं है अपितु शस्त्रकर्मसाध्य रोग है अत एव इसे नेत्रबाह्यपटलशोथ (Episcleritis) का ही कोई भेद मानना चाहिये। आधुनिक ग्रन्थों में Deep scleritis के बाद की अवस्था में शुक्लमण्डल के भाग पर एकाधिक ग्रन्थियां दीख पड़ती हैं जो वर्ण में श्वेत होती हैं किन्तु नीचे के मध्यपटल के कृष्ण होने के कारण कुछ श्याम भासती हैं।

रोगयोश्चैतयोः कार्यमर्मोक्तं प्रतिसारणम्।
विधिश्चापि यथादोषं लेखनद्रव्यसम्भृतः॥ २२॥

सिराजाल और सिरापिडका रोग में अर्मोक्त औषधियों का प्रतिसारण करना चाहिये तथा दोषानुसार वाताभिष्यन्द आदि में कही विधि को लेखनद्रव्यों के साथ प्रयुक्त करनी चाहिये॥ २२॥

विमर्शः—अर्मोक्तविधानम्—'यावनालस्य चूर्णेन त्रिकटोर्लवणस्य च' में यवक्षार तथा त्रिकटु चूर्ण का प्रतिसारण करें। विधिश्चापि—आचार्य वाग्भट ने भी रक्ताभिष्यन्द के समान विधि का निर्देश किया है—'रक्तस्यन्दवदुत्पातहर्षजालार्जुने क्रिया'

सन्धौ संस्वेद्य शस्त्रेण पर्वणीकां विचक्षणः।
उत्तरे च त्रिभागे च बडिशेनावलम्बिताम्॥ २३॥
छिन्द्यात् ततोऽर्द्धमग्रे स्यादश्रुनाडी ह्यतोऽन्यथा।
प्रतिसारणमत्रापि सैन्धवक्षौद्रमिष्यते॥
लेखनीयानि चूर्णानि व्याधिशेषस्य भेषजम्॥ २४॥

पर्वणिकाचिकित्सा—चतुर वैद्य इस रोग में प्रथम कृष्ण तथा शुक्लभाग के सन्धिप्रदेश में स्वेदन करे पश्चात् बडिश के द्वारा आगे वाले तृतीयांश भाग (उपरितनभागत्रितय) को पकड़कर खींच के रखे फिर अग्रभाग के आधे भाग को शस्त्र से काट देवे। अधिक काटने पर अश्रुनाडी होने का भय रहता है। रोग का जो भाग शेष रह गया हो उस पर सैन्धव लवण और मधु के द्वारा प्रतिसारण करना चाहिये तथा यदि फिर भी व्याधि शेष रह जाय तो अनेक लेखनीय चूर्णों का अञ्जन या प्रतिसारण कर चिकित्सा करनी चाहिये॥ २३-२४॥

विमर्शः—पर्वणिका और अलजी ये दोनों कृष्ण और शुक्लमण्डल की सन्धि में उत्पन्न होने वाले रोग हैं। सन्धिप्रदेश पर एक रक्तवर्ण का पतला वृत्ताकृति शोफ होता है उसे 'पर्वणिका' कहते हैं। यदि यह शोफ पतला न होकर मोटा हो तो उसे 'अलजी' कह सकते हैं। पर्वणी रक्त-विकृति से उत्पन्न तथा साध्य मानी गई है किन्तु अलजी सन्निपातज व असाध्य होती है। इनमें तीव्रदाह, शूल तथा लालिमा ये विशिष्ट लक्षण होते हैं। निश्चित नामकरण के लिये स्थान (Sclero corneal Junction), लक्षणतीव्रता (Acute pain and redness) तथा आकृति वृत्तशोफ (Ringform or disciform, or Rodent) तथा साध्यासाध्यता (पर्वणी साध्य तथा अलजी असाध्य) की दृष्टि से विचार करने पर इसे कृष्णमण्डल की परिधि पर उत्पन्न व्रण या शोफ (Marginal Ulcers of cornea or keretitis marginalis) कह सकते हैं। वर्तमान प्रतीच्य शालाक्य ग्रन्थों में कृष्णमण्डल शोथ (Keretitis) के अनेक भेद पाये जाते हैं उनमें परिधि के भाग में होने वाले उत्तानपरिधि का क्षत (Keretitis marginalis superficialis) तथा गम्भीर परिधि का क्षत (Keretitis marginalis profunda) तथा चक्राकृति क्षत (Disciform keretitis) सुश्रुत के उक्त रोगों से समता रखते हैं। ये सभी कृच्छ्रसाध्य रोग हैं तथा अधिक बढ़ी हुई अवस्था में उपद्रव युक्त (जलमय द्रव के खण्ड में पूयोत्पादन Hypopyon) होकर चिकित्सा में असाध्य हो जाते हैं जिससे पर्वणी की दशा तक साध्य तथा अलजी की स्थिति में पहुंचने पर असाध्य हो जाते हैं। पर्वणिका शस्त्रसाध्य मानी गई है अतः उसकी मुख्य चिकित्सा अर्म के समान छेदन कर्म है। आचार्य वाग्भट ने भी यही चिकित्सा लिखी है—पर्वणीं बडिशेनात्ता बाह्यसन्धित्रिभागतः। वृद्धिपत्रेण वर्ध्याऽर्धे स्यादश्रुगतिरन्यथा। चिकित्सा चार्मवत् क्षौद्रसैन्धवप्रतिसारिता। (वा. उ. ११)

शङ्खं समुद्रफेनञ्च मण्डूकीञ्च समुद्रजाम्।
स्फटिकं कुरुविन्दञ्च प्रवालाश्मन्तकन्तथा॥ २५॥
वैदूर्य्य(१) पुलकं मुक्तामयस्ताम्ररजांसि च।
समभागानि सम्पिष्य सार्द्धं स्रोतोऽञ्जनेन तु॥ २६॥
चूर्णाञ्जनं कारयित्वा भाजने मेषशृङ्गजे।
संस्थाप्योभयतः कालमञ्जयेत् सततं बुधः॥ २७॥
अर्माणि पिडकां हन्यात् सिराजालानि तेन वै॥२८॥

अर्मपिडका-सिराजालादिहर शङ्खाद्यञ्जन—शङ्ख की नाभि, समुद्रफेन, समुद्र की मछली, स्फटिक, कुरुविन्द (पद्मरागमणि), प्रवाल, अश्मन्तक (मणिविशेष), वैदूर्य, पुलक (स्फटिक), मुक्ता, लौह, ताम्र इनके चूर्ण या भस्म प्रत्येक बराबर-बराबर तथा सबके समान शुद्ध स्रोतोऽञ्जन लेकर सबको महीन खरल करके मेष (भेड़) के शृङ्ग से बने पात्र अथवा शीशी में भरकर सुरक्षित रख देवे पश्चात् दोनों समय सुबह-शाम आंखों में सदा अञ्जन करना चाहिये। इसका अञ्जन करने से सर्व प्रकार के (पांचों) अर्म, सिरापिडका, सिराजाल आदि रोग नष्ट हो जाते हैं॥ २५-२८॥

विमर्शः—कुछ टीकाकारों ने पुलक शब्द से स्फटिक

---

१. वैदूर्यं=बिडालनेत्रसदृशम्। अस्य लक्षणमुक्तम्—'एकं वेणुपलाशकोमलरुचा मायूरकण्ठत्विषा, मार्जारेक्षणपिङ्गलच्छविजुषा ज्ञेयं त्रिधाच्छायया। यद् गात्रं गुरुतां दधाति नितरां स्निग्धं तु दोषोज्झितं, वैदूर्यं विशदं वदन्ति सुधियः स्वच्छञ्च तच्छोभनम्॥' इति। प्रसङ्गात् कुलक्षणं बोध्यम्—'विच्छायं मृच्छिलागर्भं लघु रूक्षं च सक्षतम्। सत्रासं परुषं कृष्णं वैदूर्यं दूरतस्त्यजेत्॥' इति। तत्परीक्षा तु—'घृष्टं यदात्मना स्वच्छं स्वच्छायां निकषाश्मनि। स्फुटं प्रदर्शयेदेतद्वैदूर्यं जात्यमुच्यते॥' इति। विशेषो गारुडे युक्तिकल्पतरौ द्रष्टव्यः।

अर्थ का ग्रहण किया है जो कि स्फटिक नाम से प्रथम आ जाने से द्विगुण लेना होगा। अन्य टीकाकारों ने 'वैडूर्यं पुलकम्' इस जगह वैडूर्योपलकम्' ऐसा पाठ मानकर एक ही वैडूर्य पत्थर (उपलक) ग्रहण किया है। मेषशृङ्ग से कुछ टीकाकारों ने इङ्गुदी के भेद को ग्रहण कर तन्निर्मितपात्र का उल्लेख किया है। अन्य टीकाकारों ने मेषविषाणरचित पात्र अर्थ किया है। आजकल तो काचपात्र ही सर्वत्र औषधरक्षार्थं प्रयुक्त होते हैं।

अर्शस्तथा यच्च नाम्ना शुष्कार्शोऽर्बुदमेव च।
अभ्यन्तरं वर्त्मशया विधानं तेषु वक्ष्यते ॥ २९ ॥

वर्त्मार्श आदि की चिकित्सा—वर्त्मार्श, शुष्कार्श, अर्बुद तथा वर्त्म के आभ्यन्तर के आश्रय में होने वाले रोगों में चिकित्सा का विधान बताते हैं ॥ २९ ॥

वर्त्मोपस्वेद्य निर्भुज्य सूच्योत्क्षिप्य प्रयत्नतः।
मण्डलाग्रेण तीक्ष्णेन मूले भिन्द्याद्भिषग्वरः ॥ ३० ॥
ततः सैन्धवकासीसकृष्णाभिः प्रतिसारयेत्।
स्थिते च रुधिरे वर्त्म दहेत् सम्यक् शलाकया ॥३१॥
क्षारेणावलिखेच्चापि व्याधिशेषो भवेद्यदि।
तीक्ष्णैरुभयतो भागैस्ततो दोषमधिक्षिपेत् ॥ ३२ ॥
वितरेच्च यथादोषमभिष्यन्दक्रियाविधिम्।
शस्त्रकर्मण्युपरते मासञ्च स्यात् सुयन्त्रितः ॥ ३३ ॥
इति सुश्रुतसंहितायामुत्तरतन्त्रान्वर्गते शालाक्यतन्त्रे छेद्यरोगप्रतिषेधो नाम पञ्चदशोऽध्यायः ॥ १५ ॥

वर्त्माश्रय अर्श, अर्बुद आदि रोग का छेदन करने के पूर्व सर्वप्रथम वर्त्म का स्वेदन कर उसे अङ्गुली और अङ्गुष्ठ से पकड़ कर उलट (उत्तान) कर सूची के अग्रभाग से उस अर्श या अर्बुद को मूल भाग में पकड़ कर ऊपर उठा के तीक्ष्ण मण्डलाग्र शस्त्र से काट देवें। इसके अनन्तर सैन्धव लवण, कासीस और पिप्पली के चूर्ण का प्रतिसारण करना चाहिये। रक्तस्रुति के बन्द हो जाने पर वर्त्म के रोगग्रस्त भाग को शलाका के द्वारा जला देना चाहिये। इतने पर भी व्याधि का कुछ अंश शेष रह जाय तो वहां पर किसी क्षार का प्रतिसारण करके अवलेखन करे। इसके अतिरिक्त दोषों के निर्हरण के लिये तीक्ष्ण वमन और विरेचन देकर उभय मार्ग द्वारा शरीर का ऊर्ध्व तथा अधः संशोधन करना चाहिये एवं यथादोषानुसार अभिष्यन्दोक्त चिकित्साविधि का प्रयोग करना चाहिये। शस्त्रकर्म के पश्चात् एक मास तक नियमानुसार आहार-विहार करना चाहिये ॥ ३०-३३ ॥

विमर्शः—आचार्य वाग्भट ने भी रोगशेषावस्था में वर्त्म को उलट कर उसकी जिस बलि (सिलवट) में दोष हो उस स्थान को जलाना तथा वहां के अधिक पक्ष्म (बाल) हों उन्हें सन्दंश से पकड़ कर उखाड़ के उस स्थान का भी दाह कर देना लिखा है—दहेदशान्तौ निर्भुज्य वर्त्मदोषाश्रयां वलीम्। सन्दंशेनाधिकं पक्ष्म हृत्वा तत्स्थाश्रयं दहेत् ॥ (वा. उ. ९७)

इत्यायुर्वेदतत्त्वसंदीपिकाभाषाटीकायामुत्तरतन्त्रे छेद्यरोगप्रतिषेधो नाम पञ्चदशोऽध्यायः ॥ १५ ॥

षोडशोऽध्यायः।

अथातः पक्ष्मकोपप्रतिषेधं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥ २ ॥

अब इसके अनन्तर 'पक्ष्मकोपप्रतिषेधक' अध्याय का व्याख्यान करते हैं जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने कहा है ॥

विमर्शः—वर्त्म (Lid) गत लोम (बाल) की माला को पक्ष्म (Eye lashes) कहते हैं तथा उसके प्रकोप के प्रतिषेध का अध्याय पक्ष्मकोपप्रतिषेधाध्याय कहलाता है। पक्ष्मकोप रोग में बालों का छेदन किया जाता है अत एव उचित तो यह था कि पूर्व के छेद्य-रोगाध्याय में इसका वर्णन कर देते किन्तु पक्ष्मकोप रोग में छेदन के सिवाय क्षारकर्म और अग्निकर्म भी किया जाता है तथा यह रोग याप्य भी है अत एव इसका पृथक् अध्याय लिखना ही उचित था।

याप्यस्तु यो वर्त्मभवो विकारः
पक्ष्मप्रकोपोऽभिहितः पुरस्तात्।
तत्रोपविष्टस्य नरस्य चर्म
वर्त्मोपरिष्टादनुतिर्यगेव ॥ ३ ॥
भ्रुवोरधस्तात् परिमुच्य भागौ
पक्ष्माश्रितं चैकमतोऽवकृन्तेत्।
कनीनिकाऽपाङ्गसमं समन्ताद्
यवाकृतिं स्निग्धतनोर्नरस्य ॥ ४ ॥
उत्कृत्य शस्त्रेण यवप्रमाणं
बालेन सीव्येद्भिषगप्रमत्तः।
दत्त्वा च सर्पिर्मधुनाऽवशेषं
कुर्याद्विधानं विहितं व्रणे यत् ॥ ५ ॥
ललाटदेशे च निबद्धपट्टं
प्राक्स्यूतमत्राप्यपरञ्च बद्ध्वा।
स्थैर्यं गते चाप्यथ शस्त्रमार्गे
बालान् विमुञ्चेत् कुशलोऽभिवीक्ष्य ॥ ६ ॥

पक्ष्मकोपशस्त्रकर्मविधि—वर्त्म प्रदेश में होने वाला पक्ष्मप्रकोप नामक विकार पूर्व के अध्याय में वर्णित किया गया है तथा उसे 'याप्य' माना है उस पक्ष्मकोप रोग में प्रथम रोगी को स्नेहपान कराके बैठाकर या उत्तान शयन कराके नेत्रों को बन्द करने को कह दे पश्चात् इस शस्त्रकर्म में वर्त्म के ऊपर तथा भ्रू के नीचे अनुतिर्यक् रूप से भ्रू के नीचे के वर्त्म के दो भाग तथा पक्ष्म के पास के वर्त्म का एक भाग छोड़कर कनीनिका तथा अपाङ्ग के मध्य (समान प्रदेश) में सब तरह से (समन्ततः) अर्थात् उपपक्ष्म माला के परिमाण में वर्त्म के ऊपर यव के आकार का चर्म का भाग काट कर निकाल देना चाहिये। इसके अनन्तर घोड़े के बाल से सावधानी रखते हुये सीवन कर्म कर देना चाहिये। फिर शहद और घृत उस स्थान पर लगा के व्रण के समान शेष चिकित्सा करें। ललाट प्रदेश में एक पट्ट बांध कर सी देवे और इसके साथ नेत्र के सीवन सूत्र के सहित आंख की पट्टी को मिला कर सी देनी चाहिये। शस्त्रकर्म किये हुये स्थान के स्थिर (कठिन या रोपित) हो

जाने पर वैद्य सीवन कर्म के टांकों को तोड़ कर चोड़े के उन खोये हुये बालों को चिमटे से पकड़ कर निकाल देवे ॥ ३-६ ॥

विमर्शः—आचार्य वाग्भट ने इस शस्त्रकर्म का अच्छा वर्णन किया है जैसे प्रथम रुग्ण के देह का संशोधन पश्चात् यथाशास्त्र यवाकृति छेदन, आर्द्र वस्त्र से स्रुति होने वाले रक्त को पोंछना पश्चात् रक्त बन्द होने पर कुटिल सूची से एक-एक मूंग के प्रमाण की दूरी पर टांके लगाना फिर ललाट पर पट्ट बांध कर उस पट्ट में सीवन सूत्र को सी देना चाहिये तथा नेत्र पर पट्ट नहीं बांधना चाहिये। सीवन प्रदेश पर शहद और घृत की कवलिका (फाहा) रखनी चाहिये। यदि सीवन प्रदेश पर पीड़ा प्रतीत हो तो न्यग्रोधादि क्षीरी वृक्षों की छाल के क्वाथ में दुग्ध मिला कर सुहाता-सुहाता मन्दोष्ण सेक या उसकी धारा गिराते हुये सेचन करना चाहिये। पांचवे दिन चोड़े के बालों के टांके तोड़ कर गैरिक चूर्ण का उस स्थान पर प्रक्षेपण (Dusting) करना चाहिये। ये वाग्भट की विशेषताएँ हैं—'पक्ष्मरोधे प्रवृद्धेषु शुद्धदेहस्य रोमसु न उत्सृज्य द्वौ भ्रुवोऽधस्ताद् भागौ भागं च पक्ष्मतः। यवमात्रं यवाकारं तिर्यक् छित्त्वाऽऽर्द्रवाससा। अपनेयमसृक् तस्मिन्नल्पीभवति शोणिते। सीव्येत् कुटिलया सूच्या मुद्गमात्रान्तरैः पदैः॥ बद्ध्वा ललाटे पट्टं च तत्र सीवनसूत्रकम्। नातिगाढश्लथं सूच्या निक्षिपेदथ योजयेत्॥ मधुसर्पिः कवलिकां न चास्मिन् बन्धमाचरेत्। न्यग्रोधादिकषायैश्च सक्षीरैः सेचयेद्रुजि॥ पञ्चमे दिवसे सूत्रमपनीयावचूर्णयेत्। गैरिकेण व्रणं शुष्यात्तीक्ष्णं नस्याञ्जनादि च॥'

एवं न चेच्छाम्यति तस्य वर्त्म
निर्भुज्य दोषोपहतां वलिञ्च।
ततोऽग्निना वा प्रतिसारयेत्तां
क्षारेण वा सम्यगवेक्ष्य धीरः॥ ७॥

पक्ष्मकोप में अग्निक्षारविधान—यदि उक्त शस्त्र क्रिया से उस रोगी का रोग (पक्ष्मकोप) शान्त न होता हो तो उसके वर्त्म को उलट कर दोषयुक्त वलि को अग्नि या क्षारकर्म के द्वारा प्रतिसारण करना चाहिये। कुशल वैद्य ठीक तरह से रोग तथा दोष-बलादि का विचार करके अग्नि या क्षारकर्म करे ॥७॥

विमर्शः—योगरत्नाकर में—पक्ष्मकोप रोग में नेत्र को बचाते हुये तप्त लौहशलाका के द्वारा पक्ष्म को दग्ध कर देना चाहिये। ऐसा करने से फिर कभी भी रोगोत्पत्ति नहीं होती है। अथवा पुष्पकासीस के चूर्ण को तुलसी के स्वरस में भावित करके ताम्रपात्र में दस दिनों तक रखे पश्चात् उसका अञ्जन करना चाहिये—रक्षन्नक्षि दहेत्पक्ष्म तप्तलौहशलाकया। पक्ष्मकोपे पुनर्नैवं कदाचिद्रोगसम्भवः॥ पुष्पकासीसचूर्णन्तु सुरसारसभावितम्। ताम्रे दशाहं तद् योज्यं पक्ष्मशातनलेपनम्॥

छित्त्वा समं वाऽप्युपपक्ष्ममालां
सम्यग् गृहीत्वा बडिशैस्त्रिभिस्तु।
पथ्याफलेन प्रतिसारयेत्तु
घृष्टेन वा तौवरकेण सम्यक्॥ ८॥

उपपक्ष्ममालाछेदन—यदि उपर्युक्त शस्त्र, क्षार अथवा अग्निकर्म से भी पक्ष्मकोप का शमन न हुआ हो तो उपपक्ष्ममाला अर्थात् बालों की जो नई पंक्ति पैदा हुई हो उसे तीन बडिशों के द्वारा भली प्रकार पकड़ कर काट के निकाल देवें। पश्चात् हरीतकी फल अथवा तौवरक फल को पानी में घिस कर उससे सम्यक्तया प्रतिसारण कर देना चाहिये॥ ८॥

विमर्शः—उपपक्ष्ममाला अर्थात् पक्ष्म के समीप ही दूसरी बालों की पंक्ति निकल आती है उसे उपपक्ष्ममाला या परवाल कहते हैं। इसके लक्षण अन्यत्र निम्न कहे हैं—विकृत हुये वातादि दोष पक्ष्म के आशय (उत्पत्ति स्थान या वर्त्म किनारे Lid margins) के भीतरी वली में जाकर पक्ष्म को खर तथा तीक्ष्ण अग्रभाग युक्त कर देते हैं तथा उन पक्ष्मों की नेत्रगोलक पर रगड़ लगने से नेत्र में पीडा होती है—दोषाः पक्ष्माशयगतास्तीक्ष्णाग्राणि खराणि च। निर्वर्तयन्ति पक्ष्माणि तैर्घृष्टं चाक्षि दूयते॥ तुवरक फल—आचार्य सुश्रुत ने मधुमेह चिकित्सा प्रकरण में तुवरक फल परिचय में लिखा है कि—पश्चिमी समुद्र भूमि में तुवरक वृक्ष होते हैं उनके फल वर्षाकाल में ग्रहण करें—वृक्षास्तुवरका ये स्युः पश्चिमार्णवभूमिषु। वीचीतरङ्गविक्षेप-मारुतोद्धूतपल्लवाः॥ तेषां फलानि गृह्णीयात् सुपक्वान्यम्बुदागमे॥

चत्वार एते विधयो विहन्तुं पक्ष्मोपरोधं पृथगेव शस्ताः।
विरेचनाश्च्योतनधूमनस्य-लेपाञ्जनस्नेहरसक्रियाश्च॥

इति सुश्रुतसंहितायामुत्तरतन्त्रान्तर्गते शालाक्यतन्त्रे
पक्ष्मगतरोगप्रतिषेधो नाम षोडशोऽध्यायः॥१६॥

पक्ष्मकोपचिकित्सोपसंहार—पक्ष्मकोप को नष्ट करने के लिये ये उक्त चार (शस्त्रकर्म, अग्निकर्म, क्षारकर्म और भेषज-कर्म) विधियां पृथक् पृथक् प्रशस्त हैं। इनके सिवाय विरेचन, आश्च्योतन, धूम, नस्य, लेप, अञ्जन, स्नेहपान और रसक्रिया तथा चकार से उपपक्ष्म का उत्पाटन इन्हें यथादोष प्रयुक्त करें॥ ९॥

विमर्शः—पक्ष्मकोप को लोकभाषा में परवाल कहते हैं। इस रोग में पक्ष्मधारा (Lid margin) पर पक्ष्म (बरोनी= Eye leshes) के अतिरिक्त बाल उग आते हैं। सम्भवतः इसी हेतु से सुश्रुताचार्य ने उपपक्ष्ममाला नाम दिया है। स्वाभाविक पक्ष्म के बालों की दिशा ऊपर और बाहर की ओर होती है किन्तु पक्ष्मकोप के नये आये बालों की दिशा गोलक की ओर होती है और वे बार बार उस पर रगड़ खाते हैं जिससे कृष्णमण्डल (Cornea) पर घर्षण करते हैं इससे जलस्राव, कृष्णमण्डल में व्रण और सफेदी आदि हो जाते हैं। नये बालों की एक पंक्ति निकले तो Distriohiasis तथा एक से अधिक पंक्तियां हों तो उसे Trichiasis कहते हैं। परवाल के लक्षण Entropion में भी मिलते हैं किन्तु उसमें नई पक्ष्ममाला न निकल कर जो स्वाभाविक पक्ष्म होते हैं उनकी स्थिति (दिशा) पलट जाती है (निर्वर्तयन्ति पक्ष्माणि)। अर्थात् पलक के भीतर की ओर मुड़ जाने से बाल नेत्रगोलक पर गड़ते हैं जिससे पक्ष्मकोप के समान ही लक्षण उत्पन्न होते हैं। इसी तरह जब पलक बाहर की ओर मुड़ता है तो उसे Ectropion कहते हैं।

चिकित्सा—पाश्चात्य नेत्ररोगों के ग्रन्थों में पक्ष्मकोप की चिकित्सा में तीन क्रियाओं का वर्णन है। (१) उपपक्ष्मो-

त्पाटन (Epilation of cilia) (२) विद्युद्दहन (Electrolysis) (३) शस्त्रकर्म।

प्रथम—उपपक्ष्मोत्पाटन में पक्ष्मोत्पाटन सन्दंश (Cilia forceps) से बालों को पकड़ कर खींच लिया जाता है। प्रति दो या तीन सप्ताह बाद यह क्रिया करानी पड़ती है क्योंकि इस क्रिया में रोग सदा के लिये नष्ट नहीं होता है।

द्वितीय—विद्युद्दहन क्रिया में चिमटी से बालों को निकाल कर उनके मूलों को विद्युत्धारा के द्वारा जला दिया जाता है। इससे बालों की पुनरुत्पत्ति नहीं होती।

तृतीय—शस्त्रकर्म के अनेक प्रकार हैं। ट्रेकियासिस में आर्टजेरी नामक वैज्ञानिक की शस्त्रक्रिया लाभप्रद है। इसमें वर्त्म के ऊपर की त्वचा काट कर उपपक्ष्मपंक्ति को ऊपर कर देते हैं। Entropion के लिये अनेक शस्त्रकर्म लिखे गये हैं—(१) Snellens suture—स्नेलन की सीवन, (२) Gallardi's suture—गेइलार्डे की सीवन, (३) Excision of horizontal Strip of the skin—वर्त्म की बाह्य त्वचा का छेदन, (४) Hotz's operation—इस शस्त्रक्रिया में वर्त्मगत कोमलास्थि में त्रिकोणाकार टुकड़े का छेदन (काट) कर निकाल लिया जाता है। (५) Panna's operation for entropion, (६) Ewings operation for entropion, (७) Macheck blask Veize operation, (८) Van milligun technic, (९) Excision of the tarsus—जिन रोगियों में चिरकालिक रोहे हों और वर्त्म या कोमलास्थि बहुत टेढी मेढी-हो गई हो तथा पक्ष्मकोप की अवस्था उपस्थित हो तो उनमें यह क्रिया की जाती है, (१०) Galvano cautery punctures · विद्युद्दाहक यन्त्र से छिद्र। इन शस्त्रकर्मों से सुश्रुतोक्त प्रथमकर्म का सादृश्य बहुत कुछ ट्रेकियासिस में व्यवहृत होने वाले पूर्वोक्त चार शस्त्रकर्मों के साथ है। जिनमें वर्त्म की केवल बाह्यत्वचा का छेदन (Excision of the Horizontal strip of the skin) किया जाता है। सुश्रुत में वर्णित दूसरे शस्त्रकर्म का सादृश्य जिसमें वर्त्म को पूरी लम्बाई में द्विधा विभजन करके उपपक्ष्ममाला वाले भाग को बडिशों से पकड़ कर काट देने का विधान है। वर्तमान वर्त्मतरुणास्थि छेदन (Excision of tarsus) से है। इसका संक्षिप्त उल्लेख निम्न है—वर्त्म और नेत्र को विशोधित कर चेतनाहीन करना। फिर वर्त्म को उलट कर किनारे से दो मिलीमीटर ऊपर की तरफ नेत्रश्लेष्मावरण में एक भेदन (Incision) करना। यह भेदन एक सिरे से दूसरे सिरे तक लम्बा होना चाहिये। इसके द्वारा नेत्रश्लेष्मावरण और कोमलास्थि कटती है। मांसपेशियों को क्षति नहीं पहुंचनी चाहिये। पश्चात् कोमलास्थि को मांसपेशी से अलग करना चाहिये फिर वर्त्मगत कोमलास्थि के साथ श्लेष्मावरण भाग को काट कर निकाल देना चाहिये। तत्पश्चात् एक सुई जो एक सूत्र के दोनों सिरे पर पिरोई हो उनमें में एक सुई को नेत्रश्लेष्मावरण और नेत्रोन्मीलनी पेशी के भीतर से प्रवेश करा के बाहर निकालना चाहिये। भेदन के बीच में एक टांका तथा दोनों सिरे पर दो टांके देवें। इस प्रकार टांके लगाते हुये सूत्र के दोनों सिरों को स्वच्छ तौलिये पर रखते जांय। तीनों टांके लग जाने पर पलक को सीधा कर देने से वह नैसर्गिक स्थिति में आ जाता है। सूत्र में पिरोई हुई दो सुईयों में से एक सुई से मांसपेशी और वर्त्मगतत्वचा का वेधन करके पलक से बाहर निकाले। उसी सूत्र के नीचे की सुई को कुछ नीचे के हिस्से में प्रवेश करा कर पलकधारा के कुछ ऊपर में बाहर निकाले। इस तरह तीनों टांकों अर्थात् ६ सूईयों को थोड़े-थोड़े अन्तर से बाहर निकालें फिर सूत्र में गांठ लगाकर टांकों को सी देवें। टांकों से त्वचा न कट जाय इस लिये टांकों के बीच गाज के टुकड़े को गोल लपेट कर रखें। शस्त्रकर्म समाप्ति के बाद मर्क्युरोक्रोम की बूंदों का आश्च्योतन करना चाहिये। फिर प्लोत और कवलिका रखकर व्रण का बन्धन करें। छः दिन पर टांकों को काट देवें।

इत्यायुर्वेदतत्त्वसंदीपिकाभाषाटीकायामुत्तरतन्त्रे पक्ष्मगतरोगप्रतिषेधो नाम षोडशोऽध्यायः॥ १६॥

सप्तदशोऽध्यायः।

अथातो दृष्टिगतरोगप्रतिषेधं व्याख्यास्यामः॥ १॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः॥ २॥

अब इसके अनन्तर 'दृष्टिगतरोगप्रतिषेधक' अध्याय का व्याख्यान करते हैं जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने कहा है॥

त्रयः साध्यास्त्रयोऽसाध्या याप्याः षट् च भवन्ति हि।
तत्रैकस्य प्रतीकारः कीर्त्तितो धूमदर्शिनः॥ ३॥

दृष्टिगत रोगों में तीन रोग (धूमदर्शी, पित्तविदग्धदृष्टि और श्लेष्मविदग्ध दृष्टि) साध्य कहे गये हैं तथा तीन रोग (ह्रस्वजाड्य, नकुलान्ध्य और गम्भीरिका) असाध्य होते हैं। इसी प्रकार छः रोग (अरुणादि काच) याप्य होते हैं। इनमें से एक धूमदर्शी रोग का प्रतीकार पित्ताभिष्यन्द में कह दिया है॥ ३॥

दृष्टौ पित्तविदग्धायां विदग्धायां कफेन च।
पित्तश्लेष्महरं कुर्याद् विधिं शस्त्रक्षतादृते॥ ४॥

पित्तश्लेष्मविदग्धदृष्टिचिकित्सा—पित्त के द्वारा दृष्टि के विदग्ध (विकृत) होने पर पित्ताभिष्यन्दनाशक तथा कफ के दृष्टि के विदग्ध होने पर कफाभिष्यन्दहर चिकित्सा करनी चाहिये किन्तु इन रोगों में शस्त्रक्षत (सिरावेध) नहीं करना चाहिये। ४॥

नस्यसेकाञ्जनालेपपुटपाकैः सतर्पणैः।
आद्ये तु त्रैफलं पेयं सर्पिस्त्रैवृतमुत्तरे॥
तैल्वकं चोभयोः पथ्यं केवलं जीर्णमेव वा॥ ५॥

पित्तविदग्धदृष्टि में पित्ताभिष्यन्दहारक (उस प्रकरण में कहे हुये) नस्य, सेक, अञ्जन, आलेप, पुटपाक और तर्पण तथा श्लेष्मविदग्ध दृष्टि में श्लेष्माभिष्यन्दहारक ही नस्यादि तर्पणान्त विधियों का प्रयोग करना चाहिये। इनके सिवाय आद्य अर्थात् पित्तविदग्धदृष्टि रोग में त्रिफलाघृत का पान तथा उत्तर अर्थात् श्लेष्मदृष्टि रोग में त्रिवृतादि घृत का पान करना चाहिये। अथा उक्त दोनों रोगों में तैल्वक घृत का पान करना पथ्यकारक है। यदि उक्त घृत न मिल सके तो केवल पुराणघृत का ही सेवन करावे। ५॥

गैरिकं सैन्धवं कृष्णा गोदन्तस्य मसी तथा।
गोमांसं मरिचं बीजं शिरीषस्य मनःशिला ॥ ६ ॥
वृन्तं कपित्थान्मधुना स्वयङ्गुप्ताफलानि च।
चत्वार एते योगाः स्युरुभयोरञ्जने हिताः ॥ ७ ॥

दोनों रोगों में गैरिकादि चार अञ्जन-अत्यन्त हितकारक हैं जैसे (१) गेरु सैन्धवलवण, पिप्पली और गोदन्त की भस्म। (२) गोमांस, श्वेत या काली मरिच, शिरीष के बीज तथा मैनसिल। (३) कपित्थ के कोमल पत्तों के सहित वृन्त (डंठल) के चूर्ण या राख को मधु के साथ अथवा (४) स्वयङ्गुप्ता (कौंच) के फल के चूर्णाञ्जन को मधु के साथ खरल कर लगावे ॥६-७॥

कुब्जकाशोकशालाम्रप्रियङ्गुनलिनोत्पलैः।
पुष्पैर्हरेणुकृष्णाह्वापथ्याऽऽमलकसंयुतैः ॥ ८ ॥
सर्पिर्मधुयुतैश्चूर्णैर्वेणुनाड्यामवस्थितैः।
अञ्जयेद् द्वावपि भिषक् पित्तश्लेष्मविभावितौ ॥ ९ ॥

कुब्जकाद्यञ्जन—कुब्जक (सेवतीपुष्पका भेद), अशोक, शाल, आम, प्रियङ्गु, नलिन (किञ्चिद्रक्त कमल), उत्पल (नील कमल), इनके पुष्प तथा रेणुका (नेगड़ के बीज), पिप्पली, पथ्या (हरड़) और आंवले इन सब का चूर्ण बना कर बांस की भोंगली में रख देवें पश्चात् घृत और शहद में मिलाकर पित्त और श्लेष्म दोनों दोष से उत्पन्न विदग्धदृष्टि रोग में अञ्जन करने से वे रोग नष्ट हो जाते हैं ॥ ८-९ ॥

विमर्शः—नरसिंह पुराण में लिखा है कि चम्पे के एक सौ पुष्पों की अपेक्षा एक अशोक पुष्प, तथा एक हजार अशोक पुष्पों से एक सेवती (गुलाब) पुष्प एवं एक हजार सेवती पुष्पों से एक कुब्जक पुष्प श्रेष्ठ होता है—चम्पकात्पुष्पशतकादशोकं पुष्पमुत्तमम्। अशोकात्पुष्पसाहस्रात्सेवतीपुष्पमुत्तमम्॥ सेवतीपुष्पसाहस्रात् कुब्जकं पुष्पमुत्तमम्॥

आम्रजम्बूद्भवं पुष्पं तद्रसेन हरेणुकाम्।
पिष्ट्वा क्षौद्राज्यसंयुक्तं प्रयोज्यमथवाऽञ्जनम् ॥ १० ॥
नलिनोत्पलकिञ्जल्कगैरिकैर्गोशकृद्रसैः।
गुडिकाञ्जनमेतद्वा दिनरात्र्यन्धयोर्हितम् ॥ ११ ॥

दिवान्ध्यरात्र्यान्ध्यहराञ्जन—आम और जामुन के पुष्पों के रस से हरेणुका के चूर्ण को पीस कर शहद तथा घृत से संयुक्त कर अञ्जन करना चाहिये। अथवा नलिन (कुछ रक्तवर्ण कमल), उत्पल (नीलकमल), केसर अथवा नलिन और उत्पल की केसर और गैरिक इन्हें महीन पीस कर गाय के गोबर के रस के साथ खरल कर के गुडिका बना के फिर उसे गुलाबजल में घिस कर अञ्जन करने से दिवान्ध्य तथा रात्र्यान्ध्य रोग नष्ट होते हैं ॥ १०-११ ॥

रसाञ्जनरसक्षौद्रतालीशस्वर्णगैरिकम्।
गोशकृद्रससंयुक्तं पित्तोपहतदृष्टये ॥ १२ ॥

रसाञ्जनाद्यञ्जन—रसौत, आंवले या चमेली के पत्तों का स्वरस, शहद, तालीसपत्र और स्वर्णगैरिक इन्हें गोबर के रसके साथ खरल कर पित्त से उपहत (पित्तविदग्ध) दृष्टि में अञ्जन करने से वह शान्त होती है ॥ १२ ॥

विमर्शः—सुश्रुतार्थसन्दीपनभाष्य में रस शब्द से यहां पर बकरी के यकृत् के मांस का रस लेना लिखा है।

शीतं सौवीरकं वाऽपि पिष्ट्वाऽथ रसभावितम् ॥ १३ ॥
कूर्मपित्तेन मतिमान् भावयेद्रौहितेन वा।
चूर्णाञ्जनमिदं नित्यं प्रयोज्यं पित्तशान्तये ॥ १४ ॥

पित्तहरशीताद्यञ्जन—शीत (रसाञ्जन या कर्पूर) अथवा सौवीराञ्जन इनका चूर्ण बना कर पशु-पक्षी आदि के मांसरस से भावित कर पश्चात् बुद्धिमान वैद्य कूर्म (कच्छप) अथवा रोहित मछली के पित्त से भावित कर खरल करके सुखाकर शीशी में भर देवे। पित्ताभिष्यन्द तथा पित्तविदग्ध दृष्टि आदि पित्तजन्य नेत्ररोगों की शान्ति के लिये नित्य ही इस चूर्णाञ्जन को नेत्रों में लगाना चाहिये ॥ १३-१४ ॥

काश्मरीपुष्पमधुकदार्वीरोध्ररसाञ्जनैः।
सक्षौद्रमञ्जनन्तद्वद्धितमत्रामये सदा ॥ १५ ॥

काश्मर्याद्यञ्जन—गम्भारी के पुष्प, मुलेठी, दारुहरिद्रा, लोध और रसौत इन्हें महीन पीस कर शहद के साथ खरल करके पित्तविदग्ध दृष्टिरोग में अञ्जन करना सदा उत्तम है ॥ १५ ॥

स्रोतोजं सैन्धवं कृष्णां रेणुकाञ्चापि पेषयेत्।
अजामूत्रेण ता वर्त्यः क्षणदाऽऽन्ध्याञ्जने हिताः ॥१६॥

स्रोताञ्जनादियोग—स्रोताञ्जन, सैन्धवलवण, पिप्पली और रेणुका इन्हें चूर्णित कर बकरी के मूत्र में खरल करके यवसमान वर्तियां बना के सुखा कर शीशी में भर देवें। इन वर्तियों को गुलाबजल में पीस कर अञ्जन करने से रात्र्यान्ध्य नष्ट होता है॥

कालानुसारिवां कृष्णां नागरं मधुकं तथा।
तालीशपत्रं क्षणदे गाङ्गेयञ्च यकृद्रसे ॥
कृतास्ता वर्त्तयः पिष्टाश्छायाशुष्काः सुखावहाः ॥१७॥

नक्तान्ध्यहराञ्जन—तगर, पिप्पली, सोंठ, मुलेठी, तालीसपत्र, क्षणदे अर्थात् हरिद्रा और दारुहरिद्रा और नागरमोथा इनको खाण्डकूट कर चूर्णित कर बकरी के यकृत् के रस में घोट कर यवाकृति वर्तियां बना के छाया में सुखा कर पश्चात् प्रतिदिन अञ्जन करने से नक्तान्ध्य प्रभृति नेत्ररोग नष्ट होते हैं॥

मनःशिलाऽभयाव्योषबलाकालानुसारिवाः।
सफेना वर्त्तयः पिष्टाश्छागक्षीरसमन्विताः ॥ १८ ॥

मनःशिलाद्यञ्जन—मैनसिल, हरड़, सोंठ, मरिच, पीपल, बला की जड़ तथा कालानुसारिवा (तगर) और समुद्रफेन इन्हें महीन पीस कर बकरी के दुग्ध के साथ खरल कर यवाकृति वर्तियां बना के सुखाकर नेत्र में आंजने से रात्र्यान्ध्य नष्ट हो जाता है ॥ १८ ॥

गोमूत्रपित्तमदिरायकृद्धात्रीरसे पचेत्।
क्षुद्राञ्जनं रसे नान्ययकृतस्त्रिफलेऽपि वा ॥ १९ ॥

गोमूत्रादिरसक्रिया—गाय का मूत्र, गाय या बकरी का पित्त, मदिरा (शराब), यकृत् का रस तथा आंवले का रस इन्हें एकत्र कर पका के रसक्रिया कर अञ्जन करें। अथवा केवल यकृत के रस की त्रिफला के क्वाथ के साथ रसक्रिया करके अञ्जन करने से नक्तान्ध्य रोग नष्ट होता है ॥ १९ ॥

गोमूत्राज्यार्णवमलपिप्पलीक्षौद्रकट्फलैः ।
सैन्धवोपहितं युञ्ज्यान्निहितं वेणुगह्वरे ॥ २० ॥

गोमूत्रादिरसक्रिया—गोमूत्र, घृत, समुद्रफेन, पिप्पली, शहद, कायफल और सैन्धवलवण इन्हें अच्छी प्रकार पीस के सुखा कर बांस के पात्र (नली) में भर कर रख दें। यह राज्यान्ध्य में हितकारी अञ्जन है ॥ २० ॥

मेदो यकृद्घृतञ्चाजं पिप्पल्यः सैन्धवं मधु ॥ २१ ॥
रसमामलकाच्चापि पक्वं सम्यङ् निधापयेत् ।
कोशे खदिरनिर्माणे तद्वत् क्षुद्राञ्जनं हितम् ॥ २२ ॥

अजामेदोऽञ्जन—बकरी की चरबी, बकरी का यकृत, बकरी का घी तथा पीपल, सैन्धव लवण, शहद और आंवले का रस इन्हें अच्छी प्रकार पीस के पकाकर रसक्रिया करके सुखाकर खैर की लकड़ी की बनी हुई भोगली (कोश) में रख लेवें। यह अञ्जन नक्तान्ध्य रोग को नष्ट करता है ॥ २१-२२ ॥

विमर्शः—कोश शब्द का अर्थ यहां पात्र है ऐसे यह कई अर्थों में प्रयुक्त होता है—कोशोऽस्त्री कुड्मले पात्रे दिव्ये खड्गपिधानके। जातिकोशेऽर्थसङ्घाते पेश्यां शब्दादिसङ्ग्रहे ॥ (इति मेदिनी)

हरेणुमगधाजास्थिमज्जैलायकृदन्वितम् ।
यकृद्रसेनाञ्जनं वा श्लेष्मोपहतदृष्टये ॥ २३ ॥

हरेण्वाद्यञ्जन—हरेणु (रेणुका = निर्गुण्डीबीज), पिप्पली, बकरी की हड्डी और मज्जा, इलायची और बकरी का यकृत् इन्हें महीन पीस कर सुखा के शीशी में भर देवें। फिर श्लेष्म-विदग्ध दृष्टिरोग में इसका अञ्जन करना चाहिये। अथवा केवल यकृत् रस के साथ अञ्जन करे किंवा अञ्जन (स्रोतोऽञ्जन) को यकृत् के रस में घोट कर आंखों में अञ्जन से कफविदग्ध-दृष्टिरोग नष्ट हो जाता है ॥ २३ ॥

विमर्शः—मगधाजास्थिमज्जा शब्द से अन्य टीकाकारों ने पिप्पली के तुषरहित बीज ऐसा अर्थ किया है।

विपाच्य गोधायकृदर्द्धपाटितं सुपूरितं मागधिकाभिरग्निना।
निषेवितं तद् यकृदञ्जनेन निहन्ति नक्तान्ध्यमसंशयं खलु॥

गोधायकृदञ्जन—गोधा के यकृत् को बीच में से चीर कर उसमें पिप्पली भर कर उस पर कपडमिट्टी करके सुखा कर मन्द आंच में पुटपाकविधि से पका कर निकाल के उसमें से पिप्पली निकालकर यकृत् का सेवन करें तथा पिप्पली का अञ्जन करें। यह प्रयोग निश्चित ही नक्तान्ध्य को नष्ट करता है॥

विमर्शः—टीकाकार डल्हण तीन दिन तक पिप्पली को पकाना लिखते हैं। अग्नि के भोभल में रख कर तीन घण्टे पकाना पर्याप्त है। कुछ सम्प्रदाय में पिप्पलीयुक्त यकृत् को पीस कर अञ्जन करने का भी उपदेश है।

तथा यकृच्छागभवं हुताशने
विपाच्य सम्यङ्मगधासमन्वितम् ।
प्रयोजितं पूर्ववदाश्वसंशयं
जयेत्तपाऽऽन्ध्यं सकृदञ्जनान्नृणाम् ॥ २५ ॥

अजायकृदञ्जन—गोधायकृत्पाचन के समान ही बकरी के यकृत् को ले के मध्य में चीरा लगा के उसमें पिप्पली भर कर ऊपर कपडमिट्टी करके सुखा कर अग्नि की आंच में दबा के पका लेवें। इस योग का भी पूर्ववत् प्रयोग (यकृत् का सेवन तथा पिप्पली का अञ्जन) करने से मनुष्यों का नक्तान्ध्य रोग नष्ट हो जाता है ॥ २५ ॥

प्लीहा यकृच्चाप्युपभक्षिते उभे
प्रकल्प्य शूल्ये घृततैलसंयुते ।
ते सार्षपस्नेहसमायुतेऽञ्जनं
नक्तान्ध्यमाश्वेव हतः प्रयोजिते ॥ २६ ॥

यकृत्प्लीहाञ्जनादि—गोधा अथवा बकरी के प्लीहा और यकृत् दोनों को ले के काट कर उन पर घृत और तैल लगा कर लोह-शलाकाओं में पिरो के अग्नि में सेक कर भक्षण करें तथा उन्हीं दोनों पर सरसों का तैल लगा के पीस कर सुखा के अञ्जन करना चाहिये। इस तरह भक्षण और अञ्जन उभय प्रकार से सेवित ये यकृत्प्लीहा दोनों शीघ्र ही नक्तान्ध्य को नष्ट कर देते हैं ॥ २६ ॥

विमर्शः—यकृच्छूल्यप्रकार—यकृत् के मांस को शलाकाओं में लगा कर लवणयुक्तघृत लगा के निर्धूम अङ्गारों पर पाक करें—कालखण्डानि मांसानि ग्रथितानि शलाकया। घृत सलवणं दत्वा निर्धूमे दहने पचेत्।

नदीजशिम्बी त्रिकटून्यथाञ्जनं
मनःशिला द्वे च निशे यकृद्गवाम् ।
सचन्दनेयं गुटिकाऽथवाऽञ्जनं
प्रशस्यते वै दिवसेष्वपश्यताम् ॥ २७ ॥

गुटिकाञ्जन—नदीज (सैन्धव लवण), शिम्बी (हरे मूंग), सोंठ, मरिच, पिप्पली, सौवीराञ्जन, मैनसिल, हरिद्रा, दारु-हरिद्रा, गौ का यकृत् और लाल चन्दन इन सबको अच्छी प्रकार महीन पीस कर गुटिका बना के सुखा कर शीशी में भर देवें। इस गुटिका का अञ्जन दिवान्ध्य रोगियों के लिये प्रशस्त माना गया है ॥ २७ ॥

भवन्ति याप्याः खलु ये षडामया
हरेदसृक्तेषु सिराविमोक्षणैः ।
विरेचयेच्चापि पुराणसर्पिषा
विरेचनाङ्गोपहितेन सर्वदा ॥ २८ ॥

याप्यरोगचिकित्साविधान—तिमिर अवस्था वाले काच जो ६ याप्य रोग कहे गये हैं उनमें सर्वप्रथम सिरामोक्षण करके अशुद्ध रक्त का निर्हरण कर देना चाहिये। इसके अनन्तर विरेचक द्रव्यों के कल्क और क्वाथ द्वारा सिद्ध किये हुये पुराणघृत का पान करा के विरेचन कराना चाहिये ॥ २८ ॥

विमर्शः—उपर्युक्त चिकित्सा न करने से तिमिर काच हो जाता है, काच आन्ध्य (दिवान्ध्य या नक्तान्ध्य) हो जाता है अत एव प्रथम तिमिरावस्था में ही चिकित्सा प्रबन्ध करना चाहिये—तिमिरं काचतां याति काचोऽप्यान्ध्यमुपेक्षया। नेत्ररोगेष्वतो घोरं तिमिरं साधयेद् द्रुतम् ॥ (वाग्भट) सिरामोक्ष रोगप्राप्ततिमिर में निषिद्ध कहा गया है—तिमिरे रोगिणि भिषक् सिरामोक्षं विवर्जयेत्।

पयोविमिश्रं पवनोद्भवे हितं
वदन्ति पञ्चाङ्गुलतैलमेव तु।
भवेद् घृतं त्रैफलमेव शोधनं
विशेषतः शोणितपित्तरोगयोः ॥ २९ ॥

वातपित्तजतिमिरचिकित्सा—वातजन्य तिमिर रोग में पञ्चाङ्गुल (एरण्ड) तैल (२ से २॥ तो०) को मन्दोष्ण दुग्ध में मिला कर देना चाहिये। रक्त और पित्त जन्य रोगों में त्रिफला-घृत के द्वारा ही संशोधन (विरेचन) कर्म कराना चाहिये ॥

त्रिवृद्विरेकः कफजे प्रशस्यते
त्रिदोषजे तैलमुशन्ति तत्कृतम्।
पुराणसर्पिस्तिमिरेषु सर्वतो
हितं भवेदायसभाजनस्थितम् ॥ ३० ॥

कफजन्यतिमिर रोग में—त्रिवृत् के कल्क और क्वाथ द्वारा सिद्ध किये हुये घृत से विरेचन कराना चाहिये एवं त्रिदोषजन्य तिमिर रोग में वात, पित्त और कफ नाशक द्रव्यों के कल्क और क्वाथ द्वारा सिद्ध किये हुये घृत का सेवन कराना चाहिये। प्रायः सर्व प्रकार के तिमिर रोगों में लोहे के पात्र में रखा हुआ पुराणघृत हितकारक होता है ॥ ३० ॥

हितं च विद्यात् त्रिफलाघृतं सदा
कृतञ्च यन्मेषविषाणनामभिः।
सदाऽवलिह्यात्त्रिफलां सुचूर्णितां
घृतप्रगाढां तिमिरेऽथ पित्तजे ॥ ३१ ॥

त्रिफलाघृत सदा (नित्यग और आवस्थिक दशा में) हितकारी होता है। इसी प्रकार मेषश्रृङ्गी (मेढासीङ्गी) के फलों के कल्क तथा क्वाथ द्वारा सिद्ध किया हुआ घृत भी सदा नेत्ररोगों में हितकारक होता है। पित्तजन्य तिमिर रोग में अच्छी प्रकार चूर्ण की हुई त्रिफला को प्रचुर घृत में अच्छी प्रकार मिला कर सदा सेवन करते रहना चाहिये ॥ ३१ ॥

समीरजे तैलयुतां कफात्मके
मधुप्रगाढां विदधीत युक्तितः।
गवां शकृत्क्वाथविपक्वमुत्तमं
हितं तु तैलं तिमिरेषु नावनम् ॥ ३२ ॥

वातजन्य तिमिर रोग में—त्रिफला चूर्ण को तैल में मिला कर तथा कफजन्य तिमिर रोग में त्रिफलाचूर्ण को शहद में मिला कर सेवन कराना चाहिये। इसी प्रकार गौ के गोबर के कल्क और क्वाथ में पकाया हुआ तैल कफजन्य या सर्व प्रकार के तिमिर रोगों में नस्यरूप में अच्छा हितकर माना गया है ॥

हितं घृतं केवलमेव पैत्तिके
ह्यजाविकं यन्मधुरैर्विपाचितम्।
तैलं स्थिरादौ मधुरे च यद्गणे
तथाऽणुतैलं पवनासृगुत्थयोः ॥ ३३ ॥

पित्तजन्य तिमिर रोग में—बकरी या भेड़ के घृत को काकोल्यादि मधुरगण की औषधियों के कल्क और क्वाथ के द्वारा पका कर नस्यरूप में देना हितकारी है। वात तथा रक्त द्वारा उत्पन्न हुये तिमिर रोग में स्थिरादि (विदारीगन्धादि) गण की ओषधियों के कल्क या क्वाथ द्वारा सिद्ध किया हुआ तैल अथवा मधुरादि (काकोल्यादि) गण की औषधियों के कल्क क्वाथ द्वारा सिद्ध तैल किंवा वातव्याधिचिकित्सा में कहा हुआ अणुतैल नस्य रूप में प्रयुक्त होने से अधिक लाभ करता है ॥

सहाऽश्वगन्धाऽतिबलावरीशृतं
हितञ्च नस्ये त्रिवृतं यदीरितम्।
जलोद्भवानूपजमांससंस्कृताद्
घृतं विधेयं पयसो यदुत्थितम् ॥ ३४ ॥

वातजन्य तिमिर रोग में—मुद्गपर्णी (सहा), अश्वगन्धा, अतिबला, शतावर इनके कल्क और क्वाथ से सिद्ध किया हुआ घृत या तैल अथवा वातव्याधि प्रकरणोक्त त्रिवृतादि अर्थात् घृत, वसा और मज्जा से आवृत तैल नस्यकर्म के लिये हितकारक है। अथवा जल में उत्पन्न होने वाले मत्स्यादि प्राणी और आनूपदेश के पशु-पक्षियों के मांस के कल्क तथा क्वाथ से संस्कृत किये हुये दुग्ध से निकाले हुये घृत को पूर्वोक्त मुद्गपर्णी, अश्वगन्धा आदि ओषधियों के कल्क और क्वाथ में पका कर वातज तिमिर में नस्य देवें ॥ ३४ ॥

ससैन्धवः क्रव्यभुगेणमांसयो
र्हितः ससर्पिः समधुः पुटाह्वयः।
वसाऽथ गृध्रोरगताम्रचूडजा
सदा प्रशस्ता मधुकान्विताऽञ्जने ॥ ३५ ॥

पुटपाक तथा अञ्जन—गीध तथा हरिण के मांस में सैन्धव लवण, घृत और शहद मिला कर पुटपाकविधि से पका के क्रियाकल्पाध्यायोक्त विधि से प्रयुक्त करें। इसी प्रकार गीध, सर्प और मुर्गा इनकी वसा को मुलेठी के चूर्ण के साथ मिश्रित कर अञ्जन करने से वातज तिमिर नष्ट होता है ॥ ३५ ॥

विमर्शः—उरग शब्द से यहां कृष्णसर्प तथा ताम्रचूड़ कुक्कुट (मुर्गे) का ग्रहण होता है—'कृकवाकुस्ताम्रचूडः कुक्कुटश्चरणायुधः' (अमरकोष)।

प्रत्यञ्जनं स्रोतसि यत्समुत्थितं
क्रमाद्रसक्षीरघृतेषु भावितम्।
स्थितं दशाहत्रयमेतदञ्जनं
कृष्णोरगास्ये कुशसम्प्रवेष्टिते ॥ ३६ ॥
तन्मालतीकोरकसैन्धवायुतं
सदाऽञ्जनं स्यात्तिमिरेऽथ रागिणि।
सुभावितं वा पयसा दिनत्रयं
काचापहं शास्त्रविदः प्रचक्षते ॥ ३७ ॥

प्रत्यञ्जन—अञ्जन लगाने के पश्चात् प्रयुक्त होने वाली वस्तु को प्रत्यञ्जन कहते हैं। स्रोतोऽञ्जन को त्रिफलादि कषाय में शुद्ध करके खरल में डाल कर क्रम से छागादिमांसरस, छागी के दुग्ध और घृत में पृथक् पृथक् भावित कर खरल करके सुखा कर प्रत्यञ्जन करना चाहिये। अथवा इसी स्रोतोऽञ्जन को काले सर्प के मुख में रख कर दोनों फणों को मिला के कुश के द्वारा सम्वेष्टित कर दशाहत्रय (एक मास) तक रख कर पश्चात् उसे चमेली की पुष्पकलियों और सैन्धव लवण के साथ अच्छी

प्रकार घोट कर रागयुक्त तिमिर में सदा अञ्जन करने से वह नष्ट हो जाता है । अथवा इसी स्रोतोञ्जन को तीन दिन तक बकरी के दुग्ध में भली भांति भावित कर घोट के अञ्जन करने से काच रोग को नष्ट करता है ऐसा शास्त्रवेत्ताओं का कथन है॥

विमर्शः—चरकाचार्य ने भी यह प्रयोग लिखा है—वदने कृष्णसर्पस्य निहितं मासमञ्जनम्। ततस्तस्मात् समुद्धृत्य सुसूक्ष्मं चूर्णयेद् बुधः। सुमनःकोरकैः शुष्कैर्भागैः सैन्धवेन च। एतन्नेत्राञ्जनं कार्यं तिमिरघ्नमनुत्तमम्।

हविर्हितं क्षीरभवन्तु पैत्तिके
वदन्ति नस्ये मधुरौषधैः कृतम्।
तत्तर्पणे चैव हितं प्रयोजितं
सजाङ्गलस्तेषु च यः पुटाह्वयः॥ ३८॥

पित्तजतिमिरचिकित्सा - पत्तिक तिमिर रोग में बकरी या गाय के दुग्ध से निकाला हुआ ताजा मक्खन ले कर मधुरादि गण की औषधियों (काकोल्यादि) के साथ पका के नस्य देवे तथा जङ्गल के पशु-पक्षियों का मांस मिला कर पुटपाक विधि से पका के नेत्र का तर्पण करने से भी पित्तज तिमिर में हित (लाभ) होता है॥ ३८॥

रसाञ्जनक्षौद्रसितामनःशिलाः
क्षुद्राञ्जनं तन्मधुकेन संयुतम्।
समाञ्जनं वा कनकाकरोद्भवं
सुचूर्णितं श्रेष्ठमुशन्ति तद्विदः॥ ३९॥

रसक्रिया तथा प्रत्यञ्जन—रसाञ्जन (रसौत), शहद, शर्करा, मैनसिल, मुलेठी इन्हें अच्छी प्रकार घोट कर कुछ पानी डाल के रसक्रिया बना कर आंख में लगावें। समाञ्जन (सौवीराञ्जन) को शुद्ध करके कनकाकरोद्भव (तुत्थ) के साथ मिला कर खरल कर के प्रत्यञ्जन करने से पित्तजतिमिर नष्ट होता है॥ ३९॥

भिल्लोटगन्धोदकसेकसेचितं
प्रत्यञ्जने चात्र हितं तु तुत्थकम्।
समेषशृङ्गाञ्जनभागसम्मितं
जलोद्भवं काचमलं व्यपोहति॥ ४०॥

प्रत्यञ्जन के लिये शुद्ध नीलतुत्थ को लेकर गरम करके भिल्लोट (लोध) तथा गन्ध (एलादिगण की) औषधियों के क्वाथ में सात या तीन बार सिञ्चित (बुझा) कर खरल में पीस के शीशी में भर देवें। पित्तजन्य तिमिर रोग में इसका प्रत्यञ्जन हितकारी होता है।

काचरोग—काचरोग में मेषशृङ्ग (नन्दीवृक्ष-छाल) या भेड़ का सींङ्ग किंवा मेढा सींङ्गी और सौवीराञ्जन इन्हें समान भाग में लेकर दोनों के बराबर जलोद्भव अर्थात् स्रोतोञ्जन किंवा शंखनाभि ले के सब का खरल में महीन चूर्ण बना कर अञ्जन करने से काचरोग नष्ट होता है॥ ४०॥

पलाशरोहीतमधूकजा रसाः
क्षौद्रेण युक्ता मदिराग्रमिश्रिताः।
उशीरलोध्रत्रिफलाप्रियङ्गुभिः
पचेत्तु नस्यं कफरोगशान्तये॥ ४१॥

पलाश (ढाक) की जड़ की छाल, रोहीतक वृक्ष की छाल और महुए की छाल इन्हें समान भाग से लेकर खांड कूट कर चूर्ण करके उसमें शहद तथा मदिराग्र (मद्य के ऊपर का स्वच्छ भाग) मिश्रित करके पुनः घोट कर अञ्जन करें। सुश्रुत टीकाकार डल्हण ने इनकी रसक्रिया करके प्रयोग करना लिखा है। यह योग काच रोग को नष्ट करता है। कफजन्य— तिमिर की शान्ति के लिये खस, पठानी लोध, हरड़, बहेड़ा, आंवला और फूलप्रियङ्गु इनके कल्क और क्वाथ में तिलतैल पकाकर नस्य लेना चाहिये॥ ४१॥

विडङ्गपाठाकिणिहीङ्गुदीत्वचः
प्रयोजयेद् धूममुशीरसंयुताः।
वनस्पतिक्वाथविपाचितं घृतं
हितं हरिद्रानलदे च तर्पणम्॥ ४२॥

कफज तिमिर में धूम प्रयोग—वायविडङ्ग पाठा, अपामार्ग (किणही) तथा हिङ्गोट की छाल इन में खस मिला कर चूर्ण कर धूम्रपान करने से कफजतिमिर नष्ट होता है।

अक्षिपूरण या तर्पण— वट, पीपल आदि क्षीरी वृक्षों की छाल के क्वाथ तथा हलदी और खस (नलद) के कल्क के साथ घृत को पका कर नेत्र का तर्पण करना चाहिये॥ ४२॥

समागधो माक्षिकसैन्धवाढ्यः
सजाङ्गलः स्यात् पुटपाक एव च।
मनःशिलात्र्यूषणशङ्खमाक्षिकैः
ससिन्धुकासीसरसाञ्जनैः क्रियाः॥ ४३॥

पुटपाक प्रयोग— पिप्पली, शहद, सैन्धव, लवण और जङ्गली पशु-पक्षियों का मांस इन्हें एकत्र मिला के पुटपाक बना कर कफजतिमिर में प्रयुक्त करें।

रसक्रिया— मैनसिल, सोंठ, मरिच, पिप्पली, शङ्ख की नाभि, शहद, सैन्धव लवण, कासीस तथा रसौत इन में चतुर्गुण जल मिला कर रसक्रिया विधि से पाक करके कफज-तिमिर में प्रयुक्त करने से वह नष्ट हो जाता है॥ ४३॥

हिते च कासीसरसाञ्जने तथा
वदन्ति पथ्ये गुडनागरैर्युते।
यदञ्जनं वा बहुशो निषेचितं
समूत्रवर्गे त्रिफलोदके शृते॥ ४४॥
निशाचरास्थिस्थितमेतदञ्जनं
क्षिपेच्च मासं सलिलेऽस्थिरे पुनः।
मेषस्य पुष्पैर्मधुकेन संयुतं
तदञ्जनं सर्वकृते प्रयोजयेत्॥ ४५॥

कफजतिमिर में—कासीस, रसौत, गुड़ और सोंठ इनकी रसक्रिया करके अञ्जन के रूप में प्रयोग करने से हित होता है।

सन्निपातजन्य तिमिर में—सौवीराञ्जन को अग्नि में तपा-तपा के अनेक बार या सात-सात बार या इक्कीस बार अष्ट-मूत्रों में बुझाना चाहिये। उसके पश्चात् उतनी ही बार त्रिफला क्वाथ में बुझा कर इसे निशाचर (गीध) आदि पक्षियों की अस्थियों की नलियों (छिद्रों) में भर कर एक मास तक बहते हुये नद्यादि जल में छोड़ देवें। फिर महीने

भर के पश्चात् इसे लेकर इसमें मेषश्रृङ्गी के फूल और मुलेठी का चूर्ण मिला कर अच्छी प्रकार खरल करके अञ्जन बना कर शीशी में भर के रख देवें। यह अञ्जन सर्वदोषज (सन्निपातज) तिमिर में प्रयुक्त करने से वह नष्ट हो जाता है॥४४-४५॥

क्रियाश्च सर्वाः; क्षतजोद्भवे हितः
क्रमः परिम्लायिनि चापि पित्तहृत्।
क्रमो हितः स्यन्दहरः प्रयोजितः
समीक्ष्य दोषेषु यथास्वमेव च ॥ ४६ ॥

उक्त अञ्जन के अतिरिक्त सन्निपातजन्य तिमिर में अक्षितर्पण पुटपाकादि सर्व क्रियाएँ करनी चाहिये। रक्तजन्य तिमिर तथा परिम्लायि काच में पित्तजन्यतिमिर नाशक तर्पणादिक्रम हितकारी होता है। सर्वदोषजन्य अर्थात् षड्विध तिमिर या काच रोग में दोषों के अनुसार अभिष्यन्दनाशक चिकित्सा करनी चाहिये। अर्थात् जैसे वातजतिमिर में वाताभिष्यन्दोक्त तथा पित्तजन्य तिमिर में पित्ताभिष्यन्दनाशक कर्म करें॥४६॥

दोषोदये नैव च विप्लुतिङ्गते
द्रव्याणि नस्यादिषु योजयेद् बुधः।
पुनश्च कल्पेऽञ्जनविस्तरः शुभः
प्रवक्ष्यतेऽन्यस्तमपीह योजयेत् ॥ ४७ ॥

नस्यादिविधान—तिमिर में वातादि दोषों के लक्षण प्रगट होते ही अथवा रोग के सकलदृष्टिमण्डल में व्याप्त हो जाने पर वाताभिष्यन्दोक्त घृतादि द्रव्य (औषधियों) का प्रयोग नहीं करना चाहिये अपितु लङ्घन-विरेचनादि से देह का संशोधन कर तीन दिन के पश्चात् अभिष्यन्दहर नस्यादि का प्रयोग करें। इसके अतिरिक्त वक्ष्यमाण क्रियाकल्पाध्याय में जो विस्तारपूर्वक अन्य अञ्जनादि का वर्णन करेंगे उसका भी यहां प्रयोग करना शुभ है ॥ ४७ ॥

घृतं पुराणं त्रिफलां शतावरीं
पटोलमुद्गामलकं यवानपि।
निषेवमाणस्य नरस्य यत्नतो
भयं सुघोरात्तिमिरान्न विद्यते ॥ ४८ ॥

तिमिर में आहार विधान—पुराना घृत, त्रिफला, शतावर, पटोलपत्र, मूंग, आंवला, यव इन पदार्थों को सेवन करने वाले मनुष्य को भयङ्कर तिमिर रोग से भय नहीं होता है ॥ ४८ ॥

शतावरीपायस एव केवल-
स्तथाकृतो वाऽऽमलकेषु पायसः।
प्रभूतसर्पिस्त्रिफलोदकोत्तरो
यवौदनो वा तिमिरं व्यपोहति ॥ ४९ ॥

शतावर के द्वारा शृत किये हुए दुग्ध में बनाई हुई खीर अथवा आंवले के कल्क और स्वर से सिद्ध दुग्ध में बनाई हुई खीर, किंवा त्रिफला के क्वाथ में प्रभूत (प्रचूर) मात्रा में घृत मिला कर किंवा यव को पानी में उबाल कर बनाये हुये ओदन में अधिक घृत मिला कर प्रतिदिन सेवन करने से तिमिर रोग नष्ट होता है ॥ ४९ ॥

जीवन्तिशाकं सुनिषण्णकञ्च सतण्डुलीयं वरवास्तुकञ्च।
चिल्लीं तथा मूलकपोतिका च दृष्टेर्हितं शाकुनजाङ्गलञ्च॥

शाकों में जीवन्ती शाक या चौपतिया, सुनिषण्णक (चांगेरी=तिपतिया), तण्डुलीयक (चौलाई), अच्छा बथुआ (वास्तूक), चिल्ली (चेत्रवास्तूक) और मूलकपोतिका (छोटी मूली) तथा जङ्गल के पक्षियों का मांस ये सब दृष्टि तथा उसके रोगों में हितकारक हैं ॥ ५० ॥

पटोलकर्कोटककारवेल्ल-
वार्त्ताकुतर्कारिकरीरजानि।
शाकानि शिग्र्वार्त्तगलानि चैव
हितानि दृष्टेर्घृतसाधितानि ॥ ५१ ॥

पटोलशाक, ककोड़ा, करेला, बैंगन, अरणी, करीर (मारवाड के कैर) के फल, सहजन की फली और आर्तगल (झिण्टी) इन को घी में छौंक कर बनाई हुई शाकें दृष्टि के लिये हितकर होती हैं ॥ ५१ ॥

विवर्जयेत्सिरामोक्षं तिमिरे रागमागते।
यन्त्रेणोत्पीडितो दोषो निहन्यादाशु दर्शनम् ॥५२॥

तिमिर में अपथ्य—तिमिर में राग प्राप्त हो जाने पर सिरामोक्षण विवर्जित है क्योंकि यन्त्र (शस्त्रकर्म) से उत्पीडित दोष बढ़ कर दर्शनशक्ति को नष्ट कर देते हैं ॥ ५२ ॥

अरागि तिमिरं साध्यमाद्यं पटलमाश्रितम्।
कृच्छ्रं द्वितीये रागि स्यात् तृतीये याप्यमुच्यते ॥५३॥

साध्यासाध्यतिमिर—प्रथम पटल में आश्रित तथा राग को प्राप्त नहीं हुआ तिमिर साध्य होता है, द्वितीय पटल में प्राप्त तथा रागयुक्त तिमिर कृच्छ्रसाध्य होता है और तृतीयपटलगत तिमिर असाध्य होता है ॥ ५३ ॥

रागप्राप्तेष्वपि हितास्तिमिरेषु तथा क्रियाः।
यापनार्थं यथोद्दिष्टाः सेव्याश्चापि जलौकसः ॥५४॥

तिमिर रोगों में राग प्राप्त हो जाने पर भी इनका यापन करने के लिये शास्त्रोक्त उपचार करना चाहिये तथा जलौका द्वारा रक्तमोक्षण करना चाहिये ॥ ५४ ॥

श्लैष्मिके लिङ्गनाशे तु कर्म वक्ष्यामि सिद्धये।
न चेदर्द्धेन्दुघर्माम्बुबिन्दुमुक्ताकृतिः स्थिरः ॥५५॥
विषमो वा तनुर्मध्ये राजिमान् वा बहुप्रभः।
दृष्टिस्थो लक्ष्यते दोषः सरुजो वा सलोहितः ॥५६॥

श्लैष्मिक लिङ्गनाश में—चिकित्सा करने के लिये शस्त्रविधान कहता हूं। शस्त्रकर्म करने के पूर्व यह ज्ञान लेना चाहिये कि दृष्टिमणि (Lens) पर अर्धचन्द्र की आकृति का या पसीने के जल के बिन्दु समान अथवा मोती के स्वरूप का कोई चिह्न तो नहीं है। अथवा स्थिर, विषम, पतला, बीच में राजि (रेखा) युक्त या अनेक प्रभा (स्वरूप) वाला, पीडायुक्त और रक्तवर्ण का कोई दोष दृष्टि या लैंस पर दिखाई तो नहीं देता है। यदि ऐसे लक्षण हों तो उस लिङ्गनाश में शस्त्रकर्म नहीं करना चाहिये ॥ ५५-५६ ॥

स्निग्धस्विन्नस्य तस्याथ काले नात्युष्णशीतले।
यन्त्रितस्योपविष्टस्य स्वां नासाम्पश्यतः समम् ॥५७॥

मतिमान् शुक्लभागौ द्वौ कृष्णान्मुक्त्वा ह्यपाङ्गतः।
उन्मील्य नयने सम्यक् सिराजालविवर्जिते ॥ ५८॥
नाधो नोदूर्ध्वं न पार्श्वाभ्यां छिद्रे दैवकृते ततः।
शलाकया प्रयत्नेन विश्वस्तं यवचक्रया ॥ ५९॥
मध्यप्रदेशिन्यङ्गुष्ठस्थिरहस्तगृहीतया।
दक्षिणेन भिषक् सव्यं विध्येत् सव्येन चेतरत् ॥६०॥

लिङ्गनाश में शस्त्रकर्मविधि—शस्त्रकर्म के प्रथम रोगी को स्नेहन कराके स्वेदन कर्म करे। फिर न अधिक उष्ण तथा न अधिक शीतल समय में रोगी को कुर्सी पर बैठा कर (या लिटा के) उसके हाथ पांव और मध्यशरीर व सिर को यन्त्रित करके फिर उसे अपनी नासा की ओर देखने को कहे। इससे कृष्णमण्डल का भाग ठीक मध्य में हो जाता है। इसके अनन्तर बुद्धिमान् वैद्य कृष्णतारक से दो हिस्से शुक्ल भाग को छोड़ कर अपाङ्गप्रदेश की ओर अर्थात् भ्रुपुच्छान्त प्रदेश के समीप ठीक तरह से खुले हुए तथा सिरासमूह से रहित नेत्रगोलक के स्थान में तथा न अधिक नीचे, न अधिक ऊपर न पार्श्व में किन्तु दैवकृत स्वाभाविक छिद्र में और विश्वस्त होकर मध्यमाङ्गुली, प्रदेशिनी और अङ्गुष्ठ के सहारे स्थिरहस्त में पकड़ी हुई यववक्त्रा शलाका के द्वारा दक्षिणहस्त से वामनेत्र तथा वामहस्त से दक्षिणनेत्र में वेधन करना चाहिये ॥५७-६०॥

विमर्शः—वाग्भटाचार्य ने भी यही विधि लिखी है—'तर्जनीमध्यमाङ्गुष्ठैः शलाकां निश्चलं धृताम्। दैवच्छिद्रं नयेत्पार्श्वादूर्ध्वमामन्थमन्निव॥ सव्यं दक्षिणहस्तेन नेत्रं सव्येन चेतरत्। विध्येत् सुविद्धे शब्दः स्यादरुक् चाम्बुलवस्रुतिः॥' इति।

वारिबिन्द्वागमः सम्यग् भवेच्छब्दस्तथा व्यधे।
संसिच्य विद्धमात्रन्तु योषित्स्तन्येन कोविदः ॥ ६१॥
स्थिरे दोषे चले वाऽपि स्वेदयेदक्षि बाह्यतः।
सम्यक् शलाकां संस्थाप्य भङ्गैरनिलनाशनैः ॥ ६२॥

सम्यग्वेधन लक्षण तथा पश्चात्कर्म—सम्यग्वेधन होने पर एक विशिष्ट प्रकार की आवाज आती है तथा वेधन के स्थान से जल के बिन्दु के समान पदार्थ बाहर निकलता है। यदि सम्यग्वेधन न हुआ हो तो रक्त का निर्गमन होता है एवं आवाज नहीं आती। वेधन होने के अनन्तर बुद्धिमान् वैद्य विद्ध स्थान को स्त्री के दुग्ध से सिञ्चित करे। इस समय दोष स्थिर हो अथवा चल हो बाहर की ओर से स्वेदित करना चाहिये। स्वेदन के पूर्व नेत्र के पलकों को भलीभांति खोलकर पलकों पर शलाका रख के वातनाशक एरण्ड पत्रादि पर घृत लगाकर गरम करके उनसे स्वेदन करें ॥ ६१-६२॥

शलाकाग्रेण तु ततो निर्लिखेद् दृष्टिमण्डलम्।
विध्यतो योऽन्यपार्श्वेऽदणस्तं रुद्ध्वा नासिकापुटम् ॥
उच्छिङ्घनेन हर्त्तव्यो दृष्टिमण्डलगः कफः ॥ ६३॥

लेखनकर्म—उक्त प्रकार से स्वेदन होने के अनन्तर शेषदोषविनाशनार्थ (श्लेष्मसंहतिविश्लेषार्थ) शलाका के अग्रभाग से दृष्टिमण्डल का लेखन करना चाहिये। लेखन के अनन्तर जिस आंख का शस्त्रकर्म हुआ हो उसके दूसरी तरफ के नासाछिद्र को बन्द करके जोर से उच्छिङ्घन (छींकने) की क्रिया द्वारा दृष्टिमण्डल में स्थित कफ का निर्हरण करना चाहिये ॥ ६३॥

निरभ्र इव घर्मांशुर्यदा दृष्टिः प्रकाशते।
तदाऽसौ लिखिता सम्यग् ज्ञेया या चापि निर्व्यथा ॥६४॥

सम्यग्लिखित लक्षण—मेघों से रहित आकाश में सूर्य जैसे चमकता है उसके समान दृष्टि जब चमकने लगे तथा उसमें किसी प्रकार की व्यथा (पीडा) न हो तब सम्यग्लेखन हुआ समझना चाहिये ॥ ६४॥

एवं त्वशक्ये निर्हर्तुं दोषे प्रत्यागतेऽपि वा।
स्नेहाद्यैरुपपन्नस्य व्यधो भूयो विधीयते ॥ ६५॥

पुनर्वेधनावस्था—यदि उक्त प्रकार से वेधन या शस्त्रकर्म करने पर भी दोष या लिङ्गनाशजन्य विकृति (मोतियाबिन्द) निकल न सकी हो अथवा दोष (मोतियाबिन्द) का पुनरागमन हो गया हो तो शरीर तथा विशेषकर नेत्र का स्नेहन और स्वेदन करके पुनः वेधन कर्म करना चाहिये ॥ ६५॥

ततो दृष्टेषु रूपेषु शलाकामाहरेच्छनैः।
घृतेनाभ्यज्य नयनं वस्त्रपट्टेन वेष्टयेत् ॥ ६६॥

पश्चात्कर्म—उक्त शस्त्रकर्म करने से यदि रुग्ण को बाह्यरूप (दृश्य) दिखाई देने लग जाय तो धीरे-धीरे शलाका का निर्हरण (निष्कासन) कर लेना चाहिये एवं उस नेत्र को घृत से अभ्यक्त (पूरित) कर वस्त्रपट्ट से पट्टबन्धन कर देवें॥

ततो गृहे निराबाधे शयीतोत्तान एव च ॥ ६७॥

पट्टबन्धन के अनन्तर रोगी को निराबाध अर्थात् धूलि, धूम, झोंकेदार वात और आतप से रहित मकान में उत्तान (पीठ और कमर के बल सीधे) शयन कराना चाहिये ॥६७॥

उद्गारकासक्षवथुष्ठीवनोत्कम्पनानि च।
तत्कालं नाचरेदूर्ध्वं यन्त्रणा स्नेहपीलवत् ॥ ६८॥

वर्जनीय—इस शस्त्रकर्म के रोगी के लिये तत्काल उद्गार (डकार), कास, थूकना और शरीर को कपाना वर्जित है। उसके आहारादि का नियन्त्रण ठीक उसी प्रकार करना चाहिये जिस प्रकार स्नेहपान कराये व्यक्तियों में किया जाता है॥

त्र्यहात् त्र्यहाच्च धावेत कषायैरनिलापहैः।
वायोर्भयात् त्र्यहादूर्ध्वं स्वेदयेदक्षि पूर्ववत् ॥ ६९॥

शेष पश्चात्कर्म—प्रति तीसरे दिन पट्टबन्धन को खोलकर वातनाशक द्रव्यों के कषाय से नेत्र का प्रक्षालन करना चाहिये तथा वातप्रकोप होने के भय के निराकरण करने के लिये तीन दिन बाद पूर्व के समान नेत्र का स्वेदन भी करना चाहिये ॥ ६९॥

दशाहमेवं संयम्य हितं दृष्टिप्रसादनम्।
पश्चात् कर्म च सेवेत लघ्वन्नञ्चापि मात्रया ॥ ७०॥

इस प्रकार दस दिन तक रोगी को उत्तानशयनादि नियमानुसार रखना चाहिये पश्चात् दृष्टिप्रसादनार्थ, अञ्जन, नस्य, तर्पण, शिरोबस्ति आदि कर्म करने का उपदेश करें तथा खाने के लिये हलका भोजन मात्रापूर्वक सेवन करावे ॥ ७०॥

सिराव्यधविधौ पूर्वं नरा ये च विवर्जिताः ।
न तेषां नीलिकां विध्येदन्यत्राभिहिताद्भिषक् ॥ ७१ ॥

शस्त्रकर्म निषेध—श्लैष्मिक लिङ्गनाश में भी उन रोगियों में जो सिरावेध के अयोग्य (बाल, वृद्ध) कहे गये हैं शस्त्रकर्म नहीं करना चाहिये एवं कहे हुये स्थान (दैवकृत छिद्र) के अन्यत्र भी वेध नहीं करना चाहिये ॥ ७१ ॥

पूर्यते शोणितेनाक्षि सिरावेधाद्विसर्पता ।
तत्र स्त्रीस्तन्ययष्ट्याह्वपक्वं सेके हितं घृतम् ॥ ७२ ॥

अन्यत्र वेधोपद्रव—दैवकृत छिद्र से अन्यत्र रसवाहक सिरा या धमनी का वेधन होने से स्रवित होने वाले रक्त से आंख भर जाती है ऐसा होने पर स्त्रीदुग्ध और मुलेठी के कल्क और क्वाथ से सिद्ध किये हुए घृत के द्वारा उस नेत्र का सेक करना चाहिये ॥ ७२ ॥

विमर्शः—उक्त सुवेधन से स्रुत हुआ रक्त नेत्र के पूर्वगृह में सञ्चित हो जाता है इसको Haemorrhage in anterior chamber कहते हैं।

अपाङ्गासन्नविद्धे तु शोफशूलाश्रुरक्तताः ।
तत्रोपनाहं भ्रूमध्ये कुर्याच्चोष्णाज्यसेचनम् ॥ ७३ ॥

अपाङ्ग प्रदेश (Outer canthus) में वेध होने पर शोफ, शूल, अश्रुस्राव, लालिमा आदि उपद्रव उत्पन्न होते हैं। ऐसी स्थिति में भ्रूमध्य प्रदेश में स्वेदन तथा उष्णघृत का सेवन करना चाहिये ॥ ७३ ॥

व्यधेनासन्नकृष्णेन रागः कृष्णं च पीड्यते ।
तत्राधःशोधनं सेकः सर्पिषा रक्तमोक्षणम् ॥ ७४ ॥

कृष्णमण्डल के अति समीप वेध होने से नेत्र में लालिमा तथा कृष्ण भाग में शोथ हो जाता है ऐसी स्थिति में अधः काय संशोधन (विरेचन) कराके मन्दोष्ण घृत से नेत्र का सेक करना चाहिये तथा रक्तमोक्षण कराना चाहिये ॥ ७४ ॥

विमर्शः—रक्तमोक्षण के लिये जलौका का प्रयोग करना चाहिये।

अधाप्युपरि विद्धे तु कष्टा रुक् सम्प्रवर्त्तते ।
तत्र कोष्णेन हविषा परिषेकः प्रशस्यते ॥ ७५ ॥

यदि दैवकृत छिद्र से ऊपर में वेध हुआ हो तो नेत्रगत पीड़ा और कष्ट बढ़ जाता है। ऐसी अवस्था में मन्दोष्ण घृत से नेत्र का सेक करना चाहिये ॥ ७५ ॥

शूलाश्रुरागास्त्वत्यर्थमधोवेधेन पिच्छिलः ।
शलाकामनु चास्रावस्तत्र पूर्वचिकित्सितम् ॥ ७६ ॥

दैवकृत छिद्र के अत्यन्त नीचे वेध होने से नेत्र में शूल, अश्रुस्राव और लालिमा प्रभृति उपद्रव होते हैं तथा शलाका के निकालने के पश्चात् अत्यधिक पिच्छिल आस्राव होने लगता है। इस दशा में भी पूर्ववत् उपचार करना चाहिये। अर्थात् कोष्ण घृत से नेत्र का सेक एवं विरेचन और रक्तमोक्षण आदि॥

रागाश्रुवेदनास्तम्भहर्षाश्चातिविघट्टिते ।
स्नेहस्वेदौ हितौ तत्र हितं चाप्यनुवासनम् ॥७७॥

अतिविघट्टित होने पर नेत्र में लालिमा, अश्रुस्राव, स्तम्भ, वेदना और हर्ष प्रभृति उपद्रव उत्पन्न हो जाते हैं। इनके प्रतिषेध के लिये स्नेहन, स्वेदन और अनुवासन करना हितकारी होता है ॥ ७७ ॥

दोषस्त्वधोऽपकृष्टोऽपि तरुणः पुनरूर्द्ध्वगः ।
कुर्याच्छुक्लारुणं नेत्रं तीव्ररुङ्नष्टदर्शनम् ॥ ७८ ॥
मधुरैस्तत्र सिद्धेन घृतेनाक्ष्णः प्रसेचनम् ।
शिरोबस्तिश्च तेनैव दद्यान्मांसैश्च भोजनम् ॥७९॥

तरुण दोष (Immature cataract) अर्थात् लिङ्गनाश की रूढावस्था प्राप्त न हुई हो या मोतियाबिन्द पूर्णरूप से पका न हो और उसे शस्त्रकर्म द्वारा दोष को नीचे खींच लिया जाय तो भी वह दोष पुनः ऊपर जाकर नेत्र में कई प्रकार के श्वेतिमा, लालिमा, उग्रपीडा, दृष्टिनाश प्रभृति उपद्रवों को उत्पन्न कर देता है। यदि ऐसा हो जाय तो उसके प्रतिषेध के लिये मधुरगण की ओषधियों के कल्क और क्वाथ से सिद्ध किये हुये मन्दोष्ण घृत के द्वारा नेत्र का सेचन करना चाहिये तथा इन्हीं द्रव्यों से सिद्ध घृत या तैल के द्वारा शिरोबस्ति देनी चाहिये एवं भोजन के लिये अनेक प्रकार के पशु-पक्षियों के मांस का प्रयोग करना चाहिये ॥ ७८–७९ ॥

दोषस्तु सस्रावबलो घनः सम्पूर्णमण्डलः ।
प्राप्य नश्येच्छलाकाग्रं तन्वभ्रमिव मारुतम् ॥८०॥

पक्वदोषवेध प्रशंसा—यदि दोष (लिङ्गनाश) पूर्णरूप से बलवान् (Mature cataract) हो जाता है तथा घन (स्थूल) एवं सम्पूर्णरूप में गोला हुआ (पूर्ण निर्मित) हो जाता है तब उस पर शलाका का अग्रभाग लगते ही नष्ट हो जाता है (नीचे गिर पड़ता है या बाहर निकल आता है) जैसे हवा पतले मेघ को तुरन्त नष्ट कर (उड़ा) देती है ॥ ८० ॥

मूर्द्धाभिघातव्यायामव्यवायवमिमूर्च्छनैः ।
दोषः प्रत्येति कोपाच्च विद्धोऽतितरुणश्च यः ॥८१॥

अपक्वदोषवेधहानि—जो दोष (मोतियाबिन्द) अत्यन्त तरुण (अपक्व) अवस्था में होता है और उसका वेधन कर दिया जाय तो वह सिर में चोट लगने से, व्यायाम करने से, स्त्री के साथ सम्भोग करने से, वमन होने से तथा मूर्च्छन होने से एवं क्रोध करने से फिर से उत्पन्न हो जाता है ॥८१॥

शलाका कर्कशा शूलं, खरा दोषपरिप्लुतिम् ।
व्रणं विशालं स्थूलाग्रा, तीक्ष्णा हिंस्यादनेकधा ॥८२॥
जलास्रावन्तु विषमा, क्रियासङ्गमथास्थिरा ।
करोति, वर्जिता दोषैस्तस्मादेभिर्हिता भवेत् ॥८३॥

दुष्टशलाकाप्रयोग दोषः—कर्कश शलाका के प्रयोग से नेत्रों में शूल, खर शलाका से नेत्र के चारों ओर दोष की व्याप्ति, स्थूल अग्रभाग वाली शलाका से नेत्रों में विशाल व्रण, तीक्ष्ण शलाका के प्रयोग से नेत्रों में अनेक प्रकार का क्षत (व्रण) होता है तथा विषम (टेढ़ी-मेढ़ी) शलाका नेत्र से जल का आस्राव और अस्थिर (कम्पनयुक्त) शलाका दृष्टि अवरोध पैदा करती है। इसलिये उक्त दोषों से वर्जित शलाका का नेत्र में प्रयोग करने से हित होता है ॥ ८२–८३ ॥

अष्टाङ्गुलायता मध्ये सूत्रेण परिवेष्टिता।
अङ्गुष्ठपर्वसमिता वक्त्रयोर्मुकुलाकृतिः॥
ताम्रायसी शातकुम्भी शलाका स्यादनिन्दिता ॥८४॥

प्रशस्त शलाका—लम्बाई में आठ अङ्गुल तथा बीच में सूत्र (धागे) से लिपटी हुई एवं मोटाई में अङ्गुष्ठ के उदर के परिमाण वाली तथा दोनों मुख (अन्तिम) भागों पर पुष्प की कलिका के समान स्वरूप की एवं ताम्र, लौह या स्वर्ण से बनाई हुई शलाका श्रेष्ठ होती है ॥ ८४ ॥

रागः शोफोऽर्बुदश्चोषो बुद्बुदं शूकराक्षिता ॥ ८५ ॥
अधिमन्थादयश्चान्ये रोगाः स्युर्व्यधदोषजाः।
अहिताचारतो वाऽपि यथास्वं तानुपाचरेत् ॥ ८६ ॥

दुष्ट व्यधोपद्रव—शास्त्रोक्त प्रकार को छोड़ कर मनमाने प्रकार से वेधन करने से तथा अहित आहार और विहार का सेवन करने से नेत्र में लालिमा, शोथ, अर्बुद, चोष (दाहवत्पीडा), बुद्बुद (बुलबुले) के समान आकार वाले मांस की वृद्धि, शूकराक्षिता अर्थात् नीचे को देखना (अधोदृष्टि-दोष) तथा अधिमन्थ प्रभृति अनेक रोग हो जाते हैं। उनकी यथादोष तथा यथारोग के अनुसार चिकित्सा करनी चाहिये ॥ ८५-८६ ॥

रुजायामक्षिरागे वा योगान् भूयो निबोध मे।
गैरिकं सारिवा दूर्वा यवपिष्टं घृतं पयः॥
मुखालेपः प्रयोज्योऽयं वेदनारागशान्तये ॥ ८७ ॥

दुष्ट शलाका के प्रयोग से उत्पन्न नेत्र की वेदना या लालिमा में दुष्टव्यध से उत्पन्न होने वाले नेत्र रोगों (उपद्रवों) के नाशक योगों का वर्णन करता हूं, उन्हें मुझसे सुनो। स्वर्णगैरिक, सारिवा, दूर्वा और जौ का आटा इन्हें घृत तथा दुग्ध के साथ अच्छी प्रकार पीस कर अग्नि पर पका के नेत्रों पर सुहाता हुआ लेप करने से वेदना और लालिमा की शान्ति हो जाती है॥

मृदुभृष्टैस्तिलैर्वाऽपि सिद्धार्थकसमायुतैः।
मातुलुङ्गरसोपेतैः मुखालेपस्तदर्थकृत् ॥ ८८ ॥

इसी प्रकार अग्नि पर मृदु (हल्के) रूप में भूने हुये तिल लेकर उनमें उतनी ही सफेद सरसों मिला कर बिजोरे नीबू के रस के साथ पीस कर अग्नि पर पका के सुहाता लेप करने से नेत्र की पीडा और लालिमा दूर होती है ॥ ८८ ॥

पयस्यासारिवापत्रमञ्जिष्ठामधुकैरपि।
अजाक्षीरान्वितैर्लेपः सुखोष्णः पथ्य उच्यते ॥८९॥

क्षीरकाकोली, सारिवा (अनन्तमूल), तेजपात, मजीठ और मुलेठी इन्हें समान प्रमाण में लेकर बकरी के दुग्ध के साथ पत्थर पर महीन पीस कर अग्नि पर पका के सुहाता लेप करने से नेत्र की वेदना तथा लालिमा नष्ट होती है ॥ ८९ ॥

दारुपद्मकशुण्ठीभिरेवमेव कृतोऽपि वा।
द्राक्षामधुककुष्ठैर्वा तद्वत् सैन्धवसंयुतैः ॥९०॥

उक्त प्रकार से ही देवदारु या दारुहरिद्रा, पद्माख और सोंठ इन्हें बकरी के दुग्ध के साथ पीस कर गरम कर के नेत्रों पर लेप करने से उनकी वेदना और लाली नष्ट होती है। किंवा दाख, मुलेठी, कूठ और सैन्धव लवण इन्हें बकरी के दुग्ध के साथ महीन पीस कर गरम करके नेत्रों पर सुहाता लेप करने से राग और वेदना नष्ट होती है ॥ ९० ॥

रोध्रसैन्धवमृद्वीकामधुकैर्वाऽप्यजापयः।
शृतं सेके प्रयोक्तव्यं रुजारागनिवारणम् ॥ ९१ ॥

लोध, सैन्धव लवण, मुनक्का और मुलेठी इनके कल्क तथा क्वाथ के साथ शृत (उबाला हुआ) बकरी के दुग्ध के द्वारा नेत्रों का सिञ्चन या सेक करने से नेत्र की पीडा और लालिमा का निवारण (नाश) होता है ॥ ९१ ॥

मधुकोत्पलकुष्ठैर्वा द्राक्षालाक्षासितायुतैः।
ससैन्धवैः शृतं क्षीरं रुजारागनिबर्हणम् ॥ ९२ ॥

मुलेठी, नीलकमल, कूठ, मुनक्का, लाख, शर्करा और सैन्धव लवण इनके क्वाथ और कल्क से शृत (सिद्ध या उबाला हुआ) बकरी का दुग्ध सेक रूप में प्रयुक्त करने से नेत्र की पीडा और लालिमा को नष्ट करता है ॥ ९२ ॥

शतावरीपृथक्पर्णीमुस्ताऽऽमलकपद्मकैः।
साजक्षीरैः शृतं सर्पिर्दाहशूलनिबर्हणम् ॥९३॥

शतावर, पृष्ठपर्णी, नागरमोथा, आंवला और पद्माख इनका कल्क तथा क्वाथ लेकर बकरी का दुग्ध मिला के बकरी ही का घृत डाल कर यथाविधि उसे पका कर(उ)न के नेत्रों का सिञ्चन करने से यह नेत्र के दाह और शूल को नष्ट करता है ॥ ९३ ॥

वातघ्नसिद्धे पयसि सिद्धं सर्पिश्चतुर्गुणे।
काकोल्यादिप्रतीवापं तद् युञ्ज्यात् सर्वकर्मसु ॥९४॥

प्रथम वातनाशक भद्रदार्वादिगण की ओषधियों के कल्क द्वारा सिद्ध किये हुये बकरी के चतुर्गुण दुग्ध में काकोल्यादिगण की ओषधियों का कल्क डाल कर बकरी का घृत सिद्ध कर लेना चाहिये। इस घृत को नेत्र पर लेप, अञ्जन और सेक के रूप में नेत्र के सर्व रोगों में प्रयुक्त करने से लाभ होता है॥

शाम्यत्येवं न चेच्छूलं स्निग्धस्विन्नस्य मोक्षयेत्।
ततः सिरां दहेद्वाऽपि मतिमान् कीर्तितं यथा ॥९५॥

नेत्रशूल में सिरामोक्षण—यदि उक्त चिकित्साविधियों से नेत्रशूल शान्त न होता हो तो प्रथम उस रुग्ण का स्नेहन कर के स्वेदन कराना चाहिये। इसके अनन्तर उपनासिका, अपाङ्ग या ललाट प्रदेश की सिरा का वेध कर के रक्तमोक्षण करना चाहिये। यदि ऐसा करने पर भी शूल का शमन न हो तो उन स्थानों की सिरा का दाह करना चाहिये ॥ ९५ ॥

दृष्टेरतः प्रसादार्थमञ्जने शृणु मे शुभे।
मेषशृङ्गस्य पुष्पाणि शिरीषधवयोरपि ॥ ९६ ॥
सुमनायाश्च पुष्पाणि मुक्ता वैदूर्यमेव च।
अजाक्षीरेण सम्पिष्य ताम्रे सप्ताहमावपेत् ॥
प्रविधाय च तद्वर्तीर्योजयेच्चाञ्जने भिषक् ॥९७॥

१ शातकुम्भी = सुवर्णमयी, शतकुम्भे पर्वतविशेषे भवं शातकुम्भं, ततो ङीप्। 'यं गर्भं सुषुवे गङ्गा पावकाद्दीप्ततेजसम्। तदुल्बं पर्वते न्यस्तं हिरण्यं समपद्यत॥' इति वायुपुराणम्।

नेत्रप्रसादनाञ्जन—अब इसके अनन्तर अर्थात् शस्त्रकर्म द्वारा लिङ्गनाश चिकित्सा में सफलता प्राप्त हो गई हो तथा दस दिन तक उपचार-पथ्यादि के समाप्त हो जाने पर नेत्रों के निर्मलीकरणार्थ दो अञ्जन का वर्णन मुझ से सुनो। प्रथम अञ्जन—मेषशृङ्ग (मेढासींगी अथवा पुत्रजीवानुकारी वृक्ष) के पुष्प, शिरीष के पुष्प, धव के पुष्प, चमेली के पुष्प, मुक्ताविष्टी, वैडूर्य इन सब को समान प्रमाण में लेकर महीन पीस के बकरी के दुग्ध के साथ खरल कर एक सप्ताह तक ताम्रपात्र में रखें। आठवें दिन इसकी यव के आकार की वर्तियां बना के सुखा कर शीशी में भर देवें। वैद्य इस वर्ति को गुलाब जल में पीस कर रोगी के नेत्र में अञ्जन करावे। इससे दृष्टि निर्मल हो जाती है ॥ ९६–९७ ॥

स्रोतोजं विद्रुमं फेनं सागरस्य मनःशिलाम् ॥९८॥
मरिचानि च तद्वर्त्तीः कारयेच्चापि पूर्ववत्।
दृष्टिस्थैर्यार्थमेतत्तु विदध्यादञ्जने हितम् ॥ ९९ ॥

द्वितीय अञ्जन—स्रोतोऽञ्जन, मूंगा, समुद्रफेन, मैनसिल और काली या श्वेत मरिच इन्हें समान प्रमाण में लेकर महीन पीस के बकरी के दुग्ध के साथ खरल कर वर्तियां बना के सुखा कर शीशी में भर देवें। दृष्टि की स्थिरता (दृढता) के लिये इन वर्तियों को गुलाब जल में घिस कर अञ्जन करना चाहिये ॥ ९८–९९ ॥

भूयो वक्ष्यामि मुख्यानि विस्तरेणाञ्जनानि च।
कल्पे नानाप्रकाराणि तान्यपीह प्रयोजयेत् ॥१००॥

इति सुश्रुतसंहितायामुत्तरतन्त्रान्तर्गते शालाक्यतन्त्रे
दृष्टिगतरोगविज्ञानीयो नाम सप्तदशोऽध्यायः ॥१७॥

वक्ष्यमाण 'क्रियाकल्प अध्याय' में विस्तारपूर्वक अनेक प्रकार के जिन मुख्य अञ्जनों का वर्णन करूंगा, उनका भी यहां प्रयोग करना चाहिये ॥ १०० ॥

विमर्शः—लिङ्गनाश, नीलिका, काच या मोतियाबिन्द Cataract भारतवर्ष में बहुत प्रचलित रोग है। आयुर्वेद दृष्टि से प्रथम, द्वितीय तथा तृतीय पटलगत तिमिर जब चतुर्थ पटल में–जो कि तेज और जल का आश्रय है–आ जाता है तब दृष्टि को पूर्णतया अवरुद्ध कर देता है उस दशा को 'लिङ्गनाश' कहते हैं। लिङ्ग अर्थात् चक्षुरिन्द्रिय की शक्ति उसका नाश जिस रोग में हो वह 'लिङ्गनाश' है। इसकी नातिरूढ या नातिवृद्ध अवस्था को Immatured cataract कहते हैं। इस दशा में प्रकाशमान पदार्थ का ज्ञान होता है किन्तु पूर्णतया अन्धकार सा भासित होने पर Matured cataract कहा जाता है। इस दशा में दृष्टि बिलकुल बन्द हो जाती है, पदार्थ धुंधला अथवा नहीं दिखाई देता है किंवा प्रकाशयुक्त तथा चमकने वाली वस्तुओं का ज्ञानमात्र होता रहता है। जिसको लोक भाषा में 'कच्चा मोतियाबिन्द' कहते हैं। वह नातिरूढ (Immatured cataract है तथा जिसे 'पका मोतियाबिन्द' कहते हैं वह Matured cataract है। लिङ्गनाश में जब दो दोषों (पित्त एवं रक्त) का सम्बन्ध होता है तब उसे 'परिम्लायी काच' कहते हैं। इसमें राग न हुआ हो तो 'तिमिर' तथा राग प्राप्त हो गया हो तो 'काच' कहलाता है जो कि आगे बढ़ कर दृष्टि को नष्ट कर देता है तब 'लिङ्गनाश' कहलाता है। दोष प्रथम और द्वितीय पटल में रहते हैं तो वह 'तिमिर' कहलाता है तथा साध्य होता है। दोष जब तृतीय पटल में चला जाता है और दृष्टि का रञ्जन कर देता है तब उसे 'काच' कहते हैं तथा वह याप्य होता है। दोष के चतुर्थ पटल में जाने पर 'लिङ्गनाश' संज्ञा हो जाती है। इसमें श्लैष्मिकलिङ्गनाश को छोड़ कर शेष सभी लिङ्गनाश असाध्य होते हैं। सुश्रुतोक्त तिमिर Progressive cataract, काच Immatured cataract तथा रूढकाच या लिङ्गनाश Matured cataract है। लिङ्गनाश के श्लैष्मिक प्रकार को छोड़ कर शेष पांच प्रकारों को असाध्य माना है तथा तिमिर, काच प्रभृति को दोषानुसार साध्य या याप्य माना है। अब लिङ्गनाश का आधुनिक ढङ्ग से हेतु, लक्षण, चिकित्सा तथा शस्त्र कर्म का संक्षेपरूप से वर्णन किया जाता है। जब काचबिन्दु पक जाता है तो वह पुतली के नीचे मोती जैसे दिखलाई देता है अतः उसे 'मोतियाबिन्द' कहते हैं। इसके मुख्य दो भेद होते हैं जैसे (१) प्रधान (Primary) और दूसरा औपद्रविक या Secondery। प्रधान के पुनः दो भेद होते हैं प्रथम को 'पूर्ण लिङ्गनाश' (Total) तथा द्वितीय को 'अपूर्ण लिङ्गनाश' (Partial) कहते हैं। पूर्णलिङ्गनाश के निम्न सातभेद होते हैं—

(१) सहज (Congenital), (२) शैशवीय (Infantile), (३) युवावस्थाजन्य (Jevenile), (४) जरालिङ्गनाश (Senile), (५) आघातजन्य (Traumatic), (६) मधुमेहजन्य (Diabetic), (७) कृष्णकाच (Black cataract)। अपूर्ण लिङ्गनाश के निम्न पांच भेद होते हैं—

(१) पूर्वमध्यस्थ (Anterior polar), (२) पश्चान्मध्यस्थ (Posterior polar) (३) चिह्नमय (Punctate) (४) चक्राकार (Zonular lameilar), (५) पश्चाद्वर्तिगर्भगत (Posterior cortical)। औपद्रविक लिङ्गनाश के निम्न दो भेद होते हैं—

(१) दृष्टिमणि आवरणगत लिङ्गनाश (Capsular opacity), (२) उपद्रुत लिङ्गनाश (Complicated cataract)। इन उपर्युक्त भेदों तथा उपभेदों में से जराजन्यलिङ्गनाश (Senile) ही भारतवर्ष में अधिक (९९%) पाया जाता है अतः इसी प्रकार का विशेष उल्लेख करना उचित है।

लक्षण और चिह्न—इसका एक ही लक्षण है तिमिर, रोगी की दृष्टि में क्रमशः न्यूनता लिङ्गनाश या मोतियाबिन्द का प्रारम्भ दृष्टिमणि के जिस भाग में और जिस तरह होता है उसी के ऊपर दर्शन शक्ति या रूपग्रहण की शक्ति की न्यूनता आधारित रहती है। यह न्यूनता दृष्टिमणि की अपारदर्शकता के कारण होती है। इसी की प्राचीन संज्ञा 'दोषावस्थान' भी सुश्रुत ने दी है। यथा—यदि अपारदर्शकता सूक्ष्म और अतिमर्यादित हो तो दृष्टिशक्ति में विशेष बाधा नहीं आती। यदि अपारदर्शकता (दोषावस्थान) मध्य में हो तो दृष्टि को विशेष बाधा पहुंचती है। यदि अपारदर्शकता दृष्टिमणि के परिधिप्रान्त में हो तो दृष्टि में विशेष न्यूनता नहीं आती।

दृष्टिमान्द्य के सिवाय मोतियाबिन्द में पाया जाने वाला दूसरा लक्षण मिथ्यादर्शन भी है जैसे दृष्टि के समक्ष स्थिर

काला धब्बा का भासना। कई बार यदि मोतियाबिन्द दृष्टिमण्डल के कुछ अंश में एक ओर हो और दृष्टिमणि का भाग स्वच्छ हो तो एक आंख से देखने पर रोगी को दो-दो भासता है इस स्थिति को द्विधादर्शन या एकाक्षिद्विधादर्शन (Monocular Diplopia) कहते हैं।

अनेक मोतियाबिन्द के रोगियों में प्रारम्भिक अवस्था में यदि रोगी दूर दृष्टि वाला हो तो निकट दृष्टि हो जाती है। यदि रोगी की दृष्टि प्राकृतिक हो, पूरी दृष्टि वाली हो तो वह भी ह्रस्वदृष्टि वाला हो जाता है। इन्हीं लक्षणों का विस्तृत वर्णन आचार्य सुश्रुत ने तिमिर नामक रोग से प्रथम, द्वितीय और तृतीय पटलाश्रित दोषावस्थानों में किया है यथा 'दृष्टि की विह्वलता, अव्यक्त रूपदर्शन, मक्षिका, मशक, केश, जालक, मण्डल, तम प्रभृति काली चीजों का भासना। दृष्टि इन्द्रिय का विभ्रम अर्थात् दूरस्थ को समीपस्थवत् तथा समीपस्थ को दूरस्थवत् देखना, ऊपर को देखना, नीचे को न दिखाई देना, एक को द्विधा समझना, द्विधा को त्रिधा और बहुधा समझना इत्यादि लक्षण लिङ्गनाश के पूर्वरूप में होते हैं। मोतियाबिन्दु के बढ़ने से दृष्टि अधिकाधिक मन्द पड़ती जाती है। बाद में नेत्र के समक्ष वाले काले मण्डल, पदार्थ या धब्बे बिल्कुल नहीं दिखाई देते हैं। द्विधा दर्शन होना भी दूर हो जाता है। शनैः शनैः मोतियाबिन्दवाली दृष्टि बिल्कुल बन्द हो जाती है। फिर कोई भी वस्तु नहीं प्रतीत होती है और न दीखती है। रोगी मनुष्य को देख उसका आकार नहीं पहचान सकता है। घर में भी टहलते हुये उसे हाथ का सहारा लेना पड़ता है। केवल अन्धकार और प्रकाश का ही बोध शेष रह जाता है। जब तिमिर वाला रोग बढ़ता हुआ चतुर्थ पटल में अवस्थित हो जाता है तो लिङ्गनाश की अवस्था उत्पन्न हो जाती है। रोगी किसी भी वस्तु को वस्त्र के ढके के समान देखता है। कान, नाक और आंख को विकृत देखता है। दृष्टि सर्वतो भावेन रुद्ध हो जाती है। यदि रोग अतिरूढ न हो तो चन्द्र, सूर्य, नक्षत्र, विद्युत्, गैस आदि प्रकाशमान या चमकदार चीज का ज्ञान हो जाता है।

लिङ्गनाश की आधुनिक परीक्षा विधियां—यह परीक्षा अन्धेरी कोठरी में करनी चाहिये। तारक-प्रसारक औषधियों में होमेट्रोपिन, कोकेन, यूफ्थेलमिन, हाइड्रोक्लोराइड या एफ्रन्ड्री सल्फेट में से किसी एक के निक्षेप से तारक (Pupil) को प्रसारित कर लेना चाहिये। फिर नेत्रदर्शकयन्त्र (Opthalmoscope) से दृष्टिमणि की परीक्षा रोगी को आसन पर बिठा कर डेढ़ फुट की दूरी से की जाती है। दीपक का प्रकाश रोगी की तारक पर डालें। इस से तारक लाल भासेगा। यदि तारक (Pupil) बिल्कुल रक्तवर्ण और स्वच्छ प्रतीत हो तो रोगी को मोतियाबिन्द नहीं है यह निश्चित हो जाता है। यदि उस प्रकाशित भाग में काला धब्बा या धब्बे प्रतीत हों तो (१) कृष्णमण्डल, (२) दृष्टिमणि और (३) सान्द्रद्रव (Vitreous humour) इन तीनों में से किसी एक की अपारदर्शकता है। फिर इनमें से किसकी? यह जानने के लिये नेत्रवैद्य अपना सिर चलावे। यदि अपारदर्शकता चलती प्रतीत हो तो वह किस ओर गति करती है यह देखे। सिर के चलने की विपरीत दिशा में गति हो तो अपारदर्शकता कृष्णमण्डल में, स्थिर रहे तो दृष्टिमणि के आवरण के हिस्से में और समान दिशा में या साथ-साथ गति हो तो दृष्टिमणि के बीच में या पिछले हिस्से में माने। यदि अपारदर्शकता चल हो अर्थात् जल में तैरती सी भासती हो अर्थात् स्वस्थान बदलती रहती हो तो वह सान्द्रद्रव (V. H.) में रहती है। अर्थात् नेत्रवैद्य का सिर जिस दिशा में चलेगा अपारदर्शकता भी उसी दिशा में चलेगी। उक्त रीति के सिवाय स्लीटलैम्प और कार्नियललुप (कृष्णमण्डलेक्षण यन्त्र) से भी परीक्षा कर सकते हैं। इससे दृष्टिमणि अवस्थित सूक्ष्म अपारदर्शकता का ज्ञान हो जाता है।

यदि दृष्टिमणि की अपारदर्शकता बहुत बढ़ी हुई हो तो खिड़की से आने वाले प्रकाश से परीक्षा करने पर तारक (Pupil) का रङ्ग राख जैसा भासता है। अन्धेरे कमरे में तारक पर प्रकाश डालने से लिङ्गनाश की बिन्दु साफ प्रतीत होती है। अपकावस्था में उसका वर्ण नील या कांच जैसा भासता है और यदि पक गया हो तो तारक से सफेद भासेगा। पकने के पश्चात् यदि मोतियाबिन्द देखने से दुग्ध समान प्रतीत हो तो उसे दूधिया मोतियाबिन्द या श्लैष्मिक लिङ्गनाश (Milky cataract) कहते हैं। यदि पकने के बाद वह श्वेत न बना हो तो तारक पीताभ ही भासता है और मोतियाबिन्द काले रङ्ग का या नीलवर्ण का हो जाता है इसे Black cataract कहते हैं। इस दशा में तारक पर प्रकाश डालने से वह प्रकाशित न रह कर अपारदर्शक प्रतीत होगा।

तीसरी परीक्षा लिङ्गनाश की पक्वापक्व अवस्था निर्णय के लिये की जाती है। सुश्रुताचार्य ने भी लिङ्गनाश की लाक्षणिक दृष्टि से तीन अवस्थाएं मानी हैं जैसे (१) अरूढ या नातिरूढ (Immatured), (२) रूढ (Matured) तथा (३) अतिरूढ (Hyper matured)। जब लिङ्गनाश पर्याप्त बढ़ गया हो तब यह परीक्षा की जाती है। इसके लिये २० बहिर्गोल कांच से एक ओर से दीपक का प्रकाश तारक पर डाला जाता है। यदि बिन्दु अपक्वावस्था में है तो जिस ओर से प्रकाश आता है उस ओर के तारक के भाग में अर्द्धचन्द्राकार छाया प्रतीत होगी। यह छाया तारामण्डल का प्रतिबिम्ब (Iris shadow) है। पक्वावस्था के पूर्ण न होने तक यह छाया बनती रहेगी। इससे पक्वापक्वावस्था का निर्णय हो जाता है।

तारकप्रतिक्रिया (Reaction of pupil) प्रकाश के भावाभाव से आकुञ्चन एवं प्रसारण।

प्रकाशदर्शन—दीपक का प्रकाश रोगी के तारक पर डालने से उसका ज्ञान होता है कि नहीं?

प्रकाशप्रक्षेप (Light projection)—दृष्टिवितान (Retina) पर डाला हुआ प्रकाश ऊपर, नीचे, बाहर, भीतर या पार्श्व से डाल कर यह देखना कि रोगी को प्रकाशदिशा का ज्ञान होता है या नहीं? जरालिङ्गनाश की विविध अवस्थाएं (Stages of cataract) (१) प्रारम्भिक अवस्था (Incipient stage) तिमिर। (२) अर्द्धपक्वावस्था (Intumescent cataract) नातिरूढावस्था। (३) पक्वावस्था (Mature cataract) रूढावस्था। (४) अतिपक्वावस्था। (Hyper matured) अतिरूढावस्था। इन उपर्युक्त चार अवस्थाओं को सुश्रुतीय चार पटलों के दोषों में मान लें तो प्राचीन वर्णन युक्तियुक्त प्रतीत होता है।

प्रारम्भिक अवस्था के भीतर और तीन अवस्थाएं होती हैं

जैसे त्रिकोणाकार पारदर्शकता, इसमें दर्शनशक्ति में कोई हानि नहीं होती है किन्तु लेंस का वर्ण पीताभ या कृष्णाभ हो जाता है।

धूमसदृश अपारदर्शकता—इसमें रुग्ण को दृश्यरूप मलमल के कपड़े से ढके हुये से या कुहरे से आच्छन्न के समान दिखाई देता है। मध्याह्न में कम दिखाई पड़ता है (दिवान्ध्य) तथा प्रातः-सायं कुछ साफ देखता है। लेंस काला दीखता है।

मण्डलाकार अपारदर्शकता—इसमें काले वर्ण के चक्र की धुरी के आकार के किरण निकलते हैं तथा मकड़ी के जाल का आकार भासता है।

अङ्गुलीसदृश अपारदर्शकता—प्रकाश डालकर देखने पर नेत्रदर्शक यन्त्र से मुद्रिका जैसी अपारदर्शकता दीखती है।

अर्द्धपकावस्था—इसमें लेंस फूलता है तथा अपारदर्शक हो जाता है। दृष्टि अतिशय मन्द हो जाती है। लिङ्गनाश श्वेताभ भासता है।

पकावस्था—इस अवस्था में पहुँचने पर दृष्टि लगभग बन्द हो जाती है। मनुष्य का आकार नहीं जाना जा सकता है। नेत्र के समीप में हाथ हिलाने से रोगी को उसका बोध होता है। पूरा लेंस अपारदर्शक हो जाता है तथा उसका वर्ण श्वेताभ या पीताभ भासता है। तारक का आकुञ्चन और प्रसारण प्रकाश की प्रतिक्रिया के अनुरूप होता है। केटेरेक्ट का शल्यकर्म इसी स्थिति में किया जाता है। इस अवस्था का साम्य सुश्रुतोक्त श्लैष्मिक लिङ्गनाश से मिलता है तथा सुश्रुत ने भी इसी दशा को शस्त्रकर्म के योग्य और साध्य मानी है।

अतिपकावस्था—लिङ्गनाश की चिकित्सा न करने से लेंस के Cortex भाग में परिवर्त्तन होता रहता है। यदि उसके अन्दर अवस्थित द्रव का शोषण होता चला जाय तो सब गर्भपदार्थ दृष्टिमणि के बीज के साथ मिलकर कठोर बन जाते हैं साथ ही साथ बिन्दु भी छोटा हो जाता है। उसका रङ्ग अधिक मलिन और पीत हो जाता है। जब मोतियाबिन्द बहुत छोटा हो जाता है तब वह अपने बन्धनों से मुक्त हो जाता है तथा कांपने लगता है। रोगी के ऊपर, नीचे, बाहर, भीतर चलते मोतियाबिन्द भी साथ-साथ चलता रहता है। सुश्रुत ने इसी अवस्था का वर्णन 'चले दोषे स्थिरे वाऽपि' शब्दों में किया है किंवा 'चलत्पद्मपलाशस्थः शुक्लो बिन्दुरिवाम्भसः' शब्दों में किया है। यह द्रवशोषण क्रिया आगे बढ़ती है तो दृष्टिमणि का बीज इतना छोटा हो जाता है कि सरक कर निम्न भाग में तारा-मण्डल के पीछे गिर जाता है। ऐसा होने पर दर्शन क्रिया पुनः प्रारम्भ हो जाती है। आचार्य सुश्रुत ने परिम्लायी काच का वर्णन ठीक इसी प्रकार किया है। इसमें दृष्टिमण्डल म्लान और नील हो जाता है। इसमें कई बार दोष का क्षय होकर अपने आप रूप का दर्शन होने लगता है। 'दोषक्षयात्स्वयं तत्र कदाचित् स्यात्तु दर्शनम्' यदि दृष्टिमणि का शोषण इतना अधिक न हो और मोतियाबिन्द न निकाला जाय तो उसका पर्त आगे की ओर मोटा हो जाता है और कभी-कभी उस पर सफेद बिन्दु उत्पन्न होते हैं। ये बिन्दु चूने जैसे क्षार से बनते हैं। बहुत से मोतियाबिन्दुओं में इस क्षार के स्थान पर पित्त के लवण (Cholestrin) जमते हैं जिससे चमकीले कई वर्ण के बिन्दु काच में भासते हैं। इस अवस्था का वर्णन प्राचीन आचार्यों ने 'समस्तदोषप्रभवो विचित्रः' शब्दों में किया है।

यदि शोषण क्रिया न हो और पदार्थ द्रव रूप धारण कर ले तो वह दिन-प्रतिदिन गलने लगता है। फिर लेंस के बीज के अतिरिक्त शेष काचबिन्दु का भाग सफेद दुग्ध जैसा प्रवाही बन जाता है। इस स्थिति में इसे दूधिया काच या मार्गेनियन काच (Milky or marganian cataract) कहा जाता है। इस स्थिति में गर्भपदार्थ दुग्ध जैसे द्रव का रूप ले लेता है और उसके भीतर बीज तैरता रहता है। रोगी नेत्र या सिर चलावे तो बीज भी उसके साथ चलता है। इसी अवस्था का वर्णन आचार्य सुश्रुत ने सम्भवतः दोषानुसार राग प्राप्त दृष्टिमण्डल के वर्णनों में किया है। उसमें उन्होंने लिखा है कि श्लेष्म दोष के कारण दृष्टिमणि का वर्ण शङ्ख, कुन्द, इन्दु के समान पाण्डुर हो जाता है। उस की चञ्चलता इस प्रकार बढ़ जाती है जिस प्रकार कमल के पत्ते पर रखे हुये जल की अस्थिर बिन्दु। अथवा नेत्र में गति होने पर उसमें भी गति होती है 'मृज्यमाने च नयने मण्डलं तद्विसर्पति'। यदि इस दूधिया बिन्दु को रहने दें तो वह उसी स्थिति में रह जाता है या प्रवाही पदार्थ शोषित होने लगता है और फिर अन्त में बीज ही शेष रह जाता है। यह बीजस्थली के भीतर तारामण्डल के पीछे पड़ा रहता है। यदि बिन्दु का पर्त अपार-दर्शक न बना हो तो इस स्थिति में रोगी बिना किसी चिकित्सा कराये अपने आप देखने लग जाता है।

कारण—जरा अवस्थागत लिङ्गनाश के कारणों का अभी तक ठीक-ठीक निश्चय नहीं होने पाया है तथापि निम्नलिखित छः कारण माने गये हैं।

१. वृद्धावस्थाजनित दृष्टिमणि और उसके अवस्था में होने वाले परिवर्तन।

२. वृद्धावस्था के कारण सजल द्रव (A. H.) के मौलिक द्रव्यों में परिवर्तन।

३. प्रकाशाधिक्य—यह रोग उष्ण कटिबन्ध का है। सूर्य की किरणों में से नीललोहित (Ultra violet) नेत्र के लिये हानिकारक है।

४. उष्णताधिक्य—इन में रक्तातीत (Infra red rays) हानिप्रद है। भट्टी में काम करने वालों में इसी प्रकार का लिङ्ग-नाश (Glass blowers cataract) हो जाता है।

५. देहपोषक जीवनीय तत्वों की न्यूनता।

६. शारीरिक अन्तःस्रावी ग्रन्थियों के स्रावों की न्यूनता।

चिकित्सा—लिङ्गनाश (Cataract) की चिकित्सा दो भागों में विभक्त है। नं० १ औषधोपचार तथा नं० २ शास्त्र चिकित्सा। प्रथम में बाह्य या स्थानिक उपचार अर्थात् नेत्र में डालने या निक्षेप की ओषधियों का प्रयोग तथा आभ्यन्तर प्रयोग की ओषधियों का समावेश होता है।

स्थानिक जैसे (१) एट्रोपीन ½ से ¼ ग्रेन तथा परिस्नुत जल एक औंस में विलयन बनाकर चार-चार दिन के अन्तर से नेत्र में छोड़ना।

(२) पोटास आयोडाइड (४—ग्रेन, १ औंस पानी) में बना कर निक्षेप।

(३) Cineria meritima। (४) पलाशमूलार्क।

(५) डायोनीन आश्च्योतन।

(६) कुसीरोविडो आयडो कैल्शियम मलहर।

अन्तःप्रयुज्य औषधियां—(१) पौष्टिक आहार, (२) कोष्ठशुद्धि, (३) निदानपरिवर्जन, (४) आयोडीन के प्रयोग–कोलोजल आयोडीन, सोडा आयोडाइड, पोटास आयोडाइड, (५) राइवो फ्लेविन, (६) चतुष्य द्रव्यों में वीटामीन ए० बी० और डी० का प्रयोग।

शस्त्रकर्म—यह भी ६ प्रकार का है। (१) दृष्टिमणि के आवरण का लेखन (Discission)। (२) दृष्टिमणि के आवरण का भेदन कर काच का आहरण (Cataract extraction with capsulotomy) (३) आवरण सह काचबिन्दु के आहरण (Intracapsular extraction of cataract) की चार पद्धतियां हैं जैसे स्मिथ, नैप, एलश्रिग, बाराकट आविष्कारकों के नाम पर ये संज्ञायें दी गई हैं। (४) जरमेक की पद्धति अथवा दृष्टिमणि का नेत्र श्लेष्मावरण के नीचे से निकालना (Zermack's subconjunctival extraction of lens) (५) काच को भीतर बैठाना या स्थानभ्रष्ट करना (Couching of lens) (६) काच के आहरण के पश्चात् आवरण की शस्त्रक्रिया (Operation for post operative capsular opacity)

(अ) आवरणभेदन (Needling)

(आ) आवरण का आहरण (Removal of capsule) इस वर्णन से यह प्रतीत होता है कि सिद्धान्ततः प्राचीन तथा अर्वाचीन चिकित्सा में मूलतः कोई भेद नहीं है। प्राचीनों ने भी प्रथम बाह्य और आभ्यन्तर उपचार तथा सफलता न मिलने पर शस्त्रोपचार का उल्लेख किया है। सुश्रुतोक्त शस्त्रकर्म एक बहुत ही व्यावहारिक क्रिया है। सूत्ररूप में वर्णन होने से इस शस्त्रकर्म को आधुनिक भिन्न भिन्न नाम दिये हैं। कुछ लोग सुश्रुतोक्त शस्त्रकर्म को Couching of the lens बतलाते हैं। अन्य Needling कहते हैं। तथा कई लोग इसको वर्तमान शस्त्रकर्म (Intra capsular extraction of the lens) समझते हैं। प्राचीनों ने शस्त्रकर्म के दो रूप दिये हैं। प्रथम वेध तथा द्वितीय लेखन।

प्रथम—वेधन का वर्णन 'मतिमान् शुक्लभागौ द्वौ कृष्णान्मुक्त्वा अपाङ्गतः। उन्मील्य नयने सम्यक् सिराजालविवर्जिते॥ नाधो नोर्ध्वं न पार्श्वाभ्यां छिद्रे दैवकृते ततः। शलाकया प्रयत्नेन विश्वस्तं यववक्त्रया॥ इत्यादि रूप से किया है। अर्थात् यवमुखी शलाका के द्वारा ठीक दैवकृत छिद्र में जहां पर सिराजाल (Blood vessels) नहीं हो वेध करे। यह दैवकृत छिद्र नेत्र में कहां है यह देखना है। 'शुक्लभागौ द्वौ कृष्णान्मुक्त्वा अपाङ्गतः' यहां दो दो अपादानों का प्रयोग है 'अपाङ्गतः' और 'कृष्णात्' इनमें प्रथम अपाङ्गतः का अर्थ डल्हणाचार्य के अनुसार अपाङ्ग के समीप में समझना चाहिये। कृष्णात् का अर्थ कृष्णमण्डल से वहां शुरू करके शुक्लभाग में अपाङ्ग (Outer canthus) की ओर चले, दो भागों को छोड़ कर ठीक तीसरे भाग की सन्धि में वेध करे। अर्थात् अपाङ्ग से कृष्णभाग तक की दूरी नाप कर उसके तीन भाग करे। अपाङ्ग से प्रारम्भ होने पर प्रथम तृतीय (⅓) के अन्त और दूसरे तृतीय के प्रारम्भ स्थल या सन्धिस्थल पर वेध करे। यह वेधन न नीचे, न ऊपर हो और न पार्श्व में अर्थात् कृष्ण भाग के अतिसमीप या अपाङ्ग के अतिसमीप हो। इन दोनों अवस्थाओं में उपद्रव होते हैं और नेत्र को हानि पहुंचती है। इस प्रकार यह वेधन का कर्म नेत्र श्लेष्मावरण के अधोभाग (Subconjunctival) में होता है। आचार्य वाग्भट ने भी इसी मत का समर्थन किया है 'कृष्णादर्धाङ्गुलं मुक्त्वा तथार्धार्धमपाङ्गतः' आंख के कृष्णभाग से आधा अङ्गुल छोड़ कर और अपाङ्ग से चौथाई अङ्गुल बचा कर शुक्ल भाग में वेध करे। कुछ विद्वानों ने इसका खींचातानी कर Pupil अथवा Sclero corneal junction अर्थ करके वेध का स्थान इन्हीं स्थानों को माना है किन्तु मूल तथा टीका और वाग्भट के अनुसार यह युक्तिसङ्गत नहीं है।

लेखन—'शलाकाग्रेण हि ततो निर्लिखेद् दृष्टिमण्डलम्' अर्थात् दृष्टिमण्डलगत कफ का लेखन करे। इस लेखन का कार्य उसी वेध की हुई शलाका के अग्र से करना चाहिये। जब लेखन की क्रिया हो जाय तो उस कफ दोष को निकाले। कुछ तो शलाका के निकालने के साथ ही निकल आयगा और अवशिष्ट उच्छिङ्घन (जोर से नाक साफ करने) से निकाले। यह कर्म निश्चित रूप से लेंस के ऊपर एकत्रित हुये दोषों का निर्लेखन करता है। ठीक इसी प्रकार के एक शस्त्रकर्म का वर्णन आधुनिक नेत्रग्रन्थों में मिलता है। इसे Dicission of the lens कहते हैं। यह भी मोतियाबिन्द के निकालने का एक अच्छा शस्त्रकर्म है। इसे निम्न प्रकार से करते हैं—कृष्णमण्डल की परिधि से शलाका का प्रवेश करा के उसकी नोक को लेंस के आवरण में प्रविष्ट करते हैं फिर आवरण का लेखन अच्छी तरह से हो जाय इस लिये नोक को ऊपर–नीचे कई बार फिराते हैं। इस शस्त्र क्रिया के परिणाम स्वरूप लेंस सजल द्रव के पूर्वखण्ड में प्रविष्ट हो जाता है और फिर धीरे–धीरे वह गल जाता है और कनीनिका बिल्कुल काली हो जाती है। रोगी की दृष्टि भी अच्छी हो जाती है। सम्भवतः प्राचीनों का लिङ्गनाशवेधन और लेखन यही कर्म रहा हो। अर्वाचीन पद्धति में अन्तर इतना ही है कि वेधन का कर्म कृष्णमण्डल (Cornea) की परिधि से किया जाता है। और सुश्रुत ने सन्धिस्थल को मर्म माना है इस लिये कृष्ण शुक्लगत सन्धि से वेधन न करके नेत्रश्लेष्मावरण के नीचे (Subconjunctival) से शलाका द्वारा वेधन करते हुये पूर्वकोष्ठ (Anterior chamber) में पहुंचाकर लेखन तथा जोर से नाक साफ करते हुये दोष को स्थानच्युत करने का विधान किया है। इस प्रकार सुश्रुतोक्त लिङ्गनाश शस्त्रकर्म को (Discission of Lens by subconjunctival puncture) कह सकते हैं। वर्तमान शस्त्रकर्मों में से एक और ऐसी पद्धति है जिससे सुश्रुतोक्त शस्त्रकर्म का बहुत कुछ साम्य हो जाता है। इसमें काचबिन्दु को हटाकर नेत्रश्लेष्मावरण से निकालते हैं। इसे Subconjunctival extraction of the lens कहते हैं। इस कर्म का अन्वेषण जरमैक नामक विद्वान् ने किया था। इस पद्धति में विधिपूर्वक श्लेष्मावरण में काट करके एक कोटर जैसा (६ मि० मी० लम्बा और ४ मि० मी० चौड़ा) गर्त्त बना लिया जाता है और फिर लेंस के आवरणों को तोड़कर दो छोटे तालयन्त्रों के सहारे एक से शुक्लमण्डल के ऊर्ध्व किनारे पर दबाव डालकर और दूसरे से निम्न किनारे पर दबाव डालकर मोतियाबिन्द के दाने को निकाल लेते हैं पश्चात् नेत्रश्लेष्मावरण को ठीक करके यथास्थान बैठा देते हैं। या एक दो टांके लगा देते हैं। इस क्रिया से श्लेष्मावरण का भेदन किया जाता है वेधन

(Puncture) नहीं। दूसरी बात यह है कि इस मार्ग से लेंस उच्छिङ्गन क्रिया द्वारा सहज से नहीं निकल सकता है बल्कि दोषनिर्हरण के लिये पर्याप्त बल देकर यन्त्र की सहायता आहरण में अपेक्षित है। अत एव यह सुश्रुतोक्त शस्त्रकर्म नहीं कहा जा सकता। लिङ्गनाश के विशेष प्रचलित दो शस्त्रकर्म इस समय किये जाते हैं। (१) आवरण सह काच का आहरण (Intra capsular extraction of cataract) (२) आवरण व्यतिरिक्त काच का आहरण।

शस्त्रकर्मयोग्य रोगी—रोगी की शारीरिक स्थिति अच्छी हो, उसे कास, श्वास, प्रतिश्याय, पाण्डु आदि रोग न हों। शस्त्रकर्म के पूर्व उसके मूत्र की परीक्षा शुक्ली तथा शर्करा के लिये करा लेनी चाहिये। दोनों का मूत्र में न होने पर शस्त्रकर्म किया जाता है। दांतों में पूय का स्थान, कर्णस्राव, गर्भाशय शोथ आदि हो तो प्रथम इन्हें दूर करें।

नेत्रस्थिति—नेत्र के उपाङ्गों में से किसी में जीर्णशोथ हो तो उसे दूर करना चाहिये। अच्छा हो कि नेत्र का स्राव लेकर उसकी सूक्ष्म परीक्षा करा लें। इसमें पूयजनक जीवाणुओं के अभाव होने पर शस्त्रकर्म किया जाता है। नेत्रान्तर्गतभार, दृष्टिशक्ति, तारक की प्रकाश प्रतिक्रिया, प्रकाशकिरण की दिशा का बोध आदि का ज्ञान भी कर लेना आवश्यक है।

पूर्वकर्म—प्रथम दिन रोगी को रात्रि में लघु भोजन देकर सोते समय विरेचन दे दें। दूसरे दिन प्रातःकाल शस्त्रकर्म के पूर्व एनीमा लगा के कोष्ठशुद्धि कर लें। फिर रोगी के मुख को हलके गरम पानी तथा कार्बोलिक सोप से रगड़ कर साफ कर लेना चाहिए। रोगी के नेत्र में मर्क्युरोक्रोम छोड़कर तथा पक्ष्म काटकर नेत्र की स्थानिक शुद्धि भी कर दें।

नेत्रनिमीलिनी पेशी का स्तम्भन—रुग्ण को शस्त्रकर्म के स्थान पर ले जाकर सूचीवेध के द्वारा नोवोकेन के २% के घोल में एड्रिनेलिन छोड़कर हनुसन्धि में ½ इञ्च नीचे और ½ इञ्च ऊपर की ओर आधा इञ्च सूची घुसाकर एक सी. सी. दवा प्रविष्ट कर दें पश्चात् वहां पर स्प्रिट लगाकर मसल देवें। पांच से दस मिनट के भीतर पेशी स्तम्भित हो जाती है जिससे नेत्र का निमीलन बन्द हो जायगा।

शस्त्रकर्म—रोगी को तख्ते (Operation table) पर लिटा कर उसकी आंखों का जीवाणुहर घोल से प्रक्षालन कर कोकेन और एड्रिनेलिन की बूंदें डालें। नेत्रसर्जन (नेत्रवैद्य) रोगी के सिर के पास खड़ा रहता है। ग्राफे का शस्त्र या लिङ्गनाशवृद्धिपत्र को दाहिनी आंख में कर्म करते समय बांएं हाथ में पकड़ना चाहिये। यदि ऐसा सम्भव न हो तो दाहिनी आंख में कर्म करते समय दाहिनी तरफ और बाईं में कर्म करते समय बाईं तरफ खड़े होना चाहिये। फिर गोलक को स्थिरता से पकड़ कर कृष्णमण्डल के बाहरी किनारे से शस्त्र को सजल द्रव के पूर्वखण्ड में प्रवेश कराके शस्त्र की नोक को दूसरी तरफ निकाले। शनैः शनैः स्थिर हाथ से शस्त्र को ऊपर की ओर चलावे और कृष्णमण्डल को काटते हुये ऊपरी किनारे तक काट दे। फिर यथावश्यक लेंस के आवरण का भेदन करके दृष्टिमणि को निकाले या आवरण सहित दृष्टिमणि को तालयन्त्र के सहारे पीडन करते हुये शनैः शनैः निकाल ले। फिर मर्क्युरोक्रोम या पेनिसीलीन के बने विलयन की एक दो बूंद नेत्र में डालकर नेत्र पर कवलिका रखकर व्रणबन्ध कर दे।

पश्चात्कर्म—रोगी को फल और दूध पर रखना चाहिये। चौबीस घण्टे तक उत्तानशयन कराकर रखे। मलमूत्र का त्याग भी रोगी को शय्या पर लेटे ही लेटे करावे। इसके लिये वर्चःपात्र और मूत्रपात्र का प्रयोग करना चाहिये। चौबीस घण्टे बाद यह बन्धन खोलकर नेत्र के उपाङ्गों की स्थिति देखकर एट्रोपीन और एड्रिनेलिन की बूंद नेत्र में छोड़े फिर मर्क्युरोक्रोम की बूंदें डाले। नेत्र की दशा सन्तोषजनक हो तो प्रतिदिन दिन में एक बार पट्ट खोलकर मर्क्युरोक्रोम की बूंदें छोड़नी चाहिये। नौवें दिन पट्टी खोलकर हरी पट्टी या काला चश्मा देकर रोगी को घर जाने दें। शस्त्रक्रिया के २४ घण्टे बाद रोगी एक करवट बदले तथा ४८ घण्टे के बाद दोनों करवटें बदल सकता है। ७२ घण्टे बाद वह थोड़े समय के लिये अपने बिस्तरे ही पर बैठ सकता है। पांचवें दिन रुग्ण थोड़ा-थोड़ा चल सकता है। भोजन में दो दिन तक दुग्ध, पश्चात् हलुआ, खिचड़ी, चावल आदि नरम खाद्य पेय देने चाहिये।

डेढ़ मास के अनन्तर रोगी को चश्मा दिया जाता है।

इत्यायुर्वेदतत्त्वसंदीपिकाभाषाटीकायामुत्तरतन्त्रे दृष्टिगतरोगविज्ञानीयो नाम सप्तदशोऽध्यायः ॥ १७ ॥

अष्टादशोऽध्यायः ।

अथातः क्रियाकल्पं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥ २ ॥

अब इसके अनन्तर 'क्रियाकल्प' अध्याय का व्याख्यान करते हैं जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने कहा है ॥ १-२ ॥

विमर्शः—क्रियाणां तर्पणपुटपाकसेकप्रभृतीनां कल्पनं कारणं क्रियाकल्पस्तम्। पूर्व के अध्यायों में नेत्ररोगों के विनाशार्थ तर्पण, पुटपाक, सेक प्रभृति अनेक क्रियाओं का नाम निर्देश आया है अतः इस अध्याय में उनके कल्प अर्थात् निर्माण की विधि का वर्णन किया जायगा।

सर्वशास्त्रार्थतत्त्वज्ञस्तपोदृष्टिरुदारधीः ।
वैश्वामित्रं शशासाथ शिष्यं काशिपतिर्मुनिः ॥ ३ ॥

सर्वशास्त्रों के अर्थ तथा तत्त्व (मर्म) को जानने वाले, तपश्चर्या के द्वारा विशिष्ट ज्ञान को प्राप्त किये हुये एवं उत्कृष्ट बुद्धि (धारणा शक्ति) वाले काशिराज मुनि धन्वन्तरि ने विश्वामित्र के पुत्र सुश्रुत नामक शिष्य को आयुर्वेद-विषय शास्त्र का उपदेश दिया ॥ ३ ॥

तर्पणं पुटपाकश्च सेक आश्च्योतनाञ्जने ।
तत्र तत्रोपदिष्टानि तेषां व्यासं निबोध मे ॥ ४ ॥

तत्र-तत्र अर्थात् नेत्र रोगों के भिन्न-भिन्न चिकित्सा प्रकरणों में तर्पण, पुटपाक, सेक, आश्च्योतन, अञ्जन प्रभृति का प्रयोग संक्षेप से बताया है अब उनका विस्तार से वर्णन मुझ से सुनो ॥ ४ ॥

संशुद्धदेहशिरसो जीर्णान्नस्य शुभे दिने ।
पूर्वाह्णे वाऽपराह्णे वा कार्य्यमक्ष्णोश्च तर्पणम् ॥ ५ ॥

नेत्र तर्पण विधि—इसमें पूर्व कर्म की दृष्टि से प्रथम रोगी का वमन और विरेचन से देह-संशोधन तथा नस्यादि द्वारा शिरोविरेचन करा के मस्तिष्क कासं शोधन कर शुभ दिन में अन्न के ठीक पच जाने के पश्चात् पूर्वाह्न अथवा अपराह्न में नेत्रों का तर्पण करना चाहिये ॥ ५ ॥

वातातपरजोहीने वेश्मन्युत्तानशायिनः।
आधारौ माषचूर्णेन क्लिन्नेन परिमण्डलौ ॥ ६ ॥
समौ दृढावसम्बाधौ कर्त्तव्यौ नेत्रकोशयोः।
पूरयेद् घृतमण्डस्य विलीनस्य सुखोदके ॥ ७ ॥
आपक्ष्माग्रात्ततः स्थाप्यं पञ्च तद्वाक्शतानि तु।
स्वस्थे, कफे षट्, पित्तेऽष्टौ, दश वाते तदुत्तमम् ॥८॥

उक्त विधि से शुद्ध नेत्ररोगी को झोंके की वायु तथा आतप (धूप) से रहित मकान में उत्तान सुला (पीठ के बल चित्त=सीधा लेटा) कर दोनों नेत्रकोशों पर उड़दी के गीले आटे से गोल, समान, दृढ़ (मजबूत) तथा किसी प्रकार की सम्बाधा (पीड़ा) नहीं पहुँचाने वाली पाली (आधार) बनानी चाहिये। फिर इस पाली में कुछ गरम पानी में विलीन (द्रवित) हुये घृतमण्ड (घृत के ऊपरी भाग) को नेत्रपक्ष्माग्र तक भर देना चाहिये। इस भरे हुये घृतमण्ड को स्वस्थ पुरुष में पांच सौ बोलने में जितना समय लगता है तब तक धारण कराये रहना चाहिये। कफ वाले नेत्ररोगी में छः सौ गिनने तक तथा पित्त वाले रोगी में आठ सौ गिनने तक एवं वात वाले रोगी में दस सौ (एक हजार) गिनने तक धारण कराये रहना चाहिये। ऐसा करने से उत्तम तर्पण होता है ॥ ६-८ ॥

रोगस्थानविशेषेण केचित्कालं प्रचक्षते।
यथाक्रमोपदिष्टेषु त्रीण्येकं पञ्च सप्त च ॥ ९ ॥
दश दृष्ट्यामथाष्टौ च वाक्शतानि विभावयेत्।
ततश्चापाङ्गतः स्नेहं स्रावयित्वाऽक्षि शोधयेत् ॥ १० ॥

रोग के स्थान विशेष से भी कुछ आचार्य समय भेद मानते हैं। रोगों का जैसा क्रम बताया है उसके अनुसार जैसे सन्धिगत रोगों में ३०० मात्रा उच्चारण करने तक, वर्त्मगत रोग में एक सौ मात्रा उच्चारण करने तक, शुक्लगत रोगों में ५०० मात्रा उच्चारण करने तक, कृष्णगत रोगों में ७०० मात्रा उच्चारण करने तक तथा दृष्टिगत रोगों में एक हजार या आठ सौ मात्रा का उच्चारण करने तक घृतमण्ड को नेत्र में भरे रखना चाहिये। फिर अपाङ्ग (भ्रूपुच्छान्तप्रदेश) से स्नेह का स्रावण करा के उष्णोदकादि से प्रक्षालन कर नेत्र का संशोधन कर लेना चाहिये ॥ ९-१० ॥

विमर्शः—यहां पर जो मात्रा उच्चारण का नियम बांधा है उसमें मात्रा की परिभाषा अन्यत्र निम्न मिलती है अर्थात् नेत्र के स्वाभाविक मूँदने और खोलने में जितना काल लगता है अथवा जानु के चारों ओर हाथ घुमा कर चुटकी बजाने में एक बार में जितना समय लगता है अथवा गुरु वर्ण के उच्चारण में जितना समय लगता है वह एक मात्रा मानी गई है—निमेषोन्मेषणं पुंसामङ्गुल्योश्छोटिकाऽथवा। गुर्वक्षरोच्चारणं वा वाङ्मात्रेयं स्मृता बुधैः ॥

स्विन्नेन यवपिष्टेन, स्नेहवीर्येरितं ततः।
यथास्वं धूमपानेन कफमस्य विशोधयेत् ॥ ११ ॥

स्वेदित किये हुये यव के पिष्ट (गीले आटे की पिण्डी) से नेत्र शोधन करना चाहिये। उक्त प्रकार से नेत्र में स्नेह का भरण करने से उस स्नेह (घृतमण्ड) के प्रभाव से प्रेरित (चलित) कफ को कफविरोधी शिरोविरेचन तथा धूमपान करा के नष्ट करना चाहिये ॥ ११ ॥

एकाहं वा त्र्यहं वाऽपि पञ्चाहञ्चेष्यते परम्।
तर्पणे तृप्तिलिङ्गानि नेत्रस्येमानि लक्षयेत् ॥ १२ ॥

नेत्रतर्पणकालमर्यादा—न्यूनदोष या वातदोष में एक दिन, मध्यमदोष या पित्तदोष में तीन दिन तथा प्रबल दोष में या कफदोष में पांच दिन तक तर्पण करना चाहिये। तर्पण क्रिया करने में नेत्रतृप्ति के निम्न लक्षण होते हैं ॥ १२ ॥

विमर्शः—तर्पण के समय के विषय में जेज्जटाचार्य का कथन है कि वातिक रोगों में एक दिन, पैत्तिक में तीन दिन और श्लैष्मिक रोगों में पांच दिन तक यह क्रम रखना चाहिये जो कि सुश्रुत सम्मत है परन्तु आचार्य विदेह ने कहा कि स्वस्थ पुरुष में दो दिन के अन्तर से, वातिक रोग में प्रति दिन, रक्तपित्त रोग में एक दिन के अन्तर से, सन्निपातज रोगों में दो दिन के अन्तर से तथा कफ के रोगों में तीन दिन के अन्तर से नेत्रतर्पण करना चाहिये—स्वस्थवृत्तं विधातव्यं द्व्यन्तरं तर्पणं भवेत्। अहन्यहनि वातोत्थे रक्तपित्ते दिनान्तरम्। तर्पणं सन्निपातोत्थे द्व्यन्तरं त्र्यन्तरं कफे ॥

सुखस्वप्नावबोधत्वं वैशद्यं वर्णपाटवम्।
निर्वृतिर्व्याधिविध्वंसः क्रियालाघवमेव च ॥ १३ ॥

सम्यक्तर्पित लक्षण—नेत्र के ठीक तर्पित होने पर सुख से समय पर निद्रा आ जाती है तथा समय पर मनुष्य सो कर जग जाता है नेत्र निर्मल दिखाई देते हैं, नेत्र के श्वेत, रक्त, कृष्णादि जो भिन्न-भिन्न मण्डलों के वर्ण हैं उनमें पटुता (स्वाभाविकता) रहती है किंवा नेत्र द्वारा विभिन्न वर्णों के अवबोध करने में पाटव (चतुरता) प्राप्त हो जाता है, निर्वृति अर्थात् सुख या स्वास्थ्य की प्राप्ति होना और नेत्र में जो रोग होता है उसका नाश हो जाना, इसके सिवाय आँख के खोलने और बन्द करने की क्रिया (निमेषोन्मेष) में लाघव (आसानी) हो जाता है ॥ १३ ॥

गुर्वाविलमतिस्निग्धमश्रुकण्डूपदेहवत्।
ज्ञेयं दोषसमुत्क्लिष्टं नेत्रमत्यर्थतर्पितम् ॥ १४ ॥

अतितर्पित नेत्र के लक्षण—अति तर्पण होने से आँख में भारीपन, आँख में आविलता (गंदलापन), आँख में अत्यधिक चिकनाई, आँख से अश्रु का बहना, आँख में कण्डू (खुजली) होना तथा उस पर उपदेह (लेप) लगा सा प्रतीत होना और वातादि दोषों का अत्यधिक उत्कट हो जाना ये अति तर्पित नेत्र के लक्षण हैं ॥ १४ ॥

रूक्षमाविलमस्राढ्यमसहं रूपदर्शने।
व्याधिवृद्धिश्च तज्ज्ञेयं हीनतर्पितमक्षि च ॥ १५ ॥

हीनतर्पित नेत्र के लक्षण—हीनतर्पित नेत्र में रूक्षता, आवि-

लता (गंदलापन), आंसुओं का अधिक आना, रूपदर्शन में असामर्थ्य तथा रोग की वृद्धि ये लक्षण होते हैं ॥ १५ ॥

अनयोर्दोषबाहुल्यात् प्रयतेत चिकित्सिते ।
धूमनस्याञ्जनैः सेकै रूक्षैः स्निग्धैश्च योगवित् ॥ १६॥

अति तथा हीनतर्पितनेत्र-चिकित्सा—अतितर्पण तथा हीनतर्पण में दोषों की बहुलता के विचार के अनुसार अर्थात् जिस दोष की प्रबलता हो तदनुरूप चिकित्सा करने का प्रयत्न करना चाहिये। योगों के प्रभाव को समझने वाला कुशल वैद्य धूम, नस्य, अञ्जन, रूक्ष और स्निग्ध सेक इनका यथायोग्य प्रयोग करे। वातप्राबल्य में स्निग्ध सेक तथा कफ की प्रबलता में रूक्ष सेक एवं पित्त की प्रबलता में शीतसेक करना चाहिये॥१६॥

ताम्यत्यतिविशुष्कं यद्रूक्षं यच्चातिदारुणम् ।
शीर्णपक्ष्माविलं जिह्मं रोगक्लिष्टश्च यद् भृशम् ॥
तदक्षि तर्पणादेव लभेतोर्जामसंशयम् ॥ १७ ॥

तर्पणयोग्य नेत्र—आंखों के सामने अँधियारी आने से नेत्र ग्लान रहता हो या प्रकाश में आंख मिच जाती हो, आंख अत्यन्त शुष्क प्रतीत होती हो तथा अधिक रूक्ष हो, अत्यन्त दारुण (कठोर) हो गई हो तथा जिनके पक्ष्म (बरौनी) के बाल टूट कर गिरते हों, आंख गंदली तथा कुटिल (टेढ़ी-मेढ़ी) हो गई हो तथा जो रोग से अत्यन्त पीड़ित हो उस नेत्र को तर्पण करने से ही रोग का विनाश तथा बल की प्राप्ति होती है ॥ १७ ॥

दुर्दिनात्युष्णशीतेषु चिन्तायासभ्रमेषु च ।
अशान्तोपद्रवे चाक्षिण तर्पणं न प्रशस्यते ॥ १८ ॥

तर्पण के अयोग्य अवस्था—आकाश में मेघ छाये हुये हों, अत्यन्त उष्ण और अत्यन्त शीत ऋतु या काल, चिन्ता, श्रम और भ्रम युक्त मनुष्य तथा नेत्रों के शोथ, राग, वेदना आदि उपद्रव शान्त न हुये हों इन अवस्थाओं में तर्पण नहीं करना चाहिये ॥ १८ ॥

पुटपाकस्तदेतेषु, नस्यं येषु च गर्हितम् ।
तर्पणार्हा न ये प्रोक्ताः स्नेहपानाक्षमाश्च ये ॥ १९ ॥
ततः प्रशान्तदोषेषु पुटपाकक्षमेषु च ।
पुटपाकः प्रयोक्तव्यो नेत्रेषु भिषजा भवेत् ॥ २० ॥

पुटपाकविषयाविषय—जिन अवस्थाओं में तर्पण किया जाता है उन्हीं अवस्थाओं में पुटपाक भी करना चाहिये। इसके सिवाय जिन रोगों में नस्य देना वर्जित है तथा जो लोग तर्पण के अयोग्य हैं एवं जो स्नेहपान के अयोग्य कहे गये हैं उनमें पुटपाक भी वर्जित है। अर्थात् जिन रोगियों में तर्पण, नस्य और स्नेहपान किया जा सकता है वे ही पुटपाक के भी योग्य हैं। अतएव पुटपाक के योग्य रोगियों के दोषों के शान्त हो जाने पर नेत्र में पुटपाक का प्रयोग करना चाहिये ॥ १९-२० ॥

स्नेहनो लेखनीयश्च रोपणीयश्च स त्रिधा ॥ २१ ॥
हितः स्निग्धोऽतिरूक्षस्य स्निग्धस्यापि च लेखनः ।
दृष्टेर्बलार्थमपरः पित्तासृग्व्रणवातनुत् ॥ २२ ॥

पुटपाकभेद—स्नेहन, लेखनीय और रोपणीय ऐसे यह पुटपाक तीन प्रकार का होता है। पुटपाकविषयः—अत्यन्त रूक्ष मनुष्य या नेत्र में स्नेहन पुटपाक, स्निग्ध आंख या मनुष्य में लेखन पुटपाक तथा दृष्टि में बल लाने के लिये या पित्तरक्त, वात और व्रणयुक्त नेत्र में रोपण पुटपाक करना उत्तम है ॥

स्नेहमांसवसामज्जमेदःस्वाद्वौषधैः कृतः ।
स्नेहनः पुटपाकस्तु धार्य्यो द्वे वाक्शते तु सः ॥२३॥

स्नेहनपुटपाक—स्नेह, मांस, वसा, मज्जा, मेद और मधुर ओषधियों से बनाया हुआ पुटपाक स्नेहन कार्य करता है तथा उसे दो सौ गिनने तक धारण किये रहना चाहिये ॥ २३ ॥

जाङ्गलानां यकृन्मांसैर्लेखनद्रव्यसम्भृतैः ।
कृष्णलोहरजस्ताम्रशङ्खविद्रुमसिन्धुजैः ॥ २४ ॥
समुद्रफेनकासीसस्रोतोजदधिमस्तुभिः ।
लेखनो वाक्शतं तस्य परं धारणमुच्यते ॥ २५ ॥

लेखनपुटपाक—जङ्गली पशुओं के यकृत् के मांस तथा सोंठ, मरिच, पिप्पली आदि लेखन द्रव्यों को मिला कर तथा कृष्ण-लौह (कान्तलौह) भस्म, ताम्रभस्म, शङ्खभस्म, प्रवालभस्म, सैन्धवलवण, समुद्रफेन, कासीसभस्म, स्रोतोञ्जन, दही और मस्तु (दही के ऊपर का पानी) इन्हें भी मिला कर लेखन पुटपाक बनाना चाहिये। इस पुटपाक को धारण करने का अधिक से अधिक एक सौ गिनने तक का समय है ॥२४-२५॥

स्तन्यजाङ्गलमध्वाज्यतिक्तद्रव्यविपाचितः ।
लेखनात्त्रिगुणं धार्य्यः पुटपाकस्तु रोपणः ॥ २६ ॥

रोपणपुटपाक—दुग्ध, जङ्गली पशुओं का मांस, शहद, घृत और तिक्त द्रव्यों को मिला कर बनाया हुआ रोपणपुटपाक को लेखन पुटपाक की अपेक्षा तीन गुणे (३०० गिनने तक) समय तक धारण करना चाहिये ॥ २६ ॥

वितरेत्तर्पणोक्तन्तु धूमं हित्वा तु रोपणम् ।
स्नेहस्वेदौ द्वयोः कार्यौ, कार्यौ नैव च रोपणे ॥ २७॥

रोपणपुटपाक को छोड़ कर शेष दोनों में तर्पणोक्त धूमपान का सेवन कराना चाहिये तथा इन दोनों में स्नेहन और स्वेदन उभय करना चाहिये। रोपणपुटपाक में स्नेहन और स्वेदन दोनों करना चाहिये ॥ २७ ॥

एकाहं वा द्व्यहं वाऽपि त्र्यहं वाऽप्यवचारणम् ।
यन्त्रणा तु क्रियाकालाद् द्विगुणं कालमिष्यते ॥ २८ ॥

पुटपाक अवधि - पुटपाक की अवचारणा (प्रयोग) श्लैष्मिक नेत्र रोग में एक दिन तक, पित्तजन्य नेत्र रोग में दो दिन तक तथा वातज रोग में तीन दिन तक करनी चाहिये। अथवा लेखन पुटपाक एक दिन, स्नेहन पुट पाक दो दिन तथा रोपण पुटपाक तीन दिन तक करना चाहिये। पुटपाक के प्रयोग में यन्त्रणा (पथ्यादि का सेवन) का नियम क्रियाकाल अर्थात् जितने दिन तक चिकित्सा की गई हो उससे दुगुने समय तक पथ्यकाल समझना चाहिये ॥ २८ ॥

तेजांस्यनिलमाकाशमादर्शं भास्वराणि च ।
नेक्षेत तर्पिते नेत्रे पुटपाककृते तथा ॥ २९ ॥

पुटपाक में परिहार्य—नेत्र के तर्पित करने पर किंवा पुटपाक

करने पर दीपक, गैस, बिजली, सूर्य आदि का तेज, वायु के झोंके, आकाश, काच और भास्वर (चमकीले) पदार्थों का अवलोकन नहीं करना चाहिये ॥ २९ ॥

मिथ्योपचारादनयोर्यो व्याधिरुपजायते।
अञ्जनाश्च्योतनस्वेदैर्यथास्वं तमुपाचरेत् ॥ ३० ॥

तर्पण और पुटपाक के मिथ्या आचरण (प्रयोग) से जो व्याधि उत्पन्न होती है उसे अञ्जन, आश्च्योतन और स्वेदज प्रभृति यथायोग्य उपायों से ठीक करनी चाहिये ॥ ३० ॥

प्रसन्नवर्णं विशदं वातातपसहं लघु।
सुखस्वप्नावबोध्यक्षि पुटपाकगुणान्वितम् ॥ ३१ ॥

सम्यक्पुटपाकलक्षण—पुटपाक के ठीक प्रयोग होने से आंख का वर्ण (रङ्ग) प्रसन्न (स्वच्छ) और विशद हो जाता है, वात तथा आतप (धूप) को आंख सहन कर लेती है। आंख हलकी हो जाती है, सुखपूर्वक यथासमय नींद आ जाती है और ठीक समय पर मनुष्य जाग जाता है। ये सब गुणवान् पुटपाक के लक्षण हैं ॥ ३१ ॥

अतियोगाद् रुजः शोफः पिडकास्तिमिरोद्गमः।
पाकोऽश्रु हर्षणञ्चापि हीने दोषोद्गमस्तथा ॥ ३२ ॥

पुटपाक के अतियोग—होने से आंख में पीड़ा, शोथ, पिड़काओं की उत्पत्ति, आंखों के सामने अन्धकार का आना, ये लक्षण होते हैं। पुटपाक के हीन योग होने से आंखों में पाक, अश्रु का स्राव, हर्षण तथा अन्य दोषों (उपद्रवों) का उदय ये लक्षण होते हैं ॥ ३२ ॥

अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि पुटपाकप्रसाधनम्।
द्वौ बिल्वमात्रौ श्लक्ष्णस्य पिण्डौ मांसस्य पेषितौ ॥
द्रव्याणां बिल्वमात्रन्तु द्रवाणां कुडवो मतः।
तदैकध्यं समालोड्य पत्रैः सुपरिवेष्टितम् ॥ ३४ ॥
काश्मरीकुमुदैरण्डपद्मिनीकदलीभवैः।
मृदावलिप्तमङ्गारैः खादिरैरवकूलयेत् ॥ ३५ ॥
कतकाश्मन्तकैरण्डपाटलावृषबादरैः।
सक्षीरद्रुमकाष्ठैर्वा गोमयैर्वाऽपि युक्तितः ॥ ३६ ॥
स्विन्नमुद्धृत्य निष्पीड्य रसमादाय तं नृणाम्।
तर्पणोक्तेन विधिना यथावदवचारयेत् ॥ ३७ ॥

पुटपाक विधि—अब इसके अनन्तर पुटपाक के विधान का वर्णन करता हूं। अच्छी प्रकार पीसे हुये चिकने (श्लक्ष्ण) मांस के दो पिण्ड (टुकड़े या गोले) लेवें जिनमें से प्रत्येक का वजन एक २ बिल्व (पल = ४ तोले) होना चाहिये। इसमें जो अन्य द्रव्य कहे (डाले) जावेंगे उन्हें भी एक २ बिल्व (पल) भर तथा द्रव पदार्थ कुड़व (आधा शराव (४ पल) = १६ तो०) प्रमाण में लिये जावेंगे। किन्तु द्रवद्वैगुण्य-परिभाषा बल से द्रव पदार्थ को ८ पल भर लेना चाहिये। स्नेहन पुटपाक में काकोल्यादि मधुर द्रव्य तथा कषाय और क्षीरलेखन पुटपाक में मधु, सत्तु और त्रिफला कषाय तथा रोपण पुटपाक में तिक्त द्रव्य और उनकी कषाय उक्त प्रमाणानुसार ग्रहण कर एकत्र मिला के सबको पत्थर पर महीन पीसकर गोला बना लेवें। फिर उस गोले को गम्भारी, कुमुद, एरण्डपत्र और पद्मिनी या केले के पत्र में लपेट कर चारों ओर गीली मिट्टी लगाकर सुखा के खदिर की लकड़ी के कोयलों के निर्धूम अङ्गार अथवा निर्मली, अश्मन्तक, एरण्ड, पाटला, वांसा, बेर, इनकी लकड़ियों किंवा क्षीरीवृक्ष जैसे वट, पीपल, गूलर की लकड़ियों के कोयलों की निर्धूम अङ्गार में अथवा गोबर की निर्धूम अङ्गार (अग्नि) में गाड़कर पकाना चाहिये। ठीक प्रकार स्विन्न (पक्व) हो जाने पर उसको अङ्गारों में से निकाल कर मिट्टी हटा के उस स्विन्न हुये गोले को दोनों हाथों के बीच दवा के रस निकाल कर इसे तर्पण की विधि से मनुष्यों की आंख में प्रयुक्त करे। अर्थात् नेत्रकोश के चारों ओर जल से गोले किये हुये उड़दी के आटे से गोल आलबाल बना कर पक्ष्ममात्र तक नेत्रों में भर देना चाहिये ॥ ३३-३७ ॥

कनीनके निषेच्यः स्यान्नित्यमुत्तानशायिनः।
रक्ते पित्ते च तौ शीतौ कोष्णौ वातकफापहौ ॥ ३८ ॥

पुटपाकौषधरसपूरणविधि—उत्तान (पीठ के बल) लेटे हुये मनुष्य के कनीनकप्रदेश की ओर से रस का पूरण करना चाहिये। रक्त और पित्त के प्रकोप से उत्पन्न नेत्र रोगों में तर्पण और पुटपाकविधि से निकाले हुये रस शीत हो जाय तब नेत्र में भरें तथा वात और कफ के द्वारा उत्पन्न नेत्ररोगों को नष्ट करने के लिये दोनों क्रियाओं में औषधरस कोष्ण (कुछ उष्ण) होने चाहिये ॥ ३८ ॥

अत्युष्णतीक्ष्णौ सततं दाहपाककरौ स्मृतौ।
अप्लुतौ शीतलौ चाश्रुस्तम्भरुग्घर्षकारकौ ॥ ३९ ॥

अत्युष्णतीक्ष्णरसपूरणदोष—अत्यन्त उष्ण अथवा अत्यन्त तीक्ष्ण तर्पण एवं पुटपाक के रस का पूरण करने से नेत्र में निरन्तर दाह और पाक के जनक होते हैं तथा अप्लुत (अतिशीतल, मतान्तर से अल्पघृत युक्त और शीतल) रस को नेत्रों में पूरण करने से नेत्र के आंसुओं को रोकने वाले एवं नेत्र में पीड़ा और घर्षण पैदा करते हैं ॥ ३९ ॥

अतिमात्रौ कषायत्वसङ्कोचस्फुरणावहौ।
हीनप्रमाणौ दोषाणामुत्क्लेशजननौ भृशम् ॥४०॥

अतियोग—तर्पण और पुटपाक का अतिमात्रा में प्रयोग होने से नेत्र में राग, सङ्कोच और स्फुरण होता है। हीनयोग—तर्पण और पुटपाक का हीनयोग नेत्र के दोषों की अत्यधिक वृद्धि करता है ॥ ४० ॥

युक्तौ कृतौ दाहशोफरुग्घर्षस्रावनाशनौ।
कण्डूपदेहदूषीकारक्तराजिविनाशनौ ॥ ४१ ॥

युक्ततर्पणपुटपाकगुण—युक्त (ठीक) प्रमाण में प्रयुक्त तर्पण और पुटपाक नेत्र का दाह, शोथ, वेदना, घर्षण और स्राव को नष्ट करते हैं तथा नेत्र की कण्डू, कीचड़, दूषिका (नेत्रमल) और नेत्र की लाल रेखाओं को भी नष्ट करते हैं ॥ ४१ ॥

तस्मात् परिहरन् दोषान् विदध्यात्तौ सुखावहौ।
व्यापदश्च यथादोषं नस्यधूमाञ्जनैर्जयेत् ॥ ४२ ॥

इस कारण से तर्पण और पुटपाक के पूर्वोक्त अत्यन्त तीक्ष्ण

तथा अत्यन्त उष्ण आदि दोषों का निराकरण करके उनका सुखदायक प्रयोग करना चाहिये। तर्पण और पुटपाक के मिथ्याप्रयोग से यदि कोई व्यापद् (उपद्रव) उत्पन्न हो जाय तो वहां वातादि दोषों का विचार करके नस्य, धूम और अञ्जन के द्वारा चिकित्सा करें ॥ ४२ ॥

आद्यन्तयोश्चाप्यनयोः स्वेद उष्णाम्बुचैलिकः ।
तथा हितोऽवसाने च धूमः श्लेष्मसमुच्छ्रितौ ॥४३॥

पुटपाक तथा तर्पण क्रिया में सामान्य पूर्व तथा पश्चात्कर्म—दोनों ही क्रियाओं के आदि तथा अन्त में गर्म पानी में कपड़ा भिगो कर उसे निचोड़ कर स्वेद (Wet fomentation) करना चाहिये तथा पश्चात्कर्म में यदि कफ बढ़ा हुआ हो तो उसका निर्हरण करने के लिये धूम का प्रयोग करना चाहिये ॥ ४३ ॥

यथादोषोपयुक्तन्तु नातिप्रबलमोजसा ।
रोगमाश्च्योतनं हन्ति सेकस्तु बलवत्तरम् ॥ ४४ ॥

आश्च्योतन तथा सेक के गुण—वातादिदोषों की विनाशक ओषधियों के क्वाथ या स्वरस के द्वारा किया हुआ आश्च्योतन अपने प्रभाव से नातिप्रबल (थोड़े) रोग को नष्ट कर देता है तथा यथादोषानुसार प्रयुक्त सेक बलवान् रोग को नष्ट कर देता है ॥ ४४ ॥

विमर्शः—आचार्य विदेह ने भी लिखा है कि नेत्र में रोग उत्पन्न होने के पूर्व ही तीन रात्रि तक लघु भोजन करना चाहिये, किंवा तीन दिन तक उपवास करे अथवा केवल रात्रि में भोजन करे पुनः चौथे दिन यदि व्याधि का रोक न हुआ हो और वह प्रगट ही हो गई हो तो उत्पन्न लक्षणों के आधार पर दोषप्रबलता का ज्ञान करके यथोचित आश्च्योतन अथवा सेक की क्रिया करनी चाहिये। विदेहे विशेषः—'प्रागेवाक्ष्यामये कार्यं त्रिरात्रं लघुभोजनम्। उपवासस्त्र्यहं वा स्यान्नक्तं वाऽप्यशनं त्र्यहम् ॥ ततश्चतुर्थे दिवसे व्याधिं सञ्जातलक्षणम्। समीक्ष्याश्च्योतनैः सेकैर्यथास्वमुपपादयेत् ॥' इति ।

तौ त्रिधैवोपयुज्येते रोगेषु पुटपाकवत् ॥ ४५ ॥

आश्च्योतन सेक के भेद—आश्च्योतन और सेक वातादिजन्य नेत्र रोगों में पुटपाक के समान ही स्नेहन, लेखन और रोपण इन तीन रूपों में प्रयुक्त होते हैं ॥ ४५ ॥

लेखने सप्त चाष्टौ वा बिन्दवः स्नैहिके दश ॥
आश्च्योतने प्रयोक्तव्या द्वादशैव तु रोपणे ॥ ४६ ॥

आश्च्योतन के भेद और मात्रा—लेखनार्थ प्रयुक्त आश्च्योतन में औषधरस की मात्रा सात या आठ बिन्दु, स्नेहनार्थ प्रयुक्त आश्च्योतन में औषधरस की मात्रा दस बिन्दु तथा रोपणकर्मार्थ प्रयुक्त आश्च्योतन में औषधरस की मात्रा बारह बिन्दु डालनी चाहिये ॥ ४६ ॥

सेकस्य द्विगुणः कालः पुटपाकात् परो मतः ।
अथवा कार्यनिर्वृत्तेरुपयोगो यथाक्रमम् ॥ ४७ ॥

परिषेक धारणकाल—सेक का धारणकाल पुटपाक से दुगुना माना गया है। अथवा नेत्र का धीरे-धीरे रोगरहित होना, स्वाभाविक वर्ण आ जाना, निमेषोन्मेष दर्शनादिक्रिया में पटुता और शोथ तथा वेदना की शान्ति होने तक यथादोषक्रमानुसार परिषेक का उपयोग करना चाहिये ॥ ४७ ॥

विमर्शः—सेक धारणकाल पुटपाक से द्विगुण मानने पर लेखनसेक २०० मात्रोच्चारण तक स्नेहनसेक ४०० मात्रोच्चारण तक तथा रोपणसेक ६०० मात्रोच्चारण तक का होता है।

पूर्वापराह्णे मध्याह्ने रुजाकालेषु चोभयोः ।
योगायोगान् स्नेहसेके तर्पणोक्तान् प्रचक्षते ॥ ४८ ॥

आश्च्योतनपरिषेककरणकाल—इन दोनों के करने का समय पूर्वाह्ण, मध्याह्न अथवा सायाह्न समझना चाहिये। अर्थात् कफजन्य नेत्ररोगों में लेखनकारी आश्च्योतन और सेक पूर्वाह्ण के समय करना चाहिये। वातजन्य नेत्र रोगों में स्नेहनकारी आश्च्योतन और सेक अपराह्ण के समय करना चाहिये। रक्त और पित्तजन्य नेत्ररोगों में रोपणकारी आश्च्योतन और सेक मध्याह्न के समय में करना चाहिये। अथवा जिस समय रोग या वेदना की उत्पत्ति हो उसी समय स्नेहन और सेक करना चाहिये। इसके अतिरिक्त स्नेहन और सेक क्रिया के सम्यग्योग, अयोग, हीनयोग और मिथ्यायोग के लक्षण तर्पण के योगायोगों के समान समझना चाहिये ॥ ४८ ॥

विमर्शः—इसके अतिरिक्त अधिष्ठान भेद से काल भेदका परिणाम अन्यत्र निम्न है:—

वर्त्मगत रोगों में १०० मात्रा के उच्चारण तक। सन्धिगत रोगों में ३०० मात्रा के उच्चारण तक। शुक्लगत रोगों में ५०० मात्रा के उच्चारण तक। कृष्णगत रोगों में ७०० मात्रा के उच्चारण तक। दृष्टिगत रोगों में ८०० मात्रा के उच्चारण तक। सर्वगत रोगों में १००० मात्रा के उच्चारण तक।

रोगान् शिरसि सम्भूतान् हत्वाऽतिप्रबलान् गुणान् ।
करोति शिरसो बस्तिरुक्ता ये मूर्द्धतैलिकाः ॥ ४९ ॥

शिरोबस्ति के गुण—सिर के अन्दर उत्पन्न हुये शिरोभितापप्रभृति प्रबल रोगों को नष्ट करके सिर में तैल लगाने से जो गुण (केशमार्दव, केशदैर्घ्य, केशस्निग्धता, केशकृष्णता) उत्पन्न होते हैं उन गुणों को बस्ति करती है ॥ ४९ ॥

विमर्शः—मूर्द्धा में तैल लगाने के निम्न गुण हैं—'केशानां मार्दवं दैर्घ्यं बहुत्वं स्निग्धकृष्णताम्' मूर्द्धा (सिर या मस्तिष्क) में तैल लगाने के चार प्रकार के विधान शास्त्रों में मिलते हैं—(१) अभ्यङ्ग, (२) परिषेक, (३) पिचु, (४) बस्ति। ये उत्तरोत्तर अधिक गुणदायी हैं। (१) अभ्यङ्ग का प्रयोग सिर की रूक्षता, कण्डू तथा मलादि में, (२) परिषेक का प्रयोग पिडिका, शिरस्तोद, दाह, पाक, (३) पिचु का प्रयोग केशपात, सिर का फटना, व्रण, नेत्रस्तम्भ तथा वेदना और। (४) बस्ति का प्रयोग प्रसुप्ति, अर्दित, निद्रानाश, नासिकाशोष, तिमिर तथा दारुणक प्रभृति शिरोरोगों में होता है।

शुद्धदेहस्य सायाह्ने यथाव्याध्यशितस्य तु ।
ऋज्वासीनस्य बध्नीयाद्बस्तिकोशं ततो दृढम् ॥५०॥
यथाव्याधिशृतस्नेहपूर्णं संयम्य धारयेत् ।
तर्पणोक्तं दशगुणं यथादोषं विधानवित् ॥ ५१ ॥

शिरोबस्तिविधि तथा धारणकाल—सर्वप्रथम विरेचन के

द्वारा अधः शरीर, वमन के द्वारा ऊर्ध्व शरीर एवं नस्य के द्वारा मस्तिष्क की शुद्धि करके एवं तैलादि द्वारा स्नेहन तथा स्वेद के द्वारा स्वेदित करके संध्या के समय यथारोगानुसार भोजन कराके जानु तक ऊंचे आसन में सीधा बैठा देवें। फिर रोगी के सिर पर गाय अथवा भैंस के चर्म से बना हुआ कोष या वस्तिकोष मजबूती से बांध देना चाहिये। पश्चात् दोष या रोग के अनुसार ओषधियों के कल्क तथा क्वाथ से सिद्ध (श्रृत) किये हुये स्नेह से वस्तिकोष को पूर्ण कर उड़दी के आटे की जल में बनाई पिष्टी (कल्क = कीचड़) से इधर-उधर के वस्तिकोष तथा सिर के अवकाश (छिद्र) को बन्द कर स्नेह को धारण करना चाहिये। इस शिरोवस्ति के धारण करने की अवधि तर्पण क्रिया में जितना समय कहा है उससे दसगुनी दोषानुसार समझनी चाहिये। अर्थात् कफज विकारों में ६००० मात्रोच्चारण तक। पैत्तिकविकारों में ८००० मात्रोच्चारण तक। वातविकारों में १०००० मात्रोच्चारण तक ॥ ५०–५१ ॥

विमर्शः—'यथाव्याधिश्रृतस्नेहपूर्णम्'—अर्थात् वातिक और श्लैष्मिक नेत्ररोगों में तत्तद्व्याधिहरद्रव्यसिद्ध तैल एवं पैत्तिक विकारों में पित्तहर द्रव्यसिद्ध घृत के द्वारा वस्तिकोष को भरना चाहिये। धारणकाल की मात्रा—'स्वस्थे कफे षट् पित्तेऽष्टौ दश वाते तदुत्तमम्' वाग्भटाचार्य ने शिरोवस्ति के वर्णन में कुछ विशेषताएं लिखी हैं—विधिवत्स्य निषण्णस्य पीठे जानुसमे मृदौ। शुद्धाक्तस्विन्नदेहस्य दिनान्ते गव्यमाहिषम्॥ द्वादशाङ्गुलविस्तीर्णं चर्मपट्टं शिरःसमम्। आकर्णबन्धनस्थाने ललाटे वस्त्रवेष्टिते॥ चैलवेणिकया बद्ध्वा माषकल्केन लेपयेत्। ततो यथाव्याधिश्रृतं स्नेहं कोष्णं निषेचयेत्॥ ऊर्ध्वं केशभुवो यावत् द्व्यङ्गुलं धारयेच्च तम्। आवक्त्रनासिकोत्क्लेदात् दशाऽष्टौ षट् चलादिषु॥ मात्रासहस्राण्यरुजेस्त्वेकं स्कन्धादि मर्दयेत्। मुक्तस्नेहस्य परमं सप्ताहं तस्य सेवनम्॥

> व्यक्तरूपेषु दोषेषु शुद्धकायस्य केवले।
> नेत्र एव स्थिते दोषे प्राप्तमञ्जनमाचरेत्।
> लेखनं रोपणञ्चापि प्रसादनमथापि वा॥ ५२॥

अञ्जन तथा उसके भेद—आमावस्था नष्ट होकर दोषों के या रोगों के अपने रूप के प्रगट होने पर वमन और विरेचन द्वारा ऊर्ध्व तथा अधःसंशोधन किये हुये मनुष्यों में केवल नेत्र में ही विकार के होने पर युक्त अञ्जन का प्रयोग करें। लेखन, रोपण और प्रसादन ऐसे अञ्जन के तीन भेद होते हैं॥

विमर्शः—तन्त्रान्तर में अञ्जन विधान इन्हीं अवस्थाओं में लिखा है—अथाञ्जनं शुद्धतनोर्नेत्रमात्राश्रिते मले। पक्वलिङ्गेऽल्पशोफार्तिकण्डूपैच्छिल्यलक्षिते॥

> तत्र पञ्च रसान् व्यस्तानाद्यैकरसवर्जितान्।
> पञ्चधा लेखनं युञ्ज्याद्यथादोषमतन्द्रितः॥ ५३॥

लेखन, रोपण और प्रसादन—इन तीन अञ्जनों में से आद्य मधुर रस लेखन कर्म में हितकारी न होने से उसे छोड़ कर पांच रस वाले द्रव्यों को पांच प्रकार (वात, पित्त, कफ, रक्त और सन्निपात भेद) से पृथक् २ यथादोषानुसार आलस्य से रहित होकर सावधानी से लेखन अञ्जन के रूप में प्रयुक्त करें॥ ५३॥

विमर्शः—यह लेखन अञ्जन मधुर रस को छोड़कर शेष सभी रसभूयिष्ठ द्रव्यों के योग से बनता है। 'यथादोषम्' दोषानुसार जैसे वातदोष में अम्ल और लवणरस प्रधान द्रव्य, पित्तदोष में तिक्त और कषाय रस प्रधान द्रव्य, कफदोष में कटु, तिक्त और कषाय रस प्रधान द्रव्य, रक्त दुष्टि में पित्त के समान ही तिक्त और कषाय रस प्रधान द्रव्य तथा सन्निपात दोष में दो या तीन रसों वाले द्रव्यों का लेखन अञ्जन बनाकर प्रयोग करना चाहिये जैसा कि चरक में भी कहा है—'रौक्ष्यात्कषायो रूक्षाणामुत्तमः'

> नेत्रवर्त्मसिराकोशस्रोतःश्रृङ्गाटकाश्रितम्।
> मुखनासाऽक्षिभिर्दोषमोजसा स्रावयेत्तु तत्॥ ५४॥

लेखनाञ्जनगुण—लेखन अञ्जन अपने बल से नेत्र, वर्त्म (पलक), इन दोनों की सिरा, नेत्रकोश, नेत्र के अश्रु आदि के वाहक स्रोतस् तथा श्रृङ्गाटक मर्म में आश्रित दोषों को मुख, नासा और नेत्र मार्ग से बहा कर बाहर निकाल देता है॥

> कषायं तिक्तकं वाऽपि सस्नेहं रोपणं मतम्।
> तत् स्नेहशैत्याद्वर्ण्यं स्याद् दृष्टेश्च बलवर्द्धनम्॥ ५५॥

रोपणाञ्जनगुण—रोपणाञ्जन कषाय और तिक्त ओषधियों से निर्मित एवं कुछ स्नेहयुक्त होना चाहिये। यह अञ्जन स्निग्ध और शीत गुणयुक्त होने से दृष्टि के वर्ण और बल को बढ़ाता है॥ ५५॥

> मधुरं स्नेहसम्पन्नमञ्जनन्तु प्रसादनम्।
> दृष्टिदोषप्रसादार्थं स्नेहनार्थञ्च तद्धितम्॥ ५६॥

प्रसादनाञ्जनगुण—यह अञ्जन मधुर रस प्रधान ओषधियों तथा प्रचुर स्नेह के योग से बना हुआ होने से दृष्टिदोष के प्रसादनार्थ तथा दृष्टि की रूक्षता को नष्ट कर स्नेहन करने के लिये हितकारी होता है॥ ५६॥

> यथादोषं प्रयोज्यानि तानि रोगविशारदैः।
> अञ्जनानि यथोक्तानि प्राह्णसायाह्नरात्रिषु॥ ५७॥

रोगों के निदान तथा चिकित्सा में विशारद चिकित्सक दोषों के अनुसार तथा शास्त्रप्रमाण के अनुसार इन अञ्जनों को पूर्वाह्न, सायङ्काल तथा रात्रि में प्रयुक्त करें॥ ५७॥

विमर्शः—कफ रोग में प्रातःकाल लेखन अञ्जन, वातरोग में सायङ्काल रोपण अञ्जन तथा पैत्तिक रोगों में रात्रि के समय प्रसादक अञ्जन लगाना चाहिये।

> गुटिकारसचूर्णानि त्रिविधान्यञ्जनानि तु।
> यथापूर्वं बलं तेषां श्रेष्ठमाहुर्मनीषिणः॥ ५८॥

अञ्जनों के स्वरूपभेद—गुटिका, रसक्रिया और चूर्ण भेद से अञ्जन तीन प्रकार के होते हैं। मनीषी (विद्वान्) पुरुष इन में यथापूर्व श्रेष्ठ बल मानते हैं॥ ५८॥

विमर्शः—गुटिकाञ्जन सबसे अधिक शक्तिशाली, रसक्रियाञ्जन मध्यम शक्ति वाला तथा चूर्णाञ्जन हीन शक्ति वाला होता है अत एव रोग प्रबल हो तो गुटिकाञ्जन, रोग मध्यम हो तो रसक्रियाञ्जन तथा रोग हीन बल हो तो चूर्णाञ्जन का प्रयोग करना चाहिये।

हरेणुमात्रा वर्त्तिः स्याल्लेखनस्य प्रमाणतः।
प्रसादनस्य चाध्यर्द्धा द्विगुणा रोपणस्य च ॥ ५९ ॥

अञ्जनवर्त्तिप्रमाण—लेखन अञ्जन की वर्ति का प्रमाण हरेणु (गोल मटर) के बराबर तथा प्रसादक अञ्जन की वर्ति का प्रमाण डेढ़ हरेणु के बराबर और रोपण अञ्जन की वर्ति का प्रमाण दो मटर के बराबर होना चाहिये ॥ ५९ ॥

रसाञ्जनस्य मात्रा तु यथावर्त्तिमिता मता।
द्वित्रिचतुःशलाकाश्च चूर्णस्याप्यनुपूर्वशः ॥ ६० ॥

रसाञ्जन की मात्रा अपनी-अपनी निर्मित वर्ति के अनुसार होती है जैसे लेखन रसक्रियाञ्जन की मात्रा लेखनवर्ति के समान, रोपण की मात्रा रोपणवर्ति के समान और प्रसादन रसाञ्जन की मात्रा प्रसादन वर्ति के समान होती है। इसी तरह चूर्णाञ्जन की मात्रा अनुपूर्व अर्थात् लेखनादिक्रम से दो, तीन और चार शलाकाएं समझनी चाहिये जैसे लेखन चूर्णाञ्जन की मात्रा दो शलाका, रोपण चूर्णाञ्जन की मात्रा तीन शलाका और प्रसादक चूर्णाञ्जन की मात्रा चार शलाकाएं होती हैं ॥ ६० ॥

तेषां तुल्यगुणान्येव विदध्याद्भाजनान्यपि।
सौवर्णं राजतं शार्ङ्गं ताम्रं वैदूर्यकांस्यजम्।
आयसानि च योज्यानि शलाकाश्च यथाक्रमम् ॥६१॥

अञ्जनपात्र तथा शलाकाएं—इन अञ्जनों को सुरक्षित रखने के लिये इनके समान गुण वाले पात्रों का प्रयोग करना चाहिये जैसे मधुराञ्जन को सुवर्ण के पात्र में, अम्लाञ्जन रजतपात्र में, लवणाञ्जन मेषशृङ्ग से बने पात्र में, कषाय-अञ्जन ताम्र या लोहे के पात्र में, कटुक-अञ्जन वैडूर्य के पात्र में, तिक्ताञ्जन कांसे के पात्र में और शीताञ्जन को नलादि से बने पात्र में मुंह बन्द कर रखने चाहिये। शलाकाओं को भी इसी क्रम से सुवर्ण, रजत, ताम्रादि धातुओं की बनानी चाहिये ॥ ६१ ॥

वक्त्रयोर्मुकुलाकारा कलायपरिमण्डला ॥ ६२ ॥
अष्टाङ्गुला तनुर्मध्ये सुकृता साधुनिग्रहा।
औदुम्बर्यश्मजा वाऽपि शारीरी वा हिता भवेत् ॥६३॥

शलाकास्वरूप—इन शलाकाओं को वक्त्र अर्थात् दोनों प्रान्तों (किनारों) पर मुकुल (मल्लिकादि पुष्पकली) के आकार की तथा मोटाई में कलाय (मटर) के बराबर एवं आठ अङ्गुल लम्बी, मध्य में पतली, अच्छी प्रकार बनी हुई और जिसे ठीक तरह से पकड़ सकें बनवानी चाहिये। शलाका-उपादान—शलाका ताम्र, वैडूर्यादि पाषाण तथा हस्ति के दन्त या सुवर्णादि से बनाई जाती है ॥ ६२-६३ ॥

विमर्शः—औदुम्बरी = ताम्रनिर्मितशलाका, उदुम्बर शब्द के अनेक अर्थ होते हैं—'उदुम्बरस्तु देहल्यां वृक्षभेदे च षण्डके। कुष्ठभेदेऽपि च पुमांस्ताम्रे तु स्यान्नपुंसकम्।' इति मेदिनी। तन्त्रान्तर में लिखा है कि रोपणार्थ लौह की, लेखनार्थ ताम्र की, प्रसादनार्थ सुवर्ण की शलाका बनवानी चाहिये। जैसे—'आयसी रोपणे ताम्रा लेख्ये हैमी प्रसादने। शेषा अपि यथादोषं प्रयोज्या रसकोविदैः।'

वामेनाक्षि विनिर्मुच्य हस्तेन सुसमाहितः।
शलाकया दक्षिणेन क्षिपेत् कानीनमञ्जनम् ॥ ६४ ॥
आपाङ्गं वा यथायोगं कुर्याच्चापि गतागतम्।
वर्त्मोपलेपि वा यत्तदङ्गुल्यैव प्रयोजयेत् ॥ ६५ ॥

अञ्जनप्रयोगविधि—बांये हाथ से आंख को खोल कर शलाका पर अञ्जन को लगाकर दक्षिण हस्त से शलाका द्वारा सावधानी से नेत्र के कनीनक प्रान्त से अपाङ्ग प्रान्त की ओर अथवा अपाङ्ग से कनीनक की ओर अञ्जन लगाना चाहिये। किंवा जिस प्रकार अभ्यासानुसार ठीक तरह से अञ्जन नेत्र में लग सके लगाना चाहिये। अञ्जन लगाते समय शलाका को गतागत करनी चाहिये। अर्थात् इधर से उधर नेत्र में फिरानी चाहिये जिससे अञ्जन ठीक तरह से लग जाय। जिस अञ्जन को केवल वर्त्म पर ही लगाना हो उसे अङ्गुली के द्वारा लगाना चाहिये ॥ ६४-६५ ॥

अक्षि नात्यन्तयोरञ्ज्याद् बाधमानोऽपि वा भिषक्।
न चानिर्वान्तदोषेऽक्षिण धावनं सम्प्रयोजयेत् ॥
दोषः प्रतिनिवृत्तः सन् हन्याद् दृष्टेर्बलं तथा ॥ ६६ ॥

वैद्य को चाहिये कि वह नेत्र के अन्तभाग (किनारों = कनीनिका और अपाङ्ग) में अधिक अञ्जन नहीं लगावे एवं अञ्जन लगाते समय नेत्र को बाधा नहीं पहुँचानी चाहिये। जब तक नेत्र के अन्दर से आंसू, कीचड़ (गीड़) आदि दोष का ठीक रूप से निवर्तन (निःसरण) न हो जाय तब तक उसकी धावनक्रिया (प्रक्षालन = Eye wash) नहीं करनी चाहिये क्योंकि दोषनिर्गमन के पूर्व धावनक्रिया करने से दोष भीतर ही दब जाता है जिससे दृष्टि का बल नष्ट होता है। अथवा दोष की पुनरावृत्ति होकर उससे नेत्र अधिक रुग्ण हो जाता है ॥ ६६ ॥

गतदोषमपेताश्रु पश्येद्यत्सम्यगम्भसा।
प्रक्षाल्याक्षि यथादोषं कार्यं प्रत्यञ्जनं ततः ॥ ६७ ॥

प्रत्यञ्जन—दोष निकल जाने पर, आंसुओं के बन्द हो जाने पर तथा नेत्र से ठीक दिखाई देता हो तब नेत्र को पानी से अच्छी प्रकार प्रक्षालित (धो) कर वातादि दोषों के अनुसार प्रत्यञ्जन करना चाहिये ॥ ६७ ॥

श्रमोदावर्त्तरुदितमद्यक्रोधभयज्वरैः ॥ ६८ ॥
वेगाघातशिरोदोषैश्चार्त्तानां नेष्यतेऽञ्जनम्।
रागरुक्तिमिरास्रावशूलसंरम्भसम्भवात् ॥ ६९ ॥

अञ्जननिषेध—थकावट, उदावर्त, रुदन, मद्य, क्रोध, भय, ज्वर, उपस्थित हुये मल-मूत्रादि वेगों का रोकना तथा शिरोदोष से पीड़ित मनुष्यों में अञ्जन नहीं करना चाहिये। उक्त स्थिति में अञ्जन करने से नेत्र में लालिमा, वेदना, आंखों के सामने अन्धियारा आना, नेत्रों से अश्रुस्राव, नेत्रशूल और नेत्र में संरम्भ (शोथ) उत्पन्न हो जाते हैं ॥ ६८-६९ ॥

निद्राक्षये क्रियाशक्तिं, प्रवाते दृग्बलक्षयम्।
रजोधूमहते रागस्रावाधीमन्थसम्भवम् ॥ ७० ॥
संरम्भशूलौ नस्यान्ते, शिरोरुजि शिरोरुजम्।
शिरस्स्नातेऽतिशीते च रवावनुदितेऽपि च ॥ ७१ ॥
दोषस्थैर्यादपार्थं स्याद्दोषोत्क्लेशं करोति च।

अजीर्णेऽप्येवमेव स्यात् स्रोतोमार्गावरोधनात् ॥७२॥
दोषवेगोदये दत्तं कुर्यात्तांस्तानुपद्रवान् ।
तस्मात् परिहरन् दोषानञ्जनं साधु योजयेत् ॥ ७३ ॥

अञ्जनव्यापत्— निद्राक्षय (नींद न आने पर अथवा शयन करके उठने) के बाद अञ्जन करने से नेत्र की निमेषोन्मेष क्रिया में अशक्ति आ जाती है। प्रवात में (वायु के झोंके की ओर) बैठ कर अञ्जन करने से दृष्टिबल का नाश होता है। धूलि और धूम से पीड़ित नेत्र में अञ्जन करने से नेत्रों में राग (लालिमा), स्राव और अधीमन्थ रोग उत्पन्न होते हैं। नस्यकर्म करने के पश्चात् अञ्जन करने से नेत्रों में संरम्भ (शोथ) और शूल उत्पन्न होता है। सिर की पीड़ा के समय अञ्जन करने से शिरोरोग उत्पन्न होते हैं। सिर गीला करके स्नान किये हुये तथा अतिशीत अवस्था में अञ्जन करने से तथा सूर्य के उदय होने के पूर्व अञ्जन करने से दोषों को बाहर न निकाल कर नेत्र के भीतर उन्हें स्थिर कर देता है जिससे वह प्रयुक्त अञ्जन कुछ भी लाभदायक नहीं होता है तथा दोषों को अधिक बढ़ा देता है। अजीर्णावस्था में भी अञ्जन करने से उस समय अजीर्ण के कारण स्रोतसों के मार्ग रुके हुये होने से वह अञ्जन निरर्थक एवं दोषवर्द्धक होता है। दोषों के वेग के बढ़ जाने पर किया हुआ अञ्जन राग, शोफ आदि विभिन्न उपद्रवों को उत्पन्न करता है इसलिये उक्त दोष या उपद्रव उत्पन्न न हो सके ऐसा ध्यान में रख कर अच्छी प्रकार से अञ्जन करना चाहिये ॥ ७०-७३ ॥

लेखनस्य विशेषेण काल एष प्रकीर्त्तितः ।
व्यापदश्च जयेदेताः सेकाश्च्योतनलेपनैः ॥
यथास्वं धूमकवलैर्नस्यैश्चापि समुत्थिताः ॥ ७४ ॥

अञ्जनव्यापच्चिकित्सा— लेखन अञ्जन के लिये ही यह उपर्युक्त निषिद्ध काल बताया गया है। यदि इस निषिद्ध काल में अञ्जन करने से अथवा उपयुक्त काल में अञ्जन करने पर भी कोई व्यापद् उत्पन्न हो जाय तो उसे यथादोषानुसार सेक, आश्च्योतन, लेपन, धूमपान, कवलधारण और नस्य के द्वारा नष्ट करे ॥ ७४ ॥

विशदं लघ्वनास्रावि क्रियापटु सुनिर्मलम् ।
संशान्तोपद्रवं नेत्रं विरिक्तं सम्यगादिशेत् ॥ ७५ ॥

लेखनाञ्जन के सम्यग्योग के फल— लेखनाञ्जन के ठीक प्रयुक्त होने से नेत्र निर्मल, हल्का, स्रावरहित, दर्शनादि क्रिया में पटु, अतिस्वच्छ, और उपद्रवों से रहित हो जाता है ७५ ॥

जिह्मं दारुणदुर्वर्णं स्रस्तं रूक्षमतीव च ।
नेत्रं विरेकातियोगे स्यन्दते चातिमात्रशः ॥ ७६ ॥

अतिलेखनाञ्जनदोष— लेखन अञ्जन का अतियोग होने से नेत्र कुटिल, कठिन, बुरे रङ्ग का, ढीला अत्यधिक रूक्ष तथा अधिक स्रावयुक्त हो जाता है ॥ ७६ ॥

तत्र सन्तर्पणं कार्यं विधानं चानिलापहम् ॥ ७७ ॥

अतिलेखन से उत्पन्न उपद्रवों के संशमनार्थं सन्तर्पण तथा वातनाशक चिकित्सा करनी चाहिये ॥ ७७ ॥

अक्षि मन्दविरिक्तं स्यादुदग्रतरदोषवत् ।
धूमनस्याञ्जनैस्तत्र हितं दोषावसेचनम् ॥ ७८ ॥

हीनलेखन के लक्षण तथा चिकित्सा— लेखन का हीनयोग होने पर आंख उत्कट दोषों (रोगों) से युक्त हो जाती है ऐसी अवस्था में धूम, नस्य, अञ्जन के प्रयोगों से दोषों का अवसेचन (निर्हरण) करना हितकर है ॥ ७८ ॥

स्नेहवर्णबलोपेतं प्रसन्नं दोषवर्जितम् ।
ज्ञेयं प्रसादने सम्यगुपयुक्तेऽक्षि निर्वृतम् ॥ ७९ ॥

प्रसादनाञ्जन— के सम्यग्योग होने पर आंख स्निग्ध, अच्छे वर्ण और बल से युक्त हो जाती है तथा देखने में प्रसन्न और दोषों (रोगों) से रहित हो जाती है तथा उसके उपद्रवों के शान्त हो जाने से निर्वृत अर्थात् स्वस्थावस्थायुक्त हो जाती है। जिससे निमेषोन्मेष करने तथा धूम, प्रकाश को सहने में क्षम हो जाती है ॥ ७९ ॥

किञ्चिद्धीनविकारं स्यात्तर्पणाद्धि कृतादति ।
तत्र दोषहरं रूक्षं भेषजं शस्यते मृदु ॥ ८० ॥

प्रसादनाञ्जन के अतियोग— होने से आंख हीनविकार युक्त हो जाती है इस लिये इस अवस्था में अतितर्पण से बढ़े हुये कफ को कम करने के लिये रूक्ष तथा मृदु (शीतवीर्य) औषध श्रेष्ठ होती है ॥ ८० ॥

साधारणमपि ज्ञेयमेवं रोपणलक्षणम् ।
प्रसादनवदाचष्टे तस्मिन् युक्तेऽतिभेषजम् ॥८१॥

रोपणाञ्जन— के सम्यग्योग तथा अतियोग के लक्षण प्रसादनाञ्जन के सम्यग्योग तथा अतियोग के साधारण लक्षणों के समान ही समझने चाहिये। इसी प्रकार इसमें चिकित्सा भी प्रसादनाञ्जन की चिकित्सा 'तत्र दोषहरं रूक्षं भेषजं शस्यते मृदु' के समान ही मृदुवीर्य और शीतवीर्य औषधियों से होती है ॥

स्नेहनं रोपणं वाऽपि हीनयुक्तमपार्थकम् ।
कर्त्तव्यं मात्रया तस्मादञ्जनं सिद्धिमिच्छता ॥८२॥

स्नेहन (प्रसादनाञ्जन) तथा रोपण अञ्जन के हीन मात्रा में प्रयुक्त करने से वे अकिञ्चित्कर (निरर्थक) होते हैं इसलिये सफलता का चाहने वाला चिकित्सक मात्रापूर्वक अञ्जन का प्रयोग करे ॥ ८२ ॥

विमर्शः— प्रसादनाञ्जनलक्षण— मधुरं स्नेहसम्पन्नमञ्जनन्तु प्रसादनम्। दृष्टिदौर्बल्यप्रसादार्थं स्नेहनार्थञ्च तद्धितम् ॥

पुटपाकक्रियाद्यासु क्रियास्वेषैव कल्पना ।
सहस्रशश्चाञ्जनेषु बीजेनोक्तेन पूजिताः ॥ ८३ ॥

पुटपाकादि में अञ्जनकल्पना— अञ्जनों के प्रकरण में बीजरूप से कहे हुये लेखन, रोपण और प्रसादन इस त्रिविध कल्पना प्रकार के आधार से पुटपाक, सेक, आश्च्योतन और अञ्जनादिका क्रियाओं में भी लेखन, रोपण और प्रसादन संज्ञक अञ्जनों की कल्पना हजारों रूप में कर सकते हैं ॥ ८३ ॥

दृष्टेर्बलविवृद्ध्यर्थं याप्यरोगक्षयाय च ।
राजार्हाण्यञ्जनाग्र्याणि निबोधेमान्यतः परम् ॥८४॥

राजार्ह-अञ्जन—अब इसके अनन्तर दृष्टि के बल की वृद्धि के लिये तथा याप्य रोगों के क्षय करने लिये राजाओं के लगाने योग्य श्रेष्ठ अञ्जनों को मुझसे जानो ॥ ८४ ॥

अष्टौ भागानञ्जनस्य नीलोत्पलसमत्विषः ।
औदुम्बरं शातकुम्भं राजतञ्च समासतः ॥८५॥
एकादशैतान् भागांस्तु योजयेत् कुशलो भिषक् ।
मूषालिप्तं तदाध्मातमावृतं जातवेदसि ॥ ८६ ॥
खदिराश्मन्तकाङ्गारैर्गोशकृद्भिरथापि वा ।
गवां शकृद्रसे मूत्रे दध्नि सर्पिषि माक्षिके ॥८७॥
तैलमद्यवसामज्जसर्वगन्धोदकेषु च ।
द्राक्षारसेक्षुत्रिफलारसेषु सुहिमेषु च ॥ ८८ ॥
सारिवादिकषाये च कषाये चोत्पलादिके ।
निषेचयेत् पृथक् चैनं ध्मातं ध्मातं पुनः पुनः ॥८९॥
ततोऽन्तरीक्षे सप्ताहं प्लोतबद्धं स्थितं जले ।
विशोष्य चूर्णयेन्मुक्तां स्फटिकं विद्रुमं तथा ॥९०॥
कालानुसारिवां चापि शुचिरावाप्य योगतः ।
एतच्चूर्णाञ्जनं श्रेष्ठं निहितं भाजने शुभे ॥ ९१ ॥
दन्तस्फटिकवैदूर्यशङ्खशैलासनोद्भवे ।
शातकुम्भेऽथ शार्ङ्गे वा राजते वा सुसंस्कृते ।
सहस्रपाकवत् पूजां कृत्वा राज्ञः प्रयोजयेत् ॥९२॥
तेनाञ्जिताक्षो नृपतिर्भवेत् सर्वजनप्रियः ।
अधृष्यः सर्वभूतानां दृष्टिरोगविवर्जितः ॥ ९३ ॥

श्रेष्ठ चूर्णाञ्जन—नील कमल के समान कान्ति वाले स्रोतोऽञ्जन या सौवीराञ्जन के आठ भाग, तथा औदुम्बर (ताम्र का महीन चूरा या भस्म), स्वर्ण और रजत के पत्र एक-एक भाग इस प्रकार इन एकादश भागों को खरल में अच्छी प्रकार से घोट कर मूषा में भर के उसके मुख को बन्द कर खदिर तथा अश्मन्तक के अङ्गारों में अथवा गोहरी की अग्नि में आध्मापित कर के प्रतप्त कर गोबर के रस में, गोमूत्र में, दही में, गाय के घृत में, शहद में, तैल में, मद्य में, वसा में, मज्जा में, सर्वगन्धोदक (एलादिगण की औषधियों के क्वाथ) में, द्राक्षारस में, ईख के रस में, त्रिफला के क्वाथ में, अतिशीतगुण प्रधान सारिवादि कषाय में तथा क्रमशः पृथक्-पृथक् गरम कर कर के तीन-तीन बार बुझावे। फिर इन्हें एक पोट्ली में बांध कर वर्षा के सङ्गृहीत जल में एक सप्ताह तक डुबो कर रखें। आठवें दिन जल से निकाल कर सुखा के खरल में पीस लेवें फिर इसमें मोती, स्फटिक, प्रवाल और कालानुसारिवा (तगर) इनका स्वच्छ चूर्ण मिला के अच्छी प्रकार खरल कर लेवें। इसको 'चूर्णाञ्जन' कहते हैं। इसे हाथी के दांत, स्फटिक, वैदूर्य, शङ्ख, शैल, असन (वीजक), सुवर्ण, शृङ्ग और चांदी इनके बने हुये किसी एक पात्र में भर कर डाट लगा के सुरक्षित रखना चाहिये। फिर राजा का कर्तव्य है कि वह इसकी सहस्रपाकवत् (शङ्ख, दुन्दुभि घोष आदि के द्वारा) पूजा करके पश्चात् अञ्जन करने के लिये प्रयुक्त करे। इस अञ्जन से अञ्जित नेत्र वाला राजा सर्वजनों के देखने में प्रिय लगता है तथा सर्वभूतों (देव, असुर, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, पितृ, पिशाच) के लिये अगम्य हो जाता है एवं नेत्रों के सर्व प्रकार के रोगों से विवर्जित हो जाता है ॥ ८५-९३ ॥

कुष्ठञ्चन्दनमेलाश्च पत्रं मधुकमञ्जनम् ।
मेषशृङ्गस्य पुष्पाणि वक्रं रत्नानि सप्त च ॥९४॥
उत्पलस्य बृहत्योश्च पद्मस्यापि च केशरम् ।
नागपुष्पमुशीराणि पिप्पली तुत्थमुत्तमम् ॥९५॥
कुक्कुटाण्डकपालानि दार्वीं पथ्यां सरोचनाम् ।
मरिचान्यक्षमज्जानं तुल्याश्च गृहगोपिकाम् ॥९६॥
कृत्वा सूक्ष्मं ततश्चूर्णं न्यसेदभ्यर्च्य पूर्ववत् ।
एतद् भद्रोदयं नाम सदैवार्हति भूमिपः ॥ ९७ ॥

भद्रोदय अञ्जन—कूठ, चन्दन, इलायची, तेजपात, मुलेठी, अञ्जन (सौवीराञ्जन या स्रोतोऽञ्जन), मेषशृङ्गी के पुष्प, वक्र (तगर), सातों रत्न जैसे पद्मराग, मरकत, नीलम, वैडूर्य, मुक्ता, प्रवाल और पुखराज (किसी ने स्वर्ण लिया है), कमल, छोटी कटेरी, बड़ी कटेरी और रक्त कमल इनके पुष्प तथा केशर (किञ्जल्क), नागकेसर, खस, पीपरि, श्रेष्ठ नील तुत्थ, मुर्गे के अण्डे के छिलके, दारुहरिद्रा, हरड, गोरोचन, कालीमरिच, बहेड़े की गिरी (अथवा छिलके) और गृहगोपिका इन्हें समान प्रमाण में लेकर अच्छी प्रकार खाण्ड कूट के चूर्ण बना कर हस्तिदन्त-स्फटिकादि पात्रों में भर कर सुरक्षित रख देवें। फिर इसका भी पूर्ववत् पूजन कर के राजाओं के लिये अञ्जनार्थ प्रयुक्त करें। इसको 'भद्रोदय अञ्जन' कहा है ॥ ९४-९७ ॥

वक्रं समरिचञ्चैव मांसीं शैलेयमेव च ।
तुल्यांशानि समानैस्तैः समग्रैश्च मनःशिला ॥९८॥
पत्रस्य भागाश्चत्वारो द्विगुणं सर्वतोऽञ्जनम् ।
तावच्च यष्टिमधुकं पूर्ववच्चैतदञ्जनम् ॥ ९९ ॥

तगराद्यञ्जन—तगर (वक्र), काली मरिच, जटामांसी, शैलेय (शिलारस) इन्हें समान प्रमाण में लेकर इन सब के बराबर मैनसिल तथा तेजपात के एक द्रव्यापेक्षया चार भाग और स्रोतोऽञ्जन अथवा नीलाञ्जन उक्त सर्व मिलित द्रव्यों से द्विगुण तथा मुलेठी अञ्जन के बराबर लेकर सब को अच्छी तरह से खांड कूट के खरल में पीस कर हस्तिदन्त-स्फटिकादिनिर्मित पात्रों में भर कर सुरक्षित रख देवें। इस अञ्जन का भी पूर्ववत् पूजन करके राजा-महाराजाओं के लिये प्रयोग करें ॥ ९८-९९ ॥

मनःशिला देवकाष्ठं रजन्यौ त्रिफलोषणम् ।
लाक्षालशुनमञ्जिष्ठासैन्धवैलाः समाक्षिकाः ॥१००॥
रोध्रं सावरकं चूर्णमायसं ताम्रमेव च ।
कालानुसारिवाञ्चैव कुक्कुटाण्डदलानि च ॥१०१॥
तुल्यानि पयसा पिष्ट्वा गुटिकां कारयेद् बुधः ।
कण्डूतिमिरशुक्लार्मरक्तराज्युपशान्तये ॥ १०२ ॥

मनःशिलाद्यञ्जन—मैनसिल, देवदारु, हरिद्रा, दारुहरिद्रा, हरड, बहेड़ा, आंवला, काली मरिच (ऊषण), लाख, लहसुन की गिरी, मजीठ, सैन्धव लवण, छोटी इलायची, स्वर्णमाक्षिक

राजार्ह-अञ्जन — अब इसके अनन्तर दृष्टि के बल की वृद्धि के लिये तथा साध्य रोगों के क्षय करने लिये राजाओं के लगाने योग्य श्रेष्ठ अञ्जनों को मुझसे जानो ॥ ८४ ॥

अष्टौ भागानञ्जनस्य नीलोत्पलसमत्विषः ।
औदुम्बरं शातकुम्भं राजतञ्च समासतः ॥८५॥
एकादशैतान् भागांस्तु योजयेत् कुशलो भिषक् ।
मूषालिप्तं तदाध्मातमावृतं जातवेदसि ॥ ८६ ॥
खदिराश्मन्तकाङ्गारैर्गोशकृद्भिरथापि वा ।
गवां शकृद्रसे मूत्रे दध्नि सर्पिषि माक्षिके ॥८७॥
तैलमद्यवसामज्जसर्वगन्धोदकेषु च ।
द्राक्षारसेक्षुत्रिफलारसेषु सुहिमेषु च ॥ ८८ ॥
सारिवादिकषाये च कषाये चोत्पलादिके ।
निषेचयेत् पृथक् चैनं ध्मातं ध्मातं पुनः पुनः ॥८९॥
ततोऽन्तरीक्षे सप्ताहं प्लोतबद्धं स्थितं जले ।
विशोष्य चूर्णयेन्मुक्तां स्फटिकं विद्रुमं तथा ॥९०॥
कालानुसारिवां चापि शुचिरावाप्य योगतः ।
एतच्चूर्णाञ्जनं श्रेष्ठं निहितं भाजने शुभे ॥ ९१ ॥
दन्तस्फटिकवैदूर्यशङ्खशैलासनोद्भवे ।
शातकुम्भेऽथ शार्ङ्गे वा राजते वा सुसंस्कृते ।
सहस्रपाकवत् पूजां कृत्वा राज्ञः प्रयोजयेत् ॥९२॥
तेनाञ्जिताक्षो नृपतिर्भवेत् सर्वजनप्रियः ।
अधृष्यः सर्वभूतानां दृष्टिरोगविवर्जितः ॥ ९३ ॥

श्रेष्ठ चूर्णाञ्जन—नील कमल के समान कान्ति वाले स्रोतोऽञ्जन या सौवीराञ्जन के आठ भाग, तथा औदुम्बर (ताम्र का महीन चूरा या भस्म), स्वर्ण और रजत के पत्र एक-एक भाग इस प्रकार इन एकादश भागों को खरल में अच्छी प्रकार से घोट कर मूषा में भर के उसके मुख को बन्द कर खदिर तथा अश्मन्तक के अङ्गारों में अथवा गोहरी की अग्नि में आध्मापित कर के प्रतप्त कर गोबर के रस में, गोमूत्र में, दही में, गाय के घृत में, शहद में, तैल में, मद्य में, वसा में, मज्जा में, सर्वगन्धोदक (एलादिगण की औषधियों के क्वाथ) में, द्राक्षारस में, ईख के रस में, त्रिफला के क्वाथ में, अतिशीतगुण प्रधान सारिवादि कषाय में तथा क्रमशः पृथक्-पृथक् गरम कर कर के तीन-तीन बार बुझावे। फिर इन्हें एक पोट्ली में बांध कर वर्षा के सङ्गृहीत जल में एक सप्ताह तक डुबो कर रखें। आठवें दिन जल से निकाल कर सुखा के खरल में पीस लेवें फिर इसमें मोती, स्फटिक, प्रवाल और कालानुसारिवा (तगर) इनका स्वच्छ चूर्ण मिला के अच्छी प्रकार खरल कर लेवें। इसको 'चूर्णाञ्जन' कहते हैं। इसे हाथी के दांत, स्फटिक, वैडूर्य, शङ्ख, शैल, असन (बीजक), सुवर्ण, शृङ्ग और चांदी इनके बने हुये किसी एक पात्र में भर कर डाट लगा के सुरक्षित रखना चाहिये। फिर राजा का कर्तव्य है कि वह इसकी सहस्रपाकवत् (शङ्ख, दुन्दुभि घोष आदि के द्वारा) पूजा करके पश्चात् अञ्जन करने के लिये प्रयुक्त करे। इस अञ्जन से अञ्जित नेत्र वाला राजा सर्वजनों के देखने में प्रिय लगता है तथा सर्वभूतों (देव, असुर, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, पितृ, पिशाच) के लिये अगम्य हो जाता है एवं नेत्रों के सर्व प्रकार के रोगों से विवर्जित हो जाता है ॥ ८५-९३ ॥

कुष्ठञ्चन्दनमेलाश्च पत्रं मधुकमञ्जनम् ।
मेषशृङ्गस्य पुष्पाणि वक्रं रत्नानि सप्त च ॥९४॥
उत्पलस्य बृहत्योश्च पद्मस्यापि च केशरम् ।
नागपुष्पमुशीराणि पिप्पली तुत्थमुत्तमम् ॥९५॥
कुक्कुटाण्डकपालानि दार्वी पथ्यां सरोचनाम् ।
मरिचान्यक्षमज्जानं तुल्याश्च गृहगोपिकाम् ॥९६॥
कृत्वा सूक्ष्मं ततश्चूर्णं न्यसेदभ्यर्च्य पूर्ववत् ।
एतद् भद्रोदयं नाम सदैवार्हति भूमिपः ॥ ९७ ॥

भद्रोदय अञ्जन—कूठ, चन्दन, इलायची, तेजपात, मुलेठी, अञ्जन (सौवीराञ्जन या स्रोतोऽञ्जन), मेषशृङ्गी के पुष्प, वक्र (तगर), सातों रत्न जैसे पद्मराग, मरकत, नीलम, वैडूर्य, मुक्ता, प्रवाल और पुखराज (किसी ने स्वर्ण लिया है), कमल, छोटी कटेरी, बड़ी कटेरी और रक्त कमल इनके पुष्प तथा केशर (किञ्जल्क), नागकेसर, खस, पीपरि, श्रेष्ठ नील तुत्थ, मुर्गे के अण्डे के छिलके, दारुहरिद्रा, हरड़, गोरोचन, कालीमरिच, बहेड़े की गिरी (अथवा छिल्के) और गृहगोपिका इन्हें समान प्रमाण में लेकर अच्छी प्रकार खाण्ड कूट के चूर्ण बना कर हस्तिदन्त-स्फटिकादि पात्रों में भर कर सुरक्षित रख देवें। फिर इसका भी पूर्ववत् पूजन कर के राजाओं के लिये अञ्जनार्थ प्रयुक्त करें। इसको 'भद्रोदय अञ्जन' कहा है ॥ ९४-९७ ॥

वक्रं समरिचञ्चैव मांसीं शैलेयमेव च ।
तुल्यांशानि समानैस्तैः समग्रैश्च मनःशिला ॥९८॥
पत्रस्य भागाश्चत्वारो द्विगुणं सर्वतोऽञ्जनम् ।
तावच्च यष्टिमधुकं पूर्ववच्चैतदञ्जनम् ॥ ९९ ॥

तगराद्यञ्जन—तगर (वक्र), काली मरिच, जटामांसी, शैलेय (शिलारस) इन्हें समान प्रमाण में लेकर इन सब के बराबर मैनसिल तथा तेजपात के एक द्रव्यापेक्षया चार भाग और स्रोतोऽञ्जन अथवा नीलाञ्जन उक्त सर्व मिलित द्रव्यों से द्विगुण तथा मुलेठी अञ्जन के बराबर लेकर सब को अच्छी तरह से खांड कूट के खरल में पीस कर हस्तिदन्त-स्फटिकादिनिर्मित पात्रों में भर कर सुरक्षित रख देवें। इस अञ्जन का भी पूर्ववत् पूजन करके राजा-महाराजाओं के लिये प्रयोग करें ॥ ९८-९९ ॥

मनःशिला देवकाष्ठं रजन्यौ त्रिफलोषणम् ।
लाक्षालशुनमञ्जिष्ठासैन्धवैलाः समाक्षिकाः ॥१००॥
रोध्रं सावरकं चूर्णमायसं ताम्रमेव च ।
कालानुसारिवाञ्चैव कुक्कुटाण्डदलानि च ॥१०१॥
तुल्यानि पयसा पिष्ट्वा गुटिकां कारयेद् बुधः ।
कण्डूतिमिरशुक्लार्मरक्तराज्युपशान्तये ॥ १०२ ॥

मनःशिलाद्यञ्जन—मैनसिल, देवदारु, हरिद्रा, दारुहरिद्रा, हरड़, बहेड़ा, आंवला, काली मरिच (ऊषण), लाख, लहसुन की गिरी, मजीठ, सैन्धव लवण, छोटी इलायची, स्वर्णमाक्षिक

भस्म, सावर लोध तथा लोहे और ताम्र का महीन चूरा या भस्म एवं कालानुसारिवा (तगर) तथा मुर्गे के अण्डे के छिलके इन सब को समान प्रमाण में लेकर अच्छी प्रकार चूर्णित कर के गोदुग्ध के साथ तीन दिन तक खरल कर के गुटिकाएं बना के सुखा कर शीशी में भर देवें। इस 'गुटिकाञ्जन' को नेत्र में उत्पन्न कण्डू, तिमिर, शुक्लार्म तथा नेत्र में दीखने वाली लाल रेखाओं के शमन करने के लिये प्रयुक्त करना चाहिये ॥ १००-१०१ ॥

कांस्यापमार्जनमसीमधुकं सैन्धवं तथा ।
एरण्डमूलञ्च समं बृहत्यंशद्वयान्वितम् ॥ १०३ ॥
आजेन पयसा पिष्ट्वा ताम्रपात्रं प्रलेपयेत् ।
सप्तकृत्वस्तु ता वर्त्यश्छायाशुष्का रुजापहाः ॥१०४॥

कांस्यादिवर्ति—कांस्यपात्र के घिसने से उत्पन्न मसी (कज्जल), मुलेठी, सैन्धव लवण तथा एरण्ड के जड़ की छाल इनमें से प्रत्येक एक-एक तोला तथा बड़ी कटेरी के फल और जड़ मिलित दो तोले भर ले कर सब का महीन चूर्ण करके बकरी के दुग्ध के साथ तीन दिन तक खरल करके ताम्रपात्र पर लेप कर देवें। दूसरे दिन सूखे हुये लेप को पुनः खरल में डाल कर एक दिन बकरी के दुग्ध से घोट के ताम्रपात्र पर लेप कर सुखा देवें। इस प्रकार सात बार यह क्रिया कर लेने के पश्चात् इसकी यवाकृति वर्तियां बना के छाया में सुखा कर शीशी में भर देवें। इन वर्तियों को गुलाब जल या पानी में घिस कर नेत्र में आञ्जने से नेत्र की वेदना नष्ट होती है ॥

पथ्यातुत्थकयष्ट्याह्वैस्तुल्यैर्मरिचषोडशा ।
पथ्या सर्वविकारेषु वर्त्तिः शीताम्बुपेषिता ॥ १०५ ॥

पथ्यादिवर्ति—हरड़, नीलतुत्थ और मुलेठी इन्हें एक एक तोले भर के तथा काली मरिच १६ तोले भर ले कर खाण्ड कूट के महीन चूर्ण कर पानी के साथ खरल करके वर्तियां बनाकर सुखा के शीशी में भर देवें। यह 'पथ्यादिवर्ति' नेत्र के सर्व विकारों में हितकर होती है ॥ १०५ ॥

रसक्रियाविधानेन यथोक्तविधिकोविदः ।
पिण्डाञ्जनानि कुर्वीत यथायोगमतन्द्रितः ॥ १०६ ॥

इति सुश्रुतसंहितायामुत्तरतन्त्रान्तर्गते शालाक्यतन्त्रे क्रियाकल्पो नामाष्टादशोऽध्यायः ॥१८॥

शास्त्रोक्त विधियों का ज्ञाता वैद्य अतन्द्रित (सावधान) हो कर रसक्रिया के विधान से यथायोगोक्त ओषधियों के पिण्डाञ्जन बना लेवे ॥ १०६ ॥

विमर्शः—नेत्र रोगहर द्रव्यों का प्रथम क्वाथ बना कर फिर उस क्वाथ की रसक्रिया (घन) करके उस घनपिण्ड को शिला पर पीस कर गुटिका या वर्तियां बना कर नेत्र रोगों में प्रयुक्त करें। पिण्डिका अर्थात् औषध को पानी के साथ पत्थर पर पीस कर पिण्डी बना के नेत्र पर रख कर पट्टी बांध देते हैं। विडालक भी बनाया जाता है। चरक टीका में विडालक को बहिर्लेप कहा है। क्यों कि विडालक का नेत्र के बाहर से पलकों पर लेप होता है। दोषानुसार विडालक के भी कई भेद हो सकते हैं।

इत्यायुर्वेदतत्त्वसन्दीपिकाभाषायामुत्तरतन्त्रे क्रियाकल्पो नामाऽष्टादशोऽध्यायः ॥ १८ ॥

एकोनविंशतितमोऽध्यायः ।

अथातो नयनाभिघातप्रतिषेधं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥ २ ॥

अब इसके अनन्तर 'नयनाभिघातप्रतिषेधक' अध्याय का व्याख्यान करते हैं जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने कहा है ॥

विमर्शः—नयनयोरभिघाता दण्डादिना भयशोकादिना वा जनिता वेदनादयस्तेषां प्रतिषेधो नयनाभिघातप्रतिषेधस्तम् । तथा च विदेहः—'तीक्ष्णाञ्जनातिपरिक्लिष्टेषु नेत्रेषु वातातपधूमरजोव्यापारकीटमक्षिकामशकस्पर्शादिभिरभिहतेषु सलिलक्रीडाजागरणलङ्घनाप्लुताभिहतेषु श्रान्तक्लान्तेषु भयार्दितेषु दिवाकराग्निचन्द्रग्रहनक्षत्रक्रमणकर्मनिविधरूपप्रेक्षणाद्यभिहतेषु दुर्बलेषु नेत्रेषु रागदाहतोदशोफपाकवर्षादिवेदनासु' इति। नेत्रों पर दण्ड-लगुडादि से या भय-शोकादि से अभिघात हो कर वेदनादि लक्षण उत्पन्न होते हैं उनके प्रतिषेधार्थ यह अध्याय है। विदेह ने तीक्ष्णाञ्जन, वात, धूप, धूम, धूलि, कीट, मक्षिका, मशक, जलक्रीड़ा, जागरण, लंघन, प्लवन, सूर्य, अग्नि, चन्द्र, ग्रह नक्षत्र के क्रमण से तथा दिव्यरूप के दर्शन से नेत्रों पर आघात होना लिखा है।

अभ्याहते तु नयने बहुधा नराणां
संरम्भरागतुमुलासु रुजासु धीमान् ।
नस्यास्यलेपपरिषेचनतर्पणाद्य-
मुक्तं पुनः क्षतजपित्तजशूलपथ्यम् ॥ ३ ॥
दृष्टिप्रसादजननं विधिमाशु कुर्यात्
स्निग्धैर्हिमैश्च मधुरैश्च तथा प्रयोगैः ।
स्वेदाग्निधूमभयशोकरुजाऽभिघातै-
रभ्याहतामपि तथैव भिषक् चिकित्सेत् ॥ ४ ॥

नयनाभिघातसामान्यलक्षणचिकित्सा—लगुडादि आघात, तीक्ष्णाञ्जन प्रभृति उक्त कारणों से प्रायः मनुष्यों के नेत्रों पर आघात हो जाता है जिससे नेत्रों पर संरम्भ (शोथ), राग (लालिमा) और भयङ्कर पीड़ा उत्पन्न होती है ऐसी दशा में बुद्धिमान् वैद्य नस्य, आलेप, परिषेचन, तर्पण आदि का प्रयोग करे तथा रक्ताभिष्यन्द और पित्ताभिष्यन्द में कही गई हितकारी चिकित्सा एवं स्निग्ध, मधुर, शीतल उपचार-जिनसे दृष्टि में प्रसन्नता उत्पन्न होती हो-उनका प्रयोग करे। इसी प्रकार अत्यधिक स्वेद, अग्निसम्पर्क, धूमसम्पर्क एवं भय, शोक, रुजा (पीड़ा) आदि अभिघातों से अभिहत नेत्रों में भी उक्त प्रकार से ही चिकित्सा करनी चाहिये ॥ ३-४ ॥

सद्योहते नयन एष विधिस्तदूर्ध्वं
स्यन्देरितो भवति दोषमवेक्ष्य कार्यः ।
अभ्याहतं नयनमीषदथास्य बाष्प-
संस्वेदितं भवति तन्निरुजं क्षणेन ॥ ५ ॥

उक्त चिकित्साविधि सद्योहत (अर्थात् सप्ताह तक या सप्ताह पूर्व तक हुये) नेत्राघात में ही लाभ करती है किन्तु अभिघात के एक सप्ताह व्यतीत हो जाने के पश्चात् वाताभिष्यन्दोक्तविधि का प्रयोग करना चाहिये किन्तु उसमें भी वातादि दोषों का अवेक्षण कर के ही कार्य करें। हस्तादि से नेत्र पर चोट लगने से स्वल्प पीड़ा हो तो उस नेत्र पर मुख की गरम-गरम फूत्कार (फूंक) के बाष्प के द्वारा स्वेदित करने से थोड़े ही क्षण में वह नेत्र पीड़ारहित हो जाता है॥५॥

साध्यं क्षतं पटलमेकमुभे तु कृच्छ्रे
त्रीणि क्षतानि पटलानि विवर्जयेत्तु।
स्यात् पिच्चितञ्च नयनं क्षति चावसन्नं
स्रस्तं च्युतञ्च हतदृक् च भवेत्तु याप्यम् ॥ ६ ॥

नयनाभिघात की साध्यासाध्यता-नेत्र के प्रथम पटल में उत्पन्न क्षत साध्य होता है। आद्य और द्वितीय दोनों पटलों में उत्पन्न क्षत कृच्छ्रसाध्य होता है तथा आद्य, द्वितीय और तृतीय पटल में उत्पन्न क्षत असाध्य होते हैं। अत्यन्त पिच्चित तथा अवसन्न (अन्तः प्रविष्ट) आंख, एवं स्रस्त (शिथिल) और च्युत (लटकती हुई या स्वस्थान से भ्रष्ट) तथा हतदृक् (नष्टदर्शनशक्ति युक्त आंख) याप्य होती हैं ॥ ६ ॥

विमर्शः—पिच्चितलक्षणं-प्रहारपीडनाभ्यान्तु यदङ्गं पृथुतां गतम्। सास्थि तत् पिच्चितं विद्यान्मज्जरक्तपरिप्लुतम्।

विस्तीर्णदृष्टितनुरागमसत्प्रदर्शि
साध्यं यथास्थितमनाविलदर्शनञ्च ॥ ७ ॥

जिस में दृष्टि फैल गई हो, सूक्ष्म व पतली हो गई हो, लालिमा से युक्त हो एवं असत् ज्ञान कराने वाली दृष्टि भी याप्य होती है किन्तु जो नेत्र तथा उसके सर्व अवयव यथास्थित हों एवं अनाविल (स्वच्छ) देखने वाली दृष्टि साध्य होती है ॥ ७ ॥

प्राणोपरोधवमनक्षुतकण्ठरोधै-
रुन्नम्यमाशु नयनं यदतिप्रविष्टम्।
नेत्रे विलम्बिनि विधिर्विहितः पुरस्ता-
दुच्छिङ्घनं शिरसि वार्यवसेचनञ्च ॥ ८ ॥

अतिप्रविष्टनयन चिकित्सा—यदि नेत्र (गोलक) अन्दर की ओर अधिक प्रविष्ट हो गया हो तो प्राणवायु (अन्तः श्वास) का अवरोध करके या वमन की क्रिया से छींक से और कण्ठावरोध से आंख को बाहर निकालना चाहिये। बाह्यगतनेत्रचिकित्सा—नेत्र का बाह्य ध्वंस हो जाने से यदि वह बाहर की ओर लटक रहा हो तो उसकी चिकित्साविधि पूर्व में कह चुके हैं तदनुसार करें एवं इसमें उच्छिङ्घन (नासा से वायु का भीतर खींचना) तथा सिर पर ठण्डे पानी का छिड़काव करना चाहिये ॥ ८ ॥

विमर्शः—सद्योव्रण-चिकित्साध्याय में बहिर्निर्गत नेत्र चिकित्सा में कहा है कि उसे युक्तिपूर्वक भीतर बिठा दें—भिन्ननेत्रमकर्मण्यमभिन्नं लम्बते तु यत्। तन्निवेश्य यथास्थानमव्याविद्धसिरं शनैः॥

षट्सप्ततिर्नयनजा य इमे प्रदिष्टा
रोगा भवन्त्यमहतां महताञ्च तेभ्यः।
स्तन्यप्रकोपकफमारुतपित्तरक्तै-
र्बालाक्षिवर्त्मभव एव कुकूणकोऽन्यः ॥ ९ ॥

कुकूणकनिर्देश—इस प्रकार ये नेत्र के छिहत्तर रोग कह दिये गये हैं तथा ये रोग बालकों और बड़े मनुष्यों को होते हैं किन्तु स्तन्य (दूध) के प्रकोप से तथा कफ, वायु, पित्त और रक्त की दुष्टि के कारण बालकों के नेत्र वर्त्म प्रदेश में होने वाला यह कुकूणक नामक एक अन्य रोग होता है ॥ ९ ॥

विमर्शः—कुकूणक को Trachomatic lids or opthalmia Neo-natorum or follicular Conjunctivitis कह सकते हैं। यह वर्त्म में होने वाला रोग है ऐसा प्राचीन ग्रन्थों के वर्णन से विदित होता है। कण्डू आदि जो लक्षण बताये हैं वे अधिकतर वर्त्मगत पोथकी में ही सम्भव हैं किन्तु पोथकी बच्चे और युवा सभी में होती है परन्तु कुकूणक रोग तो केवल बच्चों में ही होता है अतः इसे 'आप्थेल्मिया न्यूनेटोरम, कह सकते हैं क्योंकि यह रोग केवल बच्चों में ही होता है। यह अभिष्यन्द की तीव्र अवस्था है जो पूयमेह से पीडित माता-पिता की सन्तानों में जन्म के दो-तीन दिन बाद होती है। आचार्यों ने इस रोग का इस प्रकार उत्पन्न होने का कहीं निर्देश नहीं किया है। आचार्यों ने इसे स्तनपायी के सिवाय अन्न खाने वाले बच्चों में भी होते देखा था अत एव कुकूणक रोग सम्भवतः वर्त्मगत पोथकी या 'फोलीकुलर कञ्जक्टीवाइटिस' भी हो सकता है किन्तु कुकूणक का साम्य Opthalmia neo-natorum से मिलता है अतः उसके कारण, लक्षण और चिकित्सादि का ज्ञान कर लेना आवश्यक है।

परिचय—यह बड़े भयङ्कर स्वरूप का नवजात बालकों में होने वाला अभिष्यन्द है जो हजारों नवजात शिशुओं के नेत्रों को नष्ट कर उन्हें अन्धा कर देता है।

कारण—पूयमेह (Gonorrhoea) से पीडित माता के अपत्यपथ के स्राव से प्रसव के समय नवजात बच्चों के नेत्रों में उपसर्ग का सम्बन्ध हो जाता है।

लक्षण तथा चिह्न—बच्चा रोता है, कानों को खींचता है, बालक के नेत्र प्रसव के दूसरे या तीसरे दिन सहसा शोथयुक्त हो जाते हैं। बाद में नेत्रों से गाढ़े पूय का स्राव होने लगता है। वर्त्म (पलक) इतने सूज जाते हैं कि बच्चा नेत्र नहीं खोल सकता है। प्रारम्भ में स्राव जल समान होता है किन्तु बाद में वह पूययुक्त हो जाता है। बच्चे को ज्वर भी रहता है तथा उसके कर्ण के नीचे की रसायनी ग्रन्थि शोथयुक्त हो जाती है। नेत्र के स्पर्श करने से ही बच्चा रोने लगता है।

परिणाम—सामान्य या सौम्य आक्रमण होने पर एकाध सप्ताह के पश्चात् रोग के लक्षणों का ह्रास होने लगता है परन्तु यदि संक्रमण उग्र हो तो कृष्णमण्डल में पाक होकर उसमें बड़ा व्रण शुक्र (Corneal ulcer) हो जाता है। उचित चिकित्सा न की जाय तो कार्निया गल कर नष्ट हो जाता है तथा नेत्र के भीतरी उपाङ्ग दृष्टिमणि (Lens) आदि भी फूट कर निकल जाते हैं तथा नेत्र में गढ़ा पड़ जाता है और दर्शनशक्ति नष्ट हो जाती है।

रोगनिर्णय—उपर्युक्त विशिष्ट लक्षणों तथा चिह्नों के आधार पर एवं नेत्रस्राव की सूक्ष्मदर्शकयन्त्र द्वारा परीक्षा करने से पूयमेह के जीवाणुओं की उपस्थिति हो तो रोग का निश्चय हो जाता है।

चिकित्सा—(१) अन्तर्गत बाधा-प्रतिषेध—१ यह क्रिया प्रसव के पूर्व हो सकती है। यदि गर्भिणी इस रोग से पीड़ित रही हो तो योनिमार्ग के द्वारा उत्तरबस्ति देकर उसका विशोधन कर देना चाहिये। उत्तरबस्ति के लिये एक्रिफ्लेविन, या पारदधावन अथवा सल्फेनोमाइड के विलयनों का उपयोग करना चाहिये। (२) प्रसव के अनन्तर शिशु के नेत्रों के पलकों को पारदधावन में भिगोये पिचु या रुई से साफ कर स्थानिक संशोधन कर लेना चाहिये। इसके अनन्तर सिल्वर-नाईट्रेट के (५ से १० ग्रेन १ औंस परिस्रुतोदक में बनाये हुये) द्रव के दो-दो बूंद नेत्र में दिन में ३-४ बार छोड़ना चाहिये। अथवा ओर्जिरोल के ३०% के घोल या प्रोटार्गल के १५-२०% तक के घोल का नेत्रों में प्रक्षेप करना चाहिये।

(२) शामक उपचार—१. नेत्रप्रक्षालन एक्रिफ्लेविन के (१-१०००) बने विलयन से आधे २ घण्टे पर नेत्रों में छोड़ कर धोते रहना चाहिये जिससे नेत्रगत पूयादि का निर्हरण होता रहे।

२. दुग्ध या उससे बने इंजेक्शन (एओलोन आदि) का १ से १॥ सी० सी० इंजेक्शन नितम्बभाग में देना चाहिये। ४ से ६ इंजेक्शन एक दिन के अन्तर से देना पर्याप्त होता है।

(३) सल्फाग्रुप की ओषधियों का मुख द्वारा प्रयोग।

(४) स्थानिक प्रयोग के लिये लोक्युला ड्राप्स, सिबेजाल मलहर, पेनिसीलिन ड्राप्स तथा पेनिसीलीन ओइण्टमेण्ट आदि अतीव हितकारी हैं।

(५) लेखनकर्म—सिल्वर नाइट्रेट के द्वारा करना अतीव लाभकारी है। आश्च्योतनार्थं ओर्जिराल, प्रोटार्गल आदि योग प्रयुक्त हो सकते हैं। काश्यपसंहिता में इस रोग की सम्प्राप्ति, कारण, लक्षण और चिकित्सा का पूर्ण वर्णन दिया हुआ है तथा अर्थ भी सरल है—यदा माता कुमारस्य मधुराणि निषेवते। मत्स्यं मांसं पयः शाकं नवनीतं तथा दधि॥ सुरासवं पिष्टमयं तिलपिष्टाम्लकाञ्जिकम्। अभिष्यन्दीनि सर्वाणि काले काले निषेवते॥ भुक्त्वा भुक्त्वा दिवा शेते विसंज्ञा च विबुध्यते। तस्या दोषाः प्रकुपिता दूरं गत्वा च तिष्ठते॥ दोषेणावृतमार्गायास्ततः स्तन्यञ्च दूष्यते। प्रदुष्टदोषसंज्ञञ्च यदा पिबति दारकः। लवणाम्लनिषेवित्वान्मातापुत्रौ रसादिषु॥ आहारदोषात्तस्यास्तु वातस्थानाम्नभोजिनः॥ अभीक्ष्णमस्त्रं स्रवते न च क्षीवति दुर्मनाः। नासिकां परिमृद्नाति स्तन्यं वाञ्छति दुःखितः॥ ललाटमक्षिकूटञ्च नासाञ्च परिमर्दति। नेत्रे कण्डूयतेऽभीक्ष्णं पाणिना चाप्यतीव तु॥ स प्रकाशं न सहते अश्रु चास्य प्रवर्तते। वर्त्मनि श्वयथुश्चास्य जानीयात्तं कुकूणकम्॥ तस्य चिकित्सितं श्रेष्ठं व्याख्यास्यामि यथा तथा। धात्रीन्तु वामयेद्युक्तं तस्य चैव विपाचयेत्॥ तस्या वान्तविरिक्तायाः निर्दुष्टे च स्तनावुभौ। भोजनानि च सर्वाणि यथायुक्तं प्रदापयेत्॥

मृद्नाति नेत्रमतिकण्डुमथाक्षिकूटं
नासाललाटमपि तेन शिशुः स नित्यम्।
सूर्यप्रभां न सहते स्रवति प्रबद्धं,
तस्याहरेद् रुधिरमाशु विनिर्लिखेच्च।
क्षौद्रायुतैश्च कटुभिः प्रतिसारयेत्तु
मातुः शिशोरभिहितञ्च विधिं विदध्यात् ॥१०॥

कुकूणक लक्षण तथा चिकित्सा—इस रोग के होने पर बालक के नेत्र में अत्यन्त खुजली चलती है। जिससे वह नित्य ही अक्षिकूट, नासा और ललाट को मसलता रहता है या रगड़ता रहता है। ऐसा करने से उसके वर्त्म में शोथ हो जाता है जिससे वह नेत्र खोल नहीं सकता तथा सूर्य के प्रकाश को वह सहन नहीं कर सकता है एवं उसकी आंख से निरन्तर (प्रबद्ध) आंसू बहते रहते हैं। ऐसी अवस्था में उस बच्चे के नेत्र पलक या उसके आसपास जोंक लगा के रक्त का निर्हरण करें तथा हारश्रृङ्गार आदि के पत्ते से लेखन कर्म करना चाहिये। पश्चात् त्रिकटु चूर्ण को शहद में मिला कर उसका प्रतिसारण करना चाहिये। इनके सिवा शास्त्र में माता तथा शिशु (बच्चे) के लिये जो जो चिकित्सा कही हो उसे करनी चाहिये॥ १०॥

तं वामयेत्तु मधुसैन्धवसम्प्रयुक्तैः।
पीतं पयः खलु फलैः खरमञ्जरीणाम्॥
स्यात्पिप्पलीलवणमाक्षिकसंयुतैर्वा
नैनं वमन्तमपि वामयितुं यतेत॥ ११॥

कुकूणक में वमन विधान—बच्चे को प्रथम माता या धाय का अथवा ऊपरी दुग्ध पिलाकर शहद के साथ सैन्धव लवण चूर्ण और अपामार्ग के बीजों (फलों) का चूर्ण चटाकर वमन कराना चाहिये। अथवा पिप्पली, सैन्धवलवण इनका मिश्रित चूर्ण और शहद में अपामार्ग के बीजों का चूर्ण मिलाकर वमन कराना चाहिये। यदि बच्चे को स्वयं ही वमन हो रहा हो तो उसे वमन कराने की कोई औषध नहीं देनी चाहिये॥ ११॥

विमर्शः—कुछ टीकाकारों ने दुग्ध के अन्दर मधु, सैन्धव और अपामार्ग बीज का चूर्ण मिला कर किंवा पिप्पली, लवण और मधु दुग्ध में मिलाकर पिला के वमन कराना लिखा है।

दत्त्वा वचामशनदुग्धभुजे प्रयोज्य-
मूर्ध्वं ततः फलयुतं वमनं विधिज्ञैः॥ १२॥

क्षीरान्नादवमनप्रयोग—दुग्ध और अन्न दोनों का सेवन करने वाले बच्चे को वचा के चूर्ण दुग्ध या पानी के साथ खिलाकर वमन कराना चाहिये। क्षीरान्नाद की अवस्था के अनन्तर केवल अन्न खाने वाले बच्चे को मैनफल के चूर्ण द्वारा वमन कराना चाहिये॥ १२॥

जम्ब्वाम्रधात्र्यश्मन्तकदलैः परिधावनार्थं
कार्य्यं कषायमवसेचनमेव चापि।
आश्च्योतने च हितमत्र घृतं गुडूची-
सिद्धं तथाऽऽढुरपि च त्रिफलाविपक्वम्॥ १३॥

कुकूणक में वर्त्म का प्रक्षालन तथा परिषेक करने के लिये जामुन, आम्र, आंवला और अश्मन्तक इनके कोमल पत्ते तथा छाल का कषाय बना कर प्रयुक्त करे। इस तरह इस रोग में आश्च्योतन करने के लिये नीम गिलोय के कल्क और क्वाथ से सिद्ध किया हुआ घृत अथवा त्रिफला के कल्क और क्वाथ से सिद्ध किया हुआ घृत हितकारक कहा गया है॥ १३॥

नेपालजामरिचशङ्खरसाञ्जनानि
सिन्धुप्रसूतगुडमाक्षिकसंयुतानि।
स्यादञ्जनं मधुरसामधुकाम्रकैर्वा
कृष्णायसं घृतपयो मधु वाऽपि तद्वत्॥ १४॥

कुकूणकहर अञ्जन—मनःशिला (नेपालजा), काली या श्वेत मरिच, शङ्ख की नाभि, रसाञ्जन, सैन्धवलवण, गुड और शहद इन सबको समान प्रमाण में लेकर खरल में महीन पीस के अञ्जन लगावें। अथवा मूर्वा (मधुरसा), मुलेठी (मधुक) और आम की छाल इन्हें जला के अञ्जन करें। अथवा कृष्ण लौह का अन्तर्धूम करके उसका चूर्णाञ्जन बना कर घृत-मधु के साथ अञ्जन करना कुकूणक रोग में हितकारी होता है॥ १४॥

विमर्शः—आचार्य विदेह ने लिखा है कि लौह चूर्ण, घृत, मधु और दुग्ध इन्हें एकत्र कटाहादि में दग्ध कर कुकूणक में अञ्जन करना चाहिये—लौहचूर्णञ्च सर्पिश्च मधु क्षीरञ्च दाहयेत्। एतच्चूर्णाञ्जनं पिष्टं कुमाराणां कुकूणके॥

व्योषं पलाण्डु मधुकं लवणोत्तमञ्च
लाक्षाञ्च गैरिकयुतां गुटिकाञ्जनं वा।
निम्बच्छदं मधुकदार्वि सताम्रलोध्र-
मिच्छन्ति चात्र भिषजोऽञ्जनमंशतुल्यम् ॥१५॥

गुटिकाञ्जन—सोंठ, मरिच, पीपल, पलाण्डु (प्याज), मुलेठी, सैन्धवलवण, पीपल की लाख इन्हें समान भाग में लेकर खाण्ड कूट के जल के साथ खरल कर गुटिकाञ्जन बना लेवें। अथवा नीम के पत्ते, मुलेठी, दारुहरिद्रा, ताम्र का चूरा या भस्म और लोध इन्हें एकत्र पीस कर इन्हीं के समान अञ्जन (स्रोतोञ्जन या नीलाञ्जन) मिलाकर जल के साथ खरल करके गुटिका का निर्माण कर कुकूणक रोग में अञ्जन करना हितकारी होता है॥ १५॥

स्रोतोजशङ्खदधिसैन्धवमर्द्धपक्षं
शुक्रं शिशोर्नुदति भावितमञ्जनेन।
स्यन्दे कफादभिहितं क्रममाचरेच्च
बालस्य रोगकुशलोऽक्षिगदं जिघांसुः॥ १६॥

बालकों के शुक्ररोग पर अञ्जन—गौ के दही में शङ्ख की नाभि और सैन्धवलवण को पीस कर रसाञ्जन (स्रोतोज) पर लेप करके सुखा लेवें। इस तरह अर्द्धपक्ष (साढ़े सात दिन) तक प्रतिदिन एक २ बार लेप करके सुखाते रहें। फिर उस रसाञ्जन को पीस कर वर्ति के रूप में बना लेवें। इस वर्ति को जल के साथ घिस कर अञ्जन करने से बच्चों का शुक्ररोग नष्ट होता है। रोगों के ज्ञान में कुशल वैद्य बालकों के नेत्ररोगों को नष्ट करने की इच्छा रखता हुआ कफाभिष्यन्दोक्त चिकित्साक्रम का प्रयोग करे क्योंकि बच्चों में विशेष कर कफ का ही प्राबल्य रहता है॥ १६॥

समुद्र इव गम्भीरं नैव शक्यं चिकित्सितम्।
वक्तुं निरवशेषेण श्लोकानामयुतैरपि॥ १७॥
सहस्रैरपि वा प्रोक्तमर्थमल्पमतिर्नरः।
तर्कग्रन्थार्थरहितो नैव गृह्णात्यपण्डितः॥ १८॥

नेत्रचिकित्सोपसंहार—समुद्र के समान अगाध (गम्भीर) चिकित्साशास्त्र को करोड़ों श्लोक या हजारों श्लोक से भी समग्र रूप में वर्णित करना असम्भव सा है अत एव तर्क और ग्रन्थ के असली अर्थ ज्ञान से शून्य तथा स्वल्पबुद्धि वाला अज्ञ (अपण्डित) मनुष्य शास्त्र में सूत्ररूप से प्रोक्त अर्थ को ग्रहण नहीं कर सकता है॥ १७-१८॥

तदिदं बहुगूढार्थं चिकित्साबीजमीरितम्।
कुशलेनाभिपन्नं तद्बहुधाऽभिप्ररोहति॥ १९॥

इसलिये अधिक गूढ अर्थ वाला तथा यहां कहा हुआ यह चिकित्सा बीज कुशल (कुशाग्रबुद्धि) व्यक्ति के द्वारा अधीन होने पर अनेक प्रकार के अर्थों के रूप में अङ्कुरित (स्फुरित) होता है

तस्मान्मतिमता नित्यं नानाशास्त्रार्थदर्शिना।
सर्वमूह्यमगाधार्थं शास्त्रमागमबुद्धिना॥ २०॥

इति सुश्रुतसंहितायामुत्तरतन्त्रान्तर्गते शालाक्यतन्त्रे नयनाभिघातचिकित्सितं नामैकोनविंशोऽध्यायः॥१९॥

उक्त चिकित्सा बीज को समझने के लिये शालाक्यादिक या न्याय, व्याकरण, साहित्य और दर्शनादिक अनेक शास्त्रों के अर्थ को देखने वाला एवं आगम (आप्तोक्तशास्त्र) में बुद्धि लगाकर उसके द्वारा मतिमान् कुशल वैद्य अगाध (गम्भीर) अर्थ वाले शास्त्र का सर्वदा समग्ररूप से विचार करता रहे॥२०॥

विमर्शः—इस श्लोक में सुश्रुताचार्य ने चिकित्सा के महत्त्व को बीज या सूत्ररूप में कह कर उसकी अगाधता (गम्भीरता) प्रदर्शित की है। तथा आगम के द्वारा तर्क-वितर्क कर उसका विस्तार करने का सङ्केत किया है यही भाव चरकाचार्य ने चरक-विमान स्थान-अध्याय आठ में व्यक्त किया है—'सूत्रं बुद्धिमतामल्पमप्यनल्पज्ञानायतनं भवति तस्माद् बुद्धिमतामूहापोहवितर्काः' बुद्धिमानों के लिये सूत्ररूप में कहा हुआ अल्प वाक्य भी अधिक ज्ञान का आधार (बोधक) होता है इसी लिये बुद्धिमानों के लिये ऊहापोह और तर्क-वितर्क हैं। आगम तथा आप्तपरिभाषा—आगमः आप्तानां शास्त्रं तत्र बुद्धिर्यस्य तेन आगमबुद्धिना, तदुक्तम्—'सिद्धं सिद्धैः प्रमाणैस्तु हितं चात्र परत्र च। आगमः शास्त्रमाप्तानामाप्तास्तत्त्वार्थवेदिनः॥' इति। अपि च—'सृष्टिश्च प्रलयश्चैव देवतानां तथाऽर्चनम्। साधनं चैव सर्वेषां पुरश्चरणमेव च॥ षट्कर्मसाधनं चैव ध्यानयोगश्चतुर्विधः। सप्तभिर्लक्षणैर्युक्तमागमं तद्विदुर्बुधाः॥' इति।

इति नयनाभिघातचिकित्सितं नामैकोनविंशोऽध्यायः॥ १९॥

विंशतितमोऽध्यायः।

अथातः कर्णगतरोगविज्ञानीयमध्यायं व्याख्यास्यामः॥१॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः॥ २॥

अब इसके अनन्तर कर्णगतरोगविज्ञानीय नामक अध्याय का प्रारम्भ करते हैं जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने कहा है॥

विमर्शः—कर्ण रोग शब्द से कान में होने-वाले रोग ऐसा ज्ञान होता है। कान से बाह्यकर्ण या कर्णपाली का ही ग्रहण होता है किन्तु इसकी शास्त्रसम्मत व्याख्या 'कर्णशष्कुल्यवच्छिन्नमदृष्टोपगृहीतं श्रोत्रमुच्यते' शष्कुली से युक्त अप्रत्यक्ष अदृष्ट श्रोत्र (कर्ण) कहलाता है। इन्द्रियां अत्यन्त सूक्ष्म होती हैं। उनका प्रत्यक्ष चर्मचक्षु से नहीं होता। नासा, कर्ण, चक्षु आदि जो कुछ स्वरूप हमें बाहर से दिखाई देता है वह इन्द्रिय न होकर इन्द्रियाधिष्ठानमात्र है। जिस तरह कृत्रिम विद्युत् की उत्पत्ति का स्थान, विद्युत् के तार आदि विद्युत् के अधिष्ठान हैं। उन तारों में दौड़ने (प्रवाहित होने) वाली विद्युत् अदृश्य है तद्वत् इन्द्रियों को भी हम देख नहीं सकते हैं उनके विशिष्ट कार्य से उनका ज्ञान किया जाता है। यहां

पर कर्णरोग शब्द से कर्णेन्द्रिय तथा उसके अधिष्ठान दोनों के रोगों का वर्णन किया जायगा। कर्णशारीर का वर्णन आयुर्वेद में अधिक नहीं है। आधुनिकों ने इसके शारीर का पूर्ण वर्णन किया है। कर्ण के (१) बाह्यकर्ण (External Ear) (२) मध्यकर्ण (Middle Ear), और (३) अन्तःकर्ण या कान्तारक (Labyrinth) ऐसे तीन भेद किये गये हैं।

बाह्यकर्ण—इसके दो विभाग हैं। एक वह जो सीप के समान होता है तथा उसमें कई उभार और गढ़े दिखाई देते हैं। यह भाग कड़ा होता है तथा तरुणास्थि (कार्टिलेज) का बना हुआ होता है। इसमें बाहर वाले भाग को कर्णशष्कुली (पिन्ना Pinna) तथा दूसरे त्रिकोणाकार भाग को कर्णपुत्रिका (ट्रेगस और एन्टीट्रेगस Tragus and Anti tragugs) तथा नीचे के तीसरे भाग को कर्णपाली (Lobule) कहते हैं। कर्णशष्कुली में छिद्र करा कर स्त्रियां बालियां पहनती हैं। कर्णशष्कुली के नीचेवाला भाग कर्णपाली है। यह सौत्रिक धातु तथा मेद का बना हुआ होता है तथा मुलायम होता है। कर्णवेध कर्णपाली में ही किया जाता है। कर्णपाली के ऊपर तथा कर्णकुहर (श्रुतिपथ या बाह्यकर्णगुहा External audetary meatus) के दोनों तरफ जो किञ्चित् उभार होते हैं उन्हें कर्णपुत्रिका कहते हैं। बाह्यकर्ण के दूसरे भाग को कर्णकुहर या श्रुतिपथ या बाह्यकर्णगुहा कहते हैं। यह लम्बाई में सवा इञ्च की होती है टेढे-मेढे घूम कर कर्णपटह (Drum ड्रम) तक पहुंचती है। यह पटह बाह्य तथा मध्यकर्ण के बीच होता है। इसको टिम्पेनिक मेम्ब्रेन (Tympanic membrane) भी कहते हैं। शब्द की लहरियां कर्णगुहा में होती हुई इसी कर्णपटह पर पहुंचती हैं। बाह्यकर्णगुहा कुछ टेढी होने से कर्णपटह स्पष्ट दिखाई नहीं देता है। कर्ण रोगों में इसकी परीक्षा के लिये कर्णशष्कुली को जरा ऊपर से पकड़ कर ऊपर, पीछे तथा बाहर की ओर खींचना होता है। कर्णवीक्षण (Ear speculum) तथा दर्पण की भी सहायता ली जा सकती है। स्वस्थावस्था में श्रुतिपटह मुक्ताशुक्ति के समान भास्वर होता है। मध्यकर्ण के शोथ (Ottitis media) में यह अरुण वर्ण हो जाता है। उक्त परीक्षाओं से कभी-कभी पर्दे में छिद्र हो तो वह भी देखा जा सकता है।

मध्यकर्ण—यह श्रुतिपटह (Drum कान का पर्दा) के पीछे से प्रारम्भ होता है तथा यह एक अस्थिमय गुहा (कोठरी) है जो बाहर की ओर चौड़ी तथा भीतर की ओर संकरी होती है। यह कोठरी शङ्खास्थि के एक देश में रहती है। इसकी बाहर की दीवार श्रुतिपटह से बनी है। इस गुहा में छोटी-छोटी तीन अस्थियां होती हैं जो पटह से लेकर मध्यकर्ण की भीतरी दीवाल तक फैली रहती हैं। ये आपस में बन्धनों द्वारा बंधी रहती हैं। इनमें घूमने और हिलने वाली सन्धियां रहती हैं। पटह के पास वाली पहली अस्थि को मुद्गरक (Malleus मेलियस या Hammer हेमर कहते हैं। यह सम्पूर्ण लम्बाई में श्रुतिपटह से संलग्न होती है। बीच वाली दूसरी अस्थि को निहाई या अङ्कुश (Anvilor incus) कहते हैं। तीसरी अस्थि जो भीतरी कान (अन्तःकर्ण) के समीप होती है उसे धरणक (Stapes स्टेपीज) या रकाब (Stirrup स्टिरप) कहते हैं। इनकी रचना (स्वरूप) के अनुसार ये नाम दिये गये हैं। मध्यकर्ण की भीतरी दीवाल में एक छिद्र होता है। इसमें पूर्वोक्त धरणक अस्थि निविष्ट (टिकी) होती है। शब्द की लहरिकाएं श्रुतिपटह से टकरा कर क्रम से इन अस्थियों को आन्दोलित करती हुई धरणक द्वारा अन्तःकर्ण में पहुंचती हैं। असाध्य बाधिर्य में मध्यकर्ण के जीर्णशोथ के कारण तीनों अस्थियां एक हो जाती हैं और शब्द की लहरियों का वहन करने में अक्षम होती हैं। मध्यकर्ण से एक नली जिसे श्रुतिसुरङ्गा (Eustachian tube) कहते हैं गले की ओर जाती तथा गले तक पहुंचती है अथवा यों कहें कि नासिक्यगल (Nasal pharynx) नासिका का पीछे की ओर (मुख से संलग्न भाग) से पटहपूरणिका (यूस्टेशियन ट्यूब या श्रुतिसुरङ्गा) नामक एक सूक्ष्म प्रणाली मध्यकर्ण में आती है। इसको जानने के लिये अङ्गुलियों से नाक को दाब कर, ओठ बन्द कर मुख की वायु निकालने का प्रयत्न करें तो पर्दे पर आघात सा होता है। यह वायु के कारण से है जो मुख या नासिका से निर्गमन का द्वार न पाकर उक्त प्रणाली से निकल जाता है। प्रतिश्याय के कारण कर्ण में भारीपन और कुछ बधिरता हो तो इस प्रयोग से आराम मिलता है। इस नलिका (श्रुतिसुरङ्गा) की लम्बाई $1\frac{1}{2}$ इञ्च होती है। इस प्रणाली द्वारा बाह्य वायु मध्यकर्ण में प्रविष्ट और सदा विद्यमान रहता है। इस अन्तःप्रविष्ट वायु और बाह्य कर्णगुहा के वायु के दबाव से श्रुतिपटह स्वस्थदशा में दृढ-अशिथिल रहा करता है। कभी-कभी गले में शोथ, प्रतिश्याय, तुण्डिकेरी, एडिनोइड आदि के कारण पटहपूरणिका में भी शोथ हो जाता है जिससे कुछ काल के लिये थोड़ी बधिरता उत्पन्न हो जाती है। कान से पूयस्राव होने पर सदा मध्यकर्ण शोथ की कल्पना करनी चाहिये।

अन्तःकर्ण या कान्तारक—इसकी बनावट बड़ी जटिल है। इसकी जटिलता के कारण इसे घूमघुमैया (Labrynth) भी कहा जा सकता है। यह वास्तविक शब्देन्द्रिय है। श्रुतिनाडी (अष्टमशीर्षण्य नाडी = Auditory nerve) के प्रतान इस में व्याप्त होते हैं। शब्द की लहरियां पूर्वोक्त क्रम से इन प्रतानों में होकर मस्तिष्क के वल्क में स्थित अपने स्थान में पहुंचती और शब्द का ग्रहण कराती हैं। अन्तःकर्ण के दो भाग या अवयव होते हैं एक अस्थिमय जिसे शम्बूक (Cochlea कोक्लिआ) कहते हैं तथा दूसरा उसके अन्तर्गत उसी के आकार का कलामय या झिल्ली का बना होता है। इस कलामय भाग में एक प्रकार का द्रव भरा रहता है जिसे इण्डोलिम्फ (Endolymph) कहते हैं एवं कलामय अन्तःकर्ण तथा अस्थिमय अन्तःकर्ण के मध्य कुछ अवकाश रहता है जिसमें एक प्रकार का द्रव भरा रहता है उसे पेरिलिम्फ (Perilymph) या बाह्यलसीका कहते हैं। उक्त शब्दक्रम से आई हुई लहरियां बाह्य द्रव को आन्दोलित करती हैं तथा बाह्य द्रव अन्तःस्थ द्रव को आन्दोलित करता है। इस प्रकार इस आन्दोलन को श्रुतिनाडी के प्रतान ग्रहण कर मस्तिष्क में पहुंचाया करते हैं जिससे उसको शब्द ज्ञान होता है। आचार्य चरक ने सूत्रस्थान अध्याय १२ में कहा है कि 'वायुः श्रोत्रस्पर्शनयोर्मूलम्' श्रोत्र में वायु रहती है। इसकी व्याख्या में चक्रपाणि ने लिखा है कि 'श्रवणमूलत्वं वायोः कर्णशष्कुलीरचनाविशेषे व्याप्रियमाणत्वात्, मूलं प्रधानकारणम्' इससे उक्त आधुनिक श्रवण-व्यापार का

सङ्केत प्रतीत होता है। अन्तःकर्ण के दोनों अवयवों के तीन उपाङ्ग होते हैं। प्रथम को शम्बूक कहते हैं जो घोंघे के समान आवर्त्तमय होता है। शब्द के ग्रहण में यह अनिवार्य और प्रधान है। श्रुतिनाडी के अतिसंवेदी (ग्रहणशील) प्रतान इसमें फैले रहते हैं। अन्तःकर्ण का दूसरा उपाङ्ग कर्णकुटी अथवा तुम्बिका है जिसे वेष्टिब्यूल (Vestibule) कहते हैं। इसके मध्य में एक छिद्र होता है जिसमें धरणकास्थि टिकी रहती है। अन्तःकर्ण का तीसरा उपाङ्ग शुण्डिकाएं हैं इन्हें अर्धचन्द्राकृति नलिकाएं (सेमिसर्कुलर केनाल्स Semi circular canals) कहते हैं। ये तीन अर्द्धवर्तुल प्रणालियां हैं इनका छिद्रों द्वारा तुम्बिका से सम्बन्ध होता है। इन शुण्डिकाओं का कार्य शरीर की स्थिति का सन्तुलन है। विविध शारीरिक चेष्टाओं में सिर यत्किञ्चित् भी इधर-उधर होता ही है जिससे इन शुण्डिकाओं के भीतर स्थित पूर्वोक्त द्रव इधर-उधर होता है। द्रव का यह इतस्ततः होना वेग के रूप में सूक्ष्म नाडियों द्वारा धम्मिल्लक में पहुंचाया जाता है। यह अङ्ग तदनुसार शरीर के अवयवों को विविध प्रेरणाएं करता है। अर्थात् शरीर का कोई अङ्ग किसी विशेष दिशा में झुक जाय और शरीर उस दिशा में गिरने को हो तो पूर्वोक्त प्रकार से उसका ज्ञान शुण्डिकाओं में स्थित द्रव द्वारा धम्मिल्लक को होता है और वह तत्काल समुचित अङ्गों को ऐसी चेष्टा करने के लिये आदेश करता है जिससे शरीर समतुलित हो जाय। श्रवणकार्य में नलिकाओं का कोई उपयोग नहीं है। इनके अधिक उत्तेजित होने पर चक्कर आने लगते हैं।

निष्कर्ष—अन्तःस्थ कर्ण तीन भागों का बना होता है। (१) कर्णकुटी या तुम्बिका (Vestibule) (२) शम्बूक (Cochlea कोक्लिया) (३) अर्द्धचन्द्राकार नलिकाएं (Semi circular canals) इन रचनाओं की दीवारें शङ्खास्थि से बनी हुई हैं। अस्थि के भीतर झिल्ली से बने हुए उक्त भिन्न-भिन्न तीनों भाग होते हैं। इस तरह अस्थिनिर्मित अन्तःकर्ण के भीतर झिल्लीकृत अन्तःस्थ कर्ण रहता है।

कर्णकुटी या तुम्बिका—अन्तःस्थ कर्ण का मध्य भाग है। इसके एक ओर शम्बूक तथा दूसरी ओर अर्द्धचन्द्राकार नलिकाएं स्थित हैं। सारे अन्तःकर्ण में सबसे फूला हुआ यही भाग है। इसकी दीवारों में भीतर की ओर कई सूक्ष्म छिद्र हैं जिनमें होकर श्रवणनाडी के सूत्र कर्ण में प्रवेश करते हैं। बाहर के बड़े छिद्र में रकाब नामक अस्थिका चौड़ा भाग लगा रहता है। इसके आगे की ओर एक दूसरा छिद्र होता है जिसके द्वारा कोक्लिया से सम्बन्ध होता है। इस कुटी के पिछले भाग में पांच छिद्र होते हैं जिनके द्वारा अर्द्धचन्द्राकार नलिकाएं कुटी में आकर खुलती हैं। कुटी के भीतर भी झिल्ली के बने हुये दो कोष्ठ रहते हैं उनमें से पूर्वकोष्ठ (Utricle) का तीनों नलिकाओं से सम्बन्ध है तथा दूसरे पश्चात्कोष्ठ (Saccule) का एक ओर का भाग पूर्वकोष्ठ से और दूसरी ओर का कोक्लिआ से मिला रहता है।

कोक्लिया—इसका आकार शङ्खनाभि के समान आवर्त (चक्कर) युक्त होता है। इसके एक ओर का मध्यकर्ण से सम्बन्ध रहता है तथा दूसरे ओर का भाग कर्णकुटी से मिला रहता है।

अर्द्धचन्द्राकार नलिकाएं—ये संख्या में तीन होती हैं। दिशा का ज्ञान करना इनका मुख्य कार्य है। जब हम किसी गाड़ी में बैठ कर जाते हैं तो आंखें मुंदने पर भी हमको अनुभव हो जाता है कि हम किस ओर को जा रहे हैं। यह ज्ञान इन नलिकाओं के द्वारा प्राप्त होता है। कोक्लिया तथा कर्णकुटी की भांति ये नलिकाएं भी झिल्ली की बनी हुई होती हैं जो शंखास्थि द्वारा निर्मित नलिकाओं के भीतर रहती हैं। इनमें बहिर्लसीका (Perilymph) झिल्ली और अस्थिकृत नलियों के मध्य के अवकाश में तथा अन्तर्लसीका (Endolymph) झिल्लीकृत नलिकाओं में भरी रहती है। ये सब नलिकाएं कुटी (मध्यभाग) के पूर्वकोष्ठ में खुलती हैं। इन अर्द्धचन्द्राकार नलिकाओं के विशेष सेलों का नाड़ी द्वारा मस्तिष्क से सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। ये तीनों नलिकाएं तीन दिशाओं में स्थित हैं और एक दूसरी के साथ समकोण बनाती हैं। इन नलिकाओं के विकृत हो जाने से मनुष्य को दिशाओं का तनिक भी ज्ञान नहीं हो सकता। इनमें विकार उत्पन्न होने से जी मिचलाना, वमन, सिर का घूमना (चक्कर आना) तथा किसी एक दिशा में ठीक से चलने में असमर्थ होना इत्यादि लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं।

हम शब्द को किस प्रकार सुनते हैं—इस में कोई सन्देह नहीं कि श्रवण से विशेष सम्बन्ध रखने वाला भाग कोक्लिया है। यदि किसी पशु के कर्ण से कोक्लिया निकाल दिया जाय तो उसकी श्रवण शक्ति जाती रहती है। मछली में यह अङ्ग नष्टप्राय होता है इससे वह आंख से देखकर इधर-उधर भागती है। वायु में उत्पन्न हुई कम्पनाएं जब बाह्यकर्ण पर पहुंचती हैं तो कर्ण का बाह्य भाग उन कम्पनाओं को एकत्रित करके कर्णपटह पर पहुंचा देता है। इन कम्पनाओं के कारण कर्णपटह में भी कम्पनाएं होने लगती हैं। यदि कर्णपटह एक बिल्कुल सपाट झिल्ली होती तो वह केवल एक ही प्रकार के स्वर से कम्पित होती किन्तु उसकी विचित्र बनावट उसको सब प्रकार के स्वरों को ग्रहण करने के योग्य बना देती है। इस पटह से मुद्गर (Malleus या Hammer) के प्रवर्द्धन का सम्बन्ध रहता है और मुद्गर के दूसरे भाग से नेहाई व शूर्मिका अथवा अङ्कुश (Anvil or incus) लगी रहती है तथा इस अङ्कुश (नेहाई) का सम्बन्ध रकाब (Stirrup) अस्थि के चौथे भाग से रहता है जो कर्णकुटी के बड़े छिद्र में रहता है। जब वायु की कम्पनाओं से पटह में कम्पना होने लगती है तो उनका मुद्गर पर प्रभाव पड़ता है। यदि पटह बाहर की ओर खिंचता है तो मुद्गर भी बाहर को खिंचता है। पटह के भीतर की ओर गति करने से मुद्गर भी पीछे को हटता है। इसी प्रकार नेहाई की भी गति होती है। नेहाई का गात्र तो मुद्गर से लगा रहता है किन्तु उसका प्रवर्द्धन रकाब से लगा रहता है। इनका आपस में इस प्रकार सम्बन्ध रहता है कि जब पटह मुद्गर को बाहर की ओर खींच लेता है तो नेहाई का गात्र भी बाहर की ओर खिंच जाता है किन्तु उसका प्रवर्द्धन भीतर की ओर गति करता है। इससे रकाब की भी भीतर को गति होती है। वह अन्त में कर्णकुटी के भीतर के तरल में कम्पनाएं या लहर उत्पन्न कर देता है। ये कम्पनाएं कोक्लिया की सारी कलाको उत्तेजित कर देती हैं जहां से मस्तिष्क को सूचना पहुंचती है। इससे यह स्पष्ट है कि कम्पनाएं कोक्लिया तक अवश्य पहुंचती हैं नहीं तो शब्द का ज्ञान नहीं होगा।

कोक्लिया में विकृति होने पर भी शब्द का ज्ञान नहीं होगा। यदि मध्यकर्ण इन कम्पनाओं को अन्तःकर्ण तक नहीं पहुंचायगा तो भी बधिरता उत्पन्न हो जायगी। कभी-कभी बाह्य कर्ण में मैल जमा होने पर भी सुनने में कठिनता होती है।

कर्णशूलं प्रणादश्च बाधिर्य्यं क्ष्वेड एव च।
कर्णस्रावः कर्णकण्डूः कर्णवर्चस्तथैव च॥ ३॥
कृमिकर्णप्रतीनाहौ विद्रधिर्द्विविधस्तथा।
कर्णपाकः पूतिकर्णस्तथैवार्शश्चतुर्विधम्॥ ४॥
कर्णार्बुदं सप्तविधं शोफश्चापि चतुर्विधः।
एते कर्णगता रोगा अष्टाविंशतिरीरिताः॥ ५॥

कर्णगतरोगों के नाम और संख्या-कर्णशूल, कर्णनाद, कर्णबाधिर्य, कर्णक्ष्वेड, कर्णस्राव, कर्णकण्डू, कर्णवर्च, कृमिकर्ण, कर्णप्रतिनाह, द्विविध कर्णविद्रधि, (दोषविद्रधि तथा क्षतविद्रधि), कर्णपाक, पूतिकर्ण, चतुर्विध (वातज, पित्तज, कफज, सन्निपातज) कर्णार्श, सप्तविध (वात, पित्त, कफ, रक्त, मांस, मेद तथा सर्वात्मक) कर्णार्बुद, चतुर्विध (वात, पित्त, कफ और सन्निपात जन्य) कर्णशोफ, इस तरह कर्ण में होने वाले ये अट्ठाईस रोग कहे गये हैं॥ ३-५॥

विमर्श—कर्णशूल को इयर एक (Ear Ech), कर्णनाद को टिनीटस (Tinitus), कर्णबाधिर्य को डीफनेस (Deafness), कर्णक्ष्वेड को लेबरिन्थाइटिस (Labrynthitis), कर्णस्राव को ओटोरिआ (Otorrhoea), कर्णकण्डु को ईचिङ्ग सन्सेशन इन दि इयर (Itching sensation in the Ear), कर्णवर्च को वेक्स इन दि इयर (Wax in the Ear), कृमिकर्ण को वर्म्स इन दि इयर (Worms in the Ear), कर्णप्रतिनाह को ओब्स्ट्रक्शन आफ् इस्टेशियन ट्यूब (Obstruction of Eustachian-tube), कर्णविद्रधि को फरन्क्युलोसिस इन दि इयर या हर्पिस इन इक्स्टर्नल इयर (Furnculosis in the Ear or herpes in ext. Ear), कर्णपाक को सप्युरेशन इन दि इयर (Suppuration in the Ear), पूतिकर्ण को फाइटिड डिस्चार्ज फ्रॉम् दि इयर (Foetid discharge from the Ear), कर्णार्श को पोलिपस इन दि इयर (Polypus in the Ear), कर्णार्बुद को हार्ड ट्यूमर इन आडिटरी मीएटस (Hard tumour in auditory meatus), कर्णशोफ को इन्फ्लेमेटरी कण्डीशन ऑफ दि इयर (Inflammatory condition of the Ear) कहते हैं।

सप्तविधकर्णार्बुद—वातेन पित्तेन कफेन चापि रक्तेन मांसेन च मेदसा च। सर्वात्मकं सप्तममर्बुदन्तु॥

चतुर्विधः शोफः—दोषैस्त्रिभिस्तैः पृथगेकशश्च भूयाच्चथार्शांसि तथैव शोफान्।

कर्णरोग संख्या—चरकाचार्य ने कर्ण रोगों की संख्या चार मानी है। (१) वातिक, (२) पैत्तिक, (३) श्लैष्मिक, (४) सान्निपातिक। नादोऽतिरुक् कर्णमलस्य शोषः स्रावस्तनुश्चाश्रवणञ्च वातात्। शोथः सरागो दरणं विदाहः सपीतपूतिश्रवणञ्च पित्तात्॥ वैश्रुत्यकण्डूस्थिरशोफशुक्लस्निग्धस्रुतिः स्वल्परुजः कफात्तु। सर्वाणि रूपाणि च सन्निपातात् स्रावश्च तत्राधिकदोषवर्णः॥ (च.चि.२६) तथा इन चार प्रकार के भेदों में अन्य भेदों का बहुत कुछ अन्तर्भाव कर दिया है। आयुर्वेद-विज्ञान आदि ने सुश्रुताचार्य के मत का समर्थन कर कर्णरोगों की संख्या २८ मानी है।

आचार्य वाग्भट ने कर्णरोगों की संख्या पचीस मानी है। कर्णक्ष्वेड, कर्णस्राव और कर्णगूथ को पृथक् नहीं लिखा है तथा अर्श, शोथ और अर्बुद के भेदों को अलग-अलग नहीं लिखा है। कर्णपाली के रोगों को अन्य आचार्यों की तरह पृथक् न लिख कर इन्हीं में समाविष्ट कर दिये हैं।

कर्णरोगविभाजन—जिस तरह कर्ण को तीन विभागों में विभक्त किया है तद्वत् उसमें होने वाले रोगों को भी तीन भागों में विभक्त कर दिया गया है।

(१) बाह्यकर्ण के रोग—(१) सहज विकार (Congenital abnormalities) जैसे जन्म से ही कर्णशष्कुली (Pinna) का अथवा पाली का अभाव। अथवा श्रुतिपट के छिद्र का बन्द हो जाना, या कान का बहुत बड़ा हो जाना। किंवा छोटा हो जाना, किंवा कर्णशष्कुली पर कुछ कार्टिलेज और मेद के सञ्चय से एक ओर कान का हो जाना। वाग्भटोक्त कर्णपिप्पली रोग तथा कुचिकर्णक रोग इसी श्रेणी में आते हैं। (२) कर्णरक्तग्रन्थि (Heamatoma auris) यह रोग अभिघातजन्य होता है तथा मल्लयुद्ध-कुश्ती आदि करने वालों में होता है इस रोग में कान रक्तवर्ण का तथा शोथयुक्त हो जाता है। वेध आदि शस्त्रकर्म करके दोषनिर्हरण यदि नहीं किया जाय तो पेशी-सङ्कोच के कारण से उसमें विकृति (Deformity) बनी रहती है। वाग्भटाचार्य ने इसे 'परिपोटक' लिखा है। इसी के समान उन्मथ और दुःखवर्धन नामक रोग भी होते हैं। (३) विचर्चिका (Eczema) तथा रकसा—ये रोग कर्णशष्कुली तथा पाली में होते हैं। इनकी चिकित्सा में संशामक लेप आदि का प्रयोग करना चाहिये। (४) बाह्याभिघातजन्य कर्णरोग (Traumatic affection of the Ear) आचार्य सुश्रुत ने उक्त चारो रोगों में शलाकायन्त्र प्रवेश अथवा कर्णदर्शकयन्त्र (Auroscope) का उपयोग होने की आवश्यकता न होने से इन्हे शल्यतन्त्रान्तर्गत ही मान लिया है तथा इसके लिये कर्णवेधनविधि नामक एक स्वतन्त्र अध्याय लिख दिया है जिसमें कर्णपाली के अनेक रोगों तथा उनकी चिकित्सा का वर्णन किया है। इसके अतिरिक्त बाह्यकर्ण के कुछ रोगों में सन्धानकर्म (Ptastic surgery) भी करना पड़ता है तथा इस कर्म का सम्बन्ध शल्यतन्त्र से है अत एव उन रोगों का शालाक्य में वर्णन नहीं किया गया किन्तु वाग्भटादि अन्य आचार्यों ने उनका वर्णन शालाक्यतन्त्र में किया है जैसे कर्णपिप्पली, विदारिका, पालिशोष, तन्त्रिका, परिपोट, उत्पात, उन्मन्थ या गल्लिर, दुःखवर्धन, लेहिका या परिलेही। इनकी चिकित्सा शल्यतन्त्रानुसार की जाती है।

मध्य तथा अन्तःकर्ण के विकार—(१) कर्णशल्य (Foreign body)—कर्णकृमि तथा जौ, गेहूं, चने आदि का कर्ण के भीतर चले जाना। (२) कर्ण के भीतर मैल (गूथ) का (Ceruman)। (३) कर्ण में फोड़े-फुन्सी का होना (Furnculosis)। (४) कर्ण के भीतर छोटे-छोटे अर्बुद या मस्सों का होना। (५) मध्यकर्ण में शोफसम्बन्धी विकार जैसे तीव्र या जीर्ण मध्यकर्ण शोथ (Acute or chronic inflamation of the middle Ear)। (६) अन्तःकर्ण के रोगों में

शोथजन्य विकृतियां (Labrynthitis), पाकजन्य विकृतियां, इन्द्रियविकार बाधिर्य (Ostosclerosis), भ्रम (Vertigo) आदि होते हैं।

कर्णरोगों के सामान्य हेतु तथा सम्प्राप्ति—

[अवश्यायजलक्रीडाकर्णकण्डूयनैर्मरुत् ।
मिथ्यायोगेन शस्त्रस्य कुपितोऽन्यैश्च कोपनैः ॥ १ ॥
प्राप्य श्रोत्रसिराः कुर्यात् शूलं श्रोतसि वेगवान् ।
ते वै कर्णगता रोगा अष्टाविंशतिरीरिताः ॥२॥]

ओस में रहना, जल में तैरना तथा कान खुजलाना, शस्त्र के मिथ्या या अन्यथा प्रयोग करने से या शलाका के कुप्रयोग से वात कुपित होकर कर्ण की सिराओं को प्राप्त कर कर्णस्रोत (श्रुतिपथ) में वेग के साथ शूल उत्पन्न करता है। इस तरह उत्पन्न रोगों को कर्णरोग कहते हैं तथा ये संख्या में अट्ठाईस होते हैं ॥ १-२ ॥

विमर्शः—आयुर्वेद के मत से यह कर्णरोगों का सामान्य कारण तथा सम्प्राप्ति है। प्रत्येक रोग का निदान (आदि कारण) दो प्रकार का होता है। (१) सन्निकृष्ट (Direct) तथा (२) विप्रकृष्ट (Predisposing)। विप्रकृष्ट कारणों में बहुधा सभी विकारों में समानता होती है। जैसे असात्म्येन्द्रियार्थसंयोग, प्रज्ञापराध, काल एवं कर्म की सम्प्राप्ति। इसी वर्ग में कर्णरोगोक्त हेतु, अवश्यायसेवन, जलक्रीडा, कर्णकण्डु, शस्त्र का मिथ्या प्रयोग प्रभृति कारण आते हैं। अवश्याय (ओस) में रहने से नासाग्रसनिका (Nasopherinx), कण्ठशालूक प्रभृति शोथयुक्त विकार होते हैं। नासाग्रसनिका से संक्रमण श्रुतिसुरङ्गा (Eustachian tube) द्वारा मध्यकर्ण तक पहुँच जाता है जिससे मध्यकर्णशोथ प्रारम्भ हो जाता है उससे कर्ण के स्राव, पूतिकर्ण आदि अनेक कर्णरोग पैदा हो जाते हैं। इस तरह (१) अवश्याय कर्णरोगोत्पत्ति का एक प्रधान कारण है। यही बात पाश्चात्य शालाक्यग्रन्थों में लिखी है Inflammation of middle Ear is extremely common and due in practically all cases to extension of injection from the Nasopharinx through the Enstachian tube.

(२) जलक्रीडा—कभी जल में लापरवाही से तैरने या कूदने से कान के छिद्र से पानी श्रुतिपथ (बाह्य) में चला जाता है तथा वहाँ स्थित मैल (Wax) को तर करके फुला देता है जिससे बाह्य छिद्र बन्द हो जाता है। इससे चक्कर आना, वमन होना, कर्णनाद और कर्णशूल आदि अनेक रोग हो जाते हैं। प्रायः देखा जाता है कि पानी में बार बार डुबकियां लगाने से अचानक कान के पर्दे पर वायु का दबाव होता है जिससे परदे के फटने का भय बना रहता है। यही आशय निम्न उद्धरण से स्पष्ट है—Plugs of wax often Collect in the Ear causing deafness which may be become worse after bathing as the result of the moistened wax swelling up and occluding the meatus, Giddiness, vomiting and noises in the Ear are symptoms resulting from pressure of wax on the Tympanitic membrane. इसके सिवाय जल के दूषित होने से जीवाणुओं का उपसर्ग जल के साथ कान में पहुंच कर शोथ, कण्डू आदि लक्षण उत्पन्न हो सकते हैं।

(३) कर्णकण्डूयन—लकड़ी, सींक, तृण आदि से कर्ण को खुजलाने से वहां सूक्ष्म क्षत होकर उसमें पूयोत्पादक जीवाणुओं का उपसर्ग होकर कान में कर्णशोथ, कर्णपूय प्रभृति रोग हो सकते हैं।

(४) यन्त्रशस्त्र प्रयोग— अनेक बार अविशुद्ध (Unsterlised) यन्त्र तथा शस्त्र के प्रयोग से भी विविध प्रकार के जीवाणुओं का श्रुतिपथ में प्रवेश हो जाता है।

(५) अभिघात (Violence)—इसके प्रत्यक्ष-सीधे ऐसे (Direct) तथा अप्रत्यक्ष (Indirect) ऐसे दो प्रकार हैं। प्रथम में विजातीय द्रव्यों का कर्णकुहर में प्रवेश किंवा उनके आहरण करने में मिथ्या प्रयोग (Unskillfull attempt at their removal is responsible) मुख्य हैं। अप्रत्यक्ष अभिघात से श्रुतिपथ में हठात् वायु का दबाव बढ़ जाता है जैसे कान पर तेज चोट का लगाना, बन्दूक या तोप का उच्चतम शब्द या विस्फोट का श्रवण या जलक्रीडा करते डुबकी लगाना आदि कारणों से कर्णपटह फट सकता है। ऐसी स्थिति में कर्णपीडा, कर्णबाधिर्य, कर्णरुधिरस्रुति आदि लक्षण होते हैं। कपालास्थियों के अभिघात में भी कर्णपटह का विदारण हो जाता है। इस तरह उक्त कर्णकण्डूयन, अभिघात और मिथ्या या अशुद्ध शस्त्र प्रयोग विभिन्न प्रकार के कर्णरोगों में कारण होते हैं—Rupture of tympanitic membrane may be due to direct or indirect violence. In the former case introdnction of foreign bodies or unskillfull attempt at their removal is responsible. Indirect violence acts by sudden compression of air in the meatus e. q. from a below on the Ear, heavy gum explosion or in diving. fracture of the middle fossa of the Skull are frequently associated with rupture of the tympanitic membrane. (Aids to the surgery)

समीरणः श्रोत्रगतोऽन्यथाचरः
समन्ततः शूलमतीव कर्णयोः ।
करोति दोषैश्च यथास्वमावृतः
स कर्णशूलः कथितो दुराचरः ॥ ६ ॥

कर्णशूल लक्षण—श्रोत्रप्रदेश में स्थित वायु मिथ्या आहार-विहार से प्रकुपित हुये कफ, पित्त और रक्त दोषों से आवृत होकर विमार्ग में गति करता हुआ कर्ण में चारों ओर अति तीव्र शूल उत्पन्न करता है। इस रोग को कर्णशूल कहते हैं तथा यह रोग दुश्चिकित्स्य है ॥ ६ ॥

विमर्शः—कर्ण में दर्द या पीड़ा होने को कर्णशूल (ओटेल्जिया Otalgia या इयरएक Ear Ech) कहते हैं। इस रोग का मुख्य कारण मिथ्या आहार-विहार द्वारा प्रकुपित तथा श्रोत्रप्रदेश में सञ्चित वात है फिर उस वात का प्रकोप और प्रसार होता है तथा फिर संचय होकर व्यक्ति (रोगप्रादुर्भाव) और भेद (कष्टसाध्य या असाध्य) हो जाता है। इस रोगप्रादुर्भावावस्था के समय वह वात, पित्त, कफ या रक्त दोष से आवृत होकर विमार्ग में गमन करता हुआ शूल लक्षण को

उत्पन्न करता है। वर्तमान चिकित्सा विज्ञान में कर्णशूल कोई स्वतन्त्र रोग न होकर एक लक्षण मात्र है जो कर्ण के विविध भागों में होने वाले रोगों में होता है। जैसे—

बाह्यकर्णगतविकृतियों में—कर्ण के भीतर फोड़ा, पनसिका (Furnculosis) में तीव्र पीड़ा (शूल) होती है जिसे कि कभी-कभी Acute mostoiditis से विभक्त (भेद) करना कठिन हो जाता है। इसी प्रकार शंखास्थि का शोथ, मस्तिष्कावरण शोथ, करोटि की अस्थियों के मध्य किसी प्रकार का शोथ या पाक हो जाने से भी कर्णशूल होता है। इन रोगों में होने वाली पीड़ा स्वस्थान से होती हुई सिर के किसी भाग में पहुंच कर ग्रीवा तक फैल जाती है। कभी कभी-कान के भीतर जल के चले जाने से कर्णमल (Wax) फूल कर श्रुतिपथ छिद्र को बन्द कर देता है जिससे भी कर्णशूल उत्पन्न होता है। कर्णपटह के विदीर्ण होने (Rupture of tympanitic membrane) से बाधिर्य तथा कर्णरक्त स्राव के साथ ही साथ तीव्र कर्णशूल होता है। इसमें प्रधान विकृति वायु के भार की विगुणता (Sudden compression of air in the meatus) है जो प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष अभिघात से उत्पन्न होती है। जो सुश्रुताचार्य ने दुश्चिकित्स्य कर्णशूल कहा है वह सम्भवतः कर्णपटह का विदीर्ण होना ही हो सकता है क्योंकि साधारण कर्णशूल चिकित्सा से अच्छा हो जाता है।

मध्यकर्णगतविकृतियां—मध्यकर्ण शोथ (Otitis media) के प्रत्येक भेदों की तीव्रावस्था (Acute condition) में निरन्तर कर्ण में तीव्रशूल होता है। इस शोथ की जीर्णावस्था (Chronic stage) में कर्णशूल नहीं या अत्यल्प हो जाता है। ऊर्ध्वदन्तपंक्ति में कृमिदन्त होने पर या वहां के खोखले (Cavity) में पूयजनक जीवाणुओं का उपसर्ग पहुंच जाय या दन्तमूल शोथ हो जाय तो पीड़ा नाडीद्वारा संवाहित होकर कान में होने लगती है। इसी तरह गले की विकृतियों जैसे Laringitis या Pharyngitis या Tumours of these organs में होने वाली पीड़ा का प्रभाव कान में भी होता है। तीव्रप्रतिश्याय में गले की खराबी से श्रुतिसुरङ्गा (Eustachian tube) में शोथ का प्रसार होता हुआ मध्यकर्ण तक पहुंच कर कर्णपीड़ा उत्पन्न कर सकता है। श्रुतिमूलशोथ (Parotiditis) होने से भी कर्णशूल होता है।

अन्तःकर्णगतविकृतियों में—अन्तःकर्ण शोथ (Labryntbitis) या उसमें पाकोत्पत्ति होने से कर्ण में तीव्रपीड़ा हो सकती है। तीव्रशोथ में यह पीड़ा नाडीशूल (Neuralgia) के समान असह्य हो जाती है। इसी तरह श्रुतिनाडीशोथ या श्रवण केन्द्र शोथ में भी कर्णशूल होना सम्भव है। जब पीड़ा कान की ऊपरी तथा पिछले भाग में हो तो पीड़ा का कारण करोटि में है। चालीस वर्ष से ऊपर की आयुवाले पुरुषों में वायु के कारण कभी-कभी कर्णशूल होता है किन्तु प्रत्यक्ष देखने से पीड़ा का कारण या स्थानिक चिह्न दिखाई नहीं देता है ऐसी स्थिति में कर्णपाली के नीचे मूलभागमें शंखास्थि और अधोहन्वस्थि की सन्धि में शोथ होने से यह कर्णशूल हो सकता है।

बच्चों के कर्णशूल जानने के उपाय—प्रायः बच्चों में वाक्शक्ति पूर्ण विकसित न होने से वे अपने रोग या शूल आदि के स्थान को कह नहीं सकते हैं ऐसी स्थिति में चतुर चिकित्सक बच्चे के शरीर की दर्शन परीक्षा (Inspection) से तथा उसके रोदन और अङ्गादि चेष्टाओं से रोग का निदान करते हैं। काश्यपसंहिताकार इसके लिये निम्न श्लोक द्वारा स्पष्टीकरण किया है—कर्णौ स्पृशति हस्ताभ्यां शिरो भ्रामयते भृशम्। अरत्यरोचकास्वप्नैर्ज्ञेयास्कर्णवेदनाम्॥ मूर्च्छा दाहो ज्वरः कासो हल्लासो वमथुस्तथा। उपद्रवाः कर्णशूले भवन्त्येते मरिष्यतः॥ बालक बार-बार हाथों से कान को स्पर्श करता है, बार बार जोर जोर से सिर को हिलाता है, कान को धोने या छूने से बेचैन होकर रोता है, अरति (बेचैनी) बनी रहती है , अरोचक या मन्दाग्नि होने से दुग्ध पीने या रोगीको खाने की इच्छा नहीं होती एवं निद्रा नहीं आती तथा निद्रा आ भी जाय तो थोड़ी देर बाद जग जाता है एवं नींद में भी बेचैन रहता है इन लक्षणों से उस के कर्णशूल का ज्ञान करना चाहिये। ब्रांकोन्यूमोनिया तथा अन्य सन्तत ज्वरों में भी प्रायः कर्णशूल हो जाता है। जब बच्चे के कर्णशूल में मूर्च्छा, दाह, ज्वर, कास, हल्लास, वमथु (वमनेच्छा या वमन) ये उपद्रव हों तो उसकी मृत्यु का अरिष्ट लक्षण समझना चाहिये।

वाग्भटाचार्य ने—वातादि दोषों के बल की अंशांशकल्पना से कर्णशूल के पांच भेद किये हैं जैसे (१) वातज, (२) पित्तज, (३) कफज, (४) रक्तज और (५) सान्निपातिक। किन्तु आचार्य सुश्रुत ने कर्णशूल के कोई विशिष्ट भेद न करके उसे एक वातप्रधान दोष से उत्पन्न मान कर वातघ्न उपचारों का करना ही लिखा है।

कर्णशूल का सापेक्षनिदान—मध्यकर्णशोथ या शंखकूट के शोथ के कारण जो कान में पीड़ा (शूल) होती है वह निश्चय ही बाह्यकर्ण विद्रधि (Fuxculosis) से उत्पन्न पीड़ा से भिन्न प्रकार की होगी जैसे कर्णविद्रधि या बाह्यकर्ण शोथ की पीड़ा मन्द होती है किन्तु शंखकूटशोथ और मध्यकर्णशोथ में अत्यन्त तीव्र वेधनवत् पीड़ा होती है। पीड़ा का स्थान भी भिन्न हो सकता है। बाह्य विद्रधि पीड़ा किसी स्थान विशेष में सीमित रहती है यथा कर्ण के नीचे या सामने की ओर। शंखकूट शोथ अथवा मध्यकर्णशोथ में पीड़ा कान में दाहिनी ओर और कान के पीछे की ओर होती है। अनेक बार कर्णशूल, कर्णशल्य (Foveign bodies) के कर्णस्रोत (Meatus) के अस्थिमय भाग में अटक जाने से होता है तथा वह अत्यन्त तीव्रस्वरूप का होता है। ऐसी स्थिति में कर्ण की यन्त्रों की सहायता से पूर्ण परीक्षा कर उन्हें (शल्यों को) बाहर निकालने से ही लाभ होता है।

साध्यासाध्यता—मूर्च्छा, दाह, ज्वर, कास, हल्लास और वमन इन उपद्रवों से युक्त तथा त्रिकोणात्मक कर्णशूल असाध्य होता है आधुनिक दृष्टि से विचार करने पर बाह्यकर्ण के रोगों में उक्त आयुर्वेदोक्त मूर्च्छा-दाहादि उपद्रव नहीं मिलते हैं। मध्यकर्ण शोथ में भी श्वास, वमन, भ्रम प्रभृति लक्षण नहीं मिलते हैं किन्तु तीव्र सपूय मध्यकर्णपाक (Acute suppurative otitis media) में उसके उपसर्ग (Infection) के अन्तःकर्ण की तरफ बढ़ने पर शिरोगुहा के अङ्गों में भी तीव्र शोथ (Intra cranial complication) होकर कई प्रकार के उपद्रव हो सकते हैं जैसे कान्तारक शोथ (Labrynthitis), बाह्यमस्तिष्कावरणविद्रधि (Extra dural abscess), पार्श्ववर्ति

सिराजाल (Sinus) में रक्त का जमना तथा मस्तिष्कावरण शोथ। इन रोगों में सोपद्रव कर्णशूल होने पर रोग असाध्य हो जाता है। मध्यकर्ण शोथ के रास्ते शङ्खकूट या शङ्खप्रवर्द्धन में पूयजनक जीवाणुओं का उपसर्ग पहुंचने पर तीव्रशोथ (Acute mastoiolitis) अथवा विद्रधि (Abscess) होने का भय रहता है। इस अवस्था में शङ्खकूट के वायुकोषों में शोथ होकर अनेक तरह के स्थानिक तथा सार्वदैहिक लक्षणों को पैदा करते हैं। कान की पीड़ा अधिक तीव्र हो जाती है। पीड़ा का क्षेत्र कर्ण के पश्चाद्भाग शङ्खकूट प्रदेश तक हो जाता है। इस प्रदेश (Mastoid region) में शोथ, लालिमा और स्पर्शासह्यता आजाती है। कुछ रोगियों में जिनके कान से स्राव भी निकलता रहता है, बन्द भी हो जाता है परन्तु साधारण स्वास्थ्य गिरता जाता है, शीत के साथ ज्वर, चिड़चिड़ापन, क्षोभ, तन्द्रा प्रभृति लक्षण प्रबल हो जाते हैं। इसी का संक्रमण यदि मस्तिष्क तक पहुंच जाय तो उससे बहिर्मस्तिष्कावरणविद्रधि, मस्तिष्कावरणशोथ, बृहन्मस्तिष्कविद्रधि, लघुमस्तिष्कविद्रधि आदि शिरोगुहान्तर विकार होकर मस्तिष्क क्षोभ के लक्षण होने लगते हैं। अन्त में मूर्च्छा, दाह, ज्वर, कास, हृल्लास, वमन प्रभृति आयुर्वेदोक्त उपद्रव होकर मृत्यु भी हो जाती है।

कान्तारकशोथ (Labrynthitis) संक्रमण का प्रसार होकर अन्तःकर्ण का शोथ हो जाता है। उपसर्ग का मार्ग अण्डाकार छिद्र या रोटण्ड के छिद्र के द्वारा किंवा बाह्य अर्द्धचन्द्राकार नलिकाओं की दीवालों के द्वारा पहुंचता है। अर्द्धचन्द्राकार नलियों के विकृत होने पर भ्रम, तन्द्रा, मूर्च्छा, वमन आदि लक्षण और चिह्न होने लगते हैं तथा श्रुतिशम्बूक (Cochlea) की खराबी से बाधिर्य तथा कर्णक्ष्वेड (Deafness and tinnitus) होने लगते हैं।

यदा तु नाडीषु विमार्गमागतः
स एव शब्दाभिवहासु तिष्ठति।
शृणोति शब्दान् विविधांस्तदा नरः
प्रणादमेनं कथयन्ति चामयम् ॥ ७ ॥

कर्णनाद लक्षण—जब वही (कर्णस्थित) वात शब्द का वहन करने वाली नाड़ियों में विमार्गरूप से आकर अवस्थित होता है तब उस वायु के आघात से कर्ण में अकस्मात् बारम्बार अनेक प्रकार के शब्द मनुष्य सुनता है उसे कर्णनाद रोग कहते हैं ॥ ७ ॥

विमर्शः—कर्णनादलक्षणं—कर्णस्रोतःस्थिते वाते शृणोति विविधान् स्वरान्। भेरीमृदङ्गशब्दानां कर्णनादः स उच्यते॥ (सु०) कर्णस्रोत में वात के स्थित होने पर मनुष्य भेरी, मृदङ्ग आदि अनेक प्रकार के शब्दों को सुनता है उसे कर्णनाद कहते हैं।

विदेहोक्तलक्षण—सिरा (शिरो) गतो यदा वायुः श्रोत्रयोः प्रतिपद्यते। तदा तु विविधान् शब्दान् समीरयति कर्णयोः॥ भृङ्गारक्रौञ्चनादं वा मण्डूककाकयोस्तथा। तन्त्रीमृदङ्गशब्दं वा सामतूर्यस्वनं तथा॥ गीताध्ययनवंशानां निर्घोषं क्ष्वेडनं तथा। अपामिव पतन्तीनां शकटस्येव गच्छतः। श्वसतामिव सर्पाणां सदृशः श्रूयते स्वनः॥ शिरोगतअथवा सिराओं के द्वारा प्रकुपित वायु जब कानों में प्राप्त होती है तब नाना प्रकार के शब्दों को कानों में पैदा करती है जैसे भ्रमर के गुञ्जार के समान, क्रौञ्च (कुररी) की करकराहट सदृश, दादुर ध्वनि के समान, कौवे के कांव कांव सा, सितार (तन्त्री) या मृदङ्ग जैसे, वेदपाठ की ध्वनि सदृश, वंशीवादन सदृश, गायन के समान, पढ़ने जैसे, वेणुवादन (बांसकूजन) सदृश, तुरही के शब्द सदृश, नदी के प्रपात के समान, गाड़ी के चलने की तरह और सर्प के फूत्कार के समान शब्द सुनाई देते हैं।

वाग्भटोक्तलक्षणं—शब्दवाहिसिरासंस्थे शृणोति पवने मुहुः। नादानकस्माद्विविधान् कर्णनादं वदन्ति तम्॥ शब्दवाहिसिराओं के अन्दर कुपित वायु के स्थित होने पर वह व्यक्ति अकस्मात् अनेक प्रकार के नादों (अव्यक्त शब्दों) को सुनता है उसे 'कर्णनाद' कहते हैं।

आधुनिकविचार—कर्णनाद अथवा कर्णक्ष्वेड के रोगी अक्सर मिलते हैं तथा रोगी के लिये यह अत्यन्त कष्टदायी होता है। यह किसी में साधारण तथा किसी में अत्यन्त बेचैनी करने वाला होता है। इसके अत्यधिक बढ़ जाने पर रोगी पागल होते भी देखे गये हैं। पाश्चात्यविज्ञान में इसे रोग नहीं मान कर विभिन्न रोगों में तथा विषप्रयोग से उत्पन्न होने वाला लक्षण मात्र माना है। संक्षेप में हम यों कह सकते हैं कि 'कोई भी परिस्थिति जो कान के अवयवों के ऊपर अथवा मस्तिष्कीय आठवीं नाड़ी के ऊपर प्रत्यक्ष (Direct) या विषप्रभाव के द्वारा अपना असर दिखलावे' उसके कारण कान में विविध शब्द सुनाई देने लगते हैं। कर्णनाद को टिंटिनस (Tinnitus) कहते हैं। यह अन्तःकर्ण में स्थित कोक्लिया की विकृति से उत्पन्न होता है। इस में रोगी को कानों में भनभनाहट, गर्जन तथा हथौड़ा पीटने की सी आवाज सुनाई पड़ती है। इसके सिवाय अस्थित्रय सम्मेलन मध्यकर्णगत अस्थियों के स्तम्भ (Osteo sclerosis) में भी इस प्रकार का कान में शब्द होना पाया जाता है। कर्ण विकारों के सिवाय अन्य सार्वदैहिक रोगों में भी कान में शब्द होने का लक्षण पाया जाता है जैसे वृक्क दुष्टि, हृदय रोग, रक्तचाप (High blood pressure), रक्ताल्पता या पाण्डु एवं किनाईन प्रभृति तीव्र ओषधियों का निरन्तर सेवन।

स एव शब्दानुवहा यदा सिराः
कफानुयातो व्यनुसृत्य तिष्ठति।
तदा नरस्याप्रतिकारसेविनो
भवेत्तु बाधिर्यमसंशयं खलु ॥ ८ ॥

कर्णबाधिर्यलक्षणं—वही वायु कफ के साथ मिलकर जब शब्दवाहक सिराओं (स्रोतस) में व्याप्त हो (फैल) कर अवस्थित हो जाता है या उन स्रोतसों के मार्ग को बन्द कर देता है तब उस स्थिति में यथार्थ चिकित्सा न करने से उस मनुष्य को निःसन्देह बाधिर्य रोग उत्पन्न हो जाता है ॥ ८ ॥

विमर्शः—माधवोक्तलक्षण—यदा शब्दवहं वायुः स्रोत आवृत्य तिष्ठति। शुद्धः श्लेष्मान्वितो वाऽपि बाधिर्यं तेन जायते॥ (माधवनि०) यहां माधव ने केवल शुद्ध वायु अथवा कफयुक्त वायु के शब्दवह स्रोतस में स्थित होकर बाधिर्य होना लिखा है। प्रायः सब प्राचीनाचार्यों ने इसे शब्दवह स्रोतस या नाड़ी का विकार कहा है अतएव यह वातिक नाड़ीजन्य विकृति

(Nerve deafness of various types) ज्ञात होती है। कर्णबाधिर्य के अनेक भेद पाश्चात्य चिकित्सा विज्ञान में मिलते हैं। जैसे—

(१) वार्द्धक्यनाडीबाधिर्य—यह एक स्वाभाविक (Physiological disease) है। यह बधिरता धीरे धीरे बढ़ती है। प्रायः साठ या सत्तर वर्ष की आयु के अनन्तर इस रोग का अनुभव होने लगता है। इसको असाध्य माना है।

(२) विषमयताजन्य नाडीबाधिर्य—पाषाणगर्दभ, आन्त्रिक ज्वर और रोमान्तिका प्रभृति रोगों के तीव्रस्वरूप में होने से यह बाधिर्य कभी-कभी उत्पन्न होते देखा गया है।

(३) व्यवसायजन्य नाडीबाधिर्य—जैसे बोईलर बनाने वालों में तथा जोर का आवाज करने वाली फेक्टरियों में काम करने वाले मनुष्यों में तीव्रशब्दाभिघात से अन्तःकर्णस्थ कोक्लिया का कुछ भाग नष्ट हो जाता है तथा आघातश्रवण से नाडी समुदाय सम्बन्धी अपक्रान्ति हो जाती है जिससे यह नाडीबाधिर्य उत्पन्न हो जाता है।

(४) भेषजजन्य नाडीबाधिर्य—जैसे क्विनाईन, सैलिसिलेट प्रभृति ओषधियों के सेवन से भी यह रोग किसी-किसी में हो जाता है किन्तु यह स्वल्पकाल तक ही रहता है। उक्त ओषधियों के निरन्तर सेवन से रोग स्थायी हो जाता है। मानसिक नाडीबाधिर्य—(Psychogenic) यह रोग अधिकतर युद्ध के समय होता है। इसमें अन्तःकर्ण की रचना में कोई फर्क नहीं होता है। अभिघात तथा शोक (Shock) इसकी उत्पत्ति में मुख्य कारण है। मानसिक तथा आध्यात्मिक चिकित्सा से लाभ होता है।

(५) बालोत्थबाधिर्य या सबाधिर्यमूकता (Deaf-mutuism)—जो लोग गूंगे होते हैं वे प्रायः बधिर भी होते हैं। शब्द ज्ञान न हो सकने से उनमें शब्दोच्चारण की क्षमता विकसित नहीं होती है। यह विकार दो तरह का होता है। (१) सहज (Congenital), (२) जन्मोत्तर (Acquired)।

प्रथम भेद—इसमें अन्तःकर्ण के श्रवणयन्त्र (Labrynth) का अभाव या अपूर्ण विकास या अपूर्ण बनावट (Mal development) अथवा फिरङ्गादि व्याधियों के कारण गर्भाशय के भीतर की विकृति से यह विकार उत्पन्न होता है। अर्थात् यदि माता-पिता को फिरङ्ग रोग हो और उस रोग के जीवाणु अथवा विष का प्रभाव शुक्र अथवा रज के बीज भाग में दुष्टि पहुंच कर कर्म के उस अवयव में विकृति हो गई हो तो उस गर्भ में भी विकृति आ जाती है। 'बीजे बीजभागे उपतप्ते भवति तदा विकृतिर्जायते नोपजायते चानुपतापात्' यह चरकसिद्धान्त अक्षरशः सत्य है।

द्वितीयभेद (जन्मोत्तर)—इस कर्णबाधिर्य में प्रारम्भिक आयु में होने वाले कर्णरोग जैसे मध्यकर्ण शोथ, एडिनोइड्स आदि तथा विशिष्ट उपसर्ग से होने वाले रोग कारण हैं। जैसे मस्तिष्क सुषुम्नावरण शोथ में मस्तिष्कावरण के मार्ग से अन्तःकर्ण में संक्रमण पहुंच कर जन्मोत्तर बाधिर्य उत्पन्न हो जाता है। प्रारम्भिक दिनों में रोगनिदान में कठिनता रहती है। क्योंकि उस आयु में बालक बोलना सीखते हैं। अनेक बार कोक्लिया (Cochlea) का आंशिक भाग विकृत हो जाता है। इस दशा में उन व्यक्तियों में श्रवणद्वीप (Islands of hearing) बन जाते हैं जिससे श्रवणकार्य सम्पूर्ण श्रवणेन्द्रिय से न हो कर उसके किसी एक भाग से होता है।

मूकबाधिर्य—(Deaf-Mutuism) की कोई सफल चिकित्सा नहीं है। इसमें रुग्ण की आवाज कर्कश, कांस्यपात्रस्वन (Metallic) सदृश तथा विरक्तिकर (Un-interesting) होती है। इसे 'बालोत्थबाधिर्य' कहते हैं तथा इसकी कोई सफल चिकित्सा नहीं है। बाधिर्य (Deafness) जो बाधिर्य जन्मोत्तर होता है वह अधिकतर वातिक नाडीजन्य होता है। यह रोगों के उपद्रवस्वरूप या परिणाम स्वरूप में अधिकतर होते देखा गया है जैसे बाह्यकर्ण की विकृतियों (कर्णगूथ, कर्णविद्रधि, बाह्यकर्ण शोथ, स्रावाधिक्य), कर्णपटह की छिद्रता या विदीर्णता में तथा मध्यकर्ण के शोथ और पाकोत्पत्ति वाले विकारों में और अन्तःकर्ण के विकारों में कोक्लिया या कान्तारक के विविध विकार बधिरता उत्पन्न कर देते हैं। तीव्र प्रतिश्याय में भी कभी-कभी बाधिर्य उत्पन्न हो जाता है।

श्रमात्क्षयाद्रूक्षकषायभोजना-
त्समीरणः शब्दपथे प्रतिष्ठितः।
विरिक्तशीर्षस्य च शीतसेविनः
करोति हि क्ष्वेडमतीव कर्णयोः ॥ ९ ॥

कर्णक्ष्वेडलक्षण—श्रम से, धातुक्षय से, रूक्ष और कषाय भोजन से एवं शिरोविरेचन कर्म करके शीतपदार्थ का सेवन करने वाले पुरुष का वायु प्रकुपित होकर श्रोत्रमार्ग में स्थित होके कर्ण में अत्यन्त क्ष्वेड (अव्यक्त शब्द) उत्पन्न करता है उसे 'कर्णक्ष्वेड रोग' कहते हैं ॥ ९ ॥

विमर्शः—अन्यत्र कर्णक्ष्वेडलक्षण—वायुः पित्तादिभिर्युक्तो वेणुघोषोपमं स्वनम्। करोति कर्णयोः क्ष्वेडं कर्णक्ष्वेडः स उच्यते ॥ पित्तादि दोषों से युक्त वायु श्रोत्रप्रदेश में जा वंशीवादन के समान शब्द उत्पन्न करता है उसे कर्णक्ष्वेड कहते हैं। यही बात आचार्य विदेह ने भी कही है—मारुतः कफपित्ताभ्यां संसृष्टः शोणितेन च। कर्णक्ष्वेडं स जनयेत् क्ष्वेडनं वेणुघोषवत् ॥

कर्णनाद-कर्णक्ष्वेडभेद—(१) कर्णनाद केवल वातजन्य होता है किन्तु कर्णक्ष्वेड में वायु के साथ पित्त का संसर्ग हो कर अथवा वायु, पित्त या कफ या रक्त द्वारा संसृष्ट होकर शब्द पैदा करता है। (२) कर्णनाद में, अवस्थानुसार भेरी, मृदङ्ग जैसी भद्दी और मोटी होती है किन्तु कर्णक्ष्वेड में वंशी के समान सुरीली एवं पतली आवाज रोगी को सुनाई देती है। (३) कर्णनाद में केवल वातशामक चिकित्सा से लाभ होता है किन्तु कर्णक्ष्वेड में वात के साथ २ कफ अथवा पित्त का शामक उपचार किया जाता है। (४) कर्णनाद अधिकतर सार्वदैहिक विकारों के परिणामस्वरूप किंवा बाह्यकर्ण और मध्यकर्ण के विकार में उत्पन्न होता है किन्तु कर्णक्ष्वेड अधिकतर अन्तःकर्ण (कान्तारक) के विकार में मिलता है।

शिरोऽभिघातादथवा निमज्जतो
जले प्रपाकादथवाऽपि विद्रधेः।
स्रवेत्तु पूयं श्रवणोऽनिलावृतः
स कर्णसंस्राव इति प्रकीर्तितः ॥ १० ॥

कर्णसंस्रावलक्षण—सिर में चोट लगने से, जल में निमज्जन

करने (डुबकी लगाने) से, अथवा कर्णविद्रधि के पक जाने से प्रकुपित वात से आवृत (युक्त) कान पूय को स्रवित करता है। इसे कर्णसंस्राव रोग कहते हैं ॥ १० ॥

विमर्शः—कर्णसंस्राव को ओटोरिया (Otorrhoea) कहते हैं। पूय का स्राव उपलक्षण मात्र है। इसमें रक्त और जल का भी स्राव सम्भव है क्योंकि सिर में आघात लगने से रक्त का स्राव, जल में डुबकी लगाने से जल का स्राव तथा कर्ण विद्रधि के पक कर फूट जाने से पूय का स्राव होता है। आचार्य कार्तिक का मत है कि प्रपाक का सम्बन्ध सभी के साथ जोड़ देने से सिर में आघात लग कर प्रपाक (पूयजनक जीवाणुओं का उपसर्ग) होने से तथा जल में डुबकी लगाने पर प्रपाक होने से वायुपीड़ित कर्ण पूय का स्राव करता है। कान से स्राववाधिक्य होने पर वह वात से पूर्ण या पीड़ित हो जाता है अत एव इसको अनिलार्दित कहा है।

कफेन कण्डूः प्रचितेन कर्णयो-
भृशं भवेत् स्रोतसि कर्णसंज्ञिते ।
विशोषिते श्लेष्मणि पित्ततेजसा
नृणां भवेत्स्रोतसि कर्णगूथकः ॥ ११ ॥

कर्णकण्डू तथा कर्णगूथ के लक्षण—कर्ण के अन्दर सञ्चित हुये कफ से कर्णस्रोत में अत्यधिक कण्डू रोग उत्पन्न होता है। इसी प्रकार कर्णस्रोत में सञ्चित हुये कफ का पित्त के तेज के द्वारा विशोषित होने पर मनुष्यों को कर्णगूथसंज्ञक विकार उत्पन्न होता है ॥ ११ ॥

विमर्शः—कर्णकण्डू को Itching sensation in the ext meatus कहते हैं। कर्णगत वायु कफ से संयुक्त होकर कान में खुजली उत्पन्न करता है—'मारुतः कफसंयुक्तः कर्णे कण्डूं करोति हि' पाश्चात्य शालाक्यतन्त्र में कर्णकण्डू को रोग नहीं माना है किन्तु यह एक लक्षणमात्र है जो बाह्यकर्णगत विकृतियों में होता है। बाह्यकर्ण के दो प्रमुख भाग हैं (१) कर्णशष्कुली (Auricle), (२) श्रुतिपथ (Ext meatus) इनमें से शष्कुली के ऊपर पामा, विचर्चिका, कक्षा (Herpes), विसर्प (Erysipelas) और शोफ आदि अनेक रोग होते हैं जिनमें खुजली चलती है। बाह्यकर्णशोथ (Otitis externa) के कारण कर्णकण्डू होती है अतः बाह्यकर्णशोथ का वर्णन आवश्यक है। इस रोग में श्रुतिपथ की सम्पूर्ण दीवाल के Epithelium का शोफ हो जाता है तथा स्ट्रेप्टोकोकस जीवाणु प्रधान कारण हैं। शनैः शनैः शोफ प्रसरित होकर कर्णपटह की झिल्ली पर भी पहुँच जाता है। यह शोफ भी दो प्रकार का होता है (१) शुष्क या खुरण्डयुक्त (Scaly), (२) सद्रव (Moist type)।

प्रथम प्रकार में—त्वचा की शुष्कता और विशेष प्रकार की असह्यता (Allergic manifestation) कारण होती है। इसमें विशेष लक्षण कर्णकण्डू, कर्णक्षोभ (Irritation) तथा कर्णस्राव होता है। कभी कभी यह स्राव सूख जाता है तथा कभी पुनः प्रारम्भ हो जाता है। इसके अनन्तर वहां का इपिस्तर (Epithelium) घना हो जाता है जिससे परिणामस्वरूप कर्णनलिका संकरी होती जाती है। कर्णदर्शक यन्त्र से बाह्य श्रुतिपथ की परीक्षा करने पर इपिस्तर श्वेत दिखाई देता है तथा कई बार वहां खुरण्ड (Flakes and small crusts) दिखलाई देते हैं। इन्हें चिमटी से पकड़ कर निकाला भी जा सकता है। कभी-कभी अल्प स्राव के कारण वहां क्लिन्नता भी मिलती है। त्वचा भी कुछ मोटी हो जाती है और वह बाह्यछिद्र से दिखलाई पड़ती है जिससे कर्णपटह का दिखना बन्द हो जाता है। कुछ काल तक उसके भीतर में पैकिङ्ग करके सफाई करने पर पुनः पटह दिखाई देने लगता है। सम्भव है प्राचीनों ने इसी प्रकार विशेष को कर्णकण्डू नाम दिया हो।

द्वितीय प्रकार में—स्राव तथा पीड़ा होती है। श्रुतिपथ लाल एवं शोथयुक्त होता है। इसमें बदबूदार पूय का स्राव अधिक मात्रा में होता है। इसमें कर्ण के आसपास की धातुओं (Mandibular region, below and behind the auricle) में स्पर्शासह्यता होती है तथा वहां बढ़ी हुई ग्रन्थियां भी हो सकती हैं। कर्णदर्शक यन्त्र (Speculum) का प्रयोग पीड़ाकर होता है अतः उसे ध्यान से प्रयुक्त करें अथवा न करें।

कर्णगूथ—शब्द से कान में होने वाली मैल का अर्थ ग्रहण किया जाता है। यह मैल जमे हुये मोम की तरह मालूम होता है अत एव इसे वेक्स (Wax in the ext meatus or cerumen) कहते हैं।

सम्प्राप्ति तथा कारण—कर्ण में मल एकत्रित होना एक साधारण घटना है। यह कान की त्वचा के नीचे अवस्थित ग्रन्थियों (Ceruminous glands) का स्राव है। यह मैल कर्णनलिका की रक्षा करता है तथा बाह्य धूल और विजातीय पदार्थ इसमें मिल जाते हैं और बाहर निकाले जाते हैं। इस कर्णमल में एक विशिष्ट प्रकार की तीव्र गन्ध भी होती है तथा इसमें चिपचिपापन रहता है जिससे मक्खी वगैरह भीतर नहीं जा सकतीं। जो मनुष्य खदान खोदने तथा कोयले झोंकने और कपास-रूई के कारखानों में काम करते हैं उनके कानों में मैल का सञ्चय अधिक पाया जाता है क्योंकि वहां की धूल, कोयले के सूक्ष्म रजकण तथा कपास-रूई के रेशे उड़ कर कान में जाते हैं वहां के स्राव में मिल कर मैल का रूप धारण कर लेते हैं।

लक्षण—कर्णबाधिर्य यह एक प्रधान लक्षण है इसके सिवाय कर्ण में क्षोभ होने से कुछ पीड़ा का भी अनुभव होता है। कर्णपटह पर दबाव (Owing to pressure on the drum) पड़ने से कर्ण में शब्द भी होता है। कर्णगूथ में बधिरता होने के दो सिद्धान्त हैं। प्रथम यह कि मैल के सञ्चित होने से श्रुतिपथ (Ext meatus) की नलिका अत्यन्त संकरी हो जाती है जिससे श्रवणकार्य में बाधा पड़ती है दूसरा कारण यह है कि लोग ऐसी स्थिति में कर्णप्रक्षालन कराते हैं जिससे बाह्यश्रुतिपथ में पानी जाकर वहां के मैल को फुला देता है जिससे नलिका का मार्ग अवरुद्ध होकर श्रवणकार्य में बाधा होती है।

कर्णकण्डू तथा कर्णगूथ में भेद—(१) ये दोनों रोग द्विदोषज (संसर्गज) हैं। (२) दोनों ही बाह्यश्रुतिपथ (Ext meatus) के रोग हैं। (३) दोनों ही में कफ दोष का सञ्चय होता है। (४) कर्णकण्डू में सञ्चित श्लेष्मा कण्डू उत्पन्न करता है किन्तु कर्णगूथ में पित्त के तेज से शुष्क श्लेष्मा

गूथ पैदा करता है। (५) कर्णकण्डू में पित्त और कफ की विकृति होती है किन्तु कर्णगूथ में वायु और कफ की विकृति होती है। (६) कर्णकण्डू शोथजन्य विकृति (Otitis externa) हो सकती है किन्तु कर्णगूथ एक प्रकार का स्राव है जो बाह्य धूल तथा अन्य सूक्ष्म कणों के संयोग से घनता को प्राप्त होकर कर्णमल (Wax) कहलाने लगता है।

स कर्णविट्को द्रवतां यदा गतो
विलायितो घ्राणमुखं प्रपद्यते।
तदा स कर्णप्रतिनाहसंज्ञितो
भवेद्विकारः शिरसोऽभितापनः ॥ १२ ॥

कर्णप्रतिनाह लक्षण—जब पूर्वोक्त वही कर्णगूथ (कर्णमल) को प्राप्त होकर दोषों से विलायित (चल) हो के नासा तथा मुख द्वारा बाहर आने लगता है तब उस विकार को कर्णप्रतिनाह कहते हैं। यह विकार सिर को चारों ओर से तप्त कर देता है ॥ १२ ॥

विमर्शः—'शिरसोऽभितापनः' की जगह अनेक पुस्तकों में 'शिरसोऽर्द्धभेदकृद्' ऐसा पाठान्तर है जिसका अर्थ सिर के आधे भाग में पीड़ा करना होता है। आचार्य विदेह ने इस रोग को कफ से, वायु से अथवा सन्निपात से उत्पन्न होना लिखा है—कफाद्वा मारुताद्वापि सन्निपातेन वा पुनः' वास्तव में कफ का कर्ण में सञ्चय होता है जिससे कर्णकण्डू रोग होता है पश्चात् पित्त की गरमी से वह कफ शुष्क होकर कर्णगूथ संज्ञा को प्राप्त होता है और कर्णगूथ में शुष्क वही कफ पुनः द्रवित होकर विलीन हो नासा और मुख के रास्ते निकलने लगता है तो उसे कर्णप्रतिनाह कहते हैं।

(१) अब यहां यह विचारणीय है कि जब कर्णकण्डू, कर्णगूथ और कर्णप्रतिनाह एक ही रोग की अवस्था विशेष है तो उन्हें एकवृन्द और वृन्द की तरह एक ही मान लेना चाहिये था। उत्तर में कहा जाता है कि जैसे अभिष्यन्द, अधिमन्थ और हताधिमन्थ ये उत्तरोत्तर अवस्थाविशेषजन्य रोग होते हुए भी धर्मान्तर के साथ योग होने से नामभेद, अधिक गणना और पृथक् पृथक् रोग की विकृति की गई है तद्वत् यहां भी लक्षण विशेष तथा धर्मान्तर के योग होने से नामभेद, अधिकगणना तथा पृथक् रोग स्वीकृति है।

(२) एक रोग से दूसरे रोग की उत्पत्ति है जैसे-कर्णकण्डू से कर्णगूथ और कर्णगूथ से कर्णप्रतिनाह। इस तरह पूर्व पूर्व रोग उत्तरोत्तर रोग के प्रति कारण है तथा यह कल्पना शास्त्र-प्रमाणित है—ते पूर्वं केवला रोगाः पश्चाद्धेत्वर्थकारिणः कश्चिद्धि रोगो रोगस्य हेतुर्भूत्वा प्रशाम्यति ॥ इस तरह ये तीनों रोग पृथक् पृथक् हैं तथा इनका आपस में कार्यकारणभाव सम्बन्ध माना जा सकता है।

(३) कभी-कभी यह भी देखने में आता है कि रोग की पूर्वावस्था अत्यल्प होने से लक्षित नहीं होती है किन्तु उत्तर अवस्था स्फुट हो जाती है। ऐसी स्थिति में कभी कर्णकण्डू अलक्षित रहता है परन्तु कर्णगूथ स्पष्ट लक्षित हो जाता है अत एव प्रत्येक का स्वतन्त्र प्रतिपादन आवश्यक है।

(४) वातादि दोष भेद से भी इन में विभिन्नता होती है अत एव इनका स्वतन्त्रोल्लेख आवश्यक है जैसे कर्णकण्डू में वातयुक्त कफ, कर्णगूथ में पित्तोष्मा से शोषित कफ तथा कर्णप्रतिनाह में वात, पित्त एवं कफ तीनों दोष दूषित होते हैं।

(५) अङ्गविकृति की दृष्टि से भी इनका स्वतन्त्र नामकरण आवश्यक है। कर्णकण्डू एक लक्षणमात्र है जो कर्णगूथ में भी मिल सकता है किन्तु प्रधानरूप से बाह्यकर्णस्रोत-शोथ (Otitis externa) में होता है। कर्णगूथ में कोई विकृति नहीं होती है (No pathological changes but a more physiologycal disease or mechanical changes)। प्रतीनाह में वैकृतिक परिवर्त्तन (Pathologycal changes) होते हैं और वह पिघल कर बाह्यश्रुतिपथ को पार कर कर्ण के बाह्य-छिद्र से स्रवित न होकर घ्राण या नासा से स्रवित होता है। स्राव को गले या घ्राण में आने के लिये कर्णपटह का सच्छिद्र होना (Rupture of the tympanic membrane) आवश्यक है क्योंकि नासाग्रसनिका का सम्बन्ध मध्यकर्ण से है और मध्यकर्ण में श्रुतिसुरङ्गा (Eustachian tube) नलिका के द्वारा गले से मध्यकर्ण का सम्बन्ध सम्भव है। मध्यकर्ण और बाह्यकर्ण के मध्य कान का पर्दा (कर्णपटह) रहता है अतः इसका विदार होने पर ही स्राव गले या घ्राण में आ सकता है। कुछ विद्वानों ने कर्णप्रतिनाह की उत्पत्ति में श्रुतिसुरङ्गा के तीव्र अवरोध (Acute obstruction of Eustachian tube) को कारण माना है। आचार्य वाग्भट के कर्णप्रतिनाह के वर्णन से इस मत का समर्थन होता है—वातेन शोषितः श्लेष्मा स्रोतो लिम्पेत्ततो भवेत्। रुग्गौरवपिधानश्च स प्रतीनाहसंज्ञितः ॥ अर्थात् वात के द्वारा कर्णगत श्लेष्मा शोषित होकर वहां के स्रोतस् में लिप्त हो जाता है जिससे कान में पीड़ा, भारीपन और पिधान (अवरोध) लक्षण होते हैं। इस तरह वाग्भट मत से यह रोग श्रुतिसुरङ्गा के अवरोध से उत्पन्न होने वाला ही है ऐसा प्रतीत होता है किन्तु आचार्य सुश्रुत के मत से कर्णपटह का विदरण (Rupture of the tympanic membrane) तथा श्रुतिसुरङ्गा का खुला होना आवश्यक है जिससे स्राव गले या नासा मार्ग से होता हुआ बाहर आसके। इसके सिवाय अर्द्धावभेदक (तीव्र शिरःशूल) होने से भी कर्णपटह का विदीर्ण होना निश्चित होता है इस प्रकार सुश्रुत मत से कर्णपटहविदार (Perforation of the tympanic membrane) से तथा वाग्भट के मत से श्रुतिसुरङ्गा के तीव्रावरोध (Acute obstruction of Eustachian tube) से उत्पन्न होना कह सकते हैं।

यदा तु मूर्च्छन्त्यथवाऽपि जन्तवः
सृजन्त्यपत्यान्यथवाऽपि मक्षिकाः।
तदञ्जनत्वाच्छ्रवणो निरुच्यते
भिषग्भिराद्यैः कृमिकर्णको गदः ॥ १३ ॥

कृमिकर्ण लक्षण—जब कर्ण के भीतर या बाहर मल या क्लेद के होने से किंवा आघात लग कर व्रण बनने से उसकी संशुद्धि संरोपण आदि चिकित्सा न करने से वहां के त्वचा, मांस, रक्त और मृद्वस्थि (कार्टिलेज) आदि में कोथ होकर सड़ने लगते हैं तब वहां कृमियों की उत्पत्ति हो जाती है। किंवा कान के ऊपर मक्खियां बैठ कर अण्डे दे देती हैं जिससे वहां कृमि उत्पन्न हो जाते हैं। किंवा वहां की सड़न से उत्पन्न कृमि अपनी वंशवृद्धि करके कीड़े बढ़ा देते हैं। इस प्रकार के

रोग को आद्य विदेहादिक भिषक् क्रिमिलक्षण युक्त कर्ण को कृमिकर्णक रोग कहते हैं ॥ १३ ॥

विमर्श—अन्य आचार्यों ने इस रोग को त्रिदोषजन्य माना है। कफ के कारण क्लिन्नता या क्लेद तथा पित्त के कारण कोथ या सड़न और वात के कारण वेदना होती है। आचार्य निमि ने इस रोग का वर्णन अधिक स्पष्ट करते हुये लिखा है कि रक्त और मांस में होने वाले कोथ के साथ कफ, पित्त और जल (लसीका) के मिल जाने से कृमि पैदा होते हैं जो वात के कारण तोद या पीड़ा, पित्त के कारण दाह और कफ के कारण कण्डू करते हुये कर्ण को खाते रहते हैं। ये कृमि कृष्ण, ताम्र, श्वेत और अरुण (रक्त) वर्ण के होते हैं। यह सन्निपात (त्रिदोष) के प्रकोप से उत्पन्न कृमिकर्ण रोग है—श्लेष्मपित्तजलोन्मिश्रे कोथे शोणितमांसजे। मूर्च्छन्ति जन्तवस्तत्र कृष्णताम्रसितारुणाः ॥ भक्षयन्तीव ते कर्णं कुर्वन्तो विविधा रुजः। कृमिकर्णन्तु तं विद्यात् सन्निपातप्रकोपजम् ॥ (मधुकोष-निमि) वाग्भटाचार्य ने लिखा है कि वातादि से दूषित कर्ण को खाते हुये जन्तु मांस, असृक् और क्लेद (लसीका) भाग में तीव्र पीड़ा उत्पन्न करते हैं उसे कृमिकर्ण रोग कहते हैं—वातादिदूषितं श्रोत्रं मांसासृक्क्लेदजां रुजम्। खादन्तो जन्तवः कुर्युस्तीव्रां स क्रिमिकर्णकः ॥ कृमि उत्पत्ति में कारण-(१) कान की स्वच्छता न रखने से कोथ या सड़न का होना सम्भव है। (२) बाह्यकर्णशोथ होकर उत्पन्न हुये स्राव की सफाई न करने से अथवा कर्णविद्रधि होके पक कर फूट के उससे बहने वाले स्राव की शुद्धि न करने से गंदगी से उस पर मक्खियां बैठ कर वहां अण्डे देती हैं अथवा अन्य जीवाणुओं का उपसर्ग कर देती हैं तथा इतना होने पर भी वहां की शुद्धि न की जाय तो उन जीवाणुओं या जन्तुओं की संख्या वृद्धि होती जाती है। इस तरह कान से श्वेतवर्ण के कृमि गिरने भी लगते हैं। कान में कीड़ों के चलने से कण्डू, सुरसुराहट तथा उनके काटने से तीव्र वेदना भी होती है एवं ये कृमि कर्ण के त्वग्मांसादि धातु को खाकर वहां विकृति पैदा करते हैं।

आधुनिक शालाक्य शास्त्र—में कर्णकृमि को कोई स्वतन्त्र रोग न मान कर कर्णस्राव, कर्णविद्रधि आदि रोगों में सफाई न रखने से मक्खियों के द्वारा औपद्रविक रूप (Secondary infection) में लापरवाह रोगियों में उत्पन्न होना माना है। इस तरह शोधनाभाव से उत्पन्न होने वाले कृमियों को मेगेट्स (Maggates) कहते हैं। कृमियों की एक दूसरी स्वतन्त्र अवस्था है जो बाह्य कृमिप्रवेश से उत्पन्न होती है जैसे कीड़े, पतङ्गे, मधुमक्खी, चींटी, गोजर या कानखजूरा (सेण्टीपीडस और मिलीपीडस) आदि का कर्णछिद्र से भीतर की ओर कर्णस्रोतस में प्रविष्ट होनेसे कान में फरफराहट और पीड़ा होती है। रोगी तीव्र वेदना के कारण अत्यन्त व्याकुल हो जाता है—पतङ्गाः शतपद्यश्च कर्णस्रोतः प्रविश्य हि। अरतिं व्याकुलत्वञ्च भृशं कुर्वन्ति वेदनाम् ॥ माधवकर ने भी लिखा है कि कृमि के कर्णों में प्रविष्ट होने पर सूई चुभोने की सी पीड़ा तथा कर्ण में फर-फर आवाज होती है और जब कीड़ा कान में चलता है तो पीड़ा तीव्र हो जाती है तथा निष्पन्द (गतिरहित) होने पर पीड़ा कम हो जाती है—कर्णो निस्तुद्यते तस्य सदा फरफरायते। कीटे चरति रुक् तीव्रा निष्पन्दे मन्दवेदना ॥ (मा० नि०) इस द्वितीय कृमिप्रवेशजन्य अवस्था को कर्णशल्य (Foreign body in the external meatus) के अन्तर्गत मानी गई है।

क्षताभिघातप्रभवस्तु विद्रधि-
र्भवेत्तथा दोषकृतोऽपरः पुनः।
स रक्तपीतारुणमस्रमास्रवेत्
प्रतोदधूमायनदाहचोषवान् ॥ १४ ॥

कर्णविद्रधि लक्षण—प्रथम क्षत तथा अभिघात (चोट) से उत्पन्न विद्रधि तथा द्वितीय वातादि दोषों के प्रकोप से रक्तमांसादि की दुष्टि होकर उत्पन्न होने वाली दोषज विद्रधि होती है। यह विद्रधि लाल, पीले और अरुण वर्ण के अस्र (रक्त) का स्राव करती है तथा इसमें सूई चुभाने की सी पीड़ा धूमायन अर्थात् कर्ण से धूम या भाप निकलने की सी प्रतीति, दाह तथा चोष (विशिष्ट जलन) होता है ॥ १४ ॥

विमर्श—क्षत तथा अभिघात से उत्पन्न विद्रधि को आगन्तुक (Traumatic) विद्रधि कहते हैं तथा दोषज को इडियोपैथिक (Idiopathic) विद्रधि कहते हैं। इस तरह विद्रधि के (१) क्षतज (२) अभिघातज और दोषज में (३) वातिक, (४) पैत्तिक, (५) श्लैष्मिक तथा (६) त्रिदोषज ऐसे ६ भेद होते हैं। कर्णविद्रधि को फरंक्युलोसिस (Furunculosis) कहते हैं। यह बाह्य कर्णस्रोत (Ext meatus) में होने वाले एक फोड़ा (Boil) है जो कि कर्णस्रोत में जहां केशाङ्कुर (Hair follicles) होते हैं वहां अन्य विद्रधियों के समान पूयजनक जीवाणुओं के उपसर्ग के पहुँचने से उत्पन्न होती है। यह कर्णगत विद्रधि संख्या में एक या अनेक भी हो सकती है।

लक्षण—(१) इसमें तीव्र पीड़ा एक प्रधान लक्षण है जो कि फैल कर सिर के एक पार्श्व में, जबड़े तक अथवा गले के नीचे तक या कन्धे तक जा सकती है। यह कभी-कभी इतनी तीव्र होती है कि रोगी बेचैन हो जाता है। (२) शोथ—यह कान के आस-पास, कर्णनलिका के भीतर चारों ओर तथा शङ्ख प्रदेश और शङ्ख कूट भाग में दिखाई देता है। (३) स्पर्शासहिष्णुता—यह कान के नीचे या सामने अधिक होती है। कर्णशष्कुली तथा कर्णपुत्रिका को थोड़ा सा छूने या हिलाने से भी पीड़ा बढ़ जाती है। (४) बाधिर्य—कभी-कभी विद्रधि के बढ़ जाने पर स्रोतस का अवरोध होकर बाधिर्य उत्पन्न हो जाता है। विद्रधि यदि बहुत गहराई में स्थित होती है तो साधारण दर्शन से निदान करना कठिन होता है।

पनसिका और कर्णविद्रधि में अन्तर—क्षुद्र रोगों में पनसिका नामक कर्णविद्रधि का वर्णन है—कर्णस्याभ्यन्तरे जातां पिडिकामुग्रवेदनाम्। स्थिरां पनसिकां तान्तु विद्यादन्तःप्रपाकिनीम् ॥ अर्थात् कर्ण से भीतरी प्रदेश में उग्र वेदना वाली पिडका को जिसका पाक भीतर ही होता है पनसिका कहते हैं। यद्यपि इस पिडिका को कर्ण के आभ्यन्तर भाग में होना लिखा है किन्तु 'चिकित्सा प्रकरण' में इसके ऊपर अपतर्पण, स्वेद तथा शिग्रु और देवदारु के लेप-भिषक् पनसिकां पूर्वं स्वेदनैरपतर्पणैः। जयेद्दिदारिवल्लेपैः शिग्रुदेवद्रुमोद्भवैः ॥ के उपयोग करने से उसका कर्ण के बाह्य भाग (Auricle) के भीतर में होने वाली विद्रधि

(Furunculosis of the Auricle) ही समझनी चाहिये। दूसरा भेद यह है कि इसे 'स्थिरा' कहा है अर्थात् इसका प्रसार भीतर की ओर कम होता है। वास्तव में कर्णविद्रधि को (Furunculosis of tne ext. meatus) कह सकते हैं।

भवेत् प्रपाकः खलु पित्तकोपतो
विकोथविक्लेदकरश्च कर्णयोः।
स्थिते कफे स्रोतसि पित्ततेजसा
विलाप्यमाने भृशसम्प्रतापवान् ॥
अवेदनो वाऽप्यथवा सवेदनो
घनं स्रवेत् पूति च पूतिकर्णकः ॥ १५ ॥

कर्णपाक तथा पूतिकर्ण लक्षण—पित्त के प्रकोप से कर्णपाक होता है जिससे कानों में स्थानिक कोथ और क्लिन्नता हो जाती है। इसी प्रकार पित्त के तेज से कर्णस्रोत में अवस्थित श्लेष्मा के सन्तप्त एवं विलीन होने पर वेदनारहित या वेदनासहित तथा गाढ़ा और दुर्गन्धित स्राव स्रवित करने वाले कर्णगत रोग को 'पूतिकर्ण' कहते हैं ॥ १५ ॥

विमर्श—कर्णपाक को Suppuration in the Ear कहते हैं। आचार्य सुश्रुत के सिवाय अन्य आचार्यों ने इस रोग को पित्त से, कर्णविद्रधि के पकने से अथवा कर्ण के जलपूर्ण होने से कोथ और क्लिन्नता को करने वाला कर्णपाक माना है—कर्णपाकस्तु पित्तेन कोथविक्लेदकृद्भवेत्। कर्णविद्रधिपाकाद्वा जायते चाम्बुपूरणात् ॥ अस्तु अब विचारणीय विषय यह है कि कर्णगूथ के प्रकरण में लिख आये हैं कि पित्त के तेज से कर्णगत श्लेष्म सूख कर कर्णगूथ उत्पन्न होता है तो फिर यहां पित्त के तेज से क्लिन्नता कैसे उत्पन्न होती है। इस प्रश्न का उत्तर देते हुये श्रीकण्ठदत्त माधवनिदान की मधुकोष टीका में लिखते हैं कि जब पित्त इस प्रकार के विकार को उत्पन्न करने वाले सहकारी कारण वाला तथा बढ़े हुये द्रव भाग वाला होता है तो आर्द्रता (क्लिन्नता) आती है और जब पित्त उस विकार को उत्पन्न करने वाले सहकारी कारण वाला तथा बढ़े हुये तेज भाग वाला होता है तो शुष्कता उत्पन्न करता है। परिणाम स्वरूप कर्णगूथ रोग में कर्णगूथोत्पादक सहकारी कारण तथा तेज भाग वाले पित्त से कर्णगूथ उत्पन्न होता है तथा कर्णपाकोत्पादक सहकारी कारण तथा द्रवांश बहुलता वाले पित्त से कर्णपाक रोग उत्पन्न होता है जिसमें क्लिन्नता रहती है—'एवं विकारजनककर्मसहकारिणा द्रवांशोद्रिक्तेन पित्तेनार्द्रता तत्र तु एतद्विपरीतत्वेन शोषः' (मधुकोष व्याख्या)

पूतिकर्ण रोग Fowl smell discharge from the Ear है। पूतिकर्ण शब्द का शाब्दिक अर्थ पूतिमान् कर्ण (बदबूदार कान) ऐसा होता है। इसीलिये माधवकार ने भी लिखा है कि जो कान पूय का स्राव करता है अथवा पूति (बदबूदार) होता है उसे पूतिकर्ण कहते हैं—'पूयं स्रवति पूतिर्वा स ज्ञेयः पूतिकर्णकः' (मा० नि०) वास्तव में कर्णशोथ, कर्णपाक, कर्णस्राव, कृमिकर्ण और पूतिकर्ण ये रोग कर्णशोथ (Inflammatory condition of the Ear) के ही द्योतक, रूपान्तर या कर्णशोथ के दर्शक लक्षणरूपी या परिणाम में होते हैं। कर्णशोथ के परिणाम से ही कर्णपाक (विद्रधि) और कर्णपाक (Suppuration) का परिणाम कर्णसंस्राव (Otorrhoea) तथा कर्णसंस्राव का परिणाम कोथ होकर पूतिकर्ण उत्पन्न होता है फिर उसकी चिकित्सा न करने से उसमें कृमि उत्पन्न हो जाते हैं जिससे कृमिकर्ण की स्थिति हो जाती है। कर्णपाक, पूतिकर्ण, कर्णस्राव आदि रोग बाह्यकर्ण शोथ के अतिरिक्त मध्यकर्ण तथा अन्तःकर्ण के शोथ के होने पर उपद्रव या लक्षणरूप में उत्पन्न होते हैं अत एव यहां पर मध्यकर्णशोथ अधिक महत्त्व का होने से उसका वर्णन कर देना अत्यावश्यक है।

मध्यकर्णशोथ को Otitis media कहते हैं। इस रोग में मध्य कर्ण के भीतर की दीवाल की श्लैष्मिककला (Lining membrane) शोथयुक्त हो जाती है जिसमें शोथ से लेकर कर्णपाक, कर्णस्राव, पूतिकर्ण और श्लैष्मिककला का परिवर्तन सभी का इसी में समावेश हो जाता है। मध्यकर्ण के शोथ का प्रसार समग्र अन्तःकर्ण, शङ्खकूट तथा उसके वायुविवरों (Mostoid air sinuses) तक हो सकता है क्योंकि मध्यकर्ण के भीतर की ओर लगी हुई श्लैष्मिक कला वायुकोषों (Mostoid antrum) तथा शङ्खकूट कोटर (Mostoid cells) तक चली जाती है। जिस प्रकार नासाशोथ का संक्रमण अविच्छिन्नरूप से ऊपर की ओर बढ़ता हुआ नासा कोटरों तक पहुँच जाता है तद्वत् मध्यकर्ण श्लैष्मिक कला शोथ भी शङ्खप्रवर्द्धन के अन्तिम भाग तक पहुंच जाता है। कभी कभी यह शोथ कर्ण तक ही मर्यादित रहता है किंवा शङ्खप्रवर्द्धन का शोथ कर के सीमित हो जाता है। तथापि इन परस्पर सम्बन्धित विविध अवयवों के शोथों को एक ही रोग समझना चाहिये। यह कोई आवश्यक नहीं है कि प्रथम मध्यकर्ण का शोथ होता है तथा उसके अनन्तर अन्य अवयवों में उपसर्ग पहुंचता है और फिर इसके कई प्रकार के उपभेद अल्पस्रावी (Catarrhal), अनौपसर्गिक (Non-Infective) तथा औपसर्गिक (Infective) करना भी कुछ अर्थ नहीं रखता क्योंकि इसका निर्णय बड़ा कठिन है। कारण यह कि कभी-कभी अल्पस्रावी विकार पूतिकर्ण (Purulent) का रूप धारण कर लेता है और कहीं स्वल्प शोथ में भी पूययुक्त स्राव का रूप धारण कर लेता है।

मध्यकर्णशोथ सम्प्राप्ति तथा कारण—

(१) श्रुतिसुरङ्गा (Eustachian tube) मध्यकर्ण शोथ उत्पन्न करने में अत्यधिक भाग लेता है। नासाग्रसनिका (Nasopharynx) के रोग उपसर्ग के कारण होते हैं। जैसे नासाग्रसनिका शोथ, नासाकोटर शोथ, कण्ठशालूक (Adenoids) अर्बुद या अन्य रोगों के उपसर्ग श्रुतिसुरङ्गा से होकर मध्यकर्ण तथा उसकी श्लैष्मिक कला तक पहुंच के उसका शोथ कर देते हैं। इस प्रकार से तीव्र मध्य कर्ण शोथ हो जाता है।

(२) उपसर्गयुक्त स्राव श्रुतिसुरङ्गा के द्वारा मध्यकर्ण की श्लैष्मिक कला तक पहुंचने से हो सकता है।

(३) तीव्र प्रतिश्याय के रोगी जब जोर से अधिक बार नाक साफ करते हैं (Blowing of the nose) तब भी उपसर्ग मध्यकर्ण में पहुंच जाता है।

(४) जल निमज्जन करने से या पानी में डूब कर तैरने से नासाग्रसनिका की विकृति होकर उसका द्रव या स्राव

श्रुतिसुरङ्गा द्वारा मध्यकर्ण तक पहुंच जाता है तथा वहां शोफ पैदा कर देता है।

(५) किसी कारण वश साधारण से अधिक वायु भार गले के भीतर (Exposed pressure above normal) हो जाने से उपसर्ग मध्यकर्ण तक पहुंच कर शोथ उत्पन्न कर देता है। जैसे पनडुब्बी जहाजों के नाविक प्राणवायुयन्त्र (Oxygen apparatus) लेकर चलते हैं उनमें यदि नाक या गले का रोग पहले से विद्यमान हो तो उसका उपसर्ग मध्यकर्ण तक पहुंच कर वहां शोथ पैदा कर देता है।

(६) सामूहिक स्नानागारों में जलशोधनार्थ क्लोरिन नामक गैस का अतियोग होने पर रासायनिक द्रव्य के क्षोभ से भी पूर्वोक्त विधि से मध्यकर्ण शोथ हो जाता है।

(७) बच्चों में कण्ठशालूक (Adenoid) के विकार से भी मध्यकर्ण शोथ हो जाता है। श्रुतिसुरङ्गा के छोटे होने से या खुले होने से या उसकी स्थिति में विशेषता होने से नासाग्रसनिका का उपसर्ग सहज में मध्यकर्ण तक पहुंच कर शोथ पैदा कर देता है।

(८) तीव्र नासाशोथ (Acute Rhinitis), नासाग्रसनिका में पूयसञ्चय, बच्चे की क्षीणता से नासासञ्चित कफ की शुद्धि न होना आदि कारणों से भी उपसर्ग मध्यकर्ण तक पहुंच कर वहां शोथ पैदा कर देता है।

(९) नासा में मिथ्याविधि से पिचकारी लगाने से भी उपसर्गयुक्त स्राव हठात् मध्यकर्ण तक पहुंच कर शोथ उत्पन्न कर देता है।

(१०) अनेक बार नासागत रक्तस्राव को रोकने के लिये नासाग्रसनिका में रक्त भर दिया जाता है किंवा नासाग्रसनिका में अर्बुद की उत्पत्ति होकर वह स्वयं भर जाता है जिससे उचित वात सम्बन्ध (Proper aeration) अवरुद्ध होकर मध्यकर्ण शोथ हो जाता है।

(११) शरीर के अन्य प्रदेश में स्थित उपसर्ग के रक्तवाहिनियों द्वारा मध्यकर्ण में पहुंचने पर वहां का शोथ होते देखा गया है इस कारण को Blood stream infection कहते हैं।

(१२) मस्तिष्कावरणशोथ तथा अन्तःकर्णशोथ का उपसर्ग मध्यकर्ण में पहुंच कर शोथ उत्पन्न कर देता है।

(१३) बाह्यकर्ण से भी उपसर्ग मध्यकर्ण तक पहुंच कर शोथ पैदा कर देता है किन्तु ऐसा अवसर कम आता है। जब करोटि के आधार (Base of the skul) का भग्न हो जाता है अथवा आघात से कर्णपटह का भग्न हो जाने से किंवा कर्णपटह में छिद्र हो जाने से उपसर्गयुक्त स्राव मध्यकर्ण में पहुंच कर वहां शोथ उत्पन्न कर देता है। ऐसी स्थिति में कर्ण का मल के निर्हरण के लिये अथवा पूतिकर्ण के समय कान में सिरिञ्ज करते समय ध्यान देना चाहिये। कर्णपटह की दिशा में पिचकारी नहीं लगानी चाहिये। जहां तक हैड्रोजन पैरोक्साइड से कार्य चल जाय तो कान में पिचकारी कम लगाना चाहिये।

मध्यकर्णशोथ लक्षण व चिह्न—(१) पीड़ा, (२) बाधिर्य, (३) कर्णनाद या क्ष्वेड, (४) प्रतिध्वनि, (५) भ्रम, (६) सार्वदैहिकलक्षण।

पीडा—मध्यकर्णशोथ का यह प्रधान लक्षण है। इसका कारण द्रव या स्राव का सञ्चय होना है। यदि स्राव की अधिकता होकर मध्यकर्ण में तनाव अधिक (Tension) हो जाने पर पीड़ा भी अधिक प्रतीत होती है और यदि तनाव कम हो तो पीड़ा भी कम होती है। पीड़ा तीव्र (Sharp) तथा वेधनवत् (Lancinating) होती है तथा कान में ही मर्यादित रहती है। सिर या हनु की ओर नहीं फैलती।

बधिरता—मध्यकर्ण में स्रावसञ्चय के अधिक होने पर यह लक्षण मिलता है। प्रारम्भिक अवस्था तथा स्राव की अल्पता में यह लक्षण अनुपस्थित होता है। मध्यकर्णशोथ के स्राव के बाहर निकलने का मार्ग न होने से उसके अधिक सञ्चित होने पर कर्णास्थियों की गति, उनके बन्धनों को ढकने वाली श्लैष्मिक कला की गति में बाधा पड़ती है जिससे श्रवणक्रिया में न्यूनता आजाती है। जिस मध्यकर्ण शोथ के रोगी की श्रवणशक्ति नष्ट नहीं हुई होती है या श्रवण क्रिया में मामूली फर्क पड़ा हो तो वह रोग जल्दी ठीक हो जाता है।

कर्णनाद या क्ष्वेड—अनेक बार कर्णशूल के साथ कर्ण में आवाज होती है तथा कभी शूल न होकर केवल आवाज ही होती है।

प्रतिध्वनि—(Vocalresonance) रोगी को ऐसा प्रतीत होता है जैसे वह किसी पीपी (Barrel) में बातें कर रहा हो।

भ्रम—यह अधिक नहीं होता किन्तु शोथजन्य क्षोभ अन्तःकर्ण में भी होने लगता है तब चक्कर आते हैं।

सार्वदैहिक लक्षणों में मध्यकर्ण शोथ में ज्वर, तीव्र नाड़ी, जिह्वा शुष्क तथा दरार युक्त, अग्निमान्द्य और प्रतिश्याय आदि लक्षण होते हैं।

मध्यकर्णशोथ निदान—दर्शन-प्रथम कर्णपटह को देखकर मध्यकर्ण शोथ का निदान करते हैं यदि बाह्यकर्ण स्रोत में गूथ, विद्रधि आदि हो तो उन्हें शलाका द्वारा पृथक् करके या चिमटी से या पिचकारी से साफ करके पटह की श्लैष्मिक कला की परीक्षा करनी चाहिये। शोथावस्था में पटह की वास्तविक चमक (Lustere) जाती रहती है तथा उसका वर्ण भूरे से गुलाबी (Greyish pink) और गुलाबी से बिल्कुल चमकता हुआ लाल (Brright red) हो जाता है। स्राव के अधिक सञ्चित होने पर पटह की कला अपनी पीछे की दीवाल की ओर उभरी हुई (Bulging) दीख पड़ती है। शोथ बढ़ता हुआ कला के सम्मुख भी आजाता है फिर अन्त में कला दुहरी (Doubled roll) के समान दीखने लगती है एवं मध्यभाग में गढ़हा (Dimple) हो जाता है जहां पर मुद्गरक का वृन्त पटह से लगा रहता है वहां तक पहुंचते-पहुंचते पटहकला का वर्ण गाढ़ा लाल हो जाता है। जब पाकावस्था अधिक बढ़ जाती है तब कला का रङ्ग लाल से पीला हो जाता है। अनेक बार एक रेखा सी भी दिखाई देती है जो मध्यकर्ण में भरे हुये द्रव की ऊँचाई सूचित करती है। यदि पटह फटने वाला हो तो उभार में एक पीला चूचुक सा (Yellow nipple) दिखाई देता है जो पूय (Sloughing) बनने की अवस्था का द्योतक होता है।

ट्यूनिङ्ग फार्क टेस्ट (Tuning fork test) इस परीक्षा से मध्यकर्ण विकृति का निश्चय हो जाता है। परीक्षा करने के पूर्व यह जान लें कि यदि बाह्यकर्ण स्रोत में मलादि हो तो उसकी सफाई कर देनी चाहिये। राइने परीक्षा प्रारम्भिक शोथ में अस्त्यात्मक होती है किन्तु शोथ अधिक बढ़ गया हो तो परीक्षा

नास्त्यात्मक होती है। यदि दोनों पार्श्वों में शोथ हो तो 'बेवर' की परीक्षा की जाती है जिसमें कि स्वर अच्छा सुनाई देता हो उसमें उपसर्ग की तीव्रता समझनी चाहिये।

अस्थि की स्पर्शासह्यता– यदि शोथ शंखप्रवर्द्धन तथा उसके वायुविवरों (Mastoid antrum & mastoid cells) तक पहुंच जाय तो इस अस्थि पर तीव्र स्पर्शासह्यता आजाती है। कर्ण के पीछे की अस्थि को दबाने से कुछ पीड़ा होगी। यदि मध्यकर्ण शोथ में शमन हुआ हो तो उसका स्राव शोषित हो जाता है तथा शनैः शनैः अस्थि की स्पर्शासह्यता भी जाती रहती है किन्तु यहां उपशम न होकर उपसर्ग तथा शोथ आगे बढ़ कर शंखकूट में स्थिर होकर Mastoiditis के रूप में परिणत हो जाता है।

बच्चों में मध्यकर्ण शोथ—होने पर बेचैनी, चिल्लाहट, रुदन चौंकना, चीखना (Screaming), हाथ को ऊपर उठा कर कर्ण या सिर पर रगड़ना और शिरोभ्रामण मुख्य लक्षण होते हैं—कर्णौ स्पृशति हस्ताभ्यां शिरो भ्रामयते भृशम्। भरत्यरोचकास्वप्नैर्जानीयात्कर्णवेदनाम्॥ कर्णस्राव से भी मध्यकर्ण शोथ का ज्ञान हो जाता है। कर्णपटह में छिद्र हो जाने से कर्णस्राव होता है। कर्णस्राव प्रारम्भ हो जाने पर कर्णशूल की तीव्रता कम हो जाती है। देखने से कर्णस्रोत स्राव से भरा हुआ दिखाई देता है। स्राव पतला, गाढ़ा (Serosanguineous fluid) या पीला पूय के रूप में होता है। इस स्राव को रुई से साफ कर के देखें तो विदित होगा कि स्राव पटह के एक सूक्ष्म छिद्र से आ रहा है। स्राव के कारण बधिरता भी कम हो जाती है। यदि बाधिर्य कम न हो तो अन्य उपद्रव की कल्पना करनी चाहिये किंवा कर्णशोथ उपद्रवयुक्त होता जा रहा है। यदि पटह के छेद होने पर भी ज्वर बना रहे या नाड़ी की गति तीव्र हो तो उपसर्ग के आगे बढ़ने की स्थिति समझनी चाहिये। इस स्थिति में मध्यकर्ण की बधिरता तथा कर्णक्लेद भी बने रहते हैं

परिणाम—प्रायः तीव्र मध्यकर्ण शोथ (Acute otitis media) निम्नरूप से शान्त हो जाता है।

(१) अपने आप या स्वाभाविक क्रम से कर्णपटह में बिना छिद्र हुए ही शोथ का ठीक हो जाना। (२) अपने आप या स्वाभाविक क्रम से पटह में छिद्र हो जाने के बाद (After perforation) शोथ का ठीक हो जाना। (३) पटहभेदन (Myringotomy) के पश्चात् विकार का ठीक हो जाना।

चिकित्सा—इस में श्रवण क्रिया को सुरक्षित रखना मुख्य ध्येय है।

(१) शूल—यह पटह में छेद होने के पूर्व होता है तथा नाड्यग्रों (Nerve endings) के क्षोभ के कारण होता है अत एव इसके शमनार्थ शामक (Soothing) ओषधियाँ जैसे अस्प्रो, कोडीन, केफिन (A. P. C.) पाउडर तर एनासीन, सेराडीन आदि का प्रयोग करना चाहिये। स्थानिक प्रयोग के लिये कान में १०% कार्बोलिक एसिड मिश्रित ग्लिसीन का प्रयोग या अन्य संशामक पूरक (Sedative drops) ओषधियों का प्रयोग हितकर होता है।

(२) श्रुतिसुरङ्गाप्रवाह का पुनः स्थापन—करने के लिये बाष्पाध्मापन (Inhalation) करना चाहिये जैसे फायर के बालसम में अल्पमात्रा में पिपरमेण्ट (menthol) मिला कर करें। किंवा लवण विलयन में सोम डाल कर ड्राप्स (Ephedrine in saline drops) का प्रयोग करें। किंवा सोम (Ephedrine) के विलयन को नाडीयन्त्र (Eustachian catheter) के द्वारा सीधे श्रुतिसुरङ्गा में डाले जिस से इस सुरङ्गा का संकोच दूर होकर प्रवाह शुरू हो जाता है।

सामान्य चिकित्सा—(१) रोग के सहायक कारणों का परित्याग करना, (२) अनुचित रूप से दबा कर नाक सफा करना (Improper blowing of the nose) का परित्याग, (३) अनुचित व अधिक जलतरण या डुबकी का वर्जन, (४) नासाकोटर के दोषों का विनाशन, (५) रोगारम्भावस्था में शय्या पर पूर्ण आराम तथा शुद्ध वात का सेवन, (६) शुष्क या आर्द्र स्वेद, विद्युत्स्वेद, (७) प्रारम्भ में पेनिसीलिन के इञ्जेक्शन तथा सल्फाग्रुप की ओषधियों का सेवन कराना चाहिये। यदि इस चिकित्सा से लाभ प्रतीत न हो तथा पटह कला भारी और पीछे के द्रव के भार से उभरी हुई हो एवं ज्वर, शूल बेचैनी आदि लक्षण भी बढ़ रहे हों तो कर्णपटहवेधन नामक शस्त्रकर्म (Myringotomy) कर सञ्चित पूयादि स्राव का निर्हरण कर देवें।

कर्णपटहवेधन की अवस्थाएं– निम्न तीन दशाओं में शस्त्रकर्म किया जाता है। (१) अत्यधिक कर्णशूल, (२) मध्यकर्ण-पूयसञ्चयजन्य उच्च तापक्रम प्रभृति विषमयता के लक्षण, (३) मध्यकर्ण में अधिक द्रवसञ्चयभारजन्य बाधिर्य।

शस्त्रकर्म लाभ—(१) तीव्र ज्वरादि लक्षण तथा उपद्रवों का शमन हो जाता है। (२) उपसर्ग का आगे की ओर प्रसार रुक जाता है। (३) दोषों (पूयादि) का निर्हरण हो के व्रणरोपण होकर पटहकला का पुनर्निर्माण हो जाने से श्रवणक्रिया पुनः ठीक हो जाती है।

शस्त्रकर्म विधि—(१) संज्ञाहरण—गस आक्सीजन या पेण्टोथाल द्वारा करके कुशल सर्जन शस्त्रकर्म करे। यदि पटहकला द्रवभार से पर्याप्त फैली हुई हो तो Blegvad's drops द्वारा भी स्थानिक संज्ञाहरण कर के शस्त्रकर्म कर सकते हैं।

(२) बाह्यश्रुतिपथ-विशोधन—स्पिरिट में रूई भिगो कर किंवा जीवाणुनाशक विलयन में प्लोत (Gauze) भिगो कर उससे कर्णभाग को भलीभांति पोंछ कर उसी घोलके कुछ बूंद छोड़ कर कर्ण को कुछ मिनट के लिये भर देवें। जब रोगी संज्ञाहीन हो जाय तो कर्णदर्शक यन्त्र (Speculum) के द्वारा कर्णपटह की स्थिति का पूर्ण रूप से अवलोकन करे तथा वहां मैल, गूथ और किट्ट (Debris) के कारण अवरोध हो तो उसे साफ कर लें।

(३) भेदनकर्म—एक कोणदार (Angled) वृद्धिपत्र शस्त्र से पटह के पश्चाद्भाग में उस सतह की रेखा में जो कि पटह को ऊपर और मध्य तृतीयांश में बांट दे J के आकार का भेदन करना चाहिये। फिर भेदन कुछ दूर तक खड़े (Vertically) ले आकर घुमाते हुये नीचे की ओर मुद्गरास्थि के वृन्ताग्र के नीचे तक ले आना चाहिये। वृद्धिपत्र की नोक भीतर में उतनी ही गहराई तक जानी चाहिये जितने में पटह

की कला कट जाये अन्यथा आभ्यन्तरिक रचना की क्षति का भय रहता है। भेदन के साथ ही पूय, रक्त आदि स्राव निकलने लगते हैं उन्हें विशुद्ध रूई या गाज से पोंछ कर साफ कर लेवे। इस तरह स्रावादि के निकल जाने से शूल और ज्वरादि लक्षण दूर हो जाते हैं। यदि पटहभेदन के पश्चात् भी उक्त लक्षण दूर न हों तो उपसर्ग का शङ्खकूट में पहुंच जाने (Advancing mastoid infaction) की कल्पना करनी चाहिये। पटहभेदन शस्त्रकर्म का पाश्चात्य वर्णन निम्न है—The incision is shaped and should commence in the posterior part of the drum about the level of the line deviding the drum horizontaly into upper and middle thirds. The incision is then brought down vertically and curved round well below the tip of the handle of the malleous.

(४) पश्चात्कर्म—कर्ण पटहभेदन या छेद हो जाने के बाद प्रथम १. स्राव को ठीक तरह से साफ कर देना चाहिये (Adequate drainage), २. पश्चात् उसे सुखाने का (Drying up the discharge) का सुप्रबन्ध करें। ३. पीडा का शमन पटहभेद के पश्चात् स्वयं हो जाता है। यदि न हो तो उपसर्ग के प्रसार की कल्पना कर विकृति के अनुसार चिकित्सा करें। कभी-कभी स्राव बाह्यकर्ण स्रोत में भर जाने से पीडा होती रहती है अथवा पटहछिद्र का मुख बन्द हो जाने से पीडा बढ़ जाती है ऐसी स्थिति में कर्ण शोधन कर देने से उसका शमन हो जाता है। ४. इतने पर भी स्राव स्रवण बन्द न हो तो उसकी शुष्क या आर्द्र पद्धति से चिकित्सा करनी चाहिये। इसके लिये पेनिसिलिन के ड्राप्स डालना अथवा क्लोरोमाइसिटीन की डस्टिङ्ग करना चाहिये।

शुष्कपद्धति—में प्रथम वस्त्रावेष्टित एषणी (Dressed probe) के द्वारा या रूई के पिचु से कर्णस्रोत की पूर्ण सफाई कर उसमें ऊन की बत्ती (Wick of worsted) भर कर छोड़ देते हैं। स्राव इस वर्ति के सहारे बाहर आ जाता है।

आर्द्रपद्धति—में प्रथम कर्ण में हाइड्रोजन पेराक्साइड की कुछ बूंदे छोड़ें। इससे एकत्रित मल या पूय द्रुत होकर झाग के साथ बाहर आ जाता है फिर टङ्कण विलयन को सिरिञ्ज में भर कर आहिस्ते से कर्णस्रोत प्रक्षालित कर रूई से पोंछ कर सुखा लें। यह प्रयोग दिन में एक या दो बार किया जाना चाहिये।

स्रावशोषण—के लिये एक औंस रेक्टिफाइड स्प्रिट में १५ ग्रेन बोरिक पाउडर मिला के विलयन बनाकर उसकी ५-६ बूंदे सुबह और शाम कान में डाल सकते हैं।

बोरिक तथा आयोडाइड पाउडर—बोरिकएसिड में ७५ प्रतिशत आयोडीन मिला कर निध्मापक (Insuflator) के द्वारा कान में ध्मापित करना चाहिये। इससे बोरिक कर्ण स्राव में घुल कर आयोडीन को मुक्त कर देता है जिससे उस स्थान के जीवाणु नष्ट हो जाते हैं। स्राव को सुखाने के लिये यह नया प्रचलित योग है। सल्फाग्रुप की औषधियों का महीन चूर्ण भी कान में प्रविष्ट करने से लाभ होता है किन्तु विशेष लाभ नहीं हुआ है। यदि नासा प्रसनिका रोग या कोटर शोथ या वायु विवर शोथ (Sinusitis) हो तो उनकी भी चिकित्सा करनी चाहिये।

जीर्णमध्यकर्ण शोथ—मध्यकर्ण शोथ के शमन न होने से वह जीर्ण मध्यकर्ण शोथ का रूप धारण कर लेता है। सम्भवतः प्राचीनों ने कर्णस्राव को इसी मध्यकर्ण शोथ की अवस्था का विशेषरूप माना हो।

लक्षण—(१) स्राव पतला और गाढा (Mucopurulent) कई स्वरूप का हो सकता है। अधिक दिन तक उपयुक्त चिकित्सा न कराने से बदबू भी आने लग जाती है। यही प्राचीनों का पूतिकर्ण हो सकता है। स्राव कभी-कभी अधिक गाढा हो जाता है जिससे वह बाहर नहीं आ सकता है किन्तु कर्णस्रोत के भीतर मोम जैसे जम जाता है इसी को प्राचीनों ने 'कर्णगूथ' कहा है। (२) बाधिर्य—कर्णपटह में छिद्र न होने से स्राव भीतर ही सञ्चित होकर बाधिर्यता उत्पन्न करता है। (३) भ्रम, ज्वर बेचैनी आदि।

चिकित्सा—कर्ण का पूर्ण संशोधन तथा स्राव को संशुष्क करना ये दो ही मुख्य ध्येय हैं। इनके सिवाय पेनिसिलिन ड्राप्स तथा सल्फाग्रुप का स्राव की पतली स्थिति में प्रयोग कर सकते हैं। नासाप्रसनिका के विकार तथा कर्णार्श, कर्णार्बुद (Granulation and Polypi) आदि हों तो प्रथम इन्हीं को दूर कर दें। मध्यकर्ण शोथ में निम्न उपद्रव हो जाते हैं—

(१) तीव्र शङ्ख प्रवर्द्धन विवर शोथ (Mastoiditis), (२) अर्दित (Facial Paralysis), (३) परिकोटर विद्रधि (Perisinsus Abscess), (४) पार्श्वशिरा कुल्यास्तम्भ (Lateral Sinus thrombosis), (५) घातक परिणाम (Fatal Termination), (६) मस्तिष्कावरण शोथ (Meningitis), (७) तीव्रमस्तिष्क विद्रधि (Acute Brain Abscess), (८) कान्तारक शोथ (Labrynthitis), (९) बहिर्मस्तिष्कावरण विद्रधि (Extra dural Abscess), (१०) अश्मास्थि शोथ (Petrositis)।

प्रदिष्टलिङ्गान्यर्शांसि तत्त्वतस्त-
थैव शोफार्बुदलिङ्गमीरितम्।
मया पुरस्तात्प्रसमीक्ष्य योजये-
दिहैव तावत् प्रयतो भिषग्वरः॥ १६॥

इति सुश्रुतसंहितायामुत्तरतन्त्रान्तर्गते शालाक्यतन्त्रे कर्णगतरोगविज्ञानीयो नाम विंशतितमोऽध्यायः॥२०॥

कर्णगत अर्श के लक्षण अर्शोरोगाधिकार में कहे हुये अर्श के समान तथा शोफ और अर्बुद के लक्षण पूर्व (निदान चिकित्सादि अध्यायों) में कहे हुये के समान वैद्यवर यहां भी यत्नपूर्वक जान लेवे॥ १६॥

इत्यायुर्वेदतत्त्व सन्दीपिका भाषायां कर्णगतरोगविज्ञानीयो नाम विंशतितमोऽध्यायः॥ २०॥

एकविंशतितमोऽध्यायः।

अथातः कर्णगतरोगप्रतिषेधं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥ २ ॥

अब इसके अनन्तर 'कर्णगतरोग प्रतिषेधक' अध्याय का व्याख्यान करते हैं जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने कहा है ॥

सामान्यं कर्णरोगेषु घृतपानं रसायनम्।
अव्यायामोऽशिरःस्नानं ब्रह्मचर्य्यमकत्थनम् ॥ ३ ॥

कर्णरोग सामान्य चिकित्सा—सर्व प्रकार के कर्णरोगों में घृत का पान, रसायन औषधियों का सेवन, व्यायाम का परित्याग, शिर को छोड़ कर स्नान, ब्रह्मचर्य का सेवन एवं अधिक वार्तालाप नहीं करना यह सामान्य चिकित्सा तथा पथ्य (नियम) है ॥ ३ ॥

विमर्शः—हाराणचन्द्रजी ने 'रसायन' के स्थान पर 'रसाशनम्' ऐसा पाठ मान कर मांसरस के साथ भोजन करने का निर्देश किया है। अन्य टीकाकारों ने रसायन शब्द को घृतपान का विशेषण मान कर सर्व प्रकार के कर्णरोगों में घृतपान करना चाहिये ऐसा अर्थ किया है। घृत को कोष्ण दुग्ध में डाल कर पीना चाहिये। गोघृत प्रशस्त है किन्तु रक्तशोधक तथा विभिन्न वातादि दोषनाशक घृत का सेवन भी करा सकते हैं।

कर्णशूले प्रणादे च बाधिर्य्यक्ष्वेडयोरपि।
चतुर्णामपि रोगाणां सामान्यं भेषजं विदुः ॥ ४ ॥

कर्णशूलादि सामान्य चिकित्सा—कर्णशूल, कर्णनाद, कर्णबाधिर्य और कर्णक्ष्वेड इन चार प्रकार के कर्णरोगों में घृतपानादि उक्त सामान्य चिकित्सा तथा आगे के श्लोकों में कही जाने वाली स्नेहन, स्वेदन, स्नेहविरेचनादि सामान्य चिकित्सा श्रेष्ठ कही गई है ॥ ४ ॥

स्निग्धं वातहरैः स्वेदैर्नरं स्नेहविरेचितम्।
नाडीस्वेदैरुपचरेत्पिण्डस्वेदैस्तथैव च ॥ ५ ॥

सामान्य चिकित्सा—कर्णरोगी को प्रथम स्नेहपान और अभ्यङ्ग से स्निग्ध करके वातनाशक द्रव्यों को पानी में डाल कर चूल्हे पर चढ़ा के क्वथित होने की दशा में उस पात्र पर चलनी ढक कर निकलते हुए बाष्प से स्वेदित कर एरण्डतैल, बादाम रोगन आदि स्नेह द्रव्यों से विरेचन देवे। पश्चात् नाडीस्वेद तथा पिण्डस्वेद से पुनः स्वेदन करना चाहिये ॥ ५ ॥

बिल्वैरण्डार्कवर्षाभूदधित्थोन्मत्तशिग्रुभिः।
बस्तगन्धाऽश्वगन्धाभ्यां तर्कारीयववेणुभिः ॥ ६ ॥
आरनालशृतैरेभिर्नाडीस्वेदः प्रयोजितः।
कफवातसमुत्थानं कर्णशूलं निरस्यति ॥ ७ ॥

नाडीस्वेदोपयोगीद्रव्य—बिल्व, एरण्ड, आक, पुनर्नवा, कैथ, काला धतूरा, सहजन, बस्तगन्धा (अजगन्धा), अश्वगन्ध, अरणी (तर्कारी), यववेणु (बांस के अङ्कुर), इन्हें यवकुट करके काञ्जी में पकाकर दिया गया नाडीस्वेद कफ और वात से उत्पन्न कर्णशूल को नष्ट करता है ॥ ६-७ ॥

मीनकुक्कुटलावानां मांसजैः पयसाऽपि वा।
पिण्डैः स्वेदञ्च कुर्वीत कर्णशूलनिवारणम् ॥ ८ ॥

मत्स्य, मुर्गा और बटेर इनके मांस से या मांस से बनाये क्वाथ से या दुग्ध से किंवा पिण्ड (खोये) से पिण्डस्वेद करने से कर्णशूल नष्ट होता है ॥ ८ ॥

विमर्शः—उष्ण किये हुये मांसपिण्ड या दुग्ध के खोये से पिण्डस्वेद किया जाता है।

अश्वत्थपत्रखल्लं वा विधाय बहुपत्रकम्।
तदङ्गारैः सुसम्पूर्णं निदध्याच्छ्रवणोपरि ॥ ९ ॥
यत्तैलं च्यवते तस्मात् खल्लादङ्गारतापितात्।
तत्प्राप्तं श्रवणस्रोतः सद्यो गृह्णाति वेदनाम् ॥ १० ॥

कर्णशूलहरस्नेहस्वेद—अश्वत्थ (पीपल) के अनेक पत्र लेकर उनका खल्वाकृति दोना बनाकर उसमें निर्धूम तथा दीप्त अङ्गार भर के चिमटे से पकड़ कर श्रवण (कर्ण) के ऊपर पकड़े रहे। फिर अङ्गार से तप्त उस अश्वत्थ पत्र खल्ल से तैल टपक कर कर्णस्रोत में गिरता है और उससे तत्काल कर्णवेदना शान्त हो जाती है ॥ ९-१० ॥

विमर्शः—अन्य लेखकों ने 'तदङ्गारैः सम्पूर्णम्' के स्थान पर 'तैलाक्तमस्तुसम्पूर्णम्' ऐसे पाठ की कल्पना कर अश्वत्थ पत्र के दोनें को तैल तथा मस्तु से भीगो कर पश्चात् दीप्ताङ्गार रख के तैल टपकाना चाहिये ऐसा लिखा है। कुछ का मत है कि उस दोने के नीचे छोटासा एक छिद्र बना देना चाहिये जिससे तैल टपक सके। कुछ लोगों ने तैल के स्थान में घृत भरने या घृत से दोने को भिगोने का उल्लेख किया है। इसी प्रकार पके हुये अर्क पत्र पर घृत लगा के तपा कर कान में रस निचोड़ने से भयङ्कर पीड़ा दायी कर्णशूल नष्ट होता है जैसा कि लिखा है— अर्कस्य पत्रं परिणामपीतमाज्येन लिप्तं शिखिनाऽवतप्तम्। आपीड्य तोयं श्रवणेनिषिक्तं निहन्ति शूलं बहुवेदनञ्च।

क्षौमगुग्गुल्वगुरुभिः सघृतैर्धूपयेच्च तम्।
भक्तोपरि हितं सर्पिर्बस्तिकर्म च पूजितम् ॥ ११ ॥

कर्णस्वेदपश्चात्कर्म—स्वेदन के अनन्तर अलसी, गूगल, अगर और घृत को निर्धूम अङ्गार पर रख कर कर्ण को धूपित करना चाहिये। इसके सिवाय रुग्ण को भोजन करा के घृतपान कराना चाहिये। अनन्तर शिरोबस्तिकर्म करना चाहिये ॥ ११ ॥

निरन्नो निशि तत्सर्पिः पीत्वोपरि पिबेत् पयः ॥ १२ ॥

रात्रि के समय अन्न का सेवन न कराके घृतपान कराकर उसके ऊपर मन्दोष्ण दुग्ध पिला देना चाहिये ॥ १२ ॥

मूर्द्धबस्तिषु नस्ये च मस्तिष्के परिषेचने।
शतपाकं बलातैलं प्रशस्तञ्चापि भोजने ॥ १३ ॥

बलातैलप्रयोग—शिरोबस्ति, नस्य, शिर के परिषेचन तथा भोजन में शतपाक किया हुआ बलातैल प्रशस्त माना गया है ॥

विमर्शः—'मूढगर्भचिकित्सा' प्रकरणोक्त बलातैल का यहाँ प्रयोग करना चाहिये।

कण्टकारीमजाक्षीरे पक्त्वा क्षीरेण तेन च।
विपचेत् कुक्कुटवसां कर्णयोस्तत् प्रपूरणम् ॥ १४ ॥

कुक्कुटवसापूरण—कटेरी की जड़ १ पल भर लेकर आठ पल दुग्ध तथा दुग्ध से चतुर्गुण पानी डाल कर दुग्धावशेष पाक करके छान कर उसमें १ पल कुक्कुट (मुर्ग) की वसा (चर्बी) डाल कर वसावशेष पाक करके उसे सुहाती सुहाती दोनों कानों में टपकाते हुये कानों को पूरित कर देवे ॥ १४ ॥

तण्डुलीयकमूलानि फलमङ्कोलजन्तथा ।
अहिस्राकेन्दुकामूलं सरलं देवदारु च ।
लशुनं शृङ्गवेरञ्च तथा वंशावलेखनम् ॥ १५ ॥
कल्कैरेषां तथाऽम्लैश्च पचेत् स्नेहं चतुर्विधम् ।
वेदनायाः प्रशान्त्यर्थं हितं तत् कर्णपूरणम् ॥ १६ ॥

चतुर्विधस्नेहपूरण—चौलाई की जड़, अङ्कोठ का फल, क्षिण्टी, तिन्दुक की जड़, सरलकाष्ठ, देवदारु, लहसुन की गिरी, सोंठ, बांस के छिलके इन सबको सम प्रमाण में लेकर खाण्डकूट के पानी के साथ पीस कर कल्क बना लेवे। फिर घृत, तैल, वसा और मज्जा इन चारों स्नेहों को सम प्रमाण में मिश्रित कर उक्त कल्क से चतुर्गुण लेकर तथा इन स्नेहों से चतुर्गुण काञ्जी, दही छाछ आदि लेकर स्नेहावशेष पाक करके छान कर मन्दोष्णरूप में कर्णवेदना को शान्त करने के लिये कान में पूरित करे ॥ १५-१६ ॥

विमर्शः—चतुर्विधस्नेह—'घृतं तैलं वसा मज्जा स्नेहोऽप्युक्तश्चतुर्विधः' ।

लशुनार्द्रकशिग्रूणां मुरङ्ग्या मूलकस्य च ।
कदल्याः स्वरसः श्रेष्ठः कदुष्णः कर्णपूरणे ॥ १७ ॥

लहसुन की गिरी, अदरख, सहजन के बीज, मुरङ्गी (लाल सुहाजन), मूली और केला इनका पृथक् पृथक् अथवा सम्मिलित स्वरस निकाल कर गरम करके कुछ गरम गरम कान में डालने से कर्णशूल नष्ट होता है ॥ १७ ॥

शृङ्गवेररसः क्षौद्रं सैन्धवं तैलमेव च ।
कदुष्णं कर्णयोर्देयमेतद्वा वेदनापहम् ॥ १८ ॥

अथवा आर्द्रक का स्वरस, शहद, सैन्धवलवण और तिलतैल इन्हें पृथक् पृथक् अथवा सम्मिलित पीस कर तैल के चतुर्गुण पानी डाल के पका कर मन्दोष्णरूप में कान में डालने से वेदना नष्ट होती है ॥ १८ ॥

वंशावलेखनायुक्ते मूत्रे चाजाविके भिषक् ।
सर्पिः पचेत्तेन कर्णं पूरयेत् कर्णशूलिनः ॥ १९ ॥

कर्णशूलहरघृत—बकरी और भेड़ के मूत्र में बांस के छिलके डालकर घृत मिला के पकाकर कान में कदुष्ण डालने से कर्णशूल नष्ट होता है ॥ १९ ॥

महतः पञ्चमूलस्य काण्डमष्टादशाङ्गुलम् ।
क्षौमेणावेष्ट्य संसिच्य तैलेनादीपयेत्ततः ॥ २० ॥
यत्तैलं च्यवते तेभ्यो धृतेभ्यो भाजनोपरि ।
ज्ञेयं तद्दीपिकातैलं सद्यो गृह्णाति वेदनाम् ॥ २१ ॥

दीपिकातैल—बृहत्पञ्चमूल का अट्ठारह अङ्गुल लम्बा टुकड़ा लेकर अलसी के वस्त्र से आवेष्टित कर तिलतैल से संसिक्त करके अग्नि प्रज्वलित कर चिमटे से पकड़ के किसी कटोरे के ऊपर पकड़े रहे। इस तरह बून्द बून्द तैल टपक कर पात्र में इकट्ठा हो जाता है। इसे दीपिका तैल कहते हैं तथा इसको कानों में डालने से तत्काल कर्णवेदना नष्ट होती है ॥ २०-२१ ॥

विमर्शः—महत्पञ्चमूल—'बिल्वः श्योनाकगम्भारीपाटलागणिकारिका' बृहत्पञ्चमूल की अट्ठारह अङ्गुल लम्बी पांच लकड़ियां लेके मिलाकर उन पर क्षौमवस्त्र लपेट देवें।

कुर्यादेवं भद्रकाष्ठे कुष्ठे काष्ठे च सारले ।
मतिमान् दीपिकातैलं कर्णशूलनिबर्हणम् ॥ २२ ॥

बुद्धिमान् वैद्य 'दीपिका तैलविधि' से ही देवदारु, कुष्ठ और सरलकाष्ठ की लकड़ियों से भी दीपिका तैल बनाकर कर्णपूरण करके कर्णशूल नष्ट करे ॥ २२ ॥

अर्काङ्कुरानम्लपिष्टांस्तैलाक्तान् लवणान्वितान् ।
सन्निदध्यात् स्नुहीकाण्डे कोरिते तच्छदावृते ॥ २३ ॥
पुटपाकक्रमस्विन्नान् पीडयेदारसागमात् ।
सुखोष्णं तद्रसं कर्णे दापयेच्छूलशान्तये ॥ २४ ॥

अर्काङ्कुरस्वरस—आक के कोमल पत्राङ्कुरों को काञ्जी में पीस कर उनमें कुछ तिलतैल तथा लवण मिला के थूहर के डण्डे में छेद (कोरिरा) कर उसमें भर के थोर के पत्तों से ही उस छिद्र को बन्द कर अग्नि में गाड़ के पुटपाक विधि से स्विन्न (पका) कर पुनः बाहर निकाल के दबा कर रस निचोड़ के सुखोष्ण कान में डालने से कर्णशूल नष्ट होता है ॥

कपित्थमातुलुङ्गाम्लशृङ्गवेररसैः शुभैः ।
सुखोष्णैः पूरयेत् कर्णं तच्छूलविनिवृत्तये ॥ २५ ॥

कैथ, बिजौरा नीबू और अदरख इनका रस निकाल कर गरम करके कर्णशूल नष्ट करने के लिये सुखोष्ण रूप से कान में डाले ॥ २५ ॥

कर्णं कोष्णेन चुक्रेण पूरयेत् कर्णशूलिनः ।
समुद्रफेनचूर्णेन युक्त्या चाप्यवचूर्णयेत् ॥ २६ ॥

कर्णशूल पीडित मनुष्य के कान में चुक्र (चूका) को गरम कर भर देवे अथवा युक्ति से (प्रधमन द्वारा) समुद्रफेन का चूर्ण कान में डालना चाहिये ॥ २६ ॥

अष्टानामिह मूत्राणां मूत्रेणान्यतमेन तु ।
कोष्णेन पूरयेत् कर्णं कर्णशूलोपशान्तये ॥ २७ ॥

अष्टमूत्रपूरण—अष्टमूत्रों में से किसी एक मूत्र को लेकर गरम करके कोष्णरूप में कर्णशूलविनाशार्थ कर्णको पूरित करे॥

विमर्शः—अष्टमूत्र—'खरोष्ट्रतुरङ्गाणां पुंसां मूत्रं प्रशस्यते। गोऽजाविमहिषीणाञ्च स्त्रीणां मूत्रमुदाहृतम्' ।

मूत्रेष्वम्लेषु वातघ्ने गणे च कथिते भिषक् ।
पचेच्चतुर्विधं स्नेहं पूरणं तच्च कर्णयोः ॥ २८ ॥

अष्टमूत्र में तथा अम्लवर्गोक्त द्रव्यों के क्वाथ में तथा भद्रदार्वादिक वातनाशक द्रव्यों के क्वाथ में घृत, तैल, वसा और मज्जा इन चतुर्विध स्नेहों को पकाकर कोष्ण रूप में कर्ण में पूरित करने से कर्णशूल नष्ट होता है ॥ २८ ॥

एता एव क्रियाः कुर्य्यात् पित्तघ्नैः पित्तसंयुते ।
काकोल्यादौ दशक्षीरं तिक्तं चात्र हितं हविः ॥ २९ ॥

पित्तजकर्णशूल—में पित्तनाशक द्रव्यों के कल्क और क्वाथ के द्वारा घृत, तैल सिद्ध करके या दीपिकादि तैल बना कर कान में टपकावे। इनके सिवाय काकोल्यादिगण की औषधियों के कल्क में कल्क से दशगुना दुग्ध मिलाकर अथवा तिक्तवर्ग की औषधियों के कल्क और क्वाथ में घृत मिलाकर पाक करके कोष्णरूप में कान में टपकाना उत्तम है ॥ २९ ॥

क्षीरवृक्षप्रवालेषु मधुके चन्दने तथा।
कल्कक्वाथे परं पक्वं शर्करामधुकैः सरैः ॥ ३० ॥

क्षीरीवृक्षों (न्यग्रोध, उदुम्बर, अश्वत्थ, प्लक्ष = पाकर, और पारस पीपल) के पत्रों के कल्क और क्वाथ में सिद्ध किया हुआ घृत किंवा मुलेठी तथा चन्दन के क्वाथ और कल्क में सिद्ध घृत अथवा शर्करा, मुलेठी और त्रिवृत् आदि विरेचक द्रव्यों के कल्क से चतुर्गुण घृत एवं घृत से चतुर्गुण जल मिलाके सिद्ध किया हुआ घृत कर्ण में पूरित करने से पैत्तिककर्णशूल नष्ट होता है ॥ ३० ॥

इङ्गुदीसर्षपस्नेहौ सकफे पूरणे हितौ।
तिक्तौषधानां यूषाश्च स्वेदाश्च कफनाशनाः ॥ ३१ ॥

श्लेष्मजकर्णशूलचिकित्सा—कफजन्य कर्णशूल रोग में हिङ्गोट और सरसों का तैल गरम कर कर्ण में पूरण करना हितकारी होता है। इसके सिवाय तिक्त औषधियों का यूष तथा कफ नाशक रूक्षस्वेद भी लाभकारी होता है ॥ ३१ ॥

सुरसादौ कृतं तैलं पञ्चमूले महत्यपि।
मातुलुङ्गरसः शुक्तं लशुनार्द्रकयो रसः ॥ ३२ ॥
एकैकः पूरणे पथ्यस्तैलं तेष्वपि वा कृतम्।
तीक्ष्णा मूर्धविरेकाश्च कवलाश्चात्र पूजिताः ॥ ३३ ॥

'द्रव्यसंग्रहणीय अध्याय' में कहे हुये सुरसादिगण की औषधियों के क्वाथ तथा कल्क से सिद्ध किया हुआ तैल अथवा बृहत्पञ्चमूल की औषधियों के क्वाथ और कल्क से सिद्ध किया हुआ तैल कफज कर्णशूल में टपकाने से लाभकारी होता है। इसी प्रकार बिजौरे नीबू का रस युक्त, लहसुन की गिरी का रस और अदरख का स्वरस इनमें से किसी एक को गरम कर कोष्णरूप में कान में टपकाने से कफजन्य कर्णशूल नष्ट होता है। अथवा इन्हीं पदार्थों के कल्क और स्वरस के साथ तैल पकाकर कान में टपकाना चाहिये। इनके अतिरिक्त अपामार्ग आदि के बीजों के चूर्ण का तीक्ष्ण नस्य देकर मूर्धविरेचन कराना तथा पिप्पली आदि तीक्ष्ण पदार्थों के क्वाथ से कवल-धारण कराना कफजन्य कर्णशूल में उत्तम है ॥ ३२-३३ ॥

कर्णशूलविधिः कृत्स्नः पित्तघ्नः शोणितावृते।
शूलप्रणादबाधिर्य्यक्ष्वेडानान्तु प्रकीर्त्तितम् ॥
सामान्यतो, विशेषेण बाधिर्य्ये पूरणं शृणु ॥ ३४ ॥

शोणितशूल चिकित्सा—शोणितजन्य कर्णशूल रोग में पित्तजकर्णशूल नाशक समस्त चिकित्साविधि का उपयोग करना चाहिये। इस प्रकार सामान्यरूप से कर्णशूल, कर्णनाद, कर्णबाधिर्य और कर्णक्ष्वेड के संशमन का उपाय कह दिया है अब और कर्णबाधिर्य में विशेषरूप से पूरण करने वाली औषधियों का वर्णन किया जाता है उन्हें सुनो ॥ ३४ ॥

गवां मूत्रेण बिल्वानि पिष्ट्वा तैलं विपाचयेत्।
सजलञ्च सदुग्धञ्च बाधिर्य्ये कर्णपूरणम् ॥ ३५ ॥

बिल्वादितैल—गोमूत्र से बिल्वफलमज्जा को पीस कर कल्क बना के उससे चतुर्गुण तिलतैल तथा तैल से चतुर्गुण बकरी का दुग्ध तथा दुग्ध से चतुर्गुण पानी मिलाकर तैलावशेष पाक कर लेना चाहिये। इस तैल को कर्णबाधिर्य में पूरण करना चाहिये॥

सितामधुकबिम्बीभिः सिद्धं वाऽऽजे पयस्यपि।
बिम्बीक्वाथे विमथ्योष्णं शीतीभूतं तदुद्धृतम् ॥३६॥
पुनः पचेद्दशक्षीरं सितामधुकचन्दनैः।
बिल्वाम्बुगाढं तत्तैलं बाधिर्य्ये कर्णपूरणम् ॥ ३७ ॥

शर्करा, मुलेठी और बिम्बीफल इनका कल्क बनाकर कल्क से चतुर्गुण तैल तथा तैल से चतुर्गुण बकरी का दुग्ध और दुग्ध से चतुर्गुण जल मिलाकर तैल पाक कर लेवें पश्चात् इस उष्ण तैल को बिम्बी के उष्ण क्वाथ में डाल के हाथ से मथ कर शीतल होने पर क्वाथ के ऊपर तैरते हुये तैल को शुक्ति से लेकर फिर से उसमें सिता, मुलेठी और चन्दन इनका तैल से चौथाई कल्क मिलावें एवं तैल से दशगुणा बकरी का दुग्ध एवं चतुर्गुण बिल्व का क्वाथ मिलाकर अच्छी प्रकार तैलावशेष पाक करके छान कर शीशी में भर देवें। बाधिर्य रोग में इस बिल्वादि तैल का पूरण करना चाहिये ॥ ३६-३७ ॥

वक्ष्यते यः प्रतिश्याये विधिः सोऽप्यत्र पूजितः।
वातव्याधिषु यश्चोक्तो विधिः स च हितो भवेत् ॥३८॥

प्रतिश्याय रोग के अध्याय में जो विधि कही जायगी उसका कर्णबाधिर्य में प्रयोग श्रेष्ठ माना गया है एवं वातव्याधि रोग में जो चिकित्सा विधि कही गई है वह भी यहां श्रेष्ठ मानी गई है ॥ ३८ ॥

विमर्श—'योगरत्नाकर' में कर्ण शूल, कर्णनाद कर्णबाधिर्य और कर्णक्ष्वेड में कटु (सार्षप) तैल का पूरण तथा वातघ्न-चिकित्सा का उपदेश दिया है—कर्णशूले कर्णनादे बाधिर्ये क्ष्वेड एव च। पूरणं कटुतैलेन हितं वातघ्नमेव च॥ इसके अतिरिक्त कर्णरोगी को पार्श्व (करवट) पर लेटा कर कर्णप्रदेश का स्वेदन एवं गरम गरम मूत्र, स्नेह तथा अन्य अदरख, लहसुन आदि औषधियों के रसों का कान में पूरण कर सौ, पांच सौ और एक हजार बोलने तक उसे धारण करने का आदेश है किंवा अपने घुटने के चारों ओर हस्त को घुमाना यह एक मात्रा है। औषध पूरण के भी नियम कहे हैं जैसे औषधस्व रसों का पूरण भोजन के पूर्व में तथा तैलादि का पूरण सूर्यास्त होने के पश्चात् करना लिखा है—स्वेदयेत्कर्णदेशन्तु किञ्चिन्तु पार्श्वशायिनः। मूत्रैः स्नेहैः रसैः कोष्णैस्तच्च श्रोत्रं प्रपूरयेत्। कर्णे च पूरितं रक्षेच्छतं पञ्च शतानि च। सहस्रं वाऽपि मात्राणां श्रोत्र-कण्ठशिरोगदे॥ स्वजानुनः करावर्तं कुर्याच्छोटिकया युतम्। एषा मात्रा भवेदेका सर्वत्रैव विनिश्चयः॥ रसाद्यैः पूरणं कर्णे भोजनात्प्राक् प्रशस्यते। तैलाद्यैः पूरणं कर्णे भास्करेऽस्तमुपागते॥ (यो. र.) 'पाश्चात्त्य चिकित्सा विज्ञान' में भी कर्ण पूरण के लिये अनेक योग हैं जो कि कर्णशोधक, शूलशामक तथा लेखक एवं जीवाणुनाशक की क्रिया करते हैं। इन योगों के प्रयुक्त करने के पहले हाइड्रोजन पेराक्साइड से, किंवा कोष्ण बोरिक विलयन से या साधारण गरम जल की पिचकारी लगा कर कान की सफाई कर देनी अत्यावश्यक होती है। कर्णस्वच्छता के पश्चात् उक्त गुणकारी औषधियों का या योगों का प्रयोग करते हैं। ये योग प्रायः रासायनिक द्रव्यों को रेक्टिफाइड स्प्रिट अथवा परिस्रुतोदक में घोल कर बनाये जाते हैं। जैसे मर्क्युरोक्रोम, बोरिक स्प्रिट ड्राप्स, कार्बोलिक ग्लिसीन, नोवो-केन सोल्यूशन, पेनिसिलिन ड्राप्स आदि।

कर्णशूलहरयोग—आभ्यन्तर सेवनार्थ—(१) क्विनाईन सल्फ १ ग्रेन, पोट० आयोडाइड २ ग्रेन ऐसी दिन में दो मात्रा। (२) एण्टिपायरीन ½ ग्राम दिन में दो बार।

कर्णपूरणार्थ—(१) कार्बोलिक एसिड ६ ग्रेन, मार्फीन हाइड्रोक्लोर ३ ग्रेन, ग्लीसरीन १ ड्राम। इस मिश्रण में गाज भिंगों कर कान में रखने से कर्णशूल और कर्णपिडका नष्ट होती है। (२) क्लोरोफार्म १५ बूंद, ओलिव आइल १५ बूंद कपड़ा भिंगों कर कान में रखें। (३) बोरिक एसिड १ भाग, स्पिरिट वा० रेक्टिफाइड २० भाग, कान में प्रक्षेप करें। (४) कार्बोलिक एसिड ०.५ भाग, ग्लीसरीन १५ भाग, कर्ण में प्रक्षेप करें। (५) टिञ्चर ओपियम १ भाग, परिस्रुत जल ३ भाग, बाह्यकर्ण शोथजन्य शूलहर है।

कर्णनाद-आभ्यन्तर प्रयोगार्थ—(१) पोटा० ब्रोमाइड १० ग्रेन, एक्वा १ औंस, दिन में ३ बार। (२) स्पिरिट एरोमेटिकस ३० बूंद, स्पि० सिनप ३० बूंद, गोस्तन प्रवर्द्धन पर अभ्यङ्ग। (३) ओलिव आइल ८ बूंद, क्लोरोफार्म ८ बूंद, गोस्तन प्रवर्द्धनाभ्यङ्ग।

कर्णबाधिर्य—आभ्यन्तर प्रयोगार्थ—(१) फास्फोरिकएसिड डिल १५ बूंद, टिञ्चर नक्सवोमिका १० बूंद, मैगसल्फ १॥ ड्राम, एक्वा क्लोरोफार्म १ औंस, दिन में ३ बार, शक्तिवर्धक है। (२) पोटेशियम ब्रोमाइड १० ग्रेन, स्पि० अमो० एरोमेट २० बूंद, एक्वा कैम्फर १ औंस, दिन में ३ बार। (३) विटामीन बी काम्प्लेक्स १ गोली, दिन में ३ बार।

कर्णस्रावे पूतिकर्णे तथैव कृमिकर्णके।
समानं कर्म कुर्वीत योगान् वैशेषिकानपि॥ ३९॥

कर्णस्राव, पूतिकर्ण और कृमिकर्ण में सामान्य चिकित्सा तथा विशिष्टयोगों का सेवन करना लाभदायक है॥ ३९॥

शिरोविरेचनञ्चैव धूपनं पूरणं तथा।
प्रमार्जनं धावनञ्च वीक्ष्य वीक्ष्यावचारयेत्॥ ४०॥

कर्णस्रावादि सामान्य चिकित्सा—शिरोविरेचन, धूपन, कर्णपूरण, प्रमार्जन और प्रक्षालन इत्यादि में से जहां पर जैसा उचित समझे देखकर करें॥ ४०॥

विमर्शः—अपामार्ग बीज, नकछिकनी आदि के नस्य से शिरोविरेचन, गुग्गुलु आदि द्रव्यों से कर्ण के बाहर तथा भीतर जीवाणु नाशनार्थ धूपन करना, कर्णस्राव तथा कर्णजन्तुओं को नष्ट करने के लिये संशामक, लेखक तथा जीवाणुनाशक औषधियों के स्वरस, तैल आदि का पूरण करना, पिचु, कूर्चिका तथा गाज आदि से कान को पोंछना और उष्णोदक, बोरिक लोशन, त्रिफला कषाय, निम्बादि कषाय, तुत्थविलायन आदि से कर्ण का प्रक्षालन करना चाहिये।

राजवृक्षादितोयेन सुरसादिगणेन वा।
कर्णप्रक्षालनं कार्यं चूर्णैरेषाञ्च पूरणम्॥ ४१॥

कर्णप्रक्षालनार्थं—राजवृक्षादि गण की औषधियों के क्वाथ से अथवा सुरसादिगण की औषधियों के क्वाथ से कर्ण का प्रक्षालन करना चाहिये तथा इन्हीं का चूर्ण बनाकर कान प्रधमनविधि से पूरित करें॥ ४१॥

क्वाथं पञ्चकषायं तु कपित्थरसयोजितम्।
कर्णस्रावे प्रशंसन्ति पूरणं मधुना सह॥ ४२॥

कर्णस्रावपूरण—पञ्चक्षीरी वृक्षों की छाल के कषाय में अथवा 'तिन्दुकान्यभयारोध्रम्' इस रूप से वक्ष्यमाण पञ्चद्रव्यों के कषाय में कैथ का स्वरस मिला कर शहद संयुक्त करके कान में भरना कर्णस्राव में प्रशस्त माना गया है॥ ४२॥

सर्जत्वक्चूर्णसंयुक्तः कार्पासीफलजो रसः।
योजितो मधुना वाऽपि कर्णस्रावे प्रशस्यते॥ ४३॥

सर्ज (पीतशाल) वृक्ष की छाल का चूर्ण तथा वनकार्पासीफल का स्वरस में शहद मिला कर कान में पूरण करना कर्णस्राव में प्रशस्त माना गया है॥ ४३॥

लाक्षारसाञ्जनं सर्जेश्चूर्णितं कर्णपूरणम्॥ ४४॥

लाख, रसौंत और राल इनका महीन चूर्ण बना कर कान में भरना कर्णस्राव में प्रशस्त है॥ ४४॥

शशैवलं महावृक्षजम्ब्वाम्रप्रसवायुतम्।
कुलीरक्षौद्रमण्डूकीसिद्धं तैलञ्च पूजितम्॥ ४५॥

शैवलादितैल—शैवल (सरवाल या काइ या दूर्वा) महावृक्ष (स्नुही) तथा जामुन और आम के नये पत्ते, कुलीर (कर्कटशृङ्गी, क्षौद्र (मधु) तथा मण्डूकी (मण्डूकपर्णी या ब्राह्मी) इन ओषधियों को समान प्रमाण में लेकर पत्थर पर पानी के साथ पीस कर कल्क बना के उससे चतुर्गुण तिलतैल तथा तैल से चतुर्गुण पानी मिलाकर यथाविधि पाक कर के छान कर शीशी में भर देवें। इस तैल को कान में पूरण करना कर्णस्रावादिरोगों में पूजित (प्रशस्त) माना गया है॥ ४५॥

तिन्दुकान्यभयारोध्रं समङ्गाऽऽमलकं मधु।
पूरणञ्चात्र पथ्यं स्यात्कपित्थरसयोजितम्॥ ४६॥

तिन्दुकादिपञ्चकषायपूरण—तेंदू, हरड़, लोध, समङ्गा (मजीठ या लाजवन्ती) और आंवला इन पांच कसैले द्रव्यों के क्वाथ अथवा स्वरस में शहद तथा कपित्थ का स्वरस मिलाकर कर्णस्रावादि रोगों में कर्णपूरण करना प्रशस्त माना गया है॥४६॥

रसमाम्रकपित्थानां मधूकधवशालजम्।
पूरणार्थं प्रशंसन्ति तैलं वा तैर्विपाचितम्॥ ४७॥

आम्रकपित्थादिस्वरसपूरण—आम, कैथ, महुआ, धव और शाल इनकी छाल के स्वरस या क्वाथ पृथक् पृथक् अथवा संयुक्त करके कर्ण में पूरण करना श्रेष्ठ है किंवा इन्हीं के कल्क और क्वाथ से सिद्ध किये हुये तैल का पूरण करना प्रशस्त है॥४७॥

प्रियङ्गुमधुकाम्बष्ठाधातकीशिलपर्णिभिः।
मञ्जिष्ठालोध्रलाक्षाभिः कपित्थस्य रसेन वा।
पचेत्तैलं तदास्रावमवगृह्णाति पूरणात्॥ ४८॥

प्रियङ्ग्वादितैल—प्रियङ्गु, मुलेठी, पाठा, धातकी, मनःशिला, शालपर्णी, मजीठ, लोध और पीपल की लाख इनके क्वाथ तथा कल्क में कपित्थ स्वरस मिला कर तिलतैल प्रक्षिप्त कर पकावे। इस तैल का कर्ण में पूरण करने से वहां के स्राव को नष्ट कर देता है॥ ४८॥

घृष्टं रसाञ्जनं नार्याः क्षीरेण मधुसंयुतम्।
तत्प्रशस्तं चिरोत्थेऽपि सास्रावे पूतिकर्णके॥ ४९॥

स्त्री के दुग्ध में रसाञ्जन (रसौंत) को घिस कर शहद मिला के चिरकालिक कर्णस्राव तथा पूतिकर्ण रोग में कर्णपूरण करना प्रशस्त माना गया है॥ ४९॥

निर्गुण्डीस्वरसस्तैलं सिन्धुधूमरजो गुडः।
पूरणः पूतिकर्णस्य शमनो मधुसंयुतः॥ ५० ॥

निर्गुण्डी (नेगड़ या सम्भालू) के पत्रों का स्वरस, तिल-तैल, सैन्धवलवण, रसोई घर के धूएं का रज (चूर्ण) तथा गुड़ इन्हें पृथक् लेके अथवा संयुक्त करके किंवा इनसे तैल पका कर शहद मिला के पूतिकर्ण वाले रोगी को कान में पूरण करना संशमनकारक होता है ॥ ५० ॥

कृमिकर्णकनाशार्थं कृमिघ्नं योजयेद्विधिम्।
वार्त्ताकुधूमश्च हितः सार्षपस्नेह एव च॥ ५१ ॥

कृमिकर्णचिकित्सा—कर्ण के कृमियों को नष्ट करने के लिये कृमिनाशक चिकित्सा (कृमिघ्नविधि) का उपयोग करना चाहिये। इसके लिये बैंगन या बृहत्कण्टकारिका के सूखे हुये फलों को निर्धूम अङ्गारों पर रख कर पीना तथा कान में धूनी देनी चाहिये अथवा सरसों के तैल को कुछ गरम करके कान में टपकाना हितकारक होता है॥ ५१ ॥

कृमिघ्नं हरितालेन गवां मूत्रयुतेन च॥ ५२ ॥

गोमूत्र में हरताल का महीन चूर्ण मिला कर कर्ण में पूरण करने से कर्ण के कृमि नष्ट होते हैं॥ ५२ ॥

गुग्गुलोः कर्णदौर्गन्ध्ये धूपनं श्रेष्ठमुच्यते।
छर्दनं धूमपानञ्च कवलस्य च धारणम्॥ ५३ ॥

कर्णदौर्गन्ध्य रोग में—गूगल की कान में धूनी देनी श्रेष्ठ है इसके सिवाय वमन, धूमपान तथा कवल का धारण करना श्रेष्ठ है॥ ५३ ॥

कर्णक्ष्वेडे हितं तैलं सार्षपञ्चैव पूरणम्।

कर्णक्ष्वेड रोग में—सरसों के तैल को गरम कर कोष्णरूप में कान में भरना उत्तम है।

विद्रधौ चापि कुर्वीत विद्रध्युक्तं चिकित्सितम्॥५४॥

कर्णविद्रधि रोग में—विद्रधि रोग में कही हुई चिकित्सा करनी चाहिये॥ ५४॥

प्रक्लेद्य धीमांस्तैलेन स्वेदेन प्रविलाप्य च।
शोधयेत्कर्णविट्कन्तु भिषक् सम्यक् शलाकया॥५५॥

कर्णविट्चिकित्सा—बुद्धिमान् वैद्य कर्णगत मलको प्रथम तैल प्रक्षेप के द्वारा प्रक्लेदित कर फिर स्वेदनकर्म से टिगला (द्रवीभूत) करके शलाकायन्त्र द्वारा बाहर निकाल कर पिचकारी द्वारा कर्ण का शोधन कर दे॥ ५५॥

नाडीस्वेदोऽथ वमनं धूमो मूर्द्धविरेचनम्।
विधिश्च कफहृत्सर्वः कर्णकण्डूमपोहति॥ ५६ ॥

कर्णकण्डूचिकित्सा—नाडीस्वेद, वमन, धूमपान तथा कर्ण का धूपन, तीक्ष्णनस्य द्वारा मूर्ध विरेचन एवं अन्य सर्व प्रकार की कफनाशक चिकित्सा कर्णकण्डू को नष्ट करती है॥ ५६॥

अथ कर्णप्रतीनाहे स्नेहस्वेदौ प्रयोजयेत्।
ततो विरिक्तशिरसः क्रियां प्राप्तां समाचरेत्॥ ५७॥

कर्णप्रतीनाह रोगमें—प्रथम रुग्ण के शरीर तथा कर्ण का स्नेहन और स्वेदन करके पश्चात् तीक्ष्णनस्य द्वारा शिरोविरेचन कराके अन्य शिरःशूलहरणादि चिकित्सा करनी चाहिये॥५७॥

कर्णपाकस्य भैषज्यं कुर्य्यात्पित्तविसर्पवत्।
कर्णच्छिद्रे वर्त्तमानं कीटं क्लेदमलादि वा॥ ५८॥

शृङ्गेणापहरेद्धीमानथवाऽपि शलाकया।
शेषाणान्तु विकाराणां प्राक् चिकित्सितमीरितम्॥५९॥

इति सुश्रुतसंहितायामुत्तरतन्त्रान्तर्गते शालाक्यतन्त्रे कर्णगतरोगप्रतिषेधो नामैकविंशोऽध्यायः॥ २१॥

कर्णपाक रोग की चिकित्सा पैत्तिक विसर्प के समान करनी चाहिये तथा कर्णछिद्र में प्रविष्ट कीटादिक अथवा कर्णक्लेद और कर्णमल को बुद्धिमान् वैद्य श्रृङ्ग या शलाका के द्वारा बाहर निकाल देवे। उक्त विकारों के अतिरिक्त अन्य शेष कर्ण रोगों की चिकित्सा चिकित्सास्थान में कही हुई विधि के अनुसार करें॥

विमर्शः—शेष रोगों में कर्णार्श, कर्णार्बुद, कर्णशोफ प्रभृति समझने चाहिये। चरकाचार्य ने समस्त कर्ण रोगों को नष्ट करने के लिये 'क्षारतैल' का प्रयोग लिखा है—शुष्कामलकशुण्ठीनां क्षारो हिङ्गु महौषधम्। शतपुष्पा वचा कुष्ठं दारु शिग्रु रसाञ्जनम्॥ सौवर्चलयवक्षारस्वर्जिकोद्भिदसैन्धवम्। भूर्जग्रन्थिविडं मुस्तं मधुयुक्तं चतुर्गुणम्॥ मातुलुङ्गरसश्चैव कदल्या रस एव च सर्वैरेतैर्यथोद्दिष्टैः क्षारतैलं विपाचयेत्॥ बाधिर्यं कृमिनादौ च पूयस्रावश्च दारुणः। क्रमयः कर्णशूलञ्च पूरणादस्य नश्यति॥ सूखे आंवले, सोंठ, यवक्षार, हींग, अदरख, सौंफ, वचा, कूठ, देवदारु, सहजन, रसाञ्जन, सौंचलनमक, यवक्षार, स्वर्जिकाक्षार, उद्भिदलवण, सैन्धवलवण, भूर्जपत्र, नागरमोथा, विड-लवण, मोथा, शहद, शुक्त (सिरका, बिजौरे निंबू का स्वरस, कदलीस्तम्भ का रस इनमें से आंवले से शहद तक की वस्तुओं को समप्रमाण में मिश्रित कर पत्थर पर पीस कर कल्क बना लें फिर इस कल्क से चतुर्गुण तैल तथा तैल से सिरका, बिजौरा नीबू रस और कदली रस मिश्रित चतुर्गुण लेकर तैलावशेष पाक करके छान कर शीशी में भर देवें। इस तैल को कान में डालने से कर्ण के बाधिर्य, कृमि, कर्णनाद, कर्णपूय, कर्णस्राव और कर्णशूल नष्ट हो जाते हैं। इसके सिवाय कर्ण रोगों में हिंग्वादिक्षार तैल, कुष्ठादितैल, दार्व्यादितैल, मूलिका-तैल हितकारी होते हैं। आभ्यन्तर सेवनीय प्रयोगों में (१) इन्दुवटी जिसमें शिलाजतु, अभ्रकभस्म, लौहभस्म, एक एक तोले, स्वर्णभस्म ३ माशे मिलाकर मकोय, शतावर, आंवले और कमल के स्वरस की पृथक् पृथक् तीन तीन भावना देकर दो दो रत्ती का वटिकाएं बना लेवें। (२) सारिवादि वटी, (३) कर्णरोगहर रस, (४) रास्नादि गुग्गुलु हितकारी होते हैं।

इत्यायुर्वेदसन्दीपिका भाषायां कर्णगतरोगप्रतिषेधो नामैकविंशोऽध्यायः॥ २१॥

द्वाविंशतितमोऽध्यायः।

अथातो नासागतरोगविज्ञानीयमध्यायं व्याख्यास्यामः॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः॥ २॥

अब इसके अनन्तर 'नासागतरोगविज्ञानीय' नामक अध्याय का प्रारम्भ करते हैं जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने कहा है॥ १-२॥

विमर्शः—यहां पर 'गत' शब्द आश्रित का पर्याय है जिस का अर्थ नासाश्रित रोग होता है। अर्थात् 'नासाश्रितरोगविज्ञानमधिकृत्य कृतोऽध्यायो नासागतरोगविज्ञानीयस्तम्।' घ्राणेन्द्रिय का अधिष्ठान नासिका है। शालाक्यतन्त्र में अधिकतर इन्द्रियाधिष्ठानों का वर्णन किया गया है। नासारोगों का तुलनात्मक ज्ञान करने के लिये नासा का रचना ज्ञान (शारीर) और क्रिया का ज्ञान जान लेना आवश्यकीय है अत एव प्रथम उन्हीं का वर्णन इस विमर्श में किया जाता है।

नासाशारीर—नासा के दो विभाग किये गये हैं प्रथम बहिर्नासिका (External Nose) जिसे कि नाक कहते हैं तथा बाहर से दिखाई भी देती है। दूसरा भाग अन्तर्नासिका या नासिकागुहा (Internal Nose) जो नासाछिद्रों से दिखलाई देती है। बाह्यनासा की रचना में उसका कुछ भाग मृद्वस्थि (Cartilage) से तथा कुछ भाग अस्थि से बना हुआ है। नासिका के अस्थिमय भाग को दोनों ओर की पार्श्वनासास्थियाँ मिल कर बनाती हैं तथा मृद्वस्थिमय भाग अनेक मृद्वस्थियों से बना हुआ है तथा इसी से नासा का आकार बनता है तथा नासाछिद्रों को ठीक रखता है। इन मृद्वस्थियों पर पेशियां लगी हुई हैं जिन से नासा विस्तृत होती है।

नासाजवनिका या नासाप्राचीर (Septum)—नासाछिद्रों से देखने पर एक नलिका दिखाई देती है जिसे नासागुहा (Nasal Cavity) कहते हैं। इसके मध्यभाग में एक खड़ा पर्दा लगा है जिस से गुहा दो भागों में विभक्त हो जाती है। इस पर्दा का कुछ भाग अस्थि से तथा कुछ तरुणास्थि से बना हुआ है। आगे की ओर चतुर्भुजाकार तरुणास्थि से नासाजवनिका बनती है। पीछे की ओर जवनिका के बनाने में झर्झरास्थि (Ethmoid) का मध्यफलक, उसके पीछे जतूकास्थि का तुण्डभाग (Rostrum), नीचे की ओर चतुर्भुजाकार तरुणास्थि ऊर्ध्वहन्वस्थि कण्टक (Maxilary spine) तथा सीरिकास्थि (Vomer) से मिली हुई है। नीचे वाली धारा के साथ दो ओर तरुणास्थियों के छोटे छोटे भाग आ जाते हैं जिन को सीरिक नासिका तरुणास्थि (Vomer Nasal Cartilage) कहते हैं। जवनिका का तरुणास्थित्रयभाग तरुणास्थ्यावरण (Perichondrium) से तथा अस्थिमयभाग अस्थ्यावरण (Periosteum) और उसके बाहर श्लैष्मिक कला से ढका रहता है। पार्श्व की दिवाल में अनेक क्रम बद्ध उभार पाये जाते हैं जिन्हें शुक्तिका (Conchæ or Turbinates) कहते हैं। उभारों के मध्य में अनेक खात होते हैं जिन्हें 'सुरङ्गा' (Meatus) कहते हैं। शुक्तिकाएं भी मध्य, ऊर्ध्व और अधः ऐसी तीन हैं जिन में अधःशुक्तिका स्वयं अस्थिरूप धारण कर लेती हैं तथा नासापार्श्व दीवाल से लगी रहती है। मध्य तथा अधःशुक्तिकाएं झर्झरास्थि के ही भाग हैं। इन शुक्तिकाओं के ऊपर श्लैष्मिक कला का आवरण चढा रहता है।

नासासुरङ्गाओं के द्वारा सहायक वायुविवरों का स्राव बाहर आता है। यदि नासासुरङ्ग में पूय दिखाई दे तो वह नासा तथा वायुविवरों में विकृति का द्योतक है तथा इसी चिह्न से रोगनिर्णय भी होता है। नासोर्ध्वसुरङ्गा द्वारा पाश्चात्य समुदाय के नासासहायक वायुविवरों का स्राव बाहर आता है। मध्यसुरङ्गा में अग्रिम वायुविवर समूह तथा अधःसुरङ्गा में नासाश्रुवाही स्रोत (Naso Lacrymal duct) खुलता है।

नासा गुहा की सीमा—गुहा का तलभाग तालुकास्थि (Palate bones) और दन्तमांस (Alveolus) से बनता है तथा छत (ऊर्ध्व) भाग आगे की ओर पार्श्वनासास्थि से, पीछे की ओर झर्झरपटल (Cribriform plate) से और जतुकास्थि से बनता है।

नासाक्रिया विज्ञान—इसके निम्न चार प्रधान कार्य हैं—(१) गन्धग्रहण, (२) निःस्यन्दन या नितरण-उच्छ्वसित वायु से धूल तथा अन्य वस्तुओं को छान कर पृथक् करना। (३) उष्ण तथा आर्द्रीकरण (Warming and moistening) फुफ्फुस में प्रविष्ट हुई वायु का। (४) स्वर को निनादयुक्त करना (Giving resonance to the voice)।

गन्धग्रहण—का कार्य ऊर्ध्वशुक्ति पर चढ़ी हुई श्लैष्मिक कला के द्वारा होता है तथा नासामध्यप्राचीर भी गन्धग्रहण में सहायता देता है। उक्त कला में घ्राणनाड़ी (Optic Nerve) के सूत्रों का जाल फैला रहता है उसी से 'गन्धग्रहण' होता है।

नितरण—धूलि, तृणाणु तथा अन्य सूक्ष्मपदार्थ श्लैष्मिककला के सतह पर तथा नासारन्ध्र के बालों में चिपक जाते हैं तथा शुद्ध वायु फुफ्फुस में चली जाती है पश्चात् कला पर चिपके पदार्थ अन्ननलिका द्वारा बाहर निकाले दिये जाते हैं तथा बालों में अटके हुये अपद्रव्य नासा को फटकारने से बाहर निकल आते हैं।

उष्णता तथा आर्द्रीकरण—के सुचारु रूप से चलने में वायु का पर्याप्त मार्ग, रक्तसंवहन की अविकृति, ग्रन्थियों का ठीक होना नितान्त आवश्यक है। कोषाङ्कुर क्रिया (Ciliary action)—श्लैष्मिक कला के पृष्ठ पर जो कोषाणु होते हैं उनमें लोमवत कोषाङ्कुर (Cilia) होते हैं। इनके द्वारा श्लेष्मलकला विजातीय पदार्थों से अपनी सफाई करती रहती है तथा किसी भी बाह्यपदार्थ को भीतर नहीं जाने देती। इन कोषाङ्कुरों की क्रिया में कमी होना रोगोत्पत्ति का कारण है। कोषाङ्कुरों के अधिक क्रियाशील होने से नासास्राव की अधिकता तथा अल्पक्रियाशील होने से स्राव का सञ्चय होना तथा नासापूय बनता है जिससे नासा बन्द होकर उसके स्रोत में अवरोध हो जाता है। कोषाङ्कुरों के कार्याक्षम होने से वे गाढ़े कफ को बाहर नहीं फेंक सकते हैं जिससे वह कफ नासा के पश्चाद्भाग से स्रवित होकर गले में चला जाता है। विभिन्न प्रकार की परिस्थितियों में श्लेष्मकला की प्रतिक्रिया स्वतन्त्र नाडीमण्डल के इड़ाभाग (Sympahetic System) के ऊपर निर्भर करती है। इस संस्थान की विकृति होने से नासावरोध, नासास्राव और शिरःशूल उत्पन्न हो सकते हैं।

सहायक वायु विवरों का कार्य—वायु भार को ठीक रखना तथा स्वर के उच्चारण को निनादित करना है।

नासारोगों के सामान्य कारण तथा सम्प्राप्ति—आचार्य वाग्भट ने एक ही श्लोक में नासारोगहेतु तथा सम्प्राप्ति का उल्लेख कर दिया है—अवश्यायानिलरजोभाष्यातिस्वप्नजागरैः। नीचात्युच्चोपधानेन पीतेनान्येन वारिणा॥ अत्यम्बुपानरमणच्छर्दिबाष्पविनिग्रहात्। क्रुद्धा वातोल्बणा दोषा नासायां स्त्यानतां गताः॥ ओस में रहना या बर्फीली हवामें घूमना, अत्यधिक धूलि,

रजःकण और धूमयुक्त वायुमण्डल में कार्य करना, अधिक भाषण करना, अधिक शयन या दिवास्वप्न करना, अधिक काल तक रात्रि में जागरण करना, ठंढी हवा या तेज हवा के झोंकों के समय नासा की रक्षा नहीं करना, शयन के समय शिर के नीचे तकिया नहीं लगाना, या बहुत शिर को नीचे करके रखना किं वा अत्यधिक ऊँचा तकिया लगाना, विभिन्न स्थानों का प्रवास या यात्रा में विकृत पानी पीना, किंवा अधिक जलपान, अधिक स्त्रीसम्भोग, वमन या आंसुओं के वेग को रोकना आदि अनेक कारणों से वात प्रभृति दोष उल्वण (भयङ्कर) रूप में प्रकुपित होकर अन्य दोषों के साथ संयुक्त होकर नासा में सञ्चित हो के नासा रोग की उत्पत्ति करते हैं। इन कारणों से नासागत श्लैष्मिक कलावरण में क्षोभ (Irritation) उत्पन्न होता है जिसके परिणाम स्वरूप श्लेष्मल कला में रक्ताधिक्य होकर शोथ होके प्रतिश्याय प्रभृति लक्षण उत्पन्न होता है। वस्तुतस्तु जिन कारणों से प्रतिश्याय रोग उत्पन्न होता है वे सब कारण नासा रोग की उत्पत्ति में सहायक होते हैं तथा प्रतिश्याय से ही अधिकतर उर्ध्वाङ्ग रोग उत्पन्न होते हैं अत एव चरकाचार्य नासा रोगों के पहले प्रतिश्याय का ही वर्णन किया है—भूयिष्ठं व्याधयः सर्वे प्रतिश्यायनिमित्तजाः। तस्माद्रोगः प्रतिश्यायः पूर्वमेवोपदिश्यते ॥ (चरक चक्रपाणि) इनके अतिरिक्त अन्य भी शारीरिक आभ्यन्तरिक कारण नासारोगोत्पत्ति में सहायभूत होते हैं जैसे शारीरिक दुःस्वास्थ्य, दुर्बलता, चिरकालिक रोग जैसे फिरङ्ग और क्षय प्रभृति, एवं अभिघात, अनूर्जता (Allergy) जिससे नासाकला की रोग निवारण क्षमता (Immunity) बहुत कम हो जाती है जिससे स्वल्प प्रकोप से भी रोगोत्पत्ति हो जाती है। अब इसके आगे नासारोगगणना का वर्णन करते हैं—

अपीनसः पूतिनस्यं नासापाकस्तथैव च।
तथा शोणितपित्तञ्च पूयशोणितमेव च ॥ ३ ॥
क्षवथुर्भ्रंशथुर्दीप्तो नासानाहः परिस्रवः।
नासाशोषेण सहिता दशैकाश्चेरिता गदाः ॥ ४ ॥
चत्वार्यर्शांसि चत्वारः शोफाः सप्तार्बुदानि च।
प्रतिश्यायाश्च ये पञ्च वक्ष्यन्ते सचिकित्सिताः।
एकत्रिंशन्मितास्ते तु नासारोगाः प्रकीर्त्तिताः ॥ ५ ॥

अपीनस, पूतिनस्य, नासापाक, नासागत रक्तपित्त, नासागत पूयशोणित, क्षवथु, भ्रंशथु, दीप्त, नासानाह, नासापरिस्राव तथा नासाशोष के सहित ये एकादश रोग एवं चार प्रकार के नासार्श, चार प्रकार के नासाशोफ, सात प्रकार के नासार्बुद और पांच प्रकार के प्रतिश्याय जिनका कि चिकित्सा के सहित आगे वर्णन किया जायगा ये सब मिलकर इकतीस नासारोग होते हैं ॥ ३-५ ॥

विमर्शः—नासारोग संख्या में निम्न मतान्तर हैं—(१) उक्त प्रकार से सुश्रुताचार्य ने नासारोगों की संख्या ३१ मानी है किन्तु (२) 'योगरत्नाकर' और (३) 'भावप्रकाश' ने अपने वर्णन में नासा रोग ३४ लिखे हैं—आदौ च पीनसः प्रोक्तः पूतिनासस्ततः परम्। नासापाकोऽत्र गणितः पूयः शोणितमेव च ॥ क्षवथुः भ्रंशथुर्दीप्तिः प्रतिनाहः परिस्रवः। नासाशोषः प्रतिश्यायाः पञ्च सप्तार्बुदानि च ॥ चत्वार्यर्शांसि चत्वारः शोथाश्चत्वारि तानि च ॥ रक्तपित्तानि नासायां चतुस्त्रिंशद् गदाः स्मृताः ॥ (यो० र०) अर्थात् इन दोनों आचार्यों ने नासागत रक्तपित्त के चार भेद मान लिये हैं किन्तु सुश्रुताचार्य ने उसका एक ही नाम दिया है अत एव तीन अधिक बढ़ जाने से नासारोग संख्या उनके मत से चौंतीस हो गई है। इनमें प्रायः ये सभी रोग नासागुहा में होने वाले हैं किन्तु नासाशोथ और नासापाक बाह्य नासिका (Vestibule) के जान पड़ते हैं। (४) चरकाचार्य ने नासारोगों की कोई निश्चित संख्या न लिखते हुये प्रतिश्याय, क्षवथु, नासाशोष, अपीनस प्रभृति १० रोगों का उल्लेख किया है। (५) शार्ङ्गधर तथा (६) वाग्भटाचार्य ने नासारोग १८ ही माने हैं—अष्टादशैव संख्याताः प्रतिश्यायास्तु तेष्वपि। वातपित्ताद् कफाद्रक्तात् सन्निपातेन पञ्चमः। अपीनसः पूतिनासो नासार्शो भ्रंशथुः क्षवः। नासानाहः पूतिरक्तमर्बुदं दुष्टपीनसम् ॥ नासाशोषो घ्राणपाकः पूयस्रावश्च दीप्तकः। अर्थात् इन्होंने चार प्रकार नासार्श के स्थान में एक (अर्थात् तीन कम), सात प्रकार के अर्बुद के स्थान में एक (अर्थात् ६ कम) तथा नासाशोथ माना ही नहीं है अत एव ४ कम एवं चार प्रकार के रक्त पित्त के स्थान में केवल एक अर्थात् तीन इसमें भी कम ऐसे ३, ६, ४, ३=१६ रोग संख्या कम हो जाने से ३४ की बजाय अट्ठारह ही नासारोग संख्या होती है *।

* नासारोग संख्यादि ज्ञापक प्रकारः—

सुश्रुत, चरक	भाव प्र०, योगर०	शार्ङ्गधर, वाग्भट	अंग्रेजी
अपीनस	पीनस	अपीनस	Atrophic rhinitis
पूतिनस्य	”	पूतिनास	Ozaena
नासापाक	”	घ्राणपाक	Chronic rhinitis
शोणितपित्त	रक्तपित्त	पूतिरक्त	Epistaxis,
पूयशोणित	”	पूतिरक्त	Lupus in the nose
क्षवथु	”	क्षव	Vasomotor rhinorrhoea
भ्रंशथु	”	”	Mucoid discharge of the thickened lining membrane of the sinus.
दीप्त	दीप्ति	दीप्तक	Severe burning or irritation in the nose or coryza.
नासानाह	प्रतिनाह	नासानाह	Deviatation of septum.
परिस्रव	”	”	Acute and chronic rhinorrhoea

आधुनिक मत से नासाशल्य (Foreign body in the nose) नासाकृमि (Magates in the nose) नासाविवरशोथ (Sinusitis) भी हैं।

नासारोगलक्षण विश्लेषण—आयुर्वेद में भिन्न भिन्न नासा रोगों के लक्षण भिन्न भिन्न दिये हैं किन्तु कुछ लक्षण ऐसे हैं जो सामान्यतया सभी में होते हैं—नासावरोध (Nasal obstruction) इसकी प्राचीन संज्ञा नासाप्रतीनाह हो सकती है। यह एक प्रधान लक्षण है जो प्रायः अनेक नासारोग में मिलता है। इस लक्षण की उत्पत्ति में अनेक कारण हैं जिनमें निम्न तीन प्रधान हैं—

१. नासारचनासम्बन्धी या विकाससम्बन्धी (Anatomical or Developmental) अस्वाभाविकता जैसे नासाजवनिका का विमार्गगमन (Deviation) अथवा नासा के छिद्रों का सहज सङ्कोच (Congenital narrowing) अथवा एक या दो शुक्तिका का पूर्ण अवरोध (Atresia) होना। २. श्लेष्मलकलाविकृति (Pathological changes of the mucus membrane) जैसे श्लेष्मलकलावृद्धि नासाकलाशोथ के बार बार होने से यह स्थिति होती है। नासार्श के कारण भी नासाकला वृद्धि हो जाती है। अधिकस्राव संग्रह से भी वृद्धि हो जाती है। प्राचीनों ने इसे 'नासाशोष' संज्ञा दी है। ३. नासाकला के वातनाड़ी समुदाय का अधिक उत्तेजित होना (Hyper sensitivity of nervous mechanism of the nasal mucus membrane) इस कारण से नासाकला में शोथ होकर नासावरोध हो जाता है जिससे नासाप्रतीनाह या नासाशोष की अवस्था उत्पन्न हो जाती है।

नासागतस्राव—इसको प्राचीनों ने परिस्रव संज्ञा नाम से लिखा है। नासा से पानी, सेंडा आदि का बहना भी एक दूसरा नासारोगों में प्रधान लक्षण है। इसका कारण नासा का क्षोभक पदार्थों के साथ सम्पर्क होना तथा नासागत श्लेष्मलकला के तीव्र शोथ का बार बार होना है। इस अवस्था में यह स्राव पतला पानी जैसा (Thin and watery) होता है। स्राव के अधिक होने से नासावरोध भी साथ में हो जाता है। जीर्णावस्था में स्राव गाढा हो जाता है। यही नासा का स्राव गाढ़ा होने से तथा कोषाङ्कुरों की स्राव को बाहर फेंकने की अक्षमता हो जाने से नासापश्चाद्भाग में इकट्ठा होता है तथा बाद में नीचे की ओर नासाप्रसनिका में आकर मुख द्वारा फेंका जाता है। कभी कभी नासास्राव में पूयोपस्थिति भी हो सकती है। अर्थात् नासागतशोथ की किसी भी अवस्था में नासास्राव परिणाम में पूयाभ श्लेष्मस्राव (Mucopurulent discharge) का रूप ले लेता है। इस तरह आधुनिकशाला-क्यतन्त्रोक्त विविधस्रावों का वर्णन आयुर्वेद के 'परिस्राव' नामक एक ही रोग में समाविष्ट हो जाता है जिसमें कि चार प्रकार के स्राव वर्णित हैं। इसी के समान लक्षणी 'भ्रंशथु' है जिसमें निम्न चार प्रकार के स्राव होते हैं १. तनुस्राव या तनु और सितस्राव (Thin and watery secreation or copious seceration) यह नवीन प्रतिश्याय या श्लेष्मलकला के तीव्रशोथ किंवा अनूर्जता (Allergy) के कारण में मिलता है। अनूर्जता की अवस्था सहसा होकर स्राव होने लग जाता है और बन्द भी हो जाता है जिसका विशेष चिह्न जलवत् परिस्रव है। २. घनस्राव। ३. घन और पीतस्राव (Thick and sticky or mucopurulent discharge) इस प्रकार के परिस्राव के अनेक कारण हो सकते हैं जैसे नासाकला के जीर्णशोथ जिसमें कला वृद्ध होकर मोटी पड़ जाती है तथा वायुविवर या नासाकोटर के विकार जिसमें निरन्तर पीतस्राव होता रहता है।

पीड़ा—नासारोगों में पीड़ा विशिष्ट प्रकार की होती है जैसे एक नासा के अवरोध (Nasal obstruction) के रूप की पीड़ा तथा दूसरी नासा के परिस्रव (Discharge) की पीड़ा तथा तीसरी नासा में क्षोभ होने से उत्पन्न दाह (Burning Irritation) की सी पीड़ा। यह प्रायः तीव्र प्रतिश्याय में होता है। इस पीड़ा के तीव्र होने पर उस को दीप्त संज्ञा दी जाती है जिस का समावेश तीव्र प्रतिश्याय (Acute Coryza) में हो सकता है। नासा में वायु तथा धूलिकण आदि बाह्य क्षोभक पदार्थों के प्रविष्ट होने से भी पीड़ा हो सकती है। इनके सिवाय नासापीड़ा नासागत अरुंषिका (Furunoulosis) में तथा नासाछिद्रों (Vestible) के रोमकूपों के उपसृष्ट होने पर हो सकती है। इसी तरह कक्षा (Herpes) तथा विचर्चिका (Eczymatous erruptions) में भी पीड़ा हो सकती है। नासाशोथ, नासापाक, तथा नासाछिद्रों की ऊपरी दीवाल (Outer and lower border) में विदार (Fissures) हो जाने से भी पीड़ा का अनुभव होता है। कभी-कभी देखा जाता है कि झर्झरास्थि अथवा पुरःकपाल (Ethmoidal and Frontal) के विवरों के शोथ में पीड़ा संवाहित होकर नासा में आकर प्रतीत होने लगती है। पञ्चमशिरस्का तथा त्रिधारा नाड़ियों के विकारों में तथा दन्तरोगों के कारण भी नासा में पीड़ा की प्रतीति होती है।

बाह्यवैरूप्य (External deformities)—यह विरूपता वैकासिक (Developmental) या वैकारिक अथवा अभिघातज (Traumatic) हो सकती है। इन विरूपताओं से नासा एक ओर या दूसरी ओर सरक जाती है। नासा की असमान वृद्धि से नाक अत्यधिक संकरी या अविकसित रह जाती है। इसका कारण नासा से श्वासप्रश्वासादि कार्य का पूर्णरूप से नहीं लेना होता है। अभिघातजनासावैरूप्य—किसी के द्वारा मुक्का मार देने से नाक या नासा सेतु के बैठ जाने से किंवा नासा के अथवा नासास्थियों के स्थान भ्रष्ट हो जाने से भी ऐसी विरूपता आ जाती है। रोगजन्यनासावैरूप्य—फिरङ्ग, क्षय तथा गलित्कुष्ठ आदि रोगों में नासाविकृत हो जाती है।

सुश्रुत, चरक	भाव प्र०, योगर०	शार्ङ्गधर, वाग्भट	अंग्रेजी
नासाशोष	प्रतिनाह	नासानाह	Rhinitis sicca.
नासार्श	"	"	Nasal polypi.
नासाशोफ	नासाशोथ	"	Dermetitis, Fissures, Boils in the vestibule.
नासार्बुद	"	"	New growths in the nose
प्रतिश्याय	"	"	Acute rhinitis.

आनह्यते यस्य विधूप्यते च
प्रक्लिद्यते शुष्यति चापि नासा ।
न वेत्ति यो गन्धरसांश्च जन्तु-
र्जुष्टं व्यवस्येत्तमपीनसेन ।
तञ्चानिलश्लेष्मभवं विकारं
ब्रूयात् प्रतिश्यायसमानलिङ्गम् ॥ ६ ॥

अपीनसलक्षण—जिस रोगी की नासा वात द्वारा कफ के शोषित हो जाने से अवरुद्ध सी हो गई हो एवं पित्त की अधिकता होने पर नासा से धूंआ सा निकलता हो और कफ की अधिकता होने पर प्रक्लेद युक्त सी हो तथा पित्तप्रकोप से सूखती सी हो तथा नासा के आबद्ध होने से सुगन्धित और असुगन्धित गन्धों का ज्ञान नहीं हो सकता हो एवं नासा-रोगारम्भक दोषों से जिह्वा एवं तद्गत रसज्ञानवाही स्रोतसों (नाड़ियों) के दूषित हो जाने से मधुर, अम्लादि रसों का भी ज्ञान नहीं होता हो उस व्यक्ति को अपीनस रोग से व्याप्त (आक्रान्त) समझना चाहिये । इस तरह वात और कफ की दुष्टि (प्रकोप) से होने वाले इस रोग को प्रतिश्याय के समान लक्षणों वाला कहना चाहिये ॥ ६ ॥

विमर्शः—आचार्य कार्तिकोक्तलक्षण-मस्तुलुङ्गेचितः श्लेष्मा यदा पित्तादिदह्यते । तदाच्छपिच्छिलं नासा वहु सिङ्घाणकं स्रवेत्॥ सकण्डुदाहपाकश्च तन्तु विद्यादपीनसम् ॥ मस्तिष्कस्थित श्लेष्मा जब पित्त से विदग्ध हो जाता है तब नासा से रक्तमिश्रित पिच्छिल कफ (सड़े) अधिक रूप से स्रवित होता है एवं नासा में खुजली दाह और पाक भी होता है ऐसे रोग को अपीनस समझना चाहिये । नासा रोगों में पीनस एक प्रधान रोग है। यह स्वतन्त्ररूप से भी हो सकता है और प्रतिश्याय के परिणाम स्वरूप भी हो जाता है। प्राचीन ग्रन्थों में पीनस और प्रतिश्याय का पर्यायरूप में या समान अर्थ में भी व्यवहार किया है। सम्भवतः प्रतिश्याय की एक अवस्थाविशेष होने से ऐसा कथन हुआ हो। अनेक आचार्य पीनस तथा अपीनस को स्वतन्त्र रोग मानते हैं। पीनस को प्रतिश्याय की परिणतावस्था मानकर एक विकार और अपीनस को पीन-सासाव मानकर प्रतिश्याय के समान ही लक्षणों वाला दूसरा रोग मानते हैं। वस्तुतस्तु पीनस तथा अपीनस एक ही रोग हैं क्योंकि 'अवाप्योंरत्तं सन्नद्धादिषु वेति' सूत्र से विकल्प से अकार का लोप होता है अतः दोनों एक ही रोग हैं ऐसा 'भावप्रकाशकार' का मत है। वाग्भटाचार्य ने इन्हें दो स्वतन्त्र रोग माना है एक पीनस तथा दूसरा अपीनस न मान कर अवीनस माना है जिसका अर्थ अवी (भेड़) की नासा के समान कफ से भरी नासा की अवस्था यथा—कफः प्रवृद्धो नासायां रुद्धा स्रोतांस्यपीनसम् । कुर्याद् सघुर्घुरं श्वासं पीनसाधिक-वेदनम् । अवेरिव स्रवत्यस्य प्रक्लिन्ना तेन नासिका ॥ अजस्रं पिच्छिलं शीतं पक्वं सिङ्घाणकं घनम् ॥ अर्थात् प्रथम मिथ्या आहार विहारादि दोषों से या स्वयोनिवर्द्धक पदार्थों के अत्य-धिक सेवन से कफ विवृद्ध होकर वहां के स्रोतसों का मार्गा-वरोध करके अवीनस रोग को पैदा करता है। इस रोग के होने पर श्वास में घुर्घुर शब्द सुनाई देता है तथा पीनस रोग की अपेक्षा इस रोग में वेदना अधिक होती है। भेड़ की नाक के समान उसमें से स्राव होता रहता है जिससे नासिका सदा क्लिन्न रहती है एवं नासा से निरन्तर पिच्छिल, शीत और पका हुआ गाढ़ा कफ (सड़ा) स्राव (Mucopurulent discharge) होता रहता है।

पीनसभेद—प्रतिश्याय के समान इसके लक्षण कहे हैं अत एव इसके भी अपक्व और पक्व ऐसे दो मुख्य भेद समझने चाहिये। अपक्व पीनस—में शिरोगौरव, नासास्राव, अरुचि, स्वर-मन्दता, दौर्बल्य तथा बार-बार थूंकना आदि लक्षण दिखाई देते हैं। शिरोगुरुत्वमरुचिर्नासास्रावस्तनुस्वरः । क्षामःष्ठीवति चाभीक्ष्णमामपीनसलक्षणम् ॥ पक्वपीनस में कफ गाढ़ा होकर नासास्रोत में भरा रहता है। रोगी के स्वर और वर्ण की विशुद्धि हो जाती है। आमलिङ्गान्वितः श्लेष्मा घनः खेषु निम-ज्जति । स्वरवर्णविशुद्धिश्च पक्वपीनसलक्षणम् ॥ (यो० र०) इस तरह उपर्युक्त लक्षणों के विवेचन से इस रोग में मुख्यतया निम्न चार लक्षण पाये जाते हैं—(१) नासानाह, (२) नासा-विशोषण या धूमोद्गम, (३) प्रक्लेद, (४) गन्धज्ञान तथा रसज्ञान की शक्ति लुप्त या अल्प हो जाना। गन्धज्ञानकी विकृति के अनेक कारण हो सकते हैं जैसे (१) नासागत श्लेष्मलकला का जीर्ण शोथ (सोपसञ्चय), (२) नासास्रोत के गाढ़े कफ से भरे रहने या अन्य कारणों से अवरोध होने से (३) गन्धग्राही मस्तिष्क केन्द्र की विकृति होने से, (४) वायुविवरों के विकार से, (५) गन्धग्राहिणी वातिक नाड़ियों के अपचय से, (६) शुक्तिका के अपचय प्रभृति कारणों से गन्धज्ञान की अक्षमता, मिथ्यात्व या विचित्र गन्धत्व एक रोग में आ सकता है। इस प्रकार यह पीनस रोग अनेक रोगों में अन्तर्भूत हो सकता है तथापि इसका सब से अधिक साम्य Atrophic Rhinitis से हो सकता है। क्योंकि उसमें भी प्रायः ये ही सब लक्षण मिलते हैं जैसे (1) Dryness of the Nose, (2) Headache, (3) Obstruction, (4) Formation of crust, Nasal secretion are not expelled owing to the destruction of cilia due to lack of moisture. इस रोग में ओज़ीना (Ozaena) एक विशिष्ट लक्षण है जिसका अर्थ नासा से दुर्गन्ध आना है। कभी-कभी यह लक्षण इतना प्रबल हो जाता है कि रोगी का समाज में बैठना भी मुश्किल हो जाता है। प्राचीनों ने इसी का नाम सम्भवतः पूतिनासा या पूतिनस्य रखा हो। यह दशा नासाफिरङ्ग में मिलती है।

दोषैर्विदग्धैर्गलतालुमूले-
संवासितो यस्य समीरणस्तु ।
निरेति पूतिर्मुखनासिकाभ्यां
तं पूतिनस्यं प्रवदन्ति रोगम् ॥ ७ ॥

पूतिनस्यलक्षण—विदग्ध अर्थात् सरक्त पित्त और श्लेष्मा की गरमी से लवण और अम्लरस के विरुद्ध पाक होने से पूतिभाव को प्राप्त हुये कफ, पित्त और रक्त दोषों से गले तथा तालुमूल में सम्वासित (आत्मविकृत गन्ध से मिश्रीभूत) दुर्गन्धित हो के वायु जिस मनुष्य के मुख तथा नासा की ओर से निकलता है पूतिनस्य रोग कहते हैं ॥ ७ ॥

विमर्शः—विदेहोक्तवर्णन—कफपित्तमसृङ्मिश्रं सञ्चितं मूर्ध्नि देहिनाम् । विदग्धमूष्मणा गाढं रुजां कुर्वाऽधिशाङ्कगाम् ॥ ततः

प्रस्यन्दते घ्राणात् सरक्तं पूति पीतकम् । पूतिनस्यन्तु तं विद्याद् घ्राणकण्डूज्वरप्रदम् । अर्थात् कफ, पित्त और रक्त मस्तिष्क में सञ्चित हो जाते हैं फिर वहां की ऊष्मा से विदग्ध हो के स्राव को गाढ़ा कर देते हैं । पुनः नेत्र तथा शङ्खप्रदेश में भयङ्कर पीड़ा करते हैं। इसके अनन्तर नासा से पीतवर्ण का दुर्गन्धियुक्त रक्तमिश्रित स्राव होने लगता है जिससे श्वास में भी बदबू आती है। इस रोग में नासाकण्डू तथा ज्वर भी हो जाता है। इस रोग को ओज़िना (Ozaena) कहते हैं। विदेह के वर्णित पूतिनस्य का साम्य एट्रोफिक राइनाइटिस से मिलता है।

घ्राणाश्रितं पित्तमरूंषि कुर्या-
द्यस्मिन् विकारे बलवांश्च पाकः ।
तं नासिकापाकमिति व्यवस्येद्
विक्लेदकोथावपि यत्र दृष्टौ ॥ ८ ॥

नासिकापाक लक्षण—घ्राण (नासा प्रदेश) में आश्रित कुपित पित्त वहां पर छोटी छोटी फुंसियां या पिडकाएँ उत्पन्न कर देता है किंवा जहां पर बलवान् पाक होकर नासिका पक जाती है किंवा जहां नाक में विशेषरूप से गीलापन तथा कोथ (सड़न) हो जाता है तब उस विकार को नासिकापाक कहते हैं ॥ ८ ॥

विमर्शः—चरकाचार्य ने नासापाक में रक्त तथा पित्त दोनों की दुष्टि को कारण माना है तथा पाक या व्रण के कारण नथने लाल हो जाते हैं तथा उनमें दाह होता है। प्रथम दाह और लालिमा के शोथ की उत्पत्ति होती है पश्चात् वह शोथ पककर पाक हो जाता है। 'सदाहरागः श्वयथुः सपाकः स्याद् घ्राणपाकोऽपि च रक्तपित्तात्' (चरक) वाग्भटाचार्य कहते हैं कि विकृत पित्त नासापुट की त्वचा तथा मांस को पका देता है जिससे वहां पर दाह, शोथ और वेदना होती रहती है।

चतुर्विधं द्विप्रभवं द्विमार्गं
वक्ष्यामि भूयः खलु रक्तपित्तम् ॥ ९ ॥

नासागतरक्तपित्त—चतुर्विध अर्थात् वात, पित्त, कफ और सन्निपात से चार प्रकार का एवं यकृत् तथा प्लीहा इन दो स्थानों से उत्पन्न होने वाले एवं ऊर्ध्व तथा अधः इन दो मार्गों प्रवृत्त रक्तपित्त का अगले अध्यायों में विशिष्ट वर्णन किया जायगा ॥ ९ ॥

विमर्शः—आचार्य सुश्रुत ने रक्तपित्त शब्द की पित्तेन दुष्टं रक्तम् ऐसी व्युत्पत्ति पित्तरक्त व्यपदेश होने के भय से न करके रक्तञ्च पित्तञ्चेति द्वन्द्वसमास करके निरुक्ति प्रदर्शित की है। चरकाचार्य ने रक्तपरिप्राप्तं पित्तं रक्तपित्तं किंवा रक्तञ्च तत्पित्तञ्चेति कर्मधारयसमासः ऐसी व्युत्पत्ति की है एवं च श्लोक के द्वारा स्पष्टीकरण भी कर दिया है—संयोगाद् दूषणात्तत्तु सामान्याद्गन्धवर्णयोः। रक्तस्य पित्तमाख्यातं रक्तपित्तं मनीषिभिः॥ चतुर्विध—सान्द्रं सपाण्डु सस्नेहं पिच्छिलञ्च कफान्वितम्। श्यावारुणं सफेनञ्च तनु रूक्षञ्च वातिकम्। रक्तपित्तं कषायाभं कृष्णं गोमूत्रसन्निभम्, मेचकागारधूमाभमञ्जनाभञ्च पैत्तिकम्। संसृष्टलिङ्गं संसर्गात् त्रिलिङ्गं सान्निपातिकम्॥ द्विप्रभव—का कुछ टीकाकारों ने स्निग्ध एवं रूक्ष भेद से अथवा आमाशय और पक्वाशय भेद से दो प्रकार का होता है ऐसा अर्थ किया है किन्तु आयुर्वेद में रक्त के स्थान यकृत् और प्लीहा को मुख्यरूप से माना है अत एव यकृत् और प्लीहा से उत्पन्न होने वाला ऐसा अर्थ अधिक सङ्गत है। आमाशय से जो रक्त का निःसरण होगा वह वमन के रूप से मुख से होगा तथा पक्वाशय (बृहदन्त्र) का रक्त नीचे गुदमार्ग से निकलेगा। द्विमार्गम्—'ऊर्ध्वं नासाक्षिकर्णास्यैर्मेढ्रयोनिगुदैरधः' इस तरह ये इसके दो मार्ग हैं किन्तु अधिक कुपित होने पर शरीर के समस्त रोमकूपों से भी निकल सकता है—'कुपितं रोमकूपैश्च समस्तैस्तत्प्रवर्तते'। नव्यशालाक्य तन्त्र में इस रोग को हेमरेज फ्रोम दि नोज़ या इपिस्टेक्सिस (Heamorrhage from the Nose or Epistaxis) कहते हैं। नासा से रक्तस्रुति के अनेक कारण हो सकते हैं जिन्हें दो भागों में विभक्त किया जा सकता है। (१) दोषज या औपद्रविक या सार्वदैहिक रोगजन्य तथा (२) अभिघातज या आगन्तुक।

औपद्रविक में—रक्तभाराधिक्य (H. B. P.) पाण्डुरोग (Anaemia) अथवा एन्फ्लुएआ तथा अन्य तीव्र पैत्तिक ज्वर में नासागत रक्तपित्त हो जाता है। 'तद्यथा ज्वरसन्तापाद्रक्तपित्तमुदीर्यते'।

आगन्तुक या स्थानिक कारणों में—नासागत श्लेष्मल कला का अभिघात तथा लिट्ल के केन्द्र से रक्तस्राव का होना महत्व के अङ्ग हैं। यह रक्तस्रुति इस क्षेत्र की रक्तवाहिनियों के विस्फारित होने के परिणाम स्वरूप होती है। साधारण रगड़, खुरच या जोर से नासा की सफाई करने से या बार बार शोथ होने से उस अङ्ग से प्रबलरूप से रक्तस्राव होना प्रारम्भ हो जाता है जिसे सहसा रोकना कठिन हो जाता है।

दोषैर्विदग्धैरथवाऽपि जन्तो-
र्ललाटदेशेऽभिहतस्य तैस्तु ।
नासा स्रवेत् पूयमसृग्विमिश्रं
तं पूयरक्तं प्रवदन्ति रोगम् ॥ १० ॥

नासापूयरक्तलक्षण—पित्त और रक्त की अधिकता से विरुद्ध परिणाम को प्राप्त (विदग्ध) हुये दोषों के कारण अथवा प्रहार पीडनादिक से ललाटदेश (माथे) पर आघात लगने के कारण रोगी की नासा से रक्तमिश्रित पूय निकलने लगती है तब उस रोग को पूयरक्त कहते हैं ॥ १० ॥

विमर्शः—दोषाधिक्य से रोग होने पर दोषज तथा आघात के लगने पर जो पूय और रक्त का निर्गमन होता है वह आगन्तुक पूयरक्त होता है। वाग्भटाचार्य लिखते हैं कि 'दोषसञ्चय से अथवा अभिघात से यह रोग होता है तथा इसमें नासिका से पूय और रक्त का निर्गमन होता है जिससे शिर में दाह एवं पीडा होती है। इसे पूयरक्त कहते हैं—निचयादभिघाताद्वा पूयासृङ्नासिका स्रवेत्। तत्पूयरक्तमाख्यातं शिरोदाहरुजाकरम्॥ (वाग्भट) चरकाचार्य लिखते हैं कि नासिका से ही नहीं किन्तु मुख और कर्ण से भी पूययुक्त रक्त गिरता है उसे 'पूयरक्त' कहते हैं—घ्राणात् स्रवेद्वा श्रवणान्मुखाद्वा पूयाक्तमस्रं त्विह पूयरक्तम्। (चरक) इस प्रकार आचार्यों के सूत्ररूप से वर्णित उक्त लक्षण आधुनिक अनेक रोगों में मिलते हैं जैसे नासार्बुद, क्षयार्बुद (Lupus) अभिघात, फिरङ्ग तथा

नासाविवर शोथ आदि। T. B. of the Nose or Lupus ये अधिकतर नासागुहा के अग्रभाग में अवस्थित होते हैं तथा फैल कर सम्पूर्ण नासिका, नासाजवनिका तथा नासावहिर्मार्ग में व्याप्त हो जाते हैं। इनमें छोटे-छोटे अर्शोऽङ्कुर (Warty vegetation) निकलते हैं और नासागुहा को पूर्णरूप से भर देते हैं। इनमें रक्तस्राव शीघ्रता से होता है तथा नासानाह की अवस्था उत्पन्न हो जाती है साथ ही में शिरःशूल भी होने लगता है। अनेक बार ये अङ्कुर टूट फूट जाते हैं जिससे वहां व्रण बन जाते हैं।

घ्राणाश्रिते मर्मणि सम्प्रदुष्टे
यस्यानिलो नासिकया निरेति।
कफानुयातो बहुशः सशब्दस्तं
रोगमाहुः क्षवथुं विधिज्ञाः॥ ११॥

दोषजक्षवथुलक्षण—नासिका में आश्रित (स्थित) शृङ्गाटक मर्म के दूषित होने पर वहां का वायु मिथ्या आहार विहार या आगन्तुक कारणों से दूषित हो जाता है तब कफ को अनुगामी बनाकर बार बार वह शब्द करता हुआ नासा से बाहर आता है तब उसे शास्त्रज्ञ दोषज क्षवथु (दोषजन्या छींक) कहते हैं॥ ११॥

तीक्ष्णोपयोगादतिजिघ्रतो वा
भावान् कटूनर्कनिरीक्षणाद् वा।
सूत्रादिभिर्वा तरुणास्थिमर्मण्यु-
द्घाटितेऽन्यः क्षवथुर्निरेति॥ १२॥

आगन्तुकक्षवथुलक्षण—राई, मरिच आदि तीक्ष्ण द्रव्यों के उपयोग से किंवा सोंठ, मरिच, पिप्पली तथा तम्बाकू आदि कटु पदार्थों के अधिक सूंघने से, अथवा सूर्य की तरफ अधिक देर तक टकटकी लगाकर देखते रहने से किंवा सूत या कपड़े की बत्ती बना कर नाक के भीतर बार बार डालते रहने से नासाजवनिका (तरुणास्थि) में अथवा शृङ्गाटक मर्म में क्षोभ होकर उसका उद्घाटन (उर्ध्वचालन) होकर छींकें आने लगती हैं। इसे आगन्तुकक्षवथु कहते हैं॥ १२॥

विमर्शः—चरकाचार्य संक्षेप में लिखते हैं कि शिर में स्थित वायु विष्वक्पथ (विगुण मार्ग) होकर नासाश्रित मर्म को स्पर्श करके छींके उत्पन्न करता है जिसे क्षवथु कहते हैं—संस्पृश्य मर्मण्यनिलस्तु मूर्ध्नि विष्वक्पथस्थः क्षवथुं करोति। वाग्भटाचार्य ने इस रोग को क्षवथु न कह कर भृशंक्षव कहा है जिसका अर्थ भृशं अर्थात् बार-बार 'क्षव' (छींके) आना इसी तरह आचार्य ने कारण तथा सम्प्राप्ति के विषय में भी लिखा है कि तीक्ष्ण पदार्थों के सूंघने से, सूर्य की किरणों को अधिक देर तक देखते रहने से, सूत या लकड़ी से नासा को खुरचते रहने से अथवा अन्य वात प्रकोपक कारणों से नासिकातरुणास्थियों (Cartilages) में घर्षण होने से वात प्रकुपित हो कर गति करता है किन्तु उसका मार्ग अवरुद्ध होने से वह पलटा खाया हुआ वायु ऊपर की ओर जाकर शृङ्गाटक मर्म से टकराता है तथा वहां से लौट कर अत्यधिक छींके लाता है, इसी लिये इस को 'भृशंक्षव' कहते हैं—तीक्ष्णघ्राणोपयोगार्करश्मिसूत्रतृणादिभिः। वातकोपिभिरन्यैर्वा नासिकातरुणास्थिनि॥ विघट्टितेऽनिलः क्रुद्धो रुद्धः शृङ्गाटकं व्रजेत्। निवृत्तः कुरुतेऽत्यर्थं क्षवथुं स भृशंक्षवः॥ (वाग्भट)

इस प्रकार आचार्यों ने स्पष्टरूप से इस रोग के दो प्रकार के कारण माने हैं। (१) तीक्ष्णादि कारण आगन्तुकक्षवथुरूप में तथा (२) वातप्रकोपि अन्य कारण दोषजक्षवथु की उत्पत्ति करने के रूप में लिखे हैं। इसी लिये सुश्रुत तथा माधवकार ने इस रोग के स्पष्टरूप से दो भेद कर दिये हैं। इस प्रकार क्षवथु शब्द का शाब्दिक अर्थ बार-बार छींके आना (Sneezing) है अतः वाग्भट ने स्पष्टरूप से भृशंक्षव नाम ही दे दिया है। वास्तव में जो स्वाभाविक छींक आती है वह एक शरीरगत अधारणीय वेग है। वह कोई रोग नहीं है। इसी तरह आगन्तुक क्षोभक कारणों से आने वाली छींके भी चिकित्सादृष्टि से कोई महत्त्व नहीं रखती हैं। नवीन प्रतिश्याय में भी अक्सर छींके आया करती हैं किन्तु उसे कोई स्वतन्त्र नाम दे दिया जाय यह उचित प्रतीत नहीं होता है किन्तु 'क्षवथु' एक ऐसा स्वतन्त्र रोग माना जा सकता है जिसमें छींके बार-बार आना ही उसका प्रधान लक्षण है अत इस क्षवथु का वेसोमोटर राइनोरिया (Vasomotor rhinorrhoea) के साथ तुलना की जा सकती है। Vasomotor rhinorrhoea को अनूर्जता या परिस्थिति की असह्यता (Allergic) से उत्पन्न होने वाले रोगों के वर्ग में रखा है। इसमें शृङ्गाटकमर्म क्षोभ (Sympathetic nervous system irritability) सबसे महत्त्व की बात है। साधारण उत्तेजना पर भी जिसके द्वारा साधारण तथा कोई भी असर नहीं हो उस असहायता की परिस्थिति में वातिकमण्डल क्षुभित हो जाता है जिससे रोगोत्पत्ति हो जाती है। यह अनूर्जता (Allergy) दो प्रकार की होती है एक विशिष्ट (Specific) तथा दूसरी अविशिष्ट (Nonspecific) प्रथमवर्ग के उत्तेजक द्रव्यों का पता चल जाता है जिन्हें आगन्तुक वर्ग में रख सकते हैं जैसे तृणज्वर (Hay fever)। इसमें घास के पराग नासा में लग कर उत्तेजना पैदा करते हैं। दूसरे वर्ग के कारणों का ठीक पता नहीं लगता है जिनसे उत्तेजना होने से Sympthetic system का क्षोभ (Irritation) हो कर क्षवथु (Vasomotor rhinorrhoea) उत्पन्न होता है।

लक्षण—इस रोग की तीव्रावस्था के पूर्वरूप में प्रथम नासा में थोड़ी सी तोद (Pricking sensation) का अनुभव होता है और उसके पश्चात् भयङ्कर रूप से छींके आने का दौरा शुरू हो जाता है इसे Violent attack of sneezing कहते हैं। इसके थोड़ी ही देर बाद नासा से प्रभूत मात्रा में स्वच्छ जलवत् स्राव (Profuse watery discharge) होने लगता है। अनेक व्यक्तियों में आंख से अश्रुस्राव होता है। इस रोग के दौरे आया करते हैं तथा कभी कभी रोगी एक घण्टे से भी अधिक देर तक छींकता ही रहता है जिससे पूर्णरूप से व्याकुल हो जाता है। रोगी की तीव्रता कम होने पर रोगारम्भ भी धीरे-धीरे होता है। त्रिदोषज प्रतिश्याय में भी बार-बार जुकाम होना तथा छींके आना और स्राव बहना ये लक्षण होते हैं अतएव त्रिदोष जन्य प्रतिश्याय तथा क्षवथु रोगों का Vasomotor rhinorrhoea में समावेश हो सकता है।

प्रभ्रश्यते नासिकयैव यश्च
सान्द्रो विदग्धो लवणः कफस्तु।
प्राक् सञ्चितो मूर्ध्नि च पित्ततप्तस्तं
भ्रंशथुं व्याधिमुदाहरन्ति॥ १३॥

भ्रंशथुलक्षण—शिर एवं नासा में पहले से ही सञ्चित हुआ गाढा, विदग्ध तथा नमकीन कफ पित्त के ताप से या सूर्य के ताप से द्रवित हो कर नासामार्ग से ही अधिक निकलने लगता है तब उस रोग को भ्रंशथु कहते हैं ॥ १३ ॥

विमर्शः—भ्रंशथु रोग का स्वतन्त्र वर्णन चरकार्य तथा वाग्भटाचार्य ने नहीं किया है एवं सुश्रुतोक्त सूत्ररूपी वर्णनानुसार इस रोग के जो लक्षण दिये हैं उनका अनेक नासारोगों में मिलना सम्भव है क्योंकि गाढा स्राव किसी जीर्ण नासाकला के शोफ में हो सकता है किन्तु इस रोग का क्षवथु के अनन्तर ही वर्णन आने से तथा चिकित्सा भी क्षवथु के समान ही होने से इसका क्षवथु के साथ प्रगाढ सम्बन्ध हो। इस तरह हम इसे क्षवथु की पक्वावस्था भी मान सकते हैं जैसे पीनस एवं प्रतिश्याय की आम और पक्वावस्थाओं का वर्णन है तद्वत् क्षवथु की पक्वावस्था भ्रंशथु हो सकती है। पाश्चात्य शालाक्य ग्रन्थों में लिखा है कि वेसोमोटर राइनोरिया (Vasomotor Rhinorrhoea) या क्षवथु का बार-बार दौरा होते रहने से नासा की कला मोटी पड़ जाती है जिसे Hypertrophied कहते हैं तथा संक्रमण का प्रसार नासा वायु विवरों के श्लेष्मल कला तक भी हो जाता है जिससे वह भी मोटी पड़ जाती है। उसके मोटी पड़ जाने से वहां पर गाढे स्राव का सङ्ग्रह रहता है जो उष्णता से विद्रुत हो कर नासामार्ग से स्रवित होता रहता है। इस तरह यद्यपि भ्रंशथु की Chronic nasal discharge या Discharge of the hypertrophic rhinitis से समानता हो सकती है किन्तु अधिकतर वायु विवरों की श्लेष्मल कला के मोटे होने से जो सान्द्र विदग्ध स्राव (Mucoid discharge from the thickening of the lining membrane of the sinuses) होता है उसी से तुलना की जा सकती है।

> घ्राणे भृशं दाहसमन्विते तु
> विनिःसरेद् धूम इवेह वायुः ।
> नासा प्रदीप्तेव च यस्य जन्तो-
> र्व्याधिं तु तं दीप्तमुदाहरन्ति ॥ १४ ॥

दीप्तलक्षण—जिस मनुष्य की नासिका सदा भयङ्कर दाह से युक्त रहती हो तथा उससे धूंए के समान वायु निकलती हो और उसकी नासा जलती हुई सी रहती हो ऐसी व्याधि को दीप्त कहते हैं ॥ १४ ॥

विमर्शः—चरकाचार्य ने भी कहा है कि जिस रोग में नासा जलती हुई सी प्रतीत हो उसे दीप्त रोग कहते हैं—'नासा प्रदीप्तेव नरस्य यस्य दीप्तं तु तं रोगमुदाहरन्ति' (चरक) वाग्भटाचार्य का मत है कि नासाश्रित रक्त में विदाह होने के कारण नासा में जलन होती है तथा भीतर और बाहर में नासा स्पर्शन में असहनशील हो जाती है तथा नासा से जो सांस बाहर की ओर छोड़ी जाती है वह धूम के समान प्रतीत होती है, उस रोग को दीप्त कहते हैं—रक्तेन नासादग्धेन बाह्यान्तः स्पर्शनासहा। भवेद् धूमोपमोच्छ्वासो दीप्तिर्दहतीव च ॥ विदेहाचार्य कहते हैं कि जब नासा में से धूम निकलने की सी प्रतीति हो तथा नासा में खींचने की सी पीडा एवं जलन होती हो एवं उच्छ्वास के समय आंखों के सामने अन्धेरी प्रतीत होती हो उसे दीप्त रोग जानो। धूमायते यदा नासा चलत्कृष्यति दीप्यते। निश्वरेतम उच्छ्वासं तं व्याधिं दीप्तमादिशेत् ॥ (विदेह) 'पाश्चात्य शालाक्यतन्त्र में इन लक्षणों वाला कोई स्वतन्त्र रोग नहीं है किन्तु इसकी तुलना तीव्र प्रतिश्याय (Acute rhinitis) के साथ हो सकती है। इसमें जलन होने का कारण नासाकलाशोथ में रक्ताधिक्य होना है। इसी लिये इसके मिलते जुलते लक्षण पैत्तिक प्रतिश्याय में पाये जाते हैं। इस रोग में पित्तदोष की प्रबलता रहती है।

> कफावृतो वायुरुदानसंज्ञो यदा
> स्वमार्गे विगुणः स्थितः स्यात् ।
> घ्राणं वृणोतीव तदा स रोगो
> नासाप्रतीनाह इति प्रदिष्टः ॥ १५ ॥

नासाप्रतीनाहलक्षण—जब उदान संज्ञक वायु कफ से आवृत हो कर अपने मार्ग में विगुण हो जाता है तब नासामार्ग अवरुद्ध हो जाता है जिससे नाक बिल्कुल सट जाती है। अर्थात् नासा में आनाह उत्पन्न हो जाता है इसी लिये इस रोग को नासा प्रतीनाह कहते हैं ॥ १५ ॥

विमर्शः—माधवकार लिखते हैं कि कफ वात के साथ संयुक्त हो कर उच्छ्वास मार्ग को रुद्ध कर देता है अतः इस रोग को प्रतिनाह कहते हैं—उच्छ्वासमार्गन्तु कफः सवातो रुन्ध्यात् प्रतीनाहमुदाहरेत्तम् ॥ (माधव) वाग्भटाचार्य ने इस रोग का नाम नासानाह रखा है तथा वे लिखते हैं कि वात के द्वारा प्रेरित हुआ कफ नासा मार्ग को अवरुद्ध कर देता है जिससे नासा भर जाती है और बाहर की सांस भीतर लेने (Inspiration) तथा भीतर की सांस बाहर छोड़ने (Expiration) में असमर्थता रहती है। ऐसा प्रतीत होता है मानो श्वासप्रश्वास वाहक स्रोतस बन्द हो गये हैं। नद्धत्वमिव नासायाः श्लेष्मरुद्धेन वायुना। निःश्वासोच्छ्वाससंरोधात् स्रोतसी संवृते इव। (वाग्भट) यह नासाजवनिका के रोगों में (Diseases of the septum) से एक रोग है तथा इसे Deviation of the nasal septum कह सकते हैं। आयुर्वेद ने इसे एक स्वतन्त्र रोग माना है किन्तु पाश्चात्य शालाक्यतन्त्र में यह नाना प्रकार के नासारोगों में एक प्रधान लक्षण या उपद्रव कहा जा सकता है। साधारण प्रतिश्याय होने पर भी नासानाह हो जाया करता है। नासान्तर्गत श्लैष्मिक कला के मोटे हो जाने से वह बढ़ जाती है तथा उससे नासा सटी हुई सी रहती है। इसके सिवाय नासार्श, नासार्बुद, नासाविद्रधि, नासागत अभिघात, नासागत गांठ (Lupus), नासाजवनिका का रक्तार्बुद (Heamatoma), नासाजवनिकाविद्रधि (Abscess of the nasal septum), नासाजवनिकाविमार्गगमन (Diviation), नासागुहागतशल्य तथा शुक्तिकास्थि की वृद्धि होने पर इस प्रकार का आनाह हो सकता है।

अस्तु यह नासानाह रोग नासाजवनिका पथ च्युति या विमार्गगमन (Deviation) का ही द्योतक है। इसके वैकासिक तथा अभिघातज ऐसे दो भेद हो सकते हैं। किंवा स्थानभेद से भी दो प्रकार हो सकते हैं। एक ऊपर की अस्थिमय जवनिका (Bone deviatian) का तथा दूसरा नीचे की या तरुणास्थिमय जवनिका (Cartilaginous deviation)

का। दोनों का निम्न वर्णन मिलता है—Bony deviation for the most part Cause what are known as 'Spurs'. Spurs are out growths or ridges encountered in the lower part of the Nose, These Cause blockage of the part of the Meatus which they occupy. Spurs may be anterior or they may be posterior. In an examination of the Nose a Septum which is seen to destraight anteriorly may possibly present appearances posteriorly which are sufficient to account for Nasal obstruction and chronic Nasal disease. The cartilaginous deviation on the other hand are anterior in position and very frequently involve the upper part of the quadrilateral Cartilage. नासाजवनिका की अत्यधिक स्थान च्युति होने पर उसके उभार से मध्यशुक्तिका के ऊपर भार पड़ता है जिससे वायु विवरों के छिद्र भी बन्द हो जाते हैं। यह अवरोध यान्त्रिक (Mechanical) होता है। कभी कभी नासागत श्लेष्मलकला के रक्ताधिक्य के परिणामस्वरूप भी होते देखा गया है। इससे नासा का श्वासमार्ग (Nasal air ways) अस्वाभाविक भाव से संकरा हो जाता है। प्राचीनों ने भी 'नद्धस्वमिव नासायाः' 'उच्छ्वासमार्गावरोध' 'घ्राणं वृणोति' आदि वाक्यों से इसी अवस्था की पुष्टि की है।

अजस्रमच्छं सलिलप्रकाशं
यस्याविवर्णं स्रवतीह नासा।
रात्रौ विशेषेण हि तं विकारं
नासापरिस्रावमिति व्यवस्येत् ॥ १६ ॥

नासापरिस्रावलक्षण—जिस मनुष्य की नाक से निरन्तर स्वच्छ सलिल के समान तथा अविवर्ण स्राव बहता रहता है एवं रात्रि के समय स्राव का स्रवण अधिक होता है उसे नासापरिस्राव रोग कहते हैं ॥ १६ ॥

विमर्शः—वाग्भटाचार्य ने भी नासास्राव का वर्णन सुश्रुताचार्य के समान ही किया है किन्तु उन्होंने इस रोग को कफ से उत्पन्न होने की विशेषता लिखी है—स्रावस्तु तत्संज्ञः श्लेष्मसम्भवः। अच्छो जलोपमोऽजस्रं विशेषान्निशि जायते॥ भावप्रकाशकार, माधवकार, आयुर्वेदविज्ञान, गदनिग्रह और योगरत्नाकर आदि ग्रन्थों में लिखा है कि घ्राण से घन (गाढा), या पतला, पीला या श्वेत रूप में दोष स्रवित होता है उसे नासास्राव कहते हैं—'घ्राणाद्घनः पीतसितस्तनुर्वा दोषः स्रवेत्स्रावमुदाहरेत्तम्' विदेह—का मत है कि श्रृङ्गाटकस्रोतस् में विद्रुत हुये कफ के कारण स्राव निकलता है—स्रोतः श्रृङ्गाटके श्लेष्मा चितः क्लेदित उष्मणा। विशेषात् स्यन्दते रात्रौ नासास्रावन्तु तं विदुः॥ इन आचार्यों के वर्णनों से स्पष्ट हो जाता है कि यह रोग भी कोई एक स्वतन्त्र रोग न होकर प्रतिश्याय (Rhinitis) का ही एक अवश्यम्भावी आनुषङ्गिक लक्षण है। इसे पाश्चात्य शालाक्यतन्त्र की परिभाषा में Rhinorrhoea कह सकते हैं जिसका कि अर्थ नासा से स्राव का बहना होता है। यह अवस्था प्रायः सभी नासारोगों में होती है। सुश्रुतोक्त नासा परिस्रव को नव प्रतिश्याय (Acute Rhinitis or vasomotor Rhinorrhoea) के साथ मिला सकते हैं किन्तु अन्य ग्रन्थोक्त स्रावों को जो कि घन (Thick), पूयाभ (Mucopurulent or Mucoid discharge) होते हैं उनका समावेश जीर्णप्रतिश्याय (Hypertrophic Rhinitis) अथवा दुष्टप्रतिश्याय या पूतिनासा रोगों में हो सकता है। पीतवर्ण के स्राव (Yellow discharge) का प्रायः वायुविवरों के विकार (Nasal sinuses) में समावेश हो सकता है।

घ्राणाश्रिते श्लेष्मणि मारुतेन
पित्तेन गाढं परिशोषिते च।
समुच्छ्वसित्यूर्ध्वमधश्च कृच्छ्राद्
यस्तस्य नासापरिशोष उक्तः ॥ १७ ॥

नासाशोषलक्षण—प्रकुपित वात की रूक्षता तथा प्रकुपित पित्त की उष्णता से नासाप्रदेश स्थित कफ के अत्यधिक सूख जाने पर जो मनुष्य बड़ी कठिनता से ऊर्ध्व और अधःश्वास लेता हो उसके इस रोग को नासापरिशोष कहते हैं ॥ १७ ॥

विमर्शः—नासा परिशोष शब्द का अर्थ स्पष्ट है अर्थात् नासा का परित (सर्व प्रकार) से सूखना। चरकाचार्य लिखते हैं कि इस रोग में क्रुद्ध वायु कफ को सुखाकर श्रृङ्गाटकमर्म (घ्राण, श्रोत्र, नेत्र और जिह्वा का सिरा सन्निपात) तथा घ्राण को विशेषरूप से शुष्क कर देता है—क्रुद्धः स संशोष्य कफन्तु नासाश्रृङ्गाटकघ्राणविशोषणञ्च। (चरक) वाग्भटाचार्य ने लिखा है कि वायु नासास्रोत में स्थित कफ को सुखा देती है जिससे नासा यवशूक से भरी हुई सी प्रतीत होती है तथा कठिनता से वह रोगी श्वासप्रश्वास की क्रिया करता है उसे 'नासिकाशोष' कहा है—शोषयेन्नासिकास्रोतः कफञ्च कुरुतेऽनिलः। शूकपूर्णाभनासात्वं कृच्छ्रादुच्छ्वसनं ततः॥ स्मृतोऽसौ नासिकाशोषः॥ (वाग्भट) आचार्य विदेह ने अपना वैशिष्ट्य प्रगट किया है कि जब कुपित वात और पित्त दोनों मिलकर घ्राण प्रदेश में जाकर वहां के कफ और रक्त को सुखा देते हैं तब रोगी कठिनता से ऊर्ध्व श्वास लेता है या नाक के द्वारा श्वासप्रश्वास कर सकता है एवं उसकी नासा पूर्ण रूप से सूखी रहती है तथा नासा में सूखे चूर्ण (Crust) के खुरण्ड बनते रहते हैं और निकलते रहते हैं। इसे विद्वान् लोगों ने नासाशोष कहा है। वातपित्तौ यदा घ्राणं कफरक्तं विशोषयेत्। तदास्यादुच्छ्वसेन्नासा तस्यशुष्कं विधीयते। भृशं शुष्कावचूर्णेन नासाशोषन्तु तं विदुः॥ (विदेह) नासापरिशोष के लक्षण Atrophic rhinitis के लक्षणों से मिलते हुये हैं। एट्रोफिक राइनाइटिस की एक अवस्था ऐसी आती है जिसमें नासा की श्लेष्मलकला सूखी रहती है तथा नाक का स्राव (कफादि) भी सूख जाता है जिससे रोगी को सांस लेने में कष्ट होता है एवं नासा अवरुद्ध सी प्रतीत होती है। इस प्रकार के नासाशोष में कई कारण हो सकते हैं। इस अवस्था को Rhinitis sicca कहा है। यह एक प्रकार की नासागत अलसक की अवस्था है, जिससे नासा में आनाह होता है और नाक से स्राव नहीं होता तथा नासागुहा सूखी रहती है। वाग्भटाचार्य ने इसी प्रकार के एक अन्य रोग का वर्णन किया है जिसे नासापुटक (Obstructive crust) कहते हैं अर्थात् पित्त और कफ के द्वारा जब वायु नासा के भीतर रोक लिया जाता है तब अवरुद्ध हुआ वह वात भीतर कफ

तथा उसके श्लक्ष्ण अंश को सुखा देता है जिससे वहां सूखे हुये कफ की पपड़ी बनती रहती है—पित्तश्लेष्मावरुद्धोऽन्तर्नासायां शोषयेन्मरुत्। कफं स शुष्कपुटतां प्राप्नोति पुटकन्तु तत्॥ (वाग्भट) नव्य शालाक्य ग्रन्थों में इस प्रकार के स्वतन्त्र रोग का वर्णन नहीं है क्यों इसका Atrophic Rhinitis में ही समावेश हो सकता है। चरक, सुश्रुत, भावप्रकाश और माधवकार ने भी इस रोग का उल्लेख नहीं किया है। उनके मत से भी इन लक्षणों या रोग का समावेश नासाशोष या अन्य प्रतिश्याय के भेदों में हो सकता है।

दोषैस्त्रिभिस्तैः पृथगेकशश्च
ब्रूयात्तथाऽर्शांसि तथैव शोफान्॥ १८॥
शालाक्यसिद्धान्तमवेक्ष्य वाऽपि
सर्वात्मकं सप्तममर्बुदं तु।
रोगः प्रतिश्याय इहोपदिष्टः
स वक्ष्यते पञ्चविधः पुरस्तात्॥ १९॥

अर्श, शोफ अर्बुद वर्णन—वातादि तीन दोषों से पृथक् पृथक् तीन तथा सन्निपातज चतुर्थ ऐसे नासार्श चार प्रकार के होते हैं। इसी प्रकार नासाशोफ भी चार प्रकार के होते हैं। शालाक्य सिद्धान्त के विचार से निदानोक्त छ अर्बुदों के सिवाय सन्निपातजन्य सातवां अर्बुद भी होता है। यहां पर जो पांच प्रकार के प्रतिश्याय का उल्लेख किया है उसका वर्णन आगे किया जायगा॥ १८-१९॥

नासास्रोतोगता रोगास्त्रिंशदेकश्च कीर्तिताः।
स्रोतः पथे यद्विपुलं कोशवच्चार्बुदं भवेत्॥ २०॥

नासा रोगोपसंहार—इस तरह नासास्रोत में होने वाले इकतीस रोगों का वर्णन यहां किया गया है। नासास्रोत में कोश (अन्तःपूरण वस्तु) के समान विपुल अर्बुद होता है॥२०॥

शोफास्तु शोफविज्ञाना नासास्रोतोऽव्यवस्थिताः।
निदानेऽर्शांसि निर्दिष्टान्येवं तानि विभावयेत्॥२१॥

इति सुश्रुतसंहितायामुत्तरतन्त्रान्तर्गते शालाक्यतन्त्रे नासागतरोगविज्ञानीयो नाम द्वाविंशोऽध्यायः॥ २२॥

नासास्रोत में होने वाले चार प्रकार के शोफों का वर्णन शोफविज्ञानीय अध्याय में कहे हुये शोफ के समान तथा यहां जो नासार्श चार प्रकार के कहे हैं उनके निदानस्थान में कहे हुये अर्श के समान कारण, लक्षण, सम्प्राप्ति आदि समझने चाहिये॥ २१॥

विमर्शः—नासार्शों को Nasal Polypus कहते हैं। ये बड़े बड़े भूरे वर्ण के तन्तुओं के संघात (Large greish masses of tissues) होते हैं जो देखने में अङ्गूर के गुच्छे के समान प्रतीत होते हैं। आयुर्वेद में इनके विविध स्वरूप का वर्णन है—वटप्ररोहसदृशा गुञ्जाविद्रुमसन्निभाः। करीरपनसास्थ्याभा स्तथा गोस्तनसन्निभाः। बिम्बीखर्जूरकर्कन्धू कार्पासीफलसन्निभाः। शुकजिह्वायकृत्खण्डजलौकोवक्त्रसन्निभाः॥ ये अर्शोऽङ्कुर नासा स्रोत को अवरुद्ध कर देते हैं। ये अग्रनासाछिद्र से निकले हुये दिखाई पड़ते हैं। अनेक बार नासापश्चात् छिद्र से भी लटके रहते हैं, उनका दर्शन नासापश्चात् दर्शनपरीक्षा (Post Rhinoscopy) से ही सम्भव है। इनका उद्भव ऊर्ध्व हन्वस्थि वायुविवर में होता है। नासार्श का हेतु या उपद्रव—दो प्रकार से होता है।

नासागत शोफ के परिणाम स्वरूप (Inflammatory) अर्थात् नासा सम्बन्धी विवरों के शोफ के परिणाम स्वरूप होते हैं।

स्वतन्त्र नाडीमण्डल के विकार (Sympathetic Nervous System disturbances) के कारण होते हैं। जिन कारणों से नासा या उनके वायुविवरों का शोथ होता है वे ही कारण नासार्श के भी हैं। जैसे नासा के ऊर्ध्वभाग का संकरा होना, मध्य शुक्तिका के ऊपर भार (Pressure), मध्य सुरङ्ग (Middle Meatus) के ऊपर दबाव का पड़ना वहां पर तन्तुओं में शोथ उत्पन्न कर देता है। नासागत स्राव को निकालने के लिये जब रोगी जोर से नाक छींकने (Blowing) की क्रिया करता रहता है इससे भी दबाव बढ़ जाता है एवं श्लेष्मलकलागत रक्तरस के सञ्चारण (Flow) में बाधा आने पर भी पीडन अधिक होता है। इसी तरह नासागतविवरों में अस्थि से निकली हुई जो श्लेष्मलकला निकली रहती है उसमें शोथ तथा सङ्कोचन होकर अर्श के समान तन्तुसंघात का आकार बना कर पीछे से आकार में बढ़ सकती है। नासाजवनिका की मार्गच्युति हो जाने से नासिका का एक भाग संकरा हो जाता है जिसमें बार बार शोथ होता रहता है तथा विभिन्न संक्रमणों से रोगी आक्रान्त होता रहता है ऐसी स्थिति में अर्श की उत्पत्ति एक महत्त्व की घटना है। बार बार होने वाले वायुविवरशोथ में जब कि वायुविवर स्राव के प्रवाह का अवरोध हो तो नासार्श होने में अनुकूलता रहती है। अनूर्जताजन्य नासापरिस्रव (Allergic Vasomotor Rhinorrhoea) के अनेक बार होते रहने से नासाकला का शोथ अर्श की उत्पत्ति में सहायक होता है। कभी कभी नासार्श मोटे होकर स्रोत का अवरोध कर देते हैं जिससे विवरगत स्राव का भी अवरोध हो जाता है और संक्रमण वायुविवरों तक पहुंच कर विवरशोथ (Sinus) उत्पन्न कर देता है।

लक्षण—नासानाह (नासावरोध), स्राव तथा सानुनासिक शब्दोच्चारण ये तीन महत्त्व के लक्षण होते हैं। रोगी का चेहरा देखने से दर्दुर मुखी (Frogface) प्रतीत होता है। इसमें स्राव गाढ़ा (घन) तथा पूयाभ (Purulent) होता है। यदि मस्से श्लेष्मलकला के ऊपर के भाग में स्थित हों तो स्राव गाढ़ा होता है किन्तु गहराई में स्थित अर्शाङ्कुरों का सम्बन्ध विवर से हो तो पीतवर्ण पूयस्राव मिलता है। आचार्य सुश्रुत ने निम्न नासार्श के लक्षण लिखे हैं—'घ्राणजेषु प्रतिश्यायोऽतिमात्रं क्षवथुः कृच्छ्रोच्छ्वासता, पूतिनस्यं, सानुनासिकवाक्यत्वं शिरोदुःखञ्च॥ (सु. नि.)

नासाशोथ—यद्यपि शल्यतन्त्र में शोथ के छ प्रकार बतलाये हैं किन्तु यहां पर नासाशोथ चार प्रकार का ही माना है। नासा में शोथ अनेक कारणों से हो सकता है जो कि नासार्श में भी लिख चुके हैं।

नासार्बुद—(New growths in the Nose) अर्बुदपरि-

भाषा—गात्रप्रदेशे क्वचिदेव दोषाः सम्मूर्च्छिता मांसमसृक् प्रदूष्य। वृत्तं स्थिरं मन्दरुजं महान्तमनल्पमूलं चिरवृद्ध्यपाकम्। कुर्वन्ति मांसोच्छ्रयमत्यगाधं तदर्बुदं शास्त्रविदो वदन्ति ॥ शरीर के कोषाणु जब कि दबे हुये रह जाते हैं वे अनुकूलता पाकर बढ़ने लगते हैं। तथा जिनसे शरीर को कोई लाभ न होकर हानि हो एवं शरीर में निरर्थक वृद्धि जिस पर वातसंस्थान का कोई विशेष नियन्त्रण न हो तथा जिसका नियत अवसान न हो अर्बुद कहलाते हैं। इनके सौम्य (Simple) तथा घातक (Malignant) ऐसे दो भेद होते हैं। नासास्रोत में ये दोनों ही हो सकते हैं। इनके अनेक अवान्तर भेद होते हैं। सौम्यार्बुदों में पे पलोमा, वार्ट्स, रक्तस्रावी पैपिलोमेटा या नासाजवनिका रक्तसूत्रार्बुद (Angio fibromata) तथा शर्करास्थि का angiomata नासास्रोत में हो सकते हैं। घातकार्बुदों में कार्सिनोमेटा, सारकोमेटा तथा एञ्जियोमेटा नासास्रोत में हो सकते हैं।

लक्षण—(१) नासा के एक पार्श्व का अवरोध, (२) पूयाभ गाढ़ास्राव (Purulent Sangnineous discharge), (३) नासास्थियों का चौड़ा होना। (४) शिरःशूल।

इत्यायुर्वेदतत्त्वसन्दीपिकाटीकायां नासागतरोगविज्ञानीयो नाम द्वाविंशोऽध्यायः ॥ २२ ॥

त्रयोविंशतितमोऽध्यायः।

अथातो नासागतरोगप्रतिषेधं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥ २ ॥

अब इसके अनन्तर 'नासागतरोगप्रतिषेध' नामक अध्याय का व्याख्यान करते हैं जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने कहा है॥

विमर्शः—'रोगमादौ परीक्षेत ततोऽनन्तरमौषधम्' इस उक्ति के अनुसार पूर्व के अध्याय में नासारोग परीक्षण का विवेचन कर दिया है अत एव उनके चिकित्सार्थ यह अध्याय है।

नासारोग सामान्य चिकित्सा—सर्व प्रथम कारणों का परित्याग रोगशमन का मुख्य ध्येय है अत एव इस वर्ग में रोगी का स्थान (स्थिति या निवास), आहार (सेव्यासेव्य) और विहार का विचार आवश्यक है। स्थान ऐसा हो जहां न अधिक हवा के झोंके आते हों और न हवा कतई रुकी हुई ही हो। ठंढी हवा, पूर्वी हवा, झड़ी एवं वर्षा की हवा और झंझावात से बचना चाहिये। धूप या प्रकाश का आगमन हो तथा उस स्थान में सील (तराई, आर्द्रता) न हो। मक्खी, मच्छर, मत्कुण आदि रोग वाहक जीवों का अभाव होना चाहिए। इसके लिये मच्छरदानी का प्रयोग अत्यधिक लाभदाई होता है। शीतकाल में सोते तथा गरम कपड़े पहनना और ग्रीष्म ऋतु में हल्के वस्त्र पहनना श्रेयस्कर होता है। शिर पर साफा या पगड़ी किंवा गुलूबन्द लपेटे रहना चाहिये। 'स्थितिर्निवातनिलये अगाढोष्णीषधारणम्' (यो. र.) आहार में नातिरूक्ष तथा नातिस्निग्ध द्रव्यों का सेवन हितकारी होता है। गेहूं, यव, चने, ज्वार की रोटी तथा दालों में मूंग, तूर, चने, मसूर और कुलत्थी का उपयोग करना चाहिये। चावल कफवर्धक तथा वातजनक होने वर्जित करे किन्तु रोगी को सात्म्य हो तो पुराने शाली चावलों का प्रयोग किया जा सकता है। चावल को गरम मसाले अथवा केशर मिश्रित शक्कर की चासनी में पकाकर के भी प्रयुक्त किया जा सकता है। पुराने नासारोगों में दुग्ध, दधि आदि उत्क्लेदकारक पदार्थ देने में दोषों के बहिर्निःसरण में लाभ होता है। दधि अभिष्यन्दी होने से उसमें लवणभास्कर चूर्ण अथवा सैन्धव, कृष्णमरिच और भर्जित जीरक इनका चूर्ण प्रक्षिप्त कर खिलाना चाहिये। भोजन हल्का, गरम एवं लवण व घृतयुक्त कराना चाहिये। योगरत्नाकर में पथ्योपदेश बड़ा ही सुन्दर है—स्नेहः स्वेदस्तथाऽभ्यङ्गः पुराणा यवशालयः। कुलित्थमुद्गयोर्यूषो ग्राम्या जाङ्गला रसाः ॥ वार्ताकं कुलकं शिग्रु कर्कोटं बालमूलकम्। लशुनं दधि तप्ताम्बु वारुणी च कटुत्रयम्। कट्वम्ललवणं स्निग्धमुष्णञ्च लघु भोजनम्। नासारोगे पीनसादौ सेव्यमेतद्यथा बलम् ॥ (यो. र.) स्नेहन, स्वेदन, अभ्यङ्ग, पुराने जव और शाली चावल कुलत्थ और मुद्ग (मूंग) का यूष, ग्राम्य तथा जङ्गली पशु पक्षियों के मांस का रस, शाकों में बैंगन, पटोला, सहजन की छली, ककोड़ा, कच्ची मूली, लहसुन, दही, गरम पानी, वारुणी (मद्य), सोंठ, मरिच, पिप्पली, कटु पदार्थ, अम्लपदार्थ, लवण, स्निग्ध पदार्थ, उष्णपदार्थ एवं हलका भोजन इनका पीनसादिक नासारोगों में यथा बल (देश, काल, रोग, रोगी प्रकृति के अनुसार) सेवन करना चाहिये।

इनके सिवाय मूंग की मगोड़ी, ककड़ी, लौकी, नेनुआ, पत्रशाक जैसे पालक, बथुआ, चौलाई, मेथी इन्हें उबाल के घृत में छौंक कर मसाले डाल के सेवन करावें। मसालों में जीरा, हींग, मेथी, हल्दी, काली मरिच, लौंग, तेजपात, इलायची, दालचीनी, धनियां हितकारी होते हैं। फलों में सन्तरा, अञ्जीर, पक्क आम, खरबूजा, पके टमाटर, एरण्ड, ककड़ी, मकोय, सेव, नासपाती, अनार, अङ्गूर, नीबू लाभदायक हैं। कटु और अम्लपदार्थ भी हितकर होते हैं अतः कागजीनीबू पर सैन्धवलवण और काली मरिच का चूर्ण बुरका के चूसना तथा आलूबुखारा, आंवला, अदरख, पुदीना, हरा धनियां, जीरा, सैन्धव लवण और काली मरिच डाल के चटनी बना कर खाना चाहिये। मिष्टान्नों में—मालपुआ, मूंग या बेसन के लड्डू, गाजर का हलुआ, जलेबी आदि का जलपान प्रातः करना चाहिये। बादाम और पोस्तदाने को रात्रि में पानी में भिगो कर दूसरे दिन सुबह पीस के हलुआ बनाकर खा सकते हैं। पीने के लिये सदा उबाला हुआ जल ही प्रयुक्त करें। गाङ्ग जल विना उबाला भी पी सकते हैं। गरम कर ठंढे किये पानी में निबू का रस डाल कर भी किसी किसी समय पी सकते है। वातपित्तज प्रतिश्याय या जीर्ण प्रतिश्याय में रात्रि में सोते समय शीतोदक का पान भी लाभकारी हो सकता है। रोगी सदा हल्का व्यायाम भी करता रहे एवं खुली हवा में प्रातः भ्रमण करना भी लाभदायक है। भोजन के पश्चात् पुरानी वारुणी या पुराने द्राक्षारिष्ट और दशमूलारिष्ट का पान करना प्रशस्त माना गया है।

अपथ्य—पित्तोत्तेजक तथा कफ शोषक पदार्थ अहितकारी होते हैं अतएव शराब, काफी, चाय, तमाकू, सिरका, लवण का अत्यधिक प्रयोग एवं रूक्षपदार्थों का अधिक सेवन हानि करता है। मैदे का आटा, मटर, चना रूक्ष होने से वर्जित करें। अधिक श्लेष्मल और अभिष्यन्दी पदार्थ जैसे आनूप मांस,

मछली, खोआ, रबड़ी, मलाई, उड़द की दाल, उड़द के बड़े, कचौड़ी आदि अनिष्टकारी होते हैं। शाकों में कटहल, केला, सेम, आलू, शकरकन्द, अरवी, भिण्डी, कुम्हड़ा, वर्जित हैं। फलों में बैर, तरबूज, फूट, केला, कच्चे आम, लीची तथा अन्यान्य, अम्ल फल अहित कर होते हैं। पेयों में शीतल जल, बिना गर्म किया हुआ विभिन्न स्थानों का जल, वर्षा का पानी, तालाब तथा पोखरे का सञ्चित जल, शरबत तथा बरफ, कुलफी मलाई हानिकारी हैं। विहारों में अधिक बैठे रहना, दिवास्वप्न, रात्रिजागरण, सो के उठकर या धूप में से आकर तुरन्त शीतल जल का पीना, खुले शरीर या हलके कपड़े पहन कर शीत ऋतुओं में घूमना, सिर भिगो के स्नान करना एवं शोक, क्रोध, अधिक निद्रा, भूमिशयन, मल, मूत्र, छिक्का, अपान वायु प्रभृति वेगों का निरोध नासारोगी के लिये अत्यन्त अहितकर होने से परिवर्जित हैं। स्नानं क्रोधं शकृन्मूत्रवातवेगाञ्छुचं द्रवम्। भूमिशय्याञ्च यत्नेन नासारोगी परित्यजेत्॥ प्रायः सभी प्रकार के नासारोगों में (१) स्नेहन, (२) स्वेदन, (३) शिरोऽभ्यङ्ग, (४) वमन, (५) धूम, (६) घृतपान, (७) नस्य, (८) नासाप्रक्षालन ये स्थानिक उपचार तथा अन्य आभ्यन्तरिक प्रयोग प्रशस्त माने गये हैं।

स्नेहन—(Nasal drops or oil drops)—षड्बिन्दु तैल की छ छ बूंदे नासा में टपकाने से समस्त नासारोग तथा शिरोरोग नष्ट हो जाते हैं। अणु तैल (च. सू. अ ५) का नस्य भी प्रशस्त है। हिंग्वादि तैल भी इसी अर्थ में लाभकारी है। विशेषकर नासाकृमि में उपयुक्त है।

धूम्रयोग—(Inhalation)—घृत, तैल और सत्तू को एकत्र जला कर उसका धूम्रपान करने से सर्व प्रकार के प्रतिश्याय, कास, हिक्का प्रभृति रोग नष्ट हो जाते हैं। सम्पूर्ण गन्धद्रव्य, दालचीनी, तेजपात, बड़ी इलायची और नागकेशर का धूम्रपान अथवा उक्त द्रव्यों में गुग्गुलु, घोड़ावच, कड़वा कूठ, बेल का गूदा, सहजन बीज, लौंग, कलौंजी और तमाखू को कूट पीस कर उसकी बीड़ी बना के पीवे।

इङ्गुदीवर्ति—(Cigar)—इङ्गुदीफल-मज्जा, दारुहरिद्रा, दन्तीमूल, अपामार्ग बीज, तुलसी बीज इन्हें समप्रमाण में लेकर पत्थर पर पीस कर तैल मिला के उससे बारह अङ्गुल लम्बे सरकण्डे को लिप्त कर छाया शुष्क कर लें। इसका यथाविधि पान करने से नासारोग नष्ट होते हैं।

नस्य—(Snuffs or Nasal Spray)—अर्कक्षीर से सात बार भावित तथा शुष्क मुल्तानी मिट्टी का नस्य। कट्फल चूर्ण नस्य, तम्बाकू नस्य, नकछिकनी चूर्ण नस्य।

आभ्यन्तर प्रयोग—(१) शठ्यादि चूर्ण—मात्रा-३ से ६ माशे तक, अनुपान घृत और गुड़। लवङ्गादि चूर्ण—मात्रा २ से ३ माशे तक जलानुपान से। निदिग्धिकादिकषाय, किंवा कट्फलादि चूर्ण अथवा कट्फलादि कषाय प्रायः समस्त नासारोग सन्निपातज, कफज और पित्तज तथा कास और श्वास में लाभदायक है। कट्फलं पौष्करं शृङ्गी व्योषं यासश्च कारवी। एषां चूर्णं कषायं वा दद्यादार्द्रकजैः रसैः। पीनसे स्वरभेदे च तमके सहलीमके। सन्निपाते कफे वाते कासे श्वासे च शस्यते। (यो. र.) इनके सिवाय व्योषादिवटी, अगस्त्यहरीतकी या चित्रकहरीतकी का प्रयोग भी नासारोग, कास, श्वास, स्वरभेद आदि में विशेष हितकारी होता है। रसों में—पञ्चामृत रस (पारद १ भाग, गन्धक २ भाग, टङ्कण ३ भाग, शुद्ध वत्सनाभ ४ भाग, मरिच ५ भाग, इन्हें आर्द्रकस्वरस से तीन दिन तक खरल कर पांच पांच रत्ती की गोलियां बना लें। सर्व नासारोगों में यह योग लाभकारी है।

नारदीय लक्ष्मीविलास रस—अभ्रक भस्म ४ तोला, शुद्ध पारा, गन्धक, कपूर, जावित्री, जायफल प्रत्येक दो दो तोले, विधारा, धत्तूर बीज शुद्ध, शुद्धभङ्गा, विदारीकन्द, शतावर, गङ्गेरन, कङ्घी, गोखरू, समुद्रफल प्रत्येक एक एक तोला, पान के रस में खरल कर तीन तीन रत्ती की गोलियां बना के अनुपान भेद से सर्व प्रकार के नासारोग, प्रतिश्याय, कास, श्वास में दे सकते हैं।

महालक्ष्मीविलास रस—स्वर्ण, अभ्रक, चांदी, ताम्र, वङ्ग, तीक्ष्णलौह, मुण्डलौह, कान्तलौह, नाग इनकी भस्में तथा शुद्ध वत्सनाभ और मुक्ताभस्म प्रत्येक एक एक भाग तथा शुद्ध पारद सब के बराबर लेकर एकत्र पीस के फिर शहद में खरल कर छोटी छोटी टिकिया बना के कुक्कुट पुट में पका के स्वाङ्ग शीतल होने पर निकाल कर चित्रक क्वाथ में खरल कर के सुखा कर शीशी में भर दें। मात्रा—एक एक रत्ती। सर्व प्रकार के शिरोरोग, कास, श्वास, प्रतिश्याय प्रभृति नासारोग नष्ट हो जाते हैं।

> पूर्वोद्दिष्टे पूतिनस्ये च जन्तोः
> स्नेहस्वेदौ छर्दनं स्रंसनञ्च।
> युक्तं भक्तं तीक्ष्णमल्पं लघु स्या-
> दुष्णं तोयं धूमपानञ्च काले॥ ३॥

अपीनस तथा पूतिनस्य चिकित्सा—पूर्वोद्दिष्ट (पूर्व में कहे हुये) अपीनस तथा पूतिनस्य रोग में प्रथम स्नेहन कराके स्वेदन करे तदनन्तर वमन और विरेचन कराना चाहिये। पश्चात् युक्तियुक्त तीक्ष्ण तथा लघुपाकी और अल्प भोजन कराना चाहिये। पीने के लिये सदा उष्ण जल का ही प्रयोग करना चाहिये और भोजन के पश्चात् योग्य काल में धूम्रपान कराना चाहिये॥ ३॥

> हिङ्गुव्योषं वत्सकाख्यं शिवाटी
> लाक्षा बीजं सौरभं कट्फलञ्च।
> उग्रा कुष्ठं तीक्ष्णगन्धा विडङ्गं
> श्रेष्ठं नित्यं चावपीडे करञ्जम्।
> एतैर्द्रव्यैः सार्षपं मूत्रयुक्तं
> तैलं धीमान्नस्यहेतोः पचेत॥ ४॥

अपीनस पूतिनस्य रोग में—अवपीडन नस्य देने के लिये हींग, सोंठ, मरिच, पीपल, इन्द्रयव, श्वेत पुनर्नवा (शिवाटी), पीपल की लाख, तुलसी के बीज, कायफल, वचा, कूठ, सहजने के बीज (तीक्ष्णगन्धा), वायविडङ्ग और करञ्ज के बीज इन्हें समान प्रमाण में लेकर खांड कूट के चूर्ण बना कर शीशी में भर देवें। इस चूर्ण का नित्य ही अवपीडन नस्य के रूप में प्रयोग करना श्रेष्ठ है तथा इन्हीं उक्त द्रव्यों का कल्क बना कर कल्क से चतुर्गुण सरसों का तैल तथा तैल से चतुर्गुण

गोमूत्र डाल कर यथाविधि तैलपाक करके नस्य के लिये प्रयुक्त करें ॥ ४ ॥

विमर्शः—सुश्रुताचार्य ने पीनस के लिये स्नेहन, स्वेदन, वमन-विरेचन तथा नस्य और धूमपान का निर्देश किया है। योगरत्नाकर में लिखा है कि—(१) मरिच चूर्ण को गुड़ तथा दही के साथ सदा सेवन करने से सर्व प्रकार के पीनस रोगों में श्रेष्ठ है—सर्वेषु सर्वकालं पीनसेषु जातमात्रेषु । मरिचं गुडेन दध्ना भुञ्जीत नरः सुखं लभते ॥ (यो० र०)। (२) गुड, मरिच चूर्ण युक्त दधि भयङ्कर पीनस को भी नष्ट करता है। गुडमरिच-विमिश्रं पीतमाशु प्रकामं-हरति दधि नराणां पीनसं दुर्निवारम् ॥ (यो० र०)। (३) और भी कहा है कि गेहूं के आटे में गुड़ मिलाकर घृत में पकाया हुआ हलुआ, मालपुआ, आदि बनाकर खाने से पीनस हो ही नहीं सकता है—यदि तु सघृतमन्नं श्लक्ष्णगोधूमचूर्णैः-कृतमुपहरतेऽसौ तत्कुतोऽस्यावकाशः ॥ (यो० र०)। (४) विडङ्गशष्कुली—गेहूं के आटे में वायविडङ्ग का चूर्ण मिलाकर उसकी पूड़ी, रोटी या पराठा बनाकर खावे तथा शयन काल में शीतल जल पी लेवे तो रोगी पीनस रोग से मुक्त हो जाता है—वेल्लगोधूमभोजी च निद्राकाले च शीतलम्। जलं पिबति यो रोगी पीनसान्मुच्यते नरः ॥ (५) षड्बिन्दुघृत—भृङ्गराज, लवङ्ग, मुलेठी, कूठ और सोंठ इन के कल्क तथा क्काथ से यथाविधि घृत सिद्धकर नासा में बिन्दुरूप से टपकाने से पीनस तथा शिरोगत अनेक रोग नष्ट होते हैं—भृङ्गं लवङ्गं मधुकञ्च कुष्ठं-सनागरं गोघृतमिश्रितञ्च । षड्बिन्दु नासाश्थिगतं च पीनसं-शिरोगतं रोगशतञ्च हन्ति ॥ (यो. र.) (६) व्याघ्री तैल—भटकटैया, दन्तीबीज, वचा, सहजन, त्रिकटु, और सैन्धव लवण से सिद्ध तैल का नासा में प्रक्षेप करने से पूतिनासादि रोग नष्ट हो जाते हैं। (७) पीनसोक्त अवपीडन द्रव्यों में सरसों और गोमूत्र डालकर तैल सिद्धकर उसे नासा में डालना चाहिये। (८) भटकटैया के फल अथवा पञ्चाङ्ग को पुटपाकविधि से पकाकर स्वरस निकाल के नासा में टपकाने से पीनस आदि रोग नष्ट हो जाते हैं।

आधुनिक चिकित्सा—सर्व प्रथम रोग के कारणों का पता लगाकर उन्हें दूर करने या नष्ट करने का उपाय (चिकित्सा) करना चाहिये। रोगोत्पत्ति में रोगी का व्यवसाय कारण हो तो उसका परिहार करना चाहिये। स्थानिक संशोधन—नासा की आभ्यन्तरिक शुद्धि के लिये Doushing तथा Spraying उत्तम उपाय हैं। इनमें क्षारीय विलयनों का प्रयोग कर पुटक के अवरोध को दूर करना चाहिये। तैलीय योगों के पूरण से पुनः नासापुटक न हो ऐसा प्रयत्न करना चाहिये। नासा की रूक्षता या खुरकी (Dryness) को दूर करने के लिये स्निग्ध द्रव्य (Ictheol glycerine) की वर्ति नासा में भरनी चाहिये। यदि फिरङ्गोपसर्ग हुआ हो तो तद्विरोधी चिकित्सा (Anti syphylitic treatment) करनी चाहिये।

नासापाके पित्तहृत्संविधानं
कार्य्यं सर्वं बाह्यमाभ्यन्तरञ्च ।
हृत्वा रक्तं क्षीरवृक्षत्वचश्च
साज्याः सेका योजनीयाश्च लेपाः ॥ ५ ॥

नासापाक चिकित्सा—नासापाक रोग होनेपर बाह्य तथ आभ्यन्तर सर्व प्रकार से पित्तनाशक चिकित्साविधि करनी चाहिये इस के सिवाय अशुद्ध रक्त का सिरामोक्षण जलौका से निर्हरण कर क्षीरी (वट-पिप्पलादि) वृक्षों की छाल के कषाय से नासा का प्रक्षालन या सेक तथा घृत मिश्रित लेपों का प्रयोग करना चाहिये ॥ ५ ॥

विमर्शः—प्रथम नासाशोथ होता है पश्चात् उसकी उपयुक्त चिकित्सा न करने से नासापाक रोग हो जाता है। यही बात चरकाचार्य ने भी लिखी है—'सदाहरागश्वयथुः सपाकः-स्याद् घ्राणपाकोऽपि च रक्तपित्ताद् (चरक) प्रथम नासाशोथ को दूर करने के लिये दुग्ध और घृत की प्रधानता से पका हुआ तथा अणुतैलोक्त कल्कद्रव्यों के योग से सिद्ध तैल का नस्यार्थ प्रयोग करना चाहिये। इसके सिवाय दुग्ध में घृत डालकर पिलाना तथा जङ्गली पशु-पक्षियों के मांसरस के साथ भोजन कराना तथा स्नेहन, स्वेदन और स्नैहिक धूमपान का प्रयोग लाभदायक होता है—नासाशोफे क्षारसर्पिःप्रधानं-तैलं सिद्धं चाणुकल्केन नस्यम् । सर्पिःपानं भोजनं जाङ्गलैश्च स्नेहस्वेदैः स्नैहिकाश्चात्र धूमाः ॥ (यो० र०) नासापाक हो जानेपर शतधौत घृत का लेप, पञ्चक्षीरी वृक्ष के कषाय से प्रक्षालन तथा रक्तशुद्धयर्थ कैशोर गुग्गुलु, मञ्जिष्ठादि क्काथ एवं प्रवाल, मुक्ता, शुक्ति, गैरिक प्रभृति ओषधियों का आभ्यन्तर प्रयोग भी हितकारी होता है। वास्तव में यह रोग कभी नासात्वक्शोफ (Dermitis of the Vestibule) के रूप में, कभी नासाच्छिद्र-विदार (Fissures) के रूप में तथा कई बार नासापिडका या अरुंषिका (Boils in the nose) के रूप में दिखलाई पड़ता है अतएव चिकित्साक्रम में भी कुछ अन्तर आ जाता है। (१) त्वक्शोफ—की अवस्था में नासा की पूर्ण शुद्धि करना, खुरण्ड को साबुन और पानी या गरम जैतूनके तैल से साफ कर लेना चाहिये फिर इक्थियोल सोल्यूशन ३०% को लगाना या गन्धकाम्ल मलहर या सैलिसिलिक मलहर को लगाना चाहिये। (२) विदार—(Fissure)—सिल्वर नाइट्रेट का घोल १०% को लगाकर पश्चात् मलहर लगा देवें। (३) नासापिडिका या विद्रधि—यह रोमकूपों (Hair follicle) के उपसर्ग से होनेवाला रोग है तथा एक से दूसरे रोमकूप में उपसृष्ट हो कर समस्त नासा में व्याप्त हो जाता है। कुछ काल के पश्चात् इसका उपसर्ग ऊपर की ओर को जाकर मस्तिष्कगत उपद्रवों को उत्पन्न कर देता है। प्रारम्भ में इसका भेदन न कर के पीडन (Squeezing or evacuation) के द्वारा बहा देना चाहिये। स्वेदन के द्वारा मेग्नेशियम सल्फेट या एलिमिनम एसिटेट को वेसलीन में मिला के मलहर बना कर प्रयोग करना चाहिये। पेनिसीलिन या सल्फा ग्रूप की ओषधियों का प्रयोग रोगवृद्धि रोकने के लिये करना चाहिये। अनेक बार रोमकूपों (Hair follicles) को खींच कर सावधानी से निकाल कर जेन्शन वायोलेट २% के घोल को लगा देना चाहिये। एक्सरे का स्थानिक प्रयोग भी लाभकारक होता है। नासा को सदा तर (स्निग्ध) रखना चाहिये।

वक्ष्याम्यूर्ध्वं रक्तपित्तोपशान्तिं,
.... नाडीवत्स्यात्पूयरक्ते चिकित्सा।

वान्ते सम्यक् चावपीडं वदन्ति
　　तीक्ष्णं धूमं शोधनं चात्र नस्यम् ॥ ६ ॥

अब इसके अनन्तर नासागत रक्तपित्त के शमन का उपाय आगे चल कर इसी (उत्तर) तन्त्र के पैंतालीसवें अध्याय में कहूंगा तथा नासागत पूयरक्त की चिकित्सा नाडीव्रण के समान करनी चाहिये। इसके सिवाय रोगी को वमन करा कर अवपीडन नस्य देवें एवं तीक्ष्ण ओषधियों का धूम्रपान, शिरोविरेचन तथा अन्य वमन-विरेचन द्वारा ऊर्ध्व और अधःकाय का संशोधन तथा नस्यकर्म कराना चाहिये ॥ ६ ॥

विमर्शः—रक्तपित्त की चिकित्सा करते समय प्रथम यही जानना आवश्यक है कि रक्तस्रुति कब से प्रारम्भ है तथा रोग बलवान् है अथवा कृश क्योंकि रोग को प्रारम्भ हुये अधिक समय न हुआ हो तथा रोगी बलवान हो तो उस दशा में स्तम्भन (रक्तरोधक) चिकित्सा नहीं की जाती है—नादौ सम्राह्यमुद्रिक्तं यदस्रम्बलिनोऽश्नतः। तत्पाण्डुग्रहणीकुष्ठप्लीहगुल्मज्वरावहम् ॥ (सुश्रुत) चरकाचार्य ने भी कहा है कि जिसका बल तथा मांस क्षीण न हुआ हो एवं भोजन करता हो एवं दोषों का प्रकोप अधिक हो वैसे रक्तपित्ती की प्रथम संस्तम्भन चिकित्सा नहीं करनी चाहिये। ऐसा न करने से गलग्रह, पूतिनस्य, मूर्च्छा आदि अनेक उपद्रव हो सकते हैं—अक्षीणबलमांसस्य रक्तपित्तं यदश्नतः। तद्दोषदुष्टमुत्क्लिष्टं नादौ स्तम्भनमर्हति ॥ गलग्रहं पूतिनस्यं मूर्च्छायमरुचिं ज्वरम्। गुल्मं प्लीहानमानाहं किलासं कृच्छ्रमूत्रताम्। तस्मादुपेक्ष्यं बलिनो बलदोषविचारिणा ॥ रक्तपित्तं प्रथमतः प्रवृद्धं सिद्धिमिच्छता। (चरक) रक्तपित्त की चिकित्सा भी दो प्रकार की है। एक संशमनी तथा दूसरी अपतर्पणयुक्त। संशमनी चिकित्सा—बलमांसक्षीण, शोक, भार और मार्ग में चलने से कर्शित एवं गर्भिणी, वृद्ध, बालक, वमन और विरेचन के अयोग्य तथा शोष या राजयक्ष्मी के लिये संशमनी चिकित्सा करनी चाहिये। बलमांसपरिक्षीणं शोकभाराध्वकर्शितम्। ज्वलनादित्यसंतप्तमन्यैर्वा क्षीणमामयैः। गर्भिणीं स्थविरं बालं रूक्षाल्पप्रमिताशिनम्। अवम्यमविरेच्यं वा यं पश्येद्रक्तपित्तिनम् ॥ शोषेण सानुबन्धं वा तस्य संशमनी क्रिया ॥ (च. चि. अ. ४) अपतर्पणचिकित्सा—अधिक दोष बढे हुये हों तथा जिसका बल, मांस और पाचकाग्नि क्षीण न हुई हो वैसे रोगी में अपतर्पण चिकित्सा करनी चाहिये। अतिप्रवृद्धदोषस्य पूर्वं लोहितपित्तिनः। अक्षीणबलमांसाग्नेः कर्तव्यमपतर्पणम् ॥ (सु. उ. अ. ४५) संशमनी चिकित्सा के लिये अनेक रक्तरोधक उपाय हैं जिनमें सन्धान, स्कन्दन, पाचन और दहन ये चार प्रधान हैं—चतुर्विधं यदेतद्धि रुधिरस्य निवारणम्। सन्धानं स्कन्दनञ्चैव पाचनं दहनं तथा ॥ अस्कन्दमाने रुधिरे सन्धाना निप्रयोजयेत्। सन्धाने भ्रश्यमाने तु पाचनैः समुपाचरेत् ॥ कल्पैरेतैस्त्रिभिर्वैद्यः प्रयतेत यथाविधि। असिद्धिमत्सु चैतेषु दाहः परममिष्यते ॥ (सु. सू. अ. १४) सद्यःप्रयत्न—किसी रोगी की नासा से रक्त-प्रवृत्ति को देख कर उसके सिर पर शीतल जल का छिड़कना, शर्करा युक्त दुग्ध का नासिका द्वारा पान कराना चाहिये—नासाप्रवृत्ते जलमाशु देयं सशर्करं नासिकया पयो वा। इसके अतिरिक्त नासा में घृत तथा नागकेशर के चूर्ण को सुंघाना, दूर्वास्वरस का नासा में प्रक्षेप, दूर्वास्वरस या दूर्वादि घृत का पान, अडूसे के स्वरस का पान, वासादिघृत का पान, खण्डकाद्यवलेह का चाटना, नासा में रूई अथवा मलमल के कपड़े को पानी में गीला कर भर देना, फिटकरी के घोल या एड्रीनेलिन की बूंदें छोड़ना, शर्करासव, वासासव का पान, लाक्षास्वरस का पान, लाक्षाचूर्ण, नागकेशर का चूर्ण दो दो माशे भर लेकर मक्खन और मिश्री के साथ चटाना, वासावलेह का चाटना, प्रवालपिष्टी, शुक्तिपिष्टी, शङ्खभस्म प्रत्येक १-१ रत्ती, शुद्ध स्वर्णगैरिक चूर्ण ३ रत्ती लेके चावल के धोवन और शहद से चटाना, मुक्तापिष्टी १ रत्ती, माणिक्यपिष्टी ½ रत्ती, जवाहर मोहरा १ रत्ती, सूत शेखर १ रत्ती, इन्हें शर्बत बनप्से के साथ चटाना चाहिये। आधुनिक चिकित्सा—के दो विभाग हैं, एक तात्कालिक या स्थानिक तथा दूसरा सार्वदैहिक। स्थानिक उपायों में नासावर्तिभरण एक महत्त्व का उपचार है। इसमें प्रथम नासास्रोत में 'कोकेन' का प्रक्षेप करके उसे वेदनासह बना कर पश्चात् नासावर्ति के द्वारा नासागुहा के रन्ध्र को भर दिया जाता है। इस क्रिया में बराबर मात्रा में कोकेन (१० प्रतिशत) और एड्रिनेलीन (१/१०००) घोल ले कर उसमें एक फुट लम्बा एवं एक इञ्च चौड़ा रेशम या साटन का फीता (Ribbon gauge) या वर्ति को सुखा कर नासिकारन्ध्र में जिधर से रक्तप्रवाह होता हो डाल कर भर देते हैं। कुछ मिनटों के बाद नाक में भरने के लिये 'हैड्रोजन पेरोक्साइड' के द्रव में भिगोये रेशम के १½ गज लम्बे लम्बे फीते की वर्तिकी आवश्यकता पड़ती है। इसमें भरते हुये फीते के प्रारम्भ के बारह इञ्च वाले भाग को दोहरा करके नासा के फर्श पर होते हुये ऊपर तक सीधे पहुंचा दिया जाता है। दुहरा करके डालने से यह लाभ है कि पीछे वाला भाग नासाप्रसनिका में न गिरे। नासागुहा के प्रत्येक भाग को धीरे धीरे वर्ति के द्वारा मजबूती से भर देना चाहिये। इस क्रिया से नासागत रक्तस्राव बन्द हो जाता है। विद्युद्दहन से भी नासागत रक्तस्राव का मुख रुद्ध हो जाता है। आभ्यन्तरिक उपचारों में—विटामीन के, केपीलिन, केल्सियम टेबलेट खाने को तथा इञ्जेक्शन के लिये कोगुलीन, केपेलीन और केल्सियम का प्रयोग करते हैं।

क्षेप्यं नस्यं मूर्द्धवैरेचनीयै-
　　र्नाड्या चूर्णं क्षवथौ भ्रंशथौ च।
कुर्य्यात्स्वेदान्मूर्ध्नि वातामयघ्नान्-
　　स्निग्धान्धूमान्यच्चान्यद्धितञ्च ॥ ७ ॥

क्षवथु-भ्रंशथुचिकित्सा—क्षवथु तथा भ्रंशथु रोग में शिरोविरेचक (कायफल, नकछिकनी, विडङ्ग, अपामार्ग बीज) द्रव्यों के चूर्ण का नाडीयन्त्र या कागद की भोंगली बना के प्रधमन नस्य का प्रयोग करना चाहिये। इसके सिवाय स्वेदन कर्म, शिरोवस्ति, वायु को नष्ट करनेवाले स्निग्ध धूम्रपान तथा अन्य जो भी हितकारी उपाय हों करने चाहिये ॥ ७ ॥

विमर्शः—उक्त सुश्रुतोक्त उपचारों के अतिरिक्त इन रोगों में शुण्ठ्यादि तैल या घृत को सूंघने या नासा में टपकाने से विशिष्ट लाभ होता है। सोंठ, कूठ, पिप्पली, वायविडङ्ग, बिल्व और मुनक्का के कल्क से शुण्ठ्यादि घृत या तैल की सिद्धि कर लेनी चाहिये। सिक्थकादिधूम—घृत, गुग्गुल और मोम के मिश्रण सेवने योग को अग्नि में जला कर नासा द्वारा धुएं के

लेने से भी लाभ होता है। आभ्यन्तरिक उपचारों में घृतपान, अगस्त्य या चित्रक हरीतकी, महालक्ष्मीविलास रस, शिलाजत्वादि लौह एवं सितोपलादि चूर्ण का प्रयोग करना चाहिये। इस तरह स्थानिक तथा सार्वदैहिक उपायों के प्रयोग का तात्पर्य नासागत श्लैष्मिक कला की सहन या संरक्षण शक्ति को बढ़ाना है जिससे साधारण शीत या अन्य उत्तेजक कारणों के बर्दास्त करने की शक्ति नासाकला में आ जाय तथा बारम्बार रोग का दौरा न होने पावे। आधुनिक सिद्धान्त के अनुसार इस रोग को अनूर्जताजन्य (Allergic) माना जाता है। तन्निमित्त अनूर्जता पैदा करने वाले क्षोभक कारणों का पता लगाना चाहिये। भोजन के पदार्थों की ध्यानपूर्वक परीक्षा करनी चाहिये। जिस विशिष्ट परिस्थिति, भोजन या कारण से रोगी को इस रोग का आक्रमण हो जाता हो उस कारण का परित्याग करा देना चाहिये। अनेक प्रकार के फूलों के पराग, तृण, घास की परीक्षा त्वचा की प्रतिक्रिया द्वारा की जाती है एवं जो वस्तु प्रतिक्रियाकारक होती है उससे रोगी को बचा दिया जाता है। उसमें व्यक्ति विशेष की प्रकृति एवं वस्तुविशेष की असह्यता का ज्ञान करके उस कारण विशेष को दूर कर देने से ही रोग का बार-बार का होना बन्द हो जाता है। कई बार कारण के ठीक ज्ञात न होने पर वैक्सीन एवं विशेष प्रोटीन की चिकित्सा की जाती है। यदि यह भी सम्भव न हो तो लाक्षणिक चिकित्सा करके रोगी को लाभ पहुंचाया जाता है। भ्रंशथु रोग की चिकित्सा क्षवथु के समान ही है किन्तु इसमें मागधी-अवपीडन—पिप्पली, सहजन बीज, वायविडङ्ग और काली मरिच को पानी के साथ पीस कर कपड़-छान करके उसे नासा में टपकाने से भ्रंशथु तथा जीर्ण प्रतिश्याय रोग नष्ट होते हैं। नासा-प्रक्षालन—एक औंस जल में नमक १० ग्रेन, टङ्कण ५ ग्रेन, स्वर्जिकाक्षार (सोडा बाईकार्ब) १० ग्रेन, कार्बोलिक एसिड ३ बूंद मिला के विलयन कर नासा का प्रक्षालन करना चाहिये।

दीप्ते रोगे पैत्तिकं संविधानं
कुर्यात् सर्वं स्वादु यच्छीतलञ्च ॥ ८॥

दीप्तरोग में—पित्त को नष्ट करने वाली चिकित्सा का प्रयोग करना चाहिये तथा जो कोई आभ्यन्तरिक तथा बाह्य उपचार हो किंवा आहार-विहार विधान हो वह मधुर तथा शीतल गुणधर्म युक्त होना चाहिये ॥ ८॥

विमर्शः—दीप्त रोग की चिकित्सार्थ योगरत्नाकर में लिखा है कि निम्बपत्रस्वरस में रसाञ्जन को घोल कर उसका नस्य देवें तथा इस नस्य के पूर्व कुछ शिरःप्रदेश में स्वेदन कर्म कर देना चाहिये। नस्य के अनन्तर दुग्ध और जल का नासा में तरेरा (Doush) देना तथा मुद्गयूष के साथ भोजन करना लाभदायक होता है—नस्यं हितं निम्बरसाञ्जनाभ्यां-दीप्ते शिरःस्वेदनमप्यशस्तु। नस्ये कृते क्षीरजलावसेकान्-शंसन्ति भुञ्जीत च मुद्गयूषैः॥ (यो. र.)

नासानाहे स्नेहपानं प्रधानं
स्निग्धा धूमा मूर्द्धबस्तिश्च नित्यम्।
बलातैलं सर्वथैवोपयोज्यं
वातव्याधावन्यदुक्तञ्च यद्यत् ॥ ९ ॥

नासानाह रोग में—भोजन के पूर्व या पश्चात् स्नेहपान कराना उत्तम है इसके सिवाय स्निग्ध धूम्रपान, शिरोबस्ति (शाल्वण उपनाह आदि) का विधान करना चाहिये। मूढगर्भाधिकार में कहे हुये बलातैल का सर्व प्रकार से (पान, अभ्यङ्ग, अनुवासन बस्ति और शिरोबस्ति के रूप में) उपयोग करना चाहिये, इसके सिवाय वातव्याधि प्रकरण में कहे हुये अन्य अणुतैल आदि का भी प्रयोग करना चाहिये ॥ ९ ॥

विमर्शः—नासानाह की चिकित्सा करते समय यह सिद्धान्त बना लेना चाहिये कि घनीभूत दोष पतले पड़ कर बाहर निकलें। इसके लिये बला तैल, नारायण तैल आदि का प्रयोग करना चाहिये। अनेक बार तीव्र अवपीडन नस्य देने से भी दोष का निःसरण कर लाभ होते देखा गया है। योगरत्नाकर ने नासानाह रोग में गोघृत पान का विशेष महत्त्व दिया है—नासावनाहे कर्तव्यं-पानं गव्यस्य सर्पिषः। (यो. र.)। आधुनिक चिकित्सा में स्रोतोविस्फारक द्रव्यों का प्रयोग होता है जैसे एड्रिनेलिन का एड्रिन ड्राप्स तथा एफेड्रीन का प्रोथाइसीन (Prothricine) बहुत प्रचलित है। इसी प्रकार लेखन क्रिया के लिये सिल्वर नाईट्रेट या कास्टिक का प्रयोग लाभकारी होता है। इन उपायों से लाभ न होने पर शस्त्रकर्म द्वारा नासाजवनिका विकार को दूर करना (Cure of Septal deformity by operation) चाहिये।

नासास्रावे घ्राणतश्चूर्णमुक्तं
नाड्या देयं योऽवपीडश्च तीक्ष्णः।
तीक्ष्णं धूमं देवदार्वग्निकाभ्यां
मांसं वाऽऽजं युक्तमत्रादिशन्ति ॥ १० ॥

नासास्राव रोग में—शिरोविरेचक द्रव्यों के चूर्ण को तथा हिङ्गु व्योष वत्सकाद्यं शिवाटी आदि तीक्ष्ण द्रव्यों के अवपीडन नस्य को नाड़ी (कागद की बनी नली या भोंगली) के द्वारा नासा में प्रधमन कर देना चाहिये। इसके सिवाय देवदारु तथा चित्रक का तीक्ष्ण धूमपान और बकरी के मांस या उसके स्वरस के साथ भोजन की व्यवस्था करनी चाहिये ॥ १० ॥

विमर्शः—यहां पर जो नासास्राव की चिकित्सा का वर्णन किया है वह जीर्ण या क्षयजन्य नासास्राव हो सकता है क्योंकि इन दोनों में शरीर की प्रतीकारशक्ति बहुत कम हो जाती है और इसीलिये आचार्य ने अजामांसभक्षण का उपदेश किया है। प्रधमन नस्यों में पूर्वोक्त कलिङ्गाद्यवपीडन या मनःशिलाद्यवपीडन श्रेष्ठ होता है। धूम्रपान के लिये देवदारु तथा चित्रकमूल को कुचल कर चिलम में भर कर या सिगार या चुरुट का रूप बना कर पीना चाहिये। इन स्थानिक उपायों के अतिरिक्त रक्तशुद्ध्यर्थ महागन्धक रसायन तथा अमृतासत्त्व १-१ रत्ती और शक्तिवर्द्धनार्थ मुक्तापञ्चामृत १ रत्ती अथवा प्रवाल और शुक्ति की भस्म एक एक रत्ती एवं लौहभस्म ½ रत्ती तथा शुद्ध कुचला ½ रत्ती दिन में दो बार मधु के साथ प्रयुक्त करें।

नासाशोषे क्षीरसर्पिःप्रधानं
सिद्धं तैलं चाणुकल्पेन नस्यम्।
सर्पिः पानं भोजनं जाङ्गलैश्च
स्नेहः स्वेदः स्नैहिकश्चापि धूमः ॥ ११ ॥

नासाशोष रोग में—दुग्धमथन से निकाले हुये ताजे घृत का पान करना श्रेष्ठ है। इसके सिवाय अणुकल्पना (वातव्याधि प्रकरणोक्त) विधि से बनाये गये तैल का नस्य देना चाहिये एवं घृत का पान तथा जङ्गली पशु-पक्षियों के मांसरस के साथ भोजन कराना चाहिये। इन उपायों के अतिरिक्त स्नेहन, स्वेदन और स्नेहयुक्त धूमपान का प्रयोग लाभदायक होता है ॥ ११ ॥

विमर्शः—योगरत्नाकर में लिखा है कि नासाशोष रोग में मिश्री या शर्करायुक्त दुग्ध का पान प्रशस्त होता है—नासाशोषे क्षीरपानं समिश्रं प्रशस्यते। (यो. र.) वस्तुतस्तु नासाशोष रोग में नासा की श्लेष्मलकला सूखी रहती है तथा नासा का स्राव भी सूख जाता है इसलिये घृतपान, दुग्धपान, स्नेहन कर्म तथा स्नैहिक धूमपान में उपाय प्रशस्त हैं।

शेषान् रोगान्घ्राणजान् सन्नियच्छे-
दुक्तं तेषां यद्यथा संविधानम् ॥ १२ ॥

इति सुश्रुतसंहितायामुत्तरतन्त्रान्तर्गते शालाक्यतन्त्रे नासागतरोगप्रतिषेधो नाम त्रयोविंशोऽध्यायः ॥ २३ ॥

नासारोग चिकित्सोपसंहार—घ्राण (नासा) में होने वाले शेष रोगों (अर्बुद, शोथ, अर्श) आदि की उनके भिन्न भिन्न प्रकरणों में कही हुई चिकित्साविधि के अनुसार चिकित्सा करनी चाहिये ॥ १२ ॥

विमर्शः—नासार्बुद-चिकित्सा—आयुर्वेद में अर्बुदों की वातादिदोषभेद से चिकित्सा लिखी है तथा ग्रन्थि चिकित्सा के अनुसार एवं दोष, दूष्य, स्थान, आकृति का विचार कर चिकित्सा का विधान किया है। विशेष कर स्थानिक चिकित्सार्थ लेप, क्षार, अग्नि, शस्त्रकर्म और स्वेद इनमें से जो विधान जहां उपयुक्त हो किया जाता है। क्षाराग्निशस्त्राण्यवचारयेच्च-मुहुर्मुहुः प्राणमवेक्षमाणः। यदृच्छया चोपगतानि पाकं-पाकक्रमेणोपचरेद् यथोक्तम् ॥ लेपोऽर्बुदजिद्रम्भा-मोचकभस्मतुषशङ्खचूर्णकृतः। सरटरुधिरार्द्रगन्धक-यवाग्रजविडङ्गनागरैर्वाऽथ ॥ स्नुहीगण्डीरिकास्वेदो नाशयेदर्बुदानि च। सीसकेनाथ लवणैः पिण्डारकफलेन च। अर्बुद की आभ्यन्तरिक चिकित्सा के लिये रौद्ररस का प्रयोग तथा काञ्चनार गुग्गुलु का सेवन लाभदायक होता है। आधुनिक चिकित्सा दृष्टि से सौम्यार्बुदों के लिये अग्निकर्म (Cautery or diathermy) तथा शस्त्रकर्म से अर्बुद का आहरण (Removal by snare) तथा वार्टस में क्षकिरण का प्रयोग करें। घातकार्बुदों के लिये रेडियम, गम्भीरक्ष किरण तथा डायाथर्मी की जाती है। नासाशोथ—इसमें व्रणशोथ के समान चिकित्सा करनी चाहिये विशेषतया दोषों के विभेद से यथायोग्य ओषधियों के द्वारा स्नेहन, स्वेदन, सेक, आलेप, लेप, रक्तावसेचन, उपनाह और पाचन प्रभृति उपायों का प्रयोग करना चाहिये। नासार्श चिकित्सा—आयुर्वेद में अर्शरोग को नष्ट करने के लिये चार प्रकार की चिकित्सा की जाती है जैसे (१) रस, भस्म, आसवारिष्ट, घृत-तैलादि भेषज चिकित्सा, (२) क्षारकर्म, (३) शस्त्रकर्म, (४) अग्निकर्म—दुर्नाम्नां साधनोपायश्चतुर्धा परिकीर्तितः। भेषजक्षारशस्त्राग्निसाध्यत्वादाद्य उच्यते ॥ विशेषकर जो पदार्थ वात का अनुलोमन करे तथा जो अग्नि और बल की वृद्धि करे वैसे अनुपान तथा ओषधियों का अर्शरोग में सेवन करना चाहिये। यद्वायोरनुलोम्याय यदग्निबलवृद्धये। अनुपानौषधद्रव्यं तत्सेव्यं नित्यमर्शसैः ॥ शुष्कार्श में प्रलेपादि तीक्ष्ण क्रिया तथा रक्तस्राव में रक्तपित्तनाशक चिकित्सा करनी चाहिये—शुष्कार्शसां प्रलेपादिक्रिया तीक्ष्णा विधीयते। स्राविणां रक्तमालोक्य क्रिया कार्याऽस्रपैत्तिकी ॥ कठिनार्श में शस्त्र या जलौका द्वारा रक्तनिर्हरण करना चाहिये—शस्त्रैर्वाथ जलौकाभिः प्रच्छूनकठिनार्शसः। शोणितं स्रवितं दृष्ट्वा हरेत्प्राज्ञः पुनः पुनः ॥ कई बार देखा जाता है कि नासार्श प्रायः स्वयं टूट कर अदृश्य हो जाते हैं या नाक साफ करते समय जोर के धक्के से स्वयं टूट कर बाहर गिर पड़ते हैं किंवा स्वतन्त्र नाडीमण्डल विकार (Vasomotor disturbances) के कारण अर्श हुआ हो तो इस रोग के नष्ट होने के साथ साथ अर्श भी नष्ट हो जाता है। इसी दृष्टि से नासार्श या अन्यत्र के अर्श के लिये आयुर्वेद में लेप, क्षार, स्नेहन, स्वेदन आदि स्थानिक प्रयोगों का अत्यधिक उल्लेख किया गया है। लेप में (१) हरिद्रा को थूहर के दुग्ध के साथ घिस कर लगाने से अर्श नष्ट हो जाता है—'स्नुक्क्षीरं रजनीयुक्तं लेपाद् दुर्नामनाशनम्'। अथवा (२) कड़वी तुम्बी की जड़ को पानी के साथ घिस कर लेप करने से अर्श नष्ट हो जाते हैं। (३) अर्कक्षीर, स्नुहीक्षीर, कड़वी तुम्बी के पत्ते, करञ्ज की छाल इन्हें बकरे के मूत्र के साथ पीस कर लेप करने से अर्श नष्ट हो जाते हैं। (४) हरिद्रा और कड़वी तुम्बी जड़ इन दोनों को कटु तैल के साथ पीस कर लेप करने से अर्श नष्ट हो जाते हैं—हरिद्राजालिनीचूर्णं कटुतैलसमन्वितम्। एष लेपो वरः प्रोक्तो ह्यर्शसामन्तकारकः। नासाकला थोड़े से कारणों से शीघ्र उत्तेजित हो जाती है अत एव उक्त लेपों का सावधानी से प्रयोग करना चाहिये। तैल प्रयोग—(१) करवीराद्य तैल—लाल कनेर के फूल, चमेली के पत्ते, असन का बारीक बुरादा और मल्लिका के पुष्प या पत्ते इनका कल्क बना के चतुर्गुण तैल तथा तैल से चतुर्गुण पानी मिलाकर पका के नासा में लगाने से अर्श नष्ट हो जाता है—रक्तकरवीरपुष्पं जात्यसनमल्लिकायाश्च। एतैः समन्तु तैलं नासार्शोनाशनं पक्वम् ॥ (२) शिखरितैलम्—गृहधूम, पिप्पली, देवदारु, यवक्षार, करञ्जबीज, सैन्धव लवण तथा अपामार्ग के बीज इनका कल्क तथा चतुर्गुण तैल और तैल से चतुर्गुण पानी मिला के पका कर नासा में लगाने से नासार्श नष्ट हो जाते हैं—गृहधूमकणादारुक्षारनक्ताह्वसैन्धवैः। सिद्धं शिखरिबीजैश्च तैलं नासार्शसां हितम् ॥ (३) चित्रकादि तैल—चित्रक छाल, चव्य, अजवायन, कण्टकारी की जड़, करञ्जबीज, सैन्धव लवण, और आक की जड़ इनका कल्क बना के चतुर्गुण तैल तथा

तैल से चतुर्गुण गोमूत्र डाल कर तैल सिद्ध कर लेवें। यह तैल नासा में लगाने से नासार्श को नष्ट करता है—चित्रकचविका-दीप्यकनिदिग्धिकाकरञ्जलवणाग्निः। गोमूत्रयुतैः सिद्धं तैलं नासार्शसां शान्त्यै॥ आभ्यन्तर प्रयोगों में चित्रक हरीतकी, काङ्कायन-मोदक, प्राणदा गुटिका, चन्द्रप्रभावटी, कुटजावलेह, भल्लात-कावलेह, अगस्तिमोदक, अभयारिष्ट, तक्रारिष्ट, दन्त्यरिष्ट, अर्शःकुठार आदि का प्रयोग यथाविधि करना चाहिये। यदि इन उपायों से अर्श ठीक न हो तो शस्त्रकर्म, क्षारकर्म और अग्निकर्म करना चाहिये।

इत्यायुर्वेदतत्त्वसन्दीपिकाव्याख्यायां नासारोगप्रति-षेधो नाम त्रयोविंशोऽध्यायः॥ २३॥

चतुर्विंशतितमोऽध्यायः।

अथातः प्रतिश्यायप्रतिषेधं व्याख्यास्यामः॥ १॥

यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः॥ २॥

अब इसके अनन्तर प्रतिश्याय-प्रतिषेध नामक अध्याय का व्याख्यान करते हैं जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने कहा है॥ १-२॥

विमर्शः—आचार्यों ने प्रतिश्याय शब्द की व्युत्पत्ति करते समय उसे दो प्रकार से लिखा है (१) प्रतिक्षणं श्यायते इति प्रतिश्यायः'। अर्थात् निरन्तर दोषों की गति होती रहती हो अथवा दोषप्रकोपवश इन्द्रियाधिष्ठान में निरन्तर हलचल होती रहती हो जैसा कि प्रतिश्याय में रोगी बार बार नासा से छींकता रहता है। (२) 'वातं प्रति अभिमुखं श्यायो गमनं कफादीनां यत्र स प्रतिश्यायः'। इसमें प्रति शब्द का अर्थ अभिमुख और श्याय शब्द का अर्थ गमन (गति) है अर्थात् वायु के प्रति अभिमुख कफादिक का गमन जिस रोग में हो उसे प्रतिश्याय कहते हैं। चरकाचार्य ने भी लिखा है कि-नासामूल में स्थित कफ, रक्त तथा पित्त वायु से आध्मात सिर में वायु की ओर जाते हैं—घ्राणमूले स्थितः श्लेष्मा रुधिरं पित्त-मेव च। मारुताध्मातशिरसः श्यायते मारुतम्प्रति॥ प्रतिश्याय-स्ततो घोरो जायते देहकर्षणः॥ साधारण भाषा में प्रतिश्याय को जुकाम कहते हैं। यह अवस्था नासारोगों में सर्व प्रथम तथा प्रधान होती है तथा इसकी समुचित चिकित्सा न करने से प्रतिश्याय पुराना होकर या बिगड़ कर पीनस, पूतिनास आदि अनेक रोगों को जन्म देता है तथा आगे चल कर कास, श्वास, क्षय आदि रोगों में परिणत हो जाता है। आधुनिक दृष्टि से इस रोग को Acute Rhinitis (नासाकलाशोथ) Coryza या Common Cold कहते हैं। राइनाइटिस में नासागत श्लेष्मलकला में तीव्र उपसर्ग पहुंच कर कला पूर्ण-रूप से रक्ताधिक्ययुक्त एवं लाल हो जाती है तथा ग्रन्थि की उद्रेचन क्रिया बढ़ जाती है जिससे अत्यधिक नासास्राव होने लगता है।

नारीप्रसङ्गः शिरसोऽभितापो
धूली रजः शीतमतिप्रतापः।
सन्धारणं मूत्रपुरीषयोश्च
सद्यः प्रतिश्यायनिदानमुक्तम्॥ ३॥

सद्योजनक हेतु—अतिशय स्त्रीप्रसङ्ग, सिर का अभिताप, धूम का सम्पर्क, रज (धूलि) का नासा में प्रवेश, शीत (ओस) में शयन या शीत का देह पर प्रभाव, भट्टी के पास रहना या रेल के इञ्जिन में काम करने या धूप में घूमने से एवं मूत्र और मल के वेगों को रोकने से सद्यः प्रतिश्याय रोग उत्पन्न होता है॥ ३॥

चयङ्गता मूर्द्धनि मारुतादयः
पृथक् समस्ताश्च तथैव शोणितम्।
प्रकोप्यमाणा विविधैः प्रकोपणै-
र्नृणां प्रतिश्यायकरा भवन्ति हि॥ ४॥

कालान्तर जनक या चयादिक्रमजन्य हेतु—वातादि दोष तथा रक्त पृथक्-पृथक् (व्यष्टि) रूप से अथवा समष्टि (सम्मिलित) रूप से मस्तिष्क में सञ्चित होकर पश्चात् बल-वद्विग्रह, दिवाशयन आदि अनेक प्रकार के प्रकोपक कारणों से कुपित हो कर मनुष्यों में प्रतिश्याय रोग उत्पन्न करते हैं॥ ४॥

विमर्शः—आधुनिक शालाक्य ग्रन्थों में प्रतिश्याय की उत्पत्ति में उपसर्ग (Bacterial infection) तथा धूलि, रज, अवश्याय प्रभृति कारणों से श्लेष्मलकला का प्रक्षोभ (Irritation) होना ये दो मुख्य कारण माने गये हैं। तृणाणु (Bacterios) तो सदा नासा में रहते ही हैं उन्हें थोड़ी सी ही अनुकूलता मिलने पर वे अचानक रोगोत्पत्ति में कारण बन जाते हैं। ठण्ढ तथा ओस के कारण नासा का तापक्रम कम हो जाता है जिससे नासागत रक्ताल्पता हो जाती है और तृणाणु अपना आक्रमण कर देते हैं।

शिरोगुरुत्वं क्षवथोः प्रवर्त्तनं
तथाऽङ्गमर्दः परिहृष्टरोमता।
उपद्रवाश्चाप्यपरे पृथग्विधा
नृणां प्रतिश्यायपुरःसराः स्मृताः॥ ५॥

प्रतिश्यायपूर्वरूप—सिर में भारीपन, छींकों का आना, अङ्गों में मर्दन सी पीड़ा, शरीर में रोमाञ्च होना तथा अन्य दूसरे नाना प्रकार के ज्वर, अरोचक आदि उपद्रव ये सब प्रतिश्याय के पूर्वरूप हैं॥ ५॥

विमर्शः—प्रतिश्याय के पूर्वरूप के विषय में आचार्य विदेह का कथन है कि नाक में धुआं सा भरा मालूम होना, नासा में चिपचिपाहट, गले या स्वर का बैठना, मुख से लार या नासा से पानी का निकलना, छींके आना, सिर का भारीपन तथा तालु में फटने की सी पीड़ा होना ये लक्षण होते हैं—पूर्वरूपाणि दृश्यन्ते प्रतिश्याये भविष्यति। घ्राणधूमायनं मन्धः क्षवथुस्तालुदारणम्॥ कण्ठध्वंसो मुखस्रावः शिरसः पूर्णता तथा॥ रूपावस्था—में उक्त लक्षण ही अधिक बढ़ जाते हैं तथा वातादि दोषों के अनुसार विभिन्न वक्ष्यमाण लक्षण स्पष्ट होते हैं। तीव्रावस्था—स्रावाधिक्य, नासानाह का अनुभव, नेत्र से अश्रुस्राव, तापक्रम का बढ़ना, रुग्ण को दौर्बल्य की प्रतीति (General malaise) तथा शिरःशूल की तीव्रता होना।

of recovery)—में नासास्राव अधिक हो जाता है तथा नासा में अवरोध की होने लगती है किन्तु कुछ घण्टों से लेकर स्रोत खुल जाता है तथा श्वास कार्य जाता है एवं धीरे धीरे स्राव की अवस्था । इस तरह ये उक्त प्रतिश्याय के लक्षण न्तु सुश्रुताचार्य ने दोषों के अनुसार प्रति- ये हैं जैसे वातज, पित्तज, कफज, रक्तज सरत्नसमुच्चयकार ने एक छठवाँ भेद । है । आयुर्वेद सिद्धान्तानुसार दोषभेद कित्सा में भी भेद आ जाता है अत एव भेदानुसार लक्षण लिखे जाते हैं।

नासा तनुस्रावप्रवर्त्तिनी ।
श्च निस्तोदः शङ्खयोस्तथा ॥ ६ ॥
वेत् प्रतिश्यायेऽनिलात्मके ॥ ७ ॥

य में—नासा अवरुद्ध या तनी हुई तथा ो प्रतीत होती है एवं उससे पतला स्राव सिवाय गले, तालु और ओष्ठ में शोष एवं शङ्खप्रदेश में सूई चुभोने की सी े लक्षण होते हैं ॥ ६–७ ॥

ीकाकारों ने सुश्रुत के वातिक प्रतिश्याय ोकों में निम्न परिवर्तन किया है—तत्र पो भृशं क्षवः। घ्राणोपरोधनिस्तोदो दन्तस्र- इव सर्पन्ति मन्यते परितो भ्रुवौ। स्वरसाद- श्रुकफस्रुतिः॥

स्रावो घ्राणात् स्रवति पैत्तिके ।
सन्तप्तो भवेत् तृष्णानिपीडितः ॥
हं वमतीव च मानवः ॥ ८ ॥

य में—रोगी की नासा से उष्ण तथा कलता है तथा वह रोगी दुर्बल, अत्यधिक सन्तप्त तथा प्यास से पीड़ित रहता है ने मुख अथवा नासा से धूएं के सहित हुआ सा प्रतीत होता है ॥ ८ ॥

क प्रतिश्याय के लक्षणदर्शक श्लोक में है—पित्तात्तृष्णाज्वरघ्राणपिटिकासम्भवभ्रमाः । ताम्रपीतकफस्रुतिः। नासापिडिका (Furun-

ाणाच्छुक्लः शीतः स्रवेन्मुहुः ।
ाक्षो भवेद् गुरुशिरोमुखः ॥
नां कण्डूयनमतीव च ॥ ९ ॥

य में—नासा से श्वेत तथा शीत कफ का ा है तथा रुग्ण का शरीर श्वेत वर्ण का ांखे सूजी हुई सी एवं सिर और मुख पर , गला, ओष्ठ और तालुप्रदेश में खुजली

ेश्यायो योऽकस्माद्विनिवर्त्तते ॥ १० ॥

सम्पक्वो वाऽप्यपक्वो वा स सर्वप्रभवः स्मृतः ।
लिङ्गानि चैव सर्वेषां पीनसानां च सर्वजे ॥ ११ ॥

सान्निपातिक प्रतिश्याय में—प्रतिश्याय बार बार हो कर अचानक स्वयं शान्त हो जाता है तथा पक भी जाता है और कभी कभी नहीं भी पकता है उसे सर्वदोषजन्य प्रतिश्याय कहते हैं। इसमें सर्वप्रकार के पीनस रोगों के लक्षण भी मिलते हैं ॥ १०–११ ॥

रक्तजे तु प्रतिश्याये रक्तास्रावः प्रवर्त्तते ।
ताम्राक्षश्च भवेज्जन्तुरुरोघातप्रपीडितः ॥ १२ ॥
दुर्गन्धोच्छ्वासवदनस्तथा गन्धान्न वेत्ति च ।
मूर्च्छन्ति चात्र कृमयः श्वेताः स्निग्धास्तथाऽणवः ॥
कृमिमूर्द्धविकारेण समानं चास्य लक्षणम् ॥ १३ ॥

रक्तजन्य प्रतिश्याय में—नासा से लालवर्ण का स्राव होता है, रोगी की आंख ताम्रवर्ण की (सुर्ख) हो जाती है तथा उरोघात के लक्षणों से पीड़ित रहता है, उसके श्वास में तथा मुख से दुर्गन्ध आती है और गन्धज्ञान नहीं कर सकता है तथा नासा में श्वेत, चिकने और छोटे छोटे कृमि प्रादुर्भूत होकर नासा से गिरते रहते हैं। ऐसी स्थिति में कृमिजन्य शिरोरोग के समान लक्षण इस रोग में उत्पन्न होते हैं ॥ १२–१३ ॥

विमर्शः—तन्त्रान्तरोक्त उरोघात लक्षण निम्न हैं—उरःक्षत- मुरःस्तम्भः पूतिकर्णकफो रसः। सकासः सज्वरो ज्ञेय उरोघातः सपीनसः ॥ कृमिजन्यशिरोरोगलक्षण—निस्तुद्यते यस्य शिरोऽति- मात्रम् इत्यादिरूप से आगे शिरोरोग प्रकरण में कहेंगे।

प्रक्लिद्यति पुनर्नासा पुनश्च परिशुष्यति ।
मुहुरानह्यते चापि मुहुर्विव्रियते तथा ॥ १४ ॥
निःश्वासोच्छ्वासदौर्गन्ध्यं तथा गन्धान्न वेत्ति च ।
एवं दुष्टप्रतिश्यायं जानीयात् कृच्छ्रसाधनम् ॥ १५ ॥

दुष्टप्रतिश्याय में—नासिका कभी तो प्रक्लिन्न (गीली) हो जाती है तथा कभी सूख जाती है तथा कभी तो खुली रहती है और कभी बन्द हो जाती है, श्वास और प्रश्वास में दुर्गन्धि आती है, रुग्ण का गन्धज्ञान नष्ट हो जाता है। इन लक्षणों से दुष्टप्रतिश्याय को पहचानना चाहिये, यह कृच्छ्र- साध्य रोग है ॥ १४–१५ ॥

विमर्शः—वृद्धसुश्रुतमत में आम तथा पक्व पीनस के निम्न लक्षण लिखे हैं जो कि चिकित्सा में बड़े महत्त्व के हैं— आमपीनस लक्षण—अरुचिर्विरसं वक्त्रं नासास्रावो रुजाऽरतिः। शिरोगुरुत्वं क्षवथुर्ज्वरश्चामस्य लक्षणम् ॥ अरुचि, मुख के स्वाद में विरसता, नासास्राव, बेचैनी, सिर में भारीपन, छींके आना तथा ज्वर होना ये आमपीनस के लक्षण हैं। पक्वपीनस लक्षण- तनुत्वमामलिङ्गानां शिरोनासास्यलाघवम्। घनपीनकफत्वञ्च पक्व- पीनसलक्षणम् ॥ उक्त आमपीनस के लक्षणों का कम होना, सिर, नासा तथा मुख में हलकापन तथा नासा से स्रवित होने वाले कफ का गाढा होना पक्वपीनस के लक्षण हैं।

सर्व एव प्रतिश्याया नरस्याप्रतिकारिणः ।
कालेन रोगजनना जायन्ते दुष्टपीनसाः ॥ १६ ॥

बाधिर्यमान्ध्यमघ्राणं घोरांश्च नयनामयान् ॥
कासाग्निसादशोफांश्च वृद्धाः कुर्वन्ति पीनसाः ॥ १७ ॥

प्रतिश्याय के उपद्रव—चिकित्सा नहीं करने वाले मनुष्य के वातपित्तादिजन्य सर्व प्रकार के प्रतिश्याय काल (समय) के बीतने पर या कालान्तर में विभिन्न प्रकार के रोगों को उत्पन्न कर देते हैं तथा वे ही प्रतिश्याय दुष्टपीनस का रूप धारण कर लेते हैं तथा बढे हुये ये प्रतिश्याय और पीनस—बाधिर्य, अन्धता, घ्राणशक्ति का नाश, भयङ्कर नेत्ररोग, कास, अग्निमान्द्य और शोथ आदि उपद्रवों को उत्पन्न करते हैं ॥१६-१७॥

नवं प्रतिश्यायमपास्य सर्वमुपाचरेत्सर्पिष एव पानैः ।
स्वेदैर्विचित्रैर्वमनैश्च युक्तैः कालोपपन्नैरवपीडनैश्च ॥१८॥

प्रतिश्यायसामान्य चिकित्सा—नवीन प्रतिश्याय को छोड़ कर शेष सर्व प्रकार के प्रतिश्यायों में घृतपान ही के द्वारा उपचार करना चाहिये पश्चात् नाना प्रकार के स्वेदन करावें एवं युक्त तथा उचित काल के अनुसार वमन करा के अवपीडन नस्य देना चाहिये ॥ १८ ॥

विमर्शः—प्रायः प्रतिश्याय तथा पीनस रोगों में वायु प्रधान कारण होता है अतएव उसके संशमन के लिये घृतपान प्रधान माना गया है—पीनसानाञ्च सर्वेषां हेतुर्यस्मात् समीरणः । कफपित्ताधिकेऽप्यस्मात् मारुतं समुपक्रमेत् ॥ तस्मादभिष्यन्दमुदीर्यमाणमुपाचरेदादित एव धीमान् । घृतं सहिङ्ग्वम्लकटूष्णसिद्धैः स्वेदैर्विचित्रैर्वमनैश्च तीक्ष्णैः । कटुत्रिकं चित्रकतिन्तिडीकं तालीसपत्रं चविकासमंशम् ॥ विचूर्णितं जीरकचूर्णयुक्तमेलाच्छदत्वक्सुरभीकृतञ्च । मिश्रं पुराणेन गुडेन दद्यात् तत् पीनसानां परिपाचनार्थम् । एवं गुडश्चापि कटुत्रिकेण घृतप्रगाढं प्रलिहेत् सुखोष्णम् । सर्पिर्गुडाभ्यां कटुकैश्च पक्वान् खादेच्च शक्तूनपि नातिशीतान् । गुडाधिकं चार्द्रकमादिशन्ति युक्तौषधं तत्परिपाचनार्थम् । शिरोविरेकं वमनञ्च केचिदामेन दारुण्यमिति ब्रुवन्ति ।

अपच्यमानस्य हि पाचनार्थं
स्वेदो हितोऽम्लैरहिमं च भोज्यम् ।
निषेव्यमाणं पयसाऽऽर्द्रकं वा
सम्पाचयेदिक्षुविकारयोगैः ॥ १९ ॥

अपक्व प्रतिश्याय को पकाने के लिये काञ्जी आदि अम्ल पदार्थों के द्वारा स्वेदन करना चाहिये तथा अहिम (उष्ण) वस्तुओं का भोजन कराना चाहिये । अथवा दुग्ध में अदरख डाल कर पका के पिलाना चाहिये । इसके अतिरिक्त सांठे के विकार जैसे गुड़, फाणित के योगों (लप्सी, मालपुए आदि) का सेवन कराना चाहिये ॥ १९ ॥

विमर्शः—अपक्व प्रतिश्याय में आहार तथा विहार में उष्ण पदार्थों का प्रयोग करने से नवीन प्रतिश्याय तथा आमदोष शीघ्र ही पक जाते हैं । इसके लिये उष्ण जल का पान, दुग्ध में सोंठ पका के पीना, शुण्ठीचूर्ण को गुड में मिला कर खाना, स्निग्ध, दधि, अम्ल, आनूप मांस, कुलथी, उड़द, कच्ची मूली का सेवन करने से तरुण स्राव घनरूप में बदल जाता है—'ग्राम्याणि मांसानि दधीनि मर्थं माषान् कुलत्थान् लवणं कटूनि । अम्लं तथा चामकमूलकञ्च तथा पलान्नं तरुणः प्रयाति'। सोषणं गुडसंयुक्तं स्निग्धदध्यम्लभोजनम् । नवप्रतिश्यायहरं विशेषात्कफपाचनम् ॥ भैषज्यरत्नावली में लिखा है कि—नवीन प्रतिश्याय में इमली के पत्तों का यूष बनाकर पीना चाहिये—प्रतिश्याये नवे शस्तो यूषश्चिञ्चाच्छदोद्भवः ।

पक्वं घनं चाप्यवलम्बमानं शिरोविरेकैरपकर्षयेत्तम् ।
विरेचनास्थापनधूमपानैरवेक्ष्य दोषान् कवलग्रहैश्च ॥२०॥

पक्वप्रतिश्याय चिकित्सा— कालाधिक्य अथवा औषधोपचार से प्रतिश्याय पक्व होकर उसमें कफ गाढ़ा हो जाता है तथा वह नासा में लटकता रहता है ऐसी स्थिति में तीक्ष्ण औषधियों (अपामार्ग बीज, विडङ्ग, पिप्पली) के चूर्ण का नस्य देकर उसे निकाल देना चाहिये । शिरोविरेचन के अतिरिक्त कायविरेचन, आस्थापन बस्ति, धूमपान और कवलग्रह इन उपायों से दोषों के अनुसार चिकित्सा करनी चाहिए ॥ २० ॥

निवातशय्यासनचेष्टनानि
मूर्ध्नो गुरूष्णञ्च तथैव वासः ।
तीक्ष्णा विरेकाः शिरसः सधूमा
रूक्षं यवान्नं विजया च सेव्या ॥ २१ ॥

पक्वप्रतिश्याय में सेवनीय—झोंके वाली तथा शीतल वायु से रहित स्थान (घर) में सोना, बैठना तथा क्रीडादि चेष्टाकर्म करना चाहिये । मस्तिष्क पर मोटा तथा गरम वस्त्र (मफलर) लपेटना चाहिए तथा शरीर पर भी मोटे (खद्दर के) वस्त्र अथवा ऊनी कोट पहनने चाहिए । तीक्ष्ण ओषधियों द्वारा विरेचन तथा शिरोविरेचन देना चाहिये एवं धूमपान, रूक्ष पदार्थों का सेवन, जौ की रोटी या जौ की थूली या यवयूष (बारली) और विजया का सेवन करना चाहिए ॥ २१ ॥

शीताम्बुयोषिच्छिशिरावगाह-
-चिन्ताऽतिरूक्षाशनवेगरोधान् ।
शोकञ्च मद्यानि नवानि चैव
विवर्जयेत् पीनसरोगजुष्टः ॥ २२ ॥

प्रतिश्यायवर्जनीय— शीतल जल का पान तथा उससे स्नान करना, स्त्रीप्रसङ्ग, ठंडे पानी की टब में बैठना या ठंडे पानी में डुबकी लगाना किंवा शीतल झरने या शीतल बाग-बगीचे, धारागृहों में अवगाहन (प्रवेश), चिन्ता, अत्यधिक रूक्ष पदार्थों का सेवन, अधारणीय मल-मूत्र, छिक्का आदि के वेगों को रोकना, शोक करना, नवीन मद्यों का पान ये सब प्रतिश्याय या पीनस रोगी के लिये वर्जनीय हैं ॥ २२ ॥

छर्द्यङ्गसादज्वरगौरवार्त्तमरोचकारत्यतिसारयुक्तम् ।
विलङ्घनैः पाचनदीपनीयैरुपाचरेत् पीनसिनं यथावत् ॥

सोपद्रव प्रतिश्यायपीनस चिकित्सा—वमन, अङ्गमर्द, ज्वर, गौरव, अरुचि, अरति (बेचैनी) और अतिसार आदि इन उपद्रवों से युक्त प्रतिश्याय या पीनस रोगी को प्रथम लङ्घन कराना चाहिये तथा पाचन और दीपनीय ओषधियों का सेवन कराना चाहिए ॥ २३ ॥

बहुद्रवैर्वातकफोपसृष्टं प्रच्छर्दयेत् पीनसिनं वयःस्थम् ।
उपद्रवांश्चापि यथोपदेशं स्वैर्भेषजैर्भोजनसंविधानैः ।
जयेद्दिदित्वा मृदुतां गतेषु प्राग्लक्षणेषूक्तमथादिशेच्च २४

वात और कफ दोष से व्याप्त तरुण (सशक्त) रोगी को अत्यधिक द्रव पदार्थ जैसे कुनकुना पानी और नमक, तूर की दाल का धोवन पिला के वमन करा देना चाहिये तथा साथ में अन्य ज्वर, अतिसार, अरुचि प्रभृति उपद्रव हों तो उनकी यथाशास्त्रोपदिष्ट ओषधियों से तथा यवागू आदि भोजन-कल्पनाओं से चिकित्सा करनी चाहिए। इस तरह पूर्व में कहे हुये शिरोगुरुत्व, गलतालुवेदना प्रभृति लक्षणों के मृदु (शान्त) हो जाने पर यथोक्त पथ्यकारी आहार-विहार के सेवन का उपदेश करना चाहिए ॥ २४ ॥

वातिके तु प्रतिश्याये पिबेत् सर्पिर्यथाक्रमम्।
पञ्चभिर्लवणैः सिद्धं प्रथमेन गणेन च ॥
नस्यादिषु विधिं कृत्स्नमवेक्षेतार्दितेरितम् ॥ २५ ॥

वातिकप्रतिश्याय में— यथाक्रम (स्नेहपान क्रम) से पाँचों लवणों से सिद्ध अथवा प्रथम (विदारिगन्धादि) गण की ओषधियों के कल्क और क्वाथ से सिद्ध किये हुये घृत का पान करना चाहिये, इसके सिवाय अर्दितरोगोक्त नस्यादिविधि का समग्ररूप से प्रयोग करना चाहिये ॥ २५ ॥

पित्तरक्तोत्थयोः पेयं सर्पिर्मधुरकैः शृतम्।
परिषेकान् प्रदेहांश्च कुर्यादपि च शीतलान् ॥ २६ ॥

पित्त तथा रक्तजन्य प्रतिश्याय में—मधुरकादि (काकोल्यादि) गण की ओषधियों के कल्क और क्वाथ से सिद्ध घृत का पान करना चाहिये तथा शीतल ओषधियों के स्वरस या शीतकषायों के द्वारा शरीर का या विशेष कर मस्तिष्क का परिषेचन करना तथा चन्दन, कर्पूर, लवङ्गादि शीतप्रकृतिक द्रव्यों का सिर पर लेप करना लाभदायक होता है ॥ २६ ॥

श्रीसर्जरसपत्तङ्गप्रियङ्गुमधुशर्कराः।
द्राक्षामधूलिकागोजीश्रीपर्णीमधुकैस्तथा ॥
युज्यन्ते कवलाश्चात्र विरेको मधुरैरपि ॥ २७ ॥

पित्तरक्तजन्य प्रतिश्याय में—श्रीवेष्टक (गन्धविरोजा), सर्जरस (राल), लालचन्दन, प्रियङ्गु, शहद, शर्करा, मुनक्का मधूलिका (गिलोय), गोजिह्वा, श्रीपर्णी (गम्भारी) और मुलेठी इन द्रव्यों के कल्क से सिद्ध घृत का पान कराना चाहिये किंवा इन द्रव्यों के क्वाथ से कवल धारण कर कुछ देर बाद कुल्ले करने चाहिये एवं मुलेठी आदि मधुर द्रव्यों से विरेचन कराना चाहिये ॥ २७ ॥

धवत्वक्त्रिफलाश्यामातिल्वकैर्मधुकेन च ॥ २८ ॥
श्रीपर्णीरजनीमिश्रैः क्षीरे दशगुणे पचेत्।
तैलं कालोपपन्नं तन्नस्यं स्यादनयोर्हितम् ॥ २९ ॥

धवादितैल नस्य—धव की छाल, हरड़, बहेड़ा, आंवला, काली निशोथ (श्यामा), लोध (तिल्वक), मुलेठी, गम्भारी (श्रीपर्णी) और हरिद्रा इन द्रव्यों को समान प्रमाण में लेकर यवकुट करके जल के साथ पत्थर पर पीसकर कल्क बना लेना चाहिये फिर इस कल्क से चतुर्गुण तिल तैल तथा तैल से दसगुना गोदुग्ध एवं सम्यक्पाकार्थ चतुर्गुण जल मिला कर यथाविधि तैल पका के छान कर शीशी में भर देवें। इस धवादि तैल का पित्त तथा रक्तजन्य प्रतिश्याय में योग्य काल में नस्य देने से लाभ होता है ॥ २८-२९ ॥

कफजे सर्पिषा स्निग्धं तिलमाषविपक्वया।
यवाग्वा वामयेद्वान्तः कफघ्नं क्रममाचरेत् ॥ ३० ॥

कफजप्रतिश्याय में – सर्वप्रथम रोगी को घृतपान के द्वारा स्नेहित करके तिल और उड़दों से बनी हुई यवागू पिला कर वमन कराना चाहिये। इसके अनन्तर कफ को नष्ट करने के लिये आन्तरिक ओषधियां सेवन करानी चाहिये अथवा अन्न संसर्जन (पेया आदि विधि) का उपयोग करना चाहिये ॥३०॥

उभे बले बृहत्यौ च विडङ्गं सत्रिकण्टकम् ॥ ३१ ॥
श्वेतामूलं सदाभद्रां वर्षाभूश्चात्र संहरेत्।
तैलमेभिर्विपक्वं तु नस्यमस्योपकल्पयेत् ॥ ३२ ॥

बलादितैलनस्य— बला, अतिबला छोटी कण्टकारी, बड़ी कण्टकारी, बायविडङ्ग, गोखरू, अपराजिता की जड़, गम्भारी (सदाभद्रा) और पुनर्नवा (वर्षाभू) इन्हें समान प्रमाण में लेकर यवकुट करके पानी के साथ पत्थर पर पीस कल्क बना लेवें। फिर इस कल्क से चतुर्गुण तिलतैल ले कर तैल से चतुर्गुण पानी मिला के यथाविधि तैल पका लेवें। इस तैल का कफज प्रतिश्याय में नस्य देने से लाभ होता है ॥३१-३२॥

विमर्शः—हाराणचन्द्र चक्रवर्ती ने सदाभद्रा के स्थान पर सहा, भद्रा ऐसे पृथक्-पृथक् दो शब्द मान कर सहा का अर्थ मुद्गपर्णी और भद्रा का अर्थ रास्ना किया है।

सरलाकिणिहीदारुनिकुम्भेङ्गुदिभिः कृताः।
वर्तयश्चोपयोज्याः स्युर्धूमपाने यथाविधि ॥ ३३ ॥

वर्तिप्रयोग— सरला (त्रिवृत् या चीड़), किणही (अपामार्ग), देवदारु, निकुम्भा (दन्ती की जड़) और हिङ्गोट इन्हें समान प्रमाण में ले कर यवकुट करके पानी के साथ भिगो कर पत्थर पर पीस कर यथाविधि वर्तियां बना के सुखा कर शीशी में भर देवें। इन वर्तियों को यथाविधि धूमपान में प्रयुक्त करें ॥ ३३ ॥

विमर्शः—वृन्दमाधव ने सुश्रुतोक्त श्लोक को निम्नरूप से लिखा है—दार्वीङ्गुदानिकुम्भैश्च किणिह्या सुरसेन च। वर्तयोऽथ पृथग् योज्या धूमपाने यथाविधि।

सर्पींषि कटुतिक्तानि तीक्ष्णधूमाः कटूनि च।
भेषजान्युपयुक्तानि हन्युः सर्वप्रकोपजम् ॥ ३४ ॥

सन्निपातजप्रतिश्याय में— कटु तथा तिक्त द्रव्यों से सिद्ध किये हुये घृत, तीक्ष्ण ओषधियों के धूमपान तथा कटु ओषधियों का चूर्ण, गुटिका, अवलेह आदि रूप में प्रयोग सन्निपातजन्य प्रतिश्याय को नष्ट करता है ॥ ३४ ॥

रसाञ्जने सातिविषे मुस्तायां भद्रदारुणि।
तैलं विपक्वं नस्यार्थे विदध्याच्चात्र बुद्धिमान् ॥ ३५ ॥

रसाञ्जनादितैलनस्य—रसाञ्जन, अतीस, नागरमोथा, देवदारु इन्हें समान प्रमाण में लेकर खांड कूट के पानी के साथ पीस कर कल्क बना लेवें फिर इस कल्क से चतुर्गुण तिलतैल तथा तैल से चतुर्गुण पानी मिला कर यथाविधि पाक

करके छान कर शीशी में धर देवें। बुद्धिमान वैद्य इस तैल को सान्निपातिक प्रतिश्याय में नस्य के रूप में प्रयुक्त करे ॥ ३५ ॥

मुस्ता तेजोवती पाठा कट्फलं कटुका वचा।
सर्षपाः पिप्पलीमूलं पिप्पल्यः सैन्धवाग्निकौ ॥ ३६ ॥

तुत्थं करञ्जबीजञ्च लवणं भद्रदारु च।
एतैः कृतं कषायन्तु कवले सम्प्रयोजयेत् ॥
हितं मूर्द्धविरेके च तैलमेभिर्विपाचितम् ॥ ३७ ॥

मुस्तादिकवल—नागरमोथा, तेजबल, पाठा, कायफल, कुटकी, वचा, सरसो, पिपरामूल, पिप्पली, सैन्धव लवण, चित्रक, तुत्थ, करञ्जबीज, साधारण लवण और देवदारु इन्हें समान प्रमाण में यवकुट करके अष्टगुण जल में क्वाथ बना कर चौथाई शेष रहने पर कवल के रूप में प्रयोग करें। इसी प्रकार इन उपर्युक्त मुस्तादिद्रव्यों के कल्क से पकाया हुआ तैल शिरोविरेचन के लिये हितकारी होता है ॥ ३६-३७ ॥

क्षीरमर्द्धजले क्वाथ्यं जाङ्गलैर्मृगपक्षिभिः ॥ ३८ ॥
पुष्पैर्विमिश्रं जलजैर्वातघ्नैरौषधैरपि।
हिमे क्षीरावशिष्टेऽस्मिन् घृतमुत्पाद्य यत्नतः ॥ ३९ ॥

सर्वगन्धसिताऽनन्तामधुकं चन्दनं तथा।
आवाप्य विपचेद् भूयो दशक्षीरन्तु तद् घृतम् ॥ ४० ॥

नस्ये प्रयुक्तमुद्रिक्तान् प्रतिश्यायान् व्यपोहति।
यथास्वं दोषशमनैस्तैलं कुर्य्याच्च यत्नतः ॥ ४१ ॥

दशक्षीरघृतप्रयोग—जङ्गली मृग तथा पक्षियों के मांस का कल्क बना कर उससे अष्टगुण दुग्ध ले कर उसमें दुग्ध से आधे प्रमाण जल, जल में होने वाले कमल आदि पुष्पों का कल्क तथा वातनाशक दशमूल और विदारीगन्धादि ओषधियों का भी कल्क मिला कर दुग्ध पाक करना चाहिये। दुग्धावशेष रहने पर हिम (शीत) हो जाय तब उस दुग्ध को मथ कर युक्ति से घृत निकाल लेना चाहिये। फिर इस घृत में एलादि गण में पठित सुगन्धित ओषधियाँ, शर्करा, अनन्तमूल (सारिवा), मुलेठी और लालचन्दन इनका कल्क घृत से चतुर्थांश मिला के चतुर्गुण पानी डाल कर घृतपाक कर लेवें। इस घृत का नस्य लेने से सर्व प्रकार के बढ़े हुए प्रतिश्यायों को नष्ट कर देता है। इसी घृत की तरह वातादि विभिन्न दोषों को नष्ट करने वाली ओषधियों का कल्क डाल कर यथाविधि तैलपाक करके उसका नस्य लेने से प्रतिश्याय नष्ट हो जाते हैं ॥ ३८-४१ ॥

समूत्रपित्ताश्चोद्दिष्टाः क्रियाः कृमिषु योजयेत्।
यापनार्थं कृमिघ्नानि भेषजानि च बुद्धिमान् ॥ ४२ ॥

इति सुश्रुतसंहितायामुत्तरतन्त्रान्तर्गते शालाक्यतन्त्रे प्रतिश्यायप्रतिषेधो नाम चतुर्विंशतितमोऽध्यायः ॥ २४ ॥

नासाकृमिहर योग—नासागत कृमियों को नष्ट करने के लिये कृमिनाशक विडङ्गादि ओषधियों को गोमूत्र या गोपित्त के साथ पीस कर नस्य रूप में प्रयुक्त करें एवं कृमिरोगाधिकार में जो जो धूपन, नस्य आदि की क्रियायें बताई हैं उनका प्रयोग करें इसके अतिरिक्त सुरसादि गण की ओषधियों का बुद्धिमान वैद्य कृमिरोग के यापन (गिराने) के लिये प्रयोग करें ॥४२॥

विमर्शः—नासागत कृमियों को नष्ट करने के लिये लाल आम्रपत्र के स्वरस का तक्र के साथ नस्य देना चाहिये तथा उन्हीं पत्तों को पीस कर नासिका के अग्रभाग पर बांधने से तीन दिन में नासाकृमि बाहर निकल कर गिर जाते हैं—रक्ताम्रस्वरसः शुद्धस्तक्रेण सह नस्यतः। तस्य पर्णानि पिष्ट्वा च बध्नीयान्नासिकामुखे ॥ पतन्ति कीटकाः सद्यो योगोऽयं त्रिदिनैर्हितः ॥

इत्यायुर्वेदतत्त्वसन्दीपिकाव्याख्यायां प्रतिश्यायप्रतिषेधो नाम चतुर्विंशतितमोऽध्यायः ॥ २४ ॥

पञ्चविंशतितमोऽध्यायः।

अथातः शिरोरोगविज्ञानीयमध्यायं व्याख्यास्यामः ॥१॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥ २ ॥

अब इसके अनन्तर शिरोरोगविज्ञानीय नामक अध्याय का व्याख्यान करते हैं जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने कहा है ॥ १-२ ॥

विमर्शः—शिरोरोग शब्द के अर्थ के विषय में विभिन्न मत हैं। आचार्य सुश्रुत ने शिर शब्द से जिसमें प्राणियों के प्राण तथा सम्पूर्ण इन्द्रियां आश्रित हों एवं जो शरीर के अङ्गों में उत्तम अङ्ग हो उसे शिर कहते हैं ऐसा अर्थ किया है—प्राणाः प्राणभृतां यत्र श्रिताः सर्वेन्द्रियाणि च। यदुत्तमाङ्गमङ्गानां शिरस्तदभिधीयते। शिरोरोग शब्द से सिर के बाह्य तथा आभ्यन्तरिक भागों में होने वाले जितने भी रोग हैं उनका ग्रहण होना चाहिए जैसा कि आधुनिक ग्रन्थकारों ने शिरोविद्रधि, शिरोग्रन्थि, शिरोऽर्बुद, अरुंषिका, दारुणक, खालित्य, पालित्य, इन्द्रलुप्तिका, यूका, लिक्षा, अनुशयी तथा बृहन्मस्तिष्क, लघुमस्तिष्क और वात संस्थान की विकृतियों का वर्णन किया है किन्तु आयुर्वेद के शास्त्रीय वर्गीकरण के अनुसार सिर में होने वाली विद्रधि का वर्णन सामान्य विद्रधि रोग के अधिकार में, सिर की ग्रन्थि और अर्बुद का वर्णन सामान्य ग्रन्थि और अर्बुद नामक शल्यतन्त्रान्तर्गत विषयों में एवं कतिपय शिरोरोगों जैसे-पलित और इन्द्रलुप्तिका प्रभृति रोगों का वर्णन क्षुद्र रोगाधिकार में आता है तथा बहुत से ऐसे रोगों का कायचिकित्सा से सम्बन्धित वातरोगाधिकार में वर्णन किया हुआ मिलता है। इसी दृष्टि से माधवनिदान के शिरोरोग प्रकरण की मधुकोष टीका में शिरोरोग शब्द से सिर में होने वाली शूलरूपी रुजा (पीडा) का ग्रहण किया है जिससे सूर्यावर्त, अनन्तवात, अर्धावभेदक रोगों का वर्णन शिरोरोगों में सङ्कल हो जाता है क्योंकि उन सभी में शिरःशूल होता है अत एव शिरोरोग से शिरःशूल या पीडा का बोध होता है न कि सिर में होने वाले रोग—'शिरोरोगशब्देन शिरोगतशूलरूपा रुजाऽभिधीयते, तेन सूर्यावर्तानन्तवातार्धावभेदकशङ्खकैरित्यभिधानमुपपद्यते,

अन्यथा तेषामेव शिरोरोगत्वात्तैः शिरोरोगा जायन्त इत्यसङ्गतं स्यात्' (मा० मधु० शिरोरोगनि०) चरक चक्रपाणिटीका में भी इसी भाव की पुष्टि के लिये स्पष्ट लिखा है कि सिर में होने वाली पीडा शिरोरोग है जिससे अरुंषिका प्रभृति शिरःस्थ व्याधियां भी शिरोरोग शब्द से नहीं गिनी जाती हैं क्योंकि शिरोरोग शब्द से रुजाकारक शिरःशूल का ही बोध होता है—'तेन नारुंषिकादयोऽत्र प्रकरणे शिरोरोगशब्देनोच्यन्ते' शिरोरोगशब्दस्य शूल एव रुजाकरे वृत्तत्वात्' (च. चक्र. सू. अ. १७) वस्तुतस्तु नेत्र, नासा, कर्ण, मुख और गल रोग को छोड़ कर शेष समस्त रोगों का शिरोरोग शब्द से ग्रहण होना चाहिये तथा उनका एक ही स्थल पर क्रमशः निदान और चिकित्सा का वर्णन होना अत्यावश्यक है। शिरोरोग शब्द का केवल शिरोरुजा या शिरःशूल अर्थ करना व्यर्थ वितण्डावाद है इसी दृष्टि से वाग्भटाचार्य ने इस अर्थ को कोई महत्त्व न दे कर उन्हीं ने शिरोरोगों में उपशीर्षक, शिरोविद्रधि, शिरोग्रन्थि, शिरोऽर्बुद, अरुंषिका, दारुणक, इन्द्रलुप्त, खालित्य और पलित रोगों का समावेश कर दिया है।

शिरो रुजति मर्त्यानां वातपित्तकफैस्त्रिभिः ।
सन्निपातेन रक्तेन क्षयेण क्रिमिभिस्तथा ॥ ३ ॥
सूर्यावर्तानन्तवाताद्धावभेदकशङ्खकैः ।
एकादशप्रकारस्य लक्षणं सम्प्रवक्ष्यते ॥ ४ ॥

शिरोरोगों के नाम तथा गणना—वात, पित्त, कफ इन तीन दोषों से तथा सन्निपात से, रक्त से तथा रसादि-धातुक्षय से, कृमियों से तथा सूर्यावर्त्त, अनन्तवात, अर्द्धावभेदक और शङ्खक इन ग्यारह प्रकार के रोगों से मनुष्यों का सिर पीड़ित होता है। इस तरह एकादश प्रकार के शिरोरोगों के लक्षण आगे कहे जाते हैं ॥ ३-४ ॥

विमर्शः—'शिरो रुजति मर्त्यानाम्' इसकी जगह 'शिरोरोगास्तु जायन्ते' ऐसा पाठान्तर है। वात, पित्त और कफ इन तीनों का उल्लेख करने से त्रिसंख्या का बोध हो ही जाता है पुनः'त्रिभिः' ऐसा लिखने से प्रत्येक शिरोरोग त्रिदोषज होता है ऐसा ख्यापनार्थ 'त्रिभिः' पद का उल्लेख सार्थक माना गया है तथा वातजादि भेद-निर्देश के बल दोषोत्कटता का परिचायक है जैसा कि कहा भी है—'सर्व एव शिरोरोगाः सन्निपातसमुत्थिताः। औत्कट्याद् दोषलिङ्गस्ते कीर्तितास्तद्विदा दश ॥ (मधुकोष)। माधवनिदान में भी शिरोरोग ग्यारह प्रकार के माने हैं उसमें भी रक्तक्षयज की तरह रक्तज और क्षयज ऐसा पृथक् पाठ ही माना है। आचार्य विदेह ने भी शिरोरोग-संख्या एकादश मानी है। कुछ आचार्यों का मत है कि शिरोरोग दस ही होने चाहिए तथा अनन्तवात का उल्लेख शिरोरोग में करना वे उचित नहीं मानते हैं तथा वे 'सूर्यावर्तानन्तवातार्धावभेदकशङ्खकैः' इसकी जगह 'सूर्यावर्तावभेदाभ्यां शङ्खकेन तथैव च। 'दशप्रकारस्याप्यस्य लक्षणं सम्प्रवक्ष्यते' ऐसा पाठान्तर मानते हैं। चरकाचार्य ने तो वातज, पित्तज, कफज, त्रिदोषज और कृमिज ऐसे शिरोरोग के पांच भेद ही माने हैं—'निर्दिष्टास्तु ये पञ्च संग्रहे परमर्षिभिः। शिरोगदांस्तांच्छृणु मे यथास्वैर्हेतुलक्षणैः ॥ (च. सू. १७)। शिरोरोगपर्याय—शिरोऽभिताप, शिरःपीडा, शिरोवेदना और शिरःशूल तथा Headache पाश्चात्य चिकित्साविज्ञान में शिरःशूल एक लक्षण मात्र है जो शिरोगत अनेक रोगों में मिल सकता है। इससे आक्रमण की प्रक्रिया अवधि तथा वेग में बहुत प्रकार की विविधता पाई जाती है। शिरोरोग हेतु—सन्धारणाद् दिवास्वप्नाद्रात्रौ जागरणान्मदात्। उच्चैर्भाष्यादवश्यायात् प्राग्वातादतिमैथुनात् ॥ गन्धादसात्म्यादाघ्राताद्रजोधूमहिमातपात्। गुर्वम्लहरितादानादतिशीताम्बुसेवनात् ॥ शिरोऽभिघाताद् दुष्टामाद्रोदनाद्बाष्पनिग्रहात्। वातादयः प्रकुप्यन्ति शिरस्यस्रं प्रदुष्यति ॥ (चरक) अधारणीय वेगों के धारण, दिवाशयन, रात्रिजागरण, जोर से भाषण, ओस में शयन, पूर्वीय हवा लगना, अतिमैथुन, असात्म्य गन्ध के सूंघने से तथा रज, धूम हिम और आतप के सेवन से, गुरु, अम्ल, हरित और शीताम्बु के अधिक सेवन से, सिर पर चोट लगने से, रोदन तथा बाष्पनिग्रह आदि कारणों से वातादि दोष कुपित हो कर शिरोगत रक्त को दूषित करके अनेक शिरोरोग पैदा करते हैं। वाग्भटाचार्य ने भी शिरोरोगोत्पत्ति में इन्हीं कारणों को मानने के साथ साथ अधिक मद्यपान से तथा सिर में कृमियों के उत्पन्न होने से तथा तकिये पर सिर को टेढा-मेढा (विषम) रखने से, निरन्तर नीचे की ओर देखने से, असात्म्य गन्ध आदि अनेक कारणों से तथा वात के प्रकोप से दोष सिर में पहुंच कर अनेक प्रकार के रोग उत्पन्न करते हैं। जैसा कि कहा है—धूमातपतुषाराम्बुक्रीडातिस्वप्नजागरैः। उत्स्वेदाधिपुरोवातबाष्पनिग्रहरोदनैः ॥ अत्यम्बुमद्यपानेन कृमिभिर्वेगधारणैः। उपधानमृजाभ्यङ्गद्वेषाधःप्रततेक्षणैः ॥ असात्म्यगन्धदुष्टामभाष्याद्यैश्च शिरोगताः। जनयन्त्यामयान् दोषास्तत्र मारुतकोपतः ॥ (वाग्भट) शिरोगतपीडानुभवस्थल—सिर में होने वाली पीड़ा को ग्रहण करने वाली निम्न रचनाएं हैं—(१) बहिर्मस्तिष्कगत अवयव—सभी कपालास्थियों के आवरण, विशेषतः कपालास्थियों के ऊपर की पेशियां और धमनियां। (२) अन्तर्मस्तिष्कगत अवयव—शिरोगुहा की भीतर की रचनाएं जैसे बड़ी-बड़ी शिराकुल्या (Sinus) तथा उनकी शाखाएं एवं बहिर्मस्तिष्कावरण तथा आधार की धमनियां, पांचवीं, नवीं तथा दसवीं शिरोगतमस्तिष्कनाडियां एवं ऊपर की तीन ग्रैवेयक नाडियां पीड़ा की संवेदना का द्योतन करती हैं। (३) मस्तिष्कसूत्रमार्ग—पीड़ा का मार्ग पञ्चम शिरस्क मस्तिष्क नाडी में ही रहता है। पीड़ा का अनुभव अधिकतर सिर के सम्मुख, पार्श्व तथा शङ्ख प्रदेश में ही होता है। इस तरह इन्हीं उक्त रचनाओं में से एक दो या सभी पर शिरोगुहागत या मस्तिष्कगत रोग का प्रभाव पड़ने से शिरोवेदना का अनुभव व्यक्ति को होता है। मस्तिष्कगत रक्तवाहिनियां अथवा रक्तवह रचनाओं के विपरिवर्त्तन के परिणामस्वरूप विविध प्रकार के शिरःशूल होते हैं। यदि इन रचनाओं में किसी कारण अपकर्षण (Traction), स्थानान्तरण (Displacement), विस्तृति या आध्मान (Distension) अथवा शोथ हो जाय तो पीड़ा की संवेदना होने लगती है। (१) ज्वर, विजातीय प्रोटीन, उपसर्ग, तृणाणुमयता, नाइट्राइट और कार्बन मोनोक्साइड विष, श्वासावरोध, अपस्मार के दौरे के बाद और भावावेश में मस्तिष्कगत रक्तवाहिनियों का आध्मान या विस्तृति पीड़ा पैदा करती है। (२) प्रधान मस्तिष्कगत कारणों में से मस्तिष्कगत अर्बुद, मस्तिष्कावरणशोथ अथवा जबड़े या गर्दन की पीड़ा भी संवाहित हो कर सिर तक आ

सकती है। (२) मस्तिष्क सुषुम्नागत वारि की मात्रा यदि अधिक हो जाय तो अन्तःमस्तिष्क का भार (Intracranial pressure) बढ़ जाता है जिससे सिर में उत्कट पीड़ा होने लगती है। बहिर्मस्तिष्कगत धमनियों में विस्तृति या आध्मान होने से भी पीड़ा होने लगती है। (४) कपाल एवं ग्रीवा की पेशियों का अधिक काल तक संकोच होने से भी शिरःशूल उत्पन्न होता है जैसाकि अर्धावभेदक में पाया जाता है। (५) आँख, नाक, गला, दांत तथा सिर के बाहरी भाग में होने वाले व्रणशोफ अथवा किसी अन्य प्रकार की बाधा भी शिरःशूलजनक होती है। हेतुभेद से शिरःशूल का वर्गीकरण–(१) स्थानिक कारण—(क) पुरः कपाल के छिद्रों में शोथ या पूयोत्पत्ति होना (Frontal sinusitis)। (ख) सिर का अभिघात, अस्थिशोथ। (ग) ग्रैवेयकसूत्रशोथ (Fibrocitis)। (२) सम्बन्धित पीड़ा– (क) नासाप्रतिश्याय, नासाजवनिकाविमार्गगमन। (ख) नेत्रपरावर्त्तन के दोष जैसे—निकटदृष्टिजन्य विषमदृष्टि (Myopic astigmatism) इसमें दृष्टि के अतियोग से सिर की पीड़ा बढ़ती है किन्तु आंख को विश्राम देने से बन्द हो जाती है। तारामण्डलशोथ (Iritis), अधिमन्थ (Glaucoma)। (ग) दन्तगतशोथ, मध्यकर्णशोथ। (घ) आमाशयिक अथवा गर्भाशयबीजग्रन्थिक परावर्तित क्रियायें भी शिरःशूल उत्पन्न करती हैं। (३) वातिक कारण–(क) विशेषतः त्रिधारा नाड़ी (Trigeminal nerve) शूल में पीड़ा या तो विस्तृत क्षेत्र में होती है अथवा उपरि नेत्रप्रदेश में होती है अथवा उपरि नेत्रप्रदेश में सीमित रहती है। (ख) मस्तिष्कगत कारणों में फिरङ्ग, मस्तिष्कावरणशोथ, अर्बुद, विद्रधि, अन्तर्मस्तिष्कधमनीविस्तृति (Annurism), जलमस्तिष्क, बृहन्मस्तिष्कशोफ, मस्तिष्कावरणगतरक्तस्राव, अन्तर्मस्तिष्कभार का कम या अधिक होना और स्वप्न (Lethargica)। (४) शारीरिक कारण (Constitutional)—जीर्ण वृक्कशोफ, मूत्रविषयमता या सार्वदैहिक रक्तभार का बहुत ऊंचा अथवा नीचा होना, रुधिर कायाणुमयता (Polycythemia), तीव्रपाण्डु, रक्ताधिक्य युक्त हृदयावसाद (Congestive heart failure), अपस्मार की पश्चादवस्था, योषापस्मार, अर्धावभेदक, नव तथा जीर्ण मदात्यय, बच्चों की अनुबद्धच्छर्दि (Cyclic), सामुद्र तथा वायुयानजन्य रोग, अम्लपित्त, जीर्णविबन्ध, जीर्णयकृच्छोफ, मधुमेह, वातरक्त, नागविष, अम्लमयता या क्षारमयता (Acidosis or alkalosis), नवज्वर, विशेषतः विषमज्वर, आन्त्रिकज्वर, मसूरिका, स्कारलेट ज्वर, मन्थर ज्वर (Typhus), पीतज्वर, वातश्लैष्मिक ज्वर (Influenza), अंशुघात, उष्णातपदग्ध (Heat stroke), योषापस्मार, रक्तभाराधिक्य। अस्तु शिरःशूल का ठीक निदान करने के लिये रोगी से अनेक संस्थानविकृति–सम्बन्धी प्रश्न करने चाहिये। (१) रोगेतिवृत्त, अवधि, बलाबल, वेग और दौरे का ज्ञान। किसी विशेष समय पर होता हो या किसी प्रकार की उत्तेजक परिस्थिति में बढ़ता हो अथवा सिर पर अभिघात का इतिहास मिलता हो। (२) यदि शिरःशूल के साथ वमन, दृष्टि की विकृति या चक्कर आता हो तो उसका भी प्रश्न कर लेना चाहिये। (३) दृष्टिशक्ति के लिये आंख की परीक्षा, नासानाडीव्रण (Sinuses) के लिये नासा की परीक्षा, दांत की परीक्षा, गर्दन की पेशियों तथा शिरःकपाल की परीक्षा भी कर लेनी चाहिये। एक्सरे द्वारा भी सिर की परीक्षा कर लेवें। (४) रक्तवह संस्थान, मस्तिष्कसुषुम्नाजल, रक्त तथा मूत्र की रासायनिक परीक्षा, फिरङ्ग की उपस्थिति का ज्ञान करने के लिये वाशरमेन अथवा कानटेस्ट करा लेना चाहिये। यद्यपि आचार्य सुश्रुत आदि प्राचीन ग्रन्थकारों ने शिरोरोग के वातादि दोष भेद से एकादश प्रकार लिखे हैं किन्तु आधुनिक दृष्टि से यद्यपि सिर में अनेक रोग होते हैं किन्तु शिरःशूल के मोटे मोटे दो भेद कर दिये जाते हैं—(१) वातिक शिरःशूल (Neuralgia) तथा (२) शिरःशूल (Headache)। इन दोनों भेदों में अनेक बातें (लक्षण) समान होती हैं तथापि न्यूरेल्जिया में किसी विशेष वातिक नाड़ी में दर्द होता है तथा दौरे के साथ तीव्र पीड़ा होती है। इसके अतिरिक्त प्रतीच्य शालाक्य तन्त्र में शिरःशूल स्वतन्त्र रोग न हो कर अन्य अवयवों या आशयों की विकृति से सम्बन्धित होता है जैसे आमाशय, पक्वाशय, नाडीसमूह और मस्तिष्क तथा सुषुम्ना की विकृति से सम्बन्धित होता है। सिर का शरीर के समस्त अङ्गों से घनिष्ठ सम्बन्ध रहता है। किसी एक अङ्ग में विकार होने से सिर पर उसका प्रभाव अवश्य होता है। विशेषतया संवेदनात्मक नाडीसूत्रों के जरिये उसका संवहन मस्तिष्क तक होता है जिससे व्यक्ति को पीड़ा (शूल) का अनुभव होने लगता है। अनेक ऐसे रोग हैं जिनमें लक्षण या उपद्रव रूप में शिरःशूल देखने को बहुत मिलता है जैसे विभिन्न प्रकार के ज्वरों में अन्य लक्षणों के साथ, रक्त-पित्त के पूर्वरूप में, वातिक और क्षयज कास रोग में, विविध प्रकार के स्थावर और जङ्गम विषों के प्रभाव में, नाडीफिरङ्ग, वातबलासक, उदर रोग, रक्ताल्पतामय पाण्डुरोग और अंशुघात रोगों में शिरःशूल का लक्षण मिलता है। कभी–कभी स्वतन्त्र शिरःशूल रोग भी होता है। अस्तु अब दोषानुसार शिरोरोगों के लक्षण लिखे जाते हैं।

यस्यानिमित्तं शिरसो रुजश्च
भवन्ति तीव्रा निशि चातिमात्रम्।
बन्धोपतापैश्च भवेद्विशेषः
शिरोऽभितापः स समीरणेन॥ ५॥

वातिक शिरोरोग लक्षण—जिस मनुष्य के बिना किसी कारण के सिर में पीड़ा होती हो तथा वह पीड़ा रात्रि के समय अत्यधिक मात्रा में होने लगे तथा सिर पर कस कर पट्टी बांध देने से एवं सिर पर अग्नि पर तपाये हुये वस्त्र से सेक देने पर शमन हो जाता हो उसे वात से उत्पन्न शिरोरोग समझना चाहिये॥

यस्योष्णमङ्गारचितं यथैव
दह्येत धूप्येत शिरोऽक्षिनासम्।
शीतेन रात्रौ च भवेद्विशेषः
शिरोऽभितापः स तु पित्तकोपात्॥ ६॥

पैत्तिक शिरोरोग लक्षण—जिस रोगी का सिर, नेत्र और नासा गरम लगते हों तथा उनमें अङ्गारे भरे हुये के समान दाह (जलन) की प्रतीति होती हो एवं आंख से और नासा से धूंए सा निकलता हो और शीतोपचार से तथा रात्रि के समय संशमन होता हो उसे पित्त प्रकोप से उत्पन्न शिरोरोग समझना चाहिये॥ ६॥

शिरोगलं यस्य कफोपदिग्धं
गुरु प्रतिष्टब्धमथो हिमञ्च ।
शूनाक्षिकूटं वदनञ्च यस्य
शिरोऽभितापः स कफप्रकोपात् ॥ ७ ॥

श्लेष्मजन्य शिरोरोग लक्षण—जिस मनुष्य का सिर और गला कफ से भरा हुआ हो तथा उनमें भारीपन, स्तम्भन और बरफ के समान शीत की प्रतीति होती हो तथा अक्षिकूट (नेत्र गोलक) और मुख पर शोथ हो तो उसे कफप्रकोपजन्य शिरोरोग समझना चाहिये ॥ ७ ॥

शिरोऽभितापे त्रितयप्रवृत्ते
सर्वाणि लिङ्गानि समुद्भवन्ति ।
रक्तात्मकः पित्तसमानलिङ्गः
स्पर्शासहत्वं शिरसो भवेच्च ॥ ८ ॥

सन्निपातज एवं रक्तज शिरोरोग लक्षण—त्रिदोषजन्य शिरोऽभिताप में उक्त वातादि सर्व शिरोरोगों के लक्षण मिलते हैं तथा रक्तजन्य शिरोरोग में पित्तजन्य शिरोरोग के समान लक्षण होते हैं किन्तु इसमें सिर स्पर्श करने में असह्य सा हो जाता है ॥ ८ ॥

विमर्शः—सान्निपातिक शिरोरोग में वात से शूल, भ्रम और कम्प, पित्त से दाह, मद और तृषा तथा कफ से गौरव और तन्द्रा ये लक्षण होते हैं—वाताच्छूलं भ्रमः कम्पः पित्ताद् दाहो मदस्तृषा । कफाद् गुरुत्वं तन्द्रा च शिरोरोगे त्रिदोषजे ॥

वसाबलासक्षतसम्भवानां
शिरोगतानामिह सङ्क्षयेण ।
क्षयप्रवृत्तः शिरसोऽभितापः
कष्टो भवेदुग्ररुजोऽतिमात्रम् ।
संस्वेदनच्छर्दनधूमनस्यै-
रसृग्विमोक्षैश्च विवृद्धिमेति ॥ ९ ॥

क्षयज शिरोरोग लक्षण—सिर पर चोट लगने से वसा (देह का स्निग्धांश जैसे मेद-मज्जा-शुक्र-मस्तिष्क) और बलास (कफ) और रक्त के क्षीण होने से क्षयजन्य शिरोरोग होता है तथा यह अत्यन्त कष्टदायक एवं भयङ्कर वेदना करता है । यह रोग स्वेदन, वमन, धूमपान, नस्य और रक्तमोक्षण करने से बढ़ता है ॥ ९ ॥

विमर्श—कहीं कहीं पर 'वसाबलासक्षतसम्भवानाम्' इसकी जगह 'असृग्वसाश्लेष्मसमीरणानाम्' ऐसा पाठान्तर है जिसका अर्थ शिरोगत रक्त, वसा, कफ और वायु के क्षीण होने से क्षयज शिरोरोग होता है । इस उग्र पीड़ा पर मधुकोषकार शङ्का करते हैं कि ऐसी पीड़ा तो वातवृद्धि से होनी चाहिये न कि वातक्षय से, उसका समाधान उन्होंने व्याधिस्वभाव शब्द से किया है अर्थात् यह व्याधि का स्वभाव है कि वातक्षय होने से भी उग्र पीड़ा होती है । कारण में कहते हैं-वातादि के क्षीण होने पर उनके प्राकृतिक कर्म की हानि होती है—वाते पित्ते कफे चैव क्षीणे लक्षणमुच्यते । कर्मणः प्राकृताद्धानिर्वृद्धिर्वापि विरोधिनाम् ॥ (च. सू. अ. १८) गयी आदि आचार्यों ने 'असृग्वसाश्लेष्मसमीरणानाम्' इस पाठान्तर को न मान कर मूल में दिये गये पाठ को स्वीकार करके प्रपञ्च में पढ़ना उचित नहीं समझा । उस पाठ की असङ्गति सिद्ध करने के लिये दूसरी सङ्गति युक्तियुक्त है अर्थात् वात धातु के क्षीण होने से कफ की वृद्धि होगी जिससे कफज शिरोरोग होगा क्योंकि 'दोषों के क्षीण होने पर प्राकृतिक कर्मों की हानि और विरोधी कर्मों की वृद्धि होती है इस प्रकार कफ के वृद्ध होने पर क्षयज शिरोरोग की चिकित्सा में जो यह कथन है कि पीने के लिये तथा नस्य देने के लिये मधुर पदार्थों से शृत (सिद्ध) वातघ्न घृत का उपयोग करना चाहिये—'पाने नस्ये च सर्पिः स्याद्वातघ्नमधुरैः शृतम्' यह सङ्गत प्रतीत नहीं होता क्योंकि क्षीण वायु में शमन की चिकित्सा नहीं की जाती है अपि तो वहां तो 'क्षीणा वर्द्धयितव्याः' इस चरक-वाक्य से वर्धनविधि कही गई है अत एव 'असृग्वसाश्लेष्मसमीरणानाम्' यह पाठ सङ्गत नहीं है । संस्वेदनादि उपक्रमों से शिरोरोग बढ़ने का कारण यह है कि-संस्वेदन, छर्दन, धूमपान तथा नस्य से कफ की क्षीणता, नागरादितीव्र धूमपान से वसामस्तिष्कादिक्षय और सिरामोक्षण से रक्त की क्षीणता होती है अतएव इन उक्त संस्वेदनादिक क्रियाओं से क्षयजशिरोरोग की वृद्धि होती है । आचार्य विदेह ने क्षयजशिरोरोग के लक्षणों में निम्न विशेषताएं लिखी हैं—शिरोभ्रमण, शिरोवेदना, शिरःशून्यता, नेत्रों में विभ्रान्ति, मूर्च्छा और गात्रावसाद ये क्षयज शिरोरोग के लक्षण हैं—भ्रमति तुद्यते शून्यं शिरोविभ्रान्तनेत्रता । मूर्च्छा गात्रावसादश्च शिरोरोगे क्षयात्मके ॥ आचार्य चक्षुष्य ने लिखा है कि-स्त्रीप्रसङ्ग, चोट और देह के विषमादि कार्यों से क्षयज शिरोरोग होता है तथा उसमें वात और पित्त के मिश्रित लक्षण होते हैं—स्त्रीप्रसङ्गादभीघाताद्वथवा देहकर्मणा । क्षिप्रं सञ्जायते कृच्छ्रः शिरोरोगः क्षयात्मकः ॥ वातपित्तात्मकं लिङ्गं व्यामिश्रं तत्र लक्षयेत् ॥ श्रीकण्ठ ने 'वसाबलासक्षयसम्भवानाम्' ऐसा पाठान्तर माना है यह भी ठीक नहीं है क्योंकि इसमें वसा, कफ और रक्त का क्षीण होना ये क्षयज शिरोरोग के कारण सर्वमत से प्रतिपादित होते हैं, अतः सम्भव है कि मुद्रण दोष से ही क्षत की जगह क्षय पाठ हो गया है, यदि श्रीकण्ठ रक्तक्षय को क्षयज शिरोरोग में कारण नहीं मानते तो फिर अनुपशय में 'शिरामोक्षणादिभिरसृक्क्षयः' ऐसा नहीं लिखते । अस्थिशोष, मधुमेह, जीर्णविषमज्वर, अङ्कुशमुखकृमि रोग, पाण्डु तथा दुष्ट पाण्डु इन रोगों में शरीर का रक्त क्षीण हो जाने से मस्तिष्कगत रक्त भी क्षीण हो जाता है जिसकी वजह से सदा शिरःशूल बना ही रहता है ।

निस्तुद्यते यस्य शिरोऽतिमात्रं
सम्भक्ष्यमाणं स्फुटतीव चान्तः ।
घ्राणाच्च गच्छेत्सलिलं सरक्तं
शिरोऽभितापः कृमिभिः स घोरः ॥ १० ॥

कृमिजन्य शिरोरोग लक्षण—जिस मनुष्य का सिर अत्यधिक सूई चुभोने की सी पीड़ा से व्याप्त हो तथा सिर के भीतर के भाग कृमियों के द्वारा खाया जा रहा है-ऐसा प्रतीत होता हो एवं कपालास्थियों के भीतर स्फुरण या फोड़ने का सा अनुभव होता हो और जिसकी नासा से रक्त और पूय से मिश्रित जल का स्राव होता हो, उसे कृमिजन्य शिरोरोग कहते हैं तथा यह दारुण रोग है ॥ १० ॥

विमर्शः—कृमिजन्य शिरोरोग में जो दर्द होता है वह ऐसा प्रतीत होता है मानो कोई खोपड़ी के भीतर व्यध (बींधने की सी पीड़ा) कर रहा हो तथा इस पीड़ा से ऐसा प्रतीत होता है मानो खोपड़ी फट रही है, उसको कोई काट कर दो टुकड़े कर रहा हो-ऐसी पीड़ा, खुजली, सूजन और दुर्गन्ध नासा में होती है। इन लक्षणों के साथ ही नासा में कृमियों का दिखाई पड़ना भी कृमिजन्य शिरोरोग के निदानकरण में सहायक होता है जैसा कि चरकाचार्य ने कहा भी है—व्यधच्छेदरुजाकण्डुशोफदौर्गन्ध्यदुःखितम्। कृमिरोगातुरं विद्यात् कृमीणां दर्शनेन च॥ (च. सू. अ. १७) कृमिजशिरोरोगहेतु तथा सम्प्राप्ति—पथ्यापथ्यमिश्र भोजन से मस्तिष्क में रक्त और मांस के क्लेदित होने पर सन्निपात (त्रिदोष) प्रकोप हो के कृमियों की उत्पत्ति हो जाती है। फिर वे कृमि सिर के रक्त का पान करते हुये सिर में भयङ्कर पीड़ा तथा चित्तविभ्रंश, ज्वर, कास, बलक्षय, रौक्ष्य, शोफ आदि तथा ताम्रवर्ण के कफ का स्राव और कर्णनाद आदि उत्पन्न करते हैं—उद्धीर्षेभोजनैर्मूर्ध्नि क्लेदिते रुधिरातपे। कोपिते सन्निपाते च जायन्ते मूर्ध्नि जन्तवः॥ शिरःस्थास्ते पिबन्तोऽस्रं घोराः कुर्वन्ति वेदनाः। चित्तविभ्रंशजननो ज्वरकासौ बलक्षयः॥ रौक्ष्यशोफव्यधच्छेददाहस्फुटनपूतिताः। कपाले तालुशिरसोः कण्डूशोषप्रमीलकाः॥ ताम्रशिङ्घाणकता कर्णनादश्च जन्तुजे॥ (वाग्भट) चरकाचार्य ने लिखा है कि-पथ्यापथ्य मिश्रित सङ्कीर्णाहार से शरीर का श्लेष्मा और क्लेद बढ़ कर उदर कृमियों को उत्पन्न करते हैं वही शिरोगत कृमियों की भी उत्पत्ति में कारण है जैसे-तिल, दुग्ध और गुड़ को मिला कर खाने से एवं अजीर्णावस्था में पूति तथा सङ्कीर्ण भोजन करने से उस मनुष्य के दोष बढ़ कर रक्त, कफ और मांस का क्लेद बनता है तथा वह क्लेद सिर में पहुंच कर वहां की धातुओं को भी क्लिन्न कर देता है जिससे उस पापकर्मी मनुष्य के सिर में कृमि उत्पन्न हो जाते हैं जिनसे कृमिजन्य शिरोरोग होता है—तिलक्षीरगुडाजीर्णपूतिसङ्कीर्णभोजनात्। क्लेदोऽसृक्कफमांसानां दोषलस्योपजायते॥ ततः शिरसि संक्लेदात् कृमयः पापकर्मणः। जनयन्ति शिरोरोगं जाता बीभत्सलक्षणम्॥ व्यधच्छेदरुजाकण्डुशोफदौर्गन्ध्यदुःखितम्। कृमिरोगातुरं विद्यात् कृमीणां दर्शनेन च॥ पाश्चात्यशालाक्यसिद्धान्त से कृमिजशिरोरोग दो प्रकार से उत्पन्न होता है—(१) जिनमें कृमि आंख से न दिखाई पड़े। (२) जिनमें कृमि दिखलाई पड़ते हों। प्रथमावस्था में प्रायः प्रत्येक प्रकार के उदरस्थ कृमि (गण्डूपद, अङ्कुशमुख, स्फीत कृमि) संख्या में बढ़ कर परावर्तित शिरःशूल (Reflex headache) उत्पन्न करते हैं किन्तु इस प्रकार के शिरःशूल में व्यधन, छेदन सी पीड़ा भी नहीं होती है तथा न नासा से पूय या रक्त से युक्त स्राव ही निकलता है। एक अन्य अवस्था होती है जिसमें विशिष्टकृमि (Taenias olium, Taenia echinococcus, cysti cercous or hydatid) रक्त में मिल कर रक्तपरिभ्रमण के द्वारा मस्तिष्क में पहुंच कर भयङ्कर रूप का शिरःशूल पैदा करते हैं तथा इनसे रक्तवाहिनियों का अवरोध हो कर रक्ताल्पता उत्पन्न हो जाती है उससे भी शिरःशूल होता है। जहां पर नासा से कृमि गिरते हुये दिखलाई देते हों उस स्थिति से उत्पन्न शिरःशूल को औपद्रविक समझना चाहिये। वहाँ पर औपद्रविक उपसर्ग पहुंच कर पुराना वायुकोटरशोथ या वायुविवरशोथ (Sinusitis) समझो और यह अवस्था फिरङ्गजन्य उपसर्ग, शोधनाभाव के कारण या मेगेटस के कारण हो सकती है। आन्त्रगतकृमि आन्त्र में निवास करते हुये रक्त का चूषण करते रहते हैं जिससे औपद्रविक पाण्डु (Secondary anaemia) उत्पन्न होता है और इस रक्ताल्पता का प्रभाव मस्तिष्क पर पड़ता है जिससे वहां भी रक्ताल्पता हो जाती है और उससे शिरःशूल होता रहता है।

सूर्योदयं या प्रतिमन्दमन्द-
मक्षिभ्रुवं रुक् समुपैति गाढम्।
विवर्द्धते चांशुमता सहैव
सूर्यापवृत्तौ विनिवर्त्तते च॥ ११॥
शीतेन शान्तिं लभते कदाचि
दुष्णेन जन्तुः सुखमाप्नुयाच्च।
तं भास्करावर्त्तमुदाहरन्ति
सर्वात्मकं कष्टतमं विकारम्॥ १२॥

सूर्यावर्त लक्षण—जो पीड़ा सूर्योदय से प्रारम्भ हो कर सूर्य की गति के साथ धीरे धीरे बढ़ती हुई नेत्र और भ्रू में विशेष होने लगती है तथा मध्याह्न में सूर्य के प्रखर होने पर प्रगाढ रहती है एवं मध्याह्न के बाद सूर्य के धीरे-धीरे मन्दतेज युक्त होने के साथ-साथ वह पीड़ा भी कम होती हुई बन्द हो जाती है। इस रोग में कभी शीतोपचार करने से रोगी को शान्ति प्राप्त होती है और कभी उष्णोपचार करने से रोगी सुख प्राप्त करता है। इस तरह त्रिदोष प्रकोप से उत्पन्न होने वाले एवं भयङ्कर कष्ट देने वाले इस रोग को भास्करावर्त रोग कहते हैं॥

विमर्शः—सूर्यावर्त्तः=सूर्यमिवावर्त्तो भ्रमणं यस्य स विकारः सूर्यावर्त्तः। यथा सूर्यो वर्धते तथा वेदना प्रवृद्धा भवति सूर्यस्यापवृत्तौ सायाह्ने च विनिवर्त्तते शाम्यतीति सूर्यावर्त्तः। सूर्य की गति के साथ वेदना की वृद्धि और ह्रास होने वाला रोग है अत एव इसे सूर्यावर्त कहते हैं। ऐसा क्यों होता है इसका उत्तर श्रीकण्ठदत्त ने माधव टीका में व्याधि का स्वभाव कह कर दिया है किन्तु आचार्य निमि ने इसका कारण स्पष्ट लिखा है। रात्रि स्वभावतः शीतप्रधान और तमःप्रधान होती है अतः कफ स्रोतसों में में जम जाता है जिससे मार्ग रुक जाता है और अवरोध के कारण वायु का प्रकोप होता है और शिरोवेदना प्रातःकाल प्रारम्भ हो जाती है जो कि क्रमशः मध्याह्न तक बढ़ती चली जाती है। जब मध्याह्न में सूर्य का ताप प्रखर होता है तो वह मार्गावरोधक कफ पिघल जाता है जिससे वात का मार्गावरण दूर हो जाता है एवं वात का अपने स्थान में अवस्थान होने लगता है और उससे शिरोवेदना भी शान्त होने लगती है। सायङ्काल तक सम्पूर्ण कफ के पिघल जाने पर मार्ग साफ हो जाने से वायु स्वस्थान पर पूर्णरूप में स्थित हो जाती है और शिरःशूल पूर्णरूप से बन्द हो जाता है। स्वभावशीता तमसोऽभिभूता रात्रिस्तमोद्भूतकफेन मार्गे। रुद्धे मरुत्कोपमियात्प्रभाते रुजं करोत्यत्र शिरोऽभितापे॥ मध्याह्नसूर्यातपतापयोगात् कफे विलीने मरुति प्रपन्ने। स्वमार्गमायाति तथा दिनान्ते प्रशान्तिमावर्त्तभिदाकंपूर्वे॥ अन्यच्च—सूर्यलोमात्मकौ नित्यं स्वहेतू पित्तमारुतौ। कुरुतो वेदनां तीव्रं दिनात् पूर्वार्ध एव तु। आदित्यतेजसा युक्ते निवृत्तेऽपि च भास्करे।

: श्लेष्माधिगच्छति । वृद्धतो मातरिश्वा च
मान्मध्यदिनादूर्ध्वं वेदनाऽत्र प्रशाम्यति ॥
साथ वृद्धि-ह्रास होने में आचार्य दृढबल
की है। उनका कथन है कि—सूर्य की
(Brain) विलीन होता (पिघलता)
सूर्यावर्त्तक रोग होता है। जैसे-जैसे सूर्य
र चलता जाता है वैसे-वैसे उसकी गरमी
स वृद्धि के साथ मस्तुलुङ्ग की विलीनता
ध्याह्न में सूर्य अपने पूर्ण यौवन (तेज)
समय मस्तुलुङ्ग अधिक वेग से विद्रुत
व्रतम हो जाती है। मध्याह्न के पश्चात्
ज (गरमी) हल्का होने लगता है
शोषण में शिथिलता पड़ने लगती है।
के अस्त हो जाने पर गरमी के अभाव
ण (पिघलन) बन्द हो जाता है और
से पीड़ा उतने (शीत) समय के लिये
ऽशुसन्तापाद् द्रवं विष्यन्दते शनैः। तदा
ा च वर्द्धते॥ दिनक्षये ततः स्त्याने मस्तिष्के
: स एव स्यात्॥ (चरक) इस तरह
स्तिष्क का विष्यन्दन और स्त्यानीभवन
में तथा तीव्र रूप से शिरःपीड़ा होने
षविवेचना—आचार्य माधव ने इस रोग
है किन्तु सुश्रुताचार्य की उपशयात्मक
शीत से संशमन और कभी उष्णता से
पता चलता है कि यह रोग पित्त और
है पुनः इसे त्रिदोष कैसे माना जाय?
ग सन्निपातजन्य ही होता है किन्तु
भेदों में से यह भेद वातपित्तोल्वण
किया गया है। इसी आशय से सुश्रुता-
ल्वणात्मक सन्निपात समझना चाहिये।
: शङ्का होती है कि यदि ऐसा ही (वात
है तो रात्रि में वायु के समान गुण शीत
यों हो जाती है और दिन के आदि तथा
मन्द क्यों हो जाती है? उत्तर में कहा
पित्त के प्रबलतम होने से ही ऐसा होता
शिरीषमूल, पिप्पलीमूल, वचा प्रभृति
वपीडन देने को लिखा है वह कैसे?
कि वह व्याधिप्रत्यनीक (व्याधिविप-
त्यनीक नहीं, इस लिये दिया जाता है।
-वायु और पित्त के शीतोष्णात्मक होने
द्धि के क्रम से स्रोतों के क्रमशः सङ्कुचित
र पित्त का मार्ग रुक जाता है जिससे
अपराह्न में सूर्य के अस्त की ओर चलने
जिससे अपने मार्ग की रुकावट न होने
दाजनक नहीं होते हैं। आचार्य वाग्भट
प से पित्तप्रधान तथा वातसहकारी
है और लिखा है कि—वायु पित्त को सह
ू के ऊपर, ललाट और शङ्खप्रदेश में
याह्न तक वेदना को बढ़ाता है। रुग्ण के
भूखे रहने से वेदना विशेष बढ़ जाती है। यह एक अव्यवस्थित रोग है जिसमें कभी शीतोपचार से और कभी उष्णोपचार से लाभ होता है। पित्तानुबद्धः शङ्खाक्षिभ्रूललाटेषु मारुतः। रुजं सस्पन्दनां कुर्यादनुसूर्योदयोदयाम्॥ आमध्याह्नं विवर्धिष्णुः क्षुद्वतः सा विशेषतः। अव्यवस्थितशीतोष्णसुखा शाम्यत्यतः परम्॥ सूर्यावर्तः। चरकाचार्य ने दोषदुष्टि के विचार से सूर्यावर्त रोग में वायु और रक्त की विकृति मानी है तथा इसे मस्तिष्क धातु की दुष्टि होना लिखा है। इस रोग के कारणों में वेगसन्धारण और अजीर्ण माना है—सन्धारणादजीर्णाद्वैर्मस्तिष्के रक्तमारुतौ। दुष्टौ दूषयतस्तच्च दुष्टं ताभ्यां विमूर्च्छितः॥ (चरक) आधुनिक शालाक्यशास्त्रियों ने इस रोग में पुराण प्रतिश्याय तथा उसके स्राव का स्रवण न हो कर भीतर ही शुष्क हो जाना माना है और इन्हें विभिन्न प्रकार के अस्थिविवरों के श्लेष्मकला के शोथ (Sinusitis) कहा है। इस शोथ के कारणों में विभिन्न प्रकार के जीवाणुओं जैसे B Influenga, M Catarrhalis, Staphylococci के उपसर्ग नासामार्ग, गले या दांत के जरिये ऊपर पहुँच कर उन शिरःकपाल के अस्थिकोटरों की श्लेष्मलकला को शोथयुक्त कर देते हैं जिससे मन्द ज्वर और स्थानिक पीड़ा होती है, इसे Acute Sinusitis कहते हैं। इसी में सूर्यावर्त का समावेश हो सकता है। शिरःशूल का स्थान विकृतस्थान के कारण भिन्न भिन्न हो सकता है। जैसे पुरःकपालास्थिछिद्रों में शोथ होने से पीड़ा पुरःशिर या ललाट में, ऊर्ध्वहन्वस्थिछिद्रों में शोथ होने पर पीड़ा कपोलप्रदेश में और जतुकास्थि के छिद्रों में शोथ होने से पीड़ा गहराई में स्थित होगी। इस रोग में पीड़ा प्रातःकाल से मध्याह्न तक अधिक होती है 'Headache is more marked in the fore noon (Bed Side Medicine A. R. Majumdar.' सूर्यावर्तविपर्यय—आचार्य विदेह ने सूर्यावर्तविपर्यय नामक एक और रोग माना है—तत्र वातानुगं पित्तं चितं शिरसि तिष्ठति। मध्याह्न तेजसाऽर्कस्य तद्विवृद्धं शिरोरुजम्॥ करोति पैत्तिकीं घोरां संशाम्यति दिनक्षये। अस्त गते प्रभाहीने सूर्ये, वायुर्विवर्द्धते॥ पित्तं शान्तिमवाप्नोति ततः शाम्यति वेदना। एष पित्तानिलकृतः सूर्यावर्तविपर्ययः॥ (निमिः) सूर्यावर्त में पित्त प्रधान और वायु सहकारी होता है किन्तु इसमें वात प्रधानरूप से तथा पित्त उसका अनुगामी होता है। मध्याह्न के समय में पित्त प्रबल होने से यह रोग बढ़ता है और जब सन्ध्या होती है तब वायु प्रबल हो जाती है और पित्त शान्त हो जाता है अतएव रात्रि में पीड़ा भी नहीं होती है। यह वैसा ही 'सूर्यावर्तविपर्यय' है जैसा चातुर्थिक ज्वर में 'चातुर्थिकविपर्यय' होता है। चिकित्सा दोनों की प्रायः एक सी होती है। इतना अन्तर हो सकता है कि सूर्यावर्त त्रिदोषज और यह द्विदोषज हो क्योंकि 'गदनिग्रहकार' ने एक विशिष्ट द्वन्द्वज सूर्यावर्त का वर्णन किया है। वह सूर्य के अस्त होने पर शुरू होकर रात भर रहता है और फिर सूर्य के प्रकाशित होने पर शान्त हो जाता है—अन्यः प्रतिनिवृत्तेऽर्के सूर्यावर्तः प्रपद्यते। राज्यन्ते प्रशमं याति स तु स्याद्वातपित्तजः॥

(ग० नि०)

दोषास्तु दुष्टास्त्रय एव मन्यां
सम्पीड्य घाटासु रुजां सुतीव्राम्।

कुर्वन्ति साक्षिभ्रुवि शङ्खदेशे
स्थितिं करोत्याशु विशेषतस्तु ॥ १३ ॥
गण्डस्य पार्श्वे तु करोति कम्पं
हनुग्रहं लोचनजांश्च रोगान्
अनन्तवातं तमुदाहरन्ति
दोषत्रयोत्थं शिरसो विकारम् ॥ १४ ॥

अनन्तवात लक्षण—वातादि तीनों दोष प्रकुपित हो के ग्रीवा की दोनों मन्या नाडियों को पीडित करके घाटा (ग्रीवापश्चाद्भाग) में तीव्र वेदना करते हैं। विशेषतया प्रकुपित ये दोष नेत्र, भ्रुकुटी और शङ्खप्रदेश में स्थित हो जाते हैं और ये दोष विशेषतया गण्डप्रदेश के पार्श्व में कम्प पैदा करते हैं, नसें फड़कती हैं। अन्त में हनुग्रह तथा अनेक नेत्ररोग उत्पन्न हो जाते हैं। इस तरह त्रिदोष से उत्पन्न हुये इस सिर के विकार को अनन्तवात कहते हैं ॥ १३-१४ ॥

विमर्शः—चक्रपाणि ने चरक टीका में लिखा है कि अनन्तवात को ही तन्त्रान्तर में 'अन्यतोवात' कहा है उसके लक्षणों में कुछ अन्तर नहीं है और दोनों एक ही रोग हैं परन्तु 'अन्यतोवात' नेत्ररोगाधिकार में तथा 'अनन्तवात' शिरोरोगाधिकार में लिखा है। सम्भव है एक में नेत्र की विकृति प्रधान हो तथा दूसरे में शिरःशूल प्रधान हो ऐसी स्थिति में इन्हें दो रोग पृथक् मानना युक्तियुक्त प्रतीत होता है तथा इन दोनों में से अन्यतोवात को ग्लोकोमा तथा अनन्तवात को ट्राइजेमिनल न्यूरेल्जिया रोग में अन्तर्हित कर सकते हैं। त्रिधारानाडीशूल—(Trigeminal Neuralgia) इस रोग में दौरे के साथ तीव्र शिरःशूल किंवा मन्दतुदन के समान पीडा (Paroxymal or dull aching pain) पञ्चम शिरस्का नाडी के पूरे क्षेत्र में बिना किसी स्थानिक शोफ, विद्रधि आदि वैकृतिक चिह्न के पीडा होती रहती है। हेतु—यह रोग प्रायः मध्यमायु के पश्चात् शीत ऋतु में अधिकतर हुआ करता है। शूल का कारण सम्भव है रक्तवाहिनियों की बाधा (Disturbance) हो। अनेक बार तीव्र औपसर्गिक ज्वरों के पश्चात् स्वास्थ्य के गिर जाने से अथवा त्रिधारा नाडी की किसी शाखा पर कोई पूयोत्पादक परिस्थिति हो जैसे कृमिदन्त अथवा अस्थ्यावरण शोथ की विद्यमानता के कारण नाडी में क्षोभ होकर शूल शुरू हो जाता है। प्रायः शीत लग जाने से, केशों में कंघी करने से, अथवा चर्वण क्रिया से अचानक शिरःशूल प्रारम्भ हो जाता है। कुछ रोगियों में कुलज प्रवृत्ति भी देखी गई है। लक्षण—पीडा प्रायः अचानक नासाछिद्र या नेत्राधःप्रदेश की त्वचा के नीचे से प्रारम्भ हो कर नाडी के पूर्ण मार्ग में फैल जाती है। पीडा तीव्र गोली लगने की सी (Shooting) अग्नि से दाह होने की सी (Burning) और छेदने की सी (Penetrating) होती है। इसमें समय की दृष्टि से पीडा कुछ क्षणों से लेकर कई दिनों तक चलती रहती है। कई बार पीडा रुक रुक कर होती है और कभी निरन्तर कई दिनों तक होती रहती है। त्रिधारा नाडी की तीन शाखाएँ होती हैं। प्रथम शाखा (Opthalmic) का वितरण क्षेत्र कपालार्ध, ललाट, भ्रू, अक्षि (ऊर्ध्व नेत्रवर्त्म), नासा की ऊपरी श्लेष्मलकला, कपालास्थि तथा मस्तिष्कावरण है। पीड़ा की प्रतीति इस पूरे क्षेत्र (अक्षि, भ्रू, नासोपरिभाग, ललाट) पर होती है जिसकी व्याख्या अक्षि-भ्रूशूल के रूप में अनन्तवात में की है। दूसरी शाखा (Superior Maxillary) का वितरण क्षेत्र ऊर्ध्वहन्वस्थि के दांत, मुख की त्वचा (गण्ड), कपोलार्द्ध, उत्तरोष्ठ (Upper Lip), नासार्धभाग, ग्रसनी, कण्ठशालूक और उपजिह्वा है। वेदना का अनुभव इस सम्पूर्ण क्षेत्र में होता है जिसका प्राचीनों ने सूत्ररूप से वर्णन हनुमन्याशूल, गण्डपार्श्वशूल, गण्डकम्प प्रभृति शब्दों से किया है। तीसरी शाखा (Inferior Maxillary branch) का क्षेत्र अधरोष्ठ, अधोहन्वस्थि, ठुड्डी, गण्डपार्श्व, शङ्खप्रदेश (Temporal), बाह्यकर्ण, कर्णमूलग्रन्थि (Parotid), मुख का फर्श, लालाग्रन्थियां, अधोहन्वस्थि में लगे दांत और जिह्वा है। वेदना का अनुभव इस पूरे क्षेत्र पर होता है जिसका प्राचीनों ने वर्णन हनुसन्धिशूल, गण्डपार्श्वशूल, हनुग्रह (Lock Jaw) शङ्खप्रदेशपीडा प्रभृति शब्दों से किया है। दुष्टा दोषास्त्रयो मन्यापश्चाद्घाटासु वेदनाम्। तीव्रां कुर्वन्ति सा चाक्षिभ्रूशङ्खेष्ववतिष्ठते ॥ स्पन्दनं गण्डपार्श्वस्य नेत्ररोगं हनुग्रहम् ॥ उपर्युक्त नव्य तथा प्राच्य 'शालाक्यशास्त्र' के लक्षणों के आधार से अनन्तवात को त्रिधारानाडीशूल (Trigeminal Neuralgia) कहा जा सकता है। मन्याग्रह, हनुग्रह, घाटाग्रह, प्रभृति चिह्न पेशीसङ्कोच (Muscular Spasm of the muscles of neck and face unilateral furring of the tongue) के कारण हो सकता है। अनन्तवात रोग को जतुकास्थिविवरशोथ या शूल (Sphenoidal Headache) भी कह सकते हैं क्योंकि इसमें पीडा अनन्तवात के समान ही होती है। Sphenoidal Headache-is described as being in the Centre, it may be seen as if in the temple, far back and may spread down the back of the neck (घाटा), the sides of the neck (मन्या), and behind the ears. I. Sim Son Hall

यस्योत्तमाङ्गार्द्धमतीव जन्तोः
सम्भेदतोदभ्रमशूलजुष्टम् ।
पक्षाद् दशाहादथवाऽप्यकस्मा-
त्तस्यार्द्धभेदं त्रितयाद्व्यवस्येत् ॥ १५ ॥

अर्धावभेद लक्षण—जिस मनुष्य के उत्तमाङ्ग (सिर) के अर्द्धभाग में अतिशय करके भेद (फोड़ने की सी पीडा), तोद (सूचीवेधपीडा), भ्रम और शूल होता हो तथा ये उक्त लक्षण विना कारण के ही अकस्मात् पक्ष (पन्द्रह दिन) या दस दिन में आक्रमण के रूप में हो जाते हों उसको अर्धावभेद रोग कहते हैं तथा यह रोग तीनों दोषों से उत्पन्न होता है ॥ १५ ॥

विमर्शः—चरकाचार्य ने रूक्ष, अत्यधिक भोजन, वायु, अवश्याय (ओस) और मैथुन के अधिक सेवन, वेगधारण, श्रम और व्यायाम से कुपित वात अकेला अथवा कफ के साथ संयुक्त होके सिर के अर्धभाग को आक्रान्त कर के मन्या, भ्रू, शङ्ख, कर्ण, नेत्र और ललाटार्ध में शस्त्र या वज्रपात के समान तीव्र वेदना कर देता है उसे अर्धावभेद कहते हैं। यह रोग अत्यधिक बढ़कर नेत्र अथवा कर्ण को नष्ट कर देता है।

ायमैथुनैः । वेगसन्धारणायासव्यायामैः
श्कफो वाऽर्धं गृहीत्वा शिरसोऽनिलः ।
च वेदनाम् ॥ शङ्खाशानिनिर्भां कुर्यात्
नं वाऽथ श्रोत्रं वा अतिवृद्धे विनाशयेत् ॥
इस रोग को केवल वातज अथवा
ाधवकार ने भी इसे चरकानुसार
माना है। इसका तात्पर्य दोषोत्कर्षता
ार्य विदेह ने भी कुपित वात का
र्व में श्लेष्मा द्वारा अवरुद्ध होकर
ता है तथा उसके दौरे तीन, पांच,
एक मास बाद आया करते हैं—
तौ मारुतो यदा । श्लेष्मणा रुध्यते
शूलावदारणैर्गाढमर्धं तदवरुध्यते । नय-
ानिलात् ॥ तथा त्र्यहात् स पञ्चाहात्
वाग्भटाचार्य ने इस रोग को केवल
लिखा है कि यदि पूरे सिर में वेदना
तथा आधे में वेदना हो तो अर्धावभेद
ै तु मूर्ध्नः सोऽर्धावभेदकः। आचार्य
को केवल वातप्रधानता से जन्य ही
ङ्खभ्रूनेत्रमवगाह्य।' इन उक्त विवेचनों
कि इस रोग में वायु और कफ की
अवस्था रहती है। कुपित वात कफके
है तथा वह वात मन्या, भ्रू, शङ्खप्रदेश
सोमतत्त्व को सुखाकर सिर फाड़ने
र देता है। इस तरह कफ को सुखाने
का संयोग भी आवश्यक हो जाता है
दोषत्रय से होना लिखा है वह ठीक ही
ास्त्र की दृष्टि से इस अर्धावभेद की
aine) से की जा सकती है। यह
धिक और मध्यमायु में क्रमशः कम
ं बिल्कुल बन्द हो जाता है। हेतु—यह
ीवियों, अत्यधिक कार्यशील पुरुषों
में अधिक हुआ करता है। इस रोग
ात है।
ो पूर्वावस्था में इस रोग के होने की
ारीरिक संश्लेषण और विश्लेषण की
' या अन्य विष रक्तसञ्चरण द्वारा
शूल पैदा करते हैं तथा पित्त का वमन
यों के सङ्कुचित होने से मुख पर अव-
देते हैं।
ों का दूसरा परिणाम रक्तवाहिनियों
सकता है जैसे जैसे बहिर्ग्रीवाधमनी
ाखाओं में विस्तृति हो जाती है जिससे
ारक्तवर्ण हो जाता है। इसके अतिरिक्त
शेयों में सङ्कोच होने से भी शिरःशूल
बार देखा गया है कि मस्तिष्क धातु
की क्रियासम्बन्धी विकृति होने से
होने के साथ साथ शिरःशूल भी पैदा
Intermittent (Hydrocephalus),

सुनरों के छिद्र का बीच बीच में बन्द होना तथा पीयूषग्रन्थि के विकार भी शिरःशूल में कारण होते हैं।

(ग) श्रमकारक व्यवसाय, चिन्ता, भोजन की अनियमितता, रूक्षभोजन तथा अध्यशन एवं कुलजप्रवृत्ति (Here-Dity) भी रोगजनन में सहायक होती है। निदान—प्रायः रुग्ण स्वस्थ होता है किन्तु सोकर उठने पर चक्कर, जी मिचलाना, धुंधला दिखाई देना, आंखों के सामने चमकते हुए रङ्गीन टेढ़े-मेढ़े दृश्यों का दिखना तथा लुप्त होना और पुनर्दर्शन एवं शून्यता तथा बदन में कपकपी शुरू हो जाती है। शिरःशूल शङ्खप्रदेश के किसी भी भाग में विदारण (Boring) के स्वरूप की तीव्र पीड़ा प्रारम्भ करके फैल जाता है। रुग्ण का मुख अवसादयुक्त, सूखा सा (Pallor) तथा कभी कभी विकृतपार्श्व में लालिमायुक्त भी होता है। कई बार निरन्तर वमन होता रहता है जिससे रोगी क्लान्त होकर पड़ा रहता है। किसी प्रकार की हलचल, तीव्रप्रकाश, जोर के शब्द शिरःशूल को बढ़ा देते हैं। शङ्खप्रदेशगत धमनी फूली हुई, रस्सी के समान स्पर्श में कठोर हो जाती है। शिरःशूल बहुत देर तक बना रहता है और किसी भी उपाय से शान्ति प्राप्त नहीं होती है। निद्रा आने पर ही शान्ति मिलती है। दूसरे दिन रोगी सोकर उठता है तो क्लान्त सा दिखाई देता है। कई बार मूकता या वाग्विकृति (Aphasia), एकाङ्गघात और अर्धाङ्गघात भी देखने को मिलते हैं। अनेक बार रोग का तीव्र आक्रमण होने पर नेत्रपेशीघात (Opthalmoplagia) अथवा अन्य शिरस्का नाड़ियों की क्रियाशक्ति का नाश भी हो जाता है। जब दौरा बन्द हो जाता है तब ये उपद्रव भी शान्त हो जाते हैं किन्तु दुबारा आक्रमण होने पर उक्त उपद्रव होने की सम्भावना बनी रहती है। इस प्रकार अर्धावभेदक रोग वर्षों तक चलता रहता है। जैसे जैसे रोगी की आयु बढ़ती जाती है रोग की तीव्रता कम होती जाती है। मध्यमायु के बाद आमतौर पर तीव्रता बन्द हो जाती है। अनेक बार नेत्रदोष तथा अपस्मार में इस रोग के विपरिणाम देखे गये हैं। रोगनिर्णय—पूर्वरूपावस्था में अर्धावभेदक की समता अपस्मार से रहती है परन्तु सापेक्ष्यनिदान में इसके दो लक्षण विचारणीय हैं। (१) यह अधिक देर तक चलता है। (२) इसमें चेतना बनी रहती है किन्तु अपस्मार में संज्ञा नष्ट हो जाती है।

शङ्खाश्रितो वायुरुदीर्णवेगः
कृतानुयात्रः कफपित्तरक्तैः।
रुजः सुतीव्राः प्रतनोति मूर्ध्नि
विशेषतश्चापि हि शङ्खयोस्तु ॥ १६ ॥
सुकष्टमेनं खलु शङ्खकाख्यं
महर्षयो वेदविदः पुराणाः।
व्याधिं वदन्त्युद्गतमृत्युकल्पं
भिषक्सहस्रैरपि दुर्निवारम् ॥ १७ ॥

इति सुश्रुतसंहितायामुत्तरतन्त्रान्तर्गते शालाक्यतन्त्रे शिरोरोगविज्ञानीयो नाम पञ्चविंशोऽध्यायः ॥ २५ ॥

शङ्खकलक्षण—मिथ्या आहार-विहार से उदीर्ण (उत्कट) वेगयुक्त वायु कफ, पित्त और रक्त को साथ लेकर सिरा और धमनियों के द्वारा शङ्खप्रदेश में आश्रित होकर मस्तिष्कप्रदेश में अत्यन्त भयङ्कर वेदना उत्पन्न करता है तथा इस प्रकार की तीव्र वेदना विशेषकर दोनों शङ्खप्रदेशों में होती है इसलिये वेद के ज्ञाता पुराने महर्षि लोग अत्यन्त कष्टदायक तथा उद्भूतमृत्युकल्प (उपस्थित मृत्युसदृश) तथा हजारों वैद्यों से भी दुश्चिकित्स्य इस व्याधि को शङ्खक नाम से कहते हैं ॥

विमर्शः—माधवनिदान में लिखा है कि शङ्खप्रदेश में दूषित, विवृद्ध तथा मिले हुये पित्त, रक्त तथा वायु तीव्र पीड़ा, दाह और लालिमायुक्त दारुण शोथ उत्पन्न करते हैं। यह शोथ विषवेग के समान अपने वेग से शीघ्र ही सिर तथा गले को अवरुद्ध कर तीन ही दिन में रोगी को मार डालता है। इस रोग को 'शङ्खक' कहते हैं। चिकित्सक प्रथम रोग को असाध्य कहकर या तीन दिन तक रोगी जीवित रह जाय तो चौथे दिन से चिकित्सा आरम्भ करे। रक्तपित्तानिला दुष्टाः शङ्खदेशे विमूर्च्छिताः। तीव्ररुग्दाहरागं हि शोथं कुर्वन्ति दारुणम् ॥ स शिरो विषवद्वेगी निरुन्ध्याशु गलं तथा। त्रिरात्राज्जीवितं हन्ति शङ्खको नामतः परम् ॥ त्र्यहाज्जीवितभैषज्यं प्रत्याख्याय समाचरेत्। (मा. नि.) यहां पर यद्यपि माधवकार ने कफ का निर्देश नहीं किया है किन्तु सुश्रुताचार्य ने कफ को भी रोगसम्प्राप्ति में गिनाया है। अस्तु इस रोग में दोषदुष्टि की दृष्टि से आचार्यों में अवश्य मतभिन्नता देखी जाती है, जैसे—माधवकार ने रक्त की प्रधान दुष्टि, सुश्रुत ने वायु की उल्बणता एवं वाग्भट ने पित्त की प्रधानता प्रदर्शित की है तथापि रोग सन्निपातजन्य है। सभी आचार्यों द्वारा अपने २ वर्णनों में वायु, पित्त, कफ और रक्त की वृद्धि तथा मूर्च्छना दिखलाई गई है उसी के अनुरूप लक्षणों का भी वर्णन मिलता है। सभी के मत से रोग की तीन दिन की अवधि के भीतर विकल्प से असाध्यता और तीन दिन के बाद निश्चित असाध्यता विदित होती है, इसलिये वाग्भटाचार्य ने लिखा है कि तीन दिन के भीतर ही रोगी का जीवन नष्ट हो जाता है अथवा शीघ्र कुशल चिकित्सक द्वारा चिकित्सा होने पर बच भी सकता है—'त्रिरात्राज्जीवितं हन्ति सिध्यत्यप्याशु साधितः' (वाग्भट) आचार्य विदेह भी इसी बात का समर्थन करते हैं—मिथ्या आहार-विहार से प्रथम पित्त शङ्खप्रदेश में सञ्चित होता है तथा वहां की सञ्चित वायु को भी अपने साथ दूषित तथा उल्बण करके मर्मस्थानों को भरकर उनके मुख को बन्द कर देता है। इससे शङ्खप्रदेश में अग्नि के समान जलन प्रतीत होती है एवं सूई के समान तुदन और अत्यन्त दारुण पीड़ा होती है। इसमें तृषा, मूर्च्छा, ज्वर ये उपद्रव उत्पन्न होते हैं। कुशल चिकित्सक के द्वारा चिकित्सा करने पर तीन दिन में रोग वश में हो जाय तो ठीक है अन्यथा वह रोग रोगी के प्राण हर लेता है—चीयते तु यदा पित्तं शङ्खयोरनिलाचितम्। निरुणद्धि ततो मर्म परिपूरितमुल्बणम् ॥ ततः शङ्खौ प्रसज्येते दह्येते इव वह्निना। सूचिभिरिव तुद्येते निकृत्येते इवासिना ॥ शङ्खको नाम शिरसि व्याधिरेष सुदारुणः। तृष्णामूर्च्छाज्वरकरस्त्रिरात्रात्परमन्तकृत् ॥ कुशलेन तूपक्रान्तस्त्रिरात्रादेव जीवति। नव्य विचार—शिरःशूल की प्रतीति तीन प्रधान विकृतियों तथा कारणों से होती है—(१) शिरोगुहा की बाह्य रचनाओं विशेष कर करोटि के आवरण रूप में पाई जाने वाली पेशियों अथवा धमनियों की विकृति से। (२) मार्ग की संवेदनाओं के द्वारा विशेषतः पञ्चम शिरस्का नाड़ी से। (३) करोटि गुहा के भीतर की रचनाओं में विकृति होने से। यहां पर शङ्खक शूल में तृतीय कारण की सम्भावना अधिक है। प्रथम कारण से वात, पित्त, कफ और रक्त जन्य शिरःशूल तथा द्वितीय कारण से अन्यतोवात या अनन्तवात रोग उत्पन्न होते हैं। शङ्खक रोग की विशेषताएं—इस रोग में अन्य शिरःशूलों के समान पीड़ा का क्षेत्र समग्र मस्तिष्क न हो कर शङ्खक पार्श्व प्रदेश (Tempro-parietal) मुख्य होता है। (२) यह पीड़ा अत्यन्त दारुण होती है। (३) इसकी कुल] कालमर्यादा तीन दिन की है, इसी के भीतर रोगी की मृत्यु हो जाती है किन्तु अन्य शिरःशूलों में ऐसी मर्यादा नहीं है। (४) इसमें विषमयता होने से ज्वर और तृष्णा भी होती है। (५) इसमें मूर्च्छा (Syncope) होती है। (६) यह एक प्रत्याख्येय रोग है। इसमें चिकित्सा न करने से निश्चित मृत्यु है तथा चिकित्सा करने में भी संशय है—अक्रियायां ध्रुवो मृत्युः क्रियायां संशयो भवेत्। (७) शङ्खक की चिकित्सा में उष्णस्वेद वर्जित है। शङ्खक रोग में निश्चित रूप से बड़ी सिरा कुल्याओं (Venous sinuses) या उनकी शाखा-प्रशाखाओं के विकार अथवा ड्यूरल और बेसल धमनियों की विकृति कारण हो सकती है। इन धमनियों में रक्त के जम जाने (Thrombosis) से या रक्त का थक्का इनमें आ के कहीं अटक जाय किंवा उक्त रक्तवाहिनियों के फट जाने से रक्तस्राव (Haemorrhage) हो जाय तो यह भयङ्कर अवस्था उत्पन्न हो सकती है तथा मृत्यु भी शीघ्र हो सकती है। यह मस्तिष्कगत रक्तस्राव (Cerebral haemorrhage), मस्तिष्कगत धातु अथवा मस्तिष्क गत कोष्ठों में (Ventricle) हो सकता है। तथा वहां की किसी धमनी, केशिका, सिराज ग्रन्थि (Anneurysm) सिराजाल (Venous sinuses) आदि के फट जाने से होता है। Intra-cranial Haemorrhage कहते हैं। कारण—विप्रकृष्ट-मद्यातिसेवन, चिन्ता, श्रमाधिक्य, विबन्ध। सन्निकृष्ट—वृद्धावस्थाजन्य धमनी अपक्रान्ति, रक्तभाराधिक्य, कुक्कुटकास, मस्तिष्क पर बाह्याभिघात, रक्त के रोग—रक्तपित्त (Purpura), तथा श्वेतकणमयता आदि। लक्षण तथा चिह्न—(१) रोग के लक्षण बिना ही किसी पूर्वरूप के या अधिकतर शिरःशूल के साथ प्रारम्भ होते हैं। (२) रोगी अवसन्न या मूर्च्छित तथा (३) छिन्न श्वसन, (४) शाखाएं ढीली, (५) मूत्रावरोध, (६) मल का अनैच्छिक उत्सर्ग, (७) परावर्त्तन क्रियाओं का अभाव, (८) ज्वर, (९) नाड़ी तीव्र एवं दुर्बल (१०) दोषों के बहिर्भाग में सीमित होने पर रोगी पूर्ण निःसंज्ञ नहीं होता आदि लक्षण व चिह्न होते हैं। साध्यासाध्यता—यद्यपि मस्तिष्कगत रक्तस्राव में सुधार होने की आशा कम रहती है फिर भी रोगी यदि संज्ञा में आ जाय तो उसके ठीक होने की आशा का कुछ अनुमान लग सकता है।

इत्यायुर्वेदतत्त्वसन्दीपिकाव्याख्यायां शिरोरोगविज्ञानीयो नाम पञ्चविंशोऽध्यायः ॥ २५ ॥

षड्विंशतितमोऽध्यायः

अथातः शिरोरोगप्रतिषेधं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥ २ ॥

अब इसके अनन्तर शिरोरोगप्रतिषेध नामक अध्याय का व्याख्यान करते हैं जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने कहा है ॥

विमर्शः—पूर्वाध्याय में शिरोरोगों के निदानादि का वर्णन किया जा चुका है अतः उसके अनन्तर उन रोगों की चिकित्सा का वर्णन करना प्रासङ्गिक है। यहां पर प्रतिषेध शब्द का अर्थ चिकित्सा करना है। शिरोरोगों की दोषक्रम से चिकित्सा प्रतिपादित करने के पूर्व सामान्य चिकित्सा का वर्णन आवश्यक है। शिरोरोग सामान्य चिकित्सा—समस्त शरीर में सिर (Brain) एक प्रधान अङ्ग है तथा उसीमें सर्व इन्द्रियां लगी हुई या आश्रित हैं तथा प्राणियों के प्राण उसी में संश्रित रहते हैं इस लिये उस उत्तमाङ्ग की रक्षा में सदा तत्पर रहना चाहिये—सर्वेन्द्रियाणि येनास्मिन् प्राणा येन च संश्रिताः। तेन तस्योत्तमाङ्गस्य रक्षायामादृतो भवेत्॥ (अ. हृ. उ. २४)। सुश्रुताचार्य का भी कथन है कि जहां पर प्राणियों के प्राण तथा सर्व (पञ्च ज्ञानेन्द्रिय, पञ्च कर्मेन्द्रिय एवं उभयात्मक मन) इन्द्रियां संश्रित हों तथा जो सर्वाङ्गों में उत्तम अङ्ग हो उसे सिर कहते हैं—प्राणाः प्राणभृतां यत्र श्रिताः सर्वेन्द्रियाणि च। तदुत्तमाङ्गमङ्गानां शिर इत्यभिधीयते॥ (सुश्रु. शा.)। वाग्भटाचार्य का कथन है कि यह पुरुष शरीर अश्वत्थ वृक्ष के समान है तथा इस वृक्ष का मूल (मस्तिष्करूपी प्रधान अङ्ग) ऊपर एवं हस्त-पादादि रूप शाखाएं नीचे को फैली हुई हैं इस लिये शिरोरोग मूल स्थान पर ही प्रहार करते हैं अतः मूलप्रहारकारी रोगों को शीघ्र नष्ट करने का प्रयत्न करना चाहिये—ऊर्ध्वमूलमधःशाखमृषयः पुरुषं विदुः। मूलप्रहारिणस्तस्माद्रोगाञ्छीघ्रतरं जयेत्॥ समस्त रोगों की चिकित्सा में यह सामान्य नियम है कि निदान (रोग के कारण) का परिवर्जन करना अत्यावश्यक (संक्षिप्त और सारभूत चिकित्सा) है इस लिये जिन विविध कारणों से शिरोरोग होते हैं उन्हें दूर करना शिरोरोगों का प्रथम प्रतिषेध है—चरकोक्तशिरोरोग कारण—अधारणीय वेगों का धारण, दिवास्वप्न, रात्रिजागरण, मादक पदार्थ सेवन, जोर से भाषण, ओस में सोना या घूमना, पूर्वदिशा की हवा, अतिमैथुन, असात्म्य गन्ध का सूंघना, धूलि, धुआं और हिम और धूप का सेवन, गुरु अम्ल और हरे पदार्थ का सेवन, अत्यधिक शीत जल का सेवन, सिर में चोट लगना, आमदोष, रोदन, बाष्पनिग्रह, मेघ (वर्षा) का समय, मन का सन्ताप, देश और काल का विपर्यय इन कारणों से वातादि दोष कुपित हो कर सिर में जा के वहां के रक्त को दूषित कर देते हैं जिससे शिरोरोग उत्पन्न होते हैं, अतः इन कारणों का प्रथम परित्याग करना चाहिये—सन्धारणाद्दिवास्वप्नाद्रात्रौ जागरणान्मदात्। उच्चैर्भाष्यादवश्यायात् प्राग्वातादतिमैथुनात्॥ गन्धादसात्म्यादाघ्राताद्रजोधूमहिमातपात्। गुर्वम्लहरितादानादतिशीताम्बुसेवनात्॥ शिरोऽभिघाताद्दुष्टामाद्रोदनाद्बाष्पनिग्रहात्। मेघागमान्मनस्तापाद्देशकालविपर्ययात्॥ वातादयः प्रकुप्यन्ति शिरस्यस्रं च दुष्यति। ततः शिरसि जायन्ते रोगा विविधलक्षणाः॥ (च. सू. अ. १७)। कारणपरित्याग के अनन्तर शिरोरोगों के निवारणार्थ प्रकुपित हुये दोषों के संशमन की ओर पूर्ण ध्यान देना चाहिये। जब रक्त और पित्त की विकृति से शिरोरोग होते हैं तब शिरःशूल दिन में अधिक एवं रात में शान्त हो जाता है। इसके विपरीत वायु या श्लेष्मा से जन्य शिरोरोग होने पर शूल रात में अधिक तथा दिन में कम हो जाता है। इस तरह दोष-प्रकोप के समयादि का विचार कर चिकित्सा करने से अधिक लाभ होता है। दोषप्राधान्य—यद्यपि शिरोरोग प्रायः त्रिदोषजन्य होते हैं तथापि दोषों की प्रधानाप्रधानता का विचार कर प्रथम उल्बण (प्रधान) दोष की चिकित्सा करने से शीघ्र लाभ होता है। सिरावेध या रक्तविस्रावण रक्तजन्य शिरोरोग में करने से लाभ होता है। शिरोविरेचन—दोषों की ऊर्ध्वगति होने पर वे मस्तिष्क में जा कर वहां लीन हो जाते हैं तथा नासासम्बन्धी विवरों में भी दोष अवस्थित हो जाते हैं इसी दृष्टि से स्वेदन तथा उपनाह करने से अवस्थित गाढे दोष पिघल कर स्राव के रूप में बाहर निकल आते हैं। दोषों के आमावस्था में होने पर या पतला स्राव किंवा क्लेद होने पर उसे सुखाने या कम करने के लिये शुष्क स्वेद करना चाहिये। बन्धन-वातज पीड़ा में सिर पर पट्टी कस कर बांधने से विशेष लाभ होता है। कवलधारण तथा गण्डूष—करने से इतस्ततः प्रसृत हुये दोष एकत्रित हो कर स्रोतोमुख से बाहर निकल जाते हैं। लेप—लगाने से दोषों का स्थानिक प्रकोप शान्त हो जाता है। दोष तथा कालविचार से शिरःशूल में चिकित्सा करने से शीघ्र सफलता प्राप्त होती है—जैसे वायु और कफजन्य शिरःशूल में उष्णोपचार तथा पित्तजन्य और रक्तजन्य शिरःशूल में शीतोपचार से लाभ होता है। इसी तरह शीत ऋतुओं में उष्ण उपक्रम तथा उष्णप्रकृतिक ऋतुओं में शीत उपक्रम हितकर होता है। शीत ऋतु में बादाम, पोस्त के दाने, एवं ग्रीष्म ऋतु में अनार, नारङ्गी, अङ्गूर, बदरीफल, फालसा आदि के पानकों का उपयोग होता है। वातश्लेष्मज या उष्णोपचार साध्य शिरःशूल में बादाम तैल, नारायण तैल, लक्ष्मीविलास तैल का सिर पर अभ्यङ्ग करना चाहिये और यदि गरमी के कारण तथा रक्तज और पित्तजन्य शिरोरोग हो तो शीतल तैलों का अभ्यङ्ग करना चाहिये, जैसे—चन्दनादि तैल, ब्राह्मी तैल, कद्दू का तैल, हिमांशु तैल, गुलरोगन तथा तिल तैल ऐसे सामान्य तैल हैं, जिनका सभी प्रकार के शिरोरोगों में प्रयोग किया जा सकता है। वेसवार प्रयोग—यह उष्ण प्रकृतिक होने से वात तथा कफ से उत्पन्न शिरोरोगों में स्वेदनार्थ प्रयुक्त होता है। निरस्थि पिशितं पिष्टं स्विन्नं गुडघृतान्वितम्। कृष्णामरिचसंयुक्तं वेसवार इति स्मृतः॥ (चक्रपाणि सू. ४) चरकाचार्य ने अपने बत्तीस सिद्धयोगों में से शिरःशूल के लिये जो दो लेप के योग लिखे हैं उनमें प्रथम शीतवीर्य होने से पित्त और रक्तज शिरोरोग में तथा द्वितीय उष्ण होने से वात और कफजन्य शिरोरोगों में प्रयुक्त होता है—(१) नतोत्पलं चन्दनकुष्ठयुक्तं शिरोरुजायां सघृतप्रदेहः। (२) प्रपौण्डरीकं सुरदारुकुष्ठं यष्ट्याह्वमेला कमलोत्पले च। शिरोरुजायां सघृतप्रदेहो लौहैरकापद्मकचोरकैश्च॥ (च. सू. अ. ४)। पाश्चात्य शालाक्य शास्त्र के वर्णनों से विदित होता है कि शिरःशूल अधिकतर अन्य रोगों के लक्षण रूप में मिलता है अत एव उसके उत्पादक कारण या प्रधान हेतुभूत रोगों की चिकित्सा करने से ही शूल

शान्त हो जाता है, जैसे-अपस्मार, अम्लपित्त, जीर्ण विबन्ध, जीर्ण पित्ताशय या यकृच्छोथ, मधुमेह, वातरक्त, नागविष, अम्लमयता (Acidosis) या क्षारमयता (Alkalosis) विषम ज्वर, आन्त्रिक ज्वर, वातश्लैष्मिक ज्वर, अंशुघात, उष्णताप-दग्ध और पाण्डु इन कारणभूत प्रधान रोगों की चिकित्सा करने से कार्यभूत शूलरूपी लक्षण स्वयं शान्त हो जाता है 'प्रधानप्रशमात्प्रशमः' आधुनिक चिकित्सा विज्ञान में भी कहा है कि कारण की प्रथम चिकित्सा करो 'Treat the cause' शिरःशूल या शिरोरोग के प्रतिषेधार्थ आयुर्वेद में अनेक प्रकार की प्रक्रियाएं तथा ओषधियां हैं, जैसे-कई प्रकार की शूलहर वनस्पतियों के कल्क और स्वरस या क्वाथ से सिद्ध दुग्ध, घृत और तैल का पान और अभ्यङ्ग एवं सेक, प्रदेह, लेप, नस्य, धूम, अभ्यङ्ग, शिरोवस्ति, आस्थापन, अनुवासन, वमन, विरेचन, शिरोविरेचन, गण्डूषधारण, कवल, बृंहण तथा कृमिघ्न नस्य, अवपीडन, सिरावेध आदि। इन उपक्रमों का प्रयोग रोगी की अवस्था, दोष, बल एवं काल आदि का विचार करके करना चाहिये। नस्यकर्मवैशिष्ट्य—शिरोगत रोग किंवा ऊर्ध्वजत्रुगतावकारों में नस्यकर्म प्रधान माना जाता है। चरकाचार्य ने लिखा है कि-नियमित रूप से नस्य लेते रहने से नेत्र, नासा और कर्ण की शक्ति अक्षुण्ण रहती है तथा समय के पूर्व सिर के बाल और डाढी के बाल श्वेत और कपिल नहीं होते हैं तथा गिरते भी नहीं हैं एवं वे बढते-रहते हैं, इसके सिवाय नस्य कर्म से मन्यास्तम्भ, शिरःशूल, अर्दित, हनुग्रह, पीनस, अर्धाव-भेदक और शिरःकम्पन ये रोग नष्ट हो जाते हैं। नस्यकर्म से सिर तथा कपाल की सिराएं, सन्धियां, स्नायु और कण्ड-राएं तर्पित होकर अधिक बलशाली हो जाती हैं एवं मुख प्रसन्न तथा उपचित, स्वर स्निग्ध, स्थिर और महान् तथा सर्व इन्द्रियां निर्मल हो जाती हैं। नस्य से सहसा जत्रु के ऊपर होने वाले रोग नहीं होते हैं तथा अवस्था के जीर्ण होने पर भी उत्तमाङ्ग (मुख तथा सिर) पर जरा के लक्षण (चर्म में झुर्रियां पड़ना, एवं बालों का श्वेत होना) नहीं प्रगट होते हैं-

नस्यकर्म यथाकालं यो यथोक्तं निषेवते। न तस्य चक्षुर्न घ्राणं न श्रोत्रमुपहन्यते॥ न स्युः श्वेता न कपिलाः केशाः श्मश्रूणि वा पुनः। न च केशाः प्रलुप्यन्ते वर्धन्ते च विशेषतः॥ मन्यास्तम्भः शिरःशूलमर्दितं हनुसंग्रहः। पीनसार्धावभेदौ च शिरःकम्पश्च शाम्यति॥ सिराः शिरःकपालानां सन्धयः स्नायुकण्डराः। नावन-प्रीणिताश्चास्य लभन्तेऽभ्यधिकं बलम्॥ मुखं प्रसन्नोपचितं स्वरः स्निग्धः स्थिरो महान्। सर्वेन्द्रियाणां वैमल्यं बलं भवति चाधिकम्। न चास्य रोगाः सहसा प्रभवन्त्यूर्ध्वजत्रुजाः। जीर्यतश्चोत्तमाङ्गे च। जरा न लभते बलम्॥ (च. सू. अ. ५)। चरकाचार्य ने अन्यत्र भी लिखा है कि शास्त्रज्ञ चिकित्सक समस्त शिरोरोगों में नस्यकर्म करे क्योंकि नासा सिर का द्वार है इसलिये नासा-मार्ग से ऊपर पहुंचाई हुई औषध समस्त सिर में व्याप्त होके वहां के रोगों को नष्ट कर देती है—नस्तः कर्म च कुर्वीत शिरो-रोगेषु शास्त्रवित्। द्वारं हि शिरसो नासा तेन तद् व्याप्य हन्ति तान्॥ नस्यकर्म भेद-चरकाचार्य ने नस्यकर्म के नावन, अवपीडन ध्मापन, धूम और प्रतिमर्ष ऐसे पांच भेद किये हैं—नावनञ्चा-वपीडश्च ध्मापनं धूम एव च। प्रतिमर्शश्च विज्ञेयं नस्तः कर्म तु पञ्चधा॥ (च. सि. अ. ९)। सुश्रुताचार्य ने भी नस्यकर्म के पांच ही भेद किये हैं किन्तु उन्होंने नावन शब्द के स्थान पर नस्य शब्द का प्रयोग किया है—'तद्द्विविधमपि पञ्चविधवि कल्पं तद्यथा नस्यं शिरोविरेचनं, प्रतिमर्शोऽवपीडः प्रधमनञ्च। (सु. चि.)। (१) नावन या नस्य (Snuffs)—नासिका के स्नेहन अथवा शोधन करने के लिये किसी भी हल्के क्षोभक द्रव्य का नासा में प्रवेश करना। इस तरह नावन के स्नेहन और शोधन ये दो भेद हो जाते हैं—स्नेहनं शोधनञ्चैव द्विविधं नावनं मतम्। शोधन के लिये क्षोभक द्रव्य जैसे-पिप्पली, अपामार्गबीज, नकछिकनी आदि द्रव्यों का चूर्ण बनाकर उसे सुंघाते हैं जिससे छींकें आकर सिर के दोष स्राव के रूप में निकल जाते हैं। (२) अवपीडन यह नस्य से खरतर होता है तथा इसमें उग्र क्षोभक द्रव्यों के चूर्ण को नासा के द्वारा प्रविष्ट करके शिरोगुहा का संशोधन करते हैं। (३) ध्मापन (Insufflation or Inhalation of powders)—इस में कटु, उष्ण और क्षोभक द्रव्यों के चूर्ण को कागद की भोंगली बना के या किसी अन्य नाड़ी द्वारा फूंक मारकर नस्यकर्म किया जाता है। यह क्रिया अत्यन्त तीक्ष्ण है तथा इससे देह के स्रोतसों का सम्यक्तया संशोधन हो जाता है। (४) धूम (Inhalation)—नासिका के द्वारा ओषधियों के धूएं को शिरोगुहा आदि आभ्यन्तरिक स्रोतसों में पहुंचाने को धूमक्रिया कहते हैं। इसके धूम्रपान के समान प्रायोगिक, स्नैहिक एवं वैरेचनिक ऐसे तीन भेद चरकादि ग्रन्थों में किये गये हैं। (५) प्रतिमर्श (Application of Lubricant substances like Vasceline etc)—इसका उद्देश्य नासा-गत श्लेष्मकला का स्नेहन करना है। इसे प्रायः दोषरहित अवस्था में प्रयुक्त करते हैं। काल, आयु आदि का कोई प्रतिबन्ध नहीं। यह नस्य के कार्य को करता है तथा दोष-रहित होता है—'प्रतिमर्शस्तु नस्यार्थं करोति न च दोषवान्' इसे बारहों मास प्रातः तथा सन्ध्या दोनों समय प्रयुक्त कर सकते हैं तथा स्नेह को अङ्गुलि में लगा कर अङ्गुलि को नासाछिद्र में प्रविष्ट करके तैल को ऊपर की ओर खींचना चाहिये एवं सूंघे हुये स्नेह को उच्छिङ्घन करके बाहर नहीं निकालना चाहिये—प्रतिमर्शस्तु स्नेहार्थं करोति न च दोषवान्। नस्तः स्नेहाङ्गुलिं दद्यात् प्रातर्निशि च सर्वदा। न चोच्छिङ्घेदरोगाणां प्रतिमर्शः स दार्ढ्यकृत्॥ (च. सि. अ. ९)। सम्यक्प्रतिमर्श प्रमाण—नासा के द्वारा कुछ उच्छिङ्घन (सुरकने) से तैल या घृत ऊपर को आकर जब मुख में आ जाय तब प्रतिमर्श पूरा हो गया ऐसा समझें—ईषदुच्छिङ्घनात्स्नेहो यावान् वक्त्रं प्रपद्यते। नस्तो निषिक्तं तं विद्यात् प्रतिमर्शः प्रमाणतः॥ मुख द्वारा प्रतिमर्शपान निषेध—नासा से तैलादि को सुरक कर मुख से पीना नहीं चाहिये क्योंकि ऐसा करने से कण्ठस्राव होने का भय रहता है जैसा कि कहा है—प्रतिमर्शं तु न पिबेत् कण्ठ-स्रावभयान्नरः। यावत्स्नेहो व्रजेदास्यं तत्प्रमाणन्तु तस्य तु॥ (चक्रपाणि टीका) 'अतएव शास्त्रोक्त प्रमाणानुसार ही प्रति-मर्श का प्रयोग करना चाहिये। पूर्वोक्त पञ्चविध नस्यकर्म में क्रियादृष्टि से उनके तीन प्रधान कार्य हैं। (१) विरेचन, (२) बृंहण तथा (३) शमन। ऊर्ध्वजत्रुगत विकारों में विशेषतः अवस्थानुसार इन्हीं तीनों में से किसी एक का

प्रयोग करना पड़ता है। शिरोविरेचन का प्रयोग प्रायः शिरःशूल, शिरोजाड्य, गले के रोग, शोफ, कृमि, गण्ड, ग्रन्थि, कुष्ठ, अपस्मार तथा पीनस आदि नासारोग, इनमें होता है। बृंहणकार्यकारी नस्यों का प्रयोग वातिक शिरःशूल, सूर्यावर्त, स्वरावसाद, नासाशोष, मुखशोष, वाक्सङ्ग, कृच्छ्रोन्मीलन, और अवबाहुक में होता है। शमनक्रियाकारी नस्यों का प्रयोग नीलिका, व्यङ्ग, केशदोष और नेत्ररोगों में होता है। वाग्भटाचार्य ने मर्श तथा प्रतिमर्श इन दो उपक्रमों का उल्लेख किया है तथा मर्श को चरकोक्त वैरेचनिक प्रयोग समझना चाहिये। इसका प्रयोग रोगों में मात्राभेद, बल, दोष आदि का विचार करते हुये किया जाता है किन्तु प्रतिमर्श का प्रयोग स्वस्थ व्यक्तियों के स्वास्थ्य के रक्षणार्थ होता है और उसमें विशुद्ध तैल को अङ्गुलि के सहयोग से नासा में लगा कर सुंघा (सुरका) जाता है। इस प्रकार का यह प्रतिमर्श कायचिकित्सा के बस्तिकर्म के सदृश माना गया है तथा जन्म से लेकर मृत्युपर्यन्त प्रशस्त माना गया है और इसका नित्य प्रयोग करने से मर्श के समान गुणों को करता है। इसमें मर्श के समान किसी प्रकार की यन्त्रणा (पथ्यादि व्यवस्था) की आवश्यकता नहीं होती है तथा इसके सेवन में किसी प्रकार की व्यापत् अर्थात् उपद्रव भी नहीं होते हैं। नित्य अभ्यासार्थ नस्य के लिये तिलतैल ही प्रशस्त है। सिर कफ का स्थान होने से स्वस्थ व्यक्ति के लिये अन्य स्नेह उपयुक्त नहीं होते हैं किन्तु तैल ही प्रशस्त है। आजन्ममरणं शस्तः प्रतिमर्शस्तु बस्तिवत्। मर्शवच्च गुणान् कुर्यात् स हि नित्योपसेवनात्॥ न चात्र यन्त्रणा चापि व्यापद्भ्यो मर्शवद्भयम्। तैलमेव च नस्यार्थे नित्याभ्यासेन शस्यते॥ शिरसः श्लेष्मधामत्वात् स्नेहाः स्वस्थस्य नेतरे॥ (अ० हृ० सू०)। शिरोबस्ति—शिरोरोगों में शिरोबस्ति का अत्यधिक महत्त्व है तथा शिरःशूल के संशमन के लिये इसका प्रयोग अत्यधिक लाभदायी होता है। वातिक शिरःशूल में इसका विस्तृत वर्णन किया जायगा। शिरोरोगहर सामान्ययोग—शिरोरोग में लेप, नस्य, तैल, घृत, क्वाथ तथा रस ओषधियों का प्रयोग होता है। लेपों में भैषज्यरत्नावली प्रोक्त गुञ्जादि लेप तथा कृष्णमरिचादि लेप श्रेष्ठ है—गुञ्जाकरञ्जबीजञ्च तयोः कल्को जले कृतः। मरिचैर्भृङ्गराजैश्च शीघ्रं हन्ति शिरोव्यथाम्॥ इसके सिवाय मुचुकुन्द के फूलों को पानी के साथ पीस कर सिर पर लेप करने से अच्छा लाभ होता है।

पाठादिलेप—पाठा, पटोलपत्र, सोंठ, एरण्डमूल, सहजने के बीज, चक्रमर्द के बीज और कूठ इन द्रव्यों को मट्ठे के साथ पीस कर सिर पर लेप करने से शिरोव्यथा शान्त होती है। नस्य—(१) मुलेठी तथा वत्सनाभ के महीन चूर्ण को अत्यल्प मात्रा (½ रत्ती) में सूंघने से तत्काल शिरःशूल शान्त होता है। (२) नवसादर तथा चूने को महीन पीस कर जल से आर्द्र करके सूंघने से सिर की पीडा नष्ट हो जाती है। आर्द्रं यच्चुक्रिकाचूर्णं चूर्णितं नवसादरम्। उभयं योजितं तस्य गन्धान्नश्यति शीर्षरुक्॥ (भै० र०)। (३) कपास के बीजों की गिरी, दालचीनी, नागरमोथा, चमेली के पत्ते और फूल को पीस कर उसका रस नाक में छोड़ने से सर्व प्रकार के शिरःशूल शान्त होते हैं। (४) अपराजिता की जड़ या फल के स्वरस का नस्य देने से अथवा जड़ को कान में बांधने से शिरोव्यथा नष्ट होती है—गिरिकर्णीफलरसं मूलञ्च नस्यमाचरेत्। मूलं वा बन्धयेत् कर्णे शीघ्रं हन्ति शिरोव्यथाम्॥ (भै. र.) (५) तीन माशे भर सोंठ को दुग्ध के साथ पीस कर छान के उनका नस्य देने से अनेक प्रकार की शिरोव्यथा नष्ट होती है। नागरकल्कविमिश्रं क्षीरं नस्येन योजितं पुंसाम्। नासादोषोद्भूतां शिरोरुजां हन्ति तीव्रतराम्॥ (भै. र.)। (६) अर्धनारीश्वर रस की गोली को पानी में घिस कर उसका नस्य देने से शिरोरोग में जन्य वेदना तत्काल शान्त होती है—नराट् टङ्कणं शुद्धं पञ्चभागसमन्वितम्। नवभागं मरीचस्य विषं भागत्रयं मतम्॥ स्तन्येन वटिकां कृत्वा नस्यं दद्याद्विचक्षणः। शिरोविकारान् विविधान् हन्ति श्लेष्मोत्तरानपि॥ (भै. र.)। (७) फिटकरी तथा कर्पूर के चूर्ण का नस्य लेने से शिरःशूल तथा नासागत रक्तपित्त शीघ्र शान्त होता है—नावनाच्चूर्णरूपेण कर्पूरः स्फुटिकारिका। नासाऽसृक्स्रुतिमार्तिञ्च शिरसो हन्त्यसंशयम्॥ (भै० र०)। तैल तथा घृत प्रयोग—(१) षड्बिन्दु तैल की ६ बूंदें दोनों नासापुटों में टपकाने से शीघ्र ही सिर के विकार नष्ट हो जाते हैं—एरण्डमूलं तगरं शताह्वा जीवन्ति रास्ना सह सैन्धवञ्च। भृङ्गं विडङ्गं मधुयष्टिका च विश्वौषधं कृष्णतिलस्य तैलम्॥ आजं पयस्तैलविमिश्रितञ्च चतुर्गुणे भृङ्गरसे विपक्वम्। षड्बिन्दवो नासिकयोर्निधेया निहन्ति शीघ्रं शिरसो विकारान्॥ (२) दशमूल तैल—मूर्च्छित सार्षप तैल २ से०, दशमूलक्वाथ ८ से०, दशमूलकल्क आधा सेर लेकर यथाविधि तैल पका लें। यह तैल सर्व प्रकार के शिरःशूल को नष्ट करता है। (३) धुस्तूरतैल—धतूर के कल्क तथा क्वाथ से कटुतैल पका के अभ्यङ्ग करने से तथा कान में डालने से शिरोरोग और कर्णरोग नष्ट होते हैं। (भै. र.)। इसी तरह भैषज्यरत्नावली में लिखे हुये गुञ्जातैल तथा हिमांशुतैल लाभप्रद होते हैं। भावप्रकाशोक्त कुमारीतैल, कनकतैल, तमराजतैल, रुद्रतैल, लक्ष्मीविलास तैल और भृङ्गराजतैल भी अन्य रोगों के अतिरिक्त शिरोरोगों को भी नष्ट करते हैं। घृतप्रयोगों में महामायूरघृत ऊर्ध्वजत्रुगत सर्वरोगों को नष्ट करता है—शतं मयूरमांसस्य दशमूलीबलातुलाम्। द्रोणेऽम्भसः पचेत् क्षुत्त्वा तस्मिन् पादस्थिते ततः॥ निषिच्य पयसो द्रोणं पचेत्तत्र घृताढकम्। प्रपौण्डरीकं वर्गोक्तैर्जीवनीयैश्च भेषजैः। मेधाबुद्धिस्मृतिकरमूर्ध्वजत्रुगदापहम्॥ मायूरमेतन्निर्दिष्टं सर्वानिलहरं परम्। मन्याकर्णशिरोनेत्ररुजापस्मारनाशनम्॥ विषवातामयश्वास-विषमज्वरकासनुत्। (चक्रदत्त)। इसी तरह मयूराद्य घृत तथा अन्य जन्तु जैसे—चूहे, मुर्गी, हंस तथा खरगोश आदि के मांस के स्वरस या क्वाथ से भी पृथक्-पृथक् घृतपाक किया जा सकता है—आखुभिः कुक्कुटैर्हंसैः शशैश्चापि हि बुद्धिमान्। कल्पेनानेन विपचेत्सर्पिरूर्ध्वगदापहम्॥ (भै. र.)। क्वाथों में पथ्याषडङ्गक्वाथ बनाकर उसमें गुड़ मिलाके पिलाने से शीर्षशूल नष्ट होता है—पथ्याक्षधात्रीभूनिम्बनिशानिम्बामृतायुतैः। कृतः क्वाथः षडङ्गोऽयं सगुडः शीर्षशूलनुत्॥ (शार्ङ्गधर) उक्त क्वाथ तीव्र तथा जीर्ण दोनों प्रकार के शिरःशूल में अमोघ औषध है तथा यह वैद्यपरम्परा का श्रेष्ठ योग है। रसौषधियों में (१) शिरःशूलाद्रिवज्र रस को दो रत्ती से चार रत्ती के प्रमाण में लेकर मधु या बकरी के दुग्ध के अनुपान के साथ सेवन करने से एकदोषज, द्विदोषज, त्रिदोषज आदि सर्व प्रकार के

शिरोरोग नष्ट होते हैं—तलं रसं पलं गन्धं पलं लौहं पलं रविः। गुग्गुलोः पलचत्वारि तदर्द्धं त्रिफलारजः॥ कुष्ठं मधु कणा शुण्ठी गोक्षुरं कृमिनाशनम्। दशमूलञ्च प्रत्येकं तोलकं परिकल्पयेत्॥ क्वाथेन दशमूलस्य यथास्वं परिभावयेत्॥ घृतयोगेन कर्तव्या माषैक-प्रमिता वटी। (भै. र.)। (२) महालक्ष्मीविलास रस को दो रत्ती प्रमाण में लेकर सेवन करने से शिरोरोगों को नष्ट करता है—लौहमभ्रं विषं मुस्तं फलत्रयकटुत्रयम्। धुस्तूरं वृद्धदारञ्च बीज-भिन्द्राशनस्य च॥ गोक्षुरकद्वयञ्चैव पिप्पलीमूलमेव च। एतत्सर्वं समं ग्राह्यं रसे धुस्तूरकस्य च॥ भावयित्वा वटी कार्या द्विगुञ्जाफल-मानतः। महालक्ष्मीविलासोऽयं शिरोरोगविनाशकः॥ (भै. र.)। (३) दन्तीप्रवालयोग—गोदन्तीभस्म १ माशा, प्रवालभस्म २ रत्ती लेकर घृत तथा शर्करा के साथ मिश्रित कर सेवन करने से शिरःशूल नष्ट होता है। इस योग को दिन में तीन बार देना चाहिये। आधुनिक चिकित्सा शास्त्र में शिरःशूल को तत्काल शान्त करने की अनेक औषधियां प्रचलित हैं किन्तु उनसे स्थायी लाभ नहीं होता। (१) ए. पी. सी. पाउडर—एस्प्रिन ५ ग्रेन, फेनासीटीन ३ ग्रेन, केफिन साइट्रास २ ग्रेन लेकर इन्हें खरल में पीसकर शीतल जल के साथ प्रयोग करने से शिरःशूल शान्त हो जाता है। भिन्न-भिन्न कम्पनियों ने उक्त औषधियों के आधार से अनेक योग तयार कर रखे हैं जैसे अस्प्रो, सेरिडान, एनासीन, कैफिप्रिन, सिबाल्जिन आदि। निद्राजनक औषधियों के प्रयोग से निद्रा आकर शिरःशूल शान्त हो जाता है। ब्रोमाइड मिश्रण देने से शिरःशूल शान्त हो जाता है। पोटेशियम ब्रोमाइड १५ ग्रेन, सोडा ब्रोमाइड १० ग्रेन, टिंचर डिजीटेलिस १० बूंद, क्लोरल हाइड्रेट ८ ग्रेन, सीरपएमोनिया एरोमेट १ ड्राम, जल १ औंस। इस मिश्रण को तीन या चार खुराकों में विभक्त कर प्रति तीन घण्टे पर देते रहने से शिरःशूल शान्त हो जाता है। निद्राजनक औषधियों में ल्यूमिनाल, वेरोनाल सोनेरीन तथा मार्फिया का यथायोग्य प्रयोग करना चाहिये। शिरोरोग पथ्यापथ्य—स्वेद, नस्य, धूमपान, विरेचन, लेप, वमन, लङ्घन, शिरोवस्ति, रक्तमोक्षण, भ्रू, ललाटादि स्थानों में शलाका द्वारा दाह, उपनाह, पुराणघृत का पान, शाली और सांठी चावल, यूष, दुग्ध, धन्व (मरुभूमि) के पशु पक्षियों का मांस तथा पटोलपत्र, सहजन, दाख, वथुआ, करेला इनकी शाक एवं फलों में आम, आंवले, दाड़िम, बिजौरा नीबू और द्रवपदार्थों में तैल, छाछ, काञ्जी, नारियल तथा उसका पानी श्रेष्ठ हैं। इनके सिवाय हरड़, कूठ, भांगरा, घृतकुमारी, नागरमोथा, खस, चन्द्रिका (कपूर या चांदनीरात), गन्धसार (चन्दन या सुगन्धिद्रव्य) और कपूर ये सब शिरोरोग-चिकित्सा में प्रशस्त द्रव्य हैं। स्वेदो नस्यं धूमपानं विरेको, लेपश्छर्दिर्लङ्घनं शीर्षबस्तिः। रक्तोन्मुक्तिर्वह्निकर्मोपनाहो, जीर्णं सर्पिः शालयः षष्टिकाश्च॥ यूषो दुग्धं धन्वमांसं पटोलं, शिग्रुर्द्राक्षा वास्तुकं कारवेल्लम्। आम्रं धात्री दाडिमं मातुलुङ्गं, तैलं तक्रं काञ्जिकं नारिकेलम्॥ पथ्या कुष्ठं भृङ्गराजः कुमारी, मुस्तोशीरं चन्द्रिका गन्धसारः। कर्पूरञ्च स्यातिमानेष वर्गः सेव्यो मर्त्यैः शीर्षरोगे यथास्वम्॥ (भै. र.)। अपथ्य-छींक, जृम्भा, मूत्र, निद्रा, आंसू तथा मल इनके वेग को रोकना एवं दूषित जल का पीना, विरुद्ध अन्न का सेवन, सह्याद्रि तथा विन्ध्याद्रि से निकलने वाली नदियों के जल का पीना तथा दतुअन, दिन में शयन ये सर्व शिरोरोगी वर्जित कर दे। क्षवजृम्भामूत्रबाष्पनिद्राविड्-वेगमजनम्। दुष्टं नीरं विरुद्धान्नं सह्यविन्ध्यसरिज्जलम्॥ दन्तकाष्ठं दिवानिद्रां शिरोरोगी परित्यजेत्। (भै. र.)।

वातव्याधिविधिः कार्यः शिरोरोगेऽनिलात्मके।
पयोऽनुपानं सेवेत घृतं तैलमथापि वा॥ ३॥

वातिक शिरोरोग में—वातव्याधि रोग में कहे हुये समस्त उपचार अर्थात् स्नेहन, स्वेदन, अभ्यङ्ग, परिषेकादिबाह्य तथा स्नेहपान और अनुवासनबस्ति आदि आन्तरिक उपचार करने चाहिये। इनके अतिरिक्त दुग्ध का पीना, घृत या तैल का सेवन हितकारी होता है॥ ३॥

विमर्शः—पित्त का अनुबन्ध वायु के साथ होने पर दुग्ध में घृत डालकर पिलाना चाहिये और कफ का अनुबन्ध वायु के साथ होने पर दुग्ध में एरण्ड आदि तैल डालकर पिलाना चाहिये। चरकाचार्य ने लिखा है कि-वातिक शिरोरोग में स्नेहन, स्वेदन, नावन कर्म करना चाहिये तथा वात-नाशक पान (पेय), अन्न का सेवन और उपनाह करना चाहिये—वातिके शिरसो रोगे स्नेहान् स्वेदान् सनावनान्। पानान्नमुपनाहांश्च कुर्याद्वातामयापहान्॥ (च. चि. अ. २६) (१) स्नेहन कार्य के लिये अन्तःप्रयोगार्थ वरुणादिघृत का पान तथा बाह्य अभ्यङ्गादिप्रयोगार्थ रास्नादितैल, काकोल्यादि-तैल, बलादितैल। (२) स्वेदन कर्म के लिये त्रयोदश स्वेदों में से योग्य स्वेद का प्रयोग करना चाहिये—सङ्करः प्रस्तरो नाडी परिषेकोऽवगाहनम्। जेन्ताकोऽश्मघनः कर्षूः कुटीभूः कुम्भिकैव च॥ कूपो होलाक इत्येते स्वेदयन्ति त्रयोदश॥ (च. सू. अ. १४)। (३) नावन या नस्यकर्म—इसके लिये वृहत्पञ्चमूलक्षीर का नासा में नस्य देना चाहिये। इसके निर्माण के लिये पञ्चमूल की औषधियों में से प्रत्येक को आधे आधे तोले भर लेकर आध सेर दुग्ध में एक सेर जल मिला कर क्षीरावशेष क्षीरपाक कर लेना चाहिये। श्वासकुठार रस को भी सुंघाकर नस्य विधान किया जा सकता है। पोटेशियम परमेंगनेट एक रत्ती भर लेकर महीन पीस के सूंघने से नस्यकर्म होता है और इससे २० से ४० तक छींकें आकर शिरोगुहा का दोष द्रवरूप में बह जाता है। (४) उपनाह कर्म—जीवनीय उपनाह-इसमें (१) अगुरु को पीस कर तैल में भून के गरम गरम सुहाता हुआ उपनाह स्वेद करना चाहिये अथवा (२) जीवक, ऋषभक, मेदा, महामेदा, काकोली, क्षीरकाकोली, मुद्गपर्णी, माषपर्णी, जीवन्ती और मुलेठी इनको समान प्रमाण में मिश्रित कर गरम करके सिरप्रदेश में पीडास्थान पर उपनाह स्वेद करें। (३) मछली या मांस से उपनाह स्वेद करें। (४) तिल, चावल, उड़द की दाल इन्हें पानी में उबाल कर खिचड़ी सरीखे बना के सिर पर सुहाता लेप कर उपनाह स्वेद करें। (५) वातनाशक अन्न तथा पान—घृत से संस्कृत गेहूं के पदार्थ, मूंग की दाल, पेयोंमें दुग्धपान (६) वातघ्न अभ्यङ्ग या मर्दन—नारायणतैल, माषादितैल, प्रसारिणीतैल से अभ्यङ्गादि करें। (७) लेप—१. कुष्ठादि लेप—इसमें कूठ तथा एरण्ड की जड़ को काञ्जी या तक्र में पीस कर सिर पर लेप करें। २. मुचकन्द पुष्प को पीस कर कुछ गरम करके

सिर पर लेप करें। ३. कुष्ठ, एरण्डमूल और सोंठ को तक्र से पीस कर किञ्चिदुष्ण करके सिर पर लेप करें। ४. देवदार्वादि लेप—इसमें देवदारु, तगर, कूठ, जटामांसी और सोंठ को काञ्जी या मट्ठे में पीस कर थोड़ा घृत डाल के गरम करके सिर पर सुहाता लेप करना चाहिये। (८) शिरोबस्ति—एक सोलह अङ्गुल चौड़ा तथा सिर के चारों ओर आ सके उतना लम्बा चर्म का पट्टा लेकर उसे सिर की बीच की खोपड़ी खाली रख कर सिर के चारों ओर लपेट कर बांध देवें। पट्टी के नीचे के किनारों पर उड़दी के आटे को जल से गीला कर लेप के वहां की सन्धि को बन्द कर देवें जिससे पट्टे से कोई सिर पर भरे हुए तैलादि द्रव पदार्थ बह कर बाहर न निकल सके। फिर रोगी को सीधा तथा निश्चल बैठा कर उस के सिर पर गुनगुना औषधीय तैल भर देवें। जब तक शिरोवेदना दूर न हो तब तक अथवा एक प्रहर या आधे प्रहर तक तैल को धारण करे। इस प्रकार प्रयुक्त यह शिरोबस्ति वातजन्य शिरोरोग को नष्ट करती है तथा हनुग्रह, मन्यास्तम्भ, अक्षिशूल, कर्णशूल, अर्दित तथा शिरःकम्प को भी विनष्ट करती है। भोजन करने के पूर्व इस बस्ति का प्रयोग करना चाहिये। एक बार बस्तिकर्म करने के पश्चात् ५ दिन, ६ दिन या ७ दिन के अन्तर से पुनः बस्तिकर्म करना चाहिये। बस्तिकर्म हो जाने पर वहां के तैल को निकाल कर शीशी में रख लें तथा बन्धन को खोलकर चर्मपट्ट हटा के सिर, ललाट, मुख, गरदन और कन्धे आदि का मर्दन करना चाहिये। इसके पश्चात् मन्दोष्ण जल से सिर, मुख तथा अन्य शरीराङ्गों को भी प्रक्षालित कर हितकर भोजन का सेवन करें। आशिरोव्यापि तच्चर्म षोडशाङ्गुलमुच्छ्रितम्। तेनावेष्ट्य शिरोऽधस्तान्माषकल्केन लेपयेत्॥ निश्चलस्योपविष्टस्य तैलैः कोष्णैः प्रपूरयेत्। धारयेदारुजः शान्तेर्यामं यामार्द्धमेव वा॥ शिरोबस्तिर्हरत्येष शिरोरोगं मरुद्भवम्। हनुमन्याक्षिकर्णार्तिमर्दितं मूर्धकम्पनम्॥ विना भोजनमेवैष शिरोबस्तिः प्रयुज्यते। पञ्चाहं वापि सप्ताहं षडहं चैवमाचरेत्॥ ततोऽपि नीतस्नेहस्तु मोचयेद्बस्तिबन्धनम्। शिरोललाटवदनग्रीवांसादीन् विमर्दयेत्॥ सुखोष्णेनाम्भसा गात्रं प्रक्षाल्याश्नाति यद्धितम्॥ (यो. र. शि. चि.) भैषज्यरत्नावली में वर्णित शिरोबस्ति विधान में चर्म को आठ आठ अंगुल ऊँचा (चौड़ा) लेकर सिर के चारों ओर लपेट कर बांध के निश्चल बैठे व्यक्ति के सिर पर उष्ण तैल भरने का विधान है—आशिरो व्यायतं चर्म कृत्वाष्टाङ्गुलमुच्छ्रितम्। तेनावेष्ट्य शिरोऽधस्तान्माषकल्केन लेपयेत्॥ इत्यादि। शिरोबस्ति के अनन्तर उष्णोदक से स्नान करके पथ्यकर आहार लेना चाहिये। पथ्य में जङ्गली पशु-पक्षियों का मांस व रस, शालि और साठी चावलों का भात, घृत तथा दुग्ध श्रेयस्कर है।

मुद्गान् कुलत्थान्माषांश्च खादेच्च निशि केवलान्।
कटूष्णांश्च ससर्पिष्कानुष्णं चानु पयः पिबेत्॥ ४॥

रात्रि के समय मूंग, उड़द या कुलत्थ को उबाल कर कटूष्ण गरम मसाले और घृत से संस्कृत करके सेवन करना चाहिये तथा मन्दोष्ण दुग्ध का अनुपान करना चाहिये॥ ४॥

पिबेद्वा पयसा तैलं तत्कल्कं वाऽपि मानवः।
वातघ्नसिद्धैः क्षीरैश्च सुखोष्णैः सेकमाचरेत्॥ ५॥

तत्सिद्धैः पायसैर्वाऽपि सुखोष्णैर्लेपयेच्छिरः।
स्विन्नैर्वा मत्स्यपिशितैः कृशरैर्वा ससैन्धवैः॥ ६॥

अथवा दुग्ध के साथ तिल तैल मिला कर अथवा तिल का कल्क मिश्रित करके पीना चाहिये। इसके अनन्तर वातनाशक (भद्रदार्वादिगणोक्त) ओषधियों के कल्क व क्वाथ से सिद्ध किये हुये सुखोष्ण दुग्ध की धारा से सिर पर सेक करना चाहिये। अथवा वातघ्न ओषधियों के कल्क और क्वाथ से सिद्ध किये हुये दुग्ध में बनाई हुई सुखोष्ण खीर (पायस) का मस्तिष्क पर लेप करके सेक करना चाहिये। अथवा उबाली हुई मछली के मांस को पत्थर पर पीसकर किंवा कृशरा (खिचड़ी) में सैन्धव लवण डाल कर सिर पर सुहाता हुआ लेप करके सेक करना चाहिये॥ ५-६॥

विमर्शः—तिल और तण्डुल को मिलाकर ६ गुने पानी में उबाल कर कृशरा बनाई जाती है—'तिलतण्डुलसम्मिश्रः कृशरः सोऽभिधीयते।'

चन्दनोत्पलकुष्ठैर्वा सुश्लक्ष्णैर्मगधायुतैः।
स्निग्धस्य तैलं नस्यं स्यात् कुलीररससाधितम्॥ ७॥

चन्दनादिलेप—मलयागिरी चन्दन, कमल, कूठ और पीपल इन्हें समान प्रमाण में लेकर पत्थर पर जल के साथ श्लक्ष्ण (महीन) पीस के सिर पर लेप करना चाहिये। प्रथम स्नेहन करके केकड़े के मांसरस में सिद्ध किये हुये तैल का नस्य देना चाहिये॥ ७॥

वरुणादौ गणे क्षुण्णे क्षीरमर्द्धोदकं पचेत्।
क्षीरशेषञ्च तन्मथ्यं शीतं सारमुपाहरेत्॥ ८॥
ततो मधुरकैः सिद्धं नस्ये तत् पूजितं हविः।
तस्मिन् विपक्वे क्षीरे तु पेयं सर्पिः सशर्करम्॥ ९॥

वरुणादिगणसिद्धदुग्धोत्थ-घृतनस्य—द्रव्यसंग्रहणीय अध्याय में कहे हुये वरुणादिगण की ओषधियों को कूटकर उसका कल्क बना के उसमें दुग्ध तथा आधा पानी मिला कर क्षीरपाकविधि से पाक करके क्षीरावशेष रहने पर उसका मन्थन करके शीतल सार (मक्खन) निकाल लेना चाहिये। पश्चात् इस मक्खन को मधुरक गण (काकोल्यादि गण) की ओषधियों के कल्क तथा क्वाथ से पका कर नस्यकर्म में प्रयुक्त करने से लाभ होता है। इसी प्रकार वरुणादिगण की ओषधियों के द्वारा पकाये हुये दुग्ध में घृत और शर्करा का प्रक्षेप देकर शिरोरोगी को पिलावे॥ ८-९॥

धूमञ्चास्य यथाकालं स्नैहिकं योजयेद्भिषक्।
पानाभ्यञ्जननस्येषु बस्तिकर्मणि सेचने॥ १०॥
विदध्यात्त्रैवृतं धीमान् बलातैलमथापि वा।
भोजयेच्च रसैः स्निग्धैः पयोभिर्वा सुसंस्कृतैः॥ ११॥

धूम तथा तैल का विधान—यथाकालञ्च र्थात् अवस्थानुसार किंवा शास्त्र में जो धूमपान के आठ काल बताये हुये हैं तदनुसार स्नैहिक धूमपान का प्रयोग शिरोरोगी के लिये करना चाहिये। पान, अभ्यङ्ग, नस्य, बस्तिकर्म और सेचन के लिये महावातव्याधि अधिकार में लिखे हुये त्रैवृत घृत अथवा मूढगर्भ चिकित्साधिकार में कहे हुये बलातैल का प्रयोग करना

चाहिये। शिरोरोगी को मांसरस के या स्निग्ध द्रव्यों के या दुग्ध के साथ अथवा सुसंस्कृत पदार्थों के साथ भोजन कराना चाहिये ॥ १०-११ ॥

विमर्शः—धूमपान समय—स्नात्वा भुक्त्वा समुल्लिख्य क्षुत्वा दन्तान्निघृष्य च। नावनाञ्जननिद्रान्ते चात्मवान् धूमपो भवेत्।

पित्तरक्तसमुत्थानौ शिरोरोगौ निवारयेत्।
शिरोलेपैः ससर्पिष्कैः परिषेकैश्च शीतलैः।
क्षीरेक्षुरसधान्याम्लमस्तुक्षौद्रसिताजलैः॥ १२ ॥

पित्तरक्तजशिरोरोग चिकित्सा—पित्त और रक्त के प्रकोप से उत्पन्न हुये शिरोरोग को मधुरकादि द्रव्यों से बनाये हुये लेपद्रव्य में घृत मिला के पीस कर सिर पर लेप करके उसे ठीक करना चाहिये। इसी प्रकार सिर पर शीतल द्रव्यों के स्वरस या क्वाथ का सिञ्चन करना चाहिये। अथवा दुग्ध, सांठे का रस, धान्याम्ल (काञ्जी), मस्तु (दही के ऊपर का पानी), शहद और शर्कराजल इनमें से किसी एक के द्वारा सिर पर सिञ्चन करना चाहिये ॥ १२ ॥

नलवञ्जुलकह्लारचन्दनोत्पलपद्मकैः॥ १३ ॥
वंशशैवलयष्ट्याह्वमुस्ताऽम्भोरुहसंयुतैः।
शिरःप्रलेपैः सघृतैर्वैसर्पैश्च तथाविधैः॥ १४ ॥

लेपद्रव्य—नल (नड़सर), वञ्जुल (बेतस); लालकमल, श्वेतचन्दन, श्वेतकमल, पद्माख, बांस, शैवाल (दूर्वा), मुलेठी, नागरमोथा और कमल इन्हें समान प्रमाण मिश्रित कर दो तोले भर लेके घृत के साथ पीस के कुछ गरम कर सिर पर सुहाता लेप करना चाहिये। अथवा रक्तपित्तजन्य विसर्प में प्रयुक्त होने वाले उशीर, लामज्जक, चन्दन, अञ्जन, मोती और गैरिक आदि द्रव्यों को जल से पीस कर सिर पर लेप करना चाहिये ॥ १३-१४ ॥

मधुरैश्च मुखालेपैर्नस्यकर्मभिरेव च।
आस्थापनैर्विरेकैश्च पथ्यैश्च स्नेहबस्तिभिः॥ १५ ॥
क्षीरसर्पिर्हितं नस्यं वसा वा जाङ्गला शुभा।
उत्पलादिविपक्वेन क्षीरेणास्थापनं हितम्॥ १६ ॥
भोजनं जाङ्गलरसैः सर्पिषा चानुवासनम्।
मधुरैः क्षीरसर्पिस्तु स्नेहने च सशर्करम्।
पित्तरक्तघ्नमुद्दिष्टं यच्चान्यदपि तद्धितम्॥ १७ ॥

पैत्तिकशिरोरोग में—काकोल्यादिगण की मधुर ओषधियों को दुग्ध या पानी के साथ पीस कर मुख पर लेप करना चाहिये एवं उन्हीं ओषधियों के चूर्ण का नस्य देना चाहिये। इसके अतिरिक्त आस्थापन बस्ति, विरेचक औषध या कर्म, मधुरप्रधान पेय तथा खाद्य पदार्थों से बना हुआ पथ्यकारी भोजन, स्नेहबस्ति इनसे पित्तरक्तजन्य शिरोरोग को नष्ट करना चाहिये। ताजे दुग्ध को मथ कर निकाले हुये घृत का नस्य देना अथवा जङ्गली पशु-पक्षियों की वसा का नस्य देना शुभकारक है। द्रव्यसंग्रहणीय अध्याय में लिखे हुये उत्पलादिगण की ओषधियों के कल्क और क्वाथ से सिद्ध किये हुये दुग्ध की आस्थापन बस्ति देनी हितकर है। बस्तिकर्म के अनन्तर जङ्गली पशुपक्षियों के मांसरस के साथ भोजन कराना चाहिये। अथवा काकोल्यादि मधुरगण की ओषधियों के कल्क और क्वाथ से सिद्ध हुये घृत की अनुवासन बस्ति देनी चाहिये। इसके सिवाय शरीर का स्नेहन करने के लिये ताजे दुग्ध से मक्खन निकाल कर उसमें शर्करा मिला के सेवन करावें। अथवा इस शर्करायुक्त घृत का स्नेहन नस्य या बस्ति भी दी जा सकती है। इस प्रकार उक्त चिकित्सा के अतिरिक्त अन्य कोई भी औषध या कर्म जो कि पित्तरक्त को नष्ट करने वाला तथा हितकारी हो उसका पित्तरक्तजन्य शिरोरोग में प्रयोग करना लाभदायक होता है ॥ १५-१७ ॥

विमर्शः—योगरत्नाकर में पैत्तिक शिरोरोग में प्रथम रुग्ण को स्नेहन करा के पश्चात् विरेचन कराने को लिखा है तथा विरेचन के लिये द्राक्षा, त्रिफला, ईख का रस, दुग्ध और घृत के प्रयोग लिखे हैं—पित्तात्मके शिरोरोगे स्निग्धं सम्यग्विरेचयेत्। मृद्वीकात्रिफलेक्षूणां रसैः क्षीरैर्घृतैरपि॥ (यो० र०) चरकाचार्य ने पित्तजन्य शिरोरोग में घी, दुग्ध, सेक या सिञ्चन, शीतल द्रव्यों के लेप, नस्यकर्म, जीवनीय गण की ओषधियों के कल्क और क्वाथ से सिद्ध घृत तथा अन्य पेय और खाद्य पित्तनाशक हों उनका प्रयोग करना लिखा है—पैत्ते घृतं पयः सेकाः शीता लेपाः सनावनाः। जीवनीयानि सर्पींषि पानान्नञ्चापि पित्तनुत्॥ (च० चि० अ० २६) इस प्रकार चरकाचार्य ने एक जीवनीय घृत को पीने, भोजन के साथ खाने, नस्य में लेने, सिर में लगाने और बस्ति द्वारा प्रयोग करने आदि सभी कर्मों में उपयोगी सिद्ध किया है। पैत्तिक शिरोरोग में हिमांशु तैल या हिमसागर तैल का शिरोमर्दन तथा घृत और क्षीर की शिरोबस्ति अत्यधिक लाभ करती है। पानकों में—पित्तपापड़ा, धनिया, बीज निकाले हुये मुनक्के प्रत्येक ६ माशे और मिश्री ४ तोले भर लेकर सब को आध पाव पानी या उत्तम गोदुग्ध के साथ पीस कर १ तोले गुलाब जल और एक तोले मिश्री मिला के पिला देना चाहिये। इससे तत्काल पैत्तिक लक्षण शान्त होते हैं। रस ओषधियों में स्वर्णमालिनी वसन्त, चन्द्रकला रस, मुक्ता भस्म, यशद भस्म, रौप्यमाक्षिक भस्म, सुवर्णमाक्षिक भस्म, दन्ती भस्म, प्रवाल भस्म, शुक्ति भस्म या वराट भस्म इनका स्वतन्त्र या मिश्रित यथावस्थानुसार मक्खन और मिश्री के साथ प्रयोग करने से पैत्तिक शिरोरोग में विशेष लाभ होता है।

कफोत्थितं शिरोरोगं जयेत्कफनिवारणैः॥ १८ ॥
शिरोविरेकैर्वमनैस्तीक्ष्णैर्गण्डूषधारणैः।
अच्छञ्च पाययेत्सर्पिः स्वेदयेच्चाप्यभीक्ष्णशः॥ १९ ॥

कफजशिरोरोगचिकित्सा—कफजन्य शिरोरोग को कफनाशक तीक्ष्ण शिरोविरेचक तथा मदनफलादि तीक्ष्ण वामक ओषधियों के द्वारा तथा त्रिकटु आदि तीक्ष्ण ओषधियों के क्वाथ के गण्डूष धारण से नष्ट करना चाहिये। इसके अनन्तर स्वच्छ घृत का पान करा के कुछ समय तक निरन्तर स्वेदन करना चाहिये ॥ १८-१९ ॥

शिरो मधूकसारेण स्निग्धञ्चापि विरेचयेत्।
इङ्गुदस्य त्वचा वाऽपि मेषशृङ्गस्य वा भिषक्॥२०॥

शिरोविरेचन—कफज शिरोरोगी को प्रथम स्नेहपान कराके महुए के सार से या इङ्गुदी (हिंगोट) की त्वचा के चूर्ण से

अथवा मेढासींगी के चूर्ण से नस्य देकर शिरोविरेचन कराना चाहिये ॥ २० ॥

आभ्यामेव कृतां वर्त्ति धूमपाने प्रयोजयेत्।
घ्रेयं कट्फलचूर्णञ्च कवलाश्च कफापहाः ॥ २१ ॥

धूम्रवर्त्ति—हिङ्गोट की छाल तथा मेढाशृङ्गी के चूर्ण को जल के साथ पत्थर पर पीस के वर्त्ति बना कर उसका धूमपानार्थ प्रयोग करना चाहिये। इसके सिवाय कायफल के चूर्ण को सूंघना तथा कफ को नष्ट करने वाली त्रिकटु आदि तीक्ष्ण ओषधियों के क्वाथ का कवल धारण करना चाहिये ॥ २१ ॥

सरलाकुष्ठशार्ङ्गेष्टादेवकाष्ठैः सरोहिषैः।
क्षारपिष्टैः सलवणैः सुखोष्णैर्लेपयेच्छिरः ॥ २२ ॥

शिरोलेप—सरला (देवदारु या चीड़), कूठ, शार्ङ्गेष्टा (छुईमुई या महाकरञ्ज), देवकाष्ठ (देवदारु), रोहिष घास इन्हें सम प्रमाण में मिश्रित कर दो तोले भर ले के थोड़ा सा लवण मिला कर क्षारोदक के साथ पीस के सुहाता गरम-गरम सिर पर लेप करना चाहिये ॥ २२ ॥

यवषष्टिकयोश्चान्नं व्योषक्षारसमायुतम्।
पटोलमुद्गकौलत्थैर्मात्रावद्भोजयेद्रसैः ॥ २३ ॥

कफजशिरोरोग में भोजनादि—जौ का दलिया अथवा साठी चावल के भात में सोंठ, मरिच और पिप्पली का चूर्ण तथा यवक्षार मिला के पटोल (परवल), मूंग और कुलत्थ इन्हें उबाल कर इनके रस के साथ मात्रापूर्वक भोजन कराना चाहिये॥

विमर्शः—कफज शिरोरोग-चिकित्सा में निम्न उपक्रम यथा-वस्थानुसार करने चाहिये जैसे (१) उपवास, (२) रूक्ष, उष्ण और आग्नेय द्रव्यों से स्वेदन, (३) धूमपान, (४) नस्य, (५) प्रधमन नस्य इन क्रियाओं से दोषों का बाहर उत्सर्ग हो जाता है तदनन्तर (६) कफनाशक लेप, (७) शिरोविरेचन, (८) वमन, (९) गण्डूष धारण, (१०) पुराण घृत का पान, (११) कफघ्न अन्नपान और विहार एवं वातसंसर्ग होने पर (१२) दाहकर्म तथा शेष सभी में (१३) रक्तमोक्षण क्रिया करनी चाहिये—कफजे स्वेदितं धूमनस्यप्रधमनादिभिः। शुद्धं प्रलेपपानाद्यैः कफघ्नैः समुपाचरेत् ॥ पुराणसर्पिषः पानैस्तीक्ष्णैर्बस्ति-भिरेव च। कफानिलोत्थे दाहः स्याद् शेषयो रक्तमोक्षणम् ॥ (च० चि० अ० २६) शिरोरोगों में निम्न नस्य अच्छे लाभकारी हैं— (१) कट्फलादिनस्य—केवल कट्फल चूर्ण को सुंघाने से तत्काल शिरःशूल शान्त होता है। (२) अर्कादिनस्य—चावल को आक के दुग्ध में भिगो के सुखा ले। इस तरह तीन वार भिगो के सुखा कर घोट के कपड़छन चूर्ण कर लेना चाहिये। आवश्य-कतानुसार इसका प्रधमन नस्य करने से कफज शिरःशूल, कर्णशूल और मूर्च्छा तत्काल दूर होते हैं। (३) हयारिनस्य—कनेर का फूल, नकछिकनी, कायफल, जावित्री, वचा और त्रिकटु इन्हें समान प्रमाण में लेकर महीन पीस के कपड़छन चूर्ण बनाकर शीशी में भर दें। यह नस्य कफज शिरोरोग, मूर्च्छा और संन्यास में तत्काल लाभ पहुँचाता है।

शिरोरोगे त्रिदोषोत्थे त्रिदोषघ्नो विधिर्हितः।
सर्पिःपानं विशेषेण पुराणं वा दिशन्ति हि ॥ २४ ॥

त्रिदोषजशिरोरोगचिकित्सा—त्रिदोषजन्य शिरोरोग में तीनों दोषों को नष्ट करने वाली चिकित्साविधि हितकर होती है। इसके लिये साधारण घृत का पान अथवा पुराण घृत का पान विशेष हितकर होता है ॥ २४ ॥

विमर्शः—चरकाचार्य ने भी लिखा है कि सन्निपातजन्य शिरोरोग में सन्निपातनाशक विधि हितकर होती है—सन्नि-पातभवे कार्या सन्निपातहिता क्रिया ॥ (च. चि. अ. २६) योग-रत्नाकर में लिखा है कि सन्निपातजन्य शिरोरोग में (१) घृत, (२) तैल, (३) बस्तिकर्म, (४) धूमपान, (५) नस्य, (६) शिरो-विरेचन, (७) लेप, (८) स्वेदादिक का प्रयोग करें तथा (९) पुराण घृत का पान विशेष हितकर होता है—सन्निपातसमुत्थेऽत्र घृतं तैलं च बस्तयः। धूमस्तस्य शिरोरेकलेपस्वेदाद्यमाचरेत् ॥ पुराण-सर्पिषः पानं विशेषेण दिशन्ति हि ॥ (यो० र०) (१) घृतों में त्रिफला घृत तथा (२) तैलों में जीवकाद्य तथा बृहज्जीवकाद्यतैल का अभ्यङ्ग, नस्य और बस्ति के द्वारा प्रयोग करना चाहिये। (३) नस्य के लिये दुग्ध में सोंठ को पका कर अवपीडन नस्य लेवे। करञ्जादि नस्य—करञ्जफलमज्जा, सहजन के बीज, तेजपात, मिश्री और वचा को पीस कर नस्य लेना चाहिये। लेप के लिये श्वेत चन्दन, कपूर, केसर, पुराने चावल इन्हें गुलाब जल में पीस कर थोड़ा सा सिरका मिला के लेप करना चाहिये। अथवा प्रियङ्गु, अनन्तमूल, काली निशोथ, सोंठ और श्वेत चन्दन इन्हें पानी से पीस कर सिर पर लेप करना चाहिये। रक्तजशिरोरोगचिकित्सा—रक्तोल्वण सन्निपात में सभी लक्षण पैत्तिक शिरोरोग के ही होते हैं किन्तु स्पर्श का सहन नहीं होना यही एक विशिष्ट लक्षण है—'रक्तात्मकः पित्तसमानलिङ्गः स्पर्शासहत्वं शिरसो भवेच्च' रक्तजशिरोरोग का आधुनिक किसी एक रोग से साम्य नहीं मिलता है किन्तु इसके ये दो विशिष्ट लक्षण (रक्ताभ चेहरा और शिरःस्थान का पीडनाक्षम होना) सिर की स्थानिक विकृतियों के कारण हो सकते हैं जैसे (१) पुरःकपाल तथा ऊर्ध्व हन्वस्थि के वायुविवरों में शोथ (Sinusitis), (२) अभिघात (Injury to the bones) जिससे अस्थि में शोथ हो, रक्ताधिक्य से उस अङ्ग का वर्ण लाल हो जाता है तथा शिरःशूल होता है। अस्थिविवरशोथ की तीव्र अवस्थाओं में तीव्र शिरःशूल, दाह, स्थान मृदु और स्पर्शा-सह्य बना रहता है। अनेक सार्वदैहिक विकृतियों में रक्तज शिरोरोग की अवस्था हो सकती है जैसे तीव्रमदात्यय, मधुमेह, रक्तभाराधिक्य और तीव्र विष वेग, इनके सिवाय बहिर्ग्रीवा-धमनी की शाखा में विकृति और रक्ताधिक्य होने के कारण शिरःशूल और चेहरे की लालिमा इस रोग में हो जाती है। चिकित्सा—रक्तविकृतिजन्य शिरोरोग की समग्र चिकित्सा पित्तज शिरोरोग के समान करनी चाहिये। वैसा ही भोजन करना और लेप लगाना चाहिये। विशेषतया सिर और कपाल में बढ़े हुये रक्तभार को कम करने के लिये रक्तमोक्षण, प्रच्छान, सिरावेध या जलौका का प्रयोग करना चाहिये—रक्तजे पित्त-वत्सर्वं भोजनालेपसेवनम्। शीतोष्णयोश्च विन्यासो विशेषाद्रक्तमो-क्षणम् ॥ लेप के लिये शतधौत घृत को लगाना अथवा आंवले, खस, सुगन्धबाला, कमल का फूल, धाय का फूल और मुनक्के को गुलाब जल में पीस कर सिर पर लेप करें। नस्यार्थ षड्बि-न्दुतैल का अवपीडन नस्य लेना चाहिये।

क्षयजे क्षयमासाद्य कर्त्तव्यो बृंहणो विधिः।
पाने नस्ये च सर्पिः स्याद्वातघ्नमधुरैः शृतम्।
क्षयकासापहं चात्र सर्पिः पथ्यतमं विदुः॥ २५॥

क्षयजशिरोरोगचिकित्सा—रसरक्तादिधातु-क्षयजन्य शिरोरोग में किस प्रकार की धातु का क्षय हुआ है ऐसा ज्ञान करके बृंहणविधि का प्रयोग करना चाहिये। वातनाशक भद्रदार्वादि गण की ओषधियों तथा काकोल्यादिगणोक्त वातनाशक मधुर ओषधियों के कल्क और क्वाथ से सिद्ध किये हुये घृत का पान और नस्य में प्रयोग करना चाहिये। इसके अतिरिक्त क्षय और कासनाशक घृतों (वासादि घृत) का प्रयोग क्षयज शिरोरोग में विशेष पथ्यकारक माना गया है॥ २५॥

विमर्शः—क्षयजन्यशिरोरोग में (१) बृंहण, (२) घृतपान या स्नेहपान, (३) वातघ्न और मधुर द्रव्यों से सिद्ध घृत का नस्य प्रयोग, (४) क्षीरपिष्ट वातघ्न ओषधियों का अवपीडन, (५) गुड और घृत का प्रयोग करना चाहिये। भोजन में बादाम या मूंग की दाल या गेहूं के आटे का हलुआ, गुलगुले, मालपुए, घेवर, फीणी खिलानी चाहिये। (६) क्षीरपिष्ट तिल और जीवनीय गण की ओषधियों का स्वेदन करना चाहिये। रसौषधियों में दन्तीभस्म घृत-शर्करा के अनुपान से दिन में तीन या दो बार देनी चाहिये। इसके अतिरिक्त मुक्ताभस्म या मुक्तापिष्टी एक रत्ती भर को सेव या आंवले के मुरब्बे में मिला के सोने या चांदी का वर्क लगा के प्रतिदिन प्रातःकाल सेवन करावें। मुक्ता के अभाव में प्रवालपिष्टी देनी चाहिये। इनके सिवाय महालक्ष्मीविलास, शिरोवज्ररस आदि का प्रयोग करना चाहिये। उक्त रसौषधियों को शहद, मक्खन, मिश्री और च्यवनप्राश में मिला कर आवश्यकतानुसार देवें। ऊपर से मन्दोष्ण मधुर दुग्ध का अनुपान करावें। गरम दुग्ध में जलेबी डाल कर प्रातःकाल शौच-स्नान के पश्चात् खिलानी चाहिये। पोस्ते के दाने १ तोले तथा बादामगिरी ढाई तोले भर ले के रात को पानी में भिगों दें। दूसरे दिन दोनों को महीन पीस कर कड़ाही में घी के साथ लाल सुर्ख होने तक भून के पानी डाल कर पक जाने पर शर्करा मिलाके हलुआ बना कर खिलावें और ऊपर से दुग्ध का अनुपान करावें। ऐसा सप्ताह तक करने से सर्व प्रकार के शिरोरोग नष्ट हो जाते हैं—योजयेत् सगुडं सर्पिर्घृतपूरांश्च भक्षयेत्। नावनं क्षीरसर्पिर्भ्यां पानञ्च क्षीरसर्पिषोः। क्षीरपिष्टैस्तिलैः स्वेदो जीवनीयैश्च शस्यते॥

कृमिभिर्भक्ष्यमाणस्य वक्ष्यते शिरसः क्रिया।
नस्ये हि शोणितं दद्यात्तेन मूर्च्छन्ति जन्तवः॥ २६॥

मत्ताः शोणितगन्धेन समायान्ति यतस्ततः।
तेषां निर्हरणं कार्यं ततो मूर्द्धविरेचनैः॥ २७॥
ह्रस्वशिग्रुकबीजैर्वा कांस्यनीलीसमायुतैः।
कृमिघ्नैरवपीडैश्च मूत्रपिष्टैरुपाचरेत्॥ २८॥

कृमिजशिरोरोगचिकित्सा—अब इसके अनन्तर कृमियों के द्वारा भक्ष्यमाण सिर की चिकित्सा का विधान लिखा जाता है। सर्वप्रथम रोगी की नासा में रक्त का नस्य देना चाहिये इससे नासागत कृमि मूर्च्छित हो जाते हैं तथा रक्त की गन्ध से मस्त हो कर नासा के आन्तरिक सूक्ष्म छिद्र युक्त रचना वाले अस्थिविभागों से इधर-उधर आने लगते हैं। ऐसी अवस्था में कूर्चक (Brush) के द्वारा उनका निर्हरण करना चाहिये अथवा मूर्द्धविरेचक विडङ्ग, मरिच, अपामार्ग, शिग्रुबीज प्रभृति ओषधियों के चूर्ण के नस्य के द्वारा उन्हें बाहर निकालने चाहिये। अथवा छोटे सहजने के बीज और कांसे के मल को गोमूत्र के साथ पीस कर अवपीडन नस्य देवें। अथवा विडङ्ग आदि कृमिनाशक ओषधियों को गोमूत्र के साथ पीस कर अवपीडन नस्य देना चाहिये॥ २६-२८॥

पूतिमत्स्ययुतान् धूमान् कृमिघ्नांश्च प्रयोजयेत्।
भोजनानि कृमिघ्नानि पानानि विविधानि च॥ २९॥

सड़ी हुई सूखी मछली को अङ्गारों पर डाल कर उसका नासा में धुंआ देने से अथवा कृमिघ्न विडङ्ग आदि ओषधियों को अग्नि में डाल कर उनका धुंआ देने से कृमि बाहर निकल कर गिर पड़ते हैं। कृमिरोगी को कृमिप्रतिषेधनीय अध्यायोक्त धान्याम्ल प्रभृति द्रव्यों के साथ भोजन कराना चाहिये किं वा धान्याम्ल अथवा विडङ्गादिक्वाथ से कृशरा, यवागू, रोटी, भात आदि बना के खिलाने चाहिये। इसी प्रकार कृमिघ्न पेय पदार्थ पिलाने चाहिये॥ २९॥

सूर्यावर्ते विधातव्यं नस्यकर्मादि भेषजम्।
भोजनं जाङ्गलप्रायं क्षीरान्नविकृतिर्घृतम्॥ ३०॥

सूर्यावर्तचिकित्सा—इस रोग में नस्य आदि चिकित्सा करनी चाहिये। भोजन के लिये जङ्गली पशु-पक्षियों का मांसरस देना चाहिये। इसके सिवाय क्षीर (दुग्ध) के बने हुये रबड़ी, मलाई, खीर, मलाई के मालपुए और अन्न की विकृति जैसे फीणी, घेवर, हलुआ आदि खिलाने चाहिये। घृत को गरम दुग्ध में डाल कर पिलाना भी श्रेयस्कर होता है॥ ३०॥

विमर्शः—योगरत्नाकर में लिखा है कि-सूर्यावर्त्त रोग में (१) सिरावेध, (२) दुग्ध और घृत का नस्य, (३) दुग्ध और घृत का सेवन, (४) दुग्ध और घृत के अन्दर विरेचक ओषधियों का कल्क डाल कर पका के विरेचनार्थ उनका उपयोग करना हितकर होता है—सूर्यावर्ते सिरावेधो नावनं क्षीरसर्पिषोः। हितः क्षीरघृताभ्यासस्ताभ्यां सह विरेचनम्॥ (यो. र.) सिरावेध करने से रक्त का भार कम हो जाता है जिससे पीड़ा शान्त हो जाती है। नावन या नस्य—शिरोविरेचन या नस्य कर्म करने से प्रायः सर्व प्रकार के शिरोरोग नष्ट होते हैं तथापि सूर्यावर्त्त रोग में नस्य द्वारा विशेष लाभ होता है। इसके लिये निम्न योग प्रयुक्त होते हैं—(१) भृङ्गराज का रस तथा बकरी के दुग्ध को समान प्रमाण में ले कर सूर्य की रोशनी से तपाने के बाद उसका नस्य देने से सूर्यावर्त्त रोग शीघ्र ही नष्ट हो जाता है—भृङ्गराजरसश्छागक्षीरतुल्योऽर्कतापितः। सूर्यावर्तं निहन्त्याशु नस्येनैव प्रयोगराट्॥ (यो. र.) (२) दुग्ध और घृत का नस्य (३) केशर को घृत में भून कर शर्करा मिला के नस्य देना चाहिये (४) कट्फल चूर्ण का नस्य। (५) अपामार्ग स्वरस की दो बूंदें दोनों नासा में टपकाने से छींके आती हैं। (६) कागजी नीबू के स्वरस को नासा में टपकाने से नस्य कर्म होता है (७) माषमूल, श्वेतापराजिता की जड़, गुञ्जा की जड़, शिरीष की जड़, लहसुन का स्वरस, त्रिकटु चूर्ण, तुलसी के बीज चक्रमर्द के बीज इन्हें एकत्र पीस कर नासा में प्रधमन कर

से नस्य कर्म होता है। (८) अमोनियम कार्ब को सुंघाने से छींके आकर तत्काल पीड़ा शान्त होती है। (९) नवसादर तथा चूने को एकत्र पीस कर शीशी में भर के काग द्वारा मुख बन्द कर दें तथा रोगी को सुंघाना हो तब उस शीशी के मुख को रोगी के मुख के पास खोल कर सुंघाने से पीड़ा शान्त हो जाती है—नृसारस्य सुधायाश्च चूर्णं ह्येकत्र योजितम्। सार्द्रं कृत्वाऽस्य गन्धेन विनश्यति शिरोव्यथा॥ (भै. र.) क्षीरघृताभ्यास—प्रातःकाल पेट को खाली नहीं रखना चाहिये। विशेष कर मधुर तथा स्निग्ध पदार्थों से उदर की पूर्ति कर देनी चाहिये। इसके लिये शुद्ध घी में बनी हुई पूड़ी, हलुआ, फीणी, घेवर, मालपूए, जलेबी और खीर इनमें से यथारुचि भोज्यों का प्रयोग करना चाहिये। ताजी जलेबी को उष्ण दुग्ध में डालकर तीन चार दिन तक प्रातःकाल खिलाने से सूर्यावर्त की पीड़ा शान्त हो जाती है। गुड़ का गाढ़ा शरबत बना के उसमें घृत मिला कर पीने से सूर्यावर्त्त नष्ट होते सुना गया है। विरेचन—प्रथम स्नेहन कराके फिर विरेचन कराने से दोषों का संशमन तथा बढ़ा हुआ रक्तभार कम होकर सूर्यावर्त्त रोग नष्ट हो जाता है। उपनाह—जाङ्गल पशु-पक्षियों के मांस को पका कर पोटली में बाँध के उष्णस्वेद करने से लाभ होता है। आलेप—सूर्यमुखी के बीज को उसीके स्वरस में पीस कर सिर पर लेप करने से सूर्यावर्त्त रोग नष्ट होता है। सारिवादि गण की ओषधियों को पीस कर लेप करने से भी लाभ होता है। रसौषधियां—दन्तीभस्म १ माशा, प्रवालभस्म २ रत्ती, घृत १ तोला, शर्करा दो तोला इन्हें मिश्रित कर चाटने से सूर्यावर्त्त नष्ट होता है।

तथाऽर्द्धभेदके व्याधौ प्राप्तमन्यच्च यद्भवेत्।
शिरीषमूलकफलैरवपीडोऽनयोर्हितः॥ ३१॥

अर्धावभेदकचिकित्सा—अर्धावभेदक रोग में प्रायः सूर्यावर्त्त के समान ही चिकित्सा की जाती है किन्तु इस चिकित्सा से अन्य चिकित्सा भी दोष, देश, काल आदि का विचार करके करनी चाहिये। सूर्यावर्त्त तथा अर्धावभेदक रोग में शिरीष की जड़ और फलों को पीस कर उनके स्वरस का अवपीडन नस्य देना हितकर होता है॥ ३१॥

वंशमूलककर्पूरैरवपीडं प्रयोजयेत्।
अवपीडो हितश्चात्र वचामागधिकायुतः॥ ३२॥

वंशमूलाद्यवपीडन—बांस की जड़ तथा कपूर को पानी के साथ पीस कर अवपीडन नस्य देना चाहिये। इसके सिवाय वचा तथा पिप्पली का चूर्ण बना के अवपीडन नस्य देवें॥३२॥

मधुकेनावपीडो वा मधुना सह संयुतः।
मनःशिलाऽवपीडो वा मधुना चन्दनेन वा॥ ३३॥

मधुकाद्यवपीडन—मुलेठी के चूर्ण को शहद के साथ मिला के अवपीडन नस्य देना चाहिये अथवा शहद और चन्दन के रसे के साथ मनःशिला के चूर्ण का अवपीडन नस्य देना चाहिये॥ ३३॥

तेषामन्ते हितं नस्यं सर्पिर्मधुरसान्वितम्।
सारिवोत्पलकुष्ठानि मधुकं चाम्लपेषितम्॥ ३४॥
सर्पिस्तैलयुतो लेपो द्वयोरपि सुखावहः।
एष एव प्रयोक्तव्यः शिरोरोगे कफात्मके॥ ३५॥

मधुरादिनस्य—अवपीडन के नस्यों के प्रयोग के पश्चात् मधुर (काकोल्यादिगणोक्त) ओषधियों के कल्क तथा क्वाथ के साथ सिद्ध किये हुये घृत का नस्य देना हितकारी होता है। अथवा सूर्यावर्त्त और अर्द्धावभेदक इन दोनों रोगों में सारिवा (अनन्तमूल), नीलकमल, कूठ और मुलेठी इन्हें काञ्जी के साथ पीसकर घृत और तैल साथ मिला के सिर पर लेप करना सुखकारक होता है तथा कफजन्य शिरोरोग में भी उक्त अवपीडन नस्य तथा लेप का प्रयोग करना चाहिये॥३५॥

विमर्शः—योगरत्नाकर में भी ग्रन्थकार ने लिखा है कि अर्धावभेदक रोग में सूर्यावर्त रोग की समस्त चिकित्सा करनी चाहिये फिर भी चिकित्साक्रम की दृष्टि से रोगी को प्रथम (१) स्नेहपान कराना चाहिये जिससे उसकी आभ्यन्तरिक रूक्षता नष्ट हो जाय पश्चात् (२) स्वेदन कराना चाहिये जिससे स्रोतसों में अवरुद्ध हुये दोषों का विद्रवण होकर उन के बाहर निकलने की प्रवृत्ति हो जाय। पश्चात् (३) विरेचन के द्वारा उदरशुद्धि तथा उग्र वचादि ओषधियों के (४) नस्य द्वारा ऊर्द्ध्व (मस्तिष्क) कायशुद्धि करके (५) आस्थापन एवं अनुवासन बस्ति का प्रयोग करना चाहिये। इस तरह देह की पूर्ण शुद्धि होने के अनन्तर नासा या मुख द्वारा वातकफादि-दोषसंशमनार्थं (६) धूम्रपान का प्रयोग करना चाहिये। इसके अनन्तर (७) स्निग्धोष्ण भोजन की व्यवस्था करनी चाहिये। इसके लिये गरम गरम घृतपक्व जलेबी, मालपुआ और गुलगुले अथवा दुग्धपक्व खीर (पायसान्न) का प्रातःकाल प्रयोग करना चाहिये। दुग्धशर्करा प्रयोग—दुग्ध में मिश्री या शर्करा मिला के नासा द्वारा या मुख द्वारा पान करना हितकारी है। विडङ्गादि नस्य—वायविडङ्ग और काले तिल इन्हें समान प्रमाण में लेकर बकरी के दुग्ध में पीसकर नस्य लेवे किंवा उन्हें गरम करके सिर पर लेप करें। एष एव विधिः कृत्स्नः कार्यश्चार्धावभेदके। अर्धावभेदके पूर्वं स्नेहः स्वेदो हि भेषजम्॥ विरेकः कायशुद्धिश्च भूयः स्निग्धोष्णभोजनम्। विडङ्गानि तिलान् कृष्णान् समान् पिष्ट्वा विलेपयेत्॥ (यो. र.) कट्फलादि नस्य—कायफल, एलाचूर्ण, बालछड़ और सोंठ इनके चूर्ण का नस्य देना चाहिये। क्षीरिणीबिन्दु—खिरनी के तीन बीजों की मींगी को पानी में पीस कर जिस तरफ अर्धावभेदकजन्य पीड़ा हो उसके विपरीत नासारन्ध्र में सूर्योदय के पूर्व टपकाने से लाभ होता है। अजादुग्ध प्रयोग—माथे पर बकरी के दुग्ध की पट्टी रखने से लाभ होता है। अन्य लेप—सिर पर क्लोरोफार्म में भिगोया हुआ लिण्ट, राई की पट्टी या शृङ्ग का लेप करने से हित होते देखा गया है। अमृतधारा या अन्य उड़नशील बाम का लेप करने से पीड़ा शान्त होती है। अमृतधारा, मेन्थोल, लौंग, दालचीनी का तैल आदि उड़नशील सुगन्धि द्रव्यों का सिर पर लेप करना लाभदायक होता है। पेयपदार्थों में घृतपान, दुग्धपान तथा नारियल का पानी हितकारी है।

अनन्तवाते कर्तव्यः सूर्यावर्तहरो विधिः।
सिराव्यधश्च कर्तव्योऽनन्तवातप्रशान्तये॥ ३६॥

अनन्तवात-चिकित्सा—इस रोग में सूर्यावर्त्तनाशक समस्त उपचार करने चाहिये। इन उपायों के अतिरिक्त अनन्तवात-रोग के प्रशमनार्थ सिरामोक्षण करके रक्त का उचित मात्रा में निर्हरण करना चाहिये ॥ ३६ ॥

आहारश्च विधातव्यो वातपित्तविनाशनः ।
मधुमस्तकसंयावघृतपूरैश्च भोजनम् ॥ ३७ ॥

आहारविधान—इस रोग में वात और पित्त को नष्ट करने वाले द्रव्यों का भोजन में प्रयोग करना चाहिये जैसे मधुमस्तक अर्थात् पूरणपोली या शहद पूर्ण पोली तथा संयाव (लप्सी या हलुआ) और घृतपूर (घेवर या मालपुए) का उपयोग हितदायक है ॥ ३७ ॥

विमर्शः—आयुर्वेद में संयाव का निर्माण घृत, दुग्ध, गुड़ और गेहूं के आटे इन चारों के पाक से होता है अर्थात् प्रथम आटे को घृत में लाल सुर्ख होने तक सेक कर पश्चात् उसमें दुग्ध डाल कर पकावें और आसन्न पाक होने पर गुड़ मिला देवें। इसी को लोक में हलुआ कहते हैं—'संयावस्तु घृतक्षीर-गुडगोधूमपाकजम्'। घृतपूरलक्षण—मर्दितां समितां क्षीरनारिकेल-घृतादिभिः। अवमथ्य घृते पक्वो घृतपूरोऽयमुच्यते॥ अनन्तवात-रोग में सिर पर विविध लेप तथा नेत्रों में चन्द्रोदयावर्ति या नागार्जुनवर्ति का अञ्जन लगाना चाहिये। रसों में सप्तामृत लौह का सेवन प्रातः-सायं श्रेष्ठ होता है। अनन्तवात रोग के लक्षण ट्राइजेमिनल न्यूरेल्जिया के साथ मिलते हैं अतः चिकित्सा की दृष्टि से प्रथम कारण को दूर करना चाहिये जैसे कृमिदन्त या पायोरिया हो तो दन्तोत्पाटन करना किंवा अस्थ्यावरण शोथ हो तो पेनीसीलिन के इञ्जेक्शन एवं सल्फा-डायजिन एक या दो गोली सोडे के साथ पानी या दुग्धानु-पान से देनी चाहिये। ऐसी दिन में तीन मात्राएं देवें। पीडाशमन के लिये टिंचर जैलिसमियम् १० बूंद, सोडासेलि-सिलास १० ग्रेन, सोडा ब्रोमाइड १० ग्रेन, साधारण सीरप १ ड्राम, पानी १ औंस मिश्रित कर पिला दें। ऐसी मात्रा दिन में दो से तीन वार तक देनी चाहिये। इसके अतिरिक्त एस्प्रिन, पिरेमिडन, फेनासिटिन आदि का यथोचित उपयोग करना चाहिये। ट्राइक्लोर एथीलिन पर्लस् को रुमाल में तोड़कर नस्य (Inhalation) के लिये देना चाहिये। उष्ण स्वेद तथा Deep X Ray का प्रयोग लाभदायक होता है। उक्त चिकित्सा से लाभ न होता हो तथा शूल का दौरा अधिक दुःखदायक हो तो ९० प्रतिशत अल्कोहोल को नाड़ी-शाखाओं (Mandibular or Maxillary Nerve) में या नाड़ीगण्ड (Ganglion) में सूचीवेध द्वारा देना चाहिये।

क्षीरसर्पिः प्रशंसन्ति नस्ये पाने च शङ्खके।
जाङ्गलानां रसैः स्निग्धैराहारश्चात्र शस्यते ॥ ३८ ॥

शङ्खकचिकित्सा—इस रोग में नस्य तथा पान के लिये दुग्ध से निकाले हुये ताजे मक्खन का प्रयोग अधिक प्रशस्त माना गया है इसके अतिरिक्त जङ्गली पशु तथा पक्षियों के मांसरस के साथ भोजन कराना चाहिये। अथवा स्निग्ध पदार्थ (घृत) के साथ भोजन कराना चाहिये ॥ ३८ ॥

शतावरीं तिलान् कृष्णान् मधुकं नीलमुत्पलम् ॥ ३९ ॥
दूर्वां पुनर्नवाञ्चैव लेपे साध्ववचारयेत् ।
महासुगन्धामथवा पालिन्दीञ्चाम्लपेषिताम् ॥ ४० ॥

लेप—शतावर, काले तिल, मुलेठी, नीलकमल, दूब, पुनर्नवा इन्हें पानी के साथ पत्थर पर पीस कर सिर पर लिस करें अथवा महासुगन्धा (सारिव या रास्ना) या पालिन्दी (निशोथ) इन्हें काञ्जी के साथ पत्थर पर पीस कर सिर पर लेप करें ॥ ३९-४० ॥

विमर्शः—दार्वीलेप—दारुहल्दी, हल्दी, मजीठ, नीम की छाल, खश और पद्माख इन्हें पीसकर शङ्खप्रदेश पर लेप करना चाहिये।

शीतांश्चात्र परीषेकान् प्रदेहानत्र योजयेत् ।
अवपीडश्च देयोऽत्र सूर्यावर्त्तनिवारणः ॥ ४१ ॥

शीतपरिषेकादि—इस शङ्खकरोग में शीतल प्रकृति वाले द्रव्यों (विदारीगन्धादि, काकोल्यादि और उत्पलादि) का परीषेक और प्रदेह में उपयोग करना चाहिये तथा सूर्यावर्त्त रोग में प्रयुक्त किये गये द्रव्यों का अवपीडन नस्य के रूप में प्रयोग करना चाहिये ॥ ४१ ॥

कृमिक्षयकृतौ हित्वा शिरोरोगेषु बुद्धिमान् ।
मधुतैलसमायुक्तैः शिरांस्यतिविरेचयेत् ।
पश्चात्सर्षपतैलेन ततो नस्यं प्रयोजयेत् ॥ ४२ ॥

शिरोविरेचनविधान—बुद्धिमान् चिकित्सक कृमिजन्य तथा क्षयजन्य शिरोरोगों को छोड़ कर अन्य सर्व प्रकार के शिरोरोगों में संशोधन तथा संशमनीय अध्याय में कहे हुये शिरोविरेचक द्रव्यों के चूर्ण में मधु तथा तैल मिश्रित कर नस्य द्वारा शिरोविरेचन करावे। शिरोविरेचन होने (छींके आने) पर सरसों के तैल का नस्य देना चाहिये ॥ ४२ ॥

न चेच्छान्तिं व्रजन्त्येवं स्निग्धस्विन्नांस्ततो भिषक् ।
पश्चादुपाचरेत्सम्यक् सिराणामथ मोक्षणैः ॥ ४३ ॥

यदि उक्त प्रयोगों के करने पर भी शिरोरोगों का संशमन न हो तो सर्वप्रथम शिरोरोगी को स्नेहपान द्वारा स्निग्ध करके स्वेदित करे और उसके अनन्तर सिरामोक्षण विधि से रक्तमोक्षण करके ठीक तरह से चिकित्सा करनी चाहिये ॥ ४३ ॥

षट्सप्ततिर्नेत्ररोगा दशाष्टादश कर्णजाः ।
एकत्रिंशद् घ्राणगताः शिरस्येकादशैव तु ॥ ४४ ॥
इति विस्तरतो दृष्टाः सलक्षणचिकित्सिताः ।
संहितायामभिहिताः सप्तषष्टिर्मुखामयाः ॥ ४५ ॥

एतावन्तो यथास्थूलमुत्तमाङ्गगता गदाः ।
अस्मिन् शास्त्रे निगदिताः सङ्ख्यारूपचिकित्सितैः ॥ ४६ ॥

इति सुश्रुतसंहितायामुत्तरतन्त्रान्तर्गते शालाक्यतन्त्रे शिरोरोगप्रतिषेधो नाम षड्विंशोऽध्यायः ॥ २६ ॥

शालाक्यतन्त्रोपसंहार—इस तरह छिअत्तर नेत्ररोग, अट्ठाईस कर्णरोग, इकतीस नासारोग, शिरोगत ग्यारह रोग, तथा सतसठ (६७) मुख रोगों का वर्णन इस संहिता में

उन रोगों के लक्षण और चिकित्सा के सहित विस्तारपूर्वक कर दिया गया है। इस शालाक्यशास्त्र में उत्तमाङ्ग (सिर) में स्थूलरूप से होने वाले इतने रोगों का वर्णन उनकी संख्या, रूप (लक्षण) और चिकित्सा के सहित करदिया गया है॥

विमर्श—चरक में शिरःकम्प नामक रोग का अधिक वर्णन मिलता है। वहां लिखा है कि रूक्षादि कारणों से वात कुपित होकर शिरःकम्प रोग उत्पन्न करता है ऐसी दशा में नीमगिलोय, बला, रास्ना, महाश्वेता और असगन्ध इनका क्वाथ या चूर्ण लेना चाहिये किंवा इनका सिर पर लेप भी किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त वातनाशक उपचार जैसे स्नेहन, स्वेदन, नस्य और तर्पण का प्रयोग करना चाहिये—वातो रूक्षादिभिः क्रुद्धः शिरःकम्पमुदीरयेत्। तत्रामृता-बलारास्नामहाश्वेताश्वगन्धकैः॥ स्नेहस्वेदादिवातघ्नं शस्तं नस्यञ्च तर्पणम्। नस्तः कर्म च कुर्वीत शिरोरोगेषु शास्त्रवित्॥ द्वारं हि शिरसो नासा तेन तद्व्याप्य हन्ति तम्॥ वाग्भटाचार्य ने शिरो-रोगों में एक उपशीर्षक नामक विशिष्ट शिरोरोग का वर्णन किया है। कपाले पवने दुष्टे गर्भस्थस्यापि जायते। सवर्णो नीरुजः शोफस्तं विद्यादुपशीर्षकम्॥ अर्थात् गर्भावस्था में माता के आहार और विहार के दोष से भ्रूण के कपाल के वायु द्वारा दूषित होने पर सिर पर शोथ हो जाता है किन्तु उस स्थान का वर्ण अन्य स्थान के समान ही होता है तथा वहां पीडा भी नहीं होती है ऐसे रोग को उपशीर्षक कहते हैं। यह नवजात शिशुओं का रोग है। इसका मुख्य कारण उपरितन रक्तवाहिनियों के क्षत या भार के कारण होने वाले त्वचा और कपालास्थि के परिसर के बीच रक्त के इकट्ठे होने से Cephal Heamatoma और जल के सञ्चय होने से Caput Succedenum उपशीर्षक व्याधि का होना माना गया है। चिकित्सा—कुछ समय के पश्चात् यह रोग स्वतः शान्त हो जाता है। यदि शान्त न हो तो जौ, गेहूं तथा मूंग को पानी में भिगो के पत्थर पर पीस कर घृत में पुल्टिस सा बना के रोगी के सिर पर लेप कर देना चाहिये। दशमूल के क्वाथ में घृत डाल कर सुहाता-सुहाता सिञ्चन (सेक) करना चाहिये। इससे शोथ मिट जाता है और पकने का भय नहीं रहता है। किन्तु यदि उपसर्ग के पहुंच जाने से वहां पूयोत्पत्ति हो जाय तो विद्रधिवत् चिकित्सा करनी चाहिये। कभी-कभी उचित चिकित्सा न करने से शोथ का प्रशमन न होकर निर्जीवाङ्गत्व (Gangrene) उत्पन्न होते हुये भी देखा गया है अत एव रक्तविस्रावण, सेक, लेप सल्फाड्रग्स, पेनिसीलिन आदि उचित उपचार शीघ्र करना चाहिये।

इत्यायुर्वेदतत्त्वसन्दीपिकाव्याख्यायां शिरोरोगप्रतिषेधो नाम षड्विंशोऽध्यायः ॥ २६ ॥

सप्तविंशतितमोऽध्यायः

अथातो[1] नवग्रहाकृतिविज्ञानीयमध्यायं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥ २ ॥

अब इसके अनन्तर 'नवग्रहाकृतिविज्ञानीय' नामक अध्याय की व्याख्या करते हैं जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने कहा है ॥ १-२ ॥

विमर्शः—पूर्व अध्यायों में शालाक्य तन्त्र का प्रतिपादन करने के अनन्तर इस अध्याय से कौमारभृत्य तन्त्र का विवेचन प्रारम्भ किया गया है। ऐसी परिस्थिति में कौमार-भृत्य क्या है तथा इसका विशेष वर्णन किस मुनि ने और किस ग्रन्थ में किया है आदि जान लेना आवश्यक है। सुश्रुताचार्य ने इस तन्त्र की परिभाषा निम्नरूप से की है—'कौमारभृत्यं नाम कुमारभरणधात्रीक्षीरदोषसंशोधनार्थं दुष्टस्तन्यग्रह-समुत्थानाञ्च व्याधीनामुपशमनार्थम्' (सु. सू. अ. १) (१) कुमारभरण—जन्म होने के पश्चात् शिशु का पालन किस प्रकार किया जाना चाहिये? (२) धात्री—शिशु के पालन करने वाली धात्री या माता में कौन कौन गुण और दोष हो सकते हैं तथा उनकी चिकित्सा कैसे की जाय? कुमारभरण के लिये किन लक्षणों वाली धाय को चुनना (लेना) चाहिये? (३) क्षीरदोष-संशोधन—धात्री के दुग्ध में या किसी अन्य पशु के दुग्ध में कौन कौन दोष होने की सम्भावना हो सकती है तथा उनके निवारणार्थ दुग्ध शुद्धि किस प्रकार की जा सकती है? (४) दुष्टस्तन्यसमुत्थितरोग—दोषयुक्त दुग्ध अथवा बालक के दूषित आहार के सेवन से होनेवाली व्याधियां कौन कौन सी हो सकती हैं और उनका उपशमन कैसे करना चाहिये? (५) ग्रहसमुत्थित व्याधियां—ग्रहदोषों से तथा उपसर्ग से उत्पन्न व्याधियां कौन कौन हो सकती हैं और उनका उपशमन किस प्रकार होना चाहिये? इस तरह सुश्रुताचार्य ने इस सूत्र में शिशुपालन, धात्री के गुण दोष, क्षीर के गुण दोष तथा उसकी संशुद्धि, दूषित क्षीर-जन्य रोग और ग्रहजन्य रोगों के लक्षण चिकित्सादि का निर्देश कर कौमारभृत्य का लक्षण किया है। अब प्रश्न यह होता है कि अष्टाङ्ग आयुर्वेद के लक्षणों में कहीं भी प्रसूतितन्त्र और स्त्रीरोग इस महत्त्वपूर्ण अङ्ग का कोई स्वतन्त्र उल्लेख ही नहीं है? अस्तु, इस शङ्का के समाधान के लिये सुश्रुता-चार्य ने सुश्रुत सूत्रस्थान अध्याय तीन में कौमारभृत्य की मर्यादा बतलाते हुये लिखते हैं कि—नवग्रहाकृतिज्ञानं स्कन्दस्य च निषेधनम्। अपस्मारशकुन्योश्च रेवत्याश्च पुनः पृथक्॥ पूतना-यास्तथाऽध्याया मण्डिकाशीतपूतना। नैगमेषचिकित्सा च ग्रहोत्पत्तिः सयोनिजा। कौमारतन्त्रमित्येतच्छारीरेषु च कीर्तितम्॥ नवग्रह उनकी उत्पत्ति और चिकित्सा तथा योनिव्यापत्प्रतिषेध और शारीर स्थान में रजःशुद्धि, ऋतुमती के लक्षण, गर्भावक्रान्ति, गृहीतगर्भालक्षण, दौहृद, गर्भाङ्गप्रत्यङ्ग-विकास, गर्भजन्म प्रभृति जो भी प्रसूतितन्त्र सम्बन्धी विषयों का वर्णन किया गया है उन सब का कौमारतन्त्र में समावेश करना चाहिये। सुश्रुत टीकाकार डल्हण ने भी उस स्थल की टीका में इसी आशय की पुष्टि की है—'सयोनिजा इति योनिव्यापत्प्रतिषेधा-ध्यायः सशब्दः सहार्थः। कौमारतन्त्रमिति। इति शब्दः कुमार-

---

[1] १. नवग्रहाकृतिपदस्यादौ बालशब्दो लुप्तनिर्दिष्टः, तेन बालानां संवत्सरपराणां नवग्रहा अमरसिद्धाः स्कन्दप्रभृतयः, तेषामाकृतिः कार्य-भूतं लिङ्गं, तस्या विज्ञानमधिकृत्य कृतोऽध्यायो नवग्रहाकृतिविज्ञानीय स्तम्। अबालानामष्टौ देवप्रभृतयो ग्रहा भूतविद्यायां षष्टितमेऽमानुषो-पसर्गप्रतिषेधाध्याये वक्ष्यन्ते।

तन्त्रपरिसमाप्तौ। किमेतावदेव कुमारतन्त्रमथवा अन्यदप्यस्तीति पृष्ट आह शारीरेषु च कीर्तितमिति। किं तद् शारीरेषु उक्तम्। तद्यथा रजःशुद्धि, गर्भावक्रान्तिरित्यादि। हारीतसंहिता में कौमारभृत्य या कुमारतन्त्र को बालचिकित्सा तन्त्र नाम से [निर्दिष्ट किया है और उसके लक्षण में स्पष्ट लिखा है कि गर्भोपक्रमविज्ञान, सूतिकापरिचर्या विज्ञान और बालकों के रोग तथा उनके संशमन का उपाय जिस शास्त्र में वर्णित हो उसे बालचिकित्सातन्त्र कहते हैं—गर्भोपक्रमविज्ञानं सूतिकोपक्रमं तथा। बालानां रोगशमनं क्रिया बालचिकित्सितम्॥ कौटिलीय अर्थशास्त्र में भी लिखा है कि कौमारभृत्य (कुमारतन्त्रविशेषज्ञ) आपन्नसत्त्वा (गर्भवती), गर्भपोषण, वृद्धि तथा गर्भप्रजनन (प्रसव) आदि कार्यों में विशेष यत्नशील होकर कार्य करे—'आपन्नसत्त्वायां कौमारभृत्यो गर्भभर्मणि। प्रजनेन च वियतेत' (प्रथमाधिकरण अ० १७) इन प्रमाणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि—प्राचीन समय में प्रसूतितन्त्र तथा स्त्रीरोग का कौमारभृत्य तन्त्र में ही अन्तर्भाव माना जाता था अत एव सुश्रुताचार्य ने आयुर्वेद के अष्ट अङ्गों के लक्षण करते समय प्रसूति तन्त्र तथा स्त्रीरोग को पृथक् अङ्ग नहीं माना और उसका लक्षण भी नहीं लिखा। वर्तमान वैज्ञानिक युग में शरीर के प्रत्येक अङ्ग के भिन्न-भिन्न विभाग मान कर उसका विशेष अनुसन्धान करके रोगों के निराकरण करने के लिये अमोघ औषध या उपाय निकाले जा रहे हैं वैसी परिस्थिति में हमें भी प्रसूतितन्त्र तथा स्त्रीरोग को कौमारभृत्य से विभिन्न शाखा मान कर विशिष्ट अन्वेषण कार्य करने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिये। स्वर्गीय गुरुवर्य महामहोपाध्याय कविराज श्री गणनाथ सेन सरस्वती ने भी अपने प्रत्यक्ष शारीर की प्रस्तावना में लिखा है कि कौमारभृत्य का विषय बालकों के भरण-पोषण तथा धात्रीपरीक्षा और दूषित दुग्ध तथा ग्रह बाधा जन्य रोगों के संशमन का उपाय बताना है एवं प्रसूतितन्त्र का विषय गर्भिणी के उपचार आदि का निर्देश करना है। इस तरह दोनों में महान् अन्तर है अत एव प्रसूति तन्त्र का शारीर में अन्तर्भाव करना तथा मूढगर्भादि विषय का शल्य शास्त्र में समावेश करना प्राचीन दृष्टया उपयुक्त है और नवीन दृष्टि से प्रसूतितन्त्र तथा स्त्रीरोग को कौमारभृत्य से सर्वथा पृथक् मानना ही उपयुक्त है—'इदं चात्रावधेयम्। कौमारभृत्यं नाम कुमारभरणधात्रीक्षीरदोषसंशोधनार्थं दुष्टस्तन्यग्रहसमुत्थानाञ्च व्याधीनामुपशमनार्थमिति। सुश्रुतः। प्रसूतितन्त्रस्य गर्भिण्युपचारादिप्रयोजनकस्य तु नात्रान्तर्भावः। तस्य हि वैद्यके शारीर एवान्तर्भावः, शल्यतन्त्रे च मूढगर्भचिकित्सादेः। एवञ्च सर्वथा कौमारभृत्यात् पृथगेव प्रसूतितन्त्रं मन्तव्यम्।' अस्तु आज कल प्रसूति तन्त्र को Midwifery स्त्रीरोग या योनिव्यापच्चिकित्सा को Gynecology तथा कौमारभृत्य या बालरोग चिकित्सा Paediatrics कहते हैं और ये तीनों स्वतन्त्र विषय (विभाग) माने गये हैं। कौमारभृत्य विषय का प्रतिपादन करने वाला स्वतन्त्र आर्षग्रन्थ केवल काश्यपसंहिता (वृद्धजीवकीयतन्त्र) ही अभी तक उपलब्ध हुआ है। उपलब्ध आयुर्वेद साहित्य में यह ग्रन्थ विशेष महत्त्व रखता है। चरक और सुश्रुत में अनुक्त ऐसे अनेक विषय इस ग्रन्थ में पाये जाते हैं। परन्तु यह ग्रन्थ बीच-बीच में खण्डित है। सुश्रुत ने शारीर स्थान तथा उत्तरतन्त्र में और चरक ने शारीरस्थान में कौमारभृत्य का वर्णन किया है।

बालग्रहाणां विज्ञानं साधनञ्चाप्यनन्तरम्।
उत्पत्तिं कारणञ्चैव सुश्रुतैकमनाः शृणु॥ ३॥

हे सुश्रुत! बालकों के ग्रहाविष्ट होने पर उन के भिन्न-भिन्न लक्षण और उनकी चिकित्सा तथा इन नवग्रहों की उत्पत्ति और ये ग्रह बालकों में क्यों प्रविष्ट होते हैं? इसका कारण इन सब विषयों को एकाग्रचित्त से सुनो॥ ३॥

स्कन्दग्रहस्तु प्रथमः स्कन्दापस्मार एव च।
शकुनी रेवती चैव पूतना चान्धपूतना॥ ४॥
पूतना शीतनामा च तथैव मुखमण्डिका।
नवमो नैगमेषश्च यः पितृग्रहसंज्ञितः॥ ५॥

ग्रहनाम तथा संख्या—प्रथम स्कन्दग्रह, फिर (२) स्कन्दापस्मार, (३) शकुनी, (४) रेवती, (५) पूतना, (६) अन्धपूतना, (७) शीतपूतना, (८) मुखमण्डिका और नवम (९) नैगमेष जिसे पितृग्रह नाम से भी पुकारते हैं॥ ४-५॥

विमर्शः—स्कन्द नाम कार्तिकेय का भी है किन्तु यहाँ स्कन्द (कार्तिकेय) के विनोदार्थ भगवान् शङ्कर के द्वारा उत्पन्न किये हुये स्कन्दग्रह का ग्रहण है। नवम नैगमेष ग्रह को पितृग्रह कहने का यह कारण है कि वह बच्चों के अन्य ग्रहों से होने वाले आक्रमण को बचाता है अत एव उसको पितृग्रह कहते हैं। आचार्य वाग्भट ने मनुष्य शरीरधारी ग्रह पांच जिनकी पितृसंज्ञा तथा स्त्रीरूपधारी ग्रह सात ऐसे कुल मिला कर बारह ग्रह माने हैं—स्कन्दो विशाखो मेषाख्यः श्वग्रहः पितृसंज्ञितः। शकुनिः पूतना शीतपूतना दृष्टिपूतना। मुखमण्डलिका तद्वत् रेवती शुष्करेवती॥ (अ० हृ० उ० अ० ३)

धात्रीमात्रोः प्राक्प्रदिष्टापचारा-
च्छौचभ्रष्टान्मङ्गलाचारहीनान्।
त्रस्तान् हृष्टांस्तर्जितान् ताडितान् वा
पूजाहेतोर्हिंस्युरेते कुमारान्॥ ६॥

ग्रहावेशहेतु—बच्चों को दुग्ध पिलाने वाली धाय अथवा माता के गर्भिणीव्याकरणाध्यायोक्त कुपथ्यों के सेवन करने से तथा मूत्र-पुरीषत्याग करने के अनन्तर बच्चों के गुद का शौच (प्रक्षालन) न करने से एवं माङ्गलिक (स्वस्तिक, दाभ, दूर्वा आदि पवित्र) वस्तुओं का स्पर्श न कराने से तथा आचार (पापविरोधी) कर्म से हीन होने से और डराये हुये, प्रसन्न हुये, धमकाये हुये, मारे हुए बच्चों के ये ग्रह अपनी पूजा कराने के लिये आविष्ट होते हैं॥ ६॥

विमर्शः—बच्चों के प्राक्तन कर्म के कारण धात्री या माता मांस-सुरादि सेवनरूपी अपचार (मिथ्या आचरण) करती है जिसका बुरा फल बच्चे को भोगना पड़ता है। डरे हुये बच्चे में ग्रहावेश शीघ्र होता है रोते हुये या भोजन नहीं करने वाले बच्चों को डराने के लिये उनके रक्षक (माता, पिता, धाय आदि) उन्हें पिशाच, पूतना आदि का नाम सुनाते हैं जिससे वे डर कर रोये नहीं किन्तु यह भयप्रदर्शन उचित नहीं है ऐसा चरकाचार्य ने लिखा है—'नह्यस्य वित्रासनं साधु तस्मात्तस्मिन्

रुदत्यभुञाने वाऽन्यत्र वाऽविधेयतां गच्छति राक्षसपिशाचपूतनाद्यानां नामानि व्याहरता कुमारस्य वित्रासनार्थं नामग्रहणं न कार्यं स्यात्' वाग्भटाचार्य लिखते हैं कि—ये ग्रह बच्चों की हिंसा करने के लिये, उन से रति (प्रेम) करने के लिये या उनके संरक्षकों द्वारा अपनी अर्चना (पूजा) कराने के लिये उनमें आविष्ट होते हैं—'हिंसारत्यर्चनाकाङ्क्षा ग्रहग्रहणकारणम्' इसी आशय को चरकाचार्य ने लिखा है कि उन्माद करने वाले भूतों का प्राणियों में आवेश करने के तीन ही प्रयोजन हैं। हिंसा, रति और अभ्यर्चना तथा इन प्रयोजनों का ज्ञान उन्मत्त रोगी के विशिष्ट लक्षणों द्वारा करना चाहिये जैसे हिंसार्थं आविष्ट भूत उस उन्मादी को अग्नि में प्रवेश कराता है, जल में डुबोता है, उच्च स्थान से गढे में गिराता है आदि—'त्रिविधन्तून्मादकराणां भूतानामुन्मादने प्रयोजनम्। तद्यथा हिंसा रतिरभ्यर्चनञ्चेति तेषां तत्प्रयोजनमुन्मत्ताचारविशेषलक्षणैर्विद्यात्। तत्र हिंसार्थमुन्माद्यमानोऽग्निं प्रविशति, अप्सु निमज्जति, स्थानात् श्वभ्रे वा पतति, शस्त्रकाष्ठलोष्टमुष्टिभिर्हन्ति, आत्मानमन्यच्च प्राणवधार्थमारभते।' (च. नि. अ. ७)

> ऐश्वर्यस्थास्ते न शक्या विशन्तो
> देहं द्रष्टुं मानुषैर्विश्वरूपाः।
> आप्तं वाक्यं तत्समीक्ष्याभिधास्ये
> लिङ्गान्येषां यानि देहे भवन्ति ॥ ७ ॥

ग्रह आवेशनिर्देश—विश्वरूपधारी वे ग्रह ऐश्वर्यशाली (अणिमाद्यष्टसिद्धियुक्त) होने से बालकों के शरीर में प्रविष्ट होते हुये मनुष्यों से नहीं देखे जा सकते हैं अत एव उन ग्रहों के अस्तित्व में आप्तपुरुषों के वाक्य को ही प्रमाण मानकर बच्चों के शरीर में आविष्ट होने से जो लक्षण उत्पन्न होते हैं उन्हें कहता हूं ॥ ७ ॥

विमर्शः—चरकाचार्य ने लिखा है कि जिस प्रकार दर्पण में प्रविष्ट होती हुई छाया और सूर्यकान्तमणि में प्रविष्ट होता हुआ आतप (सूर्यरश्मि) मनुष्यों द्वारा देखा नहीं जाता उसी प्रकार ये देव, गन्धर्व और ग्रहादिक भी आविष्ट होते हुये देखे नहीं जाते हैं—अदृश्यन्तः पुरुषस्य देहं देवादयः स्वैश्च गुणप्रभावैः। विशन्त्यदृश्यास्तरसा यथैव च्छायातपौ दर्पणसूर्यकान्तौ ॥ (च. चि. अ. ९।१८)

> शूनाक्षः क्षतजसगन्धिकः स्तनद्विड्
> वक्रास्यो हतचलतैकपक्ष्मनेत्रः।
> उद्विग्नः सुलुलितचक्षुरल्परोदी
> स्कन्दार्तो भवति च गाढमुष्टिवर्चाः ॥ ८ ॥

स्कन्दग्रहाविष्ट लक्षण—स्कन्दग्रहार्त बच्चे की आंखें शोथयुक्त तथा देह रुधिरगन्धयुक्त होती है एवं स्तनपान में अरुचि या द्वेष और मुख की आकृति कुछ टेढ़ी तथा बच्चा निरन्तर अपने नेत्र के एक पक्ष्म को स्तब्ध (हत) कर लेता है तथा कभी उसे अधिक चलित (कम्पित) करता रहता है। इसी प्रकार बच्चा उद्विग्न (बेचैन), कुछ आंखे बन्द किया हुआ, अल्परुदनकारी तथा जोर से हाथों को भींचे हुआ (मुष्टिबद्ध) एवं सख्त (गाढी) दस्त त्यागता है ॥ ८ ॥

विमर्शः—योगरत्नाकर ने भी स्कन्दग्रह दुष्ट के उक्त लक्षण लिखे हैं—एकनेत्रस्य गात्रस्य स्रावः स्पन्दनकम्पनम्। ऊर्ध्वदृष्ट्या निरीक्षेत वक्रास्यो रक्तगन्धिकः ॥ दन्तान्खादति वित्रस्तः स्तन्यं नैवाभिनन्दति। स्कन्दग्रहगृहीतानां रोदनं चाल्पमेव च।

> निःसंज्ञो भवति पुनर्भवेत्ससंज्ञः
> संरब्धः करचरणैश्च नृत्यतीव।
> विण्मूत्रे सृजति विनद्य जृम्भमाणः
> फेनञ्च प्रसृजति तत्सखाभिपन्नः ॥ ९ ॥

स्कन्दापस्मारग्रहाविष्ट लक्षण—इस ग्रह से पीड़ित बालक कभी संज्ञारहित तथा कभी संज्ञायुक्त हो जाता है तथा संरब्ध (हलचल) युक्त हो के हाथ और पैर को नचाता हुआ सा प्रतीत होता है। विशिष्ट प्रकार का अव्यक्त शब्द करके विष्ठा और मूत्र का उत्सर्ग करता है और जृम्भा (जमुहाई = अव्वासी) लेता हुआ मुख से फेन (झाग) गिराता है। स्कन्दग्रह के मित्र (सखा) अर्थात् स्कन्दापस्मारग्रह के आविष्ट होने पर उक्त लक्षण होते हैं ॥ ९ ॥

विमर्शः—योगरत्नाकर ने उक्त लक्षणों के अतिरिक्त पूयशोणितमिश्र गन्धका आना भी लिखा—नष्टसंज्ञो वमेत्फेनं संज्ञावानतिरोदिति। पूयशोणितगन्धित्वं स्कन्दापस्मारलक्षणम्। वाग्भटाचार्य ने उक्त लक्षणों के साथ साथ केशलुञ्चन, ऊर्ध्वदर्शन और ज्वरादि विशिष्ट लक्षण लिखे हैं—संज्ञानाशो मुहुः केशलुञ्चनं कन्धरानतिः। विनम्य जृम्भमाणस्य शकृन्मूत्रप्रवर्तनम् ॥ फेनोद्वमनमूर्ध्वेक्षा हस्तभ्रूपादनर्तनम्। स्तनस्वजिह्वासन्दंशसंरम्भज्वरजागराः ॥ पूयशोणितगन्धिश्च स्कन्दापस्मारलक्षणम् ॥ (अ. हृ. उ. अ. २९)

> स्रस्ताङ्गो भयचकितो विहङ्गगन्धिः
> संस्राविव्रणपरिपीडितः समन्तात्।
> स्फोटैश्च प्रचिततनुः सदाहपाकै-
> र्विज्ञेयो भवति शिशुः क्षतः शकुन्या ॥ १० ॥

शकुनिग्रहाविष्टलक्षण—बच्चे के अङ्गों का शिथिल हो जाना, साधारण भय से चकित (घबराया हुआ) होना, बच्चे के शरीर से पक्षियों के मांस की सी गन्ध का आना, चारों ओर से बच्चे के शरीर का स्रावयुक्त व्रणों से पीड़ित रहना तथा दाह और पाकयुक्त स्फोटों (छालों) से शरीर का व्याप्त रहना इस प्रकार के बच्चे को शकुनिग्रह से आविष्ट समझना चाहिये ॥ १० ॥

विमर्शः—आचार्य वाग्भट ने उक्त लक्षणों के अतिरिक्त अतिसार, जिह्वाताल्गतव्रण, मुख और गुद में पाक तथा ज्वर ये शकुनिग्रहाविष्ट के लक्षण लिखे हैं—स्रस्ताङ्गत्वमतीसारो जिह्वाताल्गले व्रणाः। स्फोटाः सदाहरुक्पाकाः सन्धिषु स्युः पुनः पुनः ॥ निश्यह्नि प्रविलीयन्ते पाको वक्त्रे गुदेऽपि वा। भयं शकुनिगन्धत्वं ज्वरश्च शकुनिग्रहे ॥ (अ. हृ. उ. अ. २)

> रक्तास्यो हरितमलोऽतिपाण्डुदेहः
> श्यावो वा ज्वरमुखपाकवेदनाऽऽर्तः।
> रेवत्या व्यथिततनुश्च कर्णनासं
> मृद्नाति ध्रुवमभिपीडितः कुमारः ॥ ११ ॥

दुग्ध मिला कर उक्त ओषधियों का ही कल्क मिला कर यथाविधि सिद्ध कर बच्चे को १ मासे से ३ मासे भर की मात्रा में पिलाना चाहिये ॥ ५ ॥

गृध्रोलूकपुरीषाणि बस्तगन्धामहेस्त्वचः ।
निम्बपत्राणि मधुकं धूपनार्थं प्रयोजयेत् ॥ ६ ॥

धूपन—गीध तथा उल्लू की विष्ठा, बस्तगन्धा (अजगन्धा), सांप की कांचली, निम्बपत्र और मुलेठी इन्हें प्रज्वलित अङ्गार पर रख के बच्चे को धूपित करना चाहिये ॥ ६ ॥

धारयेदपि लम्बाश्च गुञ्जां काकादनीं तथा ॥ ७ ॥

ओषधिधारण—कड़वी तुम्बी, गुञ्जा (घुमची), काकादनी (कौआठोडी या श्वेत गुञ्जा) इनकी माला बना के बच्चे को पहनानी चाहिये ॥ ७ ॥

नद्यां मुद्गकृतैश्चान्नैस्तर्पयेच्छीतपूतनाम् ।
देव्यै देयश्चोपहारो वारुणी रुधिरं तथा ।
जलाशयान्ते बालस्य स्नपनं चोपदिश्यते ॥ ८ ॥

बलिकर्म तथा स्नान—मूंग को पका कर दोने में भर के नदी के किनारे या नदी के बीच में रख (बलि दे) कर शीतपूतना को प्रसन्न करें। इसी प्रकार इस देवी के लिये वारुणी (मद्य) और रक्त का उपहार देना चाहिये। बालक को किसी जलाशय (नदी) के पास लेजाके स्नान कराना चाहिये॥

मुद्गौदनाशना देवी सुराशोणितपायिनी ।
जलाशयालया देवी पातु त्वां शीतपूतना ॥ ९ ॥

इति सुश्रुतसंहितायामुत्तरतन्त्रान्तर्गते कुमारतन्त्रे शीतपूतनाप्रतिषेधो नाम (अष्टमोऽध्यायः, आदितः) चतुस्त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३४ ॥

बालरक्षामन्त्र—मूंग तथा चावल को खाने वाली एवं सुरा (मद्य) तथा रक्त का पान करने वाली तथा जलाशय (नदी) के पास निवसन शील शीतपूतना देवी तेरी रक्षा करे ॥ ९ ॥

इत्यायुर्वेदतत्त्वार्थसन्दीपिकाव्याख्यायां शीतपूतनाप्रतिषेधो नाम चतुस्त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३४ ॥

पञ्चत्रिंशत्तमोऽध्यायः

अथातो मुखमण्डिकाप्रतिषेधं व्याख्यास्यामः ॥१॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥ २ ॥

अब इसके अनन्तर मुखमण्डिकाप्रतिषेध नामक अध्याय का व्याख्यान करते हैं जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने कहा है॥

कपित्थबिल्वतर्कारीवांशीगन्धर्वहस्तकाः ।
कुबेराक्षी च योज्याः स्युर्बालानां परिषेचने ॥ ३ ॥

परिषेचन—कैथ, बिल्व, अरणी, वंशलोचन, एरण्ड की जड़, रुद्राक्ष या पाटला इनका क्वाथ बना के बालक का सिञ्चन करना चाहिये ॥ ३ ॥

स्वरसैर्भृङ्गवृक्षाणां तथाऽजहरिगन्धयोः ।
तैलं वसाञ्च संयोज्य पचेदभ्यञ्जने शिशोः ॥ ४ ॥

अभ्यङ्ग—वातनाशक बिल्व, श्योनाक, गम्भारी, एरण्ड आदि वृक्षों के पत्रों का स्वरस तथा अजगन्धा और अश्वगन्धा का क्वाथ मिलित स्नेह से चतुर्गुण तथा तिलतैल और वसा मिलित एक भाग ले के स्नेहावशेष पाक कर छान के शीशी में भर देवें। इस का बालक के शरीर पर अभ्यङ्ग करना चाहिये।

विमर्शः—हाराणचन्द्र जी ने भृङ्गराज अर्थ किया है तथा डल्हण ने वातहर वृक्षों के भृङ्ग (पत्रभङ्ग) अर्थ किया है—'भृङ्गं त्वक्पत्रं भृङ्गास्तु पिङ्गधूम्याटमार्कवाः' इति हैमः ।

मधूलिकायां पयसि तुगाक्षीर्यो गणे तथा ।
मधुरे पञ्चमूले च कनीयसि घृतं पचेत् ॥ ५ ॥

घृतपान—मधूलिका (मधूलिकादि गण अथवा मूर्वा) के स्वरस या क्वाथ में, दुग्ध में, वंशलोचन के साथ एवं काकोल्यादि मधुर वर्ग की ओषधियों के स्वरस या क्वाथ में तथा लघु पञ्चमूल की ओषधियों के क्वाथ में घृत सिद्ध करके १ मासे से ४ मासे भर की मात्रा में बच्चे को देना चाहिये ॥५॥

वचासर्जरसः कुष्ठं सर्पिश्चोद्धूपनं हितम् ॥ ६ ॥

धूपन—वचा, राल, कुष्ठ तथा घृत इन्हें मिला के अङ्गार पर रख कर धूनी देवे ॥ ६ ॥

धारयेदपि जिह्वाश्च चाषचीरल्लिसर्पजाः ॥ ७ ॥

ओषधि धारण—चाष (पपीहा), चीरल्लि (चील) और सर्प की जिह्वा निकाल कर किसी धागे में ग्रथित करके गले या भुजा में धारण करनी चाहिये ॥ ७ ॥

विमर्शः—कुछ टीकाकारों ने चाष शब्द का अर्थ नीलकण्ठ किया है—'चाषः स्वर्णचूडो नीलाङ्गः, नीलकण्ठ इति लोके—अशोकश्च विशोकश्च नन्दनः पुष्टिवर्धनः। हेमतुण्डो मणिग्रीवः स्वस्तिकश्चापराजितः॥ अष्टौ चाषस्य नामानि चाषं दृष्ट्वा तु यः पठेत्। अर्थसिद्धिर्भवेत्तस्य मिष्टमन्नं वराङ्गना ॥

वर्णकं चूर्णकं माल्यमञ्जनं पारदं तथा ।
मनःशिलाञ्चोपहरेद्गोष्ठमध्ये बलिं तथा ।
पायसं सपुरोडाशं बल्यर्थमुपसंहरेत् ॥ ८ ॥

बलिकर्म—वर्णक (काम्पिल्लक या कङ्कुष्ठ, गोरोचन या हरताल), चूर्णक (चूना या अबीर), माला, अञ्जन (सुरमा या रसाञ्जन), पारा और मैनसिल इन सब को एक दोने में भर के गोशाला के मध्य में बलि देनी चाहिये। इसके अतिरिक्त पायस (खीर) और पुरोडाश की भी बलि देनी चाहिये ॥८॥

विमर्शः—'पायसं सपुरोडाशम्' के दो अर्थ होते हैं—(१) पुरोडाशम्-अष्टाकपालः पिष्टमयः कपालोपरिपक्वः तृणाग्निना' अर्थात् एक आटे का कपाल सकोरे या दुने की आकृति का बना के उसे घासफूस की अग्नि में पकाकर उसमें पायस (खीर) भर के बलि देनी चाहिये। (२) किसी मिट्टी के कपाल में चिता की अग्नि पर बनाई (पकाई) हुई खीर ।

मन्त्रपूताभिरद्भिश्च तत्रैव स्नपनं हितम् ॥ ९ ॥

स्नान—गायत्री आदि मन्त्रों से अभिमन्त्रित जल से उसी शाला में बालक को स्नान कराना चाहिये ॥ ९ ॥

अलङ्कृता रूपवती सुभगा कामरूपिणी ।
गोष्ठमध्यालयरता पातु त्वां मुखमण्डिका ॥ १० ॥

इति सुश्रुतसंहितायामुत्तरतन्त्रान्तर्गते कुमारतन्त्रे मुखमण्डिकाप्रतिषेधो नाम (नवमोऽध्यायः, आदितः) पञ्चत्रिंशत्तमोऽध्यायः ॥ ३५ ॥

बालरक्षामन्त्र—अनेक आभूषणों से अलङ्कृत, सुरूपवती, सौभाग्यशालिनी, स्वेच्छा से अनेक रूप धारण करने वाली और गोशाला में निवास करने वाली मुखमण्डिका देवी तेरी रक्षा करें ॥ १० ॥

इत्यायुर्वेदतत्त्वार्थसन्दीपिकाव्याख्यायां मुखमण्डिकाप्रतिषेधो नाम पञ्चत्रिंशत्तमोऽध्यायः ॥ ३५ ॥

षट्त्रिंशत्तमोऽध्यायः

अथातो नैगमेषप्रतिषेधं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥ २ ॥

अब इसके अनन्तर नैगमेषप्रतिषेध नामक अध्याय का व्याख्यान करते हैं जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने कहा है ॥

विमर्शः—नैगमेष ग्रह का स्वरूप मेष (भेड़े) के मुख के समान माना गया है।

बिल्वाग्निमन्थपूतीकाः कार्य्याः स्युः परिषेचने ।
सुरा सौवीरं धान्याम्लं परिषेके च शस्यते ॥ ३ ॥

परिषेचन—बिल्व की छाल, अरणी की छाल और करञ्ज की छाल का क्वाथ बना के बालक का परिषेचन करना चाहिये अथवा सुरा, सौवीर और काञ्जी के द्वारा सिञ्चन करना चाहिये ॥ ३ ॥

प्रियङ्गुसरलाऽनन्ताशतपुष्पाकुटन्नटैः ।
पचेत्तैलं सगोमूत्रैर्दधिमस्त्वम्लकाञ्जिकैः ॥ ४ ॥

अभ्यङ्ग—प्रियङ्गु, सरला (श्वेत निशोथ या चीड़=बिरोजा) अनन्तमूल (सारिवा), सौंफ तथा कुटन्नट (श्योनाक या तगर या केवटी मोथा) इनका कल्क मिलित ५ तोले तथा तिलतैल २० तोले और गोमूत्र, दही, दही के ऊपर का पानी और खट्टी काञ्जी ये प्रत्येक स्नेह से चतुर्गुण किन्तु दही स्नेह के बराबर लेके यथाविधि पाक कर छान के शीशी में भर देवें ॥ ४ ॥

विमर्शः—कुछ टीकाकारों ने उक्त द्रव पदार्थों में से प्रत्येक को स्नेह के समान ही लेना लिखा है ऐसी स्थिति में यहां चातुर्गुण जल मिलाना चाहिये क्योंकि लिखा है—स्वरसक्षीरमाङ्गल्यैः पाको यत्रेरितः क्वचित् । जलं चतुर्गुणं तत्र वीर्यांधानार्थमावपेत् ॥ कुछ टीकाकारों ने अम्ल शब्द को काञ्जी का विशेषण न मान कर उसे पृथक् ही मान के बिजोरे निम्बू का स्वरस लेना लिखा है। ऐसी स्थिति में द्रव पदार्थ पांच हो जाते हैं अतः प्रत्येक द्रव को स्नेह के बराबर बराबर लेना प्रशस्त है—पञ्च प्रभृति यत्र स्युर्द्रवाणि स्नेहसंविधौ । तत्र स्नेहसमान्याहुरर्वाक् च स्याच्चतुर्गुणम् ॥ (प० प्र०)

पञ्चमूलद्वयक्काथे क्षीरे मधुरकेषु च ।
पचेद् घृतञ्च मेधावी खर्जूरीमस्तकेऽपि वा ॥ ५ ॥

घृतपान—लघु पञ्चमूल (शालपर्णी, पृष्ठपर्णी, छोटी कटेरी, बड़ी कटेरी और गोखरू), बृहत्पञ्चमूल (बिल्व, श्योनाक, गम्भारी, पाटला, अरणी) के चतुर्गुण क्वाथ तथा एक भाग दुग्ध में मधुरकादि गण की ओषधियों का कल्क चतुर्थांश मिला के घृत सिद्ध कर लेवें। अथवा खर्जूर के मस्तक के पानी (ताड़ी) में घृत सिद्ध कर लेवें। घृतमात्रा–१ से ३ माशे तक बच्चों को पीने के लिये मन्दोष्ण दुग्ध या पानी में डाल कर पिलावें ॥ ५ ॥

विमर्शः—कुछ लोग खर्जूरीमस्तक का अर्थ उसकी मज्जा करते हैं किन्तु उसमें मज्जा होती नहीं अतएव उसके मस्तक का श्वेत भाग ले सकते हैं जो कि कल्क के मान में प्रयुक्त होगा।

वचां वयःस्थां गोलोमीं जटिलां चापि धारयेत् ।
उत्सादनं हितं चात्र स्कन्दापस्मारनाशनम् ॥ ६ ॥

ओषधिधारण—वचा, वयःस्था (गिलोय अथवा क्षीरकाकोली), गोलोमी (दूर्वा), जटामांसी इन्हें किसी धागे में बांध कर बालक को पहनावें। इसके अतिरिक्त स्कन्दापस्मार में कहे हुये द्रव्यों से उत्सादन करना हितकारी होता है ॥ ६ ॥

विमर्शः—हाराणचन्द्रजी ने अपने सुश्रुतार्थसन्दीपन भाष्य में वयःस्था का अर्थ हरीतकी किया है।

सिद्धार्थकवचाहिङ्गुकुष्ठञ्चैवाक्षतैः सह ।
भल्लातकाजमोदाश्च हितमुद्धूपनं शिशोः ॥ ७ ॥

धूपन—श्वेत सरसों, वचा, हींग, कूठ, अक्षत (चावल या जौ), भिलावा और अजमोदा इनके चूर्ण को प्रदीप्त अङ्गार पर डाल के बालक को धूनी देनी चाहिये ॥ ७ ॥

मर्कटोलूकगृध्राणां पुरीषाणि नवग्रहे ।
धूपः सुप्ते जने कार्य्यो बालस्य हितमिच्छता ॥ ८ ॥

नवग्रह धूप—मर्कट (बन्दर), उल्लू और गीध की विष्ठा लेकर रात्रि के समय मनुष्यों के सो जाने पर नवग्रहकोप में बच्चों को धूनी देनी चाहिये ॥ ८ ॥

तिलतण्डुलकं माल्यं भक्ष्यांश्च विविधानपि ।
कुमारपितृमेषाय वृक्षमूले निवेदयेत् ॥ ९ ॥

बलिकर्म—एक सकोरे या दोने में तिल, चावल, माला तथा अनेक प्रकार के लड्डू, जलेबी आदि भक्ष्य पदार्थ रखकर कुमारपितृमेष ग्रह के लिये वृक्ष के मूल में बलि देनी चाहिये ॥

अधस्ताद्वटवृक्षस्य स्नपनं चोपदिश्यते ।
बलिं न्यग्रोधवृक्षेषु तिथौ षष्ठ्यां निवेदयेत् ॥ १० ॥

स्नान—बच्चों को वटवृक्ष के नीचे ले जाकर स्नान कराना चाहिये तथा षष्ठी तिथि के दिन वटवृक्ष के नीचे बलि भी देनी चाहिये ॥ १० ॥

विमर्शः—इस दिन शकुनिप्रतिषेधोक्त द्रव्यों की बलि देनी चाहिये। बलिद्रव्य—'तिलतण्डुलकं माल्यं हरितालं मनःशिला'।

अजाननश्चलाक्षिभ्रूः कामरूपी महायशाः।
बालं बालपिता देवो नैगमेषोऽभिरक्षतु ॥ ११ ॥

इति सुश्रुतसंहितायामुत्तरतन्त्रान्तर्गते कुमारतन्त्रे नैगमेषप्रतिषेधो नाम (दशमोऽध्यायः, आदितः) षट्त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३६ ॥

बालरक्षामन्त्र—बकरे के समान मुख वाला, नेत्र और भौंह जिसके चलायमान हो रहे हैं तथा स्वेच्छा से रूप धारण करने वाला, महायशस्वी तथा बालकों का पिता नैगमेष देव बालक की रक्षा करे ॥ ११ ॥

इत्यायुर्वेदतत्त्वार्थसन्दीपिकाभाषायां नैगमेषप्रतिषेधो नाम षट्त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३६ ॥

सप्तत्रिंशत्तमोऽध्यायः

अथातो ग्रहोत्पत्तिमध्यायं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥ २ ॥

अब इसके अनन्तर ग्रहोत्पत्ति-विषयक अध्याय का व्याख्यान करते हैं जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने कहा है १-२

नव स्कन्दादयः प्रोक्ता बालानां य इमे ग्रहाः।
श्रीमन्तो दिव्यवपुषो नारीपुरुषविग्रहाः ॥ ३ ॥

नवग्रहविवेचन—बालकों के स्कन्द आदि जो नवसंख्यक ग्रह कहे गये हैं, ये सब ऐश्वर्ययुक्त, दिव्यशरीरधारी और स्त्री तथा पुरुष शरीर के रूप में हैं ॥ ३ ॥

विमर्शः—आचार्य सुश्रुत ने शकुनि, रेवती, पूतना, अन्धपूतना, शीतपूतना और मुखमण्डिका ये ६ ग्रह स्त्रीशरीरधारी तथा स्कन्द, स्कन्दापस्मार और नैगमेष ये ३ पुरुष शरीरधारी ऐसे कुल ९ ग्रह माने हैं किन्तु आचार्य वाग्भट ने इन ग्रहों की संख्या १२ लिखी हैं। जैसे स्कन्द, विशाख, मेष, श्वग्रह तथा पितृग्रह ऐसे ५ पुरुष शरीरधारी तथा शकुनी, पूतना, शीतपूतना, दृष्टिपूतना, मुखमण्डलिका, रेवती तथा शुष्करेवती ये ७ स्त्री शरीरधारी ग्रह हैं और इस तरह कुल संख्या १२ है—स्कन्दो विशाखो मेषाख्यः श्वग्रहः पितृसंज्ञितः। शकुनिः पूतना शीतपूतना दृष्टिपूतना ॥ मुखमण्डलिका तद्वद् रेवती शुष्करेवती ॥ (अ. हृ. उ. अ. ३)। इस तरह वाग्भट ने श्वग्रह, पितृग्रह तथा शुष्करेवती ये ३ ग्रह अधिक माने हैं जिनका वर्णन संक्षेप में निम्न है—(१) श्वग्रहलक्षण—कम्पो हृषितरोमत्वं स्वेदश्चक्षुर्निमीलनम्। बहिरायामनं जिह्वादंशोऽन्तः कण्ठकूजनम् ॥ धावनं विट्सगन्धत्वं क्रोशनं श्वानवच्छुनि ॥ कम्प (Convulsions), रोमहर्ष, स्वेदाधिक्य, नेत्रनिमीलन, बहिरायाम (Opisthotonus), जिह्वादंश, कण्ठकूजन, धावन (दौड़ना), मलगन्ध तथा कुत्ते की तरह चिल्लाहट। (२) पितृग्रहलक्षण—रोमहर्षो मुहुस्त्रासः सहसा रोदनं ज्वरः। कासातिसारवमथुजृम्भातृट्शवगन्धताः ॥ मुष्टिबन्धः स्रुतिश्चाक्ष्णोर्बालस्य स्युः पितृग्रहे ॥ रोमहर्ष, मुहुर्मुहुर्भीति, सहसा रोदन, ज्वर, कास, अतिसार, वमन, जृम्भा, तृष्णा, शवगन्ध, मुष्टिबन्धन तथा नेत्र से स्राव ये लक्षण होते हैं। (३) शुष्करेवती लक्षण—जायते शुष्करेवत्यां क्रमात् सर्वाङ्गसंक्षयः ॥ इस रोग में बच्चा धीरे-धीरे सूखता है तथा उसकी समस्त धातुएं क्षीण हो जाती हैं। इनके सिवाय रावण ने अपने बालतन्त्र में पूतना के १६ भेद माने हैं जो कि उसी की बहिनें थीं। (१) नन्दा, (२) सुनन्दा, (३) पूतना, (४) मुखमण्डलिका, (५) बिडालिका या कटपूतना, (६) षट्कारिका या शकुनिका, (७) कालिका या शुष्करेवती, (८) कामिनी या अर्य्यका, (९) मदना या सूतिका, (१०) रेवती या निर्ऋता, (११) सुदर्शना या पिलिपिच्छिका, (१२) अद्भुता या कालिका, (१३) भद्रकाली, (१४) तारा, (१५) हुङ्कारिका, (१६) कुमारिका।

एते गुहस्य रक्षार्थं कृत्तिकोमाऽग्निशूलिभिः।
सृष्टाः शरवणस्थस्य रक्षितस्यात्मतेजसा ॥ ४ ॥

ग्रहोत्पत्ति हेतु—शर (दर्भ या कांस) के वन में स्थित हुये तथा अपने ही पराक्रम से रक्षित स्वामी कार्तिकेय की रक्षा के लिये कृत्तिका, उमा (पार्वती), अग्नि और शङ्कर भगवान् ने इन ग्रहों को उत्पन्न किया ॥ ४ ॥

विमर्शः—उमापदं गङ्गाया अपि उपलक्षणम्, अनन्तरं 'गङ्गोमाकृत्तिकानाम्' इत्युक्तेः। शरवन के अन्दर कार्तिकेय की उत्पत्ति कैसे हुई यह कथा वामनपुराण के ५४ वें अध्याय में वर्णित है।

स्त्रीविग्रहा ग्रहा ये तु नानारूपा मयेरिताः।
गङ्गोमाकृत्तिकानां ते भागा राजसतामसाः ॥ ५ ॥

ग्रहों में राजसादिभाव कल्पना—भगवान् धन्वन्तरि कहते हैं कि जो मैंने स्त्री शरीर वाले अनेक रूपधारी ग्रहों का वर्णन किया है वे गङ्गा, पार्वती और कृत्तिका के भाग (अंश) हैं तथा ये राजस और तामस प्रकृति वाले हैं ॥ ५ ॥

नैगमेषस्तु पार्वत्या सृष्टो मेषाननो ग्रहः।
कुमारधारी देवस्य गुहस्यात्मसमः सखा ॥ ६ ॥

नैगमेष ग्रह जो कि मेष के समान मुख वाला तथा कुमार (कार्तिकेय) को धारण (रक्षित) करने वाला तथा भगवान् गुह (कार्तिकेय) का अभिन्न मित्र है उसे पार्वती ने बनाया ॥ ७ ॥

स्कन्दापस्मारसंज्ञो यः सोऽग्निनाऽग्निसमद्युतिः।
स च स्कन्दसखा नाम विशाख इति चोच्यते ॥ ७ ॥

स्कन्दापस्मार नामक ग्रह जो कि अग्नि के समान तेजस्वी है उसे अग्नि ने बनाया तथा वह स्कन्द (कार्तिकेय) का मित्र है तथा उसे विशाख नाम से भी कहा जाता है ॥ ७ ॥

स्कन्दः सृष्टो भगवता देवेन त्रिपुरारिणा।
बिभर्ति चापरां संज्ञां कुमार इति स ग्रहः ॥ ८ ॥

भगवान् त्रिपुरारि (शङ्कर) ने स्कन्द नामक ग्रह की रचना की। यह स्कन्दग्रह कुमार नाम से भी ख्यात है ॥ ८ ॥

बाललीलाधरो योऽयं देवोरुद्राग्निसम्भवः ।
मिथ्याऽऽचारेषु भगवान् स्वयं नैष प्रवर्त्तते ॥ ९ ॥

कार्तिकेय के आवेश का निषेध—शङ्कर और अग्नि के द्वारा उत्पन्न तथा बालकों की लीला को धारण करने वाले देवस्वरूप भगवान् कार्तिकेय स्वयं बालावेशात्मक पापाचार में प्रवृत्त नहीं होते हैं ॥ ९ ॥

कुमारः स्कन्दसामान्यादत्र केचिदपण्डिताः ।
गृह्णातीत्यल्पविज्ञाना ब्रुवते देहचिन्तकाः ॥ १० ॥

कार्तिकेयबालावेशशङ्काहेतु—इस विषय में कुछ अपण्डित (मूर्ख) देहचिन्तक लोग स्कन्दग्रह की दूसरी कार्तिकेय के समान कुमार संज्ञा को देख कर भगवान् कार्तिकेय ही बालकों के अन्दर आविष्ट होते हैं ऐसा कहते हैं किन्तु यह उनकी कल्पना अज्ञान (भ्रम) सूचक है ॥ १० ॥

विमर्शः—वास्तव में कार्तिकेय आविष्ट नहीं होते हैं किन्तु उनके इन नव या द्वादश ग्रहों के भी अनेक परिचारक हैं जो कि रक्त, वसा और मांस को खाने वाले, भयङ्कर शरीरधारी तथा रात्रि में घूमने वाले हैं वे बच्चों में आविष्ट होते हैं ऐसा आचार्य सुश्रुत ने माना है—'तेषां ग्रहाणां परिचारका ये कोटीसहस्रायुतपद्मसङ्ख्याः । असृग्वसामांसभुजः सुभीमा निशाविहाराश्च तमाविशन्ति ॥ (सु. उ. अ. ६०)

ततो भगवति स्कन्दे सुरसेनापतौ कृते ।
उपतस्थुर्ग्रहाः सर्वे दीप्तशक्तिधरं गुहम् ॥ ११ ॥
ऊचुः प्राञ्जलयश्चैनं वृत्तिं नः संविधत्स्व वै ।
तेषामर्थे ततः स्कन्दः शिवं देवमचोदयत् ॥ १२ ॥

ग्रहवृत्ति कल्पना—जब भगवान् स्वामी कार्तिकेय बड़े हो गये और उन्हें देवताओं की सेना का अधिपति बना दिया गया तब उनके सेवक उक्त सब ग्रह हाथ जोड़ कर दीप्तशक्तिधारी गुह (स्वामी कार्तिकेय) के पास आकर बोले कि आप तो युद्ध करने जा रहे हैं अतः हमारे जीवन (भोजन) का उपाय कीजिए इस पर स्कन्द (कार्तिकेय) ने उन ग्रहों की जीविका के लिये भगवान् शङ्कर से कहा ॥ ११–१२ ॥

ततो ग्रहांस्तानुवाच भगवान् भगनेत्रहृत् ।
तिर्यग्योनिं मानुषञ्च दैवञ्च त्रितयं जगत् ॥ १३ ॥
परस्परोपकारेण वर्त्तते धार्य्यतेऽपि च ।
देवा मनुष्यान् प्रीणन्ति तैर्य्यग्योनींस्तथैव च ॥ १४ ॥
वर्त्तमानैर्यथाकालं शीतवर्षोष्णमारुतैः ।
इज्याऽञ्जलिनमस्कारजपहोमव्रतादिभिः ॥ १५ ॥
नराः सम्यक् प्रयुक्तैश्च प्रीणन्ति त्रिदिवेश्वरान् ।
भागधेयं विभक्तञ्च शेषं किञ्चिन्न विद्यते ॥
तद् युष्माकं शुभा वृत्तिर्बालेष्वेव भविष्यति ॥१६॥

शङ्कर का उत्तर—भग के नेत्र का विनाश करने वाले भगवान् शङ्कर ने उन ग्रहों से कहा कि—तिर्यग्योनि (पशु, पक्षी आदि), मानुषयोनि और देवयोनि वाला यह समग्र त्रिविध संसार एक दूसरे के उपकार से धारण किया जाता है तथा जीवित (स्थिर) रहता है। (जैसे गौ मनुष्यों को दुग्ध देती है तथा मनुष्य उसके फलस्वरूप उसे अपनी माता मान कर घास, फूस आदि खाने को देकर उपकृत करते हैं, इसी प्रकार बैल हल चला के मनुष्यों का उपकार करते हैं तो मनुष्य उन्हें घास, खल, कपासिया खिला कर उपकृत करते हैं) देवता योग्य समय पर अपने प्रभाव से शीत, वर्षा, गरमी और हवा का विसर्ग कर मनुष्य तथा तिर्यग्योनि (पशु पक्षी) को पोषित करते हैं इसके बदले में मनुष्य यज्ञ, अञ्जलि (तर्पण), नमस्कार, जप, होम और व्रत आदि को वेद-धर्मशास्त्र की विधि से करके देवताओं को प्रसन्न करते हैं। इस तरह देवता, मनुष्य और पशु-पक्षी योनि ने अपने-अपने भाग (हिस्से) परस्पर बांट रखे हैं, शेष कुछ भी नहीं रहा है इस लिये तुम्हारी उचित जीविका बालकों में ही होगी ॥ १३–१६ ॥

कुलेषु येषु नेज्यन्ते देवाः पितर एव च ॥ १७ ॥
ब्राह्मणाः साधवश्चैव गुरवोऽतिथयस्तथा ।
निवृत्ताचारशौचेषु परपाकोपजीविषु ॥ १८ ॥
उत्सन्नबलिभिक्षेषु भिन्नकांस्योपभोजिषु ।
गृहेषु तेषु ये बालास्तान् गृह्णीध्वमशङ्किताः ॥ १९ ॥
तत्र वो विपुला वृत्तिः पूजा चैव भविष्यति ।
एवं ग्रहाः समुत्पन्ना बालान् गृह्णन्ति चाप्यतः ॥ २० ॥

ग्रहावेशयोग्य कुल व बालक—जिन कुलों में देवताओं और पितरों के लिये यज्ञ नहीं होता तथा जहां भजनानन्दी तथा पठित ब्राह्मण, साधु, गुरु और अतिथियों का पूजन सत्कार नहीं होता एवं जहां सदाचार और पवित्रता नष्ट हो गई हो तथा जो दूसरे के ऊपर जीने वाले एवं जिन कुलों में बलिदान तथा भिक्षादान नहीं दिया जाता हो, एवं जो लोग फूटे हुये कांस्यपात्र में भोजन करते हों ऐसे कुल (घरों) में जो बालक हों उनमें तुम निःशङ्क हो कर आविष्ट हो सकते हो। उन बालकों में आविष्ट होने पर उन्हें ठीक करने के लिये उनके संरक्षक तुम्हारी खूब पूजा करेंगे जिससे तुम्हारी वहां प्रचुर जीविका चलेगी। इस प्रकार से उत्पन्न हुये ये ग्रह बालकों पर आक्रमण करते हैं ॥ १७–२० ॥

विमर्शः—वास्तव में जो मूर्ख सनातन धर्म के शास्त्र-प्रतिपादित यज्ञ, पूजन, वन्दना आदि की निन्दा करते हैं वे कितने कृतघ्नी हैं। उनके भरण-पोषण के लिये देवताओं ने या प्रकृति ने शीतोष्णवर्षा के जो साधन कर रखे हैं उसका तनिक भर भी वे उपकार नहीं मानते और जो मानते हैं उलटे उन्हें पथभ्रष्ट करने की चेष्टा करते हैं। उन्हें इस प्रकरण से अच्छी शिक्षा मिल सकती है। श्रीकृष्णचन्द्र भगवान् ने गीता में स्पष्ट कहा है कि आप लोग देवताओं में भावना रखो तो वे देवता आप के शुभ की भावना रखेंगे क्योंकि परस्पर की शुभ भावनाओं से ही परम श्रेय की प्राप्ति होती है—देवान् भावयताऽनेन ते देवा भावयन्तु वः। परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ ॥ ग्रहग्रहणकारण—धात्री तथा माता के अपचार (विरुद्धाचरण) से शौच और मङ्गलाचार हीन, त्रस्त, तर्जित, ताडित तथा हर्षित बालकों में ग्रह स्वपूजा हेतु आविष्ट होते हैं—धात्रीमात्रोः प्राक्प्रदिष्टापचाराच्छौचभ्रष्टान् मङ्गलाचारहीनान्। त्रस्तान् हृष्टांस्तर्जितांस्ताडितान् वा पूजाहेतोर्हिंस्युरेते कुमारान् ॥ (सु.उ.अ. २७) आचार्य वाग्भट ने भी कहा है— ये ग्रह हिंसाकांक्षा, रति (प्रेम) आकांक्षा और अपनी पूजन की

आकांक्षा से बालकों में आविष्ट होते हैं—'हिंसारत्यर्चनाकाङ्क्षा ग्रहग्रहणकारणम्' भगवान् चरक ने भी कहा है कि विरुद्ध, दुष्ट तथा अपवित्र भोजन तथा देव, गुरु तथा द्विजों का अपमान आदि उन्मादादि रोग में हेतु है—विरुद्धदुष्टाशुचिभोजनानि, प्रधर्षणं देवगुरुद्विजानाम्। उन्मादहेतुर्भयहर्षपूर्वो मनोऽभिघातो विषमाश्च चेष्टाः॥

ग्रहोपसृष्टा बालास्तु दुश्चिकित्स्यतमा मताः।
वैकल्यं मरणं चापि ध्रुवं स्कन्दग्रहे मतम् ॥ २१ ॥
स्कन्दग्रहोऽत्युग्रतमः सर्वेष्वेव यतः स्मृतः।
अन्यो वा सर्वरूपस्तु न साध्यो ग्रह उच्यते ॥ २२ ॥
इति सुश्रुतसंहितायामुत्तरतन्त्रान्तर्गते कुमारतन्त्रे ग्रहोत्पत्त्यध्यायो नाम (एकादशोऽध्याय आदितः) सप्तत्रिंशत्तमोऽध्यायः ॥३७॥

साध्यासाध्यता—प्रायः ग्रह से आक्रान्त बालक दुश्चिकित्स्य होते हैं। स्कन्दग्रह के आक्रमण से बच्चे की विकलाङ्गता या मरण निश्चित है। इसी लिये इन उक्त ग्रहों में स्कन्दग्रह सबसे अधिक उग्र कहा गया है। इसके अतिरिक्त अन्य ग्रह भी जब अपने सर्व लक्षणों सहित आक्रान्त होता है तब असाध्य माना जाता है॥ २१-२२॥

इत्यायुर्वेदतत्त्वार्थसन्दीपिकाव्याख्यायां ग्रहोत्पत्त्यध्यायो नाम सप्तत्रिंशत्तमोऽध्यायः ॥ ३७ ॥

अष्टत्रिंशत्तमोऽध्यायः

अथातो योनिव्यापत्प्रतिषेधं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥ २ ॥

अब इसके अनन्तर योनिव्यापत्-प्रतिषेध नामक अध्याय का व्याख्यान करते हैं जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने कहा है॥

विमर्शः—इसके पूर्व कौमारभृत्य विषय समाप्त हो जाता है तथा पूर्व के अध्याय में 'तिर्यग्योनि मानुषञ्च' इस तरह योनि शब्द का संकीर्तन करने से तथा कुमार के जन्म लेते समय यदि योनिमार्ग दूषित हो तो बच्चे में रोग संक्रान्त करने में उसके कारण होने से योनिव्यापचिकित्सा प्रकरण प्रारम्भ करना उचित हो जाता है। योनि शब्द से अपत्यपथ (Vagina or vaginal canal) का बोध होता है तथा इसे शङ्ख नाभिकी आकृति की होना माना गया है—शङ्खनाभ्याकृतिर्योनिस्त्र्यावर्त्ता सा प्रकीर्तिता। तस्यास्तृतीये त्वावर्ते गर्भशय्या प्रतिष्ठिता॥ इसमें तीन आवर्त्त (Folds) होते हैं तथा तीसरे आवर्त्त में गर्भशय्या प्रतिष्ठित है। शङ्ख की नाभि के सदृश कहने का तात्पर्य यह है कि जहां से यह शुरू होती है वहां पर संवृत (Constricted) होती है, मध्य में विवृत (Dialated) और पुनः गर्भाशय के समीप पहुंच कर संकरी (Narrowed) हो जाती है। योनि में जो तीन आवर्त्त बतलाये गये हैं यद्यपि ये योनि की रचना में स्पष्ट नहीं दिखाई देते हैं परन्तु इसके अन्तःस्तर पर कई गोल झुर्रियों के रूप में अवश्य दृष्टिगोचर होते हैं। योनि का स्वरूप नलिकाकृति है जो भग तथा गर्भाशय का संयोजन करती है। योनिसीमा—इसकी पूर्व भित्ति २-३ इञ्च लम्बी तथा ग्रीवा के अधोमध्य तृतीयांश से सम्बन्धित रहती है और पश्चिमभित्ति ३-४ इञ्च लम्बी तथा ग्रीवा से उसके मध्योर्ध्व तृतीयांश के सन्धि स्थल पर मिलती है। योनि का पूर्वभाग मूत्रप्रसेक (Urethra) तथा मूत्राशय (Bladder) के आधार से पूर्व पश्चिम भाग मूलपिण्डिका (Perineal body), मलाशय से सम्बन्धित है। दोनों पार्श्वों में पायुधारिणी (Levator ani) नामक दो पेशियां रहती हैं। रचना की दृष्टि से इसके चार स्तर माने गये हैं—(१) अन्तस्तर (Innermucus coat), (२) उपान्तस्तर (Sub mucus coat), (३) मध्यस्तर (Muscular layer), (४) बहिस्तर (Oute most layer)। (१) अन्तस्तर—इसे कलामयस्तर भी कहते हैं। इसका स्राव लसीका सदृश होता है तथा स्राव की प्रतिक्रिया अम्ल होती है। (२) उपान्तस्तर—यह अन्तस्तर का बाह्य आवरण है तथा सौत्रिक तन्तुओं से बना है इसे हर्षणतन्तु भी कहते हैं। (३) मध्यस्तर—यह स्वतन्त्र पेशीसूत्रों से बना रहता है तथा योनिद्वार के निकट योनिद्वार-संकोचिनी तथा मूत्रद्वारसङ्कोचिनी पेशियों के स्तर इसे दृढ बना देते हैं। (४) बहिस्तर—यह सौत्रिक तन्तुओं से बना है तथा इसमें वात तन्तु (Nerves) और रक्त-प्रणालियां व सिराजाल होते हैं। वास्तव में प्राचीनों ने जो योनि के तृतीय आवर्त में गर्भशय्या का प्रतिष्ठान मान कर उसी का अवयव मान लिया है किन्तु आधुनिकों ने गर्भशय्या (Uterus) को एक आन्तरिक स्वतन्त्र प्रजनन अङ्ग माना है। इसके सिवाय आन्तरिक प्रजनन अङ्गों में बीजवह स्रोत (Fellopian tubes) और बीज ग्रन्थि (Overy) का समावेश हो कर ये आन्तरिक प्रजननाङ्ग चार माने गये हैं। बाह्य प्रजननाङ्ग या जननेन्द्रियां (External genitals) ये संख्या में बारह होते हैं—(१) भगपीठ (Mons pubis), (२) बृहद्भगोष्ठ (Labia majora), (३) लघुभगोष्ठ (Labia minora), (४) भगालिन्द (Vestibule), (५) भगशिश्निका (Clitoris), (६) मूत्रप्रसेकद्वार (External orifice of the urethra), (७) बृहद्भगालिन्दीय ग्रन्थियां (Greater vestibular glands), (८) प्रहर्ष पिण्डिकाएं (Vestibular bulbs), (९) योनिद्वार (Vaginal orifice), (१०) योनिच्छदाकला (Hymen), (११) मूलपीठ (Perineum), (१२) मूलपिण्डिका (Perineal body)।

प्रवृद्धलिङ्गं पुरुषं याऽत्यर्थमुपसेवते।
रूक्षदुर्बलबाला या तस्या वायुः प्रकुप्यति ॥
स दुष्टो योनिमासाद्य योनिरोगाय कल्पते ॥ ३ ॥

योनिरोगनिदान तथा सम्प्राप्ति—जो स्त्री रूक्ष प्रकृति, दुर्बल और बाला (कम आयु वाली) होती हुई प्रवृद्ध (अधिकलम्बे, पुष्ट = दृढ एवं उत्तेजित) लिङ्ग वाले पुरुष के साथ अधिक मात्रा में विषय भोग करती है उसकी वायु प्रकुपित हो जाती है तथा वह प्रकुपित वायु योनि प्रदेश में जा कर अनेक प्रकार के योनि रोग उत्पन्न करती है॥ ३॥

त्रयाणामपि दोषाणां यथास्वं लक्षणेन तु।
विंशतिर्व्यापदो योनेर्निर्दिष्टा रोगसंग्रहे ॥ ४ ॥

दोष-सम्बन्ध तथा रोग संख्या—वातादि तीनों दोषों के उनके अपने-अपने लक्षणों के अनुसार रोग संग्रह में योनि के बीस रोग कहे गये हैं ॥ ४ ॥

मिथ्याऽऽचारेण याः स्त्रीणां प्रदुष्टेनार्त्तवेन च ।
जायन्ते बीजदोषाच्च दैवाच्च शृणु ताः पृथक् ॥ ५ ॥

योनिरोग कारण—जो बीस प्रकार के योनिरोग हैं वे स्त्रियों के मिथ्या आहार तथा विहार के सेवन से आर्त्तव (मासिक-धर्म) की दुष्टि से एवं माता-पिता के आरम्भक बीज-दोष से और दैव (पूर्व जन्मकृत अधर्म = पापाचार) से उत्पन्न होते हैं अब आगे उन बीस प्रकार के रोगों का नाम और लक्षण आदि पृथक्-पृथक् करके कहता हूं उन्हें सुनो ॥ ५ ॥

विमर्शः—तन्त्रान्तर में मिथ्या आहार-विहार के द्वारा दुष्ट हुये वातादि दोषों से आर्त्तव के दूषित होने से, बीज दोष से एवं दैव से भग में रोगों का उत्पन्न होना माना गया है—मिथ्याहारविहाराभ्यां दुष्टैर्दोषैः प्रदूषितात् । आर्त्तवाद् बीजतश्चापि दैवाद्वा स्युर्भगे गदाः ॥

उदावर्त्ता तथा बन्ध्या विप्लुता च परिप्लुता ।
वातला चेति वातोत्थाः, पित्तोत्था रुधिरक्षरा ॥ ६ ॥
वामिनी स्रंसिनी चापि पुत्रघ्नी पित्तला च या ।
अत्यानन्दा च या योनिः कर्णिनी चरणाद्वयम् ॥ ७ ॥
श्लेष्मला च कफाज्ज्ञेया षण्डाख्या फलिनी तथा ।
महती सूचिवक्त्रा च सर्वजेति त्रिदोषजा ॥ ८ ॥

सदोषयोनिरोगनाम—(१) उदावर्त्ता, (२) बन्ध्या, (३) विप्लुता, (४) परिप्लुता और (५) वातला ये पांच योनिरोग वात की दुष्टि से उत्पन्न होते हैं। इसी प्रकार (६) रुधिरक्षरा, (७) वामिनी, (८) स्रंसिनी, (९) पुत्रघ्नी और (१०) पित्तला ये पांच योनि रोग पित्तजन्य होते हैं तथा (११) अत्यानन्दा, (१२) कर्णिनी, (१३) चरणा, (१४) अतिचरणा और (१५) श्लेष्मला ये पांच योनि रोग कफ से उत्पन्न होते हैं। इसी तरह (१६) षण्डी, (१७) फलिनी, (१८) महती, (१९) सूचिवक्त्रा और (२०) सर्वजा ये पांच त्रिदोषजन्य योनिरोग माने गये हैं॥

सफेनिलमुदावर्त्ता रजः कृच्छ्रेण मुञ्चति ॥ ९ ॥
बन्ध्यां नष्टार्त्तवां विद्याद्विप्लुतां नित्यवेदनाम् ।
परिप्लुतायां भवति ग्राम्यधर्मे रुजा भृशम् ॥ १० ॥
वातला कर्कशा स्तब्धा शूलनिस्तोदपीडिता ।
चतसृष्वपि चाद्यासु भवन्त्यनिलवेदनाः ॥ ११ ॥

वातज पञ्चयोनिरोगलक्षण—उदावर्त्ता-जिस योनि से बड़े कष्ट के साथ झागयुक्त रजःस्राव हो उसे उदावर्त्ता कहते हैं। बन्ध्या-जिस योनि से रजःस्राव का होना नष्ट हो गया हो उसे बन्ध्या योनि कहते हैं। विप्लुता-जिस योनि में सदा पीड़ा हुआ करती है उसे विप्लुता योनि कहते हैं। इस प्रकार की योनि में सदा वातजन्य तोदादि पीड़ा होती रहती है। परिप्लुता-मैथुन करने से जिस योनि में अत्यन्त पीड़ा होती है उसे परिप्लुतायोनि कहते हैं। वातलयोनि—जो योनि खरखरी (कठोर या रूक्ष) और कठोर हो तथा जिसमें तीव्रशूल और सूई कोंचने जैसी तीव्र पीड़ा हो उसे वातला योनि कहते हैं। इन पञ्चविध योनिरोगों में आद्य चतुर्विध अर्थात् उदावर्त्ता, बन्ध्या, विप्लुता और परिप्लुता में ये वातजन्य वेदना उग्र रूप की होती हैं ॥ ९-११ ॥

विमर्शः—उदावर्ता–ऊर्ध्वमावर्तः समन्ताद्वर्तनं वायोर्यत्र सोदावर्त्ता, इस प्रकार की योनि में वायु का ऊपर की ओर सञ्चार होता है। चरकाचार्य ने लिखा है कि वातादिप्रकोप से रज योनि से बाहर न निकल कर ऊपर की ओर गमन करता है अतः इसे उदावर्ता कहते हैं और आर्त्तव के नीचे की ओर प्रवृत्त हो कर निकल जाने से उस स्त्री की व्यथा शान्त हो जाती है जिससे उसे सुखानुभव होता है—वेगोदावर्तनाद्योनिमुदावर्तयतेऽनिलः । सा रुगार्ता रजःकृच्छ्रेणोदावृत्तं विमुञ्चति ॥ आर्त्तवे सा विमुक्ते तु तत्क्षणं लभते सुखम् । रजसो गमनादूर्ध्वं ज्ञेयोदावर्तिनी बुधैः ॥ चरक टीकाकार ने इन योनिरोगों को यथादोषानुसार वातिक योनिरोगों को वातिक प्रदर तथा पैत्तिक योनिरोगों को पैत्तिक प्रदर और श्लैष्मिक योनि रोगों को श्लैष्मिक प्रदर तथा सान्निपातिक योनिरोगों को सान्निपातिक प्रदर का रूप माना है। इसी तरह रक्तयोनि की असृग्दरा संज्ञा रखी है। किन्तु अन्य आचार्यों ने योनिव्यापद् रोगों को प्रदर रोग से भिन्न माना है। विप्लुतायोनि के स्थान पर उपप्लुता नाम दिया है तथा उसके विशिष्ट कारण और लक्षण दिये हैं। अर्थात् गर्भिणी स्त्री के कफवर्द्धक पदार्थ सेवन करने से, वमन और श्वास को रोकने से वायु कुपित होकर कफ को योनि में लाकर उसे दूषित कर देता है जिससे वह स्त्री योनि से पीड़ा के साथ पाण्डु या श्वेत वर्ण का स्राव करती है। इसी तरह उसकी योनि कफ और वात दोष से व्याप्त रहती है—गर्भिण्याः श्लेष्मलाभ्यासाच्छर्दि-निःश्वासनिग्रहात् । वायुः क्रुद्धः कफं योनिमुपनीय प्रदूषयेत् ॥ पाण्डुं सतोदमास्रावं श्वेतं स्रवति वा कफम् । कफवातामयव्याप्ता सा स्याद्योनिरुपप्लुता ॥ (च. चि. अ. ३०) परिप्लुता योनि को वात और पित्त प्रकोप से उत्पन्न होना माना है तथा वात पित्त के मिश्र लक्षण लिखे हैं—पित्तलाया नृसंवासे क्षवथूद्गारधारणात् । पित्तसम्मूर्च्छितो वायुर्योनिं दूषयति स्त्रियाः ॥ शूना स्पर्शाक्षमा सार्तिर्नीलपीतमसृक् स्रवेत् । श्रोणिवंक्षणपृष्ठार्तिज्वरार्तायाः परिप्लुता ॥ (च. चि. अ. ३०) चरक में वातजयोनिव्यापद् रोगों का निदान तथा कारणों में भी वैशिष्ट्य है—वातलाहारचेष्टाया वातलायाः समीरणः । विवृद्धो योनिमाश्रित्य योनेस्तोदं सवेदनम् । स्तम्भं पिपीलिकासृप्तिमिव कर्कशतां तथा ॥ करोति सुप्तिमायासं वातजांश्चापरान् गदान् । सा स्यात् सदा सरुक्फेनतनुरूक्षार्तवाऽनिलात् । इसी प्रकार चरकाचार्य ने बन्ध्या के स्थान में अरजस्का (अनार्तवा) योनि लिखा है तथा उसके कारणों में लिखा है कि योनि तथा गर्भाशय में स्थित पित्त प्रकुपित होकर वहां के रक्त को भी दूषित कर देता है उसे अरजस्का योनि कहते हैं तथा इस रोग में स्त्री अत्यन्त कृश और विकृत वर्ण वाली हो जाती है—योनिगर्भाशयस्थं चेत् पित्तं संदूषयेदसृक् । साऽरजस्का मता कार्श्यवैवर्ण्यजननी भृशम् ॥ (च. चि. अ. ३०) इस तरह सुश्रुत ने जिसका आर्त्तव नष्ट हो गया हो उसे बन्ध्या कहा है—'बन्ध्यां नष्टार्तवां विद्यात्' इस का तात्पर्य यह भी हो सकता है कि उसे प्रथम आर्त्तव होता था किन्तु विभिन्न कारणों से वह नष्ट हो जाता है। इसी तरह चरकाचार्य ने भी अरजस्का (अनार्तवा) शब्द लिखा है

जिस का अर्थ ईषद् रजवाली या रजके अभाववाली स्त्री है। आगे षण्डी स्त्री के लक्षण सुश्रुत और चरक दोनों नें लिखे हैं जिस में आर्त्तव और स्तनों का नहीं होना तथा मनुष्यों से सम्भोगादिविषय में द्वेष रखना आदि लक्षण लिखे हैं। अब यहां पर आर्तव के नष्ट होने, अल्प होने या बिल्कुल नहीं होने के कारण तथा बन्ध्या के विषय में पाश्चात्यमत से विचार करते हैं—बन्ध्यात्व को पाश्चात्य चिकित्सा शास्त्र में स्टेरिलिटी (Sterility) कहते हैं। यह दो प्रकार की होती है। (१) Obsolute, (२) Relative. प्रथम प्रकार में गर्भ रहता ही नहीं तथा द्वितीय प्रकार में गर्भ रहता है किन्तु वह पूर्ण न होकर उसका स्राव या पात हो जाया करता है। Causes of obsolute sterility—Ovum का निम्न कारणों से गर्भाधान युक्त या गर्भित (Fertilised) नहीं होना जैसे—(१) शुक्रमें शुक्राणुओं (Spermatozoa) की अनुपस्थिति, (२) किंवा शुक्राणुओं के दुर्बल होने से गर्भाशय तक पहुंचने में असमर्थ रहना, (३) अथवा शुक्राणुओं का रास्ते में ही नष्ट हो जाना, (४) अथवा उनके वहां पहुंचने में यान्त्रिक अवरोध (Mechanical obstruction) होना जैसे कि अपत्यपथ (Vagina) अथवा गर्भाशय-ग्रीवा (Cervix) का अवरुद्ध होना। अथवा गर्भाशय-ग्रीवा या डिम्बवाहिनी (Fallopian tubes) में किसी प्रकार का अवरोध होना। (५) गर्भाशयान्तःस्तर (Endometrium) के ठीक न होने के कारण (६) अथवा किसी उपसर्ग (Infection) के कारण गर्भित डिम्ब (Fertilised ovum) का डेसिडुआ (Decidua) में ठीक-ठीक न बैठ सकना आदि ये सब आपेक्षिक बन्ध्यात्व (Relative sterility) के कारण हैं। स्थानिक विकृतियां (Local Causes)—किसी प्रकार की जन्मजातविकृति जैसे योनि-छिद्राभाव (Imperforated vagina, Hermophrodite,) या अविकसित गर्भाशय (Infentile Uterus), गर्भाशय ग्रीवा (Cervix) का छोटा होना अथवा उसमें छोटा सा बारीक छेद होना तथा गर्भाशय का पश्चाद्-भ्रंश (Backward displacement), अथवा बीजग्रंथि (Ovary) का ठीक विकास न होना, उसमें डिम्बों की अनुपस्थिति अथवा डिम्बवाहिनी (F. tubes) में किसी प्रकार की बीमारी होने से अवरोध होना। Spasmatic byspenimia—संयोग के समय पीड़ा होना इसके अतिरिक्त Lacration, ईरोजिन Cervicitis Chronic metrlois, Fibrids. Perisalpingitis. Antiflexion uterine stenosis. Developmental fals (वृद्धि में गड़बड़ी) Os stenosis. ये सब स्थानिक कारण हो सकते हैं। बनावट के आधार में कमी के कारण (Constitutional cavses)—(१) Depressed constitutional Condition जैसे Morphia Alcohol की आदत, मानसिक रोग (Mentald isease), उपदंश (Siphilis) आदि रोग होना। ठीक २ प्रकार का भोजन न मिलना, प्रोटीन भूयिष्ठ आहार का अभाव उपवास की दुर्बलता से, जिवतिक्ता (Vitamins) का अभाव, थायरोइड और पिट्युट्रीन (Thyroid and Pitatury) की कमी होना। थायरोइड मेटा कोलिज्म पर प्रभाव डालती है तथा पिट्युट्री Ovary पर प्रभाव डालती है। पति की भी परीक्षा करे।

सदाहं क्षरतेऽस्रं यस्यां सा लोहितक्षरा।
सवातमुद्गिरेद्बीजं वामिनी रजसा युतम्॥ १२॥
प्रस्रंसिनी स्रन्दते तु क्षोभिता दुःप्रसूश्च या।
स्थितं स्थितं हन्ति गर्भं पुत्रघ्नी रक्तसंस्रवा॥ १३॥
अत्यर्थं पित्तला योनिर्दाहपाकज्वरान्विता।
चतसृष्वपि चाद्यासु पित्तलिङ्गोच्छ्रयो भवेत्॥ १४॥

पित्तजयोनिरोग लक्षण—जिस योनि से दाहपूर्वक रक्त गिरता है उसे लोहितक्षरा योनि कहते हैं। जो योनि वायु के साथ रज सहित बीज को या रजःकाल में बीज को बाहर निकाल देती है उसे वामिनी कहते हैं। जो योनि मैथुन करने से क्षुभित होकर अपने स्थान से हट जाय तथा मैथुन के समय अधिक स्राव करती हो एवं कठिनाई से बच्चे को पैदा करती हो उसे प्रस्रंसिनी कहते हैं। जो योनि बार-बार स्थित हुये गर्भ को रक्तस्राव के साथ विनष्ट कर दे उसे पुत्रघ्नी कहते हैं। जो योनि अत्यधिक दाह, पाक और ज्वर युक्त होती है उसे पित्तला योनि कहते हैं। इन पांच प्रकार के पित्त जन्य योनिरोगों में आदि की चार अर्थात् रुधिरक्षरा, वामिनी, प्रस्रंसिनी और पुत्रघ्नी योनिरोगों में पित्त के ओष-चोष, दाहादिक लक्षणों की अधिकता होती है॥

विमर्शः—आचार्य चरक ने पित्तदूषित योनि के कारणों में कटु, अम्ल, लवण, क्षार आदि पदार्थों का अत्यधिक सेवन बताया है तथा लक्षणों में हस्त-पाद, मूत्र, योनि व सर्वाङ्ग में दाह, पाक, ज्वर कहा है एवं योनि से नील, पीत, कृष्ण, श्वेत आर्तव का निकलना तथा अत्यन्त उष्ण और मुर्दे की गन्ध सा स्राव निकलना लिखा है— यापत्त्यम्लकटुलवणक्षाराद्यैः पित्तजा भवेत्। दाहपाकज्वरोष्णार्ता नीलपीतासितार्तवा॥ भृशोष्णकुणपस्रावा योनिः स्यात्पित्तदूषिता॥ (च. चि. अ. ३०) चरकाचार्य ने लोहितक्षरा योनि के स्थान में सास्रजा या रक्तयोनि माना है और उसके कारणों में लिखा है कि रक्त और पित्त को कुपित करने वाले पदार्थों के अति सेवन करने से पित्त दूषित होकर रक्त को भी दूषित कर देता है—रक्तपित्तकरैर्नार्या रक्तं पित्तेन दूषितम्। अतिप्रवर्तते योन्यां लब्धे गर्भेऽपि सास्रजा॥ (च. चि. अ. ३०) किसी पुस्तक में 'सास्रजा' के स्थान पर 'साऽप्रजा' ऐसा पाठान्तर है, वह भी ठीक है क्योंकि गर्भधारण हो जाने पर भी रक्त की अधिक प्रवृत्ति (स्रुति) होने से गर्भस्राव होकर वह स्त्री अप्रजा (अगर्भा) हो जाती है। चरकाचार्य के इस सास्रजा या रक्तयोनि के लक्षणों में 'लब्धे गर्भेऽपि' ऐसा लिखने से प्रतीत होता है कि यह गर्भ स्राव की अवस्था है। यद्यपि आगे वामिनी का वर्णन है जो कि ६ या ७ दिन में ही योनि से शुक्र को निकाल देती है तथा पुत्रघ्नी का वर्णन है जो कि स्थित हुये गर्भ को बार-बार नष्ट कर देती है। इस सास्रजा (रक्तयोनि) से रक्तप्रदर ग्रहण नहीं कर सकते क्योंकि चरकाचार्य ने ३० वें अध्याय में रक्तप्रदर रोग स्वतन्त्र ही लिखा है। इसी तरह सुश्रुताचार्य ने भी शारीरस्थान द्वितीय अध्याय में रक्तप्रदर का स्वतन्त्र वर्णन किया है अत एव सुश्रुत को लोहितक्षरा गर्भाशय ग्रीवा के केसर की सूचक है तथा चरक की सास्रजा या रक्तयोनि गर्भस्राव की सूचक है। रक्तप्रदर का बोध इससे नहीं करना

चाहिये क्योंकि दोनों आचार्यों ने रक्तप्रदर का स्वतन्त्र वर्णन किया है। वामिनी—चरकाचार्य ने लिखा है कि संभोग करने के समय शुक्र के गर्भाशय में आर्त्तव के साथ मिलकर अवरुद्ध हो जाने पर भी (शुक्रशोणितयोरवबन्धः) ६ या ७ दिन के पश्चात् वेदनापूर्वक या वेदना रहित उसे जो योनि निकाल देती है उसे वामिनी कहते हैं—षड्रात्रात्सप्तरात्राद्वा शुक्रं गर्भाशयं गतम्। सरुजं नीरुजं वापि या स्रवेत् सा तु वामिनी ॥ 'शुक्रवमनाद्वामिनीत्युच्यते' (च. चि. अ. ३०) प्रस्रंसिनी—यह योनि में उपसर्ग से तथा वहां की ग्रन्थियों के अधिक बढ़ जाने से स्राव की अधिकता हो जाती है। पुत्रघ्नी—चरकाचार्य ने लिखा है कि वातवर्द्धक आहार-विहार करने से तथा रूक्षता से वायु कुपित होकर रक्त को भी दूषित करके या दूषित रक्त के योग से स्थित हुये गर्भ को बार बार नष्ट कर देता है उसे पुत्रघ्नी कहते हैं—रौक्ष्याद्वायुर्यदा गर्भं जातं जातं विनाशयेत्। दुष्टशोणितजं नार्याः पुत्रघ्नी नाम सा स्मृता ॥ प्रायः सिफलिश रोग से आक्रान्त स्त्री को गर्भ रह जाने पर रोग के जीवाणु का प्रभाव आर्तव या बीज पर पड़ता है जिससे प्रथम उस स्त्री के गर्भ ही नहीं रहता है, फिर गर्भ रहने पर भी उसका स्राव (Abortion) हो जाता है, पुनः गर्भ रहने पर उसका पात (Miscariage) हो जाता है, फिर गर्भ रहने पर मृतगर्भ जन्म होता है और फिर गर्भ रहने पर विकृतगर्भ जन्म होता है। आयुर्वेद में चतुर्थमास तक होने वाले गर्भ निर्गमन की संज्ञा गर्भविद्रव या गर्भस्राव की है जिसे Abortion कह सकते हैं तथा स्थिरगर्भ का पञ्चम और षष्ठमास में बाहर निकलने पर उसे गर्भपात (Miscarriage) कहा गया है—आचतुर्थात्ततो मासात्प्रस्रवेद्गर्भविद्रवः। ततः स्थिरशरीरस्य पातः पञ्चमषष्ठयोः ॥ षष्ठ मास के अनन्तर तथा पूर्ण प्रसव काल नवम मास के पूर्व होने वाले गर्भ निर्गमन को अकाल प्रसव या अपक्व प्रसव (Prematur labour) कहते हैं।

अत्यानन्दा न सन्तोषं ग्राम्यधर्मेण गच्छति।
कर्णिन्यां कर्णिका योनौ श्लेष्मासृग्भ्यां प्रजायते ॥ १५ ॥
मैथुनेऽचरणा पूर्वं पुरुषादतिरिच्यते।
बहुशश्चातिचरणादन्या बीजं न विन्दति ॥ १६ ॥
श्लेष्मला पिच्छिला योनिः कण्डूयुक्ताऽतिशीतला।
चतसृष्वपि चाद्यासु श्लेष्मलिङ्गोच्छ्रितिर्भवेत् ॥ १७ ॥

श्लेष्मजन्यपञ्चयोनिरोगलक्षण—(१) अत्यानन्दा योनि में मैथुन करने से स्त्री को कभी सन्तोष (तृप्ति) प्राप्त होता ही नहीं। अर्थात् उसकी सदा मैथुन कराने की इच्छा बनी ही रहती है। (२) कर्णिनी योनि में कफ और रक्त की दुष्टि के कारण कर्णिका अर्थात् मांस की गोली (ग्रन्थि या गांठ) उत्पन्न हो जाती है। (३) अचरणा योनि वाली स्त्री मैथुन के समय पुरुष के स्खलित होने के पूर्व ही वह स्खलित हो जाती है। (४) अतिचरणा योनि वाली स्त्री मैथुन के समय पुरुष के स्खलित होने के पूर्व अनेक बार स्खलित हो जाती है। अथवा जो स्त्री वेश्या के समान अधिक पुरुषों से अनेक बार सम्भोग कराने से पुरुषों के स्खलित होने के पूर्व ही स्खलित हो जाती है उसे अतिचरणा कहते हैं। इन में से अतिचरणा स्त्री बीज (शुक्रस्थ जीव Spermetoza) को या गर्भ को धारण नहीं करती है। (५) श्लेष्मला योनि पिच्छिल (सदा चिपचिपी), कण्डु (खुजली) युक्त तथा अत्यधिक शीतल होती है। इन पांच प्रकार की योनियों में आदि की चार योनियों (अत्यानन्दा, कर्णिनी, अचरणा और अतिचरणा) में कफ के लक्षण (कण्डु, शीतता, चिपचिपापन) अत्यधिक होते हैं ॥१५-१७॥

विमर्शः—चरकाचार्य ने कफजन्य योनि रोगों के कारणों में अभिष्यन्दी पदार्थों के अधिक सेवन से कफ अत्यधिक बढ़ कर योनि को दूषित करना लिखा है तथा लक्षणों में योनि का पिच्छिल होना, शीत होना, कण्डुग्रस्त होना एवं अल्प पीड़ा होना लिखा है एवं वह स्त्री पाण्डुवर्ण वाली एवं पाण्डु तथा पिच्छिल आर्तव (रज) का वह करने वाली लिखा है—कफोऽभिष्यन्दिभिर्वृद्धो योनिं चेद् दूषयेत् स्त्रियाः। स कुर्यात् पिच्छिलां शीतां कण्डुग्रस्ताल्पवेदनाम् ॥ पाण्डुवर्णां तथा पाण्डुपिच्छिलार्तववाहिनीम् ॥ (च० चि० अ० ३०) चरकाचार्य ने अत्यानन्दा का उल्लेख नहीं किया है। कर्णिनी की उत्पत्ति के विषय में लिखा है कि गर्भनिष्क्रमण काल के उपस्थित न होने पर भी उसे निकालने के लिये प्रवाहण करने वाली स्त्री के गर्भ से अवरुद्ध वायु कफ और रक्त से मिश्रित हो कर योनि में कर्णिनी (कर्णिकाकृति ग्रन्थि) उत्पन्न कर देता है—अकाले वाहमानाया गर्भेण पिहितोऽनिलः। कर्णिकां जनयेद्योनौ श्लेष्मरक्तेन मूर्च्छितः ॥ रक्तमार्गावरोधिन्या सा तया कर्णिनी मता ॥ (च० चि० अ० ३०) कर्णिनी रोग गर्भाशय का अर्बुद हो सकता है। अचरणा और अतिचरणा इन दो रोगों के अतिरिक्त एक तीसरा रोग प्राक्चरणा भी लिखा है तथा अचरणा के कारणों में लिखा है कि योनि की शुद्धि न रखने से वहां जन्तु उत्पन्न हो जाते हैं जिनसे योनि में अत्यधिक कण्डू चलती है और उससे स्त्री को अत्यधिक सम्भोग कराने की इच्छा होती है—योन्यामधावनात् कण्डू जाताः कुर्वन्ति जन्तवः। सा स्यादचरणा कण्ड्वा तयाऽतिनरकाङ्क्षिणी ॥ (च० चि० अ० ३०) अतिचरणा-अधिक सम्भोग कराने से वायु कुपित होकर योनि में शोथ, सुप्ति और वेदना करता है उसे अतिचरणा कहते हैं—पवनोऽतिव्यवायेन शोफसुप्तिरुजः स्त्रियाः। करोति कुपितो योनौ सा चातिचरणा मता ॥ 'व्यवायस्यातिचरणेनोपलक्षा व्यापदतिचरणा' (च० चि० अ० ३०) प्राक्चरणा—योग्य सम्भोग काल के पूर्व ही कुसङ्गतिवश अधिक मैथुन करने से वायु कुपित होकर पृष्ठ, कटि, ऊरु और वंक्षण सन्धि में पीड़ा करता हुआ योनि को दूषित कर देता है उसे प्राक्चरणा कहते हैं—मैथुनादतिबालायाः पृष्ठकट्यूरुवंक्षणम्। रुजन् दूषयते योनिं वायुः प्राक्चरणा हि सा ॥ 'उचितव्यवायकालात्प्राक् व्यवायाचरणात् प्राक्चरणा उच्यते' (च० चि० अ० ३०) वात्स्यायन ने कामसूत्र में लिखा है कि पुरुष में प्रथम कामवासना अधिक रहती है पश्चात् उत्तरोत्तर कम होती जाती है किन्तु स्त्रियों में प्रथम कामवासना कम होती है और पश्चात् उत्तरोत्तर बढ़ती जाती है तथा दोनों के मानसिक भाव भी भिन्न-भिन्न होते हैं—

'यथा स्त्रियः कामयन्ते न तु प्रार्थयन्ते' अर्थात् स्त्रियां अपने मन में पुरुष की कामना करती हैं किन्तु प्रणय या विवाह का प्रस्ताव उपस्थित नहीं करती परन्तु पुरुष कामना भी करता है और विवाह का प्रस्ताव भी रखता है ऐसा ही सम्भोग में होता है। प्रायः स्त्रियों की आन्तरिक इच्छा होते हुये भी वे

प्रथम सम्भोग कराने की अनिच्छा या निषेध ही किया करती हैं जैसा कि कहा भी है 'लज्जा चासां चतुर्गुणा' दूसरा यह भी है कि जो पुरुष चिरकाल तक सम्भोग करने की शक्ति रखता है उससे वे अधिक प्रसन्न रहती हैं चाहे वह कुरूप भी हो—'चिरवेगे नायके स्त्रियोऽनुरज्यन्ते। शीघ्रवेगस्य भावमनासाद्यावसानेऽभ्यसूयिन्यो भवन्ति—प्रायः पुरुष को सम्भोग के अन्तमें अर्थात् जब वीर्य स्खलित होने लगता है उस समय अवर्णनीय आनन्दानुभव होता है किन्तु स्त्रियों को निरन्तर सुख प्राप्त होता रहता है। अर्थात् सम्भोग-कालीन लिङ्ग घर्षण से तथा वे अत्यधिक धर्षित होकर प्रस्खलित होती हैं तब भी—सुरतान्ते सुखं पुंसां स्त्रीणान्तु सततं सुखम्। धातुक्षयनिमित्ताच्च विरामश्चोपजायते॥ (वात्स्यायन कामसूत्र)

> अनार्त्तवस्तना षण्डी खरस्पर्शा च मैथुने।
> अतिकायगृहीतायास्तरुण्याः फलिनीभवेत्॥ १८॥
> विवृताऽतिमहायोनिः सूचीवक्त्राऽतिसंवृता।
> सर्वलिङ्गसमुत्थाना सर्वदोषप्रकोपजा॥ १९॥
> चतसृष्वपि चाद्यासु सर्वलिङ्गोच्छ्रितिर्भवेत्।
> पञ्चासाध्या भवन्तीमा योनयः सर्वदोषजाः॥ २०॥

सान्निपातिकपञ्चयोनिरोग लक्षण—(१) षण्डी—योनि में आर्त्तव नहीं होता है तथा स्तन भी उस स्त्री के नहीं होते हैं। इनके सिवाय उस स्त्री के साथ मैथुन करने से लिङ्गेन्द्रिय को कठोर स्पर्श की प्रतीति होती है। (२) फलिनी—अत्यधिक लम्बे चौड़े देह वाले बलवान पुरुष के दीर्घलिङ्ग के साथ छोटी आयु तथा दुर्बल देह वाली स्त्री के मैथुन करने से फलिनी योनि होती है। (३) विवृता—जिस योनि का छिद्र बहुत बड़ा (चौड़ा) हो उसे विवृता या महायोनि कहते हैं। (४) अतिसंवृता—जिस योनि का द्वार सूई के समान छोटा (पतला या संकरा) हो उसे अतिसंवृता योनि कहते हैं। त्रिदोषजयोनि—समस्त प्रकुपित दोषों के द्वारा योनि के दूषित होने पर जिसमें सर्व दोषों के लक्षण मिलते हों उसे त्रिदोषजा कहते हैं। आदि की चार (षण्डी, फलिनी, विवृता और अतिसंवृता) योनियों में तीनों दोषों के लक्षण अत्यधिक मात्रा में रहते हैं। ये तीनों दोषों के प्रकोप से उत्पन्न होने वाली पञ्चविध योनियां असाध्य मानी जाती हैं॥ १८-२०॥

विमर्शः—चरकाचार्य ने बीजदोष से तथा प्रकुपित वायु के कारण गर्भाधान के समय गर्भाशय के नष्ट हो जाने से षण्डीयोनि की उत्पत्ति मानी है और ऐसी स्त्री मनुष्यों से द्वेष करती है तथा उसके स्तन नहीं होते हैं या छोटे होते हैं—बीजदोषात्तु गर्भस्थमारुतोपहताशया। नृद्वेषिण्यस्तनी चैव षण्ढी स्यादनुपक्रमा॥ आर्तवकाल में माता के शुद्धार्तव या बीजार्तव के बीजभाग (Ovum) में स्थित सूक्ष्म गर्भाशय भाग के ऊपर उपदंशादि दूषित रक्त द्वारा विनाशक प्रभाव पड़ता है जिससे उत्पन्न बालिका के प्रजनन अङ्गों (Generative organs) में विकृतियां देखी जाती हैं—'यदा ह्यस्याः शोणिते गर्भाशय बीजभागः प्रदोषमापद्यते तदा वन्ध्यां जनयति'। (च. शा. अ. ४) फलिनी—का चरक में वर्णन नहीं है। भावप्रकाशकार ने इस को अण्डिनी योनि लिखी है तथा लिखा है दीर्घलिङ्गी पुरुष के साथ बाला के सम्भोग करने से उसकी योनि निकल कर अण्डकोष की भांति लटकने लगती है—'महामेढ्रगृहीताया बालायास्त्वण्डिनी भवेत्' (भावप्र. नि. अ. ७०) वास्तव में ऐसी योनि देखने में नहीं आती है किन्तु यह एक प्रकार का योनि या गर्भाशय भ्रंश (Prolaps) रोग हो सकता है। विवृतायोनि—को चरकाचार्य ने महायोनि के नाम से लिखी है एवं कारणों में लिखा है कि जो स्त्री विषमासन से सम्भोग कराती है उसका वात कुपित होकर गर्भाशय तथा योनि के मुखको विस्तृत कर देता है एवं रूक्ष तथा फेनयुक्त रजःस्राव होता है। भग तथा योनिप्रदेश का मांस उत्सन्न (फूला हुआ) रहता है—विषमं दुःखशय्यायां मैथुनात् कुपितोऽनिलः गर्भाशयस्य योन्याश्च मुखं विष्टम्भयेत् स्त्रियाः॥ असंवृतमुखी सार्ती रूक्षफेनास्रवाहिनी। मांसोत्सन्ना महायोनिः पर्वंवंक्षणशूलिनी॥ 'विष्टम्भयेदिति विस्तारयेत्' 'मांसोत्सन्ना उत्सन्नमांसा' (च. चि. अ. ३०) अतिसंवृता—को चरकाचार्य ने सूचीमुखी लिखा है तथा गर्भाधान के समय या पश्चात् माता के वातप्रकोपक आहार-विहार के सेवन करने से जन्म लेने वाली कन्या की योनि सूचीमुखी होती है—गर्भस्थायाः स्त्रिया रौक्ष्याद्वायुर्योनिं प्रदूषयन्। मातृदोषादणुद्वारां कुर्यात् सूचीमुखी तु सा॥ (च. चि. अ. ३०) इनके अतिरिक्त चरकाचार्य ने अन्तर्मुखी योनि और योनिशोष विशिष्ट रोग लिखे हैं। अन्तर्मुखी योनि—अत्यधिक भोजन की हुई स्त्री मिथ्यासन में रह कर सम्भोग कराती है तब वात प्रकुपित होकर योनि के मुख को टेढा कर देता है जिससे योनि के अस्थि और मांसल भागों में असह्य वातजन्य पीडा होती है—व्यवायमतितृप्ताया भजन्त्यास्त्वन्नपीडितः। वायुर्मिथ्यास्थिताङ्गाया योनिस्रोतसि संस्थितः॥ वक्रयत्याननं योन्याः साऽस्थिमांसानिलार्तिभिः। भृशार्तिर्मैथुनाशक्ता योनिरन्तर्मुखी मता॥ (च. चि. अ. ३०) योनिशोष—सम्भोग काल में मल-मूत्रादि के अधारणीय वेगों के धारण करने से वात प्रकुपित होकर विष्ठा और मूत्र का सङ्ग कर देता है तथा योनिमुख का शोष कर देता है—व्यवायकाले रुन्धन्त्या वेगान् प्रकुपितोऽनिलः। कुर्याद्विण्मूत्रसङ्गार्ति शोषं योनिमुखस्य च॥ (च. चि. अ. ३०) इस तरह आयुर्वेद में स्त्रियों की योनि तथा गर्भाशय की रचना और विकृतियां अनेक प्रकार की निर्दिष्ट की गई हैं। इसी आधार से वात्स्यायन कामसूत्र में भी शशादिभेद पुरुषों के तथा स्त्रियों मृगी, वडवा, हस्तिनी आदि भेद किये गये हैं—शशो वृषोऽश्व इति लिङ्गतो नायकविशेषः। नायिका पुनः मृगी वडवा हस्तिनी चेति॥ स्त्रीणां साधनमार्गोऽपि तद्वदेव प्रभिद्यते। आयामपरिणाहाभ्यां मृगादीनां शशादिवत्॥ जिन लक्षणों वाले पुरुष और स्त्रियों का परस्पर उचित सम्मेलन (Fitness) होता हो उन्हीं का परस्पर विवाह होने से मेहनदोषजन्य तथा योनिदोषजन्य रोगों के उत्पन्न होने की सम्भावना नहीं रहती है इसी से स्त्री या पुरुष का बिना लक्षण मिलाये जबर्दस्ती सम्भोग करना मना किया गया है—'न प्रसह्य किञ्चिदाचरेत्' आजकल के पाश्चात्य स्त्री रोग चिकित्सा शास्त्र में निम्न स्त्रीरोग सूचक शब्द प्रयुक्त होते हैं अतः उन रोगबोधक शब्दों का अर्थ तथा उन रोगों का संक्षेप में कारण, लक्षण आदि भी समझ लेना अत्यावश्यक है—१. Leucorrhoea (ल्यूकोरिया=श्वेतप्रदर), २. Dysmenorrhoea (डिसमेनोरिया=कष्टार्त्तव), ३. Menorrhagia (मेनोरेजिया=रक्तप्रदर), ४. Metrorrhagia (मेट्रोरेजिया=

आर्तवादर्शन

- अनार्तव
  - ाभाविक — ावस्था ावस्था
  - वैकारिक — रक्तक्षयादि रोग
- नष्टार्तव
  - स्वाभाविक — सगर्भावस्था प्रसूतावस्था
  - वैकारिक — रक्तक्षय मानसविकार
- आवृतार्तव
  - सहज — व्यङ्गजन्य
  - जन्मोत्तर — शस्त्रकर्म आघातजन्य
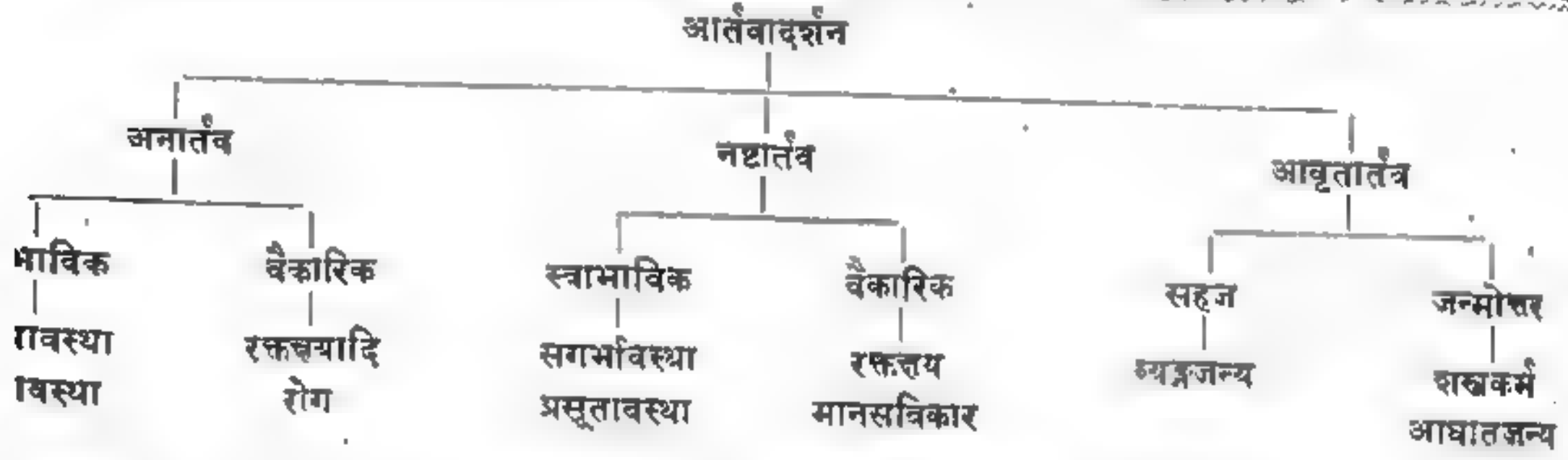
ीणार्तव (Oligomenorrhoea) भी एक पृथक् शब्द है किन्तु यह नष्टार्तव के समान ही है। ये दोनों ाएँ तरतमभेद ही हैं। कुछ ग्रन्थों में (Amenorrhoea) भेद किये गये हैं—(१) मिथ्या नष्टार्तव (Psendo orrhoea)। (२) वास्तविक नष्टार्तव (Actual orrhoea)। प्रथम में स्राव बाहर नहीं निकलता किन्तु ाय के अन्दर ही स्राव होता है। कारण—कुमारीच्छद फटना (Due to congenital or acquired imper- ed hymen)। गर्भाशयग्रीवा और भग (Cervix and a) का बन्द होना या उन में व्रणवस्तु (Scar) के रक्त के बहिर्निर्गमन में रुकावट होती है। द्वितीय— प्रथम स्राव होता है किन्तु बाद में निम्न संस्थानों में ा होने से बन्द हो जाता है। प्रजननसंस्थान—(Gen- e system)—में (१) गर्भाशय तथा बीजग्रन्थि की ्थिति या शस्त्रकर्म द्वारा उनको निकाल देना (२) बीज- की वृद्धि। (३) गर्भाशयान्तःस्तर (Endometrium) द्धि, (४) शोथ, (५) नववृद्धि (New growth), रेडियम के प्रभाव के कारण, (७) गर्भाधान के । रक्तवहसंस्थान (Circulatory system)—(१) रक्त ी के रोग जैसे पाण्डु (Anaemia) (२) (Leuce (३) रक्तस्राव, (४) क्षय, (५) पाइरेक्सिया, आक्षेप। (३) मस्तिष्कसंस्थान (Nervons system)— तुओं पर सहसा प्रभाव डालने वाले रोग या दशा को नष्ट करते हैं, अतः इस प्रकार के नष्टार्तव को ex Amenorrphea) कहते हैं। जैसे सहसा शीत लगा Sudden chil), बर्फ पीना, शीतल जलस्नान आदि। ल बाद यह एमिनोरिया ठीक हो जाता है। अनेक क आघात स्थायी या अस्थायी एमिनोरिया को उत्पन्न ै। (Sympathetic amenorrhoea)—इसमें स्त्री ो गर्भवती समझती है या जिनमें आर्तवविनाश pause) की स्थिति हो जाती है, उनमें यह हुआ । (३) निःस्रोतग्रन्थियाँ (Ductless glands)— प्रजननसंस्थान की वृद्धि में गड़बड़ी होने से मासिकधर्म के ठीक होने पर भी निःस्रोतसग्रन्थियाँ इसके प्रबन्ध ही कर देती हैं जिससे एमिनोरिया उत्पन्न हो जाता) बीजग्रन्थि की अनुपस्थिति या उसके अन्तःस्राव या अभाव से गर्भाशय नहीं बढ़ता है जिससे आर्तव ा है। (२) यदि मासिकधर्म प्रारम्भ होने के बाद थ निकाल दी जाय या उसके कार्य में कमी हो जाय ासिकस्राव को क्रमशः अदृष्ट कर देती है। (४) अव- टुकाग्रन्थि (Thyroid के स्राव की कमी से भी एमिनोरिया उत्पन्न हो जाता है। आर्तवक्षय (Menopause)—यह अवस्था ४० से ५० वर्ष के अन्दर आती है किन्तु प्रायः ४५ से ५० वर्ष के भीतर अधिक होती है। इस दशा में आर्त्तव बिलकुल बन्द हो जाता है तथा गर्भधारण शक्ति का ह्रास हो जाता है। रजःस्राव जल्दी प्रारम्भ होने से मेनोपाज भी जल्दी होता है। कारण—(Ovary) की क्रिया के कम होने से तथा निःस्रोतस ग्रन्थियों के अन्तःस्राव में परिवर्तन होने से यह होता है। बीजग्रन्थि के निकालने से या अन्य रोगों के कारण भी हो जाता है। डिम्बप्रणाली, गर्भाशय, भग का घातक अर्बुद, ट्यूब में उपसर्ग, (Tubal pregnancy), ओवरी तथा वेजाईना के अर्बुद और कष्टार्तव के कारण भी मेनोपाज होता है। यद्यपि यह खराब नहीं है किन्तु इस काल या मेनोपाज के समय में बहुत व वातिक लक्षण (Nervous and mental symptoms) हो जाते हैं जो कुछ समय तक रहते हैं। बीज- ग्रन्थि को अत्यन्त आवश्यकता होने पर ही निकालना चाहिये। मेनोपाज में पहले धीरे-धीरे स्राव बन्द होता है और क्रमशः कम होकर बन्द हो जाता है। वासोमोटर में विकार उत्पन्न होता है और स्वेद निकलता रहता है। (Nervousness तथा Mental irritability) भी कभी हो जाया करती है। किसी-किसी स्त्री में (Mental symptoms) बहुत बढ़ जाते हैं और उसकी पागलों जैसी हालत हो जाती है। प्रजनन अङ्गों में निम्न परिवर्तन हो जाते हैं—लेबिया की वसा गायब हो जाती है। वेजाइना की श्लेष्मल कला सिकुड़ जाती है। सर्विक्स और यूटेरस की बोडी कम हो जाती है। डिम्बवाहिनी (F. T.) के फोल्ड और फिम्ब्रिया अदृष्ट हो जाते हैं। स्तन-ग्रन्थियों में भी क्षीणता (Atrophy) हो जाती है। जिससे स्तन छोटे हो जाते हैं। शरीर में सब जगह वसा जमा हो जाती है। इस समय यदि अनियमित रक्तस्राव हो तो उसे (Menopause) की असाधारणदशा (Abnormal condition) समझनी चाहिये। यह मामूली और क्षणिक भी हो सकती है।

प्रतिदोषन्तु साध्यासु स्नेहादिक्रम इष्यते ।
दद्यादुत्तरबस्तींश्च विशेषेण यथोदितान् ॥ २१ ॥

वातजयोनिरोगचिकित्सा—साध्य योनिरोगों में प्रत्येक दोष के अनुसार जो स्नेहादिक्रम शास्त्र में निर्दिष्ट है वह किया जाता है। वातादिभेद से कही हुई उत्तरबस्तियों का विशेष रूप से प्रयोग करना चाहिये ॥ २१ ॥

विमर्शः—भावप्रकाशकार ने लिखा है कि आदि की उम्र

वातिक योनियों में स्नेहादिक्रम किया जाता है जैसे वस्ति, अभ्यङ्ग, परिषेक, प्रलेप और पिचुधारण भी कराना चाहिये— तासु योनिषु चाद्यासु स्नेहादिक्रम इष्यते। वस्त्यभ्यङ्गपरीषेकप्रलेपपिचुधारणम् ॥ चरकाचार्य ने भी लिखा है कि वातजयोनिरोगों में स्नेहन, स्वेदन और वस्ति आदि का प्रयोग करना चाहिये—स्नेहनस्वेदबस्त्यादि वातजास्वनिलापहम् ॥

(च. चि. अ. ३०)

कर्कशां शीतलां स्तब्धामल्पस्पर्शाञ्च मैथुने ।
कुम्भीस्वेदैरुपचरेत सानूपौदकसंयुतैः ॥ २२ ॥

कर्कश, शीतल, कठिन और मैथुन को सहन न करने वाली योनि में आनूप मांस तथा औदक (जलचर) जीवों के मांस के साथ कुम्भीस्वेद करना चाहिये ॥ २२ ॥

विमर्शः—कुम्भीस्वेदनप्रकार—आनूप और जलीय जीवों के मांस तथा वातघ्न द्रव्यों के क्काथ को एक कुम्भ (मिट्टी के घड़े) में भर कर उसे भूमि में गाड़ कर उसके ऊपर तृणा की शय्या रख कर स्त्री को औंधी सुला देवे फिर अग्नि में सन्तप्त किये हुये लोहे तथा पत्थर के टुकड़े क्काथ में डालें, इससे बाष्प निकलने लगेगा उससे योनि का स्वेदन करना चाहिये ऐसा डल्हणाचार्य ने कुम्भीस्वेदन का प्रकार लिखा है। चरकाचार्य ने भी लिखा है कि—मृदुभिः पञ्चभिर्नारीं स्निग्धस्विन्नामुपाचरेत्। सर्वतः सुविशुद्धायाः शेषं कर्म विधीयते ॥ वातव्याधिहरं कर्म वातार्तानां सदा हितम् । औदकानूपजैर्मांसैः क्षीरैः सतिलतण्डुलैः ॥ सवातघ्नौषधैर्नाडीकुम्भीस्वेदैरुपाचरेत् । भक्तां लवणतैलेन साश्मप्रस्तरशङ्करैः । स्विन्नां कोष्णाम्बुसिक्ताङ्गीं वातघ्नैर्भोजयेद्रसैः ।

मधुरौषधसंयुक्तान् वेशवारांश्च योनिषु ।
निक्षिपेद्धारयेच्चापि पिचुतैलमतन्द्रितः ॥
धावनानि च पथ्यानि कुर्वीतापूरणानि च ॥ २३ ॥

अन्योपचार—काकोल्यादिगण की मधुर ओषधियों के साथ कुट्टित मांस (वेशवार) योनि में रखना चाहिये इसके अतिरिक्त अतंद्रित (आलस्यरहित) होकर पिचुतैल (तैल का फोया) योनि में रखना और उसे धारण करना चाहिये एवं वातघ्न ओषधियों से साधित क्काथादि के द्वारा योनि का धावन (प्रक्षालन) और आपूरण करना चाहिये ॥ २३ ॥

ओषचोषान्वितासूक्तं कुर्याच्छीतं विधिं भिषक् ॥२४॥

पित्तजयोनिरोगचिकित्सा—ओष तथा चोष (जलन और दाह) युक्त योनिरोगों में वैद्य शीत (रक्तपित्तनाशक) चिकित्सा करे ॥ २४ ॥

विमर्श—चरकाचार्य ने भी लिखा है कि रक्तपित्तनाशक चिकित्सा करें—'कारयेद्रक्तपित्तघ्नं शीतं पित्तकृतासु च ।'

(च. चि. अ. ३०)

दुर्गन्धां पिच्छिलां चापि चूर्णैः पञ्चकषायजैः ।
पूरयेद्राजवृक्षादिकषायैश्चापि धावनम् ॥ २५ ॥

दुर्गन्धित तथा पिच्छिलयोनि में बड़, पीपल, गूलर, पारिस आदि पञ्चक्षीरी वृक्षों के छाल का चूर्ण भर देवें तथा राजवृक्षादि (आरग्वधादि) गण की ओषधियों के छाल के कषाय से योनि का प्रक्षालन करना चाहिए ॥ २५ ॥

योन्यान्तु पूयस्राविण्यां शोधनद्रव्यसम्भृतैः ।
सगोमूत्रैः सलवणैः शोधनं हितमिष्यते ॥ २६ ॥

पूयस्राावियोनि में मिश्रक अध्याय में कहे हुए शोधक औषधद्रव्यों के कषाय में गोमूत्र तथा लवण मिलाकर शोधन करना हितकारक होता है ॥ २६ ॥

बृहतीफलकल्कस्य द्विहरिद्रायुतस्य च ।
कण्डूमतीमल्पस्पर्शां पूरयेद् धूपयेत्तथा ॥ २७ ॥

कफजयोनिरोगचिकित्सा—कण्डुयुक्त तथा स्पर्श करने से वेदना होने वाली योनि में बड़ी कण्टकारी के फलों का चूर्ण तथा हरिद्रा और दारुहरिद्रा के चूर्ण के द्वारा पूरण तथा इन्हीं चूर्णों के द्वारा धूनी देनी चाहिये ॥ २७ ॥

विमर्शः—चरकाचार्य ने श्लेष्मजन्य योनिरोगों में रूक्ष तथा उष्णप्रकृतिक द्रव्यों के क्काथ द्वारा प्रक्षालन, पूरण और धूपन आदि कर्म करना लिखा है—'श्लेष्मजासु च रूक्षोष्णं कर्म कुर्याद्विचक्षणः' (च० चि० अ० ३०)।

वर्तिं प्रदद्यात् कर्णिन्यां शोधनद्रव्यसम्भृताम् ।
प्रस्रंसिनीं घृताभ्यक्तां क्षीरस्विन्नां प्रवेशयेत् ॥ २८ ॥
पिधाय वेशवारेण ततो बन्धं समाचरेत् ॥ २९ ॥

कर्णिनीयोनि—में मिश्रकाध्यायोक्त शोधन द्रव्यों से बनाई हुई वर्ति रखनी चाहिए। इसी प्रकार प्रस्रंसिनी (स्थानभ्रष्ट) योनि को घृत से अभ्यक्त कर दुग्ध से स्वेदित करके अन्दर की ओर प्रविष्ट कर (बैठा) देनी चाहिए फिर योनि बाहर से कुट्टित मांस (वेशवार) द्वारा ढक कर पट्टबन्ध कर देना चाहिए ॥ २८-२९ ॥

प्रतिदोषं विदध्याच्च सुरारिष्टासवान् भिषक् ।
प्रातः प्रातर्निषेवेत रसोनादुद्धृतं रसम् ॥
क्षीरमांसरसप्रायमाहारं विदधीत च ॥ ३० ॥

श्लेष्मजन्य अथवा सर्व प्रकार के योनिरोगों में दोषों के अनुसार सुरा, अरिष्ट और आसवों का प्रयोग करना चाहिए तथा सदा प्रातःकाल लहसुन से निकाले हुये स्वरस का पान करना चाहिये। पथ्य में दुग्ध तथा मांसरस के साथ भोजन करना चाहिए ॥ ३० ॥

शुक्रार्त्तवादयो दोषाः स्तनरोगाश्च कीर्तिताः ।
क्लैब्यस्थानानि मूढस्य गर्भस्य विधिरेव च ॥ ३१ ॥
गर्भिणीप्रतिरोगेषु चिकित्सा चाप्युदाहृता ।
सर्वथा तौ प्रयुञ्जीत योनिव्यापत्सु बुद्धिमान् ।
अपप्रजातारोगांश्च चिकित्सेदुत्तराद्भिषक् ॥ ३२ ॥

इति सुश्रुतसंहितायामुत्तरतन्त्रान्तर्गते कुमारतन्त्रे योनिव्यापत्प्रतिषेधो नाम (द्वादशोऽध्यायः, आदितः) अष्टत्रिंशोऽध्यायः ॥ ३८ ॥

कौमारभृत्योपसंहार—शुक्रशोणित-शुद्धिशारीर अध्याय में पुरुष के शुक्रदोष तथा स्त्री के आर्तवदोष और विसर्पवाडी-स्तनरोग निदानाध्याय में स्तनरोगों का वर्णन कर दिया गया है इसी प्रकार क्षीणबलीयवाजीकरणप्रकरण में क्लैव्य के कारण

रेवतीग्रहाविष्ट लक्षण—मुख का लाल होना, हरे दस्त लगना, शरीर का वर्ण पाण्डु हो जाना या श्याव (काला) हो जाना तथा ज्वर, मुखपाक और वेदना से पीड़ित होना, ये रेवतीग्रह से पीड़ित बच्चे के लक्षण हैं तथा वह बालक निरन्तर अपने कर्ण और नासा को मसलता रहता है ॥ ११ ॥

विमर्शः—वाग्भटाचार्य ने रेवतीग्रह में उक्त लक्षणों के अतिरिक्त कास, हिक्का, नेत्रचालन, वस्तगन्ध की प्रतीति ये अधिक लक्षण लिखे हैं—रेवत्यां श्यावनीलत्वं कर्णनासाक्षिमर्दनम् । कासहिध्माक्षिविक्षेपवक्त्रवक्रत्वरक्तताः ॥ बस्तगन्धो ज्वरः शोषः पुरीषं हरितं द्रवम् । जायते शुष्करेवत्यां क्रमात् सर्वाङ्गसंक्षयः ॥ (अ. हृ. उ. अ. ३)

स्रस्ताङ्गः स्वपिति सुखं दिवा न रात्रौ
विड्भिन्नं सृजति च काकतुल्यगन्धिः ।
छर्द्योऽऽर्तो हृषिततनूरुहः कुमार-
स्तृष्णालुर्भवति च पूतनागृहीतः ॥ १२ ॥

पूतनाविष्ट लक्षण—पूतनाग्रह से पीडित बालक के अङ्ग प्रत्यङ्ग ढीले हो जाते हैं तथा वह दिन में सुखपूर्वक सोता है किन्तु रात्रि में नहीं सोता । पतली दस्तें आती हैं । दस्त से या उस बच्चे की देह से कौवे के समान गन्ध आती है। बच्चा वमन से दुःखी होता है तथा उसके शरीर के बाल हर्षित (रोमाञ्चयुक्त) होते हैं और वह बच्चा बार बार पानी पीता है ॥ १२ ॥

विमर्शः—योगरत्नाकरोक्त लक्षण—अतीसारो ज्वरस्तृष्णा तिर्यक्प्रेक्षणरोदनम् । नष्टनिद्रस्तथोद्विग्नो ग्रस्तः पूतनया शिशुः ॥ वाग्भटोक्त लक्षण—पूतनायां वमिः कम्पस्तन्द्रा रात्रौ प्रजागरः । हिध्माध्मानं शकृद्भेदः पिपासा मूत्रनिग्रहः ॥ स्रस्तहृष्टाङ्गरोमत्वं काकवत्पूतिगन्धिता ॥

यो द्वेष्टि स्तनमतिसारकासहिक्का-
छर्दीभिर्ज्वरसहिताभिरर्द्यमानः ।
दुर्वर्णः सततमधः शयोऽम्लगन्धि-
स्तं ब्रूयुर्भिषज इहान्धपूतनार्त्तम् ॥ १३ ॥

अन्धपूतनाविष्ट लक्षण—इस ग्रह से ग्रस्त बालक स्तन से द्वेष करता है तथा वह अतिसार, कास, हिक्का, वमन और ज्वर से पीडित होता है, उसके शरीर का रङ्ग खराब हो जाता है एवं सदा उलटा (नीचे) मुख करके सोता है और उसके शरीर से खट्टी गन्ध आती है। वैद्य लोग इन लक्षणों से युक्त बच्चे को अन्धपूतनाविष्ट कहते हैं ॥ १३ ॥

विमर्शः—योगरत्नाकर में अन्धपूतना के गन्धपूतना नाम से लक्षण लिखे हैं—छर्दिः कासो ज्वरस्तृष्णा वसागन्धोऽतिरोदनम् । स्तन्यद्वेषोऽतिसारश्च गन्धपूतनया भवेत् ॥

उद्विग्नो भृशमतिवेपते प्ररुद्यात्
संलीनः स्वपिति च यस्य चान्त्रकूजः ।
विस्राङ्गो भृशमतिसार्यते च यस्तं
जानीयाद्भिषगिह शीतपूतनार्त्तम् ॥ १४ ॥

शीतपूतनाविष्टलक्षण—शीतपूतना से ग्रस्त बालक अत्यन्त बेचैन हो के कांपता है तथा रोता है तथा कुछ देर बाद बिछौने पर सलीन हो (लिपट) के सो जाता है तथा उसके आन्त्र में कूजन होता रहता है। उसके अङ्ग से अत्यन्त सड़ी गन्ध आती है तथा पतली दस्तें आती हैं। वैद्य इन लक्षणों से बच्चे को शीतपूतनाविष्ट जाने ॥ १४ ॥

विमर्शः—योगरत्नाकरोक्त लक्षण—वेपते कासते क्षीणो नेत्ररोगी विगन्धिता । छर्द्यतीसारयुक्तश्च शीतपूतनया शिशुः ॥ वाग्भटोक्त लक्षण—शीतपूतनया कम्पो रोदनं तिर्यगीक्षणम् । तृष्णान्त्रकूजोऽतीसारो वसावद्विस्रगन्धता ॥ पार्श्वस्यैकस्य शीतत्वमुष्णत्वमपरस्य च ॥

म्लानाङ्गः सुरुचिरपाणिपादवक्त्रो
बह्वाशी कलुषसिरावृतोदरो यः ।
सोद्वेगो भवति च मूत्रतुल्यगन्धिः
स ज्ञेयः शिशुरिह वक्त्रमण्डिकाऽऽर्त्तः ॥ १५ ॥

मुखमण्डिकाविष्टलक्षण—इस ग्रह से ग्रस्त बालक का शरीर म्लान (मुर्झाया हुआ) रहता है तथा उसके हाथ, पैर और मुख सुन्दर दिखाई देते हैं, वह बहुत खाता है तथा उसका उदर काले या नीले वर्ण की सिराओं से व्याप्त होता एवं सदा उद्विग्न (बेचैन) रहता है। उसके शरीर से मूत्र की सी गन्ध आती है। इन लक्षणों से युक्त बालक को मुखमण्डिका से ग्रस्त जानना चाहिये ॥ १५ ॥

विमर्शः—योगरत्नाकरोक्त लक्षण—प्रसन्नवर्णवदनः सिराभिरभिसंवृतः । मूत्रगन्धिश्च बह्वाशी मुखमण्डिनिकाग्रहे ॥

यः फेनं वमति विनम्यते च मध्ये
सोद्वेगं विलपति चोर्ध्वमीक्षमाणः ।
ज्वर्य्येत प्रततमथो वसासगन्धि-
र्निःसंज्ञो भवति हि नैगमेषजुष्टः ॥ १६ ॥

नैगमेषग्रहाविष्ट लक्षण—जो बालक मुख से झाग गिराता हो तथा शरीर के मध्यभाग में मुड़ा हुआ सा प्रतीत होता हो तथा ऊपर को देखता हुआ बेचैन हो रुदन करता हो तथा सदा ज्वर से आक्रान्त रहता हो और उसके शरीर से वसा के समान गन्ध आती हो एवं कभी कभी बेहोश भी हो जाता हो उसे नैगमेषग्रह से आविष्ट समझना चाहिये ॥ १६ ॥

विमर्शः—योगरत्नाकरोक्त लक्षण—छर्दिः स्पन्दनकण्ठास्यशोषो मूर्च्छा विगन्धिता । ऊर्ध्वं पश्येद्दशेद्दन्तान्नैगमेषग्रहं वदेत् ॥ वाग्भटोक्त लक्षण—आध्मानं पाणिपादास्यस्पन्दनं फेननिर्गमः । तृण्मुष्टिबन्धातीसारस्वरदैन्यविवर्णताः ॥ कूजनं सततं छर्दिः कासहिध्माप्रजागराः । ओष्ठदंशाङ्गसङ्कोचस्तम्भबस्तामगन्धताः ॥ ऊर्ध्वं निरीक्ष्य हसनं मध्ये विनमनं ज्वरः । मूर्च्छैकनेत्रशोफश्च नैगमेषग्रहाकृतिः ॥ इस तरह वाग्भट ने नैगमेषग्रह के उक्त विशिष्ट लक्षण लिखे हैं तथा वाग्भट ने श्वग्रह, पितृग्रह, शुष्करेवती ऐसे तीन ग्रह अधिक माने हैं। श्वग्रह लक्षण—कम्पो हृषितरोमत्वं स्वेदश्चक्षुर्निमीलनम् । बहिरायामनं जिह्वादंशोऽन्तःकण्ठकूजनम् ॥ धावनं विट्सगन्धत्वं क्रोशनं श्वानवच्छुनि ॥ अर्थात् कम्प, रोमहर्ष, स्वेदातिप्रवृत्ति, नेत्रनिमीलन, बहिरायाम, जिह्वादंशन, कण्ठकूजन, दौड़ना, मलगन्धता तथा कुत्ते की भांति चिल्लाना ये लक्षण होते हैं। पितृग्रहलक्षण—रोमहर्षो मुहुस्त्रासः सहसा रोदनं ज्वरः । कासातिसारवमथुजृम्भाशवगन्धताः ।

मुष्टिबन्धः स्रुतिश्चाक्ष्णोर्बालस्य स्युः पितृग्रहे ॥. अर्थात्—रोमहर्ष, बार बार भयभीत हो के सहसा रोने लगना, ज्वर, कास, अतीसार, वमन, जृम्भा, तृष्णा, शवगन्धता, मुष्टि बांधना और नेत्रस्राव ये लक्षण होते हैं। शुष्करेवती लक्षण—जायते शुष्करेवत्यां क्रमात्सर्वाङ्गसंक्षयः। अर्थात् शुष्क रेवतीग्रह से आक्रान्त होने पर बच्चे के क्रमशः सर्व शरीर का क्षय होने लग जाता है। श्वग्रह को कुकुरकास (Wooping cough) या अपतानक (Tetanus) या जलसंत्रास (Hydrophobia) तथा पितृग्रह को विसूचिकाजन्य जलाभाव (Dehydration due to Cholera या हिस्टेरिया तथा शुष्करेवती ग्रह को Marasmus या धातुक्षय (Wiasting) कह सकते हैं।

प्रस्तब्धो यः स्तनद्वेषी मुह्यते चाविशन्मुहुः।
तं बालमचिराद्धन्ति ग्रहः सम्पूर्णलक्षणः ॥ १७ ॥

असाध्यग्रहाविष्ट लक्षण—जो बालक अत्यधिक स्तब्ध (जड़ीभूत) अङ्गों वाला, स्तन तथा उसके पान में द्वेष रखने वाला और बार बार ग्रहावेश के कारण मूर्च्छित हो जाता हो ऐसे बालक को वह ग्रह सम्पूर्ण लक्षणों से युक्त होकर शीघ्र ही मार डालता है ॥ १७ ॥

विपरीतमतः साध्यं चिकित्सेदचिरार्दितम् ॥ १८ ॥

साध्यग्रहाविष्ट लक्षण—उक्त लक्षणों से विपरीत लक्षणों वाला अर्थात् अपूर्णलक्षणी तथा नूतन (तात्कालिक) ग्रहावेशयुक्त बालक साध्य होता है अत एव उसकी शीघ्र उचित चिकित्सा करनी चाहिये ॥ १८ ॥

गृहे पुराणहविषाऽभ्यज्य बालं शुचौ शुचिः।
सर्षपान् प्रकिरेत्तेषां तैलैर्दीपञ्च कारयेत् ॥
सदा सन्निहितश्चापि जुहुयाद्धव्यवाहनम् ॥ १९ ॥
सर्वगन्धौषधीबीजैर्गन्धमाल्यैरलङ्कृतम्।
अग्नये कृत्तिकाभ्यश्च स्वाहा स्वाहेति सन्ततम् ॥२०॥

ग्रहाविष्टबालचिकित्साप्रकार—सर्वप्रथम वैद्य स्नान-सन्ध्यादिकर्म से पवित्र होकर पवित्र गृह में बच्चे को ले जाकर पुराण घृत से उसके शरीर पर अभ्यङ्ग कर के उसके चारों ओर सर्षप को बिखेर देनी (छिड़कनी) चाहिये तथा उसके पास सरसों के तैल का दीपक भी कर देवे। इसके अनन्तर उसी के पास बैठकर अग्नि में सर्वगन्धौषधि बीजों (एलादिगणपठित ओषधियों से, तिल, गेहूं, उड़द आदि से, सुगन्ध-चन्दन, राल आदि) से हवन करना चाहिये। हवन करने के पूर्व बच्चे को स्नान करा के सुगन्ध (चन्दन, कर्पूर, कस्तूरी) का लेप देह पर लगा के माला तथा अच्छे वस्त्र और आभूषणों से अलंकृत कर देना चाहिये। फिर निरन्तर अग्नि और कृत्तिका के लिये अग्नये स्वाहा कृत्तिकाभ्यः स्वाहा ऐसा मन्त्रोच्चारण करते हुये अग्नि में आहुतियाँ देनी चाहिये ॥ १९-२० ॥

विमर्शः—सर्वगन्धद्रव्यों में दालचीनी, इलायची, तेजपात, नागकेशर, कर्पूर, कक्कोल, अगुरु, केशर और लवङ्ग इनका समावेश है। चातुर्जातककर्पूरकक्कोलागुरुकुङ्कुमम्। लवङ्गसहितश्चैव सर्वगन्धं विनिर्दिशेत् ॥ ओषधिबीज शब्द से यव, धान्य (चावल) और तिल आदि समझने चाहिये क्योंकि फल पकने पर नष्ट होने वाली ओषधि कहलाती हैं—'ओषध्यः फलपाकान्ताः' याज्ञिकों ने हवनार्थं यवादिकों को निम्न प्रमाण में लेना लिखा है—यवार्धं तण्डुलाः प्रोक्तास्तण्डुलार्धं तिलाः स्मृताः। तिलार्धं शर्करा प्रोक्ता आज्यं भागचतुष्टयम् ॥

नमः स्कन्दाय देवाय ग्रहाधिपतये नमः।
शिरसा त्वाऽभिवन्देऽहं प्रतिगृह्णीष्व मे बलिम्।
नीरुजो निर्विकारश्च शिशुर्मे जायतां द्रुतम् ॥ २१ ॥

इति सुश्रुतसंहितायामुत्तरतन्त्रान्तर्गते कुमारतन्त्रे नवग्रहाकृतिविज्ञानीयो नाम (प्रथमोऽध्यायः, आदितः) सप्तविंशोऽध्यायः ॥ २७ ॥

स्तवन प्रकार—ग्रहों के अधिपति (स्वामी) स्कन्ददेव को मेरा नमस्कार है। हे स्कन्ददेव मैं आपको सिर झुका के नमस्कार करता हूँ। आप मेरे द्वारा दी जाने वाली बलि को स्वीकार कीजिये तथा उक्त हवन और बलिदान के प्रभाव से शीघ्र ही मेरा बच्चा वेदना तथा रोग से रहित हो जाय ॥ २१ ॥

इत्यायुर्वेदतत्त्वार्थसन्दीपिकाभाषाटीकायामुत्तरतन्त्रे नवग्रहाकृतिविज्ञानीयो नाम सप्तविंशोऽध्यायः ॥ २७ ॥

अष्टाविंशतितमोऽध्यायः

अथातः स्कन्दग्रहप्रतिषेधं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥ २ ॥

अब इसके अनन्तर स्कन्दग्रह-प्रतिषेध नामक अध्याय की व्याख्या प्रारम्भ करते हैं जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने कहा है ॥ १-२ ॥

स्कन्दग्रहोपसृष्टानां कुमाराणां प्रशस्यते।
वातघ्नद्रुमपत्राणां निष्क्वाथः परिषेचने ॥ ३ ॥

परिषेचन—स्कन्दग्रहोपसृष्ट बच्चों के लिये वातनाशक जैसे एरण्डपत्र, बिल्वपत्र या रास्नापत्र के क्वाथ के द्वारा परिषेचन करना प्रशस्त है ॥ ३ ॥

तेषां मूलेषु सिद्धञ्च तैलमभ्यञ्जने हितम्।
सर्वगन्धसुरामण्डकैडर्यावापमिष्यते ॥ ४ ॥

अभ्यङ्ग—वातनाशक उक्त एरण्ड, बिल्व, रास्नादि के मूल, बृहत्पञ्चमूल की जड़ों के क्वाथ में सर्वगन्ध (एलादिगण या चातुर्जातकादि) द्रव्यों के कल्क तथा सुरा, मण्ड और महानिम्ब (कैडर्य) का कल्क या क्वाथ मिला के सिद्ध किये हुये तैल का अभ्यङ्ग हितकारक होता है ॥ ४ ॥

विमर्शः—बृहत्पञ्चमूल—'बिल्वश्योनाकगम्भारीपाटलागणिकारिकाः' सर्वगन्धद्रव्य—(१) एलादिगण—एलातगरकुष्ठमांसीदध्यामकत्वक्पत्रनागपुष्पप्रियङ्गुहरेणुकाव्याघ्रनखशुक्तिचण्डास्थौणेयकश्रीवेष्टकचोचचोरकवालुकगुग्गुलुसर्जरसतुरुष्ककुन्दुरुकागुरुस्पृक्कोशीरभद्रदारुकुङ्कुमानि पुन्नागकेसरञ्चेति। (२) सुरा—'परिपक्वान्नसन्धानसमुत्पन्नां सुरां जगुः'। (३) मण्डः—सिक्थकै रहितो मण्डः पेया सिक्थसमन्विता।

और (३) त्वग्विस्फोट। इस रोग का समावेश मुखपाक (Stomatitis), तृणाणुजन्य अतिसार (Bacillary dysentery) संग्रहग्रहणी (Sprue) तथा त्वग्ग्रह (pellagra) इनमें से किसी एक में हो सकता है।

शकुन्यभिपरीतस्य कार्य्यो वैद्येन जानता।
वेतसाम्रकपित्थानां निष्क्वाथः परिषेचने ॥ ३ ॥

परिषेचन—शकुनिग्रह-पीड़ित बच्चे का वेतस, आम्रपत्र और कपित्थपत्र के क्वाथ से परिषेचन करना चाहिए ॥ ३ ॥

कषायमधुरैस्तैलं कार्य्यमभ्यञ्जने शिशोः ॥ ४ ॥

अभ्यञ्जन—न्यग्रोधादिक कषायरसप्रधान द्रव्यों के क्वाथ और काकोल्यादिक मधुररसप्रधान द्रव्यों के कल्क में संस्कृत किये हुये तैल का शरीर पर अभ्यङ्ग करना चाहिए ॥ ४ ॥

मधुकोशीरह्रीबेरसारिवोत्पलपद्मकैः।
रोध्रप्रियङ्गुमञ्जिष्ठागैरिकैः प्रदिहेच्छिशुम् ॥ ५ ॥

प्रदेह—इसी प्रकार मुलेठी, खस, नेत्रवाला, सारिवा, कमल, पद्माख, रोध्र, प्रियङ्गु, मजीठ और गैरिक इनके चूर्ण को पानी के साथ पीसकर बच्चे के शरीर पर लेप करना चाहिये ॥

व्रणोक्तानि चूर्णानि पथ्यानि विविधानि च ॥ ६ ॥

व्रणोपचार—शकुनिग्रहजुष्ट बालक के चर्म पर विस्फोट हो जाते हैं उन व्रणों पर द्विव्रणीय अध्याय अथवा मिश्रक अध्याय में कहे हुये शोधन तथा रोपक चूर्णों का प्रतिसारण करना चाहिये। इसी प्रकार व्रणितोपासनीय अध्याय में कहे हुये शालि, मुद्ग, दाडिम और सैन्धव लवण आदि द्रव्य पथ्य में प्रयुक्त करने चाहिये ॥ ६ ॥

स्कन्दग्रहे धूपनानि तानीहापि प्रयोजयेत् ॥ ७ ॥

धूपन—स्कन्दग्रह की चिकित्सा में जो धूपन पदार्थ जैसे सर्षप, साँप की कांचली, वचा, काकादनी (तृणधान्य) और घृत कहे हैं उनका यहां भी धूपन के लिये प्रयोग करें ॥ ७ ॥

शतावरीमृगैर्वारुनागदन्तीनिदिग्धिकाः।
लक्ष्मणां सहदेवाञ्च बृहतीञ्चापि धारयेत् ॥ ८ ॥

धारणीय द्रव्य—शतावर, इन्द्रवारुणी (मृगैर्वारु), नागदन्ती (दन्तीभेद), कण्टकारी, लक्ष्मणा, सहदेवी और बड़ी कटेरी इन ओषधियों में से किसी एक को रविवार के दिन प्रातःकाल उखाड़कर के लाकर बच्चे के गले या हाथ में बांध देवें ॥ ८ ॥

तिलतण्डुलकं माल्यं हरितालं मनःशिला।
बलिरेष करञ्जेषु निवेद्यो नियतात्मना ॥ ९ ॥

बलिकर्म—रात्रि के समय स्नानादिक से पवित्र हो के एक दोने में तिल, पके हुये चावल, माला, हरताल और मैनसिल थोड़ा थोड़ा रख के करञ्ज वृक्ष के मूल प्रदेश में रख आना चाहिए ॥ ९ ॥

विमर्शः—बलिकर्म के दिन उपवास रखना तथा शस्त्र हाथ में लेकर बलि देने जाना चाहिये। 'सोपवासः शुचिर्नक्तं सशस्त्रो निर्हरेद् बलिम्'।

निष्कुटे च प्रयोक्तव्यं स्नानमस्य यथाविधि ॥ १० ॥

स्नानविधान—गृहोपवन में बच्चे को ले जाकर यथाविधि स्नान कराना चाहिये ॥ १० ॥

विमर्शः—निष्कुट = गृहोपवन 'गृहारामास्तु निष्कुटाः' इत्यमरः। यथाविधि अर्थात् गृहोपवन में पवित्र भूमि पर नवीन शालि और यव से निर्मित मण्डल पर गायत्री आदि से अभिमन्त्रित जल से स्कन्दग्रहोक्तविधिपूर्वक स्नान करावें।

स्कन्दापस्मारशमनं घृतं चापीह पूजितम्।
कुर्य्याच्च विविधां पूजां शकुन्याः कुसुमैः शुभैः ॥ ११ ॥

घृतप्रयोग व पूजन—स्कन्दापस्मारशमनार्थ प्रयुक्त घृत का यहाँ भी प्रयोग करना प्रशस्त है। इसके अतिरिक्त चमेली, नीलकमल आदि अनेक पुष्पों से विविध भाँति शकुनिग्रह की पूजा करनी चाहिये ॥ ११ ॥

विमर्शः—स्कन्दापस्मार-शमन के लिये 'देवदारुणि राङ्गायां मधुरेषु द्रुमेषु च' इस प्रकार का सिद्ध घृत लिखा है। 'घृतञ्च' इस चकारप्रयोग से कुछ लोग यहाँ सोमवल्ली, इन्द्रवल्ली, शमी, बिल्वकण्टक आदि का धारण करने का प्रयोग बताते हैं। यथा—सोमवल्लीमिन्द्रवल्लीं शमीं बिल्वस्य कण्टकान्। मृगादन्याश्च मूलानि ग्रथितान्येव धारयेत् ॥

अन्तरिक्षचरा देवी सर्वालङ्कारभूषिता।
अयोमुखी तीक्ष्णतुण्डा शकुनी ते प्रसीदतु ॥ १२ ॥
दुर्दर्शना महाकाया पिङ्गाक्षी भैरवस्वरा।
लम्बोदरी शङ्कुकर्णी शकुनी ते प्रसीदतु ॥ १३ ॥

इति सुश्रुतसंहितायामुत्तरतन्त्रान्तर्गते कुमारतन्त्रे शकुनी-
प्रतिषेधो नाम (चतुर्थोऽध्यायः, आदितः)
त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३० ॥

बालरक्षा मन्त्र—आकाश में विचरण करने वाली, सर्व अलङ्कारों से विभूषित, लोह समान वर्ण युक्त मुख वाली या अधोमुख वाली एवं तीक्ष्णमुखी शकुनी देवी तेरे लिये प्रसन्न हो जांय। इसी प्रकार भयङ्कर दर्शन वाली, लम्बशरीरधारिणी, पिङ्गल नेत्रयुक्त और शंकु के समान लम्बे और तीखे कानों वाली शकुनी देवी तेरे लिये प्रसन्न हो जांय ॥ १२–१३ ॥

इत्यायुर्वेदतत्त्वार्थसन्दीपिकाव्याख्यायां शकुनीप्रतिषेधो
नाम त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३० ॥

एकत्रिंशत्तमोऽध्यायः

अथातो रेवतीप्रतिषेधं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥ २ ॥

अब इसके अनन्तर रेवतीप्रतिषेध नामक अध्याय का व्याख्यान प्रारम्भ करते हैं जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने कहा है ॥ १–२ ॥

विमर्शः—रेवतीग्रहजुष्ट बालक के लक्षण आचार्य सुश्रुत ने २७ वें अध्याय में 'रक्तास्यो हरितमलोऽतिपाण्डुः' आदि श्लोक द्वारा पूर्व में कहे हैं। योगरत्नाकर में लिखा है कि

शरीर पर स्फोट तथा व्रण, पङ्कगन्धी, रक्त की स्रुति, पतली दस्त, ज्वर और दाह इस ग्रह में होते हैं—व्रणैः स्फोटैश्चितं गात्रं पङ्कगन्धी स्रवेदसृक् । भिन्नवर्चा ज्वरी दाही रैवतीग्रहलक्षणम् ॥ इस रोग का समावेश घातक रक्तक्षय (Pernicious anaemia) में कर सकते हैं जैसा कि प्राइस मेडिसीन में लिखा है—True pernicious anaemia has been observed in children, but it is very rare before third decade of life. रेवतीग्रह को प्राइसने घातक भी माना है—In young subjects the disease may run an acute course with fever and purpura and may prove fatal after short illness. इसमें निम्न मुख्य लक्षण होते हैं (१) रक्तक्षय के सामान्य लक्षण। (२) त्वचा का वर्ण पीत, नील, श्याव या हरा, गण्डप्रदेश का लाल होना। (३) जिह्वा लाल तथा व्रणयुक्त। (४) उदर शूल, वमन या अतिसार। (५) प्लीहा की वृद्धि। (६) हीमोग्लोबीन की मात्रा २० से ४० प्रतिशत मिलना। (७) Colour index का एक से अधिक होना। (८) रक्त के लालकणों के आकार में वैषम्य। (९) श्वेतकणों का नाश (Leucopenia)।

अश्वगन्धा च शृङ्गी च सारिवा सपुनर्नवा ।
सहे तथा विदारी च कषायाः सेचने हिताः ॥ ३ ॥

सेचनकर्म—असगन्ध, काकड़ासींगी, अनन्तमूल, पुनर्नवा, मुद्गपर्णी, माषपर्णी और विदारीकन्द इनमें से यथाप्राप्त द्रव्यों को मिलित ४ तोले भर ले के डेढ सेर पानी में क्वथित करके चतुर्थांश या अर्धांशावशेष रहने पर छान के बच्चे के व्रणयुक्त प्रदेश का सिञ्चन करना चाहिये ॥ ३ ॥

तैलमभ्यञ्जने कार्य्यं कुष्ठे सर्जरसेऽपि च ॥ ४ ॥

तैलाभ्यङ्ग—कुष्ठ तथा राल के कल्क और क्वाथ में सिद्ध किये हुये तैल का व्रणित शरीर पर अभ्यङ्ग करें ॥ ४ ॥

पलङ्कषायां नलदे तथा गिरिकदम्बके ।
धवाश्वकर्णककुभधातकीतिन्दुकीषु च ।
काकोल्यादिगणे चैव पानीयं सर्पिरिष्यते ॥ ५ ॥

घृतपान—लाख, उशीर, गिरिकर्णिका, कदम्ब का पुष्प तथा धव, साल, अर्जुन इनकी छाल और धातकी के पुष्प, तेंदू की छाल और काकोल्यादिगण की ओषधियों के कल्क मिलित ५ तोले भर तथा इन्हीं के ≤१ सेर क्वाथ में १ पाव घृत डाल के घृतावशेष पाककर छान के शीशी में भर दें। फिर इस घृत को ३ माशे से ६ माशे के प्रमाण में ले के एक तोले मन्दोष्ण दुग्ध में मिला कर बच्चे को पिलावें। इस तरह दिन में तीन या दो बार यह घृत पिलाना चाहिये ॥

विमर्शः—इस घृत को मधु तथा शर्करा के साथ मिश्रित करके भी पिला सकते हैं। इसके पान से अतिसार, अरुचि, वमन और तृष्णा नष्ट होती है।

कुलत्थाः शङ्खचूर्णञ्च प्रदेहः सार्वगन्धिकः ॥ ६ ॥

प्रदेह—सर्वगन्ध (१) अर्थात् दालचीनी, इलायची, तेजपात, नागकेशर, कपूर, कङ्कोल, अगर, केसर और लवङ्ग के चूर्ण में कुलथी का चूर्ण तथा शङ्ख का महीन चूर्ण मिला कर घृत या पानी के साथ पीस के बच्चे के समस्त शरीर पर लेप करना चाहिये ॥ ६ ॥

सर्वगन्ध द्रव्य—चातुर्जातककर्पूरकक्कोलागुरुकुङ्कुमम् । लवङ्गसहितश्चैव सर्वगन्धं विनिर्दिशेत् ॥

गृध्रोलूकपुरीषाणि यवा यवफलो घृतम् ।
सन्ध्ययोरुभयोः कार्य्यमेतदुद्धूपनं शिशोः ॥ ७ ॥

धूपन—गीध तथा उल्लू की विष्ठा (या रोम) तथा जौ, बांस की छाल तथा घी, इन्हें मिश्रित कर इनसे दोनों सन्ध्या के समय बच्चे को धूपित करना चाहिये ॥ ७ ॥

वरुणारिष्टकमयं रुचकं सैन्दुकं तथा ।
सततं धारयेच्चापि कृतं वा पौत्रजीविकम् ॥ ८ ॥

ओषधि धारण—वरुण, निम्ब, सिन्दुवार (निर्गुण्डी) अथवा पुत्रजीव (जीयापोता) की लकड़ी के टुकड़ों से बनाई हुई माला बच्चे को पहनानी चाहिये ॥ ८ ॥

विमर्शः—यहाँ पर रुचक शब्द का अर्थ माला किया गया है। ऐसे रुचक का अर्थ आभूषण भी होता है। मेदिनीकोषकार ने इसके अनेक अर्थ लिखे हैं—रुचको बीजपूरे च निष्के दन्तकपोतयोः । न द्वयोः स्वर्जिकाक्षारेऽप्यश्वाभरणमाल्ययोः ॥ सौवर्चलेऽपि मङ्गल्यद्रव्येऽपि च ॥

शुक्लाः सुमनसो लाजाः पयः शाल्योदनं तथा ।
बलिर्निवेद्यो गोतीर्थे रेवत्यै प्रयतात्मना ॥
सङ्गमे च भिषक् स्नानं कुर्य्याद् धात्रीकुमारयोः ॥९॥

बलिकर्म तथा स्नान—श्वेत पुष्प, लाजा (धान की खील), दुग्ध, साठी चांवलों का भात थोड़ा-थोड़ा ले के दोने में भर कर स्नानादि से पवित्र हो के गोशाला में जाकर रेवतीग्रह की तुष्टि के लिये बलि देनी चाहिये। इसी प्रकार दो नदियों के सङ्गम (सम्मेलन) स्थान पर जा के बच्चे और धाय को स्नान करना चाहिये ॥ ९ ॥

नानावस्त्रधरा देवी चित्रमाल्यानुलेपना ।
चलत्कुण्डलिनी श्यामा रेवती ते प्रसीदतु ॥ १० ॥

बालरक्षा मन्त्र—विविध प्रकार के वस्त्रों को पहनी हुई, चित्र-विचित्र माला तथा चन्दन धारण की हुई, कानों में जिसके कुण्डल हिल रहे हों ऐसी श्यामवर्णा रेवती तेरे लिये प्रसन्न हो जांय ॥ १० ॥

उपासते यां सततं देव्यो विविधभूषणाः ।
लम्बा कराला विनता तथैव बहुपुत्रिका ।
रेवतीशुष्कनामा या सा ते देवी प्रसीदतु ॥ ११ ॥

इति सुश्रुतसंहितायामुत्तरतन्त्रान्तर्गते कुमारतन्त्रे रेवतीप्रतिषेधो नाम (पञ्चमोऽध्यायः, आदितः) एकत्रिंशोऽध्यायः ॥ ३१ ॥

विविध आभूषण पहनी हुई अन्य देवियाँ जिसकी निरन्तर उपासना करती रहती हैं तथा जिसके लम्बा, कराला, विनता,

आर्तवादर्शन

- अनार्तव
  - स्वाभाविक — बाल्यावस्था, वृद्धावस्था
  - वैकारिक — रक्तक्षयादि रोग
- नष्टार्तव
  - स्वाभाविक — सगर्भावस्था, प्रसूतावस्था
  - वैकारिक — रक्तक्षय, मानसविकार
- आवृतार्तव
  - सहज — व्यङ्गजन्य
  - जन्मोत्तर — शस्त्रकर्म, आघातजन्य
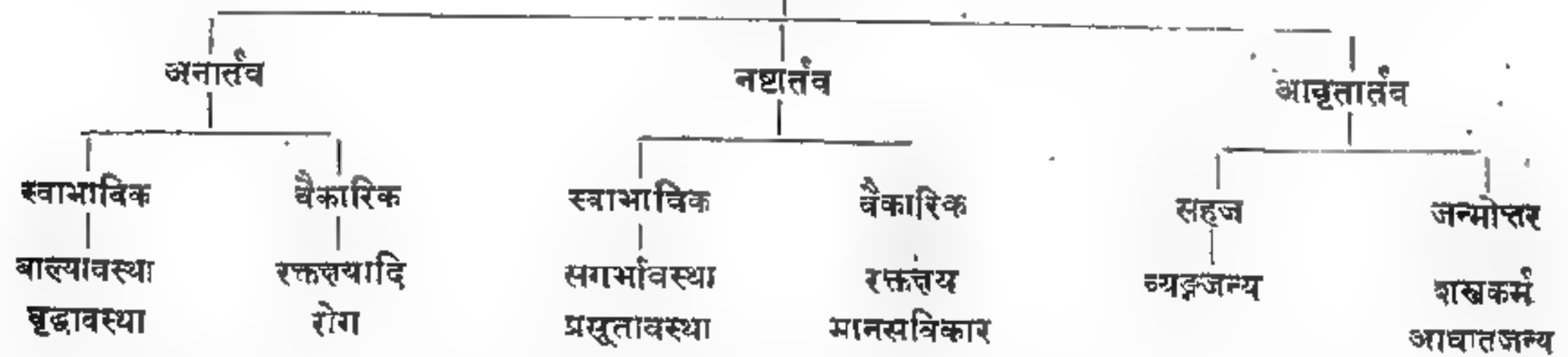
क्षीणार्तव (Oligomenorrhoea) भी एक पृथक् शब्द आता है किन्तु यह नष्टार्तव के समान ही है। ये दोनों अवस्थाएँ तरतमभेद ही हैं। कुछ ग्रन्थों में (Amenorrhoea) के दो भेद किये गये हैं—(१) मिथ्या नष्टार्तव (Pseudo amenorrhoea)। (२) वास्तविक नष्टार्तव (Actual amenorrhoea)। प्रथम में स्राव बाहर नहीं निकलता किन्तु गर्भाशय के अन्दर ही स्राव होता है। कारण—कुमारीच्छद का न फटना (Due to congenital or acquired imperforated hymen)। गर्भाशयग्रीवा और भग (Cervix and vagina) का बन्द होना या उन में व्रणवस्तु (Scar) के कारण रक्त के बहिर्निर्गमन में रुकावट होती है। द्वितीय—इसमें प्रथम स्राव होता है किन्तु बाद में निम्न संस्थानों में विकृति होने से बन्द हो जाता है। प्रजननसंस्थान—(Generalive system)—में (१) गर्भाशय तथा बीजग्रन्थि की अनुपस्थिति या शस्त्रकर्म द्वारा उनको निकाल देना (२) बीजग्रन्थि की वृद्धि। (३) गर्भाशयान्तःस्तर (Endometrium) की वृद्धि, (४) शोथ, (५) नववृद्धि (New qrowth), (६) रेडियम के प्रभाव के कारण, (७) गर्भाधान के कारण। रक्तवहसंस्थान (Circulatory system)—(१) रक्त की कमी के रोग जैसे पाण्डु (Anaemia) (२) (Leucemia), (३) रक्तस्राव, (४) क्षय, (५) पाइरेक्सिया, (६) आक्षेप। (३) मस्तिष्कसंस्थान (Nervous system)—ज्ञानतन्तुओं पर सहसा प्रभाव डालने वाले रोग या दशा आर्तव को नष्ट करते हैं, अतः इस प्रकार के नष्टार्तव को (Reflex Amenorrphea) कहते हैं। जैसे सहसा शीत लग जाना (Sudden chil), बर्फ पीना, शीतल जलस्नान आदि। कुछ काल बाद यह एमिनोरिया ठीक हो जाता है। अनेक मानसिक आघात स्थायी या अस्थायी एमिनोरिया को उत्पन्न करते हैं। (Sympathetic amenorrhoea)—इसमें स्त्री अपने को गर्भवती समझती है या जिनमें आर्तवविनाश (Menopause) की स्थिति हो जाती है, उनमें यह हुआ करता है। (३) निःस्रोतग्रन्थियाँ (Ductless glands)—(१) प्रजननसंस्थान की वृद्धि में गड़बड़ी होने से मासिकधर्म के क्रम के ठीक होने पर भी निःस्रोतसग्रन्थियां इसके प्रबन्ध में गड़बड़ी कर देती हैं जिससे एमिनोरिया उत्पन्न हो जाता है। (२) बीजग्रन्थि की अनुपस्थिति या उसके अन्तःस्राव की कमी या अभाव से गर्भाशय नहीं बढ़ता है जिससे आर्तव नहीं होता है। (३) यदि मासिकधर्म प्रारम्भ होने के बाद बीजग्रन्थि निकाल दी जाय या उसके कार्य में कमी हो जाय तो वह मासिकस्राव को क्रमशः अदृष्ट कर देती है। (४) अवटुकाग्रन्थि (Thyroid के स्राव की कमी से भी एमिनोरिया उत्पन्न हो जाता है। आर्तवक्षय (Menopause)—यह अवस्था ४० से ५० वर्ष के अन्दर आती है किन्तु प्रायः ४५ से ५० वर्ष के भीतर अधिक होती है। इस दशा में आर्तव बिल्कुल बन्द हो जाता है तथा गर्भधारण शक्ति का ह्रास हो जाता है। रजःस्राव जल्दी प्रारम्भ होने से मेनोपाज भी जल्दी होता है। कारण—(Ovary) की क्रिया के कम होने से तथा निःस्रोतस ग्रन्थियों के अन्तःस्राव में परिवर्तन होने से यह होता है। बीजग्रन्थि के निकालने से या अन्य रोगों के कारण भी हो जाता है। डिम्बप्रणाली, गर्भाशय, भग का घातक अर्बुद, ट्यूब में उपसर्ग, (Tubal pregnancy), ओवरी तथा वेजाईना के अर्बुद और कष्टार्तव के कारण भी मेनोपाज होता है। यद्यपि यह खराब नहीं है किन्तु इस काल या मेनोपाज के समय में बहुत व वातिक लक्षण (Nervous and mental symptoms) हो जाते हैं जो कुछ समय तक रहते हैं। बीजग्रन्थि को अत्यन्त आवश्यकता होने पर ही निकालना चाहिये। मेनोपाज में पहले धीरे-धीरे स्राव बन्द होता है और क्रमशः कम होकर बन्द हो जाता है। वासोमोटर में विकार उत्पन्न होता है और स्वेद निकलता रहता है। (Nervousness तथा Mental irritability) भी कभी हो जाया करती है। किसी-किसी स्त्री में (Mental symptoms) बहुत बढ़ जाते हैं और उसकी पागलों जैसी हालत हो जाती है। प्रजनन अङ्गों में निम्न परिवर्तन हो जाते हैं—लेबिया की वसा गायब हो जाती है। वेजाइना की श्लेष्मल कला सिकुड़ जाती है। सर्विक्स और यूटेरस की बोडी कम हो जाती है। डिम्बवाहिनी (F. T.) के फोल्ड और फिम्ब्रिया अदृष्ट हो जाते हैं। स्तन-ग्रन्थियों में भी क्षीणता (Atrophy) हो जाती है। जिससे स्तन छोटे हो जाते हैं। शरीर में सब जगह वसा जमा हो जाती है। इस समय यदि अनियमित रक्तस्राव हो तो उसे (Menopause) की असाधारणदशा (Abnormal condition) समझनी चाहिये। यह मामूली और क्षणिक भी हो सकती है।

प्रतिदोषन्तु साध्यासु स्नेहादिक्रम इष्यते ।
दद्यादुत्तरबस्तींश्च विशेषेण यथोदितान् ॥ २१ ॥

वातजयोनिरोगचिकित्सा—साध्य योनिरोगों में प्रत्येक दोष के अनुसार जो स्नेहादिक्रम शास्त्र में निर्दिष्ट है वह किया जाता है। वातादिभेद से कही हुई उत्तरबस्तियों का विशेष रूप से प्रयोग करना चाहिये ॥ २१ ॥

विमर्शः—भावप्रकाशकार ने लिखा है कि आदि की उत्त

वातिक योनियों में स्नेहादिक्रम किया जाता है जैसे बस्ति, अभ्यङ्ग, परिषेक, प्रलेप और पिचुधारण भी कराना चाहिये—तासु योनिषु चाद्यासु स्नेहादिक्रम इष्यते। बस्त्यभ्यङ्गपरीषेकप्रलेपपिचुधारणम्॥ चरकाचार्य ने भी लिखा है कि वातजयोनिरोगों में स्नेहन, स्वेदन और बस्ति आदि का प्रयोग करना चाहिये—स्नेहनस्वेदवस्त्यादि वातजास्वनिलापहम्॥

(च. चि. अ. ३०)

कर्कशां शीतलां स्तब्धामल्पस्पर्शाञ्च मैथुने।
कुम्भीस्वेदैरुपचरेत् सानूपौदकसंयुतैः॥ २२॥

कर्कश, शीतल, कठिन और मैथुन को सहन न करने वाली योनि में आनूप मांस तथा औदक (जलचर) जीवों के मांस के साथ कुम्भीस्वेद करना चाहिये॥ २२॥

विमर्शः—कुम्भीस्वेदनप्रकार—आनूप और जलीय जीवों के मांस तथा वातघ्न द्रव्यों के क्वाथ को एक कुम्भ (मिट्टी के घड़े) में भर कर उसे भूमि में गाड़ कर उसके ऊपर रुग्णा की शय्या रख कर स्त्री को औंधी सुला देवे फिर अग्नि में सन्तप्त किये हुये लोहे तथा पत्थर के टुकड़े क्वाथ में डालें, इससे वाष्प निकलने लगेगा उससे योनि का स्वेदन करना चाहिये ऐसा डल्हणाचार्य ने कुम्भीस्वेदन का प्रकार लिखा है। चरकाचार्य ने भी लिखा है कि—मृदुभिः पञ्चभिर्नारीं स्निग्धस्विन्नामुपाचरेत्। सर्वतः सुविशुद्धायाः शेषं कर्म विधीयते॥ वातव्याधिहरं कर्म वातार्तानां सदा हितम्। औदकानूपजैर्मांसैः क्षीरैः सतिलतण्डुलैः॥ सवातघ्नौषधैर्नाडीकुम्भीस्वेदैरुपाचरेत्। आक्तां लवणतैलेन साश्मप्रस्तरशर्करैः। स्विन्नां कोष्णाम्बुसिक्ताङ्गीं वातघ्नैर्योजयेद्रसैः॥

मधुरौषधसंयुक्तान् वेशवारांश्च योनिषु।
निक्षिपेद्धारयेच्चापि पिचुतैलमतन्द्रितः॥
धावनानि च पथ्यानि कुर्वीतापूरणानि च॥ २३॥

अन्योपचार—काकोल्यादिगण की मधुर ओषधियों के साथ कुट्टित मांस (वेशवार) योनि में रखना चाहिये इसके अतिरिक्त अतंद्रित (आलस्यरहित) होकर पिचुतैल (तैल का फोया) योनि में रखना और उसे धारण करना चाहिये एवं वातघ्न ओषधियों से साधित क्वाथादि के द्वारा योनि का धावन (प्रक्षालन) और आपूरण करना चाहिये॥ २३॥

ओषचोषान्वितासूक्तं कुर्याच्छीतं विधिं भिषक्॥२४॥

पित्तजयोनिरोगचिकित्सा—ओष तथा चोष (जलन और दाह) युक्त योनिरोगों में वैद्य शीत (रक्तपित्तनाशक) चिकित्सा करे॥ २४॥

विमर्शः—चरकाचार्य ने भी लिखा है कि रक्तपित्तनाशक चिकित्सा करें—'कारयेद्रक्तपित्तघ्नं शीतं पित्तकृतासु च।'

(च. चि. अ. ३०)

दुर्गन्धां पिच्छिलां चापि चूर्णैः पञ्चकषायजैः।
पूरयेद्राजवृक्षादिकषायैश्चापि धावनम्॥ २५॥

दुर्गन्धित तथा पिच्छिलयोनि में वट, पीपल, गूलर, पारिस आदि पञ्चक्षीरी वृक्षों के छाल का चूर्ण भर देवें तथा राजवृक्षादि (आरग्वधादि) गण की ओषधियों के छाल के कषाय से योनि का प्रक्षालन करना चाहिए॥ २५॥

योन्यान्तु पूयस्राविण्यां शोधनद्रव्यसम्भृतैः।
सगोमूत्रैः सलवणैः शोधनं हितमिष्यते॥ २६॥

पूयस्रावियोनि में मिश्रक अध्याय में कहे हुए शोधक औषधद्रव्यों के कषाय में गोमूत्र तथा लवण मिलाकर शोधन करना हितकारक होता है॥ २६॥

बृहतीफलकल्कस्य द्विहरिद्रायुतस्य च।
कण्डूमतीमल्पस्पर्शां पूरयेद् धूपयेत्तथा॥ २७॥

कफजयोनिरोगचिकित्सा—कण्डुयुक्त तथा स्पर्श करने से वेदना होने वाली योनि में बड़ी कण्टकारी के फलों का चूर्ण तथा हरिद्रा और दारुहरिद्रा के चूर्ण के द्वारा पूरण तथा इन्हीं चूर्णों के द्वारा धूनी देनी चाहिये॥ २७॥

विमर्शः—चरकाचार्य ने श्लेष्मजन्य योनिरोगों में रूक्ष तथा उष्णप्रकृतिक द्रव्यों के क्वाथ द्वारा प्रक्षालन, पूरण और धूपन आदि कर्म करना लिखा है—'श्लेष्मजासु च रूक्षोष्णं कर्म कुर्याद्विचक्षणः' (च० चि० अ० ३०)।

वर्तिं प्रदद्यात् कर्णिन्यां शोधनद्रव्यसम्भृताम्।
प्रस्रंसिनीं घृताभ्यक्तां क्षीरस्विन्नां प्रवेशयेत्॥ २८॥
पिधाय वेशवारेण ततो बन्धं समाचरेत्॥ २९॥

कर्णिनीयोनि—में मिश्रकाध्यायोक्त शोधन द्रव्यों से बनाई हुई वर्ति रखनी चाहिए। इसी प्रकार प्रस्रंसिनी (स्थानभ्रष्ट) योनि को घृत से अभ्यक्त कर दुग्ध से स्वेदित करके अन्दर की ओर प्रविष्ट कर (बैठा) देनी चाहिए फिर योनि को बाहर से कुट्टित मांस (वेशवार) द्वारा ढक कर पट्टबन्धन कर देना चाहिए॥ २८-२९॥

प्रतिदोषं विदध्याच्च सुरारिष्टासवान् भिषक्।
प्रातः प्रातर्निषेवेत रसोनादुद्धृतं रसम्॥
क्षीरमांसरसप्रायमाहारं विदधीत च॥ ३०॥

श्लेष्मजन्य अथवा सर्व प्रकार के योनिरोगों में दोषों के अनुसार सुरा, अरिष्ट और आसवों का प्रयोग करना चाहिए तथा सदा प्रातःकाल लहसुन से निकाले हुये स्वरस का पान करना चाहिये। पथ्य में दुग्ध तथा मांसरस के साथ भोजन करना चाहिए॥ ३०॥

शुक्रार्त्तवादयो दोषाः स्तनरोगाश्च कीर्त्तिताः।
क्लैब्यस्थानानि मूढस्य गर्भस्य विधिरेव च॥ ३१॥
गर्भिणीप्रतिरोगेषु चिकित्सा चाप्युदाहृता।
सर्वथा तौ प्रयुञ्जीत योनिव्यापत्सु बुद्धिमान्।
अपप्रजातारोगांश्च चिकित्सेदुत्तराद्भिषक्॥ ३२॥

इति सुश्रुतसंहितायामुत्तरतन्त्रान्तर्गते कुमारतन्त्रे योनिव्यापत्प्रतिषेधो नाम (द्वादशोऽध्यायः, आदितः) अष्टत्रिंशोऽध्यायः॥ ३८॥

—:o:—

कौमारभृत्योपसंहार—शुक्रशोणित-शुद्धिशारीर अध्याय में पुरुष के शुक्रदोष तथा स्त्री के आर्त्तवदोष और विसर्पनाडी-स्तनरोग निदानाध्याय में स्तनरोगों का वर्णन कर दिया गया है इसी प्रकार क्षीणबलीयवाजीकरणप्रकरण में क्लैब्य के कारण

और मूढगर्भ के निदान और चिकित्सा प्रकरण में मूढगर्भ के कारण और चिकित्सा का वर्णन कर दिया है। इसी तरह गर्भिणीव्याकरणशारीर में गर्भिणी का मासानुमासिक तथा रक्तस्राव आदि प्रतिरोगों की चिकित्सा का भी उपदेश कर दिया गया है अतः बुद्धिमान् वैद्य को योनिव्यापद् रोगों में भी उन्हीं का सर्वथा प्रयोग करना चाहिये। इनके सिवाय वैद्य अकालप्रसूता के ज्वरादि रोगों में उत्तरतन्त्र में कहे हुये के अनुसार चिकित्सा करे ॥ ३१-३२ ॥

इत्यायुर्वेदतत्त्वार्थसंदीपिकाव्याख्यायां योनिव्यापत्प्रत्याख्यायो नाम अष्टत्रिंशोऽध्यायः ॥ ३८ ॥

एकोनचत्वारिंशत्तमोऽध्यायः

अथातो ज्वरप्रतिषेधं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥ २ ॥

अब इसके अनन्तर ज्वरप्रतिषेध नामक अध्याय का व्याख्यान करते हैं जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने कहा है॥

विमर्शः—यद्यपि चिकित्साशास्त्र में अनेक रोगों का वर्णन है किन्तु ज्वर को सर्वरोगों में प्रधान माना है—'ज्वरः प्रधानो रोगाणामुक्तो भगवता पुरा' तथा निधन और उत्पत्ति के समय इसका रहना आवश्यक होनेसे 'तस्य प्राणिसपत्नस्य ध्रुवस्य प्रलयोदये' एवं रुद्र की कोपाग्नि के द्वारा सम्भूत होने के कारण गरीयान् होने से सर्वप्रथम इसी की चिकित्सा का वर्णन किया जाता है।

येनामृतमपां मध्यादुद्धृतं पूर्वजन्मनि ।
यतोऽमरत्वं सम्प्राप्तास्त्रिदशास्त्रिदिवेश्वरात् ॥ ३ ॥
शिष्यास्तं देवमासीनं पप्रच्छुः सुश्रुतादयः ।
व्रणस्योपद्रवाः प्रोक्ताः व्रणिनामप्यतः परम् ॥
समासाद् व्यासतश्चैव ब्रूहि नो भिषजां वर ! ॥ ४ ॥

जिस धन्वन्तरि ने पूर्वजन्म में देवता के रूप में समुद्र का मन्थन करा के जल में से अमृत को निकाला तथा जिसके कारण देवताओं ने अमरत्व पद प्राप्त किया, आसन के ऊपर बैठे हुये उस धन्वन्तरि देव से सुश्रुत प्रभृति शिष्यों ने प्रश्न किया कि हे वैद्यों में श्रेष्ठ भगवन् ! आपने पूर्व के स्थानों व अध्यायों में व्रण वाले पुरुष के व्रणोपद्रवों का संक्षेप में वर्णन किया है अब उन्हें विस्तार से हम लोगों के ज्ञान के लिये कहिये ॥ ३-४ ॥

विमर्शः—व्रण के उपद्रवों से यहां वेदना, वर्ण और स्राव आदि का ग्रहण किया जाता है तथा व्रणी पुरुष के निम्न विसर्प, पक्षघात आदि सोलह उपद्रव कहे गये हैं—विसर्पः पक्षघातश्च सिरास्तम्भोऽपतानकः । मोहोन्मादौ व्रणरुजा ज्वरस्तृष्णा हनुग्रहः ॥ कासश्छर्दिरतीसारो हिक्का श्वासः सवेपथुः । षोडशोपद्रवाः प्रोक्ता व्रणिनां व्रणचिन्तकैः ॥

उपद्रवेण जुष्टस्य व्रणः कृच्छ्रेण सिध्यति ॥ ५ ॥
उपद्रवास्तु व्रणिनः कृच्छ्रसाध्याः प्रकीर्त्तिताः ।
प्रक्षीणबलमांसस्य शेषधातुपरिक्षयात् ॥ ६ ॥
तस्मादुपद्रवान् कृत्स्नान् ब्रूहि नः सचिकित्सितान् ।
सर्वकायचिकित्सासु ये दृष्टाः परमर्षिणा ॥ ७ ॥

ज्वर आदि उपद्रव से युक्त पुरुष का व्रण कृच्छ्रसाध्य होता है क्योंकि व्रणी पुरुष के उपद्रव कष्टसाध्य माने गये हैं। इसमें यह हेतु है कि व्रणी पुरुष का बल और मांस क्षीण हो जाता है तथा मेदःप्रभृति शेष धातुओं का भी क्षय हो जाता है इस लिये आप व्रणी के सब उपद्रवों को चिकित्सा के सहित हमें कहिये जिन उपद्रवों को परमर्षि आपने अथवा भरद्वाज या आत्रेय ने सर्वप्रकार की कायचिकित्सा में कहा है ॥ ५-७ ॥

तेषां तद्वचनं श्रुत्वा प्राब्रवीद्भिषजां वरः ।
ज्वरमादौ प्रवक्ष्यामि स रोगानीकराट् स्मृतः ॥ ८ ॥
रुद्रकोपाग्निसम्भूतः सर्वभूतप्रतापनः ।
तैस्तैर्नामभिरन्येषां सत्त्वानां परिकीर्त्यते ॥ ९ ॥

सुश्रुत आदि उन शिष्यों के इस वचन को सुनकर वैद्यों में श्रेष्ठ भगवान् धन्वन्तरि ने कहा कि मैं सर्वप्रथम ज्वर का वर्णन करूँगा क्योंकि वह सर्वरोग-समूहों में राजा (प्रधान) है। यह ज्वर दक्ष के यज्ञ में प्रकुपित हुये रुद्र (शङ्कर) की कोपाग्नि से उत्पन्न हुआ है और स्थावर-जङ्गम आदि सर्व प्रकार के भूतों (प्राणियों) को प्रतप्त (सन्तप्त) करने वाला है एवं भिन्न-भिन्न प्रकार के प्राणियों में विभिन्न नाम से कहा गया है ॥ ८-९ ॥

विमर्शः—ज्वरोत्पत्तिकथा—दक्ष के यज्ञ में शिवजी के अपमान करने से संक्रुद्ध हुये शिव के निश्वास या ललाटस्थ तृतीय नेत्राग्नि से अथवा ललाट से स्वेदबिन्दु के पृथिवी पर गिरने से भयङ्कर अग्नि के उत्पन्न होने पर ज्वर उत्पन्न हुआ। दक्षापमानसंक्रुद्धरुद्रनिश्वाससम्भवः । ज्वरोऽष्टधा पृथग्द्वन्द्वसंघातागन्तुजः स्मृतः ॥ (मा० नि०) ततस्तस्य सुरेशस्य क्रोधादमिततेजसः । ललाटात् प्रसृतो घोरः स्वेदबिन्दुर्बभूव ह ॥ तस्मिन् पतितमात्रे तु स्वेदबिन्दौ तदा भुवि । प्रादुर्बभूव सुमहानग्निः कालानलोपमः ॥ तत्र चाजायत तदा पुरुषः पुरुषर्षभ ! । ज्वरो नामैष धर्मज्ञ लोकेषु प्रचरिष्यति ॥ (महाभा० शा० पर्व) अन्य सत्त्वों में ज्वर के नाम—पाकलः स तु नागानामभितापस्तु वाजिनाम् । गवामीश्वरसंज्ञश्च मानवानां ज्वरो मतः ॥ अजावीनां प्रलापाख्यः करभे चालसो भवेत् । हारिद्रो माहिषाणान्तु मृगरोगो मृगेषु च ॥ पक्षिणामभिघातस्तु मत्स्येष्विन्द्रमदो मतः । पक्षपातः पतङ्गानां व्याडेष्वक्षिकसंज्ञकः । (हस्त्यायुर्वेद, अ० १) अन्यच्च—'जलस्य नीलिका भूमेरूषरो वृक्षस्य कोटरः' ।

जन्मादौ निधने चैव प्रायो विशति देहिनम् ।
अतः सर्वविकाराणामयं राजा प्रकीर्त्तितः ॥ १० ॥

ज्वरवैशिष्ट्य—जन्म के आदि में तथा मृत्यु के समय यह ज्वर प्रायः मनुष्यों में अवश्य होता है अत एव इसे सर्वरोगों का राजा माना गया है ॥ १० ॥

विमर्शः—चरकाचार्य ने भी ज्वर को महेश्वर-कोप से उत्पन्न, मनुष्य तथा तिर्यग्योनि के प्राणियों में होने वाला और सर्वरोगों का राजा माना है—'ज्वरस्तु खलु महेश्वरकोप-

प्रभवः, सर्वप्राणिनां प्राणहरः, देहेन्द्रियमनस्तापकरः, प्रज्ञाबलवर्ण-हर्षोत्साहह्रासकरः श्रमक्लमभोहाहारोपरोधसञ्जननः, ज्वरयति शरीराणि इति ज्वरः। स सर्वरोगाधिपतिः, नानातिर्यग्योनिषु च बहुविधैः शब्दैरभिधीयते। सर्वे प्राणभृतश्च सज्वरा एव जायन्ते सज्वरा एव म्रियन्ते च, स महामोहः। (च० नि० अ० १)

ऋते देवमनुष्येभ्यो नान्यो विषहते तु तम्।
कर्मणा लभते यस्माद् देवत्वं मानुषादपि॥ ११॥
पुनश्चैव च्युतः स्वर्गान्मानुष्यमनुवर्त्तते।
तस्मात्ते देवभावेन सहन्ते मानुषा ज्वरम्।
शेषाः सर्वे विपद्यन्ते तैर्य्यग्योना ज्वरार्दिताः॥ १२½॥

ज्वरासह्यत्व—देवता और मनुष्यों के सिवाय अन्य प्राणी इस ज्वर को सहन नहीं कर सकते हैं। कर्म के कारण ही मनुष्य देवत्व को प्राप्त होता है और उन कर्मों का भोग समाप्त हो जाने पर वह प्राणी देवत्व से फिर च्युत होकर मनुष्य देह के रूप में स्वर्ग से पृथिवी पर आ जाता है इसलिये उस मनुष्य में देवभाव होने ही से वह ज्वर के वेग को सहन कर सकता है किन्तु अन्य तिर्यग्योनि वाले प्राणी ज्वर से पीड़ित होने पर मर जाते हैं॥ ११–१२½॥

विमर्शः—भगवान् श्रीकृष्ण ने भी गीता में कहा है कि पुण्य के क्षीण होने पर मनुष्य मर्त्यलोक में आ जाता है—'क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति'।

स्वेदावरोधः सन्तापः सर्वाङ्गग्रहणं तथा।
विकारा युगपद्यस्मिन् ज्वरः स परिकीर्त्तितः॥ १३॥

ज्वरसामान्यलक्षण या ज्वर परिभाषा—स्वेद (पसीना) का अवरोध, सारे शरीर में सन्ताप तथा सर्व अङ्गों में जकड़ाहट ये विकार(या लक्षण) एक साथ जिस रोग या मनुष्य में उत्पन्न होते हों उसे ज्वर कहते हैं॥ १३॥

विमर्शः—स्वेदावरोधः—स्वेद का नहीं निकलना, प्रायः पैत्तिक ज्वर को छोड़कर अन्य ज्वरों में ज्वर चढ़ने के समय पसीना नहीं आता है। स्वेद के अवरुद्ध हो जाने से शरीर के ताप की वृद्धि हो जाती है। ऐसे स्वेद का निर्गमन ज्वर (ताप) को उतारने में अत्यधिक सहायक होता है इसी लिये साधारण ज्वरावस्था में स्वेदल औषध (Diaphrotic medicine) देने की व्यवस्था रहती है। स्वेदावरोधकारण[1]—रक्त में विष तथा आमदोष की अधिकता होने से स्वेद ग्रन्थियों पर भार अधिक पड़ जाता है किंवा आमरस उनमें अवरोध उत्पन्न कर देता है इसलिये चरकाचार्य ने लिखा है कि प्रायः तरुण ज्वर में पाचकाग्नि के स्वस्थान से च्युत हो जाने पर आमदोष बढ़कर स्रोतसों का सन्निरोध कर देता है जिससे ज्वरी का स्वेदनिर्गमन बन्द हो जाता है—स्रोतसां सन्निरुद्धत्वात् स्वेदं ना नाधिगच्छति। स्वस्थानात् प्रच्युते चाग्नौ प्रायशस्तरुणे ज्वरे॥ (च. चि. अ. ३) यहां पर स्वेद शब्द से स्रावसामान्य का ग्रहण कर लिया जाय तो उससे शरीर के अन्दर यावन्मात्र स्रावजनक ग्रन्थियां हैं उनके कार्य या स्राव का तरुण ज्वर में अवरोध होना यह तात्पर्य हो सकता है जैसा कि अनुभव में देखा जाता है कि तरुण ज्वर में मुख की लालास्रावक या अन्य ग्रन्थियों के स्राव के अवरोध होने से मुख में खुश्की की प्रतीति होना तथा आमाशय की ग्रन्थियों तथा अग्न्याशय के स्राव के अवरोध होने से पाचक रसों का अभाव होकर अग्निमान्द्य हो के आमदोष का बढ़ना। इसी प्रकार उपवृक्क के आन्तरिक स्राव (एड्रिनेलिन) के बन्द होने से हृदय में बेचैनी होना इसी बात को आधुनिकों ने भी स्पष्ट की है—The secretion tend to dry up those of the skin, mouth, Alimentary tube, liver, Pancreas and kidneys इससे स्पष्ट है कि तरुणज्वर में स्राव को उत्पन्न करने वाले सभी अङ्ग निष्क्रिय हो जाते हैं। द्वितीय कारण यह भी है कि रक्त में परिभ्रमण करने वाले ज्वरजनक विषों के कारण तापनियन्त्रक केन्द्र (Heat regulater center) के अवसादित हो जाने से परिसरीय केशिकाओं का विस्फार नहीं होने पाता जिससे स्वेदजनक ग्रन्थियों को रक्त प्रचुर मात्रा में नहीं मिलता है अतः वे स्वेद की उत्पत्ति करना बन्द कर देती हैं। इसी तरह खाद्य की कमी तथा विषों या आमदोष की प्रचुरता के कारण भी स्वेदजनक ग्रन्थियां अपना कार्य स्थगित कर देती हैं। केशिकाओं के पूर्णरूप ही से विस्फारित न रहने का परिणाम अन्य स्रावक ग्रन्थियों पर भी पड़ता है। आमाशय पर इसका प्रभाव होता है। पाचन के लिये मुख, आमाशय, अन्त्र, अग्न्याशय और यकृत के स्रावों की परमावश्यकता रहती है। उन स्रावों के अवरुद्ध हो जाने से पाचन एवं प्रचूषण का कार्य भी बन्द हो जाता है यही कारण है कि आयुर्वेद ने तरुणज्वर या आम ज्वर में आहार और कषायपान का निषेध किया है। यदि इस सिद्धान्त की अवहेलना कर आहार प्रदान किया जाय तो पाचक रसों की अल्पता या अभाव से भोजन का पाचन समुचित रूप से न होकर आमदोष की वृद्धि ही होगी तथा दोषों का पाचन न होने से ज्वर से मुक्ति भी नहीं होगी ऐसी अवस्था में आयुर्वेद ने आमदोष का पाचन करने के लिये लङ्घन, स्वेदन और पाचक यवागू देने का निर्देश किया है—लङ्घनं स्वेदनं कालो यवाग्वस्तिक्तको रसः। पाचना-न्यविपक्वानां दोषाणां तरुणज्वरे॥ (चरक) जब इस क्रम से आमादि दोषों का पाचन होकर स्रोतसों का अवरोध दूर हो जाय तभी आहार तथा कषाय का प्रयोग किया जा सकता है। रसौषध आमदोषों की पाचक, स्वेदल और विष-नाशक होने से प्रयुक्त की जा सकती है। मधुकोषकार ने पैत्तिकज्वर में स्वेद का निर्गमन होता देखकर इस स्वेदा-वरोधरूपी ज्वर लक्षण को अव्याप्तिदोष-ग्रस्त होने की आशङ्का से 'स्विद्यतेऽनेनेति स्वेदोऽग्निस्तस्यावरोधः' ऐसा अर्थ किया है किन्तु इससे भी अव्याप्तिदोष नहीं हटता है क्योंकि कभी-कभी ज्वरावस्था में भी क्षुधा या अल्प क्षुधा रहती है जो कि स्वेद को अग्नि मान कर उसका अवरोध हो जाने पर सम्भव नहीं। वास्तव में यह स्वेदावरोध प्रायिक लक्षण है इसी बात को सुश्रुताचार्य ने भी स्वीकृत किया है 'न च स्विद्यति सर्वशः' इसी की टीका करते हुये डल्हणाचार्य भी लिखते हैं कि 'सर्वशः अर्थात् सर्वत्र न च स्विद्यति कश्चित् स्विद्यतो

---

१. स्वेदाभावहेतु—स्रोतसां सन्निरुद्धत्वात् स्वेदं ना नाधिगच्छति। स्वस्थानात् प्रच्युते चाग्नौ प्रायशस्तरुणे ज्वरे॥ रुणद्धि चाप्यपां धातून् यस्मात्तस्माज्ज्वरातुरः। भवत्यन्युष्णगात्रश्च स्विद्यते न च सर्वशः॥ इति।

त्यर्थः।' जेजटादि टीकाकारों ने भी इसी बात का समर्थन कर लिखा है कि 'उत्सर्गापवादभावेन व्यवस्थितिः'। सन्तापः—केवल शरीर के ताप का बढ़ना ही अर्थ नहीं है अपितु देह, इन्द्रिय और मन सभी में ज्वर के समय ताप की अनुभूति होती है इसीलिये चरकाचार्य ने स्पष्ट लिखा है कि 'देहेन्द्रियमनस्तापी' मन के सन्ताप के लक्षणों में मन का क्षुभित रहना, किसी भी कार्य में मन न लगना एवं ग्लानिका अनुभव होना प्रधान है—'वैचित्यमरतिर्ग्लानिर्मनःसन्तापलक्षणम्' प्रायः शरीर में ताप या ऊष्मा उत्पन्न करना पित्त का कार्य है अतएव पित्त की विकृत-वृद्धि होने पर ही सन्ताप हो सकता है, इसीलिये आयुर्वेद ने सर्व प्रकार के ज्वरों को पित्तज या पित्तदोष-प्रधान मानकर उनकी चिकित्सा में पित्तशामक चिकित्सा का उपदेश किया है—'ऊष्मा पित्तादृते नास्ति ज्वरो नास्त्यूष्मणा विना। तस्मात् पित्तविरुद्धानि त्यजेत् पित्ताधिकेऽधिकम्॥' ज्वरावस्था में शरीर में बढ़े हुए ताप का अनुभव त्वचा के स्पर्श द्वारा या थर्मामीटर से होता है। रक्त में जीवाणु-विष की अधिकता से उष्णता की अत्यधिक वृद्धि तथा त्वचा, श्वास-प्रश्वास और मूत्र आदि के द्वारा उसके निर्हरण का अभाव या अल्पता के कारण सम्मिलित परिणाम को ही संक्षेप में ताप की वृद्धि या सन्ताप कह सकते हैं। साधारणतया ज्वर एवं सन्ताप को पर्यायवाची समझा जाता है। वस्तुतः सन्ताप से शरीर की तापवृद्धि ही समझना चाहिये फिर भी तापक्रम की वृद्धि ज्वर का विशिष्ट लक्षणमात्र है स्वयं ज्वर नहीं, ऐसा ही चरकाचार्य का मत है—ज्वरप्रत्यात्मिकं लिङ्गं सन्तापो देहमानसः। ज्वरेणाविशता पूर्वं नहि किञ्चिद् तप्यते॥ सन्ताप, अरुचि, तृष्णा, अङ्गमर्द और हृदयव्यथा को चरकाचार्य ने ज्वर का प्रभाव माना है—सन्तापः सारुचिस्तृष्णा साङ्गमर्दो हृदि व्यथा। ज्वरप्रभावः। तापक्रम की विशेषता के आधार पर ही ज्वरों का सापेक्ष-निदान (D. diagnosis) होता है। यद्यपि कुछ आधुनिक चिकित्सक ज्वर को स्वतन्त्र रोग न मान कर अन्य रोगों का या शरीर में किसी प्रकार के उपसर्ग का दिग्दर्शक लक्षण माना है किन्तु ज्वर की विशिष्ट सम्प्राप्ति तथा उसके अनेक लक्षण होने से ज्वर भी अनेक रोगों के समान रोग की श्रेणी में गिना जाता है। आधुनिक चिकित्सकों का मत है तथा अनुभव में भी देखा जाता है कि समस्त औपसर्गिक रोगों में किसी न किसी अवस्था में ज्वर या ताप की वृद्धि अनिवार्य रूप से देखी जाती है। ज्वर के विषय में यह आयुर्वेद की विशेषता है कि काम, क्रोध आदि मानसिक विकार तथा अंशुघात आदि अनौपसर्गिक कारणों से भी ज्वर की उत्पत्ति होती है। इन सभी में तापक्रम-वृद्धि के साथ साथ अन्य विशिष्ट लक्षण भी उपस्थित रहते हैं। ज्वर और तापक्रम का घनिष्ठतम साहचर्य रहने पर भी दोनों को एक नहीं माना जा सकता है क्योंकि कभी कभी रोहिणी (Diptheria) तृणाणुमयता (Septicaemia) में ताप नहीं भी रहता है। इसी प्रकार अन्तर्वेग ज्वर में भी साधारणतया बाह्यताप का अनुभव नहीं होता है किन्तु रोगी को अन्तःसन्ताप रहता है और प्रलाप भी करता है। इस प्रकार के ज्वर को निस्तापज्वर (Apyrexial Fever) कहते हैं। चक्रपाणि ने भी कहा है कि वातश्लैष्मिक ज्वर में उष्णता की अनुभूति नहीं होती 'वातश्लेष्मकृतेऽपि ज्वरेऽनुष्णरूपस्तापो भवति' इसी तरह बहुत से शोषानुगामी रोगियों में या धातुगत ज्वर में थर्मामीटर लगाने से ताप नहीं मिलता किन्तु उनमें ज्वर के अन्य लक्षण मिलते हैं शरीर का स्वाभाविक तापक्रम ९७.४ से ९८.४ तक रहता है जो कि मुख का तापक्रम है। कक्षा (Axilla) का तापक्रम इससे एक डिग्री कम रहता है क्यों कि कक्षा में स्वेद आने से तथा बाह्य वायुमण्डल के शीतोष्ण का प्रभाव पड़ता रहता है। प्रातःकाल से सायङ्काल का साधारण तापक्रम एक डिग्री अधिक रहता है। उक्त साधारण तापक्रम से अधिक तापक्रम होना ज्वर का सूचक होता है। ताप की दृष्टि से संसार के समस्त प्राणी दो भागों में विभक्त किये जाते हैं—(१) विविधतापी (Poikilothermic) (२) समतापी (Homeothermic) प्रथम वर्ग के प्राणी ऋतु तथा अन्य बाह्य परिस्थितियों के अनुसार इस वर्ग के प्राणियों का तापक्रम निरन्तर परिवर्तित होता रहता है। इन्हें शीतरक्त (Cold blooded) कहते हैं। इस श्रेणी में मेंढक, सांप तथा कच्छप का समावेश होता है। द्वितीय वर्ग के प्राणियों के तापक्रम पर ऋतु तथा अन्य बाह्यपरिस्थिति का कोई असर न होकर उनका शारीरिक ताप सदा प्रकृतावस्था में समान रहता है। इनको उष्णरक्तक (Warm blooded) प्राणी कहते हैं। इस वर्ग में मनुष्य, पक्षी तथा अन्य स्तनधारी प्राणियों का समावेश होता है। शरीर में उष्णता की उत्पत्ति तथा उसके विनाश का कार्य समान रूप में अबाधगति से चलता है। इन दोनों क्रियाओं के प्राकृत रहने पर ही समतापी प्राणियों के शरीर का तापक्रम निश्चित अंश तक स्थिर रहता है। उष्णता या ताप की उत्पत्ति—शरीर में प्रोटीन, कार्बोहाईड्रेट, और फेट (स्नेह) के ज्वलन (Oxidation) से उष्णता की उत्पत्ति होती है। यह कार्य यद्यपि सारे शरीर में न्यूनाधिक रूप में होता है किन्तु ऐच्छिक पेशियों के द्वारा यह कार्य अधिक होता है। उष्णता का नाश—शरीर की उष्णता का नाश त्वचा, फुफ्फुस, (श्वास-प्रश्वास) और मलमूत्र त्याग द्वारा होता है। इनमें सबसे अधिक उष्णता का नाश त्वचा द्वारा विकिरण (Radiation) संवहन, (Conduction) तथा बाष्पीभवन (Evaporation) की क्रियाओं से होता है। जिस अवस्था में बाह्य वातावरण का ताप साधारण रहता है तब विकिरण और संवहन से ताप का नाश होता है किन्तु जब ग्रीष्म ऋतु में वातावरण का तापक्रम उच्चतम हो जाता है तो परिसरीय केशिकाएं विस्फारित हो जाती हैं जिस से स्वेदग्रन्थियों की क्रियाशीलता बढ़ जाती है और वे अधिक स्वेद उत्पन्न करती हैं तथा इस स्वेद के बाष्पीभवन से उष्णता का नाश होता है। शीतकाल में अधिक शीत के कारण केशिकाएं सङ्कुचित हो जाती हैं जिससे शरीर का ताप बाहर नहीं निकल पाता वह सुरक्षित रहता है उस अवस्था में भी अनावश्यक प्रवृद्ध ताप का विनाश फुफ्फुस और वृक्कों द्वारा होता है। वातावरण की वर्षाकाल में क्लिन्नता, तङ्ग वस्त्र, स्वेदपिण्डों की अकार्यकारिता एवं त्वचा का स्वच्छ न रखना आदि त्वचा से ताप-विनाश को रोकते हैं। इस तरह प्रकृत अवस्था में शरीर में उष्णता की उत्पत्ति एवं उसके

विनाश का क्रम निरन्तर समान रूप से चलता रहता है। शरीर के ताप को सदा एक समान बनाये रखने के लिये समतापी (Homeothermic) प्राणियों के मस्तिष्क के कन्दाधरिक भाग (Hypothalamis region) में एक केन्द्र रहता है जिसे तापनियामक केन्द्र (Heat regulating center) कहते हैं। ताप को समान मात्रा में स्थिर रखने के लिये यह आवश्यक है कि उत्पत्ति के अनुपात से उसका नाश भी हो। नियामक केन्द्र यद्यपि दोनों क्रियाओं का नियमन करता है तथापि उष्णतोत्पत्ति की अपेक्षा उष्णतानाशन से इसका विशेष सम्बन्ध है। यह अपने सम्पर्क में आने वाले रक्त से शरीरान्तर्गत उष्णता का ज्ञान करके उसके अनावश्यक भाग का त्वचा या दूसरे साधनों से नाश करा देता है। इसी प्रकार शीतकाल में बाह्य शीत से रक्षा करने के निमित्त त्वचागत वाहिनियों में संकोच कराकर तापनिर्हरण को रोकता है। इस तरह तापनियामक केन्द्र, शरीर में उष्णता उत्पन्न करने वाली क्रियाओं तथा ताप का निरन्तर विनाश करने वाले साधनों (वृक्क, त्वचा, फुफ्फुस तथा मल-मूत्र) से शरीर का ताप सदा साम्यावस्था में रहता है। जब तक यह केन्द्र स्वस्थ रहता है एवं ताप की उत्पत्ति और विनाश का क्रम नियमपूर्वक चलता रहता है तब तक शरीर का ताप भी प्रकृत ही रहता है किन्तु जिस अवस्था में लू लगने, चोट लगने, मस्तिष्कगत रक्तस्राव आदि अनौपसर्गिक कारणों तथा विष एवं रोगोत्पादक जीवाणुओं से उत्पन्न औपसर्गिक विष से विकृत हो जाता है तो शरीर का ताप भी स्वाभाविक नहीं रह पाता। शारीरिक ताप की वृद्धि का मुख्य हेतु उष्णतानाश की कमी है उष्णतोत्पत्ति की अधिकता नहीं। स्वस्थावस्था या ज्वरितावस्था में भी रात्रि को सोते समय ऐच्छिक पेशियों का कार्य न होने से उष्णता की अधिक उत्पत्ति नहीं होती अतः प्रातःकाल में तापक्रम कुछ कम रहता है किन्तु दिनमें ऐच्छिक पेशियां क्रियाशील रहती हैं अतः ताप की अधिक वृद्धि होने से सायङ्काल के समय तापक्रम प्रातःकाल की अपेक्षा अधिक रहता है कभी कभी राजयक्ष्मा, मस्तिष्कावरण शोथ तथा आन्त्रिक ज्वर में प्रातःकाल ज्वर बढ़ता है और सायंकालको घटता है यह चिन्ताजनक स्थिति है इसे विपरीत क्रम (Reverse type) कहते हैं। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि रक्तप्रवाह में घूमते हुये जीवाणुजन्य या समवर्तजन्य विष से ताप की अत्यधिक उत्पत्ति एवं तापनियन्त्रक केन्द्र की विकृति के परिणामस्वरूप तापनिर्हरण की कमी का सम्मिलित परिणाम ही ज्वर है। चरकादि ग्रन्थों में 'दक्षापमानसंक्रुद्धरुद्रनिश्वाससम्भवः' इस रूप से जो ज्वरोत्पत्ति का इतिहास लिखा है। वह रूपक मात्र है यहां दक्ष का अर्थ इन्द्रियां हैं उनके द्वारा अपमान अर्थात् उनके अविवेक से प्रयुक्त मिथ्या आहार और विहार तथा जीवाणुजन्य या समवर्तजन्य विष ही ज्वर के विशिष्ट लक्षण ताप की वृद्धि करने में कारण हैं। क्रोध तैजस माना जाता है अतएव औपसर्गिक या अनौपसर्गिक विष की प्रतिक्रिया से उत्पन्न शरीर की तैजस प्रवृत्ति को ही क्रोध कहते हैं। क्रोध का अधिष्ठाता देवता रुद्र माना गया है अतः जहां भी क्रोध होगा वहां सर्वत्र रुद्र की उपस्थिति भी अनिवार्य है। तैजस प्रवृत्ति एक शक्ति है। शरीर में उसका नियामक तापनियन्त्रक केन्द्र है। विष द्वारा उसके विकृत होने से शरीर से ताप का निर्हरण कम होने से ताप की वृद्धि हो जाती है। इस प्रकार दोषों के प्रकोप या केन्द्र की विकृति को ही यदि रुद्रप्रकोप कहा जाय तो अनुचित नहीं होगा। इस तरह असात्म्य पदार्थों की शरीर में उपस्थिति या विषोत्पत्ति दक्षप्रयुक्त अपमान है तथा तापनियन्त्रक केन्द्र की विकृति रुद्रप्रकोप है एवं रक्तप्रवाह की वृद्धि कुपित रुद्र का निःश्वास है तथा त्वचा द्वारा तापनिर्हरण का अभाव या ताप की वृद्धि ही ज्वर है। गणनाथसेन जी ने लिखा है कि दक्ष (वायु) के अपमान (वैषम्यापादक कर्म) से संक्रुद्ध हुये रुद्र (पाचकाग्नि) के निश्वास (बहिर्निक्षेप) से ज्वर उत्पन्न होता है। यह समाधान भी युक्तियुक्त है। सन्तापवृद्धि से लाभ—यद्यपि सन्तापवृद्धि से शरीर, मन एवं इन्द्रियों को कष्ट होता है, किन्तु प्रकृति की ओर से इस क्रिया द्वारा शरीर को स्वस्थ बनाने का ही उद्देश्य रहता है। वास्तव में सन्तापवृद्धि या ज्वर का होना शरीर की प्रतिक्रियात्मक शक्ति का निदर्शन है। औपसर्गिक रोगों में उपसर्गकारी जीवाणुओं और शरीर के कोषाणुओं के युद्ध के फलस्वरूप ज्वर की उत्पत्ति होना अनिवार्य है। ज्वर की मन्दता से उपसर्ग की सौम्यता या शरीर की दुर्बलता का परिचय होता है। (१) ताप की अधिक वृद्धि होने से जीवाणुओं की वृद्धि में बाधा उत्पन्न होती है। (२) ताप की वृद्धि होने से हृदय की गति तीव्र होकर विकृत स्थान में रक्त प्रचुर मात्रा में पहुँच जाता है जिससे वहाँ भक्षकाणु तथा प्रतियोगी पदार्थ अधिक मात्रा में पहुँच कर उपसर्गकारी जीवाणुओं को नष्ट करते हैं। इसी दृष्टि से आयुर्वेद ने तरुण ज्वर में स्वेदल ओषधियों द्वारा सहसा ज्वर को उतारने का आदेश न देकर लंघन, दीपन, पाचन तथा दोषसंशामक उपायों का उपदेश किया है—लङ्घनं स्वेदनं कालो यवाग्वस्तिक्तको रसः। पाचनान्यविपक्वानां दोषाणां तरुणे ज्वरे॥ (चरक)। सर्वाङ्गग्रहण—आमदोष से सर्वाङ्ग में वेदना होती है। युगपद्यत्र रोगे च—उक्त स्वेदावरोध, सन्ताप तथा सर्वाङ्गग्रहण इन तीनों लक्षणों का एकत्र जहाँ प्रादुर्भाव हो वहीं ज्वर है। यदि इनमें से पृथक्-पृथक् लक्षणों से ज्वर होना माना जाय तो व्यभिचार दोष उत्पन्न होता है, जैसे कुष्ठ की पूर्वरूपावस्था में तथा दाहनामक रोग में सन्ताप और सर्वाङ्गवातरोग में सर्वाङ्गग्रहण लक्षण मिलते हैं किन्तु वे तीनों रोग ज्वर नहीं है इसलिए इन तीनों लक्षणों के मिलित होने पर ही ज्वर होता है ऐसा मिलित लक्षण करने से उन तीनों रोगों में तीनों मिलित लक्षण उपस्थित न होने से व्यभिचारी दोष की निवृत्ति हो जाती है।

दोषैः पृथक् समस्तैश्च द्वन्द्वैरागन्तुरेव च।
अनेककारणोत्पन्नः स्मृतस्त्वष्टविधो ज्वरः॥ १४॥

ज्वरभेद—ज्वर के आठ भेद माने गये हैं जैसे वातादि पृथग् दोषों से तीन (वातिक, पैत्तिक, कफज) और तीनों दोषों के मिलने से सन्निपातज एक तथा दो दोषों के मिलने से द्वन्द्वज ज्वर तीन जैसे वातपैत्तिक, वातश्लैष्मिक और पित्तश्लैष्मिक एवं आगन्तुज एक, इस प्रकार अनेक कारणों से उत्पन्न होने वाले ज्वर के आठ भेद होते हैं॥ १४॥

विमर्शः—चरकाचार्य ने च० नि० अ० १ में वैसे तो सामान्य सन्तापलक्षण वाले ज्वर को एक ही प्रकार का माना है किन्तु फिर उसके दो भेद कर दिये हैं (१) निजज्वर तथा (२) आगन्तुक ज्वर। पुनः निजज्वर को शीत और उष्ण भेद से द्विविध तथा वातादित्रिदोष भेद से त्रिविध, इस त्रिविध के साथ सन्निपातज्वर को मिलाने से चतुर्विध एवं इन चतुर्विध ज्वरों के अतिरिक्त दो-दो दोषों के विकल्पन (द्वन्द्वजभेद) से सप्तविध निजज्वर होता है 'ज्वरस्त्वेक एव सन्तापलक्षणः। तमेवाभिप्रायविशेषाद् द्विविधमाचक्षते, निजागन्तुविशेषाच्च। तत्र निजं द्विविधं, त्रिविधं, चतुर्विधं सप्तविधञ्चाहुर्भिषजो वातादिविकल्पात्। (च० नि० अ० १) महामहोपाध्याय गणनाथ सेन जी ने भी प्रथम ज्वर के निज और आगन्तुक ऐसे दो भेद किये हैं—ज्वरः प्रधानो रोगाणां त्वचि सन्तापलक्षणः। देहेन्द्रियमनस्तापी निजश्चागन्तुजश्च सः॥ (सि० नि०) चरकाचार्य तथा सेनजी ने केवल ज्वर के ही ये दो विभाग किये हैं ऐसी बात नहीं अपि तु सामान्यतया सर्व रोगों में द्विविध भेद मान लिये हैं—'द्विविधा प्रकृतिरेषामागन्तुनिजविभागादिति' (च० सू० अ० २०) चरकाचार्य ने पुनः चिकित्सासौकर्य की दृष्टि से विधि, अधिष्ठान आदि भेद से दो-दो तथा पञ्च, सप्त और अष्ट भेद कर दिये हैं—द्विविधो विधिभेदेन ज्वरः शारीरमानसः। पुनश्च द्विविधो दृष्टः सौम्यश्चाग्नेय एव वा॥ अन्तर्वेगो बहिर्वेगो द्विविधः पुनरुच्यते। प्राकृतो वैकृतश्चैव साध्यश्चासाध्य एव च॥ पुनः पञ्चविधो दृष्टो दोषकालबलाबलात्। सन्ततः सततोऽन्येद्युस्तृतीयकचतुर्थकौ॥ पुनराश्रयभेदेन धातूनां सप्तधा मतः। भिन्नः कारणभेदेन पुनरष्टविधो ज्वरः॥ सेनजीने निज ज्वरों में (१) वातिक, (२) पैत्तिक, (३) श्लैष्मिक और तीन प्रकार के द्वन्द्वज तथा सातवां सान्निपातिक ज्वर माना है। इसी प्रकार आगन्तुक ज्वरों में (१) कामज्वर, (२) शोकज्वर, (३) भयज्वर, (४) क्रोधज्वर, (५) भूताभिषङ्गजज्वर, (६) विषवृक्षानिलस्पर्शजन्यज्वर या तृणपुष्पाख्यज्वर, (७) आन्त्रिकज्वर, (८) ग्रन्थिकज्वर, (९) श्लेष्मकज्वर, (१०) सन्धिकज्वर, (११) श्वसनकज्वर, (१२) आक्षेपकज्वर, (१३) मसूरिकाज्वर, (१४) दण्डकारव्यज्वर, (१५) कर्णमूलिकज्वर, (१६) रोमान्तिका, (१७) विषमज्वर तथा इसके भेद जैसे सन्ततज्वर, सततकज्वर, अन्येद्युष्कज्वर, तृतीयकज्वर, चतुर्थकज्वर और (१८) कालज्वर (१९) वातबलासकज्वर, (२०) प्रलेपकज्वर, (२१) श्लीपदज्वर, (२२) औपद्रविकज्वर, (२३) देशान्तरीय शोणज्वर (स्कार्लेटफीवर),और हारिद्रकज्वर (यलोफीवर) और (२४) रसादिधातुक्रान्त सप्तधातुगतज्वर, (२५) अन्तर्वेगबहिर्वेगज्वर, (२६) आमपच्यमाननिरामज्वर, (२७) प्राकृत और वैकृतज्वर आदि भेद लिखे हैं। पाश्चात्यमत से ज्वरपरिभाषा—प्राकृत ताप की वृद्धि को ज्वर कहा गया है। इसका कारण अनूर्जता (Allergy) या बाह्यपदार्थों का शरीर में प्रवेश होकर प्रभाव होने से शरीर की प्रतिक्रिया का बोधक स्वरूप है। बाह्यपदार्थों में (१) उपसर्ग (Infection) और (२) विषमयता (Toxaemia) प्रधान है। इन बाह्यपदार्थों के शरीर में प्रवेश होने से जीवरस (Protoplasm) की प्राकृतिक जीवरासायनिक क्रिया (Bio-Chemical activity) की वृद्धि होती है जिससे शरीर में ताप उत्पन्न होता है और इस ताप के अत्यधिक होने से वातसूत्र कोषाणुओं (Nerve cells) के कायाणुरस (Cytoplasm) को स्कन्दित (Cogulate) कर उनकी क्रिया को नष्ट कर देता है। प्राकृतावस्था में श्वसनक्रिया, स्वेद का बाष्पीभवन (Evaporation) तथा मस्तिष्कगततापकेन्द्र (Heat regulating centre) ताप की वृद्धि पर नियन्त्रण रखते हैं। पाश्चात्यचिकित्सा में ज्वर को मुख्य रोग न मान कर विभिन्न प्रकार के रोगों में निम्न विभिन्न स्वरूप का ज्वर पाया जाता है ऐसा वर्णन मिलता है—(१) सन्ततप्रकार (Gontinuons)—इस प्रकार का ज्वर आन्त्रिकज्वर (Typhoid) में पाया जाता है। इसमें रोगी के शरीर का तापक्रम अहर्निश प्राकृत से अधिक रहता है। प्रतिदिन सर्वोच्च (Maximum) तथा अल्पतम (Minimum) ताप का अन्तर १½ अंश से अधिक नहीं होता। (२) अर्धविसर्गीप्रकार (Remitent)—यह भी अहर्निश प्राकृत से अधिक रहता है परन्तु प्रतिदिन के सर्वोच्च तथा अल्पतम ताप का अन्तर २ अंश से अधिक होता है। (३) विसर्गी (Intermiltent) - इसे अन्येद्युष्कज्वर भी कहते हैं। यह प्रकार मारक विषमज्वर (Malignant malaria) में मिलता है। इसमें तापक्रम प्रतिदिन कुछ समय के लिये प्राकृत हो जाता है। (४) प्रलेपक (Hectic)—यह विसर्गी का ही एक प्रकार है। यह राजयक्ष्मा (T. B.) विद्रधि (Abscess) और पूयभवन (Suppuration) में मिलता है। प्रतिदिन मध्याह्न में शरीर में कम्पन (Rigor) के साथ ज्वर प्रारम्भ हो कर सन्ध्या समय तक प्राकृत से ३-४ अंश अधिक हो जाता है। रात्रि में प्रस्वेद (Perspiration) के साथ ताप कम होकर प्रातःकाल पुनः प्राकृत हो जाता है। प्रलिम्पन्निव गात्राणि घर्मेण गौरवेण च। मन्दज्वरविलेपी च सशीतः स्यात्प्रलेपकः॥ (५) तृतीयक (Te.tian):—ज्वर प्रति दूसरे दिन प्राकृत रहता है। इस प्रकार का तापक्रम घातक तृतीयक विषमज्वर (Benign tertian M. F.) में होता है। (६) चतुर्थक (Quartan):—शरीर का ताप प्रत्येक चौथे दिन प्राकृत से अधिक हो जाता है। यह (Quartan M. F.) में होता है। (७) सोपानसम (Stepladder):—ज्वर क्रमशः प्रति दूसरे दिन विगत दिन से एक अंश अधिक रहता है। यह आन्त्रिकज्वर के प्रथम सप्ताह में मिलता है। (८) द्विभागीय या मध्यनिम्न (Biphasic or saddle back):—तापक्रम दो भाग में विभक्त रहता है। ज्वर प्रथम दो या तीन दिन सन्तत रहता है तत्पश्चात् दो या तीन दिन अल्प रहता है और अन्तिम एक या दो दिन पुनः तीव्र हो कर प्राकृत हो जाता है। यह तापक्रम दण्डक ज्वर (Dengue F.) में मिलता है। (९) विपरीत (Inverted) प्रकार:—ज्वर प्रातःकाल उच्चतम रहता है और सन्ध्या समय में प्राकृत हो जाता है। इस प्रकार का ताप-क्रम (Miliary T. B.) में मिलता है। (१०) द्विवार आरोही (Double rise) ज्वर प्रतिदिन दो वार तीव्र तथा अल्प होता है। यह प्रकार कालज्वर (K. A.) में होता है। (११) आवर्तक प्रकार (Pel-ebstein):—ज्वर प्रायः दो सप्ताह तक सन्तत रहता है पश्चात् दो सप्ताह तक ताप प्राकृत रहता है। यही क्रम चलता रहता है। यह (Hodgkin's) के रोग में मिलता है।

ज्वरसम्प्राप्ति—वातादि दोष वर्षा, शरद् और वसन्त

दोषाः प्रकुपिताः स्वेषु कालेषु स्वैः प्रकोपणैः ।
व्याप्य देहमशेषेण ज्वरमापादयन्ति हि ॥१५॥
दुष्टाः स्वहेतुभिर्दोषाः प्राप्यामाशयमूष्मणा ।
सहिता रसमागत्य रसस्वेदप्रवाहिणाम् ॥१६॥
स्रोतसां मार्गमावृत्य मन्दीकृत्य हुताशनम् ।
निरस्य बहिरूष्माणं पक्तिस्थानाच्च केवलम् ॥१७॥
शरीरं समभिव्याप्य स्वकालेषु ज्वरागमम् ।
जनयन्त्यथ वृद्धिं वा स्ववर्णं च त्वगादिषु ॥ १८ ॥

ज्वरसम्प्राप्ति—वातादि दोष वर्षा, शरद् और वसन्त ऋतुओं में तथा दिन-रात के स्वप्रकोपक समय में और वृद्ध, युवा और बाल्यकाल में बलवद्विग्रहादि-क्रोधादि-दिवास्वप्नादि स्वप्रकोपक-कारणों से प्रकुपित होते हुये सम्पूर्ण शरीर में प्रसृत या व्याप्त होकर ज्वर को उत्पन्न करते हैं। इसी प्रकार अपने कारणों से दूषित हुए दोष आमाशय में पहुँच कर वहाँ की ऊष्मा (पाचक रस Gestric juce) के साथ मिलकर किंवा पाचकाग्नि या धात्वग्नि या दोषाग्नि के साथ मिल कर रस के साथ सम्पृक्त (मिश्रित) होकर रसवाहक तथा स्वेदवाहक स्रोतसों के मार्ग को अवरुद्ध कर हुताशन (जठराग्नि) को मन्द करके पक्तिस्थान से उष्णिमा को बाहर निकाल कर उसे सम्पूर्ण शरीर में फैला कर अपने (वातादिप्रकोपक) समय में ज्वर के वेग को उत्पन्न करते हैं तथा त्वचा, नख, नयन, मूत्र आदि में अपना (दोषज) वर्ण उत्पन्न करते हैं ॥ १५-१८ ॥

विमर्शः—वर्षा में वातप्रकोप, शरद् में पित्तप्रकोप तथा वसन्त में कफप्रकोप होता है। इसी प्रकार आयु की दृष्टि से आयु के अन्त (वृद्धावस्था) में वात का प्रकोप, मध्य में पित्त का प्रकोप और आदि (बाल्यकाल) में कफ का प्रकोप होता है । दिन के अन्त में वायु, मध्य में पित्त तथा प्रारम्भ में कफ प्रकुपित होता है। रात्रि के अन्त में वात, मध्य में पित्त और आदि में कफ प्रकुपित होता है। भोजन के पच जाने के अन्त में वात, मध्य में पित्त और भोजन के आदि अर्थात् करते ही कफ का प्रकोप होता है—'वयोऽहोरात्रिभुक्तानां तेऽन्तमध्यादिगाः क्रमात्' इसी दृष्टि से चरकाचार्य ने वातज्वर, पित्तज्वर और कफज्वर आने का समय-विभाग निश्चित लिख दिया है तथा साथ में प्रत्येक ज्वर में नख-नयन-वदनादिकों का वर्ण भी लिखा है—'वातज्वरे—जरणान्ते, दिवसान्ते, निशान्ते, घर्मान्ते, ज्वरस्याभ्यागमनमभिवृद्धिर्वा ज्वरस्य, विशेषेण परुषारुणवर्णत्वं, नखनयनवदनमूत्रपुरीषत्वचामत्यर्थं रूक्षीभावश्च, अनेकविधोपमाश्चलाश्चलाश्च वेदनास्तेषां तेषामङ्गावयवानाम्' । पित्तज्वरे—'युगपदेव केवले शरीरे ज्वरस्यागमनमभिवृद्धिर्वा भुक्तस्य विदाहकाले मध्यन्दिनेऽर्धरात्रे शरदि वा विशेषेण कटुकास्यता, हरितहारिद्रत्वं नखनयनवदनमूत्रपुरीषत्वचामत्यर्थमूष्मणस्तीव्रभावोऽतिमात्रं च दाहः' । कफज्वरे—'युगपदेव शरीरे ज्वरस्यागमनमभिवृद्धिर्वा, भुक्तमात्रे, पूर्वाह्णे, पूर्वरात्रे, वसन्तकाले वा विशेषेण, गुरुगात्रत्वम्, शैत्यं च नखनयनवदनमूत्रपुरीषत्वचामत्यर्थं च' (चरक)। चरकमते ज्वरसम्प्राप्तिः—'स यदा प्रकुपितः प्रविश्यामाशयमूष्मणा सह मिश्रीभूयाद्यमाहारपरिणामधातुं रसनामानमन्ववेत्य रसस्वेदवहानि स्रोतांसि पिधायाग्निमुपहत्य पक्तिस्थानादूष्माणं बहिर्निरस्य केवलं शरीरमनुप्रपद्यते तदा ज्वरमभिनिर्वर्तयति ।' (च० नि० अ० १) वायु प्रकुपित होकर आमाशय में प्रविष्ट होता हुआ वहाँ की ऊष्मा (पित्त) के साथ मिल कर आहारपाक से उत्पन्न रस नामक धातु में मिश्रित होकर रस और स्वेदवाहक स्रोतसों को अवरुद्ध कर अग्नि (पाचकाग्नि) को नष्ट कर उसे पक्तिस्थान से बाहर निकाल कर सारे शरीर में प्रसृत होता हुआ ज्वर को उत्पन्न करता है। माधवकार ने लिखा है कि मिथ्या आहार-विहार से दोष प्रकुपित होकर आमाशय में जाकर रस के साथ मिल कर वहाँ की अग्नि या कोष्ठाग्नि (पाचक रस) को बाहर निकाल कर या उसे मन्द कर ज्वर को उत्पन्न करते हैं—मिथ्याहारविहाराभ्यां दोषा ह्यामाशयाश्रयाः। बहिर्निरस्य कोष्ठाग्निं ज्वरदाः स्यू रसानुगाः॥ आमाशयाश्रयाः—नाभि और स्तनों के मध्य में आमाशय होता है 'नाभिस्तनान्तरं जन्तोरामाशय इति स्मृतः' इसलिये इससे आन्त्र मात्र का ग्रहण होना चाहिये तथा सभी ज्वरों में प्रायः आन्त्र की दुष्टि भी होती है किन्तु आम अन्न का आशय (Stomach) ही होता है तथा ज्वरों में इसकी विकृति अधिक देखने में आती है। कोष्ठाग्निं बहिर्निरस्य—कोष्ठाग्नि बाहर निकल कर त्वचागत हो कर ताप को उत्पन्न करती है। वास्तव में ज्वरसम्प्राप्ति या ज्वरावस्था में पाचक रसों की कमी के कारण कोष्ठस्थ अग्नि मन्द हो जाती है जिससे आमरस बढ़ कर रस-रक्तादि धातु को दुष्ट कर ताप को बढ़ा देता है। रसानुगाः—दूषित दोष प्रथम रस धातु से मिल कर उसे दूषित कर देते हैं। रस त्वचा के आश्रित रहता है अतः त्वचा में ही ताप की अनुभूति विशेष रूप से होती है। कोष्ठ की भी दुष्टि पूर्व में ही होती है। ज्वर में पाचक रसों का स्राव भी कम या बन्द हो जाता है अतएव तरुणज्वर में लंघन का उपदेश है। आमरस से स्वेद आदि का वहन करने वाले स्रोतसों में भी अवरोध हो जाता है जिससे रोगी का समस्त शरीर उष्ण हो जाता है।

मिथ्याऽतियुक्तैरपि च स्नेहाद्यैः कर्मभिर्नृणाम् ।
विविधादभिघाताच्च रोगोत्थानात् प्रपाकतः ॥१९॥
श्रमात् क्षयादजीर्णाच्च विषात् सात्म्यर्तुपर्ययात् ।
ओषधीपुष्पगन्धाच्च शोकान्नक्षत्रपीडया ॥२०॥
अभिचाराभिशापाभ्यां मनोभूताभिशङ्कया ॥२१॥
स्त्रीणामपप्रजातानां प्रजातानां तथाऽहितैः ।
स्तन्यावतरणे चैवं ज्वरो दोषैः प्रवर्त्तते ॥ २२ ॥

ज्वरकारण—स्नेहन, स्वेदन, वमन, विरेचन आदि कार्यों के मिथ्यारूप में या अतिमात्रा में सेवन करने से तथा अनेक प्रकार के शस्त्र, लोष्ठ-काष्ठ-पाषाणादि प्रहार से, विद्रधि आदि रोग के उत्थान से तथा उसके प्रपाक होने से, श्रम से, क्षय से, आम-अजीर्ण से, विष से, सात्म्य और ऋतु के परिवर्तन से, विषौषधिपुष्प की गन्ध से, शोक से, जन्मनक्षत्र या लग्न स्थान में विशिष्ट ग्रह के अवस्थान से उत्पन्न पीड़ा से, अभिचार (कृत्या या विपरीत मन्त्रोच्चारणपूर्वक लोहस्रुवा और सर्षपादि होम) से, देवता, गुरु और वृद्ध आदि के शाप से, मन के कामक्रोधादिरूप अभिघात से तथा देवादि

ग्रहरूप भूताभिषङ्ग से, अयथाकाल में असम्यक् रूप से प्रसूता स्त्रियों के तथा यथाकाल में सम्यक्रूप से प्रसूता स्त्रियों के मिथ्या आहार-विहार के सेवन करने से एवं स्तन्य (दुग्ध) के प्रथम (पहिली) बार स्तन में आविर्भूत होने से दोषजन्य ज्वर उत्पन्न होता है ॥ १९-२२ ॥

विमर्शः—आचार्य सेनजी ने मिथ्या आहार-विहार को निजज्वरों का कारण माना है और आगन्तुक ज्वरों के कारणों में जल-वायु आदि से वाहित (आनीत या प्रापित) जीवाणु तथा उनके विष और अभिघात आदि माने हैं—मिथ्याहार-विहारादि निजस्यायतनं स्मृतम् । आगन्तोर्जलवाय्वादि वाहितं प्रायशो विषम् ॥ आचार्यजी ने ज्वरोत्पत्ति में प्रत्यक्ष दृष्ट तथा अनुभूत लौकिक कारणों को ही महत्त्व दिया है, अलौकिक देवापस्मारादि को कारण मानना कल्पनाविषयक कहकर उसका निरसन कर दिया है। ओषधिगन्धजज्वर को हे फीवर (Hay Fever) कहते हैं। जिसके लक्षण आयुर्वेद में स्पष्ट हैं 'ओषधिगन्धजे मूर्च्छा शिरोरुग्वमथुः क्षवः ॥' आधुनिक चिकित्साशास्त्रमें ज्वरों के कारण शरीर में जीवाणु प्रवेश, या विषप्रवेश या आघातादि मुख्य माने हैं। मिथ्या आहार विहार की ओर उनका ध्यान कम या गौण है किन्तु आयुर्वेद में मिथ्या आहार-विहार को ही प्रत्येक रोगों की उत्पत्ति में प्रधान कारण माना है और जीवाणुओं को मानते हुए (रक्तस्था जन्तवोऽणवः) भी उन्हें परिणामस्वरूप में उत्पन्न होना माना है और यह सर्वथा तथ्य भी है। यदि जीवाणु ही रोगों के प्रधान कारण होते तो जल, वायु तथा अन्य आहार खाद्य-पेयों में डाक्टरी मत से जीवाणु भरे पड़े हैं जिनका प्रयोग अहर्निश मानव कर रहे हैं किन्तु वे सभी ज्वरादि-रोग से ग्रस्त नहीं होते हैं, इसका समाधान डाक्टरी में व्याधिक्षमता (Immunity) को बताया है, ठीक है; परन्तु वह व्याधिक्षमता कहाँ से आती है ? तो स्वीकार करना होगा कि हित आहार-विहार से। इसी से निरोग रहने के लिये आयुर्वेद में निम्न उपदेश हैं—नित्यं हिताहारविहारसेवी समीक्ष्यकारी विषयेष्वसक्तः। दाता समः सत्यपरः क्षमावान् आप्तोपसेवी च भवत्यरोगः ॥ (चरक)

तैर्वेगवद्भिर्बहुधा समुद्भ्रान्तैर्विमार्गगैः ।
विक्षिप्यमाणोऽन्तरग्निर्भवत्याशु बहिश्चरः ॥ २३ ॥
रुणद्धि चाप्यपां धातुं यस्मात्तस्माज्ज्वरातुरः ।
भवत्यत्युष्णगात्रश्च ज्वरितस्तेन चोच्यते ॥ २४ ॥

शरीरोष्णतावृद्धिहेतु—वेगयुक्त (प्रसरणशील) तथा शरीर में उद्वेग को करने वाले और स्वगति से विपरीतगति (विमार्गगति) को प्राप्त हुये उन विकृत वातादि दोषों से विक्षिप्त होती हुई शरीर की अन्तराग्नि अपने आशय से रोमकूपों के मार्ग से शीघ्र बाहर आकर (स्रोतसों के मार्गों को अवरुद्ध कर) स्वेदनिर्गमन को रोक देती है, इसी कारण से रोगी का शरीर एकदम उष्ण हो जाता है तथा उसे ज्वरित (ज्वराक्रान्त) कहा जाता है ॥ २३-२४ ॥

श्रमोऽरतिर्विवर्णत्वं वैरस्यं नयनप्लवः ।
इच्छाद्वेषौ मुहुश्चापि शीतवातातपादिषु ॥ २५ ॥
जृम्भाऽङ्गमर्दो गुरुता रोमहर्षोऽरुचिस्तमः ।
अप्रहर्षश्च शीतञ्च भवत्युत्पत्स्यति ज्वरे ॥ २६ ॥
सामान्यतो, विशेषात्तु जृम्भाऽत्यर्थं समीरणात् ।
पित्तान्नयनयोर्दाहः, कफान्नान्नाभिनन्दनम् ॥ २७ ॥
सर्वलिङ्गसमवायः सर्वदोषप्रकोपजे ।
द्वयोर्द्वयोस्तु रूपेण संसृष्टं द्वन्द्वजं विदुः ॥ २८ ॥

ज्वरपूर्वरूप—शरीर में थकावट, चित्त में बेचैनी, शारीरिक वर्ण में विकृति, मुख के स्वाद की विकृति (कटु, कफकिसता), नयनप्लव (अश्रुपूर्णनेत्रता), शीत, वात तथा धूप में बैठने की कभी बार-बार इच्छा होना और कभी अनिच्छा (द्वेष) होना, तथा आदि शब्द से जलादि पान की इच्छा और अनिच्छा होना, जृम्भा (जम्भाई) का आना, शरीर में टूटन की सी प्रतीति और भारीपन, रोंगटों (केशों) का खड़ा होना, भोज्य तथा पेय में अरुचि, आँखों के सामने अँधियारी आना, आनन्द का अभाव तथा ठण्ड लगना ये उत्पन्न होने वाले ज्वर के सामान्य पूर्वरूप हैं तथा वायु की प्रबलता से जम्भाई अधिक आना, पित्त की उल्बणता से नेत्रों में दाह की अधिक प्रतीति और कफाधिक्य होने पर अन्न खाने में अनिच्छा होती है तथा तीनों दोषों के प्रकोप होने पर उक्त तीनों दोषों के मिश्रित लक्षणों का उत्पन्न होना तथा दो-दो दोषों की अधिकता होने पर दो-दो दोषों के सम्मिलित लक्षण द्वन्द्वज ज्वर की उत्पत्ति होने के पूर्व में दिखाई देते हैं ॥ २५-२८ ॥

विमर्शः—किसी परिश्रमी कार्य के बिना किये ही श्रम का प्रतीत होना, अरति से चित्त की अनवस्थित दशा है—'रत्यामोहवस्त्वलाभेन चेतसो याऽनवस्थितिः । अरतिः सा ।' नयनप्लव का चरक ने भी अश्रुयुक्त नेत्र अर्थ किया है—'अश्रुणी नयने सास्रे' आदि शब्द से चरकानुसार अम्बु तथा अन्नपान में इच्छा-द्वेष का होना है—'ज्वलनातपवाय्वम्बुभक्तिद्वेषावनिश्चितौ' चरकोक्त ज्वरपूर्वरूप—आलस्यं नयने सास्रे जृम्भणं गौरवं क्लमः । ज्वलनातपवाय्वम्बुभक्तिद्वेषावनिश्चितौ । अविपाकास्यवैरस्ये हानिश्च बलवर्णयोः । शीलवैकृतमल्पश्च ज्वरलक्षणमग्रजम् ॥ (च० चि० अ० ३) आधुनिकमत—आधुनिक दृष्टि से उक्त लक्षण सञ्चयकाल (I. P.) में समाविष्ट होते हैं। रोगी के शरीर में जीवाणु या विष के प्रवेश करने के समय से लेकर ज्वर के लक्षण उत्पन्न होने के समय तक की अवधि को सञ्चयकाल कहते हैं। इस काल का कुछ अंश आयुर्वेदिक सम्प्राप्ति में भी चला जाता है—यथा दुष्टेन दोषेण यथा चानुविसर्पता । निर्वृत्तिरामयस्यासौ सम्प्राप्तिर्जातिरागतिः । यद्यपि सम्प्राप्ति को कुछ लोगों ने Pathology (विकृत शारीर) में भी मान लिया है किन्तु सम्प्राप्ति अपना पृथक् अस्तित्व या वैशिष्ट्य रखती है। प्रायः सभी विस्फोटक ज्वरों (Eruptive Fevers) का सञ्चयकाल तीन सप्ताह से अल्प होता है। सञ्चयकाल में जीवाणु तथा व्याधिक्षमता (Immunity) में संघर्ष होता है। क्षमता जीवाणुओं को नष्ट या निष्क्रिय करने का प्रयत्न करती है। इस कार्य में यदि व्याधिक्षमता विफल होती है तब ज्वरादि रोग की उत्पत्ति होती है। सञ्चयकाल में विस्फोटक ज्वरों का प्रसार कास के समय बिन्दुक्षेप (Droplet) द्वारा होता है। सञ्चयकाल में —

लक्षण मिलते हैं उनको रोग का पूर्वरूप (Prodromata) कहते हैं।

वेपथुर्विषमो वेगः कण्ठौष्ठपरिशोषणम्।
निद्रानाशः क्षुतः स्तम्भो गात्राणां रौक्ष्यमेव च ॥२९॥
शिरोहृद्गात्ररुग्वक्त्रवैरस्यं बद्धविट्कता।
जृम्भाऽऽध्मानं तथा शूलं भवत्यनिलजे ज्वरे ॥३०॥

वातिक ज्वर लक्षण—शरीर में कम्पन, ज्वर के वेग की विषमता (कभी वृद्धि और कभी ह्रास), कण्ठ तथा ओष्ठ का सूखना, निद्रा का नाश, छिक्का रुकना, शरीर में रूक्षता, शिर, हृदय और शरीर में पीड़ा, मुख का बेस्वाद होना, विट् (मल) का अवरोध; जमुहाई का आना, उदर में आध्मान तथा शूल का होना वात ज्वर के लक्षण हैं॥

विमर्शः—विषमो वेगः—वेग शब्द से ज्वर की प्रवृत्ति या वृद्धि का बोध होता है। वात ज्वर में इन दोनों का समय अनिश्चित होता है। चरकाचार्य ने वात ज्वर को विषमारम्भ-विसर्गी कहा है तथा चक्रपाणि ने टीका में लिखा है कि 'आरम्भः=उत्पादः, विसर्गो मोक्षः, तौ विषमौ यस्य स विषमारम्भविसर्गी' अर्थात् ज्वर का वेग कभी शिर से प्रारम्भ होता है और कभी पीठ से या जंघा से तथा ज्वर कभी तेज होता है और कभी मन्द। इसी तरह उसकी निवृत्ति का समय या स्थान भी अनियमित होता है। निद्रानाश (Insomnia) वायु की प्रबलता से होता है। क्षुतः स्तम्भो—यहाँ पर कुछ टीकाकार क्षव और स्तम्भ को पृथक्-पृथक् मान कर क्षुत (छिक्का) की प्रवृत्ति और शरीर की जड़ता ऐसा अर्थ करते हैं किन्तु ऐसा मानना चरक और वाग्भट के सिद्धान्तों से भी ठीक नहीं है। छींक की रुकावट ही सर्वसम्मत अर्थ है—जैसे चरकाचार्य ने 'क्षवथूद्गारनिग्रहः' में छींक की रुकावट ही लक्षण माना है। इसी तरह वाग्भट ने भी वातज्वर लक्षणों 'हर्षो रोमाङ्कदन्तेषु वेपथुः क्षवथोर्ग्रहः। भ्रमः प्रलापो घर्मेच्छा विनामश्चानिलज्वरे'॥ में छिक्का का निग्रह लिखा है। किन्तु अनुभव में देखा गया है कि प्रतिश्यायपूर्वक ज्वर होने में छिक्का के निग्रह की बजाय प्रवृत्ति होती है। रुजा—यद्यपि वेदना का अनुभव समस्त शरीर में हो सकता है किन्तु शिर, हृदय, पार्श्व और कटि में विशेषतया होता है। वातज्वर सभी ऋतुओं में वातप्रकोपक कारणों के उपस्थित होने या सेवन करने से हो सकता है किन्तु वर्षाकालीन ज्वर में विशेषतया वातज्वर हुआ करता है। आध्मान लक्षण—साटोपमत्युग्ररुजमाध्मातमुदरं भृशम्। आध्मानमिति जानीयाद् घोरं वातनिरोधजम्॥ चरकोक्त वातज्वरलक्षण—भवन्ति विविधा वातवेदनाः पादसुप्तता। पिण्डिकोद्वेष्टनं कर्णस्वनो वक्त्रकषायता। करदाहो हनुस्तम्भो विश्लेषः सन्धिजानुनः। शुष्ककासो वमिर्लोमदन्तहर्षः श्रमभ्रमौ॥ अरुणं नेत्रमूत्रादि तृट्प्रलापोष्णकामिताः॥

वेगस्तीक्ष्णोऽतिसारश्च निद्राऽल्पत्वं तथा वमिः।
कण्ठौष्ठमुखनासानां पाकः स्वेदश्च जायते ॥३१॥
प्रलापः कटुता वक्त्रे मूर्च्छा दाहो मदस्तृषा।
पीतविण्मूत्रनेत्रत्वं पैत्तिके भ्रम एव च ॥३२॥

पित्तज्वर लक्षण—इसमें ज्वर का वेग तीव्र (सन्तापाधिक्य Hyperpyrexia) होता है तथा दस्तें लगाती हैं, निद्रा कम आती है तथा पित्तमिश्रित कड़वा वमन होता है एवं कण्ठ, ओष्ठ, मुख और नासा में पाक (लालिमा व रक्त फुन्सियाँ) होता है। इनके सिवाय शरीर से या माथे पर से पसीना निकलना, प्रलाप, मुख की कटुता, मूर्च्छा, शरीर, नेत्र, मल-मूत्र में दाह, माथे में नशा, प्यास तथा विष्ठा, मूत्र और नेत्रों में पीलापन और भ्रम ये लक्षण होते हैं॥ ३१-३२॥

विमर्शः—वेगस्तीक्ष्णः—पित्तज्वर का वेग समस्त शरीर में एक साथ आता है। अतिसारश्च—अतिसार से यहाँ अतिसरण अर्थ न कर केवल द्रवयुक्त मल की प्रवृत्ति ही समझनी चाहिए। क्योंकि अतिसार वास्तव में ज्वर का उपद्रव होता है। पित्त के द्रवत्वगुण के कारण मल पतला हो जाता है। यद्यपि सभी ज्वरों में पित्त की उपस्थिति रहती है और बिना पित्त के ज्वर हो ही नहीं सकता—'ऊष्मा पित्तादृते नास्ति ज्वरो नास्त्यूष्मणा विना' किन्तु पित्तज्वर में पित्त की प्रचुरता होने के कारण वेग तीक्ष्ण स्वरूप का होता है। निद्राल्पत्व—वायु की तरह पित्त भी निद्रा को अल्प करता है जैसा कि सुश्रुत ने कहा है 'निद्रानाशोऽनिलात्पित्तात्'। वमन—पित्तयुक्त वमन होता है जैसा कि चरकाचार्य ने कहा है—'पित्तच्छर्दनम्' पित्त जब कफ के स्थान (आमाशय) में जाता है तब वमन की प्रवृत्ति होती है। स्वेदश्च जायते—यद्यपि आमादि रस के कारण ज्वरों में स्रोतसों का अवरोध होने से स्वेद का निर्गमन नहीं होता है तथापि पित्तज्वर उसका अपवाद है। मूर्च्छा से रूप आदि विषयों का अज्ञान या विस्मृति समझनी चाहिये। भ्रम वातिकविकार होते हुये भी पित्तज्वर में वायु का अनुबन्ध होने के कारण अथवा विकृतिविषमसमवायजनित होता है। पित्तकृत ऊष्माजनित रूक्षता से वायु का अनुबन्ध होना स्वाभाविक भी है। यद्यपि अन्य ऋतुओं में भी पित्तप्रकोपक कारणों के सेवन करने से पित्तज्वर हो सकता है किन्तु इस ज्वर का खास समय शरद् ऋतु है।

गौरवं शीतमुत्क्लेशो रोमहर्षोऽतिनिद्रता।
स्रोतोरोधो रुगल्पत्वं प्रसेको मधुरास्यता ॥३३॥
नात्युष्णगात्रता च्छर्दिरङ्गसादोऽविपाकता।
प्रतिश्यायोऽरुचिः कासः कफजेऽक्ष्णोश्च शुक्लता ॥३४॥

कफज्वरलक्षण—इसमें शरीर का भारी होना, ठण्ढ लगना, जी का मिचलाना (कफ, अन्नादि की उबकाई आना), रोमहर्ष, अधिक निद्रा का आना, प्राणादि स्रोतसों का अवरोध, शरीर के विभिन्न भागों (शिर, पार्श्व, उर, छाती, पार्श्व, कटि आदि) में स्वल्प वेदना, मुख से पानी (लार) का गिरना, मुख का मधुर होना, शरीर का अधिक उष्ण नहीं होना, वमन, अङ्गों (हाथ-पैरों) का टूटना, भोजन का अपचन, प्रतिश्याय, अरुचि (खान-पेय में अनिच्छा) तथा नेत्रों का श्वेत होना आदि लक्षण होते हैं॥ ३३-३४॥

विमर्शः—अन्य लक्षण—'स्तैमित्यं स्तिमितो वेग आलस्यं मधुरास्यता। शुक्लमूत्रपुरीषत्वं स्तम्भस्तृप्तिरथापि च॥' (माधव) यहाँ पर स्तैमित्य शब्द का अर्थ गीले कपड़े से अङ्गों को लपेटे हुए की सी प्रतीति से है। 'स्तैमित्यमङ्गानामार्द्रपटावगुण्ठितत्वमिव'। आलस्यं—शरीर की शक्ति होते हुये भी कार्य करने की इच्छा न होना 'समर्थस्याप्यनुत्साहः कर्मस्वालस्यमुच्यते'

उत्क्लेशः—कण्ठोपस्थितवमनत्वम् । अन्यच्च—'उत्क्लिश्यान्नं नैव निर्गच्छेत् प्रसेकष्ठीवनेरितम् । हृदयं पीड्यते चास्य तमुत्क्लेशं विनिर्दिशेत् ॥' (सु. शा. अ. ४) प्रसेक तथा कास व थूंकने में जोर लगाने से आमाशय से ऊपर की ओर अन्न के निकलने की प्रवृत्ति होती है किन्तु निकलता नहीं है और इससे हृदय में पीड़ा की प्रतीति होती है इसे उत्क्लेश (Heart burn) कहते हैं। आमाशय रस में के हैड्रोक्लोरिक अम्ल की अधिकता या उसकी कमी होने पर लेक्टिक और ब्युटिक सेन्द्रिय अम्लों की उत्पत्ति होती है तथा ये अम्ल रक्त के द्वारा हृदय में जा कर उत्क्लेश करते हैं, हृदय में कुछ भी खराबी नहीं होती है। आमाशय हृदय के समीप है। उसका ऊपर का द्वार हार्दिक द्वार (Cardiac orifice) कहलाता है। आमाशय के अम्ल इस द्वार को खोल कर कुछ ऊपर आ जाते हैं इससे हृदय में पीड़ा मालूम होती है। यह हृदयोत्क्लेश अम्लपित्त, आमाशय का व्रण, अभिस्तरण (Dilatation), जीर्ण शोथ और अपचन, अजीर्ण (Dyspepsia) में उत्पन्न होता है। कफज्वर में हृल्लास, छर्दन, कास आदि अन्य लक्षण भी होते हैं—हृल्लासश्छर्दनं कासः स्तम्भः शैत्यं त्वगादिषु । अङ्गेषु शीतपिटिकास्तन्द्रोदर्दः कफोद्भवे ॥ उदर्दः-शीतजलादिसंस्पर्शाच्छीतकाले विशेषतः । श्वयथुः शिशिरार्तानां सुदर्दः कफसम्भवः ॥ अन्य लक्षण—तथाङ्गे पिडकाः शीतं प्रसेकश्छर्दितन्द्रिके । हृदुपलेप उष्णाभिलाषिता वह्निमार्दवम् ॥ कफज्वर में मुख का स्वाद मीठा या नमकीन दोनों तरह का हो सकता है। केशिकाओं के सङ्कोच के कारण रोमाञ्च और शीतानुभव होता है। कफप्रकोपक कारण होने पर अन्य ऋतुओं में भी यह ज्वर हो सकता है किन्तु वसन्त ऋतु में यह स्वाभाविक (प्राकृतिक) रूप से होता है अतः इसके लिये वसन्त अनुकूल समय है।

निद्रानाशो भ्रमः श्वासस्तन्द्रा सुप्ताङ्गताऽरुचिः ।
तृष्णा मोहो मदः स्तम्भो दाहः शीतं हृदि व्यथा ॥३५॥
परिपाकश्चिरेण दोषाणामुन्मादः श्यावदन्तता ।
रसना परुषा कृष्णा सन्धिमूर्द्धास्थिजा रुजः ॥३६॥
निर्भुग्ने कलुषे नेत्रे कर्णौ शब्दरुगन्वितौ ।
प्रलापः स्रोतसां पाकः कूजनं चेतनाच्युतिः ॥३७॥
स्वेदमूत्रपुरीषाणामल्पशः सुचिरात् स्रुतिः ।
सर्वजे सर्वलिङ्गानि विशेषश्चात्र मे शृणु ॥३८॥

सान्निपातिकज्वर लक्षण—इस ज्वर में निद्रा का नाश, शिरोभ्रम, श्वास की अधिकता, तन्द्रा, अङ्गों की सुप्तता, अरुचि, तृषाधिक्य, मूर्च्छा, मद, शरीर की जकड़ाहट, कभी दाह और कभी शीत, हृदय में पीड़ा, देर से दोषों का पाक, उन्माद, दाँतों में कालापन, जिह्वा की कर्कशता तथा कृष्णता, सन्धियों, मस्तिष्क और अस्थियों में वेदना, नेत्र कुटिल और मलिन, कानों में शब्द और वेदना, एवं प्रलाप, मुख-नासा आदि स्रोतसों का पाक, कूजन कराहना या कण्ठ में अव्यक्त शब्द होना, चेतना का नाश, पसीना, मूत्र और मल का बहुत देर में थोड़ा-थोड़ा करके बाहर आना, इस तरह सर्व दोषों के प्रकोप से उत्पन्न सन्निपात ज्वर में सर्व दोषों के लक्षण मिलते हैं। इस सन्निपात ज्वर की विशिष्टता या इसके विशिष्ट भेद को आगे कहता हूँ, उसे सुनो॥

नात्युष्णशीतोऽल्पसंज्ञो भ्रान्तप्रेक्षी हतस्वरः ।
खरजिह्वः शुष्ककण्ठः स्वेदविण्मूत्रवर्जितः ॥ ३९ ॥
सास्रो निर्भुग्नहृदयो भक्तद्वेषी हतप्रभः ।
श्वसन् निपतितः शेते प्रलापोपद्रवायुतः ॥ ४० ॥
तमभिन्यासमित्याहुर्हतौजसमथापरे ।
सन्निपातज्वरं कृच्छ्रमसाध्यमपरे विदुः ॥ ४१ ॥

सन्निपातज्वरविशिष्टभेद—रोगी के शरीर में न अधिक उष्णता और न अधिक शीतता तथा अल्प चेतना की प्रतीति हो, रोगी भ्रान्त प्रकार से पदार्थों को देखता हो, स्वर नष्ट हो गया हो, जिह्वा खुरदरी हो गई हो, कण्ठ सूख गया हो तथा पसीना, मल और मूत्र की प्रवृत्ति बन्द हो गई हो, आंखों में आँसू भरे हों, हृदय में ऐंठन या हृदय के बैठने (Heart failure) की स्थिति हो, भोजन में द्वेष करता हो, प्रभा (देहदीप्ति) क्षीण हो गई हो, जोर से या कृच्छ्रता से सांस लेते हुये गिर कर सो जाता हो तथा प्रलाप आदि उपद्रवों से युक्त हो ऐसे लक्षणों वाले ज्वर को अभिन्यास ज्वर कहते हैं तथा अन्य आचार्यों ने इसे हतौजस ज्वर कहा है। इस प्रकार के सन्निपात ज्वर को कृच्छ्रसाध्य माना है तथा अन्य आचार्यों ने इसे असाध्य कहा है ॥ ३९-४१ ॥

विमर्शः—अन्यत्र भी सन्निपात ज्वर की साध्यासाध्यता के विषय में लिखा है कि दोषों के विबद्ध (अवरुद्ध) होने तथा अग्नि के नष्ट होने पर एवं ज्वर के सम्पूर्ण लक्षण मिलते हों तो वह सन्निपातज्वर असाध्य है, अन्यथा कृच्छ्रसाध्य या अन्याङ्गों में विकलताजनक होता है—दोषे विबद्धे नष्टेऽग्नौ सर्वसम्पूर्णलक्षणः । असाध्यः सोऽन्यथा कृच्छ्रो भवेद्वैकल्यदोऽपि वा ॥ वस्तुतस्तु सन्निपातज्वररूपी समुद्र में फँसे हुये रुग्ण की चिकित्सा करने वाला चिकित्सक मृत्यु के साथ युद्ध करता है तथा उसके विजयी होने पर वह सर्वश्रेय का पात्र होता है जैसा कि भालुकितन्त्र में लिखा है—मृत्युना सह योद्धव्यं सन्निपातं चिकित्सता । यस्तु तत्र भवेज्जेता स जेताऽऽमयसङ्कुले ॥ सन्निपातार्णवे मग्नं योऽभ्युद्धरति मानवम् । कस्तेन न कृतो धर्मः कां वा पूजां न सोऽर्हति ॥

निद्रोपेतमभिन्यासं क्षीणमेनं हतौजसम् ।
संन्यस्तगात्रं संन्यासं विद्यात्सर्वात्मके ज्वरे ॥ ४२ ॥

विविधसन्निपातज्वरभेद—जिस सर्वदोषप्रकोपात्मक सन्निपातज्वर में निद्रा की अधिकता हो अर्थात् रोगी बिना होश के सोया ही पड़ा रहे उसे अभिन्यास कहते हैं तथा जिसमें दिन-प्रतिदिन क्षीण होता जाय उसे हतौजस और जिसमें रोगी के अङ्ग-प्रत्यङ्ग शिथिल पड़े रहें उसे संन्यास नामक सन्निपातज्वर कहते हैं ॥ ४२ ॥

ओजो विस्रंसते यस्य पित्तानिलसमुच्छ्रयात् ।
स गात्रस्तम्भशीताभ्यां शयनेप्सुरचेतनः ॥ ४३ ॥
अपि जाग्रत् स्वपन् जन्तुस्तन्द्रालुश्च प्रलापवान् ।
संहृष्टरोमा स्रस्ताङ्गो मन्दसन्तापवेदनः ॥
ओजोनिरोधजं तस्य जानीयात् कुशलो भिषक् ॥ ४४ ॥

ओजोनिरोधजसन्निपातलक्षण—जिस सन्निपातज्वर के रोगी में

पित्त और वायु की अधिकता के कारण ओज चलायमान (विस्रंसित) हो जाता हो तथा उसका शरीर जकड़ाहट युक्त और शीत हो गया हो एवं जो ज्वरी सदा शयन करना ही चाहता हो और जागते और सोते अचेत सा पड़ा रहता हो तथा तन्द्रा और प्रलापयुक्त हो एवं उसके शरीर के बाल रोमाञ्चित हो गये हों, अङ्ग ढीले पड़ गये हों, शरीर का ताप और वेदना भी मन्द हो गई हो ऐसी अवस्था में कुशल वैद्य उसे ओजोनिरोधजन्य सन्निपात समझें ॥ ४३-४४ ॥

विमर्शः—सन्निपात ज्वर का प्रभाव रस-रक्तादि शुक्रान्त सप्त धातुओं तथा ओज पर पड़ता है एवं शरीर के अन्तरङ्ग व बहिरङ्ग सर्व अङ्ग-प्रत्यङ्गों पर होता है। इसी प्रकार शरीर की केशिकाओं का मार्ग अवरुद्ध हो जाने से या रस-रक्तादि-वाहक सूक्ष्मस्रोतसों का मार्ग अवरुद्ध हो जाने से मस्तिष्क में रक्त पर्याप्त मात्रा में नहीं पहुँचने से वह विकृत हो जाता है जिससे रोगी असम्बद्ध प्रलाप करता है। इसी प्रकार कभी कभी मूर्च्छा भी आ आती है। श्वासनलिकाओं में कफ की वृद्धि हो जाने से खाँसी तथा कफ द्वारा स्रोतोमार्ग अवरुद्ध हो जाने से श्वास की प्रवृत्ति भी हो जाती है। जिह्वा पर लाल अंकुर निकल आते हैं तथा कभी कभी समग्र मुख और गला अंकुरवत् रचनाओं से परिपूर्ण हो जाता है जिससे रोगी मुख द्वारा किसी भी खाद्य या पेय को ग्रहण करने में असमर्थ हो जाता है एवं बोलने में भी उसे कष्ट होता है। वाणीकेन्द्र (Speech Center) पर प्रभाव पड़ने से मन्दवचनता या मूकता होती है। कण्ठ में कफ का निरोध होने पर कपोतकूजनवत् शब्द सुनाई देता है। प्राचीनों ने सन्निपात ज्वर में तीनों दोषों की न्यूनाधिक वृद्धि (प्रकोप) मानी है। कुछ लोगों ने शङ्का की है कि वातादि दोष परस्पर विरुद्ध गुण वाले होते हैं तथा ऐसे दोषों का मिलकर सन्निपातरूपी एक कार्य को उत्पन्न करना असम्भव है क्योंकि एक दूसरे के गुण परस्पर विरोधी होने से उनका संशमन हो जाना चाहिये। जैसे कि तुहिन (तुषार) और अग्नि का मेल हो जाने पर शीतधर्मी तुहिन से अग्नि बुझ जाती है। ऐसी स्थिति में शीत-रूक्षादि गुण युक्त वायु का उष्ण-स्निग्धादि गुण युक्त पित्त के साथ विरोध है तथा गौरव और स्निग्धात्मक कफ का वात-पित्त के साथ विरोध है अतः सन्निपात ज्वर उत्पन्न ही नहीं होना चाहिये। इसका च० चि० अ० २६ में दृढबलाचार्य ने सुन्दर युक्तियुक्त उत्तर दिया है कि ये दोष परस्पर विरोध वाले होते हुये भी एक दूसरे को नष्ट नहीं करते हैं अर्थात् एक दूसरे की वृद्धि या प्रकोपण में कोई बाधा उत्पन्न नहीं करते हैं जैसे कि सर्प की दंष्ट्रा में स्थित विष सहज और सात्म्य होने से उसका विनाश नहीं करता—विरुद्धैरपि न त्वेतैर्गुणैर्घ्नन्ति परस्परम्। दोषाः सहजसात्म्यत्वाद्घोरं विषमहीनिव ॥ गयदासाचार्य ने इस प्रश्न का संक्षेप में उत्तर दिया है कि दैववश तथा दोषस्वभाववश सान्निपातिक ज्वर में वातादिकों के परस्पर विरुद्ध गुणों से एक दूसरे का विनाश नहीं होता है—दैवाद्दोषस्वभावाद्वा दोषाणां सान्निपातिके। विरुद्धैः स्वगुणैः कश्चिन्नोपघातः परस्परम् ॥ द्वितीय शङ्का यह भी है कि क्या मिथ्याहार-विहार से वातादि दोष एक साथ कुपित होते हैं या विभिन्न काल में ? इस प्रश्न के समाधान में भी माधव की टीका में अनेक ऊहापोह करके उत्तर दिया गया है कि मिथ्याहार-विहार से युगपद् अथवा कालव्यवधान से तथा समबल या तारतम्य से परस्पर विरुद्ध भी दोष प्रकुपित होकर अपने अपने स्थान से आमाशय में आकर रस को दूषित करके द्वन्द्वज या सन्निपातज ज्वर को उत्पन्न करते हैं। आयुर्वेद का अटल नियम है कि एक प्रकुपित दोष सर्व दोषों को प्रकुपित कर देता है तथा एक दोष का संशमन होने पर सर्व दोषों का संशमन हो जाता है—एकः प्रकुपितो दोषः सर्वानेव प्रकोपयेत्। एकः प्रशमितो दोषः सर्वान् दोषान्विवारयेत् ॥ इसलिये आयुर्वेद में कहा है कि कोई भी रोग एकदोषजन्य नहीं होता है—'न रोगोऽप्येकदोषजः' तथा वातिक, पैत्तिक आदि व्यवहार तो उन तीनों दोषों में जिसकी अधिकता होती है उसी के नाम से होता है—'व्यपदेशस्तु भूयसा' सन्निपात के अन्दर साधारण रोगों की अपेक्षा ये दोष अत्यधिक उल्बण मात्रा में रहते हैं इस वास्ते सन्निपात ज्वर अपना अन्य त्रिदोषज रोगों से वैशिष्ट्य रखता है। इसके अतिरिक्त दोषों का प्रकोप एक या अनेक द्रव्यों के मिथ्योपयोग से तथा दैव-बल से होता है एवं कोई दोष या रोग दृष्टापराध से, कोई पूर्वापराध से तथा कोई रोग इनके साङ्कर्य से उत्पन्न होता है—दृष्टापराधजः कश्चित् कश्चित्पूर्वापराधजः। तत्सङ्कराद्भवत्यन्यो व्याधिरेवं त्रिधा स्मृतः ॥ त्रिदोषों के एक साथ प्रकुपित होने के अन्य कारण भी हैं जैसे पित्तक्षोभ की अवस्था में तिल का अभ्यङ्ग, रात्रि में दही का सेवन, निद्रा का नहीं लेना और अत्यधिक मैथुन आदि—पित्तक्षोभे तिलाभ्यङ्गो रात्रौ च दधिभोजनम्। अनिद्रा मैथुनं यस्य सन्निपातो भवेद् ध्रुवम् ॥ सुश्रुताचार्य ने केवल अभिन्यास नामक एक ही सन्निपात का वर्णन किया है। इसी प्रकार माधवकार ने भी हीन, मध्य आदि दोषानुसार सन्निपात के बारह या तेरह भेद न करके केवल समान मात्रा में अपने प्रमाण से बढ़े हुए तीनों दोषों से उत्पन्न सन्निपात ज्वर के लक्षणों का ही वर्णन किया है। वाग्भटाचार्य ने भी सन्निपात के अनेक भेद नहीं किये हैं किन्तु कुछ लक्षणों में विशिष्टता प्रदर्शित की है। शीत का अधिक लगना, दिन में अत्यधिक निद्रा आना तथा रात्रि में जागरण करना या नींद न आना, एवं सदा ही निद्रा में व्याप्त रहना या सदा निद्रा ही न आना, अत्यधिक स्वेद होना अथवा स्वेद का अभाव तथा रोगी गाने, नाचने और हास्य आदि विकृति की इच्छा करता है—तद्वच्छीतं महानिद्रा दिवा जागरणं निशि। सदा वा नैव वा निद्रा महान् स्वेदोऽथवा न वा। गीतनर्तनहास्यादिविकृतेहाप्रवर्तनम् ॥ (वा० नि० अ० २) चरकाचार्य ने त्रिदोषों में पर्याय से दोषों की उल्बणता तथा मध्यता और अवरता (अल्पता) कल्पना करके सन्निपात ज्वर के दश भेद किये हैं—(१) वातपित्तोल्बणसं०—भ्रमः पिपासा दाहश्च गौरवं शिरसोऽतिरुक्। वातपित्तोल्बणे विद्याल्लिङ्गं मन्दकफे ज्वरे ॥ (२) वातश्लेष्मोल्बणसं०—शैत्यं कासोऽरुचिस्तन्द्रापिपासादाहरुग्व्यथाः। वातश्लेष्मोल्बणे व्याधौ लिङ्गं पित्तावरे विदुः ॥ (३) पित्तकफोल्बणसं०—छर्दिः शैत्यं मुहुर्दाहस्तृष्णा मोहोऽस्थिवेदना। मन्दवाते व्यवस्यन्ति लिङ्गं पित्तकफोल्बणे ॥ (४) वातोल्बणसं०—सन्ध्यस्थिशिरसः शूलं प्रलापो गौरवं भ्रमः। वातोल्बणे स्याद् द्व्यनुगे तृष्णा कण्ठास्यशुष्कता ॥ (५) पित्तोल्बणसं०—रक्तविण्मूत्रता दाहः स्वेदस्तृष्णा बलक्षयः। मूर्च्छा चेति त्रिदोषे स्याल्लिङ्गं पित्ते गरीयसि ॥

(६) कफोल्बणसं०—आलस्यारुचिहृल्लासदाहवम्यरतिभ्रमैः। कफोल्बणं सन्निपातं तन्द्राकासेन चादिशेत्॥ (७) हीनमध्योल्बणदोषजसं०—हीनवाते पित्तमध्ये लिङ्गं श्लेष्माधिके मतम्। (८) हीनवाते मध्यकफे लिङ्गं पित्ताधिके मतम्॥ (९) शिरोरुग्वेपथुश्वासप्रलापच्छर्द्यरोचकाः। हीनपित्ते मध्यकफे लिङ्गं वाताधिके मतम्॥ (१०) शीतता गौरवं तन्द्रा प्रलापोऽस्थिशिरोऽतिरुक्। हीनपित्ते वातमध्ये लिङ्गं श्लेष्माधिके विदुः॥ (११) वर्चोभेदोऽग्निदौर्बल्यं तृष्णा दाहोऽरुचिर्भ्रमः। कफहीने वातमध्ये लिङ्गं पित्ताधिके विदुः॥ (१२) श्वासः कासः प्रतिश्यायो मुखशोषोऽतिपार्श्वरुक्। कफहीने पित्तमध्ये लिङ्गं वाताधिके मतम्। (च० चि० अ० ३) **इस तरह हीनमध्याधिक्य से ६, द्व्युल्बणदोषों से तीन तथा एक-एक दोष की उल्बणता से तीन ऐसे कुल बारह तथा सर्वदोषों की समता से तेरहवाँ सन्निपात होता है। भालुकि तन्त्र में द्व्युल्बण, एकोल्बण आदि सन्निपात ज्वर के लक्षण भिन्न प्रकार से लिखे हैं तथा उनमें प्रत्येक के लिये नाम भी दिये गये हैं जिन्हें माधवनिदान की मधुकोष टीका में पढ़ें। यहाँ उनका केवल नाम मात्र दिया जाता है—(१) विस्फुरक या वातोल्बण सन्निपात। (२) पित्तोल्बण या आशुकारी सन्निपात। इसके लक्षण आन्त्रिक (Typyoid) ज्वर से मिलते हैं। (३) कफोल्बण या कम्पण सन्निपातज्वर। (४) वातपित्तोल्बण या विभुसन्निपातज्वर। (५) पित्तश्लेष्मोल्बण या फल्गुसन्निपातज्वर। (६) वातश्लेष्मोल्बण या मकरीसन्निपातज्वर। (७) हीनवात-मध्यपित्त-कफोल्बण या वैदारिक सन्निपातज्वर। (८) मध्यवात-हीनपित्त-कफोल्बण या कर्कोटकसन्निपातज्वर। (९) अधिकवात-मध्यपित्त-हीन कफ या सम्मोह सन्निपातज्वर। (१०) हीनवात-वृद्धपित्त-मध्यकफ या याम्यकसन्निपातज्वर। (११) मध्यवात-अधिकपित्त-हीनकफ या क्रकचसन्निपातज्वर (१२) अधिक वात-हीनपित्त-मध्यकफ या पाकलसन्निपातज्वर (१३) प्रवृद्धत्रिदोष या कूटपाकलसन्निपातज्वर। योगरत्नाकर में भी तन्त्रान्तर से सन्निपातज्वरों के सन्धिक, अन्तक आदि नाम दिये गये हैं**—सन्धिकश्चान्तकश्चैव रुग्दाहश्चित्तविभ्रमः। शीताङ्गस्तन्द्रिकश्चैव कण्ठकुब्जश्च कर्णकः॥ विख्यातो भुग्ननेत्रश्च रक्तष्ठीवी प्रलापकः। जिह्वकश्चेत्यभिन्यासः सन्निपातास्त्रयोदश॥ **सन्निपातज्वरकारण**—विरोधकैरन्नपानैरजीर्णाभ्यसनेन च। व्याभिमर्शेनवाप्यापि सन्निपातः प्रकुप्यति॥ **विरोधी अन्न-पान तथा अजीर्णावस्था में भोजन आदि कारणों से सन्निपात (त्रिदोष) प्रकुपित होते हैं।** अन्यच्च—अम्लस्निग्धोष्णतीक्ष्णैः कटुमधुरसुरातापसेवाकषायैः—कामक्रोधातिरूक्षैर्गुरुतरपिशिताहारसौहित्यशीतैः। शोकव्यायामचिन्ताग्रहगणवनितात्यन्तसङ्गप्रसङ्गैः—प्रायः कुप्यन्ति पुंसां मधुसमयशरद्वर्षणे सन्निपाताः॥

> सप्तमे दिवसे प्राप्ते दशमे द्वादशेऽपि वा।
> पुनर्घोरतरो भूत्वा प्रशमं याति हन्ति वा॥ ४५॥

सन्निपातज्वरमोक्ष-वधमर्यादा—**सातवें दिन, दसवें दिन, अथवा बारहवें दिन फिर एक बार ज्वर तीव्र स्वरूप में होकर शान्त हो जाता है अथवा रोगी को मार डालता है॥४५॥**

विमर्शः—उक्त श्लोक में सात, दश तथा बारह दिन की जो ज्वरमोक्ष या रोगी के मृत्यु की कालमर्यादा लिखी है वह दोषानुसार समझनी चाहिए अर्थात् वातोल्बण ज्वर में सात दिन, पित्तोल्बण ज्वर में दस दिन तथा कफोल्बण ज्वर में बारह दिन में मलपाक होने पर रोगी ज्वरमुक्त हो जाता है तथा धातुपाक होने पर रोगी की मृत्यु हो जाती है। जैसा कि कहा है—पित्तकफानिलवृद्ध्या दशदिवसद्वादशाहसप्ताहात्। हन्ति विमुञ्चति वाऽपि त्रिदोषजो धातुमलपाकात्॥ **धातुपाकलक्षणं यथा**—सम्बाध्यमानो हृदि नाभिदेशे गात्रेषु वा पाकरुजान्वितेषु। पक्वेषु वा तेषु रुजाज्वरार्तः स धातुपाकी कथितो भिषग्भिः॥ **धातुपाकलक्षणान्तर**—नाभेरूर्ध्वं हृदोऽधस्ताद् पीडिते चेद्व्यथा भवेत्। धातोः पाकं विजानीयादन्यथा तु मलस्य च॥ **भालुकितन्त्रोक्तमोक्षवधमर्यादा**—सप्तमी द्विगुणा या तु नवम्येकादशी तथा। एषा त्रिदोषमर्यादा मोक्षाय च वधाय च॥ **इसमें वाताधिक सन्निपात ज्वर का मोक्ष या रुग्णमृत्यु का समय सात या चौदह दिन तथा पित्ताधिक सन्निपात ज्वर का मोक्ष या रुग्णमृत्यु का समय नव या अट्ठारह दिन तथा कफाधिक सन्निपात ज्वर का मोक्ष या रुग्णमृत्यु का समय ग्यारह या बाईस अथवा बारह या चौबीस दिन माना गया है॥४५॥**

> द्विदोषोच्छ्रायलिङ्गास्तु द्वन्द्वजास्त्रिविधाः स्मृताः॥४६॥

द्वन्द्वजज्वर लक्षण—दो दो दोषों के संयोग के कारण उत्पन्न होने वाले द्वन्द्वज ज्वर तीन प्रकार के होते हैं॥ ४६॥

विमर्शः—वातपित्तजन्य, वातकफजन्य और पित्तकफजन्य ऐसे द्वन्द्वज ज्वरों के तीन भेद हैं। इन द्वन्द्वज तथा सान्निपातिक ज्वरों में कुछ लक्षण प्रकृतिसमसमवायारब्ध होते हैं तथा कुछ लक्षण विकृतिविषमसमवायारब्ध होते हैं। प्रकृतिसमसमवाय तथा विकृतिविषमसमवाय का अर्थ निम्न रूप से किया गया है—'प्रकृत्या हेतुभूतया समः कारणानुरूपः समवायः कार्यकारणभावसम्बन्धः प्रकृतिसमसमवायः' **अर्थात् रोग की प्रकृति निदान या कारण के समान समवाय या कार्यकारणभाव सम्बन्ध का होना प्रकृतिसमसमवाय कहलाता है जैसे श्वेत तन्तुओं से बना हुआ कपड़ा श्वेत ही होता है उसी प्रकार कफपित्तज्वर में कफ का लक्षण लिप्तमुखता और पित्त का लक्षण तिक्तमुखता का होना है। इस तरह कारण के अनुरूप कार्य की प्रवृत्ति ही प्रकृतिसमसमवाय है। प्रकृतिसमसमवायारब्ध ज्वर में वात या पित्त या कफ जिस दोष के प्रकोप से ज्वर उत्पन्न होगा उसी दोष के सम्पूर्ण या असम्पूर्ण लक्षण मिलेंगे। विकृतिविषमसमवाय**—'विकृत्या हेतुभूतया विषमः कारणाननुरूपः समवायो विकृतिविषमसमवायः' **अर्थात् विकृति के कारण विषम या कारण के विपरीत समवाय या कार्यकारणभाव सम्बन्ध को विकृतिविषमसमवाय कहते हैं। जैसे पीली रङ्ग वाली हल्दी और श्वेत चूने के संयोग से विषम लाल रङ्ग की उत्पत्ति होती है, इसी तरह वातपित्त ज्वर के लक्षणों में रोम-हर्ष और अरुचि भी वात या पित्त के स्वतन्त्र लक्षण न होकर भी इस अवस्था में मिलते हैं अतः इन्हें विकृतिविषम समवायारब्ध कहा जाता है: इस तरह कारण के अनुरूप कार्य का न होना ही विकृतिविषमसमवाय कहलाता है।**

> तृष्णा मूर्च्छा भ्रमो दाहः स्वप्ननाशः शिरोरुजा।
> कण्ठास्यशोषो वमथू रोमहर्षोऽरुचिस्तमः॥ ४७॥

वातपित्तज्वर लक्षण—**प्यास लगना, मूर्च्छा का होना, भ्रम, दाह, निद्रा का नाश, सिर में वेदना, कण्ठ (गले)**

और मुख का सूखना, वमन, रोगटों का खड़ा होना, अरुचि, आँखों के सामने अन्धेरा सा छाया रहना, सन्धियों में पीड़ा तथा बार बार जम्भाई आना ये वात-पित्त ज्वर के लक्षण हैं।

विमर्शः—वातपित्त ज्वर के उक्त लक्षण भी विकृति-विषम-समवायारब्ध हैं क्योंकि इनमें कतिपय लक्षण ही वात तथा पित्त के लक्षण हैं शेष लक्षणों में वैचित्र्य पाया जाता है। उदाहरणार्थ जैसे रोमहर्ष और अरुचि ये दोनों न तो वात के ही लक्षण हैं और न पित्त के।

पर्वभेदश्च जृम्भा च वातपित्तज्वराकृतिः।
स्तैमित्यं पर्वणां भेदो निद्रा गौरवमेव च ॥ ४८ ॥
शिरोग्रहः प्रतिश्यायः कासः स्वेदाप्रवर्त्तनम्।
सन्तापो मध्यवेगश्च वातश्लेष्मज्वराकृतिः ॥ ४९ ॥

वातश्लेष्मज्वर लक्षण—शरीर का गीले कपड़े से भीगा सा रहना, सन्धियों में पीड़ा का होना, निद्रा का अधिक आना, शरीर में भारीपन, शिर में जकड़ाहट सा प्रतीत होकर शूल चलना, प्रतिश्याय, कास, पसीने का न आना, सन्ताप की प्रतीति तथा ज्वर का वेग मध्य रहना वातश्लेष्म ज्वर के लक्षण हैं ॥ ४८–४९ ॥

विमर्शः—स्वेदाप्रवर्तन—यद्यपि स्वेद की अप्रवृत्ति यह अर्थ वात और कफ जन्य ज्वर में सङ्गत है अतः टीका में यही अर्थ किया गया है किन्तु माधवनिदान-मधुकोष टीका में कार्तिक ने इस ज्वर के विकृतिविषमसमवायारब्ध होने से स्वेद की अत्यधिक रूप से प्रवृत्ति अर्थ किया है—'स्वेदस्य आ समन्तादकारणेन प्रवर्तनमिति' हारीत ने भी कफवातज्वर के लक्षण में स्वेदप्रवृत्ति लक्षण लिखा है—'शिरोग्रहः स्वेदभवो ज्वरस्य कासश्च लिङ्गं कफवातजस्य॥'

लिप्ततिक्तास्यता तन्द्रा मोहः कासोऽरुचिस्तृषा।
मुहुर्दाहो मुहुः शीतं श्लेष्मपित्तज्वराकृतिः ॥५०॥

श्लेष्मपित्तज्वरलक्षण—मुख में कफ के कारण लेप हुआ सा रहना तथा पित्त के कारण मुख के स्वाद का तिक्त (कड़वा) सा रहना एवं तन्द्रा; मूर्च्छा, कास, अरुचि, तृषा (प्यास) तथा बार-बार शरीर में दाह (गरमी) लगना और फिर बार-बार शीत का अनुभव होना ये श्लेष्मपित्तजन्य ज्वर के लक्षण होते हैं ॥ ५० ॥

विमर्शः—तन्द्रा—इन्द्रियार्थेष्वसंवित्तिर्गौरवं जृम्भणं क्लमः। निद्रार्त्तस्येव यस्येहा तस्य तन्द्रां विनिर्दिशेत् ॥ चरकाचार्य ने स्तम्भ, स्वेद और कफपित्त की प्रवृत्ति के विशिष्ट लक्षण लिखे हैं—'तथा स्तम्भश्च संस्वेदः कफपित्तप्रवर्त्तनम्' अन्यच्च—मुहुर्दाहो मुहुः शीतं स्वेदस्तम्भो मुहुर्मुहुः। मोहः कासोऽरुचिस्तृष्णा श्लेष्मपित्तप्रवर्तनम् ॥

(जृम्भाऽऽध्मानमदोत्कम्पपर्वभेदपरिक्षयाः।
तृट्प्रलापाभितापाः स्युर्ज्वरे मारुतपैत्तिके ॥१॥

वातपित्तज्वरलक्षण—जृम्भा (जम्हाई आना), पेट का फूलना, मद, शरीर में कम्पन, सन्धियों में पीड़ा, शरीर की निर्बलता, तृषा, प्रलाप और समग्र देह में जलन ये लक्षण वातपित्तज्वर के होते हैं ॥ १ ॥

शूलकासकफोत्क्लेशशीतवेपथुपीनसाः।
गौरवारुचिविष्टम्भा वातश्लेष्मसमुद्भवे ॥ २ ॥

वातश्लेष्मज्वरलक्षण—शूल, कास, कफ का उत्क्लेश, शीत का अनुभव, कम्पन, पीनस, शरीर में भारीपन, अरुचि और विष्टम्भ ये लक्षण वातश्लेष्मज्वर में होते हैं ॥ २ ॥

शीतदाहारुचिस्तम्भस्वेदमोहमदभ्रमाः।
कासाङ्गसादहृल्लासा भवन्ति कफपैत्तिके ॥ ३ ॥)

कफपैत्तिकज्वरलक्षण—शीत, दाह, अरुचि, शरीर में स्तम्भ (जकड़ाहट), स्वेद का निर्गमन, मोह (अज्ञान या मूर्च्छा), मद, चक्कर, कास, अङ्गों में टूटन और हृल्लास (जी का मिचलाना) ये लक्षण कफपैत्तिक ज्वर में होते हैं ॥ ३ ॥

कृशानां ज्वरमुक्तानां मिथ्याऽऽहारविहारिणाम्।
दोषः स्वल्पोऽपि संवृद्धो देहिनामनिलेरितः ॥५१॥
सततान्येद्युष्कत्र्याख्य-चातुर्थान् सप्रलेपकान्।
कफस्थानविभागेन यथासंख्यं करोति हि ॥५२॥

विषमज्वरसम्प्राप्ति—ज्वर से मुक्त हुये दुर्बल पुरुषों के मिथ्या आहार-विहार करने से देह में पूर्व से अवस्थित स्वल्प भी दोष वायु की प्रेरणा से बढ़ कर कफस्थान के विभागानुसार यथासंख्यक्रम से सतत, अन्येद्युष्क, त्र्याख्य (तृतीयक), चातुर्थिक और प्रलेपक ज्वरों को उत्पन्न करते हैं ॥ ५१–५२ ॥

विमर्शः—उक्त श्लोकों में विभिन्न विषम ज्वरों की सकारण संप्राप्ति का वर्णन किया गया है। ऐसे साधारण ज्वर की सम्प्राप्ति पूर्व में 'मिथ्याहारविहाराभ्यां दोषा ह्यामाशयाश्रयाः। बहिर्निरस्य कोष्ठाग्निं ज्वरदाः स्यू रसानुगाः॥' श्लोक द्वारा प्रदर्शित की गई है। आयुर्वेद की दृष्टि से पूर्व में किसी अन्य प्रकार के (साधारण ज्वर, आन्त्रिकज्वर, श्वसनकज्वर) ज्वरों के होकर स्वस्थ हो जाने के अनन्तर कुछ स्वल्प दोष शरीर में विद्यमान रहते हैं और उस स्थिति में मिथ्या आहार-विहार करने से वे अवस्थित दोष बढ़ कर विषमज्वर कर देते हैं। वर्तमान चिकित्सा शास्त्र का कथन है कि किसी भी स्वस्थ पुरुष को मलेरिया के जीवाणु से युक्त मच्छर जब काटता है तो वह उस जीवाणु को उस व्यक्ति के रक्त में पहुँचा (Inject कर) देता है और उसकी वृद्धि से विषमज्वर होता है। मलेरिया के उत्पन्न होने के लिये उस व्यक्ति को पूर्व में किसी प्रकार का ज्वर हुआ हो या न हुआ हो इसका कोई महत्त्व नहीं है। कफस्थानविभाग—'उरःशिरोग्रीवापर्वाण्यामाशयो मेदश्च श्लेष्मणः स्थानानि, तत्रापि उरो विशेषेण श्लेष्मस्थानम्' (च० सू० अ० २०), उर (वक्षस्थल), शिर, ग्रीवा, पर्व (सन्धियाँ), आमाशय और मेद ये चरक ने श्लेष्मस्थान माने हैं। आचार्य सुश्रुत तथा वाग्भट ने श्लेष्मा के विशेषरूप से पाँच स्थान माने हैं। (१) आमाशय में रहनेवाले श्लेष्मा को अन्नक्लेदन करने से क्लेदक कहा है—'क्लेदकः सोऽन्नसंघातक्लेदनात्' (२) उरःस्थ कफ को अन्य कफस्थानों का अवलम्बनकारी होने से अवलम्बक कहा है—'कफधाम्नाञ्च शेषाणां यत्करोत्यवलम्बनम्। ततोऽवलम्बकः श्लेष्मा' (वाग्भट) (३) कण्ठस्थ श्लेष्मा को रस का बोधन करने से बोधक कहा है तथा यह जिह्वा में विशेषरूप से रहता है—'रसबोधनाद्बोधको रसनास्थायी' (४) शिरस्थ कफ को ज्ञानेन्द्रियों का तर्पण करने के कारण तर्पक कहा है 'शिरःसंस्थोऽक्षतर्पणात्तर्पकः' (५) सन्धिस्थ श्लेष्मा सन्धियों का श्लेषण करने से श्लेषक

कहा गया है 'सन्धिसंश्लेषाच्छ्लेषकः सन्धिषु स्थितः' इस प्रकार उपर्युक्तरूप से पञ्चविध कफ के पञ्च स्थान माने गये हैं। दोष आमाशयस्थ होने पर सततज्वर को उत्पन्न करता है और यह ज्वर अहोरात्र में दो बार आता है—'अहोरात्रे सततको द्वौ कालावनुवर्तते' (मा० नि०) उरःस्थ दोष दूसरे दिन ज्वर करता है, दोष कण्ठस्थ होने पर तीसरे दिन ज्वर करता है, शिरःस्थ दोष चौथे दिन ज्वर करता है तथा दोषों के सन्धियों में स्थित होने पर प्रलेपकज्वर की उत्पत्ति होती है। चरकाचार्य ने सततकादि ज्वरों की उत्पत्ति में निम्न रक्तधात्वादि का आश्रय प्रदर्शित किया है—रक्तधात्वाश्रयः प्रायो दोषः सततकं ज्वरम्। सप्रत्यनीकः कुरुते कालवृद्धिक्षयात्मकम्॥ अहोरात्रे सततको द्वौ कालावनुवर्तते। कालप्रकृतिदूष्याणां प्राप्यैकान्यतमाद् बलम्॥ दोषो मेदोवहा रुद्ध्वा नाडीरन्येद्युकं ज्वरम्। सप्रत्यनीकः कुरुते एककालमहर्निशि॥ दोषोऽस्थिमज्जगः कुर्यात्तृतीयकचतुर्थकौ। गतिद्वयैकान्तरान्येद्युर्दोषस्योक्तान्यथा परैः। रक्तमेवाभिसंसृज्य कुर्यादन्येद्युकं ज्वरम्। मांसस्रोतांस्यनुसृतो जनयेत्तु तृतीयकम्॥ ज्वरदोषः संसृतो हि मेदोमार्गं चतुर्थकम्। अन्येद्युष्कः प्रतिदिनं दिनं हित्वा तृतीयकः॥ दिनद्वयं यो विश्राम्य प्रत्येति स चतुर्थकः। अधिशेते यथा भूमिं बीजः काले प्ररोहति। अधिशेते तथा धातुं दोषः काले च कुप्यति॥ स वृद्धिं बलकालञ्च प्राप्य दोषस्तृतीयकम्। चतुर्थकञ्च कुरुते प्रत्यनीकबलक्षयात्। कृत्वा वेगं गतबलाः स्वे स्वे स्थाने व्यवस्थिताः। पुनर्विवृद्धाः स्वे काले ज्वरयन्ति नरं मलाः॥ (च० चि० अ० ३) अर्थात् प्रायः रक्त-मांसादि धातुओं को आश्रय करके दोष उचित काल में वृद्धि तथा उचित काल में क्षय होने वाले सततक ज्वर को उत्पन्न करता है। इसी प्रकार उचित काल, प्रकृति और दूष्यों में से किसी एक के बल को प्राप्त दोष मेदोधातुवाहक सिराओं (प्रणालियों) को अवरुद्ध कर के अहोरात्र में एक बार आने वाले अन्येद्युष्क ज्वर को उत्पन्न करता है। इसी तरह अस्थि तथा मज्जा का आश्रय करके दोष तृतीयक व चतुर्थक ज्वर को उत्पन्न करता है। यह तृतीयक ज्वर एक दिन को छोड़ कर आता है तथा चतुर्थक ज्वर दो दिन का विश्राम करके आता है। इन ज्वरों के नियत समय में आने का कारण भूमि में बीज के अधिशयन तथा योग्य समय आने पर अङ्कुरोत्पत्ति होने के उदाहरण द्वारा दोषों के नष्टबल होने पर धातुओं में संशमन तथा उग्रबल होने पर नियत समय में प्रकुपित होकर ज्वरोत्पत्ति की व्यवस्था प्रदर्शित की है। सन्तत ज्वरस्यावधिकालदूष्यादिविवेक—स्रोतोभिर्विसृता दोषा गुरवो रसवाहिभिः। सर्वदेहानुगाः स्तब्ध्वा ज्वरं कुर्वन्ति सन्ततम्॥ दशाहं द्वादशाहं वा सप्ताहं वा सुदुःसहः। स शीघ्रं शीघ्रकारित्वात् प्रशमं याति हन्ति वा॥ कालदूष्यप्रकृतिभिर्दोषस्तुल्यो हि सन्ततम्। निष्प्रत्यनीकं कुरुते तस्माज्ज्ञेयः सुदुःसहः॥ यथाधातु यथामूत्रं पुरीषं चानिलादयः। युगपच्चानुपद्यन्ते नियमात् सन्तते ज्वरे॥ स शुद्ध्या वाप्यशुद्ध्या वा रसादीनामशेषतः। सप्ताहादिषु कालेषु प्रशमं याति हन्ति वा॥ यदा तु नाति शुद्ध्यन्ति न वा शुद्ध्यन्ति सर्वशः॥ द्वादशैते समुद्दिष्टाः सन्ततस्याश्रयास्तदा॥ विसर्गं द्वादशे कृत्वा दिवसेऽव्यक्तलक्षणम्। दुर्लभोपशमः कालं दीर्घमप्यनुवर्तते॥ अर्थात् कुपित हुये वातादि दोष रसवाहक स्रोतसों के द्वारा समस्त शरीर में प्रसृत होकर सन्तत ज्वर उत्पन्न करते हैं। वातोल्बण सन्ततज्वर सात दिन में, पित्तोल्बण दस दिन में तथा कफोल्बण बारह दिन में प्रायः उतर जाता है किन्तु दोषपाक होने पर ज्वर का शमन होकर रुग्ण स्वस्थ हो जाता है और धातुपाक की दशा होने पर रुग्ण की मृत्यु हो जाती है। वातादि दोषों के प्रकोप के अनुकूल काल (ऋत्वादि), दूष्य (रस-रक्तादि) और रुग्ण की प्रकृति होने पर सन्ततज्वर की उत्पत्ति होती है। प्रायः सन्ततज्वर में वातादि दोष धातु, मूत्र और मलों में एक साथ प्रकुपित होकर ज्वर को उत्पन्न करते हैं। ऐसी स्थिति में रसादि आश्रयों के लङ्घनादि द्वारा सम्पूर्ण संशोधन होने पर सप्ताहादिक मर्यादित समय में रुग्ण स्वस्थ हो जाता है एवं दोष या धातुओं का संशोधन नहीं होने पर रुग्ण की मृत्यु हो जाती है। सन्ततज्वर के आश्रय तीन दोष, सात रक्तादि धातु तथा मल और मूत्र ऐसे बारह आश्रय माने गये हैं। इसीलिये चरकाचार्य ने लिखा है कि यदि दोषों की ठीक शुद्धि न हुई हो तो बारहवें दिन ज्वर का विसर्ग हो जाता है किन्तु वह अव्यक्त रूप से शरीर ही में रहता हुआ दीर्घकाल तक शरीर में बना रहता है। (च० चि०) आधुनिक दृष्टि से इसको (Continuous Fever or Remittent Fever) या अविसर्गी ज्वर कहते हैं तथा इसकी दैनिक परिवृत्ति दो अंश तक होती है। ज्वर मध्यकाल में स्वाभाविक अंश तक नहीं उतरता। इस प्रकार का ज्वर (Typhoid, Pneumonia तथा Cerebro-Spinal Fever) में मिलता है। आन्त्रिक ज्वर (टायफाइड) को पित्तोल्बण विषम सन्निपात ज्वर, फुफ्फुसपाक (न्यूमोनिया) को श्लेष्मोल्बण विषम सन्निपात ज्वर तथा मस्तिष्कसुषुम्ना ज्वर (सेरिब्रो स्पाईनल फीवर) को वातोल्बण विषम सन्निपातज्वर कह सकते हैं।

अहोरात्रादहोरात्रात् स्थानात् स्थानं प्रपद्यते।
ततश्चामाशयं प्राप्य दोषः कुर्याज्ज्वरं नृणाम्॥५३॥

दोषगतिजन्यज्वर—उरःप्रदेश में स्थित दोष एक अहोरात्र में उरःप्रदेश से आमाशय में जाते हैं तथा दूसरे अहोरात्र में अन्येद्युष्कज्वर को उत्पन्न करते हैं॥ ५३॥

विमर्शः—इसी प्रकार कण्ठप्रदेश में स्थित दोष एक अहोरात्र में हृदयप्रदेश में आते हैं और दूसरे अहोरात्र में आमाशय में आते हैं और तीसरे दिन तृतीयक ज्वर उत्पन्न करते हैं एवं शिरःप्रदेश में स्थित दोष कण्ठ, उर और आमाशय में तीन दिन में प्राप्त होकर चौथे दिन चातुर्थिकज्वर उत्पन्न करते हैं तथा आमाशयादि की सन्धियों में स्थित दोष प्रतिदिन प्रलेपक ज्वर को उत्पन्न करते हैं। प्रलेपक स्वरूप का ज्वर राजयक्ष्मा में होता है—प्रलिम्पन्निव गात्राणि घर्मेण गौरवेण च। मन्दज्वरविलेपी च सशीतः स्यात्प्रलेपकः॥

तथा प्रलेपको ज्ञेयः शोषिणां प्राणनाशनः।
दुश्चिकित्स्यतमो मन्दः सुकष्टो धातुशोषकृत्॥५४॥

प्रलेपकज्वरवैशिष्ट्य—यह प्रलेपकज्वर शोष (राजयक्ष्मा) रोगियों के प्राणों का नाशक माना गया है तथा मन्दवेगयुक्त रहता है एवं चिकित्सा में सुकष्टसाध्य एवं रस-रक्तादि धातुओं का शोषण करने वाला और अत्यन्त दुश्चिकित्स्य माना गया है॥५४॥

कफस्थानेषु वा दोषस्तिष्ठन् द्वित्रिचतुर्षु वा।

विपर्ययाख्यान् कुरुते विषमान् कृच्छ्रसाधनान् ॥५५॥

चतुर्थकादिविपर्ययज्वरलक्षण—कफ के स्थान हृदय, आमाशय आदि में स्थित दोष दूसरे, तीसरे और चौथे दिनों में विपर्यय-संज्ञक कृच्छ्रसाध्य विषमज्वरों को उत्पन्न करते हैं ॥ ५५ ॥

विमर्शः—वक्षस्थल और आमाशय में स्थित दोष अन्येद्युष्कविपर्ययज्वर करते हैं। यह ज्वर पूर्वाह्न के एक समय को छोड़कर शेष अहोरात्र भर रहता है। इसी तरह कण्ठ, हृदय और आमाशय में स्थित दोष तृतीयकविपर्ययज्वर को उत्पन्न करते हैं। हृदयस्थ दोष एक दिन में आमाशय में आकर ज्वर करते हैं तथा उसी दिन कण्ठ में स्थित दोष हृदय में आते हैं और दूसरे दिन वे ही दोष आमाशय में आकर ज्वर उत्पन्न करते हैं। इस तरह यह तृतीयकविपर्ययज्वर दो दिन रहकर तीसरे दिन नहीं रहता है। शिर, कण्ठ, उर और आमाशय इन चार स्थानों में स्थित दोष चातुर्थिकविपर्ययज्वर को उत्पन्न करते हैं। यह ज्वर तीन दिन तक लगातार रहकर चौथे दिन उतर जाता है। सततक ज्वर का वैपरीत्य नहीं होता क्योंकि दोष एक ही कफस्थान में रहते हैं किंवा इस रोग का स्वभाव ही ऐसा है।

परो हेतुः स्वभावो वा विषमे कैश्चिदीरितः।
आगन्तुश्चानुबन्धो हि प्रायशो विषमज्वरे॥ ५६ ॥

विषमज्वरकारण—कई लोग भूतादि को विषमज्वर का कारण मानते हैं, कुछ लोग स्वभाव को कारण मानते हैं किन्तु प्रायः विषमज्वर में आगन्तुक (बाह्य) कारण का सम्बन्ध निश्चित ही रहता है ॥ ५६ ॥

विमर्शः—माधव ने अभिघात, अभिचार, अभिशाप और अभिषङ्ग ये आगन्तुक-ज्वर के चार कारण माने हैं। विषमज्वर जीवाणु-(M. P.) उपसृष्ट स्त्री-जाति मच्छर (Anopheles) के काटने से मनुष्य के शरीर में प्रवेश कर लाल रक्तकण (R. B. C.) में विकसित होते हैं और अन्त में लालकणों को विदीर्ण करके बाहर आते हैं तो शीतादिलक्षणपूर्वक ज्वर का वेग प्रारम्भ होता है। विषमज्वर को उत्पन्न करने वाले जीवाणु विभिन्न प्रकार के होते हैं तथा इनका रक्तकण से बाहर आने का समय भी विभिन्न होता है अतएव ज्वर का आगमन भी भिन्न-भिन्न समय में होता है। इसी कालभिन्नता के कारण विषमज्वर के अन्येद्युष्क, तृतीयक आदि भेद होते हैं। इन जीवाणुओं के निम्न भेद हैं—(१) प्लाज्मोडियम वाइवेक्स—तृतीयक ज्वर को उत्पन्न करता है। (२) प्लाज्मोडियम मेलेरिया—चतुर्थक ज्वर को उत्पन्न करता है। (३) प्लाज्मोडियम फेलिसिपेरम—घातक तृतीयक ज्वर को उत्पन्न करता है। (४) प्लाज्मोडियम ओवेल—अघातक तृतीयक ज्वर को उत्पन्न करता है। विषमज्वर-जीवाणु-जीवनचक्र—(१) मैथुनीचक्र (Sexual cycle)—इसमें स्त्री और पुरुष दोनों जाति के जीवाणुओं की आवश्यकता होती है और यह चक्र मच्छरों के आन्त्र में पूर्ण होता है। जब व्यवायकयुक्त कण (Gameto cytes) दंश के समय मच्छर के आमाशय में प्रवेश करते हैं तब उनके ऊपर का आवरण आमाशयिकरस से गल जाता है और ये स्वतन्त्र हो जाते हैं और नर-व्यवायक मादा व्यवायक के शरीर में प्रवेश करते हैं और मिथुन (Zygote) बनकर उदरभित्ति में चिपक जाते हैं और वहीं मिथुन का विकास होता है और ऊसिस्ट बनते हैं। फिर ये ऊसिष्ट विभक्त हो जाते हैं, जिन्हें स्पोरोजाइट कहते हैं और ये स्पोरोजाइट मच्छर के शरीर में फैलते हैं तथा इनमें से कुछ मच्छर की लालाग्रन्थियों में पहुँच जाते हैं तथा जब वह मच्छर स्वस्थ मनुष्य को काटता है तब उसके दंश के समय ये मनुष्य-शरीर में प्रवेश करके अपना अमैथुनीचक्र प्रारम्भ करते हैं। मच्छर में यह चक्र दस दिन में पूरा होता है। अमैथुनीचक्र (Asexual cycle)—इस चक्र का प्रारम्भ स्पोरोजाइट से होता है। प्रथम ये स्पोरोजाइट मनुष्य के रक्तकण (R. B. C.) में प्रवेश करते हैं और वहाँ इनका विकास होकर ट्रोफोजाइटस बनते हैं और अन्त में ये भी विभक्त होकर मेरोजाइटस बन जाते हैं। इस विभाजन के समय उनके शरीर से लालकण में विष प्रवेश करता है तत्पश्चात् लालकण नष्ट हो जाते हैं जिससे मनुष्य एनीमिक (रक्ताल्पतायुक्त) हो जाता है। रक्तकणों के फूटने से विष के उनमें प्रवेश करने से मनुष्य को कम्प (Rigor) के साथ ज्वर आ जाता है। लालकणों के नष्ट होने पर मेरोजाइटस रक्तरस (Plasma) में प्रवेश करते हैं और वहाँ से दूसरे रक्तकणों में प्रविष्ट हो जाते हैं इस प्रकार यह अमैथुनीचक्र चलता रहता है। भिन्न-भिन्न प्रकार के विषमज्वर-जीवाणुओं के विकास की एक विशिष्ट अवधि होने के कारण ज्वर भी नियमपूर्वक आता है। प्लाज्मोडियम वाइवेक्स का जीवनचक्र ४८ घण्टे में पूर्ण होता है, अतः लालकण में प्रविष्ट हुये सम्पूर्ण मेरोजाइटस ४८ घंटे के पश्चात् लालकण को विदीर्ण करके बाहर आते हैं। इस जाति के जीवाणुओं का उपसर्ग होने पर प्रति तीसरे दिन ज्वर का वेग आया करता है अतएव प्राचीनों ने इस ज्वर का तृतीयक नाम दिया है—'तृतीयकस्तृतीयेऽह्नि' वा 'दिनं हित्वा तृतीयकः' प्लाज्मोडियम मलेरिया नामक उपजाति का जीवनचक्र ७२ घण्टों में पूर्ण होता है अतः लालकणों में लीन हुये मेरोजाइटस उक्त काल में रक्तकण को विदीर्ण करके बाहर आते हैं जिससे मध्य में दो दिन छोड़कर चौथे दिन ज्वर आता है और उसे चतुर्थक ज्वर (Quarten fever) कहते हैं—'दिनद्वयं यो विश्रम्य प्रत्येति स चतुर्थकः' (चरक)। अन्येद्युष्कज्वर—यह प्रतिदिन चौबीस घण्टे में एक बार आता है और पूर्ण विसर्गीस्वरूप का होता है, इसे (Quotidian fever) कहते हैं। तृतीयक-ज्वरोत्पादक प्लाज्मोडियम वाइवेक्स के दो स्वतन्त्र विभाग या वंश लगातार दो दिन होने से अन्येद्युष्कज्वर होता है। इसे तृतीयक-विपर्यय भी कह सकते हैं। जिस व्यक्ति को तृतीयक-जीवाणु का उपसर्ग एक तारीख और दूसरी तारीख ऐसे दो दिन तक हुआ हो, उनमें प्रथम दिन में शरीर में पहुँचे हुये वे पन्द्रह दिन के सञ्चयकाल के पश्चात् १५, १७, १९ आदि तारीखों में ज्वरोत्पादक होंगे। इसके अतिरिक्त दूसरी तारीख के उपसर्ग के कीटाणु १६, १८ और २० तारीखों में भी ज्वरकारक होंगे। इस तरह ज्वर का वेग प्रतिदिन आता है और उसे अन्येद्युष्क ज्वर कहते हैं। ऐसे ही चतुर्थक ज्वर के जीवाणुओं का भी पृथक्-पृथक् लगातार दो उपसर्ग होने से दूसरे प्रकार का ज्वर उत्पन्न होता है, उसे चतुर्थक-विपर्ययज्वर कहते हैं।

वाताधिकत्वात्प्रवदन्ति तज्ज्ञास्तृतीयकञ्चापि चतुर्थकञ्च।
औपत्यके मद्यसमुद्भवे च हेतुं ज्वरे पित्तकृतं वदन्ति ॥
प्रलेपकं वातबलासकञ्च कफाधिकत्वेन वदन्ति तज्ज्ञाः।
मूर्च्छाऽनुबन्धा विषमज्वरा ये प्रायेण ते द्वन्द्वसमुत्थितास्तु

विषमज्वरारम्भकदोषाः—ज्वरों के मर्म को समझने वाले तज्ज्ञ विद्वान् तृतीयक और चतुर्थक ज्वर को वाताधिक्ययुक्त द्वन्द्वज मानते हैं एवं औपत्यक (पर्वत-समीप की भूमि में होने वाले) ज्वर में तथा मद्यजन्य ज्वर में पित्त को कारण मानते हैं। इसी प्रकार प्रलेपक ज्वर (Hectic fever) और वातबलासक ज्वर को कफ की अधिकता से उत्पन्न हुआ मानते हैं। जिन विषमज्वरों में मूर्च्छा का अनुबन्ध रहता है वे ज्वर प्रायः करके द्वन्द्वज (दो-दो दोषों से उत्पन्न हुये) होते हैं॥ ५७–५८ ॥

विमर्शः—माधवकार ने त्रिकप्रदेश को जकड़ने वाले तृतीयक ज्वर को कफ और पित्त से उत्पन्न, पृष्ठ प्रदेश को जकड़ने वाले तृतीयक ज्वर को वात और कफ से उत्पन्न तथा शिर को जकड़ने वाले तृतीयक ज्वर को वात और पित्त से उत्पन्न मान कर तृतीयक के तीन भेद किये हैं—कफपित्तात् त्रिकग्राही पृष्ठाद्वातकफात्मकः। वातपित्ताच्छिरोग्राही त्रिविधः स्यात्तृतीयकः॥ इसी प्रकार चतुर्थक ज्वर का द्विविध प्रभाव माना है। श्लेष्मोल्वण चतुर्थक ज्वर प्रथम जंघाओं को पीड़ित करता हुआ ज्वर-वेग को करता है। वातोल्वण चतुर्थक ज्वर में प्रथम शिर में वेदना होती है तत्पश्चात् ज्वर का वेग व्यक्त होता है—चतुर्थको दर्शयति प्रभावं द्विविधं ज्वरः। जङ्घाभ्यां श्लैष्मिकः पूर्वं शिरसोऽनिलसम्भवः॥ (च० चि० अ० ३)। यहाँ पर यह शङ्का स्वाभाविक है कि त्रिकप्रदेश वात का स्थान है फिर वहाँ पित्त और कफ कैसे जाकर त्रिकग्राही होते हैं। उत्तर—प्रकृतिस्थ दोषों के लिये स्थान-नियम लागू होता है किन्तु प्रकुपित दोषों के लिये स्थान-नियम नहीं है। वे कुपितावस्था में कहीं भी शरीर में जाके व्याधि उत्पन्न कर सकते हैं, जैसा कि सुश्रुताचार्य ने स्पष्ट कहा है—कुपितानां हि दोषाणां शरीरे परिधावताम्। यत्र सङ्गः खवैगुण्याद्व्याधिस्तत्रोपजायते॥ चरकाचार्य ने सन्ततादि पाँचों ज्वरों को सान्निपातिक माना है—प्रायशः सन्निपातेन दृष्टः पञ्चविधो ज्वरः। सन्निपाते तु यो भूयान् स दोषः परिकीर्तितः॥ यहाँ पर प्रायः शब्द का ग्रहण करने से ये पञ्चविध विषमज्वर एकदोषज तथा द्विदोषज भी हो सकते हैं। पूर्व में चतुर्थक ज्वर को श्लेष्मोल्वण तथा वातोल्वण भेद से दो प्रकार का ही माना है किन्तु कुछ लोगों के मत से यह पित्तोल्वण भी होता है जैसा कि हारीत ने लिखा है—चतुर्थको नाम गदो दारुणो विषमज्वरः। शोषणः सर्वधातूनां बलवर्णाग्निनाशनः॥ त्रिदोषजो विकारः स्यादस्थिमज्जगतोऽनिलः। कुपितं पित्तमेवन्तु कफश्चैवं स्वभावतः॥ शीतदाहकरस्तीव्रस्त्रिकाळश्चानुवर्तते। सन्निपातसमुद्भूतो विषमो विषमज्वरः। ऊर्ध्वं कायस्य गृह्णाति यः पूर्वं सोऽनिलात्मकः। पूर्वं गृह्णात्यधःकायं श्लेष्मवृद्धश्चतुर्थकः॥ मध्यकायन्तु गृह्णाति पूर्वं यस्तु स पित्तजः॥ निष्कर्षः—प्रायः चतुर्थक ज्वर सान्निपातिक होते हुये भी त्रिदोषों में से जो भी दोष उल्वण होते हैं उनके नाम से उसे व्यपदिष्ट किया गया है। वातबलासकज्वर शोथ के रोगियों में होता है—नित्यं मन्दज्वरो रूक्षः शूनकस्तेन सीदति। स्तब्धाङ्गः श्लेष्मभूयिष्ठो नरो वातबलासकी॥ यह ज्वर आनूपदेश में रहने वाले तथा चावल के अधिक सेवन करने वाले मनुष्यों में पाया जाता है। इसे जानपदिक शोथ (Epidemic dropsy) कह सकते हैं। कुछ लोगों ने इसे बेरी-बेरी माना है किन्तु यह अनुचित है क्योंकि बेरी-बेरी में ज्वर बिल्कुल नहीं रहता है।

त्वक्स्थौ श्लेष्मानिलौ शीतमादौ जनयतो ज्वरे।
तयोः प्रशान्तयोः पित्तमन्ते दाहं करोति च॥ ५९॥
करोत्यादौ तथा पित्तं त्वक्स्थं दाहमतीव च।
प्रशान्ते कुरुतस्तस्मिञ्छीतमन्ते च तावपि॥ ६०॥
द्वावेतौ दाहशीतादी ज्वरौ संसर्गजौ स्मृतौ।
दाहपूर्वस्तयोः कष्टः कृच्छ्रसाध्यश्च स स्मृतः॥ ६१॥

दाहशीतपूर्वज्वर—प्रकुपित कफ और वायु त्वचा में अवस्थित हो कर प्रथम ज्वर में शीत उत्पन्न करते हैं तथा इनके शान्त हो जाने पर अन्त में पित्त प्रकुपित होकर दाह उत्पन्न करता है। इसी प्रकार प्रकुपित पित्त प्रथम त्वचा में अवस्थित होकर ज्वर के आदि में अत्यन्त दाह करता है तथा उसके शान्त हो जाने पर श्लेष्मा और वात अन्त में शीत उत्पन्न करते हैं। इस तरह ये दोनों दाहपूर्वक और शीतपूर्वक ज्वर संसर्गजन्य माने गये हैं। इनमें से दाहपूर्वक ज्वर अत्यन्त कष्टदायक तथा कृच्छ्रसाध्य माना गया है॥

विमर्शः—चरकाचार्य ने अन्तर्वेग तथा बहिर्वेग ऐसे दो ज्वरों का उल्लेख किया है। जिन में प्रकुपित पित्त के गम्भीर धातुओं में अवस्थित होने पर अन्तर्दाह तथा तृष्णा प्रलापादि लक्षण होते हैं तथा प्रकुपित पित्त के बाह्यत्वचा में अवस्थित होने पर चर्म पर अधिक ताप की प्रतीति किन्तु तृष्णादि अन्य लक्षण हलके होते हैं—अन्तर्दाहोऽधिकस्तृष्णा प्रलापः श्वसनं भ्रमः। सन्ध्यस्थिशूलमस्वेदो दोषवर्चोविनिग्रहः॥ अन्तर्वेगस्य लिङ्गानि ज्वरस्यैतानि लक्षयेत्। सन्तापोऽभ्यधिको बाह्यस्तृष्णादीनाञ्च मार्दवम्॥ बहिर्वेगस्य लिङ्गानि सुखसाध्यत्वमेव च। (च० चि० अ० ३) जेज्जटाचार्य का मत है कि जिस पुरुष के वात और कफ समान हों तथा पित्त क्षीण हो उसे प्रायः रात्रिज्वर होता है तथा कफ के हीन होने पर दिवाज्वर उत्पन्न होता है—समौ वातकफौ यस्य क्षीणपित्तस्य देहिनः। प्रायो रात्रौ ज्वरस्तस्य दिवा हीनकफस्य च॥ वायोः प्राधान्यम्—प्रायः वायु के बिना विषमज्वर नहीं हो सकता है क्योंकि कफ और पित्त निश्चेष्ट होते हैं तथा वायु सदा दोषादि-प्रसार में चेष्टा करता रहता है—नर्तेऽनिलाद्विषमज्वरः समुपजायते। कफपित्ते हि निश्चेष्टे चेष्टयत्यनिलः सदा॥ पवनो गतिवैषम्याद्विषमज्वरकारणम्॥ इस के अतिरिक्त चरकाचार्य ने कहा है कि ऋतु आदि के बलानुसार विषमज्वर के प्रकार विभिन्न रूपों को भी धारण कर लेते हैं—ऋत्वहोरात्रदोषाणां मनसश्च बलाबलात्। कालमर्थवशाच्चैव ज्वरस्तं तं प्रपद्यते॥ (च० चि०)।

प्रसक्तश्चाभिघातोत्थश्चेतनाप्रभवस्तु यः॥ ६२॥

निरन्तरज्वर—अभिघात (चोट आदि के लगने) से उत्पन्न ज्वर तथा चेतना (काम, क्रोध, शोकादि) से उत्पन्न ज्वर शरीर में सदा बना रहता है॥ ६२॥

विमर्श—चरक ने काम, क्रोधादि से उत्पन्न ज्वर को तथा भूत-प्रेत या जीवाणु से उत्पन्न ज्वर को अभिषङ्गज ज्वर माना है—कामशोकभयक्रोधैरभिषक्तस्य यो ज्वरः। सोऽभिषङ्गज्वरो ज्ञेयो यश्च भूताभिषङ्गजः॥ अभिप्रेत कामिनी स्त्री की अप्राप्ति से कामज्वर उत्पन्न होता है। इस ज्वर में रोगी गहरी सांस लेता है तथा कुछ ध्यानमग्न सा रहता है एवं लज्जा, धैर्य, लज्जा और निद्रा को खो बैठता है जैसा कि वाग्भटाचार्य ने स्पष्ट लिखा है—कामाद्भ्रमोऽरुचिर्दाहो ह्रीनिद्राधीधृतिक्षयः। अन्यच्च—कामजे चित्तविभ्रंशस्तन्द्राऽऽलस्यमभोजनम्। हृदये वेदना चास्य गात्रञ्च परिशुष्यति॥ काम-शोकज्वर में वायु प्रबल रहती है और क्रोधजन्य ज्वर में पित्त प्रबल रहता है तथा भूतादिजन्य ज्वर में तीनों दोष प्रबल होते हैं—कामशोकभयाद्वायुः क्रोधात्पित्तं त्रयो मलाः। भूताभिषङ्गात्कुप्यन्ति भूतसामान्यलक्षणाः॥ (च० चि० अ० ३)। विषवृक्षानिलस्पर्शज्वरः—विषवृक्षानिलस्पर्शात् तथाऽन्यैर्विषसम्भवैः। अभिषक्तस्य चाप्याहुर्ज्वरमेकेऽभिषङ्गजम्॥ तथाऽभिघातजे वायुः प्रायो रक्तं प्रदूषयन्। सव्यथाशोफवैवर्ण्यं करोति सज्वरे ज्वरम्॥

रात्र्यह्नोः षट्सु कालेषु कीर्त्तितेषु यथा पुरा।
प्रसह्य विषमोऽभ्येति मानवं बहुधा ज्वरः॥ ६३॥

विषमज्वरागमनकाल—जैसे व्रणप्रश्नाध्याय में कहे हुये रात्रि और दिनके अपने दोष-प्रकोप के छः समयों (पूर्वाह्न, मध्याह्न, अपराह्न, प्रदोष, अर्धरात्रि और प्रत्यूष) में विषमज्वर बलपूर्वक मनुष्य को विषमरूप से अर्थात् कभी शीतपूर्वक, कभी दाहपूर्वक आक्रान्त कर के अनेक प्रकार से आता है॥ ६३॥

स चापि विषमो देहं न कदाचिद् विमुञ्चति।
ग्लानि-गौरव-कार्श्येभ्यः स यस्मान्न प्रमुच्यते।
वेगे तु समतिक्रान्ते गतोऽयमिति लक्ष्यते॥६४॥
धात्वन्तरस्थो लीनत्वान्न सौक्ष्म्यादुपलभ्यते।
अल्पदोषेन्धनः क्षीणः क्षीणेन्धन इवानलः॥ ६५॥

विषमज्वर-नित्यावस्थान—यह विषमज्वर कभी भी प्राणी के शरीर को नहीं छोड़ता है। शरीर में ग्लानि, भारीपन और कृशता के बने रहने से देहको नहीं छोड़ता है किन्तु इस के वेग के अतिक्रान्त हो जाने पर ऐसा प्रतीत होता है कि यह चला गया है। किन्तु यह देह की धातुओं के अन्दर छिपा रहने से सूक्ष्म होने के कारण प्रतीत नहीं होता है क्योंकि उस समय शरीर में इन्धनरूपी दोष के अल्प होने से क्षीण हुआ सा माना जाता है जैसे लकड़ीरूपी इन्धन के जल जाने पर क्षीण अग्नि विद्यमान होते हुये भी जानी नहीं जाती है॥ ६४-६५॥

विमर्शः—अन्य तन्त्रान्तरों में भी यही आशय प्रदर्शित किया है—शिरसो गौरवं ग्लानिर्नाति श्रद्धा च भोजने। माधुर्यमथ वैरस्यं तिक्तत्वमथवा पुनः॥ वक्त्रस्य जायते यस्मात् प्रवेगेऽपि गते सति। तस्मात्तु नियतो लीनः शरीरे विषमज्वरः॥

दोषोऽल्पोऽहितसम्भूतो ज्वरोत्सृष्टस्य वा पुनः।
धातुमन्यतमं प्राप्य करोति विषमज्वरम्॥ ६६॥

विषमज्वर-सम्प्राप्ति—प्रारम्भावस्था से ही अल्प (बलहीन) दोष अथवा ज्वर के छूट जाने पर शरीर में अवशिष्ट रहा अल्प दोष मिथ्या आहार-विहार के सेवन से पुनः प्रकुपित हो कर रस-रक्तादि धातुओं में से किसी को भी आश्रित कर के विषमज्वर को उत्पन्न करता है॥ ६६॥

विमर्शः—विषमज्वर की (१) परिभाषा मालुकिन्मत से लिखी गई है कि—जो ज्वर शीत लग कर या उष्णता लग कर आता हो तथा जिस के आने का समय निश्चित न हो एवं जिसका वेग कभी मन्द तथा कभी तीव्र हो वह विषमज्वर कहलाता है। वाग्भटाचार्य ने लिखा है कि—जिस ज्वर का आरम्भ, क्रिया और काल विषम हों उसे विषमज्वर कहते हैं। विषम आरम्भ में कभी ज्वर शिर से तथा कभी पृष्ठ से प्रारम्भ होता है। विषम क्रिया में कभी ज्वर में शीत तथा कभी सन्ताप अधिक लगता है। विषम काल में अन्येद्युष्क, तृतीयक तथा चतुर्थक ज्वर के दिन निश्चित समयके पूर्व या पश्चात् ज्वर के वेग का आक्रमण होना आक्रमण काल का वैषम्य कहलाता है। इसके अतिरिक्त ज्वर के भोगकाल का कम या अधिक रहना भी हो सकता है। (२) अन्य विद्वानों ने 'मुक्तानुबन्धित्वं विषमत्वम्', लक्षण किया है अर्थात् ज्वर की मुक्ति हो कर भी उसका शरीर में अनुबन्ध बना रहना या पुनः ज्वर का हो जाना विषमज्वर कहलाता है किन्तु इस लक्षण से सन्ततज्वर के निरन्तर बने रहने के कारण उसकी विषमज्वर में गणना नहीं की जा सकती क्योंकि उस में निरन्तर विद्यमानतावश मुक्तानुबन्धित्वलक्षण नहीं घटता है। सन्तत्या योऽविसर्गी स्यात्सन्ततः स निगद्यते। अत एव खरनाद ने सन्तत को छोड़कर शेष चार ज्वरों को विषमज्वर माना है—ज्वराः पञ्च मयोक्ता ये पूर्वं सन्ततकादयः। चत्वारः सन्ततं हित्वा ज्ञेयास्ते विषमज्वराः॥ (३) कुछ लोगों ने सन्ततज्वर में भी मुक्तानुबन्धित्व की प्रवृत्ति मानी है और उसे सिद्ध करने के लिये चरकाचार्य का मत उद्धृत किया है—विसर्गं द्वादशे कृत्वा दिवसेऽव्यक्तलक्षणः। दुर्लभोपशमः कालं दीर्घमप्यनुवर्तते॥ अर्थात् सन्ततज्वर बारहवें दिन अव्यक्त रूप से या अल्पकाल के लिये उतर जाता है और पुनः चढ कर दीर्घकाल तक बना रहता है। इस प्रकार इस स्वल्पकालीन अव्यक्तस्वरूप मुक्तानुबन्धित्व को लेकर सन्ततज्वर को भी विषमज्वर कहा जा सकता है। खरनाद ने लक्षणों तथा चिकित्सा में भेद प्रदर्शित करने के लिये ही सन्ततज्वर को विषमज्वरों से भिन्न कहा है। जिस प्रकार तृतीयक आदि ज्वरों में मुक्तानुबन्धित्व का लक्षण स्पष्ट घटता है वैसा सन्ततज्वर में लक्षण नहीं घटता है फिर भी कादाचित्क मुक्तानुबन्धित्व के बल पर ही सन्ततज्वर को भी कुछ आचार्यों ने विषमज्वर माना है। (४) सुश्रुताचार्य ने विषमज्वरलक्षणों में लिखा है कि—यह ज्वर कभी भी देहको नहीं छोड़ता है क्योंकि ज्वर के वेग के चले जाने पर ऐसा प्रतीत होता है कि ज्वर नष्ट हो गया है किन्तु उस व्यक्तिको ग्लानि, देह में भारीपन तथा कृशता बनी ही रहती है अतएव ज्वर के आन्तरिक धातुओं में सूक्ष्म रूप से प्रच्छन्न होने के कारण वह लक्षित नहीं होता है। इस प्रकार 'मुक्तानुबन्धित्वं विषमत्वम्' यह लक्षण ही विचारणीय है क्योंकि उक्त सुश्रुतमतानुसार विषमज्वरों में सर्वथा ज्वर से मुक्ति मिलती ही नहीं है अत एव सन्ततज्वर भी

विषमज्वर ही है। स चापि विषमो देहं न कदाचिद्विमुञ्चति। ग्लानिगौरवकार्श्येभ्यः स यस्मान्न प्रमुच्यते॥ वेगे तु समतिक्रान्ते गतोऽयमिति लक्ष्यते। धात्वन्तरस्थो लीनत्वान्न सौक्ष्म्यादुपलभ्यते॥ **(५)** वाग्भटाचार्य ने **विषमज्वर का जो लक्षण** 'विषमो विषमारम्भक्रियाकालोऽनुषङ्गवान्' लिखा है **उसके अनुसार किसी भी प्रकार का ज्वर विषमज्वर के अन्तर्गत आ सकता है इस तरह मलेरिया विषमज्वर के अन्तर्गत आता है। इस विषमज्वर के निज और आगन्तु ऐसे दो भेद माने गये हैं जैसे देह की धातुओं में वैषम्य होने से उत्पन्न विषमज्वर निज** कहलाता है तथा रोगकारी साक्षात् बाह्यनिमित्तरूप जीवाणु **से होने वाला ज्वर आगन्तु विषमज्वर की श्रेणी में गिना जाता है—ऐसा सुश्रुताचार्य ने स्पष्ट लिखा है**—परो हेतुः स्वभावो विषमे कैश्चिदीरितः। आगन्तुश्चानुबन्धो हि प्रायशो विषमज्वरे॥ **इस प्रकार आचार्य ने विषमज्वर की उत्पत्ति में दो हेतु माने हैं। एक पर हेतु और दूसरा स्वभाव। पर शब्द से डल्हणाचार्य ने भूत** (ज्वरोत्पादक जीवाणु) **अर्थ किया है जो कि** आगन्तु कारण **है एवं स्वभाव निज कारण में समाविष्ट है। अथवा पर (भूतादि) या स्वभाव ये विषमज्वर में प्रायः करके** आगन्तुक कारण **कहलाते हैं अर्थात् अक्सर विषमज्वर** आगन्तुक कारणों से ही उत्पन्न होता है **जैसा कि** आधुनिक चिकित्साशास्त्री **मलेरियल पेरासाइटस् को मानते हैं। किन्तु प्रायः शब्द के होने से विषमज्वर में धातुवैषम्य भी कभी-कभी कारण हो सकता है जैसा कि आयुर्वेद त्रिदोष-दुष्टि तथा उससे धातुवैषम्य होना मानता है। (६) कुछ टीकाकारों ने लिखा है कि विषमज्वर शब्द से समज्वर का होना सिद्ध होता है। अत एव वह समज्वर सन्तत ज्वर हो सकता है अतः उसे विषमज्वरों की गणना में नहीं रखना ही प्रशस्त है। (७) कुछ विद्वानों का मत है कि विषमज्वर और मलेरिया भिन्न-भिन्न ज्वर हैं और मलेरिया ज्वर का पर्याय विषमज्वर न देकर सुश्रुतोक्त औपत्यक (उपत्यका=तराई में होने वाला) ज्वर नाम देते हैं**—वाताधिकत्वात्प्रवदन्ति तज्ज्ञास्तृतीयकञ्चापि चतुर्थकञ्च। औपत्यके मद्यसमुद्भवे च हेतुं ज्वरे पित्तकृतं वदन्ति॥ **किन्तु मलेरिया के कारण, लक्षण और भेद सभी विषमज्वर के साथ मिलते-जुलते हैं तथा आयुर्वेद भी क्विनाइन सदृश चिरायता, कुटकी और नीम गिलोय आदि तिक्त ओषधियों का विषमज्वरनाशन के लिये प्रयोग करता है अत एव मलेरिया का पर्याय विषमज्वर ही उपयुक्त है। (८)** काश्यपसंहिता **में विषमज्वर के वेग के चले जाने पर भी देह में उसका रहना तथा बार-बार इसके दौरों का आना आदि पर अच्छा प्रकाश डाला है**—ज्वरप्रवेगोपरमे देही मुक्त इवेक्षते। तथाऽप्यस्यामवस्थायामेभिर्लिङ्गैर्न मुच्यते॥ मुखवैरस्यकाङ्क्षमाधुर्यादिभिरल्पशः। नात्यन्नलिप्साग्लानिभ्यां शिरसो गौरवेण च॥ पुनःपुनर्यथा चैव जायते तन्निबोध मे। निरुद्धमार्गो दोषेण विषमज्वरहेतुना॥ वायुस्तदोषकोपान्ते लब्धमार्गो यथाक्रमम्। दोषशेषं तमादाय यथास्थानं प्रपद्यते॥ सदोषशेषः स्वे स्थाने लीनः कालबलाश्रयात्। रसस्थानमुपागम्य भूयो जनयति ज्वरम्॥ उपक्रमविशेषेण स्वबलस्य व्ययेन च। क्षयं प्राप्नोति वृद्धिञ्च समानगुणसंश्रयात्॥ सोऽयं निवृत्तं सम्प्राप्य यथा दीपः स्वभावतः। पुनः पुनः प्रज्वलति क्षीणतैलेन्धनोऽपि सन्॥

सततं रसरक्तस्थः सोऽन्येद्युः पिशिताश्रितः।
मेदोगतस्तृतीयेऽह्नि त्वस्थिमज्जगतः पुनः॥ ६७॥
कुर्याच्चातुर्थकं घोरमन्तकं रोगसङ्करम्।
केचिद् भूताभिषङ्गोत्थं ब्रुवते विषमज्वरम्॥ ६८॥

विषमज्वराश्रयधातु—मिथ्या आहार-विहार से प्रकुपित दोष रसधातु में आश्रित होकर सन्तत ज्वर को उत्पन्न करते हैं एवं वेही दोष मांसधातु में आश्रित होकर अन्येद्युष्कज्वर को उत्पन्न करते हैं। दोषों के मेदोधातु में आश्रित होने से तीसरे दिन तृतीयक ज्वर उत्पन्न होता है एवं दोषों के अस्थि और मज्जा में आश्रित होने पर यम के समान भयङ्कर तथा अनेक उपद्रवों से युक्त चतुर्थक ज्वर को उत्पन्न करता है। कुछ आचार्य विषमज्वर को भूतों (देवग्रहादिक) के अभिषङ्ग (आवेश) से उत्पन्न हुआ कहते हैं॥ ६७–६८॥

विमर्शः—उक्त श्लोक में सन्तत शब्द सततक का उपलक्षण (द्योतक) है अत एव रसस्थ दोष सन्तत को तथा रक्तस्थ दोष सततकज्वर को उत्पन्न करता है। यही आशय चरकाचार्य का भी है—'रक्तधात्वाश्रयः प्रायो दोषः सततकं ज्वरम्' यहाँ पर प्रायः शब्द के उल्लेख से स्पष्ट है कि सततकज्वर में दोष रस में भी आश्रित रहता है। वास्तव में सभी ज्वरों में रस अल्पाधिक मात्रा में अवश्य दूषित होता है। भूताभिषङ्गोत्थ विषमज्वर में उद्वेग, हास्य, रोदन और कम्पन ये लक्षण होते हैं—भूताभिषङ्गादुद्वेगो हास्यरोदनकम्पनम्। भूत शब्द से यहाँ पर मलेरियल पेरासाइट अर्थ उपयुक्त हो सकता है किन्तु मलेरियल फीवर में हास्य और रोदन प्रायः देखने में नहीं आता है। ज्वर आने के पूर्व कम्पन अवश्य होता है।

सप्ताहं वा दशाहं वा द्वादशाहमथापि वा।
सन्तत्या योऽविसर्गी स्यात्सन्ततः स निगद्यते॥ ६९॥
अहोरात्रे सततको द्वौ कालावनुवर्त्तते।
अन्येद्युष्कस्त्वहोरात्रादेककालं प्रवर्त्तते॥
तृतीयकस्तृतीयेऽह्नि चतुर्थेऽह्नि चतुर्थकः॥ ७०॥

सन्ततादिज्वरलक्षण—जो ज्वर बिना उतरे लगातार एक सप्ताह तक या दस दिन तक अथवा बारह दिन तक बना रहता हो उसे सन्तत ज्वर कहते हैं। जो ज्वर अहोरात्र (२४ घण्टों) में दो बार आता हो उसे सततक ज्वर कहते हैं। चौबीस घण्टों में एक बार आने वाला ज्वर अन्येद्युष्क कहलाता है। प्रत्येक तीसरे दिन में आने वाले ज्वर को तृतीयक ज्वर कहा जाता है तथा प्रति चौथे दिन आने वाले ज्वर को चतुर्थक ज्वर कहा जाता है॥ ६९–७०॥

विमर्शः—सुश्रुताचार्य ने उक्त श्लोक में सन्ततज्वर के एक सप्ताह, दस दिन और बारह दिन तक लगातार चढ़े रहने की जो अवधि लिखी है वह वातादि दोष-दृष्टि से समझनी चाहिए। अर्थात् वातोल्वण सन्ततज्वर एक सप्ताह, पित्तोल्वण सन्ततज्वर दस दिन तथा कफोल्वण सन्ततज्वर बारह दिन तक रह कर उतरता है—वातिकः सप्तरात्रेण दशरात्रेण पैत्तिकः। श्लैष्मिको द्वादशाहेन ज्वरः पाकं प्रगच्छति॥ **वात चल व लघु होने से शीघ्र पचता है, पित्त स्निग्ध होने से दस दिन में एवं श्लेष्मा गुरु, शीत, मन्द और पिच्छिल होने से द्वादश**

दिन में पाचित होता है। कभी-कभी यह सन्ततज्वर दीर्घकाल तक भी बना रहता है जैसा कि चरकाचार्य ने लिखा है—विसर्गं द्वादशे कृत्वा दिवसेऽव्यक्तलक्षणः। दुर्लभोपशमः कालं दीर्घमप्यनुवर्तते ॥ (च. चि.)। सन्ततज्वर-सुखसाध्यता—इस सन्ततज्वर के उत्पादक कारण स्वल्प या दुर्बल हों तो यह सुखसाध्य होता है—सन्ततज्वर एवान्यः स्वल्पदुर्बलकारणः। एकदोषो द्विदोषो वा सुखसाध्यः प्रकीर्तितः। चरकाचार्य ने संततज्वर की सम्प्राप्ति में लिखा है कि मिथ्या आहार-विहार से प्रकुपित गुरु दोष रसवाहक स्रोतसों के द्वारा सम्पूर्ण शरीर में फैलकर उसे स्तब्ध करके सन्ततज्वर उत्पन्न करते हैं—स्रोतोभिर्विसृता दोषा गुरवो रसवाहिभिः। सर्वदेहानुगाः स्तब्धा ज्वरं कुर्वन्ति सन्ततम् ॥ चरकाचार्य ने युक्तियों द्वारा इस ज्वर को कष्टसाध्य माना है—दशाहे द्वादशाहे वा सप्ताहे वा सुदुःसहः। स शीघ्रं शीघ्रकारित्वात्प्रशमं याति हन्ति वा ॥ अर्थात् शीघ्र ही दोषों का पाक होने पर यह ज्वर शान्त हो जाता है और धातुओं का पाक होने पर रुग्ण को मार डालता है। काल, दूष्य और प्रकृति से तुल्य दोष सन्ततज्वर उत्पन्न करते हैं, अतएव यह ज्वर कष्टसाध्य माना गया है—कालदूष्यप्रकृतिभिर्दोषस्तुल्यो हि सन्ततम्। निष्प्रत्यनीकः कुरुते तस्माज्ज्ञेयः सुदुःसहः ॥ चरकाचार्य ने सन्ततज्वर की कष्टसाध्यता में दूसरी युक्ति यह दी है कि ये वातादि दोष रस-रक्तादि धातु तथा मल और मूत्र में जा कर एक साथ ही प्रकुपित हो जाते हैं अत एव यह कष्टसाध्य माना है—यथा धातूंस्तथा मूत्रम् पुरीषञ्चानिलादयः। युगपच्चानुपद्यन्ते नियमात् सन्तते ज्वरे ॥ तीसरी युक्ति यह दी है कि रसादिक धातुओं की सात, दस या बारह दिन में शुद्धि हो जाने पर ज्वर शान्त हो जाता है और उन धातुओं की शुद्धि न होने पर रुग्ण को मार डालता है—स शुद्ध्या वाऽप्यशुद्ध्या वा रसादीनामशेषतः। सप्ताहादिषु कालेषु प्रशमं याति हन्ति वा ॥ यदा तु नाति शुद्ध्यन्ति न वा शुद्ध्यन्ति सर्वशः। द्वादशैते समुद्दिष्टाः सन्ततस्याश्रयास्तदा ॥ कई दिनों तक लगातार चढ़ने वाले अविसर्गी (Continuous) स्वरूप के ज्वर को सन्ततज्वर कहते हैं। यह दिन में दो अंश तक उतरता है तथा मध्यकाल में स्वाभाविक अंश तक नहीं उतरता है। आन्त्रिकज्वर (Typhoid), श्लेष्मोल्वणसन्निपात (Pneumonia) तथा मस्तिष्क सुषुम्नाज्वर (Cerebro spiral fever) में सन्तत स्वरूप का ज्वर मिलता है। आयुर्वेदिक दृष्टि से आन्त्रिकज्वर को पित्तोल्वण सन्निपात, न्यूमोनिया को श्लेष्मोल्वण सन्निपात तथा सेरिब्रो स्पाइनल फीवर को वातोल्वण सन्निपात में समावेश कर सकते हैं। सततकज्वर—जैसा कि मूल में कहा है—यह ज्वर चौबीस घण्टों में दो बार आता है अर्थात् चौबीस घण्टे में पूर्वाह्ण, मध्याह्न, अपराह्ण, प्रदोष, अर्धरात्रि और प्रत्यूष भेद से छः भागों में विभक्त हैं। पूर्वाह्ण तथा प्रदोष समय में कफ, मध्याह्न और अर्धरात्रि में पित्त तथा अपराह्ण और प्रत्यूष समय में वात का प्रकोप होता है। दोषोल्वणतानुसार भी अपने समय में चौबीस घण्टों में दो बार आ सकता है। अथवा दिन में एक बार तथा रात्रि में एक बार आ सकता है किंवा केवल रात्रि में ही दो बार अथवा केवल दिन में ही दो बार आ सकता है। यह ज्वर कभी पूर्णरूप से शरीर को छोड़कर दुबारा आ सकता है अथवा कभी थोड़े रूप में गुप्तरूप से अल्पमात्रा में शरीर में रहता हुआ तीव्र वेग स्वरूप में दुबारा हो जाता है। इसे प्रकार का ज्वर प्रायः कालज्वर (Kala azar) में देखा जाता है। यह ज्वर लीशमन डोनोवन बाडी के उपसर्ग से होता है तथा इसमें ज्वर, त्वग्वैवर्ण्य, यकृत् तथा प्लीहा की वृद्धि और मांसक्षीणता ये प्रमुख लक्षण मिलते हैं। प्रारम्भावस्था में यद्यपि ज्वर का पूर्णतया मोक्ष (उतार) नहीं होता है किन्तु तापक्रम की वृद्धि दो बार होती है। यदि इसके साथ प्लाज्मोडियम फेल्सीपेरम का उपसर्ग हो तो भी ज्वर सततक स्वरूप का होता है किन्तु ऐसी स्थिति में ज्वरमोक्ष पूर्णरूप का होता है। अन्येद्युष्कादि ज्वर—जीवाणु तथा उनके संक्रमणकाल के भेद से एवं जीवाणुओं के रक्तकणों में प्रवेश तथा उनकी वहाँ वृद्धि या विकास होकर रक्तकण को छोड़कर बाहर निकलने के समय में फर्क होने से ये अन्येद्युष्क, तृतीयक, चतुर्थक आदि भेद आगन्तुक विषम ज्वर में मिलते हैं तथा दोषप्रकोप के अनुसार निज विषमज्वर में भी उक्त भेद पाये जाते हैं। भगवान् चरकाचार्य ने विषमज्वरों के विभिन्न समय में आने का कारण बड़े ही सुन्दर रूप से बीज और भूमि का उदाहरण देकर समझाया है—'अविशेषे यथा भूमि बीजं काले प्ररोहति। अविशेषे तथा धातुं दोषः काले प्रकुप्यति ॥ अर्थात् जैसे पृथ्वी में पड़ा हुआ बीज अनुकूल समय (ऋतु) पाकर ही अङ्कुरित होता है उसी प्रकार शरीर की रस-रक्तादि धातुओं में अवस्थित दोष या जीवाणु भी समय (२४ घण्टे, ४८ घण्टे या ७२ घण्टे) पर प्रकुपित होकर ज्वर को उत्पन्न करता है और वेग का निश्चित समय समाप्त हो जाने पर ज्वर शान्त हो जाता है तथा पुनः समय आने पर ज्वर आ जाता है। इसी आशय को आयुर्वेद के ऋषियों ने भी स्पष्ट लिखा है—कृत्वा वेगं गतबलाः स्वे स्वे स्थाने व्यवस्थिताः। पुनर्विवृद्धाः स्वे काले ज्वरयन्ति नरं मलाः ॥ चक्रपाणि ने भी यही स्पष्टीकरण किया है—'सततकादौ दोषा वेगं कृत्वा गतबला भवन्ति, पुनस्त एव वृद्धाः स्वे काले ज्वरयन्ति' विषमज्वर के उत्पादक निम्न चार प्रकार के जीवाणु हैं—(१) प्लाज्मोडियम वाइवेक्स (P. Vivax) तृतीयकज्वर। (२) प्लाज्मोडियम ओवेल (P. Ovale) अफ्रीका वातरज्वर। (३) प्लाज्मोडियम मलेरिया (P. malaria) चतुर्थकज्वर। (४) प्लाज्मोडियम फेल्सिपेरम (P. Falciparum) घातक विषमज्वर।

वातेनोदीर्यमाणाश्च ह्रियमाणाश्च सर्वतः।
एकद्विदोषा मर्त्यानां तस्मिन्नेवोदितेऽहनि ॥ ७१ ॥
वेलां तामेव कुर्वन्ति ज्वरवेगो मुहुर्मुहुः।
वातेनोद्धूयमानस्तु यथा पूर्येत सागरः ॥ ७२ ॥
वातेनोदीरितास्तद्वद्दोषाः कुर्वन्ति वै ज्वरान्।
यथा वेगागमे वेलां छादयित्वा महोदधेः ॥ ७३ ॥
वेगहानौ तदेवाम्भस्तत्रैवान्तर्निलीयते।
दोषवेगोदये तद्वदुदीर्येत ज्वरोऽस्य वै ॥
वेगहानौ प्रशाम्येत यथाऽम्भः सागरे तथा ॥ ७४ ॥

विषमज्वरनियतकालागमनहेतुः—मिथ्या आहार-विहार से प्रकुपित हुये वात से एक दोष या दो दोष उदीर्यमाण (उत्कट) होकर तथा शरीर के सर्व भागों से ह्रियमाण

(आकृष्यमाण) होते हुये उसी (विषमज्वरोक्त) दिन मनुष्यों में ज्वर उत्पन्न करते हैं। ये दोष अपने-अपने प्रकोपण की वेला (समय=पूर्वाह्न, मध्याह्न, अपराह्न, प्रदोष, अर्द्धरात्रि और प्रत्यूष) में प्रकुपित होकर बार-बार ज्वरवेग को उत्पन्न करते हैं तथा उसी दिन दोष पूर्णरूप से घट कर ज्वरको कम भी कर देते हैं। जिस तरह वायु के झोंकों से उत्पन्न हुई लहरों से सागर भर जाता है और वायु का वेग चले जाने पर सागर का जल पुनः अपनी सीमा में आजाता है उसी तरह वायु से प्रेरित दोष अनेक प्रकार के ज्वरों को उत्पन्न करते हैं जैसे वेग के आने पर समुद्र की तरङ्गें बढ़ कर समुद्र में तूफान उत्पन्न कर देती हैं और वेग के चले जाने पर वह पानी का तूफान वहीं लीन हो जाता है उसी तरह दोषवेग के उत्पन्न होने से मनुष्य में ज्वर चढ़ता है तथा दोषवेग के शान्त होने पर ज्वरवेग शान्त हो जाता है जैसे कि पानी का वेग समुद्र में उठता है और फिर वहीं शान्त हो जाता है ॥ ७१-७४ ॥

विविधेनाभिघातेन ज्वरो यः सम्प्रवर्तते ।
यथादोषप्रकोपन्तु तथा मन्येत तं ज्वरम् ॥ ७५ ॥

अभिघातज्वरे दोषव्यवस्था—अनेक प्रकार के शस्त्र, लोष्ट, मुष्टि, लगुडादि अभिघात से जो ज्वर उत्पन्न होता है उस ज्वर को दोषप्रकोप के लक्षणों के अनुसार विभिन्न दोषों के नाम से निर्दिष्ट करना चाहिए ॥ ७५ ॥

श्यावास्यता विषकृते दाहातीसारहृद्ग्रहाः ।
अभक्तरुक् पिपासा च तोदो मूर्च्छा बलक्षयः ॥ ७६ ॥

विषजन्यज्वरलक्षण—स्थावर आदि विष के कारण उत्पन्न हुये ज्वर में मुख श्याव (शुक्ल-कृष्ण) वर्ण का हो जाता है एवं रोगी अतिसार, हृदय में जकड़ाहट, अरुचि और प्यास से पीड़ित रहता है एवं शरीर में सूई चुभोने की सी पीड़ा की प्रतीति व मूर्च्छा और बलक्षय आदि लक्षण होते हैं ॥ ७६ ॥

ओषधिगन्धजे मूर्च्छा शिरोरुग् वमथुः क्षवः ॥ ७७ ॥

ओषधिगन्धजज्वर—में मूर्च्छा, शिर में पीड़ा, वमन और छींकें आती हैं ॥ ७७ ॥

कामजे चित्तविभ्रंशस्तन्द्राऽऽलस्यमरोचकः ।
हृदये वेदना चास्य गात्रञ्च परिशुष्यति ॥ ७८ ॥

कामज्वर—में चित्त का विभ्रंश (अस्थिरता या हृदयाघात), तन्द्रा, आलस्य, भोजन की अनिच्छा, हृदय में वेदना तथा शरीर और मुख का सूखना आदि लक्षण होते हैं ॥ ७८ ॥

विमर्शः—वाग्भटाचार्य ने कामज्वर में भ्रम, बैचेनी और दाह का होना तथा लज्जा, निद्रा, बुद्धि और धैर्य का नष्ट होना तथा रुग्ण का एकान्त में किसी (अभीष्ट व अप्राप्त कामिनी) के चिन्तन में लगे रहना एवं शोकाकुल ऊँची सांस का छोड़ना आदि लक्षण लिखे हैं—कामाद् भ्रमोऽरतिर्दाहो ह्रीनिद्राधीधृतिक्षयः । ध्याननिःश्वासबहुलं लिङ्गं कामज्वरे स्मृतम् ॥

भयात् प्रलापः शोकाच्च भवेत् कोपाच्च वेपथुः ।
अभिचाराभिशापाभ्यां मोहस्तृष्णा च जायते ॥
भूताभिषङ्गादुद्वेगहास्यकम्पनरोदनम् ॥ ७९ ॥

भयादिजन्यागन्तुज्वर—भय तथा शोक से उत्पन्न ज्वर से रुग्ण प्रलाप (असम्बद्ध भाषण) करता है एवं कोप से उत्पन्न ज्वर में रुग्ण का शरीर कांपने लगता है एवं अभिचार (मन्त्रादि से मारण प्रयोग) तथा ब्रह्मर्षि, गुरु, सिद्ध आदि के अभिशाप से उत्पन्न ज्वर में मोह (मूर्च्छा) और तृष्णा होती है। इसी प्रकार भूतों (प्रेतों या देवादि ग्रहों) के अभिषङ्ग (सम्बन्ध या आवेश) से उत्पन्न हुये ज्वर में रुग्ण को कभी उद्वेग (चित्त की अशान्ति), कभी हास्य तथा कभी रुदन होता है ॥ ७९ ॥

विमर्शः—वाग्भटाचार्य ने लिखा है कि अभिचार (श्येनादि याग या विपरीत मन्त्र और लोह स्रुवा के प्रयोग) के प्रयोग से उत्पन्न होने वाले ज्वर से प्रथम दाह चित्त में होता है तथा बाद में देह में दाह होता है इसके अनन्तर विस्फोट, तृषा, भ्रम और मूर्च्छा के साथ ज्वर की वृद्धि होती है—तत्राभिचारिकैर्मन्त्रैर्हूयमानस्य तप्यते । पूर्वं चेतस्ततो देहस्ततो विस्फोटतृड्भ्रमैः ॥ सदाहमूर्च्छैर्ग्रस्तस्य प्रत्यहं वर्द्धते ज्वरः ॥ शोकभयादिज्वरलक्षण—शोकजे बाष्पबहुलं त्रासप्रायं भयज्वरे । क्रोधजे बहुसंरम्भं भूतावेशे त्वमानुषम् ॥ मूर्च्छामोहमदग्लानिभूयिष्ठं विषसम्भवे । केषाञ्चिदेषां लिङ्गानां सन्तापो जायते पुरः ॥ पश्चात्तुल्यन्तु केषाञ्चिदेषु कामज्वरादिषु । मनस्यभिहते पूर्वं कामाद्यैर्न तथा बलम् ॥ ज्वरः प्राप्नोति वाताद्यैर्देहो यावन्न दुष्यति । देहे चाभिहते पूर्वं वाताद्यैर्न तथा बलम् ॥ ज्वरः प्राप्नोति कामाद्यैर्मनो यावन्न दुष्यति ॥ माधवकार ने काम, शोक और भय से वायु, क्रोध से पित्त और भूताभिषङ्ग से तीनों दोषों का कुपित होना लिखा है—कामशोकभयाद्वायुः क्रोधात्पित्तं त्रयो मलाः । भूताभिषङ्गात्कुप्यन्ति भूतसामान्यलक्षणाः ॥

श्रमक्षयाभिघातेभ्यो देहिनां कुपितोऽनिलः ।
पूरयित्वाऽखिलं देहं ज्वरमापादयेद् भृशम् ॥ ८० ॥

ज्वरे वातप्राधान्य—शारीरिक तथा मानसिक परिश्रम, रस-रक्तादिधातुक्षय और अभिघात (चोट) के कारण प्रथम मनुष्यों का वात कुपित होकर सारे शरीर में फैलकर उग्र या निरन्तर रहने वाले ज्वर को उत्पन्न करता है ॥ ८० ॥

रोगाणान्तु समुत्थानाद्विदाहागन्तुतस्तथा ॥ ८१ ॥
ज्वरोऽपरः सम्भवति तैस्तैरन्यैश्च हेतुभिः ।
दोषाणां स तु लिङ्गानि कदाचिन्नातिवर्तते ॥ ८२ ॥

अन्य ज्वरकारण—विद्रधि आदि अन्य रोगों के कारणों से, विदाह से, आगन्तुक कारणों से तथा अन्य ज्वरकारक कारणों से अन्य प्रकार का ज्वर होता है किन्तु चाहे किसी कारण से ज्वर उत्पन्न हुआ हो उसमें वातादि दोषों के लक्षण सदा विद्यमान होंगे अर्थात् आगन्तुक या अन्य कारण से उत्पन्न ज्वर में भी दोषों के लक्षण पाये जावेंगे ॥ ८१-८२ ॥

गुरुता हृदयोत्क्लेशः सदनं छर्द्यरोचकौ ।
रसस्थे तु ज्वरे लिङ्गं दैन्यं चास्योपजायते ॥ ८३ ॥

रसगतज्वरलक्षण—प्रकुपित दोषों के रस में स्थित होकर ज्वर उत्पन्न करने पर शरीर में भारीपन, हृदय में उत्क्लेश (जी मिचलाना), अङ्गों में ग्लानि, वमन, भोजन में अरुचि तथा दीनता ये लक्षण उत्पन्न होते हैं ॥ ८३ ॥

रक्तनिष्ठीवनं दाहः स्वेदश्छर्दनविभ्रमौ।
प्रलापः पिटिका तृष्णा रक्तप्राप्ते ज्वरे नृणाम् ॥ ८४ ।

रक्तगतज्वरलक्षण—रक्तगत ज्वर में थूंक में रक्त का आगमन, शरीर में दाह, पसीना आना, वमन होना, सिर में चक्कर तथा प्रलाप, बदन पर छोटी-छोटी फुन्सियाँ और बार-बार प्यास लगना ये लक्षण होते हैं ॥ ८४ ॥

पिण्डिकोद्वेष्टनं तृष्णा सृष्टमूत्रपुरीषता।
ऊष्मान्तर्दाहविक्षेपौ ग्लानिः स्यान्मांसगे ज्वरे ॥ ८५ ॥

मांसगतज्वरलक्षण—मांसधातुगत ज्वर के कारण पिण्डलियों में दण्डादि के आघात की सी पीड़ा, प्यास लगना, मूत्र और मल का बार-बार त्याग, शरीर के भीतर गरमी तथा बाहर के हस्त-पादादि अङ्गों में दाह, हस्त-पादादि का फेंकना तथा सर्वाङ्ग में ग्लानि ये लक्षण उत्पन्न होते हैं ॥ ८५ ॥

भृशं स्वेदस्तृषा मूर्च्छा प्रलापश्छर्दिरेव च।
दौर्गन्ध्यारोचकौ ग्लानिर्मेदःस्थे चासहिष्णुता ॥ ८६ ॥

मेदोगतज्वरलक्षण—मेदोधातुगत ज्वर के कारण अत्यधिक स्वेद, बार बार प्यास लगना, मूर्च्छा का आना, असम्बद्ध भाषण, वमन, शरीर से दुर्गन्धि का आना, भोजन में अरुचि तथा शीत, आतप आदि किसी का सहन नहीं होना आदि लक्षण उत्पन्न होते हैं ॥ ८६ ॥

भेदोऽस्थ्नां कूजनं श्वासो विरेकश्छर्दिरेव च।
विक्षेपणं च गात्राणामेतदस्थिगते ज्वरे ॥ ८७ ॥

अस्थिगतज्वरलक्षण—अस्थि में ज्वर बने रहने पर अस्थियों में उनके तोड़ने की सी पीड़ा तथा अस्थियों में सङ्कोच, श्वास की तीव्रता, कभी विरेचन तथा कभी वमन, अङ्गों का इतस्ततः फेंकना ये लक्षण होते हैं ॥ ८७ ॥

तमःप्रवेशनं हिक्का कासः शैत्यं वमिस्तथा।
अन्तर्दाहो महाश्वासो मर्मच्छेदश्च मज्जगे ॥ ८८ ॥

मज्जगतज्वरलक्षण—इस ज्वर के होने पर रुग्ण की आँखों के सामने अन्धेरा छाया रहता है, हिचकी और खांसी होती है, शीत अधिक लगता है, वमन की प्रवृत्ति होती है तथा अन्तर्दाह, महाश्वास एवं मर्मस्थानों में छेदन के समान पीड़ा का अनुभव होता है ॥ ८८ ॥

विमर्शः—महाश्वासलक्षण—सुश्रुत ने संक्षेप में दिया है—विसंज्ञः पार्श्वशूलार्तः शुष्ककण्ठोऽतिघोषवान्। संरब्धनेत्रस्त्वावश्य यः श्वस्यात् स महान् स्मृतः॥ (सुश्रुत) चरकाचार्य ने महाश्वास का लक्षण विस्तार से दिया है—उद्धूयमानवातो यः शब्दवद्दुःखितो नरः। उच्चैः श्वसिति संरुद्धो मत्तर्षभ इवानिशम्॥ प्रनष्टज्ञानविज्ञानस्तथा विभ्रान्तलोचनः। विकृताक्ष्याननो बद्धमूत्रवर्चा विशीर्णवाक्॥ दीनः प्रश्वसितञ्चास्य दूराद्विज्ञायते भृशम्। महाश्वासोपसृष्टस्तु क्षिप्रमेव विपद्यते॥

मरणं प्राप्नुयात्तत्र शुक्रस्थानगते ज्वरे।
शेफसः स्तब्धता मोक्षः शुक्रस्य तु विशेषतः ॥ ८९ ॥

शुक्रस्थानगत ज्वरलक्षण—शुक्र तथा शुक्रस्थान में ज्वर होने पर शीघ्र चिकित्सा न करने से या रोग के असाध्य होने से परिणाम रूप में रोगी मर जाता है, उसकी शिश्नेन्द्रिय स्तब्ध (कठोर) हो जाती है तथा विशेष कर शुक्र निकलने लगता है ॥ ८९ ॥

दग्ध्वेन्धनं यथा वह्निर्धातून् हत्वा यथा विषम्।
कृतकृत्यो व्रजेच्छान्तिं देहं हत्वा तथा ज्वरः ॥ ९० ॥

ज्वरमारक प्रभाव—जैसे अग्नि इन्धन (कण्डे, लकड़ी आदि) को जला कर ही शान्त होती है एवं खाया हुआ विष रस-रक्तादि धातुओं को नष्ट कर के ही शान्त होता है। उसी तरह सर्वप्रकार का ज्वर या रस-रक्तादि धातुगत ज्वर किंवा शुक्रगतज्वर देह को नष्ट करके ही शान्त होता है ॥ ९० ॥

विमर्शः—अन्य ज्वर चिकित्सा से ठीक हो जाते हैं तथा रस-रक्तादि धातुगत ज्वर भी चिकित्सा-पादचतुष्टय की सम्पत्ति से शीघ्र चिकित्सा करने पर ठीक हो जाते हैं किन्तु शुक्र तथा शुक्रस्थानगत ज्वर में शुक्र के बार बार निकलते रहने से इस ज्वर को रोगी का घातक माना गया है। ज्वर की सम्प्राप्ति में स्पष्ट कहा है कि मिथ्या आहार-विहार से प्रकुपित दोष आमाशय में स्थित हो कर वहां की अग्नि (पाचक रस) को बाहर निकाल (मन्द) कर रसाश्रित हो कर ज्वर उत्पन्न करते हैं अतः सर्व प्रकार के ज्वरों में प्रथम रस ही दूषित होता है। रसस्थ विषमज्वर सन्तत स्वरूप का होता है, रक्तगत ज्वर सतत स्वरूप का होता है, मांसगत अन्येद्युष्क प्रकार का, मेदोगत तृतीयक स्वरूप का तथा अस्थि-मज्जगत चतुर्थक स्वरूप का होता है। मेदोगत ज्वर में ज्वरोष्मा से मेद का पाक होने के कारण पसीना अधिक आता है—'मलः स्वेदस्तु मेदसः' प्रलेपकज्वर में भी मेदोधातु के क्षय से स्वेदाधिक्य होता है। प्रायः प्रलेपक ज्वर तथा अस्थि-मज्जगत ज्वर राजयक्ष्मा में विशेष रूप से दिखाई देता है। आयुर्वेद में शुक्र की स्थिति के विषय में सर्वदेहगत (यथा पयसि सर्पिस्तु गुडश्चेक्षुरसे यथा। शरीरेषु तथा नृणां शुक्रं विद्याद्भिषग्वरः॥) तथा विशिष्ट स्थानगत (जैसे वृषण, पौरुषग्रन्थि 'शुक्रवहानां स्रोतसां वृषणौ मूलं शेफश्च' च० वि० अ०) ऐसे दोनों मत मिलते हैं अतः यहां पर शुक्रञ्च तत्स्थानञ्च इति शुक्रस्थानम्' ऐसा द्वन्द्व समास करना चाहिए न कि 'शुक्रस्य स्थानम्' ऐसा षष्ठी तत्पुरुष। आजकल सुषुम्नाकाण्ड के आघात तथा अलर्क (पागल कुत्ता) विष की अन्तिमावस्था में शुक्रगत ज्वर के लक्षण मिलते हैं।

वातपित्तकफोत्थानां ज्वराणां लक्षणं यथा।
तथा तेषां भिषग्ब्रूयाद्रसादिष्वपि बुद्धिमान् ॥ ९१ ॥
समस्तैः सन्निपातेन धातुस्थमपि निर्दिशेत्।
द्वन्द्वजं द्वन्द्वजैरेव दोषैश्चापि वदेत्कृतम् ॥ ९२ ॥

धातुगतज्वरे दोषकल्पना—जिस तरह वात, पित्त और कफ के प्रकोप से होने वाले ज्वरों के विभिन्न लक्षण होते हैं उसी प्रकार रसादि-शुक्रान्त सप्त धातुओं में उत्पन्न होने वाले ज्वरों के भी वात, पित्त तथा कफ के अनुसार लक्षणों को देख कर उन ज्वरों में दोष की कल्पना करनी चाहिए। इसी प्रकार समस्त दोषों के धातुओं में प्रकुपित हो कर ज्वर उत्पन्न करने पर उस धातुओं में प्रकुपित हो कर ज्वर उत्पन्न करने पर उस धातुस्थ ज्वर में सन्निपात की कल्पना और दो-दो दोषों के योग से उत्पन्न हुये ज्वर को द्वन्द्वजज्वर कहना चाहिए ॥ ९१-९२ ॥

गम्भीरस्तु ज्वरो ज्ञेयो ह्यन्तर्दाहेन तृष्णया।
आनद्धत्वेन चात्यर्थं श्वासकासोद्गमेन च ॥ ९३ ॥

गम्भीरज्वरलक्षण—अन्तर्दाह, तृषा, मल और वायु का पूर्ण अवरोध, श्वास तथा कास की अधिकता ये गम्भीर ज्वर के लक्षण हैं ॥ ९३ ॥

विमर्शः—आचार्यों ने यहां पर गम्भीर शब्द का अर्थ विविध किया है—(१) 'गम्भीरो दैर्घरात्रिकः' जो अधिक रात्रि तक बना रहे उसे गम्भीरज्वर कहते हैं। चक्र ने लिखा है कि जो मृत्यु तक बना रहे अर्थात् असाध्य हो—दीर्घां मरणरूपां रात्रिमनुवर्तते इति दैर्घरात्रिकः, असाध्य इत्यर्थः। (२) गम्भीरोऽन्तर्धातुस्थः जो रस-रक्तादि धातुओं के अन्दर लीन हो कर रहता हो। (३) 'गम्भीर इव गम्भीरः' अर्थात् जिस ज्वर में वातादि दोषों का पूर्णरूप से निश्चय नहीं किया जा सकता हो। (४) 'गम्भीरोऽन्तर्वेगः' जिस ज्वर का वेग शरीर के बाहर न हो कर भीतर ही रहता हो। सुश्रुताचार्य ने जिस ज्वर को गम्भीर लिखा है। उसी ज्वर को चरकाचार्य ने अन्तर्वेगज्वर नाम दिया है—अन्तर्वेगज्वरलक्षण—अन्तर्दाहोऽधिका तृष्णा प्रलापः श्वसनं भ्रमः। सन्ध्यस्थिशूलमस्वेदो दोषवर्चोविनिग्रहः॥ अन्तर्वेगस्य लिङ्गानि कष्टसाध्यत्वमेव च। वेग की दृष्टि से किसी भी ज्वर के अन्तर्वेग तथा बहिर्वेग ऐसे दो भेद किये जाते हैं—बहिर्वेगज्वरलक्षण—सन्तापो ह्यधिको बाह्यस्तृष्णादीनाञ्च मार्दवम्। बहिर्वेगस्य लिङ्गानि सुखसाध्यत्वमेव च ॥

हतप्रभेन्द्रियं क्षीणमरोचकनिपीडितम्।
गम्भीरतीक्ष्णवेगार्तं ज्वरितं परिवर्जयेत् ॥ ९४ ॥

गम्भीरज्वरस्य असाध्यत्वम्—जिस मनुष्य की इन्द्रियाँ हतप्रभ (स्व-स्व विषयग्रहण में असमर्थ) हो गई हों अथवा जिस ज्वरी की प्रभा (दीप्ति) और इन्द्रियाँ नष्ट हो गई हों एवं जो क्षीण हो, अरुचि से पीड़ित हो ऐसे गम्भीर ज्वर लक्षण वाले रोगी की ज्वरवेग के तीक्ष्ण होने पर चिकित्सा नहीं करनी चाहिए ॥ ९४ ॥

विमर्शः—ज्वर की असाध्यता के सुश्रुत तथा चरक के अन्य मत भी हैं—(१) सुश्रुत मत—आरम्भाद्विषमो यस्तु यश्च वा दैर्घरात्रिकः। क्षीणस्य चातिरूक्षस्य गम्भीरो यस्य हन्ति तम् ॥ विसंज्ञस्ताम्यते यस्तु शेते निपतितोऽपि वा। शीतार्दितोऽन्तरुष्णश्च ज्वरेण म्रियते नरः॥ यो हृष्टरोमा रक्ताक्षो हृदि संघातशूलवान्। वक्त्रेण चैवोच्छ्वसिति तं ज्वरो हन्ति मानवम् ॥ हिक्काश्वासतृषायुक्तं मूढं विभ्रान्तलोचनम्। सन्ततोच्छ्वासिनं क्षीणं नरं क्षपयति ज्वरः। (२) चरक मत—हेतुभिर्बहुभिर्जातो बलिभिर्बहुलक्षणः। ज्वरः प्राणान्तकृद्यश्च शीघ्रमिन्द्रियनाशनः॥ ज्वरः क्षीणस्य शूनस्य गम्भीरो दैर्घरात्रिकः। असाध्यो बलवान् यश्च केशसीमन्तकृज्ज्वरः॥ केशाः सीमन्तिनो यस्य संक्षिप्ते विनते भ्रुवौ। लुनन्ति चाक्षिपक्ष्माणि सोऽचिराद्याति मृत्यवे॥ प्रेतैः सह पिबेन्मद्यं स्वप्ने यः कृष्यते शुना। सुघोरं ज्वरमासाद्य स जीवमपसृज्यते॥ ज्वरः पौर्वाह्णिको यस्य शुष्ककासश्च दारुणः। बलमांसविहीनस्य यथा प्रेतस्तथैव सः॥ ज्वरो यस्यापराह्णे तु श्लेष्मकासश्च दारुणः। बलमांसविहीनस्य यथा प्रेतस्तथैव सः॥ सहसा ज्वरसन्तापस्तृष्णामूर्च्छाबलक्षयः। विश्लेषणं च सन्धीनां मुमूर्षोरुपजायते॥ गोसर्गे वदनाद्यस्य स्वेदः प्रच्यवते भृशम्। लेपज्वरोपतप्तस्य दुर्लभं तस्य जीवितम्॥ मृत्युश्च तस्मिन् बहुपिच्छिलत्वाच्छीतस्य जन्तोः परितः सरत्वात्। स्वेदो ललाटे हिमवज्ज्वरस्य शीतार्दितस्यापि सुपिच्छिलश्च॥ कण्ठे स्थितो यस्य न याति वक्षो नूनं यमस्यैति गृहं स मर्त्यः। स्रुतस्वेदो ललाटाद्यः श्लथसन्धानबन्धनः। मुखेदुत्थाप्यमानस्तु स स्थूलोऽपि न जीवति। यस्य स्वेदोऽतिबहुलः पिच्छिलो याति सर्वतः। रोगिणः शीतगात्रस्य तदा मरणमादिशेत्'—इति। आधानजन्मनिधने प्रत्यराख्ये विपत्करे। नक्षत्रे व्याधिरुत्पन्नः क्लेशाय मरणाय वा॥ इत्यादि श्लोकों से नक्षत्रभेद से ज्वर की साध्यासाध्यत्व का वर्णन हारीत तथा वृद्धवाग्भट में विशेषरूप से वर्णित है। इसके अतिरिक्त धातुपाक एवं मलपाक के द्वारा भी साध्यासाध्य लक्षणों का ज्ञान होता है, इस धातुपाक और मलपाक में दैव को ही कारण माना गया है। उत्तरोत्तर रोगवृद्धि तथा बल के ह्रास से शुक्रादि धातु सहित मूत्रादिका पाक ही धातुपाक होता है, इसके विपरीत मलपाक होता है—जो निम्न श्लोकों में वर्णित किया गया है। यथा—निद्रानाशो हृदि स्तम्भो विष्टम्भो गौरवारुची। अरतिर्बलहानिश्च धातूनां पाकलक्षणम्। दोषप्रकृतिवैकृत्यं लघुता ज्वरदेहयोः। इन्द्रियाणां च वैमल्यं दोषाणां पाकलक्षणम्॥ वातादि दोषों के अनुसार दोषपाक होने पर वातज्वर सात दिन में, पित्तज्वर दस दिन में और श्लेष्मज्वर बारह दिन में उतर जाता है किन्तु धातुपाक होने पर उक्त दोषजन्य ज्वर उक्त दिनों में रोगी को मार डालते हैं—सप्तमे दिवसे प्राप्ते दशमे द्वादशेऽपि वा। पुनर्घोरतरो भूत्वा प्रशमं याति हन्ति वा॥ कार्तिककुण्डवचन—दशद्वादशसप्ताहैः पित्तश्लेष्मानिलाधिकः। दग्ध्वोष्मणा धातुमलान् हन्ति मुञ्चति वा ज्वरः॥ वातपित्तकफैः सप्तदशद्वादशवासरान्। प्रायोऽनुयाति मर्यादा मोक्षाय च वधाय च॥ वाग्भटाचार्य ने त्रिदोषज्वर के मोक्ष या मारक की मर्यादा ७ या १४, ९ या १८, ११ या २२ दिन माने हैं—सप्तमी द्विगुणा चैव नवम्येकादशी तथा। एषा त्रिदोषमर्यादा मोक्षाय च वधाय च॥ (वा० नि० अ० २)

हीनमध्याधिकैर्दोषैस्त्रिसप्तद्वादशाहिकः।
ज्वरवेगो भवेत्तीव्रो यथापूर्वं सुखक्रियः ॥ ९५ ॥

ज्वरवेग—हीन दोषों से तीन दिन तक हीन (अल्प) रूप से प्रकुपित दोषों से तीन दिन तक, मध्यरूप से प्रकुपित दोषों से सात दिन तक तथा अधिक रूप से प्रकुपित दोषों से दस दिन तक आने वाला या बना रहने वाला ज्वर यथाक्रम से उत्तरोत्तर तीव्र वेगवान् होता है किन्तु यथापूर्व क्रम से सुखसाध्य होता है। अर्थात् दोषाधिक्य से दस दिन तक आनेवाला ज्वर असाध्य या अत्यन्त कृच्छ्रसाध्य तथा इस की अपेक्षा मध्यदोष-प्रकोप से सात दिन तक आने वाला ज्वर साधारण कृच्छ्रसाध्य एवं इस की अपेक्षा हीनदोषप्रकोप से तीन दिन तक आने वाला ज्वर अत्यन्त सुखसाध्य होता है ॥ ९५ ॥

कालो ह्येष यमश्चैव नियतिर्मृत्युरेव च।
तस्मिन् व्यपगते देहाज्जन्मेह पुनरुच्यते ॥
इति ज्वराः समाख्याताः कर्मेदानीं प्रवक्ष्यते ॥ ९६ ॥

ज्वर की यमकल्पना—यह ज्वर कालरूप, यमस्वरूप, नियति (पूर्वजन्मकृत कर्म) रूप तथा मृत्युस्वरूप माना गया है। शरीर से इस ज्वर के निकल जाने पर उस व्यक्ति का

पुनर्जन्म हुआ है—ऐसा कहा जाता है। इस तरह यहाँ तक ज्वर की परिभाषा, कारण, सम्प्राप्ति, भेद और साध्यासाध्यता का विवेचन किया है, अब इसके अनन्तर ज्वर की चिकित्सा का वर्णन करते हैं ॥ ९६ ॥

ज्वरस्य पूर्वरूपेषु वर्तमानेषु बुद्धिमान् ।
पाययेत घृतं स्वच्छं ततः स लभते सुखम् ॥ ९७ ॥
विधिर्मारुतजेष्वेष पैत्तिकेषु विरेचनम् ।
मृदु प्रच्छर्दनं तद्वत्कफजेषु विधीयते ॥ ९८ ॥

ज्वरपूर्वरूपचिकित्सा—ज्वर की पूर्वरूपावस्थाओंमें बुद्धिमान् चिकित्सक रुग्ण को स्वच्छ (द्रव्यान्तरयोगरहित) घृत का पान करावे। घृत-पान से रुग्ण को दोष का संशमन होकर सुखप्राप्ति होती है । यह घृतपानविधि श्रम, क्षय, भयादि से कुपित वात के द्वारा उत्पन्न होने वाले ज्वर के पूर्वरूप में श्रेष्ठ है, न कि मिथ्या-आहारजन्य तथा आमाशयाश्रित वातज्वर के पूर्वरूप में। पित्तजन्य ज्वर के पूर्वरूपों में मुनक्के, गुलाबपुष्प या मुलेठी, अमलतासगूदा आदि के द्वारा मृदु विरेचनकर्म कराना चाहिए। इसी प्रकार कफ प्रकोप से उत्पन्न होने वाले ज्वर के पूर्वरूपों में मदनफलादि के द्वारा वमन कर्म कराना चाहिए ॥ ९७–९८ ॥

विमर्शः—चरकाचार्य ने क्षय, वायु, भय, क्रोध, काम, शोक और श्रम से उत्पन्न होने वाले ज्वरों को छोड़ कर अन्य सर्वप्रकार के ज्वरों में लंघन का उपदेश किया है—ज्वरे लङ्घनमेवादावुपदिष्टमृते ज्वरात् । क्षयानिलभयक्रोधकामशोकश्रमोद्भवात् ॥ अन्य मत से साधारणतया ज्वर की पूर्वरूपावस्था में दोषों के अल्प होने पर लघु भोजन तथा दोषों के प्रबल होने पर लङ्घन कराना लिखा है—पूर्वरूपे प्रयुञ्जीत ज्वरस्य लघुभोजनम् । लङ्घनञ्च यथा दोषं विरेकं वातिके पुनः । पाययेत्सर्पिरेवाच्छं पैत्तिके तु विरेचनम् (भै. र.) ज्वरपूर्वरूपलक्षणम्—आलस्यं नयने सास्रे जृम्भणं गौरवं क्लमः । ज्वलनातपवाय्वम्बुभक्तिद्वेषावनिश्चितौ ॥ अविपाकास्यवैरस्ये हानिश्च बलवर्णयोः । शीलवैकृतमल्पञ्च ज्वरलक्षणमग्रजम् ॥ (च. चि. अ. ३)

सर्वद्विदोषजेषूक्तं यथादोषं विकल्पयेत् ।
अस्नेहनीयोऽशोध्यश्च संयोज्यो लङ्घनादिना ॥ ९९ ॥

सन्निपातद्वन्द्वजज्वरपूर्वरूपक्रमः—सन्निपातज्वर तथा द्विदोषजज्वर के पूर्वरूपों में वात, पित्त और कफ इन दोषों के बलाबल के अनुसार घृतपान, विरेचन और वमन का प्रयोग कराना चाहिए किन्तु जो रोगी स्नेहन के योग्य न हो और जो वमन-विरेचनादि संशोधन के योग्य न हो उसे लङ्घन कराना चाहिए ॥ ९९ ॥

विमर्शः—भैषज्यरत्नावली में लिखा है कि द्विदोषजन्य ज्वरों में दोनों कर्म कराने चाहिएँ, जैसे वातपित्त ज्वर में घृतपान कराके कुछ काल के पश्चात् विरेचन देना चाहिए। कफपित्तज्वर में वमन और विरेचन तथा कफवात ज्वर में वमन कराके घृतपान कराना चाहिए । इसी तरह सान्निपातिक ज्वर में वमन, विरेचन और घृतपान ये तीनों क्रियाएँ दोषों के प्राबल्य के अनुसार विवेचनापूर्वक करनी चाहिएँ—'द्वन्द्वजेषु द्वयं कुर्याद् बुद्ध्वा सर्वन्तु सर्वजे' (भै. र.) स्नेहनीया—स्नेह्याः शोधयितव्याश्च रूक्षा वातविकारिणः । व्यायाममद्यस्त्रीनित्याः स्नेह्याः स्युर्ये च चिन्तकाः ॥ (चि. सू. १३) अस्नेहनीयाः—संशोधनादृते येषां रूक्षणं सम्प्रवक्ष्यते । न तेषां स्नेहनं शस्तमुत्सन्नकफमेदसाम् । अभिष्यण्णाननगुदा नित्यमन्दाग्नयश्च ये । तृष्णामूर्च्छापरीताश्च गर्भिण्यस्तालुशोषिणः । अन्नद्विषश्छर्दयन्तो जठरामगरार्दिताः ॥ दुर्बलाश्च प्रतान्ताश्च स्नेहग्लाना मदातुराः ॥ न स्नेह्या वर्तमानेषु न नस्तो बस्तिकर्मसु । स्नेहपानात्प्रजायन्ते तेषां रोगाः सुदारुणाः ॥ (च. सू. अ. १३) अशोध्याः—अर्थात् संशोधन चार प्रकार का होता है—'चतुष्प्रकारा संशुद्धिः' वमन, विरेचन, निरूहण और शिरोविरेचन किन्तु अन्य आचार्यों ने सर्वमत पञ्च प्रकार शुद्धि मानी है—वमनं रेचनं नस्यं निरूहश्चानुवासनम् । ज्ञेयं पञ्चविधं कर्म''' ॥ यदा वहेद् बहिर्दोषान् पञ्चधा शोधनं हि तत् । इस तरह उक्त पञ्चविध कर्म जिनमें नहीं किया जाय उन्हें अशोध्य कहते हैं—जैसा कि चरक सिद्धिस्थान अध्याय दो में कहा है—'चण्डः साहसिको भीरुः कृतघ्नो वैद्य एव च' इत्यादि । इसके अतिरिक्त वमनादिक के अयोग्य रोगियों का ज्ञान संहिताग्रन्थों से करें, विस्तारभीत्या नहीं लिखा है।

रूपप्राग्रूपयोर्विद्यान्नानात्वं वह्निधूमवत् ।
प्रव्यक्तरूपेषु हितमेकान्तेनापतर्पणम् ॥ १०० ॥

रूप-पूर्वरूपभेद—वह्नि और धूम के समान रूप और पूर्वरूप में भेद समझना चाहिए। ज्वर की रूपावस्था के प्रकट हो जाने पर बिना अपवाद (शङ्का) के दोषजन्य ज्वर में अपतर्पण (उपवास) कराना हितकारी होता है ॥ १०० ॥

विमर्शः—रूपलक्षणम्—तदेव व्यक्ततां यातं रूपमित्यभिधीयते । संस्थानं व्यञ्जनं लिङ्गं लक्षणं चिन्हमाकृतिः ।

आमाशयस्थे दोषे तु सोत्क्लेशे वमनं परम् ॥ १०१ ॥

वमनविधान—दोष के आमाशय में स्थित होने पर प्रथम कफ को कफवर्द्धक ओषधियों अथवा खाद्य-पेय के द्वारा उत्क्लेशित करके वमन कराना हितकारक होता है। अथवा दोष के आमाशयस्थ होने पर तथा हृल्लास, लालाप्रसेक आदि उत्क्लेशलक्षणों के होने पर वमन की व्यवस्था करनी चाहिए ॥ १०१ ॥

आनद्धस्तिमितैर्दोषैर्यावन्तं कालमातुरः ।
कुर्यादनशनं तावत्ततः संसर्गमाचरेत् ॥ १०२ ॥

उपवासमर्यादा—जब तक दोष स्तिमित (निश्चल, स्तम्भित या जकड़े हुये) रहें तब तक रोगी को अनशन (लङ्घन) कराना चाहिए और दोष तथा रुग्ण के हल्के हो जाने पर संसर्ग (पेयादि) क्रम की विधि का प्रयोग करना चाहिए ॥

विमर्शः—एक सप्ताह में वात, दस दिन में पित्त और बारह दिन में कफ का पाक होता है अत एव दोषों के अनुसार कफ में तीन दिन, पित्त में एक रात्रि तथा वात में अहोरात्र (२४ घण्टे) तक लङ्घन कराना चाहिये—वातः पच्यति सप्ताहात्पित्तन्तु दशभिर्दिनैः । श्लेष्मा द्वादशभिर्यस्तैः पच्यते वदतां वर ॥ लंघनं लंघनीयस्तु कुर्याद्दोषानुरूपतः । त्रिरात्रमेकरात्रं वाऽहोरात्रमथवा ज्वरे ॥ दोषपाचनोपाय—निर्वात स्थान के सेवन, स्वेदन, लङ्घन तथा गरम जल के पान से ज्वर की आमावस्था के क्षीण होने के अनन्तर ज्वरनाशक ओषधि

देनी चाहिये—निर्वातसेवनात्स्वेदाल्लङ्घनादुष्णवारिणः। पानाद्यमङ्गे शीघ्रं पश्चाद्भेषजमाचरेत् ॥ लङ्घनपाचनभेषजव्यवस्था—ज्वर के आदि (पूर्वरूपावस्था) में लङ्घन, ज्वर के मध्य में पाचन तथा ज्वर के अन्त में (वेग उतरने के समय) ओषधि देनी चाहिये तथा ज्वर के पूर्ण मुक्त होने पर शेष दोषनिष्कासनार्थ विरेचन का प्रयोग करना चाहिये। इसी प्रकार दोषों की सन्निपातावस्था में त्रिविध (लङ्घन, पाचन और विरेचन) कर्म का बुद्धिमानीपूर्वक दोषानुसार प्रयोग करना चाहिये—ज्वरादौ लङ्घनं प्रोक्तं ज्वरमध्ये तु पाचनम्। ज्वरान्ते भेषजं दद्याज्ज्वरमुक्ते विरेचनम् ॥ त्रिविधं त्रिविधे दोषे तत्समीक्ष्य प्रयोजयेत् ॥ लङ्घनपाचनशोधनव्यवस्था—दोषों के अल्प होने पर लङ्घन, दोषों के मध्य होने पर लङ्घन-पाचन और दोषों के प्रभूत (अत्यधिक) होने पर शोधन (वमन विरेचनादि) कराना चाहिये, क्योंकि शोधन मलों (दोषों) को मूल (जड़) से नष्ट कर देता है—दोषेऽल्पे लङ्घनं पथ्यं मध्ये लङ्घनपाचनम्। प्रभूते शोधनं तद्धि मलादुन्मूलयेन्मलान् ॥ दोषाः कदाचित्कुप्यन्ति जिता लङ्घनपाचनैः। ये तु संशोधनैः शुद्धा न तेषां पुनरुद्भवः ॥

न लङ्घयेन्मारुतजे क्षयजे मानसे तथा।
अलङ्घ्याश्चापि ये पूर्वं द्विव्रणीये प्रकीर्तिताः ॥१०३॥

लङ्घन के अयोग्य ज्वर—वातजन्य ज्वर, धातुक्षयजन्य ज्वर तथा मानसज्वर में लङ्घन नहीं कराना चाहिये तथा द्विव्रणीय अध्याय में निषिद्ध किये हुये गर्भिणी, वृद्ध, बालक, दुर्बल और भीरु व्यक्ति के ज्वरग्रस्त होने पर लङ्घन नहीं कराना चाहिये ॥ १०३ ॥

विमर्शः—न तु मारुतक्षुत्तृष्णामुखशोषभ्रमान्विते। कार्यं न बाले वृद्धे वा न गर्भिण्यां न दुर्बले।

अनवस्थितदोषाग्नेर्लङ्घनं दोषपाचनम्।
ज्वरघ्नं दीपनं काङ्क्षारुचिलाघवकारकम् ॥१०४॥

लङ्घनगुण—अव्यवस्थित दोष तथा अग्नि वाले ज्वरी को लङ्घन कराने से आमदोषों का पाचन होता है एवं लङ्घन ज्वरनाशक और अग्नि का दीपक है तथा भोजन की आकांक्षा तथा अन्न में रुचि कराता है। एवं देह को हल्का बनाता है।

सृष्टमारुतविण्मूत्रं क्षुत्पिपासाऽसहं लघुम्।
प्रसन्नात्मेन्द्रियं क्षामं नरं विद्यात् सुलङ्घितम् ॥१०५॥

सम्यग्लङ्घितलक्षणम्—ठीक तरह से लङ्घन होने पर अपान वायु, विष्ठा और मूत्र का उचित रूप से त्याग होता है तथा सुलङ्घित व्यक्ति क्षुधा (भूख) और प्यास को सहन नहीं कर सकता है, शरीर हल्का हो जाता है, आत्मा और इन्द्रियाँ प्रसन्न हो जाती हैं तथा वह व्यक्ति कृश हो जाता है ॥१०५॥

विमर्शः—सुलङ्घित के निम्न लक्षण भै० र० में लिखे हैं—वातमूत्रपुरीषाणां विसर्गे गात्रलाघवे। हृदयोद्गारकण्ठास्यशुद्धौ तन्द्राक्लमे गते ॥ स्वेदे जाते रुचौ चापि क्षुत्पिपासासहोदये। कृतं लङ्घनमादेश्यं निर्व्यथे चान्तरात्मनि ॥

बलक्षयस्तृषाशोषस्तन्द्रानिद्राभ्रमक्लमाः।
उपद्रवाश्च श्वासाद्याः सम्भवन्त्यतिलङ्घनात् ॥१०६॥

अधिकलङ्घनोपद्रव—मात्रा से अधिक लङ्घन होने पर बल का नाश, बार-बार प्यास लगना, मुख का सूखना या शरीर का शोष, तन्द्रा, निद्रा, क्लम और श्वास-कास आदि उपद्रव होते हैं ॥ १०६ ॥

विमर्शः—तन्द्रालक्षण—इन्द्रियार्थेष्वसंप्राप्तिर्गौरवं जृम्भणं क्लमः। निद्रार्त्तस्येव यस्येहा तस्य तन्द्रां विनिर्दिशेत्। क्लमलक्षण—योऽनायासः श्रमो देहे प्रवृद्धः श्वासवर्जितः। क्लमः स इति विज्ञेय इन्द्रियार्थप्रबाधकः। तन्त्रान्तरोक्तातिलङ्घितलक्षण—पर्वभेदोऽङ्गमर्दश्च कासः शोषो मुखस्य च। क्षुत्प्रणाशोऽरुचिस्तृष्णा दौर्बल्यं श्रोत्रनेत्रयोः ॥ मनसः सम्भ्रमोऽभीक्ष्णमूर्ध्ववातस्तमो हृदि। देहाग्निबलहानिश्च लङ्घनेऽतिकृते भवेत् ॥ हीनलङ्घनलक्षण—कफोत्क्लेशः सहृल्लासः ष्ठीवनञ्च मुहुर्मुहुः। कण्ठास्यहृदयाशुद्धिस्तन्द्रा स्याद्धीनलङ्घने ॥

दीपनं कफविच्छेदि पित्तवातानुलोमनम्।
कफवातज्वरार्त्तेभ्यो हितमुष्णाम्बु तृट्छिदम्।
तद्धि मार्दवकृद्दोषस्रोतसां शीतमन्यथा ॥१०७॥

उष्णाम्बुगुण—ज्वर में उष्णोदक अग्नि का दीपक, कफ का नाशक, पित्त और वात का अनुलोमक होता है तथा कफ और वात से उत्पन्न ज्वर से पीड़ित रोगियों में उष्णोदक हितकारक तथा तृषा का नाशक होता है एवं संसक्त आमदोष तथा स्रोतसों में मुलायमी उत्पन्न करता है और शीतल जल उक्त गुणों से विपरीत गुण वाला होता है ॥ १०७ ॥

विमर्शः—चरकाचार्य ने चरक के विमानस्थान के तीसरे अध्याय में ज्वरी को उष्ण जल देना युक्तिपूर्वक हितकर लिखा है—'ज्वरितस्य कायसमुत्थानदेशकालानभिसमीक्ष्य पाचनार्थं पानीयमुष्णं प्रयच्छन्ति भिषजः। ज्वरो ह्यामाशयसमुत्थः, प्रायो भेषजानि चामाशयसमुत्थानां विकाराणां पाचनवमनापतर्पणसमर्थानि भवन्ति, पाचनार्थञ्च पानीयमुष्णं तस्मादेतज्ज्वरितेभ्यः प्रयच्छन्ति भिषजो भूयिष्ठम्। तद्धि तेषां पीतवातमनुलोमयति, अग्निञ्चोदर्यमुदीरयति, क्षिप्रं जरां गच्छति, श्लेष्माणं परिशोषयति, स्वल्पमपि च पीतं तृष्णाप्रशमनायोपकल्पते' (च० वि० अ० ३) उष्णोदकलक्षण—क्वाथ्यमानन्तु निर्वेगं निष्फेनं निर्मलं तथा। अर्धावशिष्टं यत्तोयं तदुष्णोदकमुच्यते ॥ उष्णोदकगुणाः—ज्वरकासकफश्वासपित्तवातामभेदसाम्। नाशनं पाचनञ्चैव पथ्यमुष्णोदकं सदा ॥ ऋतुभेद से जल को उष्ण करने के भी विभिन्न प्रकार हैं—ग्रीष्म तथा शरद् ऋतु में त्रिपादावशेष, हेमन्त ऋतु में उबाल कर अर्धावशेष तथा शिशिर, वर्षा और वसन्त में भी अर्धावशेष उष्ण जल प्रशस्त माना गया है—त्रिपादशेषं सलिलं ग्रीष्मे शरदि शस्यते। हिमेऽर्धशेषं शिशिरे तथा वर्षावसन्तयोः ॥ जेज्जटाचार्य के आगमानुसार अन्य आचार्यों के मत से ऋतुओं के अनुसार उष्णोदककल्पना निम्न क्रम से है—निदाघेत्वर्धपादोनं पादहीनन्तु शारदम्। शिशिरे च वसन्ते च हिमे चार्धावशेषितम्। अष्टमांशावशेषन्तु वारि वर्षासु शस्यते ॥ चरकाचार्य ने चिकित्सास्थान में लिखा है कि वात-कफ ज्वर में उष्ण जल तथा मद्यजन्य और पैत्तिक ज्वर में तिक्तक पदार्थों द्वारा शृत करके शीत किया हुआ जल पीने को देना चाहिये—तृष्यते सलिलञ्चोष्णं दद्याद्वातकफज्वरे। मद्योत्थे पैत्तिके चाथ शीतलं तिक्तकैः शृतम् ॥ (च० चि० अ० ३)

सेव्यमानेन तोयेन ज्वरः शीतेन वर्द्धते ।
पित्तमद्यविषोत्थेषु शीतलं तिक्तकैः शृतम् ॥ १०८ ॥

शीतलजलनिषेध—ज्वरी मनुष्य को शीतल जल पिलाने से ज्वर की वृद्धि होती है, अतः ज्वरी को उष्ण पानी पिलाना चाहिए एवं पित्तजन्य ज्वर, मद्यजन्य ज्वर और विषजन्य ज्वर में तिक्तक पदार्थों द्वारा शृत करके शीतल किये हुये जल का पान कराना चाहिए ॥ १०८ ॥

विमर्शः—भद्रमुस्तक, सोंठ, खस, पित्तपापड़ा और लाल चन्दन आदि तिक्त द्रव्य हैं, इनसे षडङ्गपरिभाषानुसार जल शृत करना चाहिए। अर्थात् इन द्रव्यों का मिलित १ कर्ष (१ तो०) तथा पानी १ प्रस्थ (१६ पल = ६४ तो०) ले उसे अर्धावशेष रख कर छान लें—घनचन्दनशुण्ठ्यम्बुपर्पटोशीरसाधितम् । शीतं तेभ्यो हितं तोयं पाचनं तृड्ज्वरापहम् ॥ कर्षमात्रं ततो द्रव्यं साधयेत्प्रास्थिकेऽम्भसि । अर्धशृतं प्रयोक्तव्यं पाने पेयादिसंविधौ ॥ (वङ्गसेन) शार्ङ्गधरोऽपि—क्षुण्णं द्रव्यं पलं साध्यं चतुःषष्टिपले जले । अर्धशिष्टन्तु तद्देयं पाने पेयादिसंविधौ ॥ चरकाचार्य ने लिखा है कि तिक्तद्रव्यशृत जल या उष्ण जल ज्वर में अवश्य ही लाभकारी है किन्तु जिस ज्वर में पित्त की अधिकता हो तथा दाह, भ्रम, प्रलाप और अतिसार आदि उपद्रव हों तो इस प्रकार के जल को न देकर शीत जल पिलाना चाहिए क्योंकि उष्ण जल से दाह, भ्रम, प्रलाप और अतिसार बढ़ते हैं तथा शीत जल से शान्त होते हैं (च. वि. अ. ३)। वास्तव में पित्त की प्रबलता तथा तृषाधिक्य होने पर षडङ्गपानीय पीने को देना हितकारी होता है—मुस्तपर्पटकोशीरचन्दनोदीच्यनागरैः । शृतशीतं जलं देयं पिपासाज्वरशान्तये ॥

गाङ्गेयनागरोशीरपर्पटोदीच्यचन्दनैः ।
दीपनी पाचनी लघ्वी ज्वरार्त्तानां ज्वरापहा ॥
अन्नकाले हिता पेया यथास्वम्पाचनैः कृता ॥ १०९ ॥

पेया—भद्रमुस्तक (गाङ्गेय), सोंठ, खस, पित्तपापड़ा, नेत्रवाला (उदीच्य) तथा लालचन्दन इन्हें मिलित १ कर्ष भर ले के १ प्रस्थ जल में पकाकर अर्धावशेष रख के छान कर इस पानी से बनाई गई पेया अग्निदीपनी, आमदोषपाचनी, पचने में हलकी और ज्वरनाशक होती है। अथवा दोषानुसार वक्ष्यमाण पञ्चमूली आदि पाचक द्रव्यों के द्वारा षडङ्गपरिभाषानुसार सिद्ध किये जल में पेया बनाकर अन्न काल में सेवन कराने से ज्वर में हितकारक होती है ॥ १०९ ॥

बहुदोषस्य मन्दाग्नेः सप्तरात्रात्परं ज्वरे ।
लङ्घनाम्बुयवागूभिर्यदा दोषो न पच्यते ॥ ११० ॥
तदा तं मुखवैरस्यतृष्णारोचकनाशनैः ।
कषायैः पाचनैर्हृद्यैर्ज्वरघ्नैः समुपाचरेत् ॥ १११ ॥

ज्वरघ्नकषायविधान—अत्यधिक दोष वाले एवं मन्दाग्नि युक्त ज्वरी मनुष्य में सात दिन तक लङ्घन, षडङ्गपानीयपान तथा यवागू के प्रयोग करने पर भी यदि दोषों का संशमन न हुआ हो तो सात दिन के अनन्तर मुख की विरसता, तृषा और अरुचि को नष्ट करने वाले, आम दोष के पाचक, हृदय के लिये हितकारी और ज्वरनाशक वक्ष्यमाण पञ्चमूली प्रभृति द्रव्यों के कषायों के द्वारा ज्वरी का उपचार करना चाहिए ॥ ११०–१११ ॥

विमर्शः—तरुण ज्वर में कषायपान का निषेध है—न कषायं प्रयुञ्जीत नराणां तरुणज्वरे । कषायेणाकलीभूता दोषा जेतुं सुदुष्कराः ॥ तथा सात रात्रि तक तरुण ज्वर माना जाता है—'आसप्तरात्रं तरुणं ज्वरमाहुर्मनीषिणः' । कषाय की परिभाषा में लिखा है कि दो तोले औषध या क्वाथ्य द्रव्य को सोलह गुने पानी में उबाल कर चौथाई शेष रख के छान कर जो ज्वरी को पिलाया जाता है उसे कषाय कहते हैं—चतुर्भागावशिष्टस्तु यः षोडशगुणाम्भसा । स कषायः कषायः स्यात् स वर्ज्यस्तरुणज्वरे । परन्तु पञ्चविधकषायकल्पना (स्वरस, कल्क, शृत, शीत और फाण्ट) का प्रयोग तरुण ज्वर में निषिद्ध नहीं है—न तु कल्पनमुद्दिश्य कषायः प्रतिषिध्यते । यः कषायः कषायः स्यात्स वर्ज्यस्तरुणज्वरे ॥ नवज्वरी में पञ्चविधकषायकल्पना के अतिरिक्त तृषाशान्त्यर्थं षडङ्गपानीय एवं दोषपाचनार्थं विभिन्न प्रकार की ज्वरहारिणी यवागू, पेया, विलेपी आदि का भी प्रयोग होता है—मुख्यभेषजसम्बन्धो निषिद्धस्तरुणज्वरे । तोयपेयादिसंस्कारे निर्दोषं तेन भेषजम् ॥ तरुणज्वर में मुख्य ज्वरनाशक औषधियाँ निषिद्ध हैं किन्तु तोय (षडङ्गपानीय), लाजपेया और यवागू के लिये लघुपाकी औषधियाँ प्रयुक्त होती ही हैं।

पञ्चमूलीकषायन्तु पाचनं पवनज्वरे ।
सक्षौद्रं पैत्तिके मुस्तकटुकेन्द्रयवैः कृतम् ॥ ११२ ॥
पिप्पल्यादि कषायन्तु कफजे परिपाचनम् ।
द्वन्द्वजेषु तु संसृष्टं दद्यादथ विवर्ज्जयेत् ।
पीताम्बुर्लङ्घितो भुक्तोऽजीर्णी क्षीणः पिपासितः ॥ ११३ ॥

वातादिज्वरहरकषाय—बृहत्पञ्चमूल की औषधियों का क्वाथ वातज्वर में दोषों का पाचक माना गया है तथा नागरमोथा, कुटकी और इन्द्रयव के क्वाथ में शहद मिला कर पिलाने से पित्तज्वर में दोष पाचन होता है एवं पिप्पल्यादि गण की औषधियों का क्वाथ कफज्वर में लाभदायक माना गया है। दो-दो दोषों से उत्पन्न हुये ज्वर में द्विदोषनाशक औषधियों को संयुक्त कर क्वाथ पिलाना चाहिए तथा जिसने तुरन्त जल पिया हो, उपवासादि द्वारा लङ्घन किये हुये, तुरन्त भोजन किये हुये, अजीर्ण वाले, क्षीण एवं प्यास से पीड़ित व्यक्ति को पाचन कषाय नहीं देना चाहिए ॥ ११२–११३ ॥

तीक्ष्णे ज्वरे गुरौ देहे विबद्धेषु मलेषु च ।
सामदोषं विजानीयाज्ज्वरं पक्वमतोऽन्यथा ॥ ११४ ॥
मृदौ ज्वरे लघौ देहे प्रचलेषु मलेषु च ।
पक्वं दोषं विजानीयाज्ज्वरे देयं तदौषधम् ॥ ११५ ॥

आमपक्वज्वरयोर्लक्षणम्—ज्वरवेग की तीक्ष्णता, देह में भारीपन तथा मल, मूत्र, स्वेद आदि मलों की रुकावट होने पर आमज्वर समझना चाहिए तथा इनसे विपरीत लक्षण अर्थात् ज्वरवेग की मन्दता, देहलाघव और मलमूत्रादि की प्रवृत्ति होने पर पक्वज्वर समझना चाहिए तथा इसी अवस्था में संशमन और संशोधनकारी औषध देना चाहिए ॥ ११४–११५ ॥

विमर्शः—आमज्वरलक्षण—लालाप्रसेको हृल्लासहृदयाशुद्ध्यरोचकाः । तन्द्रालस्याविपाकास्यवैरस्यं गुरुगात्रता ॥ क्षुन्नाशो बहुमूत्रत्वं स्तब्धता बलवान् ज्वरः । आमज्वरस्य लिङ्गानि न दद्यात्तत्र भेषजम् ॥ भेषजं ह्यामदोषस्य भूयो ज्वलयति ज्वरम् ॥

दोषप्रकृतिवैकृत्यादेकेषां पक्वलक्षणम् ।
हृदयोद्वेष्टनं तन्द्रा लालास्रुतिररोचकः ॥११६॥
दोषाप्रवृत्तिरालस्यं विबन्धो बहुमूत्रता ।
गुरूदरत्वमस्वेदो न पक्तिः शकृतोऽरतिः ॥११७॥
स्वापः स्तम्भो गुरुत्वञ्च गात्राणां वह्निमार्दवम् ।
मुखस्याशुद्धिरग्लानिः प्रसङ्गी बलवान् ज्वरः ॥
लिङ्गैरेभिर्विजानीयाज्ज्वरमामं विचक्षणः ॥११८॥

मतान्तरेणामपक्वज्वरलक्षणानि—कुछ आचार्यों का मत है कि दोष, प्रकृति तथा विकृति के लक्षणों से ज्वर का पक्व लक्षण समझना चाहिये। इसी तरह हृदय में उद्वेष्टन (ऐंठन), तन्द्रा, लार का टपकना, अरुचि, दोषों की अप्रवृत्ति, आलस्य, मल-मूत्रादि की रुकावट या अल्पप्रवृत्ति अथवा अधिक मूत्र का आना, पेट में भारीपन, स्वेद की अप्रवृत्ति, शकृत् (मल) का पाक न होना, बेचैनी, हस्त-पाद में सुप्तता (सुन्नता) या अधिक नींद आना, देह में जकड़ाहट तथा भारीपन, पाचकाग्नि की मन्दता, मुख की अशुद्धि किन्तु ग्लानि का अभाव, शरीर में संसक्ति (कड़ापन या जकड़ाहट), ज्वर का बलवान् होना आदि लक्षणों से बुद्धिमान् वैद्य आम ज्वर को पहचाने ॥ ११६-११८ ॥

विमर्शः—पक्वदोषलक्षण—मृदौ ज्वरे लघौ देहे प्रचलेषु मलेषु च। पक्वं दोषं विजानीयाज्ज्वरे देयं तदौषधम् ॥ 'दोषप्रकृतिवैकृत्याद्'—दोषाणां = दुष्ट-वातपित्तकफानां, प्रकृतिः = ज्वरस्य तदुपद्रवाणाञ्चोत्पादनं, तस्या वैकृत्यं वैपरीत्यं तस्माद्दोषप्रकृतिवैकृत्याद्'—अर्थात् दोषों की प्रकृति से तात्पर्य ज्वर तथा उसके उपद्रवों की उत्पत्ति से है और इस प्रकृति से विपरीतता (दोषसाम्यावस्था) पक्व ज्वर की सूचक है। प्रसङ्गाच्चिरामज्वरलक्षण—क्षुत्क्षामतालघुत्वञ्च गात्राणां ज्वरमार्दवम् । दोषप्रकृतिरुत्साहो निरामज्वरलक्षणम् ॥ भूख लगना, शरीर में हलकापन, ज्वराल्पता, दोषों का प्राकृतिक होना तथा कार्योत्साह—ये निरामज्वर के लक्षण हैं। पच्यमानज्वरलक्षण—ज्वरवेगोऽधिकस्तृष्णा प्रलापः श्वसनं भ्रमः। मलप्रवृत्तिरुत्क्लेशः पच्यमानस्य लक्षणम् ॥ (च० चि० अ० ३)

सप्तरात्रात्परं केचिन्मन्यन्ते देयमौषधम् ।
दशरात्रात्परं केचिद्दातव्यमिति निश्चिताः ॥११९॥

ज्वरे औषधदानकालः—कुछ आचार्यों का मत है कि ज्वर में सात दिन के अनन्तर औषध देना चाहिए। अन्य आचार्य दस दिन के पश्चात् औषध देने का निर्देश करते हैं ॥ ११९ ॥

पैत्तिके वा ज्वरे देयमल्पकालसमुत्थिते ।
अचिरज्वरितस्यापि देयं स्याद्दोषपाकतः ॥१२०॥

औषधदाने दोषपाकप्रधानता—पैत्तिक ज्वर या अल्पकालोत्पन्न (सद्यःसमुत्पन्न=नवीन) पैत्तिक ज्वर में तथा सद्यःसमुत्पन्न (नवीन) किसी भी ज्वर में दोषों का पाक हो जाने पर सात दिन पूर्व भी ज्वरघ्न औषध दे देना चाहिये ॥

विमर्शः—ज्वरी को औषध देने के विषय में (१) चरकाचार्य ने लिखा है कि ६ दिन के अनन्तर सातवें दिन लघु भोजन दें तथा आठवें दिन आमदोषपाचक या ज्वरशामक कषायपान कराना चाहिये—'ज्वरितं षडहेऽतीते लघ्वन्नप्रतिभोजितम् । पाचनं शमनीयं वा कषायं पाययेत्तु तम् ॥ (२) शार्ङ्गधराचार्य ने लिखा है कि वातज्वर में सातवें दिन गुडूची, पिपरामूल और नागरमोथा या सोंठ के द्वारा शृत पाचन कषाय अथवा कालिङ्गादि कषाय का पान कराना चाहिये—गुडूचीपिप्पलीमूलनागरैः पाचनं शृतम् । वातज्वरे तथा पेयं कालिङ्गं सप्तमेऽहनि ॥ (३) तन्त्रान्तर में भी सामज्वर में सातवें दिन पाचन कषाय तथा निराम ज्वर में संशामक कषाय पान का विधान लिखा है-पाययेदातुरं साममौषधं सप्तमे दिने। शमनेनाथवा दृष्ट्वा निरामं तमुपाचरेत् ॥ (४) चतुर्थ मत है कि दोषानुसार वातिक ज्वर में सातवें दिन, पैत्तिक ज्वर में दसवें दिन तथा श्लैष्मिक ज्वर में बारहवें दिन ज्वरनाशक भेषज (कषाय अथवा अन्य रसादि औषध) का प्रयोग करना चाहिये—वातिके सप्तरात्रेण दशरात्रेण पैत्तिके। श्लैष्मिके द्वादशाहेन ज्वरे युञ्जीत भेषजम् ॥ वर्तमान समय में अधिकांश चिकित्सक आन्त्रिक और फौफ्फुसिक (श्लेष्मोल्बण सन्निपात) ज्वर के अतिरिक्त ज्वर में ज्वर के समय रुग्ण की घबराहट दूर करने के लिये प्रवालभस्म, अमृतासत्व और सितोपलादि तथा सञ्जीवनी का प्रयोग करते हैं तथा साथ ही में स्वेदल व मूत्रल (Diaphrotic and diuretic) ओषधियों का प्रयोग करते हैं। स्वेदल ओषधियों के प्रयोग से चर्म के सूक्ष्म छिद्र खुल जाते हैं जिनसे शरीर की भीतरी ऊष्मा बाहर निकल कर ज्वर कम पड़ जाता है। इसी तरह मूत्र के अधिक त्याग होने से सञ्चित दोष व विषों का बहिर्निःसरण हो जाता है।

भेषजं ह्यामदोषस्य भूयो ज्वलयति ज्वरम् ।
शोधनं शमनीयन्तु करोति विषमज्वरम् ॥१२१॥

आमज्वरे औषधदाननिषेधः—आमदोषयुक्त ज्वरी को दी हुई शोधन भेषज पुनः ज्वर को प्रदीप्त कर देती है तथा संशमनीय औषध ज्वर को विषमज्वर में परिणत कर देती है।

विमर्शः—तन्त्रान्तर में भी कहा गया है कि तरुण ज्वर में प्रयुक्त कषाय से दोष बढ़कर स्तम्भित होकर विषमज्वर को करते हैं—दोषा बद्धाः कषायेण स्तम्भित्वात्तरुणज्वरे। स्तभ्यन्ते न विपच्यन्ते कुर्वन्ति विषमज्वरम् ॥

च्यवमानं ज्वरोत्क्लिष्टमुपेक्षेत मलं सदा ।
अतिप्रवर्त्तमानञ्च साधयेदतिसारवत् ॥१२२॥

ज्वरे प्रवृत्तमलोपेक्षा—ज्वराक्रान्त पुरुष के साधारण रूप से प्रवृत्त हुये मलों (वातादि दोषों) की सदा उपेक्षा करनी चाहिये किन्तु ये यदि अधिक मात्रा में प्रवृत्त (निर्गत) हो रहे हों तो अतिसार के समान उनके स्तम्भन (रोकने) की चिकित्सा करनी चाहिये ॥ १२२ ॥

विमर्शः—चरकाचार्य ने लिखा है कि पित्ताशय के अन्दर पित्त या कफ और पित्त सञ्चित हों तो उन्हें स्रंसन (विरेचन) के द्वारा निकाल देना चाहिये तथा बस्तिकर्म पक्वाशय में बढ़े हुये तथा अवरुद्ध हुये तीनों दोषों को नष्ट कर देती है—पित्तं वा कफपित्तं वा पित्ताशयगतं हरेत्। स्रंसनं त्रीन् मलान् बस्तिर्हरेत् पक्वाशयस्थितान् ॥

यदा कोष्ठानुगाः पक्वा विबद्धाः स्रोतसां मलाः ।
अचिरज्वरितस्यापि तदा दद्याद्विरेचनम् ॥१२३॥

ज्वरे शोधनावस्था—जब मल (वातादि दोष एवं मल, मूत्रादि) कोष्ठ में पहुँच कर पक गये हों और स्रोतसों में रुक गये हों और ज्वर पुराना न भी हो तो भी उस ज्वरी को संशोधनार्थ विरेचक औषध दे देनी चाहिये।

विमर्शः—कोष्ठपरिभाषा—स्थानान्यामाग्निपक्वानां मूत्रस्य रुधिरस्य च। हृदुण्डुकः फुफ्फुसौ च कोष्ठ इत्यभिधीयते॥ स्रोतस-परिभाषा—मूलात्खादन्तरं देहे प्रसृतं त्वभिवाहि यत्। स्रोतस्तदिति विज्ञेयं सिराधमनिवर्जितम्॥

पक्वो ह्यनिर्हृतो दोषो देहे तिष्ठन् महात्ययम्।
विषमं वा ज्वरं कुर्याद् बलव्यापदमेव च॥१२४॥

पक्वदोषोपेक्षणे दोषः—पक्व हुये दोषों का लङ्घन, तिक्ताम्बुपान पेयादि से एवं वमनादि द्वारा निर्हरण न करने पर वे शरीर में रहते हुये शरीर को अत्यधिक हानि पहुँचाते हैं तथा साधारण ज्वर को विषम रूप से परिवर्तित कर देते हैं एवं शरीर का बल क्षीण कर देते हैं॥ १२४॥

तस्मान्निर्हरणं कार्यं दोषाणां वमनादिभिः।
प्राक्कर्म वमनं चास्य कार्यमास्थापनं तथा॥
विरेचनं तथा कुर्याच्छिरसश्च विरेचनम्॥१२५॥

दोषनिर्हरणव्यवस्था—शरीर में लीन पक्वदोष हानिकारक होते हैं, अत एव वमन, विरेचन आदि कर्म द्वारा उनका निर्हरण करना चाहिये। ज्वरी को प्रथम वमन देना चाहिये क्योंकि यहाँ पर यही प्राक्कर्म है तथा इसके अनन्तर आस्थापन वस्ति और उसके पश्चात् विरेचन एवं शिरोविरेचन देना चाहिये॥ १२५॥

विमर्शः—ज्वरी को प्रथम वमन, विरेचन, वस्ति इनमें से कौन-सा कर्म प्रथम कराया जाय इसकी शास्त्र में समुचित व्यवस्था है। (१) लङ्घन—आमावस्था में रोगी के बलवान् होने पर लङ्घन कराना चाहिये। (२) दुग्धप्रयोग—वातपित्तप्रधान ज्वर में निरामावस्था यदि हो तथा ज्वरी को दाह, तृष्णा तथा दोषों की बद्धता हो तो दुग्ध का प्रयोग कराना चाहिये—दाहतृष्णापरीतस्य वातपित्तोत्तरं ज्वरम्। बद्धप्रच्युतदोषं वा निरामं पयसा जयेत्॥ (३) वमन—कफ और पित्त का प्रकोप हो तथा रोग आमाशय में हो तो वमन हितकारी होता है—उपस्थिते श्लेष्मपित्ते व्याधावामाशयाश्रये। वमनार्थं प्रयुञ्जीत भिषग्देहमदूषयन्। (४) विरेचन—उक्त क्रियाओं से ज्वर शान्त न हुआ हो तथा ज्वरी का बल, मांस तथा पाचकाग्नि क्षीण न हो तो उसे विरेचन देना चाहिये—क्रियाभिराभिः प्रशमं न प्रयाति यदा ज्वरः। अक्षीणबलमांसाग्नेः शमयेत्तं विरेचनैः॥ (५) वमन-विरेचननिषेधः—ज्वरक्षीण को वमन तथा विरेचन कराना हितकर नहीं है, अतः दुग्ध के साथ निरूहण वस्ति देकर बृहदन्त्र तथा मलाशय में सञ्चित मल को निकाल देना चाहिए—ज्वरक्षीणस्य न हितं वमनं न विरेचनम्। कामन्तु पयसा तस्य निरूहैर्वा हरेन्मलान्॥ (चरक)। (६) मूर्धविरेचन—जीर्ण ज्वर में गौरव, शिरःशूल और इन्द्रियों के मलों द्वारा विबद्ध (भारी होने) पर शिरोविरेचन कराना चाहिये—गौरवे शिरसः शूले विबद्धेष्विन्द्रियेषु च। जीर्णज्वरे रुचिकरं कुर्यान्मूर्धविरेचनम्॥ (चरक)

क्रमशः बलिने देयं वमनं श्लैष्मिके ज्वरे।
पित्तप्राये विरेकस्तु कार्यः प्रशिथिलाशये॥ १२६॥

वमनविरेचनप्रयोगः—कफजन्य ज्वर में बलवान् रोगी को वमन देना चाहिये तथा पैत्तिक ज्वर में मलाशय, पक्वाशय और पित्ताशय के शिथिल होने पर विरेचन देना चाहिये।

विमर्शः—पित्ताशय तथा पित्तनलियों में पित्त के अवरुद्ध हो जाने पर विरेचक ओषधियों के देने से अवरोध दूर होकर पच्यमानाशय (ग्रहणी) में पित्त का स्राव होने लग जाता है—'विरेचनं हि पित्तहराणाम्' (चरक) 'विरेचनं हि पित्तस्य जयाय परमौषधम्।' कुछ आचार्यों का मत है कि वमन क्रिया से पित्त का भी निर्हरण होता है अतएव चरकाचार्य ने वमन कराने की अवधि पित्त आने तक मानी है—'पित्तान्तमिष्टं वमनम्' (च० सि० अ० १)

सरुजेऽनिलजे कार्यं सोदावर्ते निरूहणम्।
कटीपृष्ठग्रहार्त्तस्य दीप्ताग्नेरनुवासनम्॥ १२७॥

निरूहणानुवासन वस्ति—पीडायुक्त तथा उदावर्त विबन्ध वाले वातज्वर में निरूहण वस्ति देनी चाहिये तथा कटि (कमर) और पृष्ठ (पीठ) की जकड़ाहट से पीडित तथा प्रदीप्त अग्नि वाले ज्वरी को अनुवासन वस्ति देनी चाहिये॥

विमर्शः—उदावर्तलक्षण—वातविण्मूत्रजृम्भाऽश्रुक्षवोद्गारवमीन्द्रियैः। व्याहन्यमानैरुदितैरुदावर्तो निरुच्यते॥ निरूहणवस्ति—क्षीर (दुग्ध) और तैल के द्वारा जो वस्ति दी जाती है उसे निरूहण वस्ति कहते हैं—'वस्तिस्तु क्षीरतैलैर्यो निरूहः स निगद्यते। निरूहयेदिति दोषं निर्हरेदित्यर्थः' शरीर से दोषों को निकाल देती है अत एव इसे निरूहण वस्ति कहते हैं, जैसा कि सुश्रुताचार्य ने लिखा है—'दोषहरणाच्छरीररोगहरणाद्वा निरूह इति'। इसी निरूहणवस्ति को आस्थापन वस्ति भी कहते हैं। अर्थात् यह वस्ति शरीर से रोगों को निकाल कर वय या आयु का स्थापन करती है—'वयःस्थापनादायुःस्थापनाद्वा आस्थापनमिति-निरूहस्यापरं नाम प्रोक्तमास्थापनं बुधैः। स्वस्थानस्थापनाद्दोषधातूनां स्थापनं मतम्॥ अनुवासनवस्ति—'अनुवसन्नपि शरीरं न दूषयति, इत्यनुवासनः' अथवा इसे प्रतिदिन देते हैं अतः अनुवासन वस्ति कहते हैं—'अनुदिनं दीयत इत्यनुवासनः' यह वस्ति स्नेह प्रधान होती है एवं रूक्ष व्यक्तियों के लिये अत्यन्त हितकारी है—अनुवास्यस्तु रूक्षः स्यात्तीक्ष्णाग्निः केवलानिलः। इस वस्ति में सिद्ध या औषधपक्व तैल ही का ग्रहण होता है, कुछ आचार्य स्नेहार्थक तैल शब्द से घृत का भी उल्लेख करते हैं किन्तु चक्रपाणि ने वातनाशक होने के कारण तैल को ही प्रधानता दी है। यदि इस वस्ति में आमतैल का प्रयोग किया जाय तो वह गुदादि मार्ग में अभिष्यन्दकारक हो सकता है, दूसरा हेतु यह है कि इस वस्ति के द्वारा प्रयुक्त तैल का शरीर या आन्त्र में संशोषण कराना अभीष्ट है तथा गुदा को शरीर का मूल माना है एवं यह केशिकाओं व सिराओं से व्याप्त है अत एव यहाँ से आचूषित स्नेह उनके द्वारा समस्त शरीर व शिर तक पहुँचता है, अतः पक्व तैल ही लाभकारी होगा—मूलं गुदं शरीरस्य सिरास्तत्र प्रतिष्ठिताः। सर्वं शरीरं पुष्यन्ति मूर्धानं यावदाश्रिताः॥ (पाराशरः) विरेचन के सात दिन बाद अनुवासन वस्ति दी जाती है तथा शरीर के ताप के बराबर सुखोष्ण तैल काम में लेते हैं—भवेद् सुखोष्णश्च तथा निरेति सहसा सुखम्। विरिक्तस्त्वनुवास्यः स्यात्सप्तरात्रात्परं तदा॥

शिरोगौरवशूलघ्नमिन्द्रियप्रतिबोधनम् ।
कफाभिपन्ने शिरसि कार्यं मूर्द्धविरेचनम् ॥ १२८ ॥

ज्वरे मूर्द्धविरेचनम्—कफजन्य ज्वर में कटफल चूर्ण या नकछिकनी चूर्ण द्वारा शिरोविरेचन देने से शिर का भारीपन और शिरःशूल नष्ट हो जाता है तथा नासा, कर्ण आदि ज्ञानेन्द्रियों का अवरोध नष्ट होकर वे जाग्रत (कार्य-करणक्षम) हो जाती हैं ॥ १२८ ॥

विमर्शः—मूर्धविरेचन नस्यकर्म के अन्तर्गत है तथा नासा के द्वारा जो दवा ली जाती है उसे नस्य कहते हैं तथा उसके नावन और नस्य कर्म ये दो नाम चरक में कहे हैं—नस्यं तत् कथ्यते धीरैर्नासाग्राह्यं यदौषधम् । नावनं नस्तकर्मेति तस्य नामद्वयं मतम् ॥ नस्यभेदाः—रेचन और स्नेहन ऐसे नस्य के दो भेद होते हैं। रेचन नस्य स्थूल शरीर का कर्षण करता है तथा स्नेहन नस्य कृश शरीर का बृंहण करता है—नस्यभेदो द्विधा प्रोक्तो रेचनं स्नेहनं तथा । रेचनं कर्षणं प्रोक्तं स्नेहनं बृंहणं मतम् ॥ रेचननस्यप्रयोगः—उद्ध्वंजत्रुगते रोगे कफजे च स्वरक्षये । अरोचके प्रतिश्याये शिरःशूले च पीनसे । शोथापस्मारकुष्ठेषु नस्यं वैरेचनं हितम् ॥ पुनः नस्य के पाँच भेद किये गये हैं—प्रतिमर्षोऽवपीडश्च नस्यं प्रधमनं तथा । शिरोविरेचनञ्चैव नस्तकर्म तु पञ्चधा ॥ नस्यकालः—कफप्रकोप में प्रातः, पित्त के प्रकोप में मध्याह्न, तथा वात के प्रकोप में अपराह्न में नस्य दिया जाता है। परन्तु रोग कठिन व शीघ्र हानिकारक हो तो रात्रि के समय में भी नस्य देना चाहिए—कफपित्तानिलध्वंसे पूर्वे मध्येऽपराह्णिके । दिनस्य गृह्यते नस्यं रात्रावप्युल्बणे गदे ॥ भीरुस्त्रीकृशबालानां नस्यं स्नेहेन शस्यते ॥ प्रतिमर्ष—सिद्ध तैल के १-२ बूँद नाक में डाल कर थोड़ा सा सुड़कने (खींचने) से दवा मुख में चली जाती है यही इसकी मात्रा व प्रतिमर्ष कहा जाता है—ईषदुच्छिङ्घनात् स्नेहो यावद्वक्त्रं प्रपद्यते । नस्तो निषिक्तस्तं विद्यात् प्रतिमर्षं प्रमाणतः ॥ प्रतिमर्षश्च नस्यार्थं करोति न च दोषवान् ॥ अवपीड़ नस्य—के भी शोधन और स्तम्भन दो भेद होते हैं। गीली दवा के कल्क को निचोड़ कर (अवपीडित) करके यह नस्य दिया जाता है, अतः इसे अवपीड़ कहते हैं—शोधनः स्तम्भनस्तस्मादवपीडो द्विधा मतः । आपीड्य दीयते यस्मादवपीडस्ततः स्मृतः ॥ कल्कीकृतादौषधाद् यः पीडितो निःसृतो रसः । सोऽवपीडः समुद्दिष्टः तीक्ष्णद्रव्यसमुद्भवः ॥ अवपीडप्रयोगः—गलरोगे सन्निपाते निद्रायां सविषे ज्वरे । मनोविकारे क्रिमिषु युज्यते चावपीडनम् ॥ प्रधमननस्य—६ अङ्गुल लम्बी, दोनों सिरों पर खुली हुई लोह, कमलनाल या कागद की नली में एक कोल (३ माशे से ६ माशे) भर तीक्ष्ण औषध का चूर्ण भर कर रोगी की नासा की ओर या नासा में नली का एक सिरा लगा कर दूसरे सिरे को वैद्य अपने मुख में रख कर प्रधमन करे (फूँके)—षडङ्गुला द्विवक्त्रा या नाडी चूर्णं तथा धमेत् । तीक्ष्णं कोलमितं वक्त्रवातैः प्रधमनं स्मृतम् ॥ प्रधमनप्रयोग—अत्यन्तोत्कटदोषेषु विसंज्ञेषु च दीयते । चूर्णं प्रधमनं धीरैस्तद्धि तीक्ष्णतरं यतः । नस्यमात्रा—स्नैहिक नस्य की मात्रा ८ बूँद उत्तम, ६ बूँद मध्यम और ४ बूँद अवर (कनिष्ठ) पुरुषों में जानें। नस्यस्य स्नैहिकस्यात्र देयास्त्वष्टौ च बिन्दवः । प्रत्येकशो नस्तकर्म नृणामिति विनिश्चयः ॥ नस्ययोग्य आयु—८ वर्ष के बालक से लेकर अस्सी वर्ष की आयु तक मानी गयी है—अष्टवर्षस्य बालस्य नस्तकर्म समाचरेत् । अशीति वर्षादूर्ध्वं च नावनं नैव दीयते ॥ नस्यवर्जन—तथा नवप्रतिश्यायी गर्भिणी गरदूषितः । अजीर्णी दत्तबस्तिश्च पीतस्नेहोदकासवः ॥ क्रुद्धः शोकाभितप्तश्च तृषार्तो वृद्धबालकौ । वेगावरोधी स्नातश्च स्नातुकामश्च वर्जयेत् ॥

दुर्बलस्य समाध्मातमुदरं सरुजं दिहेत् ।
दारुहैमवतीकुष्ठशताह्वाहिङ्गुसैन्धवैः ॥ १२९ ॥
अम्लपिष्टैः सुखोष्णैश्च पवने तूद्ध्र्वमागते ।
रुद्धमूत्रपुरीषाय गुदे वर्त्तिं निधापयेत् ॥ १३० ॥

ज्वराध्माने उदरलेपः—दुर्बल ज्वरी को आध्मान तथा उदर में शूल होने पर देवदारु, वचा, कूठ, सौंफ, हींग और सैन्धव लवण प्रत्येक आधे-आधे तोले भर ले कर गोमूत्र अथवा काञ्जी आदि अम्ल के साथ महीन पीस कर हलका सा गरम करके उदर पर लेप कर देना चाहिए। इसी तरह वायु का वेग ऊर्ध्व होने पर तथा मूत्र और मल के रुक जाने पर उक्त देवदारु आदि द्रव्यों को पानी के साथ महीन पीस कर वर्ति बना के गुदा में रख देना चाहिए ॥ १२९–१३० ॥

पिप्पलीपिप्पलीमूलयवानीचव्यसाधिताम् ।
पाययेत यवागूं वा मारुतस्यानुलोमिनीम् ॥ १३१ ॥

ज्वरे यवागूः—वायु के उद्ध्वंगामी होने पर ज्वरी को पिप्पली, पिपरामूल, अजवायन और चव्य इन्हें मिलित एक कर्ष (१ तो०) भर लेकर एक प्रस्थ (६४ तो०) जल ले कर आधा शेष रहने तक उबाल कर छान के चांवलों की यवागू बना के पिलावें ॥ १३१ ॥

विमर्शः—पेया, यवागू आदि बनाने के लिये षडङ्गपरिभाषा कार्य में ली जाती है 'षडङ्गपरिभाषैव प्रायः पेयादिसम्मता।' यवागू निर्माण के लिये प्रत्येक व्यक्ति के प्रतिदिन आहार में प्रयुक्त होने वाले चांवलों से चौथाई भाग चांवल लेके उससे यवागू बनानी चाहिए—'यवागूमुच्चिताद्भक्ताच्चतुर्भागकृतां वदेत्।' शार्ङ्गधराचार्य ने लिखा है कि १ भाग चांवल को पञ्चगुने पानी में पका के अन्न तथा चौदह गुने पानी में पका के मण्ड तथा छ गुने पानी में पका के यवागू तथा अट्ठारह गुने पानी में यूष तय्यार कर ज्वरी को पिलाना चाहिए—अन्नं पञ्चगुणे साध्यं विलेपी च चतुर्गुणे । मण्डश्चतुर्दशगुणे यवागूः षड्गुणेऽम्भसि ॥ अष्टादशगुणे तोये यूषः शार्ङ्गधरेरितः ॥ मण्डादिलक्षण-मण्ड चांवल के कणों से रहित, पेया में चांवल के कण कम तथा चांवल के कण जिसमें अधिक हों उसे यवागू तथा जिसमें जलीयांश अत्यन्त कम हो उसे विलेपी कहते हैं—सिक्थकै रहितो मण्डः पेया सिक्थसमन्विता । यवागूर्बहुसिक्था स्याद्विलेपी विरलद्रवा ॥ कृशरा-६ गुने पानी में चांवल, मूंग, उड़दी अथवा तिल की जो यवागू गाढ़ी बनाई जाती है उसे कृशरा कहते हैं—'यवागूः षड्गुणे तोये सिद्धा स्यात्कृशरा घना'

शुद्धस्योभयतो यस्य ज्वरः शान्तिं न गच्छति ।
सशेषदोषरूक्षस्य तस्य तं सर्पिषा जयेत् ॥ १३२ ॥

ज्वरे घृतप्रयोगः—जिस ज्वरी का वमन और विरेचन दे कर उभय प्रकार (ऊर्ध्व और अधः) से शुद्धि करने पर भी दोषों की विशेषता और शरीर में रूक्षता होने से ज्वर शान्त न हुआ हो तो औषध पक्वकल्याणादि घृत से ज्वर को शान्त करना चाहिए ॥ १३२ ॥

विमर्शः—चरकाचार्य ने भी कहा है कि कषाय, वमन, लङ्घन और लघु भोजन के प्रयोग से रूक्षता बढ़ जाने पर जिसका ज्वर नहीं जाता है उसके लिये घृत का प्रयोग ज्वर नाशक होता है:—ज्वराः कषायैर्वमनैर्लङ्घनैर्लघुभोजनैः। रूक्षस्य ये न शाम्यन्ति सर्पिस्तेषां भिषग्जितम्॥ रूक्षं तेजो ज्वरकरं तेजसा रूक्षितस्य च। यः स्यादनुबलो धातुः स्नेहवध्यः स चानिलः॥

कृशश्चैवाल्पदोषश्च शमनीयैरुपाचरेत्।
उपवासैर्बलस्थन्तु ज्वरे सन्तर्पणोत्थिते॥ १३३॥

ज्वरे संशमनविधानः—दुर्बल तथा अल्पदोष वाले रोगी के ज्वर की चिकित्सा संशमनीय औषधियों से करनी चाहिए तथा बलवान् रोगी के सन्तर्पणजन्य ज्वर को उपवासादिक से चिकित्सा करे॥ १३३॥

विमर्शः—उपवास से अनशन का ग्रहण होता है तथा उपवासैरिति बहुवचननिर्देशाद्दशविधलङ्घन का यथा योग्य उपयोग करना चाहिए, जैसा कि चरकाचार्य ने कहा है—चतुष्प्रकारा संशुद्धिः पिपासामारुतातपौ। पाचनान्युपवासश्च व्यायामश्चेति लङ्घनम्॥ चार प्रकार की संशुद्धि में वमन, विरेचन, निरूहण वस्ति तथा शिरोविरेचन का ग्रहण होता है।

क्लिन्नां यवागूं मन्दाग्निं तृषार्त्तं पाययेन्नरम्।
तृट्छर्दिदाहघर्मार्त्तं मद्यपं लाजतर्पणम्॥ १३४॥
सक्षौद्रमम्भसा पश्चाज्जीर्णे यूषरसौदनम्।
उपवासश्रमकृते क्षीणे वाताधिके ज्वरे॥ १३५॥
दीप्ताग्निं भोजयेत् प्राज्ञो नरं मांसरसौदनम्।
मुद्गयूषौदनश्चापि हितः कफसमुत्थिते॥ १३६॥
स एव सितया युक्तः शीतः पित्तज्वरे हितः॥ १३७॥

दोषावस्थानुसारयवाग्वादिपथ्यप्रयोगः—मन्दाग्नि तथा तृषा से पीड़ित ज्वरी को अत्यन्त क्लिन्न (गली हुई) यवागू पिलानी चाहिए तथा प्यास, वमन, दाह और गरमी से पीड़ित ज्वरी को अथवा मद्यपी ज्वरी को तर्पणार्थ लाजा (खील) से बने सत्तू में शहद मिला के पानी के साथ घोल कर पिलाना चाहिए तथा इस लाजा सत्तू के जीर्ण होने पर मुद्गयूष अथवा मांसरस के साथ ओदन (भात) खिलाना चाहिए। उपवास अथवा श्रम के कारण क्षीण हुये तथा वात और दोषाधिक्य तथा दीप्त अग्नि वाले ज्वरी को बुद्धिमान् वैद्य मांसरस के साथ ओदन (भात) खिलावे। कफ से उत्पन्न हुये ज्वर में रोगी को मूंग के यूष के साथ भात (चांवल) खिलाना हितकारी होता है तथा पित्तजन्य ज्वर वाले रोगी को उसी मुद्गयूष को शीतल करके उसमें शर्करा मिला के पिलाना हितकर होता है॥ १३४-१३७॥

दाडिमामलमुद्गानां यूषश्चानिलपैत्तिके॥ १३८॥
ह्रस्वमूलकयूषस्तु वातश्लेष्माधिके हितः।
पटोलनिम्बयूषस्तु पथ्यः पित्तकफात्मके॥ १३९॥

द्वन्द्वजज्वरपथ्यप्रयोगः—वातपित्तजन्य ज्वर में अनारदाने, आँवले और मूंग का यूष बनाकर पिलाना चाहिये तथा वातश्लेष्मजन्य ज्वर में छोटी मूली का यूष बनाकर पिलाने से हित होता है। इसी प्रकार पित्तकफजन्य ज्वर में पटोलपत्र और निम्बपत्र या निम्बछाल का यूष बनाकर पिलाने से पथ्य (लाभ) होता है॥ १३८-१३९॥

दाहच्छर्दियुतं क्षामं निरन्नं तृष्णयाऽर्दितम्।
सिताक्षौद्रयुतं लाजतर्पणं पाययेत च॥ १४०॥

दाहवमनादौ लाजतर्पणप्रयोगः—दाह तथा वमन से युक्त एवं कृश तथा अन्न नहीं खाने वाले एवं तृष्णा से पीड़ित ज्वरी को शर्करा तथा शहद मिला के पानी डाल कर बनाया हुआ लाजा का सत्तू पिलाना चाहिये॥ १४०॥

कफपित्तपरीतस्य ग्रीष्मेऽसृक्पित्तिनस्तथा।
मद्यनित्यस्य न हिता यवागूस्तमुपाचरेत्॥
यूषैरम्लैरनम्लैर्वा जाङ्गलैश्च रसैर्हितैः॥१४१॥

यवागूनिषेधः—कफ और पित्त दोष की प्रबलता वाले, ग्रीष्मकाल में एवं रक्तपित्त के उपद्रव वाले एवं नित्य मद्यपान करने वाले व्यक्ति के लिये यवागू हितकर नहीं होती है अत एव ऐसे व्यक्तियों का उपचार खट्टे यूष अथवा खटासरहित यूष से तथा हितकर जङ्गली पशु और पक्षियों के मांसरस से करना चाहिये॥ १४१॥

विमर्शः—चरकाचार्य ने ऊर्ध्वग रक्तपित्त और ज्वर में यवागू का निषेध किया है—'ऊर्ध्वगे रक्तपित्ते च यवागूर्न हिता ज्वरे' वास्तव में यवागू अन्न की एक उत्तम पथ्यकारक कल्पना है तथा यह प्राणधारण करती है एवं कुछ सारक होने से देह को हलका कर देती है व ज्वरनाशक भी मानी गई है—आहारभावात् प्राणाय सरत्वाल्लघवाय च। ज्वरघ्नी ज्वरसात्म्यत्वात्तस्मात्पेयाभिरादितः॥

मद्यं पुराणं मन्दाग्नेर्यवान्नोपहितं हितम्।
सव्योषं वितरेत्तक्रं कफारोचकपीडिते॥ १४२॥

मद्यप्रयोग—मन्द अग्निवाले पुरुष को जौ के भोजन के साथ मद्य का पान कराना चाहिये। तक्रप्रयोग—कफप्रकोप के कारण उत्पन्न अरुचि से पीड़ित रोगी को तक्र (मट्ठे) में सोंठ, मरिच और पिप्पली का चूर्ण प्रक्षिप्त कर पिलाना चाहिये॥ १४२॥

कृशोऽल्पदोषो दीनश्च नरो जीर्णज्वरार्दितः।
विबद्धः सृष्टदोषश्च रूक्षः पित्तानिलज्वरी॥ १४३॥
पिपासाऽऽर्त्तः सदाहो वा पयसा स सुखी भवेत्।
तदेव तरुणे पीतं विषवद्धन्ति मानवम्॥ १४४॥

ज्वर में दुग्धप्रयोग—दुर्बल, अल्पदोषयुक्त तथा दीन (म्लान) जीर्णज्वरी एवं मलमूत्रादि दोष की विबन्धतायुक्त अथवा प्रवृत्त दोष वाले रूक्ष एवं पित्त तथा वातज्वर वाले व्यक्ति तथा प्यास से व्याकुल और दाहयुक्त रोगी को दुग्धपान कराने से वह सुखी होता है। तरुणज्वरे दुग्धनिषेधः—यही उक्त गुणकारी दुग्ध तरुणज्वर में पीने से विष के समान होकर रोगी को मार डालता है॥ १४३-१४४॥

सर्वज्वरेषु सुलघु मात्रावद्भोजनं हितम्।
वेगापायेऽन्यथा तद्धि ज्वरवेगाभिवर्द्धनम्॥ १४५॥

सर्वज्वरे लघुभोजनम्—सर्वप्रकार के ज्वरों में ज्वरवेग के दूर होने पर मात्रापूर्वक लघु भोजन हितकारक होता है अन्यथा ज्वरवेगावस्था में दिया हुआ वही लघु भोजन ज्वरवेग की वृद्धि करता है॥ १४५॥

ज्वरितो हितमश्नीयाद्यद्यप्यस्यारुचिर्भवेत्॥ १४६॥

अन्नकाले ह्यभुञ्जानः क्षीयते म्रियतेऽथवा ।
स क्षीणः कृच्छ्रतां याति यात्यसाध्यत्वमेव च ॥ १४७ ॥

जीर्णज्वरे भोजनव्यवस्था—जीर्णज्वरी को अरुचि होने पर भी हितकारक लघु भोजन देना चाहिये। क्योंकि भोजन के समय में अन्नसेवन नहीं करने से वह रोगी क्षीण हो जाता है अथवा मर जाता है एवं अन्न के अभाव (लङ्घन) से वह जीर्णज्वरी कृच्छ्रसाध्यावस्था अथवा असाध्यावस्था को प्राप्त होता है ॥ १४६–१४७ ॥

विमर्शः—शास्त्रकारों ने लिखा है कि पथ्यकारक एक ही अन्न को निरन्तर देते रहने से तथा उस अन्न के स्वादु या रुचिकर न होने से वह उस रोगी के लिये द्वेष्य बन जाता है अतः विविध प्रकार की भोजन-संस्कार-कल्पनाओं से उसे रुचिकर बना के देना चाहिये—सातत्यात् स्वाद्वभावाच्च पथ्यं द्वेष्यत्वमागतम् । कल्पनाविधिभिस्तैस्तैः प्रियत्वं गमयेत्पुनः ॥ अनिवार्यलङ्घननिषेधः—प्राणाविरोधिना चैनं लङ्घने नोपपादयेत् । बलाधिष्ठानमारोग्यं यदर्थोऽयं क्रियाक्रमः ॥ मनसोऽर्थानुकूल्याद्धि तुष्टिरूर्जा रुचिर्बलम् । सुखोपभोगता च स्याद् व्याधेश्चातो बलक्षयः ॥ लौल्याद् दोषक्षयाद् व्याधेर्वैधर्म्याच्चापि या रुचिः । तासु पथ्योपचारः स्याद् योगेनार्थं विकल्पयेत् ॥ (चरक)

तस्माद्रक्षेद्बलं पुंसां बले सति हि जीवितम् ।
गुर्व्यभिष्यन्द्यकाले च ज्वरी नाद्यात्कथञ्चन ॥
न तु तस्याहितं भुक्तमायुषे वा सुखाय वा ॥ १४८ ॥

बलरक्षोपदेशः—रोगी कृच्छ्रसाध्य या असाध्य न हो जाय इसलिये उसके बल की रक्षा करनी चाहिये क्योंकि बल की विद्यमानता में ही जीवन सुरक्षित रहता है। ज्वरी को चाहिये कि गुरुपाकी और अभिष्यन्दी खाद्य पेय का कभी भी सेवन नहीं करे तथा अकाल भोजन का भी परित्याग कर देवे क्योंकि उक्त प्रकार से किया हुआ अहित भोजन उस ज्वरी की आयु का वर्द्धक तथा सुखकारक नहीं होता है।

सततं विषमं वाऽपि क्षीणस्य सुचिरोत्थितम् ।
ज्वरं सम्भोजनैः पथ्यैर्लघुभिः समुपाचरेत् ॥ १४९ ॥

सन्ततादिज्वरोपचारः—क्षीण हुये पुरुष का सन्तत, विषम और चिरकालिक ज्वर का उपचार लघु तथा हितकर भोजनादि से करना चाहिए ॥ १४९ ॥

मुद्गान्मसूरांश्चणकान् कुलत्थान् समकुष्ठकान् ।
आहारकाले यूषार्थं ज्वरिताय प्रदापयेत् ॥ १५० ॥

ज्वरे यूषविधानम्—ज्वरित व्यक्ति को भोजन के समय मूंग, मसूर, चने, कुलत्थ और मकुष्ठक (मोठ या वनमूंग) का यूष बना के पिलाना चाहिये ॥ १५० ॥

पटोलपत्रं वार्ताकं कठिल्लं पापचैलिकम् ॥ १५१ ॥
कर्कोटकं पर्पटकं गोजिह्वां बालमूलकम् ।
पत्रं गुडूच्याः शाकार्थं ज्वरितानां प्रदापयेत् ॥ १५२ ॥

ज्वरे शाकोपदेशः—ज्वरित पुरुष को शाक के लिये पटोलपत्र, बैंगन, पुनर्नवा के पत्र, पाठाशाक, ककोड़ा, पित्तपापड़ा, बनगोभी और कच्ची मूली का प्रयोग करना चाहिये ॥ १५१–१५२ ॥

विमर्शः—कठिल्लक शब्द से करेला और पुनर्नवा दोनों का ग्रहण होता है—'कठिल्लकस्तु पर्णासे वर्षाभूकारवेल्लयोः' शोथयुक्तावस्था में पुनर्नवा तथा ज्वरी के लिये करेले का शाक अनुभवाधार से उत्तम है।

लावान् कपिञ्जलानेणान् पृषताञ्छरभाञ्छशान् ।
कालपुच्छान् कुरङ्गांश्च तथैव मृगमातृकान् ॥
मांसार्थे मांससात्म्यानां ज्वरितानां प्रदापयेत् ॥ १५३ ॥

ज्वरिताय मांसप्रयोगः - ज्वर वाले जिन रोगियों को मांस सात्म्य हो उनके लिये बटेर, गौर तित्तिर, हरिण, पृषत् (श्वेत विन्दु वाला मृग), शरभ, खरगोश, कालपुच्छ (मृगविशेष), कुरङ्ग और मृगमातृक का मांस खाने को देना चाहिये ॥ १५३ ॥

विमर्शः—शरभलक्षण—अष्टापद उष्ट्रप्रमाणो महाशृङ्गः पृष्ठगतचतुष्पादः काश्मीरे प्रसिद्धः, तल्लक्षणं यथा—अष्टपादूर्ध्वनयनः ऊर्ध्वपादचतुष्टयः । सिंहं हन्तुं समायाति शरभो वनगोचरः ॥

सारसक्रौञ्चशिखिनः कुक्कुटांस्तित्तिरींस्तथा ।
गुरूष्णत्वान्न शंसन्ति ज्वरे केचिच्चिकित्सकाः ॥ १५४ ॥

ज्वरे वर्ज्यमांसः—कुछ चिकित्सक ज्वरावस्था में सारस, क्रौंच, मयूर, कुक्कुट और तीतर का मांस पाक में गुरु तथा वीर्य में उष्ण होने से वर्जित मानते हैं ॥ १५४ ॥

ज्वरितानां प्रकोपन्तु यदा याति समीरणः ।
तदैतेऽपि हि शस्यन्ते मात्राकालोपपादिताः ॥ १५५ ॥

उक्तमांसविधानम्—ज्वरित पुरुषों में जब वायु प्रकोप को प्राप्त हो गया हो तो उस अवस्था में मात्रापूर्वक और काल का विचार करके उक्त निषिद्ध पशु-पक्षियों का मांस भी दिया जा सकता है ॥ १५५ ॥

विमर्शः—अन्य शास्त्रकारों ने भी लिखा है कि ज्वरावस्था में लङ्घन के द्वारा वायु का बल यदि बढ़ जाय तो औषध मात्रा विकल्प तथा कालादि प्रभाव का ज्ञाता वैद्य निषिद्ध पशु-पक्षियों के मांस को भी प्रयुक्त करे—लङ्घनेनानिलबलं ज्वरे यद्यधिकं भवेत् । भिषङ् मात्राविकल्पज्ञो दद्यात्तानपि कालवित् ॥

परिषेकावगाहांश्च स्नेहान् संशोधनानि च ॥ १५६ ॥
(स्नानाभ्यङ्गदिवास्वप्नशीतव्यायामयोषितः) ।
कषायगुरुरूक्षाणि क्रोधादीनि तथैव च ॥ १५७ ॥
सारवन्ति च भोज्यानि वर्जयेत्तरुणज्वरी ।
तथैव नवधान्यादिं वर्जयेच्च समासतः ॥ १५८ ॥

नवज्वरे वर्जनीयानि—तरुण ज्वर वाला रोगी परिषेक, अवगाहन, स्नेहकर्म, वमनविरेचनादि संशोधनकर्म, स्नान, अभ्यङ्ग, दिवाशयन, शीत आहार तथा विहार, व्यायाम, स्त्रीसेवन, कषायरस, गुरुपाकी तथा रूक्षगुण वाले पदार्थों का सेवन, क्रोधकर्म एवं सारवान् (स्निग्ध और अभिष्यन्दी) खाद्य, पेय तथा नवधान्यादि का परित्याग कर दे ॥ १५६-१५८ ॥

विमर्शः—नवधान्यादि वर्ग का उपदेश सुश्रुत सूत्रस्थान के १९ वें व्रणितोपासनीय अध्याय में आया है—'नवधान्यमाषतिलकलायकुलत्थनिष्पावहरितकशाकाम्ललवणकटुकगुडपिष्टविकृतिवल्लूरशुष्कशाकाजाविकानूपौदकमांसवसाशीतोदककृशरापायसदधिदुग्धतक्रप्रभृतीनि परिहरेत्'। तक्रान्तो नवधान्यादिर्योऽयं वर्गं उदाहृतः । दोषसञ्जननो ह्येष विज्ञेयः पूयवर्द्धनः ॥ (सु०सू०अ० १९) ।

अनवस्थितदोषाग्नेरेभिः सन्धुक्षितो ज्वरः।
गम्भीरतीक्ष्णवेगत्वं यात्यसाध्यत्वमेव च ॥१५९॥

ज्वरस्य गम्भीरतीक्ष्णासाध्यत्वे हेतुः—उक्त परिषेक आदि आहार-विहार के सेवन से अव्यवस्थित दोष तथा अग्नि वाले तरुणज्वरी का ज्वर बढ़कर गम्भीर धातुओं में जाकर तीक्ष्ण वेग धारण करके असाध्यावस्था को प्राप्त हो जाता है ॥१५९॥

शीततोयदिवास्वप्नक्रोधव्यायामयोषितः ।
न सेवेत ज्वरोत्सृष्टो यावन्न बलवान् भवेत् ॥१६०॥

ज्वरान्ते वर्जनीयानि—ज्वरमुक्त व्यक्ति जब तक बलवान् नहीं हो जाय तब तक शीतल जल से शौच, स्नान, दिवाशयन, क्रोध करना, व्यायाम और स्त्री-सम्भोग आदि का त्याग कर दे ॥ १६० ॥

विमर्शः—चरकाचार्य ने भी लिखा है कि जब तक रोगी बलवान् न हो जाय तब तक वह व्यायाम, सम्भोग, स्नान और भ्रमण का त्याग कर दे—व्यायामश्च व्यवायश्च स्नानं चंक्रमणानि च। ज्वरमुक्तो न सेवेत यावन्न बलवान् भवेत् ॥

मुक्तस्यापि ज्वरेणाशु दुर्बलस्याहितैर्ज्वरः।
प्रत्यापन्नो दहेद् देहं शुष्कं वृक्षमिवानलः ॥ १६१ ॥

ज्वरपुनरावर्तहेतुः—ज्वर से शीघ्र मुक्त हुये दुर्बल रोगी के उक्त अहित आहार-विहार के सेवन करने से ज्वर का प्रत्यावर्तन होकर उसके देह को जला डालता है, जैसे अग्नि शुष्क वृक्ष को जला डालती है ॥ १६१ ॥

विमर्शः—चरकाचार्य ने भी इसी आशय की पुष्टि की है—असञ्जातबलो यस्तु ज्वरमुक्तो निषेवते । वर्ज्यमेतन्नरस्तस्य पुनरावर्तते ज्वरः ॥

तस्मात्कार्यः परीहारो ज्वरमुक्तैर्विरिक्तवत्।
यावन्न प्रकृतिस्थः स्याद् दोषतः प्राणतस्तथा ॥१६२॥

ज्वरमुक्तिपरिहारः—ज्वर से मुक्त हुआ रोगी जब तक वातादि दोष और प्राण (बल) से अपनी प्राकृतिक स्थिति में न आ जाय तब तक विरेचन लिये हुये व्यक्ति की तरह पथ्यपूर्वक आहार-विहार करता रहे ॥ १६२ ॥

विमर्शः—ज्वरमुक्तिलक्षण—विगतक्लमसन्तापमव्यथं विमलेन्द्रियम्। युक्तं प्रकृतिसत्त्वेन विद्यात्पुरुषमज्वरम् ॥

ज्वरे प्रमोहो भवति स्वल्पैरप्यवचेष्टितैः।
निषण्णं भोजयेत्तस्मान्मूत्रोच्चारौ च कारयेत् ॥१६३॥

ज्वरे पूर्णविश्रामः—ज्वरावस्था में थोड़ा-सा भी परिश्रम करने से व्यक्ति मूर्च्छित हो जाता है अतएव उसे बिस्तर पर बिठा के ही भोजन कराना चाहिए तथा मूत्र और मल के त्याग करने की भी व्यवस्था वहीं कर देनी चाहिये ॥ १६३ ॥

अरोचके गात्रसादे वैवर्ण्येऽङ्गमलादिषु।
शान्तज्वरोऽपि शोध्यः स्यादनुबन्धभयान्नरः॥ १६४॥

ज्वरे शोधनावश्यकता—जिस व्यक्ति का ज्वर शान्त भी हो गया हो किन्तु अरुचि, अङ्गों में टूटन तथा अङ्गों में विवर्णता और मल-मूत्रादिक में भी विवर्णता दिखाई देती हो तो उसके रसरक्तादि धातुओं में रोग के कारणों का या विकृत दोषों का अनुबन्ध विद्यमान है या पुनः ज्वर के होने का भय हो सकता है अतः उसका संशोधन करना ही चाहिए॥

विमर्शः—चिकित्सा में अनेक बार यह देखने में आया है कि एक बार लंघन-पाचन आदि द्वारा रुग्ण ठीक हो जाता है किन्तु कुछ दिनों बाद पुनः उसे उस व्याधि का पुनरावर्तन हो जाता है। ऐसी स्थिति में रोग के पुनरावर्तन को रोकने के लिये संशोधन (वमन, विरेचन, नस्य) चिकित्सा करनी चाहिए—दोषाः कदाचित्कुप्यन्ति जिता लङ्घनपाचनैः। ये तु संशोधनैः शुद्धा न तेषां पुनरुद्भवः ॥ चरकाचार्य ने कहा है कि दोषों के निःशेष निर्हरण न होने पर यदि किसी रोग की निवृत्ति हो जाती है तो कालान्तर में स्वल्पमात्र सेवित कुपथ्य से वह रोग पुनरावर्तित हो जाता है—दुर्हृतेषु च दोषेषु यस्य वा विनिवर्तते। स्वल्पेनाप्यपचारेण तस्य व्यावर्तते पुनः ।. पाश्चात्य दृष्टि से रोगों का पुनरावर्तन पुनरुपसर्ग (Reinfection) अथवा स्वोपसर्ग (Autoinfection) से होता है। पुनरुपसर्ग में रोगनिवृत्ति के अनन्तर उसी रोग के बाह्य जीवाणु फिर से रोगी पर आक्रमण कर रोग उत्पन्न करते हैं तथा स्वोपसर्ग में रोगनिवृत्ति के पश्चात् चिकित्सा ठीक न होने से या अन्य कारणों से रोगी के शरीर में बचे हुये जीवाणु विवृद्ध होकर फिर से आक्रमण करके रोग उत्पन्न करते हैं। पुनरुपसर्ग की तुलना अपथ्य-सेवन से तथा स्वोपसर्ग का समावेश सदोषदोषता में कर सकते हैं।

न जातु स्नापयेत् प्राज्ञः सहसा ज्वरकर्शितम्।
तेन सन्दूषितो ह्यस्य पुनरेव भवेज्ज्वरः ॥१६५॥

ज्वरकर्शिते स्नाननिषेधः—बुद्धिमान् वैद्य ज्वर से क्षीण हुये व्यक्ति को सहसा स्नान न कराये क्योंकि ऐसे व्यक्ति को स्नान कराने से दूषित हुआ ज्वर पुनः लौट आता है ॥ १६५ ॥

विमर्शः—अष्टाङ्गसंग्रह में लिखा है कि जब तक पूर्णरूप से बल की प्राप्ति न हो जाय तब तक ज्वरमुक्त पुरुष व्यायाम, स्नान, मैथुन और गुरु, असात्म्य तथा विदाही अन्न का त्याग कर दे—त्यजेदाबललाभाच्च व्यायामस्नानमैथुनम्। गुर्वसात्म्यविदाह्यन्नं यच्चान्यज्ज्वरकारणम्।

चिकित्सेच्च ज्वरान् सर्वान्निमित्तानां विपर्ययैः।
श्रमक्षयाभिघातोत्थे मूलव्याधिमुपाचरेत् ॥१६६॥

सर्वज्वरचिकित्साक्रम—सर्वप्रकार के ज्वरों की चिकित्सा इनके कारणों से विपरीत करनी चाहिए किन्तु परिश्रम, रसरक्तादि धातुक्षय और अभिघात से उत्पन्न हुये ज्वर में मूल (प्रधान) व्याधि (वातदोष) की चिकित्सा करनी चाहिए।

विमर्शः—श्रमादि कारणों से मनुष्यों का वायु प्रकुपित होकर सारे देह में व्याप्त होकर ज्वर उत्पन्न कर देता है—श्रमक्षयाभिघातेभ्यो देहिनां कुपितोऽनिलः। पूरयित्वाऽखिलं देहं ज्वरमापादयेद् भृशम् ॥ अत एव वातसंशामक चिकित्सा करने से ज्वर स्वयं शान्त हो जाता है।

स्त्रीणामपप्रजातानां स्तन्यावतरणे च यः।
तत्र संशमनं कुर्याद्यथादोषं विधानवित् ॥ १६७ ॥

अपप्रजातस्त्रीज्वरचिकित्सा—सम्यक् रूप से प्रसव न होने के कारण या गर्भस्राव, गर्भपात और अकालप्रसव के कारण उत्पन्न हुये ज्वर में तथा स्तन्य (दुग्ध) के प्रथम अवतरण-काल में उत्पन्न हुये ज्वर में प्रकुपित वातादि दोषों के अनुसार

विधान (शास्त्र या नियमों) को जानने वाला वैद्य संशमन, पाचन, शोधनादिक चिकित्सा करे ॥ १६७ ॥

अतः संशमनीयानि कषायाणि निबोध मे ।
सर्वज्वरेषु देयानि यानि वैद्येन जानता ॥ १६८ ॥

संशमनीय कषाय—इसके अनन्तर संशमनीय कषायों का श्रवण (ज्ञान) करो, जिन्हें जान कर वैद्य सर्व प्रकार के ज्वरों में उनका प्रयोग कर सकता है ॥ १६८ ॥

विमर्शः—कषायकल्पना—पानीयं षोडशगुणं क्षुण्णे द्रव्यपले क्षिपेत्। मृत्पात्रे क्वाथयेद् ग्राह्यमष्टमांशावशेषितम् ॥ क्वाथ्यद्रव्य १ पल, पानी १६ पल, उबलने पर शेष अष्टमांश अर्थात् २ पल। कुछ लोगों का मत है कि—'क्वाथः स्यात्पादशेषितः' अर्थात् उबलने पर चौथाई (४ पल) शेष रखना चाहिए—'चतुर्भागावशेषन्तु पेयमेवं सुखार्थिना' परन्तु पादशेष और अष्टमांशावशेष मृदु और कठिन द्रव्यभेद से समझना चाहिए। अमलतास आदि कोमल द्रव्यों को चार गुने पानी में, हरीतकी आदि मध्यक्वाथ्य द्रव्यों को अष्टगुण पानी में एवं खदिर, बिल्व, पाढल आदि कठिन द्रव्यों को सोलह गुने पानी में डाल कर क्वाथ बनाना श्रेयस्कर माना गया है। इसी प्रकार मृदु द्रव्यों में उबलने पर चौथाई (१ पल) तथा मध्यद्रव्यों में अष्टमांश (२ पल) और कठिन द्रव्यों में षोडशांश (१ पल) क्वाथ शेष रखना चाहिए, इससे कठिन द्रव्यों का तात्विक भाग अधिक देर तक उबलने से उस १ पल द्रव में अच्छे प्रकार से आ जाता है। क्वाथ्यद्रव्य की मात्रा भी उत्तम १ पल, मध्यम ३ कर्ष और जघन्य आधा पल मानी गई है—उत्तमस्य पलं मानं त्रिभिः कर्षैश्च मध्यमे। जघन्यस्य पलार्द्धञ्च स्नेहक्वाथौषधेषु च ॥ वृद्ध वैद्यों का उपदेश है कि साधारणतया सर्वत्र अष्टगुण जल में ही क्वाथ करना चाहिए। व्यवहार की दृष्टि से क्वाथ्यद्रव्य २ तोला, पानी ३२ तो० तथा अवशेष ४ तोला रख के छान कर उसमें मधु अथवा शर्करा का प्रक्षेप देकर रुग्ण को पिला देते हैं।

पिप्पलीसारिवाद्राक्षाशतपुष्पाहरेणुभिः ।
कृतः कषायः सगुडो हन्याच्छ्वसनजं ज्वरम् ॥ १६९ ॥

पिप्पल्यादिक्वाथः—पिप्पली, सारिवा (अनन्तमूल), मुनक्का, सौंफ और रेणुका (सम्भालू = निर्गुण्डी के बीज) इन्हें सम्मिलित १ पल भर लेकर १६ पल पानी में क्वथित कर चौथाई (४ पल) शेष रहने पर छान के १ कर्ष गुड़ मिलाकर पिलाने से श्वसनक (वातज) ज्वर नष्ट हो जाता है ॥ १६९ ॥

विमर्शः—उक्त द्रव्य २ तोले, पानी ३२ तोले और शेष ४ तोला रख के १ तोला गुड़ मिला कर पिला दें। यह व्यावहारिक मात्रा है।

शृतं शीतकषायं वा गुडूच्याः पेयमेव तु ॥ १७० ॥

वातज्वरे गुडूचीप्रयोगः—कफ के अनुबन्ध वाले वातज्वर में गुडूची का शृतकषाय देना चाहिए तथा पित्तानुबन्ध वाले वातज्वर में गुडूची का शीत कषाय देना चाहिए ॥ १७० ॥

विमर्शः—शृत शब्द का अर्थ क्वाथ है—'क्वथितस्तु शृतः प्रोक्तः' तथा इसका निर्माण मृदु, मध्य और कठिन द्रव्यों को क्रमशः चतुर्गुण, अष्ट गुण तथा षोडश गुण पानी में डाल कर चतुर्थांश, अष्टमांश और षोडशांश शेष रख कर बनाना चाहिए। क्वाथ्यद्रव्यमात्रा—उत्तम १ पल, मध्यम ३ कर्ष और अधम अर्धपल (२ तोला) है तथा वर्तमान मनुष्यों की शक्ति के अनुसार अर्धपल मात्रा ही उपयुक्त है। दिन में किया हुआ शृत (क्वाथ) रात्रि में तथा रात्रि में किया हुआ शृत दिन में पीने से गुरुत्व (भारी) गुण वाला होता है तथा इस प्रकार का पर्युषित (बासी) क्वाथ वह्निगुण से हीन होने के कारण त्रिदोषप्रकोपक, गुरु, अम्लपाक वाला तथा विष्टम्भि (कब्जकारक) होने से सर्वरोगों में निन्दित (अपेय) माना गया है—दिवा शृतं पयो रात्रौ गुरुतामधिगच्छति। रात्रौ शृतं दिवा पीतं गुरुत्वमधिगच्छति ॥ तत्तु पर्युषितं वह्निगुणोत्सृष्टं त्रिदोषकृत्। गुर्वम्लपाकं विष्टम्भि सर्वरोगेषु निन्दितम् ॥ इसी प्रकार शृत (उबाल) करके शीत हुये जल तथा शीत हुये निर्यूह (क्वाथ) को पुनस्तप्त करके पीने से दोनों विष के समान माने गये हैं—शृतशीतं पुनस्तप्तं तोयं विषसमं भवेत्। निर्यूहोऽपि तथा शीतः पुनस्तप्तो विषोपमः ॥ शीतकषायलक्षणम्—क्षुण्णं द्रव्यपलं सम्यक् षड्भिर्जलपलैः प्लुतम्। शर्वरीमुषितः स स्याद्धिमः शीतकषायकः ॥ कुटा हुआ द्रव्य १ पल, पानी ६ पल लेके दोनों को मिट्टी के पात्र में मिला कर रात भर रखकर दूसरे दिन हाथ से मसल कर छान लें। यही शीतकषाय है जो कि दूसरे दिन प्रातः पीने के कार्य में लिया जाता है। कुछ लोगों का मत है कि कूटे हुए द्रव्य को प्रतप्त पानी में डाल कर रात भर रखकर दूसरे दिन मसलकर छान कर निकाले हुये भाग को शीतकषाय कहते हैं—द्रव्यादापोत्थितात्तोये प्रतप्ते संस्थितान्निशि। कषायो योऽभिनिर्याति स शीतः समुदाहृतः ॥ किन्तु यह उचित नहीं है क्योंकि परिभाषाप्रदीप में उक्त श्लोक क्वाथ के लिये आया है।

बलादर्भश्वदंष्ट्राणां कषायं पादशेषितम् ।
शर्कराघृतसंयुक्तं पिबेद्वातज्वरापहम् ॥ १७१ ॥

वातज्वरे बलादिक्वाथः—बला (खरेटी), दाभ और गोखरू मिलित २ तोला, पानी ३२ तोला क्वथित कर चौथाई शेष रखकर छानकर उसमें शर्करा १ तोला तथा गोघृत १ तोला मिलाकर पीने से वातज्वर नष्ट होता है ॥ १७१ ॥

शतपुष्पावचाकुष्ठदेवदारुहरेणुकाः ।
कुस्तुम्बुरूणि नलदं मुस्तं चैवाप्सु साधयेत् ॥
क्षौद्रेण सितया चापि युक्तः क्वाथोऽनिलाधिके ॥ १७२ ॥

वातज्वरे शतपुष्पादिक्वाथः—सौंफ, वचा, कुष्ठ, देवदारु, हरेणु (निर्गुण्डीबीज), धनिया, खस और नागरमोथा इन्हें समप्रमाण में मिश्रित कर २ तोले भर लेकर ३२ तोले पानी में क्वथित कर चौथाई शेष रखकर छानकर मधु ६ माशे भर तथा शर्करा १ तोला मिलाकर वाताधिक्य ज्वर में पिलाना चाहिये ॥ १७२ ॥

द्राक्षागुडूचीकाश्मर्यत्रायमाणाः ससारिवाः ।
निःक्वाथ्य सगुडं क्वाथं पिबेद्वातकृते ज्वरे ॥ १७३ ॥

वातज्वरे द्राक्षादिक्वाथः—मुनक्का, नीमगिलोय, गम्भारी, त्रायमाणा और सारिवा (अनन्तमूल) इन्हें यथाविध क्वथित कर छानकर गुड़ मिलाकर पीने से वातज्वर नष्ट हो जाता है ॥ १७३ ॥

गुडूच्याः स्वरसो ग्राह्यः शतावर्य्याश्च तत्समः ।
निहन्यात्सगुडः पीतः सद्योऽनिलकृतं ज्वरम् ॥
घृताभ्यङ्गस्वेदलेपानवस्थासु च योजयेत् ॥१७४॥

वातज्वरे गुडूच्यादिस्वरसः—नीमगिलोय का स्वरस १ तोला तथा शतावर का स्वरस १ तोला लेकर इनमें गुड मिला कर पीने से तुरन्त वातज्वर नष्ट हो जाता है। क्वाथों के अतिरिक्त भिन्न भिन्न अवस्थाओं के अनुसार रूक्षता अधिक होने पर पुराने घी का शरीर पर अभ्यङ्ग तथा शीत की प्रतीति होने पर स्वेदन और लेप का प्रयोग करना चाहिये।

विमर्शः—वातज्वर में वात की प्रधानता होने पर भी वायु के योगवाही होने से पित्तानुबन्धी होने पर दाहजनक तथा कफानुबन्धी होने से शीतजनक होती है—योगवाहः परं वायुः संयोगादुभयार्थकृत्। दाहकृत्तेजसा युक्तः शीतकृत् सोमसंश्रयात् ॥ अतएव पित्तानुबन्ध में दाह तथा कफानुबन्ध में शीत की प्रतीति होने पर शीत और उष्ण लेप प्रशस्त होते हैं।

श्रीपर्णीचन्दनोशीरपरूषकमधूकजः ।
शर्करामधुरो हन्ति कषायः पैत्तिकं ज्वरम् ॥१७५॥

पैत्तिकज्वरे श्रीपर्ण्यादिक्वाथः—श्रीपर्णी (गम्भारी) की छाल या फल, लालचन्दन, खस, फालसा के फल, महुए के फूल इनका यथाविधि क्वाथ बना के छानकर उसमें शर्करा मिलाकर मधुर कर पीने से पैत्तिकज्वर नष्ट हो जाता है॥१७५॥

विमर्शः—कषाय और लेप के लिये सर्वत्र रक्तचन्दन का प्रयोग किया जाता है—'कषायलेपयोः प्रायो युज्यते रक्तचन्दनम्'।

पीतं पित्तज्वरं हन्यात्सारिवाद्यं सशर्करम् ॥१७६॥
सयष्टीमधुकं हन्यात्तथैवोत्पलपूर्वकम् ।
शृतं शीतकषायं वा सोत्पलं शर्करायुतम् ॥१७७॥

पित्तज्वरे सारिवादिगणक्वाथाः—सारिवादिगण की औषधियों के क्वाथ में शर्करा मिलाकर पीने से पित्तज्वर नष्ट होता है। उसी प्रकार उत्पलादिगण की औषधियों में मुलेठी मिला कर क्वाथ बनाकर शर्करा से मधुर कर पीने से पित्तज्वर नष्ट होता है अथवा उत्पलादिगण की औषधियों का शृत (क्वाथ) किंवा शीतकषाय में मिलाकर पीने से पैत्तिकज्वर नष्ट होता है ॥ १७६–१७७ ॥

विमर्शः—सारिवादिगण-सुश्रुत सूत्रस्थान अध्याय ३८ में निम्नरूप से है—'सारिवामधुकचन्दनकुचन्दनपद्मककाश्मरीफलमधूकपुष्पाण्युशीरञ्चेति'। सारिवादिः पिपासाघ्नो रक्तपित्तहरो गणः। पित्तज्वरप्रशमनो विशेषाद्दाहनाशनः॥ उत्पलादिगण—'उत्पलरक्तोत्पलकुमुदसौगन्धिककुवलयपुण्डरीकाणि मधुकञ्चेति'। उत्पलादिरयं दाहपित्तरक्तविनाशनः। पिपासाविषहृद्रोगच्छर्दिमूर्च्छाहरो गणः॥

गुडूचीपद्मरोध्राणां सारिवोत्पलयोस्तथा ।
शर्करामधुरः क्वाथः शीतः पित्तज्वरापहः ॥१७८॥

पित्तज्वरे गुडूच्यादिक्वाथः—नीमगिलोय, कमल, लोध, सारिवा (अनन्तमूल) और उत्पल (नीलकमल=नीलोफर) इनका यथाविधि क्वाथ बनाकर अथवा शीतकषायकल्पना करके शर्कराप्रक्षेप से मधुर कर पीने से पित्तज्वर नष्ट हो जाता है ॥ १७८ ॥

द्राक्षारग्वधयोश्चापि काश्मर्य्यस्याथवा पुनः ।
स्वादुतिक्तकषायाणां कषायैः शर्करायुतैः ।
सुशीतैः शमयेत्तृष्णां प्रवृद्धां दाहमेव च ॥१७९॥

पित्तज्वरे आवस्थिकं द्राक्षादियोगत्रयम्—मुनक्का और अमलतास की फली के गूदे का शीतकषाय अथवा गम्भारी के फलों का शीतकषाय किंवा द्राक्षा, मधुयष्टि और काकोल्यादिगण की मधुर ओषधियों किंवा धमासा, पर्पटक, चिरायता तथा गुडूच्यादिगण की तिक्त ओषधियों तथा न्यग्रोधादिगण, अम्बष्ठादिगण, रोध्रादिगण और सालसारादिगण की कषाय ओषधियों के शीतकषाय को शर्करा के प्रक्षेप से मधुर कर पिलाने से पित्तज्वरजन्य प्रवृद्ध तृष्णा तथा दाह नष्ट हो जाते हैं ॥ १७९ ॥

विमर्शः—सुश्रुत सूत्रस्थान के रसविशेषविज्ञानीय नामक ४२ वें अध्याय में मधुरादिरसप्रधान ओषधियों का सुन्दर संग्रह है।

शीतं मधुयुतं तोयमाकण्ठाद्वा पिपासितम् ।
वामयेत्पाययित्वा तु तेन तृष्णा प्रशाम्यति ॥१८०॥

तृष्णाशमनाय वमनम्—तृष्णा से पीडित हुये पित्तज्वरी को मधुमिश्रित शीतल जल आकण्ठपर्यन्त पीला के वमन करा देने से तृष्णा शान्त हो जाती है ॥ १८० ॥

विमर्शः—यदि उक्त प्रकार से वमन न हो तो मदनफलादि वामक द्रव्यों का चूर्ण दिया जा सकता है।

क्षीरैः क्षीरिकषायैश्च सुशीतैश्चन्दनायुतैः ।
अन्तर्दाहे विधातव्यमेभिश्चान्यैश्च शीतलैः ॥१८१॥

अन्तर्दाहप्रयोगाः—पित्तज्वरी के अन्तर्दाह की अधिकता में विविध प्रकार के दुग्धों से, क्षीरप्रधान न्यग्रोधादि गण की ओषधियों के क्वाथ को शीतल कर उसमें चन्दन, कर्पूर आदि मिलाकर उससे शरीर पर बहिःपरिमार्जन तथा आलेप करावे तथा उन्हीं द्रवों में रुग्ण का अवगाहन करावे एवं उसी का रुग्ण को पान करावे अथवा अन्य शीतल उपचार काकोल्यादिगणौषध का शीतकषाय एवं रत्नादि का शीतस्पर्श भी कराना चाहिये ॥ १८१ ॥

विमर्शः—दाहसंशमनार्थं बाह्य उपचारों में काञ्जी, सिरका, कोलनवाटर और मद्य का प्रयोग करना चाहिये। इसके अतिरिक्त दाहसंशमनार्थ सहस्रधौत घृत अथवा चन्दनादि तैल का शरीर पर लेप करना चाहिये—सहस्रधौतं सर्पिर्वा तैलं वा चन्दनादिकम्। दाहज्वरप्रशमनं दद्यादभ्यञ्जनं भिषक् ॥ अवगाहद्रव्य—'मद्यारनालक्षीरदधिघृतसलिलसेकावगाहाश्च सद्यो दाहज्वरमपनयन्ति शीतस्पर्शत्वात्'। पौष्करेषु सुशीतेषु पद्मोत्पलदलेषु च। कदलीनाञ्च पत्रेषु क्षौमेषु विमलेषु च॥ चन्दनोदकशीतेषु शीते धारागृहेऽपि वा। हिमाम्बुसिक्ते सदने दाहार्तः संविशेत् सुखम्। हेमशंखप्रवालानां मणीनां मौक्तिकस्य च। चन्दनोदकशीतानां संस्पर्शानुरसान् स्पृशेत्॥ स्रग्भिर्नीलोत्पलैः पद्मैर्व्यजनैर्विविधैरपि। शीतवातावहैर्व्यजनैश्चन्दनोदकवर्षिभिः॥ नद्यस्तडागा पद्मिन्यो ह्रदाश्च विमलोदकाः। अवगाहे हिता दाहतृष्णाग्लानिज्वरापहाः॥ प्रियाः प्रदक्षिणाचाराः प्रमदाश्चन्दनोक्षिताः। सान्त्वयेयुः परैः कामैर्मणिमौक्तिकभूषणाः॥ शीतानि चान्नपानानि शीतान्युपवनानि च। वायवश्चन्द्रपादाश्च शीता दाहज्वरापहाः॥ (च. चि. अ. ३)

पद्मकं मधुकं द्राक्षां पुण्डरीकमथोत्पलम् ॥१८२॥
यवान् भृष्टानुशीराणि समङ्गां काश्मरीफलम् ।
निदध्यादप्सु चालोड्य निशापर्य्युषितं ततः ॥१८३॥
क्षौद्रेण युक्तं पिबतो ज्वरदाहौ प्रशाम्यतः ।
जिह्वातालुगलक्लोमशोषे मूर्ध्नि च दापयेत् ॥१८४॥

पित्तज्वरे पद्मकादिशीतकषायः—पद्मकाठ, मुलेठी, मुनक्का, श्वेतकमल, नीलकमल, भूने हुये जौ, खस, मजीठ या लज्जालु और गम्भारी के फल इन्हें समान प्रमाण में लेकर चूर्णित कर पानी में डालकर आलोडित कर रात भर रखकर दूसरे दिन प्रातः छानकर उसमें शहद मिलाकर पीने से अन्तर्बाह्य दाह और पैत्तिक-ज्वर शान्त हो जाते हैं तथा इन्हीं पद्माखादि गम्भारीफलान्त द्रव्यों के चूर्ण को पानी के साथ पीसकर जिह्वा, तालु, गला और क्लोम के सूखने पर मस्तिष्क पर शीतल लेप अथवा परिषेक करने से दाह का संशमन होता है।

विमर्शः—क्लोम शब्द के अर्थ में अनेक मत हैं—कुछ लोग इसे अग्न्याशय (Pancreas), कुछ कण्ठनाडी (Trachea) और कुछ पित्ताशय (Gall bladder) समझते हैं तथा सभी के लिये उनके प्रमाण भी मिलते हैं। फिर भी क्लोम का अर्थ पित्ताशय करना अधिक उचित है—(१) क्लोम की उत्पत्ति रक्त के किट्ट से मानी गई है—'यस्तु शोणितजः किट्टस्तस्मात्क्लोम च जायते'। (२) यकृत् और क्लोम का उल्लेख साथ-साथ होता है—'क्लोम च यकृच्च'। यकृत् और क्लोम में विद्रधि होने पर दोनों के समान लक्षण मिलते हैं—'श्वासो यकृति तृष्णा च पिपासा क्लोमजेऽधिका'। (३) क्लोम का स्थान यकृत् के नीचे तिलकाकृति बताया है—'क्लोमकालखण्डा(यकृता)दधस्तात् स्थितं दक्षिणपार्श्वस्थं तिलकमिति प्रसिद्धम्'॥ (डल्हण) तिलन्तु शोणितकिट्टप्रभवं दक्षिणाश्रितं यकृत्समीपे क्लोमसंज्ञकं भवति॥ (आढमल्ल शार्ङ्गधरदीपिका)। (४) क्लोमस्थिति सदा दक्षिण पार्श्व में बतलाई गई है—'अधस्तु दक्षिणे भागे हृदयात्क्लोम तिष्ठति'। कण्ठनाडी मध्य में तथा अग्न्याशय भी मध्य में होकर दोनों पार्श्वों में फैला हुआ रहता है। (५) तिल की आकृति (स्वरूप) का होने से इसे तिलक भी कहते हैं क्योंकि यकृत् के नीचे के पृष्ठ भाग पर पित्ताशय की स्थिति काले तिल के समान प्रतीत होती है, जैसा कि (Grey's Anatomy के वर्णन—The Gall-bladder is a conical or pear-shaped (तिलाकृति) musculo membanous sak, lodged in a fossa on the under surface of the right lobe of the liver—से भी प्रतीत होता है कि हमारे सुश्रुताचार्य आदि महर्षियों का आशय क्लोम से पित्ताशय का ही बोधन कराना है। अरुणदत्त ने भी इसे अपनी टीका में गोलाकृति (उण्डूकसंज्ञः) माना है—समानवायोः प्रध्मानाद्रक्तादेहोष्मपाचितात्। किञ्चिदुच्छूनसंज्ञस्तु जायते क्लोमसंज्ञकः॥

केशरं मातुलुङ्गस्य मधुसैन्धवसंयुतम्।
शर्करादाडिमाभ्यां वा द्राक्षाखर्जूरयोस्तथा॥
वैरस्ये धारयेत्कल्कं गण्डूषञ्च तथा हितम्॥ १८५॥

पित्तज्वरजमुखवैरस्ये गण्डूषस्य योगद्वयम्—बिजोरे निंबू की केसर (अन्तर्मज्जा) में थोड़ा-सा शहद और सैन्धव लवण मिला कर मुख में धारण करने से किंवा शर्करा, अनार के दाने, द्राक्षा और खर्जूर (छुहारे) का कल्क (लुगदी) बना कर मुख में धारण करने से किंवा इनके चूर्णों को पानी में डाल कर गण्डूष करने से मुख की विरसता दूर हो जाती है।

सप्तच्छदं गुडूचीञ्च निम्बं स्फूर्जकमेव च।
क्वाथयित्वा पिबेत् क्वाथं सक्षौद्रं कफजे ज्वरे॥ १८६॥

कफज्वरे सप्तच्छदादिक्वाथः—सप्तपर्ण, नीमगिलोय, नीम की छाल और स्फूर्जक (फणिजक या महुआ) इनका यथाविधि क्वाथ बना के छान कर उसमें शहद मिला के पीने से कफज्वर नष्ट हो जाता है॥ १८६॥

कटुत्रिकं नागपुष्पं हरिद्रा कटुरोहिणी।
कौटजञ्च फलं हन्यात्सेव्यमानं कफज्वरम्॥ १८७॥

कफज्वरे कटुत्रिकादिक्वाथः—कटुत्रिक (सोंठ, मरिच, पिप्पली), नागकेशर, हरिद्रा, कुटकी और इन्द्रयव के फल—इन्हें समान प्रमाण में लेकर क्वाथ अथवा चूर्ण बना के सेवन करने से कफज्वर नष्ट होता है॥ १८७॥

हरिद्रां चित्रकं निम्बमुशीरातिविषे वचाम्॥ १८८॥
कुष्ठमिन्द्रयवान् मूर्वां पटोलं चापि साधितम्।
पिबेन्मरिचसंयुक्तं सक्षौद्रं कफजे ज्वरे॥ १८९॥

कफज्वरे हरिद्रादिक्वाथः—हल्दी, चित्रक की छाल, नीम की छाल, खस, अतीस, वचा, कूठ, इन्द्रजव, मूर्वा और पटोलपत्र इन्हें समप्रमाण में ले के यथाविधि क्वाथ कर छान के उसमें मरिचचूर्ण १ माशा और शहद ६ माशे भर मिला कर पीने से कफज्वर नष्ट हो जाता है॥ १८८–१८९॥

सारिवाऽतिविषाकुष्ठपुराख्यैः सदुरालभैः।
मुस्तेन च कृतः क्वाथः पीतो हन्यात् कफज्वरम्॥१९०॥

कफज्वरे सारिवादिक्वाथः—अनन्तमूल, अतीस, कूठ, गुग्गुलु, जवासा और नागरमोथा—इनका यथाविधि कृत क्वाथ मधुमिश्रित कर पीने से कफज्वर नष्ट होता है॥ १९०॥

मुस्तं वृक्षकबीजानि त्रिफलाकटुरोहिणी।
परूषकाणि च क्वाथः कफज्वरविनाशनः॥ १९१॥

कफज्वरे मुस्तादिक्वाथः—नागरमोथा, वृक्षकबीज (कुटजबीज = इन्द्रजौ), हरड़, बहेड़ा, आँवला, कुटकी तथा फालसा इनका यथाविधि क्वाथ बना कर पीने से कफज्वर नष्ट होता है॥ १९१॥

राजवृक्षादिवर्गस्य कषायो मधुसंयुतः।
कफवातज्वरं हन्याच्छीघ्रं कालेऽवचारितः॥१९२॥

द्वन्द्वज्वरे राजवृक्षादिगणक्वाथः—आरग्वधादिगण की ओषधियों के क्वाथ में शहद मिलाकर औषधकाल में पीने से कफवातकृत द्वन्द्वज ज्वर शीघ्र नष्ट होता है॥ १९२॥

विमर्शः—राजवृक्षादिगण को आरग्वधादिगण कहते हैं। तथा इस गण में सुश्रुताचार्य ने सुश्रुत सूत्रस्थान अध्याय ३८ में निम्न ओषधियाँ लिखी हैं जो कि कफ तथा विषविकार, प्रमेह, कुष्ठ, ज्वर, वमन और कण्डू को नष्ट करती हैं तथा व्रणसंशोधक हैं—'आरग्वधमदनगोपघोण्टाकण्टकीकुटजपाठापाटलामूर्वेन्द्रयवसप्तपर्णनिम्बकुरण्टदासीकुरण्टकगुडूचीचित्रकशार्ङ्गेष्टाकरञ्जद्वयपटोलकिराततिक्तकानि सुषवी चेति'।

आरग्वधादिरित्येष गणः श्लेष्मविषापहः । मेहकुष्ठज्वरवमी कण्डूघ्नो व्रणशोधनः । (सु. सू. अ. ३८)

नागरं धान्यकं भार्ङ्गीमभयां सुरदारु च ।
वचां पर्पटकं मुस्तं भूतीकमथ कट्फलम् ॥ १९३ ॥
निष्क्वाथ्य कफवातोत्थे क्षौद्रहिंगुसमन्वितम् ।
दातव्यं श्वासकासघ्नं श्लेष्मोत्सेके गलग्रहे ॥
हिक्कासु कण्ठश्वयथौ शूले हृदयपार्श्वजे ॥ १९४ ॥

कफवातज्वरे नागरादिक्वाथः—सोंठ, धनियाँ, भारङ्गी, हरड़, देवदारु, वचा, पित्तपापड़ा, नागरमोथा, भूतिक (जटामांसी या रोहिषतृण) और कायफल इनका यथाविधि क्वाथ बना के छानकर उसमें शहद ६ माशे भर तथा शुद्ध हिङ्गुचूर्ण २ से ४ रत्ती मिश्रित कर पिलाने से कफवात ज्वर में विशेष लाभ होता है तथा यह क्वाथ श्वास और कास का नाशक है एवं कफ के अधिक निकलने में, गलग्रह, हिक्का, कण्ठ के शोथ, हृदय तथा पार्श्वप्रदेशजन्य शूल में हितकारी है ॥ १९३-१९४ ॥

बलापटोलत्रिफलायष्टयाह्वानां वृषस्य च ।
क्वाथो मधुयुतः पीतो हन्ति पित्तकफज्वरम् ॥ १९५ ॥

पित्तकफज्वरे बलादिक्वाथः—खरेटी की जड़, पटोलपत्र, हरड़, बहेड़ा, आँवला, मुलेठी और अडूसा इनके क्वाथ में शहद मिलाकर पीने से पित्तकफज्वर नष्ट होता है ॥ १९५ ॥

कटुकाविजयाद्राक्षामुस्तपर्पटकैः कृतः ।
कषायो नाशयेत्पीतः श्लेष्मपित्तभवं ज्वरम् ॥ १९६ ॥

कफपित्तज्वरे कटुकादिक्वाथः—कुटकी, हरड़, मुनक्का, नागरमोथा और पित्तपापड़ा इनका क्वाथ पीने से कफपित्त ज्वर नष्ट होता है ॥ १९६ ॥

भार्ङ्गीवचापर्पटकधान्यहिङ्ग्वभयाघनैः ।
काश्मर्य्यनागरैः क्वाथः सक्षौद्रः श्लेष्मपित्तजे ॥१९७॥

कफपित्तज्वरे भार्ग्यादिक्वाथः—भारङ्गी, वचा, पित्तपापड़ा, धनियाँ, हींग, हरड़, नागरमोथा, गम्भारीकी छाल या फल और सोंठ इनके क्वाथ में शहद मिलाकर पीने से कफपित्त ज्वर नष्ट होता है ॥ १९७ ॥

सशर्करामक्षमात्रां कटुकामुष्णवारिणा ।
पीत्वा ज्वरं जयेज्जन्तुः कफपित्तसमुद्भवम् ॥ १९८ ॥

कफपित्तज्वरे शर्कराकुटकीयोगः—शर्करा १ तोला तथा कुटकी का चूर्ण ३ से ६ माशे प्रमाण में लेकर उष्णोदकानुपान से पीने वाले व्यक्ति का कफपित्तजन्य ज्वर नष्ट होता है ।

किराततिक्तममृतां द्राक्षामामलकं शटीम् ।
निष्क्वाथ्य वातपित्तोत्थे तं क्वाथं सगुडं पिबेत् ॥१९९॥

वातपित्तज्वरे किरातादिक्वाथः—चिरायता, नीमगिलोय, मुनक्का, आँवला और कचूर इनके क्वाथ में १ तोले भर गुड़ मिलाकर पीने से वातपित्तज्वर नष्ट होता है ॥ १९९ ॥

रास्ना वृषोऽथ त्रिफला राजवृक्षफलैः सह ।
कषायः साधितः पीतो वातपित्तज्वरं जयेत् ॥ २०० ॥

वातपित्तज्वरे रास्नादिक्वाथः—रासना, अडूसा, हरड़, बहेड़ा, आँवला और अमलतास की फली का गूदा इनका क्वाथ पीने से वातपित्तज्वर नष्ट हो जाता है ॥ २०० ॥

सर्वदोषसमुत्थे तु संसृष्टानवचारयेत् ।
यथा दोषोच्छ्रयश्चापि ज्वरान् सर्वानुपाचरेत् ॥२०१॥

सन्निपातज्वरचिकित्सा—त्रिदोषों के द्वारा समुत्पन्न ज्वर में उक्त पृथक्-पृथक् कहे हुये क्वाथों को संसृष्ट (मिला) कर प्रयुक्त करना चाहिए । इसके अतिरिक्त सर्वप्रकार के ज्वरों में जिस दोष की अधिकता हो उसके संशमन का ध्यान रखते हुये चिकित्सा करनी चाहिए ॥ २०१ ॥

वृश्चीवबिल्ववर्षाभ्वः पयश्चोदकमेव च ।
पचेत् क्षीरावशिष्टं तु तद्धि सर्वज्वरापहम् ॥ २०२ ॥

सर्वज्वरे दुग्धपाकः—श्वेतपुनर्नवा, बिल्व की छाल, लाल पुनर्नवा इनका कल्क तथा दुग्ध और पानी इनका दुग्धावशेष पाक कर छानके पिलाने से सर्वविध ज्वर नष्ट हो जाते हैं ।

विमर्शः—क्षीरपाकविधिः—द्रव्यादष्टगुणं क्षीरं क्षीरात्तोयं चतुर्गुणम् । क्षीरावशेषं कर्तव्यं क्षीरपाके त्वयं विधिः ॥ मिलित औषधकल्क १ पल, दुग्ध ८ पल, पानी ३२ पल, दुग्धावशेषपाक ।

उदकांशास्त्रयः क्षीरं शिंशपासारसंयुतम् ।
तत् क्षीरशेषं कथितं पेयं सर्वज्वरापहम् ॥ २०३ ॥

सर्वज्वरहरः शिंशपादुग्धः—जल त्रिगुण (२४ पल), दुग्ध ८ पल तथा शिंशपासार १ पल लेके दुग्धावशेष पाककर छान के पीने से सर्वज्वर नष्ट होते हैं ॥ २०३ ॥

नलवेतसयोर्मूले मूर्वायां देवदारुणि ।
कषायं विधिवत् कृत्वा पेयमेतज्ज्वरापहम् ॥ २०४ ॥

सर्वज्वरहरो नलादिक्वाथः—नरसल की जड़, बेंत की जड़, मूर्वा, देवदारु इनका यथाविधि क्वाथ बनाकर पीने से सर्वज्वर नष्ट हो जाते हैं ॥ २०४ ॥

हरिद्रा भद्रमुस्तं च त्रिफला कटुरोहिणी ।
पिचुमन्दः पटोली च देवदारु निदिग्धिका ॥ २०५ ॥
एषां कषायः पीतस्तु सन्निपातज्वरं जयेत् ।
अविपक्तिं प्रसेकं च शोफं कासमरोचकम् ॥ २०६ ॥

सन्निपातज्वरे हरिद्रादिक्वाथः—हल्दी, नागरमोथा, हरड़, बहेड़ा, आँवला, कुटकी, निम्ब की छाल, पटोलपत्र, देवदारु और कण्टकारी की जड़ इन्हें समान प्रमाण में मिश्रित कर २ तोले भर लेके सोलह गुने (३२ तोला) पानी में क्वथित कर अष्टमांश (४ तोले) शेष रखकर छान के ६ माशे भर शहद डालकर पिलाने से सन्निपातज्वर नष्ट होता है तथा अविपाक, लालास्राव, शोफ, कास और अरुचि भी नष्ट होते हैं ॥ २०५-२०६ ॥

त्रैफलो वा ससर्पिष्कः क्वाथः पेयस्त्रिदोषजे ॥ २०७ ॥

त्रिदोषज्वरे त्रिफलाक्वाथः—हरड़, बहेड़ा और आँवला मिलित २ तोले, पानी ३२ तोले, क्वाथ होने पर शेष ४ तोले रख के छानकर उसमें गोघृत ६ माशे से १ तोले तक मिलाकर पिलाने से त्रिदोषज्वर नष्ट होता है ॥ २०७ ॥

अनन्तां बालकं मुस्तां नागरं कटुरोहिणीम् ।
सुखाम्बुना प्रागुदयात्पाययेताक्षसम्मितम् ॥
एष सर्वज्वरान् हन्ति दीपयत्याशु चानलम् ॥ २०८ ॥

सर्वज्वरे अनन्तादिचूर्णम्—सारिवा, नेत्रबाला, नागरमोथा, सोंठ और कुटकी इन्हें समान प्रमाण में ले के चूर्णित कर लें। इस चूर्ण को १ अक्ष (१ कर्ष=१ तोले) भर ले के मन्दोष्ण जलानुपान के साथ सूर्योदय के पूर्व पिलाने से सर्वज्वर नष्ट हो जाते हैं तथा यह चूर्ण अग्नि को शीघ्र ही प्रदीप्त कर देता है ॥ २०८ ॥

द्रव्याणि दीपनीयानि तथा वैरेचनानि च।
एकशो वा द्विशो वाऽपि ज्वरघ्नानि प्रयोजयेत् ॥२०६॥

ज्वरघ्नद्रव्यप्रयोगोपदेशः—पिप्पल्यादि गण की दीपनीय ओषधियाँ, त्रिवृतादिगण की विरेचक ओषधियाँ तथा ज्वरनाशक ओषधियों में से अवस्थानुसार तथा दोषबल का विचार कर अकेली, दो-दो अथवा तीन-तीन मिलाकर प्रयुक्त करें ॥ २०९ ॥

विमर्शः—पिप्पल्यादिगण—पिप्पलीपिप्पलीमूलचव्यचित्रकशृङ्गवेरमरिचहस्तिपिप्पलीहरेणुकैलाजमोदेन्द्रयवपाठाजीरकसर्षपमहानिम्बफलहिङ्गुभार्गीमधुरसातिविषावचाविडङ्गानि कटुरोहिणी चेति। 'पिप्पल्यादिः कफहरः प्रतिश्यायानिलारुचीः। निहन्याद्दीपनो गुल्मशूलघ्नश्चामपाचनः ॥' विरेचक द्रव्य—त्रिवृदभयादन्तीद्रवन्तीसप्तलाशंखिनीगवाक्षीचतुरङ्गुलैरण्डादयः। ज्वरनाशक द्रव्य—सारिवाशर्करापाठामञ्जिष्ठाद्राक्षापीलुपरूषकाभयामलकविभीतकानि दशेमानि ज्वरहराणीति चरकः।

सर्पिर्मध्वभयातैलल्लेहोऽयं सर्वजं ज्वरम्।
शान्तिं नयेत् त्रिवृच्चापि सक्षौद्रा प्रबलं ज्वरम् ॥२१०॥

प्रबलज्वरे सर्पिमध्वादि—घृत, शहद, हरड़ चूर्ण और तिलतैल दोषानुसार इनका पृथक्-पृथक् प्रयोग अथवा मिलित प्रयोग सर्वविध ज्वर को नष्ट करता है। इसी प्रकार त्रिवृत् का चूर्ण मधु के साथ सेवन करने से प्रबल ज्वर को नष्ट करता है ॥ २१० ॥

विमर्शः—घृत त्रिदोषनाशक तथा विशेषकर वात और पित्त का नाशक है। शहद वात और कफविकार का नाशक, हरड़ वातकफनाशिनी और तैल प्रधानतया वातनाशक होता है। इनका सम्मिलित योग त्रिदोषनाशक हो सकता है किन्तु ऐसा प्रयोग अनुभव में नहीं आया है क्योंकि घृत, तैल, मधु यह संयोग विचित्र स्वाद वाला होगा। अस्तु, तन्त्रान्तर में भी ऐसा प्रयोग मिलता है—पथ्यातैलघृतक्षौद्रैर्लेहो दाहश्रमज्वरान्। कासासृग्पित्तवीसर्पश्वासान् हन्ति समीरणम् ॥

ज्वरे तु विषमे कार्य्यमूर्ध्वं चाधश्च शोधनम्।
घृतं प्लीहोदरोक्तं वा निहन्याद्विषमज्वरम् ॥ २११ ॥

विषमज्वरे शोधनम्—विषमज्वर में कफाधिक्य होने पर वमन द्वारा ऊर्ध्वसंशोधन तथा पित्ताधिक्य होने पर विरेचन कर्म द्वारा अधःकाय-संशोधन कर्म कराना चाहिए। अथवा प्लीहोदर रोगाधिकार में कहे हुए षट्पल घृत के सेवन से विषमज्वर नष्ट होता है ॥ २११ ॥

गुडप्रगाढां त्रिफलां पिबेद् वा विषमार्दितः।
गुडूचीनिम्बधात्रीणां कषायं वा समाक्षिकम् ॥२१२॥

विषमज्वरे त्रिफलादियोगद्वयम्—विषमज्वर से पीड़ित व्यक्ति त्रिफला चूर्ण ३ माशे से ६ माशे तक की मात्रा में लेकर एक तोले भर गुड़ के साथ मिला के जल के साथ पीवे अथवा नीमगिलोय, निम्बपत्र या नीम की छाल और आँवले इनका क्वाथ बना के उसमें शहद मिला कर सेवन करे ॥ २१२ ॥

प्रातः प्रातः ससर्पिष्कं रसोनमुपयोजयेत् ॥ २१३ ॥

रसोनप्रयोगः—प्रतिदिन प्रातःकाल लहसुन के स्वरस में घृत मिलाकर पीना चाहिए ॥ २१३ ॥

विमर्शः—लहसुन को रसोन कहा है अर्थात् 'रसेनैकेन ऊनो न्यूनो रसोनः।' इस लहसुन में अम्लरस को छोड़कर शेष पञ्चरस होते हैं—पञ्चभिश्च रसैर्युक्तो रसेनाम्लेन वर्जितः। तस्माद्रसोन इत्युक्तो द्रव्याणां गुणवेदिभिः॥ लहसुन अग्नि का दीपक, आमदोषों का पाचक तथा तीक्ष्ण होने से स्रोतसों के अवरोध का नाशक एवं जीवाणुनाशक होता है अतएव लहसुन का सदा दाल, साग व चटनी के रूप में राजस्थान आदि प्रान्तों में भूरिरूप में प्रयोग होता है।

त्रिचतुर्भिः पिबेत् क्वाथं पञ्चभिर्वा समन्वितैः।
मधुकस्य पटोलस्य रोहिण्या मुस्तकस्य च ॥२१४॥
हरीतक्याश्च सर्वोऽयं त्रिविधो योग इष्यते ॥२१५॥

विषमज्वरे त्रिचतुःपञ्चद्रव्यप्रयोगाः—मुलेठी, पटोलपत्र, कुटकी, मोथा और हरड़ इन पाँच द्रव्यों में से किन्हीं तीन या किन्हीं चार अथवा किन्हीं पाँच द्रव्यों को संयुक्त कर क्वाथ बना के पीने से विषमज्वर नष्ट हो जाता है। इस तरह इन पाँच द्रव्यों के त्रि, चतुर और पञ्च मिश्रण करने से त्रिविध योग बनते हैं ॥ २१४–२१५ ॥

विमर्शः—त्रिविधयोगकल्पना—मधुकपटोलरोहिणीभिस्त्रिभिर्द्रव्यैरेको योगः, मधुकपटोलरोहिणीमुस्तकैश्चतुर्भिर्द्वितीयो योगः, मधुकपटोलरोहिणीमुस्तकहरीतकीभिः पञ्चभिस्तृतीयो योगः। इन्हीं पाँच द्रव्यों के तीन भेदों से सोलह योगों की कल्पना भी हो सकती है।

सर्पिःक्षीरसिताक्षौद्रमागधीर्वा यथाबलम्।
दशमूलीकषायेण मागधीर्वा प्रयोजयेत् ॥२१६॥

सर्पिःक्षीरादिप्रयोगः—विषमज्वर से पीड़ित व्यक्ति अपने बल के अनुसार घृत, दुग्ध, शर्करा, शहद और पिप्पली का प्रतिदिन प्रयोग करे अथवा पिप्पली के चूर्ण को दशमूल के क्वाथानुपान के साथ प्रतिदिन सेवन किया करे ॥ २१६ ॥

विमर्शः—एक कटोरी में पिप्पली चूर्ण १, २ या ३ रत्ती लेकर उसमें घृत ६ माशे, शर्करा ६ माशे तथा शहद ६ माशे मिला के चाट कर ऊपर से दुग्ध पीवे।

पिप्पलीवर्द्धमानं वा पिबेत् क्षीररसाशनः।
ताम्रचूडस्य मांसेन पिबेद्वा मद्यमुत्तमम् ॥२१७॥

वर्धमानपिप्पलीप्रयोगः—वातव्याधि-चिकित्सा-प्रकरण में कहा हुआ वर्धमानपिप्पलीप्रयोग क्रमवृद्धि-प्रकार से करना चाहिए तथा क्षुधा लगने पर दुग्ध या मांसरस का सेवन करना चाहिए अथवा मुर्गे के मांस के साथ उत्तम मद्य का पान करना चाहिए ॥ २१७ ॥

विमर्शः—वर्धमानपिप्पलीप्रयोगः—'पिप्पलीर्वा क्षीरपिष्टा वारिपिष्टा वा पञ्चाभिवृद्ध्या दशाभिवृद्ध्या वा पिबेत्, क्षीरौदनाहारो दशरात्रं, भूयश्चापकर्षयेत्, एवं यावत् पञ्चदश वेति; तदेतत् पिप्प-

लीवर्द्धमानकं वातशोणितविषमज्वरारोचकपाण्डुरोगप्लीहोदरार्शः-कासश्वासशोफशोषाग्निसादहृद्रोगोदराण्यपहन्ति' (सु. चि. अ. ५।१२)

कोलाग्निमन्थत्रिफलाक्वाथे दध्ना घृतं पचेत् ।
तिल्वकावापमेतद्धि विषमज्वरनाशनम् ॥ २१८ ॥

विषमज्वरे पञ्चकोलघृतम्—कोल (पञ्चकोल) जैसे पिप्पली, पिपरामूल, चव्य, चित्रक और नागर तथा अरणि, हरड़, बहेड़ा, आंवला, इन्हें समान प्रमाण में मिश्रित कर १०० पल ले के यवकुट कर ५१२ पल पानी में क्वथित करके चतुर्थांश अर्थात् १२८ पल पानी शेष रहने पर उतार के छान कर उसमें १२८ पल दधि और ३२ पल घृत तथा ८ पल पट्टिका लोध्र कल्क डाल कर यथाविधि पाक करना चाहिए। यह घृत विषमज्वर का नाशक है। मात्रा ६ माशे से १ तोले भर ले के उसमें थोड़ी-सी शर्करा मिला के चटाकर दुग्धानुपान करा दिया जाय अथवा इस घृत को दुग्ध में डालकर सेवन करा सकते हैं ॥ २१८ ॥

पिप्पल्यतिविषाद्राक्षासारिवाबिल्वचन्दनैः ।
कटुकेन्द्रयवोशीरसिंहीतामलकीघनैः ॥ २१९ ॥
त्रायमाणास्थिराधात्रीविश्वभेषजचित्रकैः ।
पक्वमेतैर्घृतं पीतं विजित्य विषमाग्निताम् ॥ २२० ॥
जीर्णज्वरशिरःशूलगुल्मोदरहलीमकान् ।
क्षयकासं ससन्तापं पार्श्वशूलानपास्यति ॥ २२१ ॥

जीर्णज्वरादिषु पिप्पल्यादिघृतम्—पीपल, अतीस, मुनक्का, अनन्तमूल, बिल्वछाल, रक्तचन्दन, कुटकी, इन्द्रयव, खस, सिंही (बड़ी कटेरी), तामलकी (भुइँ आंवला), मोथा, त्रायमाणा, शालपर्णी, आँवला, सोंठ और चित्रक की जड़ की छाल इन सबको समान प्रमाण में लेके यवकुट कर पत्थर पर पानी के साथ पीस के कल्क बना लें, फिर पञ्चकोलघृतानुसार अथवा कल्क से चतुर्गुण स्नेह और स्नेह से चतुर्गुण पानी डाल कर घृत सिद्ध कर लेना चाहिये। इस तरह इन ओषधियों से सिद्ध हुए घृत का सेवन करने से विषमाग्नि नष्ट होती है तथा जीर्ण ज्वर, शिरःशूल, गुल्म, उदररोग, हलीमक, क्षय, कास, सन्ताप और पार्श्वशूल नष्ट हो जाते हैं ॥ २१९–२२१ ॥

गुडूचीत्रिफलावासात्रायमाणायवासकैः ।
क्वथितैर्विधिवत्पक्वमेतैः कल्कीकृतैः समैः ॥ २२२ ॥
द्राक्षामागधिकाऽम्भोदनागरोत्पलचन्दनैः ।
पीतं सर्पिः क्षयश्वासकासाजीर्णज्वरान् जयेत् ॥ २२३ ॥

जीर्णज्वरादौ गुडूच्यादिघृतम्—नीम गिलोय, हरड़, बहेड़ा, आँवला, अडूसा, त्रायमाणा और जवासा इनका यथाविधि बनाया हुआ क्वाथ १६ प्रस्थ तथा मुनक्का, पिप्पली, मोथा, सोंठ, कमल और रक्तचन्दन का कल्क १ प्रस्थ और घृत ४ प्रस्थ लेकर यथाविधि घृत सिद्ध कर लेना चाहिए। इस गुडूच्यादिघृत का प्रतिदिन सेवन करने से क्षय, श्वास, कास, अजीर्ण और जीर्णज्वर नष्ट हो जाते हैं ॥ २२२–२२३ ॥

कलशीबृहतीद्राक्षात्रायन्तीनिम्बगोक्षुरैः ।
बलापर्पटकाम्भोदशालपर्णीयवासकैः ॥ २२४ ॥
पक्वमुत्क्वथितैः सर्पिः कल्कैरेभिः समन्वितम् ।
शटीतामलकीभार्गीमेदामलकपौष्करैः ॥ २२५ ॥
क्षीरद्विगुणसंयुक्तं जीर्णज्वरमपोहति ।
शिरःपार्श्वरुजाकासक्षयप्रशमनं परम् ॥ २२६ ॥

जीर्णज्वरादौ कलश्यादिघृतम्—पृश्निपर्णी, बड़ी कटेरी, मुनक्का, त्रायमाणा, निम्बछाल, गोखरू, खरेटी, पित्तपापड़ा, नागरमोथा, शालपर्णी और जवासा इनका यथाविधि कृत क्वाथ १६ प्रस्थ तथा कचूर, भूम्यामलक, भारङ्गी, मेदा, आँवला और पोहकरमूल इनका कल्क १ प्रस्थ तथा घृत ४ प्रस्थ और दुग्ध ८ प्रस्थ लेके सबको एकत्र संयुक्त कर घृतावशेष पाक कर लेना चाहिए। इस घृत के प्रतिदिन सेवन करने से जीर्णज्वर, शिरःशूल, पार्श्वशूल, कास और क्षय नष्ट हो जाते हैं ॥ २२४–२२६ ॥

विमर्शः—यद्यपि यहाँ १६ प्रस्थ क्वाथ है तथापि ४ प्रस्थ घृत और ८ प्रस्थ दुग्ध के सम्यक्पाक के लिये १६ प्रस्थ क्वाथ अल्प हो सकता है अतएव यहाँ घृत से चतुर्गुण (१६ प्रस्थ) जल और मिला दिया जाय तो उत्तम है—स्वरसक्षीरमाकल्यैः पाको यत्रेरितः क्वचित् । जलं चतुर्गुणं तत्र वीर्याधानार्थमावपेत् ॥

पटोलीपर्पटारिष्टगुडूचीत्रिफलावृषैः ।
कटुकाम्बुदभूनिम्बयासयष्ट्याह्वचन्दनैः ॥ २२७ ॥
दार्वीशक्रयवोशीरत्रायमाणाकणोत्पलैः ।
धात्रीभृङ्गरजोभीरुकाकमाचीरसैर्घृतम् ॥ २२८ ॥
सिद्धमाश्वपचीकुष्ठज्वरशुक्रार्ज्जुनव्रणान् ।
हन्यान्नयनवदनश्रवणघ्राणजान् गदान् ॥ २२९ ॥

पटोलादिघृतम्—पटोलपत्र, पित्तपापड़ा, निम्बछाल, नीम-गिलोय, हरड़, बहेड़ा, आँवला, अडूसा, कुटकी, मोथा, चिरायता, जवासा, मुलेठी, रक्तचन्दन, दारुहरिद्रा, इन्द्रयव, खस, त्रायमाणा, पिप्पली और श्वेत कमल इनका कल्क १ प्रस्थ तथा आँवला, भृङ्गराज, सतावर और मकोय इनका सम्मिलित स्वरस या क्वाथ १६ प्रस्थ और घृत ४ प्रस्थ लेकर यथाविधि सिद्ध करके प्रतिदिन सेवन करने से अपची कुष्ठ, ज्वर, शुक्र (Carneal ulcer and opecity), अर्जुन तथा नेत्र, मुख, कर्ण और नासा में होने वाले व्रण नष्ट होते हैं ॥ २२७–२२९ ॥

विडङ्गत्रिफलामुस्तमञ्जिष्ठादाडिमोत्पलैः ।
प्रियङ्ग्वेलैलवालुकचन्दनामरदारुभिः ॥ २३० ॥
बर्हिष्ठकुष्ठरजनीपर्णिनीसारिवाद्वयैः ।
हरेणुकात्रिवृद्दन्तीवचातालीशकेसरैः ॥ २३१ ॥
द्विक्षीरं विपचेत्सर्पिर्मालतीकुसुमैः सह ।
जीर्णज्वरश्वासकासगुल्मोन्मादगरापहम् ॥ २३२ ॥
एतत्कल्याणकं नाम सर्पिर्माङ्गल्यमुत्तमम् ।
अलक्ष्मीग्रहरक्षोऽग्निमान्द्यापस्मारपापनुत् ॥ २३३ ॥
शस्यते नष्टशुक्राणां वन्ध्यानां गर्भदं परम् ।
मेध्यञ्चक्षुष्यमायुष्यं रेतोमार्गविशोधनम् ॥ २३४ ॥

जीर्णज्वरादिषु कल्याणकघृतम्—वायविडङ्ग, हरड़, बहेड़ा,

आँवला, मोथा, मजीठ, अनार, उत्पल (नीलकमल), प्रियङ्गु, इलायची, एलवालुक (एलुआ = घृतकुमारीसार), रक्तचन्दन, देवदारु, बर्हिष्ठ (नेत्रबाला), कूठ, हरिद्रा और दारुहरिद्रा, शालपर्णी और पृश्निपर्णी, श्वेतसारिवा और कृष्णसारिवा, हरेणुक (नेगड़ के बीज), निशोथ, दन्ती की जड़, वचा, तालीसपत्र, नागकेशर और चमेली के फूल इनको समप्रमाण में मिलाकर पत्थर पर जल के साथ पीसकर ८ पल कल्क बना लें तथा घृत ३२ पल (२ प्रस्थ) और दुग्ध ६४ पल (४ प्रस्थ) तथा पानी चतुर्गुण (१२८ पल = ८ प्रस्थ) मिला के घृतावशेष पाक कर लें। यह कल्याणक घृत प्रतिदिन ६ माशे से १ तोले के प्रमाण में मन्दोष्ण दुग्धानुपान के साथ सेवन करने से जीर्णज्वर, श्वास, कास, गुल्म, उन्माद तथा गरविष को नष्ट करता है तथा यह घृत मङ्गलकारी और श्रेष्ठ है एवं यह घृत शरीर की अशोभा, ग्रहदोष, राक्षसदोष, अग्निमान्द्य, अपस्मार और पाप को नष्ट करता है। यह घृत अनुचित प्रकार से नष्ट शुक्र वाले मनुष्यों के लिये प्रशस्त है तथा वन्ध्या स्त्रियों के गर्भाशयादि अङ्ग की शुद्धि कर गर्भस्थापन करता है एवं मेध्य (बुद्धिवर्द्धक), नेत्रों के लिये हितकारी, आयु का वर्द्धक और शुक्रवह स्रोतसों का संशोधक है ॥ २३०-२३४ ॥

विमर्शः—साधारण चन्दन शब्द से रक्तचन्दन का ग्रहण होता है। 'चन्दने रक्तचन्दनम्' किन्तु भावप्रकाश का मत है कि पञ्चविधकषायकल्पना तथा लेप के लिये रक्तचन्दन ग्रहीत होता है एवं चूर्ण, अवलेह, आसवारिष्ट तथा घृतादि साधन करने के लिये चन्दन से श्वेत चन्दन ग्रहण किया जाता है। बर्हिष्ठं = नेत्रबाला 'बालं ह्रीवेरबर्हिष्ठोदीच्यं केशाम्बुनाम च' इत्यमरः। चरकाचार्य के कल्याणक घृत में विशालादि पद्मकान्त २८ औषधियों का कल्क, घृत १ प्रस्थ तथा जल चतुर्गुण ४ प्रस्थ लेकर सिद्ध करना लिखा है, उसमें दुग्ध का प्रयोग नहीं है—विशाला त्रिफला कौन्ती देवदार्वेलवालुकम्। स्थिरानतं रजन्यौ द्वे सारिवे द्वे प्रियङ्गुका॥ नीलोत्पलैला मञ्जिष्ठा दन्तीदाडिमकेसरान्। तालीशपत्रं बृहती मालत्याः कुसुमं नवम्॥ विडङ्गं पृश्निपर्णी च कुष्ठं चन्दनपद्मकौ। अष्टाविंशतिभिः कल्कैरेतैरक्षसमन्वितैः॥ चतुर्गुणे जले सम्यग् घृतप्रस्थं विपाचयेत्॥

एतैरेव तथा द्रव्यैः सर्वगन्धैश्च साधितम्।
कपिलाया घृतप्रस्थं सुवर्णमणिसंयुतम् ॥२३५॥
तत्क्षीरेण सहैकध्यं प्रसाध्य कुसुमैरिमैः।
सुमनश्चम्पकाशोकशिरीषकुसुमैर्वृतम् ॥२३६॥
तथा नलदपद्मानां केशरैर्दाडिमस्य च।
तिथौ प्रशस्ते नक्षत्रे साधकस्यातुरस्य च ॥२३७॥
कृतं मनुष्यदेवाय ब्राह्मणैरभिमन्त्रितम्।
दत्तं सर्वज्वरान् हन्ति महाकल्याणकं त्विदम् ॥२३८॥
दर्शनस्पर्शनाभ्यां च सर्वरोगहरं शिवम्।
अधृष्यः सर्वभूतानां वलीपलितवर्जितः॥
अस्याभ्यासाद् घृतस्येह जीवेद्वर्षशतत्रयम् ॥२३९॥

महाकल्याणकघृतम्—उक्त कल्याणक घृत में विडङ्ग से ले कर चमेली के फूल तक कहे गये द्रव्य तथा सर्वगन्धवर्गोक्त द्रव्य जैसे दालचीनी, इलायची, तेजपात, नागकेशर, कर्पूर, कंकोल, अगर, केसर तथा लवङ्ग को समान भाग में मिश्रित कर पत्थर पर पानी के साथ पीस कर ४ पल कल्क लें तथा कपिला गाय का घृत कल्क से चतुर्गुण अर्थात् १६ पल (१ प्रस्थ) तथा सुवर्ण और मणियों (यथाप्राप्त नवरत्नों) के साथ ४ प्रस्थ पानी मिलाकर घृतावशेष पाक करके छानकर घृत को पृथक् कर लें। पुनः इस घृत में कपिला गौ का दुग्ध २ प्रस्थ तथा चमेली, चम्पा, अशोक और शिरीष के पुष्पों के साथ एवं नलद (जटामांसी) और लाल कमल तथा अनार (दाडिम फल) के पुष्प या पुष्पपराग ले के उनका कल्करूप में प्रक्षेप देकर ४ प्रस्थ पानी मिला के द्वितीय पाक करना चाहिए। घृत मात्र शेष रहने पर छान कर उसे काँचपात्र या चीनी मिट्टी की स्वच्छ बरणी में भर कर सुरक्षित रख देवें। फिर प्रशस्त तिथि, वार और नक्षत्र में ब्राह्मणों द्वारा इस घृत को अभिमन्त्रित करा के साधनसम्पन्न रोगी तथा मनुष्यदेव (राजा) के लिये ६ माशे से १ तोले की मात्रा में मक्खन मिश्री में मिलाकर या दुग्ध में मिलाकर सेवन कराने से सर्व प्रकार के ज्वरों को नष्ट करता है। इसे महाकल्याणक घृत कहते हैं। इस घृत के दर्शन और स्पर्शन से सर्वप्रकार के रोग नष्ट हो जाते हैं। यह घृत शिव (कल्याणकारी) माना गया है तथा इसको सेवन करने वाला मनुष्य सब प्राणियों से अधृष्य (बुद्धि व बल में पराजित नहीं होने वाला) तथा वली (चर्म में झुर्रियाँ) और पलित (शिर के बालों का श्वेत होना) से रहित हो जाता है। इस घृत के निरन्तर सेवन करने से व्यक्ति ३०० वर्ष तक जीवित रहता है ॥ २३५-२३९ ॥

विमर्शः—(१) सर्वगन्धद्रव्याणि—चतुर्जातककर्पूरककोलागुरुकुङ्कुमम्। लवङ्गसहितञ्चैव सर्वगन्धं विनिर्दिशेत्॥ (२) चरकाचार्य ने इस महाकल्याणक घृत में कुछ अधिक वैशिष्ट्य प्रतिपादन किया है, जैसे—एभ्य एव स्थिरादीनि जले पक्त्वैकविंशतिम्। रसे तस्मिन्पचेत् सर्पिर्गृष्टिक्षीरे चतुर्गुणे। वीराद्विमाषककाकोली स्वयं गुप्तर्षभर्द्धिभिः। मेदया च समैः कल्कैस्तत्स्यात्कल्याणकं महत्॥ बृंहणीयं विशेषेण सन्निपातहरं परम्॥ (च. चि. अ. ९-४९)

गव्यं दधि च मूत्रञ्च क्षीरं सर्पिः शकृद्रसः।
समभागानि पाच्यानि कल्कांश्चैतान् समावपेत्॥
त्रिफलां चित्रकं मुस्तं हरिद्राऽतिविषे वचाम् ॥२४०॥
विडङ्गं त्र्यूषणञ्चव्यं सुरदारु तथैव च।
पञ्चगव्यमिदं पानाद्विषमज्वरनाशनम् ॥२४१॥

विषमज्वरादौ पञ्चगव्यघृतम्—गाय का दही, गोमूत्र, गोदुग्ध, गोघृत और गाय के गोबर का रस प्रत्येक एक-एक प्रस्थ तथा हरड़, बहेड़ा, आंवला, चित्रक की छाल, मोथा, हरिद्रा, अतीस, वचा, वायविडङ्ग, सोंठ, मरिच, पिप्पली, चव्य, देवदारु इन्हें समान प्रमाण में मिश्रित कर घृत से चौथाई अर्थात् ४ पल (१६ तोले) ले के खाण्ड कूट कर पानी के साथ पत्थर पर पीस के कल्क (लुगदी) बना लें तथा घृत से चतुर्गुण (४ प्रस्थ) पानी ले के सबको कलईदार भगोने में मिश्रित कर यथाविधि घृत शेष रहने तक पाक कर घृत को छान के कल्क से निचोड़ कर पृथक् कर लें।

यह पञ्चगव्यघृत है इसे प्रतिदिन ६ माशे से एक तोले की मात्रा में मन्दोष्ण दुग्ध या जल के अनुपान के साथ सेवन करने से विषमज्वर नष्ट हो जाता है ॥ २४०-२४१ ॥

पञ्चगव्यमृते गर्भात् पाच्यमन्यद्—

अकल्कं द्वितीयं पञ्चगव्यघृतम्—अर्थात् पूर्वोक्त पञ्चगव्यघृत में कहे हुये त्रिफलादि देवदार्वन्त कल्क द्रव्यों के बिना (ऋते गर्भात्) ही केवल गाय का दही, मूत्र, दुग्ध, घृत और गोबर का स्वरस पाँचों को पृथक्-पृथक् एक-एक प्रस्थ लेकर चार प्रस्थ पानी मिला के घृतावशेष पाक कर लें। यह कल्करहित द्वितीय पञ्चगव्यघृत है

—वृषेण च ॥ २४२ ॥

बलयाऽथ परं पाच्यं गुडूच्या तद्वदेव तु।
जीर्णज्वरे च शोफे च पाण्डुरोगे च पूजितम् ॥ २४३ ॥

तृतीयं पञ्चगव्यघृतम्—तद्वदेव अर्थात् पूर्व में सर्वप्रथम कहे हुये त्रिफलादि कल्क युक्त पञ्चगव्यघृत में अडूसे के पत्तों का स्वरस पानी के स्थान में मिला कर पाक करें। इसी प्रकार उसी प्रथमप्रकारक सकल्क पञ्चगव्यघृत में बला का क्वाथ पानी के स्थान पर मिला कर घृत सिद्ध कर लें। ऐसे ही उक्त पञ्चगव्य द्रव्य तथा त्रिफलादि कल्क के साथ केवल नीमगिलोय का स्वरस या क्वाथ मिला कर घृत सिद्ध कर लेना चाहिए। इस तरह इस तृतीय प्रकार के पञ्चगव्यघृत में तीन प्रकार के घृत सिद्ध होते हैं। अर्थात् पूर्वोक्त पञ्चगव्य तथा त्रिफलादि कल्कों के साथ केवल अडूसे का स्वरस दे के एक तथा दूसरे में केवल बला-क्वाथ तथा तीसरे में केवल नीमगिलोय का स्वरस डाल के पाक किया जाता है। तीनों प्रकार के घृतों के योगों में द्रव्य (पञ्चगव्य तथा त्रिफलादि कल्क) भिन्न-भिन्न लिये जाते हैं। इस तरह सिद्ध हुये ये तीनों पञ्चगव्यघृत जीर्णज्वर, शोफ और पाण्डुरोग में प्रशस्त माने जाते हैं ॥ २४२-२४३ ॥

विमर्शः—कुछ लोगों का तात्पर्य है कि यह तृतीय प्रकार का पञ्चगव्यघृत एक बार अडूसे के स्वरस से तथा द्वितीय बार बलाक्वाथ से तथा तृतीय बार नीमगिलोय के स्वरस या क्वाथ से क्रमशः पकाया जाता है। अर्थात् इसमें घृत एक प्रस्थ एक बार लेके उसे सर्वप्रथम प्रकार की विधि से पका लें तथा द्वितीय बार में उसी पके हुये घृत में पुनः गोमूत्र, गोदधि, गोक्षीर और गोबरस्वरस एक-एक प्रस्थ डालकर तथा त्रिफलादिकल्क ¼ प्रस्थ डालें और अडूसे का स्वरस जल के स्थान में डालकर पाक कर लें। फिर इसी पके हुये घृत में पुनः उक्त सर्व द्रव्य डालकर बलास्वरस से पाक करें। वैसे तृतीय बार में इसी घृत को उक्त गो के चार द्रव्य तथा त्रिफलादिकल्कों के साथ नीमगिलोय का स्वरस डालकर पाक कर लें। इस तरह त्रिविधपाक से घृत में प्रबल तत्तद्रोगनाशक शक्ति आ जाती है।

एतेनैव तु कल्पेन घृतं पञ्चाविकं पचेत्।
पञ्चाजं पञ्चमहिषं चतुरुष्ट्रमथापि च ॥२४४॥

पञ्चाविकादिघृतम्—अर्थात् पञ्चगव्योक्त घृतकल्पना के अनुसार ही पञ्चाविक घृत, पञ्चाजघृत, पञ्चमाहिषघृत तथा चतुरुष्ट्रघृत पकाने चाहिये ॥ २४४ ॥

विमर्शः—अवि भेड़ को कहते हैं तथा इसी का दुग्ध, दही, घृत, मूत्र और शकृद्रस एक-एक प्रस्थ एवं त्रिफलादि देवदार्वन्त कल्क द्रव्य ¼ प्रस्थ एवं पानी ४ प्रस्थ, घृतावशेष पाक। अजा बकरी को कहते हैं। इसमें पाँचों दुग्धादि इसी के लेकर त्रिफलादिकल्क व पानी डालकर घृत सिद्ध कर लें। महिषी भैंस को कहते हैं तथा इसी के दुग्ध, दही, घृत, मूत्र और महिषीमलस्वरस के एक-एक प्रस्थ में त्रिफलादिकल्क व पानी प्रमाण से डालकर महिषीघृत सिद्ध करना चाहिये। वैसे ही उष्ट्री के दुग्ध, दधि, घृत और मूत्र को एक-एक प्रस्थ लेकर त्रिफलादिद्रव्यकल्क ¼ प्रस्थ मिलाकर यथाविधि उष्ट्रीघृत सिद्ध कर लिया जाता है।

त्रिफलोशीरशम्पाककटुकाऽतिविषाघनैः।
शतावरीसप्तपर्णगुडूचीरजनीद्वयैः ॥२४५॥
चित्रकत्रिवृतामूर्वापटोलारिष्टबालकैः।
किराततिक्तकवचाविशालापद्मकोत्पलैः ॥२४६॥
सारिवाद्वययष्ट्याह्वचविकारक्तचन्दनैः।
दुरालभापर्पटकत्रायमाणाऽटरूषकैः ॥२४७॥
रास्नाकुङ्कुममञ्जिष्ठामागधीनागरैस्तथा।
धात्रीफलरसैः सम्यग् द्विगुणैः साधितं हविः ॥२४८॥
परिसर्पज्वरश्वासगुल्मकुष्ठनिवारणम्।
पाण्डुप्लीहाग्निसादिभ्य एतदेव परं हितम् ॥२४९॥

त्रिफलादिघृतम्—हरड़, बहेड़ा, आँवला, खस, अमलतास की फली का गिर (शम्पाक), कुटकी, अतीस, नागरमोथा, शतावर, सप्तपर्णछाल, नीमगिलोय, हरिद्रा, दारुहरिद्रा, निशोथ, मूर्वा, पटोलपत्र, नीम की छाल, नेत्रबाला, चिरायता, वचा, विशाला (इन्द्रायण) की जड़, पद्माख, नीलोफर, श्वेतसारिवा, कृष्णसारिवा, मुलेठी, चव्य, लालचन्दन, जवासा, पित्तपापड़ा, त्रायमाणा, अडूसा, रास्ना, केशर, मजीठ, पीपल और सोंठ इन्हें समप्रमाण में मिलाके खण्डकूट कर पानी के साथ पत्थर पर पीसकर १ प्रस्थ कल्क बना लें तथा घृत ४ प्रस्थ एवं आँवले का स्वरस या क्वाथ घृत से द्विगुण (८ प्रस्थ) एवं सम्यक्पाकार्थ चतुर्गुण जल मिलाकर यथाविधि घृत सिद्ध कर लें। यह घृत वीसर्प, ज्वर, श्वास, गुल्म, कुष्ठ, पाण्डु, प्लीहावृद्धि तथा अग्निमान्द्य के रोगियों के लिये अत्यन्त हितकारी है ॥ २४५-२४९ ॥

पटोलकटुकादार्वीनिम्बवासाफलत्रिकम्।
दुरालभापर्पटकत्रायमाणाः पलोन्मिताः ॥२५०॥
प्रस्थमामलकानाञ्च क्वाथयेत्सलिलार्मणे।
तेन पादावशेषेण घृतप्रस्थं विपाचयेत् ॥२५१॥
कल्कैः कुटजभूनिम्बघनयष्ट्याह्वचन्दनैः।
सपिप्पलीकैस्तत्सिद्धं चक्षुष्यं शुक्रयोर्हितम् ॥२५२॥
घ्राणकर्णाक्षिवदनवर्त्मरोगव्रणापहम्।
रक्तपित्तकफस्वेदक्लेदपूयोपशोषणम् ॥२५३॥
कामलाज्वरवीसर्पगण्डमालाहरं परम् ॥२५४॥

पटोलादिघृतम्—पटोलपत्र, कुटकी, दारुहरिद्रा, नीम की छाल, अडूसा, हरड़, बहेड़ा, आँवला, जवासा, पित्तपापड़ा

और त्रायमाणा ये प्रत्येक एक-एक पल तथा आँवले १ प्रस्थ लेकर सबको यवकुट कर एक द्रोण जल में डालकर पका के चौथाई शेष रहने पर क्वाथ छान कर उसमें घृत १ प्रस्थ (१६ पल=६४ तोला) तथा कुटज (कौरेया की छाल), चिरायता, मोथा, मुलेठी, चन्दन और पिप्पली इनका मिलित कल्क ४ पल (१६ तोला) मिलाकर यथाविधि घृत सिद्ध कर लेना चाहिये। यह घृत नेत्रों के लिये परम हितकारी है तथा नेत्रगत शुक्लभाग के रोगों में अथवा नेत्र के सव्रण शुक्र और अव्रण शुक्र रोग में लाभकारी है। इसके अतिरिक्त नासा, कर्ण, नेत्र, मुख और नेत्र के वर्त्मगत रोग तथा व्रण का नाशकहै एवं रक्तपित्त, कफ और स्वेद की अधिक प्रवृत्ति तथा शरीरगत क्लेद और पूय का शोषक है तथा यह घृत कामला ज्वर, वीसर्प और गण्डमाला रोगों को भी नष्ट करता है॥

शृतम्पयः शर्करा च पिप्पल्यो मधुसर्पिषी।
पञ्चसारमिदं पेयं मथितं विषमज्वरे॥
क्षतक्षीणे क्षये श्वासे हृद्रोगे चैतदिष्यते॥ २५५॥

पञ्चसारप्रयोगः—उबला हुआ दुग्ध, शर्करा, पिप्पली, शहद और घृत इन्हें पञ्चसार कहते हैं। इन्हें उचित प्रमाण में लेकर हस्त से मथित करके प्रतिदिन विषमज्वर, क्षतक्षीण, क्षय, श्वास और हृदय के रोगों में पीना चाहिए॥ २५५॥

विमर्शः—वास्तव में यह पञ्चसार अत्यन्त हितकारी है। इसकी मात्रा व्यक्ति की आयु, स्वास्थ्य या रोग की दशा तथा अग्निबल और कालादि का विचार कर निश्चित करनी चाहिए। ऐसे साधारणतया दुग्ध पाव भर, शर्करा २ तोला, पिप्पलीचूर्ण २ रत्ती, शहद १ तोला तथा घृत २ तोला ले के मिश्रित कर रसायनगुणाकांक्षी साधारण स्वस्थ मनुष्यों को प्रतिदिन इस मात्रा में दे सकते हैं। रुग्णावस्था में दुग्ध की मात्रा कम या अधिक तथा अन्य द्रव्य भी घटा या बढ़ा के दिये जा सकते हैं।

लाक्षाविश्वनिशामूर्वामञ्जिष्ठास्वर्जिकामयैः।
षड्गुणेन च तक्रेण सिद्धं तैलं ज्वरान्तकृत्॥ २५६॥

जीर्णज्वरे लाक्षादितैलम्—पीपल वृक्ष की लाख, सोंठ, हरिद्रा, मूर्वा, मजीठ, सर्जिकाक्षार और कूठ इन्हें समान प्रमाण में मिश्रित कर आठ पल ले के खाण्ड कूट कर जल के साथ पत्थर पर पीसकर कल्क बना के शुद्ध तथा मूर्च्छित तिल तैल ३२ पल तथा तैल से षड्गुण (१९२ पल) तक्र ले के सबको कलईदार पात्र (भगोने) में डाल कर यथाविधि तैल पका के छान कर शीशियों में भर देवें। इस तैल का प्रतिदिन प्रातःकाल सूर्योदय की धूप में बैठकर सारे शरीर पर अभ्यङ्ग करने से दाहपूर्वक तथा शीतपूर्वक आने वाला जीर्ण विषमज्वर नष्ट हो जाता है॥ २५७॥

विमर्शः—तैलमूर्च्छा—प्रायः किसी प्रकार के तैल को सिद्ध करने के लिये उसका मूर्च्छन संस्कार कर लेना चाहिए। तैल मूर्च्छन की विधि परिभाषाप्रदीप अथवा मेरी 'भैषज्यरत्नावली की टीका' पढ़ें। संक्षेपतो निम्न विधान भी है—पत्रं पञ्चरसैर्युक्तं दधिकाम्लसमन्वितम्। मूर्च्छनं कारयेत्प्राज्ञो गन्धवर्णं बहाति च॥ पञ्चपल्लव—आम्रजम्बूकपित्थानां बीजपूरकबिल्वयोः। गन्धकर्माणि सर्वत्र पत्राणि पञ्चपल्लवम्॥

क्षीरिवृक्षासनारिष्टजम्बूसप्तच्छदार्जुनैः।
शिरीषखदिरास्फोटामृतवल्ल्यटरूषकैः॥ २५७॥
कटुकापर्पटोशीरवचातेजोवतीघनैः।
साधितं तैलमभ्यङ्गादाशु जीर्णज्वरापहम्॥ २५८॥

जीर्णज्वरे क्षीरिवृक्षादितैलम्—वटादिपञ्चक्षीरिवृक्ष, विजयसार, नीम (अरिष्ट), जामुन, सप्तपर्ण, अर्जुन, शिरीष, खदिर की छाल, आस्फोटा (ता) अर्थात् गिरिकर्णिका या सारिवा, नीमगिलोय (अमृतवल्ली), अडूसा (आटरूषक), कुटकी, पित्तपापड़ा, खस, वचा, तेजबल और मोथा इन्हें समप्रमाण में मिश्रित कर खाण्डकूट के पत्थर पर पानी के साथ पीस कर ४ पल कल्क लें तथा १६ पल (१ प्रस्थ) तैल तथा पानी ४ प्रस्थ मिला के यथाविधि तैल पका लें। इस तैल के प्रति दिन अभ्यङ्गरूप में प्रयुक्त करने से शीघ्र ही जीर्णज्वर नष्ट हो जाता है॥ २५७-२५८॥

निर्विषैर्भुजगैर्नागैर्विनीतैः कृततस्करैः।
त्रासयेदागमे चैनं तदहर्भोजयेन्न च॥ २५९॥
अत्यभिष्यन्दिगुरुभिर्वामयेद्वा पुनः पुनः।
मद्यं तीक्ष्णं पाययेत घृतं वा ज्वरनाशनम्॥ २६०॥
पुराणं वा घृतं काममुदारं वा विरेचनम्।
निरूहयेद्वा मतिमान् सुस्विन्नं तदहर्नरम्॥ २६१॥

विषमज्वरे त्रासनादिचिकित्सा—विषम ज्वर के वेग के आने के समय में रुग्ण को विष रहित सर्पों से, शिक्षित हस्तियों से तथा चोरी का मिथ्या दोष लगा के डराना चाहिये तथा उस दिन उसे भोजन नहीं कराना चाहिये। अथवा कफदोष की उत्कटता हो तो अत्यधिक अभिष्यन्दी तथा गुरुपाकी (रबड़ी आदि) पदार्थ अथवा मदनफलादिसाधित दुग्ध को आकण्ठपर्यन्त खिला के बार बार वमन कराना चाहिए, अथवा तीक्ष्ण मद्य का पान कराना चाहिए, किंवा पित्त और वात बढ़े हों तो ज्वरनाशक घृत का पान कराना चाहिये अथवा दस वर्ष का पुराना घृत पेट भर के पिलाना चाहिये। किंवा अधोदोषहरणार्थ अपीडाकर विरेचक औषध देनी चाहिये अथवा अच्छी प्रकार स्वेदन कर्म करा के निरूहण बस्ति देनी चाहिये॥ २५९-२६१॥

अजाव्योश्चर्मरोमाणि वचा कुष्ठं पलङ्कषा।
निम्बपत्रं मधुयुतं धूपनन्तस्य दापयेत्॥ २६२॥

जीर्णविषमज्वरे धूपनम्—बकरी (अजा) और भेड़ (अवि) के चर्म, रोम (बाल) तथा वचा, कूठ, गूगल (पलङ्कषा) तथा निम्बपत्र इन्हें सम प्रमाण में लेकर उनमें थोड़ा सा शहद डाल के धूनी देनेसे विषमज्वर नष्ट होता है॥

वैडालं वा शकृद्योज्यं वेपमानस्य धूपनम्।
पिप्पलीसैन्धवं तैलं नैपाली चेक्षणाञ्जनम्॥ २६३॥

विषमज्वरे धूपनमञ्जनञ्च—ज्वरागमन के पूर्व जब रोगी कम्पित हो तो विडाल (मार्जार) की विष्ठा की धूनी देनी चाहिए तथा पिप्पली, सैन्धवलवण, तिलतैल और नैपाली (मनःशिला) को समान प्रमाण में लेके इन सबको अच्छी प्रकार महीन घोटकर नेत्रों में अञ्जन करने से विषमज्वर नष्ट हो जाता है॥ २६३॥

उदरोक्तानि सर्पींषि यान्युक्तानि पुरा मया।
कल्पोक्तं चाजितं सर्पिः सेव्यमानं ज्वरं जयेत् ॥२६४॥

अन्यत्रोक्तौषधातिदेशः—उदररोगाधिकार में कहे हुये क्षीरषट्पलकादिघृत का तथा कल्पोक्त अजेय घृत का सेवन करने से विषमज्वर नष्ट हो जाता है ॥ २६४ ॥

भूतविद्यासमुद्दिष्टैर्बन्धावेशनपूजनैः ।
जयेद् भूताभिषङ्गोत्थं, विज्ञानाद्यैश्च मानसम् ॥२६५॥

भूताभिषङ्गोत्थमानसज्वरयोश्चिकित्सा—भूत-प्रेतादिकों के अभिषङ्ग (आवेश) से उत्पन्न हुये ज्वर की चिकित्सा में भूतविद्या तन्त्र में कहे हुये मन्त्रपूर्वक रज्ज्वादि से बन्धन, आवेशन (मन्त्रपूर्वक सर्षपादि से ताडन) तथा पूजन (भूतादिकों को बलि, उपहार तथा उनकी स्तुति से अर्चन) करना चाहिए तथा काम, क्रोध, शोकादि से उत्पन्न हुये मानस ज्वर को विज्ञानादिक उपायों से शान्त करना चाहिए॥

विमर्शः—तन्त्रान्तरोक्तभूतज्वरचिकित्सा—सहदेवाया मूलं विधिना कण्ठे निबद्धमपहरति । एकाद्वित्रिचतुर्भिर्दिवसैर्भूतज्वरं पुंसाम् ॥ मानसज्वरः—वास्तव में देह (शरीर) और मन में जो सन्ताप होता है उसी को ज्वर कहा जाता है—'ज्वरः प्रत्यात्मिकं लिङ्गं सन्तापो देहमानसः' किंवा देह, इन्द्रिय और मन को तप्त करने वाला जो हो उसे ज्वर कहते हैं—'देहेन्द्रियमनस्तापी सर्वरोगाग्रजो बली' (च० चि० अ० ३) आश्रय भेद से भी ज्वर के शारीर और मानस ये ही दो मुख्य भेद किये गये हैं—द्विविधो विधिभेदेन ज्वरः शारीरमानसः ।(च.चि.अ. ३) शारीरो जायते पूर्वं देहे,मनसि मानसः । वैचित्यमरतिर्ग्लानिर्मनसस्तापलक्षणम् ॥ इन्द्रियाणाञ्च वैकृत्यं ज्ञेयं सन्तापलक्षणम् ॥ (च.चि. अ.३) मानसज्वरोत्पत्ति में काम, शोक, क्रोध और भय ये मुख्य कारण होते हैं तथा इन से उत्पन्न ज्वर को अभिषङ्ग ज्वर भी कहा है—कामशोकभयक्रोधैरभिषक्तस्य यो ज्वरः । सोऽभिषङ्गज्वरो ज्ञेयो यश्च भूताभिषङ्गजः ॥ (च० चि० अ० ३) काम, शोक और भय से वायु का प्रकोप होता है तथा क्रोध से पित्त और भूताभिषङ्ग से तीनों दोष प्रकुपित हो के ज्वरादि रोग करते हैं—कामशोकभयाद्वायुः क्रोधात्पित्तं त्रयो मलाः । भूताभिषङ्गात्कुप्यन्ति भूतसामान्यलक्षणाः ॥ (च० चि० अ० ३) कामजज्वर में भ्रम, अरुचि, दाह होता है तथा लज्जा, निद्रा, बुद्धि और धैर्य का क्षय हो जाता है—'कामाद् भ्रमो रुचिर्दाहो ह्रीनिद्राधीधृतिक्षयः' मानसज्वर-चिकित्सा में विज्ञानादि का जो सङ्केत किया है उसमें आदि शब्द से धैर्य, स्मृति, ज्ञान और समाधि का ग्रहण करना चाहिए क्योंकि चरकाचार्य ने कहा है कि बुद्धि, धैर्य, स्मृति, ज्ञान आदि ये मनोदोष की परम औषध मानी जाती हैं—धीधैर्यात्मविज्ञानं मनोदोषौषधं परम् ।' विविधप्रकारोत्थमानसज्वरशमनोपायाः—क्रोधजे पित्तजित्कार्यं भार्यं सद्वाक्यमेव च । आश्वासेनेष्टलाभेन वायोः प्रशमनेन च ॥ हर्षणैश्च शमं यान्ति कामक्रोधभयज्वराः । कामैरथ मनोज्ञैश्च पित्तघ्नैश्चाप्युपक्रमैः ॥ सद्वाक्यैश्च शमं याति ज्वरः क्रोधसमुत्थितः ॥

श्रमक्षयोत्थे भुञ्जीत घृताभ्यक्तो रसौदनम् ।
अभिशापाभिचारोत्थौ ज्वरौ होमादिना जयेत् ॥२६६॥

विविधागन्तुकचिकित्सा—श्रम तथा क्षयजन्य ज्वर में अधिक घृत तथा मांसरस के साथ चावल के भात का सेवन करना चाहिए तथा अभिशाप और अभिचार से उत्पन्न हुये ज्वरों को होम, शान्तिपाठ, प्रायश्चित्त आदि से शान्त करना चाहिए ॥ २६६ ॥

विमर्शः—अभिशापः—'अभिशापो ब्राह्मणगुरुवृद्धसिद्धानामनिष्टाभिशंसनम्' ब्राह्मण, गुरु, वृद्ध, सिद्ध और तपस्विजनों के शाप के कारण जो ज्वर उत्पन्न होता है उसे अभिशापज ज्वर कहा जाता है। अभिचारः—'अभिचारो श्येनादियागकृतः,' अथवा–विपरीतैर्मन्त्रैर्लोहस्रुचा सर्षपादि होम इत्याहुः। चरकाचार्य ने अभिशाप, अभिचार, भूताभिषङ्ग तथा काम, क्रोध, भय, शोकादि से उत्पन्न हुये ज्वरों में निम्न चिकित्सोपदेश किया है—शापाभिचाराद्भूतानामभिषङ्गाच्च यो ज्वरः । दैवव्यपाश्रयं तत्र सर्वमौषधमिष्यते ॥ आश्वासेनेष्टलाभेन वायोः प्रशमनेन च । हर्षणैश्च शमं यान्ति कामशोकभयज्वराः ॥ काम्यैरर्थैर्मनोज्ञैश्च पित्तघ्नैश्चाप्युपक्रमैः । सद्वाक्यैश्च शमं याति ज्वरः क्रोधसमुत्थितः ॥ कामात्क्रोधज्वरो नाशं क्रोधात्कामसमुद्भवः । याति ताभ्यामुभाभ्याञ्च भयशोकसमुत्थितः ॥ (च० चि० अ० ३।३२३)

दानस्वस्त्ययनातिथ्यैरुत्पातग्रहपीडितम् ॥२६७॥

उत्पातग्रहपीडितचिकित्सा—उत्पात (निर्घात=बिजली गिरना) और ग्रह से उत्पन्न ज्वर द्वारा पीडित व्यक्ति की दान, स्वस्तिवाचन और अतिथिपूजन से चिकित्सा करें ॥ २६७ ॥

अभिघातज्वरे कुर्यात् क्रियामुष्णविवर्जिताम् ।
कषायमधुरां स्निग्धां यथादोषमथापि वा ॥२६८॥

अभिघातज्वरचिकित्सा—अभिघातजन्य ज्वर में उष्ण क्रिया को छोड़ कर चिकित्सा करनी चाहिए अथवा कषाय, मधुर और स्निग्ध उपचार करें, अथवा वातादि दोषों का सम्बन्ध जान कर तदनुसार चिकित्सा करें ॥ २६८ ॥

विमर्शः—चरकाचार्य ने अभिघातज्वर में घृतपान तथा उसके अभ्यङ्ग का निर्देश किया है— अभिघातज्वरो नश्येत्पानाभ्यङ्गेन सर्पिषः' (च० चि० अ० ३।३१८) प्रायः शस्त्र, लोष्ट, कशा, काष्ठादि से ताडित होने पर अभिघातज्वर होता है और उसमें वायु प्रकुपित होकर रक्त को दूषित करके शरीर में व्यथा, शोफ, विवर्णता, पीड़ा और ज्वर को उत्पन्न करती है अतः वात के जीतने के लिये घृत का सेवन उत्तम है—शस्त्रलोष्टकशाकाष्ठमुष्ट्यरत्नितलद्विजैः । तद्विधैश्च हते गात्रे ज्वरः स्यादभिघातजः॥ तत्राभिघातजे वायुः प्रायो रक्तं प्रदूषयन् । सव्यथाशोफवैवर्ण्यं करोति सरुजं ज्वरम् ॥ (च० चि० अ० ३।११२)

औषधीगन्धविषजौ विषपित्तप्रसाधनैः ।
जयेत् कषायं च हितं सर्वगन्धकृतं तथा ॥
निम्बदारुकषायं वा हितं सौमनसं यथा ॥ २६९ ॥

औषधिगन्धविषजज्वरयोश्चिकित्सा—औषधिगन्धजन्य तथा विषजन्य ज्वर में विषनाशक तथा पित्तशामक चिकित्सा करनी चाहिए एवं सर्वगन्धद्रव्यों से किया हुआ क्वाथ या एलादिगण की औषधियों का क्वाथ किंवा निम्बछाल, दारुहरिद्रा और चमेली की जड़, पत्ते या पुष्पों के सहयोग से किया हुआ क्वाथ पीने को देने से औषधिगन्धजन्य तथा विषजन्य ज्वर नष्ट हो जाते हैं ॥ २६९ ॥

विमर्शः—माधवकार ने औषधिगन्धजन्य ज्वर का निम्न लक्षण लिखा है—'औषधिगन्धजे मूर्च्छा शिरोरुग्वमथुः क्षवः' ।

वृद्ध सुश्रुताचार्य ने 'पुष्पेभ्यो गन्धरजसी ओजस्विभ्यो यदाऽनिलः' इत्यादि से तृणपुष्पाख्य ज्वर का वर्णन किया है वह औषधिगन्धजन्य ज्वर में ही समाविष्ट समझा जाना चाहिए। सर्वगन्धद्रव्याणि—चातुर्जातककर्पूरकक्कोलागुरुकुङ्कुमम् । लवङ्गसहितञ्चैव सर्वगन्धं विनिर्दिशेत् ॥

यवान्नविकृतिः सर्पिर्मद्यञ्च विषमे हितम् ।
सम्पूजयेद् द्विजान् गाश्च देवमीशानमम्बिकाम् ॥२७०॥

विषमज्वरे पथ्यम्—विषमज्वर के रोगी के लिये जौ के बने भक्ष्य या जौ की पेया (अथवा बार्ली वाटर) तथा घृत और मद्य का मात्रापूर्वक पान हितकारी होता है। इनके अतिरिक्त द्विज (ब्राह्मणादि), गायें, देवता, महादेव और अम्बिका देवी का पूजन करना चाहिए ॥ २७० ॥

विमर्शः—चरकमतेन विषमज्वरचिकित्सा पथ्यञ्च—वातप्रधानं सर्पिर्भिर्बस्तिभिः सानुवासनैः । स्निग्धोष्णैरन्नपानैश्च शमयेद्विषमज्वरम् ॥ विरेचनेन पयसा सर्पिषा संस्कृतेन च । विषमं तिक्तशीतैश्च ज्वरं पित्तोत्तरं जयेत् ॥ वमनं पाचनं रूक्षमन्नपानं विलङ्घनम् । कषायोष्णञ्च विषमे ज्वरे शस्तं कफोत्तरे ॥

कफवातोत्थयोश्चापि ज्वरयोः शीतपीडितम् ।
दिह्यादुष्णेन वर्गेण परश्चोष्णो विधिर्हितः ॥ २७१ ॥

विषमज्वरे शीतप्रतीकारः—कफ और वात के द्वारा होने वाले विषमज्वर या साधारण ज्वर में शीत से पीड़ित रोगी के शरीर पर भद्रदार्वादि, सुरसादि या एलादिगण की उष्ण औषधियों को पानी के साथ पीस कर उनका लेप करना चाहिए, क्योंकि शीत लगने पर उष्णोपचार (लेपादि) से उसे मिटाना हितकारक विधान है (शीतमुष्णेनोपचरामः, उष्णञ्च शीतेनेति) ॥ २७१ ॥

विमर्शः—भद्रदार्वादिगण में देवदारु आदि द्रव्य हैं। सुरसादिगण में 'सुरसाश्वेतसुरसाफणिज्झकार्जकभूस्तृणसुगन्धकसुमुखकालमालकासमर्दक्षवकखरपुष्पाविडङ्गकट्फलसुरसीनिर्गुण्डी' आदि औषधियाँ हैं। एलादिगण में—'एलातगरकुष्ठमांसीध्यामकत्वक्पत्रनागपुष्पप्रियङ्गुहरेणुकाव्याघ्रनख आदि औषधियाँ हैं। (सु. सू. अ. ३८)

सिञ्चेत् कोष्णैरारनालशुक्तगोमूत्रमस्तुभिः ।
दिह्यात् पलाशैः पिष्टैर्वा सुरसाऽर्जकशिग्रुजैः ॥ २७२ ॥

शीतार्ते कोष्णसेचनादि—शीतपीड़ित रोगी को हलकी सी उष्ण काञ्जी, शुक्त (सिरका), गोमूत्र और मस्तु इनमें से किसी एक से सिञ्चित करना चाहिए अथवा सुरसा (तुलसी), अर्जक (कुठेरक) और सहजन के पत्तों को पीस कर शरीर पर लेप करना चाहिए ॥ २७२ ॥

विमर्शः—शुक्तं चुक्रं तन्निर्माणप्रकारो यथा—'प्रस्थमेकं तु मधुनः त्रयं सौवीरकस्य च। अर्धं प्रस्थं तु दध्नश्च भिषगम्लस्य दापयेत् ॥ पलमेकं चैव शोधितस्यार्द्रकस्य च । तैन्तरं पिप्पली चैव चूर्णीकृत्य विनिक्षिपेत् ॥ स्थापयेत्सुदृढे भाण्डे सर्पिषा परिभाविते । हेमन्ते वासरान्यष्टौ वसन्ते षड् दिनानि च ॥ प्रावृट्काले चतुरहं वर्षास्वपि च वासयेत् । अत ऊर्ध्वं क्षिपेच्चूर्णं चातुर्जातात् पलद्वयम्' ॥ इति ।

क्षारतैलेन वाऽभ्यङ्गः सशुक्तेन विधीयते ।
पानमारग्वधादेश्च क्वथितस्य विशेषतः ॥ २७३ ॥

शीतार्ते क्षारतैलाभ्यङ्गः—पलाशक्षार से सिद्ध हुये तैल में शुक्त (सिरका) मिलाकर शीतार्त रोगी के शरीर पर अभ्यङ्ग करना चाहिए। इसके अतिरिक्त आरग्वधादिगण की औषधियों का क्वाथ बना कर पीने को देना चाहिए ॥ २७३ ॥

विमर्शः—आरग्वधादिगण में निम्न औषधियाँ हैं—'आरग्वधमदनगोपघोण्टाकण्टकीकुटजपाठापाटलामूर्वेन्द्रयवसप्तपर्णनिम्बकुरण्टकदासीकुरण्टकगुडूचीचित्रकप्रभृति' (सु० सू० अ० ३८)

अवगाहः सुखोष्णश्च वातघ्नक्वाथयोजितः ।
जित्वा शीतं क्रमैरेभिः सुखोष्णजलसेचितम् ॥ २७४ ॥
प्रवेश्यौर्णिककार्पासकौशेयाम्बरसंवृतम् ।
शाययेद् ग्लानदेहञ्च कालागुरुविभूषितम् ॥ २७५ ॥
स्तनाढ्या रूपसम्पन्नाः कुशला नवयौवनाः ।
भजेयुः प्रमदा गात्रैः शीतदैन्यापहाः शुभाः ॥ २७६ ॥
शरच्छशाङ्कवदना नीलोत्पलविलोचनाः ।
स्फुरितभ्रूलताभङ्गललाटतटकम्पनाः ॥ २७७ ॥
प्रलम्बबिम्बप्रचलद्बिम्बीफलनिभाधराः ।
कृशोदर्योऽतिविस्तीर्णजघनोद्वहनालसाः ॥ २७८ ॥
कुङ्कुमागुरुदिग्धाङ्ग्यो घनतुङ्गपयोधराः ।
सुगन्धिधूपितश्लक्ष्णस्रस्तांशुकविभूषणाः ॥ २७९ ॥
गाढमालिङ्गयेयुस्तं तरुं वनलता इव ।
प्रह्लादं चास्य विज्ञाय ताः स्त्रीरपनयेत् पुनः ॥ २८० ॥
तासामङ्गपरिष्वङ्गनिवारितहिमज्वरम् ।
भोजयेद्धितमन्नञ्च यथा सुखमवाप्नुयात् ॥ २८१ ॥

शीतार्तस्यावगाहादिविधानम्—शीत से पीड़ित रोगी को एरण्डादिगण की वातहर औषधियों के सुखोष्ण क्वाथ में निमज्जन कराना चाहिए। इस तरह उपर्युक्त उपायों से क्रमशः शीत का अपहरण करके पुनः गुनगुने जल से स्नान करा के वातरहित गृह में प्रविष्ट कर ऊन, कार्पास और रेशम के बने वस्त्रों से ढक कर सुला देवें तथा यदि उस रुग्ण की देह ग्लान (म्लान) हो गई हो तो काले अगर का उसके देह पर लेप कर पीन तथा घन स्तनसम्पत् से युक्त, लावण्य (सौन्दर्य) से सम्पन्न, चतुर और नवीन यौवन वाली, तारुण्यमद से उन्मत्त एवं शीत और दैन्यता को दूर करने वाली शुभ स्त्रियों को उसकी देह पर लिपटा देवें। इनके अतिरिक्त शरत्कालीन पूर्णिमा के चन्द्र के समान मुख वाली, नीलकमल के समान सुन्दर नेत्र वाली, चञ्चलभ्रूलताभङ्ग से ललाटतट को कम्पित करती हुई या निजस्तनतट को कम्पित करती हुई तथा लम्बे, मोटे और कम्पित होते हुये नितम्बों वाली एवं फड़कते हुये बिम्बीफल (कुन्दरू) के समान लाल अधरों (ओठों) वाली, कृशमध्यगात्रवती एवं अत्यधिक मोटे जघनों के उठाने में आलस्ययुक्त, केशर और अगुरु का अङ्गों पर लेपन की हुई, मोटे और ऊँचे (तीखे-तीखे उठे हुये) स्तनों वाली तथा नानाविध सुगन्धि द्रव्यों के लेप व गन्ध से धूपित एवं जिनके शिर-स्तनादि कामुक अङ्गों पर से बार बार गिरने वाले ऐसे

विविध रङ्ग-रञ्जित वस्त्रों से शोभायमान ऐसी स्त्रियाँ उस शीतार्त्त पुरुष का गाढ़ालिङ्गन करें। जैसे वनलताएँ तरु को गाढरूप से लपेटे रहती हैं। इस तरह सुन्दर नर्सों की उक्त परिचर्या से रुग्ण को प्रसन्नचित्त वाला हुआ जानके उन्हें उससे दूर कर दें। पश्चात् उन नवयुवतियों के गाढ़कुचालिङ्गन से शीतज्वर के निवृत्त हो जाने पर उस व्यक्ति को यथेप्सित हितकारक पदार्थ का भोजन कराना चाहिए जिससे कि उसको शान्ति या सुख की प्रतीति हो ॥ २७४–२८१ ॥

विमर्शः—महर्षि सुश्रुत ने शीतपूर्वक ज्वर के अन्दर रुग्ण को लगने वाले शीत के हरण का जो उपाय बताया है वह उक्त गुणवती स्त्रियों में अवश्य होता है किन्तु ऐसा व्यवहार खुले रूप से लज्जावश नहीं हो सकता है एवं छिपे हुये करना भी लोकमर्यादा में अशोभनीय है। आजकल भी बड़े बड़े अस्पतालों में उक्त गुणों वाली नर्सों को डाक्टर अवश्य नियुक्त करते हैं तथा वे अपनी स्वच्छ, सुन्दर व सादी श्वेत पोशाक से रुग्णजनमनरञ्जन अवश्य करती हैं। इस तरह दर्शनमात्र से मन को प्रफुल्लित करने में अधिक हानि नहीं है किन्तु उनके गाढ कुचों से निर्दयालिङ्गन कराना अशोभनीय, अमानवीय और अव्यवहार्य है बल्कि उस व्यक्ति का शुक्र स्खलित होकर दौर्बल्यता व मरण का कारण हो सकता है 'स्त्रीदर्शनादिभिः शुक्रं कदाचिच्चलितं भवेद्' जैसा कि सुश्रुत के टीकाकार डल्हण ने भी लिखा है कि 'उत्संसर्गान्मद्दाननर्थः स्यात्' प्राचीनाचार्यों ने लिखा है कि 'घृतकुम्भसमा नारी तप्ताङ्गारसमः पुमान्। तस्माद् घृतञ्च वह्निञ्च नैकत्र स्थापयेद्बुधः॥' अन्यच्च—'तस्माच्छ्मशानघटिका इव वर्जनीयाः', 'निष्पीड्यालक्तकवत्पुरुषं परित्यजन्ति' वर्तमान समय का प्रवाह है कि स्त्रियों के अधिक सम्पर्क में रहना जिससे पुरुष को सदा मानसिक सन्तोष रहने से उत्साह आदि का सञ्चार होता रहे। चरकाचार्य ने भी स्त्री को परम वाजीकरण माना है—वाजीकरणमग्र्यञ्च क्षेत्रं स्त्री या प्रहर्षिणी। इष्टा ह्येकैकशोऽप्यर्था परं प्रीतिकराः स्मृताः॥ किं पुनः स्त्रीशरीरे ये सङ्घातेन प्रतिष्ठिताः। सङ्घातो हीन्द्रियार्थानां स्त्रीषु नान्यत्र विद्यते॥ स्त्र्याश्रयो हीन्द्रियार्थो यः स प्रीतिजननोऽधिकम्। सुरूपा यौवनस्था या लक्षणैर्या विभूषिता। या वश्या शिक्षिता या च सा स्त्री वृष्यतमा मता (च. चि. अ. १) परन्तु यह स्वस्त्रीविषयक है। ऐसे रोगियों के मनोविनोदार्थ भी चरक ने अनेक स्थलों पर सेविकारूप में स्त्रियों की उपस्थिति मानी है।

दाहाभिभूते तु विधिं कुर्य्याद्दाहविनाशनम्।
मधुफाणितयुक्तेन निम्बपत्राम्भसाऽपि वा ॥ २८२ ॥
दाहज्वरार्त्तं मतिमान् वामयेत् क्षिप्रमेव च।
शतधौतघृताभ्यक्तं दिह्याद्वा यवशक्तुभिः ॥ २८३ ॥

ज्वरजदाहसंशमनप्रकाराः—ज्वर के पूर्व में या ज्वरावस्था में अधिक दाह होने पर विविध प्रकार की दाहविनाशक क्रियायें करनी चाहिये, जैसे निम्बपत्रों को पानी में मथकर छान के उसमें शहद और फाणित मिलाकर देह पर लेप करे अथवा मधुफाणितयुक्त निम्बपत्रमथित पानी को पिलाकर दाहयुक्त ज्वरी को शीघ्र ही पित्तविनाशार्थ वमन करावे। अथवा दाहयुक्त ज्वरी के शरीर को शतधौत घृत से अभ्यक्त (लेपित) कर यवसक्तु को पानी में घोल के उसका भी शरीर पर लेप कर दें ॥ २८२–२८३ ॥

विमर्शः—शास्त्रकारों का मत है कि पित्त को जीतने के लिये विरेचन प्रशस्त माना है—'विरेचनं हि पित्तस्य जयाय परमौषधम्' पुनः यहां वमनोपदेश क्यों? तथा दूसरा प्रश्न यह भी है कि वमन से कफ नष्ट होता है, वह पित्तनाशक कैसे होगा? दाहाभिभूत व्यक्ति के आमाशयगत तथा पच्यमानाशय (ग्रहणी) गत दोषों का निर्हरण करना अत्यावश्यक है और वह शीघ्र अपेक्षित है। विरेचक औषध कुछ देर से रेचन कराती है किन्तु वामक क्रिया सद्यः पीते ही होने लगती है अतः यहां वमन का विधान रखा है तथा तन्त्रान्तरों का मत है कि वमन से भी कुछ पित्त का निर्हरण होता है—स्वस्थानगतमुत्क्लिष्टमग्निनिर्वापकं भिषक्। पित्तं ज्ञात्वा विरेकेण वमनेनाथवा हरेत्॥ (डल्हण सु. उ. तं. अ. ३९)

कोलामलकसंयुक्तैः शुक्तधान्याम्लसंयुतैः।
अम्लपिष्टैः सुशीतैश्च फेनिलापल्लवैस्तथा ॥२८४॥

दाहसंशमनार्थं कतिपयलेपाः—बेर तथा आंवलों को सिरके तथा काञ्जी में मिलाकर पीस के शरीर पर लेप करें। अथवा फेनिला (रीठा या उपोदिका या चाङ्गेरी) के पत्तों को काञ्जी में पीस कर देह पर लेप करना चाहिये ॥ २८४ ॥

विमर्शः—तथा शब्द लेखन बल से इस प्रयोग में बदरी, आंवला और शुक्त को फेनिला के पत्तों के साथ मिलाकर पीस के लेप करना चाहिये ऐसा भी डल्हणाचार्य ने अपनी टीका में अर्थ किया है।

अम्लपिष्टैः सुशीतैर्वा पलाशतरुजैर्दिहेत्।
बदरीपल्लवोत्थेन फेनेनारिष्टकस्य च ॥
लिप्तेऽङ्गे दाहतृण्मूर्च्छाः प्रशाम्यन्ति च सर्वशः ॥२८५॥

पलाशबदरीपत्रलेपौ—पलाश (ढाक) के तरु (वृक्ष) के कोमल व शीतल पत्रों को काञ्जी के साथ पीसकर देह पर लेप करने से अथवा बेर के पत्तों को पानी में डालकर या निम्बपत्रों को पानी में डालकर या रीठे को पानी में डाल के मथ कर उत्पन्न हुये तीनों में से किसी के झाग का देह पर लेप करने से दाह, तृषा (प्यास) और मूर्च्छा शान्त हो जाती है ॥२८५॥

विमर्शः—फेनकल्पनाप्रकारो यथा—काञ्जिकपूर्णपात्रे काञ्जिकपिष्टान् बदरीपल्लवान् स्थापयित्वा करेण विलोडिते फेन उत्तिष्ठेदिति (डल्हणः)।

यवार्द्धकुडवं पिष्ट्वा मञ्जिष्ठाऽर्द्धपलं तथा ॥२८६॥
अम्लप्रस्थशतोन्मिश्रं तैलप्रस्थं विपाचयेत्।
एतत् प्रह्लादनं तैलं ज्वरदाहविनाशनम् ॥२८७॥

दाहे प्रह्लादकतैलम्—जौ का कल्क आधा कुडव (२ पल), मञ्जीठ आधा पल, काञ्जी १०० प्रस्थ और तिलतैल १ प्रस्थ सबको एकत्र कर पका के तैल सिद्ध कर लें। इस प्रह्लादक तैल का प्रतिदिन अभ्यङ्ग करने से ज्वर और दाह नष्ट हो जाते हैं ॥ २८६–२८७ ॥

न्यग्रोधादिर्गणो यस्तु काकोल्यादिश्च यो गणः।
उत्पलादिर्गणो यस्तु पिष्टैर्वा तैः प्रलेपयेत् ॥२८८॥

न्यग्रोधादिगणलेपः—न्यग्रोधादिगण, काकोल्यादिगण, तथा उत्पलादिगण इनमें से किसी एक गण के यथाप्राप्त द्रव्यों को ले के जल के साथ पीसकर लेप करने से दाह नष्ट होता है ॥२८८॥

विमर्शः—न्यग्रोधादिगण में न्यग्रोध (वट), उदुम्बर, अश्वत्थ, प्लक्ष (पाखर), मधुक (महुआ), कपीतन (आम्रातक), अर्जुन, आम, दोनों जामुन, कदम्ब, बदरी, तिन्दुकी, रोध्र, पलाश आदि हैं। काकोल्यादिगण में काकोली, क्षीरकाकोली, जीवक, ऋषभक, मुद्गपर्णी, माषपर्णी, मेदा, महामेदा, गिलोय, वंशलोचन, पद्म, पद्माख, ऋद्धि, वृद्धि, द्राक्षा, जीवन्ती, मुलेठी आदि हैं। उत्पलादिगण में 'उत्पलरक्तोत्पलकुमुदसौगन्धिककुवलयपुण्डरीकाणि मधुकञ्चेति ।' (सु० सू० अ० ३८)।

तत्कषायाम्लसंसिद्धाः स्नेहाश्चाभ्यञ्जने हिताः ।
तेषां शीतकषाये वा दाहार्त्तमवगाहयेत् ॥२८६॥
दाहवेगे त्वतिक्रान्ते तस्मादुद्धृत्य मानवम् ।
परिषिच्याम्बुभिः शीतैः प्रलिम्पेच्चन्दनादिभिः ॥२९०॥
ग्लानं वा दीनमनसमाश्लिषेयुर्वराङ्गनाः ।
पेलवक्षौमसंवीताश्चन्दनार्द्रपयोधराः ॥२९१॥
बिभ्रत्योऽब्जस्रजश्चित्रा मणिरत्नविभूषिताः ।
भजेयुस्ताः स्तनैः शीतैः स्पृशन्त्योऽम्बुरुहैः सुखैः ॥२९२॥
प्रह्लादश्चास्य विज्ञाय ताः स्त्रीरपनयेत्पुनः ।
हितञ्च भोजयेदन्नं तथाप्नोति सुखं महत् ॥२९३॥

न्यग्रोधादिगणसिद्धतैलम्—उक्त तीनों गणों की यथाप्राप्त औषधियों के क्वाथ तथा काञ्जी में सिद्ध किये हुये तैल का अभ्यङ्ग दाहनाशन में हितकारी है। अथवा उक्त गणों की औषधियों के शीतकषाय में दाह से पीड़ित व्यक्ति को नहलाना चाहिए या उस शीत कषाय को किसी टब या कोठी में भरकर रोगी को उसमें गोते लगवावे या बैठावे तथा दाह वेग के शान्त हो जाने पर रुग्ण को कोठी में से निकालकर शीतल जल से स्नान कराके शीतल कर्पूरादि मिश्रित चन्दन के लेप से उसके सर्वाङ्गों को लिप्त कर देना चाहिए। यदि उक्त निमज्जन प्रक्रिया से वह ग्लान (दीनमन = उदास) हो गया हो तो उत्तम व यौवनोन्मत्त स्त्रियाँ उसका आलिङ्गन करें अथवा कोमल रेशमी वस्त्र पहनी हुई, चन्दनकर्पूरादि के प्रलेप से आर्द्र उत्तुङ्ग कुचों वाली, कमल के पुष्पों की मालाओं को पहनी हुई, नाना प्रकार के मणि, रत्न आदियों से विभूषित स्त्रियाँ अपने चन्दनलेप-शीत घनपीन-स्तनों से तथा कमलपुष्पों से उसके अङ्ग-प्रत्यङ्गों को स्पर्श करें, उसका चुम्बन, आलिङ्गन आदि करें। इस प्रकार की उत्तेजनात्मक क्रियाओं से जब वह आनन्दित हो जाय तो उन स्त्रियों को वहाँ से हटा देवे एवं उस रुग्ण को हितकारक भोजन करावे। इससे रुग्ण को महान् सुख होता है ॥ २८९-२९३ ॥

पित्तज्वरोक्तं शमनं विरेकोऽन्यद्धितञ्च यत् ।
निर्हरेत्पित्तमेवादौ दोषेषु समवायिषु ॥
दुर्निवारतरं तद्धि ज्वरार्तानां विशेषतः ॥२९४॥

पित्तज्वरोक्तातिदेशः—पित्त ज्वर प्रकरण में कहे हुये शामक प्रयोग, विरेचन तथा अन्य जो भी उपचार हितकारी हो उसे दाहशमनार्थ प्रयुक्त करें। क्योंकि दोषों के समवायी (संसर्गी) होने में प्रथम पित्त का ही निर्हरण करना चाहिए क्योंकि दाह ज्वर से पीड़ित व्यक्तियों में वह पित्त मुश्किल से निकालने या शमन करने योग्य होता है ॥ २९४ ॥

विमर्शः—'निर्हरेत् पित्तमेवादौ' इस मूलपाठ में कुछ आचार्यों ने परिवर्तन करके लिखा है जैसे—'शमयेत् पित्तमेवादौ ज्वरेषु समवायिषु' अर्थात् समवायिज्वरों (सन्निपातज्वरों) में प्रथम लङ्घन, जलपान और यवागू सेवन आदि उपचारों द्वारा पित्त का संशमन (प्रकृतिस्थापन) करना चाहिए क्योंकि अग्नि को उपहत कर ज्वर के होने का लिखा है तथा अग्नि पित्तान्तर्गत होती है—ऊष्मा पित्तादृते नास्ति ज्वरो नास्त्यूष्मणा विना। अतः पित्तसंशमनार्थं ही प्रथम प्रयत्न करना चाहिए। यही आशय अन्य आचार्यों का भी है—समवाये तु दोषाणां पूर्वं पित्तमुपाचरेत्। ज्वरे चैवातिसारे च सर्वत्रान्यत्र मारुतम्॥ यहाँ पर शङ्का यह है कि अन्य स्थलों पर सन्निपातज्वरावस्था में प्रथम आमश्लेष्मा के निर्हरण का उपदेश किया है जैसा कि लिखा है—सन्निपातज्वरे पूर्वं कुर्यादामविशोषणम्। पश्चाच्छ्लेष्मणि संक्षीणे शमयेत् पित्तमारुतौ॥ फिर यहाँ आचार्य ने कैसे प्रथम पित्त के शमन का उपदेश किया? प्रश्न सत्य है किन्तु शमन शब्द से यहाँ पर पित्त का प्रकृतिस्थापन अभिप्रेत है निर्हरण नहीं।

छर्दिमूर्च्छापिपासादीनविरोधाज्ज्वरस्य च ।
उपद्रवाञ्जयेच्चापि प्रत्यनीकेन हेतुना ॥२९५॥

ज्वरोपद्रवशमनोपदेशः—ज्वर के वमन, मूर्च्छा, पिपासा आदि उपद्रवों को ज्वर से विरोध नहीं करनेवाले हेतुविपरीत औषध, अन्न और विहार से शान्त करना चाहिए ॥२९५॥

विमर्शः—उपद्रव को Complications कहते हैं तथा शास्त्रकारों ने उपद्रव की निम्न परिभाषा की है—'रोगारम्भकदोषप्रकोपजन्योऽन्यविकार उपद्रवः' ॥ (माधवमधुकोष) अन्यच्च—व्याधेरुपरि यो व्याधिर्भवत्युत्तरकालजः। उपक्रमाविरोधी च स उपद्रवसंज्ञितः॥ इससे यह स्पष्ट है कि यदि ज्वर के साथ छर्दि आदि उत्पन्न हों तो वे लक्षण कहलावेंगे तथा ज्वर उत्पन्न होने के अनन्तर उत्पन्न हुए हों तो उन्हें उपद्रव कहेंगे।

विशेषमपरञ्चात्र शृणूपद्रवनाशनम् ।
मधुकं रजनी मुस्तं दाडिमं साम्लवेतसम् ॥२९६॥
अञ्जनं तिन्तिडीकञ्च नलदं पत्रमुत्पलम् ।
त्वचं व्याघ्रनखञ्चैव मातुलुङ्गरसो मधु ॥२९७॥
दिह्याद्देभिर्ज्वरार्तस्य मधुशुक्तयुतैः शिरः ।
शिरोऽभितापसंमोहवमिहिक्काप्रवेपथून् ॥२९८॥
प्रदेहो नाशयत्येष ज्वरितानामुपद्रवान् ॥२९९॥

ज्वरोपद्रवनाशकविशिष्टचिकित्सा—मुलेठी, हरिद्रा, मोथा, अनारदाना, अमलबेंत, अञ्जन (सुरमा), इमली की छाल, खस, कमलपत्र, दालचीनी, व्याघ्रनख, बिजोरे निंबू का रस और शहद इन सब वस्तुओं को समान प्रमाण में लेकर मधुशुक्त के साथ पीस के ज्वरग्रस्त रोगी के शिर पर लेप करे। यह प्रदेह शिर की जलन, संमोह (बेहोशी), वमन, हिचकी, कम्पन आदि स्वतन्त्ररूपोत्पन्न या ज्वरोपद्रवरूप से उत्पन्न रोगों को नष्ट करता है ॥ २९६-२९९ ॥

विमर्शः—मधुशुक्तलक्षणं यथा—जम्बीरस्य फलरसं पिप्पलीचूर्णसंयुतम्। मधुभाण्डे विनिक्षिप्य धान्यराशौ निधापयेत्॥ मासेन तज्जातरसं मधुशुक्तं प्रकीर्तितम्॥

मधूकमथ ह्रीबेरमुत्पलानि मधूलिकाम्।
लीढ्वा चूर्णानि मधुना सर्पिषा च जयेद्वमिम्॥३००॥
कफप्रसेकासृक्पित्तहिक्काश्वासांश्च दारुणान्॥३०१॥

उपद्रवहरोऽन्योपायः—महुआ, नेत्रबाला, श्वेतकमल, जलयष्टी इन्हें समान प्रमाण में लेकर चूर्णित कर लें। इस चूर्ण को प्रतिदिन १ से ३ माशे की मात्रा में मधु और घृत के साथ सेवन करने से वमन को नष्ट करता है तथा भयङ्कर रूप से उत्पन्न कफ के स्राव, रक्तपित्त, हिक्का और श्वास रोगों को भी नष्ट करता है॥ ३००-३०१॥

लिहन् ज्वरार्तस्त्रिफलां पिप्पलीश्च समाक्षिकाम्।
कासे श्वासे च मधुना सर्पिषा च सुखी भवेत्॥३०२॥

त्रिफलापिप्पलीप्रयोगः—ज्वर से पीड़ित व्यक्ति त्रिफला और पिप्पली को समप्रमाण में लेके शहद के साथ तीन दिन तक घोट कर इसमें से प्रतिदिन १ माशे की मात्रा में लेके ३ माशे शहद तथा ६ माशे घृत के साथ मिला के कास और श्वास रोग में सेवन करने से वह सुखी(स्वस्थ) हो जाता है॥

विदारी दाडिमं लोध्रं दधित्थं बीजपूरकम्।
एभिः प्रदिह्यान्मूर्धानं तृड्दाहार्तस्य देहिनः॥३०३॥

तृषादाहे मूर्धलेपः—तृषा और दाह से पीड़ित रोगी के शिर को विदारीकन्द, अनारदाने, पठानी लोध, कपित्थ फलमज्जा और बिजौरे निंबू के स्वरस को खरल में पीसकर मस्तिष्क पर लेप करे॥ ३०३॥

दाडिमस्य सितायाश्च द्राक्षामलकयोस्तथा।
वैरस्ये धारयेत्कल्कं गण्डूषञ्च यथाहितम्॥
क्षीरेक्षुरसमाक्षिकसर्पिस्तैलोष्णवारिभिः॥ ३०४॥

मुखवैरस्ये दाडिमादिकल्कगण्डूषप्रयोगः—मुख की विरसता को दूर करने के लिए अनारदाने, शर्करा, मुनक्का और आंवले इन्हें समान प्रमाण में लेकर जल के साथ पत्थर पर पीस के कल्क बनाकर मुख में धारण करें तथा दुग्ध, सांठे का रस, शहद, घृत, तैल और कोष्ण जल से गण्डूष करना चाहिये॥

शून्ये मूर्ध्नि हितं नस्यं जीवनीयशृतं घृतम्॥३०५॥

जीवनीयघृतनस्यम्—मस्तिष्क के शून्य होने पर जीवनीय गण की औषधियों के कल्क १ पल, घृत ४ पल और पानी १६ पल के साथ घृतावशेष पाक कर उस सिद्ध घृत का नस्य देना चाहिये॥ ३०५॥

चूर्णितैस्त्रिफलाश्यामात्रिवृत्पिप्पलीसंयुतैः।
सक्षौद्रः शर्करायुक्तो विरेकस्तु प्रशस्यते॥
पक्वे पित्तज्वरे रक्ते चोर्ध्वगे वेपथौ तथा॥ ३०६॥

पक्वपित्तज्वरादिचिकित्सा—पित्तज्वर के पक्व होने पर(निरामावस्था में), ऊर्ध्वगामी रक्तपित्त में एवं शरीरादि की कम्पनावस्था में हरड़, बहेड़ा, आंवला, निशोथ, काली निशोथ और पिप्पली इन्हें समान प्रमाण में लेकर चूर्णित करके ३ माशे से ६ माशे की मात्रा में १ तोले शहद और ६ माशे शर्करा से साथ सेवन करने से विरेचन होकर रोगी को लाभ होता है॥ ३०६॥

कफवातोत्थयोरेवं स्नेहाभ्यङ्गैर्विशोधयेत्॥ ३०७॥

कफवातजन्यज्वरोपचारः—कफ और वात के प्रकोप से उत्पन्न ज्वर में उक्त प्रकार से संशोधन करने के अतिरिक्त स्नेहन और अभ्यङ्ग द्वारा रोगी के ज्वरादि का संशोधन (संशमन) करना चाहिये॥ ३०७॥

हृतदोषो भ्रमार्तस्तु लिह्यात् क्षौद्रसिताऽभयाः॥३०८॥

भ्रमोपचारः—उक्त प्रकार के ज्वररोगी को उक्त विधियों से संशोधन करके वातादिदोषों का निर्हरण कर देने पर भी भ्रम आता हो तो हरीतकी के ३ माशे से ६ माशे भर तक चूर्ण को १ तोले मधु तथा ६ माशे भर शर्करा का लेहन (सेवन) कराना चाहिये॥ ३०८॥

वातघ्नमधुरैर्योज्या निरूहा वातजे ज्वरे।
विभज्य दोषं प्राणञ्च यथास्वं चानुवासनाः॥ ३०९॥

वातज्वरे निरूहादिवस्तिप्रयोगः—वातजन्यज्वर में वातनाशक भद्रदारु (देवदारु) आदि औषधियों तथा काकोल्यादिगण की मधुर औषधियों के कल्क और क्वाथ से सिद्ध किये हुए घृत या तैल आदि स्नेह की निरूहणवस्ति देनी चाहिये तथा शरीर में प्रकुपित दोष रुग्ण की प्राणशक्ति (बल) का विचार कर योग्यतानुसार अनुवासन वस्ति का प्रयोग भी करना चाहिये॥

विमर्शः—वातघ्न औषधियों में देवदारु, एरण्डमूल, कूठ, हरिद्रा, वरुण, बला, अतिबला, पाषाणभेद, भारङ्गी, शतावरी, पुनर्नवा आदि का ग्रहण होता है (सु० सू० अ० ३९) काकोल्यादिगण—'काकोलीक्षीरकाकोलीजीवकर्षभकमुद्गपर्णीमाषपर्णीमेदामहामेदाछिन्नरुहाकर्कटकशृङ्गीतुगाक्षीरीपद्मकप्रपौण्डरीकर्धिवृद्धिमृद्वीकाजीवन्त्यो मधुकञ्चेति' (सु. सू. अ. ३८) विभज्य दोषं प्राणञ्चेति—अर्थात् हीन, मध्य और उत्तमादि भेद से दोष और प्राण (बल) का विचार कर अल्पप्रकुपित दोष में अल्प निरूहण, मध्यप्रकुपित दोष में मध्य निरूहण और उत्तम में उत्तम निरूहण देवें। इसी प्रकार बलानुसार भी कल्पना करें।

निरूहणवस्तिः—निरूहयेदिति दोषं निर्हरेदित्यर्थः। अत एवाह सुश्रुतो यथा-दोषहरणाच्छरीररोगनिर्हरणाद्वा निरूह इति। अस्यास्थापनमित्यपि नाम। वयःस्थापनादायुःस्थापनाद्वा आस्थापनमिति सुश्रुत एव। वस्तिस्तु क्षीरतैलैर्यो निरूहः स निगद्यते। वस्तिभिर्दीयते यस्मात्तस्माद्वस्तिरिति स्मृतः॥ अनुवासनवस्तिः—अनुदिनं प्रतिदिनं दीयते इत्यनुवासनः।

उत्पलादिकषायाद्या(ढ्या)श्चन्दनोशीरसंयुताः।
शर्करामधुराः शीताः पित्तज्वरहरा मताः॥ ३१०॥

पित्तज्वरे निरूहणद्रव्यादि—उत्पलादिगण की औषधियों के साथ रक्तचन्दन और खस मिलाकर क्वाथ करके शीतल होने पर छान के उसमें शर्करा के प्रक्षेप से मधुर कर निरूहण वस्ति देने से पित्तज्वर का नाश होता है॥ ३१०॥

विमर्शः—उत्पलादिगणः—'उत्पलरक्तोत्पलकुमुदसौगन्धिककुवलयपुण्डरीकाणि चेति' (सु. सू. अ. ३८)

आम्रादीनां त्वचं शङ्खं चन्दनं मधुकोत्पले ।
गैरिकाञ्जनमञ्जिष्ठामृणालान्यथ पद्मकम् ।
श्लक्ष्णपिष्टन्तु पयसा शर्करामधुसंयुतम् ॥ ३११ ॥
सुपूतं शीतलं बस्तिं दह्यमानाय दापयेत् ।
ज्वरदाहापहं तेषु सिद्धश्चैवानुवासनम् ॥ ३१२ ॥

पित्तज्वरेऽपरनिरूहद्रव्याणि—न्यग्रोधादिगण में कहे हुये आम्र से लेकर नन्दीवृक्ष पर्यन्त द्रव्यों की त्वचा, शङ्ख, लालचन्दन, मुलेठी, नीलकमल, गेरू, अञ्जन (स्रोतोऽञ्जन तदभाव में रसाञ्जन या सौवीराञ्जन), मञ्जिष्ठा, कमल की नाल और पद्माख इन्हें समान प्रमाण में लेके महीन पीसकर दुग्ध में मिला के शर्करा और शहद का प्रक्षेप देकर उत्तम प्रकार से छानकर दाहपीड़ित रोगी के लिये शीतल निरूहण वस्ति देनी चाहिये। इसी प्रकार न्यग्रोधादिगण के द्रव्यों की छालों से सिद्ध किये हुये स्नेह पदार्थ की अनुवासन वस्ति देने से ज्वर और दाह नष्ट होता है ॥ ३११–३१२ ॥

आरग्वधगणक्वाथाः पिप्पल्यादिसमायुताः ।
सक्षौद्रमूत्रा देया स्युः कफज्वरविनाशनाः ॥
कफघ्नैरेव संसिद्धा द्रव्यैश्चाप्यनुवासनाः ॥३१३॥

कफज्वरे निरूहद्रव्याणि—आरग्वधगण की औषधियों के क्वाथ में पिप्पल्यादिगण की औषधियों का कल्क तथा शहद और गोमूत्र मिश्रित कर निरूहणवस्ति देने से कफज्वर नष्ट होता है। इसी तरह कफनाशकवर्ग की औषधियों के कल्क तथा क्वाथ में सिद्ध स्नेह की अनुवासन वस्ति देने से कफज्वर नष्ट होता है ॥ ३१३ ॥

विमर्शः—कुछ लोग निम्न पाठान्तर मानते हैं—'आरग्वधादिसंसिद्धाः कफजे क्षौद्रसंयुताः। ज्वरं हन्युर्निरूहाश्च तत्सिद्धाश्चानुवासनाः ॥'

संसर्गे सन्निपाते च संसृष्टा बस्तयो हिताः ।
संसृष्टैरेव संसृष्टा द्रव्यैश्चाप्यनुवासनाः ॥ ३१४ ॥

संसर्गादिषु निरूहानुवासनद्रव्याणि—वातादि दोषों के द्वन्द्वजरूपी संसर्ग तथा सन्निपात में संसृष्ट (मिलित) द्रव्यों की निरूहण वस्ति हितकारी होती है। इसी प्रकार दोषों के संसृष्ट और सन्निपात में उन-उन दोषों को नष्ट करने वाले द्रव्यों को संसृष्ट कर उनके कल्क तथा क्वाथ में सिद्ध किये हुये घृत तैलादि स्नेह की अनुवासन वस्तियाँ देना हितकारी होता है॥

वातरोगापहाः सर्वे स्नेहा ये सम्यगीरिताः ।
विना तैलं त एव स्युर्योज्या मारुतजे ज्वरे ॥ ३१५ ॥
निखिलेनोपयोज्याश्च त एवाभ्यञ्जनादिषु ॥ ३१६ ॥

वातज्वरानुवासने तैलनिषेधः—वातजन्यज्वर के लिये वात तथा वातजन्य रोग नाशक सर्वप्रकार के स्नेह (घृत, तैल, वसा, मज्जा) कहे गये हैं। उनमें तैल को छोड़ कर शेष तीन स्नेहों का अनुवासन वस्ति के लिये प्रयोग करना चाहिए किन्तु अभ्यङ्गादिकार्यों में समग्ररूप से इन उक्त चारों स्नेहों का प्रयोग करना चाहिए॥ ३१५–३१६ ॥

विमर्शः—दोषों के अनुसार उक्त चारों स्नेहों को पृथक्-पृथक् अथवा संयुक्त करके विभिन्न रोगनाशक औषधियों के कल्क क्वाथ से संस्कृत कर अथवा बिना संस्कृत किये ही प्रयुक्त कर सकते हैं।

पैत्तिके मधुरैस्तिक्तैः सिद्धं सर्पिश्च पूज्यते ।
श्लैष्मिके कटुतिक्तैश्च संसृष्टानीतरेषु च ॥ ३१७ ॥

पैत्तिकादिषु विशिष्टस्नेहकल्पना—पैत्तिकज्वर में मधुर तथा तिक्त द्रव्यों के कल्क और क्वाथ के द्वारा सिद्ध किये हुये घृत का प्रयोग करना चाहिए एवं श्लैष्मिक ज्वर में कटु (चरपरे) और तिक्त (कडवे) द्रव्यों के कल्क और क्वाथ से सिद्ध घृत का प्रयोग करें एवं द्वन्द्वज तथा सन्निपातजन्य ज्वरों में दो-दो या सर्वदोषनाशक संसृष्ट औषधियों के कल्क और क्वाथ से सिद्ध किए हुये घृत का सेवन करें ॥ ३१७ ॥

विमर्शः—यद्यपि घृत त्रिदोषनाशक होता है तथापि वह अधिकतर कफसमानधर्मी होने से उसका वर्धक है किन्तु कटुतिक्त द्रव्यों के द्वारा सिद्ध होने से संस्कारवशात् श्लैष्मिक ज्वर में भी लाभकारी होता है। कुछ लोगों का मत है कि श्लोक में चकारग्रहण से अनुक्त तैल का कफज ज्वर में प्रयोग है किन्तु ऐसा अर्थ सर्वसम्मत नहीं है।

हृतावशेषं पित्तन्तु त्वक्स्थं जनयति ज्वरम् ।
पिबेदिक्षुरसं तत्र शीतं वा शर्करोदकम् ॥ ३१८ ॥
शालिषष्टिकयोरन्नमश्नीयात् क्षीरसम्प्लुतम् ।
कफवातोत्थयोरेवं स्वेदाभ्यङ्गौ प्रयोजयेत् ॥ ३१९ ॥

हृतावशेषपित्तचिकित्सा—विरेचनादि क्रियाओं से पित्त का निर्हरण करते समय उसका पूर्ण निर्हरण न होने पर वह शेष रहा पित्त त्वचा में स्थित होकर ज्वर उत्पन्न करता है। ऐसी स्थिति में उसके संशमनार्थ इक्षुरस का पान कराना चाहिए अथवा शर्करा की चासनी बना के उसे शीतल कर शर्करोदक के रूप में सेवन करना चाहिए। भोजन के लिये साली और षष्टिक चावलों का भात बनाकर दुग्ध से आप्लुत कर सेवन करें। इसी तरह कफ और वात के शरीर में अवशेष रह जाने पर उत्पन्न हुये ज्वरों में भी कफ और वातजन्यज्वरनाशार्थ स्वेद और अभ्यङ्ग का प्रयोग करना चाहिये ॥ ३१८–३१९ ॥

घृतं द्वादशरात्रात्तु देयं सर्वज्वरेषु च ।
तेनान्तरेणाशयं स्वं गता दोषा भवन्ति हि ॥ ३२० ॥

ज्वरे घृतदानसमयः—सर्व प्रकार के ज्वरों में लङ्घन, उष्णोदकपान, पेया और पाचनों के प्रयोग से उनके पक्व हो जाने पर बारह दिन के पश्चात् घृत का प्रयोग करना चाहिए क्योंकि इस अवधि में दोष अपने-अपने आशयों में पहुँच जाते हैं ॥ ३२० ॥

विमर्शः—यद्यपि सामान्य ज्वर के दोष आठ या दस दिन में पक्व हो जाते हैं किन्तु सन्निपातज्वर में दोषों का पाक बारहवें दिन तक होता है अत एव बारह दिन के अनन्तर घृत सेवन का विधान लिखा है। चरकाचार्य ने घृत के महत्त्व में लिखा है कि कषाय, वमन, लङ्घन और लघु भोजन से रूक्ष पुरुष के ज्वर के शान्त न होने पर घृत प्रयोग से ज्वर शीघ्र नष्ट हो जाता है—ज्वराः कषायैर्वमनैर्लङ्घनैर्लघुभोजनैः। रूक्षस्य ये न शाम्यन्ति सर्पिस्तेषां भिषग्जितम् ॥ रूक्षं तेजोज्वरकरं तेजसा।

रूक्षितस्य च। यः स्यादनुबलो धातुः स्नेहवध्यः स चानिलः॥ कषायाः सर्व एवैते सर्पिषा सह योजिताः। प्रयोज्या ज्वरशान्त्यर्थमग्निसन्धुक्षणाः शुभाः॥

धातून् प्रक्षोभयन् दोषो मोक्षकाले बलीयते।
तेन व्याकुलचित्तस्तु म्रियमाण इवेहते॥ ३२१॥

मुच्यमानज्वरे क्लेशातिशयः—ज्वरमोक्ष के समय में वातादिदोष रसरक्तादि धातुओं को कुपित करता हुआ बलवान् के समान अपना प्रभाव दिखाता है अतएव उस प्रकार के दोष के प्रभाव से रुग्ण व्याकुल चित्तवाला होकर म्रियमाण मानव के समान गात्रविक्षेपणादिक चेष्टाओं को करता है॥ ३२१॥

विमर्शः—कुछ लोगों की शङ्का है कि जब ज्वर उतरता है तब अवसर रोग, दोष और रोगी सभी निर्बल हो जाते हैं, फिर दोष बलवान् के समान क्यों हो जाते हैं? इसका उत्तर यही है कि यह उन दोषों का प्रभाव समझना चाहिए। जिस तरह बुझने वाला दीपक क्षीणावस्था में रहता हुआ भी एक बार पुनः जोर से प्रकाश करता है। आधुनिक दृष्टि से भी ज्वर का मोक्ष दो प्रकार से होता है। प्रथम प्रकार में ताप एकदम उतरता है इसे क्राईसिस (Crisis) कहते हैं एवं दूसरे प्रकार में ज्वर धीरे-धीरे उतरता है उसे लाइसिस (Lysis) कहते हैं—बहुदोषस्य बलवान् प्रायेणाभिनवो ज्वरः। सत्क्रिया दोषपक्त्या चेद् विमुञ्चति सुदारुणम्॥ कृत्वा दोषवशाद्वेगं क्रमादुपरमन्ति ये। तेषामदारुणो मोक्षो ज्वराणाश्चिरकारिणाम्। माधवे ज्वरमोक्षपूर्वरूपं यथा—दाहः स्वेदो भ्रमस्तृष्णा कम्पविड्भेदसंज्ञता॥ कूजनश्चास्यवैगन्ध्यमाकृतिर्ज्वरमोक्षणे॥ ज्वरप्रमोक्षे पुरुषः कूजन्वमति चेष्टते। श्वसन् विवर्णः स्विन्नाङ्गो वेपते लीयते मुहुः॥ प्रलपत्युष्णसर्वाङ्गः शीताङ्गश्च भवत्यपि। विसंज्ञो ज्वरवेगार्तः सक्रोध इव वीक्ष्यते॥ स दोषशब्दञ्च शकृद् द्रवं स्रवति वेगवत्॥ लिङ्गान्येतानि जानीयाज्ज्वरमोक्षे विचक्षणः॥ (च. चि. अ. ३) यदि शास्त्रनिर्देशपूर्वक ज्वर में या ज्वरमोक्ष के पश्चात् पथ्यसेवन न किया जाय तो ज्वर का पुनरावर्तन हो जाता है—असञ्जातबलो यस्तु ज्वरमुक्तो निषेवते। वर्ज्यमेतन्नरस्तस्य पुनरावर्त्तते ज्वरः॥ दुर्हृतेषु च दोषेषु यस्य वा विनिवर्त्तते। स्वल्पेनाप्यपचारेण तस्य व्यावर्तते पुनः। चिरकालपरिक्लिष्टं दुर्बलं हीनतेजसम्। अचिरेणैव कालेन स हन्ति पुनरागतः॥ अथवाऽपि परीपाकं धातुष्वेव क्रमान्मलाः। यान्ति ज्वरमकुर्वन्तस्ते तथाऽप्यपकुर्वते। एवमन्येऽपि च गदा व्यावर्तन्ते पुनर्गताः। अनिर्घातेन दोषाणामल्पैरप्यहितैर्नृणाम्॥ (च.चि.अ.३)

लघुत्वं शिरसः स्वेदो मुखमापाण्डु पाकि च।
क्षवथुश्चान्नकाङ्क्षा च ज्वरमुक्तस्य लक्षणम्॥३२२॥

ज्वरमुक्तलक्षण—शिर (तथा सर्वाङ्ग) का हल्का होना, पसीने का आना, मुख की पाण्डुता का अल्प होना, मुख (ओष्ठ) पर पिड़कादिरूप में पाक होना, छींक आना तथा अन्न ग्रहण करने की इच्छा होना ज्वरमुक्त के लक्षण हैं॥३२२॥

विमर्शः—तन्त्रान्तरीयज्वरमुक्तलक्षण—देहो लघुर्व्यपगतक्लममोहतापः पाको मुखे करणसौष्ठवमव्यथत्वम्। स्वेदः क्षवः प्रकृतियोगि मनोऽन्नलिप्सा कण्डूश्च मूर्ध्नि विगतज्वरलक्षणानि॥ चरकेऽपि—विगतक्लमसन्तापमव्यथं विमलेन्द्रियम्। युक्तं प्रकृतिसत्त्वेन विद्यात्पुरुषमज्वरम्॥सज्वरो ज्वरमुक्तश्च विदाहीनि गुरूणि च। असात्म्यान्यन्नपानानि विरुद्धानि च वर्जयेत्॥ व्यवायमतिचेष्टाश्च स्नानमध्यशनानि च। तथा ज्वरः शमं याति प्रशान्तो जायते न च॥ व्यायामञ्च व्यवायञ्च स्नानं चंक्रमणानि च। ज्वरमुक्तो न सेवेत यावन्न बलवान् भवेत्॥ (च. चि. अ. ३)

शम्भुक्रोधोद्भवो घोरो बलवर्णाग्निसादकः।
रोगराड् रोगसङ्घातो ज्वर इत्युपदिश्यते॥३२३॥
व्यापित्वात् सर्वसंस्पर्शात् कृच्छ्रत्वादन्तसम्भवात्।
अन्तको ह्येष भूतानां ज्वर इत्युपदिश्यते॥३२४॥

ज्वरस्य गरीयस्त्वम्—ज्वर को महादेव जी के क्रोध से उत्पन्न, भयानक, शरीर के बल, वर्ण और अग्नि को नष्ट करने वाला, सर्व रोगों का राजा तथा अनेक रोगों का समूहभूत कहा जाता है तथा यह ज्वर पुरुष, पशु आदि सर्व में व्यापक रूप से होता है तथा देह, इन्द्रिय और मन को स्पर्श करने से, त्रयोदशविध अग्नियों का उपघात करने से अत्यन्त कष्टसाध्य होने के कारण एवं प्रत्येक व्याधि के अन्त में भी उत्पन्न होने से तथा अन्तक (यमराज) के समान प्राणों का नाशक होने से प्राणियों का अन्तक (यम) यह ज्वर कहा जाता है॥ ३२३-३२४॥

विमर्शः—शम्भुक्रोधोद्भवः—पौराणिक, चरक तथा सुश्रुत के आचार्यों ने शङ्कर के क्रोध से ज्वर की उत्पत्ति मानी है, जैसा कि चरक में लिखा है—द्वितीये हि युगे शर्वमक्रोधव्रतमास्थितम्। दिव्यं सहस्रं वर्षाणामसुरा अभिदुद्रुवुः॥ तपोविघ्नाशनाः कर्तुं तपोविघ्नं महात्मनः। पश्यन् समर्थश्चोपेक्षां चक्रे दक्षः प्रजापतिः॥ पुनर्माहेश्वरं भागं ध्रुवं दक्षः प्रजापतिः। यज्ञे न कल्पयामास प्रोच्यमानः सुरैरपि॥ ऋचः पशुपतेर्याश्च शैव्य आहुतयश्च याः। यज्ञसिद्धिप्रदास्ताभिर्हीनं चैव स इष्टवान्॥ अथोत्तीर्णव्रतो देवो बुद्ध्वा दक्षव्यतिक्रमम्। रुद्रो रौद्रं पुरस्कृत्य भावमात्मविदात्मनः॥ सृष्ट्वा ललाटे चक्षुर्वै दग्ध्वा तानसुरान् प्रभुः। बालं क्रोधाग्निसन्तप्तमसृजत् सत्रनाशनम्॥ ततो यज्ञः स विध्वस्तो व्यथिताश्च दिवौकसः। दाहव्यथापरीताश्च भ्रान्ता भूतगणा दिशः॥ अथेश्वरं देवगणः सह सप्तर्षिभिर्विभुम्। तमृग्भिरस्तुवन् यावच्छैवे भावे शिवः स्थितः॥ शिवं शिवाय भूतानां स्थितं ज्ञात्वा कृताञ्जलिः। भिया भस्मप्रहरणस्त्रिशिरा नवलोचनः॥ ज्वालामालाकुलो रौद्रो ह्रस्वजङ्घोदरः क्रमात्। क्रोधाग्निरुक्तवान् देवमहं किं करवाणि ते॥ तमुवाचेश्वरः क्रोधं ज्वरो लोके भविष्यति। जन्मादौ निधने च त्वमपचारान्तरेषु च॥ (च. चि. अ. ३) द्वितीय कथा यह भी है कि दक्ष प्रजापति की कन्या सती ने अपने पिता के विरोध करने पर भी स्वयंवर में शङ्करजी को ही वरण किया। इसी पूर्वविरोधवश उसने अपने प्रारब्ध महान् यज्ञ में शङ्करजी को निमन्त्रण नहीं भेजा किन्तु शङ्करजी के मना करने पर भी सती अपने पिता के उस यज्ञ में गई किन्तु वहाँ उसका सम्मान नहीं किया गया तथा वहाँ शङ्करजी के लिये भी आदर का स्थान नहीं था। इस अनादर से सती ने योगाग्नि द्वारा अपना शरीर भस्म कर डाला। इस वृत्तान्त के प्राप्त होते ही शिवगणों ने युद्ध प्रारम्भ कर दिया तथा शङ्करजी ने भी वहाँ जाकर अपने तृतीय नेत्र को खोलकर क्रोधपूर्वक श्वास छोड़ा जिससे ज्वर रोग की उत्पत्ति हुई। कुछ लोगों का विचार है कि सती ने उसी हवनकुण्ड में अपने को भस्म कर डाला। इस वृत्तान्त से क्रुद्ध हुये शङ्कर जी ने वहाँ जाकर तुमुल युद्ध किया जिसमें अनेक संहारक व विषैले अस्त्रों का प्रयोग किया जिसके परिणाम में अनेक रोगों की उत्पत्ति के साथ ज्वर भी

उत्पन्न हुआ। आधुनिक समय में भी एटम बम के प्रयोग होने से अनेक रोग उत्पन्न हुये दिखाई दे रहे हैं अतः उक्त घटना भी नितान्त सत्य है। जो प्रत्यक्षवादी इसे काल्पनिक मानते हों उन्हें यह उत्तर दिया जा सकता है कि कोपोद्भव का अर्थ तैजसोद्रेक मान लिया जाय एवं क्रोध से पित्त भी प्रकुपित होता है—(क्रोधात्पित्तम्) तथा पित्त को अग्नि से अभिन्न भी माना है—(न हि पित्तव्यतिरेकादन्योऽग्निरुपलभ्यते) पित्त के बिना शरीर में कोई ऊष्मा नहीं है और बिना ऊष्मा के ज्वर भी नहीं हो सकता—ऊष्मा पित्तादृते नास्ति ज्वरो नास्त्यूष्मणा विना। तस्मात्पित्तविरुद्धानि त्यजेत् पित्ताधिकेऽधिकम् ॥ दक्ष का अर्थ वायु तथा रुद्र का अर्थ अग्नि भी है एवं मिथ्याहारविहार से दक्ष (वायु) का अपमान (विषमता या विकृति) होने से रुद्र (अग्नि) भी प्रकुपित हो जाती है और उस अग्नि (पित्त) के प्रकुपित होने से ज्वर का होना स्वाभाविक है। बलवर्णाग्निसादकः—अत्रास्य ज्वरस्याग्निनाशकत्वं चरके प्रदर्शितं यथा—'स यदा प्रकुपितः प्रविश्यामाशयमूष्मणा सह मिश्रीभूयाद्यमाहारपरिणामधातुं रसनामानमन्वेत्य रसस्वेदवहानि स्रोतांसि पिधायाग्निमुपहत्य पक्तिस्थानादूष्माणं बहिर्निरस्य केवलं शरीरमनुप्रपद्यते, तदा ज्वरमभिनिर्वर्तयति' (च. नि. अ. १) रोगराट्—ज्वर रोगों में प्रथम उत्पन्न होने से रोगों का राजा माना गया है—(स सर्वरोगाधिपतिरिति चरकः) देहेन्द्रियमनस्तापी सर्वरोगाग्रजो बली। ज्वरः प्रधानो रोगाणामुक्तो भगवता पुरा॥ रोगसंघातः—ज्वर की योग्य समय में तथा उचित रूप से चिकित्सा न करने से अनेक कासश्वास, रक्तपित्त, रक्तातिसार, यकृत्प्लीहवृद्धि, पाण्डुतादि रोग उपद्रवस्वरूप उत्पन्न हो जाते हैं अतएव इसे दुश्चिकित्स्य भी माना है—('नान्ये व्याधयस्तथा दारुणा बहूपद्रवा दुश्चिकित्स्याश्च यथाऽयम्')। ज्वरः—'ज्वरयति सन्तापयति शरीराणीति ज्वरः' अर्थात् इसमें प्राणियों का शारीरिक व मानसिक सन्ताप बढ़ जाता है—'ज्वरःप्रत्यात्मिकं लिङ्गं सन्तापो देहमानसः' अतः इसे ज्वर कहते हैं। सन्तापलक्षण को ज्वर कहा है—'ज्वरस्त्वेक एव सन्तापलक्षणः' यह सन्ताप देह, इन्द्रियों और मन में होता है—'देहेन्द्रियमनस्तापकरः'। देह का सन्ताप शरीर के अत्यधिक उष्ण हो जाने से प्रतीत होता है तथा इन्द्रिय व मन के ताप का परिज्ञान संज्ञाविकृति, बेचैनी और मनोग्लानि से होता है—'वैचित्यमरतिर्ग्लानिर्मनःसन्तापलक्षणम्'। ज्वर के अनेक पर्याय भी हैं—ज्वरो विकारो रोगश्च व्याधिरातङ्क एव च। एकोऽर्थो नामपर्यायैर्विविधैरभिधीयते॥ क्षयस्तमो ज्वरः पाप्मा मृत्युश्चोक्ता यमात्मकाः। व्यापित्वात्—अर्थात् ज्वर की उत्पत्ति सर्व प्राणियों में होती है—'ज्वरेणाविशता भूतं नहि किञ्चिन्न तप्यते' यह सर्व योनियों या चराचर सृष्टि में होता है तथा अनेक नामों से पुकारा जाता है—'नानातिर्यग्योनिषु च बहुविधैः शब्दैरभिधीयते'। नानाविधैः शब्दैरिति—हस्तिषु पाकलो, गोषु खेरिको, मत्स्यानामिन्द्रजालो, विहङ्गानां आमरक इत्यादि। जैसा कि पालकाप्यविरचित हस्त्यायुर्वेद के महारोग स्थान के नवमाध्याय में इस विषय का निम्न स्पष्टीकरण दिया गया है—पाकलः स तु नागानामभितापस्तु वाजिनाम्। गवामीश्वरसञ्ज्ञश्च मानवानां ज्वरो मतः॥ अजावीनां प्रलापाख्यः करभे चालसो भवेत्। हारिद्रो महिषीणान्तु मृगरोगो मृगेषु च॥ पक्षिणामभिघातस्तु मत्स्येष्विन्द्रमदो मतः। पन्नगतः पतङ्गानां व्याडेष्वक्षिकसंज्ञितः॥ तथाऽन्यत्रापि—जलस्य नीलिका भूमेरूपरो वृक्षस्य कोटरः। अन्तसम्भवात्—अर्थात् किसी अन्य व्याधि से ग्रस्त पुरुष भी अन्त में ज्वर से आक्रान्त होकर ही मरता है अतएव चरकाचार्य ने लिखा है—'सर्वे प्राणभृतः सज्वरा एव जायन्ते सज्वरा एव म्रियन्ते च॥' (च. नि. अ. १) ज्वरप्रभावो जन्मादौ निधने च महत्तमः। तस्य प्राणिसपत्नस्य ध्रुवस्य प्रलयोदये॥ (च. चि. अ. ३) अन्तकः—'रुग्णस्य अन्तकारित्वादन्तकः'। ज्वरस्य मूर्त्तिमत्त्वं यथा—रुद्रकोपाग्निसम्भूतः सर्वभूतप्रतापनः। त्रिपाद् भस्मप्रहरणस्त्रिशिराः सुमहोदरः॥ वैयाघ्रचर्मवसनः कपिलो माल्यविग्रहः। पिङ्गेक्षणो ह्रस्वजङ्घो बीभत्सो बलवान् महान्॥ पुरुषो लोकनाशार्थमसौ ज्वर इति स्मृतः॥ (भावप्रकाश) हरिवंशपुराणेऽपि—ज्वरस्त्रिपादस्त्रिशिराः षड्भुजो नवलोचनः। भस्मप्रहरणो रौद्रः कालान्तकयमोपमः॥

इति सुश्रुतसंहितायां उत्तरतन्त्रान्तर्गतकायचिकित्साभाषाटीकायां ज्वरप्रतिषेधो नामैकोनचत्वारिंशत्तमोऽध्यायः॥

चत्वारिंशत्तमोऽध्यायः।

अथातोऽतीसारप्रतिषेधं व्याख्यास्यामः॥ १॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः॥ २॥

अब इस (ज्वर चिकित्सा) के अनन्तर यहाँ से अतिसारप्रतिषेध नामक अध्याय का व्याख्यान करते हैं जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने कहा है॥ १-२॥

विमर्शः—ज्वर में अग्नि के मन्द हो जाने के कारण तथा पित्तज्वर में अतिसार का पाठ होने से ज्वर और अतिसार एक दूसरे के उपद्रव स्वरूप में हो जाने के कारण ज्वरप्रतिषेध के अनन्तर अतिसार के कारण, लक्षण और चिकित्सा आदि का ज्ञान करना अत्यावश्यक हो जाता है अतः अब अतिसारप्रतिषेधाध्याय प्रारम्भ किया गया है। अतिसारव्युत्पत्तिः—अतिसरणम् अतीसारः, अर्थात् अप्राकृत तथा प्रायशः जलबहुल मल का पुनःपुनः परित्याग ही अतिसार कहलाता है जैसा कि कहा भी है—अतिरत्यर्थवचने सरतिर्गतिकर्मणि। तस्मादत्यन्तसरणादतीसार इति स्मृतः॥ (सुश्रुते डल्हणः) अन्यच्च—'गुदेन बहुद्रवसरणमतिसारः'। (मधुकोष) अतीवसरणं यत्र सोऽतिसारो निगद्यते। विड्भेदः प्रायशो ह्यत्र जलवद् भूरिवाल्पशः॥ अतिसारोत्पत्तिः—दीर्घसत्रेण यजतः पृषध्रस्य महात्मनः। आलम्भ्याः पशवः क्षीणास्ततो गावः प्रकल्पिताः॥ तासामुपाकृतानाञ्च गवामत्यर्थसेवनात्। असात्म्यत्वादधोगत्वात् गौरवाच्च विशेषतः॥ अतिस्नेहाच्च संक्षीणो जाठरोऽग्निस्तदा किल। अतीसारः पुरोत्पन्नो दोषधातुमलाश्रयः॥

गुर्वतिस्निग्धरूक्षोष्णद्रवस्थूलातिशीतलैः।
विरुद्धाध्यशनाजीर्णैरसात्म्यैश्चापि भोजनैः॥३॥
स्नेहाद्यैरतियुक्तैश्च मिथ्यायुक्तैर्विषाद्भयात्।
शोकाद् दुष्टाम्बुमद्यातिपानात् सात्म्यर्त्तुपर्ययात्॥४॥
जलातिरमणैर्वेगविघातैः कृमिदोषतः।
नृणां भवत्यतीसारो लक्षणं तस्य वक्ष्यते॥५॥

अतिसारनिदानम्—मात्रा, गुण, विपाक और स्वभाव से गरिष्ठ जैसे मात्रा (प्रमाण), गुरु, रक्तशाली आदि एवं स्वभाव-

गुरु उड़द की दाल, अतिस्निग्ध, अतिरूक्ष, अति उष्ण, अति द्रव, अतिस्थूल और अतिशीतल पदार्थों का सेवन एवं विरुद्धाशन, अध्यशन, अजीर्ण और असात्म्य भोजन करने से तथा स्नेहन, स्वेदन, वमन, विरेचन, अनुवासन और निरूहण वस्ति इनके अत्यधिक प्रयोग से तथा मिथ्या प्रयोग से एवं विषप्रयोग, भय, शोक, दूषित जल तथा मद्य के अतिपान करने से एवं सात्म्यविपरीत आहार-विहार तथा ऋतुविपरीत आहार-विहार के सेवन से एवं अधिक जलक्रीड़ा, अधारणीय वेगों के धारण से तथा क्रिमिदोष से मनुष्यों में अतिसार होता है। इसके अनन्तर इसका लक्षण कहा जायगा ॥ ३-५ ॥

विमर्शः—स्थूलं=संहननावयवं लड्डुपिष्टकादि। शीतल अर्थात् स्पर्श और वीर्य में शीतल। विरुद्ध अर्थात् संयोग, देश, काल और मात्रा से विरुद्ध, संयोगविरुद्ध जैसे क्षीर और मछली का एक साथ सेवन। 'क्षीरमत्स्यादि यदभुक्तं तद्विरुद्धाशनं मतम्' मात्राविरुद्ध जैसे घृत और मधु का समान मात्रा में प्रयोग। अध्यशन—'भुक्तं पूर्वान्नशेषे तु पुनरध्यशनं मतम् ॥' (च. चि. अ. १५) अन्यच्च—'अजीर्णे भुज्यते यत्तु तदध्यशनमुच्यते'। अजीर्णः—आमाजीर्ण, विदग्धाजीर्ण, विष्टब्धाजीर्ण, रसशेषाजीर्ण आदि। असात्म्य भोजन—देश, काल, प्रकृति आदि के अनुरूप सात्म्य भोजन कहलाता है तथा तद्विपरीत असात्म्य भोजन है, एवं बासी, सड़ा, गला, जला हुआ भोजन भी असात्म्य होता है, इसी प्रकार हीनमात्र, अतिमात्र एवं प्रमित भी असात्म्य होता है, विषम भोजन भी असात्म्य कहलाता है—'बहु स्तोकमकाले च भुक्तं यद्विषमं हि तत्' स्नेहादि का अतियोग, 'सर्पिस्तैलं वसा मज्जा स्नेहोप्युक्तश्चतुर्विधः'। विषाद्=स्थावरविषाद् दूषीविषाद्वा। सात्म्यविपर्ययोऽसात्म्यं तच्च द्विविधं प्रकृतिसात्म्यमभ्याससात्म्यञ्च। क्रिमिदोषत इति क्रिमिभिः पक्वाशयदूषणात् क्रिमिजनितवातादिकोपाद्वा। आधुनिक विचार से अतिसार को Diarrhoea कहते हैं तथा इसकी उत्पत्ति में दो परिणाम होते हैं—(१) आन्त्रतीव्रगति (Rapid paristalsis), (२) आन्त्रगत उद्रेचन, पाचन एवं शोषण में परिवर्तन। कारण—आयुर्वेद में जो गुर्वतिस्निग्धरूक्षोष्णैः आदि श्लोकों द्वारा इसके उत्पन्न होने के कारण लिखे गये हैं वे साक्षात् या परम्परया सर्वप्रथम आन्त्र में उक्त दो प्रकार की परिस्थितियों को उत्पन्न करते हैं जिसके फलस्वरूप मल का त्याग अप्राकृत एवं अधिक बार होता है। आधुनिकों ने इसके निम्न कारण माने हैं—(१) उत्तेजक भोजन (Irritating food) से आज्ञावाही तन्तु (Motor nerves) अत्यधिक उत्तेजित हो आन्त्रगति बढ़ा कर अतिसार उत्पन्न करते हैं। संखिया आदि विष तथा विरुद्धाशन आदि इसी वर्ग में आते हैं। भौतिक या रासायनिक कारण भी आन्त्रगति बढ़ाने में सहायक होते हैं। रासायनिक कारणों में जीवाणुजन्य, खाद्यपदार्थजन्य तथा मुख द्वारा गृहीत विष का समावेश होता है। विजयरक्षित ने विष से स्थावर विष लिया है क्योंकि उसकी गति अधोगामी है किन्तु कार्तिककुण्डजी ने विष से दूषीविष का ग्रहण किया है क्योंकि दूषीविषलक्षणों में सर्वप्रथम भिन्न पुरीष (अतिसरण) का निर्देश किया है—दूषीविषपरिभाषा—यत् स्थावरं जङ्गमकृत्रिमं वा देहादशेषं यदनिर्गतं तत्। जीर्णं विषघ्नौषधिभिर्हतं वा दावाग्निवातातपशोषितं वा। स्वभावतो वा गुणविप्रहीनं विषं हि दूषीविषतामुपैति॥ अन्यच्च—दूषितं देशकालान्नं दिवास्वप्नैरभीक्ष्णशः। यस्माद् दूषयते धातून् तस्माद् दूषीविषं स्मृतम्॥ दूषीविषलक्षणानि—तेनार्दितो भिन्नपुरीषवर्णो वैगन्ध्यवैरस्ययुतः पिपासी। मूर्च्छन् वमन् गद्गदवाग्विषण्णो भवेच्च दूष्योदरलिङ्गजुष्टः॥ (२) कृमि—इनमें Round worm तथा डिसेण्ट्री उत्पन्न करने वाले परोपजीवी (Parasites) का ग्रहण होता है, जैसे Kocs Coma Bacillus तथा अमीबा (Amoeba)। माधवकार ने भी कृमिरोग के लक्षण में कृमि के उपसर्ग से अतिसार होना प्रधान लक्षण माना है—ज्वरो विवर्णता शूलं हृद्रोगः सदनं भ्रमः। भक्तद्वेषोऽतिसारश्च सञ्जातक्रिमिलक्षणम्॥ आयुर्वेद में विड्भेद (अतिसार) करने वाले कृमियों का नाम सौसुराद आदि रखा है—सौसुरादाः सशूलाख्या लेलिहा जनयन्ति हि। विड्भेदशूलविष्टम्भकार्श्यपारुष्यपाण्डुताः॥ रोमहर्षाग्निसदनं गुदकण्डूर्विमार्गगाः॥ (३) अतिद्रवसेवन—जल की निश्चित मात्रा का शोषण ही बृहदान्त्र कर सकता है किन्तु मात्राधिक्यसेवित द्रव शोषित न होने से आन्त्र की पुरस्सरण गति को बढ़ा कर अतिसार उत्पन्न कर देता है। (४) अतिशीत के कारण आन्त्र प्रथम सङ्कुचित हो जाती है किन्तु पुनः उत्तेजित होकर तीव्र गति करने लगती है जिससे श्लैष्मिक कला से जल का प्रचुर स्राव होकर अधिक पतले दस्त आने लगते हैं। (५) विसूचिका का जीवाणु भी अतिसरण करता है। (६) आन्त्रिकगतिनियन्त्रक नाडीतन्तु व आन्त्रिक पेशियों की अत्यधिक उत्तेजनशीलता भी अतिसार उत्पन्न करती है। उत्तेजना के भिन्न कारण हो सकते हैं—(अ) खाली पेट होने पर किया हुआ भोजन आमाशय में पहुँचते ही आमाशयजन्य आन्त्रिकप्रत्यावर्तन क्रिया (Gastrocolic reflex) को बढ़ा देता है जिससे बृहदान्त्र की गति बढ़ कर श्रोणिगुदीय आन्त्र (Pelvic colon) में भरा हुआ मल यकायक मलाशय में पहुँच जाता है जिससे मलत्यागेच्छा होती है। (आ) बीड़ी या सिगरेट से मलत्यागप्रवृत्ति, शीतजलपान या उष्णजलपान से मलत्यागप्रवृत्ति, चङ्क्रमणानन्तर मलत्यागप्रवृत्ति, चाय लेने पर मलत्याग प्रवृत्ति। यद्यपि इन दशाओं की अतिसाररूपी रोग में गणना नहीं है किन्तु इन प्रत्यावर्तन क्रियाओं की अधिकता से जब बार-बार मलत्याग होने लगता है तो वह अतिसार की गणना में समाविष्ट हो जाता है। (इ) वातनाडीजन्य (Nervous) भय तथा शोक के कारण उत्पन्न होने वाले अतिसारों का इसमें समावेश होता है। आयुर्वेद का सिद्धान्त है कि काम, शोक और भय से वायु प्रकुपित होता है 'कामशोकभयाद्वायुः'। प्रत्यक्ष देखने में आता है कि जब कोई व्यक्ति शेर या खूँखार डाकू को देख लेता है तो उसी समय वह मल और मूत्र को त्यागने लगता है। परीक्षाभवन में प्रवेश होने के समय बहुत से परीक्षार्थियों को भय से मूत्र त्यागना पड़ता है। वाग्भटाचार्य ने भी लिखा है कि भय और शोक से प्रथम चित्त क्षुभित हो जाता है, तदनन्तर वायु भी प्रकुपित होकर पित्त को अनुबन्ध बना के उष्ण और द्रव मल का अतिसरण कराता है—भयेन क्षोभिते चित्ते सपित्तो द्रावयेच्छकृत्। वायुस्ततोऽतिसार्येत क्षिप्रमुष्णं द्रवं प्लवम्॥ वातपित्तसमं लिङ्गैराहुस्तद्वच्च शोकतः॥ ये दोनों अतिसार आगन्तुक

हैं—'आगन्तू द्वावतीसारौ मानसौ भयशोकजौ'। (६) उपद्रवस्वरूपातिसार—पैत्तिक तीव्रज्वर, ग्रहणीशोथ (Intestinal T. B.), क्षुद्रान्त्रशोथ (Interitis), बृहदन्त्रशोथ (Colitis) आदि रोगों में ऐसा औपद्रवस्वरूपी अतिसार हो जाता है। (७) अतिस्निग्ध पदार्थों के पाचन के लिये पित्त (Bile) की अधिक आवश्यकता होती है तथा आन्त्र में अधिक स्रवित पित्त अतिसार का जनक हो जाता है। (८) दुष्टाम्बुमद्यपान–दूषित जल तथा मद्य एवं अदूषित जल तथा मद्य के भी अधिक मात्रा में पीने से अतिसार उत्पन्न होता है। मद्य पित्तवर्द्धक होने से अतिसारजनक है, जैसा कि चरकाचार्य ने लिखा है—'प्रदुष्टमद्यपानीयपानादतिमद्यपानादतीसारः'। पर्वत का पानी भी अतिसारजनक होता है। ऐसे अतिसार को पर्वतीयातिसार (Hill-Diarrhoea) कहते हैं।

> संशम्यापां धातुरन्तःकृशानुं
> वर्चोमिश्रो मारुतेन प्रणुन्नः।
> वृद्धोऽतीवाधःसरत्येष यस्माद्
> व्याधिं घोरं तं त्वतीसारमाहुः॥ ६ ॥

अतिसारसम्प्राप्ति—अत्यधिक मात्रा में बढ़ा हुआ जलीय गुणधर्मी शारीरिक धातु (कफ, रस, पित्त, मेद, रक्त, स्वेद, मूत्र) आभ्यन्तरिक पाचकाग्नि (किंवा त्रयोदशविधाग्नि) को शान्त (मन्द) कर मल के साथ मिल के वायु के द्वारा प्रेरित होकर अधोमार्ग (गुद) से प्रचुर मात्रा में बाहर निकलता है, अतएव इस भयङ्कर व्याधि को अतिसार कहते हैं॥ ६॥

विमर्शः—चरकाचार्य ने विभिन्न दोषों से उत्पन्न होने वाले अतिसारों की सम्प्राप्ति भिन्न-भिन्न प्रकार से लिखी है—अथावरकालं वातलस्य वातातपव्यायामातिमात्रनिषेविणो रूक्षाल्पप्रमिताशिनस्तीक्ष्णमद्यव्यवायनित्यस्योदावर्तयतश्च वेगान् वायुः प्रकोपमापद्यते, पक्ता चोपहन्यते, स वायुः कुपितोऽप्धातुमुपहते मूत्रस्वेदौ पुरीषाशयमुपहत्य, ताभ्यां पुरीषं द्रवीकृत्य, अतिसाराय प्रकल्पते। पित्तलस्य पुनरम्ललवणकटुकक्षारोष्णतीक्ष्णातिमात्रनिषेविणः प्रतप्ताग्निसूर्यसन्तापोष्णमारुतोपहतगात्रस्य क्रोधेर्ष्याबहुलस्य पित्तं प्रकोपमापद्यते, तत्प्रकुपितं द्रवत्वादूष्माणमुपहत्य पुरीषाशयविसृतमौष्ण्याद् द्रवत्वात् सरत्वाच्च भित्त्वा पुरीषमतिसाराय प्रकल्पते। श्लेष्मलस्य तु गुरुमधुरशीतस्निग्धोपसेविनः सम्पूरकस्याचिन्तयतो दिवास्वप्नपरस्यालसस्य श्लेष्मा प्रकोपमापद्यते। स स्वभावाद् गुरुमधुरशीतस्निग्धः स्रस्तोऽग्निमुपहत्य सौम्यस्वभावात् पुरीषाशयमुपहत्योपक्लेद्य पुरीषमतिसाराय कल्पते। इत्यादि। (च. चि.अ. १९) आधुनिक सम्प्राप्ति—(१) पाचकरसों की कमी से अजीर्ण तथा अजीर्णजन्य विषप्रभाव से अतिसार उत्पन्न होता है। (२) श्लैष्मिककलोत्तेजन—अन्नविष, आगन्तुकविष, दूषित जल एवं भोजन से श्लैष्मिककला उत्तेजित हो जाती है। (३) तीव्रान्त्र गति (Rapid Parastalsis)—इसी के कारण मल नीचे को ढकेला जाता है तथा उसका शोष नहीं होता है। इसी आशय को सुश्रुताचार्य ने 'वायुनाऽधः प्रणुन्नः' स्पष्ट किया है। (४) श्लैष्मिककलोत्तेजना के फलस्वरूप आन्त्रगत केशिकाओं का विस्फार होकर उनसे लसीका (जलीयधातु) का स्राव अधिक मात्रा में होकर मल पतला हो अतिसार के रूप में निकलता है। जलीयधातु की अत्यधिक वृद्धि पाचकाग्नि को मन्द करने तथा आन्त्रगतिवर्द्धन में सहायक होती है, इसी आशय को सुश्रुत ने 'संशम्यापां धातुरग्निं प्रवृद्धः' से स्पष्ट किया है। गणनाथसेनजी का भी यही मत है—अब्धातवं हि तरलं शकृदन्त्रेषु तिष्ठति। त्वरया सार्यते तच्चेत् सामान्यात्सोऽतिसारकः॥ आप्यो धातुः शोणितस्यान्त्रमध्ये परिस्रुतो जालकेभ्यः प्रभूतः। स्रवेद्यदा विड्विमिश्रोऽन्यथा वा सोऽतीसारो दारुणो धातुशोषी॥ आन्त्रस्थित केशिकाओं के रक्त से निकली हुई लसीका मल के साथ निकलती है। आयुर्वेदिक सम्प्राप्ति में स्वेद तथा मूत्र का पुरीषाशय में आकर मल को पतला करना असंगत प्रतीत होता है क्योंकि इनके आशयों का आन्त्र से कोई साक्षात् सम्बन्ध नहीं है तथापि अत्यधिक अतिसार में स्वेदावरोध तथा मूत्राल्पता अवश्य होती है। उसका कारण रक्त में जलीयभाग का अल्प हो जाना है क्योंकि इस समय में आन्त्रस्थ श्लैष्मिककला की केशिकाएँ विस्तृत हो जाती हैं तथा उनसे रक्तस्थ जलीय धातु का स्राव आन्त्र में अधिक होता रहता है, जैसे कि विसूचिका में स्पष्ट है। सम्भवतः आचार्य का अभिप्राय इन रक्तवाहिनियों द्वारा स्वेद और मूत्र का आन्त्र में आने का हो किन्तु मूत्र के जो कण्टेण्ट हैं वे नहीं आते हैं। मूत्राशयगत तथा त्वग्गत रक्तनलिकाओं का जलीयभाग अवश्य आन्त्र में आकर स्रवित हो सकता है।

> एकैकशः सर्वशश्चापि दोषैः
> शोकेनान्यः षष्ठ आमेन चोक्तः।
> केचित् प्राहुर्नैकरूपप्रकारं
> नैवेत्येवं काशिराजस्त्ववोचत्॥ ७ ॥
> दोषावस्थास्तस्य नैकप्रकाराः
> काले काले व्याधितस्योद्भवन्ति॥ ८ ॥

अतिसारभेद—वातिक, पैत्तिक, श्लैष्मिक, सान्निपातिक, शोकज तथा आमदोषजन्य ऐसे छः प्रकार का अतिसार होता है। केचित् हारीतादि आचार्यों ने अतिसार को एक प्रकार का न कहकर द्वन्द्व आदि भेद से अनेक प्रकार का कहा है किन्तु काशिराज धन्वन्तरि का कथन है कि यह उचित नहीं है क्योंकि आमावस्था, पक्वावस्था और रक्ताद्यवस्थायें दोषों की अवस्थाएँ ही हैं जो भिन्न-भिन्न समय में उस अतिसारी रोगी में उत्पन्न होती रहती हैं॥ ७–८॥

विमर्शः—सुश्रुताचार्य ने अतिसार के वातज, पित्तज, कफज, सान्निपातिक, शोकज, आमज छः भेद माने हैं। चरकाचार्य ने वातज, पित्तज, कफज, सान्निपातिक, भयज और शोकज छः ही भेद माने हैं। वाग्भटाचार्य ने भी चरकवत् छः ही माने हैं—दोषैर्व्यस्तैः समस्तैश्च भयाच्छोकाच्च षड्विधः॥ श्रीगणनाथसेनजी ने प्रथम अतिसार के दो विभाग कर दिये हैं (१) साम और (२) निराम—'द्विविधः स्यादतीसारो सामो वाऽथ निरामकः।' सामः साटोपविष्टम्भपूतिविट्कोऽपरोऽन्यथा॥ जैसा कि चरकाचार्य ने भी प्रत्येक अतिसार की आमावस्था और पक्वावस्था स्वीकृत की है, इसी लिये आमातिसार को पृथक् नहीं माना। सुश्रुताचार्य ने भी कहा है कि अतिसारों की चिकित्सा में आम और पक्व क्रम का बिना विचार किये चिकित्सा हितकर नहीं होती है अतः सर्वविध अतिसारों में आम और पक्व का ज्ञान अत्यावश्यक

होता है—आमपक्वक्रमं हित्वा नातिसारे क्रिया हिता। अतः सर्वातिसारेषु ज्ञेयं पक्वामलक्षणम् ॥ सुश्रुताचार्य ने भयज अतिसार न मान कर उसके स्थान पर आमज अतिसार माना है जो कि अतिसारों की आमावस्था से पृथक् तात्पर्य रखता है। इस विषय में सुश्रुत का कथन है कि यह आमातिसार आमदोष से ही उत्पन्न होता है। आमज अतिसार की उत्पत्ति में दोष आम के संसर्गी एवं प्रेरक होते हैं, साक्षात् आरम्भक नहीं होते। आमदोष की उत्पत्ति दूषित अन्न से होती है तथा यह आम वातादि दोषों से संयुक्त एवं प्रेरित होकर रक्त के समान विविध व्याधियों को उत्पन्न करता है, जैसे आमाजीर्ण तथा तज्जन्य विसूचिका आम से ही उत्पन्न होते हैं। यत्रस्थमामं विरुजेत्तमेव देशं विशेषेण विकारजातैः। दोषेण येनावततं शरीरं तल्लक्षणैरामसमुद्भवैश्च ॥ इस श्लोक से स्पष्ट है कि दोष आम के संसर्गी एवं प्रेरक होते हैं आरम्भक नहीं। इस प्रकार आमजन्य व्याधियों में अनुबन्धी दोषों के लक्षणों के अतिरिक्त आम के विशेष लक्षण पाये जाते हैं। जैसा कि आमवात रोग इसका प्रमुख उदाहरण है। पित्तानुबन्धी आम में दाह और राग, वातानुबन्धी आम में शूल तथा कफानुबन्धी आम में स्तिमितता, गुरुता और कण्डू्—पित्तात्सदाहरागञ्च सशूलं पवनानुगम्। स्तिमितं गुरु कण्डूञ्च कफदुष्टं तमादिशेत् ॥ इस तरह आमदोष की स्वतन्त्र सत्ता सिद्ध हो जाने पर आमजन्यातिसार की स्वीकृति युक्तियुक्त प्रतीत होती है। सुश्रुताचार्य का मत है कि भय से वायु का प्रकोप होता है अतएव भयजन्य अतिसार को पृथक् न मानकर उसका वातिक अतिसार में ही समावेश कर देना चाहिए। जेजटाचार्य का कथन है कि भय का प्रभाव मन पर होता है अतएव इसे शोकज में अन्तर्भूत कर सकते हैं। चरकाचार्य का भयज और शोकज अतिसारों को पृथक् मानने का यह तात्पर्य है कि इनका लक्षण, संज्ञा और कार्य में भेद है तथा हेतुप्रत्यनीक (हेतुविपरीत) चिकित्सार्थ ये पृथक् होने चाहिये। इस तरह चरक ने शोकज तथा भयज अतिसार के लक्षण और चिकित्सा में भेद बताकर उनका पृथक् निर्देश किया है। आम तथा त्रिदोष की उत्पत्ति अजीर्ण से होती है अतएव कारणसाम्य से आमातिसार को सन्निपातातिसार में समाविष्ट कर दिया है। यद्यपि शोकज का वातज तथा आमज अतिसार का सन्निपातज में समावेश हो सकता है तथापि सुश्रुताचार्य ने हेतुप्रत्यनीकचिकित्साप्रतिपादनार्थं दोनों को पृथक् माना है। शोकज के चिकित्सार्थ आश्वासन तथा आमातिसार के लिये पाचक औषधियों का प्रयोग किया जाता है। शोकजन्य में केवल वातोपचार एवं आमजन्य में केवल त्रिदोषशामक चिकित्सा करनेसे पूर्ण कार्य निर्वाह नहीं होता, जैसे पाण्डुरोग वातादिजन्य ही होते हैं किन्तु उनमें मृत्तिकाजन्य भी एक भेद माना गया है क्योंकि चिकित्सा में वातादिनाशक उपचार करने पर भी जब तक मृत्तिका सेवन का परित्याग न किया जाय वह ठीक नहीं होता—संक्षेपतः क्रियायोगो निदानपरिवर्जनम् ॥ यही युक्ति चरक के भयज और शोकज अतिसारों के पृथक् मानने में है। द्वन्द्वज अतिसारों का वर्णन प्रकृतिसमसमवायारब्ध होने से नहीं किया। व्याधिस्वभाव के कारण अतिसार विकृतिविषमसमवायारब्ध नहीं होता। गणनाथसेनजी ने अतिसारों के प्रथम आम और पक्व ऐसे दो भेद करके फिर कारणानुसार निम्न भेद किये हैं—(१) अन्नविषजन्य, (२) विषमक्षणजन्य, (३) क्रिमिदोषजन्य, (४) रक्तातिसार, (५) मानसहेतुजन्य, (६) ग्रहणीदौर्बल्यजन्य। आधुनिक चिकित्सा-विज्ञान में अनेक दृष्टिकोणों से अतिसार के विभिन्न भेद किये हैं—(१) मिथ्यातिसार (Pseudo Diarrhoea), (२) वास्तविकातिसार। स्थाई और अस्थाई भेद से भी दो विभाग किये गये हैं। स्थाई अतिसार का कारण आन्त्र की रचनात्मक विकृतियाँ, जैसे आन्त्रार्बुद, यक्ष्मा, आन्त्र में विसूचिका, टाइफोइड, B. Dys, E. H. Dys, Acute ulcerative colitis, Sprue, अग्न्याशय के रोग, प्रतिहारिणीसिरावरोध (Portal obstruction) वार्द्धक्यातिसार (Senile Diorrhoea)। अस्थाई अतिसार का कारण—धैर्यनाश, आहारविहारवैषम्य, तापपरिवर्तन (Summer Diarrhoea), शीत तथा विषप्रभाव, दूषित भोजन, शैशवीयातिसार (Infentile Diarrhoea), आन्त्रकृमि, पर्वतातिसार (Hill Diarrhoea), गुदा के पास विकृति। तीव्र (Acute) और चिरकालिक (Chronic) भेद से भी अतिसार के दो विभाग किये गये हैं।

हृन्नाभिपायूदरकुक्षितोद-
गात्रावसादानिलसन्निरोधाः।
विट्सङ्ग आध्मानमथाविपाको
भविष्यतस्तस्य पुरःसराणि ॥ ९ ॥

सर्वातिसारपूर्वरूप—हृदय, नाभि, पायु (गुद), उदर तथा कुक्षि (कोख = उदर के एक प्रदेश) में सूई चुभोने की सी पीड़ा होना, अङ्गों का अवसाद (शिथिल) होना, अपान वायु का सन्निरोध, मल का अवरोध, पेट का फूलना तथा अन्न का अपचन—ये होने वाले अतिसार के पूर्वरूप हैं ॥ ९ ॥

विमर्शः—पूर्वरूप में जो लक्षण अपानवातनिरोध, मलविबन्ध और आध्मान बताये हैं ये दोष और दूष्यों के संयोग से होते हैं किन्तु जब रोग की रूपावस्था (प्रकटता) हो जाती है तब ये लक्षण नहीं रहते। यदि ये ही लक्षण रूपावस्था में रहें तो अतिसरण रूपी रोग ही नहीं हो सकता।

शूलाविष्टः सक्तमूत्रोऽन्त्रकूजी
स्रस्तापानः सन्नकट्यूरुजङ्घः।
वर्चो मुञ्चत्यल्पमल्पं सफेनं
रूक्षं श्यावं सानिलं मारुतेन ॥१०॥

वातातिसारलक्षण—वातातिसार में रोगी उदरशूल से पीड़ित रहता है, उसका मूत्र रुक जाता है या अल्प होता है, उसके आन्त्र में कूजन (गुड़-गुड़ शब्द) होता है, उसकी गुदा शिथिल रहती है या बाहर निकल आती है, इसी प्रकार उसकी कटि, ऊरु और जंघाएँ भी शिथिल हो जाती हैं तथा वह रोगी फेनयुक्त, रूखा और श्याव (काला सा) थोड़ा थोड़ा मल त्यागता है व मलत्याग के साथ वायु की आवाज होती रहती है। ये वातातिसार के लक्षण हैं ॥ १० ॥

विमर्शः—माधवकार ने वातातिसार के लक्षणों में केवल मल के ही लक्षण लिखे हैं—अरुणं फेनिलं रूक्षमल्पमल्पं मुहुर्मुहुः। शकृदामं सरुक्शब्दं मारुतेनातिसार्यते॥ किन्तु चरक, सुश्रुत,

वाग्भट (बृहत्त्रयी) ने मललक्षणों के अतिरिक्त गुदा में होने वाली परिस्थिति तथा सर्वशरीरगत लक्षणों के साथ मल के लक्षण लिखे हैं—तस्य रूपाणि विज्जलमामं विप्लुतमवसादि रूक्षं द्रवं सशूलमामगन्धमीषच्छब्दमशब्दं वा विबद्धमूत्रवातमतिसार्यते पुरीषं, वायुश्चान्तःकोष्ठे सशब्दशूलस्तिर्यक् चरति, विबद्ध इत्यामातिसारो वातात् । पक्वं वा विबद्धमल्पाल्पं सशब्दं सशूलफेनपिच्छापरिकर्तिकं हृष्टरोमा विनिःश्वसन् शुष्कमुखः कट्यूरुत्रिकजानुपृष्ठपार्श्वशूली भ्रष्टगुदो मुहुर्मुहुर्विग्रथितमुपवेश्यते पुरीषं वातात्; तमाहुरनुग्रथितमित्येके, वातानुग्रथितवर्चस्त्वात् ॥ (च० चि० अ० १९) वाग्भटे तत्र वातेन विड्जलम् । अल्पाल्पं शब्दशूलाढ्यं विबद्धमुपवेश्यते ॥ रूक्षं सफेनमच्छञ्च ग्रथितं वा मुहुर्मुहुः । तथा दग्धगुडाभासं सपिच्छापरिकर्तिकम् ॥ शुष्कास्यो भ्रष्टपायुश्च हृष्टरोमा विनिष्टनन् ॥ (वा० नि० अ० ८) सभी आचार्यों ने झागयुक्त मल का निर्देश किया है, वास्तव में ऐसे मल का निकलना वातातिसार का प्रधान लक्षण है। आचार्यों ने अरुण या श्याव आदि मल के वर्ण लिखे हैं। यद्यपि वायु रूपरहित होती है तथापि विशिष्ट प्रकार के दोषदूष्यसम्मूर्च्छन की महिमा से मल का उक्तवर्ण वातातिसार में भी पाया जाता है।

दुर्गन्ध्युष्णं वेगवन्मांसतोय-
प्रख्यं भिन्नं स्विन्नदेहोऽतितीक्ष्णम् ।
पित्तात् पीतं नीलमालोहितं वा
तृष्णामूर्च्छादाहपाकज्वरार्त्तः ॥११॥

पित्तातिसारलक्षण—इसमें मल दुर्गन्धयुक्त, गरम, वेग के साथ बाहर निकलने वाला, मांस के धोवन के समान तथा फटा हुआ होता है एवं मल में अत्यन्त तीक्ष्णता लिये हुये पीलापन या नीलापन किंवा रक्तिमा (ललाई) दिखाई देती है एवं रोगी प्यास, बेहोशी, दाह, मुख-गुदादिपाक और ज्वर से पीड़ित होता है। ये पैत्तिक अतिसार के लक्षण हैं ॥ ११ ॥

विमर्शः—चरकोक्तलक्षण—तस्य रूपाणि हारिद्रं हरितं नीलं कृष्णं रक्तपित्तोपहितमतिदुर्गन्धमतिसार्यते पुरीषं, तृष्णादाहस्वेदमूर्च्छाशूलब्रध्नसन्तापपाकपरीत इति पित्तातिसारः । (च० चि० अ० १९) वाग्भटाचार्य ने भी ये ही लक्षण लिखे हैं—'भ्रष्टो गुदः । दाहः सर्वाङ्गे पाको गुद एव'। अतिसार में गुदपाक होना अतिसार का प्रधान लक्षण है—'पित्तादृते पाको न'। पित्त (Bile) की अधिकता से मल पीला तथा रक्तमिश्रण होने से अरुण वर्ण लिखा है। अपक्व पित्त की अधिकता से मल का वर्ण नील या श्याव होता है। मल का अत्यन्त दुर्गन्धित होना भी मल में अपक्व पित्त का बोधक है। आमपक्वपित्तलक्षण—दुर्गन्धं हरितं श्यावं पित्तमम्लं स्थिरं गुरु । अम्लिकाकण्ठहृद्दाहकरं सामं विनिर्दिशेत् ॥ आताम्रं पीतमत्युष्णं रसे कटुकमस्थिरम् । पक्वं विगन्धं विज्ञेयं रुचिपक्तृबलप्रदम् ॥

तन्द्रा निद्रा गौरवोत्क्लेशसादी
वेगाशङ्की सृष्टविट्कोऽपि भूयः ।
शुक्लं सान्द्रं श्लेष्मणा श्लेष्मयुक्तं
भक्तद्वेषी निःस्वनं हृष्टरोमा ॥१२॥

श्लेष्मातिसारलक्षण—इसके कारण रोगी को तन्द्रा, निद्रा, गौरव, उत्क्लेश (जी मिचलाना) और शिथिलता बनी रहती है एवं मल का त्याग कर देने पर भी पुनः मलत्याग की शङ्का बनी रहती है। इसमें मल का स्वरूप श्वेत, सान्द्र (घन, गट्ठयुक्त) होता है तथा वह कफ से लिपटा रहता है, रुग्ण की भोजन करने में इच्छा नहीं होती है। मलत्याग करते समय कोई आवाज नहीं होती है। रुग्ण के शरीर के रोंगटे खड़े हो जाते हैं। अर्थात् मलत्याग के समय रोमाञ्च हो जाता है। ये श्लेष्मातिसार के लक्षण हैं ॥ १२ ॥

विमर्शः—तन्द्रालक्षण—इन्द्रियार्थेष्वसंवित्तिर्गौरवं जृम्भणं क्लमः । निद्रार्तस्येव यस्येहा तस्य तन्द्रां विनिर्दिशेत् ॥ निद्रा—(१) तमोगुण की अधिकता होने पर निद्रा आती है—'निद्राहेतुस्तमःसत्त्वं बोधने हेतुरुच्यते । बाहुल्यात्तमसो रात्रौ निद्रा प्रायेण जायते'। 'रात्रिः स्वभाय भूतानाम् ॥' (२) हृदय (मस्तिष्कस्थित) के तमोगुण से व्याप्त होने पर निद्रा आती है—'हृदयं चेतनास्थानमुक्तं सुश्रुत देहिनाम् । तमोऽभिभूते तस्मिंस्तु निद्रा विशति देहिनाम्'। (३) निद्रा को सर्व प्राणियों की माता के समान माना है अर्थात् माता के समान यह भी सृष्टि की रक्षा तथा क्षतिपूर्ति के लिये अपना पूर्ण यत्न किया करती है—'रात्रिस्वभावप्रभवा मता या तां भूतधात्रीं प्रवदन्ति तज्ज्ञाः' ॥ (४) निद्राभेद—तमोभवा श्लेष्मसमुद्भवा च मनःशरीरश्रमसंभवा च । आगन्तुकी व्याध्यनुवर्तिनी च रात्रिस्वभावप्रभवा च निद्रा ॥ (५) निद्रामाहात्म्य—निद्रायत्तं सुखं दुःखं पुष्टिः कार्श्यं बलाबलम् । वृषता क्लीबता ज्ञानमज्ञानं जीवितं न च ॥ आहारशयनब्रह्मचर्यैर्युक्त्या प्रयोजितैः । शरीरं धार्यते नित्यमागारमिव धारणैः । उत्क्लेश—उत्क्लिश्यान्नं न निर्गच्छेत् प्रसेकष्ठीवनेरितम् । हृदयं पीड्यते चास्य तमुत्क्लेशं विनिर्दिशेत् ॥ (सु० शा० अ० ४) आमाशय में अन्न उत्तप्त होकर बाहर न निकले। आधुनिक इसे Heart burn कहते हैं। पचनसंस्थान की विकृति का यह प्रमुख लक्षण है। आमाशय में अम्लों की राशि अधिक हो जाने से ये अम्ल हृत्प्रदेश में जाकर उत्क्लेश करते हैं। हृदय में कोई विकृति नहीं होती है। यह उत्क्लेश अम्लपित्त, आमाशयिक व्रण तथा अभिस्तरण (Dilatation), जीर्णशोथ तथा अपचन, अजीर्ण (Dyspepsia) में उत्पन्न होता है। गौरवलक्षण—आर्द्रचर्मावनद्धं वा यो गात्रमभिमन्यते । तथा गुरु शिरोऽत्यर्थं गौरवं तद्विनिर्दिशेत् ॥ श्लेष्मा से यहाँ Mucus का ग्रहण किया जा सकता है तथा मल में श्लेष्मा की उपस्थिति श्लैष्मिक अतिसार का मुख्य लक्षण है। कफ के सौम्य होने से उसकी उपस्थिति से शीतानुभव तथा रोमहर्ष होता है। कफ में पिच्छिल धर्म होने से मल में सान्द्रता होती है तथा यदाकदा मल में पूय आने से विस्रगन्धिता होती है। अमीबिक डिसेण्ट्री का मल भी अत्यधिक दुर्गन्धयुक्त होता है तथा उसमें श्लेष्मा (Mucus) का भी निःसरण होता एवं यदा कदा रक्त भी आता है किन्तु श्लेष्मातिसार में रक्त कभी भी नहीं आता है। चरकोक्तश्लेष्मातिसारलक्षण—तस्य रूपाणि स्निग्धं श्वेतं पिच्छिलं तन्तुमदामं गुरु दुर्गन्धं श्लेष्मोपहितमनुबद्धशूलमल्पाल्पमभीक्ष्णमतिसार्यते सप्रवाहिकं गुरूदरगुदबस्तिवङ्क्षणदेशः कृतेऽप्यकृतसंज्ञः सलोमहर्षः सोत्क्लेशो निद्रालस्यपरीतः सदनोऽन्नद्वेषी चेति श्लेष्मातिसारः ॥ (च० चि० अ० १९)

तन्द्रायुक्तो मोहसादास्यशोषी
वर्चः कुर्यान्नैकवर्णं तृषार्त्तः ।

सर्वोद्भूते सर्वलिङ्गोपपत्तिः
कृच्छ्रश्चायं बालवृद्धेष्वसाध्यः ॥ १३ ॥

सन्निपातातिसारलक्षण—इसमें रोगी तन्द्रा से युक्त रहता है तथा मूर्च्छा, शिथिलता और मुखशोष से पीड़ित होता है। रुग्ण तृषा से पीड़ित रहता है एवं विविधवर्ण का मल (वर्च) त्यागता है। इस तरह सर्व दोषों से उत्पन्न अतिसार में सर्व दोषों के लक्षण मिलते हैं। यह अतिसार सामान्यतया कृच्छ्रसाध्य होता है तथा बालक और वृद्धों में असाध्य माना गया है ॥ १३ ॥

विमर्शः—चरकाचार्य ने भी त्रिदोषज अतिसार को अनेक लक्षण युक्त होने से एवं रक्तादि धातुओं के अतिप्रदुष्ट हो जाने से कृच्छ्रसाध्य माना है तथा सोपद्रव होने पर असाध्य भी माना है—'तत्र शोणितादिषु धातुष्वतिप्रदुष्टेषु हारिद्र-हरितनीलमाञ्जिष्ठमांसधावनप्रकाशं रक्तं कृष्णं श्वेतं वराहमेदः-सदृशमनुबद्धवेदनमवेदनं वा समासव्यत्यासादुपवेश्यते शकृद् ग्रथि-तमामं सकृत्, सकृदपि पक्वमनतिक्षीणबलमांसशोणितबलो मन्दाग्नि-विरतमुखरसश्च तादृशमातुरं कृच्छ्रसाध्यं विद्यात्।' सोपद्रवासाध्य-सन्निपातातिसार—'एभिर्वर्णैरतिसार्यमाणं सोपद्रवमातुरमसाध्योऽयमिति प्रत्याचक्षीत; तद्यथा—पक्वशोणिताभं यकृत्खण्डोपमं मेदो-मांसोदकसन्निकाशं दधितैलघृतमज्जतैलवसाक्षीरवेसवाराभमतिनीलमति-रक्तमतिकृष्णमुदकमिवाच्छं पुनर्मेचकाभमतिस्निग्धं हरितनीलकषाय-वर्णं कर्बुरमाविलं पिच्छिलं तन्तुमदामं चन्द्रकोपगतमतिकुणपपूति-पूयगन्ध्यामाममत्स्यगन्धिमक्षिकाकान्तमित्यादि'। (च. चि. अ. १९) माधवकार ने एक श्लोक में सन्निपातातिसार के लक्षण लिख दिये हैं—'वराहस्नेहमांसाम्बुसदृशं सर्वरूपिणम्। कृच्छ्रसाध्यमतीसारं विद्याद्दोषत्रयोद्भवम् ॥' (मा. नि.) वराहस्नेह से शूकर की मेद या मज्जा का ग्रहण होता है। इस प्रकार के मल को वसामल (Fatty stool) कहते हैं। वसा के ठीक तरह से पाचित और शोषित न होने से वह मल के साथ मिश्रित होकर दस्त के समय बाहर निकलती है। प्राइस महोदय ने भी यही कहा है—(Deficient digestion of fat and deficient absorption of fatty acids and soaps give rise to fatty or soap diarrhoea respectively) अग्न्याशय (Pancreas) की विकृति हो जाने से उसका पूर्ण रस न बनने के कारण वसा का पाचन नहीं होता है क्योंकि वसा के पाचन में अग्न्याशय रसप्रधान है।

तैस्तैर्भावैः शोचतोऽल्पाशनस्य
बाष्पावेगः पक्तिमाविध्य जन्तोः।
कोष्ठं गत्वा क्षोभयत्यस्य रक्तं
तच्चाधस्तात् काकणन्तीप्रकाशम् ॥ १४ ॥
वर्चोमिश्रं निःपुरीषं सगन्धं
निर्गन्धं वा सार्यते तेन कृच्छ्रात् ॥
शोकोत्पन्नो दुश्चिकित्स्योऽतिमात्रं
रोगो वैद्यैः कष्ट एष प्रदिष्टः ॥ १५ ॥

शोकजातिसारलक्षण—धन, बन्धुनाश आदि हृदयविदारक कारणों से चिन्तायुक्त एवं स्वल्प भोजन करने वाले मनुष्य के नेत्र, नासा तथा गले से निकलने वाले जलीयस्रावरूपी वाष्प की उष्मा का आवेग (अत्यन्त उद्रेक) कोष्ठ में जाकर पाचकाग्नि को मन्द कर रक्त को क्षुभित कर देता है। इस तरह क्षुभित हुआ यह रक्त गुञ्जाफल के समान स्वरूप वाला हो मल के साथ मिल कर या बिना मिले हुए (मलरहित) तथा गन्ध देता हुआ या निर्गन्ध होकर कष्टपूर्वक गुदमार्ग से निकलता है। इसी को शोकोत्पन्न अतिसार कहते हैं तथा यह अत्यधिक दुश्चिकित्स्य होने के कारण वैद्य इसे कष्टसाध्य मानते हैं ॥ १४-१५ ॥

विमर्शः—अल्पाशनस्य-शोक के कारण मनुष्य अल्प भोजन करता है जिससे उसके रसरक्तादि धातुओं की क्षीणता होकर वायु प्रकुपित हो जाता है, जैसा कि चरकाचार्य ने भी लिखा है—'मारुतो भयशोकाभ्यां शीघ्रं हि परिकुप्यति। क्षोभयेत्तस्य रक्तम्'—शोकवश निर्गत बाष्प उष्ण तथा द्रव स्वभावी होने से स्वसमान गुण वाले (उष्ण तथा द्रव) रक्त को भी दूषित कर देती है। विड्विमिश्रमित्यादि—व्यक्ति के अल्प भोजन करने से मल आता भी है और नहीं भी। इसी लिये मलरहित अतिसार निर्गन्ध तथा समल अतिसार गन्धयुक्त होगा। कुछ आचार्यों का मत है कि इसमें पाचक-पित्त की दुष्टि होती है तथा वह पूतिगन्धी होने से मल भी सगन्ध तथा पित्त के अल्पदूषित होने पर निर्गन्ध मलनिःसरण होगा। यह शोकातिसार वातपित्त से उत्पन्न होता है। काम, शोक तथा भय से वात प्रकुपित होता है 'कामशोकभयाद्वायुः'। वाग्भटाचार्य ने भी इस अतिसार में वात के साथ पित्त का अनुबन्ध बताया है—'भयेन क्षोभिते चित्ते सपित्तो द्रावयेच्छकृत्। वायुस्ततोऽतिसार्येत क्षिप्रमुष्णं द्रवं प्लवम्। वातपित्तसमं लिङ्गैराहु-स्तद्वच्च शोकतः॥' चरकाचार्य ने भी भयज और शोकज अतिसार माने हैं तथा उन्होंने इन्हें आगन्तुक एवं मानसिक माना है एवं इनके लक्षण वातातिसार के समान बताये हैं—'आगन्तू द्वावतीसारौ मानसौ भयशोकजौ। तत्तयोर्लक्षणं वायो-र्यदतीसारलक्षणम् ॥' वस्तुतः चरकाचार्य ने शोक और भय से तत्काल होने वाले अतिसार का ही वर्णन किया है। उसी समय मल के साथ रक्त का आना असम्भव है इसीलिये चरकाचार्य ने भयज और शोकज अतिसारों की उत्पत्ति में भय व शोक से वात का शीघ्र कुपित होना लिखा है तथा दोनों के लक्षण भी वातातिसार के समान होते हैं ऐसा निर्देश कर दिया है एवं चिकित्सा में भी हर्षण और आश्वासन के साथ केवल वातदोषनाशक चिकित्सा का उपदेश किया है अतः भयशोकज अतिसारों के प्राचीन (Chronic) होने पर पुनः पुनः क्षोभ होने के कारण आन्त्र में व्रण उत्पन्न होकर रक्त का आगमन सम्भव है। दुश्चिकित्स्य कहने का तात्पर्य यह है कि शोक दूर करने के लिये रुग्ण को सान्त्वना दिये बिना केवल औषधिचिकित्सा से रोग नहीं जा सकता, जैसा कि चरक में लिखा है—'तयोः क्रिया वातहरी हर्षणाश्वासनानि च' एवं किसी की स्त्री-पुत्र की मृत्यु हो जाने पर तथा अत्यधिक आर्थिक हानि हो जाने पर सान्त्वना का असर उसके हृदय पर नहीं होता अत एव इसे दुश्चिकित्स्य माना है। इस तरह चरक मत से इन दोनों अतिसारों में पित्त का कोई विशेष उल्लेख नहीं अतः सरक्त मल होना सिद्ध नहीं होता। वाग्भट ने भी इन अतिसारों में रक्त आता है ऐसा स्पष्ट उल्लेख नहीं किया है किन्तु वात के साथ पित्त का अनुबन्ध अवश्य

निर्दिष्ट किया है तथा वात और पित्त के समान ही लक्षण माने हैं अतः पित्त के कारण कभी रक्तागमन भी हो सकता है। केवल माधवकार ने ही इन अतिसारों में रक्त निकलने का निर्देश किया है। आधुनिक दृष्टि से इन अतिसारों को Nervous diarrhoea के वर्ग में समाविष्ट किया जा सकता है तथा इस वर्ग के अतिसारों में रक्तागमन नहीं होता है।

आमाजीर्णोपद्रुताः क्षोभयन्तः
कोष्ठं दोषा सम्प्रदुष्टाः सभक्तम्।
नानावर्णं नैकशः सारयन्ति
कृच्छ्राज्जन्तोः षष्ठमेनं वदन्ति ॥ १६ ॥

आमातिसारलक्षण—आमाजीर्ण से उपद्रुत (उदीरित) तथा प्रकुपित हुये दोष कोष्ठ (आमाशय = Stomach तथा ग्रहणी = पच्यमानाशय Desdinum को एवं क्षुद्रान्त्र वा बृहदन्त्र) को क्षुभित कर भोजन के साथ मल को प्रवाहित करते हैं। यह मल अनेक प्रकार के वर्ण का तथा कृच्छ्रता से अनेक वार निकलने वाला होता है। यह अतिसार का छठा भेद है ॥ १६ ॥

विमर्शः—आमाजीर्ण—आयुर्वेद में अजीर्ण के आम, विदग्ध, विष्टब्ध, रसशेषाजीर्ण, दिनपाकी अजीर्ण और प्राकृताजीर्ण ऐसे ६ भेद किये हैं। अजीर्णपरिभाषा—न जीर्यति सुखेनान्नं विकारान् कुरुतेऽपि च। तदजीर्णमिति प्राहुस्तन्मूला विविधा रुजः॥ अर्थात् अन्न ठीक तरह से पाचित न होकर अनेक रोगों को उत्पन्न करता है ऐसी स्थिति को अजीर्ण (Indigestion) या (Dispepsia) कहते हैं। आमपरिभाषा-जठरानलदौर्बल्यादविपक्वस्तु यो रसः। स आमसंज्ञको देहे सर्वरोगप्रकोपकः अथवा—आहारस्य रसः शेषो यो न पक्वोऽग्निलाघवात्। स हेतुः सर्वरोगाणामाम इत्यभिधीयते॥ अन्यच्च—अविपक्वमसंयुक्तं दुर्गन्धं बहुपिच्छिलम्। सादनं सर्वगात्राणामाममित्यभिधीयते॥ माधवमतेनामातिसारलक्षण—अन्नाजीर्णात् प्रद्रुताः क्षोभयन्तः कोष्ठं दोषाः धातुसंघान्मलांश्च। नानावर्णं नैकशः सारयन्ति शूलोपेतं षष्ठमेनं वदन्ति॥ आन्त्र में अपक्व अन्न या आहार रस बाह्यपदार्थ (Foriegn body = शल्य) के समान आन्त्रिक कला में प्रक्षोभ उत्पन्न कर अतिसार पैदा करता है तथा अजीर्ण पदार्थ आत्मविषमयता (Auto intoxication) सदृश होकर भी अतिसार उत्पन्न करता है। ऐसे अतिसार में मल अपक्व तथा पर्याप्त मात्रा में निकलता है तथा कभी-कभी इस मल के साथ रक्तादिधातुएँ भी दृष्टिगोचर होती हैं। चरकाचार्य ने इस अतिसार को पृथक् न मान कर अजीर्णप्रकुपित सन्निपातातिसार के अन्तर्गत ही मान लिया है किन्तु सुश्रुताचार्य ने इसकी उत्पत्ति आमाजीर्ण से होने के कारण हेतुप्रत्यनीक चिकित्सा अर्थात् आमदोष का पाचन और लंघन के लिये ही पृथक् निर्देश किया है। आमातिसार में तीनों दोषों का सम्बन्ध होने से जिस दोष की अधिकता रहेगी तदनुसार ही मल का वर्ण तथा अन्य लक्षण होंगे।

संसृष्टमेभिर्दोषैस्तु न्यस्तमप्स्ववसीदति।
पुरीषं भृशदुर्गन्धि विच्छिन्नं चामसंज्ञकम् ॥ १७ ॥

आममललक्षण—उपर्युक्त वातादि दोषों से सम्मिलित मल को पानी में डालने से वह डूब जाता है तथा उस मल से अत्यन्त दुर्गन्ध आती हो। एवं वह विच्छिन्न (टूटा हुआ) या फटा हुआ हो तो उसे आममल कहते हैं ॥ १७ ॥

विमर्शः—माधवकार ने आममल के लक्षणदर्शक श्लोक में कुछ परिवर्तन किया है जैसे विच्छिन्नं के स्थान पर पिच्छिलम् लिखा है जो कि आम का खास बोधक धर्म है। वस्तुतस्तु मल में आमांश के रहने से वह चिकना तथा मलावयव परस्पर चिपचिपे आम से बद्ध होंगे अतः विच्छिन्नं पाठ विचारणीय है। आम के भारी होने से तद्युक्त मल पानी में डूब जाता है—मज्जत्यामा गुरुत्वाद्विड् पक्वा तूत्प्लवते जले। विनातिद्रवसंघाताच्छ्लेष्मशैत्यप्रदूषणात्॥ आमदोषयुक्त मल भारी होने से जल में डूब जाता है तथा पक्व मल जल पर तैरता है किन्तु पक्व मल में भी यदि अति द्रव, तथा घन का योग हो एवं कफ से युक्त तथा उसकी शीतता से युक्त मल भी पानी में डूब जाता है अतएव आममल के साथ उसकी वास्तविक उपस्थिति के ज्ञानार्थ उस मल में अत्यन्त दुर्गन्धि आना एवं देह में भारीपन होना आदि आममल के निश्चायक लक्षण आचार्य ने लिखे हैं। इसलिये मधुकोशकार ने भी लिखा है कि 'आमलिङ्गवैपरीत्येन लाघवे सिद्धे पुनर्लाघवकरणं तत् कफदुष्टयादिव्यतिरेकं बोधयति॥ अर्थात् आमलक्षण विपरीत मल लघु होगा ही पुनर्लाघव शब्द के प्रयोग से प्रतीत होता है कि कफदुष्टि से रहित मल की यह जलनिमज्जन परीक्षा है जैसा कि वाग्भटाचार्य ने स्पष्ट लिखा है कि कफसंयोग से पक्व मल भी जल में डूबता है 'कफात् पक्वोऽपि मज्जति'।

एतान्येव तु लिङ्गानि विपरीतानि यस्य तु।
लाघवञ्च मनुष्यस्य तस्य पक्वं विनिर्दिशेत् ॥ १८ ॥

पक्वमललक्षण—उपर्युक्त आममल के लक्षणों से विपरीत लक्षण जिस मल में हो अर्थात् मल का जल में तैरना, दुर्गन्धरहित होना एवं अपिच्छिल होना तथा मनुष्य के शरीर में हल्कापन होना पक्व मल का पक्वातिसार के लक्षण हैं ॥ १८ ॥

विमर्शः—पक्वापक्व मल का परिज्ञान चिकित्सा के लिये अत्यावश्यक है क्योंकि मल की सामावस्था में पाचन तथा पक्वावस्था में संग्रहण चिकित्सा की जाती है अतः पक्वापक्व मल का ज्ञान आवश्यक है—प्राक्वैवं पुरा सामं निरामञ्चामदोषिणाम्। विधिनोपचरेत् सम्यक् पाचनेनेतरेण वा॥ (चरक) न तु संग्रहणं देयं पूर्वमामातिसारिणे। विबध्यमानाः प्राग्दोषा जनयन्त्यामयान् बहून्॥ दण्डकालसकाध्मानग्रहण्यर्शोगदांस्तथा। शोथपाण्ड्वामयप्लीहकुष्ठगुल्मोदरज्वरान्॥ (च. चि. अ. १९)

सर्पिर्मेदोवेसवाराम्बुतैल-
मज्जाक्षीरक्षौद्ररूपं स्रवेद् यत्।
मञ्जिष्ठाऽऽभं मस्तुलुङ्गोपमं वा
विस्रं शीतं श्वेतगन्ध्यञ्जनाभम् ॥ १९ ॥
राजीमद् वा चन्द्रकैः सन्ततं वा
पूयप्रख्यं कर्दमाभं तथोष्णम्।
हन्यादेतद् यत् प्रतीपं भवेच्च
क्षीणं हन्युश्चोपसर्गाः प्रभूताः ॥ २० ॥

असाध्यातिसारलक्षण—जिस मल का स्वरूप घृत, मेद, वेसवार (कुट्टितमांस) से मिश्रित पानी तथा तैल, मज्जा,

दुग्ध और शहद के समान हो तथा जो मजीठ के रङ्ग का हो अथवा मस्तुलुङ्ग (मस्तकमज्जा) के समान हो तथा जो मल विस्र (सड़ी) गन्ध वाला हो, अत्यधिक शीत हो, मुर्दे की सी गन्ध वाला हो या अञ्जन (कृष्णाञ्जन) के समान काला हो, जिस मल में रेखायें पड़ी हों या मयूर के पङ्ख की चन्द्रिका के समान चित्रविचित्र रङ्ग वाला हो एवं देखने में पूय (मवाद Pus) के समान या कर्दम (कीचड़) के समान हो तथा स्पर्श में उष्ण हो एवं दोषों के अपने लक्षणों से विपरीत (प्रतीप) लक्षणयुक्त हो तथा अनेक उपसर्ग (उपद्रवों) से युक्त मल रुग्ण को मार डालता है ॥१९-२०॥

विमर्शः—वेसवारः—निरस्थि पिशितं पिष्टं दधिक्षीरसमन्वितम्। एलामरिचसंयुक्तं वेशवार इति स्मृतम्॥ मस्तुलुङ्ग—(१) मस्तकाभ्यन्तरस्नेहः घृतकेति ख्यातं तत्सदृशम्। (२) मस्तुलुङ्गः अर्द्धविलीनचतुःस्नेहाकारो मस्तकमज्जा तत्तुल्यं मस्तुलुङ्गोपमम्। (३) मस्तुलुङ्गमिति शिरसो बलाधानं स्त्यानघृताकारं मस्तुलुङ्गमुच्यते। (डल्हण) (४) मेदो हि तस्याशुदरेष्वणवस्थिषु च सरक्तं भवति। तदेव च शिरसि कपालप्रतिच्छन्नं मस्तिष्काख्यं मस्तुलुङ्गाख्यञ्च। (अ० सं० शा० अ० ५) (५) मस्तुलुङ्गभुतो खादेन्मस्तिष्कानन्यजीवजान्। (अ० सं० उ० ३१) (६) मस्तुलुङ्गक्षयायस्य वायुस्ताल्वस्थि नामयेत्। (सु० शा० अ० १०) (७) मस्तुलुङ्गो विलीनघृताकारो मस्तकमज्जा। (डल्हण)। इन वर्णनों से प्रतीत होता है कि कपालास्थियों के भीतर का स्नेह मस्तुलुङ्ग है। वास्तव में मस्तुलुङ्ग शब्द से मस्तिष्क (Brain) ग्रहण करना चाहिए जैसा कि उक्त प्रमाणों से कपालप्रतिच्छन्न (कपालास्थियों से ढका हुआ) Brain ही होता है। कपालास्थियों के भीतर का स्नेह तो Brain नहीं होता किन्तु कपालास्थिनिर्मित शिरोगुहा (Cranial cavity) में अवस्थित जो कि जमे हुये घृत के स्वरूप का भी है वही मस्तुलुङ्ग (Brain) है। चन्द्रकैः सन्ततम्—चन्द्रकैः = मयूरपिच्छाभैः। तदुक्तम्—चन्द्रकैः शिखिपिच्छाभैर्नीलपीतादिराजिभिः। आवृतं वेसवाराम्बु मज्जक्षीरोपमं त्यजेत॥ इस प्रकार का मल Phosphorus विष के सेवन से होता है। उपद्रवा उक्तास्तन्त्रान्तरे—तृष्णा दाहोऽरुचिः शोथः पार्श्वशूलोऽरतिर्वमिः। गुदपाकः प्रलापश्च ह्याध्मानं श्वासकासकौ। मूर्च्छा हिक्का मदः शूलं बहुवेगो ज्वरस्तथा। एतैरुपद्रवैर्जुष्टमतिसारिणमुत्सृजेत्॥ अन्यच्च—हस्तपादाङ्गुलेः सन्धिप्रपाको मूत्रनिग्रहः। पुरीषस्योष्णता चैव मरणायातिसारिणाम्॥ शोथं शूलं ज्वरं तृष्णां श्वासं कासमरोचकम्। छर्दिं मूर्च्छाञ्च हिक्काञ्च दृष्ट्वातीसारिणं त्यजेत्॥ श्वासशूलपिपासार्तं क्षीणं ज्वरनिपीडितम्। विशेषेण नरं वृद्धमतीसारो विनाशयेत्॥ चरकाचार्य ने भी चि० अ० १९ में 'एभिर्वर्णैरतिसार्यमाणं सोपद्रवमातुरमसाध्योऽयमिति प्रत्याचक्षीत से लेकर सद्यो गरतविकारमतिसारिणमचिकित्स्यं विद्यात' तक असाध्य अतिसार के लक्षणों का विस्तृत विवेचन किया है। माधवकार ने असाध्यातिसार के मल में सुश्रुतोक्त श्लोकों द्वारा निम्न विशिष्टताएँ वर्णित की हैं—पक्वजाम्बवसङ्काशं यकृत्खण्डनिभं तनु। मांसधावनतोयाभं कृष्णं नीलारुणप्रभम्॥ मेचकं स्निग्धकर्बूरं दुर्गन्धि कुथितं बहु। आधुनिक मत से मल की विविधवर्णता पर प्रकाश—(१) तण्डुलोदकसङ्काशम्—पाचक-प्रणाली में पित्त के स्रवित न होने से किंवा पित्तनिर्माण में बाधा होने से पित्ताभाववश मल का वर्ण तण्डुलोदक सदृश हो जाता है। ऐसा मल विसूचिका तथा भयङ्कर आन्त्रकलाशोथ में निकलता है। (२) हरिताभ पीतमल (Pea soap stool)—आन्त्रिक ज्वर में मल का ऐसा स्वरूप हो जाता है। (३) हरा मल—बालातिसार (Infantile diarrhoea) में पाया जाता है। (४) वसाक्त या तैलाक्त मल (Fatty or oily stool)—इस प्रकार का मल अग्न्याशय की विकृति होने पर पाया जाता है। इसी को आयुर्वेद में 'घृततैलवसामज्जवेशवारपयोऽग्धि' से वर्णित किया है। (५) कृष्ण मल (Black stool)—लोह के यौगिक तथा बिस्मथ के सेवन करने से मल का वर्ण काला हो जाता है। रक्तोपस्थिति से भी मल का वर्ण काला होता है। मल में जल डालने से यदि उसका काला वर्ण लाल हो जाय तो रक्तोपस्थिति समझनी चाहिए अन्यथा लोह, बिस्मथ की। आन्त्र के ऊपर के हिस्से से आने वाले रक्त से ही मल का वर्ण काला होता है तथा इस दशा को मेलिना (Melaena) कहते हैं तथा इसके निम्न कारण हैं (1) Gastro duodenal ulcer. (2) Gastric cancer. (3) Typhoid. (4) Kala Azar. (5) Cirrhosis of the liver. आन्त्र के निम्न भाग से रक्त आने पर मल का स्वरूप लाल होता है। इस प्रकार का मल अर्श तथा अन्य गुदविकारों में पाया जाता है।

असंवृतगुदं क्षीणं दुराध्मातमुपद्रुतम्।
गुदे पक्के गतोष्माणमतीसारकिणं त्यजेत् ॥ २१ ॥

वर्ज्यं अतिसारी—जिस रोगी की गुदा (वलियाँ) ढीली पड़ गई हों अर्थात् गुदसङ्कोचनशक्ति नष्ट हो गई हो, जो क्षीण हो गया हो, जिसके मल निकलने पर भी अतिशय आध्मान हो जाता हो, अतिसार के उपर्युक्त उपद्रवों से युक्त हो, गुदा पक गई हो तथा जिसका शरीर ठण्ढा पड़ गया हो ऐसे अतिसारी की चिकित्सा नहीं करनी चाहिए ॥ २१ ॥

विमर्शः—माधवोक्त विशिष्ट लक्षण—तृष्णादाहतमःश्वासहिक्कापार्श्वास्थिशूलिनम्। संमूर्च्छारतिसंमोहयुक्तं पक्वबलीगुदम्॥ प्रलापयुक्तञ्च भिषग्वर्जयेदतिसारिणम्। श्वासशूलपिपासार्तं क्षीणं ज्वरनिपीडितम्। विशेषेण नरं वृद्धमतिसारो विनाशयेत्॥ बाले वृद्धे त्वसाध्योऽयं लिङ्गैरेतैरुपद्रुतः। अपि यूनामसाध्यः स्यादतिदुष्टेषु धातुषु॥

शरीरिणामतीसारः सम्भूतो येन केनचित्।
दोषाणामेव लिङ्गानि कदाचिन्नातिवर्त्तते ॥ २२ ॥
स्नेहाजीर्णनिमित्तस्तु बहुशूलप्रवाहिकः।
विसूचिकानिमित्तस्तु चान्योऽजीर्णनिमित्तजः।
विषार्शःक्रिमिसम्भूतो यथास्वं दोषलक्षणः ॥२३॥

अनुक्तातिसाराणां दोषजेष्वन्तर्भावः—देहधारियों को अतिसार चाहे किसी भी कारण से हुआ हो किन्तु वह कभी भी दोषों के लक्षणों को अतिक्रमण नहीं करता है, जैसे स्नेह के अधिक सेवन से उत्पन्न हुए अजीर्ण के कारण होने वाला अतिसार तथा बहुशूलयुक्त प्रवाहिका, विसूचिका के कारण लक्षणस्वरूप में होने वाला अतिसार, अजीर्ण के कारण होने वाला अन्य अतिसार तथा विषभक्षण, अर्श और कृमियों के कारण लक्षणस्वरूप में होने वाले अतिसार में अपने अपने

दोषों के लक्षण पाये जाते हैं जिससे उनका वातपित्तादि अतिसारों में समावेश हो जाने से अतिसार के छः ही भेद होते हैं अधिक नहीं ॥ २२-२३ ॥

विमर्शः—स्नेहः—सर्पिस्तैलं वसा मज्जा स्नेहोऽप्युक्तश्चतुर्विधः। माधवकार ने रक्तातिसार का वर्णन किया है—पित्तकृन्ति यदाऽत्यर्थं द्रव्याण्यश्नाति पैत्तिके। तदोपजायतेऽभीक्ष्णं रक्तातीसार उल्बणः॥ पुनः अतिसारों की संख्या छः ही क्यों? इसका मधुकोषकार ने उत्तर दिया है कि यह पैत्तिक अतिसार की ही वर्धित अवस्थाविशेष है अतः रक्तातिसार कोई सातवाँ भेद नहीं है। अतएव चरकाचार्य ने भी रक्तातिसार का पृथक् पाठ न करते हुए 'रक्तपित्तोपहितम्' इस लक्षण के द्वारा इसका पित्तातिसार में ही समावेश कर दिया है। इस पित्तातिसारान्तर्गत रक्तातिसार में पित्त के साथ अन्य वातादिदोषों का संसर्ग होने से रक्त में कृष्णता, पाण्डुता आदि वर्ण पाये जाते हैं, जैसा कि कहा भी है—दोषलिङ्गेन मतिमान् संसर्गं तत्र लक्षयेत्। इसी तरह स्नेह, अजीर्ण, विसूचिका और विष आदि से उत्पन्न अतिसारों का भी दोषानुसार वात-पित्तादि अतिसारों में अन्तर्भाव हो जाता है।

आमपक्वक्रमं हित्वा नातिसारे क्रिया यतः।
अतः सर्वेऽतिसारास्तु ज्ञेयाः पक्वामलक्षणैः॥ २४॥

आमपक्वज्ञानपूर्विका चिकित्सा—अतिसारों में आम तथा पक्व लक्षणों के जाने बिना चिकित्साक्रम उपयुक्त नहीं होता है इसलिये सर्व प्रकार के अतिसारों में प्रथम आमातिसार तथा पक्वातिसार के लक्षण जान लेना चाहिये ॥ २४ ॥

विमर्शः—यदि आमातिसार हो तो हल्के रेचन द्वारा दोषसंशोधनपूर्वक लङ्घन, पाचन और दीपन चिकित्सा की जाती है तथा पक्वातिसार हो तो संग्रहण चिकित्सा की जाती है। इसीलिये चरकाचार्य ने आमातिसार को पृथक् न मानकर उसका अजीर्णजन्य सान्निपातातिसार में तथा वातातिसार में समावेश कर दिया है। तथा चरकटीकाकार चक्रपाणि ने प्रत्येक अतिसार की आम और पक्वावस्था स्वीकार कर ली है। इसी तरह चक्रपाणि ने खरणादि का मत देकर सर्वातिसारों में साम और पक्वदोषता सिद्ध की है—वातातिसारः सामश्च सशूलः फेनिलस्तनुः। श्यावः सशब्दो दुर्गन्धो विबद्धोऽल्पाल्प एव च॥ एवं पित्तकफे साममतिसारं विनिर्दिशेत्॥

तत्रादौ लङ्घनं कार्यमतिसारेषु देहिनाम्।
ततः पाचनसंयुक्तो यवाग्वादिक्रमो हितः॥ २५॥

अतिसारचिकित्साक्रमः—प्रायः सर्वप्रकार के अतिसारों के प्रारम्भ में आमदोष रहता है अत एव रुग्ण को प्रथम आमदोषपाचनार्थ लङ्घन कराना चाहिये, उसके अनन्तर पाचक औषधियों से मिश्रित या पाचक औषधियों के क्वाथ से सिद्ध यवागू तथा यूष आदि देने चाहिये। इस प्रकार का क्रम हितकर होता है ॥ २५ ॥

विमर्शः—साधारण अतिसार में शूल, आध्मान आदि विशिष्ट दुःखदायक लक्षण न होने पर लंघन-क्रम हितकारी है—'हितं लङ्घनमेवादौ'। यवाग्वादिसाधने जलभेषजपरिमाणम्—काथ्यद्रव्याञ्जलिं क्षुण्णां श्रपयित्वा जलाढके। पादावशेषे तेनाथ यवाग्वामुपकल्पयेत्॥ यूषांश्च रसकांश्चैव कल्पेनानेन साधयेत्॥ अर्थात् क्वाथ्य द्रव्य ४ पल, जल १ आढक (सोलह गुना=६४ पल) चतुर्थांशावशेष रहने पर छान के इसी से चावल, मूँग आदि की यवागू बनानी चाहिये। यवागूनिर्माणविधिः—जितना मनुष्य स्वस्थावस्था में चावल खाता हो उससे चौथाई चावल लेकर उन्हें पूर्वविधि से बने हुये षड्गुण औषधिक्वाथ में डाल कर चावलों के पक जाने पर उतार के रुग्ण को खिलावे। यवागूमुचिताद्भक्ताच्चतुर्भागकृतां वदेत्। अन्नं पञ्चगुणे साध्यं विलेपी च चतुर्गुणे। मण्डश्चतुर्दशगुणे यवागूः षड्गुणेऽम्भसि॥ सिक्थकै रहितो मण्डः पेया सिक्थसमन्विता। यवागूर्बहुसिक्था स्याद्विलेपी विरलद्रवा॥ यवागूः षड्गुणे तोये सिद्धा स्यात्कृशरा घना। तण्डुलैर्मुद्गमाषैश्च तिलैर्वा साधिता हि सा॥ यवागूर्ग्राहिणी बल्या तर्पणी वातनाशिनी॥

अथवा वामयित्वामे शूलाध्माननिपीडितम्।
पिप्पलीसैन्धवाम्भोभिर्लङ्घनाद्यैरुपाचरेत्॥ २६॥

शूलाध्मानयुतामातिसारे क्रमः—अथवा आमातिसार में रुग्ण के शूल, आध्मान आदि से पीडित होने पर पिप्पलीचूर्ण तथा सैन्धव लवण से युक्त मन्दोष्ण जल आकण्ठ पर्यन्त पिला के वमन कराके लंघन, यवागू आदि से चिकित्सा करें ॥ २६ ॥

कार्यं च वमनस्यान्ते प्रद्रवं लघुभोजनम्।
खडयूषयवागूषु पिप्पल्याद्यं च योजयेत्॥ २७॥

वमन करा देने के पश्चात् अधिक द्रव जिसमें हो ऐसा लघु भोजन (यवागू, मण्ड, यूष) देना चाहिये। अतिसारी रोगी के खड, यूष और यवागू सिद्ध करने के लिये पिप्पल्यादि गण की औषधियों का प्रयोग करना चाहिये ॥ २७ ॥

विमर्शः—खडयूषः—तक्रं कपित्थचाङ्गेरीमरिचाजाजिचित्रकैः। सुपक्वः खडयूषोऽयम्...... पिप्पल्यादिगण—पिप्पलीपिप्पलीमूलचव्यचित्रकशृङ्गवेरमरिचहस्तिपिप्पलीहरेणुकैलाजमोदेन्द्रयवपाठाजीरकसर्षपमहानिम्बफलहिङ्गुभार्गीमधुरसातिविषावचाविडङ्गानि कटुरोहिणी चेति। पिप्पल्यादिः कफहरः प्रतिश्यायानिलारुचीः। निहन्त्याग्नदीपनो गुल्मशूलघ्नश्चामपाचनः॥ भोज ने अतिसार में द्रव का निषेध किया है। पुनः यहाँ द्रवस्वरूपी खड, यूष, यवागू का प्रयोग क्यों लिखा है? भोज ने केवल द्रव पदार्थ का निषेध किया है किन्तु दीपन, पाचन तथा ग्राही औषधियों के क्वाथ से बने हुये खडयूषयवाग्वादि का निषेध नहीं किया है।

अनेन विधिना चामं यस्य वै नोपशाम्यति।
हरिद्रादिं वचादिं वा पिबेत् प्रातः स मानवः॥ २८॥

आमासंशमने हरिद्रादिप्रयोगः—उक्त विधियों से यदि रुग्ण के आमदोष की शान्ति न होती हो तो उसे प्रतिदिन प्रातःकाल हरिद्रादिगण अथवा वचादिगण की औषधियों का क्वाथ पीने को देवें ॥ २८ ॥

विमर्शः—हरिद्रादिगणः—'हरिद्रादारुहरिद्राकलशीकुटजबीजानि मधुकञ्चेति'। वचादिगणः—'वचामुस्तातिविषाऽभयाभद्रदारूणि नागकेशरञ्चेति'। एतौ वचाहरिद्रादी गणौ स्तन्यविशोधनौ। आमातिसारशमनौ विशेषाद्दोषपाचनौ॥

आमातिसारिणां कार्यं नादौ सङ्ग्रहणं नृणाम्।
तेषां दोषा विबद्धाः प्राग् जनयन्त्यामयानिमान्॥ २९॥
प्लीहपाण्ड्वामयानाहमेहकुष्ठोदरज्वरान्।
शोफगुल्मग्रहण्यर्शःशूलालसकहृद्ग्रहान्॥ ३०॥

आमातिसारे आदौ संग्रहाद्दोषः—आमातिसार के रोगियों को प्रारम्भ में संग्राहक (विबन्धकारक) औषध देकर दोष तथा मल को नहीं रोकना चाहिए क्योंकि संग्राहक औषध के देने से बढ़े हुए दोष शरीर ही में विवद्ध हो (रुक) कर अनेक रोगों को उत्पन्न करते हैं, जैसे प्लीहावृद्धि, पाण्डुरोग, आनाह, प्रमेह, कुष्ठ, उदर रोग, ज्वर, शोफ, गुल्म, संग्रहणी, अर्श, शूल, अलसक और हृदय की जकड़ाहट ॥ २९-३० ॥

विमर्शः—कुछ लोग 'आमातिसारिणामि'त्यादि पाठ के स्थान पर निम्न पाठ मानते हैं—दोषस्तम्भनमादौ तु न कर्तव्यं विजानता। तस्यादौ बध्यमानस्तु बली कुर्यादुपद्रवान्॥ चरकाचार्य का भी मत है कि सन्निचित दोषों को निकालना ही प्रथम चिकित्साक्रम है—दोषाः सन्निचिता यस्य विदग्धाहारमूर्च्छिताः। अतीसाराय कल्पन्ते भूयस्तान् सम्प्रवर्तयेत् (च. चि. १९) यदि दोष दस्तों (विरेचन) द्वारा स्वयं निकल रहे हों तो प्रथम उन्हें रोके नहीं तथा दस्त लग कर नहीं निकल रहे हों तो अभया (हरड़) देकर प्रवर्तित कर देना चाहिए—तस्मादुपेक्षेतोत्क्लिष्टान् वर्तमानान् स्वयं मलान्। कृच्छ्रं वा वहतां दद्यादभयां सम्प्रवर्तिनीम्॥ तथा प्रवाहिते दोषे प्रशाम्यत्युदरामयः। जायते देहलघुता जठराग्निश्च वर्धते॥ अतिसार-चिकित्सा में यदि दोष-बाहुल्य हो तो अभयादि प्रवर्तक औषध, दोषों की स्थिति मध्यम हो तो प्रमथ्या तथा दोष अल्प हो तो लंघन कराना चाहिए, ऐसा चरक का मत है। प्रमथ्या शब्द का अर्थ यहाँ पाचन-दीपन-कषाय से है—प्रमथ्यां मध्यदोषाणां दद्याद्दीपनपाचिनीम्। लङ्घनञ्चाल्पदोषाणां प्रशस्तमतिसारिणाम्॥ (च. चि. १९) आमदोष बढ़ा हो तथा पुरुष बलवान् हो तो अभयादि प्रवर्तन योग, आमदोष क्षीण हो तथा पुरुष दुर्बल हो तो साधारण प्रवर्तन दे के संग्राहक औषध दे देवें और मध्यावस्था में प्रमथ्या (पाचन-दीपन-कषाय) देनी चाहिए।

सशूलं बहुशः कृच्छ्राद्विबद्धं योऽतिसार्य्यते।
दोषान् सन्निचितान् तस्य पथ्याभिः सम्प्रवर्त्तयेत्॥३१॥

सञ्चितदोषहरणम्—जो व्यक्ति शूल के साथ, बहुत बार कठिनाई से रुक-रुक कर मल त्यागता हो ऐसे रुग्ण के सञ्चित हुए आमादि दोषों को हरीतकी का चूर्ण तीन माशे से छः माशे तक देकर निकाल देना चाहिए ॥ ३१ ॥

विमर्शः—चरकाचार्य ने उक्त प्रकार के रुग्ण के लिये मूलक, बदर, उपोदिका, वास्तूक आदि शाकों को दही तथा दाडिमस्वरस से सिद्ध कर बहुस्नेहपूर्वक खाने को लिखा है—आमे परिणते यस्तु निबद्धमतिसार्यते। सशूलपिच्छमल्पाल्पं बहुशः सप्रवाहिकम्॥ यूषेण मूलकानां तं बदराणामथापि वा। दधिदाडिमसिद्धेन बहुस्नेहेन भोजयेत्॥ (च. चि. १९)

योऽतिद्रवं प्रभूतञ्च पुरीषमतिसार्य्यते।
तस्यादौ वमनं कुर्य्यात् पश्चाल्लङ्घनपाचनम्॥ ३२ ॥

द्रवातीसारे वमनम्—जो रोगी अत्यधिक द्रव तथा मात्रा में अधिक मल का अतिसरण करता हो उसे सर्वप्रथम वमन करा के पश्चात् लंघन कराना चाहिए, तदनन्तर पाचन औषध देनी चाहिए ॥ ३२ ॥

स्तोकं स्तोकं विबद्धं वा सशूलं योऽतिसार्य्यते।
अभयापिप्पलीकल्कैः सुखोष्णैस्तं विरेचयेत्॥ ३३ ॥

स्तोकविबद्धातिसारेऽभयादिप्रयोगः—जो व्यक्ति थोड़ा-थोड़ा एवं रुक-रुक के शूल के साथ मल त्याग करता हो उसे मन्दोष्ण पानी के साथ बड़ी हरड़ का चूर्ण चार-छः माशे तथा पिप्पली का चूर्ण एक माशे दे के उसे विरेचन कराना चाहिए ॥ ३३ ॥

आमे च लङ्घनं शस्तमादौ पाचनमेव वा।
योगाश्चात्र प्रवक्ष्यन्ते त्वामातीसारनाशनाः॥ ३४ ॥

लङ्घनपाचनावसरः—आमातिसार में प्रथम लङ्घन कराना उत्तम है तथा जो रोगी दुर्बल होने से लंघन को सहन नहीं कर सकता हो एवं उसे भोजन करने की अभिलाषा हो तब उसे दीपन, पाचन औषधियाँ अथवा इन औषधियों के क्वाथ से सिद्ध की हुई यवागू खाने को देनी चाहिए। अब इसके अनन्तर आमातिसारनाशक योगों का कथन किया जाता है ॥ ३४ ॥

कलिङ्गातिविषाहिङ्गुसौवर्चलवचाऽभयाः।
देवदारुवचामुस्तानागरातिविषाऽभयाः॥ ३५ ॥
अभया धान्यकं मुस्तं पिप्पली नागरं वचा।
नागरं धान्यकं मुस्तं बालकं बिल्वमेव च॥ ३६ ॥
मुस्तं पर्पटकं शुण्ठी वचा प्रतिविषाऽभया।
अभयाऽतिविषा हिङ्गु वचा सौवर्चलं तथा॥ ३७ ॥
चित्रकः पिप्पलीमूलं वचा कटुकरोहिणी।
पाठा वत्सकबीजानि हरीतक्यो महौषधम्॥ ३८ ॥
मूर्वा निर्दहनी पाठा त्र्यूषणं गजपिप्पली।
सिद्धार्थका भद्रदारु शताह्वा कटुरोहिणी॥ ३९ ॥
एला सावरकं कुष्ठं हरिद्रे कौटजा यवाः।
मेषशृङ्गी त्वगेले च कृमिघ्नं वृक्षकाणि च॥ ४० ॥
वृक्षादनी वीरतरुर्बृहत्यौ द्वे सहे तथा।
अरलुत्वक् तैन्दुकी च दाडिमी कौटजी शमी॥ ४१ ॥
पाठा तेजोवती मुस्तं पिप्पली कौटजं फलम्।
पटोलं दीप्यको बिल्वं हरिद्रे देवदारु च॥ ४२ ॥
विडङ्गमभया पाठा शृङ्गवेरं घनं वचा।
वचा वत्सकबीजानि सैन्धवं कटुरोहिणी॥ ४३ ॥
हिङ्गुर्वत्सकबीजानि वचा बिल्वशलाटु च।
नागरातिविषे मुस्तं पिप्पल्यो वात्सकं फलम्॥ ४४ ॥
महौषधं प्रतिविषा मुस्तं चेत्यामपाचनाः।
प्रयोज्या विंशतिर्योगाः श्लोकार्द्धविहितास्त्विमे॥ ४५ ॥
धान्याम्लोष्णाम्बुमद्यानां पिबेदन्यतमेन वा।
निष्क्वाथान् वा पिबेदेषां सुखोष्णान्साधु साधितान्॥ ४६॥

आमातिसारे कलिङ्गादिविंशतियोगाः—(१) इन्द्रयव, अतीस, हिङ्गु, सोंचल नमक, वचा और बड़ी हरड़। (२) देवदारु, वचा, मोथा, सोंठ, अतीस और बड़ी हरड़। (३) बड़ी हरड़, धनियाँ, मुस्तक, पिप्पली, सोंठ और वचा। (४) सोंठ, धनियाँ, मुस्तक, नेत्रबाला, कच्चे बिल्वफल की मज्जा। (५) मुस्तक, पित्तपापड़ा, सोंठ, वचा, अतीस और हरड़। (६) बड़ी हरड़, अतीस, हिङ्गु, वचा और सोंचल नमक।

(७) लाल चित्रक की जड़, पिपरामूल, वचा और कुटकी। (८) पाठा, इन्द्रयव, बड़ी हरड़ और सोंठ। (९) मूर्वा (मरोड़फली), चित्रक की जड़ (निर्दहन), पाठा, सोंठ, मरिच, पिप्पली और गजपीपल। (१०) श्वेतसरसों, देवदारु, सोंफ और कुटकी। (११) इलायची (छिलके सहित), लोध (सावटक), कूठ, हरिद्रा और दारु हरिद्रा तथा इन्द्रयव। (१२) काकड़ासींगी, दालचीनी, इलायची, वायविडङ्ग और कूड़े की छाल। (१३) आकाशवेल (वृक्षादनी=अमरवेल) या वन्दा, शर, छोटी कटेरी और बड़ी कटेरी, मुद्गपर्णी तथा माषपर्णी। (१४) श्योनाक की छाल, तिन्दुक की छाल, दाड़िम (फल) की छाल, कुटज की छाल तथा शमी की छाल। (१५) पाठा, तेजबल, मोथा, पिप्पली, इन्द्रयव। (१६) पटोलपत्र, अजवायन (दीप्यक), कच्चे बिल्वफल की मज्जा, हरिद्रा तथा दारुहरिद्रा और देवदारु। (१७) वायविडङ्ग, बड़ी हरड़, पाठा, सोंठ, मोथा और वचा। (१८) वचा, इन्द्रयव, सैन्धव लवण और कुटकी। (१९) हीङ्ग, इन्द्रयव, वचा, कच्चे बिल्वफल की मज्जा। (२०) सोंठ, अतीस, मोथा, पिप्पली, इन्द्रयव। इस तरह ये आधे-आधे श्लोकों द्वारा कहे हुये बीस योगों के द्रव्यों को पृथक्-पृथक् खाण्ड कूट के चूर्णित कर बीस शीशियों में भर दें, फिर दोष-अवस्थानुसार इन योगों में से किसी योग के ३ माशे से ६ माशे भर चूर्ण को लेके धान्याम्ल (काञ्जी), गरम पानी तथा मद्य इनमें से किसी एक दोषानुसार योग्य अनुपान के साथ पीना चाहिए अथवा इन उक्त बीस योगों के पृथक् पृथक् अच्छी प्रकार से क्वाथ बना कर मन्दोष्णरूप में दोषावस्थानुसार पीना चाहिए। इन बीस योगों में से सोंठ, अतीस और मोथा ये विशेषतया आम के पाचक हैं ॥ ३५–४६ ॥

विमर्शः—अतिसार में द्रव औषध अधिक नहीं देनी चाहिए अतएव उपर्युक्त बीस योगों को चूर्ण रूप में ही प्रयुक्त करना चाहिए ऐसा डल्हणाचार्य ने टीका में वृद्धवैद्यमत प्रदर्शित किया है।

पयस्युत्क्वाथ्य मुस्तानां विंशतिं त्रिगुणाम्भसि।
क्षीरावशिष्टं तत्पीतं हन्त्यामं शूलमेव च॥
निखिलेनोपदिष्टोऽयं विधिरामोपशान्तये॥४७॥

आमशूलातिसारे मुस्तक्षीरम्—मोथे के नग बीस लेकर उन्हें कुट्टित कर उनसे अष्टगुण दुग्ध तथा दुग्ध से तीनगुना पानी ले के सबको मिश्र कर कलईदार भगोने में पका कर दुग्धावशेष रहने पर उतार के छान कर पीने से शूल और आमयुक्त अतिसार नष्ट होता है। इस तरह आमदोष को नष्ट करने के लिये उक्तरूप से सर्वविधियों का वर्णन कर दिया है।

विमर्शः—कुछ टीकाकारों ने मुस्ता बीस, दुग्ध एक भाग, पानी तीन भाग (मिलित चतुर्गुण) लेकर दुग्धपाक करना लिखा है, इस तरह मुस्ते के २० नग के भार से पानी व दुग्ध स्वप्रमाण मिलित चतुर्गुण होता है ऐसा तात्पर्य निकलता है किन्तु मेरे मत से क्षीरपाकपरिभाषा—द्रव्यादष्टगुणं क्षीरं क्षीरात्तोयं चतुर्गुणम्। क्षीरावशेषः कर्तव्यः क्षीरपाके त्वयं विधिः॥ के अनुसार २० मुस्तक के भार से अष्टगुण दुग्ध तथा दुग्ध से परिभाषानुसार पानी चतुर्गुण न लेकर श्लोक के विशिष्ट-निर्देशानुसार तीन गुणा पानी लेकर क्षीरावशेष पाक कर लेना अर्थ होता है। इसमें परिभाषा तथा मूल श्लोक दोनों की आज्ञा का पालन हो जाता है।

हरीतकीमतिविषां हिङ्गु सौवर्चलं वचाम्।
पिबेत् सुखाम्बुना जन्तुरामातीसारपीडितः॥ ४८॥

आमातिसारे हरीतक्यादिचूर्णम्—आमातिसार से पीड़ित व्यक्ति समान भाग से गृहीत किये हरीतकी, अतीस, शुद्ध हिङ्गु, सौंचल नमक और वचा के मिलित चूर्ण को २ माशे से ४ माशे तक की मात्रा में लेकर मन्दोष्ण जलानुपान के साथ दिन में तीन या दो बार सेवन करे॥ ४८॥

पटोलं दीप्यकं बिल्वं वचापिप्पलिनागरम्॥ ४९॥
मुस्तं कुष्ठं विडङ्गञ्च पिबेद् वाऽपि सुखाम्बुना।
शृङ्गवेरं गुडूचीञ्च पिबेदुष्णेन वारिणा॥ ५०॥

आमातिसारे पटोलादिचूर्णम्—पटोलपत्र, अजवायन, कच्चे बिल्वफल की मज्जा, वचा, पीपल, सोंठ, मोथा, कुष्ठ और वायविडङ्ग इन्हें समान प्रमाण में ले के चूर्णित कर २ माशे से ४ माशे की मात्रा में दिन में तीन या दो बार मन्दोष्ण पानी के साथ सेवन करने से आमातिसार नष्ट होता है। अथवा सोंठ तथा गिलोय को पत्थर पर पानी के साथ पीस कर मन्दोष्ण पानी के अनुपान से पीने से आमातिसार नष्ट होता है॥ ४९–५०॥

लवणान्यथ पिप्पल्यो विडङ्गानि हरीतकी।
चित्रकं शिंशपा पाठा शार्ङ्गेष्टा लवणानि च॥ ५१॥
हिङ्गु वृक्षकबीजानि लवणानि च भागशः।
हस्तिदन्त्यथ पिप्पल्यः कल्कावक्षसमौ स्मृतौ॥ ५२॥
वचागुडूचीकाण्डानि योगोऽयं परमो मतः।
एते सुखाम्बुना योगा देयाः पञ्च सतां मताः॥ ५३॥

आमातिसारे पञ्च योगाः—(१) पाँचों लवण, पिप्पली, वायविडङ्ग और बड़ी हरड़। (२) चित्रक की जड़, शिंशपा की छाल, पाठा, लज्जवन्ती तथा पाँचों लवण। (३) शुद्ध हीङ्ग, इन्द्रयव और पाँचों लवण ये सर्व समभाग। (४) हस्तिदन्ती (एरण्डभेद) और पिप्पली प्रत्येक का चूर्ण एक-एक अक्ष अर्थात् एक-एक कर्ष, किन्तु यह मात्रा अधिक है अतः प्रत्येक का चूर्ण तीन-तीन माशे दिया जा सकता है। (५) वचा और गिलोय प्रत्येक दो-दो माशे भर। इस तरह इन पाँचों योगों के पृथक्-पृथक् द्रव्यों को समान प्रमाण में ले के चूर्णित कर २ माशे से ४ माशे की मात्रा में यथावस्थानुसार एक को या मिला के मन्दोष्ण जल के साथ देने से शूल, आध्मान आदि से युक्त आमातिसार नष्ट हो जाता है। ये योग अच्छे विद्वान् वैद्यों से मान्य व अनुभूत हैं॥५१–५३॥

निवृत्तेष्वामशूलेषु यस्य न प्रगुणोऽनिलः।
स्तोकं स्तोकं रुजावच्च सशूलं योऽतिसार्यते॥ ५४॥
सक्षारलवणैर्युक्तं मन्दाग्निः स पिबेद् घृतम्।
क्षीरनागरचाङ्गेरीकोलदध्यम्लसाधितम्॥ ५५॥
सर्पिरच्छं पिबेद्वाऽपि शूलातीसारशान्तये।
दध्ना तैलघृतं पक्वं सव्योषाजातिचित्रकैः॥ ५६॥

सबिल्वपिप्पलीमूलदाडिमैर्वा रुगन्वितैः ।
निखिलो विधिरुक्तोऽयं वातश्लेष्मोपशान्तये ॥ ५७ ॥

वातश्लेष्मातिसारहरा योगाः—उपर्युक्त चिकित्साक्रम से आम और शूल के निवृत्त हो जाने पर भी यदि अपान वायु ठीक नहीं हुई हो तथा रुग्ण शूल और पीड़ा के सहित थोड़ा-थोड़ा मल त्यागता हो तथा उसकी अग्नि मन्द हो तब वह यवक्षार १ माशा, पञ्च लवण मिलित १ माशा को पीसकर २ तोले घृत में मिलाकर पीवे अथवा दुग्ध, सोंठ, चाङ्गेरी (तिपतिया), बदरी फल, दही और काञ्जी से सिद्ध किया हुआ स्वच्छ घृत शूलातिसार की शान्ति के लिये पीवे। अथवा सोंठ, मरिच, पिप्पली, जायफल और चित्रक के कल्क तथा दही के साथ तैल और घृत पक्व कर पीवे। अथवा कच्चे बिल्वफल का गूदा, पिप्पलीमूल और दाडिम के बीज अथवा छिलके इन तीनों के कल्क तथा दही से पकाये हुये तैल और घृत का वेदना होने पर पान करे। इस तरह वातश्लेष्मातिसार की शान्ति के लिये यह औषधविधान पूर्णरूप से कह दिया है ॥ ५४–५७ ॥

विमर्शः—पञ्चलवण—सैन्धवञ्चाथ सामुद्रं विडं सौवर्चलं तथा। रोमकञ्चेति विज्ञेयं बुधैर्लवणपञ्चकम् ॥ क्षीर, दधि और काञ्जी से घृत निम्न विधि से सिद्ध करें—कल्क द्रव्य से चतुर्गुण स्नेह तथा स्नेह के बराबर दुग्ध और स्नेह से चतुर्गुण दही और काञ्जी मिलाकर लें तथा सम्यक् पाक के लिये स्नेह से चतुर्गुण जल डाल कर स्नेहावशेष पाक कर लेना चाहिए—स्नेहात् स्नेहसमं क्षीरं कल्कस्तु स्नेहपादिकः। क्षीरमस्त्वारनालानां पाको नास्ति विनाम्भसा ॥ सम्यक् पाकं न गच्छन्ति तस्माचोयं चतुर्गुणम् ॥ (परिभाषाप्रदीप)

तीक्ष्णोष्णवर्ज्यमेनन्तु विदध्यात्पित्तजे भिषक् ।
यथोक्तमुपवासान्ते यवागूश्च प्रशस्यते ॥ ५८ ॥

पैत्तिकातिसारे चिकित्साक्रमः—पित्तातिसार में उक्त कहे हुये उपक्रमों में से तीक्ष्ण और उष्ण औषधियों को वर्जित कर प्रयुक्त करना चाहिए तथा पित्तातिसार में भी कुछ आमदोष का सम्बन्ध होने पर उसके पाचन के लिये उपवास कराने के अनन्तर यवागू का सेवन प्रशस्त होता है ॥ ५८ ॥

बलयोरंशुमत्याश्च श्वदंष्ट्राबृहतीषु च ।
शतावर्याश्च संसिद्धाः सुशीता मधुसंयुताः ॥ ५९ ॥

पित्तातिसारे यवागूनिर्माणप्रकारः—बला और अतिबला, शालपर्णी, गोखरू, बड़ी कण्टकारी और शतावर इन्हें समान प्रमाण में मिश्रित कर चार पल भर ले के यवकुट कर १ आढक (६४ पल) जल में डाल के चतुर्थांशावशेष पाक करके क्वाथ को छान लेवें। फिर मनुष्य जितने चावल खाता हो उनके चौथाई प्रमाण में चावल लेकर उक्त बलादि औषधियों के बनाये क्वाथ में डाल के ठीक तरह से पक जाने पर उतार के उसमें शहद का प्रक्षेप देकर खिलावें अथवा किसी नमकीनरूप से खाने की इच्छा हो तो सैन्धव लवण, कालीमरिच चूर्ण और जीरक चूर्ण प्रक्षिप्त कर सिद्ध यवागू खाने को देनी चाहिए ॥ ५९ ॥

मुद्गादिषु च यूषाः स्युर्द्रव्यैरेतैः सुसंस्कृताः ॥ ६० ॥

पित्तातिसारे मुद्गयूषः—उक्तबला, अतिबला आदि के बनाये हुए क्वाथ में मुद्ग, मटर और मसूर इनमें से जिस वस्तु की इच्छा हो ले के यूष बनाकर सैन्धवलवण, कृष्णमरिच और भर्जित जीरक से संस्कृत कर पिलाना चाहिए ॥ ६० ॥

विमर्शः—चावल, मूंग, उड़द और तिल इनमें किसी एक को चतुर्दशगुण पानी में सिद्ध करने पर पेया कही जाती है तथा उससे थोड़ा गाढ़ा रहने तक पका कर तैयार की वस्तु को यूष कहते हैं—द्रवाधिका घना सिक्था चतुर्दशगुणे जले। सिद्धा पेया बुधैर्ज्ञेया यूषः किञ्चिद्घनः स्मृतः ॥ मुद्गयूषविधिमाह वृन्दटीकायां तन्त्रान्तरे—मुद्गानां द्विपलं तोये ष्टतमर्द्धाढकोन्मिते। पादस्थं मर्दितं पूतं दाडिमस्य पलेन तत् ॥ युक्तं सैन्धवविश्वाह्वधान्यकैः पादिकांशकैः। कणाजीरकयोश्चूर्णेश्छाणैकेनावचूर्णितम् ॥

मृदुभिर्दीपनैस्तिक्तैर्द्रव्यैः स्यादामपाचनम् ॥ ६१ ॥

पैत्तिकामातिसारे पाचनद्रव्यनिर्देशः—मृदु तथा अग्निदीपक एवं तिक्त द्रव्यों से पित्तातिसार में आम दोष का पाचन करना चाहिए ॥ ६१ ॥

विमर्शः—तिक्त द्रव्य शीतवीर्य होते हैं पुनः वे आमदोष के पाचक कैसे होंगे इस प्रश्न का उत्तर दिया है कि ज्वर और अतिसार आदि में तिक्त द्रव्य भी पाचक माने गये हैं—स्वेदनं लङ्घनं काले यवाग्वस्तिक्तको रसः। पाचनान्यविपक्वानाम्'''॥ यहाँ पर तिक्त द्रव्यों से दुरालभा, गुडूची और अतिविषा आदि का ग्रहण होता है।

हरिद्राऽतिविषापाठावत्सबीजरसाञ्जनम् ।
रसाञ्जनं हरिद्रे द्वे बीजानि कुटजस्य च ॥ ६२ ॥
पाठा गुडूची भूनिम्बस्तथैव कटुरोहिणी ।
एतैः श्लोकार्द्धनिर्दिष्टैः क्वाथाः स्युः पित्तपाचनाः ॥ ६३ ॥

पित्तपाचकक्वाथाः—(१) हरिद्रा, अतीस, पाठा, इन्द्रयव और रसाञ्जन। (२) रसाञ्जन, हरिद्रा, दारुहरिद्रा तथा इन्द्रयव। (३) पाठा, गिलोय, चिरायता और कुटकी। इस तरह इन अर्द्ध श्लोकों द्वारा पित्त के पाचन करने वाले तीन क्वाथों का उपयोग करना चाहिए ॥ ६२–६३ ॥

मुस्तं कुटजबीजानि भूनिम्बं सरसाञ्जनम् ।
दार्वी दुरालभा बिल्वं बालकं रक्तचन्दनम् ॥ ६४ ॥
चन्दनं बालकं मुस्तं भूनिम्बं सदुरालभम् ।
मृणालं चन्दनं रोध्रं नागरं नीलमुत्पलम् ॥ ६५ ॥
पाठा मुस्तं हरिद्रे द्वे पिप्पली कौटजं फलम् ।
फलत्वचं वत्सकस्य शृङ्गवेरं घनं वचा ॥
षडेतेऽभिहिता योगाः पित्तातीसारनाशनाः ॥ ६६ ॥

सामपित्तपाचका मुस्तादियोगाः—(१) मोथा, इन्द्रयव, चिरायता और रसाञ्जन। (२) दारुहरिद्रा, धमासा, कच्चे बिल्वफल की मज्जा, नेत्रबाला और लाल चन्दन। (३) लाल चन्दन, नेत्रबाला, मोथा, चिरायता और धमासा। (४) कमलनाल, रक्तचन्दन, लोध, सोंठ और नीलकमल। (५) पाठा, मोथा, हरिद्रा, दारुहरिद्रा, पिप्पली और इन्द्रयव। (६) कुटज के फल (इन्द्रयव) और छाल, सोंठ, मोथा और वचा। इस तरह उक्त अर्द्धश्लोकों द्वारा ये ६ पित्तातिसारनाशक योग कहे हैं। इनका चूर्ण अथवा क्वाथ बना के अवस्थानुसार प्रयोग करना चाहिए ॥ ६४–६६ ॥

बिल्वशक्रयवाम्भोदबालकातिविषाकृतः ।
कषायो हन्त्यतीसारं सामं पित्तसमुद्भवम् ॥ ६७ ॥

सामपित्तातिसारे बिल्वादिकाथः—कच्चे बिल्वफल की मज्जा, इन्द्रयव, मोथा, नेत्रबाला और अतीस इनका बनाया हुआ क्वाथ पीने से आमदोषयुक्त पैत्तिक अतिसार नष्ट होता है ॥ ६७ ॥

विमर्शः—यह योग चिरकालिक आमदोषयुक्त तथा सरक्त पित्तातिसार में भी अच्छा लाभ करता है।

मधुकोत्पलबिल्वाब्दह्रीबेरोशीरनागरैः ।
कृतः काथो मधुयुतः पित्तातीसारनाशनः ॥ ६८ ॥

पित्तातिसारे मधुकादिक्काथः—मुलेठी, कमल, कच्चे बिल्वफल की मज्जा, मोथा, नेत्रवाला, खस और सोंठ इन्हें समान प्रमाण में मिश्रित कर २ तोले भर ले के षोडशगुण या अष्टगुण पानी में क्वाथ बना कर अष्टमांश या चतुर्थांश शेष रहने पर छान के शहद मिला कर पीने से पित्तातिसार नष्ट होता है ॥ ६८ ॥

यदा पक्कोऽप्यतीसारः सरत्येव मुहुर्मुहुः ।
ग्रहण्या मार्दवाज्जन्तोस्तत्र संस्तम्भनं हितम् ॥ ६९ ॥

पक्कातिसारे संस्तम्भनम्—अतिसार के रोगी की ग्रहणी के कोमल होने से पक्क अतिसार में भी बार-बार मल की प्रवृत्ति होती है। ऐसी दशा में उसकी लङ्घन-पाचनादि चिकित्सा न करके संस्तम्भन चिकित्सा करनी चाहिए ॥ ६९ ॥

विमर्शः—ग्रहणी—अग्न्यधिष्ठानमन्नस्य ग्रहणाद्ग्रहणी मता । नाभेरुपरि सा ह्यग्निबलोपस्तम्भबृंहिता ॥ अपक्वं धारयत्यन्नं पक्वं सृजति पार्श्वतः । दुर्बलाग्निबला दुष्टा त्वाममेव विमुञ्चति ॥ (च० ग्र० चि०) आजकल ग्रहणी से Deodinum का ग्रहण किया जाता है क्योंकि आमाशय के पश्चात् शेषान्न का पाचक मुख्य यही अवयव है तथा यह नाभि के ऊपर भी है एवं आमाशय से आये हुए अर्धपक्क अन्न का ग्रहण भी करती है एवं अग्नि का अधिष्ठान भी है क्योंकि इसमें पित्ताशय से पित्त तथा अग्न्याशय (Pancrease) में अग्निरस आन्त्र की दीवार से निकला हुआ आन्त्रिक रस आता है। पित्तधरा कला जो कि क्षुद्रान्त्र का भीतरी आवरण (Mucous membrane of the small Intestine) है उसे सुश्रुताचार्य ग्रहणी कहते हैं—षष्ठी पित्तधरा नाम या कला परिकीर्तिता । पक्वामाशयमध्यस्था ग्रहणी सा प्रकीर्तिता ॥

समङ्गा धातकीपुष्पं मञ्जिष्ठा लोध्रमुस्तकम् ।
शाल्मलीवेष्टको रोध्रं वृक्षदाडिमयोस्त्वचौ ॥ ७० ॥
आम्रास्थिमध्यं लोध्रञ्च बिल्वमध्यं प्रियङ्गवः ।
मधुकं शृङ्गवेरञ्च दीर्घवृन्तत्वगेव च ॥ ७१ ॥
चत्वार एते योगाः स्युः पक्कातीसारनाशनाः ।
उक्ता यउपयोज्यास्ते सक्षौद्रास्तण्डुलाम्बुना ॥ ७२ ॥

पक्कातिसारे चत्वारः स्तम्भनयोगाः—(१) लज्जालु, धाय के फूल, मजीठ, लोध और मोथा। (२) मोचरस, लोध, कूड़े की छाल और अनार (फल) की छाल। (३) आम की गुठली की गिरी, पठानी लोध, कच्चे बिल्व फल की मज्जा और प्रियङ्गु। (४) मुलेठी, सोंठ और श्योनाक की छाल। इस तरह ये चार योग हैं। इनका पृथक्-पृथक् चूर्ण अथवा क्वाथ बनाकर अवस्थानुसार पक्कातिसार में प्रयोग करना चाहिए। इनके चूर्ण अथवा क्वाथ में शहद छः माशे तथा चावल का पानी एक तोला मिलाना चाहिए ॥ ७०–७२ ॥

मौस्तं कषायमेकं वा पेयं मधुसमायुतम् ।
लोध्राम्बष्ठाप्रियङ्ग्वादीन् गणानेवं प्रयोजयेत् ॥ ७३ ॥

मुस्ताकषायः—केवल मुस्तक का क्वाथ बना कर उसमें शहद मिला के पक्कातिसार में पीना चाहिए। इसके अतिरिक्त पक्कातिसार में लोध्रादिगण, अम्बष्ठादिगण और प्रियङ्ग्वादिगणों की औषधियों का प्रयोग चूर्ण या क्वाथ के रूप में करना चाहिए ॥ ७३ ॥

विमर्शः—लोध्रादिगण—लोध्रसावरलोध्रपलाशकुटन्नटाशोकफञ्जीकट्फलैलवाल्लुकशल्लकीजिङ्गिनीकदम्बसालाः कदली चेति—एष रोध्रादिरित्युक्तो मेदःकफहरो गणः । योनिदोषहरः स्तम्भी वर्ण्यो विषविनाशनः ॥ अम्बष्ठादिगण—अम्बष्ठाधातकीकुसुमसमङ्गाकट्वङ्गमधुकबिल्वपेशिकासावररोध्रपलाशनन्दीवृक्षाः पद्मकेशराणि चेति ॥ प्रियङ्ग्वादिगण—प्रियङ्गुसमङ्गाधातकीपुन्नागनागपुष्पचन्दनकुचन्दनमोचरसरसाञ्जनकुम्भीकस्रोतोजपद्मकेसरयोजनवल्ल्यो दीर्घमूला चेति। गणौ प्रियङ्ग्वम्बष्ठादि पक्वातीसारनाशनौ । सन्धानीयौ हितौ पित्ते व्रणानाञ्चापि रोपणौ ॥ (सु. सू. अ. ३८)

पद्मां समङ्गां मधुकं बिल्वजम्बूशलाटु च ।
पिबेत्तण्डुलतोयेन सक्षौद्रमगदङ्करम् ॥ ७४ ॥

पद्मादियोगः—भारङ्गी, लजवन्ती, मुलेहठी, कच्चे बिल्वफल की मज्जा तथा कच्चे जामुन अथवा उनकी गुठली इन्हें समान प्रमाण में लेके चूर्णित कर शीशी में भर देवें। इस चूर्ण को ३ माशे भर लेके ६ माशे शहद तथा १ तोले भर कच्चे चावल का धोवन (पानी) मिलाके सेवन करने से पक्कातिसार नष्ट होता है। औषध प्रातः, मध्याह्न तथा सन्ध्या ऐसे तीन समय लेनी चाहिये ॥ ७४ ॥

कच्छुरामूलकल्कं वाऽप्युदुम्बरफलोपमम् ।
पयस्या चन्दनं पद्मा सितामुस्ताऽब्जकेशरम् ।
पक्कातिसारं योगोऽयं जयेत्पीतः सशोणितम् ॥ ७५ ॥

सशोणितपक्कातिसारे कच्छुरादियोगः—कच्छुरा (कङ्कतिका) की जड़ का चूर्ण उदुम्बर फल के बराबर (१ कर्ष) लेकर शहद और चावल के धोवन के साथ पीने से सरक्त पक्कातिसार नष्ट हो जाता है अथवा विदारी, लालचन्दन, भारङ्गी, शक्कर, मोथा और पद्मकेशर इनको समानप्रमाण में लेके चूर्ण बनाकर २ माशे से ४ माशे भर की मात्रा में शहद तथा चावल के धोवन के साथ सेवन करने से सरक्त पक्कातिसार नष्ट हो जाता है ॥ ७५ ॥

विमर्शः—कच्छुरा शब्द का कुछ टीकाकारों ने कौंच अथवा धमासा अर्थ किया है किन्तु कंकतिका (बलाभेद=कंघी) मधुर, शीतल और पिच्छिल होने से रक्त की प्रवृत्ति को रोकने तथा मल बाँधने में उत्तम है। पयस्या का अर्थ कुछ लोगों ने अर्कपुष्पी, दुग्धिका तथा क्षीरकाकोली किया है।

निरामरूपं शूलार्त्तं लङ्घनाद्यैश्च कर्षितम् ।
नरं रूक्षमवेक्ष्याग्निं सक्षारं पाययेद् घृतम् ॥ ७६ ॥

लङ्घनकर्षिताय घृतपानम्—आमदोष से रहित होने पर भी जिस अतिसारी को शूल की पीड़ा हो तथा वह लंघन करने

से कृश हो गया हो तथा उसके शरीर में रूक्षता भी बढ़ गयी हो तब उसकी अग्नि का विचार करके यवक्षारमिश्रित घृतपान कराना चाहिये ॥ ७६ ॥

बलाबृहत्यंशुमतीकच्छुरामूलसाधितम् ।
मधूक्षितं समधुकं पिबेच्छूलैरभिद्रुतः ॥ ७७ ॥

सशूलपित्तातिसारे बलादिघृतम्—बला (खरेटी), बड़ी कटेरी, अंशुमती (शालपर्णी), कच्छुरा (कच्छुतिका या जवासा) की जड़ इन्हें समान प्रमाण में मिश्रित कर ४ पल लेके पानी के साथ पत्थर पर पीसकर कल्क बना लें तथा कल्क से चतुर्गुण (१६ पल=१ प्रस्थ) घृत एवं घृत से चतुर्गुण पानी डालकर घृतमात्र शेष रखके छानकर शीशी में भर देवें। घृतमात्रा १ तोला, शहद ६ माशा तथा मुलेठी का चूर्ण १ माशा मिश्रित कर शूल से पीड़ित अतिसारी को पिला देवें ॥ ७७ ॥

विमर्शः—अन्य हिन्दी टीकाकारों ने पूर्वापर घृतप्रकरण होते हुये भी इसे क्वाथ बना दिया है यह विचारणीय है।

दार्वीबिल्वकणाद्राक्षाकटुकेन्द्रयवैर्घृतम् ।
साधितं हन्त्यतीसारं वातपित्तकफात्मकम् ॥ ७८ ॥

सन्निपातातिसारे दार्व्यादिघृतम्—दारुहरिद्रा, कच्चे बिल्वफल की मज्जा, पिप्पली, मुनक्का, कुटकी और इन्द्रयव इनका कल्क ४ पल, घृत १६ पल, पानी ६४ पल घृतावशेष पाक कर लें। यह घृत वात, पित्त तथा कफ से पृथक् पृथक् उत्पन्न या सन्निपात रूप से उत्पन्न हुए अतिसार को नष्ट करता है ॥७८॥

दध्ना चाम्लेन सम्पक्वं सव्योषाजाजिचित्रकम् ।
सचव्यपिप्पलीमूलं दाडिमैर्वा रुगर्दितः ॥७९॥

शूलातिसारे व्योषादिघृतम्—सोंठ, मरिच, पिप्पली, जीरा, चित्रक की जड़, चव्य, पिपरामूल और दाडिम (फल) का छाल इनका समप्रमाण कल्क ४ पल, घृत १ प्रस्थ (१६ पल), दही १ प्रस्थ तथा काञ्जी ४ प्रस्थ लेके घृतावशेष पाक कर लें। शूल से पीड़ित अतिसारी इस घृत को दिन में २-३ बार पीवे॥

पयो घृतञ्च मधु च पिबेच्छूलैरभिद्रुतः ।
सिताऽजमोदकट्वङ्गमधुकैरवचूर्णितम् ॥ ८० ॥

शूलातिसारे पयोघृतमधुपानम्—शूल से पीड़ित अतिसारी शर्करा, अजवायन, श्योनाक और मुलेठी के समभागकृत चूर्ण को ३ माशे भर लेकर दुग्ध ५ तोले, घृत १ तोले और मधु १। तोले भर में मिलाकर पी लेवे ॥ ८० ॥

आवेदनं सुसम्पक्वं दीप्ताग्नेः सुचिरोत्थितम् ।
नानावर्णमतीसारं पुटपाकैरुपाचरेत् ॥ ८१ ॥

पुटपाकसाध्यातिसारः—वेदना से रहित, दोष जिसमें अच्छी तरह पक गये हों तथा दीप्त अग्नि वाले मनुष्य के चिरकालोत्पन्न तथा अनेक वर्णों के मल वाले अतिसारी को पुटपक की हुई औषधियों के स्वरस का पान कराना चाहिए ॥

त्वक्पिण्डं दीर्घवृन्तस्य पद्मकेसरसंयुतम् ।
काश्मरीपद्मपत्रैश्चावेष्ट्य सूत्रेण संदृढम् ॥ ८२ ॥
मृदावलिप्तं सुकृतमङ्गारेष्ववकूलयेत् ।
स्विन्नमुद्धृत्य निष्पीड्य रसमादाय तं ततः ॥ ८३ ॥
शीतं मधुयुतं कृत्वा पाययेतोदरामये ।
जीवन्तीमेषशृङ्ग्यादिष्वेवं द्रव्येषु साधयेत् ॥ ८४ ॥

पुटपाकविधिः—अरलु (श्योनाक) की छाल तथा कमल की केसर दोनों को समान प्रमाण में लेकर पानी के साथ पत्थर पर पीसकर पिण्ड बना लें। फिर इस पिण्ड को गंभारी और कमल के पत्तों से आवेष्टित कर चारों ओर डोरों से लपेट के पानी से गीली की हुई मिट्टी के कीचड़ का एक अच्छा आधा इञ्च मोटा लेप लगा कर अङ्गारों पर रख के अच्छी तरह पकावें। जब यह गोला पक कर लाल वर्ण का हो जाय तब उसको अग्नि से उतार कर धीरे-धीरे युक्ति से मृत्तिका हटा कर भीतरी स्विन्न हुई औषध को निचोड़ (दबा) के उसका स्वरस निकाल लें। इस तरह इस शीत हुये स्वरस में एक तोला शहद मिला कर अतिसारादि उदर-रोगों में रुग्ण को पिलावें। इसी विधि से जीवन्ती, मेढासींगी एवं आदि शब्द से पाठा, शटी आदि द्रव्यों का भी स्वरस निकाल कर मधु मिला के अतिसार में प्रयुक्त करना चाहिए ॥

तित्तिरिं लुञ्चितं सम्यक् निःकृष्टान्त्रन्तु पूरयेत् ।
न्यग्रोधादित्वचां कल्कैः पूर्ववच्चावकूलयेत् ॥८५॥
रसमादाय तस्याथ सुस्विन्नस्य समाक्षिकम् ।
शर्करोपहितं शीतं पाययेतोदरामये ॥८६॥

तित्तिरिपुटपाकः—काली तित्तिरी के हाथ, पैर, पंख तथा तुण्ड और आन्त्र सभी को लुञ्चित (पृथक्) कर दें, फिर न्यग्रोध (वट) आदि क्षीरीवृक्षों की छाल का कल्क बना उस तित्तिर के कोष्ठ (पेट) में भर कर गोला सा बना के गम्भारी और कमल के पत्तों में रखकर कुशा से आवेष्टित करके गीली मिट्टी का एक इञ्च मोटा लेप लगाकर खैर की लकड़ी के अङ्गारों पर पकावें। जब पक कर वह गोला रक्तवर्ण का हो जाय तब उसे अग्नि से पृथक् कर उसकी मिट्टी हटा के स्विन्न तित्तिरी को अच्छी प्रकार दबाकर स्वरस निकाल लेना चाहिए। फिर शीतल हुए इस रस में शहद एवं शर्करा मिला कर अतिसारादि उदररोगों में पिलाना चाहिए ॥ ८५-८६ ॥

विमर्शः—न्यग्रोध आदि शब्द से ढाक तथा नन्दी वृक्ष का ग्रहण किया जाता है क्योंकि वे संग्राहक हैं, जैसा कि कहा भी है—संग्राहि स्तम्भनाद्विधं यथा तदभिदध्महे। आग्नेय-गुणभूयिष्ठं तोयांशं परिशोषयेत् ॥ संगृह्णाति मलं तत्प्राद् ग्राहि शुण्ठ्यादयो यथा। समीरगुणभूयिष्ठं शीतत्वाद्धन्नभस्वतः। विधाय वृद्धिं स्तम्भाति स्तम्भनं तद्यथा वटः ॥

लोध्रचन्दनयष्ट्याह्वदार्वीपाठासितोत्पलान् ।
तण्डुलोदकसम्पिष्टान् दीर्घवृन्तत्वगन्वितान् ॥ ८७ ॥
पूर्ववत् कूलितात्तस्माद्रसमादाय शीतलम् ।
मध्वाक्तम्पाययेच्चैतत्कफपित्तोदरामये ॥ ८८ ॥

कफपित्तातिसारे लोध्रादिपुटपाकः—लोध, चन्दन, मुलेठी, दारुहरिद्रा, पाठा, शर्करा, कमल तथा अरलु की छाल इन्हें पत्थर पर तण्डुलोदक के साथ पीसकर गोला बनाकर वटादि पत्रों में रखकर कुशा या डोरे से आवेष्टित कर गीली मिट्टी का एक इञ्च मोटा लेप चारों ओर चढ़ाकर निर्धूम ज्वलदङ्गाराग्नि पर रखकर लाल सुर्ख होने तक पाक कर लेवें। पश्चात् मिट्टी

हटाकर स्विन्न हुए औषध गोले को दबा के स्वरस निकाल कर शीतल होने पर उसमें शहद मिलाकर कफ और पित्त-जन्य अतिसार में पिलावें ॥ ८७–८८ ॥

एवं प्ररोहैः कुर्वीत वटादीनां विधानवत्।
पुटपाकान् यथायोगं जाङ्गलोपहितान् शुभान् ॥ ८९ ॥

वटादिप्ररोहपुटपाकः—सुश्रुत सूत्र स्थान के द्रव्यसंग्रहणीय नामक ३८ वें अध्याय में कहे हुये वटादि वर्ग के वृक्षों के प्ररोहों (जटाङ्कुर) को पत्थर पर पीसकर कल्क बनाकर लाव, कपिञ्जल आदि जङ्गली जीवों के मांस के साथ मिश्रित कर गोला बनाकर वटादिपत्र में रख कुश या डोरे से आवेष्टित कर मृत्तिकालेप करके पूर्ववत् अग्नि में पकाकर लाल सुर्ख होने पर मृत्तिका हटावे। उस स्विन्न हुए औषध गोले को दबा कर स्वरस निकाल कर शीतल होने पर शहद मिला कर अतिसारी को पिलावे ॥ ८९ ॥

बहुश्लेष्म सरक्तञ्च मन्दवातं चिरोत्थितम्।
कौटजं फाणितं वापि हन्त्यतीसारमोजसा ॥
अम्बष्ठादिमधुयुतं पिप्पल्यादिसमन्वितम् ॥ ९० ॥

विविधातिसारे कुटजफाणितप्रयोगः—बड़े फल, शुक्लपुष्प और स्निग्ध पत्रवाले कुटज वृक्ष की छाल लेकर सोलहगुने, अष्टगुने या चौगुने पानी में क्वथित कर अर्धावशेष रहने पर छानकर पुनः उसे फाणित (राब) की आकृति (गाढ़ा) होने तक पकाकर अम्बष्ठादि तथा पिप्पल्यादि गण की औषधियों का मिलित चूर्ण चतुर्थांश डालकर अच्छी प्रकार खुरपे से मिलाकर उतार लेवें फिर शीतल होने पर इसमें मधु का प्रक्षेप देकर पात्र में भर कर रख दें। यह कौटज फाणित अधिक कफवाले रक्तयुक्त तथा मन्द वायु वाले चिरकालिक अतिसार को स्वप्रभाव से नष्ट करता है। इसकी मात्रा ½ माशे से १ माशा तथा दिन में तीन या दो बार लेना चाहिये ॥ ९० ॥

विमर्शः—अम्बष्ठादिगण—'अम्बष्ठाधातकीकुसुमसमङ्गाकट्वङ्ग-मधुकबिल्वपेशिकासावररोध्रपलाशनन्दीवृक्षाः पद्मकेशराणि चेति'। पिप्पल्यादिगण—'पिप्पलीपिप्पलीमूलचव्यचित्रकशृङ्गवेरमरिचहस्ति-पिप्पलीहरेणुकैलाजमोदेन्द्रयवपाठाजीरकसर्षपमहानिम्बफलहिङ्गुभा-र्गीमधुरसातिविषावचाविडङ्गानि कटुरोहिणी चेति।'

पृश्निपर्णीबलाबिल्वबालकोत्पलधान्यकैः।
सनागरैः पिबेत् पेयां साधितामुदरामयी ॥ ९१ ॥

अतिसारे पेया—पिठवन, खरेटी (बरियारा) की जड़, कच्चे बिल्वफल की मज्जा, नेत्रबाला, कमल, धनियाँ और सोंठ मिलित १ कर्ष भर लेकर १ प्रस्थ (६४ तोले) जल में पकाकर आधा प्रस्थ शेष रहने पर उतार कर छान लेवे। फिर चावल, मूँग, माष और तिल में से जो भी दोष तथा रोगी की इच्छानुसार उचित प्रतीत हो १ पल (४ तोले) प्रमाण में लेकर उक्त अर्धशृत ३२ तोले औषध जल में डाल कर अच्छी प्रकार पाक होने पर उतारकर उसमें सैन्धवलवण, भूना जीरा तथा काली मरिचों के चूर्ण का प्रक्षेप दें अथवा रुग्ण मधुर चाहता हो तो मधु का प्रक्षेप दें। यह पेया अतिसार रोग में उत्तम है ॥ ९१ ॥

अरलुत्वक्प्रियङ्गुञ्च मधुकं दाडिमाङ्कुरान्।
आवाप्य पिष्ट्वा दधनि यवागूं साधयेद् द्रवाम् ॥
एषा सर्वानतीसारान् हन्ति पक्वानसंशयम् ॥ ९२ ॥

सर्वातिसारेषु यवागूः—अरलु (श्योनाक) की छाल, प्रियङ्गु, मुलेठी और अनार के कोमल पत्ते इन्हें समान प्रमाण में मिश्रित कर एक कर्ष भर लेकर पत्थर पर पानी के साथ पीस कर कल्क बनाकर दही में घोलकर १ प्रस्थ (६४ तो०) जल डालकर यवागू सिद्ध कर लें। यह यवागू सर्वप्रकार के पक्वातिसारों को नष्ट करती है ॥ ९२ ॥

विमर्शः—अरलुत्वगादि को पीसकर दही में डाल कर यवागू बना लें। यहाँ पर पिष्ट्वा इस क्रिया के प्रयोग करने से अरलुत्वगादिक्वाथ से यवागूसाधन करना निषिद्ध प्रतीत होता है ऐसा डल्हणाचार्य अपनी टीका में लिखते हैं। अरलु-त्वगादि द्रव्यों का प्रमाण, दही का प्रमाण तथा यवागूसाधन करना यह सब असन्दिग्ध लेख है, कोई परिभाषा भी काम नहीं देती अतः हमने साधारण परिभाषा 'कर्षमात्र ततो द्रव्यं साधयेत्प्रास्थिकेऽम्भसि' के अनुसार अर्थ लिखा है। वास्तव में यहाँ पर चावल या मूंग अवश्य लेना चाहिये क्योंकि उनके बिना यवागू कैसी ?

रसाञ्जनं सातिविषं त्वग्बीजं कौटजं तथा ॥ ९३ ॥
धातकीनागरञ्चैव पाययेत्तण्डुलाम्बुना।
सशूलं रक्तजं घ्नन्ति एते मधुसमायुताः ॥ ९४ ॥

सशूलरक्तातिसारे योगाः—रसौत, अतीस, कूड़े की छाल, कूड़े के बीज (इन्द्रयव), धाय के पुष्प और सोंठ इन औषधियों को पृथक् पृथक् पीसकर चावल के धोवन के साथ मिलाकर शहद का प्रक्षेप देकर पिलाना चाहिये। इस प्रकार भिन्न-भिन्न औषधियों के योग शूलयुक्त रक्तातिसार को नष्ट करते हैं ॥ ९३–९४ ॥

विमर्शः—कुछ आचार्य 'घ्नन्ति एते मधुसमायुताः' के स्थान पर 'हन्ति योगोऽयं मधुसंयुतः' पाठ मानकर उक्त औषधियों का सम्मिलित एक ही योग मानते हैं तथा यह ठीक भी है। पृथक् पृथक् औषधि लेनी हो तो मात्रा १ माशा तथा सबको मिश्रित कर लेनी हो तो २ से ३ माशे की मात्रा यथादोष, समय और वायु आदि का विचार कर लेवें।

मधुकं बिल्वपेशी च शर्करामधुसंयुता।
अतीसारं निहन्त्युश्च शालिषष्टिकयोः कणाः ॥
तद्वल्लीढं मधुयुतं बदरीमूलमेव तु ॥ ९५ ॥

अतिसारहरा योगाः—मुलेठी, कच्चे बिल्वफल की मज्जा, इन्हें सम प्रमाण में चूर्णित कर १ माशे भर लेकर ½ माशे शर्करा तथा १ माशे शहद के साथ मिलाकर सेवन करने से अतिसार नष्ट होता है। इसी तरह शालि चावल तथा साठी चावल के चूर्ण को २ माशे भर लेकर शर्करा व मधु के साथ सेवन करने से अतिसार नष्ट होता है। ऐसे ही बैर की जड़ की छाल का चूर्ण १ माशे भर ले के महीन चूर्ण कर शहद के साथ मिलाकर चाटने से अतिसार नष्ट होता है ॥ ९५ ॥

बदर्य्यर्जुनजम्ब्वाम्रशल्लकीवेतसत्वचः।
शर्कराक्षौद्रसंयुक्ताः पीता घ्नन्त्युदरामयम् ॥ ९६ ॥

अतिसारहरास्त्वचः—बैर, अर्जुन, जामुन, आम, शल्लकी और वेतस इनकी छालों को समान प्रमाण में ले कर चूर्णित

कर लें। फिर २ माशे भर यह चूर्ण, एक माशे भर शर्करा और एक माशे भर मधु को मिश्रित कर सेवन करने से अतिसार नष्ट होता है ॥ ९६ ॥

एतैरेव यवागूँश्च षडान् यूषाँश्च कारयेत् ।
पानीयानि च तृष्णासु द्रव्येष्वेतेषु बुद्धिमान् ॥९७॥

बदर्यादिभिर्यवाग्वादिनिर्माणम्—उक्त बदरी आदि की त्वचा मिश्रित ४ पल लेकर यवकुट कर १ आढक (६४ पल) जल डालकर पकाकर चौथाई शेष रहने पर छान लें। इसी क्वाथ में चावल या मूंग की यवागू, षड और यूष बनाकर अतिसारी को देवें तथा प्यास लगने पर षडङ्गपरिभाषानुसार (१ कर्ष उक्त छालें, १ प्रस्थ पानी, अर्द्धावशेष) पानी सिद्ध कर पीने को देना चाहिये ॥ ९७ ॥

कृतं शाल्मलिवृन्तेषु कषायं हिमसंज्ञितम् ।
निशापर्युषितं पेयं सक्षौद्रं मधुकान्वितम् ॥ ९८ ॥

शाल्मलिवृन्तहिमः—सेमल की कोंपल (नवीन पत्राङ्कुर) एक पल भर ले के पत्थर पर पीस कर ६ पल जल में डाल कर रात भर पड़ा रख के दूसरे दिन प्रातः हाथ से अच्छी प्रकार मसल कर कपड़े से छान के इसमें शहद १ तोले तथा मुलेठी का चूर्ण आधे तोले भर मिला कर पीने से अतिसार नष्ट होता है ॥ ९८ ॥

विमर्शः—शीतनिर्माणविधिः—क्षुण्णं द्रव्यपलं सम्यक् षड्भिर्जलपलैः प्लुतम् । शर्वरीमुषितं सम्यक् ज्ञेयः शीतकषायकः ॥
(परिभाषाप्रदीप)

विबद्धवातविट् शूलपरीतः सप्रवाहिकः ॥ ९९ ॥
सरक्तमित्तश्च पयः पिबेत् तृष्णासमन्वितः ।
यथाऽमृतं तथा क्षीरमतीसारेषु पूजितम् ॥ १०० ॥

कोदृशेऽतिसारे दुग्धं पेयम्—जो अतिसार का रोगी अपान वायु और मल के अवरोध से पीड़ित हो, शूल से दुःखी हो, बार-बार थोड़ा मल त्यागता हो या कांज-कांज कर मल त्यागता हो तथा जिसके मल में खून आता हो तथा जिसे प्यास अधिक लगती हो वह अतीसारी दुग्ध का पान करे क्योंकि जिस प्रकार अमृत हितकारी होता है उसी प्रकार सर्व प्रकार के अतिसारों में या उक्त लक्षण वाले अतीसारों में दुग्ध श्रेष्ठ माना गया है ॥ ९९-१०० ॥

चिरोत्थितेषु तत् पेयमपाम्भागैस्त्रिभिः शृतम् ।
दोषशेषं हरेत्तद्धि तस्मात्पथ्यतमं स्मृतम् ॥१०१॥

अतिसारे पानयोग्यदुग्धम्- चिरकालीन अतिसार में पाव भर दुग्ध को त्रिगुण (तीन पाव) पानी के साथ उबाल कर दुग्ध मात्र शेष रहने पर अथवा अर्द्धशृत करके पीवे क्योंकि इस प्रकार का पिया हुआ दुग्ध शरीर में बचे हुये दोषों को नष्ट करता है अतः ऐसा दुग्ध अत्यन्त हितकारक माना गया है ॥ १०१ ॥

हितः स्नेहविरेको वा बस्तयः पिच्छिलाश्च ये ।
पिच्छिलस्वरसे सिद्धं हितञ्च घृतमुच्यते ॥ १०२ ॥

अतिसारे स्नेहविरेचनादि—अतिसार में आमदोष के निर्हरण के लिये अथवा पक्वातिसार में भी यदि वातिक शूल, आध्मान, विबन्ध आदि लक्षण हों तो उन्हें नष्ट करने के लिये रुग्ण को स्नेहविरेचन अर्थात् विरेचक औषधियों के कल्क से सिद्ध किये हुये घृत का पान अथवा विरेचनकारक स्नेह द्रव्य जैसे एरण्डतैल इनका पान कराना हितकारक होता है अथवा निरूहक्रमचिकित्साधिकार में कही हुई पिच्छिल बस्तियाँ देनी चाहिए। इसी प्रकार श्योनाक, सेमल आदि पिच्छिल द्रव्यों के स्वरस तथा कल्क से सिद्ध किये हुये घृत का सेवन हितकारी होता है ॥ १०२ ॥

शकृता यस्तु संसृष्टमतिसार्येत शोणितम् ।
प्राक् पश्चाद्वा पुरीषस्य सरुक् सपरिकर्त्तिकः ॥
क्षीरिशुङ्गाशृतं सर्पिः पिबेत् सक्षौद्रशर्करम् ॥ १०३ ॥

सरक्तमलातिसारे क्षीरिशुङ्गाशृतं सर्पिः—जो अतिसार का रोगी मल के साथ रक्त का अतिसरण करता हो चाहे वह रक्त मलोत्सर्ग के पूर्व या पश्चात् आता हो एवं जिस रोगी को शूल और परिकर्तिका (आँतों में तथा वस्ति, गुदा और लिङ्ग में काटने की सी पीड़ा) होती हो उसे क्षीरि वृक्षों (वट अश्वत्थ आदि) के नवीन पत्राङ्कुरों के कल्क तथा क्वाथ में घृत सिद्ध करके उसमें शहद और शर्करा का मिश्रण करके पिलाना चाहिए ॥ १०३ ॥

दार्वीत्वक्पिप्पलीशुण्ठीलाक्षाशक्रयवैर्घृतम् ॥ १०४ ॥
संयुक्तं भद्ररोहिण्या पक्वं पेयादिमिश्रितम् ।
त्रिदोषमप्यतीसारं पीतं हन्ति सुदारुणम् ॥ १०५ ॥

सरक्तमलातिसारे दार्व्यादिघृतम्—दारुहरिद्रा की छाल, छोटी पीपल, सोंठ, लाक्षा, इन्द्रयव और कुटकी इनके कल्क से सिद्ध किये हुये घृत को अतिसारहर पेया के साथ अथवा यवागू के साथ-साथ मिश्रित करके पिलाना चाहिए। इस प्रकार से सेवित किया हुआ घृत पृथक्-पृथक् दोषों से उत्पन्न तथा त्रिदोष से उत्पन्न हुये अतिसार को भी नष्ट करता है ॥

गौरवे वमनं पथ्यं यस्य स्यात् प्रबलः कफः ।
ज्वरे दाहे सविड्बन्धे मारुताद्रक्तपित्तवत् ॥ १०६ ॥

पक्वातिसारेऽपि वमनम्—जिस पक्वातिसारी में कफ की प्रबलता हो तथा शरीर में भारीपन हो एवं ज्वर, दाह तथा वातानुबन्ध के कारण मल का विबन्ध हो उसे अधोग रक्तपित्त में जैसे वमन कराने से हित होता है तद्वत् ऐसे अतिसार में भी वमन कराना हितकारी है ॥ १०६ ॥

विमर्शः—वमन कराने से प्रबल हुआ कफ नष्ट हो जाता है तथा मल के वेग की प्रवृत्ति नीचे को रहती है, वह वमन कराने से विचित्रमार्गचिकित्साप्रभाववश रुक जाती है।

सम्पक्वे बहुदोषे च विबन्धे मूत्रशोधनैः ।
कार्यमास्थापनं क्षिप्रं तथा चैवानुवासनम् ॥ १०७ ॥

अतिसारे बस्तियोगाः—अतिसार की पक्वावस्था में तथा शरीर में दोषों की अधिकता होने पर, अपान वायु आदि की अप्रवृत्ति में मूत्रसंशोधक ओषधियों (कुशकाशादि पञ्चतृण, गोखरू, पाषाणभेद आदि द्रव्यों) के क्वाथ से सिद्ध किये हुये घृत या एरण्डादि तैल द्वारा शीघ्र ही आस्थापन (निरूहणबस्ति) या अनुवासनबस्ति देनी चाहिए ॥ १०७ ॥

प्रवाहणे गुदभ्रंशे मूत्राघाते कटिग्रहे।
मधुराम्लैः शृतं तैलं सर्पिर्वाऽप्यनुवासनम् ॥ १०८ ॥

प्रवाहणादिष्वनुवासनम्—रोगी मल को निकालने के लिये बार-बार प्रवाहण (कुन्थन) करता हो, गुदभ्रंश हो गया हो तथा मूत्राघात और कमर की जकड़ाहट हो गयी हो ऐसी अवस्था में काकोल्यादि मधुर औषधियों के कल्क तथा स्वरस एवं बीजपूर, कपित्थ, चुक्रिका, वृक्षाम्ल, काञ्जिक आदि अम्ल द्रव्यों से सिद्ध किये हुये तैल अथवा घृत से अनुवासनवस्ति देनी चाहिए ॥ १०८ ॥

गुदपाकस्तु पित्तेन यस्य स्यादहिताशिनः।
तस्य पित्तहराः सेकास्तत्सिद्धाश्चानुवासनाः ॥१०९॥

गुदपाकोपचारः—अहित आहार-विहार के सेवन से पित्त के प्रकोप द्वारा जिस अतिसारी की गुदा पक गई हो ऐसी अवस्था में मन्दोष्ण क्षीर, इक्षुरस, शर्करोदक और काकोल्यादि मधुरौषधियों के क्वाथ से गुदप्रदेश में सेक करना चाहिए तथा इन्हीं द्रव्यों के कल्क और क्वाथ से सिद्ध किये हुये घृत की अनुवासनवस्ति देनी चाहिए ॥ १०९ ॥

दधिमण्डसुराबिल्वसिद्धं तैलं समारुते।
भोजने च हितं क्षीरं कच्छुरामूलसाधितम् ॥ ११० ॥

वातातिसारे तैलानुवासनम्—वातजन्य अतिसार में दधि, मण्ड, सुरा और बिल्वफल के कल्क द्वारा सिद्ध किये हुये तेल की अनुवासनवस्ति देनी चाहिए तथा भोजन के लिये कच्छुरा (कङ्कतिका, भूकशिम्बा या दुरालभा) की जड़ के कल्क से सिद्ध किया हुआ दुग्ध हितकारी होता है ॥ ११० ॥

विमर्शः—सुश्रुतटीकाकार डल्हण ने दधिमण्ड एक ही शब्द मान कर दधिमस्तु (दही के ऊपर का पानी) अर्थ किया है।

अल्पाल्पं बहुशो रक्तं सशूलमुपवेश्यते।
यदा वायुर्विबद्धश्च पिच्छाबस्तिस्तदा हितः ॥ १११ ॥

पिच्छाबस्तेर्विषयः—जो अतिसार का रोगी थोड़ा-थोड़ा तथा अनेक बार, रक्तमिश्रित एवं शूलपूर्वक मल त्यागता हो एवं जिसमें अपान वायु भी अवरुद्ध हो गई हो ऐसे अतिसारी के लिये पिच्छावस्ति हितकारी होती है ॥ १११ ॥

विमर्शः—पिच्छावस्ति—पिच्छिल द्रव्यों से की हुई वस्ति को पिच्छावस्ति कहते हैं, जैसे सुश्रुताचार्य ने सु. चि. अ. ३८ में कही है—बदर्यैरावतीशेलुशाल्मलीधन्वनाङ्कुराः। क्षीरसिद्धाः क्षौद्रयुताः सास्राः पिच्छिलसंज्ञिताः॥ वाराहमाहिषौरभ्रवैडालैणेयकौक्कुटम्। सद्यस्कमसृगाजं वा देयं पिच्छिलवस्तिषु ॥

प्रायेण गुददौर्बल्यं दीर्घकालातिसारिणाम्।
भवेत् तस्माद्धितं तेषां गुदे तैलावचारणम् ॥ ११२ ॥

गुददौर्बल्यचिकित्सा—अधिक समय तक अतिसार से पीड़ित रहने वाले रोगियों की गुदा प्रायः दुर्बल हो जाती है इसलिये ऐसे रोगियों की गुदा में पिचु, सेक और अनुवासन के रूप में तैल का प्रयोग करना चाहिए तथा पित्तानुबन्ध हो तो उक्त विधि से घृत प्रयुक्त करें ॥ ११२ ॥

कपित्थशाल्मलीफञ्जीवटकार्पासदाडिमाः।
यूथिका कच्छुरा शेलुः शणश्चुञ्चुश्च दाधिकाः ॥११३॥

अतिसारे कपित्थादिप्रयोगः—कपित्थफल, सेमल के कोमल पत्र, फञ्जी (पाठभेद), बट की कोंपल, कपास की कच्ची डोडी या कोमल पत्ते, दाडिम के कोमल पत्र या अनारदाने या फल के छिलके, यूथिका (जूही) की कलियाँ, कच्छुरा (कङ्कतिका या जवासा), शेलु (लिसोड़ा), सन और चंचु (शाकविशेष) इन्हें दही से संस्कृत कर अतिसार के रोगी में प्रयुक्त करें ॥ ११३ ॥

विमर्शः—उक्त द्रव्यों की चटनी, शाक, स्वरस कुछ भी बना कर उसमें दही का प्रक्षेप कर प्रयोग करना चाहिए।

शालपर्णी पृश्निपर्णी बृहती कण्टकारिका।
बला श्वदंष्ट्राबिल्वानि पाठानागरधान्यकम् ॥ ११४ ॥
एष आहारसंयोगे हितः सर्वातिसारिणाम्।
तिलकल्को हितश्चात्र मौद्गो मुद्गरसस्तथा ॥ ११५ ॥

अतिसारे आहारसंस्कारद्रव्याणि—शालपर्णी, पृष्ठपर्णी, बड़ी कटेरी, छोटी कटेरी, बरियारा, गोखरू, कच्चा बिल्वफल, पाठा, सोंठ और धनियाँ इन द्रव्यों को अतिसारी आहार के संस्कार करने में प्रयुक्त करे। इसी प्रकार अतिसार के रोगी के लिये तिलकल्क, मुद्गकल्क तथा मुद्गरस भी हितकारक माने गये हैं ॥ ११४–११५ ॥

विमर्शः—शालपर्णी से लेकर धनियाँ तक के दस द्रव्यों को दशाङ्ग के नाम से कहते हैं तथा इन द्रव्यों का अतिसार में यथायोग्य उपयोग किया जाता है। अर्थात् इन द्रव्यों को समप्रमाण में मिश्रित कर चार पल ले के एक आढक (६४ पल) जल में क्वथित कर चौथाई शेष रहने पर उतार के छान लें। इसी क्वाथ से चाँवल या मूँग की यवागू, यूष, रस आदि बना के अतिसारी को देवें - क्वाथ्यद्रव्याञ्जलिं क्षुण्णं श्रपयित्वा जलाढके। पादावशेषे तेनाथ यवाग्वाद्युपकल्पयेत्॥ यूषांश्च रस्नकांश्चैव कल्पेनानेन साधयेत्॥ (प. प्रदीप) यवागूभक्तादिनिर्माण में इस क्वाथ का परिमाण—भक्तं पञ्चगुणे तोये यवागूः षड्गुणे पचेत्। चतुर्दशगुणे पेयां विलेपीञ्च चतुर्गुणे ॥ यहाँ पर जो मुद्ग रस कहा वह भी खड़े मूँगों को रोगी जितना अन्न खाता हो उसके चौथाई प्रमाण में लेकर उक्त शालपर्ण्यादि के क्वाथ में ही पका के मुद्गरस लें।

पित्तातिसारी यो मर्त्यः पित्तलान्यतिषेवते।
पित्तं प्रदुष्टं तस्याशु रक्तातीसारमावहेत् ॥
ज्वरं शूलं तृषां दाहं गुदपाकञ्च दारुणम् ॥ ११६ ॥

रक्तातिसारहेतुः—जो पित्तातिसार वाला रोगी पित्तजनक अन्न और पान का अधिक सेवन करता है उसका पित्त अत्यधिक दुष्ट होकर रक्तातिसार उत्पन्न कर देता है जिसमें ज्वर, शूल, तृषा, दाह और दारुण (कष्टदायक) गुदपाक होता है ॥ ११६ ॥

विमर्शः—चरक, सुश्रुत आदि आचार्यों ने रक्तातिसार को पृथक् न मानकर उसे पित्तातिसार की ही एक परिवर्द्धित अवस्था मान ली है इसीलिये सुश्रुताचार्य ने उक्त श्लोक द्वारा पित्तातिसारी का ही पित्त अधिक कुपित होकर रक्तातिसार में परिणत हो जाता है ऐसा लिखा है। इसी प्रकार चरकाचार्य ने भी 'रक्तपित्तोपहितम्' ऐसा कह कर रक्तातिसार को पित्तातिसारान्तर्गत कर दिया है। माधवकार ने भी उक्त

दोनों आचार्यों के आशयानुसार पित्तातिसार की ही बढ़ी हुई अवस्था को रक्तातिसार कहा है—'पित्तकृन्ति यदाऽत्यर्थं द्रव्याण्यश्नाति पैत्तिके। तदोपजायतेऽभीक्ष्णं रक्तातीसार उल्बणः॥' पित्तकृन्ति—अम्ल, लवण, कटु, क्षार तथा तीक्ष्ण पदार्थ पित्तवर्द्धक होते हैं। इन पदार्थों के अत्यधिक सेवन से आन्त्रकला भी अधिक क्षुभित (उत्तेजित) हो जाती है जिससे आन्त्र की श्लैष्मिक कलान्तर्गत केशिकाओं के विदीर्ण हो जाने से मल के साथ रक्त की प्रवृत्ति होने लगती है, इसी को रक्तातिसार कहते हैं।

यो रक्तं शकृतः पूर्वं पश्चाद्वा प्रतिसार्यते।
स पल्लवैर्वटादीनां ससर्पिः साधितं पयः॥ ११७॥
पिबेत् सशर्कराक्षौद्रमथवाऽप्यभिमथ्य तत्।
नवनीतमथो लिह्यात्तक्रं चानुपिबेत्ततः॥ ११८॥

रक्तातिसारचिकित्सा—जो व्यक्ति दस्त जाने के पूर्व या पश्चात् (या मल के साथ) रक्त का त्याग करता हो वह व्यक्ति वट, अश्वत्थ आदि क्षीरीवृक्षों के कोमल पत्तों का कल्क आधा पल (दो तोला), दुग्ध १ पल (१६ तोला) तथा जल १६ पल ले के क्षीरावशेष पाक कर छान के उसमें १ कर्ष घृत मिलाकर पीवे। अथवा उसी दुग्ध में शक्कर और शहद मिलाकर पीवे। अथवा उक्त वटादिपल्लवकल्क से अधिक दुग्ध सिद्ध कर उसे मथ कर मक्खन निकाल के उसमें शक्कर शहद मिला के सेवन करे और उसके पश्चात् तक्र का पान करे॥ ११७-११८॥

विमर्शः—कुछ लोगों का मत है कि वटादिपत्रशृत दुग्ध में घृत, शर्करा और शहद मिला करके पीना चाहिए तथा उसी दुग्ध में से निकाले हुये मक्खन को बिना शर्करा और शहद मिलाये ही सेवन करना चाहिये तथा उसके अनन्तर तक्र का पान करना चाहिए। तक्र—दही के अन्दर चौथाई प्रमाण में पानी डालकर मथ के तक्र बनाई जाती है—'तक्रं पादजलं प्रोक्तमुदश्विदर्धवारिकम्।'

प्रियालशाल्मलीप्लक्षशल्लकीतिनिशत्वचः।
क्षीरे विमृदिताः पीताः सक्षौद्रा रक्तनाशनाः॥११९॥

रक्तातिसारहराः प्रियालादित्वचः—प्रियाल (चारोली), सेमल, पिलखन, शल्लकी और तिनिश की समप्रमाण मिश्रित छाल चूर्ण ३ माशे भर लेके पत्थर पर पानी के साथ पीस कर बकरी के ५ तोले दुग्ध में डाल के मसल कर शहद मिलाके पीने से रक्तातिसार नष्ट होता है॥ ११९॥

विमर्शः—उक्त प्रियालादि वृक्षों की त्वचा को पृथक् २ पीस के अथवा समस्त मिश्रित करके पीसकर दुग्ध में मिला के पी सकते हैं।

मधुकं शर्करां लोध्रं पयस्यामथ सारिवाम्।
पिबेच्छागेन पयसा सक्षौद्रं रक्तनाशनम्॥१२०॥

रक्तातिसारे मधुकादिप्रयोगः—मुलेठी, शक्कर, पठानी लोध, पयस्या (अर्कपुष्पी या विदारीकन्द) और सारिवा (अनन्तमूल) इन्हें समप्रमाण में चूर्णित कर ३ माशे भर लेके शहद के साथ मिलाकर अजादुग्धानुपान के साथ सेवन करने से रक्तातिसार नष्ट होता है॥ १२०॥

मञ्जिष्ठां सारिवां लोध्रं पद्मकं कुमुदोत्पलम्।
पिबेत् पद्माञ्च दुग्धेन छागेनासृक्प्रशान्तये॥१२१॥

रक्तातिसारे मञ्जिष्ठादिचूर्णम्—मजीठ, अनन्तमूल, पठानीलोध, पद्मकाठ, श्वेतकमल, नीलकमल और पद्मा (भारङ्गी) इन्हें समप्रमाण में चूर्णित कर ३ माशे भर ले के रक्तातिसार की शान्ति के लिये बकरी के दुग्ध के साथ सेवन करे॥१२१॥

शर्करोत्पललोध्राणि समङ्गा मधुकं तिलाः॥१२२॥
तिलाः कृष्णाः सयष्ट्याह्वाः समङ्गा चोत्पलानि च।
तिला मोचरसो लोध्रं तथैव मधुकोत्पलम्॥१२३॥
कच्छुरा तिलकल्कश्च योगाश्चत्वार एव च।
आजेन पयसा पेयाः सरक्ते मधुसंयुताः॥१२४॥

रक्तातिसारहराश्चत्वारो योगाः—(१) शक्कर, कमलपुष्प, लोध, समङ्गा (मजीठ), मुलेठी और तिल। (२) काले तिल, मुलेठी, मजीठ और कमलपुष्प। (३) तिल, मोचरस (सेमल का गोंद), पठानी लोध, मुलेठी और कमलपुष्प। (४) कच्छुरा (कङ्कतिका अथवा जवासा) और तिल कल्क। इस तरह आधे-आधे श्लोकों द्वारा ये चार योग कहे हैं। इन्हें पृथक् पृथक् समान प्रमाण में लेकर चूर्णित करके ३ माशे के प्रमाण में लेके शहद के साथ मिश्रित कर अजादुग्धानुपान से रक्तातिसार में सेवन करें॥ १२२-१२४॥

द्रवे सरक्ते स्रवति बालबिल्वं सफाणितम्।
सक्षौद्रतैलं प्रागेव लिह्यादाशु हितं हि तत्॥ १२५॥

बालबिल्वप्रयोगः—रक्त के साथ द्रवरूप (पतला पानी जैसा) मल आने पर कच्चे बिल्वफल की मज्जा के चूर्ण को तीन भर लेके फाणित (राब), शहद और तैल के साथ भोजन के पहले चाटे। यह योग शीघ्र ही हितकारक होता है॥ १२५॥

विमर्शः—इस योग को सुबह-साम भोजन के पूर्व तथा मध्याह्न में ऐसे तीन समय सेवन करना चाहिए।

कोशकारं घृते भृष्टं लाजचूर्णं सिता मधु।
सशूलं रक्तपित्तोत्थं लीढं हन्त्युदरामयम्॥ १२६॥

सशूलरक्तातिसारे कोशकारादियोगः—कोशकार (कौशेयवस्त्रनिर्मापक कीट) को घृत में भर्जित कर लाजा के चूर्ण, शर्करा और शहद के साथ सेवन करने से रक्त और पित्त के प्रकोप से उत्पन्न हुआ शूलयुक्त अतिसार नष्ट होता है॥१२६॥

विमर्शः—डल्हणाचार्य ने इस श्लोक के अर्थ में लिखा है कि कोशकार अर्थात् इक्षुभेदविशेष के त्वचारहित टुकड़े को घृत में भर्जित कर पीस के लाजा, शर्करा और शहद के साथ सेवन करने से रक्तपित्तोत्थ सशूल अतिसार नष्ट होता है। कोशकार इक्षुभेद इति डल्हणः। कोशकारो नाम कौशेयवस्त्रोपादानभूततन्तूत्पादकः कीटविशेषः, इति सुश्रुतार्थसन्दीपने हाराणचन्द्रः। यही मत श्रेष्ठ है क्योंकि चरकाचार्य ने भी इसी रेशम के कीट के लिये कोशकार शब्द का प्रयोग किया है—कोशकारो यथा तन्तूनुपादत्ते वधप्रदान्। उपादत्ते तथार्थेभ्यस्तृष्णामज्ञः सदाऽऽतुरः॥

बिल्वमध्यं समधुकं शर्कराक्षौद्रसंयुतम्।
तण्डुलाम्बुयुतो योगः पित्तरक्तोत्थितं जयेत्॥१२७॥

पित्तरक्तातिसारे बिल्वादियोगः— कच्चे बिल्वफल की मज्जा का चूर्ण २ माशा, मुलेठी का चूर्ण १ माशा, शर्करा २ माशा तथा शहद २ माशे भर ले के चावल के दो तोले धोवन (तण्डुलोदक) में मिश्रित कर दिन में दो तीन बार पीने से पित्तरक्तजन्य अतिसार नष्ट होता है॥ १२७ ॥

विमर्शः—डल्हणाचार्य ने लिखा है कि पित्त से या रक्त से उत्पन्न अतिसार न कि रक्तपित्तजन्य, क्योंकि ऐसा अर्थ करने से अतिसार की संख्या सात होने का भय है।

योगान् साङ्ग्राहिकांश्चान्यान् पिबेत् सक्षौद्रशर्करान् ।
न्यग्रोधादिषु कुर्याच्च पुटपाकान् यथेरितान् ॥ १२८ ॥

अन्यसंग्राहियोगातिदेशः— पित्तातिसार में कहे हुए अन्य संग्राहिक योगों को रक्तातिसार में भी शहद तथा शर्करा के साथ सेवन करना चाहिये तथा पूर्व में कहे हुये योगों को न्यग्रोधादि (वटादि) के पत्रों में रख के पुटपाक कर स्वरस निकाल के सेवन करें अथवा न्यग्रोधादि (वट, अश्वत्थ आदि) क्षीरी वृक्षों की कोंपलों को पीस कर गोला बना के गम्भारी और कमल के पत्तों में लपेट के सूत्र से आवेष्टित कर गीली मिट्टी का लेप करके दीप्ताङ्गार में रख कर लाल सुर्ख होने तक पका के पश्चात् मिट्टी हटाकर स्विन्न कोंपलों के पिण्ड को दबा के स्वरस निकाल कर मधु मिलाके सेवन करने से रक्तातिसार नष्ट होता है ॥ १२८ ॥

गुदपाके च य उक्तास्तेऽत्रापि विधयः स्मृताः ।
रुजायां चाप्रशाम्यन्त्यां पिच्छाबस्तिर्हितो भवेत् ॥१२९॥

सेकविधानम्— पित्तातिसारजन्य गुदपाक में जो सेक आदि विधान पूर्व में कहे हैं उन्हें इस पित्तरक्तातिसारजन्य गुदपाक में भी प्रयुक्त करें तथा गुदपाकजन्य वेदना या अन्य वेदना का शमन अन्य उपचार से न होता हो तो पूर्वोक्त पिच्छाबस्ति का प्रयोग करने से लाभ होता है ॥ १२९ ॥

सक्तविड् दोषबहुलं दीप्ताग्निर्योऽतिसार्यते ।
विडङ्गत्रिफलाकृष्णाकषायैस्तं विरेचयेत् ॥१३०॥
अथवैरण्डसिद्धेन पयसा केवलेन वा ।
यवागूर्विरेकेचास्य वातघ्नैर्दीपनैः कृताः ॥१३१॥

सविबन्धरक्तातिसारे विरेचनम्—जो दीप्तपाचकाग्नि वाला व्यक्ति विबन्धपूर्वक तथा प्रचुर दोषयुक्त मल को त्यागता हो उसे वायविडङ्ग, हरड, बहेड़ा, आँवला और पिप्पली के क्वाथ से विरेचन करावे अथवा एरण्ड की जड़ से सिद्ध किये हुए केवल दुग्ध से विरेचन करावे। पश्चात् क्षुधा प्रतीत होने पर शालपर्णी आदि वातनाशक एवं दीपनीय औषधियों के क्वाथ में सिद्ध की हुई चावल या मूँग की यवागू देनी चाहिए ॥ १३०—१३१ ॥

विमर्शः—कुछ टीकाकारों ने एरण्ड तैल सिद्ध दुग्ध लिखा है जो कि डल्हणमत तथा अनुभव से विरुद्ध है। ऐसे एरण्ड तैल को दुग्ध में डालकर पिया जा सकता है।

दीप्ताग्निर्निष्पुरीषो यः सार्यते फेनिलं शकृत् ।
स पिबेत् फाणितं शुण्ठीदधितैलपयोघृतम् ॥१३२॥

फेनयुक्तरक्तातिसारोपचारः—जो दीप्त अग्निवाला पुरुष अधिक मलरहित किन्तु झागदार अतिसार से ग्रस्त हो वह राब, शुण्ठीचूर्ण, दही, तैल, दुग्ध और घृत इन्हें मिश्रित कर के पीवे ॥ १३२ ॥

विमर्शः—डल्हणमतानुसार झागदार मल निःसारक (निःसारक) अतिसार में आता है। सुश्रुताचार्य ने वातातिसार में झागदार मल के आने का उल्लेख किया है—'अर्चो मुहुश्चत्यरुणमल्पं सफेनं रूक्षं श्यावं सानिलं मारुतेन ।' सु. उ. तं. अ. ४० । ९। माधवकार ने भी फेनयुक्त मल वातातिसार में आने को लिखा है—अरुणं फेनिलं रूक्षमल्पमल्पं मुहुर्मुहुः । शकृदामं सरुक्शब्दं मारुतेनातिसार्यते । चरकाचार्य ने भी 'सशूलफेनपिच्छापरिकर्तिकं' लिख कर वातातिसार में फेनिल मल आने को लिखा है। वाग्भटाचार्य ने भी वातातिसार में फेनयुक्त मल आना लिखा है—रूक्षं सफेनमच्छञ्च ग्रथितं वा मुहुर्मुहुः । (वा. नि. अ. ८)। फाणितादिमात्रा—फाणित १ तो०, शुण्ठीचूर्ण १ माशा, दधि २ तोले से ५ तोले तक, तैल ६ माशा, दुग्ध २ तोला, घृत १ तोला। ऐसी मात्रा दिन में तीन या दो बार दी जानी चाहिए। उक्त मात्रा में अवस्थानुसार न्यूनता या वृद्धि भी की जा सकती है।

स्विन्नानि गुडतैलाभ्यां भक्षयेद्बदराणि च ।
स्विन्नानि पिष्टवद्वाऽपि समं बिल्वशलाटुभिः ॥१३३॥

सफेनातिसारे द्वितीययोगः—बदरफलों को उबालकर गुड़ और तैल के साथ सेवन करें अथवा बदरीफल और कच्चे बिल्वफल की मज्जा को पिष्टस्वेदनविधि से स्विन्न करके शीतल होने पर गुड़ और तैल के साथ सेवन करने से सफेन अतिसार नष्ट हो जाता है ॥ १३३ ॥

विमर्शः—बदरफल ४-६ ले सकते हैं तथा गुड़ १ तोला और तैल ६ माशा पर्याप्त है। पिष्टस्वेदनविधिस्तन्त्रान्तरे यथा—अनेकच्छिद्रसंयुक्तशरावेण पिधाय च। जलार्धपूरितां स्थालीं चुल्ल्यामुपरि विन्यसेत् ॥ स्वेद्यानि द्रव्यजातानि शरावेऽस्मिन्निधाय च । आच्छाद्यान्यशरावेण ज्वालां तावत्प्रदापयेत् । स्विन्नानि तानि यावत्स्युः पिष्टस्वेदोऽयं विधिः ॥ अर्थात् एक भगोने या तपेली में आधा पानी भर कर उस पर सीधी पीतल की चलनी रख दें और उसमें बदरादि स्वेद्य वस्तु रख कर दूसरे बिना छिद्र वाले शरावाकृति पात्र से ढक कर इस यंत्र को चूल्हे पर चढ़ा दें। उबलते हुये पानी से निकली हुई भाप चलनी के छिद्रों द्वारा स्वेद्य द्रव्य पर पड़ कर उसे स्वेदित कर देगी। आज कल गुजरात में ढोकरी इसी विधि से बनाते हैं।

दध्नोपयुज्य कुल्माषान् श्वेतामनुपिबेत् सुराम् ॥१३४॥

मलक्षयचिकित्सा—अर्धस्विन्न जौ के चूर्ण को दही के साथ खाकर पश्चात् पिष्टसाधित श्वेत (स्वच्छ) सुरा का पान करे ॥ १३४ ॥

विमर्शः—कुल्माष शब्द से अर्धस्विन्न गोधूम तथा चनों का भी ग्रहण होता है—अर्धस्विन्नास्तु गोधूमा अन्येऽपि चणकादयः । कुल्माषा इति कथ्यन्ते शब्दशास्त्रेषु पण्डितैः ॥

शशमांसं सरुधिरं समङ्गां सघृतं दधि ।
खादेद्विपाच्य सेवेत मृद्वन्नं शकृतः क्षये ॥ १३५ ॥

मलक्षयेऽन्ययोगाः—खरगोश का मांस तथा रक्त, लजालु, घृत और दही इन्हें मिश्रित कर पका के सेवन करे तथा उसके बाद मल को बढ़ाने वाले माष (उड़द) आदि मृदु अन्न को संस्कृत कर सेवन करना चाहिए ॥ १३५ ॥

विमर्शः—माष मलवर्द्धक माना गया है—'माषो बहुमलो वृष्यः ।।'

संस्कृतो यमके माषयवकोलरसः शुभः ।
भोजनार्थं प्रदातव्यो दधिदाडिमसाधितः ॥ १३६ ॥

मलक्षये यूषकल्पना—उड़द, यव (जौ) और बदरीफल का क्वाथ बनाकर घृत और तैल से संस्कृत कर उसमें दही और अनार का स्वरस मिलाकर भोजन में प्रयुक्त करें ॥१३६॥

विडं बिल्वशलाटूनि नागरं ,चाम्लपेषितम् ।
दध्नः सरश्च यमके भृष्टो वर्चःक्षये हितः ॥ १३७ ॥

वर्चःक्षये विडादियोगः—विडलवण, कच्चे बिल्वफल की मज्जा और सोंठ इन्हें काञ्जी के साथ पीस कर घृत तैल में भर्जित करके दही के ऊपर का मलाई का भाग मिलाकर खिलाने से मलक्षय में लाभ होता है ॥ १३७ ॥

विमर्शः—बिल्वफलमज्जा ४ माशा, सोंठ १ माशा इन्हें काञ्जी के साथ पीसकर घृत तैल में भर्जित कर लें फिर उसमें विडलवण १ माशा प्रक्षिप्त कर दही की मलाई की अपेक्षा ऊपर का खट्टा पानी डालकर कुछ देर पका के उतार लें। यह कल्पना उत्तम है।

सशूलं क्षीणवर्चा यो दीप्ताग्निरतिसार्यते ।
स पिबेद् दीपनैर्युक्तं सर्पिः सङ्ग्राहकैः सह ॥ १३८ ॥

क्षीणवर्चसि प्रयोगान्तरम्—जिस मनुष्य की पाचकाग्नि दीप्त हो तो तथा मल अधिक क्षीण हो गया हो और शूलपूर्वक अल्प मल या केवल पानी की सी दस्तें लगती हों वह व्यक्ति चित्रकादिक अग्निदीपक तथा धातकी, बिल्वशलाटु-प्रभृति मलसंग्राहक औषधियों के चूर्ण (मिलित ३ माशे) के साथ ६ माशे घृत मिला के सेवन करे ॥ १३८ ॥

वायुः प्रवृद्धो निचितं बलासं
नुदत्यधस्तादहिताशनस्य ।
प्रवाहमाणस्य मुहुर्मलाक्तं
प्रवाहिकां तां प्रवदन्ति तज्ज्ञाः ॥ १३९ ॥

प्रवाहिकासम्प्राप्तिपूर्वकपरिभाषा—अहित भोजन करनेवाले पुरुष की वायु बढ़कर सञ्चित हुए कफ को गुदमार्ग से निकलने के लिये प्रेरित करती है। इस तरह बार-बार प्रवाहण करने से थोड़ी मात्रा में मलयुक्त कफ गुदमार्ग से बाहर निकलता है इसे विद्वान् लोग प्रवाहिका कहते हैं ॥ १३९ ॥

विमर्शः—मधुकोषकार ने लिखा है कि द्रवसरण तथा आम और पक्व लक्षण साधर्म्य से अतिसारप्रकरण में प्रवाहिका का वर्णन किया गया है। चरकाचार्य तथा वाग्भटाचार्य ने इस रोग का स्वतन्त्र वर्णन न कर अतिसारान्तर्गत ही इसे मान लिया है। भोज ने इसका नाम विस्रंसी, पाराशर ने अन्तर्ग्रन्थी या अन्नग्रन्थी तथा हारीत ने इसको निश्चारक या निःसारक के नाम से लिखा है। चरकादौ प्रवाहिकाशब्दाः—आमे परिणते यस्तु विबद्धमतिसार्यते। सशूलपिच्छमल्पाल्पं बहुशः सप्रवाहिकम् ॥ यूषेण मूलकानां यो हन्यात् प्रवाहिकाम् ॥ अन्यच्च—वातश्लेष्मविबन्धे वा कफे वाऽतिस्रवत्यपि। शूले प्रवाहिकायां वा पिच्छावस्तिं प्रयोजयेत् ॥ (च. चि. अ. १९) इस प्रकार चरकाचार्य का मत है कि वातातिसार में आम और कफ का सम्बन्ध होने पर तथा कफज अतिसार में वायु का अनुबन्ध होने पर प्रवाहिका होती है। सुश्रुताचार्य ने भी अवस्थानुसार प्रवाहिका को वातिक, पैत्तिक, श्लैष्मिक और रक्तज ऐसे चतुर्विध लिख कर भी मुख्य रूप से यह वातकफजन्य ही होती है ऐसे स्पष्ट कहा है—'वायुः प्रवृद्धो निचितं बलासं नुदत्यधस्तादहिताशनस्य'। अतिसार में मल के साथ जल, रक्त, वसा आदि अनेक धातुओं का सरण होता है किन्तु प्रवाहिका में मल के साथ मुख्यरूप से कफ का सरण होता है। यह दोनों में मुख्य भेद है। प्रवाहिका में बृहदन्त्र (Large intestine) में मुख्यरूप से विकृति होती है। मल में श्लेष्मा का प्राचुर्य होता है अतः उसे बाहर निकालने के लिये आन्त्र का अधिक प्रवाहण करना पड़ता है साथ में वायु का प्रकोप होने से ऐंठन अधिक होती है और मल अल्प मात्रा में निकलता है। आधुनिक दृष्टि से इसे डिसेण्ट्री कहा जा सकता है। यद्यपि अतिसार और प्रवाहिका की संप्राप्ति पर ध्यान दिया जाय तो विदित होगा कि दोनों ही रोग अग्निमान्द्य या पाचनविकारजन्य होते हैं तथा दोनों में ही विकार महास्रोत में होते हैं किन्तु महास्रोत के भी विभिन्न अवयवों में विकार होने से मल के स्वरूप तथा रोग-लक्षणों में विभिन्नता आ जाती है। इसी अवयवविशेष की विकृति के आधार पर संभव सुश्रुताचार्य ने इसके इतने अधिक भेद मान लिये हैं। जैसे आमाशय में विकार होने पर प्रधान रूप से वमन तथा ग्रहणी के विकृत होने पर संग्रहणी तथा आमातिसार उत्पन्न होता है —सा दुष्टा बहुशो मुक्तमाममेव विमुञ्चति दुर्बलाग्निबला दुष्टा त्याममेव विमुञ्चति तथा क्षुद्रान्त्रों के विकृत होने पर द्रवभूयिष्ठ मलातिसार तथा पक्वाशय (बृहदन्त्र) के विकृत होने पर विरल द्रव किन्तु कफबहुल मल की बार-बार प्रवृत्ति (प्रवाहिका) होती है। आधुनिक चिकित्साविज्ञान ने भी महास्रोत के विभिन्न विभागों के पृथक्-पृथक् विकार माने हैं, जैसे आमाशयविकार को Gastritis, क्षुद्रान्त्रविकृति या शोथ को Enteritis तथा बृहदन्त्रविकृति को Colitis के नाम से कहा है किन्तु इनकी संयुक्त विकृति भी होती है उस दशा में Gastro enteritis, Entro colitis तथा Gastro entero colitis संयुक्त नामकरण किया जाता है। कुछ लोग केवल मलातिप्रवृत्ति को Diarrhoea तथा उसके कारण व स्वरूपभेद से उसे Choleric, Dysenteric, Billious Diarrhoea आदि नामकरण करते हैं।

प्रवाहिका वातकृता सशूला
पित्तात् सदाहा सकफा कफाच्च ।
सशोणिता शोणितसम्भवा तु
ताः स्नेहरूक्षप्रभवा मतास्तु ॥
तासामतीसारवदादिशेच्च
लिङ्गं क्रमं चामविपक्वताञ्च ॥ १४० ॥

प्रवाहिकाभेद—वातजन्य प्रवाहिका शूलयुक्त, पित्तजन्य दाहयुक्त, कफजन्य कफयुक्त तथा रक्तजन्य रक्तयुक्त मल का अतिसरण करती है। कारणदृष्टि से कफज प्रवाहिका स्निग्धपदार्थजन्य, एवं वातिक प्रवाहिका रूक्षपदार्थजन्य होती है किन्तु 'तु' ग्रहण से अनुक्त पित्तज प्रवाहिका तथा

रक्तज प्रवाहिका तीक्ष्ण और उष्ण पदार्थ जन्य होती है। इन सब प्रकार की प्रवाहिकाओं के लक्षण, चिकित्साक्रम तथा आमता और पकता का ज्ञान अतिसार के समान ही जान लेना चाहिए॥ १४० ॥

विमर्शः—प्रवाहिका की सम्प्राप्ति में वायु बढ़ कर सञ्चित हुये कफ को गुदमार्ग से निकालने की प्रेरणा करता है ऐसा लिखा है किन्तु पित्त और रक्त का तो नाम भी नहीं है फिर 'पित्तात्सदाहा' और 'शोणितसम्भवा च' आदि लेख कैसे सङ्गत होगा? उत्तर में कहा जाता है कि अहिताशन की कोई मर्यादा नहीं है, वह वातवर्द्धक, पित्तवर्द्धक सभी प्रकार का हो सकता है अत एव निदान(हेतु)वैचित्र्य से दोषप्रकोप-वैचित्र्य एवं लक्षणवैचित्र्य दृष्टिगोचर होता है तथा वात और कफ भी पैत्तिक और रक्तज प्रवाहिका के साथ रहेंगे ही क्योंकि कोई भी एकदोषज नहीं होता है यह आयुर्वेद का सिद्धान्त है—'न रोगोऽप्येकदेशजः' किन्तु जिस रोग में जिस दोष की अधिकता होगी रोग का नाम उसी दोष से कर दिया जाता है 'व्यपदेशस्तु भूयसा', चूँकि वात कफ इस रोग की उत्पत्ति में मुख्य भाग लेते हैं अत एव सम्प्राप्ति में केवल उन दोनों का ही निर्देश किया है।

आमातिसारप्रवाहिकयोर्भेदः—

आमातिसार	प्रवाहिका
(१) इसमें अनेक धातु क्षरण।	(१) इसमें केवल कफ का ही क्षरण होता है।
(२) मलत्याग के समय शूल होता है।	(२) मलत्याग के पूर्व ऐंठन होती है।
(३) मल की मात्रा अधिक होती है।	(३) मल की मात्रा कम होती है।
(४) अपक्व अन्न भी निकलता है।	(४) अपक्व अन्न नहीं निकलता है।

अतिसारप्रवाहिकयोर्भेदः—

अतिसार	प्रवाहिका
(१) विविध द्रव धातुओं का क्षरण होता है।	(१) मल के साथ केवल कफ ही निकलता है।
(२) अतिसरण मात्रा एवं संख्या दोनों दृष्टियों से अधिक होता है।	(२) मल मात्रा में कम एवं संख्या में अधिक बार निकलता है।

शोकजरक्तातिसारयोर्भेदः—

शोकजातिसार	रक्तातिसार
(१) मुख्य निदान शोक है।	(१) पित्तवर्धक पदार्थों का अधिकसेवन निदान है।
(२) रक्तातिसार या पित्तातिसार से लाभ न होकर मानसिक उपचार से लाभ होता है।	(२) केवल पित्तनाशक और रक्तस्तम्भक औषधियों से लाभ हो जाता है।
(३) रक्त अल्प मात्रा में रहेगा।	(३) रक्त अधिक मात्रा में निकलता है।

रक्तपित्तरक्तातिसारयोर्भेदः—

रक्तातिसार	रक्तपित्त
(१) रक्त मलयुक्त होता है।	(१) अधोग रक्तपित्त में रक्त का मलयुक्त होना आवश्यक नहीं है।
(२) रक्तप्रवृत्ति गुदमार्ग से ही होती है।	(२) रक्तप्रवृत्ति गुदा, मुख, नासिका, रोमकूप सभी से हो सकती है।
(३) इसमें जीवरक्त के लक्षण मिलते हैं।	(३) इसमें जीवरक्त के लक्षण नहीं होते हैं।

जीवरक्तलक्षणम्—अतितीक्ष्णं मृदौ कोष्ठे लघुदोषस्य भेषजम्। दोषान् हृत्वा विनिर्मथ्य जीवं हरति शोणितम्॥ तेनान्नं मिश्रितं दद्याद्वायसाय शुनेऽपि वा। भुङ्क्ते तच्चेद्वदेज्जीवं न भुङ्क्ते पित्तमादिशेत्॥ शुक्लं वा भावितं वस्त्रमावानं कोष्णवारिणा। प्रक्षालितं विवर्णं स्यात् पित्ते शुद्धन्तु शोणिते॥ (च.सि.अ. ६)। (१) काक या श्वान जिस रक्त को खा जाते हैं वह जीवशोणित, न खावें तो रक्तपित्त का रक्त। (२) श्वेतवस्त्र को रक्त में डुबो कर शुष्क (आवान) करके गरम पानी से धो देने पर यदि वह निर्मल (स्पॉट रहित) हो जाय तो जीवरक्त तथा विवर्ण रहे तो रक्तपित्तीय रक्त जानो।

न शान्तिमायाति विलङ्घनैर्या
योगैरुदीर्णा यदि पाचनैर्वा।
तां क्षीरमेवाशु शृतं निहन्ति
तैलं तिलाः पिच्छिलबस्तयश्च॥ १४१॥

प्रवाहिकायां लङ्घनाद्यलाभे उपचारः—प्रबल प्रवाहिका जो कि विशिष्ट लङ्घन तथा पाचन योगों से भी ठीक न होती हो तो उसे दीपन, पाचन, स्तम्भक द्रव्यों से शृत किया हुआ अथवा केवल शृत दुग्ध शीघ्र शान्त कर देता है तथा तैल प्रयोग, तिल कल्क और पिच्छ बस्तियाँ भी उसे शान्त कर देती हैं॥ १४१॥

विमर्शः—चरकाचार्य ने भी वात तथा मल के विबन्ध, बहुशूल एवं रक्तयुक्त पिच्छिल मल के प्रवाहण में क्षीरपान को प्रशस्त माना है। धारोष्ण दुग्ध, एरण्डमूलशृत दुग्ध अथवा बालबिल्वफलमज्जासाधित दुग्ध अवस्थानुसार देने को लिखा है। विबन्ध में धारोष्ण दुग्ध, आमदोषयुक्त प्रवाहिका में एरण्डमूलशृत दुग्ध तथा अतिसरण हो एवं रक्त जाता हो तो उसे रोकने के लिये बालबिल्वमज्जासाधित दुग्ध अच्छा लाभ करता है—विबद्धवातवर्चास्तु बहुशूलप्रवाहिकः। सरक्तपिच्छस्तृष्णार्तः क्षीरसौहित्यमर्हति॥ यमकस्योपरि क्षीरं धारोष्णं वा पिबेन्नरः। शृतमेरण्डमूलेन बालबिल्वेन वा पयः॥ एवं क्षीरप्रयोगेण रक्तं पिच्छा च शाम्यति। शूलं प्रवाहिका चैव विबन्धश्चोपशाम्यति॥ (च. चि. अ. १९)

आर्द्रैः कुशैः सम्परिवेष्टितानि
वृन्तान्यथार्द्राणि हि शाल्मलीनाम्।
पक्वानि सम्यक् पुटपाकयोगे
नापोथ्य तेभ्यो रसमाददीत॥ १४२॥

क्षीरं शृतं तैलहविर्विमिश्रं
कल्केन यष्टीमधुकस्य वाऽपि।
बस्तिं विदध्याद्भिषगप्रमत्तः
प्रवाहिकामूत्रपुरीषसङ्गे ॥ १४३ ॥

पिच्छाबस्तिविधिः— सेमल के कोमल वृन्तों को कुशा से आवेष्टित कर पुटपाकाग्नि में पका के उनको कूट कर रस निकाल लें। फिर इस रस में उतना ही गरम किया हुआ दुग्ध एवं तैल २ तोला, घृत २ तोला, मुलेठी का चूर्ण १ तो मिला कर वैद्य सावधानी से प्रवाहिका और मूत्र तथा मल के रुकने पर रुग्ण को बस्ति लगा दें॥ १४२-१४३॥

विमर्शः—चरके पिच्छाबस्तिः— अनेक उपचार करने पर भी यदि अतीसार नष्ट न होता हो तो पिच्छाबस्ति देवें। अर्थात् सेमल के कोमल वृन्तों (डंठलों) को गीले कुशों से परिवेष्टित कर उन पर गीली काली मिट्टी का १ इञ्च मोटा लेप लगा के कण्डों की निर्धूम आग पर रख स्वेदित करें। जब ऊपर की गीली मिट्टी शुष्क (लाल सुर्ख) हो जाय तब उसे हटा के उन वृन्तों को १ प्रस्थ उष्ण पानी या दुग्ध में मसल कर पुनः डण्ठलों को ओखली में खाण्ड के मुष्टि प्रमाण पिण्ड बना कर पुनः उसी उक्त १ प्रस्थ पानी में मिला दें फिर उस पानी को कपड़े से छान कर उसमें तैल २ तोला तथा घृत २ तोला एवं मुलेठी का चूर्ण १ तोला मिश्रित कर गात्र पर (गुदा में) तैल लगा के बस्ति दे देनी चाहिए इस तरह कुछ काल तक वह रुग्ण सोया रहे। जब बस्ति द्वारा दिया हुआ द्रव गुदा से बाहर निकल आवे तब रुग्ण को स्नान कराके दुग्ध के साथ अथवा जङ्गली पशुपक्षियों के मांस रस के साथ चांवल का भात या अन्य हलका भोजन (यूली, खिचड़ी) खिलावे—कृतानुवासनस्यास्य कृतसंसर्जनस्य च। वर्तते यद्यतीसारः पिच्छाबस्तिरतः परम् ॥ परिवेष्ट्य कुशैरार्द्रैरार्द्रवृन्तानि शाल्मलेः। कृष्णमृत्तिकयाऽलिप्य स्वेदयेद्गोमयाग्निना ॥ सुशुष्कां मृत्तिकां ज्ञात्वा तानि वृन्तानि शाल्मलेः। शृते पयसि मृद्नीयादापोथ्योलूखले ततः। पिण्डं मुष्टिसमं प्रस्थे तत् पूतं तैलसर्पिषोः। स्नेहितं मात्रया युक्तं कल्केन मधुकस्य च॥ बस्तिमभ्यक्तगात्राय दद्यात्प्रत्यागते ततः। स्नात्वा भुञ्जीत पयसा जाङ्गलानां रसेन वा॥
(च. चि. अ. १९)

द्विपञ्चमूलीक्वथितेन शूले
प्रवाहमाणस्य समाक्षिकेण।
क्षीरेण चास्थापनमग्र्यमुक्तं
तैलेन युञ्ज्यादनुवासनञ्च ॥ १४४ ॥

आस्थापनानुवासने—प्रवाहण (कुन्थन) करते हुये रोगी के शूल होने पर द्विपञ्चमूली (बृहत्पञ्चमूल और लघुपञ्चमूल) के क्वाथ से सिद्ध किये हुये दुग्ध में मधु मिला कर अस्थापन बस्ति देना उत्तम उपाय कहा गया है अथवा द्विपञ्चमूली क्वाथ से साधित दुग्ध में तैल सिद्ध करके उससे अनुवासन बस्ति देनी चाहिए॥ १४४॥

विमर्शः—दशमूलक्वाथसिद्ध दुग्ध ८ पल, तिल तैल २ पल, पानी ८ पल, तैलावशेष पाक कर उसे एनिमा सीरिञ्ज में भर कर अनुवासन बस्ति देवें। अनुवासन मात्रा—उत्तमस्य पलैः षड्भिः मध्यमस्य पलैस्त्रिभिः। पलैकार्द्धेन हीनास्यादुक्ता मात्रानुवासने॥

वातघ्नवर्गे लवणेषु चैव
तैलञ्च सिद्धं हितमन्नपाने।
लोध्रं विडं बिल्वशलाटु चैव
लिह्याच्च तैलेन कटुत्रिकाढ्यम् ॥ १४५ ॥

तैलस्य विविधयोगाः—विदारीगन्धादि वातनाशक औषधियों के कल्क और क्वाथ तथा सैन्धवादि लवणपञ्चक के योग से सिद्ध किये हुये तैल का अन्नों के संस्कार करने में तथा पीने में प्रयोग हितकारक माना गया है। इसी तरह लोध, विडलवण, कच्चे बिल्वफल की मज्जा और कटुत्रिक (सोंठ, मरिच, पिप्पली) का सम प्रमाण में मिश्रित चूर्ण ३ माशे भर ले कर उक्त सिद्ध तैल के साथ सेवन करें॥१४५॥

विमर्शः—विदारीगन्धादिगण—विदारीगन्धा विदारी विश्वदेवा सहदेवा श्वदंष्ट्रा पृथक्पर्णी शतावरी सारिवा कृष्णसारिवा जीवकर्षभकौ महासहा क्षुद्रसहा बृहत्यौ पुनर्नवैरण्डो हंसपादी वृश्चिकाल्यृषभी चेति। विदारीगन्धादिरयं गणः पित्तानिलापहः। शोषगुल्माङ्गमर्दोर्ध्वश्वासकासविनाशनः॥ विदारीगन्धादि गण की औषधियों का चूर्ण ४ पल तथा पञ्चलवण आधा पल, एवं उक्त औषधियों का क्वाथ ६४ पल, तिल तैल १६ पल ले के तैलावशेष पाक कर लें। इस तैल को उक्त कार्यों में लेवें।

दध्ना ससारेण समाक्षिकेण
भुञ्जीत निश्चारकपीडितस्तु।
सुवर्चकुप्यक्वथितेन वाऽपि
क्षीरेण शीतेन मधुप्लुतेन ॥ १४६ ॥

प्रवाहिकायां विविधभोजनादि—निश्चारक या निःसारक नामक पुरीषक्षय का अपरपर्यायभूत प्रवाहिका भेद रोग से पीड़ित व्यक्ति उक्त लोध्रादि चूर्ण को सेवन करने के पश्चात् क्षुधा लगने पर दही, दही के ऊपर की मलाई और शहद के साथ चावल या मूँग की बनाई हुई यवागू या चावलों के भात का सेवन करे अथवा अघटित (शुद्ध) स्वर्ण को प्रतप्त कर दुग्ध में बुझावें ऐसे कई बार प्रतप्त सुवर्ण को दुग्ध में बुझाने से वह दुग्ध क्वथित हो जाता है। फिर उस दुग्ध के शीतल होने पर उसमें दो या एक तोला शहद मिला दें और इस दुग्ध के साथ चावलों के भात का भोजन कराना चाहिये॥ १४६॥

विमर्शः—डल्हण ने कुप्य का अर्थ सुवर्णरजतेतर लौह किया है यही अर्थ अमरकोष में भी लिखा है—'घटिताघटितहेमरूप्ययोः ताभ्यां यदन्यत् तत्कुप्यम्' (अमरकोषः) पाश्चात्य कोषकारों ने भी कुप्य का अर्थ Any base metal other than Gold and Silver eg. iron, zine, copper etc.

शूलार्दितो व्योषविदारिगन्धा-
सिद्धेन दुग्धेन हिताय भोज्यः।
वातघ्नसङ्ग्राहकदीपनीयैः
कृतान् षडांश्चाप्युपभोजयेच्च ॥ १४७ ॥

शूलार्दिताय भोजनम्—प्रवाहिकोत्पन्न शूल से पीड़ित व्यक्ति सोंठ, मरिच, पिप्पली और विदारीगन्धा इनका सम-

प्रमाण में मिश्रित कल्क एक पल, दुग्ध आठ पल, पानी बत्तीस पल ले के दुग्धावशेष पाक कर उस दुग्ध के साथ भोजन करे तथा विदारीगन्धादि या शालपर्ण्यादि वातनाशक द्रव्य बिल्वपाठा प्रभृति संग्राही द्रव्य एवं चित्रक, अद्रक प्रभृति अग्निदीपक द्रव्यों के योग से बनाये हुए क्वाथ से सिद्ध किये हुए खडयूष को पीवे तथा इसी के साथ भोजन करे॥ १४७॥

विमर्शः—वातनाशक, संग्राही तथा अग्निदीपक मिलित द्रव्य ४ पल, पानी ६४ पल, शेष १६ पल रहने पर छान लें। इसी क्वाथ में तक्र, कपित्थमज्जा, अम्ललोणी, मरिच, अजवायन और चित्रक का प्रक्षेप देकर अच्छी प्रकार पका के छान लें यही खडयूष है—तक्रं कपित्थचाङ्गेरीमरिचाजाजिचित्रकैः। सुपक्वः खडयूषोऽयम्......।

खादेच्च मत्स्यान् रसमाप्नुयाच्च
वातघ्नसिद्धं सघृतं सतैलम्।
एणाव्यजानान्तु वटप्रवालैः
सिद्धानि सार्द्धं पिशितानि खादेत्॥ १४८॥

मत्स्यघृततैलादिप्रयोगः—प्रवाहिका वाला रोगी संस्कृत किये मत्स्यों का सेवन करे तथा विष्किरवर्ग में कहे हुए प्राणियों के मांसरस में विदारीगन्धादि या शालपर्ण्यादि वातनाशक औषधियों के कल्क और क्वाथ से सिद्ध किये हुये घृत और तैल को प्रक्षिप्त कर पीवे अथवा कृष्णसारमृग, मेष (मेढा) और अजा (बकरे) के मांस को वट के कोमल पत्राङ्कुरों के साथ पका के सेवन करे॥ १४८॥

मेध्यस्य सिद्धन्त्वथ वाऽपि रक्तं
बस्तस्य दध्ना घृततैलयुक्तम्।
खादेत् प्रदेहैः शिखिलावजैर्वा
भुञ्जीत यूषैर्दधिभिश्च मुख्यैः।
माषान्सुसिद्धान्घृतमण्डयुक्ता-
न्खादेच्च दध्ना मरिचोपदंशान्॥ १४९॥

बस्तरक्तप्रयोगः—यज्ञ में बलि के लिये काम में आने वाले-मेदुर पूँछ वाले (दुम्बा) बकरे के स्थान रक्त को अथवा उसके अभाव में साधारण बकरे के स्थान रक्त को घृत और तैल के साथ भर्जित कर दही का प्रक्षेप देकर खावे अथवा मयूर और तीतर के मांसरस को पुनः पाक द्वारा घन बना के उसके साथ अजारक्त को संस्कृत कर खावे अथवा मूँग, मसूर आदि के यूष और दही को साथ में मिला कर खावे किंवा उक्त यूष और दही के साथ उक्त घृत, तैल भर्जित अजारक्त को खावे अथवा यूष और दही के साथ यवागू, कृशरा आदि का भोजन करे। अथवा भलीभाँति पकाये हुये माषों (उड़दों) को घृतमण्ड (घृत का ऊपरि स्वच्छ भाग) के साथ मिलाकर मरिचचूर्ण का प्रक्षेप दे के दही के साथ मिश्रित कर सेवन करे॥ १४९॥

विमर्शः—मेधो यज्ञस्तदर्हो मेध्यः, तस्य, एतेन मेदुरस्येत्युक्तं, बस्ते तस्यार्हत्वात्। रक्तं स्थानं माम्‌ ... प्रदेहैः—पाकेन घनीभूता रसाः प्रदेहास्तैः प्रदेहैरित्यर्थः। सुखिन्नान् माषान् घृतमण्डमिश्रान् मरिचावचूर्णितान् खादेदिति डल्हणः।

महारुजे मूत्रकृच्छ्रे भिषग्बस्तिं प्रदापयेत्।
पयोमधुघृतोन्मिश्रं मधुकोत्पलसाधितम्॥ १५०॥
स बस्तिः शमयेत्तस्य रक्तं दाहमथो ज्वरम्॥ १५१॥

निरूहबस्तिविषयः—मुलेठी तथा नीलकमल के क्वाथ में दुग्ध, शहद और घृत मिलाकर अत्यधिक शूल तथा मूत्रकृच्छ्र युक्त प्रवाहिका में वैद्य निरूहणबस्ति देवे। इस प्रकार से दी हुई यह निरूहणबस्ति उस रुग्ण के मल में निकलने वाले रक्त को, दाह को और ज्वर को शान्त कर देती है॥

विमर्शः—निरूहणबस्ति—बस्तिस्तु क्षीरतैलैर्यो निरूहः स निगद्यते। निरूहयेदिति दोषं निर्हरेदतो निरूहः। अत एवाह सुश्रुतोऽपि—दोषहरणाच्छरीररोगहरणाद्वा निरूह इति। अस्यास्थापनमित्यपि नाम। वयःस्थापनादायुःस्थापनाद्वा आस्थापनमिति सुश्रुत एव। निरूहस्यापरं नाम प्रोक्तमास्थापनं बुधैः। स्वस्थानस्थापनाद्दोषधातूनां स्थापनं मतम्॥ क्षीर, क्वाथ, घृत, तैल तथा अन्य भी प्रक्षेप डाल के दी जाने वाली बस्ति को निरूहबस्ति कहते हैं। शरीर से दोषों का अथवा रोगों का निर्हरण करने के कारण इसे भी निरूहणबस्ति कहते हैं। यह बस्ति आयु की स्थापना करने से या दोष और धातुओं के विमार्गगति युक्त होने पर उन्हें अपने-अपने स्थान में स्थापित कर देती है इसलिये इसका दूसरा नाम आस्थापनबस्ति भी रखा गया है। निरूहबस्तिमात्रा—निरूहबस्ति में पड़ने वाले कुल द्रव की मात्रा उत्तम ११ प्रस्थ (२० पल), मध्यम १ प्रस्थ (१६ तो०) तथा हीन पौन प्रस्थ मानी गई है—निरूहस्य प्रमाणञ्च प्रस्थं पादोत्तरं परम्। मध्यमं प्रस्थमुद्दिष्टं हीनञ्च कुडवात्रयः॥ आयु के अनुरूप मात्रा—प्रथम वर्ष में १ पल, दूसरे में २ पल ऐसे एक एक पल एक एक वर्ष में बढ़ाते हुए १२ वर्ष की आयु तक १२ पल। फिर १८ वर्ष की आयु तक प्रति वर्ष २ पल के हिसाब से बढ़ाने से १८ वें वर्ष तक २४ पल जो कि ७० वर्ष की आयु तक के लिये हैं। इसके अनन्तर घटा के २० पल कर देवें—निरूहमात्रा प्रथमे प्रकुञ्चो वत्सरे परम्। प्रकुञ्चवृद्धिः प्रत्यब्दं यावत् षट्प्रसृतास्ततः। प्रसृतं वर्द्धयेदूर्ध्वं द्वादशाष्टादशस्य तु। आसप्ततेरिदं मानं दशैव प्रसृताः परम्॥ निरूहबस्तिप्रयुक्त विभिन्नद्रवमात्रा—वातरोगी में मधु ३ पल, तैल ६ पल, कल्क २ पल, क्वाथ १० पल और आवाप (प्रक्षेप) ३ पल दें। इस तरह कुल प्रमाण २४ पल होते हैं। पित्तरोग में मधु ४ पल, तैल ४ पल, कल्क २ पल, कषाय १० पल और आवाप ४ पल। इस तरह कुल २४ पल होते हैं। कफ रोग में मधु ६ पल, तैल ३ पल, कल्क २ पल, क्वाथ १० पल और आवाप ३ पल देवें। इस तरह कुल द्रव २४ पल होता है। यह १८ वें वर्ष की आयु से ७० वर्ष तक की आयु वाले व्यक्तियों के लिये निरूहबस्ति के कुल द्रव का परिमाण है। कम आयु वालों में उक्तरलोकानुसार कुल जितना द्रव बस्ति में देना हो उसी अनुपात से विभिन्न द्रवों की मात्रा आयु के अनुसार घटा के मिलाकर बस्ति देनी चाहिए। यहाँ आवाप शब्द से बस्ति में जो भी पड़ते हों उन अनुक्त (इस प्रमाण में परिगणित नहीं किये हुये) द्रवों को समझें जैसे पूर्व में बस्ति में दुग्ध डालने को लिखा है तो उसे ही आवाप समझ कर उसकी मात्रा दोषानुसार मिला देनी चाहिए। यहाँ प्रमाण द्रवों में तैल का उल्लेख है अतः जिस बस्ति में तैल न पड़ कर घृत

पड़ता हो उसमें उतने ही प्रमाण में घृत डाल दें तथा निरूहण बस्ति योग तैल और घृत दोनों का उल्लेख हो वहाँ घृत-तैल को आधे-आधे प्रमाण में लेकर डालें। निरूहबस्तिगुणाः—विट्श्लेष्मपित्तानिलमूत्रकर्षी दार्ढ्यावहः शुक्रबलप्रदश्च॥ विश्वक्स्थितं दोषचयं निरस्य सर्वान् विकारान् शमयेन्निरूहः॥ (च.सि. अ. १)

मधुरौषधसिद्धञ्च हितं तस्यानुवासनम्।
रात्रावहनि वा नित्यं रुजार्त्तो यो भवेन्नरः।
यथा यथा सतैलः स्याद्वातशान्तिस्तथा तथा॥१५२॥
प्रशान्ते मारुते चापि शान्तिं याति प्रवाहिका।
तस्मात् प्रवाहिकारोगे मारुतं शमयेद्भिषक्॥ १५३॥

अनुवासनबस्तिप्रयोगः—जो प्रवाहिका का रोगी शूल से पीड़ित हो उसे काकोल्यादिगण की मधुर औषधियों के कल्क और क्वाथ से सिद्ध किये हुये तैल की अनुवासनबस्ति रात्रि या दिन में जब भी शूल होता हो उसी समय देनी चाहिये क्योंकि अनुवासन बस्ति द्वारा दिया हुआ तैल जैसे-जैसे आन्त्रों में पहुँचता जाता है वैसे-वैसे वातिक शूल की शान्ति होती जाती है तथा वात का भी संशमन होता जाता है। इस तरह वायु के शान्त होने पर प्रवाहिका रोग भी शान्त हो जाता है, इसलिये वैद्य को चाहिये कि प्रवाहिका रोग में वायु के शमन करने का पूर्ण प्रयत्न करे॥ १५२-१५३॥

विमर्शः—जो बस्ति प्रतिदिन दी जाती हो उसे अनुवासन बस्ति कहते हैं—'अनुदिनं दीयते इत्यनुवासनः' अनुवासन बस्ति को स्नेहबस्ति भी कहते हैं जैसा कि सुश्रुत ने कहा है—यथाप्रमाणगुणविहितः स्नेहबस्तिविकल्पोऽनुवासनः पादापकृष्टः। अनुवसन्नपि न दुष्यत्यनुदिवसं वा दीयत इत्यनुवासनः। तस्यापि विकल्पोऽर्धार्धमात्रावकृष्टोऽपरिहार्यो मात्राबस्तिरिति। (सु. चि. अ. ३५) इस तरह यह स्पष्ट है कि अनुवासन बस्ति स्नेह द्वारा दी जाती है तथा निरूहण बस्ति में क्वाथ, दुग्ध, स्नेह, कल्क यथायोग्य सभी पड़ते हैं। विरेचनादि कर्म करने के पश्चात् स्रोतसों में लीन हुये दोषों के संशोधनार्थ प्रथम निरूहण बस्ति दी जाती है जो कि शोधक और लेखक होती है। उसके अनन्तर अनुवासन बस्ति दी जाती है जो कि वातादि दोषों के संशमन के साथ-साथ शरीर में बृंहणक्रिया करती है, जैसा कि सुश्रुत ने कहा है—निरूहः शोधनो लेखी स्नैहिको बृंहणो मतः। (सु. चि. अ. ३५) अन्यच्च—निरूहशोधितान् मार्गान् सम्यक्स्नेहोऽनुगच्छति। अपेतसर्वदोषासु नाडीष्विव वहज्जलम्॥ सर्वदोषहरश्चासौ शरीरस्य च जीवनः। तस्माद्विशुद्धदेहस्य स्नेहबस्तिर्विधीयते॥ (सु. चि. अ. ३५) चरकाचार्य भी प्रथम निरूहण बस्ति द्वारा देह के स्रोतसों के मार्ग विशुद्ध हो जाने पर अनुवासन बस्ति का विधान बताते हैं—देहे निरूहेण विशुद्धमार्गे सस्नेहनं वर्णबलप्रदश्च। न तैलदानात्परमस्ति किञ्चिद् द्रव्यं विशेषेण समीरणार्ते॥ स्नेहेन रौक्ष्यं लघुतां गुरुत्वादौष्ण्याच्च शैत्यं पवनस्य हत्वा। तैलं ददात्याशु मनःप्रसादं वीर्यं बलं वर्णमथाग्निपुष्टिम्॥ मूले निषिक्तो हि यथा द्रुमः स्यान्नीलच्छदः कोमलपल्लवाग्र्यः। काले महान् पुष्पफलप्रदश्च तथा नरः स्यादनुवासनेन॥ (च. सि. अ. १।२९-३१) अनुवासनमात्रा—'यथायथं निरूहस्य पादो मात्रानुवासने।' अनुवासन की मात्रा निरूहण की मात्रा से चौथाई होती है। इस तरह १८-७० वर्ष वाले के लिये निरूहण बस्ति द्रव मात्रा २४ पल कहा है। अतः उसी आयु वालों को अनुवासन स्नेह मात्रा ६ पल होती है। गयी ने स्नेहबस्ति ६ पल, स्नेहबस्ति का भेद अनुवासन ३ पल तथा मात्रा बस्ति १॥ पल की मानी है—गयी तु यथाप्रमाणविहिताच्च बस्तेः पादांशः स्नेहबस्तिः, स्नेहविकल्पोऽर्धमात्रापकृष्टोऽनुवासनं तस्यापि विकल्पोऽर्धमात्रापकृष्टोऽपरिहार्यो मात्राबस्तिरिति। एतेन तन्मते षट्पलप्रमाणा स्नेहबस्तिः, तदर्धेन पलत्रयप्रमाणमनुवासनं तस्यार्धेन सार्धपलप्रमाणो मात्राबस्तिरिति। (डल्हणः) परिभाषाप्रदीपकारने अनुवासबस्ति की उत्तम मात्रा ६ पल, मध्यम मात्रा ३ पल और कनिष्ठ मात्रा १॥ पल मानी है—उत्तमस्य पलैः षड्भिर्मध्यमस्य पलैस्त्रिभिः। पलैकार्द्धेन हीना स्यादुक्ता मात्राऽनुवासने। अन्यच्च—षट्पली तु भवेच्छ्रेष्ठा मध्यमा त्रिपली भवेत्। कनीयस्यर्ध्यर्धपला त्रिधा मात्रानुवासने॥ सम्यगनुवासितलक्षण—सानिलः सपुरीषश्च स्नेहः प्राप्नोति यस्य वै। विना पीडां त्रियामस्थः स सम्यगनुवासितः॥ अनुवासन ठीक होने पर बिना पीड़ा के तीन पहर के अन्दर स्नेह दूषित वात और मल के साथ गुद से बाहर निकल आता है। अनुवासन में स्नेह मात्रा अल्प होने पर वात, मल और मूत्र का अवरोध हो जाता है तथा अधिक अनुवासन से दाह, क्लम, प्यास और पीड़ा होती है—विष्टब्धानिलविण्मूत्रः स्नेहहीनेऽनुवासने। दाहक्लमपिपासार्तिकरश्चात्यनुवासने॥ बस्तिदानसमयः—दिवा शीते वसन्ते च स्नेहबस्तिः प्रदीयते। ग्रीष्मवर्षाशरत्काले रात्रौ स्यादनुवासनः॥ न चातिस्निग्धमशनं भोजयित्वानुवासयेत्॥

पाठाऽजमोदा कुटजोत्पलं च
शुण्ठीसमा मागधिकाश्च पिष्टाः।
सुखाम्बुपीताः शमयन्ति रोगं
मेष्याण्डसिद्धं सघृतं पयो वा॥ १५४॥

प्रवाहिकाशमनार्थं दीपनौषधमाह—पाठा, अजवायन, कूड़े की छाल, नीलकमल, सोंठ और पिप्पली इन्हें समान प्रमाण में चूर्णित कर २ से ४ माशे की मात्रा में दिन में ३-४ बार मन्दोष्ण पानी के साथ पीने से प्रवाहिका रोग शान्त होता है। इसी प्रकार बकरे के अण्ड से सिद्ध किये हुये दुग्ध में घी मिलाकर पीने से प्रवाहिका रोग नष्ट होता है॥ १५४॥

शुण्ठीं घृतं सक्षवकं सतैलं।
विपाच्य लीढ्वाऽऽमयमाशु हन्यात्॥ १५५॥

प्रवाहिकाहरः शुण्ठ्यादिप्रयोगः—सोंठ का चूर्ण १ माशा तथा नकछिकनी का चूर्ण १ माशे भर लेकर घृत १ माशे तथा तैल १ माशे में पका कर अवलेह के समान चाटने से प्रवाहिका रोग नष्ट होता है॥ १५५॥

विमर्शः—सम्यक्पाचनार्थं चतुर्गुण जल मिला देना चाहिये। कुछ आचार्य शुण्ठी और नकछिकनी के कल्क से घृत तैल स्नेहसाधनविधि से सिद्ध कर चाटने का उपदेश करते हैं।

गजाशनाकुम्भिकदाडिमानां
रसैः कृता तैलघृते सदध्नि।
बिल्वान्विता पथ्यतमा यवागू-
र्धारोष्णदुग्धस्य तथा च पानम्॥ १५६॥

प्रवाहिकायां यवागूप्रयोगः—गजाशना (शल्लकी), जलकुंभी और अनार (फल) की छाल इनको ४ पल भर लेकर ६४

पल जल में पकाकर १६ पल शेष रहने पर उतार के छानकर इस क्वाथ में भोज्यमात्रा प्रमाण से चौथाई चाँवल या मूंग की दाल डालकर यवागू बना कर उसमें कच्चे बिल्वफल की मज्जा का चूर्ण २ माशे भर मिलाकर तैल और घृत का छौंक कर (संस्कृत कर) दही मिलाकर के सेवन करनी चाहिये। इस प्रकार की यवागू प्रवाहिका रोग में अत्यन्त पथ्यकारक मानी गई है। यवागू खाने के पश्चात् धारोष्ण दुग्ध का अनुपान करना चाहिये ॥ १५६ ॥

लघूनि पथ्यान्यथ दीपनानि
स्निग्धानि भोज्यान्युदरामयेषु।
हिताय नित्यं वितरेद्विभज्य
योगांश्च तांस्तान् भिषगप्रमत्तः ॥ १५७ ॥

प्रवाहिकायां पथ्योपदेशः—उदर के रोगों (अतिसार, प्रवाहिकादिक) में वैद्य सावधानी से पचने में हल्के (चाँवल, एणमांसादि) तथा पथ्यकारक, अग्नि को दीप्त करने वाले (चित्रक, सोंठ आदि) द्रव्यों को तथा स्निग्ध किये हुए विविध भोज्य पदार्थों (यवागू, चाँवल, खिचड़ी आदि) को एवं हितकारक विभिन्न योगों को नित्य प्रयुक्त करे॥१५७॥

तृष्णाऽपनयनी लघ्वी दीपनी बस्तिशोधनी।
ज्वरे चैवातिसारे च यवागूः सर्वदा हिता ॥१५८॥

यवागूगुणाः—यवागू तृष्णानाशक, पचने में हलकी, अग्नि की दीपक और मूत्रप्रवृत्ति करने से बस्ति की शोधक होती है। अत एव ज्वर तथा अतिसार में यवागू सदा हितकर होती है ॥ १५८ ॥

विमर्शः—यवागूनिर्माणद्रव्याणि—तण्डुलैर्मुद्गमाषैश्च तिलैर्वा साधिता हि सा। यवागूः ग्राहिणी बल्या तर्पणी वातनाशिनी ॥ चरकेऽपि—तस्याग्निर्दीप्यते ताभिः समिद्भिरिव पावकः। ताश्च भेषजसंयोगाल्लघुत्वाच्चाग्निदीपनाः ॥ वातमूत्रपुरीषाणां दोषाणाञ्चानुलोमनाः। स्वेदनाय द्रवोष्णत्वाद्द्रवत्वात्तृट्प्रशान्तये ॥ आहारभावात्प्राणाय सरत्वाल्लाघवाय च ॥ ज्वरघ्न्यो ज्वरसात्म्यत्वात् ······ (च. चि. अ. ३।१५१, १५४)

रौक्ष्याज्जाते क्रिया स्निग्धा रूक्षा स्नेहनिमित्तजे।
भयजे सान्त्वनापूर्वा शोकजे शोकनाशिनी ॥१५९॥
विषार्शःकृमिसम्भूते हिता चोभयशर्मदा।
छर्दिमूर्च्छातृडाद्यांश्च साधयेदविरोधतः ॥१६०॥

अतिसारादीनां हेतुविपरीतचिकित्सा—रूक्ष आहारविहारादिजन्य अतिसार में स्निग्ध चिकित्सा तथा अतिस्नेह सेवन से उत्पन्न हुए अतिसार में रूक्ष चिकित्सा, भयजन्य अतिसार में सान्त्वनदान रूप मानसचिकित्सा, शोकजन्य (पुत्रमित्रकलत्रवियोगजन्य) अतिसार में शोकनाशन चिकित्सा तथा विषसेवन, अर्श और कृमिरोगजन्य अतिसार में हेतु (विष, अर्श और कृमि) को नष्ट करने वाली तथा अतिसार रूप व्याधिनाशक (हेतुव्याधिप्रत्यनीक) चिकित्सा करना उत्तम माना गया है। इसी तरह अतिसार के अन्दर उपद्रवरूप से उत्पन्न हुए वमन, मूर्च्छा और अत्यधिक तृषा आदि उपद्रवों की चिकित्सा मूल (अतिसार) व्याधि का अहित (प्रकोपण) न करने वाले उपायों से करे ॥ १५९–१६० ॥

विमर्शः—अतीसारोपद्रवाः—शोथं शूलं ज्वरं तृष्णां कासं श्वासमरोचकम्। छर्दि मूर्च्छाञ्च हिक्काञ्च ······॥ श्वासशूलपिपासार्तं क्षीणं ज्वरनिपीडितम् ॥

समवाये तु दोषाणां पूर्वं पित्तमुपाचरेत्।
ज्वरे चैवातिसारे च सर्वत्रान्यत्र मारुतम् ॥ १६१ ॥

दोषसमवाये प्रथमचिकित्स्यमाह—ज्वर अतिसार में तीनों दोष या दो दोषों का संयोग होने पर प्रथम पित्त की चिकित्सा करनी चाहिये किन्तु ज्वर और अतिसार को छोड़कर अन्य सर्व रोगों में त्रिदोष या द्विदोष के संयुक्त होने पर प्रथम वायु के संशमन की चिकित्सा करनी चाहिये ॥ १६१ ॥

विमर्शः—यहाँ पर यह शङ्का होती है कि प्रायः ज्वरचिकित्सा में प्रथम पित्त का शमन किया जाता है, पुनः यहाँ उसी का पिष्टपेषण क्यों? इसका यही उत्तर है कि द्विर्बद्धं सुबद्धं भवति इस न्याय से ज्वर में अतिशयेन पित्तनाशक चिकित्सा करे, जैसा कि कहा भी है—ऊष्मा पित्तादृते नास्ति ज्वरो नास्त्यूष्मणा विना। तस्मात् पित्तविरुद्धानि त्यजेत् पित्ताधिकेऽधिकम् ॥ चरकाचार्य ने कहा है कि प्रथम वात का जय, बाद में पित्त का जय और पित्त के अनन्तर कफ का जय (विनाश) करना चाहिये। अथवा इन तीनों में जो अधिक बलवान् हो उसका संशमन प्रथम करना चाहिये—वातस्यानुजयेत् पित्तं पित्तस्यानुजयेत् कफम्। त्रयाणां वा जयेत् पूर्वं यो भवेद् बलवत्तमः ॥ (चरक) कुछ तन्त्रान्तरात्तलब्धियों का कथन है कि जहाँ पर अतिसार में कफ और वात का संयोग हो वहाँ प्रथम वात का संशमन करना चाहिये क्योंकि प्रथम कफ का संशमन किया जायगा तो आमकफक्षय होने से रूक्षता बढ़ कर वात की अधिक वृद्धि होगी।

यस्योच्चारं विना मूत्रं सम्यग्वायुश्च गच्छति।
दीप्ताग्नेर्लघुकोष्ठस्य स्थितस्तस्योदरामयः ॥ १६२ ॥

अतीसारनिवृत्तिलक्षणम्—जिस अतिसार से ग्रस्त हुए रोगी की चिकित्सा करने के अनन्तर या स्वस्थ पुरुष का मूत्र और अपान वायु का बहिर्निगमन बिना मलप्रवृत्ति के होता हो तथा जिसकी अग्नि दीप्त हो एवं कोष्ठ (उदर) हल्का हो उसका उदर रोग (अतिसारादि) शान्त हुआ समझना चाहिये ॥ १६२ ॥

विमर्शः—उच्चारं = पुरीषं, वातोऽत्राधोवातः, उदरामयः = अतीसारः। स्थितः = गतः, निवृत्त इत्यर्थः।

कर्मजा व्याधयः केचिद् दोषजाः सन्ति चापरे।
कर्मदोषोद्भवाश्चान्ये कर्मजास्तेष्वहेतुकाः ॥१६३॥

कर्मादिहेतुभेदेन त्रिविधा व्याधयः—कुछ रोग कर्मजन्य होते हैं, कुछ रोग दोषजन्य होते हैं तथा कुछ रोग कर्म और दोष दोनों के द्वारा उत्पन्न होते हैं। इनमें से जो रोग कर्मजन्य होते हैं वे शरीर के आभ्यन्तरिक दोषप्रकोप एवं बाह्य या आगन्तुक विष, कीट आदि हेतुओं से रहित होते हैं ॥ १६३ ॥

विमर्शः—डल्हणाचार्य ने इस श्लोक के कर्मजादि व्याधियों के विषय में निम्न भाव प्रकट किये हैं—'तत्र पथ्यरतानां, सद्वृत्तरतानां शास्त्रोक्ताहारविहारसेविनां हेमन्तशिशिरे रक्तपित्तामुत्पत्ते, वसन्ते वातव्याध्युत्पत्तिः, प्रावृषि श्लेष्मव्याध्युत्पत्तिरित्यादयो निमित्तमन्तरेण ये चोत्पद्यन्ते ते कर्मजाः, यान् पुनरसात्म्ये-

न्द्रियार्थसंयोगप्रज्ञापराधपरिणामलक्षणैर्मिथ्याहारविहारैः शास्त्रविरुद्धैरासेव्यमानैर्दोषाः कुपिता व्याधीन् जनयन्ति ते दोषजाः, उभयहेतुजाः कर्मदोषजाः। अर्थात् मनुष्य ऋतु के अनुसार आहार-विहार करता हो तथा सद्वृत्त का सेवन करता हो। एवं रोग के उत्पन्न होने की अपनी अनुकूल ऋतु भी न हो किन्तु अचानक रोग उत्पन्न हो जाय वही कर्मज है। रक्तपित्त शरद् तथा ग्रीष्म में होने के स्वभाव वाला है किन्तु हेमन्त और शिशिर इस शीतर्तु में उसका होना, एवं वसन्त में प्रायः कफज रोग हुआ करते हैं तथा वातज वर्षा में किन्तु वातव्याधि का वसन्तर्तु में उत्पन्न होना, इसी तरह प्रावृट् काल में कफज रोग होना ऐसे रोगों का समावेश कर्मज में होता है। सुश्रुताचार्य ने कुष्ठ रोग को कर्मज व्याधि का मुख्य उदाहरण माना है—ब्रह्मस्त्रीसज्जनवधपरस्वहरणादिभिः। कर्मभिः पापरोगस्य प्राहुः कुष्ठस्य सम्भवम्॥ अन्यच्च—पापक्रियया पुराकृतकर्मयोगाच्च त्वग्दोषा भवन्ति। यहाँ पर त्वग्दोष से कुष्ठ का ग्रहण होता है। अन्यच्च—'कर्मभिः पापरोगस्य प्राहुः कुष्ठस्य सम्भवम्,' ऐसे कुष्ठ को कर्म-दोषज दोनों में भी माना है क्योंकि कुष्ठ में कर्मनाशक तथा दोषनाशक उभय चिकित्सा का निर्देश किया है—अ.हाराचारयोः प्रोक्तामास्थाय महतीं क्रियाम्। औषधानां विशिष्टानां तपसश्च निषेवणात्॥ तपश्चरण में याग, दान, मन्त्र, बलिकर्म, उपहार, देवताराधन, गुरुपूजन, चान्द्रायणव्रत, प्रायश्चित्त इत्यादि। शातातपीयतन्त्र में पूर्वजन्मकृत पाप ही व्याधिरूप से उत्पन्न होता है ऐसा लिखा है जिसमें कुष्ठ, क्षय, प्रमेह, संग्रहणी, मूत्रकृच्छ्र, अश्मरी, कास, अतिसार और भगन्दर का निर्देश किया है, यथा—पूर्वजन्मकृतं पापं नरकस्य परिक्षये। बाधते व्याधिरूपेण तस्य कृच्छ्रादिभिः शमः॥ कुष्ठञ्च राजयक्ष्मा च प्रमेहो ग्रहणी तथा। मूत्रकृच्छ्राश्मरीकासा अतीसारभगन्दरौ॥ चरकाचार्य ने कर्मज रोगों का कारण प्रज्ञापराध माना है, एवं पूर्वजन्मकृत कर्म को दैव शब्द से कहा है जो कि रोगों के प्रति कारण है—निर्दिष्टं दैवसंज्ञन्तु कर्म यत्पौर्वदेहिकम्। हेतुस्तदपि कालेन रोगाणामुपलभ्यते॥ कालस्य परिणामेन जरामृत्युनिमित्तजाः। रोगाः स्वाभाविका दृष्टाः स्वभावो निष्प्रतिक्रियः॥ चरकाचार्य ने उन्माद को कर्मज व्याधि माना है तथा दैव, पितृ या राक्षस के द्वारा यह रोग हुआ है ऐसा कहने का निषेध किया है—प्रज्ञापराधात्सम्भूते व्याधौ कर्मज आत्मनः। नाभिशंसेद्बुधो देवान्न पितॄन्न च राक्षसान्॥ (च० नि० अ० ७) कर्मफल अवश्य होता है—न हि कर्म महत् किञ्चित् फलं यस्य न भुज्यते। क्रियाघ्नाः कर्मजा रोगाः प्रशमं यान्ति तत्क्षयात्॥ शार्ङ्गधराचार्य ने रोगों के स्वाभाविक, आगन्तुक, शारीरिक और मानसिक ये चार भेद करते हुये इनके कारणों में कर्म और दोषों को माना है—स्वाभाविकागन्तुककायिकान्तरा रोगा भवेयुः किल कर्मदोषजाः। अन्य आचार्यों का भी यही मत है—कर्मप्रकोपेन कदाचिदेके दोषप्रकोपेन भवन्ति चान्ये। तथापरे प्राणिषु कर्मदोषप्रकोपजाः कायमनोविकाराः॥ कर्मजरोगज्ञानोपाय—यथाशास्त्रन्तु निर्णीतो यथाव्याधिचिकित्सितः। न शमं याति यो व्याधिः स ज्ञेयः कर्मजो बुधैः॥ अन्यच्च—दुष्टामया इतरद्रव्यहरणापहारगुर्वङ्गनागमनविप्रवधादिभिर्वा। दुष्कर्मभिस्तनुभृतामिह कर्मजास्ते नोपक्रमेण भिषजामुपयान्ति सिद्धिम्॥ दानैर्दयादिभिरपि द्विजदेवतागोसंसेवनप्रणतिभिश्च जपैस्तपोभिः। इत्युक्तपुण्यनिचयैरपचीयमानाः प्राक्कर्मजा यदि रुजः प्रशमं प्रयान्ति॥ दोषजा रोगाः—स्वहेतुदुष्टैरनिलादिदोषैरवप्लुतैः स्वेषु मुहुश्चलद्भिः। भवन्ति ये प्राणभृतां विकारास्ते दोषजा भेषजसिद्धिसाध्याः॥ कर्मदोषोभयजा रोगाः—स्वल्पदोषा गरीयांसस्ते ज्ञेया कर्मदोषजाः॥ अन्यच्च—दानादिभिः कर्मभिरौषधीभिः कर्मक्षये दोषपरिक्षयाद्वा। सिद्ध्यन्ति ये प्रबलतां कथञ्चित् ते कर्मदोषोभयजा विकाराः॥

नश्यन्ति त्वक्रियाभिस्ते क्रियाभिः कर्मसङ्क्षये।
शाम्यन्ति दोषसम्भूता दोषसङ्क्षयहेतुभिः॥ १६४॥

त्रिविधरोगेषु चिकित्साविचारः—ये कर्मज रोग औषधचिकित्सा से नष्ट नहीं होते हैं अपितु प्रायश्चित्त, जप, होम, उपहारादिरूप क्रियाओं द्वारा कर्म के क्षीण होने पर नष्ट होते हैं तथा दोषजन्य रोग दोषों को नष्ट करनेवाली चिकित्सा से नष्ट होते हैं॥ १६४॥

तेषामल्पनिदाना ये प्रतिकष्टा भवन्ति च।
मृदवो बहुदोषा वा कर्मदोषोद्भवास्तु ते॥
कर्मदोषक्षयकृता तेषां सिद्धिर्विधीयते॥ १६५॥

कर्मदोषोभयजन्यरोगचिकित्सा—जो रोग अल्प कारणों से उत्पन्न होते हुये भी अधिक कष्टदायक होते हों अथवा जो रोग बहु दोषों के कारण उत्पन्न होते हुये भी सौम्य स्वरूप के प्रतीत हों वे कर्मदोषजन्य रोग कहलाते हैं तथा उनकी चिकित्सा कर्म तथा दोष दोनों को नष्ट करने वाले उपायों से की जाती है। अर्थात् यज्ञ, दान, मन्त्र, बलिकर्म, उपहार, सूर्यादि देवता का आराधन और गुरुजनपूजा आदि दैवव्यपाश्रय द्वारा कर्मक्षय एवं स्नेहन, स्वेदन, वमन और विरेचन आदि युक्तिव्यपाश्रय द्वारा दोषक्षय करने से कर्मदोषज रोग नष्ट होते हैं॥ १६५॥

विमर्शः—सुश्रुताचार्य ने उक्त त्रिविध-रोग-वर्गीकरण के अतिरिक्त भी अन्य कई प्रकार से रोगों के भेदों का उल्लेख किया है—प्रथम शारीरिक, मानस और आगन्तुक ऐसे रोगों के तीन भेद किये हैं—भगवन् शारीरमानसागन्तुव्याधिभिर्विविधवेदनाभिघातोपद्रुतान्' (सु० सू० अ० १-२) चरकाचार्य ने भी रोगों के भेद तीन लिखे हैं—'त्रयो रोगा इति निजागन्तुमानसाः' (च० सू० अ० ११) यहाँ पर चौथे प्रकार के स्वाभाविक रोगों की चिकित्सा असम्भव होने से उनका निर्देश नहीं किया है—कालस्य परिणामेन जरामृत्युनिमित्तजाः। रोगाः स्वाभाविका दृष्टाः स्वभावो निष्प्रतिक्रियः॥ (च० शा० अ० १) सुश्रुताचार्य ने इन्हीं स्वाभाविक रोगों को स्वभावबलप्रवृत्त माना है—'स्वभावबलप्रवृत्ताः क्षुत्पिपासाजरामृत्युनिद्राप्रभृतयः। तेऽपि द्विविधाः—कालकृता अकालकृताश्च, तत्र परिरक्षणकृताः कालकृताः, अपरिरक्षणकृता अकालकृताः। इनमें अपरिरक्षणकृत रोग अन्नपानमूलक होने से चिकित्स्य होते हैं तथा परिरक्षणकृत अचिकित्स्य होते हैं। पुनश्च सुश्रुतः—'तद्दुःखसंयोगा व्याधय उच्यन्ते ते चतुर्विधाः—आगन्तवः शारीरा मानसाः स्वाभाविकाश्चेति' (सु० सू० अ० १।२१–२२) तेष्वागन्तवोऽभिघातनिमित्ताः, शारीरास्त्वन्नपानमूलाः वातपित्तकफशोणितसन्निपातवैषम्यनिमित्ताः। मानसास्तु क्रोधशोकभयहर्षविषादेर्ष्याभ्यसूयादैन्यमात्सर्यकामलोभप्रभृतयः इच्छाद्वेषभेदैर्भवन्ति,

स्वाभाविकास्तु क्षुत्पिपासाजरामृत्युनिद्राप्रभृतयः ।' **मानसरोगहेतुश्चरके**—'मानसः पुनरिष्टस्यालाभाल्लाभाच्चानिष्टस्योपजायते' (च० सू० अ० ११) **आगन्तुनिजरोगवैशिष्ट्य**—'आगन्तुर्हि व्यथापूर्वसमुत्पन्नो जघन्यं वातपित्तश्लेष्मणामापादयति, निजे तु वातपित्तश्लेष्माणः पूर्वं वैषम्यमापद्यन्ते जघन्यं व्यथामभिनिर्वर्तयन्ति' (च० सू० अ० २०) **अधिष्ठानभेद से व्याधि के केवल दो ही भेद होते हैं**—'त एते मनःशरीराधिष्ठानाः' (सु० सू० अ० १।२४) **चिकित्साभेद से व्याधि के २ भेद**—'द्विविधास्तु व्याधयः–शस्त्रसाध्याः, स्नेहादिक्रियासाध्याश्च । तत्र शस्त्रसाध्येषु स्नेहादिक्रिया न प्रतिषिध्यते, स्नेहादिक्रियासाध्येषु शस्त्रकर्म न क्रियते' (सु० सू० अ० २४।२) **पुनश्च त्रयो भेदाः**—'तद्दुःखसंयोगा व्याधयः' इति । तच्च दुःखं त्रिविधं–आध्यात्मिकम्, आधिभौतिकम्, आधिदैविकमिति ।' **आध्यात्मिक रोग**—आत्मन्यधि अध्यात्मं, तत्र भवमाध्यात्मिकम् । **यहाँ आत्म शब्द से समनस्क आत्मायुक्त पञ्चमहाभूतात्मक चिकित्साधार शरीर या कर्मपुरुष अभिप्रेत है तथा ऐसे पुरुष में बाह्योपाधि के सिवाय केवल शरीरगत त्रिदोषों से तथा मानसिक रज और तम इन से उत्पन्न हुये विकार ।** वायुः पित्तं कफश्चेति शारीरो दोषसङ्ग्रहः । मानसः पुनरुद्दिष्टो रजश्च तम एव च ॥ 'रजस्तमश्च मनसो द्वौ च दोषावुदाहृतौ ।' **आधिभौतिकरोग**—'भूतेष्वधिकृत्य यत्प्रवर्तते तत्' **अर्थात् मनुष्य, पशु, पक्षी, सरीसृप इत्यादि भूतों के कारण उत्पन्न हुये विकार । आधिदैविक रोग**—'दैवेष्वधिकृत्य यत्प्रवर्तते तत् ।' **देवता, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस इत्यादि के कारण उत्पन्न हुये विकार । पुनः सुश्रुते रोगाणां सप्त भेदाः**—'तत्तु सप्तविधे व्याधावुपनिपतति । ते पुनः सप्तविधा व्याधयः, तद्यथा–आदिबलप्रवृत्ताः, जन्मबलप्रवृत्ताः, दोषबलप्रवृत्ताः, संघातबलप्रवृत्ताः, कालबलप्रवृत्ताः, दैवबलप्रवृत्ताः, स्वभावबलप्रवृत्ता इति' (१) तत्रादिबलप्रवृत्ता ये शुक्रशोणितदोषान्वयाः कुष्ठार्शःप्रभृतयः, तेऽपि द्विविधाः–मातृजाः पितृजाश्च । **ये व्याधियाँ पुरुषों के शुक्रकीट तथा स्त्रियों के अण्ड (Ovum) के दुष्ट होने से गर्भ को हो जाती हैं तथा इन्हें (Hereditary disease) कहते हैं । आयुर्वेदमत से कुष्ठ, अर्श, यक्ष्मा, मधुमेह, श्वित्र और अपस्मार आदिबलप्रवृत्त रोग हैं किन्तु एलोपेथी में कोई भी जीवाणुजन्य रोग आदिबलप्रवृत्त नहीं होता । कुष्ठीजात शिशु को शीघ्र माता-पिता से पृथक् कर पोषित करें तो उसमें कुष्ठ नहीं होता है । इसी तरह यक्ष्मा भी आदिबलप्रवृत्त नहीं है किन्तु यक्ष्मी माता-पिता के घनिष्ठ सम्पर्क से बच्चों में होता है । अर्श को भी आदिबलप्रवृत्त नहीं मानते हैं किन्तु श्वित्र, अपस्मार, मधुमेह, केन्सर, मेदोऽर्बुद, हीमोफाइलिया, बधिर-मूकता, वातरक्त, अस्थिभंगुरता, श्वास, उन्माद, अपतन्त्रक, केट्रेक्ट, हाई ब्लडप्रेशर, मेदोरोग, आमाशयिक व्रण, कटा होठ, फटा तालु, जुडी अंगुलियाँ, मुड़े या टेढ़े पाँव आदि-आदिबलप्रवृत्त होते देखे गये हैं ।** 'यस्य यस्यावयवस्य बीजे बीजभाग उपतप्तो भवति तस्य तस्यावयवस्य विकृतिरुपजायते ॥' **(च० शा० अ० ३)** (२) जन्मबलप्रवृत्ताः–ये मातुरपचारात् पङ्गुजात्यन्धबधिरमूकमिन्मिनवामनप्रभृतयो जायन्ते, तेऽपि द्विविधा रसकृताः, दौर्हृदापचारकृताश्च । **इनमें गर्भ की विकृतियाँ, माता के उपसर्ग उत्पन्न फिरङ्ग, टाइफाईड, मसूरिका आदि, इन्हें (Congenital diseases) कहते हैं ।** (३) दोषबलप्रवृत्ता य आतङ्कसमुत्पन्ना मिथ्याहाराचारकृताश्च, तेऽपि द्विविधाः, आमाशयसमुत्थाः, पक्वाशयसमुत्थाश्च, पुनश्च द्विविधाः–शारीरा मानसाश्च । (४) 'संघातबलप्रवृत्ता य आगन्तवो दुर्बलस्य बलवद्विग्रहात्, तेऽपि द्विविधाः, शस्त्रकृता व्यालकृताश्च । एते आधिभौतिकाः' ये भूतविषवाय्वग्निसंप्रहारादिसम्भवाः । नृणामागन्तवो रोगाः ॥ **(च० सू० अ० ८)**(५) 'कालबलप्रवृत्ता ये शीतोष्णवातवर्षप्रभृतिनिमित्ताः, तेऽपि द्विविधाः–व्यापन्नर्तुकृताः अव्यापन्नर्तुकृताश्च । **इसमें अग्नि, विद्युत्, अशनि के कारण होनेवाले रोगों की तथा ऋतुजन्य रोगों की गणना है ।** 'कालप्रकृतिमुद्दिश्य निर्दिष्टः प्रकृतो ज्वरः' (६) 'दैवबलप्रवृत्ता ये देवद्रोहादभिशप्तका, अथर्वणकृता उपसर्गजाश्च तेऽपि द्विविधाः विद्युदशनिकृताः, पिशाचादिकृताश्च, पुनश्च द्विविधाः, संसर्गजा, आकस्मिकाश्च' **इसमें जनपदोध्वंसज रोग, अथर्वणमन्त्रप्रयोगकृत रोग, उपसर्गज–धूमकेतु, उल्कापात आदि से उत्पन्न रोग । उपसर्ग का अर्थ यहाँ Infection से होने वाले रोगों की गणना करना उत्तम है**—उपसर्गजा ज्वरादिरोगपीड़ितजनसम्पर्कात् भवन्ति, प्रसङ्गाद्गात्रसंस्पर्शान्निश्वासात् सहभोजनात् । सह शय्यासनाच्चापि वस्त्रमाल्यानुलेपनात् ॥ कुष्ठं ज्वरश्च शोषश्च नेत्राभिष्यन्द एव च । औपसर्गिकरोगाश्च संक्रामन्ति नरान्नरम् ॥ **आधुनिकों ने रोगों के मुख्यतया दो ही भेद किये हैं—(१) आदिबलप्रवृत्त (Hereditary) और (२) स्वकृत (Acquired) । भेल संहिता में ऐसा द्विविध विभाग मिलता है**—प्रकृतिप्रभवश्चैव नरस्य स्वकृतस्तथा । श्रेयः प्रमेहो द्विविधस्तस्य वक्ष्यामि लक्षणम् । **अष्टाङ्गसंग्रह में भी रोगों के ७ भेद किये हैं**—'सप्तविधा खलु रोगा भवन्ति । सह-गर्भ-जात-पीडा-काल-प्रभाव-स्वभावजाः ।' **चरकाचार्य तथा वाग्भटाचार्य ने व्याधि के रुजा, वर्ण आदि के कारण अनेक भेद माने हैं**—त एवापरिसंख्येया भिद्यमाना भवन्ति हि । रुजावर्णसमुत्थानस्थानसंस्थाननामभिः ॥ **(चरक)** । स एव कुपितो दोषः समुत्थानविशेषतः । स्थानान्तरगतश्चैव विकारान् कुरुते बहून् ॥ **(वाग्भट) साध्यासाध्यादिभेदेन रोगभेदाः—रोगों के साध्य तथा असाध्य ऐसे दो वर्ग कर दिये गये हैं । फिर साध्य के दो भेद होते हैं—(१) सुखसाध्य तथा (२) कृच्छ्रसाध्य । असाध्यरोगों के भी दो वर्ग माने गये हैं—(१) याप्य और (२) प्रत्याख्येय या अचिकित्स्य जैसा कि अष्टाङ्गसंग्रह में लिखा है**—'साध्योऽसाध्य इति व्याधिर्द्विधा तौ तु पुनर्द्विधा । सुसाध्यः कृच्छ्रसाध्यश्च याप्योऽन्यश्चानुपक्रमः ॥ **सुश्रुताचार्य ने भी इसी द्विविध व्याधिभेद को कृत्याकृत्यविधि अध्याय में कहा है**—'कृत्याश्चिकित्सारूपक्रियार्हाः साध्याः, तद्विपर्ययेणाकृत्या असाध्याः' **(सु.सू.अ.२३) साध्यपरिभाषा–चरके**-हेतवः पूर्वरूपाणि रूपाण्यल्पानि यस्य च । न च तुल्यगुणो दूष्यो न दोषः प्रकृतिर्भवेत् ॥ न च कालगुणस्तुल्यो न देशो दुरुपक्रमः । गतिरेका नवत्वञ्च रोगस्योपद्रवो न च ॥ दोषश्चैकः समुत्पत्तौ देहः सर्वौषधक्षमः । चतुष्पादोपपत्तिश्च सुखसाध्यस्य लक्षणम् ॥ सुखसाध्यः सुखोपायः कालेनाल्पेन साध्यते ॥ ज्वरे तुल्यर्तुदोषत्वं प्रमेहे तुल्यदूष्यता । रक्तगुल्मे पुराणत्वं सुखसाध्यस्य लक्षणम् ॥ **सुश्रुते यथा**—देहप्रकृतिसात्म्यर्तुविपरीतोऽचिरोत्थितः । सम्पत्तौ भिषगादीनां बलसत्त्वायुषां तथा ॥ केवलः समदेहाग्नेः सुखसाध्यतमो गदः । अतोऽन्यथात्वसाध्यः स्यात्कृच्छ्रो व्यामिश्रलक्षणः ॥ **(सु. सू. अ. ३५) साध्य भी याप्य या असाध्य हो जाते हैं**—एभ्यस्तु खलु हेतुभ्यः किञ्चित्साध्यं न सिद्ध्यति । प्रेष्योपकरणाभावा-

दौरात्म्याद्दैवदोषतः । अकर्मतश्च साध्यत्वं कश्चिद्रोगोऽतिवर्तते। सन्ति ह्येवंविधा रोगाः साध्या दारुणसंमताः। ये ह्न्युरनुपक्रान्ता मिथ्याचारेण वा पुनः॥ (चरक) सुश्रुतेऽपि—साध्या याप्यत्वमायान्ति याप्याश्चासाध्यतां तथा। घ्नन्ति प्राणानसाध्यास्तु नराणामक्रियावताम्॥ (सु. सू. अ. २३) अन्यच्च—'तत्र साध्या अपि व्याधयः प्रायेणैषां दुश्चिकित्स्यतमा भवन्ति। तद्यथा—श्रोत्रियनृपतिस्त्रीबालवृद्धभीरुराजसेवककितवदुर्बलवैद्यविदग्धव्याधिगोपकदरिद्रकृपणक्रोधनानामनात्मवतामनाथानाञ्च, एवं निरूप्य चिकित्सां कुर्वन् धर्मार्थकामयशांसि प्राप्नोति' (सु. सू. अ. १०) 'एवं समीक्ष्य साध्यान् साधयेत्, याप्यान् यापयेत्, असाध्यान्नोपक्रमेत्, परिसंवत्सरोत्थितांश्च विकारान् प्रायशो वर्जयेत् (सु. सू. अ. १०) **याप्यरोग**—यापनीयं विजानीयात् क्रिया धारयते तु यम्। क्रियायान्तु निवृत्तायां सद्य एव विनश्यति॥ प्राप्ता क्रिया धारयति याप्यव्याधितमातुरम्। प्रपतिष्यदिवागारं विष्कम्भः साधु योजितः (सु. सू. अ. २३।९-१०) चरकेऽपि—शेषत्वादायुषो याप्यमसाध्यं पथ्यसेवया। लब्धाल्पसुखमल्पेन हेतुनाशुप्रवर्तकम्॥ **अष्टाङ्गसंग्रहेऽपि**—याति नाशेषतां रोगः कर्मजो नियतायुषः। प्रपतन्निव विष्कम्भैर्धार्यतेऽत्रातुरो हितैः॥ **आयु शेष होने से योग्य चिकित्सा गिरने वाले मकान को खम्भे की तरह धारण किये रहती है। असाध्य या प्रत्याख्येय रोग—जो रोग योग्य चिकित्सा करने से भी बढ़ता हो उसे प्रत्याख्येय या असाध्य कहते हैं**—परोऽसाध्यः क्रियाः सर्वाः प्रत्याख्येयोऽतिवर्तते। तस्मादुपेक्ष एवाऽसौ॥ (अ. सं.) चरकेऽपि—प्रत्याख्येयं त्रिदोषजम्। क्रियापथमतिक्रान्तं सर्वमार्गानुसारिणम्। औत्सुक्यारतिसंमोहकरमिन्द्रियनाशनम्॥ दुर्बलस्य सुसंवृद्धं व्याधिं सारिष्टमेव च। (सुश्रुत) **असाध्यचिकित्सानिषेधः**—'असाध्यान्नोपक्रमेत्' अर्थविद्यायशोहानिमुपक्रोशमसंग्रहम्। प्राप्नुयान्नियतं वैद्यो योऽसाध्यं समुपाचरेत्॥ (चरक) **दुश्चिकित्स्यरोग**—वातव्याधिः प्रमेहश्च कुष्ठमर्शो भगन्दरम्। अश्मरी मूढगर्भश्च तथैवोदरमष्टमम्॥ अष्टावेते प्रकृत्यैव दुश्चिकित्स्या महागदाः॥ प्राणमांसक्षयश्वासतृष्णाशोषवमीज्वरैः। मूर्च्छातिसारहिक्काभिः पुनश्चैतैरुपद्रुताः। वर्जनीया विशेषेण भिषजा सिद्धिमिच्छता॥ (सु. सू. अ. ३३) **चरकाचार्य ने रोगों के निज, आगन्तु और मानस ऐसे प्रथम तीन भेद किये हैं**—'त्रयो रोगा निजागन्तुमानसाः' (च. सू. अ. ११) पुनः—चत्वारो रोगा भवन्ति—आगन्तुवातपित्तश्लेष्मनिमित्ताः तेषां चतुर्णामपि रोगाणां रोगत्वमेकविधं भवति, रुक्सामान्यात्, द्विविधा पुनः प्रकृतिरेषाम्, आगन्तुनिजविभागात्, द्विविधं चैषामधिष्ठानं मनःशरीरविशेषात्, विकाराः पुनरपरिसंख्येयाः, प्रकृत्यधिष्ठानलिङ्गायतनविकल्पविशेषापरिसंख्येयत्वात्॥ (च. वि. अ. २०) अन्यच्च—'अतस्त्रिविधा व्याधयः प्रादुर्भवन्ति—आग्नेयाः, सौम्याः, वायव्याश्च, द्विविधाश्चापरे—राजसास्तामसाश्च। **चरकाचार्य ने भी साध्य के सुखसाध्य और कृच्छ्रसाध्य ऐसे दो भेद तथा असाध्य के याप्य और अनुपक्रम ऐसे दो भेद किये हैं**—सुखसाध्यं मतं साध्यं कृच्छ्रसाध्यमथापि च। द्विविधञ्चाप्यसाध्यं स्याद्याप्यं यच्चानुपक्रमम्॥ (च. सू. अ. ११) **साध्य के अन्य तीन भेद किये हैं—अल्पोपायसाध्य, मध्योपायसाध्य और उत्कृष्टोपायसाध्य**—साध्यानां त्रिविधश्चाल्पमध्यमोत्कृष्टतां प्रति। विकल्पो नत्वसाध्यानां नियतानां विकल्पना॥ (च. सू. अ. ११) **साध्यासाध्यज्ञानप्रयोजन**—साध्यासाध्यविभागज्ञो ज्ञानपूर्वं चिकित्सकः। काले चारभते कर्म यत्तत् साधयति ध्रुवम्॥ साध्यासाध्यविभागज्ञो यः सम्यक् प्रतिपत्तिमान्। न स मैत्रेय तुल्यानां मिथ्याबुद्धिं प्रकल्पयेत्॥ (च. सू. अ. ११)

दुष्यति ग्रहणी जन्तोरग्निसादनहेतुभिः॥ १६६॥

अथ ग्रहणीरोगाधिकारः—**पाचकाग्नि को नष्ट करने वाले कारणों से मनुष्य की ग्रहणी दूषित हो जाती है॥ १६६॥**

अतिसारे निवृत्तेऽपि मन्दाग्नेरहिताशिनः।
भूयः सन्दूषितो वह्निर्ग्रहणीमभिदूषयेत्॥ १६७॥
तस्मात्कार्यः परीहारस्त्वतीसारे विरिक्तवत्।
यावन्न प्रकृतिस्थः स्याद्दोषतः प्राणतस्तथा॥ १६८॥

ग्रहणीसम्प्राप्तिः—**अतीसार के निवृत्त हो जाने पर तथा अपि शब्द से कभी-कभी अतीसार के न होने पर भी मन्द अग्नि वाले पुरुष के अहित आहार-विहार के सेवन करने से पुनः उस व्यक्ति की पाचकाग्नि सन्दूषित होकर ग्रहणी को दूषित करके संग्रहणीरोग उत्पन्न कर देती है। इसलिये अतिसार रोग में तथा उसके निवृत्त होने पर रोगी या अग्नि दोष एवं प्राण बल की दृष्टि से प्रकृतिस्थ (स्वाभाविक) रूप में न हो जाय तबतक विरेचन लिये हुये पुरुष की भाँति पथ्यों का पालन करना चाहिए॥ १६७-१६८॥**

विमर्शः—अतिसार और संग्रहणी पाचनसंस्थान के विकार होने से, दोनों में द्रवसरणसाधर्म्य होने से तथा एक दूसरे का परस्पर अनुबन्ध होने से अतिसार के अनन्तर संग्रहणी रोग का अधिकार प्रारम्भ किया गया है। देखा गया है कि अतीसार की निवृत्ति के पश्चात् अथवा बिना अतीसार के भी संग्रहणी रोग हो जाता है तथा कुछ आचार्यों का मत है कि अतिसार के निवृत्त न होने पर भी साथ में संग्रहणी रोग होते देखा गया है। अतिसार में ग्रहणीकला कुछ दूषित हो ही जाती है और पुनः उसके रहते हुये अथवा निवृत्त होने पर भी सेवित अहित आहार-विहार उस कला को पुनः अत्यधिक दूषित कर देता है। इसलिये अतिसार वाले व्यक्ति में इस रोग के होने की अधिक सम्भावना रहती है। मन्दाग्नि वाले की ग्रहणीकला शीघ्र दूषित होती है अतः दीप्ताग्नि पुरुष में सेवित अहित आहार भी हानिकर नहीं होता है—दीप्ताग्निविरुद्धं वितथं भवेत्' (सु. सू. अ. २०)

षष्ठी पित्तधरा नाम या कला परिकीर्तिता।
पक्वामाशयमध्यस्था ग्रहणी सा प्रकीर्तिता॥ १६९॥

ग्रहणीपरिचयः—**पक्वाशय (बृहदन्त्र) तथा आमाशय (Stomach) के मध्य में स्थित एवं पित्त को धारण करने वाली जो छठी कला (पित्तधरा) कही गई है उसे ही ग्रहणी के नाम से कहा जाता है॥ १६९॥**

ग्रहण्या बलमग्निर्हि स चापि ग्रहणीं श्रितः।
तस्मात् सन्दूषिते वह्नौ ग्रहणी सम्प्रदुष्यति॥ १७०॥

अग्नौ सन्दुष्टे ग्रहणीदुष्टिप्रकारः—**शास्त्रों में निश्चय ही ग्रहणी का बल अग्नि को माना गया है और वह अग्नि ग्रहणी को आश्रित करके रहती है इसलिये अग्नि के सन्दूषित होने पर ग्रहणीकला दूषित हो जाती है॥ १७०॥**

विमर्शः—द्रव मल का सरण होने से तथा अतिसार और ग्रहणी रोग के परस्पर अनुबन्धी होने से अतिसार के अनन्तर ग्रहणी रोग का प्रारम्भ करना उचित है। ग्रहणी रोग पाचन-

संस्थानगत रोगों में प्रधान है तथा पाचनसंस्थान में होने वाले अन्य रोगों के समान इसका भी प्रधान हेतु मन्दाग्नि है। आयुर्वेद में पाचकाग्नि की विकृति रोगों की उत्पत्ति में प्रधान कारण है। ज्वर की सम्प्राप्ति में दोषकोष्ठाग्नि को बाहर निकालकर ज्वर उत्पन्न करते हैं—मिथ्याहारविहाराभ्यां दोषा ह्यामाशयाश्रयाः। बहिर्निरस्य कोष्ठाग्निं ज्वरदास्युरसानुगाः॥ अतिसार की सम्प्राप्ति में प्रवृद्ध जलीय धातु पाचकाग्नि को मन्द कर अतिसार उत्पन्न करता है—'संशम्यापांधातुरग्निं प्रवृद्धः' इसी प्रकार मन्दाग्नि होने पर ग्रहणी रोग उत्पन्न होता है—अतीसारे निवृत्तेऽपि मन्दाग्नेरहिताशिनः। भूयः सन्दूषितो वह्निर्ग्रहणीमभिदूषयेत्॥ इस तरह ग्रहणी के अतिरिक्त छर्दि, अतीसार, विसूचिका, विलम्बिका, अलसक आदि सम्पूर्ण पाचनप्रणालीगत रोगों का मूल भी दोषावृत, दोषवृद्ध, दोषक्षीण, दोषविकृत पाचकपित्त या अग्नि ही है। जिस तरह रोगोत्पत्ति में अग्नि की प्रधानता है उसी तरह अग्नि का महत्त्व अन्नपाचन के लिये तथा शरीरनिर्माण की सम्पूर्ण क्रियाओं के लिये भी है। इसीलिये चरकाचार्य ने कहा है कि अन्न, देह, धातु, ओज, बल और वर्ण आदि का पोषक होता है उसमें अग्नि ही मुख्य हेतु है क्योंकि पाचकाग्नि के द्वारा बिना पके हुये आहार से रसरक्तादि धातुएँ नहीं बन सकती हैं—यदन्नं देहधात्वोजोबलवर्णादिपोषकम्। तत्राग्निर्हेतुराहारान्न ह्यपक्वाद्रसादयः॥ (च० चि० अ० १५) इसके अतिरिक्त देह में अग्नि की उपस्थिति तथा अनुपस्थिति पर ही प्राणियों का जीवन और मरण अवलम्बित है तथा अग्निविकृति से मानव रुग्ण हो जाता है—शान्तेऽग्नौ म्रियते युक्ते चिरञ्जीवत्यनामयः। रोगी स्याद्विकृते मूलमग्निस्तस्मान्निरुच्यते॥ (च० चि० अ० १५) चरकाचार्य ने लिखा है कि आदानकर्मक प्राणवायु अन्न को कोष्ठ में ले जाती है तथा वहां समान नामक वायु से प्रदीप्त उदराग्नि अन्न का पाक करती है इस तरह पाचकाशयों में आये हुए अन्न का पाक होकर रस और मल ऐसे दो भाग बनते हैं—अन्नमादानकर्मा तु प्राणः कोष्ठं प्रकर्षति। तद्द्रवैर्भिन्नसङ्घातं स्नेहेन मृदुतां गतम्॥ समानेनावधूतोऽग्निरुदर्यः पवनेन तु। काले भुक्तं समं सम्यक्पचत्यायुर्विवृद्धये॥ एवं रसमलायान्नमाशयस्थमधःस्थितः। पचत्यग्निर्यथा स्थाल्यामोदनायाम्बुतण्डुलम्॥ (च०चि०अ०१५) इसके अतिरिक्त चरकाचार्य ने पञ्च महाभूतों की पञ्च अग्नियों को भी माना है जो कि पृथक् पृथक् अपने पाञ्चभौतिक द्रव्यों को पचाती हैं—भौमाप्याग्नेयवायव्याः पञ्चोष्माणः सनाभसाः। पञ्चाहारगुणान् स्वान् स्वान् पार्थिवादीन् पचन्ति हि॥ यथास्वं स्वञ्च पुष्णन्ति देहे द्रव्यगुणाः पृथक्। पार्थिवाः पार्थिवानेव शेषाः शेषांश्च कृत्स्नशः॥ यह पञ्चभूताग्नि व्यापार है। इसके अनन्तर धात्वग्निव्यापार प्रारम्भ होता है। अर्थात् कायाग्नि और भूताग्नि के द्वारा पाक होने पर उत्पन्न हुआ आहाररस रक्त द्वारा समग्र शरीर में परिभ्रमण करता हुआ प्रत्येक धातु के सम्पर्क में आता है। वे भी अपने अनुकूल अंश को ग्रहण करके सात्म्य बनाने के लिये पाचन करती हैं और इस धातु में स्थित अग्नि से वह रस पक होकर पुनः प्रसाद और किट्ट दो भागों में विभक्त हो जाता है। प्रसादांश भाग से धातुओं का पोषण तथा किट्टांश भाग से मल का पोषण होता है—सप्तभिर्देहधातारो धातवो द्विविधं पुनः। यथास्वमग्निभिः पाकं यान्ति किट्टप्रसादवत्॥ इस तरह शरीर में पञ्चमहाभूतों की पञ्च अग्नियां, सप्तधातुओं की सात अग्नियां और तेरहवीं जाठराग्नि होती है। ऐसे अग्नियों के १ जाठराग्नि, २ भूताग्नि, ३ धात्वग्नि ये तीन विभाग होते हैं। इनमें जाठराग्नि सब में प्रमुख है तथा इसी के द्वारा शेष अग्नियों का पोषण होता है—अन्नस्य पक्ता सर्वेषां पक्तृणामधिपो मतः। तन्मूलास्ते हि तद्वृद्धिक्षयवृद्धिक्षयात्मकाः॥ (च० चि० अ० १५) भुक्त पदार्थों का पाचन मुख से ही प्रारम्भ हो जाता है। यहां लालारस कार्बोहैड्रेट को शर्करा में परिणत करता है। फिर यहां से भोजन आमाशय में जाता है। उस आशय की दीवारों में स्थित पाचक ग्रन्थियों के आमाशयिकरस का भोजन के प्रोटीन और कार्बोहैड्रेट पर पाचन प्रभाव होता है। फिर यहां से अर्धपक्व अन्न क्षुद्रान्त्रों के प्रारम्भिक हिस्से (Duodenum) में पहुंचता है जिसे आयुर्वेद में ग्रहणी या पच्यमानाशय कहा है। इसमें अग्न्याशय (Pancriase) से अग्निरस, यकृत् से पित्त (Bile) तथा आन्त्रिक रस एकत्रित होकर अन्न का पूर्णरूप से पाचन कर देते हैं। इस प्रकार मुख, आमाशय और ग्रहणी में विभिन्न प्रकार के पाचकरसों एवं बोधक और क्लेदककफ और समान वायु के योग से अन्न का पाचन होता है। आमावस्था, पच्यमानावस्था और पक्वावस्था में छहों रस वाले आहार से तत्तत्स्थान के प्रभावानुरूप स्थूल कफ, पित्त तथा वात की उत्पत्ति होती है। इस क्रिया को अवस्थापाक कहते हैं। इसके अनन्तर भूताग्निव्यापार तथा धात्वग्निव्यापार के द्वारा निष्ठापाक या विपाक प्रारम्भ होता है। सुश्रुताचार्य ने पित्त को ही अग्नि माना है 'न हि पित्तव्यतिरेकादन्योऽग्निरुपलभ्यते' आजकल जो Bile का ट्रान्सलेशन पित्त किया जाता है। यह उचित नहीं है क्योंकि पित्त तो केवल यकृत् में बनने वाला एक पाचक रस है किन्तु आयुर्वेदिक पित्त समस्त पाचक रसों में विद्यमान तथा विभिन्न प्रकार के अन्नों का पाचन करनेवाली अग्निस्वरूप विशिष्ट शक्तिशाली वस्तु है। पित्तस्थान—आमाशय और पक्वाशय के मध्य भाग को पित्त का स्थान माना है तथा आमाशय से आधुनिक Stomach एवं पक्वाशय से बृहदन्त्र अर्थ करने पर उन दोनों के मध्य में क्षुद्रान्त्र का प्रारम्भिक भाग डियोडिनम ही होता है तथा उसमें पाचन का अवशेष प्रमुख कार्य भी होता है और उसमें तीन प्रकार के पाचक रस भी आते हैं। यही षष्ठी पित्तधरा नामक कला भी है जिसे कि ग्रहणी कहा है तथा अन्न के ग्रहण करने से इसे ग्रहणी नाम से कहा है 'अन्नस्य ग्रहणाद्ग्रहणी मता' इसे आयुर्वेद में अग्नि या पित्त का अधिष्ठान भी माना है एवं यह नाभि के ऊपर भी है तथा अपक्वान्न का पाचनार्थ धारण एवं पक्व अन्न का विसर्जन भी करती है—अग्न्यधिष्ठानमन्नस्य ग्रहणाद्ग्रहणी मता। नाभेरुपरि सा ह्यग्निबलोपस्तम्भबृंहिता॥ अपक्वं धारयत्यन्नं पक्वं सृजति पार्श्वतः। दुर्बलाग्निबलाद्दुष्टा त्वाममेव विमुञ्चति॥ (चरक) चरकाचार्य ने आमाशय को पित्त का विशिष्ट स्थान माना है—'अत्रामपक्वाशयौ विशेषेण पित्तस्थानम्' यहाँ पर आमाशय का आशय केवल (Stomach) ही नहीं समझना चाहिए अपितु नाभि से लेकर स्तनों तक के समस्त पाचक भागों को आमाशय मानना चाहिए—'नाभिस्तनान्तरं जन्तोरामाशय इति स्मृतः' इस परिभाषा से स्टमक (आमाशय) और डियोडिनम (ग्रहणी) दोनों पित्त (पाचकाग्नि) के स्थान निश्चित हो जाते हैं।

एकशः सर्वशश्चैव दोषैरत्यर्थमुच्छ्रितैः ।
सा दुष्टा बहुशो भुक्तमाममेव विमुञ्चति ॥ १७१ ॥

दोषानुसारग्रहणीरोगभेदाः— वातिक, पैत्तिक और श्लैष्मिक एवं सान्निपातिक ऐसे ग्रहणीरोग के चार भेद होते हैं। अत्यधिक बढ़े हुए इन वातादि दोषों के ग्रहणीकला में आश्रित होकर उसे दूषित कर देने पर वह ग्रहणी खाये हुए अन्न को अनेक बार आम (अपक) रूप में ही विसर्जित करती है।

पक्वं वा सरुजं पूति मुहुर्बद्धं मुहुर्द्रवम् ।
ग्रहणीरोगमाहुस्तमायुर्वेदविदो जनाः ॥ १७२ ॥

ग्रहणीरोगपरिभाषा—उक्त दोषों से दूषित ग्रहणी नामक कला खाये हुए अन्न को कभी पक्कर (पचा) के तथा कभी अपक्वावस्था में अनेक बार त्यागती है एवं मलत्याग के समय कुछ उदर में पीड़ा भी होती है तथा इस मल से दुर्गन्ध आया करती है। यह मल कभी बँधा हुआ तथा कभी पतला उत्सर्गित होता है। आयुर्वेद के ज्ञाता विद्वान् इस प्रकार के रोग को ग्रहणी रोग कहते हैं ॥ १७२ ॥

विमर्शः—यद्यपि मुखादि से गुदपर्यन्त पाचनप्रणाली के समग्र भाग इस रोग में विकृत हो जाते हैं जैसा कि अनेक बार संग्रहणी के रोगियों की जिह्वा तथा अन्नप्रणाली में पाक (छाले) देखा जाता है तथापि इस रोग का प्रधान आश्रय-स्थान ग्रहणी है तथा आश्रय और आश्रयी में अभेद मानकर ग्रहणीकला के आश्रित विकार को भी ग्रहणी नाम से ही आयुर्वेद में कहा गया है। इसी आशय को चक्रपाणि ने लिखा है—'ग्रहणीमाश्रितोऽग्निदोषो ग्रहणीदोषः, एवञ्चाश्रयाश्रयिणोरभेदोपचाराद् ग्रहणीदोषशब्देन ग्रहण्याश्रितोऽग्निदोषोऽपि गृह्यते ॥' (च. चि. अ. १५) गृहणी के अतिरिक्त वमन, अतिसार, विसूचिका, विलम्बिका, अलसक, अर्श और ज्वरादि रोगों का मूल कारण भी पाचक पित्त या जाठराग्नि ही है अतएव इन रोगों में अग्नि की रक्षा करना तथा उसके वर्द्धक द्रव्यों का सेवन करना चाहिये। गणनाथसेन जी ने ग्रहणी रोग को (Chronic Diarrhoea) कहा है किन्तु इसे अधिकतर Sprue) कहा जाता है। इस रोग में अन्त्र के विकृत हो जाने से वसा, कार्बोहैड्रेट, केल्शियम् तथा विटामिन्स के ठीक तरह से पाचित न होने से उनका शोषण भी नहीं होने पाता जिस से ये अपरिपक्वावस्था में ही बाहर निकल आते हैं। इस रोग की विकृति सारे क्षुद्रान्त्र में होते हुये भी मुख्य स्थान ग्रहणी (पच्यमानाशय Duodenum) है क्योंकि वसा के पाचन का यही प्रधान केन्द्र है। वसा के पाचन में (Bile) तथा अग्न्याशयरस (Pancreatic Juice) दोनों आवश्यक हैं अतः ग्रहणी रोग की सम्प्राप्ति में कही गई अग्निदुष्टि से इन दोनों रसों की अल्पता समझनी चाहिये।

तस्योत्पत्तौ विदाहोऽन्ने सदनालस्यतृट्क्लमाः ।
बलक्षयोऽरुचिः कासः कर्णक्ष्वेडोऽन्त्रकूजनम् ॥१७३॥

ग्रहणीपूर्वरूप—ग्रहणीरोग के उत्पन्न होनेपर अन्न में विदाह, अङ्गों में सदन (शिथिलता), शरीर में आलस्य, प्यास का लगना, क्लम (थकावट), बल की क्षीणता, भोजन में अरुचि, खाँसी, कानों में वेणुवादन सा शब्द तथा आन्त्र में कूजन होता है ॥ १७३ ॥

विमर्शः—अन्ने विदाहः = अग्निमान्द्यत्वेन आहारस्य विदग्धत्वम्। अन्न खाने पर अन्ननलिका में दाह की प्रतीति होना। क्लमः—योऽनायासः श्रमो देहे प्रवृद्धः श्वासवर्जितः। क्लमः स इति विज्ञेय इन्द्रियार्थप्रबाधकः ॥ कर्णक्ष्वेडः—वायुः पित्तादिभिर्युक्तो वेणुघोषसमं स्वनम्। करोति कर्णयोः क्ष्वेडं कर्णक्ष्वेडः स उच्यते ॥

अथ जाते भवेज्जन्तुः शूनपादकरः कृशः ।
पर्वरुग्लौल्यतृट्छर्दिज्वरारोचकदाहवान् ॥१७४॥
उद्गिरेच्छुक्ततिक्ताम्ललोहधूमामगन्धिकम् ।
प्रसेकमुखवैरस्यतमकारुचिपीडितः ॥१७५॥

ग्रहणीरूप या लक्षण—ग्रहणी रोग के उत्पन्न हो जाने पर प्राण के हस्तपाद सूज जाते हैं, शरीर कृश हो जाता है, पर्व (सन्धि) स्थानों में पीड़ा होता है, सर्वप्रकार के रसों के सेवन करने की इच्छा बनी रहती है तथा प्यास लगती है, कभी कभी वमन होती है, ज्वर भी हो जाता है, अरुचि बनी रहती है, सर्वाङ्ग में दाह होता है, विशेषकर अन्नप्रणाली और आमाशयादि में दाह होता है एवं मुख से शुक्त (आचार सी खट्टी) और तिक्त (कड़वा) तथा अम्ल (खट्टी) डकारें निकलती हैं एवं गरम लोहे के बुझाने के धूम तथा आमगन्धी (सड़ी गन्ध वाली) गैस निकलती है या ऐसे गन्ध सा पानी गिरता है, मुख से प्रसेक (लार) निकलती रहती है तथा मुख का स्वाद खराब बना रहता है, तथा वह व्यक्ति तमकश्वास और अरुचि से पीड़ित रहता है ॥ १७४–१७५ ॥

विमर्शः—सेविल की मेडिसीन में संग्रहणी रोग के निम्न लक्षण लिखे हैं—(१) प्रातःकाल अम्लगन्धी तथा श्वेताभवर्ण एवं फेनयुक्त दस्तों का होना। (२) प्रारम्भ में जिह्वा, गला, तालु और समग्र अन्नप्रणाली में विदाह के कारण छाले पड़ जाते हैं तथा जिह्वा में विदार उत्पन्न होकर उसका वर्ण लाल हो जाता है। शरीर में चुनचुनाहट बनी रहती है अधिक दिनों बाद जिह्वा के स्वादाङ्कुर नष्ट हो जाते हैं तथा जिह्वा की श्लेष्मल त्वचा पूर्णतया सपाट सी दिखाई देने लगती है। (३) रक्ताल्पता (Anaemia) यह रक्त के घटकों का पाचन एवं प्रचूषण न होने से होता है। (४) अन्न का पाचन न होने से उत्तरोत्तर रस-रक्तादि धातुओं के न बनने से शारीरिक बल गिरता जाता है। (५) (Intestinal flatulance) आन्त्र में पाचनक्रिया ठीक न होने से किण्वीकरण (Fermentation) होने से गैस का सञ्चय होकर आध्मान बना रहता है। (६) रोग के अधिक बढ़ने पर या पुराने होनेपर वातनाड़ी-शोथ (Neuritis) तथा पादशोथ (Oedema of the feet) भी हो सकता है। (७) आगे चलकर अन्नप्रणाली की शोषक तथा रसोत्पादक ग्रंथियों के विलुप्त हो जाने से श्लेष्मल त्वचा सपाट हो जाती है तथा खाद्यपदार्थों का पाचन और शोषण नहीं हो पाता है। (८) धीरे धीरे यकृत् और अग्न्याशय का भी शोथ हो जाने से उनका कार्य स्थगित हो जाता है तथा स्नेहांश अपक्वावस्था में ही मल के साथ बाहर निकलने लगता है। इन्हीं कारणों से यह रोग प्रायः असाध्य सा माना जाता है।

वाताच्छूलाधिकैः पायुहृत्पार्श्वोदरमस्तकैः ।
पित्तात् सदाहैर्गुरुभिः कफात् त्रिभ्यस्त्रिलक्षणैः ॥१७६॥

वातादिभेदेन ग्रहण्या लक्षणानि—ग्रहणी रोग में वायु की अधिकता रहने से गुद, हृदय, पार्श्वभाग, उदर और मस्तिष्क में शूल बना रहता है, पित्त की अधिकता से दाह एवं कफ की अधिकता से सारे देह में भारीपन और तीनों दोषों के प्रकुपित होने पर उक्त तीनों दोषों के मिलित लक्षण दिखाई देते हैं ॥ १७६ ॥

दोषवर्णैर्नखैस्तद्वद्विण्मूत्रनयनाननैः ।
हृत्पाण्डूदरगुल्मार्शःप्लीहाशङ्की च मानवः ॥ १७७ ॥

ग्रहणीरोगे हृत्पाण्ड्वादिरोगशङ्कानिरासः- वात, पित्त और कफ इन दोषों के वर्णों के अनुसार रुग्ण के नखों के वर्ण से तथा उसी तरह दोषवर्णानुसार ही रुग्ण के मल, मूत्र, नेत्र और मुख का वर्ण देख कर ग्रहणीरोग का निश्चयज्ञान कर लेना चाहिए क्योंकि ग्रहणी रोग का रोगी तथा वैद्य कभी-कभी ग्रहणी रोग की उपस्थिति में अज्ञानवश इसे न पहचान कर हृदय रोग, पाण्डुरोग, उदररोग, गुल्म, अर्श और प्लीहा-वृद्धि की शङ्का करने लगते हैं ॥ १७७ ॥

यथादोषोच्छ्रयन्तस्य विशुद्धस्य यथाक्रमम् ।
पेयादिं वितरेत् सम्यग्दीपनीयोपसम्भृतम् ॥ १७८ ॥
ततः पाचनसङ्ग्राहिदीपनीयगणत्रयम् ।
पिबेत् प्रातः सुरारिष्टस्नेहमूत्रसुखाम्बुभिः ॥ १७९ ॥
तक्रेण वाऽथ तक्रं वा केवलं हितमुच्यते ।
कृमिगुल्मोदरार्शोघ्नीः क्रियाश्चात्रावचारयेत् ॥ १८० ॥

ग्रहणीरोगचिकित्सा—ग्रहणी रोग में वातादि दोषों के आधिक्य के अनुसार अर्थात् वातोल्वणता में निरूहण बस्ति, पित्तोल्वणता में मृदुरेचन तथा कफोल्वणता में वमन क्रिया द्वारा विशोधन करके क्रमशः रुग्ण को दीपनीय औषधियों (पञ्चकोल, चित्रकादि) से सिद्ध किये हुये जल (क्वाथ) से पेया, विलेपी, यूष और ओदन बना कर खाने को देवें। इस क्रम के अनन्तर हरिद्रादि पाचनद्रव्यगण, अम्बष्ठादि संग्राही-द्रव्यगण और पिप्पल्यादि दीपनीयद्रव्यगण की औषधियों का क्वाथ अथवा चूर्ण बना कर दोष, काल और सात्म्य का विचार करते हुए सुरा, आसवारिष्ट, घृततैलादि स्नेह, गाय, बकरी आदि के मूत्र और सुखोष्ण जल में से किसी एक के साथ प्रातःकाल सेवन करना चाहिए। अथवा उक्त तीनों गणों में से किसी एक गण के द्रव्यों के चूर्ण को तक्र के साथ सेवन करना चाहिए। अथवा उक्त गणौषधियों के बिना ही केवल तक्र का सेवन ही ग्रहणी में अत्यन्त हितकारक माना गया है। इसके अतिरिक्त कृमिरोग, गुल्मरोग, उदररोग और अर्शोरोग को नष्ट करने वाली चिकित्साक्रियाओं का प्रयोग भी लाभदायक होता है ॥ १७८-१८० ॥

विमर्शः—हरिद्रादिगण-'हरिद्रादारुहरिद्राकलशीकुटजबीजानि मधुकञ्चेति' एतौ वचाहरिद्रादी गणौ स्तन्यविशोधनौ। आमातिसारशमनौ विशेषाद्दोषपाचनौ ॥ (सु० सू० अ० ३८) अम्बष्ठादिगण—'अम्बष्ठाधातकीकुसुमसमङ्गाकट्वङ्गमधुकबिल्वपेशिकासावरलोध्रपलाशनन्दीवृक्षाः पद्मकेशराणि चेति' गणौ प्रियङ्ग्वम्बष्ठादी पक्वातिसारनाशनौ। पिप्पल्यादिगण—'पिप्पलीपिप्पलीमूलचव्यचित्रकशृङ्गवेरमरिचहस्तिपिप्पलीहरेणुकैलाजमोदेन्द्रयवपाठाजीरकसर्षपमहानिम्बफलहिङ्गुभार्गीमधुरसातिविषावचाविडङ्गानिकटुरोहिणी चेति' (सु० सू० अ० ३८) तक्रगुण—अतिसार, प्रवाहिका, ग्रहणी, अग्निमान्द्य आदि पाचनविकार तथा अर्श रोगों में तक्र अमृत के समान गुणकारी माना गया है—न तक्रसेवी व्यथते कदाचिन्न तक्रदग्धाः प्रभवन्ति रोगाः। यथा सुराणाममृतं हिताय तथा नराणां भुवि तक्रमाहुः ॥ एक सेर दधि में चौथाई (पाव भर) पानी डाल के मथकर तक्र बनाते हैं—'तक्रं पादजलं प्रोक्तमुदश्विदर्धवारिकम्। छच्छिका सारहीना स्याद्' सुश्रुताचार्य ने तक्र के विषय में लिखा है कि दही के अन्दर आधा पानी डाल के मथ कर उसमें से मक्खन को पृथक् कर लेने पर तक्र कहा जाता है—मन्थनादिपृथग्भूतस्नेहमर्धोदकञ्च यत्। नातिसान्द्रद्रवं तक्रं स्वाद्वम्लं तुवरं रसे ॥ यत्तु सस्नेहमजलं मथितं घोलमुच्यते ॥ (सु० सू० अ० ४५) संग्रहणीरोग में तक्रकल्प से अद्भुत लाभ होता है। तक्रप्रयोगः—वातेऽम्लं सैन्धवोपेतं पित्ते स्वादु सशर्करम्। पिबेत्तक्रं कफे चापि क्षारत्रिकटुसंयुतम् ॥ हिङ्गुजीरयुतं घोलं सैन्धवेनावचूर्णितम्। ग्रहण्यर्शोऽतिसारघ्नं भवेद्वातहरं परम् ॥

चूर्णं हिङ्ग्वादिकं चात्र घृतं वा प्लीहनाशनम् ॥ १८१ ॥

हिङ्ग्वादिचूर्णोपदेशः—महावातव्याधिप्रकरण में कहा हुआ हिङ्ग्वादि चूर्ण अथवा प्लीहरोगनाशक षट्पलघृत का उपयोग अतिसार, प्रवाहिका और संग्रहणी रोग में हितकर माना गया है ॥

कल्केन मगधादेश्च चाङ्गेरीस्वरसेन च ।
चतुर्गुणेन दध्ना च घृतं सिद्धं हितं भवेत् ॥ १८२ ॥

चाङ्गेरीघृतम्—द्रव्यसंग्रहणीय अध्यायोक्त पिप्पल्यादि गण की औषधियों का कल्क ४ पल, घृत १६ पल (१ प्रस्थ), चाङ्गेरी (अमलोनिया) का स्वरस ४ प्रस्थ तथा दही १ प्रस्थ तथा सम्यक्पाकार्थं जल ४ प्रस्थ मिला कर यथाविधि घृत सिद्ध कर लें। यह घृत अतिसार, प्रवाहिका तथा संग्रहणी के रोगियों के लिये हितकारी है ॥ १८२ ॥

विमर्शः—कुछ टीकाकारों ने इस घृत के पाक में स्नेह से चौगुना दही लिखा है। स्वरस, दुग्ध और दही के साथ स्नेह सिद्ध करना हो तब सम्यक्पाकार्थं चतुर्गुण जल अवश्य डालना चाहिए—स्वरसक्षीरमाङ्गल्यैः पाको यत्रेरितः क्वचित्। जलं चतुर्गुणं तत्र वीर्याधानार्थमावपेत् ॥

सर्वथा दीपनं सर्वं ग्रहणीरोगिणां हितम् ॥ १८३ ॥

संग्रहण्यां हितकरम्—पाचकाग्नि को दीप्त करने वाले सर्व प्रकार के खाद्य तथा पेय संग्रहणीरोग में हितकारी होते हैं ॥

ज्वरादीनविरोधाच्च साधयेत् स्वैश्चिकित्सितैः ॥ १८४ ॥

इति सुश्रुतसंहितायामुत्तरतन्त्रान्तर्गते कायचिकित्सातन्त्रेऽतिसारप्रतिषेधो नाम (द्वितीयोऽध्यायः आदितः) चत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४० ॥

संग्रहण्युपद्रवचिकित्सा—संग्रहणी रोग में यदि ज्वर आदि उपद्रव हो जायँ तो संग्रहणी रोग के साथ विरोध नहीं करने वाली उन (उपद्रवों) की अपनी चिकित्सा करनी चाहिये ॥

इति श्री अम्बिकादत्तशास्त्रिविरचितायां सुश्रुतसंहितायां भाषाटीकायामुत्तरतन्त्रेऽतिसारादिप्रतिषेधो नाम चत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४० ॥

एकचत्वारिंशोऽध्यायः

अथातः शोषप्रतिषेधं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥ २ ॥

अब इसके अनन्तर यहाँ से शोषप्रतिषेध नामक अध्याय का व्याख्यान करते हैं जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने कहा है॥

विमर्शः—ज्वर की पूर्णरूप से उचित चिकित्सा न होने पर वह धातुगत होकर जीर्ण ज्वर का रूप धारण करके शोष (राजयक्ष्मा) के रूप में परिणत हो सकता है तथा अतिसार, प्रवाहिका और संग्रहणी इन रोगों की भी चिकित्सा न होने पर भुक्त पदार्थों का मन्दाग्निवश पूर्ण पाक न होने से तथा मल के रूप में निकलते रहने से रस-रक्तादि उत्तरोत्तर धातुओं का निर्माण तथा पोषण न होने से अनुलोम राजयक्ष्मा (शोष या क्षय) हो जाता है अत एव ज्वर तथा अतिसारादि के अनन्तर शोषप्रतिषेध नामक अध्याय का प्रारम्भ करना उचित है।

अनेकरोगानुगतो बहुरोगपुरोगमः ।
दुर्विज्ञेयो दुर्निवारः शोषो व्याधिर्महाबलः ॥ ३ ॥

शोषस्य रोगराजसंज्ञा—अनेक रोग (शोथादि) उपद्रव रूप में जिसे आश्रय करके होते हों तथा जिसके होने के पूर्व प्रतिश्याय, कास, श्वासादि पूर्व रूप के रूप में उत्पन्न होते हों एवं जिसका ज्ञान (निदान) कठिनता से हो और जिसकी सफल चिकित्सा भी न हो सकती हो ऐसे महाबलशाली रोग (व्याधि) को शोष कहते हैं ॥ ३ ॥

विमर्शः—शोष रोग को रोगराट् माना है क्योंकि यह अनेक कारणों से सब रोगों में प्रधान है अथवा जिस तरह राजा के चलने पर उसके पीछे-पीछे अनेक अनुयायी चलते हैं उसी प्रकार इस रोग के हो जाने पर इसके पीछे अतिसार, शोथ, पाण्डु आदि अनेक रोग उपद्रव रूप में हो जाते हैं अतएव इसे अनेकरोगानुगत माना है। इसे रोगराट् मानने में दूसरा कारण बहुरोगपुरोगम है। अर्थात् इस रोग के उत्पन्न होने के पहले पूर्वरूपावस्था में प्रतिश्याय, कास, श्वास आदि अनेक रोग दिखाई देते हैं, जिस तरह राजा के किसी स्थान पर जाने के पहले उसके अङ्गरक्षक तथा सेनापति और अमात्य प्रथम उस स्थान से गुजरते हैं, बाद में वह राजा, इसलिये भी इसे रोगराट् कहा गया है। जैसा कि अष्टाङ्गसंग्रह में स्पष्ट लिखा है—अनेकरोगानुगतो बहुरोगपुरोगमः। राजयक्ष्मा क्षयः शोषो रोगराड् इति च स्मृतः ॥ अनेकरोगाः शोथाद्युपद्रवा अनुगता आश्रिता यस्य सोऽनेकरोगानुगतः। बहवो रोगाः प्रतिश्यायश्वासादयः पुरोगमाः पूर्वरूपत्वेन अग्रेसरा यस्य स बहुरोगपुरोगमः, तद् वक्ष्यति-श्वासाङ्गमर्दकफसंस्रवतालुशोषवम्यग्निसादमदपीनसकासनिद्राः । शोषे भविष्यति भवन्ति स चापि जन्तुः शुक्लेक्षणो भवति मांसपरो रिरंसुः।

संशोषणाद्रसादीनां शोष इत्यभिधीयते ।
क्रियाक्षयकरत्वाच्च क्षय इत्युच्यते पुनः ॥ ४ ॥
राज्ञश्चन्द्रमसो यस्मादभूदेष किलामयः ।
तस्मात्तं राजयक्ष्मेति केचिदाहुर्मनीषिणः ॥ ५ ॥

सपर्यायं शोषशब्दं निर्वक्ति—रस, रक्त आदि धातुओं का शोषण करने से इसे शोष कहते हैं तथा शरीर की बाह्य एवं आन्तरिक सम्पूर्ण क्रियाओं का क्षय (नाश) कर देने से इसे क्षय कहा जाता है। प्राचीनकाल की वार्ता (कथा) प्रसिद्ध है कि यह रोग नक्षत्रों के राजा चन्द्रमा को हुआ था इसलिये कुछ विद्वान् लोग इसे राजयक्ष्मा कहते हैं ॥ ५ ॥

विमर्शः—आजकल संसार में जिस रोग को क्षय अथवा टी० बी० कहा जाता है उसके शोष, क्षय और राजयक्ष्मा ये ये तीन पर्याय (एकार्थक) वाची शब्द प्रसिद्ध हैं। यद्यपि चरकाचार्य ने इस रोग के क्रोध, यक्ष्मा, ज्वर और राजयक्ष्मा इतने पर्याय लिखे हैं—क्रोधो यक्ष्मा ज्वरो रोग एकार्थो दुःखसंज्ञकः। यस्मात्स राज्ञः प्रागासीद्राजयक्ष्मा ततो मतः ॥ (च. चि. अ. ८) क्रोध—पूर्वकाल में प्रजापति के २८ लड़कियाँ थीं जो चन्द्रमा को ब्याही गई थीं किन्तु चन्द्रमा उनमें से रोहिणी नामक पत्नी में अधिक आसक्त था। शेष स्त्रियों से पराङ्मुख होने के कारण प्रजापति को क्रोध हुआ और वही क्रोध चन्द्रमा के शरीर में यक्ष्मा (रोग) रूप में प्रविष्ट हुआ जिससे वह इस रोग से पीड़ित हो गया तथा अश्विनीकुमारों ने उसकी चिकित्सा की तथा वह रोग मानुष लोक में आकर चतुर्विध कारण सेवन करने वाले मनुष्यों को होने लगा—दिवौकसां कथयतामृषिभिर्वै श्रुता कथा। कामव्यसनसंयुक्ता पौराणी शशिनं प्रति ॥ रोहिण्यामतिसक्तस्य शरीरं नानुरक्षतः। आजगामाल्पतामिन्दोर्देहः स्नेहपरिक्षयात् ॥ दुहितॄणामसंभोगाच्छेषाणाञ्च प्रजापतेः। क्रोधो निःश्वासरूपेण मूर्तिमान् निःसृतो मुखात् ॥ प्रजापतेर्हि दुहितरष्टाविंशतिरंशुमान् । भार्यार्थं प्रतिजग्राह न च सर्वास्ववर्तत ॥ गुरुणा तमवध्यातं भार्यास्वसमवर्तिनम्। रजःपरीतमबलं यक्ष्मा शशिनमाविशत् । सोऽभिभूतोऽतिमहता गुरुक्रोधेन निष्प्रभः। देवदेवर्षिसहितो जगाम शरणं गुरुम् ॥ अथ चन्द्रमसः शुद्धां मतिं बुद्ध्वा प्रजापतिः। प्रसादं कृतवान् सोमस्ततोऽश्विभ्यां चिकित्सितः॥ स विमुक्तग्रहश्चन्द्रो विरराज विशेषतः। ओजसा वर्धितोऽश्विभ्यां शुद्धं सत्त्वमवाप च ॥ क्रोधो यक्ष्मा ज्वरो रोग एकार्थो दुःखसंज्ञकः। यस्मात्स राज्ञः प्रागासीद्राजयक्ष्मा ततो मतः ॥ स यक्ष्मा हुङ्कृतोऽश्विभ्यां मानुषं लोकमागतः। लब्ध्वा चतुर्विधं हेतुं समाविशति मानवम् ॥ (च. चि. अ. ८) यक्ष्मा—शब्द क्षय और शोष का पर्यायवाची है जैसा कि अमरकोष में लिखा है—'क्षयः शोषश्च यक्ष्मा च' इत्यमरः। ज्वर—ज्वर इस रोग में निरन्तर बना रहता है अतः प्रधान लक्षणों में से ज्वर भी एक लक्षण होने से ज्वर नाम दे दिया है। राजयक्ष्मा—इस शब्द की व्युत्पत्ति दो तरह की मुख्य है। (१) सर्वरोगों में प्रधान होने से यक्ष्मणां रोगाणां राजा राजयक्ष्मा। अथवा 'राजेव यक्ष्मा राजयक्ष्मा' (चक्रपाणि), 'तं सर्वरोगाणां कष्टतमत्वाद्राजयक्ष्मणमाचक्षते भिषजः', (२) नक्षत्रों के राजा चन्द्रमा को हुआ था अतएव इसे राजयक्ष्मा कहते हैं—'यस्माद्वा पूर्वमासीद्भगवतः सोमस्योडुराजस्य तस्माद्राजयक्ष्मेति। (च. नि. अ. ६) 'राज्ञो यक्ष्मा राजयक्ष्मा' (चक्रपाणि)। वाग्भटाचार्य ने 'यक्ष्मणां राजा राजयक्ष्मा' ऐसी व्युत्पत्ति तथा नक्षत्रराज सोम को हुआ था अतएव 'राज्ञो यक्ष्मा राजयक्ष्मा' ऐसी दोनों आशयों की व्युत्पत्ति लिखी है—नक्षत्राणां द्विजानाञ्च राज्ञोऽभूद्यदयं पुरा। यच्च राजा च यक्ष्मा च राजयक्ष्मा ततो मतः॥ (वा. नि. अ. ५) शोष—संशोषणाद्रसादीनां शोष इत्यभिधीयते। रसादि धातुओं का शोषण कई प्रकार से हो सकता है। (१) इस रोग की उपस्थिति में निरन्तर ज्वर बने रहने से

ज्वर की उष्णता से रसादिकों का शोषण होता रहता है। (२) इसके अतिरिक्त अग्नि के मन्द हो जाने से पाचन पूर्ण रूप से न होकर रस नहीं बनता है जिससे आगे की रक्तादि धातुएँ पूर्व रसधातु के पूर्णरूप से न बनने से संशोषित होती जाती हैं। यक्ष्मा में मल अधिक बनता है—तस्मिन्काले पच्यत्यग्निर्यदन्नं कोष्ठसंश्रितम्। मलीभवति तत्प्रायः कल्पते किञ्चिदोजसे॥ (च० चि० अ० ८)। (३) यक्ष्मा रोगी के शरीर में पाचन पूर्णरूप से न होने पर अन्न से आमांश अधिक बनता है तथा उस अन्न के आमरस का भी पूर्ण पाचन न होने से कफ अधिक बनता है और वह कफ स्रोतसों में जाकर उनके मार्गों को कुछ अवरुद्ध कर देता है जिससे अन्य धातुओं का रस से पूरा पोषण न होने से वे संशोषित होती जाती हैं। इस तरह अनेक कारणों से तथा अनेक प्रकार से क्षय रोग में रसरक्तादि धातुओं का क्षय या शोष होता रहता है। चरकाचार्य ने निदानस्थान अ० ७ में शोष की सम्प्राप्ति में उक्त आशय को उत्तम रूप से समझाया है—'यदा पुरुषोऽतिमात्रं शोकचिन्तापरिगतहृदयो भवति, ईर्ष्योत्कण्ठाभयक्रोधादिभिर्वा समाविश्यते, कृशो वा सन् रूक्षान्नपानसेवी भवति, दुर्बलप्रकृतिरनाहारोऽल्पाहारो वा भवति तदा तस्य हृदयस्थायी रसः क्षयमुपैति, स तस्योपक्षयाच्छोषं प्राप्नोति। (च० नि० अ० ६) क्षयः—'क्रियाक्षयकरत्वाच्च क्षय इत्युच्यते पुनः'। क्रियायाश्चिकित्साया अथवा कायवाङ्मानसकर्मणः क्षयकरत्वादित्यर्थः। शरीर के अन्दर अनेक प्रकार की क्रियाएँ होती रहती हैं जैसे श्वासप्रश्वासक्रिया, रक्तपरिभ्रमणक्रिया, पाचनक्रिया आदि। राजयक्ष्मा रोग के उत्पन्न होने पर शरीर की ये सब क्रियाएँ धीरे-धीरे क्षीण होती जाती हैं अत एव इस रोग को क्षय के नाम से पुकारा जाता है। इसके सिवाय रसरक्तमांसादि क्षय तथा शुक्र और ओज की भी इस रोग में क्षीणता होते रहने से इसे क्षय कहा जाता है। इस प्रकार चरकादि आचार्यों ने तात्पर्यभिन्नता से राजयक्ष्मा, शोष और क्षय एक ही रोग के विभिन्न यौगिक नाम दिये हैं। आधुनिक चिकित्साशास्त्र में थायसिस (Pthisis) और कंजम्पशन (Consumption) का अर्थ क्षय या शोष है तथा यक्ष्मणां राजा राजयक्ष्मा (रोगराट्) इस तात्पर्य में प्रयुक्त शब्द के लिये Captain of the death कहा जाता है। फेफड़े में प्रधान रूप से विकृति होने के कारण Pulmonary Tuberculosis कहते हैं। अधिक सम्भोग के कारण शुक्र नष्ट होकर फेफड़ों के विकृत होने से उत्पन्न रोग राजयक्ष्मा (थायसिस) कहा जाना चाहिए क्योंकि शोष और क्षय शब्द का प्रयोग फेफड़े के क्षय के अतिरिक्त उत्पन्न होने वाले अन्य क्षय में भी प्रयुक्त होता है, जैसे अस्थिक्षय (Bone Tuberculosis), आन्त्रिक क्षय (Intestinal Tuberculosis), चर्मक्षय (Skin Tuberculosis), मस्तिष्कक्षय (Brain Tuberculosis) आदि। इसी प्रकार शोष शब्द भी अन्य कारणों से तथा अन्यान्य धातुओं के सूखने से उत्पन्न शोष के रूप में प्रयुक्त होता है जैसे व्यवायशोष, शोकशोष, वार्द्धक्यशोष, व्यायामशोष, अध्वशोष, व्रणशोष और उरःक्षतजन्यशोष कहलाता है—व्यवायशोकवार्द्धक्यव्यायामाध्वप्रशोषितान्। व्रणोरःक्षतसंज्ञौ च शोषिणौ लक्षणैः शृणु॥ यही आशय माधवकार के उक्त व्यवायशोकादि श्लोक की मधुकोष टीका में लिखा है—'व्यवायादिजनितधातुशोषमात्रेण राजयक्ष्मत्वं निरस्यन्नाह व्यवायेत्यादि। यदुक्तं सुश्रुते—केचाञ्चिदेवं शोषो हि कारणैर्भेदमागतः। न तत्र दोषलिङ्गानां समस्तानां निपातनम्॥ क्षया एव हि ते ज्ञेयाः प्रत्येकं धातुसंक्षयात्॥ (सु. उ. अ. ४१) अर्थात् कुछ लोग व्यवाय, शोक आदि कारण भिन्नता से शोष (राजयक्ष्मा) के भेद मानते हैं किन्तु सुश्रुताचार्य का कथन है कि इन कारणों से उत्पन्न हुआ शोष राजयक्ष्मा (थायसिस) नहीं है क्योंकि इन शोषों में सभी दोषों के लक्षणों की सत्ता नहीं रहती है अतः उन्हें केवल क्षय या शोष ही कहना चाहिए राजयक्ष्मा नहीं, क्योंकि राजयक्ष्मा को त्रिदोषजन्य या त्रिलिङ्ग माना है।

स व्यस्तैर्जायते दोषैरिति केचिद्वदन्ति हि॥ ६॥

राजयक्ष्मणो भेदविचारः—कुछ पाराशरमतानुयायी शिष्यों का कथन है कि यह राजयक्ष्मा भिन्न-भिन्न दोषों से उत्पन्न होता है॥ ६॥

विमर्शः—शार्ङ्गधराचार्य ने उक्त मतावलम्बियों का प्रमाण देकर क्षय के पांच भेद लिखे हैं, जैसे वात, पित्त और कफ इन तीन दोषों से पृथक्-पृथक् तीन प्रकार का, इन दोषों के सन्निपात से चौथा तथा उरःक्षत से उत्पन्न पाँचवाँ क्षय माना है—क्षयाः पञ्चैव विज्ञेयास्त्रिभिर्दोषैस्त्रयश्च ते। चतुर्थः सन्निपातेन पञ्चमः स्यादुरःक्षतात्॥

एकादशानामेकस्मिन् सान्निध्यात्तन्त्रयुक्तितः।
क्रियाणामविभागेन प्रागेकोत्पादनेन च॥ ७॥
एक एव मतः शोषः सन्निपातात्मको ह्यतः।
उद्रेकात्तत्र लिङ्गानि दोषाणां निपतन्ति हि॥ ८॥

यक्ष्मार्थकशोषस्यैकत्वकथनम्—आगे वात, पित्त और कफ से उत्पन्न स्वरभेद शूलादिक एकादश लक्षणों के राजयक्ष्मसंज्ञक एक ही रोग में विद्यमान होने या दिखाई देने से तथा तन्त्र (शास्त्र) युक्ति से एवं चिकित्सादि क्रियाओं का वातपित्तादिजन्य भिन्न-भिन्न यक्ष्मा के लिये प्रतिपादित न कर एक ही प्रकार के यक्ष्मा के लिये चिकित्साक्रियोपदेश होने से और पूर्वकाल में प्रजापति के क्रोध से एक ही प्रकार के राजयक्ष्मा रोग की उत्पत्ति होने से सन्निपातात्मक (त्रिदोषज) एक ही प्रकार का शोष (राजयक्ष्मा) माना गया है तथा उसमें सभी (तीनों) दोषों का आधिक्य होने से भिन्न-भिन्न लक्षण उत्पन्न होते हैं॥ ७-८॥

विमर्शः—आयुर्वेद के ग्रन्थों में राजयक्ष्मा को त्रिदोषज होने से सन्निपातात्मक एक ही प्रकार का माना है जैसा कि सुश्रुताचार्य ने उक्त श्लोक द्वारा अनेक प्रमाण देकर स्पष्ट कर दिया है। माधवकर ने भी अपने निदान ग्रन्थ में स्पष्ट लिख दिया है कि वेगरोधादि हेतुचतुष्टय से त्रिदोषज राजयक्ष्मा उत्पन्न होता है। मधुकोषटीका में भी यही मत स्वीकृत किया है—त्रिदोष इति मिलितत्रिदोषज एक एव, न तु कारणभेदादनेकः, यदाह सुश्रुतः—एक एव मत इत्यादि। 'ननु वेगरोधादयो वातं प्रकोपयन्ति तज्जनितो यक्ष्मा कथं त्रिदोषज इति चेत् उच्यते, वातप्रकोपादेवाग्निदुष्ट्या कफपित्तयोरपि प्रकोप इत्याहुः। चरकाचार्य ने निदानस्थान में शोष की सम्प्राप्ति के वर्णन में साहसादि चतुर्विध कारणों से वातप्रकोप एवं पित्त, कफ, का प्रकोप दिखाते हुये इन तीनों दोषों से राजयक्ष्मा उत्पन्न होता है ऐसा स्पष्ट लिखा है—'एतैश्चतुर्भिः शोषस्यायतनैरुपसेविते-

वातपित्तश्लेष्माणः प्रकोपमापद्यन्ते । ते प्रकुपिता नानाविधैरुपद्रवैः शरीरमुपशोषयन्ति । तं सर्वरोगाणां कष्टतमत्वाद्राजयक्ष्माणमाचक्षते भिषजः ॥ (च० नि० अ० ६) चरकाचार्य ने चिकित्सास्थान में भी कहा है कि चतुर्विध कारणों से वायु प्रकुपित होकर कफ और पित्त इन दोनों को भी उच्चाटित कर अपने साथ ले के विभिन्न स्थानों में जाता है । जैसे शिर में जाने से शिरःशूल, गले में जाने से कास, स्वरभेद, कण्ठोध्वंस आदि एकादश लक्षण करता है । इन एकादश लक्षणों को अवश्य त्रिदोषानुसार विभक्त कर दिया है, जैसे कफ से प्रतिश्याय, प्रसेक, कास, छर्दि और अरुचि तथा पित्त से ज्वर, अंसाभिताप, रक्तवमन तथा वायु से पार्श्वशूल और स्वरभेद । किन्तु त्रिदोषजन्य ये एकादश लक्षण जहाँ हों वही राजयक्ष्मा कहा जाता है—प्रतिश्यायं प्रसेकञ्च कासं छर्दिमरोचकम् । ज्वरमंसाभितापञ्च छर्दनं रुधिरस्य च ॥ पार्श्वशूलं शिरःशूलं स्वरभेदमथापि च । कफपित्तानिलकृतं लिङ्गं विद्याद्यथाक्रमम् ॥ रूपाण्येकादशैतानि यक्ष्मा यैरुच्यते महान् ॥ (च० चि० अ० ८) चरकाचार्य ने चिकित्साप्रकरण में स्पष्ट लिख दिया है कि यद्यपि राजयक्ष्मा त्रिदोषजन्य ही होता है किन्तु उसमें भी दोषों के बलाबल का विचार कर यक्ष्मी की चिकित्सा करें—सर्वस्त्रिदोषजो यक्ष्मा दोषाणान्तु बलाबलम् । परीक्ष्यावस्थिकं वैद्यः शोषिणं समुपाचरेत् ॥ इस प्रकार सुश्रुत, माधवकर और चरक का मत यक्ष्मा के त्रिदोषयुक्त एक ही होने के पक्ष में पर्याप्त होते हुये भी चरक टीकाकार चक्रपाणि ने वेगरोध, क्षय, साहस और विषमाशन इन चतुर्विध कारणों से अपने-अपने लक्षणों वाला चार प्रकार का यक्ष्मा उत्पन्न होता है ऐसा प्रतिपादन किया है—'सर्वस्त्रिदोषजो यक्ष्मा' इत्यादि । मैवं, हेतुलक्षणचिकित्सितैश्चतुर्णामपि भेदाच्छिन्न एवेति युक्तम् । तत्र हेतवोऽयथाबलमारम्भादय उक्ता एव, लिङ्गञ्च भिन्नं साहसजे कण्ठोध्वंस, उरोरुक् जृम्भा च, वेगसन्धारणजे च अङ्गमर्दो मुहुश्छर्दिस्तथा वर्चोभेदस्त्रिलक्षणः, अन्यत्र हि वर्चोभेदस्त्रिलक्षणो न भवति, क्षयजे श्वासपार्श्वशूलकाससन्तापाः, विषमाशनजे छर्दनं रुधिरस्य, साहसजे प्रतिश्यायाभावः शेषेषु प्रतिश्याय इत्यादिलक्षणभेदः । चिकित्सितभेदस्तु असाधारणलक्षणे चिकित्साभेदकृत एव तस्माद्भेदो यक्ष्मणां युक्त एव, तन्त्रान्तरे तु स्थूलदृष्ट्या अभेद उक्तः, इहापि स्थूलदृशा 'सर्वस्त्रिदोषजो ज्ञेयः' इत्यादिना अभेद उक्त एव, सूक्ष्मचिन्तायां स्वयमेव भेद उक्तो ज्ञेयः । आधुनिक भेद—(१) तीव्र (Acute miliary, Pulmonary form), (२) चिरकालीन व्रणग राजयक्ष्मा (Chronic ulcerative), (३) शीघ्रघातकी (Galloping) इसमें यक्ष्माजीवाणु से न्यूमोनिया के समान लक्षण उत्पन्न होते हैं । (४) तन्तुभूयिष्ठ प्रकार (Fibroid type) व्रणयक्ष्मा के अनन्तर फेफड़े में तान्तवधातु उत्पन्न होने से वह सिकुड़ जाता है जिससे उससे ऊपर की छाती की दिवाल भी सिकुड़ जाती है । (५) फुफ्फुसमूलयक्ष्मा—(Hilum Phthisis)—यह प्रकार अधिकतर बच्चों में दिखाई देता है तथा फुफ्फुसमूल समीपवर्ति ग्रन्थियों में उपसर्ग होता है जिससे धीरे-धीरे फेफड़े के ऊर्ध्व तथा अधःखण्ड में श्वासनलिकानुसारी लसिकावाहिनियों द्वारा फैलता है ।

> क्षयाद्वेगप्रतीघातादाघाताद्विषमाशनात् ।
> जायते कुपितैर्दोषैर्व्याप्तदेहस्य देहिनः ॥ ६ ॥

यस्माद्धेतुः—विभिन्न कारणों से कुपित हुये दोषों के शरीर में व्याप्त होने पर उस पुरुष के रसादिशुक्रान्त धातुओं के क्षय होने से, वात, मूत्र, पुरीष आदि के वेगों का अवरोध करने से, अपने शारीरिक तथा मानसिक बल के उपरान्त जोश में आकर किसी साहसिक कार्य के करने से देह अथवा मन के आघातयुक्त होने से एवं विषम भोजन करने से यक्ष्मा रोग की उत्पत्ति होती है ॥ ९ ॥

विमर्शः—रोगोत्पत्ति करने वाले हेतु (निदान या कारण) के स्वयं चार भेद होते हैं—(१) सन्निकृष्ट कारण जैसे रात्रि, दिन, ऋतु और भुक्तांश दोषप्रकोपकारक होते हैं । (२) विप्रकृष्ट कारण जैसे हेमन्त में सञ्चित कफ वसन्त में कफज रोग करता है या रूक्षादिसेवन ज्वर का सन्निकृष्ट कारण तथा रुद्रप्रकोप विप्रकृष्ट कारण के उदाहरण हैं । (३) व्यभिचारी कारण जो कि स्वयं दुर्बल होने से रोग करने में अशक्त हों । (४) प्राधानिक कारण जैसे विषभक्षणादि । राजयक्ष्मा की उत्पत्ति में जो क्षयवेगावरोधादि चतुर्विध कारण कहे हैं वे सभी विप्रकृष्ट कारणों की कोटि में समाविष्ट हैं क्योंकि इन कारणों के सेवन के कई दिनों या महीनों के पश्चात् रोग की उत्पत्ति होती है । यद्यपि राजयक्ष्मा की प्रथम उत्पत्ति में अत्यधिक कामविषय के सेवन की प्रमुखता दिखाई है तथा वर्तमान में भी नवयुवक और नवयुवतियाँ इस रोग से अधिक ग्रस्त देखी जाती हैं, उनमें भी विषयातिसेवन का ही इतिहास अधिकतर पाया जाता है—'अतिव्यवायात्पुनर्नक्षत्रराजस्य राजयक्ष्मेति' रोहिण्यामतिसक्तस्य शरीरं नानुरक्षतः । आजगामाल्पतामिन्दोर्देहः स्नेहपरिक्षयात् ॥ फिर भी इनके अतिरिक्त भी कुछ ऐसे महत्त्व के कारण हैं जिन से राजयक्ष्मोत्पत्ति का घनिष्ठ सम्बन्ध है और उन कारणों को आयुर्वेद के सभी आचार्यों ने स्वीकृत कर चतुःसंख्या में निर्दिष्ट कर दिया है—चरके - इह खलु चत्वारि शोषस्यायतनानि भवन्ति, तद्यथा—साहसं सन्धारणं क्षयो विषमाशनमिति । (च० नि० अ० ६) अन्यच्च—अयथाबलमारम्भं वेगसन्धारणं क्षयम् । यक्ष्मणः कारणं विद्याच्चतुर्थं विषमाशनम् । (च० चि० अ० ८) अष्टाङ्गहृदये—साहसं वेगसंरोधः शुक्रौजःस्नेहसङ्क्षयः । अन्नपानविधित्यागश्चत्वारस्तस्य हेतवः ॥ (अ० हृ०) माधवनिदानेऽपि—वेगरोधात् क्षयाच्चैव साहसाद्विषमाशनात् । त्रिदोषो जायते यक्ष्मा गदो हेतुचतुष्टयात् ॥ सुश्रुताचार्य ने भी—'क्षयाद्वेगप्रतीघातादाघाताद्विषमाशनात्' यक्ष्मा के ये हो मुख्य चार कारण मूल में लिखे हैं । (१) क्षयात्—'क्षीयतेऽनेनेति क्षयः, तेनातिव्यवायानशनेर्ष्याविषादयो धातुक्षयहेतवो गृह्यन्ते' (मा० मधु०) इस तरह अतिमैथुन, अनशन, रक्तस्राव आदि शारीरिक तथा ईर्ष्या और विषाद सदृश मानसिक भावों का समावेश क्षय शब्द के अन्तर्गत समझना चाहिए, जैसा कि चरक ने लिखा है—ईर्ष्योत्कण्ठाभयत्रासक्रोधशोकातिकर्शनात् । अतिव्यवायानशनाच्छुक्रमोजश्च हीयते ॥ ततः स्नेहक्षयाद्वायुर्वृद्धो दोषावुदीरयन् । प्रतिश्यायं ज्वरं कासमङ्गमर्दं शिरोरुजम् ॥ श्वासविड्भेदमरुचिं पार्श्वशूलं स्वरक्षयम् । करोति चांससन्तापमेकादशगदानिमान् ॥ लिङ्गान्यावेदयन्त्येतान्येकादश महागदम् । सम्प्राप्तं राजयक्ष्माणं क्षयात्प्राणक्षयप्रदम् ॥ (च० चि० अ० ८) ईर्ष्यादि मानसिक भाव तथा अतिमैथुन, अनशन, रक्तस्रावादि शारीरिक भावों से

रस रक्तादि शुक्रान्त धातु तथा ओज की क्षीणता होने से क्षय (यक्ष्मा) उत्पन्न होता है। इन में भी अतिमैथुन यक्ष्मा का प्रमुख कारण है, जैसा कि चरक ने लिखा है—'यदा वा पुरुषोऽतिहर्षादतिप्रसक्तभावः स्त्रीष्वतिप्रसङ्गमारभते, तस्यातिमात्रप्रसङ्गाद्रेतः क्षयमेति, क्षयमपि चोपगच्छति रेतसि यदि मनः स्त्रीभ्यो नैवास्य निवर्तते, तस्य चातिप्रणीतसङ्कल्पस्य मैथुनमापद्यमानस्य न शुक्रं प्रवर्ततेऽतिमात्रोपक्षीणरेतस्त्वात्' इत्यादि। (च० नि० अ० ६) इसी प्रकार पूर्वरूपावस्था में भी स्त्रीमद्यमांसप्रियता की अत्यधिक इच्छा यक्ष्मा के रोगी में पाई जाती है—पूर्वरूपं प्रतिश्यायो दौर्बल्यं दोषदर्शनम्। स्त्रीमद्यमांसप्रियता प्रियता चावगुण्ठने ॥ स्त्रीकामिता (चरक)। राजयक्ष्मा और विषय-वासना का परस्पर अवश्य सम्बन्ध है क्योंकि पूर्ववृत्त में अविवाहित व्यक्ति में अधिक स्वप्नमेह या हस्तमैथुनादि द्वारा वीर्यक्षय तथा विवाहित व्यक्ति में अत्यधिक भोग द्वारा वीर्यनाश का होना पाया जाता है (२) वेगप्रतिघाताद्—वेग शब्द से वात, मूत्र और पुरीष का ही ग्रहण करना चाहिए, जृम्भा आदि अधारणीय वेगों का नहीं 'वेगोऽत्र वातमूत्रपुरीषाणां न तु न वेगान्धारणीयोक्तानां जृम्भादीनां सर्वेषाम्। (मा० नि० मधु०) चरकाचार्य ने भी इन्हीं वेगों के प्रतीघात को यक्ष्मा का कारण माना है—'यदा पुरुषो राजसमीपे भर्तुः समीपे वा गुरोर्वा पादमूले द्यूतसमवस्यं वा सतां समाजं स्त्रीमध्यं वा समनुप्रविश्य यानैर्वाऽप्युच्चावचैरभियान् भयात्प्रसङ्गाद्ध्रीमत्वाद् घृणित्वाद्वा निरुणद्ध्यागतान् वातमूत्रपुरीषवेगान् तदा तस्य सन्धारणाद्वायुः प्रकोपमापद्यते' इत्यादि। (च० नि० अ० ६) अन्यच्च—ह्रीमत्वाद्वा घृणित्वाद्वा भयाद्वा वेगमागतम्। वातमूत्रपुरीषाणां निगृह्णाति यदा नरः॥ तदा वेगप्रतीघातात् कफपित्ते समीरयन्। ऊर्ध्वं तिर्यगधश्चैव विकारान् कुरुतेऽनिलः॥ प्रतिश्यायञ्च कासञ्च स्वरभेदमरोचकम्। पार्श्वशूलं शिरःशूलं ज्वरमंसावमर्दनम्॥ अङ्गमर्दं मुहुश्छर्दिं वर्चोभेदं त्रिलक्षणम्। रूपाण्येकादशैतानि यक्ष्मा यैरुच्यते महान्॥ (च० चि० अ० ८), (३) आघातात्—डल्हण ने इसका अर्थ पतनादि से चोट लगना तथा चरकादिस्वीकृत अयथाबल आरम्भ (कार्य) करना किया है—'आघातात् पतनादितः, अयथाबलमारम्भादिति बोद्धव्यम्' तथा च चरके—युद्धाध्ययनभाराध्वलङ्घनप्लवनादिभिः। पतनैरभिघातैर्वा साहसैर्वा तथाऽपरैः॥ अयथाबलमारम्भैर्जन्तोरुरसि विक्षते। वायुः प्रकुपितो दोषावुदीर्योभौ प्रधावति॥ स शिरस्थः शिरःशूलं करोति गलमाश्रितः। कण्ठोध्वंसञ्च कासञ्च स्वरभेदमरोचकम्॥ (च० चि० अ० ८) अन्यच्च 'यदा पुरुषो दुर्बलो हि सन् बलवता सह विगृह्णाति, अतिमहता वा धनुषा व्यायच्छति, जल्पति वाऽप्यतिमात्रम्, अतिमात्रं वा भारमुद्वहति, अप्सु वा प्लवते चातिदूरम्, उत्सादनपदाघातने वाऽतिप्रगाढमासेवते, अतिप्रकृष्टं वाऽध्वानं द्रुतमभिपतति, अभिहन्यते वा, अन्यद्वा किञ्चिदेवंविधं विषममतिमात्रं वा व्यायाममजातमारभते तस्यातिमात्रेण कर्मणोरः क्षण्यते, साहसं वर्जयेत कर्म रक्षञ्जीवितमात्मनः। (च० नि० अ० ६) इस तरह कायिक, वाचिक और मानसिक कर्म अत्यधिक करने से राजयक्ष्मा की उत्पत्ति में सहायता होती है। परीक्षाचिन्ता से अत्यधिक अध्ययनरूपी मानस श्रम तथा मित्रों के साथ शर्त की लालच से खेलकूद में अत्यधिक शारीरिक श्रम करने से स्कूल व कालेज के छात्रों में राजयक्ष्मा अधिक होता है। विवाहित स्त्रियों में अल्पावस्था में मातृपद प्राप्त होने से तथा जल्दी-जल्दी सन्तान होने से, बच्चों को अधिक दूध पिलाने से उनमें यक्ष्मा अधिक देखने में आता है। कुश्ती लड़ने वाले, खेलकूद की विविध शर्तों में भाग लेने वाले तथा उनके अग्रणी (Champions) अत्यधिक शारीरिक श्रम के कारण ही इस रोग से पीड़ित होते हैं। (४) विषमाशनात्—शास्त्रों में विषमाशन का अनेक तरह से विचार किया गया है। (१) जैसे बहु और अल्प भोजन, अप्राप्तकाल (समय से पूर्व) भोजन और अतीतकाल भोजन विषमाशन कहलाता है—'बहु स्तोकमकाले वा विज्ञेयं विषमाशनम्' प्रातःकाल ९ बजे के पूर्व तथा १२ बजे के पश्चात् भोजन करना अस्वास्थ्यकर है—याममध्ये न भोक्तव्यं यामयुग्मं न लङ्घयेत्। याममध्ये रसोद्वेगो युग्मेऽतीते बलक्षयः॥ (२) सुश्रुतोक्त द्वादश अशनप्रविचार के विरुद्ध भोजन विषमाशन कहलाता है। 'द्वादशाशनप्रविचारा यथा—तत्र शीतोष्णस्निग्धरूक्षद्रवशुष्कैककालिकद्विकालिकौषधयुक्तमात्राहीनदोषप्रशमनवृत्त्यर्थाः' (३) चरकोक्त प्रकृतिकरणादि अष्ट नियमों के विरुद्ध किया हुआ भोजन भी रोगकारक होने से विषमाशन कहा जा सकता है—'तत्र खल्विमान्यष्टावाहारविधिविशेषायतनानि भवन्ति। तद्यथा—प्रकृतिकरणसंयोगराशिदेशकालोपयोगसंस्थोपयोक्त्रष्टमानि। उक्त किसी भी प्रकार के किये गये विषमाशन से स्रोतसों का अवरोध होकर यक्ष्मा की उत्पत्ति होती है, जैसा कि चरकाचार्य ने स्पष्ट लिखा है—विविधान्यन्नपानानि वैषम्येण समश्नतः। जनयन्त्यामयान् घोरान्विषमान्मारुतादयः॥ रुद्ध्वा स्रोतांसि धातूनां वैषम्याद्विषमं गताः। रुद्ध्वा रोगाय कल्पन्ते पुष्यन्ति च न धातवः॥ (च० चि० अ० ८) अन्यच्च—'यदा पुरुषोऽतिमात्रं कृशो वा सन् रूक्षान्नपानसेवी भवति दुर्बलप्रकृतिरनाहारो वा भवति तदा तस्य हृदयस्थायी रसः क्षयमुपैति, स तस्योपक्षयाच्छोषं प्राप्नोति, अप्रतिकाराच्चानुबध्यते राजयक्ष्मणा। हिताशी स्यान्मिताशी स्यात्कालभोजी जितेन्द्रियः। पश्यन् रोगान् बहून् कष्टान् बुद्धिमान् विषमाशनात्॥ (चरक) इस प्रकार इन उपर्युक्त चतुर्विध विप्रकृष्ट कारणों से साक्षात् (क्षय एवं साहस) तथा परम्परया (वेगरोध एवं विषमाशन से स्रोतोऽवरोध होकर) धातुक्षय होता है और इसी से अन्त में परिणामस्वरूप राजयक्ष्मा की भी उत्पत्ति होती है। यह निश्चित है कि शरीर की स्वाभाविक क्षति के बिना यक्ष्मा नहीं उत्पन्न होता है और धातुक्षय के बिना शारीरिक शक्ति का ह्रास भी नहीं होता। वर्तमान एलोपेथी का भी मत है कि शारीरिक शक्तिक्षय के बिना राजयक्ष्मा से उपसृष्ट हुये व्यक्ति में भी राजयक्ष्मा रोग की उत्पत्ति नहीं हो सकती। अर्थात् जब तक शरीर में रोगप्रतिरोधक्षमता जो कि प्रत्येक व्यक्ति में थोड़ी-बहुत रहती है तब तक इस रोग का आक्रमण नहीं हो सकता। इस क्षमता के नष्ट होते ही रोग के लक्षण प्रकट होने लगते हैं। अतएव यक्ष्मा के दण्डाणु (बे. ट्युबर क्युलोसिस) की रोगोत्पादकता सिद्ध होने पर भी उपसर्गकारी जीवाणु की अपेक्षा वेगरोधादि चतुर्विध कारण ही इस रोग की उत्पत्ति में प्रधान कारण हैं अतएव हमारे महर्षियों को सूक्ष्म जीवाणुओं का ज्ञान होते हुये भी (रक्तस्था जन्तवोऽणवः) उन्होंने रोगोत्पत्ति में इन्हें गौण मान कर दोषप्रकोप को ही प्राधान माना है। इसीलिये अनेक रोगियों के कफ में यक्ष्माजीवाणु के न मिलने पर भी

यक्ष्मारोग से ग्रस्त होते हुये उन्हें पाया गया है। अतः आयुर्वेदमत ही अधिक वैज्ञानिक है। प्राचीन भी यक्ष्मादि अनेक रोगों का उपसर्ग से होना भी मानते थे जब कि आधुनिक विज्ञान का जन्म भी नहीं था—प्रसङ्गात् गात्रसंस्पर्शान्निःश्वासात्सहभोजनात्। सहशय्यासनाच्चापि गन्धमाल्यानुलेपनात्॥ कुष्ठं ज्वरश्च शोषश्च नेत्राभिष्यन्द एव च। औपसर्गिकरोगाश्च संक्रामन्ति नरान्नरम्॥ आधुनिक दृष्टि से इस रोग का प्रधान कारण (Bacillus tuberculosis) है जो कि आमाशय को छोड़कर शरीर के किसी भी भाग में यक्ष्मा उत्पन्न कर सकता है। सहायक कारण—(१) आयु-१५ से ४५ की आयु तक होता है किन्तु युवावस्था में अधिक होता है। बच्चों और वृद्धों में भी होता है। (२) वंश या जाति—किसी भी वंश या जाति में हो सकता है। शहरनिवासियों में अधिक होता है। जो आधुनिक खानपान, सिनेमा से दूर हैं तथा जङ्गलों या ग्रामों में रहते हैं उनमें प्रायः नहीं होता है। (३) व्यवसाय—धूम्र तथा गन्दगी से व्याप्त वातावरण (मिल, कारखानों) में काम करने वालों में यह शीघ्र होता है। (४) परिस्थिति—अधिक जनसम्मर्द, गन्दगी, सीलयुक्त स्थान में रहने वाले तथा होटलभोजी, उच्छिष्टभोजी व परदा करने वाली स्त्रियों में यह शीघ्र होता है। (५) शरीरपोषणाभाव—आहार में स्निग्ध पदार्थ, खनिज तथा विटामिन्स व प्रोटीन के अभाव से यह अधिक होता है। इस रोग की वृद्धि देश की गरीबी की सूचक है। अमेरिकादि धनाढ्य देशों में यह रोग घटता जा रहा है तथा भारत में बढ़ता जा रहा है। (६) श्रमाधिक्य—पोषण अल्प और कायिक, वाचिक तथा मानसिक श्रम की अधिकता भी इस रोग की उत्पत्ति में सहायक है। (७) कुलजप्रवृत्ति—(१) रुग्ण माता पिता के घनिष्ठ सम्पर्क से तथा (२) बीज भाग के क्षयजीवाणुओं द्वारा उपसृष्ट हो जाने पर परम्परागत क्षय होने की प्रवृत्ति होती है। (८) रोगपरिणाम—भूयोभूयः प्रतिश्याय, कास, श्वास, उरस्तोय, रोमान्तिका, न्यूमोनिया, टाइफाईड, सगर्भावस्था तथा प्रसूतावस्था, (९) शारीरिक विकृति—चपटी और नोकीली छाती (Pigionshaped or Rickety) राजयक्ष्माजनक होती है।

कफप्रधानैर्दोषैर्हि रुद्धेषु रसवर्त्मसु।
अतिव्यवायिनो वाऽपि क्षीणे रेतस्यनन्तरम्॥
क्षीयन्ते धातवः सर्वे ततः शुष्यति मानवः॥१०॥

सम्प्राप्ति—कफप्रधान दोषों के द्वारा रसवाहक स्रोतसों के अवरुद्ध हो जाने पर अथवा अत्यधिक मैथुन करने से वीर्य क्षीण होने पर अन्य सर्व धातुएँ भी क्षीण हो जाती हैं जिससे वह व्यक्ति प्रतिदिन सूखता जाता है॥ १०॥

विमर्शः—सुश्रुताचार्य ने इस श्लोक के द्वारा राजयक्ष्मा की द्विविध सम्प्राप्ति प्रदर्शित की है। (१) कफप्रधान (वातपित्त सहित) दोषों के द्वारा रसवाहक स्रोतसों का अवरोध होने से उत्तरोत्तर धातुओं का निर्माण या पोषण कम होने से उनका क्षय होकर जो यक्ष्मा उत्पन्न होता है उसे अनुलोमक्षय कहते हैं। रसवाहक स्रोतस (Lymphatic Vessles) तथा रक्तवाहक स्रोतस (Arteries and Veins) दोनों का ग्रहण होता है। इन स्रोतसों का अवरोध हो जाने से कफ का या (Lymph) का पूर्ण रूप से संवहन न होकर वह विदग्ध हो के विकृत कफ के रूप में बाहर निकलता रहता है, जैसा कि चरकाचार्य ने स्पष्ट लिखा है—रसः स्रोतःसु रुद्धेषु स्वस्थानस्थो विदह्यते। स ऊर्ध्वं कासवेगेन बहुरूपः प्रवर्तते॥ (चरक) राजयक्ष्मा में स्रोतोरोध प्रमुख माना गया है—स्रोतसां सन्निरोधाच्च रक्तादीनाञ्च संक्षयात्। धातूष्मणाञ्चापचयाद् राजयक्ष्मा प्रवर्तते॥ (चरक) अन्यच्च—स्रोतांसि रुधिरादीनां वैषम्याद्विषमं गताः। रुद्ध्वा रोगाय कल्पन्ते पुष्यन्ति च न धातवः॥ (च० चि० अ० ८) (२) इसी तरह अधिक सम्भोग करने से वीर्य के क्षीण होने पर मज्जा क्षीण हो जाती है तथा मज्जा के अनन्तर अस्थियाँ क्षीण होने लगती हैं। इस तरह उलटे-उलटे रसधातु तक क्षीण होने का क्रम आ जाता है। उल्टी धातुओं का क्षय होने से उसे प्रतिलोम क्षय (यक्ष्मा) कहा जाता है। शुक्र क्षीण होने पर उसकी कार्यभूत धातुएँ क्यों क्षीण होती हैं, इसका उत्तर विजयरक्षितजी ने दिया है कि शुक्रक्षय से वायु प्रकुपित होती है और वह वायु सान्निध्य से मज्जा को शोषित करती है। ऐसे ही पूर्व पूर्व धातु को नष्ट करती है—ननु कार्यभूतस्य शुक्रस्य क्षयात्कथं कारणभूतानां धातूनां क्षय इति चेत् उच्यते, शुक्रक्षयाद्वायुः प्रकुप्यति। यदुक्तं—'वायोर्धातुक्षयात् कोपो मार्गस्यावरणेन च' (च० चि० अ० १८) इति। स वायुः सान्निध्यान्मज्जानं शोषयति, एवं पूर्वपूर्वधातून्। दृष्टश्च प्रत्यासन्नस्याऽपि कार्यजननं यथा—अग्निसन्तप्ताऽयोगोलकसन्निधानादार्द्रभूभागस्यापि शोषः। तथा च रससञ्चारपक्षे सुश्रुतवचनं-पूर्वः पूर्वोऽतिवृद्धत्वाद्वर्धयेद्धि परं परम्। तस्मादतिप्रवृद्धानां धातूनां ह्रासनं हितम्॥ (सु० सू० अ० १५) इसका तात्पर्य यह है कि स्रोतोऽवरोधवश रसक्षय से लेकर उत्तरोत्तर होने वाला धातुओं का क्रमिक क्षय ही राजयक्ष्मा है किन्तु बिना स्रोतोऽवरोध के अन्य कारण से किसी धातु का क्षय राजयक्ष्मा रोग नहीं कहा जा सकता। वह केवल उस धातु का क्षय रोग है। इसी तरह प्रतिलोम क्षय में भी अतिमैथुन से पूर्व-पूर्व धातुओं का क्षय न होकर केवल शुक्र का क्षय राजयक्ष्मा नहीं कहा जा सकता—'न केवलं धातुक्षयमात्रादेव यक्ष्मा भवति, अपि तु रसादिवहस्रोतोनिवहनिरोधादिभिरपीति। यदा त्वेवं न स्यात्तदा धातुक्षय एव रोगो न तु यक्ष्मा।' आधुनिक सम्प्राप्ति—(१) श्वासमार्ग—थूक के सूक्ष्म कण हवा में उड़ कर श्वास के साथ फेफड़ों में पहुँचते हैं। इसी तरह यक्ष्मी के बोलने, खाँसने और छींकने से थूक के असंख्य कण बाहर हवा में मिलते हैं और वहाँ से समीपवर्ती मनुष्यों के फेफड़ों में प्रवेश करते हैं। इसे (Droplet infection) कहते हैं। (२) रक्तमार्ग—कभी-कभी जीवाणु गले में अटक कर लसीकावाहिनियों में प्रवेश कर लसीकाग्रन्थियों में होते हुये रक्त में मिल जाते हैं। (३) जीवाणुयुक्त थूक को निगलने से या जीवाणुयुक्त खाद्यपेयों के सेवन करने से वे प्रथम आन्त्र में प्रविष्ट होते हैं और वहाँ की रसवाहिनियों द्वारा रक्त में प्रविष्ट होते हैं फिर फुफ्फुस में आ जाते हैं। फुफ्फुस में रसवहसंस्थान (Lymphatic system) की ठीक व्यवस्था न होने से वे अपने को जीवाणुओं से ठीक रक्षित नहीं कर सकते हैं अतः फुफ्फुसजीवाणुवर्धन के लिये एक उत्तम वर्धन द्रव्य मिल जाता है। उनमें मेदद्रावक (Lipolytic) तथा ज्वलन सहायक (Oxydising) फर्मेण्ट भी नहीं होते हैं अतः

जीवाणु फेफड़ों में बढ़ कर वहाँ विशिष्ट प्रकार की सूक्ष्म ग्रन्थि (Tubercle) उत्पन्न होती है अतएव इस रोग को ट्युबरक्युलोसिस (ओसिस = तद्युक्त) कहते हैं। फिर इस ग्रन्थि में विनाशन और रोपण की क्रियाएँ शुरू होती हैं। विनाशन में उस स्थान पर नई केशिकाएँ नहीं बनती हैं तथा पुरानी नष्ट हो जाती हैं। इस तरह रक्त की कमी और जीवाणुविष के कारण ग्रन्थिसेलों में मेदापक्रान्ति (Fatty degeneration) तथा कोथ प्रारम्भ होकर वे मृदु हो जाती हैं तथा वहाँ पूय बन जाता है जो कि श्वासनलिकाओं में उत्सर्गित होकर खाँसने से बाहर आता रहता है तथा फेफड़ों में विवर (Cavitation) हो जाता है। इस तरह आस-पास अनेक विवर बन जाते है। इन विवरों की रक्तवाहिनियों के फटने से रक्तस्राव भी होता है। फेफड़ों के अतिरिक्त इसके आवरण तथा श्वासनलिकाग्रन्थियों में शोथ होता है तथा स्वरयन्त्र, आन्त्र, उदरावरण, मस्तिष्कावरण, मूत्रप्रजनन संस्थान पेशियाँ इत्यादि में विकृति होती है। हृदय तथा यकृत में रोगविष के कारण मेदापक्रान्ति होती है।

श्वासाङ्गसादकफसंस्रवतालुशोष-
च्छर्द्यग्निसादमदपीनसपाण्डुनिद्राः ।
शोषे भविष्यति भवन्ति स चापि जन्तुः
शुक्लेक्षणो भवति मांसपरो रिरंसुः ॥ ११ ॥
स्वप्नेषु काकशुकशल्लकिनीलकण्ठ-
गृध्रास्तथैव कपयः कृकलासकाश्च ।
तं वाहयन्ति स नदीर्विजलाश्च पश्ये-
च्छुष्कांस्तरून् पवनधूमदवार्दितांश्च ॥ १२ ॥

राजयक्ष्मणः पूर्वरूपम्—श्वास, अङ्गों में पीड़ा, मुख से कफ का निकलना, तालु का सूखना, वमन, अग्निनाश, मद, प्रतिश्याय, कास तथा निद्रा ये उत्पन्न होने वाले शोष (यक्ष्मा) के पूर्वरूप के लक्षण होते हैं तथा पूर्वरूपावस्था में वह व्यक्ति रक्ताल्पतावश श्वेत नेत्रवाला हो जाता है एवं उसे मांस खाने की तथा स्त्रियों के साथ रमण करने की प्रबल इच्छा बनी रहती है। इसके अतिरिक्त उस व्यक्ति को स्वप्न में ऐसा प्रतीत होता है कि वह काक, तोते, सेह, मयूर, गीध, बन्दर तथा गिरगिट की सवारी कर रहा है एवं वह नदियों को जलरहित तथा पेड़ों को सूखे तथा वायु, धूम और दावाग्नि से व्याप्त (पीड़ित) देखता है ॥ ११-१२ ॥

विमर्शः—श्वासादयो भविष्यति उत्पद्यमाने शोषे भवन्तीति सम्बन्धः। मदः = धत्तूरफलभक्षणादिव मनोमोह इति वाचस्पतिः। मांसपरो मांसभोजनेच्छुः। रिरंसुः स्त्रियं रन्तुमिच्छुः, एतच्च व्याधिमहिम्ना मनोदोषात्। यक्ष्मा त्रिदोषजन्य होने से तीनों दोषों के लक्षण न्यूनाधिक प्रमाण में उपलब्ध होते हैं किन्तु सर्वत्र कफ की प्रधानता होने से कफजन्य लक्षणों की प्रतीति प्रधानतया होती है अतः कफ से रसादिवह स्रोतसों का अवरोध होने से रोगपूर्व में श्वासावरोध, अङ्गमर्द आदि लक्षण होते हैं। कफष्ठीवन कफजन्य तथा तालुशोष वातपित्तजन्य हैं। मदातिरिक्त वमन से लेकर निद्रापर्यन्त सभी लक्षण स्रोतोरोधोत्पादक कफ की विशेषता के कारण होते हैं। श्वासनलिका में कफ की उपस्थिति वहाँ पर फैले हुये प्राणदा ज्ञानतन्तु (Vagrus nerve) के अग्रभागों को उत्तेजित करके कास को उत्पन्न करती है। पीनस या प्रतिश्याय— राजयक्ष्मोपसर्ग से एलर्जी उत्पन्न हो जाने के कारण पुनः-पुनः प्रतिश्याय उत्पन्न होता है। ऐसा प्रतिश्याय यक्ष्मोत्पत्ति का बोधक होता है। प्रतिश्याय यक्ष्मा का विशिष्ट पूर्वरूप है जो कि रूपावस्था में भी रहता है—प्रतिश्यायश्च कासश्च स्वरभेदमरोचकम्। (चरक) अन्यच्च—प्रतिश्यायं ज्वरं कासमङ्गमर्दं शिरोरुजम्। शुक्लेक्षणः—स्रोतोऽवरोधवश रक्त का अल्प निर्माण (Anaemia) होने से तथा धातुक्षय होने से एवं कफदोष की प्रधानता होने से शुक्लेक्षणता होती है। मांसपरः—यक्ष्मा में रक्तमांसादि की अधिक क्षति होने से प्रकृति उसकी पूर्ति करने के लिये समान द्रव्य खाने की इच्छा प्रकट कराती है। रिरंसुः—क्षीण व्यक्ति की संयम की क्षीणता से तथा मन और ज्ञानतन्तुओं की दुर्बलता से बार-बार उत्तेजना होकर रमणेच्छा हुआ करती है। चरकाचार्य ने यक्ष्मा होने के पूर्व कुछ विशिष्ट लक्षण लिखे हैं, जैसे शुद्धभावों में दोषदर्शन, काया में बीभत्सरूपदर्शन, खाद्य और पेय पदार्थों में खाते समय मक्षिका, केश और तृण का गिरना या मिलना तथा नखों की वृद्धि आदि—[पूर्वरूपं प्रतिश्यायो दौर्बल्यं दोषदर्शनम्। अदोषेष्वपि भावेषु काये बीभत्सदर्शनम् ॥ घृणित्वमश्नतश्चापि बलमांसपरिक्षयः। स्त्रीमद्यमांसप्रियता प्रियता चावगुण्ठने ॥ मक्षिकाघुणकेशानां तृणानां पतनानि च। प्रायोऽन्नपाने केशानां नखानाञ्चाभिवर्धनम् ॥ पतत्रिभिः पतङ्गैश्च श्वापदैश्चाभिधर्षणम्। स्वप्ने केशास्थिराशीनां भस्मनश्चाधिरोहणम् ॥ जलाशयानां शैलानां वनानां ज्योतिषामपि। शुष्यतां क्षीयमाणानां पततां यच्च दर्शनम् ॥ प्राग्रूपं बहुरूपस्य तज्ज्ञेयं राजयक्ष्मणः ॥ (च. चि. अ. ८) अन्यच्च—(१) तस्येमानि पूर्वरूपाणि भवन्ति—प्रतिश्यायः, क्षवथुरभीक्ष्णम्—प्रतिश्यायाद्भवेत्कासः कासात् सञ्जायते क्षयः। क्षयो रोगस्य हेतुत्वे शोषस्याप्युपजायते ॥ (२) श्लेष्मप्रसेकः, मुखमाधुर्यम्, अनन्नाभिलाषः, भुक्तवतश्चास्य हृल्लासः, मुखस्य पादयोश्च शोफः, पाण्योश्चावेक्षणमत्यर्थम्, यानं वा श्वोष्ट्रखरवराहैः। इति शोषपूर्वरूपाणि ॥ (च. नि. अ. ६)

भक्तद्वेषो ज्वरः श्वासः कासः शोणितदर्शनम्।
स्वरभेदश्च जायेत षड्रूपे राजयक्ष्मणि ॥ १३ ॥

यक्ष्मणः षड्रूपाणि—भोजन में अरुचि, ज्वर, श्वास, कास, रक्तष्ठीवन तथा स्वरभेद ये राजयक्ष्मा में षड्रूप (षड् लक्षण) होते हैं ॥ १३ ॥

विमर्शः—भक्तद्वेषः—अग्नि मन्द होने के कारण तथा स्रोतसों के कफ से परिपूर्ण रहने से भोजन में द्वेष (अरुचि) बना रहता है। ज्वरः—राजयक्ष्मा में ज्वर एक महत्त्व का लक्षण है। यह ज्वर पूर्ण विसर्गी होता है जो प्रातःकाल में उतर जाता है और दोपहर के बाद चढ़ता है। कभी-कभी यह ज्वर सन्तत या अर्धविसर्गी स्वरूप का होता है तथा इसके चढ़ने और उतरने के काल में भी विपरीतता होती है। ऐसा क्रमविपर्यय (Reverse type) गम्भीर स्थिति का द्योतक होता है जैसा कि आयुर्वेद में कहा है—ज्वरः पौर्वाह्णिको यस्य शुष्ककासश्च दारुणः। बलमांसविहीनस्य यथा प्रेतस्तथैव सः ॥ (सुश्रुत) सामान्यतया राजयक्ष्मी का ज्वर अन्तर्वेग या बहिर्वेग तथा केवल कायगत या केवल हस्तपादगत न होकर सर्वशरीर-

व्यापी होता है। सबसे अधिक ताप दोपहर में २ से ६ बजे तक या किसी में ८ से ९ तक होता है। सबसे कम ताप सुबह २-६ तक आराम और स्वेद के कारण होता है। ज्वर या सन्तापहेतु—राजयक्ष्मा के जीवाणु से उत्पन्न विष विकृतस्थान से रक्तवाहिनियों के द्वारा भ्रमण करता हुआ मस्तिष्कगत उष्णतानियन्त्रक केन्द्र पर विषाक्त परिणाम करके ज्वर को उत्पन्न करता है। जब शरीर का रससंवहन तथा रक्तसंवहन अधिक बढ़ता है उस समय विष ताप-नियन्त्रक केन्द्र में शीघ्र पहुँचता है और ज्वर को बढ़ा देता है जैसे भोजन करने के पश्चात् तथा क्रोधादि उत्तेजक कारणों से ज्वर बढ़ जाता है अतएव यक्ष्मी को पूर्ण विश्राम करने तथा शान्त वातावरण में रहने की सलाह दी जाती है। यह ज्वर १००° से १०२° तक होता है। जब फुफ्फुस में विवरीभवन के साथ पूयभवन या द्वितीयक उपसर्ग (Secondary infection) हो जाता है तब ज्वर प्रलेपक स्वरूप (Hectic type) का होता है। यह ज्वर दोपहर को चढ़ता है तथा एक दो घण्टे में पर्याप्त स्वेद के साथ उतर जाता है तथा किसी-किसी में प्रतिदिन सन्ध्या समय से रात के २ बजे तक चढ़ता है और सुबह को काफी पसीना आकर पूर्णतया उतर जाता है। ऐसे ज्वरी को असाध्य माना है—ज्वरः पौर्वाह्णिको यस्य शुष्ककासश्च दारुणः। बलमांसविहीनस्य यथा प्रेतस्तथैव सः॥ (सुश्रुत) प्रलेपकज्वर के रोगी का चेहरा सुर्ख, आँखें चमकीली और पुतलियाँ फैली हुई होती हैं। ज्वर के समय रुग्ण को अपनी तबीयत अच्छी लगती है। इस ज्वर में रोगी को पर्याप्त पसीना आता है जिससे जीवाणुओं का विष भी अल्प हो जाता है और ज्वर उतर जाता है। आयुर्वेद में इसे प्रलेपक ज्वर कहा है क्योंकि रुग्ण इसके पसीने से लिप्त सा हो जाता है—प्रलिम्पन्निव गात्राणि घर्मेण गौरवेण च। मन्दज्वरविलेपी च सशीतः स्यात्प्रलेपकः॥ इस प्रकार का ज्वर राजयक्ष्मा, अस्थिमज्जविद्रधि तथा चिरकालिक पूयमयता में होता है। आयुर्वेद के आचार्यों ने यक्ष्मी के प्रलेपक ज्वर को प्राणनाशक लिखा है—तथा प्रलेपको ज्ञेयः शोषिणां प्राणनाशनः। दुश्चिकित्स्यतमो मन्दः सुकष्टो धातुशोषकृत्॥ (सुश्रुत) अन्यच्च—गौरवंवदनास्यस्य स्वेदः प्रच्यवते भृशम्। लेपज्वरोपतप्तस्य दुर्लभं तस्य जीवितम्॥ विजयरक्षित जी ने भी यक्ष्मा में इस ज्वर का होना लिखा है—'यक्ष्मणि चायं भवति।' कुछ आचार्यों ने यक्ष्मा के त्रिदोषज होने से इस ज्वर को भी त्रिदोषज माना है किन्तु इसमें कफ और पित्त की उद्भूतता अधिक रहती है। 'अन्ये तु त्रिदोषजयक्ष्मजनितत्वेन त्रिदोषज एवायम्, उद्भूतत्वेन तु कफपित्तव्यपदेशः।' श्वासकृच्छ्रता—प्रारम्भ में साँस लेने में कठिनाई महाप्राचीरा (Diaphragm) पेशी की गति कम होने से होती है तथा उत्तरावस्था में फेफड़ों में विवरीभवन (Cavitation) होने से उनमें वातसंचरण का मार्ग कम हो जाता है। इसलिये वायु के आदान-प्रदान की मात्रा को प्रकृत रखने के लिये फेफड़े के अवशिष्ट वायुकोषों के द्वारा ही यह कार्य शीघ्रता से किया जाता है। कासः—यह श्वसनसंस्थान की विकृति का द्योतक है तथा अधिकसंख्यक रोगियों में प्रारम्भ से अन्त तक होता है। कास की प्रथमोत्पत्ति का हेतु रक्ताधिक्य (Congestion) है तथा यह खाँसी केवल प्रक्षोभ से होने के कारण सूखी तथा अधिक पीडादायक होती है। आयुर्वेद में इसे वातकास कहते हैं—हृच्छङ्खमूर्धोदरपार्श्वशूली क्षामाननः क्षीणबलस्वरौजाः। प्रसक्तवेगस्तु समीरणेन भिन्नस्वरः कासति शुष्कमेव॥ (सुश्रुत) दूसरे प्रकार की खाँसी एकत्रित श्लेष्मा तथा वातकास के कारण फेफड़े के टूटे हुए वायुकोषों की उत्तेजना (Irritation) के फलस्वरूप होती है तथा इसमें कफादि के निकल जाने पर वह शान्त हो जाती है। जब फेफड़ों में विवर (Cavitation) बनते हैं तब खाँसी दौरे के रूप में सुबह और निद्रा के पश्चात् आया करती है क्योंकि रातभर व निद्रा के समय श्वासनलिका और विवरों में श्लेष्मा इकट्ठा होता है और निद्रा खुलने पर प्रकृति इसे बाहर फिकवाने के लिये श्वासनलिकाओं में प्रक्षोभ उत्पन्न कर कास पैदा कराती है जिससे सब कफ निकल जाता है। चरकाचार्य ने इसी बात को स्पष्ट लिखा है—रसः स्रोतःसु रुद्धेषु स्वस्थानस्थो विवर्द्धते। स ऊर्ध्वं कासवेगेन बहुरूपः प्रवर्तते॥ कभी-कभी कफ के अधिक चिपचिपे होने से उसे निकालने के लिये खाँसते खाँसते रोगी को वमन हो जाता है। स्वरयन्त्र में खराबी होने से कर्कश कास तथा बोलने और निगलने में पीड़ा भी होती है। शोणितदर्शन—इसे रक्तष्ठीवन (Haemoptysis) कहते हैं। ६०-८० प्रतिशत रोगियों में यह किसी न किसी अवस्था में अवश्य दिखाई देता है। रोग की प्रथमावस्था में रक्ताधिक्य के कारण तथा केशिकाओं के टूटने से रक्त अल्पमात्रा में आता है किन्तु उत्तरकाल (तृतीयावस्था) में विवरगत धमनी के फटने से अधिक मात्रा में रक्त निकलता है एवं मध्यमावस्था में मध्यराशि होती है। यह रक्त लालवर्ण का एवं झागदार होता है तथा कभी कभी उसमें थक्के (Clots) भी मिलते हैं। सिरा से भी रक्त आ सकता है किन्तु वह शीघ्र बन्द हो जाता है। कभी-कभी अधिक रक्त बाहर निकलने के पूर्व फुफ्फुस में भर जाता है और श्वासावरोध से रुग्ण की मृत्यु हो जाती है। यदि प्रारम्भावस्था में रक्तागमन से राजयक्ष्मा का निदान हो जाय तो वह साध्य होता है। रक्त आते समय रोगी को गले में गुदगुदी और कुछ गरमी और मुख में नमकीन रुचि प्रतीत होती है। उस वक्त कुछ खाँसी भी आती है। रक्त देखने से रोगी डर और चिन्ता से ग्रस्त होकर बेचैन हो जाता है तथा उसका हृदय तेजी से चलने लगता है। रक्तष्ठीवन बन्द होने के बाद कुछ दिनों तक थूक रक्तरञ्जित होती है। स्वरभेद—प्रायः स्वरयन्त्र में विकृति फुफ्फुसविकृति के पश्चात् गले में उपसर्ग पहुँचने से उपद्रव स्वरूप में होती है किन्तु कभी-कभी पूर्व में भी होता है। स्वरभेद या स्वरभङ्ग भी यक्ष्मा के प्रधान लक्षणों में से है।

स्वरभेदोऽनिलाच्छूलं संकोचश्चांसपार्श्वयोः।
ज्वरो दाहोऽतिसारश्च पित्ताद्रक्तस्य चागमः॥ १४॥
शिरसः परिपूर्णत्वमभक्तच्छन्द एव च।
कासः कण्ठस्य चोध्वंसो विज्ञेयः कफकोपतः॥ १५॥

दोषभेदेनैकादशरूपाणि—वायु के कारण स्वरभेद, शूल तथा स्कन्ध और पार्श्व में सङ्कोच। पित्त के कारण ज्वर, दाह, अतिसार तथा रक्तष्ठीवन एवं कफ के कारण सिर का कफ से भरना, भोजन में अरुचि, कास तथा कण्ठ का उद्ध्वंस

(कण्ठ का फटना) होता है। इस तरह वात से तीन, पित्त से चार एवं कफ से चार ऐसे कुल मिला के एकादश लक्षण होते हैं ॥ १४-१५ ॥

विमर्शः—राजयक्ष्मा को त्रिदोषजन्य माना गया है तथा उक्त एकादश लक्षण व्याधिप्रभाव से पृथक्-पृथक् वातादि दोषों से उत्पन्न होते हैं न कि सन्निपातज्वरलक्षण के समान तीनों दोष मिलकर एकादश लक्षण उत्पन्न करते हैं। इनमें से अनेक लक्षणों पर विचार पूर्व के श्लोक के विमर्श में किया जा चुका है। अतएव अवशेष पर यहाँ विचार करना है। अनिलाच्छूलम्—प्रत्येक रोगी में यह लक्षण नहीं होता है किन्तु जब फुफ्फुसावरण में शोथ होता है तब वेदना छाती की दिवाल में होती है। जब महाप्राचीरा के साथ सम्बन्धित आवरण में शोथ होता है तब वेदना ऊर्ध्वामाशयिक प्रदेश में या उस तरफ के कंधे में होती है। वायुकोष फट जाने से या अन्य कारण से जब आवरण के भीतर वायुप्रवेश (Pneumothorax) होता है तब पार्श्व में तीव्रस्वरूप की वेदना होती है। अंसपार्श्वयोः सङ्कोचः—यह कृशता का सूचक है तथा कृशता भी राजयक्ष्मा के लक्षणों में से एक प्रधान लक्षण है और इसी के कारण इसे क्षय कहते हैं। कृशता सर्वप्रथम छाती पर और उसमें भी इसका अधिक प्रभाव अक्षक (Clavicle) के पास दिखाई देता है जो कि इन स्थानों की मांसपेशियों के सूखने का परिणाम है। कृशता का द्वितीय कारण फुफ्फुसशिखर (Apex of the lung) का विवरीभवन (Cavitation) भी है। जिस तरफ के फेफड़े में विवर बनते हैं वह फेफड़ा भी कुछ नत हो जाता है जिससे अक्षकास्थि के ऊपर तथा नीचे गढे गहरे हो जाते हैं और विकृत पार्श्व का अक्षक अविकृत पार्श्व की अपेक्षा उन्नत हो जाता है। पर्शुकान्तरीय धातु के सूख जाने से पर्शुकाएँ भी अलग अलग दिखाई देने लगती हैं तथा फुफ्फुस का निपात होने से ये अन्दर की ओर धँस जाती हैं जिसे पार्श्वसङ्कोच कहते हैं। फुफ्फुसशिखर के नत हो जाने से कन्धे भी झुके हुये दिखाई पड़ते हैं। विष के परिणाम से पाचन एवं रसचूषण ठीक-ठीक नहीं होता तथा धातुएँ भी पाचित व चूषित रस को पूर्ववत् सात्म्य बना के काम में नहीं ला सकतीं। इस तरह इन कारणों से धातुक्षय, भारक्षय और बलक्षय होता रहता है जिससे कुछ समय के पश्चात् रोगी नरकङ्काल-सा प्रतीत होने लगता है। अस्तु, सुश्रुताचार्य ने उक्त प्रकार से राजयक्ष्मा के भक्तद्वेष, ज्वर, श्वासादि षड्लक्षण तथा वातादि दोषों के अनुसार पृथक् पृथक् क्रमशः स्वरभेदादि एकादश लक्षणों का स्पष्टीकरण किया है। षड्लक्षण एकादश लक्षणों में अन्तर्भूत होकर यक्ष्मा के एकादश लक्षण निश्चित ठहरते हैं किन्तु ये सभी लक्षण एक ही समय में हों ऐसी बात नहीं है किन्तु ये उत्तरोत्तर अवस्थाओं में प्रकट होते जाते हैं। इस तरह लक्षणों के तीन ग्रूप बन जाते हैं, जैसे त्रिलक्षणी यक्ष्मा, षड्लक्षणी यक्ष्मा और एकादशलक्षणी यक्ष्मा। कास की विद्यमानता तथा ज्वर की उपस्थिति तीनों ग्रूपों में है। दोषप्रकोप की दृष्टि से भी वातिक लक्षण, पैत्तिक लक्षण और कफज लक्षण ऐसे तीन विभाग होते हैं। आधुनिकों ने भी यक्ष्मा के लक्षणों को तीन भागों में विभक्त किया है, जैसे (१) स्थानिकविक्षतिजन्य—प्रतिश्याय, थूक, रक्तष्ठीवन और फुफ्फुसावरणशोथ। ये लक्षण कफज लक्षणों में समाविष्ट होते हैं। (२) वातनाडीप्रत्यावर्तनजन्य (Reflex)—स्वरभेद, गले में गुदगुदी, खाँसी, छाती और कन्धे में पीड़ा ये लक्षण वातिक लक्षणों से मिलते हैं। (३) विषमयताजन्य—बेचैनी, कमजोरी, सहनशक्ति की कमी, बलक्षय, मानसिक अस्थैर्य, पचनस्थान के विकार, भारक्षय, नाडीशीघ्रता, रात्रिस्वेद, ज्वर, रक्तगत परिवर्तन। ये पैत्तिक लक्षणों से मिलते हैं। सुश्रुतमूल में षड्लक्षण, एकादश लक्षण तथा प्रक्षेप में त्रिलक्षण लिखे हुये हैं—भक्तद्वेषो ज्वरः कासः श्वासः शोणितदर्शनम्। स्वरभेदश्च जायेत षड्रूपे राजयक्ष्मणि ॥ स्वरभेदोऽनिलाच्छूलमित्यादि से एकादश लक्षण तथा 'त्रिभिर्वा पीडितं लिङ्गैर्ज्वरकासासृगामयैः' इस प्रक्षेप से त्रिलक्षणों का निर्देश किया है। अन्य तन्त्रकारों ने यक्ष्मा के षड्लक्षणों में कासातिसारादि लक्षण लिखे हैं—कासातिसारपार्श्वार्तिस्वरभेदारुचिज्वरैः। इनमें सुश्रुतोक्त षड्लक्षणों के श्वास और शोणितदर्शन को न लिख कर अतिसार और पार्श्वशूल को लिखा है जो कि सुश्रुत के श्वास और शोणितदर्शन के समान षड् लक्षणों में प्रमुखता नहीं रखते हैं। पार्श्वशूल अवश्य महत्त्व का है। चरकाचार्य ने निदानस्थान में यक्ष्मा के एकादश रूप लिखे हैं 'अत ऊर्ध्वमेकादशरूपाणि तस्य भवन्ति, तद्यथा—शिरसः परिपूर्णत्वं, कासः, श्वासः, स्वरभेदः, श्लेष्मणश्छर्दनं, शोणितष्ठीवनं, पार्श्वसंरोजनम्, अंसावमर्दः, ज्वरः, अतिसारः, अरोचकश्चेति (च० नि० अ० ६)। पुनः चरकाचार्य ने चिकित्सास्थान में यक्ष्मा के अयथाबलमारम्भ आदि चतुर्विध कारण लिख कर इनसे प्रकुपित वात, पित्त और कफ को भी साथ ले के रुग्ण के विविध स्थानों में तीनों दोष पहुँच कर एकादश लक्षण उत्पन्न करते हैं। फिर चरकाचार्य ने चिकित्सास्थान में ही यक्ष्मा के एकादश और षड्लक्षण लिखे हैं तथा साध्यासाध्यता के निर्देश में इन लक्षणों के तीन विभाग कर सर्व(एकादश)लक्षणी, अर्ध(षड्)लक्षणी तथा त्रिलक्षणी यक्ष्मी की मांस-बल-क्षीण होने पर चिकित्सा न करें तथा बल-मांस-क्षयाभाव होने पर सर्वरूपी (त्रिदोषलक्षणयुक्त अथवा एकादशलक्षणी) भी हो तो भी उसकी चिकित्सा करनी चाहिए—रूपं त्वस्य यथोद्देशं निर्देक्ष्यामि सभेषजम्। कासोंऽसतापो वैस्वर्यं ज्वरः पार्श्वशिरोरुजा ॥ छर्दनं रक्तकफयोः श्वासवर्चोगदोऽरुचिः। रूपाण्येकादशैतानि यक्ष्मिणः षडिमानि वा ॥ कासो ज्वरः पार्श्वशूलं स्वरवर्चोगदोऽरुचिः। सर्वैरर्धैस्त्रिभिर्वापि लिङ्गैर्मांसबलक्षये ॥ युक्तो वर्ज्यश्चिकित्स्यस्तु सर्वरूपोऽप्यतोऽन्यथा ॥ यक्ष्मा के समग्र लक्षण एकादश होते हैं। उनके आधे यद्यपि साढे पाँच होते हैं किन्तु ऐसा आधा लक्षण नहीं होता अतएव एकादश के आधे पाँच या ६ हो सकते हैं अतः इन दो में से षड् लक्षण ही ग्रहण करना चाहिए ऐसा विजयरक्षित जी ने समाधान किया है—सर्वैरर्धैरित्यादि—'ननु सर्वरूपाण्येकादश, एकादशानामर्धं सार्धपञ्च भवन्ति, तत्र कतमस्य रूपस्यार्धत्वं किम्भूतं वा भवति ? उच्यते, एकस्य रूपस्यार्धत्वासम्भवे षट्पञ्चरूपयोरर्धयोरुत्कृष्टत्वात् षड्रूप एवार्धोऽर्थो ग्राह्यः। इसी विषय पर चरकटीकाकार चक्रपाणि ने भी त्रिंशत् बस्ति की आधी १६ बस्तियों का ग्रहण किया है ऐसा उदाहरण देकर यहाँ भी एकादश के आधे लक्षण ज्येष्ठ भाग परिग्रहण करने को श्रेष्ठ मान कर षड् लक्षण

ही ग्रहण किये हैं—'सर्वैरिति एकादशभिः, अर्धैरिति षड्भिः, एकादशस्य ज्येष्ठभागपरिग्रहात् षडेवार्धं भवति, दृष्टा चैषा विधा, यथा—'त्रिंशन्मताः कर्मसु बस्तयो हि कालस्ततोऽर्धेन ततश्च योगः' (सि. अ. १) इत्यादौ त्रिंशद्बस्त्यर्धरूपः कालः श्रेष्ठभागपरिग्रहात् षोडशबस्तिरूप एव। त्रिभिर्वापि—त्रिलक्षण कौन से ग्रहण किये जाँय इस विषय में चरकाचार्य ने किन्हीं विशिष्ट लक्षणों का निर्देश नहीं किया है। कुछ लोगों का मत है कि—अंसपार्श्वाभितापश्च सन्तापः करपादयोः। ज्वरः सर्वाङ्गगश्चेति लक्षणं राजयक्ष्मणः॥ इस चरकोक्त श्लोक के त्रिलक्षण ग्रहण करने चाहिए किन्तु अन्य लोगों ने कहा है कि अंसपार्श्वाभिताप शब्द से यक्ष्मा के त्रिलक्षण न होकर यक्ष्मसम्बन्धी ज्वर की विशिष्टता का द्योतक लक्षण है अत एव चक्रपाणि ने भी इसे यक्ष्मा के ज्वर का विशिष्ट लक्षण कहा है तथा माधवकार ने भी इसे यक्ष्मा का सामान्य लक्षण लिखा है। भोजोक्त कास, ज्वर और रक्तपित्त ये यक्ष्मा के त्रिलक्षण मान लिये जाने चाहिए—'कासो ज्वरो रक्तपित्तं त्रिरूपे राजयक्ष्मणि' क्योंकि सुश्रुत में भी संक्षेपरूप से ये ही तीन लक्षण स्वीकृत किये गये हैं—'त्रिभिर्वा पीडितं लिङ्गैर्ज्वरकासासृगामयैः' (सुश्रुत) कुछ लोगों ने त्रिरूप, षड्रूप एवं एकादश रूप को यक्ष्मा की क्रमशः प्रथम, द्वितीय और तृतीय रूप अवस्था मानी है तथा प्रथमावस्था साध्य, मध्यमावस्था (द्वितीयावस्था) कृच्छ्रसाध्य और तृतीया (अन्तिमा) अवस्था असाध्य मानी है किन्तु चरकाचार्य का कथन है कि रोगी का बलमांस क्षीण न हो तो त्रिरूपी, षड्रूपी तथा एकादशलक्षणी भी यक्ष्मा साध्य होता है और यदि बल और मांस क्षीण हो गया हो तो त्रिलक्षणी यक्ष्मा भी असाध्य माना जाना चाहिये अतः उक्त साध्यासाध्यता के लिये त्रि, षड्, एकादशलक्षण व्यवस्थामत उचित या महत्त्व का नहीं है। आधुनिक दृष्टि से भी राजयक्ष्मा की असाध्यता का वर्णन कालानुसार अवस्था (Stage) के आधार पर न कर के रोग के लक्षणों की तीव्रता के आधार पर किया है। जैसे जीवाणु विष तीव्र हो, रुग्ण के शरीर की अवस्था अत्यन्त दुर्बल हो तथा सहायक कारण भी प्रबल और प्रचुर रूप में हों तो वे प्रथमावस्था में ही तीव्र लक्षणी यक्ष्मा उत्पन्न कर शरीर का विनाश कर सकते हैं।

एकादशभिरेभिर्वा षड्भिर्वाऽपि समन्वितम्।
(कासातीसारपार्श्वार्त्तिस्वरभेदारुचिज्वरैः ॥ १६ ॥
त्रिभिर्वा पीडितं लिङ्गैर्ज्वरकासासृगामयैः।)
जह्याच्छोषार्दितं जन्तुमिच्छन् सुविपुलं यशः ॥ १७ ॥

असाध्यराजयक्ष्मणो लक्षणानि—उपर्युक्त एकादश लक्षणों से अथवा कास, अतिसार, पार्श्वपीड़ा, स्वरभेद, अरुचि तथा ज्वर इन छ लक्षणों से अथवा कास, श्वास और रक्तष्ठीवन इन तीन लक्षणों से युक्त यक्ष्मारोगी की चिकित्सा कीर्ति चाहने वाला वैद्य कदापि न करे ॥ १६-१७ ॥

विमर्शः—चरकाचार्य ने बल, मांस और रक्त की क्षीणता तथा अरिष्ट लक्षणों के उत्पन्न न होने पर यक्ष्मा के सर्व लक्षणों से युक्त रोगी को भी साध्य माना है—'तत्रापरिक्षीणबलमांसशोणितो बलवानजातारिष्टः सर्वैरपि शोषलिङ्गैरुपद्रुतः साध्यो ज्ञेयः। बलवानुपचितो हि सहत्वाद्व्याध्यौषधबलस्य कामं सबहुलिङ्गोऽप्यल्पलिङ्ग एव मन्तव्यः। (च. नि. अ. ६) किन्तु जिस यक्ष्मी का बल, मांस और रक्त अत्यधिक क्षीण हो गया हो, चाहे लक्षण अल्प भी हों तथा अरिष्ट भी उत्पन्न न हुये हों तो भी उसे बहुलक्षणी तथा जातारिष्ट के समान ही मान कर असाध्य समझ के उसकी चिकित्सा न करें। 'दुर्बलं त्वतिक्षीणबलमांसशोणितमल्पलिङ्गमजातारिष्टमपि बहुलिङ्गं जातारिष्टञ्च विद्यात्, असहत्वाद्व्याध्यौषधबलस्य, तं परिवर्जयेत्, क्षणेनैव हि प्रादुर्भवन्त्यरिष्टानि, अनिमित्तश्चारिष्टप्रादुर्भाव इति' (च. नि. अ. ६) चरकाचार्य ने इसी साध्यासाध्य के आशय को चिकित्सास्थान में एक ही श्लोक से प्रकट कर दिया है—सर्वैरर्धैस्त्रिभिर्वापि लिङ्गैर्मांसबलक्षये। युक्तो वर्ज्यश्चिकित्स्यस्तु सर्वरूपोऽप्यतोऽन्यथा॥'

(च. चि. अ. ८)

महाशनं क्षीयमाणमतीसारनिपीडितम्।
शूनमुष्कोदरं चैव यक्ष्मिणं परिवर्जयेत् ॥ १८ ॥

यक्ष्मणोऽसाध्यसूचकान्यलक्षणानि—अत्यधिक या पर्याप्त भोजन करने पर भी जिसका शरीर क्षीण होता रहता हो, तथा अतीसार से पीडित हो एवं जिसके अण्डकोष तथा उदर पर शोथ हो ऐसे यक्ष्मी की चिकित्सा नहीं करनी चाहिए ॥ १८ ॥

शुक्लाक्षमन्नद्वेष्टारमूर्ध्वश्वासनिपीडितम्।
कृच्छ्रेण बहु मेहन्तं यक्ष्मा हन्तीह मानवम् ॥ १९ ॥

वर्ज्ययक्ष्मी—रक्तक्षीणता के कारण जिसके नेत्र श्वेत हो गये हों, जो अन्न से घृणा करता हो, जिसको ऊर्ध्व श्वास हो तथा जो कठिनता से अधिक मूत्र त्याग करता हो ऐसे रोगी को यक्ष्मा मार डालता है ॥ १९ ॥

ज्वरानुबन्धरहितं बलवन्तं क्रियासहम्।
उपक्रमेदात्मवन्तं दीप्ताग्निमकृशं नरम् ॥ २० ॥

चिकित्स्ययक्ष्मी—जो रोगी ज्वर के अनुबन्ध से रहित हो, शारीरिक तथा मानसिक बल से युक्त हो एवं उग्र औषधियों की शक्ति तथा शोधन आदि पञ्चकर्म की क्रियाओं को सहन कर सकता हो एवं आत्मवान् (संयमी), दीप्तपाचकाग्नि तथा अकृश (मांसादिक्षयरहित) हो उसकी चिकित्सा करनी चाहिए। अर्थात् इन गुणों से युक्त रोगी का यक्ष्मा साध्य होता है ॥ २० ॥

विमर्शः—आयुर्वेद में यक्ष्मी के निम्न लक्षण प्राणघातक माने गये हैं—उरोयुक्तो बहुश्लेष्मा नीलः पीतः सलोहितः। सततं च्यवते यस्य दूरात्तं परिवर्जयेत्॥ अर्थात् नील, पीत और रक्त वर्ण के अधिक कफ को थूंकने वाला यक्ष्मारोगी अचिकित्स्य है। निष्ठ्यूते यस्य दृश्यन्ते वर्णा बहुविधाः पृथक्। तच्च सीदत्यपः प्राप्य न स जीवितुमर्हति॥ (चरक) अर्थात् विविधवर्ण कफस्रावी तथा जिसका कफ पानी में डूब जाता हो वह यक्ष्मी अचिकित्स्य है। ज्वरः पौर्वाह्णिको यस्य शुष्ककासश्च दारुणः। बलमांसविहीनस्य यथा प्रेतस्तथैव सः॥ (सुश्रुत) अर्थात् जिस यक्ष्मी का ज्वर पूर्वाह्न में बढ़ जाय तथा भयङ्कर शुष्क कास एवं बलमांसविहीनता हो उसकी चिकित्सा न करें। गोसर्गवदनाद्यस्य स्वेदः प्रच्यवते भृशम्। लेपज्वरोपतप्तस्य दुर्लभं तस्य जीवितम्॥ (चरक) अर्थात् रात भर ज्वर रह के प्रातःकाल अत्यधिक स्वेद आकर ज्वर उतर जाता हो ऐसे लेप ज्वर

(Hectic fever—यह रात्रिस्वेद यक्ष्मा में अक्सर होता है) से सन्तप्त यक्ष्मी का जीवित रहना दुर्लभ है। शरीरान्ताश्च शोभन्ते शरीरञ्चोपशुष्यति। बलञ्च हीयते यस्य राजयक्ष्मा हिनस्ति तम्॥ (चरक) अर्थात् जिसके हस्त-पाद ठीक हों किन्तु शरीर का मध्य भाग सूखता रहता हो एवं बल क्षीण हो रहा हो ऐसे रोगी को यक्ष्मा मार डालता है। यह अङ्गुल्यग्रस्थूलता (Clubbing of fingers) है। सफेनं रुधिरं यस्य मुहुरास्यात् प्रसिच्यते। शूलैश्च तुद्यते कुक्षिः प्रत्याख्येयस्तथाविधः॥ अर्थात् झागदार रक्त का बार-बार ष्ठीवन और उदरशूलवाला यक्ष्मी अचिकित्स्य है। बलमांसक्षयस्तीव्रो रोगवृद्धिररोचकः। यस्यातुरस्य लक्ष्यन्ते त्रीन् पक्षान् न स जीवति। तीव्र बलमांसक्षय तथा अरुचि वाला यक्ष्मी तीन पक्ष में मर जाता है। परं दिनसहस्रन्तु यदि जीवति मानवः। सुभिषग्भिरुपक्रान्तस्तरुणः शोषपीडितः॥ (वृन्दमाधव) शोषपीडित युवा व्यक्ति की यदि अनुभवी वैद्य चिकित्सा करें तो वह एक हजार दिन (३ वर्ष) तक या अधिक भी जीवित रह सकता है। जब रोग तन्तुभूयिष्ठ हो जाता है तब २०-२५ वर्ष तक भी रोग की अवधि हो सकती है। नियतानल्पचित्तस्य (शोषः) चिरं काये न तिष्ठति (चरक) जो व्यक्ति नियतचित्तवाले (संयमी) होते हैं उनके शरीर से शोष नष्ट हो जाता है। यद्यपि यक्ष्मा को दुर्ज्ञेय तथा दुर्निवार्य महाव्याधि माना है तथापि अच्छे वैद्य, औषध तथा परिचारकों द्वारा संयमी क्षयरोगी चिकित्सा करने पर ठीक होते देखे गये हैं—दुर्विज्ञेयो दुर्निवारः शोषो व्याधिर्महाबलः। (सुश्रुत) 'चतुष्पादोपपत्तिश्च सुखसाध्यस्य लक्षणम्' (चरक) अन्यच्च—अंसाभितापो हिक्का च छर्दनं शोणितस्य च। आनाहः पार्श्वशूलञ्च भवत्यन्ताय शोषिणः॥ (च. इ. अ. ९) अंसाभिताप, हिक्का, रक्तष्ठीवन, आनाह, पार्श्वशूल—ये लक्षण यक्ष्मी के घातक हैं। आधुनिक दृष्टि से यक्ष्मा की साध्यासाध्यता का विचार अनेक प्रकार से किया गया है—(१) रोगी की दृष्टि से—जिसके कुल में यक्ष्मा होता आया हो, जो मद्यपी, मधुमेही, गर्भिणी, प्रसूता, निर्धनी, दुर्गन्धितवातावरणनिवासी, विमनस्क और छाती की विकृति वालों में यक्ष्मा कष्टसाध्य या असाध्य होता है। (२) रोगदृष्टि से—आरम्भ से ही ज्वरानुबन्ध, रात्रिस्वेद, हृदयगति की शीघ्रता, रक्तष्ठीवन, तीव्र कास, श्वासकृच्छ्रता, निरन्तर भार तथा बल का क्षय यक्ष्मा की कृच्छ्रसाध्यता या असाध्यता के दर्शक लक्षण हैं। इनके विपरीत लक्षण साध्यतादर्शक होते हैं। (३) उपद्रवदृष्टि से—स्वरयन्त्रशोथ, अतिसार, शोथ (Oedema), सद्रव या शुष्क फुफ्फुसावरण शोथ—ये उपद्रव कष्टसाध्यता के दर्शक हैं। (४) रोगप्रकारदृष्टि से—तीव्र तथा न्यूमोनिया के समान लक्षणों वाला यक्ष्मा असाध्य होता है किन्तु तन्तुभूयिष्ठ और फुफ्फुसमूल यक्ष्मा साध्य या दीर्घकालीन होता है, सव्रण यक्ष्मा मध्यम होता है। (५) चिकित्सादृष्टि से—गुणवच्चतुष्पादपूर्वक चिकित्सा करने से यदि कासज्वरादि लक्षण दिनोंदिन कम होते जाँय तथा देहबल और भार की वृद्धि होती रहे तो साध्यता समझनी चाहिए—भिषग्द्रव्याण्युपस्थाता रोगी पादचतुष्टयम्। गुणवत्कारणं ज्ञेयं विकारव्युपशान्तये। चतुष्पादोपपत्तिश्च सुखसाध्यस्य लक्षणम्। (चरक) किन्तु सम्यक्प्रकार से चिकित्सा करने पर भी विकार एवं बल तथा मांस की क्षीणता बढ़ती रहे तो यक्ष्मा कृच्छ्रसाध्य या असाध्य समझा जाना चाहिए—चिकित्स्यमानः सम्यक् च विकारो योऽभिवर्धते। प्रक्षीणबलमांसस्य लक्षणं तद्गतायुषः॥ उष्णप्रदेश में राजयक्ष्मा कम होता है। इसी दृष्टि से चरकाचार्य ने मरुस्थल को क्षयनाशक माना है—'मरुस्थलः क्षयक्षयकृतानाम्' आजकल उत्तम जलवायु के स्थान में क्षय के आश्रम (Sanitorium) बनाये गये हैं जिनमें उत्तम खाद्यपेय तथा मनोरञ्जन के साधन रहते हैं वहाँ चिकित्सा कराने से यक्ष्मा की साध्यता में वृद्धि हो गई है। उत्तर दिशा की वायु यक्ष्मी के लिये अधिक प्रशस्त मानी गई है—उत्तरो मारुतः स्निग्धो मृदुर्मधुर एव च। कषायानुरसः शीतो दोषाणाञ्चाप्रकोपणः॥ तस्माच्च प्रकृतिस्थानां क्लेदनो बलवर्धनः। क्षीणक्षयविषार्तानां विशेषेण तु पूजितः॥ (सुश्रुत)

व्यवायशोकस्थाविर्यव्यायामाध्वोपवासतः।
व्रणोरःक्षतपीडाभ्यां शोषानन्ये वदन्ति हि॥ २१॥

यक्ष्मभिन्नशोषभेदाः—अत्यधिक व्यवाय (मैथुन), शोक, वृद्धावस्था, व्यायाम, अध्वगमन, उपवास, व्रण और उरःक्षत की पीड़ा से शोष रोग होता है ऐसा अन्य आचार्य कहते हैं॥

व्यवायशोषी शुक्रस्य क्षयलिङ्गैरुपद्रुतः।
पाण्डुदेहो यथापूर्वं क्षीयन्ते चास्य धातवः॥ २२॥

व्यवायशोषीलक्षण—अत्यधिक व्यवाय (सम्भोग) करने से उत्पन्न शोषरोग पीड़ित व्यक्ति शास्त्र में कहे हुये शुक्रक्षय के लक्षणों से युक्त तथा पाण्डुशरीर का होता है। इसकी पूर्व-पूर्ववर्ती धातु का क्रमशः क्षय होता जाता है॥ २२॥

विमर्शः—यहाँ पर प्रतिलोमक्षय के कारण उत्पन्न हुये शोष का वर्णन किया गया है। सुश्रुताचार्य ने सूत्रस्थान में शुक्रक्षय के लक्षणों में लिङ्ग और वृषण में वेदना, मैथुन में अशक्ति अथवा देर से शुक्रप्रवृत्ति तथा प्रसेक में रक्त के सहित अल्प शुक्र का दर्शन ये लक्षण लिखे हैं—'शुक्रक्षये मेढ्रवृषणवेदना, अशक्तिर्मैथुने, चिराद्वा प्रसेकः, प्रसेके चाल्पदर्शनं रक्तस्य शुक्रस्य वा।' (सु० सू० अ० १५)

प्रध्यानशीलः स्रस्ताङ्गः शोकशोष्यपि तादृशः।
विना शुक्रक्षयकृतैर्विकारैरभिलक्षितः॥ २३॥

शोकशोषीलक्षण—अत्यधिक शोक करने से उत्पन्न शोषरोग से पीड़ित व्यक्ति सदा ध्यान (चिन्ता) में डूबा रहता है तथा उसके हस्तपादादि अङ्ग शिथिल हो जाते हैं तथा वह शुक्रक्षय के लक्षणों (मेढ्रवृषणवेदनादि) के अतिरिक्त व्यवायशोषी के अन्य लक्षणों (पाण्डुदेहादि) से युक्त होता है॥ २३॥

विमर्शः—अकस्मात् सट्टे आदि में धन का नाश तथा आत्मीय जन की मृत्यु हो जाने से इस शोक का ऐसा जबर्दस्त धक्का पहुँच कर उसकी अन्तःस्रावी ग्रन्थियाँ विकृत हो जाती हैं तथा उनका स्राव कम हो जाने से उसकी क्षुधा और तृषा नष्ट हो जाती है एवं थोड़े खाये हुए भोजन का सम्यक्पाक और प्रचूषण भी पूर्णरूप से नहीं होता है जिससे धीरे-धीरे शरीर सूखने लगता है एवं रक्ताल्पता से पाण्डु भी हो जाता है एवं साथ में कासश्वासादि लक्षण भी हो जाते हैं। इसमें धातुओं का क्रमिक क्षय होने से इसे अनुलोम शोष भी कह सकते हैं।

जराशोषी कृशो मन्दवीर्यबुद्धिबलेन्द्रियः।
कम्पनोऽरुचिमान् भिन्नकांस्यपात्रहतस्वरः॥ २४॥
ष्ठीवति श्लेष्मणा हीनं गौरवारुचिपीडितः।
सम्प्रस्नुतास्यनासाऽक्षः शुष्करूक्षमलच्छविः॥ २५॥

जराशोषीलक्षण—अत्यधिक जरा (वृद्धावस्था) के कारण उत्पन्न शोष वाला व्यक्ति कृश हो जाता है तथा उसके बल, बुद्धि, वीर्य और इन्द्रियाँ दुर्बल हो जाती हैं, उसके शरीर में कम्पन होता रहता है, भोजन में अरुचि रहती है तथा उसकी आवाज टूटे हुये काँसे के पात्र के शब्द के समान हो जाती है। बिना कफ वाला थूंक थूकता रहता है या बिना श्लेष्मा के खाँसता रहता है एवं देह में भारीपन और किसी भी कार्य के करने में अरति (अनिच्छा) होती है, उसके मुख, नासिका और नेत्रों से स्राव होता रहता है तथा उसका मल सूखा और रूक्ष होता है एवं देह की छवि (कान्ति) भी शुष्क व रूक्ष हो जाती है॥ २४-२५॥

विमर्शः—भिन्नस्य स्फुटितस्य कांस्यपात्रस्य हतस्य दण्डादिनेव स्वरो यस्य स तथा। ष्ठीवति श्लेष्मणा हीनमिति श्लेष्महरणाय यत्ने कृतेऽपि न श्लेष्मनिःसरणम्। आयुर्वेद में जरा को स्वाभाविक रोगों में माना है—'स्वाभाविकाः क्षुत्पिपासामृत्युजरादयः' तथापि किसी व्यक्ति को यदि असमय में वृद्धावस्था के लक्षण आक्रान्त कर लें तो उसके लिये पृथक् एक जराशोष रोग भी होना चाहिए। स्वाभाविक जरा रोग की चिकित्सा रसायनसेवन है तथा जराशोषी की चिकित्सा लक्षणानुसार विशिष्ट होती है।

अध्वप्रशोषी स्रस्ताङ्गः सम्भृष्टपरुषच्छविः।
प्रसुप्तगात्रावयवः शुष्कक्लोमगलाननः॥ २६॥

अध्वशोषीलक्षण—अत्यधिक अध्व (मार्ग) में चलने से उत्पन्न हुए शोष रोग वाले व्यक्ति के अंग शिथिल हो जाते हैं। उसके मुख की कान्ति झुलसी हुई सी और कठोर (कर्कश या रूक्ष) प्रतीत होती है, उसके शरीर के हस्तपादादि विभिन्न अवयवों में सुप्ति (स्पर्शज्ञानाभाव) रहती है एवं उसका क्लोम, गला और मुख सूखते रहते हैं॥ २६॥

विमर्शः—कुछ वर्षों पूर्व यातायात के साधन (रेल, मोटर, साइकिल, हवाई जहाज) न होने से लोग पैदल चलते थे और मार्ग में जल भी कभी-कभी नहीं मिलता था एवं भोज्य पदार्थ भी पूर्णरूप से नहीं मिलते थे उन दिनों यह रोग हुआ करता था। वर्तमान में तो लुप्तवत् है। क्लोम—क्लोम के विषय में आयुर्वेद में अनेक मतमतान्तर प्रचलित हैं—कुछ इसे अग्न्याशय (Pancreas), कुछ कण्ठनाडी (Trachae), कुछ पित्ताशय (Gall bladder) और कुछ लोग तालु समझते हैं किन्तु इन सब में अनेक प्रमाणों से पित्ताशय अर्थ करना उचित है। अनेक स्थानों पर यकृत् और क्लोम का साथ-साथ वर्णन है—'क्लोम च यकृच्च', 'श्वासो यकृति तृष्णा च पिपासा क्लोमजेऽधिका', 'क्लोम कालखण्डा-(यकृता)दधस्तात् स्थितं दक्षिणपार्श्वस्थं तिलकमिति प्रसिद्धम्' 'तिलन्तु शोणितकिट्टप्रभवं दक्षिणाश्रितं यकृत्समीपे क्लोमसंज्ञकं भवति', 'अधस्तु दक्षिणे भागे हृदयात्क्लोम तिष्ठति।'

व्यायामशोषी भूयिष्ठमेभिरेव समन्वितः।
उरःक्षतकृतैर्लिङ्गैः संयुक्तश्च क्षताद्विना॥ २७॥

व्यायामशोषीलक्षण—व्यायामशोषी में भी अध्वशोषी के ही लक्षण प्रायः अधिकरूप में मिलते हैं किन्तु इनके अतिरिक्त यह क्षत के बिना अन्य सभी उरःक्षत के लक्षणों से भी युक्त रहता है॥ २७॥

विमर्शः—'लिङ्गैरुरःक्षतकृतैः संयुक्तश्च क्षतं विना' इसके स्थान में 'उरःक्षतकृतैर्लिङ्गैः संयुक्तः क्षतवर्जितैः' ऐसा सुगम पाठान्तर है। गदाधर ने—लिङ्गैरुरःक्षतकृतः संयुक्तश्च क्षतं विना। ऐसा पाठान्तर मानकर निम्न अर्थ किया है जैसे कि व्यायाम, भार, अध्ययन और द्रुतयान आदि के अधिक सेवन से उत्पन्न शोष भी अध्वशोष के लक्षणों से अधिकतर युक्त होता है किन्तु क्षतकार्य से रहित होता है—क्षतकार्यन्तु सुश्रुते यथा—'तस्योरसि क्षते रक्तं पूयः श्लेष्मा च गच्छति' इत्यारम्भ 'भिन्नस्वरो नरः' इसके अन्त तक समझें। ये ही लक्षण क्षत में अधिक होते हैं अथवा 'क्षतं विना' का अर्थ व्रण के बिना ऐसा किया है क्योंकि सव्रणशोषी के लक्षण आगे कहे जाते हैं।

रक्तक्षयाद्वेदनाभिस्तथैवाहारयन्त्रणात्।
व्रणितस्य भवेच्छोषः स चासाध्यतमः स्मृतः॥ २८॥

व्रणशोषीलक्षण—रक्त की अधिक स्रुति से, व्रणजन्य वेदनाओं से तथा आहार के अधिक नियन्त्रण (परहेजी) करने के कारण भोजन की कमी से व्रणित पुरुष में उत्पन्न हुआ शोष व्रणशोष कहलाता है तथा यह असाध्य सा होता है॥ २८॥

विमर्शः—रक्तक्षय-बाह्य या आभ्यन्तरिक किसी भी कारण से रक्त के अधिक क्षीण होने पर व्रण का रोपण न होकर वात प्रकुपित हो के शोष उत्पन्न हो जाता है। इसी तरह अत्यधिक व्रणवेदना से भी मन प्रक्षुब्ध होकर वात प्रकुपित हो के शोष हो जाता है। आहारयन्त्रणात्—शरीर की शक्ति को बढ़ाने तथा व्रण के भरने के लिये पूर्ण आहार की आवश्यकता होती है, किन्तु कुछ रोग ऐसे होते हैं जिनमें विशिष्ट-विशिष्ट आहार द्रव्यों का नियन्त्रण (निषेध) कर दिया जाता है। जैसे प्रमेहपिडिका (Carbuncle) में Carbohydrate तथा मधुर पदार्थ, एवं शर्करा का अत्यधिक निषेध हो जाने से व्रणशोष उत्पन्न हो जाता है क्योंकि व्रणरोपणार्थ शर्करा की पूर्ण आवश्यकता रहती है और रोगी के रक्तगत शर्करा की अधिकांश भाग मूत्र द्वारा ही उत्सृष्ट हो जाता है। मुख द्वारा भी यदि शर्करा दी जाय तो वह भी आखिर में रक्त के साथ वृक्क में पहुँचेगी और उसके सेल उसे रक्त से पृथक् कर मूत्र के साथ बस्ति में फेंक देते हैं जिससे दिनों दिन व्रणशोथ बढ़ता ही रहता है। इसीलिये ऐसे व्रणशोष को असाध्य के समान माना है। कुछ आचार्यों की शंका है कि जब व्रणशोषी असाध्यतम होता है तब 'कृशानां व्रणशोषिणाम्। बृंहणीयो विधिः कार्यः॥' (सु. चि. अ. १) के इस श्लोक में कृश तथा व्रणशोषी के लिये प्रतिपादित बृंहणीयविधान व्रणशोषी में असाध्यतम होने से व्यर्थ ही होगा। इसके उत्तर में कहा जाता है कि शोष की प्रबलता में प्रत्याख्येय तथा व्रणशोष की अल्पबलता में बृंहणीय आदि चिकित्साविधान उचित ही है। चन्द्रिकाकार ने 'स चासाध्य-

तमो मतः' इसके स्थान में 'याप्यासाध्यतमस्तु सः' ऐसा पाठान्तर मानकर याप्य में चिकित्साविधान करना सङ्गत ही है ऐसा समाधान कर लिया है।

व्यायामभाराध्ययनैरभिघातिमैथुनैः ।
कर्मणा चाप्युरस्येन वक्षो यस्य विदारितम् ॥ २९ ॥
तस्योरसि क्षते रक्तं पूयः श्लेष्मा च गच्छति ।
कासमानश्छर्दयेच्च पीतरक्तासितारुणम् ॥ ३० ॥
सन्तप्तवक्षाः सोऽत्यर्थं दूयनात्परिताम्यति ।
दुर्गन्धवदनोच्छ्वासो भिन्नवर्णस्वरो नरः ॥ ३१ ॥

उरःक्षतजन्यशोषलक्षण—अधिक व्यायाम करने से, अधिक भार (बोझा) उठाने से, अधिक जोर से व देर तक अध्ययन और अध्यापन करने से, चोट लगने से, अत्यधिक स्त्रीसम्भोग करने से तथा छाती (वक्षप्रदेश पर) पर आघात पहुँचाने वाले धनुराकर्षण आदि कार्यों के अधिक करने से उस व्यक्ति का वक्षःस्थल विदीर्ण हो जाता है और उसकी छाती में व्रण बन जाते हैं जिनसे रक्त, पूय और कफ का निःसरण होता है तथा जब वह उरःक्षती कासता है तो उसे वमन हो जाता है एवं कास में पीला, लाल, काला और अरुण स्राव निकलता है। वमन में भी पीत, रक्त, कृष्ण और अरुण वर्ण का पदार्थ या रक्त निकलता है। वक्षःस्थल में अत्यधिक जलन होती रहती है एवं अत्यधिक दाह और वेदना होने से मूर्च्छित हो जाता है। उसके मुख तथा उच्छ्वास (Expiration) में दुर्गन्धि आती है तथा उसके गले से निकलने वाले वर्ण टूटे हुये से एवं स्वर भी भग्न सा हो जाता है ॥ २९-३१ ॥

विमर्शः—शोष के कारणभूत साहसादिकों से उरःक्षत के उत्पन्न होने से तथा उरःक्षत से भी शोष (यक्ष्मा) रोग उत्पन्न हो जाता है ऐसा परस्पर सम्बन्ध होने से शोष के प्रकरण में उरःक्षत रोग को रखा है। चरकाचार्य ने इस रोग को शोष (यक्ष्मा) प्रकरण से पृथक् अपस्मार रोग के अनन्तर ग्यारहवें अध्याय में क्षतक्षीण नाम से वर्णित किया है। अपस्मार में मनुष्य विषमोच्चरूप से गिर जाता है जिससे उरःक्षत होने की सम्भावना रहती है अतः अपस्मार अनन्तर क्षतक्षीण का पाठ किया है। क्षीणे पुरुषे क्षतं भवतीति हेतोः क्षतक्षीण उच्यते। अर्थात् निदानोक्त स्त्रीसेवादि कारणों से शुक्र और ओज के अधिक क्षीण होने से उर (छाती) में क्षत (व्रण) उत्पन्न हो जाते हैं। अतः इसे क्षतक्षीण कहा है। क्षीणक्षत ऐसा पाठ करने पर भी क्षीणशब्द से शुक्रोजःक्षय-युक्त पुरुष का बोध होता है एवं क्षीण पुरुष में क्षत (व्रण) उत्पन्न होता है। अतः क्षीणक्षत शब्द भी उपयुक्त है। कुछ लोगों ने क्षतक्षय ऐसा पाठान्तर माना है। इसमें क्षतश्च क्षयश्चेति क्षतक्षयः, इससे एक रोग क्षत तथा दूसरा क्षय ऐसा अर्थ होगा। चरकोक्त क्षतक्षीणनिदान—धनुषाऽऽयस्यतोऽत्यर्थं भारमुद्वहतो गुरुम्। पततो विषमोच्चेभ्यो बलिभिः सह युध्यतः। वृषं हयं वा धावन्तं दम्यं वान्यं निगृह्णतः। शिलाकाष्ठाश्मनिर्घातान् क्षिपतो निघ्नतः परान्॥ अधीयानस्य वाऽत्युच्चैर्दूरं वा व्रजतो द्रुतम्। महानदीं वा तरतो हयैर्वा सह धावतः॥ सहसोत्पततो दूरं तूर्णं चापि प्रनृत्यतः। तथान्यैः कर्मभिः क्रूरैर्भृशमभ्याहतस्य च॥ विक्षते वक्षसि व्याधिर्बलवान् समुदीर्यते। स्त्रीषु चातिप्रसक्तस्य रूक्षाल्पप्रमिताशिनः॥ उरो विरुज्यते तस्य भिद्यतेऽथ विभज्यते। प्रपीड्यते ततः पार्श्वे शुष्यत्यङ्गं प्रवेपते। कासमानस्य च श्लेष्मा सरक्तः सम्प्रवर्तते। सक्षतः क्षीयतेऽत्यर्थं तथा शुक्रौजसोः क्षयात्॥ (च० चि० अ० ११) यद्यपि उरःक्षत रोग के उक्त कारण राजयक्ष्मा के कारणों से मिलते जुलते हैं तथा उरःक्षत में भी यक्ष्मा के समान अङ्गशोष, पार्श्वपीड़ा, अग्निमान्द्य, सरक्त श्लेष्मकास, ज्वर आदि लक्षण भी होते हैं तथापि यह साहसिक कारणों से वक्ष विदीर्ण होकर उत्पन्न हुये राजयक्ष्मा से भिन्न ही है क्योंकि वक्षोविदीर्णताजन्य राजयक्ष्मा त्रिदोषजन्य होता है एवं वह एकादशलक्षणी होता है तथा उसकी सम्प्राप्ति में भी भिन्नता है। जैसा कि चरकाचार्य ने स्वयं स्पष्ट किया है—अयथाबलमारम्भैर्जन्तोरुरसि विक्षते। वायुः प्रकुपितो दोषावुदीर्यौभौ विधावति॥ (च० चि० अ० ८) अर्थात् यक्ष्मा में अयथाबलमारम्भादि साहसिक कारणों से वक्ष के विदीर्ण होने पर वायु प्रकुपित हो के कफ तथा पित्त इन दोनों दोषों को भी प्रकुपित कर शरीर के शिर आदि समस्त अङ्ग व आशयों में जा के वहाँ विकृति कर एकादशलक्षणी यक्ष्मा उत्पन्न करता है किन्तु उरःक्षत या क्षतक्षीण रोग में न तो त्रिदोष ही एक साथ कुपित होते हैं और न एकादश लक्षण उत्पन्न होते हैं तथा इसमें स्रोतोरोध भी नहीं होता है जिससे यक्ष्मा की तरह विभिन्न धातुओं का शोष हो अत एव यक्ष्मा तथा उरःक्षतजन्य शोष भिन्न रोग हैं। राजयक्ष्मा की सम्प्राप्ति में स्रोतोरोधादि मुख्य हैं जो कि इसमें नहीं हैं—स्रोतसां सन्निरोधाच्च रक्तादीनाञ्च संक्षयात्। धातूष्मणाञ्चापचयाद् राजयक्ष्मा प्रवर्तते॥ (च० चि० अ० ८) आधुनिक दृष्टि से भी क्षयदण्डाणु के उपसर्ग के विना भी अनेक अन्य कारणों जैसे फुफ्फुसगत विद्रधि, कोथ, अर्बुद, एवं श्वासनलिका-विस्तृति (Bronchiectasis) आदि रोगों में भी ज्वर, कास, रक्तपित्त आदि यक्ष्मासमान लक्षण होते हैं किन्तु उन्हें यक्ष्मा नहीं कहा जाता है। तद्वत् यह क्षतक्षीण या उरःक्षतजन्य शोष भी यक्ष्मा नहीं है। हाँ, यदि इस रोग की उचित चिकित्सा की उपेक्षा कर दी जाय तो भविष्य में राजयक्ष्मा हो सकता है—'उपेक्षिते भवेदस्मिन्ननुबन्धो हि यक्ष्मणः। प्रागेवा-गमनात्तस्य तस्मात्तं त्वरया जयेत्॥ (च० चि० अ० ११) अत एव जब तक उरःक्षत रोग में क्षयदण्डाणु का उपसर्ग नहीं होता है जिसके होने की अधिक सम्भावना एवं अनुकूल परिस्थिति रहती है—तब तक उसे यक्ष्मा नहीं कह सकते हैं एवं जब तक यक्ष्मा के समान सम्प्राप्ति तथा एकादश लक्षण नहीं होते उरःक्षत एक स्वतन्त्र रोग है। इसी हेतु चरकाचार्य ने उसका प्रकरण (वर्णन) ही यक्ष्मा से भिन्न अध्याय में किया है।

केषाञ्चिदेवं शोषो हि कारणैर्भेदमागतः ।
न तत्र दोषलिङ्गानां समस्तानां निपातनम् ॥ ३२ ॥
क्षया एव हि ते ज्ञेयाः प्रत्येकं धातुसंज्ञिताः ।
चिकित्सितं तु तेषां हि प्रागुक्तं धातुसङ्क्षये ॥ ३३ ॥

परकीयमतेन शोषभेदः—कुछ आचार्यों का मत है कि व्यवाय आदि कारणों की भिन्नता के कारण शोष के भेद हो जाते हैं। अत एव उक्त व्यवाय, शोक, वार्धक्य आदि जो शोष के सात भेद कहे हैं वे यक्ष्मा के ही स्वरूप हैं किन्तु सुश्रुता-

चार्य का मत है कि इन सप्तविध शोषों में राजयक्ष्मा के त्रिदोषों से उत्पन्न होने वाले समस्त (एकादश) लक्षण नहीं पाये जाते हैं अत एव इन्हें केवल धातुक्षय के कारण क्षय या शोष ही कहना चाहिए राजयक्ष्मा नहीं, क्योंकि राजयक्ष्मा स्रोतोसन्निरोधादि विशिष्ट सम्प्रातिपूर्वक अनुलोम या प्रतिलोम धातुक्षय के रूप में त्रिदोषज तथा एकादशलक्षणी होता है। दोषधातुमलक्षयवृद्धिविज्ञानीय अध्याय में इन यक्ष्मा-भिन्न धातुक्षय या शोषों की चिकित्सा भी पहले कह दी है॥

स्थिरादिवर्गसिद्धेन घृतेनाजाविकेन च।
स्निग्धस्य मृदु कर्त्तव्यमूर्ध्वञ्चाधश्च शोधनम्॥ ३४॥
आस्थापनं तथा कार्य्यं शिरसश्च विरेचनम्।
यवगोधूमशालींश्च रसैर्भुञ्जीत शोधितः।
इद्धेऽग्नौ बृंहयेच्चापि निवृत्तोपद्रवं नरम्॥ ३५॥

राजयक्ष्मसामान्यचिकित्सा—सर्वप्रथम यक्ष्मी को स्थिरादिगण की औषधियों के कल्क तथा क्वाथ से सिद्ध किये हुये बकरी या भेड़ के घृत से स्नेहित कर मृदु औषधियों द्वारा उसका ऊर्ध्व और अधःसंशोधन (वमन विरेचन कर्म) कराना चाहिए। इसके अनन्तर आस्थापन बस्ति का प्रयोग और शिरोविरेचन कराना चाहिए। इन संशोधन कर्मों के दिनों में प्रत्येक संशोधन के अनन्तर क्षुधा लगने पर यव, यूष या यवौदन, गेहूँ का दलिया, शालि चावल का सेवन मांसरस के साथ करना चाहिए। इस प्रकार पावकाग्नि के प्रदीप्त हो जाने के अनन्तर रोग के या उक्त संशोधन कर्मों के उपद्रवों से रहित यक्ष्मी की बृंहण चिकित्सा करनी चाहिए॥

व्यवायशोषिणं प्रायो भजन्ते वातजा गदाः।
बृंहणीयो विधिस्तस्मै हितः स्निग्धोऽनिलापहः॥३६॥

व्यवायशोषे बृंहणोपदेशः—अधिक स्त्रीसम्भोग करने से उत्पन्न व्यवायशोष के रोगी को प्रायः वातिक रोग या लक्षण अधिक हुआ करते हैं अत एव ऐसे रोगी के लिये बृंहणीय चिकित्सा तथा स्निग्ध खाद्य पेय और वातनाशक औषध, आहार और पान का उपयोग हितकारक होता है॥ ३६॥

काकानुलूकाङ्कुलान् बिडालान्
गण्डूपदान् व्यालबिलेशयाखून्।
गृध्रांश्च दद्याद्विविधैः प्रवादैः
ससैन्धवान् सर्षपतैलभृष्टान्॥ ३७॥
देयानि मांसानि च जाङ्गलानि
मुद्गाढकीसूपरसाश्च हृद्याः।
खरोष्ट्रनागाश्वतराश्वजानि
देयानि मांसानि सुकल्पितानि॥ ३८॥
मांसोपदंशाश्च पिबेदरिष्टान्
मार्द्वीकयुक्तान् मदिराश्च सेव्याः।
अर्कामृताक्षारजलोषितेभ्यः
कृत्वा यवेभ्यो विविधांश्च भक्ष्यान्॥ ३९॥
खादेत् पिबेत् सर्पिरजाविकं वा
कृशो यवाग्वा सह भक्तकाले।
सर्पिर्मधुभ्यां त्रिकटु प्रलिह्या-
च्चव्याविडङ्गोपहितं क्षयार्त्तः॥ ४०॥

शोषिणां देयमांसनिर्देशः—कौए, उल्लू, नेवले, बिडाल (मार्जार), केंचुए, व्याल (हिंसक पशु), बिल में सोने वाले जन्तु तथा चूहे और गीध इन्हें सरसों के तैल में सैन्धव लवण (अन्य मसाले) के साथ भून कर विविध प्रवाद (मिथ्या वचन) पूर्वक रुग्ण को देवे। इनके अतिरिक्त जङ्गल के पशुपक्षियों के मांस एवं मूंग और तूर की दालों के रसों (यूष) को संस्कृत करके हृद्य बना कर देने चाहिए। इसी प्रकार गदहे, ऊंट, हाथी, खच्चर और घोड़े इनके मांस को भी सुसंस्कृत करके देवें तथा मांसोपदंश (मांस चटनी) खा के मुनक्का या किसमिस के अरिष्टों को पीवे अथवा अच्छी मदिरा का पान करे। अथवा आक और गिलोय के क्षार के जल में रात भर भिगों के सुखाये हुये यवों के आटे के अनेक प्रकार के भक्ष्य (रोटी व मालपूए) बनाकर खिलाना चाहिए तथा भोजन के समय यवागू के साथ बकरी या भेड़ का घी पिलावे अथवा क्षय से पीड़ित रोगी को त्रिकटु (सोंठ, मरिच, पिप्पली), चव्य और विडङ्ग के चूर्ण को (१ माशे से ३ माशे की मात्रा में) प्रतिदिन सुबह, मध्याह्न और सायंकाल के समय घृत और शहद के साथ चटाना चाहिए॥ ३७-४०॥

विमर्शः—बिडालभेदाः—ग्राम्यो वन्यस्तोयजातः पक्षिमार्जार-बिल्लकौ। सुगन्धवृषणश्चेति मार्जाराः षट् प्रकीर्तिताः॥ विविधैः प्रवादैः = अनेकविधैर्वचनैर्यथा—काकांस्तित्तिरशब्देन मत्स्यशब्देन चोरगान्। भृष्टमत्स्यान्त्रशब्देन दद्याद् गण्डूपदानपि॥ जानन् जुगुप्सुर्नैवाद्याद् भुक्तं वा पुनरुल्लिखेत्। तस्माच्छद्मोपसिद्धानि मांसान्येतानि दापयेत्॥ कुछ व्यक्तियों को मांस खाने से घृणा होती है तथा कुछ मांसभक्षक होते हुये भी उन्हें किसी विशिष्ट पशु, पक्षी या जन्तु के मांस से अरुचि रहती है अत एव मिथ्या प्रवाद की युक्ति से अर्थात् छल से उन्हें दूसरे पशु, पक्षियों का मांस है ऐसा कह कर खिला देना चाहिए। चरकाचार्य ने इसके लिये उपधा शब्द का प्रयोग किया है। खरोष्ट्र-मांस (गदहे, ऊँट आदि) मांसवर्धक होता है—खरोष्ट्राश्वतरं नागं मांसं मांसाभिवृद्धये। दद्यान्माहिषशब्देन वेसवारीकृतं भिषक्॥ गजखड्गतुरङ्गाणां वेसवारीकृतं भिषक्। दद्यान्माहिषशब्देन मांसं मांसाभिवृद्धये। मांसेनोपचिताङ्गानां मांसं मांसकरं परम्। तीक्ष्णोष्णलाघवाच्छस्तं विशेषान्मृगपक्षिणाम्॥ मांसानि यान्यनभ्यासाद-निष्टानि प्रयोजयेत्। तेषूपधा सुखं भोक्तुं तथा शक्यानि तानि हि॥ जानन् जुगुप्सन्नैवाद्याज्जग्धं वा पुनरुल्लिखेत्। तस्माच्छद्मोपसिद्धानि मांसान्येतानि दापयेत्॥ (चरक) पानीयक्षारविधि—पानाय भोजनायाथ भस्मस्राव्यं चतुर्गुणे। जलेऽर्धमवशिष्टन्तु क्षाराम्भो ग्राह्यमिष्यते॥ (चरक) अश्वतरः—अश्वाद् गर्दभीजातः, गर्दभाद् वडवाजातो वा 'खच्चर' इति ख्यातः, घोड़े से गदही में तथा गदहे से घोड़ी में उत्पन्न होने वाला पशु खच्चर कहा जाता है। उपदंशश्च—मद्यपानारोचकभक्ष्यद्रव्यं 'चिखना' इति बिहारप्रान्ते मद्यपा वदन्ति।

मांसादमांसेषु घृतञ्च सिद्धं शोषापहं क्षौद्रकणासमेतम्।
द्राक्षासितामागधिकाऽवलेहः सक्षौद्रतैलः क्षयरोगघाती॥

क्षये घृतावलेहौ—मांस को खाने वाले पशु तथा पक्षियों के मांस के कल्क तथा क्वाथ (मांसरस) में सिद्ध किये हुये

घृत को शहद तथा पिप्पली के चूर्ण के साथ दिन में तीन बार सेवन करने से शोष रोग नष्ट होता है। इसी प्रकार मुनक्का, शर्करा और पिप्पली इनका युक्तियुक्त अवलेह बना के शहद और तिलतैल के साथ प्रतिदिन सेवन करने से क्षयरोग नष्ट करता है ॥ ४१ ॥

विमर्शः—मुनक्कावलेह—मुनक्का १० तोले भर ले के उसके बीज निकाल कर पत्थर पर चटनी के समान महीन पीस के १० तोले शक्कर की चासनी बना कर उसे नीचे उतार के उसमें उक्त मुनक्के की चटनी मिला के २॥ तोले पिप्पली का महीन चूर्ण मिला कर बरणी में सुरक्षित रख दें।

घृतेन चाजेन समाक्षिकेण तुरङ्गगन्धातिलमाषचूर्णम्।
सिताऽश्वगन्धामगधोद्भवानां चूर्णं घृतक्षौद्रयुतं प्रलिह्यात्॥

अश्वगन्धादिचूर्णम्—असगन्ध, तिल और उड़द इन्हें समान प्रमाण में ले के चूर्णित कर ६ माशे की मात्रा में ले के बकरी के ६ माशे घृत तथा ८ माशे शहद में मिला के दिन में तीन बार चटावें। अथवा शर्करा ५ तोला, असगन्ध ५ तोला और पिप्पली का चूर्ण २॥ तोले भर ले के अच्छी प्रकार मिश्रित कर शीशी में भर दें। इस चूर्ण को एक माशे भर ले के घृत ६ माशे तथा शहद ८ माशे के साथ मिश्रित कर दिन में तीन बार चाटने से यक्ष्मा रोग नष्ट हो जाता है ॥ ४२ ॥

क्षीरं पिबेद् वाऽप्यथ वाजिगन्धा-
विपक्वमेवं लभतेऽङ्गपुष्टिम्।
तदुत्थितं क्षीरघृतं सिताढ्यं
प्रातः पिबेद् वाऽपि पयोऽनुपानम् ॥ ४३ ॥

अश्वगन्धाक्षीरम्—अश्वगन्ध का कल्क ४ तोला तथा दुग्ध ३२ तोला और पानी दुग्ध से चतुर्गुण (१२८ तो०) ले के दुग्धावशेष पाक कर शीतल होने पर छान कर पीने से कृश हुये शरीर की पुष्टि होती है। अथवा इस प्रकार से अश्वगन्धा कल्क में पके हुये दुग्ध में दही डाल के जमा कर दूसरे दिन उस दही को मथ के उसमें से निकाले हुये घृत में शर्करा खूब डाल के प्रातःकाल सेवन करें तथा ऊपर से दुग्ध का अनुपान करें। इस तरह एक दो मास तक उक्त दुग्ध या दुग्धोत्थ घृत का सेवन करने से राजयक्ष्मा नष्ट हो जाता है ॥ ४३ ॥

विमर्शः—क्षीरपाकविधिः—द्रव्यादष्टगुणं क्षीरं क्षीरात्तोयं चतुर्गुणम्। क्षीरावशेषः कर्तव्यः क्षीरपाके त्वयं विधिः ॥

उत्सादने चापि तुरङ्गगन्धा
योज्या यवाश्चैव पुनर्नवे च।
कृत्स्ने वृषे तत्कुसुमैश्च सिद्धं
सर्पिः पिबेत् क्षौद्रयुतं हिताशी ॥ ४४ ॥
यक्ष्माणमेतत् प्रबलञ्च कासं
श्वासञ्च हन्यादपि पाण्डुताञ्च ॥ ४५ ॥

अश्वगन्धोत्सादनं वासाघृतञ्च—यक्ष्मा रोग में शरीर का उबटन करने के लिये अश्वगन्ध का चूर्ण, यवचूर्ण तथा श्वेत और रक्त पुनर्नवा का चूर्ण समान प्रमाण में मिश्रित कर प्रयुक्त करने से यक्ष्मा नष्ट हो जाता है। इसी प्रकार अडूसे के शाखा, पत्र और जड़ का क्वाथ बना कर ६४ तोला ले के उसमें अडूसे के पुष्पों का कल्क ४ पल तथा घृत १६ पल मिला कर घृतावशेष पाक करके इस घृत को छान कर शीशी या मृतबाण में भर देवें। फिर इस घृत को ६ माशे भर ले के १ तोला शहद मिला कर प्रतिदिन पीने से राजयक्ष्मा नष्ट होकर रोगी का हित होता है। यह वासकादि घृत राजयक्ष्मा, प्रबलकास, श्वास और पाण्डु रोग को नष्ट करता है ॥ ४४-४५ ॥

विमर्शः—डल्हणाचार्य ने इस घृत में घृतापेक्षया अष्टमांश वासापुष्प कल्क डालने को लिखा है—'चतुर्गुणेन क्वाथेन पुष्पकल्केनाष्टमभागेन च। तथा चोक्तं—'शणस्य कोविदारस्य वृषस्य च पृथक् पृथक्। कल्कद्रव्यत्वात्र शंसन्ति पुष्पकल्कं चतुष्पलम् ॥'

शकृद्रसा गोऽश्वगजाव्यजानां
क्वाथा मिताश्चापि तथैव भागैः।
मूर्वाहरिद्राखदिरद्रुमाणां
क्षीरस्य भागस्त्वपरो घृतस्य ॥ ४६ ॥
भागान् दशैतान् विपचेद्विधिज्ञो
दत्त्वा त्रिवर्गं मधुरञ्च कृत्स्नम्।
कटुत्रिकञ्चैव सभद्रदारु
घृतोत्तमं यक्ष्मनिवारणाय ॥ ४७ ॥

यक्ष्मनिवारक घृत—गाय, घोड़ा, हाथी, भेड़ और बकरी इन पाँचों के गोबर का स्वरस एक-एक सेर तथा मूर्वाक्वाथ ऽ१ सेर, हरिद्राक्वाथ ऽ१ सेर, खैर की छाल का क्वाथ ऽ१ सेर, गाय का दुग्ध ऽ१ सेर, गाय का घी ऽ१ सेर, सम्यक्पाकार्थ पानी ऽ४ सेर तथा त्रिवर्ग (त्रिफला) और काकोल्यादि गण की समस्त मधुर औषधियाँ अथवा अष्टवर्ग की औषधियाँ और कटुत्रिक (सोंठ, मरिच, पिप्पली तथा देवदारु इन सब का समान प्रमाण से मिश्रित कल्क घृत से चौथाई (२० तोले भर) ले के यथाविधि घृत सिद्ध करके छान कर शीशी में भर देवें। प्रतिदिन इस घृत को ६ माशे प्रमाण में ले कर ८ माशे या एक तोले शहद के साथ मिश्रित करके सेवन करने से राजयक्ष्मा नष्ट हो जाता है ॥ ४६-४७ ॥

विमर्शः—अत्र शकृद्रसानामेकैको भागः, मूर्वादीनामप्येकैको भागः, क्षीरस्यापरो नवमो भागः, घृतस्य दशम इति त्रिवर्गः—त्रिफला, मधुरञ्च कृत्स्नं काकोल्यादिकम्, अपरेऽष्टवर्गमाहुरिति डल्हणः।

द्वे पञ्चमूल्यौ वरुणं करञ्जं
भल्लातकं बिल्वपुनर्नवे च।
यवान् कुलत्थान् बदराणि भार्गीं
पाठां हुताशं समहीकदम्बम् ॥ ४८ ॥
कृत्वा कषायं विपचेद्धि तस्य
षड्भिर्हि पात्रैर्घृतपात्रमेकम्।
व्योषं महावृक्षपयोऽभयाञ्च
चव्यं सुराह्वं लवणोत्तमञ्च ॥ ४९ ॥
एतद्धि शोषं जठराणि चैव
हन्यात् प्रमेहांश्च सहानिलेन ॥ ५० ॥

द्विपञ्चमूलीघृतम्—लघु पञ्चमूल तथा बृहत्पञ्चमूल (दशमूल), वरुण की छाल, करञ्ज की छाल, भल्लातक फल,

बिल्व फल मज्जा, पुनर्नवा की जड़, जौ, कुलथी, बदरी फल, भारङ्गी, पाठा, चित्रक की छाल, महीकदम्ब (मुण्डी या कदम्बछाल) इन सबको समान प्रमाण में ले कर यवकुट करके यथाविधि क्राथ कर छान के ६ पात्र (६ आढक = २४ प्रस्थ) लें तथा घृत १ पात्र (१ आढक) और सोंठ, मरिच, पिप्पली, महावृक्ष (थूहर) का दुग्ध, हरड़, चव्य, देवदारु, और सैन्धव लवण इनको समान प्रमाण में मिला कर एक आढक घृत से चौथाई अर्थात् १ प्रस्थ भर ले कर यथाविधि घृत सिद्ध करके छान कर घृतबाण में भर दें। इस घृत को ६ माशे से १ तोले के प्रमाण में ले कर मधु के साथ या दुग्ध के साथ मिला कर सेवन करने से शोष, आठ प्रकार के उदर रोग, बीस प्रकार के प्रमेह तथा वात विकार नष्ट हो जाते हैं ॥ ४८-५० ॥

विमर्शः—प्रमेहांश्च सहानिलेन—डल्हणाचार्य ने इसका अर्थ अन्य प्रमेहों के साथ-साथ अनिल(वात)जन्य प्रमेहों को भी नष्ट करता है ऐसा किया है क्योंकि ऐसे तो वातिक प्रमेह असाध्य होते हैं किन्तु इस घृत के प्रभाव से वे भी नष्ट हो जाते हैं। 'साध्याः कफोत्था दश पित्तजाः षट् याप्या न साध्यः पवनाच्चतुष्कः ।'

गोश्वाव्यजेभैणखरोष्ट्रजातैः शकृद्रसक्षीररसक्षतोत्थैः ।
द्राक्षाऽश्वगन्धामगधासिताभिः सिद्धं घृतं यक्ष्मविकारहारि॥

यक्ष्मघ्नं घृतम्—गाय, घोड़ा, भेंड़, बकरी, हस्तिनी (इभा), कृष्णसार मृग (एण), गदहा और ऊँट इनके गोबर के स्वरस, इनके दुग्ध और गाय के अतिरिक्त शेष के मांस रस तथा रक्त के साथ मुनक्का, असगन्ध, पिप्पली और शर्करा इनका कल्क और घृत ले कर यथाविधि पका लेवें। प्रतिदिन इस घृत का सेवन करने से राजयक्ष्मा नष्ट हो जाता है ॥५१॥

एलाऽजमोदाऽऽमलकाऽभयाक्ष-
गायत्र्यरिष्टासनसालसारान् ।
विडङ्गभल्लातकचित्रकोग्रा-
कटुत्रिकाम्भोदसुराष्ट्रजांश्च ॥ ५२ ॥
पक्त्वा जले तेन पचेद्धि सर्पि-
स्तस्मिन् सुसिद्धे त्ववतारिते च ।
त्रिंशत्पलान्यत्र सितापलाया
दत्त्वा तुगाक्षीरिपलानि षट् च ॥ ५३ ॥
प्रस्थे घृतस्य द्विगुणञ्च दद्यात्
क्षौद्रं ततो मन्थहतं विदध्यात् ।
पलं पलं प्रातरतः प्रलिह्य
पश्चात् पिबेत् क्षीरमतन्द्रितश्च ॥ ५४ ॥
एतद्धि मेध्यं परमं पवित्रं
चक्षुष्यमायुष्यमथो यशस्यम् ।
यक्ष्माणमाशु व्यपहन्ति चैतत्
पाण्ड्वामयश्चैव भगन्दरञ्च ॥ ५५ ॥
श्वासञ्च हन्ति स्वरभेदकास-
हृत्प्लीहगुल्मग्रहणीगदांश्च ।
न चात्र किञ्चित् परिवर्जनीयं
रसायनञ्चैतदुपास्यमानम् ॥ ५६ ॥

एलादिघृतम्—इलायची, अजवायन, आँवले, हरड़, बहेड़े, गायत्री (खदिर) का सार (कत्था), नीम का सार, असन (बिजैसार), सार, शालवृक्ष का सार, वायविडङ्ग, भल्लातक फल, चित्रक की छाल, उग्रा (वचा), सोंठ, मरिच, पिप्पली, अम्भोद (मोथा), सुराष्ट्रजा (फिटकिरी) इन्हें समान प्रमाण में ले के यवकुट कर क्राथ कर लें। फिर यह क्राथ ४ प्रस्थ तथा घृत १ प्रस्थ ले के यथाविधि पाक कर छान लें। फिर इस घृत में मिश्री पीसी हुई बारीक ३० पल, वंशलोचन ६ पल एवं शहद घृत से द्विगुण (अर्थात् २ प्रस्थ) मिला कर मन्थन दण्ड से भलीभाँति मथ कर घृतबाण में भर के रख देवें। प्रतिदिन इस अवलेह को १ पल भर ले कर प्रातःकाल चाट कर ऊपर से दुग्ध का अनुपान करना चाहिए। यह घृत मेधा (धारणा शक्ति) का वर्धक, अत्यन्त पवित्र, नेत्रों के लिये हितकारी तथा आयु का वर्धक है। यह शीघ्र ही राजयक्ष्मा, पाण्डु, भगन्दर, श्वास, स्वरभेद, कास, हृदय रोग, प्लीहवृद्धि, गुल्म और ग्रहणी के विकारों को नष्ट करता है। इस घृत के सेवन करते समय कुछ भी वर्जनीय (परहेज) नहीं है ॥ ५२-५६ ॥

प्लीहोदरोक्तं विहितञ्च सर्पि-
स्त्रीण्येव चान्यानि हितानि चात्र ।
उपद्रवांश्च स्वरवैकृतादीन्
जयेद् यथास्वं प्रसमीक्ष्य शास्त्रम् ॥ ५७ ॥

यक्ष्मणि घृतान्तराणि— इस राजयक्ष्मा में प्लीहोदर रोगाधिकार में कहे हुये षट्पलघृत तथा अन्य दूसरे तीन घृतों का उपयोग करना हितकारक होता है। इसके अतिरिक्त स्वरविकृति (स्वरभङ्ग) आदि उपद्रवों को उनकी अपनी-अपनी शास्त्रोक्त चिकित्सा के अनुसार शान्त करें ॥ ५७ ॥

विमर्शः—'षट्पलघृत यथा—पिप्पलीपिप्पलीमूलचव्यचित्रकशृङ्गवेरयवक्षारसैन्धवानां पालिका भागाः, घृतप्रस्थं, तत्तुल्यञ्च क्षीरं तदैकध्यं विपाचयेत्, एतत् षट्पलकं नाम सर्पिः' (सु० चि० अ० १४) उपरोक्तघृतत्रयम्—(१) हरीतकीचूर्णप्रस्थमाढके घृतस्याग्न्याङ्गारेष्ववविलाप्य खजेनाभिमथ्यानुगुप्तं कृत्वाऽर्धमासं यवपल्ले वासयेत्, ततश्चोद्धृत्य परिस्राव्य हरीतकीकाथाम्लदधीन्यावाप्य विपचेत्। (२) 'गव्ये पयसि महावृक्षक्षीरमावाप्य विपचेत्। विपक्वञ्चावतार्य शीतीभूतं मन्थानेनाभिमथ्य नवनीतमादाय भूयो महावृक्षक्षीरेणैव विपचेत्। तद्यथायोगं मासं मासार्धं वा पाययेत्' (३) 'चव्यचित्रकदन्त्यतिविषाकुष्ठसारिवात्रिफलाजमोदहरिद्राशङ्खिनीत्रिवृत्त्रिकटुकानामर्धकार्षिका भागाः, राजवृक्षफलमज्जामष्टौ कर्षाः, महावृक्षक्षीरपले द्वे, गवां क्षीरमूत्रयोरष्टावष्टौ पलानि, एतत्सर्वं घृतप्रस्थे समावाप्य विपचेत्' (सु. चि. अ. १४)

अजाशकृन्मूत्रपयोघृतासृ-
ग्गोसालयानि प्रतिसेवमानः ।
स्नानादिनानाविधिना जहाति
मासादशेषं नियमेन शोषम् ॥ ५८ ॥

शोषे अजाशकृदादिसेवनफलम्—बकरी की मींगणियाँ, बकरी का मूत्र, बकरी का दुग्ध, बकरी का घृत, बकरी का रक्त और बकरियों का निवासस्थान इन्हें प्रतिदिन स्नान, उबटन, भक्षण और निवास रूप से यथायोग्य अनेक विधियों से

नियमपूर्वक एक मास तक सेवन करने वाले व्यक्ति का राजयक्ष्मा पूर्णरूप से नष्ट हो जाता है ॥ ५८ ॥

विमर्शः—आयुर्वेद शास्त्र में अनेक स्थलों पर बकरी के दुग्ध, मूत्र, शकृत् और मांस का सेवन करना राजयक्ष्मनाशक माना गया है—छागमांसं पयश्छागं छागं सर्पिः सशर्करम्। छागोपसेवा शयनं छागमध्ये तु यक्ष्मनुत्॥ (भै. र.) अजामांसरसप्रयोगः—सपिप्पलीकं सयवं सकुलत्थं सनागरम्। दाडिमामलकोपेतं स्निग्धमाजरसं पिबेत्॥ (च. दृत्त.) अजापञ्चकघृतप्रयोग—छागशकृद्रसमूत्रक्षीरैर्दध्ना च साधितं सर्पिः। सक्षारं यक्ष्महरं कासश्वासोपशान्तये परमम्॥ (भै. र.) छागलाद्यघृत—छागमांसतुलां गृह्य साधयेन्नल्वणेऽम्भसि। पादशेषेण तेनैव सर्पिः प्रस्थं विपाचयेत्॥ इत्यादि (भै. र.) छागलाद्यरिष्ट भी यक्ष्मा में अत्यधिक लाभदायक माना गया है। अष्टाङ्गसंग्रह में भी ६ मास तक बकरियों के साथ रहना तथा उनके झुण्ड के मध्य में शयन करना तथा उनके दुग्ध का पान, मूत्र से स्नान और उनकी मिङ्गणियों का शरीर पर घर्षण राजयक्ष्मनाशक माना गया है—'अजां वा पर्युपासीत षण्मासानुटजे वसन्। तत्पयोमूत्रविट्वृत्तिपरिषेकप्रघर्षणः॥ ताभिः परिवृतः स्वाध्यात्तच्छकृद्रेणुसङ्करे। एतद्रसायनं श्रेष्ठं रोगराजस्य नाशनम्॥ अन्यच्च—अजाशकृद्रसक्षीरदधिमूत्रैः शृतं घृतम्। सपञ्चपटुपञ्चाजं क्षयी क्षीराशुपः पिबेत्॥ (अ. सं.) छागमांसगुणाः—बकरी का मांस अल्प कफकारक, अल्प पित्तकारक तथा अनभिष्यन्दी होने से यक्ष्मा में अत्यधिक हितकारक है—नातिशीतो गुरुः स्निग्धो मन्दपित्तकफः स्मृतः। छगलस्त्वनभिष्यन्दी तेषां पीनसनाशनः॥ अजादुग्धगुणाः—अजादुग्ध अग्निदीपक, पचने में हल्का, संग्राही तथा श्वास, कास और रक्तपित्त का नाशक होने से यक्ष्मा में अमृत के समान माना गया है—गव्यतुल्यगुणं त्वाजं विशेषाच्छोषिणां हितम्। दीपनं लघु संग्राहि श्वासकासास्रपित्तनुत्॥ अजादुग्धगुणहेतु—बकरी का शरीर छोटा होता है, कटु और तिक्त औषधिपत्रों को खाया करती है, पानी कम पीति है तथा सारे दिन घूमती रहने से निरन्तर व्यायाम करती रहने के कारण उसका दुग्ध सर्वरोगनाशक माना गया है—अजानामल्पकायत्वात्कटुतिक्तनिषेवणात्। नात्यम्बुपानाद्व्यायामात् सर्वव्याधिहरं पयः॥ (सु. सू. अ. ४५) अजादधिगुणाः—दध्याजं कफपित्तघ्नं लघु वातक्षयापहम्। दुर्नामश्वासकासेषु हितमग्नेश्च दीपनम्॥ (सु. सू. अ. ४५) अजाघृतगुणाः—आजं घृतं दीपनीयं चक्षुष्यं बलवर्धनम्। कासे श्वासे क्षये चापि पथ्यं पाके च तल्लघु॥ (सु. सू. अ. ४५) अजामूत्रगुणाः—कासश्वासापहं शोफकामलापाण्डुरोगनुत्। कटुतिक्तान्वितं छागमीषन्मारुतकोपनम्॥ (सु. सू. अ. ४५) बकरी के अतिरिक्त कबूतर भी राजयक्ष्मनाशक माने गये हैं इसीलिये प्राचीन काल में हिन्दू कबूतर पालते थे तथा इस समय में मुसलमान पालते हैं—मेघदूते पारावत(कबूतर)राजनिर्देशः—तां कस्यांचिद्भवनवलभौ सुप्तपारावतायां, नीत्वा रात्रिं चिरविलसनात् खिन्नविद्युत्कलत्रः॥ इसके अतिरिक्त कबूतर, बन्दर, बकरी और हरिण का मांस भी क्षयनाशक होता है—पारावतकपिच्छागकुरङ्गाणां पृथक्-पृथक्। मांसचूर्णमजाक्षीरैः पीतं क्षयहरं परम्॥ (भै. र.) वैज्ञानिक अन्वेषण के अनुसार बकरी राजयक्ष्मा के लिये सहजक्षम (Naturally immune) मानी गई है किन्तु आयुर्वेद के महर्षि हजारों वर्ष पूर्व इसकी वैज्ञानिकता का लेखन कर चुके हैं।

रसोनयोगं विधिवत् क्षयार्तः क्षीरेण वा नागबलाप्रयोगम्।
सेवेत वा मागधिकाविधानं तथोपयोगं जतुनोऽश्मजस्य॥

क्षये रसोनादिचत्वारो योगाः—क्षय से पीड़ित व्यक्ति शास्त्रोक्त विधि के अनुसार लहसुन का सेवन करे अथवा नागबला के स्वरस या चूर्ण को दुग्ध के साथ सेवन करे। अथवा शास्त्रोक्त वर्धमान पिप्पली का सेवन करे तथा इसी प्रकार शिलाजीत का भी विधिपूर्वक सेवन करे ॥ ५९ ॥

विमर्शः—(१) रसोनः—पञ्चभिश्च रसैर्युक्तो रसेनाम्लेन वर्जितः। तस्माद्रसोन इत्युक्तो द्रव्याणां गुणवेदिभिः॥ लहसुन स्निग्ध होने से वातशामक तथा उष्ण होने से कफ का शामक होता है—'कफामयान् हन्ति महारसोनः' (धन्व० निघण्टु) एवं क्षुधा तथा बल को बढ़ाता है इसीलिये क्षय, वातव्याधि, मन्दाग्नि और वात तथा कफजन्य रोगों में इसका अत्यधिक प्रयोग शास्त्रों में किया गया है। (१) रसोनकल्कः—रसोनकल्कं तिलतैलमिश्रं योऽश्नाति नित्यं विषमज्वरार्तः। विमुच्यते सोऽप्यचिराज्ज्वरेण वातामयैश्चापि सुघोररूपैः॥ (२) रसोनतैलम्—'रसोनकल्कस्वरसेन पक्वं तैलं पिबेद् यस्त्वनिलामयार्तः' (३) रसोनपिण्डो वातरोगे श्रेष्ठः। (४) रसोनसुरा क्रिमिकुष्ठक्षयानिलघ्नी (भै० र०) (५) रसोनादिक्वाथ—आमवाते (भै० र०) (६) रसोनाद्यं घृतम्—गुल्मग्रहणीश्वासकासक्षयक्षयङ्करम् (भै० र०) (७) लहसून के ४-६ कुली को सैन्धव लवण, जीरक, धनियाँ, कालीमरिच, हिङ्गु आदि के साथ पीस के चटनी बना के भोजन के साथ सुबह-सन्ध्या सेवन करने से क्षय, कास, श्वास, अग्निमान्द्य नष्ट होते हैं। (८) रसोनक्षीरम्—लहसुन की ८-१० कुली छील कर उन्हें ऽ। पाव भर दुग्ध में खूब औटा के शक्कर डाल कर खीर बना के सेवन करने से क्षय, कास, श्वास, कफ विकार नष्ट होते हैं। (९) रसोनस्वरस—लहसुन का स्वरस २० तोले तथा उसमें मधु ३० तोले मिला के मृत्बाण में भर कर रख दें। सात दिन के पश्चात् इस मिश्रण में से एक-एक तोला सुबह, मध्याह्न और सायङ्काल सेवन करने से श्वास, कास तथा कफोत्सर्गप्रधान क्षय रोग नष्ट हो जाता है। (२) नागबलाय—क्षमारोग धातुक्षय से उत्पन्न होता है अत एव नागबला का सेवन रसरक्तादि धातुओं का वर्द्धक होने से क्षय में श्रेष्ठ माना जाता है। नागो हस्ती तद्वद्बलं ददातीति नागबला। चरकोक्त—नागबलारसायनप्रयोग अच्छा लाभ करता है—बलामूलान्युद्धरेत्, तेषां सुप्रक्षालितानां त्वक्पिण्डमाम्रमात्रमक्षमात्रं वा श्लक्ष्णपिष्टमालोड्य पयसा प्रातः प्रयोजयेत्। चूर्णीकृतानि वा पिबेत् पयसा, मधुसर्पिर्भ्यां वा संयोज्य भक्षयेत्, जीर्णे च क्षीरसर्पिर्भ्यां शालिषष्टिकमश्नीयात्। संवत्सरप्रयोगादस्य वर्षशतमजरं वयस्तिष्ठति। (च० चि० अ० १) (३) वर्धमानपिप्पली—'पिप्पलीर्वा क्षीरपिष्टा वारिपिष्टा वा पञ्चाभिवृद्ध्या दशाभिवृद्ध्या वा पिबेत्, क्षीरौदनाहारो दशरात्रं, भूयश्चापकर्षयेत्, एवं यावत् पञ्च दश वेति, तदेतत् पिप्पलीवर्धमानकम्' (सु० चि० अ० ५) अर्थात् सुश्रुत ने लिखा है कि दुर्बल में ५ तथा सबल में १० पिप्पली रोज बढ़ा कर दस दिन तक लें तथा उसी क्रम से पिप्पली घटावें। ५ पिप्पली रोज बढ़ाने से १० वें दिन ५० पिप्पली लेनी पड़ेगी तथा कुल मिला कर

१० दिन में २७५ पिप्पली होती हैं एवं १० पिप्पली रोज बढ़ाने से १० वें दिन १०० पिप्पली लेनी होंगी और १० दिन की कुल ५५० होती है। चरकाचार्य ने वर्धमानपिप्पली रसायन में १० पिप्पली रोज १० दिन तक बढ़ा कर और इसी क्रम से घटाते हुए १९ वें दिन तक कुल एक हजार पिप्पली पूर्ण कर लेने का योग लिखा है। १० का योग उत्तम, षट्पिप्पली वृद्धिप्रयोग मध्यम तथा त्रिपिप्पली वृद्धिप्रयोग कनिष्ठ माना गया है। आजकल प्रथम इस कनीयान् प्रयोग को ही शुरू करना चाहिए—जैसा कि चरक ने कहा है—त्रीणि द्रव्याणि नात्युपभुञ्जीत, क्षारः, पिप्पलीं, लवणानि चेति॥ क्रमवृद्ध्या दशाहानि दशपैप्पलिकं दिनम्। वर्धयेत्पयसा सार्द्धं तथैवापनयेत्पुनः॥ जीर्णे जीर्णे च भुञ्जीत षष्टिकं क्षीरसर्पिषा। पिप्पलीनां सहस्रस्य प्रयोगोऽयं रसायनम्॥ पिष्टास्ता बलिभिः सेव्याः शृता मध्यबलैर्नरैः। चूर्णीकृता ह्रस्वबलैर्योज्या दोषामयान्प्रति॥ दशपैप्पलिकः श्रेष्ठो मध्यमः षट् प्रकीर्तितः। प्रयोगो यस्त्रिपर्यन्तः स कनीयान् स चाबलैः॥ बृंहणं स्वर्यमायुष्यं प्लीहोदरविनाशनम्। वयसः स्थापनं मेध्यं पिप्पलीनां रसायनम्॥ (च० चि० अ० १) (४) शिलाजतु—ग्रीष्म ऋतु में सूर्य की प्रखर किरणों से सन्तप्त पर्वतों की शिलाओं से लाक्षारस के समान तरल पदार्थ का स्रवण होता है उसी को शिलाजीत कहते हैं—मासे शुक्रे (ज्येष्ठे) शुचौ (आषाढे) चैव शैलाः सूर्यांशुतापिताः। जतुप्रकाशं स्वरसं शिलाभ्यः प्रस्रवन्ति हि॥ शिलाजरिति विख्यातं सर्वव्याधिविनाशनम्॥ (सु० चि० अ० १३) चरकेऽपि—हेमाद्याः सूर्यसन्तप्ताः स्रवन्ति गिरिधातवः। जत्वाभं मृदु मृत्स्नाच्छं यन्मलं तच्छिलाजतु॥ अन्यच्च—ग्रीष्मादितप्ता गिरयो जतुतुल्यं वमन्ति यत्। हेमादिषड्धातुमयं प्रोच्यते तच्छिलाजतु॥ (रसकामधेनु) चरकाचार्य ने सुवर्ण, रजत, ताम्र और कृष्णलौह की खान वाले पत्थरों के प्रतप्त होने पर चार प्रकार की शिलाजतु मिलना बताया है तथा उसमें लौहयुक्त शिलाजतु को उत्तम माना है—हेम्नश्च रजतात्ताम्राद्वरात्कृष्णायसादपि। नात्युष्णशीतं धातुभ्यश्चतुर्भ्यस्तस्य सम्भवः॥ सुश्रुताचार्य तथा अन्य आचार्यों ने उक्त चार धातुओं के अतिरिक्त त्रपु (वङ्ग) और सीसे को युक्त कर षड्धातुमयपर्वत शिलाओं से निकलने के कारण इसे ६ प्रकार का माना है—त्रप्वादीनान्तु लोहानां षण्णामन्यतमान्वयात्। (सु० चि० अ० १३) त्रपुसीसताम्ररूप्यसुवर्णकृष्णलौहजानीति डल्हणः। यह विशेषकर नेपाल, भूटान और तिब्बत के पर्वतों से प्राप्त होती है। बद्रीनारायण के पहाड़ों से भी यह आती है। आधुनिक दृष्टि से यह पर्वतजन्य पेट्रोलियम जाति का तैलीय पदार्थ है अतः इसे Mineral pitch कहते हैं। विशिष्टगुणाः—शिलाजतु भवेत्तिक्तं कट्ठकञ्च रसायनम्। क्षयशोथोदरार्शांसि हन्ति बस्तिरुजापहेत्॥ (भै० र०) शिलाजतु प्रमेह, मधुमेह, अश्मरी, मूत्रकृच्छ्र, उदररोग, शोथ, अर्श, पाण्डुरोग, गुल्म और क्षय रोगों में विशिष्ट लाभ करती है तथा अत्यन्त रसायन है—जराव्याधिप्रशमनं देहदार्ढ्यकरं परम्। मेधास्मृतिकरं धन्यं क्षीराशी तत्प्रयोजयेत्॥ (च० चि० अ० १)। शिलाजतु का एक तुला (१०० पल) प्रमाण में यथाविधि प्रयोग करने पर रसायनोक्त फल अवश्य प्राप्त होता है—उपयुज्य तुलामेवं गिरिजादमृतोपमात्। वपुर्वर्णबलोपेतो मधुमेहविवर्जितः॥ जीवेद्वर्षशतं पूर्णमजरोऽमरसन्निभः॥ किन्तु महान् खेद है कि आजकल चमरी लोग दो पैसे तोले तक शिलाजतु देने लग गये हैं और अज्ञानी लोग लेकर सेवन करते हैं जब लाभ नहीं होता है तब आयुर्वेद को बदनाम किया जाता है अतः वास्तविक शिलाजतु प्रसिद्ध बड़े फर्म से लेकर ही काम में लें। दो पैसे तोले वाली शिलाजतु में भी धूर्त लोग शास्त्रोक्त लक्षण घटा के दिखा देते हैं—तप्तमग्नौ न दह्येत लिङ्गाकारमथापि च। जले जटिलतां याति श्रेष्ठमेतच्छिलाजतु॥ लौहकिट्टायते वह्नौ विधूमं दह्यतेऽम्भसि। तृणाद्यग्रे कृतं श्रेष्ठमधो गलति तन्तुवत्॥ शास्त्र में शिलाजतु के विभिन्नरोगनाशार्थ अनेक योग लिखे हैं जैसे चरकोक्त शिलाजतु रसायन तथा भैषज्यरत्नावलीय शिलाजतु लौह, शिलाजत्वादि वटी, शिलाजत्वादिचूर्ण एवं चक्रदत्तोक्त शिवा गुटिका आदि इन चारों योगों के अतिरिक्त यक्ष्मानाशन के लिये नारियल की गरी बृंहण तथा बलमांसवर्द्धक होने से श्रेष्ठ मानी गई है—नारिकेलफलानि च। बृंहणस्निग्धशीतानि बल्यानि मधुराणि च॥ (चरक) नारिकेलं गुरु स्निग्धं पित्तघ्नं स्वादु शीतलम्। बलमांसप्रदं हृद्यं बृंहणं बस्तिशोधनम्॥ (सुश्रुत) चक्रदत्तोक्त नारिकेलखण्डपाक क्षयादि रोग में प्रयुक्त करना चाहिये—कुडवमितमिह स्यान्नारिकेलं सुपिष्टं पलपरिमितसर्पिः पाचितं तुल्यखण्डम्। निजपयसि तदेतत् प्रस्थमात्रे विपक्वं कुडवमथ सुशीते शाणमात्रे क्षिपेच्च। धान्याकपिप्पलिपयोदतुगादिजीरैः सार्कं त्रिजातभिभकेशरवह्निचूर्णैः। हन्त्यम्लपित्तमरुचिं क्षयमस्रपित्तं शूलं वमिं सकलपौरुषकारि पुंसाम्॥ अमेरिका में खोपरे के ताजे तैल का प्रयोग क्षयरोग में काडलिवर के प्रतिनिधित्व के रूप में करते हैं। यक्ष्मारोगनाशन के लिये बहुत प्राचीन काल से आयुर्वेद में सुवर्ण का प्रयोग प्रचलित है। सुवर्ण विषहर तथा यक्ष्मनाशक है—हेमस्वर्णविषाण्याशु गरांश्च विनियच्छति। (चरक) स्निग्धं मेध्यं विषहरं बृंहणं वृष्यमग्र्यम्। यक्ष्मोन्मादप्रशमनपरं देहरोगप्रमाथि॥ (रस० समु०) सुवर्ण के पात्र में रखा हुआ जल पीना, सुवर्ण के वर्क को किसी मुरब्बे (हरड़, आंवले, बेल, सेब) के ऊपर लपेट कर सेवन करना चाहिए। यक्ष्मा में सुवर्ण के निम्न योग प्रचलित हैं—सुवर्णमालिनीवसन्त, चन्द्रोदय, सुवर्णभस्म, क्षयारि स्वर्ण, चतुर्मुखरस, महालक्ष्मीविलासरस, मृगाङ्क, राजमृगाङ्क, कुमुदेश्वर आदि। आधुनिक विज्ञान में भी सुवर्ण का प्रयोग सूचिकाभरण के रूप में किया जाता है। सैनोकैसिन, क्रिसेल्बीन, सोल्गेनाल आदि इञ्जेक्शन सुवर्ण के आते हैं। कुछ शास्त्रज्ञ कहते हैं कि सुवर्ण यक्ष्मा के जीवाणुओं को नष्ट कर शरीर में एक प्रकार वैक्सिन बनाता है जो ट्युबरकुलीन के समान क्षमता पैदा करता है। अन्य वैज्ञानिक कहते हैं कि सुवर्ण यक्ष्मा के जीवाणुओं को नष्ट नहीं करता किन्तु शरीर के रक्तकदल (W. B. C.) को सबल बना कर शरीर की रोगप्रतिकारक शक्ति को बढ़ाता है। क्षय को नष्ट करने के लिये आजकल केल्सियम के अनेक योग प्रचलित हैं। इससे अस्थियाँ मजबूत होती हैं तथा क्षय के जीवाणुओं को या उनसे विकृत हुये फुफ्फुस के भाग के चारों ओर एक आवरण (खटिकाभरण=Calsification) सा हो जाता है जिससे जीवाणु कैदी की भांति अरेस्ट हो जाते हैं। आयुर्वेद में इस कार्य के लिये क्षय में मुक्ताभस्म, मुक्तापिष्टी, प्रवाल की भस्म और पिष्टी तथा शङ्ख, शुक्ति और कपर्दिका भस्मों का बाहुल्येन प्रयोग लिखा है। क्षय में मांस का प्रयोग आधुनिक तथा आयुर्वेदिक मत से अत्यन्त महत्त्व

का है—'मांसमेवाश्नतः शोषश्चिरं काये न तिष्ठति।' (चरक) यक्ष्मा में मांसजातीय (Proteins) पदार्थों से रोगी की सहनशक्ति, स्निग्ध (Fatty) पदार्थों से प्रतीकारशक्ति, पिष्टमय (Starchy) पदार्थ रोगप्रसार एवं खनिजयुक्त (विशेष कर Calcium) पदार्थों से खटिकाभरण में सहायता होती है अत एव यक्ष्मा में मांसजातीय तथा स्निग्ध पदार्थ अधिक, खटिक मध्यम तथा पिष्टमय पदार्थ कम प्रयुक्त करने चाहिए। प्रोटीन की पूर्ति के लिये मांस, अण्डा, दुग्ध तथा स्नेहों में मक्खन, घी, नारियल का तैल और काडलिवर ऑयल प्रशस्त हैं। खनिजयुक्त पदार्थों के लिये मेथी, पालक, बथुआ, चने के पत्ते, चौलाई, छील आदि पत्रकशाकों का प्रयोग उत्तम है। फलों में सन्तरा, मोसम्बी, अंगूर, सेव, केला, पपीता, अनार, टमाटर, बादाम, अखरोट किसमिस, खोपरा आदि दें। जीवाणुनाशक औषधियों में क्रिआजोट, ग्वाकलकार्ब, मेंथाल, यूकालिप्टोल, टर्पेण्टानि, आयोडीन, कार्बोलिक एसिड, लहसुनस्वरस आदि यथायोग्य अभ्यङ्ग, मुखद्वारा सेवन तथा भापद्वारा सूँघने को प्रयुक्त होती हैं। लाक्षातैल, चन्दनबलालाक्षादि तैल अभ्यङ्गार्थ श्रेष्ठ हैं। शुद्ध तथा रूक्ष हवा, प्रातःकालीन सूर्य की किरणें और पूर्ण विश्राम ये अत्यन्त आवश्यक हैं। वर्ज्य—यक्ष्मी के वीर्य की रक्षा अत्यन्त आवश्यक है अत एव मन तथा इन्द्रियों को उत्तेजित करने वाले पञ्चेन्द्रिय विषय सिनेमा, गन्दे उपन्यास, नृत्य, गीत, कुसङ्गति, मद्य, चाय, काफी, लालमिरच, इमली, खट्टे पदार्थ ये वर्जित हैं।

शोकं स्त्रियं क्रोधमसूयनञ्च
त्यजेदुदारान् विषयान् भजेत।
वैद्यान्द्विजातींस्त्रिदशान्गुरूंश्च
वाचश्च पुण्याः शृणुयाद् द्विजेभ्यः ॥ ६० ॥

इति सुश्रुतसंहितायामुत्तरतन्त्रान्तर्गते कायचिकित्सातन्त्रे (तृतीयोऽध्यायः, आदितः) एकचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४१ ॥

शोषे परिहार्याणि—चिन्ता, स्त्रीसेवन, क्रोध तथा असूया (दूसरे के गुणों में दोषप्रकटन) वर्जित करें एवं उदार (उत्कृष्ट) विषयों (खाद्य-पेय) का सेवन करें तथा वैद्य, द्विजाति (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य), देवता, गुरु और वृद्ध सन्तों का सेवन करें। इसके अतिरिक्त ब्राह्मणों से पुण्यकारी कथाओं (भागवत-पुराणादिक) का श्रवण करें ॥ ६० ॥

विमर्शः—वृन्ताकं कारवेल्लञ्च तैलं बिल्वञ्च राजिकाम्। व्यायामञ्च दिवानिद्रां क्षयी कोपं विवर्जयेत् ॥ विरेचनं वेगविधारणानि श्रमं स्त्रियं स्वेदनमञ्जनञ्च। प्रजागरं साहसकर्मसेवारूक्षान्नपानं विषमाशनञ्च ॥ यद्यपि आधुनिक चिकित्सा में मद्यसेवन वर्जित माना है किन्तु मद्य तीक्ष्ण, आशुव्यापी तथा उष्ण होने से स्रोतोऽवरोधविनाशनपूर्वक कफ नष्ट करता है अतः आयुर्वेददृष्टि से आयुर्वेदिक आसवारिष्टों का सेवन लाभकारी है—मांसमेवाश्नतः शोषी माध्वीकं पिबतोऽपि च। नियतानल्पचित्तस्य चिरं काये न तिष्ठति ॥ वारुणीमण्डनित्यस्य बहिर्मार्जनसेविनः। अविधारितवेगस्य यक्ष्मा न लभतेऽन्तरम् ॥ प्रसन्नां वारुणीं सीधुमरिष्टानासवान्मधु। यथार्हमनुपानार्थं पिबेन्मांसानि भक्षयन् ॥ मद्यं तैक्ष्ण्यौष्ण्यवैशद्यसूक्ष्मत्वात् स्रोतसां मुखम्। प्रमथ्य विवृणोत्याशु तन्मोक्षात् सप्तधातवः ॥ पुष्यन्ति धातुपोषाच्च शीघ्रं शोषः प्रशाम्यति। बहिःस्पर्शनमाश्रित्य वक्ष्यतेऽतः परं विधिः। स्नेहक्षीराम्बुकोष्ठेषु स्वभ्यक्तमवगाहयेत् ॥ स्रोतोविबन्धमोक्षार्थं बलपुष्ट्यर्थमेव च। उत्तीर्णं मिश्रकैः स्नेहैः पुनराक्तैः सुखैः करैः। मृद्नीयात् सुखमासीनं सुखे चोत्सादयेत्परम् ॥ रोगराजनिवृत्त्युपायः—सत्येनाचारयोगेन मङ्गल्यैरप्यहिंसया। वैद्यविप्रार्चनाच्चैव रोगराजो निवर्तते। वेदविहितेष्टिप्रयोगः—यया प्रयुक्तया चेष्ट्या राजयक्ष्मा पुरा जितः। तां वेदविहितामिष्टीमारोग्यार्थी प्रयोजयेत् ॥ इस प्रकार राजयक्ष्मी शुद्ध आचार-विचार का सेवन, पौष्टिक भोजन, कथा-वार्तादि सत्सङ्ग, शुद्ध हवा तथा सूर्यप्रकाश, ब्रह्मचर्य आदि के सेवनपूर्वक संयमित जीवन को बितावे तो उसका यक्ष्मा नष्ट हो जाता है तथा वह अधिक वर्ष तक जीवित रह सकता है।

इति श्री अम्बिकादत्तशास्त्रिणा विरचितायां सुश्रुतसंहितायां उत्तरतन्त्रस्य भाषाटीकायां शोषप्रतिषेधो नामैकचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४१ ॥

द्विचत्वारिंशत्तमोऽध्यायः।

अथातो गुल्मप्रतिषेधं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥ २ ॥

अब इसके अनन्तर गुल्मप्रतिषेध नामक अध्याय का प्रारम्भ करते हैं जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने कहा है ॥ १-२ ॥

यथोक्तैः कोपनैर्दोषाः कुपिताः कोष्ठमागताः।
जनयन्ति नृणां गुल्मं स पञ्चविध उच्यते ॥ ३ ॥

गुल्मसम्प्राप्ति—जैसा कि सुश्रुत सूत्रस्थान के व्रणप्रश्नविषयक २१ वें अध्याय में बलवद्विग्रहादि कारणों से प्रकुपित वात तथा क्रोध, शोक, भयादि कारणों से पित्त एवं दिवास्वप्नाव्यायामालस्यादि कारणों से कफ कुपित हो के कोष्ठ में आ कर मनुष्यों में गुल्म रोग उत्पन्न करते हैं तथा वह गुल्म पाँच प्रकार का होता है ॥ ३ ॥

विमर्शः—यथोक्तैः कोपनैः—वातादि के जो अपने-अपने लक्षण या गुण हैं उन गुण वाले पदार्थों के सेवन करने से वे वातादि दोष प्रकुपित हो जाते हैं—जैसे वात के गुण रूक्षशीतादि हैं, इन गुणयुक्त पदार्थों से वात कुपित होता है—रूक्षः शीतो लघुः सूक्ष्मश्चलोऽथ विशदः खरः। पित्तगुणाः—सस्नेहमुष्णं तीक्ष्णञ्च द्रवमम्लं सरं कटु। कफगुणाः—गुरुशीतमृदुस्निग्धमधुरस्थिरपिच्छिलाः। तीसटाचार्य वातादि दोषों के प्रकोपक कारण बड़े सुन्दर श्लोकों में लिखते हैं—वातप्रकोपकहेतवः—व्यायामादपतर्पणात्प्रपतनाद्भङ्गात्क्षयाज्जागराद्वेगानाञ्च विधारणादतिशुचः शैत्यादतित्रासतः। रूक्षक्षोभकषायतिक्तकटुकैरेभिः प्रकोपं व्रजेद्वायुर्वारिधरागमे परिणते चान्नेऽपराह्णेऽपि च ॥ पित्तप्रकोपकहेतवः—कट्वम्लोष्णविदाहितीक्ष्णलवणक्रोधोपवासातपस्त्रीसम्पर्कतिलातसीदधिसुराशुक्तारनालादिभिः। भुक्ते जीर्यति भोजने च शरदि ग्रीष्मे सति प्राणिनाम्। मध्याह्ने च तथार्धरात्रिसमये पित्तं प्रकोपं व्रजेत् ॥ कफप्रकोपहेतवः—गुरुमधुररसातिस्निग्धदुग्धेक्षु-

भक्ष्यद्रवदधिदिननिद्रापूपसर्पिष्प्रपूरैः । तुहिनपतनकाले श्लेष्मणः सम्प्रकोपः प्रभवति दिवसादौ भुक्तमात्रे वसन्ते ॥ (मधुकोष) **चरकोक्तगुल्मसम्प्राप्तिः**—कफश्च पित्तञ्च स दुष्टवायुरुद्धूय मार्गान् विनिबद्ध्य ताभ्याम् । हृन्नाभिपार्श्वोदरबस्तिशूलं करोत्यथो याति न बद्धमार्गः ॥ पक्वाशये पित्तकफाशये वा स्थितः स्वतन्त्रः परसंश्रयो वा । स्पर्शोपलभ्यः परिपिण्डितत्वाद्गुल्मो यथा दोषमुपैति नाम ॥ **कोष्ठलक्षणम्**—स्थानान्यामाग्निपक्वानां मूत्रस्य रुधिरस्य च । हृदुण्डुकः फुफ्फुसौ च कोष्ठमित्यभिधीयते ॥ **माधवोक्तगुल्मसम्प्राप्तिः**—दुष्टा वातादयोऽत्यर्थं मिथ्याहारविहारतः । कुर्वन्ति पञ्चधा गुल्मं कोष्ठान्तर्ग्रन्थिरूपिणम् ॥

हृद्बस्त्योरन्तरे ग्रन्थिः सञ्चारी यदि वाऽचलः ।
चयापचयवान् वृत्तः स गुल्म इति कीर्त्तितः ॥ ४ ॥

गुल्मरूपमुच्यते—हृदय और बस्ति के मध्य में चल अथवा अचल, कभी घटने तथा कभी बढ़ने वाली गोल ग्रन्थि को गुल्म कहते हैं ॥ ४ ॥

विमर्शः—हृदय और बस्ति के अन्दर गुल्म होता है अथवा हृदय और बस्ति के मध्य प्रदेश अर्थात् सारे उदर विभाग में गुल्म होता है, ऐसे दोनों अर्थ उचित हैं । अन्यत्र 'हृन्नाभ्योरन्तरे' ऐसा पाठान्तर है, ऐसी स्थिति में 'गङ्गायां घोषः' के समान नाभि शब्द से लक्षण या तत्समीपस्थ बस्ति का ग्रहण कर लिया जाता है । कुछ लोगों का कथन है कि बस्ति के अन्दर विद्रधि रोग होता है गुल्म नहीं, किन्तु यह मत उचित नहीं है क्योंकि चरकाचार्य ने भी सुश्रुतादि के समान गुल्म के पाँच स्थानों में बस्ति को भी माना है, अतः बस्ति में भी गुल्म होती ही है—'पञ्च स्थानानि गुल्मस्य पार्श्वे हृन्नाभिबस्तयः' (चरक) इन पाँच स्थानों में दोषज गुल्म होते हैं किन्तु स्त्रियों में होने वाले रक्त गुल्म का स्थान बस्ति-सान्निध्य से गर्भाशय ग्रहण किया जाता है । प्राचीन आचार्यों ने उदर के ऊर्ध्व, मध्य, अधः और दो पार्श्व ये पाँच विभाग कर उनकी क्रमशः हृदय, नाभि, बस्ति और दोनों पार्श्व संज्ञाएँ स्थिर कर दी हैं । आधुनिक विद्वान् उदर के मध्य में ऊर्ध्व, मध्य, अधः भागों को अधिजठर (Epigastrium), नाभि (Umblical region) और उपजठर (Hypogastrium) और दोनों पार्श्वों में ऊर्ध्व, मध्य और अधः भाग को क्रमशः (दक्षिण और वाम) अनुपार्श्विक (Hypochondrium), कटि (Lumber) और वंक्षणीय (Iliac) प्रदेशों के नाम से नव भागों में विभक्त करते हैं । इस प्रकार सम्पूर्ण उदर गुल्म का स्थान है । सञ्चारी यदि वाऽचलः—वात की अधिकता होने पर ग्रन्थि सञ्चरणशील तथा वायु की अल्पता होने पर अचल (एक स्थान स्थित) होता है । चयापचय यह लक्षण वातिक गुल्म का है ऐसा जेज्जट का मत है किन्तु सभी गुल्मों में वात प्रधान होता है अतः गयदासाचार्य ने चयापचयवान् गुल्मसामान्य का लक्षण माना है ।

पञ्च गुल्माश्रया नृणां पार्श्वे हृन्नाभिबस्तयः ॥ ५ ॥

गुल्मस्थानानि—मनुष्यों में गुल्म के आश्रय (स्थान) पाँच माने गये हैं जैसे दोनों पार्श्व, तीसरा हृदय, चौथी नाभि तथा पाँचवी बस्ति ॥ ५ ॥

गुपितानिलमूलत्वाद् गूढमूलोदयादपि ।
गुल्मवद्वा विशालत्वाद् गुल्म इत्यभिधीयते ॥६॥

गुल्मनिरुक्तिः—आकुलीकृत वायु मूल (प्रधान) कारण होने से, गूढमूल (कन्दादिक) की तरह उत्पन्न होने से अथवा गूढ (गुप्त) मूल (कारण) वाले वात से उत्पन्न होने से तथा वृक्षादि या मनुष्यादि के गुल्म (झुण्ड) के समान विस्तीर्ण (विशाल) होने से इसे गुल्म कहा जाता है ॥ ६ ॥

विमर्शः—गुपितानिलमूलत्वात् = आकुलीकृतवायुमूलत्वात्, एतेन सर्वगुल्मानां वायुः कारणम् । अन्यत्र कुपितानिलमूलत्वात् ऐसा पाठान्तर है, जिसका अर्थ पूर्ववत् ही होता है । गूढमूलोदयात् गूढमूलाः कन्दादयः तेषामिवोदयादुत्पत्तेः, अन्ये तु गूढमूलो गुप्तकारण उदयो यस्य स तथा तस्मात्, मूलस्य वायोर्गूढत्वमावृतत्वमुच्यते तत्प्रकोपहेतुविघ्यात् तथा च 'वायोर्धातुक्षयात्कोपो मार्गस्यावरणेन च । गुल्मवत्मनुष्यादिसंहतिवत् विशालत्वाद्विस्तीर्णत्वात् । एतेनैतदुक्तं भवति यथा संहतिविशेषेणावस्थिता मनुष्यवृक्षादयो गुल्मव्यपदेशं भजन्ते—मनुष्यगुल्मो वृक्षगुल्म इति, एवमत्रापि दृष्टान्तत्रयं गुल्मस्य दोषोभयोद्भवत्वप्रदर्शनार्थम् । इस समग्र श्लोक का परिवर्तन निम्न रूप से मिलता है—कुपितानिलमूलत्वात्सञ्चितत्वान्मलस्य च । गुल्मवद्वा विशालत्वाद् गुल्म इत्यभिधीयते । (माधव मधुकोष) यद्यपि गुल्म वात, पित्त, कफ, सन्निपात व रक्त के कारण पाँच प्रकार का होता है किन्तु इन दोषों में वायु प्रधान होता है अतएव सुश्रुताचार्य ने इसे गुपित (कुपित) अनिल (वात) मूलक माना है तथा चरकाचार्य भी गुल्म में वात को प्रधान मानते हैं—(१) 'सर्वेष्वपि तु खल्वेतेषु गुल्मेषु न कश्चिद्वाताद्दृते सम्भवति गुल्मः' (२) मारुते त्वुपशान्तेष्वल्पेनापि प्रयत्नेन शक्योऽन्योऽपि दोषो नियन्तुं गुल्मेषु । (३) 'गुल्मिनामनिलशान्तिरुपायैः सर्वशो विधिवदाचरितव्यः' (च० नि० अ० ३) । लतादिपिहितसंस्थानविशेषादौ गुल्मव्यपदेशो लोके तत्सादृश्यात् सञ्चितपरिपिण्डितदोषेऽपि गुल्मसंज्ञेत्याहुः । बाप्यचन्द्रस्त्वाह संपिण्डितदोषो गुडकेन भीयत इति निरुक्तिः' गुल्म की उत्पत्ति में कारण गुप्त रहने से तथा गुल्म (समूह) की तरह विशाल होने से जैसे वृक्षगुल्म, लतागुल्म, सैन्यगुल्म शब्द होते हैं ऐसे यह भी एक प्रकार का दोषगुल्म (दोषसमूह) है । 'यथैकमूलेषु संघातजातेषु शरेक्षु प्रभृतेषु स्कन्धरहितेषु गुल्म इति व्यपदिशन्ति तद्वदिहापि सङ्घातेनावस्थानाद्गुल्म इत्यभिधानम्' जैसे शर, ऊख आदि पत्रसमूह की गुल्म संज्ञा है वैसे यहाँ भी वातादिदोष समूह की गुल्म संज्ञा है । ऐसे गुल्म शब्द का अर्थ गुच्छा या गोलाकार पदार्थ होता है । उदरगत महास्रोत के भीतर की वायु अर्थात् भोजन के पाक से उत्पन्न वायवीय पदार्थ (Gasses), पित्त अर्थात् विभिन्न अम्ल का क्षारप्रधान पाचक रस एवं विदग्ध अन्न और कफ अर्थात् आम तथा अन्य पिच्छिल एवं सान्द्र पदार्थ (Mucous) आदि का अनुचित रूप से किसी स्थान पर सञ्चित होकर एक गोले के आकार में प्रतीत होना ही गुल्म है । पूर्वोक्त सञ्चित पदार्थों के कारण वायु क्षुभित होकर आन्त्र की स्वाभाविक गति में अनियमितता उत्पन्न कर देता है तथा सञ्चयस्थान के पास सङ्कोच

उत्पन्न कर उस विशिष्ट पदार्थ को और भी अधिक मात्रा में सञ्चित होने में सहायक होता है। कभी-कभी भाराधिक्य तथा स्वेदनादि उपचार से सङ्कोच निवृत्त होने पर वह सञ्चित पदार्थ मलादि मार्ग से बाहर निकल जाते हैं और लक्षण शान्त हो जाते हैं यही चयापचयवान् का आशय है।

स यस्मादात्मनि चयं गच्छत्यप्स्विव बुद्बुदः।
अन्तः सरति यस्माच्च न पाकमुपयात्यतः॥ ७॥

गुल्मपाकाभावे हेतुः—जिस तरह पानी का बुलबुला पानी में ही बनता है उसी तरह यह गुल्म अपने ही अवयव (दोषरूप) में निचय (वृद्धि) को प्राप्त होता है तथा अपने ही अवयवों में सञ्चरित होता रहता है इसीलिये गुल्म में पाक नहीं होता है॥ ७॥

विमर्शः—यहाँ पर गुल्मपाकाभाव का तात्पर्य वातिक गुल्म से समझना चाहिए क्योंकि चरकाचार्य ने पित्तज एवं रक्तज गुल्म में पाक होना लिखा है—'रक्तपित्तातिवृद्धत्वात् क्रियामनुपलभ्य च। यदि गुल्मो विदह्येत शस्त्रं तत्र भिषग्जितम्॥ गुल्म स्वयं दोषाकार होने से अर्थात् वह मांस, शोणित आदि धातुओं के आश्रय के बिना ही उत्पन्न होने से पाक को प्राप्त नहीं होता है तथा विद्रधि रक्त, मांसादि का आश्रय करके उत्पन्न होती है अतएव उसमें पाक होता है ऐसा आयुर्वेद का बहुमान्य सिद्धान्त है—मांसशोणितहीनत्वाद् गुल्मः पाकं न गच्छति। मांसशोणितभूयस्त्वात्पाकं गच्छति विद्रधिः॥ वस्तुतस्तु गुल्म की उपयुक्त चिकित्सा न करने से तथा इसके चिरकालिक हो जाने पर अन्नादि अवयवों की भित्ति और उसके समीपस्थ अवयवों में अवस्थान कर साश्रय हो जाते हैं तब ये गुल्म ग्रन्थि (Cyst), विद्रधि (Abscess) आदि के रूप में परिणत हो जाते हैं और उनका दुष्ट रक्त और दुष्ट मांस से सम्बन्ध हो जाता है तब उनमें पाक की प्रवृत्ति आ जाती है उस अवस्था में उन्हें गुल्म न कहकर विद्रधि आदि नाम से ही पुकारा जाता है जैसा कि चरकाचार्य ने लिखा है—'स वै शीघ्रविदाहित्वाद् विद्रधीत्यभिधीयते'। गुल्मविद्रधिभेदः—न निबन्धोऽस्ति गुल्मानां विद्रधिः सनिबन्धना। गुल्माकाराः स्वयं दोषा विद्रधिर्मांसशोणिते॥ विवरानुचरो ग्रन्थिरप्सु बुद्बुदको यथा। एवं प्रकारो गुल्मस्तु तस्मात्पाकं न गच्छति॥ मांसशोणितबाहुल्यात्पाकं गच्छति विद्रधिः॥

पुरुषाणां तथा स्त्रीणां ज्ञेयो रक्तेन चापरः॥ ८॥

पूर्वोक्त पञ्चविधगुल्मविवरण—यह गुल्म कुपित हुये वात, पित्त और कफ के कारण अलग-अलग तीन प्रकार का तथा तीनों दोषों के मिलने से चतुर्थ सान्निपातिक एवं रक्त की दुष्टि से पाँचवाँ ऐसे पाँच भेद वाला होता है। इनमें से प्रथम चार प्रकार के गुल्म स्त्री और पुरुष दोनों में उत्पन्न होते हैं किन्तु रक्तजन्य गुल्म केवल स्त्रियों में ही होता है॥ ८॥

विमर्शः—यद्यपि सुश्रुताचार्य ने गुल्म के पाँच भेद लिखे हैं किन्तु गुल्म पाँच ही होते हैं ऐसा अवधारण (निश्चय) नहीं होने से व्यस्त से पृथक् एक-एक दोषज तथा द्वन्द्वज गुल्म का भी ग्रहण करना चाहिए जैसा कि चरकाचार्य ने भी सूत्रस्थान में 'पञ्चगुल्माः' (च. सू. अ. १९) गुल्म पाँच होते हैं ऐसा कह कर भी चिकित्सास्थान में तीन द्वन्द्वज गुल्मों का भी निर्देश कर दिया है—'संसृष्टलिङ्गानपरांश्च गुल्मांस्त्रीनादिशेदौषधकल्पनार्थम्' (च. चि. अ. ५) ऐसा माधवनिदान मधुकोष में 'स व्यस्तैर्जायते दोषैः' इत्यादि श्लोक का विवेचन किया है। सुश्रुत ने प्रकृतिसमसमवायजन्य एवं चिकित्सा में विशेष अन्तर न होने से द्वन्द्वज गुल्मों का पृथक् निर्देश नहीं किया है। रक्तज गुल्म स्त्रियों को ही होता है यह मत चरक के 'स रौधिरः स्त्रीभव एव गुल्मः' इस श्लोक से प्रमाणित होता है। स्त्रियों में रक्त से यहाँ आर्तव का ही ग्रहण करना चाहिए धातुरूप रक्त का नहीं। धातु रूप रक्तज गुल्म भी यद्यपि होता है किन्तु उसकी सम्प्राप्ति इससे भिन्न होती है तथा निदान और चिकित्सा में समानता होने से उसका अन्तर्भाव पित्तज गुल्म में ही हो जाता है। धातुज रक्त गुल्म का चरक ने लक्षण और रक्तावसेचन चिकित्सा भी लिखी है—'तृष्णाज्वरपरीदाहशूलस्वेदाग्निमार्दवैः। गुल्मिनामरुचौ चापि रक्तमेवावसेचयेत्॥' (च. चि. अ. ५) यह धातुरूप रक्तज गुल्म स्त्रियों तथा पुरुषों दोनों में होता है ऐसा भट्टार हरिश्चन्द्र का मत है। चीरपाणि आचार्य ने भी लिखा है कि स्त्रियों में जो आर्तव रक्तज गुल्म होता है वह पुरुषों में नहीं होता किन्तु अन्य रक्त रूप धातुजन्य गुल्म स्त्री-पुरुष दोनों में ही होता है—स्त्रीणामार्तवजो गुल्मो न पुंसामुपजायते। अन्यस्त्वसृग्भवो गुल्मः स्त्रीणां पुंसाञ्च जायते॥ अन्यच्च—आर्तवादपि गुल्मः स्यात्स तु स्त्रीणां प्रजायते। अन्यस्त्वसृग्भवः पुंसां तथा स्त्रीणां प्रजायते॥ वाप्य चन्द्र का कथन है कि वातिकादि गुल्मों में अपथ्य सेवन करने से रक्त के दूषित हो जाने पर उसी को ही रक्तज गुल्म कहते हैं अत एव चरकाचार्य ने दोषज गुल्म सात तथा रक्तज गुल्म एक ऐसे आठ गुल्मों का ही वर्णन किया है। यदि धातुरूप रक्तज गुल्म भी चरक को पृथक् स्वीकृत होता तो गुल्मों की संख्या तो लिखते।

सदनं मन्दता वह्नेराटोपोऽन्त्रविकूजनम्।
विण्मूत्रानिलसङ्गश्च सौहित्यासहता तथा॥
द्वेषोऽन्ने वायुरूर्ध्वञ्च पूर्वरूपेषु गुल्मिनाम्॥ ९॥

गुल्मपूर्वरूपाणि—गुल्म रोग की उत्पत्ति के पूर्व उस पुरुष के अङ्गों में शिथिलता, अग्नि की मन्दता, आटोप (उदर में वायु भर कर गुड-गुड शब्द होना), आन्तों में विशेष प्रकार की कूजन (शब्द), विष्ठा, मूत्र और वायु का अवरोध हो जाना, किसी खाद्य पेय के पेट भर (सौहित्यपर्यन्त) खा पी लेने पर असहिष्णुता (बेचेनी) प्रतीत होना, अन्न खाने में द्वेष (अरुचि) होना तथा वायु का ऊर्ध्व वेग होना ये पूर्व रूप के लक्षण होते हैं॥ ९॥

विमर्शः—वाग्भटाचार्य ने गुल्म होने के पूर्व उद्गार (डकारों) का अधिक आना तथा आध्मान पूर्व रूप लक्षणों में ये विशेष लिखे हैं—उद्गारबाहुल्यपुरीषबन्धतृप्त्यक्षमत्वान्त्रविकूजनानि। आटोपमाध्मानमपक्तिशक्तिरासन्नगुल्मस्य वदन्ति चिह्नम्। (वाग्भट) आटोप का अर्थ गुड़-गुड़ होता है 'आटोपो गुडगुडाशब्दः' किन्तु मधुकोष में आटोप का अर्थ रुजापूर्वक उदर क्षोभ या उदर का तनना लिखा है क्योंकि गुडगुडा शब्दार्थ आन्त्रकूजन से ही गृहीत हो जाता है।

हृत्कुक्षिशूलं मुखकण्ठशोषो वायोर्निरोधो विषमाग्निता च।
ते ते विकाराः पवनात्मकाश्च भवन्ति गुल्मेऽनिलसम्भवे तु॥

वातगुल्मलक्षणानि—वात से गुल्म उत्पन्न होने पर हृदय तथा कुक्षि (उदर) में शूल, मुख तथा कण्ठ में बार-बार प्यास लगने से शोष, अपान वायु का खुलासा नहीं होना, अग्नि की विषमता तथा वात से उत्पन्न होने वाले स्तम्भन, कम्पन, सुप्तता आदि विकार (लक्षण) होते हैं ॥ १० ॥

विमर्शः—यः स्थानसंस्थानरुजां विकल्पं विड्वातसङ्गं गलवक्त्रशोषम्। श्यावारुणत्वं शिशिरज्वरञ्च हृत्कुक्षिपार्श्वांसशिरोरुजञ्च॥ करोति जीर्णेऽभ्यधिकं प्रकोपं भुक्ते मृदुत्वं समुपैति यश्च। वातात्स गुल्मो न च तत्र रूक्षं कषायतिक्तं कटु चोपशेते॥ (च. चि. अ. ५)

स्वेदज्वराहारविदाहदाहा-
स्तृष्णाऽङ्गरागः कटुवक्त्रता च।
पित्तस्य लिङ्गान्यखिलानि यानि
पित्तात्मके तानि भवन्ति गुल्मे॥ ११॥

पित्तजगुल्मलक्षणानि—स्वेद का आगमन, ज्वर, आहार (भोजन) करने पर विदाह (अन्ननलिका व आमाशय दाह या अम्लिका प्रादुर्भाव), शरीर में दाह, प्यास का लगना, अङ्गों में लालिमा, मुख में कटुता तथा पित्त के जितने लक्षण होते हैं वे सब पैत्तिक गुल्म के लक्षण होते हैं ॥ ११ ॥

विमर्शः—ज्वरः पिपासा वदनाङ्गरागः शूलं महज्जीर्यति भोजने च। स्वेदो विदाहो व्रणवच्च गुल्मः स्पर्शासहः पैत्तिकगुल्मरूपम्॥ (च. चि. अ. ५) इस अवस्था में दोषों का धातु से सम्पर्क हो जाने से गुल्म भी विद्रधि का रूप धारण कर लेता है किंवा पैत्तिक गुल्म के कारणभूत अम्ल, उष्ण, विदाही आदि पदार्थों का चिरकालीन सम्पर्क से आन्त्रकला में क्षोभ एवं व्रणोत्पत्ति भी कर सकते हैं और मांसशोणितदुष्टि से उस क्षत में तथा समीपस्थ भागों में व्रणशोथ या विद्रधि के लक्षण उत्पन्न हो सकते हैं। इसीलिये चरकाचार्य ने स्पष्टतया आम, पच्यमान, पक्व और पक्वभिन्न इन चार अवस्थाओं का उल्लेख पैत्तिक गुल्म में किया है एवं उसकी चिकित्सा भी प्रायः अन्तर्विद्रधि के समान ही वर्णित है।

स्तैमित्यमन्नेऽरुचिरङ्गसाद-
श्छर्दिः प्रसेको मधुरास्यता च।
कफस्य लिङ्गानि च यानि तानि
भवन्ति गुल्मे कफसम्भवे तु॥ १२॥

कफजगुल्मलिङ्गानि—अङ्गों में निश्चलता या शरीर का गीले वस्त्रों से ढके हुये सा होना, अन्न खाने में अरुचि, शरीराङ्गों में ग्लानि, वमन, मुख से लार का टपकना, मुख में मीठापन तथा अन्य भी कफ के गौरव शैत्य आदि लक्षण शास्त्र में कहे गये हैं वे सब कफजन्य गुल्म के लक्षण होते हैं ॥ १२ ॥

विमर्शः—'स्तैमित्यशीतज्वरगात्रसादहृल्लासकासारुचिगौरवाणि। शैत्यं रुगल्पा कठिनोन्नतत्वं गुल्मस्य रूपाणि कफात्मकस्य' (च. चि. अ. ५) कफज गुल्म में सञ्चित पदार्थ एक स्थान पर अधिक समय तक रुके रहने से अधिक सान्द्र हो के समीपस्थ अवयवों से संसक्त हो ग्रन्थि का रूप धारण कर लेते हैं उस दशा में विम्लापन, अग्निकर्म आदि चिकित्सा करना चरक ने लिखा है।

सर्वात्मकः सर्वविकारयुक्तः सोऽसाध्य उक्तः, क्षतजं प्रवक्ष्ये॥

सान्निपातिकगुल्मलक्षणानि—वातादि सर्व दोषों के प्रकोप के कारण उत्पन्न होने वाला गुल्म उपर्युक्त उन्हीं सर्व दोषों के लक्षणों से युक्त होता है तथा वह असाध्य माना जाता है। अब इसके अनन्तर क्षतज (रक्तज) गुल्म के लक्षणादि कहते हैं ॥ १३ ॥

विमर्शः—चरकोक्तलक्षणानि—महारुजं दाहपरीतमश्मवदुन्नतं शीघ्रविदाहि दारुणम्। मनःशरीराग्निबलापहारिणं त्रिदोषजं गुल्ममसाध्यमादिशेत्॥ इस प्रकार चरक तथा सुश्रुत दोनों आचार्य सान्निपातिक गुल्म को असाध्य लिख कर भी उसकी चिकित्सा लिखते हैं 'सन्निपातोत्थिते गुल्मे त्रिदोषघ्नो विधिर्हितः' इस शङ्का का निरसन मधुकोषकार ने किया है कि विकृतिविषमसमवायारब्ध सन्निपात असाध्य होता है और प्रकृतिसमसमवायारब्ध साध्य होता है। अतः आचार्यों का चिकित्साविधान लिखना सङ्गत है। यदि कहा जाय कि सुश्रुत में प्रकृतिसमसमवायारब्ध को भी असाध्य ही माना है—'सर्वात्मके सर्वरुजोपपत्तिरतं चाप्यसाध्यं प्रवदन्ति तज्ज्ञाः' ऐसी स्थिति में इस श्लोक में पठित अपि शब्द से अचिरोत्पन्न सान्निपातिक गुल्म को साध्य मानना चाहिए ऐसा गयदासाचार्य ने विश्वामित्रसंवाद से निर्णय किया है।

नवप्रसूताऽहितभोजना या या चामगर्भं विसृजेदृतौ वा।
वायुर्हि तस्याः परिगृह्य रक्तं करोति गुल्मं सरुजं सदाहम्॥
पैत्तस्य लिङ्गेन समानलिङ्गं विशेषणं चाप्यपरं निबोध।
न स्पन्दते नोदरमेति वृद्धिं भवन्ति लिङ्गानि च गर्भिणीनाम्॥
तं गर्भकालातिगमे चिकित्स्यमसृग्भवं गुल्ममुशन्ति तज्ज्ञाः॥

रक्तजगुल्महेतुसंप्राप्तिलक्षणादिकम्—जो स्त्री नवप्रसूत होकर (तुरन्त सन्तानोत्पन्न कर) अहित भोजन करती है अथवा जो स्त्री छः मास तक के आमगर्भ का स्राव करके अहित सेवन करती है अथवा ऋतुकाल में कुपथ्य सेवन करती है उसका प्रकुपित हुआ वायु आर्तवकालीन रक्त को रोक के पीड़ा और दाह से युक्त गुल्म को उत्पन्न कर देती है। इसके लक्षण पैत्तिक गुल्म के समान होते हैं तथा उसके अतिरिक्त निम्न लक्षण विशेष होते हैं। वह अधिक स्पन्दन करता है, उस स्त्री का उदर गर्भ की तरह वृद्धि करता रहता है तथा गर्भिणी स्त्रियों के समान अन्य लक्षण (वमन, भोजन में अनिच्छा, स्तन का कालापन) भी होते हैं। इस प्रकार के रक्तगुल्म की चिकित्सा गर्भप्रसवकाल के जन्म लेने के समय (नवम, दशम मास) के पश्चात् करनी चाहिए। आयुर्वेद के रहस्य को जानने वाले तज्ज्ञ विद्वान् ऐसे रोग को रक्तगुल्म कहते हैं ॥ १४-१५ ॥

विमर्शः—नवप्रसूता—प्रसव होने के पश्चात् ४०-४५ दिनों का समय नवप्रसवकाल (Involution period) कहा जाता है। आयुर्वेद में इसे सूतिकाकाल कहते हैं जो कि डेढ मास का माना गया है तथा किसी अन्य के मत से जबतक स्त्री को पुनरार्तवदर्शन नहीं होता है तब तक के समय को सूतिकाकाल कहते हैं—'एवं साध्यर्धमासमुपसंस्कृता क्रमेण विमुक्ताहारवि

द्वारयन्त्रणा विगतसूतिकाभिधाना स्यात् । पुनरार्त्तवदर्शनादित्येके । (अ. सं.) इस समय में गर्भाशय अपनी स्वाभाविक स्थिति को प्राप्त कर लेता है अत एव प्रसूता स्त्री इस काल में पथ्य आहार-विहार का सेवन करे । यदि गर्भाशय के पूर्व अवस्था में न आने के पहले ही अपथ्य आहार-विहार का सेवन करे तो उसका गर्भाशयस्थ वात प्रकुपित होकर गर्भाशय के मुख को बन्द कर देता है जिससे उसके भीतर के अशुद्ध रक्तादि (डिस्चार्ज) का पूर्ण निर्हरण न होने से गर्भाशयिक कला से स्रुत रक्त वहीं एकत्रित हो कर पिण्डित होने लगता है तथा प्रतिमास उसकी वृद्धि होने लगती है जिसे आयुर्वेद मत से रक्तगुल्म कहा गया है । आमगर्भम्—डल्हणाचार्य के मत से ६ मास पर्यन्त का गर्भ आमगर्भ कहा जाता है—'आमगर्भः षण्मासं यावत्' तीन मास तक के या चार मास तक के गर्भ के गिरने को गर्भस्राव (Abortion) कहते हैं तथा चौथे मास से पञ्चम तथा षष्ठ मास तक के स्थिर गर्भ के गिरने को गर्भपात (Miscarriage) कहा है—'आचतुर्थात्ततो मासात्प्रस्रवेद्गर्भविद्रवः । ततः स्थितशरीरस्य पातः पञ्चमषष्ठयोः ॥' (सु. शा.) गर्भ की उक्त दोनों अवस्थाएँ आम ही हैं । इस तरह नव प्रसव, आमगर्भपात तथा आर्तव का निर्हरण इन तीनों अवस्थाओं में अपथ्य सेवन करने का परिणाम भी समान ही होता है । ऋतुकाल तथा उक्त दोनों अवस्थाओं में अनशन, भय, रूक्ष पदार्थों का सेवन, वेगविधारण तथा स्तम्भक पदार्थों का सेवन करने से वात कुपित हो जाता है तथा गर्भाशय की सफाई नहीं होने देता जिससे वहाँ का अशुद्ध रक्त पिण्डित हो कर रक्तगुल्म का स्वरूप ले लेता है । जैसा कि चरकाचार्य ने स्पष्ट लिखा है—ऋतावनाहारतया भयेन विरूक्षणैर्वेगविनिग्रहैश्च । संस्तम्भनोल्लेखनयोनिदोषैर्गुल्मः स्त्रियं रक्तभवोऽभ्युपैति ॥ (च. चि. अ. ५) न स्पन्दते नोदरमेति वृद्धिम्—यहाँ पर 'न स्पन्दते न' ऐसे नञ् द्वय से स्पन्दन का अधिक होना समझना चाहिये । कुछ टीकाकारों (अत्रिदेव आदि) ने प्रथम नञ् का स्पन्दन नहीं होना तथा दूसरे नञ् का उदरवृद्धि नहीं होना अर्थ किया है किन्तु यह नितान्त गलत अर्थ है क्योंकि सर्वत्र गुल्म का स्पन्दन होना लिखा है जैसा कि चरक में भी लिखा है—यः स्पन्दते पिण्डित एव नाङ्गैश्चिरात्सशूलः समगर्भलिङ्गः । स रौधिरः स्त्रीभव एव गुल्मो मासे व्यतीते दशमे चिकित्स्यः ॥ (च. चि. अ. ५) गर्भिणी-लिङ्गानि—स्तनयोः कृष्णमुखता रोमराज्युद्गमस्तथा । अक्षिपक्ष्माणि चाप्यस्याः सम्मील्यन्ते विशेषतः ॥ अकामतश्छर्दयति गन्धादुद्विजतेऽशुभात् । प्रसेकः सदनं चापि गर्भिण्या लिङ्गमुच्यते ॥ (सु. शा.) 'आर्तवादर्शनमास्यसंस्रवणमनन्नाभिलाषश्छर्दिररोचकोऽम्लकामिता च विशेषेण श्रद्धाप्रणयनमुच्चावचेषु भावेषु, गुरुगात्रत्वं चक्षुषोर्ग्लानिः स्तनयोः स्तन्यम् । ओष्ठयोः स्तनमण्डलयोश्च कार्ष्ण्यमत्यर्थम् । श्वयथुः पादयोरीषल्लोमराज्युद्गमो योन्याश्चाटालत्वमिति गर्भे पर्यागते लिङ्गानि भवन्ति ॥ (च. शा. अ. ४) गर्भकालः—प्रायः सुश्रुताचार्य ने नवम, दशम, एकादश तथा द्वादश मास में कभी भी गर्भ-जन्म होना प्रसव का काल माना है । इसके अनन्तर के प्रसवकाल को विकृति माना है—'नवमदशमैकादशद्वादशानामन्यतमस्मिन् भवति, अतोऽन्यथा विकारी ॥' (सु. शा. अ. ३) चरकाचार्य ने नवम और दशम ऐसे दो मास के अन्दर प्रसव होना प्रसवकाल कहा है, इसके अनन्तर गर्भ का गर्भाशय में रहना विकृति माना है—'तस्मिन्नेकदिवसातिक्रान्तेऽपि नवमं मासमुपादाय प्रसवकालमित्याहुरादशमान्मासात् । एतावान् प्रसवकालः, वैकारिकमतः परं कुक्षौ स्थानं गर्भस्य ॥ (चरक) । आधुनिकों ने प्रसवकाल की मर्यादा २८० दिन (९ मास ७ दिन) की मानी है । सारे यूरोप के प्रसिद्ध प्रसूतिशास्त्रज्ञों में से कुछ ने प्रसव की अधिक से अधिक अवधि ४८ सप्ताह (बारह मास) की मानी थी अतः सुश्रुतमत यथार्थ है । चरकाचार्य ने तो पोषण पर्याप्त न मिलने से अनेक वर्षों के बाद भी गर्भ का जन्म होना माना है—'तं स्त्री प्रसूते सुचिरेण गर्भं पुष्टो यदा वर्षगणैरपि स्यात् ॥' दशम मास के बाद चिकित्सा करने के दो उद्देश्य हैं—प्रथम यह कि गुल्म और गर्भ के विभिन्न लक्षण होने पर भी ठीक निदान न हो तो दशम मास तक गर्भ होगा तो जन्म हो जायगा और न होगा तो चिकित्सा शुरू कर दी जायगी । दूसरा उद्देश्य यह कि दशम मास के बाद तक गुल्म पूर्ण रूप से पिण्डित होकर ग्रहण एवं आहरण के योग्य हो जाता है अतः चरक ने कहा है कि—'रक्तगुल्मे पुराणत्वं सुखसाध्यस्य लक्षणम्' असृग्भवगुल्म—इसे आर्तवगुल्म (Uterine Tumour or Fibroid Tumour) कहते हैं । कुछ टीकाकारों ने इसे (Haemetometa) कहा है किन्तु हीमेटोमा चोट लगने से स्रुतरक्तादि के अवरोध से होता है अतः यह रक्तगुल्म का ट्रान्सलेशन उचित नहीं है । ऋतुकाल (आमगर्भ और प्रसवकाल) में गर्भाशयिक अन्तःकला के नीचे कुपथ्यवश रजःसञ्चय होता है । ऐसे प्रतिमास रजःसञ्चय होकर गर्भाशय में वृद्धिशील पिण्ड बन जाता जिसके साथ गर्भ के अन्य लक्षण भी होते हैं । प्रायः ४–६ मास के अनन्तर सञ्चित रज के दबाव से गर्भाशयिक कला के फट जाने से कुछ गर्भ लक्षण मिट जाते हैं । इस तरह रक्त गुल्म वर्षों तक चलता रहता है तथा रक्तप्रदर इनका प्रमुख लक्षण बना रहता है जो कि रक्तगुल्म के लक्षणों में नहीं लिखा है । स्त्रीभव एव—कुमारियों में अनुद्भूत रज होने से एवं वृद्धाओं में क्षीणरज (Menopause) होने से यह उद्भूतपुष्पा एवं अनष्टपुष्पा स्त्रियों में ही होता है । गर्भरक्तगुल्मभेद—(१) गर्भ का स्फुरण शूलरहित एवं हस्तपादादि अङ्गों सहित होता है तथा जल्दी जल्दी होता है किन्तु गुल्म का स्फुरण पिण्ड के रूप में होता है और देर से होता है तथा शूलपूर्वक स्फुरण होता है । (२) प्रायः गर्भवती में रक्तप्रदर गर्भस्राव, गर्भपात आदि के समय के अतिरिक्त नहीं होता किन्तु गुल्म में ४–६ मास के अनन्तर रक्तप्रदर हो जाता है जिसको रोकना मुश्किल सा रहता है । (३) प्रायः गर्भ अपनी अवधि में जन्म ले लेता है किन्तु गुल्म वर्षों तक बना रहता है ।

वातगुल्मार्तितं स्निग्धं युक्तं स्नेहविरेचनैः ।
उपाचरेद् यथाकालं निरूहैः सानुवासनैः ॥१६॥

वातगुल्मचिकित्साक्रम—वातगुल्म से पीड़ित रोगी को स्नेहपान, स्नेहाभ्यङ्ग आदि क्रियाओं द्वारा स्निग्ध करके पश्चात् एरण्डस्नेहपान कराके विरेचन कराना चाहिये फिर यथाकाल अनुवासन और निरूहण बस्ति द्वारा चिकित्सा करनी चाहिये ॥ १६ ॥

विमर्शः—तिल्वकघृत आदि के द्वारा भी स्निग्ध विरेचन देना चाहिये। यथाकालम्—अर्थात् शास्त्र में वमन, विरेचन, अनुवासन और निरूहणादि कब कब देना इसकी कालमर्यादा है तदनुसार ही उक्त कर्म करने चाहिये अर्थात् वमन के एक पक्ष बाद विरेचन, विरेचन के सात दिन बाद अनुवासन-बस्ति देवें तथा अनुवासन से अच्छी प्रकार स्निग्ध हो जाने के बाद तीसरे या पाँचवें दिन निरूहणबस्ति देनी चाहिये—पक्षाद्विरेको वान्तस्य ततः पक्षान्निरूहणम्। सद्यो निरूढोऽनुवास्यः सप्तरात्राद्विरेचितः॥ अनुवास्य स्निग्धतरं तृतीयेऽह्नि निरूहयेत्। तृतीयेऽह्नि प्रायोवादात् पञ्चमेऽप्यह्नि क्रियते॥ पञ्चमेऽथ तृतीये वा दिवसे साधके शुभे। प्रायः सर्व प्रकार के गुल्मों में वायु की प्रधानता रहती है इसलिये सर्वप्रथम वात के संशमन के लिये सर्व प्रकार की विधियों का प्रयोग करना चाहिये। वात के जीत लेने पर या उसके स्वभावस्थ या प्रकृतिस्थ हो जाने पर साधारण चिकित्सा करने से ही अन्य दोष शान्त हो जाते हैं जैसा कि चरक ने कहा भी है—गुल्मिनामनिलशान्तिरुपायैः सर्वशो विधिवदाचरितव्या। मारुते ह्यवजितेऽन्यमुदीर्णं दोषमल्पमपि कर्म निहन्यात्॥ गुल्मे क्रियाक्रमः—लङ्घनं दीपनं स्निग्धमुष्णं वातानुलोमनम्। बृंहणं यद्भवेत्सर्वं तद्धितं सर्वगुल्मिनाम्॥ (भै. र.) अन्यच्च—स्नेहनं स्वेदनञ्चैव निरूहमनुवासनम्। विरेकवमने चोभे लङ्घनं बृंहणं तथा॥ शमनञ्चावसेकञ्च शोणितस्याग्निकर्म च। कारयेदिति गुल्मानां यथारम्भं चिकित्सितम्॥ सर्व प्रथम किसी भी गुल्म में स्नेहन करके स्वेदन कर्म करना चाहिये—स्निग्धस्य भिषजा स्वेदः कर्तव्यो गुल्मशान्तये। स्वेदगुणाः—स्रोतसां मार्दवं कृत्वा जित्वा मारुतमुल्बणम्। भित्त्वा विबन्धं स्निग्धस्य स्वेदो गुल्ममपोहति॥ स्नेहपानं हितं गुल्मे विशेषेणोर्ध्वनाभिजे। पक्वाशयगते बस्तिरुभयं जठराश्रये। (च. चि. अ. ५) वातगुल्मे कफे वृद्धे वान्तिश्चूर्णादि चेष्यते। पित्ते विरेचनं स्निग्धं रक्ते रक्तस्य मोक्षणम्॥ पुनः पुनः स्नेहनपानं निरूहाः सानुवासनाः। प्रयोज्या वातगुल्मेषु कफपित्तानुरक्षिणा॥

(च. चि. अ. ५)

पित्तगुल्मार्दितं स्निग्धं काकोल्यादिघृतेन तु।
विविक्तं मधुरैर्योगैर्निरूहैः समुपाचरेत्॥१७॥

पित्तगुल्मचिकित्साक्रमः—पित्त गुल्म से पीड़ित रोगी को काकोल्यादिगण की ओषधियों के कल्क तथा क्वाथ से सिद्ध किये हुए घृत के द्वारा स्निग्ध करके आरग्वधादिगण की मधुर ओषधियों किंवा मुनक्का, गुलकन्द, अञ्जीर, दुग्ध, इक्षुरस आदि से विरेचन कराना चाहिये। पश्चात् निरूहणबस्ति द्वारा चिकित्सा करें॥ १७॥

विमर्शः—चरकाचार्य ने पैत्तिक गुल्म चिकित्सा में लिखा है कि स्निग्धोष्णजन्य गुल्म में विरेचन तथा रूक्षोष्णजन्य गुल्म में घृतपान कराना चाहिए—स्निग्धोष्णेनोदिते गुल्मे पैत्तिके स्रंसनं हितम्। रूक्षोष्णेन तु सम्भूते सर्पिःप्रशमनं परम्॥ पक्वाशयस्थपित्तगुल्मे क्षीरबस्तिः—पित्तं वा पित्तगुल्मं वा ज्ञात्वा पक्वाशयस्थितम्। कालविद्धिरेत् सद्यः सतिक्तैः क्षीरबस्तिभिः॥ पयसा वा सुखोष्णेन सतिक्तेन विरेचयेत्। भिषगग्निबलापेक्षी सर्पिषा तैल्वकेन वा॥ (च. चि. अ. ५) पित्तगुल्मे स्नेहनरेचनबस्तिविधानम्—काकोल्यादिमहातिक्तवासाद्यैः पित्तगुल्मिनम्। स्नेहितं स्रंसयेत्पश्चाद्योजयेद्बस्तिकर्मणा। पित्तगुल्मे विरेचनयोगौ—पित्तगुल्मे त्रिवृच्चूर्णं पातव्यं त्रिफलाम्बुना। विरेचनार्थं ससितं काम्पिल्लञ्च समाक्षिकम्॥

श्लेष्मगुल्मार्दितं स्निग्धं पिप्पल्यादिघृतेन तु।
तीक्ष्णैर्विरिक्तं तद्रूपैर्निरूहैः समुपाचरेत्॥ १८॥

श्लेष्मगुल्मचिकित्साक्रमः—श्लेष्मगुल्म से पीड़ित रोगी को सर्वप्रथम पिप्पल्यादिघृत के पान, अभ्यङ्ग आदि से स्निग्ध करके पश्चात् दन्ती (जयपाल), द्रवन्ती आदि तीक्ष्ण योगों से विरेचन कम कराना चाहिए। पश्चात् तीक्ष्ण औषधियों के कल्कक्वाथ से सिद्ध किये हुए घृत से निरूहण बस्ति देकर चिकित्सा करें॥ १८॥

विमर्शः—श्लेष्मगुल्मचिकित्साक्रमः—स्नेहनोपनाहनस्वेदैस्तीक्ष्णस्रंसनबस्तिभिः। योगैश्च वातगुल्मोक्तैः श्लेष्मगुल्ममुपाचरेत्॥ (यो. र.) अर्थात् स्नेहन, उपनाहन, स्वेदन, तीक्ष्ण विरेचन और बस्ति इस क्रम से योगरत्नाकर में कफ गुल्म का चिकित्सा क्रम लिखा है। पश्चात् गुल्मनाशन के लिये क्षार और कटुक औषध युक्त घृतपान कराना चाहिए—लंघनोल्लेखने स्वेदे कृतेऽग्नौ सन्धुक्षिते। घृतं सक्षारकटुकं पातव्यं कफगुल्मिना॥ (भै. र.) चरकाचार्य ने भी प्रथम लंघन, फिर वमन, स्वेदन, विलयन, विरेचन कराके दशमूलसिद्ध घृतबस्ति एवं अन्य गुटिका, चूर्ण आदि का प्रयोग करें। इनके अतिरिक्त क्षारप्रयोग, इससे शान्त न हो तो रक्तमोक्षण कराके दाह-चिकित्सा करनी चाहिए—शीतलैर्गुरुभिः स्निग्धैर्गुल्मे जाते कफात्मके। अवम्यस्याल्पकायाग्नेः कुर्याल्लङ्घनमादितः। वमनयोग्यावस्था—मन्दोऽग्निर्वेदना मन्दा गुरुस्तिमितकोष्ठता। सोत्क्लेशा चारुचिर्यस्य स गुल्मी वमनोपगः॥ उष्णजलपानादि—उष्णैरेवोपचर्यश्च कृते वमनलंघने। योज्यश्चाहारसंसर्गो भेषजैः कटुतिक्तकैः॥ स्वेदनविलयनावस्था—सानाहं सविबन्धञ्च गुल्मं कठिनमुन्नतम्। दृष्ट्वादौ स्वेदयेद्युक्त्या स्विन्नञ्च विलयेद्भिषक्॥ स्वेदन और विलयन (विम्लापन) के अनन्तर क्षार तथा कटुक औषध मिश्रित घृत सेवन कराना चाहिए तथा स्वस्थान से चलित हुए गुल्म को विरेचन द्वारा या बस्ति द्वारा मलमार्ग से निकालें—स्थानादपसृतं ज्ञात्वा कफगुल्मं विरेचनैः॥ सस्नेहैर्बस्तिभिर्वापि शोधयेद्दाशमूलिकैः॥ मन्देऽग्नावनिले मूढे ज्ञात्वा सस्नेहमाशयम्। गुटिकाचूर्णनिर्यूहाः प्रयोज्याः कफगुल्मिनाम्। क्षाराग्निकर्मसमयः—कृतमूलं महावास्तुं कठिनं स्तिमितं गुरुम्। जयेत्कफकृतं गुल्मं क्षारारिष्टाग्निकर्मभिः॥

सन्निपातोत्थिते गुल्मे त्रिदोषघ्नो विधिर्हितः॥ १९॥

सान्निपातिकगुल्मचिकित्साक्रमः—सन्निपात के कारण उत्पन्न हुये गुल्म में त्रिदोषों को नष्ट करने वाली चिकित्सा करनी चाहिए॥ १९॥

विमर्शः—चरकाचार्य ने भी यही कहा है कि मिश्रित दोषों में मिश्रित चिकित्सा करनी चाहिए—'व्यामिश्रदोषे व्यामिश्र एष एव क्रियाक्रमः॥ परन्तु वात की प्रधानता सर्वगुल्मों में होने से उसे जीतने का उपाय प्रथम करना चाहिए।

पित्तवद्रक्तगुल्मिन्या नार्याः कार्यः क्रियाविधिः।
विशेषमपरं चास्याः शृणु रक्तविभेदनम्॥ २०॥

पलाशक्षारतोयेन सिद्धं सर्पिः प्रयोजयेत्।
दद्यादुत्तरबस्तिञ्च पिप्पल्यादिघृतेन तु॥
उष्णैर्वा भेदयेद्भिन्ने विधिरासृग्दरो हितः॥ २१॥

रक्तगुल्मचिकित्सा—रक्तगुल्म वाली स्त्री की चिकित्सा पैत्तिक गुल्म के समान करनी चाहिए किन्तु रक्तगुल्म की चिकित्सा में पित्तगुल्म चिकित्सा के अतिरिक्त जो विशिष्ट चिकित्सा रक्तभेदन के लिये की जाती है उसकी विधि लिखी जाती है। पलाश के क्षार के पानी से सिद्ध किया हुआ घृत पीने को देना चाहिए तथा पिप्पल्यादिगण की औषधियों के कल्क और क्वाथ से सिद्ध किये हुये घृत की उत्तर बस्ति देवें। अथवा रक्तगुल्म को उष्ण प्रकृति वाले द्रव्यों जैसे मूलक बीजादि के क्वाथ, रजःप्रवर्तनी वटी, एलवादिवटी, गुल्मवज्रिणी, आदि के निरन्तर सेवन कराने से रक्तगुल्म का भेदन करना चाहिए एवं भेद न होने के पश्चात् असृग्दर (रक्तप्रदर) की विधि से चिकित्सा करें॥ २०–२१॥

विमर्शः—'उष्णैर्वा भेदयेद्भिन्ने विधिरासृग्दरो हितः।' यहां पर रक्त गुल्म के भिन्न हो जाने पर असृग्दरोक्त विधान करना हितकर है। इसका तात्पर्य यह नहीं समझना चाहिए कि रक्तस्तम्भन चिकित्सा की जाय। अत्यधिक रक्तस्रुत हो तो कुछ रक्तस्तम्भक चिकित्सा की जा सकती है। यदि उष्ण औषधियों के प्रयोग करने से गुल्म का भेदन न हो तो योनिविशोधन कार्य करना चाहिए—'न प्रभिद्येत यद्येवं दद्याद्योनिविशोधनम्' यथोक्तं तत्त्वचन्द्रिकायां योनिविशोधनमिति वर्तिरूपतया योनिविरेचनमित्यर्थः। वर्तिप्रयोग—क्षारेण युक्तं पललं सुधाक्षीरेण वा पुनः। रुधिरेऽतिप्रवृत्ते तु रक्तपित्तहरी क्रिया॥ अर्थात् १ तोले भर तिलों को पानी के साथ पीसकर थोड़ा सा पलासक्षार, यवक्षार और स्वर्जिक्षार मिला कर कपड़े पर सब का लेपन करके वर्ति बना योनि में रखने से रक्तगुल्म का भेदन होने लगता है। अथवा तिल क्वाथ में गुड़, त्रिकटुचूर्ण, हींग और भारङ्गीचूर्ण का प्रक्षेप देकर पान कराने से रक्तप्रवृत्ति होने लगती है—तिलक्वाथो गुडव्योषहिङ्गुभार्गीयुतो भवेत्। पानं रक्तभवे गुल्मे नष्टे पुष्पे च योषिताम्॥ (भै. र.) अथवा—पीतो धात्रीरसो युक्त्या किंशुकक्षारभावितः। क्षारत्र्यूषणसंयुक्ता मदिरा चास्रगुल्मनुत्॥ (भै. र.) भैषज्यरत्नावली में रक्तगुल्म की सामान्य चिकित्सा में कहा है कि गर्भकाल के व्यतीत होने पर प्रथम स्नेहन फिर स्वेदन और पश्चात् स्निग्धविरेचन देना चाहिए—चरके—रौधिरस्य तु गुल्मस्य गर्भकालव्यतिक्रमे। स्निग्धस्विन्नशरीरायै दद्यात् स्निग्धं विरेचनम्॥ चरकाचार्य ने गुल्म का विदाह (पाक) होने पर शस्त्र द्वारा भेदन करने का उपदेश दिया है—रक्तपित्तातिवृद्धत्वात् क्रियामनुपलभ्य च। यदि गुल्मो विदह्येत शस्त्रं तत्र भिषग्जितम्॥ इसी प्रसङ्ग में प्रथम अपक्व तथा पक्व गुल्मों के लक्षण दिये हैं—अपक्वगुल्मलक्षणम्—गुरुः कठिनसंस्थानो गूढमांसान्तराश्रयः। अविवर्णः स्थिरश्चैव ह्यपक्वो गुल्म उच्यते॥ पक्वगुल्मलक्षणम्—दाहशूलार्तिसंक्षोभस्वप्ननाशारतिज्वरैः। विदह्यमानं जानीयाद्गुल्मं तमुपनाहयेत्॥ पक्व गुल्म के भेदन के लिये चरकाचार्य ने धन्वन्तरिसम्प्रदाय के योग्य शल्यकोविद को शस्त्रकर्म करने का निर्देश किया है—अत्र धान्वन्तरीयाणामधिकारः क्रियाविधौ। वैद्यानां कृतयोग्यानां व्यधशोधनरोपणे॥ (च. चि. अ. ५) इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि उस समय धन्वन्तरि सम्प्रदाय के शल्य चिकित्सक मेजर आप्रेशन करने में अत्यन्त निपुण होते थे। उस समय अग्निचिकित्सा (काटरी) तथा क्षारचिकित्सा भी उन्नतावस्था में थी अतएव श्लैष्मिक गुल्म के कृत मूल (मांसादिधात्वाश्रित) हो जाने पर या ट्यूमर का स्वरूप ले लेने पर तथा लङ्घन, उल्लेखन (वमन), स्वेदन, घृतपान, विरेचन, बस्ति, गुटिका और चूर्णादिक से लाभ न होने पर क्षार तथा इससे भी लाभ न होने पर अग्निचिकित्सा की जाती थी किन्तु ऐसे स्थलों पर भी दाह चिकित्सा में धन्वतरि सम्प्रदाय तथा क्षारचिकित्सा में क्षारतन्त्रवेत्ताओं का निर्देश किया है—लंघनोल्लेखनैः स्वेदैः सर्पिष्पानैर्विरेचनैः। बस्तिभिर्गुटिकाचूर्णक्षारारिष्टगणैरपि॥ श्लैष्मिकः कृतमूलत्वाद्यस्य गुल्मो न शाम्यति। तस्य दाहो हृते रक्ते शरलोहादिभिर्हितः। दाहे धान्वन्तरीयाणामत्रापि भिषजां बलम्॥ क्षारप्रयोगे भिषजां क्षारतन्त्रविदां बलम्॥ क्षारप्रशंसा—'छित्वा छित्वाऽऽशयात् क्षारः क्षरत्वात् क्षारयत्यधः' इस प्रकार रक्तगुल्मभेदनादि कर्म में अन्य चिकित्सकों का ही पूर्णरूप से अधिकार है तथापि यदि गुल्म अधिक उपद्रव युक्त न हो, रुग्णा शस्त्र कर्म कराना न चाहती हो, शस्त्रकर्म करने की पूर्ण सामग्री न हो तथा योग्य सर्जन न हो ऐसी परिस्थिति में रक्तगुल्म को काय चिकित्सा के आधार से भी ठीक करने का यत्न करना चाहिए। तदर्थ चरकाचार्य ने संक्षेप में निम्न योग्य चिकित्साक्रम का निर्देश किया है—गर्भकाल बीत जाने पर (१) स्नेहन, (२) स्वेदन, (३) स्नेहविरेचन, (४) क्षारप्रयोग, (५) योनिशोधकवर्ति, (६) लहसुन, तीक्ष्ण सुरापान, मत्स्य आदि उष्ण द्रव्य सेवन, (७) क्षीरगोमूत्रक्षार युक्त दशमूलसिद्ध घृतबस्ति का प्रयोग तथा अतिप्रवृत्त रक्त को रोकने के लिये रक्तपित्तहर चिकित्सा आदि। रक्तगुल्मचिकित्साक्रमः—रौधिरस्य तु गुल्मस्य गर्भकालव्यतिक्रमे। स्निग्धस्विन्नशरीरायै दद्यात्स्नेहविरेचनम्॥ पलाशक्षारपात्रे द्वे द्वे पात्रे तैलसर्पिषोः। गुल्मशैथिल्यजननीं पक्त्वा मात्रां प्रयोजयेत्॥ प्रभिद्येत न यद्येवं दद्याद्योनिविशोधनम्। क्षारेण युक्तपललं सुधाक्षीरेण वा पुनः॥ आभ्यां वा भावितान् दद्याद्योनौ कटुकमत्स्यकान्। वराहमत्स्यपित्ताभ्यां नक्तकान्वा सुभावितान्। अधोहरैश्चोर्ध्वहरैर्भावितान्वा समाक्षिकैः। किण्वं वा सगुडक्षारं दद्याद्योनिविशोधनम्॥ रक्तपित्तहरं क्षारं लेहयेन्मधुसर्पिषा। लशुनं मदिरां तीक्ष्णां मत्स्यांश्चास्यै प्रदापयेत्॥ बस्तिं सक्षीरगोमूत्रं सक्षारं दाशमूलिकम्। अदृश्यमाने रुधिरे दद्याद्गुल्मप्रभेदनम्॥ प्रवर्तमाने रुधिरे दद्यान्मांसरसौदनम्। घृततैलेन चाभ्यङ्गं पानार्थं तरुणीं सुराम्॥ रुधिरेऽतिप्रवृत्ते तु रक्तपित्तहरीः क्रियाः। (च. चि. अ. ५)

आनूपौदकमज्जानो वसा तैलं घृतं दधि।
विपक्वमेकतः शस्तं वातगुल्मेऽनुवासनम्॥२२॥

वातगुल्मेऽनुवासनम्—हस्ती, गैंडा आदि आनूप देश वाले तथा जल में होने वाले मत्स्य आदि प्राणियों की मज्जा तथा वसा (चरबी) एवं तैल, घृत और दही इन्हें यथायोग्य प्रमाण में लेकर सम्यक्पाकार्थ चतुर्गुण जल मिलाकर स्नेहावशेषपाक कर लेना चाहिये। वातगुल्म रोग में इस स्नेह की अनुवासन बस्ति देनी चाहिये।

जाङ्गलैकशफानान्तु वसा सर्पिश्च पैत्तिके।
तैलं जाङ्गलमज्जान एवं गुल्मे कफोत्थिते ॥२३॥

पित्तकफजगुल्मयोरनुवासनम्—पैत्तिकगुल्म में जाङ्गलदेश में होने वाले प्राणी तथा एक शफ (खुर) वाले प्राणियों (घोड़े) की वसा तथा घृत को चतुर्गुण पानी डालकर पकाकर किंवा अन्य पित्तहर द्रव्यों के कल्क और क्वाथ से पकाकर अनुवासन बस्ति देनी चाहिये। इसी प्रकार कफजन्य गुल्म रोग में जाङ्गलदेश के प्राणियों की मज्जा तथा तैल को यथाविधि पकाकर इसकी अनुवासनबस्ति दें ॥ २३ ॥

धात्रीफलानां स्वरसे षडङ्गं विपचेद् घृतम्।
शर्करासैन्धवोपेतं तद्धितं वातगुल्मिने ॥२४॥

वातगुल्मे षडङ्गघृतम्—आँवले के फलों का स्वरस ४ प्रस्थ तथा पिप्पली, पिप्पलीमूल, चव्य, चित्रक, सोंठ और यवक्षार इन छहों को समप्रमाण में मिलाकर ४ पल लेकर कल्क कर लें। फिर इनमें घृत १ प्रस्थ डालकर घृतावशेष पाक कर लें। प्रतिदिन इस घृत को १ तोले के प्रमाण में लेकर इसमें शर्करा ६ माशा तथा सैन्धवलवण ३ माशे भर मिलाकर दिन में तीन या दो बार सेवन करने से वातगुल्मी के लिये हित होता है ॥ २४ ॥

विमर्शः—कुछ संस्कृत टीकाकारों ने षडङ्ग शब्द से यवक्षारयुक्त पंचकोल अर्थ न करके प्लीहोदराधिकारोक्त षट्पलघृत को पुनः चतुर्गुण आमलकी स्वरस में पाक करना लिखा है, जो कि डल्हणसम्मत अर्थ नहीं है।

चित्रकव्योषसिन्धूत्थपृथ्वीकाचव्यदाडिमैः।
दीप्यकग्रन्थिकाजाजीहपुषाधान्यकैः समैः ॥२५॥
दध्यारनालबदरमूलकस्वरसैर्घृतम्।
तत्पिबेद्वातगुल्माग्निदौर्बल्याटोपशूलनुत् ॥२६॥

चित्रकादिघृतम्—चित्रकमूल, सोंठ, मरिच, पिप्पली, सैन्धवलवण, कालाजीरा (पृथ्वीका), चव्य, अनारदाने, अजमोद, पिपरामूल, जीरक, हपुषा (हाऊबेर) और धनियां, इन सब को समान प्रमाण में मिश्रित कर ४ पल ले के कल्क बना लें तथा दही १ प्रस्थ, काञ्जी, बदरीपत्र या मूल का क्वाथ तथा मूली का स्वरस प्रत्येक घृत से चतुर्गुण एवं घृत १ प्रस्थ लेके सबको भगोने में डाल के यथाविधि घृतावशेष पाक कर लें। इस घृत को ६ माशे से १ तोले भर की मात्रा में प्रतिदिन तीन बार या दो बार सेवन करने से वातगुल्म, अग्नि की दुर्बलता, आटोप और शूल नष्ट हो जाते हैं ॥२५-२६॥

विमर्शः—(१) यहाँ पर कल्क के सम्यक्पाकार्थ चतुर्गुण जल और मिला देना चाहिये—स्वरसक्षीरमाङ्गल्यैः पाको यत्रेरितः क्वचित्। जलं चतुर्गुणं तत्र वीर्याधानार्थमावपेत्। (२) जहाँ पर स्नेहपाक में ५ से अधिक द्रव डालने हों वहाँ सब मिला कर स्नेह से चतुर्गुण किन्तु पाँच से कम हों तो प्रत्येक स्नेह से चौगुने लिये जाते हैं—द्रवाणि यत्र स्नेहेषु पञ्चादीनि भवन्ति हि। तत्र स्नेहसमान्याहुर्यथापूर्वं चतुर्गुणम्॥ (३) कल्क, स्वरस, घृतादि को एक साथ बड़े पात्र में डालकर धीरे धीरे पकाते हैं, किन्तु अन्य लोगों का मत है कि दुग्ध या दही में कल्क, स्नेह तथा चतुर्गुण जल डालकर दो दिन पकावें, फिर उसी में स्वरस डालकर तीन दिन पकावें तथा तक्र और काञ्जी आदि में पाँच दिन तक पाक करना चाहिये—क्षीरे द्विरात्रं स्वरसे त्रिरात्रं तक्रारनालादिषु पञ्चरात्रम्। स्नेहं पचेद्वैद्यवरः प्रयत्नादित्याहुरेके भिषजः प्रवीणाः॥ (भ० भाषा)

हिङ्गुसौवर्चलाजाजीविडदाडिमदीप्यकैः।
पुष्करव्योषधान्याम्लवेतसक्षारचित्रकैः ॥ २७ ॥
शटीवचाऽजगन्धैलासुरसैश्च विपाचितम्।
शूलानाहहरं सर्पिर्दध्ना चानिलगुल्मिनाम् ॥ २८ ॥

हिङ्ग्वाद्यं घृतम्—हिङ्गु, सोंचल नमक, जीरा, विडनमक, अनारदाने, अजवायन, पोहकरमूल, सोंठ, मरिच, पिप्पली, धनियाँ, अमलवेंत, यवक्षार, चित्रकमूल, कचूर, वचा, अजगन्धा (बोबयिका=बबई तुलसीभेद), इलायची और तुलसी (सुरसा) इन्हें समान प्रमाण में मिलाकर ४ पल भर लेकर खाण्डकूटकर जल के साथ पत्थर पर पीसकर कल्क बना लें। फिर इस कल्क में १ प्रस्थ घृत तथा १ प्रस्थ दहीं और चार प्रस्थ पानी मिलकर यथाविधि घृतपाक कर लेवें। यह घृत शूल, आनाह तथा वातगुल्म को नष्ट करता है ॥ २७–२८ ॥

विडदाडिमसिन्धूत्थहुतभुग्व्योषजीरकैः।
हिङ्गुसौवर्चलक्षाररुग्वृक्षाम्लाम्लवेतसैः ॥ २९ ॥
बीजपूररसोपेतं सर्पिर्दधिचतुर्गुणम्।
साधितं दाधिकं नाम गुल्महृत् प्लीहशूलजित् ॥३०॥

दाधिकं घृतम्—विडनमक, अनारदाने, सैन्धव लवण, चित्रकमूल (हुतभुक्) सोंठ, मरिच, पिप्पली, श्वेतजीरा, हींग, सौंचलनमक, यवक्षार, कुष्ठ (रुक्), वृक्षाम्ल (तिन्तिडीक) और अमलवेंत इन्हें समप्रमाण में ४ पल लेकर कल्क बना लें तथा इसमें बिजौरे निम्बू का रस ४ प्रस्थ, घृत १ प्रस्थ, दही ४ प्रस्थ तथा सम्यक्पाकार्थ जल ४ प्रस्थ मिलाकर यथाविधि घृत सिद्ध कर लें। यह दाधिक घृत गुल्म, प्लीहावृद्धि तथा उदरादि शूल को नष्ट करता है ॥ २९-३० ॥

रसोनस्वरसे सर्पिः पञ्चमूलरसान्वितम्।
सुरारनालदध्यम्लमूलकस्वरसैः सह ॥ ३१ ॥
व्योषदाडिमवृक्षाम्लयवानीचव्यसैन्धवैः।
हिङ्ग्वम्लवेतसाजाजीदीप्यकैश्च समांशिकैः ॥ ३२ ॥
सिद्धं गुल्मग्रहण्यर्शःश्वासोन्मादक्षयज्वरान्।
कासापस्मारमन्दाग्निप्लीहशूलानिलान् जयेत् ॥३३॥

रसोनादिघृतम्—लहसून की गिरी का स्वरस, बृहत् पञ्चमूल का क्वाथ, सुरा, काञ्जी, दही के ऊपर का पानी और मूली का स्वरस, इन्हें समान प्रमाण में मिश्रित कर ४ प्रस्थ लें तथा घृत १ प्रस्थ एवं सोंठ, मरिच, पीपल, अनारदाने, वृक्षाम्ल, (इमली या कोकम) अजवायन, चव्य, सैन्धवलवण, हींग, अमलवेंत, श्वेत जीरा और अजवायन, इन्हें समप्रमाण में मिश्रित कर ४ पल भर लेकर जल के साथ पत्थर पर पीसकर कल्क बना लेवें। फिर सबको एक कलईदार भगोने में भरकर धीरे-धीरे घृतावशेष पाक कर लेवें। यह सिद्ध घृत, गुल्म, संग्रहणी, अर्श, श्वास, उन्माद,

क्षय, ज्वर, कास, अपस्मार, मन्दाग्नि, प्लीहा की वृद्धि तथा तज्जन्यशूल या उदरशूल, और वात के रोगों को विनष्ट करता है ॥ ३१-३३ ॥

दधि सौवीरकं सर्पिः काथौ मुद्गकुलत्थजौ ।
पञ्चाढकानि विपचेदावाप्य द्विपलान्यथ ॥ ३४ ॥
सौवर्चलं स्वर्जिकाञ्च देवदार्वथ सैन्धवम् ।
वातगुल्मापहं सर्पिरेतद्दीपनमेव च ॥ ३५ ॥

दध्यादिघृतम्—दही १ आढक (४ प्रस्थ), तुषरहित काञ्जी १ आढक, घृत १ आढक, मूँग का क्वाथ १ आढक तथा कुलत्थ क्वाथ १ आढक एवं सौंचलनमक, स्वर्जिकाक्षार, देवदारु चूर्ण और सैन्धवलवण प्रत्येक दो-दो पल लेकर सम्यक्पाकार्थ ४ आढक जल मिलाकर घृतावशेष पाक कर लें। यह दाधिक घृत वातिक गुल्म को नष्ट करता है तथा अग्नि का दीपक है ॥ ३४-३५ ॥

तृणमूलकषाये तु जीवनीयैः पचेद् घृतम् ।
न्यग्रोधादिगणे वापि गणे वाऽप्युत्पलादिके ॥ ३६ ॥
रक्तपित्तोत्थितं घ्नन्ति घृतान्येतान्यसंशयम् ॥ ३७ ॥

तृणमूलादिघृतानि—कुश, काश, सरपत, दर्भ और इक्षु, इन पञ्चतृणों की जड़ों के ४ प्रस्थ क्वाथ में जीवनीय वर्ग की औषधियों का कल्क ४ पल भर एवं घृत १ प्रस्थ भर मिला कर घृतपाक कर लें। अथवा द्रव्यसंग्रहणीय अध्याय में कहे हुये न्यग्रोधादिगण की औषधियों के क्वाथ में किंवा उत्पलादिगण की औषधियों के स्वरस या क्वाथ में जीवनीयगणौषध कल्क तथा घृत मिलाकर उसे सिद्ध कर लें। ये उक्त तीनों तरह के घृत रक्तपित्त के कारण उत्पन्न हुये गुल्म को किंवा गुल्म के भेदन के समय अधिक होने वाले रक्तपित्त को नष्ट करते हैं ॥ ३६-३७ ॥

विमर्शः—जीवनीयगणः—अष्टवर्गः सयष्टीको जीवन्ती मुद्गपर्णिका । माषपर्णीगणोऽयन्तु जीवनीय इति स्मृतः ॥

आरग्वधादौ विपचेद्दीपनीययुतं घृतम् ।
क्षारवर्गे पचेच्चान्यत् पचेन्मूत्रगणेऽपरम् ॥
घ्नन्ति गुल्मं कफोद्भूतं घृतान्येतान्यसंशयम् ॥ ३८ ॥

कफगुल्मे त्रीणि घृतानि—आरग्वधादिगण की औषधियों के ४ प्रस्थ क्वाथ में दीपनीय (पिप्पल्यादिक) गण की औषधियों का कल्क ४ पल तथा घृत १ प्रस्थ मिलाकर उसे सिद्ध कर लेवें। अथवा १ प्रस्थ घृत में दीपनीयगण की औषधियों का कल्क ४ पल तथा क्षारवर्ग (मुष्क से प्रारम्भ कर .पतक्र कोशातकी तक) के द्रव्यों की राख का पानी (क्षारोदक) ४ प्रस्थ मिलाकर घृत सिद्ध कर लें। अथवा १ प्रस्थ घृत तथा दीपनीयौषध कल्क ४ पल लेकर मूत्राष्टक में कहे हुये प्राणियों के ४ प्रस्थ मूत्र में यथाविधि घृत सिद्ध कर लेवें ॥ ३८ ॥

विमर्शः—(१) मूत्राष्टक—सैरिभाजाविकरभगोखरद्विपवाजिनाम् । मूत्राणीति भिषग्वर्यैर्मूत्राष्टकमुदाहृतम् ॥ (२) क्षारवर्गः—सुधापलाशशिखरीचित्राऽर्कतिलनालजाः । स्वर्जिकायावशूकश्च ॥

यथादोषोच्छ्रयञ्चापि चिकित्सेत्सान्निपातिकम् ।
चूर्णं हिङ्ग्वादिकं वाऽपि घृतं वा प्लीहनाशनम् ॥३९॥
पिबेद् गुल्मापहं काले सर्पिस्तैल्वकमेव वा ॥४०॥

सान्निपातिकगुल्मचिकित्सा—त्रिदोषों के प्रकोप से उत्पन्न हुये गुल्म की चिकित्सा जिस दोष की अधिकता हो तदनुसार करनी चाहिए। अथवा सान्निपातिक गुल्म में वातव्याधि प्रकरण में कहे हुये हिंग्वादि चूर्ण का सेवन कराना चाहिए। किंवा प्लीहोदररोगाधिकार में कहे हुए षट्पलघृत का सेवन कराना चाहिए। अथवा वातव्याधि प्रकरण में कहे हुये तैल्वकघृत का प्रयोग योग्य समय में विरेचनार्थ करना चाहिए ॥ ३९-४० ॥

तिलेक्षुरकपालाशसार्षपं यावनालजम् ।
भस्म मूलकजञ्चापि गोजाविखरहस्तिनाम् ॥
मूत्रेण महिषीणाञ्च पालिकैश्चावचूर्णितैः ॥ ४१ ॥
कुष्ठसैन्धवयष्ट्याह्वनागरकृमिघातिभिः ।
साजमोदैश्च दशभिः सामुद्राच्च पलैर्युतम् ॥ ४२ ॥
अयःपात्रेऽग्निनाऽल्पेन पक्त्वा लेह्यमथोद्धरेत् ।
तस्य मात्रा पिबेद्दध्ना सुरया सर्पिषाऽपि वा ॥ ४३ ॥
धान्याम्लेनोष्णतोयेन कौलत्थेन रसेन वा ।
गुल्मान् वातविकारांश्च क्षारोऽयं हन्त्यसंशयम् ॥ ४४ ॥

क्षारावलेहः—तिल का क्षुप, इक्षुरक (तालमखाना), पलाश वृक्ष की मूल तथा लकड़ियाँ, सरसों का पञ्चाङ्ग, यवनाल या यव का अर्धपक्व पौधा तथा मूली इन सबको समान प्रमाण में लेकर जला के भस्म बना लें। इस भस्म को गाय, बकरी, भेड़, गदहे, हाथी और भैंस—इनके सम प्रमाण मिलित षड्गुण या चतुर्गुण मूत्र में घोलकर इक्कीस बार वस्त्र से छान लेवें। फिर इन छने या नितरे हुये क्षारोदक में कूठ, सैन्धव लवण, मुलेठी, सोंठ, वायविडङ्ग और अजवायन इनमें से प्रत्येक का चूर्ण एक-एक पल तथा सामुद्र लवण दस पल मिलाकर सबको लोहपात्र में भर के भट्टी पर चढ़ाकर मन्द-मन्द अग्नि पर पका के अवलेह रूप में होने पर नीचे उतार कर मृतबाण में भर कर सुरक्षित रख दें। इसकी योग्यमात्रा-इसे छः माशे भर लेकर दही, सुरा, घी, काञ्जी, उष्णोदक तथा कुलथी के क्वाथ, इनमें से किसी एक के साथ मिलाकर सेवन कराने से यह क्षार सर्व प्रकार के गुल्म तथा वातविकारों को नष्ट करता है। इसमें किसी प्रकार का संशय नहीं है ॥ ४१-४४ ॥

विमर्शः—इस क्षारावलेह निर्माण में अन्य आचार्यों का मत है कि तिलादि मूलक पर्यन्त द्रव्यों की भस्म १०० पल लेकर गाय आदि के चतुर्गुण मूत्र में क्वाथ की तरह पका के चौथाई मात्रा शेष रहने पर उसमें कुष्ठादि द्रव्यों का चूर्ण उक्त अवलेहापेक्षया चौथाई के प्रमाण से मिलाकर अवलेह समान होने तक पका के उतार लें। इस विधि से बने अवलेह में अनावश्यक राख भी रह जाती है, जो कि उक्त विधि में भस्म के घोल को छान लेने से क्षारमात्र जल में घुल के आते हैं, अन्य अपद्रव्य छानने से निकल जाते हैं।

स्वर्जिकाकुष्ठसहितः क्षारः केतकिजोऽपि वा ।
तैलेन शमयेत् पीतो गुल्मं पवनसम्भवम् ॥ ४५ ॥

वातगुल्मे स्वर्जिकादिक्षारयोगौ—स्वर्जिक्षार दो रत्ती, कूठ

का चूर्ण चार रत्ती तथा यवक्षार दो रत्ती को तैल के साथ मिलाकर पीने से अथवा केवल केवड़े के दो रत्ती क्षार को तैल के साथ मिलाकर पीने से वातिकगुल्म नष्ट हो जाता है॥

विमर्शः—कुछ आचार्य केतकीक्षार को भी प्रथम योग के साथ मिलाकर एक ही योग मानते हैं।

पीतं सुखाम्बुना वाऽपि स्वर्जिकाकुष्ठसैन्धवम् ॥४६॥

स्वर्जिकादिचूर्णम्—स्वर्जिक्षार दो रत्ती, कुष्ठचूर्ण चार रत्ती तथा सैन्धव लवण दो रत्ती की एक मात्रा बनाकर मन्दोष्ण जल के साथ पीने से वातगुल्म नष्ट हो जाता है॥ ४६॥

वृश्चीवमुरुबूकञ्च वर्षाभूबृहतीद्वयम् ।
चित्रकञ्च जलद्रोणे पक्त्वा पादावशेषितम् ॥ ४७॥
मागधीचित्रकक्षौद्रलिप्ते कुम्भे निधापयेत् ।
मधुनः प्रस्थमावाप्य पथ्याचूर्णार्द्धसंयुतम् ॥ ४८ ॥
बुसोषितं दशाहन्तु जीर्णभक्तः पिबेन्नरः ।
अरिष्टोऽयं जयेद् गुल्ममविपाकमरोचकम् ॥ ४९ ॥

वृश्चीवाद्यरिष्टम्—श्वेतपुनर्नवा, श्वेत एरण्ड की जड़, लाल पुनर्नवा, छोटी कण्टकारी, बड़ी कण्टकारी और चित्रक की जड़ (छाल) इन्हें एक आढक (चार प्रस्थ) लेकर यवकुट करके एक द्रोण (चार आढक) जल में पकाकर चौथाई शेष रहने पर छान कर पिप्पलीचूर्ण, चित्रकचूर्ण और शहद के बने हुये अवलेह से भीतर लिप्त किये हुये भाण्ड में भर के शहद एक प्रस्थ (चौंसठ तोला) तथा हरड़ का चूर्ण आधा प्रस्थ मिलाकर शराव से पात्र के मुख को ढककर कपड़मिट्टी करके सुखाकर दस दिनों तक भूसे के ढेर में रख देवें। पश्चात् सन्धान खोलकर अरिष्ट को कपड़े से छान के मृतबाण या काँच के पात्र या शीशियों में भर के डाट लगा कर सुरक्षित रख देवें। प्रातः तथा सायंकाल के भोजन के जीर्ण होने जाने पर इस अरिष्ट को दो तोले भर की मात्रा में प्रतिदिन पीने से गुल्म, मन्दाग्नि तथा अरुचि रोग नष्ट हो जाते हैं॥ ४७–४९॥

पाठानिकुम्भरजनीत्रिकटुत्रिफलाऽग्निकम् ।
लवणं वृक्षबीजञ्च तुल्यं स्यादनवो गुडः ॥ ५० ॥
पथ्याभिर्वा युतं चूर्णं गवां मूत्रयुतं पचेत् ।
गुटिकास्तद्घनीभूतं कृत्वा खादेदभुक्तवान् ॥ ५१ ॥
गुल्मप्लीहाग्निसादांस्तान्नाशयेयुरशेषतः ।
हृद्रोगं ग्रहणीदोषं पाण्डुरोगञ्च दारुणम् ॥ ५२ ॥

पाठादिचूर्णम्—पाठा, निकुम्भ (दन्ती) की जड़, हरिद्रा, सोंठ, मरिच, पिप्पली, हरड़, बहेड़ा, आँवला, चित्रक की छाल, सैन्धव लवण, इन्द्रयव-इनमें से प्रत्येक का चूर्ण एक-एक तोला तथा पुराना गुड़ इन सबके बराबर मिलाकर रख लें। इस चूर्ण को तीन माशे से छः माशे तक की मात्रा में प्रतिदिन सेवन करें। अथवा पाठादिचूर्ण के साथ आधा हरीतकी चूर्ण मिलाकर चौगुने गोमूत्र में डालकर पकावें तथा घनीभूत होने पर तीन-तीन माशे की गोलियाँ बना के सुखाकर शीशी में भर दें। प्रतिदिन भोजन के पूर्व सुबह शाम एक-एक गोली या अवस्थानुसार दो-दो गोली मन्दोष्ण जलानुपान के साथ सेवन करने से गुल्म, प्लीहावृद्धि, अग्निमान्द्य, हृदय के रोग, ग्रहणी के विकार तथा भयंकर पाण्डुरोग नष्ट हो जाते हैं॥ ५०–५२॥

विमर्शः—आचार्यों ने चूर्ण, कल्क और गुटिकाओं की मात्रा एक कर्ष भर बतलाई है—'कर्षश्चूर्णस्य कल्कस्य गुटिकानाञ्च सर्वशः' किन्तु वर्तमान समय के लिये आधा कर्ष या तीन माशे से छः माशे तक की उक्त पदार्थों की मात्रा पर्याप्त है।

सशूले सोन्नतेऽस्पन्दे दाहपाकरुगन्विते ।
गुल्मे रक्तं जलौकोभिः सिरामोक्षेण वा हरेत् ॥५३॥

गुल्मे लाक्षणिकी चिकित्सा—शूलयुक्त, उभरे हुये तथा स्पन्दनरहित या ईषत्स्पन्दनयुक्त एवं दाह, पाक और पीड़ा से युक्त गुल्म में प्रथम जलौकाओं के द्वारा अथवा सिरामोक्ष (Venisection) करके अशुद्ध रक्त का निर्हरण करना चाहिए॥ ५३॥

सुखोष्णा जाङ्गलरसाः सुस्निग्धा व्यक्तसैन्धवाः ।
कटुत्रिकसमायुक्ता हिताः पाने तु गुल्मिनाम् ॥ ५४ ॥

गुल्मिनां जाङ्गलमांसरसप्रयोगः—जङ्गली पशु-पक्षियों के मांस को पानी के साथ उबालकर छान के स्नेह तथा मसालों से संस्कृत कर थोड़ा सा सैन्धव लवण डाल के एवं सोंठ, मरिच तथा पिप्पली का चूर्ण तीन-तीन रत्ती प्रक्षिप्त कर पिलाने से लाभ होता है॥ ५४॥

पेया वातहरैः सिद्धाः कौलत्थाः संस्कृता रसाः ।
खलाः सपञ्चमूलाश्च गुल्मिनां भोजने हिताः ॥५५॥

गुल्मिनां पेयादिकम्—भद्रदार्वादिक वातनाशक द्रव्यों के क्वाथ से मुद्गादि की पेया बना के मसालों से संस्कृत करके पिलावें। इसी तरह कुलथी को चतुर्गुण जल में उबाल कर चौथाई शेष रख के छान कर उस रस को संस्कृत करके पिलावें। अथवा कपित्थ, दाडिम, तक्र, चांगेरी, मरिच, जीरक और चित्रक को उचित प्रमाण में लेकर षड्गुण या चतुर्गुण पानी में उबाल कर छान के बृहत्पञ्चमूल के चूर्ण का प्रक्षेप देके या पञ्चमूल के द्रव्यों को भी कपित्थादि के साथ उबाल के छान कर मसालों से संस्कृत करके गुल्मियों को पिलाने से लाभ होता है॥ ५५॥

विमर्शः—खलाः कपित्थादिसंस्कृता यूषविशेषाः, तदुक्तम् 'कपित्थतक्रचाङ्गेरीमरिचाजाजिचित्रकैः। सुपक्वः खडयूषोऽयम्॥'

बद्धवर्चोऽनिलानान्तु सार्द्रकं क्षीरमिष्यते ।
कुम्भीपिण्डेष्टकास्वेदान् कारयेत् कुशलो भिषक् ॥५६॥

बद्धवर्चसि गुल्मे आर्द्रकक्षीरम्—जिन गुल्मियों की विष्ठा तथा वायु का निरोध हो गया हो उन्हें दुग्ध में अदरक और पानी डाल के पकाकर पिलावें तथा स्वेदाध्याय में कहे हुये कुम्भीक और पिण्डस्वेद आदि के द्वारा उदर पर स्वेदन करना चाहिए॥ ५६॥

गुल्मिनः सर्व एवोक्ता दुर्विरेच्यतमा भृशम् ।
अतश्चैतांस्तु सुस्विन्नान् स्रंसनेनोपपादयेत् ॥ ५७ ॥

गुल्मिनां विरेचनविधिः—प्रायः करके सर्व प्रकार के गुल्म-रोगियों को विबन्ध रहने से सर्व प्रथम विरेचन देने से उन्हें

दस्त आसानी से नहीं होता है। अतएव ऐसे क्रूरकोष्ठी तथा विबन्धयुक्त गुल्मियों को प्रथम यथाविधि स्नेहन कर के स्वेदित कर पश्चात् विरेचन कर्म कराना चाहिए॥ ५७॥

विम्लापनाभ्यञ्जनानि तथैव दहनानि च।
उपनाहाश्च कर्त्तव्याः सुखोष्णाः शाल्वणादयः॥५८॥
उदरोक्तानि सर्पीषि मूत्रवर्त्तिक्रियास्तथा।
लवणानि च योज्यानि यान्युक्तान्यनिलामये॥५९॥

गुल्मे विम्लापनादीनि—विरेचन के पश्चात् गुल्म का विम्लापन (अङ्गुल्यादि से मर्दन) करें तथा तैल का अभ्यङ्ग, दाह कर्म एवं शाल्वणादिक उपनाह (पोल्टिस) द्वारा स्वेदन करना चाहिए। इनके अतिरिक्त उदररोगाधिकार में कहे हुये अनेक प्रकार के घृत, मूत्रों और वर्तियों का प्रयोग करना चाहिए एवं वातव्याधि प्रकरण में कहे हुये पत्रलवण, स्नेह लवण और कल्याण लवण का प्रयोग करें॥ ५८-५९॥

वातवर्चोनिरोधे तु सामुद्रार्द्रकसर्षपैः।
कृत्वा पायौ विधातव्या वर्त्तयो मरिचोत्तराः॥ ६०॥

वातवर्चोनिरोधे वर्त्तयः—अपानवायु तथा विष्ठा के अवरोध होने पर समुद्री लवण, अदरक, सरसों और काली मरिचों को समप्रमाण में लेके पानी के साथ पीस के बेर की गुठली के आकार की वर्तियां बना के सुखाकर गुदा में रखा के धारण करानी चाहिए॥ ६०॥

विमर्शः—आजकल इन गुदवर्तियों का बहुत प्रयोग हो रहा है, इन्हें सपोजिटरी कहती हैं। बच्चों को दस्त लाने के लिये उनकी गुदा में एक ग्लिसरीन सपोजिटरी रख देने से एक दो साफ दस्त आ जाती हैं। आयुर्वेदिकों की अकर्मण्यता से उनके शास्त्रीय ज्ञान का क्रियात्मक लाभ डाक्टरी वाले कर रहे हैं।

दन्तीचित्रकमूलेषु तथा वातहरेषु च।
कुर्य्यादरिष्टान् सर्वांश्च सूत्रस्थाने यथेरितान्॥ ६१॥

अरिष्टप्रयोगोपदेशः—दन्ती की जड़, चित्रक की जड़ तथा विदारिगन्धादि वात नाशक द्रव्यों को लेकर सूत्रस्थान के विरेचन कल्प प्रकरण में कही हुई आसवकरण प्रक्रिया के अनुसार इनके क्वाथ से अरिष्ट और आसवों का निर्माण करना चाहिए। अथवा यहीं पर ४७वें श्लोक में कहे हुये वृश्चीवारिष्ट की विधि के अनुसार उक्त दन्ती चित्रकादि द्रव्यों के क्वाथ में शहद और हरड़ के चूर्ण का प्रक्षेप देकर आसव और अरिष्टों का निर्माण कर गुल्मनाशन में प्रयुक्त करें॥६१॥

खादेद्वाऽप्यङ्कुरान् भृष्टान् पूतीकनृपवृक्षयोः।
ऊर्ध्ववातं मनुष्यञ्च गुल्मिनं न निरूहयेत्॥ ६२॥

अन्यप्रयोगे निरूहणनिषेधश्च—अथवा गुल्म रोग में पूतीक (करञ्ज) तथा नृपवृक्ष (अमलतास) इनके कोमलपत्राङ्कुरों को घृत के साथ भून कर खिलाने चाहिए, एवं ऊर्ध्ववात (उद्गार) युक्त गुल्म रोगी को निरूहणवस्ति नहीं देवें॥६२॥

पिबेत् त्रिवृन्नागरं वा सगुडां वा हरीतकीम्।
गुग्गुलुं त्रिवृतां दन्तीं द्रवन्तीं सैन्धवं वचाम्॥ ६३॥
मूत्रमद्यपयोद्राक्षारसैर्वीक्ष्य बलाबलम्।
एवं पीलूनि पिष्टानि पिबेत् सलवणानि तु॥ ६४॥

त्रिवृतादिप्रयोगत्रयम्—निशोथ और सोंठ को दो दो माशे के प्रमाण में चूर्णित कर गुड़ के साथ सेवन करें अथवा गुड़ के साथ हरड़ के ३-६ माशे भर चूर्ण को सेवन करें। अथवा गूगल, निशोथ, दन्ती की जड़, सैन्धव लवण, और वचा इनको समान प्रमाण में लेके खाण्ड कूट कर चूर्णित कर ३ माशे से ६ माशे तक के प्रमाण में लेके दोष, काल, आयु और रोग के बलाबल का विचार कर गोमूत्र, मद्य, दुग्ध और द्राक्षा रस में से किसी एक के अनुपान के साथ सेवन करावें। इसी प्रकार पीलू फलों को अग्नि में भूनकर सैन्धव लवण मिला के चूर्णित कर उक्त मूत्र, मद्य, दुग्ध, द्राक्षारस आदि अनुपान के साथ सेवन करावें॥ ६३-६४॥

पिप्पलीपिप्पलीमूलचव्यचित्रकसैन्धवैः।
युक्ता हन्ति सुरा गुल्मं शीघ्रं काले प्रयोजिता॥६५॥

गुल्मे सुराप्रयोगः—पिप्पली, पिप्पलीमूल, चव्य, चित्रकमूल और सैन्धवलवण को समान प्रमाण में लेके चूर्णित कर २ से ४ माशे तक की मात्रा में २ तोला सुरा के अनुपान के साथ आध्मानादिक अवस्था में सेवन करने से गुल्म नष्ट होता है॥ ६५॥

बद्धविण्मारुतो गुल्मी भुञ्जीत पयसा यवान्।
कुल्माषान् वा बहुस्नेहान् भक्षयेल्लवणोत्तरान्॥६६॥

बद्धविण्मारुतगुल्मे पथ्यम्—जिस गुल्म के रोगी में विष्ठा और अपान वायु की रुकावट रहती हो उसे दुग्ध के साथ यव (के दलिये) को खीर (दुग्ध पाक) के समान पका के खिलावें अथवा कुल्माषों (अर्धस्विन्न जो गेहूँ) को अत्यधिक स्नेह के साथ संस्कृत कर सैन्धव लवण मिलाके सेवन करावें॥ ६६॥

अथास्योपद्रवः शूलः कथञ्चिदुपजायते।
शूलं निखानितमिवासुखं येन तु वेत्त्यसौ॥ ६७॥

गुल्मोपद्रवशूलः—जब गुल्म रोगी के उपद्रव स्वरूप में शूल हो जाता है तब वह शूल गड़े हुए कीलक के समान उसे दुःख देता है॥ ६७॥

तत्र विण्मूत्रसंरोधः कृच्छ्रोच्छ्वासः स्थिराङ्गता।
तृष्णा दाहो भ्रमोऽन्नस्य विदग्धपरिवृद्धिता॥६८॥
रोमहर्षोऽरुचिश्छर्दिर्भुक्तवृद्धिर्जडाङ्गता।
वाय्वादिभिर्यथासङ्ख्यं मिश्रैर्वा वीक्ष्य योजयेत्॥६९॥

औपद्रविकशूलस्य सलक्षणभेदाः—वातिक शूल में विष्ठा और मूत्र का निरोध तथा सांस लेने में कठिनाई एवं अङ्गों में स्थिरता (कठिनता या जड़ता); पैत्तिक शूल में तृष्णा, दाह, शिर में चक्कर, तथा अन्न के विदग्ध होने से शूल में वृद्धि होती है। कफज शूल में शरीर के बालों का खड़ा होना, भोजन में अरुचि, वमन तथा भोजन करते ही शूल की वृद्धि एवं शरीराङ्गों में जड़ता (निश्चलता) ये यथासंख्य (क्रम से) वात, पित्त और कफ से उत्पन्न हुये शूलों के लक्षण हैं। इसी तरह दो दो दोषों के लक्षणों के मिश्र होने पर तीन तरह के द्वन्द्वज शूल एवं सभी दोषों के लक्षणों के मिश्र होने पर

सान्निपातिक शूल को समझ कर चिकित्सा की योजना करनी चाहिए ॥ ६८-६९ ॥

पथ्यात्रिलवणं क्षारं हिङ्गुतुम्बुरुपौष्करम् ।
यवानीं च हरिद्रां च विडङ्गान्यम्लवेतसम् ॥ ७० ॥
विदारीत्रिफलाऽभीरुशृङ्गाटीगुडशर्कराः ।
काश्मरीफलयष्ट्याह्वपरूषकहिमानि च ॥ ७१ ॥
षड्ग्रन्थाऽतिविषादारुपथ्यामरिचवृक्षजान् ।
कृष्णामूलकचव्यञ्च नागरक्षारचित्रकान् ॥ ७२ ॥
उष्णाम्लकाञ्जिकक्षीरतोयैः श्लोकसमापनात् ।
यथाक्रमं विमिश्रांश्च द्वन्द्वे सर्वांश्च सर्वजे ॥ ७३ ॥

वातिकादिशूलचिकित्सा—वातिकशूल में हरड़, सैन्धव लवण, सौंचल लवण, विडलवण, यवक्षार, हींग, धनिया (तुम्बरु), पोहकरमूल, अजवायन, हरिद्रा, वायविडङ्ग तथा अमलबेंत, इन्हें समान प्रमाण में चूर्णित कर ३ माशे से ६ माशे तक की मात्रा में अम्ल काञ्जी के अनुपान के साथ सेवन करना चाहिए। पैत्तिक शूल में विदारीकन्द, त्रिफला, शतावर (अभीरु), सिंघाड़ा (शृङ्गाटी), गुड़, शर्करा, (अथवा गुडशर्करा=गाङ्गेरी फल), गम्भारीफल, मुलेठी, फालसा और श्वेतचन्दन (हिम) इन्हें समान प्रमाण में लेकर चूर्णित करके ३ माशे से ६ माशे की मात्रा में लेकर मन्दोष्ण दुग्ध के अनुपान के साथ सेवन कराना चाहिए। इसी तरह श्लैष्मिक शूल में वचा (षड्ग्रन्था), अतीस, देवदारु, हरड़, मरिच, इन्द्रयव, पिप्पली, पिप्पलीमूल, चव्य, सोंठ, यवक्षार और चित्रक की जड़, इन्हें समान प्रमाण में लेके खाण्ड कूटकर चूर्ण बना के ३ माशे से ६ माशे के प्रमाण में उष्णोदक के अनुपान के साथ सेवन कराना चाहिए। इसी तरह द्वन्द्वज शूलों में उक्त योगों को मिश्ररूप में प्रयुक्त करें, जैसे वातपित्तजन्यशूल में पथ्यादि और विदार्यादि चूर्ण, वातश्लैष्मिकशूल में पथ्यादि और षड्ग्रन्थादिचूर्ण तथा पित्तश्लैष्मिकशूल में विदार्यादि और षड्ग्रन्थादि चूर्ण का सेवन कराना चाहिए। इसी तरह सान्निपातिक शूल में तीनों चूर्णों को मिला के सेवन करावें ॥ ७०-७३ ॥

तथैव सेकावगाहप्रदेहाभ्यङ्गभोजनम् ।
शिशिरोदकपूर्णानां भाजनानाञ्च धारणम् ॥ ७४ ॥
वमनोन्मर्दनस्वेदलङ्घनक्षपणक्रियाः ।
स्नेहादिश्च क्रमः सर्वो विशेषेणोपदिश्यते ॥ ७५ ॥

वातादिशूलेषु सामान्यचिकित्सा—वातजन्य शूलरोग में सेक, तैलपूर्णद्रोणी या पात्र में अवगाहन, तैलाभ्यङ्ग और वातनाशक द्रव्यों का भोजन प्रशस्त माना गया है। पैत्तिक शूल में शीतल जल से भरे हुये पात्रों का शूलाङ्ग पर धारण करना हितकारी है। कफजन्य शूल में वमन, देह का मर्दन या उबटन, स्वेदन, लङ्घन तथा क्षपण (कफ घटाने वाली लेखनादि) क्रिया करनी चाहिए। दोषों के अनुसार तथा अवस्था के अनुसार स्नेहादिक्रम सर्व प्रकार के गुल्मज शूलों में करना चाहिए ॥ ७४-७५ ॥

वल्लूरं मूलकं मत्स्यान् शुष्कशाकानि वैदलम् ।
न खादेदालुकं गुल्मी मधुराणि फलानि च ॥ ७६ ॥

गुल्मिनेऽपथ्यानि—शुष्क मांस, मूली, मछली, सूखे शाक, दाल, आलू और मीठे फल गुल्मरोगी के लिये वर्जित हैं ॥ ७६ ॥

विमर्शः—गुल्मरोगेऽपथ्यानि-वातकारीणि सर्वाणि विरुद्धान्यशनानि च । शुष्कशाकं शमीधान्यं विष्टम्भीनि गुरूणि च ॥ अधोवातशकृन्मूत्रश्वासाश्च विधारणम् । वमनं जलपानञ्च गुल्मरोगी परित्यजेत् ॥ गुल्मरोगे पथ्यानि—स्नेहः स्वेदो विरेकश्च बस्तिर्वा हुशिराव्यधः । लङ्घनं वर्तिरभ्यङ्गः स्नेहः पक्वेतु पाटनम् ॥ खर्जूरं दाडिमं धात्री नागरञ्चाम्लवेतसम् । तक्रमैरण्डतैलञ्च लशुनं बालमूलकम् ॥ यदन्नं स्निग्धमुष्णञ्च बृंहणं लघु दीपनम् । वातानुलोमनञ्चैव पथ्यं गुल्मे नृणां भवेत् ॥

विना गुल्मेन यच्छूलं गुल्मस्थानेषु जायते ।
निदानं तस्य वक्ष्यामि रूपञ्च सचिकित्सितम् ॥ ७७ ॥

केवलशूलनिरूपणम्—गुल्म के बिना भी गुल्म के स्थान में जो शूल हुआ करता है उसका निदान, रूप और चिकित्सा का वर्णन किया जाता है ॥ ७७ ॥

विमर्शः—गुल्म के कारण उत्पन्न शूल का निदान व चिकित्सा कह दी है, किन्तु गुल्म के बिना भी गुल्म के स्थान अर्थात् दोनों पार्श्व, हृदय, नाभि और बस्ति इन पञ्च स्थानों में तथा तत्समीपवर्ति त्रिक और पृष्ठ प्रदेश में भी होने वाले शूल का ग्रहण होता है जैसा कि माधवकार ने कहा है—'वायुः प्रवृद्धो जनयेद्धि शूलं हृत्पार्श्वपृष्ठत्रिकबस्तिदेशे' कुछ लोगों ने 'विना गुल्मेन यच्छूलम्' इस श्लोक को नहीं लिखा है तथा 'अथातः शूलप्रतिषेधं व्याख्यास्यामः' ऐसा प्रतिज्ञासूचक पाठ लिख कर वक्ष्यमाण 'वातमूत्रपुरीषाणां निग्रहात्' इत्यादि प्रारम्भ करके पृथक् ही एक नये शूलाध्याय का प्रारम्भ किया है। इसी तरह कुछ टीकाकारों ने 'विना गुल्मेन' इत्यादि श्लोक पाठ को असौश्रुत मान कर इसका परित्याग कर दिया है। अस्तु माधवनिदान में एक शूल का प्रकरण पृथक् ही दिया है। ऐसे सुश्रुत ने भी कर्णशूल, शिरःशूल और तूनी तथा प्रतितूनी से दो रोग-जिनमें शूल या वेदना की विशिष्टता है पृथक् पाठ किया है। शूल अनेक रोगों के अन्दर एक लक्षण स्वरूप होने से उन-उन रोगों में उसका समावेश हो सकता है, किन्तु अनेक प्रकार के शूल ऐसे भी हैं जो केवल दुष्ट दोषों के कारण उत्पन्न होते हैं। अतः शूलरोग का एक पृथक् प्रकरण रखना अधिक युक्तियुक्त प्रतीत होता है। ज्वर की उत्पत्ति की तरह शूल की भी उत्पत्ति है, प्रकुपित हुये महादेव ने कामदेव पर त्रिशूल फेंका था तथा वह कामदेव भयभीत होकर विष्णु की शरण में गया और विष्णु के हुङ्कार से अपवारित होकर वह त्रिशूल पृथ्वी पर गिरा और उसी से शूल रोग की उत्पत्ति हुई ऐसी हारीत ने शूलोत्पत्ति की पौराणिक कथा लिखी है—अनङ्गनाशाय हरस्त्रिशूलं मुमोच कोपान्मकरध्वजश्च । तमापतन्तं सहसा निरीक्ष्य भयार्दितो विष्णुतनुं प्रविष्टः ॥ स विष्णुहुङ्कारविमोहितात्मा पपात भूमौ प्रथितः स शूलः । स पञ्चभूतानुगतं शरीरं प्रदूषयत्यस्य हि पूर्वसृष्टिः ॥ त्रिशूल के कारण उत्पन्न होने से इसे शूल कहते हैं। अथवा इस रोग के कारण रोगी को शरीर में गड़ी हुई कील या शङ्कु के समान तीव्र वेदना का अनुभव होता है, अत एव इसे शूल कहा है। जैसा कि आगे सुश्रुत ने कहा है—शङ्कुस्फोटनवत्तस्य यस्मात्तीव्राश्च

वेदनाः। शूलासक्तस्य लक्ष्यन्ते तस्माच्छूलमिहोच्यते॥ शूल-कारण—वक्ष्यमाण वातादिवेगों के रोकने से शूल उत्पन्न होता है, किन्तु वायु की इसमें प्रधानता रहती है, क्योंकि वायु के बिना रुजा नहीं होती 'नर्तेऽनिलाद्रुक्' श्री गणनाथसेनजी ने भी स्पष्ट लिखा है कि संज्ञावाहक ज्ञानतन्तुओं में वायु के द्वारा क्षोभ उत्पन्न होता है, अतः शूलों में वायु ही प्रधान होता है—संज्ञावहानां नाडीनां प्रतानोद्वेजनोद्भवाः। सर्वेऽपि शूलास्तेनाहुः शूलानामनिलः प्रभुः॥ शूल के अन्य भी निम्न कारण माने हैं—स्रोतोनिरोधोदावर्तौ व्रणशोथस्तथा क्षतम्। आघातः कार्यवैषम्यं दौर्बल्यं शूलभूमयः॥

वातमूत्रपुरीषाणां निग्रहादतिभोजनात्।
अजीर्णाध्यशनायासविरुद्धान्नोपसेवनात् ॥ ७८ ॥
पानीयपानात् क्षुत्काले विरूढानाञ्च सेवनात्।
पिष्टान्नशुष्कमांसानामुपयोगात्तथैव च ॥ ७९ ॥
एवंविधानां द्रव्याणामन्येषां चोपसेवनात्।
वायुः प्रकुपितः कोष्ठे शूलं सञ्जनयेद् भृशम्॥
निरुच्छ्वासो भवेत्तेन वेदनापीडितो नरः॥ ८० ॥

शूलस्य निदानं सम्प्राप्तिश्च—अपानवायु के वेग, मूत्रवेग और मलवेग को रोकने से, अधिक भोजन करने से एवं अजीर्ण तथा अध्यशन से, विरुद्ध भोजन के सेवन करने से, क्षुधा के लगने के समय में पानी या द्रवपदार्थ पी लेने से, अङ्कुरित या विकृत नष्टाङ्कुर हुये धान्यों के सेवन से, पिट्ठी या पिष्टविकृति के बने पदार्थों के अधिक सेवन से, सूखे मांसों के उपयोग से तथा इसी प्रकार के अन्य दोष प्रकोपक द्रव्यों के सेवन से कोष्ठ में वायु प्रकुपित होकर तीव्र शूल उत्पन्न करता है। इस शूल की पीड़ा से मनुष्य का श्वास रुक जाता है या श्वास लेने में भी पीड़ा का अधिक अनुभव होने से वह उर से श्वास-प्रश्वास की क्रिया को कम कर देता है॥ ७८-८०॥

शङ्कुस्फोटनवत्तस्य यस्मात्तीव्राश्च वेदनाः।
शूलासक्तस्य लक्ष्यन्ते तस्माच्छूलमिहोच्यते॥ ८१ ॥

शूलनिरुक्ति—शूलरोग से पीड़ित मनुष्य के शरीर में गड़ी हुई कील या शङ्कु के समान तीव्र वेदना होती है, इस लिये इस रोग को शूल कहते हैं॥ ८१॥

निराहारस्य यस्यैव तीव्रं शूलमुदीर्यते।
प्रस्तब्धगात्रो भवति कृच्छ्रेणोच्छ्वसितीव च॥ ८२ ॥
वातमूत्रपुरीषाणि कृच्छ्रेण कुरुते नरः।
एतैर्लिङ्गैर्विजानीयाच्छूलं वातसमुद्भवम्॥ ८३ ॥

वातिकशूललक्षणम्—बिना भोजन किये हुये अर्थात् खाली पेट पर जिसको तीव्र शूल होता हो तथा शूल के समय शरीर स्तब्ध (कठोर) हो जाता हो एवं श्वास कठिनता से लेता हो एवं वह रोगी अपानवायु, मूत्र और मल को बड़ी कठिनता से त्यागता हो तो इन लक्षणों से उसे वातशूल से ग्रस्त समझो॥ ८२-८३॥

विमर्शः—माधवकार ने वातिक शूल का निदान, सम्प्राप्ति एवं स्वरूप का अच्छा विवेचन किया है—कारण—व्यायामयानादतिमैथुनाच्च प्रजागराच्छीतजलातिपानात्। कलायमुद्गाढकिकोरदूषादत्यर्थरूक्षाध्यशनाभिघातात्॥ वातगुल्मप्रकोपसमयः—जीर्णे प्रदोषे च घनागमे च शीते च कोपं समुपैति गाढम्। वातगुल्मप्रकोपप्रशमनहेतवः—मुहुर्मुहुश्चोपशमप्रकोपी विड्वातसंस्तम्भनतोदभेदैः। संस्वेदनाभ्यञ्जनमर्दनाद्यैः स्निग्धोष्णभोज्यैश्च शमं प्रयाति॥

तृष्णा दाहो मदो मूर्च्छा तीव्रं शूलं तथैव च।
शीताभिकामो भवति शीतेनैव प्रशाम्यति॥
एतैर्लिङ्गैर्विजानीयाच्छूलं पित्तसमुद्भवम्॥ ८४ ॥

पैत्तिकशूललक्षणम्—प्यास, दाह, मद, मूर्च्छा, शूल की तीव्रता और शीत आहार-विहार की अभिलाषा तथा शीतल उपचारों से ही शूल की शान्ति होना, इन लक्षणों से पैत्तिक शूल को समझना चाहिए॥ ८४॥

विमर्शः—पैत्तिकशूलकारण—क्षारातितीक्ष्णोष्णविदाहितैलनिष्पावपिण्याककुलत्थयूषैः। कट्वम्लसौवीरसुराविकारैः क्रोधानलायासरविप्रतापैः॥ ग्राम्यातियोगादशनैर्विदग्धैः पित्तं प्रकुप्याशु करोति शूलम्। लक्षण—तृण्मोहदाहार्तिकरं हि नाभ्यां संस्वेदमूर्च्छाभ्रमचोषयुक्तम्। मध्यन्दिने कुप्यति चार्धरात्रे विदाहकाले जलदात्यये च। शीते च शीतैः समुपैति शान्तिं सुस्वादुशीतैरपि भोजनैश्च। दोषज शूलों के स्थान निश्चित हैं। वातिक शूल बस्ति में, पैत्तिकशूल नाभि में, कफजशूल हृदय, पार्श्व और कुक्षि में तथा सान्निपातिकशूल उक्त सर्व देशों में होता है—वातात्मकं बस्तिगतं वदन्ति पित्तात्मकं चापि वदन्ति नाभ्याम्। हृत्पार्श्वकुक्षौ कफसन्निविष्टं सर्वेषु देशेषु च संनिपातात्॥ नाभि से उदर सामान्य एवं विशेषतया आन्त्र में होने वाले आन्त्रिक शूल का ग्रहण होता है, किन्तु नाभि प्रदेश में होने वाले सभी शूल पैत्तिक ही नहीं होते हैं, अपितु पित्तस्थानाश्रित अन्य प्रकुपित दोषों के कारण भी विविध विकार और शूल हो सकते हैं। लक्षण एवं सम्प्राप्ति के अनुसार उन्हें किसी विशिष्ट दोषजनित, द्विदोषज या त्रिदोषज समझना चाहिये। इसी प्रकार कफस्थान आमाशय और वातस्थान नाभि के अधोदेश में भी विकृत होकर पहुँचे हुये पित्त के कारण शूल हो सकता है। पित्ताशय शूल (Billiary colic) और अम्लपित्तजन्य शूल पैत्तिकशूल का प्रधान उदाहरण—कलाशोथ (Peritonitis) तथा आन्त्रपुच्छशोथ (Appendicitis) आदि जनित शूल प्रायः द्विदोषज या त्रिदोषज होते हैं। पित्ताशय का शूल दक्षिण अनुपार्श्विकप्रदेश (Right hypochondrium) तथा अधिजठरप्रदेश (Epigastrium) में होता है। इस दशा में रोगी को ज्वर भी होता है। आन्त्रिक शूल के कारण आन्त्र में व्रण, किण्वीकरण (Fermentation) तथा आन्त्र की पुरःसरणक्रिया (गति) की विलोमता के परिणाम स्वरूप हैं। इसमें भी प्रायः पैत्तिक लक्षणों की प्रधानता होती है। आन्त्रान्त्रप्रवेश (Intussusception) हो जाने से तथा आन्त्रावरोध (Intestinal obstruction) के कारण उदर में तीव्रशूल होता है और यह प्रायः वातिक ही होता है। नाभिप्रदेश का शूल उदर में कृमियों की उपस्थिति का भी सूचक होता है।

शूलेनोत्पीड्यमानस्य हृल्लास उपजायते।
अतीव पूर्णकोष्ठत्वं तथैव गुरुगात्रता॥ ८५ ॥

एतच्छ्लेष्मसमुत्थस्य शूलस्योक्तं निदर्शनम् ॥ ८६ ॥

कफजशूललक्षणम्—शूल से पीडित जिस रोगी का जी मिचलता हो, कोष्ठ अत्यन्त वायु तथा कफ आदि दोषों से पूर्ण भरा हुआ प्रतीत होता हो तथा सारा शरीर भारी विदित होता हो तब ये लक्षण कफजन्यशूल के समझने चाहिये ॥ ८५–८६ ॥

विमर्शः—माधवकार ने श्लैष्मिक शूल के कारण, लक्षण, स्थान और समय का निम्न श्लोकों द्वारा सुन्दर वर्णन किया है। शूलकारणानि—आनूपवारिजकिलाटपयोविकारैर्मांसेक्षुपिष्टकृशरातिलशष्कुलीभिः। अन्यैर्बलासजनकैरपि हेतुभिश्च श्लेष्मा प्रकोपमुपगम्य करोति शूलम् ॥ शूललक्षणानि समयश्च–हृल्लासकासस-दनारुचिसम्प्रसेकैरामाशये स्तिमितकोष्ठशिरोगुरुत्वैः। भुक्ते सदैव हि रुजं कुरुतेऽतिमात्रं सूर्योदयेऽथ शिशिरे कुसुमागमे च ॥ यह शूल प्रायः वामपार्श्व में आमाशय प्रदेश में होता है। अधिष्ठान के अनुसार इसे कुक्षिशूल भी कह सकते हैं, क्योंकि कुक्षिशूल का आश्रय भी आमाशय ही होता है।

सर्वाणि दृष्ट्वा रूपाणि निर्दिशेत्सान्निपातिकम् ।
सन्निपातसमुत्थानमसाध्यं तं विनिर्दिशेत् ॥८७॥

सान्निपातिकशूललक्षण—उपर्युक्त वात, पित्त तथा कफ के सभी लक्षण जिस रोगी में दिखाई देते हों उसे सान्निपातिक शूल समझना चाहिये तथा यह सान्निपातिक शूल असाध्य माना जाता है ॥ ८७ ॥

विमर्शः—माधवोक्तसान्निपातिकशूललक्षणम्—सर्वेषु दोषेषु च सर्वलिङ्गं विद्याद्भिषक् सर्वभवं हि शूलम्। सुकष्टमेनं विषवज्रकल्पं विवर्जनीयं प्रवदन्ति तज्ज्ञाः ॥ उक्त शूलों के अतिरिक्त आमज शूल भी होता है, जो कफजशूल के समान लक्षणों वाला होता है—आटोपहृल्लासवमीगुरुत्वस्तैमित्यकानाहकफप्रसेकैः। कफस्य लिङ्गेन समानलिङ्गमामोद्भवं शूलमुदाहरन्ति ॥ द्वन्द्वजशूललक्षणानि-बस्तौ हृत्पार्श्वपृष्ठेषु सशूलः कफवातिकः। कुक्षौ हृन्नाभिमध्येषु सशूलः कफपैत्तिकः। दाहज्वरकरो घोरो विज्ञेयो वातपैत्तिकः। इस तरह माधवकार ने शूल के आठ भेद लिखे हैं—दोषैः पृथक् समस्तामद्वन्द्वैः शूलोऽष्टधा भवेत्। सर्वेष्वेतेषु शूलेषु प्रायेण पवनः प्रभुः ॥

शूलानां लक्षणं प्रोक्तं चिकित्सां तु निबोध मे ।
आशुकारी हि पवनस्तस्मात्तं त्वरया जयेत् ॥८८॥

शूलचिकित्साविशेषः—उक्त प्रकार से सर्व शूलों के लक्षण कह दिये हैं। अब इसके अनन्तर चिकित्सा कही जाती है। शूल रोग में कुपित वायु प्रधान होता है तथा वह शीघ्र ही शरीर का अहित कर सकता है, इसलिये सर्वप्रथम शीघ्रता से उसे जीतने का प्रयत्न करना चाहिये ॥ ८८ ॥

तस्य शूलाभिपन्नस्य स्वेद एव सुखावहः ।
पायसैः कृशरापिण्डैः स्निग्धैर्वा पिशितैर्हितः ॥ ८९ ॥

वातिकशूले स्वेदः—वातिकशूल से पीड़ित व्यक्ति के शूल स्थान में पायस (खीरान्न), कृशरा (खिचड़ी) पिण्ड अथवा मन्दोष्ण स्निग्ध माँस पिण्ड से सर्वप्रथम स्वेदन करना ही हितकारक होता है ॥ ८९ ॥

विमर्शः—पायसः—अक्षततण्डुला धौताः परिभ्रष्टा घृतेन च। खण्डयुक्तेन दुग्धेन पाचिताः पायसो भवेत् ॥ कृशरा—तिल, तण्डुल, मूँग और उड़द-इनकी कृशरा बनाकर सेक करना चाहिये। स्वेदन के पूर्व स्नेहन करना चाहिए—विशेष वात-शूलन्तु स्नेहस्वेदैरुपाचरेत्। ऐसे शूल रोगी के लिये दोषबल, काल और ऋतु का विचार कर वमन, लङ्घन, स्वेदन, पाचन, फलवर्ति, क्षार, चूर्ण और गुटिका का प्रयोग करना चाहिये—वमनं लङ्घनं स्वेदः पाचनं फलवर्त्तयः। क्षारचूर्णानि गुडिकाः शस्यन्ते शूलशान्तये ॥ (भै० र०)

त्रिवृच्छाकेन वा स्निग्धमुष्णं भुञ्जीत भोजनम् ।
चिरबिल्वाङ्कुरान् वाऽपि तैलभृष्टांस्तु भक्षयेत् ॥ ९० ॥

वातिकशूले आहारः—वातिकशूल वाले रोगी को निशोथ के शाक के साथ उष्ण भोजन कराना चाहिए अथवा नाटा-करञ्ज के कोमल पत्तों को तैल में भून कर खिलाना चाहिए ॥

वैहङ्गांश्च रसान् स्निग्धान् जाङ्गलान् शूलपीडितः ।
यथालाभं निषेवेत मांसानि बिलशायिनाम् ॥ ९१ ॥

वातिकशूले मांसप्रयोगः—तीतर-बटेर आदि विहङ्ग (आकाश) में उड़ने वाले पक्षियों के मांस रस को स्नेह द्वारा संस्कृत करके किंवा जाङ्गल देश के पशुओं के मांसरस अथवा बिल में शयन करने वाले गोधा आदि यथाप्राप्त जानवरों के मांस-रस को स्नेह द्वारा संस्कृत कर खिलाना चाहिए ॥ ९१ ॥

सुरासौवीरकं चुक्रं मस्तूदश्वित्तथा दधि ।
सकाललवणं पेयं शूले वातसमुद्भवे ॥ ९२ ॥

वातजशूले सुरादियोगः—वातजन्य शूल में सुरा, काञ्जी, चुक्र (शुक्त), दही के ऊपर का पानी (मस्तु), उदश्वित् (अर्धपानी से बनी छाछ) और दही, इनमें से प्रकृति, दोष, काल और इच्छा के अनुसार किसी एक तरल को लेकर काला नमक का प्रक्षेप करके पिलाना चाहिए ॥ ९२ ॥

कुलत्थयूषो युक्ताम्लो लावकीयूषसंस्कृतः ।
ससैन्धवः समरिचो वातशूलविनाशनः ॥ ९३ ॥

वातशूले कुलत्थयूषः—कुलत्थी का यूष बनाकर उसमें अनार के स्वरस या दोनों के चूर्ण के प्रक्षेप से अम्लता उत्पन्न कर बटेर के यूष से संस्कृत (या संयुक्त) करके थोड़ा सा सैन्धवलवण और काली मरिचों का चूर्ण मिलाकर सेवन कराने से वातशूल नष्ट होता है ॥ ९३ ॥

विडङ्गशिग्रुकम्पिल्लपथ्याश्यामाऽम्लवेतसान् ।
सुरसामश्वमूत्रीं च सौवर्चलयुतान् पिबेत् ॥९४॥
मद्येन वातजं शूलं क्षिप्रमेव प्रशाम्यति ॥ ९५ ॥

वातशूले विडङ्गादिचूर्णम्—वायविडङ्ग, सहजन की छाल, कबीला, हरड़, लालजड़ की त्रिवृत् (निशोथ), अमलबेंत, तुलसी, शल्लकी (अश्वमूत्री), इन्हें समान प्रमाण में लेकर खण्डकूट के चूर्ण बना लेवे तथा उस चूर्ण में अष्टमांश पीसा हुआ सोंचल नमक मिलाकर तीन माशे से छः माशे के प्रमाण में लेकर मद्यानुपान के साथ सेवन करने से शीघ्र ही वातज शूल नष्ट हो जाता है ॥ ९४–९५ ॥

पृथ्वीकाऽजाजिचविकायवानीव्योषचित्रकाः ।
पिप्पल्यः पिप्पलीमूलं सैन्धवं चेति चूर्णयेत् ॥ ९६ ॥

तानि चूर्णानि पयसः पिबेत् काम्बलिकेन वा।
मध्वासवेन चुक्रेण सुरासौवीरकेण वा ॥ ९७ ॥

वातिकशूले पृथ्वीकादिचूर्णम्— हिङ्गुपत्री, श्वेतजीरा, चव्य, अजवायन, सोंठ, मरिच, पिप्पली, चित्रक की छाल, पिप्पली, पिपरामूल और सैन्धवलवण, इन्हें समान प्रमाण में लेके खाण्ड-कूट कर बना लें। इस चूर्ण को दो माशे से चार माशे की मात्रा में लेकर उष्ण दुग्ध अथवा मन्दोष्ण जलानुपान के साथ सेवन करना चाहिये। अथवा काम्बलिक यूष से मध्वासव से किंवा चुक्र (शुक्त) से या सुरा के अनुपान से अथवा सुरा या सौवीरक (कांजी) के अनुपान से सेवन करें ॥९६-९७॥

विमर्शः—काम्बलिक—दही, दही के ऊपर का पानी और अम्ल पदार्थों से काम्बलिक यूष तैयार किया जाता है—अम्लः काम्बलिकोऽपरः। दध्यम्ललवणस्नेहतिलमाषसमन्वितः॥ चुक्रम्—चुक्र शब्द से शुक्त का ग्रहण होता है, जो कि कन्दमूलफलादिक से बनाया जाता है—कन्दमूलफलादीनि सस्नेहलवणानि च। यत्र द्रव्येऽभिसूयन्ते तच्छुक्तमभिधीयते॥ मधुशुक्त भी बनाया जाता है—जम्बीरस्वरसप्रस्थं मधुनः कुडवं तथा। तावच्च पिप्पलीमूलादेकीकृत्य घटे क्षिपेत्। धान्यराशौ स्थितं मासं मधुशुक्तं तदुच्यते॥ गुडेक्षुमृद्वीकाशुक्तानि—गुडाम्बुना सतैलेन कन्दशाकफलैस्तथा। अम्लतां च कृतं जातं गुडशुक्तं तदुच्यते। एवमेवेक्षुशुक्तं स्याद् मृद्वीकासम्भवं तथा॥ सुरा—परिपक्वान्नसन्धानसमुत्पन्नां सुरां जगुः। सौवीरकम्—यवैः। तुषितैस्तुषैर्वा पक्वैश्च सौवीरं धान्यतं भवेत्॥

अथवैतानि चूर्णानि मातुलुङ्गरसेन वा।
तथा बदरयूषेण भावितानि पुनः पुनः॥
तानि हिङ्गुप्रगाढानि सह शर्करया पिबेत्॥ ९८॥

पृथ्वीकादिचूर्णस्य प्रयोगान्तरम्—अथवा उक्त पृथ्वीकादि चूर्ण को मातुलुङ्ग (बिजोरे नींबू) के रस से तीन दिन तक भावित करके घोटें तथा बाद में बेर के फलों के क्वाथ के साथ बार-बार (सात बार या तीन बार) भावित करके उक्त चूर्ण की अष्टमांश हिङ्गु मिला के अच्छी प्रकार घोट कर सुखा के शीशी में भर देवें। इस चूर्ण को दो माशे से चार माशे प्रमाण में ले के मातुलुङ्गरस और शर्करा के साथ सेवन करने से वातिक शूल नष्ट होता है॥ ९८॥

सह दाडिमसारेण वर्त्तिः कार्या भिषग्जिता।
सा वर्त्तिर्वातिकं शूलं क्षिप्रमेव व्यपोहति॥ ९९॥
गुडतैलेन वा लीढा पीता मद्येन वा पुनः॥१००॥

पृथ्वीकादिचूर्णवर्तिः—अथवा उक्त पृथ्वीकादि चूर्ण को खरल में डालकर अनार के स्वरस या क्वाथ के साथ एक दिन तक खरल करके यव प्रमाण की वर्तिका या वटियाँ बना के सुखाकर शीशी में भर देवें। इस वर्ति को गुड तथा तैल के अनुपान के साथ अथवा मद्य के अनुपान के साथ सेवन करने से वातिक शूल को नष्ट करती है॥ ९९-१००॥

क्षुत्क्षामप्रभवे शूले लघु सन्तर्पणं हितम्।
उष्णैः क्षीरैर्यवागूभिः स्निग्धैर्मांसरसैस्तथा॥ १०१॥

क्षुत्क्षामजन्य शूलचिकित्सा—इस प्रकार के शूल में; लघु (जल्दी पचने वाला) तथा सन्तर्पणकारी भोजन हितकर होता है, जैसे उष्ण दुग्ध के साथ भोजन अथवा मन्दोष्ण यवागू का भोजन किंवा स्निग्ध किये हुये मन्दोष्ण मांसरस के साथ भोजन कराना चाहिए। इससे क्षुधाजन्य शूल नष्ट हो जाता है॥ १०१॥

वातशूले समुत्पन्ने रूक्षं स्निग्धेन भोजयेत्।
सुसंस्कृताः प्रदेयाः स्युर्घृतपूरा विशेषतः॥ १०२॥
वारुणीञ्च पिबेज्जन्तुस्तथा सम्पद्यते सुखी।
एतद्वातसमुत्थस्य शूलस्योक्तं चिकित्सितम्॥ १०३॥

वातजशूले भोजनम्—वातज शूल के उत्पन्न होने पर रूक्ष रोगी को स्निग्ध भोजन कराना चाहिए। विशेषकर सोंठ, मरिच आदि के प्रक्षेप से युक्त तथा अच्छी प्रकार से संस्कृत (घी में तले हुये) घृतपूर (मालपूये या घेवर) खिला के ऊपर से वारुणी (सुरा) का अनुपान कराने से शूलरोगी सुखी हो जाता है। इस प्रकार यह वातजन्य शूल की चिकित्सा का वर्णन कर दिया है॥ १०२-१०३॥

अथ पित्तसमुत्थस्य क्रियां वक्ष्याम्यतः परम्।
ससुखं छर्दयित्वा तु पीत्वा शीतोदकं नरः॥
शीतलानि च सेवेत सर्वाण्युष्णानि वर्जयेत्॥ १०४॥

पैत्तिकशूलचिकित्सा—अब इसके अनन्तर पैत्तिक शूल की चिकित्सा का वर्णन किया जाता है। पैत्तिक शूल वाला रोगी सर्वप्रथम कण्ठ पर्यन्त शीतल जल पीकर सुखपूर्वक (जिह्वा पर अङ्गुलियाँ लगाने से) वमन करके शीतल (तरल) वस्तुओं का सेवन करें तथा उष्ण वस्तुओं का सेवन त्याग दें॥ १०४॥

मणिराजतताम्राणि भाजनानि च सर्वशः।
वारिपूर्णानि तान्यस्य शूलस्योपरि निक्षिपेत्॥१०५॥

मणिराजतताम्रपात्रनिक्षेपणम्—मणि, चांदी और ताम्र के बने हुये पात्रों को शीतल जल से भर कर उन्हें शूली के शूलयुक्त स्थान पर कुछ काल तक रखें॥ १०५॥

गुडः शालिर्यवाः क्षीरं सर्पिःपानं विरेचनम्।
जाङ्गलानि च मांसानि भेषजं पित्तशूलिनाम्॥१०६॥
रसान् सेवेत पित्तघ्नान् पित्तलानि विवर्जयेत्।
पालाशं धान्वनं वाऽपि पिबेद् यूषं सशर्करम्॥१०७॥

पैत्तिकशूले साधारणक्रमः—पित्त शूल के रोगियों के लिये गुड, शालि चावल, यव दुग्ध, घृतपान, विरेचन तथा जाङ्गल प्राणियों के मांस का या रस का सेवन हितकारी होता है। इसके अतिरिक्त पित्त को नष्ट करने वाले रसों (कषाय, स्वादु और तिक्त) का सेवन करना चाहिए तथा पित्त वर्धक द्रव्य और रसों का परित्याग कर देवें। इसके सिवाय पालाश अर्थात् मांस को खाने वाले प्राणियों के मांस के यूष (रस) में तथा धान्वन (जाङ्गल) प्राणियों के मांस के यूष में शर्करा डाल कर पीवे॥ १०६-१०७॥

परूषकाणि मृद्वीकाखर्जूरोदकजान्यपि।
तत् पिबेच्छर्करायुक्तं पित्तशूलनिवारणम्॥ १०८॥

पैत्तिकशूले परूषकादीनि—पित्तशूल का निवारण करने के लिये फालसे, मुनक्के या किसमिस, खजूर (छुहारे) तथा जल में होने वाले कमल के कन्द, नाल आदि को पत्थर पर पानी के साथ पीसकर शर्करा मिलाकर पीना चाहिए ॥१०८॥

विमर्शः—पैत्तिके शूले क्रमः—पैत्ते तु शूले वमनं पयोऽम्बुरसैस्तथेक्षोः सपटोलनिम्बैः। शीतावगाहाः पुलिनाः सवाताः कांस्यादिपात्राणि जलप्लुतानि ॥ धात्रीचूर्णम्—प्रलिह्यात् पित्तशूलघ्नं धात्रीचूर्णं समाक्षिकम्। त्रिफलादियोगः—त्रिफलाऽऽरग्वधकाथं सक्षौद्रं शर्करान्वितम्। पाययेद्रक्तपित्तघ्नं दाहशूलनिवारणम् ॥ शतावरीस्वरसप्रयोगः—शतावरीरसं क्षौद्रयुतं प्रातः पिबेन्नरः। दाहशूलोपशान्त्यर्थं सर्वपित्तामयापहम् ॥ विविधस्वरसाः—धात्र्या रसं विदार्या वा त्रायन्ती गोस्तनाम्बु वा। पिबेत् सशर्करं सद्यः पित्तशूलनिषूदनम् ॥

अशने भुक्तमात्रे तु प्रकोपः श्लैष्मिकस्य च।
वमनं कारयेत्तत्र पिप्पलीवारिणा भिषक् ॥ १०९ ॥

श्लैष्मिकशूलचिकित्सा—भोजन करने के अनन्तर तुरन्त ही कफजन्य शूल का प्रकोप होता है। अतएव जल में पिप्पली का चूर्ण मिला कर कण्ठपर्यन्त पिलाकर वमन कराना चाहिए ॥ १०९ ॥

विमर्शः—पिप्पलीचूर्ण मिश्रित पानी, पिप्पली का काथ अथवा मदन फल की पिप्पली या चूर्ण से वमन कराना चाहिए।

रूक्षः स्वेदः प्रयोज्यः स्यादन्याश्चोष्णाः क्रिया हिताः।
पिप्पलीशृङ्गवेरञ्च श्लेष्मशूले भिषग्जितम् ॥ ११० ॥

श्लैष्मिकशूले रूक्षस्वेदादिकम्—कफजन्य शूल में इष्टिका, बालू की पोट्टली आदि को उष्ण कर उस से रूक्षस्वेदन करना चाहिये तथा अन्य उष्ण उपचार करना हितकारक होता है, जैसे पिप्पली और सोंठ का चूर्ण या काथ के रूप में प्रयोग करना कफजशूल में लाभकारी माना गया है ॥ ११० ॥

विमर्शः—श्लेष्मशूलचिकित्साक्रमः—श्लेष्मात्मके छर्दनलङ्घनानि शिरोविरेकं मधुसीधुपानम्। मधूनि गोधूमयवानरिष्टान् सेवेत रूक्षान् कटुकांश्च सर्वान् ॥

पाठां वचां त्रिकटुकं तथा कटुकरोहिणीम्।
चित्रकस्य च निर्यूहे पिबेद् यूषं सहार्जकम् ॥१११॥

श्लेष्मशूले पाठादिचूर्णम्—पाठा, वचा, सोंठ, मरिच, पिप्पली और कुटकी इनके समभाग में गृहीत चूर्ण को २ से ४ माशे के प्रमाण में लेकर चित्रकमूल के काथानुपान के साथ पीना चाहिये। अथवा अर्जक (कुठेरक या बवई तुलसी) के चूर्ण को यूष (शूलहर शिम्बीधान्य यूष) के साथ पीने से श्लेष्मशूल नष्ट होता है ॥ १११ ॥

एरण्डफलमूलानि मूलं गोक्षुरकस्य च।
शालपर्णीं पृश्निपर्णीं बृहतीं कण्टकारिकाम् ॥ ११२ ॥
दृषाच्छृगालविन्नाञ्च सहदेवां तथैव च।
महासहां क्षुद्रसहां मूलमिक्षुरकस्य च ॥ ११३ ॥
एतत् सम्भृत्य सम्भारं जलद्रोणे विपाचयेत्।
चतुर्भागावशेषन्तु यवक्षारयुतं पिबेत् ॥ ११४ ॥
वातिकं पैत्तिकं वाऽपि श्लैष्मिकं सान्निपातिकम्।
प्रसह्य नाशयेच्छूलं छिन्नाभ्रमिव मारुतः ॥ ११५ ॥

एरण्डद्वादशककाथः—एरण्ड के फल तथा जड़, गोखरू की जड़, शालपर्णी, पृश्नपर्णी, बड़ी कटेरी, छोटी कटेरी, शृगालविन्ना (बड़े पत्रवाली पृश्नपर्णी), सहदेवी, माषपर्णी, मुद्गपर्णी तालमखाने की जड़ इन सबको समानप्रमाण में मिश्रित कर १ आढक (४ प्रस्थ) लेकर एक द्रोण (४ आढक) जल में पकाकर चौथाई अवशेष रहने पर छान कर उचित प्रमाण (जितने से क्वाथ ज्यादा खारा न हो) में यवक्षार मिला के कलईदार पित्तल के पात्र में या मिट्टी के घड़े में भर कर रख देवें। जब जब प्यास लगे जल के स्थान में इसी क्वाथ को पीना चाहिये। इस तरह दिन भर इस क्वाथ को पीने से वातिक शूल, पैत्तिक शूल, श्लैष्मिक शूल और सान्निपातिक शूल नष्ट हो जाते हैं जिस तरह वायु टूटे बादलों को नष्ट कर देता है ॥ ११२–११५ ॥

विमर्शः—कुछ संस्कृत टीकाकारों ने उक्त क्वाथ में १ प्रस्थ यवक्षार प्रक्षिप्त कर पुनः लेह के समान पाक कर सेवन करना लिखा है, परन्तु डल्हणाचार्य ने इसे क्वाथ ही मान कर सारे दिन तृष्णा लगने पर पीना लिखा है।

पिप्पली स्वर्जिकाक्षारो यवाश्चित्रक एव च।
सेव्यश्चैतत्समानीय भस्म कुर्याद्विचक्षणः ॥११६॥
तदुष्णवारिणा पीतं श्लेष्मशूले भिषग्जितम् ॥११७॥

श्लेष्मशूले पिप्पल्यादिभस्म—पिप्पली, सजिखार, यवक्षार, चित्रक की जड़, सेव्य (उशीर) इन सब को समान प्रमाण लेकर जला के भस्म कर लें। इस भस्म को ४ रत्ती से १ माशे प्रमाण में लेकर उष्णोदक में घोल के पीने से श्लेष्मशूल नष्ट होता है ॥ ११६–११७ ॥

रुणद्धि मारुतं श्लेष्मा कुक्षिपार्श्वव्यवस्थितः।
स संरुद्धः करोत्याशु साध्मानं गुडगुडायनम् ॥
सूचीभिरिव निस्तोदं कृच्छ्रोच्छ्वासी तदा नरः ॥११८॥
नान्नं वाञ्छति नो निद्रामुपैत्यर्त्तिनिपीडितः।
पार्श्वशूलः स विज्ञेयः कफानिलसमुद्भवः ॥११९॥

पार्श्वशूलसम्प्राप्तिलक्षणादिकम्—मिथ्या आहार-विहारों से प्रकुपित कफ कुक्षि तथा पार्श्व में स्थित होकर वायु को रोक देता है तथा वह रुकी हुई वायु शीघ्र ही कुक्षि में आध्मान तथा गुड़गुड़ाहट पैदा कर देती है एवं पार्श्वप्रदेश में सुई चुभोने की सी पीड़ा उत्पन्न करती है। उस समय वह रोगी शूल के मारे भय के श्वास कृच्छ्रता से लेता है एवं अन्न खाने की इच्छा नहीं करता तथा शूल से पीड़ित होने से उसे निद्रा भी नहीं आती। इस तरह प्रकुपित कफ और वात से उत्पन्न हुए इस रोग को पार्श्वशूल कहते हैं ॥ ११८–११९ ॥

विमर्शः—पार्श्वशूल उदर तथा वक्ष दोनों के पार्श्व में होता है। उदरपार्श्वशूल आन्त्र की विकृति से होता है अर्थात् कुक्षिस्थित श्लेष्मा के द्वारा आन्त्रगत वायु का अवरोध होने पर उदरपार्श्वशूल उत्पन्न होता है। यह कभी एक पार्श्व में तथा कभी दोनों पार्श्वों में भी हो सकता है। सुश्रुत में कुक्षिशूल का वर्णन आगे स्वतन्त्र किया गया है। वक्षगत पार्श्वशूल

का कारण शुष्क परिफुफ्फुसशोथ (Drypleurisy) है। विकृति क्षेत्र के अनुसार कभी एक पार्श्व में तथा कभी दोनों पार्श्वों में हो सकती है। इस शूल में वक्ष (विशेषतया विकृतपार्श्व) की गति कम होती है तथा श्वास के समय उदर की गति बढ़ जाती है। श्वास लेने के समय रोगी कष्ट का अनुभव करता है। इस स्थिति में रुग्ण को ज्वर भी हो जाता है। पार्श्ववेदना (Pleurodynia) तथा पर्शुकान्तरीय वात-सूत्रशूल (Intercostal neuralgia) जैसी ज्वरलक्षण रहित अवस्थाओं का भी पार्श्वशूल एक विशिष्ट लक्षण माना जाता है।

तत्र पुष्करमूलानि हिङ्गुसौवर्चलं विडम्।
सैन्धवं तुम्बुरुं पथ्यां चूर्णं कृत्वा तु पाययेत् ॥१२०॥
पार्श्वहृद्बस्तिशूलेषु यवक्काथेन संयुतम्।
सर्पिः प्लीहोदरोक्तं वा घृतं वा हिङ्गुसंयुतम् ॥१२१॥

पार्श्वशूले पुष्करमूलादिचूर्णम्—पोहकरमूल, शुद्ध हिङ्गु, सौंचल नमक, विडनमक, सैन्धवलवण, धनिया (तुम्बरु) और हरड़ इनके समभाग कृत चूर्ण को २ से ४ माशे के प्रमाण में लेकर यवक्काथ के अनुपान से सेवन कराने से पार्श्वशूल, हृदयशूल और बस्तिशूल में लाभ होता है। अथवा प्लीहोदराधिकार में कहा हुआ षट्पल घृत किंवा केवल घृत २ तोले में शुद्ध हिङ्गु ४ रत्ती मिलाकर पिलाना चाहिए ॥१२०–१२१॥

बीजपूरकसारं वा पयसा सह साधितम्।
एरण्डतैलमथवा मद्यमस्तुपयोरसैः ॥ १२२ ॥
भोजयेच्चापि पयसा जाङ्गलेन रसेन वा ॥ १२३ ॥

पार्श्वशूले पयोगान्नम्—बीजपूरफल के बीजों को या उसके रस को दुग्ध के साथ पकाकर सेवन करना चाहिए। अथवा एरण्ड के तैल को मद्य, मस्तु, दुग्ध और मांसरस इनमें से यथादोष प्रकृति-काल का विचार कर किसी एक अनुपान के साथ सेवन करावें तथा क्षुधा लगने पर दुग्ध अथवा जाङ्गल पशु-पक्षियों के मांसरस के साथ भोजन कराना चाहिए॥

प्रकुप्यति यदा कुक्षौ वह्निमाक्रम्य मारुतः।
तदाऽस्य भोजनं भुक्तं सोपस्तम्भं न पच्यते ॥
उच्छ्वसित्यासशक्तो शूलेनाहन्यते मुहुः ॥१२४॥
नैवासने न शयने तिष्ठन् वा लभते सुखम्।
कुक्षिशूल इति ख्यातो वातादामसमुद्भवः ॥ १२५ ॥

कुक्षिशूलनिदानम्—मिथ्या आहार-विहार से प्रकुपित वायु प्रथम अग्नि को मन्द कर देती है तथा पश्चात् कुक्षि में और अधिक कुपित होकर उस रुग्ण के खाये हुये अन्न को स्तब्ध (कड़ा) बना कर ठीक तरह से पचने नहीं देती। ऐसी स्थिति में वह व्यक्ति बड़ी कठिनाई से सांस लेता है तथा अपक्व आम या मलदोष के कारण उत्पन्न हुये शूल से बार-बार पीड़ित होता है, जिससे उस रोगी को बैठने, लेटने तथा खड़े रहने पर भी किसी भी स्थिति में अनुकूलता (सुख) की प्रतीति नहीं होती। इस तरह प्रकुपित वात तथा आमदोष से उत्पन्न हुये इस शूल को कुक्षिशूल कहते हैं॥

विमर्शः—कुक्षिशूल—यह उदरगत शूल ही है तथा आन्त्र के विकृत होने से उत्पन्न होता है। अर्थात् कुक्षिस्थ श्लेष्मा से आन्त्रगत वात का अवरोध होने पर इस शूल की उत्पत्ति होती है।

वमनं कारयेत्तत्र लङ्घयेद्वा यथाबलम्।
संसर्गपाचनं कुर्य्यादम्लैर्दीपनसंयुतैः ॥ १२६ ॥

कुक्षिशूलचिकित्सा—रोगी के दोषों के बल का विचार कर वमन अथवा लंघन कराना चाहिए। इसके अनन्तर दाडिम के रस तथा तक्र (छाछ) में हिङ्गु, सैन्धवलवण तथा पञ्चकोल आदि दीपक और पाचक औषधियों के चूर्ण मिला कर संसर्ग-पाचन (पेया विलेपी) के साथ सेवन कराना चाहिए ॥ १२६॥

नागरं दीप्यकं चव्यं हिङ्गु सौवर्च्चलं विडम्।
मातुलुङ्गस्य बीजानि तथा श्यामोरुबूकयोः ॥ १२७ ॥
बृहत्याः कण्टकार्य्याश्च क्वाथं शूलहरं पिबेत् ॥ १२८ ॥

कुक्षिशूले नागरादिक्वाथः—सोंठ, अजवायन, चव्य, बिजोरे निबू के बीज, निशोथ (श्यामा) के बीज, उरुबूक (रक्त या शुक्ल एरण्ड) के बीज, बड़ी कटेरी के बीज तथा छोटी कटेरी के बीज इन्हें समान प्रमाण में २ तोले भर ले कर चतुर्गुण पानी में क्वाथ करके चौथाई शेष रखकर छानकर उसमें हिङ्गु ४ रत्ती, सोंचल लवण १ माशा तथा विड लवण १ माशे का प्रक्षेप देकर पीने से कुक्षिशूल नष्ट होता है ॥ १२७–१२८ ॥

वचासौवर्चलं हिङ्गु कुष्ठं सातिविषाऽभया।
कुटजस्य च बीजानि सद्यः शूलहराणि तु ॥
विरेचने प्रयुञ्जीत ज्ञात्वा दोषबलाबलम् ॥ १२९ ॥

कुक्षिशूले विरेचनम्—वचा, सोंचल नमक, हींग, कूठ, अतीस, हरड़ तथा इन्द्रयव इनमें से प्रत्येक १ तोला किन्तु सोंचल नमक ६ माशा और हिङ्गु ३ माशे भर ले के चूर्ण कर लेवें। इस चूर्ण को ३ माशे से ६ माशे प्रमाण में लेकर मन्दोष्ण अनुपान के साथ सेवन करने से तत्काल शूल को नष्ट करते हैं। इसी चूर्ण को विरेचन के लिये देना हो तो रोगी के दोष बल तथा प्रकृति को देख कर ६ माशे से १ तोले के प्रमाण में मन्दोष्ण अनुपान के साथ सेवन करना चाहिए ॥ १२९ ॥

स्नेहबस्तीन्निरूहांश्च कुर्याद् दोषनिबर्हणान् ॥१३०॥

कुक्षिशूले स्नेहबस्त्यादिप्रयोगः—उदरशूल रोग में दोषों को निकालने के लिये एरण्डादि तैल अथवा हिंग्वादि घृत की स्नेहबस्ति और निरूहणबस्ति का भी प्रयोग करना चाहिए ॥ १३० ॥

उपनाहाः स्नेहसेका धान्याम्लपरिषेचनम्।
अवगाहाश्च शस्यन्ते यच्चान्यदपि तद्धितम् ॥ १३१ ॥

कुक्षिशूले उपनाहादियोगाः—उदरशूल रोग में शाल्वणादि उपनाह, स्नेह प्रयोग, सेक के प्रयोग, काञ्जी के द्वारा उदर का सेचन, वातनाशक द्रव्यों के क्वाथ से भरी हुई द्रोणी (टब) में बैठाना तथा उदरशूल नाशक अन्य जो भी हितकारक हो उसका प्रयोग करना चाहिए ॥ १३१ ॥

कफपित्तावरुद्धस्तु मारुतो रसमूर्च्छितः।
हृदिस्थः कुरुते शूलमुच्छ्वासारोधकं परम् ॥

स हृच्छूल इति ख्यातो रसमारुतसम्भवः ॥ १३२ ॥

हृच्छूलनिदानादिकम्—मिथ्या आहार तथा विहार से कुपित हुए कफ और पित्त से अवरुद्ध हुआ वात रस से मिश्रित होकर हृदय में आके अवस्थित हो जाने से वहाँ शूल पैदा करता है एवं इस शूल की पीड़ा के कारण उस रोगी का उच्छ्वास (Expiration) अत्यधिक रुक जाता है। ऐसे रोग को हृच्छूल कहते हैं तथा यह शूल आहाररस और वात के सम्मिश्रण से उत्पन्न होता है ॥ १३२ ॥

विमर्शः—यह हृच्छूल हृदय रोग से विभिन्न कारणों से उत्पन्न होता है तथा इसके लक्षणादिक भी भिन्न हैं। यह हृदय रोग से भिन्न है। इसे एञ्जाइना पेक्टोरिस (Angina pectoris) कहते हैं। इस शूल का प्रारम्भ उरःफलक (Sternum) के उपरितन तथा पृष्ठभाग से होता है। श्रम का कार्य करने से इसके आवेग आते हैं। यह शूल वक्ष से वामबाहु के अभ्यन्तर भाग से होता हुआ अङ्गुष्ठाग्र तक पहुँच जाता है। कभी-कभी ग्रीवा के वामपार्श्व में भी इसकी वेदना का अनुभव होता है। प्रायः हृदय की रक्तवाहिनियों में विकृति होने के पश्चात् प्राणवायु की कमी होने के फलस्वरूप यह अवस्था उत्पन्न होती है। श्वासावरोध होना हृच्छूल का प्रधान लक्षण है।

तत्रापि कर्माभिहितं यदुक्तं हृद्विकारिणाम् ॥ १३३ ॥

हृच्छूलचिकित्सा—हृदय रोग के अनुसार हृच्छूल की की चिकित्सा करनी चाहिए ॥ १३३ ॥

विमर्शः—हृदय श्लेष्मा का स्थान है तथा श्लेष्म रोगों में वमन प्रशस्त माना गया है—कफस्य च विनाशार्थं वमनं शस्यते बुधैः। स्थानिस्थानगतं दोषं स्थानिवत् समुपाचरेत् ॥ अत एव प्रथम स्नेहन करा के दशमूल क्वाथ में तैल या घृत तथा सैन्धवलवण मिलाकर आकण्ठ पान कराके वमन कराना चाहिए—वातोपसृष्टे हृदये वामयेत् स्निग्धमातुरम्। द्विपञ्चमूलीक्वाथेन सस्नेहलवणेन च ॥ मृगशृङ्गभस्मप्रयोगः—शोधन के पश्चात् २ रत्ती से ४ रत्ती शृङ्गभस्म को १ तोले घृत में मिला कर पीने से हृच्छूल नष्ट होता है—पुटदग्धमश्मपिष्टं हरिणविषाणं च सर्पिषा पिबतः। हृत्पृष्ठशूलमुपशममुपयात्यचिरेण कष्टमपि ॥ दशमूलक्वाथः—दशमूलकषायस्तु लवणक्षारयोजितः। कासं श्वासञ्च हृद्रोगं गुल्मं शूलञ्च नाशयेत् ॥ हृच्छूल के लिये अर्जुन का चूर्ण, अर्जुनादि घृत और अर्जुनाद्यरिष्ट लाभदायक होते हैं—अर्जुनादि चूर्ण—घृतेन दुग्धेन गुडाम्भसा वा पिबन्ति चूर्णं ककुभत्वचो ये। हृद्रोगजीर्णज्वररक्तपित्तं हत्वा भवेयुश्चिरजीविनस्ते ॥ अर्जुनादिघृत—'पार्थस्य कल्कस्वरसेन सिद्धं शस्तं घृतं सर्वहृदामयेषु'। अर्जुनादिक्षीरम्—अर्जुनस्य त्वचासिद्धं क्षीरं योज्यं हृदामये। हृच्छूल के लिये निम्न प्रयोग अच्छा लाभकारी है। अभ्रकभस्म ½ रत्ती, शृङ्गभस्म २ रत्ती, रससिन्दूर ½ रत्ती, बृहत्कस्तूरी भैरव या केवल कस्तूरी ½ रत्ती। अनुपान मधु। ऐसी दिन में तीन या दो मात्राएँ देवें। हृच्छूलप्रदेश पर मृगशृङ्ग को पानी के साथ पत्थर पर पीस कर लेप कर देना चाहिए। अथवा नारायण तैल, विषगर्भ तैल, लाक्षादि तैल, कर्पूरादि तैल और टर्पेण्टाइन इनका मिश्रण बना के हलके हाथ से अभ्यङ्ग करना चाहिए। अभ्यङ्ग के पश्चात् कपड़े के गोटे या रबर की थैली या शीशी में गरम पानी भर कर सेक करना चाहिए।

संरोधात् कुपितो वायुर्बस्तिमावृत्य तिष्ठति।
वस्तिवङ्क्षणनाभीषु ततः शूलोऽस्य जायते ॥
विण्मूत्रवातसंरोधी बस्तिशूलः स मारुतात् ॥ १३४ ॥

वस्तिशूलनिदानादिकम्—मूत्र, मल आदि के वेगों को रोकने से कुपित हुआ वायु बस्ति में जाकर उसे चारों ओर से घेर (व्याप्त) कर रुक जाती है, जिस से उस रोगी के वस्ति, वंक्षण और नाभि इन स्थानों में शूल होता है तथा विष्ठा, मूत्र और वायु का निरोध हो जाता है। इसी को बस्तिशूल कहते हैं। यह वस्तिशूल प्रधानरूप से वातजन्य होता है ॥ १२७ ॥

विमर्शः—वस्तिशूल (Pain in urinary bladder)—प्रायः मूत्र और मल के वेग का विधारण करने से प्रकुपित वायु बस्ति प्रदेश में व्याप्त हो के वस्ति, नाभि तथा वंक्षण प्रदेश में शूल को उत्पन्न करता है। इसे वस्तिशूल कहते हैं। कारणभेद से यह दो प्रकार का होता है (क) मूत्राशयगत कारण (Causes in the urinary bladder) मूत्र का वेग धारण करने से प्रकुपित वायु वस्तिप्रदेश, मूत्रेन्द्रिय तथा वंक्षणप्रदेश में शूल उत्पन्न करता है। इसे मूत्रशूल भी कहते हैं। मूत्राशयकलाशोथ (cystitis) तथा मूत्राशयगत अश्मरी के कारण भी वस्तिप्रदेश में तथा सीवनी पर शूल का अनुभव होता है। इस अवस्था में रोगी को बार-बार मूत्र त्याग की इच्छा होती है। मूत्रेन्द्रिय में प्रचलित शूल (Referred pain) का अनुभव होता है। (ख) रूक्ष आहार से भी वायु प्रकुपित होकर मलाशय तथा अपने सम्मुख स्थित वस्ति प्रदेश में भी शूल की उत्पत्ति करता है। इसे विट्शूल कहते हैं। यह शूल कुक्षि प्रदेश में भी प्रतीत होता है।

नाभ्यां वङ्क्षणपार्श्वेषु कुक्षौ मेढ्रान्तमर्दकः।
मूत्रमावृत्य गृह्णाति मूत्रशूलः स मारुतात् ॥ १३५ ॥

मूत्रशूलनिदानम्—मिथ्या आहार-विहार से प्रकुपित वायु मेढ्र (शिश्न) तथा आन्त्र में पीड़ा पहुंचाती हुई मूत्र को अवरुद्ध कर देती है; तब नाभि, वंक्षणप्रदेश, दोनों पार्श्व और समस्त कुक्षि (उदर) में शूल होता है। इसे मूत्र शूल रोग कहते हैं तथा यह शूल प्रकुपित वात से उत्पन्न होता है ॥ १३५ ॥

विमर्शः—इस प्रकार की दशा मूत्र के अवरुद्ध हो जाने पर होती है तथा मूत्रमार्ग में अश्मरी के आड़ी आ जाने से या अष्ठीलाग्रन्थि की वृद्धि होने से मूत्रमार्ग रुक जाता है। मूत्रेन्द्रिय में स्ट्रिक्चर बन जाने से भी मूत्रकृच्छ्र तथा मूत्रावरोध होता है जिससे शूल उत्पन्न होता है। चिकित्सा—कारणानुसार करनी चाहिए। यदि स्ट्रिक्चर हो तो उसमें धीरे धीरे शलाकाएं डाल के उन्हें चौड़ा करना चाहिए तथा साथ में शोथनाशक चिकित्सा जैसे गोक्षुरादि गुग्गुलु, पुनर्नवादिक्वाथ का प्रयोग करें एवं संसर्गज रोग (पूयमेह) नाशक चिकित्सा जैसे शुद्ध गन्धक, निम्बादिचूर्ण, त्रिफलाचूर्ण का प्रयोग करें। यदि अष्ठीलावृद्धि हो

तो उसमें शोथनाशक चिकित्सा तथा प्रोस्टेटिक मिश्राच करनी चाहिए। अश्मरी में अश्मरीनाशक चिकित्सा करें। वरुणादिक्वाथ, गोक्षुरादिक्वाथ, तृणपञ्चमूलकक्वाथ, पाषाणभेदीरस, चन्द्रप्रभावटी और वरुणाद्य लौह ये लाभदायक योग हैं। इनका यथादोष तथा अवस्थानुसार प्रयोग करना चाहिए। अन्त में अश्मरीहरण या अश्मरीभञ्जक शल्यचिकित्सा कर सकते हैं।

वायुः प्रकुपितो यस्य रूक्षाहारस्य देहिनः।
मलं रुणद्धि कोष्ठस्थं मन्दीकृत्य तु पावकम्॥ १३६॥
शूलं सञ्जनयंस्तीव्रं स्रोतांस्यावृत्य तस्य हि।
दक्षिणं यदि वा वामं कुक्षिमादाय जायते॥ १३७॥
सर्वत्र वर्धते क्षिप्रं भ्रमन्नथ सघोषवान्।
पिपासा वर्द्धते तीव्रा भ्रमो मूर्च्छा च जायते॥ १३८॥
उच्चारितो मूत्रितश्च न शान्तिमधिगच्छति।
विट्शूलमेतज्जानीयाद्भिषक् परमदारुणम्॥ १३९॥

विट्शूलनिदानादिकम्—रूक्ष आहार-विहार करने से प्रथम कोष्ठगत वात प्रकुपित होकर मल का अवरोध कर देता है तथा फिर पाचकाग्नि को मन्दकर सर्व प्रकार के कोष्ठ गत स्रोतसों को घेर कर दक्षिण पार्श्व अथवा वाम पार्श्व में तीव्र शूल उत्पन्न कर देता है तथा वह कुपित वात जोर का शब्द करता हुआ सारे उदर में शीघ्र व्याप्त हो जाता है। ऐसी अवस्था में रोगी की प्यास अत्यधिक बढ़ जाती है एवं उसे भ्रम आता है तथा बेहोशी भी हो जाती है। मल त्याग कर लेने पर अथवा मूत्र त्याग कर लेने पर भी उसे शान्ति प्राप्त नहीं होती। इस प्रकार के रोग को विट्शूल कहते हैं तथा यह अत्यन्त दारुण कष्टदायक होता है॥ १३६–१३९॥

क्षिप्रं दोषहरं कार्य्यं भिषजा साधु जानता।
स्वेदनं वमनञ्चैव निरूहाः स्नेहबस्तयः॥ १४०॥
पूर्वोद्दिष्टान् पाययेत योगान् कोष्ठविशोधनान्।
उदावर्त्तहराश्चास्य क्रियाः सर्वाः सुखावहाः॥ १४१॥

विट्शूलचिकित्सा—दोषप्रकोप तथा रोगनिदान और चिकित्सादिक को भलीभांति जानने वाला वैद्य शीघ्र ही प्रथम दोषहर चिकित्सा करे। अर्थात् अधः तथा ऊर्ध्व भाग का विरेचन और वमन द्वारा संशोधन करना चाहिए। फिर स्वेदन, निरूहण और स्नेह बस्ति का प्रयोग करना चाहिए। पूर्व में कहे हुये कोष्ठशोधक योगों (चूर्ण, क्वाथ आदि) का सेवन कराना चाहिए। इनके अतिरिक्त उदावर्तनाशक क्रियाएँ तथा सुख देने वाले अन्य सर्व प्रकार के आहार-विहार आदि प्रयोग प्रयुक्त करने चाहिए॥ १४०–१४१॥

विमर्शः—कोष्ठशोधक योगों में त्रिफला, अमलतास, निशोथ, मुनक्के, गुलाब के पुष्प, एरण्ड की जड़, देवदारु आदि का चूर्ण या क्वाथ के रूप में प्रयोग करना चाहिए। उदावर्त्तहराः क्रियाः—हरीतकीयवक्षारपीलूनि त्रिवृता तथा। घृतैश्चूर्णमिदं पेयमुदावर्त्तविनाशनम्॥ त्रिवृतादिगुडिका—त्रिवृत्कृष्णाहरीतक्योर्द्विचतुष्पञ्चभागिकाः। गुडिका गुडतुल्यास्ता विड्विबन्धगदापहाः॥

अतिमात्रं यदा भुक्तं पावके मृदुतां गते।
स्थिरीभूतं तु तत्कोष्ठे वायुरावृत्य तिष्ठति॥१४२॥
अविपाकगतं ह्यन्नं शूलं तीव्रं करोत्यति।
मूर्च्छाऽऽध्मानं विदाहश्च हृदुत्क्लेशो विलम्बिका॥१४३॥
विरिच्यते छर्दयति कम्पतेऽथ विमुह्यति।
अविपाकाद्भवेच्छूलस्त्वन्नदोषसमुद्भवः॥१४४॥

अविपाकजशूललक्षणम्—जब अधिक किया हुआ भोजन पाचकाग्नि के मन्द होने के कारण कोष्ठ (बृहदान्त्र अथवा मलाशय) में स्थिरीभूत (जमी हुई गांठ-सा) हो जाता है तथा प्रकुपित वात इस मल को घेर लेता है जिससे वह अपक्व अन्न तीव्र शूल उत्पन्न करता है। इसके अतिरिक्त उस रोगी को मूर्च्छा, आध्मान, विदाह, हृदय में बेचैनी और विलम्बिका उत्पन्न हो जाते हैं। इनके अतिरिक्त उस रोगी को दस्तें लगती हैं तथा कभी वमन होता है, उसका शरीर कम्पन करता है तथा अन्त में मूर्च्छित हो जाता है। इस तरह अन्न के अविपाक से उत्पन्न होने वाले इस शूल को अन्नदोषसमुद्भव शूल कहते हैं॥ १४२–१४४॥

विमर्शः—सुश्रुताचार्य ने इस प्रकार से अग्निमान्द्य के कारण उत्पन्न हुये रोगों का दिग्दर्शन किया है। ऐसे अग्नि के मन्द, तीक्ष्ण, विषम और सम चार भेद होते हैं—मन्दस्तीक्ष्णोऽथ विषमः समश्चेति चतुर्विधः। कफपित्तानिलाधिक्यात्तत्साम्याज्जाठरोऽनलः॥ विषमाग्नि से वातज रोग, तीक्ष्णाग्नि से पैत्तिक रोग और मन्दाग्नि से कफज रोग उत्पन्न होते हैं—विषमो वातजान् रोगान् तीक्ष्णः पित्तनिमित्तजान्। करोत्यग्निस्तथा मन्दो विकारान् कफसम्भवान्॥ मन्दाग्नि से कफ, पित्त और वात के द्वारा आमाजीर्ण, विदग्धाजीर्ण और विष्टब्धाजीर्ण उत्पन्न होते हैं—आमं विदग्धं विष्टब्धं कफपित्तानिलैस्त्रिभिः। अजीर्णं केचिदिच्छन्ति चतुर्थं रसशेषतः॥ उक्त त्रिविध अजीर्णों से अर्थात् आमाजीर्ण से विसूचिका, विष्टब्धाजीर्ण से अलसक और विदग्धाजीर्ण से विलम्बिका रोग उत्पन्न होते हैं—अजीर्णमामं विष्टब्धं विदग्धञ्च यदीरितम्। विसूच्यलसकौ तस्माद्भवेच्चापि विलम्बिका॥ सुश्रुताचार्य ने उक्त श्लोक नं. १४२ से १४४ में अविपाकजन्य शूल के लक्षणों में विलम्बिका तथा अतिसार और वमन लक्षणों से विसूचिका की दशा का निर्देश किया है। विलम्बिका रोग में कफ और वायु से दुष्ट अन्न ऊर्ध्व और अधः किसी भी मार्ग से न निकल कर मध्य में ही स्थिर हो जाता है—दुष्टन्तु भुक्तं कफमारुताभ्यां प्रवर्तते नोर्ध्वमधश्च यस्य। विलम्बिकां तां भृशदुश्चिकित्स्यामाचक्षते शास्त्रविदः पुराणाः॥ विसूचिकालक्षण—सूचीभिरिव गात्राणि तुदन् सन्तिष्ठतेऽनिलः। यत्राजीर्णेन सा वैद्यैर्विसूचीति निगद्यते॥ इस तरह अविपाकजन्य शूल किसी भी अजीर्ण में, विसूचिका में, विलम्बिका और अलसक में हो सकता है। माधवकार ने आमज शूल पृथक् लिखा है—जिसमें गुड़गुड़ शब्द, जी मिचलाना, वमन होना आदि कफजन्यशूल के समान लक्षण लिखे हैं—आटोपहृल्लासवमीगुरुत्वस्तैमित्यकानाहकफप्रसेकैः। कफस्य लिङ्गेन समानलिङ्गमामोद्भवं शूलमुदाहरन्ति॥ विसूचिका तथा अलसक भी आमजन्य रोग हैं। अतः इनमें भी आमशूल होता है। परिणामशूल—कुपित वायु कफ और पित्त को आवृत करके शूल उत्पन्न करता है।

भोजन के पचन के समय होने से इसे परिणामशूल कहते हैं—स्वैनिदानैः प्रकुपितो वायुः सन्निहितस्तदा। कफपित्ते समावृत्य शूलकारी भवेद्बली॥ भुक्ते जीर्यति यच्छूलं तदेव परिणामजम्। तस्य लक्षणमप्येतत् समासेनाभिधीयते॥ (भा० नि०) तन्त्रान्तर में परिणामशूल की सम्प्राप्ति तथा लक्षण अधिक विस्तृत व स्पष्ट लिखे हैं। अर्थात् कफ पित्त से मिलकर वायु को भी लेकर भोजन के पाचन के समय कुक्षि, जठर, पार्श्व, नाभि, बस्ति, पृष्ठमूल आदि स्थानों में शूल पैदा करता है तथा इसकी विशेषता यह है कि भोजन कर लेने से या वमन हो जाने से तथा अन्न के पूर्ण पाचित हो जाने पर शान्त हो जाता है। इसी को कुछ लोग अन्नद्रव शूल, पक्तिदोष, पक्तिशूल या अन्नविदाह नाम से कहते हैं—बलासः प्रच्युतः स्थानात् पित्तेन सह मूर्च्छितः। वायुमादाय कुरुते शूलं जीर्यति भोजने॥ कुक्षौ जठरपार्श्वेषु नाभौ बस्तौ स्तनान्तरे। पृष्ठमूलप्रदेशेषु सर्वेष्वेतेषु वा पुनः॥ भुक्तमात्रेऽथवा वान्ते जीर्णेऽन्ने च प्रशाम्यति। षष्टिकव्रीहिशालीनामोदनेन विवर्धते॥ तत्परिणामजं शूलं दुर्विज्ञेयं महागदम्। तमाहु रसवाहानां स्रोतसां दुष्टिहेतुकम्॥ केचिदन्नद्रवं प्राहुरन्ये तत्पक्तिदोषतः। पक्तिशूलं वदन्त्येके केचिदन्नविदाहजम्। पैत्तिक शूल और परिणामशूल में यद्यपि अनेक लक्षण समान हैं, किन्तु पैत्तिक शूल पित्तप्रधान होता है और परिणामशूल त्रिदोषजन्य होता है। पैत्तिक शूल मध्यन्दिन, अर्धरात्रि, विदाहकाल तथा शरद ऋतु में विशेष होता है किन्तु परिणामशूल का पित्तप्रकोपसमय से विशिष्ट सम्बन्ध न होकर भोजन के पाचन के समय से शूल होने का सम्बन्ध है। पैत्तिक शूल के मुख्य कारण पित्तप्रकोपक पदार्थ हैं, किन्तु परिणामशूल का आधुनिक दृष्टि से मुख्य कारण ग्रहणीव्रण (Duodenal ulcer) है। आमाशय में पाचन होने के पश्चात् जब अन्न ग्रहणी में प्रवेश करता है तब नाभि के निम्न भाग और दोनों पार्श्वों में शूल होता है। उदर में पीडनाक्षमता भी रहती है। इस शूल को बुभुक्षाशूल (Hunger pain) भी कहते हैं, क्योंकि भोजन कर लेने पर इसका संशमन हो जाता है। माधवमत से अन्नद्रवशूल परिणामशूल से भिन्न है, क्योंकि अन्नद्रवशूल भोजन के पच जाने पर, पचते हुए एवं पचने से पूर्व अर्थात् खाना खाते ही किसी भी काल में होता रहता है तथा पथ्य और अपथ्य तथा भोजन करना या न करना इनसे इसका कोई सम्बन्ध नहीं है-जीर्णे जीर्यत्यजीर्णे वा यच्छूलमुपजायते। पथ्यापथ्यप्रयोगेण भोजनाभोजनेन च॥ न शमं याति नियमात्सोऽन्नद्रव उदाहृतः॥ यद्यपि यह शूल सदा होता है, किन्तु कभी-कभी वमन करने पर पित्त के निकल जाने से शीघ्र ही बन्द हो जाता है—अन्नद्रवाख्यशूलेषु न तावत्स्वास्थ्यमश्नुते। वान्तमात्रे जरत्पित्तं शूलमाशु व्यपोहति॥ यद्यपि अन्नद्रवशूल के लिये कोई निश्चित नाम एलोपैथी से नहीं दिया जा सकता, तथापि वमन से शूल का संशमन हो जाता है अतः विकृति का अधिष्ठान आमाशय ही है तथा इसे भी त्रिदोषजन्य ही मानते हैं। इस शूल का मुख्य कारण जीर्ण आमाशय शोथ (Chronic gastritis) या आमाशयिक व्रण (Gastric ulcer) है। इसके कारण नाभि के उपरितन प्रदेश में पीडनाक्षमता होती है। अन्न जब तक आमाशय में रहता है शूल शान्त नहीं होता। वमन द्वारा निकल जाने पर या ग्रहणी में चले जाने पर शूल शान्त हो जाता है। आमाशय में पाचन के समय अम्ल के प्रत्युद्गिरण (Regurgitation) के कारण रोगी को हृदयप्रदेश में जलन (Heart burn) की प्रतीति होती है। क्षारयुक्त एवं द्रव पदार्थों के सेवन से अम्ल का प्रभाव नष्ट होने पर शूल शान्ति होती है।

वमनं लङ्घनं स्वेदः पाचनं फलवर्तयः।
क्षाराश्चूर्णानि गुटिकाः शस्यन्ते शूलनाशनाः॥१४५॥
गुल्मावस्थाः क्रियाः कार्या यथावत् सर्वशूलिनाम्॥१४६॥

इति सुश्रुतसंहितायामुत्तरतन्त्रान्तर्गते कायचिकित्सातन्त्रे गुल्मप्रतिषेधो नाम (चतुर्थोऽध्याय आदितः) द्विचत्वारिंशोऽध्यायः॥४२॥

अग्निपाकजशूलचिकित्सा—वमन, लङ्घन, स्वेदन, पाचन तथा शूलनाशक फल वर्तियाँ, क्षार, चूर्ण और गुटिकाओं का प्रयोग प्रशस्त माना गया है। इसके अतिरिक्त सर्व प्रकार के शूल रोगों में उनके कारण, दोष, रुग्ण प्रकृति तथा देश काल सभी का विचार करके चिकित्सा करनी चाहिए तथा गुल्मजन्य शूल में भी गुल्म की वातादि अवस्थाओं का विचार कर तदनुरूप शास्त्रोक्त विविध चिकित्सा संशोधन, लंघन, स्नेहन, स्वेदन, दीपन, पाचन, अर्क, क्वाथ, क्षार, आसवारिष्ट और चूर्ण आदि का प्रयोग करें॥ १४५-१४६॥

इति श्री अम्बिकादत्तशास्त्रिविरचितायां सुश्रुतसंहितायाः कल्पस्थानान्तर्गतगुल्मचिकित्सायाः भाषाटीकायां द्विचत्वारिंशोऽध्यायः॥ ४२॥

त्रिचत्वारिंशत्तमोऽध्यायः

अथातो हृद्रोगप्रतिषेधं व्याख्यास्यामः।
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः॥ १-२॥

अब इसके अनन्तर हृद्रोगप्रतिषेध नामक अध्याय का विवेचन किया जाता है जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने कहा है॥ १-२॥

विमर्शः—पूर्व के ४२ वें अध्याय के हृच्छूलचिकित्साप्रकरण में कहा है कि हृद्रोगोक्त चिकित्सा हृच्छूल में करनी चाहिए—'तत्रापि कर्माभिहितं यदुक्तं हृद्विकारिणाम्' अतएव प्रसङ्गवश हृद्रोगप्रतिषेधक अध्याय प्रारम्भ किया गया है। अथवा हृदय और बस्ति के मध्य में होने वाली ग्रन्थि को गुल्म कहते हैं। 'हृद्बस्त्योरन्तरे ग्रन्थिः सञ्चारी यदि वाऽचलः। वृत्तश्चयापचयवान् स गुल्म इति कीर्तितः॥' अतएव उस गुल्माश्रयी हृदय के रोगों की चिकित्सा का जानना आवश्यक होने से हृद्रोगप्रतिषेधक अध्याय प्रारंभ किया गया है। हृदय-शतपथ ब्राह्मण तथा तदन्तर्गत बृहदारण्यक उपनिषद् में हृदय शब्द का अत्यन्त सार्थक निर्वचन (निरुक्ति) है—तदेतत् त्र्यक्षर ँ हृदयमिति; हृ इत्येकमक्षरम्, अभिहरन्त्यस्मै स्वाश्चान्ये च य एवं वेद। द इत्येकमक्षरम्, ददत्यस्मै स्वाश्चान्ये

च य एवं वेद । यमित्येकमक्षरम्, एति स्वर्गं य एवं वेद । एवं हरतेर्ददातेरेतेर्हृदयशब्दः । अर्थात् हृञ् हरणे दद् दाने और इण् गतौ इन तीन धातुओं से हृदय शब्द सिद्ध होता है। अर्थात् पाचन से बने हुए रस का आहरण, 'अहरहर्गच्छतीति रसस्तस्य च स्थानं हृदयम्' एवं समग्र शरीर में गये हुये रक्त को अशुद्ध हो जाने पर पुनः अपने में आहरण करना—(सिराभिर्हृदयं चैति) हृ का अर्थ है तथा सर्व धातुओं को शुद्ध रक्त प्रदान करना दद् धातु का अर्थ है एवं निरन्तर संकोच और विकास रूप में गति करते रहना इण् का अर्थ है (संकोचश्च विकासश्च स्वतः कुर्यात् पुनः पुनः)। इस तरह हमारे महर्षियों ने हृदय के वास्तविक तथा विज्ञानसम्मत अर्थ को सैकड़ों वर्ष पूर्व जान लिया था, किन्तु पाश्चात्य देशों में १६२८ इस्वी में वीलियम हार्वे ने रक्तानुधावन का आविष्कार किया तथा मैलपीघी ने १६६१ ईस्वी में केशिकाओं का आविष्कार किया। इसके पूर्व उन देश वालों को हृदय के वास्तविक कार्य का ज्ञान ही नहीं था। उक्त वैज्ञानिकों ने भी जो हृदय के कार्य का पता लगाया है उसमें भी आयुर्वेदशास्त्र रूपी ज्योति ही प्रमुख कारण रही, क्योंकि चिकित्सा का ज्ञान सर्वप्रथम भारत से ही यूनान या अरब में पहुँचा और अरब से ही यूरोप वालों ने जाना। अन्यथा पाश्चात्य देश घोर अन्धकार में मग्न थे। हृदयस्वरूप—पुण्डरीकेण सदृशं हृदयं स्यादधोमुखम्। जाग्रतस्तद्विकसति स्वपतश्च निमीलति॥ वास्तव में हृदय अधोमुख मुकुलित कमलाकृति है तथा उसका अग्र या कोरक (कलिका) आकृति वाला भाग जिसे कि हृदग्र (Apex of the Heart) कहते हैं नीचे रहता है तथा जाग्रत अवस्था में मानव के क्रियाशील रहने से विशेष गतिशील तथा शयनावस्था में अपेक्षाकृत कुछ कम गतियुक्त होता है। तन्त्रान्तरों में हृदयस्वरूप—कफरक्तप्रसादात्स्याद्धृदयं स्थानमोजसः। मांसपेशीचयो रक्तपद्माकारमधोमुखम्। (अरुणदत्त) प्रसन्नाभ्यां कफासृग्भ्यां हृदयं पङ्कजाकृति। सुषिरं स्यादधोवक्त्रं यकृत्क्लोमान्तरस्थितम्॥ (टोडरानन्द) कमलमुकुलाकारमधोमुखम्। (डल्हण) उक्त वर्णनानुसार हृदय अधोमुख रक्तकमल कलिका के समान नीचे की ओर नोकील और ऊपर मोटा मांसपेशी से निर्मित एक पोला अङ्ग होता है। हृदय का स्थान—'स्तनयोर्मध्यमधिष्ठायोरस्यामाशयद्वारं सत्त्वरजस्तमसामधिष्ठानं हृदयं नाम' (सु० शा० अ० ६) अर्थात् वक्षस्थल के अन्दर दोनों स्तनों के मध्य में अवस्थान किया हुआ तथा आमाशय द्वार के सन्निकटस्थ तथा सत्वादिगुणत्रय का आधारभूत हृदयमर्म होता है। अर्थात् हृदय वक्षोगुहा तथा उदरगुहा को विभक्त करने वाली महाप्राचीरापेशी (Diaphragm) के ऊपर स्थित होता है तथा गले से निकली हुई अन्नप्रणाली हृदयसमीपवर्ती महाप्राचीरापेशी के छिद्र में से उदरगुहा में प्रवेश करके आमाशय से मिलती है। आमाशय का यह ऊपर का द्वार हृदय के बहुत समीप होता है, अतः इसे हार्दिक द्वार (Cardiac orifice) कहते हैं। हृदय के निर्माण व उसके अन्य अङ्गों के साथ सम्बन्ध से भी निश्चित है कि वह वक्षोगुहावर्ति है'—'शोणितकफप्रसादजं हृदयं यदाश्रया हि धमन्यः प्राणवहाः, तस्याधो वामतः प्लीहा फुफ्फुसश्च, दक्षिणतो यकृत्क्लोम च' वास्तव में महाधमनी (Aorta) तथा तोरणिका धमनी व अन्य सर्व धमनियाँ हृदय से निकल कर सारे शरीर में फैली हैं। हृदय के नीचे वामभाग की ओर उदरगुहा में प्लीहा रहती है तथा हृदय के दोनों ओर उरोगुहा में फेफड़े होते हैं तथा हृदय के नीचे दक्षिण भाग की ओर उदरगुहा में यकृत् और क्लोम (पित्ताशय) रहता है। वास्तव में हृदय का अन्य अङ्गों के साथ वर्णित सम्बन्ध आधुनिक प्रत्यक्षानुमोदित है। कफरक्तप्रसादात् स्याद् हृदयं स्थानमोजसः। तस्य दक्षिणतः क्लोम यकृत्फुफ्फुसमास्थितम्॥ (अरुणदत्त) हृदय का आयुर्वेद में महत्व तथा कार्य—हृदयं चेतनास्थानमुक्तं सुश्रुत देहिनाम्। तमोऽभिभूते तस्मिंस्तु निद्रा विशति देहिनाम्॥ (सु० शा० अ० ४) आयुर्वेद में हृदय को चेतना का स्थान माना गया है। इसके अतिरिक्त हृदय ओज का स्थान है और प्राण का भी स्थान है 'हृदि प्राणः' 'प्राणाश्रयस्यौजसोऽष्टौ बिन्दवो हृदयाश्रिताः॥' 'तत्परस्यौजसः स्थानं तत्र चैतन्यसङ्ग्रहः।' वास्तव में इस हृदय से समस्त धातुओं को तथा अङ्ग-प्रत्यङ्गों को प्राणयुक्त, ओजोयुक्त और चैतन्ययुक्त जीवरक्त मिलता है। अतः इसी के कारण समग्र शरीर भी चैतन्ययुक्त हो जाता है। हृदय को मन का स्थान माना गया है, जैसा कि अष्टाङ्गहृदय सूत्रस्थान अध्याय १२ में लिखा है—हृदयं मनसः स्थानमोजसश्चिन्तितस्य च। मांसपेशीचयो रक्तपद्माकारमधोमुखम्॥ योगिनो यत्र पश्यन्ति सम्यग्ज्योतिः समाहिताः। रस प्रथम हृदय में जाता है, पश्चात् वहीं से व्यानवायु से विक्षिप्त होकर सारे शरीर में जाता है—रसो यः स्वच्छतां यातः स तत्रैवावतिष्ठते। ततो व्यानेन विक्षिप्तः कृत्स्नं देहं प्रपद्यते। चरकाचार्य ने हृदय के महत् और अर्थ दो पर्याय लिखे हैं तथा इस हृदय में दश महाधमनियाँ लगी हुई हैं। वर्णन किया है—अर्थे दश महामूलाः समासक्ता महाफलाः। महच्चार्थश्च हृदयं पर्यायैरुच्यते बुधैः॥ तथा चरक ने हृदय को इन्द्रियों, अर्थपञ्चक, आत्मा, मन और चिन्त्य अर्थ सभी का आश्रय माना है—षडङ्गमङ्गं विज्ञानमिन्द्रियाण्यर्थपञ्चकम्। आत्मा च सगुणश्चेतश्चिन्त्यञ्च हृदि संस्थितम्॥ प्रतिष्ठार्थं हि भावानामेषां हृदयमिष्यते। गोपानसीनामागारकर्णिकेवार्थचिन्तकैः॥ किन्तु प्रत्यक्ष दृष्टि से इन्द्रियों का आश्रय यह वक्षोगत हृदय नहीं है और सुश्रुताचार्य ने प्राण तथा सर्व इन्द्रियों का स्थान शिर (Brain) माना है, यही उपयुक्त है। चरक ने भी अनेक स्थलों पर इन्द्रियों का अधिष्ठान शिर ही माना है—प्राणाः प्राणभृतां यत्र श्रिताः सर्वेन्द्रियाणि च। तदुत्तमाङ्गमङ्गानां शिर इत्यभिधीयते। आचार्य श्री गणनाथ सेनजी ने आधुनिक एनाटोमी तथा फिजियोलोजी के प्रत्यक्ष आधार से तथा कुछ आयुर्वेद के मतों के अनुसार भी इस वक्षोगत हृदय को केवल रक्त को सारे शरीर में पहुँचाने वाला अङ्ग माना है तथा आत्मा, मन, इन्द्रियाँ और बुद्धि इन सभी का स्थान मस्तिष्क है ऐसा स्पष्ट सयुक्तिक वर्णन किया है। एवं—'जाग्रतस्तद्विकसति स्वपतश्च निमीलति' यह अर्थ वक्षोगत हृदय में नहीं घट सकता, क्योंकि वह क्षण भर के लिये भी निमीलित (बन्द) नहीं होता है। निद्रावस्था में मस्तिष्क अवश्य निमीलन (संज्ञाग्रहण नहीं) करता है—तच्च सक्लोमपाकं मस्तिष्कं सहस्रदलसादृश्यात् सहस्रारमिति सर्वज्ञानप्रयत्नाकरं मन्यन्ते योगिनः। वस्तु-वैद्यके 'बुद्धेर्निवासं हृदयं प्रदूष्य' इत्यादि

विरुद्धप्रायं वचनं तन्मस्तिष्कमूलस्थिताऽऽज्ञाचक्रांशभूतमहद्धृदयाभिप्रायेण। योगिनो हि षट्चक्रनिरूपणे मस्तिष्कमूलस्थमाज्ञाचक्रमुपक्रम्य एतत्पश्चान्तराले निवसति च मनः सूक्ष्मरूपं प्रसिद्धमिति स्पष्टमाहुः। न च मनोरहिता बुद्धिरस्ति, श्रुतिश्च—'य एषोऽन्तर्हृदय आकाशस्तस्मिन्नयं पुरुषो मनोमयः' इति (तै० उप०) श्रीघाणेकरजी ने वक्षोगुहान्तर्वर्ति हृदय को ही मन, बुद्धि, आत्मा, चेतना का स्थान माना है तथा इन्द्रियों का आश्रय भी इसी को माना है। किन्तु वास्तविकता यह है कि वक्षोगुहावर्ति कमलाकृति हृदय एक अवयव, रक्त और ओज का आश्रय है तथा रक्त का सारे शरीर में सञ्चालक है। मन, बुद्धि और आत्मा का भी आश्रय है कि नहीं यह अप्रत्यक्ष होने से इसमें अनुमान तथा आप्तवाक्यों से ही अपने-अपने विचार स्थिर करने पड़ते हैं, किन्तु मस्तिष्क (Brain) अवश्य सर्व इन्द्रियों का आधार है तथा जहाँ इन्द्रियाँ आश्रित हैं वहीं बुद्धि, मन, आत्मा का होना आवश्यक होता है, अत एव आचार्य गणनाथसेन जी का मत अधिक युक्तियुक्त प्रतीत होता है। हृदय का आधुनिक परिचय—रक्त का आधार तथा अपने संकोच और विस्तार से रक्त को सदैव गतिमान् रखने वाला अथवा रक्त का समस्त शरीर में परिचालन करने वाला यन्त्र हृदय कहलाता है। अंग्रेजी में इसे हार्ट (Heart) कहते हैं तथा यह शब्द हृत् या हार्दम् इन संस्कृत शब्दों से निकाला हुआ मालूम पड़ता है। युवा पुरुष का हृदय ५½ इञ्च लम्बा, ३½ इञ्च चौड़ा और २½ इञ्च मोटा होता है एवं इसका भार लगभग ५ छटांक होता है। स्त्रियों में इसका आकार व भार अपेक्षाकृत कुछ कम होता है। हृदय की आकृति ठीक बन्द की हुई मुट्ठी के समान होती है। यह अनैच्छिक मांसपेशियों से बना हुआ है, जिससे इसके सङ्कोच और विस्तार पर मनुष्यों की इच्छा का पूर्ण अधिकार नहीं है। मानसिक काम, क्रोध और भय की अवस्थाओं का अवश्य इस पर कुछ प्रभाव पड़ता है जिससे इसकी गति तेज हो जाती है। योगिजन अपनी विशिष्ट योगशक्ति से हृदय की गति को कुछ काल के लिये रोक लेते हैं, किन्तु यह आधुनिक विज्ञान के वर्णन से परे की बात है। यह अङ्ग वक्षोगुहा (Thorasic cavity) में दोनों फेफड़ों के मध्य में अधिकतर वामपार्श्व की ओर अवस्थित रहता है। इसके सामने उरःफलक (Sturnum) तथा बाईं ओर दूसरी, तीसरी, चौथी और पाँचवीं पर्शुकाएँ होती हैं। इसके पीछे की ओर पञ्चम, षष्ठ, सप्तम तथा अष्टम कशेरुकाओं के गात्र (Body) तथा चक्रिकाएँ (Discs) रहती हैं। अन्ननलिका, बृहद्धमनी तथा रीढ़ भी हृदय के पीछे की ओर रहती है। नीचे महाप्राचीरा पेशी रहती है जिस पर हृदय आश्रय लेता है और महाप्राचीरा के नीचे उदरगुहा में हृदय की बाईं ओर प्लीहा और दाहिनी ओर यकृत् होता है। हृदय के ऊपर से समस्त शरीर को रक्त पहुँचाने वाली बृहद्धमनी (Aorta) निकलती है। इसके सिवा फुफ्फुस को जाने वाली और उनसे आने वाली रक्तवाहिनियाँ तथा उत्तरा और अधरा महासिराएँ भी इसमें आकर खुलती हैं। रचना की दृष्टि से हृदय एक कोष्ठ ही है। यह कोष्ठ अन्दर से एक मांस के पतले परदे से वाम और दक्षिण दो भागों में विभक्त रहता है। इन दोनों कोष्ठों का परस्पर कोई सम्बन्ध नहीं है। इनमें से प्रत्येक कोष्ठ दो भागों में विभक्त है। इस तरह हृदय में चार कोष्ठ बन जाते हैं। दक्षिण कोष्ठ के ऊपर के भाग में उत्तरा तथा अधरा दोनों महासिराएँ आकर खुलती हैं। अर्थात् यह कोष्ठ शरीर के ऊपर तथा नीचे के अशुद्ध रक्त को ग्रहण करता है, अतः इसे दक्षिणग्राहक कोष्ठ या दक्षिण अलिन्द (Right auricle या R. A.) कहते हैं। यहाँ से रक्त नीचे के कोष्ठ में जाता है और वह कोष्ठ रक्त को फुफ्फुसाभिगा धमनी द्वारा फेफड़ों में फेंक देता है। अतः इसे दक्षिणक्षेपक कोष्ठ (Right ventricle या R. V.) कहते हैं। इस तरह ऊपर के दक्षिणग्राहक कोष्ठ तथा नीचे के दक्षिणक्षेपक कोष्ठ के बीच में त्रिपत्रक कपाट (Auriculo ventricular or tricuspid valves) होते हैं जो कि सौत्रिक तन्तु के बने होते हैं और नीचे को ही खुलते हैं, अतः रक्त वापस ऊपर नहीं लौट सकता है। इसी तरह हृदय के पार्श्व में भी ऊपर नीचे दो कोष्ठ होते हैं। ऊपर का कोष्ठ फेफड़ों से शुद्ध हुए रक्त को फुफ्फुसीय सिराओं (Pulmonary veins) द्वारा ग्रहण करता है। अतः इसे वामालिन्द या वामग्राहक कोष्ठ (Left ventricle) कहते हैं। यहाँ से रक्त इसके नीचे के कोष्ठ में जाता है और पुनः यहाँ से यह रक्त हृदय सङ्कोच के द्वारा बृहद्धमनी में फेंक दिया जाता है। अतः इसे वामनिलय या वामक्षेपक कोष्ठ (Left ventricle या L. V.) कहते हैं। इन दोनों वामकोष्ठों के मध्य में तथा बृहद्धमनी और क्षेपक कोष्ठ के मध्य में भी द्विपत्रक कपाट (Tricuspid valves) लगे रहते हैं जो कि एक ही तरफ खुलते हैं जिससे निलय में आया रक्त वापस अलिन्द में नहीं लौट सकता और निलय से बृहद् धमनी में गया रक्त वापस निलय में नहीं लौट सकता है। किन्तु कपाटों की विकृति होने पर इस नियम में बाधा पड़ती है। हृदय का समग्र आन्तरिक भाग एक कला से आच्छादित रहता है जिसे हृदयान्तरावरण या हृदन्तःकला (Endocardium) कहते हैं। हृदय के ऊपर भी एक कला चढ़ी रहती है जिसे Pericardium कहते हैं। रक्त का शरीर में परिभ्रमण हृदय के संकोच-विस्तार से होता है। प्रथम दोनों अलिन्द संकुचित होते हैं जिससे तद्गत रक्त दोनों निलयों में चला जाता है। पश्चात् दोनों निलय संकुचित होते हैं जिससे तद्गत रक्त फुफ्फुसों में और शरीर में चला जाता है। संकोच के पश्चात् प्रत्येक में विस्फार होता है जिससे रक्त इन कोष्ठों में भर जाता है। हृदय के उक्त सर्व अङ्गों के प्रकृत रहने पर हृदय तथा शरीर का कार्य भी प्राकृतिक रहता है। इनमें से किसी के भी विकृत हो जाने से हृदय का कार्य विकृत हो जाता है तथा इसे ही हृद्रोग कहते हैं। हृदय रस का स्थान है। अतः दोषों के हृदयगत होने पर रसदुष्टि तथा हृदय के रोग प्रारम्भ हो जाते हैं। हृदयस्य रोगो हृद्रोगः, यहाँ पर 'वा शोकष्यञ् रोगेषु' इस सूत्र से रोग शब्द पर में रहते हुये हृदय के स्थान में हृद्भाव होकर हृद्रोग शब्द बनता है। अथवा हृत् शब्द से ही रोग शब्द का षष्ठी समास (हृदो रोगो हृद्रोगः) होकर हृद्रोग शब्द बन जाता है। हृदय शब्द के कोषकार ने 'चित्तन्तु चेतो हृदयं स्वान्तं हृन्मानसं मनः' ऐसे ये पर्याय लिखे।

हैं। हृदय मन की निवासभूमि है। अत एव आधार को आधेय के नाम से आरोपित किया गया है।

वेगाघातोष्णरूक्षान्नैरतिमात्रोपसेवितैः ।
विरुद्धाध्यशनाजीर्णैरसात्म्यैश्चापि भोजनैः ॥ ३ ॥
दूषयित्वा रसं दोषा विगुणा हृदयं गताः ।
कुर्वन्ति हृदये बाधां हृद्रोगं तं प्रचक्षते ॥ ४ ॥

हृद्रोगनिदानसम्प्राप्तिलक्षणानि—मल, मूत्र आदि वेगों के रोकने से, उष्ण और रूक्ष अन्न के अतिमात्र उपयोग करने से, विरुद्ध भोजन, अध्यशन, अजीर्ण और असात्म्य भोजन करने से विगुण (विकृत) हुये दोष हृदय में जाकर वहाँ रस (रक्त) को दूषित करके हृदय में बाधा (विकार) उत्पन्न कर देते हैं। इसी को हृद्रोग कहते हैं ॥ ३-४ ॥

विमर्शः—वेगाघात अर्थात् अधारणीय वेगों का धारण तथा हृदय पर आघात (लगुडादि से) चोट लगना भी अर्थ होता है। विरुद्धभोजनम्—काल, देश, प्रकृति, सात्म्य और संयोग के विपरीत किये भोजन को विरुद्धाशन कहते हैं। दुग्ध मछली, लवण दुग्ध, समप्रमाण गृहीत घृत मधु ये सब संयोगविरुद्ध के उदाहरण हैं। अध्यशन—भुक्तस्योपरि भोजनमध्यशनं मतम्। माधवकारमते हृद्रोगकारणानि—अत्युष्णगुर्वम्लकषायतिक्तश्रमाभिघाताध्यशनप्रसङ्गैः। सश्चिन्तनैर्वेगविधारणैश्च हृदामयः पञ्चविधः प्रदिष्टः ॥ चरकमते हृद्रोगकारणानि—व्यायामतीक्ष्णातिविरेकबस्तिचिन्ताभयत्रासगदातिचाराः। छर्द्यामसन्धारणकर्षणानि हृद्रोगकर्तॄणि तथाऽभिघातः ॥ हृदय में बाधा अर्थात् उसके कार्य में बाधा तथा हृदय में बाधा अर्थात् वेदना का होना ये सामान्य हृद्रोग के लक्षण हैं। चरकोक्त हृद्रोग सामान्य लक्षण निम्न है—वैवर्ण्यमूर्च्छाज्वरकासहिक्काश्वासास्यवैरस्यतृषाप्रमोहाः। छर्दिः कफोत्क्लेशरुजोऽरुचिश्च हृद्रोगजाः स्युर्विविधास्तथाऽन्ये ॥ आधुनिक चिकित्साशास्त्र में भी ये लक्षण हृदय के विविध रोगों में मिलते हैं—(१) वैवर्ण्य (Discoloration) इसमें शरीर पर पाण्डुता (Pallor), श्यावता (Cyanosis) तथा कपोलारुण्य (Malar flush) इन तीनों का समावेश होता है। पाण्डुता रक्ताल्पता की दर्शक है जो कि हृदय के विविध कपाटों की विकृति से होती है। श्यावता का कारण शोणवर्तुलि (Haemoglobin) की कमी है तथा इसकी प्रतीति विशेषतया ओष्ठ, नासाग्र तथा नख सदृश स्थानों में होती है, जहाँ कि केशिकाएँ उत्तान (Superficial) रहती हैं। इसका कारण सिरागत रक्तावरोध (Venous stasis) है। कपोलारुण्य का कारण द्विपत्रक कपाट संकोच (Mitral stenosis) है। (२) मूर्च्छा यह हृदयजन्य श्वास (Cardiac asthma) का विशेष लक्षण है। (३) ज्वर—आमवातजन्य या औपसर्गिक हृदन्तःकलाशोथ(Rheumatic or septic endocarditis) में यह लक्षण प्रधान होता है। (४) कास, हिक्का तथा श्वास ये अवरोधजन्य लक्षण (Pressure symptoms) कहते हैं। ये द्विपत्रक प्रत्युद्गिरण (Mitral regurgitation) में तथा विशेषतया द्विपत्रकसङ्कोच (Mitral stenosis) में पाये जाते हैं। द्विपत्रक सङ्कोच में रक्त का वमन भी होता है। हृदयरक्तवाहिनी की घनास्रता (Coronary thrombosis) में वमन, अरुचि तथा श्वासकृच्छ्रता के लक्षण मिलते हैं। इन्हीं रोगों में माधवोक्त वातादि के विशेष लक्षणों का भी ज्ञान करके चिकित्सा में सौकर्य प्राप्त किया जा सकता है। उन्हें पृथक् व्याधि नहीं समझना चाहिए।

चतुर्विधः स दोषैः स्यात् क्रिमिभिश्च पृथक्-पृथक्।
लक्षणं तस्य वक्ष्यामि चिकित्सितमनन्तरम् ॥ ५ ॥

हृद्रोगसंख्या—वात, पित्त और कफ के भेद से दोषज हृद्रोग पृथक्-पृथक् तीन प्रकार का तथा क्रिमियों से उत्पन्न होनेवाला एक ऐसा हृद्रोग चार प्रकार का होता है। इसके आगे प्रत्येक प्रकार के हृद्रोगों का लक्षण कह कर फिर चिकित्सा का वर्णन किया जायगा ॥ ५ ॥

विमर्शः—सुश्रुताचार्य ने वातादि भेद से पृथक्-पृथक् तीन तथा कृमियों का संसर्ग हो जाने से चौथा सान्निपातिक ऐसे हृद्रोग के चार भेद लिखे हैं। माधवकार ने पृथक्-पृथक् दोष से तीन तथा सन्निपात से चौथा और क्रिमियों से पाँचवाँ ऐसे हृद्रोग के पाँच भेद किये हैं—'हृदामयः पञ्चविधः प्रदिष्टः' वास्तविक में सान्निपातिक हृद्रोग ही चिकित्सा न करने से तथा अपचार (मिथ्या आहारादिक) से उत्तरावस्था में क्रिमिसम्मूर्च्छन हो जाने से कृमिजन्य हृद्रोग कहाता है। अत एव चार भेद ही उपयुक्त हैं, जैसा कि चरकाचार्य का भी मत है—त्रिदोषजे तु हृद्रोगे यो दुरात्मा निषेवते। तिलक्षीरगुडादीनि ग्रन्थिस्तस्योपजायते ॥ मर्मैकदेशे संक्लेदं रसश्चाप्युपगच्छति। संक्लेदात् कृमयश्चास्य भवन्त्युपहतात्मनः ॥

आयम्यते मारुतजे हृदयं तुद्यते तथा।
निर्मथ्यते दीर्यते च स्फोट्यते पाट्यतेऽपि च ॥ ६ ॥

वातिकहृद्रोगलक्षणम्—वातिक हृदय रोग में हृदय में खिंचावट होती है, सूई चुभाने के समान पीडा होती है तथा मानों हृदय को डण्डे से मथित कर रहे हों या आरे से चीरते हों अथवा हृदय फट रहा हो किंवा कुठार से द्विधा कर रहे हों ऐसी पीडा होती है ॥ ६ ॥

विमर्शः—वातिक हृद्रोग में हृच्छूल (Anginapectoris) तथा हृदयवाहिनी के रक्त की घनता (Coronary thrombosis) ये विशिष्ट लक्षण हैं तथा दोनों के शूल और लक्षणों में भी भिन्नता होती है—

हृच्छूल (Angina)	हृदयवाहिनी रक्तघनता
(१) परिश्रम, भावावेश या भोजनोपरांत आक्रमण होता है।	(१) रात्रि में आराम के समय आक्रमण होता है।
(२) रोगी निश्चल खड़ा रहता है, हिलने से डरता है, चेहरा पीला पड़ जाता है, पसीना आना और शीतानुभव करना।	(२) रोगी बेचैन रहता है जिससे इधर-उधर गतियाँ करता है, शरीर उष्ण तथा चेहरे पर श्यामता (Cyanosis)।
(३) कुछ मिनिट में आवेग समाप्त हो जाता है।	(३) आवेग कुछ घण्टों तक भी रह सकता है।
(४) शूल का प्रचलन अनिवार्य रूप से वामबाहु तथा कभी-कभी दोनों बाहु की ओर होता है।	(४) शूल का ऐसा प्रचलन नहीं होता है। यह उरःफलक के पीछे और कुछ नीचे तक रहता है।

(५) रक्तवाहिनी प्रसारक औषधियों से शूल शान्त होता है।	(५) ऐसी औषधियों से।
(६) धमनीगत रक्त का दबाव बढ़ जाता है।	(६) धमनीगत रक्तदाब कम किन्तु सिरागत रक्तदाब बढ़ता है।
(७) ज्वर नहीं रहता है।	(७) अल्प ज्वर रहता है।
(८) रक्तगत घनता साधारण रहती है।	(८) रक्त की घनता बढ़ जाती है।
(९) श्वेतकायाणूत्कर्ष (Leucocytosis) रहता है।	(९) श्वेतकायाणूत्कर्ष नहीं रहता है।

चरकाचार्य ने वातिक हृद्रोग में जकड़ाहट, मूर्च्छा, वेष्टन आदि विशिष्ट लक्षण लिखे हैं। वेपथुर्वेष्टनं स्तम्भः प्रमोहः शून्यतादरः। हृदि वातातुरे रूपं जीर्णे चात्यर्थवेदना॥ (च.सू.अ.१७)

तृष्णोषादाहचोषाः स्युः पैत्तिके हृदयक्लमः।
धूमायनञ्च मूर्च्छा च स्वेदः शोषो मुखस्य च॥ ७॥

पैत्तिकहृद्रोगलक्षणम्—पित्तजन्य हृद्रोग में प्यास, गर्मी, दाह, चोष, हृदय की व्याकुलता, धूम निकलने की सी प्रतीति, मूर्च्छा, पसीने का आना तथा मुख का सूखना ये लक्षण होते हैं॥ ७॥

विमर्शः—चरके पैत्तिकहृद्रोगकारणलक्षणानि—उष्णाम्ललवणक्षारकटुकाजीर्णभोजनैः। मद्यक्रोधातपैश्चाशु हृदि पित्तं प्रकुप्यति॥ हृद्दाहस्तिक्तता वक्त्रे तिक्ताम्लोद्गिरणं क्लमः। तृष्णा मूर्च्छा भ्रमः स्वेदः पित्तहृद्रोगलक्षणम्॥ (च० सू० अ० १७)

गौरवं कफसंस्रावोऽरुचिः स्तम्भोऽग्निमार्दवम्।
माधुर्य्यमपि चास्यस्य बलासावतते हृदि॥ ८॥

श्लैष्मिकहृद्रोगलक्षणम्—हृदय के कफ द्वारा आवृत (आक्रान्त) होने पर शरीर में भारीपन, कफ या लाला का स्राव, भोजन में अरुचि, हृदयादिक में स्तम्भन, अग्नि की मन्दता तथा मुख की मधुरता ये लक्षण होते हैं॥ ८॥

विमर्शः—चरके श्लैष्मिकहृद्रोगकारणलक्षणे—अत्यादानं गुरुस्निग्धमचिन्तनमचेष्टनम्। निद्रासुखं चाभ्यधिकं कफहृद्रोगकारणम्॥ लक्षणम्—हृदयं कफहृद्रोगे सुप्तं स्तिमितभारिकम्। तन्द्रारुचिपरीतस्य भवत्यश्मावृतं यथा॥

उत्क्लेशः ष्ठीवनं तोदः शूलो हृल्लासकस्तमः।
अरुचिः श्यावनेत्रत्वं शोषश्च कृमिजे भवेत्॥ ९॥

सान्निपातिककृमिजहृद्रोगलक्षणम्—त्रिदोष प्रकोपणयुक्त कृमिजन्य हृद्रोग में जी मिचलाना, बार बार थूँकना, हृदय में सूई चुभोने की सी पीड़ा, शूल, लालास्राव, आँखों के सामने अन्धकार का छा जाना, अरुचि, नेत्रों के चारों ओर तथा नीचे श्यावता और शरीर का सूखना ये लक्षण उत्पन्न होते हैं॥ ९॥

विमर्शः—चरकोक्त कृमिजहृद्रोगलक्षणम्—हेतुलक्षणसंसर्गादुच्यते सान्निपातिकः। हृद्रोगः कष्टदः कष्टसाध्य उक्तो महर्षिभिः। मर्मैकदेशे ते जाताः सर्पन्तो भक्षयन्ति च। तुद्यमानं स हृदयं सूचीभिरिव मन्यते। छिद्यमानं यथा शस्त्रैर्जातकण्डूं महारुजम्। हृद्रोगं कृमिजं त्वेतैर्लिङ्गैर्बुद्ध्वा सुदारुणम्॥ त्वरेत जेतुं तं विद्वान् विकारं शीघ्रकारिणम्। (च० सू० अ० १७) अन्यच्च—विद्यात् त्रिदोषं त्वपि सर्वलिङ्गं, तीव्रार्तितोदं क्रिमिजं सकण्डूम्। (च० चि० अ० २६) हारीतेऽपि—'सर्वाणि रूपाणि च सन्निपाताच्छिरोत्थितञ्चापि वदन्त्यसाध्यम्' आधुनिक विज्ञान में भिन्न भिन्न कृमियों के शरीर में भिन्न भिन्न लक्षण उत्पन्न होते हैं तथा उन कृमियों के कारण हृदय पर भी प्रभाव पड़ता है, जैसे हृदय का विस्तारित हो जाना, जिसके परिणामस्वरूप हार्दिक द्वार भी इतने विस्तृत हो जाते हैं कि हार्दिक कपाट उन्हें पूर्णतया बन्द नहीं कर पाते। इससे हृदय में (Regurgitation) का दोष हो जाता है तथा हृदय में रक्तज मर्मर (Haemic) सुनाई देती है। रक्तवाहिनी के अन्तस्तर के अपजनन से रक्तरस (Plasma) वाहिनी की दीवार से निकल कर धातुओं में एकत्रित होने लगता है, अत एव शरीर में शोथ होता है।

भ्रमक्लमौ सादशोषौ ज्ञेयास्तेषामुपद्रवाः।
कृमिजे कृमिजातीनां श्लैष्मिकाणाञ्च ये मताः॥१०॥

दोषजकृमिजहृद्रोगोपद्रवाः—वात, पित्त और कफ इन दोषों से उत्पन्न होने वाले हृद्रोगों में भ्रम, क्लम, अङ्गों में शिथिलता तथा मुख और धातुओं का शोष ये उपद्रव होते हैं। इसी तरह कृमिजन्य हृद्रोग में श्लैष्मिक कृमियों के उपद्रव ही होते हैं॥ १०॥

विमर्शः—वास्तव में 'क्लमः शोषो भ्रमः' इत्यादि जो उपद्रव लिखे हैं वे हृद्रोग के लक्षण ही होते हैं। उपद्रवस्वरूप चरकोक्त हृदयाभिघातजन्य विकार हृद्रोगोपद्रव हो सकते हैं—'हृदयेऽभिहते कासश्वासबलक्षयमकण्ठशोषक्लोमापकर्षणजिह्वानिर्गममुखतालुशोषापस्मारोन्मादप्रलापचित्तनाशादयः स्युः'। (च. सि. अ.) श्लैष्मिक कृमिजन्य उपद्रव जैसे—हृल्लास, आस्यस्रवण और अविपाक ये प्रधान हैं।

वातोपसृष्टे हृदये वामयेत् स्निग्धमातुरम्।
द्विपञ्चमूलक्वाथेन सस्नेहलवणेन तु॥ ११॥

वातजहृद्रोगचिकित्सा—वातजन्य हृदयरोग से पीड़ित रोगी को प्रथम स्नेहित करके दशमूल के क्वाथ में लवण और स्नेह (घृत) मिलाकर कण्ठ पर्यन्त पान करा कर अङ्गुलियों से उत्क्लेश करा के वमन करा देना चाहिए॥ ११॥

विमर्शः—हृदयस्य श्लेष्मस्थानत्वाच्छ्लेष्मणि च वमनार्हत्वात् स्थानिवद्भावाद्वा वमनं साधु। तथा चोक्तम्—कफस्य च विनाशार्थं वमनं शस्यते बुधैः। स्थानिस्थानगतं दोषं स्थानिवत् समुपाचरेत्॥ अत्र क्वाथे वमनार्थं मदनफलचूर्णमपि प्रक्षिपन्ति वृद्धाः।

पिप्पल्येलावचाहिङ्गुयवभस्मानि सैन्धवम्।
सौवर्चलमथो शुण्ठीमजमोदाञ्च चूर्णितम्॥ १२॥
फलधान्याम्लकौलत्थदधिमद्यासवादिभिः।
पाययेत विशुद्धञ्च स्नेहेनान्यतमेन वा॥ १३॥

वातजहृद्रोगे पिप्पल्यादिचूर्णम्—छोटी पीपल, इलायची, वचा, शुद्ध हिङ्गु, यवक्षार, सैन्धव लवण, सौवर्चल लवण, सोंठ और अजमोद इन्हें सम प्रमाण में लेकर खाँड़ कूट के चूर्ण बना लेवें। फिर उक्त प्रकार से शरीर की शुद्धि किये हुये हृदयरोगी को इस चूर्ण की २ से ४ माशे की मात्रा फलों के रस, काँजी, कुलत्थीक्वाथ, दही, मद्य और आसव

आदि के साथ खिलानी चाहिए अथवा घृत, तैल, वसा और मज्जा इस चतुर्विध स्नेह में से किसी एक स्नेह के साथ खिलानी चाहिए ॥ १२–१३ ॥

विमर्शः—स्नेहपरिभाषा—'सर्पिस्तैलं वसामज्जा स्नेहोऽप्युक्तश्चतुर्विधः' हृद्रोग में घृत श्रेष्ठ रहता है, तैल ओज की अल्पता करनेवाला होता है।

भोजयेज्जीर्णशाल्यन्नं जाङ्गलैः सघृतै रसैः।
वातघ्नसिद्धं तैलञ्च दद्याद्बस्तिं प्रमाणतः ॥ १४ ॥

वातहृद्रोगे पथ्यम्—हृद्रोगों में पुराने शाली चावलों के भात को जङ्गली पशुपक्षियों के मांसरस और घृत के साथ सेवन कराना चाहिए। भद्रदार्वादिगण की वातनाशक औषधियों के कल्क और क्वाथ से सिद्ध किये हुये तैल की बस्ति यथाप्रमाण देनी चाहिए ॥ १४ ॥

श्रीपर्णीमधुकक्षौद्रसितोत्पलजलैर्वमेत्।
पित्तोपसृष्टे हृदये सेवेत मधुरैः श्रृतम्।
घृतं कषायांश्चोद्दिष्टान् पित्तज्वरविनाशनान् ॥ १५ ॥

पित्तजहृद्रोगचिकित्सा—पित्तजन्य हृद्रोग में श्रीपर्णी (गम्भारी) का चूर्ण ३ माशा, मुलेठी का चूर्ण २ माशे भर, शहद १ तोले भर, शर्करा २ तोला और कमल अथवा कुष्ठ का चूर्ण २ माशे भर लेकर जल में घोल के कण्ठ पर्यन्त पिलाकर वमन कराना चाहिए। वमन के अनन्तर जीवनीय गणोक्त मधुर औषधियों के कल्क तथा क्वाथ से सिद्ध किया हुआ घृत अथवा काकोल्यादिगण की औषधियों के कल्क तथा क्वाथ से सिद्ध किया हुआ घृत तथा पैत्तिकज्वरचिकित्सा में कहे हुये पित्तनाशक द्रव्यों के कषाय का पान कराना चाहिए ॥ १५ ॥

तृप्तस्य च रसैर्मुख्यैर्मधुरैः सघृतैर्भिषक्।
सक्षौद्रं वितरेद्बस्तौ तैलं मधुकसाधितम् ॥ १६ ॥

पित्तहृद्रोगे स्नेहबस्तिप्रयोगः—वैद्य का कर्तव्य है कि वह पित्तजन्य हृदयरोगी को प्रथम हरिण आदि के प्रधान मांसरसों को मधुर द्रव्यों से तथा घृत से संस्कृत कर पर्याप्त मात्रा में तृप्ति पर्यन्त पिलावे। इसके अनन्तर मुलेठी के कल्क और क्वाथ के साथ सिद्ध किये हुये तैल में शहद का प्रक्षेप देकर बस्ति देनी चाहिए ॥ १६ ॥

विमर्शः—पैत्तिकहृद्रोगे प्रदेहादयः—शीताः प्रदेहाः परिषेचनानि तथा विरेको हृदि पित्तदुष्टे। द्राक्षासिताक्षौद्रपरूषकैः स्याच्छुद्धे च पित्तापहमन्नपानम्। पिष्ट्वा पिबेद्वापि सिताजलेन यष्ट्याह्वयं तिक्तकरोहिणीञ्च ॥ अन्यच्च अर्जुनादिसिद्धं क्षीरम्—अर्जुनस्य त्वचा सिद्धं क्षीरं योज्यं हृदामये। सितया पञ्चमूल्या वा बल्या मधुकेन वा ॥

वचानिम्बकषायाभ्यां वान्तं हृदि कफात्मके।
चूर्णन्तु पाययेतोक्तं वातजे भोजयेच्च तम् ॥ १७ ॥

श्लैष्मिकहृद्रोगचिकित्सा—कफजन्य हृदय रोग में प्रथम वचा और निम्ब के क्वाथ को कण्ठपर्यन्त पिलाकर वमन कराना चाहिए। इसके अनन्तर वातजहृद्रोग में कहे हुये वातनाशक द्रव्यों (पिप्पली, पिप्पलीमूल, एला आदि) का चूर्ण मन्दोष्ण जल के साथ पिलाना चाहिए। इसी प्रकार वातजहृद्रोग में कहे हुये पुराने सांठी चावलों के भात को जङ्गली पशुपक्षियों के मांसरस तथा घृत के साथ खिलाना चाहिये १७ ॥

फलादिमथ मुस्तादिं त्रिफलां वा पिबेन्नरः ॥ १८ ॥
श्यामात्रिवृत्कल्कयुतं घृतं वाऽपि विरेचनम्।
बलातैलैर्विदध्याच्च बस्तिं बस्तिविशारदः ॥ १९ ॥

श्लैष्मिकहृद्रोगे प्रयोगान्तरम्—संशोधन-संशमनीयोक्त मदनफलादि का प्रयोग अथवा द्रव्यसंग्रहणीय अध्यायोक्त मुस्तादियोग को अथवा त्रिफला के चूर्ण या क्वाथ को पिलाना चाहिए। अथवा काली निशोथ के ३ माशे चूर्ण को घृत के साथ मिला कर पिला के विरेचन कराना चाहिए। इसके अतिरिक्त मूढगर्भ चिकित्सा प्रकरण में कहे हुये बलातैल की बस्ति देनी चाहिए ॥ १८–१९ ॥

विमर्शः—कफजहृद्रोगे त्रिवृतादिचूर्णम्—त्रिवृच्छटी बला रास्ना शुण्ठी पथ्या सपौष्करा। चूर्णिता वा श्रृते मूत्रे पातव्याः कफहृद्गदे ॥ सूक्ष्मैलादिचूर्णम्—सूक्ष्मैला मागधीमूलं प्रलीढं सर्पिषा सह। नाशयेदाशु हृद्रोगं कफजं सपरिग्रहम् ॥ (भै. र.)

क्रिमिहृद्रोगिणं स्निग्धं भोजयेत् पिशितौदनम्।
दध्ना च पललोपेतं त्र्यहं, पश्चाद्विरेचयेत् ॥ २० ॥

कृमिजहृद्रोगचिकित्सा—कृमिजन्य हृदयरोगी को प्रथम स्नेहित करके चावलों के भात को मांस या मांसरस के साथ खिलाना चाहिए अथवा भूने हुये तिलों के चूर्ण को दही के साथ तीन दिन तक खिला कर पश्चात् चौथे दिन वक्ष्यमाण विरेचन कराना चाहिए ॥ २० ॥

सुगन्धिभिः सलवणैर्योगैः साजाजिशर्करैः।
विडङ्गगाढं धान्याम्लं पाययेताप्यनन्तरम् ॥ २१ ॥
हृदयस्थाः पतन्त्येवमधस्तात् क्रिमयो नृणाम्।
यवान्नं वितरेच्चास्य सविडङ्गमतः परम् ॥ २२ ॥

इति सुश्रुतसंहितायामुत्तरतन्त्रान्तर्गते कायचिकित्सातन्त्रे हृद्रोगप्रतिषेधो नाम (पञ्चमोऽध्यायः, आदितः) त्रिचत्वारिंशोऽध्यायः ॥४३॥

कृमिहृद्रोगे विरेचनम्—सुगन्धि द्रव्य जैसे दालचीनी, इलायची, तेजपात, नागकेशर इनके चूर्ण के साथ सैन्धव लवण मिलाकर विरेचक औषध देनी चाहिए। अथवा जीरे के चूर्ण और शर्करा के साथ विरेचक औषधियों द्वारा विरेचन कराना चाहिए। विरेचन कर्म हो जाने के पश्चात् धान्याम्ल (काञ्जी) के अन्दर वायविडङ्ग का चूर्ण मिला कर पिलाना चाहिए। इस तरह इन योगों के सेवन कराने से हृदय प्रदेश में प्रविष्ट हुये कृमि विरेचन कर्म से नीचे की ओर मलमार्ग से मल के साथ निकल जाते हैं। कृमियों के निकल जाने के पश्चात् रोगी को विडङ्ग के क्वाथ से सिद्ध किये हुये यव की यूली देनी चाहिए ॥ २१–२२ ॥

विमर्शः—चरकमतेन त्रिदोषजहृद्रोगस्य क्रिमिरोगस्य च चिकित्सा—त्रिदोषजे लङ्घनमादितः स्यादन्नञ्च सर्वेषु हितं विधे-

यम्। हीनातिमध्यत्वमवेक्ष्य चैव कार्यं त्रयाणामपि कर्म शस्तम् ॥ त्रिदोषजकृमिशूलचिकित्सा—भुक्तेऽधिकं जीर्यति शूलमल्पं जीर्णे स्थितश्चेत्सुरदारुकुष्ठम्। सतिल्वकं द्वे लवणे विडङ्गमुष्णाम्बुना सातिविषं पिबेत् सः ॥ जीर्णेऽधिके स्नेहविरेचनं स्यात् फलैर्विरेच्यो यदि जीर्यति स्यात्। त्रिष्वेव कालेष्वधिके तु शूले तीक्ष्णं हितं मूलविरेचनं स्यात् ॥ प्रायोऽनिलो रुद्धगतिः प्रकुप्यत्यामाशये शोधनमेव तस्मात्। कार्यं तथा लङ्घनपाचनञ्च सर्वं क्रिमिघ्नं क्रिमिहृद्गदे च ॥ (च० चि० अ० २६) हृदयरोगे पथ्यम्—स्वेदो विरेको वमनञ्च लङ्घनं बस्तिर्विलेपी चिररक्तशालयः। मृगद्विजाजाङ्गलसंश्रयान्विता यूषारसा मुद्गकुलत्थसम्भवाः। हृद्रोगेऽपथ्यम्—विरुद्धमुष्णं गुरुतिक्तमम्लं पत्रोत्थशाकानि चिरन्तनानि। क्षारं मधूकानि च दन्तकाष्ठं त्वक्स्रुति हृद्गदवान् परित्यजेत् ॥

इति श्रीअम्बिकादत्तशास्त्रिविरचितायां सुश्रुतस्य हृद्रोगचिकित्साभाषाटीकायां त्रिचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४३ ॥

चतुश्चत्वारिंशत्तमोऽध्यायः।

अथातः पाण्डुरोगप्रतिषेधं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥ २ ॥

अब इसके अनन्तर पाण्डुरोगप्रतिषेधक नामक अध्याय का व्याख्यान प्रारम्भ करते हैं जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने कहा है ॥ १-२ ॥

विमर्शः—हृदयरोग के उत्पन्न होने के अनन्तर उसकी उचित चिकित्सा न करने से पाण्डुरोग हो जाता है। अतएव उसका विवेचन आवश्यक है। पाण्डु शब्द का अर्थ श्वेत और रक्त वर्ण का मिश्रण है—'श्वेतरक्तस्तु पाण्डुरः' इत्यमरः। कुछ लोगों ने पाण्डु शब्द का अर्थ श्वेतपीत होना लिखा है। इस तरह रक्ताल्पता के कारण जिस रोग में समस्त शरीर (विशेष कर त्वचा, नाखून, आंख की झिल्ली) का वर्ण श्वेतरक्त या श्वेतपीत (पाण्डु) हो जाता है उसे पाण्डुरोग कहते हैं—'पाण्डुत्वेनोपलक्षितो रोगः पाण्डुरोगः'। पाण्डुरोगाधिकार में कामला, हलीमक आदि का भी ग्रहण हो जाता है, क्योंकि पाण्डुरोग के भेदों में इनका भी पाठ है—'वातेन पित्तेन कफेन चैव त्रिदोषमृद्भक्षणसम्भवे च। द्वे कामले चैव हलीमकश्च स्मृतोऽष्टधैवं खलु पाण्डुरोगः ॥' यद्यपि रक्ताल्पता से होने वाले इन रोगों में शरीर का रङ्ग पीतवर्ण, हरिद्वर्ण तथा कहीं-कहीं कृष्णवर्ण भी मिलता है, किन्तु पाण्डुवर्ण की अधिकता होने से पाण्डुरोग संज्ञा की गई है, जैसा कि लिखा भी है 'पाण्डुवर्णाधिक्यात् पाण्डुरोग इति संज्ञा। अतः कृष्णादिवर्णः पाण्डुत्वं नातिक्रामति, तथा च वक्ष्यति—'सर्वेषु चैतेष्विह पाण्डुभावो यतोऽधिकोऽतः खलु पाण्डुरोगः' इति। आधुनिक दृष्टि से पाण्डुरोग को एनिमिया (Anaemia) कहते हैं। लाल रक्तकण (R. B. C.) श्वेत रक्तकण (W. B. C.) तथा रक्तरस (Plasma) के सामुदायिक रूप को ही रक्त कहते हैं। रक्तमात्र की कमी या तद्गत लाल कणों की संख्याल्पता अथवा विकृतरूपता ही वस्तुतः पाण्डुरोग है। लालकणों के स्वाभाविक दशा में रहने पर त्वचा का वर्ण भी प्राकृत रहता है, किन्तु इनमें विकृति होने से उसमें विवर्णता आ जाती है एवं इसकी स्पष्ट प्रतीति त्वचामात्र या विशेषतः नेत्र तथा जिह्वा की निम्नगा श्लेष्मकला में पीतिमा या विवर्णता के रूप में दृष्टिगोचर होती है। आयुर्वेद के सिद्धान्त से शरीर की आद्य रसधातु अथवा पाचन से बना हुआ अन्नरस यकृत् और प्लीहा में जा कर रञ्जक पित्त के संयोग से रक्त रूप को प्राप्त होता है। 'स खल्वाप्यो रसो यकृत्प्लीहानौ प्राप्य रागमुपैति—रञ्जिता तेजसा त्वापः शरीरस्थेन देहिनाम्। अव्यापन्नाः प्रसन्नेन रक्तमित्यभिधीयते ॥' (सु. सू. अ. १४) चरकाचार्य ने भी यही प्रतिपादित किया है—रसाद्रक्तं विसदृशात् कथं देहेऽभिजायते। अग्निवेश के इस प्रश्न का उत्तर देते हुये महर्षि आत्रेय ने कहा है कि सौम्य रस ही यकृत् गत रञ्जक पित्त के संयोग से रक्त बनता है—तेजो रसानां सर्वेषामम्बुजानां यदुच्यते। पित्तोष्मणः स रागेण रसो रक्तत्वमृच्छति ॥ इस तरह हम यह कह सकते हैं कि रञ्जक पित्त का विनाश ही पाण्डुरोग है। रञ्जक पित्त का निर्माण यकृत् में होता है। इसका नाम पित्त (Bile) है और इसके रञ्जकांश तथा लवणांश शोणवर्तुलि (Hemoglobine) के घटक लोह के प्रचूषण तथा शोणवर्तुलिभवन में परम सहायक होते हैं। प्राच्य ग्रन्थों में केवल यकृत् और प्लीहा को ही रसरञ्जन या लालकण निर्माण का केन्द्र माना है। किन्तु आधुनिक विज्ञान ने सिद्ध किया है कि रस को रञ्जित करने वाले लाल कणों का निर्माण अस्थियों में रहने वाली रक्तमज्जा के द्वारा होता है। यकृत् और प्लीहा भी लालकणों के निर्माण में सहायक होते हैं। गर्भावस्था में लाल कणों का निर्माण यकृत् और प्लीहा के द्वारा ही सम्पन्न होता है। जन्मोत्तर काल में यह कार्य रक्तमज्जा (Red marrow) से ही होता है। किन्तु आत्ययिक अवस्था में जन्मोत्तर काल में भी यकृत् और प्लीहा को यह कार्य करना पड़ता है—'In time of emergency the liver and spleen may resume this blood-forming function.' डा० वर्मा जी 'मानव-शरीर-रहस्य' में लिखते हैं कि प्लीहा रक्त में आये हुये टूटे रक्तकणों का नाश ही नहीं करती; बल्कि उनका निर्माण भी करती है। यदि प्लीहा की परीक्षा की जावे तो यह परीक्षा मनुष्यों में तो अब तक नहीं दिखाई गई है, किन्तु पशुओं में यह निश्चय हो चुका है कि प्लीहा लाल कण बनाती है। यदि पशुओं की प्लीहा निकाल दी जाय तो अस्थियों की लालमज्जा में वृद्धि हो जाती है। आयुर्वेदानुसार यकृत् रक्त निर्माण में प्रमुख भाग लेता है। इसकी प्रामाणिकता रक्तक्षय वाले रोगों में यकृत् सेवनोपदेश से प्रमाणित होती है—'यकृद्वा भक्षयेदाजमामं पित्तसमायुतम्' (सुश्रुत) 'भक्षयेदाजमामं पित्तयुक्तं यकृत्' (वाग्भट)। इस तरह हम देखते हैं कि यकृत् रक्तक्षय, मन्दाग्नि आदि रोगों में अच्छा लाभ करता है तथा पाण्डुरोग भी रक्त के क्षय या विकृति से उत्पन्न होता है अतः पाण्डुरोगनाशार्थं यकृत् का प्रयोग करना चाहिए। यकृत् के अतिरिक्त आयुर्वेद में पाण्डुरोग में लौह के योग तथा ताम्रभस्म के अत्यधिक प्रयोग लिखे हैं। इस से स्पष्ट है कि हमारे महर्षि यकृद्विकारों में तथा रक्तक्षय एवं तज्जन्य पाण्डुरोग में यकृत् का सेवन, अजारक्त का सेवन, लौह, मण्डूर और ताम्र का सेवन तथा शङ्ख, शुक्ति, प्रवाल और मुक्ताभस्म रूप केलिशियम के सेवन की आज्ञा देते हैं।

इस तरह ये औषधियां रक्तक्षयान्तक द्रव्य का बहिरंश (Extrinsic factor) ही हैं तथा इन्हीं औषधियों से रागक (Haemoglobin) की उत्पत्ति होती है। इस तरह रक्त-निर्माण का आयुर्वेदीय सिद्धान्त पाश्चात्यसिद्धान्त से पूर्णतया साम्यता रखता है। आधुनिक दृष्टि से लालकणों का निर्माण अस्थिमज्जा के अतिरिक्त लोहा, तांबा, मैंगनीज तथा जीव-तिक्तियां भी रक्तनिर्माण में परम सहायक हैं। इन्हें भी बहिरंश (Extrinsic factor) कहते हैं। इनके अतिरिक्त पित्त (Bile), आमाशयिक रस तथा अवटुकाग्रन्थिस्राव (Thyroxine) भी रक्तनिर्माण में बहुत बड़ा भाग लेते हैं एवं इनको अन्तरंश (Intrinsic factor) कहते हैं। आमाशय एवं क्षुद्रांत्र के उपरितनभाग में इन दोनों के संयोग से एक तीसरा पदार्थ बनता है, जिसका नाम रक्त-क्षयान्तकद्रव्य (Anti anaemic principle) भी है। यह श्लेष्मला कला द्वारा प्रचूषित होकर सीधा मज्जा में पहुंचता है और लालकणों को पूर्ण प्रगल्भ (Mature) बनाने में सहायक होता है। इसका अवशिष्ट भाग यकृत् में तथा कुछ वृक्क में भी संगृहीत होता है। आवश्यकता पड़ने पर यह भी मज्जा में पहुंच जाता है। यह पदार्थ लालकणों के पूर्ण विकास के लिये परमावश्यक है। इसकी कमी से लाल कण पूर्ण प्रगल्भ नहीं होने पाते। इस प्रकार रक्त या लालकणों का निर्माण करने के लिये अस्थिमज्जा तथा उसकी सहायता पहुंचाने के लिये रक्तनिर्मापक बहिरंश, अन्तरंश और रक्त-क्षयान्तक द्रव्य (Anti anaemic principle) की उपस्थिति अनिवार्य है। इनमें से किसी की भी कमी होना रक्तनिर्माण की दृष्टि से हानिकर है। इसके अतिरिक्त अत्यधिक रक्तस्राव तथा लालकणों का विनाश करने वाले मलेरिया या कालमेह-ज्वर (Black-water fever) जैसे रोग भी पाण्डु (Anaemia) की उत्पत्ति कराते हैं।

व्यवायमम्लं लवणानि मद्यं
मृदं दिवास्वप्नमतीव तीक्ष्णम् ॥
निषेवमाणस्य विदूष्य रक्तं
कुर्वन्ति दोषास्त्वचि पाण्डुभावम् ॥ ३ ॥

पाण्डुरोगस्य निदानं सम्प्राप्तिश्च—जो व्यक्ति अत्यधिक मात्रा में स्त्री-सम्भोग करता हो, अम्ल पदार्थ और लवण अधिक सेवन करता हो एवं मद्य का सेवन तथा मिट्टी का भक्षण, दिन में शयन तथा अत्यन्त तीक्ष्ण पदार्थों का सेवन करता हो उसके प्रकुपित हुये दोष रक्त को दूषित करके त्वचा को पाण्डुर (श्वेत रक्त या श्वेत पीत) वर्ण की कर देते हैं ॥ ३ ॥

विमर्शः—ग्रन्थान्तरों में निम्न पाठपरिवर्तन हैं—'व्यवाय' के स्थान पर 'व्यायाम' शब्द है। 'विदूष्य' के स्थान पर 'प्रदूष्य' पाठान्तर है एवं 'कुर्वन्ति दोषास्त्वचि पाण्डुभावम्' के स्थान पर 'दोषास्त्वचं पाण्डुरतां नयन्ति' ऐसा पाठान्तर है, जिसमें केवल शब्दों का फर्क है, भाव सभी का एक-सा ही है, किन्तु व्यवाय के स्थान पर जहां व्यायाम ऐसा पाठान्तर है वहां स्निग्ध भोजन करने वाले व्यक्ति को भी व्यायाम अर्ध शक्ति तक ही करना चाहिए—'अर्धशक्त्या निषेव्यस्तु व्यायामः स्निग्धभोजिभिः'॥ और वह भी बलवान् के लिये तथा शीत और वसन्त ऋतु में ही अधिक करने से लाभ-दायक होता है—'व्यायामो हि सदा पथ्यो बलिनां स्निग्ध-भोजिनाम्। स च शीते वसन्ते च' इसके विपरीत यदि कोई व्यक्ति पोषक तत्त्व बिना सेवन किये ही अधिक व्यायाम सेवन करता है तो उसका वायु प्रकुपित होकर अग्निदुष्टि एवं पाचन और शोषण के अभाव से परम्परया रक्तदुष्टि (रक्त की कमी) उत्पन्न करके वातिक पाण्डु का कारण बनता है। अम्ल, लवण तथा दिवास्वप्न, मद्य तथा तीक्ष्ण-पदार्थों का सेवन कफज पाण्डु और पित्त पाण्डु को उत्पन्न करता है। मृत्तिकासेवन मृत्तिकाजन्य पाण्डुरोग को उत्पन्न करता है। यह मृत्तिका भी भिन्न २ रस वाली होने से दोषोत्पादनपूर्वक पाण्डुरोगोत्पत्ति में कारण बनती है—'कषाया मारुतं पित्तमूषरा मधुरा कफम्। कोपयेन्मृद्रसादींश्च रौक्ष्याद् भुक्तं विरूक्षयेत् ॥' मछली, मांस, पिष्ट, दुग्ध, दिवास्वप्न, तिल, माष आदि भी पाण्डुरोग की उत्पत्ति में कारण होते हैं। विदूष्य रक्तम्—अर्थात् किसी की भी दुष्टि वृद्धिक्षयात्मक ही होती है। अतः प्रकृत में रक्त की दुष्टि से रक्ताल्पता का ही ग्रहण करना चाहिए, क्योंकि चरकाचार्य ने पाण्डु के सामान्य लक्षणों के वर्णन में रक्त की कमी तथा तज्जन्य विवर्णता का उल्लेख किया है—'सोऽल्परक्तोऽल्पमेदस्को निःसारः शिथिलेन्द्रियः। वैवर्ण्यं भजते ॥' रक्त ही अन्य सर्व धातुओं का पोषक है। अतः इसकी अल्पता से ओजःपर्यन्त सभी धातुओं में शैथिल्य उत्पन्न हो जाता है—'दोषाः पित्त-प्रधानास्तु यस्य कुप्यन्ति धातुषु। शैथिल्यं तस्य धातूनां गौरवञ्चो-पजायते ॥ ततो वर्णबलस्नेहा ये चान्येऽप्योजसो गुणाः। व्रजन्ति क्षयमत्यर्थं दोषदूष्यप्रदूषणात् ॥' चरक और वाग्भटाचार्य ने रक्त के अतिरिक्त त्वचा और मांस को भी दूष्य कहा है, परन्तु रक्त को ही दूषित करने का सुश्रुताचार्य का मत अधिक उपयुक्त है। क्योंकि यह रोग रक्तगत विकृति का ही परिणाम होता है। ऐसे तो परम्परया सभी धातुओं पर इसका प्रभाव पड़ता है, क्योंकि यही सबका पोषक है। पाण्डुरोग की सम्प्राप्ति में चरकाचार्य का मत है कि साधारणपित्तप्रकोपक कारणों से प्रकुपित पित्त हृदयस्थ होकर वायु की प्रेरणा से हृदय से निकलने वाली धमनियों तथा उनकी शाखाप्रशाखा-गत रक्त के द्वारा सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त हो जाता है—समुदीर्णं यदा पित्तं हृदये समवस्थितम्। वायुना बलिनाक्षिप्तं सम्प्राप्य धमनीर्दश। प्रपन्नं केवलं देहं त्वङ्मांसान्तरमाश्रितम् ॥ प्रदूष्य कफवातासृक्त्वङ्मांसानि करोति तत् ॥ पाण्डुहारिद्र-हरितान् वर्णान् बहुविधांस्त्वचि ॥ त्वचागत रक्तवाहिनियों के अधिक उत्तान (Superficial) रहने से इसके विशेष वर्णों (पाण्डु, हारिद्र, हरित) की अभिव्यक्ति त्वचा में होती है। कामला तथा हलीमक पाण्डु के प्रवृद्ध रूप भी हैं, यह बात चरक की उक्त सम्प्राप्ति से प्रतीत होती है। यद्यपि पाण्डु के अभाव में भी कामला स्वतन्त्ररूप से होता है। पाण्डुरोग में पित्तदुष्टि तथा पित्तवर्गीय रक्त की दुष्टि या अल्पता ही होती है। स्वस्थावस्था में रक्तगत भ्राजक पित्त के अंश से त्वचागत भ्राजक पित्त की परिपुष्टि निरन्तर होते रहने से उसका वर्ण प्राकृत रहता है। रक्ताल्पता की अवस्था में

रक्तगत भ्राजक पित्त का औसतन प्रमाण विकृत होने से त्वचा में विविध विकृत वर्णों की उत्पत्ति होती है। चूंकि पित्त ही सब वर्णों का प्रकाशक है या वही वर्णस्वरूप है। अतः शरीरस्थ सभी भागों में पित्तवर्गीय रक्त की कमी होने से विवर्णता आती है। यह विवर्णता सर्वप्रथम त्वचा में ही प्रत्यक्षगोचर होती है। अतएव चरक ने 'वर्णान् बहुविधांस्त्वचि' यह सामान्य कहा है। आधुनिक दृष्टि से पाण्डु की उत्पत्ति जब शरीर के रक्तगत लालकण किसी स्थावर या जङ्गम विष के कारण, किसी अङ्ग की विकृति के कारण, भोजन में रक्तवर्धक पदार्थों की कमी के कारण या रक्तनिर्मापक अस्थिमज्जा की विकृति के कारण या अन्य आघात आदि के फलस्वरूप अत्यधिक रक्तस्राव हो जाने के कारण कम या विकृत हो जाते हैं तो पाण्डु की उत्पत्ति होती है।

पाण्ड्वामयोऽष्टार्द्धविधः प्रदिष्टः
पृथक् समस्तैर्युगपच्च दोषैः।
सर्वेषु चैतेष्विह पाण्डुभावो
यतोऽधिकोऽतः खलु पाण्डुरोगः ॥ ४ ॥

पाण्डुरोगसंख्या—पाण्डुरोग चार प्रकार (अष्टार्धविध) होता है, जैसे वात, पित्त और कफ इन पृथक् पृथक् दोषों से उत्पन्न तीन प्रकार का तथा एक ही साथ समस्त (तीनों) दोषों के प्रकोप से उत्पन्न होने वाला पाण्डुरोग का चौथा भेद होता है। इन चारों प्रकार के वातादि दोषों से उत्पन्न रोगों में शरीर का वर्ण अधिकरूप से पाण्डु (श्वेतरक्त या श्वेतपीत) हो जाता है। अतएव इनका नाम पाण्डुरोग पड़ा है।

विमर्शः—चरक, वाग्भट तथा माधवकार ने दोषज पाण्डु के चार भेद के अतिरिक्त पाँचवां मृत्तिकाभक्षणजन्य भेदों माना है—पाण्डुरोगाः स्मृताः पञ्च वातपित्तकफैस्त्रयः। चतुर्थः सन्निपातेन पञ्चमो भक्षणान्मृदः। किन्तु सुश्रुताचार्य ने मृद्भक्षणजन्य पाण्डुरोग में भी विभिन्न प्रकार के रसवाली मृत्तिका के भक्षण से प्रथम वातादि दोष ही कुपित होते हैं और पश्चात् पाण्डुरोग उत्पन्न होता है, इसलिये मृद्भक्षणजन्य पाण्डुरोग को पाँचवां भेद न मानकर उसको दोषजन्य में ही समाविष्ट कर दिया है तथा वक्ष्यमाण कामलादिक भी इसी के पर्याय हैं। वास्तव में मृद्भक्षण से उत्पन्न होने वाला पाण्डु अपनी विशिष्ट कारणता रखता है, जिसका कि चिकित्सा में महत्त्व होता है। अतएव दोषज में अन्तर्भाव करने की अपेक्षा स्वतन्त्र पाँचवाँ भेद मानना ही श्रेष्ठ पक्ष है। कुछ आचार्यों ने 'पाण्ड्वामयस्त्वष्टविधः प्रदिष्टः' ऐसा पाठान्तर मान कर पाण्डुरोग के आठ भेद माने हैं। अर्थात् पृथक् पृथक् दोषों से तीन, सन्निपात से चौथा, मृद्भक्षणजन्य पाँचवाँ, दो प्रकार की कामला और आठवाँ हलीमक—वातेन पित्तेन कफेन चापि त्रिदोषमृद्भक्षणसम्भवः स्यात्। द्वे कामले चैकहलीमकश्च स चाष्टधैवं त्विह पाण्डुरोगः॥ आधुनिक दृष्टि से एलोपैथी में पाण्डु रोग का वर्गीकरण अनेक प्रकार से किया गया है। क्वचित् निदानभेद एवं क्वचित् प्रत्यक्ष रक्तगतविकृति भेद को आधार मानकर वर्गीकरण किया हुआ मिलता है। वर्गीकरण निदानसौकर्य और चिकित्सासौकर्य के लिये किया जाता है। क्योंकि कहा भी है—रोगमादौ परीक्षेत ततोऽनन्तरमौषधम्। ततः कर्म भिषक् पश्चात् ज्ञानपूर्वं समाचरेत्॥ इसके अतिरिक्त संपूर्ण चिकित्सा का तत्त्व निदानपरिवर्जन ही बताया गया है—संक्षेपतः क्रियायोगो निदानपरिवर्जनम्। इस प्रकार चिकित्सा-सौकर्य को विशेषतया ध्यान में रखते हुए यह आवश्यक है कि पाण्डुजनक निदानों के भेद से ही पाण्डुरोग के वर्गीकरण को महत्त्व दिया जाय। अतः इसका नीचे वर्णन करते हैं—(१) पोषणाभावजन्य पाण्डु—लालकणों को परिपुष्ट बनाने में रक्तक्षयान्तद्रव्य (Anti anaemic principle) की उपस्थिति अनिवार्य है। इसमें अन्तरांश (Intrinsic factor) की कमी होती है। इसकी कमी से होने वाले पाण्डु की श्रेणी में वैनाशिक रक्तक्षय (Pernicious anaemia), गर्भावस्थाजन्य पाण्डु, ग्रहणी (Sprue) जन्य तथा अङ्कुशमुखकृमि पाण्डु का समावेश होता है। इस पाण्डु में रक्त की सकल (Total) मात्रा तथा शोणवर्तुलि (Haemoglobin) की मात्रा कम नहीं होती, अपि तु अधिक भी हो सकती है। लालकण संख्या में कम होते हुए भी आकार में बड़े तथा अप्रगल्भ (Immature) होते हैं। इस श्रेणी में पाण्डु के प्रत्यक्ष रक्तगतविकृति की दृष्टि से स्थूलकायाण्विक परमवर्णिक पाण्डु (Macrocytic hyperchromic anaemia) कहते हैं। (२) रक्तनिर्मापकद्रव्याभावजन्य पाण्डु (Anaemia due to deficiency of blood forming meterial)—लोहा और ताम्र रक्तकणनिर्माण में परम सहायक होते हैं अथवा लालकण की लालिमा लोहे की लोहितता का ही परिणाम है। इनकी कमी से होने वाले पाण्डु में रक्तगत लालकणों की संख्या में कमी न होने पर भी उनका आकार तथा शोणवर्तुलि (Haemoglobin) का साधारण प्रमाण कम रहता है। अतएव रक्तगत विकृति के अनुसार इसका नाम भी सूक्ष्म कायाण्विक उपवर्णिक पाण्डु (Microcytic hypochromic anaemia) है। लोह का उचित मात्रा से कम मात्रा में सेवन करना, भूखा रहना, पाचकरसों की कमी तथा आमाशयिक और आन्त्रिक शोथजन्य रोगों में लौह का पाचन एवं शोषण न होना इसका कारण है। (३) अस्थिमज्जाविकृतिजन्य पाण्डु—यह प्राथमिक (Primary or aplastic) तथा दीर्घकाल तक एक्स किरणों के सम्पर्क तथा तथा सीसा और पारद के विषों से पराभूत अस्थिमज्जा की विकृति होने पर द्वितीयक या औपद्रविक (Secondary) भी हो सकता है। सल्फा द्रव्यों के अधिक सेवन करने से भी यह होता है। लालकण दिन प्रतिदिन संख्या में कम होते जाते हैं। (४) रक्तस्रावजन्यपाण्डु—रक्तपित्त, रक्तार्श, रक्तप्रदर, शोणितप्रियता (Haemophilia) आदि रोग इसके उदाहरण हैं। इसे भी द्वितीयक पाण्डु ही कहना चाहिये। इसमें रक्त का सकल प्रमाण कम होता है। इस अवस्था में अत्यधिक वेग से हुई रक्तहानि की पूर्ति अस्थिमज्जा द्वारा उतने ही वेग से नहीं होने पाती। (५) शोणांशनजन्य पाण्डु (Anaemia due to haemolysis)—मलेरिया, कालमेहज्वर (Black water fever), सावेगशोणवर्तुलिमेह (Paroxysmal haemoglobinuria), बालकों की अपित्तमेहिक (Acholuric) तथा साधारण कामला में शोणांशन (Haemolysis) अधिक होने से यह पाण्डु होता है। इसमें लालकणों की संख्या बहुत कम हो जाती है। पाण्डु के

आधुनिक उपर्युक्त भेदों में लक्षणानुसार वातादि भेदों की कल्पना भी की जा सकती है और लक्षणानुसार दोषशामक चिकित्सा करने से लाभ हो सकता है।

त्वक्स्फोटनं ष्ठीवनगात्रसादौ
मृद्भक्षणं प्रेक्षणकूटशोथः।
विण्मूत्रपीतत्वमथाविपाको
भविष्यतस्तस्य पुरःसराणि ॥ ५ ॥

पाण्डुरोगस्य पूर्वरूपाणि—त्वचा में विदार या फटने की सी प्रतीति, बार-बार थूंकने की प्रवृत्ति, शरीर में शिथिलता, मिट्टी खाने की इच्छा, प्रेक्षण (अक्षि) कूट में शोथ, मल और मूत्र में पीलापन तथा भोजन का पाचन न होना ये सब होने वाले पाण्डु के पूर्वरूप हैं ॥ ५ ॥

विमर्शः—वातादि दोष तथा रक्तादिदूष्य के मिश्रण के अनन्तर प्रधान लक्षणों की उत्पत्ति से पूर्व ये लक्षण पाये जाते हैं। वस्तुतः उक्त लक्षणों को विशिष्ट पूर्वरूप कहा जा सकता है, क्योंकि भविष्य में ये ही अधिक बढ़ कर रूप कहलाते हैं। त्वचा का फटना वायु का विकार है, अतः इसे वातिक पाण्डु का विशिष्ट पूर्वरूप कह सकते हैं। त्वचा के फटने का कारण शरीर में स्नेहांश की कमी तथा रूक्षता की वृद्धि का सम्मिलित परिणाम है। इस स्थिति में त्वचा को चिकनी रखने वाले स्नेहवर्ग की अल्पता से त्वचा रूक्ष हो जाती है तथा रूक्षतावश उसमें विदार पड़ जाते हैं। ष्ठीवन—कफज पाण्डु का विशिष्ट पूर्वरूप है, क्योंकि आगे कफप्रसेक को कफज पाण्डु का लक्षण कहा गया है। प्रसेक का होना कफाधिक्य तथा तज्जन्य आमाजीर्ण का निदर्शक है, क्योंकि इसका अजीर्ण के उपद्रवों में परिगणन किया गया है—'मूर्च्छा प्रलापो वमथुः प्रसेकः सदनं भ्रमः' ॥ गात्रसादः—रक्त की अल्पता होने से सभी धातुओं में पोषणाभावजन्य शिथिलता का उत्पन्न हो जाना स्वाभाविक है। मृद्भक्षण—यह मृत्तिकाजन्य पाण्डु का पूर्वरूप है। गर्भवती स्त्री को मिट्टी या दूसरी वस्तुओं के खाने की इच्छा होना पाण्डुरोग के पूर्वरूप का उत्तम उदाहरण है। गर्भवती स्त्रियों में Anaemia के कारण आंखों पर सूजन मिलती है। जो स्त्रियां गर्भावस्था में मिट्टी खाती हैं उनमें पाण्डुरोग प्रायः मिलता है। मिट्टी खाने से पाण्डु अवश्य होता है तथा कोई मिट्टी खाता हो तो उससे भावी पाण्डु की कल्पना की जाती है। पाण्डुरोगी की मृत्तिका-भक्षण की ओर स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है। प्रेक्षणकूटशोथ—यह भी कफज पाण्डु का विशिष्ट पूर्वरूप है। अक्षिगोलक की सूजन आमाजीर्ण की भी निदर्शिका है, क्योंकि वहां भी कहा है 'तत्रामे गुरुतोत्क्लेदः शोथो गण्डाक्षिकूटगः' कफज पाण्डु में शोथ एक विशिष्ट लक्षण है। यह पादगत या सर्वशरीरगत हो सकता है, किन्तु पूर्वरूपावस्था में दोष की शक्ति अल्प रहने से इसकी प्रतीति सर्वप्रथम अक्षिगोलक के पलकों पर ही होती है, क्योंकि वह अपेक्षाकृत पतला और ढीला स्तर है। इस रोग में पित्त की दुष्टि के कारण मल और मूत्र का रङ्ग भी पीतिमायुक्त होता है। यह पीतिमा वातादि-भेद के अनुसार तरतम भेद से विभिन्न प्रकार की होती है। भोजन का पूर्णतः परिपाक न होना तो पाण्डु का मूल ही है, क्योंकि अपक्वरस का शोषण नहीं होता एवं पाचन और शोषण के अभाव से रक्ताल्पता उत्पन्न होती है। चरकाचार्य तथा वाग्भटाचार्य ने इसके पूर्वरूपों में हृदयस्पन्दन को विशेष महत्त्व दिया है—'तस्य लिङ्गं भविष्यतः। हृदयस्पन्दनं रौक्ष्यं स्वेदाभावः श्रमस्तथा ॥' (चरक) 'प्राग्रूपमस्य हृदयस्पन्दनं रूक्षता त्वचि। अरुचिः पीतमूत्रत्वं स्वेदाभावोऽल्पवह्निता ॥' (वाग्भट) वास्तव में रक्ताल्पता में कम रक्त से ही कार्य-निर्वाहार्थ अधिक तीव्रता से कार्य करना है। इस अवस्था में यद्यपि नाडी की गति दुर्बल होती है, फिर भी चलने में तेज होती है।

सकामलापानकिपाण्डुरोगः
कुम्भाह्वयो लाघरकोऽलसाख्यः।
विभाष्यते लक्षणमस्य कृत्स्नं
निबोध वक्ष्याम्यनुपूर्वशस्तत् ॥ ६ ॥

पाण्डुरोगपर्यायाः—इस पाण्डुरोग को कामला, अपानकी, पाण्डुरोग, कुम्भाह्वय, लाघरक या लाघवक, तथा अलसक या अलसाख्य आदि नामों (पर्यायों) से पुकारा जाता है तथा अब आगे इसके सम्पूर्ण लक्षण क्रमशः कहता हूं उसे सुनो ॥ ६ ॥

विमर्शः—हाराणचन्द्र जी ने अपने सुश्रुतार्थसन्दीपन भाष्य में कामलादि शब्दों की अच्छी व्युत्पत्ति लिखी है—कामलेति—कामशब्दोऽयं साधारणशब्दविशेषात् स्वल्पे भक्ताद्यभिलाषे प्रवर्तते, तं लातीति कामला। दुष्टत्वेन कुत्सितोऽपानोऽपानकः, सोऽस्यास्तीति अपानकी। कुम्भकामलाख्योऽपानकिपाण्डुरोगस्तत्र कुम्भाह्वय उच्यते। कालान्तरात् खरीभूता कृच्छ्रा स्यात्कुम्भकामला। स एव पुनर्ज्वरादिभिर्लाघवं करोति, सत्यपि सामर्थ्ये कर्मस्वनुत्साहञ्च जनयतीत्यलसाख्योऽपानकिपाण्डुरोगस्तु लाघवक उच्यते इति। लाघरक इत्यत्र लाघवक इति पाठान्तरम्।

कृष्णेक्षणं कृष्णसिराऽवनद्धं
तद्वर्णविण्मूत्रनखाननञ्च।
वातेन पाण्डुं मनुजं व्यवस्येद्
युक्तं तथाऽन्यैस्तदुपद्रवैश्च ॥ ७ ॥

वातिकपाण्डुरोगलक्षणम्—वातजन्य पाण्डुरोग में रोगी की आंखें काली हो जाती हैं, शरीर पर काली (या नीली) सिराएं उभर आती हैं। इसी प्रकार उसकी विष्ठा, मूत्र, नख और मुख काले वर्ण के हो जाते हैं तथा वात के उपद्रव भी उत्पन्न हो जाते हैं ॥ ७ ॥

विमर्शः—माधवोक्तवातिकपाण्डुरोगलक्षणम्—त्वङ्मूत्रनयनादीनां रूक्षकृष्णारुणाभताः। वातपाण्ड्वामये तोदकम्पानाहभ्रमादयः ॥ चरकोक्तपाण्डुरोगकारणलक्षणे—आहारैरुपचारैश्च वातलैः कुपितोऽनिलः। जनयेत् कृष्णपाण्डुत्वं तथा रूक्षारुणाङ्गताम् ॥ अङ्गमर्दं रुजं तोदं कम्पं पार्श्वशिरोरुजम्। वर्चःशोषास्यवैरस्यशोफानाहबलक्षयान् ॥ (च० चि० अ० १६) वाग्भटोक्तपाण्डुरोगलक्षणम्—"अनिलात्तत्र गात्ररुक् तोदकम्पनम्। कृष्णरूक्षारुणसिरानखविण्मूत्रनेत्रता ॥ शोफानाहास्यवैरस्यविट्शोषाः पार्श्वमूर्धरुक् ॥ (वा० नि० अ० १३)

पीतेक्षणं पीतसिराऽवनद्धं
तद्वर्णविण्मूत्रनखाननञ्च।
पित्तेन पाण्डुं मनुजं व्यवस्येद्
युक्तं तथाऽन्यैस्तदुपद्रवैश्च ॥ ८ ॥

पैत्तिकपाण्डुरोगलक्षणम्—पित्तजन्य पाण्डुरोग से आक्रान्त रोगी के नेत्र पीले हो जाते हैं, शरीर पर पीली-पीली सिराएँ निकल आती हैं तथा उसका मल, मूत्र, नख और मुख पीले वर्ण के हो जाते हैं एवं पित्तजन्य उपद्रव जैसे दाह, तृष्णा तथा अन्य उपद्रव भी उत्पन्न हो जाते हैं ॥ ८ ॥

विमर्शः—नेत्रों के अतिरिक्त पीतिमा का दर्शन—जिह्वा निम्नगा कला भी पीली पड़ जाती है तथा इस दशा में मल और मूत्र के द्वारा भी पित्त का विशेष उत्सर्ग होता है। पित्त की अत्यधिक दुष्टि के कारण रक्त के समग्र अवयवों का विनाश प्रचुर प्रमाण में होता है। अत एव त्वचागत रस के विनाश से वहाँ के नाड्यग्रों में विकृति (Peripheral neuritis) तथा तज्जन्य दाह की अनुभूति रोगी को होती है। इस अवस्था में रक्त रस का विनाश भी अधिक मात्रा में हो जाता है। अतः समानजातीय जल की आवश्यकता का निर्देश करने के लिये प्राकृतिक नियमानुसार तृष्णा की उत्पत्ति अधिक होती है तथा दाह और ज्वरादि पैत्तिक लक्षण भी प्रकट होते हैं। यद्यपि सभी पाण्डु पित्तज ही होते हैं, अतः पित्तज पाण्डु की पृथक् गणना करना अनुपयुक्त है। तथापि दूसरे दोषों के सम्पर्क से रहित स्वहेतु से प्रकुपित केवल पित्त की विशेषता से उत्पन्न पाण्डु के लिये पित्तज-पाण्डु शब्द का प्रयोग अव्यावहारिक नहीं है। चरक तथा वाग्भट ने पित्तज पाण्डु रोग में अम्लपित्त (Hyper acid.ty) के समान लक्षणों का भी निर्देश किया है—पित्तलस्याचितं पित्तं यथोक्तैः स्वैः प्रकोपणैः। दूषयित्वा तु रक्तादीन् पाण्डुरोगाय कल्पते ॥ स पीतो हरिताभो वा ज्वरदाहसमन्वितः। तृष्णामूर्च्छापिपासार्तः पीतमूत्रशकृन्नरः ॥ स्वेदनः शीतकामश्च न चान्नमभिनन्दति। कटुकास्यो न चास्योष्णमुपशेतेऽम्लमेव च ॥ उद्गारोऽम्लो विदाहश्च विदग्धेऽन्नेऽस्य जायते। दौर्गन्ध्यं भिन्नवर्चस्त्वं दौर्बल्यं तम एव च ॥ (च० चि० अ० १६)

शुक्लेक्षणं शुक्लसिराऽवनद्धं
तद्वर्णविण्मूत्रनखाननञ्च ।
कफेन पाण्डुं मनुजं व्यवस्येद्
युक्तं तथाऽन्यैस्तदुपद्रवैश्च ॥ ९ ॥

श्लैष्मिकपाण्डुरोगलक्षणम्—कफजन्य पाण्डुरोग से ग्रस्त रोगी के नेत्र श्वेत हो जाते हैं, सारे शरीर पर श्वेत सिराएँ निकल आती हैं तथा उसका मल, मूत्र, नख और मुख श्वेत हो जाते हैं एवं कफजन्य उपद्रव जैसे तन्द्रा, आलस्य आदि और अन्य उपद्रव भी उत्पन्न हो जाते हैं ॥ ९ ॥

विमर्शः—माधवोक्तकफजपाण्डुलक्षण—कफप्रसेकश्वयथुतन्द्रालस्यातिगौरवैः। पाण्डुरोगी कफाच्छुक्लैस्त्वङ्मूत्रनयनाननैः। कफज पाण्डु में यद्यपि त्वचा का वर्ण पीत ही रहता है, किन्तु कफ के द्वारा पित्त के गुणों की पराभूतता हो जाने के कारण पित्तजपाण्डु की अपेक्षा पीलापन कम और श्वेतता अधिक रहती है। शरीर में शोथ होना कफजपाण्डु का विशिष्ट लक्षण है। चरक ने भी शोथ लक्षण लिखा है, किन्तु वाग्भट ने यह लक्षण नहीं लिखा है। हृदय की दुर्बलता तथा रक्त में जीवद्रव्यों की अल्पता होने से शोथ की उत्पत्ति होती है। यह शोथ अनुत्वचिक धातु (Subcutanious tissue) में रक्तनिर्गत लसीका या रक्तरस (Plasma) या जलीयांश के एकत्रित हो जाने से होता है। ऐसे शोफ को Oedema कहते हैं। यह शोफ अधःस्थित अङ्गों तथा नेत्र और मुख आदि की ढीली धातुओं में होता है। इसका प्रत्यक्ष अनुभव अङ्गुलि से उस अवयव को दबाने से वहाँ गर्त उत्पन्न होने से होता है। केशिकाओं के अन्तःस्तर (Capiliary endoth. elium) का विनाश भी शोफोत्पत्ति का कारण है, क्योंकि इस अन्तःस्तर के टूटने से वहाँ द्रव एकत्रित होकर शोफ हो जाता है। इसके अतिरिक्त सिरागत रक्तदबाव की वृद्धि, रक्तरस में Protiens की कमी तथा Osmotic pressure की गड़बड़ी ये भी कारण होते हैं। इनके अतिरिक्त केशिकाओं की प्रवृद्ध प्रवेश्यता (Increased permiability) तथा हृदय का विस्फार भी शोफ का कारण है। हृदय के दक्षिण भाग का विस्फार होने से सिरागत अवरोध होकर शोथ उत्पन्न होता है। ऐसा शोथ घातक पाण्डुरोग (Pernicious anaemia) तथा अङ्कुशमुखकृमि (Hook worm) के उपसर्ग में पाया जाता है। चरकोक्तश्लैष्मिकपाण्डुरोगकारणलक्षणे—विवृद्धः श्लेष्मलैः श्लेष्मा पाण्डुरोगं स पूर्ववत्। करोति गौरवं तन्द्रां छर्दिं श्वेतावभासताम् ॥ प्रसेकं लोमहर्षञ्च सादं मूर्च्छां भ्रमं क्लमम्। श्वासं कासं तथाऽऽलस्यमरुचिं वाक्स्वरग्रहम् ॥ शुक्लमूत्राक्षिवर्चस्त्वं कटुरूक्षोष्णकामताम्। श्वयथुं मधुरास्यत्वमिति पाण्ड्वामयः कफात् ॥

सर्वात्मके सर्वमिदं व्यवस्येद्।
वक्ष्यामि लिङ्गान्यथ कामलायाः ॥ १० ॥

सान्निपातिकपाण्डुरोगलक्षणम्—सर्व दोषों से उत्पन्न पाण्डुरोग में उपर्युक्त वातादि पृथक्-पृथक् दोषों के सर्वलक्षण मिलते हैं। अब इसके अनन्तर कामला के लक्षण कहता हूँ ॥

विमर्शः—माधवोक्तत्रिदोषजपाण्डुलक्षणम्—ज्वरारोचकहृल्लासच्छर्दितृष्णाक्लमान्वितः। पाण्डुरोगी त्रिभिर्दोषैस्त्याज्यः क्षीणो हतेन्द्रियः ॥ वास्तव में ये माधवोक्त ज्वरारोचकादि लक्षण त्रिदोषज पाण्डु के लक्षण न होकर पाण्डु के उपद्रव या असाध्य लक्षण हैं, क्योंकि स्वहेतुओं से प्रकुपित वात आदि तीनों दोषों के सम्मिलित लक्षण ही त्रिदोषज पाण्डु के लक्षण होते हैं। अत एव माधवकार तथा सुश्रुताचार्य ने कह दिया कि त्रिदोषों के मिलित लक्षण ही सान्निपातिक पाण्डु के लक्षण हैं। चरकाचार्य ने भी यही भाव प्रदर्शित किया है—सर्वान्नसेविनः सर्वे दुष्टा दोषास्त्रिदोषजम्। त्रिलिङ्गं सम्प्रकुर्वन्ति पाण्डुरोगं सुदुःसहम् ॥ चरकमतेन मृद्भक्षणपाण्डुरोगसम्प्राप्तिलक्षणादिकम्—मृत्तिकादनशीलस्य कुप्यत्यन्यतमो मलः। कषाया मारुतं पित्तमूषरा मधुरा कफम् ॥ कोपयेन्मृद्रसादींश्च रौक्ष्याद् भुक्तञ्च रूक्षयेत्। पूरयत्यविपक्वैव स्रोतांसि निरुणद्ध्यपि ॥ इन्द्रियाणां बलं हत्वा तेजो वीर्यौजसी तथा। पाण्डुरोगं करोत्याशु बलवर्णाग्निनाशनम् ॥ शूनगण्डाक्षिकूटभ्रूः शूनपान्नाभिमेहनः। क्रिमिकोष्ठोऽतिसार्येत मलं सासृक्कफान्वितम् ॥' (च० चि० अ० १६) यद्यपि मृत्तिका भी दोषप्रकोपणपूर्वक ही पाण्डु रोग पैदा करती है, अतः मृत्तिकाजन्य पाण्डुरोग दोषज ही होता है। फिर भी इसमें दोषानुसार चिकित्सा करने से लाभ नहीं होता है, क्योंकि स्वयं मिट्टी का पाचन तो होता नहीं और यह दूसरे भुक्त पदार्थों का भी पाचन और शोषण नहीं होने देती है। जिससे रस का निर्माण तथा तदाश्रित धातुओं का पोषण भी नहीं होता है एवं धातुपोषणाभाव से

इन्द्रियशक्ति, शरीरशक्ति तथा ओज का भी क्रमशः ह्रास हो जाता है।

योह्यामयान्ते सहसाऽन्नमम्ल-
मद्यादपथ्यानि च तस्य पित्तम्।
करोति पाण्डुं वदनं विशेषात्
पूर्वेरितौ तन्द्रिबलक्षयौ च॥ ११॥

कामलालक्षणम्—जो व्यक्ति पाण्डुरोग के समाप्त होने पर या किसी अन्य रोग के समाप्त होने पर सहसा खट्टे पदार्थ जैसे दही, छाछ, इमली आदि से बने खाद्य पेय सेवन करता है अथवा अन्य अपथ्य पदार्थों का सेवन करता है उसका पित्त प्रकुपित होकर शरीर पाण्डुवर्ण का कर देता है तथा पूर्वोक्त तन्द्रा एवं बलक्षय लक्षणों को उत्पन्न कर देता है॥

विमर्शः—यहां पर प्रश्न यह होता है कि सुश्रुताचार्य ने पाण्डुरोग चार ही प्रकार के माने हैं तथा इसी अध्याय के श्लोक नं ६ 'स कामलापानकिपाण्डुरोगः' से कामला आदि को पाण्डु के ही पर्यायवाचक शब्द माने हैं। फिर यहां कामला के लक्षण क्यों लिखे हैं? इसका उत्तर डल्हणाचार्य लिखते हैं कि प्रश्न सत्य है, किन्तु जिस तरह पित्त या रक्त दुष्टि के कारण पाण्डु रोग एक ही है, फिर भी उसके वातजादि भेद किये हैं और उनके लक्षण लिखे हैं इसी तरह पाण्डु रोग के पर्याय भूत कामलादिकों में विशिष्ट अवस्था होने से उनका वैशिष्ट्य है ही एवं इन्हें पाण्डु के पर्याय इसलिये माना है कि इनमें पाण्डुरोगत्व विद्यमान है। चरकाचार्य ने पाण्डुरोग में अन्य पित्तजनक पदार्थों के सेवन करने से उत्पन्न अवस्थाविशेष को कामला माना है—पाण्डुरोगी तु योऽत्यर्थं पित्तलानि निषेवते। तस्य पित्तमसृङ्मांसं दग्ध्वा रोगाय कल्पते॥ हारिद्रनेत्रः स भृशं हारिद्रत्वङ्नखाननः। रक्तपीतशकृन्मूत्रो भेकवर्णो हतेन्द्रियः। दाहाविपाकदौर्बल्यसदनारुचिकर्षितः। कामला बहुपित्तैषा कोष्ठशाखाश्रया मता॥ (च. चि. अ. १६) हारीत ने भी कामला तथा हलीमक को पाण्डु का ही एक रूप मान कर पाण्डु को आठ प्रकार का माना है—वातेन पित्तेन कफेन चैव त्रिदोषमृल्लक्षणसम्भवे च। द्वे कामले, चैव हलीमकश्च स्मृतोऽष्टधैवं खलु पाण्डुरोगः॥ सुश्रुताचार्य कामला को पाण्डु के अतिरिक्त अन्य रोगों का भी उपद्रव मानते हैं जैसा कि उन्होंने 'यो ह्यामयान्ते' इस श्लोक में कहा है। डल्हणाचार्य ने भी इस श्लोक की व्याख्या में 'आमयान्ते' का अर्थ 'पाण्डुरोगान्ते' और 'अन्यरोगान्ते' ऐसा लिखा है अर्थात् पाण्डुरोग के अन्त में तथा पाण्डु के बिना भी अन्य रोगों के अन्त में कामला होती है। वाग्भटाचार्य ने तो स्पष्ट ही लिख दिया है कि पाण्डुरोग के अन्दर कामला होती है तथा स्वतन्त्र रूप से भी उत्पन्न होती है—'भवेत् पित्तोल्बणस्यासौ पाण्डुरोगादृतेऽपि च' जिस तरह प्रमेहपिडिका प्रमेह के उपद्रव स्वरूप तथा स्वतन्त्र रूप से भी उत्पन्न होती हैं—'विना प्रमेहमप्येता जायन्ते दुष्टमेदसः'। कुछ लोगों का मत है कि कोष्ठ तथा शाखा में आश्रय प्राप्त कर होने वाली तथा अधिक पित्त प्रकोप वाली कामला पाण्डुरोगपूर्विका होती है एवं जो केवल शाखाओं का आश्रय करके होती है तथा जिसमें पित्त अधिक प्रकुपित नहीं रहता वह स्वतन्त्र कामला होती है। कामला शुद्ध पैत्तिक रोग है। अत एव इसमें पित्तविरुद्ध चिकित्सा का उपक्रम किया जाता है। यह दो प्रकार की होती है—(१) कोष्ठाश्रित, (२) शाखाश्रित। कोष्ठ शब्द से प्रायः महास्रोत का ग्रहण होता है—स्थानान्यामाग्निपक्वानां मूत्रस्य रुधिरस्य च। हृदुण्डुकः फुप्फुसौ च कोष्ठ इत्यभिधीयते॥ शाखा शब्द से रक्तादि धातु तथा त्वचा का ग्रहण होता है—'शाखा रक्तादयो धातवस्त्वक् च' (चरक) किसी भी कारण से रक्त में पित्तरञ्जक द्रव्यों (Bilepigments) की उपस्थिति होने से कामला की उत्पत्ति होती है। इसके कारण सर्वप्रथम नेत्रकला तथा त्वचा में पीलापन दृष्टिगोचर होता है। शाखा से विशेषतः रस-रक्त तथा त्वचा का ही ग्रहण करना चाहिए, क्योंकि कामला की अनुभूति इन्हीं के द्वारा होती है। पित्तवर्धक पदार्थों के सेवन से प्रवृद्ध पित्त अपने प्राकृतिक आशय (पित्ताशय = G. bladder) में न आकर शाखा (रसरक्तादि) गत हो जाता है। एवं कफ से आवृत होने के कारण वह पुनः कोष्ठ में नहीं आता। इस प्रकार शाखाश्रित कामला में पित्त कफ से आवृत रहता है। इसके पाचन तथा निर्हरण के लिये पुरीष में पित्त का रङ्ग आने पर्यन्त कटु, तीक्ष्ण, उष्ण, लवण और अम्ल पदार्थों का सेवन करने के लिये चरक ने उपदेश किया है—आपित्तरागाच्छकृतो वायोश्चाप्रशमात्। कामला की चिकित्सा में इसको कोष्ठ में लाने के लिये मृदु तिक्त एवं विरेचन पदार्थों का सेवन बताया है—बर्हितित्तिरदक्षाणां रूक्षाम्लैः कटुकै रसैः। शुष्कमूलककौलत्थैर्यूषैश्चान्नानि भोजयेत्॥ मातुलुङ्गरसं क्षौद्रपिप्पलीमरिचान्वितम्। सनागरं पिबेत् पित्तं तथाऽस्येति स्वमाशयम्॥ इससे प्रवृद्ध शाखाश्रित पित्त अपने प्राकृत आशय में आ जाता है, क्योंकि चरक ने भी कहा है—वृद्ध्या विष्यन्दनात् पाकात् स्रोतोमुखविशोधनात्। शाखां मुक्त्वा मलाः कोष्ठं यान्ति वायोश्च निग्रहात्॥ कभी-कभी पित्त के कोष्ठ और शाखा दोनों में रहने से उभयाश्रित कामला भी होती है। इसके लिये कुछ आचार्यों का मत है कि पाण्डुरोग के पश्चात् ही यह होती है। केवल शाखाश्रित कामला स्वतन्त्र भी हो सकती है। शास्त्रों में अर्वाचीन कारण की दृष्टि से कामला के तीन भेद किये जाते हैं—(१) शोणांशनजन्य कामला (Haemolytic)—यह रक्तकणों के अत्यधिक विनाश के कारण होती है। अपित्तमेहिककामला (Acholuric jaundice) में रक्तकण अत्यन्त भिदुर (Fragile) होते हैं। इनके टूटने से मुक्तशोण वर्तुलि (Haemoglobine) से पित्तरक्त (Bilirubin) भी अधिक मात्रा में बनती है। रक्तप्रवाह में इसकी उपस्थिति से जो कामला होती है उसे शोणांशनजन्य (Haemolytic) कामला कहते हैं। इसके अतिरिक्त मलेरिया, कालमेहज्वर (Black water-fever) के जीवाणु विष के कारण लाल कणों के नाश से उत्पन्न कामला को भी शोणांशनजन्य कामला कहा जाता है। लाल कणों के विनाश से पाण्डु तथा अपथ्य सेवन से और अधिक विनाश होने से कामला की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार यह कामला स्वतन्त्र न होकर प्रवृद्ध पाण्डु की एक अवस्था विशेष भी कही जा सकती है। (२) यकृतीय कामला (Hepatic Jaundice)—यह कामला यकृत् के रोगों के कारण होती है। यकृत् की रुग्ण कोशाएँ पित्तरञ्जक पदार्थ को पित्तवाहिनी की सूक्ष्मनलिकाओं में नहीं पहुँचा

पाती। परिणामस्वरूप वह पित्त यकृतीय सिरा (Hepatic vein) के द्वारा रक्तप्रवाह में पहुँच कर कामला को उत्पन्न करता है। कुछ विशिष्ट विषों के कारण ही यकृत् की कोशाओं को हानि पहुँचती है। अतः इसे कोई विषमयता जन्य (Toxic) या औपसर्गिक (Infective) कामला भी कहते हैं। इस कामला में पहले से पाण्डु का सम्बन्ध नहीं रहता है। अतः 'भवेत् पित्तोल्बणस्यासौ पाण्डुरोगादृतेऽपि च' वाग्भट के इस वाक्य के अनुसार इसे स्वतन्त्र कामला भी कह सकते हैं। (३) अवरोधजन्य कामला (Obstructive jundice)—साधारणतया यकृतीय कोशाओं के द्वारा निर्मित पित्त का पित्त नलिका के द्वारा आन्त्र (ग्रहणी = Deodinum) में उत्सर्ग होता है। किसी कारण से पित्तनलिका में अवरोध उत्पन्न हो जाने पर पित्त यकृत् में ही सञ्चित होने लगता है। एवं अन्ततो गत्वा यकृतीय रक्तवाहिनियों द्वारा पुनः शोषित होकर रक्त में चला जाता है, जिससे आँखों की पतली झिल्ली, त्वचा, नाखून आदि में इसका प्रत्यक्ष अनुभव होने लगता है। यह अवरोध कई प्रकार से हो सकता है। (१) पित्ताश्मरी (Gall-stone) तथा (२) गण्डूपदकृमि (Round worm) के गुच्छ पित्तनलिका के मार्ग को बन्द कर देते हैं। (३) पित्तनलिका के शोथ में भी मार्ग बन्द हो जाता है। इसके अतिरिक्त पित्तनलिका में कदाचित् (४) जन्मजात विकृति पाई जाती है। (५) शल्यक्रिया के कारण इसमें संकोच (Stricture) होने से भी नलिकावरोध हो सकता है। किसी (६) अर्बुद से दबाव पड़ने पर भी पित्तनलिका में अवरोध उत्पन्न हो सकता है। उपर्युक्त तीनों प्रकार के कामलाओं का विकीर्णरूप से वर्णन आयुर्वेद में भी समन्वय की दृष्टि से मिल जाता है, जैसे 'पाण्डुरोगी तु योऽत्यर्थं' से लेकर 'कामला बहुपित्तैषा कोष्ठशाखाश्रया मता' तक के पाठ से वर्णित कामला रक्तनाशकजन्य (Haemolytie) कामला अथवा पाण्डुरोग के उपद्रवरूप में उत्पन्न कामला कही जा सकती है। यह बात 'पाण्डुरोगी तु योऽत्यर्थम्' आदि सम्प्राप्ति से स्पष्ट है। आगे यह भी स्पष्ट किया है कि यह कामला कोष्ठ और शाखा दोनों ही में आश्रित होती है। 'कामला बहुपित्तैषा कोष्ठशाखाश्रया मता'। इससे यह भी प्रगट होता है कि इसके अतिरिक्त दूसरी भी कामला केवल शाखाश्रित या केवल कोष्ठाश्रित होती है। केवल शाखाश्रित का वर्णन जिसका साम्य अर्वाचीन अवरोधजन्य कामला से सुस्पष्ट होता है, क्योंकि चरकाचार्य ने श्लेष्मा के द्वारा निरुद्धमार्ग होने से उत्पन्न कामला का होना लिखा है—तिलपिष्टनिभं यस्तु वर्चः सृजति कामली। श्लेष्मणा रुद्धमार्गं तं कफपित्तहरैर्जयेत्॥ इस कामला में पित्त के कोष्ठ में उत्सर्ग न होने से तथा वसा का ठीक तरह से पाचन न होने से मल का रङ्ग मिट्टी (Clay) जैसा होता है। तीसरे प्रकार की विषजन्य (Toxic) कामला का भी उल्लेख स्वतन्त्र पित्तवृद्धिजन्य कामला के रूप में 'भवेत् पित्तोल्बणस्यासौ पाण्डुरोगादृतेऽपि च' मिलता ही है। कामला की अभिव्यक्ति सर्वप्रथम आँखों की कला में होती है और इसके पश्चात् मुख, गर्दन, शाखाओं तथा सर्वशरीर में। इस रोग में नासा तथा मसूढ़ों से रक्तस्राव की प्रवृत्ति भी पाई जाती है। अत एव इसमें जीवद्रव्य के (K) का प्रयोग कराया जाता है। कामला या पाण्डुनाशक आयुर्वेदिक औषधियों में आँवलों का प्रयोग जीव द्रव्य सी० की पूर्ति के लिये समझना चाहिए, क्योंकि आमलक रक्तस्राव को रोकता है। कामलाया असाध्यलक्षणम्—कृष्णपीतशकृन्मूत्रो भृशं शूनश्च मानवः। सरक्ताक्षिमुखच्छर्दिविण्मूत्रो यश्च ताम्यति॥ दाहारुचि-तृडानाहतन्द्रामोहसमन्वितः। नष्टाग्निसंज्ञः क्षिप्रं हि कामलावान् विपद्यते। (च. चि. अ. १६)

> भेदस्तु तस्याः खलु कुम्भसाह्वः
> शोफो महांस्तत्र च पर्वभेदः ॥ १२ ॥

कामलाभेदकुम्भसाह्वलक्षणम्—इस कामला का भेद कुम्भसाह्व रोग होता है, जिसमें शरीर पर महान् शोथ और सन्धियों में पीड़ा होती है ॥ १२ ॥

विमर्शः—चरकाचार्य ने कामला की उचित चिकित्सा न होने पर उसी के अवस्थाविशेष को कुम्भकामला कहा है—कामला बहुपित्तैषा कोष्ठशाखाश्रया मता। कालान्तरात्खरीभूता कृच्छ्रा स्यात्कुम्भकामला॥ (च० चि० अ०) कुम्भः कोष्ठः, अन्तः-शुषिरसाधर्म्यात् तद्गता कामला कुम्भकामला, कोष्ठाश्रयेत्यर्थः। अर्थात् कामला पित्त के कोष्ठ और शाखा उभयाश्रित होने से होती है, किन्तु कुम्भकामला पित्त के कोष्ठाश्रित होने से होती है, यह अर्थ इस कुम्भकामला शब्द की व्युत्पत्ति से ही स्पष्ट हो जाता है। वाग्भटाचार्य ने सुश्रुत के समान ही कामला की उपेक्षा करने से अत्यधिक शोफयुक्त कुम्भकामला का होना माना है तथा इसे कृच्छ्रसाध्य मानी है 'उपेक्षया च शोफाढ्या सा कृच्छ्रा कुम्भकामला' माधवकार ने वमन, अरुचि, हृल्लास, ज्वरादि से पीडित कुम्भकामली को असाध्य माना है—छर्द्यरोचकहृल्लासज्वरक्लमनिपीडितः। नश्यति श्वासकासार्तो विड्भेदी कुम्भकामली॥ कुम्भकामला के ये आयुर्वेदोक्त असाध्य लक्षण रक्त में पित्त की अत्यधिक मात्रा हो जाने पर उत्पन्न होते हैं, ऐसा आधुनिकों का मत है तथा इसे पित्तमयता (Cholaemia) कहते हैं।

> ज्वराङ्गमर्दभ्रमसादतन्द्रा
> क्षयान्वितो लाघरकोऽलसाख्यः ॥ १३ ॥

लाघरकालसकलक्षणानि—जब इसी कुम्भकामला से ग्रस्त रोगी की उचित चिकित्सा न होने से ज्वर अङ्गमर्द, भ्रम, अङ्गों का टूटना (साद) तन्द्रा और शारीरिक बल तथा माँसादि धातुओं का क्षय होने लगता है तब उस अवस्था को लाघरक या लाघवक अलस कहते हैं ॥ १३ ॥

विमर्शः—इस कुंभकामला की ज्वरादियुक्त अवस्था को लाघरक और अलसक इन दोनों नामों से कहा जाता है। कुछ आचार्यों का कथन है कि पाण्डुरोग ही ज्वरादि अवस्था विशेष युक्त होने पर कुम्भसाह्व कहा जाता है तथा इसी कुंभसाह्व की अवस्था को तन्त्रान्तर में पानकी (पालकी) कहा गया है—सन्तापो भिन्नवर्चस्त्वं बहिरन्तश्च पीतता। पाण्डुता नेत्ररोगश्च पानकीलक्षणं वदेत्॥ अन्यत्र—अन्ते शूनः कृशो-मध्येऽन्यथा गुदशेफसि। शूनो ज्वरातिसारार्तो मृतकल्पस्तु पालकी॥ कुछ विद्वान् लाघवक या पालकी रोग से 'कालाजार' का भी ग्रहण करते हैं, क्योंकि उसमें ज्वर के साथ साथ पाण्डुता भी रहती है।

तं वातपित्ताद्धरिपीतनीलं
हलीमकं नाम वदन्ति तज्ज्ञाः ॥ १४ ॥

हलीमकलक्षणम्—जब कुम्भसाह्व का रोगी मिथ्या आहार विहार से प्रकुपित वात और पित्त के कारण हरे, पीले और नीले शरीराङ्ग (नेत्र नख त्वचादि) वाला हो जाता है तब उस पाण्डुरोग को तज्ज्ञ विद्वान् हलीमक कहते हैं ॥ १४ ॥

विमर्शः—हरि = हरितं, नीलं = श्यावम् । माधवोक्तहलीमकवर्णनम्—यदा तु पाण्डोर्वर्णः स्याद्धरितः श्यावपीतकः । बलोत्साहक्षयस्तन्द्रा मन्दाग्नित्वं मृदुज्वरः ॥ स्त्रीष्वहर्षोऽङ्गमर्दश्च दाहस्तृष्णाऽरुचिर्भ्रमः । हलीमकं तदा तस्य विद्यादनिलपित्ततः ॥ आधुनिक दृष्टि से हलीमक को अवरोधजन्य पुराण कामला (Chronic obstructive Jaundice) कह सकते हैं, क्योंकि इस अवस्था में भी रोगी का वर्ण गहरा हरा या श्यावपीत हो जाता है। कई विद्वानों ने इसे (Chlorosis) नामक रक्त का रोग भी माना है। इसी प्रकार रक्त के अन्य रोगों जैसे ल्यूकिमिया आदि का भी समावेश विभिन्न दोषानुसार पाण्डु के भेदों में ही किया जा सकता है। वाग्भटाचार्य ने हलीमक रोग का वर्णन 'लोढर' नाम से किया है—हरितश्यावपीतत्वं पाण्डुरोगे यदा भवेत् । वातपित्ताद् भ्रमस्तृष्णा स्त्रीष्वहर्षो मृदुज्वरः ॥ तन्द्रा-बलानलभ्रंशो लोढरं तं हलीमकम् । अलसञ्चेति शंसन्ति ॥ तन्द्रालक्षणम्—इन्द्रियार्थेष्वसंवित्तिर्गौरवं जृम्भणं क्लमः । निद्रार्तस्येव यस्येहा तस्य तन्द्रां विनिर्दिशेत् ॥

उपद्रवास्तेष्वरुचिः पिपासा
छर्दिर्ज्वरो मूर्द्धरुजाऽग्निसादः ।
शोफस्तथा कण्ठगतोऽबलत्वं
मूर्च्छा क्लमो हृदयपीडनञ्च ॥ १५ ॥

पाण्डुरोगोपद्रवाः—पाण्डुरोग में उत्पन्न होने वाले उपद्रवों में अरुचि, पिपासा, वमन, ज्वर, मस्तिष्क में पीड़ा, अग्निमांद्य, शोफ, गले में निर्बलता, अथवा गले में शोफ तथा सार्वदैहिक निर्बलता, मूर्च्छा, क्लम और हृदयप्रदेश में पीड़ा ये प्रधान हैं॥

विमर्शः—क्लमलक्षणम्—योऽनायासः श्रमो देहे प्रवृद्धः श्वासवर्जितः । क्लमः स इति विज्ञेय इन्द्रियार्थप्रबाधकः ॥ पाण्डु रोग के उपद्रव—श्वास, अतिसार, अरुचि, कास, मूर्च्छा, तृट्, छर्दि, शूल, ज्वर, शोफ, दाह, अग्निमान्द्य, स्वरभेद आदि इस अध्याय के अन्त में लिखे हैं।

साध्यन्तु पाण्ड्वामयिनं समीक्ष्य
स्निग्धं घृतेनोर्ध्वमधश्च शुद्धम् ।
सम्पादयेत् क्षौद्रघृतप्रगाढै-
र्हरीतकीचूर्णयुतैः प्रयोगैः ॥ १६ ॥
पिबेद् घृतं वा रजनीविपक्वं
यत् त्रैफलं तैल्वकमेव वाऽपि ।
विरेचनद्रव्यकृतं पिबेद्वा
योगांश्च वैरेचनिकान् घृतेन ॥ १७ ॥

पाण्डुरोगचिकित्सा—'अन्तेषु शूनं परिहीनमध्यम्' इस रूप से अध्याय के अन्त में कहे हुये पाण्डुरोग के असाध्य लक्षणों से विपरीत लक्षणवाले पाण्डुरोगी को साध्य समझ कर सर्वप्रथम कटूवरघृत, कल्याणकघृत, दाधिकघृत, महातिक्तघृत और पञ्चतिक्तघृत इनमें से किसी एक से स्निग्ध कर पश्चात् वमन कराके ऊर्ध्व तथा विरेचन देकर अधः संशोधन करना चाहिए। पश्चात् शेष दोषनाशार्थ हरीतकी का चूर्ण ३ माशे को ½ तोले शहद तथा १ तोले घृत के साथ मिश्रित कर चटाना चाहिए। अथवा हरिद्रा के कल्क से सिद्ध किये हुये घृत को पिलाना चाहिए, किंवा त्रिफला के कल्क और कषाय से सिद्ध किये हुये घृत को पिलावे, अथवा तिल्वक (पट्टिकारोध्र) से सिद्ध किये हुये घृत को पिलाना चाहिए। अथवा त्रिवृतादिविरेचक औषधियों के कल्क और क्वाथ से सिद्ध किये हुये घृत का पान कराना चाहिए, अथवा अनेक प्रकार के विरेचनिक योगों को घृत के अनुपान के साथ सेवन कराना चाहिए ॥ १६–१७ ॥

विमर्शः—चरकोक्त चिकित्साक्रम—साध्यानामितरेषान्तु प्रवक्ष्यामि चिकित्सितम् । तत्र पाण्ड्वामयी स्निग्धस्तीक्ष्णैरूर्ध्वानुलोमिकैः ॥ संशोध्यो मृदुभिस्तिक्तैः कामली तु विरेचनैः । ताभ्यां संशुद्धकोष्ठाभ्यां पथ्यान्यन्नानि दापयेत् ॥ शालीन् सयवगोधूमान् पुराणान् यूषसंहितान् । मुद्गाढकीमसूरैश्च जाङ्गलैश्च रसैर्हितैः ॥ यथादोषं विशिष्टञ्च तयोर्भैषज्यमाचरेत् । पञ्चगव्यं महातिक्तं कल्याणकमथापि वा ॥ स्नेहनार्थं घृतं दद्यात् कामलापाण्डुरोगिणे ॥ स्नेहैरेभिरुपक्रम्य स्निग्धं मत्वा विरेचयेत् । पयसा मूत्रयुक्तेन बहुशः केवलेन वा ॥ (च० चि० अ० १६) पाण्डुरोग में पित्त की भूयिष्ठता होने से तथा रक्त की दुष्टि होने से घृत के द्वारा ही स्नेहनकर्म करना चाहिए। क्योंकि तैल पित्त का प्रकोपक तथा रक्त का दूषक होने से वर्जित है। पाण्डुरोग में स्वेदनकर्म निषिद्ध है—पाण्डुर्मेही रक्तपित्ती तृषार्तः क्षतक्षीणो दुर्बलोऽजीर्णभुक्तः । दकोदरी गर्भिणी पीतमद्यो नैते स्वेद्या यश्च मर्त्योऽतिसारी ॥ ऊर्ध्वशुद्धिः—यद्यपि पाण्डुरोग में वमन निषिद्ध है—न वामयेत् तैमिरिकं न गुल्मिनं न चापि पाण्डूदररोगपीडितम् ॥ तथापि इस श्लोक में पीडित शब्द प्रयुक्त होने से प्रवृद्ध पाण्ड्वावस्था ही में निषेध मानना चाहिए। साधारण पाण्डु में काल, देश, प्रकृति और दोष का विचार करके तथा कफ का अधिक प्रकोप होने पर वमन का प्रयोग करना प्रशस्त माना गया है—कालदुंदोषप्रकृतिं शरीरं समीक्ष्य दद्याद्वमनं विधिज्ञः । वान्तस्य तीक्ष्णान्यनुलोमनानि कल्पोपदिष्टानि भिषग्विदध्यात् ॥ सुश्रुताचार्य का भी मत है कि अवाम्य रोगी भी यदि अजीर्ण, विष और दुष्टकफ से पीड़ित हो तो वमन करा ही देना चाहिए—अवाम्या अपि ये प्रोक्तास्तेऽप्यजीर्णव्यथातुराः । विषार्ताश्चोल्बणकफा वामनीयाः प्रयत्नतः ॥ वमनादिक देने के पश्चात् वक्ष्यमाण शालिप्रभृति पदार्थों से संसर्जनक्रम करने के पश्चात् शेष दोषों के संशमनार्थ विविध प्रकार के पाण्डुरोगनाशक घृत, चूर्ण, अवलेह, नवायस, लौह मण्डूर, वटक आदि का प्रयोग करना चाहिए। पाण्डुरोग में हेतु विपरीत चिकित्सा करना भी श्रेष्ठ है। जैसे वातज पाण्डु में स्निग्ध, पैत्तिक पाण्डु में तिक्त और शीत औषधियाँ और श्लैष्मिक पाण्डुरोग में कटु, रूक्ष और उष्ण औषधियाँ तथा मिश्र दोषों में मिश्रित चिकित्सा करनी चाहिए—विधिः स्निग्धस्तु वातोत्थे तिक्तशीतस्तु पैत्तिके । श्लैष्मिके कटुरूक्षोष्णः कार्यो मिश्रस्तु मिश्रके ॥ असंस्कृत अथवा केवल घृत पित्त रोगों में तथा आमावस्था में निषिद्ध है, अतः

संस्कृत करके ही देना चाहिए—न सर्पिः केवले पित्ते पेयं सामे विशेषतः। सर्वं ह्यनुरजेद्देहं हत्वा संज्ञाञ्च मारयेत्॥ (चरक) घृत को ऐसे तो त्रिदोषशामक माना है, किन्तु यह विशेषतया वात और पित्त को शमन करता है। विरेचन पित्तशमन की प्रधान क्रिया है। अतएव शोधक तथा विरेचक औषधियों से सिद्ध घृत का प्रयोग पाण्डुरोग में उत्तम है।

मूत्रे निकुम्भार्द्धपलं विपाच्य
पिबेद्भीोदणं कुडवार्द्धमात्रम्।
खादेद् गुडं वाऽप्यभयाविपक्वं
मारग्वधादिकथितं पिबेद्वा॥ १८॥

पाण्डुरोगे विरेचनान्तरम्—गोमूत्र अथवा भैंस का मूत्र ८ पल लेकर उसमें दन्ती की जड़ आधा पल पकाकर चौथाई शेष रख कर उसमें से आधा कुड़व (२ पल = ८ तो०) प्रमाण में पीना चाहिए। अथवा हरीतकी के क्वाथ में पकाया हुआ गुड़ सेवन करना चाहिए। किंवा आरग्वधादि गण की औषधियों का क्वाथ पीना चाहिए॥ १८॥

विमर्शः—मूत्रशब्दोच्चारण से साधारणतया गोमूत्र का ग्रहण होता है, किन्तु डल्हणाचार्य ने यहाँ महिषीमूत्र ग्रहण किया है। यहाँ पर जो मात्रा दी है वह सर्वसाधारण है। किन्तु देश, काल, प्रकृति, रोग और रोगी की आयु के अनुसार मात्रा की कल्पना की जाती है—मात्राया नास्त्यवस्थानं देशं कालं बलं वयः। वीक्ष्य मात्रा प्रयोक्तव्या'''।

अयोरजोव्योषविडङ्गचूर्णं
लिह्याद्धरिद्रां त्रिफलाऽन्वितां वा।
सर्पिर्मधुभ्यां विदधीत वाऽपि
शास्त्रप्रदेशाभिहितांश्च योगान्॥ १९॥

अयोरजोव्योषाद्यवलेहाः—लोहे की भस्म, सोंठ, मरिच, पिप्पली और वायविडङ्ग इनका चूर्ण समप्रमाण में मिश्रित कर ६ रत्ती प्रमाण में लेकर शहद और घृत में साथ मिश्रित कर सेवन करना चाहिये। अथवा हरिद्रा के ३ माशे चूर्ण को त्रिफला के ३ माशे चूर्ण के साथ अथवा त्रिफला के २ पल क्वाथ के अनुपान के साथ सेवन करना चाहिये। अथवा हरिद्राचूर्ण ३ माशे और त्रिफला चूर्ण ३ माशे भर को मिश्रित कर घृत ६ माशे और शहद १ तोले के साथ मिलाकर चटाने चाहिये। इसी तरह शास्त्र में लिखे हुए नवायस आदि अन्य योगों का भी सेवन किया जाना चाहिये॥ १९॥

हरेच्च दोषान् बहुशोऽल्पमात्रान्
स्रवेद्धि दोषेष्वतिनिर्हृतेषु॥ २०॥

पाण्डुरोगे शोधनप्रकारः—पाण्डुरोग में धातुओं स्रोतसों तथा आशयों में अवस्थित दोषों को थोड़ी-थोड़ी मात्रा में वमनरेचनादि विधियों से अनेक बार निकालने चाहिये। यदि अनेक बार निकालने का प्रयत्न न किया जाय तो वे दोष पूर्णरूप से निर्हृत न होने पर उन अङ्गों में शोथ उत्पन्न कर देते हैं॥

विमर्शः—बहुशो = बहून् वारान्। अल्पमात्रान् = स्तोकस्तोकान्। श्वयेत् = श्वयथुं प्राप्नुयात्। अत्र पाठान्तरम्—हरेच्च दोषान् बहुशोऽल्पमात्रान् शुद्धेषु दोषेष्वभिनिर्हृतेषु॥

धात्रीफलानां रसमिक्षुजञ्च
मन्थं पिबेत् क्षौद्रयुतं हिताशी॥ २१॥

पाण्डुरोगहरा योगाः—(१) आँवले के फलों का स्वरस एक तोला लेकर उसमें ६ माशे शहद मिला के सेवन कराना चाहिये। (२) ईख के ५ से १० तोले स्वरस में शहद १ से २ तोले मिलकार पिलाना चाहिये। (३) यव, गेहूँ और चने के सम्मिश्रित सत्तू में पानी डालकर घोल बनाकर शहद मिलाकर पिलाना चाहिए॥ २१॥

विमर्शः—मन्थमिति सक्तवः, सक्तवः सर्पिषाऽभ्यक्ताः शीतवारिपरिप्लुताः। सत्तू में पानी डालकर घोल बनाकर शहद और घृत मिलाकर एक घण्टे पड़ा रहने दें, फिर सेवन करने को दें—पिबेत् सुशीतलान् मन्थान् घृताक्तान् मधुसंयुतान्। सक्षौद्रं वा रसं धात्र्या इक्षोर्वापि हिताशनः॥ तन्त्रान्तर में पाण्डुरोग के लिये विशिष्ट मन्थ का प्रयोग किया गया है—धात्रीफलरसे सक्तूनिक्षूणाञ्च रसे तथा। पाण्डुर्मधुसमायुक्तं पिबेन्मन्थं सुशीतलम्॥ पाण्डुरोगे गुडहरीतकी—पाण्डुरोगे सदा सेव्या सगुणा च हरीतकी। हरीतकी चूर्ण ३ से ६ माशे भर लेकर ६ माशे गुड़ के साथ सेवन करना सर्व प्रकार के पाण्डुरोग में लाभ करता है। पाण्डौ लोहभस्मप्रयोगः—सप्तरात्रं गवां मूत्रे भावितं वाऽप्ययोरजः। पाण्डुरोगप्रशान्त्यर्थं पयसाऽथ पिबेन्नरः॥ सात दिन गोमूत्र में भावित तथा मर्दित लौहभस्म को १ से ३ रत्ती पर्यंत लेकर दुग्धानुपान के साथ कुछ दिनों तक सेवन करने से पाण्डुरोग नष्ट हो जाता है। पाण्डौ लोहपात्रश्रृतदुग्धम्—लौहपात्रे श्रृतं क्षीरं सप्ताहं पथ्यभोजनम्। पिबेत् पाण्ड्वामयी शोषी ग्रहणीदोषपीडितः॥ पाण्ड्वादौ नवायसलौहम्—त्र्यूषणत्रिफलामुस्तविडङ्गचित्रकाः समाः। नवायोरजसोभागास्तच्चूर्णं मधुसर्पिषा॥ भक्षयेत् पाण्डुहृद्रोगकुष्ठार्शःकामलापहम्॥

उभे बृहत्यौ रजनीं शुकाख्यां
काकादनीं चापि सकाकमाचीम्।
आदारिबिम्बीं सकदम्बपुष्पीं
विपाच्य सर्पिर्विपचेत्कषाये॥
तत्पाण्डुतां हन्त्युपयुज्यमानं
क्षीरेण वा मागधिका यथाऽग्नि॥ २२॥

बृहत्यादिघृतम्—छोटी कटेरी, बड़ी कटेरी, हरिद्रा, शुकाख्या (चर्मकारवट, शूकशिम्बा, शुकनासा, शिरीष), काकादनी (कौआठुडीया काकतिन्दुक, मकोय, आदारी, आलारी या कदम्बपुष्पी), बिम्बी (कन्दूरी) भूमिकदम्ब अथवा अलम्बुषा इन सबको समान प्रमाण में मिश्रित कर ४ प्रस्थ लेकर १६ प्रस्थ जल में क्वाथ कर ४ प्रस्थ शेष रख के छान कर उसमें १ प्रस्थ घृत डालें तथा उक्त क्वाथ्य औषधियों का मिश्रित कल्क ४ पल मिला के यथाविधि घृत सिद्ध कर लेवें। इस घृत को ६ माशे से १ तोले की मात्रा में प्रतिदिन मन्दोष्ण दुग्धानुपान के साथ सेवन करने से पाण्डुरोग नष्ट हो जाता है। अथवा अग्नि प्रमाण के अनुसार पिप्पली चूर्ण का दुग्धानुपान के साथ सेवन करने से पाण्डुरोग नष्ट हो जाता है॥ २२॥

हितश्च यष्टीमधुजं कषायं
चूर्णं समं वा मधुनाऽवलिह्यात् ॥ २३ ॥

पाण्डुरोगे यष्टिकाथचूर्णप्रयोगः—मुलेठी का काथ बना कर उसमें शहद का प्रक्षेप देकर पिलाने से अथवा मुलेठी के चूर्ण को शहद के साथ सेवन करने से पाण्डुरोग नष्ट हो जाता है ॥

गोमूत्रयुक्तं त्रिफलादलानां
दत्त्वाऽऽयसं चूर्णमनल्पकालम् ।
प्रवालमुक्ताऽञ्जनशङ्खचूर्णं
लिह्यात्तथा काञ्चनगैरिकोत्थम् ॥ २४ ॥

पाण्डौ त्रिफलादिचूर्णम्—त्रिफला के दलों (वल्कलों) के २ माशे चूर्ण में लौहभस्म १ रत्ती मिलाकर मधु के साथ चाट कर १ तोले गोमूत्र का अनुपान करना चाहिये। इस तरह इस योग को कई दिनों तक सेवन करने से पाण्डुरोग नष्ट होता है। अथवा प्रवालभस्म १ रत्ती, मुक्ताभस्म १ रत्ती, शुद्ध अञ्जन (सुरमा या रसाञ्जन) २ रत्ती, शङ्खभस्म १ रत्ती और शुद्ध स्वर्णगैरिक २ रत्ती लेकर सबको मिश्रकर शहद के साथ चाट कर ऊपर से १ तोला गोमूत्र का अनुपान करना चाहिये। इस तरह इस योग को भी कई दिन तक सेवन करते रहने से पाण्डुरोग नष्ट हो जाता है ॥ २४ ॥

आजं शकृत्स्यात् कुडवप्रमाणं
विडं हरिद्रालवणोत्तमञ्च ।
पृथक्पलांशानि समप्रमेत-
च्चूर्णं हिताशी मधुनाऽवलिह्यात् ॥ २५ ॥

पाण्डुहरमजाशकृतादिचूर्णम्—बकरी की मिंगणियाँ १ कुडव अर्थात् आधा शराव (४ पल), विडनमक १ पल, हरिद्रा १ पल, सैन्धव लवण १ पल लेकर सबको मिश्रित करके घोट कर शीशी में भर देवें। इस चूर्ण को ३ माशे से ६ माशे के प्रमाण में लेकर मधु के साथ सेवन कर भूख लगने पर हितकारी भोजन करने से पाण्डुरोग नष्ट होता है ॥ २५ ॥

मण्डूरलोहाग्निविडङ्गपथ्या-
व्योषांशकः सर्वसमानताप्यः ।
मूत्रासुतोऽयं मधुनाऽवलेहः
पाण्ड्वामयं हन्त्यचिरेण घोरम् ॥ २६ ॥

मण्डूरादिप्रयोगः—मण्डूरभस्म १ तोला, लौहभस्म १ तो०, अग्नि (चित्रक) चूर्ण १ तोला, वायविडङ्गचूर्ण १ तोला, हरीतकीचूर्ण १ तोला, शुण्ठीचूर्ण १ तोला, मरिचचूर्ण १ तोला और पिप्पलीचूर्ण १ तोला तथा सबके बराबर अर्थात् ८ तोले स्वर्णमाक्षिक भस्म लेकर सबको खरल में डालकर गोमूत्र की भावना देकर दिनभर घोटकर सुखाकर शीशी में भर देवें। इस योग को ३ से ६ रत्ती की मात्रा में लेकर शहद के साथ मिलकार प्रतिदिन सेवन करने से कुछ ही दिनों में भयङ्कर पाण्डुरोग भी नष्ट हो जाता है ॥ २६ ॥

विमर्शः—मूत्रासुत का तात्पर्य उक्त औषध चूर्ण को एक सप्ताह तक खरल में डालकर प्रतिदिन सन्ध्या के समय दो-दो अङ्गुल गोमूत्र औषध के ऊपर तैरता रहे उतना डाल दें तथा दूसरे दिन दिनभर या २-४ घण्टे खरल करके पुनः गोमूत्र में तर करके रख दें। ऐसे सात भावना देना श्रेयस्कर है।

बिभीतकायोमलनागराणां
चूर्णं तिलानाञ्च गुडश्च मुख्यः ।
तक्रानुपानो वटकः प्रयुक्तः
क्षिणोति घोरानपि पाण्डुरोगान् ॥ २७ ॥

बिभीतकादिवटकः—बहेड़े के छिलकों का चूर्ण, अयोमल (मण्डूरी) की भस्म, सोंठ का चूर्ण और काले तिलों का चूर्ण इन्हें समान प्रमाण में मिश्रित कर सबके बराबर गुड़ मिला कर एक-एक माशे के वटक बनाकर सुखाकर शीशी में भर देवें। इस बिभीतकादि वटक को तक्र (मट्ठे) के अनुपान के साथ कुछ दिनों तक सेवन करते रहने से घोर पाण्डुरोग भी नष्ट हो जाता है ॥ २७ ॥

सौवर्चलं हिङ्गुकिराततिक्तं
कलायमात्राणि सुखाम्बुना वा ।
मूर्वाहरिद्राऽऽमलकञ्च लिह्यात्
स्थितं गवां सप्तदिनानि मूत्रे ॥ २८ ॥

पाण्डुरोगहरौ सौवर्चलादियोगौ—सौंचल लवण, शुद्ध हिङ्गु और चिरायता इनमें से प्रत्येक का चूर्ण एक एक कलाय (अर्थात् मटर के बराबर) लेकर मन्दोष्ण गरम पानी के साथ सेवन करना चहिये अथवा मूर्वा (चोरस्नायु), हल्दी और आँवले उन्हें समान प्रमाण में लेकर खाण्ड कूट कर चूर्ण बनाकर सात दिन तक गोमूत्र में भावित करके अच्छी प्रकार घोट सुखाकर शीशी में भर देवें। इस योग को प्रतिदिन ३ माशे से ६ माशे के प्रमाण में मधु के साथ मिलाकर सेवन करने से पाण्डुरोग नष्ट हो जाता है ॥ २८ ॥

विमर्शः—कार्तिककुण्डयोगः—'मूर्वाहरिद्रामलकं पिबेद्वा स्थितं गवां सप्तदिनानि मूत्रे' तथा च तन्त्रान्तरेऽपि—निशामलकमूर्वाभिः भावितं सप्तवासरान्। गोमूत्रं पिबतः पाण्डुः कामला च प्रणश्यति ॥

मूलं बलाचित्रकयोः पिबेद्वा
पाण्ड्वामयार्त्तोऽक्षसमं हिताशी ।
सुखाम्बुना वा लवणेन तुल्यं
शिग्रोः फलं क्षीरभुजोपयोज्यम् ॥ २९ ॥

बलाशिग्रुयोगौ—बला (खरेटी) और चित्रक की जड़ के समभाग चूर्ण को १ अक्ष (तोला) भर लेकर उष्णोदकानुपान के साथ पाण्डुरोगी सेवन करे तथा क्षुधा लगने पर हितकारी भोजन करे। अथवा सहजन की फली के चूर्ण को समानप्रमाण सैन्धवलवण के साथ मिश्रित कर सुखोष्णानुपान के साथ सेवन करना चाहिए तथा क्षुधा लगने पर दुग्ध का ही पान करना चाहिये। इन योगों के कुछ समय तक सेवन करते रहने से पाण्डुरोग नष्ट होता है ॥ २९ ॥

न्यग्रोधवर्गस्य पिबेत् कषायं
शीतं सिताक्षौद्रयुतं हिताशी ।
सालादिकं चाप्यथ सारचूर्णं
धात्रीफलं वा मधुनाऽवलिह्यात् ॥ ३० ॥

पाण्डौ न्यग्रोधादिवर्गकषायः—न्यग्रोधादिवर्ग की औषधियों के शीतकषाय में शर्करा १ तोला और शहद ६ माशे भर मिलाकर पिलाना चाहिये तथा क्षुधा लगने पर हितकारक भोजन कराना चाहिये। अथवा शालसारादिगण की औषधियों के सारभाग को (सत्त्वभाग) के चूर्ण को १ से ३ माशे की मात्रा में लेकर शहद के साथ मिलाकर सेवन करें। अथवा केवल आँवले के १ से ३ माशे भर चूर्ण को मधु के साथ सेवन करना चाहिए। इस तरह कुछ काल तक उक्त योगों को अथवा इनमें से किसी एक को सेवन करने से पाण्डुरोग नष्ट हो जाता है ॥ ३० ॥

विमर्शः—(१) न्यग्रोधादिवर्गः—'न्यग्रोधोदुम्बराश्वत्थप्लक्ष-मधुककपीतनककुभाम्रकोशाम्रचोरकपत्रजम्बूद्वयप्रियालमधूकरोहिणी-वञ्जुलकदम्बबदरीतिन्दुकीसल्लकीरोध्रसावररोध्रभल्लातकपलाशनन्दी-वृक्षाश्चेति' न्यग्रोधादिर्गणो व्रण्यः संग्राही भग्नसाधकः। रक्तपित्तहरो दाहमेदोघ्नो योनिदोषहृत् ॥ (२) सालसारादिवर्गः—'सालसा-राजकर्णखदिरकदरकालस्कन्धक्रमुकभूर्जमेषशृङ्गतिनिशचन्दनकुचन्द-नशिंशपाशिरीषासनधवार्जुनतालशाकनक्तमालपूतिकाश्वकर्णागुरूणि कालीयकश्चेति'। सालसारादिरित्येष गणः कुष्ठविनाशनः। मेह-पाण्ड्वामयहरः कफमेदोविशोषणः ॥

विडङ्गमुस्तत्रिफलाऽजमोद-
परूषकव्योषविनिर्दहन्यः।
चूर्णानि कृत्वा गुडशर्करे च
तथैव सर्पिर्मधुनी शुभे च ॥ ३१ ॥
सम्भारमेतद्विपचेन्निधाय
सारोदके सारवतो गणस्य।
जातञ्च लेह्यं मतिमान् विदित्वा
निधापयेन्मोक्षकजे समुद्गे।
हन्त्येष लेहः खलु पाण्डुरोगं
सशोथमुग्रामपि कामलाञ्च ॥ ३२ ॥

विडङ्गाद्यवलेहः—वायविडङ्ग, नागरमोथा, हरड़, बहेड़ा, आँवला, अजमोद, फालसा, सोंठ, मरिच पिप्पली और विनिर्दहनी (चित्रक) की जड़ इन सब को समान प्रमाण में खाण्ड कूट कर ४ पल लेवें। पश्चात् सालसारादिगण की औषधियों को १ प्रस्थ भर लेकर ४ प्रस्थ पानी में उबालकर १ प्रस्थ क्वाथ अवशेष रहने पर छान लेवें। फिर इस १ प्रस्थ सारोदक (सालसारादिगण क्वाथ) में ४ पल गुड़ तथा ४ पल शर्करा और ४ पल घृत डाल कर पकावें एवं चासनी बनने पर उसमें उक्त वायविडङ्गादि द्रव्यों का चूर्ण ४ पल भर तथा शहद ४ पल भर मिला कर सबको अच्छी प्रकार कलछी से घोट के लेहवत् पाक हो जाने पर नीचे उतार कर शीतल होने पर मोक्षक (मोखे) के बने हुये समुद्ग (डिब्बे या पात्र) में भर कर कपड़े से मुख बन्द करके सुरक्षित रख देवें। इस विडङ्गाद्यवलेह को ३ माशे से ६ माशे या १ तोले के प्रमाण में लेकर मन्दोष्ण जल अथवा दुग्ध के अनुपान के साथ सेवन करने से शोथयुक्त पाण्डु रोग तथा भयङ्कर कामला रोग भी नष्ट हो जाते हैं ॥ ३१-३२ ॥

विमर्शः—डल्हणाचार्य ने पाक करते समय गुड़ और शर्करा के साथ मधु को भी डाल कर पाक करना लिखा है तथा उष्णयोग के साथ मधु मिलाना विरुद्ध है ऐसी शङ्का कर उसका निराकरण 'सक्षौद्रां शर्करां पक्त्वा' इस शास्त्रीय पाठान्तर प्रमाण से कर दिया है। अर्थात् मधु का पाक करना निषिद्ध नहीं है, उसको उष्ण कर खाना मना है। इसके अतिरिक्त यह लिखा है कि यहां पर पाण्डुरोग सामान्य की चिकित्सा का निर्देश किया है, किन्तु इन्हीं द्रव्यों को दोषों के अनुसार विकल्पित कर यथादोष पाण्डुरोग की चिकित्सा की जा सकती है, जैसा कि लिखा है—पाण्डुरोगप्रशान्त्यर्थ-मिदमुक्तं चिकित्सितम्। विकल्प्यैवं च भिषजा यथादोषबलं प्रति ॥ स्नेहप्रायं पवनजे, तिक्तशीतन्तु पैत्तिके। श्लैष्मिके कटुरूक्षोष्णं मिश्रं स्यात्सान्निपातिके ॥ (च० चि० अ० १६) वातजपाण्डु-रोगचिकित्सा—त्रिफलाक्वथितं तोयं सघृतञ्च सशर्करम्। वात-पाण्ड्वामयी पीत्वा स्वास्थ्यमाशु व्रजेद् ध्रुवम् ॥ त्रिफलाक्वाथ १ पल, घृत १ तोला, शर्करा १ तोला कुछ दिनों तक पीने से वातपाण्डु नष्ट होता है। पैत्तिकपाण्डुचिकित्सा—द्विशर्करं त्रिवृच्चूर्णं पलार्धं पैत्तिके पिबेत् ॥ द्विगुणशर्करामिश्रित त्रिवृत् के चूर्ण को आधे पल (२ तोला) के प्रमाण में मन्दोष्ण दुग्धानुपान या जलानुपान के साथ सेवन करने से पैत्तिक पाण्डु नष्ट होता है। कफजपाण्डुचिकित्सा—कफपाण्डी च गोमूत्र क्लिन्नयुक्तां हरीतकीम्। नागरं लोहचूर्णं वा कृष्णां पथ्यां तथा-श्मजम्। गुग्गुलुं वाऽथ मूत्रेण कफपाण्ड्वामयी पिबेत् ॥ सात दिन तक गोमूत्र में भावित हरीतकी का चूर्ण ३ से ६ माशे, अथवा शुण्ठी चूर्ण ४ माशे, या लौह भस्म २ रत्ती, या पिप्पली चूर्ण ३ माशे, अथवा हरीतकी चूर्ण ३ से ६ माशे, अथवा शिलाजतु २ से ४ रत्ती, अथवा शुद्ध गूगल १ माशे को कुछ दिनों तक गोमूत्रानुपान से सेवन करने से कफज-पाण्डु नष्ट होता है।

सशर्करा कामलिनां त्रिभण्डी
हिता गवाक्षी सगुडा च शुण्ठी ॥ ३३ ॥

कामलाचिकित्सा—कामला के रोगियों के लिये त्रिभण्डी (निशोथ) के ३ माशे से ६ माशे भर चूर्ण को समान प्रमाण शर्करा के साथ मिश्रित कर सेवन कराना उत्तम है। अथवा इन्द्रायण या सोंठ के चूर्ण को ३ माशे से ६ माशे के प्रमाण में लेकर एक तोले गुड़ के साथ मिश्रित कर सेवन कराने से कामला रोग नष्ट होता है ॥ ३३ ॥

विमर्शः—कामलाचिकित्साक्रमः—रेचनं कामलार्तस्य स्निग्ध-स्यादौ प्रयोजयेत्। ततः प्रशमनी कार्या क्रिया वैद्येन जानता ॥ पञ्चगव्यं महातिक्तं कल्याणकमथापि वा। स्नेहनार्थं घृतं दद्यात् कामलापाण्डुरोगिणे ॥ कामला में प्रथम पञ्चगव्य, महातिक्त, कल्याणादि घृत से स्निग्ध करके विरेचन कर्म करना चाहिए। कामलार्तस्य प्रथमं स्नेहनं कृत्वा ततश्च विरेचनं दद्यात्। उक्तं हि—स्नेहैरेभिरुपक्रम्य स्निग्धं मत्वा विरेचयेत्। पयसा मूत्रयुक्तेन बहुशः केवलेन वा ॥ आरग्वधं रसेनेक्षोर्विदार्यामलकस्य वा। त्र्यूषणं बिल्वपत्रं पिबेच्चा कामलापहम् ॥ दन्त्यर्धपलकल्कं वा द्विगुडं शीतवारिणा। कामली त्रिवृतां वाऽपि त्रिफलाया रसैः पिबेत् ॥ (च० चि० अ० १६) त्रिफलाया गुडूच्या वा दार्व्या निम्बस्य वा रसम्। क्षौद्रं मधुयुतं प्रातः कामलार्तः पिबेन्नरः ॥

क्षीरमूत्रं पिबेत् पक्वं गव्यं माहिषमेव वा। हरिद्रादिघृतम्—हरिद्रा-त्रिफलानिम्बबलामधुकसाधितम्। सक्षीरं माहिषं सर्पिः कामलाहर-मुत्तमम्॥ त्रिफलाया गुडूच्या वा दार्व्या निम्बस्य वा रसः। प्रातर्माक्षिकसंयुक्तः शीलितः कामलापहः॥ कामलायामञ्जनम्—अञ्जनं कामलार्तस्य द्रोणपुष्पीरसः स्मृतः। निशागैरिकधात्रीणां चूर्णं वा सम्प्रकल्पयेत्॥ त्रिफलादिक्वाथः—फलत्रिकामृतावासाति-क्तामूनिम्बनिम्बजैः। क्वाथः क्षौद्रयुतो हन्यात्पाण्डुरोगं सकामलम्॥

कालेयके चापि घृतं विपक्वं
हितं च तत्स्याद्रजनीविमिश्रम्॥ ३४॥

कालेयकादिघृतम् दारुहरिद्रा के समान रूप वाले कालेयक द्रव्य के कल्क और क्वाथ से सिद्ध किये हुये ६ माशे से १ तोले घृत में हरिद्रा का चूर्ण ३ माशे से ६ माशे भर मिश्रित कर सेवन कराने से कामला रोग नष्ट होता है॥३४॥

धातुं नदीजं जतु शैलजं वा
कुम्भाह्वये मूत्रयुतं पिबेद्वा॥ ३५॥

कुम्भसाह्वचिकित्सा—कुम्भकामला रोग में स्वर्णमाक्षिक-भस्म २ रत्ती को शहद के साथ चाट कर ऊपर से २ तोले गोमूत्र का अनुपान करना चाहिए। अथवा शैल (पर्वत) पर उत्पन्न शिलाजतु को गोमूत्र या त्रिफला क्वाथ में सिद्ध कर २ से ३ रत्ती की मात्रा में ले के शहद के साथ मिश्रित कर चटा के ऊपर से २ तोले गोमूत्र का अनुपान कराना चाहिए। इस तरह स्वर्णमाक्षिक या शिलाजतु के सेवन से कुम्भकामला रोग नष्ट होता है॥ ३५॥

मूत्रे स्थितं सैन्धवसम्प्रयुक्तं
मासं पिबेद्वाऽपि हि लोहकिट्टम्॥ ३६॥

कुम्भकामलायां लौहकिट्टप्रयोगः—लोहकिट्ट (मण्डूर) को एक मास तक गोमूत्र में भिगोया रखकर बाद में गोमूत्र के साथ ही घोट कर १५-२० पुट दे के बनी भस्म को १ से २ रत्ती की मात्रा में शहद के साथ चाट कर गोमूत्र का अनुपान करना चाहिए। इस तरह इस योग को एक मास तक सेवन करने से कुम्भकामला रोग नष्ट हो जाता है॥३६।

दग्ध्वाऽक्षकाष्ठैर्मलमायसं वा
गोमूत्रनिर्वापितमष्टवारान्।
विचूर्ण्य लीढं मधुना चिरेण
कुम्भाह्वयं पाण्डुगदं निहन्यात्॥ ३७॥

अक्षकाष्ठदग्धमण्डूरप्रयोगः—लोहे के मल (मण्डूर) को बहेड़े की लकड़ियों की अग्नि में प्रतप्त करके गोमूत्र में बुझा देना चाहिए। इस तरह आठ बार उक्त अग्नि में गरम कर के प्रत्येक बार नवीन गोमूत्र में बुझा कर पुनः गोमूत्र में ही पीस कर टिकिया बना के सुखा कर गजपुट की अग्नि में पकावें। ऐसे १५-२० बार पुट देने से उत्तम भस्म हो जाती है। इस भस्म को २ से ३ रत्ती की मात्रा में ले के शहद में मिलाकर कुछ दिनों तक सेवन करने से कुम्भकामलासंज्ञक पाण्डुरोग नष्ट हो जाता है॥ ३७॥

सिन्धूद्भवं वाऽग्निसमं च कृत्वा
सिक्त्वा च मूत्रे सकृदेव तप्तम्।
लौहञ्च किट्टं बहुशश्च तप्त्वा
निर्वाप्य मूत्रे बहुशस्तथैव॥ ३८॥
एकीकृतं गोजलपिष्टमेल-
दैकध्यमावाप्य पचेदुखायाम्।
यथा न दिह्येत तथा विशुष्कं
चूर्णीकृतं पेयमुदश्विता तत्॥
तक्रौदनाशी विजयेत रोगं
पाण्डुं तथा दीपयतेऽनलञ्च॥ ३९॥

सैन्धवमण्डूरप्रयोगः—सैन्धव लवण के ढेले को बहेड़े की लकड़ियों की अग्नि में प्रतप्त करके गोमूत्र में बुझा देवें तथा बाद में लौह किट्ट को बिभीतककाष्ठाग्नि में प्रतप्त कर गोमूत्र में बुझावें। इस तरह इस किट्ट को अनेक बार प्रतप्त करके अनेक बार गोमूत्र में बुझाना चाहिए। कम से कम सात बार अवश्य यह क्रिया करनी चाहिए। फिर उक्त सैन्धवलवण तथा इस मण्डूर को समान प्रमाण में मिश्रित कर खरल में गोमूत्र के साथ अच्छी प्रकार घोट कर उखा (तपेली या कड़ाही) में डाल के और गोमूत्र भर कर पकाना चाहिए। पकाने के समय कलछी से हिलाते रहना चाहिए जिससे कि वह जलने न पावे। फिर पकते पकते शुष्क हुआ जान कर चूल्हे से पात्र को नीचे उतार कर पुनः सुखा के खरल में घोट कर शीशी में भर देवें। इस योग को २ से ४ रत्ती की मात्रा में ले के उदश्वित् के अन्दर घोल कर पिलावें। औषध पच जाने पर भात को तक्र में मिला कर सेवन करना चाहिए। इस तरह इस योग के सेवन करने से पाण्डुरोग (कुम्भकामला) नष्ट हो जाता है तथा पाचकाग्नि प्रदीप्त होती है॥ ३८-३९॥

विमर्शः—डल्हणाचार्य ने लिखा है कि जिस गोमूत्र में सैन्धव लवण तथा मण्डूर को प्रतप्त कर बुझाया हो वही गोमूत्र पञ्चगुणा लेकर दोनों में मिला के घोटकर एक पात्र में भर कर उसका मुख बन्द कर पकाना चाहिये। यह योग अन्य तन्त्रों में बिभीतक लवण के नाम से कहा जाता है। तक्रोदश्वित्परिभाषा—तक्रं ह्युदश्विन्मथितं पादाम्ब्वर्द्धाम्बु निर्जलम्। अर्थात् दही में चौथाई जल मिलाकर बिलोने से तक्र तथा आधा जल मिलाकर बिलोने से उदश्वित् और बिना जल मिलाये दही को बिलोने से मथित कहा जाता है।

द्राक्षागुडूच्यामलकीरसैश्च
सिद्धं घृतं लाघरके हितञ्च॥ ४०॥

लाघरकचिकित्सा—द्राक्षा, गुडूची और आँवलों के कल्क ४ पल, घृत १ प्रस्थ तथा आँवलों का स्वरस ४ प्रस्थ लेकर घृत सिद्ध कर प्रतिदिन १ से २ तोले की मात्रा में मन्दोष्ण दुग्ध या जल के अनुपान से सेवन करने से लाघरक रोग में लाभ होता है॥ ४०॥

विमर्शः—पानकी तथा हलीमक की चिकित्सा पाण्डुरोग तथा कामला के समान ही करनी चाहिये। जैसा कि तन्त्रान्तर में कहा है—पाण्डुरोगक्रियां सर्वां योजयेच्च हलीमके। कामलायाञ्च या दृष्टा साऽपि कार्या भिषग्वरैः॥ चरकाचार्य ने हलीमकचिकित्सा निम्न क्रम से लिखी है—गुडूचीस्वरसक्षीरसाधितं माहिषं

घृतम्। स पिबेत् त्रिवृतां स्निग्धो रसेनामलकस्य तु॥ विरक्तो मधुरप्रायं भजेत् पित्तानिलापहम्। द्राक्षालेहञ्च पूर्वोक्तं सर्पींषि मधुराणि च॥ यापनान् क्षीरबस्तींश्च शीलयेत् सानुवासनान्। मार्द्वीकारिष्टयोगांश्च पिबेद्युक्त्याऽग्निवृद्धये॥ (च० चि० अ० १६) भावप्रकाशोक्तहलीमकचिकित्सा—(१) मारितश्चायसं चूर्णं मुस्ताचूर्णेन संयुतम्। खदिरस्य कषायेण पिबेद्धन्तुं हलीमकम्॥ लौहभस्म १ रत्ती, मुस्ताचूर्ण १ माशा, अनुपान-खदिरक्वाथ। (२) सितातिलबलायष्टीत्रिफलारजनीयुगैः। लोहं लिह्यात् समध्वाज्यं हलीमकनिवृत्तये॥ शर्करा, तिल, खरेटी, मुलेठी, त्रिफला, हरिद्रा, दारुहरिद्रा और लौहभस्म प्रत्येक एक-एक तोले भर लेकर मिश्रित कर दें। फिर इस योग में से १ माशे से २ माशे प्रमाण की मात्रा को शहद ६ माशे तथा घृत ३ माशे में मिलाकर प्रतिदिन तीन या दो बार सेवन करने से हलीमक रोग नष्ट होता है। अन्यच्च—वासामृतानिम्बकिरातकट्वीकषायकोऽयं समधुर्निपीतः। सकामलं पाण्डुमथास्रपित्तं हलीमकं हन्ति कफादिरोगान्॥ अडूसा, गिलोय, निम्बछाल, चिरायता और कुटकी इनके क्वाथ में शहद मिलाकर पीने से कामला, पाण्डु, रक्तपित्त, हलीमक और कफादि रोग नष्ट होते हैं। चरकाचार्य का मत है कि कामला, कुम्भकामला, हलीमक आदि रोगों में मल के पित्तरञ्जित होने तक तथा वायु का प्रशमन न होने पर्यन्त कटुतीक्ष्ण और तिक्त योगों द्वारा चिकित्सा करनी चाहिए—कटुतीक्ष्णोष्णलवणैर्भृशाम्लैश्चाप्युपक्रमः। आपित्तरागाच्छकृतो वायोश्चाप्रशमाद्भवेत्॥ स्वस्थानमागते पित्ते पुरीषे रक्तरञ्जिते। निवृत्तोपद्रवस्य स्यात् पूर्वः कामलिको विधिः॥ (च० चि० अ० १६) कोष्ठमार्गस्थो मलो न रज्यते तावत् पित्तवर्धनम्। कामलिको विधिरिति कोष्ठाश्रयिकामलाचिकित्सितं कर्तव्यमित्यर्थः। इससे स्पष्ट है कि हमारे त्रिकालदर्शी महर्षियों को पित्त का स्थान तथा उसका पाचक प्रणालियों (क्षुद्रान्त्र तथा बृहदन्त्र) में जाकर पाचन करने के सिवाय मल को रञ्जित करना आदि कार्य भली भाँति ज्ञात था, जैसा कि वर्तमान में एलोपेथी पित्त के स्थान व कार्य बताती है।

> गौडानरिष्टान्मधुशर्कराश्च
> मूत्रासवान् क्षारकृतांस्तथैव।
> स्निग्धान् रसानामलकैरुपेतान्
> कोलान्वितान्वाऽपि हि जाङ्गलानाम्॥
> सेवेत शोफाभिहितांश्च योगान्
> पाण्ड्वामयी शालियवांश्च नित्यम्॥४१॥

पाण्डुरोगिणां सेव्यानि—पाण्डुरोग तथा उसके अवस्थाविशेष (कामला, कुम्भकामला, लाघरक, पानकी, हलीमक) का रोगी गुड़ के द्वारा बनाये हुये अरिष्ट जैसे अभयारिष्ट आदि को तथा शहद और शर्करा को अथवा शहद से मध्वासव तथा शर्करा से शर्करासव को सेवन करे। इनके अतिरिक्त कुष्ठचिकित्सा में कहे हुये मूत्रासवों को तथा प्लीपदरोगाधिकार में कहे हुये क्षारकृत आसवों को सेवन करे। इनके अतिरिक्त जङ्गल के पशु तथा पक्षियों के मांस के रसों को स्नेहों से संस्कृत कर उनमें आंवलों का चूर्ण या स्वरस मिला कर अथवा बेर के पके हुए फलों का चूर्ण मिला कर सेवन करना चाहिए। इनके अतिरिक्त शोफाधिकार में कहे हुये शोफ नाशक देवदारु शुण्ठी आदि के क्वाथ या चूर्णों का तथा अन्य योगों का सेवन करना चाहिए। इसी प्रकार अन्न की दृष्टि से साठी चावल तथा यव के विभिन्न खाद्य और पेय बना कर भोजनार्थ सेवन करने चाहिए॥ ४१॥

विमर्शः—पाण्डुरोगे पथ्यानि—छर्दिर्विरेचनं जीर्णयवगोधूमशालयः। मुद्गाढकीमसूराणां यूषा जाङ्गलजा रसाः॥ पटोलं वृद्धकुष्माण्डं तरुणं कदलीफलम्। जीवन्ती क्षुद्रमत्स्याक्षी गुडूची तण्डुलीयकम्॥ पुनर्नवा द्रोणपुष्पी वार्ताकुं लशुनद्वयम्। पक्वाम्रममथा बिम्बी शृङ्गीमत्स्यो गवां जलम्॥ धात्री तक्रं घृतं तैलं सौवीरकतुषोदके। नवनीतं गन्धसारो हरिद्रा नागकेशरम्॥ यवक्षारो लौहभस्म कषायाणि च कुङ्कुमम्। यथादोषमिदं पथ्यं पाण्डुरोगवतां भवेत्॥

> श्वासातिसारारुचिकासमूर्च्छा
> तृट्छर्दिशूलज्वरशोफदाहान्।
> तथाऽविपाकस्वरभेदसादान्
> जयेद् यथास्वं प्रसमीक्ष्य शास्त्रम्॥ ४२॥

पाण्डुरोगोपद्रवचिकित्सा—श्वास, अतिसार, अरुचि, कास, मूर्च्छा, तृषा, वमन, शूल, ज्वर, शोफ, दाह, भोजन का अपचन (मन्दाग्नि), स्वरभेद और साद (शरीरशैथिल्य) इन उपद्रवों को इनकी अपनी अपनी शास्त्रोक्त चिकित्सा करनी चाहिए॥ ४२॥

> अन्तेषु शूनं परिहीनमध्यं
> म्लानं तथाऽन्तेषु च मध्यशूनम्।
> गुदे च शेफस्यथ मुष्कशूनं
> प्रताम्यमानं च विसंज्ञकल्पम्॥ ४३॥
> विवर्जयेत् पाण्डुकिनं यशोऽर्थी
> तथाऽतिसारज्वरपीडितञ्च॥ ४४॥

इति सुश्रुतसंहितायामुत्तरतंत्रान्तर्गते कायचिकित्सातन्त्रे पाण्डुरोगप्रतिषेधो नाम (षष्ठोऽध्यायः, आदितः) चतुश्चत्वारिंशत्तमोऽध्यायः॥ ४४॥

पाण्डुरोगिणोऽसाध्यलक्षणानि—जिस पाण्डुरोगी के अन्त अवयवों अर्थात् हस्त, पाद और मुख पर शोथ हो तथा शरीर के मध्य भाग (वक्ष, उदर आदि) सूख गये हों अथवा जिस पाण्डुरोगी के अन्तिम हस्त, पाद, मुखादि भाग म्लान (दुर्बल) हों और मध्यभाग (वक्ष तथा उदर) शोथयुक्त हो तथा गुदा, इन्द्रिय (लिङ्ग) और मुष्कों (वृषणों) पर सूजन हो एवं मूर्च्छा से युक्त अथवा संज्ञारहित (अचेष्ट) पड़ा हो और अतिसार तथा ज्वर से पीड़ित हो ऐसे पाण्डु रोगी को यश चाहने वाला वैद्य वर्जित कर दे॥ ४३-४४॥

विमर्शः—पाण्डुरोगी की पाण्डुता का श्वेतता में परिवर्तित होना अत्यधिक रक्ताल्पता का द्योतक है। अतएव उसे असाध्य कहा है। सर्वत्र पाण्डुता का दर्शन करना पाण्डुरोग की अत्यधिकता का ज्ञापक है। तन्त्रान्तरोक्त असाध्यलक्षण—ज्वरारोचकहृल्लासच्छर्दितृष्णाक्लमान्वितः। पाण्डुरोगी

त्रिभिर्दोषैस्त्याज्यः क्षीणो हतेन्द्रियः ॥ चरकोक्तानि पाण्डुरोगस्यासाध्यलक्षणानि—पाण्डुरोगश्चिरोत्पन्नः खरीभूतो न सिद्ध्यति। कालप्रकर्षाच्छूनानां यो वा पीतानि पश्यति ॥ बद्धाल्पविट् सहरितं सकफं योऽतिसार्यते। दीनः श्वेतातिदिग्धाङ्गश्छर्दिमूर्च्छातृडर्दितः ॥ स नास्त्यसृक्क्षयाद्यश्च पाण्डुः श्वेतत्वमाप्नुयात् ॥ (च० चि० अ० १६) अन्यच्च—पाण्डुदन्तनखो यस्तु पाण्डुनेत्रश्च यो भवेत्। पाण्डुसंघातदर्शी च पाण्डुरोगी विनश्यति ॥ (सु० सू० अ० ३३) **यद्यपि सुश्रुताचार्य ने पाण्डुरोग की उत्पत्ति में मृत्तिकाभक्षण को कारण माना है**—'व्यायाममम्लं लवणानि मद्यं मृदम्' **तथापि पाण्डु के वातज, पित्तज, कफज और सन्निपातज पाण्डु ऐसे चार ही भेद लिखे हैं। मृत्तिकाभक्षणजन्य पाण्डु को सन्निपातज या दोषज पाण्डु के अन्दर ही समाविष्ट कर दिया है, क्योंकि विभिन्न रसवाली मृत्तिका दोषप्रकोपणपूर्वक ही पाण्डुरोग उत्पन्न करती है**—कषाया मारुतं पित्तमूषरा मधुरा कफम्। कोपयेन्मृद्रसादींश्च रौक्ष्याद्भुक्तञ्च रूक्षयेत् ॥ **इस तरह सुश्रुत ने मृत्तिकाजन्य पाण्डु की पृथक् चिकित्सा नहीं लिखी है, किन्तु चरकाचार्य ने कारणवैशिष्ट्यवश तथा हेतुप्रत्यनीक चिकित्साकरण की दृष्टि से मृत्तिकाभक्षणजन्य पाण्डुरोग को पृथक् माना है तथा उसकी चिकित्सा भी पृथक् लिखी है**—पाण्डुरोगाः स्मृताः पञ्च वातपित्तकफैस्त्रयः। चतुर्थः सन्निपातेन पञ्चमो भक्षणान्मृदः ॥ (च० चि० अ० १६) चरकोक्तमृज्जन्यपाण्डुरोगचिकित्सा—निपातयेच्छरीरात्तु मृत्तिकां भक्षितां भिषक्। युक्तिज्ञः शोधनैस्तीक्ष्णैः प्रसमीक्ष्य बलाबलम् ॥ शुद्धकायस्य सर्पींषि बलाधानानि योजयेत्। व्योषं बिल्वं हरिद्रे द्वे त्रिफला द्वे पुनर्नवे ॥ मुस्तान्ययोरजः पाठा विडङ्गं देवदारु च। वृश्चिकाली च भार्गी च सक्षीरैस्तैः समैर्घृतम्। साधयित्वा पिबेद् युक्त्या नरो मृद्दोषपीडितः ॥ तद्वत् केशरयष्ट्याह्वपिप्पलीक्षारशाद्वलैः। मृद्भक्षणादातुरस्य लौल्यादविनिवर्तिनः। द्वेष्यार्थं भावितां कामं दद्यात्तद्दोषनाशनैः ॥ विडङ्गैलातिविषया निम्बपत्रेण पाठया। वार्ताकैः कटुरोहिण्यां कौटजैर्मूर्वयाऽपि वा ॥ **(१) तीक्ष्ण विरेचनों से मृत्तिकानिर्हरण, (२) व्योष बिल्वादिसाधित घृत का पान बलाधानार्थ कराना चाहिये तथा (३) मृत्तिका के अन्दर द्वेष उत्पन्न करने के लिये उसमें अतीस का चूर्ण मिलाकर निम्बपत्रस्वरस और कुटकी आदि के क्वाथ की भावना देकर खिलावें, जिससे वह रोगी उसे भयङ्कर तिक्तावश खाने की आदत छोड़ दे।**

इति श्रीअम्बिकादत्तशास्त्रिकृतायां सुश्रुतोत्तरतन्त्रस्य पाण्डुरोगप्रतिषेधाध्यायस्य भाषाटीकायां चतुश्चत्वारिंशत्तमोऽध्यायः ॥ ४४ ॥

पञ्चचत्वारिंशत्तमोऽध्यायः

अथातो रक्तपित्तप्रतिषेधं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥ २ ॥

अब इसके अनन्तर रक्तपित्तप्रतिषेध नामक अध्याय का व्याख्यान करते हैं जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने कहा है ॥ १-२ ॥

विमर्शः—पाण्डुरोग के समान रक्तपित्त भी पित्तप्रकोप के कारण उत्पन्न होता है। अतएव पाण्डुरोग के अनन्तर इसका व्याख्यान व चिकित्सा करना प्रसङ्गयुक्त या युक्तियुक्त होने से तद्विषयक अध्याय प्रारम्भ किया गया है। चरकाचार्य ने ज्वर के अत्यधिक सन्ताप से पित्त के प्रकुपित होने के कारण ज्वर में उपद्रवस्वरूप या ज्वरान्तर रक्तपित्त उत्पन्न होने से ज्वरचिकित्सा के बाद रक्तपित्तचिकित्सा का प्रकरण प्रारम्भ किया है तथा हिक्का और श्वास का कारण पाण्डुरोग होने से पाण्डुरोगानन्तर हिक्काश्वास की चिकित्सा लिखी है—'पाण्डुरोगाद्विषाच्चैव प्रवर्तेते गदाविमौ' (च० चि० अ० १७) **अस्तु, दोनों आचार्यों का अपने अपने दृष्टिकोण से रक्तपित्तप्रकरण का आरम्भीकरण युक्तियुक्त व शास्त्रसङ्गत ही है।** रक्तपित्तनिरुक्तिः—**वक्ष्यमाण क्रोधशोकादि कारणों से पित्त दूषित होकर रक्त को दूषित करता है, जिस से विविध मार्गों से रक्तस्रुति होती है। इस तरह पित्त से रक्त दूषित होने से पित्तरक्त ऐसा इस रोग का नामकरण होना चाहिए था, जैसा कि मधुकोष में लिखा है**—'पित्तेन दुष्टं रक्तं रक्तपित्तमित्युच्यते तदा पित्तरक्तमिति व्यपदेशः प्रसज्येत' **किन्तु सभी आचार्यों की ओर से सर्वत्र शास्त्रों में रक्तपित्त शब्द का ही प्रयोग है। अतएव सुश्रुताचार्य ने** 'रक्तञ्च पित्तञ्चेति रक्तपित्तमिति' **ऐसा द्वन्द्व समास कर रक्तपित्त की निरुक्ति लिखी है। चरकाचार्य ने रक्तपित्त यह नाम कैसे पड़ा इसका स्पष्टीकरण किया है**—'पित्तं यथाभूतं लोहित(रक्त)पित्तमिति संज्ञां लभते, तद् व्याख्यास्यामः' **इस आशय को टीकाकार चक्रपाणि ने स्पष्ट किया है कि पित्त ही अवस्थाविशेष को प्राप्त होकर लोहितपित्त या रक्तपित्त संज्ञा को प्राप्त होता है**—'पित्तं यथाभूतमित्यादिना पित्तमेवावस्थावशाल्लोहितपित्तमित्युच्यते इति दर्शयति न तु रक्तञ्च पित्तञ्चेति रक्तपित्तम्।' **सम्प्राप्त्यनुसार यव कोद्दालक कोरदूषादि अत्यन्त उष्ण और तीक्ष्ण पदार्थों के सेवन करने से पित्त प्रकुपित होता है तथा रक्त भी अपने प्रमाण से बढ़ जाता है तथा पित्त बढ़े हुये रक्त के साथ मिल कर सारे शरीर में भ्रमण करता हुआ यकृत् और प्लीहा के रक्तवाहक स्रोतसों के पास जाकर उनके मुखों को बन्द कर देता है तभी रक्त को दूषित करता है**—तस्यैवमाचरतः पित्तं प्रकोपमापद्यते, लोहितञ्च स्वप्रमाणमतिवर्तते, तस्मिन्प्रमाणातिवृत्ते पित्तं प्रकुपितं शरीरमनुसर्पदेव यकृत्प्लीहप्रभवाणां लोहितवहानां च स्रोतसां लोहिताभिष्यन्दगुरूणि मुखान्यासाद्य प्रतिरुन्ध्यात्तदेव लोहितं दूषयति। (च० नि० अ० २) **उक्त प्रकार से रक्त को दूषित करने वाले पित्त की रक्तपित्तसंज्ञा कैसे होती है उसके लिये लिखते हैं कि इस पित्त का रक्त के साथ संसर्ग होने से, रक्त को दूषित करने से तथा इस पित्त में रक्त के समान गन्ध और वर्ण हो जाने से इसे रक्तपित्त कहते हैं**—'संसर्गाल्लोहितप्रदूषणाल्लोहितगन्धवर्णानुविधानाच्च पित्तं लोहितपित्तमित्याचक्षते' (च० नि० अ० २) 'संयोगाद्दूषणात्तत्तु सामान्याद्गन्धवर्णयोः। रक्तस्य पित्तमाख्यातं रक्तपित्तं मनीषिभिः ॥ रक्तस्य संयोगात्तथा रक्तस्य दूषणात्तथा रक्तस्य गन्धवर्णयोः पित्ते सामान्यात् पित्तं रक्तपित्तमुच्यते इति वाक्यार्थः ॥ (च० चि० अ० ४) **चरकटीकाकार चक्रपाणि ने रक्तपित्त शब्द की तीन तरह से निरुक्ति की है**—(१) रक्तयुक्तं पित्तं रक्तपित्तम्, इति प्रथमा निरुक्तिः। 'रक्ते दूष्ये पित्तम्' इति द्वितीया, 'रक्तवत् पित्तं

रक्तपित्तम्' इति तृतीया निरुक्तिः (च० चक्रपा० नि० अ० २) इसका तात्पर्य यह है कि पित्त रक्त के साथ संयुक्त रहने से इसे रक्तपित्त कहते हैं तथा रक्तदूष्य में पित्त मिलकर रक्त को दूषित करता है। अतः रक्तपित्त कहा जाता है तथा रक्त के संसर्ग से पित्त भी गन्ध वर्ण में उसके समान हो जाता है, इसलिये भी इस रोग को रक्तपित्त कहते हैं। स्वर्गीय गुरुवर्य म० म० कविराज गणनाथ सेन जी ने भी लिखा है कि किसी शरीरान्तर्गत कारण से पित्त दूषित रक्त का स्राव रक्तपित्त कहा जाता है—रक्तसंक्षोभणं पित्तं भूरि चेत् स्रावयेदसृक्। तर्हि तद्रक्तपित्ताख्यं रोगं प्राज्ञः प्रचक्षते॥ विनाभिघातात् स्फुटकारणाद्वा रक्तं स्रवेद् यत् प्रचुरं कुतश्चित्। तद्रक्तपित्तं भिषजो वदन्ति विशेषस्तु वाच्यं निपुणं परीक्ष्य॥ साधारणतया बिना किसी अभिघातसदृश बाह्य कारण के शरीरान्तर्गत कारण से उत्पन्न रक्तस्राव को रक्तपित्त कहते हैं। आन्त्रिकज्वर (Typhoid) या पित्तोल्बण सन्निपातजन्य विष अथवा संखिया आदि विषों से पित्तप्रकोपणपूर्वक अधोगत रक्तपित्त की उत्पत्ति होती है। इसके अतिरिक्त कभी-कभी जलोदर में यकृत् का शोष होने पर भी यकृत्गामी रक्त का मार्ग अवरुद्ध हो जाता है, जिसके परिणामस्वरूप आमाशयगत सिराओं में रक्त का दबाव बढ़ जाता है एवं सिराओं की भित्ति के फटने से आमाशय द्वारा ऊर्ध्वमार्ग से रक्तपित्त की प्रवृत्ति होती है। इस प्रकार विभिन्न पित्तप्रकोपक निदानों से प्रकुपित पित्त रक्त को दूषित कर देता है एवं क्षोभ अथवा अतिमात्र भोजन करने से रसवृद्धिपूर्वक सिरा, धमनी तथा केशिकाओं की दिवारों के फटने से रक्तपित्त रोग की उत्पत्ति होती है। विभिन्न कारणों से प्रकुपित दुष्ट पित्त की गरमी के कारण स्विन्न हुई मांसादि धातुओं से द्रवधातु का क्षरण तथा इस द्रव के संयोग से रक्त और तत्समानजातीय पित्त की भी वृद्धि होती है। इस प्रकार दुष्ट हुए प्रवृद्ध रक्त के शरीर से बाहर निकलने को रक्तपित्त कहते हैं—तैर्हेतुभिः समुत्क्लिष्टं पित्तं रक्तं प्रपद्यते। तद्योनित्वात् प्रपन्नं च वर्धते तत् प्रदूषयन्॥ तस्योष्मणा द्रवो धातुर्धातोर्धातोः प्रसिच्यते। स्विद्यमानस्तेन संवृद्धिं भूयस्तदधिगच्छति॥ पित्त एवं रक्त समानजातीय माने गये हैं। अत एव रक्त, पित्त तथा रक्तपित्त की चिकित्सा में बहुत साम्य पाया जाता है। अन्तर केवल इतना ही है कि कुछ रक्तस्रावी रोगों जिनमें जीवित रक्त निकल रहा हो, जैसे रक्तार्श में अत्यधिक रक्तस्राव होने से प्राणों का भय हो, उनमें सद्यः रक्तस्तम्भक योगों का प्रयोग किया जाता है। किन्तु जिनमें पित्तदूषित रक्त निकलता हो उनमें सद्योरक्तस्तम्भक योगों का प्रयोग शास्त्रविरुद्ध एवं हानिप्रद है, जैसा कि चरकाचार्य ने लिखा है—अक्षीणबलमांसस्य रक्तपित्तं यदश्नतः। तद्दोषदुष्टमुत्क्लिष्टं नादौ स्तम्भनमर्हति॥ सुश्रुताचार्य ने भी यही आशय प्रकट किया है—नादौ संग्राह्यमुद्रिक्तं यदसृग् बलिनोऽश्नतः। इस तरह यह निश्चित होता है कि जिन रोगों में पित्तदूषित रक्त अधिक निकले तथा जिनमें सद्यः स्तम्भक प्रयोगों से हानि की सम्भावना हो उन्हें रक्तपित्त कहते हैं, किन्तु जिनमें जीवित या शुद्ध रक्त निकलता हो तथा जिनमें सद्योरक्तस्तम्भक योगों के देने से कुछ भी हानि न होकर परिणाम में लाभ ही प्रतीत होता हो उन्हें केवल रक्तस्रावी रोग (Haemorrhagic diseases) समझना चाहिये। रक्तस्राव की प्रवृत्ति अनेक रोगों में पाई जाती है किन्तु उन सबको रक्तपित्त नहीं कहा जा सकता। अर्शसदृश जिन रोगों में जीवित या शुद्ध (पित्त से अदूषित) रक्त निकलता है उन रोगों का नामतः व्यवहार रोगनाम के पूर्व रक्त लगाने से किया जाता है, जैसे रक्तार्श (Bleeding piles), रक्तातिसार, रक्तष्ठीवन (Haemoptysis), रक्तवमन (Haematemesis), नासागत रक्तस्राव (Epistaxis), रक्तप्रदर (Metrorrhagia), मासिकधर्मकालीन अधिक रक्तस्राव (Menorrhagia), निलोहा (Purpura), शोणितप्रियता (Haemophilia) आदि। अत एव जहाँ रक्त पित्त से दूषित होकर किसी भी मार्ग से निकलता हो उसे रक्तपित्त रोग समझना चाहिये अन्यथा रक्तस्रुति। शोणितप्रियता एक आनुवंशिक तथा केवल पुरुषों में पाया जाने वाला रोग है। इनमें से जिस किसी रोग में रक्त जब तक पित्त से दूषित न होगा तब तक उसे रक्तपित्त नहीं कह सकते। रक्तस्राव की उत्पत्ति के भी अनेक कारण हो सकते हैं अतः चिकित्सा भी कारणानुरूप ही करनी चाहिये। रक्तपित्त भी एक रक्तस्रावी रोग है अतः जहाँ तक रक्तस्राव को रोकने का सम्बन्ध है यह अन्य रोगों के समान ही है किन्तु चिकित्सादृष्टि से इसमें अन्य रोगों से भिन्नता पाई जाती है। साधारण रक्तस्रावी रोगों में स्तम्भन ही किया जाता है किन्तु रक्तपित्त के रक्तस्राव में आवश्यकतानुसार स्तम्भन, शोधन एवं संशमन में से किसी का भी अवलम्बन किया जा सकता है अत एव 'प्रतिमार्गं च हरणं रक्तपित्ते विधीयते' के द्वारा प्रतिमार्गहरण या शोधन का उपदेश किया गया है। रक्तपित्तप्रवृत्तिहेतु—हृदय एवं रक्तवाहिनियों में रक्त सदैव द्रव रूप में रहता है। बाह्य पदार्थों के सम्पर्क में आने पर वह जम जाता है। रक्त के ये दोनों परस्पर विपरीत गुण जीवनरक्षा की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्व के हैं। रक्त तरल अवस्था में ही प्रवाहित होकर समग्र धातुओं को अहर्निश पुष्ट करता रहता है तथा बाह्य वातावरण के संयोगमात्र से जमने के गुण के कारण अपने विनाश को भी रोकता है। रक्त जमने का कार्य रक्तरसान्तर्गत विविध रासायनिक प्रतिक्रियाओं के कारण सम्पन्न होता है। रक्तस्राव होने पर सर्वप्रथम रक्त में कोई भौतिक दृश्यपरिवर्तन नहीं होता। प्रतिक्रियास्वरूप रक्तगत चक्रिकाओं (Blood platelets के गलने से घनास्रसन्धानि (Thromboplastin) की उत्पत्ति होती है। पूर्वघनास्रि (Prothrombin) रक्त में पूर्व से ही उपस्थित रहती है। इन दोनों के साथ चूना (जो कि बाह्य धातुओं में रहता है) का संयोग होने से घनास्रि (Thrombin) का निर्माण होता है। इसके पश्चात् रक्त जमने की वास्तविक प्रक्रिया प्रारम्भ होकर घनास्रि (Thrombin) और Fibrinogen के संयोग से Fibrin के रूप में परिणत हो जाती है जिससे रक्त जम जाता है। रक्त के जमने में रक्तकणिकाएं (Blood platelets) महत्त्व का भाग लेते हैं। जिन रोगों में या जिन अवस्थाओं में रक्तगत इन द्रव्यों की कमी या स्थावर-जङ्गम विष के कारण अथवा अन्य रोगोत्पादक जीवाणुविषों के कारण रक्तवाहिनियों की प्राचीर दुर्बल हो जाती है उन सब में रक्तस्राव की प्रवृत्ति पाई जाती है और यह कारणों की उग्रता के तारतम्य से उग्र,

उग्रतर और उग्रतम हो सकती है। रक्तपित्तप्रवृत्तिमार्ग— प्रमुखतया ऊपर और नीचे के दो मार्ग हैं। नासा, आँख, कान और मुँह ऊपरी प्रवृत्तिमार्ग हैं तथा मूत्रेन्द्रिय, योनि और गुदा ये नीचे की प्रवृत्ति के मार्ग हैं—ऊर्ध्वं नासाक्षिकर्णास्यैर्मेढ्रयोनिगुदैरधः। मूत्रेन्द्रिय से स्त्रीमूत्रेन्द्रिय का भी ग्रहण कर लेना चाहिए। ऊर्ध्वमार्गों में नासिका और मुख मुख्य मार्ग हैं। विभिन्नमार्गप्रवृत्त रक्तस्रावसंज्ञा—(१) नासाप्रवृत्त रक्तस्राव (Epistaxis)—इसके स्थानीय (Local) तथा सार्वदैहिक (General) दो प्रकार के कारण हैं। नासा पर आघात तथा रक्तवाहिनीगत अर्बुद आदि स्थानीय कारण हैं। सार्वदैहिक कारणों में रक्तचाप (H. B. P.) की वृद्धि, काला अजार, रक्तगत रोग जैसे पर्प्यूरा (Purpura), घातकपाण्डु (Pernicious anaemia, Scurvy), कामला (Jaundice), पैत्तिकरक्तस्रावप्रवृत्ति (Haemophilia) आदि रोग हैं। प्रायः नासा से रक्तस्रुति काला अजार के उपद्रवरूप में मुख्यतया हुआ करती है। आँख और कान से रक्तस्रुति बहुत कम देखने में आती है। उक्त रोगों में होने वाली रक्तस्रुति के रक्त की परीक्षा करके रक्तपित्त है या नहीं, सापेक्ष निदान करना चाहिए। अर्थात् यदि जीव रक्त निकलता हो तो रक्तस्रुति समझनी चाहिए एवं अजीव रक्त निकलता हो तो रक्तपित्त मानना चाहिए। निर्गत रक्त को अन्न के साथ मिश्रित कर कुत्ते तथा काक को खिलाना चाहिए। यदि ये प्राणी उसे खाने लगें तो जीवरक्त अन्यथा अजीव रक्त समझना चाहिए। दूसरी परीक्षा—रक्त को श्वेत वस्त्र में लगा कर सूखने के पश्चात् उष्णोदक से प्रक्षालित करने पर स्वच्छ न हो जाय तो रक्तपित्त का रक्त है तथा स्वच्छ हो जाय तो शुद्ध रक्तस्रुति है—तेनान्नं मिश्रितं दद्याद्वायसाय शुनेऽपि वा। भुंक्ते तच्चेद्वदेज्जीवं न भुंक्ते पित्तमादिशेत्॥ शुक्लं वा भावितं वस्त्रमावानं कोष्णवारिणा। प्रक्षालितं विवर्णं स्यात् पित्ते शुद्धन्तु शोणिते॥ इसके अतिरिक्त इन रक्तस्रुतियों के होने के पूर्व सम्प्राप्ति में सदन, शीतकामिता, कण्ठ में धूमप्रतीति, वमन और निःश्वास में लोहगन्ध का आना ये लक्षण हुए हों तो रक्तपित्त है; अन्यथा रक्तस्रुति। यह सापेक्ष रोगनिर्णय चिकित्सा की दृष्टि से है, क्योंकि रक्तपित्त की चिकित्सा और रक्तस्रुति की चिकित्सा में भिन्नता रहती है। अर्थात् रक्तपित्त में आत्ययिकावस्था को छोड़कर प्रथम स्तम्भक औषध न देकर संशोधन (वमन-विरेचन) कराया जाता है तथा रक्तस्रुति में प्रारम्भ से ही स्तम्भक चिकित्सा की जाती है। आयुर्वेद में रक्तपित्त को चिकित्सा की दृष्टि से स्वतन्त्र रोग माना है किन्तु आधुनिक विद्वान् इसे अनेक रोगों में पाया जाने वाला उपद्रव मानते हैं। (२) आमाशय तथा श्वासप्रणाली से होने वाला रक्तस्राव मुख द्वारा होता है। बिना खाँसी के आमाशय से होने वाले रक्तस्राव को रक्तवमन (Haematemesis) तथा खाँसी के साथ श्वासप्रणाली की केशिकाओं के फटने से कफ के साथ या कभी-कभी बिना कफ के भी आने वाले रक्त को रक्तष्ठीवन (Haemoptysis) कहते हैं। (३) कान से स्रुत होने वाले रक्त को ओटोरेजिया (Otorrhagia) कहते हैं। ये सब ऊर्ध्वग रक्तपित्त या रक्तस्रुति के रोग हैं। अधोग रक्तपित्त या रक्तस्रुति में निम्न रोग हैं—(१) मूत्रेन्द्रियप्रवृत्त रक्त हीमेचूरिया (Haematuria) कहा जाता है। (२) आर्तवकाल में योनि से प्रवृत्त अत्यधिक रक्तस्राव को मेनोरेजिया (Menorrhagia) कहते हैं। (३) आर्तवकाल के अतिरिक्त काल में योनि से होने वाले रक्तस्राव को रक्तप्रदर या मेट्रोरेजिया (Metrorrhagia) कहते हैं। इनके अतिरिक्त प्रवाहिका, रक्तातिसार, रक्तार्श और दुष्टव्रण (केन्सर) में भी गुदमार्ग द्वारा रक्त निकलता है जिनके भिन्न-भिन्न लक्षण होते हैं। इनमें रक्तपित्त का रक्त है या इन रोगों के कारण रक्त निकल रहा है यह ज्ञान इन रोगों के अपने-अपने लक्षण मिला कर तथा रक्तपित्त की पूर्वोक्त विशिष्ट सम्प्राप्ति एवं पित्त द्वारा रक्तदुष्टि और अजीव रक्तपरीक्षा आदि साधनों से सापेक्ष निदान कर चिकित्सा करनी चाहिए। आयुर्वेद के अन्दर एक तीसरे प्रकार का भी रक्तपित्त होता है, जिसे उभयमार्गी या संसृष्ट रक्तपित्त कहते हैं। इनमें ऊर्ध्वग कफसंसृष्ट, अधोग वातानुगत तथा उभयमार्गी कफवातानुबन्धी होता है—ऊर्ध्वगं कफसंसृष्टमधोगं पवनानुगम्। द्विमार्गं कफवाताभ्यामुभाभ्यामनुवर्तते॥ (च० चि० अ० ४) समस्तै रोमकूपैः प्रवर्तते—अत्यधिक प्रकुपितावस्था में रक्तपित्त की प्रवृत्ति समस्त रोमकूपों से होती है, किन्तु ऐसी स्थिति में त्वचा से बाहर रक्तस्राव नहीं पाया जाता। नीलोहा (Purpura) में त्वचा के नीचे रक्तस्राव होता है, जिससे त्वचा में लाल धब्बे बाहर से दिखलाई देते हैं, किन्तु यह रक्त त्वचा से बाहर नहीं आता है। इस रोग में श्लेष्मलकला तथा नासिका आदि से भी रक्तस्राव की प्रवृत्ति होती है।

क्रोधशोकभयायासविरुद्धान्नातपानलान्।
कट्वम्ललवणक्षारतीक्ष्णोष्णातिविदाहिनः॥ ३॥
नित्यमभ्यसतो दुष्टो रसः पित्तं प्रकोपयेत्।
विदग्धं स्वगुणैः पित्तं विदहत्याशु शोणितम्॥ ४॥
ततः प्रवर्त्तते रक्तमूर्ध्वं चाधो द्विधाऽपि वा॥ ५॥

रक्तपित्तस्य निदानं सम्प्राप्तिश्च—क्रोध, शोक, भय, परिश्रम, देशकाल-सात्म्य-संयोगादिविरुद्ध भोजन, धूप, अग्नि तथा कटु (चरपरे), अम्ल और लवण रस एवं क्षार, तीक्ष्ण, उष्ण और विदाही पदार्थों के नित्य सेवन करने से दूषित हुआ रस पित्त को प्रकुपित कर देता है तथा स्नेह, उष्ण, तीक्ष्ण आदि स्वकारण गुणों से तथा तीक्ष्ण, अम्ल, लवण, कटु आदि गुणों से भी विदग्ध हुआ पित्त शीघ्र ही रक्त को भी विदग्ध कर देता है और यह विदग्ध रक्त नासा, नेत्र, कर्ण और मुख आदि ऊर्ध्व मार्ग तथा मूत्रेन्द्रिय, योनि और गुद आदि नीचे के मार्ग और कभी-कभी उभय मार्गों से (तथा कुपित होकर समस्त रोमकूपों से) भी प्रवर्तित होता है॥ ३—५॥

विमर्शः—रक्तपित्तोत्पत्तिहेतु—पूर्वकाल में दक्ष के यज्ञ के ध्वंस के समय प्रकुपित शिव की क्रोधाग्नि से ज्वर के अनन्तर रक्तपित्त की उत्पत्ति हुई थी—रक्तपित्तप्रकोपस्तु खलु पुरा दक्षयज्ञोद्ध्वंसे रुद्रकोपामर्षाग्निना प्राणिनां परिगतशरीरप्राणानामभवज्ज्वरमनु। (च. नि. अ. २) इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि पित्त-प्रकोप से रक्तपित्त उत्पन्न होता है। पित्तप्रकोपककारणानि चरके—'यदा जन्तुर्यवकोद्दालककोरदूषप्रायाण्यन्नानि भुंक्ते, भृशोष्णतीक्ष्णमपि चान्यदन्नजातं निष्पावमाषकुलत्थसूपक्षारोपसंहितं, दधिदधिमण्डोदश्वित्कट्वराम्लकाञ्जिकोपसेकं

वा, वाराहमाहिषाविकमात्स्यगव्यपिशितं, पिण्याकपिण्डालुशुष्कशाकोपहितं, मूलकसर्षपलशुनकरञ्जशिग्रुमधुशिग्रुभूस्तृणसुमुखसुरसकुठेरकगण्डीरकालमालकपर्णासक्षवकफणिज्झकोपदंशं, सुरासौवीरतुषोदकमैरेयमेदकमधूलकशुक्तकुवलबदराम्लप्रायानुपानं वा, पिष्टान्नोत्तरभूयिष्ठम्। उष्णाभितप्तो वाऽतिमात्रमतिवेलं वाऽऽमं पयः पिबति, पयसा समश्नाति रौहिणीकं, काणकपोतं वा सर्षपतैलक्षारसिद्धं, कुलत्थपिण्याकजाम्बवलकुचपक्वैः शौक्तिकैर्वा सह क्षीरं पिबत्युष्णाभितप्तः, तस्यैवमाचरतः पित्तं प्रकोपमापद्यते, लोहितञ्च स्वप्रमाणमतिवर्तते। तस्मिन्प्रमाणातिवृत्ते पित्तं प्रकुपितं शरीरमनुसर्पद्यदेव यकृत्प्लीहप्रभवाणां लोहितवहानाञ्च स्रोतसां लोहिताभिष्यन्दगुरूणि मुखान्यासाद्य प्रतिरुन्ध्यात् तदेव लोहितं दूषयति॥ (च. नि. अ. २)

आमाशयाद् व्रजेदूर्ध्वमधः पक्वाशयाद् व्रजेत्।
विदग्धयोर्द्वयोश्चापि द्विधा मार्गं प्रवर्त्तते ।
केचित् सयकृतः प्लीह्नः प्रवदन्त्यसृजो गतिम् ॥ ६ ॥

रक्तस्य प्रवर्तनमार्गाः—प्रकुपित पित्त से विदग्ध हुआ रक्त आमाशय से ऊपर की ओर जाकर मुख, नासा आदि ऊर्ध्व मार्गों से बाहर निकलता है तथा उक्त कारणों से विदग्ध हुआ रक्त पक्वाशय (बृहदन्त्र) से नीचे की ओर जाकर गुदा, मूत्रमार्ग और योनि आदि अधोमार्गों से बाहर निकलता है तथा आमाशय और पक्वाशय इन दोनों में विदग्ध (दूषित) हुआ रक्त पूर्वोक्त ऊर्ध्व तथा अध इन दोनों मार्गों से प्रवृत्त होता है। कई आचार्य रक्त की ऊर्ध्व तथा अधो मार्गों की ओर होने वाली गति यकृत् और प्लीहा से मानते हैं ॥ ६ ॥

विमर्शः—सुश्रुताचार्य ने रक्तपित्त में रक्त की ऊर्ध्व, अध और उभय ऐसी तीन प्रकार की गति मानी है। इसी तरह चरकाचार्य ने भी निदानस्थान में रक्तपित्त की मुख्यतया ऊर्ध्व और अध द्विविध गति तथा उभयविध गति का भी वर्णन किया है—'मार्गौ पुनरस्य द्वौ ऊर्ध्वञ्चाधश्च। तद्बहुश्लेष्मणि शरीरे श्लेष्मसंसर्गादूर्ध्वं प्रतिपद्यमानं कर्णनासिकानेत्रास्येभ्यः प्रच्यवते, बहुवाते तु शरीरे वातसंसर्गादधः प्रतिपद्यमानं मूत्रपुरीषमार्गाभ्यां प्रच्यवते, बहुश्लेष्मवाते तु शरीरे श्लेष्मवातसंसर्गात् द्वावपि मार्गौ प्रतिपद्यते, तौ मार्गौ प्रतिपद्यमानं सर्वेभ्य एव यथोक्तेभ्यः खेभ्यः प्रच्यवते शरीरस्य' (च. नि. अ. २) इसके अतिरिक्त चरकाचार्य ने ऊर्ध्वगति के उत्तमाङ्ग तथा मुख में (दो नेत्र, दो नासा, दो कर्ण और एक मुख) सप्त छिद्र होने से सात द्वार या सात भेद तथा नीचे की ओर मल और मूत्र मार्ग दो होने से अधोगति के द्विद्वार या दो भेद मान लिये हैं। एवं जब रक्त सर्व रोमकूपों के छिद्रों से प्रवृत्त होता है तब उसकी असंख्येय गति मानी है—गतिरूर्ध्वमधश्चैव रक्तपित्तस्य दर्शिता। ऊर्ध्वा सप्तविधद्वारा द्विद्वारा त्वधरा गतिः॥ सप्त छिद्राणि शिरसि द्वे चाधः'''॥ यदा तु सर्वच्छिद्रेभ्यो रोमकूपेभ्य एव च। वर्तते तामसंख्येयां गतिं तस्याहुरान्तिकीम्॥ (च. चि. अ. ४)

केचित् सयकृतः— वास्तव में यकृत और प्लीहा आयुर्वेद में रक्त के स्थान माने गये हैं—'शोणितस्य स्थान यकृत्प्लीहानौ' (सु. सू. अ. २१) आधुनिक दृष्टि से देखी जाय तब भी यकृत् और प्लीहा शरीरगत रक्त के भण्डार (Blood depot or Reservoir) माने गये हैं। वास्तव में शरीर के भीतर यकृत् और प्लीहा के अतिरिक्त अन्य कोई अवयव ऐसे नहीं हैं जहाँ पर रक्त सञ्चित रहता है और जो आवश्यक समय पर शरीर को रक्त दे सकते हैं। इसलिये यकृत् और प्लीहा रक्ताशय होने से जब उनमें का रक्त विदग्ध हो जाता है तब वह ऊर्ध्व और अधः मार्गों से प्रवृत्त होता है। रस और रक्त का अभेद मानने से हृदय भी रक्ताशय माना जा सकता है—'आहारस्य यः सारः स रसः इत्युच्यते। तस्य च हृदयं स्थानम्' (सु. सू. अ. १४) 'अहरहर्गच्छतीति रसस्तस्य च स्थानं हृदयम्' (सु. सू.) किन्तु आशय में उस द्रव्य का कुछ काल तक अवस्थान होना आवश्यक है। हृदय में रक्त क्षण भर भी ठहरता नहीं है। इसलिये हृदय को रक्ताशय मानना उचित प्रतीत नहीं होता। हाराणचन्द्रजी ने रक्ताशय से त्वचादि अवयवों को माना है—'शोणितस्य स्थानं यकृत्प्लीहानौ इति स्थितेऽपि रक्ताशयशब्देनेह त्वगादय एवाभिप्रेयन्ते, पारिशेष्यात् 'रक्तस्याधः क्रमात्परे' इति तन्त्रान्तरीयाच्च' परन्तु गुरुवर्य घाणेकरजी ने इसे उचित नहीं माना है। स्व० गुरुवर्य म० म० गणनाथसेनजी प्रत्यक्षशारीर प्रस्तावना में इन आशयों के सम्बन्ध में पुनरुक्ति दोष बताते हैं तथा रक्ताशय से हृदय मानते हैं—'आशयपदार्थाज्ञानादर्थव्याकुलीभावश्च प्रतिसंस्कर्तृकृतः प्रसङ्गाद्यथा तस्य पुनः संख्यानम् इत्याद्युपक्रम्य तत्रैव आशयास्तु वाताशय इति पुनरुक्तौ। न हि हृदयफुप्फुसान्त्रादिभ्यः पृथक् न सन्ति रक्ताशयश्लेष्माशयपक्वाशयाद्या आशयाः क्वचिदपि लभ्यमानवैद्यके प्रत्यक्षदर्शने वेति, नूनमर्थाज्ञानमूलोऽयं पृथङ्निर्देशः।' अस्तु, इस पर श्री घाणेकरजी का मत है कि यदि ऊपर बताये हुये दृष्टिकोण से आशयों की ओर देखा जाय तो पुनरुक्ति होने पर भी उसका दोष दूर होता है। यकृत् और प्लीहा के सम्बन्ध में ऊपर जो उपलब्ध वैद्यक ग्रन्थों के उद्धरण दिये गये हैं, उनसे शरीर में हृदय के अतिरिक्त भी रक्त के आशय यकृत् प्लीहा होते हैं यह सिद्ध होता है। अत एव रक्ताशय से यकृत् और प्लीहा को मानने में न स्वतन्त्र विरोध है और न परतन्त्र का विरोध है और न ही प्रत्यक्ष में विरोध होता है। शार्ङ्गधर के आशयवर्णन की टीका में आढमल्ल स्पष्ट लिखते हैं—'जीवरक्ताशय इति—जीवतुल्यं रक्तं, तस्य आशयः स्थानं तच्च प्लीहा इति प्रसिद्धं हृदयस्य वामभागाश्रितं भवति॥' चरकाचार्य ने भी इस विदग्ध हुए रक्त की प्रवृत्ति यकृत् और प्लीहा से होती है ऐसा माना है और कहा है कि प्राणियों के रक्तवाहक स्रोतसों का मूल स्थान यकृत् और प्लीहा होते हैं—'प्लीहानं च यकृच्चैव तदधिष्ठाय वर्तते। स्रोतांसि रक्तवाहीनि तन्मूलानि हि देहिनाम्॥' (च० चि० अ० ४) चक्रपाणि ने इसी आशय को स्पष्ट करते हुये यकृत् और प्लीहा को ही रक्त का प्रधान स्थान माना है—'कस्माद्यकृत्प्लीह्नोरेव तद्वर्तत इत्याह स्रोतांसीत्यादि। यस्माद्रक्तस्यापि यकृत्प्लीहानावेव प्रधानं स्थानं तेन रक्तसंयोगादिनिष्पन्नस्य रक्तपित्तस्य तदेव स्थानमिति भावः। अस्तु, यह सब होते हुये भी यथार्थता यह है कि वास्तव में यकृत् रक्त का भण्डार न होकर रस रञ्जन करने का स्थान है, क्योंकि यकृत् और प्लीहा में रञ्जक पित्त होता है तथा वह रस को रञ्जित कर रक्त में परिणत करता है—'यकृत्प्लीह्नोस्तु रञ्जकं पित्तं स रसस्य रागकृदुक्तः' रञ्जितास्तेजसा तेन शरीरस्थेन देहिनाम्। अव्यापन्नाः प्रसन्नेन रक्तमित्यभिधीयते॥ (सु० सू०) आधुनिक दृष्टि से रक्तकण अस्थिमज्जा में बनते हैं

और वे रस को रञ्जित करते हैं। आधुनिकों ने अभी तक तो यकृत् को ग्लायकोजन का भण्डार माना है। रक्त का वास्तविक आशय तो हृदय ही होना चाहिए। यद्यपि वह रक्त को शरीर में परिपम्पित करने वाला अङ्ग है, किन्तु जब उसमें रक्त होगा या वह रक्ताशय (कूपतडागादिजलाशयवत्) होगा तभी तो सारे शरीर में रक्त भेज सकेगा। वहाँ रक्त क्षणमपि रहता नहीं, यह बात अन्य टीकाकारों की सत्य है, किन्तु प्रत्येक समय हृदय में रक्त कुछ न कुछ अंश विद्यमान ही रहता है, इसे भी नहीं भूलना चाहिए। अस्तु, ऊपर जो रक्तपित्त की गतियाँ बताई हैं उनमें मुखादि ऊर्ध्व मार्ग से निकलने वाले रक्तपित्त में कफ का अनुबन्ध, गुदादि अधोमार्गों से निकलने वाले रक्तपित्त में वात का अनुबन्ध तथा दोनों मार्ग से निकलने वाले रक्तपित्त में वात और कफ दोनों का अनुबन्ध रहता है—ऊर्ध्वगं कफसंसृष्टमधोगं पवनानुगम् द्विमार्गं कफवाताभ्यामुभाभ्यामनुवर्तते ॥ (च० चि० अ० ४) वास्तव में निदानवैचित्र्य के कारण ऊर्ध्वग या अधोग रक्तपित्त की उत्पत्ति होती है। स्निग्धोष्ण पदार्थों के सेवन से ऊर्ध्वग रक्तपित्त तथा रूक्षोष्ण पदार्थों के सेवन से अधोग रक्तपित्त की उत्पत्ति होती है, जैसा कि चरकाचार्य ने कहा है—स्निग्धोष्णमुष्णरूक्षञ्च रक्तपित्तस्य कारणम्। अधोगस्योत्तरं प्रायः पूर्वं स्यादूर्ध्वगस्य तु ॥

ऊर्ध्वं साध्यमधो याप्यमसाध्यं युगपद्गतम् ॥ ७ ॥

मार्गभेदेन साध्यत्वादिकम्—ऊर्ध्वग रक्तपित्त साध्य, अधोग याप्य तथा उभय मार्ग से प्रवृत्त रक्तपित्त असाध्य होता है ॥

विमर्शः—ऊर्ध्वं नासाक्षिकर्णास्यतः, अधो मेढ्रयोनिगुदतः, तदुक्तम्—ऊर्ध्वं नासाक्षिकर्णास्यैर्मेढ्रयोनिगुदैरधः। कुपितं रोमकूपैश्च समस्तैस्तत् प्रवर्तते ॥ डल्हणाचार्य ने लिखा है कि ऊर्ध्वग रक्तपित्त का रोगी वक्ष्यमाण दौर्बल्यादि उपद्रवों से रहित हो तथा वक्ष्यमाण मांसप्रक्षालनाभादि असाध्य लक्षणों से भी रहित हो एवं एक दोष का ही सम्बन्ध हो तब वह साध्य होता है, किन्तु वही ऊर्ध्वग रक्तपित्त प्रथम चिकित्सा से शान्त होकर पुनर्मिथ्या आहार विहार से उत्पन्न हो गया हो तथा मार्गान्तर से निकल रहा हो, अल्प उपद्रव युक्त भी हो तथा कुछ असाध्यता के लक्षणों से भी युक्त हो एवं दो दोषों के सम्बन्ध से युक्त हो तब उसे याप्य समझना चाहिए और जब वही ऊर्ध्वग रक्तपित्त अनेक उपद्रवों से युक्त हो, अनेक असाध्य लक्षणों से भी जुष्ट हो एवं तीनों दोषों के सम्पर्क से उत्पन्न हुआ हो तब उसे असाध्य ही समझना चाहिए। इसी प्रकार अधोग रक्तपित्त के विषय में भी लिखा है कि जब वह अल्प उपद्रवों से युक्त, असाध्य लक्षणों से रहित और दो दोषों के लक्षणों से युक्त हो तब उसे याप्य समझो किन्तु जब वह त्रिदोष लक्षणों से जुष्ट हो और असाध्य लक्षणों से भी युक्त हो तब उसे वर्ज्य समझो। किन्तु यदि वही अधोग रक्तपित्त एक दोष से युक्त, उपद्रवों से रहित एवं वर्ज्य (असाध्य) लक्षणों से भी असंयुक्त हो तब उसे साध्य ही समझना चाहिए। उभयमार्गप्रवृत्त रक्तपित्त के लिए लिखा है कि जब वह त्रिदोष प्रकोप से युक्त हो, अनेक उपद्रव भी उसमें विद्यमान हों तथा असाध्य लक्षणों से भी युक्त हो तब उसे असाध्य समझना चाहिए। किन्तु इन लक्षणों से विपरीत हो तो वह ऊर्ध्वमार्गप्रवृत्त रक्तपित्त भी याप्य हो सकता है। इस प्रकार डल्हणाचार्य ने ऊर्ध्वग, अधोग और उभयमार्गी तीनों रक्तपित्तों की, मार्ग के महत्त्व को वैशिष्ट्य न देते हुए दोष, लक्षण तथा उपद्रव इनकी अल्पता और अधिकता के विचार से, साध्यता, असाध्यता और याप्यता का वर्णन किया है। माधव की मधुकोषटीका में लिखा है कि ऊर्ध्वग रक्तपित्त कफ और पित्त से संश्लिष्ट होता है तथा कषाय और तिक्त रस कफ और पित्त को नष्ट करने में योग्य हैं तथा विरेचन भी पित्त के हरण करने में प्रधान और श्रेष्ठ उपाय है। अत एव वह साध्य कहा गया है, किन्तु अधोग रक्तपित्त में वात और पित्त का संयोग रहता है, जिन्हें कि एक ही मधुर रस जीत सकता है और यदि नीचे प्रवृत्त हुये रक्तपित्त के वेग को वमन द्वारा प्रतिमार्ग हरण किया जाय तो वह केवल निम्नप्रवृत्त वेगमात्र को रोक सकता है, पित्त को या वात को नष्ट नहीं कर सकता। इसके अतिरिक्त अधिक वमन कराने से भी वात और पित्त की अन्ततोगत्वा अनुपाततः वृद्धि भी हो सकती है। अतः वमनसाध्य एवं औषधियों की अत्यल्पता के कारण अधोग रक्तपित्त याप्य माना गया है और उभय मार्गप्रवृत्त रक्तपित्त में पित्त के साथ वात और कफ दोनों की विशेषता रहती है। इस अवस्था में रक्तपित्त की प्रवृत्ति उभय मार्ग से होती है। दोनों में से किसी भी मार्ग से निर्हरण करना अतिमात्र रक्तस्राव का जनक होने से प्राणघाती हो सकता है। अतः वमन-विरेचन के अयोग्य या विरुद्धोपक्रम होने से उभयमार्गज रक्तपित्त असाध्य माना गया है। यही आशय चरकाचार्य ने निम्नरूप से लिखा है—'तत्र यदूर्ध्वभागं तत्साध्यं विरेचनोपक्रमणीयत्वाद् बह्वौषधत्वाच्च, यदधोभागं तद्याप्यं वमनोपक्रमणीयत्वादल्पौषधत्वाच्च, यदुभयभागं तदसाध्यं वमनविरेचनायोगित्वादनौषधत्वाच्च—साध्यं लोहितपित्तं तद्यदूर्ध्वं प्रतिपद्यते। विरेचनस्य योग्यत्वाद्बहुत्वाद्भेषजस्य च ॥ विरेचनं हि पित्तस्य जयाय परमौषधम् ॥ (च. नि. अ. २) यश्च तत्रान्वयः श्लेष्मा तस्य चानधमं स्मृतम्। भवेद्योगावहं तत्र मधुरञ्चैव भेषजम् ॥ तस्मात्साध्यं मतं रक्तं यदूर्ध्वं प्रतिपद्यते। रक्तन्तु यदधो भागं तद्याप्यमिति निश्चितम् ॥ वमनस्याल्पयोगित्वादल्पत्वाद्भेषजस्य च। वमनं हि न पित्तस्य हरणे श्रेष्ठमुच्यते ॥ यश्च तत्रान्वयो वायुस्तच्छान्तौ चावरं स्मृतम्। तच्चायोगावहं तत्र कषायं तिक्तकानि च ॥ तस्माद्याप्यं समाख्यातं यदुक्तमनुलोमगम्। रक्तपित्तन्तु यन्मार्गौ द्वावपि प्रतिपद्यते ॥ असाध्यमिति तज्ज्ञेयं पूर्वोक्तादेव कारणात्। नहि संशोधनं किञ्चिदस्त्यस्य प्रतिमार्गगम् ॥ प्रतिमार्गञ्च हरणं रक्तपित्ते विधीयते ॥ (च. नि. अ. २) चरकाचार्य ने चिकित्सा स्थान में दोष तथा मार्ग उभय के अनुसार भी रक्तपित्त की साध्यासाध्यता का विवेचन किया है—एकदोषानुगं साध्यं द्विदोषं याप्यमुच्यते। यत्त्रिदोषमसाध्यं तन्मन्दाग्नेरतिवेगवत् ॥ व्याधिभिः क्षीणदेहस्य वृद्धस्यानश्नतश्च यत्। एकदोषानुगामी साध्य, द्विदोषानुगामी याप्य तथा त्रिदोषानुगामी रक्तपित्त असाध्य होता है। दोषों के अतिरिक्त मन्दाग्निवाले रोगी का अतिप्रवृत्त रक्तपित्त तथा अनेक रोगों से क्षीणदेह वाले का रक्तपित्त और वृद्ध तथा अनशन करने वाले का रक्तपित्त असाध्य होता है। एकमार्गिरक्तपित्तस्य साध्यता—एकमार्गं बलवतो नातिवेगं नवोत्थितम्। रक्तपित्तं सुखे काले साध्यं स्यान्निरुपद्रवम् ॥ (च. चि. अ. ४) यहाँ पर एक मार्ग से ऊर्ध्वग मार्ग को साध्यता का दर्शक माना है, क्योंकि अधोग याप्य

तथा उभयमार्गी असाध्य होते हैं, जैसा कि चक्रपाणि ने भी लिखा है—'एकमार्गमिति सामान्यवचनेऽप्यूर्ध्वगमेव लभ्यते, अधोगस्यैकमार्गगस्यापि याप्यत्वात् ' सुखकाल का तात्पर्य हेमन्त और शिशिर ऋतु हैं। इस तरह चरकाचार्य ने दोष, लक्षण और मार्ग भेद से यहाँ पर रक्तपित्त की साध्यता, याप्यता और असाध्यता का वर्णन किया है। किसी रोगी में साध्य और याप्य के लक्षणों का मेल होने से साध्य भी याप्य कोटि में चला जाता है। इसी प्रकार याप्य असाध्य से युक्त होने पर असाध्य ही हो जाता है। जैसे एकदोषज अधोगत रक्तपित्त एकदोषज होनेसे साध्य, किन्तु वह अधोग होने से याप्य हो जाता है। इसी प्रकार त्रिदोष और अधोग का मेल होने से असाध्यता हो जाती है, जैसा कि चरक में लिखा है—नासाध्यः साध्यतां याति साध्यो याति त्वसाध्यताम्। अन्यच्च—साध्या याप्यत्वमायान्ति याप्याश्चासाध्यतां तथा॥ इस तरह मार्गभेद तथा दोषभेद से साध्यासाध्यता का आपाततः विरोध होने पर अर्शोरोग में प्रतिपादित दोषभेद तथा वलिभेद के सदृश इनका समीकरण भी निम्न प्रकार से करना चाहिए। उपद्रवों से रहित एकदोषज ऊर्ध्वग रक्तपित्त साध्य होता है। यही द्विदोषज तथा अल्पोपद्रव होने से याप्य और त्रिदोषज तथा अनेकोपद्रव युक्त होने पर असाध्य हो सकता है। एकदोषज तथा अल्पोपद्रव युक्त अधोग रक्तपित्त याप्य, द्विदोषज होने पर असाध्य तथा त्रिदोषज एवं बहुत उपद्रव होने पर असाध्य ही रहता है। त्रिदोषज, बहूपद्रवयुक्त तथा उभय मार्ग से प्रवृत्त रक्तपित्त असाध्य होता है। यह द्विदोषज तथा अल्पोपद्रव या उपद्रवरहित होने पर असाध्य या याप्य हो सकता है।

सदनं शीतकामित्वं कण्ठधूमायनं वमिः।
लोहगन्धिश्च निःश्वासो भवत्यस्मिन् भविष्यति॥ ८॥

रक्तपित्तस्य पूर्वरूपम्—अङ्गों में सदन (शिथिलता), शीतल पदार्थों के सेवन की इच्छा, कण्ठ से धूमनिर्गमन या कण्ठ धूम से व्याप्त है ऐसी प्रतीति, वमन तथा श्वास में लोह या रक्त जैसी गन्ध का अनुभव होना ये होने वाले रक्तपित्त के पूर्वरूप के लक्षण हैं॥ ८॥

विमर्शः—सदनमङ्गग्लानिः शीतकामित्वं शीतेऽभिलाषः कण्ठधूमायनं कण्ठाद् धूमनिर्गमनमिव वेदना किंवा कण्ठे धूमोद्गमनमिव वेदना किंवा कण्ठाद् धूमनिर्गमनमिव प्रतीतिः। मुख से धूम निकलने की प्रतीति सुश्रुतसेनोक्त पित्त के सामान्य कर्मों का परिणाम मात्र है। रक्तपित्त पित्तविकृतिजन्य रोग है। अतः पित्तशान्त्यर्थं शीतल पदार्थों की इच्छा उत्पन्न होना स्वाभाविक है। लोहगन्धिश्च—(१) कुछ लोग इसका अर्थ करते हैं कि यदि लोहे के बर्तन में दो तीन दिन पानी पड़ा रहे तो उससे उस पात्र में मोर्चाभवन (Rusting) की क्रिया से किट्ट उत्पन्न हो जाने से उस किट्टयुक्त पानी से जो गन्ध आती है वैसी ही गन्ध श्वास में आती है। अत एव इसे लोहगन्धि कहते हैं। (२) कुछ विद्वान् अग्नि में पिघले हुए लोहे की गन्ध के समान इस गन्ध को मानते हैं—'ध्मायमानलोहस्येव श्वासे गन्धः' (३) लोहे को गरम कर पानी में बुझाने से जैसी गन्ध आती है वैसा भी अर्थ कुछ लोग करते हैं। यह रक्तपित्त का विशिष्ट पूर्वरूप है। गुरुवर्य म० म० सेनजी ने तो इसके साथ मुख में मछली के सदृश गन्ध की प्रतीति का भी वर्णन किया है—'शोणितच्छर्दनं वक्त्रे लोहमत्स्यसगन्धता' वस्तुतः लोह रक्तगत हीमोग्लोबीन (Haemoglobin) का घटक है अतः रक्तपित्त में उसकी गन्ध आना भी स्वाभाविक है। इसी आशय से अपने महर्षियों ने रक्त का पर्याय लोहित (लोहेन युक्तं लोहितम्) ऐसा अन्वर्थक रखा है। चरक और वाग्भट ने भी मत्स्यगन्धता को रक्तपित्त का पूर्वरूप माना है। इसके अतिरिक्त लोहगन्धता तथा लोहितगन्धता का पृथक्-पृथक् वर्णन किया है—'तस्येमानि पूर्वरूपाणि भवन्ति, तद्यथा—अनन्नाभिलाषो भुक्तस्य विदाहः शुक्ताम्लगन्धरस उद्गारश्छर्देरभीक्ष्णागमनं छर्दितस्य बीभत्सता, स्वरभेदो, गात्राणां सदनं परिदाहो मुखाद् धूमागम इव लोहलोहितमत्स्यामगन्धित्वमपि चास्यस्य, रक्तहरितहारिद्रत्वमङ्गावयवशकृन्मूत्रस्वेदलालासिंघाणकास्यकर्णमलपिडकोलिकापिडकानामङ्गवेदनालोहितनीलपीतश्यावानामर्चिष्मताञ्च रूपाणां स्वप्ने दर्शनमभीक्ष्णमिति लोहितपित्तपूर्वरूपाणि भवन्ति।' (च० नि० अ० २) वाग्भटेऽपि—शिरोगुरुत्वमरुचिः शीतेच्छा धूमकोऽम्लकः। छर्दिश्छर्दितबैभत्स्यं कासः श्वासो भ्रमः क्लमः॥ लोहलोहितमत्स्यामगन्धास्यत्वं स्वरक्षयः। रक्तहारिद्रहरितवर्णता नयनादिषु॥ नीललोहितपीतानां वर्णानामविवेचनम्। स्वप्ने तद्वर्णदर्शित्वं भवत्यस्मिन् भविष्यति॥

बाह्यासृग्लक्षणैस्तस्य सङ्ख्यादोषोच्छ्रितीर्विदुः॥९॥

रक्तपित्तस्य सङ्ख्या दोषोच्छ्रयश्च—शोणितवर्णनीय अध्याय में कहे हुए फेनिल, अरुण आदि बाह्य रक्तलक्षणों से उस रक्तपित्त की सप्तविध संख्या और दोषोल्बणता समझनी चाहिये॥ ९॥

विमर्शः—यद्यपि सुश्रुताचार्य ने फेनिल, अरुण आदि रक्त लक्षणों के आधार पर रक्तपित्त के भेद होना स्वीकृत किया है तथा डल्हणाचार्य ने पृथक्-पृथक् दोषों से तीन, दो-दो दोषों से तीन और सर्वदोषों से मिलित एक ऐसे उसकी सप्तसंख्या भी स्वीकृत कर ली है, किन्तु उन सातों के लक्षण नहीं लिखे हैं। चरकाचार्य ने पृथक्-पृथक् लक्षण दिये हैं—सान्द्रं सपाण्डु सस्नेहं पिच्छिलञ्च कफान्वितम्। श्यावारुणं सफेनञ्च तनु रूक्षञ्च वातिकम्॥ रक्तपित्तं कषायाभं कृष्णं गोमूत्रसन्निभम्। मेचकागारधूमाभमञ्जनाभञ्च पैत्तिकम्॥ संसृष्टलिङ्गं संसर्गात् त्रिलिङ्गं सान्निपातिकम्॥ (च० चि० अ० ४) ईषत्पाण्डुवर्ण, घन, स्नेहयुक्त तथा पिच्छिलतायुक्त रक्तपित्त को कफज एवं श्याव तथा अरुणवर्ण मिश्रित एवं झागदार, पतले और रूक्ष स्रवित होने वाले रक्तपित्त को वातज तथा वट आदि के क्वाथ के वर्ण के, काले या गोमूत्र के वर्ण के अथवा मेचक (मसृणीकृतकृष्णमणिवर्ण के समान) अर्थात् चिक्कण कृष्ण वर्ण, किंवा गृहधूम या अञ्जन के सदृश काले वर्ण के रक्तपित्त को पैत्तिक तथा वात आदि दो दोषों के सम्मिलित लक्षणों से द्वन्द्वज तथा तीनों दोषों के मिश्रित लक्षणों से सन्निपातज रक्तपित्त समझना चाहिये। डल्हणाचार्य ने लिखा है कि विदग्ध पित्त से विदग्ध हुआ रक्तपित्त कहा जाता है। पुनः वह पित्त से पृथक् कैसे अन्य भेदवाला हो जाता है इसका उत्तर दिया कि रक्तान्तर के संसर्ग से अन्य दोषों का भी सम्बन्ध हो जाता है। माधवटीका मधुकोष में भी शङ्का की है कि जब सभी रक्तपित्त पित्त के द्वारा ही उत्पन्न होते हैं तो पुनः पित्तज रक्तपित्त का पृथक्

वर्णन क्यों किया गया ? इसका उत्तर लिखा है कि यद्यपि सभी रक्तपित्त पित्तज ही हैं, तथापि जिस अवस्था में स्वस्थान में अवस्थित पित्त (पाचक, भ्राजक आदि) रक्तपित्त की उत्पत्ति करते हुये दूसरे स्थान में स्थित पित्त के साथ संयुक्त होता है अथवा बिना दूसरे दोषों से संयुक्त हुए ही स्वतन्त्र रूप में केवल पित्त ही रक्तपित्त का उत्पादक होता है उस अवस्था में ही पैत्तिक रक्तपित्त यह व्यवहार किया जाता है। किन्तु सभी रक्तपित्तों को, कफयुक्त या वातयुक्त कहा है। 'ऊर्ध्वगं कफसंसृष्टमधोगं पवनानुगम्' इन दोनों मार्गों के अतिरिक्त पित्त का निष्क्रमणमार्ग भी शास्त्र में स्वतन्त्र नहीं बताया गया है। इस आधार पर यदि कोई कहे कि रक्तपित्त केवल पैत्तिक नहीं होता तो वह भी ठीक नहीं है। क्योंकि जब पित्त अपने प्रकोपक कारणों से प्रकुपित वात या कफ से युक्त होता है तभी वातिक या कफज व्यवहार भी उपयुक्त है। केवल मार्ग की महिमा से सम्बद्ध वात या कफ से व्यवहार नहीं किया जाता। जैसे शरद् ऋतु में ज्वर को उत्पन्न करने वाला पित्त काल की महिमा से कफ से अनुबद्ध रहता है, तथापि इसे पैत्तिक ज्वर ही कहा जाता है। कहा भी है—'कुर्यात् पित्तञ्च शरदि तस्य चानुबलः कफः'। इसी प्रकार जब रक्तपित्त एक दोष लक्षणों से युक्त होता है तो उसे एकदोषज कहते हैं और दो दोषों के लक्षणों से द्विदोषज तथा त्रिदोषों के लक्षणों से युक्त होने पर त्रिदोषज रक्तपित्त कहा जाता है। चक्रपाणि ने अपनी टीका में शङ्का की है जब प्रकुपित पित्त ही रक्तपित्त का जनक कहा जाता है तब उसके श्लैष्मिक आदि भेद कैसे हो सकते हैं ? इसके उत्तर में लिखा है कि सामान्य सम्प्राप्ति में पित्त ही रक्तपित्त रोग का जनक है, जैसे कि सभी गुल्मों का जनक वायु ही होता है तथा सर्व ज्वरों का आरम्भक भी पित्त ही होता है 'ऊष्मा पित्तादृते नास्ति ज्वरो नास्त्यूष्मणा विना' किन्तु वह जब उत्कट कफ के साथ मिल कर रक्तपित्त को उत्पन्न करता है तब उस दशा में सामान्य सम्प्राप्ति से प्राप्त हुये पित्त को छोड़ कर सान्द्रत्वादिस्वलक्षणदर्शक श्लेष्मा से रक्तपित्त उत्पन्न हुआ है। अतः उसे श्लैष्मिक रक्तपित्त कहते हैं। जैसा कि श्लैष्मिक गुल्म में सामान्यसम्प्राप्तिवश से आगत वात का व्यवहार न कर उसे श्लैष्मिक गुल्म ही कहा जाता है और भी इसी तरह जैसे कफज्वर में सर्व ज्वरों के कारणभूत होने पर भी पित्त का ध्यान नहीं करते हुए उसे कफज्वर ही कहते हैं, इसी तरह का सिद्धान्त वातिक रक्तपित्त में भी समझना चाहिए। यदि कफ और वात के बिना प्रकुपित प्रबल पित्त से उत्पन्न रक्तपित्त जिसमें कि पैत्तिक रक्तपित्त के ही लक्षण मिलते हों तो उसे शुद्ध पैत्तिक रक्तपित्त ही कहा जायगा। इस तरह दोषों के लक्षणों से ही रक्तपित्त अमुक दोषज है ऐसा कहा जायगा। श्लैष्मिकादि रक्तपित्त की अपेक्षा पैत्तिक रक्तपित्त में पित्त अत्यन्त उत्कट रहता है, क्योंकि खास कर पित्त पैत्तिक रक्तपित्त में ही अपने लक्षण दर्शाता है, अन्य दोषजन्य में नहीं। यहाँ पर यह भी शङ्का हो सकती है कि जब ऐसी व्यवस्था है तब केवल पैत्तिक रक्तपित्त का कौन-सा मार्ग होगा, क्योंकि वातारब्ध रक्तपित्त नीचे को और कफारब्ध रक्तपित्त ऊपर को जायगा, फिर पित्तारब्ध किस मार्ग से प्रवृत्त होगा ? इसका उत्तर दिया है कि केवल पित्त से आरब्ध हुए रक्तपित्त के ऊर्ध्व और अधः दोनों ही मार्ग हो सकते हैं। ऊपर जाते समय जो उसमें कफ मिल जाता है तथा नीचे से प्रवृत्त होने पर जब उसमें वात मिल जाता है किन्तु केवल मार्ग की महिमा से सम्बद्ध वात या कफ से वह रक्तपित्त कफारब्ध या वातारब्ध है ऐसा व्यवहार नहीं होता क्योंकि स्वतन्त्र और व्यक्तलिङ्गों वाला दोष ही अनुबन्ध्य (प्रधान) होता है तथा तद्विपरीत अनुबन्ध (अप्रधान) हो जाता है। इसलिये रक्तपित्त अधोग हो या ऊर्ध्वग हो उसमें मार्गमहिमा को छोड़ कर जिस दोष के लक्षण प्रधान प्रकट हुये हों या मिलते हों उन्हीं के आधार पर उसे वातिक या श्लैष्मिक या पैत्तिक रक्तपित्त कहा जायगा। केवल मार्ग के सम्बन्ध से साथ हुये तथा अपने लक्षण प्रकट नहीं करने वाले अनुबन्ध (अप्रधान) रूपी दोष के होने पर तद्दोषज वह रक्तपित्त नहीं होगा।

दौर्बल्यश्वासकासज्वरवमथुमदास्तन्द्रितादाहमूर्च्छा
भुक्ते चान्ने विदाहस्त्वधृतिरपि सदा हृद्यतुल्या च पीडा।
तृष्णा कण्ठस्य भेदः शिरसि च दवनं पूतिनिष्ठीवनञ्च
द्वेषो भक्तेऽविपाको विरतिरपि रते रक्तपित्तोपसर्गाः॥१०॥

रक्तपित्तोपद्रवाः—दुर्बलता, श्वास, कास, ज्वर, वमन, मद (मत्तता), तन्द्रा, दाह, मूर्च्छा, खाये हुए भोजन का विदाह, धैर्यहीनता, हृदय प्रदेश में असह्य पीड़ा, प्यास, कण्ठ में भेद (स्वरभेद), शिर में ताप की अधिकता या पीड़ा, दुर्गन्धित थूक का निकलना, भोजन से घृणा, भोजन का परिपाक ठीक न होना तथा निकले हुये रक्तपित्त के रक्त के वर्ण में मांसप्रक्षालित जल इत्यादि के समान विकृति की उपस्थिति अथवा सुख का नाश ये रक्तपित्त के उपद्रव हैं॥१०॥

विमर्शः—'तन्द्रिता' के स्थान पर अन्यत्र 'पाण्डुता' ऐसा पाठान्तर है जो कि उपयुक्त है, क्योंकि अत्यधिक रक्तस्राव होने पर पाण्डुता (Anaemia) तथा दुर्बलतादि अन्य उपद्रव स्वाभाविक हैं। 'भुक्ते चान्ने विदाहः' इसके स्थान पर 'भुक्ते घोरो विदाहः' ऐसा पाठान्तर है। 'कण्ठस्य भेदः' इसके स्थान पर 'कोष्ठस्य भेदः' ऐसा पाठान्तर है। रक्त के अधिक निकलने पर कण्ठ का भेद भी होते देखा गया है तथा किसी-किसी में पित्त के अधिक प्रकुपित होने से अतिसार भी होते देखा गया है। अतः दोनों पाठ उपयुक्त हैं। 'शिरसि च दवनम्' दवनमिति सन्तापः, यहाँ पर अनेक पाठान्तर हैं (१) 'शिरसि च तपनम्' यह दवन का समानार्थक है। (२) प्रविततशिरस इति पाठान्तरे प्रविततं विस्तीर्यमाणमिव, प्रवितता विस्तीर्णा वेदना शिरसि यस्य स तथा इति कार्तिकः। (३) 'प्रविततसिरता' इति पाठान्तरे सिराततगात्रता या सिराव्याप्तगात्रता ऐसा अर्थ होता है। 'पूतिनिष्ठीवनत्वम्' अर्थात् पूयजनक जीवाणुओं का संक्रमण हो जाने पर दुर्गन्धित थूँक निकल सकता है। 'द्वेषो भक्तेऽविपाकः' यहाँ पर 'भक्तद्वेषाविपाकः' ऐसा पाठान्तर है, जो कि समानार्थक है। 'विरतिरपि रतेः' इसके स्थान पर 'विकृतिरपि भवेत्' ऐसा एक पाठान्तर है तथा दूसरे 'विनतिरपि भवेत्' ऐसा पाठान्तर मान कर 'विनतिः शरीरस्य विनमनम्' अर्थात् शरीर का नम

जाता ऐसा अर्थ करते हैं। 'रक्तपित्तोपसर्गाः' इसके स्थान पर 'रक्तपित्तोपसर्गात्' ऐसा पाठान्तर है। रक्तपित्तोपसर्ग का अर्थ ये रक्तपित्त के उपसर्ग (उपद्रव) हैं यह अर्थ होता है 'एते रक्तपित्तस्य उपसर्गा उपद्रवाः' किन्तु पाठान्तर करने पर रक्तपित्त के अन्दर उपसर्ग (संक्रमण—Infection) होने से ये उपद्रव उत्पन्न होते हैं ऐसा अर्थ होगा। वास्तव में इन उपद्रवों में केवल एक पूतिनिष्ठीवन ही ऐसा उपद्रव है जो कि पूयजनक जीवाणुओं के उपसर्ग (संक्रमण) होने से उत्पन्न होता है, किन्तु अन्य जो उपद्रव दौर्बल्य श्वासकासादिक हैं वे प्रायः बिना उपसर्ग (संक्रमण) के होने वाले भी हो सकते हैं। अतः पञ्चम्यन्त (रक्तपित्तोपसर्गात्) पाठ अधिक उपयुक्त न होकर रक्तपित्तोपसर्गाः यही पाठ समुचित है, जिसका अर्थ ये रक्तपित्त के उपसर्ग (उपद्रव) हैं ऐसा होता है। चरकोक्तरक्तपित्तोपद्रवाः—'उपद्रवास्तु खलु दौर्बल्यारोचकाविपाकश्वासकासज्वरातिसारशोफशोषपाण्डुरोगाः स्वरभेदश्च' (च० नि० अ० २)

मांसप्रक्षालनाभं क्वथितमिव च यत् कर्दमाम्भोनिभं वा
मेदःपूयास्रकल्पं यकृदिव यदि वा पक्वजम्बूफलाभम्।
यत् कृष्णं यच्च नीलं भृशमतिकुणपं यत्र चोक्ता विकारा-
स्तद्वर्ज्यं रक्तपित्तं सुरपतिधनुषा यच्च तुल्यं विभाति॥११॥

असाध्यरक्तपित्तलक्षणम्—मांसप्रक्षालितजल के समान रङ्ग वाला, सड़ा हुआ, दुर्गन्धित, कीचड़ मिश्रित जल के समान चरबी और पूय से मिश्रित रक्त के समान, यकृत् या पक्व जामुन के फल के समान, काला, नीला, मुर्दे जैसी दुर्गन्ध वाला तथा उपर्युक्त दौर्बल्य आदि उपद्रवों से युक्त एवं इन्द्रधनुष के समान विविध वर्णों वाला रक्त जिस रक्तपित्त रोग वाले व्यक्ति के शरीर से निकलता हो उसे चिकित्साकर्म से वर्जित करना चाहिए॥ ११॥

विमर्शः—रक्तपित्तस्य चरकोक्तासाध्यलक्षणानि—रक्तपित्तस्य विज्ञानमिदं तस्योपदिश्यते। यत्कृष्णमथवा नीलं यद्वा शक्रधनुष्प्रभम्॥ रक्तपित्तमसाध्यं तद्वाससो रञ्जनञ्च यत्। भृशं पूत्यतिमात्रञ्च सर्वोपद्रववच्च यत्॥ बलमांसक्षये यच्च तच्च रक्तमसिद्धिमत्। येन चोपहतो रक्तं रक्तपित्तेन मानवः। पश्येद् दृश्यं वियच्चापि तच्चासाध्यं न संशयः॥ (च० नि० अ० २) अन्यच्च—संसृष्टं कफवाताभ्यां कण्ठे सज्जति चापि यत्। यच्चाप्युपद्रवैर्युक्तैर्यथोक्तैः समभिद्रुतम्॥ हारिद्रनीलहरितताम्रैर्वर्णैरुपद्रुतम्। क्षीणस्य कासमानस्य यच्च तच्च न सिद्ध्यति॥ यद् द्विदोषानुगं यद्वा शान्तं शान्तं प्रकुप्यति। मार्गान्मार्गं चरेद्यद्वा पित्तमासृक् च न सिद्ध्यति॥ (चरक) सुश्रुताचार्य ने सूत्रस्थान में कहा है कि जो रक्तपित्त का रोगी पुनः पुनः रक्त का ही वमन करता है, जिसके नेत्र लाल हो गये हों तथा जिसे रक्त की गन्ध से युक्त बार-बार उद्गार (डकारें) आती हों एवं जो सब कुछ लाल ही देखता हो वह अवश्य ही मृत्यु को प्राप्त होता है। लोहितं छर्दयेद्यस्तु बहुशो लोहितेक्षणः। लोहितोद्गारदर्शी च म्रियते रक्तपैत्तिकः॥ (सु० सू० अ० ३३)

नादौ संग्राह्यमुद्रिक्तं यदसृग् बलिनोऽश्नतः।
तत् पाण्डुग्रहणीकुष्ठप्लीहगुल्मज्वरावहम् ॥१२॥

बलवद्रक्तपित्ते सद्यःग्रहणनिषेधः—बलवान् तथा भोजन करने वाले रक्तपित्त के रोगी में अत्यधिक बढ़े हुये रक्तपित्त के रक्तस्राव को प्रथम ग्राह्य औषधियों के प्रयोग से रोकना (स्तम्भित करना) नहीं चाहिये। यदि इस रक्त को प्रथम ही रोक दिया जाय तो यह पाण्डु, ग्रहणी, कुष्ठ, प्लीहवृद्धि गुल्म और ज्वर रोगों को उत्पन्न कर देता है॥ १२॥

विमर्शः—चरकाचार्य ने भी कहा है कि जिस रोगी का बल और मांस क्षीण न हुआ हो तथा भोजन करता हो ऐसे रोगी का सन्तर्पणजन्य तथा दोषों की दुष्टि से उत्कट हुये रक्तपित्त का प्रथम स्तम्भन नहीं करना चाहिए—नादौ संस्तम्भनं कार्यं रक्तपित्तं यदश्नतः। तद्दोषदुष्टमुत्क्लिष्टं नादौ स्तम्भनमर्हति॥ यदि कोई व्यक्ति अज्ञान से ऐसे दूषित रक्त को रोक देता है तो उससे गलग्रह, पूतिनस्य, मूर्च्छा आदि रोग उत्पन्न होते हैं—गलग्रहं पूतिनस्यं मूर्च्छायमरुचिं ज्वरम्॥ गुल्मं प्लीहानमानाहं किलासं कृच्छ्रमूत्रताम्। कुष्ठान्यर्शांसि वीसर्पं वर्णनाशं भगन्दरम्। बुद्धीन्द्रियोपरोधञ्च कुर्यात् स्तम्भितमादितः॥ तस्मादुपेक्ष्यं बलिनो बलदोषविचारिणा॥ रक्तपित्तं प्रथमतः प्रवृद्धं सिद्धिमिच्छता॥ (च० चि० अ० ४)

अधःप्रवृत्तं वमनैरूर्ध्वगं च विरेचनैः।
जयेदन्यतरद्वाऽपि क्षीणस्य शमनैरसृक्॥ १३॥

रक्तपित्ते चिकित्साक्रमः—संशोधन के योग्य तथा बलवान् पुरुष के अधोमार्ग से प्रवृत्त हुए तथा बहुदोषयुक्त रक्तपित्त को वमन कराकर जीतना चाहिये। इसी प्रकार संशोधन के योग्य तथा बलवान् पुरुष के ऊर्ध्वमार्गों से प्रवृत्त हुये तथा बहुदोषयुक्त रक्तपित्त को विरेचनविधि से जीतना चाहिये। किन्तु बलमांसादि से क्षीण हुये पुरुष का चाहे ऊर्ध्वग रक्तपित्त हो अथवा अधोग रक्तपित्त हो उसे संशामक उपायों (स्तम्भक तथा तर्पक चिकित्सा) द्वारा ही जीतना चाहिये। उसमें वमन और विरेचन विधिका प्रयोग नहीं करना चाहिये॥ १३॥

विमर्शः—डल्हणाचार्य ने शङ्का की है कि अधोग रक्तपित्त वातानुबन्ध वाला होता है तथा वात के जीतने के लिये बस्ति या स्नेहपान हितकर होता है। फिर वमन से वातशमन कैसे होगा? इसी प्रकार ऊर्ध्वग रक्तपित्त कफसंसृष्ट रहता है तथा कफ के जय के लिये वमन उपकारी होता है। फिर विरेचन से कफसंशमन कैसे होगा? इन दोनों प्रश्नों का उत्तर दिया है कि व्याधि की प्रत्यनीक (विपरीत) चिकित्सा होने से दोनों प्रकार के रक्तपित्तों में दोनों विधियाँ युक्त ही हैं, जैसा कि अन्यत्र भी कहा है—'अधोगं वमनैर्धीमानूर्ध्वगं रेचनैर्जयेत्' चरक में भी कहा है अधोवहे रक्तपित्ते वमनं परमुच्यते। विरेचनेनोर्ध्वभागमधोगं वमनेन च॥ अर्थात् ऊर्ध्ववेग वाले रक्तपित्त में विरेचन देकर अधोवेग कर तथा अधोवेग के रक्तपित्त में वमन द्वारा ऊर्ध्ववेग करना यह प्रत्यनीकता है। चरकाचार्य ने रक्तपित्त की चिकित्सा के विषय में प्रथम दो बातों पर ध्यान देना आवश्यक कहा है। अर्थात् रक्तपित्त रोग सन्तर्पणजन्य है या अपतर्पणजन्य। प्रायः यह देखा गया है कि मनुष्यों के शरीर में आमदोष की वृद्धि होने से पित्त और रक्त वृद्धि को प्राप्त होते हैं। अत एव रक्तपित्त में प्रथम लङ्घन कराना आवश्यक है—प्रायेण हि समुत्क्लिष्टमामदोषाच्छरीरिणाम्। वृद्धिं प्रयाति पित्तासृक् तस्मात्तल्लङ्घयमादितः॥ (च० चि० अ० ४) लङ्घन का तात्पर्य केवल भोजन तथा

औषध नहीं देना यही नहीं समझना चाहिये, जैसा कि इस शब्द से ही सहसा प्रत्येक को ऐसा साधारण अर्थ ज्ञात हो जाता है। किन्तु आयुर्वेद में लङ्घन शब्द पारिभाषिक होने से उसके दशविध प्रकार गृहीत किये जाते हैं, जसे—चतुष्प्रकारा संशुद्धिः पिपासा मारुतातपौ। पाचनान्युपवासश्च व्यायामश्चेति लङ्घनम्॥ वमन, विरेचन, निरूहण बस्ति और शिरोविरेचन यह चार प्रकार की ऊर्ध्वाधोदेह शुद्धि, प्यास का सहन, मारुत और धूप का सेवन, पाचक (चित्रक, शुण्ठी आदि तीक्ष्ण) औषधियों का सेवन, उपवास और व्यायाम ये लङ्घन के दस प्रकार हैं। इनमें जिसकी जहाँ दोष, देश, काल, प्रकृति और रोग के अनुसार आवश्यकता हो वैसे लङ्घन का प्रयोग किया जाता है। अस्तु, लङ्घन की ऐसी व्यवस्था होने पर भी अर्थात् रक्तपित्त के रोगियों को प्रथम लंघन करना चाहिये ऐसा होने पर भी यदि रक्तपित्त सन्तर्पणजन्य हो तो लङ्घनादि अपतर्पण चिकित्सा तथा अपतर्पणजन्य हो तो सन्तर्पण चिकित्सा करनी चाहिये—मार्गौ दोषानुबन्धञ्च निदानं प्रसमीक्ष्य च। लङ्घनं रक्तपित्तादौ तर्पणं वा प्रयोजयेत्॥ (च० चि० अ० ४) मार्ग से ऊर्ध्वमार्ग, सामपित्त, कफ दोष तथा स्निग्धोष्ण पदार्थ सेवनरूपी निदान (कारण) वाले रक्तपित्ती में लघन चिकित्सा करनी चाहिए—वक्ष्यते बहुदोषाणां कार्यं बलवताञ्च यत्। अक्षीणबलमांसस्य यस्य सन्तर्पणोत्थितम्॥ बहुदोषं बलवतो रक्तपित्तं शरीरिणः। काले संशोधनार्हस्य तद्धरेन्निरुपद्रवम्॥ विरेचनेनोर्ध्वभागमधोगं वमनेन च॥ (च० चि० अ० ४) किन्तु अधोमार्ग से प्रवृत्त तथा अन्य प्रोक्तस्थिति से विपरीत स्थिति हो तो तर्पणचिकित्सा करनी चाहिए। 'भोजनरूपतर्पणप्रयोजकम्। तर्पयतीति तर्पणमशनम्। तेन यवागूस्तर्पणञ्च ग्राह्यम्। ये तु तर्पणशब्देन सक्तुतर्पणमेव ग्राहयन्ति तेषां यवागूदानपक्षो न संगृहीतः स्यात्' (च० चक्रपाणिः, चि० अ० ४।३०) क्षीणस्य शमनैरित्यादि—क्षीण रक्तपित्ती में चाहे रक्तपित्त उर्ध्वग हो या अधोग उसमें 'वमनविरेचन उभय का निषेध है। संशमन चिकित्सा ही श्रेष्ठ है जैसा कि तन्त्रान्तर में भी कहा है—'ऊर्ध्वगं वाऽप्यधोगं वा क्षीणस्य शमनैर्जयेत्॥ चरकाचार्य ने स्पष्ट लिख दिया है कि क्षीण, शोकभाराध्वगमन से कर्शित, अग्नि, सूर्य से सन्तप्त, अन्य रोगों से क्षीण हुये तथा गर्भिणी, बालक, वृद्ध तथा रूक्ष, अल्प और नपा-तुला (कम) भोजन करने वाला अवम्य और अविरेचनीय तथा शोष वाले रक्तपित्ती की संशमनचिकित्सा ही करनी चाहिए—बलमांसपरिक्षीणं शोकभाराध्वकर्शितम्। ज्वलनादित्यसन्तप्तमन्यैर्वा क्षीणमामयैः॥ गर्भिणीं स्थविरं बालं रूक्षाल्पप्रमिताशिनम्॥ अवम्यमविरेच्यं वा यं पश्येद्रक्तपित्तिनम्। शोषेण सानुबन्धं वा तस्य संशमनी क्रिया। शस्यते रक्तपित्तस्य'''॥ (च० चि० अ० ४)

अतिप्रवृद्धदोषस्य पूर्वं लोहितपित्तिनः।
अक्षीणबलमांसाग्नेः कर्त्तव्यमपतर्पणम्॥ १४॥

रक्तपित्ते अपतर्पणचिकित्सा—जिस रक्तपित्त रोगी के दोष अधिक बढ़े हुये हों तथा जिसका बल, मांस और पाचकाग्नि क्षीण नहीं हुये हों उसके लिये प्रथम अपतर्पण (लङ्घन) चिकित्सा करनी चाहिए॥ १४॥

विमर्शः—'अतिप्रवृद्धदोषस्य' के स्थान पर 'ऊर्ध्वं प्रवृद्धदोषस्य' ऐसा पाठान्तर है। अपतर्पण शब्द से पूर्वोक्त दस प्रकार का लङ्घन समझना चाहिए।

लङ्घितस्य ततः पेयां विदध्यात् स्वल्पतण्डुलाम्।
रसयूषौ प्रदातव्यौ सुरभिस्नेहसंस्कृतौ॥
तर्पणं पाचनं लेह्यान् सर्पींषि विविधानि च॥१५॥

लङ्घनानन्तरं कर्तव्यम्—उक्त प्रकार के रक्तपित्ती का ठीक प्रकार से लङ्घन हो जाने पर जिसमें चावल कम हो ऐसी पेया पिलानी चाहिए तथा सुगन्धित और स्नेह से संस्कृत मांसरस तथा मुद्गादियूष देना चाहिए। इनके अतिरिक्त तर्पण और पाचन के प्रयोग तथा अवलेह और विविध प्रकार के घृतों का प्रयोग करना चाहिए॥ १५॥

विमर्शः—चरकाचार्य ने स्पष्ट लिखा है कि ऊर्ध्वगरक्तपित्त वाले रोगी में लङ्घन कराने के पश्चात् तर्पणादिक्रम हितकारक होता है तथा अधोगत रक्तपित्त में लङ्घन के पश्चात् पेया पिलानी चाहिए—ऊर्ध्वगे तर्पणं पूर्वं पेयां पूर्वमधोगते। कालसात्म्यानुबन्धज्ञो दद्यात्प्रकृतिकल्पवित्॥ (च० चि० अ० ४) अन्यच्च—ऊर्ध्वगे शुद्धकोष्ठस्य तर्पणादिः क्रमो हितः। अधोगते यवाग्वादि नोचेत्स्यान्मारुतो बली॥ (च० चि० अ० ४) तर्पणपरिभाषा 'द्रवेणालोडितास्ते स्युस्तर्पणं लाजसक्तवः' तर्पणप्रयोगः—जलं खर्जूरमृद्वीकामधूकैः सपरूषकैः। शृतशीतं प्रयोक्तव्यं तर्पणार्थे सशर्करम्॥ तर्पणं सघृतक्षौद्रं लाजचूर्णैः प्रदापयेत्। ऊर्ध्वगं रक्तपित्तं तत् पीतं काले व्यपोहति॥ (च० चि० अ० ४), खजूर (छुहारा), द्राक्षा, मुलेठी और फालसा इन्हें मिलित २ तोले भर ले के ३२ तोले पानी में अर्धावशेष कर ले या ३-४ उफान तक उबाल के छान कर २ तोले शर्करा मिला कर पिला देवें। अथवा शालिधान के लाजों (खीलों) का चूर्ण या सत्तू बनाकर उसे १ घण्टे तक पानी में घोल कर २-४ तोले घृत तथा १-२ तोले शहद मिला कर चटाना चाहिए। पेयाप्रयोगः—'शालपर्ण्यादिना सिद्धा पेया पूर्वमधोगते' (च० दृत्त) यवागूप्रयोगः—रक्तपित्ते यवागूनामतः कल्पः प्रवक्ष्यते। पद्मोत्पलानां किञ्जल्कः पृश्निपर्णी प्रियङ्गुकाः जले साध्या रसे तस्मिन् पेया स्याद्रक्तपित्तिनाम्॥ यवागूपरिभाषा—'यवागूः षड्गुणे तोये' 'यवागूमुचिताद्भक्ताच्चतुर्भागकृतां वदेत् जो मनुष्य जितना चावल खाता हो उसका चौथाई लेकर ६ गुने पानी में डाल कर पकाना चाहिए। इसे यवागू कहते हैं। यवागू की अपेक्षा पेया पचने में और हलकी होती है। जितना मनुष्य भात खाता हो उसका चौथाई चावल ले के चौदह गुने पानी में डालकर अच्छी प्रकार चावलों के पक जाने पर उतार लें, इसे पेया कहते हैं—द्रवाधिका घना सिक्था चतुर्दशगुणे जले। सिद्धा पेया बुधैर्ज्ञेया यूषः किञ्चिद्घनः स्मृतः॥ अन्य तन्त्र में भी अधोग रक्तपित्त में यवागू पेया आदि का प्रयोग तथा ऊर्ध्वग रक्तपित्त में यथादोषानुसार तर्पण का प्रयोग प्रशस्त माना है—अधोवहे यवाग्वादि न चेत् स्यान्मारुतो बली। ऊर्ध्वगे तर्पणं शस्तं यथादोषमथापि वा॥ 'न चेत् स्यान्मारुतो बली' यह चरक में भी कहा है—यदि अधोग रक्तपित्त में वायु बलवान् न हो तो यवाग्वादि दें और यदि बलवान् हो तो मांसौदन=मांसरस तथा भात का प्रयोग करना चाहिए ऐसा चक्रपाणि ने स्पष्टीकरण किया है। पाचनम्—ह्रीबेरादि द्रव्यों से साधित जल दोषपाचनार्थ देवें—ह्रीबेरचन्दनोशीरमुस्तपर्पटकैः शृतम्।

केवलं शृतशीतं वा दद्यात्तोयं पिपासवे॥ (च० चि० अ० ४)

लेहान्—मधूकशोभाञ्जनकोविदार इत्यादि द्रव्यों से बनाये हुए अवलेह प्रयुक्त करें एवं वासादि घृत पीने को दें।

द्राक्षामधुककाश्मर्यसितायुक्तं विरेचनम्।
यष्टीमधुकयुक्तं च सक्षौद्रं वमनं हितम्॥ १६॥

रक्तपित्ते वमनविरेचनद्रव्याणि—मुनक्का, मुलेठी, गम्भारी की छाल, इनको मिश्रित २ तोले भर ले के ३२ तोले पानी में उबाल कर चौथाई शेष रस के छान कर शर्करा मिला के विरेचनार्थं पिलावें। इसी तरह मुलेठी के चूर्ण को शहद के साथ मिलाकर वमनकल्पोक्त विधि से वमनार्थ प्रयुक्त करें॥१६॥

विमर्शः—विरेचनप्रयोगः—त्रिवृतामभयां प्राज्ञः फलान्यारग्वधस्य वा। त्रायमाणां गवाक्ष्या वा मूलमामलकानि वा॥ विरेचनं प्रयुञ्जीत प्रभूतमधुशर्करम्। रसः प्रशस्यते तेषां रक्तपित्ते विशेषतः॥ वमनप्रयोगः—वमनं मदनोन्मिश्रो मन्थः सक्षौद्रशर्करः। सशर्करं वा सलिलमिक्षूणां रस एव वा॥ वत्सकस्य फलं मुस्तं मदनं मधुकं मधु। अधोवहे रक्तपित्ते वमनं परमुच्यते॥ (च० चि० अ० ४)

पयांसि शीतानि रसाश्च जाङ्गलाः
सतीनयूषाश्च सशालिषष्टिकाः।
पटोलशेलुसुनिषण्णयूथिका-
वटातिमुक्ताङ्कुरसिन्दुवारजम्॥ १७॥
हितञ्च शाकं घृतसंस्कृतं सदा
तथैव धात्रीफलदाडिमान्वितम्।
रसाश्च पारावतशङ्खकूर्मजा-
स्तथा यवाग्वोऽभिहिता घृतोत्तराः॥ १८॥
सन्तानिकाश्चोत्पलवर्गसाधिते
क्षीरे प्रशस्ता मधुशर्करोत्तराः।
हिमाः प्रदेहा मधुरा गणाश्च ये
घृतानि पथ्यानि च रक्तपित्तिनाम्॥ १९॥

रक्तपित्ते पथ्यानि—उत्पलादिगण के द्रव्यों के साथ उबाल कर शीतल किये हुए जल (पित्तोल्बण रक्तपित्त में) तथा जङ्गली पशु तथा पक्षियों के उबले हुए मांसों का स्वरस (वातोल्बण रक्तपित्त में) और सतीन (वर्तुल कलाय= गोल मटर) का यूष कफोल्बण रक्तपित्त में पीने को देने चाहिए तथा शालि चावल और साठी चावलों का भात तीनों प्रकार के रक्तपित्त में खिलाना प्रशस्त है। इनके अतिरिक्त परवल के पत्ते, शेलु (लिसोड़े) फल, करेले के फल या सुनिषण्ण से चौलाई का शाक, यूथिका (जूही) का शाक, वट के कोमल पत्राङ्कुरों का शाक, अतिमुक्ता (आवन्तक या माधवी लता) के पत्राङ्कुरों का शाक, सम्भालू के कोमल पत्तों का शाक घृत से संस्कृत कर धात्रीफल (आँवले) और अनारदाने के चूर्ण से कुछ खट्टा बना कर देना सदा हितकारी माना गया है। इन शाकों के अतिरिक्त पारावत (कबूतर), शङ्ख के भीतर का कीड़ा और कच्छप इनके मांस के रसों को तथा यवागू को अत्यधिक घृत में मिश्रित कर रक्तपित्त में प्रयुक्त करें। उत्पलादिगण की औषधियों के कल्क से सिद्ध किये हुए दुग्ध के ऊपर की मलाई में शहद और शर्करा (कफानुबन्ध में मधु तथा पित्तप्राबल्य में शर्करा) मिला कर खिलाना प्रशस्त माना गया है। इसके सिवाय न्यग्रोध आदि शीतलगण के द्रव्यों के बने हुए या चन्दन कर्पूर आदि के शीतल प्रदेह लगाने चाहिए तथा काकोल्यादि मधुर गण की औषधियों के द्वारा सिद्ध किये हुए पेय पदार्थ दुग्ध पानी आदि पिलाने चाहिए। एवं मधुरादिगण या काकोल्यादिगण या जीवनीयगण की औषधियों के कल्क और क्वाथ से सिद्ध किये हुए अनेक प्रकार के घृतों का पान रक्तपित्त के रोगियों में प्रशस्त पथ्य माने गये हैं॥ १७–१९॥

विमर्शः—रक्तपित्ते चरकोक्तपथ्यानि—मद्रश्रियं लोहितचन्दनञ्च प्रपौण्डरीकं कमलोत्पले च। उशीरवानीरजलं मृणालं सहस्रवीर्यामधुकं पयस्या॥ शालीन्दलानि यवासगुन्द्रामूलं नलानां कुशकाशयोश्च। कुचन्दनं शैवलमप्यनन्ताकालानुसार्या तृणमूलमृद्धिः॥ मूलानि पुष्पाणि च वारिजानां प्रलेपनं पुष्करिणीमृदश्च। उदुम्बराश्वत्थमधूकलोध्राः कषायवृक्षाः शिशिराश्च सर्वे॥ प्रदेहकल्पे परिषेचने च तथावगाहे घृततैलसिद्धौ। रक्तस्य पित्तस्य च शान्तिमिच्छन् मद्रश्रियादीनि भिषक् प्रयुञ्ज्यात्॥ धारागृहं भूमिगृहं सुशीतं वनञ्च रम्यं जलवातशीतम्। वैदूर्यमुक्तामणिभाजनानां स्पर्शाश्च दाहे शिशिराम्बुशीताः॥ पत्राणि पुष्पाणि च वारिजानां क्षौमञ्च शीतं कदलीदलानि। प्रच्छादनार्थं शयनासनानां पद्मोत्पलानाञ्च दलाः प्रशस्ताः॥ प्रियङ्गुकाचन्दनरूषितानां स्पर्शाः प्रियाणां च वराङ्गनानाम्। दाहे प्रशस्ताः सजलाः सुशीताः पद्मोत्पलानाञ्च कलापवाताः॥ सरित्ह्रदानां हिमवद्दरीणां चन्द्रोदयानां कमलाकराणाम्। मनोऽनुकूलाः शिशिराश्च सर्वाः कथाः सरक्तं शमयन्ति पित्तम्॥ (च० चि० अ० ४) रक्तपित्ते तन्त्रान्तरोक्तपथ्यानि—अधोगते छर्दनमूर्ध्वनिर्गमे विरेचनं स्यादुभयत्र लङ्घनम्। पुरातनाः षष्टिकशालिकोद्रवप्रियङ्गुनीवारयवप्रशातिकाः॥ गवामजायाश्च पयो घृतञ्च घृतं महिष्या पनसं प्रियालम्। रम्भाफलं कच्छटतण्डुलीयपटोलवेत्राग्रमहार्द्रकाणि॥ पुराणकूष्माण्डफलञ्च पक्वतालानि द्वीजजलानि वासा। स्वादूनि बिम्बानि च दाडिमानि खर्जूरधात्रीमिशिनारिकेलम्॥ कशेरुशृङ्गाटमरुष्कराणि कपित्थशालूकपरूषकाणि। भूनिम्बशाकं पिचुमर्दपत्रं तुम्बी कलिङ्गानि च लाजमक्तुः॥ सेकोऽवगाहः शतधौतसर्पिरभ्यङ्गयोगः शिशिरः प्रदेहः। हिमानिलश्चन्दनमिन्दुपादाः कथा विचित्राश्च मनोऽनुकूलाः॥ रक्तोत्पलाम्भोरुहपत्रशय्या क्षौमाम्बरं चोपवनं सुशीतम्। प्रियङ्गुयुक्चन्दनरूषितानामालिङ्गनञ्चापि वराङ्गनानाम्॥ प्रक्षुद्धनीरं हिमवालुका च मित्रं नृणां शोणितपित्तरोगे॥ (भैषज्य र०) रक्तपित्तेऽपथ्यानि—व्यायामाध्वनिषेवणं रविकरस्तीक्ष्णानि कर्माणि च। क्षोभो वेगविधारणं चपलता हस्त्यश्वयानानि च॥ स्वेदास्रस्रुतिधूमपानसुरतक्रोधाः कुलत्थो गुडो वार्ताकुस्तिलमाषसर्षपदधिक्षीराणि कौपं पयः॥ ताम्बूलं लवणाम्बुमद्यलशुनं शिम्बी विरुद्धाशनम् कटवम्लं लवणं विदाहि च गणस्त्याज्योऽस्रपित्ते नृणाम्॥ (भैषज्यर०)

मधूकशोभाञ्जनकोविदारजैः
प्रियङ्गुकायाः कुसुमैश्च चूर्णितैः।
भिषग्विदध्याच्चतुरः समाक्षिकान्
हिताय लेहानसृजः प्रशान्तये॥ २०॥

रक्तपित्ते चत्वारो लेहाः—महुए के पुष्प, सहजन के पुष्प,

कचनार के पुष्प और प्रियङ्गु के पुष्प इन चारों पुष्पों को पृथक्-पृथक् चूर्णित कर शीशी में भर देवें। फिर वैद्य रक्तपित्त के रक्त की शान्ति करने के लिये इनमें से किसी एक के पुष्प चूर्ण को ३ माशे से ६ माशे प्रमाण में लेकर मधु के साथ मिश्रित कर चटावे। अथवा इन चारों पुष्प चूर्णों को मिश्रित कर के भी ३ माशे से ६ माशे के प्रमाण में ले कर शहद के साथ मिला के चटा सकते हैं। अथवा इन चारों योगों के चूर्णों को पृथक्-पृथक् दो-दो घण्टे के पश्चात् क्रमशः भी शहद के साथ चटा सकते हैं॥ २०॥

लिह्याच्च दूर्वावटजांश्च पल्लवान्
मधुद्वितीयान् सितकर्णिकस्य च।
हितश्च खर्जूरफलं समाक्षिकं
फलानि चान्यान्यपि तद्गुणान्यथा॥ २१॥

रक्तपित्ते दूर्वावटपल्लवादिलेहौ—हरी दूर्वा तथा वट के कोमल पत्राङ्कुर दोनों को ६-६ माशे भर ले कर पत्थर पर पीस के ६ माशे शहद मिला कर चटाना चाहिए। अथवा श्वेत कर्णिकार के कोमल पत्रों को पीस कर शहद के साथ चटावें। इनके अतिरिक्त खर्जूर फल (छुहारे) के चूर्ण को शहद के साथ मिला कर चटावें तथा खर्जूर फल के समान गुण वाले अन्य फल जैसे प्रियाल, मज्जिका, काश्मरी फल आदि के चूर्णों को मधु के साथ रक्तपित्ती को चटावें॥ २१॥

विमर्शः—दूर्वावटपल्लव एक योग तथा श्वेत कर्णिकार यह दूसरा योग है। कुछ लोगों ने इन दोनों का मिलित एक ही योग माना है, किन्तु यह मत निबन्धकार को मान्य नहीं है। कुछ लोगों ने 'दूर्वावटजांश्च पल्लवान्' इसके स्थान पर 'दुग्धद्रुमपल्लवान्' ऐसा पाठान्तर मान कर वट, गूलर आदि के पत्रों को लेना लिखा है। हाराणचन्द्र जी ने सुश्रुतार्थ सन्दीपन भाष्य में श्वेत कर्णिकार से वासा अर्थ किया है।

रक्तातिसारप्रोक्तांश्च योगानत्रापि योजयेत्॥ २२॥

रक्तपित्तेऽन्यचिकित्सोपदेशः—रक्तातिसार में कहे हुये योगों का रक्तपित्त में भी प्रयोग करना चाहिए॥ २२॥

विमर्शः—इसी उत्तर तन्त्र के ४० वें अध्याय में रक्तातिसार नाशक योग लिखे गये हैं—(१) प्रियालशाल्मलीप्लक्षशल्लकीतिनिशत्वचः। क्षीरे विमृदिताः पीताः सक्षौद्रा रक्तनाशनाः॥ (२) मधुकं शर्करां लोध्रं पयस्यामथ सारिवाम्। पिबेच्छागेन पयसा सक्षौद्रं रक्तनाशनम्॥ (३) मञ्जिष्ठां सारिवां लोध्रं पद्मकं कुमुदोत्पलम्। पिबेत् पश्चाच्च दुग्धेन छागेनासृक्प्रशान्तये॥ (सु. उ. अ. ४०) 'रक्तातिसारप्रोक्तांश्च' इस श्लोक के अनन्तर कार्तिक कुण्ड ने 'नीलोत्पलानां मधुना भस्म वापि परिस्रुतम्' ऐसा योग लिखा है।

शुद्धेक्षुकाण्डमापोथ्य नवे कुम्भे हिमाम्भसा।
योजयित्वा क्षिपेद्रात्रावाकाशे सोत्पलन्तु तत्॥
प्रातः स्रुतं क्षौद्रयुतं पिबेच्छोणितपित्तवान्॥ २३॥

रक्तपित्ते इक्षुकाण्डप्रयोगः—श्वेत ऊख को छील कर उसके छोटे-छोटे टुकड़े करके पत्थर की खरल या इमामदस्ते में कुचल कर मिट्टी के नवीन घड़े में डाल देवें तथा उसमें ठण्डा पानी भी भर देवें। फिर उस घड़े को रात्रि में खुले मैदान में निर्मल आकाश में रख देवें। दूसरे दिन प्रातःकाल इस जल को छान कर अथवा उन ऊख के टुकड़ों को दबाकर रस निकाल कर उसमें उत्पल (नीलकमल = नीलोफर) का चूर्ण ३ माशे से ६ माशे भर तथा शहद ६ माशे से एक तोले भर मिला के रक्तपित्ती को पिलाना चाहिए। इससे रक्तपित्त नष्ट हो जाता है॥ २३॥

विमर्शः—इस योग को तीन-तीन या दो-दो घण्टे के अनन्तर रुग्ण को ५-६ बार भी दिन में देना चाहिए।

पिबेच्छीतकषायं वा जम्ब्वाम्रार्जुनसम्भवम्।
उदुम्बरफलं पिष्ट्वा पिबेत्तद्रसमेव वा॥ २४॥

रक्तपित्तहरौ शीतकषायौ—जामुन, आम्र और अर्जुन इन तीनों की छाल को समान प्रमाण में मिश्रित कर १ पल या ४ तोले प्रमाण में ले के यवकुट कर ६ पल (२४ तो०) जल में मिला कर रात भर रख के दूसरे दिन कपड़े से छान कर ६ माशे से १ तोले भर शहद मिला कर रक्तपित्ती को पिलावें। अथवा उदुम्बर (गूलर) के हरे फलों को अथवा सूखे हों तो पानी के साथ उन्हें पीस कर स्वरस १ पल भर निकाल के ६ माशे शहद मिला के पीने से रक्तपित्त नष्ट होता है॥ २४॥

विमर्शः—शीतकषायपरिभाषा—क्षुण्णं द्रव्यपलं सम्यक् षड्भिर्जलपलैः प्लुतम्। शर्वरीमुषितं सम्यक् ज्ञेयः शीतकषायकः॥ (परि. प्र.)

त्रपुषीमूलकल्कं वा सक्षौद्रं तण्डुलाम्बुना।
पिबेदक्षसमं कल्कं यष्टीमधुकमेव वा॥ २५॥
चन्दनं मधुकं रोध्रमेवमेव समं पिबेत्।
करञ्जबीजमेवं वा सिताक्षौद्रयुतं पिबेत्॥ २६॥
मज्जानमिङ्गुदस्यैवं पिबेन्मधुकसंयुतम्।
सुखोष्णं लवणं बीजं कारञ्जं दधिमस्तुना॥ २७॥
पिबेद्वाऽपि त्र्यहं मर्त्यो रक्तपित्ताभिपीडितः।
रक्तपित्तहराः शस्ताः षडेते योगसत्तमाः॥ २८॥

रक्तपित्तहराः षड्योगाः—(१) त्रपुषी (ककड़ी या खीरे) की लता की जड़ का चूर्ण बना कर १ अक्ष (तोले) भर ले के १ तोले शहद तथा ४ तोले तण्डुलोदक के साथ मिश्रित कर रक्तपित्ती को पिलावें। अथवा (२) मुलेठी के चूर्ण को १ कर्ष भर ले कर १ कर्ष मधु के साथ मिश्रित कर ४ तोले तण्डुलोदक के साथ रक्तपित्ती को पिलावें। अथवा (३) चन्दन, मुलेठी और लोध्र इन तीनों को समान प्रमाण में मिश्रित खाण्ड कूट के चूर्ण बना कर १ कर्ष प्रमाण में ले के १ कर्ष शहद मिला कर ४ तोले तण्डुलोदक के साथ रुग्ण को पिलावें। अथवा (४) करञ्ज फल के बीज के चूर्ण को शहद और शर्करा के साथ मिश्रित कर रोगी को दें। (५) अथवा इङ्गुदी के फल के चूर्ण को शर्करा और शहद के साथ मिला कर रुग्ण को देवें। अथवा (६) करञ्ज के फल के चूर्ण के साथ थोड़ा सा पीसा हुआ सैन्धव लवण मिला के तवे पर हल्का सा सेक कर दही के ऊपर के पानी के साथ तीन दिन तक रक्तपित्त से पीड़ित रोगी को पिलाना चाहिए। इस तरह रक्तपित्त को नष्ट करने वाले ये छः प्रयोग प्रशस्त माने गये हैं॥ २५-२८॥

विमर्शः—करञ्ज फल बीज चूर्ण तथा इङ्गुदीफल चूर्ण कफानुबन्ध वाले ऊर्ध्वग रक्तपित्त में श्रेष्ठ माने गये हैं।

पथ्याश्चैवावपीडेषु घ्राणतः प्रस्रुतेऽसृजि ॥ २९ ॥

घ्राणजरक्तपित्तेऽवपीडनम्—नासामार्ग से रक्त के प्रवृत्त होने पर त्रपुसीमूलकल्क प्रभृति उपर्युक्त छहों प्रयोगों को अवपीडन नस्य के रूप में प्रयुक्त करने से अच्छा लाभ होता है ॥ २९ ॥

विमर्शः—चरकाचार्य ने घ्राण से प्रवृत्त रक्तपित्त की चिकित्सा में लिखा है कि उशीरकालीयकलोध्र प्रभृति श्लोकों से जिन क्वाथों को रक्तपित्त में हितकारी माना है उन्हें नासागत रक्तपित्त में भी दें तथा दूषित रक्त के निकल आने के पश्चात् अवपीडन नस्य देना चाहिए अन्यथा दुष्टप्रतिश्याय, शिरोरोग, सपूयरक्तस्रुति आदि उपद्रव हो जाते हैं—कषाययोगा य इहोपदिष्टास्ते चावपीडे भिषजा प्रयोज्याः। घ्राणात्प्रवृत्तं रुधिरं सपित्तं यदा भवेन्निःसृतदुष्टदोषम् ॥ रक्ते प्रदुष्टे ह्यवपीडबन्धे दुष्टप्रतिश्यायशिरोविकाराः। रक्तं सपूयं कुणपश्च गन्धः स्याद् घ्राणनाशः कृमयश्च दुष्टाः ॥ नस्ययोगाः—द्राक्षारसस्येक्षुरसस्य नस्यं क्षीरस्य दूर्वास्वरसस्य चैव। यवासमूलानि पलाण्डुमूलं नस्यं तथा दाडिमपुष्पतोयम् ॥ (च. चि. अ. ४)

अतिनिस्रुतरक्तो वा क्षौद्रयुक्तं पिबेदसृक्।
यकृद्वा भक्षयेदाजमामं पित्तसमायुतम् ॥ ३० ॥

अतिरक्तस्रुतौ रक्तयकृत्सेवनम्—जिस रोगी का रक्त अत्यधिक स्रुत हो गया हो उसे तत्काल मारे हुए बकरे या एणमृग के रक्त में शहद मिला कर पिला देना चाहिए। अथवा बकरी के ताजा निकाले हुये कच्चे यकृत् को पित्त के सहित खिला देना चाहिए ॥ ३० ॥

विमर्शः—सु. सू. अ. चौदह में सुश्रुताचार्य ने अत्यधिक रक्तस्राव की दशा में 'एणहरिणोरभ्रशशमहिषवराहाणां वा रुधिरम्' इनके रक्त का पान कराना लिखा है। तीसवें श्लोक का तात्पर्य है कि अत्यधिक रक्तस्राव हो जाने से रोगी के प्राण खतरे में पड़ गये हों तथा पाण्डुता, दुर्बलता आदि लक्षण हों तो शीघ्र ही शरीर के पोषक और धारक तथा जीवभूत कहे जाने वाले रक्त का पान करा के उसके जीवन को बचाना चाहिए—देहस्य रुधिरं मूलं रुधिरेणैव धार्यते। तस्माद्यत्नेन संरक्ष्यं रक्तं जीवमिति स्थितिः। (सु. सू. अ. १४) इसीलिये रक्त को जीवरक्त या जीवभूत माना गया है। जीवरक्तमिति जीवतुल्यं रक्तम्। कुतः? जीवच्छरीरे रक्तदर्शनात् मृतशरीरे चादर्शनात्। जीवरक्त पाञ्चभौतिक होता है—'पाञ्चभौतिकं त्वपरे जीवरक्तमाहुराचार्याः'—विस्रता द्रवता रागः स्पन्दनं लघुता तथा। भूम्यादीनां गुणा ह्येते दृश्यन्ते चात्र शोणिते ॥ (सु० सू० अ० १४) आयुर्वेद का नियम है कि शरीर में जिस दोष, धातु या पदार्थ की अल्पता या ह्रास हो जाय उसी को या उसी के समान गुण-धर्म वाले पदार्थ का सेवन करा के क्षति की पूर्ति करा देनी चाहिए—सर्वेषामेव भावानां सामान्यं वृद्धिकारणम्। ह्रासहेतुर्विशेषश्च प्रवृत्तिरुभयस्य तु ॥ (च० सू० अ० १) इसीलिये कहा भी है कि मांस क्षीण हो गया हो तो मांस खिला के, रक्त क्षीण हो गया हो तो ताजा रक्त पिला के तथा शुक्र क्षीण हो गया हो तो शुक्रयुक्त पदार्थ (बस्ताण्ड मकराण्ड) दे कर क्षति पूर्ति करा देनी चाहिए। चरकाचार्य ने भी इसी मत का अनुमोदन किया है—एवमेव सर्वधातुगुणानां सामान्ययोगाद् वृद्धिर्विपर्ययाद् ह्रासः। तस्मान्मांसमाप्यायते मांसेन भूयस्तरमन्येभ्यः शरीरधातुभ्यस्तथा लोहितं लोहितेनैव, मेदो मेदसा, वसा वसया, अस्थि तरुणास्थ्ना, मज्जा मज्ज्ञा, शुक्रं शुक्रेण, गर्भस्त्वामगर्भेण ॥ (च० शा० अ० ६) इसके सिवाय चरकाचार्य ने कहा है कि जीवादान अर्थात् जीवशोणित के अत्यधिक प्रवृत्त होने पर उसे रोकने के लिये गाय, बकरी, भेड़ और भैंस के दुग्ध में जीवनीयगण की औषधियों का स्वरस मिला बस्ति दें अथवा सद्यः मारे हुये शशैणादि के रक्त की बस्ति दें—गोऽव्यजामहिषीक्षीरैर्जीवनीयशृतैस्तथा। शशैणदक्षमार्जारमहिषाव्यजशोणितैः ॥ सद्यस्कैर्मृदितैर्बस्तिर्जीवादाने प्रशस्यते ॥' (च० सि० अ० १०) महान् खेद है कि इन सब सिद्धान्तों के हजारों वर्ष के पुराने होते हुए भी हम आलस्य और अकर्मण्यतारूपी घोर निद्रा ही में मग्न रह गये और आधुनिक विज्ञान वालों ने चिकित्सा में हमारे सिद्धान्तों का प्रयोग प्राणियों पर आसानी से हो जाय वैसे सुन्दर उपाय ढूँढ निकाले। किन्तु हम उन्हें अपना कर रोगी का भला करने में भी अभी आगा-पीछा कर रहे हैं। वास्तव में ताजा रक्त रोगी को मुख द्वारा दिया जाना सम्भव कम है, क्योंकि प्रथम तो जिस रुग्ण का अत्यधिक रक्त स्रुत हो गया होगा वह अचेत या मूर्च्छा या सुप्तावस्था में हो सकता है। यदि न भी हो तो भी रक्त का जो अपना एक भयावना लाल बीभत्स रूप है उसके कारण तथा उसकी विशिष्ट गन्ध होने से एवं बाहर निकला हुआ रक्त तुरन्त जम जाता है इन सब कारणों से उसे रुग्ण को देना आसान नहीं है। अतएव वर्तमान में जो रक्त प्रवेश (Blood transfusion) की प्रणाली आविष्कृत की है उसी के अनुसार इस कार्य की पूर्ति करना उचित बुद्धिमानी है। जिस प्रकार चरकाचार्य ने अनेक प्रकार के पशु और पक्षियों के मांस आदि का अनेक रोगों में विविध प्रकार से उन्हें रुचिकर बना के सेवन करने को लिखा है तदनुसार पाश्चात्य वैद्यक में भी मांस, रक्त, मज्जा, यकृत्, आन्त्र आदि को अनेक रूपों में प्रयुक्त करना लिखा है। इसी तरह केवल रक्तानुकारी हीमोग्लोबिन के कई योग पीने के लिये प्रयुक्त होते हैं। इसके सिवाय मनुष्यों के रक्त का उपयोग प्रत्यक्ष सिरा द्वारा रोगी के शरीर में किया जाता है। इसमें एक स्वस्थ मनुष्य की धमनी से शुद्ध रक्त लेकर उसका अन्तःक्षेप रोगी के शरीर में सिरा द्वारा किया जाता है। रक्त का अन्तःक्षेप करने के पूर्व दाता मनुष्य (Donor) के रक्त की परीक्षा करके यदि वह रक्त रोगी के अविरुद्ध (Compatible) मालूम हो तो प्रयोग करना चाहिए। इस रक्त के प्रयोग से बहुत लाभ होता है। यदि योग्य समय पर रक्त के अन्तःक्षेप का प्रयोग किया जाय तो सहसा रोगी की मृत्यु होने की सम्भावना नहीं होती। रक्त का सेवन करने से रक्तस्राव बन्द होने में भी मदद मिलती है। क्योंकि रक्त में स्कन्दन सहायक पदार्थ होते हैं। रक्त के अन्तःक्षेप के अतिरिक्त घोड़े के रक्त की लसी का (Serum) मुख द्वारा या इञ्जेक्शन द्वारा रक्त का स्राव रोकने के लिये दी जाती है। अन्तःप्रक्षेप के लिये जिसका रक्त लिया जाता है उसे दाता (Donor) कहा है, तथा जिसे रक्त दिया जाता

है उसे ग्राहक (Reccipient) कहते हैं। इनमें डोनर के चार भेद होते हैं, जैसे नं० १, २, ३ और ४। इनमें नं० ४ को सार्वजनिक दाता (Universal donor) कहते हैं क्योंकि नं० ४ का रक्त सर्व व्यक्तियों के लिये दिया जा सकता है, किन्तु नं० १ का रक्त नं० १ के लिये ही अनुकूल होता है। नं० २ का रक्त नं० १ तथा नं० २ दोनों के लिये अनुकूल होता है। नं० ३ का रक्त नं० १, २ और नं० ३ ऐसे तीनों को अनुकूल होता है। प्रायः यह बहुत करके देखा गया है कि एक माता-पिता की सन्तान में रक्त प्रायः एक ही श्रेणी का होता है। अर्थात् उनमें परस्पर अनुकूल होता है। सन्तान में रक्त की समानधर्मता कभी माता के रक्त की आती है और कभी पिता के रक्त की आती है। प्रायः गवर्नमेण्ट ने बड़े-बड़े अस्पतालों में (Blood Bank) खोल रखे हैं, जहाँ उदार हृदय व्यक्ति अपना रक्त गरीबों को देने के लिये दान रूप में जमा करते हैं तथा अनेक द्रव्याभिलाषुक व्यक्ति अपना रक्त मूल्य ग्रहण करके भी देते हैं। इस प्रकार प्राप्त हुए विभिन्न प्रकार के रक्त उन अस्पतालों में बने हुये शीत स्थानों में सुरक्षित जमा रहते हैं, जिनका प्रयोग समय पड़ने पर गरीब व्यक्तियों के लिये होता रहता है।

पलाशवृक्षस्वरसे विपक्वं
सर्पिः पिबेत् क्षौद्रयुतं सुशीतम्।
वनस्पतीनां स्वरसैः कृतं वा
सशर्करं क्षीरघृतं पिबेद्वा ॥ ३१ ॥

रक्तपित्तहरं घृतद्वयम्—पलाश (ढाक) के वृक्ष की अन्तर छाल का स्वरस ४ प्रस्थ तथा उसी का कल्क ४ पल और घृत १ प्रस्थ (१६ पल) लेकर यथाविधि घृत पकाकर शीतल होने पर ६ माशे से १ तोले भर लेकर उसमें शहद ६ माशे मिलाकर रक्तपित्ती को पिलावें। अथवा वट, अश्वत्थ, गूलर आदि वनस्पतियों की अन्तरछाल के ४ प्रस्थ स्वरस में ताजे दुग्ध से निकाला हुआ घृत १ प्रस्थ एवं उक्त वनस्पतियों की अन्तरछाल या जटाङ्कुर का कल्क ४ पल लेकर यथाविधि घृत सिद्ध करके ६ माशे से एक तोले भर लेकर उसमें उतनी ही शर्करा मिलाकर पीने से रक्तपित्त रोग नष्ट होता है ॥ ३१ ॥

विमर्शः—चरकाचार्य ने पलाशादिघृत की निम्न विधि लिखी है—पलाशवृन्तस्वरसेन सिद्धं तस्यैव कल्केन मधुद्रवेण। लिह्याद् घृतम्।

द्राक्षामुशीराण्यथ पद्मकं सिता
पृथक्पलांशान्युदके समावपेत्।
स्थितं निशां तद्रुधिरामयं जये-
त्पीतं पयो वाऽम्बुसमं हिताशिनः ॥ ३२ ॥

रक्तपित्तहरं द्राक्षादिशीतकषायम्—किसमिस, खस, पद्माख और शर्करा प्रत्येक को एक-एक पल भर लेकर सबको पत्थर पर पीसकर २४ पल जल में रात भर पड़ा रखकर दूसरे दिन हाथ से अच्छी प्रकार मसलकर छानकर इसमें से थोड़ा-थोड़ा दिन भर पीते रहने से अथवा इसके ६ हिस्से कर दो-दो घण्टे अन्तर से पीते रहनेसे रक्तपित्त रोग नष्ट हो जाता है। अथवा आधा कच्चा दुग्ध तथा आधा पानी मिलाकर दिन भर थोड़ा थोड़ा पीते रहने से रक्तपित्त रोग नष्ट हो जाता है ॥ ३२ ॥

विमर्शः—स्थितं निशाम्– उक्त औषधियों को एक-एक पल भर लेकर ६ गुने पानी में रखकर दूसरे दिन पीना शीतकषाय कहा जाता है—क्षुण्णं द्रव्यपलं सम्यक् षड्भिर्जल-पलैः प्लुतम्। शर्वरीमुषितं सम्यक् ज्ञेयः शीतकषायकः॥ कुछ आचार्यों ने इस ३२ वें श्लोक के पश्चात् निम्न पाठान्तर माना है—'वासाकषायं ससितं पिबेद्वा तुरङ्गवर्चःस्वरसं समाक्षिकम्' इसका अर्थ वासा के स्वरस या क्वाथ में शर्करा मिलाकर पीवे अथवा घोड़े की लीद के स्वरस में शहद मिलाकर पीवे। अस्तु इसी को इस पुस्तक के वक्ष्यमाण ३३ वें श्लोक के पूर्वार्द्ध में कह दिया है।

तुरङ्गवर्चःस्वरसं समाक्षिकं
पिबेत्सिताक्षौद्रयुतं वृषस्य वा।
लिहेत्तथा वास्तुकबीजचूर्णं
क्षौद्रान्वितं तण्डुलसाह्वयं वा ॥ ३३ ॥

रक्तपित्तहरास्तुरङ्गवर्चःस्वरसादयश्चत्वारो योगाः—(१) घोड़े की लीद के स्वरस में उतना ही शहद मिलाकर पिलाना चाहिये। अथवा (२) वृष (अडूसे) के स्वरस में शर्करा और मधु मिलाकर पान करावें। किंवा (३) बथुए के बीजों के ३ माशे चूर्ण को शहद में मिलाकर चटावें। अथवा (४) चौलाई के बीज अथवा जड़ के ३ माशे भर चूर्ण को मधु में मिलाकर चटाने से रक्तपित्त नष्ट हो जाता है ॥ ३३ ॥

विमर्शः—इस तैंतीसवें श्लोक के उत्तरार्द्ध को कुछ लोग निम्नरूप से लिखा मानते हैं—'सतण्डुलीयं मधुनाऽवलेह्येत् सितायुतं वास्तुकमूलमेव वा।'

लिह्याच्च लाजाञ्जनचूर्णमेक-
मेवं सिताक्षौद्रयुतां तुगाख्याम्।
द्राक्षां सितां तिक्तकरोहिणीञ्च
हिमाम्बुना वा मधुकेन युक्ताम् ॥ ३४ ॥

रक्तपित्ते लाजाञ्जनचूर्णादियोगत्रयम्—(१) लाजा और रसाञ्जन के समभाग गृहीत चूर्ण को ३ माशे से ६ माशे प्रमाण में लेकर शहद के साथ चटावें। अथवा (२) केवल वंशलोचन चूर्ण को शर्करा और शहद के साथ मिला कर सेवन करावें। या मुनक्का, शर्करा और कुटकी इनके समभाग गृहीत चूर्ण को ३ माशे प्रमाण में लेकर शीतल जलानुपान से पिलावें अथवा इन्हीं तीनों में मुलेठी का चूर्ण १ से २ माशे प्रमाण में मिश्रित कर जलानुपान से सेवन कराने से रक्तपित्त रोग नष्ट हो जाता है ॥ ३४ ॥

विमर्शः—'लाजाञ्जनचूर्णम्' इसके स्थान पर कुछ लोग 'कालाञ्जनचूर्णम्' ऐसा पाठान्तर मानते हैं। ऐसी स्थिति में कालाञ्जन से शुद्ध सौवीराञ्जन का ग्रहण करना चाहिए।

पथ्यामहिस्रां रजनीं घृतञ्च
लिह्यात्तथा शोणितपित्तरोगी ॥ ३५ ॥

रक्तपित्तहरं पथ्यादिचूर्णम्—इनके अतिरिक्त हरड़ हंस की जड़ या बालछड़ और हरिद्रा इनके समभागगृहीत चूर्ण

को ३ माशे से ६ माशे प्रमाण में लेकर घृत के साथ मिश्रित करके रक्तपित्त के रोगी को चटानेसे रक्तपित्त नष्ट हो जाता है ॥

विमर्शः—यह पथ्यादियोग कण्ठप्रवृत्त रक्तपित्त में अच्छा लाभ करता है। कुछ लोग 'रजनीं घृतञ्च' इसके स्थान पर 'रजनीद्वयञ्च' ऐसा पाठान्तर मानते हैं। वहाँ हरिद्रा और दारुहरिद्रा दोनों का ग्रहण करना चाहिए।

वासाकषायोत्पलमृत्प्रियङ्गु-
रोध्राञ्जनाम्भोरुहकेशराणि ।
पीत्वा सिताक्षौद्रयुतानि जह्या-
त्पित्तासृजो वेगमुदीर्णमाशु ॥ ३६ ॥

तीव्ररक्तपित्ते वासाकषायादियोगः—अडूसे के पञ्चाङ्ग के बनाये हुए ४ तोले क्वाथ में नीलकमलोत्पत्ति स्थान की मिट्टी (केदारमृत्तिका) १ माशा, प्रियङ्गुचूर्ण १ माशा, लोध का चूर्ण १ माशा, शुद्ध सौवीराञ्जन चूर्ण ४ रत्ती, कमलकेशर चूर्ण १ माशा, शर्करा १ तोला तथा शहद ६ माशे या १ तोले भर मिला के पीने से रक्तपित्त का प्रवृत्त हुआ उत्कट वेग शीघ्र ही नष्ट हो जाता है ॥ ३६ ॥

विमर्शः—इस योग में नील कमल और उसके उत्पत्ति स्थान की मिट्टी ऐसा पृथक् अर्थ डल्हणाचार्य ने किया है, वह भी उचित है। चरकाचार्य ने भी कमल के पुष्प तथा मूल और वहाँ की मिट्टी को रक्तपित्ती के लिये प्रलेपरूप में लिखा है—'मूलानि पुष्पाणि च वारिजानां प्रलेपनं पुष्करिणीमृदश्च' (च० चि० अ० ४) इसके अतिरिक्त रक्तपित्त रोग को नष्ट करने के लिये चरकाचार्य ने अडूसे के पञ्चाङ्ग का उपयोग उसके कषाय और पुष्पकल्क से घृत सिद्ध कर सेवन करना लिखा है—'वासां सशाखां सपलाशमूलां कृत्वा कषायं कुसुमानि चास्याः। प्रदाय कल्कं विपचेद् घृतं तत् सक्षौद्रमाश्वेव निहन्ति रक्तम् ॥' (च० चि० अ० ४) चरक के निम्न दो योग रक्तपित्त में अत्यधिक चमत्कारिक प्रभाव करते हैं। चिकित्सक महानुभाव इनका प्रयोग कर अवश्य लाभ उठावें—(१) वैदूर्यमुक्तामणिगैरिकाणां मृच्छङ्खहेमामलकोदकानाम्। मधूदकस्येक्षुरसस्य चैव पानाच्छमं गच्छति रक्तपित्तम् ॥ (२) उशीरपद्मोत्पलचन्दनानां पक्वस्य लोष्टस्य च यः प्रसादः। सशर्करः क्षौद्रयुतः सुशीतो रक्तातियोगप्रशमाय देयः ॥ (च० चि० अ० ४)

गायत्रिजम्ब्वर्जुनकोविदार-
शिरीषरोध्राशनशाल्मलीनाम् ।
पुष्पाणि शिम्रोश्च विचूर्ण्य लेहो
मध्वन्वितः शोणितपित्तरोगे ॥ ३७ ॥

रक्तपित्ते गायत्र्यादिपुष्पप्रयोगः—खदिर, जामुन, अर्जुन, कचनार, शिरीष, लोध्र, विजयसार, सेमल और सुहाञ्जना इन सबके पुष्पों को समान प्रमाण में ले के चूर्णित कर ३ माशे से ६ माशे के प्रमाण में ले के शहद के साथ मिला कर सेवन करने से रक्तपित्त रोग नष्ट होता है ॥ ३७ ॥

सक्षौद्रमिन्दीवरभस्मवारि
करञ्जबीजं मधुसर्पिषी च ।
जम्ब्वर्जुनाम्रक्वथितञ्च तोयं
घ्नन्ति त्रयः पित्तमसृक् च योगाः ॥ ३८ ॥

रक्तपित्तहरास्त्रयो योगाः—(१) कमल की भस्म को पानी में घोल कर शहद मिला के रक्तपित्ती को पिलावें। अथवा (२) करञ्ज बीजों का चूर्ण १ से ३ माशे प्रमाण में लेकर मधु और घृत के साथ मिला के चटाना चाहिए अथवा (३) जामुन की छाल, अर्जुन की छाल और आम्र की छाल इन तीनों को समान प्रमाण में मिश्रित कर १ पल भर ले के १६ गुना पानी डाल कर अष्टमांश (२ पल) शेष रहने पर छान के इसमें २ तोले शर्करा मिला के या मधु मिला के पिलाना चाहिए। इस तरह उक्त तीनों योग रक्तपित्त को नष्ट करते हैं ॥ ३८ ॥

विमर्शः—डल्हणाचार्य ने इन्दीवर भस्मवारि का अर्थ इन्दीवरक्षारोदक (कमल नाल भस्म द्वारा बनाये क्षार का पानी) किया है।

मूलानि पुष्पाणि च मातुलुङ्ग्याः
पिष्ट्वा पिबेत्तण्डुलधावनेन ॥ ३९ ॥

रक्तपित्तहरो मातुलुङ्गयोगः—बिजोरे निंबू की जड़ और पुष्प मिलित १ पल भर लेकर पानी के साथ पत्थर पर पीस कर तण्डुलोदक में घोल के छान कर पीने से रक्तपित्त नष्ट होता है ॥ ३९ ॥

विमर्शः—कुछ लोगों ने मातुलुङ्ग का अर्थ मधुककंटी किया है। तण्डुलोदकनिर्माणविधिः—जौ कूट किये हुए चावल १ पल लेकर चार पल जल में डाल के कुछ घण्टों बाद हाथ से मसल कर जल छान लेवें—'तण्डुलं कणशः कृत्वा पलं जलं हि तण्डुकात्। चतुर्गुणं जलं देयं तण्डुलोदककर्मणि ॥' कुछ लोग ६ गुना तथा कुछ लोग अठगुना जल मिला कर भी तण्डुलोदक बनाते हैं—'शीतकषायमानेन तण्डुलोदककल्पना' शीतकषायः षड्गुणे जले भवति।

घ्राणप्रवृत्ते जलमाशु देयं
सशर्करं नासिकया पयो वा ।
द्राक्षारसं क्षीरघृतं पिबेद्वा
सशर्करञ्चेक्षुरसं हिमं वा ॥ ४० ॥

घ्राणप्रवृत्तरक्तपित्ते नासया पयःप्रयोगः—नासा से रक्तप्रवृत्ति होने पर पानी में शर्करा मिला कपड़े से छान कर नासा से पिलावें अथवा ताजे कच्चे दुग्ध को छान कर नासा से पिलावें। अथवा द्राक्षा के रस में शर्करा मिला के छान कर नासा से पिलावें। किंवा कच्चे दुग्ध को मथकर निकाले हुये घृत को नासा से पिलाना चाहिए। अथवा ईख के स्वरस को वा बरफ के पानी को या इक्षुरस में ही बरफ डाल के ठंढा बना कर नासा से पिलाना चाहिए ॥ ४० ॥

विमर्शः—द्राक्षारसमित्यादिना योगत्रयमुच्यते—द्राक्षारसस्य नस्यं नस्यं वा क्षीरसर्पिषः सपदि। इक्षो रसस्य नस्यं सशर्करं रक्तनुद् भवति ॥ दूषित रक्त के निकल जाने पर ही नासा द्वारा उक्त पेय या नस्यों का विधान करना उपयुक्त है। अन्यथा अन्यान्य विकार उत्पन्न होने की सम्भावना है—रक्ते प्रदुष्टे ह्यवपीडबन्धे दुष्टप्रतिश्यायशिरोविकाराः। रक्तं सपूयं कुणपश्च गन्धः स्याद् घ्राणनाशः क्रमयश्च दुष्टाः ॥ (च० चि० अ० ५।११)

शीतोपचारं मधुरञ्च कुर्या-
द्विशेषतः शोणितपित्तरोगे ॥ ४१ ॥

रक्तपित्ते शीतोपचारः—रक्तपित्त रोग में विशेष कर शीतल खाद्य-पेय तथा आहार-विहार का उपयोग एवं मधुर रसवाले द्रव्यों का प्रयोग करना चाहिए ॥ ४१ ॥

विमर्शः—आभ्यन्तरिक तथा बाह्य उभय रूप से शीतोपचार करना चाहिए। आभ्यन्तरिकप्रयोगः—'वैडूर्यमुक्तामणिगैरिकाणां मृच्छङ्खहेमामलकोदकानाम्। मधूदकस्येक्षुरसस्य चैव पानाच्छमं गच्छति रक्तपित्तम्॥ बाह्यशीतोपचारः—'धारागृहं भूमिगृहं सुशीतं वनञ्च रम्यं जलवातशीतम्। वैडूर्यमुक्तामणिभाजनानां स्पर्शाश्च दाहे शिशिराम्बु शस्ताः॥' (च० चि० अ० ४)

द्राक्षाघृतक्षौद्रसितायुतेन
विदारिगन्धादिविपाचितेन।
क्षीरेण चास्थापनमग्र्यमुक्तं
हितं घृतञ्चाप्यनुवासनार्थम् ॥ ४२ ॥

रक्तपित्ते बस्तिद्वयम्—विदारीगन्धादिगण की औषधियों के कल्क से सिद्ध किये हुये दुग्ध में द्राक्षा का कल्क, घृत, शहद और शर्करा मिला के रक्तपित्त में आस्थापनबस्ति देना उत्तम है तथा उक्त विदारीगन्धादि औषधियों के कल्क से सिद्ध किये हुये दुग्ध में घृतपाक करके अथवा मधुयष्टि के कल्क और क्वाथ से घृत सिद्ध करके उससे रक्तपित्ती को अनुवासन बस्ति देनी चाहिए ॥ ४२ ॥

विमर्शः—क्षीरपाकविधिः—विदारीगन्धादि औषध कल्क १ पल, दुग्ध ८ पल, पानी ३२ पल ले कर क्षीरावशेष पाक होने पर दुग्ध को छान लें—द्रव्यादष्टगुणं क्षीरं क्षीरात्तोयं चतुर्गुणम्। क्षीरावशेषः कर्तव्यः क्षीरपाके त्वयं विधिः॥ ऐसा दुग्ध ६ पल ले कर उसमें द्राक्षाकल्क २ पल, घृत ४ पल, शहद ४ पल और शर्करा ४ पल मिश्रित कर कुल २० पल (८॥ प्रस्थ) हुये द्रव से निरूहण बस्ति दें। 'बस्तिस्तु क्षीरतैलैर्यो निरूहः स निगद्यते'। 'दोषहरणाच्छरीररोगहरणाद्वा निरूहः' निरूहणबस्ति का ही नाम आस्थापन बस्ति है—निरूहस्यापरं नाम प्रोक्तमास्थापनं बुधैः। 'वयःस्थापनादायुःस्थापनाद्वाऽऽस्थापनमि'ति सुश्रुतः। द्रव्यमानम्—निरूहस्य प्रमाणञ्च प्रस्थं पादोत्तरं परम्॥ मध्यमं प्रस्थमुद्दिष्टं हीनञ्च कुडवास्त्रयः॥ निरूहणबस्तौ मध्वादीनां प्रमाणम्—मधुस्नेहनकल्काख्यः कषायावापतः क्रमात्। पित्ते चत्वारि चत्वारि द्वे द्विपञ्चचतुष्टयम्॥ अनुवासनबस्तिः—अनुदिनं = प्रतिदिनं दीयत इत्यनुवासनम्। अस्य स्नेहबस्तिरपरं नाम। अनुवासनबस्तिप्रमाणम्—उत्तमस्य पलैः षड्भिर्मध्यमस्य पलैस्त्रिभिः। पलैकार्द्धेन हीना स्यादुक्ता मात्राऽनुवासने।

प्रियङ्गुरोध्राञ्जनगैरिकोत्पलैः
सुवर्णकालीयकरक्तचन्दनैः।
सिताऽश्वगन्धाऽम्बुदयष्टिकाह्वयै-
र्मृणालसौगन्धिकतुल्यपेषितैः ॥ ४३ ॥
निरूह्य चैनं पयसा समाक्षिकै-
र्घृतप्लुतैः शीतजलावसेचितम्।
क्षीरौदनं भुक्तमथानुवासयेद्
घृतेन यष्टीमधुसाधितेन च॥
अधोवहं शोणितमेष नाशयेत्
तथाऽतिसारं रुधिरस्य दुस्तरम् ॥ ४४ ॥

रक्तपित्ते आस्थापनानुवासनयोरपरो योगः—फूल प्रियङ्गु, पठानी लोध, सौवीराञ्जन, गेरु, नीलकमल या नागकेशर, सुवर्णगैरिक, कालीयक (दारुहरिद्रा सदृश द्रव्य या पीत चन्दन), लाल चन्दन, शर्करा, अश्वगन्धा, मुस्तक, मुलेठी, कमलनाल (या पद्मकेशर डल्हण मत से), रक्तकमल इन्हें समान प्रमाण में लेकर थोड़ा सा पानी डालकर पत्थर पर अच्छी प्रकार पीस के कल्क बना लें। फिर यह कल्क २ पल, दुग्ध १० पल, शहद ४ पल, घृत ४ पल इस तरह कुल १॥ प्रस्थ द्रव्य की निरूहण बस्ति देवें। बस्ति का उपयोग हो जाने के पश्चात् शीतल जल से रुग्ण के हस्त पाद सिञ्चित (धुला) कर दुग्ध के साथ चावल का भात खिलाना चाहिए। इसके अनन्तर मुलेठी के कल्क और क्वाथ से सिद्ध किये हुए ६ पल या ३ पल घृत के द्वारा अनुवासन या स्नेह बस्ति देनी चाहिए। इस विधि से दिया हुआ यह आस्थापन और अनुवासन बस्ति का प्रयोग अधोग रक्तपित्त, अतिसार और दुस्तर रक्तातिसार को नष्ट करता है ॥ ४३-४४ ॥

विरेकयोगे त्वति चैव शस्यते
वाम्यश्च रक्ते विजिते बलान्वितः ॥ ४५ ॥

उक्तप्रयोगप्रशंसा वमनविधानञ्च—उक्त आस्थापन तथा अनुवस्ति का प्रयोग अत्यधिक विरेचन योग की दस्तों को रोकने के लिये भी प्रशस्य उपाय है। इस तरह निरूहण और अनुवासन बस्तियों के द्वारा रक्तपित्त रोग के नष्ट हो जाने पर यदि पुरुष बलवान् हो तो रक्तपित्त की अधोमार्ग प्रवृत्ति का निवारण करने के लिए वमन का प्रयोग कराना चाहिए ॥ ४५ ॥

एवंविधा उत्तरबस्तयश्च मूत्राशयस्थे रुधिरे विधेयाः।
प्रवृत्तरक्तेषु च पायुजेषु कुर्याद्विधानं खलु रक्तपैत्तम् ॥

विशिष्टस्थानगतरक्तपित्ते विशिष्टचिकित्सा—मूत्राशय अर्थात् बस्ति और मूत्रस्रोत से प्रवृत्त रक्तपित्त रोग में ऊपर कही हुई आस्थापन और अनुवासन बस्ति की भाँति अर्थात् उनमें प्रयुक्त द्रव्यों की उत्तर बस्तियाँ देनी चाहिए तथा अर्श के अङ्कुरों से रक्त का अतिस्राव होने पर रक्तपित्त के अनुसार चिकित्सा करनी चाहिए ॥ ४६ ॥

विमर्शः—'उत्तरं दीयते यस्माद्बस्तिरुत्तरसंज्ञकः' पुरुषों के उत्तर अर्थात् सामने के मूत्रमार्ग तथा स्त्रियों के मूत्र और योनिमार्ग में बस्ति दी जाती है। अतएव इसे उत्तरबस्ति कहा जाता है। इस बस्ति को देने के लिये बस्तिनेत्र (केन्युला) की आवश्यकता होती है जो कि पुरुषों में बारह अङ्गुल लम्बा, मध्य में कर्णिकायुक्त और मालती के पुष्प के डण्ठल जैसा मोटा तथा सरसों निकल जावे इतने बड़े छेद (नाली) वाला होना चाहिए तथा ६ अङ्गुल भर नेत्र प्रवेश करें। द्वादशाङ्गुलकं नेत्रं मध्ये च कृतकर्णिकम्। मालतीपुष्पवृन्ताभं छिद्रं सर्षपनिर्गमम्॥ स्त्रियों में बस्तिनेत्र दस अङ्गुल लम्बा तथा छोटी अङ्गुली के समान मोटा तथा मूँग निकल आवे इतने बड़े छेद (नाली) वाला होना चाहिए। इस नेत्र को योनि में ४ अङ्गुलभर प्रवेश करे तथा मूत्रमार्ग में २ अङ्गुल भर प्रवेश करे तथा बालकों के मूत्रमार्ग में १ अङ्गुल ही प्रवेश करे—स्त्रीणां कनिष्ठिकास्थूलं नेत्रं कुर्याद् दशाङ्गुलम्।

मुद्गप्रवेशं योज्यञ्च योन्यन्तश्चतुरङ्गुलम् । द्व्यङ्गुलं मूत्रमार्गे च सूक्ष्मं नेत्रं नियोजयेत् । मूत्रकृच्छ्रविकारेषु बालानामेकमङ्गुलम् ॥ **पुरुषों में स्नेहमात्रा—२५ वर्ष से कम आयु वालों में २ कर्ष तथा २५ वर्ष से अधिक उम्र वालों के लिये १ पल स्नेह की मात्रा उत्तरबस्ति में दी जाती है**—पञ्चविंशतिवर्षाणामधो मात्रा द्विकार्षिकी । तदूर्ध्वं पलमात्रा च स्नेहस्योक्ता भिषग्वरैः ॥ **स्त्रियों में स्नेहमात्रा—स्त्रियों के योनिमार्ग में बस्ति देने के लिये स्नेह की मात्रा २ पल तथा मूत्रमार्ग में बस्ति देने के लिये स्नेह की मात्रा १ पल तथा अल्प आयु वाली बालाओं के लिये २ कर्ष की स्नेहमात्रा समझनी चाहिए**—योनिमार्गेषु नारीणां स्नेहमात्रा द्विपालिका । मूत्रमार्गे पलोन्माना बालानाञ्च द्विकार्षिकी॥

विधिश्चासृग्दरेऽप्येष स्त्रीणां कार्य्यो विजानता ।
शस्त्रकर्मणि रक्तं च यस्यातीव प्रवर्त्तते ॥४७॥

असृग्दरादिरोगे रक्तपित्तचिकित्सोपदेशः—**स्त्रियों के असृग्दर रोग में तथा जिन स्त्री या पुरुषों में शस्त्रकर्म करने के समय अत्यधिक रक्त की स्रुति हो रही हो उसमें भी रक्तपित्त-चिकित्साधिकार में कहे हुये प्रयोग तथा विधियों का चिकित्सारूप में विधान करना उत्तम है ॥ ४७ ॥**

विमर्शः—कुछ पुस्तकों में इसी उक्त श्लोक के पश्चात् **असृग्दर** के निम्न लक्षण लिखे हैं—दहेदधो वङ्क्षणदेशमस्याः श्रोणिञ्च पृष्ठञ्च तथैव वृक्कौ । असृग्दरश्चापि करोति नार्या गर्भाशयाति त्वचिरेण घोराम् ॥ असृग्दर का अर्थ रक्त का नष्ट होना **है**—'असृग्दारयतीत्यसृग्दरः' अथवा 'असृग्दीर्यते नश्यति यस्मिन् रोग इत्यसृग्दरः' इसी को रक्तप्रदर भी कहते हैं—'प्रदीर्यते विस्तारो भवतीति प्रदरः' 'रजः प्रदीर्यते यस्मात्प्रदरस्तेन स स्मृतः' **तीन, पाँच तथा सात दिन का जो ऋतुकाल है उसमें तथा उससे अन्य समय में भी कुछ दिनों तक प्रवृत्त या दीर्घकालानुबन्धी होने वाले रक्तस्राव को रक्तप्रदर या असृग्दर कहते हैं**—रक्तं प्रमाणमुत्क्रम्य गर्भाशयगताः सिराः । रजोवहाः समाश्रित्य रक्तमादाय तद्रजः । यस्माद्विवर्धयत्याशु रसभावाद्विमानता । तस्मादसृग्दरं प्राहुरेतत्तन्त्रविशारदाः ॥ **(च० चि० अ० ३०)** अन्यच्च—तदेवातिप्रसङ्गेन प्रवृत्तमनृतावपि । असृग्दरं विजानीयादतोऽन्यद्रक्तलक्षणात् ॥ **(सु० शा० अ० २)** अतिप्रसङ्गेन—अत्यधिकमात्रायाम् । अनृतावपि—ऋतुकाले तदतिरिक्ते च समये । **डल्हणाचार्य ने**—अनृतावल्पमप्यदीर्घकालमपि प्रवृत्तमसृग्दरं विजानीयात् ॥ **ऋतुभिन्नकाल में अल्पप्रमाण में तथा अल्पसमय तक प्रवृत्त रक्तस्राव को असृग्दर कहा है। यह अर्थ ठीक नहीं है, क्योंकि रक्तप्रदर में सदा रक्त की अधिकता तथा समय की भी अधिकता रहती है, जैसा कि ऊपर के प्रमाणों से व अनुभव से प्रमाणित है। रक्तप्रदर को मेट्रोरेजिया** (Metrorrhagia) **तथा आर्तवकाल (३, ५ और ७ दिन) में ही अपने प्रमाण (२ से ८ औंस) से भी अधिक निकलता हो तो उसे मेनोरेजिया** (Menorrhagia) **कहते हैं।**

त्रयाणामपि दोषाणां शोणितेऽपि च सर्वशः ।
लिङ्गान्यालोक्य कर्तव्यं चिकित्सितमनन्तरम् ॥ ४८ ॥

इति सुश्रुतसंहितायाम् उत्तरतन्त्रान्तर्गते कायचिकित्सातन्त्रे रक्तप्रतिषेधो नाम (सप्तमोऽध्यायः आदितः) पञ्चचत्वारिंशत्तमोऽध्यायः ॥ ४५ ॥

रक्तपित्तासृग्दरादिरोगे दोषलक्षणादिविचारः—**रक्तपित्त रोग में, असृग्दर में तथा शस्त्रकर्मप्रवृत्त रक्तस्राव में वात, पित्त और कफ इन तीनों दोषों के पृथक्-पृथक् तथा द्वन्द्व और सान्निपातिक (मिलित) अवस्थाओं के लक्षणों का एवं रक्त के भी स्वरूप लक्षणादिकों का सुश्रुत के सूत्रस्थान के शोणितवर्णनीय नामक चौदहवें अध्याय के अनुसार ठीक तरह से विचार करने के पश्चात् चिकित्सा करनी चाहिये ॥ ४८ ॥**

विमर्शः—(१) प्रायः व्रण के बलवान् होने पर दुष्ट रक्त के स्रुत हो जाने के पश्चात् रक्त को रोकने की दवा दी जानी **चाहिए**—तस्मात् स्रुते दुष्टरक्ते रक्तसंग्रहणं हितम् । हेतुलक्षणकालज्ञो बलशोणितवर्णवित् ॥ कालं तावदुपेक्षेत यावन्नात्ययमाप्नुयात् । **(२) अग्निसन्दीपन, रक्तस्तम्भन तथा दोषपाचन के लिये तिक्त औषधियों का प्रयोग कराना चाहिए**—अग्निसन्दीपनार्थं च रक्तसंग्रहणाय च । दोषाणां पाचनार्थञ्च परं तिक्तैरुपाचरेत् ॥ **वातोल्बणे रक्तपित्ते पानाभ्यङ्गादि**—यत्तु प्रक्षीणदोषस्य रक्तं वातोल्बणस्य च । वर्तते स्नेहसाध्यं तत् पानाभ्यङ्गानुवासनैः ॥ **पित्तोल्बणे स्तम्भनम्**—यत्तु पित्तोल्बणं रक्तं घर्मकाले प्रवर्तते । स्तम्भनीयं तदेकान्तान्न चेद्वातकफानुगम् । **(च० चि० अ० ४)।**

इति श्रीअम्बिकादत्तशास्त्रिकृतायां सुश्रुतोत्तरतन्त्रान्तर्गतरक्तपित्तचिकित्साटीकायां पञ्चचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४५ ॥

षट्चत्वारिंशत्तमोऽध्यायः

अथातो मूर्च्छाप्रतिषेधं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥ २ ॥

अब इसके अनन्तर मूर्च्छाप्रतिषेध नामक अध्याय का व्याख्यान किया जाता है जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने कहा है ॥ १-२ ॥

विमर्शः—**रक्तपित्त में पित्त का प्रकोप होने से तथा मूर्च्छा रोग भी पित्तप्रधान कारण से उत्पन्न होने के कारण रक्तपित्त के अनन्तर मूर्च्छाप्रतिषेध अध्याय आरम्भ किया गया है**—'मूर्च्छा पित्ततमःप्राया'। **माधवनिदान में मूर्च्छा रोग का प्रारम्भ तृष्णारोग के अनन्तर किया है, क्योंकि अत्यधिक तृष्णा होने पर जल न मिलने से आदमी मूर्च्छित हो जाता है**—'तृषितो मोहमायाति मोहात् प्राणान् विमुञ्चति'। **सुश्रुताचार्य तथा माधवकार ने अपने-अपने उचित अभिप्राय से ही रक्तपित्त के या तृष्णा के अनन्तर मूर्च्छा रोग का प्रारम्भ किया है।**

क्षीणस्य बहुदोषस्य विरुद्धाहारसेविनः ।
वेगाघातादभीघाताद्धीनसत्त्वस्य वा पुनः ॥ ३ ॥
करणायतनेषूग्रा बाह्येष्वाभ्यन्तरेषु च ।
निविशन्ते यदा दोषास्तदा मूर्च्छन्ति मानवाः ॥४ ॥

मूर्च्छाया निदानं सम्प्राप्तिश्च—**जो मनुष्य अत्यन्त क्षीण हो गया हो, जिसमें वातादि दोषों का प्रकोप अत्यधिक मात्रा में हो तथा जो विरुद्ध आहार का सेवन करता हो ऐसे व्यक्तियों में तथा मल, मूत्र आदि अधारणीय वेगों के धारण करने से, चोट लगने से, दुर्बल मन वाले या जिनमें सत्त्व गुण की अल्पता होती है ऐसे मनुष्यों के मन के बाह्य आयतन (नेत्र,**

श्रवण, नासादि) तथा आभ्यन्तरिक आयतनों (मनोवह-स्रोतसों) में विकृत दोषों का प्रवेश हो जाने पर मनुष्य मूर्च्छित हो जाता है ॥ ३-४ ॥

विमर्शः—बहुदोषस्य = विपुलदोषस्य नत्वनेकदोषस्य तथा सत्येकदोषजायाः सम्प्राप्तिर्नोक्ता स्यात्। अर्थात् किसी भी एक दोष के अधिक मात्रा में रहने पर। हीनसत्त्वस्य हीनसत्त्वगुणस्य, अल्पसत्त्वस्येति डल्हणः, करणं मनः, तस्यायतनानि बाह्यानि चक्षुरादीनि, आभ्यन्तराणि मनोवहस्रोतांसि, यैरागत्य मनश्चक्षुरादीन्यधितिष्ठति। अथवा बाह्यानि कर्मेन्द्रियाणि, आभ्यन्तराणि बुद्धीन्द्रियाणि, तेषु यदा उग्रा दोषा निविशन्ते तदा मानवा मूर्च्छन्तीति योज्यम्। सत्त्वगुण के अल्प होने पर या मन के दुर्बल होने पर। करण शब्द का अर्थ मन है तथा उसके चक्षुरादिक बाह्य एवं मनोवाहक आभ्यन्तरीय स्रोतसों जिनके द्वारा मन पञ्चज्ञानेन्द्रियों में जाता रहता है अथवा कर्मेन्द्रियां बाह्य तथा ज्ञानेन्द्रियाँ आभ्यन्तरिक मन के आयतन (स्थान) हैं। डल्हणाचार्य ने करणायतन का अर्थ करणों (इन्द्रियों) के आयतन अर्थात् स्थान किया है, जैसे 'करणायतनेषु बुद्धीन्द्रियकर्मेन्द्रियमनोबुद्ध्यहङ्कारस्थानेषु' बाह्येष्वाभ्यन्तरेषु चेति बाह्यकरणायतनानि कर्मेन्द्रियाणि, आभ्यन्तरकरणायतनानि मनोबुद्ध्यहङ्कारस्थानानि। किन्तु इनमें माधव मधुकोष की व्याख्या समुचित है तथा इसमें द्विरुक्ति दोष नहीं है।

संज्ञावहासु नाडीषु पिहितास्वनिलादिभिः।
तमोऽभ्युपैति सहसा सुखदुःखव्यपोहकृत् ॥ ५ ॥
सुखदुःखव्यपोहाच्च नरः पतति काष्ठवत्।
मोहो मूर्च्छेति तां प्राहुः षड्विधा सा प्रकीर्त्तिता ॥ ६ ॥

मूर्च्छागमनप्रकारः—वात आदि दोषों से संज्ञावाहक नाड़ियों के आच्छादित हो जाने पर नेत्रों के आगे सुख दुःख के विवेक को नष्ट कर देने वाला अन्धकार छा जाता है। इस तरह सुख और दुःख के ज्ञान के नष्ट हो जाने पर मनुष्य सूखे हुए काष्ठ के समान गिर पड़ता है। इसी अवस्था को मोह या मूर्च्छा कहते हैं तथा इसके वक्ष्यमाण ६ भेद होते हैं॥

विमर्शः—संज्ञावहासु नाडीषु—यहाँ पर संज्ञावह नाड़ी शब्द से सिरा, धमनी और स्रोतसों का ग्रहण किया जाता है, क्योंकि इन्हीं के द्वारा मन इन्द्रियों के स्थानों को पहुँचता है। इस प्रकार इसमें किसी प्रकार का अवरोध या क्रियाहीनता होने पर मन का गमन नहीं हो पाता तथा मन और इन्द्रियों का संयोग न होने से ज्ञानोत्पत्ति भी नहीं होती। प्रत्येक ज्ञान की उत्पत्ति के लिये आत्मा, मन, इन्द्रिय तथा वस्तु का सम्पर्क होना अत्यावश्यक है—'आत्मा मनसा युज्यते, मन इन्द्रियेण, इन्द्रियमर्थेन, ततो ज्ञानमुत्पद्यते'। आधुनिक दृष्टि से भी अनिलादिक शारीरिक आभ्यन्तरिक कारण तथा वक्ष्यमाण आघात, उष्णता, मादक आदि बाह्य कारणों से हृदय में रक्त की अल्पता होने पर मस्तिष्क तथा परिसरीय वात नाड़ियों (Peripheral nerves) को पोषण न मिलने से मस्तिष्क स्थित ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय तथा मन, बुद्धि और अहङ्कार के अधिष्ठान (मनोवाही स्रोतसों) में दोषों का प्रवेश हो जाता है। इसके बाद शरीर की अन्तः संज्ञावाही नाड़ियों में भी प्रकुपित दोषों के प्रभाव से विकृति आ जाने पर संज्ञावहन (Sensation) का कार्य बन्द हो जाता है एवं सत्त्व और रज के नाश होने पर अज्ञानोत्पादक तमोगुण का सहसा आधिक्य होने से रोगी को सुख और दुःख का लेशमात्र भी ज्ञान नहीं रहता। अर्थात् हेय, उपादेय और उपेक्ष्य ये तीनों ही प्रकार के ज्ञान नष्ट हो जाते हैं। ऐसी अवस्था में मनुष्य का शारीरिक सन्तुलन स्थिर नहीं रह पाता और वह सूखे काष्ठ के समान अचेत होकर भूमि पर गिर पड़ता है। सुख और दुःख का ज्ञान न होना ही मूर्च्छा या मोह है। ऊपर जो संज्ञावह नाड़ी शब्द से सिरा-धमनी और स्रोतस का ग्रहण मधुकोषकार ने किया है, इसका कारण यह है कि वातनाड़ियों को सिरा, धमनी और स्रोतस शक्ति प्रदान करते हैं। धमनी और स्रोतसों की विकृति के कारण वातनाड़ियाँ भी अपना संज्ञावहन का कार्य नहीं कर पाती हैं। इस तरह प्रत्यक्षतया वातनाड़ियों के संज्ञासंवाहक होते हुये भी वातनाडी पोषक होने से परस्पर या सिरा, धमनी, और स्रोतस को भी संज्ञावाहक कह दिया गया है। इस तरह शिरा, धमनी और स्रोतस (Capillaris) की विकृति मूर्च्छा का मूल है, यह आयुर्वेदसम्मत सिद्धान्त है। आधुनिक विद्वान् भी रक्तसंवहनावरोध को ही मूर्च्छा का कारण मानते हैं। रक्तसंवहनावरोध का कारण चाहे जो हो किन्तु यह निश्चित है कि मूर्च्छा का कारण रक्तसंवहनावरोध ही है। इस तरह सिरा, धमनी और स्रोतस की मूर्च्छा के प्रति साक्षात् कारणता भी सिद्ध हो जाती है। वस्तुतः प्राचीन ग्रन्थों में नाडी, सिरा, धमनी तथा स्रोतस शब्दों का व्यवहार-साङ्कर्य देखने को मिलता है। ये सभी कहीं एक ही अर्थ के जैसे 'नाडी तु धमनी सिरा' तथा कहीं स्वतन्त्र अर्थ के भी वाचक होते हैं, यथा—तत्र केचिदाहुः सिराधमनीस्रोतसामविभागः, सिराविकारा एव धमन्यः स्रोतांसि चेति। तत्तु न सम्यक्, अन्या एव हि धमन्यः स्रोतांसि च सिराभ्यः। कस्मात्? व्यञ्जनान्यत्वात् मूलसन्नियमात् कर्मवैशेष्यादागमाच्च, केवलन्तु परस्परसन्निकर्षात्, सदृशागमकर्मत्वात् सौक्ष्म्याच्च विभक्तकर्मणामप्यविभाग इव कर्मसु भवति। (सु० शा० अ० ९) मस्तिष्क ही सब अङ्गों का नियन्त्रणकर्ता है, अतः उसमें रक्त की कमी होने से सर्वाङ्ग में मूर्च्छा होती है। कभी-कभी मस्तिष्क में रक्त की पर्याप्त मात्रा रहने पर भी विशिष्ट अङ्ग में रक्तसंवहन न होने से उस अङ्ग की मूर्च्छा (संज्ञानाश) होती है। इसे स्थानीय (Local) मूर्च्छा भी कहते हैं। मद, मूर्च्छा तथा संन्यास में रसवाही एवं रक्तवाही स्रोतसों में अवरोध का होना अनिवार्य है। यह वाग्भट के निम्नोद्धरण से भी स्पष्ट होता है—रजोमोहाहिताहारपरस्य स्युस्त्रयो गदाः। रसासृक्चेतनावाहिस्रोतोरोधसमुद्भवाः॥ मदमूर्च्छायसंन्यासा यथोत्तरबलावहाः॥ अर्थात् अहित आहार-विहार का सेवन करने पर रजोगुण तथा तमोगुण की वृद्धि होने से रसवाही, रक्तवाही तथा चेतनावाही स्रोतसों में अवरोध उत्पन्न होकर मद, मूर्च्छा तथा संन्यास रोग की उत्पत्ति होती है। मद से मूर्च्छा तथा मूर्च्छा से संन्यास अधिक हानिकारक या घातक होता है। इससे यह भी स्पष्ट है कि यद्यपि तीनों रोगों में तीनों स्रोतसों का अवरोध होना अनिवार्य है तथापि संन्यास में प्रधानतया चेतनावाही स्रोत में, मूर्च्छा में प्रधानतया रक्तवाही और रसवाही स्रोत में अवरोध होता है। रक्तवाही

स्रोत ही रसवाही स्रोत हैं क्योंकि रक्त के आधार हृदय को ही रस का भी स्थान माना गया है 'अहरहर्गच्छतीति रसस्तस्य च स्थानं हृदयम्'। मद मूर्च्छा की प्रथमावस्था है। इसमें पूर्णतः संज्ञानाश नहीं होता है। चरकाचार्य ने भी मद, मूर्च्छा और संन्यास की उत्पत्ति में रस, रक्त तथा चेतनावाही स्रोतसों में अवरोध को ही कारण माना है—यदा तु रक्तवाहीनि रससंज्ञावहानि च। पृथक् पृथक् समस्ता वा स्रोतांसि कुपिता मलाः॥ मलिनाहारशीलस्य रजोमोहावृतात्मनः। प्रतिहत्यावतिष्ठन्ते जायन्ते व्याधयस्तदा। मदमूर्च्छायसंन्यासास्तेषां विद्याद्विचक्षणः॥ इसके अतिरिक्त चरकाचार्य ने लिखा है कि चित्त के दुर्बल स्थान (हृदय) को वायु आक्रान्त करके तत्रस्थ मन को भी क्षुब्ध कर संज्ञा का संमोहन (हरण या संमूर्च्छन) कर देती है—दुर्बलं चेतसः स्थानं यदा वायुः प्रपद्यते। मनो विक्षोभयन् जन्तोः संज्ञां सम्मोहयेत्तदा॥ पित्तमेवं कफश्चैव मनो विक्षोभयन्नृणाम्। संज्ञां नयत्याकुलतां विशेषश्चात्र वक्ष्यते॥ इस तरह प्राचीन सम्प्राप्ति के आधार पर मूर्च्छा का विशेष सम्बन्ध हृदय या सम्पूर्ण रक्तवह संस्थान तथा मस्तिष्क की विकृति से प्रतीत होता है। अत एव इसे सिङ्कोप (Syncope) और कोमा (Coma) की मिली हुई अवस्था कह सकते हैं। मूर्च्छा में चेतनाशक्ति का ह्रास हो जाता है। प्राचीनों ने वक्षोगुहावर्ति हृदय को चेतना का स्थान स्वीकार किया है—'हृदयं चेतनास्थानमुक्तं सुश्रुत देहिनाम्' किन्तु आधुनिक विज्ञान तथा गणनाथ सेनजी ने चेतना का स्थान मस्तिष्क माना है। वे मस्तिष्क को ही बुद्धि का निवासस्थान मानते हैं एवं उन्माद, अपस्मार आदि रोग बुद्धि के निवासभूत हृदय (मस्तिष्क) को दूषित कर उत्पन्न होते हैं—'बुद्धेर्निवासं हृदयं प्रदुष्य' इसी तरह पुण्डरीक के समान हृदय जाग्रत अवस्था में विकसित (कार्यकरणशील) और स्वप्नावस्था में निमीलित (सङ्कुचित) रहता है। वक्षोगुहावर्ति हृदय दिन और रात्रिपर्यन्त (२४ घण्टे) सदा सङ्कोच-विस्तार करता ही रहता है, किन्तु मस्तिष्क जाग्रदवस्था में कार्यशील और शयनावस्था में कर्मरहित होने से उक्त हृदयपरिचायक लक्षण (जाग्रतस्तद्विकसति स्वपतश्च निमीलति) भी मस्तिष्क में अधिक घटता है। श्रीयुत घाणेकरजी तथा अन्य टीकाकार अनेक प्रमाणों से वक्षोगुहावर्ति हृदय को ही बुद्धि, चेतना और मन का निवासस्थान मानते हैं—(१) गर्भावस्था में मस्तिष्क की उत्पत्ति के पूर्व ही हृदय का निर्माण हो जाता है—'हृदयमिति कृतवीर्यो बुद्धेर्मनसश्च स्थानत्वात्' तथा मस्तिष्क के अभाव में भी गर्भ में चेतना रहती है अत एव उसका स्पन्दन स्पष्ट प्रतीत होने लगता है। गति चेतना की द्योतक है। चेतना के अभाव में गति का भी पूर्ण अभाव रहता है। यदि चेतना मस्तिष्क के ही अधीन है तो उसके अभाव में चेतना के अनुभावक लक्षण गति की भी सत्ता न होनी चाहिये। हृदय के निर्माण से पूर्व गति नहीं रहती। इस प्रकार हृदय के रहने पर चेतना, न रहने पर उसका अभाव इस अन्वय-व्यतिरेक के बल पर हृदय को चेतना का स्थान कहना अनुपयुक्त नहीं। प्राचीन आचार्यों के चेतना के स्थान हृदय को मानने में उसकी वास्तविकता के दो प्रमाण अन्य भी हैं—(१) योगीजनों द्वारा आत्मा का शरीरान्तरसञ्चार होने पर उस शरीर में स्थित मस्तिष्क के अनुभवों के स्थान पर प्रविष्ट आत्मा के अनुभवों की उपस्थिति होती है। (२) दक्ष एवं गणेश के शिरश्छेद के बाद क्रमशः बकरे और हाथी के शिर के जोड़ देने पर उनके शरीर में बकरे या हाथी की बुद्धि के स्थान पर मूलभूत दैवी या मानवी बुद्धि ही रहती है अतः हृदय ही मूल चेतना का स्थान है। आधुनिक दृष्टि से भी हृदयगतिनियन्त्रण केन्द्र दो होते हैं। (क) हृद्यस्थ—यह (Sinoauricular node) है जो हृदयगति का उत्पादक एवं नियामक होता है। (ख) मस्तिष्कस्थ—जो हृदय की गति को तीव्र या मन्द करता है। अस्तु, इस प्रकार का अन्वय-व्यतिरेक मस्तिष्क के साथ न होने से उसे चेतना का मुख्य केन्द्र नहीं कहा जा सकता। मस्तिष्क का जीवन भी हृदय पर ही अवलम्बित है, एवं हृदय का नियन्त्रण मस्तिष्क के द्वारा ही होता है। इस प्रकार ये दोनों अन्योन्याश्रित भी हैं। इस तरह मूर्च्छा का सम्बन्ध हृदय और मस्तिष्क दोनों से है। शारीरिक यन्त्र का सञ्चालन करने के लिये मस्तिष्क तथा शरीर की प्रत्येक धातु को पुष्टि देने के लिये विशुद्ध और पर्याप्त रक्त की आवश्यकता होती है। इन दो गुणों की कमी मूर्च्छा की जनक है। जिस प्रकार के आहार-विहार या हृदय तथा समस्त रक्तवह संस्थान के रोग मस्तिष्क में रक्त की कमी या आधिक्य द्वारा अथवा अन्य किसी भी प्रकार मस्तिष्क को विकृत करने में सहायक होते हैं उन सभी को मूर्च्छा का उत्पादक कारण समझना चाहिए। मूर्च्छा आदि विकार मस्तिष्क के ही विकृत होने से उत्पन्न होते हैं। हृदय या रक्तसंवहन आदि के विकार भी मस्तिष्क में विकृति उत्पन्न करके ही मूर्च्छा आदि को उत्पन्न करते हैं। शिरोऽभिघात आदि कतिपय कारणों से साक्षात् मस्तिष्क में ही विकार पैदा होते हैं। मोहो मूर्च्छेति तामाहुः—मूर्च्छा के मोह और मूर्च्छाय ये पर्याय हैं जैसा कि कोषकारों ने लिखा है—सन्ज्ञोपघाते मूर्च्छायो मूर्च्छा स्यान्मूर्छनं तथा। कश्मलं प्रलयो मोहः संन्यासस्तु मृतोपमः॥

वातादिभिः शोणितेन मद्येन च विषेण च।
षट्स्वप्येतासु पित्तं हि प्रभुत्वेनावतिष्ठते॥ ७॥

मूर्च्छाभेदाः—वात, पित्त, कफ, रक्त, मद्य तथा विष से उत्पन्न होने के कारण यह ६ प्रकार की होती है, किन्तु इन सभी प्रकारों में पित्त की प्रमुखता रहती है॥ ७॥

विमर्शः—वाग्भट तथा चरकाचार्य ने मूर्च्छा के वातज, पित्तज, कफज और सान्निपातिक ऐसे चार भेद किये हैं—'चत्वारो मूर्च्छाया इत्यपस्मारैर्व्याख्याता' चरकाचार्य ने मूर्च्छा के ही स्वल्पबलस्वरूप मद को स्वीकृत किया है। सुश्रुत की शोणित-जन्य मूर्च्छा, मद्य-जन्य मूर्च्छा और विष-जन्य मूर्च्छा का लक्षणानुसार वातादि चतुर्विध मूर्च्छाओं में समावेश कर लिया जाता है। इसी तरह चरकाचार्य ने मद के भी चार प्रकार किये हैं तथा रक्तज, विषज और मद्यज मदों का भी वातादिक मदों में समावेश कर दिया है—यश्च मद्यमदः प्रोक्तो विषजो रौधिरश्च यः। सर्व एव मदा नर्ते वातपित्तकफात् त्रयात्॥ (च० सू० अ० २४) वाग्भट ने मद के सात भेद माने हैं—मदोऽत्र दोषैः सर्वैश्च रक्तमद्यविषैरपि। मद साधारण हानिकारक किन्तु मूर्च्छा मदापेक्षया अधिक हानिकारक और संन्यास

सबसे ज्यादा हानिकारक होता है। संन्यास का रोगी तो काष्ठ के समान मृतोपम होकर पड़ा रहता है—'काष्ठीभूतो मृतोपमः' यद्यपि मूर्च्छा में सभी दोषों को कारण माना है, किन्तु सभी में पित्त की प्रधानता होती है 'मूर्च्छा पित्ततमःप्राया' इसीलिये उस पित्त के शान्त्यर्थ शीतोपाय मूर्च्छा में प्रशस्त माना गया है—सेकावगाहौ मणयः सहाराः शीताः प्रदेहा व्यजनानिलाश्च। शीतानि पानानि च गन्धवन्ति सर्वासु मूर्च्छास्वनिवारितानि॥ द्राक्षासितादाडिमलाजवन्ति शीतानि नीलोत्पलपद्मवन्ति। पिबेत् कषायाणि च गन्धवन्ति पित्तज्वरं यानि शमं नयन्ति॥ सुश्रुताचार्य ने 'वातादिभिः शोणिते' आदि श्लोक के द्वारा वातादि ६ कारणों से उत्पन्न होने के कारण मूर्च्छा के भी ६ भेद कर दिये हैं। ऊपर वर्णन किया जा चुका है कि मूर्च्छा का मुख्य कारण मस्तिष्क तथा अन्य धातुओं में रक्तसंवहन का विकार (Circulatory disturbance) ही है तथा यह दो प्रकार का होता है—(१) हृदयसम्बन्धी (Cardiac) (२) परिसरीय (Peripheral)। पहिले प्रकार में विकृति का केन्द्र हृदय ही होता है। रक्त की पर्याप्त मात्रा रहते हुये भी वह हार्दिकपेशीगत तथा हार्दिककपाटगत विकृति के कारण मस्तिष्क तथा अन्य धातुओं में पोषण के लिये रक्त की पर्याप्त मात्रा पहुँचाने में असमर्थ रहता है। इससे मस्तिष्क में रक्त की कमी तथा परिणामस्वरूप मूर्च्छा की उत्पत्ति होती है। दूसरे प्रकार (परिसरीय रक्तसंवहनावरोध) में कुछ अङ्गों (विशेषतः औदर्य या Splenchnic area) में केशिकाओं का विस्फार (Dialatation) होने के कारण हृदयगामी सिरागत रक्तप्रवाह स्वभावतः कम हो जाता है। परिणामस्वरूप हृदय में रक्त की कमी हो जाती है। हृदय में रक्त की कमी होने से मस्तिष्क को सामान्यतया मिलने वाली रक्त की राशि (मात्रा) भी कम हो जाती है। दोनों प्रकार से होने वाले रक्तसंवहनावरोध (Circulatory failure) का परिणाम मस्तिष्क में रक्त की कमी तथा तज्जन्य मूर्च्छा का उत्पादक होता है। यद्यपि दोनों प्रकार के रक्तसंवहनावरोध मूर्च्छा के जनक हैं, तथापि मूर्च्छा की उत्पत्ति में परिसरीय प्रकार विशेष महत्त्व का है, यह माइस महोदय के निम्नोद्धरण से भी स्पष्ट है—It is important to note that giddiness, faintness or actual syncope is much more frequently due to peripheral circulatory failure. इन कारणों के अतिरिक्त निम्न कारण भी मूर्च्छा उत्पन्न करते हैं—(१) मस्तिष्क के तीव्र आघात—इसके कारण कपाल की अस्थियाँ भग्न होकर मस्तिष्क के भीतरी भाग में प्रविष्ट हो जाती हैं। इससे मस्तिष्क की कोशाओं का नाश तथा रक्तस्राव होता है, इस स्थिति को मस्तिष्कसंक्षोभ (Concussion) या अधिक भार होने पर संपीडन (Compression) कहते हैं। (२) किसी विष के प्रभाव से बड़ी धमनी का फट जाना। (३) सामान्य संज्ञाहर औषधियाँ जिनका वर्णन आगे विषज एवं मद्यज मूर्च्छा के प्रकरण में होगा। (४) अतितीव्र उष्णता (Heat stroke) और अतितीव्र ज्वर (Hiper pyrexia) (५) हिस्टेरिया और अपस्मार। (६) मादक द्रव्य जैसे अफीम और मद्य (७) मूत्रविषमयता (Uraemia), अम्लोत्कर्ष (Acidosis), क्षारोत्कर्ष (Alkalosis)। इनके अतिरिक्त विविध प्रकार की धातुक्षीणता होने से भी रक्ताल्पता एवं मूर्च्छा का होना स्वाभाविक है। अभिघात को भी प्राचीनों ने मूर्च्छा का कारण माना है, वह नवीनमतानुमोदित है। हीनसत्त्व अर्थात् दुर्बल मन वाले व्यक्ति का नाडीसंस्थान भी दुर्बल होता है। अतः भय आदि उपस्थित होने पर परिसरीय धमनीविस्फार के द्वारा मस्तिष्क में रक्त की कमी करा कर तुरन्त ही मूर्च्छा को उत्पन्न करता है। घात या शाक (Shock) लगने पर भी दुर्बल मन वाले व्यक्ति मूर्च्छित हो जाते हैं अतः इसे घातजन्य मूर्च्छा भी कह सकते हैं।

हृत्पीडा जृम्भणं ग्लानिः संज्ञानाशो बलस्य च।
सर्वासां पूर्वरूपाणि, यथास्वं ता विभावयेत् ॥ ८ ॥

हृदयप्रदेश में पीड़ा, जम्भाई अधिक आना, किसी कार्य के करने में ग्लानि (अनिच्छा), ज्ञानशक्ति का दुर्बल हो जाना तथा बल का नाश ये सब प्रकार की मूर्च्छाओं के पूर्वरूप हैं। एवं इन्हीं मूर्च्छाओं के रूप के व्यक्त होने पर अपने-अपने वातादि लक्षणों से उन्हें जान लेना चाहिए ॥ ८ ॥

विमर्शः—मूर्च्छा हृदय के विकार से उत्पन्न होने वाला रोग है, अतः उक्तप्रदेश में पीड़ा का होना स्वाभाविक है। इसके अतिरिक्त संज्ञावाही नाड़ियों (Sensory nerves) तथा सिरा धमनी स्रोतसों में तमोगुण के प्रवेश की प्रारम्भिक अवस्था में ज्ञान के अभाव का भी पूर्वाभास होने लगता है इसको ही संज्ञादौर्बल्य कहते हैं। इस अवस्था में रोगी पूर्ण तथा चेतनाविहीन नहीं होता, अपितु मद (नशा) के समान उसे अपनी क्रियाओं का कुछ न कुछ ज्ञान अवश्य रहता है।

अपस्मारोक्तलिङ्गानि तासामुक्तानि तत्त्वतः ॥ ९ ॥

मूर्च्छालक्षणानि अपस्मारोक्तलिङ्गातिदेशेनाह—इन मूर्च्छाओं के लक्षण प्रधानतः अपस्मार के लक्षणों के समान होते हैं॥९॥

विमर्शः—कुछ आचार्यों ने 'अपस्मारोक्तलिङ्गानि' के स्थान पर 'अपस्मारेण लिङ्गानि' ऐसा पाठान्तर मानकर दन्तनखखादन, अविवेककृत्य, लालास्राव आदि लक्षणों के अतिरिक्त अन्य जो भी लक्षण हों वे सब यथादोष मूर्च्छा के लक्षण होते हैं ऐसा लिखा है, जैसा कि चरकाचार्य ने भी लिखा है—'सर्वाकृतिः सन्निपातादपस्मार इवागतः। स जन्तुं पातयत्याशु विना बीभत्सचेष्टितैः॥ अर्थात् इनमें मुख से झाग आना, दाँतों से काटना, आँखें चढ़ाना आदि बीभत्स लक्षण छोड़कर शेष लक्षण अपस्मार के समान हैं।

प्रसङ्गात् वातिकमूर्च्छालक्षणानि—

नीलं वा यदि वा कृष्णमाकाशमथवाऽरुणम्।
पश्यंस्तमः प्रविशति शीघ्रञ्च प्रतिबुध्यते ॥ १ ॥
वेपथुश्चाङ्गमर्दश्च प्रपीडा हृदयस्य च।
कार्श्यं श्यावारुणाच्छाया मूर्च्छाये वातसम्भवे ॥ २ ॥

वातिक मूर्च्छा में मूर्च्छा होते समय रोगी आकाश को नीला, काला अथवा लाल रङ्ग का देखता हुआ मूर्च्छा से व्याप्त हो जाता है और पुनः संज्ञा में भी आ जाता है। इस समय शरीर में कम्पन, अङ्गों में दर्द, हृदय में पीड़ा, कृशता तथा मुख की छवि काली या लाल हो जाती है।

विमर्शः—वात का वर्ण कृष्ण, नील अथवा अरुण होने से पूर्वावस्था में रोगी को ये रूप दिखाई देते हैं। मूर्च्छा

पित्ततमोबहुल है, किन्तु यहाँ पर वात की प्रबलता होने से रुग्ण शीघ्र ही संज्ञा प्राप्त कर लेता है। प्रपीडा हृदयस्य च— प्रत्येक मूर्च्छा की उत्पत्ति में साक्षात् अथवा परम्परया हृदय की विकृति अनिवार्य है तथा वायु हृदय में पीड़ा उत्पन्न करती है—'वाताद्दृते नास्ति रुजा' ये उक्त लक्षण संज्ञानाश होने के पूर्व अनुभूत होते हैं। पूर्ण संज्ञानाश होने पर कुछ भी अनुभव में नहीं आ सकता। संज्ञा प्राप्त होने पर गात्र-कम्पन और हृदयपीड़ा कुछ देर तक रह सकती है। उसी के आधार पर वातिक मूर्च्छा का निदान निर्भर करता है।

पित्तमूर्च्छालक्षणम्—

रक्तं हरितवर्णं वा वियत्पीतमथापि वा।
पश्यंस्तमः प्रविशति सस्वेदश्च प्रबुध्यते ॥ ३ ॥
सपिपासः ससन्तापो रक्तपीताकुलेक्षणः।
जातमात्रे पतति च शीघ्रश्च प्रतिबुध्यते ॥
संभिन्नवर्चाः पीताभो मूर्च्छाये पित्तसम्भवे ॥ ४ ॥

रुग्ण मूर्च्छित होते समय आकाश को लाल, हरे अथवा पीतवर्ण का देखता है तथा संज्ञा आने पर उसे पसीना होने लगता है। इसके अतिरिक्त रुग्ण को अधिक प्यास और दाह होता है तथा नेत्र लाल या पीले दिखाई देते हैं। इन लक्षणों के होते ही रोगी मूर्च्छित होकर गिर जाता है तथा शीघ्र होश में भी आ जाता है। रुग्ण को दस्तें भी होने लगती हैं तथा उसका देह पीला-सा हो जाता है।

विमर्शः—वाग्भटोक्त पित्तजमूर्च्छालक्षण—

पित्तेन रक्तं पीतं वा नभः पश्यन् विशेत्तमः।
विबुध्येत च सस्वेदो दाहतृट्तापपीडितः॥
भिन्नविण्नीलपीताभो रक्तपीताकुलेक्षणः ॥

ये लक्षण भी पूर्ववत् ही हैं। सपिपासः—पित्त की वृद्धि के कारण तालुशोष होने पर प्यास का अनुभव होता है—'पित्तं सवातं कुपितं नराणां तालुप्रपन्नं जनयेत् पिपासाम्' अत्यधिक स्वेदप्रवृत्ति होने से शरीरगत जलीयांश की कमी के कारण मूर्च्छानिवृत्तिकाल में इस प्रकार के रोगी को प्यास विशेष लगती है। सम्भिन्नवर्चाः—पित्त का स्थान हृदय और नाभि के मध्य अर्थात् आन्त्र (यकृत्) में माना गया है—षष्ठी पित्तधरा नाम या कला परिकीर्तिता। पक्वामाशयमध्यस्था ग्रहणी सा प्रकीर्तिता ॥ मूर्च्छितावस्था में मस्तिष्क का नियन्त्रण न रहने से पित्त के स्थानभूत आन्त्र के विशिष्ट विकार मलभेद एवं उसकी अधिक प्रवृत्ति इस अवस्था में विशेष रूप से पाई जाती है।

श्लैष्मिकमूर्च्छालक्षणम्—

मेघसङ्काशमाकाशमावृतं वा तमो घनैः।
पश्यंस्तमः प्रविशति चिराच्च प्रतिबुध्यते ॥ ५ ॥
गुरुभिः प्रावृतैरङ्गैर्यथैवार्द्रेण चर्मणा।
सप्रसेकः सहृल्लासो मूर्च्छाये कफसम्भवे ॥ ६ ॥

कफज मूर्च्छा में रोगी मूर्च्छित होते समय आकाश को मेघों से आच्छन्न देखता हुआ अथवा भयङ्कर काले बादलों से घिरा हुआ देखता हुआ अपने तमोगुण के प्रवेश होने का अनुभव कर मूर्च्छित हो जाता है तथा देरी से संज्ञा को प्राप्त होता है। मूर्च्छा के समय या पश्चात् भी उसे ऐसा प्रतीत होता है मानो बड़े मोटे और भारी कपड़ों से उसका बदन ढका हुआ है अथवा गीले चर्म से उसका बदन ढका हुआ सा प्रतीत होता है। इसके अतिरिक्त रोगी को लालास्राव तथा जी की मिचलाहट होती रहती है।

विमर्शः—कफ के तमोगुण प्रधान होने से रोगी आकाश मेघाच्छन्न सा देखता है तथा तमोगुण की अधिकता के कारण ही मूर्च्छा का वेग भी विलम्ब से शान्त होता है। कफ के सोमगुणप्रधान होने से शरीर का अङ्ग-प्रत्यङ्ग भींगा हुआ तथा तमोगुण के कारण गुरु प्रतीत होता है। हृल्लास भी रहता है, कदाचित् उत्क्लेश अधिक होने से वमन भी हो सकता है।

सान्निपातिकमूर्च्छालक्षणम्—

सर्वाकृतिः सन्निपातादपस्मार इवागतः।
स जन्तुं पातयत्याशु विना बीभत्सचेष्टितैः ॥ ७ ॥

तीनों दोषों से होने वाली मूर्च्छा में तीनों दोषों के लक्षण पाये जाते हैं तथा यह मूर्च्छा मुख से फेनोद्गम तथा दन्तों का कटकटाना आदि बीभत्स चेष्टाओं को छोड़कर अपस्मार के समान ही आवेग के रूप में उपस्थित होकर शीघ्र ही रुग्ण को संज्ञाहीन कर पृथिवी पर गिरा देती है।

विमर्शः—उक्त श्लोक में मूर्च्छा को सन्निपातज कहा है। यह अनुचित प्रतीत होता है, क्योंकि पूर्व में मूर्च्छा के (पृथक् दोषज ३, रक्तज, मद्यज और विषज ३ ऐसे कुल) ६ भेद ही लिखे हैं, किन्तु सन्निपातज मान लेने पर इसके सात भेद होने के कारण आचार्य की प्रतिज्ञा झूठी होती है। विजय-रक्षितजी ने इसका समाधान किया है कि सुश्रुत ग्रन्थ उद्देश्य-परक है तथा चरक ग्रन्थ विवरणपरक है। चरकाचार्य ने पृथक्दोषज तीन तथा सन्निपातज एक ऐसे चार भेद मूर्च्छा के मानकर सुश्रुत की षड्विध मूर्च्छाओं का समावेश अपनी चतुर्विध मूर्च्छाओं में कर दिया है। सुश्रुत ने सान्निपातिक मूर्च्छा का प्रत्येक दोष से होने वाली मूर्च्छा में समावेश करके ६ प्रकार की मूर्च्छा का उल्लेख किया है। माधव ने यद्यपि ६ प्रकार की मूर्च्छा होती है, ऐसी प्रतिज्ञा की है तथापि विवरण चरकानुसार ही दिया है, क्योंकि संग्रहग्रंथों में सभी उपलब्ध प्रामाणिक शास्त्रों के मन्तव्यों का सम्मान बराबर किया जाता है। अपस्मार इवागतः—अपस्मार के समान सन्निपातज मूर्च्छा का भी आवेग सहसा आता है तथा दीर्घकाल तक बना रहता है। अपस्मार में फेनवमन, दन्तघट्टन तथा नेत्रों की विकृति होती है, किन्तु सन्निपातज मूर्च्छा में ये लक्षण नहीं पाये जाते। इन दोनों में यही मुख्य भेद है।

पृथिव्यम्भस्तमोरूपं रक्तगन्धश्च तन्मयः।
तस्माद्रक्तस्य गन्धेन मूर्च्छन्ति भुवि मानवाः।
द्रव्यस्वभाव इत्येके दृष्ट्वा यदभिमुह्यति ॥१०॥

रक्तजमूर्च्छासम्प्राप्तिलक्षणे—पृथिवी और जल दोनों में ही तमोगुण की अधिकता रहती है तथा रक्त की गन्ध भी पृथिवी और जल से ही बनी होने से तमोगुणयुक्त होती है। अतएव कुछ लोग उसकी गन्ध से ही मूर्च्छित हो जाते हैं। कुछ व्यक्ति रक्त के दर्शनमात्र से मूर्च्छित हो जाते हैं। कुछ आचार्य इसको रक्त का स्वाभाविक गुण कहते हैं ॥ १० ॥

विमर्शः—'पृथिव्यम्भस्तमोरूपम्' के स्थान पर 'पृथिव्यापस्तमोरूपम्' ऐसा पाठान्तर है जिसका अर्थ एक ही है। 'पृथ्वीम्भश्च द्वयमपि तमोरूपं तमोबहुलम्, अर्थात् पृथिवी-जल दोनों तमोगुणबहुल हैं, फिर भी पृथिवी में तमोगुण की अधिकता होती है तथा जल में सत्त्वगुण और तमोगुण दोनों का प्राबल्य होता है—'तमोबहुला पृथिवी, सत्त्वतमोबहुला आपः' शरीर की अन्य धातुओं के समान रक्त के पाञ्चभौतिक होने पर भी उसमें पृथिवीतत्त्व और जलतत्त्व की प्रधानता होने से इन दोनों से उत्पन्न हुए रक्त तथा उसके गन्ध में भी सत्त्वगुण की हीनता तथा तमोगुण की प्रबलता पाई जाती है। रक्त के तमोगुणप्रधान गन्ध का वहन करने वाले परमाणु घ्राणेन्द्रियस्थ वातनाड़ी तन्तुओं (Branches of the alfactory nerve) का स्पर्श करके संज्ञावाही नाड़ी (मनोवह स्रोतस) तथा मन के बाह्य एवं आभ्यन्तर अधिष्ठानों में तमोगुण की व्याप्ति से अवरोध उत्पन्न कर देते हैं। इससे रोगी को सुख एवं दुःख का विवेक नष्ट हो जाता है तथा वह संज्ञाहीन होकर गिर पड़ता है। पित्त और तमोगुण की अधिकता अथवा शरीर और मन की सम्मिलित विकृति का परिणाम मूर्च्छा है। साधारणतया सभी मूर्च्छाओं में पित्त और तम की विशेषता रहती है, किन्तु रक्तज मूर्च्छा में मानसदोष (तम) का आधिपत्य प्रधान रूप में रहता है। पञ्चीकृत महाभूत के सिद्धान्त (अन्योऽन्यानुप्रविष्टानि सर्वाण्येतानि निर्दिशेत् । स्वे स्वे द्रव्ये तु सर्वेषां व्यक्तं लक्षणमिष्यते ॥) के अनुसार अनित्य या मूर्त जल में गन्ध की सत्ता भी रहती है, यह निर्विवाद है। चूँकि गन्ध पृथिवी का आत्मगुण है और पृथिवी तमोगुणप्रधान है, अतः भूत की अपेक्षा न करके गन्ध मात्र को तमोगुणप्रधान माना जाता है। सांख्यशास्त्रानुसार तम आवरक या अवरोध करने वाला होता है 'गुरु वरणकमेव तमः' इस प्रकार रक्तज मूर्च्छा में तमोगुण की प्रधानता रहती है। जो व्यक्ति पृथिवीगुणबहुल या तामस होते हैं उन्हीं को रक्तगन्धजन्य मूर्च्छा होती है, सबको नहीं। 'रक्तगन्धश्च तन्मयः, तन्मयः=पृथिव्यम्भोमयः अत्र यथासम्भवं व्याख्यानं तेन रक्तमम्भोमयं द्रवत्वात्, गन्धश्च पृथिवीमयः, पार्थिवत्वाद्गन्धस्य, तेन तमोभूयिष्ठायाः पृथिव्याः सकाशाद्गन्धस्य जातत्वाद्गन्धोऽपि तमोबहुल एव, कारणानुरूपत्वात्कार्यस्य ॥' वास्तव में हीनसत्त्व या दुर्बल मन वाले तामस व्यक्तियों के स्वभावतः रक्तदर्शन से साक्षात् केन्द्र पर प्रभाव होकर घात (Shock) द्वारा मूर्च्छा होती है। यहाँ पर शंका यह होती है कि यदि रक्त की गन्ध मूर्च्छा की जनक है तो फिर सभी व्यक्तियों को क्यों नहीं मूर्च्छा उत्पन्न होती ? डल्हणाचार्य ने इसका उत्तर दिया है कि जो हीनसत्त्व प्राणी हैं उन्हीं को रक्त की गन्ध मूर्च्छा उत्पन्न करती है, सबको नहीं। इसीलिये चरकाचार्य ने सत्त्वतः परीक्षेत यह लिखा है—'सत्त्वमुच्यते मनस्तच्छरीरस्य तन्त्रकमात्मसंयोगात् । तत् त्रिविधं बलभेदेन—प्रवरं, मध्यमवरञ्चेति । महाशरीरा ह्यपि ते स्वल्पानामपि वेदनानामसहा दृश्यन्ते, सन्निहितभयशोकलोभमोहमाना रौद्रभैरवद्विष्टबीभत्सविकृतसङ्कथास्वपि च पशुपुरुषमांसशोणितानि चावेक्ष्य विषादवैवर्ण्यमूर्च्छोन्मादभ्रमप्रपतनानामन्यतममाप्नुवन्ति, अथवा मरणमिति।' (च० वि० अ० ८-१२१) दूसरी शङ्का यह है कि पृथिवीबहुल प्रत्येक पदार्थ तथा उसकी गन्ध तमोगुण प्रधान होते हैं, अतः प्रत्येक वस्तु (चम्पा आदि) की गन्ध से मूर्च्छा होनी चाहिए, किन्तु अनुभव इसके नितान्त विपरीत है। सभी द्रव्यों की गन्ध मूर्च्छा उत्पन्न नहीं करती, अपितु मानसिक आह्लाद भी देती है। इसी आधार पर भोज आदि कतिपय आचार्य केवल गन्ध को ही मूर्च्छा का कारण न स्वीकार करके द्रव्य-विशेष के प्रभाव या स्वभावविशेष को भी इसमें कारण मानते हैं। इस प्रकार रक्त नामक द्रव्य के प्रभाव से गन्ध के अतिरिक्त उसका रूप भी मूर्च्छा का जनक होता है। द्रव्यस्वभाव के अतिरिक्त तमोगुण का प्रभाव ही मूर्च्छा की सम्प्राप्ति करता है। चरकाचार्य ने रक्तज मूर्च्छा का प्रतिपादन नहीं किया है, क्योंकि इसका प्रधान कारण मानसिक विकार है। अतः इसका समावेश वातिक में किया जा सकता है। सुश्रुत शल्यशास्त्र के विशेषज्ञ थे। शल्यक्रिया में रक्तस्राव के प्रसङ्ग बहुत आते हैं अतः उनका यह प्रत्यक्ष अनुभव था कि रक्त के गन्ध और दर्शन से भी कुछ व्यक्तियों में मूर्च्छा की उत्पत्ति होती है। रक्त की गन्ध या रक्त के दर्शनमात्र से होने वाली मूर्च्छा को रक्तज मूर्च्छा कहते हैं। इसके अतिरिक्त रक्तवात या प्रवृद्ध रक्तदाब (High blood pressure) से होने वाली मूर्च्छा को भी रक्तज मूर्च्छा कह सकते हैं। कुछ लोगों ने 'पृथिव्यम्भस्तमोरूपं रक्तगन्धश्च तन्मयः' ऐसा पाठान्तर माना है तथा इसकी निम्न व्याख्या की है—पृथिवी चाम्भश्च पृथिव्यम्भसी, तयोः सम्बन्धि यत्तमस्तद्रूपं तद्बहुलं तल्लक्षणं वा रक्तं, गन्धश्च तन्मय इति तमोमय इत्यर्थः। तमोबहुलपृथिव्युत्पन्नत्वाद्गन्धस्य। एतेन तमोभूयिष्ठपृथिव्यम्भउत्पन्नरक्तस्य धातुजनितत्वाद्गन्धस्य स्वयं तमोभूयिष्ठत्वाच्च रक्तगन्धो मानवैराघ्रातः सन् हृदवस्थितं तमो वर्धयन् मूर्च्छामापादयति, 'सर्वदा सर्वभावानां सामान्यं वृद्धिकारणम्' इत्युक्तत्वात्। अर्थात् तमोगुणभूयिष्ठ पृथिवी और जल से उत्पन्न रक्त तथा उसकी गन्ध स्वयं तमोगुणभूयिष्ठ होने से उसको जब मनुष्य सूंघता है तो उस मनुष्य के हृदय में स्थित तमोगुण की वृद्धि होकर मूर्च्छा उत्पन्न होती है। क्योंकि सामान्य सदा वृद्धि का कारण होता है। यहाँ पर एक शङ्का और है कि यदि तमोगुणबहुल होने से रक्त मूर्च्छा की उत्पत्ति करता है तब तमोगुणभूयिष्ठ ये पृथिवी और जल क्यों नहीं मूर्च्छा उत्पन्न करते हैं ? उत्तर में लिखा है कि पृथिवी और जल का मनुष्य सदा उपयोग करता रहने से सात्म्य हो जाने के कारण उन्हें देख कर व्यक्ति मूर्च्छित नहीं होता है। पाठान्तर—'पृथिव्यम्भस्तमोरूपं रक्तगन्धेन तु त्रयम्' पृथिव्यम्भस्तमसां रूपं स्वलक्षणं यस्य रक्तस्य तत्पृथिव्यम्भस्तमोरूपम्। रक्तगन्धेन कृत्वा तु पुनस्त्रयं सत्त्वरजस्तमसां गुणानां त्रितयं रक्ते ज्ञायते इति वाक्यशेषः। अर्थात् रक्त में पृथिवी, जल और सत्त्वरजस्तमोगुण ये तीनों विद्यमान रहते हैं। रक्त में तीनों गुणों की विद्यमानता रक्त के अन्दर पाये जाने वाले विस्रगन्धविशेष से जानी जाती है। क्योंकि पञ्चमहाभूतों के शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध ये विशेष गुण हैं तथा ये प्रत्येक विशेष गुण सत्त्व, रज और तम से व्याप्त होते हैं, किन्तु यहाँ तमोगुण की अधिकता होती है एवं मूर्च्छा तमःप्राया होती है। भोज ने लिखा है कि रक्त के दर्शन से तथा उसकी गन्ध से व्यक्ति स्तब्ध अङ्ग और दृष्टि वाला हो जाता है एवं गहरा प्रश्वास करता है तथा

मूर्च्छित हो जाता है—स्तब्धाङ्गदृष्टिर्भवति गूढोच्छ्वासस्तथैव च। दर्शनादसृजस्तज्जाद् गन्धाच्चैव विमुह्यति ॥

गुणास्तीव्रतरत्वेन स्थितास्तु विषमद्ययोः।
त एव तस्माज्जायेत मोहस्ताभ्यां यथेरितः ॥ ११ ॥

विषमद्यजे मूर्च्छे प्राह—विष और मद्य में लघु, रूक्ष आदि (ओज के विपरीत) दश गुण साधारण द्रव्यों की अपेक्षा तीव्र रूप में रहते हैं। इन्हीं गुणों के कारण उन दोनों (विष और मद्य) के सेवन से विषजन्य तथा मद्यजन्य मूर्च्छा उत्पन्न होती है ॥ ११ ॥

विमर्शः—चरकाचार्य ने विष में दस गुण लिखे हैं—लघु रूक्षमाशु विशदं व्यवायि तीक्ष्णं विकाशि सूक्ष्मञ्च। उष्णमनिर्देश्य-रसं दशगुणमुक्तं विषं तज्ज्ञैः॥ (च. चि. अ. २३) ये ही विष के दस गुण मद्य में भी पाये जाते हैं, किन्तु भेद इतना ही है कि ये गुण मद्य की अपेक्षा विष में अधिक तीव्र स्वरूप में होते हैं। चरक की चक्रपाणि टीका में यह शङ्का-समाधान निम्न प्रकार से किया गया है—'ननु यदि विषमद्ययोस्तुल्या गुणाः स्थितास्तत् किमिति विषवन्मद्यं मारकं न स्यात्? सत्यं, मद्ये तेषां गुणानामनतितीव्रत्वेनावस्थानात्। यद्येवं तर्हि 'गुणास्ती-व्रतरत्वेन स्थितास्तु विषमद्ययोः' इति कथं न व्याहन्यते? सत्यं, तीव्रतरशब्दादग्रे तीव्रशब्दो मध्ये लुप्तो द्रष्टव्यः। तेन विषे तीव्रतर-त्वेन ते गुणाः स्थिताः, मद्ये तीव्रत्वेन। तथा च तन्त्रान्तरम्-ये विषस्य गुणाः प्रोक्ताः सन्निपातप्रकोपणाः। त एव मद्ये दृश्यन्ते विषे तु बलवत्तराः॥ दूसरा भेद यह होता है कि विष के अपाकी होने से विषजन्य मोह स्वयं निवर्तित नहीं होता है, अत एव किसी विरुद्धक्रियाकारी (Antidote) औषधि के सेवन अथवा विषनिर्हरण के बिना विषजन्य मूर्च्छा की शान्ति नहीं होती। भांग या अल्कोहल सदृश मादक द्रव्यों का पाक कुछ काल में हो जाता है, अतः इनसे उत्पन्न मूर्च्छा भी कुछ काल तक ही रहती है। यही कारण है कि मद्य सदा मारक नहीं होता जब कि विष मारक है। किन्तु मद्य का पाचन हो जाने के अनन्तर तज्जन्य मूर्च्छा की शान्ति कुछ देर बाद हो जाती है। सुश्रुताचार्य ने भी विष के दस गुण ही माने हैं, अन्तर केवल इतना ही है कि इन्होंने अनिर्देश्य रस के स्थान पर अपाकी गुण माना है—रूक्षमुष्णं तथा तीक्ष्णं सूक्ष्ममाशुव्यवायि च। विकासि विशदञ्चैव लघ्वपाकि च तत्स्मृतम्॥ (सु.) वाग्भ-टाचार्य ने मद्य के तीक्ष्ण, उष्ण, रूक्ष, सूक्ष्म, अम्ल, व्यवायि, आशु, लघु, विकासि तथा विशद गुण माने हैं। उक्त रूक्ष आदि दस गुण तैल आदि में भी रहते हैं, किन्तु उसकी अपेक्षा मद्य में और मद्य की अपेक्षा विष में इन गुणों की तीव्रता पाई जाती है। यही कारण है कि तैल के सेवन से मूर्च्छा नहीं होती है और विषमद्यादि सेवन से होती है। अल्कोहल, क्लोरोफार्म, अफीम, ईथर, क्लोरल हाईड्रेट तथा ब्रोमाइड जैसे सार्वदैहिक संज्ञाहर (General anaesthetics) और निद्राकर (Hypnotics) को इस श्रेणि में समझा जा सकता है। इनके अतिरिक्त अन्य सभी स्थावर और जङ्गम विष भी विषजन्य मूर्च्छा को उत्पन्न करते हैं। इनमें से कुछ द्रव्य साक्षात् मस्तिष्क पर, कुछ हृदय तथा रक्तवाहिनियों पर प्रभाव डाल कर मूर्च्छा को उत्पन्न करते हैं। रक्त में यूरिया सदृश विषों की उपस्थिति भी मूर्च्छा की जनक है। इन्स्यु-लीन के अधिक सेवन से भी उपमधुमयता होकर मूर्च्छा उत्पन्न होती है।

स्तब्धाङ्गदृष्टिस्त्वसृजा गूढोच्छ्वासश्च मूर्च्छितः॥१२॥

रक्तजमूर्च्छालक्षणम्—रक्तजन्य मूर्च्छा में शरीर के अङ्ग जकड़े (स्तब्ध) रहते हैं तथा नेत्र भी टकटकी लगाये से खुले हुये (निमेषरहित) दिखाई देते हैं, एवं वह रोगी गहरा श्वास लेता है ॥ १२ ॥

मद्येन विलपन् शेते नष्टविभ्रान्तमानसः।
गात्राणि विक्षिपन् भूमौ जरां यावन्न याति तत् ॥१३॥

मद्यजमूर्च्छालक्षणम्—म जन्य मूर्च्छा में रोगी प्रलाप करता हुआ एवं विक्षिप्त चित्त होकर तब तक मूर्च्छित पड़ा रहता है जब तक मद्य का परिपाक नहीं होता ॥ १३ ॥

विमर्शः—मद्यपान की प्रथमावस्था में व्यक्ति के शरीर में प्रथम प्रहर्ष उत्पन्न होता है, जिससे वह किसी भी कार्य में तनमन से प्रवृत्त होता है। किन्तु कुछ समय के अनन्तर द्वितीयावस्था में मद्य का मस्तिष्क पर अधिक प्रभाव होने से वह असम्बद्ध भाषण (प्रलाप) करने लगता है तथा उसकी बुद्धि और मन भ्रष्ट हो जाते हैं। तृतीयावस्था में संज्ञारहित होकर पृथ्वी पर गिर पड़ता है तथा थोड़ी-थोड़ी देर में हस्तपाद को इधर-उधर पटकता हुआ सो जाता है। नष्टविभ्रान्तमानसः = नष्टं स्मृतिरहितं विभ्रान्तं विक्षिप्तं मानसं चित्तं यस्य स नष्टविभ्रान्तमानसः।

वेपथुस्वप्नतृष्णाः स्युः स्तम्भश्च विषमूर्च्छिते।
वेदितव्यं तीव्रतरं यथास्वं विषलक्षणैः ॥ १४ ॥

विषजन्यमूर्च्छालक्षणम्—विषजन्य मूर्च्छा के रोगी में सर्व-प्रथम शरीर का कम्पन, कभी-कभी निद्रा या तन्द्रा का झोंका, प्यास लगना तथा तम का होना अर्थात् आँखों के सामने अँधेरा छा जाना ये सामान्य लक्षण होते हैं। किन्तु विशिष्ट विष के अनुसार उस विष के अपने-अपने आत्मीय लक्षण अधिक तीव्र रूप में प्रकट होते हैं ॥ १४ ॥

विमर्शः—यथास्वं विषलक्षणैरिति विषस्य मूलकन्दपत्रक्षीरादि-प्रभेदेन यल्लक्षणं कल्पस्थानेऽभिहितं तल्लक्षणैरिव तीव्रतरत्वेन युक्ता मूर्च्छा भवतीत्यर्थः। इन उपर्युक्त लक्षणों के अतिरिक्त रोगी की त्वचा पीली पड़ जाती है, आँखों के आगे अँधेरा छा जाता है, पसीना अधिक आता है (यह पैत्तिक मूर्च्छा का विशिष्ट लक्षण है), नाड़ी की गति मन्द हो जाती है। कभी-कभी प्रतिमिनिट तीस तक भी हो जाती है। प्राणदा नाडी (Vagus nerve) की अतिक्रियाशीलता के कारण हृदय की गति मन्द हो जाती है तथा रक्त का दबाव भी परिसरीय अथवा औदरिक केशिकाओं के विस्फार के कारण घट जाता है। प्रकृत में मद्यज तथा विषज मूर्च्छा के सामान्य रूपों का विवेचन किया गया है। विशिष्ट मद्य तथा विशिष्ट विषों के लक्षण पृथक्-पृथक् होते हैं। विष के मूल, पत्र, कन्द, दुग्ध आदि दशाङ्गों (मूलं पत्रं फलं पुष्पं त्वक्क्षीरं सार एव च। निर्यासो धातवश्चैव कन्दश्च दशमः स्मृतः ॥) के लक्षण तथा स्थावर-जङ्गम भेद से भी लक्षणों में वैशिष्ट्य पाया जाता है। विशिष्ट मद्य और विष का निदान करने के लिये उक्त सामान्य लक्षणों के अतिरिक्त निम्न उपायों का भी अवलम्बन करना

चाहिए। इनसे निदान करने में अधिक सहायता मिलती है। (१) लक्षणोत्पत्ति का इतिहास—यह जानना आवश्यक है कि लक्षण शिरःशूल से प्रारम्भ हुये या आक्षेप से अथवा अन्य किसी लक्षण से। यदि शरीर पर किसी आघात का चिह्न दिखाई पड़े तो उस पर भी ध्यान देना चाहिए। यदि हो सके तो समीप में खड़े हुए लोगों से भी इस विषय में जानकारी करनी चाहिए। रोगी के समीप की अन्य परिस्थिति (शराब आदि की बोतल या बिखरे हुए पदार्थ की गन्ध) से भी निश्चित निदान तक पहुँचने का प्रयत्न करना चाहिए। वृक्करोग, हृद्रोग तथा मधुमेह का इतिहास भी जानने की चेष्टा करनी चाहिए। (२) शारीरिक परीक्षा—चर्म के रङ्ग की ओर ध्यान देना चाहिए। तापक्रम, नाड़ी की स्थिति, श्वासोच्छ्वास की गति तथा श्वास और मुख की गन्ध, कनीनिका (Pupil) के आकार की ओर भी ध्यान देना चाहिए। अफीम विष के सेवन करने से कनीनिका सूच्यग्रवत् संकुचित हो जाती है। इसके विपरीत धत्तूर या बेलाडोना विष में कनीनिका विस्तृत (Dilated) हो जाती है। रक्तस्राव के चिह्न तथा रक्तदाब (Blood pressure) की ओर भी विशेष ध्यान देना चाहिए। (३) प्रयोगशाला में परीक्षा—वमन या विरेचन द्वारा निकले हुये पदार्थों की परीक्षा प्रयोगशाला में करनी चाहिए। इसके अतिरिक्त मूत्रपरीक्षा (शर्करा के लिये) तथा मूत्र में यूरिया और एसिटोन का अनुपात जानने के लिये करनी चाहिए। फिरङ्ग के लिये वाशरमेन प्रतिक्रिया, रक्त में यूरिया, शर्करा तथा अङ्गार द्विजारेय (Co_2) की मात्रा को जानने के लिये भी रक्त की परीक्षा करना आवश्यक है। इन परीक्षाओं के द्वारा मूर्च्छा के वास्तविक निदान का ज्ञान होने में बड़ी सहायता मिलती है तथा आगे चिकित्सा का मार्ग भी प्रशस्त हो जाता है।

प्रसङ्गात् मूर्च्छाभ्रमतन्द्रानिद्राणां भेदमाह—

प्रक्षिप्त—मूर्च्छा पित्ततमःप्राया रजःपित्तानिलाद् भ्रमः।
तमोवातकफात्तन्द्रा निद्रा श्लेष्मतमोभवा॥ १॥

तमोगुणयुक्त पित्त से मूर्च्छा तथा रजोगुणयुक्त वात और पित्त से भ्रम की उत्पत्ति होती है। इसी प्रकार तमोगुणयुक्त वात और कफ से तन्द्रा तथा तमोगुणयुक्त श्लेष्मा से निद्रा की उत्पत्ति होती है॥ १॥

विमर्शः—न्यूनाधिक मात्रा में संज्ञानाश की दृष्टि से ये चारों अवस्थाएँ समान हैं। इन सभी में शरीर एवं मन दोनों ही दोषों से आवृत रहते हैं। मूर्च्छा की उत्पत्ति में मानसिक दोष तम तथा शारीरिक दोष पित्त की उल्बणता का रहना अनिवार्य है। पित्त की प्रधानता रहने पर भी शरीर के अन्य दोष भी इसकी उत्पत्ति में सहायक होते हैं। संज्ञावह नाड़ी तथा मन के बाह्य एवं आभ्यन्तर अधिष्ठानों में तमोगुण से अवरोध होने पर मूर्च्छा उत्पन्न होती है। तम का दूसरा नाम अज्ञान भी है। अतः इसके कारण उक्त अवस्था में सुख तथा दुःख का विवेक भी नष्ट हो जाता है। सांख्यकारिका में 'गुरुवरणकमेव तमः' के द्वारा तम को आवरणक या सम्पूर्ण ज्ञानशक्ति को लुप्त कर देने वाला कहा है। मूर्च्छा में भी अनुभवशक्ति का पूर्णतया नाश हो जाता है। पित्त की विशेषता के कारण ही मूर्च्छा में शीतोपचार किये जाते हैं। एवं उसी से लाभ भी होता है। क्योंकि 'वृद्धिः समानैः सर्वेषां विपरीतैर्विपर्ययः' अथवा 'समानैः सर्वभावानां वृद्धिर्ह्रासिर्विपर्ययात्'

चक्रवद् भ्रमतो गात्रं भूमौ पतति सर्वदा।
भ्रमरोग इति ज्ञेयो रजःपित्तानिलात्मकः॥ २॥

भ्रमरोगमाह—भ्रम रोग में रोगी का सिर घूमता है तथा वह चक्कर खाकर भूमि पर बार-बार गिरता है। इस रोग में रजोगुण तथा वात और पित्त का प्राधान्य रहता है॥ २॥

विमर्शः—इस रोग में मानसिक दोष रज तथा शारीरिक दोष वात और पित्त रहते हैं। इस अवस्था में चेतना का नाश पूर्णतया नहीं होता है। अतः रोगी शरीर एवं मस्तिष्क में होने वाली चक्कर की क्रिया का अनुभव भली भांति करता है। रोगी को अपने शरीर के अतिरिक्त दृश्यमान जगत् की प्रत्येक वस्तु भी घूमती हुई सी दिखाई देती है। भ्रमरोग को वर्टिगो (Vertigo) कहते हैं। शिर में चक्कर आना तथा शरीर और दृश्य वस्तुओं का घूमते हुये दीखना इसके प्रधान लक्षण हैं। यह रोग निम्न अवस्थाओं में पाया जाता है—(१) श्रुतिनाडी की तुम्बिकाभिगाशाखाकृत विकृति (In the diseases of the vestibular nerve)—इस नाडी में विकृति होने से जो भ्रम होता है उसमें रोगी को अपना शरीर तथा सम्पूर्ण दृश्य वस्तुएँ घूमती हुई सी दिखाई देती हैं। (२) लघुमस्तिष्कगत विकृति (Cerebellar apoplexy) अनुमस्तिष्कगा धमनी (Cerebellar artery) में अवरोध होने से यह अवस्था उत्पन्न होती है। (३) मस्तिष्कगत अर्बुद के कारण भी भ्रमरोग होता है। प्राचीनों ने इसे स्वतन्त्र रोग माना है, किन्तु पाश्चात्य विद्वान् इसे अनेक रोगों का लक्षण मानते हैं।

इन्द्रियार्थेष्वसंवित्तिर्गौरवं जृम्भणं क्लमः।
निद्रार्तस्येव यस्येहा तस्य तन्द्रां विनिर्दिशेत्॥ ३॥

तन्द्रालक्षणम्—इन्द्रियार्थों का उचित ज्ञान न होना, शरीर में भारीपन, जम्भाई तथा क्लम का होना एवं निद्रित के समान चेष्टा करना तन्द्रा के लक्षण हैं॥ ३॥

विमर्शः—क्लम—योऽनायासः श्रमो देहे प्रवृद्धः श्वासवर्जितः। क्लमः स इति विज्ञेय इन्द्रियार्थप्रबाधकः॥ निद्रा—'निद्रा हि विप्लुतमनसः सर्वेन्द्रियाणां स्वविषयनिवृत्तिः' मन के विप्लुत होने पर सर्व इन्द्रियों की अपने अपने विषयों (शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्धों) से निवृत्ति निद्रा कहलाती है। अर्थात् निरिन्द्रिय प्रदेश में मन का गमन या स्थिति निद्रा है—'निरिन्द्रियप्रदेशे मनसोऽवस्थितिर्निद्रा' जैसा कि चरक में भी लिखा है—यदा तु मनसि क्लान्ते कर्मात्मानः क्लमान्विताः। विषयेभ्यो निवर्तन्ते तदा स्वपिति मानवः॥ अर्थात् मन और शरीर के थक जाने पर जब सम्पूर्ण इन्द्रियाँ शिथिल होकर अपना-अपना कार्य करना बन्द कर देती हैं उस समय मनुष्य सो जाता है। मन की इन्द्रियव्यतिरिक्त प्रदेश में स्थिति का ही दूसरा नाम निद्रा है। जब तक इन्द्रिय और मन का सम्पर्क बना रहता है तब तक ज्ञान की परम्परा अबाध गति से चलती रहती है। यद्यपि आहार, स्वप्न और ब्रह्मचर्य तीन उपस्तम्भों में निद्रा को भी शरीर का पोषक होने से उपस्तम्भ माना गया है—'त्रय उपस्तम्भा आहारः स्वप्नो ब्रह्मचर्यम्, एभि-

स्निग्धैर्युक्तिसुयुक्तैरुपस्तम्भैरुपस्तब्धं बलवर्णोपचयोपचितमनुवर्तते यावदायुः संस्कारात्, संस्कारमहितमनुपसेवमानस्य' तथापि निद्रा के कुछ प्रकार रोगसमूह में भी आते हैं। अतः सामान्य रूप से निद्रा को प्रकृत में पढ़ा गया है। चरक तथा वाग्भट ने निद्रा सात प्रकार की मानी है—तमोभवा श्लेष्मसमुद्भवा च मनःशरीरश्रमसम्भवा च। आगन्तुकी व्याध्यनुवर्तिनी च रात्रिस्वभावप्रभवा च निद्रा॥ रात्रिस्वभावप्रभवा मता या तां भूतधात्रीं प्रवदन्ति तज्ज्ञाः। तमोभवामाहुरघस्य मूलं शेषाः पुनर्व्याधिषु निर्दिशन्ति॥ इनमें रात्रि को स्वभावतः होने वाली निद्रा को ही भूतधात्री या उपस्तम्भस्वरूप माना गया है। शेष सर्व प्रकार की निद्राएँ व्याधि के अन्तर्गत ही समझनी चाहिए। माधव ने निद्रा को श्लेष्मतमोभवा कहा है। अतः उसको रोगस्वरूप ही समझना चाहिए। सुश्रुत ने तामसी, वैकारिकी तथा स्वाभाविकी भेद से निद्रा के तीन भेद माने हैं। सुश्रुतोक्त तामसी निद्रा के लक्षण वाग्भटोक्त संन्यास से मिलते हैं। (१) स्वाभाविकी निद्रा—'निद्रान्तु वैष्णवीं पाप्मानमुपदिशन्ति, सा स्वभावत एव सर्वप्राणिनोऽभिस्पृशति। पोषण स्वभाव वाली तथा सर्व-प्राणियों में व्यापक रूप से होने के कारण इसे वैष्णवी माना गया है तथा यही शरीर की उपस्तम्भ (रक्षक) भूत है। (२) तामसी निद्रा—'तत्र यदा संज्ञावहानि स्रोतांसि तमोभूयिष्ठः श्लेष्मा प्रतिपद्यते तदा तामसी नाम निद्रा भवत्यनवबोधिनी, सा प्रलयकाले। तमोमूलक होने से इसे तामसी कहा है। निद्रा तमोगुण की अधिकता होने से उत्पन्न होती है तथा तम भी निद्रा, प्रमाद और पाप का मूल होता है। इसीलिये निद्रा को पाप्मा भी कहा है। तमस्त्वज्ञानजं विद्धि मोहनं सर्वदेहिनाम्। प्रमादालस्यनिद्राभिस्तन्निबध्नाति भारत॥ (गीता) निद्रा कितनी ही शरीरधारक क्यों न हो वह पापमूलक होती है। इसका कारण डल्हणाचार्य लिखते हैं कि यह कृत्स्न शुभ व्यापारों की निरोधक होने से पाप्मा है। निद्रा तमोमूलक तथा तमःस्वरूप ही होती है—लोकादिसर्गप्रभवा तमोमूला तमोमयी॥ जैसे तम से तमोगुण समझा जाता है वैसे ही अँधेरा भी समझा जाता है। रात्रि में स्वाभाविक अँधेरा होने से निद्रा भी आती है। अन्धेरा नींद की एक स्वाभाविक अनुकूल परिस्थिति है। अनुभव में भी देखा जाता है कि जब निद्रा नहीं आती है तब रोशनी कम करने से निद्रा आने में सहायता होती है। सुश्रुतोक्त तामसी निद्रा प्रलयकाल में होती है। अर्थात् जब सृष्टिकर्ता जाग्रत रहता है तब सर्वप्राणी चेष्टायुक्त होते हैं और जब वह शान्तात्मा सो जाता है तब सारा जगत् तामसी निद्रा में निमीलित हो जाता है—यदा स देवो जागर्ति तदेदं चेष्टते जगत्। यदा स्वपिति शान्तात्मा तदा सर्वं निमीलति॥ (मनु० १।५२) प्रलय के समय तमोभूयिष्ठ श्लेष्मा जब संज्ञावाहक स्रोतसों में पहुँच जाता है तब बोध (संज्ञा) को नष्ट करने वाली तामसी निद्रा उत्पन्न होती है। संज्ञावहस्रोतस—चरक और सुश्रुत में स्रोतसों के जो विविध भेद लिखे हैं उनमें संज्ञावह स्रोतसों का उल्लेख नहीं है। फिर भी संज्ञावह स्रोत, नाड़ी या धमनी इन शब्दों का अनेक स्थलों पर वर्णन आया है—(१) यदा तु रक्तवाहीनि रससंज्ञावहानि च। पृथक् पृथक् समस्ता वा स्रोतांसि कुपिता मलाः॥ (२) संज्ञावहासु नाडीषु पिहितास्वनिलादिभिः। (च० सू० अ० २५) तमोऽभ्युपैति सहसा सुखदुःखव्यपोहकृत्॥ (सु० उ० अ० ४६) (३) संज्ञावहेषु स्रोतःसु दोषव्याप्तेषु मानवः। रजस्तमःपरीतेषु मूढो भ्रान्तेन चेतसा॥ (सु० उ० अ० ६१) चक्रपाणि लिखते हैं—संज्ञावहानीति संज्ञाहेतुमनोवहानि, मनोवहानि स्रोतांसि यद्यपि पृथक् नोक्तानि, तथापि मनसः केवलमेवेदं शरीरमयनभूतम्, इत्यभिधानात् सर्वशरीरस्रोतांसि गृह्यन्ते, विशेषेण तु हृदयाश्रितत्वान्मनसस्तदाश्रिता दश धमन्यो मनोवहा अभिधीयन्ते। इसका तात्पर्य यह हो सकता है कि प्राचीन मत से हृदयस्थित धमनियाँ (Blood vessels of the Heart) संज्ञावाहक स्रोतस हो सकते हैं तथा आधुनिक परिभाषा के अनुसार संज्ञावह स्रोतसों को (Blood vessels of the Brain) कह सकते हैं। किन्तु रक्तवाहिनियाँ शुद्धाशुद्ध रक्तवहन के सिवाय संज्ञावहन का कार्य नहीं करती हैं। यह कार्य तो Nerves ही करती हैं। अस्तु, तामसी निद्रा वास्तव में निद्रा न होकर मृत्युपूर्वकालीन गम्भीर संज्ञानाश की स्थिति है। इसकी सम्प्राप्ति, लक्षण और काल के विचार से यह चरकोक्त संन्यास के साथ साम्य रखती है। इस तामसी निद्रा को (Coma) कह सकते हैं। (३) वैकारिकी निद्रा—कफ की क्षीणता तथा वात की वृद्धि होने पर एवं मन और शरीर के सन्तप्त या चिन्तित होने पर निद्रा ठीक तरह से नहीं आती है। इसे वैकारिकी कहते हैं-'क्षीणश्लेष्मणामनिलबहुलानां मनःशरीराभितापवतां च नैव सा वैकारिकी भवति' (सु० शा० अ० ४) वास्तव में यह निद्रा अनिद्रा के बराबर है। इसे इन्सोमनिया (Insomnia) कह सकते हैं। इसके कारणों में वातप्रकोप, पित्तप्रकोप, मनःसन्ताप, रसरक्तादि क्षय या क्षयरोग और आघात मुख्य हैं—निद्रानाशोऽनिलात् पित्तान्मनस्तापात् क्षयादपि। सम्भवत्यभिघाताच्च प्रत्यनीकैः प्रशाम्यति॥ (सु० शा० अ० ४) चरकोक्तनिद्रानाशहेतवः—कायस्य शिरसश्चैव विरेकश्छर्दनं भयम्। चिन्ताक्रोधस्तथा धूमो व्यायामो रक्तमोक्षणम्॥ उपवासोऽसुखा शय्या सत्त्वोदार्यं तमो जयः। निद्राप्रसङ्गमहितं वारयन्ति समुत्थितम्॥ एत एव च विज्ञेया निद्रानाशस्य हेतवः। कार्यंकालो विकारश्च प्रकृतिर्वायुरेव च॥ (च० सू० अ० २१)

> सेकावगाहौ मणयः सहाराः
> शीताः प्रदेहा व्यजनानिलाश्च।
> शीतानि पानानि च गन्धवन्ति
> सर्वासु मूर्च्छास्वनिवारितानि॥ १५॥

मूर्च्छाचिकित्सा—शीतल जल का मुख तथा शरीर पर सिञ्चन, शीतल जल में अवगाहन, मुक्ता, स्फटिक आदि मणियों का स्पर्श तथा उनके हार का धारण, चन्दन, कमल आदि शीत पदार्थों का बदन पर लेप, खस के पंखे को पानी में भिगो कर उसकी हवा का सेवन, चन्दन, खस, कर्पूर और केतकी आदि गन्ध द्रव्यों से निर्मित शीतल प्रपानक और शरबत का पान ये सर्व प्रकार की मूर्च्छाओं में प्रशस्त माने जाते हैं॥ १५॥

विमर्शः—सर्वासु मूर्च्छास्वित्यनेन वातकफकृतायां मूर्च्छायामपि हेतुप्रत्यनीकचिकित्साकरणे वारणार्हता, एते शीतविषया व्याधिप्रत्यनीकतया पित्तानुबन्धाच्च न वारणीया इति दर्शयति इति त० च०।

> सिताप्रियालेक्षुरसप्लुतानि
> द्राक्षामधूकस्वरसान्वितानि।

खर्जूरकाश्मर्य्यरसैः शृतानि
पानानि सर्पींषि च जीवनानि ॥ १६ ॥

मूर्च्छायां शीतानि गन्धवन्ति च पानानि– शर्करा, चिरौंजी और ऊख का रस इन तीनों को मिलाकर पानक बना लेवें। अथवा खजूर तथा गम्भारी के स्वरस में शर्करा और चिरौंजी डालकर उबालें। फिर उसमें इक्षु का स्वरस मिलाकर पानक बना लेवें। इसी प्रकार खजूर तथा गम्भारी के स्वरस में किसमिस अथवा मुनक्का पीस के मिलावें तथा महुए का स्वरस भी मिश्रित कर उबाल के शीतल होने पर पानक के रूप में प्रयुक्त करें। इसी प्रकार जीवनगुणयुक्त या जीवनदान देने वाली जीवनीयगण की काकोल्यादि औषधियों के कल्क और क्वाथ से घृत सिद्ध कर सर्व प्रकार की मूर्च्छाओं में प्रयुक्त करना प्रशस्त माना गया है ॥ १६ ॥

विमर्शः—जीवनीयगणः—अष्टवर्गः सयष्टीको जीवन्ती मुद्गपर्णिका। माषपर्णीगणोऽप्यन्तु जीवनीय इति स्मृतः॥

सिद्धानि वर्गे मधुरे पयांसि
सदाडिमा जाङ्गलजा रसाश्च।
तथा यवा लोहितशालयश्च
मूर्च्छासु पथ्याश्च सदा सतीनाः ॥१७॥

मूर्च्छायां दुग्धदाडिममांसरसोपयोगः—काकोल्यादि मधुर वर्ग की औषधियों के कल्क में सिद्ध किये हुए दुग्ध तथा अनाररसयुक्त जङ्गली पशुपक्षियों का मांसरस एवं यव, लाल साठी चाँवल और गोल मटर ये सर्व प्रकार की मूर्च्छाओं में प्रशस्त माने गये हैं ॥ १७ ॥

भुजङ्गपुष्पं मरिचान्युशीरं
कोलस्य मध्यञ्च पिबेत् समानि।
शीतेन तोयेन बिसं मृणालं
क्षौद्रेण कृष्णां सितया च पथ्याम् ॥१८॥

मूर्च्छायां भुजङ्गपुष्पमरिचादीनि—नागकेशर, काली मरिच, खस, बदरफल की मध्य मज्जा, इन्हें समान प्रमाण में लेकर चूर्णित करके ३ माशे से ६ माशे प्रमाण में लेकर शीतल जल के अनुपान से सेवन करें। इनके अतिरिक्त बिस (सूक्ष्म मृणाल) और मृणाल (पद्मनाल) इन्हें भी शीतल पानी के साथ पीस कर पीना चाहिये। इसी प्रकार मधु के साथ पिप्पली का २ से ४ रत्ती चूर्ण और ३ माशे से ६ माशे भर हरड़ का चूर्ण लेकर उसमें द्विगुण शर्करा संयुक्त करके शीतल जलानुपान के साथ सर्व प्रकार की मूर्च्छाओं में सेवन करना चाहिये ॥ १८ ॥

कुर्य्याच्च नासावदनावरोधं
क्षीरं पिबेद्वाऽप्यथ मानुषीणाम्।
मूर्च्छां प्रसक्तां तु शिरोविरेकै-
र्जयेदभीक्ष्णं वमनैश्च तीक्ष्णैः ॥ १९ ॥

मूर्च्छायाः समाप्त्योपायः—मूर्च्छित रोगी के नासा तथा मुख को कुछ क्षणों के लिये हाथ से बन्द करना चाहिये। ऐसा करने से भीतर प्रविष्ट वायु वापस बाहर निकलने के लिये दम घोटता हुआ दबाव से प्राणवह संज्ञावह स्रोतसों के अवरोध को नष्ट कर उन्हें खोलता हुआ मूर्च्छा को नष्ट कर देता है। इस क्रिया के अनन्तर स्त्रियों का दुग्ध पान करना चाहिये, क्योंकि स्त्रीदुग्ध शीतल होता है। यदि उक्त उपचारों के करने पर भी बार बार मूर्च्छा आ जाती हो तो उसे अपामार्गबीज, पिप्पली आदि तीक्ष्ण शिरोविरेचन द्रव्यों को सूँघा (नस्य दे) कर तथा वमन कराके दूर करना चाहिये ॥ १९ ॥

विमर्शः—यद्यपि सर्व प्रकार की मूर्च्छाओं में पित्त प्रधान होता है। अतः तीक्ष्ण औषधियों के द्वारा शिरोविरेचन तथा वमन करना पित्तवर्द्धक होने से कैसे हितकारी होगा? शङ्का सत्य है, किन्तु तीक्ष्ण औषध संज्ञावह स्रोतस के अवरोध का नाशक होने से तथा व्याधिप्रत्यनीक (व्याधिविपरीत) होने से दोनों क्रियाएँ हितकारी ही हैं। कुछ आचार्य 'तीक्ष्णैः' इसके स्थान में 'पथ्यैः' ऐसा पाठान्तर मानते हैं। ऐसे पाठान्तर में पित्त और श्लेष्मनाशक पथ्य औषधियाँ प्रयुक्त करनी चाहिए।

हरीतकीक्वाथशृतं घृतं वा
धात्रीफलानां स्वरसैः कृतं वा।
द्राक्षासितादाडिमलाजवन्ति
शीतानि नीलोत्पलपद्मवन्ति॥
पिबेत् कषायाणि च गन्धवन्ति
पित्तज्वरं यानि शमं नयन्ति ॥ २० ॥

मूर्च्छायां घृतम्— हरीतकी के क्वाथ में सिद्ध किया हुआ घृत अथवा आँवलों के फलों के स्वरस में सिद्ध किया हुआ घृत सर्व प्रकार की मूर्च्छाओं में पिलाना चाहिए। इसके अतिरिक्त श्रीपर्णी आदि से किये हुये पित्तज्वरशामक जो कषाय हैं उनमें मुनक्का पीसा हुआ १ तोला, शर्करा १ तोला, अनारदानों का स्वरस ४ तोला या चूर्ण ६ माशे भर एवं लजवन्ती की जड़ का चूर्ण २ माशे या धान (चावल) के बनाये हुए लाजों (खीलों) का चूर्ण ६ माशे से १ तोले भर मिला कर पीवें। अथवा उक्त ज्वरशामक श्रीपर्ण्यादि क्वाथ में नीलोफर और कमल का चूर्ण मिला कर पीवें। अथवा उक्त ज्वरशामक कषाय में गन्धद्रव्यों का प्रक्षेप दे कर सर्व प्रकार की मूर्च्छा में पीना चाहिए ॥ २० ॥

प्रभूतदोषस्तमसोऽतिरेका-
त्सम्मूर्च्छितो नैव विबुध्यते यः।
संन्यस्तसंज्ञो भृशदुश्चिकित्स्यो
ज्ञेयस्तदा बुद्धिमता मनुष्यः ॥ २१ ॥

संन्यासलक्षणम्— मिथ्या आहार-विहारों के द्वारा वात, पित्त और कफ ये शारीरिक दोष तथा रज और तम ये मानसिक दोष जिसके प्रभूत मात्रा में बढ़ गये हों वह व्यक्ति प्रथम मूर्च्छित हो जाता है, फिर इसी दशा में तमोगुण के और अधिक बढ़ जाने से वह व्यक्ति अवबोध (संज्ञाभावस्था) को प्राप्त नहीं करता है ऐसे दुश्चिकित्स्य मूर्च्छित रोगी बुद्धिमान् वैद्य द्वारा संन्यासरोगग्रस्त समझा जाना चाहिए॥

विमर्शः—संन्यास जिसमें मनुष्य की सर्व क्रियाएँ बन्द सी होकर वह काष्ठीभूत तथा मृतोपम हो जाता है। ऐसे रोग

को संन्यास कहते हैं—'स ना संन्यासस्संन्यस्तः काष्ठीभूतो मृतोपमः' सुश्रुतमतानुसार मूर्च्छा में ही तमोगुण के अत्यधिक बढ़ जाने से वह पुनः संज्ञा को प्राप्त नहीं होता है उसे संन्यास कहा गया है। संन्यास को गम्भीर मूर्च्छा भी कहा जा सकता है किन्तु मूर्च्छा की अपेक्षा इसमें कारण तथा लक्षणों की प्रबलता रहती है। अष्टाङ्गहृदय तथा चरक में इसकी मद-मूर्च्छा से भिन्नता, कारण, सम्प्राप्ति और लक्षणों का वर्णन अच्छा मिलता है—मदमूर्च्छाभ्यां संन्यासस्य भेदाः—दोषेषु मद-मूर्च्छायाः कृतवेगेषु देहिनाम्। स्वयमेवोपशाम्यन्ति संन्यासो नौषधैर्विना॥ (अ. हृ. नि. अ. ६) यद्यपि मूर्च्छा ही गहरी होकर संन्यास कहलाती है फिर भी मद तथा सर्व प्रकार की मूर्च्छा दोषों का वेग शान्त होने पर औषध के विना स्वयमेव शान्त हो जाती है किन्तु संन्यास रोग उपयुक्त औषध-चिकित्सा के बिना ठीक नहीं हो सकता। अर्थात् मस्तिष्क में रक्त की कमी होने से मूर्च्छा होती है। यह कुछ समय तक रहती है एवं बिना उपचार किये ही रक्तकमीरूप कारण के निवृत्त हो जाने पर स्वयमेव दूर हो जाती है किन्तु संन्यास औषधोपचार के बिना शान्त नहीं होता। संन्यास में दोषों के प्राबल्य से मन सहित दस इन्द्रियाँ, समग्र शरीर एवं प्राणवाहि स्रोतसों की क्रियाएँ विलुप्त हो जाती हैं। संन्यासस्य स्वरूपकारणसम्प्राप्तयः—वाग्देहमनसां चेष्टामाक्षिप्यातिबला मलाः। संन्यस्यन्त्यबलं जन्तुं प्राणायतनमाश्रिताः॥ स ना संन्यास-संन्यस्तः काष्ठीभूतो मृतोपमः। प्राणैर्विमुच्यते शीघ्रं मुक्त्वा सद्यः-फलां क्रियाम्॥ (अ. हृ. नि. अ. ६) दुर्बल मनुष्य के बहुत बढ़े हुये दोष जब प्राणायतन में पहुँच कर वाणी, शरीर तथा मन की क्रियाओं को अवरुद्ध कर देते हैं तब रोगी को संन्यास हो जाता है। इस अवस्था में रोगी सूखे काष्ठ अथवा मुरदे के समान रहता है। यदि इस समय तत्काल लाभ पहुँचाने वाली चिकित्सा न की जाय तो रोगी शीघ्र ही मर जाता है। तत्काल लाभ पहुँचाने वाली क्रियाओं में सूची (सूई) के द्वारा वेधन, तीक्ष्णाञ्जन, अवपीडन और शूकशिम्बीफल (कौंच की फली) का शरीर पर घर्षण करना आदि है। चरकमतेन मदमूर्च्छायसंन्यासवर्णनम्—रक्तवाहीनि रससंज्ञावहानि च। पृथक् पृथक् समस्ता वा स्रोतांसि कुपिता मलाः॥ मलिनाहारशीलस्य रजोमोहावृतात्मनः। प्रतिहत्यावतिष्ठन्ते जायन्ते व्याधयस्तदा॥ मदमूर्च्छायसंन्यासास्तेषां विद्याद्विचक्षणः॥ यथोत्तरं बलाधिक्यं हेतुलिङ्गोपशान्तिषु॥ (च० सू० अ० २४) दूषित आहार करने वाले एवं रजोगुण तथा तमोगुण से व्याप्त पुरुष के पृथक्-पृथक् कुपित हुये दोष या समस्त कुपित हुये दोष जब रक्तवाहक, रसवाहक और संज्ञा (ज्ञान) वाहक स्रोतसों में जाकर उन्हें विकृत कर वहाँ आश्रित हो जाते हैं तब मद, मूर्च्छाय और संन्यास नामक व्याधियाँ हेतु, लक्षण और उपशय की दृष्टि से यथोत्तर बलवत्तर रूप में प्रकट होती हैं। सुश्रुताचार्य ने दोष तथा तमोगुण की अधिकता के परिणाम को संन्यास लिखा है। दोष शब्द से यहाँ मुख्यतः कफ का ग्रहण करना चाहिए। सुश्रुत ने जो तामसी निद्रा की सम्प्राप्ति तथा लक्षण लिखे हैं वे संन्यास की अवस्था के पूर्वरूप के सूचक हैं—'तत्र यदा संज्ञावहानि स्रोतांसि तमोभूयिष्ठः श्लेष्मा प्रतिपद्यते तदा तामसी नाम निद्रा भवत्यनवबोधिनी सा प्रलयकाले।' प्रलय का अर्थ मृत्यु समझना चाहिए तथा अनवबोधिनी (फिर से नहीं जगाने वाली) निद्रा या मूर्च्छा भी मृत्यु की ही सूचक है। इस प्रकार तमोगुणभूयिष्ठ श्लेष्मा जब मृत्यु से पूर्व संज्ञावाही स्रोतसों में प्रविष्ट होता है तब तामसी निद्रा या संन्यास की अवस्था उत्पन्न होती है। संन्यास में भी हृदय और मस्तिष्क दोनों की विकृति होती है किन्तु इसमें हृदय की अपेक्षा मस्तिष्क की प्रधानता रहती है। डाक्टरी में लिखे गये कोमा (Coma) के लक्षण संन्यास से मिलते हैं—Coma is a state of unnatural, heavy, deep and prolonged sleep, often accompanied by slow stertorous or irregular breathing and frequently ending in death. (Idex of differential diagnosis by Herbert french.) अर्थात् कोमा वह असाधारण स्थिति है जिसमें मन्द एवं अनियमित श्वास-प्रश्वास के साथ-साथ गम्भीर निद्रा की अवस्था रहती है। इसके होने पर प्रायः रोगी की मृत्यु हो जाती है। संन्यासहेतु—यह विकृति मस्तिष्क की है। मस्तिष्क की विकृति निज कारणों तथा आघात आदि बाह्य कारणों से होती है। निज कारणों में संन्यास निम्न रोगों में उपद्रवस्वरूप से मिलता है—आन्त्रिकज्वर, आमवातज्वर, कालमेहज्वर (Black water fever), घातक विषमज्वर, फुफ्फुसपाक (Pneumonia) और मसूरिका इत्यादि सान्निपातिक ज्वरों के अन्त में तथा सर्वप्रकार के मस्तिष्कावरणशोथ (Meningitis), तन्द्रिक मस्तिष्कशोथ (Encephalitis lethargica), मस्तिष्क का अर्बुद या विद्रधि, मूत्रविषमयता (Ureamia), मधुमेह की अन्तिमावस्था, वैनाशिक पाण्डुरोग (Pernicious anaemia), मस्तिष्क में रक्तस्राव या रक्त का जम जाना (Embolism), पक्षाघात, लू लगना (Heat stroke), अत्यधिक रक्तस्राव इत्यादि। आगन्तुक कारण—इसमें शिर के शृङ्गाटकमर्म, अधिपतिमर्म, शङ्खमर्म पर आघात होने से मस्तिष्क के भीतर (Apoplexy) या मस्तिष्कावरण के भीतर और मस्तिष्क के बाहर रक्तस्रावजन्य सम्पीडन (Cerebral compression from trauma) से होता है। अथवा आघातजन्य मस्तिष्कसंघट्टन (Cerebral concussion) से या खोपड़ी की हड्डी का अवनत भङ्ग (Depressed fracture) होने से यह अवस्था उत्पन्न होती है। हम यह भी कह सकते हैं कि प्रथम, मस्तिष्क में रक्त की अत्यधिक कमी तथा द्वितीय, रक्त में विषों की उपस्थिति संन्यास में मुख्य कारणीभूत हैं तथा इन दो अवस्थाओं में से कोई भी एक अवस्था जिस रोग या जिस स्थिति में पाई जाती है उसमें संन्यास का होना भी अनिवार्य है। (१) मस्तिष्क में रक्त की साधारण कमी से मूर्च्छा होती है। यही कमी जब अत्यधिक बढ़ जाती है तो संन्यास रोग को उत्पन्न कर देती है। पाण्डु रोग तथा अत्यधिक रक्तस्राव (Severe haemorrhage) के कारण मस्तिष्क में रक्ताल्पता होती है। इनके अतिरिक्त भय, शोक आदि मानसिक तथा अत्यधिक ताप आदि भौतिक कारणों से भी परिसरीय केशिका-विस्फार के कारण मस्तिष्क में रक्ताल्पता होती है। मानसिक कारणों में घात Shock) प्रधान है। इन कारणों से रक्ताल्पता होने पर मस्तिष्क के आज्ञावाहक व संज्ञावाहक चेष्ट क्रिया करना पूर्ण-

तथा बन्द कर देते हैं। अंशुवात (Sun stroke) में ताप की अधिकता के कारण मस्तिष्क की रक्तवाहिनियों में रक्त जमने से मस्तिष्क की कोषाएँ भी नष्ट होने लगती हैं। परिणामस्वरूप ज्ञान का पूर्णतया लोप होने से संन्यास उत्पन्न होता है। (२) रक्त में विषों की उपस्थिति से भी मस्तिष्क पर प्रभाव होकर संन्यास उत्पन्न होता है। रक्त में विषोत्पत्तिपूर्वक संन्यास के उत्पादक निम्न रोग हैं—(क) मधुमेहजन्य संन्यास (Diabatic coma)—मधुमेह अग्न्याशयसम्बन्धी रोग है। विकृत हो जाने पर अग्न्याशय से (Insulin) का स्राव कम या बन्द हो जाता है। इसके अभाव से कार्बोहाइड्रेट मेटाबोलिज्म ठीक नहीं हो पाता। परिणामस्वरूप रक्तगत शर्करा की मात्रा बढ़ जाती है एवं वृक्क की शर्करा मर्यादा (Renal threshold) से अधिक शर्करा होने से मूत्र द्वारा उत्सृष्ट होने लगती है। इस प्रकार अग्न्याशय की विकृति होने पर कार्बोहाइड्रेट का सात्म्यीकरण (Metabolism) पूर्णतया नहीं होता अतः शारीरिक यन्त्रशक्ति प्राप्त करने के लिये वसा का उपयोग अधिक मात्रा में करना पड़ता है तथा वसा का अधिक उपयोग होने से रक्त में अम्लमय पदार्थों (Ketone bodies) की वृद्धि होने लगती है जिसका परिणाम भयङ्कर अम्लोत्कर्ष (Ketosis) है। मधुमेहजन्य संन्यास को उत्पन्न करने वाले ये अम्लमय पदार्थ ही हैं जैसा कि हेलिबर्टन ने लिखा है—The ketone bodies are most important in disease, aceto-acetic acid is particularly toxic, it is thought because of enabolic form in which it may occur. It is a general nervous depressant first causing unconciousness or coma and eventually death from paralysis of the respiratory center. (ख) उपमधुमयता (Hypoglycaemia) से उत्पन्न संन्यास–रक्तगतशर्करा की अत्यधिक कमी से भी संन्यास की उत्पत्ति होती है। कभी-कभी मधुमेह की चिकित्सा में इन्स्यूलीन का अधिक मात्रा में प्रयोग कर देने पर भी संन्यास के लक्षण प्रकट होते हैं। (ग) (Acute alcoholic poisoning)–अत्यधिक मात्रा में मद्यपान करने से भी संन्यास के तीव्र लक्षण व्यक्त होते हैं। आमाशय की श्लेष्मलकला में शोथ हो जाता है तथा हृदय का दक्षिण भाग कार्य करना बन्द कर देता है। वातनाडीसंस्थान में सुषुम्नाजल (Cerebrospinal fluid) की मात्रा बढ़ी हुई पाई जाती है। संन्यास का यही मुख्य उत्पादक हेतु है। इन रोगों के अतिरिक्त कार्बन मोनोक्साइड पॉइजनिंग, मस्तिष्कावरणशोथ (Meningitis) तथा मस्तिष्क की रक्तवाहिनी में अवरोध होने से भी संन्यास की अवस्था उत्पन्न होती है। रक्त का अत्यधिक दाब (H. B. P.) होने पर भी संन्यास होता है। मूत्रविषमयता (Uraemia) भी संन्यास की उत्पादक है।

यथाऽऽमलोष्टं सलिले निषिक्तं
समुद्धरेदाश्वविलीनमेव।
तद्वच्चिकित्सेत्त्वरया भिषक्त-
मस्वेदनं मृत्युवशं प्रयातम्॥ २२॥

संन्यासस्य शीघ्रचिकित्साहेतुः—जिस प्रकार जल में डूबते हुए कच्ची मिट्टी के ढेले को जल में घुलने के पूर्व ही बचाना आवश्यक होता है उसी प्रकार वैद्य का कर्तव्य है कि वह शीघ्र ही मृत्यु के वश में होने वाले संन्यासरोगी को स्वेद होने के पूर्व ही योग्य चिकित्सा द्वारा रक्षित कर ले॥ २२॥

विमर्शः—चरकाचार्य ने भी संन्यास की शीघ्र चिकित्सा करने के लिये जल में डूबते हुये मिट्टी के पात्र का ही उदाहरण दिया है—दुर्गेऽम्भसि यथा मज्जद् भाजनं त्वरया बुधः। गृह्णीयात्तमप्राप्तं तथा संन्यासपीडितम्॥

तीक्ष्णाञ्जनाभ्यञ्जनधूमयोगै-
स्तथा नखाभ्यन्तरतोत्रपातैः।
वादित्रगीतानुनयैरपूर्वै-
र्विघट्टनैर्गुप्तफलावघर्षैः॥ २३॥

संन्यासचिकित्साक्रमः—पिप्पली, अपामार्ग, विडङ्ग आदि तीक्ष्ण अञ्जन, तीक्ष्ण पदार्थों का अभ्यङ्ग, तीक्ष्ण पदार्थों का धूम नासा की ओर ले जा के सुँघाना एवं नख तथा नखमांस के मध्य तोत्र (सूई) का चुभाना, अपूर्व अर्थात् जोर की आवाज वाले वादित्रों (नगाड़े बाजों) को रुग्ण के पास या कान में या कान के ऊपर बजाना, अपूर्व (रूक्षतीक्ष्ण चीत्कार शब्दयुक्त) गीत कान में सुनाना एवं अनेक प्रकार से रुग्ण के समस्त शरीर या विशिष्ट अङ्गों को जोर से हिलाना और केंवांच की रोयेंदार फली को रुग्ण के कोमल अङ्गों पर संज्ञा प्राप्त होने तक मसलना चाहिए॥ २३॥

विमर्शः—(१) 'गुप्तफलावघर्षणैः' का कुछ लोग कौंच फली अर्थ न करके वृषण अर्थ करते हैं—गुप्तफलं वृषणं तस्यावघर्षणैः पीडनैरित्यर्थः। अण्ड मर्म स्थान होने के कारण इन्हें दबाने से बेहद पीड़ा होती है जिसकी प्रतिक्रिया से सम्भवतः रुग्ण की मूर्च्छा टूट सकती है। (२) 'केचिद्विघट्टनैः' इत्यत्र 'विस्मापनैः' इति पठन्ति। ऐसे पाठान्तर में मूर्च्छित को अचम्भे में डालने वाले शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध इन पदार्थों का प्रयोग करना चाहिए। चरके संन्यस्तावबोधनोपायाः—अञ्जनान्यवपीडाश्च धूमः प्रधमनानि च। सूचीभिस्तोदनं शस्तं दाहः पीडा नखान्तरे॥ लुञ्चनं केशलोम्नां च दन्तैर्दशनमेव च। आत्मगुप्तावघर्षश्च हितस्तस्यावबोधने॥ (चरक)

आभिः क्रियाभिश्च न लब्धसंज्ञः
सानाहलालाश्वसनश्च वर्ज्यः॥ २४॥

वर्जनीयसंन्यासावस्था—यदि उक्त तीक्ष्णाञ्जनादि क्रियाओं के करने से भी संन्यास के रोगी की मूर्च्छा नष्ट न हो अर्थात् उससे संज्ञा प्राप्त न हो तथा आनाह, लालास्राव और श्वासवृद्धि के लक्षण प्रकट होने पर चिकित्सा नहीं करनी चाहिए॥

प्रबुद्धसंज्ञं वमनानुलोम्यै-
स्तीक्ष्णैर्विशुद्धं लघुपथ्यभुक्तम्।
फलत्रिकैश्चित्रकनागराद्यै-
स्तथाऽश्मजाताज्जतुनः प्रयोगैः॥
सशर्करैर्मासमुपक्रमेत
विशेषतो जीर्णघृतं स पाय्यः॥ २५॥

लब्धसंज्ञसंन्यासचिकित्साक्रमः—उक्त तीक्ष्णाञ्जनादि उपायों से संज्ञा आ जाने पर रुग्ण के तीक्ष्ण वमन और विरेचन

उपायों से ऊर्ध्व तथा अधःकाय का संशोधन कर अन्नसंसर्जनक्रम (अन्नदान विधि) के अनुसार हल्का तथा पथ्य कारक (भोजन) करा के त्रिफला, चित्रक और शुण्ठी के क्वाथ से भावित तथा शर्करा से युक्त शिलाजतु के वज्रक वटक आदि कल्पना कल्पित प्रयोगों से एक मास तक उसका उपचार करना चाहिए तथा शेष दोषों के संशमन के लिये दश वर्ष पुराना जीर्ण घृत पिलाना चाहिए ॥ २५ ॥

विमर्शः—संन्यासस्य चरकोक्तचिकित्साक्रमः—संमूर्च्छितानि तीक्ष्णानि मद्यानि विविधानि च। प्रभूतकटुयुक्तानि तस्यास्ये गालयेन्मुहुः॥ मातुलुङ्गरसं तद्वन्महौषधसमायुतम्। तद्वत्सौवीरकं दद्याद् युक्तं मद्याम्लकाञ्जिकैः॥ हिङ्गूषणसमायुक्तं यावत्संज्ञाप्रबोधनम्। प्रवृद्धसंज्ञमन्नैश्च लघुभिस्तमुपाचरेत्॥ विस्मापनैः स्मारणैश्च प्रियश्रुतिभिरेव च। पटुभिर्गीतवादित्रशब्दैश्चित्रैश्च दर्शनैः॥ स्रंसनोल्लेखनैर्धूमैरञ्जनैः कवलग्रहैः। शोणितस्यावसेकैश्च व्यायामोद्घर्षणैस्तथा॥ प्रवृद्धसंज्ञं मतिमाननुबन्धमुपाक्रमेत्। तस्य संरक्षितव्यं हि मनः प्रलयहेतुतः॥ स्नेहस्वेदोपपन्नानां यथादोषं यथाबलम्।***पञ्चकर्माणि मूर्च्छायेषु मदेषु च॥ त्रिफलाया प्रयोगो वा सघृतक्षौद्रशर्करः। शिलाजतुप्रयोगो वा प्रयोगः पयसोऽपि वा॥ पिप्पलीनां प्रयोगो वा प्रयोगश्चित्रकस्य च। रसायनानां कौम्भस्य सर्पिषो वा प्रशस्यते॥

यथास्वञ्च ज्वरघ्नानि कषायाण्युपयोजयेत्।
सर्वमूर्च्छापरीतानां विषजायां विषापहम्॥ २६॥

इति सुश्रुतसंहितायामुत्तरतन्त्रान्तर्गते कायचिकित्सातन्त्रे मूर्च्छाप्रतिषेधो नाम (अष्टमोऽध्यायः, आदितः) षट्चत्वारिंशत्तमोऽध्यायः॥ ४६॥

विभिन्नदोषजमूर्च्छाचिकित्सा—विभिन्न प्रकार के दोषों से उत्पन्न हुये ज्वरों में उन दोषों के अनुसार जो ज्वरनाशक कषाय कहे गये हैं उन्हें सर्व प्रकार की मूर्च्छाओं को नष्ट करने के लिये दोषानुसार प्रयुक्त करने से मूर्च्छा नष्ट होती है किन्तु विषजन्य मूर्च्छा में कल्पस्थान में कहे हुए विष तथा मूर्च्छा को नष्ट करने वाले नस्य अञ्जन आदि का प्रयोग करना चाहिए॥ २६॥

विमर्शः—भैषज्यरत्नावल्यां विभिन्नमूर्च्छाक्रमः—रक्तजायान्तु मूर्च्छायां हितः शीतक्रियाविधिः। मद्यजायां पिबेन्मद्यं निद्रां सेवेद्यथासुखम्॥ विषजायां विषघ्नानि भेषजानि प्रयोजयेत्॥ **रक्तदोष अथवा रक्तदर्शन से उत्पन्न हुई मूर्च्छा में शीतल क्रिया करनी चाहिए। मद्य के अधिक पान से उत्पन्न हुई मूर्च्छा में वमनकारक औषध से वमन कराके पुनर्मद्य पिला के शयन करा देवें। विष भक्षण से उत्पन्न हुई मूर्च्छा में विषनाशक शिरीषादि चूर्ण, शिरीषाद्यरिष्ट आदि कल्पस्थानोक्त औषधियों का प्रयोग करना चाहिए।** मूर्च्छायां पथ्यानि—धूमोऽञ्जनं नावनमस्त्रमोक्षो दाहश्च सूचीपरितोदनानि। रोम्णां कचानामपि कर्षणानि नखान्तपीडादशनोपदंशाः॥ नासामुखद्वारमरुन्निरोधो विरेचनश्छर्दनलङ्घनानि। क्रोधो भयं दुःखकरी च शय्या कथा विचित्रा च मनोहराणि॥ छायाम्भोऽम्भः शतधौतसर्पिर्मृदूनि तिक्तानि च काञ्जमण्डः। जीर्णं यवा लोहितशालयश्च कौम्भं हविर्मुद्गसतीनयूषः। धन्वोद्भवा मांसरसाश्च रागाः सषाडवाजाप्यपयः सिता च॥ पुराणकूष्माण्डपटोलमोचहरीतकीदाडिमनारिकेलम्। मधूकपुष्पाणि च तण्डुलीयसुपोदिकाऽऽन्नानि लघूनि चापि॥ प्रतीरनीरं सितचन्दनानि कर्पूरनीरं हिमवालुका च। अत्युच्चशब्दोऽद्भुतदर्शनञ्च गीतानि वाद्यान्यपि चोत्कटानि। श्रमः स्मृतिश्चिन्तनमात्मबोधो धैर्यञ्च मूर्च्छावति पथ्यवर्गः॥ मूर्च्छायामपथ्यानि—ताम्बूलं पत्रशाकञ्च दन्तघर्षणमातपम्। विरुद्धान्यन्नपानानि व्यवायं स्वेदनं कटु। तृणिद्रयोर्वेगरोधं तक्रं मूर्च्छामयी त्यजेत्॥ यवो लोहितशालिश्च वार्ताकुश्च पटोलकम्। यूषो जाङ्गलमांसस्य रोहिताद्यास्तथा झषाः॥ धारोष्णं गोपयस्तक्रं स्नानं नद्या जलेऽमले। हितान्येतानि मूर्च्छायां संन्यासाख्ये तथा गदे॥ तीक्ष्णं द्रव्यं क्रियास्तीक्ष्णा वेगानाञ्च विधारणम्। कोपशोकादिभिर्भावैरित्येतैर्वर्द्धते गदः॥

इति श्री अम्बिकादत्तशास्त्रिकृतायां सुश्रुतसंहिताया उत्तरतन्त्रस्य भाषाटीकायां षट्चत्वारिंशत्तमोऽध्यायः॥ ४६॥

सप्तचत्वारिंशत्तमोऽध्यायः

अथातः पानात्ययप्रतिषेधं व्याख्यास्यामः॥ १॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः॥ २॥

अब इसके अनन्तर पानात्ययप्रतिषेध नामक अध्याय का व्याख्यान किया जाता है जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने कहा है॥ १–२॥

विमर्शः—मूर्च्छा की उत्पत्ति में मद्य और विष को भी कारण माना है अतएव मद्य से उत्पन्न होने वाले अन्य रोगों का भी मूर्च्छा के अनन्तर वर्णन करना आवश्यक है। इसी दृष्टि से मूर्च्छानन्तर पानात्यय रोग का वर्णन प्रारम्भ किया गया है। इसके अतिरिक्त मूर्च्छा में पित्त का प्रकोप होता है तथा पानात्यय में भी पित्त ही प्रधान रूप से प्रकुपित रहता है अतएव पित्तप्रधान की साम्यता के कारण भी मूर्च्छा के अनन्तर पानात्यय रोग का प्रारम्भ करना युक्तियुक्त है। पानात्ययः—अत्येति विनश्यत्यनेनेति अत्ययो व्याधिः। **अर्थात् जिसके द्वारा मनुष्य का शारीरिक तथा मानसिक विनाश (हानि) होता हो एवं पान अर्थात् अत्यधिक मद्यपान से उक्त हानि होने को पानात्यय कहते हैं। पानशब्द मद्य के अर्थ में रूढ माना जाता है।** 'पानमूलोऽत्ययः, इति पानात्ययः' **पान शब्द के अनन्तर आदि शब्द लुप्त है जिससे परमद पानाजीर्ण आदि का भी ग्रहण हो जाता है।**

मद्यमुष्णं तथा तीक्ष्णं सूक्ष्मं विशदमेव च।
रूक्षमाशुकरञ्चैव व्यवायि च विकाशि च॥ ३॥

मद्यगुणाः—**मद्य उष्ण, तीक्ष्ण, सूक्ष्म, विशद, रूक्ष, आशुकारी, व्यवायी और विकाशी होता है॥ ३॥**

विमर्शः—मद्यम्—'माद्यति यच्चन्मद्यम्' **अर्थात् जिसके अधिक सेवन करने से मद (नशा) उत्पन्न हो उसे मद्य कहते हैं। किंवा तमोगुणप्रधान होने से जो द्रव्य बुद्धि का नाश करके मद या नशे को उत्पन्न करता है उसे मद्य, मदकारी या मादक द्रव्य कहते हैं जैसे विविध प्रकार की सुरा आदि**—बुद्धिं लुम्पति यद् द्रव्यं मदकारि तदुच्यते। तमोगुणप्रधानञ्च यथा मद्यं सुरादिकम्॥ **(शा० सं० प्र० खं० अ० ४)**

चरकोक्तमद्यगुणाः—लघूष्णतीक्ष्णसूक्ष्माम्लव्यवायाशुगमेव च। रूक्षं विकाशि विशदं मद्यं दशगुणं स्मृतम्॥ इस तरह सुश्रुताचार्य ने मद्य के उष्ण, तीक्ष्ण, सूक्ष्म, विशद, रूक्ष, आशुकारी, व्यवायी और विकाशी ये आठ ही गुण माने हैं किन्तु वाग्भट और चरकाचार्य ने मद्य के दस गुण माने हैं जिनमें आठ गुण दोनों के सुश्रुत के समान हैं किन्तु इन्होंने लघु और अम्ल ये दो गुण अधिक माने हैं। माधवकार ने लिखा है कि जो विष के गुण होते हैं वे ही मद्य में होते हैं तथा उस मद्य के मिथ्योपयोग से ही उग्र मदात्यय (पानात्यय) रोग होता है—ये विषस्य गुणाः प्रोक्तास्तेऽपि मद्ये प्रतिष्ठिताः। तेन मिथ्योपयुक्तेन भवत्युग्रो मदात्ययः॥ विष और मद्य के गुण समान ही होते हैं किन्तु मद्य की अपेक्षा विष के गुण अधिक बलवान् होते हैं—ये विषस्य गुणाः प्रोक्ताः सन्निपातप्रकोपणाः। त एव मद्ये दृश्यन्ते विषे तु बलवत्तराः॥ चरकोक्तविषगुणाः—लघु रूक्षमाशु विशदं व्यवायि तीक्ष्णं विकाशि सूक्ष्मञ्च। उष्णमनिर्देश्य रसं दशगुणमुक्तं विषं तज्ज्ञैः॥ (च० चि० अ० २३) सुश्रुताचार्य ने विष के दस गुण लिखे हैं—रूक्षमुष्णं तथा तीक्ष्णं सूक्ष्ममाशु व्यवायि च। विकाशि विशदञ्चैव लघ्वपाकि च तत्स्मृतम्॥ इस तरह चरक और सुश्रुत दोनों ने विषों के गुणों की संख्या दस ही मानी है जिनमें ९ गुण तो समान ही हैं किन्तु चरक ने दसवाँ गुण अनिर्देश्य रस माना है और सुश्रुत ने दसवाँ गुण अपाकी माना है। वाग्भटाचार्य ने भी विष के दस ही गुण माने हैं जिनमें ९ तो चरक और सुश्रुत के समान ही हैं किन्तु दसवाँ गुण अम्ल माना है। इस तरह चरक मत से विष का दसवाँ गुण अनिर्देश्यरस, सुश्रुत का दसवाँ गुण अपाकी और वाग्भट का दसवाँ गुण अम्ल है। मद्यदशगुणपरिचयः—(१) लघु—यह गुण गुरु से विपरीत होता है तथा शरीर को हल्का एवं कृश करना इसका कार्य है। (२) रूक्ष—यह गुण स्निग्ध के विरुद्ध कार्य करने वाला है तथा इसमें जल को शोषण करने की शक्ति रहती है। मद्य भी आग्नेयगुणप्रधान होने के कारण जल के आकर्षण (Affinity for water) की शक्ति रखता है। (३) आशुकारी—जो द्रव्य अपने शीघ्रत्व गुण के कारण शरीर में शीघ्रता से फैल कर क्रिया करता है उसे आशुकारी कहते हैं—'आशुकारी तथाऽऽशुत्वाद्धावत्यम्भसि तैलवत्' (सु० सू० ४६) मुख द्वारा ग्रहण किया हुआ मद्य बृहदन्त्र में पहुँचने से पूर्व ही २०% आमाशय तथा शेष क्षुद्रान्त्र के द्वारा प्रचूषित होकर पाँच मिनट में ही रक्त में मिल जाता है एवं शीघ्र ही शारीरिक अङ्गों पर अपना प्रभाव दिखाता है। मद्य में यही आशुगत्व गुण है। (४) विशद—यह पिच्छिल से विपरीत होता है तथा इसमें भी शरीर के क्लेद का शोषण करने की शक्ति होती है—'विशदो विपरीतोऽस्मात् क्लेदाचूषणरोपणः' (५) व्यवायि—जो द्रव्य पाक होने से पूर्व ही सर्व शरीर में फैलकर अपना प्रभाव दिखाने के पश्चात् पचता है उसे व्यवायी कहते हैं—व्यवायि चाखिलं देहं व्याप्य पाकाय कल्पते। अथवा—पूर्वं व्याप्याखिलं कायं ततः पाकञ्च गच्छति व्यवायि तद्यथा भङ्गा फेनश्चाहिसमुद्भवम्॥ भाँग, अफीम, या मद्य अपाचित अवस्था में ही प्रचूषित होकर रक्त द्वारा सर्व शरीर के तन्तुओं में प्रविष्ट होकर अपना मदकारी प्रभाव दिखाते हैं। पाक होने से पूर्व मद की अवस्था बनी रहती है। पाक हो जाने पर वह निवृत्त हो जाती है। (६) तीक्ष्ण—यह गुण पित्तप्रधान होने से दाह, पाक तथा शरीर के सोमगुण का ह्रास करता है—'दाहपाककरस्तीक्ष्णः'। (७) विकासी—समस्त शरीर में अपक्वावस्था में ही फैल कर शरीर के सन्धिबन्धनों को जो शिथिल करता है और धातुओं से ओज को विभक्त कर के उनमें शैथिल्य उत्पन्न करता है। उसे विकासी कहते हैं—विकासी विकसन्नेवं धातुबन्धान् विमोक्षयेत्। (सुश्रुत) अथवा—सन्धिबन्धांस्तु शिथिलान् यत्करोति विकासि तत्। विश्लेष्योजश्च धातुभ्यो यथा क्रमुककोद्रवाः॥ (८) सूक्ष्म—जो द्रव्य देह के सूक्ष्मातिसूक्ष्म छिद्रों में भी आसानी से प्रवेश कर सके उसे सूक्ष्म कहते हैं—यथा—देहस्य सूक्ष्मच्छिद्रेषु विशेद् यत् सूक्ष्ममुच्यते। तथा सैन्धवं क्षौद्रं निम्बतैलं रुबूद्भवम्॥ इस गुण के कारण मद्य रक्तद्वारा प्रवाहित होता हुआ शरीर की प्रत्येक कोषा के अन्दर प्रवेश कर जाता है तथा कोषास्थित Protoplasm का विनाश भी करता है। (९) उष्ण—यह शीत से विपरीत तथा मूर्च्छा, तृषा, दाह और स्वेद को उत्पन्न करने वाला होता है। मद्य भी आग्नेयगुणप्रधान होने से इन गुणों से युक्त रहता है। इन गुणों के अतिरिक्त मद्य शरीर के Protien को जमा देता है तथा शरीर की कोषाओं में उत्तेजना करके उनका विनाश भी करता है। चरकाचार्य ने मद्य का अम्लगुण भी लिखा है तथा सर्व अम्ल जातियों में मद्य को श्रेष्ठ अम्ल स्वीकृत किया है—'सर्वेषामम्लजातानां मद्यं मूर्ध्नि व्यवस्थितम्'। विष में अम्ल गुण नहीं होता अतएव चरक ने उसकी जगह विष में अनिर्देश्य रस स्वीकृत किया है तथा सुश्रुत ने अपाकी गुण माना है।

औष्ण्याच्छीतोपचारं तत्तैक्ष्ण्याद्धन्ति मनोगतिम्।
विशत्यवयवान् सौक्ष्म्याद्वैशद्यात्कफशुक्रनुत्॥ ४॥
मारुतं कोपयेद्रौक्ष्यादाशुत्वादाशुकर्मकृत्।
हर्षदञ्च व्यवायित्वाद्विकाशित्वाद्विसर्पति॥ ५॥

मद्यस्य कर्माणि प्रभावा वा—मद्य के उष्णस्वभावी या पित्तप्रकोपक होने से उसमें शीतल उपचार किया जाता है तथा इसके तीक्ष्ण होने से मन की गति (स्रोतःसञ्चरणक्रिया) विनष्ट होती है। मद्य सूक्ष्म होने से शरीर के दृश्यादृश्य सूक्ष्म अवयवों में प्रविष्ट हो जाता है तथा विशद होने से कफ और शुक्र को नष्ट करता है एवं रूक्ष होने से वायु को कुपित करता है तथा आशुधर्मयुक्त होने से शीघ्र कार्य करता है। मद्य व्यवायी होने से हर्षदायक है तथा विकाशी होने से सारे शरीर में फैल जाता है॥ ४-५॥

विमर्शः—मद्य को मात्रापूर्वक तथा युक्तियुक्त सेवन करने से अमृत के समान गुणकारक माना गया है—विधिना मात्रया काले हितैरन्नैर्यथाबलम्। प्रहृष्टो यः पिबेन्मद्यं तस्य स्यादमृतोपमम्॥ किन्तु इस मद्य का मिथ्योपयोग करने से उग्र मदात्यय, परमद, पानाजीर्ण और पानविभ्रम आदि रोग उत्पन्न होते हैं—'तेन मिथ्योपयुक्तेन भवत्युग्रो मदात्ययः'। वास्तव में विधिविपरीत मद्यपान करने से उक्तगुणों वाला मद्य हृदय में प्रविष्ट होकर अपने विपरीत ओज के गुरु, शीत, मृदु, श्लक्ष्ण, बहल, मधुर, स्थिर, प्रसन्न, पिच्छिल तथा स्निग्ध इन दस गुणों को नष्ट करके हृदय को विकृत कर देता है

तथा उसके आश्रित मन तथा मस्तिष्क को भी क्षुभित करके मदात्यय रोग को उत्पन्न करता है—मद्यं हृदयमाविश्य स्वगुणै रोजसो गुणान्। दशभिर्दश संक्षोभ्य चेतो नयति विक्रियाम्॥ गुरु शीतं मृदु श्लक्ष्णं बहलं मधुरं स्थिरम्। प्रसन्नं पिच्छिलं स्निग्धमोजो दशगुणं स्मृतम्॥ सत्त्वं तदाश्रयाश्चाशु संक्षोभ्य जनयेन्मदम्॥ (चरक) इस प्रकार ओजःक्षय ही मदात्यय का प्रधान हेतु है। रस, रक्त आदि सप्त धातुओं का उत्कृष्ट तेज ही ओज कहलाता है—'रसादिशुक्रान्तानां धातूनां यत्परं तेजस्तत्खल्वोजस्तदेव बलमित्युच्यते' (सुश्रुत)। शरीर की स्वाभाविक स्थिति को अक्षुण्ण बनाये रखने के लिये ओज का प्रकृत रहना अत्यन्त आवश्यक है। मद्यपान करने से शरीर के विविध अङ्गों में विकृति होकर जिन विविध रोगों की उत्पत्ति होती है उन सब में मदात्यय प्रधान है। मदात्यय के लक्षणों को देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि इसका साक्षात् सम्बन्ध वातनाड़ीसंस्थान या मस्तिष्क से है। यह ठीक है कि मदात्ययी के हृदय आदि में भी विकृति हो सकती है फिर भी उसके लक्षण वातनाड़ी संस्थान के द्वारा ही व्यक्त होते हैं अतः इस रोग को मस्तिष्कसम्बन्धी ही कहा जाता है। चरक आदि प्राचीन ग्रन्थों में भी 'चेतो नयति विक्रियाम्' इन वचनों द्वारा प्रतीत होता है कि मद्य मन या मस्तिष्क को विकृत कर देता है किन्तु वक्षोगुहावर्ति हृदय भी अत्यन्त महत्त्व रखता है तथा मद्य का बुरा प्रभाव इस पर भी पड़ता है क्योंकि इसे रस, रक्त, वात, सत्त्व, बुद्धि और ज्ञानेन्द्रिय, आत्मा तथा ओज का प्रधान स्थान माना गया है—(सवातादिमार्गाणां सत्त्वबुद्धीन्द्रियात्मनाम्। प्रधानस्यौजसश्चैव हृदयं स्थानमुच्यते॥ इस तरह दशमहामूलीय नामक अध्याय में हृदय का जो महत्त्व वर्णन किया गया है उसका प्रतिवाद नहीं किया जा सकता। यह हृदय ही रस और रक्त के द्वारा सम्पूर्ण शरीर तथा मस्तिष्क का पोषण करता है। हृदय को पर अर्थात् उत्कृष्ट ओज जो कि अष्टबिन्द्वात्मक होता है, का स्थान माना है 'ओजसोऽष्टौ बिन्दवो हृदयाश्रयाः' तथा अपर ओज जिसे अञ्जलिपरिमाणात्मक या अर्धाञ्जलि प्रमाण माना है उसका स्थान हृदयाश्रित रक्तवाहिनियाँ मानी गई हैं। अष्टबिन्द्वात्मक ओज के क्षीण या नष्ट होने से मृत्यु निश्चित होती है किन्तु अपर ओज के विकृत या नष्ट होने से मधुमेह, मदात्यय आदि रोग होते हैं। इस प्रकार यह हृदय ओज का भी स्थान है। ओज सम्पूर्ण धातुओं का उत्कृष्ट बल है जो कि हृदय के अतिरिक्त सर्व शरीर में व्याप्त रहता है। हृदयस्थ ओज के प्रकृत रहने पर सर्व शरीरगत ओज भी प्रकृत रहता है एवं सर्व धातुओं तथा अङ्गप्रत्यङ्गों का प्रीणन यथाविधि अनवरत होता रहता है। मुख द्वारा पीया हुआ मद्य आमाशय एवं क्षुद्रान्त्र से प्रचूषित हो कर रक्तवाहिनियों द्वारा यकृत् में होता हुआ हृदय में पहुँचता है और हृदय को दूषित करता है जिससे उसका स्वाभाविक उत्कृष्ट तेज क्षीण हो जाता है। यही मद्यभूयिष्ठ तथा ओजोविहीन रक्त मस्तिष्क में भी पहुँचता है। वहाँ भी अपने दस गुणों से ओज के दसों गुणों को क्षुब्ध करके मदात्यय रोग को उत्पन्न करता है। जहाँ भी हृदय को मन, बुद्धि या वातवह नाड़ियों का स्थान कहा गया है वहाँ सर्वत्र ही हृदय को पोष्य-पोषक भाव से ही आश्रयस्थान मानना चाहिए, आधाराधेय भाव से नहीं। आयुर्वेद में हृदय को चेतना का स्थान माना है—'हृदयं चेतनास्थानम्' वह सर्वथा ठीक है क्योंकि गर्भ की विकासावस्था में हृदय की उत्पत्ति एवं कार्य मस्तिष्क की उत्पत्ति के पूर्व ही प्रारम्भ हो जाते हैं किन्तु मस्तिष्क की उत्पत्ति के बाद हृदय का चेतनात्मक कार्य मस्तिष्क ही करने लगता है। चेतना का मूलस्रोत होते हुए भी हृदय केवल पोषणमात्र करता हुआ चेष्टा आदि के सम्बन्ध में बहुत कुछ स्वयं भी मस्तिष्क के नियन्त्रण में चला जाता है, जिस प्रकार एक राजा अपने प्रतिनिधि या प्रधान मन्त्री को सारा कार्यभार दे कर स्वयं भी उसके नियन्त्रण में रहता है। इसीलिये हृदय को चेतनास्थान कहते हुये भी शिर (मस्तिष्क Brain) को प्राण तथा सर्वेन्द्रियों का आश्रयस्थान माना है—'प्राणाः प्राणभृतां यत्र श्रिताः सर्वेन्द्रियाणि च। यदुत्तमाङ्गमङ्गानां शिरस्तदभिधीयते॥' अतः विकासावस्था में हृदय ही चेतना का स्थान होता है किन्तु जन्मोत्तर मस्तिष्क ही प्रधान चेतनास्थान हो जाता है। साथ ही दोनों किसी न किसी रूप में अन्योन्याश्रित भी होते हैं। इसी आधार पर स्व. कविराज गणनाथसेन जी ने भी चेतनास्थान मस्तिष्क में स्थित चतुर्थ कोष्ठ (4th ventricle) को ब्रह्महृदय और रक्तवाहिनियों का मूलस्थान हृदय (Heart) माना है। इसलिये चेतना, बुद्धि या संज्ञा आदि के साथ हृदयविकृति का जिन भी अवस्थाओं में उल्लेख है वहाँ हृदय शब्द से मस्तिष्क ही ग्रहण करना चाहिए। इस तरह जहाँ अतिपीत मद्य से ओज का नष्ट या विकृत होना एवं हृदय तथा उसमें स्थित धातुओं का विकृत होना लिखा है—'अतिपीतेन मद्येन विहितेनौजसा च यत्। हृदयं याति विकृतिं तत्रस्था ये च धातवः॥ वहाँ भी वक्षोगुहावर्ती हृदय तथा हृदयप्रवृत्त पोषण की अपेक्षा करने वाले मस्तिष्क आदि तथा उनमें रहने वाली धातुएँ विकृत हो जाती हैं। इसी आशय से चक्रपाणि ने भी लिखा है कि मन ओज या उसके आश्रयभूत हृदय का उपकार्य या पोष्य है—'सत्त्वस्य च ओज आश्रयः, ओज उपकार्यत्वात्' इस तरह मस्तिष्क की विकृति ही मद की जनयित्री है। शार्ङ्गधराचार्य ने भी स्पष्टरूप से बुद्धि या उसके आश्रयभूत मस्तिष्क की स्वाभाविक क्रिया का विनाश करने वाले तमोगुणप्रधान शराब जैसे द्रव्यों की मद्य संज्ञा दी है। वास्तव में मद्य वातनाड़ी तथा मस्तिष्क-कोषाओं पर प्रत्यक्ष विनाशकारी प्रभाव करने के साथ-साथ रक्त को दूषित करके भी मस्तिष्क को प्रभावित करता है। इसके अतिरिक्त आमाशय में शोथ उत्पन्न करके मस्तिष्क के पोषक तत्त्व जीवतिक्ति बी आदि के शोषण में रुकावट डाल कर भी मद्य यह कार्य करता है।

तदम्लं रसतः प्रोक्तं लघु रोचनदीपनम्।
केचिल्लवणवर्ज्यांस्तु रसानत्रादिशन्ति हि॥ ६॥

मद्यरसवर्णनम्—उक्त गुणों वाला मद्य अम्लरसप्रधान होता है तथा लघु, रोचक और अग्निदीपक होता है। कई आचार्यों का मत है कि लवण रस को छोड़ कर शेष पाँच रस मद्य में विद्यमान रहते हैं॥ ६॥

विमर्शः—मद्य को अम्लरसप्रधान (उत्कट) कहने से

स्वतः तात्पर्य निकलता है कि इसमें अन्य रस भी अप्रधान (गौण या गुप्त) रूप से विद्यमान रहते हैं। डल्हणाचार्य ने इसे षड्रसयुक्त माना है तथा उन षड्रसों में अम्ल को व्यक्त रस माना है तथा अन्य पञ्चरस अव्यक्तरूप से विद्यमान रहते हैं—'मद्यस्य षड्रसत्वेऽपि व्यक्तोऽम्लो रस उच्यते'। तन्त्रान्तर में मद्य में अम्लरस को प्रधान तथा मधुर, कषाय, कटु और तिक्त इन चार को अनुरस माना है—मद्यस्याम्लस्वभावस्य चत्वारोऽनुरसाः स्मृताः। मधुरश्च कषायश्च कटुकस्तिक्त एव च॥ भोज ने मदिरा के मधुर, उष्ण और तिक्त ये ३ व्यक्त रस तथा लवण, अम्ल और कषाय ये ३ सूक्ष्म रस मानकर मद्य में षड्रस होना लिखा है—मदिराया रसा व्यक्ता मधुरोष्णतिक्तकाः। लवणाम्लकषायाश्च त्रयः सूक्ष्मतराः स्मृताः॥ विपर्ययेणैतदेवं मैरेये कथिता रसाः। माध्वीके सीधुसञ्ज्ञे च व्यक्तौ चाम्लकटू रसौ॥ व्यक्ता हि शेषाश्चत्वारो रसा भोजेन कीर्तिताः।

स्निग्धैस्तदन्नैर्मांसैश्च भक्ष्यैश्च सह सेवितम्।
भवेदायुःप्रकर्षाय बलायोपचयाय च ॥ ७॥

विधिसेवितमद्यगुणाः—स्निग्ध खाद्य, मांस तथा अन्य भक्ष्य पदार्थों के साथ सेवन किया हुआ मद्य आयु, बल तथा शरीर की वृद्धि करता है॥ ७॥

काम्यता मनसस्तुष्टिर्धैर्यं तेजोऽतिविक्रमः।
विधिवत् सेव्यमाने तु मद्ये सन्निहिता गुणाः ॥ ८॥

विधिसेवितमद्यस्य गुणान्तराणि—यथाविधि सेवित मद्य शरीर का सौन्दर्य (काम्यता), मन की प्रसन्नता, धैर्य, शरीर का तेज (प्रभा) और पराक्रम की वृद्धि करता है॥ ८॥

विमर्शः—चरके युक्तिपीतमद्यगुणाः—हर्षमूर्जो मदं पुष्टिमारोग्यं पौरुषं परम्। युक्त्या पीतं करोत्याशु मद्यं मदसुखावहम्॥ रोचनं दीपनं हृद्यं स्वरवर्णप्रसादनम्। प्रीणनं बृंहणं बल्यं भयशोकश्रमापहम्॥ सभी आचार्य विधिपूर्वक मद्यसेवन का उपदेश करते हैं। विधि का अर्थ युक्ति है। युक्ति का वर्णन करते हुए चरकाचार्य ने लिखा है—अन्नपानवयोव्याधिबलकालत्रिकाणि षट्। त्रीन् दोषांस्त्रिविधं सत्त्वं ज्ञात्वा मद्यं पिबेत् सदा॥ तेषां त्रिकाणामष्टानां योजना युक्तिरुच्यते॥ अन्नपान आदि प्रत्येक के तीन भेद होते हैं। उन भेदों को ध्यान में रखते हुए मद्यपान करने से मद्यज दोष उत्पन्न नहीं होते हैं। वात, पित्त तथा कफजनक भेद से अन्नपान तीन प्रकार के होते हैं। वातकर अन्नपान सेवन करने के पश्चात् वातहर मद्य का पान करना चाहिए। इसी प्रकार पित्तकर और कफकर अन्नपान सेवन करने में भी समझना चाहिए—वातिकेभ्यो हितं मद्यं प्रायः पैष्टिकगौडिकम्। कफपित्ताधिकेभ्यस्तु मार्द्वीकं माधवञ्च यत्॥ बाल्य, यौवन और वार्धक्य भेद से आयु भी तीन प्रकार की होती है। बाल्यावस्था तथा वृद्धावस्था में अल्पमात्रा में मद्यपान करना चाहिए। युवा पुरुष मद्य की पर्याप्त मात्रा को भी सहन कर सकता है। वातादिभेद तथा मृदु, मध्य और तीव्र भेद से व्याधि भी तीन प्रकार की होती है। इसी प्रकार मद्य के भी प्रवर, मध्य तथा अवर तीन भेद होते हैं। इनकी यथायोग्य योजना कर लेनी चाहिए। उत्तम, मध्यम तथा निकृष्ट भेद से बल के भी तीन भेद होते हैं। उत्तम बल वाला मनुष्य उत्तम मात्रा में प्रवर मद्य ले सकता है। इसी प्रकार मध्य बल वाला मनुष्य मध्यम तथा निकृष्ट बल वाला व्यक्ति अवर मद्य का पान कर सकता है। नित्यग तथा आवस्थिक भेद से काल दो प्रकार का होता है। नित्यग काल शीत, उष्ण तथा वर्षा भेद से तीन प्रकार का होता है। हेमन्त में अतिरूक्ष मद्य का पान न करना चाहिए। उष्णकाल में अल्प तथा बहुजलमिश्रित मद्य का पान करें। वर्षाकाल में स्निग्ध एवं दीपन गुणयुक्त मद्य का पान करना चाहिए। आवस्थिक काल व्याधि के अन्तर्गत आ जाता है अतः पृथक् वर्णन करने की आवश्यकता नहीं। वात, पित्त तथा कफ भेद से दोष भी तीन हैं अतः प्रकृति के विरुद्ध मद्यों का पान करना चाहिए। सत्त्व (मन) भी सात्त्विक, राजस तथा तामस भेद से तीन प्रकार का होता है। सात्त्विक या शुद्ध मन वाला व्यक्ति अधिक मद्य को भी सहन कर सकता है। राजस तथा तामस उससे कम सहन करते हैं। इस प्रकार इन आठों का त्रिविध विचार करके मद्यपान करना चाहिए। इसी को शास्त्र में मद्यपान की विधि या युक्ति कहा गया है। मद्य की मात्रा का विचार भी एक अपना महत्त्व रखता है। शास्त्र में प्रातःकाल २ पल, मध्याह्न में ४ पल और प्रदोष (रात्रि-प्रारम्भ) के समय में ८ पल मद्यमात्रा उचित मानी गई है—शुद्धकायः पिबेत्प्रातः सोपदंशं पलद्वयम्। मध्याह्ने द्विगुणं तच्च स्निग्धाहारेण पाययेत्॥ प्रदोषेऽष्टपलं तद्वन्मात्रा मद्यरसायने॥ किन्तु यह मात्रा अभ्यास करने पर ही सह्य हो सकती है अन्यथा किसी को रात्रि के समय ८ पल मद्य पिला दिया जाय तो वह व्यक्ति मद्यज प्रपञ्चों को करने में उद्यत हो सकता है। वस्तुतस्तु भोजनोपरान्त ४ तोला या २ तोले प्रमाण में लिया हुआ मद्य लाभकारी होता है। In moderate strengths and taken with food or after food it tends to promote digestion by direct stimulation of the fundus of the stomach causing an abundant secretion of gastic juce. प्राचीनकाल में तान्त्रिक लोग मांस, मद्य और मनोरमा (स्त्री) को साथ रख कर मद्यपान की उत्तम विधि मानते थे—वामे रामा रमणकुशला दक्षिणे पानपात्रं चाग्रे धृत्वा मरिचलवणे शूल्यगर्भं भृष्टमांसम्। वीणानादैः परभृतकृतैः काकलीगीतयुक्तैः सोऽयं धन्यः पिबति मदिरां भैरवो यस्य तुष्टः॥ मद्य को स्वभावतः अन्न के समान माना गया है। विधिपूर्वक सेवन करने पर मद्य अमृत के समान गुणकारी होता है। इसके विपरीत मनमाने तौर पर सेवन करने से वही रोगों को उत्पन्न करता है—किन्तु मद्यं स्वभावेन यथैवान्नं तथा स्मृतम्। अयुक्तियुक्तं रोगाय युक्तियुक्तं यथाऽमृतम्॥ (चरक० चि० अ० १२) जिस प्रकार अन्न प्राणियों का प्राण है किन्तु विधि-विपरीत सेवन करने पर वही प्राणों को नष्ट कर सकता है। इसी प्रकार विष का स्वाभाविक गुण प्राणनाश करना है किन्तु युक्तिपूर्वक सेवन करने पर वह भी रसायन के समान गुणकारी होता है—प्राणाः प्राणभृतामन्नं तदयुक्त्या हिनस्त्यसून्। विषं प्राणहरं तच्च युक्तियुक्तं रसायनम्॥ (च. चि. अ. १२) अन् प्राणने धातु से 'प्राणयति जीवयति यत्तदन्नम्' इस विग्रह से अन्न शब्द सिद्ध होता है। आधुनिक विज्ञान ने जीवनोपयोगी खाद्यपदार्थों में कार्बोहाइड्रेट, प्रोटीन, फैट (वसा), विटामीन और खनिजों के अतिरिक्त मद्य (Alcohol) की भी उपस्थिति आवश्यक मानी है। यह सिद्धान्त प्राचीनकाल

से ही प्रचलित है। आधुनिक वैज्ञानिक भी इस बात को मानते हैं। मैटेरिया मेडिका के लेखक घोष ने (Food value of alcohol) नामक लेख में इसका महत्त्व माना है। पिये हुए मद्य का ९० प्रतिशत भाग रासायनिक शक्ति के द्वारा मुक्त होकर जल एवं कार्बन डायाक्साईड के रूप में परिवर्तित हो जाता है तथा वसा और कार्बोहाइड्रेट के कार्य (शरीर को उष्ण रखने एवं शक्ति प्रदान करने के कार्य) को करता है। मद्य को Non nitrogenous food माना है। मद्य का पाचन और शोषण भी अन्य भोज्य पदार्थों की अपेक्षा अधिक शक्ति के बिना भी अतिशीघ्र हो जाता है। इस दृष्टि से यह कार्बोहाइड्रेट तथा वसा की अपेक्षा श्रेष्ठतर है। भोजन और मद्य दोनों ही युक्तिपूर्वक सेवन करने पर लाभदायी तथा युक्ति-विरुद्ध सेवन करने पर हानिकारक होते हैं। चरकाचार्य ने भोजन की युक्तियुक्तता निम्नरूप से लिखी है—'उष्णं स्निग्धं मात्रावज्जीर्णे वीर्याविरुद्धमिष्टे देशे, इष्टसर्वोपकरणं नातिद्रुतं नातिविलम्बितमजल्पन्नहसंस्तन्मना भुञ्जीतमात्मानमभिसमीक्ष्य सम्यक्।' (च० वि०) इसी प्रकार युक्तिपूर्वक मद्यपान का वर्णन भी ऊपर हो चुका है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि आयु, बल, पुष्टि, तुष्टि तथा पराक्रम आदि सभी गुण उत्तम पाचन-शक्ति पर ही निर्भर करते हैं तथा उत्तम पाचन युक्तियुक्त मद्यपान पर निर्भर है, जैसा कि घोष का कथन भी ऊपर लिखा जा चुका है—साधारणतया विष को प्राणघाती माना गया है किन्तु उसका ही विधिवत् शोधन करके मात्रापूर्वक सेवन किया जाय तो वह निम्न रसायन गुणों का जनक होता है—'रसायनञ्च तज्ज्ञेयं यज्जराव्याधिनाशनम्। वाक्सिद्धिं प्रणतिं कान्तिं लभते ना रसायनात्। लाभोपायो हि शस्तानां रसादीनां रसायनम्॥' श्लोक नं० ८ में 'काम्यता मनसस्तुष्टिः' आदि इसके सेवन से उत्पन्न होना लिखा है वहाँ काम्यता का अर्थ कमनीयमूर्तिता या सौन्दर्य है। मद्य आग्नेयगुणभूयिष्ठ होने के कारण अन्तःस्थित ऊष्मा को बढ़ा कर उसका त्वचा के द्वारा विकिरण करता है। ताप की सत्ता बिना रक्ताधिक्य के नहीं हो सकती अतः अर्थापत्त्या त्वचा में रक्ताधिक्य का अनुमान सहज ही में हो जाता है। रक्ताधिक्य भी परिसरीय केशिकाओं के विस्फार (Dilatation of the peripheral vessels) का ही परिणाम है। इस प्रकार मद्यपानजनित ऊष्मा से धमनीविस्फार के कारण रक्ताधिक्य होने पर त्वचा में सौन्दर्य की निदर्शक अद्भुत लालिमा हो जाती है। इसकी विशेष प्रतीति मुखमण्डल की त्वचा में होती है। रक्तवाहिनियों का विस्फार कराने के कारण ही मद्य को सार्वदैहिक उत्तेजक (General stimulant) कहा जाता है। इसका वर्णन घोष ने अपने मैटेरिया मेडिका में निम्नरूप से किया है—Since it causes dilation of vessels specially of the skin and increases the functional activity of differant organs, alcohol is regarded as a general stimulant. सार्वदैहिक उत्तेजक होने के कारण ही मद्य से पराक्रम की शक्ति बढ़ती है। शरीर में शक्ति तथा उत्तेजना होने पर ही तेज तथा कार्य करने में उत्साह की वृद्धि होती है। इस तरह मद्य के उक्त गुणानुवादों से प्रत्येक व्यक्ति यह सोच सकता है कि प्रतिदिन अल्पमात्रा में मद्यपान करना लाभप्रद है किन्तु यथार्थता यह है कि अल्पमात्रा में भी प्रतिदिन मद्य का सेवन हानिप्रद ही होता है। इसके प्रतिदिन सेवन करने से शरीर के आन्तरिक अङ्गों में स्थायी विकृतियाँ उत्पन्न हो जाती हैं। यह सत्य है कि मद्य बुद्धि, स्मृति, तुष्टि तथा स्फूर्ति को उत्पन्न करने वाला है किन्तु सेवित मद्य का शरीर से त्याग अतिशीघ्र हो जाता है, उसका सञ्चय नहीं होता, अतएव इसके द्वारा उत्पन्न होने वाले सभी गुण क्षणिक होते हैं। इस अद्भुत उत्तेजना के पश्चात् शरीर में गौरव की उत्पत्ति होती है जिसके परिणामस्वरूप मनुष्य की कार्य करने में रुचि नहीं रहती। मानसिक एवं शारीरिक अवसाद का अनुभव होने लगता है। इस प्रकार यदि मद्यपी द्वारा किये हुये कार्य की पूर्णमात्रा को देखा जाय तो वह अपेक्षाकृत कम ही रहती है। किन्तु मद्यपी का यही विश्वास होता है कि मैंने बहुत कार्य कर डाला। शारीरिक एवं मानसिक अवसाद को दूर करके लिये उत्तेजना के मूल मद्य के पुनः-पुनः पान करने की इच्छा होती है। मद्य का व्यसन होने का यही रहस्य है। इसके अतिरिक्त मद्यपान के विरोध में सबसे बड़ा हेतु एक और भी है। शरीर के प्रत्येक अङ्ग की शक्ति परम तेज या ओज की मात्रा निश्चित है। साधारण अवस्था में वह अपना कार्य नियमित विधि से करती रहती है। मद्य उस निश्चित शक्ति को स्वाभाविक से अधिक उत्तेजित कर देता है जिससे उसका कार्य पूर्वापेक्षया अधिक वेग से होने लगता है। इस प्रकार मद्य स्वयं शक्ति प्रदान न करके अङ्गों की सुरक्षित शक्ति को काम में ला कर उसका ह्रास कर देता है। इसका फल यह होता है कि मद्य की जो निश्चित मात्रा जिस निश्चित शक्ति को उत्पन्न करने के लिये पहिले समर्थ थी उतनी मात्रा कालान्तर में भी उतनी शक्ति को उत्पन्न नहीं कर सकती प्रत्युत उतनी ही शक्ति प्राप्त करने के लिये पूर्व से अधिक मात्रा का सेवन करना अनिवार्य हो जाता है। इस प्रकार मद्य की मात्रा के वर्धन तथा पुनः-पुनः शक्ति प्राप्त करने का क्रमिक चक्र अनवरत चलता रहता है। अल्पमात्रा में मद्यपान करने वाले प्रचुर मात्रा के बलात् अभ्यासी हो जाते हैं। अन्त में शरीर के अङ्गों का ह्रास भी होने लगता है। शीतकाल में उष्णता प्राप्त करने के लिये भी कुछ व्यक्ति मद्यपान की सलाह देते हैं किन्तु वास्तव में परिणामस्वरूप यह उष्णतानाशन का प्रयत्न है ऐसा कहें तो उपयुक्त होगा क्योंकि साधारण अवस्था में शीत के कारण परिसरीय केशिकाएँ सङ्कुचित होकर आन्तरिक उष्णता की रक्षा करती हैं। मद्यपान करने से ये विस्फारित होकर त्वचा द्वारा आन्तरिक ताप का निर्हरण करने लगती हैं। तापनिर्हरण काल में त्वचा में उष्णता के कारण शीत का अनुभव कम हो जाता है किन्तु अन्य गुणों के समान शीतापनयन भी कृत्रिम व अल्पकाल तक ही स्थिर रहता है। मद्य की क्षणिक उत्तेजना से शरीरगत ताप का बहुत कुछ अंश इस शीतापनयन के व्याज से समाप्त हो जाता है जिससे मद्य का प्रभाव हटने पर पहले से भी अधिक शीत का अनुभव होने लगता है। यकृद्विकार—यकृत् का कार्य विषनाशन (Detoxication) है। नित्य मद्यपान करने से यकृत् में विकृति उत्पन्न हो जाती है जिससे वह अपना प्रमुख कार्य करना भी बन्द कर देता है जैसा कि घोष ने

भी लिखा है—After absorption alcohol passes directly to the liver through the portal circulation, where it effects the hepatic cells producing inflamations. It may disappear in a few days if no more alcohol is taken, but if long continued it produces permanant changes in the liver leading to cirrhosis or fatty degeneration or both. यकृत् की विकृति के कारण ही मद्यपान करने वालों को अन्य औषधियाँ तथा औषधरूप में प्रयुक्त स्वयं मद्य भी रोगों में लाभप्रद नहीं होता। शास्त्र में जो मद्य के 'बुद्धिस्मृतिप्रीतिकरः सुखश्च' गुण वर्णित हैं वे मद्य के स्वाभाविक गुण हैं तथा शरीर पर होने वाला उसका सद्यःप्रभाव है किन्तु अन्य भोज्य पदार्थों के समान वह अन्तिमरूप में शरीर के लिये लाभप्रद सिद्ध नहीं होता। मद्य को भोजन के समान कहने का तात्पर्य सर्वांश में नहीं। जिस प्रकार भोजनरूप औषध रोगरूप क्षुधा का नाश करता है उसी प्रकार मद्य भी परिस्थितिविशेष (कफ तथा मेदोवृद्धि स्रोतोनिरोध) में एवं कालविशेष (शीत तथा वसन्त ऋतु) में लाभप्रद होता है, प्रतिदिन पान करने पर नहीं। भोजन भी अजीर्णावस्था में विष माना गया है—'अजीर्णे भोजनं विषम्'। मद्य का सांस्थानिक प्रभाव- मद्यपान करने से शरीर की कुछ धातुओं में शोथात्मक (Inflamatory), विनाशात्मक (Degenerative) या उपायात्मक विकृतियाँ होती हैं। यह विकृति साधारणतया प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्षरूप में प्रत्येक धातु में हो सकती है किन्तु फिर भी विकृति के प्रधान केन्द्र वातनाडीसंस्थान, हृदय, रक्तवाहिनी, आमाशय, यकृत् तथा वृक्क ही हैं। इनकी विकृति का परिणाम परम्परया अन्यान्य अङ्गों पर भी होता है जिनका वर्णन आगे इसी प्रकरण में श्लोक नं० १४ के विमर्श में दिया है। वातनाडी संस्थान के अतिरिक्त अन्य संस्थानों की विकृति के लक्षण चिरकालपर्यन्त मद्यपान के अनन्तर प्रकट होते हैं किन्तु वातनाडीसंस्थान पर मद्य का सद्यःप्रभाव होने से उसके लक्षण प्रथम बार मद्यपान करने में ही व्यक्त हो जाते हैं जो कि मद की प्रथम अवस्था 'बुद्धिस्मृतिप्रीतिकरः सुखश्च' के रूप में वर्णित हैं।

तदेवानन्नमज्ञेन सेव्यमानममात्रया ।
कायाग्निना ह्यग्निसमं समेत्य कुरुते मदम् ॥ ९ ॥

अविधिसेवितमद्यदोषाः—वही मद्य बिना अन्न के तथा अधिक मात्रा में अज्ञ व्यक्ति के द्वारा सेवित किया जाने पर अग्नि के समान उष्ण गुण वाला होने से देह की पाचकाग्नि (जाठराग्नि) के साथ मिल कर मद (नशा) उत्पन्न करता है॥

विमर्शः—चरकाचार्य ने भी विधिविपरीत तथा अति मात्रा में मद्य के सेवन करने के दोष लिखे हैं—'अहितस्याति मात्रस्य पीतस्य विधिवर्जितम्' इत्यादि। अति मद्य-पान का प्रभाव विशेष कर हृदय पर होता है—अतिपीतेन मद्येन विहृ-तेनौजसा च तत्। हृदयं याति विकृतिं तत्रस्था ये च धातवः॥

मदेन करणानान्तु भावान्यत्वे कृते सति।
निगूढमपि भावं स्वम्प्रकाशीकुरुतेऽवशः ॥ १० ॥

मदवशो गूढं प्रकाशयति—अतिमद्यपान करने से मद के वश में हुआ पुरुष मन और बुद्धीन्द्रियों के प्राकृतिक भावों (कार्यों) के बदल जाने पर छिपे हुए भी अपने आत्मकृत अभिप्रायों को स्वयं प्रकाशित करने लग जाता है। अर्थात् मद के कारण इन्द्रियाँ स्ववश में नहीं रहतीं जिससे वह व्यक्ति अपनी गोपनीय बातों को भी अज्ञान से व्यक्त कर देता है॥ १०॥

त्र्यवस्थश्च मदो ज्ञेयः पूर्वो मध्योऽथ पश्चिमः ।
पूर्वे वीर्यरतिप्रीतिहर्षभाष्यादिवर्द्धनम् ॥ ११ ॥
प्रलापो मध्यमे मोहो युक्तायुक्तक्रियास्तथा ।
विसंज्ञः पश्चिमे शेते नष्टकर्मक्रियागुणः ॥ १२ ॥

मदस्य तिस्रः अवस्थाः—पूर्वावस्था, मध्यमावस्था और पश्चिमावस्था ऐसे मद्य की तीन अवस्थाएँ मानी गई हैं। प्रथमावस्थालक्षण—मद्य की पूर्व या प्रथमावस्था में शरीर में वीर्य (बल) का या उत्साह का अनुभव होता है, रति (हर्ष) होने लगता है, सर्वकार्यों में प्रीति या शरीर में प्रीति (तृप्ति) अनुभूत होती है। किंवा रतिप्रीति (सम्भोग में प्रवृत्ति) होने लगती है, शरीर तथा इन्द्रियों में हर्ष (तुष्टि) का उदय होता है तथा किसी के साथ या स्वयं ही अधिक भाषण करने लगता है। मध्यमावस्थालक्षण—मद्य की मध्यमावस्था में व्यक्ति प्रलाप करने (बकने) लगता है, कभी मोहयुक्त (मूर्च्छित) हो जाता है, कभी शारीरिक क्रियाओं (श्रवण-भाषणादि) में युक्तता (उचितता) रखता है तथा कभी नेष्ट क्रियाएँ करने लगता है। पश्चिमावस्थालक्षण—मद्य की पश्चिमा (अन्तिमा) अवस्था में व्यक्ति की शारीरिक तथा मानसिक क्रियाएँ एवं क्रियागुण (क्रियाफल) नष्ट हो जाते हैं। अर्थात् वह स्वयं किसी प्रकार की चेष्टा नहीं करता तथा यदि कोई अन्य व्यक्ति उससे चेष्टा करावे तो उस क्रिया का गुण (परिणाम या फल) भी कुछ नहीं होता तथा वह व्यक्ति सञ्ज्ञा से रहित होकर पृथिवी पर सो जाता है॥ ११-१२॥

विमर्शः—कुछ तन्त्रकारों ने इन तीनों मद की अवस्थाओं का निम्न सुन्दर वर्णन किया है—प्रथममदावस्था-बुद्धिस्मृतिप्रीतिकरः सुखश्च पानान्ननिद्रारतिवर्धनश्च। सम्पाठगीत-स्वरवर्धनश्च प्रोक्तोऽतिरम्यः प्रथमो मदो हि॥ व्याख्या—बुद्धिरनुभवः स्मृतिरनुभूतार्थानुसन्धानम्, पानान्ननिद्रारतिवर्धनश्चेति पानादिषु रतिरनुरागस्तद्वर्धनः। सम्पाठः सम्यक्पाठः, गीतं गानं, स्वरो ध्वनिः। अल्पमात्रा में सेवित मद्य श्लोकोक्त गुणों को उत्पन्न करता है। यद्यपि मद्य के सेवन करने से मानसिक विकार उत्पन्न होते हैं किन्तु वे मानसिक विकार ही तात्कालिक दुःखों को नष्ट करते हैं इसलिये प्रथम मदावस्था अतिरम्य मानी गई है। मधुकोषकार ने बुद्धि का अर्थ अनुभव किया है किन्तु न्यायदर्शनकार बुद्धि से उपलब्धि या ज्ञान ग्रहण करते हैं—'बुद्धिरुपलब्धिर्ज्ञानमित्यनर्थान्तरम्'। प्रकृत में ज्ञान के केन्द्र बुद्धि के साथ-साथ ज्ञान के साधनभूत ज्ञानेन्द्रियों का भी ग्रहण कर लेना चाहिए। अल्पमात्रा में मद्यपान करने से सार्वदैहिक उत्तेजना के फलस्वरूप प्रत्येक ज्ञानेन्द्रिय तथा उसका मस्तिष्कगत केन्द्र उत्तेजित होकर अधिक कार्य करने लगता है जिससे प्रत्येक वस्तु का ज्ञान

मध्यक्त एवं शीघ्रता से होता है। स्मृतिः—'स्मृतिर्भूतार्थविज्ञानम्' पूर्व में दृष्ट, श्रुत या अनुभूत किये हुये विषय का पुनः स्मरण करना स्मृति कहलाता है जैसा कि अन्यत्र भी कहा है—'अनुभूतार्थानुसन्धानं स्मृतिः' इसके अतिरिक्त अनुभूत विषय का ज्ञान नष्ट न होना यह भी योगदर्शन के अनुसार स्मृति का लक्षण है—'अनुभूतविषया सम्प्रमोषः स्मृतिः'। मस्तिष्कगत स्मृतिकेन्द्र की अधिक क्रियाशीलता के कारण ही स्मृति भी निर्मल एवं उत्तम हो जाती है। सुख और दुःख मन के स्वाभाविक गुण हैं। वस्तुतः मद्यपान करने से मानसिक अवसाद के कारण दुःख का अनुभव कम होने से मद्यपी सुख का अनुभव करता है। पानान्नेत्यादि—मद्य अग्निगुणभूयिष्ठ होने से अल्पमात्रा में सेवन करने पर स्वजातीय जाठराग्नि की वृद्धि करके ग्रहण किये हुए अन्नपान का अतिशीघ्र पाचन कर देता है जिससे क्षुधा और तृषा उचित लगती हैं। मद्य तमोगुणप्रधान होने से अधिक निद्राकारी माना गया है। अग्निगुणप्रधानता के कारण मद्य कफ का विनाश करता है। इस तरह स्वर को भारी करने वाले कफ के विनष्ट हो जाने से कण्ठ स्वच्छ हो जाता है, जिससे उसकी स्वरशक्ति बढ़ जाती है। यह प्रथम मदावस्था उत्तेजनावस्था या ताजगी की अवस्था (Stimulation or refreshing stage) कहलाती है। घोष के द्वारा वर्णित प्रथम मदावस्था (First stage of Alcoholism) माधव के समान मिलती है—In small doses (about one ounce) it produces a feeling of mental and physical well being. This is the first stase of intoxication. Imagination becomes brighter, fee ing elevated, intellect clearer (Highiest function of the brain), senses more acute bodily activity more predominant and some of the appitites sharpened. अल्पमात्रा में मद्यपान करने से शारीरिक एवं मानसिक आनन्द का अनुभव होता है। यह मद की प्रथमावस्था है। कल्पना तथा अनुभव की शक्ति बढ़ जाती है एवं मेधाशक्ति पूर्वापेक्षया स्वच्छतर हो जाती है। ज्ञानेन्द्रियाँ भी अपना कार्य अधिक शक्ति से करने लगती हैं। मन्दाग्नि नष्ट होकर क्षुधा बढ़ जाती है। द्वितीयमदमाह—अव्यक्तबुद्धिस्मृतिवाग्विचेष्टः सोन्मत्तलीलाकृतिरप्रशान्तः। आलस्यनिद्राभिहतो मुहुश्च मध्येन मत्तः पुरुषो मदेन॥ विचेष्टो विरुद्धचेष्टः। उन्मत्तस्य लीलाकृतिभ्यां सह वर्तत इति सोन्मत्तलीलाकृतिः, उन्मत्तप्राय इत्यर्थः। अप्रशान्तः प्रचण्डः। मध्यमद या नशे की दूसरी अवस्था से पीड़ित रोगी की बुद्धि, स्मृति, वाणी तथा अन्य चेष्टाएँ अस्त-व्यस्त होने लगती हैं। उसकी हरकत तथा आकृति पागल व्यक्ति के समान हो जाती है। रोगी अशान्त रहता है एवं आलस्य तथा निद्रा का शिकार बना रहता है। द्वितीय मद को घबराहट या व्याकुलता की अवस्था (Stage of excitement) कहते हैं। इसमें विवेक धीरे-धीरे नष्ट होने लगता है। चरक तथा वाग्भट का द्वितीय या मध्यमद का वर्णन इसके समान ही है—मुहुः स्मृतिर्मुहुर्मोहोऽव्यक्ता सज्जति वाङ्मुहुः। युक्तायुक्तप्रलापश्च प्रचलायनमेव च॥ स्थानपानान्नसंकथ्ययोजना सविपर्यया। लिङ्गान्येतानि जानीयादाविष्टे मध्यमे मदे॥ (च० चि० अ० २४) द्वितीये तु प्रमादायतने स्थितः। दुर्विकल्पहतो मूढः सुखमित्यधिमुच्यते॥ (वाग्भ० नि० अ० ६) तृतीयमदावस्था—गच्छेदगम्यांश्च गुरूंश्च मन्येत् खादेदभक्ष्याणि च नष्टसंज्ञः। ब्रूयाच्च गुह्यानि हृदि स्थितानि मदे तृतीये पुरुषोऽस्वतन्त्रः॥ मद की तृतीय अवस्था में रोगी वस्तुतः पागल हो जाता है जिससे रोगी अगम्य (अकरणीय) कार्यों को करता है, गुरुजनों का मान नहीं करता है तथा अभक्ष्य पदार्थों का सेवन करता है तथा उसकी ज्ञान-शक्ति नष्ट हो जाने से वह पुरुष मद के अधीन होकर हृदयस्थ गोपनीय बातों को भी प्रकट करने लग जाता है। चरक एवं वाग्भट ने द्वितीय तथा तृतीय मद के बीच में मदान्तर का पाठ किया है—मध्यमं मदमुत्क्रम्य मदमप्राप्य चोत्तमम्। न किञ्चिन्नाशुभं कुर्युर्नरा राजसतामसाः॥ (चरक) मध्यमोत्तमयोः सन्धिं प्राप्य राजसतामसाः। निरङ्कुश इव व्यालो न किञ्चिन्नाचरेज्जडः॥ (वाग्भट) किन्तु माधव ने इस भेद का निरूपण नहीं किया है, क्योंकि द्वितीय मद के अन्त में तथा तृतीय के प्रारम्भ में होने वाली स्थिति तृतीयावस्था ही होती है। अतः मदान्तर का पृथक् पाठ करने की आवश्यकता नहीं। इसके अतिरिक्त चरक और वाग्भट में जिस मदान्तर का पाठ मिलता है लक्षणसाम्य की दृष्टि से सुश्रुत ने उसी को तृतीय-मद संज्ञा दी है। तृतीयावस्था में नियन्त्रणशक्ति (Governing power) का नाश हो जाता है। अत एव रोगी न चाहते हुये भी अनेक निन्दनीय कार्यों को करने के लिये प्रवृत्त हो जाता है। श्रीघोष ने इन लक्षणों को Second stage के लक्षणों के रूप में वर्णित किया है—If the dose is increased, The second stage of intoxication is observed while a novice looses self control. If indulgence is continued further, symptoms of acute alcohol poisoning appear, so that the mental balance is lost, the subject talks, laughs, sings or cries without restraint, but gradually he looses control over those functions also. चतुर्थमदमाह—चतुर्थे तु मदे मूढो भग्नदार्विव निष्क्रियः। कार्याकार्यविभागज्ञो मृतादप्यपरो मृतः॥ को मदं तादृशं गच्छेदुन्मादमिव चापरम्। बहुदोषमिवामूढः कान्तारं स्ववशः कृती॥ मद की चतुर्थावस्था में रोगी टूटे हुए काष्ठ के समान निष्क्रिय होकर भूमि पर गिर पड़ता है, उसे अपने कर्तव्य या अकर्तव्य का भी ज्ञान नहीं रहता है एवं वह मुर्दे के समान हो जाता है। कौन बुद्धिमान् और कुशल व्यक्ति पागल बना देने वाले इस भयानक दुःखदायी मद को प्राप्त करने की इच्छा कर सकता है? ऐसा कौन व्यक्ति है जो सिंह आदि से व्याप्त वन में व्यर्थ ही प्रस्थान करेगा? चरकाचार्य, वाग्भटाचार्य और विदेह ने मद की तीन ही अवस्थायें मानी हैं। माधवकार ने जो यह चतुर्थ मद की अवस्था लिखी है वह लक्षणसाम्य के कारण उनकी तृतीय मदावस्था में ही समाविष्ट हो जाता है—चरकोक्ततृतीयमदावस्था—तृतीयन्तु मदं प्राप्य भग्नदार्विव निष्क्रियः। मदमोहावृतमना जीवन्नपि मृतैः समः॥ रमणीयान् स विषयान्न वेत्ति न सुहृज्जनम्। यदर्थं पीयते मद्यं रतिं तां च न विन्दति॥ कार्याकार्यं सुखं दुःखं लोके यच्च हिताहितम्। मदावस्थो न जानाति कोऽवस्थां तां व्रजेद् बुधः॥ (च० चि० अ० २४) निश्चेष्टः शववच्छेते तृतीये तु मदे स्थितः। मरणादपि पापात्मा गतः पापतरां दशाम्॥ (वा० नि० अ० ६) वास्तव में मद के तीन ही भेद होने चाहिए, क्योंकि मद्य अग्निगुणप्रधान होता

है। अग्नि जिस तरह सुवर्ण की उत्तम, मध्यम और अधम अवस्था की द्योतक होती है उसी प्रकार मद्य भी मद्यप की सात्त्विक, राजस तथा तामस प्रकृति का द्योतन कराता है जैसा कि चरक में भी लिखा है—प्रधानाधममध्यानां रुक्माणां व्यक्तिदर्शकः। यथाग्निरेवं सत्त्वानां मद्यं प्रकृतिदर्शकम् ॥ (च० चि० अ० २४) तस्मात्प्रथमद्वितीयतृतीयमदाः सत्त्वरजस्तमोभूयिष्ठानां क्रमेण भवन्तीत्यर्थः। आधुनिक विद्वान् भी मद की तीन ही अवस्थाएँ मानते हैं—But if the dose is very large there is complete insensibility, narcosis, muscular relaxation with involuntary passage of wine and stool and subnormal temperature. The breathing becomes stertorous with cyanosis. Finally the patient dies from respiratory paralysis. ये लक्षण माधवोक्त चतुर्थ अवस्था तथा चरकादिसम्मत तृतीय अवस्था से मिलते हैं। वास्तव में यह मद्यपानजन्य संन्यास (Coma) की अवस्था है।

श्लैष्मिकानल्पपित्तांश्च स्निग्धान् मात्रोपसेविनः।
पानं न बाधतेऽत्यर्थं विपरीतांस्तु बाधते ॥ १३ ॥

मद्येन हिताहितत्वं यथा—कफ की अधिकता या कफ प्रकृति वाले, अल्प पित्तवाले, स्निग्ध शरीर तथा मात्रापूर्वक मद्यपान करने वालों को मद्य अधिक बाधा नहीं पहुँचाता है। किन्तु इनसे विपरीत अर्थात् अल्प कफ वाले, पित्ताधिक्ययुक्त, रूक्ष तथा अमात्रापूर्वक मद्यपान सेवन करने वालों को मद्य पीड़ा पहुँचाता है ॥ १३ ॥

निर्भक्तमेकान्तत एव मद्यं
निषेव्यमाणं मनुजेन नित्यम्।
उत्पादयेत् कष्टतमान्विकारा-
नापादयेच्चापि शरीरभेदम् ॥ १४ ॥

अविधिपीतमद्यविकारित्वम्—भोजन के बिना अर्थात् खाली पेट अकेले एवं निरन्तर (सदा) मद्यपान करने से मदात्यय आदि कष्टदायक अनेक रोग उत्पन्न होते हैं तथा अन्त में शरीर का नाश भी हो जाता है ॥ १४ ॥

विमर्शः—पूर्व में मद्यपानविधिवर्णन के समय लिख चुके हैं कि मद्य के साथ या प्रथम स्निग्ध अन्न या मांस का सेवन करना चाहिए। इससे मद्य की उग्रता का शारीरिक अङ्गों पर दुष्प्रभाव नहीं होने पाता है क्योंकि मद्य उन खाद्यों को विलयित तथा पाचित करने में अपनी उग्रता खर्च कर देता है। किन्तु ऐसा न करने से मद्य की उग्रता का दुष्प्रभाव शरीर के विविधाङ्गों पर होता है, जैसे वातसंस्थान, आमाशय, पच्यमानाशय (ग्रहणी), यकृत्, रक्तवहसंस्थान, त्वचा, वृक्क एवं श्वसनसंस्थान पर विशेष दुष्प्रभाव होता है। आमाशय पर प्रभाव—विधिविपरीत या अधिक मात्रा में मद्यपान करने से आमाशयिक कला में क्षोभ तथा शोथ होने से पाचन का कार्य भली-भाँति नहीं होता तथा रोगी को निरन्तर भोजन में अरुचि रहती है, जैसा कि घोष ने भी निम्न वर्णन किया है—But in large and repeated doses or inconcentrated solutions it irritates the mucus membrane and retards the secration of gastic juce. If this process is continued over long periods as in chronic alcoholics gastric follicles atrophy and dyspepsia becomes permanent. इस प्रकार आमाशय की इस स्थायी विकृति के कारण स्वाभाविक पोषक तत्व Vitamin B. का शोषण नहीं होने से मस्तिष्क को विटामीन बी के न मिलने से वात नाड़ी दौर्बल्य के लक्षण प्रकट होने लगते हैं। इसी प्रकार Vitamin A. का भी शोषण न होने से नेत्राभिष्यन्द (Conjunctivitis) की उपस्थिति के कारण रोगी की आँखें सदा लाल रहती हैं। यकृत् की कोषाओं में शोथ होने से उसका निर्विषीकरण (Detoxication) सम्बन्धी मुख्य कार्य अवरुद्ध हो जाता है। इसके अतिरिक्त यकृत् कोषाओं में शोथ के अनन्तर सौत्रिक परिवर्तन या मद्यपान जन्य यकृद्दाल्युदर के कारण अर्श, कामला, जलोदर आदि रोग भी हो सकते हैं। रक्तवह संस्थान—साधारण मात्रा में मद्य ग्रहण करने से हृदय की क्रियाशीलता बढ़ जाती है। रक्तदाब (B. P.) तथा नाड़ी की गति भी बढ़ी रहती है। त्वचागत रक्तवाहिनियों के विस्फार के कारण तापक्रम भी बढ़ा हुआ मालूम होता है। किन्तु अधिक मात्रा में मद्य सेवन करने पर उसका हृदय पर उत्तेजनात्मक प्रभाव न होकर अवसादक (Depressive) प्रभाव ही होता है। त्वचा तथा वृक्क—मद्य परिसरीय केशिकाओं का विस्फार तथा स्वेदग्रन्थियों पर प्रभाव डाल कर स्वेद की उत्पत्ति करता है। शीतकाल में वृक्क अधिक क्रियाशील रहते हैं। अतः उस समय त्वचा के द्वारा स्वेदोत्पत्ति नहीं होती। अत्यधिक मात्रा में मद्य सेवन करने से शारीरिक प्रोटीन मूत्र द्वारा अपरिवर्तित अवस्था में ही उत्सृष्ट होने लगते हैं। इस प्रकार अधिक दिन तक मद्यपान करने से वृक्क की कोषाओं में परिवर्तन होकर पुराण वृक्क-शोथ (Chronic nephritis) उत्पन्न हो जाता है। श्वसन संस्थान—मद्य का अधिक मात्रा में सेवन करने पर प्रत्यावर्तन क्रिया द्वारा श्वसन केन्द्र उत्तेजित होकर ऊर्ध्व श्वास (Stertorous breathing) को उत्पन्न करता है। अन्त में श्वासावरोध (Asphyxia) से मृत्यु हो जाती है।

क्रुद्धेन भीतेन पिपासितेन
शोकाभितप्तेन बुभुक्षितेन।
व्यायामभाराध्वपरिक्षतेन
वेगावरोधाभिहतेन चापि ॥ १५ ॥
अत्यम्लभक्ष्यावततोदरेण
साजीर्णभुक्तेन तथाबलेन।
उष्णाभितप्तेन च सेव्यमानं
करोति मद्यं विविधान्विकारान् ॥ १६ ॥

क्रुद्धभीतादिपीतमद्यविकाराः—क्रोध, भय, तृषा, शोक से व्याकुल और भूख से पीड़ित अवस्था में तथा व्यायाम, भार और मार्ग में चलने की थकावट में, वेगों के रोकने पर, अत्यधिक जल अथवा अन्न से उदर के अधिक भरे रहने पर, अजीर्णावस्था में ही भोजन कर लेने पर, एवं दुर्बल के द्वारा और उष्णता से व्याप्त के द्वारा सेवित किया हुआ मद्य अनेक प्रकार के पानात्ययादिक विकारों को उत्पन्न करता है ॥ १५-१६ ॥

विमर्शः—मद्यपानावस्था में विकारों को उत्पन्न करने

वाले क्रुद्धभीतादि कारणों को मानसिक तथा शारीरिक दो भागों में विभक्त कर सकते हैं। इनमें क्रोध, भय तथा शोक मानसिक कारण हैं, शेष शारीरिक कारण हैं। क्रुद्धेनेति— क्रोध अग्निस्वरूप होता है और मद्य भी अग्निगुणभूयिष्ठ है इसलिये क्रुद्धावस्था में किया गया मद्यपान 'सर्वदा सर्वभावानां सामान्यं वृद्धिकारणम्' इस सिद्धान्त के अनुसार अग्निगुण की वृद्धि करता है, जिससे उन्माद आदि विभिन्न रोगों की उत्पत्ति होती है। इसके अतिरिक्त क्रोध के कारण सभी ग्रन्थियों के स्राव विकृत हो जाते हैं, जिसका प्रभाव आमाशयिक रस के स्राव पर भी पड़े बिना नहीं रहता। इस प्रकार शोकाकुल व्यक्ति के भोजन का सम्यक् परिपाक नहीं होता है। अति मात्रा में सेवित मद्य भी आमाशयिक रस के स्राव को रोकता है। इस अवस्था में क्रोध और मद्य दोनों मिला कर पाचक रस का स्राव पूर्णतया बन्द कर देते हैं। जब पाचक रस ही न होंगे तो पाचन भी कैसे हो सकता है। इस निमित्त से सुश्रुत ने भोजन कर लेने पर भी क्रुद्धावस्था में मद्यपान का निषेध किया है। क्रोध से अधिवृक्क (Adrenal gland) की क्रियाशीलता बढ़ जाती है जिससे स्वतन्त्र नाड़ी मण्डल (Sympathatic nervous system) उत्तेजित होकर हृदय की गति, रक्तदाब तथा नाड़ी की गति बढ़ जाती है। मद्यपान भी प्रत्यावर्तन क्रिया द्वारा तथा शोषित होकर इनकी गति को बढ़ा देता है। जिस प्रकार अत्यधिक मद्यपान से हृदय का अतिपात होता है वैसे ही क्रोध से बढ़ी हुई गति में भी मद्य का प्रयोग आमाशय से प्रत्यावर्तन क्रिया (Reflex action) द्वारा तथा शोषण के उपरान्त हृदयातिपात का जनक होता है। इस प्रकार मद्य की अतिमात्रा तथा क्रोधित भाव के साथ पान किये गये मद्य का हृदय पर एक समान प्रभाव होता है, जैसा कि घोष ने भी लिखा है—Large doses do not stimulate the heart at all in fact the heart is paralysed both reflexly and after absorptions. हृदय के अवसाद से मृत्यु न होने पर भी मूर्च्छा या संन्यास जैसी अवस्थाएं अवश्य उत्पन्न हो सकती हैं। भय तथा शोक से वायु की वृद्धि होती है। इस अवस्था में मद्यपान करने पर मद्य के रूक्षादि गुण अधिक प्रबल होकर उन्माद जैसे रोगों को उत्पन्न करते हैं। यद्यपि शोक में प्रथम मद्योग्य मद्यपान करने से शोक की निवृत्ति होनी चाहिए, तथापि जिस भावना से प्रेरित होकर मद्यपान किया जाता है उसी भाव की वृद्धि होती है। यदि शोक सन्तप्त व्यक्ति भी निश्चिन्त एवं प्रसन्न होकर मद्यपान करे तो उसके शोक की निवृत्ति निश्चित रूप से होगी। मद्य के तीक्ष्णत्वादि गुणों से पित्त की वृद्धि होती है। यह प्रवृद्ध पित्त पिपासा की अति प्रवृत्ति कराता है। पिपासा की अतिप्रवृत्ति से होने वाले सभी उपद्रव (ज्वर, मोह, क्षय, कास, श्वासादि) प्यास की अवस्था में मद्यपान करने से हो सकते हैं। खाली पेट पर मद्यपान करने से जाठराग्नि का नाश होता है। आमाशय की श्लेष्मल कला में स्थायी विकृति हो जाने से सदा के लिये भूख लगना बन्द हो जाता है। आमाशयिक रस की कमी अजीर्ण की जननी है। अधिक मद्य भी आमाशयिक स्राव को कम करता है। ऐसी स्थिति में यदि मद्यपान किया जाय तो अजीर्ण की वृद्धि ही होगी। मद्य शरीरान्तर्गत शक्ति का ही अभिव्यञ्जक या प्रेरक है, उत्पादक नहीं। क्षीणधातु या ओजःक्षयी को मद्य देने पर हानि होने की ही अधिक सम्भावना रहती है। उष्णता से सन्तप्त व्यक्ति भी यदि मद्य का पान करे तो उसे मूर्च्छा या संन्यास जैसे रोग हो सकते हैं।

पानात्ययं परमदम्पानाजीर्णमथापि वा।
पानविभ्रममुग्रञ्च तेषां वक्ष्यामि लक्षणम्॥ १७॥

अविधिपीतमद्यजरोगभेदाः—विधिरहित मद्यपान करने से पानात्यय, परमद, पानाजीर्ण तथा पानविभ्रम नाम की व्याधियाँ उत्पन्न होती हैं जिनके लक्षण आगे कहे जाते हैं॥

स्तम्भाङ्गमर्दहृदयग्रहतोदकम्पाः
पानात्ययेऽनिलकृते शिरसो रुजश्च।
स्वेदप्रलापमुखशोषणदाहमूर्च्छाः
पित्तात्मके वदनलोचनपीतता च॥
श्लेष्मात्मके वमथुशीतकफप्रसेकाः
सर्वात्मके भवति सर्वविकारसम्पत्॥ १८॥

पानात्ययस्य वातादिभेदेन लक्षणानि—वातजन्य पानात्यय में शरीर की स्तब्धता, अङ्गों का टूटना, हृदय में जकड़ाहट, सारे बदन में या हृदय में सुई चुभाने की सी पीड़ा ये लक्षण होते हैं। पित्तजन्य पानात्यय में शरीर से स्वेद का निकलना, प्रलाप (असम्बद्ध भाषण) करना, मुख का सूखना, शरीर में दाह, मूर्च्छा तथा मुख और नेत्रों में पीलापन ये लक्षण होते हैं। कफजन्य पानात्यय में वमन, शीत का लगना और कफ का प्रसेक होता है तथा सर्वदोषजन्य पानात्यय में वात, पित्त और कफ सभी दोषों के मिलित लक्षण उत्पन्न होते हैं॥ १८-१९॥

विमर्शः—चरकोक्तवातादिमदात्ययलक्षणम्—हिक्काश्वासशिरःकम्पपार्श्वशूलप्रजागरैः। विद्याद्बहुप्रलापस्य वातप्रायं मदात्ययम्॥ तृष्णादाहज्वरस्वेदमोहातीसारविभ्रमैः। विद्याद्धरितवर्णस्य पित्तप्रायं मदात्ययम्॥ छर्द्यरोचकहृल्लासतन्द्रास्तैमित्यगौरवैः। विद्याच्छीतपरीतस्य कफप्रायं मदात्ययम्॥ ज्ञेयस्त्रिदोषजश्चापि सर्वलिङ्गैर्मदात्ययः॥ प्रायः सन्निपात (त्रिदोषों) के प्रकोपक जो गुण विष में होते हैं वे ही गुण मद्य में भी रहते हैं, इस चरकोक्त विषस्य ये गुणाः प्रोक्ताः सन्निपातप्रकोपणाः। त एव मद्ये दृश्यन्ते विषे तु बलवत्तराः॥ तस्मात् त्रिदोषजं लिङ्गं सर्वत्रापि मदात्यये। सर्वं मदात्ययं विद्यात् त्रिदोषमधिकन्तु यत्॥ (च. चि. अ. २४) वाक्य से तथा सुश्रुत के 'वातप्रायं मदात्ययम्' इत्यादि में 'प्रायः' शब्द के प्रयोग से मदात्यय त्रिदोषज ही होता है। तथापि दोषों की उल्बणता के अनुसार उक्त वातज आदि संज्ञाएँ भी अनुपयुक्त नहीं हैं—दृश्यते रूपवैशेष्यात् पृथक्त्वञ्चास्य लक्ष्यते। (च. चि. अ. २४) पैत्तिक मदात्यय में ईषत्कामला तथा रक्त की कमी के कारण शरीर हरित वर्ण का प्रतीत होता है। यकृत् की विकृति के कारण अतिसार भी होता है। आधुनिक दृष्टि से मदात्यय (Alcoholism) के पाँच भेद होते हैं—(१) तीव्र मदात्यय (Acute alcoholism)—मद्य का अत्यधिक मात्रा में प्रयोग करने से यह स्थिति उत्पन्न होती है। इसमें मद्यप का मस्तिष्क अनियन्त्रित हो जाता है, बुद्धि तथा स्मृति का नाश हो जाता है। शारीरिक क्रियाओं पर भी कोई नियन्त्रण नहीं रहता है। मात्रा की अत्यधिकता से मूर्च्छा

भी उत्पन्न हो जाती है। माधवोक्त पानात्यय की द्वितीय तथा तृतीय अवस्थाओं के लक्षण इसके समान ही होते हैं। A person is said to suffer from acute alcoholism when as result of alcohol he is unable to do with safety to himself or others, that which he attempts. (२) चिरकालीन मदात्यय (Chronic alcholism)—अल्पमात्रा में भी अधिक काल तक मद्य का प्रयोग करने से यह स्थिति उत्पन्न होती है। यह नाडी, तन्तु, मांसधातु तथा संयोजक धातु (Connective tissues) पर विषवत् कार्य करके मेदोऽपक्रान्ति (Fatty degeneration) उत्पन्न कर देता है। इस स्थिति में रोगी मद्य की इतनी अधिक मात्रा का पान करता है जो कि साधारण अवस्था में तीव्र मदात्यय के लक्षणों को उत्पन्न कर सके। किन्तु अत्यधिक मद्यपान करने पर भी इस अवस्था में ये लक्षण प्रकट नहीं होते। रोगी साधारण सी बातों से उत्तेजित हो जाता है। आकृति उग्र रहती है तथा शरीर का शनैः शनैः ह्रास होने लगता है। मांसधातु तथा संयोजक धातु में विकृति होने से कतिपय अङ्गों (आमाशय, हृदय, वृक्क, रक्तवाहिनियाँ, यकृत् तथा वात नाडी संस्थान) की संक्रामक रोग प्रतिरोधक क्षमता का भी ह्रास हो जाता है, जिससे निम्न रोगों की उत्पत्ति हो सकती है—(क) चिरकालीन आमाशय शोथ (Chronic gastritis)-इस रोग के कारण होने वाले शरीर के अन्य विकारों का भी होना अनिवार्य है। जैसे विटामीन बी. का शोषण न होने से नाडीतन्तुओं का विनाश। (ख) धमनी के विकार (Athroma of the bloodvessels and fibroid)—इसके कारण वातनाडी की कोषाणुओं का नाश होता है। (ग) हृदय में मेदोऽपक्रान्ति (Fatty degeneration af the heart)। (घ) यकृतीय मेदोऽपक्रान्ति तथा यकृद्दाल्युदर (Fatty degeneration and cirrhosis of the liver)—इससे उपद्रव स्वरूप जलोदर जैसे विकार भी हो सकते हैं। (च) चिरकालीन वृक्कशोथ (Chronic nephritis)—मस्तिष्क संस्थान में मद्य के साक्षात् प्रभाव तथा तज्जन्य धमनीदार्ढ्य के कारण रक्तप्रवाह की कमी से मानसिक या मस्तिष्कगत विकार उत्पन्न होते हैं। इसके शीघ्र ही उत्तेजित हो जाना, प्रत्येक का अविश्वास, स्मृतिविभ्रंश, अनवस्थितचित्तता तथा कभी कभी उन्माद की भी प्रवृत्ति पाई जाती है। प्राइस ने चिरकालीन मदात्यय की निम्न परिभाषा लिखी है—A patient is said to be a chronic alcoholic when he can not carry on his ordinary life without alcohol. अर्थात् चिरकालीन मदात्यय का रोगी मद्यपान के अभाव में अपना जीवनयापन नहीं कर सकता। (३) मद्यपान की प्रबलेच्छा—(Dipsomania) इस अवस्था में कुछ काल के पश्चात् रोगी को अत्यधिक मात्रा में मद्यपान करने की प्रबलेच्छा आवेगों के रूप में होती है। दो आवेगों के बीच में रोगी स्वस्थ रहता है एवं मद्यपान की इच्छा नहीं करता। इसके पश्चात् आवेगकाल में अवसाद की अवस्था उत्पन्न होती है और मद्यपान की ऐसी प्रबलेच्छा होती है कि रोगी उसे रोक नहीं सकता। इसी अवस्था को डिप्सोमेनिया कहते हैं। प्राइस की परिभाषा—An intermittent compulsion to get drunk. (४) Detirium tremens—इसको सकम्प उन्माद भी कह सकते हैं। इस अवस्था में व्याकुलता, पूर्ण निद्रानाश, भ्रम, प्रधानतया कीड़े, मकोड़, सर्प आदि का दिखाई देना, प्रलाप, मन्दज्वर, मुखशोष तथा शिरःशूल जैसे लक्षण पाये जाते हैं। प्रथम आवेग पाँच दिन तक रहता है और दूसरा आवेग दो से तीन दिन तक रहता है। यह स्थिति एकाएक मद्यपान के रोकने तथा मद्यप में निमोनिया जैसे तीव्र रोग के संक्रमण के परिणामस्वरूप उत्पन्न हो जाती है। (५) Korsakaff's psychosis—यह प्रधान रूप से स्त्रियों में पाया जाता है। रोगी अकारण ही विचित्र शब्दों का श्रवण करता है। स्थान, दिशा तथा समय का निरन्तर भ्रम बना रहता है। मस्तिष्क की शक्ति कम हो जाती है। रोग चिरकालीन स्वरूप का होता है। इसीलिये प्राइस ने इसका वर्णन चिरकालीन मदात्यय के अन्तर्गत ही किया है। इन पाँचों में तीव्र तथा चिरकालीन भेद ही महत्त्व के हैं, शेष तीन कहीं-कहीं मिलते हैं।

ऊष्माणमङ्गगुरुतां विरसाननत्वं
श्लेष्माधिकत्वमरुचिं मलमूत्रसङ्गम्।
लिङ्गं परस्य तु मदस्य वदन्ति तज्ज्ञा-
स्तृष्णां रुजां शिरसि सन्धिषु चापि भेदम् ॥१९॥

परमदलक्षणम्—परमद में सारे शरीर में उष्णता और गुरुता की प्रतीति होती है तथा मुख में स्वाद के ज्ञान का नाश, कफ की अधिक वृद्धि, अरुचि, मल और मूत्र का अवरोध, प्यास का लगना, शिर में पीड़ा और सन्धियों में भेदन ये लक्षण होते हैं ॥ १९ ॥

विमर्शः—माधवकार ने इस श्लोक को निम्नरूप से लिखा है—श्लेष्मोच्छ्रयोऽङ्गगुरुता विरसास्यता च विण्मूत्रसक्तिरथ तन्द्रिररोचकश्च ॥ मद्यपान के पश्चात् मद्य का पाक हो जाने पर पाया जाने वाला यह लक्षण परमद कहलाता है। इसे सद्यःप्रभाव (Immidiate after effect) कहते हैं। श्लेष्मोच्छ्रय (श्लेष्माधिकत्व) की प्रतीति नासिका तथा मुख से कफ का स्राव होने पर होती है। मद्य विष के समान विकासी होने से सन्धियों को शिथिल करके उनमें पीड़ा उत्पन्न कर देता है।

आध्मानमुद्गिरणमम्लरसो विदाहो-
ऽजीर्णस्य पानजनितस्य वदन्ति लिङ्गम्।
ज्ञेयानि तत्र भिषजा सुविनिश्चितानि
पित्तप्रकोपजनितानि च कारणानि ॥ २० ॥

पानाजीर्णलक्षणम्—पानाजीर्ण (मद्य के पाचन न होने) से आफरा, वमन, अम्लरस की मुख में प्रतीति और भोजन का विदाह (विदग्धता) अथवा सारे शरीर में दाह की प्रतीति ये लक्षण उत्पन्न होते हैं। इनके अतिरिक्त पित्तप्रकोप से होने वाले जितने लक्षण हैं वे भी निश्चित ही इसमें पाये जाते हैं ॥ २० ॥

विमर्शः—माधवकार ने पानाजीर्ण के लक्षण निम्न रूप से दिये हैं—आध्मानमुग्रमथ चोद्गिरणं विदाहः। पानेऽजरां समुपगच्छति लक्षणानि ॥ उद्गिरणं वान्तिः, उद्गारो वा। मद्य के पाचित न होने से किञ्चित्कालावस्थायी विकार इस श्रेणी में आ जाते हैं। अतिमात्रा में पिया गया मद्य जाठराग्नि का

विनाश करता है, जिससे उदर सम्बन्धी रोग उत्पन्न होते हैं। मद्यपान जन्य परिसरीय वातनाडी विकार (Peripheral newritis) के कारण सर्वशरीर में दाह का अनुभव होता है।

हृद्गात्रतोदवमथुज्वरकण्ठधूम-
मूर्च्छाकफस्रवणमूर्द्धरुजो विदाहः ।
द्वेषः सुरान्नविकृतेषु च तेषु तेषु
तं पानविभ्रममुशन्त्यखिलेन धीराः ॥ २१ ॥

पानविभ्रमलक्षणम्—हृदय और शरीर में सूई के चुभोने की सी पीड़ा, वमन, ज्वर, कण्ठ में धूम की सी प्रतीति, मूर्च्छा, कफ का स्राव, मस्तिष्क में पीड़ा, भोजन का विदाह अथवा शरीर में दाह की प्रतीति, सुरा (मदिरा) तथा अन्न के बने हुए उन-उन विभिन्न पदार्थों में द्वेष का होना ये सब पानविभ्रम के लक्षण विद्वानों द्वारा कहे गये हैं ॥ २१ ॥

विमर्शः—माधवकार ने पानविभ्रम लक्षण के श्लोक में निम्न स्वरूप परिवर्तन लिखा है—हृद्गात्रतोदकफसंस्रवकण्ठधूमा मूर्च्छावमिज्वरशिरोरुजनप्रदाहाः । कण्ठधूमः कण्ठाद्धूमनिर्गमनवत्पीडा, सुरान्नविकृतेष्विति सुराविकृतेषु, अन्नविकृतेषु च, तेषु तेष्विति नानाविकारेषु सुरामैरेयपिष्टकलड्डुकादिषु । चरकाचार्य ने परमद, पानाजीर्ण तथा पानविभ्रम इन तीनों का सन्निपातजन्य मदात्यय में ही अन्तर्भाव कर लिया है, किन्तु सुश्रुत ने इनके लक्षणों की विभिन्नता का वर्णन करने के हेतु पृथक् वर्णन किया है। हृदय और शरीर में पीड़ा का कारण वात माना जाता है। इसी प्रकार कफस्राव का कफ एवं मूर्च्छा और दाह का कारण पित्त है। इस तरह इसमें तीनों दोषों के लक्षण मिलते हैं। आधुनिक दृष्टि से पानात्यय को तीव्र मदात्यय (Acute alcoholism) तथा पानविभ्रम को चिरकालीन मदात्यय (Chronic alcoholism) कह सकते हैं।

हीनोत्तरौष्ठमतिशीतममन्ददाहं
तैलप्रभाऽऽस्यमतिपानहतं विजह्यात् ।
जिह्वौष्ठदन्तमसितं त्वथवाऽपि नीलं
पीते च यस्य नयने रुधिरप्रभे च ॥ २२ ॥

असाध्यमदात्ययलक्षणम्—जिस रोगी का ऊपर का ओष्ठ नीचे लटक गया हो, शरीर में बाहर शीत तथा अन्दर अत्यन्त दाह प्रतीत होता हो, जिसके मुँह पर तैल की चमक हो ऐसे मदात्ययी को असाध्य समझना चाहिए। इन लक्षणों के अतिरिक्त जिसकी जिह्वा, ओष्ठ तथा दाँत काले या नीले पड़ गये हों, जिसकी आँखें पीली या रक्त के समान अत्यधिक सुर्ख हों, उसको भी असाध्य ही समझना चाहिए ॥

विमर्शः—'हीनोत्तरौष्ठं=प्रलम्बमानोपरितनौष्ठम् । मद्यपानजन्य वातनाडी संस्थान के दौर्बल्य से ओष्ठ को बनाने वाली मांसपेशियाँ भी प्रकृत नहीं रहती हैं, जिससे ऊपर का ओष्ठ नीचे लटक आता है। ओष्ठ को निर्माण करने वाली सभी पेशियों का नाडीप्रदाय (Nerve supply) सातवीं नाडी (Facial nerve) के द्वारा होता है। नाडी की शक्ति क्षीण होने से ओष्ठ को ऊपर स्थिर रखने वाली पेशी (Leavator labii superioris) की क्रियाशक्ति भी नष्ट हो जाती है। अतिशीतं बहिः अमन्ददाहमाभ्यन्तरे। तैलप्रभास्यं तैलाक्तमुखमिव। जिह्वौष्ठदन्तमसितम्—अत्यधिक एवं चिरकाल पर्यन्त मद्यपान करने से जिह्वा, ओष्ठ तथा नासिका की सिराओं का स्थायी रूप से विस्तार हो जाता है जिससे उनका रङ्ग काला या नीला दिखाई पड़ता है। यह वस्तुतः चिरकालीन मदात्यय (Chronic alcoholism) का विशिष्ट लक्षण है, जैसा कि प्राइस ने भी लिखा है—The colour in most marked on the cheeks and nose. Its blue component is due to dilated small veins. यह लक्षण श्यावता (Cyanosis) का दर्शक है। मद्यपी में यदि कामला हो जाय तो नेत्र पीले दिखाई पड़ते हैं। मद्यपानजन्य चिरकालीन आमाशयशोथ (Chronic gastritis) के कारण जीवतिक्ति ए० का शोषण न होने से नेत्रकलाशोथ (Conjunctivitis) होकर नेत्रों में अत्यधिक एवं स्थायी स्वरूप की लालिमा रहती है। उपर्युक्त सभी लक्षण चिरकालिक मदात्यय के दर्शक हैं।

हिक्काज्वरौ वमथुवेपथुपार्श्वशूलाः
कासभ्रमावपि च पानहतं भजन्ते ।
तेषां निवारणमिदं हि मयोच्यमानं
व्यक्ताभिधानमखिलेन विधिं निबोध ॥ २३ ॥

मद्यपानजन्योपद्रवाः—विधिविपरीत तथा अधिक मात्रा में मद्यपान करने से उत्पन्न पानात्यय (मदात्यय) रोग हिक्का, ज्वर, वमन, कम्पन, पार्श्वशूल, कास और भ्रम ये रोग उपद्रव के रूप में उत्पन्न होते हैं। उस पानात्यय रोग तथा उसके उपद्रवों का निवारण करने के लिये मेरे द्वारा कही जाने वाली विधि सहित स्पष्ट और सम्पूर्ण चिकित्सा को सुनो तथा धारण करो ॥ २३ ॥

विमर्शः—उक्त हिक्का-ज्वरादि उपद्रवों से युक्त पानात्यय रोग कृच्छ्रसाध्य होता है, असाध्य नहीं। क्योंकि सुश्रुताचार्य ने इनका पठन असाध्य लक्षणों (हीनोत्तरौष्ठमित्यादि) से पृथक् किया है, ऐसा जेज्जटाचार्य का विचार है। इन हिक्का-ज्वरादि विकारों के अतिरिक्त चरकाचार्य तथा वाग्भटाचार्य ने ध्वंसक तथा विक्षेपक नाम के दो अतिरिक्त मद्यविकारों का भी वर्णन किया है—विच्छिन्नमद्यः सहसा योऽतिमद्यं निषेवते। ध्वंसो विक्षेपकश्चैव रोगस्तस्योपजायते ॥ (च० चि० अ० २४।१९९) अर्थात् मद्यपी कुछ समय के लिये मद्यपान करना बन्द करके पश्चात् सहसा अत्यधिक मद्यपान करने लग जाता है तो उस स्थिति में ध्वंसक और विक्षेपक नाम के दो रोग उत्पन्न होते हैं। ध्वंसकलक्षणम्—श्लेष्मप्रसेकः कण्ठास्यशोषः शब्दासहिष्णुता । तन्द्रानिद्रातियोगश्च ज्ञेयं ध्वंसकलक्षणम् ॥ (च० चि० अ० २४।२०१) कफस्राव, कण्ठ और मुख की शुष्कता, किसी प्रकार के शब्द को सहन न कर सकना, तन्द्रा और निद्रा की अधिकता ये ध्वंसकलक्षण हैं। विक्षेपलक्षणम्—हृत्कण्ठरोधः संमोहश्छर्दिरङ्गरुजाज्वरः । तृष्णा कासः शिरःशूलमेतद्विक्षेपलक्षणम् ॥ (च० चि० अ० २४ श्लो० २०२) हृदय तथा कण्ठ में अवरोध की प्रतीति, मूर्च्छा, वमन, अङ्गपीड़ा, ज्वर, प्यास, खाँसी तथा शिरःशूल ये विक्षेपक के लक्षण हैं। चरक में विक्षेप के स्थान पर विक्षय ऐसा पाठ है। सुश्रुताचार्य ने इन रोगों का पृथक् पाठ न करके आगे निम्न श्लोक से कह दिया है कि एक बार मद्य को छोड़ देने पर पुनः जो सहसा

अत्यधिक मद्यसेवन करता है उसके पानात्यय से होने वाले अन्यान्य रोग उत्पन्न होते हैं—विच्छिन्नमद्यः सहसा योऽति मद्यं निषेवते। तस्य पानात्ययोद्दिष्टा विकाराः सम्भवन्ति हि॥ पाश्चात्यों ने जो डिप्सोमेनिया को मदात्यय का एक भेद माना है वास्तव में यह ध्वंसक और विक्षेपक के लक्षणों से मिलता है।

> मद्यन्तु चुक्रमरिचार्द्रकदीप्यकुष्ठ-
> सौवर्चलायुतमलं पवनस्य शान्त्यै।
> पृथ्वीकदीप्यकमहौषधहिङ्गुभिर्वा
> सौवर्चलेन च युतं वितरेत् सुखाय॥ २४॥

वातजमदात्ययचिकित्सा—वातजन्य पानात्यय रोग की शान्ति के लिये चुक्र, काली मरिच, अदरक, अजवायन, कूठ इनका चूर्ण मद्य में डाल कर और उसमें थोड़ा सा सौंचल नमक मिला कर रोगी को पिलावें। अथवा मद्य में बड़ी इलायची, अजवायन, सोंठ, शुद्ध हीङ्ग और सौंचल नमक इनका थोड़ा थोड़ा चूर्ण उचित मात्रा में मिला के पीने को देना चाहिए। इस तरह यह प्रयोग वातजमदात्यय की शान्ति के लिये सुखकर होता है॥ २४॥

विमर्शः—चरकाचार्य ने वातिकमदात्यय की उत्पत्ति के निम्न कारण व प्रकार दिये हैं—स्त्रीशोकभयभाराध्वकर्मभिर्योऽतिकर्शितः। रूक्षाल्पप्रमिताशी च यः पिबत्यतिमात्रया॥ रूक्षं परिणतं मद्यं निशि निद्रां निहत्य च। करोति तस्य तच्छीघ्रं वातप्रायं मदात्ययम्॥ (च० चि० अ० २४) सुश्रुताचार्य ने 'मद्यन्तु' इस श्लोक के द्वारा मदात्यय की शान्ति के लिये मद्य का प्रयोग लिखा है। उसी प्रकार चरकाचार्य ने भी लिखा है कि मदात्यय चिकित्सा में प्रथम जो दोष उत्कट हो उसकी चिकित्सा करे तथा कफस्थान के अनुपूर्व क्रम से चिकित्सा करे अर्थात् प्रथम कफ की, फिर पित्त की और फिर वात की चिकित्सा करे। दोषं मदात्यये पश्येत्तस्यादौ प्रतिकारयेत्। कफस्थानानुपूर्व्या च क्रिया कार्या मदात्यये॥ पित्तमारुतपर्यन्तः प्रायेण हि मदात्ययः। इसके अनन्तर मिथ्या, अति और हीन (अल्प) मात्रा में मद्य के सेवन करने से जो मदात्ययादिक रोग उत्पन्न होते हैं वे उचित (सम) प्रमाण में मद्यपान करने से ही शान्त होते हैं तथा जीर्ण मद्य और आममद्य सेवन से उत्पन्न दोष को नष्ट करने के लिये मद्यपान ही कराना चाहिए—मिथ्यातिहीनपीतेन यो व्याधिरुपजायते। समपीतेन तेनैव स मद्येनोपशाम्यति॥ जीर्णाममद्यदोषाय मद्यमेव प्रदापयेत्॥ (च० चि०) मद्यजन्य रोगों में मद्य क्यों दिया जाय? इस प्रश्न का उत्तर चरक में बड़ी सुन्दरता से मिलता है—अधिक मात्रा में पीत मद्य तीक्ष्ण, उष्ण, अम्ल तथा विदाहि होने से अन्नरस में प्रथम उत्क्लेद करता है, फिर विदग्ध करके उसे क्षाररूप में परिणत कर देता है, जिससे शरीर में दाह, ज्वर, तृष्णा, मूर्च्छा, भ्रम और मदावस्था उत्पन्न होती है। इन लक्षणों की शान्ति के लिये मद्यपान कराना चाहिए, क्योंकि मद्य अम्लों में श्रेष्ठ अम्ल माना जाता है तथा अम्ल का संयोग होने से क्षार मधुरता को प्राप्त हो जाता है और माधुर्य होने से क्षारजन्य जो अन्तर्दाह ज्वरादिक लक्षण हैं वे शान्त हो जाते हैं—तीक्ष्णोष्णेनातिमात्रेण पीतेनाम्लविदाहिना। मद्येनान्नरसोत्क्लेदो विदग्धः क्षारतां गतः॥ अन्तर्दाहं ज्वरं तृष्णां प्रमोहं विभ्रमं मदम्। जनयत्याशु तच्छान्त्यै मद्यमेव प्रदापयेत्॥ क्षारो हि याति माधुर्यं शीघ्रमम्लोपसंहितः। श्रेष्ठमम्लेषु मद्यञ्च यैर्गुणैस्तान् परं शृणु॥ (च० चि० अ० २४) मद्य के अन्दर पूर्वोक्त दश 'लघूष्णतीक्ष्णसूक्ष्माम्लव्यवायाशुगमेव च। रूक्षं विकाशि विशदं मद्यं दशगुणं स्मृतम्॥ (च० चि० अ० २४) गुणों के अतिरिक्त मधुर, कषाय, तिक्त और कटुक ये चार अनुरस होते हैं। अतः इन चतुर्दश गुणों के कारण मद्य सर्व अम्लों में श्रेष्ठ माना जाता है—मद्यस्याम्लस्वभावस्य चत्वारोऽनुरसाः स्मृताः। मधुरश्च कषायश्च तिक्तः कटुक एव च॥ गुणाश्च दश पूर्वोक्तास्तैश्चतुर्दशभिर्गुणैः। सर्वेषां मद्यमम्लानामुपर्युपरि तिष्ठति॥ (च० चि० अ० २४) जिस तरह चरक ने मद्य की तीक्ष्णता, उष्णता और अम्लविदाहिता से प्रथम विदग्ध होकर क्षारता को प्राप्त हुये अन्न का पुनः मद्य के पान करने पर उसके अम्लगुण से वह क्षारस्वभावी अन्न माधुर्य को प्राप्त हो जाता है लिखा है, इस युक्ति के वर्णन में सुश्रुताचार्य ने भी सुश्रुत सूत्रस्थान के क्षारपाक विधि नामक ग्यारहवें अध्याय में बहुत सुन्दर विवेचन किया है। क्षारदग्ध की अम्लरस से चिकित्सा—अथ चेत् स्थिरमूलत्वात् क्षारदग्धं न शीयते। अम्लकाञ्जिकबीजानि तिलान् मधुकमेव च॥ प्रपेष्य समभागानि तेनैनमनुलेपयेत्। अम्लरस से क्षार कैसे शान्त होता है—शङ्का तथा उसका समाधान—रसेनाम्लेन तीक्ष्णेन वीर्योष्णेन च योजितः। आग्नेयेनाग्निना तुल्यः कथं क्षारः प्रशाम्यति॥ एवञ्चेन्मन्यसे वत्स प्रोच्यमानं निबोधय। अम्लवर्जान् रसान् क्षारे सर्वानेव विभावयेत्॥ कटुकस्तत्र भूयिष्ठो लवणोऽनुरसस्तथा। अम्लेन सह संयुक्तः सतीक्ष्णलवणो रसः॥ माधुर्यं भजतेऽत्यर्थं तीक्ष्णभावं विमुञ्चति। माधुर्याच्छममाप्नोति वह्निरद्भिरिवाप्लुतः॥ क्षारता को प्राप्त हुये अन्न का तीक्ष्ण लवण रस जब अम्लरस के साथ मिलता है तब वह अपने तीक्ष्ण भाव को छोड़ कर मधुर भाव को प्राप्त हो जाता है। और मधुर हो जाने से मद्यपानजन्य दाह, तृष्णा, मूर्च्छा, भ्रम और मद ये सब लक्षण शान्त हो जाते हैं जैसे के जल के छिड़कने से अग्नि शान्त हो जाती है। वाग्भट ने भी लिखा है—अम्लो हि शीतः स्पर्शेन क्षारस्तेनोपसंहितः। यात्याशु स्वादुतां तस्मादम्लैर्निर्वापयेत्तराम्॥ वास्तव में यह एक रासायनिक निर्वीर्यकरण (Neutralisation) की प्रक्रिया है। अम्ल और क्षार यद्यपि उष्णवीर्य और तीक्ष्ण होते हैं, तथापि रासायनिक दृष्टि से वे अत्यन्त भिन्न प्रकार के पदार्थ होते हैं। क्षार मौलिक (Basic) पदार्थ है, जिसमें हाइड्रोक्सिल नामक ऋणभाग (O H as a Negative redical) होता है और अम्ल एसिड (Acid) पदार्थ होता है जिसमें हाइड्रोजन नामक धनभाग (Has a positive radical) होता है। संयोग होने से दोनों के धन और ऋण भागों में अदल बदल होकर पानी तथा लवण (Salt) बन जाता है। ये दोनों पदार्थ क्षार और अम्ल से गुणधर्म में अत्यन्त भिन्न होते हैं और बहुधा शीतवीर्य होते हैं। इस विधि को निर्वीर्यकरण (Neutralisation) कहते हैं। इस प्रकार क्षार के स्थान पर अम्ल के लगाने से तथा अत्यधिक मद्यप्रयोग से विदग्ध होकर क्षारता को प्राप्त हुये अन्न के ऊपर उचित मात्रा में अम्लस्वभावी मद्य के पान करने से अम्ल से क्षार का वीर्य नष्ट

होकर क्षरण की शक्ति शान्त हो जाती है और दोनों के संयोग से पानी और लवण बन जाता है। इस निर्वीर्यकरण के लिये अम्ल और क्षार समान राशि में होना आवश्यक है। यदि अम्ल की राशि कम हो तो क्षार का वीर्य पूर्णतया नष्ट नहीं होगा और उसकी क्षरण शक्ति जारी रहेगी। यदि अम्ल की राशि अधिक हो तो क्षारपूर्ण निर्वीर्य होकर अम्ल अपना प्रभाव दिखलाकर शरीर को हानि करेगा। इस आपत्ति को दूर करने के लिये आयुर्वेद में अत्यन्त सौम्य स्वरूप के वानस्पतिक अम्ल क्षार (दधिमण्ड) को धोने के लिये तथा मदात्यय रोग में समपीत मद्य का प्रयोग लिखा है, जो क्षार का निर्वीर्यकरण भली भाँति करते हुये भी शरीर को किसी भी प्रकार से हानि नहीं पहुँचा सकते। निर्वीर्यकरण के उदाहरण के लिये सोडियम हायड्रोक्सायड (Na oH) और हाइड्रोक्लोरिक अम्ल (Hcl) की प्रक्रिया आगे समीकरण से बतलाई गई है, जिनके संयोग से खाने का नमक (Nacl) और पानी बनता है।

$$
\begin{array}{l}
Hcl \rightarrow H + Cl- \\
\qquad \leftarrow \\
NaoH \rightarrow OH + Na + \\
\quad \leftarrow \qquad \downarrow \quad \uparrow \\
\qquad \downarrow H20,\ Nacl
\end{array}
$$
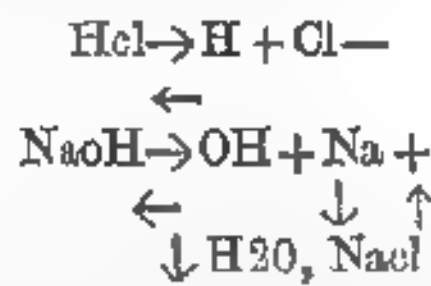
मदात्यय में मद्यप्रयोग का द्वितीय फल यह है कि अधिक मद्यपान से उत्क्लिष्ट दोष होकर वायु स्रोतसों में अवरुद्ध हो कर शिर, अस्थि और सन्धियों में तीव्र वेदना करती है। अतः स्रोतसों में अवरुद्ध दोष (वात) का विष्यन्दन करने के लिये मद्यपान कराना चाहिए—मद्योत्क्लिष्टेन दोषेण रुद्धः स्रोतःसु मारुतः। करोति वेदनां तीव्रां शिरस्यस्थिषु सन्धिषु ॥ दोषविस्यन्दनार्थं हि तस्मै मद्यं विशेषतः। व्यवायितीक्ष्णोष्णतया देयमम्लेषु सत्स्वपि ॥ स्रोतोविबन्धमुन्मद्यं मारुतस्यानुलोमनम्। रोचनं दीपनञ्चाग्नेरभ्यासात् सात्म्यमेव च ॥ (च० चि० अ० २४) वातजमदात्ययशमनोपायाश्चरके—सस्नेहैः शक्तुभिर्युक्तमद्यं दशैर्विरोचितम्। दद्यात्सलवणं मद्य पैष्टिकं वातशान्तये ॥ अन्यच्च—रागषाडवसंयोगैर्विविधैर्भक्तरोचनैः। पिशितैः शाकपिष्टान्नैर्यवगोधूमशालिभिः ॥ अभ्यङ्गोत्सादनैः स्नानैरुष्णैः प्रावरणैर्घनैः। घनैरगुरुपङ्कैश्च धूपैश्चागुरुजैर्घनैः ॥ नारीणां यौवनोष्णानां निर्दयैरुपगूहनैः। श्रोण्यूरुकुचभारैश्च संरोधोष्णसुखावहैः ॥ शयनाच्छादनैरुष्णैरुष्णैश्चान्तर्गृहैः सुखैः। मारुतप्रबलः शीघ्रं प्रशाम्यति मदात्ययः ॥ (च० चि० अ० २४)

> आम्रातकाम्रफलदाडिममातुलुङ्गैः
> कुर्य्याच्छुभान्यपि च षाडवपानकानि।
> सेवेत वा फलरसोपहितान् रसादी-
> नानूपवर्गपिशितान्यपि गन्धवन्ति ॥ २५ ॥

वातिकमदात्यये षाडवपानकानि—आम्रातक (आमड़ा), आम का फल, अनारदाना और बिजोरा नीबू इनको चतुर्गुण पानी में उबाल कर चौथाई शेष रख के छान कर उत्तम षाडव और पानक यथाविधि बना कर प्रयुक्त करें। अथवा आनूप देश के पशु-पक्षियों के मांस को पका के उनके रस में अनार, फालसा आदि फलों का रस मिला से उन्हें हींग, जीरा आदि से गन्धवान् बना के सेवन करावें ॥ २५ ॥

विमर्शः—दाडिममत्राम्लमेव। षाडवो यूषविशेषः, आम्रातकादिभिः कथितैरिक्षुविकारयुतैः षाडवः कार्यः। तथा च तन्त्रान्तरे षाडवकल्पना—युतमिक्षुविकारेण कथितं चूतजं फलम्। घृतशुण्ठीतिलयुतं विज्ञेयो घनषाडवः। गन्धवन्तीति प्रभूतहिङ्गुजीरकादियुतानि। श्लोकोक्त आमड़ा, आम्रफल, दाडिम और बिजौरे नीबू के फलों का क्वाथ बना के छान कर उसमें सोंठ का रस मिला के घृत, सोंठ, तिल चूर्ण प्रक्षिप्त कर षाडव बनाना चाहिए।

> पित्तात्मके मधुरवर्गकषायमिश्रं
> मद्यं हितं समधुशर्करमिष्टगन्धम्।
> पीत्वा च मद्यमपि चेक्षुरसप्रगाढं
> निःशेषतः क्षणमवस्थितमुल्लिखेच्च ॥ २६ ॥
> लावैणतित्तिरिरसांश्च पिबेदनम्लान्
> मौद्गान् सुखाय सघृतान् ससितांश्च यूषान् २७

पित्तजमदात्ययचिकित्सा—पित्तजन्य मदात्यय रोग में गुडूची को छोड़ कर अन्य काकोल्यादि मधुरवर्ग की औषधियों के क्वाथ में मद्य मिला के उनमें शहद, शर्करा संयुक्त कर इलायची, दालचीनी और तेजपात या तज आदि द्रव्यों के चूर्ण से सुगन्धित करके पिलाना चाहिए तथा मद्य पीने के अनन्तर दुबारा मद्य लेकर उसमें सौंठे का रस प्रचुर मात्रा में मिला के कण्ठ पर्यन्त (भर पेट) पिलावें। फिर कुछ देर के पश्चात् इस पीत मद्येक्षुरस को पूर्णतया वमन क्रिया करके निकाल देना चाहिए। वमन के पश्चात् लाव, हिरण और तीतर के मांस को पका कर उसका मांस रस पिलाना चाहिए। इस मांस रस में अनार आदि का अम्लरस नहीं मिलाना चाहिए। अथवा मूंग को उबाल कर उनके इस यूष को छान कर उसमें घृत और शर्करा मिला के पिलाना चाहिए ॥ २६–२७ ॥

विमर्शः—यद्यपि पित्तजन्य मदात्यय में वमन नहीं कराना चाहिए किन्तु पित्त के कफस्थान में चले जाने पर तथा व्याधिविपरीत चिकित्सा दृष्टि से हितकर ही है। **पित्तमदात्यये चरकोक्तशीतोपचारः**—शीतलान्यन्नपानानि शीतशय्यासनानि च। शीतवातजलस्पर्शाः शीतान्युपवनानि च ॥ क्षौमपद्मोत्पलानाञ्च मणीनां मौक्तिकस्य च। चन्दनोदकशीतानां स्पर्शाश्चन्द्रांशुशीतलाः ॥ हैमराजतकांस्यानां पात्राणां शीतवारिभिः। पूर्णानां हिमपूर्णानां दृतीनां पवनाहृताः ॥ संस्पर्शाश्चन्दनार्द्राणां नारीणाञ्च समास्ताः। चन्दनानाञ्च मुख्यानां शस्ताः पित्तमदात्यये ॥ शीतवीर्यं यदन्यच्च तत्सर्वं विनियोजयेत् ॥ कुमुदोत्पलपत्राणां सिक्तानां चन्दनाम्बुना। हिताः स्पर्शा मनोज्ञानां दाहे मद्यसमुत्थिते ॥ (च० चि० अ० २४)।

> पानात्यये कफकृते कफमुल्लिखेच्च
> मद्येन बिम्बिविदुलोदकसंयुतेन।
> सेवेत तिक्तकटुकांश्च रसानुदारान्
> यूषांश्च तिक्तकटुकोपहितान् हिताय ॥ २८ ॥

कफजमदात्ययचिकित्सा—कफ दोष की अधिकता वाले मदात्यय रोग में प्रथम कन्दूरी और वेतसफल के क्वाथ में मद्य मिलाकर पिला के वमन करा देना चाहिए। इसके

अनन्तर जङ्गली पशु-पक्षियों के मांसरस को तिक्त और कटुक द्रव्यों से संस्कृत कर पिलाना चाहिए तथा दुरालभा आदि तिक्त द्रव्य और पिप्पल्यादिक कटुक द्रव्यों से मिश्रित मुद्गादियूष का सेवन कराना चाहिए ॥ २८ ॥

पथ्यं यवान्नविकृतानि च जाङ्गलानि
श्लेष्मघ्नमन्यदपि यच्च निरत्ययं स्यात् ॥ २९ ॥

श्लेष्मजमदात्यये पथ्यम्—कफजन्य मदात्यय में यव के द्वारा बनाये हुये अनेक पेय, लेह्य और भक्ष्य पदार्थों का सेवन कराना चाहिए तथा जङ्गली पशु-पक्षियों के मांस एवं अन्य जो भी दोषरहित तथा कफनाशक आहार विहार हों उनका सेवन कराना चाहिए ॥ २९ ॥

विमर्शः—चरकोक्तकफजमदात्ययचिकित्साक्रमः पथ्यञ्च—कफज मदात्यय में वमन और उपवास से कफ का निःसारण तथा क्षपण करना चाहिए एवं प्यास लगने पर ह्राऊबेर, बला, पृष्ठपर्णी, कण्टकारी और सोंठ इनमें से किसी एक से सिद्ध किये हुए या शृतशीत जल का पीने में प्रयोग करें—उल्लेखनोपवासाभ्यां जयेत् कफमदात्ययम्। तृष्यते सलिलञ्चास्मै दद्याद् ह्रीवेरसाधितम्॥ बलया पृश्निपर्ण्या वा कण्टकार्याऽथवा शृतम्। सनागराभिः सर्वाभिर्जलं वा शृतशीतलम्॥ दुःस्पर्शेन समुस्तेन मुस्तपर्पटकेन वा। जलं मुस्तैः शृतं वापि दद्याद्दोषविपाचनम्॥ मद्यप्रयोगः—शार्करं मधु वा जीर्णमरिष्टं सीधुमेव वा। पिबेच्च निगदं मद्यं कफप्राये मदात्यये॥ अष्टाङ्गलवणप्रयोगः—सौवर्चलमजाजी च वृक्षाम्लं साम्लवेतसम्॥ त्वगेलामरिचार्धांशं शर्करामागयोजितम्॥ एतल्लवणमष्टाङ्गमग्निसन्दीपनं परम्॥ मदात्यये कफप्राये दद्यात् स्रोतोविशोधनम्॥ पथ्यव्यवस्था—रूक्षोष्णेनान्नपानेन स्नानेनाशिशिरेण च। व्यायामलङ्घनाभ्याञ्च युक्त्या जागरणेन च॥ कालयुक्तेन रूक्षेण स्नानेनोद्वर्तनेन च। प्राणवर्णकराणां च प्रघर्षाणाञ्च सेवया॥ सेवया वसनानाञ्च गुरूणामगुरोरपि। सङ्कोचोष्णसुखाङ्गीनामङ्गनानाञ्च सेवया॥ सुखशिक्षितहस्तानां स्त्रीणां संवाहनेन च। मदात्ययः कफप्रायः शीघ्रमेवोपशाम्यति॥ (च० चि० अ० २४)

कुर्य्याच्च सर्वमथ सर्वभवे विधानं
द्वन्द्वोद्भवे द्वयमवेक्ष्य यथाप्रधानम्।
सामान्यमन्यदपि यच्च समग्रमग्र्यं
वक्ष्यामि यच्च मनसो मदकृत् सुखञ्च ॥३०॥

सन्निपातजद्वन्द्वजमदात्ययचिकित्सा—सन्निपातजन्य मदात्यय में सर्वदोषों को नष्ट करने वाली चिकित्सा का प्रयोग करना चाहिए तथा द्वन्द्वजमदात्यय में दोनों दोषों का विचार करके उनमें जो प्रधान हो उसके संशमन का ध्यान रखते हुए चिकित्सा करें। इसके अतिरिक्त अन्य जो भी सामान्य तथा विशिष्ट आहार-विहार हो जो कि मदात्यय के रोगी के मन को सुख देने वाला हो और हितकारी हो उसका प्रयोग करें तथा वक्ष्यमाण प्रयोग भी प्रयुक्त करें ॥ ३० ॥

विमर्शः—चरकाचार्य ने भी सन्निपातजन्य मदात्यय में पृथग्दोषजन्यमदात्यय चिकित्सा का ही मिश्रित प्रयोग बुद्धिपूर्वक प्रयुक्त करना लिखा है—यदिदं कर्म निर्दिष्टं पृथग्दोषबलम्प्रति। सन्निपाते दशविधे तद्विकल्प्यं भिषग्विदा॥ यस्तु दोषविकल्पज्ञो यश्चौषधिविकल्पवित्। स साध्यान्साधयेद् व्याधीन् साध्यासाध्यविभागवित्॥ (च० चि० अ० २४)।

त्वङ्नागपुष्पमगधैलमधूकधान्यैः
श्लक्ष्णैरजाजिमरिचैश्च कृतं समांशैः।
पानं कपित्थरसवारिपरूषकाढ्यं
पानात्ययेषु विधिवत्स्रुतमम्बरान्ते ॥ ३१ ॥

सर्वविधपानात्ययचिकित्सा—दालचीनी, नागकेशर, पिप्पली, इलायची, महुए के पुष्प या छाल, धनिया, जीरा, काली मरिच, इन्हें समान प्रमाण में लेकर खाण्ड कूट के महीन चलनी से छान कर चूर्ण बना लेवें। फिर इस चूर्ण को तीन से छः माशे प्रमाण में ले कर कैथ के स्वरस, जल और फालसे के स्वरस में घोल कर वस्त्र में छान कर (अम्बरान्ते स्रुतम्) पानात्यय रोग में पिलावें ॥ ३१ ॥

ह्रीवेरपद्मपरिपेलवसम्प्रयुक्तैः
पुष्पैर्विलिप्य करवीरजलोद्भवैश्च।
पिष्टैः सपद्मकयुतैरपि सारिवाद्यैः
सेकं जलैश्च वितरेदमलैः सुशीतैः ॥ ३२ ॥

मदात्यये लेपसेकौ—ह्राऊबेर, कमल और कैवर्त मोथे को लेकर कनेर तथा कमल के पुष्प के साथ पीस कर मदात्यय के रोगी के शरीर पर लेप करना चाहिए तथा सारिवादिगण की औषधियों को पद्माख के साथ पत्थर पर पीस कर अत्यधिक शीतल निर्मल पानी में घोल कर इस जल से मदात्यय रोगी के शरीर का सिञ्चन करना चाहिए ॥ ३२ ॥

त्वक्पत्रचोचमरिचैलभुजङ्गपुष्प-
श्लेष्मातकप्रसववल्कगुडैरुपेतम्।
द्राक्षायुतं हृतमलं मदिरामयार्त्तै-
स्तत्पानकं शुचि सुगन्धि नरैर्निषेव्यम् ॥३३॥

मदात्यये पानकप्रयोगः—दालचीनी, तेजपात, इलायची, नागकेशर, लिसोड़े के कोमल पत्ते और छाल तथा गुड़ और मुनक्का इन्हें यथोचित प्रमाण में लेकर पानी के साथ पत्थर पर पीस कर कपड़े से छान के सुगन्धित पानक बना कर मदिरामय (मदात्यय) से पीड़ित रोगियों को पिलाना चाहिए ॥ ३३ ॥

पिष्ट्वा पिबेच्च मधुकं कटुरोहिणीञ्च
द्राक्षाञ्च मूलमसकृत् त्रपुषीभवं यत्।
कार्पासिनीमथ च नागबलाञ्च तुल्यां
पीत्वा सुखी भवति साधु सुवर्चलाञ्च ॥ ३४ ॥

मदात्यये मधुकादियोगद्वयम्—(१) मुलेठी, कुटकी, मुनक्का, और खीरे की जड़ (त्रपुषीमूल) अभाव में खीरे (कर्कटी-विशेष) के बीज इन्हें समान प्रमाण में लेकर जल के साथ अच्छी प्रकार पीस कर पीना चाहिए। (२) अथवा वन-कपास की जड़, नागबला और सुवर्चला इन्हें समान प्रमाण में लेकर पानी के साथ अच्छी प्रकार पीस के मदात्यय के रोगी को कई बार (दिन में ३ बार) और कई दिन तक पिलाने से मदात्यय का रोगी सुखी (रोगरहित) हो जाता है ॥ ३४ ॥

विमर्शः—साधारणमदात्यये पथ्यानि—वनानि रमणीयानि सपद्माः सलिलाशयाः। विशदान्यन्नपानानि सहायाश्च प्रहर्षणाः ॥

माल्यानि गन्धयोगाश्च वासांसि विमलानि च। गान्धर्वशब्दाः कान्ताश्च गोष्ठयश्च हृदयप्रियाः॥ संकथाहास्यगीतानां विशदाश्चैव योजनाः। प्रियाश्चानुगता नार्यो नाशयन्ति मदात्ययम्॥ नाक्षोभ्य हि मनो मद्यं शरीरमविहत्य च। कुर्यान्मदात्ययं तस्मादेष्टव्या हर्षणी क्रिया॥ अर्थात् जितने भी पित्तशामक शीतोपचार हैं तथा जो चक्षुरिन्द्रिय को देखने में प्रिय, श्रवणेन्द्रिय को सुनने में प्रिय एवं त्वगिन्द्रिय को स्पर्शन में प्रिय तथा मन के हर्षक विषय हों वे सब मदात्यय को शान्त करते हैं।

मद्यप्रयोगेण लाभाभावे दुग्धप्रयोगः—आभिः क्रियाभिः सिद्धाभिः शमं याति मदात्ययः। न चेन्मद्यविधिं मुक्त्वा क्षीरमस्य प्रयोजयेत्॥ अर्थात् उक्त शीतोपचारादि तथा मद्यपानादि क्रियाओं से यदि मदात्यय रोग नष्ट न होता हो तो मद्यपानविधि को त्याग कर दुग्धपान की विधि प्रयुक्त करनी चाहिए।

क्षीरप्रयोगगुणाः—लंघनैः पाचनैर्दोषशोधनैः शमनैरपि। विमद्यस्य कफे क्षीणे जाते दौर्बल्यलाघवे॥ तस्य मद्यविदग्धस्य वातपित्ताधिकस्य च। ग्रीष्मोपतप्तस्य तरोर्यथा वर्षं तथा पयः॥ पयसाऽभिहते रोगे बले जाते निवर्तयेत्। क्षीरप्रयोगं मद्यञ्च क्रमेणाल्पाल्पमाचरेत्॥ (च० चि० अ० २४) जिस प्रकार ग्रीष्म से सन्तप्त हुये वृक्ष की शान्ति के लिये वर्षा का जल लाभदायक होता है वैसे ही मद्य के पान से विदग्ध अन्न वाले तथा वातपित्त की वृद्धि होने पर इनके दुर्लक्षणों को नष्ट करने के लिए दुग्ध लाभकारी माना गया है। इस तरह दुग्धप्रयोग से मदात्यय रोग के नष्ट होने पर तथा शरीर में कुछ बल के भी आ जाने पर दुग्धप्रयोग और मद्यप्रयोग को क्रमशः थोड़ी-थोड़ी मात्रा में प्रयुक्त करते रहना चाहिए।

> काश्मर्य्यदारुविडदाडिमपिप्पलीषु
> द्राक्षाऽन्वितासु कृतमम्बुनि पानकं यत्।
> तद्बीजपूरकरसायुतमाशु पीतं
> शान्तिं परां परमदे त्वचिरात्करोति॥ ३५॥

परमदचिकित्सायां काश्मर्यादिपानकम्—गम्भारी के फल, दारुहरिद्रा, विडनमक, अनारदाना, पिप्पली और मुनक्का इन्हें उचित प्रमाण में लेकर थोड़े जल के साथ पत्थर पर पीस कर पानी में घोल के छान कर पानक तय्यार करके उसमें थोड़ा सा बिजोरे नीबू का रस मिलाकर पीने से परमद में शीघ्र ही परम शान्ति प्राप्त होती है॥ ३५॥

> द्राक्षासितामधुकजीरकधान्यकृष्णा-
> स्वेवं कृतं त्रिवृतया च पिबेत्तथैव।
> सौवर्चलायुतमुदाररसं फलाम्लं
> भार्गीशृतेन च जलेन हितोऽवसेकः॥ ३६॥

परमदे द्राक्षादिपानकान्तरम्—मुनक्का, शर्करा, मुलेठी, श्वेतजीरक, धनिया, पिप्पली और निशोथ इन्हें उचित प्रमाण में लेकर पानी के साथ पत्थर पर पीस कर उस कल्क को पुनः पानी में घोल के छान कर बिजोरे नीबू के स्वरस से संस्कृत (अम्ल बना) कर पीवे। इसी प्रकार उदार रस (जङ्गली पशु-पक्षियों के मांसरस) में कुछ सोंचल नमक का प्रक्षेप देकर अनार आदि खट्टे फलों के स्वरस से अम्ल कर पीवे। इन पानकों के अतिरिक्त भारङ्गी के क्वाथ से शरीर का अवसेक (सिञ्चन) करना उत्तम है॥ ३६॥

> इक्ष्वाकुधामार्गववृक्षकाणि
> काकाह्वयोदुम्बरिकाश्च दुग्धे।
> विपाच्य तस्याञ्जलिना वमेद्धि
> मद्यं पिबेच्चाह्नि गते त्वजीर्णे॥ ३७॥

पानाजीर्णचिकित्सायां वमनं मद्यपानञ्च—कड़वी तुम्बी (इक्ष्वाकु), कड़वी तरोई (धामार्गव), इन्द्रयव (वृक्षक) और काकोदुम्बरिका (कठूमर) इन्हें समान प्रमाण में मिश्रित कर दो तोले भर ले के पानी के साथ पत्थर पर पीस कर कल्क बना के दुग्ध में पकाकर उस दुग्ध में से एक अञ्जलि (१ कुडव=४ पल) प्रमाण ले कर पानाजीर्ण में मिला कर वमन करा देना चाहिए। फिर सायङ्काल के समय अग्निवृद्धि के लिये मद्यपान कराना चाहिए॥ ३७॥

> त्वक्पिप्पलीभुजगपुष्पविडैरुपेतं
> सेवेत हिङ्गुमरिचैलयुतं फलाम्लम्।
> उष्णाम्बुसैन्धवयुतास्त्वथवा विडत्वक्
> चव्यैलहिङ्गुमगधाफलमूलशुण्ठीः॥
> हृद्यैः खडैरपि च भोजनमत्र शस्तम्॥ ३८॥

पानाजीर्णे चत्वारो मद्यप्रयोगाः—(१) दालचीनी, पिप्पली, नागकेशर और विडनमक इन्हें समान प्रमाण में ले के चूर्णित कर ३ माशे से ६ माशे की मात्रा में ले के दो तोले मद्य में मिलाकर पिलावें। (२) शुद्ध हींग, काली मरिच और इलायची का चूर्ण मद्य में प्रक्षिप्त कर उसे अम्ल फलों (दाड़िम, बिजोरे नीबू आदि) के रस से कुछ खट्टा बनाकर पिलावें। (३) सैन्धवलवण, विडलवण, तथा दालचीनी के चूर्ण का मद्य में प्रक्षेप देकर उसमें थोड़ा सा मन्दोष्ण जल मिलाकर पीवें। (४) चव्य, इलायची, हींग, पिप्पलीमूल और सोंठ इनके चूर्ण से मिश्रित मद्य का पान करना चाहिए। इनके सिवाय पानाजीर्ण में हृदय के लिए हितकारी खडों (मुद्गादिनिर्मित यूषों) का प्रयोग लाभदायक होता है॥

> द्राक्षाकपित्थफलदाडिमपानकं यत्
> तत्पानविभ्रमहरं मधुशर्कराढ्यम्
> आम्रातकोलरसपानकमेव चापि॥ ३९॥
> खर्जूरवेत्रककरीरपरूषकेषु
> द्राक्षात्रिवृत्सु च कृतं ससितं हिमं वा।
> श्रीपर्णियुक्तमथवा तु पिबेदिमानि
> यष्ट्याह्वयोत्पलहिमाम्बुविमिश्रितानि॥ ४०॥
> क्षीरिप्रवालबिसजीरकनागपुष्प-
> पत्रैलवालुसितसारिवपद्मकानि।
> आम्रातभव्यकरमर्दकपित्थकोल-
> वृक्षाम्लवेत्रफलजीरकदाडिमानि॥ ४१॥

पानविभ्रमचिकित्सायां चत्वारि द्राक्षादिपानकानि—(१) मुनक्का, कैथ, बिजोरे का फल और अनारदाने या अनारफल (ताजा) लेकर इनका यथाविधि पानक (शर्बत) बना कर

उसमें प्रचुर मात्रा में शहद तथा शर्करा मिलाकर पीने से पानविभ्रम रोग नष्ट होता है। (२) इसी प्रकार आम्रातक और बदरी फल ले के उनका यथाविधि पानक बनाकर सेवन करना चाहिए। (३) छुहारे, वेत, करीरफल, फालसा, मुनक्का और निशोथ इनसे बनाये हुए पानक में शर्करा तथा गम्भारी के फलों का चूर्ण या स्वरस मिला के सेवित किया हुआ यह हिमपानक पानविभ्रम में प्रशस्त माना जाता है। (४) अथवा क्षीर (दुग्ध) वाले वटादिवृक्षों के पत्र, कमलनाल, श्वेत जीरक, नागकेशर, तेजपत्रक, एलवालुक, श्वेत सारिवा, पद्माख, आम्रातक (अम्बाड़ा), भव्य (उत्तरापथ में होने वाला तालफल प्रमाण का फल अथवा अमरख), करौंदा, कैथफल, बदरीफल, वृक्षाम्ल, वेत्रफल, जीरक (श्वेत या कृष्ण) और ताजा अनार फल इन्हें समान प्रमाण में लेकर समप्रमाण में गृहीत मुलेठी और कमल के साथ शीतल जल (हिमाम्बु) से महीन पीस कर पानक बना के पानविभ्रम में पीना चाहिए॥ ३९-४१॥

सेवेत वा मरिचजीरकनागपुष्प-
त्वक्पत्रविश्वचविकैलयुतान् रसांश्च।
सूक्ष्माम्बरस्रुतहिमांश्च सुगन्धिगन्धान्
पानोद्भवान्सुदति सप्तगदानशेषान्॥ ४२॥

पानात्ययादिसप्तानां चिकित्सा—काली मरिच, श्वेत जीरक, नागकेशर, दालचीनी, तेजपत्रक, सोंठ, चविका और इलायची इनके महीन चूर्णों को अच्छी प्रकार मिला के महीन वस्त्र (सुक्ष्माम्बर) से छानकर अगुर्वादिधूप से धूपित कर मांसरसों को पिलाने एवं विधिविपरीत तथा अधिक मात्रा में मद्यका पान करने से उत्पन्न हुए सात प्रकार के मद्यज रोग (चतुर्विध मदात्यय, परमद, पानाजीर्ण और पानविभ्रम) नष्ट हो जाते हैं॥

पञ्चेन्द्रियार्थविषया मृदुपानयोगा
हृद्याः सुखाश्च मनसः सततं निषेव्याः।
पानात्ययेषु विकटोरुनितम्बवत्यः
पीनोन्नतस्तनभरानतमध्यदेशाः॥ ४३॥
प्रौढाः स्त्रियोऽभिनवयौवनपीनगात्र्यः
सेव्याश्च पञ्चविषयातिशयस्वभावाः॥ ४४॥

सर्वविधमदात्यये सेव्यानि—नेत्र कर्ण रसना आदि पञ्च ज्ञानेन्द्रियों के जो रूप, शब्द, रस आदि विषय हैं वे यथाविधि सेवनीय हैं। अर्थात् नयनप्रीतिकर दृश्य, श्रवणप्रिय गायन आदि, रसनाप्रिय मधुर अम्लादि रसों का सेवन तथा मृदुपानयोग अर्थात् पौष्टिक, गौडी, माध्वीक आदि हल्के मद्य एवं जो हृदय के लिये प्रिय और मन को प्रसन्न करने वाले आहार-विहार हों उनका निरन्तर सेवन करते रहना चाहिए। इनके अतिरिक्त पानात्यय, परमद, पानविभ्रम, पानाजीर्ण नामक मद्यजन्य रोगों में विशाल ऊरु तथा नितम्ब वाली स्त्रियाँ, एवं जिनके स्तन पीन (मोटे) और उन्नत (उठे हुये = Pointed) होने से इनके भार से झुक गया है मध्यप्रदेश (कटिप्रान्त) जिनका, ऐसी स्त्रियों एवं नूतन यौवन के कारण पीन (हृष्ट-पुष्ट) अङ्गों वाली प्रौढ स्त्रियों का सेवन करना चाहिए। क्योंकि इन स्त्रियों में पञ्च इन्द्रियों के पाँचों विषय (शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध) अत्यधिक मात्रा में स्वाभाविक (या सौम्य) रूप से विद्यमान होते हैं॥ ४३-४४॥

विमर्शः—वास्तव में संसार के सर्व पदार्थों में स्त्री एक ऐसा सर्वेन्द्रिय मोहक पदार्थ है, जिसकी पूर्ति अन्य पदार्थ नहीं कर सकते। यद्यपि पञ्चेन्द्रियों के शब्दस्पर्शादि अर्थ अन्यत्र भिन्न भिन्न पदार्थों में विद्यमान रहते हैं, किन्तु स्त्री-शरीर में वे एकत्र संघातरूप से विद्यमान होने के कारण पुरुष को परं प्रीति प्रदान करते हैं, जैसी कि चरकाचार्य ने स्त्री की यथार्थ प्रशंसा की है—वाजीकरणमग्र्यञ्च क्षेत्रं स्त्री या प्रहर्षिणी। इष्टा ह्येकैकशोऽप्यर्थाः परं प्रीतिकराः स्मृताः॥ किं पुनः स्त्रीशरीरे ये सङ्घातेन प्रतिष्ठिताः। सङ्घातो हीन्द्रियार्थानां स्त्रीषु नान्यत्र विद्यते। स्त्र्याश्रयो हीन्द्रियार्थो यः स प्रीतिजननोऽधिकम्॥ स्त्रीषु प्रीतिर्विशेषेण स्त्रीष्वपत्यं प्रतिष्ठितम्। धर्मार्थौ स्त्रीषु लक्ष्मीश्च स्त्रीषु लोकाः प्रतिष्ठिताः। सुरूपा यौवनस्था या लक्षणैर्या विभूषिता। या वश्या शिक्षिता या च सा स्त्री वृष्यतमा मता॥ वयोरूपवचोहावैर्या यस्य परमाङ्गना। प्रविशत्याशु हृदयं दैवाद्वा कर्मणोऽपि वा। हृदयोत्सवरूपा या समानमनःशया। समानसत्त्वा या वश्या या यस्य प्रीयते प्रियैः। या पाशभूता सर्वेषामिन्द्रियाणां परैर्गुणैः॥ यया वियुक्तो निःस्त्रीकमरतिर्मन्यते जगत्। यस्या ऋते शरीरं ना धत्ते शून्यमिवेन्द्रियैः॥ शोकोद्वेगारतिभयैर्या दृष्ट्वा नाभिभूयते। याति यां प्राप्य विस्रम्भं दृष्ट्वा हृष्यत्यतीव याम्॥

(च० चि० अ० २, पा० १)

पिबेद्रसं पुष्पफलोद्भवं वा
सितामधूकत्रिसुगन्धियुक्तम्।
सकूर्चं संयोज्य च नागपुष्पै-
रजाजिकृष्णामरिचैश्च तुल्यैः॥ ४५॥

पानात्यये कूष्माण्डस्वरसप्रयोगः—कूष्माण्ड के स्वरस में शर्करा, महुए के पुष्प या फलों का रस तथा दालचीनी, इलायची और तेजपात का चूर्ण एवं नागकेशर, श्वेतजीरक पिप्पली और काली मरिच का चूर्ण उचित प्रमाण में मिश्रित कर मदात्यय में पीना चाहिए॥ ४५॥

विमर्शः—'त्रिसुगन्धि-त्वगेलापत्रकैस्तुल्यैस्त्रिसुगन्धि त्रिजातकम्'।

वर्षाभूयष्ट्याह्वमधूकलाक्षा-
त्वक्कर्बुदाराङ्कुरजीरकाणि।
द्राक्षाञ्च कृष्णामथ केशरञ्च
क्षीरे समालोड्य पिबेत् सुखेप्सुः॥ ४६॥

मदात्यये वर्षाभ्वादिपेयम्—पुनर्नवा, मुलेठी, महुआ, पीपल या बेर की लाख, दालचीनी, कचनार के कोमल पत्ते, जीरा, मुनक्का, पिप्पली, और नागकेशर इनको समान प्रमाण में मिलाकर २ तोले भर ले के पत्थर पर दुग्ध के साथ महीन पीसकर दुग्ध ही में घोल के कपड़े से छानकर सुख चाहनेवाला मदात्यय का रोगी पीवे॥ ४६॥

भवेच्च मद्येन तु तेन पातितः
प्रकामपीतेन सुरासवादिना।
तदेव तस्मै विधिवत्प्रदापयेद्
विपर्यये भ्रंशमवश्यमृच्छति॥ ४७॥

मदात्यये स्वजातीयमद्यमेव पेयम्—जिस सुरा, आसव, सीधु, वारुणी आदि मद्य के अधिक पान करने से मनुष्य पातित (मूर्च्छाग्रस्त या मदात्ययादि पानज रोगग्रस्त) हो जाता है उसी जाति के मद्य के शास्त्रविधि के अनुसार प्रयुक्त करने से उस पुरुष के रोगलक्षणों में शान्ति मिलती है तथा किसी अन्य प्रकार के मद्य के पिलाने से वह पुरुष अवश्य ही भ्रंश (क्लेश) को प्राप्त करता है। इसलिये उसको वही मद्य देना चाहिए ॥ ४७ ॥

यथा नरेन्द्रोपहतस्य कस्यचित्
भवेत् प्रसादस्तत एव नान्यतः ।
ध्रुवं तथा मद्यहतस्य देहिनो
भवेत्प्रसादस्तत एव नान्यतः ॥ ४८ ॥

स्वजातीयमद्यपानलाभे दृष्टान्तः—जिस प्रकार राजा से दण्डित व्यक्ति के दण्ड का मोचन होकर प्रसन्नता की प्राप्ति उसी राजा से ही हो सकती है, अन्य से नहीं, उसी प्रकार मद्य से पीड़ित पुरुष की प्रसन्नता (आरोग्य लाभ) मद्य से ही हो सकती है, अन्य औषध से नहीं। इसलिये अयुक्तिपूर्वक पीत मद्यजन्य-रोगों में विधिपूर्वक मद्य का पान कर स्वास्थ्य प्राप्त करना चाहिए ॥ ४८ ॥

विच्छिन्नमद्यः सहसा योऽतिमद्यं निषेवते ।
तस्य पानात्ययोद्दिष्टा विकाराः सम्भवन्ति हि ॥४९॥

त्यक्तमद्यस्य पुनरसेवने विकाराः—जिस व्यक्ति ने मद्यपान करना त्याग दिया हो तथा कुछ समय के पश्चात् दुःसङ्गति वश वह सहसा अत्यधिक मद्यपान करना प्रारम्भ कर दे ऐसी स्थिति में वह व्यक्ति अत्यधिक मद्यपान जन्य पानात्यय प्रकरणोक्त ध्वंसक आदि रोगों से ग्रस्त हो जाता है ॥ ४९ ॥

विमर्शः—इसी अध्याय के श्लोक नं० २२ के विमर्श में ध्वंसक तथा विक्षेपक के लक्षण लिखे हैं उन्हें देखो।

मद्यस्याग्नेयवायव्यौ गुणावम्बुवहानि तु ।
स्रोतांसि शोषयेयातां तेन तृष्णोपजायते ॥ ५० ॥

मद्यजतृष्णोत्पत्तिहेतुः—मद्य के आग्नेय (तैक्ष्ण्य) तथा वायव्य (रौक्ष्य) गुण शरीर के जलवाहक स्रोतसों (और जल) को शोषित कर देते हैं, जिससे तृष्णा उत्पन्न होती है ॥

विमर्शः—चरकाचार्य ने अम्बुवाहक स्रोतसों के दुष्टि में उष्णता, आमदोष, भय, अधिक मद्यपान, अति शुष्क अन्न का सेवन तथा तृषा के वेग को रोकना ये कारण माने हैं तथा अधिक बढ़ी हुई पिपासा अम्बुवाहक स्रोतस दुष्टि का प्रमुख लक्षण है—'औष्ण्यादामाद्भयात्पानादतिशुष्कान्नसेवनात् । अम्बुवाहीनि दुष्यन्ति तृष्णायाश्चातिपीडनात् ॥ पिपासाञ्चातिप्रवृद्धां दृष्ट्वा भिषगुदकवहान्यस्य स्रोतांसि प्रदुष्टानीति विद्यात्' (च० वि० अ० ५, श्लो० १०, ११)

पाटलोत्पलकन्देषु मुद्गपर्ण्यां च साधितम् ।
पिबेत्मागधिकोन्मिश्रं तत्राम्भो हिमशीतलम् ॥ ५१ ॥

मद्यजतृष्णाचिकित्सा—पाटल, कमल तथा कमलकन्द और मुद्गपर्णी इनसे जल सिद्ध कर उसमें बरफ डाल के शीतल कर लें। फिर उसमें पिप्पली का चूर्ण २ रत्ती मिलाकर पीने से मद्यज तृष्णा शान्त हो जाती है ॥ ५१ ॥

सर्पिस्तैलवसामज्जदधिभृङ्गरसैर्युतम् ।
क्काथेन बिल्वयवयोः सर्वगन्धैश्च पेषितैः ॥
पक्वमभ्यञ्जने श्रेष्ठं, सेके क्काथश्च शीतलः ॥ ५२ ॥

मद्यजतृष्णायामभ्यङ्गसेकौ—घृत, तैल, वसा, मज्जा चारों समान प्रमाण में मिश्रित १ प्रस्थ, दही १ प्रस्थ, भृङ्गराज का स्वरस १ प्रस्थ, बिल्व और यव का क्काथ २ प्रस्थ तथा सर्व गन्ध द्रव्य अर्थात् एलादिगण की औषधियों को समान प्रमाण में मिश्रित कर ¼ प्रस्थ (४ पल) लेके पत्थर पर पानी के साथ पीसकर कल्क बना के सबको एक कड़ाही या कलईदार भगोनी में भर कर स्नेहावशेष पाक कर लेना चाहिए। यह पक्व स्नेह मद्यजन्य दाह तथा तृष्णा में समस्त शरीर पर या जहाँ भी दाह प्रतीत होता हो उस स्थान पर अभ्यङ्ग करने के लिये श्रेष्ठ है तथा परिषेक करने के लिये मधुर और शीतल द्रव्यों से बनाये क्काथ को बरफ आदि से शीत बना कर प्रयुक्त करना चाहिए ॥ ५२ ॥

विमर्शः—स्नेहसाधन परिभाषा में लिखा है कि जहाँ द्रव पदार्थ पाँच या अधिक हों वहाँ प्रत्येक द्रव को स्नेह के समान लें, किन्तु जहाँ पाँच से कम द्रव पदार्थ हों अर्थात् ४, ३, २ वा एक द्रव हो तो वहाँ कुल द्रव मिलाकर स्नेह का चतुर्गुण लें—पञ्चप्रभृति यत्र स्युर्द्रवाणि स्नेहसंविधौ । तत्र स्नेह-समान्याहुरर्वाक् च स्याच्चतुर्गुणम् ॥

रसवन्ति च भोज्यानि यथास्वमवचारयेत् ।
पानकानि सुशीतानि हृद्यानि सुरभीणि च ॥ ५३ ॥

सतृषि मदात्यये भोज्यानि—जो भोजन जिस दोष से प्रत्यनीक (विरुद्ध) गुण वाला हो उस दोष से उत्पन्न तृषायुक्त मदात्यय में वही भोजन देना चाहिए, किन्तु साधारणतया प्रचुर मधुर रसवाले भोजनों को तथा अत्यन्त शीतल और सुगन्धित ऐसे हृदय हितकारी पेयों को मदात्यय तथा तज्जन्य तृषारोग में देने चाहिए ॥ ५३ ॥

त्वचं प्राप्तस्तु पानोष्मा पित्तरक्ताभिमूर्च्छितः ।
दाहं प्रकुरुते घोरं पित्तवत्तत्र भेषजम् ॥ ५४ ॥

मद्यजन्यदाहस्तस्य चिकित्सा च—विधिविपरीत मद्यपान करने से उस मद्य की ऊष्मा शरीरगत पित्त और रक्त से मिलकर जब त्वचा में पहुँचती है तब भयानक दाह उत्पन्न करती है। ऐसी स्थिति में पित्त के समान मधुर शीतादि चिकित्सा करनी चाहिए ॥ ५४ ॥

विमर्शः—दाहः-बाह्य अग्नि या तैजस पदार्थ के सम्पर्क हुए बिना ही शरीरान्तर्गत कारणों से रोगी को होने वाली जलन की विशेष अनुभूति ही दाह नाम से अभीष्ट है। वास्तव में दाह शरीरान्तर्गत अग्निस्वरूप पित्त का ही अन्यतम गुण है। इस तरह किसी भी आहार-विहार रूप में सेवित कारण से शरीरगत सोमगुण या कफ का ह्रास तथा पित्त की वृद्धि होने पर ही दाह की अनुभूति होती है। कफ का ह्रास होने पर वायु की वृद्धि पित्त के साथ स्वाभाविक रूप में होती है—प्रकुपितश्च यदा पित्तं मारुतः श्लेष्मणः क्षये । स्थानादादाय गात्रेषु यत्र यत्र विसर्पति ॥ तदा भेदश्च दाहश्च तत्र तत्रानवस्थितः । गात्रदेशे भवत्यस्य श्रमो दौर्बल्यमेव च ॥ (च० सू० अ० १७) इस तरह यद्यपि दाह का साक्षाज्जनक

पित्त ही है, तथापि उसको अनुभूति का विषय बनाने वाला वायु ही होता है, क्योंकि वायु ही सर्व इन्द्रियार्थों का वाहक है—'सर्वेन्द्रियार्थानामभिवोढा' अर्थात् सम्पूर्ण इन्द्रियों के ग्राह्य विषयों को मस्तिष्क तक पहुँचा कर अनुभूति का रूप प्रदान करने वाला कहा गया है। इसके अतिरिक्त पित्त वायु के अभाव में शरीर में भ्रमण कर अपने दाहादि विशिष्ट गुणों का प्रभाव भी नहीं दिखा सकता, क्योंकि पित्त या अग्नि का प्रेरक वायु ही होता है। 'समीरणोऽग्नेः' पित्तं पङ्गु कफः पङ्गुः पङ्गवो मलधातवः। वायुना यत्र नीयन्ते तत्र गच्छन्ति मेघवत्॥ इस प्रकार सिद्ध है कि दाह की उत्पत्ति तथा अनुभूति में पित्त और वायु दोनों ही कारण हैं। इस तरह यद्यपि दाह उभयात्मक है, तथापि निदान की दृष्टि से इसके भी वातिक तथा पैत्तिक दो भेद किये जा सकते हैं। जिस अवस्था में पित्त अपने कारणों से प्रकुपित होकर वायु की सहायता से दाह की उत्पत्ति करता है तब वह दाह पैत्तिक कहलाता है। इसके विपरीत यदि वायु अपने कारणों से ही प्रकुपित होकर पित्त को विकृत कर दाह उत्पन्न करता है तो वह दाह वातिक होता है। आगे जो दाह के मद्यज, पित्तज, रक्तज तृष्णा-निरोधज तथा रक्तपूर्ण कोष्ठज भेद लिखे हैं वे सब पैत्तिक वर्ग में समाविष्ट होते हैं। किन्तु धातुक्षयज दाह वातिकवर्ग में समाविष्ट होता है। मद्यपान करने से धमनी विस्फारक केन्द्र (Vasodilator Centers) के क्षोभ तथा परिसरीय वातनाड़ी क्षोभ (Peripheral neuritis) होने से दाह की अनुभूति होती है। मद्यपानजन्य वातनाड़ी क्षोभ का यह प्रधान लक्षण है। 'पित्तवत्तत्र भेषजम्' अर्थात् मद्यपानजन्यदाह पित्तवर्गीय होने से उसकी चिकित्सा भी पित्तसंशामक मधुर और शीत द्रव्यों से पित्त के समान करनी चाहिए। चरकाचार्य ने दाह में बेर के पत्तों का फेन, रीठे का फेन, और फेनिला के फेन के लेप का उल्लेख किया है एवं अम्लसेक को भी प्रशस्त माना है। बदरीपल्लवोत्थश्च तथैवारिष्टकोद्भवः। फेनिलायाश्च यः फेनस्तैर्दाहे लेपनं शुभम्॥ सुरासमण्डादध्यम्लं मातुलुङ्गरसो मधु। सेके प्रदेहे शस्यन्ते दाहघ्नाः साम्लकाञ्जिकाः॥

> शीतं विधानमत ऊर्ध्वमहं प्रवक्ष्ये
> दाहप्रशान्तिकरमृद्धिमतां नराणाम्।
> तत्रादितो मलयजेन हितः प्रदेह-
> श्चन्द्रांशुहारतुहिनोदकशीतलेन॥ ५५॥
> शीताम्बुशीततररैश्च शयानमेनं
> हारैर्मृणालवलयैरबलाः स्पृशेयुः।
> भिन्नोत्पलोज्ज्वलहिमे शयने शयीत
> पत्रेषु वा सजलबिन्दुषु पद्मिनीनाम्॥ ५६॥

धनिनां दाहशमनोपायः—अब इसके अनन्तर धनिक पुरुषों के दाह का संशमन करने के लिए शीतल उपाय लिखे जाते हैं। उनमें सर्वप्रथम मलयगिरि आदि के सुगन्धित चन्दन का लेप शरीर पर करना चाहिए। इसके अनन्तर चन्द्रमा की शीतल किरणों का तथा मोतियों के हार का तथा तुहिनोदक (हिमपानी) का सेवन करना चाहिए। एवं युवती स्त्रियाँ शीतल जल में डुबोकर ठंडे किये हुये मुक्ताहार तथा कमलनाल के कंगनों को अपने हाथ में धारण कर या ले कर सोये हुये इस पुरुष का स्पर्श अथवा आलिङ्गन करें। इनके अतिरिक्त खिले हुये नील कमल वाले निर्मल और ठण्डे बिस्तर पर सोये अथवा शीतल जल बिन्दुओं से युक्त कमलिनी के पत्तों पर शयन करे॥ ५५-५६॥

विमर्शः—चरके दाहशमनोपायः—पौष्करेषु सुशीतेषु पद्मोत्पलदलेषु च। कह्लाराणाञ्च पत्रेषु क्षौमेषु विमलेषु च॥ चन्दनोदकशीतेषु सुप्याद् दाहार्दितः सुखम्॥ (च० चि० अ० ३, श्लोक० २६०)

> आसादयन् पवनमाहृतमङ्गनाभिः
> कह्लारपद्मदलशैवलसञ्चयेषु।
> कान्तैर्वनान्तपवनैः परिमृश्यमानः
> शक्तश्चरेद्भवनकाननदीर्घिकासु॥ ५७॥

दाहशामकोऽन्य उपायः—स्त्रियों के द्वारा जल में भींगे हुए खस और कमलपत्र आदि के वीज्यमान पंखों के पवन को सेवन करता हुआ कह्लार (सौगन्धिक लाल कमल) और श्वेत कमल (पुष्प) तथा उन दोनों के पत्र और जल के शैवाल के समूह से बनाये हुए शयन स्थल पर शयन करे और यदि चलने फिरने की शक्ति से सम्पन्न हो तो बाग बगीचों की मनोहर मन्द सुगन्ध शीतल पवन को स्पर्श (सेवन) करता हुआ अपने घर के उद्यान की सोपान (सीढ़ी) युक्त बावड़ी में सञ्चरण करे॥ ५७॥

> दाहाभिभूतमथवा परिषेचयेत्तु
> लामज्जकाम्बुरुहचन्दनतोयतोयैः।
> विस्रावितां हृतमलां नववारिपूर्णां
> पद्मोत्पलाकुलजलामधिवासिताम्बुम्॥
> वापीं भजेत हरिचन्दनभूषिताङ्गः
> कान्ताकरस्पृशनकर्कशरोमकूपः।
> तत्रैनमम्बुरुहपत्रसमैः स्पृशन्त्यः
> शीतैः करोरुवदनैः कठिनैः स्तनैश्च॥५९॥
> तोयावगाहकुशला मधुरस्वभावाः
> संहर्षयेयुरबलाः सुकृतैः प्रलापैः॥ ६०॥

दाहशमनार्थं परिषेकोऽवगाहश्च—मद्य आदि के दाह से व्याप्त रोगी को खस (लामज्जक), कमल, चन्दन और सुगन्ध बाला इन से अधिवासित पानी से सिञ्चित करना चाहिए तथा बावड़ी में से पुराना सब पानी निकाल कर एवं कीचड़ साफ करके नवीन पानी भरकर उसमें रक्त श्वेत और नील कमल छोड़ (प्रक्षिप्त) करके तथा केतकी, गुलाब, मौलसरी आदि इत्रों से भी उस पानी को सुगन्धित करके अपने शरीर पर हरिचन्दन (मलयगिरि के श्वेत चन्दन) का लेप कर मनोहर युवतीस्त्रियों के हस्तों के स्पर्श से रोमाञ्चित होता हुआ उपर्युक्त बावड़ी में स्नान करें। तथा उस बावड़ी में स्नान करते हुए उस दाहाभिभूत व्यक्ति को कमल के पुष्प एवं पत्र के समान कोमल एवं शीतल हस्त, ऊरु तथा मुख से और युवावस्था के कारण कठोर (और पीन) स्तनों से स्त्रियाँ भी (जल में तैरती हुई) स्पर्श करें। इस तरह जल में तैरने में कुशल एवं मधुर स्वभाव वाली

स्त्रियाँ अपने शोभन कलायुक्त साहित्यिक शब्दों से इस दाहपीड़ित मनुष्य को प्रसन्न करें ॥ ५८–६० ॥

विमर्शः—स्त्रियो मदात्ययनाशिकाः—संकथाहास्यगीतानां विशदाश्चैव योजनाः। प्रियाश्चानुगता नार्यो नाशयन्ति मदात्ययम्॥ नाश्नोत्यहि मनो मद्यं शरीरमवहत्य च। कुर्यान्मदात्ययं तस्माद्देष्टव्या हर्षणी क्रिया॥

धारागृहे प्रगलितोदकदुर्दिनाभे
श्रान्तः शयीत सलिलानिलशीतकुक्षौ।
गन्धोदकैः सुकुसुमैरुपसिक्तभूमौ
पत्राम्बुचन्दनरसैरुपलिप्तकुड्ये॥ ६१॥
जात्युत्पलप्रियककेशरपुण्डरीक-
पुन्नागनागकरवीरकृतोपचारे।
तस्मिन् गृहे कमलरेण्वरुणे शयीत
यत्नाहृतानिलविकम्पितपुष्पदाम्नि॥६२॥

दाहशमनार्थं धारागृहशयनम्—मेघाच्छन्न के दिन जल-वर्षण होने के कुछ समय पूर्व आकाश तथा सर्व दिशायें अन्धकार से व्याप्त होकर दुर्दिनवत् दृश्य हो जाता है, उसी दृश्य के समान आभा (स्वरूप) वाले तथा फव्वारों के छोटे-छोटे सुराखों से निकलने वाले जल से मिश्रित वायु से जिसका भीतरी भाग शीतल हो एवं जात्यादि सुगन्धित पुष्पों से अधिवासित गन्धोदक से सींची हुई भूमि (तल) वाले और पत्रक, नेत्रबाला और श्वेत चन्दन के रस (पङ्क) का दिवालों पर लेप किये हुए तथा चमेली, नीलकमल, विजय-सार, बकुल, श्वेतकमल, पुन्नाग, नागकेशर और लालकनेर इनके पुष्पों से आंगने एवं बिछोने पर व उसके आसपास विशिष्ट रचना किये हुए तथा कमल की रेणु (पराग) के बिखेरने से अरुण (रक्ताभ) हुए और यत्नपूर्वक (प्रकारान्तर से) सञ्चालित वायु से हिलती हुई पुष्प-मालाओं वाले धारागृह में स्त्रियों के साथ थका हुआ मद्यपान जन्य दाह से पीड़ित व्यक्ति शयन करे ॥ ६१–६२ ॥

हेमन्तविन्ध्यहिमवन्मलयाचलानाम्
शीताम्भसां सकदलीहरितद्रुमाणाम्।
उद्भिन्ननीलनलिनाम्बुरुहाकराणाम्
चन्द्रोदयस्य च कथाः शृणुयान्मनोज्ञः॥

धारागृहे हेमन्तादिकथाश्रवणम्—हेमन्त ऋतु तथा विन्ध्या-चल, हिमाचल और मलयाचल (अचल = पर्वत), शीतल, जल, कदली (केले) के वृक्ष तथा हरे वृक्ष, जिनमें नील-कमल, रक्तकमल और श्वेतकमल खिल रहे हों ऐसे जलाशय (तालाब) तथा चन्द्रोदय की मनोहर कथाओं को श्रवण करे॥

विमर्शः—मदात्ययहरा वनादयः—वनानि रमणीयानि सपद्माः सलिलाशयाः। विशदान्यन्नपानानि सहायाश्च प्रहर्षणाः॥ माल्यानि गन्धयोगाश्च वासांसि विमलानि च। गान्धर्वशब्दाः कान्ताश्च गोष्ठ्यश्च हृदयप्रियाः॥ संकथा हास्यगीतानां विशदाश्चैव योजनाः। प्रियाश्चानुगता नार्यो नाशयन्ति मदात्ययम्॥ जलयन्त्रा-भिवर्षीणि वातयन्त्रवहानि च। कल्पनीयानि भिषजा दाहे धारा-गृहाणि च॥ (चरक)।

म्लानं प्रतान्तमनसं मनसोऽनुकूलाः
पीनस्तनोरुजघना हरिचन्दनाङ्ग्यः।
ता एनमार्द्रवसनाः सह संविशेयुः
श्लिष्टाऽबलाः शिथिलमेखलहारयष्ट्यः॥६४॥

रक्तप्रयोगालाभे तरुणस्त्रीसम्पर्कः—यदि धारागृह में शयन तथा मनोहर कथाश्रवण से भी कोई लाभ न होकर मदात्यय जन्य तृष्णा का रोगी ग्लानियुक्त और दीनमन वाला हो तो उसके मन के अनुकूल तथा पुष्ट (मोटे) स्तन, ऊरु और जघन वाली एवं सारे बदन पर-विशिष्ट अङ्गों (स्तन, वक्ष, कपोल, हस्त) पर हरिचन्दन का लेप की हुई और कटि में ढीली मेखला तथा वक्ष में मोतियों की माला पहनी हुई एवं गीले महीन वस्त्र पहनी हुई स्त्रियाँ उस पुरुष का आलिङ्गन कर उसके साथ बैठे या सोयें ॥ ६४ ॥

हर्षयेयुर्नरं नार्यः स्वगुणै रहसि स्थिताः।
ताः शैत्याच्छमयेयुश्च पित्तपानात्ययान्तरम्॥ ६५॥

पित्तपानात्ययभेदशमनाय स्त्रीमहत्त्वम्—एकान्त में स्थित स्त्रियाँ अपने मृदुभाषण आदि गुणों से मनुष्य को हर्षित (प्रसन्न) करती हैं तथा वे स्त्रियाँ अपने शैत्य (सौम्य) प्रभाव से पित्तजन्य पानात्यय के अन्य भेदों को भी शान्त करती हैं ॥ ६५ ॥

विमर्शः—स्त्रियाँ रसायन और योगवाही होती हैं। अतएव जब वे अपने अङ्ग-प्रत्यङ्गों पर उष्ण लेपकर पुरुष को स्पर्श करती हैं तो शीताङ्ग सन्निपातादि तथा हृदयावसाद को नष्ट करती हैं एवं जब अपने बदन पर चन्दनादि का लेप कर लेती हैं तो वे सन्तापहर हो जाती हैं। इसलिये किसी कवि ने कहा है कि ये शीतावस्था में उष्ण तथा उष्णावस्था में शीत प्रतीत होती हैं—कूपोदकं वटच्छाया श्यामा स्त्री चेष्टका-गृहम्। शीतकाले भवेदुष्णमुष्णकाले च शीतलम्॥

तृड्दाहरक्तपित्तेषु कार्योऽयं भेषजक्रमः।
सामान्यतो विशेषन्तु शृणु दाहेष्वशेषतः॥ ६६॥

तृड्दाहादिषूक्तक्रमः—प्यास, दाह और रक्तपित्त में उक्त औषध विधि (धारागृह शयन, स्त्रीसम्पर्कादि) का प्रयोग सामान्य रूप से करना चाहिए। अब इसके अनन्तर सर्व प्रकार के दाहों में विशिष्ट विधि का वर्णन करता हूँ उसे सुनो॥

कृत्स्नदेहानुगं रक्तमुद्रिक्तं दहति ह्यति।
सञ्चूष्यते दह्यते च ताम्राभस्ताम्रलोचनः॥६७॥
लोहगन्धाङ्गवदनो वह्निमेवावकीर्यते॥ ६८॥

रक्तजदाहवर्णन—मिथ्या आहार-विहार से प्रकुपित तथा अतिप्रवृद्ध रक्त सारे शरीर में भ्रमण कर दाह उत्पन्न करता है जिससे उस रोगी को खिंचाव तथा दाह लगता है। उसका चेहरा ताम्बे के वर्ण सा लाल तथा नेत्र भी ताम्बे के समान लाल हो जाते हैं। उसके अङ्ग (शरीर) तथा मुख से लोहे के सदृश गन्ध आती है एवं वह अपने को अग्नि से व्याप्त सा मानता है ॥ ६७–६८ ॥

विमर्शः—रक्त भी पित्तवर्गीय होता है, अतः इस दाह को भी पैत्तिक ही समझना चाहिए। रक्त में लौह तथा मुख का स्वाद भी लौह जैसा रहता है। लौह से धातु सामान्य

का भी ग्रहण करना चाहिए। यह रक्तगत वात (High blood pressure) का भी लक्षण है। तीव्र ज्वर में भी यह विशिष्ट लक्षण होता है। मासिक धर्म की विकृति से हस्तपाद में होने वाला दाह भी इसके अन्तर्गत समझना चाहिए।

तं विलङ्घ्य विधानेन संसृष्टाहारमाचरेत् ॥
अप्रशाम्यति दाहे च रसैस्तृप्तस्य जाङ्गलैः।
शाखाऽऽश्रया यथान्यायं रोहिणीर्व्यधयेत् सिराः॥६९॥

रक्तजदाहचिकित्साक्रमः—रक्तजदाह के रोगी को प्रथम विविध प्रकार से लंघन कराकर क्रमशः पेया आदि द्वारा तर्पणादि चिकित्सा करे। यदि इस क्रम से दाह का संशमन न होता हो तो जाङ्गल मांस रसों से प्रथम उसे तृप्त कर बाहु तथा जङ्घा (शाखाओं) में आश्रित रोहिणी (लोहिता) सिराओं का सिरावेधनविधिके अनुसार वेधन करना चाहिए॥

विमर्शः—रोहिणी सिरा—आयुर्वेद-शास्त्र में मूल सिरायें चालीस मानी हैं। उनमें वातवह दस, पित्तवाहक दस, कफवाहक दस और रक्तवाहक दस 'तासां मूलसिराश्चत्वारिंशत्, तासां वातवाहिन्यो दश, पित्तवाहिन्यो दश, कफवाहिन्यो दश, दश रक्तवाहिन्यः' (सु० शा० अ० ७) और ये चारों प्रकार की सिरायें अपने-अपने स्थानों में १७५ प्रकार की होती हैं। ऐसे कुल ७०० सिरायें होती हैं। इनमें रक्तवाहक सिराओं का स्थान यकृत् और प्लीहा को बताया है। वातादिवाहकचतुर्विधसिरालक्षण—(१) वातवह सिरायें अरुण (किञ्चिद्रक्तवर्ण) और वायु से भरी होती हैं, पित्तवाहक उष्ण और नील होती हैं। कफवाहक सिराएँ गौर वर्ण, शीतल और स्थिर होती हैं तथा रक्तवाहक सिराएँ रक्त वर्ण न बहुत शीतल और न उष्ण होती हैं। आधुनिक दृष्टि से अरुणा सिरा को और रोहिणी सिरा को धमनी या शुद्ध रक्तवाहिनी (Artery) मान लेना चाहिए, क्योंकि इन दोनों के जो शास्त्र में लक्षण दिये हैं वे आर्टरी से मिलते हैं—अरुणा सिरा—'तत्र स्वावारुणाः प्रस्पन्दिन्यः सूक्ष्माः क्षणपूर्ण रिक्ताः वातरक्तं वहन्ति।' (अ० सं०) रोहिणी सिरा—'समा गूढाः स्निग्धा रोहिण्यः शुद्धरक्तम्' (अ० सं०) पित्तवह नीला सिरा वास्तविक सिरा (Vein) का पर्याय है तथा कफवाहक सिराओं को लसीकावाहिनी (Lymphatics) समझना चाहिए। यहाँ जो शाखाओं (बाहु और जङ्घा) के आश्रित रोहिणी सिराओं के वेध करने का आदेश दिया है इससे शुद्ध रक्तवाहक या धमनी (Artery) का वेधन करना चाहिए ऐसा अर्थ प्राप्त होता है, किन्तु प्रत्यक्ष में धमनी (शुद्ध रक्त वाहिनियों) का वेधन नहीं किया जाता है। अत एव इन स्थानों की सिरा (Vein) का ही वेधन करना चाहिए, जिन्हें कि पित्तवाहक-सिरा शब्द से कहा गया है। सिरावेधविधि का नाम भी (Venesection) वेनिसेक्शन रखा है, जिसका अर्थ सिरा (Vein) वेधन ही होता है, धमनीवेधन नहीं। यथान्यायम्—सिराव्यधविधानोक्तेन न्यायेनेत्यर्थः। यथान्यायं यथाविधि—न्यायस्य स्नेहस्वेदादिकस्यानतिक्रमेण यथान्यायम्। (डल्हण) अर्थात् शास्त्र में सिरावेधन की जो विधि है तदनुसार वेधन करना चाहिये। सिरावेधनविधिः—'तत्र स्निग्धस्विन्नमातुरं यथादोषप्रत्यनीकं द्रवप्रायमन्नं भुक्तवन्तं यवागूं पीतवन्तं वा यथाकालमुपस्थाप्यासीनं स्थितं वा प्राणानबाधमानो वस्त्रपट्टचर्मान्तर्वल्कलतानामन्यतमेन यन्त्रयित्वा नातिगाढं नातिशिथिलं शरीरप्रदेशमासाद्य यथोक्तं शस्त्रमादाय सिरां विध्येत्' (सु० शा० अ० ८ श्लो० ५) अर्थात् रुग्ण को प्रथम स्नेहन स्वेदन कराना चाहिए। ऐसा करने से शरीरगत दोष रक्तवाहिनियों में आते हैं और सिरावेध करने से बाहर उत्सर्जित हो जाते हैं—'सम्यक् स्निग्धस्विन्नस्य पुनर्द्रवीभूता दोषाः शोणितमनुप्रविष्टाः सम्यक् प्रच्यवन्ते' (अ० सं०) स्नेहन स्वेदन के अनन्तर दोषों के विपरीत द्रवभूयिष्ठ आहार अथवा यवागू पिलानी चाहिए। फिर ठीक स्थान पर रुग्ण को बिठाकर या लिटा के सुनियन्त्रित कर शरीर के एक प्रदेश को रोगानुसार ठीक कर के उसमें वस्त्रपट्ट, चर्म, अन्तर्वल्कल (पट्ट) लता प्रतान इनमें से किसी एक से न बहुत तंग और न बहुत शिथिल बाँध कर उचित शस्त्र से प्राणों को बाधा न पहुँचाते हुए सिरा को प्राप्त कर वेधन करें। यहाँ पर द्रवभूयिष्ठ आहार देने का तात्पर्य यह है कि रक्तावसेचन से शरीर के नष्ट होने वाले द्रवांश की पूर्ति को करना। प्रायः रोगी को बिठा के रक्तावसेचन करने से जब उसे कुछ मूर्च्छा आने लगे तो रक्तस्राव करना बन्द कर दिया जाता है। अतः खड़े-खड़े या शयन करा के रक्तस्राव करने की अपेक्षा बिठा के रक्तस्राव करना उत्तम है। अतिवेध, अवेध्यसिरावेध और मर्मवेधन से प्राणबाधा न पहुँचावें। वस्त्रपट्ट बन्धन करने से सिरागत रक्तप्रवाह बन्द होकर सिरोत्थान में सहायता होती है। यह बन्धन सदा वेध स्थान से कुछ ऊपर की ओर होना चाहिए। अधिक गाढा बाँधने से धमनीगत रक्तप्रवाह में बाधा होती है तथा शिथिल बाँधने से सिरोत्थान नहीं होता है।

पित्तज्वरसमः पित्तात् स चाप्यस्य विधिर्हितः॥७०॥

पित्तजदाहलक्षणम्—पित्त के प्रकोप से उत्पन्न होने वाला दाह पित्तज्वर के समान लक्षणों वाला होता है। इसलिये पित्तजदाह की चिकित्सा भी पित्तज्वर के समान करनी चाहिये॥ ७०॥

विमर्शः—यद्यपि सभी दाह पित्तप्रकोप से होते हैं। अतः इसका पृथक् पाठ करने की आवश्यकता नहीं थी, किन्तु इसमें मद्यजन्य दाह के समान शरीर में अन्य स्थायी विकृतियाँ नहीं होती हैं। अतः इसका पृथक् पाठ करना उचित है। यद्यपि इस दाह में पित्तज्वर के समान लक्षण होते हैं, किन्तु पित्तज्वर में आमाशय आदि की भी दुष्टि होती है, जो कि इसमें नहीं होती।

तृष्णानिरोधादब्धातौ क्षीणे तेजः समुद्धतम्।
सबाह्याभ्यन्तरं देहं दहेद्वै मन्दचेतसः॥
संशुष्कगलताल्वोष्ठो जिह्वां निष्कृष्य चेष्टते॥७१॥

तृष्णानिरोधजदाहलक्षण—मद्यपान के अनन्तर मद्य की तीव्र उष्णतावश उत्पन्न हुई तृष्णा को रोकने से जलीय धातु के क्षीण हो जाने पर पित्त की वृद्धि हो जाती है तथा वह पित्तजन्य उष्णता मन्द (मूढ) चित्त वाले उस रोगी के बाह्य तथा आभ्यन्तरिक अङ्गों में दाह उत्पन्न करती है, जिससे रोगी का गला, तालु और ओष्ठ सूख जाता है एवं वह जिह्वा बाहर निकाल कर हस्तपादादि अङ्गों का विक्षेपण करता है॥ ७१॥

विमर्शः—कुछ लोगों ने 'जिह्वां निष्कृष्य चेष्टते' के स्थान पर 'जिह्वा निःसृत्य वेपते' ऐसा पाठान्तर माना है, जिसका अर्थ बाहर निकल कर कम्पित होती है। जल की कमी (Dehydration) के कारण होने वाले दाह को इसी के अन्तर्गत समझना चाहिए जो कि प्रायः ग्रीष्म ऋतु में होता है।

तत्रोपशमयेत्तेजस्त्वब्धातुञ्च विवर्द्धयेत् ।
पाययेत् काममम्भश्च शर्कराढ्यं पयोऽपि वा ॥
शीतमिक्षुरसं मन्थं वितरेच्चेरितं विधिम् ॥ ७२ ॥

तृष्णानिरोधजदाहचिकित्सा—तृष्णानिरोधजन्य दाह में सर्वप्रथम मधुरशीतादि आहार द्रव्य एवं विहार से शरीर में बढ़े हुए तेज (पित्त) को शान्त करना चाहिए तथा स्वयोनिवर्धक मधुरस्निग्ध शीतल तरल द्रव्यों से जलीय धातु को बढ़ाना चाहिए। शर्करायुक्त जल अधिक मात्रा में पिलाना चाहिए अथवा शर्करायुक्त दुग्ध अधिक मात्रा में पिलाना चाहिए। शीतल इक्षु (सांठे) का रस पिलाना चाहिए। किं वा मन्थ (घृत में अभ्यक्त सत्तु में शीतल पानी मिला कर) पिलाना चाहिए तथा शास्त्र में कहे हुए पित्तज्वरनाशक सर्व उपाय करने चाहिए ॥ ७२ ॥

विमर्शः—(१) मन्थः—'सक्तवः सर्पिषाऽभ्यक्ताः शीतवारिपरिप्लुताः' (२) पित्तज्वरहरोपायाः—ह्रीबेरचन्दनोशीरघनपर्पटसाधितम् । दद्याच्च शीतलं वारि तृड्वृद्धिज्वरदाहनुत् ॥ पर्पटामृतधात्रीणां क्वाथः पित्तज्वरं जयेत् । मृद्वीका मधुकं निम्बं कटुकारोहिणी समा । अवश्यायस्थितः क्वाथ एष पित्तज्वरापहः ॥ चरकोक्त दाह विनाशनोपाय जैसे धारागृहसेवन शीतलवायु, चन्द्रकिरण, चन्दनादि शीत द्रव्यों का लेप आदि।

असृजा पूर्णकोष्ठस्य दाहो भवति दुःसहः ।
विधिः सद्योव्रणीयोक्तस्तस्य लक्षणमेव च ॥ ७३ ॥

रक्तपूर्णकोष्ठजन्यदाहलक्षणचिकित्से—बाह्य आघातादि कारणों से अथवा आभ्यन्तरिक कारणों (अत्यधिक दबाव, अन्तर्विद्रधि) से हुए रक्तस्राव से कोष्ठ (किसी भी आशय) के भर जाने से असह्य दाह उत्पन्न होता है। इस प्रकार के रक्तपूर्ण कोष्ठ के लक्षण तथा तज्जन्य दाह के लक्षण तथा चिकित्सा विधि का ज्ञान सद्योव्रणीय अध्याय में कहे अनुसार समझ लेवें ॥ ७३ ॥

विमर्शः—कोष्ठलक्षण—स्थानान्यामाग्निपक्वानां मूत्रस्य रुधिरस्य च । हृदुण्डुकः फुफ्फुसौ च कोष्ठ इत्यभिधीयते ॥ रक्तपूर्णकोष्ठलक्षणानि—तस्मिन् भिन्ने रक्तपूर्णे ज्वरो दाहश्च जायते । मूत्रमार्गगुदास्येभ्यो रक्तं घ्राणाच्च गच्छति ॥ मूर्च्छाश्वासतृडाध्मानमभक्तच्छन्द एव च । विण्मूत्रवातसङ्गश्च स्वेदास्रावोऽक्षिरक्तता ॥ लोहगन्धित्वमास्यस्य गात्रदौर्गन्ध्यमेव च । हृच्छूलं पार्श्वयोश्चापि विशेषञ्चात्र मे शृणु ॥ आमाशयस्थे रुधिरे रुधिरं छर्दयेत्पुनः । आध्मानमतिमात्रञ्च शूलञ्च भृशदारुणम् ॥ पक्वाशयगते चापि रुजो गौरवमेव च । शीतता चाप्यधो नाभेः खेभ्यो रक्तस्य चागमः ॥ अभिन्नेऽप्याशयेऽन्त्राणां खैः सूक्ष्मैरन्त्रपूरणम् । पिहितास्ये घटे यद्वल्लक्ष्यते तस्य गौरवम् ॥ आधुनिक दृष्टि से शस्त्र आदि के प्रहार से आन्तरिक रक्तस्राव होने पर स्तब्धता (Shock), हस्तपाद शीतता, हृदयदौर्बल्य लक्षण दिखाई देते हैं तथा आन्तरीय रक्तस्राव के कारण परिसरीय वातनाडी क्षोभ (Peripheral neuritis) के कारण दाह होता है तथा स्थानीय रक्ताधिक्य (Blood congestion) के कारण शोथ होने पर स्थानिक दाह भी होता है। विभिन्नव्रणेषु चिकित्साक्रमः—छिन्ने भिन्ने तथा विद्धे क्षते वाऽसृगतिस्रवेत् । रक्तक्षयाद्रुजस्तत्र करोति पवनो भृशम् ॥ स्नेहपानं हितं तत्र तत्सेको विहितस्तथा । वेशवारैः सकृशरैः सुस्निग्धैश्चोपनाहनम् ॥ धान्यस्वेदांश्च कुर्वीत स्निग्धान्यालेपनानि च । वातघ्नौषधसिद्धैश्च स्नेहैर्बस्तिर्विधीयते ॥ उष्णतानिवारणार्थं—शीतमालेपनं कार्यं परिषेकश्च शीतलः ।

धातुक्षयोक्तो यो दाहस्तेन मूर्च्छातृषान्वितः ॥ ७४ ॥
क्षामस्वरः क्रियाहीनो भृशं सीदति पीडितः ।
रक्तपित्तविधिस्तस्य हितः स्निग्धोऽनिलापहः ॥ ७५ ॥

धातुक्षयजदाहलक्षणचिकित्से—रस, रक्त आदि धातुओं के क्षय होने से जो दाह होता है उसे धातुक्षयजदाह कहते हैं। इसमें मूर्च्छा, तृषा और स्वरभेद के साथ रोगी को महान् अवसाद और कष्ट होता है। इस प्रकार के दाह में रक्तपित्त के समान चिकित्सा करनी चाहिए तथा स्निग्ध और वातनाशक चिकित्सा हितकर होती है ॥ ७४–७५ ॥

विमर्शः—रस रक्तादि धातुओं के क्षय से वायु की वृद्धि होती है 'वायोर्धातुक्षयात् कोपः' तथा यह वृद्ध वायु पित्त को दूषित करता है जिससे दाह उत्पन्न होता है। अत्यधिक रक्तस्रावजन्य, रक्ताल्पताजन्य तथा राजयक्ष्मा के कारण होने वाला दाह इस श्रेणि में समाविष्ट होता है तथा इनसे होने वाले दाह का कारण भी वातनाडी संक्षोभ ही है। रक्तपित्तचिकित्साक्रमः—शास्त्र में रक्तपित्त की चिकित्सा के लिये दो विधियाँ हैं—(१) अपतर्पण तथा (२) तर्पण चिकित्सा। रोगी बलवान् हो तथा उसके दोष बढ़े हुए हों तो प्रथम अपतर्पण चिकित्सा करनी चाहिए—ऊर्ध्वं प्रवृद्धदोषस्य पूर्वं लोहितपित्तिनः । अक्षीणबलमांसाग्नेः कर्त्तव्यमपतर्पणम् ॥ ऊर्ध्वग रक्तपित्त में यदि रोगी के बल, मांस और अग्नि का क्षय हो गया हो तो प्रथम तर्पण चिकित्सा करनी चाहिये और पश्चात् विरेचन देना चाहिए। अधोगामी रक्तपित्त में प्रथम पेया पिला के तर्पित कर फिर वमन कराना चाहिए—ऊर्ध्वगे तर्पणं पूर्वं कर्तव्यञ्च विरेचनम् । प्रागधोगमने पेया वमनञ्च यथाबलम् ॥ तर्पणप्रयोगाः—जलं खर्जूरमृद्वीकामधूकैः सपरूषकैः । शृतशीतं प्रयोक्तव्यं तर्पणार्थे सशर्करम् ॥ (च० चि० अ० ४) शालपर्ण्यादिना सिद्धा पेया पूर्वमधोगते । वमनं मदनोन्मिश्रो मन्थः सक्षौद्रशर्करः ॥ चरकोक्तयोगौ—उशीरकालीयकलोध्रपद्मकप्रियङ्गुकाकट्फलशङ्खगैरिकाः । पृथक् पृथक् चन्दनतुल्यभागिकाः सशर्करास्तण्डुलधावनप्लुताः ॥ उशीरपद्मोत्पलचन्दनानां पक्वस्य लोष्टस्य च यः प्रसादः । सशर्करः क्षौद्रयुतः सुशीतो रक्तातियोगप्रशमाय देयः ॥

क्षतजेनाश्नतश्चान्यः शोचतो वाऽप्यनेकधा ।
तेनान्तर्दह्यतेऽत्यर्थं तृष्णामूर्च्छाप्रलापवान् ॥ ७६ ॥
तमिष्टविषयोपेतं सुहृद्भिरभिसंवृतम् ।
क्षीरमांसरसाहारं विधिनोक्तेन साधयेत् ॥ ७७ ॥

क्षतजदाहलक्षणचिकित्से—रक्त के साथ भोजन करने से अथवा अनेक प्रकार से शोकपूर्वक भोजन करने से मनुष्य के शरीर के आभ्यन्तरिक अङ्गों में जोर का दाह उत्पन्न होता है तथा रुग्ण को प्यास, मूर्च्छा और प्रलाप होता है। ऐसी

परिस्थिति में उस व्रण को अभिलषित शब्द, स्पर्श, रूपादि विषयों से युक्त करके तथा उसके चारों ओर मित्रों को बिठा देना चाहिये। इसके अनन्तर उसको दुग्ध और मांसरस का भोजन कराके धारागृह आदि पूर्वोक्त अन्य दाहशामक उपायों से शान्ति पहुँचानी चाहिए ॥ ७६-७७ ॥

विमर्शः—'क्षतजेनाश्नतश्चान्यः' इसके स्थान में माधवकार के 'क्षतजोऽनश्नतश्चान्यः' ऐसा पाठान्तर मानने पर क्षतज दाह में रोगी के अन्न न खाने से अन्तर्दाह होता है ऐसा अर्थ होता है।

मर्माभिघातजोऽप्यस्ति स चासाध्यतमः स्मृतः।
सर्व एव च वर्ज्याः स्युः शीतगात्रेषु देहिषु ॥ ७८ ॥

मर्माभिघातजदाहादीनामसाध्यतावर्णनम्—हृदय, बस्ति, शिर आदि मर्म स्थानों के अभिघात से उत्पन्न होने वाला दाह अत्यधिक असाध्य होता है तथा इसके अतिरिक्त अन्तर्दाह के होते हुए भी शरीर बाहर से शीत हो तो वे सर्वदाह वर्जनीय (अचिकित्स्य) हैं ॥ ७८ ॥

विमर्शः—मर्म—'मारयति यत्तन्मर्म' 'मर्माणि नाम मांससिरास्नाय्वस्थिसन्धिसन्निपाताः' जिस स्थान पर चोट लगने से मनुष्य को अत्यधिक मारने की सी वेदना अनुभूत हो या मृत्यु तक हो जाय उसे मर्म कहते हैं। अथवा मांस, सिरा, स्नायु, अस्थि और सन्धि के संयोग-स्थान को मर्म कहते हैं। आधुनिकों ने मर्म शब्द से (Vital organs) जैसे फुफ्फुस, हृदय और मस्तिष्क का विशेषरूप से ग्रहण किया है। अपने महर्षियों ने १०७ मर्मों की संख्या मानी है तथा इनके ऊपर आघात लगने से होने वाले परिणाम की दृष्टि से पाँच भेद कर दिये हैं—'सद्यःप्राणहराणि, कालान्तरप्राणहराणि, विशल्यघ्नानि, वैकल्यकराणि, रुजाकराणि चेति' उनमें से यहाँ पर सद्यः प्राणहर मर्मों को ग्रहण किया है, जैसे—शृङ्गाटकान्यधिपतिः शङ्खौ कण्ठसिरा गुदम्। हृदयं बस्तिनाभी च घ्नन्ति सद्योहतानि तु ॥ (सु० शा० अ० ६) इस प्रकार सात प्रकार के दाह होते हैं जैसा कि जेजटाचार्य कहते हैं—'त्वचं प्राप्तः स पानोष्मा' इत्यादि वर्णित प्रथम दाह तथा 'कृत्स्नदेहानुगं रक्तं' यहाँ पर रक्त के स्थान पर पित्त शब्द का पाठान्तर मानकर 'पित्तज्वरसमः पित्तात् सचाप्यस्य विधिर्हितः' इस श्लोक तक वर्णित द्वितीय पैत्तिकदाह, तृष्णा के निरोध से उत्पन्न तृतीय दाह, असृजः पूर्णकोष्ठस्य इत्यादि के द्वारा वर्णित रक्तस्रावजन्य चतुर्थदाह, धातुक्षयजन्य पञ्चम दाह, क्षतजेनाश्नत इत्यादि के द्वारा वर्णित क्षतजजन्य षष्ठ दाह और मर्माभिघातजन्य सप्तम दाह होता है। अभिघात से भी वायु ही की वृद्धि होती है। अतः इसको वातज दाह ही समझना चाहिए। सभी प्रकार के अन्तर्दाह प्रायः असाध्य होते हैं। सुश्रुताचार्य ने अन्तर्दाह को गम्भीर ज्वर का लक्षण माना है—गम्भीरस्तु ज्वरो ज्ञेयो ह्यन्तर्दाहेन तृष्णया। चरकाचार्य ने उक्त लक्षणों से युक्त गम्भीर ज्वर को असाध्य कहा है—ज्वरक्षीणस्य शून्यस्य गम्भीरो दैर्घरात्रिकः। असाध्यो बलवान् यश्च केशसीमन्तकृज्ज्वरः ॥

एवंविधो भवेद्यस्तु मदिरामयपीडितः।
प्रशान्तोपद्रवे चापि शोधनं प्राप्तमाचरेत् ॥ ७९ ॥

दाहपुनरावृत्तिनिषेधोपायः—विधि विपरीत मदिरापान करने वाले रोगी की उपर्युक्त स्थितियाँ (दशाएँ) बताई गई हैं तथा इन दशाओं की चिकित्सा करने पर तृष्णा, दाह आदि उपद्रव शान्त भी हों तो भी यथादोष प्रत्यनीक (दोष विपरीत) शोधन करना चाहिए। अर्थात् मद्यज विकारों में पित्त की प्रधानता होने से पित्तहरण करने के लिये विरेचन का उपयोग करना चाहिए ॥ ७९ ॥

विमर्शः—अन्य आचार्य शोधन शब्द से वमन का भी ग्रहण करते हैं, उनके अभिप्राय में जब कि दाहकारक पित्त कफ के स्थान में चला जाय तब वमन भी उपयुक्त है। 'प्रशान्तोपद्रवे' के स्थान पर 'प्रशान्तोपद्रवश्चापि'—ऐसी भी पाठान्तर है। यह आतुर का विशेषण माना जा सकता है।

सजीरकाण्यार्द्रकशृङ्गवेर-
सौवर्चलान्यर्द्धजलप्लुतानि।
मद्यानि हृद्यान्यथ गन्धवन्ति
पीतानि सद्यः शमयन्ति तृष्णाम् ॥ ८० ॥

तृष्णाशामकमद्यानि—श्वेतजीरक, अद्रक, सोंठ, और सोंचल लवण इनका यथोचित चूर्ण तथा आधा पानी मद्य में मिलाकर इलायची दालचीनी आदि गन्धयुक्त द्रव्यों के प्रक्षेप से सुगन्धित कर हृदय व चित्त को प्रिय लगने वाले ऐसे मद्य का पान करने से वे तत्काल तृष्णा को शान्त कर देते हैं ॥ ८० ॥

जलप्लुतश्चन्दनभूषिताङ्गः स्रग्वी
सभक्ष्यां पिशितोपदंशाम्।
पिबन् सुरां नैव लभेत रोगान्
मनोनुविघ्नं च मदं न याति ॥ ८१ ॥

इति सुश्रुतसंहितायामुत्तरतन्त्रान्तर्गते कायचिकित्सातन्त्रे मदात्ययप्रतिषेधो नाम (नवमोऽध्यायः, आदितः) सप्तचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४७ ॥

मद्यपानविधिः—शीतल जल से शरीर को सिञ्चित कर सुगन्धित चन्दन का लेप करके अच्छी सुगन्धी वाले पुष्पों (मोगरा, चमेली, गुलाब) की माला पहन कर भात के साथ मांस का सेवन कर सुरा (मदिरा) का पान करने से पानात्ययादिक मद्यज रोग उत्पन्न नहीं होते हैं तथा मन को हानि पहुँचाने वाला मद (नशा) भी उत्पन्न नहीं होता है ॥

विमर्शः—उपदंशः=मद्यपानरोचकद्रव्यम्। 'मनोनुविघ्नं' के स्थान पर 'मनोमतिघ्नञ्च मदं न याति' ऐसा पाठान्तर है, वहाँ मन और बुद्धि को मुग्ध (मूढ) बनाने वाला मद्यलक्षण उत्पन्न नहीं होता है ऐसा अर्थ करें।

अन्यत्र मद्यमात्रा यथा—शुद्धकायः पिबेन्मद्यं सोपदंशं पलद्वयम्। मध्याह्ने द्विगुणं तच्च सुस्निग्धं भक्षयेदनु ॥ प्रदोषेऽष्टपलं तद्वन्मात्रा मद्यरसायने। अनेन विधिना सेव्यं मद्यं नित्यमतन्द्रितैः ॥

इति श्री अम्बिकादत्तशास्त्रिविरचितायां सुश्रुतोत्तरतन्त्रस्य भाषाटीकायां मदात्ययप्रतिषेधो नाम सप्तचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४७ ॥

अष्टचत्वारिंशोऽध्यायः

अथातस्तृष्णाप्रतिषेधमध्यायं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥ २ ॥

अब इसके अनन्तर तृष्णाप्रतिषेध नामक अध्याय का वर्णन प्रारम्भ किया जाता है जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने कहा है ॥ १-२ ॥

विमर्शः—तृष्णा की उत्पत्ति में अनेक कारणों में से मद्य भी एक कारण है तथा मद्यजरोग और तृष्णा दोनों में प्रकुपित पित्त को शमन करना तुल्य चिकित्सा है। अतएव मदात्यय प्रतिषेध के अनन्तर तृष्णाप्रतिषेध नामक अध्याय का प्रारम्भ करना युक्तिसङ्गत है। चरकाचार्य ने विसर्प का उपद्रव तृष्णा होने से विसर्प के अनन्तर तथा माधवकार ने छर्दि (वमन) के उपद्रव में तृष्णा के होने से छर्दि के अनन्तर तृष्णा रोग के निदान चिकित्सादि का विवेचन किया है। अस्तु, विसर्प और वमन की अपेक्षया मदात्यय रोग के अनन्तर तृष्णा रोग का वर्णन अधिक महत्त्व का है, क्योंकि मदात्यय और तृष्णा में पित्त मुख्य रूप से प्रकुपित होते हैं।

सततं यः पिबेद्वारि न तृप्तिमधिगच्छति।
पुनः काङ्क्षति तोयञ्च तं तृष्णार्दितमादिशेत् ॥ ३ ॥

तृष्णापरिभाषा—जो व्यक्ति निरन्तर कई बार जल पीने पर भी तृप्ति को प्राप्त नहीं होता है तथा बार बार जल पीने की इच्छा व्यक्त करता है उसे तृष्णार्दित (तृष्णारोगग्रस्त) समझना चाहिए ॥ ३ ॥

विमर्शः—तृष्णा को आधुनिक शास्त्रकार Thirst कहते हैं। इसकी उत्पत्ति के विषय में कोई निश्चित मत नहीं है। The mechanism of production of thirst is not fully understood but reference may be made to suggestive observations (wright)। यह जाना हुआ है कि शरीर में ६५-७० प्रतिशत जल की मात्रा है। अस्थि जैसी शरीर की कठोर धातु में भी २० प्रतिशत जल होता है। आहार द्रव्य से उत्पन्न आवश्यक तत्त्वों को घोलकर रसरूप में शरीर के विभिन्न धातुओं को पोषण पहुंचाना और उनके त्याज्य द्रव्यों को मूत्र, स्वेद, श्वास, बाष्प, अर मल द्वारा बाहर निकालना जल का ही कार्य है। अतः यह भी निश्चित है कि जब भी शरीर में रससञ्चार में बाधा उत्पन्न होने या मलों की अधिक उत्पत्ति एवं सञ्चय होने से अथवा किसी कारण से मूत्र, स्वेद आदि द्वारा अस्वाभाविक रूप में जल का अतिनिःसरण हो जावेगा अथवा आहार द्वारा ऐसे पदार्थ शरीर में पहुँच जावेंगे जो अनिष्ट हैं और उन्हें घोलकर निर्बल करना तथा बाहर निकालना होगा तो जल की अधिक मात्रा में आवश्यकता होगी। इस आवश्यकता की सूचनास्वरूप मुख, जिह्वा, तालु आदि अवयवों में जलीयांश की कमी के कारण शोष अथवा अन्य सार्वदैहिक लक्षणों की उत्पत्ति होती है। इसी को तृष्णा कहते हैं।

सङ्क्षोभशोकश्रममद्यपाना-
द्रूक्षाम्लशुष्कोष्णकटूपयोगात्।
धातुक्षयाल्लङ्घनसूर्यतापात्
पित्तञ्च वातञ्च भृशं प्रवृद्धौ ॥ ४ ॥
स्रोतांसि सन्दूषयतः समेतौ
यान्यम्बुवाहीनि शरीरिणां हि।
स्रोतःस्वपांवाहिषु दूषितेषु
जायेत तृष्णा प्रबला ततस्तु ॥ ५ ॥

तृष्णाया निदानं सम्प्राप्तिश्च—अत्यधिक शारीरिक तथा मानसिक संक्षोभ (हलचल), शोक (चिन्ता), थकावट, मद्यपान करने से तथा रूक्ष, अम्ल, शुष्क, उष्ण और कटु रस वाले द्रव्यों का अधिक सेवन करने से, रसरक्तादि धातुओं के क्षय होने से, लंघन से, सूर्य की धूप में अधिक रहने से पित्त और वात अधिक मात्रा में बढ़कर परस्पर मिश्रित होकर मनुष्यों के जलवाहक स्रोतसों को दूषित कर देते हैं, जिससे प्रबल तृष्णा रोग उत्पन्न हो जाता है ॥ ४-५ ॥

विमर्शः—चरकाचार्य ने भी तृष्णारोग के कारणों का सुश्रुतानुसार ही उल्लेख किया है, किन्तु सम्प्राप्ति में जलवाहक स्रोतसों के अतिरिक्त प्रवृद्ध पित्त और वात के द्वारा सौम्य धातुओं का शोषण होना तथा जिह्वामूल और गले, तालु तथा क्लोम प्रदेश की रसवाहिनियों (तथा तदन्तर्गत रस) का शोषण होना विशिष्ट लिखा है—पित्तानिलौ प्रवृद्धौ सौम्यान्धातूंश्च शोषयतः। रसवाहिनीश्च नाडीर्जिह्वामूलगलतालुकक्लोम्नः॥ संशोष्य नृणां देहे कुरुतस्तृष्णां महाबलावेतौ। पीतं पीतं हि जलं शोषयतस्तावतो न याति शमम्। घोरव्याधिकृशानां प्रभवत्युपसर्गभूता सा॥ (च० चि० अ० २२) प्रायः तृष्णा मानसी भी होती है—'इच्छाद्वेषात्मिका तृष्णा सुखदुःखात्प्रवर्तते' किन्तु यहाँ पर जो तृष्णा-रोग का वर्णन किया जा रहा है वह शारीरिक तृष्णा है। यद्यपि प्रतिदिन जो स्वाभाविक तृष्णा सभी को लगती है उसमें भी वात-पित्त ये ही दोनों दोष कारण हैं। किन्तु वह तृष्णा उचित द्रवपान करने से शान्त हो जाती है। अतः उस तृष्णा का यहाँ विचार नहीं किया गया है तथा उस तृष्णा में और इस रोगज तृष्णा में मुख्य भेद यही है कि वह स्वाभाविक है जो द्रवपान से तुरन्त शान्त हो जाती है तथा इसमें द्रवपान करने से भी शान्ति नहीं होती क्योंकि तृष्णारम्भ प्रबल रूप से प्रकुपित हुए पित्त-वात पीये हुए जलादि द्रव पदार्थों का तुरन्त शोषण कर लेते हैं। अतएव इस तृष्णा को चरकाचार्य ने उपसर्गभूता (उपद्रवभूता) लिखी है। यह निश्चित है कि किसी भी द्रव या क्लेद भाग का अग्नि (शरीर में पित्त तथा लोक में अग्नि और सूर्य) और वात के बिना शोषण नहीं हो सकता। अतएव इनके द्वारा शरीरगत जल के शोषित कर लेने पर मनुष्य बार-बार तृषा से पीड़ित होता है—नाग्निं विना हि तर्षः पवनाद्वा तौ हि शोषणे हेतुः। अब्धातोरतिवृद्धावपां क्षये तृष्यते नरो हि॥ गुर्वन्नप्रयमस्नेहैः संमूर्च्छाद्विर्विदाहकाले च। यस्तृष्येद् हतमार्गौ तत्राप्यनिलानलौ हेतू॥ (चरक) प्यास की अधिकता को (Palydipsia) कहते हैं। वास्तव में तृष्णा अनेक रोगों का विशिष्ट लक्षण है। यहाँ पर जो तृष्णा के कारण बताये हैं वे सत्य हैं, किन्तु उपलक्षणमात्र हैं। अतएव अन्य सभी सम्भव कारणों का समावेश इनमें कर लेना चाहिये—इन कारणों को तीन विभागों में रखा जा सकता है। (१) शारीरिक कारण—वे सभी कारण जो शरीर की धातुओं पर प्रत्यक्ष प्रभाव करके तृष्णा को उत्पन्न करते हैं—शारीरिक

कारण कहलाते हैं। इनमें कटु, अम्ल, उष्ण, तीक्ष्ण, रूक्ष, क्षार, लवण तथा मद्यवर्ग के पदार्थ, धातुक्षय, श्रम, वमन, अतिसार तथा अन्य इसी प्रकार के कारण–शारीरिक कारण कहे जाते हैं। (२) मानसिक कारण—ये कारण मानसिक प्रभावपूर्वक शरीर पर प्रभाव करके तृष्णा की उत्पत्ति करते हैं। भय, क्षोभ तथा क्रोध इसी श्रेणी में आ जाते हैं। आगन्तुक कारण—सूर्यसन्ताप, भट्टी, इञ्जनों के पास कार्य करना तथा विविध आघात—आगन्तुक कारण कहलाते हैं। तृष्णा की उत्पत्ति में दो मूल कारण हैं—(१) शरीर में जल की कमी तथा (२) वायव्य एवं आग्नेय या पैत्तिक गुण की वृद्धि। ये दोनों कारण सापेक्ष हैं। शरीर में जल या सौम्य गुण की कमी से वायव्य एवं आग्नेय गुण की वृद्धि होती है जैसा कि वाग्भटाचार्य ने भी लिखा है—'तत्प्रकोपो हि सौम्यधातुप्रदूषणात्' इसी प्रकार कदाचित् वात और पित्तवर्द्धक आहार-विहार के सेवन से भी वायव्य एवं आग्नेय गुणों की वृद्धि होने पर सोमगुण या जलीयांश का ह्रास भी होता है, जैसा कि चरकाचार्य ने स्पष्ट लिखा है—क्षोभाद् भयाच्छ्रमादपि शोकात्क्रोधाद्विलङ्घनान्मद्यात्। क्षाराम्ललवणकटुकोष्णरूक्षशुष्कान्न-सेवाभिः॥ धातुक्षयगदकर्षणवमनाद्यतियोगसूर्यसन्तापैः। पित्तानिलौ प्रवृद्धौ सौम्यान् धातूंश्च शोषयतः॥ वायु और पित्त ही बढ़कर तृष्णा की उत्पत्ति करते हैं। इस प्रकार जिन अवस्थाओं में वायु और पित्त की अधिकता तथा शरीरान्तर्गत जल की कमी होती है उन सब में तृष्णा की उत्पत्ति भी अनिवार्य रूप में पाई जाती है। तृष्णा स्वतन्त्र रोग न होकर अनेक रोगों का विशिष्ट लक्षण है। अतएव चरकाचार्य ने लिखा है कि 'घोरव्याधिकृशानां प्रभवत्युपसर्गभूता सा' अर्थात् विविध रोगों से कृश हुए रोगियों में यह उपद्रवरूप में पाई जाती है। किन्तु फिर भी चरक आदि संहिताकारों तथा तदनुसरणकर्ता माधव ने इसको आत्ययिकता एवं चिकित्सा-विशेष के कारण रोगसमूह में पढ़ा है। साधारण अवस्था में मूत्र, स्वेद, मल तथा कुछ अंश में वाष्प के रूप में शरीर से जल का ह्रास होता रहता है, जिसकी पूर्ति जल के साधारण सेवन से बिना किसी विकार के निरन्तर होती रहती है। किन्तु जिस अवस्था में यह ह्रास सीमा का उल्लंघन कर जाता है तो शरीरान्तर्गत जल की कमी की सूचनास्वरूप तृष्णा की उत्पत्ति होती है। इस अवस्था में बार बार जल पीने पर भी प्यास बनी रहती है। रक्तस्रावजन्य तृष्णा कारण—शरीर की प्रत्येक कोषा (Cell) जल से परिपूर्ण रहती है जो कि उसको रक्त के द्वारा ही मिलता है। इस तरह शरीरस्थ जल का प्रधान आश्रय या केन्द्र रक्त ही है। किसी कारण से आभ्यन्तरिक (Internal) या बाह्य (External) स्वरूप का अत्यधिक रक्तस्राव होने पर सम्पूर्ण शरीर में जल की साधारण मात्रा कम हो जाती है, जिससे जल क्षतिपूर्ति निमित्त रुग्ण को प्यास लगती है। सुश्रुताचार्य ने रसक्षय में साक्षात् तथा रक्तक्षय में शीतप्रार्थना के द्वारा तृष्णा की उत्पत्ति का उल्लेख किया है—'रसक्षये हृत्पीडा कम्पः शून्यता तृष्णा च, शोणितक्षये त्वक्पारुष्यमम्लशीतप्रार्थना सिराशैथिल्यञ्च'। शीतप्रार्थना की व्याख्या में डल्हणाचार्य लिखते हैं कि रक्तगत जल के अंश द्रव के नष्ट होने पर पित्त की वृद्धि होने से शीत के केन्द्र तथा अन्याङ्गों को जलग्रहण करने की इच्छा हो जाती है—'रक्तस्य द्रवत्वात् तत्क्षये तेजोवृद्धौ शीतप्रार्थनाऽपि'। इसी से रक्तस्रावजन्य मूर्च्छा की अवस्था में रोगी को प्यास का अनुभव न होते हुये भी यदि उसके मुख में पानी की कुछ बूँदें ही डाल दी जायँ तो वह तुरन्त आँखें खोलकर संज्ञा लाभ करता है। इसीलिये तो जल को जीवन संज्ञा दी गई है 'जीवनं जीविनां जीवो जगत्सर्वन्तु तन्मयम्'। इसके अतिरिक्त रक्तगत जलांश को कम करनेवाली सभी अवस्थाओं में तृष्णा की उत्पत्ति होती है। ग्रीष्मकालीन तृष्णा—यद्यपि यह रोग नहीं है, तथापि यह शरीर की समान विकृति से ही उत्पन्न होती है, यह व्यक्त करने के लिये ही इसका उल्लेख यहाँ किया गया है। इसका मूल कारण स्वेदातिप्रवृत्ति है। स्वेद के अधिक होने से शरीर(रक्तादि)गत जलीयांश की कमी हो जाती है तथा उसकी पूर्ति के लिये तृष्णा की उत्पत्ति स्वभावतः होती है। तीव्र विरेचन या विसूचिका जैसे रोग में शरीरस्थ जल की कमी से अन्य लक्षणों के अतिरिक्त तृष्णा की भी उत्पत्ति होती है। सिरा द्वारा जल रक्त में पहुँचाने पर रोग निवृत्त होता है। माधवकार ने भी तृष्णा के हेतु तथा सम्प्राप्ति-वर्णन में लिखा है कि भय, श्रम तथा बल के नाश से प्रकुपित वात एवं कटु, उष्ण, तीक्ष्ण, विदाही पदार्थ, मद्यपान एवं क्रोध आदि प्रकोपक कारणों से प्रकुपित पित्त मिलकर ऊर्ध्वगमन के द्वारा तालु में पहुँचकर प्यास को उत्पन्न कर देते हैं। इसके अतिरिक्त दोषों से जलवाही स्रोतसों के दूषित होने पर भी तृष्णा की उत्पत्ति होती है—भयश्रमाभ्यां बलसंक्षयाद्वा ह्यूर्ध्वं चितं पित्तविवर्धनैश्च। पित्तं सवातं कुपितं नराणां तालुप्रपन्नं जनयेत् पिपासाम्। स्रोतस्स्वपांवाहिषु दूषितेषु दोषैश्च तृट् सम्भवतीह जन्तोः॥ तालुप्रपन्नम्—तालुशब्द भी यहाँ उपलक्षणमात्र है। अतः इससे रसवाहिनी जिह्वामूल, गला तथा क्लोम का भी ग्रहण कर लेना चाहिए, क्योंकि तृष्णासम्प्राप्ति में इन अङ्गों की विकृति का वर्णन ग्रन्थांतरों में मिलता है—'रसवाहिनीश्च धमनीर्जिह्वामूलगल-तालुकक्लोम्नः' (चरक) अन्यच्च—'जिह्वामूलगलक्लोमतालुतोय-वहाः सिराः। संशोष्य तृष्णा जायन्ते' (वाग्भट) क्लोम—इस शब्द के अर्थ में अनेक मत हैं—(१) शार्ङ्गधर तथा अन्य मध्यकालीन संहिताओं में क्लोम को तिल के आकार का बताया गया है, जिससे कुछ लोग तिल की आकृति वाले पित्ताशय (Gall bladder) का ग्रहण करते हैं। पित्ताशय के साथ भी तृष्णा का कुछ न कुछ सम्बन्ध अवश्य है ही—जलवाहिशिरामूलं तृष्णाऽऽच्छादनकं तिलम् अर्थात् तिल (क्लोम) यह जलवाहक शिराओं का मूल स्थान है तथा स्वस्थावस्था में तृष्णा नहीं लगने देता है और तिल की आकृति वाला है। (२) कविराज गणनाथसेनजी गलनाडी (Trachea) को ही क्लोम मानते हैं, क्योंकि उसमें मण्डल सन्धि का होना बताया है। (३) कुछ लोग अन्ननलिका के आदि भाग (Pharynx) को ही क्लोम मानते हैं। (४) कुछ विद्वान् तालु के समीपस्थ मस्तिष्क मूल (Base of the brain) में रहने के कारण पीयूषग्रन्थि (Pituitary body) को ही क्लोम मानते हैं। इसकी क्रियावृद्धि में मेदोवृद्धि तथा परम्परया पिपासाधिक्य होता है। (५) क्लोम शब्द से कतिपय विद्वान् अग्न्याशय (Pancreas) का ग्रहण करते हैं। इसके विकृत होने से

मधुमेह की उत्पत्ति होती है। अर्थात् इसके विकृत होने पर इसके अन्तःस्राव (Insulin) की भी कमी हो जाती है, जिससे शर्करा का समवर्त (Metabolism) पूर्ण नहीं हो पाता। परिणामस्वरूप वह मूत्र के साथ उत्सर्जित होने लगती है। शर्करा का उत्सर्ग कराने के लिये जल की प्रचुर राशि का होना भी आवश्यक है। इस प्रकार शर्करा के उत्सर्ग में शरीरस्थ जल की बहुत अधिक राशि मूत्र द्वारा उत्सृष्ट हो जाती है जिससे शरीरगत जल की कमी की सूचना देने के लिये भौतिक परिणामस्वरूप तृष्णा की उत्पत्ति होती है। इससे यह सिद्ध है कि मधुमेहजन्य तृष्णा का मूल कारण अग्न्याशय की विकृति है। इसलिये क्लोम शब्द से प्रकरणगत अग्न्याशय का ग्रहण करना उचित प्रतीत होता है। तालु शब्द से भी केवल मृदु तालु (Soft Palale) का ग्रहण न कर के इसके ठीक ऊपर मस्तिष्क स्थित उपाख्यापिण्ड (Hypothalamus) का ग्रहण भी यदि किया जाय तो उचित है क्योंकि यही जल नियन्त्रण केन्द्र (Water regulating center) का अधिष्ठान है। वात और पित्त प्रकुपित होकर तालु को शुष्क कर देते हैं जिससे वहाँ फैले हुए वात नाड़ी के अङ्कों द्वारा उक्त केन्द्र में उत्तेजना पहुँचने के फलस्वरूप तृष्णा की उत्पत्ति होती है। इस तरह उपर्युक्त विवरण के आधार पर सूत्ररूप में धातुगत जल की कमी को ही तृष्णा का एकतम कारण कहा जा सकता है जैसा कि चरकाचार्य का भी यही मत है—'अब्धातुं देहस्थं कुपितः पवनो यदा विशोषयति। तस्मिन्शुष्के शुष्यत्यबलस्तृष्यत्यथ विशुष्यन्'। इसी आशय को वाग्भट ने भी समर्थित किया है—'तत्प्रकोपो हि सौम्यधातुप्रदूषणात्' अर्थात् जलीय धातु की कमी से तृष्णा का प्रकोप होता है। स्रोतःस्वपां वाहिषु दूषितेषु—जलवाही स्रोतसों के दूषित होने पर प्यास का अनुभव होता है, जैसा कि सुश्रुताचार्य ने कहा है कि उदकवाहक दो स्रोतस हैं। उनका मूल तालु और क्लोम है। उनमें विकृति होने से प्यास एवं तात्कालिक मृत्यु भी हो सकती है-'उदकवहे द्वे तयोर्मूलं क्लोम तालु च तत्र विद्धस्य पिपासा सद्योमरणञ्च' उदकवाहक मूल स्रोतस दो तथा उन की शाखा-प्रशाखा अनेक होने से स्रोतःस्वपांवाहिषु ऐसा बहुवचनांत पाठ भी सङ्गत है। रसवाही या लसवाही तथा रक्तवाही ऐसे उदकवह दो स्रोतस समझने चाहिए। अथवा सूक्ष्म और स्थूल भेद से भी दो प्रकार के उदकवह स्रोत माने जा सकते हैं। प्रथम का मूल तालु (उसके समीप मस्तिष्क में अवस्थित जलनियामक केन्द्र) और द्वितीय का मूल क्लोम या अग्न्याशय है, क्योंकि उसके समीप ही क्षुद्रान्त्रस्थ रसाङ्कुरों द्वारा रस का शोषण होता है। कुछ लोग गलस्थित जिह्वाधरिका सिरा (Sublingual Veins) को उदकवाही-स्रोत की संज्ञा देते हैं, वह ठीक नहीं। मधुकोषकार विजयरक्षित ने स्रोतःसु—इस सम्प्राप्ति प्रसङ्ग में दोष शब्द का अर्थ गदाधर के मतानुसार आम, कफ और अन्न किया है तथा इन अन्न, कफ और आम दोषों के द्वारा उदकवाही स्रोतसों की दुष्टि होने से अन्नज, आमज और कफज तृष्णा उत्पन्न होती हैं ऐसा माना है—दोषैरिति—अन्नकफामैः, दुष्टिकर्तृत्वाद् दुष्टदोषसम्बन्धाद्वाऽन्नामयोरपि दोषत्वम्। किन्तु सभी प्रकार की तृष्णाओं में पित्त और वात की प्रधानता तथा जलवाही स्रोतसों की दुष्टि अनिवार्य है। अतः इसे विशिष्ट सम्प्राप्ति न मान कर सामान्य सम्प्राप्ति ही मानना ठीक है। आयुर्वेद के सभी आचार्य तृष्णोत्पत्ति में पित्त और वात को प्रधान दोष तथा दूष्य की दृष्टि से सौम्य धातु और उदकवह स्रोतस आदि को स्वीकार करते हैं—(१) पित्तानिलौ प्रवृद्धौ सौम्यान् धातूंश्च शोषयतः। रसनाहिनीश्च नाडीर्जिह्वामूलगलतालुक्लोम्नः। संशोष्य नृणां देहे कुरुतस्तृष्णां महाबलावेतौ॥ (चरक) (२) स्रोतांसि सन्दूषयतः समेतौ यान्यम्बुवाहीनि शरीरिणां हि। स्रोतःस्वपांवाहिषु दूषितेषु जायेत तृष्णातिबला ततस्तु॥ (सुश्रुत) (३)⋯वातपित्ते तु कारणम्। सर्वासु तत्प्रकोपो हि सौम्यधातुप्रदूषणात्। जिह्वामूलगलक्लोमतालुतोयवहाः सिराः॥ संशोष्य तृष्णा जायन्ते⋯⋯। (वाग्भट) इनके अतिरिक्त चरकाचार्य ने और भी स्पष्ट किया है कि अग्नि और वायु के बिना प्यास नहीं लगती, क्योंकि वे ही जलीय धातु का शोषण करने वाले हैं। इस प्रकार जल का क्षय होने पर तृष्णा की उत्पत्ति होती है—नाग्नि विना हि तर्षः पवनाद्वा तौ हि शोषणे हेतू। अब्धातोरतिवृद्धावपां क्षये तृष्यते नरो हि॥ वास्तव में प्रत्येक तृष्णा की उत्पत्ति में उदकवाही स्रोतसों तथा वातपित्त की दुष्टि अनिवार्य है। किन्तु निदान-वैचित्र्य के कारण इनके क्रम में भेद है। कुछ रोगियों में स्वप्रकोपक कारणों से पहले वात और पित्त की दुष्टि होती है, तत्पश्चात् स्रोतसों की दुष्टि होकर तृष्णा की उत्पत्ति होती है। इसके विपरीत कुछ रोगियों में साक्षात् उदकवाही स्रोतसों की दुष्टि पहले होती है, तत्पश्चात् वात-पित्त की दुष्टि होकर तृष्णा भी उत्पन्न हो जाती है। जिस प्रकार कटु, तीक्ष्ण, विदाही, भय तथा श्रम वात-पित्तप्रकोपणपूर्वक जलवाही स्रोतसों को दुष्ट करके तृष्णा को उत्पन्न करते हैं इसी प्रकार अन्न, कफ और आम प्रथम जलवाही स्रोतसों को दुष्ट करते हैं, पश्चात् वातपित्त की दुष्टि कर तृष्णा को उत्पन्न कर देते हैं। जलवाही स्रोतसों की दुष्टि से उत्पन्न तृष्णा का सर्वोत्तम उदाहरण वृक्कविकृतिजन्य जलोदर है। यह बताया जा चुका है कि रक्तवाही या लसवाही स्रोत ही उदकवाही स्रोत हैं। वृक्क की विकृति से इन स्रोतसों में अवरोध होने पर जल उदरगुहा में ही सञ्चित होने लगता है एवं परिणामस्वरूप शारीरिक धातुओं में जल की कमी हो जाती है और पिपासा की उत्पत्ति होती है। इसी आशय से चरकाचार्य ने लिखा है कि उदकवाही स्रोतसों का मार्ग रुद्ध हो जाने पर इस अवस्था में पिया हुआ पानी भी धातुओं में न जाकर उदरावरण में ही एकत्रित होने लगता है—'स्रोतस्सु रुद्धमार्गेषु कफश्चोदकमूर्च्छितः। वर्धयेतां तदेवाम्बु स्वस्थानादुदराय तौ। तस्य रूपाणि अन्नाकांक्षा पिपासा।' अत एव जलोदर की चिकित्सा में जल निषिद्ध है। यकृत् और प्लीहा पित्त के स्थान हैं। इनकी विकृति से होने वाले जलोदर में प्रथम पित्तदुष्टि तत्पश्चात् जलवाही स्रोत की दुष्टि होकर तृष्णा उत्पन्न होती है। रक्तक्षयजन्य तृष्णा में प्रथम जलवाही स्रोत तथा पश्चात् पित्त की दुष्टि होती है। इस तरह विभिन्न रोगों तथा विभिन्न रोगियों में इनकी दुष्टि का क्रम भी भिन्न-भिन्न रहता है।

तिस्रः स्मृतास्ताः क्षतजा चतुर्थी
क्षयात्तथाऽन्याऽऽमसमुद्भवा च।
स्यात्सप्तमी भक्तनिमित्तजा तु
निबोध लिङ्गान्यनुपूर्वशस्तु ॥ ६॥

तृष्णाभेदाः—वात, पित्त और कफ इन दोषों के प्रकोप से तृष्णा तीन प्रकार की, क्षत (व्रण) के कारण चौथी, पाँचवीं रसक्षय से, छठी आमदोष (अजीर्ण) से उत्पन्न एवं सातवीं स्निग्ध, गुरु, उष्ण, रूक्ष आदि भोजन के निमित्त से उत्पन्न होने वाली ऐसी तृष्णा सात प्रकार की होती है। अब आगे उनके क्रमशः लक्षण कहे जाते हैं ॥ ६ ॥

विमर्शः—'तिस्र इति वातपित्तकफैः' डल्हणाचार्य ने शङ्का की है कि कफ के (शीत, मधुर और) स्तैमित्य (चिपचिपापन) गुणयुक्त होने से उसे तृष्णा का जनक नहीं होना चाहिये। फिर भी वृद्ध हुआ कफ जब वायु को पित्त के सहित घेर लेता है तब वह उन दोनों (वात-पित्तों) से शोषित होता हुआ तृष्णा का उत्पादक हो जाता है। क्षतजा चतुर्थी चौथी व्रण के कारण उत्पन्न होती है। यहाँ पर चतुर्थ शब्द के ग्रहण से आद्य चार तृष्णाएँ सुखसाध्य होती हैं तथा रसक्षय से होने वाली पाँचवीं और आमदोष से होने वाली छठी को दुःसाध्य समझना चाहिये। पांचवीं रस के क्षय से (क्षयात्=रसक्षयात् रसक्षयाद्या क्षयसम्भवा सा)। और छठी आमदोष या अजीर्ण से और सातवीं स्निग्धादिभोजन करने से। इस प्रकार सुश्रुताचार्य ने तृष्णा के सात भेद माने हैं, किन्तु चरक ने वातज, पित्तज, आमज, क्षयज तथा उपसर्गज (ज्वरप्रमेहादि के उपद्रवस्वरूप) पाँच प्रकार की तृष्णा का ही उल्लेख किया है। चरक ने सुश्रुतोक्त कफज, क्षतज और भक्तोद्भवा भेद नहीं माने हैं। इसके अतिरिक्त उन्होंने उपसर्गजभेद विशेष स्वीकार किया है। आमज तृष्णा के लक्षण तथा चिकित्सा कफ के समान ही हैं। अतः आमज शब्द से कफज का भी ग्रहण कर लेना चाहिये—'आमशब्देन चेह लक्षणया आमसमानचिकित्सित आमसमानलक्षणश्च कफोऽपि गृह्यते, तेनामभवाया व्युत्पादनेन कफजापि सुश्रुतोक्ता गृहीतैवेह।' (च० चक्रपाणिः) अन्नजा या भक्तोद्भवा तृष्णा का अवस्था के अनुरूप वातिक आदि में समावेश हो जाता है। यथा—पाक की पूर्वावस्था में कफज या आमज में, पच्यमानावस्था में पित्तज में तथा पाकोत्तर अवस्था में वातज तृष्णा में इसका अन्तर्भाव हो जाता है। क्षतज तृष्णा के उपसर्गज में या क्षतजन्य वातप्रकोप होने से वातज में अन्तर्भाव हो जाता है 'क्षतजा चौपसर्गिकाया मवरुद्धा' (चक्रपाणिः) फिर भी सुश्रुत ने निदान भेद होने से चिकित्सा में भी भेद होता है इस दृष्टि से सात भेद किये हैं। वाग्भटाचार्य ने भी वातज, पित्तज, कफज, सन्निपातज, आमज, क्षयज तथा उपसर्गज भेद से तृष्णा के सात भेद किये हैं—वातात् पित्तात् कफात् तृष्णा सन्निपाताद्रसक्षयात्। षष्ठी स्यादुपसर्गाच्च सप्तमी चामजा मता॥ सुश्रुत ने उपसर्गज को ही क्षतज नाम दिया है। वाग्भटोक्त सन्निपातज तृष्णा के स्थान पर सुश्रुत ने भक्तोद्भवा का उल्लेख किया है। वस्तुतः भोजन का परिपाक ठीक न होने से आम की उत्पत्ति तथा आम से सन्निपात के लक्षणों वाली तृष्णा उत्पन्न होती है। इस प्रकार केवल वर्णन-शैली की ही भिन्नता है। सुश्रुत ने स्वाभाविक तृष्णा और बुभुक्षाजन्य तृष्णा का कोई महत्त्व नहीं होने से एवं पैत्तिकज्वरजन्य तृष्णा का पित्त में तथा पानजा का क्षयजन्य तृष्णा में अन्तर्भाव हो जाने से वर्णन नहीं किया है।

ताल्वोष्ठकण्ठास्यविशोषदाहाः
सन्तापमोहभ्रमविप्रलापाः।
पूर्वाणि रूपाणि भवन्ति तासा-
मुत्पत्तिकालेषु विशेषतस्तु ॥ ७ ॥

तृष्णायाः पूर्वरूपाणि—तृष्णा के उत्पन्न होने के पूर्व तालु, ओष्ठ, कण्ठ तथा मुख का विशेष रूप से सूखना ये स्थानिक लक्षण तथा दाह, सन्ताप, मोह (चित्तविकृति), भ्रम और विविध प्रकार से बोलना ये सार्वदैहिक लक्षण उत्पन्न होते हैं तथा तृष्णा की उत्पत्ति हो जाने पर ये उक्त लक्षण विशेष रूप से बढ़ जाते हैं ॥ ७ ॥

विमर्शः—चरकोक्ततृष्णापूर्वरूपलक्षणानि—प्राग्रूपं मुखशोषः स्वलक्षणं सर्वदाऽम्बुकामित्वम्। तृष्णानां सर्वासां लिङ्गानां लाघवमपायः।

शुष्कास्यता मारुतसम्भवायां
तोदस्तथा शङ्खशिरःसु चापि।
स्रोतोनिरोधो विरसञ्च वक्त्रं
शीताभिरद्भिश्च विवृद्धिमेति ॥ ८ ॥

वातजतृष्णालक्षणम्—वातप्रकोप से उत्पन्न तृष्णा के रोग के कारण मुख का सूखना, शङ्खप्रदेश और सिर में सूई चुभोने की सी पीड़ा का होना, स्रोतसों (कर्ण स्रोतस अथवा रस और जल के वाहक स्रोतसों) का अवरोध होना, मुँह के स्वाद का फीका रहना तथा शीतल जल के पीने से प्यास का अधिक बढ़ना ये सब वातज तृष्णा के लक्षण हैं ॥८॥

विमर्शः—कुछ लोग 'शुष्कास्यता' के स्थान पर 'क्षामास्यता' ऐसा पाठान्तर मानते हैं तथा उसका अर्थ भोजन चर्वण करने की असमर्थता करते हैं। इसके अतिरिक्त 'शङ्खशिरःसु चापि' इसके स्थान पर 'शङ्खशिरोगलेषु' ऐसा पाठान्तर मान कर गले में भी सूई चुभोने की सी पीड़ा होती है ऐसा लक्षण लिखते हैं। कुपित वायु जब शरीरस्थ जल को सुखा देता है तब तृष्णा की उत्पत्ति होती है जैसा कि चरकाचार्य ने भी लिखा है—अब्धातुं देहस्थं कुपितः पवनो यदा विशोषयति। तस्मिन्शुष्के शुष्यत्यबलस्तृष्यत्यथ विशुष्यन्॥ (च० चि० अ० २२) प्रायः सुश्रुत, चरक और वाग्भट इस संहितात्रय में वातज तृष्णा के समान लक्षण मिलते हैं। किन्तु चरक ने वातवृद्धि के सहज लक्षण निद्रानाश को भी इसके लक्षण में लिखा है—निद्रानाशः शिरसो भ्रमस्तथा शुष्कविरसमुखता च। स्रोतोऽवरोधः इति च स्याल्लिङ्गं वाततृष्णायाः॥ (च० चि० अ० २२) आचार्य वाग्भट ने इन लक्षणों के साथ गन्ध तथा शब्द के ग्रहण करने की शक्ति का भी विनाश इस रोग का लक्षण माना है—मारुतात्क्षामता दैन्यं शङ्खतोदः शिरोभ्रमः। गन्धज्ञानास्यवैरस्यश्रुतिनिद्राबलक्षयाः। शीताम्बुपानाद् वृद्धिश्च""""(वाग्भट) सभी तृष्णाओं में वात तथा पित्त का अनुबन्ध रहता है। वातिक तृष्णा में वातदोष की प्रमुखता रहती है। अतएव उसके लक्षण भी अधिक रहते हैं। वात का गुण रूक्षता उत्पन्न करना

है। अतएव मुख में भी रूक्षता उत्पन्न हो जाती है। यह रूक्षता शरीरस्थ जल की अल्पता का निदर्शक है। मुख में भी तालु ही विशेष रूप से शुष्क होता है एवं वही या उसके ठीक ऊपर मस्तिष्कस्थित उपाज्ञापिण्ड (Hypothalmus) तृष्णा की अनुभूति का मुख्य केन्द्र है। वाताधिक्य के कारण ही नासा की श्लेष्मलकला शुष्क हो जाती है जिससे वहाँ पर फैले हुए वात-नाड़ी के अग्र शुष्क होने के कारण गन्धरूप संवेदना का वहन नहीं कर पाते। गन्धज्ञान के अभाव का यही प्रमुख कारण है। श्रवण शक्ति के ह्रास का भी कारण वायु की रूक्षता के कारण अन्तःकर्ण (Internal ear) की विकृति है। वातवृद्धि से वातनाडी-संस्थान क्षुभित रहता है, जिससे निद्रा का प्रायः अभाव हो जाता है। शङ्खप्रदेश में पीड़ा की अनुभूति भी वातवृद्धि का ही लक्षण होता है। स्रोतोनिरोधः—उदकवाही स्रोतसों का अवरोध वस्तुतः तृष्णा का लक्षण न होकर वातवृद्धि का लक्षण तथा तृष्णा का उत्पादक कारण है। वातवृद्धि से उदकवाही स्रोतसों में अवरोध होने से धातुगत जल की कमी होकर तृष्णा की उत्पत्ति होती है। शीताभिरद्भिरित्यादि—अति शीतल जल भी वात की वृद्धि करता है। वातजन्य तृष्णा में यदि शीतल जल का प्रयोग किया जाय तो वात अत्यधिक प्रकुपित होकर तालु और कण्ठ में शुष्कता उत्पन्न करके तृष्णा को उत्पन्न करता है। इसके विपरीत उष्ण जल वातशामक होने से ऐसी तृष्णा में उपशय होने से लाभ करता है। अतएव उष्णजल को तृष्णाशामक भी कहा गया है। बर्फ से मिश्रित अतिशीतल जल पीने से उदकवाही स्रोतसों की दुष्टि होने से स्रोतोनिरोधवत् तृष्णा की उत्पत्ति होती है। 'पिबेज्जलं शीतलमाशु तस्य स्रोतांसि दुष्यन्ति हि तद्वहानि'। बर्फ का पानी पीने से प्यास अधिक लगती है। इसका ज्ञान प्रत्येक अनुभवी व्यक्ति को है।

> मूर्च्छाप्रलापारुचिवक्त्रशोषाः
> पीतेक्षणत्वं प्रततश्च दाहः।
> शीताभिकाङ्क्षा मुखतिक्तता च
> पित्तात्मिकायां परिधूपनञ्च ॥ ९ ॥

पित्तजतृष्णालक्षणम्—पित्तजन्य तृष्णा में मूर्च्छा, असम्बद्ध भाषण, अन्न में अरुचि, मुख का सूखना, नेत्रों का पीला होना, शरीर (विशेषतया मुख तथा कण्ठ) में दाह होता है तथा शीतल पदार्थों के सेवन करने की आकांक्षा बनी रहती है। एवं मुख में तिक्तता तथा धूमवमन की भाँति मुख से काली बाष्प बाहर आती है ॥ ९ ॥

विमर्शः—मूर्च्छाप्रलापारुचिवक्त्रशोषाः॥ इसके स्थान पर 'मूर्च्छान्नविद्वेषविलापदाहाः' ऐसा पाठान्तर है। इसी प्रकार 'पीतेक्षणत्वं' के स्थान पर 'रक्तेक्षणत्वम्' एवं 'प्रततश्च दाहः' के स्थान पर 'प्रततश्च शोषः' तथा 'शीताभिकाङ्क्षा' के स्थान पर 'शीताभिनन्दा' और 'परिधूपनम्' की जगह 'परिदूयनम्' ऐसे पाठान्तर हैं। पित्त की उष्णता से शरीरस्थ जल का नाश अधिक मात्रा में होता है। जल के ह्रास एवं पित्त की वृद्धि के परिणामस्वरूप तृष्णा भी अधिक लगती है—पित्तं मतमाग्नेयं कुपितञ्चेत्तापयत्यपां धातुम्। सन्तप्तः स हि जनयेत्तृष्णां दाहोल्वणां नृणाम्॥ (च. चि. अ. २२) मूर्च्छा यद्यपि पित्त और तमोगुण की वृद्धि से होती है—'मूर्च्छा पित्ततमःप्राया' तथापि मूर्च्छा की उत्पत्ति में पित्त का विशेष भाग रहता है, जैसा कि मूर्च्छा-निदान में लिखा है-'षट्स्वप्येतासु पित्तन्तु प्रभुत्वेनावतिष्ठते' इसी प्रकुपित पित्त के ही कारण उसे 'शीताभिकाङ्क्षा' शीतल जल के पान एवं परिषेक की आकांक्षा बनी रहती है। प्रलाप—पित्तजतृष्णा में वात का अनुबन्ध भी पर्याप्त मात्रा में है, अतः प्रलापसदृश वातिक लक्षण होते हैं। अरुचि—पित्त की उष्णता से शरीरस्थ जल की कमी होने से आमाशयिक रस की भी न्यूनता हो जाती है, जिससे पित्तजतृष्णा-पीड़ित व्यक्ति को भोजन करने की अनिच्छा होती है। वक्त्रशोष भी पित्त की वृद्धि से होता है। पीतेक्षणत्वम् यह चरकसम्मत पाठ है। सुश्रुत की अन्य पुस्तकों में 'रक्तेक्षणत्वं' ऐसा भी पाठान्तर है। दोनों पाठों में कोई तात्त्विक विरोध नहीं है क्योंकि रक्तिमा और पीतिमा दोनों ही पित्त के रङ्ग हैं। अतः किसी रोगी में रक्तवर्ण की प्रतीति होती है तो किसी दूसरे में पीत वर्ण की। हेतुसाम्य के कारण यद्यपि पीतिमा या रक्तिमा सर्वशरीर में प्रकट होनी चाहिए तथापि नेत्रगत केशिकाओं के अधिक उत्तान (Superficial) होने से वहाँ पर ही उक्तवर्णों की प्रतीति विशेष रूप से होती है। चरकोक्त पित्तजतृष्णालक्षणम्—तिक्तास्यत्वं शिरसो दाहः शीताभिनन्दता मूर्च्छा। पीताक्षिमूत्रवर्चस्त्वमाकृतिः पित्ततृष्णायाः॥ (च० चि० अ० २२)

> कफावृताभ्यामनिलानलाभ्यां
> कफोऽपि शुष्कः प्रकरोति तृष्णाम्।
> निद्रा गुरुत्वं मधुरास्यता च
> तयाऽर्दितः शुष्यति चातिमात्रम् ॥१०॥
> कण्ठोपलेपो मुखपिच्छिलत्वं
> शीतज्वरच्छर्दिररोचकश्च।
> कफात्मिकायां गुरुगात्रता च
> शाखासु शोफस्त्वविपाक एव।
> एतानि रूपाणि भवन्ति तस्यां
> तयाऽर्दितः काङ्क्षति नाति चाम्भः ॥११॥

कफजतृष्णालक्षणम्—प्रथम मिथ्या आहार-विहार से कफ प्रकुपित होता है। पश्चात् इस कफ के द्वारा वायु और पित्त घेर लिए जाते हैं और उन आवृत हुए वात की रूक्षता तथा पित्त की उष्णता से कफ भी शुष्क होकर कफजतृष्णा को उत्पन्न करता है, जिससे निद्रा, सारे शरीर या उदर में भारीपन और मुख में मीठापन ये लक्षण होते हैं। कफज तृष्णा से पीड़ित व्यक्ति का शरीर अत्यधिक सूख जाता है। इन लक्षणों के अतिरिक्त कण्ठ में मल की वृद्धि, कफ से लिप्त रहने से मुख में चिक्कणता, शीतपूर्वक ज्वर का आना, वमन, अरुचि, हस्त, पाद और शिर में भारीपन तथा शाखाओं (हस्त-पाद) में शोथ और भोजन का ठीक रूप से न पचना ये लक्षण कफजन्य तृष्णा में होते हैं। इस तृष्णा से पीड़ित व्यक्ति अधिक जल पीने की इच्छा नहीं करता ॥ १०-११ ॥

विमर्शः—कुछ आचार्यों ने कफावृताभ्याम् इत्यादि श्लोक

के अर्द्धांश को निम्न रूप से पढ़ा है—'बाष्पावरोधात् कफसंवृतेऽग्नौ तृष्णा बलासेन भवेत्तथा तु' जिसका अर्थ निम्न है—अपने कारणों से प्रकुपित कफ के द्वारा शरीराग्नि के आच्छादित कर लेने पर जलवाही स्रोतसों में अवरोध होने से (बाष्पावरोधात्) जो तृष्णा उत्पन्न होती है उसे कफज तृष्णा कहते हैं। कफ के द्वारा अग्नि या पित्त का आवृत होना तथा जलवाहक स्रोतसों के अवरोध से कफ को स्वजातीय पोषक पदार्थ न मिलने से उसका क्षीण, शुष्क और रूक्ष होकर तृष्णा उत्पन्न करना पूर्वपाठ से मिलता हुआ-सा ही अर्थ है। मधुर, अम्ल तथा लवण रस युक्त एवं स्निग्ध और शीत आदि द्रव्यों के सेवन से कफ की वृद्धि होती है। वृद्ध कफ जठराग्नि को आवृत कर लेता है। आमाशय कफ का स्थान है, भोजन का प्रथम पाचन भी आमाशय में ही होता है। कफ सौम्य है तथा आमाशयिक रस आग्नेय है। इस प्रकार ये दोनों परस्पर विरोधी हैं। कफ की अधिकता से पाचक रसों का कार्य ठीक न हो सकने के परिणामस्वरूप अजीर्ण की उत्पत्ति होती है। इससे रस और जल का शोषण न होने से उदकवाही स्रोतसों में अवरोध उत्पन्न होकर धातुगत जल की कमी के साथ तृष्णा की उत्पत्ति होती है। मधुकोषकार ने कफ कैसे तृष्णा का उत्पादक होता है, इस विषय का शङ्का-समाधानपूर्वक अच्छा स्पष्टीकरण किया है—'ननु कफजा तृष्णाऽनुपपन्ना, कफस्य वृद्धस्य केवलद्रवस्य पिपासाकर्तृत्वायोगात्, वातपित्तयोरेव तृष्णाकर्तृत्वेन उक्तत्वात्, यदुक्तं 'पित्तं सवातं कुपितं नराणाम्' इत्यादि। चरकेऽप्युक्तं 'नाग्नेर्विना तर्षः पवनाद्वा, तौ हि शोषणे हेतू' (च० चि० अ० २०) इति। सुश्रुतेऽप्युक्तम्—मद्यस्याग्नेयवायव्यगुणावम्बुवहानि तु। स्रोतांसि शोषयेयातां ततस्तृष्णा प्रजायते॥ अर्थात् कफ सोमगुणभूयिष्ठ तथा द्रवरूप में होने से तृष्णा का उत्पादक नहीं हो सकता, क्योंकि चरक में वात और पित्त को ही तृष्णा का उत्पादक कारण माना है और सुश्रुत में भी मद्य को आग्नेय तथा वायव्य प्रधान मानकर जलवाही स्रोतसों का अवरोधक तथा तृष्णा का उत्पादक स्वीकृत किया है। इन सभी उद्धरणों के आधार पर केवल वात और पित्त की ही तृष्णा के प्रति साक्षात् कारणता है, कफ की नहीं। वस्तुतः कफ की तृष्णा के प्रति साक्षात् कारणता किसी को भी स्वीकार नहीं है। इसी आधार पर चरक ने कफज तृष्णा का उल्लेख न करके आमज में ही उसका अन्तर्भाव कर दिया है। कफ की प्रतिक्रिया से प्रवृद्ध पित्त ही तृष्णा को उत्पन्न करता है, यह सर्वमान्य मत है। सुश्रुत ने चिकित्सा-भेद के कारण इसका पृथक् उल्लेख किया है। हारीत भी कफज तृष्णा को पित्तानुबन्धिनी ही स्वीकार करते हैं। यथा—स्वाद्वम्ललवणाजीर्णैः क्रुद्धः श्लेष्मा सहोष्मणा। रुणद्ध्यम्बुवहस्रोतस्तृष्णां सञ्जनयेन्नृणाम्॥ शिरसो गौरवं तन्द्रा माधुर्यं वदनस्य च॥ भक्तद्वेषः प्रसेकश्च निद्राधिक्यं तथैव च। एतैर्लिङ्गैर्विजानीयात्तृष्णां कफसमुद्भवाम्॥ कफ के कारण अग्निमान्द्य और पाचन विकार होने से रस या जल का शोषण ठीक नहीं होता और आभ्यन्तर धातुओं में जलांश की न्यूनता हो जाती है, अतः तृष्णा की उत्पत्ति होती है। बाष्पावरोध का अर्थ स्वेदावरोध भी हो सकता है। शरीर के स्वेद के रुक जाने से उसके साथ निकलने वाले त्याज्य मलों का रक्त सञ्चय होता है और उन्हें घोलकर मूत्र द्वारा निकालने के लिये अधिक जल की आवश्यकता के निदर्शनस्वरूप तृष्णा की उत्पत्ति ज्वरादिक में प्रत्यक्ष दिखाई देती है। शरीर में क्षारमयता (Alkalaemia) से होने वाली तृष्णा को वातिक, अम्लमयता (Acidaemia) से उत्पन्न होनेवाली तृष्णा को पैत्तिक तथा परममधुमयता (Hyperglycaemia) में होनेवाली तृष्णा को कफज तृष्णा कह सकते हैं। उदकवाही स्रोतसों के अवरुद्ध हो जाने से शरीर की कोषाओं को पोषण नहीं मिलता, अतः रोगी निरन्तर कृश होता जाता है।

क्षतस्य रुक्शोणितनिर्गमाभ्यां
तृष्णा चतुर्थी क्षतजा मता तु।
तयाऽभिभूतस्य निशादिनानि
गच्छन्ति दुःखं पिबतोऽपि तोयम् ॥१२॥

क्षतजतृष्णालक्षणम्—किसी व्यक्ति को क्षत (आघात या चोट या व्रण) के होने से प्रथम वेदना होती है तथा द्वितीय रक्त का निर्गमन (स्राव) होता है जिससे उसे तृष्णा उत्पन्न होती है। उसे चतुर्थी क्षतजा तृष्णा कहते हैं। इस तृष्णा से पीड़ित रोगी निरन्तर जल पीता हुआ भी रात्रि और दिन को बड़े कष्ट से व्यतीत करता है॥ १२॥

विमर्शः—इस तृष्णा को रक्तस्रावजन्य तृष्णा भी कहते हैं। प्रायः यह स्पष्ट है कि तृष्णा का सम्बन्ध रक्त या अन्य धातुगत जलीयांश से है। रक्तस्राव होने से शरीरगत रसरक्तादि धातुओं का जलीयांश कम हो जाता है, जिससे तृष्णा की उत्पत्ति होती है।

रसक्षयाद्या क्षयजा मता सा
तयाऽर्दितः शुष्यति दह्यते च।
अत्यर्थमाकाङ्क्षति चापि तोयं
तां सन्निपातादिति केचिदाहुः॥
रसक्षयोक्तानि च लक्षणानि
तस्यामशेषेण भिषग् व्यवस्येत्॥ १३॥

क्षयजतृष्णालक्षणम्—शरीरस्थ रस के क्षय से उत्पन्न होने वाली तृष्णा को क्षयज तृष्णा कहते हैं। इस तृष्णा से पीड़ित व्यक्ति प्रतिदिन सूखता जाता है। उसके समस्त शरीर में तथा विशेषकर मुख, तालु और गले में दाह होता है और वह अधिक जल पीने की इच्छा प्रकट करता है। इस तृष्णा को कई आचार्य सान्निपातिकी तृष्णा कहते हैं। इस तृष्णा में रसक्षय के जितने लक्षण (हृदयपीड़ा, कम्पन आदि) कहे गये हैं वे सब मिलते हैं, ऐसा बुद्धिमान् वैद्य समझ लें॥

विमर्शः—उक्त श्लोक में निम्न पाठान्तर है—रसक्षयाद्या क्षयसम्भवा सा तयाऽभिभूतस्तु निशादिनेषु। पेपीयतेऽम्भः स सुखं न याति तां सन्निपातादिति केचिदाहुः॥ वस्तुतस्तु सर्व प्रकार की तृष्णाओं में बार-बार जल पीने पर भी सुख नहीं मिलता है, ऐसा लक्षण कहा गया है—'सततं यः पिबेद्वारि न तृप्तिमधिगच्छति। पुनः काङ्क्षति तोयञ्च तं तृष्णार्दितमादिशेत्॥ अतएव उक्त पाठान्तर यहाँ गृहीत नहीं किया गया है, किन्तु रसक्षयजन्य तृष्णा में अन्य तृष्णाओं की अपेक्षा यह लक्षण अधिक

मात्रा में और अधिक महत्त्व का सूचक होना चाहिए। आहार रस से सम्पूर्ण धातुओं का पोषक धातुरूप रस उत्पन्न होता है। इसी धातुरस से शरीर का निर्माण तथा क्षति-पूर्ति होती है। इसी आशय से चरकाचार्य ने चतुर्विंशति-तत्त्वात्मक पुरुष (गर्भ) को रसज भी कहा है—'रसजश्चायं गर्भः'। सुश्रुताचार्य ने भी पुरुष को रसज मानकर रस की प्रयत्नपूर्वक रक्षा करने का उपदेश दिया है—रसजं पुरुषं विद्याद्रसं रक्षेत्प्रयत्नतः। अन्नात्पानाच्च मतिमानाचाराच्चाप्यतन्द्रितः॥ (सु० सू० अ० १४) रस भी जलप्रधान धातु है। अतः उसके क्षय से शरीरगत जल की कमी होती है और वह कमी तृष्णा के द्वारा व्यक्त होती है। रस के क्षय से उत्पन्न होने वाली तृष्णा को क्षयज तृष्णा नाम दिया है। वस्तुतः रक्तवाही, रसवाही एवं जलवाही स्रोत प्रायः अभिन्न ही हैं अतः रसक्षय से रक्तक्षय का भी ग्रहण करना चाहिए। इस प्रकार क्षतज तृष्णा का भी अन्तर्भाव इसमें ही किया जा सकता है। चरकाचार्य ने इसीलिये क्षतज का पृथक् उल्लेख नहीं किया है। रस का क्षय होने पर तृष्णा के अतिरिक्त हृदय प्रदेश में पीड़ा, कम्प, शोष, तृष्णा तथा शून्यता (चेतनाहीनता या खोखलापन) लक्षण भी मिलते हैं—'रसक्षये हृत्पीडा कम्पः शोषः शून्यता तृष्णा च' (सु० सू० अ० १५)। चरकाचार्य ने भी रसक्षयज तृष्णालक्षण में लिखा है कि यह देह धातु-रसज है और वह धातुरस जलजन्य है और उस रसधातु के क्षय होने से तृष्णा लगती है, स्वर दीन (दुर्बल) हो जाता है तथा हृदय, गला और तालु प्रदेश सूख जाने से वह रोगी छट-पटाता है—देहो रसजोऽम्बुभवो रसश्च। तस्य क्षयाच्च तृष्येद्धि। दीनस्वरः प्रताम्यन् संशुष्कहृदयगलतालुः॥ (च० चि० अ० २२) रसक्षय होने पर अधिक प्यास लगना स्वाभाविक है, क्योंकि जिस वस्तु की क्षीणता हो जाती है प्रकृति उसी वस्तु की माँग कराकर पूरा करने का यत्न करती है—दोषधातुमलक्षीणो बलक्षीणोऽपि मानवः। स्वयोनिवर्धनं यत्तदन्नपानं प्रकाङ्क्षति॥ (सु० सू० अ० १५) चरकेऽपि—'तस्य क्षयाच्च तृष्येद्धि।'

त्रिदोषलिङ्गाऽऽमसमुद्भवा च
हृच्छूलनिष्ठीवनसादयुक्ता॥ १४॥

आमजतृष्णालक्षणम्—आमदोष से उत्पन्न तृष्णा में तीनों दोषों के लक्षण पाये जाते हैं, किन्तु विशेष रूप से हृदय में शूल, अधिक थूक का आना और शरीर में शिथिलता ये लक्षण होते हैं॥ १४॥

विमर्श—त्रिदोषलिङ्गा—आमजन्य विष से त्रिदोष का प्रकोप होने पर उत्पन्न होने वाली तृष्णा आमज या सन्निपातज तृष्णा कहलाती है। सन्निपातज इसलिये हो जाती है कि आमाजीर्ण से वायुआदि दोषों का प्रकोप बलवान् होता है—'अजीर्णात्पवनादीनां विभ्रमो बलवान् भवेत्।' प्रायः सभी तृष्णाओं में पित्त की उपस्थिति भी अनिवार्य है, जैसा कि चरकाचार्य ने भी आमजन्य तृष्णा के वर्णन में इसे आग्नेय प्रधान माना है—तृष्णा याऽऽमप्रभवा साऽप्याग्नेयाऽऽमपित्तजनितत्वात्। लिङ्गं तस्याश्चारुचिराध्मानकफप्रसेकौ च॥ (च० चि० अ० २२) क्योंकि तृष्णा यह पित्त का स्वाभाविक कर्म है—दर्शनं पक्तिरुष्मा च क्षुत्तृष्णा देहमार्दवम्। प्रभाप्रसादौ मेधा च पित्तकर्माविकारजम्॥ (च० सू० अ० १८) आमजतृष्णा में आम के अवरोध के कारण पित्त बढ़ जाता है। इसीलिये इस आमज तृष्णा को चरक ने आमपित्तजनित माना है। इसके अतिरिक्त चरक ने आमशब्द से कफ का भी ग्रहण करके कफजतृष्णा का भी समावेश इसी में कर लिया है। वाग्भट खाद्यपदार्थ के अवरोध से उत्पन्न होने के कारण इसे वातपित्तजनित मानते हैं—आमोद्भवा च भक्तस्य संरोधाद् वातपित्तजा। हृच्छूलेति—आमाशय अधिक फूलकर ऊपर हृदय पर दबाव डालता है जिससे हृदय प्रदेश में पीड़ा होती है। निष्ठीवनमिति—आमशब्द से कफ का भी ग्रहण होता है, अतः कफ का स्वाभाविक लक्षण निष्ठीवन (लालाप्रसेक या थू थू करके थूकना) भी होता है।

स्निग्धं तथाऽम्लं लवणञ्च भुक्तं
गुर्वन्नमेवातितृषां करोति॥ १५॥

भक्तजतृष्णालक्षणम्—अधिक चिकने, खट्टे, लवणयुक्त और गुरु पदार्थों का सेवन करने से जो अधिक तृष्णा उत्पन्न होती है उसे भक्तोद्भवा या अन्नजा तृष्णा कहते हैं॥ १५॥

विमर्शः—उदरगत भोजन की स्थिति के अनुसार इसका अन्तर्भाव विभिन्न तृष्णाओं में किया जा सकता है, यथा—भोजन के तुरन्त पश्चात् की अवस्था में कफजा में, पच्यमानावस्था में, पित्तजा में तथा पाकोत्तर अवस्था में वातजा तृष्णा में इसका अन्तर्भाव हो सकता है। भोजन की प्रचुर मात्रा से भी आमदोष की उत्पत्ति होती है। अतः भोजनाधिक्य से होनेवाली तृष्णा का अन्तर्भाव आमज में ही कर लेना चाहिये। स्निग्ध आदि के साथ अति शब्द का प्रयोग करना चाहिये। जिससे अति स्निग्ध, अति अम्ल और अति लवण पदार्थ गृहीत हों। अम्लरस आग्नेयगुणभूयिष्ठ होने के कारण पित्तवर्धक होता है। पित्तवृद्धि से आमाशय में विदाह एवं सोमगुण का नाश होने पर पिपासा की उत्पत्ति होती है। अम्लरस-सेवन से अत्यधिक लालास्राव होने के कारण तालुशोष होने से भी तृष्णा की उत्पत्ति हो जाती है। लवणरस मधुरविपाक होने से कफवर्धक होता है। कफ पिच्छिलता गुण के कारण स्रोतसों में अवरोध उत्पन्न करके धातुगत जल की मात्रा को कम कर देता है, जिससे प्यास लगती है। इसके अतिरिक्त लवण आसृतीय पीडन (Osmotic pressure) बढ़ाने वाली अद्भुत शक्ति है। इसे सेवन करने पर यह धातुगत जलीयांश को अपनी ओर खींच कर धातुगत जल की साधारण मात्रा को कम कर देता है। यह कमी लवण की न्यूनाधिक मात्रा पर निर्भर है। इस कमी की सूचना के रूप में तृष्णा की उत्पत्ति होती है। गुर्वन्नं तृषां करोति—गुरु से मात्रागुरु और स्वभावगुरु दोनों का ग्रहण करना चाहिये। प्रकृति से लघु भोजन भी अधिक मात्रा में गुरु के समान प्रभावकारी होने से गुरु कहलाता है। उड़द तथा सूअर का मांस आदि स्वभाव से ही गुरु होते हैं। भोजन के पाचन में जल का भी बहुत बड़ा भाग रहता है। अतः मात्रागुरु तथा स्वभावगुरु भोजन का परिपाक करने के लिये पुनः पुनः जल ग्रहण करने की अभिलाषा होती है—अत्यम्बुपानान्न विपच्यतेऽन्नं निरम्बुपानाच्च स एव दोषः। तस्मान्नरो वह्निविवर्धनाय मुहुर्मुहुर्वारि पिबेदभूरि॥

क्षीणं विचित्तं बधिरं तृषार्त्तं
विवर्जयेन्निर्गतजिह्वमाशु॥ १६॥

तृष्णाया असाध्यतालक्षणम्—क्षीण हुए तथा नष्ट मन वाले एवं बधिर हुए तथा तृष्णा से जिसकी जिह्वा शीघ्र ही बाहर निकल आई हो ऐसे तृष्णा के रोगियों की चिकित्सा न करे ॥

विमर्शः—चरकाचार्य ने तृष्णा की असाध्यता में लिखा है कि अत्यधिक मात्रा में लगने वाली तृष्णा तथा रोग से कृश हुये मनुष्यों की तृष्णा एवं वमन जिसमें होने लग गया हो ऐसे व्यक्तियों की तृषा तथा ज्वर-मेहादिक वक्ष्यमाण उपद्रव उग्ररूप में हो गये हों वह तृष्णा उस रोगी की मृत्युकारिणी होती है—सर्वास्त्वतिप्रसक्ता रोगकृशानां वमिप्रसक्तानाम्। घोरोपद्रवयुक्तास्तृष्णा मरणाय विज्ञेयाः ॥ (च० चि० अ० २२) यहाँ पर वमन शब्द उपलक्षक है। अतः इससे विरेचन के अतियोग का भी ग्रहण करना चाहिए। जल को जीवन कहा गया है 'जीवनं जीविनां जीवो जगत्सर्वन्तु तन्मयम्'। उसके अतिमात्रा में नाश से शरीर का भी नाश हो जाता है। विसूचिका जैसे रोग में वमन और विरेचन द्वारा उभय मार्ग से जल का नाश होकर मुखशोष, अङ्गमर्द एवं खोद जैसे उपद्रव उत्पन्न होते हैं एवं रोगी की मृत्यु हो जाती है। इसी प्रकार अत्यधिक रक्तस्राव द्वारा जलांश का नाश होकर मूर्च्छा आदि उपद्रवों से युक्त तृष्णा भी रोगी को मार डालती है। अन्य सभी प्रकार की तृष्णाओं की अत्यधिकता होने पर भयङ्कर उपद्रव उत्पन्न होते हैं एवं उपद्रव तृष्णारोगी को मृत्युमुख की ओर जाने के लिये प्रेरित करती है। इनके अतिरिक्त ज्वर, मोह, क्षय, कास और श्वास आदि से व्याप्त मनुष्यों की तृष्णा भी मारक होती है—'ज्वरमोहक्षयकासश्वासाद्युपसृष्टदेहानाम्' आदि शब्द से अतिसार तथा वमन का ग्रहण करना चाहिए। चरक में मोह के स्थान पर कहीं-कहीं मेह ऐसा पाठान्तर भी है। ऐसी स्थिति में मधुमेहजन्य संन्यास की अवस्था में होने वाली तृष्णा को ही मेहज तृष्णा समझना चाहिए। क्षय एवं कास से शरीर के पोषक रस का नाश होता है अतः इस तृष्णा को धातुशोषणात्मिका भी कहा गया है। चरके तृष्णोपद्रवाः—मुखशोषस्वरभेदभ्रमसन्तापप्रलापसंस्तम्भान्। ताल्वोष्ठकण्ठजिह्वाकर्कशतां चित्तनाशञ्च ॥ जिह्वानिर्गममरुचिं बाधिर्यं मर्मदूयनं सादम्। तृष्णोद्भूता कुरुते······॥ (च० चि० अ० २२) कुछ लोगों का मत है कि ये मुखशोष, स्वरभेद आदि तृष्णा के लक्षण हैं, जैसा कि अन्य सुश्रुतादि ग्रन्थों में भी लक्षण के रूप में हैं। ऐसी अवस्था में अतिशय रूप से बढ़े हुए मुखशोषादि उपद्रव कहे जायेंगे तथा सामान्य रूप में रहने पर लक्षण माने जायेंगे।

> तृष्णाऽभिवृद्धावुदरे च पूर्णे
> तं वामयेन्मागधिकोदकेन।
> विलोभनं चात्र हितं विधेयं
> स्याद्दाडिमाम्रातकमातुलुङ्गैः ॥ १७ ॥

तृष्णासामान्यचिकित्सा—यदि रोगी की तृष्णा बढ़ी हुई हो तथा साथ में उदर भी खाद्यपेय पदार्थों से भरा हुआ हो तो रुग्ण को जल में पिप्पली का चूर्ण डाल कर पिला के वमन कराना चाहिए। इसके अनन्तर उस व्यक्ति की लाला का स्राव कराने के लिये दाडिम (अनार), आम्रातक (अम्बाडा) और बिजोरा नीबू ऐसे हितकारक पदार्थों को दिखाकर या अन्न को खिलाकर उसका विलोभन (इच्छोत्पादन) करना चाहिए ॥ १७ ॥

विमर्शः—वामयेत्—क्षयजा तृष्णा में वमन नहीं कराना चाहिए, क्योंकि उसमें धातु की क्षीणता होने से वमन हानिकारक होता है—'उल्लेखनन्तु तृष्णासु क्षयादन्यत्र युज्यते।' विलोभनं विशिष्टलोभोत्पादनम्। कुछ आचार्यों का मत है कि अनेक प्रकार की कथाओं से रोगी का विलोभन करना चाहिए तथा कुछ आचार्य 'विलोभनम्' के स्थान पर 'विलङ्घनम्' ऐसा पाठान्तर मानते हैं, जिसका अर्थ वमन कराने के अनन्तर लघु भोजन न कि लङ्घन कराना चाहिए। क्योंकि लङ्घन कराने से पित्त की वृद्धि होकर तृष्णा के बढ़ने का भय रहता है। किन्तु विलोभन अर्थ ही सर्वसम्मत है—फलान्यम्लानि खादेयुस्तस्य चान्येऽग्रतो नराः। निःसृतासु तिलद्राक्षाकल्कलिप्तां प्रवेशयेत् ॥

> तिस्रः प्रयोगैरिह सन्निवार्याः
> शीतैश्च सम्यग्रसवीर्य्यजातैः।
> गण्डूषमम्लैर्विरसे च वक्त्रे
> कुर्य्याच्छुभैरामलकस्य चूर्णैः ॥ १८ ॥

वातजादित्रिविधतृष्णाचिकित्सा—सम्पूर्ण रस-वीर्यवाले तथा शीतल वक्ष्यमाण उपचारों से वातज, पित्तज तथा कफज तीनों प्रकार की तृष्णाओं की चिकित्सा करनी चाहिए एवं मुख के विरस (विकृत रसवाले) होने पर मद्य, काञ्जी और बिजोरे नीबू आदि के अम्लरस द्वारा गण्डूष कराना चाहिए। एवं आँवले के ताजे (शुद्ध) स्वरस से भी गण्डूष कराना चाहिए अथवा आँवले के फलों के चूर्ण का मुखमें धारण या घर्षण करना चाहिए ॥ १८ ॥

> सुवर्णरूप्यादिभिरग्नितप्तै-
> र्लोष्टैः कृतं वा सिकतादिभिर्वा।
> जलं सुखोष्णं शमयेत्तु तृष्णां
> सशर्करं क्षौद्रयुतं हिमं वा ॥ १९ ॥

तृष्णाहरं जलम्—शुद्ध स्वर्ण और रजत की शलाकाओं या पत्रों को अग्नि में प्रतप्त करके जल में निर्वापित (बुझा) कर उस जल को पिलाने से तृष्णा शान्त हो जाती है। इसी प्रकार अच्छे स्थान की शुद्ध मिट्टी के ढेले या ईंट को गरम कर जल में बुझा के उस जल को पिलाने से वह तृष्णा का शमन करता है। अथवा उसी जल को शीतल कर उसमें शर्करा मिलाके अथवा मधु मिलाकर पिलाने से तृष्णा शान्त होती है ॥ १९ ॥

विमर्शः—चरकाचार्य ने भी लिखा है कि रक्तादिधातुओं में से जलीय तत्त्व के क्षीण होने से तृष्णा मनुष्य को सुखाकर शीघ्र ही प्राणों का घातक हो जाती है। इसलिये ऐन्द्र (दिव्य या आकाशीय) जल में मधु मिलाकर पिलाना चाहिए। ऐन्द्र जल न प्राप्त होता हो तो उसी के गुणधर्मों वाला भूमिगत जल जो कि कुछ तुवरानुरस वाला या कषायानुरसवाला, तनु (पतला), हल्का, शीतल, सुगन्धयुक्त, सुरसवाला तथा अभिष्यन्दन (स्रोतोरोधन) कर्म नहीं करने वाला हो, पिलाना चाहिए, किंवा शृतशीत जल में मिश्री मिला के पिलाना चाहिए—अपां क्षयाद्धि तृष्णा संशोष्य नरं प्रणाशयेदाशु। तस्मादैन्द्रं तोयं समधु पिबेत्तद्गुणं वाऽन्यत् ॥ किञ्चित्तुवरानुरसं तनु लघु शीतलं सुगन्धि सुरसञ्च। अनभिष्यन्दि च यत्तत्क्षितिगतमप्यैन्द्रवज्ज्ञेयम् ॥ शृतशीतं ससितोपलमथवा···(च० चि० अ०२२)

पञ्चाङ्गिकाः पञ्चगणा य उक्ता-
स्तेष्वम्बु सिद्धं प्रथमे गणे वा ।
पिबेत्सुखोष्णं मनुजोऽचिरेण
तृषो विमुच्येत हि वातजायाः ॥ २० ॥

वातजतृष्णाचिकित्सा—पाँच अङ्ग (द्रव्य) वाले जो पञ्चगण (पञ्चमूल) कहे हैं उन गणों (लघु पञ्चमूल तथा बृहत्पञ्चमूल) के द्रव्यों में जल को सिद्ध करके अथवा प्रथम (विदारीगन्धादि) गण की औषधियों में पानी को सिद्ध करके छान कर सुखोष्ण रूप में पीने से मनुष्य शीघ्र ही वातजन्य तृष्णा के दुःख से मुक्त हो जाता है ॥ २० ॥

विमर्शः—वातज तृष्णा में वातनाशक अन्न और पान का सेवन करना चाहिए तथा दुग्ध और घृत को उबाल कर शीतल करके पीना चाहिए अथवा जीवनीय औषधियों के कल्क और क्वाथ से सिद्ध किये हुए घृत का सेवन करना चाहिए—वातघ्नमन्नपानं मृदु लघु शीतञ्च वाततृष्णायाम् । क्षयकासनुच्छृतं क्षीरघृतमूर्ध्ववाततृष्णार्दनम् ॥ स्याज्जीवनीयसिद्धं क्षीरघृतं वातपित्तजे तर्षे ॥ (च० चि० अ० २२)

वातजतृष्णाचिकित्सा—तृष्णायां पवनोत्थायां सगुडं दधि शस्यते । रसाश्च बृंहणाः शीता गुडूच्या रस एव वा ॥

पित्तघ्नवर्गैस्तु कृतः कषायः
सशर्करः क्षौद्रयुतः सुशीतः ।
पीतस्तृषां पित्तकृतां निहन्ति
क्षीरं शृतं वाऽप्यथ जीवनीयैः ॥ २१ ॥

पित्तजतृष्णाचिकित्सा—पित्तनाशक—उत्पलादिगण, सारिवादिगण और काकोल्यादिगण की औषधियों के द्वारा क्वाथ बनाकर उसमें शर्करा का प्रक्षेप देकर शीतल होने पर छ माशे शहद मिलाके पिलाने से पित्तजन्य तृष्णारोग नष्ट होता है । इसी प्रकार जीवनीयगण की औषधियों के क्वाथ और कल्क में दुग्ध पकाकर पिलाने से भी पित्तज तृष्णारोग नष्ट होता है ।

विमर्शः—उत्पलादिगण—उत्पलरक्तोत्पलकुमुदसौगन्धिककुवलयपुण्डरीकाणि मधुकञ्चेति—उत्पलादिरयं दाहपित्तरक्तविनाशनः । पिपासाविषहृद्रोगच्छर्दिमूर्च्छाहरो गणः ॥ सारिवादिगण—सारिवामधुकचन्दनकुचन्दनपद्मककाश्मरीफलमधूकपुष्पाण्युशीरञ्चेति—सारिवादिः पिपासाघ्नो रक्तपित्तहरो गणः । पित्तज्वरप्रशमनो विशेषाद्दाहनाशनः ॥ काकोल्यादिगण—'काकोलीक्षीरकाकोलीजीवकर्षभकमुद्गपर्णीमाषपर्णीमेदामहामेदाच्छिन्नरुहाकर्कटशृङ्गीतुगाक्षीरीपद्मकप्रपौण्डरीकर्धिवृद्धिमृद्वीकाजीवन्त्यो मधुकञ्चेति । काकोल्यादिरयं पित्तशोणितानिलनाशनः । जीवनो बृंहणो वृष्यः स्तन्यश्लेष्मकरस्तथा ॥ (सु० सू० अ० ३८) दुग्धपाकविधिः—दुग्धे दध्नि रसे तक्रे कल्को देयोऽष्टमांशकः । कल्कस्य सम्यक्पाकार्थं तोयमत्र चतुर्गुणम् ॥ (भै० र०) पित्तजतृष्णाचिकित्साक्रमः—पित्तजायान्तु तृष्णायां पक्वोदुम्बरजो रसः । तत्क्वाथो वा हिमस्तद्वच्छारिवादिगणाम्बु वा ॥ चरके पित्तजतृष्णाचिकित्सा—पैत्ते द्राक्षाचन्दनखर्जूरोशीरमधुयुतं तोयम् । लोहितशालितण्डुलखर्जूरपरूषकोत्पलद्राक्षाः ॥ मधु पक्वलोष्टमेव च जले स्थितं शीतलं पेयम् । लोहितशालिप्रस्थः स लोध्रमधुकाञ्जनोत्पलः क्षुण्णः ॥ पक्वामलोष्टजलमधुसमायुतो मृन्मये पेयः ॥ वटमातुलुङ्गवेतसपल्लवकुशकाशमूलयष्ट्याह्वैः । सिद्धेऽम्भस्यग्निनिभां कृष्णमृदं कृष्णसिकतां वा । तप्तानि नवकपालान्यथवा निर्वाप्य पाययेताच्छम् । आपाकशर्करां वाऽमृतवल्ल्युदकं तृषां हन्ति ॥ क्षीरवतां मधुराणां शीतानां शर्करा मधुविमिश्राः । शीतकषाया मृद्भृष्टसंयुताः पित्ततृष्णाघ्नाः ॥ (च० चि० अ० २२) अन्यच्च—काश्मर्यशर्करायुक्तं चन्दनोशीरपद्मकम् । द्राक्षामधुकसंयुक्तं पित्ततर्षे जलं पिबेत् ॥ (भै० र०)

बिल्वाढकीकन्यकपञ्चमूली-
दर्भेषु सिद्धं कफजां निहन्ति ।
हितं भवेच्छर्दनमेव चात्र
तप्तेन निम्बप्रसवोदकेन ॥ २२ ॥

कफजतृष्णाचिकित्सा—बिल्व की छाल, अरहर की जड़, लघु पञ्चमूल के द्रव्य तथा दर्भ (कुशा) की जड़ से सिद्ध किया हुआ पानी कफज तृष्णा को नष्ट करता है । इसके अतिरिक्त कफज तृष्णा में निम्ब के पत्तों से उष्ण किये हुए जल या क्वाथ को पर्याप्त मात्रा में पिलाकर वमन कराना हितकारक माना गया है ॥ २२ ॥

विमर्शः—व्योषवचाभल्लातकतिक्तकषायास्तथाऽऽमतृष्णाघ्नाः । यच्चोक्तं कफजायां वम्यां तच्चैव कार्यं स्यात् ॥ (च० चि० अ० २२) कफजतृष्णायां वमनविधिः——स्तम्भारुच्यविपाकालस्यच्छर्दिषु कफानुगां तृष्णाम् । ज्ञात्वा दधिमधुतर्पणलवणोष्णजलैर्वमनमिष्टम् ॥ दाडिममम्लफलं वाऽप्यन्यत् सकषायमथ लेह्यम् । पेयमथवा प्रदद्याद्रजनीशर्करायुक्तम् ॥

सर्वासु तृष्णास्वथवाऽपि पैत्तं
कुर्य्याद्विधिं तेन हि ता न सन्ति ।
पर्य्यागतोदुम्बरजो रसस्तु
सशर्करस्तत्कथितोदकं वा ॥
वर्गस्य सिद्धस्य च सारिवादेः
पातव्यमम्भः शिशिरं तृषार्त्तैः ॥ २३ ॥

सर्वतृष्णासु पित्तघ्नविधिः—सर्व प्रकार की तृष्णाओं में पित्तनाशक चिकित्सा करने से वे नष्ट हो जाती हैं । अथवा पर्यागत (परिपक्व) उदुम्बर फल के स्वरस या क्वाथ में शर्करा मिलाकर पीने से सर्व प्रकार की तृष्णाएँ नष्ट हो जाती हैं । इसी प्रकार सारिवादिगण की औषधियों के द्वारा सिद्ध किये हुए शीतल जल का पान कराने से तृषा तथा तृषाजन्य पीड़ा-बेचैनी ये सब नष्ट हो जाते हैं ॥ २३ ॥

कशेरुशृङ्गाटकपद्ममोच-
बिसेक्षुसिद्धं क्षतजां निहन्ति ॥ २४ ॥

क्षतजतृष्णाचिकित्सा—कसेरू, सिंघाड़ा, पद्म (कमल), केला, बिस (कमल की जड़) और ऊख की जड़ इनसे सिद्ध किया हुआ जल अथवा क्वाथ पीने से क्षतजन्य तृष्णा रोग नष्ट होता है ॥ २४ ॥

लाजोत्पलोशीरकुचन्दनादि
दत्त्वा प्रवाते निशि वासयेत्तु ।
तदुत्तमं तोयमुदारगन्धि
सितायुतं क्षौद्रयुतं वदन्ति ॥

द्राक्षाप्रगाढञ्च हिताय वैद्य-
स्तृष्णार्दितेभ्यो वितरेन्नरेभ्यः ॥ २५ ॥

क्षतजतृष्णायां योगान्तरम्—धान की खीलें (लाजा), कमल, खस और चन्दन इन्हें पानी में प्रक्षिप्त कर उस पानी को हवादार खुले स्थान में रात भर रखकर प्रातःकाल इस पानी को नितारकर उसे सुगन्धित पुष्पों से सुवासित कर उसमें शर्करा और शहद मिला के एक तोले भर मुनक्के का कल्क (चटनी) भी मिश्रित कर तृष्णारोग से पीड़ित रोगियों को पिलाना चाहिए ॥ २५ ॥

ससारिवादौ तृणपञ्चमूले
तथोत्पलादौ प्रथमे गणे च ।
कुर्य्यात्कषायञ्च यथेरितेन

क्षतजतृष्णायां योगान्तराणि—तृणपञ्चमूल के द्रव्यों को सारिवादिगण की औषधियों के साथ तथा उत्पलादि गण के द्रव्यों को विदारीगन्धादि गण की औषधियों (द्रव्यों) के साथ पूर्वोक्तविधि के अनुसार अर्थात् इन द्रव्यों को खाण्ड कूटकर सन्ध्या के समय पानी में भिगोकर वातयुक्त स्थान में रख के दूसरे दिन प्रातःकाल हाथ से मसलकर कपड़े से छान के उसमें शर्करा, शहद और मुनक्का की पिष्टि (कल्क) का प्रक्षेप देकर तृष्णा से पीड़ित रोगी को पिलाना चाहिए।

मधूकपुष्पादिषु चापरेषु ॥ २६ ॥
राजादनक्षीरिकपीतनेषु
षट्पानकान्यत्र हितानि च स्युः ॥ २७ ॥

क्षतजतृष्णायां षट्पानकानि—मधूकपुष्पादि अर्थात् महुए के फूल, शोभाञ्जन, कोविदार और प्रियङ्गु के पुष्प ये चार द्रव्य तथा राजादन (चारोली या क्षीरिक अर्थात् खिरनी) और क्षीरकपीतन (आर्द्रशिरीष या पारसपीपल) इन छहों द्रव्यों को खाण्डकूट कर पानी में भिगो के खुली हवा में रातभर रख कर दूसरे दिन प्रातःकाल हाथ से मसल कर शर्करा और शहद प्रक्षिप्त कर पीने से क्षतज तृष्णा रोग नष्ट हो जाता है ॥ २६–२७ ॥

विमर्शः—कुछ आचार्यों ने मधूकशोभाञ्जनादिपुष्प न लेकर मधूकपुष्प, मुनक्का, गम्भारी के फल और खर्जूर, ये चार द्रव्य लेनेको लिखा है। कुछ लोग राजादन, क्षीरिका और कपीतन ऐसे दो के बजाय तीन द्रव्य लेते हैं। ऐसी स्थिति में षड्द्रव्यों के स्थान में सात द्रव्य हो जाने का दोष है। कुछ लोगों का मत है कि ससारिवादौ से लेकर क्षीरिकपीतनेषु यहाँ तक के योगों को मिला के षट् पानक पूरे होते हैं। किन्तु यह मत ठीक नहीं है क्योंकि सारिवादि और तृणपञ्चमूलादि को दो योग तथा उत्पलादि और विदारीगन्धादिगणद्रव्यों को दो योग नहीं मान सकते हैं। इनमें दो-दो का एक-एक योग ही विशेषण-विशेष्यभाव से बनता है। अन्य लोगों का मत है कि कशेर्वादियोग से आरम्भ कर 'राजादनक्षीरिकपीतनेषु' तक षट् पानक योग पूरे होते हैं। यह भी मत ठीक नहीं है क्योंकि कशेर्वादियोग पृथक्पठित है।

सतुण्डिकेराण्यथवा पिबेत्तु
पिष्टानि कार्पाससमुद्भवानि ।
क्षतोद्भवां रुग्विनिवारणेन
जयेद्रसानामसृजश्च पानैः ॥ २८ ॥

क्षतजतृष्णायां योगान्तराणि—तुण्डिकेरी (वनकार्पास) तथा ग्राम्यकपास के बीजों को संयुक्त कर के पानी के साथ पीस कर या पृथक् पृथक् पीस कर छान के शर्करा और शहद का प्रक्षेप दे कर पीने से क्षतजतृष्णा नष्ट हो जाती है। इन योगों के अरिरिक्त क्षतजन्य तृष्णा रोग में क्षतजन्य वेदना के शमन करने के शल्यतन्त्रोक्त उपायों का भी अवलम्बन करना चाहिए तथा अनेक प्रकार के तृष्णाशामक मांसरस एवं मृगादि के ताजे रक्त को पिलाकर भी क्षतज तृष्णा की चिकित्सा करनी चाहिए ॥ २८ ॥

क्षयोत्थितां क्षीरघृतं निहन्यान्-
मांसोदकं वा मधुकोदकं वा ॥ २९ ॥

क्षयजतृष्णाचिकित्सा—दुग्ध को मथन करके निकाला हुआ घृत अथवा मन्दोष्ण दुग्ध में डाले हुए घृत का सेवन करने से क्षयोत्थित तृष्णा नष्ट हो जाती है। इसी प्रकार पकाये हुए मांस का स्वच्छ भाग (सोरवा) अथवा मुलेठी के क्वाथ या हिमजल का पान करने से क्षयजन्य तृष्णा नष्ट होती है ॥ २९ ॥

विमर्शः—चरकाचार्य ने क्षयज तृष्णा को क्षयकास के समान मानकर धात्वादिक्षीण, उरःक्षतयुक्त और शोष-रोगियों के लिये शास्त्र में जो-जो चिकित्सा लिखी है उसका प्रयोग करने को लिखा है—क्षयकासेन तु तुल्या क्षयतृष्णा सा गरीयसी नृणाम्। क्षीणक्षतशोषहितैस्तस्मात्तां भेषजैः शमयेत् ॥ (च० चि० अ० २२) इसके अतिरिक्त बलवान् तृषापीड़ित के लिये घृत तथा तृषापीड़ित निर्बल मनुष्य के लिये दुग्ध में अथवा मांसरस में उष्ण घृत का छौंक देकर पिलाने को लिखा है—बलवांस्तु तालुशोषे पिबेद् घृतं तृष्यमथाच। सर्पिर्भृष्टं क्षीरं मांसरसश्चाबलः स्निग्धान्॥ इसके अतिरिक्त तृषापीड़ित अत्यन्त रूक्ष और दुर्बल रोगियों के लिये बकरी का दुग्ध या बकरी के मांस का रस घृत से छौंक कर पिलाने को लिखा है—अतिरूक्षदुर्बलानां तर्षं शमयेन्नृणामिहाशु पयः। छागो वा घृतभृष्टः शीतो मधुरो रसो हृद्यः॥ (च० चि० अ० २२)

आमोद्भवां बिल्ववचायुतैस्तु
जयेत्कषायैरथ दीपनीयैः ।
आम्रातभल्लातबलायुतानि
पिबेत्कषायाण्यथ दीपनानि ॥ ३० ॥

आमजतृष्णाचिकित्सा—आम दोष से उत्पन्न तृष्णा को पिप्पल्यादिगण की दीपनीय औषधियों के साथ बिल्वफल या बिल्व की छाल और वचा मिला कर क्वाथ बना के पिला के नष्ट करना चाहिए। इसके अतिरिक्त अम्बाड़ा, शुद्ध भल्लातक और बला के साथ उक्त पिप्पल्यादि गण की दीपनी औषधियां मिलाके क्वाथ बना कर पिलाने से आमज तृष्णा नष्ट होती है ॥ ३० ॥

विमर्शः—चरकाचार्य ने आमजतृष्णा को नष्ट करने के लिये सोंठ, मरिच, पिप्पली, वचा, भल्लातक और कुटकी के कषाय का उल्लेख किया है—व्योषवचाभल्लातकतिक्तकषायास्त-

थाऽऽमतृष्णाघ्नाः। यच्चोक्तं कफजायां वम्यां तच्चैव कार्यं स्यात् ॥ (च० चि० अ० २२)

गुर्वन्नजातां वमनैर्जयेच्च
क्षयादृते सर्वकृतां च तृष्णाम् ॥ ३१ ॥

भक्तजन्यतृष्णाचिकित्सा—पचने में भारी अन्नों के सेवन करने से उत्पन्न तृष्णा को वमन कराके शान्त करना चाहिए। इसके अतिरिक्त क्षयजन्य तृष्णा को छोड़ कर अन्य सर्व दोषों से उत्पन्न आमजतृष्णा में वमन कराना हितकारी होता है ॥ ३१ ॥

विमर्शः—यद्यपि क्षयजन्य तृष्णा भी त्रिदोषज होती है तथापि उसमें क्षीणधातु होने से वमन कराना उचित नहीं है। सर्वकृता शब्द से आमजतृष्णा अर्थ होता है क्योंकि वह त्रिदोषोत्पन्न होती है। कुछ आचार्यों का मत है कि 'क्षयादृते सर्वकृताञ्च तृष्णाम्' इसके स्थान पर 'क्षयादृते सर्वकृताश्च तृष्णाः' ऐसा पाठान्तर उचित है और क्षयज तृष्णा को छोड़ अन्य सर्व प्रकार की तृष्णाओं में वमन कराना चाहिए। चरकाचार्य ने भक्तोपरोधजन्य तृषा तथा स्नेहपानजन्य तृषा में पतली यवागू का पान करना लिखा है तथा गुरु भोजन करने से उत्पन्न तृष्णा रोग के शमनार्थ वमन करा के खाये हुए अन्न को निकाल देना लिखा है तथा यदि रोगी बलवान् हो और तृष्णा रोग पीड़ित हो तो मद्य तथा पानी मिश्रित कर अथवा केवल उष्णोदक पीकर वमन करलेवे फिर मुखके स्वाद को ठीक करने के लिये पिप्पली चबानी चाहिए अथवा सक्तु को पानी में घोलकर उसमें शर्करा मिला के पीना चाहिए—भक्तोपरोधतृषितः स्नेहतृषार्तोऽथवा तनुयवागूम्। प्रपिबेद् गुरुणा तृषितो भुक्तेव तदुद्धरेद्भुक्तम् ॥ मद्याम्बु वाम्बु कोष्णं बलवांस्तृषितः समुल्लिखेत् पीत्वा। मागधिकाविशदमुखः सशर्करं वा पिबेन्मन्थम् ॥ (च० चि० अ० २२)

श्रमोद्भवां मांसरसो निहन्ति
गुडोदकं वाऽप्यथवाऽपि मन्थः।
भक्तोपरोधात् तृषितो यवागू-
मुष्णां पिबेन्मन्थमथो हिमं च ॥ ३२ ॥

श्रमादिजन्यतृष्णाचिकित्सा—श्रम के कारण उत्पन्न होने वाली वातजन्य तृष्णा को मांसरस नष्ट करता है अथवा गुड़ का शरबत बनाकर पीने से भी वातजतृष्णा नष्ट होती है और यदि तृष्णा पित्तदोषप्रधान होती है तो उसे जौ और गेहूं का जल में घुला हुआ तथा घृतयुक्त सत्तू पान करने से नष्ट करता है। इसी प्रकार भक्त (आहार) के निरोध से उत्पन्न वातप्रधान तृष्णा को उष्ण यवागू नष्ट करती है। यदि यह भक्तनिरोधजन्य तृष्णा पित्तजन्य हो तो सत्तू को ठण्डे पानी में घोल कर उसमें घृत मिला के तथा बरफ मिला कर पीने से नष्ट होती है ॥ ३२ ॥

या स्नेहपीतस्य भवेच्च तृष्णा
तत्रोष्णमम्भः प्रपिबेन्मनुष्यः।
मद्योद्भवामर्द्धजलं निहन्ति
मद्यं तृषां याऽपि च मद्यपस्य ॥ ३३ ॥

स्नेहपीताया मद्योद्भवायाश्च तृष्णायाश्चिकित्सा—किसी भी स्नेह के अधिक पान करने से यदि तृष्णा रोग हो जाय तब उसे शान्त करने के लिये उष्ण जल का पान करना चाहिए तथा मद्यपी मनुष्य के अधिक मद्यपान करने से उत्पन्न तृष्णा को अर्धजलमिश्रित मद्य का पान नष्ट कर देता है ॥

विमर्शः—चरकाचार्य ने स्नेहव्यापत् से उत्पन्न सोपसर्गा तृष्णा का वर्णन किया है—उदीर्णपित्ता ग्रहणी यस्य चाग्निबलं महत्। भस्मीभवति तस्याशु स्नेहः पीतोऽग्नितेजसा। स जग्ध्वा स्नेहमात्रां तामोजः प्रक्षारयन् बली। स्नेहाग्निरुत्तमां तृष्णां सोपसर्गामुदीरयेत्। नालं स्नेहसमृद्धस्य शमायान्नं सुगुर्वपि। स चेत् सुशीतं सलिलं नासादयति दह्यते ॥ (च० सू० अ० १३, ७०-७२) अर्थात् जिस मनुष्य की ग्रहणी का पित्त उद्दीप्त हुआ हो तथा उसकी पाचकाग्नि का बल भी अधिक हो तो वैसी अवस्था में उसके द्वारा पीत स्नेह अग्नि के तेज से भस्मीभूत हो जाता है। इस तरह स्नेह से प्रबल हुई अग्नि स्नेह मात्रा को जला कर ओज को नष्ट करती हुई अनेक उपद्रवों वाली तृष्णा को उत्पन्न करती है। स्नेहसमृद्ध अग्नि को शान्त करने के लिये गरिष्ठ अन्न भी पर्याप्त समर्थ नहीं होता है अतः उसे शीतल जल पिलाना चाहिए। अन्यथा वह व्यक्ति भी दाह से दग्ध-सा हो जाता है। इस तरह स्नेहपानाधिक्यजन्य तृष्णा के शमन के लिये चरकाचार्य ने शीतल जल का उपयोग लिखा है अतः सुश्रुतोक्त उष्ण जल को भी शीत करके ही तृष्णाशमनार्थ प्रयुक्त करना चाहिए।

तृष्णोद्भवां हन्ति जलं सुशीतं
सशर्करं सेक्षुरसं तथाऽम्भः ॥ ३४ ॥

तृष्णोद्भवतृष्णाहरो योगः—तृष्णा से उत्पन्न तृष्णा को शर्करायुक्त शीतल जल का पान अथवा सांठे का शीतल रस अथवा जलमिश्रित सांठे का रस या केवल शीतल जल नष्ट कर देता है ॥ ३४ ॥

विमर्शः—तृष्णोद्भवामिति हृद्रोगकर्षितस्य पुरुषस्योत्तरकालोत्पन्नामित्यर्थः। चिरकालिक हृदयरोग से कर्षित हुए पुरुष की उत्पन्न उत्तरकालिक तृष्णा। कुछ आचार्य 'तृष्णोद्भवाम्' के स्थान पर 'उष्णोद्भवाम्' ऐसा पाठान्तर मानते हैं।

स्वैः स्वैः कषायैर्वमनानि तासां
तथा ज्वरोक्तानि च पाचनानि ॥ ३५ ॥

तृष्णाहराणि वमनद्रव्याणि—जिन वमनों को नष्ट करने के लिये जो-जो अपने-अपने वमनहारक क्वाथ लिखे हैं उन्हीं क्वाथों को अधिक मात्रा में कण्ठपर्यन्त पिलाके वमन कराना चाहिए तथा ज्वरप्रकरण में कहे हुए पाचनद्रव्यों का प्रयोग करना चाहिए ॥ ३५ ॥

लेपावगाहौ परिषेचनानि
कुर्यात्तथा शीतगृहाणि चापि।
संशोधनं क्षीररसौ घृतानि
सर्वासु लेहान्मधुरान् हिमांश्च ॥ ३६ ॥

इति सुश्रुतसंहितायामुत्तरतन्त्रान्तर्गते कायचिकित्सातन्त्रे (दशमोऽध्यायः, आदितः) अष्टचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४८ ॥

सर्वतृष्णासु पित्तहरो विधिः—चन्दन, कर्पूर, खस आदि शीतल द्रव्यों को जल में पीसकर लेप करना, शीतल जल से भरी द्रोणी (टब) में अवगाहन (बैठना या डुबकी लगाना), खस या कमलदल के बने पंखे पर शीतल जल छिड़क कर उस से देह का सिञ्चन करना चाहिए तथा जलधाराओं से शीत हुए गृहों में निवास करना चाहिए। इन विहारों के अतिरिक्त पित्तहारक विरेचनकर्म से देह का संशोधन, दुग्ध का पान, फलों का रस तथा एणादिमांसरस, गोघृत का सेवन तथा अन्य मधुर एवं शीत किये हुए अवलेह जैसे खण्डकूष्माण्डावलेह, सत्तू का अवलेहन करना ये सर्व उपचार सर्व प्रकार की तृष्णाओं में प्रशस्त माने गये हैं ॥३६॥

विमर्शः—तृष्णायां पथ्यानि—शोधनं शमनं निद्रां स्नानं कवलधारणम्। जिह्वाधःशिरयोर्दाहो दीपदग्धहरिद्रया ॥ कोद्रवाः शालयः पेया विलेपी लाजसक्तवः। अन्नमण्डो धन्वरसाः शर्करारागषाडवौ ॥ मृष्टैर्मुद्गैर्मसूरैर्वा चणकैर्वा कृतो रसः। रम्भापुष्पं चक्रकूर्चं द्राक्षापर्पटपल्लवाः ॥ कपित्थं कोलमम्लीका कूष्माण्डकसुपोदिका। खर्जूरं दाडिमं धात्री कर्कटी नलदाम्बु च ॥ जम्बीरं करमर्दश्च बीजपूरं गवां पयः। मधूकपुष्पं ह्रीबेरं तिक्तानि मधुराणि च ॥ एला जातीफलं पथ्या कुस्तुम्बुरु च टङ्कणम्। घनसारो गन्धसारः कौमुदी शिशिरानिलः ॥ चन्दनार्द्रप्रियाश्लेषो रत्नाभरणधारणम्। हिमानुलेपनञ्च स्यात् पथ्यमेतत्तृषातुरे ॥ तृष्णायामपथ्यानि—स्नेहाञ्जनस्वेदनधूमपानव्यायामनस्यातपदन्तकाष्ठम्। गुर्वन्नमम्लं लवणं कषायं कटु क्षियं दुष्टजलानि तीक्ष्णम् ॥ एतानि सर्वाणि हिताभिलाषी तृष्णातुरो नैव भजेत् कदाचित् ॥

इति श्री अम्बिकादत्तशास्त्रिकृतायां भैषज्यरत्नावल्या भाषाटीकायामुत्तरतन्त्रान्तर्गतोऽष्टचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४८ ॥

एकोनपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

अथ छर्दिप्रतिषेधमध्यायं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥ २ ॥

अब इसके अनन्तर छर्दिप्रतिषेध नामक अध्याय का व्याख्यान करते हैं जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने कहा है ॥

अतिद्रवैरतिस्निग्धैरहृद्यैर्लवणैरति।
अकाले चातिमात्रैश्च तथाऽसात्म्यैश्च भोजनैः ॥ ३ ॥
श्रमात् भयात्तथोद्वेगादजीर्णात् कृमिदोषतः।
नार्याश्चापन्नसत्त्वायास्तथाऽतिद्रुतमश्नतः ॥ ४ ॥
अत्यन्तामपरीतस्य छर्द्देर्वै सम्भवो ध्रुवम्।
बीभत्सैर्हेतुभिश्चान्यैर्द्रुतमुत्क्लेशितो बलात् ॥ ५ ॥

छर्देर्हेतवः—अत्यन्त द्रव, अत्यधिक चिकने, मन के प्रतिकूल तथा नमकीन पदार्थों के अधिक सेवन से, अकालभोजन, अतिमात्रा में भोजन एवं असात्म्य भोजन करने से एवं श्रम, भय, उद्वेग, अजीर्ण तथा पेट में क्रिमि हो जाने से छर्दि उत्पन्न होती है। इसके अतिरिक्त आपन्नसत्वा (गर्भवती) स्त्री और अत्यधिक शीघ्रता से भोजन करने से भी छर्दि रोग उत्पन्न होता है। शरीर में आम रोगों के बढ़ जाने से भी छर्दि अवश्य उत्पन्न होती है। इसी तरह घृणा उत्पन्न करने वाले पदार्थ जैसे मल, मांस आदि तथा इन्हीं के समान अन्य पदार्थों के देखने से भी दोष उत्क्लेशित होकर छर्दि रोग उत्पन्न होता है ॥ ३–५ ॥

विमर्शः—चरकाचार्य ने सुश्रुताचार्य के समान सर्वप्रकार की छर्दि के सामान्य कारण नहीं लिखे हैं अपितु वातज, पित्तज, कफज, सन्निपातज तथा द्विष्टार्थसंयोगजन्य ऐसे इन पाँचों छर्दियों के पृथक्-पृथक् कारण लिखे हैं। 'दोषैः पृथक् त्रिप्रभवाश्चतस्रो द्विष्टार्थयोगादपि पञ्चमी स्यात्' (च० चि० अ० २०) 'पञ्च छर्दय इति द्विष्टार्थसंयोगजा वातपित्तकफसन्निपातोद्रेकोत्थाश्च', (च० सू० अ० १९) माधवकार ने 'दुष्टैर्दोषैः पृथक् सर्वैर्बीभत्सालोचनादिभिः। छर्दयः पञ्च विज्ञेयास्तासां लक्षणमुच्यते ॥' भी छर्दि के पाँच भेद मानकर 'अतिद्रवैरतिस्निग्धैः' इत्यादि रूप से सुश्रुतोक्त छर्दिकारणों का उल्लेख किया है। इस तरह वातज, पित्तज, कफज, सन्निपातज तथा द्विष्टार्थसंयोगजन्य (चरक) अथवा आगन्तुक भेद से छर्दि के पाँच भेद किए गए हैं। यद्यपि आगन्तुक छर्दि भी किसी दोष की विषमता हो जाने से होती है जैसा कि कहा है कि दोषों की विषमता ही रोग है 'रोगस्तु दोषवैषम्यम्' अतः साधारणतया उसके पृथक् वर्णन करने की आवश्यकता नहीं रहती तथापि सब रोगों में निदान का परित्याग करना ही प्रथम उद्देश्य होता है—'संक्षेपतः क्रियायोगो निदानपरिवर्जनम्' (Treat the cause) इसलिये कारण-परिवर्जन तथा विशिष्ट उपचार करने के प्रयोजन से आगन्तुक को पृथक् माना गया है, क्योंकि घृणा के उत्पादक पदार्थों अथवा उनके दर्शनस्पर्शनादि से उत्पन्न मानसिक संस्कारों को समूलोन्मूलित किये बिना केवल वात आदि दोष प्रत्यनीक उपचारों से किञ्चिन्मात्र भी लाभ की सम्भावना नहीं है, अपितु कदाचित् अज्ञान से वास्तविक निदान की उपेक्षा कर की गई चिकित्सा लाभप्रद न होकर हानिकारक हो सकती है। अरुचिकर या घृणोत्पादक पदार्थों की इयत्ता का निर्धारण नहीं किया जा सकता है। व्याधिभेद से इनमें भी भिन्नता पाई जाती है। किसी को कोई एक वस्तु अतिप्रिय है तो दूसरे के लिये वही घृणोत्पादक एवं अरुचिकर होने से वामक भी हो सकती है। कतिपय व्यक्तियों को दुग्ध, घृत तथा मेवे सदृश उत्तम पदार्थ भी वमनकारक हो जाते हैं। आजकल इसे एलर्जी (Allergy) या वस्तुविशेष के प्रति शरीर या मन की स्वाभाविक अरुचि या असह्यता कह सकते हैं। आयुर्वेद में यह एलर्जी सात्म्यासात्म्यभेद में समाविष्ट हो सकती है। कुछ पदार्थ स्वभावतः वामक होते हैं जैसे मदनफल, लवणजल आदि जो सर्वसामान्य को वमन करा सकते हैं, अतः ये उक्त विभाग में नहीं रखे जा सकते हैं। इसी प्रकार जिनका स्वरूप अत्यन्त विकृत, दुर्गन्धियुक्त हो, जिनके देखने और सूँघने मात्र से ही वमन हो जाये तथा इन वस्तुओं के प्रत्यक्ष अनुभव के अतिरिक्त कदाचित् श्रवण और मनन से भी वमन होने लगता है। इसका मुख्य कारण पूर्वानुभवजनित घृणात्मक संस्कारविशेष ही है। उक्त संस्कार के उदय होने पर व्यक्ति स्वयं को उसी वातावरण से ओतप्रोत सा देखता है। ये बीभत्सालोचनादिक कारण भी एलर्जी में नहीं आते हैं क्योंकि इनका तो स्वभाव ही मन को उद्वेजित कर वमन

कराने का है। अतिद्रव—आमाशय में अतिद्रव की उपस्थिति, वहाँ अत्यधिक तनाव (Over distention) उत्पन्न करके प्रत्यावर्तन क्रिया (Reflex action) द्वारा छर्दि को उत्पन्न करती है। अतिस्निग्ध—ऐसा भोजन दुष्पाच्य एवं कफवर्धक होता है। वह विकृत होकर स्रोतोरोध तथा आमाशय की श्लैष्मिक कला में क्षोभ (Irritation) उत्पन्न करके वमन कराता है। अहृद्य—खाने में अरुचिकर एवं आमाशय की श्लैष्मिक कला में संक्षोभ उत्पन्न करने वाले सभी पदार्थ अहृद्य कहलाते हैं। मुख द्वारा ग्रहण करने पर आमाशय में क्षोभ उत्पन्न करके प्रत्यावर्तन क्रिया द्वारा वमन कराने वाले वामक या अन्य असात्म्य पदार्थ इस वर्ग में आ जाते हैं। अतिलवण—लवण श्लेष्मवर्द्धक होने से स्रोतोरोध उत्पन्न करके वमन कराता है। इसके अतिरिक्त लवण में आसृतीय पीड़न (Osmotic pressure) बढ़ाकर अपनी ओर द्रवांशको खींच लेने की अद्भुत शक्ति होती है। इसी शक्ति के कारण वह आमाशयस्थ केशिकाओं की दीवारों से द्रवांश का स्राव अत्यधिक मात्रा में कराकर उदर को फुला देता है जिसके फलस्वरूप प्रत्यावर्तनक्रियाजन्य छर्दि की उत्पत्ति होती है। इसी दृष्टि से लवण का संतृप्त घोल वमनार्थ प्रयुक्त होता है। अकाल भोजन तथा अतिमात्र भोजन—भोजन का परिपाक करने के लिये निश्चित समय तथा निश्चित प्रमाण में पाचक रस का स्राव होता है। असमय में भोजन से आमाशयिक रस का स्राव न होने से भोजन का परिपाक नहीं होता है एवं वह विकृत होकर अनुकूल परिस्थिति पाकर प्रत्यावर्तन क्रिया द्वारा छर्दि को उत्पन्न कर सकता है। ठीक यही परिणाम अधिक भोजन करने पर भी होता है। असात्म्यभोजन—आमाशय में क्षोभ उत्पन्न करने वाले संखिया सदृश विष तथा अन्य वामक और अनिष्ट पदार्थ असात्म्य कहलाते हैं। इनमें से कुछ (एपोमार्फिन) केन्द्र पर साक्षात् प्रभाव द्वारा एवं कुछ (गर्म पानी, नमक, ताम्र तथा जिङ्क सल्फेट) प्रत्यावर्तन क्रिया द्वारा और कुछ (इपिकाक तथा संज्ञाहर औषधियाँ) उभयविधिसे वमन कराते हैं। श्रम, भय तथा उद्वेग—ये मानसिक कारण हैं एवं इनके द्वारा होने वाली छर्दि केन्द्रीय छर्दि (Central vomiting) कहलाती है। इसमें मिचली नहीं होती है। अजीर्ण—अजीर्ण के कारण आमाशयस्थ पदार्थ विकृत होकर विषोत्पत्ति तथा वायु की उत्पत्ति (Gassformation) के द्वारा प्रत्यावर्तनजन्य छर्दि को उत्पन्न करता है। क्रिमिदोष—आमाशय में गण्डूपद क्रिमि की उपस्थिति से प्रत्यावर्तन क्रिया द्वारा वमन होता है। इसके अतिरिक्त कभी-कभी ये कुण्डलित होकर अन्त्रावरोध एवं उदावर्त उत्पन्न करके भी वमन के प्रवर्तक होते हैं। सगर्भावस्था—मधुकोशकार ने लिखा है कि 'गर्भोत्पीडनेन वातवैगुण्याच्छर्दिः' गर्भ के पीडन से उत्पन्न वायु की विकृति से छर्दि की उत्पत्ति होती है। गर्भ के प्रथम तीन मासों में प्रायः वमन होता है। इसका कारण प्रत्यावर्तन क्रिया (Reflex action) है। चरक ने भी तृतीय मास में होने वाले दौहृद तथा गर्भधारण के सामान्य लक्षणों का वर्णन करते हुए छर्दि का वर्णन किया है—'आर्तवादर्शनमास्यसंस्रवणमनन्नाभिलाषः छर्दिररोचकोऽम्लकामता च विशेषेण'। अतिशीघ्रभोजन—इससे भी आमाशय के शीघ्र भरने एवं क्षोभ होने पर प्रत्यावर्तनजन्य छर्दि होती है। बीभत्स आदि हेतु भी मानसिक विभाग के अन्तर्गत ही समझने चाहिये। ये मस्तिष्कगत वामक केन्द्र पर प्रत्यक्ष प्रभाव उत्पन्न कराके वमन कराते हैं। इन सब बाह्य कारणों के अतिरिक्त आमाशय के कुछ रोगों (आमाशयिक कलाशोथ, आमाशय व्रण तथा घातक अर्बुद, आमाशय का तीव्र विस्फार) में भी आमाशयिक क्षोभ तथा तज्जन्य प्रत्यावर्तन क्रिया के द्वारा भी छर्दि होती है। संक्षोभ द्वारा होनेवाले सभी वमन प्राणदा (Vagus) नाड़ी की सक्रियता पर निर्भर हैं। आधुनिक चिकित्साशास्त्रानुसार छर्दि को तीन बड़े भागों में विभक्त किया जाता है-(१) केन्द्रीय छर्दि (Central vomiting) वामक केन्द्र मस्तिष्क में प्राणगुहातल (Floor of the fourth ventricle) में अवस्थित है। किसी वस्तु के प्रति स्वाभाविक घृणा या भय आदि कारणों से वामक केन्द्र की उत्तेजना के फलस्वरूप होने वाली वमी केन्द्रीय छर्दि कहलाती है। इस प्रकार की छर्दि अधिकतर असहिष्णुता (Neurotic) व्यक्तियों में पायी जाती है। जिन भय, घृणा या भीड़ आदि कारणों से पहले कभी वमन हो चुका है उनकी स्मृति तथा अनुभव से भी पुनः वमन हो जाता है। इसके अतिरिक्त मस्तिष्कार्बुद (Ceribral tumour), मस्तिष्कावरण शोथ (Meningitis) सदृश मस्तिष्क के रोगों में भी छर्दि होती है। इसका प्रधान कारण शीर्षान्तरीय निपीड (Intracranial pressure) की वृद्धि तथा वामक केन्द्र की उत्तेजना है। केन्द्रीय छर्दि की यह विशेषता है कि इसमें अन्य छर्दियों के समान छर्दि के पूर्व मिचली तथा उदरशूल या उदर के अन्य विकार नहीं पाये जाते हैं। इसमें शिरोवेदना हो सकती है। (२) प्रत्यावर्तनक्रियाजन्य छर्दि (Reflex Vomiting)-यह आमाशयस्थ विकृत खाद्यपदार्थ, विभिन्न ऐन्द्रियिक एवं अनैन्द्रियिक विषों से आमाशयिक श्लैष्मिक कला के क्षोभ तथा भोजन से आमाशय के अधिक तन जाने से होती है। इसके अतिरिक्त किसी सांवेदनिक नाड़ी की पीड़ायुक्त उत्तेजना के फलस्वरूप भी प्रत्यावर्तन छर्दि होती है। (३) विषजन्यछर्दि (Toxic Vomiting)—एपोमार्फिन सदृश वामक पदार्थ वामक केन्द्र पर प्रत्यक्ष प्रभाव द्वारा वमन कराते हैं। इसके अतिरिक्त ताम्र तथा लवणजल आमाशय में पहुँच कर प्रत्यावर्तन क्रिया द्वारा वमन कराते हैं। मूत्रविषमयता तथा परमावटुकग्रंथिता (Hyper thyroidism) के द्वारा उत्पन्न विष केन्द्र पर साक्षात् प्रभाव करके छर्दि को उत्पन्न करता है। इस छर्दि में हृल्लास अधिक रहता है एवं केन्द्रीय तथा प्रत्यावर्तनजन्य छर्दि से पृथक् करने के लिये यह विशिष्ट लक्षण है। साधारणतया छर्दि की उत्पत्ति में वामक केन्द्र का प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्षरूप में उत्तेजित होना अनिवार्य है। आयुर्वेदोक्त छर्दि के उत्पादक सभी कारणों का इन तीनों में ही समावेश हो जाता है। वस्तुतः छर्दि के उत्पादक कारण तो अतिद्रव आदि पदार्थों का सेवन ही है। इन्हें तो निदानसेवनजन्य सम्प्राप्तिविशेष के अंश ही कह सकते हैं। मस्तिष्कार्बुद आदि स्थानीय कारणों से उत्पन्न होनेवाली छर्दि इसका अपवाद है।

छादयन्नाननं वेगैरर्दयन्नङ्गभञ्जनैः।
निरुच्यते छर्दिरिति दोषो वक्त्राद्विनिश्चरन् ॥ ६ ॥

छर्दिनिरुक्ति—अतिद्रव, अतिस्निग्ध आदि पूर्वोक्त कारणों से अकस्मात् उत्क्लेश को प्राप्त होकर बहिर्निःसरणप्रवृत्ति वाले वेगों से मुख को पूरित करते हुए एवं अङ्गप्रत्यङ्गव्यथाओं से शरीर को दुःखित करते हुए एवं मुखद्वारा निकलने वाला प्रकुपित दोष छर्दि कहलाता है ॥ ६ ॥

विमर्शः—दोष शब्द से प्रकृत में विकृत उदान वायु एवं दुष्ट आमाशयिक पदार्थ के मुखद्वारा बाहर निकलने को छर्दि कहते हैं। छर्दि शब्द छद् और अर्द् के संयोग से बना है। छद् का अर्थ आच्छादित करना या ढकना या आवृत करना है और अर्द् का अर्थ पीड़ित करना है। 'छादयति मुखम्, अर्दयति चाङ्गानीति छर्दिः। छद अपवारणे, अर्द हिंसायाम् अनयोः पृषोदरादित्वेन रूपसिद्धिः।' आमाशय से निकलने वाला पदार्थ मुख को भर देता है एवं छर्दि में अतिसार की अपेक्षा कष्ट भी अधिक होता है। यहाँ तक कि वमन करते-करते तमाम आन्त्र ऊपर को हो जाते हैं तथा रुग्ण की आँखों से आंसू भी आ जाते हैं। इसी दृष्टि से विषभक्षणादि आत्ययिक अवस्था के बिना कोई भी चिकित्सक किसी रोगी को वमन प्रायः नहीं कराते हैं। इस रोग में प्रधान विकृति उदान वायु की रहती है क्योंकि उदान वायु का स्वाभाविक कार्य भी ऊपर की ओर गति करना है किन्तु जब वह स्वप्रकोपक कारणों से प्रकुपित हो जाता है तब उसकी ऊर्ध्व आने की गति अत्यन्त तेज (अप्राकृतिक) हो जाती है जिससे वह आमाशयस्थ अपक्व पदार्थों को तथा कभी-कभी आन्त्रावरोध में आन्त्रस्थ पदार्थों को भी मुख द्वारा बाहर निकाल देता है, जैसा कि वाग्भट ने भी स्पष्ट लिखा है—'उदानो विकृतो दोषान् सर्वास्वप्यूर्ध्वमस्यति' (वाग्भट)। छर्दि (Vomiting) की आधुनिक परिभाषा भी इसके समान ही है जो कि निम्न प्रकार से है—Vomiting is a forcible expulsion of the gastric contents through the oesophagus and mouth. अर्थात् अन्ननलिका एवं मुख द्वारा आमाशयिक पदार्थों के वेगपूर्वक बाहर निकलने की क्रिया को छर्दि कहते हैं।

दोषानुदीरयन् वृद्धानुदानो व्यानसङ्गतः।
ऊर्ध्वमागच्छति भृशं विरुद्धाहारसेवनात् ॥ ७ ॥

छर्दिसम्प्राप्ति—व्यान वायु के साथ मिला हुआ उदान विरुद्धाहार सेवन करने से वृद्ध (प्रकुपित) हुये दोषों को प्रेरित करता हुआ वेगपूर्वक (भृशं) ऊपर (मुख की ओर) आता है ॥ ७ ॥

विमर्शः—कुछ आचार्यों ने इस सम्प्राप्ति के 'दोषानुदीरयन्' आदि श्लोक को निम्न रूप से परिवर्तित करके पढ़ा है—'ईरयन् श्लेष्मपित्ते तु उदानो व्यानसङ्गतः। ऊर्ध्वमागच्छति रसो विरुद्धाहारसेविनाम् ॥' ऐसा पाठपरिवर्तन कार्तिककुण्ड को अभीष्ट नहीं है क्योंकि 'दोषो वक्त्रं प्रधावितः' इससे आशय प्राप्त (गतार्थ) हो जाता है।

प्रसेको हृदयोत्क्लेशो भक्तस्यानभिनन्दनम्।
पूर्वरूपं मतं छर्द्यां यथास्वं च विभावयेत् ॥ ८ ॥

छर्दिपूर्वरूपं रूपञ्च—मुख से लाला का स्राव होना, हृदय (तथा आमाशय) प्रदेश में बेचैनी और भोजन करने की इच्छा न होना ये छर्दि के पूर्वरूप हैं तथा अपने-अपने दोषों के अनुसार उनके आत्मीय प्रव्यक्त पूर्वरूप को रूप समझना चाहिए, अर्थात् रूपावस्था के लालास्राव के कषाय, अम्ल और मधुर रसों में से जो भी रस व्यक्त होने लग जाय तब उसे वातादि दोषों के प्रकट लक्षणों वाली छर्दि समझनी चाहिए ॥ ८ ॥

विमर्शः—माधवकार ने सुश्रुत के 'प्रसेको हृदयोत्क्लेशः' इस श्लोक को निम्नरूप से पढा है—हृल्लासोद्गाररोधौ च प्रसेको लवणस्तनुः। द्वेषोऽन्नपाने च भृशं वमीनां पूर्वलक्षणम् ॥ जिसमें प्रसेक, हृल्लास और अन्नपानद्वेष इन तीन लक्षणों के अतिरिक्त उद्गाररोध (डकार का ठीक न आना) यह चौथा लक्षण अधिक लिखा है किन्तु चरकाचार्य ने भी सुश्रुत के समान तीन ही लक्षणों का निर्देश किया है, उद्गाररोध का उल्लेख नहीं है—'तासां हृदुत्क्लेशकफप्रसेकौ द्वेषोऽशने चैव हि पूर्वरूपम्' (च० चि० अ० २०)। प्रसेकः—छर्दि की पूर्वरूपावस्था में मुख का प्रसेक लवण रस का होता है क्योंकि लवण रस छर्दि का उत्पादक है अतः यदि यह लवणरसयुक्त स्रुत लालारस आमाशय में पहुँच जाय तो तुरन्त छर्दि को उत्पन्न कर सकता है जैसा कि हेलिवर्टन की फिजियोलोजी में भी लिखा है—The act of vomiting is preceded by a feeling of nausia and swallowing of a large quantity of saliva' अर्थात् हृल्लास और स्रुत लालारस की अत्यधिक मात्रा निगल लेने के उपरान्त वमन की क्रिया सम्पन्न होती है। मुख का नमकीन होना व्याधिप्रभावजन्य है। हृदुत्क्लेशः—बहिर्निःस्रायन्न न निर्गच्छेत् प्रसेकष्ठीवनैरितम्। हृदयं पीड्यते चास्य तमुत्क्लेशं विनिर्दिशेत् ॥ (सु० शा० अ० ४) अन्न आमाशय में उत्तप्त होकर बाहर न निकले तथा प्रसेक (मुख में पानी भरना) और ष्ठीवन (पानी को थूकने की प्रवृत्ति) को प्रेरित करे तथा हृदयप्रदेश पीड़ित हो जावे उसे उत्क्लेश (Heart burn) कहते हैं। अर्थात् आमाशयिक हृच्छिद्र (Cardic openig of the stomach) समीपस्थ भाग में आमाशयस्थ पदार्थ को बाहर निकालने की विशेष प्रवृत्ति को ही हृदुत्क्लेश कहते हैं। वस्तुतः आमाशयिक हृच्छिद्र के बिना खुले वमन की क्रिया कदापि सम्पन्न नहीं हो सकती। वमन पचनसंस्थान की विकृति का एक लक्षण है और हृदुत्क्लेश वमन क्रिया का प्राथमिक अङ्ग या पूर्वरूप है। इसमें आमाशय में हाइड्रोक्लोरिक अम्ल की अधिकता या उसकी अल्पता होने पर दुर्गन्धिक पूतिक (लेक्टिक, ब्यूटिक) इत्यादिक सेन्द्रिय अम्लों की उत्पत्ति होती है। ये अम्ल हृदयप्रदेश में उत्क्लेश करते हैं। हृदय में कुछ भी खराबी नहीं होती। आमाशय हृदय के समीप है तथा उसका ऊपरी द्वार हार्दिक द्वार (Cardiac orifice) कहलाता है। आमाशय के अम्ल इस द्वार को खोलकर कुछ ऊपर आ जाते हैं। इससे हृदय में पीड़ा मालूम होती है। यह हृदयोत्क्लेश वमन के अतिरिक्त अम्लपित्त, आमाशय का व्रण और विस्तार या विस्फार (Dilatation), जीर्णशोथ, अपचन और अजीर्ण (Dyspepsia) में उत्पन्न होता है। दूसरी अवस्था यह है कि महाप्राचीरा पेशी (Diaphragm) के कड़ी हो जाने से आमाशय पर दबाव पड़ता है जिससे हृच्छिद्र की पेशियाँ स्वभावतः ढीली पड़ जाती हैं। इस प्रकार आमाशयिक

हृच्छिद्र के खुल जाने पर वेग के द्वारा आमाशयस्थ पदार्थ बाहर निकल जाता है। भक्तस्यानभिनन्दनम्—लक्षणोत्पत्ति से पूर्व ही आमाशय में विकृति की परम्परा निरन्तर चलती रहती है जिसके परिणामस्वरूप अरुचि या अन्नपानद्वेष नामक पूर्वरूप की उत्पत्ति होती है। इस अवस्था में गृहीत अन्नपान भी वेगपूर्वक वमन का प्रवर्तक होता है। इसके अतिरिक्त खाद्य के साथ लालारस भी आमाशय में अवश्य पहुँचेगा जो कि वमन का उत्तेजक है। इसी भय से आमाशय प्राकृतिक नियम के अनुसार किसी भी बाह्य वस्तु को स्वीकार करने में असमर्थ रहता है।

प्रच्छर्दयेत् फेनिलमल्पमल्पं
शूलार्दितोऽभ्यर्दितपार्श्वपृष्ठः।
श्रान्तः सघोषं बहुशः कषायं
जीर्णेऽधिकं साऽनिलजा वमिस्तु ॥ ९ ॥

वातजच्छर्दिलक्षणम्—पार्श्व और पृष्ठ में पीड़ा का अनुभव करता हुआ तथा शूल से पीड़ित व्यक्ति झागदार एवं थोड़ा-थोड़ा तथा शब्द करता हुआ बहुत बार वमन करता है तथा वमन करने से श्रान्त हो (थक) जाता है एवं वमन का रस कषाय तथा भोजन के पच जाने पर वमन अधिक होता है। इसे वातजन्य वमन कहते हैं ॥ ९ ॥

विमर्शः—चरकाचार्य ने प्रत्येक दोष से उत्पन्न होने वाली छर्दि के कारण और सम्प्राप्ति का साथ ही वर्णन कर फिर उनके लक्षण लिखे हैं—व्यायामतीक्ष्णौषधशोकरोगभयोपवासाद्यतिकर्षितस्य। वायुर्महास्रोतसि सम्प्रवृद्ध उत्क्लेश्य दोषांस्तत ऊर्ध्वमस्यन्॥ आमाशयोत्क्लेशकृताञ्च मर्म प्रपीड्यन्छर्दिमुदीरयेत्तु। हृत्पार्श्वपीडामुखशोषमूर्धनाभ्यर्तिकासस्वरभेदतोदैः॥ उद्गारशब्दप्रबलं सफेनं विच्छिन्नकृष्णं तनुकं कषायम्। कृच्छ्रेण चाल्पं महता च वेगेनार्तोऽनिलाच्छर्दयतीह दुःखम्॥ (च० चि० अ० २०) व्यायाम, तीक्ष्णौषध, शोक, रोग, भय और उपवासादि कारणों से वायु महास्रोतस में बढ़कर प्रकुपित होकर अन्य दोषों को उत्क्लेशित कर उन्हें ऊपर की ओर फेंकता हुआ आमाशय में भी उत्क्लेश कर मर्म (हृदय) को पीड़ित करता हुआ वातिक छर्दि रोग को उत्पन्न करता है जिसके लक्षण हृदय और पार्श्व में पीड़ा, मुखशोष, मस्तिष्क में पीड़ा तथा कास, स्वरभेद, सुई चुभोने की सी पीड़ा और जोर की उद्गार (डकार) का शब्द होता है तथा फेनयुक्त, छितरा हुआ, काले वर्ण का, स्वाद में कषाय और थोड़ा सा वमन बड़े कष्ट से निकलता है। ये वातिकच्छर्दि के लक्षण हैं। ऐसे वातिक छर्दि में पीड़ा तथा वेग ये दो मुख्य लक्षण होते हैं—'वातादृते नास्ति रुजा' इसके अतिरिक्त वायु का गुण गति है। उसके प्रबल होने पर गति भी वेगयुक्त हो जाती है। अन्त में इसका परिणाम भी पीड़ा ही है। हृत्पार्श्वपीडा—छर्दि के समय आमाशयोत्क्लेश के कारण हृदय या तत्समीपस्थ अङ्गों पर दबाव पड़ने से पीड़ा का अनुभव होता है। वमन के समय उदर की सभी पेशियाँ सामान्य कार्य करती हैं किन्तु वाताधिक्य के कारण उनकी क्रियाशीलता और भी अधिक बढ़ जाती है। इस प्रकार इनमें आवश्यकता से अधिक तथा निरन्तर सङ्कोच होते रहने से पीड़ा भी अधिक हो जाती है। उद्गारशब्दप्रबल—वमन के पूर्वरूप में उद्गार का अवरोध बताया गया है किन्तु रूपावस्था में उसकी उपस्थिति ही नहीं अपितु प्रबलता भी हो जाती है। इस छर्दि को वातनाडीजन्य छर्दि कह सकते हैं क्योंकि चरकप्रतिपादित इसके अधिकांश कारण (शोक-भयादिक) वातनाडीसंस्थान पर प्रभाव डालने वाले हैं।

योऽम्लं भृशं वा कटुतिक्तवक्त्रः
पीतं सरक्तं हरितं वमेद्वा।
सदाहचोषज्वरवक्त्रशोषो
मूर्च्छाऽन्वितः पित्तनिमित्तजा सा ॥ १० ॥

पित्तजच्छर्दिलक्षणम्—जो व्यक्ति अत्यधिक अम्ल वमन करता हो तथा जिसका मुख कटु (चरपरा) और तिक्त (तीता या कड़वा) हो या वमन का रङ्ग पीला, रक्तयुक्त या हरा हो एवं सर्वाङ्ग अथवा आमाशय और अन्ननलिका प्रदेश में दाह हो, चोष (चूसने की सी पीड़ा) हो, ज्वर हो तथा मुख सूखता हो एवं रुग्ण को कभी-कभी मूर्च्छा भी आ जाती हो तब उसे पैत्तिकच्छर्दि कहते हैं ॥ १० ॥

विमर्शः—चरकानुसार पित्तजच्छर्दि के कारण, सम्प्राप्ति और लक्षण निम्न हैं—अजीर्णकट्वम्लविदाह्यशीतैरामाशये पित्तमुदीर्णवेगम्। रसायनीभिर्विसृतं प्रपीड्य मर्मोर्ध्वमागम्य वमिं करोति॥ मूर्च्छापिपासामुखशोषमूर्धताल्वक्षिसन्तापतमोभ्रमार्तः। पीतं भृशोष्णं हरितं सतिक्तं धूम्रञ्च पित्तेन वमेत् सदाहम्॥ (च० चि० अ० २०) अजीर्णावस्था में तथा कटु, अम्ल, विदाही और उष्ण पदार्थों के अत्यधिक सेवन करने से आमाशय में पित्त उद्दीप्त वेग से उत्पन्न होकर रसायनियों के द्वारा फैल कर ऊपर को आ के मर्म (हृदय) को पीड़ा पहुँचाता हुआ वमन को करता है तथा इस पैत्तिक वमन में मूर्च्छा, पिपासा, मुख का सूखना, एवं मस्तिष्क, तालु और नेत्रों में सन्ताप (दाह) का होना, आँखों के सामने अँधेरा छाना एवं शिर में चक्कर होते हैं। इसके अतिरिक्त वह व्यक्ति पीला, अत्यन्त उष्ण, हरा, तिक्त (कड़वा) तथा धूएँ के वर्ण का एवं दाहयुक्त वमन करता है। माधव टीका में धूम्र का कृष्णलोहित वर्ण अर्थ किया है। सुश्रुताचार्य ने इसमें ज्वर का होना भी लिखा है। वास्तव में पित्तज विकार में शरीरान्तर्गत अधिक उष्णता के द्योतक ज्वर का होना अनिवार्य भी है। यद्यपि चरक और वाग्भट ने ज्वर का प्रत्यक्ष उल्लेख नहीं किया है तथापि उनके सन्ताप और तापशब्द अभीष्टार्थ (ज्वर) के द्योतक हैं। ऐसे लक्षणों से युक्त छर्दि आमाशयिक कलाशोथ (Peptic ulcer) और आन्त्रपुच्छ शोथ (Appendicitis) में विशेष रूप से मिलती है। आमाशयिक कलाशोथ में हृदयप्रदेश में दाह तथा खाने के कुछ देर पश्चात् अर्थात् पाचन के समय वमन होता है। पाचन के काल में वमन का होना पित्ताधिक्य का द्योतक है। आन्त्रपुच्छ शोथ में भोजनोत्तर पाचनकाल में वमन होता है तथा ज्वर रहता है जो कि पैत्तिक छर्दि का मुख्य लक्षण है। वमन के पीतवर्ण तथा हरितवर्ण के होने एवं तिक्त रस के होने का कारण ग्रहणी (Deodinum) से उदावृत्त (ऊर्ध्वगत) पित्त के कारण तथा धूम्रवर्ण थोड़ी मात्रा में रक्त के आने के कारण होता है।

यो हृष्टरोमा मधुरं प्रभूतं
शुक्लं हिमं सान्द्रकफानुविद्धम् ।
अभक्तरुग्गौरवसादयुक्तो
वमेद्वमी सा कफकोपजा स्यात् ॥ ११ ॥

कफजच्छर्दिलक्षणम्—जो व्यक्ति रोमाञ्चयुक्त हो तथा जिसे अन्न खाने की इच्छा न हो एवं जिसका शरीर गौरव (भारीपन) और साद (अङ्गग्लानि) से युक्त हो तथा मधुर रस वाली, मात्रा में अधिक एवं श्वेत वर्ण, स्पर्श में शीतल और गाढ़े (चपचपेदार) कफ से लपटी हुई वमन करता हो तो उसे कफप्रकोपजन्य वमन समझे ॥ ११ ॥

विमर्शः—चरकोक्त कफजच्छर्दि के कारण-सम्प्राप्ति और लक्षण इस प्रकार हैं—स्निग्धातिगुर्वामविदाहिभोज्यैः स्वप्नादिभिश्चैव कफोऽतिवृद्धः। उरः शिरो मर्मरसायनीश्च सर्वाः समावृत्य वमिं करोति ॥ तन्द्रास्यमाधुर्यकफप्रसेकसन्तोषनिद्रारुचिगौरवार्तः। स्निग्धं घनं स्वादु कफाद्विशुद्धं सलोमहर्षोऽल्परुजं वमेत्तु॥ (च० चि० अ० २०) अत्यधिक स्निग्ध, भारी, आमकारक और विदाही पदार्थों के सेवन करने से तथा स्वप्नादि सुखकर क्रियाओं से कफ अधिक मात्रा में बढ़ कर छाती, शिर, मर्म (हृदय) और रसवाहिनियाँ इन सबमें प्रविष्ट हो कफजन्य वमन रोग उत्पन्न कर देता है जिसमें तन्द्रा, मुखमधुरता, कफ का ष्ठीवन, अरुचि और गौरव से वह रोगी पीड़ित रहता है एवं स्निग्ध, गाढ़ा, मधुर स्वाद युक्त वमन करता है।

सर्वाणि रूपाणि भवन्ति यस्यां
सा सर्वदोषप्रभवा मता तु ॥ १२ ॥

सन्निपातजच्छर्दिलक्षणम्—जिस में वात, पित्त और कफ इन तीनों के लक्षण मिलते हों उसे सन्निपातजन्य छर्दि कहते हैं ॥ १२ ॥

विमर्शः—चरकोक्त सन्निपातजन्य छर्दि के कारण, सम्प्राप्ति तथा लक्षण इस प्रकार हैं—समश्नतः सर्वरसान् प्रसक्तमामप्रदोषर्तुविपर्ययैश्च। सर्वे प्रकोपं युगपत्प्रपन्नाश्छर्दिं त्रिदोषां जनयन्ति दोषाः। शूलाविपाकारुचिदाहतृष्णाश्वासप्रमोहप्रबलाप्रसक्तम्॥ छर्दिस्त्रिदोषाल्लवणाम्लनीलसान्द्रोष्णरक्तं वमतां नृणां स्यात्॥ (च० चि० अ० २०) सदा सर्व रस अर्थात् पथ्यापथ्यमिश्रित भोजन करने से एवं आमदोष और ऋतुवैपरीत्य से वातादि सर्वदोष एक साथ कुपित होकर त्रिदोषजन्य छर्दि को उत्पन्न करते हैं जिसके लक्षण शूल, भोजन का अपचन, अरुचि, दाह, तृष्णा, श्वास, मूर्च्छा आदि होते हैं। त्रिदोषजन्य छर्दि लवण और अम्ल रस वाली एवं वर्ण में नीली तथा गाढ़े उष्ण रक्त से मिश्रित होती है। त्रिदोषजन्य छर्दि में तीनों दोषों के लक्षण मिलते हैं जैसे वात के कारण शूल, कफ के कारण अपचन, अरुचि तथा श्वास होता है और पित्त के कारण दाह, तृष्णा, मूर्च्छा तथा कभी-कभी वमन में रक्त भी निकलता है। इस प्रकार की छर्दि अनेक प्रकार की विषमयता जैसे मूत्रविषमयता (uraemia), जीर्ण आमाशयशोथ, व्रण या कर्कटार्बुद, पित्तरक्तता (Cholaemia) आदि विकारों में होती है।

बीभत्सजा दौर्हृदजाऽऽमजा च
सात्म्यप्रकोपात्क्रमिजा च या हि।
सा पञ्चमी तांश्च विभावयेत्तु
दोषोच्छ्रयेणैव यथोक्तमादौ ॥

आगन्तुजच्छर्दिलक्षणम्—गन्दी वस्तुओं के सम्पर्क से, स्त्रियों में सगर्भावस्था से, आमदोष या आमाजीर्ण से, सात्म्य भोजन आदि के सेवन के अकस्मात् त्याग से, आन्त्र में कृमियों की उपस्थिति से होने वाली यह पाँचवीं छर्दि आगन्तुज छर्दि कहलाती है। इस छर्दि को भी प्रथम कहे दोषों के लक्षणों के अनुसार ही पहचानना चाहिए ॥ १३ ॥

विमर्शः—(१) 'बीभत्सजादिद्विष्टाशुचिपूत्यामेध्यादिकाद् घृणाकराज्जाता' अर्थात् मल, मांस, रक्तादिदर्शन तथा सड़े पदार्थ के दर्शन से घृणा होने से उत्पन्न छर्दि बीभत्सा कहलाती है। चरकाचार्य ने पाँचवीं आगन्तुक छर्दि न मान कर इसे ही पाँचवीं माना है तथा इसे द्विष्टार्थसंयोगजा कहा है—द्विष्टप्रतीपाशुचिपूत्यमेध्यबीभत्सगन्धाशनदर्शनैश्च। यच्छर्दयेत्तप्तमनामनोज्ञैर्द्विष्टार्थसंयोगभवा मता सा॥ (च० चि० अ० २०) (२) दौर्हृदजा—दौर्हृद (गर्भ की खाने-पीने की इच्छाएँ गर्भवती के हृदय द्वारा प्रकट होती हैं) के पूर्ण न करने से उत्पन्न छर्दि दौर्हृदजा मानी जाती है। अन्य लोगों ने इसका अर्थ सामान्य गर्भधारणरूप करके तदुत्पन्न छर्दि को दौर्हृदजा कहा है। इसे गर्भावस्थाजन्य वमनाधिक्य (Hyperemasis gravidarum) तथा सूतिकापस्मार (Eclampsia) जन्य छर्दि कहते हैं। (३) आमजा च—आमदोष के सञ्चय से स्वतन्त्र छर्दि होती है तथा आम के कारण ही विसूचिका के वमन की उत्पत्ति होती है। (४) 'सात्म्यप्रकोपात्' के स्थान पर 'ह्यसात्म्यजा च' ऐसा पाठान्तर है जिसका अर्थ असात्म्य पदार्थों के भोजन करने से उत्पन्न छर्दि ऐसा होता है। (५) कृमिजा—कृमिभिः कृता कृमिजा। कृमि प्रत्यावर्तन क्रिया द्वारा वमन कराते हैं। इसी तरह अजीर्ण में गैस से आमाशय के अधिक फूल जाने के कारण तथा असात्म्य भोजन से स्थानीय संक्षोभ के कारण प्रत्यावर्तन क्रियाजन्य छर्दि होती है। सा पञ्चमी—बीभत्सजादि यावत्सा पञ्चमी। अर्थात् सा पञ्चमी शब्द से केवल क्रिमिजा का ग्रहण न कर आगन्तुज सामान्य का ग्रहण होता है। अर्थात् बीभत्सजा, दौर्हृदजा, आमजा, असात्म्यजा और क्रिमिजा पञ्चमी। इन पाँचों में दोष की कल्पना कर चिकित्सा करनी चाहिए। कुछ आचार्यों का ऐसा मत है कि 'या कृमिजा सा पञ्चमी तांश्च दोषोच्छ्रयेणैव विभावयेत्' अर्थात् इससे क्रिमिजन्य छर्दि का ही दोषों से सम्बन्ध है, अन्य चारों का नहीं। इस दोष का परिहरण करने के लिये कुछ आचार्य 'सा पञ्चमी तांश्च' के स्थान पर 'सा पञ्चमी तांश्च' ऐसा बहुवचनान्त पाठ करते हैं जिसका तात्पर्य यह है कि वह (सा) कृमिजा पाँचवीं तथा तांश्च अर्थात् शेष बीभत्सजादि चारों का दोषों से लक्षणानुसार सम्बन्ध जान लेना चाहिए। वास्तव में यही मत समुचित है क्योंकि चरकाचार्य का मत है कि आगन्तुक रोग भी स्वल्पकाल में ही किसी न किसी दोष से अवश्य सम्बन्धित हो जाते हैं—'आगन्तुरन्वेति निजंविकारम्' 'आगन्तुर्हि व्यथापूर्वं समुत्पन्नो जघन्यं वातपित्तश्लेष्मणां वैषम्य-

मापादयति निजे तु वातपित्तश्लेष्माणः पूर्वं वैषम्यमापद्यन्ते जघन्यं व्यथामभिनिर्वर्तयन्ति' (च० सू० अ० २०) आगन्तुक रोगों में प्रथम व्यथा होती है पश्चात् वात, पित्त, कफ इन दोषों में विषमता आकर ये भी उस आगन्तुक रोग के साथ सम्बन्धित हो जाते हैं जिससे वह आगन्तुक निज रोग संज्ञा को प्राप्त हो जाता है। अतः आगन्तुक कारणों के साथ-साथ वातादि दोषों के अनुबन्ध का ज्ञान करना भी परमावश्यक है जिससे दोषप्रत्यनीक(दोषविरुद्ध)चिकित्सा करने में सौकर्य होता है।

शूलहृल्लासबहुला कृमिजा च विशेषतः।
कृमिहृद्रोगतुल्येन लक्षणेन च लक्षिता॥ १४॥

कृमिजच्छर्दिलक्षणम्—कृमिजन्य छर्दि में रोगी को उदरशूल तथा हृल्लास (मिचली) ये लक्षण विशेष रूप से होते हैं। इनके अतिरिक्त अन्य लक्षण कृमिजन्य हृद्रोग के लक्षणों के समान होते हैं॥ १४॥

विमर्शः—क्रिमिरोग में उदरशूल (Epigastric pain) विशेषतः होता है तथा मितली भी ज्यादा आती है अतः कृमिदोषजन्य छर्दि में उक्त लक्षण पाये जाते हैं। छर्दि गण्डूपद कृमि (Round worm) का विशेष लक्षण है। कृमिजन्यच्छर्दि में कृमिजन्य हृद्रोग के लक्षण भी पाये जाते हैं—उत्क्लेदः ष्ठीवनं तोदः शूलं हृल्लासकस्तमः। अरुचिः श्यावनेत्रत्वं शोथश्च क्रिमिजे भवेत्॥

क्षीणस्योपद्रवैर्युक्तां सासृक्पूयां सचन्द्रिकाम्।
छर्दिं प्रसक्तां कुशलो नारभेत चिकित्सितुम्॥ १५॥

अवस्थानुसारेण सर्वासां वमीनामसाध्यत्वम्—रसरक्तादि धातुओं की अल्पता से क्षीण हुए व्यक्ति में तथा उपद्रवों से युक्त छर्दि, रक्त और पूययुक्त छर्दि एवं मयूरपिच्छवत् चन्द्रिकायुक्त छर्दि तथा निरन्तर (लगातार) प्रवृत्त होने वाली छर्दि की कुशल वैद्य चिकित्सा न करे॥ १५॥

विमर्शः—सोपद्रवा—छर्दि में कास, श्वास, ज्वर, हिक्का, तृष्णा आदि उपद्रव होते हैं—कासः श्वासो ज्वरो हिक्का तृष्णा वैचित्त्यमेव च। हृद्रोगस्तमकश्चैव ज्ञेयाश्छर्देरुपद्रवाः। चरकोक्त असाध्यच्छर्दिलक्षण—क्षीणस्य या छर्दिरतिप्रसक्ता सोपद्रवा शोणितपूययुक्ता। सचन्द्रिकां तां प्रवदन्त्यसाध्यां साध्यां चिकित्सेदनुपद्रवां च॥ (च० चि० अ० २०) शोणितपूययुक्ता—रक्तयुक्त वमन—अन्ननलिकाशोथ (Oesophagitis), आमाशयव्रण (Gastric ulcer) या आमाशयान्तसङ्कोच (Pyloric obstruction) आदि विकृतिजन्य छर्दि में होता है। सचन्द्रिकाम्—मेद और मज्जा आदि धातुओं का स्नेह ही वमन द्वारा निकलने पर मयूरपिच्छ की चन्द्रिकाओं के समान दीखता है। फोस्फोरस खाने के पश्चात् भी होने वाले वमन में इस प्रकार की चन्द्रिकाएँ पाई जाती हैं। धातुगत फोस्फोरस के इस अनवरत क्षय से क्षीण रोगी क्षीणतर हो जाता है एवं उसकी छर्दि असाध्य कोटि को प्राप्त हो जाती है। चरकाचार्य ने लिखा है कि प्रकुपित वायु मल, स्वेद, मूत्र और अम्बुवाहक स्रोतसों को अवरुद्ध कर ऊपर की ओर प्राप्त होता है। फिर यहां कोष्ठ के अन्दर सञ्चित हुए दोषों को उभार कर विष्ठा और मूत्र के समान गन्ध तथा वर्ण वाला एवं तृष्णा, श्वास और हिक्का की पीड़ा से युक्त होकर अत्यधिक वेग से दूषित पदार्थों का वमन करता है। इस प्रकार के वमन से पीड़ित व्यक्ति शीघ्र ही मृत्यु को प्राप्त होता है—विट्स्वेदमूत्राम्बुवहानि वायुः स्रोतांसि संरुध्य यदोर्ध्वमेति। उत्सन्नदोषस्य समाचितं तं दोषं समुद्धूय नरस्य कोष्ठात्॥ विण्मूत्रयोस्तत्समवर्णगन्धं तृट्श्वासहिक्कार्तियुतं प्रसक्तम्। प्रच्छर्दयेद् दुष्टमिहातिवेगात्तयार्दितश्चाशु विनाशमेति॥ (च० चि० अ० २०)

आमाशयोत्क्लेशभवा हि सर्वा-
स्तस्माद्धितं लङ्घनमेव तासु।
विधीयते मारुतजां विना तु
संशोधनं वा कफपित्तहारि॥ १६॥

सर्वच्छर्दिसामान्यचिकित्सा—प्रायः सर्व प्रकार की छर्दियां आमाशय में उत्क्लेश होने से उत्पन्न होती हैं। इस वास्ते आमाशयस्थ विवृद्ध कफ का विनाश करने के लिये सर्वप्रथम लङ्घन कर्म कराना ही प्रशस्त है, किन्तु वातजन्य छर्दि हो तो उसमें लङ्घन नहीं कराना चाहिए। अथवा सर्व प्रकार की छर्दियों में कफ और पित्त को नष्ट करने के लिये संशोधन अर्थात् वमन और विरेचन उभय कराने चाहिए॥ १६॥

विमर्शः—जब दोषों की अल्पता होती है तब लंघन कराना चाहिए, किन्तु दोषों की अधिकता में संशोधन कर्म कराना श्रेष्ठ माना गया है—लङ्घनमल्पदोषविषयं शोधनञ्च बहुदोषविषयमिति व्यवस्था। (च. चि. चक्र. अ. २०, श्लो. २०) विरेचन कर्म से पित्त का हरण हो जाता है—'विरेचनं पित्तहराणाम्। विरेचनं हि पित्तस्य जयाय परमौषधम्। विरेचनार्थ हरीतकी-चूर्ण मधु के साथ तथा अन्य हृद्य विरेचकयोग (गुलकन्दप्रयोग, द्राक्षाप्रयोग, मधुयष्टि आदि) मद्य, पानी वा दुग्ध के साथ प्रयुक्त करने से ऊपर की ओर प्रदीप्त हुए उत्कट वेग वाले दोषों का नीचे की ओर गमन होकर वे देह से बाहर निकल जाते हैं—चूर्णानि लिह्यान्मधुनाऽभयानां हृद्यानि वा यानि विरेचनानि। मद्यैः पयोभिश्च युतानि युक्त्या नयन्त्यधो दोषमुदीर्णमूर्ध्वम्। वमन के प्रयोग से कफ का बहिर्निर्गमन हो जाता है। वमन कराने के लिये चरक के कल्पस्थानसिद्धि अध्याय ११ में कहे हुये जीमूतक, इक्ष्वाकु, मदनफल आदि से वमन कराना चाहिए, किन्तु जो व्यक्ति दुर्बल हो उसकी शमनविधि से चिकित्सा करनी चाहिए, जैसे मन को प्रिय लगने वाले फलों के रस या मांसरस, पचने में लघु तथा शुष्क भोज्य पदार्थ और रुचिकर पेय पदार्थों का प्रयोग करना चाहिए—वल्लीफलैर्वैमनं पिबेद्वा यो दुर्बलस्तं शमनैश्चिकित्सेत्। रसैर्मनोज्ञैर्लघुभिर्विशुष्कैर्भक्ष्यैः समोज्ञैर्विविधैश्च पानैः॥ (च. चि. अ. २०)

वमीषु बहुदोषासु छर्दनं हितमुच्यते।
विरेचनं वा कुर्वीत यथादोषोच्छ्रयं भिषक्॥ १७॥

प्रबलकफजच्छर्द्यां वमनम्—कफ दोष की प्रबलता वाले छर्दि रोग में वमन-कर्म कराना हितकारक होता है। अथवा जिस दोष की अधिकता हो तदनुसार चिकित्सा करनी चाहिए, जैसे पित्त का प्राबल्य होने पर विरेचनकर्म श्रेष्ठ माना जाता है॥

संसर्गश्चानुपूर्वेण यथास्वं भेषजायुतः॥ १८॥

छर्द्यामन्नसंसर्जनक्रमः—शोधन कर्म करने के पश्चात् क्रम से पेयादिक अन्न-संसर्ग (अन्न देने) का क्रम चालू करना चाहिए, किन्तु उन पेयादि के साथ भी दोषनाशक औषधियों के चूर्ण का साथ में संयोग कर देना आवश्यक है ॥ १८ ॥

विमर्शः—यथास्वम्—अर्थात् प्रथम मण्ड, फिर पेया और पश्चात् विलेपी आदि क्रम से प्रयुक्त करने चाहिए। अथवा प्रथम पेया, फिर विलेपी, पश्चात् अकृतयूष और फिर कृतयूष का प्रयोग करना चाहिए—'पेयां विलेपीमकृतं कृतञ्च यूषम्'।

लघूनि परिशुष्काणि सात्म्यान्यन्नानि चाचरेत् ॥१९॥

अन्नसंसर्जनान्ते लघ्वन्नप्रयोगः—उक्त पेयादिक्रम के अनन्तर मात्रा और स्वभाव से भोज्यद्रव्य लघु हों तथा शष्कुली (पूड़ी), लाजा आदि शुष्क भोज्यद्रव्य तथा ऋतुविपरीत और व्याधिविपरीत सात्म्य भोज्य द्रव्यों का प्रयोग करना चाहिए॥

यथास्वञ्च कषायाणि ज्वरघ्नानि प्रयोजयेत् ॥२०॥

वमनसामान्य चिकित्सा—किसी प्रकार के भी वमन में सर्व प्रथम उसके लक्षणों से दोष का ज्ञान करना चाहिए तथा जो दोष विदित हो जाय उसी दोष को नष्ट करने वाले ज्वरहर क्वाथ का प्रयोग छर्दिरोग में भी करने से अच्छा लाभ होता है। अर्थात् वातादिज्वरहर कषाय वातादिजन्य छर्दि में हितकारी होते हैं ॥ २० ॥

हन्यात् क्षीरघृतं पीतं छर्दिं पवनसम्भवाम् ।
ससैन्धवं पिबेत्सर्पिर्वातच्छर्दिनिवारणम् ॥ २१ ॥

वातजच्छर्दिचिकित्सा—क्षीर का मंथन करके निकाला हुआ घृत अथवा मन्दोष्ण दुग्ध में डाला हुआ घृत पीने से वातजन्य छर्दि को नष्ट करता है। इसी प्रकार घृत में थोड़े से सैन्धव लवण का प्रक्षेप देकर पीने से वातजन्य छर्दि नष्ट होती है ॥

विमर्शः—वाग्भटाचार्य ने भी सैन्धव लवणयुक्त घृतपान को वातजन्य छर्दि का नाशक माना है—'हन्ति मारुतजां छर्दिं सर्पिः पीतं ससैन्धवम्' (वाग्भट)।

मुद्गामलकयूषो वा ससर्पिष्कः ससैन्धवः ।
यवागूं मधुमिश्रां वा पञ्चमूलीकृतां पिबेत् ॥ २२ ॥

वातजच्छर्द्यां मुद्गामलकयूषः—मुद्ग और आँवलों को उबाल कर उनके यूष में घृत और सैन्धव लवण का प्रक्षेप दे कर पीने से वातजन्य छर्दि नष्ट होती है। इसी प्रकार बृहत्पञ्चमूल के द्रव्यों के क्वाथ में यवागू सिद्ध कर उसमें शहद मिला कर पिलाने से वातजन्य छर्दि नष्ट होती है ॥ २२ ॥

विमर्शः—यवागूपरिभाषा—साध्यं चतुष्पलं द्रव्यं चतुःषष्टिपले जले। तत्क्वाथेनार्धशिष्टेन यवागूं साधयेद्बुधः ॥ औषध (बृहत्पञ्चमूल द्रव्य) ४ पल, जल ६४ पल शेष ३२ पल रहने पर छान के इस क्वाथ में जितना व्यक्ति भात खाता हो उसके चौथाई प्रमाण में डाल कर पकते-पकते गाढ़ी हो जाने पर चूल्हे से उतार कर शीतल होने पर रोगी को दें। तण्डुलादिक से षड्गुण पानी (क्वाथ) में यवागू बनाई जाती है—'यवागूः षड्गुणेऽम्भसि'। यवागूनिर्माण के लिये चावल आदि अन्न का प्रमाण रोगी के बलाबल का विचार कर लेवें। तथापि सेव्य भक्त से चौथाई लेना साधारण नियम है—'यवागूमुचिताद्भक्ताच्चतुर्भागकृतां वदेत्' यवागू के क्वाथनिर्माण के लिये जो ४ पल द्रव्य लेना लिखा है उसमें द्रव्यों के कटु, तिक्त और कषाय होने पर १ पल मात्रा भी वृद्ध वैद्य लिखते हैं तथा जल १ आढक—'वृद्धवैद्याः पलं द्रव्यं ग्राहयन्त्याढकेऽम्भसि'।

पिबेद्वा व्यक्तसिन्धूत्थं फलाम्लं वैष्किरं रसम् ।
सुखोष्णलवणं चात्र हितं स्नेहविरेचनम् ॥ २३ ॥

वातजच्छर्द्यां फलमांसरसाः—दाड़िम, आँवले, बिजौरे नीबू आदि फलों के रसों को लावादि मांस-रस के साथ मिश्रित कर सैन्धव लवण पर्याप्त (उचित) मात्रा में प्रक्षिप्त कर पिलाने से वातजच्छर्दि रोग नष्ट हो जाता है। इसके अतिरिक्त वातजछर्दि रोग में एरण्डतैल (१-२ औंस) में लवण डाल कर गरम करके सुहाता-सुहाता पिला कर विरेचन कराना चाहिए ॥ २३ ॥

विमर्शः—सुखं सुखकरमुष्णं लवणं यस्मिन् तत् सुखोष्णलवणम्—'कोष्णं सलवणञ्चात्र हितं स्नेहविरेचनम्' (वाग्भट) चरकाचार्य ने वातजन्य छर्दि को नष्ट करने के लिये तीतर, मयूर और लाव का मरिचादि से सुसंस्कृत किया हुआ मांसरस देना लिखा है तथा कोल ('बदरफल'), कुलथी, धनियाँ, बिल्वमूल, अम्लद्रव्य और यव का यूष तथा धनियाँ, सोंठ, दही, दाड़िम के स्वरस से सिद्ध घृत में सोंठ, मरिच, पिप्पली का चूर्ण और लवण-त्रय मिला कर सेवन कराना चाहिए। एवं अन्य भी स्निग्ध और हृद्य भोजन मांस रस के साथ, या यूष के साथ किंवा दही, दाड़िम आदि अम्ल पदार्थों के साथ करने चाहिए—सुसंस्कृतास्तित्तिरबर्हिलावरसा व्यपोहन्त्यनिलप्रवृत्ताम्। छर्दिं तथा कोलकुलत्थधान्यबिल्वादिमूलाम्लयवैश्च यूषः ॥ वातात्मिकायां हृदयद्रवार्तो नरः पिबेत्सैन्धववद्घृतं तु। सिद्धं तथा धान्यकनागराभ्यां दध्ना च तोयेन च दाडिमस्य ॥ व्योषेण युक्तां लवणैस्त्रिभिश्च घृतस्य मात्रामथवा विदध्यात्। स्निग्धानि हृद्यानि च भोजनानि रसैः सयूषैर्दधिदाडिमाम्लैः ॥

पित्तोपशमनीयानि पाक्यानि शिशिराणि च ।
कषायाण्युपयुक्तानि घ्नन्ति पित्तकृतां वमीम् ॥ २४ ॥

पित्तजच्छर्दिचिकित्सा—पित्तज्वर का संशमन करने वाले कषाय तथा शीतकषायों का प्रयोग करने से पित्तकृत वमन नष्ट हो जाता है ॥ २४ ॥

शोधनं मधुरैश्चात्र द्राक्षारससमायुतैः ।
बलवत्यां प्रशंसन्ति सर्पिस्तैल्वकमेव च ॥ २५ ॥

पित्तज्वरे संशोधनचिकित्सा—पित्तजन्य छर्दिरोग में शोधन अर्थात् वमन और विरेचन कर्म करने के लिये मधुर पदार्थ जैसे वमनार्थ इक्षुरस को द्राक्षारस के साथ मिलाकर आकण्ठ पिलाने के लिये प्रयुक्त करें तथा विरेचनार्थ मधुरद्रव्य जैसे मुलेठी, अमलतास आदि का चूर्ण बनाकर मुनक्के के स्वरस के साथ प्रयुक्त करें। बलवान् छर्दिरोग में वातव्याधि प्रकरणोक्त तैल्वक घृत का प्रयोग प्रशस्त माना जाता है ॥ २५ ॥

विमर्शः—तिल्वकघृतम्—'त्रिवृद्दन्तीसुवर्णक्षीरीसप्तलाशङ्खिनी—त्रिफलाविडङ्गानामक्षसमाः भागाः, बिल्वमात्रः कल्कस्तिल्वकमूल—कम्पिल्लकयोः त्रिफलारसदधिपात्रे द्वे द्वे, घृतपात्रमेकं, तदैकध्यं संसृज्य विपचेत्। तिल्वकसर्पिरेतत् स्नेहविरेचनमुपदिशन्ति

वातरोगिषु। तिक्तकविधिरेवाशोकरम्भकयोर्द्रष्टव्यः॥ (सु० चि० अ० ४) चरकाचार्य ने पित्तजन्य छर्दि को नष्ट करने के लिये द्राक्षा, विदारीकन्द के चूर्ण और त्रिवृत् के चूर्ण को ईख के रस के साथ सेवन करना लिखा है तथा कफाशय में गये हुए पित्त का हरण करने के लिये वमन करावे। पित्तात्मिकायमनुलोमनार्थं द्राक्षाविदारीक्षुरसैस्त्रिवृत् स्यात्। कफाशयस्थं त्वतिमात्रवृद्धं पित्तं हरेत् स्वादुभिरूर्ध्वमेव॥ शुद्धाय काले मधुशर्कराभ्यां लाजैश्च मन्थं यदि वापि पेयाम्। प्रदापयेन्मुद्गरसेन वापि शाल्योदनं जाङ्गलजै रसैर्वा॥ (च० चि० अ० २७)

आरग्वधादिनिर्यूहं दशाङ्गं योगमेव वा।
पाययेताथ सक्षौद्रं कफजायां चिकित्सकः॥ २६॥

कफजच्छर्दिचिकित्सा—कफजन्य छर्दिरोग में आरग्वधादि गण की औषधियों के क्वाथ को अथवा दशाङ्गयोग को मधु के साथ पिलाना चाहिये॥ २६॥

विमर्शः—आरग्वधादिगण—'आरग्वधमदनगोपघोण्टाकण्टकीकुटजपाठापाटलामूर्वेन्द्रयवसप्तपर्णनिम्बकुरुण्टकदासीकुरुण्टकगुडूचीचित्रकशार्ङ्गेष्टाकरञ्जद्वयपटोलकिराततिक्तकानि सुषवी चेति। आरग्वधादिरित्येष गणः श्लेष्मविषापहः। मेहकुष्ठज्वरवमीकण्डूघ्नो व्रणशोधनः॥ (सु० सू० अ० ३८) दशाङ्गयोग—दशाङ्गयोग शब्द का लोगों ने भिन्न-भिन्न अर्थ किया है—(१) कुछ आचार्य दशमूल ग्रहण करते हैं। (२) कार्तिककुण्ड का मत है कि दशाङ्गयोग से कटुका, चित्रकम् इत्यादि कफज्वरोक्त द्रव्य ग्रहण करने चाहिये। यद्यपि 'कटुका चित्रकम्' का 'यथास्वञ्च कषायाणि ज्वरघ्नानि प्रयोजयेत्' इसी से ग्रहण हो जाता है। फिर भी इसका उल्लेख मरिचरहित के प्रयोगार्थ है। (३) कुछ लोगों ने दशाङ्ग शब्द से अतिसारोक्त शालपर्ण्यादि द्रव्यों का ग्रहण किया है। (४) कुछ लोगों ने 'नागरं धान्यकं भार्ङ्गीमभयां सुरदारु च। वचां पर्पटकं मुस्तं भूनिम्बमथ कट्फलम्। विनिष्क्वाथ्य पिबेत्' इन नागर धान्यादि का ग्रहण किया है। चरकाचार्य ने कहा है कि कफजन्यच्छर्दि में पीपलचूर्ण और सर्षपचूर्ण को नीम की छाल के क्वाथ से अथवा सैन्धवचूर्ण युक्त मदनफल के चूर्ण के द्वारा वमन कराकर कफाशय (वक्ष, फेफड़े) और आमाशय आदि स्थानों में सञ्चित कफ को निकाल कर शुद्धि कर लेनी चाहिये—कफात्मिकायां वमनं प्रशस्तं सपिप्पलीसर्षपनिम्बतोयैः। पिण्डीतकैः सैन्धवसम्प्रयुक्तैर्वम्यां कफामाशयशोधनार्थम्॥ गोधूमशालीन् सयवान् पुराणान् यूषैः पटोलामृतचित्रकाणाम्। कोषस्य निम्बस्य च तक्रसिद्धैर्यूषैः फलाम्लैः कटुभिस्तथाऽद्यात्॥ रसांश्च शुष्याणि च जाङ्गलानां मांसानि जीर्णान्मधुसीध्वरिष्टान्। रागांस्तथा षाडवपानकानि द्राक्षाकपित्थैः फलपूरकैश्च। सचाम्बवं वा बदराम्लचूर्णं मुस्तायुतां कर्कटकस्य शृङ्गीम्। दुरालभां वा मधुसम्प्रयुक्तां लिह्यात् कफच्छर्दिविनिग्रहार्थम्॥ (च० चि० अ० २०)

कृतं गुडूच्या विधिवत्कषायं हिमसंज्ञितम्।
तिसृष्वपि भवेत्पथ्यं माक्षिकेण समन्वितम्॥ २७॥

सन्निपातजच्छर्दिचिकित्सा—वातिक, पैत्तिक तथा कफजन्य इन तीनों प्रकार की छर्दियों में तथा अपि शब्द से सान्निपातिक छर्दि में यथाविधि बनाया हुआ गिलोय का हिम (शीत) कषाय शहद के साथ मिश्रित कर पीना चाहिये॥

विमर्शः—शीतकषायविधिः—द्रव्य १ पल भर लेकर उसे कुचल कर ४ पल गरम जल में डालकर रात भर उसमें रहने देवे। पश्चात् दूसरे दिन हाथ से मसल कर कपड़े से छान कर ग्रहण करना चाहिये—द्रव्यादापोत्थिताचोये प्रतप्ते निशि संस्थितात्। कषायो योऽभिनिर्याति स शीतः समुदाहृतः॥ षड्भिः पलैश्चतुर्भिर्वा सलिलाच्छीतफाण्टयोः। आप्लुतं भेषजपलं रसाख्यस्य पलद्वयम्॥ अधिकतर वृद्धवैद्य १ पल द्रव लेकर २ पल जल में डालकर रात भर रखकर दूसरे दिन मसलकर छानकर शीतकषाय ग्रहण करते हैं। यद्यपि गुडूची का शाकवर्ग में कफपित्तमात्रनाशक गुण लिखा है। फिर भी मधु के योग से इसमें त्रिदोषनाशकत्व गुण हो जाता है। अथवा शाकवर्ग में इसके पत्र कफपित्तनाशक तथा लता वातशामक होती है। वास्तव में गुडूची त्रिदोषनाशक है। इसमें कोई मतभेद नहीं है, जैसा कि चरकाचार्य ने लिखा है—'अमृता सांग्राहिकदीपनीयवातहरश्लेष्मशोणितविबन्धप्रशमनानाम्' (चरक) भावप्रकाशे—गुडूची कटुका तिक्ता स्वादुपाका रसायनी। संग्राहिणी कषायोष्णा लघ्वी बल्याग्निदीपनी॥ दोषत्रयामतृड्दाहमेहकासांश्च पाण्डुताम्। अनुपानभेदेन गुणाः—घृतेन वातं सगुडा विबन्धं पित्तं सिताढ्या मधुना कफञ्च। वातास्रमुग्रं रुबुतैलमिश्रा शुण्ठ्यामवातं शमयेद् गुडूची॥ (भ० नि०)

बीभत्सजां हृद्यतमैर्दौर्हृदीं काङ्क्षितैः फलैः।
लङ्घनैर्वमनैश्चामां सात्म्यैः सात्म्यप्रकोपजाम्॥ २८॥
कृमिहृद्रोगवच्चापि कृमिजां साधयेद्वमीम्।
वितरेच्च यथादोषं शस्तं विधिमनन्तरम्॥ २९॥

बीभत्सजायाश्छर्देश्चिकित्सा—बीभत्स (खराब) पदार्थों के अवलोकन से उत्पन्न हुई छर्दि को हृदय के लिये रोचक तथा हितकर पदार्थों (कर्पूर, लवङ्ग, एला आदि) से ठीक करना चाहिए तथा दौर्हृद के कारण उत्पन्न हुई छर्दि को अभिलषित (वाञ्छित) खाद्य, पेय खिलाके तथा दृश्य दिखाकर एवं आमदोषजन्य छर्दि को लंघन और वमन कराके तथा सात्म्य के प्रकोप (त्याग) से उत्पन्न हुई छर्दि को सात्म्य पदार्थ खिला कर ठीक करना चाहिए। इसी प्रकार कृमियों के कारण उत्पन्न हुई छर्दि को कृमिजन्यहृद्रोग की भांति चिकित्सा के द्वारा ठीक करना चाहिए। इस तरह उक्त चिकित्साओं द्वारा उन छर्दियों के उस समय बन्द हो जाने पर पश्चात् वातादि दोषों के सम्बन्ध का विचार कर शास्त्र की उत्तम विधि से चिकित्सा करनी चाहिए॥ २८-२९॥

विमर्शः—दौर्हृद—'चतुर्थे सर्वाङ्गप्रत्यङ्गविभागः प्रव्यक्तो भवति, गर्भहृदयप्रव्यक्तिभावाच्चेतनाधातुरभिव्यक्तो भवति, कस्मात् तत्स्थानत्वात्। तस्माद्गर्भश्चतुर्थे मासेऽभिप्रायमिन्द्रियार्थेषु करोति, द्विहृदयाञ्च नारीं दौर्हृदिनीमाचक्षते। दौर्हृदविमाननात्कुब्जं कुणिं खञ्जं जडं वामनं विकृताक्षमनक्षं वा नारी सुतं जनयति, तस्मात् सा यद्यदिच्छेत्तत्तस्यै दापयेत्, लब्धदौर्हृदा हि वीर्यवन्तं चिरायुषञ्च पुत्रं जनयति' (सु० शा० अ० ३) वास्तव में बीभत्स (दीखने में भयङ्कर) पदार्थों के अवलोकन से मनोऽभिघात (मनोग्लानि) हो जाता है। अतएव हृदय तथा मन के प्रिय आहार विहार का सेवन बीभत्सजन्य छर्दि के नाशन का श्रेष्ठ उपाय है, जैसा कि चरकाचार्य ने लिखा है—मनोऽभिघाते तु मनोनुकूला वाचः समाश्वासनहर्षणानि। लोकप्रसिद्धाः श्रुतयो वयस्याः

श्रृङ्गारिकाश्चैव हिता विहाराः ॥ गन्धा विचित्रा मनसोऽनुकूला मृत्पुष्पशुक्ताम्लफलादिकानाम् । शाकानि भोज्यान्यथ पानकानि सुसंस्कृताः षाडवरागलेह्याः ॥ यूषा रसाः काम्बलिकाः खडाश्च मांसानि धाना विविधाश्च भक्ष्याः । फलानि मूलानि च गन्धवर्णरसैरुपेतानि वमिं जयन्ति । गन्धं रसं स्पर्शमथापि शब्दं रूपञ्च यद्यत् प्रियमप्यसात्म्यम् । तदेव दद्यात्प्रशमाय तस्यास्तज्जो हि रोगः सुख एव जेतुम् ॥ (च० चि० अ० २०)

दधित्थरससंयुक्तां पिप्पलीं माक्षिकान्विताम् ।
मुहुर्मुहुर्नरो लीढ्वा छर्दिभ्यः प्रविमुच्यते ॥ ३० ॥

सामान्यछर्दिचिकित्सा—कपित्थ (कैथ) के पके हुए सुगन्धित फल का स्वरस निकाल कर उसमें पिप्पली का चूर्ण मिला देवें तथा इसमें शहद मिला कर थोड़ा-थोड़ा बार-बार चाटते रहने से मनुष्य छर्दि-रोग से मुक्त हो जाता है ॥ ३० ॥

समाक्षिका मधुरसा पीता वा तण्डुलाम्बुना ।
तर्पणं वा मधुयुतं तिसृणामपि भेषजम् ॥ ३१ ॥

त्रिविधछर्दिहरा मूर्वादियोगाः—मूर्वा का स्वरस निकाल कर उसमें शहद तथा तण्डुलोदक (चांवलों का धोवन) मिला कर पीने से अथवा लाजा के सत्तू में पानी डाल के घोल बना कर मधु मिला के पीने से वात, पित्त और कफ तीनों दोषों से उत्पन्न हुई छर्दि नष्ट हो जाती है ॥ ३१ ॥

स्वयङ्गुप्तां सयष्ट्याह्वां तण्डुलाम्बुमधुद्रवाम् ।
पिबेद्यवागूमथवा सिद्धां पत्रैः करञ्जजैः ॥ ३२ ॥

छर्दौ स्वयङ्गुप्तादियोगौ—मुलेठी के चूर्ण और शुद्ध कौञ्च के बीजों के चूर्ण को समान प्रमाण में मिश्रित कर ३ माशे से ६ माशे की मात्रा में लेकर उसमें चावल का धोवन २ तोले से ४ तोले तक और शहद ६ माशे से १ तोले भर मिला के घोल बना (द्रव) कर पीने से अथवा करञ्ज के पत्तों के क्वाथ में सिद्ध की हुई यवागू के पान करने से सर्व प्रकार की छर्दि नष्ट हो जाती है ॥ ३२ ॥

विमर्शः—करञ्जपत्रक्वाथ-सिद्ध यवागू कफप्रधान छर्दि रोग के नाशार्थ उत्तम है ।

शुक्ताम्ललवणाः पिष्टा कुस्तुम्बुर्य्योऽथवा हिताः ।
तण्डुलाम्बुयुतं खादेत्कपित्थं त्र्यूषणेन वा ॥ ३३ ॥

छर्दौ धन्याकावलेहादिप्रयोगौ—ताजा हरा धनियाँ अथवा धनियें के दाने ३ माशे से ६ माशे भर लेकर उसके साथ शुक्त प्रमाण में अनारदाना, इमली, अमचूर आदि अम्ल द्रव्य तथा सैन्धव-लवण संयुक्त कर सबको थोड़े से पानी के साथ पत्थर पर अच्छी प्रकार पीस के चटनी बना कर सेवन करने से छर्दि नष्ट होती है । अथवा कैथ के फल के चूर्ण को या त्र्यूषण (सोंठ, मरिच और पिप्पली) के चूर्ण को किंवा दोनों के मिलित चूर्ण को चावल के धोवन के साथ मिला कर पीने से सर्व प्रकार की छर्दि नष्ट हो जाती है ॥ ३३ ॥

सिताचन्दनमध्वाक्तं लिह्याद्वा मक्षिकाशकृत् ।
पिबेत् पयोऽग्नितप्तञ्च निर्वाप्य गृहगोधिकाम् ॥ ३४ ॥

छर्दौ मक्षिकाशकृत्प्रयोगः—मक्षिका की शकृत् (विष्ठा) में शर्करा ३ माशे भर, लाल चन्दन का चूर्ण १ माशे भर तथा मधु ६ माशे भर मिश्रित कर पीने से छर्दि नष्ट होती है । इसी प्रकार गृहगोधिका को अग्नि में तप्त करके दुग्ध अथवा पानी में निर्वापित कर उस दुग्ध या पानी को पीने से छर्दि रोग नष्ट होता है ॥ ३४ ॥

विमर्शः—'गृहगोधिकाशब्देन वरमठीकृतं मृन्मयं गृहमुच्यते' इति निबन्धसंग्रहव्याख्याकारः ।

सर्पिःक्षौद्रयुतान् वाऽपि लाजसक्तून् पिबेत्तथा ।
सर्पिःक्षौद्रसितोपेतां मागधीं वा लिहेत्तथा ॥ ३५ ॥

छर्दौ लाजसक्तुमागधिकायोगौ—धान के लाजा का सत्तू लेकर उसमें घृत और शहद उचित मात्रा में मिला कर पीने से अथवा पिप्पली के चूर्ण को घृत, शहद और शर्करा के साथ मिश्रित कर चाटने से छर्दि-रोग नष्ट हो जाता है ॥ ३५ ॥

धात्रीरसे चन्दनं वा घृष्टं मुद्गदलाम्बु वा ।
कोलामलकमज्जानं लिह्याद्वा त्रिसुगन्धिकम् ॥ ३६ ॥

छर्दौ चन्दनमुद्गदलादियोगाः—आँवले के स्वरस में चन्दन को घिस कर पीवे अथवा मूंग की दाल का पानी पीवें, किंवा बदर फल और आँवले के छिलकों का चूर्ण बना कर मधु के साथ चाटना चाहिए । अथवा दालचीनी, छोटी इलायची और तेजपात इनके चूर्ण को शहद के साथ चाटने से छर्दि नष्ट हो जाती है ॥ ३६ ॥

विमर्शः—त्रिसुगन्धिद्रव्याणि—'त्वगेलापत्रकैस्तुल्यैस्त्रिसुगन्धि त्रिजातकम्'

सक्षौद्रां शालिलाजानां यवागूं वा पिबेन्नरः ।
प्रियाण्युपहरेच्चापि मनोघ्राणसुखानि च ॥ ३७ ॥
जाङ्गलानि च मांसानि शुभानि पानकानि च ।
भोजनानि विचित्राणि कुर्य्यात्सर्वास्वतन्द्रितः ॥ ३८ ॥

इति सुश्रुतसंहितायामुत्तरतन्त्रान्तर्गते कायचिकित्सातन्त्रे छर्दिप्रतिषेधो नाम (एकादशोऽध्यायः, आदितः) एकोनपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ४९ ॥

छर्दौ पथ्यानि—शालि चाँवलों के लाजों (खीलों) की यवागू बना कर उसमें शहद मिला के छर्दि रोग में पिलाना चाहिए तथा मन और घ्राणेन्द्रिय को सुख पहुँचाने वाले सुगन्धित (मोगरा, चमेली, गुलाब आदि) पुष्प तथा इत्र सुंघाने चाहिए । इनके अतिरिक्त जङ्गली पशु-पक्षियों के मांस देवें एवं मुनक्के, फालसा आदि के खटमीठे पानक और स्वादिष्ट व सुगन्धित तथा अनेक प्रकार के भोजन (खाद्य-पेय) सर्व प्रकार की छर्दियों में सावधानीपूर्वक प्रयुक्त करने चाहिए ॥

विमर्शः—छर्दौ पथ्यानि—विरेचनच्छर्दनलंघनानि स्नानं मृजा लाजकृतश्च मण्डः । पुरातनाः षष्टिकशालिमुद्गकलायगोधूमयवा मधूनि ॥ शशादिमुक्तितित्तिरिलावकाद्या मृगद्विजा जाङ्गलसंज्ञिताश्च । मनोज्ञनानारसगन्धरूपा रसाश्च यूषा अपि षाडवाश्च ॥ हरीतकीदाडिमबीजपूरं जातीफलं बालकनिम्बवासाः । सिता शताह्वा करिकेशराणि भक्ष्या मनःप्रीतिकरा हिताश्च ॥ रागाः खडाः काम्बलिकाः सुरा च वेत्राग्रकुस्तुम्बुरुनारिकेलम् । जम्बीरधात्रीसहकारकोलद्राक्षाकपित्थानि पचेलिमानि ॥ मुकस्य वक्त्रे शिशिराम्बुसेकः

कस्तूरिकाचन्दनमिन्दुपादाः । मनोज्ञगन्धान्यनुलेपनानि पुष्पाणि पत्राणि फलानि चापि । रूपाणि शब्दाश्च रसाश्च गन्धाः स्पर्शाश्च ये यस्य मनोऽनुकूलाः । दाहश्च नाभेस्त्रियवोपरिष्टादिदं हि पथ्यं वमनातुरेषु ॥ छर्घामपथ्यानि—नस्यं बस्तिं स्वेदनं स्नेहपानं रक्तस्रावं दन्तकाष्ठं द्रवान्नम् । बीभत्सेक्षां भीतिमुद्वेगमुष्णं स्निग्धा सात्म्या ह्यवैरोधिकान्नम् ॥ शिम्बीबिम्बीकोशवत्यो मधूकं चिञ्चामेलां सर्षपान् देवदालीम् । व्यायामश्चच्छत्रिकामञ्जनञ्चच्छर्द्यां सत्यां वर्जयेदप्रमत्तः ॥

इति श्रीअम्बिकादत्तशास्त्रिविरचितायां सुश्रुतभाषा-टीकायामुत्तरतन्त्रे छर्दिप्रतिषेधो नाम एकोन-पञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ४९ ॥

पञ्चाशत्तमोऽध्यायः

अथातो हिक्काप्रतिषेधं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥ २ ॥

अब इसके अनन्तर हिक्काप्रतिषेध नामक अध्याय का प्रारम्भ करते हैं जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने कहा है ॥१-२॥

विमर्शः—छर्दिप्रतिषेधाध्याय के पश्चात् दोनों के भेदों की तुल्यसंख्या होने से 'छर्दयः पञ्च विज्ञेयाः' 'पञ्च हिक्काः करोति हि' तथा कुछ निदान में साम्यता होने से छर्दि के पश्चात् हिक्का का प्रकरण आरम्भ किया गया है। माधवकार ने कासनिदान के पश्चात् तथा चरकाचार्य ने पाण्डु के अनन्तर हिक्का को लिखा है क्योंकि हिक्का और श्वास का कारण पाण्डुरोग होता है—'पाण्डुरोगाद्विषाच्चैव प्रवर्तेते गदाविमौ'।

विदाहिगुरुविष्टम्भिरूक्षाभिष्यन्दिभोजनैः ।
शीतपानासनस्थानरजोधूमानिलानलैः ॥ ३ ॥
व्यायामकर्मभाराध्ववेगाघातापतर्पणैः ।
आमदोषाभिघातस्त्रीक्षयदोषप्रपीडनैः ॥ ४ ॥
विषमाशनाध्यशनैस्तथा समशनैरपि ।
हिक्का श्वासश्च कासश्च नृणां समुपजायते ॥ ५ ॥

हिक्कानिदानम्—मरिच या सर्षप जैसे विदाही या जलन उत्पन्न करने वाले द्रव्य, उड़द की दाल तथा शूकरमांस सदृश गुण एवं पाक में गुरु, विष्टम्भि या विबन्ध उत्पन्न करने वाले द्रव्य एवं रूक्ष द्रव्य जैसे चना आदि एवं दही, दुग्ध, चावल और मछली जैसे अभिष्यन्दि द्रव्यों के अत्यधिक सेवन करने से तथा अत्यधिक शीतल जलादि पेय पदार्थों के पीने से, शीतल (दही, चावल, शर्करा युक्त) भोजन के अधिक करने से एवं शीतल (नमी युक्त) स्थान में सोने और बैठने से तथा धूलि, धुआँ, लू, तेज हवा और अग्नि के सेवन से तथा अधिक व्यायाम, शक्ति से अधिक कर्म तथा बोझ उठाने से, पैदल अधिक यात्रा करने से, अधारणीय वेगों के धारण करने से एवं उपवास, व्रत आदि अपतर्पक कार्यों के अधिक करने से तथा आमदोष, अभिघात, स्त्रीसेवन से रसरक्तादि शुक्रान्त धातुओं के अत्यधिक क्षय या क्षय-रोग होने से तथा वातादि दोषों के प्रकुपित हो कर शरीर को अधिक पीड़न करने से और विषमाशन, अध्यशन और समशन से मनुष्यों में हिक्का, श्वास और कास रोग उत्पन्न होते हैं ॥ ३-५ ॥

विमर्शः—विदाहि—द्रव्यस्वभावादथ गौरवाद्वा चिरेण पाकं जठराग्नियोगात् । पित्तप्रकोपं विदहत् करोति तदन्नपानं कथितं विदाहि ॥ स्वभावतः अथवा गुरुपाकी जो द्रव्य जाठराग्नि से पूर्ण रूप से न पचते हुये पित्त प्रकोप कर विदाह उत्पन्न करते हैं उन्हें विदाहि कहते हैं । विदाहिद्रव्यलक्षणम्—विदाहि द्रव्यमुद्गारमम्लं कुर्यात्तथा तृषाम् । हृदि दाहञ्च जनयेत् पाकं गच्छति नचिरात् ॥ विदाहि द्रव्य खट्टी डकार लाते हैं, प्यास पैदा करते हैं, हृदय में दाह उत्पन्न करते हैं तथा देर से पचने वाले होते हैं । विष्टम्भिद्रव्यम्—'विष्टभ्य पाकं गच्छति यत्तद् विष्टम्भि'। अभिष्यन्दिद्रव्यलक्षणम्—'दोषधातुमलस्रोतसां क्लेदप्राप्तिजननम्' वातादि दोष, रसादि धातु, विष्ठा, मूत्र आदि मल तथा स्रोतसों में जो क्लिन्नता (आर्द्रता) उत्पन्न कर देता हो उसे अभिष्यन्दि द्रव्य कहते हैं । अन्यच्च—पैच्छिल्याद् गौरवाद् द्रव्यं रुद्ध्वा रसवहाः सिराः । धत्ते यद्गौरवं तत्स्यादभिष्यन्दि यथा दधि । (शा० सं० अ० ४) जो द्रव्य अपनी चिकनाई की पिच्छिलता से तथा भारी होने से रसवाहक सिराओं के मार्ग को अवरुद्ध कर शरीर में गौरव उत्पन्न करते हैं, जैसे दही । अन्यच्च—'आभिमुख्येन स्यन्दितुं शीलं येषां फाणितमत्स्यक्षीरमाषादीनां तानि अभिष्यन्दीनि' अधारणीयवेगाः—न वेगान् धारयेद् धीमान् जातान्मूत्रपुरीषयोः । न रेतसो न वातस्य न छर्द्याः क्षवथोर्न च ॥ नोद्गारस्य न जृम्भाया न वेगान् क्षुत्पिपासयोः । न बाष्पस्य न निद्राया निःश्वासस्य श्रमेण च ॥ (च० सू० अ० ७) आमदोषलक्षणम्—ऊष्मणोऽल्पबलत्वेन धातुमाद्यमपाचितम् । दुष्टमामाशयगतं रसमामं प्रचक्षते ॥ चरकमतेन हिक्काश्वासनिदानम्—रजसा धूमवाताभ्यां शीतस्थानाम्बुसेवनात् । व्यायामाद् ग्राम्यधर्माध्वरूक्षान्नविषमाशनात् ॥ आमप्रदोषादानाहाद्रौक्ष्यादत्यपतर्पणात् । दौर्बल्यान्मर्मणो घाताद् द्वन्द्वाच्छुद्ध्यतियोगतः ॥ अतीसारज्वरच्छर्दिप्रतिश्यायक्षतक्षयात् । रक्तपित्तादुदावर्ताद्विसूच्यलसकादपि ॥ पाण्डुरोगाद्विषाच्चैव प्रवर्तेते गदाविमौ । निष्पावमाषपिण्याकतिलतैलनिषेवणात् ॥ पिष्टशालूकविष्टम्भिविदाहिगुरुभोजनात् । जलजानूपपिशितदध्यामक्षीरसेवनात् ॥ अभिष्यन्द्युपचाराच्च श्लेष्मलानाञ्च सेवनात् । कण्ठोरसः प्रतीघाताद्विबन्धैश्च पृथग्विधैः ॥ (च० चि० अ० १७)।

मुहुर्मुहुर्वायुरुदेति सस्वनो
यकृत्प्लिहान्त्राणि मुखादिवाक्षिपन् ।
स घोषवानाशु हिनस्त्यसून्यत-
स्ततस्तु हिक्केति भिषग्भिरुच्यते ॥६॥

हिक्कानांस्वरूपं निरुक्तिश्च—उदानसहित प्राणवायु प्रकुपित होकर बार-बार शब्द करता हुआ तथा यकृत, प्लीहा और आन्त्रों को ऊपर उठाकर मुख से बाहर निकालता हुआ तथा जोर का शब्द करता हुआ शीघ्र प्राणों को नष्ट करता है तथा ऊपर मुख की ओर आता है तो अचानक हिक् हिक् शब्द करता है, अतः उसे भिषक् हिक्का कहते हैं ॥ ६ ॥

विमर्शः—हिक्कानिरुक्तिः—(१) हिगिति कृत्वा कायति शब्दायते, इति हिक्का अर्थात् प्राणवायु और उदानवायु प्रकुपित होकर जब एक साथ क्रियाशील होते हैं तब श्वास द्वारा लिया हुआ

वायु बीच में रुककर जोर से मुख की ओर बढ़ता है और सहसा हिक् शब्द की उत्पत्ति हो जाती है। जिसके कारण रोगी हिक् हिक् करके बोलता है। इस विग्रह में हिक्पूर्वक 'कै शब्दे' धातु से भी हिक्का शब्द की सिद्धि होती है। इस तरह कुछ देर तक निरन्तर इसका दौरा रहने पर ऐसा प्रतीत होने लगता है मानो यकृत्, प्लीहा और आन्त्र मुख द्वारा बाहर निकल जावेंगे। (२) हिनस्त्यसून् इति हिक्का—यह प्राण को नष्ट कर देती है। इस विग्रह में 'पृषोदरादीनि यथोपदिष्टम्' इस पाणिनीय सूत्र के द्वारा हिक्का शब्द की सिद्धि होती है। वस्तुतः यह रोग प्राणों के लिये खतरनाक है—कामं प्राणहरा रोगा बहवो न तु ते तथा। यथा श्वासश्च हिक्का च हरतः प्राणमाशु च॥ (चरक) साधारण बोलचाल की भाषा में हिक्का को हिचकी तथा श्वास को दमा और कास को खाँसी कहते हैं। खाँसी के साथ श्वास का घनिष्ठ सम्बन्ध है। खाँसी पुरानी होकर श्वास को भी उत्पन्न करती है। इसीलिये कासश्वास का शास्त्रों में पाठ भी प्रायः एक ही जगह मिलता है। यथा (१) कासश्वासनिबर्हणः (२) कुडवार्धश्च मिश्रयेत्। स लेहः श्वासकासनुत्' (हरीतकीलेहः) (३) मधुना पिष्टं कासहिक्काश्वासं जयेल्लिहन्। यद्यपि हिक्का, श्वास और कास तीनों का समान निदान है तथापि सम्प्राप्ति, वेग तथा क्रिया में भिन्नता होने के कारण श्वास और हिक्का के पाठ पृथक् किये हैं। इसके अतिरिक्त वात आदि के आधार पर कास के वातिक, पैत्तिक आदि पाँच भेद होते हैं—'पञ्चकासाः स्मृता वातपित्तश्लेष्मक्षतक्षयैः' इसी प्रकार श्वास के भी पाँच भेद किये गये हैं—'महोर्ध्वच्छिन्नतमकक्षुद्रभेदैस्तु पञ्चधा' कास में प्रधान विकृति वात की ही होती है—प्राणो ह्युदानानुगतः प्रदुष्टः किन्तु हिक्का और श्वास में कफ और वात की प्रधानता होती है—'वायुः कफेनानुगतः पञ्च हिक्काः करोति हि' एवं पाचनसंस्थानगत विकृति का होना भी अनिवार्य है—'कफवातात्मकावेतौ पित्तस्थानसमुद्भवौ' यद्यपि हिक्का और श्वास के भी आरम्भक दोष समान हैं, तथापि सम्प्राप्ति, वेग, स्वर और लक्षणों में भिन्नता होने से इन दोनों में भी भेद समझना चाहिये।

अन्नजां यमलां क्षुद्रां गम्भीरां महतीं तथा।
वायुः कफेनानुगतः पञ्च हिक्काः करोति हि॥ ७॥

हिक्कानां भेदाः सम्प्राप्तिश्च—कफ से युक्त वायु अन्नजा, यमला, क्षुद्रा, गम्भीरा तथा महती नाम की पाँच हिक्काओं को उत्पन्न करता है॥ ७॥

विमर्शः—सुश्रुत के समान चरकाचार्य ने भी पाँच हिक्का मानी है, किन्तु चरक में यमला को ही व्यपेता नाम दिया है। व्यपेता का तात्पर्य अन्नपान के जीर्ण हो जाने पर जो उत्पन्न हो उसे व्यपेता कहते हैं—'अन्नपाने व्यपेते परिणते जायत इत्यतो व्यपेता' चरकाचार्य ने इसमें यमल वेग (एक साथ दो वेग = डबल हिक्का) का होना नहीं लिखा है, किन्तु किसी किसी हिक्का में ऐसे वेग होते अवश्य हैं। वायु और कफ मिलकर हिक्का को उत्पन्न करते हैं। इस श्लोक के साथ मुहुर्मुहुः इत्यादि उपर्युक्त पङ्क्ति का सम्बन्ध कर देने पर ही सम्प्राप्ति पूर्ण हो सकती है। यथा-न्वयः-'कफेनानुगतः सोदानः प्राणवायुर्यकृत्प्लीहान्त्राणि मुखमार्गाद् बहिः क्षिपन्निव स्वनं कुर्वंश्च मुहुर्मुहुरूर्ध्वं गच्छन् सन् हिगिति शब्दयुक्तां हिक्कां करोति' अर्थात् कफ से युक्त उदान सहित प्राणवायु वेग से यकृत्, प्लीहा और आन्त्र को मुख द्वारा बाहर निकालता हुआ सा पुनः पुनः हिक् शब्द को करता हुआ हिक्का-रोग को उत्पन्न करता है। चरकोक्तहिक्काश्वाससम्प्राप्ति—मारुतः प्राणवाहीनि स्रोतांस्याविश्य कुप्यति। उरस्थः कफमुद्धूय हिक्काश्वासान् करोति सः॥ घोरान् प्राणोपरोधाय प्राणिनां पञ्च पञ्च च॥ (च० चि० अ० १७) अर्थात् वक्षःस्थल में स्थित वायु प्राणवाही स्रोतसों में प्रविष्ट होकर प्रकोपक कारणों के संयोग से प्रकुपित हो जाती है एवं हिक्का और श्वास को उत्पन्न करती है। हिक्का को हिक्कफ (Hiccough) कहते हैं। यह शब्द भी हिक्का का अपभ्रंश ही प्रतीत होता है तथा इसका व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ भी हिक्+कफ (Hic+Cough) अर्थात् हिक् शब्दयुक्त कास होता है। अर्थात समानहेतुक खाँसी का वह रूप जिसमें फूटे हुये काँसे के बर्तन के समान शब्द न होकर हिक् हिक् रूप विशिष्ट शब्द की उत्पत्ति होती है। हिक्का की उत्पत्ति का प्रधान कारण महाप्राचीरा (Diaphragm) पेशी का असामयिक सङ्कोच (Clonic spasm of the Diaphragm) ही है (Clonic Diaphragmatic spasm is called Hiccough —Price)। साधारण अवस्था में इस पेशी का सङ्कोच नियमित होता है। इसका सङ्कोच होने पर उरोगुहा (Thoracic Cavity) में शून्यता (Vacuum) उत्पन्न हो जाती है तथा उसी समय उपजिह्विका (Epiglotis) खुलती है, जिससे वायु फुफ्फुस में प्रवेश कर जाती है। महाप्राचीरा के अपनी पूर्वस्थिति में आने पर फुफ्फुस से वायु बाहर निकल जाती है। साधारणतया इसी क्रम से श्वासप्रश्वास की क्रिया में विकार नहीं आता। इसके अतिरिक्त कदाचित् महाप्राचीरा के अनियमित अथवा असामयिक सङ्कोच होने पर महाप्राचीरा के संकोच और उपजिह्विका द्वार के खुलने के समय में (जो कि स्वाभाविक अवस्था में एक ही होता है) अन्तर हो जाता है, जिससे अन्तःश्वसित वायु उपजिह्विका द्वार बन्द होने के कारण रास्ते में ही अवरुद्ध हो जाती है और परिणामस्वरूप हिक् हिक् शब्द की उत्पत्ति होती है। महाप्राचीरा के अनियमित सङ्कोच के विविध कारण हैं। उन सबको पाचनसंस्थानीय (Alimentary) और वातसंस्थानीय (Nervous) दो बड़े विभागों में विभिन्न कर सकते हैं। (१) पाचनसंस्थानीय—पाचनसंस्थानगत विकृति में आमाशय एवं अन्नप्रणाली (Oesophagus) का प्रत्यक्ष क्षोभ है, जिसका कारण मिर्च, अचार तथा तीक्ष्ण स्वरूप के धूम्र आदि हो सकते हैं। तीक्ष्ण भोजन भी आमाशयिक क्षोभ का कारण है। इस प्रकार की हिक्का में जल पीने से शान्ति मिलती है। आमाशयिक क्षोभ से उत्तेजित अनुकोष्ठिका नाड़ी (Phrenic nerve) महाप्राचीरा का असमय में सङ्कोच करा देती है। इसी प्रकार आमाशयिक श्लैष्मिक कलाशोथ, आमाशय का विस्फार आन्त्रिककलाशोथ, आन्त्रावरोध, आनाह और आध्मान आदि कारणों से भी महाप्राचीरा का अनियमित सङ्कोच होने से हिक्का की उत्पत्ति होती है। आयुर्वेद ने भी हिक्का की उत्पत्ति में पाचनसंस्थान की विकृति की प्रमुखता स्वीकृत की है 'कफवातात्मकावेतौ पित्तस्थानसमुद्भवौ' पित्तस्थान से यावत् पाचनसंस्थान का ग्रहण किया गया है। (२) वात-

नाडीसंस्थानजन्य—इसके अन्तर्गत योषापस्मार (Hysteria), मस्तिष्कार्बुद (Cerebral tumour), मस्तिष्कावरणशोथ (Meningitis), जलशीर्ष (Hydrocephalus) तथा मद्यात्यय का समावेश कर सकते हैं। इस कारणसमूह को केन्द्रीय कारण कहते हैं। इसके अतिरिक्त मध्यान्तरालगत (Mediastinal) अर्बुद, महाप्राचीरीय फुफ्फुसावरणशोथ आदि का ग्रहण कर सकते हैं। इन दो कारणों के अतिरिक्त पुराणवृक्कशोथ (Chronic nephritis) तथा मूत्रविषमयता (Uraemia) के कारण भी हिक्का की उत्पत्ति होती है।

मुखं कषायमरतिर्गौरवं कण्ठवक्षसोः।
पूर्वरूपाणि हिक्कानामाटोपो जठरस्य च ॥ ८ ॥

हिक्कापूर्वरूप—मुख का कसैला स्वाद रहना, बेचैनी बनी रहना, गले और छाती में भारीपन रहना तथा पेट में आध्मान ये सर्व हिक्काओं के पूर्वरूप हैं ॥ ८ ॥

विमर्शः—मुख का कसैलापन वात के प्रभाव से होता है। अरतिः = चेतसोऽनवस्थितिः। आटोपः = आटोपो गुडगुडाशब्दः। पेट में गुडगुड शब्द का होना तथा पेट का फूल जाना। चरकाचार्य ने हिक्कासामान्य का निम्न पूर्वरूप लिखा है— कण्ठोरसोर्गुरुत्वञ्च वदनस्य कषायता। हिक्कानां पूर्वरूपाणि कुक्षेराटोप एव च ॥ (च० चि० अ० १७)

त्वरमाणस्य चाहारं भुञ्जानस्याथवा घनम्।
वायुरन्नैरवस्तीर्णः कटुकैरर्दितो भृशम् ॥
हिक्कयत्यूर्ध्वगो भूत्वा तां विद्यादन्नजां भिषक् ॥ ९ ॥

अन्नजाहिक्कालक्षणम्—आहार को अत्यधिक शीघ्रता से खाने वाले तथा विशेषकर घन और सान्द्र पदार्थ खाने वाले एवं विशेष रूप से कटु रस प्रधान द्रव्य सेवन करने वाले पुरुष की अतिशय पीड़ित हुई वायु अन्न से आवृत होकर ऊपर की ओर गति करके हिक्का उत्पन्न करती है। इसको वैद्य लोग अन्नजा हिक्का कहते हैं ॥ ९ ॥

विमर्शः—माधवकार ने अन्नजाहिक्का के निम्न परिवर्तित लक्षण लिखे हैं—पानान्नैरतिसंयुक्तैः सहसा पीडितोऽनिलः। हिक्कयत्यूर्ध्वगो भूत्वा तां विद्यादन्नजां भिषक् ॥ चरकाचार्य ने भी लिखा है कि पेय, मद्य तथा अन्य भोज्य पदार्थों के सहसा अधिक मात्रा में सेवन करने से पीड़ित वायु ऊर्ध्वगति होकर उरःस्रोत में प्रवेश कर अन्नजा हिक्का को उत्पन्न करता है— सहसाऽत्यम्बुबहुतैः पानान्नैः पीडितोऽनिलः। ऊर्ध्वं प्रपद्यते कोष्ठान्मद्यैर्वाऽतिमदप्रदैः ॥ तथाऽतिरोषभाष्याध्वहास्यभारातिवर्तनैः। वायुः कोष्ठगतो धावन् पानभोज्यप्रपीडितः। उरःस्रोतः समाविश्य कुर्याद्धिक्कां ततोऽन्नजाम् ॥ तथा शनैरसंबन्धं क्षुवंश्चापि स हिक्कते। न मर्मबाधाजननी नेन्द्रियाणां प्रबाधिनी। हिक्का पीते तथा भुक्ते या शमं याति साऽन्नजा। (च० चि० अ० १७) अत्यधिक अन्नपान के सेवन से आमाशय में भार और क्षोभ उत्पन्न होकर प्रत्यावर्तन क्रिया द्वारा महाप्राचीरा का अनियमित संकोच होकर पूर्व वर्णनानुसार हिक्का की उत्पत्ति होती है। किन्तु भोजन से हिक्कोत्पत्ति सहसा शीघ्रता से आहार करने से भी होती है 'त्वरमाणस्य चाहारम्' प्रायः अन्नप्रणाली और श्वासप्रणाली दोनों अतिसमीप हैं। जब हम अन्नपान का सेवन करते हैं तब श्वासप्रणाली में उसे जाने से रोकने के लिये उपजिह्विका श्वासपथ को बन्द कर देती है और अन्न के अन्नप्रणाली में चले जाने पर ही खुलती है। जल्दी-जल्दी या अति रूक्ष या ठोस भोजन करने पर अन्नप्रणाली में बहुत सा अन्न एक साथ एकत्रित होने से क्षोभ होता है, जिसकी प्रतिक्रिया स्वरूप उपजिह्विका द्वार बन्द ही रहता है और महाप्राचीरा का सङ्कोच करने पर जब अन्तःश्वसन (Inspiration) प्रारम्भ होता है तो श्वास-वायु बीच में ही अवरुद्ध होकर पूर्ववत् हिक्का को उत्पन्न करती है। तात्पर्य यह है कि महाप्राचीरा का असमय संकोच की ही भाँति उपजिह्विका द्वार के असमय में बन्द होने पर भी हिक्का की उत्पत्ति होती है।

चिरेण यमलैर्वेगैर्या हिक्का सम्प्रवर्त्तते।
कम्पयन्ती शिरोग्रीवं यमलां तां विनिर्दिशेत् ॥ १० ॥

जो हिक्का सिर और ग्रीवा को कम्पायमान करती हुई रुक रुककर एक बार में दो वेगों के साथ (दोहरी आवाज से) होती है उसे यमला हिक्का कहते हैं ॥ १० ॥

विमर्शः—चरक में यमला नाम की हिक्का नहीं मिलती है। अन्य चार के अतिरिक्त पाँचवीं हिक्का का नाम व्यपेता है अतः चरकाचार्य ने यमला को ही व्यपेता नाम से लिखा है 'यमलैव चरके व्यपेता पठ्यते'। अतएव चरकोक्त व्यपेता और सुश्रुतोक्त यमला एक ही है। वाग्भट ने तो व्यपेता न लिख कर यमला नाम का ही उल्लेख किया है—चरकोक्तव्यपेतालक्षणम्— व्यपेता जायते हिक्का याऽन्नपाने चतुर्विधे। आहारपरिणामान्ते भूयश्च लभते बलम् ॥ प्रलापवम्यतीसारतृष्णार्तस्य विचेतसः। जृम्भिणो विप्लुताक्षस्य शुष्कास्यस्य विनामिनः ॥ पर्वाध्मातस्य हिक्का या जत्रुमूलादसन्तता। सा व्यपेतेति विज्ञेया हिक्का प्राणोपरोधिनी ॥ (च० चि० अ० १७) इस प्रकार चरक ने व्यपेता को प्राणों के लिये अनिष्टकर बताया है। वस्तुतः दुहरे वेगों से आने के कारण यह कष्टप्रद होती है। इस तरह चरकाचार्य ने इस हिक्का में प्रलाप, वमन, अतिसार आदि उपद्रवों के होने से प्राणोपरोधिनी तथा सुश्रुताचार्य ने दोहरे वेगों के कारण इसे कष्टप्रद माना है।

विकृष्टकालैर्या वेगैर्मन्दैः समभिवर्तते।
क्षुद्रिका नाम सा हिक्का जत्रुमूलात् प्रधाविता ॥११॥

क्षुद्रिकाहिक्कालक्षण—जो हिक्का परिश्रम या मेहनत करने के समय मन्द वेग के रूप में जत्रुमूल (कण्ठ तथा उर की सन्धि या ग्रीवामूलस्थ हृदय, क्लोम और कण्ठ) से उत्पन्न होती है उसे क्षुद्रा या क्षुद्रिका हिक्का कहते हैं ॥ ११ ॥

विमर्श—चरकाचार्य ने इस हिक्का की सम्प्राप्ति में लिखा है कि क्षुद्र अर्थात् अल्प वायु (अथवा उदान वायु) जब व्यायामादि से पीड़ित होकर कोष्ठ से कण्ठ में आता है तब क्षुद्रहिक्का को उत्पन्न करता है। यह हिक्का अधिक दुःखदायिनी तथा मर्मादि अङ्गों को बाधा पहुँचाने वाली नहीं है। श्रम करने पर बढ़ती है और भोजन करने पर शान्त हो जाती है। यह इसकी विशेषता है तथा इसमें वात की अधिकता होती है। क्षुद्रवातो यदा कोष्ठाद् व्यायामपरिघट्टितः। कण्ठे प्रपद्यते हिक्कां तदा क्षुद्रां करोति सः ॥ अतिदुःखा न सा चोरःशिरोमर्मप्रबाधिनी। न चोच्छ्वासान्नपानानां मार्गमावृत्य तिष्ठति ॥ वृद्धिमायस्यतो याति भुक्तमात्रे च मार्दवम्। यतः प्रवर्तते पूर्वं तत

एव निवर्तते ॥ हृदयं क्लोम कण्ठञ्च तालुकञ्च समाश्रिता । मृद्वी सा क्षुद्रहिक्केति नृणां साध्या प्रकीर्तिता ॥

नाभिप्रवृत्ता या हिक्का घोरा गम्भीरनादिनी ।
शुष्कौष्ठकण्ठजिह्वास्यश्वासपार्श्वरुजाकरी ॥
अनेकोपद्रवयुता गम्भीरा नाम सा स्मृता ॥ १२ ॥

गम्भीराहिक्कालक्षण—जो हिचकी नाभि से उठ कर घोर और गम्भीर शब्द करती है एवं ओष्ठ, कण्ठ, जिह्वा और मुख को सुखाती है तथा श्वास और पार्श्वशूल पैदा करती है एवं अनेक उपद्रवों से युक्त होती है, उसे गम्भीरा कहते हैं ॥१२॥

विमर्श—नाभि से प्रवृत्त होने के कारण इस हिक्का में गम्भीर आवाज होती है। घोरा=कष्टसाध्या, अर्थात् इसमें ज्वर, तृष्णा, प्रलाप तथा मूर्च्छा आदि उपद्रव होने से यह कष्ट-साध्या या असाध्या होती है। चरकोक्त गम्भीरा हिक्का-वर्णन—हिक्कते यः प्रवृद्धस्तु कृशो दीनमना नरः । जर्जरेणोरसा कृच्छ्रं गम्भीरमनुनादयन् ॥ संजृम्भन् संक्षिपंश्चैव तथाऽङ्गानि प्रसारयन् । पार्श्वे चोभे समायम्य कूजन् स्तम्भरुगर्दितः ॥ नाभेः पक्वाशयाद्वापि हिक्का चास्योपजायते । क्षोभयन्ती भृशं देहं नामयन्तीव ताम्यतः ॥ रुणद्ध्युच्छ्वासमार्गन्तु प्रणष्टबलचेतसः । गम्भीरा नाम सा तस्य हिक्का प्राणान्तिकी मता ॥ (च० चि० अ० १७)

मर्माण्यापीडयन्तीव सततं या प्रवर्तते ॥ १३ ॥
देहमायम्य वेगेन घोषयत्यतितृष्यतः ।
महाहिक्केति सा ज्ञेया सर्वगात्रप्रकम्पिनी ॥ १४ ॥

महाहिक्कालक्षणम्—बस्ति, हृदय और शिर इन प्रधान मर्मों को पीड़ा पहुँचाती हुई जो निरन्तर हिचकी चलती हो तथा शरीर को खींच कर बड़े वेग के साथ शब्द करती हो एवं जिसमें रुग्ण को अधिक तृषा लगती हो तथा हिचकी लेते समय सारे शरीर को कम्पायमान कर देती हो उसे महाहिक्का जानना चाहिए ॥ १३–१४ ॥

विमर्श—चरकाचार्य ने महाहिक्का के कारण और सम्प्राप्ति के विषय में लिखा है कि जिस प्राणी का मांस, शारीरिक बल, प्राण और तेज क्षीण हो गये हों उसके कफ और वायु प्रकुपित हो के सहसा कण्ठ-प्रदेश में जाकर जोर के शब्द के साथ (घोषवती) हिक्का को प्रारम्भ कर देते हैं। यह हिक्का निरन्तर चलती है तथा यह एकशब्दयुक्त, द्विशब्दयुक्त (डबल) और त्रिशब्दयुक्त होती है अर्थात् एकबार हिक्का चलने में उसमें एक वेग, दो वेग तथा तीन वेग तक होते हैं। इन वेगों के अतिरिक्त प्रकुपित प्राण वायु स्रोतस तथा मर्म स्थानों को अवरुद्ध कर तथा शरीर की ऊष्मा को भी दबा कर शरीर की संज्ञा को नष्ट कर देता है, अवयवों को जकड़ देता है तथा अन्न और पान के मार्ग को भी रोक देता है। रोगी के नेत्रों में आँसू भरे होते हैं, भ्रू गिर जाते हैं तथा वह प्रलाप करता है। यह हिक्का महामूल अर्थात् गम्भीर धातुओं में दोष वाली, महा वेगवाली, बड़े शब्द वाली, महान् बलवती है। अतः इसे महाहिक्का कहते हैं। चरकोक्त महाहिक्का वर्णन—क्षीणमांसबलप्राणतेजसः सकफोऽनिलः । गृहीत्वा सहसा कण्ठमुच्चैर्घोषवतीं भृशम् ॥ करोति सततं हिक्कामेकद्वित्रिगुणां तथा । प्राणः स्रोतांसि मर्माणि संरुध्योष्माणमेव च ॥ संज्ञां मुष्णाति गात्राणां स्तम्भं सञ्जनयत्यपि । मार्गं चैवान्नपानानां रुणद्ध्युपहतस्मृतेः ॥ साश्रुविप्लुतनेत्रस्य स्तब्धशङ्खच्युतभ्रुवः । सक्तस्वरप्रलापस्य निर्वृत्तिं नाधिगच्छतः ॥ महामूला महावेगा महाशब्दा महाबला । महाहिक्केति सा नॄणां सद्यः प्राणहरा मता ॥ (च० चि० अ० १७)

आयम्यते हिक्कतोऽङ्गानि यस्य
दृष्टिश्चोर्ध्वं ताम्यते यस्य गाढम् ।
क्षीणोऽन्नद्विट् कासते यश्च हिक्की
तौ द्वावन्त्यौ वर्जयेद्धिक्कमानौ ॥ १५ ॥

अवस्थाविशेषेणासाध्यहिक्का—हिचकी लेते समय जिस रोगी के शरीर के समस्त अङ्ग या सम्पूर्ण देह दीर्घीकृत (लम्बी) हो जाय तथा जिसके नेत्र ऊपर को चढ़ जावें एवं जिसे भोजन में अरुचि प्रतीत हो तथा जिसका शरीर क्षीण हो रहा हो तथा जिसको अत्यधिक छींके आती हों या कासता हो ऐसा किसी भी हिक्का वाला रोगी चिकित्सा में वर्जित है तथा अन्तिम की दो महती और गम्भीरा हिक्काएँ भी चिकित्सादृष्टि से वर्जनीय हैं ॥ १५ ॥

विमर्श—चरकमतेन हिक्कानां साध्यासाध्यता—अतिसञ्चितदोषस्य भक्तच्छेदकृशस्य च । व्याधिभिः क्षीणदेहस्य वृद्धस्यातिव्यवायिनः ॥ आसां या सा समुत्पन्ना हिक्का हन्त्याशु जीवितम् । यमिका च प्रलापार्तितृष्णामोहसमन्विता ॥ अक्षीणश्चाप्यदीनश्च स्थिरधात्विन्द्रियश्च यः । तस्य साधयितुं शक्या यमिका हन्त्यतोऽन्यथा ॥ (च० चि० अ० १७) अर्थात् जिसके शरीर में दोषों का अतिमात्रा में सञ्चय हो, जो अन्नादि सेवन न करने से दुर्बल हो गया हो अथवा दीर्घकालीन रोग के कारण जिसका शरीर दुर्बल हो चुका हो, रोगी वृद्ध हो या अतिमैथुनशील हो उसको साध्य या असाध्य स्वरूप की पाँचों हिक्काओं में से जो भी हो जाय वह उसकी मृत्यु कर सकती है। अर्थात् उपर्युक्त लक्षणों या कारणों से युक्त रोगी के लिये पाँचों हिक्काएँ असाध्य हैं। प्रलाप, बेचैनी, तृष्णा, मूर्च्छा इन उपद्रवों से युक्त यमिका-हिक्का रोगी को मार डालती है। जो रोगी क्षीण न हो तथा जिसके मन और आत्मा में दीनता (दुःख) का भाव न हो तथा जिसका मन, शरीर समग्र इन्द्रियाँ तथा रस रक्त आदि धातुएँ पूर्णतया ठीक और स्थिर हों उसकी यमला हिक्का साध्य होती है; अन्यथा नहीं। 'यमिका च' यहाँ पर पठित चकार से अन्नजा और क्षुद्रा का भी ग्रहण कर लेना चाहिए। अर्थात् एक साथ दो वेगों से युक्त उन दोनों को भी असाध्य ही समझना चाहिए।

प्राणायामोद्वेजनत्रासनानि
सूचीतोदैः सम्भ्रमश्चात्र शस्तः ।
यष्ट्याह्वं वा माक्षिकेणावपीडे
पिप्पल्यौ वा शर्कराचूर्णयुक्ताः ॥ १६ ॥

हिक्काचिकित्सा—कुम्भक प्राणायाम, कठोर वचनों से उद्वेजन, अल्प सत्त्वबल वाले को भयोत्पादक शब्दों से डराना तथा सुई चुभोने की व्यथा से उसके मन को व्याकुल करना, ये उपचार हिक्का (क्षुद्रा और अन्नजा) में प्रशस्त माने गये हैं। इनके अतिरिक्त मुलेठी के चूर्ण को शहद के साथ अवपीड नस्य देने में प्रयुक्त करना चाहिए। अथवा पिप्पली के

महीन चूर्ण को शर्करा के साथ महीन पीसकर अवपीड़न नस्य में प्रयुक्त करें ॥ १६ ॥

सर्पिः कोष्णं क्षीरमिक्षो रसो वा
नातिक्षीणे छर्दनं शान्तिहेतोः ॥ १७ ॥

हिक्कायां वमनम्—हिक्का रोग में घृतपान, मन्दोष्ण दुग्ध का सेवन और साठे का रस ये हिक्काशान्ति के लिये प्रशस्त माने जाते हैं। इनके अतिरिक्त यदि रोगी अधिक क्षीण न हुआ हो तो वमन कर्म कराना चाहिए ॥ १७ ॥

नारीपयःपिष्टमशुक्लचन्दनं
घृतं सुखोष्णं च ससैन्धवं तथा।
चूर्णीकृतं सैन्धवमम्भसाऽथवा
निहन्ति हिक्काञ्च हितञ्च नस्यतः ॥१८॥

हिक्कायां नस्यत्रयम्—(१) स्त्री के दुग्ध में रक्तचन्दन को घिस कर नस्य देना हिक्का में प्रशस्त है। (२) रक्तचन्दन का महीन चूर्ण और मन्दोष्ण घृत दोनों को मिश्रित कर नस्य देना चाहिए। (३) सैन्धव लवण का महीन चूर्ण बनाकर पानी में घोल के उसका नस्य देना हिक्कारोगनाशन के लिये श्रेष्ठ माना गया है ॥ १८ ॥

युञ्ज्याद् धूमं शालनिर्यासजातं
नैपालं वा गोविषाणोद्भवं वा।
सर्पिःस्निग्धैश्चर्मबालैः कृतं वा
हिक्कास्थाने स्वेदनं चापि कार्य्यम् ॥

हिक्कानाशाय धूमयोगाः—शाल के निर्यास (राल) का धूम देने से अथवा मनःशिला को ज्वलदङ्गार पर रख कर उसका धूम देने से किंवा गाय के शृङ्ग के टुकड़े को या उसके ऊपर के पर्त (छिलके) को ज्वलदङ्गार में डाल कर उसका धूम सुँघाने से अथवा गौ के चर्म और बालों को घी में चिकना करके ज्वलदङ्गार पर रख के धूम सुँघाने से हिक्का नष्ट हो जाती है। उक्त उपचारों के अतिरिक्त हिक्का के स्थानों (कण्ठ, स्तनमध्यभाग) पर स्वेदन करने से हिक्का नष्ट होती है ॥ १९ ॥

विमर्शः—चरकाचार्य ने हिक्कानाशार्थ मोम, राल और घृत को या गौ के शृङ्ग, बाल और स्नायु को मल्लकसम्पुट में रख कर धूम सुँघाना लिखा है—मधूच्छिष्टं सर्जरसं घृतं मल्लकसम्पुटे। कृत्वा धूमं पिबेच्छृङ्गं बालं वा स्नायु वा गवाम् ॥ (चरक) इस कार्य के लिये दो शराव लेने चाहिए। एक शराव में ज्वलदग्नि रख कर उस पर मोम, राल, शृङ्ग आदि धूप की सामग्री रख दूसरे समान शराव (जिसके मध्य में औषधधूम निकलने को एक छोटा छिद्र बना देना चाहिए) से दोनों के किनारे मिला के मल्लसम्पुट बना लें। इस धूमयोग के अतिरिक्त स्योनाक (सोनापाठा) और एरण्ड इन दो में से किसी एक की पतली नाड़ी (डण्ठल) लेकर उसे किसी औषधयुक्त पात्र के छिद्र में लगा दें तब उसके दूसरे मुँह से जो धूम निकले वह सुँघाना चाहिए। धूम देने के लिये पद्माख, गूगल, अगुरु और शल्लकी इन्हें ले के घृतप्लुत कर ज्वलदग्नि पर रख के धूम सेवन करावें—श्योनाकवर्धमानानां नाडीं शुष्कां कुशस्य वा। पद्मकं गुग्गुलं लोहं शल्लकीं वा घृतप्लुताम् ॥ (च० चि० अ० १७) चरकाचार्य ने हिक्का और श्वास दोनों के कारण और स्थान आदि की एकता होने से समान चिकित्सा में सर्वप्रथम स्निग्ध स्वेदन करने को लिखा है। जिसमें लवण के चूर्ण और तैल को मिश्रित कर उसे सारे बदन पर अथवा केवल कण्ठ और छाती पर लगा के पश्चात् नाड़ीस्वेद, प्रस्तरस्वेद और सङ्करस्वेद में से किसी एक द्वारा स्वेदन कराना चाहिए। इससे गाँठदार श्लेष्मा द्रुत होकर स्रोतसों में आ जाता है तथा देह के छिद्र मुलायम हो जाते हैं। वात का अनुलोमन होता है। इस तरह व्यक्ति के अच्छी प्रकार स्नेहित और स्वेदित हो जाने के अनन्तर श्लेष्मा को अधिक बढ़ाने के लिये स्निग्ध भात को मत्स्य के साथ, शूकर के मांस-रस के साथ अथवा दही के साथ खिलाना चाहिए। इस तरह कफ के बढ़ जाने पर पिप्पलीचूर्ण, सैन्धव लवण और शहद अत्यधिक जल के साथ पीकर वमन करा देवें। इस तरह कफ के शरीर से निकल जाने पर एवं स्रोतसों के शुद्ध हो जाने पर वायु अप्रतिहत गति हो के सञ्चार करता है। इन क्रियाओं के करने पर भी यदि स्रोतसों में कहीं छिपा हुआ दोष रह जाय तो उसे धूम-विधि से बाहर निकाल देना चाहिए। जैसे हरिद्रा, एरण्ड का पत्ता, एरण्ड की जड़, लाख, मैनसील, देवदारु, हरताल और जटामाँसी इन्हें चूर्णित कर पानी के साथ पत्थर पर महीन पीस के वर्ति बना के सुखा लेवें। फिर इस वर्ति को घृत में भिगो कर अग्नि से जला कर हिक्का रोगी को धूमपान के लिये प्रयुक्त करें—हिक्काश्वासार्दितं स्निग्धैरादौ स्वेदैरुपाचरेत्। आक्तं लवणतैलेन नाडीप्रस्तरसङ्करैः ॥ तैरस्य ग्रथितः श्लेष्मा स्रोतस्वभिविलीयते। खानि मार्दवमायान्ति ततो वातानुलोमता ॥ यथाऽद्रिकुञ्जेष्वर्कांशुतप्तं विष्यन्दते हिमम्। श्लेष्मा तप्तः स्थिरो देहे स्वेदैर्विष्यन्दते तथा ॥ स्विन्नं ज्ञात्वा ततस्तूर्णं भोजयेत् स्निग्धमोदनम्। मत्स्यानां शूकराणां वा रसैर्दध्युत्तरेण वा ॥ ततः श्लेष्मणि संवृद्धे वमनं पाययेत्तु तम्। पिप्पलीसैन्धवक्षौद्रैर्युक्तं वाताविरोधि यत् ॥ निर्हृते सुखमाप्नोति सकफे दुष्टविग्रहे। स्रोतःसु च विशुद्धेषु चरत्यविहितोऽनिलः ॥ लीनश्चेद्दोषशेषः स्याद् धूमैस्तं निर्हरेद् बुधः। हरिद्रां पत्रमेरण्डमूलं लाक्षां मनःशिलाम् ॥ सदेवदार्वलं मांसीं पिष्ट्वा वर्तिं प्रकल्पयेत्। तां घृताक्तां पिबेद् धूमं यवैर्वा घृतसंयुतैः ॥ (च० चि० अ० १७) स्वरक्षीणाद्यनुबन्धहिक्काचिकित्सा—स्वरक्षीणातिसारासृक्पित्तदाहानुबन्धजान्। मधुरस्निग्धशीताद्यैर्हिक्काश्वासानुपाचरेत् ॥ स्वरभङ्ग, अतिसार, रक्तपित्त और दाह के अनुबन्ध वाले हिक्काश्वासियों की चिकित्सा मधुर, स्निग्ध और शीतल खाद्य-पेय तथा औषध द्वारा करनी चाहिए। अस्वेद्या हिक्किनः—न स्वेद्याः पित्तदाहार्ता रक्तस्वेदातिवर्तिनः। क्षीणधातुबला रूक्षा गर्भिण्यश्चापि पित्तलाः ॥ सेकविधिः—कोष्णैः कामसुरःकण्ठं स्नेहसेकैः सशर्करैः। उत्कारिकोपनाहैश्च स्वेदयेन् मृदुभिः क्षणम् ॥ तिलोमामाषगोधूमचूर्णैर्वातहरैः सह। स्नेहैश्चोत्कारिका साम्लैः सक्षीरैर्वा कृता हिता ॥ (च० चि० अ० १७) चरकाचार्य ने चिकित्सा की दृष्टि से हिक्का और श्वास के रोगी के बलवान् और दुर्बल ऐसे दो भेद का एक संघ तथा कफ की अधिकता वाला और दूसरा वायु की अधिकता वाला रूक्ष रोगी यह दूसरा संघ ऐसे भेद किये हैं। इनमें कफ की अधिकता वाले और बलवान् हिक्काश्वास के रोगी को वमन तथा विरेचन क्रमशः पथ्य भोजन पूर्वक करा

कर पश्चात् शास्त्रोक्त धूमपान और अवलेहादि जो नाना योग हैं उनका सेवन करावें—हिक्काश्वासामयी ह्येको बलवान् दुर्बलोऽपरः। कफाधिकस्तथैवैको रूक्षो बह्वनिलोऽपरः॥ कफाधिके बलस्थे च वमनं सविरेचनम्। कुर्यात् पथ्याशिने धूमलेहादिशमनं ततः॥ वातिकान् दुर्बलान् बालान् वृद्धांश्चानिलसूदनैः। तर्पयेदेव शमनैः स्नेहयूषरसादिभिः॥ (च० चि० अ० १७) चरकाचार्य ने लिखा है कि कफ के उत्क्लिष्ट न होने पर तथा स्वेदन किये बिना ही विशोधन (वमन-विरेचन) कराने से वायु प्रकुपित हो के मर्मस्थानों को विकृत कर प्राण हर लेता है। इस वास्ते बलवान्। तथा बहुकफ वाले हिक्काश्वासादिपीड़ित रोगियों को आनूप देश में तथा जल में होने वाले प्राणियों के मांसरस से तृप्त कर स्वेदित करके विशोधन करें तथा दुर्बल और वाताधिक्य वाले रोगियों में बृंहण चिकित्सा करनी चाहिए। बृंहणार्थ मयूर, तीतर, दक्ष और जङ्गल के पशु पक्षी इनके मांसों को दशमूल के क्वाथ अथवा कुलत्थी के क्वाथ में सिद्ध करके सेवन करावें—अनुत्क्लिष्टकफास्विन्नदुर्बलानां विशोधनात्। वायुर्लब्धास्पदो मर्म संशोष्याशु हरेदसून्॥ दृढान् बहुकफांस्तस्मादसैरानूपवारिजैः। तृप्तान् विशोधयेत् स्विन्नान् बृंहयेदितरान् भिषक्। बर्हित्तित्तिरिदक्षाश्च जाङ्गलाश्च मृगद्विजाः। दशमूलीरसे सिद्धाः कौलत्थे वा रसे हिताः॥ (च० चि० अ० १७)

क्षौद्रोपेतं गैरिकं काञ्चनाह्वं
लिह्याद्भस्म ग्राम्यसत्त्वास्थिजं वा।
तद्वच्छ्वाविन्मेषगोशल्लकानां
रोमाण्यन्तर्धूमदग्धानि चात्र॥ २०॥
मध्वाज्याक्तं बर्हिपत्रप्रसूत-
मेवं भस्मौदुम्बरं तैल्वकं वा।
स्वर्जिक्षारं बीजपूराद्रसेन
क्षौद्रोपेतं हन्ति लीढ्वाऽऽशु हिक्काम्॥२१॥

हिक्काहरा लेहाः—(१) शुद्ध स्वर्णगैरिक को ४ रत्ती से १ माशे भर की मात्रा में ले के मधु के साथ मिला कर चटावें। अथवा (२) ग्राम में होने वाले प्राणी गौ, अश्व, अजा आदि इन की अस्थि की भस्म बना के शहद के साथ चटावें। (३) सेह (सेढिका) के शरीर पर होने वाले सूये तथा मेढा, गाय और शल्लकी के बाल इन सब को एक घड़े में भर कर मुख बन्द करके अन्तर्धूम पका के भस्म बना लें तथा इस भस्म को शहद के साथ चटावें। (४) बर्हि (मयूर) के पत्र (पिच्छ) की चन्द्रिका को अन्तर्धूम दग्ध कर भस्म बना के ३ से ६ रत्ती प्रमाण में लेकर ६ माशे शहद तथा ८ माशे घृत के साथ मिश्रित करके चटावें। (५) औदुम्बर (गूलर वृक्ष या ताम्र) की भस्म या तैल्वक भस्म को मधु तथा घृत के साथ मिश्रित कर चटाने से हिक्का रोग नष्ट हो जाता है। इसी प्रकार (६) स्वर्जिक्षार को बिजोरे निंबू के रस के साथ मिश्रित कर शहद मिला के चाटने से शीघ्र ही हिक्का नष्ट हो जाती है॥ २०-२१॥

विमर्शः—मधु और घृत को तुल्य प्रमाण में मिश्रित करने से वह विष हो जाता है—'भजतो विषरूपत्वं तुल्यांशे मधुसर्पिषी' उक्त लेहों के चाटने से कफ का निर्गमन हो जाता है, जिससे वायु का अवरुद्ध मार्ग खुल जाने से हिक्का बन्द हो जाती है—मारुतः प्राणवाहीनि स्रोतांस्याविश्य कुप्यति। उरःस्थं कफमुद्धूय हिक्काश्वासान् करोति सः। प्राणोदकवाहीनि स्रोतांसि सकफोऽनिलः। हिक्काः करोति संरुध्य***॥ (चरक)

सर्पिःस्निग्धा घ्नन्ति हिक्कां यवाग्वः
कोष्णप्रासाः पायसो वा सुखोष्णः॥२२॥

हिक्काहरणार्थं यवाग्वः—घृत से स्निग्ध की हुई विभिन्न प्रकार की यवागू के सेवन से हिक्का नष्ट होती है। इसी प्रकार कुछ कुनकुने पानी का कवल धारण करने से अथवा सुहाती-सुहाती गरम दुग्धपक्व क्षीर (खीर) के सेवन करने से हिक्का नष्ट हो जाती है॥ २२॥

शुण्ठीतोये साधितं क्षीरमाजं
तद्वत्पीतं शर्करासंयुतं वा।
आतृप्तेर्वा सेव्यमानं निहन्याद्
घ्रातं हिक्कामाशु मूत्रं त्वजाव्योः॥२३॥

हिक्काहरं शुण्ठीक्षीरम्—बकरी के क्षीर से चतुर्गुण पानी लेकर उसमें सोंठ का कल्क प्रक्षिप्त कर दुग्धावशेष रहने पर पीने से हिक्का नष्ट होती है। अथवा इसी दुग्ध में शर्करा प्रक्षिप्त कर चतुर्गुण जल और सोंठ का कल्क डाल कर दुग्धावशेष पाक करके पूर्ण तृप्ति होने तक पीने से हिक्कारोग नष्ट होता है। इसी प्रकार बकरी और भेड़ के मूत्र को हस्तसुलुक में भर कर सूँघने से हिक्का नष्ट होती है॥ २३॥

सपूतिकीटं लशुनोग्रगन्धा-
हिङ्ग्वब्जमाचूर्ण्य सुभावितं तत्॥२४॥

हिक्काहराघ्रेययोगाः—पूतिकीट को लहसुन, वचा, हींग और कमल इन सबको समप्रमाण में ले के खरल में महीन चूर्ण कर भेड़ और बकरी के मूत्र से अनेक बार भावित कर खरल करके छाया में सुखा कर शीशी में भर देवें। इस योग को सुँघाने से हिक्का नष्ट होती है॥ २४॥

विमर्शः—सपूतिकीटम्—(१) पूतिकीटो 'भौंदुलिका' इति लोके। (२) पूतिकीटो वर्षाकालोद्भवः पालिन्दिकेति प्रसिद्धः। वर्षाकाल में होने वाले पूतिकीट को भाषा में तेलिया कीड़ा भी कहते हैं।

क्षौद्रं सितां वारणकेशरञ्च
पिबेद्रसेनेक्षुमधूकजेन।
पिबेत्पलं वा लवणोत्तमस्य
द्वाभ्यां पलाभ्यां हविषः समग्रम्॥ २५॥

हिक्काघ्नं क्षौद्रादिपानम्—शहद, शर्करा, नागकेशर इन्हें साँठे के स्वरस तथा महुए के रस के साथ पीने से हिक्का नष्ट होती है। अथवा सैन्धव लवण एक पल भर लेकर महीन पीस कर दो पल घृत में मिश्रित करके पीने से हिक्का नष्ट होती है॥ २५॥

विमर्शः—नागकेशर का चूर्ण छः माशे से एक तोला तथा शर्करा छः माशे, शहद का प्रक्षेप तीन माशे से छः माशे, इक्षुस्वरस दो से चार तोला, मधूकस्वरस २ से चार तोला ग्रहण करना चाहिये। मधुमात्रा—षोडशाष्टचतुर्मागं वातपित्तकफातिंषु। क्षौद्रं कषाये दातव्यं विपरीता तु शर्करा॥ नागकेशर

चूर्णस्येक्षुरसस्य च मात्रा—कर्षश्चूर्णस्य कल्कस्य गुटिकानान्तु सर्वशः। द्रवशुक्त्याऽवलेह्यः पातव्यश्च चतुर्गुणे॥ सैन्धव लवण की एक पल की उत्तम मात्रा है। वैद्य रोगी और रोग के बलाबल का विचार कर हीन, मध्यम और उत्तम ऐसी त्रिविध मात्रा में से किसी एक का उपयोग कर सकता है।

हरीतकीं कोष्णजलानुपानां
पिबेद् घृतं क्षारमधूपपन्नम्।
रसं कपित्थान्मधुपिप्पलीभ्यां
शुक्तिप्रमाणं प्रपिबेत् सुखाय॥ २६॥

हरीतक्यादियोगत्रयम्—(१) बड़ी हरड़ के तीन माशे से छः माशे भर चूर्ण को मन्दोष्ण जल के अनुपान के साथ सेवन करने से हिक्का नष्ट होती है। (२) यवक्षार चार से आठ रत्ती, शहद छः माशे भर तथा मन्दोष्ण घृत एक तोला लेकर तीनों को मिश्रित कर पीने से हिक्का नष्ट होती है। (३) कपित्थ का स्वरस एक शुक्ति (आधा पल=दो तोले), शहद आधा पल (दो तोला) और छोटी पिप्पली का चूर्ण एक कर्ष भर लेकर तीनों को मिश्रित कर आरोग्य के लिये पीने से हिक्का रोग नष्ट होता है॥ २६॥

विमर्शः—डल्हण ने क्षार के स्थान पर क्षीर पाठ लिखा है, परन्तु हिक्काहरणार्थ क्षीर (दुग्ध) की अपेक्षा क्षार दीपन, पाचन, वात और कफ का संशामक होने से पाठ उत्तम है। सम्भव है वर्णयोजक की गलती से क्षार के स्थान पर क्षीर हो गया हो।

कृष्णां सितां चामलकञ्च लीढं
सश्रृङ्गवेरं मधुनाऽथवाऽपि।
कोलास्थिमज्जाञ्जनलाजचूर्णं
हिक्कां निहन्यान्मधुनाऽवलीढम्॥२७॥

हिक्काहरं कृष्णादियोगत्रयम्—(१) पिप्पली का चूर्ण चार रत्ती से आठ रत्ती भर तथा शर्करा तीन माशे भर लेकर दोनों को छः माशे भर शहद के साथ मिश्रित कर सेवन करने से हिक्का नष्ट होती है। (२) आँवले के तीन माशे भर चूर्ण को सोंठ के एक माशे भर चूर्ण के साथ मिश्रित कर छः माशे भर मधु के साथ संयुक्त करके चाटने से हिक्का नष्ट होती है। (३) कोल (बदरफल) की अस्थि (गुठली) की मज्जा (मींगी या बीज) तथा शुद्ध सौवीराञ्जन और लाजा (पुष्पित धान्य = शाल की धानी) इन्हें समान प्रमाण में लेकर चूर्ण बना के तीन माशे से छः माशे प्रमाण में लेकर चूर्ण से दुगुने शहद के साथ मिलाकर सेवन करने से हिक्का रोग नष्ट हो जाता है॥ २७॥

पाटलायाः फलं पुष्पं गैरिकं कटुरोहिणी।
खर्जूरमध्यं मागध्यः काशीशं दधिनाम च॥ २८॥
चत्वार एते योगाः स्युः प्रतिपादप्रदर्शिताः।
मधुद्वितीयाः कर्त्तव्यास्ते हिक्कासु विजानता॥२९॥

हिक्काहरं पाटलादियोगचतुष्टयम्—(१) पाटला के फल और पुष्पों के चूर्ण को ३ माशे से ६ माशे प्रमाण में लेकर मधु के साथ सेवन करें। (२) शुद्ध स्वर्णगैरिक एक माशे भर तथा कुटकी का चूर्ण दो माशे भर लेकर द्विगुण मधु के साथ सेवन करें। (३) खर्जूर के मस्तक की मज्जा अथवा खर्जूर की अस्थि और पिप्पली के समभाग गृहीत चूर्ण को मधु के साथ सेवन करें। (४) शुद्ध कासीस तीन रत्ती और कैथ का चूर्ण तीन माशे भर लेकर द्विगुण मधु के साथ सेवन करें। इस तरह एक श्लोक के प्रतिपाद में कहे हुए ये चारों पादों के चार योग पृथक्-पृथक् शहद के साथ सर्व प्रकार की हिक्काओं में विज्ञ वैद्य के द्वारा प्रयुक्त किये जाने चाहिये॥ २८-२९॥

विमर्शः—कुछ लोग 'काशीशं दधिनाम च' इसके स्थान पर 'काशीशं दध्निना सह' ऐसा पाठान्तर मानते हैं जिसका अर्थ काशीश और दही को पुरुष चाटे—'काशीशं दधि च ना पुरुषः लिह्यादिति'॥

कपोतपारावतलावशल्लक-
श्वदंष्ट्रगोधावृषदंशजान् रसान्।
पिबेत् फलाम्लानहिमान् ससैन्धवान्
स्निग्धांस्तथैवर्क्ष्यमृगद्विजोद्भवान्॥३०॥

हिक्काहराः कपोतादिमांसरसाः—कबूतर, पारावत (गृहकपोत), लाव (बटेर), शल्लकी, श्वदंष्ट्रा, गोधा और वृषदंश (मार्जार) के मांस-रसों को फलाम्ल अर्थात् खट्टे फलों (दाडिमादि) के स्वरस से संस्कृत (संयुक्त) कर उष्ण रूप में सैन्धव लवण के प्रक्षेप से युक्त तथा अच्छे, ताजे घृत से मिश्रित कर हिक्का के रोगी को पिलावें। इनके अतिरिक्त ऋक्ष्य (भालू), मृगद्विज से जाङ्गलविष्किर अथवा मृग से पशु तथा द्विज से लाव (बटेर) और तीतर आदि पक्षियों के मांस को पका कर उसके रस को अनार आदि अम्ल से खट्टा करके तथा घृत से स्निग्ध कर सैन्धव मिलाकर गरम-गरम पीने से हिक्का नष्ट हो जाती है॥ ३०॥

विरेचनं पथ्यतमं ससैन्धवं
घृतं सुखोष्णञ्च सितोपलायुतम्।
सदागतावूर्ध्वगतेऽनुवासनं
वदन्ति केचिच्च हिताय हिक्किनाम्॥३१॥

इति सुश्रुतसंहितायामुत्तरतन्त्रान्तर्गते कायचिकित्सातन्त्रे हिक्काप्रतिषेधो नाम (द्वादशोऽध्यायः, आदितः) पञ्चाशत्तमोऽध्यायः॥ ५०॥

संक्षेपेण हिक्काचिकित्सा—बलवान् रोगी में वायु का अनुलोमन करने के लिये सैन्धवलवण से युक्त योगों के द्वारा विरेचन करना अत्यन्त पथ्यकर माना गया है। इसके अतिरिक्त सितोपला (मिश्री) से युक्त सुखोष्ण घृत का पान कराना हिक्का में उत्तम है। कुछ आचार्यों का मत है कि नाभिप्रान्त के नीचे रहने वाली वायु के ऊर्ध्वगामी होने पर अनुवासन बस्ति हिक्का-रोगियों में हितकर होती है॥

विमर्शः—सदागतौ = वायौ, 'श्वसनः स्पर्शनो वायुर्मातरिश्वा सदागतिः' इत्यमरः। हिक्कायां पथ्यानि—स्वेदनं वमनं नस्यं धूमपानं विरेचनम्। निद्रा स्निग्धानि चान्नानि मृदूनि लवणानि च। जीर्णाः कुलत्था गोधूमाः शालयः षष्टिका यवाः। एणास्तित्तिरलावाद्या जाङ्गला मृगपक्षिणः॥ पक्वं कपित्थं लशुनं पटोलं बालमूलकम्। उष्णोदकं मातुलुङ्गं माक्षिकं सुरभिजलम्॥ अन्नपानानि सर्वाणि

वातश्लेष्महराणि च। शीताम्बुसेकः सहसा त्रासो विस्मापनं भयम्॥ क्रोधो हर्षः प्रियोद्वेगप्राणायामनिषेवणम्। दग्धसिक्तमृदा घ्राणं कूर्चधाराजलार्पणम्॥ नाभ्यूर्ध्वघातनं दाहो दीपदग्धहरिद्रया। पादयोर्द्व्यङ्गुले नाभेरूर्ध्वं चेष्टानि हिक्किनाम्॥ हिक्कारोगेऽपथ्यानि-वातमूत्रोद्गारकासशकृद्वेगविधारणम्। रजोऽनिलातपायासान् विरुद्धान्यशनानि च॥ विष्टम्भीनि विदाहीनि रूक्षाणि कफदानि च। निष्पावः पिष्टकं माषः पिण्याकानूपजामिषम्॥ अवीदुग्धं दन्तकाष्ठं वस्तिं मत्स्यांश्च सर्षपान्। अम्लं तुम्बीफलं कन्दं तैलभृष्टमुपोदिकाम्॥ गुरु शीतञ्चानुपानं हिक्कारोगे विवर्जयेत्॥

इति श्री अम्बिकादत्तशास्त्रिकृतायां सुश्रुतसंहितायाम्
आयुर्वेदतत्त्वसन्दीपिकायां भाषाटीकाया-
मुत्तरतन्त्रे पञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥५०॥

एकपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

अथातः श्वासप्रतिषेधं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥ २ ॥

अब इसके अनन्तर श्वासप्रतिषेध नामक अध्याय का प्रारम्भ करते हैं जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने कहा है ॥१-२॥

विमर्शः—हिक्काप्रतिषेध के अनन्तर हिक्का और श्वास का हेतु समान होने से तथा दोनों का शीघ्रमारकत्व साम्य होने से कामं प्राणहरा रोगा बहवो न तु ते तथा। यथा श्वासश्च हिक्का च प्राणानाशु निकृन्ततः॥ कास के अनन्तर श्वासचिकित्सा-प्रकरण प्रारम्भ किया गया है।

यैरेव कारणैर्हिक्का बहुभिः सम्प्रवर्त्तते।
तैरेव कारणैः श्वासो घोरो भवति देहिनाम् ॥ ३ ॥

श्वासनिदानम्—जिन विदाहि, गुरु, विष्टम्भि आदि अनेक कारणों से हिक्का प्रवर्तित (उत्पन्न) होती है उन्हीं कारणों से प्राणियों के शरीर में भयङ्कर श्वास रोग उत्पन्न होता है॥

विमर्शः—हिक्का और श्वास के कारण, स्थान और मूल एक ही समान होते हैं, ऐसा चरक ने भी माना है—कारणस्थानमूलैक्यादेकमेव चिकित्सितम्। द्वयोरपि यथारम्भमृषिभिस्तन्निबोधत॥ (च० चि० अ० १९) इसीलिये हिक्का के पश्चात् श्वास रोग का प्रकरण प्रारम्भ किया गया है। इन दोनों में निम्न साम्य है—(१) कारणसाम्य, (२) स्थानसाम्य, (३) मूलसाम्य, (४) दोनों कफ वातात्मक हैं, (५) पित्तस्थानसमुद्भव अर्थात् आमाशयोत्थ हैं। कफवातात्मकावेतौ पित्तस्थानसमुद्भवौ। हृदयस्य रसादीनां धातूनाञ्चोपशोषणौ॥ तस्मात्साधारणावेतौ मतौ परमदुर्जयौ। मिथ्योपचरितौ क्रुद्धौ हताशीविषाविव॥ (६) दोनों के पांच पांच भेद होते हैं—पृथक् पञ्चविधावेतौ निर्दिष्टौ रोगसंग्रहे। तयोः शृणु समुत्थानं लिङ्गञ्च सभिषग्जितम्॥ हिक्काश्वासकारणानि—रजसा धूमवाताभ्यां शीतस्थानाम्बुसेवनात्। व्यायामाद् ग्राम्यधर्माध्वरूक्षान्नविषमाशनात्॥ आमप्रदोषादानाहाद्रौक्ष्यादत्यपतर्पणात्। दौर्बल्यान्मर्मणो घाताद् द्वन्द्वाच्छुद्ध्यतियोगतः॥ अतीसारज्वरच्छर्दिप्रतिश्यायक्षतक्षयात्। रक्तपित्तादुदावर्ताद्विसूच्यलसकादपि॥ पाण्डुरोगाद्विषाच्चैव प्रवर्तेते गदाविमौ। निष्पावमाषपिण्याकतिलतैलनिषेवणात्॥ पिष्टशालूकविष्टम्भिविदाहिगुरुभोजनात्। जलजानूपपिशितदध्यामक्षीरसेवनात्॥ अभिष्यन्द्युपचाराच्च श्लेष्मलानाञ्च सेवनात्। कण्ठोरसः प्रतीघाताद्विबन्धैश्च पृथग्विधैः॥ मारुतः प्राणवाहीनि स्रोतांस्याविश्य कुप्यति। उरःस्थकफमुद्धूय हिक्काश्वासान् करोति सः॥ (च० चि० अ० १७) इस प्रकार चरकाचार्य ने हिक्का और श्वास रोग के रज (धूलिकण), धूँआ और वायु से लेकर 'विबन्धैश्च पृथग्विधैः' विबन्ध तक कारण माने हैं। इनमें आन्तरिक कारण, बाह्य आगन्तुक कारण, स्थानिक कारण, आहार तथा विहार और अनेक प्रकार के रोग सभी कारणों का उल्लेख कर दिया है। आधुनिक दृष्टि से साधारणतया श्वास रोग के तीन मुख्य कारण हैं—(१) श्वासकेन्द्र की विकृति—यह निम्न कारणों से होती है—(क) अधिरक्तहृदयातिपात (Congestive heart failure) (ख) अत्यधिक रक्ताल्पता—इसमें प्राणवायु की कमी हो जाती है। (ग) मधुमेहजन्य संन्यास—(Diabetic coma) (घ) जानपदिक शोफ (Epidemic dropsy) इस प्रकार उपर्युक्त कारणों से होने वाली श्वासकृच्छ्रता उभयनिष्ठ होती है (२) श्वासमार्ग में किसी प्रकार का अवरोध एवं वायुसञ्चारार्थ फुप्फुसीय सतह की कमी। इसके कारण श्वासकृच्छ्रता अन्तःश्वसनिक (Inspiratory) स्वरूप की होती है। तुण्डिकाशोथ, रोहिणी आदि अवरोध के कारण हैं। निमोनिया, राजयक्ष्मा जैसे रोग—वायुसञ्चरण के लिये फुप्फुस की सतह को कम कर देते हैं। (३) श्वास में सहायक पेशियों के कार्य में बाधा होना—यह निम्न कारणों से होती है—(क) पीड़ा—वक्षस्थ या उदरस्थ किसी अङ्ग पर शोथ होने पर। (ख) उरोवात (Emphysema)—स्वाभाविक लचकीलापन कम होने के कारण फुप्फुस निरन्तर वायु से भरा रहता है और उसे पूर्णतया नहीं निकाल पाता। (ग) अनुकोष्ठिका (Phrenic) तथा वक्ष की पेशियों की वातनाड़ी का घात। इससे महाप्राचीरा तथा वक्ष की पेशियाँ क्रिया नहीं कर पातीं जिससे श्वास में भी कष्ट होता है। (घ) आमाशय या दूसरे उदरस्थ अङ्गों का फूला हुआ होना। इससे जलोदर का भी ग्रहण करना चाहिए। ये अवस्थाएँ भी श्वास-पेशियों के कार्य में बाधा उपस्थित करती हैं। इसके अतिरिक्त ये फुप्फुस पर दबाव डालकर भी श्वासकृच्छ्रता उत्पन्न करती हैं। इस प्रकार जब श्वास की मुख्य पेशियाँ कार्य नहीं करतीं तो उदरस्थ पेशियाँ तथा अन्य पेशियाँ जिन्हें श्वास की अतिरिक्त पेशियाँ (Extra muscles of respiration) भी कहते हैं, श्वास में सहायता करती हैं। इस अवस्था में विशेष प्रयत्न किया जाता है जो कि रोगी में स्पष्ट दिखाई देता है।

विहाय प्रकृतिं वायुः प्राणोऽथ कफसंयुतः।
श्वासयत्यूर्ध्वगो भूत्वा तं श्वासं परिचक्षते ॥ ४ ॥

श्वासस्य सम्प्राप्तिः परिभाषा च—मिथ्या आहार-विहार से प्रकुपित प्राणवायु अपनी प्रकृति (आत्मलक्षण कार्यादिक) को छोड़कर अर्थात् विगुण (ऊर्ध्वग) होकर कफ के साथ मिलकर व्यक्ति को जोर-जोर से श्वासप्रश्वास की क्रिया कराता है, अतएव इसे श्वासरोग कहते हैं ॥ ४ ॥

विमर्शः—चरकाचार्य ने श्वास की सम्प्राप्ति में लिखा है कि कफप्रकोपपूर्वक प्रकुपित जो प्राणवायु स्रोतसों (प्राणवाहक) को अवरुद्ध कर सब ओर (समग्र फुप्फुस में) व्याप्त हो

जाती है अथवा गति करती है उसे श्वास कहते हैं— यदा स्रोतांसि संरुध्य मारुतः कफपूर्वकः। विष्वग्व्रजति संरुद्धस्तदा श्वासान् करोति सः॥ (च० चि० अ० १७) श्वास वस्तुतः वातरूप ही है। अतः उसमें वात की प्रधानता स्वीकार करना उचित है, किन्तु साधारण अवस्था में केवल वायु श्वास कष्ट को उत्पन्न नहीं करता, परन्तु जब वह कफ से अवरुद्ध हो जाता है तब श्वास रोग को उत्पन्न कर देता है। वस्तुतः कफ की अधिकता से जब फुफ्फुस के वायुकोषों में वायु-प्रवेश के लिये स्थान कम हो जाता है तो आवश्यक जारक (Oxygen) या प्राणवायु को ग्रहण करने के लिये पुनः पुनः श्वास की प्रवृत्ति होती है। इसीलिये कफपूर्वक वायु का प्रकोप श्वास रोग का कारण बताया गया है। सामान्यतया वायुकोषों या श्वासनलिकाओं में सदैव तरल पदार्थ का स्राव होता रहता है, जो उच्छ्वसित वायु के साथ बाष्प रूप में निकल जाता है। जब कभी फुफ्फुस या नलिकाओं में अधिरक्तता (Congestion), शोथ (Inflamation) या क्षोभ (Irritation) आदि कारणों से यह स्राव अधिक मात्रा में होने लगता है तब मात्रानुसार एवं कारण और सम्बन्ध के अनुरूप थोड़ा या अधिक तरल, सान्द्र या घन कफरूप में कास के साथ निकलता है। फुफ्फुस और श्वास-नलिकाओं में कफ होने से क्षोभ और श्वासवायु के लिये स्थान की कमी से प्रतिक्रिया स्वरूप वातप्रकोप होकर कास और शीघ्र श्वास लेने की क्रिया आरम्भ होती है। यदि कास के साथ कफ का निष्क्रमण आसानी से नहीं होता है तो श्वास की ही तीव्रता बढ़ती है। कफ या कफोत्पादक कारण की प्रबलता एवं आधिक्य, दौर्बल्य या विगुणवातकृत श्वासनलिकासङ्कोच (जैसे तमक श्वास में) आदि कारण कफ के सरलता से निकलने में बाधक होते हैं। इससे स्पष्ट है कि प्रथम कफ की दुष्टि होकर वात की दुष्टि होती है और वह क्षुभित वायु समस्त फुफ्फुस में व्याप्त होकर श्वास को उत्पन्न करता है तथा श्वासकार्य में बाधा होने से विष्णुपदामृत (Oxygen) की कमी से प्रत्येक धात्वग्नि दूषित होती है, जिससे प्रत्येक धातु का पोषण ठीक नहीं होता। इससे कुपित वायु का सार्वदैहिक प्रभाव होकर श्वास के अतिरिक्त बेचैनी, विविध शूल, भ्रम, मोह आदि विकार भी उत्पन्न होते हैं। कफ की प्रधानता से युक्त वायु जब प्राण-वाही स्रोतसों में अवरोध उत्पन्न करके सर्वत्र घूमता है तो श्वास की उत्पत्ति होती है। प्राणवह स्रोत से यहाँ पर श्वासप्रणाली, नलिकाएँ और फुफ्फुस का ग्रहण करना चाहिये। फुफ्फुस वक्षःस्थल (उरोगुहा) में हृदय के दोनों ओर रहने वाले दो थैले हैं। ये अत्यन्त लचकीले तन्तुओं के बने हुये असंख्य कोष्ठों के समूह हैं। इनके अन्दर एक झागदार पदार्थ भी रहता है। प्रत्येक कोष्ठ में रक्तवाहिनियाँ होती हैं। अन्तः-श्वसन (Inspiration) करने पर प्राणवायु फुफ्फुसीय कोष्ठों में पहुँचता है एवं जिससे वे लचकीले होने के कारण फूल जाते हैं। प्राणवायु प्रत्येक कोष्ठ में स्थित रक्तवाहिनीगत रक्त की शुद्धि करता है एवं उसकी अशुद्धि (Co₂) को ग्रहण करके फुफ्फुस का सङ्कोच करने पर पुनः बहिःश्वसन (Expiration) के द्वारा बाहर चला आता है श्वासप्रश्वास की यह क्रिया यावज्जीवन अनवरत चलती रहती है। इस प्रकार श्वासप्रश्वासक्रिया की प्रकृतिस्थता फुफ्फुस के क्रियाशील कोष्ठों की पर्याप्त संख्या, उनका लचकीलापन, अवरोध का अभाव तथा रक्त की पर्याप्त मात्रा पर निर्भर है। रोगविज्ञान में पठित श्वास शब्द का अर्थ श्वासकष्ट (Difficulty in breathing), श्वासकृच्छ्र (Dyspnoea) किया जाता है। उपर्युक्त विवरण के अनुसार चूँकि श्वासप्रश्वास का साक्षात् सम्बन्ध फुफ्फुस से ही है अतः श्वासरोग में विकृति का प्रधान केन्द्र भी फुफ्फुस ही रहता है यह निर्विवाद है। हृदय एवं वृक्कजन्य (Cordiac and renal) भी श्वास होते हैं, किन्तु अन्ततो गत्वा वे भी फुफ्फुसीय ही हो जाते हैं। श्वासरोग में विकृति पूरे फुफ्फुस में रहती है। प्रथम कफ की विकृति होती है एवं पश्चात् अवरोध के कारण वात प्रकुपित होकर श्वास को उत्पन्न करता है, कहा भी है—'वायोर्धातुक्षयात्कोपो मार्गस्यावरणेन च'। वस्तुतः साक्षात् वात या उसके अधिष्ठान वातनाड़ियों की विकृति ही श्वासोत्पत्ति में प्रधान हेतु है। प्राणदा (Vagus) की क्रिया की कमी या सिम्पैथेटिक की क्रिया की अधिकता का ही फल श्वासाधिक्य है। इस प्रकार विकृति केवल फुफ्फुस में न रहकर वातनाड़ियों में भी रहती है। इस कथन से यह भी सिद्ध है कि जिन आहार-विहार या रोगविशेष का प्रभाव इन नाड़ियों पर अवसादक या उत्तेजक स्वरूप का होता है वे सभी श्वासरोग के कारण माने जाते हैं। श्वासनिदान में निर्दिष्ट विदाही अन्न, व्यायाम तथा उपवास आदि कारण रूक्षता से वात की वृद्धि तथा उपवृक्क (Supra renal gland) के अन्तःस्राव को बढ़ाकर सिम्पैथेटिक की क्रियाशीलता को बढ़ा देते हैं। विष्टम्भी, अभिष्यन्दी या गुरुपदार्थ भी आमा-शयिक क्षोभ द्वारा या कफ की वृद्धि से फुफ्फुस में अवरोध उत्पन्न करके सुषुम्नाशीर्षस्थ श्वासनियन्त्रक केन्द्र को उत्तेजित करके श्वास की उत्पत्ति करते हैं। इसके अतिरिक्त कभी-कभी अधिक भोजन कर लेने पर भी फुफ्फुस पर आमाशय द्वारा दबाव पड़ता है, जिससे फुफ्फुसगत वायुसञ्चार की सतत कमी हो जाने से पुनः पुनः श्वास लेना पड़ता है। अधिक समय तक उत्तेजित रहने पर श्वासकेन्द्र का घात हो जाता है जिससे श्वासकष्ट निरन्तर नहीं रह पाता। यही कारण है कि इसके सामयिक आक्रमण (Paroxysmal attacks) होते हैं।

क्षुद्रकस्तमकश्छिन्नो महानूर्ध्वश्च पञ्चधा।
भिद्यते स महाव्याधिः श्वास एको विशेषतः॥ ५॥

श्वासभेदाः—श्वास नामक महाव्याधि स्वरूप से एक होती हुई भी हेतुलक्षण भेद से क्षुद्रकश्वास, तमकश्वास, छिन्न-श्वास, महाश्वास और ऊर्ध्वश्वास इन नामों से पाँच प्रकार की होती है॥ ५॥

विमर्शः—चरकाचार्य तथा माधवकार ने इन पाँचों श्वासों का प्रारम्भ महाश्वास से किया है—महोर्ध्वच्छिन्नतमक-क्षुद्रभेदैस्तु पञ्चधा। तमक का भेद ही प्रतमक श्वास होने से श्वासों का पञ्चविधत्व होने में कोई दोष नहीं आता है। तेषां हेतुभिन्नता—वाताधिको भवेत् क्षुद्रस्तमकस्तु कफोद्भवः। कफ-वाताधिकश्चैव संसृष्टश्छिन्नसंज्ञकः॥ श्वासो मारुतसंसृष्टो महानूर्ध्व-स्ततो मतः॥ क्षुद्रश्वास में वायु की प्रधानता रहती है, तमक-

श्वास में कफ प्रधान होता है। छिन्नश्वास में कफ और वायु का अधिक प्रकोप रहता है जब कि महान् और ऊर्ध्वश्वास में वायु का ही अधिक प्रकोप रहता है, साथ में दूसरे भी दोष अनुबन्ध स्वरूप में रहते हैं। इन पाँचों प्रकार के श्वासों में श्वासत्व क्या है ? इसका उत्तर 'वेगवदूर्ध्ववातत्व' अर्थात् वेग के साथ वायु की ऊर्ध्वगति होना यही श्वास रोग है। लोहकार की भस्त्रिका के आध्मान के समान वात की ऊर्ध्वगामिता मानी है— श्वासस्तु भस्त्रिकाध्मानसमवातोर्ध्वगामिता। इति ॥ आधुनिक दृष्टि से श्वासकष्ट (Dyspnoea) के निम्न भेद मिलते हैं—(१) अन्तःश्वसनिकश्वासकष्टता—(Inspiratory dyspnoea) इसमें अन्तःश्वसन के समय कष्ट होता है, किन्तु बहिः श्वसन में कोई कठिनाई नहीं होती। इसका कारण श्वासनलिका के उपरितन भाग में किसी प्रकार के अवरोध का होना है। यह स्वरयन्त्रीय रोहिणी (Laryngical diphtheria) में पाया जाता है। (२) बहिःश्वसनिक श्वासकष्ट (Expiratory dyspnoea)—इसमें बहिःश्वसन के समय विशेष कष्ट होता है। अन्तःश्वसन अपेक्षाकृत ठीक रहता है। बहिःश्वसन के समय औदरिक पेशियों की शेष सहायता लेनी पड़ती है। इसके परिणामस्वरूप वक्षःस्थल परिपूर्ण रहता है। इसका कारण उरोवात (Emphysema) सदृश रोगों के फलस्वरूप फुफ्फुसीय कोशाओं का वायु से अत्यधिक फूला रहना है। (३) उभयविधकृच्छ्रता—यह केवल फुफ्फुसजन्य श्वास (Bronchial asthma) रोग का उदाहरण है। इसके अतिरिक्त यह मूत्रविषमयता (Uraemia), जानपदिकशोफ (Epidemic dropsy) तथा मधुमेहजन्य संन्यास में भी पाई जाती है।

प्राग्रूपं तस्य हृत्पीडा भक्तद्वेषोऽरतिः परा।
आनाहः पार्श्वयोः शूलं वैरस्यं वदनस्य च ॥ ६ ॥

श्वासपूर्वरूप—हृदय प्रदेश या छाती में पीड़ा, भोजन करने में द्वेष, अत्यधिक बेचैनी, आनाह (पेट का फूलना), दोनों पार्श्वों में शूल तथा मुख की विरसता ये श्वास के पूर्वरूप हैं॥

विमर्शः—आनाहलक्षणम्—आमं शकृद्वा निचितं क्रमेण भूयो विबद्धम् विगुणानिलेन। प्रवर्तमानं न यथास्वमेनं विकारमानाहमुदाहरन्ति ॥ **चरकोक्तं श्वासपूर्वरूपम्**—आनाहः पार्श्वशूलश्च पीडनं हृदयस्य च। प्राणस्य च विलोमत्वं श्वासानां पूर्वलक्षणम् ॥ (च० चि० अ० १७) विलोमत्वं=पर्याकुलत्वम्—**माधवोक्तं श्वासपूर्वरूपम्**—प्राग्रूपं तस्य हृत्पीडा शूलमाध्मानमेव च। आनाहो वक्त्रवैरस्यं शङ्खनिस्तोद एव च ॥ **आध्मानलक्षणम्**—साटोपमत्युग्ररुजमाध्मातमुदरं भृशम्। आध्मानमिति तं विद्याद् घोरं वातनिरोधजम् ॥

किञ्चिदारभमाणस्य यस्य श्वासः प्रवर्त्तते।
निषण्णस्यैति शान्तिञ्च स क्षुद्र इति संज्ञितः ॥ ७ ॥

क्षुद्रश्वासलक्षणम्—किसी भी पारिश्रमिक कार्य करने से श्वास का प्रारम्भ हो जाता हो तथा उस कार्य को छोड़ कर बैठ जाने से वह श्वास का वेग शान्त हो जाता हो तब उसे क्षुद्र श्वास कहते हैं ॥ ७ ॥

विमर्शः—माधवकार ने चरकानुमत क्षुद्रश्वास के लक्षण लिखे हैं—रूक्षायासोद्भवः कोष्ठे क्षुद्रो वात उदीरयन्। क्षुद्रश्वासो नसोऽत्यर्थं दुःखेनाङ्गप्रबाधकः ॥ हिनस्ति न स गात्राणि न च दुःखो यथेतरे। न च भोजनपानानां निरुणद्ध्युचितां गतिम् ॥ नेन्द्रियाणां व्यथां नापि काञ्चिदापादयेद्रुजम्। स साध्य उक्तो बलिनः सर्वे चाव्यक्तलक्षणाः ॥ (च० चि० अ० १७) अर्थात् रूक्ष वस्तु सेवन और श्रम से श्वासवेग के चढ़ने को क्षुद्रश्वास कहते हैं। इसके वेग हल्के होते हैं। यह अन्य श्वासों के समान शरीर में किसी प्रकार की हानि नहीं करता। इसीलिये इसे साध्य माना गया है। अन्य चार श्वास भी बलवान् रोगियों में तथा अल्प लक्षण वाले या अव्यक्तावस्था में साध्य होते हैं। 'क्षुद्रोऽल्पनिदानलिङ्गः' अर्थात् इस श्वास के कारण और लक्षण अल्प होने से इसे क्षुद्र कहते हैं। यद्यपि इस प्रकार का श्वास रोग नहीं कहा जा सकता तथापि जिन व्यक्तियों को थोड़ा श्रम करने पर ही श्वासकृच्छ्रता हो जाती है उनमें यह रोग के रूप में ही माना जाता है, जैसे सीढ़ियाँ अथवा ऊँचे स्थान (पहाड़) पर चढ़ने से जो हाँफने लग जाते हैं और थोड़ी देर बैठने से श्वासवेग शान्त हो जाता है, यही क्षुद्रश्वास माना जाता है।

तृट्स्वेदवमथुप्रायः कण्ठघुर्घुरिकान्वितः।
विशेषाद् दुर्दिने ताम्येच्छ्वासः स तमको मतः ॥८॥
घोषेण महताऽऽविष्टः सकासः सकफो नरः।
यः श्वसित्यबलोऽन्नद्विट् सुप्तस्तमकपीडितः ॥ ९ ॥
स शाम्यति कफे हीने स्वपतश्च विवर्द्धते।
मूर्च्छाज्वराभिभूतस्य ज्ञेयः प्रतमकस्तु सः ॥ १० ॥

तमकप्रतमकश्वासयोर्लक्षणानि—जिस में तृषा अधिक लगती हो, पसीना आता हो तथा रोगी वमथु (थूत्कृति) करता हो या वमथु (वमनेच्छा) करता हो तथा कण्ठ में श्वासवेग के समय घुर-घुर सी (घर्घराहट की) आवाज होती हो एवं विशेष कर जिस दिन आसमान में खूब मेघ छाये हुए हों ऐसे दुर्दिन के समय इस श्वास के दौरे (आक्रमण) हो जाते हों उसे तमक श्वास कहते हैं। तमक श्वास से पीड़ित रोगी बड़े भारी शब्द के साथ कफयुक्त खाँसता है तथा निर्बल हो जाता है, भोजन में द्वेष करता है एवं सोया रहने पर श्वास के वेग से विशेष पीड़ित हो जाता है। जब खाँसते-खाँसते गले से कफ निकल जाता है तब श्वास का वेग शान्त हो जाता है। इसी तरह सोते हुए का श्वास बढ़ता है तथा बैठ जाने पर श्वासवेग कम हो जाने से उसे शान्ति मिलती है। प्रतमक लक्षण—यदि तमकश्वास के रोगी को मूर्च्छा और ज्वर आने लग जाय तो उसका नाम प्रतमकश्वास हो जाता है॥

विमर्शः—चरकाचार्य ने तमकश्वास के अवस्थाविशेष या लक्षणविशेष से सन्तमक और प्रतमक ऐसे भेद लिखे हैं जिनका वर्णन चरक मत से निम्नोक्त है। चरके सम्प्राप्तिपूर्वं तमकश्वासलक्षणम्—प्रतिलोमं यदा वायुः स्रोतांसि प्रतिपद्यते। ग्रीवां शिरश्च संगृह्य श्लेष्माणं समुदीर्य च ॥ करोति पीनसं तेन रुद्धो घुर्घुरकं तथा। अतीव तीव्रवेगञ्च श्वासं प्राणप्रपीडकम् ॥ प्रताम्यति सवेगेन तृष्यते सन्निरुध्यते। प्रमोहं कासमानश्च स गच्छति मुहुर्मुहुः ॥ श्लेष्मण्यमुच्यमाने तु भृशं भवति दुःखितः। तस्यैव च विमोक्षान्ते मुहूर्त्तं लभते सुखम् ॥ तथास्योद्ध्वंसते कण्ठः कृच्छ्राच्छक्नोति भाषितुम्। न चापि लभते निद्रां शयानः श्वासपीडितः ॥ पार्श्वे

तस्यावगृह्णाति शयानस्य समीरणः। आसीनो लभते सौख्यमुष्णं चैवाभिनन्दति॥ उच्छ्रिताक्षो ललाटेन स्विद्यता भृशमार्तिमान्। विशुष्कास्यो मुहुः श्वासी मुहुश्चैवावधम्यते। मेघाम्बुशीतप्राग्वातैः श्लेष्मलैश्च विवर्धते। स याप्यस्तमकः श्वासः साध्यो वा स्यान्नवोत्थितः॥ (च० चि० अ०) अर्थात् प्रतिलोम (विरुद्धगति) हुआ वायु प्राणवाहक स्रोतसों में पहुँच कर ग्रीवा और शिर को जकड़ता हुआ कफ को भी उदीर्ण करके प्रथम पीनस (प्रतिश्याय) रोग को उत्पन्न करता है पश्चात् इस कफ से अवरुद्ध हुई वायु घुर्घुर शब्द करती हुई प्राणाश्रित हृदय को बाधा पहुँचाने वाले तथा अत्यन्त तीव्रवेग वाले तमकश्वास को उत्पन्न करती है। इस तमकश्वास के आवेग से पीड़ित व्यक्ति अत्यन्त घबराता है, प्यास से व्याकुल होता है और निश्चेष्ट हो जाता है अथवा उसकी प्राणवायु या श्वास-प्रश्वास क्रिया अवरुद्ध हो जाती है। एवं बार-बार खाँसता हुआ प्रमोहवत् (मूर्च्छित-सा) हो जाता है। खाँसते-खाँसते जब कफ नहीं निकलता तब वह अत्यन्त दुखी होता है। किन्तु कफ के निकल जाने पर कुछ काल के लिये उसे आराम मिल जाता है। इस रोगी का गला बैठ जाता है, बोलने में कठिनाई होती है। लेटने पर भी श्वासपीड़ित होकर निद्रा लाभ नहीं कर पाता है क्योंकि सोने पर प्रकुपित वायु उसके दोनों पार्श्वों को जकड़ देती है। अतः बैठने पर उसे सुख मिलता है। उष्ण वस्तुओं के सेवन से उसे सुख मिलता है। इस तमक श्वास वाले रोगी के नेत्र शोथयुक्त होते हैं या वे चढ़े हुए से होते हैं। उसका ललाट पसीने से व्याप्त रहता है, मुख सूखता रहता है, बार-बार श्वास लेता है एवं पुनः-पुनः फूत्कारों द्वारा श्वास को छोड़ता है। मेघों के उदय का समय, शीतल जल, शीत ऋतु तथा पूर्व दिशा की वायु, एवं कफवर्द्धक पदार्थों के सेवन करने से इस श्वास की वृद्धि होती है। यह तमक श्वास याप्य होता है। किन्तु नवीन होने पर यह साध्य भी होता है। इस प्रकार चरकाचार्य ने तमकश्वास की सम्प्राप्ति एवं लक्षण लिखे हैं। श्वासं प्राणप्रपीडकम्—श्वास की गति के बढ़ने के साथ हृदय की गति का बढ़ना भी अनिवार्य है। साधारण अवस्थाओं में फुफ्फुस एवं हृदय की गति का अनुपात १:४ रहता है। अर्थात् प्रकृत एवं प्रौढ़ व्यक्ति में प्रतिमिनट श्वास की गति १८ और हृदय की गति ७२ बार होती है। रोग होने पर इसी अनुपात से बढ़ जाती है, किन्तु निमोनिया में दोनों की गति बढ़ते हुए भी १:२ का अनुपात हो जाता है। इस तरह हृदय को अपेक्षाकृत अधिक कार्य करना पड़ता है, इसीलिये उसे अत्यन्त कष्ट का अनुभव होता है। श्वासनलिकाओं में भरा हुआ श्लेष्मा ही श्वास का कारण होता है। अतः जबतक वह नहीं निकलता, अवरोध बराबर बना रहता है एवं उसकी उत्तेजना के फलस्वरूप उसको निकालने के लिये कास की प्रवृत्ति भी निरन्तर होती रहती है। यह कफ अत्यन्त गाढ़ा एवं चिपचिपा होता है और आसानी से नहीं निकल पाता है। इसीलिये खाँसी इतनी प्रबल हो जाती है कि रोगी बेहोश हो जाता है, किन्तु श्लेष्मा के निकल जाने पर श्वासनलिका तथा फुफ्फुसीय कोषागत अवरोध दूर हो जाता है। एवं श्वासनलिकाओं के स्वच्छ हो जाने से वायु का सञ्चरण या श्वास-प्रश्वास का कार्य पुनः सुचारुरूप से चलने लगता है। उत्तेजक कारण के न रहने पर कास और श्वास का वेग भी नहीं रहता। कण्ठ में कफ का प्रलेप होने के कारण खुजली का अनुभव होता है। इसी से कण्ठ में कुछ अवरोध सा होने से रोगी को बोलने में भी कष्ट का अनुभव होता है। न चापि लभते निद्राम्—तमक श्वास से पीड़ित रोगी का फुफ्फुस कफ से व्याप्त रहता है। अत एव श्वास-प्रश्वास के समय कष्ट का अनुभव करना पड़ता है। इस क्रिया को जब वह सामान्य श्वासपेशियों द्वारा सम्पन्न करने में असमर्थ रहता है तो श्वास की अतिरिक्त पेशियों (Extra muscles of respiration) से भी इस कार्य में सहायता लेने लगता है। इस अवस्था में रोगी यदि पार्श्व के बल लेटे तो श्लेष्मा से अव्याप्त (जिनको श्लेष्मा ने अवरुद्ध नहीं कर रखा है) कुछ अवशिष्ट वायुकोष भी दब जायेंगे एवं अवरुद्ध वात पीड़ा को उत्पन्न करता है। और श्वासावरोध की अवस्था उत्पन्न हो जाती है अतः रोगी व्याकुल होकर पुनः बैठ जाता है और पूर्वापेक्षया कुछ अधिक आराम का अनुभव करता है। यदि रोगी सीधी कमर के बल लेटता है तब भी आराम नहीं मिलता। क्योंकि उस समय भी वह श्वास की अतिरिक्त पेशियों को काम में नहीं ला सकता। बैठने पर वह अतिरिक्त पेशियों से भली-भाँति काम ले सकता है एवं अपेक्षाकृत सुख का भी अनुभव करता है। उष्णञ्चैवाभिनन्दति—तमक श्वास वात-कफारब्ध होता है अतः उष्णोपचार से इसमें उपशम या लाभ होता है। एवं श्वास की गति अनुकूल होने लगती है। अत एव रोगी की भी स्वतःप्रवृत्ति उष्णोपचार की ओर हो जाती है। अवधम्यते—फूत्कारों से श्वास को छोड़ता है, यह तमकश्वास का विशिष्ट विभेदक लक्षण है अथवा जोर-जोर से श्वास लेने के कारण सारा शरीर झटके के साथ हिलता रहता है। मेघ, शीत तथा अन्य श्लेष्मल आहार भी कफवर्द्धक होने से तमक श्वास के प्रवर्तक हैं। अतः शीत या श्लेष्मल पदार्थों को अनुपशय (अपथ्य) समझना चाहिए। ये दोनों लक्षण चिकित्सा की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्व के हैं। आधुनिक रोगविज्ञान की दृष्टि से इस अवस्था को (Bronchial asthma कह सकते हैं। क्योंकि इस में भी तमक श्वास के समान ही लक्षणों की उपलब्धि होती है। इसके अतिरिक्त चिकित्सा की दृष्टि से दोनों के उपशय और अनुपशय रूप आहार-विहार भी समान हैं। पाश्चात्य रोगविज्ञान के अनुसार इसकी परिभाषा निम्न रूप से की जा सकती है—श्वासनाडी के संकोच के साथ बहिःश्वसन सम्बन्धी श्वास-कृच्छ्रता के प्रावेगिक आक्रमण को तमकश्वास (Asthma) कहते हैं—Paroxysmal attacks of dyspnoea, chiefly expiratory in nature associated with bronchial spasm. (Beaumont's medicine.) इसका कारण कफ की अधिकता के साथ-साथ श्वासनलिकाओं का प्रावेगिक संकोच भी है। संकोच की अवस्था उत्पन्न होने पर श्लैष्मिक कला से स्राव होता है एवं संकोचक पेशियाँ शिथिल हो जाती हैं, जिससे श्वास का आक्रमण भी दूर हो जाता है। आधुनिक चिकित्सा ग्रन्थों में इसके जो निम्न लक्षण लिखे हैं वे आयुर्वेदिक लक्षणों से मिलते हैं—The attack usually begines at the early hours of the morning. There may be some warnings as restless-

ness, mental exltation or depression, sneezing or coryza, or the patient suddenly wakes up with a sense of suffocation. Dyspnoea increases and he sits up in bed panting frequently, using the accessory muscles of respiration also. There is often irritable cough with wheezing in the chest and cyanosis. As the expectoration becomes free the attack comes to an end. Some times the paroxysm continues for several hours or days. (Bedside medicine.) ये उक्त लक्षण आयुर्वेदोक्त तमक श्वास के समान ही हैं। यथा प्रातःकालीन आक्रमण, पीनस (प्रतिश्याय या coryza), सोते समय विशेष कष्ट, छाती में कफ का घुर्घुर करना (Wheeging), श्लेष्मा के निकल जाने पर दौरे की शान्ति इत्यादि। इनके अतिरिक्त प्राइस के समान माधव ने भी इसमें स्वेदप्रवृत्ति (स्विन्नता) का उल्लेख किया है। इस अवस्था में छाती सदा वायु से परिपूर्ण रहने के कारण फूली हुई रहती है। आधुनिक दृष्टि से तमकश्वास (Asthma) वृक्कजन्य (Renal), हृद्विकारजन्य (Cardiac) तथा फुफ्फुसीय (Bronchial) भेद से तीन प्रकार का होता है। अन्त में सभी फुफ्फुसीय रूप धारण कर लेते हैं। **प्रतमकश्वासलक्षणम्**—ज्वरमूर्च्छापरीतस्य विद्यात्प्रतमकन्तु तम्। उदावर्तरजोऽजीर्णक्लिन्नकायनिरोधजः॥ यदि तमकश्वास में ज्वर और मूर्च्छा का भी अनुबन्ध हो जाय तो उसे प्रतमक श्वास जानना चाहिये। कारण—यह उदावर्त, धूलि, अजीर्ण, क्लिन्नकाय (शरीर की आर्द्रता) या वृद्धत्व तथा वेगविधारण से उत्पन्न होता है। इस श्लोक में ज्वर और मूर्च्छा दोनों से व्याप्त अथवा ज्वरेण मूर्च्छा ज्वरमूर्च्छा ऐसा जेज्झट ने अर्थ किया है। क्लिन्नं निदग्धं, कार्ये वेगानां निरोधः कायनिरोधः, अथवा क्लिन्नकायो वृद्धनर इत्याहुः। निरोधो वेगनिरोधः, अथवा कुयोगिनां कुम्भकादिरूपवातनिरोध इति जेज्झटः। वात, मूत्र, पुरीष आदि के वेग को रोकने से होता है अथवा योगविद्या से अनभिज्ञ व्यक्ति द्वारा कुम्भक, पूरक तथा रेचक नामक प्राणायाम की विधियों के विपरीत प्रयोग करने से भी होने वाला प्रतमक श्वास वेगनिरोध ही कहलाता है। वास्तव में दोष दृष्टि से तमक-श्वास कफप्रधान होता है, किन्तु जब इसी में पित्त का अनुबन्ध हो जाता है तो ज्वरयुक्त होने पर प्रतमक कहलाता है। आधुनिक दृष्टि से जब फुफ्फुसीय श्वास (Asthma) के साथ श्वासनलिकाओं में शोथ (Bronchitis) हो जाता है तब यह प्रतमक श्वास की अवस्था उत्पन्न होती है। **सन्तमकश्वासलक्षणम्**—तमसा वर्धतेऽत्यर्थं शीतैश्चाशु प्रशाम्यति। मज्जतस्तमसीवास्य विद्यात्सन्तमकन्तु तम्॥ किन्तु जब यह श्वास अन्धकार या मानसिक दोषों से बढ़े एवं शीतोपचार से शान्त हो जाय तथा रोगी जिसमें अपने को अन्धकार में डूबा हुआ सा समझे उसे सन्तमक समझना चाहिये। विजयरक्षित ने इस श्लोकार्ध की व्याख्या प्रतमक के साथ की है। श्लोक के उत्तरार्धमात्र (मज्जतस्तमसीवास्येत्यादि) को सन्तमक माना है, किन्तु सन्तमक को प्रतमक का ही भेद सभी ने माना है। जिस तमक या प्रतमक में तमःप्रवेश आदि मूर्च्छा के लक्षण प्रधान हों और लक्षण बढ़ते जाँय (रोग की असुप्रावस्था में हृदय, बस्ति (वृक्क) और शिर (मस्तिष्क) इन तीनों प्रधान अङ्गों की विकृति के कारण जिसका होना स्वाभाविक है) तो उसे सन्तमक कहना चाहिये। अन्य कारणों की अपेक्षा मानसिक दोष उसकी उत्पत्ति में विशेष भाग लेते हैं। पित्त से युक्त होने के कारण शीतोपचार से शान्त होता है। तमसा वर्धतेऽत्यर्थम्—अत्र तमःशब्देन तमोभवाः मूर्च्छादयस्तैः सह अत्यर्थं वर्द्धते इति सहार्थे तृतीया।

आध्मातो दह्यमानेन बस्तिना सरुजं नरः।
सर्वप्राणेन विच्छिन्नं श्वस्याच्छिन्नं तमादिशेत्॥११॥

छिन्नश्वासलक्षणम्—पित्त की अधिकता के कारण बस्ति में दाह तथा आध्मान से युक्त एवं वेदना के सहित जो मनुष्य अपनी सारी शक्ति लगाकर भी बीच बीच में रुक-रुककर श्वास लेता हो उसे छिन्नश्वास कहते हैं॥ ११॥

विमर्शः—चरकोक्तछिन्नश्वासवर्णन—यस्तु श्वसिति विच्छिन्नं सर्वप्रणेन पीडितः। नवा श्वसिति दुःखार्तो मर्मच्छेदरुगर्दितः॥ आनाहस्वेदमूर्च्छार्तो दह्यमानेन बस्तिना। विप्लुताक्षः परिक्षीणः श्वसन् रक्तैकलोचनः॥ विचेताः परिशुष्कास्यो विवर्णः प्रलपन्नरः॥ छिन्नश्वासेन विच्छिन्नः स शीघ्रं विजहात्यसून्॥ श्वासप्रश्वास-क्रिया को ठीक तरह से सम्पादित करने के लिये जो रोगी अपनी सम्पूर्ण शक्ति लगाकर भी रुक-रुककर श्वास लेता है एवं जो हृदय आदि मर्माङ्गों की वेदना से पीड़ित होने के कारण दुखी होकर श्वास ही नहीं लेता हो तथा जो आनाह, स्वेद और मूर्च्छा से पीड़ित हो एवं जिसके बस्तिप्रदेश में दाह हो रहा हो, जिसकी आँखे आँसुओं से भरी हुई हों, जो क्षीण हो, जिसकी एक आँख लाल हो, जिसका चित्त उद्विग्न और मुख सूख गया हो और जो कान्तिहीन हो तथा प्रलाप करता हो ऐसे रोगी को छिन्नश्वास से पीड़ित समझना चाहिए। इस प्रकार के लक्षणों से युक्त श्वास वाला रोगी शीघ्र ही मुमूर्षु (मरनेवाला) होता है। उक्त प्रकरण में 'सर्वप्राणेन पीडितः' इस वाक्यांश का सम्बन्ध प्राचीन टीकाकारों में कुछ ने केवल पूर्व (अर्थात् यस्तु सर्वप्राणेन पीडितः सन् स्थित्वा स्थित्वा श्वसिति इति गङ्गाधरः) और कुछ ने केवल ('सर्वप्राणेन नवा श्वसिति' इति विजयरक्षितः) पर से किया है, किन्तु इसका सम्बन्ध देहलीदीपकन्यायेन पूर्व और पर दोनों से करना उचित प्रतीत होता है और 'न वा' का भी द्विरध्याहार करना चाहिए। इस प्रकार संक्षेप में छिन्नश्वास के लक्षण निम्न होंगे (१) छिन्नश्वास का रोगी रुक-रुक कर श्वास लेता है, कभी सम्पूर्ण शक्ति लगाकर जोर से श्वास लेता है तो कभी समस्त शक्ति से भी श्वास नहीं लेता, अर्थात् धीरे-धीरे श्वास लेता है और कभी पूर्णतया (कुछ समय के लिये) श्वास रुक जाता है। दह्यमानेन बस्तिना—बस्ति में दाह के होने से इस श्वास में वात के साथ पित्त का अनुबन्ध भी प्रतीत होता है, जिसे कि सुश्रुताचार्य ने भी माना है। छिन्नश्वास में सर्व अङ्ग शिथिल हो जाते हैं। विवर्णता रक्तसञ्चार की कमी से होती है। छिन्नश्वास का स्वरूप आधुनिकों द्वारा प्रतिपादित (Cheyne-stookes respiration) से साम्य रखता है। यह श्वास की वह अवस्था है जिसमें श्वास की क्रिया कभी कम और कभी अधिक होने लगती है और कभी कुछ काल के लिये रुक जाती है। वास्तव में यह श्वास की एक विशिष्ट अवस्था है,

जिसमें श्वास की गति पहले कम और फिर अधिक हो जाती है। यही क्रम निरन्तर चलता रहता है। यह क्रिया किसी-किसी पूर्ण स्वस्थ व्यक्ति में सुप्तावस्था में देखी जाती है। कारण—हाँफने से सञ्चित कार्बोनिक अम्ल शरीर से बाहर निकल जाता है एवं परिणामस्वरूप रक्तगत कार्बोनिक अम्ल की मात्रा ⅕ व ⅓ तक कम हो जाती है। कदाचित् इससे भी कम हो सकती है। यह निश्चित है कि श्वासकेन्द्र का सर्वोत्तम उत्तेजक भी कार्बोनिक अम्ल ही है। इस प्रकार अन्वय-व्यतिरेक द्वारा यह सिद्ध है कि कार्बोनिक अम्ल की उपस्थिति में श्वासकेन्द्र का उत्तेजन एवं उसके अभाव में अवसाद होता है। श्वासकेन्द्र के अवसाद के कारण श्वासक्रिया भी बन्द होने लगती है। इसी समय पुनः धमनीरक्तगत प्राणवायु (Oxygen) की कमी तथा कार्बनडाइ आक्साइड की वृद्धि होती है। शरीर के लिये प्राणवायु एक विशिष्ट वस्तु है, जिसके अभाव में कोषाओं का अन्तःश्वसन भी बन्द होने लगता है। अतएव पुनः प्राणवायु को प्राप्त करने के लिये श्वासकेन्द्र का उत्तेजन होकर श्वास की गति भी तेज हो जाती है. तथा वहाँ एकत्रित हुई कार्बन डाइ आक्साइड गैस ही श्वासकेन्द्र को उत्तेजित करती है। इस प्रकार इस क्रिया का उक्त क्रम निरन्तर चलता रहता है। इस क्रिया में पुनः-पुनः श्वास का बन्द होना तथा पुनः-पुनः श्वासक्रिया का अत्यधिक बढ़ना कार्बन डाइ आक्साइड की उपस्थिति और अनुपस्थिति के द्वारा अनवरत चलता रहता है। रोगी इससे क्लान्त हो जाता है एवं अन्ततो गत्वा प्राण-त्याग भी कर देता है। इसी को आयुर्वेद में छिन्नश्वास कहा है।

विसंज्ञः पार्श्वशूलार्त्तः शुष्ककण्ठोऽतिघोषवान्।
संरब्धनेत्रस्त्वायम्य यः श्वस्यात् स महान् स्मृतः॥

महाश्वासलक्षणम्—जब रोगी चेतनारहित, पार्श्वशूल से पीड़ित, शुष्क कण्ठयुक्त, जोर की आवाज के साथ, शोथयुक्त नेत्रों वाला तथा झुककर या अपने वक्षःस्थल को बढ़ाकर श्वास लेता है तब उसे महाश्वास कहते हैं॥ १२॥

विमर्शः—चरकोक्तमहाश्वासलक्षणम्—उद्धूयमानवातो यः शब्दवद् दुःखितो नरः। उच्चैः श्वसिति संरुद्धो मत्तर्षभ इवानिशम्॥ प्रनष्टज्ञानविज्ञानस्तथा विभ्रान्तलोचनः। विवृताक्ष्याननो बद्धमूत्रवर्चा विशीर्णवाक्। दीनः प्रश्वसितञ्चास्य दूराद्विज्ञायते भृशम्। महाश्वासोपसृष्टस्तु क्षिप्रमेव विपद्यते॥ अर्थात् जो व्यक्ति मदोन्मत्त सांड के समान ऊपर की ओर कँपाने वाले कुपित वात के कारण जोर का शब्द करता हुआ दुःखित होकर ऊँचे साँस लेता हो और जिसके ज्ञान और विज्ञान नष्ट हो गये हों तथा नेत्र कभी चञ्चल हो जाते हों और मुख एवं नेत्र फैले हुए हों, मूत्र और मल की रुकावट हो गई हो एवं टूटे हुए शब्दों का कष्ट से उच्चारण करता हुआ दीन या अप्रसन्नचित्त रहता हो तथा उसकी श्वास-प्रश्वास क्रिया की आवाज दूर से ही सुनाई देती हो, इस प्रकार के श्वास को महाश्वास कहते हैं और इस श्वास का रोगी शीघ्र ही मृत्यु को प्राप्त करने वाला होता है। उद्धूयमानवातः—उत् ऊर्ध्वं धूयमानो नीयमानो वातो यस्य स तथा। दुःखितो नरः अर्थात् रुग्ण प्रथम अन्य रोग से दुःखित हो तथा अन्त में मृत्यु की सूचना देने के लिये उपद्रवस्वरूप यह श्वास रोग हो गया हो ऐसा अनेक बार होता है। सामान्यतः अधिक श्रम करने के बाद भी इस प्रकार के श्वास की उत्पत्ति होती है, परन्तु वह आराम करने के बाद शान्त हो जाता है और उसे क्षुद्र श्वास कह सकते हैं। ज्ञान शास्त्रं, विज्ञानं तदर्थनिश्चयः। विभ्रान्तलोचनश्चञ्चलनेत्रः। विशीर्णवाक् वक्तुमक्षमः, मन्दवचनो वा। दीनः क्लान्तमनाः। आधुनिक दृष्टि से महाश्वास को Biots breathing कह सकते हैं। There is rhythmic increase and decrease in the depth and rapidity of respiration but without any period of total apnoea in between. (Bedside Medicine) अर्थात् इस श्वास की गम्भीरता एवं तीव्रता में क्रमबद्ध वृद्धि और ह्रास होता है, किन्तु पूर्ण श्वासावरोध कदापि नहीं होता है। यह अवस्था अनेक प्रकार के हृदय, वृक्क एवं मस्तिष्क के रोगों में उत्पन्न होती है।

मर्मस्वायम्यमानेषु श्वसन्मूढो मुहुश्च यः।
ऊर्ध्वप्रेक्षी हृतस्वरस्तमूर्ध्वश्वासमादिशेत्॥ १३॥

ऊर्ध्वश्वासलक्षणम्—हृदय, बस्ति और शिर इन मर्मों के खिंचाव होने पर रुग्ण मूढ अर्थात् निश्चेष्ट होकर निरन्तर श्वास लेता हुआ ऊपर को देखता हो तथा उसका स्वर बैठ गया हो तो उसे ऊर्ध्वश्वास कहना चाहिए॥ १३॥

विमर्शः—चरकोक्त ऊर्ध्वश्वासलक्षण—ऊर्ध्वं श्वसिति यो दीर्घं न च प्रत्याहरत्यधः। श्लेष्मावृतमुखस्रोताः क्रुद्धगन्धवहार्दितः॥ ऊर्ध्वदृष्टिर्विपश्यंस्तु विभ्रान्ताक्ष इतस्ततः। प्रमुह्यन् वेदनार्तश्च शुष्कास्योऽरतिपीडितः॥ ऊर्ध्वश्वासे प्रकुपिते ह्यधःश्वासो निरुध्यते। मुह्यतस्ताम्यतश्चोर्ध्वं श्वासस्तस्यैव हन्त्यसून्॥ अर्थात् जो रोगी ऊपर की ओर श्वास तो देर तक छोड़ता है, किन्तु नीचे (भीतर) की ओर उतनी देर तक नहीं खींचता तथा जिसके मुख और प्राणवहादि स्रोत कफ से अवरुद्ध रहते हों एवं वायु के प्रकोप से पीड़ित रहता हो तथा जिसकी दृष्टि ऊपर की ओर ही चढ़ी रहती हो एवं नेत्रों को विभ्रान्त (चञ्चल) करता हुआ इधर-उधर देखता हुआ मूर्च्छा को प्राप्त हो जाता हो तथा पीड़ा से व्याप्त, शुष्कमुखयुक्त तथा वेदनाग्रस्त होता है एवं रोगी ऊर्ध्वश्वास तो लेता है, किन्तु उसका अधःश्वास रुक जाता है जिससे वह बार-बार बेचैन होकर मूर्च्छित हो जाता है। इस प्रकार के ऊर्ध्वश्वास के वर्णन का तात्पर्य है कि उस रुग्ण के मुख, कण्ठ एवं प्राणवह स्रोत (समस्त श्वास नलिकाएँ) कफपूर्ण होती हैं। अतः रोगी बाहर श्वास देर तक छोड़ता रहता है, किन्तु भीतर की ओर का स्थान कफपूर्ण होने से श्वास देर तक नहीं खींच सकता है। इस प्रकार भीतर की प्राणवायु के पर्याप्त मात्रा में न आने से घबराहट, बेचैनी और मूर्च्छा आदि लक्षण उत्पन्न होते हैं। श्वास का दीर्घकाल तक बहिर्निर्गमन करना तथा भीतर की ओर श्वास पूर्णरूप से न खींच सकने की इस अवस्था को Stertorous breathing or failing respiration कहते हैं तथा यह अवस्था फुफ्फुस में Congestion और Consolidation (घनता) होने से होती है। प्रायः श्वसनक सन्निपात (Pneumonia), विद्रधि (Abscess), कोथ (Gangrene), अन्तःस्फार (Infark) तथा विभिन्न प्रकार की मूर्च्छाओं

(Appoplexy and coma) में उक्त प्रकार की श्वास की स्थिति होती है।

क्षुद्रः साध्यतमस्तेषां तमकः कृच्छ्र उच्यते।
त्रयः श्वासा न सिध्यन्ति तमको दुर्बलस्य च ॥१४॥

श्वासानां साध्यासाध्यता—उक्त पञ्चविध श्वासों में से क्षुद्र श्वास आसानी से साध्य तथा तमकश्वास कृच्छ्रसाध्य माना गया है एवं छिन्नश्वास, महाश्वास और ऊर्ध्वश्वास असाध्य माने जाते हैं तथा दुर्बल पुरुष का तमकश्वास भी असाध्य होता है। चकारग्रहण से ज्वर-मूर्च्छादियुक्त पुरुष का तमकश्वास असाध्य होता है। चरकाचार्य ने लिखा है कि प्राण को नष्ट करने वाले रोग यद्यपि बहुत हैं, किन्तु वे उतने उग्र प्राणनाशक नहीं हैं, जिस प्रकार श्वास और हिक्का रोग रुग्ण का शीघ्र प्राण हर लेते हैं—कामं प्राणहरा रोगा बहवो न तु ते तथा। यथा श्वासश्च हिक्का च हरतः प्राणमाशु च॥ (च. चि. अ. २१) आधुनिक चिकित्सकों ने मृत्यु के सद्यः कारणों में (१) श्वासावरोध (Asphyxia), (२) हृदय का घात (Syncope) तथा (३) संन्यास (Coma) को मुख्य माना है।

स्नेहबस्तिं विना केचिदूर्ध्वञ्चाधश्च शोधनम्।
मृदु प्राणवतां श्रेष्ठं श्वासिनामादिशन्ति हि ॥१५॥

श्वासचिकित्सा—कुछ आचार्यों का मत है कि बलवान् रोगियों को स्नेहबस्ति के बिना मृदु अर्थात् पीड़ा न करने वाले द्रव्यों के द्वारा ऊर्ध्वशोधन (वमन) तथा अधःशोधन (विरेचन) कराना चाहिए॥ १५॥

विमर्शः—हिक्का और श्वास-चिकित्सा के लिये रुग्ण के शरीर पर प्रथम तैल का अभ्यङ्ग कर पश्चात् स्वेदन करना चाहिए एवं स्वेदन के अनन्तर स्नेह तथा लवणयुक्त प्रयोगों के अभ्यङ्ग द्वारा वात का अनुलोमन करना चाहिए। पश्चात् वमन द्वारा ऊर्ध्व और विरेचन द्वारा अधःकाय का शोधन करना चाहिए—हिक्काश्वासातुरे पूर्वं तैलाक्ते स्वेद इष्यते। स्निग्धैर्लवणयोगैश्च मृदु वातानुलोमनम्॥ ऊर्ध्वाधःशोधनं शक्ते दुर्बले शमनं मतम्। इस प्रकार स्नेहन, स्वेदन और लवण तथा तैल का अभ्यङ्ग कर वात का अनुलोमन करना चाहिए। इन क्रियाओं से स्रोतसों में लीन हुआ कफ विद्रुत हो कर कोष्ठ में आ जाता है, जिसे वमन-विरेचनरूपी संशोधन कर्म से सुगमतापूर्वक बाहर निकाल सकते हैं जैसा कि वाग्भटाचार्य ने लिखा है—तदार्त्तं च पूर्वं स्वेदैरुपाचरेत्। स्निग्धैर्लवणतैलाक्तं तैः खेषु ग्रथितः कफः॥ सुलीनोऽपि विलीनोऽथ कोष्ठं प्राप्तः सुनिर्हरः। स्रोतसां स्यान्मृदुत्वञ्च मारुतस्यानुलोमनम्॥ (अ.हृ.चि.अ. ४) बलवान् श्वासरोगी का ऊर्ध्वाधःसंशोधन करना ही वाग्भट को भी अभीष्ट है—शक्तस्य ऊर्ध्वाधो मृदु संशोधनमेव, यदाह वाग्भटः'......ततोऽस्मै वमनं मृदु। पिप्पलीसैन्धवक्षौद्रयुक्तं वाताविरोधि यत्। हिङ्गुपीलुविडैर्युक्तमन्नं स्यादनुलोमनम्, ससैन्धवं फलाम्लं वा कोष्णं दद्याद्विरेचनम्॥ (अ. हृ. चि. अ. ४) दुर्बलेषु शमनचिकित्सा—अनुत्क्लिष्टकफस्विन्नदुर्बलानां हि शोधनात्। वायुर्लब्धास्पदो मर्म संशोध्याशु हरेदसून्॥ कषायलेहस्नेहाद्यैस्तेषां संशमयेदतः॥ अन्यच्च—अतियोगोद्धतं वातं दृष्ट्वा पवननाशनैः। स्निग्धै रसाद्यैर्नातुष्णैरभ्यङ्गैश्च शमं नयेत्॥ (अ. हृ. चि. अ. ४)।

श्वासे कासे च हिक्कायां हृद्रोगे चापि पूजितम्।
घृतं पुराणं संसिद्धमभयाविडरामठैः॥ १६॥

श्वासकासहिक्काघ्नमभयादिपुराणघृतम्—पुराणा घृत १ प्रस्थ तथा हरड़, विडलवण और रामठ (हिंगु) तीनों सम्मिलित ¼ प्रस्थ (४ पल) तथा पाकार्थ जल ४ प्रस्थ लेकर घृतमात्र शेष पाक कर घृतवाण या काचपात्र में सुरक्षित रख दें। यह घृत श्वास, कास, हिक्का और हृदयरोग को नष्ट करने के लिये प्रशस्त माना गया है। मात्रा १ तोला, अनुपान मन्दोष्ण जल। दिन में तीन या दो बार॥ १६॥

विमर्शः—पुराणघृतलक्षणम्—पुराण घृत के विषय में मत भिन्नता है। कुछ लोग एक वर्ष के घृत को पुराणघृत, कुछ दश वर्ष के घृत को और कुछ १५ वर्ष के घृत को पुराण घृत मानते हैं—(१) वर्षादूर्ध्वं भवेदाज्यं पुराणम्। (भावप्रकाश) (२) सर्पिः पुराणं विज्ञेयं दशवर्षस्थितन्तु यत्। (योगरत्नाकर) (३) पुराणमिति च बहुकालं पञ्चदशादिवर्षस्थितम्। (अरुणदत्त) कुछ लोग दस वर्ष के पुराण घृत की संज्ञा कौम्भ घृत करते हैं—'कौम्भं दशाब्दिकम्॥' (चक्रपाणिदत्त) कुछ लोग सौ वर्ष के घृत को कुम्भसर्पि कहते हैं—'शतवर्षस्थितं यत्तु कुम्भसर्पिस्तदुच्यते॥' (योगरत्नाकर) सुश्रुते कुम्भसर्पिर्महाघृतयोर्लक्षणम्—एकादशाब्दमेव वत्सरानुषितं घृतम्। रक्षोघ्नं कुम्भसर्पिः स्यात् परतस्तु महाघृतम्॥ पुराणघृतगुणाः—'सर्पिः पुराणं सकटुविपाकं त्रिदोषापहं मूर्च्छामदोन्मादोदरज्वरगरशोषापस्मारयोनिश्रोत्राक्षिशिरःशूलघ्नं दीपनं बस्तिनस्याक्षिपूरणेषूपदिश्यते' अन्यच्च—पुराणं तिमिरश्वासपीनसज्वरकासनुत्। मूर्च्छाकुष्ठविषोन्मादग्रहापस्मारनाशनम्॥ महाघृतगुणाः—पेयं महाघृतं भूतैः कफघ्नं पवनाधिकैः। बल्यं पवित्रं मेध्यञ्च विशेषात्तिमिरापहम्। सर्वभूतहरञ्चैव घृतमेतत् प्रशस्यते॥ (सु० सू० अ० ४५)

सौवर्चलाभयाबिल्वैः संस्कृतं वाऽनवं घृतम्।
पिप्पल्यादिप्रतीवापं सिद्धं वा प्रथमे गणे॥
सपञ्चलवणं सर्पिः श्वासकासौ व्यपोहति॥ १७॥

श्वासकासहरं सौवर्चलादिघृतम्—सुवर्चला, अभया (हरड़) और बिल्व के वृक्ष की छाल या फल की मज्जा के कल्क से पुराने घृत को सिद्ध कर श्वास-कास में प्रयुक्त करें। अथवा पिप्पल्यादिगण की औषधियों का कल्क ४ पल, प्रथम गण अर्थात् विदारीगन्धादि गण की औषधियों का क्वाथ ४ प्रस्थ और पुराण घृत १ प्रस्थ लेकर यथाविधि घृत सिद्ध करें। उसमें पञ्चलवण का प्रक्षेप देकर प्रतिदिन सेवन करने से श्वास और कास नष्ट होते हैं॥ १७॥

हिंस्राविडङ्गपूतीकत्रिफलाव्योषचित्रकैः।
द्विक्षीरं साधितं सर्पिश्चतुर्गुणजलाप्लुतम्॥ १८॥
कालमात्रैः पिबेत्तद्धि श्वासकासौ व्यपोहति।
अर्शांस्यरोचकं गुल्मं शकृद्भेदं क्षयं तथा॥ १९॥

श्वासकासहरं हिंस्रादिघृतम्—हिंस्रा (हँस की जड़ अथवा झिण्टी), वायविडङ्ग, करञ्ज के फल की गिरी अथवा मूल की छाल, हरड़, बहेड़ा, आंवला, सोंठ, मरिच, पिप्पली और चित्रक की छाल इनको कोलप्रमाण अर्थात् आधे-आधे कर्ष भर लें अथवा मिलित कल्क घृत से चतुर्थांश (४ पल

लें। दुग्ध दो प्रस्थ तथा पानी चतुर्गुण (४ प्रस्थ) लेकर यथाविधि घृत सिद्ध कर लें। इस घृत को १ तोले प्रमाण में लेकर मन्दोष्ण जल के सहपान या अनुपान के साथ सेवन करने से श्वास और कास को नष्ट करता है। इनके अतिरिक्त यह घृत अर्श, अरोचक, गुल्म, अतिसार और क्षय को भी नष्ट करता है ॥ १८-१९ ॥

कृत्स्ने वृषकषाये वा पचेत् सर्पिश्चतुर्गुणे।
तन्मूलकुसुमावापं शीतं क्षौद्रेण योजयेत् ॥ २० ॥

श्वासकासहरं वृषकषायघृतम्—पुराणा घृत १ प्रस्थ तथा मूल, शाखा, पत्र और पुष्पसहित समग्र अडूसे का क्वाथ ४ प्रस्थ एवं अडूसे के मूल और पुष्प का अथवा पञ्चाङ्ग का कल्क ४ पल लेकर यथाविधि घृत सिद्ध कर लेना चाहिए। स्वाङ्गशीत घृत को ६ माशे से १ तोले प्रमाण में लेकर उतना ही शहद मिलाकर सेवन करने से कास और श्वास रोग नष्ट होते हैं ॥ २० ॥

शृङ्गीमधूलिकाभार्गीशुण्ठीतार्क्ष्यसिताऽम्बुदैः।
सहरिद्रैः सयष्ट्याह्वैः समैरावाप्य योगतः ॥ २१ ॥
घृतप्रस्थं पचेद्धीमान् शीततोये चतुर्गुणे।
श्वासं कासं तथा हिक्कां सर्पिरेतन्नियच्छति ॥ २२ ॥

शृङ्ग्यादिघृतम्—काकड़ासींगी, मधूलिका अर्थात् मूर्वा अथवा तृण जाति या मर्कट, भारङ्गी, शुण्ठी, रसाञ्जन, शर्करा, नागरमोथा, हरिद्रा और मुलेठी इन सबको समान प्रमाण में मिश्रित कर ४ पल भर लेके पानी के साथ पत्थर पर पीस कर कल्क बना के पुराण घृत १ प्रस्थ तथा शीतल जल ४ प्रस्थ मिलाकर यथाविधि घृत सिद्ध कर लेवें। यह घृत श्वास, कास तथा हिक्का-रोग को नष्ट करता है ॥ २१-२२ ॥

विमर्शः—डल्हणाचार्य ने 'योगतः' का अर्थ 'युक्तितः' किया है। अर्थात् कल्क उतना ही मिलावे जितने प्रमाण से घृत का स्वाद और गन्ध उत्कट न होने पावे। घृतापेक्षया चतुर्थांश कल्क मिलाने की परिभाषा यहां पर प्रयुक्त नहीं करनी चाहिए।

सुवहा कालिका भार्गी शुकाख्या नैचुलं फलम्।
काकादनी शृङ्गबेरं वर्षाभूर्बृहतीद्वयम् ॥ २३ ॥
कोलमात्रैर्घृतप्रस्थं पचेदेभिर्जलद्विकम्।
कटूष्णं पीतमेतद्धि श्वासामयविनाशनम् ॥ २४ ॥

श्वासहरं सुवहादिघृतम्—सुवहा (गोधापदी या लज्जालु), कालिका (कालेयक), भारङ्गी, शुकाख्या (चर्मकारवट या शुकशिम्बा या शिरीष), जलवेतसफल, काकादनी (कौआठुड्डी), सोंठ, श्वेत पुनर्नवा, छोटी कटेरी और बड़ी कटेरी इन सबको पृथक् पृथक् एक-एक कोल (½ कर्ष) प्रमाण में लेकर जल के साथ पत्थर पर पीसकर कल्क बनाके १ प्रस्थ घृत में मिलाकर दो प्रस्थ पानी के साथ पका के सिद्ध घृत को शीशी में भर देवें। यह घृत स्वाद में कटु (चरपरा) और उष्णवीर्य होता है तथा इसके प्रतिदिन पान करने से श्वास-रोग नष्ट हो जाता है ॥ २३-२४ ॥

सौवर्चलयवक्षारकटुकाव्योषचित्रकैः।
वचाऽभयाविडङ्गैश्च साधितं श्वासशान्तये ॥ २५ ॥
गोपवल्ल्युदके सिद्धं स्यादन्यद् द्विगुणे घृतम्।
पञ्चैतानि हवींष्याहुर्भिषजः श्वासकासयोः ॥ २६ ॥

सौवर्चलादिघृतम्—सोंचल लवण, यवक्षार, कुटकी, सोंठ, मरिच, पिप्पली, चित्रक-मूल की छाल, वचा, हरड़ और वायविडङ्ग इन्हें समान प्रमाण में मिश्रित कर ४ पल लेवें तथा घृत १ प्रस्थ एवं जल ४ प्रस्थ लेकर यथाविधि पाक कर लें। इस घृत को श्वासशान्ति के लिये प्रयुक्त करना चाहिए। इसी प्रकार १ प्रस्थ घृत को गोपवल्ली (सारिवा) के द्विगुण क्वाथ में मिश्रित कर पकाने से भी वह श्वासशान्ति के लिये श्रेष्ठ होता है। इस प्रकार ये पाँचों (हिंस्रादि, शृङ्ग्यादि, सुवहादि, सुवर्चलादि और गोपवल्ल्यादि) घृत श्वास और कास की शान्ति के लिये वैद्यजन द्वारा प्रशस्त माने गये हैं ॥

तालीशतामलक्युग्राजीवन्तीकुष्ठसैन्धवैः।
बिल्वपुष्करभूतीकसौवर्चलकणाऽग्निभिः ॥ २७ ॥
पथ्यातेजोवतीयुक्तैः सर्पिर्जलचतुर्गुणम्।
हिङ्गुपादयुतं सिद्धं सर्वश्वासहरं परम् ॥ २८ ॥
वासाघृतं षट्पलं वा घृतं चात्र हितं भवेत् ॥ २९ ॥

तालीशादिघृतम्—तालीसपत्र, भुईंआंवला, वचा, जीवन्ती, कूठ, सैन्धव लवण, बिल्वमूल की छाल, पोहकरमूल, भूतीक (रोहिष घास), सोंचल लवण, पिप्पली, चित्रकमूल (छाल), हरड़ और तेजबल या चव्य इनमें से प्रत्येक द्रव्य एक-एक तोला तथा शुद्ध हीराहींग ¼ तोला लेकर सबको खाण्ड कूटकर पानी के साथ पत्थर पर पीसकर कल्क बनाके १ प्रस्थ घृत तथा चतुर्गुण (४ प्रस्थ) जल लेकर सबको एक कलईदार भगोने में भरकर यथाविधि घृत सिद्ध कर लेवें। यह घृत सर्व प्रकार के श्वास को नष्ट करने के लिये परं श्रेष्ठ है। इसके अतिरिक्त रक्तपित्तप्रकरण में कहा हुआ वासाघृत तथा वातव्याधिप्रकरण में कहा हुआ षट्पल घृत श्वासरोग में हितकारी माना जाता है ॥ २७-२९ ॥

तैलं दशगुणे सिद्धं भृङ्गराजरसे शुभे।
सेव्यमानं यथान्यायं श्वासकासौ व्यपोहति ॥ ३० ॥

भृङ्गराजरससिद्धं तैलम्—तिल का तैल १ प्रस्थ लेकर भृङ्गराज के अच्छे ताजे दस गुणे स्वरस में पकाके छानकर शीशी में भर देवें। इस तैल को यथान्याय अर्थात् जैसा उचित हो उस विधि (अभ्यङ्ग, नस्य, अच्छपान आदि) से सेवन करने पर श्वास और कास को नष्ट करता है ॥ ३० ॥

विमर्शः—पित्त और वातप्रधान श्वास-कास रोगों में उक्त घृत प्रयोग लिखे हैं तथा कफप्रधान श्वासकास-रोग में यह तैलप्रयोग लिखा गया है।

फलाम्ला विष्किररसाः स्निग्धाः प्रव्यक्तसैन्धवाः।
एणादीनां शिरोभिर्वा कौलत्था वा सुसंस्कृताः ॥
हन्युः श्वासञ्च कासञ्च संस्कृतानि पयांसि च ॥ ३१ ॥

श्वासकासहराः फलमांसरसयूषादयः—खट्टे फलों के रस अथवा अनारदाना, बिजोरा नीबू आदि के रसों से युक्त बिखेरकर अन्न खाने वाले बटेर आदि प्राणियों के मांसरसों को घृत से स्निग्ध कर सैन्धव लवण का प्रक्षेप देकर सेवन करावें। अथवा एण, हरिण आदि पशुओं के शिरों से बनाये हुए मांस-

रस अथवा कुलथी के स्वरस को भली प्रकार संस्कृत कर सेवन करावें। अथवा बृहत्पञ्चमूल आदि वातनाशक द्रव्यों से सिद्ध किये हुए दुग्ध का सेवन कराने से वात का शमन होता है तथा श्वास और कास रोग नष्ट होते हैं॥ ३१॥

तिमिरस्य च बीजानि कर्कटाख्या च चूर्णिता ॥३२॥
दुरालभाऽथ पिप्पल्यः कटुकाख्या हरीतकी।
श्वाविन्मयूररोमाणि कोला मागधिकाकणाः॥ ३३॥
भार्गीत्वक्श्रृङ्गवेरञ्च शर्करा शल्लकाङ्गजम्।
नृत्तकौण्डकबीजानि चूर्णितानि तु केवलम्॥ ३४॥
पञ्चश्लोकार्द्धिकास्त्वेते लेहा ये सम्यगीरिताः।
सर्पिर्मधुभ्यां ते लेह्याः कासश्वासार्दितैर्नरैः॥३५॥

श्वासकासहराः पञ्चलेहाः—(१) तिनिश के बीज तथा काकड़ासींगी दोनों का समप्रमाण में बनाया हुआ चूर्ण, (२) धमासा, पिप्पली, कुटकी और हरड़ इनका समप्रमाण में निर्मित चूर्ण, (३) श्वावित् (सेहिका) और मयूर के रोम, चव्य, तथा पिप्पली के कण इनका समप्रमाण में कृत चूर्ण, (४) भारङ्गी की छाल, सोंठ, शर्करा और शल्लकी की छाल इनका समप्रमाण में कृत चूर्ण, (५) अकेले नृत्तकौण्डक के बीजों का चूर्ण, इस तरह ये पांच लेह आधे पांच श्लोकों में कहे हुये हैं। कास और श्वास से पीड़ित व्यक्ति इन लेहों को ३ माशे से ६ माशे के प्रमाण में लेकर ३ माशे घृत और ६ माशे शहद के साथ सेवन करें॥ ३२-३५॥

विमर्शः—नृत्तकौण्डको मर्कटक इति डल्हणः, हाराणचन्द्र नृत्तकौण्डक बीज से त्रिकण्टक बीज (गोखरू) ग्रहण करते हैं।

सप्तच्छदस्य पुष्पाणि पिप्पलीश्चापि मस्तुना।
पिबेत् सञ्चूर्ण्य मधुना धानाश्चाप्यथ भक्षयेत्॥३६॥

सप्तच्छदपुष्पादियोगः—सप्तपर्ण के पुष्प और पिप्पली को समान प्रमाण में चूर्णित कर ३ माशे से ६ माशे प्रमाण में लेकर मस्तु (दही के ऊपर के पानी) के साथ सेवन करना चाहिए। इसी प्रकार धाना (भर्जित यव) के चूर्ण को मधु के साथ सेवन करने से श्वास-कास रोग नष्ट हो जाते हैं॥३६॥

विमर्शः—'धाना भृष्टयवाः स्मृताः'।

अर्काङ्कुरैर्भावितानां यवानां साध्वनेकशः।
तर्पणं वा पिबेदेषां सक्षौद्रं श्वासपीडितः॥ ३७॥

यवसक्तुतर्पणम्—आक के पत्ते और पुष्प के क्वाथ से अनेक (सात) बार भावित किये हुए यवों के तर्पण (सत्तु) में शहद मिलाकर दुग्ध या पानी के साथ पतला करके श्वास-पीड़ित पुरुष को पिलाना चाहिए॥ ३७॥

शिरीषकदलीकुन्दपुष्पं मागधिकायुतम्।
तण्डुलाम्बुयुतं पीत्वा जयेच्छ्वासानशेषतः॥ ३८॥

शिरीषपुष्पादियोगः—शिरीष के पुष्प, केले के पुष्प, कुन्द के पुष्प और पिप्पली इनको समान प्रमाण में लेकर ३ माशे से ६ माशे की मात्रा में लेकर चावल के धोवन के साथ पीने से सब प्रकार के श्वास-रोग नष्ट हो जाते हैं॥ ३८॥

कोलमज्जां तालमूलमृष्यचर्ममसीमपि।
लिह्यात् क्षौद्रेण भार्गीं वा सर्पिर्मधुसमायुताम्॥
नीचैः कदम्बबीजं वा सक्षौद्रं तण्डुलाम्बुना॥ ३९॥

कोलमज्जादियोगाः—(१) बेर (फल) की मज्जा, मूसली और हरिण के चर्म की राख इन्हें महीन पीसकर ३ माशे की मात्रा में शहद के साथ चाटे। (२) अथवा भारङ्गी के चूर्ण को घृत और मधु के साथ चाटे। (३) किंवा छोटे कदम्ब के बीजों का चूर्ण बनाकर शहद और चावल के धोवन के साथ पीवे। इस प्रकार ये तीनों योग श्वास को नष्ट करते हैं॥ ३९॥

द्राक्षां हरीतकीं कृष्णां कर्कटाख्यां दुरालभाम्।
सर्पिर्मधुभ्यां विलिहन् हन्ति श्वासान् सुदारुणान्॥४०॥

श्वासहरो द्राक्षादिलेहः—मुनक्का, हरड़, पिप्पली, काकड़ासींगी और धमासा इन्हें समान प्रमाण में लेकर अच्छी प्रकार महीन चूर्ण करके घृत और शहद के साथ चाटने से भयानक श्वास रोग नष्ट होते हैं॥ ४०॥

विमर्शः—द्राक्षा को पृथक् पीसकर हरड़ आदि के चूर्ण के साथ मिलाना चाहिए।

हरिद्रां मरिचं द्राक्षां गुडं रास्नां कणां शटीम्।
लिह्यात् तैलेन तुल्यानि श्वासार्त्तो हितभोजनः॥४१॥

श्वासहरं हरिद्रादिचूर्णम्—हरिद्रा, काली मरिच, मुनक्का, गुड़, रास्ना, पिप्पली और कचूर इनको समान प्रमाण में लेकर काष्ठौषधियों का चूर्ण बनाकर उसमें द्राक्षा को चटनी के समान पीसकर मिला दें तथा गुड़ को भी मिलाकर ६ माशे से १ तोले के प्रमाण में ले के तिलतैल के साथ मिला के श्वासपीड़ित रोगी चाटे। इस योग का सेवन करते समय हितकारक भोजन करना चाहिए॥ ४१॥

गवां पुरीषस्वरसं मधुसर्पिःकणायुतम्।
लिह्याच्छ्वासेषु कासेषु वाजिनां वा शकृद्रसम्॥ ४२॥

गोवाजिपुरीषस्वरसप्रयोगः—गाय के गोबर का स्वरस १ तोला, शहद ६ माशे, घृत ३ माशे और पिप्पली का चूर्ण २ रत्ती भर ले के सबको मिश्रित कर श्वास और कास रोग में सेवन कराना चाहिए। अथवा घोड़े की लीद का स्वरस और पिप्पलीचूर्ण को शहद तथा घृत के साथ सेवन कराना चाहिए॥

पाण्डुरोगेषु शोथेषु ये योगाः सम्प्रकीर्त्तिताः।
श्वासकासापहास्तेऽपि कासघ्ना ये च कीर्तिताः॥४३॥

श्वासकासयोरितरयोगातिदेशः—पाण्डुरोग तथा शोथ रोग में जो योग कहे गये हैं वे सब श्वास तथा कास रोग को भी नष्ट करते हैं। इनके जो योग कासनाशक हैं वे श्वास को भी नष्ट करते हैं॥ ४३॥

भार्गीत्वक्त्र्यूषणं तैलं हरिद्रां कटुरोहिणीम्।
पिप्पलीं मरिचं चण्डां गोशकृद्रसमेव च॥ ४४॥

भार्ग्यादिलेहः—भारङ्गी की छाल, सोंठ, मरिच, पिप्पली, तिलतैल, हरिद्रा, कुटकी, पिप्पली, काली मरिच, कौंच के शुद्ध बीज (चण्डा) और गोबर का स्वरस इन द्रव्यों में से काष्ठौषधियों का चूर्ण बनाकर उसे ३ माशे से ६ माशे भर लेकर ६ माशे तिलतैल तथा ६ माशे गोबरस्वरस में मिला कर चाटने से श्वासरोग नष्ट होता है॥ ४४॥

तलकोटस्य बीजेषु पचेदुत्कारिकां शुभाम्।
सेव्यमाना निहन्त्येषा श्वासानाशु सुदुस्तरान्॥४५॥

अङ्कोलबीजोत्कारिका—तल्कोट (अङ्कोल) के बीजों की उत्कारिका (लप्सी) बनाकर कुछ दिन तक सेवन करने से भयङ्कर श्वास रोग भी नष्ट हो जाता है ॥ ४५ ॥

पुराणसर्पिः पिप्पल्यः कौलत्था जाङ्गला रसाः ॥४६॥
सुरा सौवीरकं हिङ्गु मातुलुङ्गरसो मधु ।
द्राक्षाऽऽमलकबिल्वानि शस्तानि श्वासिहिक्किनाम् ॥

श्वासहिक्कयोर्हितकराणि— पुराणा घृत, पिप्पली, कुलत्थी का रस, जङ्गली पशु-पक्षियों के मांस का रस, सुरा, सौवीरक (काञ्जी), शुद्ध हींग, बिजोरे नीबू का रस, शहद, मुनक्का, आँवले और बिल्व (की छाल, शलाटु, पक्क फल और पत्र) ये सब श्वास तथा हिक्का के रोगियों के लिये प्रशस्त माने गये हैं ॥ ४६–४७ ॥

विमर्शः—श्वासरोगे पथ्यानि—विरेचनस्वेदनधूमपानप्रच्छर्दनानि स्वपनं दिवा च । पुरातनाः षष्टिकरक्तशालिकुलत्थगोधूमयवाः प्रशस्ताः॥ शशाहिशुक्तित्तिरलावदक्षशुकादयो धन्वमृगद्विजाश्च। पुरातनं सर्पिरजाप्रसूतं पयो घृतञ्चापि सुरा मधूनि ॥ निदिग्धिका वास्तुकतण्डुलीयजीवन्तिकामूलकपोतिका च । पटोलवार्ताकुरसोनपथ्याजम्बीरबिम्बीफलमातुलुङ्गम् ॥ द्राक्षात्रुटिः पौष्करमुष्णवारि कटुत्रयं गोजनितञ्च मूत्रम् । अन्नानि पानानि च भेषजानि कफानिलघ्नानि च यानि यानि ॥ वक्षःप्रदेशादपि पार्श्वयुग्मे करस्थयोर्मध्यमयोर्द्वयोश्च । प्रदीप्तलोहेन च कण्ठकूपे दाहोऽपि च श्वासिनि पथ्यवर्गः ॥ श्वासरोगेऽपथ्यानि—मूत्रोद्गारच्छर्दितृट्कासरोधो नस्यं रतिर्दन्तकाष्ठं श्रमश्च । अध्वा भारो रेणवः सूर्यपादा विष्टम्भीनि ग्राम्यधर्मो विदाहि ॥ आनूपानामामिषं तैलभृष्टं निष्पावश्च श्लेष्मकारीणि माषाः । रक्तस्रावः पूर्ववातानुपानं मेषीसर्पिर्दुग्धमम्भोऽपि दुष्टम् । मत्स्याः कन्दाः सर्षपाश्चान्नपानं रूक्षं शीतं गुर्वपि श्वास्यमित्रम् ॥

श्वासहिक्कापरिगतं स्निग्धैः स्वेदैरुपाचरेत् ।
आक्तं लवणतैलाभ्यां तैरस्य ग्रथितः कफः ॥
स्वस्थो विलयनं याति मारुतश्च प्रशाम्यति ॥ ४८ ॥

श्वासप्रसक्तहिक्काप्रतीकारम्— श्वास और हिक्का रोग से व्याप्त रोगी को सर्वप्रथम स्नेहित कर पश्चात् स्वेदित करे । अथवा साल्वण प्रभृति स्निग्धप्रकृतिक स्वेदनों द्वारा स्वेदन कर्म करना चाहिए । अथवा रुग्ण का सैन्धवलवणमिश्रित तिलतैल से अभ्यङ्ग कर पश्चात् स्वेदन करना चाहिए । इस प्रकार की विधि से स्रोतसों में ग्रथित हुआ कफ विलयन को प्राप्त होता है तथा वात का संशमन भी होता है ॥ ४८ ॥

विमर्शः—स्वस्थः = स्रोतःस्थितः ।

स्विन्नं ज्ञात्वा ततश्चैव भोजयित्वा रसौदनम् ।
वातश्लेष्मविबन्धे वा भिषग् धूमं प्रयोजयेत् ॥ ४९ ॥

श्वासे धूमपानसमयः—श्वास के रोगी को अच्छी प्रकार स्वेदित हुआ जानकर पश्चात् उसे मांसरस के साथ चावलों का भात खिलाकर तथा वात और कफ की विबन्धावस्था जानकर धूमपान करावे ॥ ४९ ॥

मनःशिलादेवदारुहरिद्राच्छदनामिषैः ।
लाक्षोरुबूकमूलैश्च कृत्वा वर्त्तीर्विधानतः ॥ ५० ॥

धूमद्रव्याणि—मैनसील, देवदारु, हरिद्रा, छदन (पत्रक = तेजपात), आमिष (गूगल), लाक्षा उरुबक (एरण्ड) की जड़ इन सबको समान प्रमाण में लेकर शास्त्रविधि के अनुसार वर्ति बनाकर धूमपान कराना चाहिए ॥ ५० ॥

सर्पिर्यवमधूच्छिष्टशालनिर्यासर्ज्जं तथा ।
शृङ्गबालखुरस्नायुत्वक् समस्तं गवामपि ॥ ५१ ॥
तुरुष्कशल्लकीनाञ्च गुग्गुलोः पद्मकस्य च ।
एते सर्वे ससर्पिष्का धूमाः कार्य्या विजानता ॥ ५२ ॥

श्वासे धूमान्तरप्रयोगाः—(१) घृत, जौ, मोम और राल इन्हें मिलाकर अथवा इन्हें पृथक्-पृथक् धूम के लिये प्रयुक्त करें । (२) इसी प्रकार गाय के सींग, बाल, खुर, स्नायु और त्वचा इन सबको चूर्णित कर इनका यथाविधि धूम सेवन कराना चाहिए । इनके अतिरिक्त (३) सिह्लक, शल्लकी, गूगल और पद्माख इनके चूर्ण का धूम देना चाहिए । इस प्रकार इन उक्त औषधियों का चूर्ण बनाकर घृत मिलाके धूमार्थ प्रयोग करना चाहिए ॥ ५१-५२ ॥

विमर्शः—चरके हिक्काश्वासचिकित्साक्रमः—हिक्काश्वासार्दितं स्निग्धैरादौ स्वेदैरुपाचरेत् । आक्तं लवणतैलेन नाडीप्रस्तरसङ्करैः ॥ तैरस्य ग्रथितः श्लेष्मा स्रोतःस्वभिविलीयते । खानि मार्दवमायान्ति ततो वातानुलोमता ॥ यथाद्रिकुञ्जेष्वर्कांशुतप्तं विष्यन्दते हिमम् । श्लेष्मा तप्तः स्थिरो देहे स्वेदैर्विष्यन्दते तथा ॥ स्विन्नं ज्ञात्वा ततस्तूर्णं भोजयेत् स्निग्धमोदनम् । मत्स्यानां शूकराणां वा रसैर्दध्युत्तरेण वा ॥ निर्हृते सुखमाप्नोति सकफे दुष्टविग्रहे । स्रोतःसु च विशुद्धेषु चरत्यनिहतोऽनिलः ॥ लीनश्चेद् दोषशेषः स्याद् धूमैस्तं निर्हरेद् बुधः । धूमद्रव्याणि—हरिद्रायवमेरण्डमूलं लाक्षामनःशिलाम् ॥ अस्वेद्याः—न स्वेद्याः पित्तदाहार्ता रक्तस्वेदातिवर्तिनः । क्षीणधातुबला रूक्षा गर्भिण्यश्चापि पित्तलाः ॥ धूमकालः—स्नात्वा भुक्त्वा समुल्लिख्य क्षुत्वा दन्तान् विघृष्य च । नावनाञ्जननिद्रान्ते चात्मवान् धूमपो भवेत् ॥

बलीयसि कफग्रस्ते वमनं सविरेचनम् ॥ ५३ ॥
दुर्बले चैव रूक्षे च तर्पणं हितमुच्यते ।
जाङ्गलोरभ्रजैर्मांसैरानूपैर्वा सुसंस्कृतैः ॥ ५४ ॥

सबलनिर्बलश्वासिनश्चिकित्सा—बलवान् तथा कफ से ग्रस्त श्वास के रोगी को प्रथम वमन कराके फिर विरेचन कराना चाहिए । इसी प्रकार यदि श्वास का रोगी दुर्बल और रूक्ष हो तब उसकी लाज, सक्तु आदि से तर्पण चिकित्सा करनी चाहिए तथा मांसाहारी श्वासरोगी को जङ्गल में होने वाले पशु तथा पक्षियों के सुसंस्कृत मांस तथा औरभ्र (मेढ़े) के मांस एवं आनूप (जलप्राय) देश में होने वाले प्राणियों के भली भाँति संस्कृत किये हुये मांस का सेवन कराना चाहिए॥

निदिग्धिकाऽऽमलकप्रमाणां
हिङ्ग्वर्द्धयुक्तां मधुना सुयुक्ताम् ।
लिहन्नरः श्वासनिपीडितो हि
श्वासं जयत्येव बलात्त्र्यहेण ॥ ५५ ॥

श्वासहरः सिद्धतमो योगः—कण्टकारी तथा आँवले दोनों को समान प्रमाण अर्थात् एक-एक तोले भर तथा शुद्ध हींग को आधे तोले भर लेकर महीन पीस के शीशी में भर देवें । इस योग को ३ माशे से ६ माशे भर प्रमाण में लेकर मधु के साथ तीन दिन तक सेवन कराने से निश्चित ही श्वासरोग नष्ट हो जाता है ॥ ५५ ॥

विमर्शः—निम्न प्रयोग श्वासकास तथा हिक्का रोगों को नष्ट करने के लिये श्रेष्ठ हैं—(१) कृष्णादिचूर्णम्—कृष्णामलक-शुण्ठीनां चूर्णं मधुसिताघृतैः। मुहुर्मुहुः प्रयोक्तव्यं हिक्काश्वासनिबर्हणम् ॥ (२) मयूरपिच्छभस्मप्रयोगः—हिक्कां हरति प्रबलां श्वासमतिप्रवृद्धं जयति। शिखिपिच्छभस्म पिप्पलीचूर्णं मधुमिश्रितं लीढम् ॥ (३) शृङ्ग्यादिचूर्णम्—शृङ्गीमहौषधकणाघनपुष्कराणां चूर्णं शटीमरिचशर्करया समेतम्। क्वाथेन पीतममृतावृषपञ्चमूल्याः श्वासं क्षणेन शमयेदतिदोषमुग्रम् ॥ (४) दशमूलक्वाथः—दशमूली-कषायस्तु पुष्करेणावचूर्णितः। कासश्वासप्रशमनः पार्श्वहृच्छूल-नाशनः ॥ कासहिक्काचिकित्सासूत्रम्—यत्किञ्चित्कफवातघ्नमुष्णं वातानुलोमनम्। भेषजं पानमन्नं वा तद्धितं श्वासहिक्किने ॥ जो कोई भी औषध, पान, अन्न और विहार कफ और वात के नाशक हों, उष्ण हों, वातानुलोमक हों वह श्वास और हिक्का रोग के प्राणी के लिये श्रेष्ठ हैं। एकविधदोषहरक्रमनिषेधः—वातकृद्वा कफहरं कफकृद्वाऽनिलापहम्। कार्यं नैकान्तिकं ताभ्यां प्रायःश्रेयोऽनिलापहम् ॥ (च. चि. अ. १७) कफहर द्रव्य वातकारक तथा वातनाशक द्रव्य कफकारक होते हैं। अतएव किसी एकदोषनाशक द्रव्य का सदा प्रयोग नहीं करना चाहिए, किन्तु प्रायः वातनाशक द्रव्य श्वास में श्रेयस्कर होते हैं। अन्यच्च—सर्वेषां बृंहणे ह्यल्पः शक्यश्च प्रायशो भवेत्। अवश्यं शमनोपायो नृशोऽशक्यश्च कर्शने ॥ (च. चि. अ. १७) प्रायः सर्व प्रकार के रोगियों का बृंहण करना अल्पशक्य होता है, इसी प्रकार सबका कर्शन भी अत्यन्त अशक्य है, किन्तु शमन-चिकित्सा सर्व प्रकार की परिस्थिति में लाभदायक होती है।

यथाऽग्निरिद्धः पवनानुविद्धो
वज्रं यथा वा सुरराजमुक्तम्।
रोगास्तथैते खलु दुर्निवाराः
श्वासश्च कासश्च विलम्बिका च ॥ ५६ ॥

इति सुश्रुतसंहितायामुत्तरतन्त्रान्तर्गते कायचिकित्सातन्त्रे श्वासप्रतिषेधो नाम (त्रयोदशोऽध्यायः, आदितः) एकपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५१ ॥

श्वासकासादीनां दुर्निवारत्वम्—जैसे वायु के सम्पर्क से प्रदीप्त हुई अग्नि तथा देवराज इन्द्र के द्वारा छोड़ा हुआ वज्र (अस्त्र) दुर्निवार होता है उसी प्रकार श्वास, कास और विलम्बिका-रोग दुर्निवारणीय होते हैं ॥ ५६ ॥

विमर्शः—चरकाचार्य ने भी श्वास तथा हिक्का को आशुप्राणहर माना है—कामं प्राणहरा रोगा बहवो न तु ते तथा। यथा श्वासश्च हिक्का च हरतः प्राणमाशु च ॥ अन्यैरप्युपसृष्टस्य रोगैर्जन्तोः पृथग्विधैः। अन्ते सञ्जायते हिक्का श्वासो वा तीव्रवेदनः।

(चरक)

इति श्री अम्बिकादत्तशास्त्रिविरचितायां सुश्रुतसंहिताभाषाटीकायामुत्तरतन्त्रे एकपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५१ ॥

द्विपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

अथातः कासप्रतिषेधमध्यायं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥ २ ॥

अब इसके अनन्तर कासप्रतिषेध नामक अध्याय का प्रारम्भ करते हैं, जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने कहा है ॥१-२॥

विमर्शः—जिस प्रकार श्वास रोग में वात और कफ की प्रधानता होती है तद्वत् कास में भी दोनों दोषों की प्रधानतारूपी तुल्यता होने से तथा श्वास और कास की तुल्य चिकित्सा होने से श्वास के अनन्तर कास का प्रकरण प्रारम्भ किया गया है। चरकाचार्य ने भी लिखा है कि समान चिकित्सा होने से तथा हिक्का, श्वास और कास का परस्पर अनुबन्ध होने से हिक्का-श्वास के अनन्तर कास-चिकित्सा प्रारम्भ की जाती है। माधवकार ने क्षय के रूपों में कास का पाठ होने से तथा कास की उपेक्षा करने से क्षय उत्पन्न होने से दोनों का परस्पर सम्बन्ध होने से क्षय (राजयक्ष्मा) के पश्चात् कास का पाठ लिखा है।

उक्ता ये हेतवो नृणां रोगयोः श्वासहिक्कयोः।
कासस्यापि च विज्ञेयास्त एवोत्पत्तिहेतवः ॥ ३ ॥

कासहेतूनामतिदेशः—श्वास और हिक्का रोग के जो हेतु कहे गये हैं वे ही हेतु कास-रोग की उत्पत्ति में भी जानने चाहिए ॥

धूमोपघाताद्रजसस्तथैव
व्यायामरूक्षान्ननिषेवणाच्च।
विमार्गगत्वादपि भोजनस्य
वेगावरोधात् क्षवथोस्तथैव ॥ ४ ॥

कासहेतवः—धूम के मुख, नासिका तथा गले में प्रवेश करने से, रज (धूल गर्द आदि) के उक्त मार्गों में चले जाने से, अथवा किसी में 'रसतः' पाठ होने पर वायु द्वारा प्रेरित आम रस के मुख की ओर आने से, व्यायाम तथा रूक्षान्न सेवन करने से, भोजन के श्वासनालीसदृश विरुद्ध मार्ग में चले जाने से, अधारणीय वेगों के धारण करने से अथवा क्षवथु (छींक) के वेग को रोकने से कास की उत्पत्ति होती है ॥ ४ ॥

प्राणो ह्युदानानुगतः प्रदुष्टः
सम्भिन्नकांस्यस्वनतुल्यघोषः।
निरेति वक्त्रात्सहसा सदोषः
कासः स विद्वद्भिरुदाहृतस्तु ॥ ५ ॥

कासस्य सम्प्राप्तिर्निरुक्तिश्च—उपर्युक्त कारणों से दुष्ट प्राण वायु उदानवायु से मिलकर फूटे हुए काँसे के पात्र के शब्द के समान शब्द को करता हुआ कफपित्त आदि दोषसहित मुख से सहसा निकलता है, इस अवस्था को विद्वानों ने कास कहा है॥

विमर्शः—वस्तुतः कास एक लक्षण है जो अनेक रोगों में पाया जाता है, किन्तु जहाँ इस वजह से ही अनेक लक्षण होते हैं ऐसे स्थल पर इसे स्वतन्त्र रोग भी माना जाता है एवं इसी आधार पर इसकी विशेष चिकित्सा भी की जाती है। इसीलिये बृहत्त्रयी तथा लघुत्रयी आदि आयुर्वेद के सभी ग्रन्थों में कास का स्वतन्त्र निदान लिखा है। कास के कारणों को बाह्य तथा आभ्यन्तर ऐसे दो विभागों में विभक्त कर सकते हैं। जैसे धूमोपघात तथा धूलि आदि बाह्य कारण

तथा गलशोथ आदि आभ्यन्तरिक कारण हो सकते हैं। प्रत्येक दोष से होनेवाले कास के धूम आदि सामान्य कारणों का वर्णन चरक तथा वाग्भट में नहीं मिलता, किन्तु चरक ने प्रत्येक कास के पृथक् पृथक् कारणों का उल्लेख किया है और सुश्रुत ने केवल सामान्य कारणों का ही वर्णन किया है। प्राणो ह्युदानानुगतः शास्त्र में वायु के साधारणतया प्रथम प्राण तथा अपान नामक दो विभाग किये गये हैं। इनमें प्रापण करने वाली वायु को प्राणवायु नाम दिया गया है। अर्थात् शरीर के परिसरीय (Peripheral) भागों से केन्द्र तक सूचना आदि पहुँचाने वाली वायु को ही प्राणवायु कहते हैं। इससे भोजन को उदर तक पहुँचाने वाली, रस को धातुपोषण में प्रवृत्त कराने वाली, विष्णुपदामृत (oxygen) को फुफ्फुसों में पहुंचाने वाली तथा प्रान्तीय भागों से केन्द्रपर्यन्त संज्ञासंवहन करने वाली नाडी-(Sensory nerve)गतवात को प्राणवायु कह सकते हैं। अपानवायु का कार्य इसके विपरीत है। वह केन्द्र से प्रान्त में तथा शरीर से बाहर की ओर प्रवृत्ति कराती है। केन्द्र से प्रान्तीय भागों को आने वाली आज्ञावाहिनी नाड़ियों (Motor nerves) को तथा शरीर के लिये अनुपयोगी विष्ठा, मूत्र आदि मलों को बाहर निकलने के लिये प्रेरित करनेवाली वायु को अपान वायु कहते हैं। वायुर्यो वक्त्रसञ्चारी स प्राणो नाम देहधृक्। सोऽन्नं प्रवेशयत्यन्तः प्राणांश्चाप्यवलम्बते ॥ पक्वाधानालयोऽपानः काले कर्षति चाप्यधः। समीरणः शकृन्मूत्र शुक्रगर्भार्तवानि च। क्रुद्धश्च कुरुते रोगान् घोरान् बस्तिगुदाश्रयान्। इस प्रकार शरीरगत वायु के प्राण और अपान नामक दो भेद प्रधानतया होते हैं। वैदिक साहित्य में भी मुख्यतया दो वायु का वर्णन मिलता है 'द्व इमौ वातौ वातः आसिन्धोरापरावतः' (ऋग्वेद)। गीता में भी कहा है—'प्राणापानौ समौ कृत्वा नासाभ्यन्तरचारिणौ'। अन्य शेष वात के भेद इन्हीं दो के भेद समझने चाहिए। उदान वायु भी अपान का ही भेद है, क्योंकि यह भी बाहर निकालने का कार्य करता है। इसका स्थान कण्ठ है तथा यह वाणी का प्रवर्तक है। 'उदानः कण्ठदेशस्थः' कण्ठ देश से कण्ठनालिकासंलग्न फुफ्फुस भी उदान वायु का स्थान माना गया है 'उदानवायोराधारः फुफ्फुसः प्रोच्यते बुधैः'। उदानो नाम यस्तूर्ध्वमुपैति पवनोत्तमः। तेन भाषितगीतादिविशेषोऽभ प्रवर्तते ॥ प्राण एवं अपान में सामञ्जस्य स्थापित करने का कार्य समान वायु करती है और यह क्रिया उदर में सुस्पष्ट रूप में मिलने से उसका स्थान नाभि या शरीर का मध्य भाग माना गया है—आमपक्वाशयचरः समानो वह्निसङ्गतः। सोऽन्नं पचति तज्जांश्च विशेषान् विविनक्ति हि ॥ सोऽन्नं पचतीत्यग्निसन्धुक्षणाद्धुत्तकार इव। विशेषान्=रसदोषमूत्रपुरीषाणि, विविनक्ति= पृथक्करोति। समान वायु अग्नि को दीप्त करता है, पाचन के अनन्तर रस, दोष, मूत्र और मल का पृथक्करण करता है। समान वायु को सन्तुलनतन्तु (Cordination fibres) या उनमें रहने वाली शक्ति कहा जा सकता है। इसी प्रकार सर्वशरीर में परिभ्रमण करने वाली वायु को व्यान वायु अथवा परिसरीय नाडी(Peripheral nerve)गत वायु कह सकते हैं। वास्तव में शरीर के भीतर वायु, पित्त तथा कफ नामों से किसी एक ही धातु, उपधातु आदि को नहीं बताया गया है। किन्तु इस शरीर के प्रत्येक सूक्ष्म या स्थूल अवयव चाहे वे धातु हों, या उपधातु या अन्य, सभी पञ्चीकृत हैं। अर्थात् प्रत्येक में पञ्चमहाभूत का संयोग होता है। फिर भी जिस विशेष भूत की अधिकता होती है उसी के आधार पर उनका वर्गीकरण किया जाता है। इनमें वायुभूयिष्ठ पदार्थ वात, अग्निबहुल पदार्थ पित्त और जल तथा पृथ्वीभूयिष्ठ पदार्थ कफवर्ग में आते हैं। किसी एक भूत की अधिकता का ज्ञान उसके गुण-कर्म को देखकर ही किया जाता है। इस प्रकार स्थूलरूप से श्वासोच्छ्वासगतवायु एवं अन्नपानपरिणाम के अन्त में उत्पन्न वायवीय पदार्थ यह सब भी वायु ही हैं, किन्तु शारीरिक धातुओं में नाडीतन्तु (Nervestissye) में सुस्पष्ट वायु के गुणधर्म प्राप्त होते हैं अतः उसको पञ्चीकृत होते हुये भी वायु मानना अनुचित नहीं तथा उस एक ही वस्तु के उपाधिभेद से पांच भेद किये गये हैं। कासकेन्द्र—सुषुम्नाशीर्षक (Medulla oblongata) में स्थित है। कास की प्रवृत्ति में त्रिशाखा नाडी (Trigeminal nerve), जिह्वाग्रसनिका (Glossopharyngeal), प्राणदा (Vagus) तथा 'अनुकोष्ठिका नाड़ी' (Phrenic nerve) कार्य करती हैं। ये ही प्राण और उदान वायु के अधिष्ठान हैं क्योंकि इन्हीं के द्वारा क्षोभ आदि का ज्ञान एवं ऊर्ध्वक्षेप का कार्य सम्पन्न होता है। फुफ्फुस में विकार न होते हुए भी अम्लपित्त जैसे रोगों में शुष्क कास पाई जाती है। उसका कारण उपप्राचीर देश (Subphrenic region) में फैली हुई अनुकोष्ठिका (Phrenic) नाडी की शाखाएँ ही हैं। कासोत्पादकनिदानवर्णनम्—(१) धूमोपघातात्—मुख, नासा तथा गले में धूम के सहसा प्रवेश से वहां फैली हुई वातनाड़ियों में क्षोभ होने से केन्द्र द्वारा उत्तेजना मिलने पर कास की उत्पत्ति होती है। (२) रजसः—नासा-मुख आदि में धूलि के प्रवेश से भी धूमोपघात के समान ही उत्तेजना होकर कास उत्पन्न होता है। कतिपय विद्वान् रजस् के स्थान पर रसतः पाठ करते हैं। उनके मत में उदान वायु के द्वारा गले तक लाये गये आमरस के कारण उत्तेजना होकर खांसी आने लगती है। अधिक व्यायाम से भी श्वासप्रश्वासक्रिया विपरीत हो जाती है। अतः यह भी श्वास का उत्तेजक कारण माना गया है। विमार्गगत्वाच्च हि भोजनस्य—मुख से गृहीत भोजन अन्ननलिका द्वारा आमाशय में जाता है। अन्नप्रणाली के निकट सम्पर्क में ही श्वासप्रणाली स्थित है। इन दोनों के खुलने और बन्द होने के क्रम का नियमन उपजिह्विका (Epiglotis) द्वारा होता है। भोजन करते समय 'अजल्पन्नहसंस्तन्मना भुञ्जीत'। इस शास्त्रीय नियम का उल्लङ्घन करने से अर्थात् खाते-पीते समय बोलते या हँसते रहने से कभी-कभी दोनों के कार्यक्रम में विपरीतता उत्पन्न होकर भोजन अन्नप्रणाली में न जाकर कदाचित् श्वासप्रणाली में भी चला जा सकता है एवं असात्म्य होने के कारण वहां की कला में प्रक्षोभ होने से केन्द्रीय सूचना या साक्षात्प्रत्यावर्तन क्रिया द्वारा कास उत्पन्न होता है, एवं वह असात्म्य पदार्थ श्वासप्रणालिका से बाहर फेंका जाता है। सदोषः—कसन करते समय कफ या पित्त बाहर निकलता है। हिक्का, श्वास तथा कास के स्थान एवं निदान समान होते हुये भी कास को पूर्वोक्त दोनों से इसी आधार पर पृथक् किया जा सकता है कि उन दोनों के वेग के समय कोई पदार्थ बाहर नहीं

निकलता, जब कि इसमें कफ और पित्त बाहर निकलते हैं। चरक की सम्प्राप्ति भी प्रायः सुश्रुतवत् ही है, किन्तु चरक-सम्प्राप्ति द्वारा कास में होने वाले सभी भावों का वर्णन समुचित रीति से किया गया है—'अधःप्रतिहतो वायुरूर्ध्वस्रोतः समाश्रितः। उदानभावमापन्नः कण्ठे सक्तस्तथोरसि॥ आविश्य शिरसः खानि सर्वाणि प्रतिपूरयन्। आभञ्जन्नाक्षिपन् देहं हनुमन्ये तथाक्षिणी॥ नेत्रे पृष्ठमुरः पार्श्वे निर्रुज्य स्तम्भयंस्ततः। शुष्को वा सकफो वापि कसनात् कास उच्यते॥ (च० चि० अ० १८) वाग्भटमते कासनिरुक्तिः—(१) 'कसनात् कासः, कस् गति-शातनयोः इस ऊर्ध्वगति अर्थ में विद्यमान कस् धातु से कास शब्द सिद्ध होता है। इसके अतिरिक्त (२) कसति शिरः कण्ठा-दूर्ध्वं गच्छति वायुरिति कासः' इस क्रिया में वायु कण्ठ से ऊपर शिर की ओर जाती है, अतः इसे कास कहते हैं। (३) कासनं कासः इस विग्रह में कासृ कुशब्दे इस धातु से कास शब्द की सिद्धि होती है।

स वातपित्तप्रभवः कफाच्च
क्षतात्तथाऽन्यः क्षयजोपरश्च।
पञ्चप्रकारः कथितो भिषग्भि-
र्विवर्द्धितो यक्ष्मविकारकृत् स्यात्॥ ६॥

कासभेदाः—यह कास वात, पित्त, और कफ से तथा उरःक्षत से और क्षय से उत्पन्न होने से वैद्यों के द्वारा पाँच प्रकार का माना गया है। एवं इस कास की उचित चिकित्सा न करने से यह राजयक्ष्मा को उत्पन्न करता है॥ ६॥

विमर्शः—तन्त्रान्तर में भी कास के पांच भेद लिखे हैं—पञ्च कासाः स्मृता वातपित्तश्लेष्मक्षतक्षयैः। क्षयायोपेक्षिताः सर्वे बलिनश्चोत्तरोत्तरम्॥ संख्येय कासों के निर्देश से ही पञ्च संख्या लब्ध हो जाती है, पुनः पञ्च शब्द के लिखने से दोषज कासों में अन्तर्भूत जरा कास के अधिकत्व का निराकरण होता है तथा पांचों को भी क्षय का कारण प्रतिपादित करने के हेतु पुनः पञ्च कहा गया है। कारणभेद से प्रत्येक कास की वेदना तथा स्वरूप में भिन्नता हो जाती है—प्रतीघातविशेषेण तस्य वायोः सरंहसः। वेदनाशब्दवैशिष्ट्यं कासानामुपजायते॥

भविष्यतस्तस्य तु कण्ठकण्डू-
र्भोज्योपरोधो गलतालुलेपः।
स्वशब्दवैषम्यमरोचकोऽग्नि-
सादश्च लिङ्गानि भवन्त्यमूनि॥ ७॥

कासपूर्वरूपम्—उत्पन्न होने वाले कास के पूर्व कण्ठ में कण्डू (खुजली), भोज्य पदार्थों का गले में रुकना अथवा निगरण क्रिया में कठिनता, गले और तालु में लेप, अपने प्राकृतिक शब्द या स्वर में विषमता, अरुचि और अग्निमान्द्य ये लक्षण उत्पन्न होते हैं॥ ७॥

विमर्शः—चरके कासपूर्वरूपम्—पूर्वरूपं भवेत्तेषां शूकपूर्णगला-स्यता। कण्ठे कण्डूश्च भोज्यानामवरोधश्च जायते॥ (च.चि.अ. १८) प्रायः सभी कासों के पूर्वरूप में मुख और गले में शूक भर जाने के समान वेदना होती है। वास्तव में तालु तथा अन्न-नलिका के उपरितन भाग (ग्रसनिका Pharynx) में दोषों के प्रकोप से कण्टकवत् रचनाएँ (Granules) बन जाती हैं। इनकी उपस्थिति से भी शूक के समान वेदना का अनुभव होता है। कास की उत्पत्ति में कफ का भी अंश रहता है, अतः उसकी उपस्थिति से कण्ठ में खुजली या खरास सी होती है। दोषों के प्रकोप से गलशुण्डिका (Uvula) तथा ग्रसनिका ग्रन्थि (Tonsils) में शोथ हो जाने के कारण अन्न-मार्ग पूर्वापेक्षया सङ्कुचित हो जाता है। अतएव भोज्य पदार्थों के निगलने में कष्ट की प्रतीति होती है।

हृच्छङ्खमूर्धोदरपार्श्वशूली
क्षामाननः क्षीणबलस्वरौजाः।
प्रसक्तमन्तः कफमीरणेन
कासेत्तु शुष्कं स्वरभेदयुक्तः॥ ८॥

वातिककासलक्षण—वातकास से पीड़ित रोगी के हृदय, शङ्खप्रदेश, मस्तिष्क, उदर और पार्श्व में शूल होता है, मुख की चेष्टा दुर्बल हो जाती है तथा शारीरिक बल, गले का स्वर और देह का ओज क्षीण हो जाते हैं। निरन्तर अन्तःकफ अर्थात् वक्षप्रदेश, फेफड़े आदि में कफ भरा हुआ हो ऐसा रोगी खाँसता है तथा कभी शुष्क कसन करता है एवं स्वर-भेद से युक्त होता है॥ ८॥

विमर्शः—चरके वातकासनिदानलक्षणानि—रूक्षशीतकषाया-ल्पप्रमितानशनं स्त्रियः। वेगधारणमायासो वातकासप्रवर्तकाः॥ हृत्पार्श्वोरःशिरःशूलस्वरभेदकरो भृशम्। शुष्कोरःकण्ठवक्त्रस्य हृष्टलोम्नः प्रताम्यतः॥ निर्घोषदैन्यस्तननदौर्बल्यक्षोभमोहकृत्। शुष्ककासः कफं शुष्कं कृच्छ्रान्मुक्त्वाऽल्पतां व्रजेत् (च.चि.अ.१८) रूक्ष, शीत तथा कषायरसप्रधान द्रव्य, अल्पाशन, अधिक स्त्रीसम्भोग, वेगविधारण एवं श्रम से कुपित वायु वातिक कास को उत्पन्न करता है। इससे हृदयप्रदेश, पार्श्व, छाती तथा शिर में शूल एवं स्वरभेद होता है। रोगी की छाती, कण्ठ एवं मुख सूखा रहता है, शरीर के बाल (रोंगटे) खड़े होते हैं तथा वह अपने को अन्धकार में प्रविष्ट हुआ सा समझता है। इस तरह दुर्बलता, दीनता, क्षोभ एवं मोह को करने वाला, तीव्र शब्द युक्त शुष्क कास होता है। जब शुष्क कफ निकल जाता है तब कास का वेग शान्त हो जाता है। साधारणतया सभी कासों में वात विद्यमान रहता है। किसी में कोई उत्तेजक पदार्थ, कफ, पित्त एवं धूम आदि बाह्य कारण रहते हैं, किन्तु वातकास में इन कारणों की सत्ता नहीं रहती। अपितु अन्तःस्थित किसी सूक्ष्म कारण से नाड्यग्रों पर निरन्तर क्षोभ होता रहता है, जिससे लगातार शुष्क कास का वेग दीर्घकाल तक बना रहता है। अतः इस कास को वातनाडी-क्षोभजन्य अथवा केवल वातिक कास कहा जाता है। रूक्ष, शीत आदि प्रकोपक कारणों से वात का प्रकोप होता है और वातप्रकोप से वातनाड़ियों में क्षोभ होकर कास की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार शुष्क एवं निरन्तर कसन करने से हृदय, पार्श्व आदि प्रदेशों में शूल होता है तथा खाँसते-खाँसते मुख सूख जाता है एवं रोगी की कान्ति क्षीणप्राय हो जाती है।

उरोविदाहज्वरवक्त्रशोषै-
रभ्यर्दितस्तिक्तमुखस्तृषार्त्तः।
पित्तेन पीतानि वमेत्कटूनि
कासेत्सपाण्डुः परिदह्यमानः॥ ९॥

पैत्तिककासलक्षणम्—पित्त के प्रकोप के द्वारा उत्पन्न हुए कास में रुग्ण के उरःप्रदेश (छाती) में दाह होता है तथा वह ज्वर और मुखशोष से पीड़ित होता है, मुख का स्वाद तिक्त रहता है, वह सदा तृषा से पीड़ित रहता है, पित्त के साथ पीले रङ्ग का कटु वमन होता है, उसका शरीर पाण्डु वर्ण का हो जाता है एवं समग्र शरीर दाह से व्याप्त-सा होता है ॥ ९ ॥

विमर्शः—चरके पैत्तिकदाहकारणलक्षणानि—कट्वोष्णविदाह्यम्लक्षाराणामतिसेवनम्। पित्तकासकरं क्रोधः सन्तापश्चाग्निसूर्यजः ॥ पीतनिष्ठीवनाक्षित्वं तिक्तास्यत्वं स्वरामयः। उरोधूमायनं तृष्णा दाहो मोहोऽरुचिर्भ्रमः ॥ प्रततं कासमानश्च ज्योतींषीव च पश्यति। श्लेष्माणं पित्तसंसृष्टं निष्ठीवति च पैत्तिके ॥ (च. चि. अ. १८) अर्थात् कटु, उष्ण, विदाही, अम्ल तथा क्षार का अधिक सेवन करने से पैत्तिक कास उत्पन्न होता है। सुश्रुत और वाग्भट ने इस कास में ज्वर का होना स्वीकार किया है, किन्तु चरक ने ज्वर का उल्लेख न कर शारीरिक दाह का उल्लेख किया है, जो कि ज्वर का सूचक है। पैत्तिक कास पित्तज्वर तथा अन्य पुराण ज्वर (Chronic fevers) में प्रायः मिलता है। उरोविदाहः—उर शब्द से यहाँ उर के सम्पर्क में रहने वाली अन्ननलिका (Oesophagus) का भी ग्रहण करना चाहिए। अतिमात्रा में उत्पन्न हुआ आमाशयिक रस का अम्ल (हाइड्रोक्लोरिक एसिड) यहाँ जलन उत्पन्न करता है। इस अवस्था को अम्लाधिक्य (Hyper acidity or hyperchlorhydria) कह सकते हैं। यह कास अम्लपित्त में पाया जाता है एवं इसका विशेष सम्बन्ध फुफ्फुस से न होकर आमाशय या अन्ननलिका से होता है। इस कास में फुफ्फुस पूर्णतया अविकृत भी रह सकते हैं। जलन के कारण गले में क्षोभ हो कर कास की प्रवृत्ति से पित्त वमन के रूप में बाहर निकल जाता है। तन्त्रान्तर में लिखा है कि इस कास में रोगी पित्तयुक्त कफ का निष्ठीवन करता है—'श्लेष्माणं पित्तसंसृष्टं निष्ठीवति च पैत्तिकः'।

> प्रलिप्यमानेन मुखेन सीदन्
> शिरोरुजार्त्तः कफपूर्णदेहः।
> अभक्तरुग्गौरवसादयुक्तः
> कासेत ना सान्द्रकफं कफेन ॥ १० ॥

कफजकासलक्षणम्—कफ के प्रकोप के द्वारा उत्पन्न हुए कास में रुग्ण अपने मुख में प्रलिप्त हुये कफ से दुखित होता हुआ शिर की पीड़ा से पीड़ित, सारे शरीर में कफ से भरा हुआ-सा तथा भोजन में अरुचि वाला, भारीपन और साद अर्थात् अङ्गग्लानि से युक्त होकर खाँसता है तथा सान्द्र (गाढ़े) कफ को गिराता है ॥ १० ॥

विमर्शः—प्रलिप्यमानेन = श्लेष्मलिप्तेन मुखेनोपलक्षितः सीदन् = अङ्गावसादयुक्तः, शिरोरुजार्तः—शिरोवेदना यद्यपि वातिक कास का ही विशिष्ट लक्षण है। प्रकृत में भी कफ के द्वारा अवरुद्ध वात के द्वारा ही पीड़ा उत्पन्न होती है, अतः कोई दोष नहीं आता। कफ के द्वारा स्रोतोरोध होने के कारण गुरुता का अनुभव होता है। वस्तुतः श्वासमार्ग में क्षोभ (Irritation) से वातिक और निस्राव-शोथ (Inflamations) अर्थात् उसकी आरम्भावस्था में पैत्तिक और सास्राव-शोथ (Exudation) में कफजकास होता है। चरके कफजकासहेतुलक्षणानि—गुर्वभिष्यन्दिमधुरस्निग्धस्वप्नाविचेष्टनैः। वृद्धः श्लेष्मानिलं रुद्ध्वा कफकासं करोति हि ॥ मन्दाग्नित्वारुचिच्छर्दिपीनसोत्क्लेशगौरवैः। लोमहर्षास्यमाधुर्यक्लेदसंसदनैर्युतम्। बहुलं मधुरं स्निग्धं निष्ठीवति घनं कफम्। कासमानो ह्यरुग्वक्षः सम्पूर्णमिव मन्यते ॥ (च० चि० अ० १८)

> वक्षोऽतिमात्रं विहतं तु यस्य
> व्यायामभाराध्ययनाभिघातैः।
> विश्लिष्टवक्षाः स नरः सरक्तं
> ष्ठीवत्यभीक्ष्णं क्षतजं तमाहुः ॥ ११ ॥

उरःक्षतकासलक्षणम्—व्यायाम, भारवहन, अध्ययन और लगुडप्रहार आदि के आघात से जिसका वक्षःस्थल अधिक मात्रा में पीड़ित होकर फिर उसके वक्ष पर चोट लगने से बार-बार रक्तमिश्रित ष्ठीवन करता है, ऐसी अवस्था को क्षतजकास कहते हैं ॥ ११ ॥

विमर्शः—तन्त्रान्तरे क्षतजकासवर्णनम्—अतिव्यवायभाराध्वयुद्धाश्वगजविग्रहैः। रूक्षस्योरःक्षतं वायुर्गृहीत्वा कासमाचरेत् ॥ स पूर्वं कासते शुष्कं ततः ष्ठीवेत् सशोणितम्। कण्ठेन रुजताऽत्यर्थं विरुग्णेनेव चोरसा। सूचीभिरिव तीक्ष्णाभिस्तुद्यमानेन शूलिना ॥ दुःखस्पर्शेन शूलेन भेदपीडाभितापिना ॥ पर्वभेदज्वरश्वासतृष्णावैस्वर्यपीडितः। पारावत इवाकूजन् कासवेगात् क्षतोद्भवात् ॥ अत्यधिक मैथुन, शक्ति से अधिक भार का उठाना, अधिक मार्ग चलना, अधिक दौड़ना, दौड़ते हुये हाथी घोड़ों को रोकने से एवं बलवान् मनुष्य के साथ युद्ध करने से रूखे मनुष्य की छाती में जब क्षत हो जाता है तो वायु उस क्षतस्थान में पहुँच कर खाँसी को उत्पन्न करती है। प्रथम शुष्क कास चलता है, पश्चात् खाँसी के साथ रक्त भी आने लगता है। ऐसी स्थिति में गले में अत्यन्त पीड़ा तथा छाती में दर्द होता है। ऐसा प्रतीत होता है मानो छाती में सुइयाँ चुभ रही हों। इस प्रकार शूल के दौरे उठते हैं, अङ्ग-प्रत्यङ्ग टूटते हैं, ज्वर, श्वास, तृष्णा तथा स्वरभेद सदृश उपद्रव उत्पन्न होते हैं। क्षतजकास के वेग से कबूतर के समान घुर्घुराहटयुक्त आवाज निकलती है। वाग्भटाचार्य ने भी क्षतजकास की सम्प्राप्ति चरक के समान ही मानी है, किन्तु उसने वात के साथ पित्तप्रकोप को भी कारण माना है—युद्धाद्यैः साहसैस्तैस्तैः सेवितैरयथाबलम्। उरस्यन्तःक्षते वायुः पित्तेनानुगतो बली ॥ कुपितः कुरुते कासं कफं तेन सशोणितम् ॥ स पूर्वं कासते शुष्कमिति—प्रथम शुष्क कास होता है जो कि वातिक है। इसके सतत वेगों के आघात से श्वासनलिकागत या फुफ्फुसगत केशिकाओं के उदीर्ण हो जाने से रक्तष्ठीवन होने लगता है। प्रायः यह भी जान लेना आवश्यक है कि उरःक्षत का कारण यदि साधारण होगा तब देर तक शुष्क कास के आवेगों से अधिक आघात होने पर रक्तष्ठीवन कुछ देर पश्चात् होता है, किन्तु यदि आघात पहिले से ही तीव्र स्वरूप का है तो रक्तष्ठीवन भी शीघ्र ही होने लगता है। तात्पर्य यह है कि प्रथम प्रकार में रक्तष्ठीवन का साक्षात् एवं सन्निकृष्ट कारण कास है और दूसरे में उरःक्षत स्वयं

कारण है। इसके अतिरिक्त इस अवस्था में उरःक्षतजन्य रक्त कास का प्रवर्तक भी होता है। यह कास यद्यपि उरःक्षत का ही एक विशिष्ट लक्षण है, स्वतन्त्र रोग नहीं, तथापि इस अवस्था में चिकित्सा करने के लिये कास की प्रवृत्ति को रोकना अत्यन्त आवश्यक है, क्योंकि इसके रहने पर आवेग के कारण केशिकाओं के विदीर्ण होने तथा उरःक्षत की आत्ययिकता के बढ़ने का भय रहता है। अतः क्षतजकास का स्वतन्त्ररूप से वर्णन किया गया है। उरःक्षत का कारण अति व्यायाम तथा अतिभार के उठाने आदि रूप साहस के कार्यों को बताया गया है। इन सभी शक्ति के कार्यों को सम्पन्न करने के निमित्त श्वास को रोककर फुफ्फुस में प्रकृत से अधिक वायु की मात्रा भरनी पड़ती है। कार्य की कठिनता के अनुपात से शक्ति तथा उसके सञ्चय के लिये फुफ्फुस में वायु की मात्रा भरनी पड़ती है। फुफ्फुसीय कोशाओं की शक्ति भी सीमित है। एक सीमा तक वे इसको सफलता-पूर्वक सह सकती हैं, किन्तु जिस अवस्था में वायु की मात्रा फुफ्फुसीय कोषाओं की सीमा को अतिक्रान्त कर जाती है तब कोषा और उसमें रहने वाली रक्तवाहिनी के विदीर्ण होने से रक्तस्राव होने लगता है। यही रक्त कास के वेग से मुख द्वारा बाहर निकलता है। जब आघात के साधारण रहने पर कोषा पूर्णतया विदीर्ण नहीं होती उस अवस्था में देर तक शुष्ककास का वेग रहने के पश्चात् उसके पूर्णतया विदीर्ण होने पर रक्तष्ठीवन होता है। उरः शब्द से कुछ लोग स्तनमण्डल के मध्यवर्ती स्थान को ही लेते हैं और कुछ इसकी सीमा का निर्धारण निम्न प्रकार से करते हैं—ऊपर जत्रु (कण्ठ-स्कन्ध-सन्धि या अक्षकास्थि Clavicles), नीचे क्रोड (उदर का ऊपरी भाग या Diaphragm) तथा दोनों ओर के पार्श्वों का मध्यवर्ती स्थान ही वक्ष है तथा इसको थोरेक्स (Thorax) कहते हैं। यह द्वितीय पक्ष युक्तिसङ्गत होने से माननीय है। इसी व्युत्पत्ति के आधार पर पार्श्वशूल की सङ्गति भी लग सकती है। पार्श्वशूल से फुफ्फुसगत तथा फुफ्फुसावरणगत (Plural) शूल का ग्रहण होता है। प्रथम व्युत्पत्ति के आधार पर केवल हृदय का ही ग्रहण हो सकता है। हृदय का मुख से साक्षात् सम्बन्ध न होने से हृदय के विदीर्ण होने पर मुख द्वारा रक्त निकलना असंगत ही है। अतः पूर्वमत अमाननीय समझना चाहिए। वात के कारण पर्वभेद तथा स्वरभेद होता है। रक्तष्ठीवन से रक्तनाश होने के कारण तथा उरःक्षतजन्य निपात (Shock) को दूर करने के निमित्त तृष्णा की स्वभावतः उत्पत्ति होती है। फुफ्फुसगत असंख्य कोषाओं के नष्ट हो जाने के कारण तथा फुफ्फुस में रक्तस्रावजन्य घनता के कारण एक श्वास में वायु कम मात्रा में प्रवेश कर पाती है, अतः उस कमी को पूर्ण करने के लिये श्वास की गति प्रतिमिनट साधारण से अधिक हो जाती है।

स गात्रशूलज्वरदाहमोहान्
प्राणक्षयञ्चोपलभेत कासी।
शुष्यन् विनिष्ठीवति दुर्बलस्तु
प्रक्षीणमांसो रुधिरं सपूयम् ॥ १२ ॥

तं सर्वलिङ्गं भृशदुश्चिकित्स्यं
चिकित्सितज्ञाः क्षयजं वदन्ति।
वृद्धत्वमासाद्य भवेत्तु यो वै
याप्यं तमाहुर्भिषजस्तु कासम् ॥ १३ ॥

क्षयजकासलक्षणम्—क्षयज कास से पीड़ित मनुष्य अङ्गों में शूल, ज्वर, दाह और मोह से पीड़ित रहता है तथा अन्त में प्राणों का भी क्षय हो जाता है। क्षयज-कास का रोगी धीरे-धीरे सूखता जाता है, शरीर से दुर्बल हो जाता है, उसका मांस क्षीण हो जाता है तथा खाँसी के साथ पूययुक्त रक्त का ष्ठीवन करता है। इस प्रकार उक्त सर्व लक्षणों से युक्त क्षयज कास के रोगी को चिकित्सातत्त्व के ज्ञाता लोग अत्यन्त दुश्चिकित्स्य मानते हैं तथा वृद्धावस्था में जो भी कास उत्पन्न होता है उसे वैद्यगण याप्य कास कहते हैं ॥ १२-१३ ॥

विमर्शः—तन्त्रान्तरे क्षयजकाससम्प्राप्तिः—विषमासात्म्यभोज्यातिव्यवायोद्वेगनिग्रहात्। घृणिनां शोचतां नृणां व्यापन्नेऽग्नौ त्रयो मलाः॥ कुपिताः क्षयजं कासं कुर्युर्देहक्षयप्रदम्॥ विषम तथा असात्म्य भोजन, अतिमैथुन तथा मलमूत्रादि-वेग विधारण करने से एवं अत्यन्त घृणा करने वाले तथा निरन्तर शोक-सागर में निमग्न रहने वाले मनुष्यों की देहाग्नि तथा जाठराग्नि के विकृत हो जाने पर प्रकुपित हुये तीनों वातादि दोष देह का विनाश करने वाले क्षयज कास को उत्पन्न करते हैं। घृणिनां शोचताम्—घृणा करने वाले तथा बन्धु-बान्धव आदि के विनाश से शोकसन्तप्त व्यक्ति आहार ग्रहण नहीं करते। भोजनाभाव से कुपित वायु अग्नि को विकृत कर देती है एवं बाद में अग्निदुष्टि से कफ और पित्त दूषित हो जाते हैं, अतएव क्षयज कास में तीनों दोषों की विकृति का वर्णन किया गया है। क्षयजं कासम्—प्रकृत में क्षयज से शुक्र आदि धातुओं के क्षय से उत्पन्न ऐसा अर्थ करना उचित है, राजयक्ष्मज नहीं, क्योंकि यद्यपि राजयक्ष्मा त्रिदोषज होता है, तथापि उसका कासलक्षण केवल कफ के द्वारा ही उत्पन्न होता है, जैसा कि कहा भी है—'कासः कण्ठस्य चोद्ध्वंसो विज्ञेयः कफकोपतः' इसके विपरीत क्षयज कास त्रिदोषयुक्त होता है। तन्त्रान्तर में भी क्षयज कास राजयक्ष्मज कास का भेद प्रदर्शित करते हुये कहा है—क्षये कासादिकं लिङ्गमेकदोषकृतं मतम्। तदेव तत्कृते कासे सर्वदोषान्वितं बुधैः॥ इस तरह उक्त कास को शुक्रादिधातुक्षयजन्य ही कहा जायगा, राजयक्ष्मज नहीं, क्योंकि राजयक्ष्मज कास कफारब्ध (एकदोषारब्ध) ही होता है। चरके क्षयजकासलक्षणानि—दुर्गन्धं हरितं रक्तं ष्ठीवेत् पूयोपमं कफम्। स्थानादुत्कासमानश्च हृदयं मन्यते च्युतम्॥ अकस्मादुष्णशीतार्तो बह्वाशी दुर्बलः कृशः। स्निग्धाच्छमुखवर्णत्वक् श्रीमद्दर्शनलोचनः॥ पाणिपादतलैः श्लक्ष्णैः सततासूयको घृणी। ज्वरो मिश्राकृतिस्तस्य पार्श्वरुक् पीनसोऽरुचिः। भिन्नसंहतवर्चस्त्वं स्वरभेदोऽनिमित्ततः॥ वाग्भटोक्त क्षयजकासलक्षण चरक के समान ही हैं। अब यहां पर शङ्का होती है कि कास से ही क्षय की उत्पत्ति होती है, क्षय से कास की नहीं, जैसा कि कहा भी है—कासात् सञ्जायते क्षयः। पुनः यहां पर कास को क्षयज क्यों कहा ? इस पर कहते हैं कि व्यक्तिभेद से कार्य-कारण-भाव में भी भेद कभी-कभी कहीं देखा जाता है, यथा अतिसार अग्निमान्द्य और अर्श को उत्पन्न करता है। यहां पर अतिसार जब अग्निमान्द्यादि को उत्पन्न करता है तब वह उनका कारण

और जब इनके द्वारा अतिसार उत्पन्न होता है तो ये कारण और अतिसार कार्य हो जाता है। इसी प्रकार प्रकृत में भी जब कास क्षय के द्वारा उत्पन्न होता है तो उसे क्षय का कार्य ही कहा जायगा, किन्तु जब कास के कारण क्षय होता है तो कास कारण और क्षय कार्य होता है। इस सम्बन्ध को कार्य-कारण-सम्बन्ध कहते हैं। किसी व्यक्ति में अग्निमान्द्य के पश्चात् अतिसार और किसी में अतिसार के पश्चात् अग्निमान्द्य देखा जाता है। इसी प्रकार किसी व्यक्ति में क्षय के पश्चात् कास और किसी में कास के पश्चात् क्षय होता है। इस प्रकार व्यक्तिभेद से दोनों के कार्य एवं कारण होने से प्रकृत में दोष की आशङ्का नहीं रहती। 'सगात्रशूल' इत्यादि श्लोक का क्षयज कास के प्रकरण में रखना अनुचित प्रतीत होता है, क्योंकि सुश्रुत ने उसको क्षतज कास के प्रकरण में पढ़ा है। माधव ने इसको चरक के श्लोकों के साथ जोड़ दिया है। इसको कुछ विद्वान् अनुचित समझते हैं। इस विषय में कुछ विद्वानों की सम्मति है कि यद्यपि इसका पाठ क्षतज के साथ सुश्रुत ने किया है तथापि इसके बाद पठित क्षयज कास के साथ भी इसका सम्बन्ध होने से कोई दोष नहीं आता। माधव ने इसी अभिप्राय से उक्त श्लोक का पर से सम्बन्ध कर दिया है। इस मत को कतिपय विद्वान् स्वीकार करने को प्रस्तुत नहीं हैं, क्योंकि क्षतज कास की असाध्यता का सूचन करने के अभिप्राय से ही सुश्रुत ने इसको वहां पढ़ा है। गयदास भी इसको क्षतज कास का ही रूप स्वीकार करते हैं। क्षतज एवं क्षयज कास में कुछ लक्षणसाम्य होने पर भी कारणभेद से परस्पर विभेद समझना चाहिये। इसके अतिरिक्त क्षतज क्षय या कास में संक्रमण से पूर्व जीवाणुओं की सत्ता नहीं पाई जाती। यक्ष्मज क्षय और कास में तो पूर्व से ही जीवाणु उपस्थित रहते हैं। अर्थात् जीवाणुसंक्रमण के पश्चात् ही इस प्रकार का क्षय प्रारम्भ होता है। कासस्य साध्यासाध्यविचारः—इत्येष क्षयजः कासः क्षीणानां देहनाशनः। साध्यो बलवतां वा स्याद्याप्यस्त्वेवं क्षतोत्थितः। नवौ कदाचित्सिद्ध्येतामपि पादगुणान्वितौ। स्थविराणां जराकासः सर्वो याप्यः प्रकीर्तितः। त्रीन् पूर्वान्साधयेत्साध्यान् पथ्यैर्याप्यांस्तु यापयेत्॥ यह क्षयज खाँसी क्षीण व्यक्तियों के शरीर का तो नाश कर ही देती है। बलवान् रोगियों में यह कभी साध्य और कभी याप्य होती है। इसी प्रकार क्षतज कास भी क्षीणों में असाध्य एवं बलवानों में कभी साध्य और कभी याप्य होता है। नवीन उत्पन्न क्षयज या क्षतज कास वैद्य आदि चतुष्पाद की सम्पत्ति भिषग्द्रव्याण्युपस्थाता रोगी पादचतुष्टयम्। गुणवत्कारणं ज्ञेयं विकारव्युपशान्तये॥ होने पर कदाचित् साध्य भी हो जाते हैं। वृद्धों में उत्पन्न होने वाला जरानिमित्तक (स्वभावतः धातुक्षयजन्य) सभी प्रकार का कास याप्य होता है। इनमें से पहिले के तीन (वातिक, पैत्तिक तथा श्लैष्मिक) साध्य कासों की चिकित्सा करनी चाहिए तथा याप्य कासों का पथ्यादि द्वारा यापन करना चाहिए, जिससे वे असाध्य न हो जायँ। कासों की साध्यासाध्यता के विषय में आचार्य सुश्रुत ने क्षयज या क्षतज कास को असाध्य बतलाते हुए कहा है—तं सर्वलिङ्गं भृशदुश्चिकित्स्यं चिकित्सितज्ञाः क्षयजं वदन्ति। जराकासः—वृद्धावस्था में उत्पन्न कास से तात्पर्य है जरावस्थाजन्य धातुक्षय से होने वाला कास। यही कास वृद्धों में याप्य होता है। अन्य प्रकोपक कारणों से कुपित वात आदि दोष से सामान्यतः उत्पन्न कास तो साध्य या कृच्छ्रसाध्य हो सकता है। यद्यपि जराकास भी दोषवैषम्य से ही उत्पन्न होता है तथापि अन्य अवस्थाओं में होने वाले कास से इसमें भेद अवश्य होता है, क्योंकि इसका निदान ही भिन्न है। कास के प्रकरण में कुक्कुर खाँसी (Whooping cough) का भी वर्णन करना चाहिए। यह रोग विशेषतः बच्चों में पाया जाता है। इसके लक्षण वातिक कास से प्रायः मिलते हैं। इस रोग में संक्रमण का भी गुण है अतः यह एक से दूसरे व्यक्ति पर सम्पर्क से संक्रान्त हो जाता है। इस रोग का प्रधान उत्पादक कारण बेसिलस पर्टुसिस (Bacillus pertusis) नामक दण्डाणु है। यह स्वस्थ मनुष्य में ७ से १५ दिन में रोग उत्पन्न कर सकता है। १० वर्ष से कम अवस्था वाले बच्चों में विशेषतः लड़कियों में यह रोग अधिक मिलता है। रोगी को प्रथम मन्द ज्वर रहता है, साथ में तीव्र कास रहता है। कास वातिक (शुष्क) होता है। कभी-कभी रोगी खाँसते-खाँसते वमन भी कर देता है। ७ से १४ दिन में रोग दूसरा रूप धारण कर लेता है। ज्वर शान्त हो जाता है तथा खाँसी अधिक तीव्र हो जाती है। खाँसी के दौरे आते हैं। रात्रि में ये दौरे अधिक आते हैं। पहले एक बार गम्भीर श्वास लेने के बाद बहुत जल्दी-जल्दी खाँसी आने लगती है। एक के बाद दूसरी खाँसी इतनी शीघ्र आती है कि रोगी को श्वास लेने का भी अवसर नहीं मिल पाता, यहाँ तक कि फुफ्फुस में वायु का पूर्णतः अभाव होने लगता है, जिसके परिणामस्वरूप बच्चा मुँह खोल देता है, जिह्वा निकल पड़ती है, आँखें बाहर की ओर निकल आती हैं। मुख पर नीलिमा (सायनोसिस) हो जाती है। इस प्रकार एकाएक खाँसी रुक जाती है और वायु फुफ्फुस में जोर से प्रवेश करती है तथा कुछ गाढ़ा कफ निकल जाता है, इसके साथ खाँसी का एक दौरा भी पूरा हो जाता है। कभी-कभी नासिका तथा श्वास-प्रश्वास के अन्य अङ्गों से उपद्रवस्वरूप रक्तस्राव होने लगता है। साध्यासाध्यता—यह रोग बड़े बच्चों में तथा अधिक आयु वाले रोगियों में सुखसाध्य होता है।

> शृङ्गीवचाकट्फलकत्तृणाब्द-
> धान्याभयाभार्ग्यमराह्वविश्वम्।
> उष्णाम्बुना हिङ्गुयुतं तु पीत्वा
> बद्धास्यमप्याशु जहाति कासम्॥ १४॥

कासस्य सामान्यचिकित्सा—काकड़ासिङ्गी, वचा, कायफल, कत्तृण (रोहिषघास), नागरमोथा, धनिया, बड़ी हरड़, भारङ्गी, अमराह्व (देवदारु), विश्व (शुण्ठी) तथा शुद्ध हींग इन सबको एक-एक तोले भर लेकर खाँड कूटके महीन कपड़छन चूर्ण कर शीशी में भर देवें। इस चूर्ण को ३ मासे से ६ मासे की मात्रा में गरम पानी के अनुपान के साथ सेवन करने से आस्य (मुख) में बद्ध हुआ (चिरकालिक) कास भी शीघ्र नष्ट हो जाता है॥ १४॥

विमर्शः—बद्धास्यं = चिरकालं व्याप्य आस्ये स्थितिकरम्। चिरकालानुबद्धमिति तात्पर्यम्। (२) बद्धा आस्या = आसना येन तं तथोक्तम्। येन कासेन उपविश्यापि शान्तिं नाप्नुवन्ति तमपीति

यावदिति सुश्रुतार्थसन्दीपनम्। चरके दोषजकासचिकित्सासूत्रम्—(१) रूक्षस्यानिलजं कासमादौ स्नेहैरुपाचरेत्। सर्पिर्भिर्वस्तिभिः पेयायूषक्षीररसादिभिः॥ वातघ्नसिद्धैः स्नेहाद्यैर्धूमैर्लेहैश्च युक्तितः। अभ्यङ्गैः परिषेकैश्च स्निग्धैः स्वेदैश्च बुद्धिमान्॥ बस्तिभिर्बद्धविड्वातं शुष्कोर्ध्वं चोर्ध्वभक्तिकैः॥ घृतैः सपित्तं सकफं जयेत् स्नेहविरेचनैः॥ (च० चि० अ० १८) (२) वातकासे—पञ्चमूलीकृतः क्वाथः पिप्पलीचूर्णसंयुतः। रसान्नमश्नतो नित्यं वातकासमुदस्यति। **बृहत्पञ्चमूल क्वाथ में २ रत्ती पिप्पलीचूर्ण मिला के पीकर भोजनसमय में मांसरस और अन्न का सेवन करने से वातकास नष्ट हो जाता है।** वातकासे कण्टकारीघृतम्—कण्टकारीगुडूचीभ्यां पृथक्त्रिंशत्पलाद्रसे। प्रस्थः सिद्धो घृताद्वातकासनुद्वह्निदीपनः॥ (च० चि० अ० १८) (३) पित्तकफकासचिकित्सा—पित्तकासे तनुकफे त्रिवृतां मधुरैर्युताम्। दद्याद्घनकफे तिक्तैर्विरेकार्थं युतां भिषक्॥ **अल्प कफ तथा पित्ताधिक्य वाले कास में विरेचनार्थ मुलेठी, अमलतास, मुनक्के आदि मधुर पदार्थों के साथ त्रिवृत् (निशोथ) का चूर्ण सेवन कराना चाहिए तथा गाढ़े कफ से युक्त पैत्तिक कास में विरेचनार्थ तिक्त द्रव्यों के चूर्ण अथवा स्वरस के साथ त्रिवृत् की जड़ का चूर्ण प्रयुक्त करना चाहिए।** (४) कफजकासचिकित्साक्रमः—बलिनं वमनेनादौ शोधितं कफकासिनम्। यवान्नैः कटुरूक्षोष्णैः कासघ्नैश्चाप्युपाचरेत्॥ **कफकास वाले बलवान् रोगी को प्रथम वमन कराके पश्चात् कटु, रूक्ष और उष्ण कफकासनाशक द्रव्यों से चिकित्सा करनी चाहिए तथा पथ्य में यव की रोटी, यवागू, यूष और कृशरा देनी चाहिए।**

फलत्रिकव्योषविडङ्गशृङ्गी-
राम्नावचापद्मकदेवकाष्ठैः।
लेहः समैः क्षौद्रसिताघृताक्तः
कासं निहन्यादचिरादुदीर्णम्॥ १५॥

फलत्रिकादिचूर्णम्—**हरड़, बहेड़ा, आँवला, सोंठ, मरिच, पिप्पली, वायविडङ्ग, काकड़ासीङ्गी, रासना, वचा, पद्माख, देवदारु इन सब औषधियों को समान प्रमाण में लेकर साण्ड कूट के कपड़छन चूर्ण कर लें। इस चूर्ण को ३ माशे से ६ माशे के प्रमाण में लेकर शहद ३ माशा, शर्करा ३ माशा और घृत ६ माशे के साथ मिश्रित कर प्रतिदिन सेवन करने से उदीर्ण वेग वाला (वातिक और पैत्तिक) कास नष्ट हो जाता है॥ १५॥**

पथ्यां सितामामलकानि लाजां
समागधीश्चापि विचूर्ण्य शुण्ठीम्।
सर्पिर्मधुभ्यां विलिहीत कासी
ससैन्धवां वोष्णजलेन कृष्णाम्॥ १६॥

पथ्यादिचूर्णम्—**बड़ी हरड़, शर्करा, आँवले, लाजे, पिप्पली और सोंठ इन्हें समान प्रमाण में चूर्णित कर ३ माशे प्रमाण में लेकर घृत ६ माशे और शहद १ तोले के साथ अवलेह बनाकर चाटना चाहिए। अथवा पिप्पलीचूर्ण २ रत्ती को सैन्धव लवण २ रत्ती के साथ मिश्रित कर उष्णोदकानुपान के साथ सेवन करने से कास रोग नष्ट होता है॥ १६॥**

विमर्शः—कुछ आचार्य पथ्या से लेकर लाजा पर्यन्त एक योग तथा 'समागधीश्चापि विचूर्ण्य शुण्ठीम्' यह द्वितीय योग मानते हैं।

खादेद् गुडं नागरपिप्पलीभ्यां
द्राक्षाञ्च सर्पिर्मधुनाऽवलिह्यात्।
द्राक्षां सितां मागधिकाञ्च तुल्यां
सशृङ्गवेरं मधुकं तुगाञ्च॥ १७॥

कासहरा योगाः—**(१) सोंठ का चूर्ण ६ रत्ती तथा पिप्पली चूर्ण ३ रत्ती को ६ माशे गुड़ के साथ मिश्रित कर सेवन करें। (२) अथवा मुनक्के ६ माशे भर लेकर उनके बीज निकाल के पत्थर के साथ पीसकर घृत ६ माशे तथा शहद ३ माशे के साथ मिश्रित कर सेवन करें। (३) मुनक्का की चटनी ६ माशे, शर्करा ६ माशे और मागधिका (पिप्पली) चूर्ण ३ रत्ती भर लेकर सबको मिश्रित कर सेवन करें। अथवा (४) अद्रक की चटनी १ माशे भर या सोंठ का चूर्ण ४ रत्ती भर, मुलेठी का चूर्ण १ माशे भर और वंशलोचनचूर्ण १ माशे भर लेकर परस्पर मिश्रित करके मधु के साथ सेवन करने से कास-रोग नष्ट हो जाता है॥ १७॥**

लिह्याद् घृतक्षौद्रयुतां समांशां
सितोपलां वा मरिचांशयुक्ताम्।
धात्रीकणाविश्वसितोपलाश्च
सञ्चूर्ण्य मण्डेन पिबेच्च दध्नः॥ १८॥

कासहरौ मरिचादियोगौ—**(१) काली मरिच का चूर्ण ४ रत्ती तथा शर्करा ३ माशे भर लेकर घृत ६ माशे और शहद ३ माशे के साथ मिश्रित कर सेवन करने से कास नष्ट होता है। (२) आँवले, पिप्पली, सोंठ और शर्करा इन्हें समान प्रमाण में मिश्रित कर ३ माशे से ६ माशे के प्रमाण में लेकर दही के मण्ड (मस्तु=ऊपर के स्वच्छ भाग) के साथ पीने से कास रोग नष्ट होता है॥ १८॥**

हरेणुकां मागधिकाञ्च तुल्यां
दध्ना पिबेत् कासगदाभिभूतः।
उभे हरिद्रे सुरदारुशुण्ठीं
गायत्रिसारञ्च पिबेत् समांशम्॥ १९॥
बस्तस्य मूत्रेण सुखाम्बुना वा
दन्तीं द्रवन्तीञ्च सतिल्वकाख्याम्।
भृष्टानि सर्पिष्यथ बादराणि
खादेत्पलाशानि ससैन्धवानि॥ २०॥

हरेणुकादियोग—**(१) हरेणुका (निर्गुण्डी या सम्भालू) के बीजों का चूर्ण और पिप्पलीचूर्ण को समान प्रमाण में मिश्रित कर कासरोगी दही के अनुपान के साथ पीवे अथवा (२) हरिद्रा, दारुहरिद्रा, देवदारु, सोंठ और गायत्रीसार (खदिरसार=कत्था) इन्हें समान प्रमाण में ले के चूर्णित कर अजा के मूत्र के साथ अथवा मन्दोष्ण जल के साथ सेवन करने से कासरोग नष्ट होता है। (३) दन्ती की जड़ तथा द्रवन्ती (मोगलई एरण्ड) की जड़, तिल्वक (पट्टिकालोध्र) और घृत में भूने हुए बेर के पत्ते तथा सैन्धव लवण इन्हें समान प्रमाण में लेकर महीन पीसकर ३ माशे से ६ माशे**

प्रमाण में मन्दोष्ण पानी के साथ सेवन करने से कास रोग नष्ट होता है ॥ १९-२० ॥

कोलप्रमाणं प्रपिबेद्धि हिङ्गु-
सौवीरकेणाम्लरसेन वाऽपि ॥ २१ ॥

कासे हिङ्गुप्रयोगः—१ कोल (१ कर्ष) प्रमाण में शुद्ध हिङ्गु चूर्ण लेकर सौवीरक (काञ्जी) के साथ अथवा किसी अम्ल फल (बिजोरे निम्बू) के स्वरस के साथ सेवन करने से कासरोग नष्ट होता है ॥ २१ ॥

क्षौद्रेण लिह्यान्मरिचानि वाऽपि
भार्गीवचाहिङ्गुकृता च वर्त्तिः ।
धूमे प्रशस्ता घृतसम्प्रयुक्ता
वेण्वत्वगेलालवणैः कृता वा ॥ २२ ॥

कासे मरिचचूर्णं वर्तिधूमपानञ्च—काली मरिचों का चूर्ण १ माशे भर लेकर ६ माशे शहद में मिला के चाटने से कास नष्ट होता है। वर्तिधूमः—भारङ्गी, वचा और हिङ्गु इन्हें समान प्रमाण में लेकर खाण्ड कूट के पानी के साथ पत्थर पर पीस कर वर्तियाँ बनाके सुखा लेवें। इस वर्ति को घृत में लिप्त कर धूमपानविधि से धूम पीने पर कासरोग नष्ट हो जाता है। वेण्वादिवर्तिः—बांस की छाल (तथा|दालचीनी), इलायची और सैन्धव लवण इन्हें समान प्रमाण में लेकर खाँड कूटकर पानी के साथ पत्थर पर पीसकर वर्तियाँ बना के सुखा लें। इस वर्ति को घृत में लिप्त कर धूम्रपान विधि से पीने पर वायु और कफजन्य कास नष्ट हो जाता है ॥ २२ ॥

मुस्तेङ्गुदीत्वङ्मधुकाह्वमांसी-
मनःशिलालैरछगलाम्बुपिष्टैः ।
विधाय वर्त्तीश्च पयोऽनुपानं
धूमं पिबेद्वातबलासकासी ॥ २३ ॥

मुस्तादिवर्तिधूमपानम्—मोथा, इङ्गुदी (हींगोट) वृक्ष अथवा फल की छाल, मुलेठी, जटामांसी, मनःशिला और हरताल इन्हें समान प्रमाण में लेकर खांड-कूट कर चूर्ण बनाकर बकरी के मूत्र में पीसकर वर्तियाँ बनाके सुखा लेवें। फिर वात तथा कफज कास का रोगी इस वर्ति को धूमपान की विधि से पीकर दुग्ध का अनुपान करे ॥ २३ ॥

पिबेच्च सीधुं मारिचान्वितं वा
तेनाशु कासं जयति प्रसह्य ।
द्राक्षाऽम्बुमञ्जिष्ठपुराह्वयाभिः
क्षीरं शृतं माक्षिकसम्प्रयुक्तम् ॥ २४ ॥

मरिचचूर्णद्राक्षादिसिद्धदुग्धप्रयोगौ—(१) काली मरिचों का चूर्ण १ माशे भर लेकर सीधु (मद्यविशेष) के साथ पीने से शीघ्र ही कास नष्ट हो जाता है। (२) मुनक्का, नेत्रबाला, मजीठ और गूगल अथवा शल्लकी इन्हें समान प्रमाण में मिश्रित कर २ तोले भर लेके पत्थर पर पानी के साथ पीसकर कल्क बना लें। फिर इस कल्क को १६ तो० दुग्ध तथा ६४ तोले जल में मिलाकर यथाविधि दुग्धावशेष पाक कर लें। इस प्रकार के दुग्ध में शहद मिलाकर प्रतिदिन पीने से कास रोग नष्ट हो जाता है ॥ २४ ॥

विमर्शः—दुग्धपाकपरिभाषा—द्रव्यादष्टगुणं क्षीरं क्षीरात्तोयं चतुर्गुणम् । क्षीरावशेषः कर्तव्यः क्षीरपाके त्वयं विधिः ॥

निदिग्धिकानागरपिप्पलीभिः
खादेच्च मुद्गान्मधुना सुसिद्धान् ॥२५॥

निदिग्धिकादिचूर्णप्रयोगः—कण्टकारी, सोंठ और पिप्पली के द्वारा सिद्ध किये हुये जल में मूंग पकाकर उन्हें शहद के साथ सेवन करने से कासरोग नष्ट हो जाता है ॥ २५ ॥

उत्कारिकां सर्पिषि नागराढ्यां
पक्त्वा समूलैस्त्रुटिकोलपत्रैः ।
एभिर्निषेवेत कृताञ्च पेयां
तन्वीं सुशीतां मधुना विमिश्राम् ॥२६॥

कासहर उत्कारिकापेयाप्रयोगः—इलायची, बदरफल, सोंठ और तेजपत्र इन्हें समान प्रमाण में लेकर खाण्ड कूटके चूर्ण कर लेवें। पश्चात् इस चूर्ण में पानी डालकर इसकी रोटी (के समान चक्रिका) अथवा लप्सिका बनाकर अग्नि पर कटाह में रखे हुए घृत में पकाकर खाने से कासरोग नष्ट हो जाता है। पेयाप्रयोगः—अथवा उपर्युक्त (एलाकोलपत्र) द्रव्यों के द्वारा यथाविधि पतली पेया बनाकर शीतल होने पर उसमें शहद मिला के सेवन करनेसे कासरोग नष्ट होताहै॥

विमर्शः—पेयानिर्माणप्रकारः—षडङ्ग परिभाषा ही के प्रमाण से पेयादि का निर्माण करना चाहिए—'षडङ्गपरिभाषैव प्रायः पेयाऽऽदिसम्मता' अर्थात् पेया के द्रव्य १ कर्ष भर लेके १ प्रस्थ जल में पकाकर अर्धावशेष रहने पर उस जल को छानकर उसमें साठी चावल या धान के लावे पकाके पेया बना लें—कर्षमात्रं ततो द्रव्यं साधयेत् प्रास्थिकेऽम्भसि । अर्द्धशृतं प्रयोक्तव्यं पाने पेयादिसविधौ ॥

यत् प्लीहि सर्पिर्विहितं षडङ्गं
तद्वातकासं जयति प्रसह्य ।
विदारिगन्धादिकृतं घृतं वा
रसेन वा वासकजेन पक्वम् ॥ २७ ॥

वातकासचिकित्सायां घृतानि—(१) प्लीहरोगचिकित्साधिकार में जो षडङ्ग (षट्फल) घृत कहा है उसे ६ माशे से १ तोले प्रमाण में लेकर मधु मिला के सेवन करने से अथवा मन्दोष्ण दुग्ध अथवा जलानुपान के साथ सेवन करने से वातकास शीघ्र ही नष्ट करता है। अथवा (२) विदारीगन्धादिगण की औषधियों के कल्क और क्वाथ से सिद्ध किये हुये घृत के सेवन करने से वातकास नष्ट होता है। अथवा (३) वासापत्र के स्वरस (और कल्क) से सिद्ध किये हुये घृत के सेवन से वातकास नष्ट होता है ॥ २७ ॥

विरेचनं स्नैहिकमत्र चोक्त-
मास्थापनं चाप्यनुवासनञ्च ।
धूमं पिबेत् स्नैहिकमप्रमत्तः
पिबेत् सुखोष्णं घृतमेव चात्र ॥
हिता यवाग्वश्च रसेषु सिद्धाः
पयांसि लेहाः सघृतास्तथैव ॥ २८ ॥

वातकासे विरेचनबस्तिधूमादियोगाः—वातकास में (१) एरण्ड तैल आदि का स्निग्ध विरेचन देना चाहिए। (२) आस्थापन बस्ति तथा अनुवासन बस्ति भी वात और तज्जन्य कास को नष्ट करने के लिये श्रेष्ठ है। (३) वातकास के अन्दर रोगी सावधान होकर स्नैहिक धूमपान का प्रयोग करे तथा (४) वातसंशमन के लिये घृत को थोड़ा सा उष्ण कर मन्दोष्ण दुग्ध अथवा जलानुपान के साथ पीवे। इनके अतिरिक्त मांसरस में सिद्ध की हुई यवागू, सिद्धदुग्ध, अवलेह और विविध घृतों का प्रयोग करना चाहिए॥ २८॥

विमर्शः—बस्ति—बैल आदि पशु के मूत्राशय को बस्ति (Bladder) कहते हैं तथा पूर्व काल में इसी के द्वारा एनिमा दिया जाता था। अतः आयुर्वेद में एनिमा को बस्ति कहते हैं—'बस्तिभिर्दीयते यस्मात्तस्माद्बस्तिरिति स्मृतः'।

प्रच्छर्दनं कायशिरोविरेका-
स्तथैव धूमाः कवलग्रहाश्च।
उष्णाश्च लेहाः कटुका निहन्युः
कफं विशेषेण विशोषणं च॥ २९॥

कफजकासचिकित्सा—कफजन्य कासरोग में प्रथम वमन कराके कफ का निर्हरण करा देना चाहिए। पश्चात् जयपाल, स्नुहीदुग्ध आदि कफनाशक उष्ण विरेचक द्रव्यों द्वारा कायविरेचन एवं अपामार्ग, पिप्पली, कायफल आदि चूर्णों का नस्य देके शिरोविरेचन कर्म कराना चाहिए। तदनन्तर कफनाशक द्रव्यों के द्वारा बनाये हुए धूमप्रयोगों का पान एवं कटुतिक्त कषाय द्रव्यों के स्वरस या क्वाथों का कवल-ग्रह कराना चाहिए। कटु द्रव्यों के द्वारा बनाये हुये उष्ण अवलेह तथा कफ का शोषण करने वाला हलका, रूक्ष और लघु भोजन कफज कास में हितकारी होता है॥ २९॥

विमर्शः—आयुर्वेद में गण्डूष तथा कवल दो शब्द मुखरोगों में औषधियों के विलयन या घोलों के प्रयोग के लिये प्रयुक्त होते हैं। गण्डूष करने के लिये द्रवपदार्थ से मुख को पूर्ण भर लिया जाता है तथा कवल के लिये मुख को द्रव से आधा भरते हैं जिससे उस द्रव को मुख में सञ्चारित कर सके—असञ्चार्या तु या मात्रा गण्डूषे सा प्रकीर्तिता। सुखं सञ्चार्यते या तु सा मात्रा कवले हिता॥ (भै० र०) विशोषणञ्च लघुरूक्षाल्पभोजनम्। अन्ये नानाप्रकारलङ्घनमाहुः तथा चोक्तम्—चतुःप्रकारा संशुद्धिः पिपासा मारुतातपौ। पाचनान्युपवासश्च व्यायामश्चेति लङ्घनम्॥ (सु० उ० अ० ५२)

कटुत्रिकञ्चापि वदन्ति पथ्यं
घृतं कृमिघ्नस्वरसे विपक्वम्।
निर्गुण्डिपत्रस्वरसे च पक्वं
सर्पिः कफोत्थं विनिहन्ति कासम्॥३०॥

कफकासे कटुत्रिकं घृतानि च—सोंठ, मरिच तथा पिप्पली को समान प्रमाण में लेकर खाण्डकूट के कपड़छन चूर्ण बना लें। इस चूर्ण को १ माशे से ३ माशे की मात्रा में प्रतिदिन मधु के साथ चाटने से कफजकास में अधिक हितकारी होता है। इसके अतिरिक्त (१) वायविडङ्ग के स्वरस या क्वाथ और कल्क से सिद्ध किया हुआ घृत अथवा (२) निर्गुण्डी (सम्भालू) के पत्रों के स्वरस (और कल्क) में सिद्ध किया हुआ घृत कफजन्य कास को नष्ट करता है॥ ३०॥

विमर्शः—कृमिघ्नस्वरसे विपक्वमार्द्रविडङ्गस्वरसविपक्वं स्वरसालाभे च विडङ्गचूर्णे जलं प्रक्षिप्य रात्रिपर्युषितं कृत्वा ग्राह्यम्। अन्ये तु कृमिघ्नशब्देन कृमिघ्नानि यानि द्रव्याणि सुरसादीनि तान्याहुः। निर्गुण्डीपत्रस्वरसे च पक्वमित्यादि, निर्गुण्डीपत्रस्वरसे नीलसिन्धुवारस्वरसे, नीलसिन्धुवारश्च शेफालिकेति लोके।

पाठाविडव्योषविडङ्गसिन्धु-
त्रिकण्टरास्नाहुतभुग्बलाभिः।
शृङ्गीवचाऽम्भोधरदेवदारु-
दुरालभाभार्ग्यभयाशटीभिः॥ ३१॥
सम्यग्विपक्वं द्विगुणेन सर्पि-
र्निदिग्धिकायाः स्वरसेन चैतत्।
श्वासाग्निसादस्वरभेदभिन्ना-
न्निहन्त्युदीर्णानपि पञ्च कासान्॥ ३२॥

पञ्चकासहरं पाठादिघृतम्—पाठा, विडलवण, सोंठ, मरिच, पिप्पली, वायविडङ्ग, सैन्धव लवण, गोखरू, रास्ना, चित्रक, बला, काकड़ासींगी, वचा, मोथा, देवदारु, दुरालभा, भारङ्गी, हरड़ और कचूर इन्हें समान प्रमाण में मिश्रित कर ४ पल लेके खाण्ड कूट के जल के साथ पत्थर पर पीसकर कल्क बना लें, फिर कल्क से चतुर्गुण घृत (१ प्रस्थ=१६ पल=६४ तो०) तथा घृत से द्विगुण (२ प्रस्थ) कण्टकारी का स्वरस या क्वाथ लेकर सबको एक कलईदार भगोने में डाल कर घृत सिद्ध कर लें। इस घृत को ६ माशे से १ तोले की मात्रा में प्रतिदिन सेवन करने से यह श्वास, अग्निनाश, स्वरभेद तथा पाँचों प्रकार के कासों को नष्ट करता है॥३१-३२॥

विमर्शः—व्योषं=त्रिकटुकम्, सिन्धुः=सैन्धवम्, त्रिकण्टः=गोक्षुरकः, हुतभुक्=चित्रकः, अम्भोधरः=मुस्तम्। स्वरभेदभिन्नान्=कांस्यपात्रादिस्वरभेदेन भिन्नान्।

विदारिगन्धोत्पलसारिवादी-
न्निष्क्वाथ्य वर्गं मधुरञ्च कृत्स्नम्।
घृतं पचेदिक्षुरसाम्बुदुग्धैः
काकोलिवर्गं च सशर्करं तत्॥
प्रातः पिबेत् पित्तकृते च कासे
रतिप्रसूते क्षतजे च कासे॥ ३३॥

पित्तजक्षयजक्षतकासचिकित्सा—विदारीगन्धादिगण, उत्पलादिगण, सारिवादिगण तथा मधुरादि (काकोल्यादि) गण की औषधियों को समान प्रमाण में मिश्रित कर ४ प्रस्थ लेकर १६ प्रस्थ पानी में डालकर क्वाथ करके छान लेवें। अथवा इन चारों गणों की औषधियों को पृथक्-पृथक् एक-एक प्रस्थ लेकर चार-चार प्रस्थ पानी में क्वथित कर एक-एक प्रस्थ शेष रहने पर छान लेवें। फिर घृत १ प्रस्थ, सांठे का रस १ प्रस्थ, जल १ प्रस्थ और गोदुग्ध १ प्रस्थ भर ले के काकोल्यादिगण की औषधियों का कल्क ४ पल मिलाकर यथाविधि घृत सिद्ध कर लेवें। इस घृत को ६ माशे से १ तोले भर लेकर ६ माशा शर्करा का प्रक्षेप देकर पित्तजन्य

कास में प्रातःकाल पीवे। यह घृत रतिप्रसूत (क्षयज) कास तथा क्षतजकास में भी अच्छा लाभ करता है ॥ ३३ ॥

विमर्शः—स्नेहसाधन करने में द्रव (क्वाथ, स्वरस, जल दुग्ध आदि) पदार्थ पाँच या पाँच से अधिक हों तो प्रत्येक द्रव को उस स्नेह के समान प्रमाण में लेवें तथा पाँच से कम होने पर प्रत्येक को स्नेह से चतुर्गुण गृहीत करें—पञ्च प्रभृति यत्र स्युर्द्रवाणि स्नेहसंविधौ। तत्र स्नेहसमान्याहुरर्वाक् च स्याच्चतुर्गुणम् ॥

खर्जूरभार्गीमगधाप्रियाल-
मधूलिकैलाऽऽमलकैः समांशैः।
चूर्णं सिताक्षौद्रघृतप्रगाढं
त्रीन् हन्ति कासानुपयुज्यमानम् ॥३४॥

कासहरः खर्जूरादियोगः—खर्जूर, भारङ्गी, पिप्पली, प्रियाल (चारोली), मधूलिका (मूर्वा की जड़ या मोरवेल), छोटी इलायची और आँवला इन्हें समान प्रमाण में लेकर खाण्ड कूट के चूर्ण बनाकर शीशी में भर देवें। इस चूर्ण को ३ माशे से ६ माशे के प्रमाण में लेकर शर्करा ६ माशे भर, शहद ६ माशे भर और घृत १ तोले भर के साथ मिश्रित कर चाटने से तीनों प्रकार के (पित्तजन्य, क्षयजन्य और क्षतजन्य) कास नष्ट हो जाते हैं ॥ ३४ ॥

रक्ताहरिद्राऽञ्जनवह्निपाठा-
मूर्वोपकुल्या विलिहेत् समांशाः।
क्षौद्रेण कासे क्षतजे क्षयोत्थे
पिबेद् घृतं चेक्षुरसे विपक्वम् ॥ ३५ ॥

कासहरं रक्तादिचूर्णं घृतञ्च—मजीठ, हरिद्रा, सौवीराञ्जन, चित्रक, पाठा, मूर्वा और उपकुल्या (पिप्पली), इन्हें समान प्रमाण में लेकर खाण्ड कूट के चूर्णित कर ३ माशे से ६ माशे के प्रमाण में लेके शहद के साथ पित्तजन्य कास, क्षतजन्यकास और क्षयजन्य कास में चटावें। अथवा घृत १ प्रस्थ लेकर ४ प्रस्थ इक्षु के स्वरस में पका के घृत मात्र शेष रहने पर ६ माशे से १ तोले प्रमाण में लेकर मन्दोष्ण दुग्ध अथवा जल के साथ मिश्रित कर पीने से उक्त तीनों प्रकार के कास नष्ट होते हैं ॥ ३५ ॥

विमर्शः—डल्हण ने वह्नि शब्द का अर्थ अजमोदा किया है। इक्षुरस के साथ घृत पकाने पर घृत से चतुर्थांश उक्त मञ्जिष्ठादि औषधियों का कल्क भी मिलाया जा सकता है तथा सम्यक्पाकार्थ घृत से चतुर्गुण पानी मिला सकते हैं।

चूर्णं पिबेदामलकस्य वाऽपि
क्षीरेण पक्वं सघृतं हिताशी ॥ ३६ ॥

कासे आमलकचूर्णम्—आँवले के ६ माशे भर चूर्ण को १ तोले घृत में डाल कर पका के दुग्धानुपान के साथ कास-शान्तिरूपी हित को चाहने वाला व्यक्ति पान करे ॥ ३६ ॥

चूर्णानि गोधूमयवोद्भवानि
काकोलिवर्गस्य कृतः सुसूक्ष्मः।
कासेषु पेयस्त्रिषु कासवद्भिः
क्षीरेण सक्षौद्रघृतेन वाऽपि ॥ ३७ ॥

त्रिविधकासहरं गोधूमादिचूर्णम्—गेहूँ का चूर्ण, यव का चूर्ण और काकोल्यादिगण की औषधियों के किये हुये चूर्ण को समान प्रमाण में मिश्रित कर एक तोले के प्रमाण में लेकर यथोचित दुग्ध (५-१० तोले), शहद १ तोले और घृत १॥ तोले के साथ मिलाकर कास रोगवाले पुरुष त्रिविध (पित्तज, क्षतज और क्षयजन्य) कासों में पान करें ॥

विमर्शः—डल्हणाचार्य ने लिखा है कि कुछ आचार्यों ने इन तीनों चूर्णों को तीनों प्रकार के कासों में त्रिविध अनुपान के साथ क्रमशः सेवन करना लिखा है—अर्थात् गोधूमचूर्ण को दुग्धानुपान से पित्तजन्य कास में, यवचूर्ण को शहद के साथ क्षयजन्यकास में तथा काकोल्यादिगण की औषधियों के चूर्ण को घृत के साथ क्षतजकास में प्रयुक्त करना चाहिए—'केचिद्गोधूमचूर्णादिचूर्णत्रयं यथाक्रमं त्रिषु कासेषु त्रिभिरेव क्षीरादिभिर्द्रवैः पेयमिच्छन्ति' (डल्हण)।

गुडोदकं वा क्वथितं पिबेद्धि
क्षौद्रेण शीतं मरिचोपदंशम् ॥ ३८ ॥

कासे गुडोदकम्—गुड़ का पानी अथवा गुड का शीतकषाय विधि से क्वाथ बनाकर कपड़े से छानकर शीतल होने पर उसमें शहद ६ माशे तथा काली मरिचों का चूर्ण ३ माशे भर मिला के सेवन करने से कास रोग नष्ट होता है ॥ ३८ ॥

प्रस्थत्रयेणामलकीरसस्य
शुद्धस्य दत्त्वाऽर्धतुलां गुडस्य।
चूर्णीकृतैर्ग्रन्थिकचव्यजीर-
व्योषेभकृष्णाहपुषाऽजमोदैः ॥ ३९ ॥
विडङ्गसिन्धुत्रिफलायवानी-
पाठाऽग्निधान्यैश्च पिचुप्रमाणैः।
दत्त्वा त्रिवृच्चूर्णपलानि चाष्टा-
वष्टौ च तैलस्य पचेद् यथावत् ॥ ४० ॥
तं भक्षयेदक्षफलप्रमाणं
यथेष्टचेष्टस्त्रिसुगन्धियुक्तम् ।
अनेन सर्वे ग्रहणीविकाराः
सश्वासकासस्वरभेदशोथाः ॥ ४१ ॥
शाम्यन्ति चायं चिरमन्तरग्ने-
र्हतस्य पुंस्त्वस्य च वृद्धिहेतुः।
स्त्रीणाञ्च वन्ध्याऽऽमयनाशनः स्यात्
कल्याणको नाम गुडः प्रतीतः ॥ ४२ ॥

कासश्वासादिहरः कल्याणगुडः—आँवलों के ३ प्रस्थ स्वरस में शुद्ध गुड़ आधी तुला (५० पल=२०० तो०) मिलाकर लेह के समान पाक करना चाहिए। आसन्नपाकावस्था में पिपरामूल चूर्ण १ पल, जीरक चूर्ण १ पल, चव्य चूर्ण १ पल, शुण्ठी चूर्ण १ पल, मरिच चूर्ण १ पल, पिप्पली चूर्ण १ पल, गजपीपल का चूर्ण १ पल, हपुषा का चूर्ण १ पल, अजमोद का चूर्ण १ पल, वायविडङ्ग का चूर्ण १ पल, पीसा हुआ सैन्धव लवण १ पल, हरड़ का चूर्ण १ पल, बहेड़े का चूर्ण १ पल, आँवले का चूर्ण १ पल, यमानी का चूर्ण १ पल, पाठा का चूर्ण १ पल, चित्रक की जड़ का चूर्ण १ पल, धनिये का चूर्ण

१ पल, निशोथ का चूर्ण ८ पल भर मिलाकर सबको कलछी या लकड़ी के मर्दक से भलीभांति घोटकर तिल का तैल ८ पल मिलाकर थोड़ी देर पका के गाढ़ा पाक कर लें। फिर इस अवलेह के शीतल होने पर उसमें दालचीनी का चूर्ण १ पल, छोटी इलायची का चूर्ण १ पल और तेजपात चूर्ण १ पल भर मिलाकर कलछी या लकड़ी से अच्छी प्रकार मथित कर मृतबाण में भर देवें। इस कल्याणगुड के प्रतिदिन एक-एक कोल (बदरफल) भर सेवन करने से सर्व प्रकार के ग्रहणीविकार, श्वास, कास, स्वरभेद और शोथ ये रोग नष्ट हो जाते हैं तथा नष्ट हुई शरीर की अन्तरग्नि (पाचकाग्नि) और नष्ट हुए पुरुषत्व की वृद्धि होती है तथा स्त्रियों के वन्ध्या रोग को यह कल्याण गुड नष्ट करता है। यह योग कल्याणगुड इस नाम से उक्त रोगों को नष्ट करने में प्रसिद्ध है ॥ ३९-४२ ॥

द्विपञ्चमूलेभकणाऽऽरमगुप्ता-
भार्गीशटीपुष्करमूलविश्वान् ।
पाठाऽमृताग्रन्थिकशङ्खपुष्पी-
रास्नाऽग्न्यपामार्गबलायवासान् ॥ ४३ ॥
द्विपालिकान् न्यस्य यवाढकञ्च
हरीतकीनाञ्च शतं गुरूणाम् ।
द्रोणे जलस्याढकसंयुते च
क्वाथे कृते पूतचतुर्थभागे ॥ ४४ ॥
पचेत् तुलां शुद्धगुडस्य दत्त्वा
पृथक् च तैलात् कुडवं घृताच्च ।
चूर्णञ्च तावन्मगधोद्भवाया
देयञ्च तस्मिन्मधु सिद्धशीते ॥ ४५ ॥
रसायनात् कर्षमतो विलिह्याद्
द्वे चाभये नित्यमथाशु हन्यात् ।
तद्राजयक्ष्मग्रहणीप्रदोष-
शोफाग्निमान्द्यस्वरभेदकासान् ॥ ४६ ॥
पाण्ड्वामयश्वासशिरोविकारान्
हृद्रोगहिक्काविषमज्वरांश्च ।
मेधाबलोत्साहमतिप्रदञ्च
चकार चैतद्भगवानगस्त्यः ॥ ४७ ॥

अगस्त्यावलेहः—दोनों पञ्चमूल अर्थात् शालपर्णी, पृष्टपर्णी, छोटी कटेरी, बड़ी कटेरी और गोखरु ये लघु पञ्चमूल के द्रव्य तथा बिल्व की छाल, सोनापाठे की छाल, गम्भारी की छाल, पाढल की छाल तथा अरणी की छाल ये बृहत्पञ्चमूल के द्रव्य, और गजपीपल, कौञ्च के बीज, भारङ्गी, कचूर, पोहकरमूल, सोंठ, पाठा, गिलोय, पिप्पलीमूल, शङ्खपुष्पी, रास्ना, चित्रक, अपामार्ग, बला (खरेटी) की जड़ और धमासा ये प्रत्येक द्रव्य दो-दो पल, यव १ आढक (४ प्रस्थ = १४ पल = २५६ तो०), बड़ी हरड़ें संख्या में १०० लेकर जल १ द्रोण (४ आढक = १६ प्रस्थ = १०२४ तो०) तथा १ आढक (२५६ तो०) लेके सबको एक बड़े कलईदार भगोने में डालकर क्वाथ करें। जब चौथाई शेष रह जाय तब छानकर उसमें १ तुला (१०० पल = ४०० तो०) शुद्ध पुराणा गुड़ घोलकर उसमें उक्त स्विन्न की हुई १०० हरड़ें, तथा घृत और तैल दोनों पृथक् पृथक् एक-एक कुडव (आधा २ शराव = ४ पल) मिलाकर इन सबको यथाविधि पकावें। पकते-पकते जब लेह के समान हो जाय तब उसमें पिप्पली का कपड़छन चूर्ण ४ पल और शहद ८ पल (३२ तो०) मिला के कुछ मिनिट तक और पकाके उतार लें। फिर इस रसायन में से प्रतिदिन १ कर्ष (१ तोला) सेवन कर ऊपर से उक्त पक्व हरड़ें दो खा लेनी चाहिए। इस प्रकार इस अगस्त्यावलेह को प्रतिदिन सेवन करने से यह राजयक्ष्मा, ग्रहणी विकार, शोफ, अग्निमान्द्य, स्वरभेद, कास, पाण्डुरोग, श्वास, शिर के रोग, हृदय के रोग, हिक्का और विषमज्वर को नष्ट करता है तथा मेधा (धारणा शक्ति), बल और उत्साह को अधिक बढ़ाता है। इस रसायन को भगवान् अगस्त्य मुनि ने बनाया है ॥ ४३-४७ ॥

कुलीरशुक्तीचटकैणलावा-
ञ्छिष्काख्य वर्गं मधुरं च कृत्स्नम् ।
पचेद् घृतं तत्तु निषेव्यमाणं
हन्यात् क्षतोत्थं क्षयजञ्च कासम् ॥४८॥

कुलीरादिघृतम्—केंकड़ा, कीटयुक्त जलशुक्ति, चिड़िया, हरिण और लावा (बटेर) तथा काकोल्यादि मधुरवर्ग की समस्त औषधियों को खाण्ड कूटकर सबको ४ प्रस्थ प्रमाण में लेके १६ प्रस्थ जल में उबालकर ४ प्रस्थ शेष रखके छान लेवें। फिर इस क्वाथ में घृत १ प्रस्थ डालकर यथाविधि सिद्ध कर लें। प्रतिदिन इस घृत को ६ माशे से १ तोले प्रमाण में लेके सेवन करने से क्षतजन्य कास, क्षयजन्य कास और चकारात् पित्तजन्य कास नष्ट हो जाते हैं ॥ ४८ ॥

विमर्श—कुछ लोगों का मत है कि उक्त घृत में जीवनीयगण की मधुर औषधियों का कल्क ४ पल मिला के घृत सिद्ध करना चाहिए।

शतावरीनागबलाविपक्वं
घृतं विधेयञ्च हिताय कासिनाम् ॥४९॥

इति सुश्रुतसंहितायामुत्तरतन्त्रान्तर्गते काय-
चिकित्सातन्त्रे कासप्रतिषेधो नाम
द्विपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५२ ॥

शतावरीघृतम्—शतावरी तथा नागबला को दो-दो प्रस्थ लेकर १६ प्रस्थ जल में क्वथित करके ४ प्रस्थ शेष रहने पर छानकर इसमें १ प्रस्थ घृत तथा शतावर और नागबला का कल्क मिलित ४ पल मिलाके यथाविधि घृत सिद्ध कर लें। इस घृत को कासरोगियों के हित के लिये प्रयुक्त करना चाहिए ॥ ४९ ॥

इति श्री अम्बिकादत्तशास्त्रिविरचितायां सुश्रुतसंहिता-
भाषाटीकायामुत्तरतन्त्रे कासप्रतिषेधो नाम
द्विपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥

त्रिपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

अथातः स्वरभेदप्रतिषेधमध्यायं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥ २ ॥

अब इसके अनन्तर स्वरभेदप्रतिषेध नामक अध्याय का व्याख्यान प्रारम्भ करते हैं जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने कहा है ॥ १–२ ॥

विमर्शः—कास के समान चिकित्सासाम्य होने से कास के अनन्तर स्वरभेद-चिकित्सा प्रारम्भ की है। मधुकोषकार ने लिखा है कि प्राणवायु और उदानवायु की दुष्टि का साधर्म्य होने से कास-श्वास रोग में स्वरभेद उपद्रवस्वरूप हो जाता है। इसलिये कास-श्वासानन्तर स्वरभेद का प्रकरण प्रारम्भ किया है।

अत्युच्चभाषणविषाध्ययनातिगीत-
शीतादिभिः प्रकुपिताः पवनादयस्तु।
स्रोतःसु ते स्वरवहेषु गताः प्रतिष्ठां
हन्युः स्वरं भवति चापि हि षड्विधः सः ॥

स्वरभेदस्य हेतुसम्प्राप्तिसंख्या—बहुत ऊँचे स्वर से बोलना या भाषण देना, विषसेवन, अधिक उच्चस्वर से अध्ययन तथा आघात के समान प्रकोपक कारणों से प्रकुपित हुये वातादि दोष स्वरवाहक स्रोतसों में अधिष्ठित होकर स्वर को नष्ट कर देते हैं। इसको स्वरभेद कहते हैं एवं यह स्वरभेद ६ प्रकार का होता है ॥ ३ ॥

विमर्शः—अध्ययनमुच्चैर्वेदादिपाठः। अभिघातः कण्ठादिदेशे लगुडादिभिराघातः। कण्ठ आदि स्थानों पर लाठी आदि का प्रहार होना। स्रोतःसु स्वरवहेषु–शब्दवाहिनीषु धमनीषु। अर्थात् आयुर्वेद में स्वर को वहन करने वाले स्रोतस् चार माने गये हैं। इनमें दो के द्वारा भाषण तथा दो के द्वारा घोष होता है—'द्वाभ्यां भाषते, द्वाभ्यां घोषं करोति'। आधुनिक दृष्टि से दो प्रत्यावर्तनीस्वरयन्त्रगा (Recurrent laryngeal nerves) तथा दो ऊर्ध्वगा स्वरयन्त्रगा (Superior laryngeal nerves) का दो से भाषण और दो से घोष कार्य होना माना जा सकता है। बोलते समय शब्दोच्चारण में होने वाले विकारों को स्वरभेद कहते हैं। स्वर में विकार साधारणतया स्वरयन्त्र (Larynx) की स्थानिक विकृति तथा वाणी के मस्तिष्कस्थित केन्द्र की विकृति के कारण होता है। स्वर का आंशिक या पूर्णरूप में नष्ट होना इनकी विकृति के प्रमाण पर निर्भर है। यहाँ वर्णित स्वरभेद का तात्पर्य स्थानिक विकृतिजन्य विकार से ही है। स्थानिक कारणों से होने वाले स्वरभेद की विकृति की तीव्रता के अनुसार खरस्वरता (Hoarseness of voice), भाषणकृच्छ्रता (Dysphasia), स्वरसाद (Aphonia) उत्पन्न होते हैं। यह अवस्था तीव्र स्वरयन्त्रशोथ (Acute or catarrhal laryngitis), सशोफ स्वरयन्त्रशोथ (Oedematus laryngitis) रोहिणीसदृशरोगकृत स्वरयन्त्रशोथ तथा पुराणस्वरयन्त्रशोथ (Chronic laryngitis) में पाई जाती है। मस्तिष्कगत वाणीकेन्द्र में किसी प्रकार की विकृति होने पर यदि स्वर का पूर्णतया विनाश हो जाय तो उसे पूर्ण स्वरनाश (Aphasia) कहते हैं। इसका कारण वाणीकेन्द्र की भयङ्कर विकृति है। जिस अवस्था में स्वर का आंशिक नाश होता है उसे डिस्फेजिया (Dysphasia) कहते हैं। इनके अतिरिक्त एक तीसरी अवस्था भी होती है जिसे गद्गदस्वरता (Dysarthria) कहते हैं। इसमें भी लक्षण वाक्कृच्छ्रता (Dysphasia) के समान ही होते हैं किन्तु यह अवस्था स्वर के साधन स्वरयन्त्र, ओष्ठ, जिह्वा तथा तालु के घात (Paralysis) के कारण होती है। इसमें पेशी और नाड़ीतन्तु के मध्य का सम्बन्ध नष्ट हो जाता है। इनके अतिरिक्त वाक्केन्द्र में व्यापक विकृति होने पर लिखने, पढ़ने और सुनने में से किसी एक या अनेक क्रिया में भी विकृति होती है और उनके आधार पर भी स्वरसाद के अनेक भेदों का वर्णन एलोपैथी में मिलता है। स्वरभेद में स्वरयन्त्र या शब्दोत्पादक अन्य अवयवों की विकृति का होना अवश्यम्भावी होता है। अतः शब्दोत्पत्ति का साधारण क्रम भी समझ लेना परमावश्यक है—आत्मा बुद्ध्या समेत्यार्थान् मनो युङ्क्ते विवक्षया। मनः कायाग्निमाहन्ति स प्रेरयति मारुतम् ॥ मारुतस्तूरसि चरन् मन्द्रं जनयति स्वरम्। सोदीर्णो मूर्ध्न्यभिहतो वक्त्रमापद्य मारुतः। अष्टौ स्थानानि वर्णानामुरः कण्ठः शिरस्तथा। जिह्वामूलञ्च दन्ताश्च नासिकोष्ठौ च तालु च ॥ (पाणिनीयशिक्षा) बुद्धि से संयुक्त आत्मा कुछ कहने की इच्छा से मन को इस कार्य के लिये नियुक्त करता है, क्योंकि मन ही इन्द्रियों से साक्षात् सम्बन्ध स्थापित करके बोलने की क्रिया का सम्पादन कर सकता है। किन्तु भौतिक विज्ञान पर आधारित आधुनिक विज्ञान आत्मा और मन की सत्ता को स्वीकार न करके इस क्रिया को बुद्धि या वाणी के केन्द्र (Centre for speach) और जिह्वा तथा अन्य सहायक पेशियों का ही कार्य मानता है। प्राचीनों ने इस भौतिक विज्ञान के स्तर से कुछ अधिक विचार करके आत्मा और मन की सत्ता का भी निर्देश इस विषय में किया है। मन शरीराग्नि को प्रेरित करता है एवं शरीराग्नि वायु को। यह वायु उरःस्थल में घूमता हुआ ऊर्ध्वगति से मूर्धा स्थान में टकरा कर मुख में आता है एवं वर्णोत्पत्ति के आठ स्थान उर, कण्ठ, शिर, जिह्वामूल, दन्त, नासिका, ओष्ठ तथा तालु के सम्पर्क से वर्णों की उत्पत्ति करता है। अर्थात् शब्दोत्पत्ति या विशिष्ट स्वरोत्पत्ति के लिये इन सब या कुछ स्थानों से प्रयत्न किया जाता है। इन्हीं प्रयत्नों के बाह्य और आभ्यन्तर दो भेद होते हैं। कुछ वर्णों की उत्पत्ति में आभ्यन्तर प्रयत्न और कुछ की उत्पत्ति में बाह्य प्रयत्न सहायता करते हैं। पुनः इन प्रयत्नों के भी अनेकविध भेद होते हैं। उक्त आठ स्थानों एवं उनके द्वारा किये गये दो प्रयत्नों के फलस्वरूप असंख्य प्रकार की ध्वनियों की उत्पत्ति होती है। जिस प्रकार का प्रयत्न एवं जो स्थान बोलने में कार्य करेगा वैसी ही विशिष्ट ध्वनि से युक्त शब्द की भी उत्पत्ति होगी। महर्षि पतञ्जलि ने भी महाभाष्य के पस्पशाह्निक में शब्दोत्पत्ति का वर्णन आलङ्कारिक रूप में करते हुये कहा है—चत्वारि शृङ्गास्त्रयोऽस्य पादाः द्वे शीर्षे सप्त हस्तासोऽस्य। त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति, महो देवो मर्त्यां आविवेश ॥ यहाँ पर त्रिधाबद्ध शब्द ही महत्त्वपूर्ण है। अर्थात् उर, कण्ठ तथा शिर इन तीन स्थानों में शब्द बँधा हुआ है। इनके प्रयत्न के बिना शब्दोत्पत्ति नहीं हो सकती। शिर शब्द से मूर्धा या आधुनिक दृष्टि से मस्तिष्कस्थित भाषणकेन्द्र का भी ग्रहण किया जा सकता है।

शब्दोत्पत्ति के विषय में प्राचीन महर्षियों का यही सिद्धान्त है। आधुनिक वैज्ञानिक शारीर रचना एवं शारीर क्रिया विज्ञान के आधार पर शब्द की उत्पत्ति निम्न प्रकार से मानते हैं। बहिःश्वसन (Expiration) के समय फुफ्फुस से निकलने वाली वायु से तरङ्गायित ध्वन्युत्पादक रज्जुकाओं (Vocal cords) के द्वारा ध्वन्युत्पत्ति होती है। ये रज्जुकाएँ संख्या में दो होती हैं एवं श्वसन-नलिका के उपरितन भाग में स्थित तरुणास्थिघटित मञ्जूषा में रखी रहती हैं। इस मञ्जूषा को स्वरयन्त्र (Larynx) कहते हैं। इसमें वायु की तरङ्गों से तरङ्गायित ध्वन्युत्पादक रज्जुकाओं के द्वारा उत्पद्यमान शब्द जिह्वा, दन्त एवं ओष्ठों के प्रभाव से विभिन्न रूपों को धारण कर लेता है—The fundamental tones of the voice are produced by the current of expired air causing the vibration of the vocal cords, two bands contained in a cartilaginous box placed at the top of the wind pipe or trachea. This box is called the larynx. The sounds produced here are modified by other parts such as the tongue, teeth and lips. इस प्रकार जब वायु ध्वन्युत्पादक रज्जुकाओं को स्पर्श करता हुआ ऊपर आता है तो मुख, नासा एवं अन्ननलिका का प्रारम्भिक भाग (Pharynx) की भी विशिष्ट आकृति बन जाती है। इसी का दूसरा नाम प्रयत्न है। इसके ही परिणामस्वरूप विभिन्न स्वरों की उत्पत्ति होती है। इसके लिये बाँसुरी का उदाहरण पर्याप्त है। इस प्रकार शब्द या स्वर की विभिन्नता वायु, उससे तरङ्गायित ध्वन्युत्पादक रज्जुका तथा जिह्वा आदि शब्द के स्थानों की प्रकृति पर निर्भर है। वायु जिस प्रकार के प्रयत्न से ध्वन्युत्पादक रज्जुकाओं में तरङ्ग उत्पन्न करेगी एवं इन तरङ्गों का जिन स्थानों से सम्पर्क होगा उसी के अनुसार ध्वनि एवं शब्द में विशेषता पाई जावेगी। इन स्वरोत्पादक अङ्गों के स्वस्थ रहने पर स्वर भी प्रकृत रहता है, किन्तु किसी कारण से इनमें साक्षात् या परम्परया विकृति होने से स्वरभेद नामक रोग की उत्पत्ति होती है। विभिन्न निदान विभिन्न दोषों को प्रकुपित करते हैं, अतः स्वरभेद भी विभिन्न दोषों के लक्षणों से युक्त होता है। इसी आधार पर इसके वातिक आदि भेद किये गये हैं। विषप्रयोग से तो तीनों ही दोष प्रकुपित होकर स्वरभेद उत्पन्न करते हैं। स्वरयन्त्र में विकृति होकर स्वरभेद होता है तथा इसके कारण स्वरयन्त्र के राजयक्ष्मा या अन्य कारणों से उत्पन्न तीव्र एवं पुराणशोथ होते हैं। फुफ्फुसजन्य विकारों से भी स्वरभेद हो सकता है। इसके अतिरिक्त फिरङ्ग के कारण स्थानीय एवं सार्वदैहिक प्रभाव होने के पश्चात् भी स्वर-विकृति देखी गई है। वाग्भटाचार्य ने भी सुश्रुतानुसार इसके ६ भेदों का ही निरूपण किया है—'दोषैर्व्यस्तैः समस्तैश्च क्षयात् षष्ठश्च मेदसा। स्वरभेदो भवेत्' (वाग्भट) अन्यत्र भी वातज, पित्तज, कफज, त्रिदोषज, मेदोजन्य तथा क्षयजन्य ऐसे ६ भेद लिखे हैं—'वातादिभिः पृथक् सर्वैर्मेदसा च क्षयेण च'। चरक ने स्वरभेद नामक रोगों का स्वतन्त्र वर्णन न करके राजयक्ष्मा के एक लक्षणरूप में वर्णन करते हुए उसके विभिन्न भेदों का भी वर्णन किया है। अर्थात् वातज, पित्तज, कफज, रक्तज, कासजन्य तथा पीनसजन्य ऐसे ६ भेद हैं। वातात् पित्तात् कफाद्रक्तात्कासवेगात्सपीनसात्। स्वरभेदो भवेद्वाता-द्रूक्षः क्षामश्चलः स्वरः॥ तालुकण्ठपरिप्लोषः पित्ताद्वक्तुमसूयते। कफाद्भेदो विबद्धश्च स्वरः खुरखुरायते॥ सन्नो रक्तविबद्धत्वात् स्वरः कृच्छ्रात्प्रवर्तते। कासातिवेगात् कषणः पीनसात् कफवातिकः॥ (च० चि० अ० ८)

> वातेन कृष्णनयनाननमूत्रवर्चा
> भिन्नं शनैर्वदति गद्गदवत् स्वरश्च।
> पित्तेन पीतवदनाक्षिपुरीषमूत्रो
> ब्रूयाद् गलेन परिदाहसमन्वितेन ॥ ४ ॥

वातपित्तजस्वरभेदयोर्लक्षणम्—वात के कारण रोगी के नेत्र, मुख, मूत्र और मल कृष्ण वर्ण के हो जाते हैं तथा वह भिन्न (अनवस्थित) रूप से और धीरे से बोलता है एवं उसका स्वर गद्गदयुक्त हो जाता है तथा पित्त के कारण मुख, नेत्र, मल और मूत्र पीत वर्ण के हो जाते हैं तथा रुग्ण दाहयुक्त कण्ठ से बोलता है ॥ ४ ॥

> कृच्छ्रात् कफेन सततं कफरुद्धकण्ठो
> मन्दं शनैर्वदति चापि दिवा विशेषः।
> सर्वात्मके भवति सर्वविकारसम्प-
> दव्यक्तता च वचसस्तमसाध्यमाहुः ॥ ५ ॥

कफसन्निपातजस्वरभेदयोर्लक्षणम्—कफ के कारण बोलने में कृच्छ्रता (कठिनता) होती है तथा सदा कण्ठ कफ से अवरुद्ध सा रहता है एवं रुग्ण मन्दस्वर से बोलता है। दिन में कफ के क्षीण होने से रुग्ण थोड़ा थोड़ा बोलता है, किन्तु रात्रि में कफ के द्वारा कण्ठ के अवरुद्ध हो जाने से प्रायः नहीं बोल सकता है। त्रिदोषजन्य स्वरभेद में वात, पित्त और कफ इन तीनों दोषों के लक्षणों का प्रादुर्भाव हो जाता है। विशेषकर इसमें वाणी की अव्यक्तता होती है। ऐसे स्वर-भेद को असाध्य कहते हैं ॥ ५ ॥

> धूप्येत वाक् क्षयकृते क्षयमाप्नुयाच्च।
> वागेष चापि हतवाक् परिवर्जनीयः ॥ ६ ॥

क्षयजस्वरभेदलक्षणम्—क्षय के कारण उत्पन्न हुए स्वर-भेद में बोलते समय मुख से धुआँ सा निकलता है तथा उसकी वाणी क्षीण-सी हो जाती है। जब क्षयजन्य स्वर-भेद का रोगी हतवाक् (बोलने में असमर्थ) हो जाता है तब यह अचिकित्स्य होता है ॥ ६ ॥

> अन्तर्गलं स्वरमलक्ष्यपदश्चिरेण
> मेदश्चयाद्वदति दिग्धगलौष्ठतालुः ॥ ७ ॥

मेदोजन्यस्वरभेदलक्षणम्—मेदोधातु की वृद्धि होने से उत्पन्न हुए स्वरभेद में गले, ओष्ठ, तालु तथा स्वरतन्तुओं के मेद द्वारा आच्छादित रहने से रोगी गले के अन्दर ही बोलता है तथा देर से बोलता है। जो कुछ भी बोलता है वह समझ में नहीं आता। अर्थात् कुछ पद स्पष्ट होते हैं और कुछ नहीं ॥ ७ ॥

> क्षीणस्य वृद्धस्य कृशस्य चापि
> चिरोत्थितो यश्च सहोपजातः।

मेदस्विनः सर्वसमुद्भवश्च
स्वरामयो यो न स सिद्धिमेति ॥ ८ ॥

असाध्यस्वरभेदलक्षणम्—क्षीण मांस वाले, वृद्ध तथा कृश पुरुष में उत्पन्न हुआ स्वरभेद तथा चिरकाल से उत्पन्न स्वरभेद एवं जन्मजात स्वरभेद, मेदस्वी पुरुष का स्वरभेद और सर्व दोषों के प्रकोप से उत्पन्न हुआ स्वरभेद चिकित्सा करने पर भी ठीक नहीं होता है ॥ ८ ॥

विमर्शः—मेदरहित रोगी को मेदोदुष्टि से होने वाला स्वरभेद तो साध्य ही है। सहज भी साध्य नहीं है, क्योंकि उसमें भाषणकेन्द्र (Centre for speach) का ही अभाव रहता है। सर्व सम्पूर्ण लक्षणवाला स्वरभेद भी असाध्य होता है।

स्निग्धान् स्वरातुरनरानपकृष्टदोषान्
न्यायेन तान् वमनरेचनबस्तिभिश्च।
नस्यावपीडमुखधावनधूमलेहैः
सम्पादयेच्च विविधैः कवलग्रहैश्च ॥ ९ ॥

स्वरभेदसामान्यचिकित्सा—स्वरातुर (स्वरभङ्ग) के मनुष्यों को प्रथम स्नेहित कर पश्चात् यथाविधि वमन, विरेचन और बस्ति द्वारा वातादि दोषों को बाहर करके, नस्य, अवपीडन, मुखधावन, धूमपान, अवलेह और नाना प्रकार के कवल-ग्रहों से चिकित्सा करे ॥ ९ ॥

विमर्शः—स्निग्धान् कफजन्य तथा मेदोजन्य स्वरभेद अपतर्पण(रूक्ष)चिकित्सा के द्वारा साध्य होने से इनमें स्नेहन युक्त नहीं है। फिर भी कफ और मेद के विनाशक द्रव्यों से सिद्ध किये हुये स्नेहों से स्नेहनकर्म करना लाभदायक होता है। क्योंकि मेद और कफजन्य स्वरभेद में भी वायु का सम्बन्ध होने से वातजयार्थ स्नेहनक्रिया आवश्यक ही है। मुखधावनं गण्डूषादि। सुखं सञ्चार्यते या तु गण्डूषे सा प्रकीर्तिता। असञ्चार्या तु या मात्रा कवले सा प्रकीर्तिता ॥

यः श्वासकासविधिरादित एव चोक्त-
स्तञ्चाप्यशेषमवतारयितुं यतेत।
वैशेषिकञ्च विधिमूर्ध्वमतो वदामि
तं वै स्वरातुरहितं निखिलं निबोध ॥ १० ॥

स्वरभेदे श्वासकासचिकित्सातिदेशः—श्वासकास के रोगप्रकरण के प्रारम्भ में जो विधि कही है उसको सम्पूर्ण रूप से स्वरभेद में प्रयुक्त करने का प्रयत्न करना चाहिए तथा उससे भी जो विशेष चिकित्साक्रम है उसे अब यहाँ से आगे वर्णित किया जाता है, जिसे स्वरभङ्ग के रोगी के हितार्थ पूर्ण रूप से जानना आवश्यक है ॥ १० ॥

स्वरोपघातेऽनिलजे भुक्तोपरि घृतं पिबेत्।
कासमर्दकवार्त्ताकमार्कवस्वरसे शृतम् ॥
पीतं घृतं हन्त्यनिलं सिद्धमार्त्तगले रसे ॥ ११ ॥

वातजस्वरभेदचिकित्सा—वायु के प्रकोप से उत्पन्न हुए स्वरभेद में भोजन करने के पश्चात् घृतपान कराना चाहिए। कासमर्द (कसोंजी), वार्ताक (कटेरी) की जड़ या पञ्चाङ्ग और मार्कव (भृङ्गराज) इनका स्वरस अथवा क्वाथ ४ प्रस्थ लेकर १ प्रस्थ घृत में डाल के अग्नि पर चढ़ा के घृतावशेष पाक कर लें। इस घृत को ६ माशे से १ तोले के प्रमाण में प्रतिदिन सेवन करने से वातजन्य स्वरभेद नष्ट हो जाता है। इसी प्रकार आर्तगल (ककुभ = अर्जुन) की छाल के चतुर्गुण क्वाथ में सिद्ध किये हुये घृत का पान करने से वातजन्य स्वरभेद रोग नष्ट होता है ॥ ११ ॥

यवक्षाराजमोदाभ्यां चित्रकामलकेषु वा।
देवदार्वग्निकाभ्यां वा सिद्धमाजं समाक्षिकम् ॥ १२ ॥

वातजस्वरभेदे घृतत्रयम्—(१) यवक्षार २ पल, अजमोदा २ पल ले कर पत्थर पर पानी के साथ पीस के कल्क बना लें। फिर बकरी का घृत १ प्रस्थ तथा पानी ४ प्रस्थ डाल कर यथाविधि घृत सिद्ध कर लें। (२) चित्रक की जड़ की छाल अथवा जड़ और आँवले दोनों का कल्क ४ पल, घृत १ प्रस्थ, पानी ४ प्रस्थ, यथाविधि घृत सिद्ध कर लें। (३) देवदारु तथा अजमोदा का कल्क ४ पल, घृत १ प्रस्थ एवं सम्यक् पाकार्थं जल ४ प्रस्थ ले के यथाविधि घृत सिद्ध कर लें। इन तीनों घृतों में से कोई एक घृत ६ माशे से १ तोले प्रमाण में ले के द्विगुण शहद मिला कर प्रतिदिन सेवन करने से वातजन्य स्वरभङ्ग नष्ट होता है ॥ १२ ॥

सुखोदकानुपानो वा ससर्पिष्को गुडौदनः ॥ १३ ॥

स्वरभङ्गे गुडौदनप्रयोगः—गुड़ के पानी में चावल पका के उनमें अच्छा घी डाल कर कुछ मन्दोष्ण पानी के अनुपात के साथ सेवन करने से वातज स्वरभङ्ग-रोग नष्ट होता है ॥१३॥

क्षीरानुपानं पित्ते तु पिबेत् सर्पिरतन्द्रितः।
अश्नीयाच्च ससर्पिष्कं यष्टीमधुकपायसम् ॥ १४ ॥

पैत्तिकस्वरभेदचिकित्सा—पित्तजन्य स्वरभङ्ग को नष्ट करने के लिये अतन्द्रित (आलस्यरहित) हो के दुग्ध के अनुपान के साथ घृत का सेवन करना चाहिए तथा पथ्य में क्षुधा लगने पर मुलेठी के द्वारा सिद्ध किये हुये दुग्ध में चावल पका के उनमें घृत डाल कर सेवन करें अथवा मुलेठी के ३ माशे चूर्ण का पायस (क्षीरान्न = दुग्धसिद्ध चावल) में प्रक्षेप दे के भोजन करना चाहिए ॥ १४ ॥

लिह्यान्मधुरकाणां वा चूर्णं मधुघृताप्लुतम्।
शतावरीचूर्णयोगं बलाचूर्णमथापि वा ॥ १५ ॥

पैत्तिकस्वरभेदे मधुरकादियोगाः—काकोल्यादि मधुरवर्ग की औषधियों के ३ माशे से ६ माशे चूर्ण को शहद ६ माशे तथा घृत १ तोले के साथ मिश्रित कर चटावें। अथवा केवल शतावर के ६ माशे चूर्ण को शहद और घृत के साथ चटावें। किंवा शतावर के चूर्ण को उक्त काकोल्यादि मधुरवर्ग की औषधियों के चूर्ण के साथ मिला के शहद और घृत के साथ चटावें। अथवा बला (खरेटी) की जड़ के चूर्ण को काकोल्यादि चूर्ण में साथ संयुक्त किंवा स्वतन्त्र रूप से मधु और घृत में मिला के चटावें ॥ १५ ॥

पिबेत् कटूनि मूत्रेण कफजे स्वरसङ्क्षये।
लिह्याद्वा मधुतैलाभ्यां भुक्त्वा खादेत् कटूनि वा ॥१६॥

कफजस्वरभेदचिकित्सा—कफ के प्रकोप के कारण उत्पन्न हुये स्वरभेद रोग में कटु (चरपरे) द्रव्यों—जैसे सोंठ, मरिच और पिप्पली आदि के चूर्ण को ३ माशे से ६ माशे प्रमाण में लेकर गोमूत्र के सहपान या अनुपान के साथ सेवन करना चाहिए। अथवा कटु द्रव्य चूर्णों को शहद और तैल के साथ चाटें। अथवा भोजन करने के पश्चात् कटु द्रव्यों का सेवन करें॥

स्वरोपघाते मेदोजे कफवद्विधिरिष्यते ।
सर्वजे क्षयजे चापि प्रत्याख्यायाचरेत् क्रियाम् ॥१७॥

मेदस्त्रिदोषक्षयजस्वरभेदचिकित्सा—मेदोधातु की दुष्टि के कारण उत्पन्न हुये स्वरभेद-रोग में कफजन्य स्वरभेद के समान ही चिकित्सा करनी चाहिए तथा त्रिदोषजन्य एवं क्षय के कारण उत्पन्न हुये स्वरभेद रोग को असाध्य होने से निषेध करके कर्तव्य-बुद्ध्या चिकित्सा करे ॥ १७ ॥

शर्करामधुमिश्राणि शृतानि मधुरैः सह ।
पिबेत् पयांसि यस्योच्चैर्वदतोऽभिहतः स्वरः ॥ १८ ॥

इति सुश्रुतसंहितायामुत्तरतन्त्रान्तर्गते कायचिकित्सातन्त्रे, छर्दिप्रतिषेधो नाम (पञ्चदशोऽध्यायः, आदितः) त्रिपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५३ ॥

अत्युच्चभाषणोत्थस्वरभेदचिकित्सा—गोदुग्ध, भैंस के दुग्ध अथवा बकरी के दुग्ध में से दोषानुसार किसी एक के दुग्ध को लेकर काकोल्यादि मधुरवर्ग की औषधियों के कल्क (और स्वरस या क्वाथ) के साथ सिद्ध करके शर्करा और शहद का प्रक्षेप देकर उच्चैर्भाषणजन्य स्वरभङ्ग के रोगी को प्रतिदिन पिलावें ॥ १८ ॥

विमर्शः—स्वरभङ्गे चरकोक्तयोगाः—बलाविदारिगन्धाभिर्विदार्या मधुकेन वा । सिद्धं सलवणं सर्पिर्नस्यं स्यात्स्वर्यमुत्तमम् ॥ अथवा प्रपौण्डरीकं मधुकं पिप्पली बृहती बला । क्षीरं सर्पिश्च तत्सिद्धं स्वर्यं स्यान्नावनं परम् ॥ स्वरभेदे पथ्यानि—स्वेदो बस्तिर्धूमपानं विरेकः कवलग्रहः । नस्यं भाले शिरावेधो यवा लोहितशालयः ॥ हंसाटवीताम्रचूडकेकिमांसरसाः सुराः । गोकण्टकः काकमाची जीवन्ती बालमूलकम् ॥ द्राक्षा पथ्या मातुलुङ्गं लशुनं लवणार्द्रकम् । ताम्बूलं मरिचं सर्पिः पथ्यानि स्वरभेदिनाम् ॥ बलपुष्टिप्रदं हृद्यं कफघ्नं स्वरशुद्धिकृत् । अन्नं पानञ्च निखिलं स्वरभेदे हितं मतम् ॥ स्वरभेदेऽपथ्यानि—आमं कपित्थं बकुलं शालूकं जाम्बवानि च । तिन्दुकानि कषायाणि वमिं स्वप्नं प्रजल्पनम् ॥ अम्लं दधि च मल्लेन स्वरभेदी विवर्जयेत् । नाप्यभिष्यन्दि संसेव्यं न च शीतक्रिया हिता ॥ दिवास्वापो न कर्तव्यो न च वेगविधारणम् ॥

इति सुश्रुतसंहिताया उत्तरतन्त्रस्य भाषाटीकायां त्रिपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५३ ॥

चतुःपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

अथातः क्रिमिरोगप्रतिषेधमध्यायं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥ २ ॥

अब इसके अनन्तर क्रिमिरोगप्रतिषेध नामक अध्याय का व्याख्यान प्रारम्भ किया जाता है जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने कहा है ॥ १-२ ॥

विमर्शः—माधवनिदानकार ने, अजीर्ण में क्रिमियों की उत्पत्ति होती है 'अजीर्णात् क्रिमिसम्भवः' इसलिये अजीर्ण के अनन्तर क्रिमिनिदान का वर्णन किया है। भारतवर्ष में जीवाणु-कल्पना—भारतीय महर्षि तथा विचारशील विद्वान् अत्यन्त प्राचीनकाल से ही आत्मवादी दिव्यदृष्टि तथा सूक्ष्मदर्शी थे तथा प्रत्यक्ष के साथ अप्रत्यक्ष पर भी आगम (शास्त्र), अनुमान, उपमान और युक्ति की सहायता से विश्वास किया करते थे। इसीलिये भारतीय प्राचीन ग्रन्थों में सूक्ष्म तथा अदृश्य जीवों या क्रिमियों का उल्लेख अनेक स्थल पर मिलता है परन्तु यूरोपीय सभ्यता के लोग अधिकतर अनात्मवादी और प्रत्यक्षपरायण होने के कारण सोलहवीं शताब्दी के पूर्व सूक्ष्म अदृश्य जीवों का अस्तित्व नहीं मानते थे फिर इन सूक्ष्म जीवों का सम्बन्ध संक्रामक रोगों के साथ मानना दूर की कल्पना थी। (१) अथर्ववेद में सूर्यकिरण दृश्य तथा अदृश्य क्रिमियों की घातक मानी गई है—उद्यन्पुरस्तात् सूर्य एति विश्वदृष्टो अदृष्टहा । दृष्टांश्चघ्नन्न दृष्टांश्च सर्वांश्च प्रमृणन् क्रिमीन् ॥ (२) महाभारत में सूक्ष्म अदृश्य जीवों का सर्वव्यापित्व कथन कर अहिंसा की अशक्यता अर्जुन ने बतलाई है—न हि पश्यामि जीवन्तं लोके कश्चिदहिंसया । सत्त्वैः सत्त्वा हि जीवन्ति दुर्बलैर्बलवत्तराः ॥ उदके बहवः प्राणाः पृथिव्यांश्च फलेषु च । सूक्ष्मयोनीनि भूतानि तर्कगम्यानि भारत ॥ पक्ष्मणोऽपि निपातेन येषां स्यात्स्कन्दपर्ययः ॥ (महाभारत) (३) चरक, सुश्रुत, वाग्भट, शार्ङ्गधर और हारीतसंहिता आदि आयुर्वेद के ग्रन्थों में रक्तगत क्रिमियों का वर्णन करते समय उनका अदृश्य रूप तथा विकारी प्रभाव भी स्पष्टतया बतलाया गया है—'सूक्ष्मत्वाच्चैके भवन्त्यदृश्याः' (चरक) 'केशादाद्यास्त्वदृश्यास्ते' (सुश्रुत) 'सौक्ष्म्यात् केचिददर्शनाः' (वाग्भट) 'रक्तस्था जन्तवोऽणवः', 'केचित् सूक्ष्मास्तथाऽणवः' (हा० सं०) 'शोणितजानान्तु कुष्ठैः समानं समुत्थानम्' (चरक) 'रक्ताधिष्ठानजान् प्रायो विकारान् जनयन्ति ते' (सुश्रुत) 'षट् ते कुष्ठैककर्माणः' (वाग्भट) 'इति प्रसिद्धा गणिता ये क्रिमिपद्रवा भुवि । असंख्याश्चापरे धातुमूलजीवादिसम्भवाः ॥ (शार्ङ्गधर) आयुर्वेद में जीवाणुओं का स्थान अत्यन्त गौण है। वातादि-दोषों की प्रधानता मानी जाती है। एलोपेथी में सूक्ष्म-दर्शक यन्त्र के आविष्कृत होने के समय (१६८३) के पश्चात् भी एक शताब्दी तक जीवाणुओं के विषय में कोई उन्नति नहीं हुई। धीरे-धीरे इस यन्त्र का उपयोग रोगी की रक्तादिपरीक्षा में शुरू हुआ और उसमें सूक्ष्म क्रिमियों का अस्तित्व विदित हुआ। इस तरह जीवाणुविज्ञान का उदय केवल गत शताब्दि के प्रारम्भ से हुआ है। फ्रांस का पैश्च्योर नामक वैज्ञानिक इसका जन्मदाता है। सन् १८४० में बर्लिन के हेनल नामक शास्त्रज्ञ ने सर्वप्रथम इन सूक्ष्म क्रिमियों का सम्बन्ध संक्रामक रोगों के साथ सूचित किया और सम्बन्धदर्शक कुछ प्रमाण भी पेश किये। तत्पश्चात् कौक नामक शास्त्रज्ञ ने इनके ऊपर अधिक परिशीलन करके अपने चार नियम प्रस्तुत किये जिनके अनुसार अज्ञात जीवाणु का सम्बन्ध रोग के साथ निश्चित किया जाता है।

बाद में अनेक शास्त्रज्ञों ने संक्रामक रोगों पर अनुसन्धान करके उनके कारणभूत जीवाणुओं का पता चलाया और इन रोगों की विशिष्ट चिकित्सा भी प्रारम्भ की। इस प्रकार विज्ञान की दृष्टि से यह जगत् चेतन और जड़ दो भागों में विभक्त है तथा चेतन-सृष्टि भी दो भागों में विभक्त है। (१) जङ्गम या प्राणिविभाग और (२) औद्भिद या वनस्पतिविभाग। इन दोनों विभागों का सामान्य विचार जिस शास्त्र में होता हो उसका नाम जीवशास्त्र है। इस चेतनसृष्टि में जो अत्यन्त सूक्ष्म जीव होते हैं तथा जिन्हें हम इन चर्मचक्षुओं से नहीं देख सकते वे जीवाणु कहलाते हैं। इनमें से वनस्पतिश्रेणी के जीवाणुओं को बेक्टेरिया तथा जो प्राणि-श्रेणी के होते हैं उन्हें प्रोटोझुआ कहते हैं। इन दोनों प्रकार के जीवाणुओं का प्रत्यक्षदर्शन सूक्ष्मदर्शक यन्त्र (Microsope) की सहायता से हो सकता है। तथापि इनके सिवाय कुछ जीवाणु ऐसे भी हैं जिनका प्रत्यक्षदर्शन सूक्ष्मदर्शक यन्त्र की सहायता से भी नहीं हो सकता उन्हें सूक्ष्मदर्शकातीत (Ultramicroscopic) कहते हैं। इन जीवाणुओं में थोड़े जीवाणु उपकारक और थोड़े अपकारक होते हैं। यद्यपि अपकारक जीवाणुओं की संख्या उपकारक जीवाणुओं की अपेक्षा बहुत कम होती है तथापि इनसे भीषण स्वरूप के संक्रामक रोग उत्पन्न होते हैं जो प्रतिवर्ष असंख्य प्राणियों का संहार किया करते हैं। केवल भारतवर्ष में १९१८-१९१९ में एन्फ्लुएञ्जा से ५० लाख से अधिक मनुष्यों की मृत्यु हुई है। (जी० विज्ञान) कृमि—प्राणिविभाग में अनेक सेल के बने हुए अपृष्ठवंशीय जो जीव होते हैं वे कृमि (worms) कहलाते हैं। आयुर्वेद में कृमि, जन्तु, जीवाणु ये पर्यायवाचक शब्द माने गये हैं किन्तु वर्तमान विज्ञान ने जीवाणु और कृमियों में भेद कर दिया है। इस तरह वर्तमान विज्ञान में विभिन्न रोगों के कारणभूत अनेक जीवों और जीवाणुओं का वर्णन किया गया है तथा नये-नये कृमि और जीवाणुओं का अन्वेषण होता जा रहा है। इन्हें (१) मलोपजीवी (Saprophytes या अवैकारिक) तथा परोपजीवी (Parasite या वैकारिक) ऐसे दो भेदों में बाँटा जा सकता है। ये कृमि और जीवाणु शरीर में दोषवैषम्य, मलाधिक्य आदि अपनी अनुकूल परिस्थितियों में ही क्रियाशील होते हैं और स्वस्थवृत्त के नियमों (शौच, यम, नियमादि) के पालन द्वारा जिनमें दोषसाम्य होता है उन पर प्रतिकूल परिस्थिति के कारण अकिञ्चित्कर होते हैं अतएव प्राचीन आचार्यों ने इनको आजकल के समान विशेष महत्त्व या प्राधान्य नहीं दिया है।

अजीर्णाध्यशनासात्म्यविरुद्धमलिनाशनैः।
अव्यायामदिवास्वप्नगुर्वतिस्निग्धशीतलैः ॥ ३ ॥
माषपिष्टान्नविद्लबिसशालूकसेरुकैः।
पर्णशाकसुराशुक्तदधिक्षीरगुडेक्षुभिः ॥ ४ ॥
पललानूपपिशितपिण्याकपृथुकादिभिः।
स्वाद्वम्लद्रवपानैश्च श्लेष्मा पित्तञ्च कुप्यति ॥
कृमीन् बहुविधाकारान् करोति विविधाश्रयान् ॥ ५ ॥

कृमीणां निदानम्—अजीर्ण तथा अजीर्णावस्था में अशन (भोजन), अध्यशन, असात्म्य अशन, विरुद्धाशन और मलिन अशन (भोजन) करने से, व्यायाम न करने से, दिवाशयन से, गुरुभोजन, अत्यधिक स्निग्ध भोजन और अतिशीत आहार-विहार का सेवन करने से, माष (उड़दी) की दाल तथा उड़दी के बने अन्य गरिष्ठ पदार्थ, पिष्टान्न अर्थात् चाँवलों की पिट्ठी से बनाये हुये पदार्थ, विद्ल अर्थात् मोठ, चने आदि की दालों के द्वारा बनाये हुये पदार्थों का सेवन करने से तथा बिस (मृणाल=कमलनाल), शालूक (पद्मकन्द) और कसेरू के सेवन से, एवं पत्रशाक, सुरा (विविध प्रकार के मद्य), सिरके, दही, दुग्ध, गुड़ और सांठे इनके अधिक सेवन से तथा पलल (तिलकल्क), आनूप (जलप्राय) देश के पशु-पक्षियों के मांस, पिण्याक (तिल आदि की खल) तथा पृथुक (चिवड़े) का निरन्तर सेवन करने से तथा मीठे और खट्टे द्रव पदार्थ (गुड़ मिला इमली का पानी) के अधिक पीने से कफ और पित्त प्रकुपित होकर शरीर के अनेक अवयवों (हृदय, आन्त्र आदि) में निवास करनेवाले तथा विविध स्वरूप के कृमि उत्पन्न होते हैं ॥३-५॥

विमर्शः—अजीर्णलक्षणम्—न जीर्यति सुखेनान्नं विकारान् कुरुतेऽपि च। तदजीर्णमिति प्राहुस्तन्मूला विविधा रुजः॥ अर्थात् अन्न का ठीक पाचन न होना ही अजीर्ण है। इसके कारण अनेक व्याधियों की उत्पत्ति होती है। इसी प्रकार समय पर भुक्त भोजन के अनुपात से मलत्याग का न होना, अधिक होना या कम होना भी अजीर्ण कहलाता है। छर्दि रोग भी प्रायः अजीर्ण का ही कार्य है। पाचक-रसों की अल्पता, अधिकता या अभाव एवं आन्त्रिक गतियों की अव्यवस्था ही पाचनाभाव (Indigestion) या अजीर्ण के लिये उत्तरदायी हैं। अध्यशनम्—अजीर्णे भुज्यते यत्तु तदध्यशनमुच्यते॥ (सु० सू० अ० ४६) अन्यच्च—'भुक्तं पूर्वान्नशेषे तु पुनरध्यशनं मतम्' अजीर्णावस्था में जो भोजन किया जाता है उसे अध्यशन कहते हैं अथवा पूर्व में भुक्त अन्न के ठीक परिपक्व न होकर शेष रहने पर पुनः जो भोजन कर लिया जाता है उसे अध्यशन कहते हैं। असात्म्यं = प्रकृतिप्रतिकूलमशनम्। सात्म्यं नाम यदात्मनि उपशेते अथवा यत्सातत्येनोपसेव्यमानमुपशेते तत्सात्म्यम्। जो आत्मा (तथा शरीर) के लिये हितकारी आहार-विहार हो उसे सात्म्य कहते हैं। अथवा जिसका निरन्तर सेवन करते रहने से आत्मा तथा शरीर का हित हो। यह सात्म्य कई प्रकार का होता है, जैसे देशसात्म्य, कालसात्म्य, ओकसात्म्य आदि। अर्थात् देश, काल और प्रकृति की दृष्टि से जिसको जिस प्रकार का भोजन हितकारी हो वह सात्म्य भोजन है तथा उसके विपरीत असात्म्य। विरुद्धाशनम् या विरुद्धपदार्थ—संयोगविरुद्ध, कर्मविरुद्ध, मानविरुद्ध और रसवीर्यविपाकादिविरुद्ध ऐसे विरुद्ध पदार्थ या द्रव्यों का वर्णन शास्त्र में किया गया है। संयोगविरुद्ध—जैसे नवाङ्कुरित धान्य तथा वसा, मधु, दुग्ध, गुड़, उड़दी इनके साथ ग्राम्य, आनूप और औदक जीवों का मांस नहीं खाना चाहिए। काकमाची को मरिच और पिप्पली के साथ नहीं खाना चाहिए। मधु गरम जल के साथ नहीं सेवन करें। मद्य, खिचड़ी और खीर (पायस = दुग्धपाक) एक साथ नहीं खाने चाहिए। मछली को दुग्ध के साथ न खावें। कर्मविरुद्ध द्रव्य या संस्कारविरुद्ध द्रव्य—जैसे सरसों के तैल में भूने हुए पारावत नहीं खाने

चाहिए। कांस्य के पात्र में १० दिन तक रखा हुआ घृत नहीं खाना चाहिए। मानविरुद्धद्रव्य—जैसे शहद और पानी तथा शहद और घृत समान प्रमाण में ले के नहीं सेवन करें। रसवीर्यविपाकविरुद्ध—मधुर और अम्ल तथा मधुर और लवण-रस, रस और वीर्यमें परस्पर विरुद्ध हैं। मधुर और कटु रस सब बातों में परस्पर विरुद्ध हैं। मधुर और तिक्त रस तथा मधुर और कषाय-रस रस और विपाक में परस्पर विरुद्ध हैं। अतः इनका सेवन न करें। बाह्यक्रिमिनिदान—शरीर एवं वस्त्रों की भली-भाँति सफाई न करना, स्नान न करना या गन्दे जल से स्नान करना, त्वचा के विकारों से संक्रान्त व्यक्तियों से सम्पर्क रखना इत्यादि बाह्य कृमियों की उत्पत्ति में हेतु हैं। आभ्यन्तरक्रिमीणां निदानम्—अजीर्णभोजी मधुराम्लनित्यो द्रवप्रियः पिष्टगुडोपभोक्ता। व्यायामवर्जी च दिवाशयानो विरुद्धभुक् संलभते क्रिमींस्तु॥ अजीर्ण में भोजन करने वाले, मधुर और अम्ल पदार्थों का अधिक सेवन करने वाले, द्रव (पतले) पदार्थों के प्रेमी, पिष्टमय पदार्थ और गुड़ का अधिक सेवन करने वाले, व्यायाम न करने वाले, दिवाशयनशील तथा विरुद्धाहारी मनुष्यों को कृमिरोग हो जाता है। आभ्यन्तर क्रिमियों की उत्पत्ति का यह सामान्य निदान है। विभिन्न स्थानों में होने वाले क्रिमियों के निदान का वर्णन आगे किया जायगा। उक्त सभी कारण क्रिमियों के साक्षात् उत्पादक न होते हुये भी क्रिमिरोग को उत्पन्न करने में परम एवं अनिवार्य सहायक कारण अवश्य हैं। उक्त श्लोकवर्णित स्वभाव वाले व्यक्तियों में क्रिमि रोग अधिकतर पाया जाता है। ये सभी कारण प्रायः कफवर्द्धक हैं। कफ की अधिकता होने से मन्दाग्नि का होना भी स्वाभाविक ही है तथा अग्नि (पित्त) की मन्दता रहने पर क्रिमियों की भी वृद्धि होती है। अजीर्ण के अन्दर खाद्यान्न आन्त्र के अन्दर विकृत दशा में रहता है। इस विकृत सड़े-गले खाद्य पर ही ये क्रिमि अपनी अधिकाधिक वृद्धि एवं पुष्टि करते हैं। मधुर पदार्थ क्रिमियों की वृद्धि के लिए उत्तम माध्यम है। इसके ज्ञान के कारण ही क्रिमिचिकित्सा में गुड़ या आजकल ग्लूकोज का प्रयोग औषध के साथ करते हैं। इनके प्रयोग से आन्त्रस्थ क्रिमि मधुरप्रिय होने से उस पर आकर लिपट जाते हैं तथा मीठे के साथ क्रिमिघ्न औषध को भी खा जाते हैं और मर जाते हैं। दूसरा लाभ यह भी है कि मधुरतालोभवश अधिकांश क्रिमि एक स्थान पर ही एकत्रित हो जाते हैं और इसी अवस्था में क्रिमिघ्न औषध और विरेचक औषध का प्रयोग किया जाता है, जिससे क्रिमि मर जाते हैं एवं मर कर मल के साथ बाहर भी निकल जाते हैं। 'विरुद्धभोजन' से क्रिमियों से उपसृष्ट (व्याप्त) खाद्य तथा पेय का भी ग्रहण कर लेना चाहिए।

आमपक्वाशये तेषां कफविड्जन्मनां पुनः।
धमन्यां रक्तजानां च प्रसवः प्रायशः स्मृतः॥ ६॥

क्रिमीणामुत्पत्तिस्थानानि—कफ से उत्पन्न होने वाले क्रिमियों का आमाशय में, विष्ठा से उत्पन्न होने वाले क्रिमियों का पक्वाशय में और रक्त से उत्पन्न होने वाले क्रिमियों का धमनी में बहुधा जन्म होता है॥ ६॥

विमर्शः—आचार्य वाग्भट ने कफ, रक्त तथा मल से उत्पन्न होने वाले क्रिमियों के उत्पन्न होने के स्थान का तथा वहाँ से उनके विसर्पणमार्ग, स्वरूप तथा होने वाले लक्षणों का निम्नरूप से वर्णन किया है—कफजक्रिमिनिरूपणम्—कफादामाशये जाता वृद्धाः सर्पन्ति सर्वतः। पृथु ब्रध्ननिभाः केचित् केचिद्गण्डूपदोपमाः॥ रूढधान्याङ्कुराकारास्तनुदीर्घास्तथाऽणवः। श्वेतास्ताम्रावभासाश्च नामतः सप्तधा तु ते। अन्त्रादा उदरावेष्टा हृदयादा महागुदाः। चुरवो दर्भकुसुमाः सुगन्धास्ते च कुर्वते। हृल्लासमास्यस्रवणमविपाकमरोचकम्। मूर्च्छाच्छर्दिज्वरानाहकार्श्यक्षवथुपीनसान्॥ (वा० नि० अ० १४) कफ की अधिकता से आमाशय में उत्पन्न होने वाले कफज क्रिमि वृद्धि को प्राप्त करके नीचे और ऊपर की ओर घूमते हैं। उनमें से कुछ चमड़े की मोटी ताँत के समान तथा कुछ केंचुओं (Earthworms) के समान लम्बे होते हैं। कुछ नवोत्पन्न धान्याङ्कुर के समान आकार वाले, छोटे एवं सूक्ष्म होते हैं। इनका वर्ण श्वेत या ताम्राभ होता है। अन्त्राद, उदरावेष्ट, हृदयाद, महागुद, चुरु, दर्भकुसुम तथा सुगन्ध नाम भेद से ये सात प्रकार के होते हैं। इनके कारण जी मिचलाना, लालास्राव, अजीर्ण, अरुचि, मूर्च्छा, छर्दि, ज्वर, आनाह, कृशता, छींक तथा पीनस रोग की उत्पत्ति होती है। रक्तजक्रिमिनिरूपणम्—रक्तवाहिसिरास्थाना रक्तजा जन्तवोऽणवः। अपादा वृत्तताम्राश्च सौक्ष्म्यात् केचिददर्शनाः॥ केशादा रोमविध्वंसा रोमद्वीपा उदुम्बराः। षट् ते कुष्ठैककर्माणः सहसौरसमातुराः॥ (वा० नि० अ० १४) रक्तवाही सिराओं में रहने वाले रक्तक्रिमि अतिसूक्ष्म, पादरहित, गोल तथा ताम्रवर्ण के होते हैं। इनमें से कुछ अतिसूक्ष्म होने के कारण आँखों से दिखाई भी नहीं देते। ये संख्या में ६ हैं, एवं इनके नाम केशाद, रोमविध्वंस, रोमद्वीप, उदुम्बर, सौरस तथा मातुर हैं। ये सभी कुष्ठ को उत्पन्न करते हैं। कुष्ठ के समान हर्ष, कण्डू, तोद, केश और श्मश्रु आदि का विध्वंस, त्वचा, सिरा, स्नायु, मांस तथा तरुणास्थि का भक्षणरूप कर्म भी ये जीवाणु करते हैं। 'कुष्ठैककर्माणः'-कुष्ठेन सह एकं समानं कर्म येषान्ते। यहाँ पर केवल कुष्ठकारक जीवाणुओं का ही वर्णन किया गया है। प्राचीन आचार्यों द्वारा वर्णित कुष्ठरोग में अर्वाचीन कुष्ठरोग (Leprosy) के अतिरिक्त अनेक अन्य रोगों का भी समावेश है, जिन्हें आजकल त्वग्रोग मात्र मानते हैं। इस समय वैज्ञानिक अन्वेषण के आधार पर रक्त में पाये जाने वाले अनेक जीवाणुओं का ज्ञान हो चुका है। ज्वरोत्पादक जीवाणुओं का स्थान रक्त ही है। मलेरियाज्वर इसका प्रमुख उदाहरण है। अन्य ज्वरों में भी रक्त में जीवाणु पाये जाते हैं। रक्त के अतिरिक्त थूक, अक्षिस्राव, मस्तिष्कसुषुम्नाजल आदि में भी विभिन्न रोगों के जीवाणु पाये जाते हैं तथा सूक्ष्मदर्शक की सहायता से इनका प्रत्यक्ष भी होता है। अतएव इन्हें अदृश्य भी नहीं कहा जा सकता किन्तु ये केवल चर्मचक्षुओं से तो अदृश्य ही हैं। इन श्लोकों से यह प्रमाणित होता है कि प्राचीनों को भी इसका ज्ञान था कि कुछ रोग ऐसे भी हैं जिनके मुख्य उत्पादक हेतु जीवाणु हैं और उन्हीं के द्वारा इनका विभिन्न व्यक्तियों में संक्रमण होता है। आजकल अनेक नवीन रोग उत्पन्न हो गये हैं। ऐसे भी अनेक रोग हैं, जिन्हें पहले असंक्रामक समझा जाता था और आज वे संक्रामक हो गये हैं। विसूचिका का जो वर्णन प्राचीन ग्रन्थों में मिलता है वह संक्रामक नहीं है, किन्तु आज यह रोग घोर संक्रामक

माना जाता है। यह तो निश्चित ही है कि अनेक रोगों की उत्पत्ति का मूल कारण जीवाणु भी है। यह सिद्धान्त प्राचीनों को भी मान्य था। पुरीषजक्रिमिवर्णन -पक्वाशये पुरीषोत्था जायन्तेऽधोविसर्पिणः। प्रवृद्धाः स्युर्भवेयुश्च ते यदाऽऽमाशयोन्मुखाः। तदाऽऽस्योद्गारनिःश्वासा विड्गन्धानुविधायिनः। पृथुवृत्ततनुस्थूलाः श्यावपीतसितासिताः॥ ते पञ्च नाम्ना क्रिमयः ककेरुकमकेरुकाः। सौसुरादा सशूलाख्या लेलिहा जनयन्ति हि॥ विड्भेदशूलविष्टम्भकार्श्यपारुष्यपाण्डुताः। रोमहर्षाग्निसदनं गुदकण्डूर्विमार्गगाः। (वा० नि० अ० १४) पुरीषज क्रिमि पक्वाशय में उत्पन्न होते हैं। ये नीचे की ओर गति करते हैं। अधिक वृद्धि करने पर जब वे आमाशय की ओर बढ़ने लगते हैं तो उद्गार (डकार) तथा श्वास में विष्ठा के समान गन्ध आने लगती है। ये मोटे, गोल, छोटे या लम्बे होते हैं। इनमें से कुछ काले, कुछ पीले, कुछ सफेद तथा कुछ नीले रङ्ग के होते हैं। ककेरुक, मकेरुक, सौसुराद, सशूल तथा लेलिह उनके ये पाँच नाम हैं। ये विरुद्ध मार्ग में पहुंचने पर मलभेद, शूल, मलावरोध, कृशता, रूक्षता, पाण्डुता, रोमाञ्च, अग्निमान्द्य तथा गुदा में कण्डू को उत्पन्न करते हैं। पुरीषज तथा कफज क्रिमि को आन्त्रिक क्रिमि (Intestinal worms) कह सकते हैं। इस श्रेणी में अङ्कुशमुखकृमि (Hook worm), गण्डूपदकृमि (Round worm), स्फीतकृमि (Tape worm) तथा सूत्रकृमि (Thread-worm) आते हैं। इन सब का निवासस्थान महास्रोत है। अङ्कुशमुख क्रिमि—Hook worm, इसी को आन्त्राद-क्रिमि कहते हैं तथा इससे उपसृष्ट व्यक्ति के मल में इसके अण्डों की उपस्थिति पाई जाती है। ये अण्डे गीली भूमि में पड़े रह कर दो तीन दिन में लार्वा (Larva इल्ली) का रूप धारण कर लेते हैं। इसके पश्चात् इनका और भी रूपान्तर होता है। इस अवस्था में ये तीन या चार मास तक जीवित रह सकते हैं। यदि कोई व्यक्ति ऐसे स्थान पर नंगे पैर जाता है तो ये इल्लियाँ (लार्वे) उसकी त्वचा के द्वारा अन्दर प्रविष्ट होकर लसीकावाहिनियों या सिराओं के द्वारा हृदय के दक्षिण निलय में पहुंच जाती हैं। वहां से रक्तद्वारा फुफ्फुस तथा फुफ्फुस से कण्ठनाडी (Trachea), अन्नप्रणाली (Oesophagus) तथा अन्ततोगत्वा अपने निर्दिष्ट स्थान (पच्यमानाशय Duodenum and Jejunum) में आकर ठहर जाती हैं। दो सप्ताह में इनकी आकारवृद्धि होती है, एवं लगभग चार सप्ताह में ये पूर्ण पुष्ट हो जाती हैं। यहां रहते हुए स्त्रीकृमि गर्भवती होकर अण्डे देती है, जो कि मल द्वारा निकल कर पुनः पूर्वोक्त रूपों को धारण करके उपसर्ग में सहायता करते हैं। इन क्रिमियों का मुख अङ्कुश के समान होता है और इसके द्वारा ये आन्त्र की दीवार में चिपके रहते हैं तथा रक्त का पान भी करते रहते हैं। इसके परिणामस्वरूप रक्तक्षय (Anaemia) या पाण्डुता की उत्पत्ति होती है। रक्त में शोणांश (Haemoglobin) की अत्यधिक कमी हो जाती है एवं भयङ्कर अवस्था में रक्तकणों की संख्या भी बहुत कम हो जाती है। इसके अतिरिक्त हृदयप्रदेश में पीड़ा, श्वासकृच्छ्रता, विवर्णता तथा मुख और शरीर की रूक्षता आदि लक्षण होते हैं। इनमें से कुछ लक्षणों का वर्णन माधव ने आभ्यन्तर क्रिमियों के सामान्य एवं विशिष्ट लक्षणों का वर्णन करते हुए किया है। गण्डूपदक्रिमि (Round worm)—इसे महागुद भी कहते हैं। इसका उपसर्ग रहने पर रोगी को ज्वर रहता है जो कि प्रायः अनियत या सन्तत स्वरूप का भी हो सकता है। यह प्रायः बच्चों में होता है। रात्रि को सोते समय दांत बजाना (कट कट करना) इसका मुख्य लक्षण है। रोगी व्यक्ति के मल से निकले हुए अण्डों से उपसृष्ट खाद्य पदार्थ के सेवन से ये स्वस्थ व्यक्ति के आन्त्र में पहुंच जाते हैं। आमाशय में अम्ल से उनके ऊपर का आवरण गल जाता है तब ये स्वतन्त्र होकर यकृत् में होते हुए सिरा द्वारा हृदय में और वहां से अङ्कुशमुख कृमि की ही भांति फुफ्फुस में आकर पुष्ट होते हैं। वहां से पुनः आमाशय में होते हुए आन्त्र में प्रविष्ट होते हैं। वहां उनकी वृद्धि होती है और वृद्धि प्राप्त कर परिपक्वावस्था को प्राप्त होते हैं। ये अत्यन्त चञ्चल और गतिशील होते हैं। प्रायः आन्त्र में कुण्डलितावस्था में रहते हैं और विड्भेद, उदरशूल, अतिसार, वमन आदि अनेक लक्षणों को उत्पन्न करते हैं। कभी कभी मल के साथ गुदमार्ग से बाहर आते हैं। कभी कभी आमाशय में पहुंच कर उत्क्लेश और वमन उत्पन्न करते हैं और कभी वमन के साथ बाहर भी निकलते हैं। ये आन्त्र के भीतर अण्डे देकर नवीन क्रिमियों को भी जन्म देते हैं तथा ये अण्डे मल के साथ निकल कर दूसरे व्यक्ति में उपसर्ग के कारण होते हैं। कभी कभी ये कुण्डलित होकर आन्त्रछिद्र को ही पूर्णतया बन्द कर देते हैं, जिससे बद्धगुदोदर या आन्त्रावरोध (Acute intestinal obstruction) हो सकता है। कदाचित् पित्तवाहिनी में अवरोध उत्पन्न करके कामला (Jaundice) रोग की भी उत्पत्ति करते हैं। स्फीतकृमि (Tape worm) या उदरावेष्ट—यह ८–१० फीट लम्बा तथा फीते के समान चौड़ा और चिपटा कृमि होता है। यह अपने गोल सिर में स्थित बडिशों द्वारा आन्त्र में चिपका रहता है। इसके शरीर में छोटे-छोटे अनेक पर्व होते हैं तथा प्रत्येक पर्व में अण्डे होते हैं। जब परिपक्व होने पर अन्तिम ४–६ पर्व मल द्वारा बाहर निकलते हैं तो उनके आकार कद्दू के बीज के समान होते हैं। कभी-कभी पेट में दर्द, वमन, मन्दाग्नि या भस्मक रोग तथा पाण्डु आदि लक्षण उत्पन्न होते हैं। इसका उपसर्ग प्रायः सूकरमांसभोजियों में इससे दूषित मांस द्वारा होता है। तन्तुकृमि (Thread worm) या चुन्न—ये क्रिमि बीजाङ्कुर या सूत्र की भांति श्वेत व बहुत छोटे ½ जौ के बराबर लम्बे होते हैं और प्रायः बच्चों में मिलते हैं तथा रात्रि में गुदमार्ग से बाहर निकलते हैं। इनसे गुदकण्डू के अतिरिक्त कभी-कभी प्रवाहिका, गुदभ्रंश, शय्यामूत्र और प्रतिश्याय आदि लक्षण उत्पन्न होते हैं।

विंशतेः कृमिजातीनां त्रिविधः सम्भवः स्मृतः।
पुरीषकफरक्तानि तासां वक्ष्यामि विस्तरम्॥ ७॥

विंशतिकृमीणां त्रिधोत्पत्तिः—आयुर्वेदशास्त्र में जो क्रिमियों की जाति या संख्या बीस प्रकार की लिखी गई है। उसका उत्पत्ति की दृष्टि से वर्गीकरण तीन प्रकार का किया गया है जैसे पुरीष (मल) में होने वाले क्रिमि, कफ में होने वाले क्रिमि और रक्त में होने वाले क्रिमि। अब आगे उनका विस्तारपूर्वक वर्णन किया जाता है॥ ७॥

विमर्शः—यद्यपि क्रिमि अनन्त होते हैं, इसीलिये यहाँ पर इनकी अनन्तता के ज्ञापनार्थ जातिशब्द का प्रयोग किया गया है, किन्तु वह अनन्तता इस बीस प्रकार में ही समाविष्ट हो जाती है। पूर्व में क्रिमियों की उत्पत्ति का कारण 'अजीर्णभोजी मधुराम्लनित्यः, इत्यादि द्वारा अजीर्ण आदि को माना है। पुनः यहाँ पर'मल,'कफ'और रक्तको लिखने का क्या तात्पर्य है? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि वास्तव में अजीर्ण आदि पुरीष, कफ और रक्त की दुष्टि में कारण होते हैं तथा ये दूषित हुये मल कफ और रक्त क्रिमि की उत्पत्ति करते हैं। वस्तुतस्तु पुरीष, कफ और रक्त क्रिमिजनक नहीं होते, किन्तु उपचार से उन्हें भी कृम्यारंभक मान लिया है, जैसे उष्ण घृत से जलने में मुख्य कारण अग्नि ही होती है, किन्तु घृत में उपचार कर देने से उष्णघृत दग्धकहा जाता है। निष्कर्ष—अजीर्णादि कारणों से प्रकुपित हुये दोष पुरीष, कफ और रक्त में अधिष्ठित होकर क्रिमियों को उत्पन्न करते हैं।

अजवा विजवाः किप्याश्चिप्या गण्डूपदास्तथा।
चुरवो द्विमुखाश्चैव ज्ञेयाः सप्त पुरीषजाः॥ ८॥

पुरीषजकृमीणां नामानि—अजवा, विजवा, किप्य, चिप्य, गण्डूपद, चुरु और द्विमुख ये सात पुरीषजन्य क्रिमि हैं॥ ८॥

विमर्शः—अजवाः = जवो वेगस्तद्रहिता अजवा मन्दवेगा वा। विजवाः = विशिष्टो जवो वेगो येषान्ते विजवाः तीव्रगतिशीलाः।

श्वेताः सूक्ष्मास्तुदन्त्येते गुदं प्रतिसरन्ति च।
तेषामेवापरे पुच्छैः पृथवश्च भवन्ति हि॥ ९॥
शूलाग्निमान्द्यपाण्डुत्वविष्टम्भबलसङ्क्षयाः।
प्रसेकारुचिहृद्रोगविड्भेदास्तु पुरीषजैः॥ १०॥

पुरीषजक्रिमीणां स्वरूपं लक्षणञ्च—ये क्रिमि वर्ण में श्वेत तथा सूक्ष्म आकृति वाले होते हैं एवं स्वस्थान में काटने की सी पीड़ा करते हैं तथा इनकी गति गुदा की ओर होती है। इनमें से कुछ क्रिमि पूँछ पर चपटे होते हैं। ये पुरीषजन्य क्रिमि शूल, अग्निमान्द्य, पाण्डुता, विष्टम्भ (कब्जी), बल का नाश, लालास्राव, अरुचि, हृदयरोग तथा अतिसार उत्पन्न करते हैं॥ ९-१०॥

रक्ता गण्डूपदा दीर्घा गुदकण्डूनिपातिनः।
शूलाटोपशकृद्भेदपक्तिनाशकराश्च ते॥ ११॥

गण्डूपदक्रिमिस्वरूप लक्षणञ्च—उक्त पुरीषजन्य क्रिमियों में गण्डूपद क्रिमि लाल वर्ण का, लम्बा, केचुए के आकार का होता है तथा गुदा में खुजली पैदा करता है एवं शूल, आटोप, अतिसार और पाचकाग्नि का विनाश पैदा करता है॥ ११॥

विमर्शः—इसे (Round worm) या महागुद कहते हैं।

दर्भपुष्पा महापुष्पाः प्रलूनाश्चिपिटास्तथा।
पिपीलिका दारुणाश्च कफकोपसमुद्भवाः॥ १२॥

कफजक्रिमिनामानि—दर्भ के पुष्प के समान आकृति वाले, महापुष्प, प्रलून, चिपिट, पिपीलिका और दारुण ये ६ प्रकार के क्रिमि हैं, जो कफ के प्रकोप से उत्पन्न होते हैं॥ १२॥

रोमशा रोममूर्द्धानः सपुच्छाः श्यावमण्डलाः।
रूढधान्याङ्कुराकाराः शुक्लास्ते तनवस्तथा॥१३॥

कफजक्रिमिस्वरूपम्—इनका सारा शरीर बालों से व्याप्त रहता है तथा शिर पर भी बड़े रोम होते हैं एवं, पूँछदार होते हैं। शरीर पर श्याव (काले) चकत्ते होते हैं। ये अङ्कुरित धान्य के अङ्कुर के स्वरूप के तथा वर्ण में श्वेत और पतले अर्थात् सूत्राकार होते हैं॥ १३॥

विमर्शः—इनके शिर पर के बड़े रोम प्रवर्धन के रूप में होते हैं, जिन से ये किसी वस्तु को पकड़ सकते हैं। पूँछ इनकी गति में सहायता करती है। ये तन्तुक्रिमि (Thread worms) हैं।

मज्जादा नेत्रलेढारस्तालुश्रोत्रभुजस्तथा।
शिरोहृद्रोगवमथुप्रतिश्यायकराश्च ते॥ १४॥

कफजक्रिमीणां कर्मविशेषेण संज्ञान्तरम्—ये कृमि मज्जा का भक्षण करते हैं, नेत्र को चाटते हैं, तालु और श्रोत्र (कर्ण) को खाते हैं तथा इनसे शिरोरोग, हृदयरोग, वमन, और प्रतिश्याय उत्पन्न होता है॥ १४॥

केशरोमनखादाश्च दन्तादाः किक्किशास्तथा।
कुष्ठजाः सपरीसर्पा ज्ञेयाः शोणितसम्भवाः॥ १५॥

रक्तजक्रिमिनामानि—केशों को खाने वाले केशाद, रोम को खाने वाले रोमाद, नख को खाने वाले नखाद, दाँतों को खाने वाले दन्ताद तथा किक्किश, कुष्ठज तथा परिसर्प इन भेदों से रक्तजन्य क्रिमि सात प्रकार के माने गये हैं॥१५॥

ते सरक्ताश्च कृष्णाश्च स्निग्धाश्च पृथवस्तथा।
रक्ताधिष्ठानजान् प्रायोविकारान् जनयन्ति ते॥१६॥

रक्तजक्रिमीणां स्वरूपं कार्यञ्च—ये रक्त में होने वाले क्रिमि कुछ रक्तवर्ण के, कुछ कृष्ण वर्ण के तथा स्पर्श में चिकने और स्वरूप में चपटे होते हैं। इन क्रिमियों से रक्त को आश्रित करके उत्पन्न होने वाले रोग जैसे कुष्ठ, वीसर्प, पिडका आदि पैदा होते हैं॥ १६॥

विमर्शः—रक्तजन्यरोग—'कुष्ठविसर्पपिडकामशकनीलिकातिलकालकन्यच्छव्यङ्गेन्द्रलुप्तप्लीहविद्रधिगुल्मवातशोणितार्शोऽर्बुदाङ्गमर्दासृग्दररक्तपित्तप्रभृतयो रक्तदोषजा गुदमुखमेढ्रपाकाश्च।' (सु० सू० अ० २४) चरके शोणितजा रोगाः—मुखपाकोऽक्षिरागश्च पूतिघ्राणास्यगन्धिता। गुल्मोपकुशवीसर्परक्तपित्तप्रमीलकाः। विद्रधी रक्तमेहश्च प्रदरो वातशोणितम्। वैवर्ण्यमग्निनाशश्च पिपासा गुरुगात्रता॥ सन्तापश्चातिदौर्बल्यमरुचिः शिरसश्च रुक्। विदाहश्चान्नपानस्य तिक्ताम्लोद्गिरणं क्लमः॥ क्रोधप्रचुरता बुद्धेः सम्मोहो लवणास्यता। स्वेदः शरीरदौर्गन्ध्यं मदः कम्पः स्वरक्षयः॥ तन्द्रानिद्रातियोगश्च तमसश्चातिदर्शनम्। कण्ड्वरुःकोठपिडकाः कुष्ठचर्मदलादयः॥ विकाराः सर्व एवैते विज्ञेयाः शोणिताश्रयाः। शीतोष्णस्निग्धरूक्षाद्यैरुपक्रान्ताश्च ये गदाः। सम्यक् साध्या न सिद्ध्यन्ति रक्तजान् तान् विभावयेत्॥ (चरक)

माषपिष्टान्नविदलपर्णशाकैः पुरीषजाः।
मांसमाषगुडक्षीरदधितैलैः कफोद्भवाः॥ १७॥
विरुद्धाजीर्णशाकाद्यैः शोणितोत्था भवन्ति हि॥१८॥

पुरीषादिजन्यक्रिमीणां निदानम्—उड़द तथा उड़द के बने पदार्थ, पिष्टमय पदार्थ, मोठ आदि विदल (दालें) और पत्रशाकों से पुरीष (मल) में क्रिमि उत्पन्न होते हैं। मांस, माष

(उड़द), गुड़, दुग्ध, दही और तैल के अधिक सेवन करने से कफज क्रिमि उत्पन्न होते हैं तथा विरुद्ध भोजन, अजीर्ण, एवं अजीर्ण पर किया हुआ भोजन तथा शाकादि के अधिक सेवन करने से रक्तजन्य क्रिमि उत्पन्न होते हैं ॥ १७-१८ ॥

विमर्शः—उड़द तथा पिष्टमय पदार्थ पचने में कठिन (दुर्जर) होने से आन्त्र में अधिक देर तक रहने से उनमें कुछ सड़न होकर गैस बनती है तथा क्रिमि उत्पन्न होते हैं शाकों का अधिक सेवन करना शास्त्र में वर्जित है तथा शाकों में अनेक प्रकार के रोग (रोगजनक जीवाणु) निवास करते हैं—'शाकेषु सर्वेषु वसन्ति रोगाः' शाकों के पत्तों, पुष्पों, फलों और जड़ों पर अनेक दृश्य तथा अदृश्य क्रिमि और जीवाणुओं की उपस्थिति सम्भव है। अतएव शाकों को बाजार से लेते ही गरम या शीतल पानी से भली भाँति मसल-मसल के धो देना चाहिए।

ज्वरो विवर्णता शूलं हृद्रोगः सदनं भ्रमः ।
भक्तद्वेषोऽतिसारश्च सञ्जातक्रिमिलक्षणम् ॥ १९ ॥

आभ्यन्तरक्रिमिसामान्यलक्षणम्—ज्वर, विवर्णता (Discolouration), शूल, हृदय के रोग, अङ्गों की शिथिलता, भ्रम, भोजन से अरुचि और अतिसार (पतली दस्तें लगना) ये लक्षण शरीर में उत्पन्न हुये क्रिमियों के सूचक हैं ॥ १९ ॥

विमर्शः—विवर्णता, हृदय रोग और भ्रम अङ्कुशमुख क्रिमि में पाये जाने वाले प्रधान लक्षण हैं।

दृश्यास्त्रयोदशाद्यास्तु क्रमीणां परिकीर्तिताः ।
केशादाद्यास्त्वदृश्यास्ते द्वावाद्यौ परिवर्जयेत् ॥२०॥

क्रिमीणां दृश्यादृश्यविभागाः—उक्त बीस प्रकार के क्रिमियों में से अजवा से लेकर दारुण तक के क्रिमि दृश्य हैं। अर्थात् इस विभाग में पुरीषजन्य और कफजन्य क्रिमि आते हैं। केशादा आदि रक्तजन्य सात क्रिमि अदृश्य होते हैं। इन रक्तजन्य क्रिमियों में प्रारम्भ के दो क्रिमि (केशाद और रोमाद) असाध्य माने गये हैं ॥ २० ॥

विमर्शः—वाग्भटाचार्य ने बाह्य और आभ्यन्तर भेद से क्रिमियों के प्रथम दो विभाग कर दिये हैं। इनमें बाह्य क्रिमि त्वचा पर लिप्त होने वाले बाह्य मल से उत्पन्न होते हैं तथा कफ, रक्त और और विष्ठा से आभ्यन्तर क्रिमि जन्म लेते हैं। इस तरह उत्पत्ति की दृष्टि से इनके चार भेद होते हैं तथा ये ही चतुर्विध क्रिमि नामभेद से बीस प्रकार के होते हैं। इनमें मलोद्भव बाह्य क्रिमि तिल के समानप्रमाण आकृति एवं वर्ण वाले होते हैं। ये बाल और कपड़ों में निवास करते हैं। ये अनेक पैरों वाले और सूक्ष्म होते हैं। इनमें से बड़े को यूका तथा छोटे को लिक्षा कहते हैं। ये दोनों शरीर में चकत्ते, पिडिका, कण्डू (खुजली) और गण्ड (ग्रन्थिशोथ) उत्पन्न करते हैं—क्रिमयश्च द्विधा प्रोक्ता बाह्याभ्यन्तरभेदतः। बहिर्मलकफासृग्विड्जन्मभेदाच्चतुर्विधाः॥ नामतो विंशतिविधा बाह्यास्तत्र मलोद्भवाः। तिलप्रमाणसंस्थानवर्णाः केशाम्बराश्रयाः। बहुपादाश्च सूक्ष्माश्च यूका लिक्षाश्च नामतः। द्विधा ते कोठपिडकाकण्डूगण्डान् प्रकुर्वते॥ (वा० नि० अ० १४) स्वेद आदि के सम्पर्क से उत्पन्न होने वाले क्रिमि बाह्य कहलाते हैं। दद्रु एवं कण्डू संक्रामक रोग हैं। दद्रु की उत्पत्ति एक विशिष्ट प्रकार की फंगस से होती है तथा कण्डू की उत्पत्ति एक परोपजीवी (Parasite) से होती है जिसे (Sarcoptes scabioi) कहते हैं। इनको भी बाह्यमलज क्रिमि कह सकते हैं। वाग्भट ने केवल जूँ और लीखों का ही वर्णन किया है। आकृति के वर्णन से प्रतीत होता है कि जूँ से यहाँ जमजूँ जो कि बालों के भीतर बहुत स्थानों पर अपने सूक्ष्म पैरों को त्वचा में प्रविष्ट करके बैठी रहती है, समझना चाहिए। इस अवस्था में इसकी आकृति पूर्णतया तिल से मिलती हुई होती है। काले या सफेद तिल के समान इनका वर्ण भी काला या सफेद होता है। इनके पैर भी बहुत होते हैं। अतः बहुपादा विशेषण दिया गया है। कभी-कभी तो चिपटी हुई जमजूँ को लोग शरीरस्थ तिल भी समझ बैठते हैं। इस तरह जूँ या लीख के सिवाय अन्य त्वग्विकारी क्रिमियों का समावेश बाह्यमलज क्रिमियों में कर लेना चाहिए।

एषामन्यतमं ज्ञात्वा जिघांसुः स्निग्धमातुरम् ।
सुरसादिविपक्केन सर्पिषा वान्तमादितः ॥
विरेचयेत्तीक्ष्णतरैर्योगैरास्थापयेच्च तम् ॥ २१ ॥

क्रिमीणां सामान्यचिकित्सा—उक्त पुरीषजन्य तथा कफजन्य क्रिमियों में से किसी एक क्रिमि को शरीर में उत्पन्न हुआ जान उसे मारने की इच्छा से रोगी को प्रथम सुरसादिगण की औषधियों के कल्क और क्वाथ से पक्व हुए घृत के द्वारा स्निग्ध कर कफनाशक तीक्ष्ण औषधियों के द्वारा वमन करा के पश्चात् विरेचनोक्त अत्यन्त तीक्ष्ण (जयपालनिर्मित) योगों से विरेचनकर्म कराना चाहिए। विरेचन के अनन्तर वक्ष्यमाण यवकोलादिक्वाथ से आस्थापन बस्ति देनी चाहिए ॥ २१ ॥

यवकोलकुलत्थानां सुरसादेर्गणस्य च ।
विडङ्गस्नेहयुक्तेन क्वाथेन लवणेन च ॥ २२ ॥

क्रिमिरोगे आस्थापनम्—उक्त विरेचनकर्म करने के पश्चात् यव (जौ), बदरफल और कुलथी के क्वाथ तथा सुरसादिगण की औषधियों को समान प्रमाण में ले के उनका क्वाथ बना कर उसमें सुरसादिगण की औषधियों का कल्क तथा विडङ्ग का कल्क डाल कर कल्क से चतुर्गुण तैल मिला कर उसे यथाविधि पका लेवें। फिर उसमें सैन्धव लवण मिला के उसकी आस्थापन बस्ति देवें ॥ २२ ॥

प्रत्यागते निरूहे तु नरं स्नातं सुखाम्बुना ।
युञ्ज्यात् क्रिमिघ्नैरशनैस्ततः शीघ्रं भिषग्वरः ॥ २३ ॥
स्नेहेनोक्तेन चैनन्तु योजयेत् स्नेहबस्तिना ॥ २४ ॥

आस्थापनोत्तरमनुवासनम्—पूर्वोक्त विधि से दी हुई निरूहण (आस्थापन) बस्ति के प्रत्यागत होने (बाहर निकल आने) पर रुग्ण को सुहाते हुए मन्दोष्ण पानी से स्नान करा के क्रिमिनाशक द्रव्यों (विडङ्गादिक) से साधित जल में यवागू या कृशरा बना के भोजन करावे तथा उसके अनन्तर पुनः यवकोलकुलत्थादिक्वाथ, सुरसादिगणौषधक्वाथ, सुरसादिगणौषधकल्क तथा विडङ्गकल्क से सिद्ध किये हुए स्नेह के द्वारा स्नेहबस्ति (अनुवासनबस्ति) देनी चाहिए ॥२३-२४॥

विमर्शः—क्रिमीणां चरकोक्तचिकित्साक्रमः—तत्र सर्वक्रिमी-

णामपकर्षणमेवादितः कार्यं, ततः प्रकृतिविघातः, अनन्तरं निदानोक्तानां भावानामनुपसेवनम्। (१) प्रथम सर्व क्रिमियों का अपकर्षण (शरीर से बाहर निकालने का कार्य) करना चाहिए। दृश्य कृमियों को हाथ से पकड़कर अथवा किसी उपकरण (सन्दंशयन्त्र) से पकड़ कर खींच लेना चाहिए तथा किसी आभ्यन्तरिक स्थान में स्थित क्रिमियों को औषधि के द्वारा बाहर निकालना चाहिए। भेषजापकर्षणभेदाः—तच्चतुर्विधं, तद्यथा—शिरोविरेचनं, वमनं, विरेचनम्, आस्थापनञ्च। इत्यपकर्षणविधिः। आभ्यन्तर क्रिमियों का भेषज के द्वारा चार प्रकार से अपकर्षण करते हैं, जैसे १-शिरोविरेचन, २-वमन, ३-विरेचन, ४-आस्थापनबस्ति। (२) प्रकृतिविघातस्त्वेषां कटुतिक्तकषायक्षारोष्णानां द्रव्याणामुपयोगः, यच्चान्यदपि किञ्चिच्छ्लेष्मपुरीषप्रत्यनीकभूतं तत् स्यात् इति प्रकृतिविघातः। अर्थात् क्रिमियों को या उनके उत्पादक मूलांश (अण्डे) को नष्ट करने के लिये कटुतिक्तकषायादिरसप्रधान द्रव्यों के स्वरस, क्वाथ, पुपूलिका आदि बना के खाये जाते हैं। (३) अनन्तरं निदानोक्तानां भावानामनुपसेवनम्। यदुक्तं निदानविधौ तस्य विवर्जनं तथाप्रायाणाञ्चापरेषां द्रव्याणाम्। (च० वि० अ० ७) अर्थात् जिन कारणों (अजीर्णभोजी मधुराम्लनित्यो द्रवप्रियः पिष्टगुडोपभोक्ता, इत्यादि) से क्रिमि उत्पन्न होते हैं उनका परिवर्जन करना चाहिए—'संक्षेपतः क्रियायोगो निदानपरिवर्जनम्' विशेष ज्ञान के लिये चरक विमान स्थान अध्याय ७ देखें।

ततः शिरीषकिणिहीरसं क्षौद्रयुतं पिबेत्।
केबूकस्वरसं वाऽपि पूर्ववत्तीक्ष्णभोजनः॥ २५॥

क्रिमिषु अनुवासनोत्तरं कर्म—अनुवासन बस्ति देने के अनन्तर शिरीष की छाल का स्वरस या क्वाथ अथवा शिरीष के पत्तों का स्वरस तथा अपामार्ग के पञ्चाङ्ग के २ तोले भर स्वरस में १ तोला शहद मिलाकर रुग्ण को पिलाना चाहिए। अथवा केबुक के स्वरस में मधु मिलाकर सेवन कराना चाहिए तथा क्षुधा लगने पर तीक्ष्ण द्रव्यों के स्वरस या क्वाथ में सिद्ध भोजन कराना चाहिए॥ २५॥

विमर्शः—तीक्ष्णद्रव्याणि—मूलकसर्षपलशुनकरञ्जशिग्रुमधुशिग्रुकमठखरपुष्पाभूस्तृणसुमुखसुरसकुठेरकगण्डीरककालमालकपर्णासक्षवकफणिज्झकानि सर्वाणि अथवा यथालाभम्॥ (च० वि० अ० ७)

पलाशबीजस्वरसं कल्कं वा तण्डुलाम्बुना।
पारिभद्रकपत्राणां क्षौद्रेण स्वरसं पिबेत्॥ २६॥

क्रिमिषु पलाशबीजस्वरसादियोगः—पलाश (खाखरे) के बीजों को पत्थर पर पीस कर उनका स्वरस निकाल के अथवा पलाशबीज के कल्क (चटनी या चूर्ण) को चाँवल के धोवन के साथ पीना चाहिए। अथवा पारिभद्रक (पर्वतनिम्ब) के पत्तों के स्वरस को शहद के साथ मिला कर पीना चाहिए॥ २६॥

पत्तूरस्वरसं वाऽपि पिबेद्वा सुरसादिजम्।
लिह्यादश्वशकृच्चूर्णं वैडङ्गं वा समाक्षिकम्॥ २७॥

क्रिमिषु पत्तूरस्वरसादियोगः—पत्तूर (मछेछी) घास के दो तोले भर स्वरस अथवा सुरसादिगण की औषधियों के स्वरस या क्वाथ में शहद मिला कर पीने से क्रिमि नष्ट होते हैं। किंवा घोड़े की लीद के १ माशे चूर्ण का शहद के साथ अथवा वायविडङ्ग के ३ माशे चूर्ण का शहद के साथ सेवन करने से क्रिमि रोग नष्ट हो जाता है॥ २७॥

पत्रैर्मूषिकपर्ण्या वा सुपिष्टैः पिष्टमिश्रितैः।
खादेत् पूपलिकाः पक्वाः धान्याम्लञ्च पिबेदनु॥२८॥

क्रिमिषु पूपलिकाप्रयोगः—मूषिकपर्णी (उन्दरकानी) के पत्तों को पीसकर उसमें गेहूँ का आटा (पिष्ट) मिला कर पानी के साथ घोल बना के घृत में पूपलिका पका के खावें तथा ऊपर से काञ्जी का पान करें। ये पूपलिका कृमिनाशक हैं॥ २८॥

सुरसादिगणे पक्वं तैलं वा पानमिष्यते।
विडङ्गचूर्णयुक्तैर्वा पिष्टैर्भक्ष्यांस्तु कारयेत्॥
तत्कषायप्रपीतानां तिलानां स्नेहमेव वा॥ २९॥

क्रिमिषु सुरसादितैलप्रयोगः—सुरसादिगण की औषधियों के कल्क और क्वाथ से सिद्ध किये हुए तैल का पान करने से क्रिमि रोग नष्ट होता है। अथवा वायविडङ्ग के चूर्ण में आटा (पिष्ट) मिला कर उससे नाना प्रकार के भक्ष्य पदार्थ बनाकर सेवन करने से क्रिमि रोग नष्ट होता है। अथवा वायविडङ्ग के क्वाथ में तिलों को २४ घण्टे तक भावित करके उन्हें छाया में सुखाकर उनका तैल निकाल के सेवन करने से कृमिरोग नष्ट होता है॥

श्वाविधः शकृतश्चूर्णं सप्तकृत्वः सुभावितम्।
विडङ्गानां कषायेण त्रैफलेन तथैव च॥ ३०॥
क्षौद्रेण लीढ्वाऽनुपिबेद्रसमामलकोद्भवम्।
अक्षाभयारसं वाऽपि विधिरेषोऽयसामपि॥ ३१॥

क्रिमिषु श्वाविधश्चूर्णप्रयोगः—सेह (सेही जिसके सारे शरीर पर काँटे होते हैं और बिल्ली जैसी होती है) की विष्ठा के चूर्ण को खल्व में पीस कर वायविडङ्ग के क्वाथ तथा त्रिफला के क्वाथ के साथ सात बार भावित करके घोट कर सुखा लेवें। फिर इसे ३ माशे भर लेकर शहद के साथ मिला के चटाकर ऊपर से आंवलों का स्वरस या बहेड़े का क्वाथ अथवा हरड़ का क्वाथ पिलाना चाहिए। यही विधि लोहादिकों के चूर्णों के लिये भी प्रयुक्त करनी चाहिए॥ ३०-३१॥

विमर्शः—विधिरेषोऽयसामपि—अर्थात् त्रपु, सीस, ताम्र, रजत और कृष्ण लोह इन लोहों की भस्म को भी पृथक् पृथक् लेके वायविडङ्ग और त्रिफला क्वाथ के साथ सात बार भावित कर सुखा के पृथक् पृथक् शीशियों में भर देवें। इनमें से किसी एक की भस्म को अथवा त्रिवङ्ग के समान सबकी मिलित भस्म को १॥ रत्ती से ३ रत्ती के प्रमाण में लेकर शहद के साथ चटाकर ऊपर से आंवले का स्वरस, बहेड़े का क्वाथ अथवा हरड़ का क्वाथ पिलाना चाहिए।

नोट—त्रपु शब्द का अर्थ रांगा, कथीर या वङ्ग (Tin) है।

पूतिकस्वरसं वाऽपि पिबेद्वा मधुना सह।
पिबेद्वा पिप्पलीमूलमजामूत्रेण संयुतम्॥ ३२॥

क्रिमिषु पूतीकस्वरसादिप्रयोगः—नाटा करञ्ज के पत्तों का स्वरस निकाल कर छान के शहद मिलाके पिलावें। अथवा

पिपरामूल के क्वाथ को बकरी के मूत्र के साथ मिला कर पीने से कृमि तथा तज्जन्य रोग नष्ट होते हैं ॥ ३२ ॥

सप्तरात्रं पिबेद् घृष्टं त्रपु वा दधिमस्तुना ।
पुरीषजान् कफोत्थांश्च हन्यादेवं कृमीन् भिषक् ॥३३॥

क्रिमिषु त्रपुयोगः—शुद्ध राङ्गा (वङ्ग) को दही के ऊपर स्वच्छ पानी (मस्तु) के साथ घिसकर सात रात्रि तक पीने से कृमि नष्ट हो जाते हैं । इस तरह वैद्य उक्त औषधोपचारों से पुरीषजन्य तथा कफजन्य क्रिमियों को नष्ट करे ॥ ३३ ॥

शिरोहृद्घ्राणकर्णाक्षिसंश्रितांश्च पृथग्विधान् ।
विशेषेणाञ्जनैर्नस्यैरवपीडैश्च साधयेत् ॥ ३४ ॥

शिरोहृदादिक्रिमिनाशनोपायाः—शिर, हृदय, नासा, कान, और नेत्रादि में संश्रित हुये अनेक प्रकार के क्रिमियों को नष्ट करने के लिए विशेष रूप से नेत्राञ्जन, नस्य और अवपीडन द्वारा रुग्ण को लाभ पहुँचाना चाहिये ॥ ३४ ॥

विमर्शः—'अवपीडैश्च' यहाँ पर चकार ग्रहण करने से गण्डूष और कवलग्रह इन दोनों उपायों का भी ग्रहण करना चाहिये ।

शकृद्रसं तुरङ्गस्य सुशुष्कं भावयेदति ।
निष्क्वाथेन विडङ्गानां चूर्णं प्रधमनन्तु तत् ॥ ३५ ॥

क्रिमिहरं प्रधमनम्—घोड़े की लीद के रस को भली प्रकार सुखाकर फिर इसे वायविडङ्ग के क्वाथ से सात या तीन बार भावित कर सुखा के नासा में प्रधमन करने से क्रिमि (शिरोगत) तथा उनसे उत्पन्न हुआ रोग नष्ट होता है ।

अयश्चूर्णान्यनेनैव विधिना योजयेद्भिषक् ।
सकांस्यनीलं तैलञ्च नस्यं स्यात्सुरसादिके ॥ ३६ ॥

क्रिमिहरमयश्चूर्णप्रधमनम्—घोड़े की लीद के स्वरस को सुखा कर उसके साथ लोहों (त्रपु सीस ताम्र रजत कृष्ण लौह) की भस्मों को समान प्रमाण में मिश्रित कर वायविडङ्ग के क्वाथ के साथ तीन बार भावित करके घोटकर सुखा के शीशी में भर देवें । इन भस्मों का नासा में प्रधमन करने से क्रिमि नष्ट होते हैं । इसी प्रकार सुरसादिगण की औषधियों के कल्क और क्वाथ में सिद्ध किये हुए तैल में काँसे को घिसने से उत्पन्न हुई मसी तथा अपामार्ग की राख मिलाकर उस तैल का नस्य देने से क्रिमि (शिरोगत) तथा तज्जन्य क्रिमिरोग नष्ट होता है ॥ ३६ ॥

इन्द्रलुप्तविधिश्चापि विधेयो रोमभोजिषु ।
दन्तादानां समुद्दिष्टं विधानं मुखरोगिकम् ॥ ३७ ॥

रोमदन्तादानां चिकित्सातिदेशः—रोमों को खाने वाले क्रिमियों तथा तज्जन्य रोग को नष्ट करने के लिये एवं चकारात् केशभोजियों को भी नष्ट करने के लिये इन्द्रलुप्त रोग को नष्ट करने वाली चिकित्सा का प्रयोग करना चाहिए । इसी प्रकार दाँतों को खाने वाले क्रिमि तथा तज्जन्य रोग को नष्ट करने के लिये मुख रोग की चिकित्साविधि प्रयुक्त करनी चाहिए ॥ ३७ ॥

रक्तजानां प्रतीकारं कुर्यात् कुष्ठचिकित्सिते ।
सुरसादिन्तु सर्वेषु सर्वथैवोपयोजयेत् ॥ ३८ ॥

रक्तजेषु सर्वेषु च क्रिमिषु चिकित्सा—रक्तज क्रिमियों तथा तज्जन्य रोग को नष्ट करने के लिये कुष्ठप्रकरणोक्त चिकित्सा प्रयुक्त करनी चाहिए किन्तु सर्वप्रकार के क्रिमियों को तथा तज्जन्य रोगों को नष्ट करने के लिये सुरसादिगण की औषधियों के कल्क, स्वरस और क्वाथ का स्नान, पान और भोज्य पदार्थों के बनाने के लिये (पानी के स्थान पर) प्रयोग करना चाहिए ॥ ३८ ॥

प्रव्यक्ततिक्तकटुकं भोजनञ्च हितं भवेत् ।
कुलत्थक्षारसंसृष्टं क्षारपानञ्च पूजितम् ॥ ३९ ॥

क्रिमिरोगे पथ्यानि—क्रिमि तथा क्रिमिरोगों के उत्पन्न होने पर रोगी को तिक्त और कटुकरसप्रधान द्रव्यों का भोजन हितकारी होता है तथा विशेष रूप से कुलत्थी का क्षार और यवक्षार को समान प्रमाण में मिश्रित कर एक माशे से तीन माशे के प्रमाण में लेकर पाँच तोले पानी में घोलकर पिलाना हितकर होता है ॥ ३९ ॥

विमर्शः—क्षारपान शब्द से यवक्षार का ग्रहण करना चाहिए क्योंकि जैसे सामान्य लवणोक्ति से सैन्धव का ग्रहण होता है तद्वत् सामान्य क्षारोक्ति से यवक्षार का ग्रहण होता है एवं अन्यत्र कहा भी है—'यावशूकस्य पानन्तु कुलत्थक्षार-वारिणा' । क्रिमिरोगे पथ्यानि—आस्थापनं कायशिरोविरेचनं धूमः कफघ्नानि शरीरमार्जनाः । चिरन्तना वैणवरक्तशालयः पटोलवेत्राग्र-रसोनवास्तुकम् ॥ हुताशमन्दारदलानि सर्षपा नवीनमोचं बृहती-फलानि । तिक्तानि नालीतदलानि मौषिकं मांसं विडङ्गं पिचुमर्द-पल्लवम् ॥ पथ्या च तैलं तिलसर्षपोद्भवं सौवीरशुक्तञ्च तुषोदकं मधु । पचेलिमं तालमरुष्करं गवां मूत्रञ्च ताम्बूलसुराष्ट्रगाण्डजम् ॥ औष्ट्राणि मूत्राज्यपयांसि रामठं क्षाराजमोदा खदिरश्च वल्कलम् । जम्बीरनीरं सुषवी यवानिका साराः सुराह्वा गुरुशिंशपोद्भवाः ॥ तिक्तः कषायः कटुको रसोऽप्ययं वर्गो नाराणां क्रिमिरोगिणां सुखः । अन्यच्च—प्रत्यहं कटुकं तिक्तं भोजनं कफनाशनम् । क्रिमीणां नाशनं रुच्यमग्निसन्दीपनं परम् ॥

क्षीराणि मांसानि घृतानि चैव
दधीनि शाकानि च पर्णवन्ति ।
समासतोऽम्लान्मधुरान् हिमांश्च
कृमीन् जिघांसुः परिवर्जयेत्तु ॥ ४० ॥

इति सुश्रुतसंहितायामुत्तरतन्त्रान्तर्गते कायचिकित्सा-तन्त्रे रक्तपित्तप्रतिषेधो नाम (षोडशोऽध्यायः, आदितः) चतुःपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥५४॥

क्रिमिरोगे वर्ज्यानि—आठों प्रकार के दुग्ध, मांस, घृत, दही, पत्रशाक तथा संक्षेप में अम्लरस, मधुररस और शीतल पदार्थ इन सबको क्रिमिरोग तथा क्रिमियों को नष्ट करने की अभिलाषा वाला व्यक्ति परित्यक्त कर दे ॥ ४० ॥

विमर्शः—क्रिमिरोगेष्वपथ्यानि—छर्दिञ्च तद्वेगविधारणञ्च विरुद्धपानाशनमह्नि निद्राम् । द्रवञ्च पिष्टान्नमजीर्णताञ्च घृतानि माषान् दधि पत्रशाकम् । मांसं पयोऽम्लं मधुरं रसञ्च कृमीञ्जिघांसुः परिवर्जयेच्च ॥

इति श्री सुश्रुतोत्तरतन्त्रस्य भाषाटीकायां क्रिमिप्रतिषेधो नाम चतुःपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५४ ॥

पञ्चपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

अथात उदावर्त्तप्रतिषेधमध्यायं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥ २ ॥

अब इसके अनन्तर उदावर्तप्रतिषेध नामक अध्याय का व्याख्यान किया जाता है जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने कहा है ॥ १-२ ॥

विमर्शः—क्रिमिरोगचिकित्सा में कटु, तिक्त और कषायरसप्रधान द्रव्यों का उपयोग किया जाता है तथा ये द्रव्य उदावर्त की उत्पत्ति में कारण होते हैं। इसलिये क्रिमिचिकित्सा के अनन्तर उदावर्तरोग का प्रकरण प्रारम्भ किया गया है। उदावर्तव्याख्या—उत् ऊर्ध्वं वातविण्मूत्रादीनामावर्तो भ्रमणं यस्मिन् स उदावर्तः। अर्थात् वायु, मल और मूत्रादिकों के ऊपर की ओर भ्रमण होने को उदावर्त कहते हैं। साधारणतया वायु के ऊर्ध्वगमन को ही उदावर्त समझा जाता है—वायोरूर्ध्वमावर्तो गमनमित्युदावर्तः। किन्तु यह निरुक्ति भी ठीक नहीं है। इसके आधार पर अश्रुस्रावादि के अवरोध से उत्पन्न उदावर्त को उदावर्त नहीं कह सकते क्योंकि इनमें वायु का ऊर्ध्वगमन नहीं होता। सुश्रुतटीकाकार डल्हण अश्रुस्राव तथा जृम्भा आदि के वेग को धारण करने पर वायु के कोष्ठगत होने से अपान वायु का प्रकोप एवं उदावर्त की उत्पत्ति मानते हैं—'अश्रुजृम्भादिवेगरोधात् कोष्ठगतो वायुर्यदा भवति तदापानप्रकोपादुदावर्त्तसम्भवः' वस्तुतः विजयरक्षित के अनुसार निम्न लक्षण करना ही उचित है—'उद्भूतेन वेगविधारणेनाऽऽवृतस्य वायोर्वर्तनमित्युदावर्तनिरुक्तिः' अर्थात् अधारणीय वेगों के धारण करने से आवृत वायु का विलोम गति से इतस्ततः घूमना ही उदावर्त कहलाता है। इस प्रकार का लक्षण करने से सुश्रुत द्वारा परिगणित उदावर्त के सभी भेदों में उक्त लक्षण ठीक-ठीक घट जाता है। उदावर्त रोग में वायु की प्रमुखता रहती है—यतोर्ध्वं जायते वायोरावर्तः स चिकित्सकैः। उदावर्त्त इति प्रोक्तो व्याधिस्तत्रानिलप्रभुः॥ अन्य तन्त्रकार वायु के द्वारा वर्तुलीकृत (गोल हुई) पुरीष को उदावर्त मानते हैं—अन्ये पुरीषं वायुना वर्तुलीकृतमुदावर्तं मन्यन्ते, लोकप्रसिद्धत्वात्।

अधश्चोर्ध्वञ्च भावानां प्रवृत्तानां स्वभावतः।
न वेगान् धारयेत् प्राज्ञो वातादीनां जिजीविषुः ॥३॥

उदावर्ते वेगधारणनिषेधः—स्वभाव से प्रवृत्त हुए मूत्रादिक अधोभाव तथा उद्गारादिक ऊर्ध्वभाव एवं प्रवृत्त हुए वातादिकों के वेगों को जीवन चाहने वाला बुद्धिमान् व्यक्ति धारण नहीं करे ॥ ३ ॥

विमर्शः—स्वभावतः प्रवृत्तानाम् अर्थात् वात, मूत्र, छींक आदि वेग स्वभावतः (स्वयं या अपने आप) अपने आशय से च्युत हुये हों तो उन्हें धारण न करें। इसका तात्पर्य यह है कि यदि वे प्रवृत्त न हुए हों तो उन्हें बलपूर्वक उदीरण न करते हुए धारण करें और स्वयं प्रवृत्त हुए हों तो रोके नहीं। अधारणीया वेगाः—न वेगान् धारयेद्धीमाञ्जातान् मूत्रपुरीषयोः। न रेतसो न वातस्य न छर्द्याः क्षवथोर्न च ॥ नोद्गारस्य न जृम्भाया न वेगान् क्षुत्पिपासयोः। न बाष्पस्य न निद्राया निःश्वासस्य श्रमेण च। एतान् धारयतो जातान् वेगान् रोगा भवन्ति ये। धारणीया वेगाः—इमांस्तु धारयेद्वेगान् हितार्थी प्रेत्य चेह च। साहसानामशस्तानां मनोवाक्कायकर्मणाम्॥ लोभशोकभयक्रोधमानवेगान् विधारयेत्। नैर्लज्ज्येर्ष्यातिरागाणामभिध्यायाश्च बुद्धिमान्॥ परुषस्यातिमात्रस्य सूचकस्यानृतस्य च। वाक्यस्याकालयुक्तस्य धारयेद्वेगमुत्थितम्॥ देहप्रवृत्तिर्या काचिद्विद्यते परपीडया। स्त्रीभोगस्तेयहिंसाद्या तस्या वेगान् विधारयेत्॥ (च० सू० अ० ७) अन्यच्च—देहप्रवृत्तिर्या काचिद्वर्तते परपीडया। आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्॥ (चरक)

वातविण्मूत्रजृम्भाऽश्रुक्षवोद्गारवमीन्द्रियैः।
व्याहन्यमानैरुदितैरुदावर्त्तो निरुच्यते ॥ ४ ॥

उदावर्तस्य निदानं निरुक्तिश्च—अपान वायु, विष्ठा (मल), मूत्र, जमुहाई, आँसू, छींक, डकार, वमन और इन्द्रिय (शुक्र) इनके उदित (उदीर्ण=उत्पन्न या ऊर्ध्वगत) हुए वेगों को रोकने (व्याहन्यमान) से उदावर्त उत्पन्न होता है॥

विमर्शः—इन्द्रियमत्र शुक्रमभिप्रेतम्। शास्त्रों में इन्द्रिय शब्द शुक्रार्थ में भी प्रयुक्त होता है—'श्रोत्रवागादिसत्त्वञ्च शुक्रञ्चेन्द्रियमुच्यते'।

क्षुत्तृष्णाश्वासनिद्राणामुदावर्त्तो विधारणात्।
तस्याभिधास्ये व्यासेन लक्षणञ्च चिकित्सितम् ॥५॥

उदावर्तस्य निदानान्तराणि—क्षुधा, तृष्णा (प्यास), श्वास और निद्रा इनको (उत्पन्न हुये वेगों को) रोकने से उदावर्त रोग उत्पन्न होता है। अब इस उदावर्त के लक्षणों और चिकित्सा का वर्णन विस्तार से कहूँगा ॥ ५ ॥

विमर्शः—उदावर्त के वातविण्मूत्रादि कारणों से क्षुत्तृष्णादि कारणों का पृथक्पाठ करने का तात्पर्य यह है कि वातविण्मूत्रादिक वेगनिरोध उदावर्त के सन्निकृष्ट कारण हैं तथा क्षुत्तृष्णादि का निरोध विप्रकृष्ट कारण हैं। अथवा इस भिन्न पाठान्तर से यह (क्षुत्तृष्णादिक) आहाराश्रित हेतु हैं। कुछ आचार्य दोनों कारणसमूहों को भिन्न-भिन्न न पढ़ते हुए एक ही श्लोक में दोनों भावों का समावेश कर देते हैं—वातविण्मूत्रजृम्भाश्रुक्षवथोद्गारवमीन्द्रियैः। क्षुत्तृष्णाश्वासनिद्राणां धृत्योदावर्तसम्भवः॥ चरकाचार्य ने उदावर्त के निम्न कारण, सम्प्राप्ति और लक्षण लिखे हैं—कषायतिक्तोषणरूक्षभोज्यैः सन्धारणाभोजनमैथुनैश्च। पक्वाशये कुप्यति चेदपानः स्रोतांस्यधोगानि बली स रुद्ध्वा॥ करोति विण्मारुतमूत्रसङ्गं क्रमादुदावर्तमतः सुघोरम्। रुग्बस्तिहृत्कुक्ष्युदरेष्वभीक्ष्णं सपृष्ठपार्श्वेष्वतिदारुणा स्यात्। आध्मानहृल्लासविकर्तिकाश्च तोदोऽविपाकश्च सबस्तिशोथः। वर्चोऽप्रवृत्तिर्जठरे च गण्डान्यूर्ध्वश्च वायुर्विहतो गुदे स्यात्। कृच्छ्रेण शुष्कस्य चिरात् प्रवृत्तिः स्याद्वा तनुः स्यात् खररूक्षशीता। ततश्च रोगा ज्वरमूत्रकृच्छ्रप्रवाहिकाहृद्ग्रहणीप्रदोषाः॥ (च० चि० अ० २६) अर्थात् कषाय, तिक्त, कटु और रूक्ष भोजन करने से एवं अधारणीयवेगधारण, अभोजन और मैथुन से पक्वाशय में अपान वायु प्रकुपित होकर अधोगामी स्रोतसों का अवरोध कर विष्ठा, वात और मूत्र को रोक देता है तथा उसके अनन्तर भयङ्कर उदावर्त रोग उत्पन्न होता है जिससे बस्ति, हृदय, कुक्षि और उदर तथा पृष्ठ और पार्श्व इन स्थानों में अत्यन्त दारुण पीड़ा होती है एवं आध्मान, जी घबराना, कैंची से काटने की सी पीड़ा, सूई चुभोने की सी पीड़ा, अग्निमान्द्य

आदि लक्षण होते हैं। अब यहाँ पर एक शङ्का यह भी है कि अधोवेगों के रोकने से अपान वायु का प्रकोप होकर उदावर्त का उत्पन्न होना सम्भव है किन्तु अश्रु, जृम्भा आदि के वेगों को रोकने से उदावर्त कैसे उत्पन्न होता है? यद्यपि प्रश्न सत्य है किन्तु इनके वेगों को रोकने के साथ ही यदि वायु कोष्ठगत हो तब उस समय अपानवायु का प्रकोप होकर ही उदावर्त होता है ऐसा समझें।

त्रयोदशविधश्चासौ भिन्न एतैस्तु कारणैः।
अपथ्यभोजनाच्चापि वक्ष्यते च तथाऽपरः॥ ६॥

उदावर्तभेदाः—पूर्व में कहे हुए वात, विष्ठा और मूत्रादि कारणभेदों से यह उदावर्त तेरह प्रकार का होता है तथा वातादि अवरोधजन्य उदावर्तों से भिन्न अपथ्य भोजनजन्य भी एक उदावर्त होता है उसका भी पृथक् वर्णन किया जायगा॥ ६॥

आध्मानशूलौ हृदयोपरोधं
शिरोरुजं श्वासमतीव हिक्काम्।
कासप्रतिश्यायगलग्रहांश्च
बलासपित्तप्रसरञ्च घोरम्॥
कुर्यादपानोऽभिहतः स्वमार्गे
हन्यात् पुरीषं मुखतः क्षिपेद्वा॥ ७॥

वातावरोधजोदावर्तलक्षणानि—अपने मार्ग (श्रोणिगह्वर-गुदप्रभृति) में अवरुद्ध हुआ अपान वायु आध्मान, शूल, हृदय का उपरोध या हृदय पर आवरण, शिर में पीड़ा, प्रबल श्वास, हिक्का, कास, प्रतिश्याय, गलग्रह (गले की जकड़ाहट), कफ और पित्त का अपने स्थानों से प्रसार कराना तथा पुरीष का क्षय अथवा उसे मुखमार्ग से बाहर फेंकना ये लक्षण उत्पन्न करता है॥ ७॥

विमर्शः—समय-समय पर मलमूत्रादि के त्याग के लिये गुदा आदि अङ्गों में स्थित मलादिप्रवर्तक वायु या तदाश्रयभूत वातवाहिनियों में उत्तेजना स्वभावतः होती है और मल, मूत्र आदि का विसर्ग होता है। इसी प्रवर्तक उत्तेजना को वेग कहते हैं तथा बलपूर्वक इसे रोकने को वेगावरोध कहते हैं। इस वेगावरोध या अस्वाभाविक प्रयत्न के फलस्वरूप विभिन्न वेगों का परिचालन एवं नियन्त्रण करने वाली वायु या वातनाड़ियाँ विकृत हो जाती हैं जिससे वायु का प्रकोप एवं अधिष्ठान और कारण के अनुसार विभिन्न उदावर्तों की उत्पत्ति होती है। वातवेग—अपानवायु (Flatus) का वेग धारण करने से इसकी प्रवर्तक वायु (गुदा एवं बस्ति प्रदेश में स्थित अपानवायु एवं उसकी आश्रयभूत वातनाड़ियाँ) विकृत हो जाती है। मूत्र और मल का यथासमय त्याग कराना भी इसी वायु के या वातनाड़ीमण्डल के आधीन है—'क्षेप्ता बहिर्मलानाम्' अतः विकृति के परिणामस्वरूप इनकी भी रुकावट हो जाती है। इस प्रकार जब प्रवृद्ध वायु अपने प्रकृत मार्ग से नहीं निकल पाता और मलाशय में स्थित मल की रुकावट से अधिक प्रकुपित होकर ऊपर आन्त्र की ओर बढ़ता है तो उसमें आध्मान उत्पन्न कर देता है। आध्मान के कारण रोगी के बस्तिप्रदेश तथा उदर में पीड़ा होती है। इन लक्षणों के अतिरिक्त उदर में शूल, आटोप, विषमाग्नि, विष्टब्धाजीर्ण जैसे वातजन्य रोगों की उत्पत्ति होती है। सुश्रुताचार्य ने मुख से पुरीष का निकलना भी लिखा है परन्तु वास्तव में मुख द्वारा साक्षात् मल नहीं निकलता अपितु वमन के द्वारा पुरीष के समान दुर्गन्धित पदार्थ ही निकल सकता है।

आटोपशूलौ परिकर्त्तनञ्च
सङ्गः पुरीषस्य तथोर्ध्ववातः।
पुरीषमास्यादपि वा निरेति
पुरीषवेगेऽभिहते नरस्य॥ ८॥

पुरीषावरोधोत्पन्नोदावर्तलक्षणानि—मल के प्रवृत्त हुए वेग को रोकने से आटोप, शूल, गुदमेढ्रवस्त्यादि स्थानों में कैंची से काटने की सी पीड़ा, मल का अवरोध, अपान वात का ऊपर की ओर वेग अथवा कभी-कभी मुख की ओर से पुरीष का बाहर निकलना ये लक्षण उत्पन्न होते हैं॥ ८॥

विमर्शः—आटोपः—उदरापूरः (डल्हणः) 'आटोपो गुडगुडाशब्दः प्रोक्तो जठरसम्भवः'। पुरीषवेग—मल का प्रवर्तक अपान वायु ही है। उसका वेग प्रयत्नपूर्वक धारण करने से अपान वायु एवं उसका आश्रयस्थल नाड़ीचक्र विकृत हो जाता है, फलस्वरूप वायु की प्रतिलोम गति से पुनः बृहदन्त्र में चला जाता है और वहाँ बृहदन्त्र की कला द्वारा मलस्थित अवशिष्ट जलीयांश भी शोषित हो जाता है। इस तरह मल के पूर्णतया शुष्क हो जानेसे उसके त्याग की प्रवृत्ति नहीं होती। मलाशय या आन्त्रस्थित मल से गैसों की उत्पत्ति होकर उदर में आटोप एवं शूल जैसे लक्षण उत्पन्न होते हैं। अधोमार्ग में पूर्णतया अवरोध होने के कारण वायु प्रतिलोम गति से ऊर्ध्वमार्ग द्वारा डकारों के रूप में निकलता है। मलाशय के सामने की ओर मूत्राशय (Bladder) भी रहता है अतः मलाशयगत प्रकुपित अपान वायु के दबाव से मूत्राशय एवं उससे सम्बन्धित शिश्न में भी पीड़ा की अनुभूति होती है। वमन द्वारा निकला हुआ पदार्थ अपान वायु से मिश्रित होने के कारण पुरीष के समान ही होता है। इसी आशय से मुख द्वारा पुरीषवमन का निर्देश किया गया है। चरके पुरीषनिरोधजोदावर्तलक्षणानि—'पक्वाशयशिरःशूलं वातवर्चोऽप्रवर्तनम्। पिण्डिकोद्वेष्टनाध्मानं पुरीषे स्याद्विधारिते॥

मूत्रस्य वेगेऽभिहते नरस्तु
कृच्छ्रेण मूत्रं कुरुतेऽल्पमल्पम्॥ ९॥
मेढ्रे गुदे वङ्क्षणबस्तिमुष्क-
नाभिप्रदेशेष्वथवाऽपि मूर्ध्नि।
आनद्धबस्तिश्च भवन्ति तीव्राः
शूलाश्च शूलैरिव भिन्नमूर्त्तेः॥ १०॥

मूत्रावरोधोत्पन्नोदावर्तलक्षणानि—उत्पन्न हुए मूत्र के वेग को रोकने से वह रोगी कठिनता से थोड़ा-थोड़ा मूत्र त्याग करता है तथा शिश्न, गुदा, वंक्षण, बस्ति (Bladder), मुष्क (अण्ड तथा अण्ड प्रदेश), नाभिप्रदेश और मस्तिष्कप्रदेश में त्रिशूल से शरीर के भिन्न किये जाने के समान तीव्र शूल होता है। बस्ति (मूत्राशय) फूली हुई होती है॥ ९-१०॥

विमर्शः—मूत्रस्य वेगे—मूत्र के वेग को किसी सभा या

पूजा में बैठे होने के कारण रोकने से वायु प्रकुपित होकर मूत्राशय तथा शिश्न में शूल उत्पन्न कर देता है। मूत्र के वेग को रोकने से मूत्राशय विस्फारित हो जाता है जिससे उसके तनाव (Tension) की स्वाभाविक स्थिति समाप्त हो जाती है। तनाव न होने से मूत्रत्याग कराने वाली नाड़ियों पर भी उत्तेजक प्रभाव नहीं पड़ता। इससे मूत्र कठिनता से बूँद-बूँद करके बार-बार निकलता है। सीधे रहने से बस्ति-प्रदेश में तनाव के कारण पीड़ा का अनुभव होता है अतः रोगी उस पीड़ा को कम करने के उद्देश्य से आगे की ओर झुककर वहाँ की पेशियों को ढीली रखने का प्रयत्न करता है। मूत्र से परिपूर्ण मूत्राशय के दबाव से वंक्षणप्रदेश में भी तनाव की अनुभूति होती है। मूत्राशय का गुदा (Rectum) पर दबाव पड़ने से उसमें भी पीड़ा होती है। अण्डकोष बस्ति के सामने ही रहते हैं अतः तनाव के कारण उनमें भी पीड़ा का अनुभव होता है। इसी को आचार्य सुश्रुत ने 'मूत्रस्य वेगेऽभिहते नरस्तु' इस श्लोक द्वारा वर्णित किया है।

मन्यागलस्तम्भशिरोविकारा
जृम्भोपघातात् पवनात्मकाः स्युः।
श्रोत्राननघ्राणविलोचनोत्था
भवन्ति तीव्राश्च तथा विकाराः॥ ११॥

जृम्भावरोधोत्पन्नोदावर्तलक्षणानि—जृम्भा के उत्पन्न हुए वेग को रोकने से मन्यास्तम्भ, गलस्तम्भ, सूर्यावर्तकादिक शिर के विकार, कम्प, सुप्ति आदि वातविकार, चकार से अरुचि और भ्रम आदि रोग एवं कर्ण, मुख, नासा और नेत्रों में भयानक विविध रोग उत्पन्न होते हैं॥ ११॥

विमर्शः—जृम्भा में ऊर्ध्व जत्रुगत अङ्गों का विशेष प्रयत्न रहता है अतः जृम्भावेग रोकने से ऊर्ध्व जत्रुगत विकार होने की अधिक संभावना रहती है।

आनन्दजं शोकसमुद्भवं वा
नेत्रोदकं प्राप्तममुञ्चतो हि।
शिरोगुरुत्वं नयनामयाश्च
भवन्ति तीव्राः सह पीनसेन॥ १२॥

अश्रुजोदावर्तलक्षणानि—अत्यधिक आनन्द के कारण उत्पन्न हुए अथवा अत्यधिक शोक के कारण प्रवृत्त हुए नेत्र के उदक (आँसू) के वेग को रोकने से शिर में भारीपन, अभिष्यन्द आदि तीव्र नेत्रविकार और पीनस (दुष्ट प्रतिश्याय) उत्पन्न होते हैं॥ १२॥

विमर्शः—आँसू आँखों का स्वाभाविक स्राव है जो निरन्तर अल्पाल्प मात्रा में निकल कर आँख की कला को आर्द्र एवं स्निग्ध रखता है। इसका निर्माण अश्रुग्रन्थि (Lacrymal gland) के द्वारा होता है। यह ग्रन्थि अक्षिगुहा के बाह्य एवं उपरितन भाग में स्थित रहती है। इसके दो भाग होते हैं। ऊपर का भाग नीचे के भाग से अपेक्षाकृत बड़ा और छोटे बादाम के आकार का होता है। यह भाग अक्षिगुहा (Orbital cavity) का निर्माण करने वाले पुरःकपालास्थि (Frontal bone) की अश्रुग्रन्थिखात (Lacrymal fossa) में अवस्थित रहता है। ग्रन्थि का निम्न भाग छोटा होता है और इसे सहायक अश्रुग्रन्थि (Accessary lacrymal gland) भी कहते हैं। इन दोनों ग्रन्थियों से निकलने वाले निःस्राव का वहन छोटी-छोटी लगभग बारह नलिकाओं के द्वारा होता है। ये नलिकाएँ अक्षिगुहा के उपरितन भाग के मध्य में पृथक्-पृथक् छिद्रों द्वारा खुलती हैं। इनसे निकले हुए अश्रु के द्वारा अक्षिकला (Conjunctiva) आर्द्र रहती है। इसके बाद अश्रुप्रणाली (Canaliculi) के द्वारा अश्रुकूपिका (Lacrymal sac) में प्रवेश करते हैं जहाँ से वे एक नलिका (Nasolacrymal duct) के द्वारा नासिका में चले जाते हैं। अश्रुस्राव क्षारीय होता है एवं साधारण अवस्था में केवल अक्षिकला को आर्द्र रखने मात्र के लिये स्राव होता है और यह बाष्पीभवन के द्वारा नष्ट होता रहता है किन्तु कदाचित् शारीरिक (आँख या नाक) एवं मानसिक (अत्यधिक हर्ष या शोक) उत्तेजनाओं के फलस्वरूप अश्रुग्रन्थि प्रभावित होकर अश्रुस्राव का अधिक मात्रा में निर्माण करने लगती है। स्राव के निकल जाने पर आँखों तथा मन दोनों में ही हलकापन आ जाता है किन्तु यदि इस वेग को हठात् रोक दिया जाय तो सिर में भारीपन, अश्रुग्रन्थिसम्बन्धी एवं अन्य नेत्रकोप आदि रोग हो सकते हैं। चरकाचार्य ने बाष्पनिग्रह को हृद्रोग तथा भ्रम का कारण माना है—'प्रतिश्यायोऽक्षिरोगश्च हृद्रोगश्चारुचिर्भ्रमः। बाष्पनिग्रहणात्......॥ (चरक)

भवन्ति गाढं क्षवथोर्विघाता-
च्छिरोऽक्षिनासाश्रवणेषु रोगाः।
कण्ठास्यपूर्णत्वमतीव तोदः
कूजश्च वायोरुत वाऽप्रवृत्तिः॥ १३॥

छिक्कावरोधोत्पन्नोदावर्तलक्षणानि—छींक के प्रवृत्त हुए वेग को रोकने से शिर, नासा और नेत्रों में भयानक रोग उत्पन्न होते हैं तथा कण्ठ और मुख वायु से भरे हुए से रहते हैं तथा उनमें सूई चुभोने की सी पीड़ा होती है। वह रुग्ण कूजन (अव्यक्त भाषण) करता है तथा वायु की अप्रवृत्ति (उच्छ्वासावरोध) एवं चकारात् मन्यास्तम्भ, गलस्तम्भ आदि रोग भी होते हैं॥ १३॥

विमर्शः—छिक्कारोधजोदावर्तलक्षणानि चरके—मन्यास्तम्भः शिरःशूलमर्दितार्धावभेदकौ। इन्द्रियाणाञ्च दौर्बल्यं क्षवथोः स्याद्विधारणात्॥ (च. सू. अ. ७) क्षवथुवेग—नासाद्वार से एकाएक तीव्र गति से वायु को निकालना ही छींक है। गन्ध का वहन परमाणुओं के द्वारा होता है। तीक्ष्ण एवं असात्म्य पदार्थों के सूंघने से उसके गन्धवह परमाणु नासाकलागत नाड्यग्रों को प्रक्षुभित करके छींक को उत्पन्न करते हैं जैसा कि चरकाचार्य ने भी लिखा है—'संस्पृश्य मर्माण्यनिलस्तु मूर्ध्नि विष्वक्पथस्थः क्षवथुं करोति' (चरक) सुश्रुताचार्य के प्राणाश्रित मर्म से यहाँ प्राणनाड़ी के अग्रों का बोध होता है। नासागुहा के विवरों में अवस्थित श्लेष्मा भी स्थानीय कला को उत्तेजित करके छींक उत्पन्न करता है। छींक से शिर, नासागुहा आदि में स्थित असात्म्य पदार्थ एवं बाहर से प्रविष्ट पदार्थ बाहर आ जाते हैं और दोष (कफादिक) के बाहर निकल जाने से किसी प्रकार के रोग की आशङ्का नहीं रहती। इस प्रकार नासागुहा (Nasal cavity) में अवस्थित दोष या असात्म्य

बाह्य पदार्थ को बाहर निकालने का प्रयत्न ही छींक कहलाता है। प्रयत्नपूर्वक या किसी अन्य कारण से छींक के रुक जाने पर असात्म्य पदार्थ अन्दर ही रह जाता है और स्रोतसों को अवरुद्ध करके अनेक रोगों को उत्पन्न कर सकता है। शिरःशूल इसका प्रधान लक्षण है। यदि इसके कारण सातवीं नाडी (Facial nerve) पर प्रभाव पड़ जाय तो अर्दित रोग भी हो सकता है। छींक न आने से शिरोभाग तथा साथ ही सम्पूर्ण शरीर में भारीपन प्रतीत होता है। छींक आ जाने से अवरोधक कारण हट जाता है अतः शरीर में हलकापन और स्वास्थ्य का अनुभव होता है। अन्य स्रोतों के समान इस स्रोत का शुद्ध तथा अवरोधरहित होना अनिवार्य है। इसी लिये सुश्रुताचार्य ने ज्वरमुक्त के लक्षण में छींक की प्रवृत्ति का भी उल्लेख किया है—स्वेदो लघुत्वं शिरसः कण्डूः पाको मुखस्य च। क्षवथुश्चान्नलिप्सा च ज्वरमुक्तस्य लक्षणम्॥ छींक को रोकने से विकृति यथास्थानस्थित रह जाती है। यदि वह बढ़कर कान और आँख तक पहुँचे तो नासारोग के साथ-साथ कान और आँख के रोग भी उत्पन्न कर सकती है। साधारणतया छींक का प्रभाव पाँचों ज्ञानेन्द्रियों विशेषतया नासिका की स्वाभाविक क्रिया को कम कर देता है जैसाकि सुश्रुताचार्य ने भी वर्णन किया है—'भवन्ति गाढं क्षवथोर्विघाताच्छिरोऽक्षिनासाश्रवणेषु रोगाः'।

> उद्गारवेगेऽभिहते भवन्ति
> घोरा विकाराः पवनप्रसूताः।
> छर्देर्विघातेन भवेच्च कुष्ठं
> येनैव दोषेण विदग्धमन्नम्॥ १४॥

उद्गारच्छर्दिनिरोधजोदावर्तलक्षणानि—उद्गार के प्रवृत्त हुए वेग को रोकने से कम्प, हिक्का, हृदय की जकड़ाहट आदि भयङ्कर वातिक रोग उत्पन्न होते हैं। इसी प्रकार वमन के उदीर्ण वेग को रोकने से वातादि अन्यतम जिस दोष के कारण अन्न दूषित हुआ हो उसी दोष की अधिकता वाला कुष्ठ उत्पन्न होता है तथा चकार से अरुचि आदि रोग उत्पन्न होते हैं॥ १४॥

विमर्शः—छर्दिनिग्रहजोदावर्तलक्षणानि—कण्डूकोठारुचिव्यङ्गशोथपाण्ड्वामयज्वराः। कुष्ठवीसर्पहृल्लासच्छर्दिनिग्रहजा गदाः॥ (च. सू. अ. ७) उद्गारवेग—डकार उदान वायु का कार्य है। उसकी स्वाभाविक प्रवृत्ति को रोकने से उदान वायु प्रकुपित होकर आन्त्रकूजन, श्वास तथा अन्य वातविकारों को उत्पन्न करता है। चरकाचार्य ने उद्गाररोध से हिक्का, श्वास, अरुचि, कम्पन तथा हृदय और फुफ्फुस में अवरोध की उत्पत्ति मानी है—हिक्का श्वासोऽरुचिः कम्पो विबन्धो हृदयोरसोः। उद्गारनिग्रहात्……॥ इसके अतिरिक्त छर्दिनिग्रह से कण्डू, कोठ, अरुचि, व्यङ्ग, शोथ, पाण्डु, ज्वर, कुष्ठ, वीसर्प और हृल्लास इन रोगों की उत्पत्ति होना लिखा है।

> मूत्राशये पायुनि मुष्कयोश्च
> शोफो रुजो मूत्रविनिग्रहश्च।
> शुक्राश्मरी तत्स्रवणं भवेद्वा
> ते ते विकारा विहते तु शुक्रे॥ १५॥

शुक्रजोदावर्तलक्षणानि—कामवासनावश जाग्रत या स्वप्नावस्था में उत्पन्न हुए शुक्र के वेग को रोकने से वस्ति, गुदा और मुष्कप्रदेश में शोथ और पीड़ा उत्पन्न होती है तथा मूत्र का अवरोध होता है एवं शुक्रजन्य अश्मरी और उस अश्मरी का अथवा शुक्र का स्रवण होता है। इनके अतिरिक्त हृत्पीड़ा, अङ्गमर्द आदि अनेक विकार उत्पन्न होते हैं॥ १५॥

विमर्शः—'मूत्राशये पायुनि मुष्कयोश्च' के स्थान पर 'मूत्राशये वा गुदमुष्कयोश्च' ऐसा पाठान्तर है। शुक्रवेग—शुक्र एक गाढ़ा, पिच्छिल एवं दूधिया रङ्ग का तरल पदार्थ है। इसके उत्पन्न होने का मुख्य अङ्ग शुक्राण्ड है तथा इसका प्रधान अवयव शुक्रकीट है। मैथुन के समय निकलने वाले शुक्र के सब अंशों का निर्माण शुक्राण्ड या वृषणग्रन्थि (Testes) द्वारा ही नहीं होता है। इन ग्रन्थियों में तो शुक्रकीट (Spermetozoa) बनते हैं तथा जो शुक्र इन ग्रन्थियों में बनता है वह इतना अधिक गाढ़ा होता है कि शुक्रकीट इसमें भलीभाँति गति नहीं कर सकते। वृषणग्रन्थि अनेक कोष्ठों का एक समूह है। इन कोष्ठों में केशवत् असंख्य नलिकाएँ होती हैं। इनमें ही शुक्र का निर्माण होता है। ये असंख्य नलिकाएँ आगे चलकर परस्पर मिल जाती हैं और लगभग २०-२५ बड़ी नलिकाओं का निर्माण करती हैं। ये नलिकाएँ बहुत मुड़ी रहती हैं। इस सामूहिक रचना को ही उपाण्ड (Epididymis) कहते हैं। इस उपाण्ड के शिखर में सब नलिकाओं के संयोग से एक बड़ी नलिका बन जाती है। इसे शुक्रप्रणाली (Vasdeferens) कहते हैं। शुक्र इसके द्वारा शुक्राशय की ओर गमन करता है। शुक्रप्रणाली से निकलने वाले स्राव के द्वारा शुक्र कुछ तरल हो जाता है। शुक्राशय (Seminal vesicle)—ये दो छोटे कोष हैं जो मूत्राशय के पिछले भाग से लगे रहते हैं। इनके अन्तःपार्श्व से शुक्रप्रणाली (Vasdeferens) लगी रहती है। शुक्रप्रणाली का अन्त नोकीले सिरे से होता है और वह शुक्राशय से मिल जाती है। जहाँ शुक्रप्रणाली शुक्राशय से मिलती है वहीं से एक दूसरी नलिका का प्रारम्भ होता है इसे शुक्रस्रोत (Ejaculatory duct) कहते हैं। शुक्रस्रोत पौरुषग्रन्थि (Prostate) में प्रवेश करके मूत्रमार्ग में खुल जाते हैं। इस मार्ग से गमन करते हुए शुक्र में शुक्राशय तथा पौरुषग्रन्थि का भी स्राव मिश्रित हो जाता है जिससे शुक्र तरल हो जाता है और शुक्रकीट उसमें स्वतन्त्रतापूर्वक गति कर सकते हैं। कामोत्तेजना के समय उक्त सभी अङ्ग अधिक क्रियाशील हो जाते हैं। उनमें स्राव अधिक उत्पन्न होने लगता है। मैथुन (गर्भाधान) ही इस स्राव का सदुपयोग है। यदि उत्तेजना होने पर भय अथवा अन्य कारणों से स्वस्थान से स्खलित शुक्र के वेग को रोक लिया जाय तो अवरोध के कारण वृषणग्रन्थि, शुक्रप्रणाली, शुक्राशय तथा पौरुषग्रन्थि में सूजन एवं पीड़ा होने लगती है। पौरुषग्रन्थि के सान्निध्य से गुदा में भी पीड़ा का अनुभव होता है। शुक्रस्राव के अवरोध के फलस्वरूप मूत्रकृच्छ्र भी हो जाता है। बार-बार इस प्रकार का अवरोध होने से प्रमेह रोग की भी उत्पत्ति हो सकती है। अविवाहितों में प्रमेह होने का यह मुख्य हेतु है।

तन्द्राऽङ्गमर्दारुचिविभ्रमाः स्युः
क्षुधोऽभिघातात् कृशता च दृष्टेः ।
कण्ठास्यशोषः श्रवणावरोध-
स्तृष्णाऽभिघाताद् हृदये व्यथा च ॥१६॥

क्षुधातृष्णावरोधोत्पन्नोदावर्तलक्षणानि—क्षुधा (भूख) के उत्पन्न हुए वेग को रोकने से तन्द्रा, अङ्गमर्द, अरुचि, विभ्रम (चक्कर आना) और दर्शनशक्ति की निर्बलता ये लक्षण उत्पन्न होते हैं तथा तृष्णा (प्यास) के उत्पन्न हुये वेग को रोकने से कण्ठ और मुख का सूखना, श्रवण का अवरोध (बाधिर्य), प्यास की अधिकता तथा हृदय में व्यथा (पीड़ा) उत्पन्न होती है ॥ १६ ॥

विमर्शः—चकारात् श्रम और स्वेदादिक ये लक्षण भी होते हैं। तन्द्रालक्षणम्—इन्द्रियार्थेष्वसम्प्राप्तिर्गौरवं जृम्भणं क्लमः। निद्रार्तस्येव यस्येहा तस्य तन्द्रां विनिर्दिशेत् ॥ 'अन्नं वै प्राणिनां प्राणाः' अन्न ही प्राणियों का प्राण है। भूख लगने पर भी भोजन न मिलने से पाचकाग्नि धातुओं का पाक करने लगती है जिससे मनुष्य में दुर्बलता आ जाती है। रक्त की कमी से आँखों के आगे अन्धकार सा छा जाता है। बिना परिश्रम के शरीर थका हुआ-सा प्रतीत होता है। चरकाचार्य ने क्षुधा के वेग को रोकने से उत्पन्न होने वाले निम्न लक्षण लिखे हैं—कार्श्यदौर्बल्यवैवर्ण्यमङ्गमर्दोऽरुचिर्भ्रमः। क्षुद्वेगनिग्रहात्......।

श्रान्तस्य निःश्वासविनिग्रहेण
हृद्रोगमोहावथवाऽपि गुल्मः ।
जृम्भाऽङ्गमर्दोऽङ्गशिरोऽक्षिजाड्यं
निद्राऽभिघातादथवाऽपि तन्द्रा ॥ १७ ॥

श्वासनिद्रावरोधोत्पन्नोदावर्तलक्षणानि—दौड़ने, कूदने, तेज चलने आदि परिश्रम करने से थक जाने पर उत्पन्न हुए निःश्वास के वेग को रोकने से हृदय के रोग, मूर्च्छा और गुल्म उत्पन्न होते हैं। इसी प्रकार निद्रा के उत्पन्न हुए वेग को रोकने से जृम्भा, अङ्गमर्द तथा शरीर के हस्तपादादि अङ्ग, शिर और नेत्रों में जड़ता (अपाटव) और तन्द्रा ये लक्षण उत्पन्न होते हैं ॥ १७ ॥

विमर्शः—श्रान्तस्य निःश्वासविनिग्रहेण—साधारण अवस्था में मनुष्य एक मिनट में चौदह से अट्ठारह बार श्वास लेता है। इस अवस्था में हृदय भी अपना कार्य यथावत् करता रहता है। श्वास और हृदय की गति में १ : ४ का अनुपात है। जितनी देर में एक बार श्वास आता है हृदय उतनी ही देर में चार बार स्पन्दन करता है। हृदय और फुफ्फुस का यह क्रम स्वस्थावस्थापर्यन्त बना रहता है। दौड़ने या अन्य इसी प्रकार का परिश्रम करने पर शरीर को अधिक रक्त एवं अधिक प्राणवायु (Oxygen) की आवश्यकता पड़ती है अतः हृदय और फुफ्फुस की गति तीव्र हो जाती है। इस अवस्था में मनुष्य हाँफने लगता है, इसी को श्वास कहते हैं। इस श्वासवेग को बलात् रोकने का प्रयत्न करने से प्राण और उदानवायु प्रकुपित होकर हृदय के कपाटों तथा फुफ्फुस के रोगों की उत्पत्ति करते हैं। श्वासवेग के एकाएक रुक जाने से कभी-कभी रोगी को मूर्च्छा भी हो जाती है। मोहो = वैचित्त्यम्। जृम्भालक्षणम्—पीत्वैकमनिलोच्छ्वासमुद्वेष्टनविवृताननः। यं मुञ्चति सनेत्रास्रं स जृम्भ इति संज्ञितः ॥ उद्वेष्टन के साथ मुख फैला के मनुष्य वायु के एक उच्छ्वास को लेकर आँखों से पानी के साथ जो निःश्वास बाहर फेंकता है वह जृम्भा कहलाती है। शार्ङ्गधरोक्तजृम्भालक्षणम्—चैतन्यशिथिलत्वाच्च पीत्वैकश्वासमुद्गमेत्। विदीर्णवदनः श्वासं जृम्भा सा कथ्यते बुधैः ॥ जम्भाई श्वास-प्रश्वास का एक विशिष्ट स्वरूप है जो रक्त में प्रां० द्विजारेय (Co 2) की अधिकता होने से बार-बार आया करता है। निद्रा—थके हुए नाड़ीतन्तुओं को विश्राम देने के लिये ही प्रधानतः निद्रा की उत्पत्ति होती है। उसके निरोध से वस्तुतः नाड़ीतन्तुओं से काम लेना थके घोड़े को मार-मार कर दौड़ाने के समान ही है।

तृष्णाऽर्दितं परिक्लिष्टं क्षीणं शूलैरभिद्रुतम् ।
शकृद्वमन्तं मतिमानुदावर्तिनमुत्सृजेत् ॥ १८ ॥

असाध्योदावर्तलक्षणम्—प्यास से पीड़ित, अधिक बेचैन, क्षीण, तीव्र शूल से शुक्त और मल का वमन करने वाले उदावर्त रोगी की बुद्धिमान् वैद्य चिकित्सा न करे ॥ १८ ॥

विमर्शः—उक्त श्लोक में कहे गये तृष्णार्दित आदि असाध्य लक्षण, पुरीषोदावर्त के ही हैं तथा आन्त्रावरोध के भी सूचक हैं। रोग की अत्युग्रावस्था में ही ये लक्षण उत्पन्न होते हैं तथा उस समय रोगी शस्त्र-चिकित्सा से भी प्रायः साध्य नहीं रहता है क्योंकि शस्त्र-चिकित्सा से भी कदाचित् ही कोई रोगी बच सकता हो। परिक्लिष्टम्—अत्यर्थमवसन्नं क्रियारहितमिति यावत्, अन्ये समन्ततोभावेन क्लेशमुपगतं परिक्लिष्टं मन्यन्ते।

सर्वेष्वेतेषु विधिवदुदावर्तेषु कृत्स्नशः ।
वायोः क्रिया विधातव्याः स्वमार्गप्रतिपत्तये ॥
सामान्यतः पृथक्त्वेन क्रियां भूयो निबोध मे ॥१९॥

सर्वोदावर्तेषु सामान्या वातहरी चिकित्सा—उक्त सर्वप्रकार के उदावर्तरोगों में वायु के प्रधान होने से उसे अपने मार्ग (स्वस्थान = पक्वाधानालयोऽपानः) में लाने के लिये यथाविधि वायु को जीतने की समस्त क्रियायें (स्नेहन, स्वेदन आदि) अथवा वातव्याधिरोग में कही हुई समस्त चिकित्सा सामान्य रूप से करनी चाहिए तथा उनकी पृथक्-पृथक् चिकित्सा भी मुझ से जानो ॥ १९ ॥

विमर्शः—सर्वेषु—अर्थात् तेरह प्रकार के उदावर्तरोगों में। कुछ लोग 'सर्वेषु' के स्थान पर 'नवसु' ऐसा पाठान्तर मान कर वात से उत्पन्न होने वाले नवसंख्यक उदावर्तों में वातसंशामकक्रिया करनी चाहिए ऐसा व्याख्यान करते हैं परन्तु वह ठीक नहीं है क्योंकि क्षुधावरोध आदि से उत्पन्न होने वाले शेष चार प्रकार के उदावर्त रोगों में भी वायु के प्रधान होने से उनमें भी वातहरी क्रिया की जाती है।

आस्थापनं मारुतजे स्निग्धस्विन्ने विशिष्यते ।
पुरीषजे तु कर्त्तव्यो विधिरानाहिको भवेत् ॥ २० ॥

वातोदावर्तचिकित्सा—वातजन्य उदावर्त में प्रथम स्नेहन तथा स्वेदनकर्म करके पश्चात् आस्थापन (निरूहण) बस्ति

का प्रयोग विशिष्ट रूप से करना चाहिए। इसी प्रकार पुरीषजन्य उदावर्त में आनाहरोगोक्त विधि (फलवर्ती आदि) का प्रयोग करना चाहिये ॥ २० ॥

विमर्शः—चरके उदावर्तस्य सामान्यचिकित्सा—तं तैलशीतज्वरनाशनोक्तैः स्वेदैर्यथोक्तैः प्रविलीनदोषम्। उपाचरेद्वर्तिनिरूहबस्तिस्नेहैर्विरेकैरनुलोमनार्थैः॥ श्यामात्रिवृन्मागधिकां सदन्तीं गोमूत्रपिष्टां दशभागमाषाम्। सनीलिकां द्विलवणां गुडेन वर्तिं कराङ्गुष्ठनिभां विदध्यात्॥ (च० चि० अ० २६) अर्थात् प्रथम स्नेहन, स्वेदन और वर्ति का प्रयोग करें। पश्चात् निरूहण बस्ति और स्नेह-विरेचन का उपयोग करना चाहिए। पुरीषजोदावर्त में आनाहिकविधि का सुश्रुत के विसूचिकाप्रकरण में वर्णन किया गया है—आमोद्भवे वान्तमुपक्रमेत संसर्गभक्तक्रमदीपनीयैः। अथेतरं यो न शकृद्वमेत्समामं जयेत स्वेदनपाचनैश्च। (सु० उ० अ० ५६) अर्थात् प्रथम रुग्ण को वमन करा के पिप्पल्यादिगण की औषधियों से साधित दीपनीय यवागू आदि का सेवन कराना चाहिए। चरकाचार्य ने भी आनाह-चिकित्सा प्रकरण में लिखा है कि आमजन्य आनाह में वमन, लङ्घन और पाचन-कर्म कराना चाहिए—आनाहमामप्रभवं जयेत्तु प्रच्छर्दनैर्लङ्घनपाचनैश्च। (च०चि०अ०२६)

सौवर्चलाढ्यां मदिरां मूत्रे त्वभिहते पिबेत्।
एलां वाऽप्यथ मद्येन क्षीरं वाऽपि पिबेन्नरः॥ २१॥

मूत्रोदावर्तचिकित्सा—मूत्रवेग के रोकने से उत्पन्न हुए उदावर्त में अधिक सौंचल लवण के प्रक्षेप से युक्त मद्य का पान कराना चाहिए। अथवा इलायची के ३ माशे से ६ माशे भर चूर्ण को २½ तोले से ५ तोले मद्य में मिला के पान कराना चाहिए। किंवा प्रभूत मात्रा में दुग्धपान कराना चाहिए॥ २१॥

विमर्शः—मूत्रोदावर्त्त में घृत का अवपीडन-नस्य भी देना चाहिए ऐसा उक्त श्लोक में (मूत्रेत्वभिहते) 'तु' लिखने से गृहीत होता है (डल्हण)।

धात्रीफलानां स्वरसं सजलं वा पिबेत् त्र्यहम्।
रसमश्वपुरीषस्य गर्दभस्याथवा पिबेत्॥ २२॥

मूत्रोदावर्ते धात्रीफलरसः—आँवले के पके हुए ताजे फलों का स्वरस निकालकर उसमें थोड़ा-सा पानी मिला के तीन दिन तक पिलाना चाहिए। अथवा घोड़े की ताजा लीद ले के उसे कपड़े में बाँध के निचोड़कर १ से २ तोले स्वरस निकाल के पिलाना चाहिए। अथवा इसी प्रकार गदहे की लीद का स्वरस पिलावें॥ २२॥

मांसोपदंशं मधु वा पिबेद्वा सीधु गौडिकम्॥ २३॥

मूत्रोदावर्ते विविधमद्ययोगाः—मांसभक्षण करने के पश्चात् या उसके साथ-साथ द्राक्षा का बना हुआ मद्य, किंवा सीधु अथवा गुड़ से बनाया हुआ मद्य पिलाने से मूत्रोदावर्त नष्ट होता है॥ २३॥

विमर्शः—मधु शब्द को यहाँ पर सीधु और गौडिक मद्य के साहचर्य से मद्य के अर्थ में ही प्रयुक्त समझना चाहिए, जैसा कि चरक में भी साहचर्य से मधु का अर्थ मद्य होता है—प्रसन्नां वारुणीं सीधुमरिष्टानासवान् मधु। स्वेदावगाहनाभ्यङ्गान् सर्पिषश्चावपीडकम्। मूत्रे प्रतिहते कुर्यात् त्रिविधं बस्तिकर्म च॥ अन्यच्च—मधु = मद्यं तच्च द्राक्षोद्भवं समानतन्त्रदर्शनात्। तथा च तद्वचः—'द्राक्षोद्भवं चापि पिबेन्मद्यं मांसोपदंशकम्॥ इति डल्हणः'।

भद्रदारु घनं मूर्वा हरिद्रा मधुकं तथा।
कोलप्रमाणानि पिबेदान्तरिक्षेण वारिणा॥ २४॥

मूत्रोदावर्ते भद्रदार्वादियोगः—देवदारु, नागरमोथा, मूर्वा, हरिद्रा और मुलेठी, इन्हें समान प्रमाण में लेकर खाण्डकूट कर छान के चूर्ण कर लें। इस चूर्ण को कोल (आधे कर्ष = ६ माशे) प्रमाण में लेकर अन्तरिक्ष (आकाशीय) जल के साथ पीने से मूत्रोदावर्त नष्ट होता है॥ २४॥

दुःस्पर्शास्वरसं वाऽपि कषायं कुङ्कुमस्य च।
एर्वारुबीजं तोयेन पिबेद्वाऽलवणीकृतम्॥ २५॥

मूत्रोदावर्ते दुःस्पर्शादियोगाः—दुरालभा को पत्थर पर पीस कर उसका स्वरस अथवा केसर का कषाय, अथवा ककड़ी के बीजों को पानी के साथ पीस कर छान के उनका स्वरस लेकर इनमें थोड़ा-सा लवण मिश्रित कर पिलाने से मूत्रोदावर्त नष्ट होता है॥ २५॥

पञ्चमूलीशृतं क्षीरं द्राक्षारसमथापि वा।
योगांश्च वितरेदत्र पूर्वोक्तानश्मरीभिदः॥ २६॥

मूत्रोदावर्ते पञ्चमूलीशृतक्षीरम्—लघु पञ्चमूल के द्रव्यों के साथ सिद्ध किया हुआ दुग्ध अथवा मुनक्का १-२ तोले भर लेकर उनकी गुठली निकालकर पत्थर पर पानी के साथ पीस कर छान के पिलावें। अथवा अश्मरी रोग को नष्ट करनेवाले पूर्वोक्त योगों का यहाँ पर प्रयोग करना चाहिए॥ २६॥

विमर्शः—पञ्चमूलं लघु तथथा—शालपर्णी पृश्निपर्णी बृहतीद्वयगोक्षुरैः—इत्यात्मकं समानतन्त्रसंवादात्तथथा—'लघुना पञ्चमूलेन शृतं क्षीरं पिबेन्नरः'। क्षीरपाकविधिः—द्रव्यादष्टगुणं क्षीरं क्षीरात्तोयं चतुर्गुणम्। क्षीरावशेषः कर्तव्यः क्षीरपाके त्वयं विधिः॥ अश्मरीभिदो योगान्—'कुशः काशः शरः' इत्यादिनाऽश्मरीचिकित्सोक्तान् अश्मरीभिदो योगान्—पाषाणभेदी रस, कुशकाशादितृणपञ्चमूलक्वाथ, गोक्षुरादिक्वाथ, गोक्षुरादिगुग्गुलु, द्र० गोक्षुराद्यवलेह, वरुणादिक्वाथ, शिलाजतुप्रयोग, वरुणाद्यवलेह, वरुणादिघृत, गोक्षुरादिघृत, कुशाद्यघृत, कुशाद्यवलेह इत्यादीन्।

मूत्रकृच्छ्रक्रमं चापि कुर्यान्निरवशेषतः।
भूयो वक्ष्यामि योगान् यान् मूत्राघातोपशान्तये॥ २७॥

उदावर्ते मूत्रकृच्छ्रयोगाः—उदावर्त रोग को नष्ट करने के लिये मूत्रकृच्छ्ररोगाधिकार में कहे हुए क्रम तथा योगों का प्रयोग करना चाहिए। एवं मूत्राघात की शान्ति के लिये जिन योगों का आगे वर्णन किया जायगा उनका भी उदावर्त रोग में प्रयोग करना चाहिए॥ २७॥

विमर्शः—मूत्रकृच्छ्रहर-योगों में शिलाजतुयोग, यवक्षारप्रयोग, नारिकेलपुष्पप्रयोग, नारिकेललवण, तृणपञ्चमूलक्वाथ, त्रिकण्टकादिक्वाथ, दुरालभादिक्वाथ, मूत्रकृच्छ्रान्तकरस, शतावर्यादि घृत और क्षीरत्रिकण्टकाद्यघृत आदि प्रसिद्ध हैं। इनका उदावर्त में प्रयोग करना चाहिए। मूत्राघातनाशनार्थं बस्ति, उत्तरबस्ति तथा स्निग्ध विरेचन दे के पश्चात् गोक्षुर

क्वाथ, शिलाजतुप्रयोग और विदारीघृत का प्रयोग करते हैं। अतः उदावर्त रोग में भी इनका प्रयोग करना चाहिए।

स्नेहैः स्वेदैरुदावर्त्तं जृम्भाजं समुपाचरेत्।
अश्रुमोक्षोऽश्रुजे कार्य्यः स्निग्धस्विन्नस्य देहिनः॥२८॥

जृम्भाश्रुजोदावर्तचिकित्सा—जृम्भा के रोकने से उत्पन्न हुए उदावर्त में प्रथम स्नेहन और पश्चात् स्वेदनकर्म करना चाहिए। इसी प्रकार अश्रुनिरोधजन्य उदावर्त में प्रथम स्नेहन कराके स्वेदन कर पश्चात् अश्रुमोचणकर्म करना चाहिए॥ २८॥

तीक्ष्णाञ्जनावपीडाभ्यां तीक्ष्णगन्धोपशिङ्घनैः।
वर्त्तिप्रयोगैरथवा क्षवसक्तिं प्रवर्त्तयेत्॥
तीक्ष्णौषधप्रधमनैरथवाऽऽदित्यरश्मिभिः॥ २९॥

क्षवजोदावर्तचिकित्सा—छिक्का के निरोध से उत्पन्न हुए उदावर्त में मरिच, पिप्पली आदि के तीक्ष्ण अञ्जन तथा अवपीडन नस्य एवं तीक्ष्णगन्ध-द्रव्यों के चूर्ण को सूँघने से अथवा धूमवर्ति के प्रयोग से छींक को प्रवर्तित कर छिक्का-निरोधजन्य उदावर्त को नष्ट करें। अथवा तीक्ष्ण औषधियों के चूर्ण का नासा में प्रधमन करने से किंवा सूर्य की किरणों के सम्मुख ३-४ मिनट तक देखते रहने से छिक्का की प्रवृत्ति होकर छिक्कारोधजन्य उदावर्त नष्ट होता है॥ २९॥

विमर्शः—छिक्काजननोपायाः—तीक्ष्णधूमाञ्जनाघ्राणनावनार्कविलोकनैः। प्रवर्तयेत् क्षुतिं सक्ताम्***॥

उद्गारजे क्रमोपेतं स्नैहिकं धूममाचरेत्।
सुरां सौवर्चलवतीं बीजपूररसान्विताम्॥ ३०॥

उद्गारजन्योदावर्तचिकित्सा—उद्गारनिरोधजन्य उदावर्त रोग में धूम, नस्य, कवलग्रह इस क्रम से स्नैहिक धूम का प्रयोग करना चाहिए तथा सौवर्चल लवण के प्रक्षेप के साथ बिजौरे निम्बू के रस से युक्त सुरा (ब्राण्डी) का पान कराना चाहिए॥

छर्द्याघातं यथादोषं सम्यक् स्नेहादिभिर्जयेत्।
सक्षारलवणोपेतमभ्यङ्गं चात्र दापयेत्॥ ३१॥

छर्दिनिरोधजोदावर्तचिकित्सा—छर्दि के रोकने से उत्पन्न हुवे उदावर्त रोग में दोषों के अनुसार भलीभांति स्नेहन, स्वेदन, वमन और विरेचन कराके पश्चात् यवक्षार और सैन्धव मिश्रित घृत या तैलोंका अभ्यङ्ग कराना चाहिए॥३१॥

विमर्शः—यद्यपि तन्त्रान्तर में तैलाभ्यङ्ग का उल्लेख है, तथापि वृद्धसम्प्रदायानुसार घृत का अभ्यङ्ग करना श्रेष्ठ है तथा चकार से व्यायाम, उपवास आदि भी उदावर्त में लाभकारी होते हैं।

बस्तिशुद्धिकरावापं चतुर्गुणजलं पयः॥ ३२॥
आवारिनाशात् कथितं पीतवन्तं प्रकामतः।
रमयेयुः प्रिया नार्य्यः शुक्रोदावर्त्तिनं नरम्॥ ३३॥

शुक्रोदावर्तचिकित्सा—शुक्रनिरोध से उत्पन्न हुए उदावर्त रोग में बस्ति को शुद्ध करने वाले पञ्चतृण, गोखरू, ककड़ी-बीज, कूष्माण्डबीज आदि द्रव्यों का चूर्ण दुग्ध से अष्टमांश प्रमाण में लेकर दुग्ध में प्रक्षिप्त करें तथा दुग्ध से चतुर्गुण पानी मिलाकर पानी के नष्ट होने तक दुग्ध को पका के मन्दोष्ण होने पर छान कर शुक्रोदावर्त के रोगी को पिला के उसके साथ अनुरागवती स्त्रियाँ रमण करें॥ ३२-३३॥

विमर्शः—चरकाचार्य ने शुक्रोदावर्त में अभ्यङ्ग, द्रोणी में अवगाहन, मदिरापान, मांससेवन, साँठी चावलों का भात और दुग्ध एवं निरूहण बस्ति तथा मैथुन ये उपचार लिखे हैं—तत्राभ्यङ्गावगाहाश्च मदिराचरणायुधाः। शालिः पयो निरूहाश्च शस्तं मैथुनमेव च॥ (चरक)

क्षुद्विघाते हितं स्निग्धमुष्णमल्पञ्च भोजनम्।
तृष्णाघाते पिबेन्मन्थं यवागूं वाऽपि शीतलाम्॥३४॥

क्षुत्तृष्णोदावर्तचिकित्सा—क्षुधा के रोकने से उत्पन्न हुए उदावर्त रोग में स्निग्ध तथा उष्ण अल्प भोजन हितकारी होता है तथा तृष्णा के निरोध से उत्पन्न हुए उदावर्त-रोग में घृत और शीतल पानी में घोले हुए सत्तू (मन्थ) तथा शीतल यवागू का पान कराना चाहिए॥ ३४॥

विमर्शः—मन्थलक्षणम्—सक्तवः सर्पिषा युक्ताः शीतवारि-परिप्लुताः। नात्यच्छो नातिसान्द्राश्च मन्थ इत्यभिधीयते॥ (भै० र०) यवागूः—'षड्गुणेऽम्भसि'।

भोज्यो रसेन विश्रान्तः श्रमश्वासातुरो नरः।
निद्राघाते पिबेत् क्षीरं स्वप्याचेष्टकथा नरः॥ ३५॥

श्रमजश्वासे चिकित्सा—श्रम के कारण उत्पन्न हुए श्वास के संशमन के लिये प्रथम रुग्ण को विश्रान्ति देकर पश्चात् मांसरस का भोजन कराना चाहिये। इसी प्रकार निद्रावरोध से उत्पन्न हुए उदावर्त में रुग्ण को गौ का दुग्ध पिलाना चाहिए तथा शयन कराना चाहिए। एवं उसके मनको अच्छी लगने वाली कथा सुनानी चाहिए॥ ३५॥

विमर्शः—वास्तव में भैंस का दुग्ध अभिष्यन्दी एवं निद्राजनक होता है। अतः निद्रानयनार्थ इसका प्रयोग उत्तम है, जैसा कि सुश्रुत ने लिखा है—महाभिष्यन्दि मधुरं माहिषं वह्निनाशनम्। निद्राकरं शीततरं गव्यात् स्निग्धतरं गुरु॥ (सु० सू० अ० ४५) डल्हणाचार्य ने गोदुग्ध लेने को लिखा है—'निद्राघाते पिबेत् क्षीरं गोस्तनादथवा नरः'।

आध्मानाद्येषु रोगेषु यथास्वं प्रयतेत हि।
यच्च यत्र भवेत् प्राप्तं तच्च तस्मिन् प्रयोजयेत्॥ ३६॥

उदावर्तोपद्रवचिकित्सा—उदावर्त के उपद्रवस्वरूप उत्पन्न हुए आध्मान तथा आदि शब्दसे शूल, परिकर्तिका और मलमूत्र आदि के सङ्ग होने पर दोष तथा उस उपद्रव की जो अपनी चिकित्सा शास्त्र में वर्णित है तदनुसार चिकित्सा करनी चाहिए। इसके अतिरिक्त जिस प्रकार के आध्मान में जो चिकित्सा उचित हो अथवा उस रोग की अपने प्रकरण में कही हुई औषध का भी यहाँ पर प्रयोग करने से लाभ होता है॥ ३६॥

वायुः कोष्ठानुगो रूक्षैः कषायकटुतिक्तकैः।
भोजनैः कुपितः सद्य उदावर्त्तं करोति हि॥ ३७॥
वातमूत्रपुरीषासृक्कफमेदोवहानि वै।
स्रोतांस्युदावर्तयति पुरीषं चातिवर्तयेत्॥ ३८॥
ततो हृद्वस्तिशूलार्त्तो गौरवारुचिपीडितः।
वातमूत्रपुरीषाणि कृच्छ्रेण कुरुते नरः॥ ३९॥

श्वासकासप्रतिश्यायदाहमोहवमिज्वरान् ।
तृष्णाहिक्काशिरोरोगमनःश्रवणविभ्रमान् ॥
लभते च बहूनन्यान् विकारान् वातकोपजान् ॥४०॥

अपथ्यभोजनोदावर्त्तहेतुलक्षणादिकम्—पूर्व में 'अपथ्यभोजना-धापि वक्ष्यते च तथाऽपरः' इस श्लोक के द्वारा अपथ्यभोजन-जन्य उदावर्त का वर्णन आगे किया जायगा, ऐसा कह आये थे, अत एव अब उसके हेतुलक्षणादिक लिखते हैं—कोष्ठ में अवस्थित अपान वायु रूक्ष पदार्थ तथा कषाय, कटु और तिक्तरसप्रधान भोजन द्रव्यों के सेवन से कुपित होकर तत्काल उदावर्तरोग को उत्पन्न करता है। यह वायु वात, मूत्र, मल, रक्त, कफ और मेद के वाहक स्रोतसों को, जो कि नीचे की ओर वातमूत्रादिकों का वहन करते हैं, उदावर्तित (ऊर्ध्व-वाहक) कर देता है तथा मल को अधिक मात्रा में कठिन कर देता है। इससे हृदय और बस्ति के शूल से पीड़ित, भारीपन और अरुचि से भी पीड़ित वह व्यक्ति वात, मूत्र और मल को कठिनता से त्यागता है एवं वह रोगी श्वास, कास, प्रतिश्याय, दाह, मूर्च्छा, वमन, ज्वर, तृष्णा, हिक्का, शिरोरोग, मनोरोग, कर्ण के रोग तथा इसी प्रकार के अन्य वातजन्य विकारों को प्राप्त करता है ॥

विमर्शः—वायुः—कोष्ठानुगो वायुरपानः, समानतन्त्रदर्शनात्। कोष्ठः—स्थानान्यामाग्निपक्वानां मूत्रस्य रुधिरस्य च। हृदुण्डुकः फुफ्फुसौ च कोष्ठ इत्यभिधीयते ॥ उदावर्तयति=ऊर्ध्वमावर्तयति, अधोवहानि स्रोतांस्यूर्ध्ववहानि करोतीत्यर्थः। पुरीषञ्चातिवर्तयेत्—छष्ट्रादिपुरीषवत् कठिनं कुर्यादित्यर्थः।

तं तैललवणाभ्यक्तं स्निग्धं स्विन्नं निरूहयेत् ।
दोषतो भिन्नवर्चस्कं भुक्तं चाप्यनुवासयेत् ॥ ४१ ॥

दोषजोदावर्तचिकित्सा—उक्त अपथ्यसेवन से उत्पन्न हुये उदावर्त में रुग्ण का प्रथम तैल तथा लवण से अभ्यङ्ग करके पश्चात् उसे स्नेहपान करा कर स्वेदित करे। और स्वेदन करने के अनन्तर निरूहण (आस्थापन) बस्ति देवे। निरूहण बस्ति के देने से तथा दोष के कारण मल के भेदन (पतली दस्त) होने पर दोषानुसार भोजन दे के अनुवासनबस्ति देनी चाहिए ॥ ४१ ॥

विमर्शः—यही क्रम अन्यत्र भी कहा है—उदावर्ते त्वपथ्योत्थे सुनिरूढं ततो भिषक्। यथादोषं भुक्तवन्तमाशु चैवानुवासयेत् ॥

न चेच्छान्तिं व्रजत्येवमुदावर्तः सुदारुणः ।
अथैनं बहुशः स्विन्नं युञ्ज्यात् स्नेहविरेचनैः ॥ ४२ ॥

उक्तबस्त्योरलाभे क्रिया—निरूहण और अनुवासन बस्ति देने से भी यदि कठोर उदावर्त शान्त न हो तो उस रोगी का अनेक बार स्नेहन और स्वेदन कर्म करके उसे एरण्ड तैल आदि का स्निग्ध विरेचन देना चाहिए ॥ ४२ ॥

पाययेत त्रिवृत्पीलुयवानीरम्लपाचनैः ॥ ४३ ॥
हिङ्गुकुष्ठवचास्वर्जिविडङ्गं वा द्विरुत्तरम् ।
योगावेतावुदावर्त्तं शूलञ्चानिलजं हतः ॥ ४४ ॥

अपथ्यजोदावर्ते त्रिवृद्धिङ्ग्वादियोगौ—(१) सफेद निशोथ, पीलु (गुडफल) तथा अजवायन को समान प्रमाण में मिश्रित कर ६ माशे भर लेके अम्ल द्रव (काञ्जी) तथा चित्रकादिक पाचन-द्रव्यों के चूर्ण के साथ पिलावे। (२) घृत-भर्जित हींग तथा कूठ, वचा, स्वर्जिक्षार और वायविडङ्ग इन्हें उत्तरोत्तर एक दूसरे से द्विगुणित लेकर खाण्ड कूटकर चूर्ण बनाकर शीशी में भर देवें। इस चूर्ण को २ माशे से ६ माशे प्रमाण में लेकर काञ्जी के अनुपान से सेवन करावें। ये दोनों योग उदावर्त तथा वातजन्य शूल को नष्ट करते हैं ॥ ४३–४४ ॥

देवदार्वग्निकौ कुष्ठं शुण्ठीं पथ्यां पलङ्कषाम् ।
पौष्कराणि च मूलानि तोयस्यर्द्धाढके पचेत् ॥
पादावशिष्टं तत् पीतमुदावर्त्तमपोहति ॥ ४५ ॥

उदावर्ते देवदार्वादिक्वाथः—देवदारु, चित्रक की जड़, कूठ, सोंठ, हरड़, गुग्गुलु और पोहकरमूल इन्हें समान प्रमाण में मिश्रित कर यवकुट करके ८ पल भर लेकर आधे आढक (२ प्रस्थ ३२ पल) पानी में डालकर क्वथित कर चौथाई (८ पल) अवशेष रहने पर छान कर पिलाने से उदावर्त रोग नष्ट होता है ॥ ४५ ॥

विमर्शः—यहाँ पर क्वाथ्य द्रव्य तथा पानी और अवशेष क्वाथ सभी की इतनी मात्रा जो लिखी गई वह वृद्धवैद्य-व्यवहार तथा तन्त्रान्तरदर्शन के प्रमाण से है—कुष्ठं पलङ्कषां पथ्यां शुण्ठीं दार्वग्निपुष्करम्। द्वात्रिंशता तोयपलैः पक्त्वा पादाव-शेषितम् ॥ पाययेत्......। यद्यपि परिभाषा के अनुसार क्वाथ की एक अञ्जलि पर्याप्त है—'क्वाथस्याञ्जलिरिष्यते।' किन्तु यह नियम जहाँ कोई विशिष्ट मान (प्रमाण) में द्रव्य ग्रहण करने का नियम न लिखा हो वहाँ के लिये है। जहाँ द्रव्य का मान लिखा हो वहाँ यह परिभाषा नहीं चलती। कुछ लोगों ने अर्ध आढक से ६४ पल ग्रहण किया है। इनके मत से रुग्ण को १६ पल क्वाथ पिलाना प्राप्त होता है। कुछ लोगों का मत है कि इतना क्वाथ एक दिन में न पिलाकर धीरे-धीरे दो-तीन दिन में थोड़ा-थोड़ा करके पिलाना चाहिये, किन्तु समानतन्त्र के विरोध से यह मत प्रशस्त नहीं है।

मूलकं शुष्कमार्द्रञ्च वर्षाभूः पञ्चमूलकम् ॥ ४६ ॥
आरेवतफलं चाप्सु पक्त्वा तेन घृतं पचेत् ।
तत्पीयमानं शास्त्युग्रमुदावर्तमशेषतः ॥ ४७ ॥

उदावर्तहरं मूलकादिघृतम्—सूखी मूली, सूखा आर्द्रक (सोंठ), पुनर्नवा, बिल्व की छाल, सोनापाठा, गम्भारी की छाल, पाढल और अरणी तथा अमलतास का गिर, इन सबको समान प्रमाण में मिश्रित कर १ प्रस्थ लेकर यवकुट कर १६ प्रस्थ पानी में पकाकर ४ प्रस्थ शेष रहने पर छानकर उसमें १ प्रस्थ घृत डालकर घृतावशेष पाक कर लेना चाहिये। इस घृत को ६ माशे से १ तोले के प्रमाण में लेकर मन्दोष्ण दुग्ध अथवा जल के अनुपान के साथ सेवन करने से भयङ्कर उदावर्त रोग भी ठीक हो जाता है ॥ ४६–४७ ॥

वचामतिविषां कुष्ठं यवक्षारं हरीतकीम् ।
कृष्णां निर्दहनीञ्चापि पिबेदुष्णेन वारिणा ॥ ४८ ॥

उदावर्तहरं वचादिचूर्णम्—वचा, अतीस, कूठ, यवक्षार, हरड़, पिप्पली और अरणी इन्हें समान प्रमाण लेकर खाण्ड

कूटकर चूर्ण कर लेवें। इस चूर्ण को ३ माशे से ६ माशे प्रमाण में लेकर मन्दोष्ण जल के अनुपान के साथ सेवन करने से उदावर्त रोग नष्ट हो जाता है ॥ ४८ ॥

इक्ष्वाकुमूलं मदनं विशल्याऽतिविषे वचाम्।
कुष्ठं किण्वाग्निकौ चैव पिबेत् तुल्यानि पूर्ववत् ॥४९॥

उदावर्तहरमिक्ष्वाकुमूलादि चूर्णम्—कड़वी तुम्बी की जड़, मैनफल, कलिहारी की जड़, अतीस, वचा, कुष्ठ, किण्व (सुराबीज=आसवपात्रतलस्थ गाढ़ा पदार्थ) और चित्रक की जड़ की छाल, इन्हें समान प्रमाण में चूर्णित कर शीशी में भर दें। मात्रा ३ माशे से ६ माशे भर। अनुपान—मन्दोष्ण जल। यह चूर्ण पूर्व के समान उदावर्तनाशक है ॥ ४९ ॥

मूत्रेण देवदार्वग्नित्रिफलाबृहतीः पिबेत् ॥ ५० ॥

उदावर्तहरं देवदार्वादिचूर्णम्—देवदारु, चित्रकमूल की छाल, हरड़, बहेड़ा, आँवला, और बड़ी कटेरी इन्हें समान प्रमाण में लेकर खाण्डकूट कर चूर्ण बना कर ३ माशे से ६ माशे प्रमाण में गोमूत्रानुपान के साथ सेवन करने से उदावर्त रोग नष्ट होता है ॥ ५० ॥

यवप्रस्थं फलैः सार्धं कण्टकार्य्या जलाढके।
पक्त्वाऽर्द्धप्रस्थशेषन्तु पिबेद्धिङ्गुसमन्वितम् ॥ ५१ ॥

उदावर्तहरो यवादिक्वाथः—यव तथा लघु कण्टकारी के फल समान प्रमाण में मिला कर १ प्रस्थ (१६ पल) भर लेकर १ आढक (४ प्रस्थ=६४ पल=२५६ तोले) जल में क्वथित कर आधा प्रस्थ (८ पल) शेष रहने पर छानकर मन्दोष्ण क्वाथ में घृतभर्जित शुद्ध हिंगु चूर्ण ४ से ८ रत्तीपर्यन्त प्रक्षिप्त कर पीने से उदावर्तरोग नष्ट होता है ॥ ५१ ॥

विमर्शः—यहाँ पर क्वाथ के ८ पल होने से उसे कैसे पिया जायगा यह शंका करना उचित नहीं—ऋषयस्त्वेव जानन्ति द्रव्यसंयोगज फलम्। कुछ लोग देवदार्वादिक्वाथ के समान यहाँ भी पानी का अधिक प्रमाण डालना चाहते हैं। उनके मत से यव १ प्रस्थ तथा कण्टकारीफल भी १ प्रस्थ ग्रहण करते हैं। कुछ लोग यव १ प्रस्थ तथा कण्टकारी के फल २ पल ऐसा पाठ मानते हैं—'यवप्रस्थं पले द्वे च कण्टकार्याः फलानि च।'

मदनालाबुबीजानि पिप्पलीं सनिदिग्धिकाम्।
सञ्चूर्ण्य प्रधमेन्नाड्या विशत्येतद्यथा गुदम् ॥ ५२ ॥

उदावर्तहरं गुदप्रधमनम्—मैनफल के बीज, तुम्बी के बीज, पीपल और छोटी कटेरी का पञ्चाङ्ग अथवा उसके बीज सभी को समान प्रमाण में मिश्रित कर खाण्ड कूटकर चूर्णित कर नाडीयन्त्र में अथवा कागज की एक भोंगली बनाकर उसमें भरकर उसका एक मुख गुदद्वार में तथा दूसरा मुख फूत्कार मारने वाले के मुख के पास रखकर फूत्कार मारे, जिससे यह चूर्ण गुदा में चला जाय और उदावर्त रोग नष्ट हो ॥ ५२ ॥

विमर्शः—इस योग में तन्त्रान्तरदर्शन से मदनफल के बीजों का ग्रहण किया गया है—'मदनालाबुनोर्बीजं कण्टकारी-कणान्वितम्।'

चूर्णं निकुम्भकम्पिल्लश्यामेक्ष्वाकग्निकोद्भवम्।
कृत्वेधनमागम्योर्लवणानाञ्च साधयेत् ॥ ५३ ॥

गवां मूत्रेण ता वर्त्तीः कारयेत् गुदानुगाः।
सद्यः शर्मकरावेतौ योगावमृतसम्भवौ ॥ ५४ ॥

इति सुश्रुतसंहितायामुत्तरतन्त्रान्तर्गते कायचिकित्सातन्त्रे उदावर्तप्रतिषेधो नाम (सप्तदशोऽध्यायः, आदितः) पञ्चपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५५ ॥

उदावर्तहरा फलवर्तिः—दन्ती के शुद्ध बीज, कबीला, लाल जड़ की निशोथ (त्रिवृत्), कड़वी तुम्बी के बीज अथवा जड़ तथा अजमोदा, अमलतास का गिर अथवा कोशातकी (कड़वी तरोई) की जड़ या बीज, पिप्पली (मागधी) और सैन्धव लवण, सामुद्र लवण, विडलवण, सोंचल लवण तथा रोमक लवण इन सबको समान प्रमाण में लेकर खाण्ड कूट के चूर्ण बनाकर गोमूत्र में डाल के पकावें। पकते-पकते जब गाढ़ा लेह बन जाय तब चूल्हे से नीचे उतार कर शीत होने पर इसकी गुदा में जाने योग्य वर्तियाँ बना के सुखाकर शीशी में भर देवें। ये दोनों योग अर्थात् मदनादिचूर्ण प्रधमन योग तथा निकुम्भादि फलवर्ति योग अमृत के समान गुणकारी हैं। अतः उदावर्त-रोग में तत्काल शान्ति देते हैं ॥ ५३-५४ ॥

विमर्शः—चरकाचार्य ने उदावर्त रोग में अनेक प्रकार की वर्तियों का उल्लेख किया है—(१) श्यामात्रिवृन्मागधिकां सदन्तीं गोमूत्रपिष्टां द्विगुणगुडां वा। ससैन्धवां पञ्चगुणे गुडे च वर्तिं कराङ्गुष्ठनिभां विदध्यात्॥ (२) पिण्याकसौवर्चलहिङ्गुभिर्वा ससर्षपत्र्यूषणयावशूकैः। क्रिमिघ्नकम्पिल्लकशङ्खिनीभिः सुधार्कजक्षीरगुडैर्युताभिः। (३) श्यामापिप्पलीसर्षपराढवेश्मधूमैः सगोमूत्रगुडैश्च वर्तिः। श्यामाफलालाबुकपिप्पलीनां नाड्याऽथवा तत् प्रधमेत्तु चूर्णम् ॥ (४) रक्षोघ्नतुम्बीकरहाटकृष्णाचूर्णं सजीमूतकसैन्धवं वा। स्निग्धे गुदे तान्यनुलोमयन्ति नरस्य वर्चोऽनिलमूत्रसङ्गम् ॥ (च० चि० अ० २६) वर्ति को सपोजिटरी कहते हैं। वर्तमान चिकित्साशास्त्र को सपोजिटरी का निर्माण करना आयुर्वेद से प्राप्त हुआ था किन्तु इनकी सपोजिटरी केवल गुद भाग को चिक्कण करती हुई मल की मृदु सारकमात्र है किन्तु आयुर्वेद की फलवर्ति (सपोजिटरी) मलमूत्र की प्रवृत्ति कराने के अतिरिक्त अपानवायु का संशमन भी करती है, एवं अनेक गुदगत रोग तथा वातविकारों का संशमन भी करती है। उदावर्ते पथ्यानि—स्नेहस्वेदविरेकाश्च वस्तयः फलवर्त्तयः। अभ्यङ्गश्च यवाः सर्वं सृष्टविण्मूत्रमारुतम् ॥ ग्राम्यौदकानूपरसा रसुतैलञ्च वारुणी। बालमूलकसम्पाकत्रिवृत्तिलसुधादलम् ॥ शृङ्गवेरं मातुलुङ्गं यवक्षारो हरीतकी। लवङ्गं रामठं द्राक्षा गोमूत्रं लवणानि च। इति पथ्यमुदावर्ते नृणामुक्तं महर्षिभिः। उदावर्तेऽपथ्यानि—वमनं वेगरोधञ्च शमीधान्यानि कोद्रवम्। नालीतशाकं शालूकं जाम्बवं कर्कटीफलम् ॥ पिण्याकमालुकं सर्वं करीरं पिष्टवैकृतम्। विष्टम्भीनि विरुद्धानि कषायाणि गुरूणि च ॥ उदावर्ते प्रयत्नेन वर्जयेन्मतिमान्नरः॥

इति सुश्रुतसंहितायाः भाषाटीकायामुत्तरतन्त्रे पञ्चपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५५ ॥

षट्पञ्चाशत्तमोऽध्यायः

अथातो विसूचिकाप्रतिषेधमध्यायं व्याख्यास्यामः ॥१॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥ १ ॥

अब इसके अनन्तर विसूचिकाप्रतिषेध नामक अध्याय का व्याख्यान करते हैं, जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने कहा है ॥

विमर्शः—उदावर्तरोग में वातप्रकोप का प्राधान्य होने से मन्दाग्नि होना स्वाभाविक है तथा मन्दाग्नि विसूचिका का हेतु होने से उदावर्त के अनन्तर विसूचिका का प्रारम्भ युक्तियुक्त है। माधवकार ने अजीर्ण के पश्चात् विसूचिका आदि की उत्पत्ति होने से अजीर्ण के अनन्तर इनका वर्णन किया है। विसूचिका और प्रतिषेध के मध्य में आदि शब्द लुप्त होने से अलसक और विलम्बिका के वर्णन का भी तात्पर्य निकलता है। अन्य टीकाकारोंने विसूचिका शब्द को अजहत्स्वार्था लक्षणा से अलसक और विलम्बिका का द्योतक माना है—विसूचिका-शब्दोऽयं प्रकृत्या अजहत्स्वार्थया लक्षणया अलसकविलम्बिके लक्षयति।

अजीर्णमामं विष्टब्धं विदग्धञ्च यदीरितम्।
विसूच्यलसकौ तस्माद्भवेच्चापि विलम्बिका ॥ २ ॥

विसूच्यादीनां कारणम्—अन्नपान विधि में आमाजीर्ण, विष्टब्धाजीर्ण और विदग्धाजीर्ण ये अजीर्ण के भेद कहे गये हैं। उनसे क्रमशः विसूची, अलसक और विलम्बिका रोगों की उत्पत्ति होती है ॥ ३ ॥

विमर्शः—अजीर्ण के आम, विदग्ध और विष्टब्ध ये तीन मुख्य भेद हैं तथा कुछ के मत से चौथा रसशेषाजीर्ण, पाँचवाँ दिनपाकी अजीर्ण और छठा प्राकृताजीर्ण माना गया है। विसूची, अलसक और विलम्बिका की उत्पत्ति में प्रथम तीन अजीर्णों (आम, विदग्ध और विष्टब्ध) का ही उल्लेख किया गया है, चतुर्थ रसशेषाजीर्ण का उल्लेख क्यों नहीं किया? इस प्रश्न के उत्तर में डल्हण ने लिखा है कि रसशेषाजीर्ण का कोई विशिष्ट परिणाम न होने से तथा उसके विसूच्यादि की उत्पत्ति में कारणभूत न होने से एवं उसके किसी एकपक्षीय मत वाले की ओर से प्रतिपादित किये जाने के कारण उसका उल्लेख (प्रतिपादन) नहीं किया गया है। कार्तिककुण्ड का कथन है कि ये त्रिविध अजीर्ण विसूची आदि त्रिविध रोगों की उत्पत्ति यथासंख्य करते हैं ऐसा मानना ठीक नहीं है, क्योंकि इस प्रकार कफ और वातप्रधान विलम्बिका की उत्पत्ति पित्तज विदग्धाजीर्ण से मानी जायगी जो कि असम्भव है। अतः विसूची आदि की उत्पत्ति यथायोग्य समझनी चाहिए। अर्थात् आम, विदग्ध और विष्टब्धाजीर्ण से विसूचिका, अलसक और विलम्बिका इनमें से कोई भी हो सकता है। उक्त प्रकरण में विलम्बिका को विसूचिका और अलसक से पृथक् विभक्तिनिर्देश करके लिखने का तात्पर्य उसकी असाध्यता तथा विसूचिका और अलसक की कृच्छ्रसाध्यता का सूचन है।

सूचीभिरिव गात्राणि तुदन् सन्तिष्ठतेऽनिलः।
यस्याजीर्णेन सा वैद्यैरुच्यते ति विसूचिका ॥ ४ ॥

विसूच्या निरुक्तिः—जिस रोग में अजीर्ण हो जाने पर प्रकुपित वायु जिस पुरुष के अङ्गों में सूई जैसी चुभन की वेदना उत्पन्न करता हुआ स्थिर होता है उसको प्राचीन वैद्य विसूची कहते हैं ॥ ४ ॥

विमर्शः—विसूच्या निरुक्तिः-'बाहुल्याद्वायुः सूचीभिरिव तुदन् इति विसूचिनिरुक्तिः' अर्थात् प्रकुपित वायु सूई के चुभोने के समान जहाँ पीड़ा उत्पन्न करता हो उसे विसूची कहते हैं। अर्थात् इस रोग में वायु के प्रकोप की अत्यधिकता तथा प्रधानता मानी गई है, जैसा कि तन्त्रान्तर में भी लिखा है—विविधैर्वेदनाभेदैर्वाय्वादेर्भृशकोपतः। सूचीभिरिव गात्राणि भिनत्तीति विसूचिका॥ (मा० मधुकोष)

न तां परिमिताहारा लभन्ते विदितागमाः।
मूढास्तामजितात्मानो लभन्ते कलुषाशयाः ॥ ५ ॥

विसूचिकाभावाभावयोर्हेतुः—आयुर्वेद के (अनुसार भोजन के नियमों के) ज्ञाता एवं परिमित (यथायोग्य एवं यथोचित) आहार करने वाले पुरुष इस रोग से पीड़ित नहीं होते हैं, किन्तु भोजन के लोभी और दूषित आमाशय वाले असंयमी मूर्ख व्यक्ति ही इस रोग से पीड़ित होते हैं ॥ ५ ॥

मूर्च्छाऽतिसारौ वमथुः पिपासा
शूलं भ्रमोद्वेष्टनजृम्भदाहाः।
वैवर्ण्यकम्पौ हृदये रुजश्च
भवन्ति तस्यां शिरसश्च भेदः ॥ ६ ॥

विसूचिकालक्षणम्—मूर्च्छा, अतिसार, वमन, प्यास, शूल, भ्रम, ऐंठन, जमुहाई, दाह, शरीर की विवर्णता (नीलापन) तथा कम्पन, हृदय में पीड़ा तथा शिरःशूल ये लक्षण विसूचिका में होते हैं ॥ ६ ॥

विमर्शः—विसूचिका रोग में वमन और अतिसार दोनों ही लक्षण एक साथ होना आवश्यक है, क्योंकि सुश्रुत ने अधोगा (विरेचन मात्र युक्त) दोषप्रवृत्ति को आमातिसार तथा ऊर्ध्वगा दोषप्रवृत्ति को छर्दि माना है किन्तु चरकाचार्य ने चरक विमान, अध्याय दो में लिखा है कि ऊर्ध्व और अधोमार्ग तथा चकारात् उभयमार्ग से आमादि दोष प्रवृत्त होने पर उसे विसूचिका समझना चाहिए—'ऊर्ध्वश्चाधश्च प्रवृत्तामदोषां यथोक्तरूपां विसूचीं विद्यात्' (च० वि० अ० २)। चरक ने आमातिसार को पृथक् नहीं माना है। आजकल कालातिसार (Cholera) शब्द के लिये भी विसूचिका शब्द का प्रयोग बाहुल्येन होता है। वस्तुतः इन दोनों के लक्षणों में भी बहुत समता है। प्राचीनों ने इस रोग को अजीर्ण की ही प्रवर्धमानावस्था मानी है। इससे प्रतीत होता है कि प्राचीनकाल में इस रोग का इतना भयंकर जानपदिक रूप प्रकट नहीं हुआ था। अतएव प्राचीनों ने उसका वर्णन भी नहीं किया। इतिहासज्ञों का कथन है कि इस रोग को जानपदोध्वंसी रूप धारण किये हुए लगभग तीन सौ वर्ष से कुछ अधिक ही हुए हैं। यह रोग अत्यन्त संक्रामक है तथा कोमा के स्वरूप के कोमाविब्रियो नामक जीवाणु से दूषित जल या खाद्यान्न के सेवन से उत्पन्न होता है। यद्यपि यह रोग जीवाणुजन्य एवं संक्रामक है, तथापि अजीर्णावस्था इसकी उत्पत्ति में बहुत सहायक होती है। अतः अजीर्ण को भी इसका निज कारण कहना अनुचित न होगा। यह रोग मेलों तथा वहाँ से लौटे हुए यात्रियों के द्वारा ग्रामों और नगरों

में भी फैलता है। प्राचीन वर्णन के अनुसार प्रतिपादित विसूची प्राणों के लिये भयंकर नहीं होती, जैसा कि गणनाथ सेनजी ने भी लिखा है—सूचीभिरिव गात्राणि तोदन्ती या विसूचिका। प्राची सा स्यादजीर्णोत्था प्रायः प्राणहरी न सा॥ इस तरह लक्षणों में अत्यन्त साम्य होते हुए तथा प्राचीन शास्त्रों में वर्णित विसूचिकाहर औषधियों एवं क्रमों द्वारा उपचार कर आधुनिक कोलरा नामक रोग में प्रत्यक्ष सफलता देखते हुए यह भी कहना कि इन दोनों रोगों में भिन्नता है अथवा कोलरा का प्राचीन लोगों को ज्ञान नहीं था, दुराग्रहमात्र है। इतना अन्तर दोनों में अवश्य मिलता है कि मूत्राघातादि कतिपय लक्षणों को अर्वाचीनों ने रोगका लक्षण तथा प्राचीनों ने उपद्रव माना है। आधुनिक दृष्टि से विसूचिका में निम्न-लक्षण पाये जाते हैं—(१) अतिसार—इसमें जल की बहुलता रहती है। प्रथम मलातिसरण होता है किन्तु बाद में मल नहीं रहता है एवं मल का वर्ण चावल के धोवन जैसा होता है। (२) वमन—अतिसार के कुछ समय पश्चात् इसकी भी प्रवृत्ति हो जाती है। इसका वर्ण भी अतिसारवत् ही होता है। इन दोनों क्रियाओं से शरीर का अधिकांश जल बाहर निकल जाता है एवं अन्य लक्षण उत्पन्न होते हैं। (३) नाड़ी तीव्र एवं दुर्बल और दुर्बलतम होती जाती है। (४) रक्तदाब कम हो जाता है। (५) अङ्गों में तोदयुक्त उद्वेष्टन (Painful cramps) होते हैं। (६) शरीर शिथिल पड़ जाता है। (७) मुख की अस्थियाँ उन्नत दिखाई देती हैं। गाल बैठ जाते हैं। (८) आँखें अन्दर धँस जाती हैं। (९) शरीर पर पसीना आता है एवं वह ठण्डा पड़ जाता है। (१०) चेहरा नीला पड़ जाता है। (११) स्वर भी अत्यन्त मन्द हो जाता है। (१२) मूत्रावरोध इस रोग का मुख्य लक्षण है। (१३) प्यास अधिक लगती है। इन लक्षणों में से कुछ लक्षण विसूचिका एवं अलसक की असाध्य अवस्था में मिलते हैं। विसूचिका के ये सभी लक्षण रक्त में जल और लवण की कमी से होते हैं। आजकल उसकी पूर्ति के लिये इस रोग में सिरा द्वारा लवण जल का प्रवेश कराया जाता है। प्राचीन आचार्यों ने इन लक्षणों या उपद्रवों के प्रतिरोध तथा उत्पन्न हो जाने पर उसके शमनार्थ निम्बू के रस, इमली के मन्थ आदि का प्रयोग करने का उपदेश दिया है और सुश्रुत ने भी तो इस (Dihydration) की अवस्था का नामकरण विसूचिका-शोष किया है—निम्बूरसश्चिञ्चिणिकासमेतो विसूचिका-शोषहरः प्रदिष्टः। दुग्धेन पीतो यदि टङ्कणोऽसौ प्रशाममेत्तां वमनं निरुन्ध्यात्॥

कुक्षिरानह्यतेऽत्यर्थं प्रताम्यति विकूजति।
निरुद्धो मारुतश्चापि कुक्षौ विपरिधावति॥ ७॥
वातवर्चोनिरोधश्च कुक्षौ यस्य भृशम्भवेत्।
तस्यालसकमाचष्टे तृष्णोद्गारावरोधकौ॥ ८॥

अलसकलक्षणानि—जिस रोग में कुक्षि अधिक फूल जाती है, रोगी मूर्च्छित होता है तथा आर्तनाद करता है, रुका हुआ वायु उदर के उपरिदेश (हृदय, कण्ठ आदि) में घूमता है, अधोवायु तथा मल का पूर्णतया अवरोध हो जाता है तथा जिस रोग में प्यास और डकार बहुत आती है उसे अलसक कहते हैं॥ ७–८॥

विमर्शः—इस रोग की उत्पत्ति में वात एवं कफ की प्रधानता रहती है। इसे अलसक कहने का तात्पर्य दोषों के स्थिरत्व के निमित्त है। अर्थात् आमाशय में भोजन का पूर्णतया रुक जाना एवं किसी भी मार्ग से न निकलना ही अलसक है—प्रयाति नोर्ध्वं नाधस्तादाहारो न विपच्यते। आमाशयेऽलसीभूतस्तेन सोऽलसकः स्मृतः। कविराज गणनाथ सेन जी ने इसको अजीर्ण का उपद्रव ही माना है। यह रोग प्रायः पशुओं में अधिक देखा जाता है, किन्तु पशुवत् अधिक खाने वाले अविवेकी मनुष्यों में भी अधिक होता है। चरकाचार्य ने आमदोष को द्विविध मानकर उसकी विसूचिका और अलसक संज्ञा की है—तत्र द्विविधमामप्रदोषमाचक्षते भिषजः—विसूचिकामलसकञ्च—तत्र विसूचिकामूर्ध्वं चाधश्च प्रवृत्तामदोषां यथोक्तरूपां विद्यात्। (च० वि० अ० २) अलसकवर्णन—अलसकमुपदेक्ष्यामः दुर्बलस्याल्पाग्नेर्बहुश्लेष्मणो वातमूत्रपुरीषवेगविधारिणः, स्थिरगुरुबहुरूक्षशीतशुष्कान्नसेविनस्तदन्नपानमनिलप्रपीडितं श्लेष्मणा च विबद्धमार्गमतिमात्रप्रलीनमलसत्वान्न बहिर्मुखी भवति, ततश्छर्द्यतीसारवर्ज्यान्यामप्रदोषलिङ्गान्यभिदर्शयत्यतिमात्राणि। अतिमात्रप्रदुष्टाश्च दोषाः प्रदुष्टामबद्धमार्गास्तिर्यग्गच्छन्तः कदाचिदेव केवलमस्य शरीरं दण्डवत् स्तम्भयन्ति। ततस्तं दण्डालसकमसाध्यं ब्रुवते। (च० वि० अ० २) इस अलसक को ही दण्डालसक कहा है तथा आमदोष वाला पुरुष पुनः विरुद्धाध्यशन और अजीर्णाशन करता है तब उसे आमविष कहा जाता है, क्योंकि उसमें विष के समान लक्षण होते हैं तथा यह आशुकारि और विरुद्धोपक्रम वाला होने से परम असाध्य माना गया है। आम का संशमन करने के लिये यदि उष्णोपचार किया जाय तो वह विष के विरुद्ध पड़ता है और जो विषलक्षणों के संशमनार्थ शीतक्रिया की जाय तो वह आम की वर्द्धक होती है।

दुष्टन्तु भुक्तं कफमारुताभ्यां
प्रवर्त्तते नोर्दुर्ध्वमधश्च यस्य।
विलम्बिकां तां भृशदुश्चिकित्स्या-
माचक्षते शास्त्रविदः पुराणाः॥ ९॥

विलम्बिकालक्षणम्—जिस रोग में कफ और वायु से दुष्ट अन्न ऊपर या नीचे किसी भी मार्ग से नहीं निकलता हो ऐसे रोग को प्राचीन शास्त्रवेत्ताओं ने विलम्बिका कहा है तथा यह अत्यन्त दुश्चिकित्स्य है॥ ९॥

विमर्शः—यद्यपि वातकफारब्ध होने से तथा ऊपर और नीचे के किसी भी मार्ग से मलप्रवृत्ति न होने से अलसक और विलम्बिका में कोई अन्तर नहीं दिखाई देता तथापि अलसक को तीव्र शूल से युक्त होने से विलम्बिका से पृथक् समझना चाहिए, जैसा कि कहा है—पीडितं मारुतेनान्नं श्लेष्मणा रुद्धमन्तरा। अलसं क्षोभितं दोषैः शल्यत्वेनैव संस्थितम्। शूलादीन् कुरुते तीव्रांश्छर्द्यतीसारवर्जितान्॥ अर्थात् वायु और कफ की दुष्टि के कारण अलसक रोग की उत्पत्ति होती है एवं उसमें अत्यधिक शूल होता है। चरक ने शूल की अल्पता और अधिकता मात्र भेद के कारण ही विलम्बिका को पृथक् नहीं माना है। अथवा अलसक के ही उग्र और असाध्य लक्षणों को दण्डालसकवत् माना है। कुछ लोग दण्डालसक

में भी फैलता है। प्राचीन वर्णन के अनुसार प्रतिपादित विसूची प्राणों के लिये भयंकर नहीं होती, जैसा कि गणनाथ सेनजी ने भी लिखा है—सूचीभिरिव गात्राणि तोदन्ती या विसूचिका। प्राच्ची सा स्यादजीर्णोत्था प्रायः प्राणहरी न सा॥ इस तरह लक्षणों में अत्यन्त साम्य होते हुए तथा प्राचीन शास्त्रों में वर्णित विसूचिकाहर औषधियों एवं क्रमों द्वारा उपचार कर आधुनिक कोलरा नामक रोग में प्रत्यक्ष सफलता देखते हुए यह भी कहना कि इन दोनों रोगों में भिन्नता है अथवा कोलरा का प्राचीन लोगों को ज्ञान नहीं था, दुराग्रहमात्र है। इतना अन्तर दोनों में अवश्य मिलता है कि मूत्राघातादि कतिपय लक्षणों को अर्वाचीनों ने रोग का लक्षण तथा प्राचीनों ने उपद्रव माना है। आधुनिक दृष्टि से विसूचिका में निम्न-लक्षण पाये जाते हैं—(१) अतिसार—इसमें जल की बहुलता रहती है। प्रथम मलातिसरण होता है किन्तु बाद में मल नहीं रहता है एवं मल का वर्ण चावल के धोवन जैसा होता है। (२) वमन—अतिसार के कुछ समय पश्चात् इसकी भी प्रवृत्ति हो जाती है। इसका वर्ण भी अतिसारवत् ही होता है। इन दोनों क्रियाओं से शरीर का अधिकांश जल बाहर निकल जाता है एवं अन्य लक्षण उत्पन्न होते हैं। (३) नाड़ी तीव्र एवं दुर्बल और दुर्बलतम होती जाती है। (४) रक्तदाब कम हो जाता है। (५) अङ्गों में तोदयुक्त उद्वेष्टन (Painful cramps) होते हैं। (६) शरीर शिथिल पड़ जाता है। (७) मुख की अस्थियाँ उन्नत दिखाई देती हैं। गाल बैठ जाते हैं। (८) आँखें अन्दर धँस जाती हैं। (९) शरीर पर पसीना आता है एवं वह ठण्डा पड़ जाता है। (१०) चेहरा नीला पड़ जाता है। (११) स्वर भी अत्यन्त मन्द हो जाता है। (१२) मूत्रावरोध इस रोग का मुख्य लक्षण है। (१३) प्यास अधिक लगती है। इन लक्षणों में से कुछ लक्षण विसूचिका एवं अलसक की असाध्य अवस्था में मिलते हैं। विसूचिका के ये सभी लक्षण रक्त में जल और लवण की कमी से होते हैं। आजकल उसकी पूर्ति के लिये इस रोग में सिरा द्वारा लवण जल का प्रवेश कराया जाता है। प्राचीन आचार्यों ने इन लक्षणों या उपद्रवों के प्रतिरोध तथा उत्पन्न हो जाने पर उसके शमनार्थ निम्बू के रस, इमली के मन्थ आदि का प्रयोग करने का उपदेश दिया है और सुश्रुत ने भी तो इस (Dihydration) की अवस्था का नामकरण विसूचिका-शोष किया है—निम्बूरसश्चिञ्चिणिकासमेतो विसूचिका-शोषहरः प्रदिष्टः। दुग्धेन पीतो यदि टङ्कणोऽसौ प्रशामयेत्तां वमनं निरुन्ध्यात्॥

कुक्षिरानह्यतेऽत्यर्थं प्रताम्यति विकूजति।
निरुद्धो मारुतश्चापि कुक्षौ विपरिधावति॥ ७॥
वातवर्चोनिरोधश्च कुक्षौ यस्य भृशम्भवेत्।
तस्यालसकमाचष्टे तृष्णोद्गारावरोधकौ॥ ८॥

अलसकलक्षणानि—जिस रोग में कुक्षि अधिक फूल जाती है, रोगी मूर्च्छित होता है तथा आर्तनाद करता है, रुका हुआ वायु उदर के उपरिदेश (हृदय, कण्ठ आदि) में घूमता है, अधोवायु तथा मल का पूर्णतया अवरोध हो जाता है तथा जिस रोग में प्यास और डकार बहुत आती है उसे अलसक कहते हैं॥ ७-८॥

विमर्शः—इस रोग की उत्पत्ति में वात एवं कफ की प्रधानता रहती है। इसे अलसक कहने का तात्पर्य दोषों के स्थिरत्व के निमित्त है। अर्थात् आमाशय में भोजन का पूर्णतया रुक जाना एवं किसी भी मार्ग से न निकलना ही अलसक है—प्रयाति नोर्ध्वं नाधस्तादाहारो न विपच्यते। आमाशयेऽलसीभूतस्तेन सोऽलसकः स्मृतः। कविराज गणनाथ सेन जी ने इसको अजीर्ण का उपद्रव ही माना है। यह रोग प्रायः पशुओं में अधिक देखा जाता है, किन्तु पशुवत् अधिक खाने वाले अविवेकी मनुष्यों में भी अधिक होता है। चरकाचार्य ने आमदोष को द्विविध मानकर उसकी विसूचिका और अलसक संज्ञा की है—तत्र द्विविधमामप्रदोषमाचक्षते भिषजः—विसूचिकामलसकञ्च—तत्र विसूचिकामूर्ध्वं चाधश्च प्रवृत्तामदोषां यथोक्तरूपां विद्यात्। (च० वि० अ० २) अलसकवर्णन—अलसकमुपदेक्ष्यामः दुर्बलस्याल्पाग्नेर्बहुश्लेष्मणो वातमूत्रपुरीषवेगविधारिणः, स्थिरगुरुबहुरूक्षशीतशुष्कान्नसेविनस्तदन्नपानमनिलप्रपीडितं श्लेष्मणा च विबद्धमार्गमतिमात्रप्रलीनमलसत्वान्न बहिर्मुखी भवति, ततश्छर्द्यतीसारवर्ज्यान्यामप्रदोषलिङ्गान्यभिदर्शयत्यतिमात्राणि। अतिमात्रप्रदुष्टाश्च दोषाः प्रदुष्टामबद्धमार्गास्तिर्यग्गच्छन्तः कदाचिदेव केवलमस्य शरीरं दण्डवत् स्तम्भयन्ति। ततस्तं दण्डालसकमसाध्यं ब्रुवते। (च० वि० अ० २) इस अलसक को ही दण्डालसक कहा है तथा आमदोष वाला पुरुष पुनः विरुद्धाध्यशन और अजीर्णाशन करता है तब उसे आमविष कहा जाता है, क्योंकि उसमें विष के समान लक्षण होते हैं तथा यह आशुकारि और विरुद्धोपक्रम वाला होने से परम असाध्य माना गया है। आम का संशमन करने के लिये यदि उष्णोपचार किया जाय तो वह विष के विरुद्ध पड़ता है और जो विषलक्षणों के संशमनार्थ शीतक्रिया की जाय तो वह आम की वर्द्धक होती है।

दुष्टन्तु भुक्तं कफमारुताभ्यां
प्रवर्त्तते नोर्ध्वमधश्च यस्य।
विलम्बिकां तां भृशदुश्चिकित्स्या-
माचक्षते शास्त्रविदः पुराणाः॥ ९॥

विलम्बिकालक्षणम्—जिस रोग में कफ और वायु से दुष्ट अन्न ऊपर या नीचे किसी भी मार्ग से नहीं निकलता हो ऐसे रोग को प्राचीन शास्त्रवेत्ताओं ने विलम्बिका कहा है तथा यह अत्यन्त दुश्चिकित्स्य है॥ ९॥

विमर्शः—यद्यपि वातकफारब्ध होने से तथा ऊपर और नीचे के किसी भी मार्ग से मलप्रवृत्ति न होने से अलसक और विलम्बिका में कोई अन्तर नहीं दिखाई देता तथापि अलसक को तीव्र शूल से युक्त होने से विलम्बिका से पृथक् समझना चाहिए, जैसा कि कहा है—पीडितं मारुतेनान्नं श्लेष्मणा रुद्धमन्तरा। अलसं क्षोभितं दोषैः शल्यत्वेनैव संस्थितम्। शूलादीन् कुरुते तीव्रांश्छर्द्यतीसारवर्जितान्॥ अर्थात् वायु और कफ की दुष्टि के कारण अलसक रोग की उत्पत्ति होती है एवं उसमें अत्यधिक शूल होता है। चरक ने शूल की अल्पता और अधिकता मात्र भेद के कारण ही विलम्बिका को पृथक् नहीं माना है। अथवा अलसक के ही उग्र और असाध्य लक्षणों को दण्डालसकवत् माना है। कुछ लोग दण्डालसक

विमर्शः—विविधलङ्घनं यथा—चतुष्प्रकारा संशुद्धिः पिपासा मारुतातपौ। पाचनान्युपवासश्च व्यायामश्चेति लङ्घनम् ॥ अन्यच्च—शरीरलाघवकरं यद् द्रव्यं कर्म वा पुनः । तल्लङ्घनमिति ज्ञेयं बृंहणन्तु पृथग्विधम् ॥ लङ्घनगुणाः—अनवस्थितदोषाग्नेर्लङ्घनं दोषपाचनम् । ज्वरघ्नं दीपनं काङ्क्षारुचिलाघवकारकम् ॥ सम्पाचनमत्र स्वेदादिभिः । यदि विष्टम्भ (विबन्ध) हो तो विरेचन का प्रयोग करना चाहिये । कुछ आचार्य यहाँ निम्न पाठ मानते हैं—'वान्ते ततोऽन्ने तु विलङ्घनं स्यात् सम्पाचनं रेचनदीपने च ॥' अर्थात् इनके मत से विसूचिका रोग में वामक औषध देने के पश्चात् लङ्घनादिक कर्म कराना मानते हैं ।

विशुद्धदेहस्य हि सद्य एव
मूर्च्छोऽतिसारादिरुपैति शान्तिम् ।
आस्थापनं चापि वदन्ति पथ्यं
सर्वासु योगानपरान्निबोध ॥ १३ ॥

शोधनफलं बस्तिविधानञ्च—विसूचिका रोग में उक्त प्रकार से वमन विरेचन द्वारा देह की ऊर्ध्व और अधःसंशुद्धि कर देने से मूर्च्छा, अतिसार आदि लक्षण शीघ्र ही शान्त हो जाते हैं । वमन विरेचन के अतिरिक्त पाकाभिपन्न अन्न तथा विष्टम्भ की स्थिति होने पर विष्टम्भ को विनष्ट करने के लिये आस्थापन (निरूहण) बस्ति का प्रयोग हितकारक होता है । इन सर्व प्रकार की विसूचिकाओं में अथवा सर्व शब्द से विसूची, अलसक और विलम्बिका इन सर्व रोगों की अवस्थाओं में उक्त चिकित्सा क्रम (पार्ष्णिदाह, अग्नितापं, तीक्ष्ण वमन, विलङ्घन, सम्पाचन, विरेचन और आस्थापन बस्ति ये सब) हितकारक होते हैं । अब आगे इन सबको नष्ट करने के लिए विभिन्न योग कहे जावेंगे उन्हें जानो ॥ १३ ॥

विमर्शः—'सर्वासु' के स्थान पर कुछ लोग 'सर्वांश्च' ऐसा पाठान्तर मानते हैं जिसका अर्थ वक्ष्यमाण योग होता है । वक्ष्यमाण योगों में कुछ योग अपक्व दोष तथा आम के पाचनार्थ होते हैं तथा कुछ पक्व आम के अनुलोमनार्थ होते हैं—चरकेऽलसकचिकित्सा—'तत्र साध्यमामं प्रदुष्टमलसीभूतमुल्लेखयेदादौ पाययित्वा सलवणमुष्णं वारि ततः स्वेदनवर्तिप्रणिधानाभ्यामुपाचरेदुपवासयेच्चैनम्' अलसके चिकित्साक्रमः—वमनं त्वलसे पूर्वं लवणेनोष्णवारिणा । स्वेदो वर्तिर्लङ्घनञ्च क्रमश्चातोऽग्निवर्द्धनः ॥

पथ्यावचाहिङ्गुकलिङ्गगृञ्ज-
सौवर्चलैः सातिविषैश्च चूर्णम् ।
सुखाम्बुपीतं विनिहन्त्यजीर्णं
शूलं विसूचीमरुचिञ्च सद्यः ॥ १४ ॥

विसूचिकाहरं पथ्यादिचूर्णम्—हरड, वचा, शुद्ध हिङ्गु, इन्द्रयव (कलिङ्ग), लहसुन, सोंचल लवण और अतीस, इन्हें समान प्रमाण में लेकर खाण्ड कूटकर कपड़छान चूर्ण करके शीशी में भर देवें । इस चूर्ण को ३ माशे से ६ माशे प्रमाण में लेकर मन्दोष्ण पानी के साथ पीने से अजीर्ण, शूल रोग, विसूचिका और अरुचि तत्काल नष्ट होते हैं ॥ १४ ॥

विमर्शः—'गृञ्जो रसोनभेदः, अजीर्णमामशेषः' अर्थात् आम का शेषांश, न कि तरुण अजीर्ण । क्योंकि तरुण अजीर्ण में औषध निषिद्ध है । विसूची से सद्योत्थ विसूची का ग्रहण न कर पक्व आमदोष तथा पाकाभिमुख अन्नवाली विसूची का ग्रहण करें क्योंकि सद्योजात विसूचिका में औषध निषिद्ध है ।

क्षारागदं वा लवणं विडं वा
गुडप्रगाढानथ सर्षपान् वा ।
अम्लेन वा सैन्धवहिङ्गुयुक्तौ
सबीजपूर्णौ सघृतौ त्रिवर्गौ ॥ १५ ॥

विसूचिकायां योगान्तरोपदेशः—'धवाश्वकर्ण शिरीषादि' रूप से दुन्दुभिस्वनीय प्रकरणोक्त क्षारागद की अथवा विडलवण को किंवा प्रचुर गुड़युक्त सर्षपचूर्ण को यथोचित मात्रा में लेकर उष्णोदक के साथ पीना चाहिये । अथवा दोनों त्रिवर्ग (हरड़ बहेड़ा, आँवला; सोंठ, मरिच और पिप्पली) को समान प्रमाण में लेकर चूर्णित करके उसमें एक एक भाग सैन्धवलवण तथा शुद्ध हिङ्गु चूर्ण मिलाकर जम्बीरी नीबू के स्वरस के साथ खरल कर किसी भी अम्ल (काञ्जी) के साथ सेवन करें ॥१५॥

विमर्शः—क्षारागद—सुश्रुत कल्पस्थान अध्याय ६ में वर्णित है, जैसे धव, अश्वकर्ण आदि से ले के अरिमेद तक के द्रव्यों की भस्म ले के षड्गुण गोमूत्र में घोल कर छान के पकाकर उसमें पिप्पल्यादि वचान्त औषधचूर्ण तथा लौह भस्म प्रक्षिप्त कर लौह पात्र में भर कर रख दें । त्रिफला, त्रिकटु तथा सैन्धव लवण और हिंगु इन आठों द्रव्यों को समान भाग में लेवें । सघृतौ = तुल्यप्रमाणौ ।

कटुत्रिकं वा लवणैरुपेतं
पिबेत् स्नुहीक्षीरविमिश्रितं तु ।
कल्याणकं वा लवणं पिबेत्तु
यदुक्तमादावनिलामयेषु ॥ १६ ॥

विसूचिकायां कटुत्रिकादियोगौ—कटुत्रिक अर्थात् सोंठ, मरिच और पिप्पली के समभाग कृत चूर्ण में पाँचों लवणों का चूर्ण मिश्रित कर थूहर के दुग्ध के साथ पान करें अथवा सुश्रुत के वातव्याधि-चिकित्सा अध्याय चार में गण्डीर-पलाश इत्यादिरूप में कहे हुए कल्याणलवण को ३ माशे से ६ माशे प्रमाण में लेकर काञ्जी आदि किसी अम्ल के साथ या उष्णोदक के साथ पीना चाहिए ॥ १६ ॥

विमर्शः—कल्याणकलवणम्—गण्डीर पलाश कुटज बिल्वार्क आदि से लेकर श्वेतमोचक अशोकान्त द्रव्यों को मूल, पत्ते और शाखासहित लेकर लवणमिश्रित कर जला के षड्गुण जल में घोल कर स्रवित करके पकावें तथा आसन्नपाकावस्था में हिंग्वादि या पिप्पल्यादि गण के द्रव्यों का चूर्ण डालें । गुण—इत्येतत् कल्याणलवण वातरोगगुल्मप्लीहाग्निसङ्गाजीर्णार्शोऽरोचकार्तानां कासादिभिः क्रिमिभिरुपद्रुतानां चोपदिशन्ति पानभोजनेष्वपीति । (सु० चि० अ० ४।३२)

कृष्णाऽजमोदक्षवकाणि वाऽपि
तुल्यौ पिबेद्वा मगधानिकुम्भौ ।
दन्तीयुतं वा मगधोद्भवानां
कल्कं पिबेत् कोषवतीरसेन ॥
उष्णाभिरद्भिर्मगधोद्भवानां
कल्कं पिबेन्नागरकल्कयुक्तम् ॥ १७ ॥

विसूचिकाहराः पिप्पलीयोगाः—(१) पिप्पली, अजवाइन और वचक (फणिज्झक या नकछिकनी) को समान प्रमाण में चूर्णित कर ३ माशे प्रमाण में उष्णोदक या काञ्जी के साथ पीवे। (२) अथवा पिप्पली और दन्ती की जड़ के चूर्ण को काञ्जी आदि के साथ पीवे। (३) अथवा पिप्पली के चूर्ण में उतना ही दन्तीमूल का चूर्ण मिला कर इसे ६ माशे प्रमाण में ले के कोषवती (कड़वी तरोई) के स्वरसानुपान से पीवे। किंवा (४) पिप्पली के चूर्ण में उतना ही सोंठ का चूर्ण मिश्रित कर ३ माशे ६ से माशे के प्रमाण में लेकर मन्दोष्ण जल के साथ पीवे ॥ १७ ॥

विमर्शः—मगधा = पिप्पली, निकुम्भः=दन्ती, कोषवती= घोषकभेदः। मगधानिकुम्भपानं विष्टम्भे सति विरेकार्थम्।

व्योषं करञ्जस्य फलं हरिद्रे
मूलं समं चाप्यथ मातुलुङ्ग्याः।
छायाविशुष्का गुटिकाः कृतास्ता
हन्युर्विसूचीं नयनाञ्जनेन ॥ १८ ॥

विसूच्यां व्योषाद्यञ्जनम्—सोंठ, मरिच, पिप्पली, करञ्ज के फल की मींगी, हरिद्रा और दारुहरिद्रा इन्हें समान प्रमाण में लें तथा इन चारों के बराबर बिजौरे नीबू की जड़ लेकर पाँचों को खाण्ड कूट कर जल के साथ घोट के गुटिका बना के छाया में सुखा कर शीशी में भर देवें। इस वटी को पानी में घिस कर नेत्रों में आँजने से विसूचिका नष्ट होती है ॥ १८ ॥

सुवामितं साधुविरेचितं वा
सुलङ्घितं वा मनुजं विदित्वा।
पेयादिभिर्दीपनपाचनीयैः
सम्यक् क्षुधार्त्तं समुपक्रमेत ॥ १९ ॥

विसूचिकायां पथ्यदानकालः—विसूचिका रोग में अच्छी प्रकार वमन किये हुए, भली भाँति विरेचन कराये हुए तथा ठीक तरह से लङ्घन किये हुए रोगी को भूख लगने पर दीपनीय तथा पाचनीय (चित्रकअजवायन, सोंठ) आदि औषधियों से संस्कृत पेया, विलेपी आदि भोजन में देवें ॥ १९ ॥

विमर्शः—कुछ पुस्तकों में इस श्लोक के अनन्तर विसूची-रोगनाशनार्थं निम्न अङ्गमर्दन तथा उद्वर्तन के दो योग हैं—कुष्ठञ्चागुरु पत्रञ्च रास्ना शिग्रु वचा त्वचम्। पिष्टमम्लेन तच्छ्रेष्ठं विसूच्यामङ्गमर्दनम् ॥ चित्रकं पूति पिण्याकं कुष्ठं भल्लातकानि च। द्वौ क्षारौ सैन्धवञ्चैव शुक्तं तैलं विपाचयेत्। एतदुद्वर्तनं कुर्यात् प्रदेहं वा विचक्षणः। विसूचिका रोग में सर्वप्रथम वमन, विरेचन और लङ्घन कराने से आमदोष नष्ट हो जाता है। चरकाचार्य विसूचिका में लङ्घन को श्रेष्ठ मानते हैं—'विसूचिकायान्तु लङ्घन-मेवाग्रे विरिक्तिवच्चानुपूर्वी' (च० वि० अ० २) आमप्रदोषेषु त्वन्नकाले जीर्णाहारं पुनर्दोषावलिप्तामाशयं स्तिमितगुरुकोष्ठमन-न्नाभिलाषिणमभिसमीक्ष्य पाययेद्दोषशेषपाचनार्थमौषधमग्निसंधुक्ष-णार्थञ्च, नत्वेवाजीर्णाशनम्। आमप्रदोषदुर्बलो ह्यग्निर्न युगपद्दोष-मौषधमाहारजातं च शक्तः पक्तुम्। अपि चामप्रदोषाहारौषधविभ्र-मोऽतिबलत्वादुपरतकायाग्निं सहसैवातुरमबलमतिपातयेत्। आम-प्रदोषजानां पुनर्विकाराणामतर्पणेनैवोपरमो भवति, सति त्वनुबन्धे कृतापतर्पणानां व्याधीनां निग्रहे निमित्तविपरीतमपास्यौषधमातङ्क-विपरीतमेवावचारयेद्यथास्वम्। सर्वविकाराणामपि च निग्रहे हेतुव्याधिविपरीतमौषधमिच्छन्ति कुशलाः, तदर्थकारि वा। विमुक्ताम-प्रदोषस्य पुनः परिपक्वदोषस्य दीप्ते चाग्नावभ्यङ्गास्थापनानुवासनं स्नेहपानञ्च युक्त्या प्रयोज्यं प्रसमीक्ष्य दोषभेषजदेशकालबल-शरीराहारसात्म्यसत्त्वप्रकृतिवयसामवस्थान्तराणि विकारांश्च सम्य-गिति। (च० वि० अ० २) सुलङ्घितलक्षणम्—वातमूत्रपुरी-षाणां विसर्गे गात्रलाघवे। हृदयोद्गारकण्ठास्यशुद्धौ तन्द्राक्लमे गते ॥ स्वेदे जाते रुचौ चैव क्षुत्पिपासासहोदये। कृतं लङ्घनमादेश्यं निर्व्यथे चान्तरात्मनि ॥ (च० सू० अ० २२)

आमं शकृद्वा निचितं क्रमेण
भूयो विबद्धं विगुणानिलेन।
प्रवर्त्तमानं न यथास्वमेनं
विकारमानाहमुदाहरन्ति ॥ २० ॥

आनाहलक्षणम्—जिस अवस्था में आमदोष अथवा अपक्व अन्नरस और शकृत् (विष्ठा = मल) आमाशय, पक्वाशय एवं मलाशय में क्रमशः (धीरे-धीरे) सञ्चित होते हुए कभी विगुण वात (विकृत वायु या उन्मार्गीभूत वायु) से विबद्ध (अवरुद्ध) होकर अपने यथोचित मार्ग से नीचे की ओर प्रवर्तित न हो सकें अर्थात् निकल नहीं सकें ऐसे विकार को आनाह कहते हैं ॥ २० ॥

विमर्शः—विसूचिका के समान विकृतवातजन्य होने से, विसूचिका के तुल्य चिकित्सा होने से तथा विसूचिका का उपद्रवस्वरूप होने से उसके अनन्तर आनाह-प्रकरण प्रारम्भ किया गया है। आङ् उपसर्गपूर्वक णह् बन्धने धातु से आनाह शब्द की सिद्धि होती है। इस प्रकार 'आसमन्तान्नह्यते बध्यतेऽवरुध्यते वा मलस्य वायोश्च मार्गो यस्मिन् रोगे स आनाहः' अर्थात् जिस रोग में ऊर्ध्व और अधः या उभयमार्ग से मल एवं वायु की प्रवृत्ति न हो, उदर में गुड़गुड़ शब्द भी न हो उसे आनाह कहते हैं। इस अवस्था में पूर्णतया अवरोध रहता है। मल का निस्सरण सर्वथा अवरुद्ध हो जाता है। वायु का निर्गमन, अपान वायु अथवा उद्गार (डकार) किसी भी रूप में नहीं होता। आध्मान में भी यद्यपि यही अवस्था होती है तथापि वह बिना मलसञ्चय के भी हो सकता है, जब कि इसमें मलसञ्चय होना अनिवार्य है। आध्मान में गुड़गुड़-शब्द भी होता है। मल का सञ्चय आमाशय एवं पक्वाशय दोनों में ही हो सकता है। आमाशय में आमरस को ही मलस्वरूप समझना चाहिए तथा पक्वाशय में पुरीष को। इस तरह आनाह भी आमजन्य तथा पुरीषजन्य दो प्रकार का होता है।

तस्मिन् भवन्त्यामसमुद्भवे तु
तृष्णाप्रतिश्यायशिरोविदाहाः।
आमाशये शूलमथो गुरुत्वं
हृल्लास उद्गारविघातनञ्च ॥ २१ ॥

आमजानाहलक्षणम्—आमरस से उत्पन्न हुये आनाह में प्यास, प्रतिश्याय, शिर में जलन, आमाशय में शूल तथा भारीपन, हृदय की जकड़ाहट और डकार का न आना ये लक्षण प्रधानतया होते हैं ॥ २१ ॥

विमर्शः—आमरस का स्थान आमाशय है, अतः आमजन्य आनाह के लक्षण प्रधानतया आमाशय में ही प्रकट होते हैं। आधुनिक दृष्टि से इसे Pyloric obstruction कह सकते हैं।

स्तम्भः कटीपृष्ठपुरीषमूत्रे शूलोऽथ मूर्च्छा स शकृद्वमेच्च ।
श्वासश्च पक्वाशयजे भवन्ति लिङ्गानि चात्रालसकोद्भवानि

पुरीषजन्यानाहलक्षणम्—पुरीषजन्य या पक्वाशय में उत्पन्न हुए आनाह में कटि और पृष्ठ अकड़ जाते हैं, मल तथा मूत्र बन्द हो जाते हैं, कटि और पृष्ठ में शूल होता है, रोगी मूर्च्छित हो जाता है और कभी-कभी पुरीष का वमन होता है। श्वास रोग तथा अलसक रोग के लक्षण भी इसमें होते हैं॥

विमर्शः—पक्वाशय पुरीष का स्थान है, इसलिये पुरीषजन्य आनाह के लक्षण पक्वाशय में विशेष रूप से व्यक्त होते हैं। उग्र स्वरूप के पुरीषजन्य आनाह में प्रायः आन्त्रावरोध (Intestinal obstruction) के कारण पुरीषोदावर्त के समान लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं। इसलिये पुरीष अथवा पुरीष के समान वमन होता है। वास्तव में तृष्णार्दित आदि असाध्य लक्षण पुरीषोदावर्त्त का ही है और आन्त्रावरोध भी हो गया है इसका निदर्शक है। रोग की अत्युग्रावस्था में ही ये लक्षण उत्पन्न होते हैं। उस समय रुग्ण शस्त्रचिकित्सा के लिये भी प्रायः अयोग्य हो गया रहता है। शस्त्रचिकित्सा से भी कदाचित् कोई रोगी बच पाता है। अलसक लक्षण भी इसमें होते हैं—कुक्षिरानह्यतेऽत्यर्थं प्रताम्येत् परिकूजति। निरुद्धो मारुतश्चैव कुक्षावुपरि धावति॥ वातवर्चोनिरोधश्च यस्यात्यर्थं भवेदपि। तस्यालसकमाचष्टे तृष्णोद्गारौ च यस्य तु॥ अन्यच्च—पीड़ितं मारुतेनान्नं श्लेष्मणा रुद्धमन्तरा। अलसं क्षोभितं दोषैः शल्यत्वेनैव संस्थितम्॥ शूलादीन् कुरुते तीव्रांश्छर्द्यतीसारवर्जितान्। अन्यच्च—प्रयाति नोर्ध्वं नाधस्तादाहारो न विपच्यते। आमाशयेऽलसीभूतस्तेन सोऽलसकः स्मृतः॥

आमोद्भवे वान्तमुपक्रमेत संसर्गभक्तक्रमदीपनीयैः ।
अथेतरं यो न शकृद्वमेत्तमामं जयेत् स्वेदनपाचनैश्च ॥

आमपुरीषोत्थानाहचिकित्सा—आमदोषजन्य अथवा अविपक्व रसजन्य आनाह-रोग में प्रथम रोगी को वमन कराके संसर्गभक्त क्रम से अर्थात् क्षुधा लगने पर जो भोजन की विधि है उसके अनुसार पिप्पल्यादिगण की दीपनीय औषधियों से संसाधित पानी से पेया, विलेपी अथवा यवागू सिद्ध कर खाने को देनी चाहिए तथा जो रोगी शकृत् (मल) का वमन न करता हो उस पुरुष के उस पुरीषजन्य आम आनाह को स्वेदन-पाचन आदि क्रम तथा औषधियों से आमपाचनपूर्वक ठीक करें॥ २३॥

विमर्शः—जो व्यक्ति मल का वमन करता हो उसके आमज आनाह की चिकित्सा नहीं करनी चाहिए, क्योंकि ऐसा रोगी असाध्य माना गया है, किन्तु जब तक कण्ठ में प्राण हों तब तक चिकित्सा करनी ही चाहिए (यावत्कण्ठगताः प्राणास्तावत्कार्यं चिकित्सितम्) इसलिये ऐसे रोगी की भी प्रथम स्वेदन करके पश्चात् विष्ठा और मल का अनुलोमन करने वाली औषधियों द्वारा चिकित्सा करनी ही चाहिए।

विसूचिकायां परिकीर्तितानि
द्रव्याणि वैरेचनिकानि यानि ॥ २४ ॥

तान्येव वर्त्तीर्वितरेद् विचूर्ण्य
महिष्यजावीभगवां तु मूत्रैः ।
स्विन्नस्य पायौ विनिवेश्य ताश्च
चूर्णानि चैषां प्रधमेत्तु नाड्या ॥ २५ ॥

आनाहे विसूचिकायोगातिदेशः—विसूचिका-रोग को नष्ट करने के लिये जो दन्ती आदि विरेचक द्रव्य कहे गये हैं उन्हें समान प्रमाण में लेके खाण्ड कूट के चूर्णित कर भैंस, बकरी, भेंड़, हस्ति और गौ के मूत्र से एक-एक दिन खरल करके पका कर वर्ति बना लेनी चाहिए। फिर इन वर्तियों को स्वेदित किये हुए रोगी की गुदा में रखें तथा इन्हीं विरेचक-द्रव्यों के चूर्ण को नाड़ी के द्वारा गुदा में प्रधमन भी करना चाहिए॥ २४–२५॥

मूत्रेषु संसाध्य यथाविधानं
द्रव्याणि यान्यूर्ध्वमधश्च यान्ति ।
क्वाथेन तेनाशु निरूहयेच्च
मूत्रार्द्धयुक्तेन समाक्षिकेन ॥ २६ ॥

आनाहे निरूहानुवासनविधानम्—संशोधन तथा संशमनीय प्रकरण में कहे हुये मदनफल कोशातकी आदि ऊर्ध्वभागदोषहर, वामक एवं शिरोविरेचक द्रव्य तथा हरीतकी, आरग्वध, एरण्डमूल, त्रिवृत आदि अधोभागदोषहर रेचक द्रव्यों को लेकर यथाविधि उन्हें गाय, भैंस आदि के मूत्रों में क्वाथपाक-परिभाषानुसार पकाकर छान के उस क्वाथ में पुनः आधा गोमूत्र मिलावें तथा शहद १ पल एवं त्रिवृत् (त्रिभण्डी = निशोथ) और सैन्धव लवण मिलित एक पल भर मिलाकर निरूहण बस्ति देवें। पश्चात् विरेचन क्रम के अनुसार संसर्जनविधि से पेया, यवागू आदि का सेवन कराना चाहिए॥ २६॥

त्रिभण्डियुक्तं लवणप्रकुञ्चं
दत्त्वा विरिक्तक्रममाचरेच्च ।
एष्वेव तैलेन च साधितेन
प्राप्तं यदि स्यादनुवासयेच्च ॥ २७ ॥

इति सुश्रुतसंहितायामुत्तरतन्त्रान्तर्गते कायचिकित्सातन्त्रे विसूचिकाप्रतिषेधो नाम (अष्टादशोऽध्यायः, आदितः) षट्पञ्चाशोऽध्यायः ॥ ५६ ॥

अनुवासनविधानम्—इन्हीं वामक विरेचक द्रव्यों के कल्क और क्वाथ से तैल सिद्ध कर यदि आवश्यकता हो तो अनुवासन-बस्ति भी देनी चाहिए॥ २७॥

विमर्शः—आनाहे पथ्यानि—उदावर्त्ते हितं सर्वं पाचनं लङ्घनं तथा। आनाहेऽपि यथायोग्यं सेवयेन्मतिमान्नरः॥ आनाहेऽपथ्यानि—अपथ्यानि प्रदिष्टानि यान्युदावर्त्तिनां पुरा। आनाहार्त्तः परिहरेत् तानि सर्वाणि यत्नतः॥ अन्यच्च—सुजरञ्च सरं यद् यदन्नं पानञ्च पुष्टिदम्। उदावर्त्ते तथाऽऽनाहे सेव्यं वर्ज्यं ततोऽन्यथा॥

इति श्रीसुश्रुतसंहितायां भाषाटीकायामुत्तरतन्त्रे विसूचिकाप्रतिषेधो नाम षट्पञ्चाशत्तमोऽध्यायः॥ ५६॥

सप्तपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

अथातोऽरोचकप्रतिषेधमध्यायं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥ २ ॥

अब इसके अनन्तर अरोचक-प्रतिषेध नामक अध्याय का विवेचन प्रारम्भ करते हैं, जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने कहा है ॥ १-२ ॥

विमर्शः—विसूचिकारोग तथा अरोचक दोनों में अग्निमान्द्यकारण की समानता होने से तथा दोनों में रसदोषजन्य साम्य भी होने से एवं अरुचि में कभी-कभी वमन भी होता है अतएव वमनरूप साम्य से भी विसूचिका के पश्चात् अरोचक प्रारम्भ किया गया है। माधवकार ने ऊर्ध्वगविकार-साधर्म्य से स्वरभेद के पश्चात् अरुचि-प्रकरण प्रारम्भ किया है। चरकाचार्य ने च० चि० अ० २६ में स्थान-सादृश्य की दृष्टि से मुखरोग के अनन्तर अरोचक को प्रारम्भ किया है। यद्यपि अरोचक, अभक्तच्छन्द और अन्नद्वेष ये परस्पर पर्याय हैं, किन्तु वृद्धभोज में इनका परस्पर भेद स्वीकृत किया गया है, जैसे मुख में अन्न डालने पर स्वादिष्ट न लगे उसे अरोचक तथा भोजन का मन से विचारकर, देखकर और सुनकर भोजन करने में द्वेष (अनिच्छा) उत्पन्न हो जाय उसे भक्तद्वेष कहते हैं तथा जिसकी भोजन करने में श्रद्धा ही न हो उसे अभक्तच्छन्द कहते हैं—प्रक्षिप्तन्तु मुखे चान्नं जन्तोर्न स्वदते मुहुः। अरोचकः स विज्ञेयो भक्तद्वेषमतः शृणु ॥ चिन्तयित्वा तु मनसा दृष्ट्वा श्रुत्वापि भोजनम्। द्वेषमायाति यज्जन्तुर्भक्तद्वेषः स उच्यते ॥ यस्य नान्ने भवेच्छ्रद्धा सोऽभक्तच्छन्द उच्यते ॥

दोषैः पृथक् सह च चित्तविपर्ययाच्च
भक्तायनेषु हृदि चावतते प्रगाढम्।
नान्ने रुचिर्भवति तं भिषजो विकारं
भक्तोपघातमिह पञ्चविधं वदन्ति ॥ ३ ॥

अरोचकस्य निदानसंप्राप्तिभेदाः—वातादि दोषों से पृथक्-पृथक् तीन तरह का तथा तीनों दोषों के सहमेलन (संसर्ग) से चौथा सान्निपातिक तथा काम, शोक, भय आदि कारणों के विपरीत होने से पाँचवा अरोचक उत्पन्न होता है। इस तरह उक्त दोष भक्तायन अर्थात् अन्नवाहक-स्रोतसों में तथा हृदय में अत्यन्त व्याप्त हो जाते हैं, जिससे अन्न सेवन करने में उस व्यक्ति की रुचि नहीं होती है। इसी तरह के इस रोग को भिषग्जन पञ्च प्रकार का भक्तोपघात (अरोचक) कहते हैं॥

विमर्शः—दोषैः पृथगिति त्रयः, सह चेति समस्तैरेकः, चित्तविपर्ययात्कामशोकभयादिभिर्विलुप्तचित्तत्वात् चित्तविपर्ययात्तु एकः। कुछ आचार्य 'चित्तविपर्ययात्' के स्थान पर 'शोकसमुच्छ्रयात्' ऐसा पाठान्तर मानते हैं। उनके मत से कामशोकभयादिजन्य अरोचक का ग्रहण नहीं होता है। भक्तायन से अन्नवह स्रोतस का ग्रहण होता है, जो कि एलिमेण्टरी केनाल कहा जाता है, जिसमें मुख, जिह्वा, फेरिन्क्स, अन्ननलिका (Oesophagus), आमाशय (Stomach) क्षुद्रान्त्र आदि का समावेश होता है। डल्हणाचार्य ने लिखा है कि समानतन्त्रदर्शन से भक्तायन-शब्द जिह्वा का उपलक्षण है—पृथग्दोषैः समस्तैश्च जिह्वाहृदयसंश्रितैः। जायतेऽरुचिराहारे द्विष्टैरन्यैश्च मानसैः॥ चरकाचार्य ने अरोचक के कारण तथा भेदादि का निम्न रूप से वर्णन किया है—'वातादिभिः शोकभयातिलोभक्रोधैर्मनोघ्नाशनरूपगन्धैः। अरोचकाः स्युः' (च० चि० अ० २६, श्लो० १२४) वातादिभिस्त्रयः, सन्निपातेनैकः, शोकादिना गन्धान्तेनागन्तुरेक एव गणनीयः। यद्यपि शोक, भय, अतिलोभ और काम से वायु प्रकुपित होती है—'कामशोकभयाद्वायुः' इसलिये शोकादिजन्य अरोचक का वातजन्य अरोचक में समावेश हो जाना चाहिए, किन्तु हेतुप्रत्यनीक चिकित्साकरणार्थ यहाँ पर शोकभयादिजन्य अरोचक को वातजन्य से पृथक् लिखा है। अरोचक प्रायः अजीर्णजन्य होता है, जैसे मात्रापूर्वक तथा पथ्य अन्न का सेवन करने पर भी यदि चिन्ता, शोक, भय, क्रोध, दुःखपूर्वक शयन और प्रजागरण किया हुआ हो तो प्रथम अजीर्ण उत्पन्न होता है तथा उससे अरोचक हो जाता है—मात्रयाऽप्यभ्यवहृतं पथ्यं चान्नं न जीर्यति। चिन्ताशोकभयक्रोधदुःखशय्याप्रजागरैः॥ (च० वि० अ० २) अन्यत्र भी पृथक् पृथक् दोषों से अरुचि के तीन भेद, सन्निपात से चौथा भेद तथा दूषित (द्विष्ट) आहार और दूषित मानस दोषों से पाचवीं अरुचि उत्पन्न होती है जिनका पृथक् पृथक् ज्ञान मुखरस-परिवर्तन से हो जाता है। मुख के कषाय-रस हो जाने से वातिक, तिक्तरस हो जाने से पैत्तिक, मधुररस हो जाने से श्लैष्मिक तथा मिलित रस से सान्निपातिक और दोषदर्शन से पांचवें मानस अरोचक का ज्ञान कर लेना चाहिए—पृथग्दोषैः समस्तैर्वा जिह्वाहृदयसंस्थितैः। जायतेऽरुचिराहारे द्विष्टैरथैश्च मानसैः॥ कषायतिक्तमधुरैर्विद्यान्मुखरसैः क्रमात्। वातादीरुचिजातां मानसीं दोषदर्शनात्॥ वास्तव में अरोचक में क्षुधा लगती है, किन्तु खाने की इच्छा नहीं होती। अरोचक के कारणों को प्रधानतया हम दो भागों में विभक्त कर सकते हैं—(१) शारीरिक। (२) मानसिक। वातादि सन्निपातान्त चार शारीरिक कारण हैं। इनके अतिरिक्त शोक, भय, क्षोभ, क्रोध आदि मानसिक कहलाते हैं। आधुनिक दृष्टि से इस रोग को Anorexia कह सकते हैं, क्योंकि इसके भी शारीरिक और मानसिक ऐसे दो प्रकार के कारणों का ही निरूपण किया गया है। (१) शारीरिक कारण—अरोचक की उत्पत्ति का स्थान आमाशय है। उसके द्वारा ही क्षुधा का नाश और क्षुधा की अभिवृद्धि होती है। आमाशय में वातादि सन्निपातान्त दोषों का प्रकोप या आमाशयिक कलाशोथ (Gastritis), आमाशयिक कर्कटार्बुद (Gastric Cancer), आमाशयिक उपाम्लता (Hypochlorhydria) तथा रक्ताल्पता (Anaemia) ये शारीरिक कारण हैं, जिनसे भोजन के प्रति द्वेष उत्पन्न हो जाता है। (२) मानसिक कारण—इस अवस्था को Anorexia Nervosa कहते हैं। इस अवस्था में हर प्रकार के भोजन से घृणा हो जाती है एवं थोड़ा सा भी खा लेने पर उदर फूला हुआ मालूम होता है। भोजन न करने पर मांसक्षय होता है एवं रोगी मानसिक और शारीरिक दोनों दृष्टियों से दुर्बल हो जाता है। आयुर्वेदोक्त शोक, भय, अतिलोभ, काम आदि कारण भी इसके अन्तर्गत हो जाते हैं। इनके कारण भी आमाशयिक स्राव कम होता है एवं भूख नहीं लगती है।

हृच्छूलपीडनयुतं विरसाननत्वं
वातात्मके भवति लिङ्गमरोचके तु।
हृद्दाहचोषबहुता मुखतिक्तता च
मूर्च्छा सतृड् भवति पित्तकृते तथैव ॥ ४ ॥

वातपित्तारोचकयोर्लक्षणानि—वातदोष-दुष्टि से उत्पन्न हुये अरोचक में हृदयशूल तथा पीड़ा और मुख की विरसता ये लक्षण उत्पन्न होते हैं। इसी प्रकार पित्तदुष्टि से उत्पन्न हुए अरोचक में हृदय में दाह तथा चोष की अधिकता, मुख की तिक्तता, मूर्च्छा और प्यास का अधिक लगना ये लक्षण उत्पन्न होते हैं ॥ ४ ॥

विमर्शः—वातपित्तारोचकयोश्चरकोक्तलक्षणानि''''''परिहृष्टदन्तः, कषायवक्त्रश्च मनोऽनिलेन। कट्वम्लमुष्णं विरसञ्च पूति पित्तेन विद्यात्'''। (च० चि० अ० २६) पित्त के विदग्ध होनेसे छाती, हृदय आदि स्थानों में दाह भी होता है। कटु का अर्थ यहाँ चरपरा न करके तिक्त (जिसे लोक में कड़वा कहते हैं) करना चाहिए—'पित्तेन तिक्तास्यविदाहकृत् स्यात्' ऐसा यह विदेह का उचित मत है। चोष शब्द का अर्थ आचूषण के समान वेदना होता है (डल्हण)

कण्डूगुरुत्वकफसंस्रवसादतन्द्राः
श्लेष्मात्मके मधुरमास्यमरोचके तु।
सर्वात्मके पवनपित्तकफा बहूनि
रूपाण्यथास्य हृदये समुदीरयन्ति ॥ ५ ॥

कफसन्निपातारोचकयोर्लक्षणानि—कफ के द्वारा उत्पन्न हुये अरोचक में शरीर में कण्डू और भारीपन की प्रतीति तथा मुख से कफ का स्राव, अङ्गों में ग्लानि (साद) और तन्द्रा तथा मुखमाधुर्य ये लक्षण उत्पन्न होते हैं। इसी प्रकार सर्वदोषों की दुष्टि से उत्पन्न हुए अरोचक में वात, पित्त तथा कफ उस रोगी के शरीर तथा हृदय में अनेक लक्षण उत्पन्न करते हैं ॥ ५ ॥

विमर्शः—कफजारोचकस्य चरकोक्तलक्षणानि—''''''लवणञ्च वक्त्रम्। माधुर्यपैच्छिल्यगुरुत्वशैत्यविबद्धसंबद्धयुतं कफेन' (च० चि० अ० २६) विदग्ध श्लेष्मा के कारण मुख का रस लवण हो जाता है, अतः लावणिक रस तथा अविदग्ध से मधुर मुख होता है, जैसा कि सुश्रुताचार्य ने कहा है—'श्लेष्मा विदग्धो लवणः स्मृतः पित्तं विदग्धमम्लम्' (सु० सू० अ० ४०) त्रिदोषजारोचकलक्षणानि चरके—त्रिदोषजे नैकरसं भवेत्तु' (च० चि० अ० २६) अर्थात् त्रिदोषजन्य अरोचक में एक दोष का मुखरस न होकर तीनों दोषों के मुखरस की प्रतीति होती है। प्रायः सान्निपातिक अरोचक असाध्य होता है—'सर्वात्मकञ्चापि विवर्जयेत्तु'।

संरागशोकभयविप्लुतचेतसस्तु
चिन्ताकृतो भवति सोऽशुचिदर्शनाच्च ॥६॥

मानसारोचकलक्षणानि— संराग (काम-वासना), शोक, तथा भय से विकृतचित्त या विलुप्तचित्त होने पर तथा बीभत्स वस्तुओं के देखने से पाँचवा मानस या आगन्तुक या चिन्ताजन्य अरोचक उत्पन्न होता है ॥ ६ ॥

विमर्शः—आगन्तुजारोचकलक्षणानि चरके—'अरोचके शोकभयातिलोभक्रोधाद्यहृद्याशुचिगन्धजे स्यात्। स्वाभाविकञ्चास्यमथारुचिश्च' (च० चि० अ० २६) अर्थात् शोक, भय अतिलोभ, क्रोध आदि से तथा मन के विपरीत अपवित्रता एवं गन्ध आदि से उत्पन्न अरोचक को आगन्तुज कहते हैं। इसमें मुख का स्वाद स्वाभाविक रहता है, फिर भी अरुचि रहती है। दोषरूपाणि—हृच्छूलपीडनयुतं पवनेन पित्तात्तृड्दाहचोषबहुलं सकफप्रसेकम्। श्लेष्मात्मकं बहुरुजं बहुभिश्च विद्याद्वैगुण्यमोहजडताभिरथापरञ्च ॥ (च० चि० अ० २६) वात से होने वाले अरोचक में हृदय प्रदेश के शूल से पीड़ा होती है। पित्त से होने वाले अरोचक में तृषा, दाह तथा चोष की विशेषता रहती है। कफजन्य अरोचक में श्लेष्मा (लाला) का स्राव अधिक होता है। त्रिदोषज अरोचक में अनेक प्रकार की पीड़ा होती है। इसके अतिरिक्त शोक आदि से होने वाले अरोचक में मन की व्याकुलता, मूर्च्छा और जड़ता आदि लक्षण होते हैं। आगन्तुक या मानस अरोचक में भी दोषों का सम्बन्ध हो ही जाता है जैसे काम, शोक और भय से वायु, क्रोध से पित्त, और हर्षण से श्लेष्मा प्रकुपित होता है —कामशोकभयाद्वायुः क्रोधात् पित्तं च कुप्यति। श्लेष्मा तु हर्षणात्'''''' ॥ अन्य आचार्य चिन्ताकृत अरोचक के वातादिभेद से निम्न लक्षण लिखते हैं—वातात्मके विरसमास्यमरोचके तु पित्तेन तिक्तकटुकं, मधुरं कफेन। सर्वैरुपेतमथ सर्वजमेव विद्यात् दैन्यं भृशं भवति शोकसमुद्भवे तु ॥ किन्तु इसे अनार्ष पाठ माना है।

वाते वचाऽम्बुवमनं कृतवान् पिबेच्च
स्नेहैः सुराभिरथवोष्णजलेन चूर्णम्।
कृष्णाविडङ्गयवभस्महरेणुभार्गी-
रास्नैलहिङ्गुलवणोत्तमनागराणाम् ॥ ७ ॥

वातिकारोचकचिकित्सा—वातिक अरोचक में प्रथम वचा के क्वाथ से वमन करा के पिप्पली, वायविडङ्ग, यवक्षार, हरेणुका, भारङ्गी, रासना, इलायची, शुद्धहिंगु, सैन्धव लवण और शुण्ठी, इनके समभाग चूर्ण को ३ माशे से ६ माशे के प्रमाण में लेकर स्नेह (घृत, तैलादि) से या विविध प्रकार की सुराओं के साथ अथवा गरम पानी के साथ सेवन कराना चाहिए ॥ ७ ॥

विमर्शः—कुछ लोग स्नेहैः सुराभिरथवोष्णजलेन, के स्थान पर 'स्नेहैः सुराभिरथवैलजलेन चूर्णम्' ऐसा पाठान्तर मानते हैं, जिसका अर्थ इलायची का जल अथवा एलवालुक का क्वाथ गृहीत होता है। चतुर्थ रास्नैल''' पंक्ति में आये हुए एल शब्द से इलायची का ही ग्रहण होता है।

पित्ते गुडाम्बुमधुरैर्वमनं प्रशस्तं
स्नेहः ससैन्धवसितामधुसर्पिरिष्टः।
निम्बाम्बुवामितवतः कफजेऽनुपानं
राजद्रुमाम्बु मधुना तु सदीप्यकं स्यात् ॥८॥

पित्तकफजारोचकचिकित्सा—पित्तजन्य अरोचक रोग में गुड़ के जल के शर्बत से अथवा काकोल्यादिगण की मधुर औषधियों के क्वाथ से वमन कराना श्रेष्ठ है। वमन होने के पश्चात् सैन्धवलवण, शर्करा, शहद और घृत इन्हें यथोचित प्रमाण में मिश्रित कर स्नेह के रूप में सेवन कराना उत्तम है। इसी प्रकार कफजन्य अरोचक रोग में प्रथम नीम के पत्र

और छाल के द्वारा बनाये हुए क्वाथ से वमन कराके राजद्रुम (आरग्वध) के क्वाथ में शहद तथा अजमोद के चूर्ण का प्रक्षेप देकर पिलाना चाहिए ॥ ८ ॥

विमर्शः—डल्हणाचार्य ने लिखा है कि वमन कराके यवागू, पेया आदि द्वारा भोजन कराके पश्चात् आरग्वध क्वाथ का अनुपान कराना चाहिए। कुछ टीकाकारों ने दीप्यक से अजवाइन का ग्रहण किया है।

चूर्णं यदुक्तमथवाऽनिलजे तदेव
सर्वैश्च सर्वकृतमेवमुपक्रमेत ॥ ९ ॥

कफजसान्निपातिकारोचकयोश्चिकित्सा—अथवा वातजन्य अरोचक रोग में कृष्णाविडङ्गयवभस्म इत्यादि श्लोक के द्वारा जिस चूर्ण का वर्णन किया है वही चूर्ण कफज अरोचक में भी पीना चाहिए। इसी प्रकार सन्निपातजन्य अरोचक रोग में पूर्ववत् वमनादि कर्म करा के प्रथम प्रत्याख्यान (निषेध) कर त्रिदोषनाशक चिकित्सा करनी चाहिए ॥ ९ ॥

विमर्शः—अरुचौ चरकोक्तचिकित्साक्रमः—अरुचौ कवलग्राहा धूमाः समुखधावनाः। मनोज्ञमन्नपानञ्च हर्षणाश्वासनानि च ॥ कुष्ठसौवर्चलाजाजीशर्करा मरिचं विडम्। धात्र्येलापद्मकोशीरपिप्पल्युत्पलचन्दनम्। लोध्रं तेजोवती पथ्या त्र्यूषणं सयवाग्रजम्। आर्द्रदाडिमनिर्यासश्चाजाजीशर्करायुतः। सतैलमाक्षिकास्त्वेते चत्वारः कवलग्रहाः ॥ चतुरोऽरोचकान् हन्युर्वातपित्तकफजसर्वजान्। कारवी मरिचाजाजीद्राक्षावृक्षाम्लदाडिमम्। सौवर्चलं गुडः क्षौद्रं सर्वारोचकनाशनम् ॥ बस्तिं समीरणे, पित्ते विरेकं वमनं कफे। कुर्याद्धृद्यानुकूलानि हर्षणञ्च मनोघ्नजे ॥ (च० चि० अ०२६)

द्राक्षापटोलविडवेत्रकरीरनिम्ब-
मूर्वाऽभयाऽक्षबदरामलकेन्द्रवृक्षैः।
बीजैः करञ्जनृपवृक्षभवैश्च पिष्टै-
र्लेहं पचेत् सुरभिमूत्रयुतं यथावत् ॥ १० ॥
मुस्तां वचां त्रिकटुकं रजनीद्वयञ्च
भार्गीञ्च कुष्ठमथ निर्दहनीञ्च पिष्ट्वा।
मूत्रेऽविजे द्विरदमूत्रयुते पचेद्वा
पाठान्तुगामतिविषां रजनीञ्च मुख्याम् ॥ ११ ॥
मण्डूकिमर्कममृताञ्च सलाङ्गलाख्यां
मूत्रे पचेत्तु महिषस्य विधानविद्वा।
एतांश्च सन्ति चतुरो लिहतस्तु लेहान्
गुल्मारुचिश्वसनकण्ठहृदामयाश्च ॥ १२ ॥

चतुर्णामरोचकानां चत्वारो लेहाः—(१) मुनक्का, पटोलपत्र, विड्लवण, बेत, करीर, नीम की छाल, मूर्वा, हरड़, बहेड़ा, बदरीफल, आँवले, कूड़े की छाल, करञ्ज के बीज और अमलतास का गिर इन्हें समान प्रमाण में मिश्रित कर खाण्डकूट के चूर्ण बनाकर चूर्ण से चतुर्गुण गोमूत्र लेकर सबको कड़ाही में डाल के तन्तुमुद्रादि लक्षण उत्पन्न होने तक यथावत् अवलेह के समान पाक कर लेना चाहिए। (२) मोथा, वचा सोंठ, मरिच, पिप्पली, हरिद्रा, दारुहरिद्रा, भारङ्गी, कूठ और और चित्रक (निर्दहनी) इन्हें समान प्रमाण में लेकर खाण्ड कूट के चूर्णित कर चौगुने भेड़ के मूत्र में अवलेह के समान पकाकर काचपात्र में भर देवें। (३) पाठा, वंशलोचन, अतीस और पिण्डहरिद्रा, इन्हें समान प्रमाण में लेके खाण्ड कूट के चूर्णित कर द्विरद (हस्ती) के चौगुने मूत्र में अवलेह के समान पका के बरणी में भर देवें। (४) ब्राह्मी (मण्डूकी), आक की जड़, नीम, गिलोय और कलिहारी (लाङ्गली) की जड़ इन्हें समान प्रमाण में लेकर खाण्ड कूट के चूर्णित कर भैंस के चौगुने मूत्र में अवलेह के समान पकाके स्वाङ्गशीत होने पर शीशी में भर देवें। इन चारों अवलेहों को यथादोष तथा रोग के अनुसार लेकर ६ माशे प्रमाण में प्रतिदिन सेवन करने से गुल्म, अरुचि, श्वास, कण्ठ के रोग और हृदय के रोग नष्ट हो जाते हैं ॥ १०–१२ ॥

विमर्शः—ये उक्त चार अवलेह यथासंख्य चारों प्रकार के अरोचकों में लाभकारी होते हैं। अभया के स्थान में कुछ लोग अभयं ऐसा पठान्तर मानते हैं। वहाँ अभयं का अर्थ उशीर किया जाता है। नृपवृक्ष आरग्वधः। निर्दहनी = चित्रकः, अजमोदा इत्यन्ये। 'एतान्न सन्ति—चतुरोऽप्यलतश्च' इति केचित् पठन्ति। केचिच्च 'एतान् वदन्ति भिषजश्चतुरश्च लेहान् गुल्मारुचिश्वसनकण्ठहृदामयेषु'।

सात्म्यान् स्वदेशरचितान् विविधांश्च भक्ष्यान्
पानानि मूलफलषाडवरागयोगान्।
अद्याद्रसांश्च विविधान् विविधैः प्रकारै-
र्भुञ्जीत चापि लघुरूक्षमनःसुखानि ॥ १३ ॥

अरोचके सात्म्यभक्ष्याद्युपदेशः—जिस देश के अन्दर जिस प्रकार की विधि से सात्म्य भक्ष्य बनाये जाते हों उन विविध भक्ष्यों का सेवन कराना चाहिए तथा स्वदेशविधि के अनुसार बनाये हुये अनेक प्रकार के पेय-पदार्थों का भी अरोचक में प्रयोग करें। इनके अतिरिक्त विविध प्रकार के मूल जैसे सकरकन्द, गाजर, मूली तथा आँवले, अनार, कमरख, फालसे आदि खटमीठे फल, एवं षाडव (रसालादि), राग (कपित्थादिकृत पेय अथवा रायता) आदि अनेक योगों को तथा लघु, रूक्ष और मन को सुख देने वाले अनेक प्रकार के रसों को बहुविध विधियों से संस्कृत कर सेवन करावें ॥ १३ ॥

विमर्शः—सात्म्यान् = सुखकरान्। कुछ आचार्य 'सात्म्यान् स्वदेशरचितान्' इत्यादि श्लोक का निम्न पाठान्तर मानते हैं— 'सात्म्यान् स्वदेशरचितान् विविधैः प्रकारैर्भुञ्जीत वाऽपि लघुरूक्षमनःसुखेन।' कुछ लोग सात्म्य, देश, रोग, ऋतु और प्रकृति का विचार कर भक्ष्यादि ग्रहण करते हैं। विविध शब्द को भक्ष्य, पान और फल व रस सभी का विशेषण मानते हैं, अतएव यथारुचि किसी का भी ग्रहण कर सकते हैं—'तेन यथारुचि फलानि शर्करान्वितानि कर्पूरचतुर्जातकसुगन्धीनि गृह्यन्ते' (डल्हण)। मूलं = पिप्पलीमूलादि, फलं = दाडिमादि। षाडवाः = रसालाद्याः। रागाः = कपित्थरागादयः। केचित्—'सिताचचकसिन्धूत्थैः सवृक्षाम्लपरूषकैः। जम्बूफलरसैर्युक्तो रागो राजिकया कृतः ॥ मधुराम्लकटूनान्तु संस्काराः षाडवा मताः।' इत्याहुः। अपरे तु षाडवशब्देन यवानीषाडवमाहुः, तन्त्रान्तरसंवादात्, रागशब्देन च रागषाडवं मत्वा द्राक्षादाडिमाद्यन्वितं मुद्गयूषमिति च व्याख्यापयन्ति। अथवा रागः = द्राक्षाक्वाथः, शालिसक्तुपक्वो मध्वाशाल्यः सत्रिजातसधान्यः गौलोपेतः शर्करापासिमिश्रो रागो ज्ञेयः षाडवो दाडिमाम्लः ॥ रागषाडवः—कथितस्तु गुडोपेतं सहकारफलं नवम्। तक्रनागरसंयुक्तं विज्ञेयो रागषाडवः ॥ रसान् = विविधान्

मांसरसान्, मधुरादिरसान्वा। अरुचि श्लेष्मस्थानगत विकृति होने से लघु-रूक्ष आदि कफनाशक भक्ष्य-पेय ग्रहण करें।

आस्थापनं विधिवदत्र विरेचनञ्च
कुर्य्यान्मृदूनि शिरसश्च विरेचनानि ॥ १४ ॥

अरोचके निरूहप्रयोगः—इस अरोचक रोग में यथाविधि आस्थापन (निरूहण) बस्ति का प्रयोग करना चाहिए तथा उसके अनन्तर विरेचन देकर पश्चात् मृदु शिरोविरेचन का प्रयोग करें ॥ १४ ॥

विमर्शः—यद्यपि 'तन्द्री-मादभयशोक' इत्यादि श्लोक द्वारा अरोचक में आस्थापन-बस्ति का निषेध है, तथापि वमनादि क्रिया करने के उत्तरकाल में वातानुबन्ध हो जाने पर बस्ति का प्रयोग वातनाशनार्थं करना लाभदायक है, पूर्व में नहीं।

त्रीण्यूषणानि रजनीत्रिफलायुतानि
चूर्णीकृतानि यवशूकविमिश्रितानि।
क्षौद्रायुतानि वितरेन्मुखबोधनार्थ-
मन्यानि तिक्तकटुकानि च भेषजानि ॥१५॥

अरोचके त्र्यूषणादिचूर्णम्—अरोचक-रोग में मुख का स्वाद ठीक करने के लिये अथवा मुख की रुचि बढ़ाने के लिये किंवा मुखगत लालारस तथा आमाशयगत पाचकरस एवं ग्रहणी में स्रुत होने वाले पित्त, अग्न्याशयरस तथा आन्त्रिक रस का उद्दीपन करने के लिये सोंठ, मरिच, पिप्पली, हरिद्रा, हरड़, बहेड़ा, आंवला और यवक्षार इन्हें समान प्रमाण में गृहीत कर खांड कूट के चूर्ण बना लेवें तथा इस चूर्ण को ३ माशे से ६ माशे प्रमाण में प्रतिदिन शहद के साथ मिश्रित कर सेवन करावें। इसी प्रकार अन्य तिक्त और कटु भेषज भी मुखाद्यवबोधन के लिये प्रशस्त माने जाते हैं ॥ १५ ॥

मुस्तादिराजतरुवर्गदशाङ्गसिद्धैः
काथैर्जयेन्मधुयुतैर्विविधैश्च लेहैः।
मूत्रासवैर्गुडकृतैश्च तथा त्वरिष्टैः
क्षारासवैश्च मधुमाधवतुल्यगन्धैः ॥ १६ ॥

अरोचके क्वाथलेहासवयोगाः—मुस्ताकुष्ठहरिद्रेत्यादिरूप से प्रोक्त मुस्तादि गण की औषधियां, राजतरु अर्थात् आरग्वध, मदनगोप, घोण्टेत्यादि रूप से प्रोक्त आरग्वधादिगण की औषधियां और दशाङ्ग अर्थात् दशमूल के दसों द्रव्य इन सब को समान प्रमाण में मिश्रित कर यवकूट करके २ तोले भर लेकर अष्टगुण (१६ तोले) में डालकर चौथाई शेष रख कर छान के शहद मिला कर पीने से अरोचक नष्ट होता है। इसी प्रकार उक्त मुस्तादि द्रव्यों के क्वाथ में शर्करा डाल कर बनाये हुए अवलेह में शहद मिश्रित कर सेवन करने से अरोचक नष्ट होता है। इसी प्रकार उक्त द्रव्यों के चूर्ण के प्रक्षेप से युक्त तथा गोमूत्र के द्वारा बनाये हुए आसव तथा कुष्ठचिकित्साधिकार में कहे हुए विधान के अनुसार गुड़ और शहद से बनाये हुए एवं पलाशक्षार के पानी के साथ शहद आदि प्रक्षेप द्रव्य डालकर बनाये हुए क्षारासव से तथा मधु (शहद) और माधव (मधुकृतमद्य) के समान सुगन्धि युक्त मद्य का पान कराके अरोचक रोग को नष्ट करें ॥

स्यादेष एव कफवातहते विधिश्च
शान्तिं गते हुतभुजि प्रशमाय तस्य ॥१७॥

कफवातजाविपाके विधिः—कफ और वायु के द्वारा हुतभुक् (पाचकाग्नि) के शान्त (मन्द) होने पर उसका प्रशमन करने के लिए ऊपर कही हुई इसी चिकित्साविधि का उपयोग करना चाहिए ॥ १७ ॥

विमर्शः—जाठराग्नि अरोचक (अविपाक) की उत्पत्ति में कारण है। यहाँ पर इस कारण में कार्य का उपचार करके कफवातजन्य अविपाक (अरोचक) की चिकित्सा का वर्णन किया है। कुछ आचार्यों का मत है कि 'प्रशमाय तस्य' इसके पश्चात् चकार लुप्त है, जिससे तस्य अर्थात् कफवातजन्य मन्द जाठराग्नि की शान्ति के लिये तथा अरोचक की शान्ति के लिये ऐसे दोनों अर्थ ग्रहण किये जाते हैं, किन्तु कार्तिककुण्ड इस प्रकार के अर्थ स्वीकार नहीं करते हैं।

इच्छाऽभिघातभयशोकहतेऽन्तरग्नौ
भावान् भवाय वितरेत् खलु शक्यरूपान्।
अर्थेषु चाप्यपचितेषु पुनर्भवाय
पौराणिकैः श्रुतिपथैरनुमानयेत्तम् ॥ १८ ॥
दैन्यं गते मनसि बोधनमत्र शस्तं
यद्यत् प्रियं तदुपसेव्यमरोचके तु ॥ १९ ॥

इति सुश्रुतसंहितायामुत्तरतन्त्रान्तर्गते कायचिकित्सा-तन्त्रेऽरोचकप्रतिषेधो नाम (एकोनविंशोऽध्यायः, आदितः) सप्तपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५७ ॥

आगन्तुजारोचकचिकित्सा—किसी वाञ्छित वस्तु की प्राप्ति न होने से तथा भय और शोक के कारण अन्तराग्नि (जाठराग्नि या पाचकाग्नि) के शान्त होने पर उत्पन्न हुए अरोचक रोग में शक्य अर्थात् प्राप्त होने योग्य भावों (पदार्थों) को भव (रुच्युत्पत्ति) के लिये प्रयुक्त करें। इसी प्रकार जो अपचित (नष्ट) हुये अर्थ (भाव) हैं उनका पुनः इस जन्म में प्राप्त होना अशक्य है, किन्तु पुनर्भव (जन्मान्तर) में प्राप्त हो सकेंगे। राम, नल, युधिष्ठिर आदि पुराणोक्त उपाख्यानों तथा सैकड़ों अन्य लौकिक कथाएँ सुनाकर उसे सान्त्वना देकर उसकी नष्ट हुई अग्नि से उत्पन्न हुए अरोचक को दूर करना चाहिए। इनके अतिरिक्त अनेक कारणों से मन में दैन्य होने पर हितकारक उपदेशों से आश्वासन देकर बोधन करना चाहिए तथा जो जो वस्तु उस रोगी को प्रिय लगती हो तो वह वह लाके उसे सेवन करने को दें। ऐसा करने से आगन्तुक मनोभिघातजन्य अरोचक नष्ट हो जाता है ॥ १८-१९ ॥

विमर्शः—अरोचके पथ्यानि—गोधूममुद्गारुणशालिके षष्टिका मांसं वराहाजशशैणसम्भवम्। चेङ्गो झषाण्डं मधुरालिकेलिशः प्रोष्ठी खलीशः कवयी च रोहितः॥ कर्कारुवेत्राग्रनवीनमूलकं वार्ताकुशोभाञ्जनमोचदाडिमम्। भव्यं पटोलं रुचकं घृतं पयो बालानि तालानि रसोनशूरणम्॥ द्राक्षा रसालं नलदम्बुकाञ्जिकं मद्यं रसाला दधि तक्रमार्द्रकम्। कङ्कोलखर्जूरप्रियालतिन्दुकं पक्वं कपित्थं बदरं विकङ्कतम्। तालास्थिमज्जा हिमवालुका सिता पथ्या यमानी मरिचानि रामठम्। स्वाद्वम्ललतिक्तानि च देहमार्जना वर्गोऽयमुक्तोऽरुचिरोगिणे हितः॥ अरोचकेऽपथ्यानि—कासोद्गार-क्षुधानेत्रवारिवेगविधारणम्। असृक्स्रावमसक्तोक्षं क्रोधं लोभं भयं शुचम्। दुर्गन्धाक्षणसेवाश्च न कुर्यादरुचौ नरः॥

॥ इत्यरोचकचिकित्सा ॥ ५७ ॥

अष्टपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

अथातो मूत्राघातप्रतिषेधमध्यायं व्याख्यास्यामः ॥१॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥ २ ॥

अब इसके अनन्तर मूत्राघातप्रतिषेध नामक अध्याय का वर्णन प्रारम्भ करते हैं जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने कहा है ॥ १-२ ॥

विमर्शः—उदावर्तप्रतिषेध अध्याय में 'भूयो वक्ष्यामि योगांश्च मूत्राघातोपशान्तये' इस प्रकार की हुई प्रतिज्ञा के कारण अरोचकरोग के अनन्तर पारिशेष्यात् मूत्राघात-प्रतिषेध-नामक अध्याय का प्रारम्भ किया गया है। डल्हणाचार्य ने मूत्राघात का मूत्रावरोध अर्थ किया है—'मूत्राघातो मूत्रावरोधः'। कुछ लोगों ने आघात शब्द से दुष्टि अर्थ ग्रहण किया है, न कि अवरोध, क्योंकि त्रयोदशविध मूत्राघातों के अन्दर पठित मूत्रशुक्र और मूत्र-साद नामक रोगों में मूत्र का अवरोध नहीं होता है, किन्तु मूत्रदुष्टि अवश्य होती है। माधवमधुकोषकार ने मूत्रकृच्छ्र और मूत्राघात में भेद दिखाने की दृष्टि से दोनों के परस्पर विभेदक निम्न लक्षण या अर्थ लिखा है—मूत्रकृच्छ्रमूत्राघात-योश्चायं विशेषः—(१) मूत्रकृच्छ्रे कृच्छ्रत्वमतिशयितम्, ईषद्विबन्धः, मूत्राघाते तु विबन्धो बलवान् कृच्छ्रत्वमल्पमिति। अर्थात् मूत्र-कृच्छ्र में मूत्रत्याग करने में अत्यधिक कष्ट होता है, किन्तु विबन्ध (मूत्र का रुकना) अल्प रहता है। अर्थात् मूत्रत्याग बूँद-बूँद और अधिक कष्ट से होता है। मूत्राघात में मूत्र का विबन्ध (रुकावट या अवरोध) अधिक होता है, किन्तु कृच्छ्रता अल्प रहती है। मूत्राघात को Suppresion of the urine कहते हैं। इसमें मूत्र बनता कम है। मूत्रावरोध को Retention of the urine कहते हैं। मूत्रकृच्छ्र को Dysurea कहते हैं।

वातकुण्डलिकाऽष्ठीला वातबस्तिस्तथैव च।
मूत्रातीतः सजठरो मूत्रोत्सङ्गः क्षयस्तथा ॥ ३ ॥
मूत्रग्रन्थिर्मूत्रशुक्रमुष्णवातस्तथैव च।
मूत्रौकसादौ द्वौ चापि रोगा द्वादश कीर्त्तिताः ॥ ४ ॥

मूत्राघातभेदाः—(१) वातकुण्डलिका, (२) अष्ठीला, (३) वातबस्ति, (४) मूत्रातीत, (५) मूत्रजठर, (६) मूत्रो-त्सङ्ग, (७) मूत्रक्षय, (८) मूत्रग्रन्थि, (९), मूत्रशुक्र, (१०) उष्णवात, (११) पित्तजन्य मूत्रौकसाद तथा (१२) कफजन्य मूत्रौकसाद ऐसे मूत्राघात के बारह प्रकार के भेद कहे गये हैं॥

विमर्शः—अन्य तन्त्रों में मूत्राघात के तेरह प्रकार लिखे हैं—जायन्ते कुपितैर्दोषैर्मूत्राघातास्त्रयोदश। प्रायो मूत्रविघाताद्यै-र्वातकुण्डलिकादयः॥ चरकाचार्य ने तेरह प्रकार के मूत्र के रोग या बस्तिदोष माने हैं—मूत्रौकसादो जठरं कृच्छ्रमुत्सङ्ग-संक्षयौ। मूत्रातीतोऽनिलाष्ठीला वातबस्त्युष्णमारुतौ॥ वातकुण्ड-लिका ग्रन्थिर्विड्घातो बस्तिकुण्डलम्। त्रयोदशैते मूत्रस्य दोषास्तां-ल्लिङ्गतः शृणु॥ (१) मूत्रौकसाद या मूत्रसाद—Scanty Urination. (२) मूत्रजठर—Distended bladder. (३) मूत्रकृच्छ्र—Dysurea (४) मूत्रोत्संग—Stricture of urethra. (५) मूत्रक्षय—Anurea or Suppression of urine (६) मूत्रातीत—Incontinence of urine. (७) वाताष्ठीला—Inlarged prostate. (८) वातबस्ति—Retention of urine. (९) उष्णमारुत या उष्णवात Cystitis or urethritis. (१०) वातकुण्डलिका—Spasmodic stricture. (११) मूत्रग्रंथि—Tumour of the bladder. (१२) विड्विघात—Recto-vesical fistula. (१३) बस्तिकुण्डल—Atonic condition of the bladder. इस प्रकार चरकाचार्य ने बस्तिकुण्डल-रोग को अधिक मान कर मूत्राघात के तेरह भेद कर दिये हैं। बस्तिकुण्डलहेतुलक्षणादिकम्—द्रुताध्वलङ्घना-यासादभिघातात्प्रपीडनात्। स्वस्थानाद् बस्तिरुद्वृत्तः स्थूलस्तिष्ठति गर्भवत्॥ शूलस्पन्दनदाहार्तो बिन्दुं बिन्दुं स्रवत्यपि। पीडितस्तु सृजेद् धारां संस्तम्भोद्वेष्टनार्तिमान्॥ बस्तिकुण्डलमाहुस्तं घोरं शस्त्रविषोपमम्। पवनप्रबलं प्रायो दुर्निवारमबुद्धिभिः॥ (च० सि० अ० ९)

रौक्ष्याद्वेगविघाताद्वा वायुरन्तरमाश्रितः।
मूत्रं चरति सङ्गृह्य विगुणः कुण्डलीकृतः ॥ ५ ॥
सृजेदल्पाल्पमथवा सरुजस्कं शनैः शनैः।
वातकुण्डलिकां तं तु व्याधिं विद्यात् सुदारुणम् ॥६॥

वातकुण्डलिकालक्षणम्—रूक्ष पदार्थों के अधिक सेवन करने से तथा अधारणीय वेगों के धारण करने से विगुण हुआ वायु बस्ति के भीतर आश्रित हो मूत्र में प्रविष्ट होकर प्रथम उसे अवरुद्ध कर उसे कुपित करके कुण्डलाकार सञ्चार करता है, इससे बस्ति में पीड़ा होती है। मूत्रत्याग थोड़ी-थोड़ी मात्रा में पीड़ा के साथ तथा धीरे-धीरे होता है। इस अत्यन्त दारुण (कष्टदायक) व्याधि को वातकुण्डलिका कहते हैं ॥ ५-६ ॥

विमर्शः—मूत्रं चरति संगृह्येति मूत्रं गृहीत्वा वायुश्चरति भ्रमतीत्यर्थः। विगुणः कुपितः। कुण्डलीकृतः वलयीकृतः कुण्डला-कृत्या वर्तुलीभूतः। 'कुण्डलं कर्णभूषायां पाशेऽपि वलयेऽपि च' इति मेदिनी। कुछ आचार्य 'मूत्रमल्पाल्पमथवा सरुजं सम्प्रवर्तते' यह पाठान्तर तथा कुछ 'सरुजं सम्प्रवर्तयेत्' ऐसा पाठान्तर मानते हैं। 'रौक्ष्यात्' तथा 'वेगविघाताद्' ये व्यवहित तथा सन्निहित कारण हैं। वायुरन्तरमाश्रितः इत्यादि सम्प्राप्ति है और कुण्डलीकृतः इत्यादि लक्षण हैं। प्रायः रूक्ष पदार्थों के अधिक सेवन से सार्वदैहिक वातप्रकोप होता है एवं वेग-विघात स्थानिक वातप्रकोप करता है। मूत्रमाविश्य इस पद से मूत्र तथा उसके आधारभूत बस्ति का ग्रहण करना चाहिए। यह रोग शुद्ध वातिक विकृति है। वातवैगुण्य के कारण बस्ति मुखसङ्कोचिनी (Sphincters of the bladder) पेशी के अचानक सङ्कुचित हो जाने से मूत्र त्याग नहीं होने पाता, जिससे बस्ति में पीड़ा होती है। सङ्कोच कुछ कम होने पर अल्पाल्प मात्रा में मूत्रत्याग होने लगता है। इस अवस्था को वातकुण्डलिका या उद्वेष्टनात्मक सङ्कोच (Spasmodic stricture) कहते हैं। चरकाचार्य ने वातकुण्डलिका के कारण, सम्प्राप्ति और लक्षण निम्न लिखे हैं—गतिसङ्गादुदा-वृत्तः स मूत्रस्थानमार्गयोः। मूत्रस्य विगुणो वायुर्भग्नव्याविद्ध-कुण्डली॥ मूत्रं विहन्ति संस्तम्भभङ्गगौरववेष्टनैः। तीव्ररुङ्मूत्र-विट्सङ्गैर्वातकुण्डलिकेति सा॥ (च० सि० अ० ९)

शकृन्मार्गस्य बस्तेश्च वायुरन्तरमाश्रितः।
अष्ठीलावद् घनं ग्रन्थिं करोत्यचलमुन्नतम् ॥ ७ ॥
विण्मूत्रानिलसङ्गश्च तत्राध्मानञ्च जायते।
वेदना च परा बस्तौ वाताष्ठीलेति तां विदुः ॥ ८ ॥

वाताष्ठीलाया हेतुसम्प्राप्तिलक्षणानि—शकृन्मार्ग (गुदस्थान) तथा बस्ति (आधार) के मध्य में आश्रित होकर अपान वायु अष्ठीला के समान घन (कठोर) ग्रन्थि को पैदा करती है, जो कि कुछ चल तथा ऊँची उठी हुई होती है। इस ग्रन्थि के कारण विष्ठा, मूत्र और वायु का अवरोध हो जाता है तथा नाभि के नीचे मूत्राशय प्रदेश में आध्मान हो जाता है और बस्ति में तीव्र वेदना भी होती है। इस प्रकार के रोग को वाताष्ठीला कहते हैं ॥ ७–८ ॥

विमर्शः—शकृन्मार्गो गुदः, बस्तिर्मूत्राधारः, वायुरत्रापानो गुदबस्तिस्थरोगकरत्वात्, अन्तरं मध्यम्। अष्ठीला—उत्तरापथे दीर्घवर्तुलपाषाणविशेषः, अन्ये चर्मकाराणां लौहीं भाण्डीमाहुः। शकृन्मार्गस्य यहाँ से लेकर अचलमुन्नतम् तक रोग की संप्राप्ति तथा विण्मूत्रानिलसङ्गश्च यहाँ से इस रोग के लक्षणों का वर्णन किया गया है। चरकमतेन अष्ठीलालक्षणादिकम्—आध्मापयन् बस्तिगुदं रुद्ध्वा वायुश्चलोन्नताम्। कुर्यात्तीव्रार्तिमष्ठीलां मूत्रविण्मार्गरोधिनीम्॥ (च० सि० अ० ९) बस्तिप्रदेश में कुपितवायु बस्ति तथा गुदा में आध्मान उत्पन्न करते हुए अष्ठीला के समान चल और उभरी हुई ग्रन्थि को पैदा कर देता है। इसे अष्ठीला कहते हैं। इससे मल और मूत्र के मार्ग में अवरोध तथा तीव्र पीड़ा होती है। कतिपय विद्वान् अष्ठीला से प्रवृद्ध पौरुषग्रन्थि (Enlarged prostate) का ग्रहण करते हैं। वास्तव में पौरुषग्रन्थि का ग्रहण नहीं किया जा सकता, क्योंकि वह अचल होती है। इसके अतिरिक्त पौरुषग्रंथि की वृद्धि में उन्नतता आगे की ओर दृष्टिगोचर नहीं होती, अपितु गुदपरीक्षा से ही इसका ज्ञान होता है। इसमें तीव्र पीड़ा भी नहीं होती, अतः पौरुषग्रन्थि का ग्रहण नहीं किया जा सकता। उदरस्थित उसके आकार की गाँठ को भी अष्ठीला कहते हैं। उदर में उसकी स्थिति के अनुसार दो नाम या भेद वातव्याधि-प्रकरणोक्त अष्ठीला के किए गये हैं। यदि वह शरीर की ऊर्ध्वाधो दिशा (अनुप्रस्थ या Vertically) रहे तो उसे वाताष्ठीला कहते हैं, किन्तु यदि वह सीधी न रहकर तिरछी (Oblique) रहे तो उसे प्रत्यष्ठीला कहते हैं। गुदा के समीप के किसी अर्बुद का भी इससे ग्रहण किया जा सकता है। प्रत्यष्ठीला मल और मूत्र दोनों का अवरोध करती है। अतः इसे बस्तिगुदान्तरालीय अर्बुद (Recto-Vesical tumour) कहा जा सकता है।

वेगं विधारयेद्यस्तु मूत्रस्याकुशलो नरः।
निरुणद्धि मुखं तस्य बस्तेर्बस्तिगतोऽनिलः ॥ ९ ॥
मूत्रसङ्गो भवेत्तेन बस्तिकुक्षिनिपीडितः।
वातबस्तिः स विज्ञेयो व्याधिः कृच्छ्रप्रसाधनः ॥१०॥

वातबस्तेर्हेतुसम्प्राप्तिलक्षणानि—यदि कोई अज्ञपुरुष उपस्थित हुए मूत्र के वेग को रोकता है तो बस्तिस्थित प्रकुपित वायु बस्ति के मुख को बन्द कर देता है, जिससे कुछ समय के लिये मूत्रत्याग पूर्णरूप से अवरुद्ध हो जाता है तथा बस्ति और कुक्षिप्रदेश में पीड़ा होती है। इस कृच्छ्रसाध्य व्याधि को वातबस्ति कहते हैं ॥ ९–१० ॥

विमर्शः—'वेगं विधारयेत्' यह रोग का हेतु, 'निरुणद्धि मुखं तस्य बस्तेर्बस्तिगतोऽनिलः' यह रोग की संप्राप्ति तथा शेष मूत्रसङ्गादि रोग के लक्षण हैं। कहीं-कहीं 'बस्तिकुक्षिनिपीडितः' के स्थान पर 'बस्तिकुक्षी निपीडयन्' ऐसा पाठान्तर है। इसे (Retention of the urine) कहते हैं। चरके वातबस्तिलक्षणम्—मूत्रं धारयतो बस्तौ वायुः क्रुद्धो विजारणात्। मूत्ररोधार्तिकण्डूभिर्वातबस्तिः स उच्यते॥ (च० सि० अ० ९)

वेगं सन्धार्य्य मूत्रस्य यो भूयः स्रष्टुमिच्छति।
तस्य नाभ्येति यदि वा कथञ्चित्सम्प्रवर्त्तते ॥११॥
प्रवाहतो मन्दरुजमल्पमल्पं पुनः पुनः।
मूत्रातीतन्तु तं विद्यान्मूत्रवेगविघातजम् ॥ १२ ॥

मूत्रातीतस्य हेतुसम्प्राप्तिलक्षणानि—जो व्यक्ति मूत्र के उत्पन्न हुए वेग को रोककर थोड़े समय बाद फिर से मूत्र त्याग करना चाहता है तब उसका मूत्र प्रवाहित नहीं होता है और यदि वह कराह (निकुहन) कर या जोर लगाकर मूत्र त्यागना चाहता है तो किसी प्रकार प्रवर्तित होता है, किन्तु इस प्रकार बार-बार प्रवाहण करने से मन्दवेदना सहित तथा थोड़ी थोड़ी मात्रा में बार-बार रुक-रुककर मूत्र आता है। इस प्रकार मूत्र के वेग को रोकने से उत्पन्न हुए रोग को मूत्रातीत कहते हैं ॥ ११–१२ ॥

विमर्शः—इस रोग में 'वेगं सन्धार्य' वेग का रोकना हेतु है, पुनः त्यागने की इच्छा 'यो भूयः स्रष्टुमिच्छति' सम्प्राप्ति है तथा पुनः मूत्र आना या कथञ्चित् अल्पाल्प वेदना सहित आना ये सब रोग के लक्षण हैं। चरके मूत्रातीतलक्षणादिकम्—चिरं धारयतो मूत्रं त्वरया न प्रवर्तते। मेहमानस्य मन्दं वा मूत्रातीतः स उच्यते॥ (च० सि० अ० ९) अर्थात् अधिक समय तक मूत्र को रोकने से मूत्रत्याग करने पर मूत्र जल्दी नहीं उतरता। यदि उतरता भी है तो बहुत धीरे-धीरे। इस अवस्था को मूत्रातीत कहते हैं। आधुनिक दृष्टि से इस रोग को अपूर्ण मूत्रावरोध (Partial retention of urine or Incontinence of urine) कहते हैं।

मूत्रस्य विहते वेगे तदुदावर्त्तहेतुना।
अपानः कुपितो वायुरुदरं पूरयेद् भृशम् ॥ १३ ॥
नाभेरधस्तादाध्मानं जनयेत्तीव्रवेदनम्।
तं मूत्रजठरं विद्यादधःस्रोतोनिरोधनम् ॥ १४ ॥

मूत्रजठरस्य हेत्वादिकम्—उत्पन्न हुए मूत्र के वेग को रोक देने से वह मूत्र बस्ति में इकट्ठा होकर उदावर्त (ऊपर नाभि की ओर बस्ति भर जाने से उभार प्रतीत होने) के रूप में हो जाता है, जिससे अपान वायु कुपित होकर पेट को फुला देती है और नाभि के निम्न प्रदेश में तीव्र वेदनायुक्त आध्मान को उत्पन्न कर देती है। इस प्रकार मूत्र और मल के अधःस्रोत का निरोध करने वाले इस रोग को मूत्रजठर कहते हैं ॥ १३–१४ ॥

विमर्शः—तदुदावर्तहेतुनेति—तदुदावर्तो मूत्रोदावर्तः, स एव हेतुस्तेनेत्यर्थः। एतेन मूत्रवेगेऽवरुद्धे सति तदुदावर्तहेतुनाऽपानो वायुः कुपितः सन् उदरं पूरयेत्। यहाँ पर प्रथम मूत्रवेग का रोकना

हेतु 'उदरं पूरयेद् भृशम्' यह सम्प्राप्ति तथा नाभि के नीचे आध्मान आदि शेष सर्व इस रोग के लक्षण हैं। इस अवस्था में मूत्रबस्ति अधिक विस्तृत हो जाती है और पेडू में उभरी हुई प्रतीत होती है, अतः पेट फूल जाता है, मूत्र त्याग पूर्णतया अवरुद्ध हो जाता है। इसे चिह्न की दृष्टि से मूत्रजठर (Distended bladder) एवं लक्षण की दृष्टि से पूर्णमूत्रावरोध (Complete retention of urine) कह सकते हैं। चरके मूत्रजठरलक्षणादिकम्—विधारणात् प्रतिहतं वातोदावर्तितं यदा। पूरयत्युदरं मूत्रं तदा तदनिमित्तरुक्॥ अपक्तिमूत्रविट्सङ्गैस्तन्मूत्रजठरं वदेत्॥ (च० सि० अ० ९)

बस्तौ वाऽप्यथवा नाले मणौ वा यस्य देहिनः।
मूत्रं प्रवृत्तं सज्जेत सरक्तं वा प्रवाहतः॥ १५॥
स्रवेच्छनैरल्पमल्पं सरुजं वाऽथ नीरुजम्।
विगुणानिलजो व्याधिः समूत्रोत्सङ्गसंज्ञितः॥ १६॥

मूत्रोत्सङ्गस्य हेतुलक्षणादिकम्—मूत्र त्याग करते हुए मनुष्य का मूत्र प्रवृत्त होकर भी बस्ति, शिश्ननाल या शिश्नमणि में रुक जाता है, अथवा रक्तयुक्त आता है। कदाचित् धीरे-धीरे अल्पाल्प मात्रा में पीड़ा या बिना पीड़ा के ही निकलता है, विगुणवायुजनित इस अवस्था को मूत्रोत्सङ्ग कहते हैं॥ १५-१६॥

विमर्शः—बस्ति = Bladder, मूत्रनाल = मेढ्रस्रोतस जिसे Urethral canal कहते हैं। मणि या मेढ्राग्र प्रदेश जिसे ग्लान्स पेनिस कहते हैं। 'सरक्तम्' के स्थान पर 'संसक्तम्' ऐसा पाठान्तर है, वहाँ संसक्त का अर्थ सम्बद्ध करना चाहिये। 'सरुजं वाऽथ नीरुजम्' अतिवातप्रकोप से नीरुज लिखा है। यहाँ पर 'विगुणानिलजो व्याधिः' यह हेतु है 'बस्तौ वाप्यथवा नाले' इत्यादि सम्प्राप्ति है तथा शेष रोग के लक्षण हैं। चरके मूत्रोत्सङ्गहेतुसम्प्राप्तिलक्षणादिकम्—वैगुण्यानिलाक्षेपैः किञ्चिन्मूत्रञ्च तिष्ठति। मणिसन्धौ स्रवेत् पश्चात्तदरुग्वाऽथवातिरुक्॥ मूत्रोत्सङ्गः स विच्छिन्नमुच्छेषगुरुशेफसः॥ (च० सि० अ० १९) आधुनिक दृष्टि से इस रोग का एक नाम नहीं दिया जा सकता है। शिश्न में औपसर्गिक मेह (Gonorrhoea) के कारण व्रणवस्तु (Scarlissue) बन जाने पर मूत्र बाहर नहीं निकलता। मार्ग के पूर्ण अवरुद्ध हो जाने पर मूत्रावरोध भी पूरी तरह से हो जाता है। यदि मूत्रमार्ग पूर्णतया अवरुद्ध नहीं हुआ है तो मूत्रमार्ग में किसी प्रकार आघात लग जाने से मूत्र में रक्त की उपस्थिति तथा साथ में अल्पमात्रा में मूत्रावरोध भी हो सकता है। इसके अतिरिक्त अन्य कारण भी हो सकते हैं।

रूक्षस्य क्लान्तदेहस्य बस्तिस्थौ पित्तमारुतौ।
सदाहवेदनं कृच्छ्रं कुर्यातां मूत्रसङ्क्षयम्॥ १७॥

मूत्रक्षयस्य हेतुलक्षणादिकम्—रूक्ष प्रकृति वाले तथा ग्लान देह वाले (थके हुये व्यक्ति) की बस्ति में स्थित पित्त और वायु प्रकुपित होकर मूत्र का क्षय कर देते हैं। इस व्याधि को मूत्रक्षय कहते हैं। इस व्याधि के उत्पन्न होने पर मूत्रसंस्थान में वेदना तथा दाह होती है॥ १७॥

विमर्शः—यद्यपि देह की रूक्षता और ग्लानता ये केवल पित्त के कारण नहीं होती हैं, तथापि इन्हें वातयुक्त पित्त से उत्पन्न समझें। वायु और पित्त प्रकुपित होके मूत्र को सुखा देते हैं इस वास्ते कारण में कार्य का उपचार कर इस व्याधि का नाम मूत्रक्षय रखा है, जैसा कि चरकाचार्य ने भी लिखा है—'मूत्रे शुष्यति संक्षयः' (च० सि० अ० ९) वस्तुतस्तु इस अवस्था में मूत्र बनना कम हो जाता है। बस्ति खाली रहती है। मूत्र त्याग की इच्छा होती है, किन्तु बस्ति में मूत्र न रहने से वह नहीं निकलता। रिक्त बस्ति में दाह तथा पीड़ा होती है। इस अवस्था को आधुनिक चिकित्सा में Unurea or Suppression of urine कहते हैं। यह तीव्र वृक्कशोथ (Acute nephritis) तथा अंशुघात (Sunstroke) में विशेष रूप से होता है।

अभ्यन्तरे बस्तिमुखे वृत्तोऽल्पः स्थिर एव च।
वेदनावानति सदा मूत्रमार्गनिरोधनः॥ १८॥
जायते सहसा यस्य ग्रन्थिरश्मरिलक्षणः।
स मूत्रग्रन्थिरित्येवमुच्यते वेदनाऽऽदिभिः॥ १९॥

मूत्रग्रन्थेर्हेतुलक्षणादिकम्—बस्तिद्वार के अन्दर गोल, छोटी, स्थिर, निरन्तर वेदनायुक्त, मूत्रवाहक स्रोतसों (Ureters and Urethra) के मुख का निरोध करने वाली तथा वेदना आदि में अश्मरी के समान लक्षणों से युक्त ग्रन्थि जिस मनुष्य में सहसा उत्पन्न हो जाती है उसे मूत्रग्रन्थि कहते हैं॥ १८-१९॥

विमर्शः—अभ्यन्तरे बस्तिमुखे = बस्तिद्वारस्याभ्यन्तरे, अश्मरिलक्षणः = वेदनादिभिः कृत्वा अश्मर्यास्तुल्यलक्षणो नत्वधिष्ठानादिभिरश्मरीतुल्यलक्षणः। स्थान, वेदना तथा कारण की दृष्टि से मूत्रग्रन्थि तथा अश्मरी में कुछ साम्य है, किन्तु अश्मरी में दोषों के साथ रक्त का सम्बन्ध नहीं होता जब कि तन्त्रान्तर से यह सिद्ध है कि मूत्रग्रन्थि की उत्पत्ति में वात और कफ के साथ प्रधानतः रक्त की भी दुष्टि होती है—रक्तं वातकफाद् दुष्टं बस्तिद्वारे सुदारुणम्। ग्रन्थिं कुर्यात् स कृच्छ्रेण सृजेन्मूत्रं तदावृतम्॥ अश्मरीसमशूलं तं मूत्रग्रन्थिं प्रचक्षते॥ (च० सि० अ० ९) अर्थात् (१) अश्मरी में रक्त का सम्बन्ध नहीं है, किन्तु मूत्रग्रन्थि में रक्त का सम्बन्ध प्रधान है। (२) अश्मरी की पूर्वरूपावस्था में उस रोगी के मूत्र में बकरे के मूत्र के सदृश गन्ध आती है जो कि मूत्रग्रन्थि के मूत्र में ऐसी गन्ध नहीं आती, जैसा कि अश्मरी पूर्वरूप में लिखा है—बस्त्याध्मानं तदासन्नदेशेषु परितोऽतिरुक्। मूत्रे बस्तसगन्धत्वं मूत्रकृच्छ्रं ज्वरोऽरुचिः॥ (वा० नि० अ० ९) यहां पर 'अभ्यन्तरे बस्तिमुखे' यह सम्प्राप्ति, वेदनावान् इत्यादि लक्षण तथा डल्हणाचार्य के मत से उष्णवातहेतुसाहचर्य से पित्त को कारण समझना चाहिए। चरकाचार्य ने मूत्रग्रन्थि की उत्पत्ति में वायु और कफ को कारण (दोष) माना है तथा रक्त को दूष्य माना है। वाग्भटोक्तमूत्रग्रन्थिलक्षणम्—अन्तर्बस्तिमुखे वृत्तः स्थिरोऽल्पः सहसा भवेत्। अश्मरीतुल्यरुग्ग्रन्थिर्मूत्रग्रन्थिः स उच्यते॥ (वा० नि० अ० ९) मूत्रग्रन्थि के लक्षण पौरुषग्रन्थिवृद्धि (Enlarged prostate) के साथ मिलते जुलते हैं।

प्रत्युपस्थितमूत्रस्तु मैथुनं योऽभिनन्दति।
तस्य मूत्रयुतं रेतः सहसा सम्प्रवर्तते॥ २०॥
पुरस्ताद्वाऽपि मूत्रस्य पश्चाद्वाऽपि कदाचन।
भस्मोदकप्रतीकाशं मूत्रशुक्रं तदुच्यते॥ २१॥

मूत्रशुक्रहेतुलक्षणादिकम्—मूत्रत्याग के वेग के उपस्थित होने पर जो मनुष्य स्त्री-सम्भोग करता है उस पुरुष का भस्मोदक के समान वर्ण वाला मूत्रयुक्त वीर्य कभी मूत्रत्याग के पहले तथा कभी मूत्रत्याग के पश्चात् सहसा प्रवर्तित होता है, ऐसे रोग को मूत्रशुक्र कहते हैं॥ २०-२१॥

विमर्शः—वाग्भटाचार्य ने भी ऐसा ही मूत्रशुक्र का लक्षण लिखा है—मूत्रितस्य स्त्रियं यातो वायुना शुक्रमुद्धतम्। स्थानाच्च्युतं मूत्रयतः प्राक् पश्चाद्वा प्रवर्तते॥ भस्मोदकप्रतीकाशं मूत्रशुक्रं तदुच्यते॥ (वा० नि० अ० ९) शुक्रमेह में भी मूत्र शुक्रमिश्रित निकलता है, किन्तु मूत्रत्याग में कोई कृच्छ्रता नहीं होती। इसमें शुक्र कुछ ग्रन्थिल हो जाता है, अतः कृच्छ्रता (पीड़ा) हो सकती है।

व्यायामाध्वातपैः पित्तं बस्तिं प्राप्यानिलावृतम्।
बस्तिं मेढ्रं गुदञ्चैव प्रदहन् स्रावयेदधः॥२२॥
मूत्रं हारिद्रमथवा सरक्तं रक्तमेव वा।
कृच्छ्रात् प्रवर्तते जन्तोरुष्णवातं वदन्ति तम्॥ २३॥

उष्णवातलक्षणम्—अधिक व्यायाम, पैदल यात्रा तथा अधिक धूप में घूमने या बैठने से वायु के साथ पित्त प्रकुपित होकर बस्ति में जा के बस्ति, मेढ्र तथा गुदा में दाह उत्पन्न करता है तथा रोगी कठिनता से, बार-बार हल्दी के वर्ण का या रक्तमिश्रित मूत्र त्यागता है। अथवा केवल मूत्र का ही त्याग करता है। इस प्रकार के रोग को उष्णवात कहते हैं॥

विमर्शः—व्यायाम, अध्वगमन और धूप में रहने से कफादि सौम्यधातु का क्षय होने से तथा समान कारण से तेज की वृद्धि होकर पित्त की भी वृद्धि हो जाती है। अनिलावृत शब्द का 'वातयुक्त पित्त' ऐसा अर्थ करना चाहिए। सरक्तम् = ईषद्रक्तवर्णमीषच्छोणितं वा। अर्थात् कुछ रक्तवर्ण या कुछ रक्त ही। रक्तमेव वेति केवलं शोणितम्, अत्यन्तरक्तवर्णं मूत्रं वा। डल्हणाचार्य ने शङ्का की है कि यहाँ पर उद्देशसूत्र-पाठ के बल से मूत्रग्रन्थि और मूत्रशुक्र का ही पठन ठीक है, उष्णवात का ठीक नहीं, पुनः यहाँ वर्णन क्यों किया? इसके समाधान में लिखा है कि जिस प्रकार मूत्रक्षय रोग के वात और पित्त हेतु हैं उसी प्रकार उष्णवात के भी वात और पित्त उभय हेतु होने से हेतुसाम्य की दृष्टि से यहाँ उष्णवात का वर्णन किया गया है। यहाँ पर व्यायामा……आदि हेतु, बस्तिं प्राप्य इत्यादि संप्राप्ति और शेष उष्णवात के लक्षण हैं। चरके उष्णवातलक्षणम्—उष्मणा सोष्मकं मूत्रं शोषयन् रक्तपीतकम्। उष्णवातः सृजेत् कृच्छ्राद्बस्त्युपस्थार्तिदाहवान्॥ (च०सि०अ० ९) आधुनिक दृष्टि से उष्णवात रोग के लक्षण सामान्य मूत्राशय कलाशोथ (Cystitis) या मूत्रप्रसेक शोथ, (urethritis) के कारण होती है। यह शोथ पूयमेह (Gonorrhoea) के गोलाणु (Gono Cocci) या दूसरे उपसर्गों से हो सकता है। प्रायः पूयमेहगोलाणु से ही यह शोथ हुआ करता है, अतः प्राचीन वैद्य औपसर्गिक पूयमेह का उष्णवात से ही ग्रहण करते हैं।

विशदं पीतकं मूत्रं सदाहं बहलं तथा।
शुष्कं भवति यच्चापि रोचनाचूर्णसन्निभम्॥ २४॥
मूत्रौकसादं तं विद्याद्रोगं पित्तकृतं बुधः।
पिच्छिलं संहतं श्वेतं तथा कृच्छ्रप्रवर्तनम्॥ २५॥
शुष्कं भवति यच्चापि शङ्खचूर्णप्रपाण्डुरम्।
मूत्रौकसादं तं विद्यादामयं द्वादशं कफात्॥ २६॥

द्विविधमूत्रौकसादलक्षणादिकम्—जो मूत्र पिच्छिल गुण से विपरीत गुणवाला, वर्ण में पीला, दाहयुक्त एवं बहल (गाढ़ा या घट्ट) होता है तथा सूखने पर गोरोचन के चूर्ण के समान हो जाता है, ऐसे रोग को विद्वान् पुरुष पित्तजन्य मूत्रौकसाद कहते हैं।

कफजमूत्रौकसाद—जो मूत्र पिच्छिल, गाढ़ा या घट्ट, और वर्ण में श्वेत दिखाई देता हो तथा कठिनता से मूत्रत्याग की प्रवृत्ति होती हो एवं सूखने पर शङ्ख के चूर्ण के समान पाण्डुर (श्वेतपीत रक्तमिश्रित) वर्ण का दिखाई दे, ऐसे रोग को कफजन्य मूत्रौकसाद कहते हैं तथा यह मूत्राघात का बारहवाँ भेद है॥ २४-२६॥

विमर्शः—सुश्रुताचार्य ने मूत्राघात के बारह भेद माने हैं, किन्तु चरकाचार्य ने मूत्राघात के तेरह भेद माने हैं, जिनमें मूत्रौकसाद को दोषों की अंशांश कल्पना से त्रिविध रूप में मानते हुए भी संख्यादृष्टि से एक ही प्रकार का लिखा है और मूत्रकृच्छ्र तथा बस्तिकुण्डल ये दो रोग चरक ने अधिक लिखकर मूत्राघात के तेरह भेद कर दिये हैं। सुश्रुत ने पित्तजन्य और कफजन्य ऐसे मूत्रौकसाद को दो प्रकार का माना है तथा शेष मूत्राघात के १० भेद माने हैं, जिनमें द्विविध मूत्रौकसाद मिलकर मूत्राघात के द्वादश भेद पूरे हो जाते हैं। चरकोक्तत्रयोदशभेदाः—पित्तं कफो द्वावपि वा बस्तौ संहन्यते यदा। मारुतेन तदा मूत्रं रक्तं पीतं घनं सृजेत्। सदाहं श्वेतसान्द्रं वा सर्वैर्वा लक्षणैर्युतम्॥ मूत्रौकसादं तं विद्यात् पित्त-श्लेष्महरैर्जयेत॥ अर्थात् (१) वात और पित्त मिलकर अथवा (२) वात और कफ मिलकर अथवा (३) वात, कफ और पित्त तीनों मिलकर जब बस्ति के अन्दर एकत्रित होते हैं तब वहाँ विकृति उत्पन्न कर देते हैं। पित्त की प्रधान विकृति से मूत्र में रक्तपीतवर्णता, कफ की प्रधान विकृति से मूत्र में श्वेतवर्णता, और कफ तथा पित्त की प्रधानविकृति से मूत्र में कफ और पित्त के लक्षण उत्पन्न होते हैं तथा वायु तो इन तीनों अवस्थाओं में रहता ही है। वायु का प्रकोप यहाँ आवरणजन्य रहता है, इसीलिये पित्त तथा श्लेष्मनाशक चिकित्सा करने पर वायु के आवरकों (पित्तकफों) का जय (शमन) होने से वायु स्वयं शान्त हो जाता है। वाग्भटाचार्य ने चरक और सुश्रुत के आशयों के अनुकूल ही संयुक्त वर्णन करते हुए इस रोग को मूत्रसाद के नाम से लिखा है—पित्तं कफो द्वावपि वा संहन्येतेऽनिलेन चेत्। कृच्छ्रान्मूत्रं तदा पीतं श्वेतं रक्तं घनं सृजेत्॥ सदाहं रोचनाशङ्खचूर्णवर्णं भवेत्तु तत्। शुष्कं समस्तवर्णं वा मूत्रसादं वदन्ति तम्॥ (वा० नि० अ० ९) यहाँ पर जब पित्त और कफ पृथक्-पृथक् अथवा दोनों ही सम्मिलित रूप में प्रकुपित वायु द्वारा गाढ़े हो जाते हैं तो रोगी कठिनता से पीत-रक्त या श्वेत और घनदाहयुक्त, गोरोचना तथा शङ्खचूर्ण के वर्ण के सदृश शुष्क (अल्प-जलयुक्त) तथा समस्त दोषों के वर्ण के समान मूत्रत्याग करता है। इसे मूत्रसाद कहते हैं। पित्त की विशेषता होने पर मूत्रत्याग में विशेष दाह, मूत्र का रङ्ग पीला, लाल अथवा गोरोचना के सदृश होता है। कफ की अधिकता में

शङ्खचूर्ण के समान सफेद तथा घन होता है। त्रिदोषज होने पर सभी दोषों के वर्ण अत्यधिक मात्रा में मिलते हैं। जल की कमी होने से मूत्र गाढ़ा रहता है और इसीलिये मूत्रत्याग में कष्ट होता है। आधुनिक दृष्टि से इसे अल्पमूत्रता (Scanty urination) कहते हैं। जल की मात्रा जितनी ही कम होगी मूत्र का रङ्ग भी उतना ही गहरा होगा। मूत्राशयशोथ (सिस्टाइटिस) में मूत्रबहुलता रहती है अतः उसे मूत्रसाद नहीं कह सकते। मूत्राघात-भेदों में सुश्रुत ने मूत्रशुक्र एक भेद माना है, किन्तु चरक ने इसे मूत्राघातों में नहीं गिनाया है। चरक और वाग्भट ने विड्विघात नामक मूत्राघातों में एक भेद लिखा है, परन्तु वह सुश्रुत ने नहीं लिखा है। विड्विघातलक्षणम्—रूक्षदुर्बलयोर्वातेनोदावृत्तं शकृद्यदा। मूत्रस्रोतः प्रपद्येत विट्संसृष्टं तदा नरः॥ विड्गन्धं मूत्रयेत्कृच्छ्राद्विड्विघातं विनिर्दिशेत् ॥ (च० सि० अ० ९) अर्थात् रूक्ष अथवा दुर्बल मनुष्य का मल जब वायु से उदावृत्त (विलोम = ऊर्ध्वगति) होकर मूत्रमार्ग में पहुँच जाता है तो मल से युक्त अथवा मल की गन्ध वाले मूत्र का पीड़ा के साथ त्याग करता है, इस अवस्था को विड्विघात कहते हैं। आधुनिक दृष्टि से गुदमूत्राशयिक भगन्दर (Recto-vesical Fistula) के होने पर कदाचित् मल का कुछ अंश मूत्राशय में जा सकता है। उस स्थिति में मूत्र में मल के टुकड़े अथवा गन्ध मिलती हैं। चरकोक्तबस्तिकुण्डलवर्णनम्—द्रुताध्वलङ्घनायासैरभिघातात् प्रपीडनात्। स्वस्थानाद् बस्तिरुद्वृत्तः स्थूलस्तिष्ठति गर्भवत् ॥ शूलस्पन्दनदाहार्तो बिन्दुं बिन्दुं स्रवत्यपि। पीडितस्तु सृजेद्धारां संस्तम्भोद्वेष्टनार्तिमान् ॥ बस्तिकुण्डलमाहुस्तं घोरं शस्त्रविषोपमम्। पवनप्रबलं प्रायो दुर्निवारमबुद्धिभिः ॥ (च० सि० अ० ९) जल्दी-जल्दी चलने से, कूदने से, अधिक परिश्रम करने से तथा चोट लगने से बस्ति अपने स्थान से ऊपर उठकर गर्भ के समान स्थूल प्रतीत होती है तथा बस्ति में शूल, स्पन्दन (Fluctuation) तथा दाह होता है। मूत्र बूँद बूँद करके निकलता है, किन्तु बस्ति को दबाने पर मूत्र की धारा निकल पड़ती है, शरीर जकड़ जाता है और ऐंठन सदृश पीड़ा होती है। इसे बस्तिकुण्डल कहते हैं। इसमें वायु की प्रबलता रहती है। इस रोग को Atonic condition of the bladder कह सकते हैं। दोषान्तरसम्बन्धलक्षणानि—तस्मिन् पित्तान्विते दाहः शूलं मूत्रविवर्णता। श्लेष्मणा गौरवं शोथः स्निग्धं मूत्रं घनं सितम् ॥ (च० सि० अ० ९) बस्तिकुण्डलस्य साध्यासाध्यता—श्लेष्मरुद्धबिलो बस्तिः पित्तोदीर्णो न सिद्ध्यति। अविभ्रान्तबिलः साध्यो न तु यः कुण्डलीकृतः ॥ कुण्डलीभूतलक्षणम्—स्याद्बस्तौ कुण्डलीभूते तृण्मोहः श्वास एव च।

कषायकल्कसर्पींषि भक्ष्यान् लेहान् पयांसि च।
क्षारमद्यासवस्वेदान् बस्तीश्चोत्तरसंज्ञितान् ॥ २७ ॥
विदध्यान्मतिमांस्तत्र विधिं चाश्मरिनाशनम्।
मूत्रोदावर्तयोगांश्च कार्त्स्न्येनात्र प्रयोजयेत् ॥ २८ ॥

मूत्राघातसामान्यचिकित्सा—बुद्धिमान वैद्य सर्व प्रकार के मूत्राघातों में कषाय, कल्क, घृत, विविध प्रकार के लड्डू आदि भक्ष्य, अवलेह और दुग्ध तथा क्षार, मद्य (अथवा मधु), आसव, उपनाहादिक स्वेद, उत्तर बस्तियाँ तथा चकारात् स्नेहविरेचन, और अश्मरीनाशक औषधियाँ प्रयुक्त करें। इनके अतिरिक्त 'सौवर्चलाढ्यां मदिराम्' इत्यादि मूत्रोदावर्तप्रतिषेधोक्त सम्पूर्ण योगों का मूत्राघातों में प्रयोग करें ॥ २७-२८ ॥

विमर्शः—यहाँ पर शङ्का यह होती है कि जब वातादि दोषभेद से भिन्न-भिन्न मूत्राघात रोग लिखे हैं तब उनकी चिकित्सा भी दोषभिन्नता-दृष्टि से भिन्न-भिन्न लिखनी चाहिए, फिर सबकी सामान्य चिकित्सा किस आशय से लिखी ? डल्हणाचार्य इस शङ्का का निराकरण करते हैं कि सर्व प्रकार के मूत्राघातों में वायु कारण होता है। इस वास्ते सामान्य चिकित्सा का निर्देश करना उचित है। पुनः दूसरी शङ्का यह है कि यदि मूत्राघातों में वायु ही प्रधान कारण है तो फिर पित्त और कफ दोष मूत्राघात के आरम्भकरूप में क्यों माने गये हैं, और यदि माने गये हैं तो फिर एक ही प्रकार की सामान्य चिकित्सा सर्वप्रकार के मूत्राघातों में क्यों की जाती है ? प्रश्न ठीक है, परन्तु सभी प्रकार के मूत्राघात प्रायः वातजन्य होते हैं, किन्तु पित्त और कफ ये दोनों वात के आवरक होते हैं। अतएव इनकी एक ही प्रकार की चिकित्सा दोषादिबलविकल्प, द्रव्यतत्त्व और रोगतत्त्व को भलीभाँति समझ कर प्रयुक्त करनी चाहिए। इसीलिये सुश्रुताचार्य ने मूल में मतिमान् शब्द का प्रयोग किया है। चरके मूत्राघातचिकित्साक्रमः—दोषाधिक्यमवेक्ष्यैतान् मूत्रकृच्छ्रहरैर्जयेत्। बस्तिमुत्तरबस्तिं च दद्यात् स्निग्धविरेचनम् ॥ (च०सि०अ०९)

कल्कमेर्वारुबीजानामक्षमात्रं ससैन्धवम्।
धान्याम्लयुक्तं पीत्वैव मूत्राघाताद्विमुच्यते ॥ २९ ॥

मूत्राघाते एर्वारुकल्कः—ककड़ी के बीज १ तोले भर लेकर पानी के साथ पत्थर पर पीस कर उसमें सैन्धव लवण का प्रक्षेप देकर ४ तोले काञ्जी में मिला के पीने से रोगी मूत्राघात से मुक्त हो जाता है ॥ २९ ॥

सुरां सौवर्चलवतीं मूत्राघाती पिबेन्नरः।
मधुमांसोपदंशं वा पिबेद्वाऽप्यथ गौडिकम् ॥ ३० ॥

मूत्राघाते सुराप्रयोगः—दो तोले भर सुरा लेकर उसमें सौंचल लवण का प्रक्षेप देकर मूत्राघात के रोगी को पान करावें। इसी प्रकार मांस का भोजन कराके मधु (शहद) तथा शहद से बनाया हुआ मद्य एवं गुड़ से बनाया हुआ मद्य पिलाना चाहिए ॥ ३० ॥

विमर्शः—यहाँ पर अन्यतन्त्र के प्रमाण से मधु शब्द का 'मधु से बनाया हुआ मद्य' ऐसा अर्थ किया जाता है—

'मांसोपदंशं मधुना मद्यं वाऽपि पिबेन्नरः'

पिबेत् कुङ्कुमकर्षं वा मधूदकसमायुतम्।
रात्रिपर्युषितं प्रातस्तथा सुखमवाप्नुयात् ॥ ३१ ॥

मूत्राघाते कुङ्कुमप्रयोगः—अच्छी केशर एक तोले भर लेकर उसे पत्थर की खरल में गुलाब जल के साथ अच्छी प्रकार घोट कर उसमें १ तोला शहद तथा दो तोले पानी मिला कर कलईदार पीतल की कटोरी या काँच या पत्थर अथवा सोने चाँदी की कटोरी में भर कर ढक के रात्रिपर्यन्त बासी रख देवें। दूसरे दिन प्रातःकाल शौचादि से निवृत्त हो मुखशुद्धि कर लेने पर केशरयोग को पिला देने से मूत्राघाती सुख प्राप्त करता है ॥ ३१ ॥

दाडिमाम्लां युतां मुख्यामेलाजीरकनागरैः।
पीत्वा सुरां सलवणां मूत्राघाताद्विमुच्यते ॥ ३२ ॥

मूत्राघाते द्वितीयः सुरायोगः—पिष्ट (आटे) से बनाई हुई दो तोले भर सुरा में दाडिम का स्वरस दो तोले भर मिलाके उसे अम्ल बनाकर फिर उसमें इलायची, जीरक और सोंठ प्रत्येक का चूर्ण एक-एक माशे भर मिश्रित कर तथा १ माशे भर सैन्धव लवण का प्रक्षेप देकर पिलाने से व्यक्ति मूत्राघात रोग से मुक्त हो जाता है ॥ ३२ ॥

पृथक्पर्ण्यादिवर्गस्य मूलं गोक्षुरकस्य च।
अर्द्धप्रस्थेन तोयस्य पचेत् क्षीरचतुर्गुणम् ॥ ३३ ॥
क्षीरावशिष्टं तच्छीतं सिताक्षौद्रयुतं पिबेत्।
नरो मारुतपित्तोत्थमूत्राघातनिवारणम् ॥ ३४ ॥

वातपित्तजमूत्राघातचिकित्सा—पृथक्पर्ण्यादि वर्ग अर्थात् विदारीगन्धादिगण की औषधियां तथा गोखरू क्षुप की जड़ इन्हें समान प्रमाण में मिश्रित कर आधे प्रस्थ (८ पल= ३२ तोले) भर लेकर खाण्ड कूट के यवकुट कर लें। फिर इनमें अष्टगुण (२५६ तो०) दुग्ध तथा दुग्ध से चतुर्गुण (१०२४ तो०) पानी मिला कर दुग्धमात्र शेष रहने पर कपड़े से छान कर उस दुग्ध में शर्करा और शहद मिला कर पीने से व्यक्ति वातपित्तजन्य मूत्राघात रोग से मुक्त हो जाता है ॥ ३३-३४ ॥

विमर्शः—यहाँ पर श्लोकगत शब्द की विभक्तियाँ तथा क्षीरपाकपरिभाषा के अनुसार अर्थ करने पर दुग्ध २५६ तोले होता है, जिसे रोगी एक बार में तो पी नहीं सकता, किन्तु इस दुग्ध को यदि थर्मस में भर कर रख दिया जाय तथा दिन भर में थोड़ा-थोड़ा पीने को दिया जाय तो ठीक है। अथवा थर्मस न हो तो इस दुग्ध को अत्यन्त मन्द आँच वाले चूल्हे पर पड़ा रहने दें और उसमें से थोड़ा-थोड़ा पिलाते रहना चाहिए। परन्तु यह ठीक नहीं है, जितनी बार दिन में दुग्ध पी सकता हो उतनी बार दुग्ध को नये रूप से पका कर पिलाना ठीक है। इसलिये यहाँ पर क्षीरपाक-परिभाषा को ध्यान में रखकर उसी आधार से दुग्ध सिद्ध कर पिलावें। अर्थात् कल्क द्रव्य से आठगुना दुग्ध तथा दुग्ध से चतुर्गुण पानी डालकर क्षीरावशेष पाक कर लेना चाहिए—द्रव्यादष्टगुणं क्षीरं क्षीरात्तोयं चतुर्गुणम्। क्षीरावशेषः कर्तव्यः क्षीरपाके त्वयं विधिः॥ यहाँ पर विदारीगन्धादिगण तथा गोखरू मिलित १ पल (४ तोला), दुग्ध ३२ तोला तथा पानी १२८ तोला लेके ३२ तोले दुग्धावशेष रहने पर छान के शर्करा और शहद का प्रक्षेप देकर पान करावें। विदारीगन्धादिगण—'विदारीगन्धा विदारी विश्वदेवा सहदेवाश्वदंष्ट्रा पृथक्पर्णी शतावरी सारिवा कृष्णसारिवा जीवकर्षभकौ महासहा क्षुद्रसहाबृहत्यौ पुनर्नवैरण्डी हंसपादी वृश्चिकाल्यृषभी चेति'। (सु० सू० अ० ३८)

निष्पीड्य वाससा सम्यग्वर्चो रासभवाजिनोः।
रसस्य कुडवन्तस्य पिबेन्मूत्ररुजापहम् ॥ ३५ ॥

मूत्ररुजाहरो रासभवाजिवर्चरसः—गदहे तथा घोड़े की ताजा लीद लेकर उसको कपड़े में पोट्टलीरूप से बाँध कर दोनों हाथों से पोट्टली को दबा के स्वरस निकाल लेना चाहिए। इस तरह निकाले हुए इस लीद के रस को एक कुडव (४ पल) प्रमाण में पीने से मूत्राघातादि मूत्र रोग नष्ट होते हैं ॥ ३५ ॥

मुस्ताऽभयादेवदारुमूर्वाणां मधुकस्य च।
पिबेदक्षसमं कल्कं मूत्रदोषनिवारणम् ॥ ३६ ॥

मूत्रदोषहरो मुस्तादिकल्कः—मोथा, हरड़, देवदारु, मूर्वा और मुलेठी इनको समप्रमाण में लेकर खाण्ड कूट के कपड़छन चूर्ण कर एक तोले प्रमाण में लेकर मन्दोष्ण जल या दुग्ध के अनुपान के साथ सेवन करने से मूत्रदोष नष्ट होते हैं।

विमर्शः—आधुनिक मनुष्यों के लिये १ कर्ष प्रमाण की मात्रा बहुत अधिक है, इसलिये ३ माशे से ६ माशे प्रमाण पर्याप्त मात्रा है।

अभयाऽऽमलकाक्षाणां कल्कं बदरसम्मितम्।
अम्भसाऽलवणोपेतं पिबेन्मूत्ररुजापहम् ॥ ३७ ॥

मूत्ररुजाहरोऽभयादिकल्कः—हरड़, आँवले और बहेड़े, इन्हें समान प्रमाण में लेकर खाण्ड कूट के चूर्ण कर लें। फिर इस चूर्ण में थोड़ा सा सैन्धव लवण प्रक्षिप्त कर आधे तोले प्रमाण में लेके मन्दोष्ण जल के अनुपान के साथ सेवन करने से मूत्र के समस्त मूत्राघातादि रोग नष्ट होते हैं ॥ ३७ ॥

उदुम्बरसमं कल्कं द्राक्षाया जलसंयुतम्।
पिबेत् पर्य्युषितं रात्रौ शीतं मूत्ररुजापहम् ॥ ३८ ॥

मूत्ररुजाहरो द्राक्षाकल्कः—मुनक्का को १ कर्ष (१ तोले) प्रमाण में लेकर पत्थर पर पानी के साथ पीस कर ८ तोले पानी में घोल कर काचपात्र में भर कर कपड़े से ढक के रख दें। इस तरह इसे एक रात बासी रखके दूसरे दिन हाथ से मसल कर छान कर पीने से मूत्र के रोग नष्ट होते हैं ॥ ३८ ॥

निदिग्धिकायाः स्वरसं पिबेत् कुडवसम्मितम्।
मूत्रदोषहरं कल्यमथवा क्षौद्रसंयुतम् ॥ ३९ ॥

मूत्रदोषहरो निदिग्धिकास्वरसः—छोटी कण्टकारी का क्षुप जड़सहित उखाड़ कर पानी से धो के उसे खरल में कूट कर स्वरस निकाल लें। अथवा उसे पुटपाक विधि से पकाकर स्वरस प्राप्त कर लें। इस स्वरस को १ कुडव (आधा शराव= ४ पल=१६ तोले) भर लेकर प्रातःकाल पीने से मूत्रदोष नष्ट होते हैं ॥ ३९ ॥

प्रपीड्यामलकानान्तु रसं कुडवसम्मितम्।
पीत्वाऽगदी भवेज्जन्तुर्मूत्रदोषरुजातुरः ॥ ४० ॥

मूत्रदोषहर आमलकस्वरसः—हरे ताजे आँवले लेकर उन्हें खरल में कूच (पीस) कर कपड़े में पोट्टली बना के हाथों से दबाकर स्वरस प्राप्त करके १ कुडव (१६ तोले) भर ले के २ तोले शहद का प्रक्षेप देकर पीने से मूत्रदोषों की पीड़ा वाला मनुष्य उन रोगों से रहित हो जाता है ॥ ४० ॥

धात्रीफलरसेनैवं सूक्ष्मैलां वा पिबेन्नरः ॥ ४१ ॥

एलायुतो धात्रीफलरसः—अथवा छोटी इलायची के १ माशे भर चूर्ण को आँवले के फल के ४ तोले भर स्वरस के अनुपान के साथ सेवन करने से मूत्रदोष नष्ट होते हैं ॥ ४१ ॥

पिष्ट्वाऽथवा सुशीतेन शालितण्डुलवारिणा।
तालस्य तरुणं मूलं त्रपुसस्य रसं तथा ॥
श्वेतं कर्कटकञ्चैव प्रातस्तु पयसा पिबेत् ॥ ४२ ॥

मूत्रदोषहरो योगः—ताड़वृक्ष की नवीन जड़ को अत्यन्त शीतल ४ तोले तण्डुलोदक के साथ पीस कर कपड़े से छान के पीवें। अथवा खीरे (ककड़ी) की जड़ या बीजों को पानी के साथ पीस कर कपड़े की पोट्टली बना के हाथ से दबा के निचोड़ कर स्वरस निकाल के पीवें। अथवा श्वेत ककड़ी या उसकी जड़ अथवा उसके बीजों को शीतल जल के साथ पीस कर धारोष्ण या हवा, जीवाणु आदि से सुरक्षित कच्चे दस तोले दुग्ध में घोलकर प्रातःकाल पीने से सर्व प्रकार के मूत्राघात नष्ट होते हैं ॥ ४२ ॥

विमर्शः—पय शब्द का अर्थ पानी भी है, किन्तु यहाँ अन्यतन्त्र प्रमाण होने से दुग्ध अर्थ ग्रहण करना चाहिए—'त्रपुसं वाऽथ दुग्धेन मूत्रदोषहरं पिबेत्'

शृतं वा मधुरैः क्षीरं सर्पिर्मिश्रं पिबेन्नरः।
मूत्रदोषविशुद्ध्यर्थं तथैवाश्मरिनाशनम् ॥ ४३ ॥

मूत्रदोषहरं क्षीरम्—मधुर अर्थात् काकोल्यादि गण की औषधियों के दो तोले भर कल्क तथा १६ तोले भर (अष्टगुण) दुग्ध तथा चतुर्गुण (६४ तोले) जल मिला के क्षीरावशेष पाक कर उसमें १ तोला घृत मिश्रित कर पिलाने से मूत्रदोषों की विशुद्धि तथा अश्मरी का नाश होता है ॥४३॥

बलाश्वदंष्ट्राक्रौञ्चास्थिकोकिलाक्षकतण्डुलान्।
शतपर्वकमूलञ्च देवदारु सचित्रकम् ॥ ४४ ॥
अक्षबीजञ्च सुरया कल्कीकृत्य पिबेन्नरः।
मूत्रदोषविशुद्ध्यर्थं तथैवाश्मरिनाशनम् ॥ ४५ ॥

मूत्रदोषहरं बलादिकल्कम्—खरेटी, गोखरू, क्रौञ्च पक्षी की अस्थि या कौंच के बीज, तालमखाने, चावल, शतपर्वक (जलगण्डीर) की जड़, देवदारु, चित्रक और बहेड़े की मज्जा (फल-छिलके) इन सबको समान प्रमाण में मिश्रित कर दो तोले भर ले के शीतल जल के साथ पीस के कल्क (पिट्ठी या चूर्ण) बनाकर सुरा के साथ पीने से सर्व प्रकार के मूत्रदोषों की शुद्धि तथा अश्मरी का विनाश होता है ॥

पाटलाक्षारमाहृत्य सप्तकृत्वः परिस्रुतम्।
पिबेन्मूत्रविकारघ्नं संसृष्टं तैलमात्रया ॥ ४६ ॥

मूत्रदोषहरः क्षारप्रयोगः—पाटला के पेड़ को जलाकर उसकी राख में षड्गुण या चतुर्गुण जल मिला कर सात बार परिस्रुत कर के छने हुए जल को कड़ाही में भर कर पुनः पका के जलीयांश नष्ट होने के पश्चात् तल में अवशेष रहे श्वेत वर्ण के क्षार को धूप में सुखा के शीशी में भर देवें। इस क्षार को ४ से ८ रत्ती प्रमाण में ले के उसमें थोड़ा सा (१ माशे भर) तिल तैल संयुक्त कर पानी के साथ पीने से मूत्रविकार नष्ट होते हैं ॥ ४६ ॥

विमर्शः—वस्तुतस्तु क्षार के दो भेद होते हैं—(१) प्रतिसारणीय (द्रव एवं बाह्यप्रयोगार्थ), (२) पानीय (चूर्ण एवं आभ्यन्तरप्रयोगार्थ) उक्त टीका में क्षारनिर्माण की सामान्य विधि का उल्लेख किया है, किन्तु क्षार की विशेष निर्माण-विधि सुश्रुत सूत्र अध्याय ११ में लिखी है, इसे देखें।

नलाश्मभेददर्भेक्षुत्रपुसैर्वारुबीजकान्।
क्षीरे परिशृतान् तत्र पिबेत् सर्पिःसमायुतान् ॥४७॥

मूत्रदोषहरं नलादिक्षीरम्—नरसल, पाषाणभेद, दर्भ, साठे की जड़, खीरे की जड़ या बीज, ग्रीष्मकालीन ककड़ी की जड़ या बीज और विजयसार इन्हें समप्रमाण में मिश्रित कर २ तोले भर ले के १६ तोले दुग्ध तथा ६४ तोले भर जल में मिश्रित कर दुग्धावशेष रहने पर उतार के छान कर १ तोले घृत का प्रक्षेप देकर पिलाने से समस्त मूत्रदोष नष्ट होते हैं ॥

पाटल्या यावशूकाच्च पारिभद्रात्तिलादपि।
क्षारोदकेन मतिमान् त्वगेलोषणचूर्णकम् ॥
पिबेद् गुडेन मिश्रं वा लिह्याल्लेहान् पृथक् पृथक् ॥

मूत्रदोषहरं पाटल्यादिक्षारोदकम्—पाटला, यवक्षार, पर्वत-निम्ब और काले तिल इनका यथाविधि क्षार बना कर उसके जल के साथ दालचीनी, छोटी इलायची और पिप्पली को समभाग गृहीत कर बनाये हुए १ से ३ माशे भर चूर्ण को सेवन करें। अथवा पाटल्यादि के पृथक् पृथक् बनाये क्षारोदक में गुड़ मिश्रित कर अवलेह बना के त्वगेलोषण चूर्ण का प्रक्षेप देकर चटाना चाहिए। ये योग मूत्राघातादि सभी मूत्रदोषों को नष्ट करते हैं ॥ ४८ ॥

विमर्शः—कार्तिककुण्ड का मत है कि 'त्वगेलोषणचूर्णकम्' यहाँ पर 'त्वगेलोषणसंयुतम्' ऐसा पाठान्तर है तथा पाटली से तिल पर्यन्त द्रव्यों के चूर्ण को मुष्कक्षारोदक के साथ पीना चाहिये। अथवा पाटली से तिलान्त द्रव्यों के पृथक्-पृथक् क्षारोदक में गुड़ मिलाकर अवलेह बनाकर त्वगेलोषण द्रव्यों के चूर्ण का प्रक्षेप देकर चटाने से मूत्राघातादि नष्ट होते हैं। इस आशय का समर्थन विश्वामित्र के निम्न प्रमाण से स्पष्ट है—पाटल्याः पारिभद्राद्वा तिलाद्वापि यवाग्रजात्। कणैलात्वग्युतं चूर्णं मुष्ककक्षारवारिणा। पिबेद् गुडेन मिश्रं वा लिह्याल्लेहान् पृथक्-पृथक्॥

अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि मूत्रदोषे क्रमं हितम् ॥ ४९ ॥
स्नेहस्वेदोपपन्नानां हितं तेषु विरेचनम्।
ततः संशुद्धदेहानां हिताश्चोत्तरबस्तयः ॥ ५० ॥

मूत्रदोषे सामान्यक्रियाक्रमः—अब इसके अनन्तर मूत्रदोष (मूत्राघातादि रोगों में) हितकारक सामान्य चिकित्सा क्रम का वर्णन किया जाता है। सर्व प्रथम मूत्रदोषातुर को स्नेहपान तथा स्नेहाभ्यङ्गरूप में स्नेहित कर फिर स्वेदित करना चाहिए। पश्चात् विरेचक औषधियों द्वारा विरेचन कराना चाहिए। इस प्रकार इनके देह की शुद्धि हो जाने पर उत्तरबस्ति देनी हितकारक होती है ॥ ४९–५० ॥

स्त्रीणामतिप्रसङ्गेन शोणितं यस्य दृश्यते।
मैथुनोपरमस्तस्य बृंहणश्च विधिः स्मृतः ॥ ५१ ॥

मूत्ररक्तचिकित्सा—स्त्रियों के साथ अत्यधिक सम्भोग करने से जिस मनुष्य के जननेन्द्रिय-मार्ग से मूत्र के साथ अथवा अकेला रक्त निकलता हुआ दिखाई देता हो उसे रोकने के लिये सर्वप्रथम मैथुन कर्म को सर्वथा बन्द कर देना चाहिये। बृंहणविधि (मांसरस, घृत, दुग्ध आदि) का सेवन हितकर होता है ॥ ५१ ॥

विमर्शः—कार्तिककुण्ड इस पाठ को नहीं मानते, क्योंकि अधिक सम्भोगजन्य मूत्ररोग चयशुक्ररोग में समाविष्ट हो जाता है तथा मूत्राघात की जो संख्या सुश्रुतमत से द्वादश

और चरक मत से त्रयोदश लिखी है उससे भी अधिक संख्या होने का भय है। जेज्जटाचार्य इस रोग का पाठ स्वीकार करते हैं।

ताम्रचूडवसा तैलं हितञ्चोत्तरबस्तिषु।
विधानं तस्य पूर्वं हि व्यासतः परिकीर्त्तितम् ॥५२॥

मूत्ररक्ते वसोत्तरबस्तिः—मूत्ररक्त-रोग में कुक्कुट (मुर्गे) की वसा और तिलतैल इन्हें उत्तरबस्ति की विधि से देना हितकारी होता है। उत्तरबस्तिचिकित्साप्रकरण में उत्तरबस्ति की विधि विस्तार से कह दी गई है॥ ५२॥

क्षौद्रार्द्धपात्रं दत्त्वा च पात्रन्तु क्षीरसर्पिषः।
शर्करायाश्च चूर्णं च द्राक्षाचूर्णं च तत्समम् ॥ ५३ ॥
स्वयङ्गुप्ताफलञ्चैव तथैव क्षुरकस्य च।
पिप्पलीचूर्णसंयुक्तमर्द्धभागं प्रकल्पयेत् ॥ ५४ ॥
तदैकध्यं समानीय खजेनाभिप्रमन्थयेत्।
ततः पाणितलं चूर्णं लीढ्वा क्षीरं ततः पिबेत् ॥५५॥
एतत् सर्पिः प्रयुञ्जानः शुद्धदेहो नरः सदा।
मूत्रदोषान् जयेत् सर्वानन्ययोगैः सुदुर्जयान् ॥ ५६ ॥
जयेच्छोणितदोषांश्च वन्ध्या गर्भं लभेत च।
नारी चैतत् प्रयुञ्जाना योनिदोषात् प्रमुच्यते ॥ ५७ ॥

मूत्ररक्तयोनिदोषहरं घृतम्—क्षौद्र (शहद) आधा आढक (२ प्रस्थ=१२८ तोले), क्षीर (दुग्ध) का मन्थन करके निकाला हुआ घृत १ पात्र (१ आढक=४ प्रस्थ=२५६ तोले), महीन पीसी हुई शर्करा १ आढक तथा पत्थर पर पीसे हुए मुनक्कों का चूर्ण १ आढक एवं कौंच के बीजों का चूर्ण, तालमखाने का चूर्ण और पिप्पली का चूर्ण आधा-आधा आढक (प्रत्येक १२८ तोले) भर लेकर एक कलईदार भाण्ड में सबको भर कर खज (मन्थनदण्ड) के द्वारा खूब घोटकर काच के पात्र अथवा मृतबान में भर देवें। इस अवलेह में से एक पाणितल (१ कर्ष अथवा हथेली में जितना आ सके) लेकर खाकर ऊपर से दुग्ध का अनुपान करें। इस घृत का सेवन करने के पूर्व वमन, विरेचन आदि से शरीर की शुद्धि कर लेनी चाहिये। पश्चात् प्रतिदिन उक्त मात्रा में इस घृत का सेवन करने से अन्य औषधियों के सेवन करने से भी ठीक न होने वाले मूत्राघातादि सर्व मूत्ररोग नष्ट हो जाते हैं। यह योग रक्तविकार को भी नष्ट करता है। इस घृत के सेवन करने से वन्ध्या स्त्री गर्भ धारण करती है तथा इसको सेवन करने वाली स्त्रियाँ बीस प्रकार के योनिव्यापद आदि रोगों से मुक्त हो जाती हैं॥ ५३—५७ ॥

बला कोलास्थि मधुकं श्वदंष्ट्राऽथ शतावरी।
मृणालञ्च कशेरुश्च बीजानीक्षुरकस्य च ॥ ५८ ॥
सहस्रवीर्य्यांशुमती पयस्या सह कालया।
शृगालविन्नाऽतिबला बृंहणीयो गणस्तथा ॥ ५९ ॥
एतानि समभागानि मतिमान् सह साधयेत्।
चतुर्गुणेन पयसा गुडस्य तुलया सह ॥ ६० ॥
द्रोणावशिष्टं तत् पूतं पचेत्तेन घृताढकम्।
तत् सिद्धं कलशे स्थाप्यं क्षौद्रप्रस्थेन संयुतम् ॥६१॥
सर्पिरेतत् प्रयुञ्जानो मूत्रदोषात् प्रमुच्यते।
तुगाक्षीर्याश्च चूर्णानि शर्करायास्तथैव च ॥ ६२ ॥
क्षौद्रेण तुल्यान्यालोड्य प्रशस्तेऽहनि लेहयेत्।
तस्य खादेद्यथाशक्ति मात्रां क्षीरं ततः पिबेत् ॥६३॥
शुक्रदोषान् जयेन्मर्त्यः प्राश्य सम्यक् सुयन्त्रितः।
व्यवायक्षीणरेतास्तु सद्यः संलभते सुखम् ॥ ६४ ॥
ओजस्वी बलवान् मर्त्यः पिबन्नेव च हृष्यति ॥ ६५ ॥

मूत्रदोषहरं बलाघृतम्—खरेटी का पञ्चाङ्ग या मूल, बदरफल-मज्जा, मुलेठी, गोखरू, शतावर, कमलनाल, कशेरू, तालमखाने के बीज, दूर्वा (सहस्रवीर्या), शालपर्णी (अंशुमती), क्षीरविदारी (पयस्या), कृष्ण सारिवा (कालानुसारी), पृश्निपर्णी (शृगालविन्ना), कंघी तथा गुडूची को वर्जित कर बृंहणीय (काकोल्यादि) गण की समस्त औषधियों को समान प्रमाण में मिश्रित कर आधा आढक (११८ तोले) लेकर चार गुने (२ आढक) दुग्ध तथा १०० पल (४०० तोले) गुड़ और सम्यक्पाकार्थ दुग्ध से चतुर्गुण (८ आढक=दो द्रोण) जल मिलाकर १ द्रोण अवशेष रहने तक पकाकर कपड़े से छानकर उसमें १ आढक (४ प्रस्थ=२५६ तोले) घृत मिला कर भली भाँति पाक कर लेना चाहिये। फिर स्वाङ्गशीत होने पर इसमें १ प्रस्थ (६४ तोले) शहद मिलाकर घृत चुपड़े मिट्टी के कलश में, या काचपात्र में अथवा चीनीमिट्टी के मृतबान में भर कर ढक कर सुरक्षित रख देना चाहिये। इस घृत को विधिपूर्वक सेवन करनेवाला मनुष्य मूत्रदोषों से मुक्त हो जाता है।

अनुपान—वंशलोचन का चूर्ण १ माशा, शर्करा १ माशे भर, शहद ६ माशे भर लेकर तीनों को एक कटोरी में भली भाँति आलोडित करके इनमें उक्त बलाघृत को यथाशक्ति (६ माशे, १ तोले या २ तोले भर तक) मिश्रित कर चाटें तथा बाद में दुग्ध का पान करें। इस तरह इस घृत को नियमपूर्वक सदा सेवन करनेवाला मनुष्य समस्त प्रकार के शुक्रदोषों से रहित हो जाता है। जो व्यक्ति अधिक स्त्रीसम्भोग करने से क्षीणवीर्य हो गये हों वे इसका सेवन करने से तत्काल सुख (कामोत्तेजनादिक) को प्राप्त करते हैं तथा इसके सेवन से मनुष्य ओजस्वी और बलवान् होकर हर्षित होता है॥ ५८—६५ ॥

चित्रकः सारिवा चैव बला कालानुसारिवा।
द्राक्षा विशाला पिप्पल्यस्तथा चित्रफला भवेत् ॥
तथैव मधुकं पथ्यां दद्यादामलकानि च ॥ ६६ ॥
घृताढकं पचेदेभिः कल्कैः कर्षसमन्वितैः।
क्षीरद्रोणे जलद्रोणे तत्सिद्धमवतारयेत् ॥ ६७ ॥
शीतं परिस्रुतं चैव शर्कराप्रस्थसंयुतम्।
तुगाक्षीर्याश्च तत्सर्वं मतिमान् परिमिश्रयेत् ॥ ६८ ॥
ततो मितं पिबेत्काले यथादोषं यथाबलम्।
वातरेताः श्लेष्मरेताः पित्तरेतास्तु यो भवेत् ॥ ६९ ॥
रक्तरेता ग्रन्थिरेताः पिबेदिच्छन्नरोगताम्।
जीवनीयं च वृष्यं च सर्पिरेतद् बलावहम् ॥ ७० ॥

प्रज्ञाहितं च धन्यं च सर्वरोगापहं शिवम् ।
सर्पिरेतत् प्रयुञ्जाना स्त्री गर्भं लभतेऽचिरात् ॥ ७१ ॥
असृग्दोषान् जयेच्चापि योनिदोषांश्च संहतान् ।
मूत्रदोषेषु सर्वेषु कुर्यादेतच्चिकित्सितम् ॥ ७२ ॥

इति सुश्रुतसंहितायामुत्तरतन्त्रान्तर्गते कायचिकित्सातन्त्रे मूत्राघातप्रतिषेधो नाम (विंशोऽध्यायः, आदितः) अष्टपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५८ ॥

महाबलाघृतम्—चित्रक, सारिवा, बला की जड़, कृष्ण सारिवा, द्राक्षा, इन्द्रवारुणी, पिप्पली, बृहद् इन्द्रवारुणी (चित्रफला), मुलेठी, हरड़ और आँवले इनमें से प्रत्येक को एक-एक कर्ष भर लेकर खाण्ड कूटकर पानी के साथ पीसकर कल्क बना लेवें। फिर इस कल्क में घृत १ आढक (४ प्रस्थ= २५६ तोले), दुग्ध १ द्रोण (४ आढक=१०२४ तोले) तथा पानी १ द्रोण मिलाकर घृतमात्र शेष रहने तक पकाकर स्वाङ्गशीत होने पर कपड़े से छानकर इसमें शर्करा १ प्रस्थ (६४ तो०) तथा वंशलोचन का महीन चूर्ण १ प्रस्थ मिश्रित कर अच्छी प्रकार आलोड़ित करके काचपात्र या मृतबाण में भर देवें। फिर दोषों के अनुसार तथा अपने अग्निबल के अनुसार उचित मात्रा (६ माशे से २ तोले भर तक) से योग्य समय (प्रातःकाल) में पान करे। जो व्यक्ति, वात से दूषित वीर्यवाला, कफ से दूषित वीर्यवाला, पित्त से दूषित वीर्यवाला, रक्त से दूषित वीर्यवाला एवं ग्रन्थियुक्त वीर्यवाला हो वह अपनी अरोगता के लिये इस घृत का दो-चार मास पर्यन्त सेवन करे। यह घृत जीवन के लिये हितकारी होने से जीवनीय, सम्भोगशक्ति को बढ़ाने से वृष्य तथा बलदायक माना गया है। यह घृत धारणाशक्ति (प्रज्ञा) को बढ़ानेवाला, धन्य तथा सर्वरोगों का नाशक और शिव (शान्ति) कारक है। इस घृत को सेवन करने वाली स्त्री शीघ्र ही गर्भ धारण करती है तथा इसे सेवन करनेवाली स्त्री असृग्दोष (रक्तदोष) तथा बीस प्रकार के योनिदोषों से मुक्त हो जाती है। सर्व प्रकार के मूत्र के दोषों (रोगों) में इस घृत के द्वारा चिकित्सा करनी चाहिए ॥६९-७२॥

विमर्शः—मूत्राघाते पथ्यानि—अभ्यञ्जनस्नेहविरेकवस्तिस्वेदावगाहोत्तरवस्तयश्च । पुरातना लोहितशालयश्च मांसानि धन्वप्रभवाणि मद्यम्॥ तक्रं पयो दध्यपि माषयूषः पुराणकूष्माण्डफलं पटोलम्। महार्द्रकंतालफलास्थिमज्जा हरीतकी कोमलनारिकेलम् । गुवाकखर्जूरकनारिकेलतालद्रुमाणामपि मस्तकानि। यथामलं सर्वमिदञ्च मूत्राघातातुराणां हितमामनन्ति ॥ मूत्राघातेऽपथ्यानि—विरुद्धानि च सर्वाणि व्यायामं मार्गशीतलम् । रूक्षं विदाहि विष्टम्भि व्यवायं वेगधारणम् । करीरं वामनञ्चापि मूत्राघाती विवर्जयेत् ॥

इति श्रीसुश्रुतसंहितायां भाषाटीकायामुत्तरतन्त्रे मूत्राघातप्रतिषेधो नामाष्टपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५८ ॥

ऊनषष्टितमोऽध्यायः

अथातो मूत्रकृच्छ्रप्रतिषेधमध्यायं व्याख्यास्यामः ॥१॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥ २ ॥

अब इसके अनन्तर मूत्रकृच्छ्रप्रतिषेध नामक अध्याय का व्याख्यान प्रारम्भ किया जाता है जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने कहा है ॥ १-२ ॥

विमर्शः—प्रायः बस्तिगत रोग की समता की दृष्टि से मूत्राघात के अनन्तर मूत्रकृच्छ्रप्रतिषेध-वर्णन उपयुक्त है। माधवकार ने हृदयरोग के अनन्तर मूत्रकृच्छ्र-रोग का वर्णन किया है, क्योंकि एक सौ सात मर्मों में शिर, हृदय और बस्ति ये तीन मर्म प्रधान होते हैं। अतएव हृदयरोगवर्णन के पश्चात् बस्तिगत मूत्रकृच्छ्र का वर्णन उपयुक्त है। सप्तोत्तरं मर्मशतं यदुक्तं शरीरसंख्यामधिकृत्य तेभ्यः। मर्माणि बस्तिं हृदयं शिरश्च प्रधानभूतानि वदन्ति तज्ज्ञाः॥ (च० चि० अ० २६) इस प्रकार चरकाचार्य ने भी चरक चिकित्सास्थान के २६ वें त्रिमर्मीयाध्याय में बस्ति, हृदय और शिर को प्रधानभूत मर्म मान कर तीनों के रोगों का एक साथ वर्णन किया है। मूत्रकृच्छ्रशब्दार्थः—मूत्रस्य कृच्छ्रेण महता दुःखेन प्रवृत्तिः, अर्थात् दुःखेन मूत्रप्रवृत्तिर्मूत्रकृच्छ्रम्। मूत्र की कष्टप्रद प्रवृत्ति को मूत्रकृच्छ्र (Painful micturition or dysurea) कहते हैं। यह बस्तिसम्बन्धी रोग है। इस अवस्था में बस्ति मूत्र से परिपूर्ण रहती है एवं रोगी को मूत्रत्याग करने की इच्छा भी होती है, किन्तु मूत्रमार्ग में किसी प्रकार का अवरोध होने से मूत्रत्याग कष्ट के साथ होता है। कुछ लोग 'मूत्रकृच्छ्रप्रतिषेधम्' इसके स्थान पर 'मूत्रोपघातप्रतिषेधम्' ऐसा पाठान्तर मानते हैं तथा उपघात शब्द का अर्थ कृच्छ्रता करते हैं। कुछ अन्य आचार्य 'मूत्रदोषप्रतिषेधम्' ऐसा पाठ लिखते हैं, जिसका भी वही अभिप्राय है। डल्हणाचार्य ने यहां पर एक शङ्का यह की है कि जब अश्मरी, मूत्राघात और उदावर्त आदि रोगों में मूत्रकृच्छ्र का उल्लेख आ ही जाता है, फिर उसका यहां किस लिये पिष्टपेषण किया जाता है? शङ्का सत्य है, किन्तु मूत्रकृच्छ्र रोग की चिकित्सा, लक्षण और कार्यभेद से तथा समान अन्यतन्त्रों में भी मूत्रकृच्छ्र-प्रकरण का पृथक् पाठ होने से यहां पुनः उल्लेख करना उचित ही है।

वातेन पित्तेन कफेन सर्वै-
स्तथाऽभिघातैः शकृदश्मरीभ्याम् ।
तथाऽपरः शर्करया सुक
मूत्रोपघातः कथितोऽष्टमस्तु ॥ ३ ॥

मूत्रकृच्छ्रभेदाः—वात से, पित्त से, कफ से, सन्निपात से, अभिघात से, शकृत् (विष्ठा-सञ्चयादिक) से, अश्मरी से और शर्करा से कष्टसाध्य मूत्रकृच्छ्र उत्पन्न होता है। इस तरह मूत्रकृच्छ्र के आठ भेद हैं ॥ ३ ॥

विमर्शः—कुछ आचार्य इस श्लोक के उत्तरार्ध को निम्न रूप से पढ़ते हैं—'शुक्रोद्भवं शर्करया च कष्टं मूत्रस्य कृच्छ्रं प्रवदन्ति तज्ज्ञाः' । (डल्हण) यहाँ पर जो मूत्रोपघात शब्द है उसका अर्थ मूत्रकृच्छ्र समझना चाहिए। कथितोऽष्टमस्तु—यद्यपि वातादिगणना से ही आठ का बोध हो जाता है पुनः

अष्टम शब्द लिखने से अनेक प्रकार के अश्मरीजन्य मूत्रकृच्छ्रों का एकत्व प्रकार से ही ग्रहण हो एतदर्थं अष्टम शब्द से स्पष्ट कहा गया है। चरकाचार्य ने मूत्रकृच्छ्र के हेतु, संख्या और सम्प्राप्ति का निम्नरूप से निरूपण किया है—व्यायामतीक्ष्णौषधरूक्षमद्यप्रसङ्गनित्यद्रुतपृष्ठयानात् । आनूपमत्स्याध्यशनादजीर्णात् स्युर्मूत्रकृच्छ्राणि नृणां तथाऽष्टौ ॥ पृथङ्मलाः स्वैः कुपिता निदानैः सर्वेऽथवा कोपमुपेत्य बस्तौ। मूत्रस्य मार्गं परिपीडयन्ति यदा तदा मूत्रयतीह कृच्छ्रात् ॥ (च० चि० अ० २६) मूत्राघात-मूत्रकृच्छ्रताभेद विचार—मूत्राघात सुश्रुताचार्य ने बारह माने हैं, जिनमें भी द्विविध मूत्रौकसाद माना है। किन्तु चरकाचार्य ने मूत्राघात तेरह प्रकार के माने हैं—'त्रयोदशैते मूत्रस्य दोषास्तांल्लिङ्गतः शृणु'। (च० सि० अ० ९) सुश्रुताचार्य ने मूत्रकृच्छ्र आठ प्रकार के माने हैं। चरकाचार्य ने भी मूत्रकृच्छ्र को मूत्राघात शब्द से लिख कर सूत्रस्थान में उसके आठ भेद लिखे हैं—'अष्टौ मूत्राघाता इति वातपित्तकफसन्निपाताश्मरीशर्कराशुक्रशोणितजाः' (च० सू० अ० १९) इनमें जहाँ सुश्रुत ने अभिघातज तथा शकृद्विघातज माने हैं तो चरकाचार्य ने शुक्ररोधज और शोणितजन्य मूत्रकृच्छ्र माना है। किन्तु संख्या की दृष्टि से दोनों ने ही अष्ट मूत्रकृच्छ्र ही माने हैं—'स्युर्मूत्रकृच्छ्राणि नृणामिहाष्टौ'। (च० चि० अ० २६) मूत्राघात रोग में मूत्र शोषित होता है अथवा मूत्र ज्यादा बनता नहीं है। मूत्रकृच्छ्र में मूत्र बनता बराबर है, किन्तु उसका वहन या निर्गमन मार्ग में अवरोध हो जाने से कृच्छ्रता से होता है। कुछ लोगों का मत है कि मूत्रकृच्छ्रविशेष ही मूत्राघात है तथा वातपित्तादि चतुर्विध मूत्रकृच्छ्रों में मूत्राघातों का अन्तर्भाव कर लेते हैं और मूत्राघात को कोई पृथक् विकार नहीं मानते हैं (च० चि० चक्रपाणि अ० २६ श्लो० ४४)। आधुनिक दृष्टि से मूत्रकृच्छ्र के कारणों को साधारणतया तीन भागों में विभक्त कर सकते हैं—(१) मूत्राशयगतकारण—इस श्रेणी में मूत्राशयगत अश्मरी, अर्बुद, तीव्र या जीर्ण मूत्राशयकलाशोथ (Actue or chronic cystitis), फिरङ्गी खञ्जता (Tabes Dorsalis), योषापस्मार (Hysteria), मूत्र की परमाम्लता (Hyper acidity of urine) तथा मूत्रकृमियों (Thread worms) का उपसर्ग ये कारण आ जाते हैं। (२) मूत्रप्रणालीगत कारण—शिश्नकलाशोथ (Urethritis), औपसर्गिकमेह (Gonorrhoea), शिश्नगत उपसंकोच (Urethral strictura) इन कारणों से भी मूत्रमार्ग में अवरोध हो जाता है। (३) अन्य कारण—पौरुषग्रन्थि (Prostate) की वृद्धि, तथा अर्श से भी मूत्रकृच्छ्र हो जाता है। मूत्राशय पर बुरा प्रभाव डालने वाले व्यायामों से मूत्रकृच्छ्र होता है। जिन तीक्ष्ण औषधों या खाद्य द्रव्यों का निर्हरण मूत्रमार्ग के द्वारा होता है वे सब मूत्रकृच्छ्र के कारण हैं। मूत्रमार्ग में जलन होने के कारण रोगी मूत्रत्याग नहीं करना चाहता। मद्य का गुण तीक्ष्ण है और उसका निर्हरण वृक्क के द्वारा भी होता है। निर्हरण काल में रोगी को मूत्रमार्ग में जलन और मूत्रकृच्छ्र होता है। सुश्रुताचार्य ने शर्कराजन्य मूत्रकृच्छ्र का पृथक् वर्णन किया है, किन्तु शर्करा अश्मरी का ही भेद है। अतः उसे पृथक् मानने की आवश्यकता नहीं, जैसा कि चरक ने लिखा है—'एषाश्मरी मारुतभिन्नमूर्तिः स्याच्छर्करा मूत्रपथात् क्षरन्ती,। (च० चि० अ० २६) माधवकार ने शर्कराजन्य मूत्रकृच्छ्र न मानकर शुक्रजन्य मूत्रकृच्छ्र माना है। अर्थात् अपने स्थान से च्युत हुआ शुक्र जब दोषों के प्रकोप से अवरुद्ध होकर मूत्रमार्ग में ठहर जाता है तब वह रोगी कष्ट से शुक्रसहित मूत्रत्याग करता है। शुक्रे दोषैरुपहते मूत्रमार्गे विधाविते। सशुक्रं मूत्रयेत् कृच्छ्रात् बस्तिमेहनशूलवान् ॥ चरकाचार्य ने भी शर्कराजन्य मूत्रकृच्छ्र न मानकर शुक्रजन्य मूत्रकृच्छ्र ही माना है रेतोऽभिघाताभिहतस्य पुंसः प्रवर्तते यस्य तु मूत्रकृच्छ्रम् । स्याद्वेदना वंक्षणबस्तिमेढ्रे तस्यातिशूलं वृषणातिवृत्ते ॥ शुक्रेण संरुद्धगतिप्रवाहो मूत्रं स कृच्छ्रेण विमुञ्चतीह। तमण्डयोः स्तब्धमिति ब्रुवन्ति रेतोऽभिघातात् प्रवदन्ति कृच्छ्रम् ॥शुक्रं मलाश्चैव पृथक् पृथग्वा मूत्राशयस्थाः प्रतिवारयन्ति। तद्व्याहतं मेहनबस्तिशूलं मूत्रं सशुक्रं कुरुते विबद्धम् ॥ स्तब्धश्च शूनो भृशवेदनश्च तुद्येत बस्तिर्वृषणौ च तस्य। (च० चि० अ० २६)

अल्पमल्पं समुत्पीड्य मुष्कमेहनबस्तिभिः ।
फलद्भिरिव कृच्छ्रेण वाताघातेन मेहति ॥ ४ ॥

वातजमूत्रकृच्छ्रलक्षणम्—वातजन्य मूत्रकृच्छ्र के कारण रुग्ण मुष्क (अण्ड तथा अण्डकोष), मेहन (मूत्रेन्द्रिय) तथा बस्ति (मूत्राशय) को दबा-दबाकर थोड़ा-थोड़ा तथा फटने के समान वेदना के सहित मूत्रत्याग करता है। ऐसे रोग को वातज मूत्रकृच्छ्र कहते हैं ॥ ४ ॥

विमर्शः—चरकाचार्य ने भी वातजमूत्रकृच्छ्र के लक्षणों में वंक्षण, बस्ति तथा मूत्रेन्द्रिय में भयङ्कर पीड़ा तथा बार-बार थोड़ा-थोड़ा मूत्रत्याग करना ये ही लक्षण लिखे हैं—तीव्रा रुजो वंक्षणबस्तिमेढ्रे स्वल्पं मुहुर्मूत्रयतीह वातात्। (च० चि० अ० २६) इसमें पीड़ा की विशेषता होने से इसे वातिक मूत्रकृच्छ्र (Nervous dysurea) कहा है।

हारिद्रमुष्णं रक्तं वा मुष्कमेहनबस्तिभिः ।
अग्निना दह्यमानाभैः पित्ताघातेन मेहति ॥ ५ ॥

पित्तजमूत्रकृच्छ्रलक्षणम्—पित्तजन्यमूत्रकृच्छ्र के कारण मुष्क (अण्ड), मूत्रेन्द्रिय और बस्ति ये अग्नि के द्वारा जैसे जलाये जा रहे हैं ऐसे प्रतीत होते हुए उनसे हरिद्रा के समान पीतवर्ण, उष्ण और रक्तवर्ण का (थोड़ा-थोड़ा) मूत्रत्याग होता है। इसे पैत्तिक मूत्रकृच्छ्र कहते हैं ॥ ५ ॥

विमर्शः—मूत्र का हारिद्रवर्ण तथा रक्तवर्णता ये दोनों लक्षण पित्त के न्यूनाधिक्य से होते हैं। चरकाचार्य ने पैत्तिक मूत्रकृच्छ्र के लक्षणों में इन लक्षणों के साथ वेदना, कृच्छ्रता और बार-बार मूत्रत्याग लक्षण लिखा है, जो कि मूत्रकृच्छ्र रोग की स्वाभाविकता का प्रदर्शक है—'पीतं सरक्तं सरुजं सदाहं कृच्छ्रान्मुहुर्मूत्रयतीह पित्तात्'। इस प्रकार के लक्षण औपसर्गिक मेह (Gonorrohoea) तथा मूत्राशयकलाशोथ या शिश्नकला के तीव्रशोथ (Acute cystitis or Acute urethritis) में मिलते हैं।

स्निग्धं शुक्लमनुष्णञ्च मुष्कमेहनबस्तिभिः ।
संहृष्टरोमा गुरुभिः श्लेष्माघातेन मेहति ॥ ६ ॥

कफजमूत्रकृच्छ्रलक्षणम्—कफजन्य मूत्रकृच्छ्र के कारण मुष्क, मूत्रेन्द्रिय और बस्ति में भारीपन की प्रतीति के साथ उनसे चिकना, श्वेत और कुछ गरम या शीत (अनुष्ण) मूत्रत्याग होता है तथा रोगी की देह में रोमाञ्च भी होता है। इसे कफजन्य मूत्रकृच्छ्र कहते हैं ॥ ६ ॥

विमर्शः—चरकाचार्य ने बस्ति तथा मूत्रेन्द्रिय में भारीपन के अतिरिक्त शोथ होना तथा मूत्र का पिच्छिल होना लिखा है—बस्तेः सलिङ्गस्य गुरुत्वशोथौ मूत्रं सपिच्छं कफमूत्रकृच्छ्रे। (च० चि० अ० २६) आधुनिक दृष्टि से इस प्रकार के लक्षण अनुतीव्र मूत्राशय कलाशोथ (Sub acute cystitis) तथा अनुतीव्र शिश्नकलाशोथ (Sub acute urethritis) में मिलते हैं।

दाहशीतरुजाविष्टो नानावर्णं मुहुर्मुहुः।
ताम्यमानस्तु कृच्छ्रेण सन्निपातेन मेहति ॥ ७ ॥

सान्निपातिकमूत्रकृच्छ्रलक्षणम्—सन्निपातजन्य मूत्रकृच्छ्र के कारण रुग्ण सर्वाङ्ग तथा विशेषकर मूत्रसंस्थान (वृक्क, गवीनियाँ, बस्ति, मुष्क और जननेन्द्रिय, योनि, गर्भाशय और डिम्बाशय में तथा मूत्र) में दाह, शीत और वेदना के सहित एवं रुग्ण अन्धकार में प्रविष्ट होता हुआ होकर बार-बार एवं अधिक कठिनाई से पीत, रक्त और शुक्लवर्ण मूत्र का त्याग करता है उसे सान्निपातिक मूत्रकृच्छ्र कहते हैं ॥ ७ ॥

विमर्शः—चरकाचार्य ने सन्निपातजन्य मूत्रकृच्छ्र के सर्व लक्षणों का अत्यधिक मात्रा में रहना लिखा है—'सर्वाणि रूपाणि तु सन्निपाताद्भवन्ति तत्कृच्छ्रतमं हि कृच्छ्रम्'। (च० चि० अ० २६)

मूत्रवाहिषु शल्येन क्षतेष्वभिहतेषु च।
स्रोतःसु मूत्राघातस्तु जायते भृशवेदनः॥
वातबस्तेस्तु तुल्यानि तस्य लिङ्गानि लक्षयेत्॥ ८ ॥

अभिघातजमूत्रकृच्छ्रलक्षणम्—मूत्रवाहक स्रोतसों के आभ्यन्तरिक या बाह्यशल्य के द्वारा क्षतयुक्त हो जाने पर अथवा आघात (चोट) लग जाने पर अत्यधिक वेदनायुक्त मूत्रकृच्छ्र रोग उत्पन्न होता है। इसमें पूर्वोक्त वातबस्ति के समान लक्षण उत्पन्न होते हैं ॥ ८ ॥

विमर्शः—यद्यपि लक्षणसाम्य से इसका ग्रहण भी वातिक मूत्रकृच्छ्र से ही हो जाता है, तथापि शल्यनिर्हरणरूप चिकित्सावैशिष्ट्य के कारण इसका पृथक् पाठ किया है। (१) मन और शरीर को पीड़ा पहुँचाने वाली वस्तु शल्य कहलाती है—'मनःशरीराबाधकराणि शल्यानि'। (२) मलज शल्य और दोषज शल्य ऐसे शल्य के दो भेद कर दिये हैं तथा स्थावर (खनिज तथा कन्दमूलादिक विष) और सर्प-बिच्छू आदि जङ्गम प्राणियों के द्वारा शरीर में जो कुछ भी कष्ट मल को दूषित करके या दोष को दूषित करके उत्पन्न होता हो उसे शल्य कहते हैं—अतिप्रवृद्धं मलदोषजं वा शरीरिणां स्थावरजङ्गमानाम्। यत्किञ्चिदाबाधकरं शरीरे तत्सर्वमेव प्रवदन्ति शल्यम्॥ (३) अनेक प्रकार के तृण, काष्ठ, पाषाण आदि तथा अन्तर्मृत गर्भरूपी शल्य को निकालने के लिये एवं यन्त्र, शस्त्र, क्षार और अग्नि के उपयोग की विधियों का वर्णन तथा व्रण का विनिश्चय (निदान = Diagnosis) जिसमें किया गया हो उसे शल्यशास्त्र कहते हैं—तत्र 'शल्यं नाम विविधतृणकाष्ठपाषाणपांशुलोहलोष्टास्थिबालनखपूयास्राव-दुष्टव्रणान्तर्गर्भशल्योद्धरणार्थं, यन्त्रशस्त्रक्षाराग्निप्रणिधानव्रणविनि-श्चयार्थंञ्च'। (सु० सू० अ० १) आधुनिक विज्ञान में इसे सर्जरी (Surgery) कहते हैं।

शकृतस्तु प्रतीघाताद्वायुर्विगुणतां गतः।
आध्मानञ्च सशूलञ्च मूत्रसङ्गं करोति हि ॥ ९ ॥

शकृद्विघातजमूत्रकृच्छ्रलक्षणम्—विष्ठा के उत्पन्न हुए वेग को रोकने से अपानवायु विलोम होकर उदर में आध्मान, वातिक शूल तथा मूत्रावरोध उत्पन्न कर देता है ॥ ९ ॥

अश्मरीहेतुकः पूर्वं मूत्राघात उदाहृतः॥ १० ॥

अश्मरीजन्यमूत्रकृच्छ्रलक्षणम्—पूर्व में निदानस्थान में अश्मरी के कारण उत्पन्न होने वाले मूत्रकृच्छ्र का वर्णन कर दिया गया है ॥ १० ॥

विमर्शः—अश्मरी जब मूत्रमार्ग में जाकर शिरा, धमनी, वातवाहिनी या उस अङ्ग के मांसादिक में अटक जाती है तब मूत्रकृच्छ्र उत्पन्न होता है—मूत्रमार्गप्रवृत्ता सा सक्ता कुर्यादुपद्रवान्। दौर्बल्यं सदनं कार्श्यं कुक्षिशूलमरोचकम्। पाण्डुत्वमुष्णवातञ्च तृष्णां हृत्पीडनं वमिः॥ (सु० नि० अ० ३) चरकाचार्य ने भी अश्मरी के द्वारा मूत्रमार्ग का अवरोध होने पर मूत्र की कृच्छ्रता, बस्ति और मूत्रेन्द्रिय में शूल, विशीर्ण धार के रूप में मूत्र का होना, भयङ्कर वेदना के कारण मूत्रेन्द्रिय को हाथ में पकड़कर मसलना तथा अत्यधिक वेदनाजन्य क्षोभ से क्षत हो जाने पर सरक्त मूत्र का त्याग करना आदि लक्षण लिखे हैं—मूत्रस्य चेन्मार्गमुपैति रुद्ध्वा मूत्रं रुजं तस्य करोति बस्तौ। ससेवनीमेहनबस्तिशूलं विशीर्णधारञ्च करोति मूत्रम्। मृद्नाति मेढ्रं स तु वेदनार्तो मुहुः शकृन्मुञ्चति मेहते च। क्षोभात् क्षते मूत्रयतीह सासृक् तस्याः सुखं मेहति च व्यपायात्॥ (च० चि० अ० २६)

अश्मरी शर्करा चैव तुल्ये सम्भवलक्षणैः।
शर्करायां विशेषन्तु शृणु कीर्त्तयतो मम ॥ ११ ॥

अश्मरीशर्कराजन्यमूत्रकृच्छ्रभेदः—अश्मरी तथा शर्करा एवं अश्मरीजन्य मूत्रकृच्छ्र तथा शर्कराजन्य मूत्रकृच्छ्र ये उत्पत्ति-लक्षणों की दृष्टि से समान ही हैं। फिर भी शर्करा या शर्कराजन्य मूत्रकृच्छ्र में जो विशेषता है उसका वर्णन किया जाता है, सुनो ॥ ११ ॥

पच्यमानस्य पित्तेन भिद्यमानस्य वायुना।
श्लेष्मणोऽवयवा भिन्नाः शर्करा इति संज्ञिताः ॥१२॥

शर्करासम्प्राप्ति—पित्त के द्वारा पक्व होकर फिर वायु के द्वारा छोटे-छोटे भेद (टुकड़ों के रूप) को प्राप्त हुए कफ के विभिन्न अवयव ही शर्करा कहे जाते हैं ॥ १२ ॥

विमर्शः—अर्थात् कफजन्य अश्मरी प्रथम पित्त से पाचित होती है और फिर वायु के द्वारा शोषित होने से कफ का संधान टूट जाने पर छोटे टुकड़ों का रूप धारण कर मूत्रमार्ग से बाहर निकलती है, इसे शर्करा कहते हैं। माधवकर ने सुश्रुत के मूल श्लोक में ऐसा परिवर्तन कर दिया है—पच्यमानाऽश्मरी पित्ताच्छोष्यमाणा च वायुना। विमुक्तकफसन्धाना क्षरन्ती शर्करा मता॥ वास्तव में संश्लेषण कार्य श्लेष्मा का ही है। उसके क्षीण होने से संश्लेष नष्ट हो जाता है और इसीलिये अश्मरी भिन्न हो जाती है। इस तरह प्राचीन विद्वानों ने अश्मरी को शर्करा का कारण माना है, जैसा कि चरकाचार्य ने भी लिखा है—'पश्चाऽश्मरीमारुतभिन्नमूर्तिः स्याच्छर्करा मूत्रपथात् क्षरन्ती'। (च० चि० अ० २६) किन्तु आज के विज्ञान

के मत से शर्करा (Gravels) के समूह से ही अश्मरी का निर्माण होना प्रमाणित होता है।

हृत्पीडा वेपथुः शूलं कुक्षौ वह्निः सुदुर्बलः ।
ताभिर्भवति मूर्च्छा च मूत्राघातश्च दारुणः ॥ १३ ॥

शर्करालक्षणानि—शर्करा के कारण हृदय में पीड़ा, हस्त-पादादि अङ्गों में कम्पन, कुक्षि तथा बस्तिप्रदेश में शूल, पाचकाग्नि की दुर्बलता, मूर्च्छा और दारुण (भयङ्कर कष्टदायक) मूत्राघात (मूत्रकृच्छ्र) होता है ॥ १३ ॥

मूत्रवेगनिरस्तासु तासु शाम्यति वेदना।
यावदन्या पुनर्नैति गुडिका स्रोतसो मुखम् ॥ १४ ॥

वेदनाशमनकालः—मूत्र के वेग के साथ शर्करा के निकल आने पर तब तक वेदना शान्त हो जाती है जब तक कि अन्य शर्करा (गुडिका) मूत्रवह स्रोतस के मुख को फिर से अवरुद्ध नहीं करती ॥ १४ ॥

शर्करासम्भवस्यैतन्मूत्राघातस्य लक्षणम् ।
चिकित्सितमथैतेषामष्टानामपि वक्ष्यते ॥ १५ ॥

शर्कराजन्यमूत्रकृच्छ्रोपसंहारः—इस प्रकार शर्करा के द्वारा उत्पन्न हुए कृच्छ्र रोग की उत्पत्ति का वर्णन किया है। अब इसके आगे इन अष्टविध मूत्रकृच्छ्र रोगों की चिकित्सा का वर्णन प्रारम्भ किया जाता है ॥ १५ ॥

अश्मरीश्च समाश्रित्य यदुक्तं प्रसमीक्ष्य तत् ।
यथादोषं प्रयुञ्जीत स्नेहादिमपि च क्रमम् ॥ १६ ॥

मूत्रकृच्छ्रे अश्मरीचिकित्साविधिः—अश्मरी रोग की दृष्टि से जो पूर्व में वातादिदोष भेद से चिकित्सा तथा स्नेहादि विधान बतलाया है वही सब क्रम मूत्रकृच्छ्र रोग में भी दोषानुसार करे तथा चकारात् पूर्वोक्त मूत्राघात चिकित्सा भी मूत्रकृच्छ्र में करे ॥ १६ ॥

विमर्शः—अश्मरीचिकित्सास्मृतिः—तस्य पूर्वेषु रूपेषु स्नेहादि-क्रम इष्यते । यथा वाताश्मर्याम्—पाषाणभेदो वसुको वशिराश्मन्तकौ तथा । शतावरी श्वदंष्ट्रा च बृहती कण्टकारिका ॥ कपकादिप्रतीवाप-मेषां कार्यं घृतं कृतम् । भिनत्ति वातसम्भूतामश्मरीं क्षिप्रमेव तु ॥ क्षारान् यवागूर्यूषांश्च कषायाणि पयांसि च । भोजनानि च कुर्वीत वर्गेऽस्मिन् वातनाशने ॥ एवं पित्ताश्मर्याम्—कुशः काशः शरो गुन्द्रा इत्कटो मोरटोऽश्मभित् । वरी विदारी वाराही शालिमूलत्रिकण्टकम् ॥ एवमेव कफाश्मर्याम्—गणो वरुणकादिस्तु गुग्गुल्वेला हरेणवः । कुष्ठभद्रादिमरिचचित्रकैः ससुराह्वयैः ॥ एतैः सिद्धमजासर्पिरूष-कादिगणेन च । भिनत्ति कफसम्भूतामश्मरीं क्षिप्रमेव तु ॥

श्वदंष्ट्राऽश्मभिदौ कुम्भीं हपुषां कण्टकारिकाम् ।
बलां शतावरीं रास्नां वरुणं गिरिकर्णिकाम् ॥१७॥
तथा विदारिगन्धादिं संहृत्य त्रैवृतं पचेत् ।
तैलं घृतं वा तत्पेयं तेन वाऽप्यनुवासनम् ॥
दद्यादुत्तरबस्तिञ्च वातकृच्छ्रोपशान्तये ॥ १८ ॥

वातमूत्रकृच्छ्रे त्रैवृतं तैलं घृतञ्च—गोखरू, पाषाणभेद, जल कुम्भी, हाऊबेर, कण्टकारी, बला, शतावर, रास्ना, वरुण की छाल, अपराजिता, विदारीगन्धादिगण की औषधियाँ इन सबको समान प्रमाण में एकत्रित कर ४ पल (१६ तोले) भर लेके खाण्ड कूटकर पत्थर पर जल के साथ पीस के कल्क बना लेवें। फिर इस कल्क से चतुर्गुण (१ प्रस्थ = ६४ तोले) त्रैवृत तैल अर्थात् घृत, वसा और मज्जा इन तीनों से समानप्रमाण में मिश्रित तिल तैल अथवा तैल वसा और मज्जा इन तीनों से समान प्रमाण में मिश्रित घृत एवं तैल या घृत से चतुर्गुण (४ प्रस्थ = २५६ तोले) पानी मिलाकर स्नेहावशेष पाक करके स्वाङ्गशीत होने पर छानकर शीशी में भर देवें। इस तैल या घृत को ६ माशे से बढ़ाकर २ तोले तक प्रमाण में मन्दोष्ण जल या दुग्ध में मिला के वातजन्य मूत्रकृच्छ्र की शान्ति के लिए पीने, अनु-वासन बस्ति देने तथा उत्तर बस्ति के लिए प्रयुक्त करना चाहिए ॥ १७–१८ ॥

विमर्शः—विदारिगन्धादिगणः—तद्यथा, विदारिगन्धा, (शालपर्णी) विदारी, विश्वदेवा, सहदेवा, श्वदंष्ट्रा, पृथक्पर्णी, शतावरी, सारिवा, कृष्णसारिवा, जीवकर्षभकौ, महासहा, बृहती, पुनर्नवैरण्डौ, हंसपादी, वृश्चिकाल्यृषभी चेति । विदारिगन्धादिरयं गणः पित्तानिलापहः । शोषगुल्माङ्गमर्दोर्ध्व-श्वासकासविनाशनः ॥(सु० सू० अ० ३८) त्रैवृतं तैलं घृतं वा—अत्र त्रिभिर्घृतवसामज्जभिर्वृतं तैलं, तैलवसामज्जभिर्वृतं घृतं वा त्रैवृतम् । तैल और घृत दोनों का पृथक् पृथक् पाक करके रखें। जिसको जो सात्म्य हो उसका प्रयोग करावें । अथवा वातप्रधान तथा कफप्रधान मूत्रकृच्छ्र में तैल और पित्त-प्रधान मूत्रकृच्छ्र में घृत का उपयोग करना चाहिए। पान कराने से घृत या तैल रक्त के साथ सारे शरीर में फैल कर दोषों का प्रशमन करेंगे तथा अनुवासन बस्ति देने से मलाशय और बृहदन्त्र की रूक्षता आदि को नष्ट कर वातादि दोषों की शान्ति तथा मूत्रेन्द्रिय में उत्तर बस्ति देने से मूत्रनलिका और बस्तिगत दोषों का विनाश होकर मूत्रकृच्छ्र रोगनाशन में सहायता होगी। अतः पान, अनुवासन बस्ति और उत्तर बस्ति तीन विधियों से इस तैल या घृत को प्रयुक्त करें।

श्वदंष्ट्रास्वरसे तैलं सगुडक्षीरनागरम् ।
पक्त्वा तत्पूर्ववद्योज्यं तत्रानिलरुजापहम् ॥ १९ ॥

वातजमूत्रकृच्छ्रे श्वदंष्ट्रातैलम्—गोखरू के स्वरस अथवा क्वाथ को ४ प्रस्थ लेकर उसमें १ प्रस्थ तैल डाल के पका कर तैलावशेष करके छान कर शीशी में भर दें। इस तैल को ६ माशे से २ तोले भर तक प्रमाण में ले के १ तोले गुड़, १० तोले दुग्ध और १ माशे शुण्ठी चूर्ण में मिलाकर पान, अनुवासन और उत्तरबस्ति की विधि से वातजन्य मूत्रकृच्छ्र रोग में प्रयुक्त करें। अथवा गोखरू के क्वाथ में तैल डालकर गुड़, दुग्ध और सोंठ इन तीनों को भी उचित प्रमाण में मिलाकर तैल सिद्ध करना चाहिए ॥ १९ ॥

विमर्शः—चरके वातजमूत्रकृच्छ्रचिकित्सा—(१) अभ्यञ्जन-स्नेहनिरूहबस्तिस्नेहोपनाहोत्तरबस्तिसेकान् । स्थिरादिभिर्वातहरैश्च सिद्धान् दद्याद्रसांश्चानिलमूत्रकृच्छ्रे ॥ (२) पुनर्नवैरण्डशतावरीभिः पत्तूरवृश्चीरबलाश्मभिद्भिः । द्विपञ्चमूलेन कुलत्थकोलयवैश्च तोयो-त्क्वथिते कषाये ॥ तैलं वराहर्क्षवसाघृतञ्च तैरेव कल्कैर्लवणैश्च साध्यम् ।

तन्मात्रयाऽऽशु प्रतिहन्ति पीतं शूलान्वितं मारुतमूत्रकृच्छ्रम् ॥ एतानि चान्यानि वरौषधानि पिष्टानि शस्तान्यपि चोपनाहे। स्युर्लोभनस्तैलफलानि चैव स्नेहाम्लयुक्तानि सुखोष्णवन्ति ॥ (च० चि० अ० २६)

तृणोत्पलादिकाकोलीन्यग्रोधादिगणैः कृतम्।
पीतं घृतं पित्तकृच्छ्रं नाशयेत् क्षीरमेव वा ॥ २० ॥

पित्तजमूत्रकृच्छ्रचिकित्सा—कुश-काशादि पञ्चतृण, उत्पलादिगण, काकोल्यादिगण और न्यग्रोधादिगण की औषधियों के कल्क से सिद्ध किया हुआ घृत अथवा दुग्ध पीने से पित्तजन्य मूत्रकृच्छ्र नष्ट होता है ॥ २० ॥

विमर्शः— (१) पञ्चतृणम्—कुशः काशः सरो दर्भ इक्षुश्चेति तृणोद्भवम्। पञ्चतृणमिदं ख्यातं तृणजं पञ्चमूलकम् ॥ (२) उत्पलादिगणः—उत्पलरक्तोत्पलकुमुदसौगन्धिककुवलयपुण्डरीकाणि मधुकश्चेति—उत्पलादिरयं दाहपित्तरक्तविनाशनः। पिपासाविषहृद्रोगच्छर्दिमूर्च्छाहरो गणः ॥ (३) काकोल्यादिगणः—काकोलीक्षीरकाकोलीजीवकर्षभकमुद्गपर्णीमाषपर्णीमेदामहामेदाछिन्नरुहाकर्कटकशृङ्गीतुगाक्षीरीपद्मकप्रपौण्डरीकर्धिवृद्धिमृद्वीकाजीवन्त्यो मधुकश्चेति। काकोल्यादिरयं पित्तशोणितानिलनाशनः। जीवनो बृंहणो वृष्यः स्तन्यश्लेष्मकरस्तथा ॥ (४) न्यग्रोधादिगणः—न्यग्रोधोदुम्बराश्वत्थप्लक्षमधुकपीतनककुभाम्रकोशाम्रचोरकपत्रजम्बूद्वयप्रियालमधूकरोहिणीवञ्जुलकदम्बबदरीतिन्दुकीसल्लकीरोध्रसावररोध्रभल्लातकपलाशा नन्दीवृक्षश्चेति। न्यग्रोधादिर्गणो व्रण्यः संग्राही भग्नसाधकः। रक्तपित्तहरो दाहमेदोघ्नो योनिदोषहृत् ॥ घृतपाक में उक्त समस्त गण की औषधियों का समभाग मिलित कल्क ४ पल (१६ तो०), घृत १ प्रस्थ (१६ पल = ६४ तो०), पानी ६४ पल (२५६ तोला), घृतावशेष पाक। दुग्धपाक में उक्त समस्त गण की औषधियों का कल्क ४ तोला, दुग्ध ३२ तोला तथा दुग्ध से पानी चतुर्गुण (१२८ तोला) ले के दुग्धावशेष पाक कर लें—द्रव्यादष्टगुणं क्षीरं क्षीरात्तोयं चतुर्गुणम्। क्षीरावशेषः कर्तव्यः क्षीरपाके त्वयं विधिः ॥

दद्यादुत्तरबस्तिञ्च पित्तकृच्छ्रोपशान्तये ॥ २१ ॥

पित्तजमूत्रकृच्छ्र उत्तरबस्तिः—पित्त के प्रकोप से उत्पन्न हुए मूत्रकृच्छ्र की शान्ति के लिये उक्त तृणपञ्चमूलादि, उत्पलादि, काकोल्यादि और न्यग्रोधादि गण की औषधियों के कल्क से सिद्ध किये हुए तैल या घृत के द्वारा उत्तरबस्ति देनी चाहिए ॥ २१ ॥

विमर्शः—पित्त के संशमन के लिये घृत की बस्ति उत्तम रहती है। यद्यपि वक्ष्यमाण श्लोक (एभिरेव कृतः स्नेहः) में तीनों बस्तियों का विधान होने से उत्तरबस्ति का स्वयं ग्रहण हो जाता है पुनः उसका ग्रहण क्यों किया गया। इसका उत्तर यह है कि पित्तजन्य मूत्रकृच्छ्र में उत्तरबस्ति अत्यधिक हितकारक होती है। यह ज्ञापन करने के लिए उसका द्विवार ग्रहण किया गया है।

एभिरेव कृतः स्नेहस्त्रिविधेष्वपि बस्तिषु।
हितं विरेचनं चेक्षुक्षीरद्राक्षारसैर्युतम् ॥ २२ ॥

पित्तकृच्छ्रे त्रिविधबस्तिः—निरूहण, अनुवासन और उत्तर इन तीनों प्रकार की बस्तियों में उक्त तृणपञ्चक, उत्पलादिगण, काकोल्यादिगण, और न्यग्रोधादिगण की औषधियों के कल्क से सिद्ध किया हुआ घृत अथवा तैल यथादोष तथा अवस्थानुसार प्रयुक्त करना चाहिए। बस्ति के पश्चात् सांठे का रस, दुग्ध और द्राक्षा के रस के साथ कोई भी विरेचक औषधचूर्ण जैसे आरग्वधचूर्ण, निशोथचूर्ण या मुलेठीचूर्ण कोई भी एक मात्रा ३ मासे से ६ मासे प्रमाण में सेवन कराना हितकारक होता है ॥ २२ ॥

विमर्शः—चरके पित्तजमूत्रकृच्छ्रचिकित्सा—सेकावगाहाः शिशिराः प्रदेहा ग्रैष्मो विधिर्बस्तिपयोविरेकाः। द्राक्षाविदारीक्षुरसैर्घृतैश्च कृच्छ्रेषु पित्तप्रभवेषु कार्याः ॥ शतावरीकाशकुशश्वदंष्ट्राविदारिशालीक्षुकशेरुकाणाम्। क्वाथं सुशीतं मधुशर्कराभ्यां युक्तं पिबेत् पैत्तिकमूत्रकृच्छ्री। पिबेत् कषायं कमलोत्पलानां शृङ्गाटकाणामथवा विदार्याः। दण्डैरकाणामथवापि मूलं पूर्वेण कल्केन तथाम्बुशीतम् ॥ एर्वारुबीजं त्रपुषात् कुसुम्भात् सकुङ्कुमः स्याद् वृषकश्च पेयः। द्राक्षारसेनाश्मरिशर्करासु सर्वेषु कृच्छ्रेषु प्रशस्त एषः। एर्वारुबीजं मधुकं सदारु पैत्ते पिबेत्तण्डुलधावनेन। दार्वीं तथैवामलकीरसेन समाक्षिकां पित्तकृते तु कृच्छ्रे ॥ (च० चि० अ० २६)

सुरसोषकमुस्तादौ वरुणादौ च यत् कृतम्।
तैलं तथा यवाग्वादि कफाघाते प्रशस्यते ॥ २३ ॥

कफजमूत्रकृच्छ्रचिकित्सा—सुरसादिगण, ऊषकादिगण, मुस्तादिगण तथा वरुणादिगण की औषधियों के कल्क के साथ में यथाविधि सिद्ध किये हुये तैल और यवाग्वादि कफजन्य मूत्रकृच्छ्र में प्रशस्त माने जाते हैं ॥ २३ ॥

विमर्शः—चरके कफजमूत्रकृच्छ्रचिकित्सा—क्षारोष्णतीक्ष्णौषधमन्नपानं स्वेदो यवान्नं वमनं निरूहाः। तक्रं सतिक्तौषधसिद्धतैलमभ्यङ्गपानं कफमूत्रकृच्छ्रे। व्योषं श्वदंष्ट्रात्रुटिसारसास्थि कोलप्रमाणं मधुमूत्रयुक्तम्। पिबेत् त्रुटिं क्षौद्रयुतां कदल्या रसेन कैडर्यरसेन वापि ॥ तक्रेण युक्तं शितिवारकस्य बीजं पिबेत् कृच्छ्रविनाशहेतोः। पिबेत्तथा तण्डुलधावनेन प्रवालचूर्णं कफमूत्रकृच्छ्रे। सप्तच्छदारग्वधकेबुकैला, धवं करञ्जं कुटजं गुडूचीम्। पक्त्वा जले तेन पिबेद्यवागूं सिद्धं कषायं मधुसंयुतं वा ॥ (च० चि० अ० २६)

यथादोषोच्छ्रयं कुर्यादेतानेव च सर्वजे ॥ २४ ॥

सान्निपातिकमूत्रकृच्छ्रचिकित्सा—वातादि तीनों दोषों के प्रकोप से उत्पन्न हुये मूत्रकृच्छ्र में जिस दोष की अधिकता हो उसका विचार करके पूर्वोक्त वात, पित्त तथा कफ से उत्पन्न हुये मूत्रकृच्छ्र को नष्ट करने के लिए जो योग लिखे गये हैं उन्हीं में से एक, दो या तीनों दोषहर योगों को मिश्रित कर प्रयुक्त करने से सन्निपातजन्य मूत्रकृच्छ्र नष्ट हो जाता है ॥ २४ ॥

फल्गुवृश्चीरदर्भाश्मसारचूर्णञ्च वारिणा।
सुरेक्षुरसदर्भाम्बुपीतं कृच्छ्ररुजापहम् ॥ २५ ॥

सन्निपातजमूत्रकृच्छ्रे फल्ग्वादियोगः—काकोदुम्बर (फल्गु), श्वेतपुनर्नवा (वृश्चीर) की जड़, दर्भ, शुद्ध शिलाजतु, इन्हें समान प्रमाण में लेकर खाण्ड कूट के महीन चूर्ण कर शीशी में भर देवें। फिर इस चूर्ण को ३ मासे से ६ मासे प्रमाण में लेकर पानी से, सुरा से, ऊख के स्वरस से अथवा दाभ के पानी के साथ पीने से सान्निपातिक मूत्रकृच्छ्र नष्ट हो जाता है ॥

विमर्शः—चरके सान्निपातिकमूत्रकृच्छ्रचिकित्सा—सर्वं त्रिदोषप्रभवे तु वायोः स्थानानुपूर्व्या प्रसमीक्ष्य कार्यम्। त्रिभ्योऽधिके

प्राग्वमनं कफे स्यात् पित्ते विरेकः पवने तु बस्तिः ॥ अर्थात् सान्निपातिक ज्वर में कफस्थानानुपूर्वी जैसे चिकित्सा की जाती है वैसे यहाँ नहीं की जाती, किन्तु यहाँ तीनों दोष समान प्रमाण में कुपित हों तो नाभि से नीचे वायु का स्थान होने से प्रथम वायु को जीतने के लिए ही प्रयत्न करना चाहिए। यदि विषम दोषों के द्वारा सन्निपात हुआ हो तो उसमें कफ की अधिकता में प्रथम वमन, यदि पित्त का प्राबल्य हो तो विरेचन और वायु की अधिकता हो तो प्रथम बस्ति का प्रयोग करना चाहिए। इस तरह सन्निपातजन्य मूत्रकृच्छ्र में समदोषारब्धता और विषमदोषारब्धता का विचार कर चिकित्सा की जाती है।

तथाऽभिघातजे कुर्यात् सद्योव्रणचिकित्सितम् ॥२६॥

अभिघातजमूत्रकृच्छ्रचिकित्सा—मूत्रसंस्थान के ऊपर अभिघात (चोट) लगने से उत्पन्न हुये मूत्रकृच्छ्र रोग में सद्योव्रण के समान चिकित्सा की जाती है। उसके समान उपचार करना चाहिए ॥ २६ ॥

विमर्शः—चोट लगने से यदि शोथ हो गया हो तो शोथनाश करने के लिए उष्ण जल को रबर की थैली में भरकर सेक करना चाहिए तथा पोल्टिस लगानी चाहिए। यदि व्रण बन गया हो तो उसका शोधन कर सीवन कर्म कर देना चाहिए।

मूत्रकृच्छ्रे शकृज्जाते कार्या वातहरी क्रिया।
स्वेदावगाहावभ्यङ्गबस्तिचूर्णक्रियास्तथा ॥ २७ ॥

विड्विघातजन्यमूत्रकृच्छ्रचिकित्सा—विष्ठा के उपस्थित हुए वेग को रोकने से उत्पन्न हुए मूत्रकृच्छ्र रोग में वातनाशक चिकित्सा करनी चाहिए तथा स्वेदन, स्नेहप्रक्षेपयुक्त उष्ण जल के पात्र (टब) में अवगाहन, स्नेह, का अभ्यङ्ग बस्ति, चूर्ण और रस क्रिया करनी चाहिए ॥ २७ ॥

ये त्वन्ये तु तथा कृच्छ्रे तयोः प्रोक्तः क्रियाविधिः ॥२८॥

इति सुश्रुतसंहितायामुत्तरतन्त्रान्तर्गते कायचिकित्सातन्त्रे मूत्रकृच्छ्रप्रतिषेधो नाम (एकविंशतितमोऽध्यायः, आदितः) एकोनषष्टितमोऽध्यायः ॥ ५९ ॥

अश्मरीशर्कराजन्यमूत्रकृच्छ्रचिकित्सा—अश्मरीजन्य तथा शर्कराजन्य जो दो शेष मूत्रकृच्छ्र हैं उन दोनों की चिकित्साविधि अश्मरी तथा शर्करा-चिकित्साप्रकरण लिख दी गई है, तदनुसार करें ॥ २८ ॥

विमर्शः—मूत्रकृच्छ्रे पथ्यानि—पुरातना लोहितशालयश्च क्षारो यवान्नानि च तीक्ष्णमुष्णम्। तक्रं पयो दध्यपि गोप्रसूतं धन्वामिषं मुद्गरसः सिता च ॥ पुराणकूष्माण्डफलं पटोलं महार्द्रकं गोक्षुरकं कुमारी। गुवाकखर्जूरकनारिकेलताड्द्रुमाणाञ्च शिरांसि पथ्याः ॥ तालास्थिमज्जा त्रपुषं त्रुटिश्च शीतानि पानान्यशनानि चापि। प्रतीरनीरं हिमवालुका च मित्रं नृणां स्यात् सति मूत्रकृच्छ्रे ॥ मूत्रकृच्छ्रेऽपथ्यानि—मद्यं श्रमं निधुवनं गजवाजियानं सर्वं विरुद्धमशनं विषमाशनञ्च। ताम्बूलमत्स्यलवणार्द्रकतैलभृष्टपिण्याकहिङ्गुतिलसर्षपवेगरोधान्। माषान् करीरमतितीक्ष्णविदाहिरूक्षमम्लञ्च मुञ्चतु जनः सति मूत्रकृच्छ्रे ॥

इति श्रीसुश्रुतसंहिताभाषाटीकायामुत्तरतन्त्रे मूत्रकृच्छ्रप्रतिषेधो नामैकोनषष्टितमोऽध्यायः ॥ ५९ ॥

षष्टितमोऽध्यायः

अथातोऽमानुषोपसर्गप्रतिषेधमध्यायं व्याख्यास्यामः ॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥ २ ॥

अब इसके अनन्तर अमानुषोपसर्गप्रतिषेध नामक अध्याय का व्याख्यान प्रारम्भ किया जाता है जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने कहा है ॥ १-२ ॥

विमर्शः—कायचिकित्सापारिशेष्यवश भूतविद्या का वर्णन प्रारम्भ करने की कामना होने से तथा मूत्रकृच्छ्र रोग में बार-बार थोड़ा-थोड़ा मूत्रत्याग करने के पश्चात् पूर्णरूप से मूत्रेन्द्रिय, हस्त, पाद और मुखादि का सम्यक् प्रक्षालन न करने से उत्पन्न अशौच (अपवित्रता) के कारण अमानुषोपसर्ग व्याधि की सम्भावना होने से तद्विषयक व्याधि के निदान, सम्प्राप्ति, लक्षण, चिकित्सा आदि का वर्णन अत्यावश्यक है। अमानुषाः—न मानुषा इत्यमानुषा देवादिग्रहाः, तेषामुपसर्ग उपद्रवः, तस्य प्रतिषेधश्चिकित्सितम्। अन्ये तु 'अमानुषोपसर्ग' इत्यत्र अमानुषाबाध इति पठन्ति, अमानुषाणि = भूतानि तेषामाबाधा पीडेति इति व्याख्यापयन्ति। (डल्हणः) मानव से भिन्न देव, यक्ष, गन्धर्व किन्नर, पिशाच, राक्षस, गुह्यक, सिद्ध और भूत ये सब देवयोनियाँ मानी गई हैं—'विद्याधराप्सरोयक्षरक्षोगन्धर्वकिन्नराः। पिशाचो गुह्यकः सिद्धो भूतोऽमी देवयोनयः' इत्यमरः। जब मनुष्य अपवित्रावस्था में होता है तथा इनकी झपट या छाया से आक्रान्त हो जाता है तब अस्वस्थ हो जाता है। इसी को यहाँ अमानुषोपसर्ग शब्द से व्यक्त किया है।

निशाचरेभ्यो रक्ष्यस्तु नित्यमेव क्षतातुरः।
इति यत्प्रागभिहितं विस्तरस्तस्य वक्ष्यते ॥ ३ ॥

क्षतातुररक्षा—क्षत से युक्त रोगी की सदा ही निशाचरों से रक्षा करनी चाहिए ऐसा उपदेश संक्षेप से पहले व्रणितोपासनीय अध्याय में कर आये हैं, अब उसका इस अध्याय में विस्तार से वर्णन किया जाता है ॥ ३ ॥

विमर्शः—यहाँ पर निशाचर शब्द से देवादिग्रह का बोध करना चाहिए। व्रणितोपासनीय अध्याय में निशाविहरणशील तथा असृग्मांसादिभोजनशील होने से निशाचर शब्द से राक्षसों का ग्रहण किया गया है। उसका तात्पर्य यह है कि राक्षसों का विशेष स्वरूप तथा स्वभाव होता है कि वे क्षतरोगी में रक्त-मांसादि खाने की इच्छा से उसे शीघ्र आक्रान्त करते हैं—'हिंसाविहाराणि हि महावीर्याणि रक्षांसि पशुपतिकुबेरकुमारानुचराणि मांसशोणितप्रियत्वात् क्षतज(रक्त)निमित्तं व्रणिनमुपसर्पन्ति सत्कारार्थं जिघांसूनि वा कदाचित्।' (सु० सू० अ० १९) आयुर्वेद ने शारीरिक रोगों का कारण वात, पित्त और कफ तथा मानसिक रोगों का कारण रज और तम को मानकर रोगोत्पत्ति तथा उसकी चिकित्सा की व्यवस्था की है—वायुः पित्तं कफश्चेति शारीरो दोषसङ्ग्रहः। मानसः पुनरुद्दिष्टो रजश्च तम एव च। प्रशाम्यत्यौषधैः पूर्वो दैवयुक्तिव्यपाश्रयैः। मानसो ज्ञानविज्ञानधैर्यस्मृतिसमाधिभिः ॥ जिन अवस्थाओं में विचित्र लक्षणों की उत्पत्ति दृष्टिगोचर होने से त्रिदोषवाद अथवा रज और तम की उपपत्ति उपलब्ध नहीं हो सकती, उन सभी अवस्थाओं का कारण उन्होंने भूत-पिशाच सदृश इन्द्रियातीत

तत्त्वों को स्वीकार किया है। भूत, पिशाच आदि की सत्ता का विषय आज भी विवादास्पद बना हुआ है। यदि इनकी सत्ता को स्वीकार भी कर लिया जाय तब भी उन्हीं को रोगोत्पत्ति का साक्षात्कारण तो नहीं माना जा सकता, क्योंकि महर्षि चरक ने स्पष्टरूप से कहा है कि देवता, गन्धर्व, राक्षस आदि किसी को भी क्लेशित नहीं करते हैं। रोग की उत्पत्ति प्रज्ञापराध से होती है, देव-यक्ष आदि के आवेश से नहीं—नैव देवा न गन्धर्वा न पिशाचा न राक्षसाः। न चान्ये स्वयमक्लिष्टमुपक्लिश्यन्ति मानवम्॥ ये त्वेनमनुवर्तन्ते क्लिश्यमानं स्वकर्मणा। न स तद्धेतुकः क्लेशो न ह्यस्ति कृतकृत्यता॥ इसके अतिरिक्त भी कहा है कि कभी भी देवताओं, पितरों या राक्षसों को रोग का कारण न कहे। अपितु सम्पूर्ण सुख-दुःख का कर्ता अपनी बुद्धि को ही समझे एवं अच्छे कर्म करता हुआ सदा निर्भीक रहे—प्रज्ञापराधात् सम्भूते व्याधौ कर्मज आत्मनः। नाभिशंसेद् बुधो देवान् पितॄन्नापि राक्षसान्। आत्मानमेव मन्येत कर्तारं सुखदुःखयोः। तस्माच्छ्रेयस्करं मार्गं प्रतिपद्येत नो त्रसेत्॥ (चरकः) कतिपय विद्वान् भूत, पिशाच, राक्षस, यक्ष आदि नामों से विभिन्न रोगोत्पादक जीवाणुओं का भी ग्रहण करते हैं। वस्तुतः यह मन्तव्य भी युक्तियुक्त प्रतीत होता है क्योंकि आयुर्वेद ने भूतोन्माद की चिकित्सा में मन्त्रोपचार के अतिरिक्त गुग्गुलु, राल, लोहबान, निम्बपत्र आदि कृमिनाशक (Antiseptic) द्रव्यों के धूपन का भी उपदेश किया है। इसके अतिरिक्त शिरावेध द्वारा रक्तावसेचन, लेप, नस्य, अञ्जन तथा मुखद्वारा औषध सेवन करने का भी निर्देश मिलता है। इससे स्पष्ट है कि आयुर्वेद के निर्माताओं का मत भूतविद्या के पण्डितों से कुछ भिन्न था।

गुह्यानागतविज्ञानमनवस्थाऽसहिष्णुता।
क्रिया वाऽमानुषी यस्मिन् स ग्रहः परिकीर्त्यते ॥४॥

सामान्यग्रहलक्षणम्—गुप्त वस्तु या गुप्त बात तथा अनागत (भविष्य) का ज्ञान जिसमें हो एवं जिसके शरीर और मन की स्थिति अव्यवस्थित हो, जो क्रोध करता हो एवं जिसमें वरदानादिप्रदानरूपी अमानुषी क्रिया हो उसे ग्रहजुष्ट (ग्रहाविष्ट) समझना चाहिए॥ ४॥

विमर्शः—अमानुषी क्रिया का दूसरा अर्थ लंघन और प्लवनादिक क्रिया भी है। 'अमानुषी-या मानुषैः कर्तुं न शक्यते'।

अशुचिं भिन्नमर्य्यादं क्षतं वा यदि वाऽक्षतम्।
हिंस्युर्हिंसाविहारार्थं सत्कारार्थमथापि वा ॥ ५॥

ग्रहजुष्टार्हपुरुषः—जो व्यक्ति भोजन करने पर अथवा मल-मूत्र का त्याग करने पर जल से शुद्धि न करने से अपवित्र रहता हो, जिसने शास्त्र की मर्यादा तथा कुलपरम्परा का आचार-विचार त्याग दिया हो, जिसके शरीर पर कहीं भी क्षत (व्रण) हो गया है, अथवा व्रणरहित होने पर भी अपवित्र रहता हो ऐसे मनुष्य को ये ग्रह उसकी हिंसा करने के लिये, अपनी क्रीडा करने के लिये तथा अपना बलि-होमादि पूजारूप सत्कार कराने के लिये उसमें आविष्ट होते हैं और निज प्रयोजन सिद्ध न होने पर उसे मार डालते हैं॥ ५॥

विमर्शः—हिंसाविहारो वधक्रीडा, तदर्थं, सत्कारार्थं पूजार्थम्। अर्थात् वध करने की क्रीड़ा (कौतुक) और निज पूजा कराना ग्रहावेश के ये दो प्रयोजन डल्हण ने लिखे हैं तथा अन्य मत से विहार शब्द का अर्थ रतिक्रिया है जिसका अर्थ भी हिंसा में रति ऐसा किया है—अन्ये विहारशब्देन रतिं मन्यन्ते तत्र हिंसार्थं या रतिस्तदर्थम्। किन्तु चरकाचार्य ने उन्माद करनेवाले भूतों के तीन प्रयोजन लिखे हैं। (१) उस व्यक्ति की हिंसा करना, (२) उस व्यक्ति में पूर्वजन्म के संस्कारवश उस ग्रह की रति अर्थात् स्नेह हो तथा (३) ये ग्रह अपना सत्कार (अभ्यर्चन) कराने के लिये प्राणियों में आविष्ट होते हैं—'त्रिविधन्तु खलून्मादकराणां भूतानामुन्मादने प्रयोजनं भवति। तद्यथा-हिंसा, रतिः, अभ्यर्चनञ्चेति' (च० नि० अ० ७)

असङ्ख्येया ग्रहगणा ग्रहाधिपतयस्तु ये।
व्यज्यन्ते विविधाकारा भिद्यन्ते ते तथाऽष्टधा ॥ ६॥

ग्रहाणामसंख्येयत्वं ग्रहाधिपानामाष्टत्वम्—ग्रहों की संख्या असंख्येय (अगणनीय) है, किन्तु उनमें जो ग्रहों के अधिपति (देवदैत्यादिक) विविध लक्षणों वाले प्रतीत होते हैं वे आठ प्रकार के होते हैं॥ ६॥

विमर्शः—कुछ लोग उक्त श्लोक में निम्न पाठपरिवर्तन मानते हैं—'ग्रहाधिपतिभिस्तु ते। व्यञ्जनैः' ते ग्रहगणा यद्यप्यसंख्येयास्तथापि ग्रहाधिपतिभिः स्वस्वामिभिः कृत्वा अष्टधा भिद्यन्ते अष्टभेदभिन्ना भवन्तीत्यर्थः, किं विशिष्टास्ते, व्यञ्जनैर्विविधाकारा विलक्षणाः।

देवास्तथा शत्रुगणाश्च तेषां
गन्धर्वयक्षाः पितरो भुजङ्गाः।
रक्षांसि या चापि पिशाचजाति-
रेषोऽष्टको देवगणो ग्रहाख्यः ॥ ७॥

अष्टग्रहाणां नामानि—(१) देवता, (२) देवताओं के शत्रु (दैत्य), (३) गन्धर्व, (४) यक्ष, (५) पितर, (६) भुजङ्ग, (७) राक्षस और (८) पिशाच ये आठ देवगण ग्रह हैं॥ ७॥

विमर्शः—दीव्यन्तीति स्वर्गे मोदन्ते इति देवाः। शत्रुगणाः = दैत्यसमूहाः, गन्धर्वा देवगायना हाहाहूहूप्रभृतयः, यक्षाः कुबेरादयः, पितरः अग्निष्वात्तादयः, भुजङ्गा वासुकिप्रभृतयः, रक्षांसि मनुष्यभक्षणकारीणि हेतिप्रहेतिकुलजातानि, पिशाचाः पिशिताशनास्तेषां जातिः। चरकाचार्य ने दैत्य और भुजङ्ग को नहीं माना है। उनके मत से गुरु, वृद्ध, सिद्ध, आचार्य और पूज्यों का अपमान भी उन्मादादिजनक होता है। 'प्रज्ञापराधाद्धयं देवर्षिपितृगन्धर्वयक्षराक्षसपिशाचगुरुवृद्धसिद्धाचार्यपूज्यानवमत्याहितान्याचरति, अन्यद्वा किञ्चिदेवंविधं कर्माप्रशस्तमारभते, तमात्मना हतमुपघ्नन्तो देवादयः कुर्वन्त्युन्मत्तम्'। (च० नि० अ० ७)

सन्तुष्टः शुचिरपि चेष्टगन्धमाल्यो
निस्तन्द्री ह्यवितथसंस्कृतप्रभाषी।
तेजस्वी स्थिरनयनो वरप्रदाता
ब्रह्मण्यो भवति नरः स देवजुष्टः ॥ ८॥

देवग्रहजुष्टलक्षणम्—देवग्रह से आक्रान्त रोगी सदा सन्तुष्ट रहता है तथा पवित्र रहता है एवं उसको उत्तमोत्तम गन्ध और माला की अभिलाषा रहती है। उसे निद्रा या तन्द्रा भी नहीं आती है, वह सदा सत्य बोलता है एवं निरन्तर

संस्कृत में धाराप्रवाह भाषण करता है। वह तेजस्वी तथा स्थिर नेत्रवाला दिखाई देता है। आस-पास में खड़े मनुष्यों को वरदान देता है तथा ब्राह्मणों की पूजा करता है ॥ ८ ॥

विमर्शः—शुचिः शौचयुक्तः, 'इष्टगन्धमाल्यः' इष्टानि अभिलषितानि गन्धमाल्यानि यस्य सः, गन्धाः कुङ्कुमचन्दनादिकाः, माल्यानि पुष्पाणि। माधवकार ने 'इष्टगन्धमाल्यः' के स्थान पर 'अतिदिव्यमाल्यगन्धः' ऐसा पाठान्तर माना है। अर्थात् उसके शरीर से अकारण ही उत्तमोत्तम दिव्य माला के पुष्पों की अत्यधिक गन्ध आती रहती है। 'अवितथसंस्कृतप्रभाषी' अर्थात् अवितथप्रभाषी, संस्कृतप्रभाषी च। अवितथं यथार्थं, सत्यमित्यर्थः। तथा च विदेहः—'निःस्वप्नं सत्यसंस्कृतभाषिणम्'। स्थिरनयनः= निमेषरहितः। ब्रह्मण्यः= ब्राह्मणानुरक्तः। यहाँ पर देवग्रह से गणमातृकादिक का भी ग्रहण करना चाहिए, जैसा कि विदेह ने गणमातृकाजुष्ट के लक्षण लिखे हैं—क्रोधनः स्रस्तसर्वाङ्गो लालाफेनाविलाननः। निद्रालुः कम्पनो मूको गणमातृभिरर्दितः॥ चरके देवग्रहजुष्टलक्षणं यथा—सौम्यदृष्टिं गम्भीरमधृष्यमकोपनमस्वप्नभोजनाभिलाषिणमल्पस्वेदमूत्रपुरीषवातं शुभगन्धं फुल्लपद्मवदनमिति देवोन्मत्तं विद्यात्'। (च० चि० अ० ९)

> संस्वेदी द्विजगुरुदेवदोषवक्ता
> जिह्माक्षो विगतभयो विमार्गदृष्टिः।
> सन्तुष्टो भवति न चान्नपानजातै-
> र्दुष्टात्मा भवति च देवशत्रुजुष्टः ॥ ९ ॥

देवशत्रुजुष्टलक्षणम्—दानव (दैत्य) ग्रह से आक्रान्त मनुष्य के शरीर से स्वेद अधिक आता है। वह ब्राह्मण, गुरु और देवताओं के दोषों का वर्णन करता है। उसके नेत्र टेढ़े रहते हैं तथा वह किसी से डरता नहीं है। ऐसा रोगी कुमार्ग पर चलनेवाला अथवा नास्तिक होता है। बहुत खाने पर भी अन्न और पेय आदि से उसकी तृप्ति नहीं होती है एवं उसकी आत्मा दुष्ट-अशुभप्रवृत्ति वाली होती है ॥ ९ ॥

> हृष्टात्मा पुलिनवनान्तरोपसेवी
> स्वाचारः प्रियपरिगीतगन्धमाल्यः।
> नृत्यन् वै प्रहसति चारु चाल्पशब्दं
> गन्धर्वग्रहपरिपीडितो मनुष्यः ॥ १० ॥

गन्धर्वग्रहपीडितलक्षणानि—जो सदा प्रसन्न रहे, जिसको नदी के किनारे या उपवनों में घूमने में अत्यधिक आनन्द आता हो, जिसका आचरण शुद्ध हो, जिसको सङ्गीत एवं गन्धमालाओं से विशेष रुचि हो एवं जो सुन्दर ढङ्ग से नाचता हुआ मन्द-मन्द मुस्कराता हो उसे गन्धर्व ग्रह से पीड़ित समझना चाहिए ॥ १० ॥

विमर्शः—चरके गन्धर्वग्रहपीडितलक्षणानि यथा—'(चण्डं साहसिकं तीक्ष्णं, गम्भीरमधृष्यं) मुखवाद्यनृत्यगीतान्नपानस्नानमाल्यधूपगन्धरतिं रक्तवस्त्रबलिकर्महास्यकथानुयोगप्रियं शुभगन्धञ्च गन्धर्वोन्मत्तं विद्यात्'। (च० चि० अ० ९)

> ताम्राक्षः प्रियतनुरक्तवस्त्रधारी
> गम्भीरो द्रुतमतिरल्पवाक् सहिष्णुः।
> तेजस्वी वदति च किं ददामि कस्मै
> यो यक्षग्रहपरिपीडितो मनुष्यः ॥ ११ ॥

यक्षाविष्टलक्षणानि—जो मनुष्य यक्षग्रह से आक्रान्त होता है उसकी आँखें ताम्र के वर्ण के समान लाल होती हैं तथा वह पतले और लाल रङ्ग के वस्त्र पहनने की अभिलाषा रखता है या पहनता है। देखने में गम्भीर स्वभाववाला तथा तेज मतियुक्त होता है। ऐसा मनुष्य कम बोलता है तथा सहनशील होता है। उसके शरीर और चेहरे से तेज टपकता है तथा वह कहता है कि किसके लिये क्या दूँ ॥ ११ ॥

विमर्शः—द्रुतमतिः उद्भ्रान्तमनाः, कहीं-कहीं 'द्रुतमतिः' के स्थान पर 'द्रुतगतिः' ऐसा पाठान्तर है। ऐसे पाठान्तर में 'चलने में तेजगति वाला' ऐसा अर्थ करें। चरके यक्षजुष्टलक्षणानि यथा—असकृत्स्वप्नरोदनहास्यं नृत्यगीतवाद्यपाठकथान्नपानस्नानमाल्यधूपगन्धरतिं रक्तवस्त्रबलिकर्महास्यकथानुयोगप्रियं शुभगन्धञ्च गन्धर्वोन्मत्तं विद्यात्।

> प्रेतेभ्यो विसृजति संस्तरेषु पिण्डान्
> शान्तात्मा जलमपि चापसव्यवस्त्रः।
> मांसेप्सुस्तिलगुडपायसाभिकाम-
> स्तद्भक्तो भवति पितृग्रहाभिभूतः ॥१२॥

पितृग्रहाविष्टलक्षणानि—पितृग्रह से आक्रान्त व्यक्ति शान्त स्वभाव का होता है, दक्षिण कन्धे पर वस्त्र आदि डाल कर अपसव्य हो के कुशा के आसन बिछाकर उन पर पितरों के लिये आटे के पिण्ड बना कर देता है, जल का भी तर्पण करता है, मांस खाने की अभिलाषा रखता है, तिल, गुड़ और पायस (खीर) के भोजन की इच्छा करता है एवं पितरों में भक्ति करता है ॥ १२ ॥

विमर्शः—साधारण अवस्था में यज्ञोपवीत तथा कन्धे का वस्त्र (दुपट्टा) वाम कन्धे के ऊपर तथा दक्षिण कन्धे के नीचे रहता है, किन्तु तर्पण और पिण्डदान करते समय इसके विपरीत कर लेने का शास्त्रीय विधान है। पितृग्रह से आक्रान्त रोगी भी वैसा ही करता है। इस रोगी की मांस आदि खाने में इच्छा होती है। इसलिये इन्हीं द्रव्यों की बलि भी रोगशान्त्यर्थ देनी चाहिए। चरके पितृग्रहजुष्टलक्षणानि यथा—'अप्रसन्नदृष्टिमपश्यन्तं निद्रालुं प्रतिहतवाचमनन्नाभिलाषमरोचकाविपाकपरीतञ्च पितृभिरुन्मत्तं विद्यात्'। (च० चि० अ० ९)

> भूमौ यः प्रसरति सर्पवत् कदाचित्
> सृक्किण्यौ विलिखति जिह्वया तथैव।
> निद्रालुर्गुडमधुदुग्धपायसेप्सु-
> र्विज्ञेयो भवति भुजङ्गमेन जुष्टः ॥ १३ ॥

नागाविष्टलक्षणानि—जो मनुष्य कभी-कभी साँप के समान भूमि पर पेट के बल लेटकर सरकता हो, जिह्वा से ओष्ठों को चाटता रहता हो तथा अधिकतर निद्रा जिसे आती रहती हो और जो गुड़, शहद, दुग्ध और दुग्ध में बनी खीर खाने की इच्छा रखता हो उसे सर्पग्रह से आविष्ट समझना चाहिए ॥ १३ ॥

> मांसासृग्विविधसुराविकारलिप्सु-
> र्निर्लज्जो भृशमतिनिष्ठुरोऽतिशूरः।
> क्रोधालुर्विपुलबलो निशाविहारी
> शौचद्विड् भवति च रक्षसा गृहीतः ॥१४॥

राक्षसाविष्टलक्षणानि—जो व्यक्ति मांस, रक्त तथा अनेक प्रकार की सुरा के प्रकार को खाने तथा पीने की इच्छा रखता हो, लज्जारहित हो, अत्यन्त कठोर स्वभाव का हो, लड़ने-भिड़ने के काम में शूरता-वीरता दिखाता हो, क्रोध की प्रकृति का हो, अन्नादि पर्याप्त न खाने पर भी जिसका शारीरिक बल विपुल (अधिक) हो और रात्रि के समय में इधर-उधर घूमता हो एवं स्नान-सन्ध्या-पूजादि पवित्र कार्यों में द्वेष करता हो उसे राक्षसग्रह से आक्रान्त जानो ॥ १४ ॥

विमर्शः—चरके राक्षसाविष्टलक्षणम्—'नष्टनिद्रमन्नपानद्वेषिणमनाहारमप्यतिबलिनं शस्त्रशोणितमांसरक्तमाल्याभिलाषिणं सन्तर्जकञ्च राक्षसोन्मत्तं विद्यात्'। चरकाचार्य ने ब्रह्मराक्षसोन्मत्त के निम्नलक्षण लिखे हैं—जो अधिक प्रहास और नृत्य करता हो, देवता, ब्राह्मण और वैद्य इनमें द्वेष तथा अवज्ञा करता हो एवं काष्ठादि से अपने को ही पीटता हो उसे ब्रह्मराक्षसोन्मत्त जानो—'प्रहासनृत्यप्रधानं देवविप्रवैद्यद्वेषावज्ञाभिस्तुतिवेदमन्त्रशास्त्रोदाहरणैः काष्ठादिभिरात्मपीडनेन च ब्रह्मराक्षसोन्मत्तं विद्यात्'। (च० चि० अ० ९) विदेहे ब्रह्मराक्षसाविष्टलक्षणानि—देवविप्रगुरुद्वेषी वेदवेदाङ्गनिन्दकः। आत्मपीडाकरो हासी ब्रह्मराक्षससेविनः ॥

> उद्धस्तः कृशपरुषश्चिरप्रलापी
> दुर्गन्धो भृशमशुचिस्तथाऽतिलोलः।
> बह्वाशी विजनहिमाम्बुरात्रिसेवी
> व्याविग्नो भ्रमति रुदन् पिशाचजुष्टः ॥१५॥

पिशाचाविष्टलक्षणानि—जो मनुष्य अपने हाथ ऊपर उठाये रहता हो एवं शरीर में दुबला हो तथा जिसके अङ्ग-प्रत्यङ्ग परुष (रूक्ष) हो गये हों, बहुत देर तक प्रलाप करता हो, जिसके देह से दुर्गन्ध आती हो, जो अत्यधिक गन्दा रहता हो तथा अत्यधिक लोभी हो, बहुत खाता हो एवं जो निर्जन स्थान में रहने, शीतल पानी पीने और रात्रि में भ्रमण करने वाला हो तथा जो उद्विग्न होकर रोता हुआ इधर-उधर घूमता हो उसे पिशाचग्रह से आक्रान्त समझना चाहिए ॥

विमर्शः—'उद्धस्तो विकृतदर्शनः' विकृत दृष्टिवाला या दीखने में विकराल चेहरे वाला ऐसा डल्हण ने उद्धस्त का अर्थ लिखा है, किन्तु माधवकार ने उद्धस्त का अर्थ ऊर्ध्वबाहु किया है। 'उद्धस्तः' के स्थान पर 'उद्धस्त:' ऐसा पाठान्तर विदेहानुमत है जिसका अर्थ नग्न किया है 'उद्धस्तो नग्नः'। अतिलोलः = सर्वस्मिन्नन्ने पाने च सतृष्णः। 'व्याविग्नः' के स्थान पर 'व्याचेष्टन्' ऐसा भी पाठान्तर है, जिसका अर्थ विरुद्ध चेष्टा करना है। चरके पिशाचोन्मत्तलक्षणं यथा—'अस्वस्थचित्तं स्थानमलभमानं नृत्यगीतहासिनं बद्धाबद्धप्रलापिनं संकरकूटमलिनरथ्याचेलतृणाश्मकाष्ठाधिरोहणरतिं भिन्नरूक्षस्वरं नग्नं विधावन्तं नैकत्र तिष्ठन्तं दुःखान्यावेदयन्तं नष्टस्मृतिञ्च पिशाचोन्मत्तं विद्यात्'। (च० चि० अ० ९)

> स्थूलाक्षस्त्वरितगतिः स्वफेनलेही
> निद्रालुः पतति च कम्पते च योऽति।
> यश्चाद्रिद्विरदनगादिविच्युतः सन्
> संसृष्टो न भवति वार्द्धकेन जुष्टः ॥ १६ ॥

ग्रहाविष्टस्य असाध्यलक्षणानि—जिसकी आँखें स्थूल (मोटी) हों, या आँखें बाहर निकली हों अथवा जिसकी दृष्टि (Pupil) विस्फारित हो जाय, जो जल्दी जल्दी चलता हो जो अपने मुख से निकले हुए फेन या लार को चाटता हो, जिसे नींद अधिक आती हो, जो अधिक चलते-फिरते गिर जाता हो, जो अत्यधिक काँपता रहता हो, जो पर्वत, हाथी और वृक्ष (नग) आदि (गड्ढे, नदी, तालाब भित्ति और मकान) से गिरकर ग्रह से आविष्ट (आक्रान्त या संसृष्ट) हुआ हो, वृद्धावस्था से या वृद्धभाव से गृहीत हो अथवा किसी वर्धक (छेदक या हिंसार्थी) ग्रह से आक्रान्त हो गया हो ऐसा रोगी असाध्य होता है ॥ १६ ॥

विमर्शः—पूर्व में कह आये हैं कि ये ग्रह हिंसा, क्रीडा और पूजा इन तीन प्रयोजनों से मनुष्य को ग्रसित करते हैं। इनमें से जो हिंसाप्रयोजन से ग्रहाक्रान्त होता है वह असाध्य होता है। अर्थात् ग्रह का किसी अपराध से क्रुद्ध होकर दण्ड देने की इच्छा से आवेश होना हिंसाजन्य होता है और प्रायः असाध्य होता है। किसी सुन्दर पुरुष या सुन्दरी के रूप, वेश, गायन आदि से मुग्ध होकर आवेश होना रतिजन्य एवं बलि-पूजारूप सत्कार की प्राप्तिमात्र की भावना से हुआ आवेश पूजार्थ आवेश कहलाता है। रति और पूजा प्रयोजन से उत्पन्न आवेश की बाधा मन्त्र, होम, बलिदान आदि उपचार से शान्त भी हो जाती है। 'वार्धकेन जुष्टः वृद्धभावेन गृहीतः, इत्यर्थः। अन्ये 'वर्धकेन' इति पठन्ति, वर्धकेन छेदकेन हिंसार्थिना केनचिद् ग्रहेण,जुष्टो गृहीत इति व्याख्यापयन्ति। आचार्य विदेह ने असाध्यता के निम्न लक्षण अधिक माने हैं—मूत्रमार्ग से रक्त जाना, नेत्र का अतिरक्त होना, नाक से ज्यादा स्राव होना, जिह्वा रूक्ष और फटी हुई होना, शरीर के भीतरी अङ्गों में सड़न होने से दुर्गन्ध आना और वाक्शक्ति नष्ट होना आदि—मेढ्रप्रवृत्तः क्षतजः, स स्रावः स्रुतनासिकः। रूक्षजिह्वः पूतिगर्भो हतवागतिदुर्बलः ॥ चरके असाध्यलक्षणानि—'सर्वेष्वपितु खल्वेषु यो हस्तावुद्यम्य रोषसंरम्भान्निःशङ्कमन्येष्वात्मनि वा निपातयेत् स त्वसाध्यो ज्ञेयः, तथा यः साश्रुनेत्रो मेढ्प्रवृत्तरक्तः, क्षतजिह्वः, प्रस्रुतनासिकश्छिद्यमानचर्माऽप्रतिहन्यमानवाग्भिः सततं विकूजन् दुर्वर्णस्तृषार्तः पूतिगन्धश्च स हिंसार्थिनोन्मत्तो ज्ञेयस्तं परिवर्जयेत्'। अन्यच्च—'रत्यर्चनाकामोन्मादिनौ तु भिषगभिप्रायाचाराभ्यां बुद्ध्वा तदङ्गोपहारबलिमिश्रेण मन्त्रभैषज्यविधिनोपक्रमेत्'। (च० चि० अ० ९)

> देवग्रहाः पौर्णमास्यामसुराः सन्ध्ययोरपि।
> गन्धर्वाः प्रायशोऽष्टम्यां यक्षाश्च प्रतिपद्यथ ॥ १७ ॥
> कृष्णक्षये च पितरः पञ्चम्यामपि चोरगाः।
> रक्षांसि निशि पैशाचाश्चतुर्दश्यां विशन्ति च ॥१८॥

देवादीनां ग्रहणकालः—इन ग्रहों में देवग्रह पौर्णमासी के दिन आक्रमण करते हैं। अतः किसी मनुष्य को पूर्णिमा के दिन रोग का आक्रमण हो तो देवग्रह का आवेश समझना चाहिये। यदि प्रातःकाल और सायङ्काल की सन्ध्या के समय रोग का दौरा या आक्रमण आरम्भ हुआ हो तो असुर ग्रह का आवेश समझो। प्रायः गन्धर्वजाति के ग्रह अष्टमी के दिन रुग्ण के शरीर में प्रविष्ट होते हैं और यक्षग्रह प्रतिपदा

के दिन आक्रान्त करते हैं। पितृग्रह अमावास्या के दिन और भुजङ्गग्रह पञ्चमी के दिन शरीर में प्रविष्ट होते हैं। इसी प्रकार राक्षसग्रह अर्धरात्रि के समय और पिशाचग्रह चतुर्दशी के दिन मनुष्यों के शरीर में प्रविष्ट होते हैं ॥ १७-१८ ॥

विमर्शः—यहाँ पर विभिन्न प्रकार के ग्रहों के आक्रमण की तिथि लिखने का तात्पर्य यह है कि जिस दिन वे आविष्ट होते हैं उस दिन प्रत्येक व्यक्ति का कर्तव्य है कि वह उसके आविष्ट होने के अशुचि, अगम्यस्थानगमन आदि कारण को वर्जित कर दे तथा कदाचिद् आवेश हो भी जाय तो जिस दिन आवेश हुआ हो उस दिन शून्य स्थान, चतुष्पथ, देवालय आदि यथायोग्य स्थान में बलि-हवनादि कार्य करने से वे ग्रह प्रसन्न होकर उस मनुष्य पर आक्रमण करना त्याग देते हैं। जैसा कि कहा है—ग्रहा गृह्णन्ति ये येषु तेषां तेषु विशेषतः। दिनेषु बलिहोमादीन् प्रयुञ्जीत चिकित्सकः॥ चरकाचार्य ने ग्रहाक्रमण के समय के विषय में अत्यन्त सुन्दर और आवश्यक बातें लिखी हैं, जैसे पापकर्म के प्रारम्भ, पूर्वकृत पापकर्म के परिणामकाल में, अकेले मनुष्य के शून्यगृह में वास करने के समय, चौराहे पर बैठे हुए के समय, सन्ध्या के समय, पर्वकाल में, रजस्वला स्त्री के साथ सम्भोग करने के समय, नानाविध अशुभ पदार्थों के स्पर्श काल में, प्रसवकाल के समय, आदि—उन्मादयिष्यतामपि खलु देवर्षिपितृगन्धर्वयक्षराक्षसपिशाचानां गुरुवृद्धसिद्धानां वा एष्वन्तरेष्वभिगमनीयाः पुरुषा भवन्ति। तद्यथा—पापस्य कर्मणः समारम्भे, पूर्वकृतस्य वा कर्मणः परिणामकाले, एकस्य वा शून्यगृहवासे, चतुष्पथाधिष्ठाने वा, सन्ध्यावेलायामप्रयतभावे वा, पर्वसन्धिषु वा मिथुनीभावे, रजस्वलाभिगमने वा, विगुणे वाऽध्ययनबलिमङ्गलहोमप्रयोगे, नियमव्रतब्रह्मचर्यभङ्गे वा, महाहवे वा, देशकुलपुरविनाशे वा, महाग्रहोपगमने वा, स्त्रिया वा प्रजननकाले, विविधभूताशुभाशुचिस्पर्शने वा, वमनविरेचनरुधिरस्रावे, अशुचेरप्रयतस्य वा चैत्यदेवायतनाभिगमने वा, मांसमधुतिलगुडमद्योच्छिष्टे वा, दिग्वाससि वा निशि नगरनिगमचतुष्पथोपवनश्मशानाघातनाभिगमने वा, द्विजगुरुसुरयतिपूज्याभिधर्षणे वा, धर्माख्यानव्यतिक्रमे वा, अन्यस्य वा कर्मणोऽप्रशस्तस्यारम्भे, इत्यभिकाला व्याख्याता भवन्ति'। (च० नि० अ० ७) चरके ग्रहावेशकालः—'तत्र चोक्षाचारं तपःस्वाध्यायकोविदं नरं प्रायः शुक्लप्रतिपदि त्रयोदश्यां च छिद्रमवेक्ष्याभिधर्षयन्ति देवाः, स्नानशुचिविविक्तसेविनं धर्मशास्त्रश्रुतिवाक्यकुशलं प्रायः षष्ठ्यां नवम्यां चर्षयः, मातृपितृगुरुवृद्धसिद्धाचार्योपसेविनं प्रायो दशम्याममावस्यायां च पितरः, गन्धर्वाः स्तुतिगीतवादित्ररतिं परदारगन्धमाल्यप्रियं चोक्षाचारं प्रायो द्वादश्यां चतुर्दश्यां च, सत्त्वबलरूपगर्वशौर्ययुक्तं माल्यानुलेपनहास्यप्रियमतिवाक्करणं प्रायः शुक्लैकादश्यां सप्तम्यां च यक्षाः, स्वाध्यायतपोनियमोपवासब्रह्मचर्यदेवयतिगुरुपूजाऽरतिं भ्रष्टशौचं ब्राह्मणमब्राह्मणं वा ब्राह्मणवादिनं शूरमानिनं देवागारसलिलक्रीडनरतिं प्रायः शुक्लपञ्चम्यां पूर्णचन्द्रदर्शने च ब्रह्मराक्षसाः, रक्षःपिशाचास्तु हीनसत्त्वं पिशुनं स्त्रैणं लुब्धं शठं प्रायो द्वितीयातृतीयाष्टमीषु—इत्यपरिसंख्येयानां ग्रहाणामाविष्कृततमा ह्यष्टावेते व्याख्याताः'। (च० चि० अ० ९)

दर्पणादीन् यथा छाया शीतोष्णं प्राणिनो यथा।
स्वमणिं भास्करस्योस्रा यथा देहञ्च देहधृक् ॥१९॥
विशन्ति च न दृश्यन्ते ग्रहास्तद्वच्छरीरिणाम्।
प्रविश्याशु शरीरं हि पीडां कुर्वन्ति दुस्सहाम्॥ २० ॥

ग्रहावेशप्रकारः—यहाँ पर कुछ लोग प्रश्न करते हैं कि यदि उक्त ग्रह मानव की देह में प्रवेश करते हैं तो दिखाई क्यों नहीं देते हैं, इसका उत्तर देते हैं कि जिस प्रकार दर्पण (काच) और जल-तैल जैसी निर्मल वस्तु में छाया (प्रतिबिम्ब) चली जाती है, किन्तु जाते समय दिखाई नहीं देती, इसी प्रकार शीत और उष्ण प्राणियों के शरीर में प्रविष्ट होते हुए दिखाई नहीं देते हैं एवं सूर्य की किरणें स्वमणि (सूर्यकान्तमणि) में प्रविष्ट होती हुई भी दिखाई नहीं देती हैं तथा जिस प्रकार अदृश्य जीवात्मा देह में प्रविष्ट करती हुई भी दिखाई नहीं देती है, उसी प्रकार ये देवादिग्रह मनुष्य के शरीर में प्रविष्ट होते हुए भी दिखाई नहीं देते हैं। ये दुष्टग्रह मनुष्य शरीर में प्रविष्ट होकर असह्य पीड़ा उत्पन्न कर देते हैं ॥ १९-२० ॥

विमर्शः—आवेशादृश्यतायां हेतुः—अदृश्यन्तः पुरुषस्य देहं देवादयः स्वैस्तु गुणप्रभावैः। विशन्त्यदृश्यास्तरसा यथैव छायातपौ दर्पणसूर्यकान्तौ॥ (च० चि० अ० ९)

तपांसि तीव्राणि तथैव दानं
व्रतानि धर्मो नियमाश्च सत्यम्।
गुणास्तथाऽष्टावपि तेषु नित्या
व्यस्ताः समस्ताश्च यथाप्रभावम् ॥ २१ ॥

देवासुरविशिष्टगुणाः—देव आदि ग्रहों में उग्र तप, दान, व्रत, धर्म, नियम, सत्य तथा अणिमा, लघिमा, महिमा आदि अष्टविध सिद्धियाँ अपने अपने प्रभाव के अनुसार उन व्यस्त (व्यष्टि) और समस्त (समष्टि) रूप में रहती हैं ॥ २१ ॥

विमर्शः—तपः तपनलक्षणमुपवासादि। व्रतानि=शास्त्रोदितविधिना भोजनादिनियमनादि। धर्मः=कायवाङ्मनसां सुचरितम्। गुणास्तथाऽष्टाविति—अणिमा लघिमा चैव महिमा गरिमा तथा। प्राप्तिः प्राकाम्यमीशित्वं वशित्वञ्चाष्टसिद्धयः॥ अन्ये तु—आवेशश्चेतसो ज्ञानमर्थानां छन्दतः क्रिया। दृष्टिः श्रोत्रं स्मृतिः कान्तिरिष्टतश्चाप्यदर्शनम्॥ व्यस्ताः समस्ताश्च—इन ग्रहादिकों में अपने प्रभावानुसार उक्त तप आदि गुण नित्य रूप से तथा व्यस्त (द्वि त्रि-चतुर) रूप में और समस्त रूप में रहते हैं। अर्थात् देवादिक ग्रहों में ये गुण समस्त रूप में रहते हैं और असुरादि ग्रहों में व्यस्त रूप से रहते हैं।

न ते मनुष्यैः सह संविशन्ति
न वा मनुष्यान् क्वचिदाविशन्ति।
ये त्वाविशन्तीति वदन्ति मोहात्
ते भूतविद्याविषयादपोह्याः ॥ २२ ॥

देवादयो नाविशन्ति—देवादि ग्रहों में तीव्र तप, दान, व्रत आदि उत्कृष्ट गुण होने से ये मनुष्यों के साथ नहीं बैठते हैं और न तो वे स्वयं मनुष्यों के शरीर में प्रविष्ट ही होते हैं, किन्तु जो लोग फिर भी अज्ञान से मानवशरीर में इनका प्रवेश मानते हैं उनको भूतविद्या से अनभिज्ञ ही समझना चाहिए ॥ २२ ॥

तेषां ग्रहाणां परिचारका ये
कोटीसहस्रायुतपद्मसंख्याः ।
असृग्वसामांसभुजः सुभीमा
निशाविहाराश्च तमाविशन्ति ॥ २३ ॥

शरीरे ग्रहपरिचारकप्रवेशः—इन देवादिक ग्रहों के जो कोटि (करोड़ों), सहस्र (हजारों), अयुत (लाखों) और पद्म (असंख्य) अनुचर हैं जो कि रक्त, वसा, और मांस का भोजन करते हैं तथा बलवान और रात्रि में इधर उधर घूमते रहते हैं वे मनुष्यों में आविष्ट होते हैं ॥ २३ ॥

विमर्शः—इन ग्रहों के अनुचर रक्त, वसा, मांस आदि खानेवाले तथा अशुचि होते हैं। इस वास्ते जो व्यक्ति इन्हींके आचरण वाला (मद्यमांसभोजी) होता है उसे आक्रान्त करते हैं।

निशाचराणां तेषां हि ये देवगणमाश्रिताः ।
ते तु तत्सत्त्वसंसर्गाद्विज्ञेयास्तु तदङ्गनाः ॥ २४ ॥

देवगणानुचरा देवतुल्याः—इन निशाचरों के जो अनुचर जिस देवगण के आश्रित हो के रहते हैं वे भी उन देवगण के सत्त्व आदि के संसर्ग से उसी देवता के समान लक्षणों वाले होते हैं ॥

देवग्रहा इति पुनः प्रोच्यन्ते शुचयश्च ये ।
देववच्च नमस्यन्ते प्रत्यर्थ्यन्ते च देववत् ॥ २५ ॥

देवग्रहसंज्ञा—इन अनुचरों में जो अनुचर पवित्र होते हैं उन्हें देवग्रह कहा जाता है। इसीलिये इनको देवता के समान नमस्कार किया जाता है और देवता के समान ही इनसे स्वाभीष्ट सिद्धि की प्रार्थना भी की जाती है।' २५ ॥

विमर्शः—अनेक पुस्तकों में 'शुचयश्च ये' के स्थान पर 'अशुचयश्च ये' ऐसा पाठान्तर है, जिसका तात्पर्य है कि जो अपवित्र होते हैं वे ही मनुष्यों पर आक्रमण करते हैं।

स्वामिशीलक्रियाचाराः क्रम एष सुरादिषु ।
निर्ऋतेर्या दुहितरस्तासां सप्रसवः स्मृतः ॥ २६ ॥

देवग्रहाणां स्वभावः—देवग्रहों के जो अनुचर माने गये हैं वे अपने स्वामी (प्रभु) के समान स्वभाव, शील और क्रिया वाले होते हैं, तथापि पूर्व में कहा है कि ये रक्त, मांस आदि खाते हैं। इसका कारण यह है कि निर्ऋति (राक्षसों के पितामह) की पुत्रियों के ये सन्तान भूत हैं अतएव इनमें रक्तमांसादि सेवन करने का स्वभाव कुलपरम्पराप्राप्त है ॥ २६ ॥

विमर्शः—हाराणचन्द्रजी ने इस श्लोक को निम्नरूप से लिखा है—स्वामिशीलक्रियाचारक्रमा एव सुरादिषु । निर्ऋतेर्या दुहितरस्तासां सप्रसवाः स्मृताः ॥

सत्यस्वादप्रवृत्तेषु वृत्तिस्तेषां गणैः कृता ॥ २७ ॥

अनुचरग्रहवृत्तिः—जो मनुष्य सत्य, शौच आदि आचार-विचार से भ्रष्ट हो गये हों उनके शरीर में आविष्ट होकर अपनी जीविका को चलानी चाहिए, ऐसी व्यवस्था देवताओं ने कर दी है ॥ २७ ॥

विमर्शः—शास्त्रोक्त सत्य व्यवहारके छोड़ देने से ही इनके गणों की अनुचरवृत्ति बना दी है—ऐसा अर्थ अन्य टीकाकारों ने किया है किन्तु वह अनुपयुक्त है।

हिंसाविहारा ये केचिद् देवभावमुपाश्रिताः ।
भूतानीति कृता संज्ञा तेषां संज्ञाप्रवक्तृभिः ॥ २८ ॥

ग्रहाणां भूतसंज्ञा—जो देवगण की अवस्था को प्राप्त होकर भी हिंसा की इच्छा करते हैं उनकी भूतसंज्ञा संज्ञा बनाने वालों ने की है ॥ २८ ॥

ग्रहसंज्ञानि भूतानि यस्माद्वेत्त्यनया भिषक् ।
विद्यया भूतविद्यात्वमत एव निरुच्यते ॥ २९ ॥

भूतविद्यानिरुक्तिः—वैद्य जिस शास्त्र के वर्णनद्वारा ग्रहसंज्ञक भूतों की पहचान कर सकता है, इसी लिये उस विद्या को भूतविद्या कहते हैं ॥ २९ ॥

विमर्शः—(१) 'भूतविद्या नाम देवासुरगन्धर्वयक्षरक्षःपितृपिशाचनागग्रहाद्युपसृष्टचेतसां शान्तिकर्मबलिहरणादि ग्रहोपशमनार्थम्' (सु. सू. अ. १) (२) भूतविद्या नाम देवासुरगन्धर्वयक्षरक्षःपितृनागपिशाचग्रहात्मकानि भूतानि वेत्ति अनयेति, भूतावेशनिराकरणार्थं विद्येति वा भूतविद्या। आजकल इसे (Demmology) कहते हैं।

तेषां शान्त्यर्थमन्विच्छन् वैद्यस्तु सुसमाहितः ।
जपैः सनियमैर्होमैरारभेत चिकित्सितुम् ॥ ३० ॥

ग्रहसामान्यचिकित्सा—इन देवादि अनुचर ग्रहों की शान्ति के लिए वैद्य सावधान चित्त होकर शौच, स्नान, ब्रह्मचर्य आदि नियमपूर्वक ओंकारसहित गायत्री मन्त्र के एक लाख से एक करोड़ तक जप करके यव, तिल और घृत का अग्नि में हवन कर चिकित्सा कार्य प्रारम्भ करे ॥ ३० ॥

रक्तानि गन्धमाल्यानि बीजानि मधुसर्पिषी ।
भक्ष्याश्च सर्वे सर्वेषां सामान्यो विधिरुच्यते ॥ ३१ ॥

ग्रहशान्त्यर्थं माल्याद्युपहारः—कुङ्कुम केशर से बनाया हुआ लाल रङ्ग का गन्ध तथा कनेर के लाल पुष्पों की माला, सर्षप, यव आदि बीज, शहद और घृत एवं लड्डू, जलेबी फीणी आदि नाना प्रकार के मीठे भक्ष्य पदार्थों को एक पलाश की पत्तल या दोनों में रखकर चौराहे पर निर्जन स्थान में उस ग्रहानुचर के नाम से बलि देनी चाहिये ॥३१॥

वस्त्राणि गन्धमाल्यानि मांसानि रुधिराणि च ।
यानि येषां यथेष्टानि तानि तेभ्यः प्रदापयेत् ॥ ३२ ॥

इष्टबलिदानम्—जिन देवताओं के लिये जिस प्रकार के अभीष्ट हों उनके लिये वैसे वस्त्र (रक्त, पीत, श्वेत, कृष्ण आदि) बलि में रखें तथा गन्ध, मालायें, मांस, रक्त ये भी जिन्हें जैसा अभीष्ट हो वैसा बलि में रखें ॥ ३२ ॥

विमर्शः—किस देवग्रह को कौन सा गन्ध, माल्य और वस्त्र मांसादि अभीष्ट है यह ज्ञान, वृद्ध-व्यवहार तथा उस ग्रह के स्वभाव और लक्षणों से जाना जा सकता है—'सन्तुष्टः शुचिरपि चेष्टमाल्यगन्धः' इत्यादि। किसी पुस्तक में 'वस्त्राणि मद्यमांसानि क्षीराणि' ऐसा भी पाठान्तर है।

हिंसन्ति मनुजान् येषु प्रायशो दिवसेषु तु ।
दिनेषु तेषु देयानि तद्भूतविनिवृत्तये ॥ ३३ ॥

वस्त्रादिबलिप्रदानकालः—जो ग्रह जिस दिन मानव को आक्रान्त करता है उस दिन उस ग्रह की शान्ति के लिए बलि वस्त्रादि का उपहार देना चाहिए ॥ ३३॥

देवग्रहे देवगृहे हुत्वाऽग्निं प्रापयेद्बलिम् ।
कुशस्वस्तिकपूपाज्यच्छत्रपायससम्भृतम् ॥ ३४ ॥

बलिदानार्थं देवस्थानम्—प्रत्येक देवग्रह में अग्नि का घृत,

तिल, यवादि से हवन करके बलि देनी चाहिये। बलिकर्म में प्रथम नीचे कुश का आस्तरण बिछाकर उसके ऊपर यव-चूर्ण, अबीर, गुलाल आदि से स्वस्तिक चिह्न बनाकर उस पर पूप (मालपूए या पुडले), घृत, छत्र और दुग्ध में पक्व क्षीर रखकर बलि देनी चाहिए ॥ ३४ ॥

असुराय यथाकालं विदध्याच्चत्वरादिषु ।
गन्धर्वस्य गवां मध्ये मद्यमांसाम्बु जाङ्गलम् ॥ ३५ ॥

विभिन्नबलिस्थानानि—असुर नामक देवग्रह के लिये सन्ध्या के समय में चौरास्ते पर बलि देनी चाहिए तथा गन्धर्वग्रह की शान्ति के लिये मद्य, जङ्गली पशु-पक्षियों के मांस और जल इन्हें एक मिट्टी के नये सकोरे में भरकर बलि-कर्म के लिये गोशाला के मध्य में रख देवें ॥ ३५ ॥

विमर्शः—कुछ लोग 'मद्यमांसाम्बुजाङ्गलम्' इसके स्थान पर 'मद्यमांसाम्बुजाकुलम्' ऐसा पाठान्तर मानते हैं। वहाँ पर मद्य, मांस तथा अम्बुज अर्थात् कमलोत्पलादि ऐसा अर्थ करना चाहिये, क्योंकि गन्धर्वों को पुष्प प्रिय होते हैं।

हृद्ये वेश्मनि यक्षस्य कुल्माषासृक्सुरादिभिः ।
अतिमुक्तककुन्दाब्जपुष्पैश्च वितरेद्बलिम् ॥ ३६ ॥

यक्षाय बलिदानम्—यक्षग्रह की शान्ति के लिये हृदय को प्रिय लगने वाले सुन्दर मकान में कुल्माष अर्थात् यव की पिट्ठी से बनाये हुए पदार्थ अथवा अर्धस्विन्न यव तथा रक्त, सुरा और अन्य भक्ष्य पदार्थ एवं अतिमुक्तक (माधवीलता) के पुष्प, कुन्द के पुष्प और अब्ज (कमल) के पुष्प इन सभी को एक नये सकोरे में या शराव में भरकर बलि देनी चाहिए ॥

नद्यां पितृग्रहायेष्टं कुशास्तरणभूषितम् ।
तत्रैवोपहरेच्चापि नागाय विविधं बलिम् ॥ ३७ ॥

पितृ-नागग्रहबलिदानम्—पितृग्रह के दोष से मुक्त होने के लिए नदी के किनारे पर दर्भ का बिछौना बिछाकर उस पर यव, तिल और गुड आदि की बलि देनी चाहिए। इसी प्रकार नागग्रह की शान्ति के लिए भी नदी के किनारे पर ही अनेक प्रकार की बलि देनी चाहिए। अर्थात् गुड, मधु तथा भक्ष्याशय और दुग्धपक्व क्षीर आदि की बलि देवें ॥ ३७ ॥

चतुष्पथे राक्षसस्य भीमेषु गहनेषु वा ।
शून्यागारे पिशाचस्य तीव्रं बलिमुपाहरेत् ॥ ३८ ॥

राक्षसपिशाचयोर्बलिदानम्—राक्षसग्रह की शान्ति के लिये गाँव के चौरास्ते पर अथवा अत्यधिक वृक्षों वाले निबिड या बीहड जङ्गलों में जाकर बलि देनी चाहिए। इसी प्रकार पिशाच ग्रह की शान्ति के लिये टूटे-फूटे शून्य मकान में तीव्र पदार्थों जैसे कच्चा मांस या पके मांस का शोरबा और मद्य की बलि देनी चाहिए ॥ ३८ ॥

पूर्वमाचरितैर्मन्त्रैर्भूतविद्यानिदर्शितैः ।
न शक्या बलिभिर्जेतुं योगैस्तान् समुपाचरेत् ॥ ३९ ॥

मन्त्रबलिभ्यामलाभे उपायाः—सुश्रुत सूत्रस्थान के अग्रोपहरणीय नामक पाँचवें अध्याय में कहे हुए मन्त्र तथा अन्य तन्त्रों में भी भूतविद्या के विषय में कहे हुए मन्त्रों के प्रयोग करने से तथा इस अध्याय में लिखे हुए विविध प्रकार के बलिदान कर्म से भी यदि इन ग्रहों का संशमन न हो तो वक्ष्यमाण धूपनादि योगों का प्रयोग करना चाहिए ॥ ३९ ॥

अजर्क्षचर्मरोमाणि शल्यकोलूकयोस्तथा ।
हिङ्गु मूत्रञ्च बस्तस्य धूपमस्य प्रयोजयेत् ॥
एतेन शाम्यति क्षिप्रं बलवानपि यो ग्रहः ॥ ४० ॥

अजादिरोमधूपनम्—बकरा और रीछ के चर्म तथा रोम एवं शल्लकी (सेह) के कण्टकयुक्त रोम तथा उल्लू की पूँछ के बाल या चर्म और रोम एवं हिंग तथा बकरे का मूत्र इन सब द्रव्यों को समान प्रमाण में लेकर खाण्डने योग्य को खाण्ड कर चूर्ण कर लें तथा बकरे के मूत्र में घोटकर ग्रहजुष्ट रोगी के पास अग्नि में धूप देने से बलवान् ग्रह का आवेश भी शीघ्र शान्त हो जाता है ॥ ४० ॥

गजाह्वपिप्पलीमूलत्र्योषामलकसर्षपान् ।
गोधानकुलमार्जारऋष्यपित्तप्रपेषितान् ॥
नस्याभ्यञ्जनसेकेषु विदध्याद्योगतत्त्ववित् ॥ ४१ ॥

ग्रहोपशान्तये नस्याञ्जनसेकाः—गजपीपल, पिपलामूल, सोंठ, मरिच, पिप्पली, आँवले, सरसों इन्हें समान प्रमाण में लेकर खाण्ड-कूट कर चूर्णित कर गोधा, नकुल (नेवला), मार्जार (बिडाल) और ऋष्य (नीलाण्ड मृग) के पित्त से क्रमशः भावित कर खरल करके सुखा कर शीशी में भर देवें। इस चूर्ण को नस्य, अभ्यञ्जन और सेक में प्रयुक्त करने से ग्रहदोष की शान्ति होती है ॥ ४१ ॥

खराश्वाश्वतरोलूककरभश्वशृगालजम् ।
पुरीषं गृध्रकाकानां वराहस्य च पेषयेत् ॥
बस्तमूत्रेण तत्सिद्धं तैलं स्यात् पूर्ववद्धितम् ॥ ४२ ॥

खराश्वादिपुरीषसिद्धतैलम्—गधा, घोड़ा, खच्चर, उल्लू, ऊँट, कुत्ता, गीदड़, (शृगाल), गिद्ध और कौआ तथा सूकर इन सबके मल को समान प्रमाण में लेकर पत्थर पर पीसकर कल्क बना लें। फिर कल्क से चतुर्गुण तैल तथा तैल से चतुर्गुण बकरे का मूत्र लेकर सबको एक कलईदार भगोने (पात्र) में भर कर तैलावशेष पाक कर लें। इस तैल को पूर्ववत् अर्थात् नस्य, अभ्यङ्ग, सेक आदि रूप में प्रयुक्त करने पर उन्माद, अपस्मार आदि बाधायें नष्ट होकर रुग्ण मानव का हित होता है ॥ ४२ ॥

शिरीषबीजं लशुनं शुण्ठीं सिद्धार्थकं वचाम् ।
मञ्जिष्ठां रजनीं कृष्णां बस्तमूत्रेण पेषयेत् ॥
वर्त्यश्छायाविशुष्कास्ताः सपित्ता नयनाञ्जनम् ॥ ४३ ॥

ग्रहजुष्टे शिरीषादिवर्तिः—सहजन के बीज, लहसुन की गिरी, सोंठ, सफेद सरसों, वचा, मजीठ, हरिद्रा और पिप्पली इन्हें समान प्रमाण में लेकर खाण्ड-कूट के चूर्णित कर खरल में डाल कर बकरे के मूत्र के साथ भावित कर तीन घण्टे पर्यन्त घोंटे। पश्चात् पञ्चपित्त से भावित कर तीन घण्टे तक घोंट के यव की आकृति की वर्तियाँ बना के छाया में सुखाकर शीशी में भर देवें। इस वर्ति को गुलाबजल या पानी में घिस कर नेत्र में अञ्जित करने से समस्त ग्रहबाधा नष्ट होती है ॥

नक्तमालफलं व्योषं मूलं श्योनाकबिल्वयोः ।
हरिद्रे च कृता वर्त्यः पूर्ववन्नयनाञ्जनम् ॥ ४४ ॥

ग्रहजुष्टे नक्तमालादिवर्तिः—करञ्ज फल की मींगी, सोंठ, मरिच, पिप्पली, सोनापाठा की जड़, बिल्व की जड़, हरिद्रा

और दारु हरिद्रा। इन सबको समान प्रमाण में लेकर खाण्ड कूट कर चूर्णित करके पूर्ववत् अर्थात् बकरे के मूत्र में भावित करके तीन घण्टे तक घोटकर पश्चात् पञ्चपित्त से भावित कर खरल करके यव के प्रमाण की वर्तियाँ बना के शीशी में भर देवें। इन वर्तियों को गुलाबजल या साधारण जल में घिसकर नेत्रों में आञ्जने से ग्रहदोष नष्ट होते हैं ॥ ४४ ॥

सैन्धवं कटुकां हिङ्गु वयःस्थाञ्च वचामपि ।
ये ये ग्रहा न सिध्यन्ति सर्वेषां नयनाञ्जनम् ॥ ४५ ॥

ग्रहदोषे सैन्धवादिवर्तिः—सैन्धव लवण, कुटकी, हिंग, गिलोय और वचा इन्हें समान प्रमाण में लेकर खाण्ड-कूट कर चूर्णित करके बकरे के मूत्र के साथ तीन दिन तक खरल करके पश्चात् मछली के पित्त के साथ भावित कर खरल करके यव के आकार की वर्तियाँ बना कर छाया-शुष्क कर शीशी में भर देवें। इस वर्ति को पानी में घिस कर नेत्रों में अञ्जन करने से अन्य उपचार से जो-जो ग्रह शान्त न होते हों वे इससे शान्त हो जाते हैं ॥ ४५ ॥

पुराणसर्पिर्लशुनं हिङ्गु सिद्धार्थकं वचा ।
गोलोमी चाजलोमी च भूतकेशी जटा तथा ॥४६॥
कुक्कुटा सर्पगन्धा च तथा काणविकाणिके ।
वज्रप्रोक्ता वयःस्था च शृङ्गी मोहनवल्लिका ॥ ४७ ॥
अर्कमूलं त्रिकटुकं लता स्रोतोजमञ्जनम् ।
नैपाली हरितालञ्च रक्षोघ्ना ये च कीर्तिताः ॥४८॥
सिंहव्याघ्रर्क्षमार्जारद्वीपिवाजिगवान्तथा ।
श्वाविच्छल्यकगोधानामुष्ट्रस्य नकुलस्य च ॥ ४९ ॥
विट्त्वग्रोमवसामूत्ररक्तपित्तनखादयः ।
अस्मिन् वर्गे भिषक् कुर्य्यात्तैलानि च घृतानि च ॥५०॥
पानाभ्यञ्जननस्येषु तानि योज्यानि जानता ।
अवपीडेऽञ्जने चैव विदध्याद् गुटिकीकृतम् ॥ ५१ ॥
विदधीत परीषेके क्वथितं चूर्णितं तथा ।
उद्धूलने, श्लक्ष्णपिष्टं प्रदेहे चावचारयेत् ॥ ५२ ॥
एष सर्वविकारांस्तु मानसानपराजितः ।
हन्यादल्पेन कालेन स्नेहादिरपि च क्रमः ॥ ५३ ॥

सर्वग्रहदोषे लशुनादिवर्गसिद्धं सर्पिः—दस वर्ष का पुराण घी, लहसुन, हिंग, श्वेत सरसों, वचा, दूर्वा, श्वेत दूर्वा, जटामांसी (भूतकेशी), जटा (गन्धमांसी), कुक्कुटशिम्बी, सर्पगन्धा, (वर्षा में होने वाली छत्राकी), काणविका, (काकोली), आणिका (क्षीर काकोली), वज्रप्रोक्ता (वज्रकन्द) वयःस्था (गुडूची), काकडासींगी, मोहनवल्लिका (वट पत्रिका), आकडा की जड़, सोंठ, मरिच, पिप्पली, फूलप्रियङ्गु, स्रोतोऽञ्जन, मनःशिला (नेपाली), हरताल, श्वेत सर्षपादिक रक्षोघ्न द्रव्य एवं शेर, व्याघ्र, ऋक्ष (भालू), वनबिलाव (मार्जार), द्वीपी (चीता), वाजी (घोड़ा) और गाय, श्वाविद् (सेही), शल्यक (वज्रशल्यक या बड़ी सेह), गोह, ऊँट और नेवला इनकी विष्ठा, त्वचा, रोम (बाल), वसा (चरबी), मूत्र, रक्त, पित्त और नख आदि सबको समान प्रमाण में लेकर खाण्ड कूट के कल्क बना लें। इस तरह बना यह कल्क १ पल तथा तिल तैल अथवा घृत १ प्रस्थ (१६ पल) एवं सम्यक्पाकार्थं जल ४ प्रस्थ मिला कर तैल या घृतावशेष पाक कर लेवें। विज्ञ वैद्य इस तैल या घृत को पान, अभ्यङ्ग और नस्य में प्रयुक्त करे। उसके अतिरिक्त इस वर्ग की पुराणसर्पि से लेकर नख पर्यन्त औषधियों से गुटिका बना कर उससे अवपीडन नस्य और अञ्जन करे। इसी प्रकार इन औषधियों के क्वाथ से रुग्ण के शरीर का सिञ्चन तथा चूर्ण बना के उसका शरीर पर उबटन या छिड़कन (डस्टिङ्ग) करना चाहिए। इसी प्रकार इस वर्ग की इन औषधियों को पानी के साथ पत्थर पर पीस कर चटनी के समान करके रुग्ण के शरीर पर प्रदेह के रूप में प्रयुक्त करें। यह योग मन की विकृति से उत्पन्न होने वाले उन्माद, अपस्मार एवं ग्रहदोषादि सर्व विकारों को नष्ट करता है। इस गण को अपराजित गण कहते हैं। अर्थात् यह गण रोगों से पराजित न होकर उन्हें ही थोड़े ही समय में नष्ट कर देता है। इस गण की औषधियों के सेवन के पूर्व या पश्चात् अथवा कभी साथ में स्नेहन, स्वेदन, वमन, विरेचन और बस्ति का भी प्रयोग करना चाहिए ॥ ४६-५३ ॥

विमर्श—पुराणघृतलक्षणम्—'दशवर्षोषितं ह्याज्यं पुराणं प्रोच्यते बुधैः'। चरकेऽपि—विशेषतः पुराणञ्च घृतं तं पाययेद्भिषक्। त्र्यग्रन्धं पुराणं स्याद्दशवर्षस्थितं घृतम् ॥ लाक्षारसनिभं शीतं तद्धि सर्वग्रहापहम्। मेध्यं विरेचनेष्वग्र्यं प्रपुराणमतः परम् ॥ नासाध्यं नाम तस्यास्ति यस्यादर्षशतस्थितम्। दृष्टं स्पृष्टमथाघ्रातं तद्धि सर्वग्रहापहम् ॥ (च० चि० अ० ९) लशुनम् अर्थात् लशति भिनत्ति रोगानिति लशुनम्। सिद्धार्थकः सिद्धप्रयोगारम्भकत्वात्, श्वेतसर्षपः सिद्धार्थक उच्यते। गोलोमी = दूर्वा, अजलोमी = श्वेत दूर्वा, सर्पगन्धा = वर्षासु छत्राकारा। काणविकाणिके काकोलीक्षीरकाकोल्यौ। कुछ लोग 'तथा काणविकाणिके' इस पाठ में तथा के स्थान पर 'तिक्ता' और 'विकाणिके' के स्थान पर 'विषाणिके' ऐसा पाठान्तर मानते हैं, ऐसे पाठान्तर में तिक्ता से कटुतुम्बी तथा विषाणिका से मेषशृङ्गी का अर्थ ग्रहण करना चाहिए। वज्रप्रोक्ता = वज्रकन्दः, कुछ लोग इसका स्नुही अर्थ ग्रहण करते हैं। एवञ्च कुछ आचार्य वज्रप्रोक्ता के स्थान पर 'ऋष्यप्रोक्ता' अर्थ करते हैं, जिससे शतावरी का ग्रहण होता है। स्रोतोऽञ्जनम्—यह पर्णासा नदी अथवा सिन्धु नद के आसपास की खानों में होता है। स्रोतोऽञ्जनलक्षणम्—वल्मीकशिखराकारं रूपे नीलोत्पलद्युति। स्रोतोऽञ्जनं प्रशंसन्ति तच्च प्रत्यञ्जने हितम् ॥

न चाचौक्षं प्रयुञ्जीत प्रयोगं देवताग्रहे ।
ऋते पिशाचादन्यत्र प्रतिकूलं न चाचरेत् ।
वैद्यातुरौ निहन्युस्ते ध्रुवं क्रुद्धा महौजसः ॥ ५४ ॥

देवग्रहे अचौक्षप्रयोगनिषेधः—देवादि ग्रह के द्वारा आक्रान्त होने पर अशुद्ध (अपवित्र) वस्तुओं का प्रयोग निषिद्ध कर देना चाहिए। किन्तु पिशाच ग्रह को छोड़कर अन्य ग्रहों में प्रतिकूल (अपवित्र) वस्तुओं का उपयोग न करें। क्योंकि अनुचित या अपवित्र वस्तुओं के प्रयोग से ये महान् ओजस्वी देवादिग्रह क्रुद्ध हो के निश्चय ही वैद्य और रोगी दोनों को मार डालते हैं ॥ ५४ ॥

विमर्श—चरकाचार्य ने देवर्षि, पितृग्रह और गन्धर्वग्रहों के लिये तीक्ष्ण अञ्जन तथा क्रूरकर्म वर्जित किये हैं—देवर्षि-

पितृगन्धर्वैरुन्मत्तस्य तु बुद्धिमान्। वर्जयेदञ्जनादीनि तीक्ष्णानि क्रूरकर्म च॥ सर्पिष्पानादि तस्येह मृदु भैषज्यमाचरेत्। पूजां बल्युपहारांश्च मन्त्राञ्जनविधींस्तथा॥ शान्तिकर्मेष्टिहोमांश्च जपस्वस्त्ययनानि च। वेदोक्तान् नियमांश्चापि प्रायश्चित्तानि चाचरेत्॥ (च० चि० अ० ९)

हिताहितीये यच्चोक्तं नित्यमेव समाचरेत्।
ततः प्राप्स्यति सिद्धिञ्च यशश्च विपुलं भिषक्॥५५॥

इति सुश्रुतसंहितायामुत्तरतन्त्रान्तर्गते भूतविद्यातन्त्रेऽमानुषोपसर्गप्रतिषेधो नाम (प्रथमोऽध्यायः, आदितः) षष्टितमोऽध्यायः॥६०॥

ग्रहजुष्टे हिताहारादिसेवनोपदेशः—हिताहितीय अध्याय में जो आहार-विहार का उपदेश दिया है उसे नित्य ही पालित करने से लाभ होता है। उसी के अनुसार आहार तथा विहार करने से रोगी रोगनाशन रूपी सिद्धि तथा वैद्य विपुल यश को प्राप्त करता है॥ ५५॥

विमर्शः—हिताहितीय—सु० सू० अ० २० में शरीर के लिये हितकर तथा अहित कर द्रव्यों (पदार्थों) का वर्णन किया है। वहाँ पर हिताहित की दृष्टि से द्रव्यों के तीन भेद किये गये हैं—(१) अपने स्वभाव तथा संयोगवश एकान्त हितकारक द्रव्य जैसे जल, घृत, दुग्ध, और चावल आदि ये द्रव्य जन्म से ही हितकारक होते हैं। अन्य भी जैसे लाल शालि, षष्टिक, गेहूं आदि। मांसों में एण, हरिण, कुरङ्ग, कपोत, लावा, तीतर, कपिञ्जल का मांस इत्यादि। दालों में मूंग, मटर, मसूर, चना अरहर आदि। शाकों में चिल्ली, वास्तूक, करेला, जीवन्ती, चोलाई। स्नेहों में गोघृत, लवणों में सैन्धव लवण, फलों में दाडिम ये सर्व प्राणियों के लिये सामान्यतया अत्यन्त पथ्य माने जाते हैं। चरकाचार्य ने भी लिखा है—'लोहितशालयः शूकधान्यानां पथ्यतमत्वे श्रेष्ठतमाः, मुद्गाः शमीधान्यानाम्, सैन्धवं लवणानाम्, जीवन्तीशाकं शाकानाम्, ऐणेयं मृगमांसानाम्, लावः पक्षिणाम्, गव्यं सर्पिः सर्पिषाम्, (चरक)। अन्यच्च सुश्रुते—तथा ब्रह्मचर्यनिवातशयनोष्णोदकस्नाननिशास्वप्नव्यायामाश्चैकान्ततः पथ्यतमाः' (सु० सू० अ० २०)। (२) एकान्तअहितकारकद्रव्याणि—दहनपचनमारणादिषु प्रवृत्तानि अग्निक्षारविषादीनि, संयोगादपराणि विषतुल्यानि भवन्ति मधुसर्पिषोर्मधुमत्स्यपयसाश्च संयोगः। दो हितकर पदार्थों के संयोग से जब तीसरा अहितकर पदार्थ बन जाय उसे संयोगविरुद्ध (Chemically incompatible) पदार्थ कहते हैं। संयोग की महिमा विचित्र है—योगादपि विषं तीक्ष्णमुत्तमं भेषजं भवेत्। भेषजं चापि दुर्युक्तं तीक्ष्णं सम्पद्यते विषम्॥ (३) एकान्तहिताहितद्रव्यन्तु—यद्वायोः पथ्यं तत्पित्तस्यापथ्यमिति, अर्थात् हिताहित द्रव्य वे हैं जो सेवन करने पर शरीर के एक अङ्ग पर हितकर और दूसरे अङ्ग पर अहितकर परिणाम एक ही समय में किया करते हैं। कुछ लोग 'हिताहितीये' के स्थान में 'हिताहितञ्च' ऐसा पाठान्तर मानकर सुश्रुत सूत्रस्थान के प्रणितोपासनीय नामक १९ वें अध्याय में कहे हुए हितकारक आहार-विहारों का सेवन तथा अहितकारक आहार-विहारों का परिवर्जन करना चाहिए। एवं सुश्रुत सूत्रस्थान के हिताहितीय नामक २० वें अध्याय में जो हितविधान हैं उनका नित्य आचरण तथा अहित का परिवर्जन करना चाहिए।

इति सुश्रुतसंहितायां उत्तरतन्त्रेऽमानुषोपसर्गप्रतिषेधो नाम षष्टितमोऽध्यायः॥ ६०॥

एकषष्टितमोऽध्यायः

अथातोऽपस्मारप्रतिषेधमध्यायं व्याख्यास्यामः॥ १॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः॥ २॥

अब इसके अनन्तर यहाँ से अपस्मारप्रतिषेध नामक अध्याय का व्याख्यान करते हैं जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने कहा है॥ १-२॥

विमर्शः—अमानुषोपसर्गप्रतिषेधाध्याय के अनन्तर मनःप्रदुष्टिसामान्य-साधर्म्य होने से तथा ग्रहचिकित्सा का विधान अपस्माररोग में भी हितकारी होता है, इसलिए अमानुषोपसर्गप्रतिषेधाध्याय के पश्चात् अपस्मारप्रतिषेधाध्याय प्रारम्भ किया जाता है। चरकाचार्य ने तथा माधवकार ने उन्माद के अनन्तर अपस्मार का पाठ लिखा है।

स्मृतिर्भूतार्थविज्ञानमपश्च परिवर्जने।
अपस्मार इति प्रोक्तस्ततोऽयं व्याधिरन्तकृत्॥ ३॥

अपस्मारनिरुक्तिः—स्मृति शब्द का अर्थ भूतार्थ (व्यतीत एवं अनुभव में आये हुए विषय) का विज्ञान या स्मरण करना होता है तथा अपशब्द का गमनार्थ या परिवर्जन अर्थ होता है, एवं इन दोनों शब्दों का संयुक्तार्थ स्मृतिविनाश है। इस रोग में रोगी अग्नि और जलादि के स्पर्श और प्रवेश के हानिकारक ज्ञान का विस्मरण कर देने से उनमें गिर जाता है, जिससे उसका अन्त (मरण) हो जाता है। इसीलिए इस व्याधि का नाम अपस्मार रखा है॥ ३॥

विमर्शः—अपस्मारः—'अपशब्दो गमनार्थः, स्मारः स्मरणम्, अपगतः स्मारो यस्मिन् रोगे सोऽपस्मारः' (डल्हणः)। बीती हुई घटना के ज्ञान का ही दूसरा नाम स्मृति है और इसके विनाश को ही अपस्मार कहते हैं। चरकाचार्य ने भी स्मृति के नाश को ही अपस्मार माना है—'स्मृतेरपगमं प्राहुरपस्मारं भिषग्विदः। तमःप्रवेशं बीभत्सचेष्टं धीसत्त्वसंप्लवात्॥' (च० चि० अ० १०) वस्तुतः स्मृति से ज्ञानसामान्य का ग्रहण करना चाहिए, क्योंकि इस अवस्था में भूत एवं वर्तमान सब प्रकार के ज्ञानों का लोप हो जाता है। इसी आशय से चरकाचार्य ने अपस्मार की सामान्यपरिभाषा करते हुए लिखा है कि 'अपस्मारं पुनः स्मृतिबुद्धिसत्त्वसंप्लवाद् बीभत्सचेष्टमावस्थिकं तमःप्रवेशमाचक्षते' (च० नि० अ० ८) स्मृति, बुद्धि तथा मन के कार्यनाश को ही अपस्मार कहते हैं, जिसमें रोगी के मन, आत्मा और शरीर में तम का प्रवेश हो जाने से स्मृति, बुद्धि और मन इनका संप्लव (प्रलय या विलोप) हो जाता है तथा वह हस्त, पाद तथा मुख से बीभत्स चेष्टाएँ करने लगता है। मूर्च्छा, संन्यास आदि रोगों में जो संज्ञानाश होता है वह अपस्मार से कुछ भिन्न होता है। अपस्मार यह भी एक मानस रोग है। इसमें भी उन्माद के समान मस्तिष्क में कोई प्रत्यक्ष विकृति दृष्टिगोचर नहीं होती।

ज्ञान के विनाश की दृष्टि से तो यह उन्माद के सदृश ही है, किन्तु उन्माद में बुद्धिविभ्रम हो जाता है, जिससे रोगी देखता या सुनता हुआ भी उसके यथार्थ तत्त्व को ग्रहण करने में असमर्थ रहता है। उन्मादग्रस्त व्यक्ति बातें करता है, किन्तु सब असम्बद्ध। इसी प्रकार वह खाता भी है, परन्तु उसके स्वाद का ज्ञान उसे प्रायः नहीं रहता। अपस्मार का रोगी एकदम बेहोश हो जाता है। वह ज्ञान के अतिरिक्त किसी प्रकार की क्रिया भी नहीं कर सकता। इस प्रकार उन्माद में बुद्धिविभ्रम और अपस्मार में बुद्धि नाश होता है। अपस्मार का दौरा आवस्थिक एवं किञ्चित्कालावस्थायी ही होता है। इसके दौरे का समय भी प्रायः निश्चित होता है। यह बात उन्माद का दौरा आवस्थिक न होने के साथ-साथ स्थायी स्वरूप का भी होता है। यह रोग चिन्ता, काम, क्रोध, शोक तथा उद्वेग जैसे मानसिक कारण एवं शिरोऽभिघात, अथवा मस्तिष्कावरणशोथ (Meningitis), मस्तिष्कगत रक्तस्राव तथा मस्तिकार्बुद जैसे शारीरिक कारणों से सत्त्वगुण की हीनता एवं रज और तम की प्रबलता होने पर उत्पन्न होता है। स्वभावतः दुर्बल मनवाले मनुष्यों में यह अधिक पाया जाता है। उपर्युक्त कारणों से प्रकुपित हुये दोष मस्तिष्क, मस्तिष्कगत इन्द्रियाधिष्ठानों तथा वातनाडियों में आश्रित होकर अपस्मार को उत्पन्न करते हैं।

मिथ्याऽतियोगेन्द्रियार्थकर्मणामभिसेवनात्।
विरुद्धमलिनाहारविहारकुपितैर्मलैः ॥ ४ ॥
वेगनिग्रहशीलानामहिताशुचिभोजिनाम्।
रजस्तमोऽभिभूतानां गच्छतां च रजस्वलाम् ॥ ५ ॥
तथा कामभयोद्वेगक्रोधशोकादिभिर्भृशम्।
चेतस्यभिहते पुंसामपस्मारोऽभिजायते ॥ ६ ॥

अपस्मारोत्पत्तिहेतुः—इन्द्रियों के अर्थ (शब्द स्पर्श रूप रस गन्धादि) का तथा कायिक, वाचिक और मानसिक कर्मों का मिथ्यायोग, अयोग और अतियोग के सेवन करने से तथा हिताहितीय-अध्याय में कहे हुए संयोगादिविरुद्ध आहार के सेवन करने से एवं पूति (दुर्गन्धित), द्विष्ट (दूषित), अमेध्य (अपवित्र) और पर्युषित (बासी) ऐसे मलिन आहार के सेवन करने से तथा मलिन विहार करने से कुपित हुए वात, पित्त और कफ तथा रजोगुण और तमोगुणरूपी मलों से एवं मल-मूत्रादि अधारणीय वेगों के धारण करने के स्वभाववाले पुरुष और अहित तथा अपवित्र भोजन करनेवाले मनुष्य तथा रजोगुण और तमोगुण की विकृति से व्याप्त देह तथा मनवाले मनुष्य, एवं रजस्वला स्त्री के साथ संभोग करनेवाले पुरुषों के काम, भय, उद्वेग, क्रोध और शोक आदि करने से चित्त (मन) के दूषित होने पर अपस्मार-रोग उत्पन्न होता है ॥ ४-६ ॥

विमर्शः—मिथ्यातियोग के मध्य में अयोगशब्द लुप्त हुआ होने से इन्द्रियों का अर्थों के साथ कायिक वाचिक और मानसिक कर्मों का मिथ्यायोग, अयोग और अतियोग ऐसा अर्थ होता है। वाचस्पति ने शब्दादियों के मिथ्यादि योग निम्नरूप से लिखे हैं—(१) जैसे परुष, इष्टविनाश आदि का श्रवण मिथ्यायोग; पटह, भेरी, मृदङ्गों का अतिशब्द श्रवण अतियोग और सर्वशोऽश्रवण शब्द का अयोग कहलाता है। (२) शीतादि-स्पर्शों का वैपरीत्यरूप से उपसेवन अथवा अभिघात, भूत और अशुचि पदार्थों का संस्पर्श मिथ्यायोग; अधिक मात्रा में शीत, उष्ण आदि स्पृश्य तथा स्नान, अभ्यङ्ग आदि का अतिसेवन अतियोग एवं सर्वशोऽसेवन स्पर्श का अयोग कहलाता है। (३) अतिविकृतादि दर्शन अथवा अत्यन्त सूक्ष्म पदार्थों का दर्शन मिथ्यायोग, अत्यन्त तेजस्वी वस्तुओं का अतिदर्शन अतियोग और सर्वथा अनवलोकन रूप का अयोग कहलाता है। (४) अयोग्य रसों का आस्वादन मिथ्यायोग; रसों का अधिक आस्वादन अतियोग तथा रसों का अनास्वादन रसनेन्द्रिय का अयोग कहलाता है। (५) पूति, पर्युषित और दुर्गन्धित वस्तुओं का सूँघना मिथ्यायोग; अत्यन्त तीक्ष्णादि गन्धों का अधिक आघ्राण अतियोग एवं सर्वशोऽघ्राण गन्धेन्द्रिय का अयोग कहलाता है। कर्मादिमिथ्याऽयोगातियोगाः—व्यायामादिक कायिककर्म का निषिद्धकाल में सेवन कर्म का मिथ्यायोग; अतिसेवन अतियोग और सर्वशोऽसेवन अयोग कहलाता है। परुष (कठोर) तथा अनृत (झूठ) भाषण वाचिक कर्म का मिथ्यायोग; अधिक वाचन अतियोग एवं सर्वथा मौन रहना वाचिककर्म का अयोग कहलाता है। इसी प्रकार शोकादिचिन्तन रूप मानसकर्म का मिथ्यायोग, अतिमात्रचिन्तन अतियोग एवं सर्वथा अचिन्तन मानसकर्म का अयोग कहलाता है। मलाः—मलिनीकरणान्मलाः—मिथ्या आहार तथा विहार से घटकर या बढ़कर वात, पित्त और कफ ये शारीरिक दोष तथा रजोगुण और तमोगुण ये मन के दोष देह को और मन को मलिन कर देते हैं, इसलिये इन्हें मल कहा जाता है। चरकाचार्य ने अपस्मार की निम्नरूप से सम्प्राप्ति लिखी है—'त एवंविधानां प्राणभृतां क्षिप्रमभिनिर्वर्तन्ते, तद्यथा—रजस्तमोभ्यामुपहतचेतसामुद्भ्रान्तविषमबहुदोषाणां समलविकृतोपहितानि अशुचीनि अभ्यवहारजातानि वैषम्ययुक्तेनोपयोगविधिनोपयुञ्जानानां तन्त्रप्रयोगमपि च विषममाचरतामन्याश्च शरीरचेष्टा विषमाः समाचरतामत्युपक्षीणदेहानां वा दोषाः प्रकुपिताः रजस्तमोभ्यामुपहतचेतसामन्तरात्मनः श्रेष्ठतममायतनं हृदयमुपसृत्य पर्यवतिष्ठन्ते तथेन्द्रियायतनानि च तत्र तत्र चावस्थिताः सन्तो यदा हृदयमिन्द्रियायतनानि चेरिताः कामक्रोधभयलोभमोहहर्षशोकचिन्तोद्वेगादिभिर्भूयः सहसाऽभिपूरयन्ति तदा जन्तुरपस्मरति' (च० नि० अ० ८) विषम चेष्टा से मस्तिष्क में विकृति उत्पन्न करनेवाली सम्पूर्ण शारीरिक क्रियाओं का ग्रहण करना चाहिए। यहाँ पर हृदय शब्द से मस्तिष्क का ग्रहण करना चाहिए, क्योंकि वही मन तथा अन्य इन्द्रियों का अधिष्ठान है—प्राणाः प्राणभृतां यत्र श्रिताः सर्वेन्द्रियाणि च। तदुत्तमाङ्गमङ्गानां शिर इत्यभिधीयते॥ सञ्चित एवं प्रकुपित दोषों को जब काम, क्रोध, आदि किसी भी उत्तेजक कारण का आश्रय मिल जाता है तभी अपस्मार की अवस्था भी उत्पन्न हो जाती है। चरकाचार्य ने अपस्मार के कारणों में अनेक दोषों के उन्मार्गगामी होने पर तथा अहित और अपवित्र भोजन करने से एवं रजोगुण तथा तमोगुण के द्वारा मन के आक्रान्त होने पर और हृदय के दोषजुष्ट होने पर एवं चिन्ता, काम, भय, क्रोध, शोक और उद्वेगादिक से मन के अभिहत होने पर मनुष्यों को अपस्मार रोग होता है—विभ्रान्तबहुदोषाणामहिताशुचिभोजनात्। रजस्तमोभ्यां विहते सत्त्वे दोषावृते* हृदि॥ चिन्ताकामभयक्रोध-

शोकोद्वेगादिभिस्तथा। मनस्यभिहते नृणामपस्मारः प्रवर्तते॥ (च० चि० अ० १०)

हृत्कम्पः शून्यता स्वेदो ध्यानं मूर्च्छा प्रमूढता।
निद्रानाशश्च तस्मिंस्तु भविष्यति भवन्त्यथ॥ ७॥

अपस्मारपूर्वरूपम्—हृदय में कम्पन तथा शून्यता की प्रतीति, शरीर से पसीने का निकलना, किसी भी ध्यान में मग्न रहना, कभी-कभी मूर्च्छा का उत्पन्न होना, अत्यधिक संज्ञा का नाश (प्रमूढ़ता) और निद्रा का नष्ट होना, होने वाले अपस्मार में ये पूर्वरूप के लक्षण होते हैं॥ ७॥

विमर्शः—तस्येमानि पूर्वरूपाणि भवन्ति—तद्यथा—भ्रूव्युदासः सततमक्ष्णोर्वैकृतमशब्दश्रवणं, लालासिंघाणप्रस्रवणमनन्नाभिलषण मरोचकाविपाकौ, हृदयग्रहः, कुक्षेराटोपो दौर्बल्यमस्थिभेदोऽङ्गमर्दो मोहस्तमसो दर्शनम्, मूर्च्छा, भ्रमश्चाभीक्ष्णश्च स्वप्ने मदनर्तनपीडन-वेपथुव्यथनव्यधनपतनादीन्यपस्मारपूर्वरूपाणि भवन्ति, ततोऽनन्तर-मपस्माराभिनिर्वृत्तिरेव। (च० नि० अ० ८) अपस्मार के आधुनिक दृष्टि से निम्न पूर्वरूप होते हैं—इनमें बेचैनी, क्षुधा-नाश, शिरःशूल, बलहानि तथा निद्राधिक्य मुख्य हैं।

संज्ञावहेषु स्रोतःसु दोषव्याप्तेषु मानवः।
रजस्तमःपरीतेषु मूढो भ्रान्तेन चेतसा॥ ८॥
विक्षिपन् हस्तपादं च विजिह्मभ्रूविलोचनः।
दन्तान् खादन् वमन् फेनं विवृताक्षः पतेत् क्षितौ॥
अल्पकालान्तरश्चापि पुनः संज्ञां लभेत सः।
सोऽपस्मार इति प्रोक्तः स च दृष्टश्चतुर्विधः॥
वातपित्तकफैर्नॄणाञ्चतुर्थः सन्निपाततः॥ १०॥

अपस्माररूपम्—संज्ञावाहक स्रोतसों के वात, पित्त और कफ इन दोषों से व्याप्त होने पर तथा रजोगुण और तमोगुण के द्वारा भी आक्रान्त हो जाने पर भ्रान्त चित्त से मूढ (मोहयुक्त) हुआ पुरुष इधर-उधर हाथ-पैर फेंकता हुआ तथा भौं और नेत्रों को विकृत (टेढा या कुटिल) करता हुआ, दाँतों को खाता हुआ, फेन का वमन करता हुआ आँखें खोल (फाड़) कर पृथ्वी पर गिर पड़ता है तथा कुछ समय के पश्चात् पुनः संज्ञा को प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार के रोग को अपस्मार कहते हैं। और यह चार प्रकार का होता है जैसे वातिक, पैत्तिक, श्लैष्मिक तथा चौथा सान्निपातिक॥

चरकाचार्य ने भी अपस्मार की सम्प्राप्ति तथा लक्षणों का ऐसा ही वर्णन किया है—धमनीभिश्रिता दोषा हृदयं पीडयन्ति हि। स पीड्यमानो व्यथते मूढो भ्रान्तेन चेतसा॥ पश्यत्यसन्ति रूपाणि पतति प्रस्फुरत्यपि। जिह्माक्षिभ्रूः स्रवल्लालो हस्तौ पादौ च विक्षिपन्। दोषवेगे च विगते सुप्तवत् प्रतिबुध्यते। पृथग्दोषैः समस्तैश्च वक्ष्यते स चतुर्विधः॥ (च० चि० अ० १०) आधुनिक दृष्टि से अपस्मार दो प्रकार का होता है—१. लाक्षणिक (Symptomatic) यह आघात, हृदय, रक्तवाहिनी अथवा मस्तिष्क के रोग एवं विषमयता जैसे कारणों से होता है। कारण का ज्ञान होते हुए इसमें आङ्गीय विकृति भी स्पष्टरूप से दृष्टिगोचर होती है। २. अनैमित्तिक या अज्ञातकारण-जन्य अपस्मार (Idiopathic epilepsy), इसे शुद्ध मानसिक अपस्मार भी कहा जा सकता है। साधारणतया अपस्मार कहने से इसी का ही बोध होता है। इसका कोई स्पष्ट कारण नहीं दिखाई देता है और न तो मस्तिष्क में किसी प्रकार की आङ्गीय विकृति ही नजर आती है। अभी तक इस के निश्चित कारण का ज्ञान नहीं हो सका है, फिर भी कतिपय आधुनिक विद्वानों का मत है कि शरीर के समवर्त (Metabolism) की क्रिया से रोगी के रक्त में एक विशिष्ट प्रकार का विष उत्पन्न हो जाता है, जिसे कोलीन (Choline) कहते हैं। इस विष की उत्पत्ति कैसे होती है, इसका ज्ञान अभी तक नहीं हो पाया है, किन्तु उनका यह निश्चित मत है कि इसी विष के कारण मस्तिष्क की उच्च क्रियाओं (सोचना, स्मरण आदि) के लोप के साथ-साथ कतिपय क्रियाओं (हस्त-पादादि विक्षेप, फेनोद्गम आदि) का नियन्त्रण भी समाप्त हो जाता है। यह विकृति जितनी ही कम होगी, बेहोशी का समय भी उतना ही कम होगा। इसी प्रकार विकृति अधिक होने पर बेहोशी का समय अधिक होता है। पक्षाघात के सदृश अपस्मार में भी एक ओर के अङ्गों अथवा विशिष्ट पेशीसमूह में विशेष विकृति पाई जाती है, इससे यह स्पष्ट है कि यद्यपि अपस्मार (Idiopathic epilepsy) में कोई आङ्गीय विकृति उत्पन्न नहीं होती तथापि वह अदृश्य रूप में रहती अवश्य है। जिन अवस्थाओं में मस्तिष्क के सम्पूर्ण भाग में विकृति न होकर उसका अल्प भाग ही आक्रान्त होता है उन अवस्थाओं में पूर्णतया संज्ञानाश भी नहीं होता, अपितु विशिष्ट पेशीसमूह पर ही प्रभाव होने से विशिष्ट अङ्गों में विकृति (मुखवक्रता अथवा नेत्रवक्रता आदि) उत्पन्न होकर लक्षणनिवृत्ति हो जाती है। अपस्मार की इस अवस्था को आजकल क्षुद्रापस्मार या पेटिट माल (Petit mal) कहते हैं। इसके अतिरिक्त जिन अवस्थाओं में मस्तिष्क का अधिकांश या सम्पूर्ण भाग आक्रान्त हो जाता है उनमें लक्षण भी तीव्र स्वरूप के प्रगट होते हैं एवं संज्ञा-नाश भी पूर्णतया हो जाता है, इसको तीव्रापस्मार या ग्राण्ड माल (Grand mal) कहते हैं। यह रोग प्रायः बाल्यकाल से प्रारम्भ हो जाता है। अन्य मानसिक रोगों के समान इस रोग में भी आनुवंशिक परम्परा की प्रवृत्ति कुछ अंशों में पाई जाती है। योषापस्मार अथवा अन्य वातिक रोगों से पीड़ित माता-पिता के बालकों में प्रायः यह रोग बाल्यकाल से ही साधारण रूप में प्रारम्भ होता है और अवस्था के अनुसार आगे चलकर मस्तिष्क का अधिक भाग आक्रान्त हो जाने पर यह भी अपना वास्तविक रूप धारण कर लेता है। मस्तिष्क में कोई प्रत्यक्ष विकृति दृष्टिगोचर न होते हुए भी यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि अपस्मार का शिरो-ऽभिघात से अधिक सम्बन्ध है, क्योंकि गत प्रथम महायुद्ध में अपस्मार के रोगियों की परीक्षा करने के उपरान्त यह पता चला कि उनमें बहुतों को केवल शिर की चोट से ही अपस्मार प्रारम्भ हुआ था। इसके अतिरिक्त उनमें भी ५ प्रतिशत में अपस्मार का पैतृक इतिहास भी मिलता था। उक्त आँकड़ों से यह सिद्ध है कि इस रोग में कुलजप्रवृत्ति भी पाई जाती है। लक्षणों की क्रमिकता के अनुसार तीव्र आक्रमण (Major attack or grand mal) को चार भागों में विभक्त कर सकते हैं। (१) प्रथम अवस्था—इसे पूर्वरूप (Aura) भी कहते हैं। इसमें रोगी को चक्कर या भ्रम (Vertigo) प्रतीत होता है और वह एकाएक चेतनाहीन होकर भूमि

पर गिर पड़ता है। (२) द्वितीय अवस्था—इसे पेशीसङ्कोच (Tonic phase or muscular rigidity) की अवस्था भी कहते हैं। इसमें मुख, गले तथा आँखों की पेशियों के साथ-साथ सम्पूर्ण शरीर की पेशियाँ सङ्कुचित हो जाती हैं, जिससे रोगी की आँखें, मुख तथा गर्दन टेढ़ी हो जाती हैं, हाथों की मुट्ठियाँ बँध जाती हैं और हाथ अन्दर की ओर को मुड़ जाते हैं, टाँगें सीधी और कड़ी हो जाती हैं। श्वासनलिका के सङ्कोच से श्वासावरोध तथा श्यावता (Cyanosis) भी हो जाती है। दोनों जबड़ों के बन्द हो जाने से कभी-कभी जिह्वा कट जाने का भी भय रहता है। यह अवस्था कुछ सेकण्ड रहती है। (३) तृतीय अवस्था—इसे शिथिलता की अवस्था (Clonic phase) भी कहते हैं। इसमें पेशियाँ शिथिल होने लगती हैं, जिससे श्वास-प्रश्वास की गति पुनः पूर्ववत् प्रारम्भ हो जाती है, मुख से झाग निकलने लगते हैं एवं रोगी अपने हाथ-पैरों को पटकना भी प्रारम्भ कर देता है। इस प्रकार के आक्षेप बार-बार आते हैं। कुछ क्षण में यह अवस्था भी समाप्त हो जाती है। (४) विश्राम की अवस्था—इस अवस्था में आक्षेप की शान्ति हो जाती है और रोगी सो जाता है। सोकर उठने के पश्चात् रोगी को शिरोवेदना, वमन तथा थकावट का अनुभव होता है। जिस अवस्था में एक के बाद दूसरा आक्रमण निरन्तर होता रहता है और संज्ञानाश पूर्णतया नष्ट नहीं हो पाता है उसे (Status epilepticus) कहते हैं। वर्तमान में यह अवस्था असाध्य मानी जाती है।

वेपमानो दशन् दन्तान् श्वसन् फेनं वमन्नपि ॥ ११ ॥
यो ब्रूयाद्विकृतं सत्त्वं कृष्णं मामनुधावति।
ततो मे चित्तनाशः स्यात्सोऽपस्मारोऽनिलात्मकः ॥

वातिकापस्मारलक्षणम्—जो व्यक्ति शरीर से काँपता हुआ दाँतों को खाता हुआ या कटकटाता हुआ, जोर से श्वास लेता हुआ एवं मुख से फेन का वमन करता हुआ कहे कि मेरे पीछे कोई विकृत चेहरेवाला तथा काला सत्त्व (प्राणी) पीछा कर रहा है, जिससे मेरी संज्ञा का नाश हो रहा है। ऐसे अपस्मार को वातिकापस्मार कहते हैं ॥ ११-१२ ॥

विमर्शः—'विकृतं सत्त्वं कृष्णं मामनुधावति' वास्तव में कोई कृष्ण वर्ण का प्राणी, (भूत, प्रेत, पिशाच आदि) उसके पीछे दौड़ता नहीं है, किन्तु संज्ञावाहक स्रोतसों में प्रविष्ट वात के प्रभाव से उस व्यक्ति को परुष, अरुण और कृष्ण रूप दिखाई देते हैं—'परुषारुणकृष्णानि पश्येद्रूपाणि चानिलात्' (च० चि० अ० १०) इस अवस्था में द्वितीय एवं तृतीय अवस्था के लक्षण मिलते हैं। दाँत किटकिटाने के अतिरिक्त कभी-कभी दोनों जबड़ों के यकायक बन्द हो जाने से जिह्वा भी कट जाती है। पेशियों के शिथिल होने से फेनोद्गम तथा श्वास-प्रश्वास की गति बढ़ जाती है। यह लक्षण तृतीय अवस्था का सूचक है।

तृट्तापस्वेदमूर्च्छार्तो धुन्वन्नङ्गानि विह्वलः।
यो ब्रूयाद्विकृतं सत्त्वं पीतं मामनुधावति॥
ततो मे चित्तनाशः स्यात्स पित्तभव उच्यते ॥ १३ ॥

पैत्तिकापस्मारलक्षणम्—जो व्यक्ति तृष्णा, शरीर का सन्ताप, स्वेद और मूर्च्छा से पीड़ित हो तथा अपने अङ्गों को कंपाता हो तथा विह्वल होकर कहता हो कि पीछे कोई पीत वर्ण का प्राणी दौड़ रहा है, जिससे मेरी संज्ञा का नाश हो रहा है। ऐसे अपस्मार को पैत्तिकापस्मार कहते हैं ॥ १३ ॥

विमर्शः—चरके पैत्तिकापस्मार लक्षणम्—पीतफेनाङ्गवक्त्राक्षः पीतासृग्रूपदर्शकः । सतृष्णोष्णानलव्याप्तलोकदर्शी च पैत्तिकः ॥ (च० चि० अ० १०) दोषवैशिष्ट्य के अनुसार रोगी में लक्षणवैशिष्ट्य भी पाया जाता है, किन्तु फेनोद्गम, जिह्वादर्शन, कम्पन तथा मुख आदि की वक्रता आदि लक्षण इसमें भी मिलेंगे। विशिष्ट वर्णों का दर्शन एवं प्यास जैसे लक्षण रोगी में दौरे के पूर्व या पश्चात् प्रकट होते हैं—ऐसा समझना चाहिये। क्योंकि दौरे के समय तो वह पूर्णतः संज्ञानाश की स्थिति में रहता है।

शीतहृल्लासनिद्रार्त्तः पतन् भूमौ वमन् कफम् ॥ १४ ॥
यो ब्रूयाद्विकृतं सत्त्वं शुक्लं मामनुधावति।
ततो मे चित्तनाशः स्यात्सोऽपस्मारः कफात्मकः ॥

श्लैष्मिकापस्मारलक्षणम्—जो व्यक्ति शीत, हृल्लास (जी मिचलाना) और निद्रा से पीड़ित होकर पृथ्वी पर गिर के कफ का वमन करता हो तथा ऐसा कहता हो कि कोई श्वेत वर्ण का विकृत सत्त्व मेरा पीछा कर रहा है एवं उसके अनन्तर उसको चित्तनाश (मूर्च्छा) हो जाता हो तो उसे श्लैष्मिकापस्मार से पीड़ित समझना चाहिये ॥ १४-१५ ॥

विमर्शः—चरके श्लैष्मिकापस्मारलक्षणम्—शुक्लफेनाङ्गवक्त्राक्षः शीतो हृष्टाङ्गजो गुरुः। पश्यन् शुक्लानि रूपाणि श्लैष्मिको मुच्यते चिरात् ॥ (च० चि० अ० १०) अर्थात् श्लैष्मिकापस्मार में मुख से निकलने वाले झाग तथा मुख तथा आँखों का वर्ण श्वेत रहता है। रोगी का शरीर शीतल, रोमाञ्चित तथा भारी रहता है, वह सर्व वस्तुओं को श्वेत ही देखता है तथा इसका दौरा भी देर से समाप्त होता है। वस्तुतस्तु कफज अपस्मार में मस्तिष्क का बहुत अधिक भाग आक्रान्त रहता है। अतः दौरा गम्भीर एवं चिरस्थायी होता है। इसमें अपस्मार के अन्य सामान्य लक्षण भी पाये जाते हैं। इसमें यह भी स्पष्ट है कि वातिक तथा पैत्तिक अपस्मार शीघ्र ही समाप्त हो जाता है। इसलिये चरकाचार्य ने—'अभीक्ष्णमपस्मरन्तं क्षणेन संज्ञां प्रतिलभमानम्' ऐसा लक्षण वातिक और पैत्तिक दोनों में लिखा है।

हृदि तोदस्तृडुत्क्लेदास्त्रिष्वप्येतेषु सङ्ख्यया।
प्रलापः कूजनं क्लेशः प्रत्येकन्तु भवेदिह ॥ १६ ॥

वाताद्यपस्मारेषु विशिष्टसामान्यलक्षणानि—वातजन्य अपस्मार में हृदय में सूई चुभोने की सी पीड़ा, पित्तजन्य अपस्मार में प्यास का अधिक लगना तथा कफजन्य अपस्मार में कफ का उत्क्लेदन (ष्ठीवन) होना ये अपने-अपने दोषानुसार विशिष्ट लक्षण होते हैं। सर्वापस्मार सामान्यलक्षण—अर्थात् तीनों प्रकार के अपस्मारों में प्रलाप, कूजन (कू कू शब्द) और क्लेश ये सामान्य लक्षण पाये जाते हैं ॥ १६ ॥

सर्वलिङ्गसमवायः सर्वदोषप्रकोपजे ॥ १७ ॥

सान्निपातिकापस्मारलक्षणम्—वातादि सर्व दोषों के प्रकोप से उत्पन्न होने वाले सन्निपातजन्य अपस्मार में सर्वदोषों के लक्षण मिलते हैं ॥ १७ ॥

विमर्शः—चरकाचार्य ने लिखा है कि सान्निपातिक

अपस्मार तीनों दोषों के प्रकोप तथा उनके लक्षणों से युक्त होता है—'सर्वैरेतैः समस्तैश्च लिङ्गैर्ज्ञेयस्त्रिदोषजः। अपस्मारः स चासाध्यो यः क्षीणस्यानवश्च यः। प्रतिस्फुरन्तं बहुशः क्षीणं प्रचलितभ्रुवम्। नेत्राभ्यां च विकुर्वाणमपस्मारो विनाशयेत्' चरकाचार्य ने सान्निपातिक अपस्मार को असाध्य माना है। दुर्बल रोगी का अपस्मार तथा पुराने सभी अपस्मार असाध्य होते हैं। इसके अतिरिक्त जिस रोगी को बार-बार आक्षेप आते हों, जो अत्यन्त क्षीण हो, जिसकी भ्रुकुटियाँ ऊपर को चढ़ जावें एवं जिसके नेत्र विकृत हो जावें उसका अपस्मार भी असाध्य होता है। सान्निपातिक अपस्मार सर्व सम्पूर्ण लक्षण होने के कारण असाध्य होता है। बहुशः या बार-बार दौरा आना भी असाध्यता का द्योतक है। वस्तुतः यह Status epilapticus की ही अवस्था है—जैसा कि पीछे बताया जा चुका है। पाश्चात्य विद्वानों ने उसे असाध्य कहा है। संज्ञानाश की दृष्टि से अपस्मार (Epilepsy) योषापस्मार (Hysteria) तथा मूर्च्छा (coma) एक ही श्रेणी के रोग हैं, किन्तु इनके उत्पादक कारण, आभ्यन्तर विकृति विशिष्ट लक्षण तथा चिकित्सा में भेद पाया जाता है। इसलिये अपस्मार का शेष दोनों से सापेक्ष निदान करने के लिये निम्न कोष्ठक दिया जाता है—

अपस्मार तथा योषापस्मार भेद—

अपस्मार—	योषापस्मार—
१. इसका आक्रमण बड़े वेग से होता है रोगी अपने को सँभाल नहीं सकता।	१. इसका आक्रमण अधिक तीव्र वेग से नहीं होता।
२. यह सोते समय भी हो सकता है।	२. यह सोते समय कभी नहीं होता।
३. इसका आक्रमण एकान्त या समूह की अपेक्षा नहीं करता।	३. इसका आक्रमण एकान्त में कभी भी नहीं होता; अपितु कुछ सहायकों के पास रहने पर ही प्रारम्भ होता है।
४. इसका आक्रमण होने पर आँखें और गर्दन वक्र हो जाती है।	४. आँखें और गर्दन वक्र नहीं होती।
५. रोगी यकायक भूमि पर बुरी तरह से गिर जाता है, जिससे उसे कहीं न कहीं चोट अवश्य लग जाती है।	५. रोगी सदा सावधानी से गिरता है, जिससे उसे कोई चोट नहीं आती।
६. कभी-कभी दाँतों से जिह्वा भी कट जाती है।	६. जिह्वा कभी नहीं कटती।
७. मल और मूत्र का त्याग अनैच्छिक होने लगता है।	७. मल और मूत्र का त्याग कभी अनैच्छिक नहीं होता।
८. कण्डरा प्रतिक्षेप तथा अन्य प्रत्यावर्त्तन क्रियाएँ लुप्त हो जाती हैं।	८. इनका लोप नहीं होता।
९. आक्रमण निश्चित समय के बाद होता है।	९. ऐसा कोई नियम इसमें नहीं है।
१०. गर्भाशय से सम्बन्ध नहीं होता।	१०. गर्भाशय से सम्बन्ध रहता है।
११. मूर्च्छा निद्रा में परिवर्तित हो जाती है।	११. जल्दी होश आ जाता है।

अपस्मार तथा मूर्च्छा में भेद—

अपस्मार	मूर्च्छा
१. आक्रमण अतिशीघ्र प्रारम्भ होता है।	१. आक्रमण धीरे धीरे होता है।
२. इसका पूर्व इतिहास मिलेगा	२. पूर्वेतिहास मिलना आवश्यक नहीं है।
३. इसमें आँखें फिरी हुई मिलेंगी।	३. आँखें फिरी हुई न होंगी।
४. मुख से फेन निकलते हैं।	४. मुख से फेन नहीं निकलते हैं।
५. जिह्वा या शरीर के किसी भी अङ्ग में चोट के चिह्न मिलेंगे।	५. चोट के चिह्न प्रायः नहीं मिलते हैं।
६. शरीर गरम होता है।	६. शरीर ठण्डा होता है।
७. इसमें पूर्वग्रह (Aura) होता है।	७. पूर्वग्रह नहीं होता।
८. इसका कोई निश्चित कारण नहीं दिखाई देता है।	८. कारण स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है।
९. हृत्ह्रास तथा आध्मान नहीं होता है।	९. हृत्ह्रास और आध्मान होते हैं।
१०. अङ्गों की गति होती है।	१०. अङ्गों की गति नहीं होती है।

अनिमित्तागमाद् व्याधेर्गमनादकृतेऽपि च।
आगमाच्चाप्यपस्मारं वदन्त्यन्ये न दोषजम् ॥ १८ ॥

परमतेनागन्तुकापस्मारवर्णनम्—बिना हेतु के रोग का आगमन (उत्पत्ति) होने से अर्थात् अकस्मात् रोगोत्पत्ति होने से, चिकित्सा के न करने पर भी रोग के मिट जाने से तथा अपने आगम (शास्त्र) के प्रमाण से अन्य विद्वान् अपस्मार को आगन्तुक-रोग मानते हैं; दोषजन्य नहीं मानते।

विमर्शः—'अकृतेऽपीत्यत्र अकृतादिति क्वचित्पाठस्तत्र अकृतात् प्रतीकाराद्भेषजेनेति द्रष्टव्यम्। आगमाच्चेति स्वकीयात्, न पुनश्चेतरस्मात्। तत्र दोषजत्वेनापस्मारस्य दर्शितत्वात्। 'वदन्त्यन्ये न दोषजम्' इत्यत्र अन्ये 'वदन्त्यन्योऽन्यदोषजम्' इति पठन्ति अन्योन्यदोषजं रजस्तमोदोषजमित्यर्थः। अपरे तु 'अन्योऽन्यदूषणात्' इति पठन्ति, तत्र कायमनसोरन्योऽन्यदूषणात्।

क्रमोपयोगाद्दोषाणां क्षणिकत्वात्तथैव च।
आगमाद्वैस्वरूप्याच्च स तु निर्वर्ण्यते बुधैः ॥ १९ ॥

अपस्मारस्य दोषजन्यत्वसाधनम्—वातपित्तादि दोषसञ्चयादि क्रम से रोगों की उत्पत्ति करने के कारण अपस्मार को दोषजन्य मानना चाहिये। तथा वातादि दोष कभी कभी क्षण क्षण में अपना स्वभाव (प्रकोपादि) बदलते रहते हैं, जिससे रोग बिना चिकित्सा के भी अदृश्य हो जाता है, इसलिये भी अपस्मार दोषजन्य है। अर्थात् जब तक दोष का वेग रहता है

तब तक अपस्माररोग रहता है। अपने शास्त्र तथा परशास्त्र में भी अपस्मार को वातिक, पैत्तिक, श्लैष्मिक और सान्निपातिक दोषों से उत्पन्न चार प्रकार का मानते हैं। इस लिये भी यह दोष है। इसी तरह वात, पित्त और कफ इन शारीरिक दोष तथा रज और तम इन मनोदोषों का विश्वरूप होने से इनके नाना प्रकार के रूप या लक्षण अपस्मार में दिखाई देने से विद्वान् लोग अपस्मार को दोषजन्य मानते हैं।

देवे वर्षत्यपि यथा भूमौ बीजानि कानिचित्।
शरदि प्रतिरोहन्ति तथा व्याधिसमुद्भवः ॥ २० ॥

रोगाणां नियतकालोत्पत्तौ हेतुः—पृथ्वी के अन्दर पड़े हुए कुछ बीज वर्षा में मेघ के बरसने पर भी वे शरद् ऋतु में अङ्कुरित होते हैं, इसी प्रकार शरीर में व्याधियों के बीजभूत (कारणभूत) दोषों के रहने पर भी वे निश्चित समय पर अपना रोगोत्पादनरूप प्रभाव दिखाते हैं ॥ २० ॥

विमर्शः—दोषों का संचय जितनी जल्दी और जितना अधिक होता है दौरा भी उतनी ही जल्दी और उतने ही अधिक तीव्रता से होता है। कुछ का कहना है कि वातिक का बारह दिन बाद, पित्तज का पन्द्रह दिन बाद, और कफज का एक मास पश्चात् दौरा होता है—पक्षाद्वा द्वादशाहाद्वा मासाद्वा कुपिता मलाः। अपस्माराय कुर्वन्ति वेगं किञ्चिदथान्तरम्। (च० चि० अ० १०) किन्तु यह काल सबके लिये समान नहीं होता। इससे कम और अधिक काल में भी दौरा हो सकता है। शरद् शब्द सभी ऋतुओं का उपलक्षण है। कुपित दोषों से त्रिदोष तथा आधुनिक दृष्टि से कोलीन नामक विष का भी ग्रहण करना चाहिये क्योंकि वह भी अपस्मार का उत्पादक कारण है। चूँकि दोषों का प्रकोप निश्चित अवधि के पश्चात् ही होता है, अतः रोग का दौरा भी नियत अवधि की अपेक्षा करता है जैसा कि अन्यत्र कहा है कि बीज पृथ्वी में पड़कर सोया रहता है और योग्य समय आने पर अङ्कुरित हो जाता है उसी प्रकार दोष शरीर के धातुओं में जाकर सो जाते हैं और योग्य समय आने पर प्रकुपित होकर रोग उत्पन्न कर देते हैं—अधिशेते यथा भूमिं बीजं काले च रोहति। अधिशेते तथा धातुं दोषः काले च कुप्यति। इसका निष्कर्ष यह है कि जब तक शरीर की धातुओं में प्रविष्ट हुए दोष पूर्ण प्रबल होकर उन्हें दूषित नहीं कर देते हैं तब तक रोग का पूर्णरूप से प्रादुर्भाव नहीं होता है। अर्थात् वे दोष वहाँ पर स्थान संश्रय करके अपने वर्द्धक हेतु की प्रतीक्षा करते रहते हैं—'तत्रस्थाश्च विलम्बेरन् भूयो हेतुप्रतीक्षिणः' डल्हणाचार्य ने 'देवे वर्षत्यपि यथे'त्यादि श्लोक की सुन्दर व्याख्या की है—यदि वातपित्तश्लेष्मणां सदैव देहे सद्भावात् सन्ततमपस्मारः स्यादतस्तन्निराकरणार्थमाह—देवे वर्षतीत्यादि। वर्षत्यपि मेघे भूमौ सुखच्छायामपि अङ्कुरजननसमर्थान्यपि कानिचिद्बीजानि शरद्येव प्ररोहन्ति तथा सर्वरोगबीजानां वातादीनां कदाचित् कस्यचिदपस्मारादिव्याधेरङ्कुरस्थानीयस्य निदानादिसङ्गमे सत्यपि दूष्यादिसमुदायेनैव समुद्भवो भवतीत्यर्थः। अन्ये त्वन्यथा व्याख्यान्ति—ननु सञ्चयादिक्रमेणोपयोगश्चेद्दोषाणां तदा पुनः कथमल्पेनैव कालेन तद्विकारोद्गमः स्यादित्यत आह देवेऽवर्षतीत्यादि। अवर्षति देवे यथा शरत्काले भूमौ स्तिमितत्वात् कानिचिद्बीजानि प्ररोहन्त्येव, तथाऽल्पेनापि कालेन शरीरस्था दोषाः किञ्चिदुपचिता विकारं जनयन्तीति। एतदेव स्पष्टीकुर्वन्नाह स्थायिन इत्यादि।

स्थायिनः केचिदल्पेन कालेनाभिप्रवर्द्धिताः।
दर्शयन्ति विकारांस्तु विश्वरूपान्निसर्गतः ॥
अपस्मारो महाव्याधिस्तस्माद्दोषज एव नु ॥ २१ ॥

दोषाणामल्पकालेऽपि रोगोत्पादकत्वम्—देह में स्थायी रूप से रहने वाले वातादि दोष किसी कारण से प्रवर्धित हो के अल्प समय में भी नाना प्रकार के रोगों को अपने स्वाभाविक दूषण स्वभाव के कारण उत्पन्न कर देते हैं। इसलिये अपस्मार नामक यह महारोग पूर्वोक्त क्रमोपयोग, क्षणिकता, आगम और वैरवरूप्य इन चार कारणों से दोषजन्य ही साबित होता है; न कि भूतादि-आवेशजन्य ॥ २१ ॥

विमर्शः—अष्टौ महारोगा यथा—वातव्याध्यश्मरीकुष्ठमेहोदरभगन्दराः। अर्शांसि ग्रहणी चेति महारोगाः प्रकीर्तिताः॥ यद्यपि इनमें अपस्मार का नाम नहीं है तथापि अपस्मार राजयक्ष्मा आदि ऐसे महारोग हैं कि इनसे रोगी का पिण्ड छुड़ाना बहुत मुश्किल है।

तस्य कार्य्यो विधिः सर्वो य उन्मादेषु वक्ष्यते।
पुराणसर्पिषः पानमभ्यङ्गश्चैव पूजितः ॥ २२ ॥

अपस्मारचिकित्सा—अपस्मार से पीड़ित रोगी के लिये उन्माद रोग में कही जाने वाली सम्पूर्ण चिकित्साविधि का उपयोग करना चाहिए। विशेष रूप से पुराने घृत का पान और उसी का समस्त शरीर पर अभ्यङ्ग अधिक लाभदायक होता है ॥ २२ ॥

विमर्शः—उन्माद रोग में प्रथम स्नेहन पश्चात् स्वेदन, कराके उभयतोभागहर अर्थात् वामक और शिरोविरेचक औषधियों द्वारा ऊर्ध्वभाग एवं विरेचक तथा बस्ति द्वारा अधोभाग का संशोधन करना जो लिखा है वह अपस्मार में भी किया जाना चाहिए। इनके अतिरिक्त अवपीडन नस्य, धूपन, भयकारक वस्तुओं का प्रदर्शन, ताडन आदि का भी उन्माद में प्रयोग होता है। उन्माद में चित्तवृत्ति ठिकाने नहीं रहती है, इसलिए भयोत्पादन तथा त्रासचिकित्सा से सहसा चित्तवृत्ति या मन पर प्रभाव होकर रुग्ण स्वभावावस्था में आ सकता है, किन्तु अपस्मार में रोग का दौरा चला जाने पर रुग्ण स्वयं प्राकृतिक हो जाता है। इसलिये इसमें भयोत्पादन, विस्मापन और त्रासन की आवश्यकता नहीं होती है। उन्माद में तो रुग्ण सदा व्यग्र एवं विकृत और अव्यवस्थित चित्तयुक्त होता है। स्निग्धं स्विन्नन्तु मनुजमुन्मादार्तं विशोधयेत्। तीक्ष्णैरुभयतोभागैः शिरसश्च विरेचनैः॥ विविधैरवपीडैश्च सर्षपस्नेहसंयुतैः। योजयित्वा तु तच्चूर्णं घ्राणे तस्य प्रयोजयेत्। सततं धूपयेच्चैनं श्वगोमांसैः सुपूतिभिः। दर्शयेदद्भुतान्यस्य वदेन्नाशं प्रियस्य वा॥ अन्यच्च—उन्मादे वातिके पूर्वं स्नेहपानं विरेचनम्। पित्तजे कफजे वान्ति परो बस्त्यादिकः क्रमः॥ निरूहणस्नेहबस्ती शिरसश्च विरेचनम्। ततः कुर्याद्यथादोषं तथो भूयस्त्वमाचरेत्॥ (भै० र०) पुराणघृत—यह त्रिदोषनाशक होने से अपस्मार में नस्य, अभ्यङ्ग तथा पानादि रूप में प्रयुक्त करने से लाभ करता है।

उपयोगो ग्रहोक्तानां योगानान्तु विशेषतः।
ततः सिध्यन्ति ते सर्वे योगैरन्यैश्च साधयेत् ॥ २३॥

अपस्मारे ग्रहोक्तचिकित्सोपदेशः—पूर्व में जो स्कन्दग्रह तथा देवग्रहों का वर्णन किया है एवं उनके संशमन के जो उपाय लिखे हैं उन्हीं का अपस्मार में भी विशेष रूप से उपयोग करने से अधिक लाभ होता है तथा अन्य योगों से भी अपस्माररोग की चिकित्सा करनी चाहिए ॥ २३ ॥

विमर्शः—सुश्रुत के अमानुषोपसर्गप्रतिषेध नामक छठवें अध्याय में ग्रहशान्त्यर्थ जप, नियम, होम करना तथा रक्तगन्ध एवं मालायें और रक्तवस्त्र की चत्वरमार्ग में स्थापना एवं नस्य, अभ्यङ्ग, धूप तथा पुराण घृत का प्रयोग लिखा है, वही अपस्माररोग में भी प्रयुक्त करने से लाभ होता है। चरकाचार्य ने अपस्मार की चिकित्सा में लिखा है कि प्रथम वातादि शारीरिक दोष तथा रज और तम रूप मानसिक दोषों से आवृत हुए हृदय, संज्ञावाहक स्रोतस तथा मन के शोधमुक्त तथा संप्रबोधन करने के लिये तीक्ष्ण औषधियों के द्वारा वमन-विरेचनादि कर्म दोषानुसार करने चाहिए—तैराधृतानां हृत्स्रोतोमनसां सम्प्रबोधनम्। तीक्ष्णैरादौ भिषक् कुर्यात् कर्मभिर्वमनादिभिः॥ वातिकं बस्तिभूयिष्ठैः पैत्तं प्रायो विरेचनैः। श्लैष्मिकं वमनप्रायैरपस्मारमुपाचरेत् ॥ (च० चि० अ० १०)

शिग्रुकट्वङ्गकिणिहीनिम्बत्वग्रससाधितम् ।
चतुर्गुणे गवां मूत्रे तैलमभ्यञ्जने हितम् ॥ २४॥

अपस्मारे शिग्र्वादितैलम्—सहजन, श्योनाक, किणिही (कटभी) और निम्ब इनकी छाल के कल्क तथा इनके पत्रादि के स्वरस से तैल को प्रथम पकावें, पश्चात् उसमें चतुर्गुण गो-मूत्र डाल के पकावें। तैलमात्र शेष रहने पर छान कर शीशी में भर देवें। यह तैल अभ्यङ्ग में हितकारक है ॥

विमर्शः—सहजनादि कल्क चार पल, तिल तैल सोलह पल (एक प्रस्थ), सहजनपत्रादि स्वरस चार प्रस्थ तथा गो-मूत्र चार प्रस्थ, तैलावशेष पाक। गवां मूत्रे—चित्त के विकार की हरण की दृष्टि से हस्ती, छाग (बकरी) और भेड़ के मूत्रों में निषेध करने के लिये यहाँ गो-मूत्र ऐसा स्पष्ट निर्देश किया गया है।

गोधानकुलनागानां पृषतर्क्षगवामपि।
पित्तेषु सिद्धं तैलञ्च पानाभ्यङ्गेषु पूजितम् ॥ २५ ॥

अपस्मारहरं गोधादितैलम्—गोह, नेवला, हस्ती, चित्रल मृग, ऋक्ष (रीछ) और गाय इनका समभागमिलित पित्त चार पल, तिल तैल सोलह पल (एक प्रस्थ) तथा सम्यक्पाकार्थ जल चार प्रस्थ मिलाकर तैलावशेष पाक करें। यह तैल अपस्मार के रोगी को पिलाने तथा अभ्यङ्ग में प्रयुक्त करने से अच्छा लाभ करता है ॥ २५ ॥

तीक्ष्णैरुभयतोभागैः शिरश्चापि विशोधयेत्।
पूजां रुद्रस्य कुर्वीत तद्गणानाञ्च नित्यशः॥ २६ ॥

अपस्मारे शिरोविरेचनं दैवचिकित्सा च—अपस्माररोग में उभयतोभाग हर अर्थात् वमन द्वारा ऊर्ध्व और विरेचन द्वारा अधोभाग के दोषों को हरण करने वाली तीक्ष्ण औषधियों के द्वारा तथा तीक्ष्ण औषधियों के नस्य द्वारा देह का संशोधन करना चाहिए। इनके अतिरिक्त शङ्कर भगवान् तथा उनके गणों का पूजन भी नित्य करने से अपस्माररोग नष्ट हो जाता है ॥ २६ ॥

विमर्शः—तीक्ष्णैरिति विषाणिकाब्राह्मीकारवेल्लकादिभिः। उभयतोभागैरिति वमनविरेचनैः।

वातिकं बस्तिभिश्चापि पैत्तिकं तु विरेचनैः।
कफजं वमनैर्धीमानपस्मारमुपाचरेत् ॥ २७॥

अपस्मारे दोषानुसारेण शोधनम्—वातजन्य अपस्मार रोग को वातनाशक विविध द्रव्यों से सिद्ध की हुई बस्तियाँ देकर पैत्तिक अपस्मार को अनेक प्रकार के विरेचन द्रव्योंसे विरेचन कराके तथा कफजन्य अपस्मार को मदनफलादि वामक द्रव्यों से वमन कराके ठीक करना चाहिये ॥ २७ ॥

कुलत्थयवकोलानि शणबीजपलङ्कषाम्।
जटिलां पञ्चमूल्यौ द्वे पथ्याञ्चोत्क्वाथ्य यत्नतः॥
बस्तमूत्रयुतं सर्पिः पचेत्तद्वातिके हितम् ॥ २८॥

वातिकापस्मारे कुलत्थादिघृतम्—कुलथी, यव (जौ), कोल (बदर फल), शण के बीज, गूगल (पलङ्कषा), जटामांसी, लघु पञ्चमूल तथा बृहत्पञ्चमूल के द्रव्य तथा हरड़; इन्हें समान प्रमाण में ग्रहण कर चतुर्गुण पानी में डाल कर उबाल कर के सिद्ध क्वाथ चार प्रस्थ लें तथा बकरे का मूत्र चार प्रस्थ एवं घृत एक प्रस्थ और उक्त कुलत्थादि द्रव्यों का कल्क चार पल भर लेके सबको कलईदार भगोने में भरकर घृतावशेषपाक कर स्वाङ्गशीत होने पर छान लेवें। इस घृत को छः माशे से एक तोले भर लेकर प्रतिदिन मन्दोष्ण दुग्ध या जल के अनुपान के साथ पीने से वातिक अपस्मार में अच्छा लाभ होता है ॥ २८ ॥

काकोल्यादिप्रतीवापं सिद्धं च प्रथमे गणे।
पयोमधुसितायुक्तं घृतं तत् पैत्तिके हितम् ॥ २९ ॥

पैत्तिकापस्मारे काकोल्यादिघृतम्—काकोल्यादिगण की औषधियों का कल्क ४ पल तथा प्रथम (विदारीगन्धादि) गण की औषधियों के क्वाथ ४ प्रस्थ में घृत १ प्रस्थ मिलाकर घृतावशेषपाक कर लेना चाहिए। इस घृत को ६ माशे से १ तोले प्रमाण में लेकर उसमें मन्दोष्ण दुग्ध १० तोला, शहद १ तोला और शर्करा २ तोला का प्रक्षेप देकर पिलाने से पैत्तिक अपस्मार में अच्छा लाभ होता है ॥ २९ ॥

विमर्शः—काकोल्यादिगणः—काकोलीक्षीरकाकोलीजीवकर्षभकमुद्गपर्णीमाषपर्णीमेदामहामेदाच्छिन्नरुहाकर्कटशृङ्गीतुगाक्षीरीपद्मकप्रपौण्डरीकर्द्धिवृद्धिमृद्वीकाजीवन्त्यो मधुकञ्चेति—काकोल्यादिरयं पित्तशोणितानिलनाशनः। जीवनो बृंहणो वृष्यः स्तन्यश्लेष्मकरस्तथा॥ प्रथमे गणे—सुश्रुत के द्रव्यसंग्रहणीय नामक ३८ वें अध्याय में सर्वप्रथम विदारीगन्धादिगण का ही पाठ प्रारम्भ होता है, अतएव इसे प्रथमगण माना है—प्रथमगण या विदारीगन्धादिगण 'विदारीगन्धाविदारीविश्वदेवासहदेवाश्वदंष्ट्रापृथक्पर्णीशतावरीसारिवाकृष्णसारिवा जीवकर्षभकौ महासहा क्षुद्रसहा बृहत्यौ पुनर्नवैरण्डो हंसपादी वृश्चिकाल्यृषभी चेति। विदारीगन्धादिरयं गणः पित्तानिलापहः। शोषगुल्माङ्गमर्दोर्ध्वश्वासकासविनाशनः॥ (सु० सू० अ० ३८)

कृष्णावचामुस्तकाद्यैर्युक्तमारग्वधादिके ।
पक्वं च मूत्रवर्गेषु श्लेष्मापस्मारिणे हितम् ॥ ३० ॥

श्लेष्मापस्मारे कृष्णादिघृतम्—कृष्णा अर्थात् पिप्पल्यादिगण, वचादिगण और मुस्तकादिगण की औषधियों को समान प्रमाण में मिश्रित कर २ प्रस्थ भर ले के १६ प्रस्थ जल में क्वथित कर ४ प्रस्थ शेष रहने पर छान कर उसमें १ प्रस्थ घृत तथा आरग्वधादि गण की औषधियों का कल्क ¼ प्रस्थ (४ पल) भर मिश्रित कर घृत से चतुर्गुण (४ प्रस्थ) ही मिलित अष्टमूत्रों को भी मिलाकर मन्दाग्नि से पकाना प्रारम्भ कर दें। जब पकते पकते घृतमात्र शेष रह जाय छानकर घृतपात्र में भर देवें। यह घृत ६ माशे से १ तोले प्रमाण में प्रतिदिन सेवन करने से कफ के अपस्मारी में विशेष लाभ करता है ॥ ३० ॥

विमर्शः—कृष्णादिगण—'पिप्पलीपिप्पलीमूलचव्यचित्रकशृङ्गवेरमरिचहस्तिपिप्पलीहरेणुकैलाजमोदेन्द्रयवपाठाजीरकसर्षपमहानिम्बफलहिङ्गुभार्गीमधुरसातिविषावचाविडङ्गानि कटुरोहिणी चेति। पिप्पल्यादिः कफहरः प्रतिश्यायानिलारुचीः। निहन्याद्दीपनो गुल्मशूलघ्नश्चामपाचनः ॥ वचादिगण—'वचामुस्तातिविषाभयाभद्रदारूणि नागकेशरञ्चेति' ॥ मुस्तकादिगण—'मुस्ताहरिद्रादारुहरिद्राहरीतक्यामलकबिभीतककुष्ठहैमवतीवचापाठाकटुरोहिणीशार्ङ्गेष्टातिविषाद्राविडीभल्लातकानि चित्रकश्चेति'। एष मुस्तादिको नाम्ना गणः श्लेष्मनिषूदनः। योनिदोषहरः स्तन्यशोधनः पाचनस्तथा ॥ आरग्वधादिगण—'आरग्वधमदनगोपघोण्टाकण्टकीकुटजपाठापाटलामूर्वेन्द्रयवसप्तपर्णनिम्बकुरुण्टकदासीकुरुण्टकगुडूचीचित्रकशार्ङ्गेष्टाकरञ्जद्वयपटोलकिराततिक्तकानि सुषवी चेति ॥ आरग्वधादिरित्येष गणः श्लेष्मविषापहः। मेहकुष्ठज्वरवमीकण्डूघ्नो व्रणशोधनः ॥ अष्टमूत्राणि—सैरिभाजाविकरभगोखरद्विपवाजिनाम्। मूत्राणीति भिषग्वर्यैर्मूत्राष्टकमुदाहृतम् ॥

सुरद्रुमवचाकुष्ठसिद्धार्थव्योषहिङ्गुभिः ।
मञ्जिष्ठारजनीयुग्मसमङ्गात्रिफलाऽम्बुदैः ॥ ३१ ॥
करञ्जबीजशैरीषगिरिकर्णीहुताशनैः ।
सिद्धं सिद्धार्थकं नाम सर्पिर्मूत्रचतुर्गुणम् ॥ ३२ ॥
कृमिकुष्ठगरश्वासबलासविषमज्वरान् ।
सर्वभूतग्रहोन्मादानपस्मारांश्च नाशयेत् ॥ ३३ ॥

अपस्मारादिषु सिद्धार्थकं घृतम्—कल्कार्थ—देवदारु, वचा, कुष्ठ, श्वेतसर्षप, सोंठ, मरिच, पिप्पली, हिङ्गु, मजीठ, हरिद्रा, दारुहरिद्रा, समङ्गा (लज्जालु), हरड़, बहेड़ा, आँवला, मोथा, करञ्ज के फल की गिरी, शिरस के बीज, गिरिकर्णी (श्वेत स्यन्द = सफेद कोयल) और चित्रक की जड़ की छाल, इन्हें समान प्रमाण में ४ पल भर लेकर खाण्ड कूट के पत्थर पर पीसकर कल्क बना लेवें। फिर कल्क से चतुर्गुण (१ प्रस्थ = १६ पल) भर घृत तथा घृत से चारगुना गोमूत्र लेकर सबको एक कलईदार भगोने में डालकर मन्द-मन्द अग्नि पर चढ़ा के घृतावशेष पाक कर छान के घृतपात्र में भर देवें। इस प्रकार सिद्ध हुए इस घृत को सिद्धार्थक-घृत कहते हैं। इस को ६ माशे से १ तोले भर प्रमाण में लेकर मन्दोष्ण दुग्ध अथवा जल के अनुपान के साथ सेवन करने से कृमि, कुष्ठ, गर-विष, श्वास, बलास (कफविकार) और विषमज्वर नष्ट हो जाते हैं तथा सर्वप्रकार की भूतबाधाएँ, ग्रहपीडा, उन्माद और अपस्मार नष्ट होते हैं ॥ ३१–३३ ॥

विमर्शः—गरविष—अनेक प्रकार के प्राणियों के अङ्ग, मल तथा विरुद्ध औषधियाँ, भस्म और अल्पवीर्य हुए विष, इनके योग को गरविष कहते हैं—नानाप्राण्यङ्गशमलविरुद्धौषधिभस्मनाम्। विषाणाञ्चाल्पवीर्याणां योगो गर इति स्मृतः ॥ अष्टाङ्गसंग्रहेऽपि—'कृत्रिमं गरसंज्ञन्तु क्रियते विविधौषधैः'।

दशमूलेन्द्रवृक्षत्वङ्मूर्वाभार्गीफलत्रिकैः ।
शम्पाकश्रेयसीसप्तपर्णापामार्गफल्गुभिः ॥ ३४ ॥
शृतैः कल्कैश्च भूनिम्बपूतीकव्योषचित्रकैः ।
त्रिवृत्पाठानिशायुग्मसारिवाद्वयपौष्करैः ॥ ३५ ॥
कटुकायासदन्त्युग्रानीलिनीक्रिमिशत्रुभिः ।
सर्पिरेभिश्च गोक्षीरदधिमूत्रशकृद्रसैः ॥ ३६ ॥
साधितं पञ्चगव्याख्यं सर्वापस्मारभूतनुत् ।
चातुर्थकक्षयश्वासानुन्मादांश्च नियच्छति ॥ ३७ ॥

पञ्चगव्यघृतम्—दशमूल के दस द्रव्य, इन्द्रवृक्ष (कुटज) की छाल, मूर्वा, भारङ्गी, हरड़, बहेड़ा, आँवला, शम्पाक (अमलतास), श्रेयसी (गजपीपल), सप्तपर्ण की छाल, अपामार्ग (आँधीझाड़ा) का पञ्चाङ्ग, और फल्गु (कठगूलर) की छाल इन्हें समान प्रमाण में मिश्रित कर ४ प्रस्थ लेकर १६ प्रस्थ जल में क्वथित करके ४ प्रस्थ शेष रखकर छान लेवें, फिर इस क्वाथ में चिरायता, करञ्ज के फल की गिरी अथवा वृक्ष की छाल, सोंठ, मरिच और पीपल, चित्रक की छाल, निशोथ, पाठा, हरिद्रा, दारुहरिद्रा, श्वेत सारिवा, कृष्ण सारिवा, पोहकरमूल, कुटकी, धमासा, दन्ती की जड़, वचा, नीलिनी और वायविडङ्ग इन्हें समान प्रमाण में मिश्रित कर खाण्डकूट के ४ पल भर कल्क बना के डालें तथा घी १ प्रस्थ एवं गोदुग्ध १ प्रस्थ, गोदधि १ प्रस्थ, गोमूत्र १ प्रस्थ, और और गोबर का स्वरस १ प्रस्थ एवं सम्यक्पाकार्थ जल ४ प्रस्थ मिश्रित कर मन्द मन्द आँच पर घृतावशेष पाक कर लेना चाहिए। इस प्रकार सिद्ध हुए इस घृत को पञ्चगव्य घृत कहते हैं तथा यह सर्व प्रकार के अपस्मारों को एवं भूतावेश को नष्ट करता है। इनके अतिरिक्त यह घृत चातुर्थिक ज्वर, क्षय, श्वास और उन्माद रोग को भी नष्ट करता है ॥ ३४–३७ ॥

विमर्शः—जहाँ कहीं किसी वनस्पति के स्वरस, दुग्ध और माङ्गल्य (दधि) से पाक करना लिखा हो वहाँ स्नेह से चतुर्गुण पानी सम्यक्पाकार्थ मिलाना ही चाहिए—स्वरसक्षीरमाङ्गल्यैः पाको यत्रेरितः क्वचित्। जलं चतुर्गुणं तत्र वीर्याधानार्थमावपेत् ॥ (परिभाषाप्रदीप)

भार्गीशृते पचेत् क्षीरे शालितण्डुलपायसम् ।
त्र्यहं शुद्धाय तं भोक्तुं वराहायोपकल्पयेत् ॥ ३८ ॥
ज्ञात्वा च मधुरीभूतं तं विशस्यान्नमुद्धरेत् ।
त्रीन् भागांस्तस्य चूर्णस्य किण्वभागेन संसृजेत् ॥ ३९ ॥
मण्डोदकार्थे देयश्च भार्गीक्वाथः सुशीतलः ।
शुद्धे कुम्भे निदध्याच्च सम्भारं तं सुरां ततः ॥ ४० ॥
जातगन्धां जातरसां पाययेदातुरं भिषक् ॥ ४१ ॥

भार्ग्यादिसुराप्रयोगः—भारङ्गी का कल्क १ प्रस्थ तथा

दुग्ध ७ प्रस्थ एवं जल १६ प्रस्थ लेकर प्रथम दुग्धावशेष पाक कर लेना चाहिए। फिर इस दुग्ध में साँठी चावल १ प्रस्थ प्रक्षिप्त कर इनकी पायस सिद्ध कर लेनी चाहिए। पश्चात् तीन दिन तक शुद्ध हुए अर्थात् भूखे रहे वराह को खिला देवें। खा लेने पर जब भुक्त पायस में मधुरता आ जाय अर्थात् उसका प्रथम मधुर पाक हो जाय तब उस वराह (सूअर) को मारकर इस पायसान्न को उसके आमाशय से निकालकर इसके तीन भाग लेकर उसमें चौथा भाग किण्व (सुराबीज) मिलाकर मण्डोदकार्थ (सन्धानार्थ) शीतल किया हुआ भारङ्गीक्वाथ मिलाना चाहिए। कुछ आचार्यों का मत है कि मण्ड शब्द से सुरामण्ड तथा दकार्थ (जलार्थ) भारङ्गीक्वाथ मिलाना चाहिए। फिर इस घोल को एक मिट्टी के नये तथा शुद्ध अर्थात् चातुर्जातक घृत, मधु, पिप्पलीचूर्ण से विलिप्त घड़े में भरकर मुख पर कपड़ा ढक के अथवा कपड़मिट्टी कर एकान्त समशीतोष्ण स्थान में सन्धानार्थ सुरक्षित रख देवें। फिर एक मास अथवा २०-२५ दिन के अनन्तर उसके सिद्ध होने की गन्ध आती हो तथा उसमें रस उत्पन्न हो जाय अर्थात् ठीक तरह से सुरा उत्पन्न हो जाय तथा प्रदीपज्वालन-परीक्षा से भी उसे सिद्ध हुआ जान लिया जाय तब कपड़े से छानकर बोतलें भर लेवें और अपस्मार, उन्माद तथा ग्रहोपसृष्ट रोगियों को एक तोले से दो तोले की मात्रा में समान जल मिश्रित कर दोनों समय के भोजन के अनन्तर पिलावें ॥ ३८-४१ ॥

सिरां विध्येदथ प्राप्तां मङ्गल्यानि च धारयेत् ॥ ४२ ॥

इति सुश्रुतसंहितायामुत्तरतन्त्रान्तर्गते भूतविद्यातन्त्रेऽपस्मारप्रतिषेधो नाम (द्वितीयोऽध्यायः, आदितः) एकषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६१ ॥

अपस्मारे सिराव्यधविधानम्—अपस्माररोग में प्रोक्त चिकित्सा के अतिरिक्त उर, अपाङ्ग तथा ललाटप्रदेश की सिरा का वेधन करें अथवा कुछ आचार्यों के मत से हनुसन्धि के मध्य की सिरा का वेधन करना चाहिए। सिरावेध के अतिरिक्त प्रणितोपासनीय अध्याय में कही हुई छत्रा, अतिच्छत्रा आदि औषधियों को धारण करें। अथवा रत्नखचितकुण्डलादिक का धारण करें ॥ ४२ ॥

विमर्शः—(१) 'सिरां विध्येद्' इसके अनन्तर 'प्रोक्तां' तथा किसी-किसी ग्रन्थ में 'प्राप्ताम्' ऐसे दोनों प्रकार के पाठ हैं। प्रोक्तां पाठ में उरोऽपाङ्गललाटजाम् तथा प्राप्तां पाठ में हनुसन्धिमध्यगताम् ऐसा अर्थ किया जाता है। (२) 'सिरां विध्येदथ प्राप्तां मङ्गल्यानि च धारयेत्' यहाँ 'मङ्गल्यानि च धारयेत्' के स्थान पर 'मङ्गल्यादि च कारयेत्' ऐसा पाठान्तर है, जिसका अर्थ अथर्ववेदविहित मङ्गल्य (हवन, मन्त्र-तन्त्रादि) कार्य करना होता है। अपस्मारे पथ्यानि—नस्यं सिराव्यधो दानं श्रासनं बन्धनं भयम्। तर्जनं ताडनं हर्षो धूमपानञ्च विस्मयः॥ धीधैर्यात्मादिविज्ञानं स्नानमभ्यञ्जनानि च। लोहिताः शालयो मुद्गा गोधूमाः प्रतनं हविः॥ कूर्मामिषं धन्वरसा दुग्धं ब्राह्मीदलं वचा। पटोलं वृद्धकूष्माण्डं वास्तूकं स्वादु दाडिमम्॥ शोभाञ्जनं पयः पेटी द्राक्षा धात्री परूषकम्। तैलं खराश्वमूत्रञ्च गगनाम्बु हरीतकी॥ अपस्मारगदे नृणां पथ्यमेतदुदीरितम्। अपस्मारेऽपथ्यानि—चिन्तां शोकं भयं क्रोधमशुचीन्यशनानि च। मद्यं मत्स्यं विरुद्धान्नं तीक्ष्णोष्णगुरुभोजनम्। अतिव्यवायमायासं पूज्यपूजाव्यतिक्रमम्। पत्रशाकानि सर्वाणि बिम्बीमाषाढकं फलम्॥ तृषानिद्राक्षुधावेगमपस्मारी परित्यजेत्। तोयावगाहनं शैलद्रुमाद्यारोहणं तथा॥ इत्यादीनि स्मृतिध्वंसे वर्जनीयानि यत्नतः॥ चरकेऽतत्त्वाभिनिवेशरोगवर्णनं यथा—अनन्तरमुवाचेदमग्निवेशः कृताञ्जलिः। भगवन् प्राक् समुद्दिष्टः श्लोकस्थाने महागदः॥ अतत्त्वाभिनिवेशो यस्तद्धेत्वाकृतिभेषजम्। तत्र नोक्तमतः श्रोतुमिच्छामि तदिहोच्यताम्॥ शुश्रूषवे वचः श्रुत्वा शिष्यायाह पुनर्वसुः। महागदं सौम्य शृणु सहेत्वाकृतिभेषजम्॥ मलिनाहारशीलस्य वेगान् प्राप्तान्निगृह्णतः। शीतोष्णस्निग्धरूक्षाद्यैर्हेतुभिश्चातिसेवितैः। हृदयं समुपाश्रित्य मनोबुद्धिवहाः सिराः। दोषाः सन्दूष्य तिष्ठन्ति रजोमोहावृतात्मनः॥ रजस्तमोभ्यां वृद्धाभ्यां बुद्धौ मनसि चावृते। हृदये व्याकुले दोषैरथ मूढोऽल्पचेतनः॥ विषमां कुरुते बुद्धिं नित्यानित्ये हिताहिते। अतत्त्वाभिनिवेशं तमाहुराप्ता महागदम्॥ स्नेहस्वेदोपपन्नं तं संशोध्य वमनादिभिः। कृतसंसर्जनं मेध्यैरन्नपानैरुपाचरेत्॥ ब्राह्मीस्वरसयुक्तं यत् पञ्चगव्यमुदाहृतम्। तत् सेव्यं शङ्खपुष्पी च यच्च मेध्यं रसायनम्॥ सुहृदश्चानुकूलास्तं स्वाप्ता धर्मार्थवादिनः। संयोजयेयुर्विज्ञानधैर्यस्मृतिसमाधिभिः॥ (च० चि० अ० १०)

॥ इति सुश्रुतसंहिताया भाषाटीकायामुत्तरतन्त्रे अपस्मारप्रतिषेधो नामैकषष्टितमोऽध्यायः॥ ६१ ॥

द्विषष्टितमोऽध्यायः

अथात उन्मादप्रतिषेधमध्यायं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥ २ ॥

अब इसके अनन्तर उन्मादप्रतिषेध नामक अध्याय का व्याख्यान प्रारम्भ किया जाता है जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने कहा है ॥ १-२ ॥

विमर्शः—अपस्मार चिकित्सा के अनन्तर दोनों में मनोदुष्टि के साम्य होने से समान चिकित्सा होने के कारण अपस्मार चिकित्साप्रकरण प्रारम्भ किया गया है। माधवनिदान में मदात्यय और दाह के अनन्तर उन्मादरोग का वर्णन किया गया है। कारण कि मदात्यय रोग के लक्षण उन्माद जैसे होते हैं, 'मदात्यये उन्मादमिव चापरम्' तथा मदात्यय में दाह भी होता है तथा इसके संक्षिप्त होने से प्रथम इसका वर्णन कर पश्चात् उन्माद का प्रकरण प्रारम्भ किया गया है। चरकाचार्य ने राजयक्ष्मा के अनन्तर उन्माद प्रकरण लिखा है तथा उन्माद के पश्चात् अपस्मार लिखा है तथा भाव्योत्पत्ति में उन्माद के साथ अपस्मार का होना लिखा है, इस तरह उन्माद और अपस्मार का साहचर्य सर्वत्र माना गया है।

मदयन्त्युद्धता दोषा यस्मादुन्मार्गमाश्रिताः।
मानसोऽयमतो व्याधिरुन्माद इति कीर्त्तितः ॥ ३ ॥

उन्मादनिरुक्ति—मिथ्या आहार-विहारादिक से प्रवृद्ध दोष

उन्मार्गगामी होकर मनोविभ्रम को उत्पन्न करते हैं, अतएव इस मानसरोग को उन्माद कहते हैं ॥ ३ ॥

विमर्शः—उत्पादक कारण के अनुसार शास्त्र में रोगों के निज तथा आगन्तुक दो भेद स्वीकार किये गये हैं—'निजागन्तुविभागेन तत्र रोगा द्विधा स्मृताः'। निज व्याधियाँ प्रधानतया शारीरान्तर्गत कारणों से तथा आगन्तुक प्रधानतया बाह्य कारणों से होती हैं। आगन्तुक रोग निज तथा निज रोग आगन्तुकरूप में भी परिवर्तित हो जाते हैं। यथा—आगन्तुरन्वेति निजं विकारं निजस्तथाऽऽगन्तुमपि प्रवृद्धः, अथवा—आगन्तुर्हि व्यथापूर्वसमुत्पन्नो जघन्यं वातपित्तश्लेष्मणां वैषम्यमापादयति; निजे तु वातपित्तश्लेष्माणः पूर्वं वैषम्यमापद्यन्ते जघन्यं व्यथामभिनिर्वर्तयन्ति ॥ (च० सू० अ० २०) शरीर और मन रूप अधिष्ठान विशेष के भेद से भी रोगों को दो बड़े वर्गों (शारीरिक तथा मानसिक) में विभक्त किया गया है 'तेषां कायमनोभेदादधिष्ठानमपि द्विधा' प्राचीन आयुर्वेदीय चिकित्सा-ग्रन्थों में जितना बृहद् वर्णन शारीरिक रोगों का मिलता है उतना मानसिक-रोगों का नहीं। मानस रोगों का वर्णन भूतविद्या के नाम से यत्र-तत्र मिलता है। अथर्ववेद में इस विद्या का पर्याप्त वर्णन उपलब्ध होता है। शारीरिक रोग प्रधानतया शरीर को आक्रान्त करते हैं, कारण शरीर में अङ्गीय विकृतियों का प्रत्यक्ष भी होता है। कुछ काल पश्चात् इनका प्रभाव मन पर भी पड़ सकता है। इसके अतिरिक्त मनुष्यों में कुछ ऐसे रोग भी पाये जाते हैं जिनके होने पर अंगों में किसी भी प्रकार की विकृति का प्रत्यक्ष नहीं होता ऐसे अपस्मार तथा उन्माद सदृश रोग ही मानसरोग कहलाते हैं। जिस प्रकार शारीरिक रोगों के ज्ञान के लिए शरीर के विविध अंगों की प्राकृत रचना व उनके व्यापारों का ज्ञान करना आवश्यक है, वैसे ही मानस रोगों का ज्ञान करने के लिये भी मन के प्राकृत स्वरूप को जानना भी अनिवार्य है। प्राकृत स्वरूप को बिना जाने विकृति का निर्दुष्ट ज्ञान करना नितान्त असम्भव है। मन व उसका स्वरूप—शरीर तथा इन्द्रियों से भिन्न रहकर भी उनकी सम्पूर्ण क्रियाओं का नियन्त्रणकर्ता द्रव्य विशेष ही मन है। यह अपनी क्रियाओं का भी स्वयं ही नियन्त्रण करता है 'इन्द्रियाभिग्रहः कर्म मनसः स्वस्य निग्रहः'। आत्मा, इन्द्रिय तथा अर्थ का सान्निध्य होने पर भी ज्ञान की प्रवृत्ति या अप्रवृत्ति का नियमन मन की वहाँ उपस्थिति या अनुपस्थिति के द्वारा ही होता है। मन के उपस्थित रहने पर ज्ञान की उत्पत्ति तथा मन के अनुपस्थित रहने पर ज्ञान का पूर्णतया अभाव रहता है (२) जैसा कि चरक में लिखा है—'लक्षणं मनसो ज्ञानस्याभावो भाव एव च। सति ह्यात्मेन्द्रियार्थानां सन्निकर्षे न वर्तते। वैवृत्यान्मनसो ज्ञानं सान्निध्यात्तच्च वर्तते ॥ (च० शा० अ० १) यह प्रतिशरीर में भिन्न, एक शरीर में एक तथा अणु परिमाणस्वरूप होता है, जैसा कि चरक में लिखा है—'अणुत्वमथ चैकत्वं द्वौ गुणौ मनसः स्मृतौ' (चरक) यदि प्रति शरीर में भिन्न मन न मानकर सब शरीरों में एक ही व्यापक मन की कल्पना की जाय तो एक के द्वारा अनुभूत विषय का ज्ञान दूसरे को भी होना चाहिये। वस्तुतः ऐसा नहीं होता, अतः मन को प्रतिशरीर में भिन्न ही माना गया है। एक शरीर में अनेक मन की कल्पना भी अव्यावहारिक है। अनेक मन की कल्पना करने पर एक काल में एक ही क्रिया की निष्पत्ति के नियम के खण्डित होने की आशंका है। वस्तुतः मन एक काल में एक ही क्रिया करता है। अतः एक शरीर में एक ही मन की सत्ता स्वीकार करना सैद्धान्तिक होने के साथ व्यावहारिक भी है। महर्षि गौतम को भी ज्ञान के अयौगपद्य या एक साथ एक ही ज्ञान की उत्पत्ति के नियम को देखकर ही 'ज्ञानायौगपद्यादेकं मनः' ऐसा सूत्र बनाना पड़ा। मन की प्रतिशरीर में भिन्नता तथा एकत्व को स्वीकार कर लेने पर भी यदि मन को विभु या महत् परिमाण माना जाय तब भी व्यापक मन का एक ही क्षण में अनेक इन्द्रियों के साथ सम्पर्क होने से अनेक ज्ञानों की एक साथ उत्पत्ति का दोष पूर्ववत् ही बना रहेगा। यह निर्विवाद है कि मन एक काल में एक ही क्रिया करता है। अतः मन को विभु न मानकर अणु ही स्वीकार किया गया है। गौतम ने भी इसी आशय से 'यथोक्तहेतुत्वाच्चाणु' ज्ञानों के अयौगपद्य हेतु से ही मन को अणु भी माना है। इसके अतिरिक्त यदि मन को अणु न माना जाय तो निद्रा की स्थिति उत्पन्न ही नहीं हो सकती। मन की इन्द्रियव्यतिरिक्त प्रदेश में स्थिति का ही दूसरा नाम निद्रा है। परिच्छिन्न वस्तु ही सब जगह से हटकर एक स्थान पर रह सकती है; विभु नहीं। विभु मन का सब इन्द्रियों से सर्वदा सम्पर्क रहेगा। अतः सब कालों में सभी ज्ञानों की उत्पत्ति होगी। सर्वदा इन्द्रिय व्यापार रहने से निद्रा की स्थिति नहीं हो सकती। अणुरूप एक मन के एक क्षण में अनेक इन्द्रियों से संयुक्त न होने के कारण अनेक ज्ञानों की उत्पत्ति भी एक ही काल में नहीं होती। परिच्छिन्न मन के इन्द्रिय-व्यतिरिक्त प्रदेश में चले जाने पर निद्रा भी उत्पन्न हो जाती है। एक काल में अनेक क्रियाओं या ज्ञानों की प्रतीति का हेतु भी मन का विभुत्व या अनेकत्व नहीं है, अपितु जिस प्रकार अतितीव्र गति से घूमती हुई रील के कारण एक सेकण्ड में अनेक चित्रों को क्रमशः देखते हुए दर्शक को उनका क्रम ज्ञान नहीं होता है, अपितु वह यही समझता है कि सब में एक साथ ही देख रहा हूँ, उसी प्रकार क्रियाओं या ज्ञानों की शीघ्र प्रवृत्ति के कारण ही उनकी क्रमिकता का भान नहीं होता; अपितु यह प्रतीति होती है कि हम एक साथ अनेक कार्य कर रहे हैं। वस्तुतः यह भ्रम है। शब्दार्थ-ग्रहण तथा वाक्यार्थ-ग्रहण में ज्ञाता यद्यपि वाक्यों में उच्चरित प्रत्येक वर्ण का ज्ञान क्रमशः करने के पश्चात् पद का ज्ञान करता है, पद ज्ञान की स्मृति के द्वारा पद-समूह के ज्ञान से वाक्य का ज्ञान भी इसी क्रमिक बुद्धि के आधार पर ही करता है, तथापि चिरकाल से अभ्यस्त होने के कारण वह इस क्रम को जानने में सर्वथा असमर्थ रहता है। आधुनिक भौतिकवादी भौतिक दृश्य पदार्थों के अतिरिक्त मन या आत्मा जैसे अदृश्य तत्त्व के स्वीकार करने को तैयार नहीं हैं। उनका कहना है कि जिस प्रकार एककोषीय प्राणी अपने को परिस्थिति के अनुकूल बनाकर विविध उत्तेजनाओं का प्रतीकार करने के लिये तैयार रहता है, वैसे ही अनेक कोषाओं के समूह से बना हुआ मानव शरीर भी उत्तेजनाओं का प्रतीकार करने की दृष्टि से अनेक शारीरिक व्यापार भी करता है। इस प्रकार इस शरीर में किसी मन जैसे अदृश्य तत्त्व की कल्पना करना व्यर्थ है। इसके

अतिरिक्त उनका यह भी कथन है कि यदि किसी को मन स्वीकार करने का ही आग्रह है तो मस्तिष्क को ही मन मान लेने में कोई आपत्ति न होनी चाहिये। मस्तिष्क को ही मन मानने में हेतु आधुनिक विज्ञान के आधार पर यह सिद्ध हो चुका है कि प्रणालीविहीन ग्रन्थियों के अन्तःस्राव (Internal secretions of ductless glands) नाडीतन्त्र पर विविध प्रकार के प्रभाव उत्पन्न करके विविध भावों की उत्पत्ति कराते हैं। वृषणग्रन्थि के अन्तःस्राव को शरीर में प्रविष्ट करने से नाडीतन्त्र पर प्रभाव होकर जीर्णकाय वृद्धों में भी कामवासना की प्रवृत्ति जागृत हो जाती है। इसी प्रकार अधिवृक्क के अन्तःस्राव के प्रभाव स्वरूप क्रोध की उत्पत्ति होती है। मद्य भी नाडीतन्त्र को उत्तेजित करके विविध भावों को उत्पन्न करता है। इसका वर्णन मदात्यय निदान में हो ही चुका है। मस्तिष्क की क्षमता ही बुद्धिमत्ता की भी निदर्शक है। जिसकी मस्तिष्कक्षमता जितनी ही अधिक होती है उसकी बुद्धि भी उतनी ही तीव्र तथा आशुग्राहिणी होती है। उपर्युक्त आधार पर भौतिकवादियों का यह निश्चित मत है कि शरीर के दृश्यमान अङ्गों के अतिरिक्त मन जैसे अदृश्य पदार्थ की कल्पना करना निरर्थक है। इसके विपरीत आत्मवादियों का कथन है कि मस्तिष्क के रहते हुए भी अतिरिक्त मन की कल्पना करना परमावश्यक है। वस्तुतः यदि मस्तिष्कातिरिक्त मन की सत्ता स्वीकार न की जाय तो एक ही घटना से विभिन्न व्यक्तियों में होने वाली विभिन्नभावोदयता के कारण का स्पष्ट उत्तर देना दुष्कर है। नाटक तथा चित्रपट के विभिन्न दृश्य भिन्न-भिन्न प्रेक्षकों में भिन्न-भिन्न भावों की उत्पत्ति क्यों करते हैं? एक शृङ्गाररस से प्रसन्न होता है तो दूसरा उसी से घृणा करता है तथा वह वीररस या अन्य किसी रस से प्रसन्न भी होता है, किसी को नाटक में रुचि ही नहीं होती। इस भिन्नरुचिता का क्या कारण है? शुद्ध यन्त्रवाद की सहायता से ऐसे प्रश्नों का उत्तर देना कठिन है। यदि इसमें व्यक्तिगत भावना को कारण माना जाय तब उसका स्वरूप तथा अधिष्ठान भी बताना पड़ेगा। विविध भावों की उत्पत्ति का कारण प्रणालीविहीन ग्रन्थियों के अन्तःस्रावों को तथा मस्तिष्क को विविध व्यक्तिगत भावों का अधिष्ठान स्वीकार करना भी असंगत होगा। एक ही कारण विभिन्न व्यक्तियों में एक ही ग्रन्थि के स्राव में न्यूनाधिकता उत्पन्न करके कदाचित् एकही भाव की उत्पत्ति में न्यूनाधिकता तो अवश्य उत्पन्न करा सकता है, किन्तु वह नितान्त विपरीत ग्रन्थियों के अन्तःस्राव तथा तज्जन्य विपरीत भावों को कदापि उत्पन्न नहीं कर सकता। मस्तिष्क भी अन्य यन्त्रों के समान जड़ ही है, अतः उसमें इस प्रकार की व्यक्तिगत भावना की कल्पना करना सर्वथा प्रतिकूल है। मस्तिष्क का भी प्रेरक तथा व्यक्तिगत भावना की उत्पत्ति का आधार कोई दूसरा अदृश्य तत्त्व ही है। उसी को प्राचीनों ने मन संज्ञा प्रदान की है। भौतिकवादियों के मत का खण्डन करने के लिये नेत्रेन्द्रिय के व्यापार का उदाहरण भी सर्वोत्तम है। प्रकाशविद्या के नियम के अनुसार यह सिद्ध हो चुका है कि यद्यपि दृष्टिवितान (Retina) पर दृश्य पदार्थों का चित्र सदा उलटा ही पड़ता है, तथापि हम मनुष्यों तथा दूसरी वस्तुओं को वैसा नहीं देखते जड़वादियों के कथनानुसार इसका कारण अभ्यास एवं अनुभव बताया जाता है। यदि यह अनुभव या अभ्यास का ही परिणाम है तो पुनः पूर्ववत् उसके भी अधिष्ठान किसी प्रतिसन्धाता या अनुभवों का संग्रह करनेवाले को पृथक् स्वीकार करना ही पड़ेगा। इन अनुभवों का अधिष्ठान मन ही है। इसके अतिरिक्त स्मृति, जाग्रत् स्वप्न तथा सुषुप्ति जैसे व्यापारों का मूल भी मन ही माना जाता है। मन की पूर्ण क्रियाशीलता का दूसरा नाम जाग्रत् अवस्था है। किन्तु जब वही परिश्रान्त होकर इन्द्रियव्यतिरिक्त प्रदेश पुरीतति नाड़ी में प्रविष्ट हो जाता है तो सुषुप्ति की अवस्था उत्पन्न होती है। जाग्रत् और सुषुप्ति के मध्य की अवस्था ही स्वप्नावस्था है। इस अवस्था में मन का व्यापार अल्पमात्रा में बनता रहता है। अब यह प्रश्न होना भी स्वाभाविक है कि जब मन ही सब कुछ है तो मस्तिष्क को किस श्रेणी में रखा जाय? संज्ञाहर औषधियों का प्रयोग करने से मस्तिष्क या नाड़ी तन्त्र की क्रियाओं के साथ-साथ मन की भी क्रियायें अवरुद्ध हो जाती हैं, अतः मन को भी मस्तिष्क मान लेने में क्या आपत्ति है? वस्तुतः मस्तिष्क स्वयं मन नहीं, अपि तु मन का साधन है। मस्तिष्क और नाड़ीसूत्रों द्वारा मन के व्यापार होते हैं। ये नाड़ीसूत्र ही प्राचीनों के अनुसार मनोवाही स्रोत हैं। इस प्रकार मन कर्ता तथा मस्तिष्क और नाड़ीसूत्र उसके साधन हैं। मस्तिष्क की उत्तमता पर मन की उत्तमता भी निर्भर है। मन को यदि मस्तिष्क से पृथक् न माना जाय तो एकाग्र चित्त से कार्य करने पर भी अन्य सभी दृश्यमान वस्तुओं का भी ज्ञान होना चाहिये। ज्ञान का अयौगपद्य मन की सत्ता मस्तिष्क से पृथक् मानकर ही सिद्ध किया जा सकता है, मस्तिष्क को ही मन मान लेने से नहीं। मन के गुण व दोष—प्रकृति के समान मन भी त्रिगुणात्मक ही होता है। प्राकृत अवस्था में इसमें सत्त्व गुण की ही विशेषता रहती है। अतः इसका दूसरा नाम सत्त्व भी पड़ गया है। रज और तम मन के दोष हैं 'रजस्तमश्च मनसो द्वौ च दोषावुदाहृतौ'। इन गुणों का प्राबल्य होने पर ही मानसिक व्याधियों की उत्पत्ति प्रारम्भ हो जाती है। मन के कार्य व उसकी क्रिया की सम्पन्नता—कर्तव्याकर्तव्य का विचार, तर्क, ध्यान, संकल्प, इन्द्रियों का नियमन तथा अपना नियमन आदि मन के कर्म हैं। (१) चिन्त्यं विचार्यमूह्यञ्च ध्येयं सङ्कल्प्यमेव च। यत् किञ्चिन्मनसो ज्ञेयं तत्सर्वं ह्यर्थसंज्ञकम् ॥ इन्द्रियाभिग्रहः कर्म मनसः स्वस्य निग्रहः। ऊहो विचारश्च…॥ (च० शा० २)। अनुभव (Feeling) विवेचन (Thinking) तथा क्रिया (Action) इनसे मानसिक क्रियायें सम्पन्न होती हैं। मन की ही अवस्था विशेष का नाम बुद्धि और अहंकार है। इन्द्रियों द्वारा किया गया प्रत्यक्ष मन के पास पहुँचता है। मन उसका हेयोपादेय-दृष्टि से विचार करके अहंकार को दे देता है। अहंकार भी यह मेरा है समझकर उसका ग्रहण अथवा परित्याग करने के लिये बुद्धि को सौंप देता है। इस प्रकार वस्तु के ज्ञान में इन्द्रियाँ अप्रधान तथा मन आदि तीनों अन्तःकरण प्रधान माने गये हैं—सान्तःकरणा बुद्धिः सर्वं विषयमवगाहते यस्मात्। तस्मात् त्रिविधं करणं द्वारि द्वाराणि शेषाणि ॥ (सां० का०)। ये क्रियायें मन के सत्त्व गुण की प्रकृतिस्थता पर ही निर्भर हैं। सत्त्व गुण की कमी तथा रज और तम की

अधिकता से मानसिक व्याधियाँ उत्पन्न होती हैं। मानसिक व्याधियों में उन्माद का महत्त्व सर्वाधिक है, अतः प्रकृत में उसी का वर्णन किया जा रहा है। वात आदि दोष विकृत होकर जब मनोवाही स्रोतस् (वातनाड़ी तन्त्र) में पहुँचते हैं तो उसके सत्त्वगुण का ह्रास एवं रज और तमोगुण की वृद्धि करके मनोविभ्रम या उन्मादरोग को उत्पन्न करते हैं। उन्माद किनको और क्यों होता है? इसका विवेचन आगे यथास्थान किया जायगा। सम्प्रति उन्माद की संक्षिप्त परिभाषा के विषय में विचार करते हैं। निष्प्रयोजन तथा उच्छृङ्खल प्रवृत्ति का ही दूसरा नाम उन्माद है। प्राकृत अवस्था में मनुष्य प्रत्येक कार्य किसी प्रयोजन से ही करता है, बिना प्रयोजन अल्पबुद्धि की भी प्रवृत्ति नहीं होती। 'प्रयोजनमनुद्दिश्य न मन्दोऽपि प्रवर्तते' इस उक्ति से सभी क्रियायें सप्रयोजन होती हैं। प्राचीनों ने प्राणैषणा (जीवित रहने की इच्छा), धनैषणा (प्राणों की रक्षा के साधन धन की इच्छा), परलोकैषणा (परलोक में सुख की इच्छा) इन तीनों को ही प्रवृत्ति का कारण या प्रयोजन माना है। इन तीनों में से किसी के रहने पर ही मनुष्य किसी वस्तु के ग्रहण या परित्याग की ओर प्रवृत्त होता है। कतिपय आधुनिक विद्वानों ने प्राणैषणा (Instinct of self preservation), कामैषणा (Sexual instinct) तथा वर्गैषणा (Herd instinct) को प्रवृत्ति का कारण माना है। वर्गैषणा का अन्तर्भाव परलोकैषणा में किया जा सकता है। वस्तुतः मनुष्य अपने हित के साथ समाज के हित का भी ध्यान रखता है, इस प्रकार धर्म मनुष्य जाति का अनिवार्य अङ्ग है। धार्मिक प्रवृत्तियों का मूल परलोकैषणा ही है। ये सभी एषणायें तथा प्रकृतियाँ प्रायः माता पिता के गुणों के अनुसार सन्तान में आती हैं। वृत्त तथा सदाचार आदि गुण जातोत्तर काल में शिक्षण के अनुसार होते हैं। इस प्रकार उपर्युक्त एषणाओं से रहित होकर कार्य करने की अव्यवस्थित प्रवृत्ति को ही उन्माद कहते हैं। व्यर्थ ही तिनके तोड़ना व उनका चर्वण करना, भूमि कुरेदना आदि छोटे छोटे कार्य भी निष्प्रयोजन-कर्म की श्रेणी में आने से मानसरोग या उन्माद के द्योतक हैं। क्रोध, लोभ आदि भी सामयिक पागलपन ही हैं। विचार करने से ज्ञात होगा कि स्वस्थ की परिभाषा के अनुसार (२) समदोषः समाग्निश्च समधातुमलक्रियः। प्रसन्नात्मेन्द्रियमनाः स्वस्थ इत्यभिधीयते जिस प्रकार पूर्णस्वस्थ शरीरवाले मनुष्य समाज में अलभ्य हैं वैसे ही समाज का बहुत कम अंश ऐसा है जो मानस रोगों से पूर्णतः मुक्त है। शारीरिक रोगों की अपेक्षा मानस रोगों का अनुपात अधिक ही है। किन्तु इन दोनों में अन्तर यह है कि शास्त्रों में शारीरिक रोगों का विशेष वर्णन होने से उनको पहिचानने में अधिक सौकर्य होता है। इसके विपरीत साधारण अवस्था में मानसरोग का ज्ञान नहीं होने पाता, अपितु जब वह उग्र रूप धारण करता है तब हम उसको पागलपन की संज्ञा देते हैं। तात्त्विक दृष्टि से वह बहुत पूर्व ही प्रारम्भ हो जाता है। मानसिक रोग शारीरिक रोगों की अपेक्षा अधिक भयंकर एवं बद्धमूल हो जाने पर असाध्य भी अधिक होते हैं। इसके अतिरिक्त मानसिक व्याधियों में शारीरिक व्याधियों की अपेक्षा वंशपरम्परा में चलने की भी अधिक प्रवृत्ति रहती है। चरकाचार्य ने उन्माद की परिभाषा अतीव सुन्दर लिखी है—'उन्मादं पुनर्मनोबुद्धिसंज्ञाज्ञानस्मृतिभक्तिशीलचेष्टाचारविभ्रमं विद्यात्' (च० नि० अ० ७) विभ्रम शब्द का मन, बुद्धि आदि प्रत्येक के साथ सम्बन्ध होता है। मनोविभ्रम होने से चिन्तनीय अर्थों का चिन्तन नहीं कर सकता है, किन्तु अचिन्त्य अर्थ का चिन्तन करता है। ऐसे मन का अर्थ चिन्त्य होता है 'मनसस्तु चिन्त्यमर्थः'। बुद्धिविभ्रम होने से नित्य में अनित्य कल्पना और प्रिय में अप्रिय धारणा करता है जैसा कि कहा भी है—विषमाभिनिवेशो यो नित्यानित्ये प्रियाप्रिये। ज्ञेयः स बुद्धिविभ्रंशः समं बुद्धिर्हि पश्यति॥ (च० शा० अ० १) संज्ञा अर्थात् ज्ञान के विभ्रम होने से अग्न्यादि दाह को भी नहीं पहचानता है। शील के विभ्रम होने से अक्रोधी भी क्रोध करने लगता है। चेष्टा के विभ्रम से अनुचित चेष्टाएँ करता है। आचार का तात्पर्य शास्त्रशिक्षाकृत व्यवहार है। तथा उसके विभ्रम हो जाने से अशौचादिक का आचरण करता है।

एकैकशः समस्तैश्च दोषैरत्यर्थमूर्च्छितैः।
मानसेन च दुःखेन स पञ्चविध उच्यते॥ ४॥
विषाद्भवति षष्ठश्च यथास्वं तत्र भेषजम्।
स चाप्रवृद्धस्तरुणो मदसंज्ञां बिभर्ति च॥ ५॥

उन्मादभेदाः—अत्यन्त विकृत हुए वातादि एक एक दोषों से उत्पन्न होने से उन्माद के तीन भेद, सर्व दोषों की मिलित विकृति से चौथा, रजोगुण और तमोगुण इन मानसिक दोषों से दूषित मन के शोकादि दुःख से उत्पन्न पाँचवाँ उन्माद और विषदोष से उत्पन्न होने के कारण उन्माद छः प्रकार का होता है। इन छहों प्रकार के उन्मादों की चिकित्सा अपने अपने दोषों के अनुसार करनी चाहिए। जब उन्माद बढ़ा हुआ नहीं होता है, अर्थात् अल्प लक्षणोंवाला होता है एवं तरुण (अल्पमात्रा में) होता है तब उसकी मदसंज्ञा होती है। अर्थात् कुछ लोग इसे मद्य की प्रथमावस्था कहते हैं॥

विमर्शः—पूर्व में यह कहा जा चुका है कि शारीरिक व्याधियाँ मानसिक तथा मानसिक व्याधियाँ शारीरिक रूप में भी परिवर्तित हो जाती हैं—'आगन्तुरन्वेति निजं विकारं निजस्तथाऽऽगन्तुमतिप्रवृद्धः' इसी आधार पर उन्माद भी स्वतन्त्र या प्राथमिक (Primary) तथा उपद्रव स्वरूप या द्वितीयक (Secondary) दो प्रकार का होता है। वात आदि शारीरिक दोष तथा विष का मन पर प्रभाव पड़ने से जो उन्माद होता है उसे द्वितीयक उन्माद कहते हैं, किन्तु मानस दुःखजन्य उन्माद प्राथमिक ही कहलाता है। चरकाचार्य ने मद को उन्माद की पूर्वकालीन ही अवस्था न मानकर विधिशोणित अध्याय में मद को स्वतन्त्र रोग मानकर चार प्रकार का बताया है—'चत्वारो मदाः, वातपित्तकफसन्निपातनिमित्ताः' (च० सू० अ० १९) इसके अतिरिक्त चरक ने विषजन्य तथा मानसिक दुःखजन्य उन्माद का आगन्तुक में अन्तर्भाव करके उन्माद के पाँच ही भेद माने हैं—पञ्चोन्मादाः, वातपित्तकफसन्निपातागन्तुनिमित्ताः' (च० सू० अ० १९)

चरकमतेन उन्मादस्य सामान्यहेतुः—विरुद्धदुष्टाशुचिभोजनानि प्रधर्षणं देवगुरुद्विजानाम्। उन्मादहेतुर्भयहर्षपूर्वो मनोऽभिघातो

विषमाश्च चेष्टाः॥ (च० चि० अ० ९) संयोगादि विरुद्ध, दुष्ट तथा अपवित्र भोजन करने से, देवता, गुरु या माता पिता और ब्राह्मणों का अपमान करने से, अत्यधिक भय या अत्यधिक हर्ष के कारण मनपर प्रभाव पड़ने से तथा शरीर की विषम चेष्टाओं या मन पर आघात लगने से उन्माद रोग की उत्पत्ति होती है।

विमर्शः—विरुद्ध भोजनों से साक्षात् मन के सत्त्व गुण का ह्रास होने से उन्माद की उत्पत्ति होती है। तिरस्कृत हुए देवता तथा गुरुजन तथा दुःखी होकर यदि इस प्रकार का शाप दें तब भी मनुष्य पागल हो सकता है, क्योंकि उनकी वाणी में इस प्रकार की शक्ति निहित रहती है, यह भवभूति के निम्न कथन से सिद्ध है—लौकिकानां हि साधूनामर्थं वागनुवर्तते। ऋषीणां पुनराद्यानां वाचमर्थोऽनुधावति॥ कभी अधिक हर्ष और कभी अधिक दुःख से भी उन्माद रोग की उत्पत्ति देखी गई है। भय और हर्ष से काम, क्रोध, लोभ, मोह तथा शोक जैसे मानसिक भावों का भी ग्रहण कर लेना चाहिये, क्योंकि इनकी अत्यधिकता भी उन्माद की जननी है। इनके अतिरिक्त स्वभाव या शिक्षणाभाव, भावप्रतिक्रिया, (Emotional reflexion) तथा घटनाजन्य प्रतिक्रिया (Conditional reflexion) भी उन्माद के हेतु हैं। मन की स्वाभाविक दुर्बलता भी उन्माद का हेतु है। कुछ शारीरिक रोगों से शरीर के दुर्बल हो जाने के पश्चात् मन भी दुर्बल हो जाता है, एवं मानसिक रोगों की उत्पत्ति तथा शारीरिक रोगों की वृद्धि होती है। उपर्युक्त कारणों से मन हीनसत्त्व हो जाता है तथा मनुष्यों की प्रवृत्तियों के उच्छृङ्खल एवं निष्प्रयोजन होने से उन्मादरोग उत्पन्न होता है। यह घटनाजन्य प्रतिक्रिया का एक ज्वलन्त उदाहरण भी है—एक स्त्री का पति युद्ध-क्षेत्र में मारा गया, जिसकी सूचना उसे टेलीफोन के द्वारा दी गई। इसके बाद टेलीफोन की घण्टी बजने की आवाज से वह मूर्च्छित हो जाती थी। इसी प्रकार उन्माद की भी उत्पत्ति हो सकती है।

उन्मादस्य संप्राप्तिमाह—

तैरल्पसत्त्वस्य मलाः प्रदुष्टा बुद्धेर्निवासं हृदयं प्रदूष्य।
स्रोतांस्यधिष्ठाय मनोवहानि प्रमोहयन्त्याशु नरस्य चेतः॥ ५॥

(च० चि० १२)

उपर्युक्त कारणों से प्रकुपित हुए वात आदि दोष सत्त्वगुण की कमीवाले अथवा दुर्बल मनवाले मनुष्य की बुद्धि के निवास-स्थान हृदय को दूषित करके तथा मनोवाही स्रोतों में व्याप्त होकर मनुष्य के चित्त को भ्रान्तियुक्त या उन्मत्त कर देते हैं॥ ५॥

विमर्शः—हृदय शब्द से साधारणतया मांसपेशी के बने हुए वक्षःस्थ रक्त के थैले का ही ग्रहण होता है, किन्तु 'बुद्धेर्निवासं' इस विशेषण पद से स्पष्ट है कि प्रकृत में पेशीमय हृदय का ग्रहण न करके बुद्धि के निवास आज्ञाचक्रान्तराल में रहने वाले ब्रह्महृदय (Fourth ventrical of brain) का ही ग्रहण करना चाहिए; क्योंकि वही उन्माद का अधिष्ठान है। इस प्रकार यहाँ हृदय से मस्तिष्क का ही ग्रहण होता है। चरक तथा सुश्रुत ने जो मन तथा मनोवाही दस धमनियों का स्थान हृदय को कहा है वह भी मस्तिष्क ही है; क्योंकि उसी से मनोवाही धमनी के बारह जोड़े (Twelve pairs of cranial nerves) निकलते हैं। मांसपेशीमय हृदय से नहीं। इसके अतिरिक्त महर्षि भेल ने भी मस्तिष्क को ही मन का स्थान बताया है—शिरस्तालवन्तरगतं सर्वेन्द्रियपरं मनः। तत्रस्थं तद्धि विषयानिन्द्रियाणां रसादिकान्। समीपस्थान् विजानाति त्रीन् भावांश्च नियच्छति। तन्मनःप्रभवञ्चापि सर्वेन्द्रियमयं बलम्॥ (भे० सं० चि०)। योगीजन भी मस्तिष्क को ही मन का स्थान मानते हैं—'एतत्पद्मान्तराले निवसति च मनः सूक्ष्मरूपं प्रसिद्धम्'। श्री कविराज गणनाथसेन जी भी मन का अधिष्ठान मस्तिष्क या ब्रह्महृदय को ही मानते हैं—'आज्ञाचक्रं नाम आज्ञाकन्दद्वयवेष्टितो ब्रह्मगुहांशः, तन्मनसोऽधिष्ठानमिति योगिनः' (प्र० शा० पृ० ख० अ० १२)। उपर्युक्त प्रमाणों के आधार पर निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि चूँकि उन्माद में प्रधान विकृति मन की होती है, और मन का अधिष्ठान मस्तिष्क है, अतः बुद्धिके निवास हृदय से मस्तिष्क का ही ग्रहण करना चाहिए। चरक ने भी शिर या शिरःस्थ मस्तिष्क को सम्पूर्ण इन्द्रियों का अधिष्ठान तथा प्राणों का आश्रय भी स्वीकार किया है—प्राणाः प्राणभृतां यत्र स्थिताः सर्वेन्द्रियाणि च। यदुत्तमाङ्गमङ्गानां शिरस्तदभिधीयते॥ मनोवाही स्रोत शब्द से कुछ लोग संयोजक नाडीतन्तु (Association Fibres) का ग्रहण करते हैं। वस्तुतः प्राच्य दृष्टिकोण से सम्पूर्ण नाडीतन्तु ही मनोवाही स्रोतस माना जाता है, क्योंकि चरक ने 'तद्वदतीन्द्रियाणां सत्त्वादीनां केवलं चेतनावच्छरीरमयनमधिष्ठानभूतञ्च' के द्वारा सम्पूर्ण चेतन शरीर को ही मनोवह स्रोत का अधिष्ठान माना है। वस्तुतः मन का कार्यक्षेत्र सम्पूर्ण शरीर है। अतः मन का वहन करने वाले नाडीसूत्र भी शरीर के प्रत्येक सूक्ष्मातिसूक्ष्म भाग में भी व्याप्त रहते हैं। बुद्धि के आश्रय मस्तिष्क के दूषित होने से मस्तिष्क के आश्रित रहने वाली बुद्धि भी दूषित हो जाती है, जिससे उन्माद रोग उत्पन्न हो जाता है।

मोहोद्वेगौ स्वनः श्रोत्रे गात्राणामपकर्षणम्।
अत्युत्साहोऽरुचिश्चान्ने स्वप्ने कलुषभोजनम्॥ ६॥
वायुनोन्मथनञ्चापि भ्रमश्चक्रगतस्य वा।
यस्य स्यादचिरेणैव उन्मादं सोऽधिगच्छति॥ ७॥

उन्मादस्य पूर्वरूपाणि—मोह, उद्वेग, कानों में बिना शब्द के ही शब्द सुनाई देना, शरीर के अङ्ग-प्रत्यङ्गों का दुर्बल होना फिर भी किसी भी कार्य में अत्यधिक उत्साह होना, अन्न में रुचि न होना, निद्रा में कलुषित (मल-मूत्रादि से दूषित) भोजन करने का स्वप्न आना, वायु के प्रकोप के कारण हृदयादिक का व्याकुल होना तथा कुम्भकार के चक्र के ऊपर बैठने पर जैसे चक्कर आते हैं वैसे चक्कर (भ्रम) की प्रतीति होना, ये लक्षण जिस रोगी को प्रतीत होते हों वह जल्दी ही उन्माद रोग से ग्रसित होगा ऐसा समझना चाहिए॥

विमर्शः—मोहो = मनसो वैचित्यम्। चरके उन्मादस्य सामान्यरूपं यथा—धीविभ्रमः सत्त्वपरिप्लवश्च पर्याकुला दृष्टिरधीरता च। अबद्धवाक्त्वं हृदयञ्च शून्यं सामान्यमुन्मादगदस्य लिङ्गम्॥ (च० चि० अ० ९) बुद्धि में भ्रम का होना, मन की चञ्चलता, नेत्रों का व्याकुल होने के समान इतस्ततश्चालन पूर्वक इधर उधर देखना, किसी भी कार्य में धीरता न रहना,

विषमाश्च चेष्टाः ॥ (च० चि० अ० ९) संयोगादि विरुद्ध, दुष्ट तथा अपवित्र भोजन करने से, देवता, गुरु या माता पिता और ब्राह्मणों का अपमान करने से, अत्यधिक भय या अत्यधिक हर्ष के कारण मनपर प्रभाव पड़ने से तथा शरीर की विषम चेष्टाओं या मन पर आघात लगने से उन्माद रोग की उत्पत्ति होती है।

विमर्शः—विरुद्ध भोजनों से साक्षात् मन के सत्त्व गुण का ह्रास होने से उन्माद की उत्पत्ति होती है। तिरस्कृत हुए देवता तथा गुरुजन तथा दुःखी होकर यदि इस प्रकार का शाप दें तब भी मनुष्य पागल हो सकता है, क्योंकि उनकी वाणी में इस प्रकार की शक्ति निहित रहती है, यह भवभूति के निम्न कथन से सिद्ध है—लौकिकानां हि साधूनामर्थं वागनुवर्तते। ऋषीणां पुनराद्यानां वाचमर्थोऽनुधावति॥ कभी अधिक हर्ष और कभी अधिक दुःख से भी उन्माद रोग की उत्पत्ति देखी गई है। भय और हर्ष से काम, क्रोध, लोभ, मोह तथा शोक जैसे मानसिक भावों का भी ग्रहण कर लेना चाहिये, क्योंकि इनकी अत्यधिकता भी उन्माद की जननी है। इनके अतिरिक्त स्वभाव या शिक्षणाभाव, भावप्रतिक्रिया, (Emotional reflexion) तथा घटनाजन्य प्रतिक्रिया (Conditional reflexion) भी उन्माद के हेतु हैं। मन की स्वाभाविक दुर्बलता भी उन्माद का हेतु है। कुछ शारीरिक रोगों से शरीर के दुर्बल हो जाने के पश्चात् मन भी दुर्बल हो जाता है, एवं मानसिक रोगों की उत्पत्ति तथा शारीरिक रोगों की वृद्धि होती है। उपर्युक्त कारणों से मन हीनसत्त्व हो जाता है तथा मनुष्यों की प्रवृत्तियों के उच्छृङ्खल एवं निष्प्रयोजन होने से उन्मादरोग उत्पन्न होता है। यह घटनाजन्य प्रतिक्रिया का एक ज्वलन्त उदाहरण भी है—एक स्त्री का पति युद्ध-क्षेत्र में मारा गया, जिसकी सूचना उसे टेलीफोन के द्वारा दी गई। इसके बाद टेलीफोन की घण्टी बजने की आवाज से वह मूर्च्छित हो जाती थी। इसी प्रकार उन्माद की भी उत्पत्ति हो सकती है।

उन्मादस्य संप्राप्तिमाह—

तैरल्पसत्त्वस्य मलाः प्रदुष्टा बुद्धेर्निवासं हृदयं प्रदूष्य।
स्रोतांस्यधिष्ठाय मनोवहानि प्रमोहयन्त्याशु नरस्य चेतः॥ ५॥
(च० चि० १२)

उपर्युक्त कारणों से प्रकुपित हुए वात आदि दोष सत्त्वगुण की कमीवाले अथवा दुर्बल मनवाले मनुष्य की बुद्धि के निवास-स्थान हृदय को दूषित करके तथा मनोवाही स्रोतों में व्याप्त होकर मनुष्य के चित्त को भ्रान्तियुक्त या उन्मत्त कर देते हैं॥ ५॥

विमर्शः—हृदय शब्द से साधारणतया मांसपेशी के बने हुए वक्षःस्थ रक्त के थैले का ही ग्रहण होता है, किन्तु 'बुद्धेर्निवासं' इस विशेषण पद से स्पष्ट है कि प्रकृत में पेशीमय हृदय का ग्रहण न करके बुद्धि के निवास आज्ञाचक्रान्तराल में रहने वाले ब्रह्महृदय (Fourth ventrical of brain) का ही ग्रहण करना चाहिए; क्योंकि वही उन्माद का अधिष्ठान है। इस प्रकार यहाँ हृदय से मस्तिष्क का ही ग्रहण होता है। चरक तथा सुश्रुत ने जो मन तथा मनोवाही दस धमनियों का स्थान हृदय को कहा है वह भी मस्तिष्क ही है; क्योंकि उसी से मनोवाही धमनी के बारह जोड़े (Twelve pairs of cranial nerves) निकलते हैं। मांसपेशीमय हृदय से नहीं। इसके अतिरिक्त महर्षि भेल ने भी मस्तिष्क को ही मन का स्थान बताया है—शिरस्ताल्वन्तरगतं सर्वेन्द्रियपरं मनः। तत्रस्थं तद्धि विषयानिन्द्रियाणां रसादिकान्। समीपस्थान् विजानाति त्रीन् भावांश्च नियच्छति। तन्मनःप्रभवञ्चापि सर्वेन्द्रियमयं बलम्॥ (भे० सं० चि०)। योगीजन भी मस्तिष्क को ही मन का स्थान मानते हैं—'एतत्पद्मान्तराले निवसति च मनः सूक्ष्मरूपं प्रसिद्धम्'। श्री कविराज गणनाथसेन जी भी मन का अधिष्ठान मस्तिष्क या ब्रह्महृदय को ही मानते हैं—'आज्ञाचक्रं नाम आज्ञाकन्दद्वयवेष्टितो ब्रह्मगुहांशः, तन्मनसोऽधिष्ठानमिति योगिनः' (प्र० शा० तृ० ख० अ० १२)। उपर्युक्त प्रमाणों के आधार पर निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि चूँकि उन्माद में प्रधान विकृति मन की होती है, और मन का अधिष्ठान मस्तिष्क है, अतः बुद्धिके निवास हृदय से मस्तिष्क का ही ग्रहण करना चाहिए। चरक ने भी शिर या शिरःस्थ मस्तिष्क को सम्पूर्ण इन्द्रियों का अधिष्ठान तथा प्राणों का आश्रय भी स्वीकार किया है—प्राणाः प्राणभृतां यत्र स्थिताः सर्वेन्द्रियाणि च। यदुत्तमाङ्गमङ्गानां शिरस्तदभिधीयते॥ मनोवाही स्रोत शब्द से कुछ लोग संयोजक नाडीतन्तु (Association Fibres) का ग्रहण करते हैं। वस्तुतः प्राच्य दृष्टिकोण से सम्पूर्ण नाडीतन्तु ही मनोवाही स्रोतस माना जाता है, क्योंकि चरक ने 'तद्वदतीन्द्रियाणां सत्त्वादीनां केवलं चेतनावच्छरीरमयनमधिष्ठानभूतञ्च' के द्वारा सम्पूर्ण चेतन शरीर को ही मनोवह स्रोत का अधिष्ठान माना है। वस्तुतः मन का कार्यक्षेत्र सम्पूर्ण शरीर है। अतः मन का वहन करने वाले नाडीसूत्र भी शरीर के प्रत्येक सूक्ष्मातिसूक्ष्म भाग में भी व्याप्त रहते हैं। बुद्धि के आश्रय मस्तिष्क के दूषित होने से मस्तिष्क के आश्रित रहने वाली बुद्धि भी दूषित हो जाती है, जिससे उन्माद रोग उत्पन्न हो जाता है।

मोहोद्वेगौ स्वनः श्रोत्रे गात्राणामपकर्षणम्।
अत्युत्साहोऽरुचिश्चान्ने स्वप्ने कलुषभोजनम्॥ ६॥
वायुनोन्मथनञ्चापि भ्रमश्चक्रगतस्य वा।
यस्य स्यादचिरेणैव उन्मादं सोऽधिगच्छति॥ ७॥

उन्मादस्य पूर्वरूपाणि—मोह, उद्वेग, कानों में बिना शब्द के ही शब्द सुनाई देना, शरीर के अङ्ग-प्रत्यङ्गों का दुर्बल होना फिर भी किसी भी कार्य में अत्यधिक उत्साह होना, अन्न में रुचि न होना, निद्रा में कलुषित (मल-मूत्रादि से दूषित) भोजन करने का स्वप्न आना, वायु के प्रकोप के कारण हृदयादिक का व्याकुल होना तथा कुम्भकार के चक्र के ऊपर बैठने पर जैसे चक्कर आते हैं वैसे चक्कर (भ्रम) की प्रतीति होना, ये लक्षण जिस रोगी को प्रतीत होते हों वह जल्दी ही उन्माद रोग से ग्रसित होगा ऐसा समझना चाहिए॥

विमर्शः—मोहो = मनसो वैचित्यम्। चरके उन्मादस्य सामान्यरूपं यथा—धीविभ्रमः सत्त्वपरिप्लवश्च पर्याकुला दृष्टिरधीरता च। अबद्धवाक्त्वं हृदयञ्च शून्यं सामान्यमुन्मादगदस्य लिङ्गम्॥ (च० चि० अ० ९) बुद्धि में भ्रम का होना, मन की चञ्चलता, नेत्रों का व्याकुल होने के समान इतस्ततश्चालन पूर्वक इधर उधर देखना, किसी भी कार्य में धीरता न रहना,

(एकान्त) में प्रेम करने की इच्छा, बुद्धि की अल्पता तथा स्वल्प इधर-उधर घूमना, अधिक निद्रापरायण, किसी के साथ वार्तालाप कम करना, थोड़ा भोजन करना तथा उष्ण पदार्थों के सेवन तथा उष्णस्थान में सोने-बैठने की इच्छा करना ये लक्षण उत्पन्न होते हैं। कफज उन्माद का प्रकोप रात्रि में अधिक हो जाया करता है। अपि शब्द से कफजन्य उन्माद रोगी के नख, नेत्र, चर्म, मल, मूत्रादि श्वेत हो हो जाते हैं॥ १०॥

विमर्शः—चरके कफजोन्मादस्य सम्प्राप्तिलक्षणे—सम्पूर्णैर्मन्दविचेष्टितस्य सोष्मा कफो मर्मणि सम्प्रवृद्धः। बुद्धिं स्मृतिञ्चाप्युपहत्य चित्तं प्रमोहयन् सञ्जनयेद्विकारम्॥ वाक्चेष्टितं मन्दमरोचकश्च नारीविविक्तप्रियताऽतिनिद्रा। छर्दिश्च लाला च बलश्च भुक्ते नखादिशौक्ल्यञ्च कफात्मके स्यात्॥ (च० चि० अ० ९) अत्यधिक अतिस्निग्ध आदि सन्तर्पक भोजन करने वाले और किसी प्रकार की व्यायामादि चेष्टा और श्रमादि कार्य न करने वाले व्यक्ति का पित्त सहित विकृत हुआ कफ मस्तिष्क में स्थिर होकर बुद्धि और स्मृति को नष्ट करके मनोविभ्रम पूर्वक उन्माद रोग उत्पन्न कर देता है। चरक ने लक्षण सुश्रुत के समान ही लिखे हैं, किन्तु नखादि-शौक्ल्य और भोजन करने पर उन्माद की वृद्धि ये विशेष लिखे हैं। इनके अतिरिक्त चरक ने निदानस्थान में जो उन्माद के लक्षण लिखे हैं उनमें मुख पर शोथ होना विशेष लिखा है। 'स्थानमेकदेशे, तूष्णीम्भावः अल्पशश्चङ्क्रमणं, लालाशिङ्घाणकस्रवणम्, अनन्नाभिलाषः, रहस्कामता, बीभत्सत्वं, शौचद्वेषः, स्वप्ननित्यता, श्वयथुरानने, शुक्लस्तिमितमलोपदिग्धाक्षत्वं, श्लेष्मोपशयविपर्यासादनुपशयता चेति श्लेष्मोन्मादलिङ्गानि भवन्ति' (च० नि० अ० ७) मेदोरोग के समान कफज उन्माद में कफ के साथ पित्त का प्रकोप रहता है। कतिपय आचार्यों का कथन है कि द्वन्द्वज उन्माद का निदर्शन कराने के लिये ही सोष्म शब्द का उपादान किया गया है। अथवा ऊष्मा शब्द शक्ति का द्योतक मानकर सबल कफ उन्माद को उत्पन्न करता है, ऐसा अर्थ भी करते हैं।

सर्वात्मके पवनपित्तकफा यथास्वं
संहर्षिता इव च लिङ्गमुदीरयन्ति॥ ११॥

सान्निपातिकोन्मादलक्षणम्—सर्व दोषों के प्रकोप से उत्पन्न हुए उन्माद में वायु, पित्त और कफ परस्पर स्पर्धा करते हुए विवृद्ध होकर अपने अपने लक्षणों को उत्पन्न करते हैं॥

विमर्शः—कुछ आचार्य सान्निपातिक उन्माद के उक्त पाठ को निम्नरूप से लिखते हैं—सर्वात्मके त्रिभिरपि व्यतिमिश्रितानि रूपाणि वातकफपित्तकृतानि विद्यात्। सम्पूर्णलक्षणमसाध्यमुदाहरन्ति सर्वात्मकं क्वचिदपि प्रवदन्ति साध्यम्॥ जिस सान्निपातिक उन्माद में वातादि तीनों दोषों के सम्पूर्ण लक्षण प्रकट हो जाँय उसे असाध्य कहते हैं और यदि समग्र लक्षण प्रगट न हुए हों तो ऐसा सान्निपातिक उन्माद कभी कभी कहीं कहीं साध्य होते हुये भी देखा गया है। चरके सान्निपातिकोन्मादलक्षणम्—यः सन्निपातप्रभवोऽतिघोरः सर्वैः समस्तैः स च हेतुभिः स्यात्। सर्वाणि रूपाणि बिभर्ति तादृग्विरुद्धभैषज्यविधिर्विवर्ज्यः॥ अर्थात् त्रिदोषजन्य उन्माद अत्यन्त भयङ्कर होता है। उसकी उत्पत्ति तीनों दोषों के उत्पादक हेतुओं से होती है। इसमें तीनों दोषों के लक्षण मिलते हैं। यह विरुद्धोपक्रम होने से असाध्य होता है। प्रायः सभी त्रिदोषज व्याधियाँ असाध्य होती हैं। क्योंकि त्रिदोषज व्याधि में भी वात आदि के विरुद्ध ही चिकित्सा की जाती है एवं वह परस्पर विरुद्ध होती है। अर्थात् वातहर स्वादु, अम्ल और लवण रसप्रधान द्रव्य कफ और पित्त के वर्द्धक होते हैं तथा कफहर कटु, तिक्त और कषाय रसप्रधान द्रव्य वात और पित्त के वर्द्धक होते हैं। एक की चिकित्सा से दूसरे की वृद्धि होती है। द्रव्यों की शक्ति भी परिमित है अतः आँवले जैसे बहुत कम द्रव्य तीनों दोषों पर कार्य करते हैं। इसके अतिरिक्त दोष के साथ साथ व्याधि का भी ध्यान रखना पड़ता है। सभी त्रिदोषात्मक द्रव्य प्रत्येक त्रिदोष व्याधि में कार्यकर नहीं होते। इस प्रकार विरुद्धोपक्रम तथा चिकित्सा के लिये उपयोगी द्रव्यों के अभाव से त्रिदोषज उन्माद असाध्य माना गया है। सम्पूर्ण हेतु तथा लक्षणों से युक्त तथा विरुद्धोपक्रम सभी व्याधियाँ असाध्य होती हैं किन्तु जिन त्रिदोषज व्याधियों में सम्पूर्ण लक्षण नहीं होते एवं जिनके नाशक द्रव्यों की प्रचुरता हो वे साध्य भी होती हैं।

चौरैर्नरेन्द्रपुरुषैररिभिस्तथाऽन्यै-
र्वित्रासितस्य धनबान्धवसङ्क्षयाद्वा।
गाढं क्षते मनसि च प्रियया रिरंसो-
र्जायेत चोत्कटतरो मनसो विकारः॥ १२॥

मनोदुःखजोन्मादहेतवः—चोरों, राजपुरुषों, (पोलिस आदि), शत्रुओं तथा अन्य हिंसक जन्तुओं से भयभीत होने के कारण, धन तथा परिवार के नष्ट हो जाने से अथवा अपनी प्रिया के साथ रमण करने की अत्युत्कट इच्छा वाले पुरुष की इच्छा सफल न होने पर मन के ऊपर गम्भीर आघात हो जाता है जिससे भयङ्कर मन का विकार (मानस उन्माद रोग) उत्पन्न होता है॥ १२॥

विमर्शः—यहाँ पर उन्माद के कारणों में अत्यधिक शोक, अत्यधिक भय और प्रगाढ कामवासना ये मानसोन्माद में कारण हैं। कभी कभी कोई अत्यधिक हर्ष से भी पागल हो जाते हैं। जिन लोगों का मन अत्यन्त दुर्बल होता है उन्हीं को उक्त कारणों से उन्माद होता है। जिस प्रकार के कारण से उन्माद की उत्पत्ति होती है रोगी प्रायः उसी के सम्बन्ध की बातें करता है।

चित्रं स जल्पति मनोऽनुगतं विसंज्ञो
गायत्यथो हसति रोदिति मूढसंज्ञः॥ १३॥

मानसदुःखजोन्मादलक्षणानि—मानस उन्माद से पीड़ित रोगी के मन में जो कोई गोप्य बात भी स्थित हो उसे तथा अन्य बातों को वह अज्ञानपूर्वक कहता रहता है। इसी प्रकार उद्भ्रान्त स्मृति हो के अपने मन के अनुसार विपरीत ज्ञानयुक्त हो के गाता रहता है। कभी हँसता है और कभी रोने भी लग जाता है तथा कभी कभी मूढसंज्ञक (मूर्च्छित अथवा सदसद्विवेकशून्य) भी हो जाता है॥ १३॥

रक्तेक्षणो हतबलेन्द्रियभाः सुदीनः
श्यावाननो विषकृतेऽथ भवेत् परासुः॥ १४॥

विषजोन्मादलक्षणानि—धतूर, भंगा जैसे विष अथवा मद्यपान करने से भी रोगी उन्मत्त हो जाता है, ऐसे विषजोन्माद वाले रोगी की आँखें लाल सुर्ख रहती हैं तथा बल (उत्साह, उपचयादि), चक्षुरादि इन्द्रियों और देह की कान्ति नष्ट सी हो जाती है। देखने में वह दीन (म्लान या मुरझाया सा) दिखाई देता है। उसका मुख श्याव (धवल-कपिल कृष्ण) वर्ण मिश्रित रहता है तथा ऐसे उन्मादी की उपेक्षा कर देने से वह मर जाता है ॥ १४ ॥

विमर्श—कुछ आचार्य 'हतबलेन्द्रियभाः' के स्थान पर 'हतबलेन्द्रियवाक्' ऐसा पाठान्तर मानते हैं तथा 'वाक्' को उपादान स्वरूप मान कर 'अस्पष्टवाक्' ऐसा अर्थ निकालते हैं जिससे कि उपघात का सूचक हो। एवञ्च कुछ आचार्य 'विषकृतेऽथ भवेत्पराशुः' इसके स्थान पर 'विषकृतेन भवेद्विसंज्ञः' ऐसा पाठान्तर मानते हैं तथा विसंज्ञ का अर्थ विपरीत संज्ञा करते हैं। विषमत्र दूषीविषमिति तल्लक्षणस्तल्लक्षणं यथा—यत्स्थावरं जङ्गमकृत्रिमं वा देहादशेषं यदनिर्गतं तत्। जीर्णं विषघ्नौषधिभिर्हतं वा दावाग्निवातातपशोषितं वा। स्वभावतो वा गुणविप्रहीनं विषं हि दूषीविषतामुपैति। वीर्याल्पभावान्न निपातयेत्तत् कफावृतं वर्षगणानुबन्धि ॥ वस्तुतः कुछ लोग कामवासना की तृप्ति के लिये धतूरबीज स्तम्भक होने से उनका सेवन करते हैं जिससे कुछ काल में ही उन्माद के समान लक्षण होने लगते हैं। इसी लिये धतूर को उन्मत्त तथा महामोही भी कहते हैं। सुल्फा तथा गाँजा भी अधिक पीने से उन्माद हो जाता है। चरके भूतोन्मादस्य लक्षणानि—अमर्त्यवाग्विक्रमवीर्यचेष्टो ज्ञानादिविज्ञानबलादिभिर्यः। उन्मादकालोऽनियतश्च यस्य भूतोत्थमुन्मादमुदाहरेत्तम् ॥ (च० चि० अ० ९) जिस व्यक्ति की वाणी, पराक्रम, शक्ति एवं चेष्टायें भी मनुष्यों से अधिक एवं विचित्र हो, जो ज्ञान, विज्ञान तथा बल से युक्त हो एवं उन्माद का वातज आदि के समान समय निश्चित न हो ऐसे रोगी के उन्माद को भूतोत्थ या भूतजन्य उन्माद कहते हैं। भूतोन्माद से चरकोक्त देवोन्माद, गन्धर्वोन्माद आदि सम्पूर्ण आगन्तुक उन्मादों का ग्रहण हो जाता है। आयुर्वेद ने शारीरिक रोगों का कारण वात, पित्त और कफ तथा मानसिक रोगों का कारण रज और तम को मानकर रोगोत्पत्ति तथा उसकी चिकित्सा की व्यवस्था का भी वर्णन किया है। जिन अवस्थाओं में विचित्र लक्षणों की उत्पत्ति दृष्टिगोचर होने से त्रिदोषवाद या रज और तम की उपपत्ति उपलब्ध नहीं हो सकती उन सभी अवस्थाओं का कारण उन्होंने भूत, पिशाच सदृश इन्द्रियातीत तत्त्वों को स्वीकार किया है। गुह्यानागतविज्ञानमनवस्था सहिष्णुता। क्रिया वाऽमानुषी यस्मिन् स ग्रहः परिकीर्त्यते ॥ (सुश्रुत) भूत, पिशाच आदि की सत्ता का विषय आज भी विवादास्पद बना हुआ है। यदि इनकी सत्ता को स्वीकार भी कर लिया जाय तब भी उन्हीं को रोगोत्पत्ति का साक्षात् कारण तो नहीं माना जा सकता, क्योंकि महर्षि चरक ने स्पष्ट रूप से कहा है कि—देवता, गन्धर्व, राक्षस आदि किसी को भी पागल नहीं बना सकते। रोग की उत्पत्ति प्रज्ञापराध से ही होती है देव, यक्ष आदि के आवेश से नहीं। नैव देवा न गन्धर्वा न पिशाचा न राक्षसाः। न चान्ये स्वयमक्लिष्टमुपक्लिश्यन्ति मानवम्। ये त्वेनमनुवर्तन्ते क्लिश्यमानं स्वकर्मणा। न स तद्धेतुकः क्लेशो न ह्यस्ति कृतकृत्यता ॥ इतना ही नहीं चरक ने यह भी कह दिया है कि कभी भी देवताओं, पितरों या राक्षसों को रोग का कारण न कहे अपितु सम्पूर्ण सुख-दुःख का कर्ता अपनी बुद्धि को ही समझे—एवं अच्छे कर्म करता हुआ सदा निर्भीक रहे। प्रज्ञापराधसम्भूते व्याधौ कर्मज आत्मनः। नाभिशंसेद् बुधो देवान् पितॄनपि राक्षसान्। आत्मानमेव मन्येत कर्तारं सुखदुःखयोः। तस्माच्छ्रेयस्करं मार्गं प्रतिपद्येत नो त्रसेत् ॥ (चरक) कतिपय विद्वान् भूत, पिशाच, राक्षस, यक्ष आदि नामों से विभिन्न रोगोत्पादक जीवाणुओं का भी ग्रहण करते हैं। वस्तुतः यह मन्तव्य भी युक्तियुक्त प्रतीत होता है, क्योंकि आयुर्वेद ने भूतोन्माद की चिकित्सा में मन्त्रोपचार के अतिरिक्त गुग्गुल, राल, लोहबान आदि कृमिनाशक (Antiseptic) द्रव्यों के धूपन का भी उपदेश किया है। इसके अतिरिक्त शिरावेध द्वारा रक्तावसेचन, लेप, नस्य, अञ्जन तथा मुख द्वारा औषध सेवन करने का भी निर्देश मिलता है। इससे स्पष्ट है कि आयुर्वेद के निर्माताओं का मत भूतविद्या के पण्डितों से कुछ भिन्न था। देवजुष्टोन्मादलक्षणमाह—सन्तुष्टः शुचिरतिदिव्यमाल्यगन्धो निस्तन्द्रो ह्यवितथसंस्कृतप्रभाषी। तेजस्वी स्थिरनयनो वरप्रदाता ब्रह्मण्यो भवति नरः स देवजुष्टः ॥ देवग्रह के कारण पागल मनुष्य सदा सन्तुष्ट रहता है। वह पवित्र रहता है एवं उसके शरीर से अकारण ही उत्तमोत्तम पुष्पों की गन्ध आती रहती है, उसे निद्रा या तन्द्रा भी नहीं आती, वह सत्य बोलता है तथा धाराप्रवाह से शुद्ध संस्कृत में भाषण करता है। रोगी तेजस्वी होता है एवं उसके नेत्र भी स्थिर रहते हैं। आसपास के लोगों को वरदान देता है और ब्राह्मणों की पूजा करता है। देवशत्रु (दानव) जुष्टोन्मादलक्षणमाह—संस्वेदी द्विजगुरुदेवदोषवक्ता जिह्माक्षो विगतभयो विमार्गदृष्टिः। सन्तुष्टो न भवति चान्नपानजातैर्दुष्टात्मा भवति स देवशत्रुजुष्टः ॥ (सु० उ० ६०) दानव ग्रह से पीड़ित उन्मत्त मनुष्य को पसीना बहुत आता है, वह ब्राह्मण, गुरु तथा देवताओं के दोषों का वर्णन करता है, आँखें तिरछी रहती हैं और वह किसी से नहीं डरता है। ऐसे रोगी की प्रवृत्ति सदा कुमार्ग पर चलने की रहती है। बहुत खाने पर भी उसकी तृप्ति नहीं होती तथा वह दुष्ट प्रकृति का होता है। गन्धर्वग्रहपीडितस्य लक्षणानि निरूपयति—हृष्टात्मा पुलिनवनान्तरोपसेवी स्वाचारः प्रियपरिगीतगन्धमाल्यः। नृत्यन्वै प्रहसति चारु चाल्पशब्दो गन्धर्वग्रहपरिपीडितो मनुष्यः ॥ (सु० अ० ६०) जो सदा प्रसन्न रहे, जिसको नदी के किनारे या उपवनों में घूमने में अत्यधिक आनन्द आता हो एवं जिसका आचरण शुद्ध हो, जिसको सङ्गीत एवं गन्ध-मालाओं से अत्यधिक प्रेम हो एवं जो सुन्दरतम ढङ्ग से नाचता हुआ मन्द मुसकुराता हो, उसे गन्धर्व ग्रह से पीड़ित समझना चाहिए। यक्षाविष्टं लक्षयति—ताम्राक्षः प्रियतनुरक्तवस्त्रधारी गम्भीरो द्रुतगतिरल्पवाक् सहिष्णुः। तेजस्वी वदति च किं ददामि कस्मै यो यक्षग्रहपरिपीडितो मनुष्यः ॥ (सु० उ० ६०) जिस उन्मादी की आँखें लाल हों, जिसको सुन्दर, बारीक तथा लाल रंग के वस्त्र धारण करने का शौक हो, जो गम्भीर एवं शीघ्रगामी हो, जो कम बोले तथा सहनशील हो, देखने से तेजस्वी मालूम हो एवं जो सर्वत्र कहता फिरे कि

'मैं किसको क्या दूं' ऐसे उन्मादी को यक्ष ग्रह से पीडित समझना चाहिये ॥ पितृग्रहजुष्टमाह—प्रेतानां स दिशति संस्तरेषु पिण्डान् शान्तात्मा जलमपि चापसव्यवस्त्रः । मांसेप्सुस्तिलगुडपायसाभिकामस्तद्भक्तो भवति पितृग्रहाभिजुष्टः ॥ (सु० उ० ६०) पितृ ग्रह से पीडित उन्मत्त व्यक्ति शान्त रहता है एवं दक्षिण कन्धे पर वस्त्र आदि डाल कर कुशा के बने आसन पर पितरों को पिण्डदान तथा जलदान करता रहता है तथा मांस, तिल, गुड़ और खीर जैसे पदार्थों में अधिक रुचि रखता है एवं पितरों का भक्त भी होता है। साधारण अवस्था में यज्ञोपवीत या कन्धे का वस्त्र वाम कन्धे के ऊपर तथा दक्षिण कक्षा के नीचे रहता है। किन्तु पिण्डदान करते समय इसके विपरीत कर लेने का शास्त्रीय विधान है। पितृग्रह से पीडित उन्मत्त भी वैसा ही करता है। मांस आदि में रुचि होने से इन्हीं द्रव्यों की बलि भी रोगशान्त्यर्थं देनी चाहिए। सर्पग्रहजन्यमुन्मादमाह—यस्तूर्व्यां प्रसरति सर्पवत्कदाचित् सृक्कण्यौ विलिहति जिह्वया तथैव । क्रोधालुर्गुडमधुदुग्धपायसेप्सुर्ज्ञातव्यो भवति भुजङ्गमेन जुष्टः ॥ (सु० उ० ६०) जो मनुष्य कभी कभी सांप के समान भूमि पर पेट के बल लेटकर सरकता है तथा जिह्वा से होठों को चाटता रहता है और अत्यन्त क्रोधी हो एवं जिसे गुड़, शहद, दूध और खीर खाने की बहुत इच्छा रहती हो, उसे सर्पग्रह से पीडित समझना चाहिये ॥ राक्षसग्रहजन्यमुन्मादं लक्षयति—मांसासृग्विविधसुराविकारलिप्सुर्निर्लज्जो भृशमतिनिष्ठुरोऽतिशूरः । क्रोधालुर्विपुलबलो निशाविहारी शौचद्विड् भवति स राक्षसैर्गृहीतः ॥ (सु० उ० ६०) राक्षसग्रहजन्य उन्माद में रोगी मांस, रक्त तथा अनेक प्रकार की शराबों को चाहता है, वह निर्लज्ज, अत्यन्त कठोर स्वभाव का और शूर होता है। ऐसे रोगी को क्रोध भी बहुत आता है एवं उसमें शक्ति भी बहुत होती है। वह रात्रि में घूमता है और पवित्रता से द्वेष करता है। पिशाचग्रहजन्यमुन्मादं निरूपयति—उद्धस्तः कृशपरुषोऽचिरप्रलापी दुर्गन्धो भृशमशुचिस्तथाऽतिलोलः । बह्वाशी विजनवनान्तरोपसेवी व्याचेष्टन् भ्रमति रुदन् पिशाचजुष्टः ॥ (सु० उ० ६०) जो मनुष्य भुजायें ऊपर उठाये रहता हो अथवा 'उद्ध्वस्त' नग्न रहता हो, जिसका मांस क्षीण हो गया है, जिसका शरीर रूक्ष है, जिसके शरीर से दुर्गन्धि आती हो, जो बहुत गन्दा रहता हो तथा अति लोभी हो, जो अत्यधिक भोजन करे एवं निर्जन वनों में घूमता फिरे, जो विरुद्ध चेष्टायें करता है एवं रोता हुआ इतस्ततः घूमता है, उसे पिशाच ग्रह से पीडित समझना चाहिए। उन्मादस्यासाध्यतां वर्णयति—स्थूलाक्षो द्रुतमटनः सफेनलेही निद्रालुः पतति च कम्पते च यो हि । यश्चाद्रिद्विरदनगादिविच्युतः स्यात् सोऽसाध्यो भवति तथा त्रयोदशाब्दे ॥ (सु० उ० ६०) जिसकी आंखें बाहर को निकली रहें या जिसकी दृष्टि (Pupil) विस्फारित हो जाये, जल्दी जल्दी चलता हो, मुख से निकलते हुए लालास्राव को जो चाटता हो, जिसे निद्रा अधिक आए जो अचानक गिर पड़ता हो या कांपता रहे एवं जो पर्वत, हाथी अथवा वृक्ष से गिर कर पागल हुवा हो वह असाध्य होता है। इसके अतिरिक्त तेरह वर्ष पुराना होने पर प्रत्येक उन्माद असाध्य होता है। आयुर्वेद एवं भूतविद्या में देवादि ग्रहों के आवेश का कारण हिंसा, रति और पूजा पाने की इच्छा बताया है। अर्थात् किसी अपराध से क्रुद्ध होकर दण्ड देने की इच्छा से आवेश होना हिंसाजन्य होता है और प्रायः असाध्य होता है। किसी सुन्दर या सुन्दरी के रूप, वेश, गायन आदि से मुग्ध होकर आवेश होना रतिजन्य एवं बलि आदि की प्राप्तिमात्र की भावना से हुआ आवेश पूजार्थ आवेश कहलाते हैं एवं ये दोनों ही मन्त्र, होम, बलि-प्रदान आदि उपचार से शान्त भी हो जाते हैं। इस श्लोक में वर्णित लक्षण हिंसार्थ आवेश के ही प्रतीत होते हैं और इसीलिये असाध्यता के निर्देशक हैं। विदेह ने मूत्र मार्ग से रक्त आना, नेत्र अतिरक्त होना, नाक से अतिस्राव होना, जिह्वा रूक्ष या फटी होना, भीतर से (आभ्यन्तर अवयवों में सड़न होने से ?) दुर्गन्ध आना, वाक्शक्ति नष्ट हो जाना और अतिदुर्बलता इन अधिक लक्षणों का उल्लेख किया है।

स्निग्धं स्विन्नन्तु मनुजमुन्मादार्तं विशोधयेत् ।
तीक्ष्णैरुभयतोभागैः शिरसश्च विरेचनैः ॥ १५ ॥
विविधैरवपीडैश्च सर्षपस्नेहसंयुतैः ।
योजयित्वा तु तच्चूर्णं घ्राणे तस्य प्रयोजयेत् ॥ १६ ॥

उन्मादचिकित्सा—उन्माद रोग में शारीरिक तथा मानसिक दो दोषों की शुद्धि करने के लिए सर्वप्रथम रुग्ण का स्नेहन कर्म करके पश्चात् स्वेदन कर्म करना चाहिए। तदनन्तर उभयतो भाग अर्थात् नीचे में उदर (क्षुद्र, बृहदन्त्रादि) तथा ऊर्ध्वभाग में आमाशय, वक्षोगुहा एवं शिरोगुहा की शुद्धि करने के लिये उपक्रम करना चाहिए। अर्थात् उदर-शुद्ध्यर्थं जयपाल के तीक्ष्ण योग जैसे इच्छाभेदी, अश्वकञ्चुकी, उदरारि रस आदि अथवा स्वर्णपत्री (सनाय), निशोथ, आरग्वध आदि, किंवा स्नुहीदुग्ध के योगों द्वारा विरेचन कर्म कराना चाहिए। इसके पश्चात् आमाशयादि की शुद्धि के लिये मदनफल, राजिकाचूर्ण, सैन्धव लवण इनमें से किसी एक को उष्णोदक के साथ पिला के वमन करा देना चाहिए। पुनः शिर की शुद्धि के लिये अपामार्ग बीज चूर्ण, पिप्पली चूर्ण, कायफल चूर्ण, नकछिकनी चूर्ण इनमें से किसी एक के द्वारा शिरोविरेचन कराना चाहिये। अथवा अमानुषोपसर्गप्रतिषेधोक्त अध्याय में कहे हुए चित्तविकृति के प्रशामक अनेक प्रकार के अवपीडन नस्य भेदों में से किसी भी योग को सरसों के तैल के साथ मिश्रित कर नासामार्ग में अवपीडन नस्य देना चाहिए ॥ १५-१६ ॥

विमर्शः—चरके दोषानुसारेण उन्मादस्य चिकित्साक्रमः—उन्मादे वातजे पूर्वं स्नेहपानं विशेषवित् । कुर्यादावृतमार्गे तु सस्नेहं मृदु शोधनम् ॥ कफपित्तोद्भवेऽप्यादौ वमनं सविरेचनम् । स्निग्धस्विन्नस्य कर्तव्यं शुद्धे संसर्जनक्रमः ॥ निरूहं स्नेहबस्तिश्च शिरसश्च विरेचनम् । ततः कुर्याद्यथादोषं तेषां भूयस्त्वमाचरेत् ॥ हृदिन्द्रियशिरःकोष्ठे संशुद्धे वमनादिभिः । मनःप्रसादमाप्नोति स्मृतिं संज्ञां च विन्दति ॥ शुद्धस्याचारविभ्रंशे तीक्ष्णं नावनमञ्जनम् ॥ (च० चि० अ० ९)

सततं धूपयेच्चैनं श्वगोमांसैः सुपूतिभिः ।
सर्षपाणाञ्च तैलेन नस्याभ्यङ्गौ हितौ सदा ॥ १७ ॥

धूपनस्याभ्यङ्गयोगाः—उन्माद के रोगी को अत्यन्त दुर्गन्धयुक्त कुत्ते और गो के मांस से धूपित करना चाहिए तथा सर्षप के तैल के द्वारा नस्य और अभ्यङ्ग करना चाहिए ॥ १७ ॥

विमर्शः—निम्बपत्रवचाहिङ्गुसर्पनिर्मोकसर्षपैः। डाकिन्यादिहरो धूपो भूतोन्मादविनाशनः॥

दर्शयेदद्भुतान्यस्य वदेन्नाशं प्रियस्य वा।
भीमाकारैर्नरैर्नागैर्दान्तैर्व्यालैश्च निर्विषैः॥ १८॥
भीषयेत्संयतं पाशैः कशाभिर्वाऽथ ताडयेत्।
यन्त्रयित्वा सुगुप्तं वा त्रासयेत्तं तृणाग्निना॥ १९॥
जलेन तर्जयेद्वाऽपि रज्जुघातैर्विभावयेत्।
बलवांश्चापि संरक्षेज्जलेऽन्तः परिवासयेत्॥ २०॥
प्रतुदेदारया चैनं मर्माघातं विवर्जयेत्।
वेश्मनोऽन्तः प्रविश्यैनं रक्षंस्तद्वेश्म दीपयेत्॥
सापिधाने जरत्कूपे सततं वा निवासयेत्॥ २१॥

उन्मादे भयविस्मापनादि-चिकित्सा—उन्माद के रोगी को जो वस्तु उसने अपने जीवन में न देखी हो ऐसी अद्भुत वस्तुएँ दिखानी चाहिए। अथवा उसके मन और मस्तिष्क पर एकदम प्रभाव पटकने के लिये उसकी स्त्री, माता, पिता आदि अत्यन्त प्रिय व्यक्ति के मरने की मिथ्या खबर देनी चाहिए। इनके अतिरिक्त उसे भीषण आकार वाले राक्षस स्वरूपी मनुष्यों से, बड़े-बड़े दाँत वाले अथवा शिक्षित हस्तियों से एवं विषरहित गोनसादि सर्पों से डराना चाहिए एवं पाशों से तथा रस्सियों से इस उन्माद रोगी को सुनियन्त्रित कर कशा (कोड़ों) से मारना चाहिए। अथवा इसे रस्सी से बाँधकर तथा शरीर को अग्न्यवरोधक कवचादि से सुरक्षित करके घास की अग्नि से डराना चाहिए। अथवा गरम पानी में डुबोने की चेष्टा से या धमकी से डराना चाहिए। इसी प्रकार रस्सी के आघात से मारना चाहिए। अथवा बलवान आदमी आभ्यन्तरिक भावना से इसको बचाते हुए जल में डुबोने का प्रयत्न करें। अथवा हृदयादिक (सद्यप्राणहर) मर्मों की चोट को बचाते हुए उसके शरीर में आरा (मोटी सूई) चुभो के पीड़ा उत्पन्न करनी चाहिए। इस रोगी को किसी घर के भीतर प्रविष्टकरके इसकी रक्षा का ध्यान रखते हुए उस घर के अन्दर अथवा उसके बाहर चारों ओर आग लगा देनी चाहिए। जल से रहित ढक्कन वाले कुएँ में इसे निरन्तर कुछ समय तक रखना चाहिए॥१८—२१॥

विमर्शः—अद्भुतानि = अदृष्टपूर्वाणि भीषणानि। दान्तः शिक्षावद्भिः जलेन तर्जयेद्वापीति तप्तेनेति द्रष्टव्यम् जैसा कि तन्त्रान्तर में भी कपिकच्छू तथा तप्त लौहशलाका, तैल और जल से स्पर्श कराने को लिखा है 'कपिकच्छ्वाऽथवा तप्तैर्लौहतैलजलैः स्पृशेत्' (वा० उ० अ० ६) ताडनत्र मनोबुद्धिदेहसंवेजनं हितम्। यः सक्तोऽविनये पट्टैः संयम्य सुदृढैः सुखैः। अपेतलौहकाष्ठाद्ये संरोध्यश्च तमोगृहे॥ तर्जनं त्रासनं दानं हर्षणं सान्त्वनं भयम्। विस्मयो विस्मृतेर्हेतोर्नयन्ति प्रकृतिं मनः। प्रदेहोत्सादनाभ्यङ्गधूमाः पानञ्च सर्पिषः। प्रयोक्तव्यं मनोबुद्धिस्मृतिसंज्ञाप्रबोधनम्। सर्पिःपानादिरागन्तोर्मन्त्रादिश्चेष्यते विधिः॥ अन्यच्च—आश्वासयेत् सुहृद्वा तं वाक्यैर्धर्मार्थसंहितैः। ब्रूयादिष्टविनाशं वा दर्शयेदद्भुतानि वा॥ बद्धं सर्षपतैलाक्तं न्यसेद्वोत्तानमातपे। कपिकच्छ्वाऽथवा तप्तैर्लौहैस्तैलजलैः स्पृशेत्॥ कशाभिस्ताडयित्वा वा सुबद्धं विजने गृहे। रुन्ध्याच्चेतो हि विभ्रान्तं व्रजत्यस्य तथा शमम्॥ सर्पेणोद्धृतदंष्ट्रेण दान्तैः सिंहैर्गजैश्च तम्। त्रासयेच्छस्त्रहस्तैर्वा तस्करैः शत्रुभिस्तथा॥ अथवा राजपुरुषा बहिर्नीत्वा सुसंयतम्। त्रासयेयुर्वधेनैनं तर्जयन्तो नृपाज्ञया॥ देहदुःखभयेभ्यो हि परं प्राणभयं स्मृतम्। तेन याति शमं तस्य सर्वतो विप्लुतं मनः॥ (च० चि० अ० ९)

त्र्यहात्त्र्यहाद्यवागूश्च तर्पणान् वा प्रदापयेत्।
केवलानम्बुयुक्तान् वा कुल्माषान् वा बहुश्रुतः॥
हृद्यं यद् दीपनीयञ्च तत्पथ्यं तस्य भोजयेत्॥ २२॥

उन्मादे आहारादिव्यवस्था—तीन-तीन दिन (या एक-एक दिन) के अन्तर से यवागू और यव के मन्थ अथवा लाज सत्तू का तर्पण देना चाहिए। इन सत्तुओं को केवल जल के साथ देना चाहिए। बहुश्रुत (अनेक शास्त्राभ्यासी = विचक्षण) वैद्य उन्माद रोगी के लिये कुल्माषों (अर्धस्विन्न यवों) का सेवन करावे। इनके अतिरिक्त उस रोगी के लिये जो आहार-विहार तथा औषध हृद्य (हृदयबलकारक) और अग्नि को दीप्त करनेवाली हो तथा जो भी पथ्य (हितकर) हो उसे प्रयुक्त करे॥ २२॥

विमर्शः—पिकमांसप्रयोगः—सम्भोज्य पिकमांसं वा निवाते स्थापयेत् सुखम्। त्यक्त्वा स्मृतिमतिभ्रंशं संज्ञां लब्ध्वा प्रबुध्यते॥ चटकमांसप्रयोगः—अपक्वचटकीक्षीरपानमुन्मादनाशनम्। कूष्माण्डकबीजप्रयोगः—कूष्माण्डकबीजकल्कः पीतो विनाशयत्यपि। उन्मादरोगमत्युग्रं मधुना दिवसत्रयम्॥ तालस्वरसपुराणघृतयोः प्रयोगः—उन्मादे समधुः पेयः शुद्धो वा तालशाखजः। पुराणमथवा सर्पिः पिबेत्प्रातरतन्द्रितः॥

(विडङ्गत्रिफलामुस्तमञ्जिष्ठादाडिमोत्पलैः।
श्यामैलवालुकैलाभिश्चन्दनामरदारुभिः॥ २३॥
बर्हिष्ठरजनीकुष्ठपर्णिनीसारिवाद्वयैः।
हरेणुकात्रिवृद्दन्तीवचातालीशकेशरैः॥ २४॥
द्विक्षीरं साधितं सर्पिर्मालतीकुसुमैः सह।
गुल्मकासज्वरश्वासक्षयोन्मादनिवारणम्॥ २५॥

महाकल्याणघृतम्—विडङ्ग, हरड़, बहेड़ा, आँवला, नागरमोथा, मजीठ, अनारदाने, नीलकमल (नीलोफर), निशोथ (श्यामा), एलवालुक (एलिया), इलायची, देवदारु, बर्हिष्ठ (नेत्रवाला), हरिद्रा, कूठ, मुद्गपर्णी, माषपर्णी, श्वेतसारिवा, कृष्णसारिवा, हरेणुका (नेगड़), श्वेत त्रिवृत्, दन्ती की जड़, वचा, तालीसपत्र, नागकेशर और चमेली के फूल इन सबको समान प्रमाण में मिश्रित कर ४ पल भर लेके खण्ड कूटकर कल्क कर लेवें। फिर कल्क से चतुर्गुण १ प्रस्थ (१६ पल) घृत तथा घृत से द्विगुण (२ प्रस्थ) दुग्ध एवं सम्यक्पाकार्थं पानी ४ प्रस्थ मिलाकर घृतावशेष पाक करके स्वाङ्गशीत होने पर वस्त्र से छानकर शीशी में भर देवें। इसे कल्याणघृत कहते हैं। मात्रा ६ माशे से १ तोला। अनुपान मन्दोष्ण दुग्ध अथवा पानी। गुण—यह घृत गुल्म, कास, ज्वर, श्वास, क्षय और उन्माद रोग को नष्ट करता है॥

एतदेव हि सम्पक्वं जीवनीयोपसम्भृतम्।
चतुर्गुणेन दुग्धेन महाकल्याणमुच्यते॥ २६॥
अपस्मारं ग्रहं शोषं क्लैब्यं कार्श्यमबीजताम्।

घृतमेतन्निहन्त्याशु ये चादौ गदिता गदाः ॥ २७ ॥

महाकल्याणघृतम्—अर्थात् उक्त कल्याणघृत में विडङ्गादि मालती-कुसुमान्त जो कल्क द्रव्य लिखे हैं उनमें जीवनीयगण की औषधियाँ मिला दी जायँ तथा २ प्रस्थ दुग्ध के बजाय ४ प्रस्थ दुग्ध में पाक किया जाय तो उसे महाकल्याणघृत कहते हैं। यह घृत अपस्मार, ग्रहबाधा, शोष, नपुंसकता, अबीजता (शुक्र का अभाव, अथवा शुक्र में शुक्राणुओं = स्परमेटोझूआ का अभाव) तथा गुल्म, कासादि पूर्वोक्त रोगों को नष्ट करता है ॥ २६-२७ ॥

विमर्शः—जीवनीयगणः—अष्टवर्गः सयष्टीको जीवन्ती मुद्गपर्णिका। माषपर्णीगणोऽयन्तु जीवनीय इति स्मृतः ॥

बर्हिष्ठकुष्ठमञ्जिष्ठाकटुकैलानिशाह्वयैः।
तगरत्रिफलाहिङ्गुवाजिगन्धाऽमरद्रुमैः ॥ २८ ॥
वचाऽजमोदाकाकोलीमेदामधुकपद्मकैः।
सशर्करं हितं सर्पिः पक्वं क्षीरचतुर्गुणम् ॥ २९ ॥
बालानां ग्रहजुष्टानां पुंसां दुष्टाल्परेतसाम्।
ख्यातं फलघृतं स्त्रीणां वन्ध्यानाञ्चाशु गर्भदम् ॥

फलघृतम्—बर्हिष्ठ (नेत्रवाला), कूठ, मजीठ, कुटकी, इलायची, हरिद्रा, तगर, हरड, बहेडा, आँवला, हींङ्ग, असगन्ध, देवदारु, वचा, अजमोदा, काकोली, मेदा, मुलेठी और पद्माख तथा शर्करा प्रत्येक द्रव्य को समान प्रमाण में मिश्रित कर १ पल भर लेवें तथा पत्थर पर जल के साथ सभी को पीस के कल्क बना लेवें। फिर इस कल्क से चतुर्गुण (१६ पल = १ प्रस्थ) घृत तथा घृत से चतुर्गुण (४ प्रस्थ) दुग्ध सम्यक्पाकार्थ जल ४ प्रस्थ मिला के सबको कलईदार भाण्ड में भरके चूल्हे पर चढ़ाकर मन्द मन्द अग्नि से घृतावशेष पाककर स्वाङ्गशीत होने पर छानकर शीशी में भर देवें। यह घृत ग्रहदोष पीडित बालकों के लिये तथा दूषित और अल्प वीर्य वाले मनुष्यों के लिये एवं वन्ध्या स्त्रियों को शीघ्र ही गर्भधारण कराने में प्रख्यात है। इसे फलघृत कहते हैं। मात्रा ६ माशे से १ तोला। अनुपान-मन्दोष्ण दुग्ध अथवा शुद्ध पानी ॥ २८-३० ॥

ब्राह्मीमैन्द्रीं विडङ्गानि व्योषं हिङ्गु सुरां जटाम्।
विषघ्नीं लशुनं रास्नां विशल्यां सुरसां वचाम् ॥ ३१ ॥
ज्योतिष्मतीं नागरं च अनन्तामभयान्तथा।
सौराष्ट्रीञ्च समांशानि गजमूत्रेण पेषयेत् ॥ ३२ ॥
छायाविशुष्कास्तद्वर्त्तीर्योजयेद्विधिकोविदः।
अवपीडेऽञ्जनेऽभ्यङ्गे नस्ये धूमे प्रलेपने ॥ ३३ ॥

ब्राह्म्यादिवर्तिः—ब्राह्मी के पत्र, इन्द्रायण की जड़, वायविडङ्ग, सोंठ, मरिच, पिप्पली, हींङ्ग, देवदारु, जटामांसी विषघ्नी (हरिद्रा), लहसुन की गिरि, रासना, विशल्या (गुडूची अथवा कलिहारी), तुलसी, वचा, मालकाङ्गुनी, सोंठ, सारिवा, हरड और सोरठी मृत्तिका अथवा फिटकरी इन्हें समान प्रमाण में मिश्रितकर खाण्ड कूटकर चूर्णित करके गज के मूत्र अथवा बकरी के मूत्र के साथ एक दिन तक भली-भाँति खरलकर यव के प्रमाण की वर्तियाँ बनाकर छाया में सुखा के शीशी में भर देवें। शास्त्रविधि किंवा औषधियों की प्रयोगविधि को जाननेवाला वैद्य इस वर्ति को अवपीडन नस्य में, अञ्जन करने में, अभ्यङ्ग में, नस्य में, धूम्रपान में और देह के ऊपर प्रलेपन कार्य में प्रयुक्त करें ॥

विमर्शः—प्रसङ्गात्कृष्णाद्यञ्जनम्—कृष्णामरिचसिन्धूत्थमधुगोपित्तनिर्मितम्। अञ्जनं सर्वभूतोत्थमहोन्मादविनाशनम् ॥ मरिचाञ्जनम्—मरिचं वाऽऽतपे मासं सपित्तं हितमञ्जनम्। वैकृतं पश्यतः कार्यं दोषभूतहतस्मृतेः ॥ दार्वीगुडिकाञ्जनम्—दार्वीमुष्यां पुष्यायां कृतञ्च गुडिकाञ्जनम्। नेत्रयोरञ्जनान्नूनमुन्मादं नाशयेद् द्रुतम् ॥ महाधूपः—कार्पासास्थिमयूरपिच्छबृहतीनिर्माल्यपिण्डीतकैस्त्वग्वांशीवृषदंशविट्तुषवचाकेशाऽहिनिर्मोककैः। गोश्रृङ्गद्विपदन्तहिङ्गुमरिचैस्तुल्यैस्तु धूपः कृतः स्कन्दोन्मादपिशाचराक्षससुरावेशज्वरघ्नः स्मृतः (भै० र०)

उरोऽपाङ्गललाटेषु सिराश्चास्य विमोक्षयेत् ॥ ३४ ॥

उन्मादे सिराव्यधविधानम्—उन्माद रोगी के उरप्रदेश, अपाङ्गप्रान्त और ललाट प्रदेश में सिरावेधन कर अशुद्ध रक्त निकाल देना चाहिए ॥ ३४ ॥

अपस्मारक्रियाञ्चापि ग्रहोद्दिष्टाञ्च कारयेत् ॥ ३५ ॥

उन्मादे चिकित्सातिदेशः—अपस्मार प्रकरण में कही हुई चिकित्सा तथा स्कन्दग्रहादिप्रतिषेधोक्त चिकित्सा एवं अमानुषोपसर्ग-प्रतिषेधोपदिष्ट देवग्रहादि चिकित्सा को उन्मादरोग में भी प्रयुक्त करें ॥ ३५ ॥

शान्तदोषं विशुद्धञ्च स्नेहबस्तिभिराचरेत् ॥ ३६ ॥

शान्तोन्मादे कर्तव्यम्—जिस रोगी के उन्माद के दोष (वातादि तीन शारीरिक दोष तथा रज और तम ये दो मानस दोष) शान्त हो गये हैं उसका वमनादि से शरीर विशुद्ध करके पुनरुन्माद प्राप्त न हो उसके लिए स्नेहबस्ति का प्रयोग करना चाहिए ॥ ३६ ॥

विमर्शः—शान्तोन्मादलक्षणम्—प्रसादश्चेन्द्रियार्थानां बुद्ध्यात्ममनसां तथा। धातूनां प्रकृतिस्थत्वं विगतोन्मादलक्षणम् ॥

उन्मादेषु च सर्वेषु कुर्य्याच्चित्तप्रसादनम्।
मृदुपूर्वो मदेऽप्येवं क्रियां मृद्वीं प्रजयेत् ॥ ३७ ॥

उन्मादे चित्तप्रसादनोपदेशः—सर्व प्रकार के उन्मादों में चित्त-प्रसादन करने का कार्य करना चाहिए। इसी प्रकार मद्यपानजन्य मद रोग में प्रथम मृदु संशोधन देकर पश्चात् अञ्जन, अवपीडन नस्य, धूपन आदि मृदु चिकित्सा करनी चाहिए ॥ ३७ ॥

शोकशल्यं व्यपनयेदुन्मादे पञ्चमे भिषक्।
विषजे मृदुपूर्वाञ्च विषघ्नीं कारयेत् क्रियाम् ॥ ३८ ॥

इति सुश्रुतसंहितायामुत्तरतन्त्रान्तर्गते भूतविद्यातन्त्रे उन्मादप्रतिषेधो नाम (तृतीयोऽध्यायः, आदितः) द्विषष्टितमोऽध्यायः ॥६२॥

शोकजविषजोन्मादचिकित्सा—स्त्री-पुत्रादि प्रिय बान्धवों के मरण तथा सट्टे आदि में या चोरों के द्वारा धन के नष्ट हो जाने से उत्पन्न हुए शोक का मन पर आघात लगने से जो मानस उन्माद उत्पन्न हो जाता है उस में सान्त्वनादि उपायों से शोकरूपी शल्य को दूर करना चाहिए। विषजन्य

उन्माद रोग में सर्व प्रथम शरीर के ऊर्ध्व और अधोभाग का मृदु औषधियों के द्वारा उभय प्रकार की संशोधन क्रियाएँ करनी चाहिए पश्चात् कल्प स्थान में कही हुई विषनाशक चिकित्सा करनी चाहिए ॥ ३८ ॥

विमर्शः—विविधोन्मादचिकित्सा—कामशोकभयक्रोधहर्षेर्ष्यालोभसम्भवान् । परस्परप्रतिद्वन्द्वैरेभिरेव शमं नयेत् ॥ इष्टद्रव्यविनाशात्तु मनो यस्योपहन्यते । तस्य तत्सदृशप्राप्त्या सान्त्वाश्वासैश्च तज्जयेत् ॥ आगन्तुकोन्मादचिकित्सा—सर्पिःपानादिनाऽशान्तौ मन्त्रादिश्चेष्यते विधिः । पूजाबल्युपहारेष्टिहोममन्त्राञ्जनादिभिः ॥ जयेदागन्तुमुन्मादं यथाविधि शुचिर्भिषक् ॥ (भै० र०) अञ्जनादीनां वर्जनविषयः—देवर्षिपितृगन्धर्वैरुन्मत्तस्य च बुद्धिमान् । वर्जयेदञ्जनादीनि तीक्ष्णानि क्रूरमेव च । (भै०र०) क्रूरकर्म से तर्जन, त्रासनादि चिकित्सा वर्जित समझें। आगन्तुके दैवादिकृतोन्मादे वा पथ्यानि—पूजाबल्युपहारशान्तिविषयो होमेष्टमन्त्रक्रिया-दानं स्वस्त्ययनं व्रतानि नियमः सत्यं जपो मङ्गलम् । प्रायश्चित्तविधानमञ्जनविधी रत्नौषधीधारणं भूतानामनुरूपमिष्टचरणं गौरीपतेरर्चनम् । ये च स्युर्भुवि गुह्यकाश्च प्रमथास्तेषां समाराधनं-देवब्राह्मणपूजनञ्च शमयेदुन्मादमागन्तुकम् ॥ सर्वोन्मादे पथ्यानि—स्नेहो विरेको वमनञ्च पूर्वं क्रमान्मरुत्पित्तकफोद्भवेषु । ततः परं बस्तिविधिश्च नस्यं सन्तर्जनं ताडनमञ्जनञ्च । आश्वासन-शासन-बन्धनानि भयानि दानानि च हर्षणानि । धूपो दमो विस्मरणं प्रदेहः सिराव्यधः संशमनञ्च सेकः ॥ आश्चर्यकर्माणि च धूमपानं धीधैर्यसत्त्वात्मनिवेदनानि । अभ्यञ्जनं स्नापनमासनञ्च निद्रा सुशीतान्यनुलेपनानि ॥ गोधूममुद्गारुणशाल्यश्च धारोष्णदुग्धं शतधौतसर्पिः । घृतं नवीनञ्च पुरातनञ्च कूर्मामिषं धन्वरसा रसालम् । पुराणकूष्माण्डफलं पटोलं ब्राह्मीदलं वास्तुकतण्डुलीयम् । खराश्वमूत्रं गगनाम्बु पथ्या सुवर्णचूर्णानि च नारिकेलम् । द्राक्षा कपित्थं पनसञ्च वैद्यैर्विधेयमुन्मादगदेषु पथ्यम् ॥ (भै० र०) उन्मादेऽपथ्यानि—मद्यं विरुद्धाशनमुष्णभोजनं निद्राक्षुधातृट्कृतवेगधारणम् । व्यवायमाषाढफलं कठिल्लकं शाकानि पत्रप्रभवाणि सर्वशः ॥ तिक्तानि बिम्बीञ्च भिषक् सदा द्विरोदुन्मादरोगोपहतेषु गर्हितम् ॥

इति सुश्रुतसंहितायां उत्तरतन्त्रे विद्योतिनी नामिकायां भाषाटीकायामुन्मादप्रतिषेधो नाम द्विषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६२ ॥

त्रिषष्टितमोऽध्यायः

अथातो रसभेदविकल्पमध्यायं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥ २ ॥

अब इसके अनन्तर रसभेद-विकल्पनामक अध्याय का व्याख्यान प्रारम्भ किया जाता है जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने कहा है ॥ १-२ ॥

विमर्शः—जैसा कि उत्तरतन्त्र के प्रारम्भ में उत्तरतन्त्र में प्रतिपाद्य विषय की सूची का निर्देश करते हुए लिखा है कि—निखिलेनोपदिश्यन्ते यत्र रोगाः पृथग्विधाः । शालाक्यतन्त्राभिहिता विदेहाधिपकीर्तिताः ॥ ये च विस्तरतो दृष्टाः कुमाराबाधहेतवः । षट्सु कायचिकित्सासु ये चोक्ताः परमर्षिभिः ॥ उपसर्गादयो रोगा ये चाप्यागन्तवः स्मृताः । त्रिषष्टिरससंसर्गाः स्वस्थवृत्तं तथैव च । युक्तार्था युक्तयश्चैव दोषभेदास्तथैव च । यत्रोक्ता विविधा अर्था रोगसाधनहेतवः ॥ (सु० उ० अ० १) यहाँ शालाक्यतन्त्र, कौमारभृत्य, अग्निवेशादि षट् मुनियों द्वारा प्रणीत काय-चिकित्सा में प्रोक्त औपसर्गिक ज्वरादि रोग तथा आगन्तुक उन्मादादि रोग विस्तार से कहे जावेंगे तथा इनके पश्चात् तिरसठ प्रकार के रसों के भेद, स्वस्थ वृत्त, तन्त्रयुक्तियाँ और दोषों के भेद भी लिखे जावेंगे। इस प्रतिज्ञा के अनुसार उन्मादादि रोग समाप्त हो जाने से अर्थात् भूतविद्या के अनन्तर औपद्रविक अध्यायों में शेष तन्त्रभूषण संज्ञक चार अध्यायों में क्रमप्राप्त रसभेद-विकल्प-नामक अध्याय प्रारम्भ करते हैं। रसा मधुरादयः पूर्वं व्याख्याताः, रसाः स्वाद्वम्ललवणाः कटुतिक्तकषायकाः। रसानां भेदेन द्वित्रिकादिभेदेन विकल्पो विभजनं यस्मिन् स तथा। अथवा रसभेदानां विकल्पो दोषभेदवशादवचारणं यस्मिन् स तथा तम्। रस शब्द के अनेक अर्थ होते हैं। (१) साहित्य शास्त्र में रस शब्द से शृङ्गार, वीर, करुणादिक नव रस माने गये हैं। आयुर्वेद में रस शब्द मुख्यतः निम्न ४ अर्थों में प्रयुक्त होता है—(१) रसशास्त्र में रस शब्द से पारद का ग्रहण किया गया है—'रसनात् सर्वधातूनां रस इत्यभिधीयते, जरामृत्युविनाशाय रस्यतेऽतो रसः स्मृतः ॥ (२) शारीरशास्त्र में जो चौबीसों घण्टे शरीर की प्रणालियों में बहता रहता है उसे शरीर का आद्यधातु रस कहते हैं—'अहरहर्गच्छतीति रसः' (३) रस-कल्पना 'रसति शरीरे आशु प्रसरतीति रसः' इस निरुक्ति के अनुसार वनस्पतियों को पीस निचोड़कर जो द्रव निकाला जाता है उसे रस या स्वरस कहते हैं क्योंकि शरीर में प्रयुक्त होने पर वह शीघ्र फैल जाता है। (४) द्रव्य-गुणविज्ञान या निघण्टु शास्त्र में रस शब्द से द्रव्य में रहने वाले मधुर, अम्ल, लवण, कटु, तिक्त और कषाय इन षड्रसों का ग्रहण किया जाता है जिनका कि ग्रहण या ज्ञान रसनेन्द्रिय (जिह्वा) के द्वारा होता है और जिनका गुणों में समावेश होता है—'रसनाग्राह्यो गुणो रसः' अथवा 'रस्यते आस्वाद्यते रसनेनेति रसः' यहां पर रस शब्द से इन्हीं का ग्रहण करना अभिप्रेत है। ये चारों अर्थ 'रस' शब्द से निरुक्त होने पर भी आयुर्वेद के विभिन्न अङ्गों में पारिभाषिक और रूढ हो गये हैं। यथा शारीर शास्त्र में रस शब्द आद्य धातु का वाचक होता है। रसशास्त्र में उससे पारद का ग्रहण होता है। भैषज्यकल्पना के प्रकरण में उससे स्वरस-कल्पना का बोध किया जाता है और उसी प्रकार द्रव्य-गुण शास्त्र में रस शब्द रसनेन्द्रिय के विषयों (मधुर, अम्ल आदि) का बोधक होता है। रसलक्षणम्—'रसनार्थो रसः' (च० सू० अ० १) अर्थात् रसनेन्द्रिय के अर्थ (विषय) को रस कहते हैं। जैसा कि अन्यत्र भी स्पष्ट किया गया है—'रसनेन्द्रियग्राह्यो योऽर्थः स रसः' 'रसस्तु रसनाग्राह्यो मधुरादिरनेकधा' रस के विषय में सुश्रुत की व्याख्या में डॉ० भा० गो० घाणेकर जी लिखते हैं कि—रस्यते आस्वाद्यते इति रसः। रसनार्थो रसः (चरक)। औषधियों का जिह्वाग्राह्य अर्थ। इस अर्थ के अनुसार समस्त औषधियाँ मधुरादि छ रसों में विभक्त की गई हैं। यद्यपि 'रसनाग्राह्य' ऐसी रस की व्याख्या की गई है तथापि औषधियों के रसों का ग्रहण जिह्वा के अतिरिक्त अन्य अङ्गों से भी होता है, फर्क इतना ही है कि

जिह्वा पर रस की संवेदना अन्य अङ्गों की अपेक्षया अधिक और विशेषरूप से प्रतीत होती है जैसे कटु या कषाय रस का ज्ञान जैसे जिह्वा पर होता है वैसे ही गले में भी होता है, आमाशय में होता है, त्वचा पर होता है। शरीर में रस का कार्य निपातस्थान के साथ सम्बन्ध होते ही होता है उसमें रूपान्तर की आवश्यकता नहीं होती—'रसो निपाते द्रव्याणाम्' (चरक) 'रसं विद्यान्निपातेन (अ० सं०)। रस का यह कार्य बहुधा निपातस्थान के ऊपर प्रत्यक्षतया हुआ करता है और उसी स्थान पर मर्यादित रहता है। यथा फिटकरी जैसी कषाय रसयुक्त औषधि का त्वचा पर प्रयोग करने से स्थानिक लसीकास्राव तथा रक्तस्राव बन्द होता है, आँखों में प्रयोग करने से पानी का स्राव बन्द होता है और मुख द्वारा सेवन करने पर आमाशय तथा अन्त्र का स्राव (अतिसार) कम होता है। कभी-कभी रस-स्थानिक वातनाड़ियों के अग्रों (Nerve terminals) द्वारा प्रत्यावर्तन (Reflex action) से भी कार्य करता है। 'अम्लः क्षालयते मुखम्' 'लवणः स्यन्दयत्यास्यम्' 'कटुः स्रावयत्यक्षिनासास्यम्' ये सब उदाहरण प्रत्यावर्तन के हैं। यह उक्त प्रकार रस के प्रत्यक्ष ज्ञान करने का है किन्तु भारतीय दर्शनशास्त्रों में ज्ञान प्राप्ति के तीन साधन बतलाये गये हैं (१) प्रत्यक्ष, (२) अनुमान, (३) और आप्तोपदेश। रस का परिज्ञान इन तीनों साधनों से होता है—'प्रत्यक्षतोऽनुमानादुपदेशतश्च रसानामुपलब्धिः' (र० वै० सू० ३) किन्तु इनमें सर्वाधिक उपयोग प्रत्यक्ष ज्ञान का ही होता है जैसा कि ऊपर कह आये हैं कि द्रव्य का रसनेन्द्रिय के साथ सम्पर्क होने पर ही रस का ज्ञान होता है। इसे रासनप्रत्यक्ष कहते हैं। किसी द्रव्य के रसनिर्धारण के लिए सर्वोत्तम उपाय यही है कि उसको रसनेन्द्रिय पर रखें उससे मधुर, अम्ल आदि जो आस्वाद प्रतीत हो उसीसे रस का निर्णय करें। कुछ द्रव्यों के रस का ज्ञान अनुमान एवं आप्तोपदेश से होता है जैसे सुवर्ण के कषाय रस और मधुर रस का ज्ञान आप्तोपदेश से तथा शरीर पर उसके कर्मों को देखकर अनुमान से किया जाता है। अनुरस तथा अव्यक्त रस का ज्ञान विशेषतः आप्तोपदेश से करते हैं और उसकी पुष्टि अनुमान से करते हैं। कुछ लोग यह भी कहते हैं कि प्रत्यक्ष से रस का सामान्य ज्ञान, अनुमान से विशिष्ट ज्ञान, तथा आप्तोपदेश से प्रायोगिक ज्ञान होता है—'आस्वाद प्रत्यक्षत उपलभ्यते, अनुमानात् पूर्वोक्तं लिङ्गं दृष्ट्वा मधुरोऽयमित्युपलभ्यते। उपदेशत आगमात् कषायं मधु, मधुरमुदकमित्यादि। अथवा आस्वादतो रसानां सामान्यत उपलब्धिर्भवति, अनुमानाल्लिङ्गपूर्वकाद् विशेषोपलब्धिर्भवति, उपदेशतः कर्मणि रसानां प्रवृत्तिरुपलभ्यते अथवा सर्वमास्वादत एव रसेन गृह्यते, आगमश्च क्वचित् क्वचिदनुमानाच्चेति। (भा० प्र०) शीतं कषायं मधुरं विषघ्नं बल्यञ्च मेधास्मृतिवर्धनञ्च। रसायनीयं लघु रुक्ममुक्तं कषाय तिक्तं कटु रूप्यमाहुः॥ रसोत्पत्तिस्तस्य पाञ्चभौतिकत्वञ्च—तस्य द्रव्यमापः क्षितिस्तथा। निर्वृत्तौ च विशेषे च प्रत्ययाः खादयस्त्रयः॥ (च० सू० अ० १) तस्य रसस्य द्रव्यमिति आधारकारणम्। उस रस का आधार कारण जल और पृथ्वी है। यहाँ पर 'अप्क्षिती' ऐसा द्विवचन का प्रयोग करके 'आपः क्षितिस्तथा' ऐसा अलग लिखकर बताया है कि जल नैसर्गिकरीत्या रसवाला होने से वही रस का मुख्य आधार कारण (उत्पत्ति कारण या समवायी कारण) है और पृथिवी जल के अनुप्रवेश से रसवती होने से गौण आधार कारण है—येनापो हि निसर्गेण रसवत्यः। 'सौम्याः खल्वापः' (च० सू० अ० २६)। 'तस्मादाप्यो रसः' (सु० सू० अ० ४२)। 'रसोऽपां नैसर्गिकः' क्षितेस्तु अबनुप्रवेशकृतः, तेन रसस्य योनिरापः क्षितिश्चाधारः। अर्थात् रस जल का नैसर्गिक धर्म है इस वास्ते रस की उत्पत्ति का मुख्य कारण जल है और पृथिवी जल के अनुप्रवेश होने से रसवती होकर गौण आधार कारण है। इनके अतिरिक्त आकाश, वायु और अग्नि ये तीन महाभूत रस की सामान्य अभिव्यक्ति तथा वैशिष्ट्य में निमित्त कारण होते हैं इस प्रकार पाँचों महाभूत रस से कारणतया सम्बद्ध है अतएव द्रव्य के समान रस भी पाञ्चभौतिक होते हैं—'द्रव्यस्य पाञ्चभौतिकत्वाद् तदाश्रितरसोऽपि पाञ्चभौतिकः। रसोऽपां नैसर्गिकः, क्षितेस्तु अबनुप्रवेशकृतः। तेन रसस्य योनिरापः, क्षितिश्चाधारः। तस्य (रसस्य) निर्वृत्तौ निष्पत्तौ विशेषे मधुरादिभेदे च खादयः खं वायुरग्निश्च एते त्रयः प्रत्ययाः कारणानि, अनेन खादीनां त्रयाणां रसम्प्रति कारणत्वमुपदर्शितं भवति, अपां क्षितेश्च तदभिधानमेव। एवं पञ्चानां महाभूतानां रसम्प्रति कारणतया वर्तमानत्वाद्रसस्य पाञ्चभौतिकत्वमुपपद्यते' (यो० र०) यद्यपि रसोत्पत्ति में जल को प्रधान कारण माना है किन्तु शुद्ध आन्तरिक्ष (आकाशीय) जल अनिर्देश्य रस या अव्यक्तरस वाला होता है किन्तु वही जल जब पृथिवी पर गिरता है तब नदी, नद, सर तडागादि स्थान-वैशिष्ट्य से किंवा लोहित, कपिल, पाण्डु, नील, पीत और शुक्ल पृथिवी में मधुराम्लादि षट् रसों से युक्त हो जाता है—यही आशय सुश्रुताचार्य ने स्पष्ट लिखा है—(१) पानीयमन्तरिक्षमनिर्देश्यरसममृतं जीवनं तर्पणं धारणमाश्वासजननमित्यादि' अन्यत्र—(२) तदेवावनिपतितमन्यतमं रसमुपलभ्यते स्थानविशेषान्नदीनदसरस्तडागवापीकूपचुण्टीप्रस्रवणोद्भिदविकिरकेदारपल्वलादिषु स्थानेष्ववस्थितमिति' अन्यत्र—(३) 'तत्र लोहितकपिलपाण्डुनीलपीतशुक्लेष्ववनिप्रदेशेषु मधुराम्ललवणकटुतिक्तकषायाणि यथासङ्ख्यमुदकानि सम्भवन्तीत्येके भाषन्ते' (सु० सू० अ० ४५) चरक तथा अष्टाङ्गसंग्रहकार भी विशिष्ट रङ्ग वाली मृत्तिका के संयोग से जल में मधुरादि रसों की उत्पत्ति मानते हैं—'श्वेते कषायं भवति पाण्डुरे चैव तिक्तकम्। कपिले क्षारसंसृष्टमूषरे लवणान्वितम्॥ कटु पर्वतविस्तारे मधुरं कृष्णमृत्तिके॥ इस प्रकार केवल श्वेतादि वर्ण वाली मृत्तिका (पृथिवी) ही मधुरादि रसों के निर्माण तथा अभिव्यक्ति में कारण है, जल कारण नहीं—क्षितिरेव रसस्य निर्वृत्तावभिव्यक्तौ च प्रत्ययो नापः यत आपो ह्यव्यक्तरसा एव, 'क्षितिसम्बन्धादेव च रसोऽभिव्यक्त उपलभ्यते। चरकेऽपि—सौम्याः खल्वापोऽन्तरीक्षप्रभवाः प्रकृतिशीता लघ्व्यश्चाव्यक्तरसाश्च, तास्त्वन्तरीक्षाद् भ्रश्यमानाः भ्रष्टाश्च पञ्चमहाभूतगुणसमन्विता जङ्गमस्थावराणां भूतानां मूर्तीरभिप्रीणयन्ति, यासु षडभिमूर्च्छन्ति रसाः' (च० सू० अ० २६) इति तेन पार्थिवद्रव्यसम्बन्धादेवापां रसो व्यज्यते नान्यथा। सुश्रुताचार्य ने षड्रसों की उत्पत्ति केवल पृथिवी सम्पर्क से होती है इस बात का खण्डन कर पृथिवी आदि पञ्चमहाभूतों के अन्योऽन्यानुप्रवेशरूपी पञ्चीकरण से उत्पन्न जल में भूमिगत पञ्चमहाभूतों के उत्कर्ष या अपकर्ष के अनुसार रसोत्पत्ति हुआ करती है ऐसा मत

दिया है। उनमें से पृथिवी के गुण अधिक होने वाली भूमि में अम्ल या लवण रसयुक्त जल होता है। जल के अधिक गुणों वाली भूमि में मधुर जल, अग्नि-गुणाधिक्य भूमि में कटु या तिक्त रसयुक्त जल, वायु-गुणाधिक्य भूमि में कषाय रसयुक्त जल होता है और आकाश-गुणाधिक्य भूमि में जल का रस अव्यक्त होता है—'तत्तु न सम्यक् तत्र पृथिव्यादीनामन्योऽन्यानुप्रवेशकृतः सलिलरसो भवत्युत्कर्षापकर्षेण। तत्र स्वलक्षणभूयिष्ठायां भूमावम्लं लवणञ्च। अम्बुगुणभूयिष्ठायां मधुरं, तेजोगुणभूयिष्ठायां कटुकं तिक्तञ्च, वायुगुणभूयिष्ठायां कषायम्, आकाशगुणभूयिष्ठायामव्यक्तरसम्। अव्यक्तं ह्याकाशमित्यतः, तत्प्रधानमव्यक्तरसत्वात् उत्पेयमान्तरिक्षालाभे। चरकाचार्य ने भी ऐन्द्रजल को एक ही प्रकार का (अव्यक्त रस वाला) माना है तथा गिरता हुआ और गिरा हुआ वह जल देश तथा काल के अनुसार एवं सोम, वायु और अर्क (सूर्य) से संस्पृष्ट होता हुआ पृथिवी के गुणों से भी युक्त होकर षड्गुण युक्त हो जाता है—जलमेकविधं सर्वं पतत्यैन्द्रं नभस्तलात्। तत्पतत्पतितञ्चैव देशकालावपेक्षते। खात्पतत्सोमवाय्वर्कैः स्पृष्टं कालानुवर्तिभिः। शीतोष्णस्निग्धरूक्षाद्यैर्यथासन्नं महीगुणैः॥ शीतं शुचि शिवं मृष्टं विमलं लघु षड्गुणम्। प्रकृत्या दिव्यमुदकं भ्रष्टं पात्रमपेक्षते॥ (च० सू० अ० २७) निष्कर्षः—चरक, सुश्रुत और वाग्भट इन तीनों आचार्यों का एक मत है कि रस की मुख्यतया उत्पत्ति जल में होती है किन्तु वह उसमें अव्यक्त रहता है किन्तु जल का सम्पर्क पृथिवी आदि शेष चार भूतों के साथ होने पर एवं देश और काल के प्रभाव से उसमें मधुरादि षड्रस व्यक्त हो जाते हैं—(१) 'रसः खल्वाप्यः प्रागव्यक्तश्च। स षड्ऋतुकत्वात् कालस्य महाभूतगुणैरूनातिरिक्तैः संसृष्टो विषमं विदग्धः षोढा पृथग्विपरिणमते मधुरादिभेदेन। (अ० सं० सू० अ० १८) 'स खल्वाप्यो रसः शेषभूतसंसर्गाद्विदग्धः षोढा विभज्यते, तद्यथा—मधुरः, अम्लः, लवणः, कटुकः, तिक्तः कषाय इति। (सु० सू० अ० ४२)। रस संख्या—रसों की संख्या छः मानी है मधुर, अम्ल, लवण, कटु, तिक्त और कषाय। इनको लोकभाषा में क्रमशः मीठा, खट्टा, नमकीन, चरपरा (कटु), कड़वा (तिक्त) और कसैला कहते हैं। मधुर रस को यू० पी०, राजस्थान, पञ्जाब, मालव (मध्यप्रदेश) में मीठा कहते हैं किन्तु गुजरात तथा सौराष्ट्र प्रदेश में मीठा शब्द लवण के अर्थ में प्रयुक्त होता है। कटु शब्द का हिन्दी में या लोकव्यवहार में कड़वा अर्थ करते हैं किन्तु यह गलत ट्रान्सलेशन है। कटु शब्द से त्रिकटु (सोंठ, मरिच, पिप्पली) का ग्रहण होता है जो कि कड़वे न होकर चरपरे होते हैं अतएव मैं कटु का चरपरा अर्थ करता हूँ और तिक्त का अर्थ तीता अर्थात् कड़वा करता हूँ जैसा कि निम्ब (निम्बश्च तिक्तके श्रेष्ठः)। अफीम, कुटकी और चिरायता ये सब कड़वे (तिक्त) होते हैं। (१) 'रसास्तावत् षट्—मधुराम्ललवणकटुतिक्तकषायाः' (च० वि० अ० १)। (२) रसाः स्वाद्वम्ललवणतिक्तोषणकषायकाः। षड् द्रव्यमाश्रितास्ते तु यथापूर्वं बलावहाः॥ (अ० सं० सू० अ० १)। (३) स्वादुरम्लोऽथ लवणः कटुकस्तिक्त एव च। कषायश्चेति षट्कोऽयं रसानां सङ्ग्रहः स्मृतः। (च० सू०) स्वादु से लेकर कषाय तक छः रसों के नाम लिख देने से ही उनकी षट्त्व संख्या निश्चित हो जाती है पुनः षट् शब्द लिखने का तात्पर्य परवादी के मत से सप्तादि संख्या का निषेध-सूचक है। इसी प्रकार सङ्ग्रह शब्द लिख देने से ये संग्रह (संक्षेप) से रस छः हैं किन्तु वक्ष्यमाण संसर्गादि क्रम से तो रस की बहुलता सिद्ध है ही। (१) मधुर रसः—'तत्र स्वादुर्मधुरो घृतगुडादि। अर्थात् घृत, गुड़, चीनी, द्राक्षा आदि मधुर रस वाले द्रव्य हैं। यह मधुर रस पृथिवी और जलभूत की बहुलता से द्रव्य में उत्पन्न होता है—'तत्र भूम्यम्बुगुणबाहुल्यान्मधुरः'। (२) अम्लरसः—'अम्लोऽम्लिकामातुलुङ्गादि' अर्थात् इमली, निम्बू, चाङ्गेरी आदि अम्लरस वाले द्रव्य हैं। यह अम्ल रस जल और अग्निभूत की बहुलता से द्रव्य में उत्पन्न होता है—'तोयाग्निगुणबाहुल्यादम्लः'। (३) लवण रसः—लवणः सैन्धवादिः' अर्थात् सामुद्र और विडादि-पञ्च लवण, लवण रस प्रधान द्रव्य हैं। पञ्चलवणानि—सैन्धवञ्चाथ सामुद्रं विडं सौवर्चलं तथा। रोमकञ्चेति विज्ञेयं बुधैर्लवणपञ्चकम्॥ यह लवण रस भूमि और अग्निगुण की बहुलता से द्रव्य में उत्पन्न होता है। 'भूम्यग्निगुणबाहुल्याल्लवणः'। (४) कटुक रसः—'ऊषणः कटुको मरिचादिः' अर्थात् सोंठ, कालीमरिच, लालमरिच, पिप्पली आदि कटुक रसप्रधान द्रव्य हैं। यह रस वायु और अग्निगुण-बाहुल्य से द्रव्य में उत्पन्न होता है—वाय्वग्निगुणबाहुल्यात्कटुकः'। त्रिकटुलक्षणं यथा—पिप्पली मरिचं शुण्ठी त्रयमेतद्विमिश्रितम्। त्रिकटु त्र्यूषणं व्योषं कटुत्रिकमथोच्यते॥ (५) तिक्तरसः—'तिक्तो भूनिम्बादिः' चिरायता, कुटकी, गिलोय, निम्ब, करेला, पटोल, पित्तपापड़ा आदि तिक्तरसप्रधान द्रव्य हैं। यह तिक्तरस वायु और आकाश गुण की बहुलता से द्रव्य में उत्पन्न होता है। (६) कषायरसः—'कषायो हरीतक्यादिः' अर्थात्—हरीतकी, बब्बूल, धातकी आदि कषाय रसप्रधान द्रव्य हैं। यह रस पृथिवी और अनिल (वायु) रस की बहुलता से द्रव्य में उत्पन्न होता है। इस प्रकार दो-दो भूतों के सम्पर्क से रसोत्पत्ति बताई गई है किन्तु इसमें चरक तथा चरकमतानुयायी वृद्ध वाग्भट और वाग्भट ने अम्ल रस को भूमि और अग्नि के गुणों की अधिकता वाला तथा लवण रस को जल और अग्नि की अधिकता वाला माना है—तत्र भूजलयोर्बाहुल्यान्मधुरो रसः, भूतेजसोरम्लः, जलतेजसोर्लवणः, वाय्वाकाशयोस्तिक्तः, वायुतेजसोः कटुकः, वायूर्व्योः कषायः' (अ० सं० सू० अ० १८) क्ष्माऽम्भोऽग्निक्ष्माऽम्बुतेजःखवाय्वग्न्यनिलगोऽनिलैः। द्वयोल्बणैः क्रमाद्भूतैर्मधुरादिरसोद्भवः॥ (अ० हृ० सू० अ० १०) किन्तु सुश्रुत ने अम्लरस को जल और अग्नि की अधिकता वाला तथा लवण रस को पृथिवी तथा जल की अधिकता वाला माना है। नागार्जुन ने अम्ल और लवण दोनों रसों को जल और अग्नि की अधिकता वाला माना है—'तत्र पृथिव्यपां बाहुल्यान्मधुरं विद्यात्। अम्लमपामग्नेश्च। लवणमग्नेरपां च। कटुकमग्नेर्वायोश्च। तिक्तं खस्य वायोश्च। कषायमवनेर्वायोश्च' (र० वै० अ० ३) अमुक भूत से अमुक रस उत्पन्न हुआ है इसमें प्रमाण—'ते निर्धार्यन्तेऽनुमानात्' कथमिति? वर्धनात् समानजातीयस्य, असमानजातीयस्य क्षपणाच्च' (र० वै० सू० ७४-७५) अर्थात् विरुद्ध महाभूतों से उत्पन्न दोषों के क्षय और समान महाभूतों से उत्पन्न दोषों की वृद्धि को देख कर यह रस अमुक महाभूतों की अधिकता से उत्पन्न हुआ है यह अनुमान किया जाता है—जैसे मधुर रस से आप्य कफ की वृद्धि और आग्नेय

पित्त का क्षय होता है यह देख कर मधुर रस सोमगुणातिरेक से उत्पन्न हुआ है यह अनुमान होता है। पाञ्चभौतिकत्वेऽपि रसस्य षड्विभक्तौ हेतुः—षड् विभक्तीः प्रवक्ष्यामि रसानामत उत्तरम्। षट् पञ्चभूतप्रभवाः संख्याताश्च यथा रसाः॥ रस पाञ्चभौतिक होने पर भी उत्पत्ति-काल में पञ्चमहाभूतों के न्यूनाधिक भाव से मिलने के कारण रसों के छः भेद हो जाते हैं, ऐसे तो रस जल का नैसर्गिक गुण होने से वह आप्य (जलोत्पन्न किंवा जलप्रधान गुण) कहलाता है फिर पञ्चमहाभूतों का परस्पर संसर्ग होने से, परस्पर एक दूसरे पर अनुग्रह (उपकार) होने से और एक दूसरे में परस्पर अनुप्रविष्ट होने से सर्व कार्यद्रव्यों में सर्वभूतों का सान्निध्य पाया जाता है किन्तु जिस द्रव्य में जिस भूत की अधिकता पाई जाती है उस पर से उस द्रव्य का नाभस, वायव्य आदि नामकरण किया जाता है। यह आप्य रस भी शेष महाभूतों के संसर्ग (न्यूनाधिक भाव से मिलने) से परिपाक को प्राप्त होकर मधुरादि भेद से छ प्रकार का होता है। रसाः कति भवन्ति—अत्र मतमतान्तराणि। यथा—(१) 'एक एव रस इत्युवाच भद्रकाप्यः—यं पञ्चानामिन्द्रियार्थानामन्यतमं जिह्वावैषयिकं भावमाचक्षते कुशलाः, स पुनरुदकादनन्य इति। (२) द्वौ रसाविति शाकुन्तेयो ब्राह्मणः—छेदनीयः, उपशमनीयश्चेति। (३) त्रयो रसा इति पूर्णाक्षो मौद्गल्यः—छेदनीयोपशमनीयसाधारणा इति। (४) चत्वारो रसा इति हिरण्याक्षः कौशिकः—स्वादुर्हितश्च, स्वादुरहितश्च, अस्वादुर्हितश्च, अस्वादुरहितश्चेति। (५) पञ्चरसा इति कुमारशिरा भरद्वाजः—भौमौदकाग्नेयवायव्यान्तरिक्षाः। (६) षड्रसा इति वार्योविदो राजर्षिः—गुरुलघुशीतोष्णस्निग्धरूक्षाः। (७) सप्तरसा इति निमिर्वैदेहः—मधुराम्ललवणकटुतिक्तकषायक्षाराः। (८) अष्टौ रसा इति बडिशो धामार्गवः—मधुराम्ललवणकटुतिक्तकषायक्षाराव्यक्ताः। (९) अपरिसंख्येया रसा इति काङ्कायनो बाह्लीकभिषक्—आश्रयगुणकर्मसंस्वादविशेषाणामपरिसंख्येयत्वात्। (१०) षडेव रसा इत्युवाच भगवानात्रेयः पुनर्वसुः—मधुराम्ललवणकटुतिक्तकषायाः। तेषां षण्णां रसानां योनिरुदकं, छेदनोपशमने द्वे कर्मणी, तयोर्मिश्रीभावात् साधारणत्वं, स्वाद्वस्वादुता भक्तिः, हिताहितौ प्रभावौ, पञ्चमहाभूतविकारास्त्वाश्रयाः प्रकृतिविकृतिविचारदेशकालवशाः, तेष्वाश्रयेषु द्रव्यसंज्ञकेषु गुणा गुरुलघुशीतोष्णस्निग्धरूक्षाद्याः, क्षरणात्क्षारः, नासौ रसः द्रव्यं तदनेकरससमुत्पन्नमनेकरसं कटुकलवणभूयिष्ठमनेकेन्द्रियार्थसमन्वितं करणाभिनिर्वृत्तम्। अव्यक्तीभावस्तु खलु रसानां प्रकृतौ भवत्यनुरसेऽनुरससमन्विते वा द्रव्ये। अपरिसंख्येयत्वं पुनस्तेषामाश्रयादीनां भावानां विशेषापरिसंख्येयत्वान्न युक्तम्। एकैकोऽपि ह्येषामाश्रयादीनां भावानां विशेषानाश्रयते विशेषापरिसंख्येयत्वात्। न च तस्मादन्यत्वमुपपद्यते, परस्परसंसृष्टभूयिष्ठत्वान्न चैषामभिनिर्वृत्तेर्गुणप्रकृतीनामपरिसंख्येयत्वं भवति। तस्मान्न संसृष्टानां रसानां कर्मोपदिशन्ति बुद्धिमन्तः। तच्चैव कारणमपेक्षमाणाः षण्णां रसानां परस्परेणासंसृष्टानां लक्षणपृथक्त्वमुपदेक्ष्यामः। (च० सू० अ० २६)

रस की संख्या के विषय में प्राचीन आचार्य कठोरतावादी हैं और उसमें तनिक भी न्यूनाधिक्य नहीं करना चाहते। वे कहते हैं—'छः ही रस हैं' न कम और न अधिक। इस सम्बन्ध में विचार-विमर्श के लिए चरक संहिता के सूत्रस्थानगत आत्रेयभद्रकाप्यीय अध्याय में ऋषियों की एक सम्भाषा-परिषद् का आयोजन किया गया है और उसमें अनेक मत-मतान्तरों का प्रदर्शन करते हुये आचार्य आत्रेय ने सब मतों का समन्वय कर अपने सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है:—

(१) रस एक है—रस एक ही है जो रसनेन्द्रिय का भावरूप विषय है और जल से अभिन्न है, ऐसा भद्रकाप्य का मत है। (२) रस दो हैं—छेदनीय (लंघन) और उपशमनीय (बृंहण) यह शाकुन्तेय ब्राह्मण का मत है। (३) रस तीन हैं—छेदनीय, उपशमनीय और साधारण—यह पूर्णाक्ष मौद्गल्य का कथन है। (४) रस चार हैं—स्वादु-हित, स्वादु-अहित, अस्वादु-हित और अस्वादु-अहित यह हिरण्याक्ष कौशिक का मत है। (५) रस पाँच हैं—भौम, आप्य, आग्नेय, वायव्य और आकाशीय यह कुमारशिरा भरद्वाज का मन्तव्य है। (६) रस छः हैं—गुरु, लघु, शीत, उष्ण, स्निग्ध और रूक्ष यह राजर्षि वार्योविद का कथन है। (७) रस सात हैं—मधुर, अम्ल, लवण, कटु, तिक्त, कषाय और क्षार ऐसा वैदेह निमि का मत है। (८) रस आठ हैं—मधुर, अम्ल, लवण, कटु, तिक्त, कषाय, क्षार और अव्यक्त यह बडिश धामार्गव का कथन है। (९) रस अपरिसंख्येय है—आश्रय (द्रव्य), गुण, कर्म और स्वाद विशेषों की असंख्येयता के कारण रस भी असंख्य है—ऐसा बाह्लीक देश के वैद्य कांकायन का मत है।

आलोचना

इन सभी एकीय मतों के पूर्वपक्ष के रूप में स्थापित होने के बाद आत्रेय पुनर्वसु ने पूर्वोक्त सभी मतों की आलोचना की है और युक्तिपूर्वक उनका खण्डन किया है:—

(१) भद्रकाप्य का मत है कि रस एक ही है और जल में अभिन्न है, किन्तु यह मत ग्राह्य नहीं है क्योंकि जल आधार और रस आधेय है और चूँकि आधार और आधेय एक नहीं हो सकते अतः रस जल से अभिन्न है यह कथन युक्तिसंगत नहीं है। (२–३) शाकुन्तेय ब्राह्मण तथा पूर्णाक्ष मौद्गल्य का मत भी उचित नहीं है क्योंकि छेदनीय, उपशमनीय ये दोनों रसों के कर्म होते हैं और साधारण भी दोनों के मिश्रण से बना कर्म ही है। कारण (रस) और कार्य भिन्न होते हैं अतः इस मत से रस का द्वित्व और त्रित्व सिद्ध नहीं होता। (४) हिरण्याक्ष कौशिक ने जो चार रस बतलाये हैं उनमें दो तो भक्ति (रुचि) के विशेषरूप हैं और दो रसों के प्रभाव हैं। अतः स्वादु–अस्वादु, हित-अहित ये रस नहीं हो सकते। (५) कुमारशिरा भरद्वाज पञ्चमहाभूतों के अनुसार पाँच रस बतलाते हैं—पार्थिव, जलीय, आग्नेय, वायव्य और आकाशीय, किन्तु यह मत भी युक्तियुक्त नहीं है क्योंकि उपर्युक्त पाँच भेद द्रव्यों के होते हैं, रसों के नहीं। रस तो द्रव्यों के आश्रित हैं। आश्रय और आश्रित भिन्न-भिन्न होते हैं अतः यह संख्या द्रव्यों की है, रसों की नहीं। दूसरी बात यह है कि ये पाञ्चभौतिक-विकाररूप द्रव्य स्वयं प्रकृति, विकृति (संस्कार), विचार (द्रव्यान्तर-संयोग), देश और काल के अधीन रहते हैं किन्तु रस की क्रिया नितान्त भिन्न होती है यथा प्रकृति के कारण मुद्ग कषाय और मधुर होते हुए भी लघु है यद्यपि रस के विचार से गुरु होना चाहिए। विकृति

के कारण धान्य की अपेक्षा लाजा में लघुत्व होता है यद्यपि रस में कोई अन्तर नहीं होता तथापि माधुर्य के कारण गुरुत्व ही होना चाहिए। मधु और घृत मिलाने पर संयोग के प्रभाव से विषाक्त हो जाता है, रस के कारण नहीं। हिमालय में उत्पन्न होने वाली औषधियाँ गुणवती होती हैं देश प्रभाव से ही, रस से नहीं। उसी प्रकार कालवश से बालमूलक दोषहर होता है किन्तु वही वृद्ध होने पर त्रिदोषकर हो जाता है यद्यपि रस में कोई अन्तर नहीं होता। अतः कुमारशिरा भरद्वाज के बतलाये विभाग द्रव्य के ही हो सकते हैं, रसों के नहीं। (६) राजर्षि वार्योविद ने गुरु, लघु आदि छः रस बतलाये हैं किन्तु ये द्रव्याश्रित गुण हैं, रस नहीं। रस जिह्वा-ग्राह्य गुण है किन्तु ये जिह्वा-ग्राह्य नहीं हैं। (७) वैदेह निमि ने जो सात रस माने हैं उनमें मधुरादि छः तो अनुकूल ही हैं किन्तु क्षार रस नहीं है। यह तो द्रव्य है जो अनेक रस वाले द्रव्यों से उत्पन्न स्वयं अनेक-रसयुक्त विशेषतः कटु-लवण रस विशिष्ट अनेक इन्द्रियार्थों से युक्त तथा एक विशिष्ट क्रिया द्वारा निष्पन्न होता है। इन सब कारणों से रस से यह भिन्न है। (८) बडिश धामार्गव ने अव्यक्त रस को भी माना है, यह मान्य नहीं है इसका कारण यह है कि व्यक्त और अव्यक्त तो रस की अवस्थायें हैं, ये स्वयं रस कैसे हो सकते हैं? रस जल में, अनुरस में तथा अनुरसयुक्त द्रव्य में अव्यक्तावस्था में रहता है। अतः यह पृथक् रस नहीं हो सकता। (९) वाह्लीक वैद्य कांकायन ने रस को अपरिसंख्येय माना है यह भी उचित नहीं है क्योंकि मधुरादि रसों के आश्रय, गुण, कर्म तथा संस्वाद की विशेषताओं के असंख्य होने पर भी रसों की संख्या में अन्तर नहीं पड़ता। कारण यह है कि द्राक्षा, दुग्ध, घृत आदि आश्रयों, गुरु, स्निग्ध, पिच्छिल आदि गुणों, बृंहण, तर्पण आदि कर्मों तथा मधुरतर-मधुरतम आदि संस्वादों में अवान्तर भेद नहीं। यदि यह कहा जाय कि परस्पर संयोग से रस के आस्वाद, कर्म आदि में भिन्नता आ जाती है, अतः रस असंख्य है तो यह भी स्वीकार्य नहीं, क्योंकि परस्पर संयोग की विशेषता होने पर भी उनके गुण-कर्म में अन्तर नहीं आता। संयोग होने पर उनके स्वाभाविक गुणकर्म ही मिश्रितरूप में दृष्टिगोचर होते हैं। अतः ऐसी स्थिति में रस असंख्य नहीं माने जा सकते, ठीक उसी प्रकार जैसे वातादि दोषों का अनेक प्रकार से संसर्गभेद होने पर भी उनकी संख्या तीन ही है, अधिक नहीं। रस की भी इस प्रकार छः ही संख्या है, अधिक या कम नहीं।

सिद्धान्त

अन्त में पुनर्वसु आत्रेय ने यह सिद्धान्त स्थापित किया कि छः ही रस हैं मधुर, अम्ल, लवण, कटु, तिक्त और कषाय।

अष्टांगसंग्रह का विचार

वृद्ध वाग्भटने अपनी शैली से रसों की संख्या का निरूपण करते हुए शास्त्रीय मत का समर्थन किया है:—पूर्वपक्षी कहता है कि मधुर स्कन्ध में कथित घृत, तैल, गुड आदि द्रव्यों में गुण, आस्वाद आदि की अनन्त विशेषताओं के कारण रस की शास्त्रीय संख्या मान्य नहीं हो सकती। रस की छः संख्या तो हो ही नहीं सकती क्योंकि यदि असंख्य विशेषताओं का विचार किया जाय तो रस अपरिसंख्येय हो या एक हो। इसका समाधान यह है कि भूतों के न्यूनाधिक्य से गुणों में यद्यपि सूक्ष्मतया थोड़ा बहुत अन्तर होता है किन्तु उनके प्रभाव में कोई विशेष अन्तर नहीं होता। इसके अतिरिक्त, थोड़ा तारतम्य होने पर भी उनकी जाति तो एक ही रहती है यथा गुरुतर, गुरुतम या लघुतर आदि में गुरुत्व और लघुत्व जाति तो एक ही है। उसी प्रकार रसों के आस्वाद आदि विषयों में भी मधुरत्व आदि जाति तो एक ही है। एक रस वाले द्रव्यों के कर्म भी समान देखने में आते हैं यथा मुखोपलेप, ह्लादन आदि कर्म घृत, द्राक्षा आदि सभी मधुर रस द्रव्यों में ही मिलते हैं दाडिम आदि अम्लरस द्रव्यों में नहीं। अतः गुण सामान्य, कर्म सामान्य और जाति सामान्य के कारण रस छः ही हैं। यदि रस अनन्त या एक माना जाय तो शास्त्र भी निरर्थक हो जाता है क्योंकि रस असंख्य होने से उसका प्रतिपादन शक्य नहीं है और एक होने से वैशिष्ट्य के अभाव में प्रतिपादन ही किसका किया जायगा? अतः शास्त्रीय मत ही युक्तियुक्त है।

नागार्जुन का मत

रसवैशेषिककार नागार्जुन ने आयुर्वेदोक्त मत का ही समर्थन किया है और इस संबन्ध में उन्होंने दो प्रमाणों का आधार लिया है। एक प्रत्यक्ष और दूसरा आप्तोपदेश। वह कहते हैं कि रस छः ही हैं इसको सिद्ध करने में अधिक प्रमाणों की आवश्यकता नहीं। प्रत्यक्षतः छः ही रसों की उपलब्धि होती है। इससे अधिक की नहीं। अतः इससे अधिक या कम रसों की संख्या मानने का कोई कारण नहीं है। दूसरी बात यह है कि प्राचीन नीरजस्तम महर्षियों ने रस की छः ही संख्या बतलाई है। अतः प्रत्यक्ष और आप्तोपदेश इन दोनों प्रमाणों से रस की संख्या ६ ही सिद्ध होती है। आधुनिक मत—'षट् सूत्रकारप्रामाण्यादास्वादाच्च' (र. वै. सू. ३) आधुनिक शरीर-क्रियाविज्ञान तथा मनोविज्ञान में चार ही रस मूलतः माने गये हैं—मधुर (Sweet), अम्ल (Sour), लवण (Salt), और तिक्त (Bitter) कषाय और कटु को वे रस और स्पर्श की संवेदना का संयुक्त रूप मानते हैं, स्वतन्त्र रस नहीं। तथापि औषध-विज्ञान में कषाय स्कन्ध (Astringents) तथा कटुक स्कन्ध (Volatile oils and pungents) का पृथक् उल्लेख किया है। इस प्रकार व्यवहारतः छः रस आधुनिक द्रव्यगुण विज्ञान में भी हो जाते हैं।

रस और अनुरस

रसः—व्यक्तः शुष्कस्य चादौ च रसो द्रव्यस्य लक्ष्यते। अनुरसश्च—विपर्ययेणानुरसो रसो नास्तीह सप्तमः॥ (च.सू.अ. २६) सब द्रव्य पाञ्चभौतिक होने से अनेक रस वाले होते हैं जैसे हरीतकी ५ रसों वाली (हरीतकी पञ्चरसाऽलवणा तुवरा परम्)। रसोन (लहसुन) भी पाँच रसों वाला—पञ्चभिश्च रसैर्युक्तो रसेनाम्लेन वर्जितः। तस्माद्रसोन इत्युक्तो द्रव्याणां गुणवेदिभिः॥ किन्तु उनकी शुष्क और आर्द्रावस्था में उन्हें जिह्वा पर रखते ही प्रारम्भ से अन्त तक यह मधुर है, यह अम्ल है इत्यादि प्रकार से उसका जो रस व्यक्त-स्पष्ट रूप से ज्ञात होता है उसको-रस-कहते हैं। अर्थात् द्रव्य की शुष्कावस्था, आर्द्रावस्था, प्रारम्भावस्था (जिह्वा का संयोग होते ही) और अन्तिमा-

वस्था (खाने के अन्त तक) इन चारों अवस्थाओं में जिसका यह मधुर है, यह अम्ल है इत्यादि प्रकार से स्पष्टतया जो अनुभव होता है उसको रस कहते हैं और जो रस इससे विपरीत हो अर्थात् उक्त चारों अवस्थाओं में स्पष्ट रूप से न मालूम होता हो किन्तु अव्यक्त—अस्पष्ट रूप (छायामात्र) से मालूम होता हो या कार्य देख कर जिसका अनुमान किया जा सकता हो उसको या अन्त में स्पष्ट रूप से मालूम हो उसको या जो आर्द्रावस्था में उस द्रव्य में स्पष्टरूप से मालूम होने पर भी वह द्रव्य शुष्क होने पर उसमें वह रस दब जाय और अन्य रस प्रतीत होने लगे तो उस आर्द्रावस्था के रस को अनुरस कहते हैं। इस प्रकार मधुरादि प्रत्येक रस ही अवस्थाभेद से रस या अनुरस संज्ञा को प्राप्त होते हैं। अनुरस नाम का कोई सातवाँ रस नहीं है। अन्य आचार्य कुछ ऐसा भी मानते हैं कि शुष्कावस्था में जिस द्रव्य का जो रस व्यक्त होता है वह रस है तथा आर्द्रावस्था में कोई भी द्रव्य का रस व्यक्त हो कर पुनः शुष्कावस्था में रस की प्रतीति न हो वह रस न हो कर अनुरस कहलाता है जैसे आर्द्र पिप्पली में प्रथम मधुर रस व्यक्त होता है किन्तु वही पिप्पली जब शुष्क हो जाती है तब उसमें कटुक रस विदित होने लगता है अतएव पिप्पली में कटुक रस माना जाता है तथा मधुर रस को अनुरस मानते हैं किन्तु द्राक्षादि फलों की आर्द्रावस्था और मधुरावस्था दोनों में ही मधुर रस ही होता है अतः वहाँ मधुर रस ही है। काञ्जी, तक्र आदि में प्रथम व्यक्त रूप से जो मधुर रस अनुभूत होता है वह रस तथा अन्त में जो तिक्त, अम्लादि परिवर्तित हो जाता है उसे अनुरस कहते हैं। किन्तु यह मत सर्वसम्मत नहीं है क्योंकि चरकाचार्य ने आर्द्र पिप्पली के मधुर रस को रस ही माना है अनुरस नहीं—'श्लेष्मला मधुरा चार्द्रा गुर्वी स्निग्धा च पिप्पली' (च. सू. अ. २७) निष्कर्षः—द्रव्य में स्थित प्रधान रसना-ग्राह्य गुण को 'रस' कहते हैं। इसके निम्नाङ्कित लक्षण होते हैं—(१) यह पूर्णतः व्यक्त होता है अतः इसकी प्रत्यक्ष उपलब्धि मधुर, अम्ल आदि के रूप में स्पष्ट रूप से होती है यथा–पिप्पली में कटु तथा हरीतकी में कषाय आदि। 'व्यक्तः शुष्कस्य चादौ च रसो द्रव्यस्य लक्ष्यते' (च. सू. अ. २६) (२) द्रव्य की शुष्कावस्था में ही यह स्पष्टरूप से प्रतीत होता है। कभी-कभी द्रव्य की आर्द्रावस्था में जो रस रहता है वह शुष्कावस्था तक स्थायी नहीं रह पाता। ऐसा अस्थायी और क्षणिक रस 'रस' की संज्ञा नहीं पा सकता। जो रस शुष्कावस्था तक स्थिर रहे या शुष्कावस्था में व्यक्त हो वही प्रधान माना गया है और उसे ही रस की संज्ञा दी गई है जैसे कि द्राक्षा आर्द्रावस्था में मधुर रस तथा शुष्कावस्था में भी मधुर रस वाली होती है उसी प्रकार पिप्पली आर्द्रावस्था में मधुर होती है किन्तु शुष्क होने पर कटु हो जाती है अतः कटु 'रस' कहा जाता है और मधुर अनुरस। (३) द्रव्य का रसनेन्द्रिय से संयोग होते ही सर्व प्रथम जो रस प्रतीत होता है वही 'रस' कहा जाता है यथा काञ्जी, तक्र आदि में अम्ल। रस के विपरीत अनुरस होता है। रस से अभिभूत होने के कारण इसकी अभिव्यक्ति नहीं हो पाती और यदि होती भी है तो बहुत कम और अन्त में। इसके निम्नाङ्कित लक्षण होते हैं—१. यह अव्यक्त या ईषद् व्यक्त होता है—यथा हरीतकी में स्थित मधुर आदि रस। २. द्रव्य की शुष्कावस्था तक यह स्थायी नहीं रहता, यथा—पिप्पली का मधुर रस जो आर्द्रावस्था में ही रहता है। शुष्कावस्था में नहीं। ३. यह प्रधान रस की प्रतीति के अनन्तर अन्त में प्रतीत होता है यथा हरीतकी में प्रथम कषाय रस की प्रतीति और अन्त में मधुर आदि की। काञ्जी, तक्र आदि में भी पहले अम्लरस प्रतीत होता है और अन्त में तिक्त आदि। 'तत्र यो व्यक्तः स रसः, यस्तु रसेनाभिभूतत्वान्न व्यज्यते, व्यज्यते वा किञ्चिदन्ते सोऽनुरसः। तत्र द्रव्ये कश्चिद्धर्मः सद्यो व्यक्तः, कश्चिदव्यक्तः, कश्चिदीषद् व्यक्तः, कश्चिदन्ते व्यक्तः। तेष्वाद्यो रसाख्यः, इतरे त्रयोऽनुरसाः। विपर्ययेणानुरसो रसो नास्तीह सप्तमः। (च. सू. अ. २६) 'तत्र व्यक्तो रसः। अनुरसस्तु रसेनाभिभूतत्वादव्यक्तो व्यक्तो वा किञ्चिदन्ते' (अ. सं. सू. अ. १७) तत्र व्यक्तो रसः स्मृतः। अव्यक्तोऽनुरसः किञ्चिदन्ते व्यक्तोऽपि चेष्यते॥ (अ.हृ.सू.अ. ९)

ऋत्वनुसार महाभूताधिक्य एवं रसोत्पत्तिः—पञ्चमहाभूतों का न्यूनाधिक्य ऋतुओं के अनुसार होता है और उसका कारण विभिन्न ऋतुओं में विभिन्न रसों की उत्पत्ति होती है। ऋतुओं की संख्या छः होने के कारण रसों की संख्या की सङ्गति भी इससे ठीक बैठती है—'षडृतुकत्वाच्च कालस्योपपन्नो महाभूतानां न्यूनातिरेकविशेषः' (च. सू. अ. २६) 'स षडृतुकत्वात् कालस्य महाभूतगुणैरूनातिरिक्तैः संसृष्टो विषमं विदग्धो विपरिणमते' (अ. सं. सू. १८) कथं महाभूतानां न्यूनाधिक्यम्—उच्यते कालस्य संवत्सराख्यस्य षडृतुकत्वाद्रसस्यापि षड्भेदत्वम्। तथा च शिशिरे वाय्वाकाशयोराधिक्याद्रसस्य तिक्तता, वसन्ते वायुपृथिव्योः कषायता, ग्रीष्मेऽग्निवाय्वोः कटुता, वर्षास्वग्निपृथिव्योरम्लता, शरद्यग्न्युदकयोर्लवणता, हेमन्ते पृथिव्युदकयोर्मधुरतेति प्राधान्याद् व्यपदेशः, तेनान्यर्तुद्रव्याणामपि रसानां यथोक्तमहाभूतद्वयाधिक्यमेव कारणं विज्ञेयम्। (इन्दुः) संवत्सरात्मक (वर्षात्मक) काल ६ ऋतुओं से युक्त होता है तथा सूर्य और चन्द्र की गति-वैशिष्ट्य से प्रत्येक ऋतु शीतोष्णादि विभिन्न स्वभाव वाली होती है अतः उस ऋतु में महाभूतों का भी विभिन्न प्रकार का आधिक्य रहता है उसी से उस ऋतु में विशिष्ट रस की उत्पत्ति होती है जो कि निम्नतालिका से स्पष्ट है—

संख्या	ऋतु	महाभूताधिक्य	रसोत्पत्ति
१	शिशिर	वायु+आकाश	तिक्त
२	वसन्त	वायु+पृथिवी	कषाय
३	ग्रीष्म	वायु+अग्नि	कटु
४	वर्षा	पृथिवी+अग्नि	अम्ल
५	शरद्	जल+अग्नि	लवण
६	हेमन्त	पृथिवी+जल	मधुर

कुछ वस्तुओं में ऋतु के विपरीत भी रस देखा जाता है, इसका समाधान इन्दु तो यह करते हैं कि उन उन ऋतुओं में कथित महाभूतों का आधिक्य प्रधानतः होता है किन्तु अन्य ऋतुओं में भी हो सकता है अत एव ऋतु-विपरीत रस का प्रादुर्भाव देखा जाता है। चक्रपाणि का इस विषय में मत है कि ऋतुओं के अतिरिक्त अहोरात्र तथा अदृष्ट के कारण भी महाभूतों का न्यूनाधिक्य होता रहता है यही कारण है कि अन्य ऋतुओं में रसान्तर की उत्पत्ति कुछ वस्तुओं में देखी जाती है—'षड्ऋतुकत्वाच्चेति चकारेणाहोरात्रकृतोऽपि भूतो-

त्कर्षो हेयस्तथाऽऽदृष्टकृतश्च तेन हेमन्तादावपि रसान्तरोत्पादः कश्चिद्वस्तुन्युपपन्नो भवति। (च० द०) ऋतुओं के कारण महाभूतों का न्यूनातिरेक होता है या महाभूतों के न्यूनाधिक्य के कारण ऋतुओं का भेद होता है—यह बड़ा जटिल प्रश्न है तथा बीजाङ्कुर न्याय से इनका कार्य-कारणभाव समझना चाहिये। 'यद्यपि च ऋतुभेदेऽपि भूतोत्कर्षविशेष एव कारणं, यदुक्तं—तावेताववर्कवायू (च० सू० अ० ६) इत्यादि, तथापि बीजाङ्कुरकार्यकारणभाववत् संसारानादितयैव भूतविशेषर्त्वोः कार्यकारणभावो वाच्यः' (च० द०) पहले लिख आये हैं कि अम्ल और लवण रसों के भौतिक सङ्गठन के सम्बन्ध में आचार्यों में मतभेद है किन्तु कार्य की दृष्टि से इनमें कोई वास्तविक विरोध नहीं है—'चरके तोयाग्निगुणबाहुल्याल्लवणः पठितः, इह तु तोयाग्निगुणबाहुल्यादम्लः पठ्यते, तदत्र प्रमेये विरोधो नास्त्येव उभयथाऽपि वक्ष्यमाणरसगुणानामुपपत्तेः' (च० द०) 'लवणेऽप्यपां कारणत्वं ज्ञेयं, लवणस्तु सुश्रुते पृथिव्यग्न्यतिरेकात्पठितः, अस्मिंश्च विरोधे कार्यविरोधो नास्त्येव (च० द०) आचार्यों ने भी कार्यों को देखकर ही भौतिक सन्निवेश की उपपत्ति स्थापित की है अतः सभी उपपत्तियाँ सही हैं—यथा अम्लरस का सङ्गठन पृथ्वी-अग्नि से माने या जल-अग्नि से, दोनों ही प्रकार से यह पित्त और कफ का वर्द्धक तथा वात का शामक होगा। इसी प्रकार लवण रस का भी समझना चाहिये। इसमें आचार्यों के दृष्टिकोण का भी अन्तर कारण है। बृंहणत्व आदि कर्मों को देख कर पृथ्वी तथा आस्रावकरत्व आदि कर्मों को देख कर जल तत्त्व का अनुमान होता है अतः यह सभी तथ्यमूलक है और इनसे रसों के सङ्गठन पर प्रकाश पड़ता है। जल तथा अग्नि जैसे परस्पर विरोधी महाभूतों के संयोग से रस का अभाव क्यों नहीं हो जाता एक ही द्रव्य में परस्पर विरोधी भूतों से आरम्भ रसों में परस्पर विरोधी गुण क्यों नहीं देखे जाते इत्यादि अनेक ऐसे प्रश्नों का एकमात्र उत्तर है—स्वभाव। वस्तु का स्वभाव सर्वोपरि है। युक्तियाँ स्वभाव के आधार पर ही चल सकती हैं उसका उल्लङ्घन करके नहीं—नात्र वस्तुस्वभावे युक्तयः क्रोशनीयाः, अपर्यनुयोज्यत्वाद् भावस्वभावानाम् (च० द०) भूतों का यह स्वभाव है कि उनके सन्निवेश-स्थल में कुछ ही गुण व्यक्त होते हैं सब नहीं, यथा मकुष्ठ में जल के द्वारा मधुर रस की ही अभिव्यक्ति होती है स्नेह की नहीं, इसी प्रकार सैन्धव में अग्नि के द्वारा उष्णता की अभिव्यक्ति नहीं होती। यह सब अदृष्ट या स्वभाव के कारण ही होता है—'भूतानामयं स्वभावः, यत् केनचित् प्रकारेण सन्निविष्टाः कञ्चिद् गुणमारभन्ते न सर्वम्। यथा मकुष्ठकेऽद्भिर्मधुरो रसः क्रियते न स्नेहः तथा सैन्धवे वह्निनाऽपि नोष्णत्वमारभ्यते। अयञ्च भूतानां सन्निवेशोऽदृष्टप्रभावकृत एव। (च० द०)

रसों का रूपान्तर (रसानामन्यथात्वनिरूपणम्)-निम्नाङ्कित कारणों से एक रस दूसरे रस में बदल जाता है—(१) 'अन्यथात्वगमनं स्थानात्' (र० वै० सू० अ० २९) अर्थात् किसी द्रव्य को कुछ काल तक पड़ा रखने से उसका रस विकृत हो जाता है जैसे चावलों का बना हुआ भात मधुर होता है किन्तु उसे जल के साथ मिलाकर कुछ समय तक पड़ा रखने से उसमें अम्लता उत्पन्न हो जाती है या धान्याम्ल (काञ्जी) बन जाती है। इस तरह स्थान का अर्थ पड़ा रखना है किन्तु इसका दूसरा अर्थ पात्र भी होता है—स्थीयतेऽस्मिन्निति स्थानमधिकरणं भाजनं तद्धेतोरपि रसान्तरं भवति (भा० प्र०) अर्थात् पात्रविशेष में रखने से भी रस बदल जाता है। जैसे मधुरस्वभावी दुग्ध अम्लपात्र में रखने से अम्ल हो जाता है। अथवा कांस्यपात्र में दधि रखने से वह कटु हो जाती है (२) 'संयोगात्' किसी द्रव्य विशेष के संयोग से रसान्तर की उत्पत्ति हो जाती है जैसे चूने के संयोग से अम्ल चिञ्चाफल (इमली) मधुर हो जाता है। (३) 'अग्नेः पाकात्' अग्नि के संयोग से पाक होने पर अनेक द्रव्यों का रस बदल जाता है जैसे इमली के फल अग्नि में पकाने से मीठे हो जाते हैं। इसी प्रकार जामुन के खट्टे फल अग्नि पर पकाकर हवा में सुखाने से मीठे हो जाते हैं। (४) 'आतपात्' सूर्य के ताप (धूप) में सुखाने से भी द्रव्यों का रस बदल जाता है, जैसे कषाय रस वाले तुम्बरु धूप में सुखाने से मीठे हो जाते हैं। तुम्बरु को तेजबल के फल (तोमर) कहते हैं। (५) 'भावनया' भावना देने से भी द्रव्यों का रस बदल जाता है जैसे तिलों का स्वभाविक रस कषाय, तिक्त और मधुर है किन्तु उन्हें यष्टिमधु के क्वाथ द्वारा भावित करने से वे मधुर हो जाते हैं। (६-७) 'देशकालाभ्याम्' देश विशेष से कुछ द्रव्यों का रस दूसरा होता है, जैसे कुछ देशों में आमले के फल मीठे होते हैं। इसी प्रकार काल के प्रभाव से भी द्रव्यों के रसों का रूपान्तर हो जाता है। जैसे कच्चा कदलीफल कषाय रस होता है किन्तु कुछ काल तक पड़ा रखने से वह पक कर मधुर रसयुक्त हो जाता है। (८) 'परिणामतः' 'परिणामोऽन्यथाभावः' अर्थात् रूपान्तर को प्राप्त होना—इससे द्रव्य का रस बदल जाता है जैसे दुग्ध दधि में परिणत होने पर अम्ल हो जाता है। इसी प्रकार फलों में भी काल के अधिक होने पर अति परिणाम होने से उनमें अम्लता उत्पन्न हो जाती है जैसे पनस फल (कटहलफल) तथा तालफल पक्वावस्था में मधुर होता है किन्तु अधिक समय तक पड़ा रहने के परिणाम से अत्यन्त क्लिन्न होकर अम्ल रस युक्त हो जाता है। (९) 'उपसर्गतः' कृमि आदि के उपसर्ग (संक्रमण) से द्रव्य का रस बदल जाता है जैसे इक्षु (साँठे) में कृमि लग जाने पर तिक्तता या अम्लता उत्पन्न हो जाती है। (१०) 'विक्रियातः' विरुद्धा विप्रतिषिद्धा वा क्रिया विक्रिया, विरुद्ध क्रिया करने से द्रव्यों में रसान्तर की उत्पत्ति हो जाती है जैसे तालफल को अग्नि में पका कर भूमि पर रगड़ने से वह तिक्त हो जाता है।

रसों का वर्गीकरण—

विदाही और अविदाही भेद से रसों को दो भागों में विभक्त किया गया है—कटु, अम्ल और लवण ये विदाही रस हैं तथा स्वादु, तिक्त और कषाय ये विदाहरहित रस हैं। विदाही रस अधिक सेवन करने से मूर्च्छाजनक होते हैं तथा अविदाही रस मूर्च्छा का शमन करते हैं—कट्वम्ललवणा वैद्यैर्विदाहिन इति स्मृताः। स्वादुतिक्तकषायाः स्युर्विदाहरहिता रसाः। विदाहिनो रसा मूर्च्छां जनयन्तीति निश्चिताः। अविदाहिनस्तन्मूर्च्छनाः कीर्तिता भिषगुत्तमैः॥ (र० वै० भा०) सौम्याग्नेयभेदेन रसानां द्वैविध्यं, तयोर्गुणाश्च—'केचिदाहुः—अग्नीषोमीयत्वाज्जगतो रसा द्विविधाः—सौम्याश्चाग्नेयाश्च। मधुर-

तिक्तकषायाः सौम्याः, कट्वम्ललवणा आग्नेयाः। तत्र मधुराम्ललवणाः स्निग्धा गुरवश्च, कटुतिक्तकषाया रूक्षा लघवश्च, सौम्याः शीताः, आग्नेया उष्णाः' (सु० सू० अ० ४२) कई आचार्य कहते हैं कि जगत् अग्नीषोमीय (अग्निगुण उष्णता-प्रधान या सोमगुण-शीतता-प्रधान) होने से रसों के सौम्य और आग्नेय ये दो भेद होते हैं। मधुर, तिक्त और कषाय ये तीन रस सौम्य हैं तथा कटु, अम्ल और लवण ये तीन रस आग्नेय हैं। इसी प्रकार मधुर, अम्ल और लवण ये तीन रस स्निग्ध और गुरु हैं तथा कटु, तिक्त और कषाय ये तीन रस रूक्ष और लघु हैं। सौम्य रस शीत तथा आग्नेय रस उष्ण होते हैं—

वर्ग	रस	गुण	कर्म
१ सौम्य	मधुर, तिक्त, कषाय,	शीत,	पित्तशमन, मूर्च्छाशमन, अविदाही।
२ आग्नेय	कटु, अम्ल, लवण	उष्ण	पित्तवर्द्धक, मूर्च्छाजनक, विदाही।

भूतविशेषकृतं रसानां धर्मान्तरम्—'तत्राग्निमारुतात्मका रसाः प्रायेणोर्ध्वभाजः, लाघवादुत्प्लवनत्वाच्च वायोरूर्ध्वज्वलनत्वाच्च वह्नेः। सलिलपृथिव्यात्मकास्तु प्रायेणाधोभाजः, पृथिव्या गुरुत्वान्निम्नगत्वाच्चोदकस्य, व्यामिश्रात्मकाः पुनरुभयतोभाजः' (च० सू० अ० २६) अग्नि और वायु की अधिकता वाले रस प्रायः ऊपर की तरफ गति करने वाले अर्थात् वमनादि क्रिया से दोष को निकालने वाले होते हैं क्योंकि वायु लघु और ऊपर की ओर गति करने वाला है तथा अग्नि ऊर्ध्वज्वलन स्वभाव वाला है। जल और पृथिवी की अधिकता वाले रस प्रायः नीचे की ओर गति करने वाले अर्थात् मल-मूत्रादि का विरेचन कराने वाले होते हैं क्योंकि जल स्वभाव से नीचे की ओर गति करने वाला और पृथिवी गुरु होने से नीचे की ओर गति करने वाली होती है। जो रस ऊपर कहे हुए दोनों प्रकारों वाले होते हैं वे उभयतो भाग (वमन और विरेचन दोनों) कार्य करने वाले होते हैं। रसों के लक्षण—द्रव्यों का रसनेन्द्रिय के साथ संयोग होने पर आस्वाद के रूप में मधुर आदि विशिष्ट रसों की जो अनुभूति होती है वह स्वसंवेद्य है, उसका शब्दों में कथन सम्भव नहीं। मिष्टान्न खाने पर 'वह बहुत मीठा है' इसके अतिरिक्त और क्या कहा जा सकता है? उस माधुर्य का विश्लेषण सम्भव नहीं। अतः साहित्यिकों के 'रस' के समान ये षड्रस भी आस्वाद के रूप में स्वसंवेद्य मात्र ही हैं किन्तु विज्ञान के क्षेत्र में यह दृष्टिकोण पर्याप्त नहीं है वहाँ तो असीम को स्थूल रेखाओं में बाँधना ही होगा जिससे वह प्रत्यक्षगम्य हो सके अतः मधुर आदि रसों का प्रयोग करने पर मुख में स्थानीय भौतिक या प्रत्यावर्तित क्रियायें होती हैं उन सबका समष्टिरूप से संकलन कर रसों के लक्षण निर्धारित किये गये हैं।

मधुररसलक्षणानि—(१) तेषां विद्यादसं स्वादुं यो वक्त्रमनुलिम्पति। आस्वाद्यमानो देहस्य ह्लादनोऽक्षप्रसादनः॥ प्रियः पिपीलिकादीनाम्॥ (अ. हृ. सू. अ. १०) (२) स्नेहनप्रीणनाह्लादमार्दवैरुपलभ्यते। मुखस्थो मधुरश्चास्यं व्याप्नुवँल्लिम्पतीव च॥ (च. सू. अ. २६) (३) 'तत्र यः परितोषमुत्पादयति, प्रह्लादयति, तर्पयति, जीवयति, मुखोपलेपं जनयति, श्लेष्माणं चाभिवर्द्धयति स मधुरः' (सु. सू. अ. ४२) (४) 'तेषां स्वादुरास्वाद्यमानो मुखमुपलिम्पति, इन्द्रियाणि प्रसादयति, देहं प्रह्लादयति, षट्पदपिपीलिकादीनामभीष्टतमः, (अ. सं. सू. अ. १८) मधुर रस मुख में जाते ही सारे मुख में व्याप्त हो जाता है और मुख को लिप्त सा कर देता है। शरीर का स्नेहन, सर्व इन्द्रियों की प्रसन्नता, आह्लाद, मृदुता, भोजन काल में आनन्द और तृप्ति उत्पन्न करता है, मूर्च्छित को संज्ञा प्रदान करता है, कफ को बढ़ाता है तथा भ्रमर, चींटियाँ और आदि शब्दात् मक्षिका प्रभृति को अत्यन्त प्रिय होता है। जैसे प्रमेह में मूत्र के माधुर्य के कारण उसमें चींटियाँ लगती हैं और शरीर की मधुरता के कारण शरीर पर मक्खियाँ बहुत बैठती हैं—'षट्पदपिपीलिकाभिश्च शरीरमूत्राभिसरणम्' मक्षिकोपसर्पणे न शरीरसुखमाधुर्यम्' (च० वि० अ० ४) इन लक्षणों से किसी वस्तु या द्रव्य में मधुररस की उपस्थिति का ज्ञान करना चाहिए। रसवैशेषिककार ने भी इसके आह्लादन, कफजनन, कण्ठतर्पण और हृद्य लक्षण लिखे हैं—'लिङ्गं पुनर्मधुररसस्य ह्लादनं, श्लेष्मजननं, कण्ठतर्पणं, हृद्यत्वञ्च' (र० वै० अ० ३, सू० १८)।

अम्लरसलक्षणानि—(१) दन्तहर्षान्मुखास्रावात्स्वेदनान्मुखबोधनात्। विदाहाच्चास्य कण्ठस्य प्राश्यैवाम्लं रसं वदेत्। (च० सू० अ० २६)। (२) 'यो दन्तहर्षमुत्पादयति मुखास्रावं जनयति, श्रद्धां चोत्पादयति सोऽम्लः' (सु० सू० अ० ४२) (३) 'अम्लस्तु जिह्वामुद्वेजयति, उरःकण्ठं विदहति, मुखं स्रावयति, अक्षिभ्रुवं संकोचयति, दशनान् हर्षयति रोमाणि च' (अ० सं० सू० अ० १८) (४) अम्लः क्षालयते मुखम्'''। हर्षणो रोमदन्तानामक्षिभ्रुवनिकोचनः॥ (अ० हृ० सू० अ० १०) (५) दन्तहर्षः, प्रस्रावणं प्रक्लेदनञ्चाम्लस्य' (र० वै० अ० ३) अम्लरस खाते ही दन्तहर्ष, मुख में लालास्राव, शरीर में स्वेद, मुख की शुद्धि, मुख और कण्ठ का विदाह, अन्न खाने के प्रति रुचि, जिह्वा का उत्तेजन छाती और कण्ठ का विदाह, नेत्र और भौंहों का सङ्कोच, रोमाञ्च और क्लेदन करता है। तथा हृदय को प्रिय होता है। इन लक्षणों (कार्यों) से अम्ल रस का ज्ञान करना चाहिए।

लवणरसलक्षणानि—(१) प्रलीयन् क्लेदविष्यन्दमार्दवं कुरुते मुखे। यः शीघ्रं लवणो ज्ञेयः स विदाहान्मुखस्य च। (च० सू० अ० २६) (२) 'यो भक्तरुचिमुत्पादयति, कफप्रसेकं जनयति, मार्दवञ्चापादयति, स लवणः (सु० सू० अ० ४२) (३) 'लवणो मुखं विष्यन्दयति, कण्ठकपोलं विदहति, अन्नं प्ररोचयति' (अ० सं० सू० अ० १८) (४) 'लवणः स्यन्दयत्यास्यं कपोलगलदाहकृत्' (५) लवणस्य विसरणम्, उष्णत्वं, प्रसेचनञ्च' (र० वै० अ० ३, सू० १८) लवण रस खाते ही मुख में घुल जाता है तथा क्लेद, लालास्राव, मृदुता, मुख में विदाह, अन्न में रुचि, कफ का स्राव और कण्ठ तथा कपोल में जलन करता है। सारे मुख में शीघ्र फैल जाता है और उष्णता उत्पन्न करता है। इन लक्षणों से लवण रस पहचाना जाता है।

कटुरसलक्षणानि—(१) संवेजयेद्यो रसनं निपाते तुदतीव च। विदहन् मुखनासाक्षिसंस्रावी स कटुः स्मृतः।' (च० सू० अ० २६) (२) यो जिह्वाग्रं बाधते, उद्वेगं जनयति, शिरो गृह्णीते,

नासिकाञ्च स्रावयति स कटुकः' (सु० सू० अ० ४२) (३) कटुको मृशमुद्वेजयति जिह्वाग्रं, चिमचिमायति कण्ठकपोलम्, स्रावयति मुखाक्षिनासिकं, विदहति देहम्' (अ० सं०) (४) उद्वेजयति जिह्वाग्रं कुर्वंश्चिमचिमां कटुः । स्रावयत्यक्षिनासास्यं कपोलौ दहतीव च ॥ (अ० हृ०) (५) 'कटोर्जिह्वाघ्राणबाधः, उद्वेगो नासास्रावः शिरोग्रहश्च' (र० वै०) कटुरस जीभ पर लगते ही जिह्वा पर उद्वेग, सूई चुभोने की सी वेदना, विदाह के साथ मुख, नासिका और नेत्र में स्राव, सिर में वेदना, कण्ठ और कपोलों में चिमचिमाहट तथा अन्न में रुचि उत्पन्न करता है। इन लक्षणों से कटु रस जानना चाहिये।

तिक्तरसलक्षणानि—(१) प्रतिहन्ति निपाते यो रसनं स्वदते न च। स तिक्तो मुखवैशद्य-शोष-प्रह्लादकारकः ॥ (च० सू० अ० २६) (२) 'यो गले चोषमुत्पादयति,' मुखवैशद्यं जनयति, भक्तरुचिञ्चापादयति हर्षञ्च, स तिक्तः' (सु० सू० अ० ४२) (३) 'तिक्तो विशदयति वदनं, विशोधयति कण्ठं, प्रतिहन्ति रसनाम्' (अ० सं० सू० अ० १८) (४) 'तिक्तो विशदयत्यास्यं रसनं प्रतिहन्ति च। उद्वेजयति जिह्वाग्रं कुर्वंश्चिमचिमां तथा ॥' (अ० हृ०) (५) तिक्तस्य हर्षणं, हरिमता, शैत्यमास्यस्य, गलदारशोषणञ्च' तिक्त रस जिह्वा पर रखते ही उसकी अन्य रस-ग्रहण-शक्ति को नष्ट करता है, जिह्वा को अप्रिय लगता है, मुख में स्वच्छता लाता है, मुखशोष तथा प्रह्लाद का जनक है एवं इससे गले में खैंचने की सी पीड़ा, अन्न में रुचि तथा रोमहर्ष करता है। कण्ठ को शुद्ध करता है, मुँह में ठण्डापन लाता है और गले को सुखाता है, इन लक्षणों से तिक्त रस जानना चाहिए।

कषायरसलक्षणानि—(१) वैशद्य-स्तम्भ-जाड्यैर्यो रसनं योजयेद्रसः। बध्नातीव च यः कण्ठं कषायः स विकास्यपि। (च० सू० अ० २६) (२) यो वक्त्रं परिशोषयति, जिह्वां स्तम्भयति, कण्ठं बध्नाति, हृदयं कर्षति पीडयति च स कषाय इति' (सु० सू० अ० ४२) (३) 'कषायस्तु जडयति जिह्वां, बध्नाति कण्ठं, पीडयति हृदयम्' (अ० सं सू० अ० १८) (४) 'कषायो जडयेज्जिह्वां कण्ठस्रोतोविबन्धकृत्' (अ० हृ० सू० अ० १०) (५) 'कषायस्य मुखपरिशोषः, श्लेष्मसंवृतिः, गौरवं स्तम्भश्च' (र० वै० अ० ३) कषायरस जिह्वा में विशदता, स्तब्धता और जड़ता उत्पन्न करता है। कण्ठ को जकड़ता सा है, मुख सुखाता है, हृदय में खींचने की सी पीड़ा करता है, मुख के कफ को गाढ़ा करता है और मुख में भारीपन लाता है। इन लक्षणों से कषाय रस को जानना चाहिये।

रसानां गुणकर्माणि—यद्यपि रस स्वयं एक गुण है और गुण में गुण नहीं रहता है 'गुणे गुणानङ्गीकारात्' अतएव मधुरादि रसों के जो गुरु, लघु आदि गुण हैं वे वास्तव में रस के आश्रयभूत पृथिवी आदि द्रव्यों के ही गुण हैं। मधुरादि रस और गुर्वादि गुणों का नित्य साहचर्य (साथ रहने का सम्बन्ध) होने से गुर्वादि गुण यद्यपि मधुरादि रस वाले द्रव्यों के हैं तथापि औपचारिक भाषा में वे रसों में आरोपित किये जाते हैं। जिन गुरु आदि द्रव्यों में मधुर आदि रस रहते हैं उनमें गुरु आदि गुण भी साथ ही रहते हैं जैसे कि रसों के गुणकर्म में लिखा गया है कि—मधुररस स्निग्ध, शीत और गुरु है, अम्ल रस लघु, उष्ण और स्निग्ध है इत्यादि इस प्रकार मधुर आदि रस और गुरु आदि गुणों का सहचर भाव होने से मधुर आदि रस और गुरु आदि गुणों का आश्रयाश्रयिभाव न होने पर भी मधुरादि रसों में गुर्वादि गुणों का आरोप करके औपचारिक भाषा में मधुर रस गुरु है, अम्ल लघु है, इत्यादि प्रयोग किया जाता है। जिस प्रकार कोई व्यक्ति उष्ण घृत में स्थित अग्नि से दग्ध होने पर अग्नि दग्ध न कहाते हुए घृत-दग्ध ही कहाता है—किन्तु वस्तुतः घृत तो दाहक नहीं होता। यही आशय आचार्यों ने निम्न पंक्तियों में प्रदर्शित किया है—

(१) गुणा गुणाश्रया नोक्तास्तस्माद्रसगुणान् भिषक्। विद्याद् द्रव्यगुणान् कर्तुरभिप्रायाः पृथग्विधाः ॥ (च० सू० अ० २६) (२) 'तदाश्रयेषु (रसाश्रयेषु) च द्रव्यसंज्ञकेषु पृथिव्यादिषु गुणाः प्रकृतिविकृतिविचारदेशकालवशाद् गुर्वादयो रसेषु साहचर्यादुपचर्यन्ते' (अ० सं० सू० अ० १७) (३) गुर्वादयो गुणा द्रव्ये पृथिव्यादौ रसाश्रये। रसेषु व्यपदिश्यन्ते साहचर्योपचारतः', (अ० हृ० सू० अ० ९) महर्षि कणाद ने भी गुण का लक्षण 'द्रव्याश्रय्यगुणवान्' द्रव्य में रहता हो किन्तु गुणरहित हो ऐसा ही किया है। सुश्रुताचार्य ने भी गुणों को निर्गुण ही माना है—'निर्गुणास्तु गुणाः स्मृताः' (सु० सू० अ० ४०)

मधुररसगुणाः—(१) 'तत्र मधुरो रसः स्निग्धः, शीतो गुरुश्च' (च० सू० अ० २६) (२) 'तत्र मधुरो रसः स्निग्धः शीतो-मृदुर्गुरुश्च' (अ० सं० सू० अ० १८) मधुर रस जल और पृथिवी महाभूतों से बना है अतएव इसमें जल तत्त्व के कारण स्निग्ध और शीत तथा पृथिवी तत्त्व के कारण गुरु गुण होते हैं तथा जल के कारण यह मृदु भी होता है।

अम्लरसगुणाः—(१) 'अम्लो रसः लघुः, उष्णः, स्निग्धश्च' (च० सू० अ० २६) यह जल और अग्नि महाभूतों से बना होने से इसमें जल तत्त्व के कारण स्निग्ध तथा अग्नितत्त्व के कारण उष्ण और लघु गुण होते हैं।

लवणरसगुणाः—(१) 'लवणो रसो नात्यर्थं गुरुः स्निग्ध उष्णश्च' (च० सू० अ० २६)(२) 'लवणो नातिगुरुस्तीक्ष्णोष्णश्च' (अ० सं० सू० १८) लवण रस पृथिवी और अग्नि महाभूतों से बना होने से इसमें पृथिवी तत्त्व के कारण गुरु तथा किञ्चित् स्निग्ध और अग्नितत्त्व के कारण उष्ण गुण होते हैं तथा यह अग्नि के कारण तीक्ष्ण गुण वाला भी होता है।

कटुरसगुणाः—(१) 'कटुको रसो लघुरुष्णो रूक्षश्च' (च० सू० अ० २६) कटुक रस वायु और अग्नि महाभूतों से बना होने से इसमें वायु के कारण रूक्षता और लघुता तथा अग्नि के कारण उष्णता और तीक्ष्णता होती है। तिक्तरसगुणाः—'तिक्तो रसो रूक्षः शीतो लघुश्च' (च० सू० अ० २६) यह वायु और आकाश महाभूतों से निष्पन्न होने से इसमें वायु के कारण रूक्षता और शीतता और आकाश के कारण लघुता गुण होते हैं। कषायरसगुणाः—'कषायो रसो रूक्षः शीतोऽलघुश्च' (च० सू० अ० २६) इस प्रकार व्यवस्थित करने पर गुणों की दृष्टि से रसों के स्निग्ध, रूक्ष, शीत, उष्ण, गुरु और लघु ये ६ वर्ग हो जाते हैं तथा प्रत्येक वर्ग में तीन-तीन रसों का समावेश होता है। स्निग्धवर्ग में मधुर, अम्ल और लवण रस, रूक्षवर्ग में कषाय, कटु और तिक्त, शीतवर्ग में कषाय, मधुर और तिक्त, उष्णवर्ग में लवण, अम्ल और कटु, गुरुवर्ग में मधुर,

कषाय और लवण तथा लघुवर्ग में तिक्त, कटु और अम्ल। एक वर्ग के तीन रसों में भी गुण के तारतम्य की दृष्टि से उत्तम, मध्यम और अवर ये तीन कोटियाँ स्थापित की गई हैं—रौक्ष्यात्कषायो रूक्षाणामुत्तमो मध्यमः कटुः। तिक्तोऽवरस्तथौष्णानामुष्णत्वाल्लवणः परः॥ मध्योऽम्लः कटुकश्चान्त्यः स्निग्धानां मधुरः परः। मध्योऽम्लो लवणश्चान्त्यो रसः स्नेहान्निरुच्यते॥ मध्योत्कृष्टावराः शैत्यात् कषायस्वादुतिक्तकाः। स्वादुर्गुरुत्वादधिकः कषायाल्लवणोऽवरः। अम्लात्कटुस्ततस्तिक्तो लघुत्वादुत्तमोत्तमः। केचिल्लघूनामवरमिच्छन्ति लवणं रसम्। गौरवे लाघवे चैव सोऽवरस्तूभयोरपि॥ (च० सू० अ० २६)

अर्थात्—

	उत्तम	मध्यम	अवर
रूक्ष गुणवाले रसों में	कषाय	कटु	तिक्त
उष्ण " "	लवण	अम्ल	कटु
स्निग्ध " "	मधुर	अम्ल	लवण
शीत " "	कषाय	मधुर	तिक्त
गुरु " "	मधुर	कषाय	लवण
लघु " "	तिक्त	कटु	अम्ल माने गये हैं

वीर्यतो विपाकतश्चाविरुद्धानां रसोपदेशेन गुणोपदेशः, अपवादश्च—'शीतं वीर्येण यद् द्रव्यं मधुरं रसपाकयोः। तयोरम्लं यदुष्णञ्च यद् द्रव्यं कटुकं तयोः॥ तेषां रसोपदेशेन निर्देश्यो गुणसङ्ग्रहः। वीर्यतोऽविपरीतानां पाकतश्चोपदेक्ष्यते। यथा पयो यथा सर्पिर्यथा वा चव्यचित्रकौ। एवमादीनि चान्यानि निर्दिशेद्रसतो भिषक्। जो द्रव्य रस और विपाक दोनों में मधुर होता है वह शीतवीर्य होता है। जो द्रव्य रस और विपाक दोनों में अम्ल होता है वह उष्णवीर्य होता है। जो द्रव्य रस और विपाक दोनों में कटु होता है, वह भी उष्णवीर्य होता है। जिन द्रव्यों का वीर्य और विपाक रस से विपरीत न हो अर्थात् रस के समान ही हो उन द्रव्यों के गुण-कर्म रसों के जो गुण-कर्म विस्तार से कहे गये हैं उनके अनुसार ही जानने चाहिए। जैसे दुग्ध और घी के रस, वीर्य और विपाक समान ही हैं, अर्थात् उनका रस मधुर, विपाक मधुर और वीर्य शीत है। अथवा जैसे चव्य और चित्रक का रस कटु, विपाक कटु और वीर्य उष्ण है. ये और इस प्रकार के अन्य द्रव्य जिनके रस, विपाक और वीर्य एक से हों उनके गुण-कर्म रस से ही जानने चाहिए। तन्त्रकारों ने भी उनके गुण-कर्म का निर्देश रसोपदेश से यह मधुर है, यह अम्ल है, यह कटु है, एतावन्मात्रा से ही किया है किन्तु कुछ द्रव्य उक्त सामान्य नियम के अपवाद हैं—मधुरं किञ्चिदुष्णं स्यात् कषायं तिक्तमेव च। यथा महत्पञ्चमूलं यथाऽब्जानूपमामिषम्॥ लवणं सैन्धवं नोष्णमम्लमामलकं तथा अर्कागुरुगुडूचीनां तिक्तानामुष्णमुच्यते॥ किञ्चिदम्लं हि संग्राहि किञ्चिदम्लं भिनत्ति च। यथा कपित्थं संग्राहि भेदि चामलकं तथा॥ पिप्पली नागरं वृष्यं कटु चावृष्यमुच्यते। कषायः स्तम्भनः शीतः सोऽभयायामतोऽन्यथा। तस्माद्रसोपदेशेन न सर्वं द्रव्यमादिशेत्। दृष्टं तुल्यरसेऽप्येवं द्रव्ये द्रव्ये गुणान्तरम्॥ (च० सू० अ० २६) 'पिप्पली च लशुनोऽपि स्नेहौष्ण्यगौरवैः' (अ० सं० सू० १७) क्योंकि कुछ मधुर, कषाय और तिक्त रस वाले द्रव्य उष्ण वीर्य होते हैं जैसे बृहत्पञ्चमूल कषाय और तिक्त होने पर भी उष्णवीर्य है एवं जल में होने वाले तथा अनूपदेश के प्राणियों का मांस मधुर होने पर भी उष्णवीर्य होता है। सैन्धव लवण होने पर भी उष्णवीर्य नहीं होता है। आँवला अम्ल होने पर भी शीतवीर्य होता है। पिप्पली और लहसुन कटु होने पर भी स्निग्ध और गुरु होते हैं। आक, अगुरु और गिलोय तिक्त होने पर भी उष्णवीर्य हैं। कुछ अम्ल द्रव्य ग्राही हैं जैसे कपित्थ, कुछ अम्लद्रव्य भेदक हैं जैसे आँवले, कटुरस अवृष्य है परन्तु पिप्पली और सोंठ वृष्य हैं। कषायरस स्तम्भक और शीतवीर्य है परन्तु हरीतकी कषाय होने पर भी उष्णवीर्य और भेदक है तथा बृहत्पञ्चमूल कषाय तिक्त होने पर भी उष्ण है।

किन्तु अष्टाङ्गसंग्रहकार ने लिखा है कि जो द्रव्य रस और विपाक दोनों में मधुर तथा शीतवीर्य हों, जो द्रव्य रस और विपाक दोनों में अम्ल तथा उष्णवीर्य हों और जो द्रव्य रस तथा विपाक दोनों में कटु और उष्णवीर्य हों उन द्रव्यों के गुण तथा वातादिदोषों का प्रकोपकत्व और प्रशमनत्व प्रायः उनके रसों से (रसों के गुणों के अनुसार) जानना चाहिए। (अ० सं० सू० अ० १७)

रसगुणकर्माणि—(१) 'तत्र मधुरो रसः शरीरसात्म्याद्रसरुधिरमांसमेदोऽस्थिमज्जौजःशुक्राभिवर्धनः, आयुष्यः, षडिन्द्रियप्रसादनो बलवर्णकरः पित्तविषमारुतघ्नः, तृष्णादाहप्रशमनस्त्वच्यः केश्यः कण्ठ्यो बल्यः प्रीणनो जीवनस्तर्पणो बृंहणः स्थैर्यकरः क्षीणक्षतसन्धानकरः, घ्राणमुखकण्ठौष्ठजिह्वाप्रह्लादनो दाहमूर्च्छाप्रशमनः षट्पदपिपीलिकानामिष्टतमः स्निग्धः शीतो गुरुश्च। (च० सू० अ० २६) (२) तत्र मधुरो रसो रसरक्तमांसमेदोऽस्थिमज्जौजःशुक्रस्तन्यवर्धनः, चक्षुष्यः केश्यो वर्ण्यो बलकृत् सन्धानः, शोणितरसप्रसादनो बालवृद्धक्षतक्षीणहितः, षट्पदपिपीलिकानामिष्टतमः, तृष्णामूर्च्छादाहप्रशमनः, षडिन्द्रियप्रसादनः कृमिकफकरश्चेति' (सु० सू० अ० ४२) (३) मधुरो रसः। आजन्मसात्म्यात् कुरुते धातूनां प्रबलं बलम्॥ बालवृद्धक्षतक्षीणवर्णकेशेन्द्रियौजसाम् प्रशस्तो बृंहणः कण्ठ्यः स्तन्यसन्धानकृद् गुरुः। आयुष्यो जीवनः स्निग्धः पित्तानिलविषापहः॥ (अ० हृ० सू० अ० १०) मधुर रस जन्म से ही मानव को सात्म्य होने से उसके रस-रक्तादि धातुओं तथा ओज का वर्द्धक है अत एव बल्य, जीवन, आयुष्य एवं स्तन्यजनक माना गया है।

अम्लरसगुणकर्माणि—'अम्लो रसो भक्तं रोचयति, अग्निं दीपयति, देहं बृंहयति, ऊर्जयति, मनो बोधयति, इन्द्रियाणि दृढीकरोति, बलं वर्धयति, वातमनुलोमयति, हृदयं तर्पयति, आस्यमास्रावयति, भुक्तमपकर्षयति, क्लेदयति, जरयति, प्रीणयति, लघुरुष्णः स्निग्धश्च' (च० सू० अ० २६) 'अम्लोऽनिलनिबर्हणः, अनुलोमनः, कोष्ठविदाही, रक्तपित्तकृत्, उष्णवीर्यः, शीतस्पर्शः, व्यवायीत्यादि' (अ० सं० सू० अ० १८) अम्लरस रुचिवर्द्धक, अग्निदीपक, मन को उत्तेजित करने वाला, मूढ वात का अनुलोमक, हृद्य, लालास्रावक और तृप्तिकारक है। नागार्जुन ने ऐसे बृंहणीय, बल्य, वृष्य और जीवनीय लिखा है। चरक मत से यह शुक्रनाशक माना गया है।

लवणरसगुणकर्माणि—'लवणो रसः पाचनः क्लेदनो दीपनश्च्यावनश्छेदनो भेदनस्तीक्ष्णः सरो विकासी, अधः (व) संसी, अवकाशकरो वातहरः स्तम्भबन्धसंघातविधमनः सर्वरसप्रत्यनीकभूतः, आस्यमास्रावयति, कफं विष्यन्दयति, मार्गान् विशोधयति, सर्वशरीरावयवान् मृदूकरोति, रोचयत्याहारम्, आहारयोगी,

नात्यर्थं गुरुः, स्निग्ध उष्णश्च' (च० सू० अ० २६) लवण रस दीपन, पाचन, भेदन, रोचन, रक्तकोपक, छेदन, कफनिःसारक, मूत्रल, शुक्रघ्न, धातुनाशक, शैथिल्यकारी है।

कटुरसगुणकर्माणि—'कटुको रसं वक्त्रं शोधयति, अग्निं दीपयति, भुक्तं शोषयति, घ्राणमास्रावयति, चक्षुर्विरेचयति, स्फुटीकरोतीन्द्रियाणि, अलसकश्वयथूपचयोदर्दाभिष्यन्दस्नेहस्वेदक्लेदमलानुपहन्ति, रोचयत्यशनं, कण्डूर्विनाशयति, व्रणानवसादयति, क्रिमीन् हिनस्ति, मांसं विलिखति, शोणितसंघातं भिनत्ति, बन्धांश्छिनत्ति, मार्गान् विवृणोति, श्लेष्माणं शमयति लघुरुष्णो रूक्षश्च' (च० सू० अ० २६) इस प्रकार कटुक रस इन्द्रियोत्तेजक, संज्ञास्थापक, मुखशोधक, दीपन, पाचन, रोचक, ग्राही, हृदयोत्तेजक, कफनाशक, अवृष्य, स्तन्यशोधक, धातुनाशक, कर्षक, लेखक और विषघ्न है। सुश्रुताचार्य ने इसे दुग्ध, शुक्र और मेद (चर्बी) का नाशक भी लिखा है। अष्टाङ्गसंग्रहकार ने इसे स्नेह, कफ और अन्न का शोषक लिखा है।

तिक्तरसगुणकर्माणि—'तिक्तो रसः स्वयमरोचिष्णुरप्यरोचकघ्नः, विषघ्नः, क्रिमिघ्नो मूर्च्छादाहकण्डूकुष्ठतृष्णाप्रशमनः, त्वङ्मांसयोः स्थिरीकरणो ज्वरघ्नो, दीपनः पाचनः स्तन्यशोधनो लेखनः, क्लेदमेदोवसामज्जलसीकापूयस्वेदमूत्रपुरीषपित्तश्लेष्मोपशोषणो रूक्षः शीतो लघुश्च' (च० सू० अ० २६) यह रस रोचक, दीपन, पाचन है तथा तृष्णानाशक और पुरीष का शोषक है एवं कफघ्न, अवृष्य व लेखन है तथा क्लेद, मेद, वसा, मज्जा, लसीका, पूय और विष का नाशक है एवं स्वेद, कण्डू, कुष्ठ, ज्वर और दाह को भी नष्ट करता है।

कषायरसगुणकर्माणि—'कषायो रसः संशमनः, संग्राही, सन्धानकरः, पीडनो रोपणः शोषणः स्तम्भनः श्लेष्मरक्तपित्तप्रशमनः शरीरक्लेदस्योपयोक्ता, रूक्षः, शीतो गुरुश्च'(च०सू०अ०२६) कषायो बलासं सपित्तं सरक्तं निहन्त्याशु बध्नाति वर्चोऽतिरूक्षः। गुरुस्त्वक्सवर्णत्वकृत् क्लेदशोषी हिमः पीडनो रोपणो लेखनश्च ॥ (अ० सं० सू० अ० १८) कषायरस स्तम्भक, सन्धानीय, कफघ्न, शोषक, ग्राही, रोपण, सवर्णीकरण तथा मूत्रसंग्राही है। अब इन रसों का धातुओं, मलों तथा दोषों पर जो कर्म या प्रभाव होता है उसे संक्षेप में लिखते हैं—

धातु कर्म

रस	धातु कर्म
(१) मधुर	सर्वधातुवर्धन, बल्य, जीवन, आयुष्य, स्तन्यवर्धन।
(२) अम्ल	बृंहण, बल्य किन्तु शुक्रनाशन।
(३) लवण	धातुनाशन, दौर्बल्यकर, अवृष्य, शैथिल्यकर।
(४) कटु	धातुनाशन, लेखन, अवृष्य।
(५) तिक्त	धातुनाशन, अवृष्य, मेदो-वसा-मज्जा-लसीकाशोषक
(६) कषाय	सर्वधातुशोषण, लेखन।

मल कर्म

रस	मल कर्म
(१) मधुराम्ललवण	सृष्टविण्मूत्रमारुत
(२) कटुतिक्तकषाय	बद्धविण्मूत्रमारुत

तिक्तः कटुः कषायश्च रूक्षा बद्धमलास्तथा। पट्वम्लमधुराः स्निग्धाः सृष्टविण्मूत्रमारुताः ॥ (अ० हृ० सू० अ० १०)

दोषकर्म—

रसों का शारीर दोषों पर कर्म सामान्य-विशेष के नियमानुसार ही होता है, अर्थात् महास्रोत में रसदोष-सन्निपात होने पर रस अपने समान गुण-दोषों को बढ़ाते हैं तथा विपरीत गुण-दोषों को शान्त करते हैं—रसदोषसन्निपाते तु ये रसा यैर्दोषैः समानगुणाः समानगुणभूयिष्ठा वा भवन्ति ते तानभिवर्धयन्ति, विपरीतगुणा विपरीतगुणभूयिष्ठा वा शमयन्त्यभ्यस्यमानाः' (च० वि० अ० १) (२) 'त एते रसाः स्वयोनिवर्धना अन्ययोनिप्रशमनाश्च' (सु०. सू० अ० ४२) (३) 'स्वयोनेरागमाद् विवृद्धिर्दोषधातुमलानां क्षयः प्रतिपक्षस्यागमात्' (र० वै० सू०)

मधुर रस—यह जल और पृथ्वी महाभूतों से निष्पन्न है तथा कफ दोष भी पृथिवी और जल से निष्पन्न है अतः कारण की दृष्टि से दोनों समान हैं तथा दोनों में माधुर्य, स्नेह, गौरव, शैत्य, मार्दव और पैच्छिल्य गुण भी समान हैं अतः मधुर रस कफवर्धक है तथा इन्हीं गुणों के कारण वात और पित्त का शमन करता है। 'माधुर्यस्नेहगौरवशैत्यपैच्छिल्यगुणलक्षणः श्लेष्मा तस्य समानयोनिर्मधुरो रसः सोऽस्य माधुर्यान्माधुर्यं वर्धयति, स्नेहात् स्नेहं, गौरवाद्गौरवं, शैत्याच्छैत्यं, पैच्छिल्यात्पैच्छिल्यमिति' (सु० सू० अ० ४२) (२) 'माधुर्यस्नेहगौरवपैच्छिल्यमार्दवशैत्यैः श्लेष्माणं वर्धयति मधुरः (र० वै० ३ सू० अ० ६२) अम्लरस—यह पृथिवी और अग्नि महाभूतों से निष्पन्न है तथा स्निग्ध, गुरु, तीक्ष्ण एवं उष्ण गुणों से युक्त है। पित्त दोष भी अग्निभूत की प्रधानता वाला है एवं तीक्ष्ण और उष्ण गुणों वाला है अतः दोनों समानगुणधर्मी होने से पित्त को इसी प्रकार अम्ल रस में स्निग्ध और गुरुगुण होने से कफ को भी कुपित करता है किन्तु वात दोष रूक्ष, लघु एवं शीत होने के कारण विपरीत गुण वाला है अतः यह वात का शमन करता है—'पित्तं भृशविदाहित्वादुष्णत्वात्तीक्ष्णत्वाच्च विदाहयति कोपयति चाम्लः' (र० वै० सू०६८) 'कोपयति क्लेदयति चैनमम्लः, औष्ण्यात्तैक्ष्ण्यात् गौरवात् स्नेहाच्च' (र० वै सू० ६५)। लवणरस—यह जल और अग्नि महाभूतों से निष्पन्न है तथा स्निग्ध, उष्ण एवं गुरु गुणों से युक्त है अतः अम्ल रस के समान यह भी कफप्रकोपक, पित्तप्रकोपक तथा वातशामक है—'विष्यन्दयति चैनं लवणः' (र० वै० सू० ६६)। कटुरस—यह वायु और अग्नि महाभूतों से निष्पन्न है तथा रूक्ष, उष्ण एवं लघु गुणों से युक्त है तथा इसमें तीक्ष्ण और विशद गुण भी है। पित्त के गुणों से समानता होने से यह पित्त का वर्धक है तथा कफ के गुणों से विपरीत होने से कफ का शामक एवं रूक्ष, लघु एवं कटुत्व गुणों के कारण वायु के समान-गुण-भूयिष्ठ होने से वातवर्धक है—'औष्ण्यातैक्ष्ण्यरौक्ष्यलाघववैशद्यगुणलक्षणं पित्तं, तस्य समानयोनिः कटुको रसः, सोऽस्य औष्ण्यादौष्ण्यं वर्धयति, तैक्ष्ण्यात्तैक्ष्ण्यं, रौक्ष्याद्रौक्ष्यं, लाघवाल्लाघवं, वैशद्याद् वैशद्यमिति' (सु० सू० अ० ४२) तिक्तरस—यह वायु और पृथिवी महाभूतों से निष्पन्न है तथा रूक्ष, शीत और लघु गुणों से युक्त है एवं मृदु तथा विशद गुण भी इसमें है। इन गुणों से वायु के समान गुण होने से यह वायु को बढ़ाता है—शैत्यरौक्ष्यवैशद्यलाघवमार्दवैरेनं कोपयति तिक्तः' (र० वै० सू० ७१) यह रस पित्त तथा

कफ के गुणों से विपरीत होने से पित्त तथा कफ को शान्त करता है। कषायरस—यह वायु और पृथिवी महाभूतों से निष्पन्न है और रूक्ष, शीत तथा लघु गुणों से युक्त है तथा विशद और विष्टम्भी गुण भी इसमें होते हैं। इन गुणों से वायु के समान-गुणभूयिष्ठ होने के कारण यह वातवर्द्धक है। पित्त के विपरीत-गुणभूयिष्ठ होने से यह पित्तशामक है तथा ऐसे ही कफ के विपरीत गुण भूयिष्ठ होने से उसका भी शमन करता है—'तत्र शैत्यरौक्ष्यलाघववैशद्यवैष्टम्भ्यगुणलक्षणो वायुस्तस्य समानयोनिः कषायो रसः, सोऽस्य शैत्याच्छैत्यं वर्धयति, रौक्ष्याद्रौक्ष्यं, लाघवाल्लाघवं, वैशद्याद् वैशद्यं, वैष्टम्भ्याद् वैष्टम्भ्यमिति' (सु० सू० अ० ४२) इस प्रकार वातशामक रस मधुर, अम्ल और लवण हैं। पित्तशामक रस कषाय, तिक्त और मधुर हैं। कफशामक रस कटु, तिक्त और कषाय हैं। स्वाद्वम्ललवणा वायुं कषायस्वादुतिक्तकाः। जयन्ति पित्तं श्लेष्माणं कषायकटुतिक्तकाः॥ (च० सू० अ० १) तत्राद्या मारुतं घ्नन्ति त्रयस्तिक्तादयः कफम्। कषायतिक्तमधुराः पित्तमन्ये तु कुर्वते॥ (अ० सं० सू० अ० १) वातकोपक रस कटु, तिक्त और कषाय हैं। पित्तकोपक रस कटु, अम्ल और लवण हैं। कफकोपक रस मधुर, अम्ल और लवण हैं—कट्वम्ललवणाः पित्तं स्वाद्वम्ललवणाः कफम्। कटुतिक्तकषायाश्च कोपयन्ति समीरणम्॥ (च० सू० अ० १) अन्यच्च—'तत्र दोषमेकैकं त्रयस्त्रयो रसा जनयन्ति, त्रयस्त्रयश्चोपशमयन्ति, तद्यथा—कटुतिक्तकषाया वातं जनयन्ति, मधुराम्ललवणास्त्वेनं शमयन्ति। कट्वम्ललवणाः पित्तं जनयन्ति, मधुरतिक्तकषायास्त्वेनं शमयन्ति। मधुराम्ललवणाः श्लेष्माणं जनयन्ति, कटुतिक्तकषायास्त्वेनं शमयन्ति' (च० वि० अ० १)

अपवाद—(१) प्रायः मधुर रस यद्यपि कफवर्धक है किन्तु शहद, मिश्री, जाङ्गल मांस, पुराना चावल, यव, गेहूँ और मुद्ग कफ नहीं बढ़ाते—'तत्र प्रायो मधुरं श्लेष्मलमन्यत्र पुराणशालियवगोधूममुद्गमधुशर्कराजाङ्गलमांसात्' (२) अम्लरस पित्तवर्द्धक है किन्तु अनार और आमलक नहीं—'प्रायोऽम्लं पित्तलमन्यत्र दाडिमामलकात्' (३) लवणरस पित्तवर्धक तथा नेत्र के लिये हानिकारक है किन्तु सैन्धव को छोड़कर। 'प्रायो लवणं पित्तलमचक्षुष्यमन्यत्र सैन्धवात्' (४) कटुरस वातवर्धक तथा शुक्रनाशक है किन्तु शुण्ठी, पिप्पली और रसोन इसके अपवाद हैं—'प्रायस्तिक्तकटुकं वातलमवृष्यञ्चान्यत्रामृतापटोलीनागरपिप्पलीलशुनात्' (५) तिक्तरस वातवर्धक और शुक्रनाशक है किन्तु वेत्राग्र, गुडूची और पटोलपत्र को छोड़कर। (६) कषायरस शीत और स्तम्भन है किन्तु हरीतकी इसके विपरीत है—'कषायं शीतं स्तम्भनञ्चान्यत्र हरीतक्याः' (अ० सं० सू० अ० १८)

इस प्रकार हमने रस शब्द के विमर्श में रस की व्याख्या, रस शब्द से यहाँ ग्राह्य अर्थ तथा उसके भेद, रसके लक्षण आदि अनेक रसविषयक उपयोगी विषयों का वर्णन कर दिया है जिससे इस विज्ञानयुग के जिज्ञासु पाठक की ज्ञानपिपासा की किञ्चित् तृप्ति हो सके। यह अध्याय रसभेदविकल्पना-विषयक है अर्थात् रसभेद के सूक्ष्म विचार अंशांश-कल्पना को रसभेद-विकल्प कहते हैं। चिकित्सा तथा स्वस्थवृत्त में रसों का प्रयोग दोषों के अनुसार होता है क्योंकि दोषसाम्य ही आयुर्वेद का लक्ष्य या आरोग्यता है (रोगस्तु दोषवैषम्यं दोषसाम्यमरोगता)

दोषाणां पञ्चदशधा प्रसरोऽभिहितस्तु यः।
त्रिषष्ट्या रसभेदानां तत्प्रयोजनमुच्यते॥ ३॥

रसभेदकथने प्रयोजनम्—पूर्व में सुश्रुत के व्रणप्रश्नाध्याय प्रकरण में दोषों का पन्द्रह प्रकार का जो प्रसर कहा गया है, अर्थात् पञ्चदश शब्द उपलक्षण मात्र होने से इसका तात्पर्य तिरसठ प्रकार के दोष होते हैं, और उन दोषों के तिरसठ भेद होने से उनके उपयोग के लिये रसों के भी त्रिषष्टि (६३) भेद मान लिये गये हैं॥ ३॥

विमर्शः—अंशांश-कल्पना से दोषों के ६३ भेद किये गये हैं जो धातु और मलों के संयोग से असंख्य हो जाते हैं—'मिश्रा धातुमलैर्दोषा यान्त्यसंख्येयतां पुनः' (सु० उ० अ० ६६) उसी प्रकार रसों के भी ६३ भेद किये गये हैं जो रस, अनुरस आदि की कल्पना से असंख्य हो जाते हैं—'त्रिषष्टिः स्यात्त्वसंख्येया रसानुरसकल्पनात्' (च० सू० अ० २६)। इस प्रकार रस-भेदविकल्प दोषभेद-विकल्प के बिल्कुल समानान्तर है और इसका प्रयोजन यही है कि जिस प्रकार की स्थिति दोष की रहे और दोष का जो प्रकार विद्यमान रहे वहां रस के उसी प्रकार का प्रयोग किया जाय जैसा कि सुश्रुताचार्य ने कहा है—एषा त्रिषष्टिः संख्याता रसानां रसचिन्तकैः। दोषभेदत्रिषष्ट्यान्तु प्रयोक्तव्या विचक्षणैः॥ इस दोषभेद विकल्पना से रोग का ठीक ज्ञान कर रसभेदविकल्पना के आधार से रोग की चिकित्सा करनी चाहिए—तस्मात्प्रसङ्गं संयम्य दोषभेदविकल्पनैः। रोगं विदित्वोपचरेद्रसभेदैर्यथेरितैः॥ (सु० उ० अ० ६६) जैसा कि आचार्य वाग्भट ने भी कहा है कि सभी रसों का प्रयोग दोष और औषध के अनुसार करना चाहिये। जैसे केवल वायु में अम्ल, पित्तयुक्त वात में अम्ल-तिक्त तथा कफयुक्त वात में अम्ल-कटु रस का प्रयोग करें। इसी प्रकार विरेचन औषध एकरस की अहृद्य होती है अतः उस में दो तीन रसों को मिला कर प्रयोग किया जाता है—दोषभेषजवशादुपयोज्याः। (अ० हृ० सू० अ० १०) दोषवशाद्भेषजवशाद्वा सर्वेऽपि रसा उपयोज्या औपयोगिका भवन्ति। दोषवशाद्यथा—केवलवायावम्लः, पित्तयुक्ते अम्लतिक्तौ, श्लेष्मयुक्ते अम्लकटुकावित्यादि। भेषजवशाद्यथा—विरेचनौषधमेकरसमहृद्यं द्वित्रिरसादि कार्यम्। (हे०) चरकाचार्य—ने भी दोष, औषध तथा रोगों के अनुसार कहीं एकरस और कहीं संयुक्त रसों का प्रयोग करना लिखा है—क्वचिदेको रसः कल्प्यः संयुक्ताश्च रसाः क्वचित्। दोषौषधादीन् सञ्चिन्त्य भिषजा सिद्धिमिच्छता॥ द्रव्याणि द्विरसादीनि संयुक्तांश्च रसान् बुधाः। रसानेकैकशो वाऽपि कल्पयन्ति गदान् प्रति॥ (च० सू० अ० २६)

अविदग्धा विदग्धाश्च भिद्यन्ते ते त्रिषष्टिधा।
रसभेदत्रिषष्टिन्तु वीक्ष्य वीक्ष्यावचारयेत्॥ ४॥

कीदृशा रसास्त्रिषष्टिभेदान् यान्ति—अविदग्ध अर्थात् असंयुक्त या एकाकी रस और विदग्ध अर्थात् संयोग से समवाय से मिले हुए रस तिरसठ प्रकार के भेद को प्राप्त

होते हैं। दोषों के भेदों का अवलोकन या विचार करके रसों के इन तिरसठ भेदों का प्रयोग करना चाहिए ॥ ४ ॥

विमर्शः—अविदग्धा अन्येन असंयुक्ता एकाकिन इत्यर्थः। धातूनामनेकार्थकत्वेनात्र विदग्धशब्दस्य संयुक्तार्थकत्वात्। विदग्धाः संयुक्ताः, संयोगतः समवायतश्च संयुक्ता रसान्तरसंयोगाद्भिद्यन्ते, एकैकेन सहानुगमनाद्भेदं यान्ति। वीक्ष्य वीक्ष्य—दोषभेदविकल्पे वक्ष्यमाणं तं तं दोषभेदं पौनःपुन्येन विमृश्य, रसभेदत्रिषष्टिं= त्रिषष्टिधा भिन्नं तं तं रसम्। अवचारयेत् = प्रयोजयेदित्यर्थः। षड् रसों का भेद द्रव्य, देश एवं काल के प्रभाव से होता है। द्रव्य के पाञ्चभौतिक संघटन की विविधता के अनुसार उस में तदनुसार रस का भी निष्पादन होता है। देशभेद से एक ही द्रव्य में अनेक रस उत्पन्न होते हैं। जैसे अन्य प्रदेशों की अपेक्षा हिमालय प्रदेश में द्राक्षा और दाडिम मधुर होते हैं। कालभेद से भी रसभेदों की उत्पत्ति होती है जैसे आम्रफल बाल्यावस्था में कषाय, तरुणावस्था में अम्ल एवं प्रौढावस्था में मधुर होता है। इसी प्रकार हेमन्त में औषधियां मधुर और वर्षा में अम्ल हो जाती हैं—'भेदश्चैषां त्रिषष्टित्रिषविकल्पो द्रव्यदेशकालप्रभावाद् भवति' (च० सू० अ० २६) 'तत्र द्रव्यप्रभावाद्यथा—सोमगुणातिरेकान्मधुरइत्यादि। देशप्रभावाद्यथा—हिमवति द्राक्षादाडिमादीनि मधुराणि भवन्ति, अन्यत्राम्लानीत्यादि। कालप्रभावाद्यथा—बालाम्रं सकषायं, तरुणमम्लं, पक्वं मधुरं तथा हेमन्ते ओषध्यो मधुरा, वर्षास्वम्ला इत्यादि। अग्निसंयोगादयो येऽन्ये, रसहेतवस्तेऽपि काले द्रव्ये वाऽन्तर्भावनीयाः ? (च० द०) असंयुक्त तथा संयुक्त प्रकार से रसों के तिरसठ भेद होते हैं उन में मधुरादि ६ रसों के परस्पर दो-दो, तीन-तीन, चार-चार, पांच-पांच और ६ के संसर्ग से ५७ भेद तथा असंयुक्त स्वरूप में ६, इस प्रकार तिरसठ भेद होते हैं—

द्विक रससंयोग से	१५
त्रिक रससंयोग से	२०
चतुष्क रससंयोग से	१५
पञ्च रससयोग से	६
छ रसों के संयोग से	१
असंयुक्तरसों के योग से	६
	६३ कुल

इन का विस्तृत वर्णन सोदाहरण नीचे दिया जाता है—

पञ्चदश द्विकप्रकाराः—

संख्या रस उदाहरण

१ मधुराम्ल—बदर, कपित्थफल।
२ मधुर लवण—उष्ट्रीदुग्ध, भेड़ का मांस।
३ मधुर कटुक—कुत्ते, शृगाल आदि का मांस।
४ मधुर तिक्त—गन्धाविरोजा, राल आदि।
५ मधुर कषाय—तिलतैल, धामनफल।
६ अम्ल लवण—ऊषक (क्षारमृत्तिका)।
७ अम्ल कटु—चुक्र (शुक्त)।
८ अम्ल तिक्त—सुरा
९ अम्ल कषाय—हस्तिनीदधि, शुकमांस।
१० लवण कटु—गोमूत्र, सज्जीखार।
११ लवण तिक्त—रांगा, सीसा।
१२ लवण कषाय—समुद्रफेन।
१३ कटु तिक्त—कर्पूर, जायफल।
१४ कटु कषाय—भल्लातक, हरताल।
१५ तिक्त कषाय—हस्तिनीघृत।

रसत्रितये विंशतिभेदाः—

१६ मधुराम्ल लवण—हस्तिमांस।
१७ मधुराम्लकटुक—शल्यकमांस।
१८ मधुराम्लतिक्त—गोधूमसुरा।
१९ मधुराम्लकषाय—मस्तु, तक्र।
२० मधुर लवण कटु—जंगली कबूतर-मांस।
२१ मधुर लवण तिक्त—घोंघा का मांस।
२२ मधुर लवण कषाय—गुडसंयुक्त कमलकंद।
२३ मधुर कटुतिक्त—केतकीफल, सूखा धनिया।
२४ मधुर कटुकषाय—गोधामांस, एरण्ड तैल।
२५ मधुर तिक्तकषाय—गुडूची, वानरमांस, तुवरक तैल।
२६ अम्ल लवण कटु—सौष्य, शिलाजतु।
२७ अम्ल, लवण, तिक्त—हस्तिमूत्र।
२८ अम्ल लवण कषाय—सांभर लवण से युक्त हस्तिनीदधि।
२९ अम्ल कटुतिक्त—मरिचयुक्त सुरा।
३० अम्ल कटुकषाय—अम्लवेतस।
३१ अम्लतिक्तकषाय—शुष्क मांसयुक्त सुरा।
३२ लवण कटुतिक्त—भेड़ का मूत्र।
३३ लवण कटुकषाय—सांभर लवण युक्त भल्लातक।
३४ लवण तिक्तकषाय—समुद्रफेन।
३५ कटुतिक्त कषाय—देवदारु तैल, कृष्ण अगुरु।

चतुष्करससंयोगेन पञ्चदश रसभेदाः—

३६ मधुराम्ल लवणकटु—गोमूत्र युक्त शिलाजतु।
३७ मधुराम्ललवणतिक्त—गोमूत्र तथा एक खुर वाले पशु (घोड़ी) का दुग्ध।
३८ मधुराम्ललवणकषाय—सैन्धवयुक्त तक्र।
३९ मधुराम्लकटुतिक्त—लहसुन युक्त सुरा।
४० मधुराम्लकटुकषाय—कांजीयुक्त एरण्डतैल, खदिरयुक्त शिलाजतु।
४१ मधुराम्लतिक्तकषाय—तुरञ्जबीन मिला गूलर का फल।
४२ मधुर लवण तिक्तकटु—बैंगन का फल।
४३ मधुर लवण कटुकषाय—गोमूत्रयुक्त तिलतैल।
४४ मधुर कटु तिक्तकषाय—तिल-गुग्गुलु।
४५ मधुर लवण तिक्तकषाय—समुद्रफेन, शर्करा, चित्रकयुक्त बदरादि।
४६ अम्ल लवण कटुतिक्त—सौंचलमिश्रित हस्तिनीदधिजन्य सुरा।
४७ अम्ललवण कटुकषाय—सौंचल मिला हुआ हस्तिनीदधि।
४८ अम्ललवण तिक्तकषाय—रोहनमक मिश्रित शुकमांस।
४९ अम्लकटुतिक्तकषाय—बाल मूलक, हस्तिनी-दधि।
५० लवण कटु तिक्तकषाय—सांभर लवण मिश्रित कच्चा बिल्वफल।

पञ्चरससंयोगेन षड् भेदाः—

५१ मधुराम्ल लवण कटुतिक्त—कच्चे करोंदे के साथ मिश्रित भर्जित बैंगन।

५२ मधुराम्ल लवण तिक्तकषाय—औद्भिद लवण युक्त तक्र।
५३ मधुराम्ल लवण कटुकषाय—त्रिकटु और यवक्षार से युक्त तक्र।
५४ मधुराम्लकटुतिक्तकषाय—हरीतकी, आमलकी।
५५ मधुर लवण कटुतिक्तकषाय—लहसुन (रसोन)।
५६ अम्ल लवण कटुतिक्तकषाय—भल्लातक तथा रौप्यशिलाजतु मिश्रित नीम।

षड्रससंयोगेनैको भेदः—
५७ मधुराम्ल लवण कटुतिक्तकषाय—कृष्णहरिणमांस।

एकैकरसभेदेन षड्भेदाः—
५८ मधुर—सन्तानिका (मलाई), गोदुग्ध, द्राक्षा।
५९ अम्ल—कच्चा करौंदा।
६० लवण—सैन्धवादिक।
६१ कटु—पिप्पली, चव्य, चित्रक।
६२ तिक्त—पर्पट, किराततिक्त, निम्ब, करेला, पटोल, गिलोय।
६३ कषाय—पद्म, रोध्र, न्यग्रोधाङ्कुर।

एकैकेनानुगमनं भागशो यदुदीरितम्।
दोषाणां, तत्र मतिमांस्त्रिषष्टिं तु प्रयोजयेत्॥ ५॥

दोषानुसारेण त्रिषष्टिरसोपयोगः—अंशांश कल्पना की विधि से रसों का एक-एक के साथ अनुगमन (संयोग) होने से उन रसों के तिरसठ भेद कहे गये हैं अतएव बुद्धिमान् वैद्य रसों की इस त्रिषष्टि कल्पना को दोषभेदों के साथ प्रयुक्त करे। अर्थात् जिस स्थान पर जितनी संख्या में दोष प्रकुपित हों उस स्थान पर उन दोषों को शान्त करने वाले उतने ही संयुक्त रसों का प्रयोग करना चाहिये॥ ५॥

यथाक्रमप्रवृत्तानां द्विकेषु मधुरो रसः।
पञ्चानुक्रमते योगानम्लश्चतुर एव च॥ ६॥
त्रींश्चानुगच्छति रसो लवणः कटुको द्वयम्।
तिक्तः कषायमन्वेति ते द्विका दश पञ्च च॥ ७॥

यद्यथा—मधुराम्लः १, मधुरलवणः २, मधुरकटुकः ३, मधुरतिक्तः ४, मधुरकषायः ५, एते पञ्चानुक्रान्ता मधुरेण। अम्ललवणः १, अम्लकटुकः २, अम्लतिक्तः ३, अम्लकषायः ४, एते चत्वारोऽनुक्रान्ता अम्लेन। लवणकटुकः १, लवणतिक्तः २, लवणकषायः ३, एते त्रयोऽनुक्रान्ता लवणेन। कटुतिक्तः १, कटुकषायः २, द्वावेतावनुक्रान्तौ कटुकेन। तिक्तकषायः १, एक एवानुक्रान्तस्तिक्तेन॥ एवमेते पञ्चदश द्विकसंयोगा व्याख्याताः॥ ८॥

द्विरससंयोगेन पञ्चदशभेदाः—यथाक्रम अर्थात् मधुरादि क्रम से प्रवृत्त (संयुक्त) हुये रसों में सर्वप्रथम मधुररस पाँच रसों के साथ संयुक्त होता है, अम्लरस चार रसों के साथ, लवण रस तीन रसों के साथ, कटुक रस दो रसों के साथ और तिक्त रस केवल एक कषाय रस के साथ मिलता है। इस प्रकार दो-दो रसों के संयोग होने से पन्द्रह प्रकार बनते हैं। जैसे (१) मधुराम्ल, (२) मधुरलवण, (३) मधुरकटुक, (४) मधुरतिक्त और (५) मधुरकषाय। इस प्रकार यह मधुर रस अम्लादि पाँच रसों के साथ मिलने से पाँच संयोग बनाता है। वैसे ही (१) अम्ललवण, (२) अम्लकटुक (३) अम्लतिक्त और (४) अम्लकषाय यह अम्लरस लवणादि चार रसों के साथ मिलने से चार संयोग बनाता है। इसी प्रकार (१) लवणकटुक, (२) लवणतिक्त और (३) लवणकषाय यह लवण रस कटुकादि तीन रसों के साथ मिलने से त्रिकसंयोग बनाता है। (१) कटुतिक्त और (२) कटुकषाय। यह कटु रस तिक्त और कषाय रस के साथ मिलने से द्विकयोग बनाता है। अब केवल एक ही तिक्त रस कषाय के साथ मिलने से एक योग बनता है। इस प्रकार ये दो-दो रसों के संयोग पन्द्रह हुए हैं॥ ६-८॥

त्रिकान् वक्ष्यामः—

आदौ प्रयुज्यमानस्तु मधुरो दश गच्छति।
षडम्लो लवणस्तस्मादर्द्धमेकं तथा कटुः॥ ९॥

तद्यथा—मधुराम्ललवणः १, मधुराम्लकटुकः २, मधुराम्लतिक्तः ३, मधुराम्लकषायः ४, मधुरलवणकटुकः ५, मधुरलवणतिक्तः ६, मधुरलवणकषायः ७, मधुरकटुकतिक्तः ८, मधुरकटुकषायः ९, मधुरतिक्तकषायः १०, एवमेषां दशानां त्रिकसंयोगानामादौ मधुरः प्रयुज्यते। अम्ललवणकटुकः १, अम्ललवणतिक्तः २, अम्ललवणकषायः ३, अम्लकटुतिक्तः ४, अम्लकटुकषायः ५, अम्लतिक्तकषायः ६, एवमेषां षण्णामादावम्लः प्रयुज्यते। लवणकटुतिक्तः १, लवणकटुकषायः २, लवणतिक्तकषायः ३, एवमेषां त्रयाणामादौ लवणः प्रयुज्यते। कटुतिक्तकषायः १, एवमेकस्यादौ कटुकः प्रयुज्यते। एवमेते त्रिकसंयोगा विंशतिर्व्याख्याताः॥ १०॥

त्रिरससंयोगेन विंशतिप्रकाराः—मधुर रस को सर्वप्रथम रख कर उसके साथ अन्य दो दो रस मिलाने से दस भेद होते हैं तथा अम्ल रस को सर्व प्रथम रखकर उसके साथ अन्य दो-दो रस मिलाने से ६ भेद होते हैं। इसी प्रकार लवण रस को सर्व प्रथम रख कर उसके साथ अन्य दो-दो रस मिलाने से तीन भेद होते हैं। उसी प्रकार कटु रस को सर्व प्रथम रख कर उसके साथ तिक्त और कषाय ये दो रस मिलाने से एक भेद बनता है। इस प्रकार तीन-तीन रसों के संयुक्त होने से बीस प्रकार बनते हैं। जैसे (१) मधुराम्ललवण, (२) मधुराम्लकटुक, (३) मधुराम्लतिक्त, (४) मधुराम्लकषाय (५) मधुरलवणकटुक, (६) मधुरलवणतिक्त, (७) मधुरलवणकषाय, (८) मधुरकटुकतिक्त, (९) मधुरकटुककषाय, और (१०) मधुरतिक्तकषाय। इस प्रकार त्रिकरसों के योग से बने हुए इन दस भेदों में मधुर रस इन सबों में प्रथम प्रयुक्त होता है। अम्लरस से ६ भेद—(१) अम्ललवणकटुक, (२) अम्ललवणतिक्त, (३) अम्ललवणकषाय, (४) अम्लकटुतिक्त, (५) अम्लकटुकषाय और (६) अम्लतिक्तकषाय, इस तरह इन ६ प्रकारों में प्रथम अम्ल शब्द का प्रयोग होता है। लवण रस से ३ भेद—(१) लवणकटुतिक्त, (२) लवणकटुकषाय और (३) लवणतिक्तकषाय, इस तरह तीन भेदों में प्रथम लवण शब्द प्रयुक्त होता है। कटुरस से १ ही भेद—(१) कटु, तिक्त

और कषाय, इस तरह इस एक भेद में प्रथम कटु शब्द प्रयुक्त हुआ है। इस प्रकार इन तीन-तीन रसों के संयोग से बने हुए बीस भेदों का वर्णन हो गया है ॥ ९-१० ॥

चतुष्कान् वक्ष्यामः—

चतुष्करससंयोगान्मधुरो दश गच्छति।
चतुरोऽम्लोऽनुगच्छेच्च लवणस्त्वेकमेव तु ॥ ११ ॥

मधुराम्ललवणकटुकः १, मधुराम्ललवणतिक्तः २, मधुराम्ललवणकषायः ३, मधुराम्लकटुकतिक्तः ४, मधुराम्लकटुकषायः ५, मधुराम्लतिक्तकषायः ६, मधुरलवणकटुकतिक्तः ७, मधुरलवणकटुकषायः ८, मधुरलवणतिक्तकषायः ९, मधुरकटुतिक्तकषायः १०, एवमेषां दशानामादौ मधुरः प्रयुज्यते। अम्ललवणकटुतिक्तः १, अम्ललवणकटुकषायः २, अम्ललवणतिक्तकषायः ३, अम्लकटुतिक्तकषायः ४, एवमेषां चतुर्णामादावम्लः प्रयुज्यते। लवणकटुतिक्तकषायः १, एवमेकस्यादौ लवणः प्रयुज्यते, एवमेते चतुष्करससंयोगाः पञ्चदश कीर्तिताः॥

चतुष्करससंयोगेन पञ्चदशप्रकाराः—चार रसों के संयोग में मधुर रस सर्व प्रथम प्रयुक्त होकर दस भेद बनाता है। अम्लरस चार योग बनाता है और लवण रस केवल एक योग बनाता है। जैसे (१) मधुराम्ल लवणकटुक, (२) मधुराम्ल लवणतिक्त, (३) मधुराम्ललवणकषाय, (४) मधुराम्लकटुकतिक्त, (५) मधुराम्लकटुकषाय, (६) मधुराम्लतिक्तकषाय, (७) मधुरलवणकटुतिक्त, (८) मधुरलवणकटुकषाय, (९) मधुरलवणतिक्तकषाय, (१०) मधुरकटुतिक्तकषाय। इस तरह इन दस भेदों के प्रथम मधुर रस का प्रयोग हुआ है। अम्लरसेन चत्वारो योगाः—(१) अम्ललवणकटुतिक्त, (२) अम्ललवणकटुकषाय, (३) अम्ललवणतिक्तकषाय, (४) अम्लकटुतिक्तकषाय। इस तरह इन चार भेदों के पूर्व अम्लरस का प्रयोग हुआ है। लवणरसेनैको योगः—(१) लवणकटुतिक्तकषाय, इस तरह इस एक योग के आदि में लवण शब्द प्रयुक्त हुआ है। इस तरह चार-चार रसों के संयोग से ये पन्द्रह योग कह दिये गये हैं ॥ ११-१२ ॥

पञ्चकान् वक्ष्यामः—

पञ्चकान् पञ्च मधुर एकमम्लस्तु गच्छति ॥ १३ ॥

मधुराम्ललवणकटुतिक्तः १, मधुराम्ललवणकटुकषायः, मधुराम्ललवणतिक्तकषायः ३, मधुराम्लकटुतिक्तकषायः ४, मधुरलवणकटुतिक्तकषायः ५, एवमेषां पञ्चानामादौ मधुरः प्रयुज्यते। अम्ललवणकटुतिक्तकषायः, १, एवमेकस्यादावम्लः। एवमेते षट् पञ्चकसंयोगा व्याख्याताः ॥ १४ ॥

पञ्चरसयोगेन षट्प्रकाराः—मधुर रस अन्य चार रसों के साथ संयुक्त होकर केवल एक भेद बनाता है जैसे (१) मधुराम्ललवणकटुतिक्त (२) मधुराम्ललवणकटुकषाय, (३) मधुराम्ललवणतिक्तकषाय, (४) मधुराम्लकटुतिक्तकषाय, (५) मधुर लवणकटुतिक्तकषाय। इस तरह इन पाँच भेदों के आदि में मधुर रस प्रयुक्त हुआ है। अम्लरसेनैको योगः—(१) अम्ललवणकटुतिक्तकषाय। इस तरह इस एक भेद के आदि में अम्लरस प्रयुक्त हुआ है। इस प्रकार से पाँच रसों के ६ संयोग कह दिये गये हैं ॥ १३-१४ ॥

षट्कमेकं वक्ष्यामः एकस्तु षट्कसंयोगः—मधुराम्ललवणकटुतिक्तकषायः, एष एक एव षट्संयोगः ॥१५॥

षड्रसयोगेनैकः प्रकारः—अब ६ रसों के संयोग से एक भेद लिखा जाता है। ६ रसों के संयुक्त होने से एक ही भेद बनता है जैसे (१) मधुराम्ललवणकटुतिक्तकषाय। यह एक ही षट् रसों का संयोग है ॥ १५ ॥

एकैकश्च षड्रसा भवन्ति—मधुरः १, अम्लः २, लवणः ३, कटुकः ४, तिक्तः ५, कषायः ६, इति ॥१६॥

एकैकरसेन षड्साः—एक एक रस पृथक् रहकर ६ प्रकार बनाते हैं जैसे (१) मधुर, (२) अम्ल, (३) लवण, (४) कटु, (५) तिक्त और (६) कषाय ॥ १६ ॥

भवति चात्र—

एषा त्रिषष्टिर्व्याख्याता रसानां रसचिन्तकैः।
दोषभेदत्रिषष्ट्यां तु प्रयोक्तव्या विचक्षणैः ॥ १७ ॥

इति सुश्रुतसंहितायामुत्तरतन्त्रे तन्त्रभूषणाध्यायेषु रसभेदविकल्पाध्यायो नाम (प्रथमः आदितः) त्रिषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६३ ॥

रसभेदविषयकोपसंहारः—इस प्रकार रसशास्त्र के चिन्तन करने वाले विद्वानों ने रसों के ये तिरसठ भेद कहे हैं। विद्वान् वैद्यों का कर्तव्य है कि वे इन तिरसठ प्रकार के रसों को तिरसठ प्रकार के दोष-भेदों के साथ चिकित्सा में प्रयुक्त करें ॥ १७ ॥

विमर्शः—चरकोक्तरसभेदाः—स्वादुरम्लादिभिर्योगं शेषैरम्लादयः पृथक्। यान्ति पञ्चदशैतानि द्रव्याणि द्विरसानि तु ॥ पृथगम्लादियुक्तस्य योगः शेषैः पृथग्भवेत्। मधुरस्य तथाऽम्लस्य लवणस्य कटोस्तथा ॥ त्रिरसानि यथासंख्यं द्रव्याण्युक्तानि विंशतिः। वक्ष्यन्ते तु चतुष्केण द्रव्याणि दश पञ्च च। स्वाद्वम्लौ सहितौ योगं लवणाद्यैः पृथग्गतौ। योगं शेषैः पृथग्यातश्चतुष्करससंख्यया ॥ सहितौ स्वादुलवणौ तद्वत् कट्वादिभिः पृथक्। युक्तौ शेषैः पृथग्योगं यातः स्वादूषणौ तथा। कट्वाद्यैरम्ललवणौ संयुक्तौ सहितौ पृथक् ॥ यातः शेषैः पृथग्योगं शेषैरम्लकटू तथा। युज्येते तु कषायेण सतिक्तौ लवणोषणौ ॥ षट् तु पञ्चरसान्याहुरेकैकस्यापवर्जनात्। षट् चैवैकरसानि स्युरेकं षड्रसमेव तु ॥ इति त्रिषष्टिर्द्रव्याणां निर्दिष्टा रससंख्यया ॥ त्रिषष्टिः स्यात्त्वसंख्येया रसानुरसकल्पनात्। रसास्तरतमाभ्यां तां संख्यामतिपतन्ति हि। संयोगाः सप्तपञ्चाशत् कल्पना तु त्रिषष्टिधा। रसानां तत्र योग्यत्वात् कल्पिता रसचिन्तकैः ॥ (च० सू० अ० २६) अर्थात् स्वादु (मधुर) रस का अम्ल, लवण, कटु, तिक्त और कषाय इन पाँचों में से एक एक के साथ क्रमशः योग होने से ५ भेद होते हैं तथा शेष अर्थात् अम्लादि का लवणादि के साथ पृथक् पृथक् योग होने से दश भेद होते हैं जैसे अम्ल का लवण, कटु, तिक्त और कषाय के साथ भेद होने से ४ प्रकार। लवण का कटु, तिक्त और कषाय के साथ भेद होने से ३ प्रकार। कटुक रस का तिक्त और कषाय के

साथ योग होने से २ भेद और तिक्त का केवल एक कषाय के साथ भेद होने से १ भेद, ऐसे कुल मिला के द्विरस संयोग संख्या में १५ होते हैं। इस तरह ६३ प्रकार की रसभेदकल्पना सुश्रुतवत् ही है किन्तु इन तिरसठ भेदों में भी रस और अनुरस की कल्पना करने से (जैसे मधुराम्ल संयोग में मधुर रस और अम्ल अनुरस अथवा अम्ल रस और मधुर अनुरस ऐसी कल्पना करने से) तथा तर और तम भाव की कल्पना करने से (जैसे मधुरतर, मधुरतम, अम्लतर, अम्लतम इत्यादि कल्पना करने से) ६३ से भी अधिक भेद हो सकते हैं तथापि रसचिन्तकोंने स्वस्थ के स्वास्थ्यरक्षण तथा आतुर की चिकित्सा में अनतिसंक्षेप-विस्तरतया इन ६३ भेदों को योग्य समझ कर ५७ संयुक्त रस और ६ अलग-अलग ऐसे कुल इन ६३ भेदों की कल्पना की है। इस प्रकार रस-भेदों की विशाल संख्या को देखते हुए शायद ही कोई द्रव्य ऐसा मिले जो एक-रस हो क्योंकि समस्त द्रव्य पाञ्चभौतिक होने से सर्वरस होते हैं किन्तु इन रसों में जो रस प्रबल होता है वही व्यक्त होता है या वह द्रव्य उस रस वाला कहा जाता है तथा शेष दुर्बल रस अव्यक्त होकर अनुरस के रूप में रहते हैं अतः जब किसी द्रव्य को हम मधुर कहते हैं तब हमारा अभिप्राय केवल मधुर से ही नहीं है बल्कि मधुरप्राय, मधुरविपाक और मधुर प्रभाव से भी है। इसी प्रकार अन्य रसों के लिये भी समझना चाहिए। जघ्नाः षडभिगच्छन्ति बलिनो वशतां रसाः। यथा प्रकुपिता दोषा वशं यान्ति बलीयसः॥ 'तत्र व्यक्तो रसः। अनुरसस्तु रसेनाभिभूतत्वादव्यक्तः। (अ० सं०) 'यत्तु षड्विधमास्थापनमेकरसमित्याचक्षते भिषजस्तद् दुर्लभतमं, संसृष्टरसभूयिष्ठत्वाद् द्रव्याणाम्। तस्मान्मधुराणि, मधुरप्रायाणि, मधुरविपाकानि, मधुरप्रभावाणि च मधुरस्कन्धे मधुराण्येव कृत्वोपदिश्यन्ते, तथेतराणि द्रव्याणि। (च० वि० अ० ८)

इति सुश्रुतसंहितायां उत्तरतन्त्रे विद्योतिनीनामिकायां
भाषाटीकायां रसभेदविकल्पाध्यायो नाम
त्रिषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६३ ॥

चतुःषष्टितमोऽध्यायः

अथातः स्वस्थवृत्तमध्यायं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥ २ ॥

अब इसके अनन्तर स्वस्थवृत्त-विषयक अध्याय का विवेचन करते हैं जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने कहा है॥

विमर्श—पूर्वोक्त औपद्रविक अध्यायोक्त क्रमानुसार रस-भेदविकल्प के पश्चात्, क्रमप्राप्त स्वस्थवृत्त का विवेचन किया जाता है। कुछ आचार्य स्वस्थवृत्त के स्थान पर 'स्वस्थरक्षणीयम्' ऐसा पाठान्तर मानकर—स्वस्थ की रक्षा का वर्णन जिसमें हो ऐसे अध्याय का प्रारम्भ किया जाता है–ऐसा अर्थ करते हैं।

सूत्रस्थाने समुद्दिष्टः स्वस्थो भवति यादृशः।
तस्य यद्रक्षणं तद्धि चिकित्सायाः प्रयोजनम् ॥ ३ ॥

अतिदेशेन स्वस्थलक्षणं चिकित्साप्रयोजनञ्च—सुश्रुत सूत्र-स्थान के दोषधातुमलक्षयवृद्धिविज्ञानीय नामक १५ वें अध्याय में जो 'समदोषः समाग्निश्च' इत्यादि श्लोक द्वारा स्वस्थ मानव का जैसा लक्षण कहा गया है उस (मानव तथा स्वास्थ्य) का रक्षण ही चिकित्सा का प्रयोजन है ॥ ३ ॥

विमर्श—समदोषः समाग्निश्च समधातुमलक्रियः। प्रसन्नात्मेन्द्रियमनाः स्वस्थ इत्यभिधीयते॥ आयुर्वेद अथवा चिकित्सा का प्रयोजन रोग से पीड़ित मनुष्यों का रोगनिवारण करना और स्वस्थ मनुष्यों के स्वास्थ्य की रक्षा करना है–'वत्स सुश्रुत इह खल्वायुर्वेदप्रयोजनं—व्याध्युपसृष्टानां व्याधिपरिमोक्षः स्वस्थस्य रक्षणञ्च' (सु० सू० अ० १) चरकाचार्य ने भी चिकित्सा का यही प्रयोजन लिखा है किन्तु यहाँ अनुक्रम उल्टा है किन्तु यही स्वाभाविक तथा योग्य है—'प्रयोजनञ्चास्य स्वस्थस्य स्वास्थ्यरक्षणमातुरस्य विकारप्रशमनञ्च' (च० सू० अ० ३०) कारण यह है कि प्रजा जो उत्पन्न होती है वह स्वस्थ और नीरोगावस्था में जन्म के समय होती है तत्पश्चात् प्रज्ञापराधादि कारणों से वह व्याधित हो जाती है अतः प्रथम स्वस्थ प्रजा का स्वास्थ्यरक्षण और पश्चात् व्याधित प्रजा का व्याधि-परिमोक्ष यही क्रम उपयुक्त है। धातुओं का साम्य रखना यह आयुर्वेद का मुख्य उद्देश्य है जो कि समधातु का धातुसाम्यानुवर्तन करके और विषम धातु की विषमता का प्रशमन करके साध्य होता है—'धातुसाम्यक्रिया प्रोक्ता तन्त्रस्यास्य प्रयोजनम्' (चरक) आधुनिक पाश्चात्य वैद्यक में भी ये ही दो प्रयोजन के विभाग होते हैं। स्वास्थ्य-रक्षण विभाग का नाम (Preventive medicine and hygiene) है। दूसरे का नाम (Curative medicine) है।

तस्य यद्वृत्तमुक्तं हि रक्षणं च मयाऽऽदितः।
तस्मिन्नर्थाः समासोक्ता विस्तरेणेह वक्ष्यते ॥ ४ ॥

स्वस्थवृत्तविस्तारः—उस स्वस्थ मानव की रक्षा के लिये अनागतबाधाप्रतिषेध नामक अध्याय में जो विषय संक्षेप से कहे हैं। उनका यहाँ विस्तृत विवेचना किया जाता है ॥४॥

यस्मिन् यस्मिन्नृतौ ये ये दोषाः कुप्यन्ति देहिनाम्।
तेषु तेषु प्रदातव्या रसास्ते ते विजानता ॥ ५ ॥

ऋत्वाश्रयं स्वस्थवृत्तम्—देहधारियों (मनुष्यों) के शरीर में जिस-जिस ऋतु में जो-जो दोष प्रकुपित होते हैं उन-उन ऋतुओं में उन उन दोषों के प्रत्यनीक (विरुद्ध) रस वाले द्रव्यों का विद्वान् वैद्य उपयोग करे ॥ ५ ॥

विमर्श—ग्रीष्मे सञ्चीयते वायुः प्रावृट्काले प्रकुप्यति। वर्षासु निचितं पित्तं शरत्काले प्रकुप्यति॥ हेमन्ते निचितः श्लेष्मा वसन्ते कफरोगकृत्॥ स्वाद्वम्ललवणा वायुं कषायस्वादुतिक्तकाः। जयन्ति पित्तं श्लेष्माणं कषायकटुतिक्तकाः॥

प्रक्लिन्नत्वाच्छरीराणां वर्षासु भिषजा खलु।
मन्देऽग्नौ कोपमायान्ति सर्वेषां मारुतादयः ॥ ६ ॥
तस्मात् क्लेदविशुद्ध्यर्थं दोष-संहरणाय च।
कषायतिक्तकटुकै रसैर्युक्तमपद्रवम् ॥ ७ ॥
नातिस्निग्धं नातिरूक्षमुष्णं दीपनमेव च।
देयमन्नं नृपतये यज्जलं चोक्तमादितः ॥ ८ ॥
तमावरतमम्भो वा पिबेन्मधुसमायुतम्।
अह्नि मेघानिलाविष्टेऽत्यर्थशीताम्बुसङ्कुले ॥ ९ ॥

तरुणत्वाद्विदाहं च गच्छन्त्योषधयस्तदा ।
मतिमांस्तन्निमित्तं च नातिव्यायाममाचरेत् ॥ १० ॥
अत्यम्बुपानावश्यायग्राम्यधर्मातपांस्त्यजेत् ।
भूबाष्पपरिहारार्थं शयीत च विहायसि ॥ ११ ॥
शीते साग्नौ निवाते च गुरुप्रावरणे गृहे ।
यायात्सङ्गं वधूभिश्च प्रशस्तागुरुभूषितः ॥
दिवास्वप्नमजीर्णं च वर्जयेत्तत्र यत्नतः ॥ १२ ॥

वर्षर्तुचर्या—वर्षा ऋतु में मनुष्यों के शरीर अत्यन्त आर्द्र रहने से उनकी पाचकाग्नि मन्द हो जाती है जिससे वात, पित्त और कफ ये तीनों दोष कुपित हो जाते हैं। इसलिये क्लिन्नता की शुद्धि के लिये एवं वातादि दोषों के संहरण के लिये कषाय, तिक्त और कटुक रसों से युक्त तथा अपद्रव (द्रव रहित या अल्पद्रव युक्त) एवं न ज्यादा स्निग्ध और न अधिक रूक्ष तथा उष्ण और दीपन गुणयुक्त अन्न राजा (या प्रजा) को खाने के लिये देवे तथा पूर्व में द्रवद्रव्य विधि के अन्तर्गत पानीय वर्ग में कहे हुए के अनुसार पीने के लिये आन्तरीक्ष (आकाश से गिरता हुआ सञ्चित) जल अथवा पृथिवी को फोड़ के निकलने वाला जल देना चाहिए अथवा तप्त करके शीतल किया हुआ जल पीने को देवे अथवा उस जल में शहद मिला कर पीने को देवे। वर्षा ऋतु में दिवस मेघों (बादलों) और शीत वायु युक्त होते हैं तथा औषधियों के अत्यन्त शीतल जल से व्याप्त रहने पर एवं तरुणावस्था में होने से विदाह (अम्लपाक) युक्त हो जाती हैं इसलिये मतिमान् मनुष्य वर्षाकाल में अधिक व्यायाम न करे तथा अधिक जल पीना, ओस में शयन, स्त्री-सम्भोग और धूप में भ्रमण करना ये सब वर्जित कर दे। पृथिवी की बाष्प (गरमी) से बचने के लिये मकान के ऊपर के मंजिल में शयन करना चाहिए। यदि वर्षा आदि के कारण वायुमण्डल में शीत की अधिकता हो तो उस दिन वायुप्रकोप को शान्त करने के लिये खद्दर अथवा ऊन के भारी कपड़े पहन तथा ओढ़ के अग्नि से गरम किये हुए तथा निवात (झोंके की वायु से रहित या अल्पवात सञ्चार वाले) मकान में रहे एवं शयन करे। यदि कहीं बाहर जाना हो तो शरीर पर प्रशस्त अगर (एवं कस्तूरी आदि) का लेप कर हस्तिनी पर सवारी करके आवागमन करे और ऐसे समय में दिन में शयन, अजीर्ण और चकारात् पूर्व दिशा की हवा आदि को यत्नपूर्वक वर्जित कर देवे ॥ ९-१२ ॥

विमर्शः—अग्निमन्दताहेतुः—वर्षाकाल में अधिक वृष्टि होने से शरीर गीले रहते हैं जिससे शरीर में जलीय गुण की अधिकता होकर देह की पाचकादि तेरहों प्रकार की (सप्तधातुओं की ७, पञ्चमहाभूतों की ५ और तेरहवीं जाठराग्नि) अग्नियाँ मन्द हो जाती हैं। यहाँ पर यह प्रश्न किया जा सकता है कि वर्षा ऋतु में पित्त के सञ्चय का समय होने से पित्त ही कुपित होना चाहिए पुनः वात और कफ क्यों ? प्रश्न सत्य है, किन्तु प्रावृट् ऋतु में कुपित हुआ वायु उपशामक आहार-विहार के अभाव के कारण वर्षा ऋतु में भी कुपित हुआ ही अनुवर्तित रहता है तथा कफ भी मेघोदय एवं शीतता के कारण असञ्चित होते हुए भी कुपित हो जाता है। इस तरह वर्षाकाल में त्रिदोष प्रकोप होना स्वाभाविक ही है। अथवा अग्निमान्द्य को तीनों दोषों के प्रकुपित होने में कारण समझना चाहिए जैसा कि कहा भी है—'शमप्रकोपौ दोषाणां सर्वेषामग्निसंश्रितौ'। चरकाचार्य ने भी भूबाष्प, मेघ-निष्यन्दन, जल के अम्ल विपाक और अग्निमान्द्य से वातादि त्रिदोषों का वर्षाकाल में प्रकुपित होना लिखा है—भूबाष्पान्मेघनिष्यन्दात्पाकादम्लजलस्य च। वर्षास्वग्निबले क्षीणे कुप्यन्ति पवनादयः ॥ (चरक) तप्तावरतं =शृतशीतं जलम्—अर्थात् जल को किसी पात्र में भर कर चूल्हे पर चढ़ा के उबलने पर फेनरहित और निर्मल हो जाय तथा आधा शेष रह जाय तब उतार कर शीतल कर लें, इसे-शृतशीत-जल कहते हैं—क्वाथ्यमानन्तु यत्तोयं निष्फेनं निर्मलीकृतम्। भवत्यर्द्धावशिष्टञ्च शृतमाहुश्चिकित्सकाः ॥ इसी को उष्णोदक भी कहते हैं तथा यह अष्टमांश, चतुर्थांश, अर्द्धांश अथवा केवल दो चार बार उबल जाय तो भी उष्णोदक कहा जाता है—अष्टमेनांशशेषेण चतुर्थेनार्धकेन वा। अथवा क्वथनेनैव सिद्धमुष्णोदकं वदेत् ॥ अन्यच्च—यत्क्वाथ्यमानं निर्वेगं निष्फेनं निर्मलं लघु। चतुर्भागाव-शेषन्तु तत्तोयं गुणवत् स्मृतम् ॥ (सु० सू० अ० ४५) शृतशीत जल के पीने से सञ्चित पित्त का संशमन होता है। जल में मधु (शहद) प्रक्षिप्त कर पीने से कफ का संशमन होता है। यद्यपि वर्षाकाल में जल पीना निषिद्ध है 'वर्षासु न पिबेत्तोयम्' किन्तु यहाँ-न पिबेत्-का तात्पर्य अल्प पीना होता है, क्योंकि जल तो प्राणियों का जीवन है अतः उसका एकदम निषेध करना मना है—जीवनं जीविनां जीवो जगत्सर्वन्तु तन्मयम्। नातोऽत्यन्तनिषेधेन कदाचिद्वारि वार्यते ॥ व्यायाम—विशेष कर शीत और वसन्त ऋतु में ज्यादा करना चाहिए तथा अन्य ऋतुओं में अल्प करना चाहिए—व्यायामो हि सदा पथ्यो बलिनां स्निग्धभोजिनाम्। स च शीते वसन्ते च मन्दमेव ततोऽन्यदा ॥ वर्षाकाल में किया हुआ अल्प व्यायाम शरीर के क्लेद का शोषण करता है तथा पाचकाग्नि को प्रदीप्त करता है। सुश्रुते वर्षर्तुलक्षणम्—तत्र वर्षासु नद्योऽम्भश्छन्नोत्खाततटद्रुमाः। वाप्यः प्रोत्फुल्लकुमुदनीलोत्पलविराजिताः ॥ भूरव्यक्तस्थलश्वभ्रा बहुशस्योपशोभिता। नातिगर्जत्स्रवन्मेघनिरुद्धार्कग्रहं नभः ॥ (सु० सू० अ० ६) इस ऋतु में नदियाँ जलपूर्ण होकर प्रवाह के जोर से तट तथा निकटवर्ती वृक्षों को नष्ट कर देती हैं। वापी प्रफुल्लित, श्वेत तथा नीलकमलों से सुशोभित दिखाई देती हैं। भूमि तृणाच्छादित होने के कारण उसके पृष्ठभाग की समता या विषमता दिखाई नहीं देती है तथा विविध प्रकार की फसलों से वह शोभित होती है और बहुत गर्जन न करके बरसने वाले बादलों से आकाश, सूर्य तथा ग्रहगण ढके रहते हैं। चरके वर्षर्तुसेव्यासेव्यवर्णनम्—आदानदुर्बले देहे पक्ता भवति दुर्बलः। स वर्षास्वनिलादीनां दूषणैर्बाध्यते पुनः ॥ भूबाष्पान्मेघनिस्यन्दात् पाकादम्लजलस्य च। वर्षास्वग्निबले क्षीणे कुप्यन्ति पवनादयः ॥ तस्मात्साधारणः सर्वो विधिर्वर्षासु शस्यते। उदमन्थं दिवास्वप्नमवश्यायं नदीजलम्। व्यायाममात-पञ्चैव व्यवायञ्चात्र वर्जयेत् ॥ पानभोजनसंस्कारान् प्रायः क्षौद्रान्वि-तान् भजेत् ॥ व्यक्ताम्ललवणस्नेहं वातवर्षाकुलेऽहनि ॥ विशेषशीते भोक्तव्यं वर्षास्वनिलशान्तये। अग्निसंरक्षणवता यवगोधूमशालयः। पुराणा जाङ्गलैर्मांसैर्भोज्या यूषैश्च संस्कृतैः ॥ पिबेत् क्षौद्रान्वितञ्चास्मै माध्वीकारिष्टमम्बु वा। माहेन्द्रं तप्तशीतं वा कौपं सारसमेव वा ॥

प्रघर्षोद्वर्तनस्नानगन्धमाल्यपरो भवेत् । लघुशुद्धाम्बरः स्थानं भजेदक्लेदि वार्षिकम् ॥ (च० सू० अ० ६) आदानकाल के कारण दुर्बल हुये मनुष्यों की पाचकाग्नि भी दुर्बल होती है और वह दुर्बलाग्नि शीत-पवन आदि कारणों से वर्षाकाल में पुनः पीड़ित (मन्द) रहती है तथा भूबाष्प, मेघस्यन्दन और अम्ल जलपाक से वातादि तीनों दोष कुपित रहते हैं इसलिये इस ऋतु में सर्व साधारण आहार-विहार करना प्रशस्त है एवं उदमन्थ (जल-प्रचुर सत्तू), दिवाशयन, ओस में शयन, नदी का पानी, व्यायाम, धूप और स्त्रीसम्भोग वर्जित करने चाहिये। पीने की तथा खाने की वस्तुओं के साथ शहद मिलाकर सेवन करें। अम्ल, लवण और घृत का अधिक सेवन करें। यव, गेहूँ, पुराने शालि चाँवल, जङ्गली पशु-पक्षियों का मांस, शहद मिश्रित माध्वीक, तेज अरिष्ट, ऐन्द्र जल, कूयें अथवा तालाब का तप्त करके शीत किया हुआ जल हितकारी है। शरीर का घर्षण, उबटन, स्नान, गन्ध और मालाओं का धारण, हल्के तथा स्वच्छ वस्त्र एवं कीचड़ रहित स्थान में निवास ये सभी वर्षा ऋतु में सेव्य हैं।

सेव्याः शरदि यत्नेन कषायस्वादुतिक्तकाः ।
क्षीरेक्षुविकृतिक्षौद्रशालिमुद्गादिजाङ्गलाः ॥ १३ ॥
श्वेतस्रजश्चन्द्रपादाः प्रदोषे लघु चाम्बरम् ।
सलिलं च प्रसन्नत्वात् सर्वमेव तदा हितम् ॥ १४ ॥
सरःस्वाप्लवनं चैव कमलोत्पलशालिषु ।
प्रदोषे शशिनः पादाश्चन्दनं चानुलेपनम् ॥ १५ ॥
तिक्तस्य सर्पिषः पानैरसृक्स्रावैश्च युक्तितः ।
वर्षासूपचितं पित्तं हरेच्चापि विरेचनैः ॥ १६ ॥
नोपेयात्तीक्ष्णमम्लोष्णं क्षारं स्वप्नं दिवाऽऽतपम् ।
रात्रौ जागरणं चैव मैथुनं चापि वर्जयेत् ॥ १७ ॥
(स्वादुशीतजलं मेध्यं शुचिस्फटिकनिर्मलम् ।
शरच्चन्द्रांशुनिर्धौतमगस्त्योदयनिर्विषम् ॥ १८ ॥
प्रसन्नत्वाच्च सलिलं सर्वमेव तदा हितम् ।
सचन्दनं सकर्पूरं वासश्चामलिनं लघु ॥ १९ ॥
भजेच्च शारदं माल्यं सीधोः पानं च युक्तितः ।
पित्तप्रशमनं यच्च तच्च सर्वं समाचरेत् ॥ २० ॥

शरच्चर्या—शरद् ऋतु के अन्दर कषाय, स्वादु और तिक्त रसों का सेवन करना चाहिये तथा दुग्ध, ऊख एवं इन दोनों की विकृति (दही, खोया, मलाई, शर्करा, फाणित) एवं शहद, साठी चाँवल, मूँग की दाल, जङ्गली एणादि पशु तथा लावादि पक्षियों का मांस एवं मांसरस, पहनने को श्वेत पुष्पों की मालायें और चन्द्रमा की किरणें सेवन करें तथा प्रदोष (रात्रि के प्रथम प्रहर = प्रदोषो रजनीमुखम्) में हल्के सूक्ष्म वस्त्र पहनने चाहिये। शरद् ऋतु में सभी प्रकार के भौम जल प्रसन्न (स्वच्छ) होने से हितकारक होते हैं। श्वेत कमल तथा नील कमलों (उत्पल) से शोभायमान [illegible] करना चाहिये। रात्रि के प्रथम प्रहर में [illegible] सेवन करें तथा शरीर पर चन्दन का [illegible]सके अतिरिक्त तिक्त घृतपान, रक्तमोक्षण और विरेचन क्रिया द्वारा वर्षा ऋतु में सञ्चित हुये पित्त को निकाल देना चाहिये। अत्यन्त तीक्ष्ण पदार्थ, अम्ल पदार्थ, उष्ण पदार्थ, क्षार, दिवाशयन, धूप का सेवन, रात्रि जागरण और स्त्रीसम्भोग ये वर्जित करें। जो जल स्वादु, शीतल, मेधावर्द्धक, पवित्र तथा स्फटिक के समान निर्मल, शरत् कालीन चन्द्र की किरणों से स्वच्छ हुआ हो तथा अगस्त्य तारे के उदित हो जाने से निर्विष हुआ एवं स्वच्छ होने से सर्व प्रकार के जल इस ऋतु में हितकारक होते हैं। ऐसे जल में मलयागिरि चन्दन तथा कर्पूर मिलाकर उसे सुवासित कर पीना चाहिये। पहनने के लिये निर्मल तथा हल्का वस्त्र उत्तम होता है। शरद् ऋतु में होने वाले पुष्पों की माला का धारण तथा युक्तिपूर्वक सीधु का पान करना चाहिये। इनके अतिरिक्त अन्य जो कोई आहार तथा विहार पित्त प्रशामक हो उन सबका सेवन करना चाहिये ॥ १३–२० ॥

विमर्शः—सुश्रुते शरदृतुलक्षणानि—बभ्रुरुष्णः शरद्यर्कः श्वेताभ्रविमलं नभः । तथा सरांस्यम्बुरुहैर्भान्ति हंसांसघट्टितैः ॥ पङ्कशुष्कद्रुमाकीर्णा निम्नोन्नतसमेषु भूः । बाणसप्ताह्वबन्धूककाशासनविराजिता ॥ (सु० सू० अ० ६) इस ऋतु में सूर्य पिङ्गलवर्ण और उष्ण होता है। आकाश निर्मल और कहीं-कहीं श्वेतवर्ण मेघयुक्त होता है। सरोवर हंसों सहित कमलों से शोभायमान होते हैं। नीची, ऊँची और समभूमि कीचड़ युक्त, सूखी और चींटियों से भरी हुई होती है तथा कुरण्टक, सप्तपर्ण, दुपहरिया (जपा), कास और विजैसार इन वृक्षों से सुशोभित होती है। चरके शरल्लक्षणं तत्र सेव्यासेव्यश्च—वर्षा शीतोचिताङ्गानां सहसैवार्करश्मिभिः । तप्तानामाचितं पित्तं प्रायः शरदि कुप्यति ॥ तत्रान्नपानं मधुरं लघु शीतं सतिक्तकम् । पित्तप्रशमनं सेव्यं मात्रया सुप्रकाङ्क्षितैः ॥ लावान् कपिञ्जलानेणानुरभ्राञ्छरभाञ्छशान् । शालीन् सयवगोधूमान् सेव्यानाहुर्घनात्यये ॥ तिक्तस्य सर्पिषः पानं विरेको रक्तमोक्षणम् ॥ धाराधरात्यये कार्यमातपस्य च वर्जनम् । वसां तैलमवश्यायमौदकानूपमामिषम् ॥ क्षारं दधि दिवास्वप्नं प्राग्वातञ्चात्र वर्जयेत् ॥ दिवा सूर्यांशुसन्तप्तं निशि चन्द्रांशुशीतलम् ॥ कालेन पक्वं निर्दोषमगस्त्येनाविषीकृतम् । हंसोदकमिति ख्यातं शारदं विमलं शुचि ॥ स्नानपानावगाहेषु हितमम्बु यथाऽमृतम् ॥ शारदानि च माल्यानि वासांसि विमलानि च । शरत्काले प्रशस्यन्ते प्रदोषे चेन्दुरश्मयः ॥ (च० सू० अ० ६) वर्षाकालीन शीत से अभ्यस्त शरीर वाले प्राणियों के शरीर पर शरद् ऋतु में सहसा सूर्य की किरणों के पड़ने से वर्षा में सञ्चित हुआ पित्त इस ऋतु में प्रकुपित हो जाता है अतः मधुर खाद्य और पेय तथा हल्के, शीतल और तिक्त पदार्थ जो कि पित्तशामक हों उनका सेवन करें। जैसे लाव आदि का मांस, साठी चाँवल, जौ और गेहूँ, तिक्तौषध-सिद्ध घृत, विरेचन, रक्तमोक्षण, हंसोदक का सेवन, शरद् ऋतु में उत्पन्न हुये पुष्पों की मालायें, निर्मल वस्त्र तथा प्रदोष (सायम्) काल में चन्द्रमा की किरणें ये सेवनीय हैं। यद्यपि पित्त और वह्नि की समानगुणता है फिर भी उसमें द्रवांश होने के कारण वह पित्त अग्निवृद्धि न कर उसकी मन्दता उत्पन्न करता है। जैसे गरम पानी अग्नि सदृश होता हुआ भी अग्नि को बुझा देता है—'आप्लावयद्धन्त्यनलं जलं तप्तमिवानलम्' (च० चि० अ० १५) केवल तिक्तघृतपान से पित्त

की शान्ति हो जाय तो उचित है न हो तो फिर विरेचक औषध देवे 'विरेचनं हि पित्तस्य जयाय परमौषधम्' यदि विरेचन से भी पित्त शान्त न हो तो रक्तमोक्षण क्रिया करनी चाहिये। शरद् ऋतु में कालस्वभाववश रक्त दूषित होता ही है—'शरत्कालस्वभावाच्च शोणितं सम्प्रदुष्यति' (च० सू० अ० २४) अविषीकृतम्—वर्षाकालीन जल में भूमिस्थ अनेक विषैले खनिज पदार्थ मिल जाते हैं। मल, मूत्र, विषैले कृमि तथा उनका मल-मूत्र-लाला सभी जल में मिल जाते हैं अतएव ऐसा जल विषवत् हो जाता है। उसे निर्विष करने के लिये सूर्य की जीवाणु-नाशक प्रखर किरणें, चन्द्रमा की अमृतमय किरणें और हवा ये आवश्यक हैं तथा यह सर्व शरद् ऋतु में लभ्य हैं। इस ऋतु के जल को हंसोदक कहते हैं। हंस शब्द से सूर्य और चन्द्र दोनों का ग्रहण होता है, इन दोनों से शोधित जल हंसोदक कहलाता है अथवा हंससेवायोग्यं जलं हंसोदकम्। यह प्रसिद्ध है कि हंस शुद्ध जल का ही पान करते हैं। इस ऋतु में जल के शुद्ध हो जाने से तत्सेवन योग्य जल हो जाता है अतः उसे हंसोदक कहा है।

हेमन्तः शीतलो रूक्षो मन्दसूर्योऽनिलाकुलः ॥ २१ ॥
ततस्तु शीतमासाद्य वायुस्तत्र प्रकुप्यति।
कोष्ठस्थः शीतसंस्पर्शादन्तः पिण्डीकृतोऽनलः ॥२२॥
रसमुच्छोषयत्याशु तस्मात् स्निग्धं तदा हितम्।)
हेमन्ते लवणक्षारतिक्ताम्लकटुकोत्कटम् ॥ २३ ॥
ससर्पिस्तैलसहितमशनं हितमुच्यते।
तीक्ष्णान्यपि च पानानि पिबेदगुरुभूषितः ॥ २४ ॥
तैलाक्तस्य सुखोष्णे च वारिकोष्ठेऽवगाहनम्।
साङ्गारयाने महति कौशेयास्तरणास्तृते ॥ २५ ॥
शयीत शयने तैस्तैर्वृतो गर्भगृहोदरे।
स्त्रीः श्लिष्ट्वाऽगुरुधूपाढ्याः पीनोरुजघनस्तनीः ॥२६॥
प्रकामं च निषेवेत मैथुनं तर्पितो नृपः।
(मधुरं तिक्तकटुकमम्लं लवणमेव च ॥ २७ ॥
अन्नपानं तिलान् माषाञ्छाकानि च दधीनि च।
तथेक्षुविकृतीः शालीन् सुगन्धांश्च नवानपि ॥ २८ ॥
प्रसहानूपमांसानि क्रव्यादबिलशायिनाम्।
औदकानां प्लवानां च पादिनां चोपसेवयेत् ॥ २९ ॥
मद्यानि च प्रसन्नानि यच्च किञ्चिद् बलप्रदम्।
कामतस्तन्निषेवेत पुष्टिमिच्छन् हिमागमे ॥ ३० ॥
दिवास्वप्नमजीर्णं च वर्जयेत्तत्र यत्नतः।)
एष एव विधिः कार्यः शिशिरे समुदाहृतः ॥ ३१ ॥

हेमन्तर्तुचर्या—हेमन्त ऋतु शीतल, रूक्ष, मन्द (अल्प) सूर्यतेजोयुक्त एवं वायु की अधिकता वाली होती है इसीलिये इस ऋतु में वायु शीत के कारण कुपित होता है तथा कोष्ठ (आमाशय, ग्रहणी = पच्यमानाशय) में स्थित जाठराग्नि शीत के स्पर्श से भीतर ही भीतर पिण्डरूप में होकर आहार रस का शोषण कर उसे सुखा देती है इसलिये इस ऋतु में स्निग्ध भोजन करना हितकारक होता है तथा लवण, क्षार, तिक्त, अम्ल और कटु रस, घृत, तैल और उष्ण भोजन करना प्रशस्त है। तीक्ष्ण मद्य आदि का पान करना चाहिये एवं अगुरु का शरीर पर लेप करना चाहिये। स्नान के समय शरीर पर तैल का अभ्यङ्ग करके मन्दोष्ण जल वाले वारिकोष्ठ (टब) में अवगाहन (निमज्जन) करना चाहिये। लकड़ी के कोयले के निर्धूम अङ्गारों से भरी अँगीठी वाले निवास गृह में रेशम के चद्दरे से युक्त बड़ी शय्या पर शीतनाशक ऊनी वस्त्रों को ओढ़कर शयन करना चाहिये। इस ऋतु में कोई भी राजा अथवा साधन-सम्पन्न (धनाढ्य) पुरुष दुग्ध, मिष्टान्न या मांसरस और मद्यादि से तृप्त होकर अगुरु का लेप की हुई तथा उसी के धूप से सुगन्धित एवं पीन (स्थूल) और बड़े (विशाल) जघन तथा स्तनों वाली स्त्री का गाढ आलिङ्गन करके मैथुन करना चाहिये। सम्भोग के पश्चात् मधुर, तिक्त, कटुक, अम्ल और लवण रस वाले खाद्य और पेय तथा तिल और उड़दी के बने हुये पदार्थ, विविध प्रकार के शाक, दही, इक्षु (साँठे के) विकार जैसे गुड़, शर्करा, राब, फाणित या शर्करा से बने मिष्टान्न सुगन्धयुक्त नये शालि चाँवल, प्रसह (एक दूसरे से छीनकर खानेवाले) प्राणियों और अनूप देश के पशु-पक्षियों का मांस तथा मांस खाने वाले प्राणियों का मांस, बिल में रहने वाले प्राणियों का मांस, जल में रहने वाले प्राणियों का मांस, जल पर तैरने वाले बतख आदि का मांस और पाँव से चलने वाले कच्छप आदि प्राणियों का मांस सेवन करना चाहिये। साथ में विविध प्रकार के मद्य और प्रसन्ना तथा जो कुछ भी बलदायक हो वह सब पुष्टि चाहने वाला व्यक्ति इच्छापूर्वक या मन भर के हेमन्त ऋतु में सेवन करे। इस हेमन्त ऋतु में दिवाशयन और अजीर्ण का वर्जन करना चाहिये। शिशिर में भी हेमन्त के समान ही आहार-विहार का सेवन परिवर्जन करना चाहिये। अर्थात् शिशिर ऋतु की चर्या हेमन्त के समान ही है ॥ २१-३१ ॥

विमर्शः—वारिकोष्ठे = पाषाणादिविरचिते कुशूलाकारे जलपात्रे। आजकल इस कार्य के लिये टब का प्रयोग होता है जो कि काष्ठ अथवा पाषाण से नाव की आकार का बनाया जाता है—काष्ठपाषाणादिकृतनौकाकारे जलपात्रे। गर्भगृहोदरे = बृहद्गृहमध्ये अपरं यत् क्षुद्रगृहं तस्याभ्यन्तरे। इससे भूगृह (तलघर, गुजरात में जिसे भोंयरा कहते हैं) का भी ग्रहण होता है। आजकल श्रीमान् लोग एयर कण्डीशन गृहों में रहते हैं। ये घर ग्रीष्म में शीत तथा शीत में उष्ण रखे जाते हैं। ऐसा इनमें यान्त्रिक प्रबन्ध होता है। 'गर्भान्तरं वासगृहमि'त्यमरः। शाकानि—आयुर्वेद में शाक के दस भेद माने गये हैं—मूलं पत्रकरीराग्र-फलकाण्डाधिरूढकम्। त्वक् पुष्पं कवकञ्चैव शाकं दशविधं स्मृतम्। मूलं मूलकविशादेः। पत्रं वास्तुकादेः, करीरं वंशाङ्कुरादेः, अग्रं वेत्रादेः, फलं कूष्माण्डवार्ताक्यादेः, काण्डं कमलादेर्नालम्, अधिरूढकं = तालबीजाङ्कुरास्थिमज्जादि, त्वक् मातुलुङ्गादेः, पुष्पं तिन्तिडीकोविदारादेः, कवकं छत्राकम्। अन्यत्र शाकानां षड्भेदाः—पत्रं पुष्पं फलं नालं काण्डं संस्वेदजं तथा। प्रसन्ना—मद्यस्य उपरितनो यः स्वच्छो भागः सा प्रसन्ना कथिता। 'सुरामण्डः प्रसन्ना स्यात्' इति शार्ङ्गधरः। हेमन्तर्तुलक्षणानि—वायुर्वात्युत्तरः शीतो रजोधूमाकुला दिशः। छन्नस्तुषारैः सविता हिमानद्धा जलाशयाः॥ दर्पिता ध्वांक्षखङ्गाह्वमहिषोरभ्रकुञ्जराः। रोध्रप्रियङ्गुपुन्नागाः पुष्पिता

हिमसाह्वये ॥ (सु० सू० अ० ६) हेमन्त ऋतु में उत्तर का शीत वायु चलता है। सर्व दिशायें रजःकण तथा धूम से व्याप्त होती हैं। भगवान् सूर्य ओस से ढके होते हैं। तालाब, बावड़ी आदि जलाशयों में का जल रात्रि में जमकर बर्फ बन जाता है। काक, गैंडा, महिष, भेंड़ा और हाथी हर्षित (मदोन्मत्त) रहते हैं तथा लोध, कंगुनी और नागकेशर के वृक्ष फूल से भरे होते हैं। **शिशिरविशेषलक्षणम्**—शिशिरे शीतमधिकं वातवृष्ट्याकुला दिशः। शेषं हेमन्तवत् सर्वं विज्ञेयं लक्षणं बुधैः ॥ (सु० सू० अ० ६) चरके हेमन्तर्तुसेव्यासेव्यम्—शीते शीतानिलस्पर्शसंरुद्धो बलिनां बली। पक्ता भवति हेमन्ते मात्राद्रव्यगुरुक्षमः ॥ स यदा नेन्धनं युक्तं लभते देहजं तदा। रसं हिनस्त्यतो वायुः शीतः शीते प्रकुप्यति ॥ तस्मात्तुषारसमये स्निग्धाम्ललवणान् रसान्। औदकानूपमांसानां मेध्यानामुपयोजयेत्॥ बिलेशयानां मांसानि प्रसहानां भृतानि च। भक्षयेन्मदिरां शीधुं मधु चानुपिबेन्नरः ॥ गोरसानिक्षुविकृतीर्वसां तैलं नवौदनम् ॥ हेमन्तेऽभ्यस्यतस्तोयमुष्णमायुर्न हीयते ॥ अभ्यङ्गोत्सादनं मूर्ध्नि तैलं जेन्ताकमातपम्। भजेद् भूमिगृहञ्चोष्णमुष्णं गर्भगृहं तथा ॥ शीतेषु संवृतं सेव्यं यानं शयनमासनम्। प्रावाराजिनकौशेयप्रवेणीकुथकास्तृतम् ॥ गुरूष्णवासा दिग्धाङ्गो गुरुणाऽगुरुणा सदा। शयने प्रमदां पीनां विशालोपचितस्तनीम् ॥ आलिङ्ग्यागुरुदिग्धाङ्गीं सुप्यात् समदमन्मथः। प्रकामञ्च निषेवेत मैथुनं शिशिरागमे ॥ वर्जयेदन्नपानानि वातलानि लघूनि च। प्रवातं प्रमिताहारमुदमन्थं हिमागमे ॥ (च० सू० अ० ६) इस ऋतु में शीत के कारण चर्मछिद्र संकुचित रहने से भीतर की पाचकाग्नि बाहर न निकलने से कुम्हार के आँवे (भट्ठे) की आग की तरह भीतर बढ़ जाती है जिससे वह मात्रा-गुरु तथा द्रव्य (उड़द, वाराहमांस)-गुरु गुण वाले पदार्थों को भी पचाने में समर्थ होती है और उसे ऐसा आहार न मिलने से शरीर के रसादि को सुखा देती है अतएव स्निग्ध, अम्ल, लवण रस वाले पदार्थ, जलज, आनूप और मेद (चरबी) वाले प्राणियों का मांस, मदिरा, शीधु, शहद, गोरस, इक्षुविकार, वसा, तैल, नूतन चाँवल आदि गरिष्ठ द्रव्य सेवन करें। उष्णोदक से स्नान, अभ्यङ्ग, उत्सादन, जेन्ताकस्वेद, उष्णभूमि, भूमि का भीतरी भाग, विविध प्रकार के ऊनी कपड़े, अगुरु से देह का लेपन, पीनपयोधर वाली स्त्री का आलिङ्गन और स्त्रीसम्भोग ये सब सेवनीय हैं तथा वातकारक एवं हलके आहार, पूर्व दिशा की हवा, नपा-तुला भोजन, प्रचुर जलवाला सत्तू ये सब वर्जित हैं। चरके शिशिरर्तुचर्या—हेमन्तशिशिरौ तुल्यौ शिशिरेऽल्पं विशेषणम्। रौक्ष्यमादानजं शीतं मेघमारुतवर्षजम् ॥ तस्माद्धैमन्तिकः सर्वः शिशिरे विधिरिष्यते। निवातमुष्णं त्वधिकं शिशिरे गृहमाश्रयेत्। कटुतिक्तकषायाणि वातलानि लघूनि च। वर्जयेदन्नपानानि शिशिरे शीतलानि च ॥ (च० सू० अ० ६) यद्यपि हेमन्त और शिशिर तुल्य हैं किन्तु इस ऋतु में आदानकाल का प्रारम्भ हो जाने से रूक्षता उत्पन्न हो जाती है तथा मेघ, हवा और वर्षा के कारण शीतलता भी रहती है इसलिये हैमन्तिक आहार-विहार इस ऋतु में भी करे किन्तु झोंके की हवा से रहित ऐसे उष्ण स्थान में निवास करना चाहिये। कटु, तिक्त और कषाय रस वाले द्रव्य तथा वातजनक एवं लघु और शीतल आहार विहार का विवर्जन करना प्रशस्त है।

हेमन्ते निचितः श्लेष्मा शैत्याच्छीतशरीरिणाम्।
औष्ण्याद्वसन्ते कुपितः कुरुते च गदान् बहून् ॥२२॥
ततोऽम्लमधुरस्निग्धलवणानि गुरूणि च।
वर्जयेद्वमनादीनि कर्माण्यपि च कारयेत् ॥ २३ ॥
षष्टिकान्नं यवाञ्छीतान् मुद्गान् नीवारकोद्रवान्।
लावादिविष्किररसैर्यूषैश्च युक्तितः ॥ २४ ॥
पटोलनिम्बवार्ताकतिक्तकैश्च हिमात्यये।
सेवेन्मध्वासवारिष्टान् सीधुमाध्वीकमाधवान् ॥ २५ ॥
व्यायाममञ्जनं धूमं तीक्ष्णं च कवलग्रहम्।
सुखाम्बुना च सर्वार्थान् सेवेत कुसुमागमे ॥ २६ ॥
तीक्ष्णरूक्षकटुक्षारकषायं कोष्णमद्रवम्।
यवमुद्गमधुप्रायं वसन्ते भोजनं हितम् ॥ २७ ॥
व्यायामोऽत्र नियुद्धाध्वशिलानिर्घातजो हितः।
उत्सादनं तथा स्नानं वनिताः काननानि च ॥२८॥
सेवेत निर्हरेच्चापि हेमन्तोपचितं कफम्।
शिरोविरेकवमननिरूहकवलादिभिः ॥
वर्जयेन्मधुरस्निग्धदिवास्वप्नगुरुद्रवान् ॥ २९ ॥

वसन्तर्तुचर्या—हेमन्त ऋतु में शीत के कारण शीत शरीर वाले प्राणियों के शरीर में सञ्चित हुआ कफ वसन्त ऋतु में उष्णता के कारण कुपित होकर अनेक (श्लैष्मिक) रोगों को उत्पन्न करता है। इस लिये इस ऋतु में अम्ल, मधुर, स्निग्ध, लवण और गुरु पदार्थों का सेवन वर्जित करना चाहिए तथा प्रथम वमन पश्चात् विरेचन आदि कर्म करने चाहिए। साँठी चावल, जौ, शीत पदार्थ, मूँग, नीवार, कोदो आदि के भक्ष्य पदार्थ (रोटी, लप्सी, कुलारा आदि) बनाकर लाव (बटेर) आदि विष्किर (बखेर के खाने वाले) प्राणियों के मांसरसों के साथ खिलावें। अथवा मूँग, कुलत्थ आदि के यूष के साथ भोजन करावें। इस हिमात्यय (वसन्तर्तु) में परवल, निम्बपत्र, बैंगन और करेले आदि तिक्त रस वाले शाकों का सेवन करना चाहिए तथा मध्वासव, द्राक्षारिष्ट, सीधु, माध्वीक, माधव आदि सुरा भेदों का पान करना चाहिए। वसन्त ऋतु के आगमन में व्यायाम, नेत्रों में अञ्जन, तीक्ष्ण द्रव्यों का धूमपान, तीक्ष्ण औषधियों के क्वाथों का कवलधारण और मन्दोष्ण पानी से शौच-स्नानादि नित्यकर्म करने चाहिए। वसन्तर्तु में तीक्ष्ण, रूक्ष, कटु, क्षार, कषाय-रसप्रधान खाद्य तथा पेय एवं मन्दोष्ण तथा द्रवरहित या अल्पद्रव पदार्थ एवं जौ, मूँग और मधु (शहद) का प्रचुर मात्रा में भोजन के रूप में प्रयोग करना चाहिए। इस ऋतु में नियुद्ध (बाहुयुद्ध), अध्व (मार्ग) गमन और शिलानिर्घात (पत्थर फेंकना) रूपी व्यायाम हितकारी होता है। इनके अतिरिक्त शरीर पर केशर, कस्तूरी, अगुरु आदि उष्ण द्रव्यों का उत्सादन (उबटन) करके स्नान करना एवं स्त्री-सम्भोग और बाग-बगीचों का सेवन करना चाहिए। हेमन्त ऋतु में सञ्चित हुए कफ का शिरोविरेचन, वमन, निरूहण वस्ति और कवल आदि के द्वारा निर्हरण करना चाहिए। एवं मधुर पदार्थ, स्निग्ध

पदार्थ, दिवाशयन, गुरु पदार्थ तथा पतले पदार्थों का सेवन वर्जित करना चाहिए ॥ ३२-३९ ॥

विमर्शः—श्लेष्महरणमत्र प्रधानं—'हरेद्वसन्ते श्लेष्माणं पित्तं शरदि निर्हरेत् ॥ **सुश्रुते वसन्तवर्णनम्**—सिद्धविद्याधरवधूचरणालक्तकाङ्किते । मलये चन्दनलतापरिष्वङ्गाधिवासिते । वाति कामिजनानन्दजननोऽनङ्गदीपनः । दम्पत्योर्मानभिदुरो वसन्ते दक्षिणोऽनिलः ॥ दिशो वसन्ते विमलाः काननैरुपशोभिताः । किंशुकाम्भोजबकुलचूताऽशोकादिपुष्पितैः ॥ कोकिलाषट्पदगणैरुपगीता मनोहराः । दक्षिणानिलसंवीताः सुमुखाः पल्लवोज्ज्वलाः ॥ (सु० सू० अ० ६) इस ऋतु में मलयाचल का दक्षिणी वायु चलता है जो कामोत्तेजक होता है। इस ऋतु में दिशायें निर्मल, पलाश, कमल, बकुल, आम्र और अशोकादि पुष्पित वृक्षों से शोभायमान, कोकिल तथा भ्रमरगणों के कर्णमधुर गुञ्जारव से मनोहर, दक्षिण दिशा की वायु से व्याप्त और वृक्षों के कोमल नवीन पत्तों से सुशोभित होती हैं। **चरके वसन्तर्तुसेव्यासेव्यानि**—वसन्ते निचितः श्लेष्मा दिनकृद्भाभिरीरितः । कायाग्निं बाधते रोगांस्ततः प्रकुरुते बहून् ॥ तस्माद्वसन्ते कर्माणि वमनादीनि कारयेत् । गुर्वम्लस्निग्धमधुरं दिवास्वप्नञ्च वर्जयेत् ॥ व्यायामोद्वर्तनं धूमं कवलग्रहमञ्जनम् । सुखाम्बुना शौचविधिं शीलयेत् कुसुमागमे ॥ चन्दनागुरुदिग्धाङ्गो यवगोधूमभोजनः । शारभं शाशमैणेयं मांसं लावकपिञ्जलम् ॥ भक्षयेन्निर्गदं सीधुं पिबेन्माध्वीकमेव वा । वसन्तेऽनुभवेत् स्त्रीणां काननानाञ्च यौवनम् ॥ (च० सू० अ० ६) हेमन्त में सञ्चित कफ वसन्त ऋतु में सूर्य की किरणों से द्रवित होकर जठराग्नि को मन्द कर अनेक रोग उत्पन्न करता है इस लिये अम्ल, स्निग्ध और मधुर पदार्थ तथा दिवास्वप्न वर्जित करना चाहिए। इस ऋतु में व्यायाम, उबटन, धूमपान, कवलग्रह, नेत्रों में अञ्जन और मन्दोष्ण पानी से शौच-स्नानादि करने चाहिए। चन्दन तथा अगुरु के कल्क से शरीराङ्गों को लिप्त कर यव और गेहूँ के बने पदार्थ खावें तथा शरभ, खरगोश, हरिण, लाव और कपिञ्जल का मांस सेवन करें। निर्गद, सीधु तथा माध्वीक का पान करना चाहिये एवं स्त्रियों तथा जङ्गलों का सेवन करें।

व्यायाममुष्णमायासं मैथुनं परिशोषि च ।
रसांश्चाग्निगुणोद्रिक्तान् निदाघे परिवर्जयेत् ॥ ४० ॥

ग्रीष्मर्तुवर्जनीयम्—इस ऋतु में व्यायाम, अग्नि तथा धूप का सेवन, किसी प्रकार का श्रम, मैथुन, देह का शोषण करने वाले आहार-विहारादि कर्म तथा अग्नि (पित्त) गुण की अधिकता वाले कटु, अम्ल और लवण रस वर्जित करने चाहिए ॥ ४० ॥

सरांसि सरितो वापीर्वनानि रुचिराणि च ।
चन्दनानि परार्ध्यानि स्रजः सकमलोत्पलाः ॥ ४१ ॥
तालवृन्तानिलाहारांस्तथा शीतगृहाणि च ।
घर्मकाले निषेवेत वासांसि सुलघूनि च ॥ ४२ ॥
शर्कराखण्डदिग्धानि सुगन्धीनि हिमानि च ।
पानकानि च सेवेत मन्थांश्चापि सशर्करान् ॥ ४३ ॥
भोजनं च हितं शीतं सघृतं मधुरद्रवम् ।
शृतेन पयसा रात्रौ शर्करामधुरेण च ॥ ४४ ॥
प्रत्यग्रकुसुमाकीर्णे शयने हर्म्यसंस्थिते ।
शयीत चन्दनाद्राङ्गः स्पृश्यमानोऽनिलैः सुखैः ॥४५॥

ग्रीष्मर्तुचर्या—इस ऋतु में तालाब, नदियाँ, बावडियाँ, सुन्दर बगीचे, अच्छी सुगन्ध वाले चन्दन, सुगन्धित पुष्पों की मालाएँ जिनमें रक्त और नीलकमल पुष्प लगे हों, ताड के पंखों की वायु, शीतल भवन और अत्यन्त हल्के श्वेत वस्त्र ये सेवनीय हैं। एवं शर्करा और खांड से युक्त, सुगन्धित तथा बर्फ से ठण्डे किये हुए पानकों (पेयों) का सेवन करना चाहिए। इनके सिवाय जल, घृत तथा शर्करा से युक्त सत्तुओं का सेवन करना चाहिए। इस ऋतु में मधुर द्रव (रसालपानकादि) जिसमें अधिक हों ऐसा घृतयुक्त शीतल भोजन करना हितकारी है। रात्रि के समय शर्करा से मधुर किये हुए शृत (उबाले हुए) दुग्ध के साथ भोजन करना चाहिए। रात्रि के समय हर्म्य (प्रासाद) की छत के ऊपर रखे हुए तथा प्रत्यग्र (ताजा तोडे हुये = नवीन) पुष्पों से व्याप्त (आच्छादित) शयन (बिछौने) पर चन्दन से गीले अङ्ग कर के तथा सुख देने वाले पंखों की हवाओं से स्पर्शित होता हुआ शयन करें ॥ ४१-४५ ॥

विमर्शः—सरांसि—अमनुष्यखातानि जलाधाराणि, सरित् = नदी, वापी = पाषाणादिबद्धा ससोपाना स्वल्पा जलाधारिका पत्थरों से बाँधी हुई तथा जिसमें उतरने के लिये सीढियाँ लगी हों ऐसी बावडी या तालाब। वनानि रुचिराणीति, सच्छायानि मनोहराणि काननानि । परार्ध्यानि = उत्कृष्टानि । सुगन्धीनि = कर्पूरादिवासितानि । मन्थान् = जलघृताक्तसक्तून् । कुछ तन्त्रकारों ने इस ऋतु में दिन में मन्थादि शीतल पान तथा रात्रि में शृत दुग्ध के साथ भोजन करना लिखा है—दिवा पानानि शीतानि हितं रात्रौ च भोजनम् । ससर्पिःशर्करं शीतं शृतेन पयसा युतम् ॥ प्रत्यग्रकुसुमाकीर्णे = नूतनपुष्पास्तृते शयने । रात्रि में मकान के ऊपरी भाग में छत पर शयन तथा दिन में शीत गृह में शयन करना चाहिए 'दिवा शीतगृहे निद्रां निशि चन्द्रांशुशीतले । भजेच्चन्दनदिग्धाङ्गः प्रवाते हर्म्यमस्तके ॥ (च. सू. अ. ६) **सुश्रुते ग्रीष्मर्तुलक्षणानि**—ग्रीष्मे तीक्ष्णांशुरादित्यो मारुतो नैर्ऋतोऽसुखः । भूस्तप्ता सरितस्तन्व्यो दिशः प्रज्वलिता इव ॥ भ्रान्तचक्राह्वयुगलाः पयःपानाकुला मृगाः । ध्वस्तवीरुत्तृणलता विपर्णाङ्कितपादपाः ॥ (सु. सू. अ. ६) ग्रीष्मर्तु में सूर्य की किरणें बडी तेज होती हैं। नैर्ऋत्य दिशा का दुःखदायी पवन चलता है, पृथ्वी गरम हो जाती है, नदियाँ पानी कम हो जाने के कारण अल्प प्रवाह युक्त होती हैं। दिशाएँ जलती हुई सी प्रतीत होती हैं। पानी की खोज करने में भ्रान्त हो कर चकवा और चकवी घूमती फिरती हैं। हरिण प्यास के मारे व्याकुल हो जाते हैं। छोटे पौधे, घास तथा बेल सूख जाते हैं और बडे वृक्ष पत्र विहीन हो जाते हैं। **चरके ग्रीष्मर्तुवर्णनं सेव्यासेव्यञ्च**—मयूखैर्जगतः स्नेहं ग्रीष्मे पेपीयते रविः । स्वादु शीतं द्रवं स्निग्धमन्नपानं तदा हितम् ॥ शीतं सशर्करं मन्थं जाङ्गलान् मृगपक्षिणः । घृतं पयः सशाल्यन्नं भजन् ग्रीष्मे न सीदति ॥ मद्यमल्पं न वा पेयमथवा सुबहूदकम् । लवणाम्लकटूष्णानि व्यायामञ्च विवर्जयेत् ॥ दिवा शीतगृहे निद्रां निशि चन्द्रांशुशीतले । भजेच्चन्दनदिग्धाङ्गः प्रवाते हर्म्यमस्तके ॥ व्यजनैः पाणिसंस्पर्शैश्चन्दनोदकशीतलैः । सेव्यमानो भजे-

दारयां मुक्तामणिविभूषितः ॥ काननानि च शीतानि जलानि कुसुमानि च । ग्रीष्मकाले निषेवेत मैथुनाद्विरतो नरः ॥ (च. सू. अ. ६) ग्रीष्म ऋतु में सूर्य अपनी किरणों के द्वारा स्थावर जङ्गम पदार्थ या वस्तु स्वरूप जगत् के स्नेहांश (द्रवांश) को खींच लेता है अतः इस ऋतु में मधुर, शीतल, द्रव और स्निग्ध अन्न तथा पेय हितकारी होते हैं जैसे शर्करा, घृत और पानी युक्त मन्थ (सक्तु), जङ्गली पशु और पक्षियों के मांसरस, घृत, दुग्ध और साँठी चावलों का भात सेवन करें। मद्य अल्प पीवे, अथवा नहीं पीवे किं वा उसमें बहुत सा पानी मिश्रित कर पीने से नुकसान नहीं होता है। लवण, अम्ल, कटु, रस वाले खाद्य-पेय तथा उष्ण पदार्थ और व्यायाम वर्जित करें। चन्दन के जल से शीतल (सिंचे) हुए पंखों से हवा करें तथा गले में मोती तथा अन्य शीतल मणियाँ (रत्न) पहन कर ठण्डे बगीचों में घूमे, बैठे या सोवे तथा शीतल जल और शीतल पुष्पों को सेवन करें। इस ऋतु में मैथुन नहीं करना चाहिए, अथवा अल्प करें। मन्थपरिभाषा—सक्तवः सर्पिषा युक्ताः शीतवारिपरिप्लुताः । नात्यच्छा नातिसान्द्राश्च मन्थ इत्यभिधीयते ॥

तापात्यये हिता नित्यं रसा ये गुरवस्त्रयः ।
पयो मांसरसाः कोष्णास्तैलानि च घृतानि च ॥४६॥
बृंहणं चापि यत्किञ्चिदभिष्यन्दि तथैव च ।
निदाघोपचितं चैव प्रकुप्यन्तं समीरणम् ॥ ४७ ॥
निहन्यादनिलघ्नेन विधिना विधिकोविदः ।
(नदीजलं रूक्षमुष्णमुदमन्थं तथाऽऽतपम् ॥ ४८ ॥
व्यायामं च दिवास्वप्नं व्यवायं चात्र वर्जयेत् ।
नवान्नरूक्षशीताम्बुसक्तूंश्चापि विवर्जयेत्) ॥ ४९ ॥
यवषष्टिकगोधूमान् शालींश्चाप्यनवांस्तथा ।
हर्म्यमध्ये निवाते च भजेच्छय्यां मृदूत्तराम् ॥ ५० ॥
सविषप्राणिविण्मूत्रलालानिष्ठीवनादिभिः ।
समाप्लुतं तदा तोयमान्तरीक्षं विषोपमम् ॥ ५१ ॥
वायुना विषदुष्टेन प्रावृषेण्येन दूषितम् ।
तद्धि सर्वोपयोगेषु तस्मिन् काले विवर्जयेत् ॥ ५२ ॥
अरिष्टासवमैरेयान् सोपदंशांस्तु युक्तितः ।
पिबेत् प्रावृषि जीर्णांस्तु रात्रौ तानपि वर्जयेत् ॥५३॥
निरूहैर्बस्तिभिश्चान्यैस्तथाऽन्यैर्मारुतापहैः ।
कुपितं शमयेद्वायुं वार्षिकं चाचरेद्विधिम् ॥ ५४ ॥

प्रावृड्वर्या—ताप (ग्रीष्म) ऋतु के अत्यय (नाश) होने पर मधुर, अम्ल और लवण इन तीन भारी (गुरु स्वभावी) रसों का सेवन करना चाहिए। इनके अतिरिक्त मन्दोष्ण दुग्ध, मांसरस, विविध प्रकार के (अर्थात् औषध साधित) तैल और घृतों का सेवन करना चाहिए। तथा जो कोई खाद्य-पेय अथवा आहार-विहार बृंहण हो एवं अभिष्यन्दी हो उसका सेवन करना चाहिए। ग्रीष्मर्तु में सञ्चित हुए तथा इस (प्रावृट्) ऋतु में कुपित होने वाली वायु को शास्त्र के विधिविधान को जानने वाला वैद्य वातनाशक (स्नेहन, स्वेदन आदि) विधियों के द्वारा नष्ट करे। इस ऋतु में नदी का पानी, रूक्ष तथा उष्ण पदार्थ, उदमन्थ (सक्तु), धूप में बैठना या भ्रमण करना, व्यायाम, दिवाशयन और स्त्री-सम्भोग वर्जित करना चाहिए तथा नवीन अन्न (एक वर्ष से कम पुराने), रूक्ष और शीतल पदार्थ, शीतल जल तथा सत्तू भी वर्जित कर देवें। जव की रोटी तथा बाटी, साँठी, चावलों का भात, गेहूँ की रोटी, पूड़ी, लप्सी और पुराने शालि के भात का सेवन करना चाहिए। मकान के मध्य में तथा जहाँ झोंके (प्रवाह) की वायु सीधी न आती हो ऐसे स्थान में मुलायम आच्छादन (चद्दर आदि) से युक्त शय्या पर शयन करना चाहिए। प्रावृट् ऋतु में आन्तरीक्ष (आकाश से गिरा हुआ) जल विषैले प्राणियों के मल, मूत्र, लाला, थूक आदि से मिले हुए होने के कारण विष के समान हो जाता है एवं शालपुष्पादि तथा विषौषधिपुष्पगन्धादि दोष से दूषित हुई प्रावृट् काल की वायु के सम्पर्क से भी यह जल दूषित हो जाता है इस लिये ऐसे जल को इस ऋतु में शौच, स्नान-पान आदि किसी भी कार्य में प्रयुक्त न करें। प्रावृट् ऋतु में युक्तिपूर्वक मद्य को रुचिकर बनाने वाले द्रव्यों (मसालों) से युक्त कर पुराने अरिष्ट, आसव और मैरेय का पान करना चाहिए किन्तु रात्रि के समय इन्हें नहीं पीवें। प्रावृट् ऋतु में कुपित हुए वायु को निरूहण बस्ति से, अनुवासन बस्ति से तथा अन्य वातनाशक उपायों (स्नेहन, स्वेदन आदि) से शान्त करनी चाहिए तथा अन्य वर्षा की विधियों का सेवन करना चाहिए ॥ ४६–५४ ॥

विमर्शः—बृंहणलक्षणम्—बृंहत्वं यच्छरीरस्य जनयेत्तद्धि बृंहणम् । गुरु शीतं मृदु स्निग्धं बहलं स्थूलपिच्छिलम् । प्रायो मन्दं स्थिरं श्लक्ष्णं द्रव्यं बृंहणमुच्यते ॥ 'देहबृंहणाय हितं बृंहणीयम्' 'बृंहणं पृथिव्यम्बुगुणभूयिष्ठम्' 'मांसं बृंहणीयानाम्' 'शरीरबृंहणे नान्यत् खाद्यं मांसाद्विशिष्यते' । नहि मांससमं किञ्चिद् बृंहणं बलवर्द्धनम्' अभिष्यन्दि—पैच्छिल्याद्गौरवाद् द्रव्यं रुद्ध्वा रसवहाः सिराः । धत्ते यद्गौरवं तत्स्यादभिष्यन्दि यथा दधि ॥ निदाघोपचितमिति—ग्रीष्म में सञ्चित हुए वायु को प्रावृट् में कुपित होने पर वातनाशक उपायों से शान्त करे। यहाँ पर प्रश्न यह होता है कि वर्षा, हेमन्त और ग्रीष्म में क्रमशः सञ्चित होने वाले पित्त, कफ और वायु को विरेचन, वमन और बस्ति के प्रयोग करते रहने से शरद, वसन्त और प्रावृट् ऋतुओं में इन दोषों का प्रकोप ही नहीं होगा फिर तदर्थ संशामक विधि कैसे सार्थक होगी ? जैसा कि यही आशय अन्यत्र लिखा भी है—'सञ्चयेऽपहृता दोषा लभन्ते नोत्तरा गतीः' प्रश्न सत्य है किन्तु किन्हीं अन्य प्रबल कारणों से सञ्चयपूर्वक प्रकोप हो तो उसके संशमनार्थ विधान आवश्यक है ही। वार्षिकञ्चाचरेद्विधिम्—वर्षा, शीत और ग्रीष्म समय में आनन्ददायक निम्न वस्तुएँ होती हैं—वर्षर्तौ—पीताम्बरं पयःपानं पादुका पूर्णमन्दिरम् । पराश्नं पद्मपत्राक्षी वृष्टौ सप्त सुखावहाः ॥ शीतर्तौ—तैलतापनताम्बूलं तूलिका तप्तभोजनम् । तप्ताम्बु तरुणी नारी शीते सप्त सुखावहाः ॥ ग्रीष्मर्तौ—चन्दनञ्च चतुर्दारं चामरं चीरचन्द्रमाः । चम्पकं चतुरा नारी ग्रीष्मे सप्त सुखावहाः ॥ सुश्रुते प्रावृड्ऋतुलक्षणानि—प्रावृष्यम्बरमानद्धं पश्चिमानिलकर्षितैः । अम्बुदैर्विद्युदुद्योतप्रस्रुतैस्तुमुलस्वनैः ॥ कोमलश्यामशष्पाढ्या शक्रगोपोज्ज्वला । कदम्बनीपकुटजसर्जकेतकिभूषिता ॥ (सु० सू० अ० ६) इस ऋतु में पश्चिम दिशा की वायु द्वारा खींचे हुए बादलों से

आकाश व्याप्त रहता है और मेघगर्जन तथा बिजली की चमक के साथ कभी थोड़ा थोड़ा पानी बरसता है। भूमि श्यामल रङ्ग की कोमल हरियाली से समृद्ध तथा बीरबहूटियों से उज्ज्वल होती है और कदम्ब, बन्धूक, कुड़ा, राल, केतकी आदि वृक्षों से शोभायमान दीखती है। प्रावृट् ऋतु के अन्य लक्षण—कुर्वन्निश्चातकान् हृष्टान् हंसान्मानसगामिनः। भीमसंतमसे सार्थं पथि दुर्गमकर्दमे॥ जवनोद्वहनक्रान्ताः प्रहृष्टासारमण्डनाः। तडित्प्रमाहतालोकनिमीलन्नयनोत्पलाः॥ गर्जितध्वनिना त्रस्तहृदयाश्चाभिसारिकाः। सेव (स्तर) कल्पोतसंकाशैर्मेघै रुद्यास्तुभूषणैः॥ जितहंसावलीकान्ति-बलाकापंक्तिसारितैः। केकागर्जवलद्ग्रीवनृत्यद्बर्हिणवीक्षितैः॥

ऋतावृतौ य एतेन विधिना वर्तते नरः।
घोरानृतुकृतान् रोगान्नाप्नोति स कदाचन॥ ५५॥

ऋतुपथ्याचरणफलम्—पूर्व में छहों ऋतुवर्णनों में कहे हुये के अनुसार प्रत्येक ऋतु में जो व्यक्ति पथ्य आहार-विहार तथा वमनादि पञ्चकर्मों का सेवन करता है वह कभी भी भिन्न भिन्न ऋतु में उत्पन्न होने वाले भयङ्कर रोगों से आक्रान्त नहीं होता है॥ ५५॥

विमर्शः—ऋतुकृतान् रोगानिति— अर्थात् अत्यधिक शीत या अत्यधिक उष्णता के कारण होने वाले ज्वर प्रभृति रोग। वास्तव में रोग उत्पन्न ही न हों ऐसा आहार-विहार करना यह सर्वोत्तम उपाय है। कीचड़ में पांव देके फिर धोना इसके बनिस्बत दूर ही के निकलना यही बुद्धिमानी है—'प्रक्षालनाद्धि पङ्कस्य दूरादस्पर्शनं वरम्॥ 'Prevention is better then cure' इसके लिये चरकाचार्य के निम्न श्लोक बहुत महत्त्व के हैं—धर्म्याः क्रिया हर्षनिमित्तमुक्तास्ततोऽन्यथा शोकवशं नयन्ति। शरीरसत्त्वप्रभवास्तु रोगास्तयोरवृत्त्या न भवन्ति भूयः॥ सत्त्वाश्रये वा द्विविधे यथोक्ते पूर्वं गदेभ्यः प्रतिकर्म नित्यम्। जितेन्द्रियं नानुपतन्ति रोगास्तत्कालयुक्तं यदि नास्ति दैवम्॥ हैमन्तिकं दोषचयं वसन्ते प्रवाहयन् ग्रैष्मिकमभ्रकाले। घनात्यये वार्षिकमाशु सम्यक् प्राप्नोति रोगानृतुजान्न जातु॥ नरो हिताहारविहारसेवी समीक्ष्यकारी विषयेष्वसक्तः। दाता समः सत्यपरः क्षमावानाप्तोपसेवी च भवत्यरोगः॥ मतिर्वचः कर्म सुखानुबन्धं सत्त्वं विधेयं विशदा च बुद्धिः। ज्ञानं तपस्तत्परता च योगे यस्यास्ति तं नानुपतन्ति रोगाः॥ (च० शा० अ० २)

अत ऊर्ध्वं द्वादशाशनप्रविचारान् वक्ष्यामः। तत्र शीतोष्णस्निग्धरूक्षद्रवशुष्कैककालिकद्विकालिकौषधयुक्तमात्राहीनदोषप्रशमनवृत्त्यर्थाः॥ ५६॥

अब इसके अनन्तर भोजन के बारह प्रकार के विभागों का वर्णन करते हैं जैसे १ शीत, २ उष्ण, ३ स्निग्ध, ४ रूक्ष, ५ द्रव, ६ शुष्क, ७ एककालिक, ८ द्विकालिक, ९ औषधयुक्त, १० मात्राहीन, ११ प्रशमनकारक और १२ वृत्तिप्रयोजक आहार॥ ५६॥

तृष्णोष्णमदृदाहार्तान् रक्तपित्तविषातुरान्।
मूर्च्छार्तान् स्त्रीषु च क्षीणान् शीतैरन्नैरुपाचरेत्॥५७॥

शीताहारविषयः—जो व्यक्ति तृष्णा, उष्णता, मद और दाह से पीड़ित हो तथा रक्तपित्त के रोगी, विष खाये हुए एवं मूर्च्छा रोग से पीड़ित और अधिक स्त्री-सम्भोग से जो क्षीण हो गये हों ऐसों को शीतवीर्य द्रव्यों के सेवन द्वारा लाभ पहुंचावे॥ ५७॥

विमर्शः—शीतवीर्य खाद्य तथा पेय उभय का उपयोग करना चाहिए। पुराने शालि चावल, सांठी चावल, गेहूं, मूंग की दाल, ये प्रायः शीतवीर्य हैं। पेयों में दुग्ध, सांठे का रस एवं फलों में संतरा, मोसम्बी, सेव, सेव का मुरब्बा, आंवले का मुरब्बा, केला, चीकू, अनार (दाडिम), अंगूर, किसमिस उत्तम हैं। औषधियों में अष्टवर्ग, जीवनीयगण, शतावरी, मूसली, सालमपञ्जा, आंवले, गिलोय आदि श्रेष्ठ हैं। इनके अतिरिक्त, मुक्ता, प्रवाल, शुक्ति और अकीक इनकी पिष्टी शीतवीर्य है।

कफवातामयाविष्टान् विरिक्तान् स्नेहपायिनः।
अक्लिन्नकायांश्च नरानुष्णैरन्नैरुपाचरेत्॥ ५८॥

उष्णाहारविषयः—जो व्यक्ति कफ और वायु के रोगों से ग्रसित हों, तथा जिन्होंने विरेचन लिया हो एवं जिन्होंने स्नेहपान किया हो तथा जिनका शरीर क्लेद-रहित हो ऐसों को उष्णवीर्य खाद्य तथा पान एवं औषधियों के सेवन द्वारा लाभ पहुँचाना चाहिए॥ ५८॥

विमर्शः—उष्ण वीर्य वाले खाद्यों में बाजरा, मकई, गेहूं, चना, उड़दी, तुवर (रहर) की दाल, मोठ की दाल, कुलत्थ, सर्व प्रकार के पशु-पक्षियों का मांस तथा पेयों में भैंस का दुग्ध, गुड़ तथा गुड़ के विकार (राब, फाणित आदि), शहद, फलों में आम, एरण्ड, ककड़ी, छुहारा, मुनक्का, बादाम, अखरोट, चिलगोजा, पका खोपरा (नारियल), तिल्ली, मूँगफली, औषधियों में त्रिकटु (सोंठ, मरिच, पिप्पली), पञ्चकोल (पिप्पली, पिपरामूल, चव्य, चित्रक और सोंठ), दशमूल के द्रव्य, अश्वगन्धा तथा शाकों में बैंगन, आलू, रतालू, एवं समस्त आसव एवं अरिष्ट, रस, भस्में आदि उष्णवीर्य हैं। उष्ण भोजन भी लाभदायक है जैसा कि चरकाचार्य ने भी लिखा है—'उष्णमश्नीयात्, उष्णं हि भुज्यमानं स्वदते, भुक्तश्चाग्निमौदर्यमुदीरयति, क्षिप्रं जरां गच्छति, वातमनुलोमयति, श्लेष्माणञ्च परिह्रासयति, तस्मादुष्णमश्नीयात्' (च० वि० अ० १) उष्ण भोजन स्वादिष्ट, अग्निदीपक, शीघ्र पचने वाला, वात का अनुलोमक, व कफ का नाशक होता है अतः उष्ण भोजन करना चाहिए। सुश्रुताचार्य ने भी लिखा है कि स्निग्ध और उष्ण भोजन शरीर के बल तथा अग्नि को बढ़ाता है—'स्निग्धोष्णं बलवह्निदम्' (सु० सू० अ० ४६)

वातिकान् रूक्षदेहांश्च व्यवायोपहतांस्तथा।
व्यायामिनश्चापि नरान् स्निग्धैरन्नैरुपाचरेत्॥ ५९॥

स्निग्धाहारविषयः—वात प्रकृति वाले तथा वात रोग से ग्रसित एवं जिनका शरीर रूक्ष हो उन्हें तथा अधिक स्त्री-सम्भोग से दुर्बल और व्यायाम करने वाले पुरुषों को स्निग्ध अन्न से ठीक करें॥ ५९॥

विमर्शः—कुछ अन्न ऐसे होते हैं जो स्वयं स्निग्ध होते हैं जैसे गेहूँ, ज्वार, उड़द आदि। पेयों में दुग्ध, घृत, तैल, वसा, मज्जा, मांसरस आदि। फलों में बादाम, खोपरा, तिल, मूंगफली आदि। इस तरह शरीर के लिये स्निग्ध पदार्थ

आवश्यकीय है। आयुर्वेद में स्नेह के चार भेद कर दिये हैं घृत, तैल, वसा और मज्जा—'घृतं तैलं वसा मज्जा स्नेहोऽप्युक्तश्चतुर्विधः' घी, तैल, वसा, मज्जा और मेद ये द्रव्य पचने के लिये उत्तरोत्तर भारी तथा वातनाशन के लिये अधिक बलवत्तर होते हैं—वसामेदोमज्जानो गुरूष्णमधुरा वातघ्नाः' आधुनिककाल में प्राचीनकाल की भाँति कई प्रकार के जङ्गम स्नेह पदार्थ खाने के लिये तथा चिकित्सा के लिये प्रयुक्त होते हैं। इनमें मछली का तैल निर्देश करने योग्य है। इसमें स्नेह (Fat) के सिवाय शरीर की पुष्टि और रक्षा के लिये अत्यावश्यकीय जीवनीय द्रव्य (Vitamin A. D.) होते हैं। इसके दो प्रधान उदाहरण हैं काडलीवर आयल और हलीबट लीवर आयल। तैल, वसा, मेद और मज्जा ये चारों द्रव्य स्नेहवर्ग के हैं। इनमें तैल (Oil) और वसा (Fat) शुद्ध स्नेह द्रव्य हैं। स्नेह द्रव्य ग्लिसरीन और फेटीएसिड के संयोग से बनते हैं। रासायनिक दृष्टि से उस प्रकार के स्नेह को तैल कहते हैं जिसमें निम्नश्रेणी के फेटि एसिड्स् (Lower Fatty acids) होते हैं। इनके कारण वह स्नेह पतला होता है। जिसमें उच्चश्रेणी के फेटि एसिड्स् (Higher Fatty acids) होते हैं वह वसा कहलाता है। इनके कारण वह स्नेह कुछ गाढ़ा होता है। मेद (Red marrow) और मज्जा (Yellow marrow) स्नेहभूयिष्ठ द्रव्य हैं, पूर्णतया स्नेह नहीं हैं। वसा से शरीर में उष्णता और शक्ति उत्पन्न होती है। अधिक राशि में सेवन करने पर मेद शरीर में सञ्चित होकर सञ्चित शक्ति (Reserve energy) का कार्य करती है। कार्बोहैड्रेट की अपेक्षा वसा से ढाई गुनी शक्ति अधिक उत्पन्न होती है। घी, माखन, स्थावर और जङ्गम तैल, बादाम, पिस्ता, अखरोट इत्यादि की गिरी में वसा अधिक राशि में मिलती है। आयुर्वेद के त्रिकालदर्शी महर्षियों ने स्नेहों के भेद तथा उनकी विशेषता का जो पता लगाया है वहाँ तक आज का विज्ञान नहीं पहुँच पाया है और अभी तक इन वैज्ञानिकों को घृत और तैल में विशेष ज्ञान न होने से डालडा वनस्पति तैल को घृत के समान गुणों वाला घोषित कर उसका उत्पादन करके घी के अन्दर मिश्रित कर बिकवाने से भारत के निवासियों का स्वास्थ्य खतरे में डाला जा रहा है। घृत के अभाव हो जाने से रिकेटस और टी० बी० जैसे महाभयङ्कर रोग रूपी काल के मुख में जनता विलीन होती जा रही है जिसकी भारत सरकार के स्वास्थ्य विभाग की महान् मूर्खता ही कही जा सकती है कि ये भारतीय होते हुए भी पाश्चात्य रङ्ग से रंगे होने के कारण इनको भारतीय घृत का ज्ञान नहीं है। देखिये आयुर्वेद में स्नेहों का कैसा सुन्दर महावैज्ञानिक वर्णन है—सर्व प्रथम आयुर्वेद में एक स्नेह का वर्ग कायम कर लिया है अर्थात् जिनमें चिक्कणता हो उन्हें स्नेह कहते हैं फिर उनके उत्पत्ति की दृष्टि से दो भेद कर दिये गये हैं—स्थावरयोनि और जङ्गमयोनि—स्नेहानां द्विविधा सौम्य योनिः स्थावरजङ्गमा। स्थावरस्नेहाः—तिलः प्रियालाभिषुकौ बिभीतकश्चित्रामयैरण्डमधूकसर्षपाः। कुसुम्भबिल्वारुकमूलकातसीनिकोचकाक्षोडकरञ्जशिग्रुकाः॥ जङ्गमस्नेहाः—स्नेहाशयाः स्थावरसंज्ञितास्तथा स्युर्जङ्गमा मत्स्यमृगाः सपक्षिणः। तेषां दधिक्षीरघृतामिषं वसा स्नेहेषु मज्जा च तथोपदिश्यते॥ (च० सू० अ० १३) इन दोनों प्रकार की योनि (कारण) से उत्पन्न हुये स्नेहों को चार भागों में विभक्त कर दिया गया है जिन्हें चार महास्नेह कहा जाता है—सर्पिस्तैलं वसा मज्जा स्नेहो दिष्टश्चतुर्विधः। पानाभ्यञ्जनवस्त्यर्थं नस्यार्थश्चैव योगतः॥ इन चारों प्रकार के स्नेहों का भी उपयोग भिन्न-भिन्न है न कि डालडा को घी के स्थान में खिलाने जैसा अज्ञानान्धकार। अर्थात् पीने या खाने में घृत, अभ्यङ्ग कार्य में तैल, वस्तिकार्य में वसा तथा नस्य के लिये मज्जा प्रयुक्त करनी चाहिये। इस तरह घृत का सर्व स्नेहों में प्रथम महत्त्व का स्थान है। घृत को तो वास्तव में आयुष्य ही माना है 'आयुर्वै घृतम्' यही आयुर्वेद की महान् वैज्ञानिकता है जिसे आज का विज्ञान समझ नहीं पा रहा है। घृत द्रव्यान्तर के साथ संयुक्त होने पर संस्कारानुवर्तन युक्त हो जाता है अर्थात् यह योगवाही है अपने गुणों को रखता हुआ अन्य गुणों का भी वहन करता है इसी लिये घृत को सर्वोत्तम माना है अन्य स्नेह ऐसे नहीं हैं—सर्पिस्तैलं वसा मज्जा सर्वस्नेहोत्तमा मताः। एषु चैवोत्तमं सर्पिः संस्कारस्यानुवर्तनात्॥ (च० सू० अ० १३) संस्कारो गुणान्तरारोपणं, तस्यानुवर्तनमनुविधानं स्वीकरणमिति यावत्। एतदुक्तं भवति-यत्-न तथा तैलादयो द्रव्यान्तरसंस्कृताः संस्कारगुणान् वहन्ति यथा सर्पिरिति। अत एवोक्तम्—नान्यः स्नेहस्तथा कश्चित् संस्कारमनुवर्तते। यथा सर्पिरतः सर्पिः सर्वस्नेहोत्तमं मतम्। (च० नि० अ० १) घृत त्रिदोष-शामक भी माना गया है—स्नेहाद्वातं शमयति पित्तं माधुर्यशैत्यतः। घृतं तुल्यगुणं दोषं संस्कारात्तु जयेत्कफम्॥ (च० नि० अ० १) अन्यच्च—'घृतन्तु मधुरं सौम्यं मृदु शीतवीर्यमल्पाभिष्यन्दि स्नेहनमुदावर्तोन्मादापस्मारशूलज्वरानाहवातपित्तप्रशमनमग्निदीपनं स्मृतिमतिमेधाकान्तिस्वरलावण्यसौकुमार्यौजस्तेजोबलकरमायुष्यं वृष्यं मेध्यं वयःस्थापनं गुरु चक्षुष्यं श्लेष्माभिवर्द्धनं पाप्मालक्ष्मीप्रशमनं रक्षोघ्नञ्च' नवनीत (मक्खन) गुणाः—'नवनीतं पुनः सद्यस्कं लघु सुकुमारं मधुरं कषायमीषदम्लं शीतलं मेध्यं हृद्यं संग्राहि पित्तानिलहरं वृष्यमविदाहि क्षयकासव्रणशोषार्शोऽर्दितापहं, चिरोषितं गुरु कफमेदोविवर्धनम् बल्कारं बृंहणं शोषघ्नं विशेषेण बालानां प्रशस्यते। क्षीरोत्थं पुनर्नवनीतमुत्कृष्टस्नेहमाधुर्यमतिशीतं सौकुमार्यकरं चक्षुष्यं संग्राहि रक्तपित्तनेत्ररोगहरं प्रसादनञ्च' (सु० सू० अ० ४५) स्निग्ध द्रव्यों में मक्खन सबसे अधिक हलका पदार्थ है और उसका सम्पूर्ण पाचन और शोषण आंत में होता है। इसमें ७८ से ९४ प्रतिशत स्नेह, १२ से १५ प्रतिशत पानी, १ से ३ प्रतिशत प्रोटीन और ० से ७ प्रतिशत खनिज (फास्फेट इत्यादि) होते हैं। इनके अलावा दुग्ध के जीव द्रव्य (विटामीन A. D.) भी इसमें उपस्थित रहते हैं अत एव ताजा मक्खन क्षय, शरीरकृशता, अग्निमान्द्य आदि रोगों में अत्यन्त लाभदायक प्रमाणित हुआ है और मक्खन के संरक्षण के लिये उसे पानी में रखना चाहिये। अथवा उसमें नमक डालना चाहिये। मक्खन को ही गरम करके घी बनाया जाता है। घी में केवल मेद ही शत-प्रतिशत होता है। घृत के अनन्तर दूसरा नंबर तैल का है। यद्यपि सर्व प्रकार के स्नेह जीवन, वर्ण्य, बलवर्धक तथा वात-पित्त-कफनाशक माने गये हैं—'स्नेहना जीवना वर्ण्या बलोपचयवर्धनाः। स्नेहा ह्येते च विहिता वातपित्तकफापहाः'॥ (च० सू० १) तो भी घृत और तैल में गुणदृष्टि से जमीन और आसमान जैसा अन्तर समझना चाहिये। जैसे स्थूल दृष्टि से घृत शीत, मधुर और

रूक्ष होता है किन्तु तैल उष्ण, तीक्ष्ण और सर होता है। तैल अनेक प्रकार के होते हैं। किन्तु उनमें तिल-तैल का विशिष्ट महत्त्व है—सर्वेषां तैलजातानां तिलतैलं विशिष्यते बलार्थे स्नेहने चाग्र्यम्। (च० सू० अ० १३) तद्वस्तिषु च पानेषु नस्ये कर्णाक्षिपूरणे। अन्नपानविधौ चापि प्रयोज्यं वातशान्तये॥ (सु० सू० ४५) तैल भी अनेक रोगनाशार्थ प्रयुक्त होते हैं—तैलं संयोगसंस्कारात् सर्वरोगापहं परम्। तैलप्रयोगादजरा निर्विकारा जितश्रमाः। आसन्नतिबलाः संख्ये दैत्याधिपतयः पुरा॥ चरकाचार्य ने स्नेहों की निम्न भिन्न-भिन्न गुण तथा उपयोग लिखे हैं—घृतं पित्तानिलहरं रसशुक्रौजसां हितम्। निर्वापणं मृदुकरं स्वरवर्णप्रसादनम्॥ मारुतघ्नं न च श्लेष्मवर्धनं बलवर्धनम्। त्वच्यमुष्णं स्थिरकरं तैलं योनिविशोधनम्॥ विद्धभग्नाहतभ्रष्टयोनिकर्णशिरोरुजि। पौरुषोपचये स्नेहे व्यायामे चेष्यते वसा॥ बलशुक्ररसश्लेष्ममेदोमज्जाविवर्धनः। मज्जा विशेषतोऽस्थ्नाञ्च बलकृत् स्नेहने हितः॥ (च० सू० अ० १३)

मेदसाऽभिपरीतांस्तु स्निग्धान्मेहातुरानपि।
कफाभिपन्नदेहांश्च रूक्षैरन्नैरुपाचरेत्॥ ६०॥

रूक्षाहारविषयः—जो व्यक्ति मेदोवृद्धि से युक्त हों, अधिक चिकने शरीर वाले हों, प्रमेह रोग से पीड़ित हों तथा कफ से जिनका शरीर (मस्तिष्क, गला, फेफड़े, सन्धियाँ) अधिक व्याप्त (पीडित) हो उन्हें रूक्ष अन्न के सेवन द्वारा लाभ पहुँचाना चाहिए॥ ६०॥

विमर्शः—रूक्ष, आहार द्रव्यों में चने, जौ, बाजरा, कोद्रो आदि तथा पेयों में गोमूत्र तथा उष्णोदक देवें। शिलाजतु, गूगल, मण्डूर के योग भी उत्तम हैं। पानी में शहद मिला कर पिलाना भी हितकारी है। त्रिफला चूर्ण, हरिद्रा चूर्ण, पुनर्नवाष्टक चूर्ण ये भी लाभदायक हैं।

शुष्कदेहान् पिपासार्तान् दुर्बलानपि च द्रवैः॥ ६१॥

द्रवाहारविषयः—जिनकी देह शुष्क हो गई हो, प्यास (तृष्णा) से पीड़ित और दुर्बल मनुष्यों को द्रवप्राचुर्य आहार से लाभ पहुँचाना चाहिए॥ ६१॥

विमर्शः—द्रवभूयिष्ठ भोजनों में यवागू, मुद्गयूष, यवयूष, दुग्धपाक (खीर) तथा विविध प्रकार की शाकों के यूष एवं मांसरस का ग्रहण करना चाहिए। द्रवभूयिष्ठ भोजन सुख से पचता है—'क्षिप्रं भुक्तं समं पाके यात्यदोषं द्रवोत्तरम्' (सु० सू० अ० ४६) किन्तु जिसमें तरल पदार्थ की अधिकता है ऐसा पदार्थ तथा दुग्ध, जल आदि तरल पदार्थ अधिक मात्रा में सेवन करना ठीक नहीं हैं परन्तु पतले पदार्थ की अधिकता-शुष्क सूखे पदार्थ ठीक-ठीक पचते हैं—द्रवोत्तरो द्रवश्चापि न मात्रा गुरुरिष्यते। द्रवाढ्यमपि शुष्कन्तु सम्यगेवोपपद्यते॥ (सु० सू० अ० ४६)।

प्रक्लिन्नकायान् व्रणिनः शुष्कैर्मेहिन एव च॥ ६२॥

शुष्कभोजनविषयः—कुष्ठ, विसर्प आदि रोगों के कारण जिनका शरीर क्लिन्न (गीला = चिपचिपा) रहता हो तथा व्रण वाले और प्रमेह के रोगियों को शुष्क आहार से लाभ पहुँचाना चाहिए॥ ६२॥

विमर्शः—शुष्क भोजन का तात्पर्य घृत-तैलादि स्नेह पदार्थ से रहित भोजन से है तथा ऐसे खाद्य पदार्थों से भी है कि जिनमें स्निग्धता, मधुरता और द्रवता कम हो जैसे चने, जौ, मोठ, बाजरा, कोद्रो आदि। यद्यपि व्रणितोपासनीय अध्याय में व्रण वाले रोगी को द्रवप्रधान भोजन कराने को लिखा है तो पुनः यहाँ व्रणी के लिए शुष्क लिखने से विरोध आता है? उत्तर—वहाँ पर क्लेदरहित तथा शुद्ध व्रण वाले के लिए द्रवोत्तर भोजन का विधान समझना चाहिए तथा यहाँ प्रक्लिन्नकाय के साहचर्य से क्लेदयुक्त व्रणी का ही ग्रहण करना उपयुक्त है।

एककालं भवेद्देयो दुर्बलाग्निविवृद्धये।
समाग्नये तथाऽऽहारो द्विकालमपि पूजितः॥ ६३॥

एककालद्विकालाहारविषयः—दुर्बल पाचकाग्नि की वृद्धि के लिये रुग्ण को एक समय आहार देना उचित है तथा जिसकी अग्नि समान हो ऐसे व्यक्ति को दोनों समय भोजन कराना प्रशस्त माना गया है॥ ६३॥

विमर्शः—दुर्बलाग्निः—अनेक प्रकार के रोगों में तथा कफ की अधिकता से अग्नि मन्द हो जाती है तथा तीनों दोषों के समान रहने से पाचकाग्नि समान रहती है—मन्दस्तीक्ष्णोऽथ विषमः समश्चेति चतुर्विधः। कफपित्तानिलाधिक्यात्तत्साम्याज्जाठरोऽनलः॥ समाग्नि वाले को दोनों समय भोजन देना चाहिए, ऐसा न करने से उसकी पाचकाग्नि भोजन रूपी इन्धन को न प्राप्त कर मांसादि धातुओं का विनाश करती है। 'आहारं पचति शिखी तद्वर्जितो रसान्। रसक्षये धातून् धातुक्षये प्राणान्॥ अन्यच्च—आहारमग्निः पचति दोषानाहारवर्जितः। धातून् क्षीणेषु दोषेषु न जीवेद्धातुसंक्षये॥

औषधद्वेषिणे देयस्तथौषधसमायुतः।
मन्दाग्नये रोगिणे च मात्राहीनः प्रशस्यते॥ ६४॥

औषधयुक्तमात्राहीनाहारविषयः—जो व्यक्ति औषध लेने में द्वेष (अनिच्छा) करता हो उसे औषधयुक्त आहार देना चाहिए तथा मन्दाग्नि वाले एवं रोगी पुरुष को मात्राहीन भोजन देना चाहिए॥ ६४॥

विमर्शः—कुछ व्यक्ति ऐसे होते हैं कि उन्हें किसी वस्तु विशेष को देखने से उसे खाने की अनिच्छा हो जाती है ऐसों को वह वस्तु या औषध खाद्य अथवा पेय में मिश्रित कर देनी चाहिए। मात्राहीन अथवा किसी सर्वसाधारण स्वस्थ व्यक्ति को जितना भोजन कराना चाहिए उससे कम भोजन मात्राहीन कहलाता है। स्वस्थ पुरुष के लिये हीनमात्रा में दिया हुआ भोजन बल, वर्ण और शरीर वृद्धि का क्षय करता है—'तत्र हीनमात्रमाहारराशिं बलवर्णोपचयक्षयकरमतृप्तिकरमुदावर्तकरमनायुष्यमवृष्यमनौजस्यं शरीरमनोबुद्धीन्द्रियोपघातकरं सारविधमनमलक्ष्म्यावहमशीतेश्च वातविकाराणामायतनमाचक्षते' प्रत्येक मनुष्यों का शरीर, स्वास्थ्य, शारीरिक बल, अग्निबल, शारीरश्रम तथा बुद्धिश्रम भिन्न-भिन्न होने से एवं शीत और उष्णदेश निवास, ग्रीष्मर्तु और शीत ऋतु आदि की विभिन्नता से भोजन की मात्रा का निर्धारण नहीं किया जा सकता है इस लिये शास्त्रकारों ने आहार-मात्रा की इयत्ता का निर्धारण न कर उस व्यक्ति के अग्निबल के अनुसार स्वीकृत की है—'आहारमात्रा पुनरग्निबलापेक्षिणी' तथा

कुछ भोजन के अनन्तर ऐसे भी लक्षण लिखे हैं कि जिनसे उस व्यक्ति को विदित हो जाता है कि अब मेरा भोजन पूर्ण हो गया है—'कुक्षेरप्रपीडनमाहारेण, हृदयस्यानवरोधः, पार्श्वयोरविपाटनम्, अनतिगौरवमुदरस्य, प्रीणनमिन्द्रियाणां, क्षुत्पिपासोपरमः, स्थानासनशयनगमनोच्छ्वासप्रश्वासहास्यसंकथासु सुखानुवृत्तिः सायंप्रातश्च सुखेन परिणमनं, बलवर्णोपचयकरत्वञ्चेति मात्रावतो लक्षणमाहारस्य भवति'। (च० वि० अ० २)

यथर्तुदत्तस्त्वाहारो दोषप्रशमनः स्मृतः ॥ ६५ ॥

यथर्तुदत्ताहारफलम्—यथा ऋतु के अनुसार दिया हुआ आहार दोषप्रशामक होता है ॥ ६५ ॥

विमर्शः—आयुर्वेद शास्त्र में छः ऋतुएँ, तीन दोष, पञ्च महाभूत, षड्रस और सप्त धातुएँ मानी हुई हैं तथा भिन्न भिन्न ऋतुओं में भिन्न-भिन्न दोषों का सञ्चय, प्रकोप और प्रशमन हुआ करता है। पाञ्चभौतिक पदार्थ पञ्चमहाभूत से बने हुए शरीर की वृद्धि या क्षय करते हैं। पञ्चमहाभूतों से उत्पन्न षड्रस भी वातादि दोषत्रय तथा रस-रक्तादि सप्त धातुओं की वृद्धि या क्षय करते रहते हैं। आयुर्वेद का चिकित्सा सिद्धान्त इन्हीं पर आधारित है। इसलिए जिस ऋतु में जिस दोष का सञ्चय अथवा प्रकोप होता हो उस ऋतु में उस दोष को नष्ट करने वाला आहार दोष-प्रशामक कहलाता है। जैसे वर्षा ऋतु में वात का प्रकोप होता है तो उसमें स्निग्ध, मधुर, अम्ल, लवण और उष्ण पदार्थ तथा शरद् ऋतु में पित्त का प्रकोप होता है तो उसमें शीत, मधुर, कषाय और तिक्त पदार्थ तथा वसन्त ऋतु में कफ का प्रकोप होता है तो उसमें उष्ण, कषाय, कटु और तिक्त रस वाले भोज्य पदार्थ देने से दोषों का विनाश होता है।

अतः परं तु स्वस्थानां वृत्त्यर्थं सर्व एव च।
प्रविचारानिमानेवं द्वादशात्र प्रयोजयेत् ॥ ६६ ॥

स्वस्थवृत्त्यर्थाहारः—उक्त एकादश प्रकारों के अतिरिक्त जिन पुरुषों के वातादि दोष तथा रस-रक्तादि धातु समान हैं उनकी स्वस्थता को बनाये रखने के लिये सर्व प्रकार का आहार देना चाहिए। इस तरह भोजन के विषय में इन बारह प्रकार के विचारों या विभागों का उपयोग करना चाहिए॥

विमर्शः—मानव को स्वस्थ बनाये रखने के लिये त्रिकालदर्शी महर्षियों ने शरीर के भरण, पोषण और रक्षण के विषय में अनेक उपदेश लिखे हैं—सुश्रुताचार्य ने खाद्य पदार्थों के शूकधान्य, शमीधान्यादि भेद, उनके नवीन और पुराणों के गुण दोष, उनकी गुरुता-लघुता, भोज्य पदार्थों के अनन्तर उनके अनुपान जैसे—स्नेहों में भल्लातक और तुवरक को छोड़ के शेष में उष्णोदकानुपान—'उष्णोदकानुपानन्तु स्नेहानामथ शस्यते। ऋते भल्लातकस्नेहात्स्नेहात्तौवरकात्तथा ॥ पिष्टान्न सेवन के अनन्तर शीतोदकानुपान, मांसाहार का मद्यपियों में मद्यानुपान तथा अमद्यपियों के लिये फलरस या जल—मद्यं मद्योचितानान्तु सर्वमांसेषु पूजितम्। अमद्यपानामुदकं फलाम्लं वा प्रशस्यते ॥ स्त्री-भोग, व्यायामादि से क्लान्त हुए लोगों के लिये दुग्धानुपान—'क्षीरं घर्माध्वभाष्यस्त्रीक्लान्तानाममृतोपमम्' तथा कृशों के लिये सुरा और स्थूलों के लिये शहद पानी 'सुरा कृशानां स्थूलानामनुपानं मधूदकम्' अन्यत्र—स्निग्धोष्णं मारुते पथ्यं कफे रूक्षोष्णमिष्यते। अनुपानं हितञ्चापि पित्ते मधुर-शीतलम् ॥ हितं शोणितपित्तिभ्यः क्षीरमिक्षुरसस्तथा। अर्कशेलुशिरीषाणामासवास्तु विषार्तिषु ॥ (सु. सू. अ. ४६) अनुपाननियमाः—तदादौ कर्शयेत् पीतं स्थापयेन्मध्यसेवितम्। पश्चात्पीतं बृंहयति तस्माद्वीक्ष्य प्रयोजयेत् ॥ (सुश्रुत) भक्तस्यादौ जलं पीतमग्निसादं कृशाङ्गताम्। अन्ते करोति स्थूलत्वमूर्ध्वञ्चामाशयात्कफम् ॥ मध्ये मध्याङ्गतां साम्यं धातूनां जरणं सुखम्। (अ० सं०) 'समस्थूलकृशा भुक्तमध्यान्तप्रथमाम्बुपाः' (अ० हृ०) आहार-विधि में भी शुचि और एकान्त सुरक्षित स्थान में सिद्धमन्त्रों से प्रोक्षित एवं निर्विष सिद्ध अन्न खाने को लिखा है। परोसने के पात्रों की भी विशेषता है—घृतं कार्ष्णायसे देयं पेया देया तु राजते। फलानि सर्वभक्ष्यांश्च प्रदद्याद्वैदलेषु च ॥ कट्वराणि खडांश्चैव सर्वान् शैलेषु दापयेत्। दद्यात्ताम्रमये पात्रे सुशीतं सुशृतं पयः ॥ काचस्फटिकपात्रेषु शीतलेषु शुभेषु च। दद्याद्वैदूर्यचित्रेषु रागषाडवसट्टकान् ॥ भोजनविधिः—पूर्वं मधुरमश्नीयान्मध्येऽम्ललवणौ रसौ। पश्चाच्छेषान् रसान् वैद्यो भोजनेष्ववचारयेत् ॥ सुखमुच्चैः समासीनः समदेहोऽन्नतत्परः। काले सात्म्यं लघु स्निग्धं क्षिप्रमुष्णं द्रवोत्तरम् ॥ बुभुक्षितोऽन्नमश्नीयान्मात्रावद् विदितागमः ॥ क्षुधा के समय पर तथा सात्म्य, स्निग्ध, उष्ण और लघु तथा द्रवप्राय और मात्रा पूर्वक भोजन करना चाहिए। जो भोजन मलिन, विषादिदुष्ट, जूंठा तथा पत्थर घास-मिट्टी के छोटे-छोटे ढेले से युक्त हो एवं बासी, स्वादहीन और दुर्गन्धित हो एवं अधिक सख्त, ठण्डा, ठण्डे को गरम किया हुआ तथा जला हुआ अन्न वर्जित करना चाहिए। भोजन के साथ पानी पीने के नियम—भोजनान्ते विषं वारि जीर्णे वारि बलप्रदम्। अत्यम्बुपानान्न विपच्यतेऽन्नं निरम्बुपानाच्च स एव दोषः। तस्मान्नरो वह्निविवर्धनाय मुहुर्मुहुर्वारि पिबेदभूरि ॥ (भावप्र०) भोजनोत्तरसेवनीय—कफनाशार्थ धूमपान, पूग (सुपारी), कङ्कोल, कर्पूर, लवङ्ग, जायफल और ताम्बूल आदि का सेवन करना चाहिए पश्चात् एक सौ पग चल कर वामपार्श्व से शयन करे एवं मन को प्रिय लगाने वाले शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्धों का सेवन करना चाहिए। भोजनोत्तरवर्जनीय—भुक्त्वोपविशतस्तन्द्रा शयानस्य तु पुष्टता। आयुश्चङ्क्रममाणस्य मृत्युर्धावति धावतः ॥ (योग र०) व्यायामञ्च व्यवायञ्च धावनं पान (यान) मेव च। युद्धं गीतञ्च पाठञ्च मुहूर्त्तं भुक्तवांस्त्यजेत् ॥ (चरक) शयनं चासनञ्चापि नेच्छेद्द्रापि द्रवोत्तरम्। नाग्न्यातपौ न प्लवनं न यानं नापि वाहनम् ॥ चरकाचार्य ने भी चरकसंहिता विमान स्थान के प्रथम अध्याय में आहारविधि-विधान का बड़ा सुन्दर वर्णन किया है—'उष्णं स्निग्धं मात्रावज्जीर्णे वीर्याविरुद्धमिष्टे देशे इष्टसर्वोपकरणं नातिद्रुतं नातिविलम्बितमजल्पन्नहसंस्तन्मना भुञ्जीतात्मानमभिसमीक्ष्य सम्यक्' ये द्वादश अशन (भोजन) के विशेष विचार हैं। अर्थात् इन नियमों के अनुसार भोजन करने से स्वास्थ्य रक्षण के साथ-साथ शरीर के बलादि की भी वृद्धि होती है तथा इनके निम्न विशेष गुण भी हैं—(१) उष्ण भोजन स्वादिष्ट, पाचक, वातनाशक तथा कफनाशक होता है। (२) स्निग्ध भोजन स्वादिष्ट, शरीरेन्द्रिय-बलवर्द्धक, वातानुलोमक तथा वर्णप्रसादक होता है। (३) मात्रावद्भोजन आयुवर्द्धक एवं सुपाचक होता है—'मात्रावद्धि भुक्तं वातपित्तकफानपीडयदायुरेव विवर्धयति केवलं, सुखं गुदमनुपर्येति, न चोष्माणमुपहन्ति, अव्यथञ्च परिपाकमेति। (४) जीर्ण होने पर दूसरा अन्न

ग्रहण करें अन्यथा वह दोष-प्रकोपक होता है—'अजीर्णे हि भुञ्जानस्याभ्यवहृतमाहारजातं पूर्वस्याहारस्य रसमपरिणतमुत्तमाहाररसेनोपसृजत् सर्वान् दोषान् प्रकोपयत्याशु।' (५) वीर्याविरुद्ध भोजन करने से तज्जन्य रोग नहीं होते हैं। (६) इष्ट देश में सर्व अभीष्ट सामग्री साथ रखके भोजन करने से मनोविघात नहीं होता है। (७) अतिद्रुत (जल्दी-जल्दी) भोजन नहीं करने से उत्स्नेहन और अवसादन नहीं होते हैं तथा भोजन अपने आमाशयादि निश्चित स्थान में प्रतिष्ठित होता है। (८) नातिविलम्बितमश्नीयात्—गपशप करते हुए अथवा समाचार पत्र पढ़ते हुए अन्यमनस्क या अन्य-कार्य व्यासक्त होकर अधिक देर तक भोजन करते रहने से तृप्ति नहीं होती है, अधिक खाया जाता है परोसा हुआ भोजन ठण्डा हो जाता है जिससे उसका पाक भी विषम होता है अतः इस कुटेव को छोड़ देनी चाहिए। (९) बिना किसी से बोलते हुए (१०) बिना हँसते हुए और (११) तन्मना होकर भोजन करना चाहिए। बोलते हुए या हँसते हुए भोजन करने से भोजन के कण श्वासप्रणाली में चले जाते हैं जिससे उसी समय खाँसी शुरू हो जाती है, कभी-कभी खाँसते-खाँसते वमन भी हो सकता है। भोज्यकण श्वासप्रणाली में से न निकल सके तो वहीं सड़न उत्पन्न कर प्रणालिकाशोथ, पूय आदि उत्पन्न हो जाते हैं। (१२) अपनी आत्मा तथा शरीर का ठीक तरह से ध्यान करके भोजन करे। यह भोजन मेरे लिए हितकारी है तथा यह अहितकारी (असात्म्य) है—ऐसा विचार कर भोजन करना चाहिए। चरकाचार्य ने उक्त द्वादश अशन (भोजन) विचारों के अतिरिक्त अष्ट आहारविधि विशेषायतनों का भी उल्लेख किया —'तत्र खल्विमान्यष्टावाहारविधिविशेषायतनानि भवन्ति, तथा—प्रकृतिकरणसंयोगराशिदेशकालोपयोगसंस्थोपयोक्त्रष्टमानि भवन्ति' (च० वि० अ० १) (१) प्रकृति-भोज्य द्रव्यों का प्राकृतिक (स्वाभाविक) गुण जैसे माष स्वभाव से ही गुरु, मुद्ग लघु, शूकरमांस गुरु तथा हरिणमांस लघु होता है। मन्दाग्नि तथा दुर्बलों को लघु एवं दीप्ताग्नि तथा परिश्रमियों को गुरु भोजन देने से उनका हित होता है। (२) करण-स्वाभाविक द्रव्यों के संस्कार को करण कहते हैं तथा संस्कार का तात्पर्य है उस द्रव्य में गुणान्तरों की उत्पत्ति करना—'संस्कारो हि गुणान्तराधानमुच्यते' तथा ये गुणान्तर उस द्रव्य में जल और अग्नि के सन्निकर्ष (संयोग) से एवं शौच, मन्थन, देश, काल, वासन (पात्र) और भावना आदि से उत्पन्न होते हैं। जैसे तण्डुल को जलाग्नियोग से उबाल लेने पर वह लघु हो जाता है—सुधौतः प्रस्रुतः स्विन्नः सन्तप्तश्चौदनो लघुः' तथा रक्तशाली लघु होने पर भी अग्नियोग से अधिक लघु हो जाता है। मन्थन करने से भी गुण परिवर्तित हो जाते हैं—'शोथकृद्दधि शोथघ्नं सस्नेहमपि मन्थनात्' देश से भी गुणान्तर होता है यथा—'भस्मराशेरधः स्थापयेत्'। वासना से भी गुणान्तर उत्पन्न होते हैं जैसे जल में कमलादि पुष्प डालने से सुगन्धित होना। किसी भी स्वरस की भावना देने से गुणान्तर या गुणोत्कर्ष हो जाता है जैसे आमलक-स्वरस-भावित आमलकी रसायन। कालप्रकर्ष से भी गुण बदलते हैं—'पक्षाज्जातरसं पिबेत्' (च० चि० अ० १५) किसी द्रव्य को विशिष्ट पात्र में रखने से गुणान्तर उत्पन्न हो जाते हैं—'त्रैफलेनायसीं पात्रीं कल्केनालेपयेत्' (च० चि० अ० १) कुछ द्रव्य ऐसे भी होते हैं जिनके गुण संस्कारादि से भी परिवर्तित नहीं होते जैसे वह्नि की उष्णता, वायु की चलता और तैलों की स्निग्धता—वह्नेरौष्ण्यं वायोश्चलत्वं तैलस्य स्नेह-इत्यादि। (३) संयोग—दो अथवा अधिक द्रव्यों के मिलने से भी गुणान्तर उत्पन्न हो जाता है जैसे समान प्रमाण में मिश्रित शहद और घृत तथा शहद मछली और दुग्ध का संयोग विष का रूप ले लेता है। (४) राशि—का अर्थ प्रमाण है जो कि सर्वग्रह और परिग्रह भेद से दो प्रकार का होता है। सर्वग्रह अर्थात् मिश्रित किये हुए अन्न, मांस और सूप (दाल) एकपिण्ड से मान करना तथा परिग्रह शब्द से खाद्य-पेयों का पृथक्-पृथक् प्रमाण ग्रहण करना जैसे अन्न १ कुडव, सूप १ पल और मांस द्विपल ले के फिर समुदाय का मान करना। (५) देशः पुनः स्थानम्—द्रव्यों के उत्पन्न होने का स्थान देश कहलाता है जैसे हिमालय सौम्य होने से वहाँ उत्पन्न हुए द्रव्य शीत, मधुर तथा वातपित्तनाशक होते हैं तथा विन्ध्यादि पर्वत आग्नेय होने से वहाँ उत्पन्न हुए द्रव्य उष्ण तथा कटु तिक्तादि-रसप्रधान एवं कफनाशक होते हैं—'आग्नेया विन्ध्यशैलाद्याः सौम्यो हिमगिरिर्मतः'। हिमवति जातं गुणवद्भवति, मरौ जातं लघु भवति' देशसात्म्य का तात्पर्य देश-विपरीत गुण वाले आहार द्रव्य से है जैसे अनूप (जलप्राय) देश में उष्ण, रूक्षादि द्रव्य तथा धन्व देश में शीत, स्निग्धादि द्रव्य हितकारी होते हैं। (६) काल—का अर्थ समय है। यह भी नित्यग और आवस्थिक भेद से दो प्रकार का होता है। नित्यग काल ऋतु की दृष्टि से सात्म्य की अपेक्षा करता है तथा बाल्य, वृद्धादि अवस्थाकृत काल रोगजनक होता है जैसे बाल्यावस्था में कफ विकार और वृद्धावस्था में वातविकार होते हैं। (७) उपयोगसंस्था—जिस में ऐसे आहार का उपयोग करना ऐसे का न करना आदि नियम लिखे हों। (८) उपयोक्ता—जो उस आहार का उपयोग करता है। उसी व्यक्ति की प्रकृति के अनुकूल सात्म्यादि का निश्चय रहता है।

अत ऊर्ध्वं दशौषधकालान् वक्ष्यामः। तत्राभक्तं प्राग्भक्तमधोभक्तं मध्येभक्तमन्तराभक्तं सामुद्गं मुहुर्मुहुर्ग्रासं ग्रासान्तरं चेति दशौषधकालाः॥ ६७॥

औषधकाल-वर्णनम्—अब इसके अनन्तर औषध सेवन करने के दश प्रकार के कालों का वर्णन करते हैं उनमें (१) अभक्त, (२) प्राग्भक्त, (३) अधोभक्त, (४) मध्ये भक्त, (५) अन्तराभक्त, (६) सभक्त, (७) सामुद्ग, (८) मुहुर्मुहुर्भक्त, (९) ग्रासभक्त, (१०) ग्रासान्तरभक्त ये दस औषधकाल हैं॥

तत्राभक्तं तु यत् केवलमेवौषधमुपयुज्यते॥ ६८॥

अभक्तकालनिरूपणम्—अर्थात् जिसमें केवल औषध का सेवन किया जाता है उसे अभक्तकाल कहते हैं॥ ६८॥

विमर्शः—कुछ लोगों ने अभक्त शब्द के स्थान पर निर्भक्त ऐसा पाठान्तर भी माना है।

वीर्याधिकं भवति भेषजमन्नहीनं
हन्यात्तथाऽऽमयमसंशयमाशु चैव।

तद्बालवृद्धवनितामृदवस्तु पीत्वा
ग्लानिं परां समुपयान्ति बलक्षयं च ॥६९॥

अभक्तौषधसेवनफलम्—अन्न-सेवन वर्जित करके केवल भेषज (औषध) का उपयोग करने से वह औषध अधिक शक्तिशाली होती है तथा ऐसी औषध शीघ्र ही निश्चयपूर्वक रोगों को भी नष्ट कर देती है। इस प्रकार की औषध का सेवन यदि बालक, वृद्ध, स्त्रियाँ और अन्य भी कोई कोमल प्रकृति के व्यक्ति करते हैं तो अत्यन्त ग्लानि तथा बलक्षय को प्राप्त होते हैं ॥ ६९ ॥

विमर्शः—अभक्त औषध का तात्पर्य कल्पों से है। जैसे संग्रहणी के रोगी को पर्पटीकल्प कराते समय किसी प्रकार का अन्न नहीं देके उसे तक्र, दुग्ध, पक्वाम्ररस ही देते हैं। अभक्त का अर्थ केवल औषध ही देना और अन्य खाद्य या पेय न देना ऐसा नहीं समझना चाहिए क्योंकि अन्न में ही प्राण प्रतिष्ठित होते हैं 'अन्नं वै प्राणाः' इस लिये अभक्त का अर्थ ईषद् भक्त भी हो सकता है। वास्तव में जिस समय औषध दी जाय उसके कुछ समय पूर्व या साथ में या कुछ समय बाद तक अन्न न देना चाहिए। उस औषध का ठीक तरह से पाचन और शोषण हो जाने के पश्चात् ईषद्भोजन करा दिया जाय अथवा तक्र, दुग्ध या आम्रादि रस पिलाये जाँय तो कोई हानि नहीं है।

प्राग्भक्तं नाम यत् प्राग्भक्तस्योपयुज्यते ॥ ७० ॥

प्राग्भक्तौषधवर्णनम्—जो औषध भोजन के पूर्व रुग्ण को खिलाई जाती है उसे प्राग्भक्त कहते हैं ॥ ७० ॥

शीघ्रं विपाकमुपयाति बलं न हिंस्या-
दन्नावृतं न च मुहुर्वदनान्निरेति ।
प्राग्भक्तसेवितमथौषधमेतदेव
दद्याच्च वृद्धशिशुभीरुकृशाङ्गनाभ्यः ॥ ७१ ॥

प्राग्भक्तौषधसेवनफलम्—भोजन के पूर्व ली हुई औषध का शीघ्र ही पाचन हो जाता है तथा वह औषध शरीर के बल को नष्ट नहीं करती है तथा उसके पश्चात् अन्न सेवन कर लेने से अन्न का उस पर आवरण हो जाने से फिर मुँह से बाहर निकलती नहीं है इस लिये यह प्राग्भक्त औषध वृद्ध पुरुष, बालक, डरपोक, दुर्बल तथा स्त्रियों के लिये हितकारी होने से दी जानी चाहिए ॥ ७१ ॥

अधोभक्तं नाम—यदधो भक्तस्येति ॥ ७२ ॥

अधोभक्तौषधवर्णनम्—जो औषध भोजन करने के पश्चात् सेवन की जाती है उसको अधोभक्त कहते हैं ॥ ७२ ॥

मध्येभक्तं नाम—यन्मध्ये भक्तस्य पीयते ॥ ७३ ॥

मध्येभक्तौषधवर्णनम्—जो औषध भोजन करने के मध्य में दी जाती है उसे मध्येभक्त औषध कहते हैं ॥ ७३ ॥

पीतं यदन्नमुपयुज्य तदूर्ध्वकाये
हन्याद् गदान् बहुविधांश्च बलं ददाति ।
मध्ये तु पीतमपहन्त्यविसारिभावाद्-
मध्यदेहमभिभूय भवन्ति रोगाः ॥ ७४ ॥

अधोमध्यभक्तौषधयोर्गुणाः—भोजन खाकर बाद में जो औषध सेवन की जाती है वह शरीर के ऊर्ध्वभागों (शिर, आँख, नाक, कान, मुख और वक्षस्थल) के अनेक रोगों को नष्ट करती है तथा बल प्रदान करती है तथा भोजन के मध्य में सेवित औषध इधर-उधर न फैल सकने के कारण मध्यदेह के (कोष्ठगत) रोगों को नष्ट करती हैं ॥ ७४ ॥

विमर्शः—कोष्ठलक्षणम्-स्थानान्यामाग्निपक्वानां मूत्रस्य रुधिरस्य च । हृदुण्डुकः फुफ्फुसौ च कोष्ठ इत्यभिधीयते ॥

अन्तराभक्तं नाम—यदन्तरा पीयते पूर्वापरयोर्भक्तयोः ॥

अन्तराभक्तौषधवर्णनम्—पूर्व (प्रातःकाल) और अपर (सायङ्काल) भोजन के मध्य में जो औषध सेवन की जाती है उसे अन्तराभक्त औषध कहते हैं ॥ ७५ ॥

सभक्तं नाम—यत् सह भक्तेन ॥ ७६ ॥

सभक्तौषधवर्णनम्—जो औषध भोज्य पदार्थों में मिश्रित करके पकाकर सेवन की जाय अथवा सिद्ध हुए भोजन में मिश्रित करके सेवन की जाय उसे सभक्तौषध कहते हैं ॥७६॥

पथ्यं सभक्तमबलाबलयोर्हि नित्यं
तद्द्वेषिणामपि तथा शिशुवृद्धयोश्च ।
हृद्यं मनोबलकरं त्वथ दीपनं च
पथ्यं सदा भवति चान्तरभक्तकं यत् ॥७७॥

सभक्तान्तराभक्तौषधयोर्गुणाः—भोजन में मिश्रित कर सेवन की हुई औषध स्त्रियों, दुर्बल पुरुषों, औषध-सेवन में द्वेष (अनिच्छा) रखने वाले व्यक्ति एवं बालक तथा वृद्ध पुरुषों के लिये सदा पथ्य (हितकारी) होती है। इसी प्रकार पूर्व और अपर भोजन के मध्य में सेवन की हुई औषध हृदय के लिये हितकारी, मन के बल को बढ़ाने वाली एवं पाचकाग्नि की सदा दीपक होती है ॥ ७७ ॥

सामुद्गं नाम—यद्भक्तस्यादावन्ते च पीयते ॥ ७८ ॥

सामुद्गौषधवर्णनम्—जो औषध भोजन के प्रारम्भ में तथा भोजन के अन्त में ऐसे दो बार सेवन की जाती है उसे सामुद्ग औषध या सामुद्गकाल कहते हैं ॥ ७८ ॥

दोषे द्विधा प्रविसृते तु समुद्गसंज्ञ-
माद्यन्तयोर्यदशनस्य निषेव्यते तु ॥ ७९ ॥

सामुद्गौषधसेवनगुणाः—जब शरीर में दोषों की स्थिति द्विधा प्रतिसृत होती है, अर्थात् दोष शरीर के ऊर्ध्व और अधोभाग में फैले हुए रहते हैं तब भोजन के आदि तथा अन्त में औषध को प्रयुक्त करने से उन दोषों का संशमन या नाश होता है तथा इसी की संज्ञा सामुद्ग है ॥ ७९ ॥

मुहुर्मुहुर्नाम—
सभक्तमभक्तं वा यदौषधं मुहुर्मुहुरुपयुज्यते ॥ ८० ॥

मुहुर्मुहुरौषधवर्णनम्—जो औषध सभक्त (भोजन के साथ) अथवा अभक्त (भोजन के विना) रूप से बार-बार सेवन की जाती है उसे मुहुर्मुहुः कहते हैं ॥ ८० ॥

श्वासे मुहुर्मुहुरतिप्रसृते च कासे
हिक्कावमीषु स वदन्त्युपयोज्यमेतत् ॥८१॥

मुहुर्मुहुरौषधसेवनगुणाः—जब रोगी को बार-बार श्वास अथवा कास का आवेग (दौरा) आता है। अथवा बार-बार हिक्का चलती है या बार-बार वमन होता है तब मुहुर्मुहु औषध सेवन करानी चाहिए ॥ ८१ ॥

ग्रासं तु—यत्पिण्डव्यामिश्रम् ॥ ८२ ॥

ग्रासौषधवर्णनम्—जो औषध भोजन के पिण्ड (ग्रास या कवल) के साथ मिश्रित कर सेवन की जाती है उसे ग्रास औषध कहते हैं ॥ ८२ ॥

विमर्शः—ग्रासम् = अन्नेन सह ग्रस्यते भक्ष्यते सेव्यते वा यत्तद्ग्रासम् । पिण्डव्यामिश्रम् = कवलव्यामिश्रम् ।

ग्रासान्तरं तु—यद्ग्रासान्तरेषु ॥ ८३ ॥

ग्रासान्तरौषधवर्णनम्—जो औषध दो ग्रासों (कवलों) के बीच में सेवन की जाती है उसको ग्रासान्तर औषध कहते हैं ॥

ग्रासेषु चूर्णमवलाग्निषु दीपनीयं
वाजीकराण्यपि तु योजयितुं यतेत ।
ग्रासान्तरेषु वितरेद्वमनीयधूमान्
श्वासादिषु प्रथितदृष्टगुणांश्च लेहान् ॥ ८४ ॥

ग्रासग्रासान्तरौषधयोर्गुणाः—जो व्यक्ति दुर्बल हों उनकी पाचकाग्नि को दीप्त करने के लिये हिंग्वष्टक तथा चित्रकादि चूर्णों को भोजन के कवलों में या प्रथम कवल में मिलाकर देने का प्रयत्न करना चाहिए। इसी प्रकार वाजीकरण चूर्णों जैसे कपिकच्छु (कौंच) चूर्ण तथा अश्वगन्धादि चूर्ण को भी भोजन के कवलों में मिश्रित करके देने का प्रबन्ध करना चाहिए। इसी प्रकार श्वासादि रोगों में वमनकारक औषधियों (स्नायु, चर्म- खुर, शृङ्ग, कर्कटास्थि, शुष्कमत्स्य वल्लूर, क्रिमि आदि) का धूम ग्रासान्तर में देना चाहिए तथा श्वासादि रोगों में प्रसिद्ध एवं दृष्टगुणी अवलेहों (च्यवनप्राश, भृ० श्वासावलेह) को भी ग्रासान्तर में देना चाहिए ॥ ८४ ॥

विमर्शः—पाचकाग्नि को दीप्त करने के लिये ग्रास (कवल) के साथ दिया जाने वाला हिंग्वष्टक चूर्ण प्रसिद्ध है—त्रिकटुकमजमोदा सैन्धवं जीरके द्वे समधरणधृतानामष्टमो हिङ्गुभागः । प्रथमकवलभुक्तं सर्पिषा चूर्णमेतज्जनयति जठराग्निं वातरोगांश्च हन्यात् ॥

एवमेते दशौषधकालाः ॥ ८५ ॥

औषधकालोपसंहारः—इस प्रकार ये दश औषधकाल वर्णित किये गये हैं ॥ ८५ ॥

विमर्शः—चरकाचार्य ने भी इन औषधकालों का वर्णन किया है—रोग्यवेक्ष्य यथा प्रातर्निरन्नो बलवान् पिबेत् । भेषजं लघु पथ्यान्नैर्युक्तमद्यात्तु दुर्बलः ॥ भैषज्यकालौ भक्तादौ मध्ये पश्चान्मुहुर्मुहुः । सामुद्गं भक्तसंयुक्तं ग्रासे ग्रासान्तरे तथा ॥ (चरक)

विसृष्टे विण्मूत्रे विशदकरणे देहे च सुलघौ
विशुद्धे चोद्गारे हृदि सुविमले वाते च सरति ।
तथाऽन्नश्रद्धायां क्लमपरिगमे कुक्षौ च शिथिले
प्रदेयस्त्वाहारो भवति भिषजां कालः स तु मतः ८६

इति सुश्रुतसंहितायामुत्तरतन्त्रे तन्त्रभूषणाध्यायेषु
स्वस्थवृत्ताध्यायो नाम (द्वितीयोऽध्यायः,
आदितः) चतुःषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६४ ॥

आहारकालवर्णनम्—मल और मूत्र के त्याग कर देने पर, इन्द्रियों के निर्मल (स्वस्वकार्य-संलग्न-प्रतीति) होने पर तथा शरीर के हल्का होने का अनुभव होने पर, उद्गार (डकार) अत्यन्त शुद्ध आने पर एवं हृदय के अत्यन्त निर्मल विदित होने पर अर्थात् हृदय के ऊपर किसी प्रकार का भार प्रतीत न होने पर एवं अपान वायु के ठीक निकल जाने पर तथा भोजन करने की श्रद्धा (इच्छा) प्रतीत हो, शरीर तथा मन में किसी प्रकार के क्लम का अनुभव न होने पर एवं उदर के शिथिल प्रतीत होने पर मनुष्य को भोजन कराना चाहिए। यही वैद्यों के द्वारा अनुमोदित या अभिमत योग्य भोजनकाल माना गया है ॥ ८६ ॥

विमर्शः—भोजनकाल—उक्त श्लोक में जो-जो लक्षण दिये हैं वे जब प्रतीत हों वही आहारकाल है। आहार काल के लिये कोई अमुक समय निश्चित नहीं है परन्तु जब भी व्यक्ति को बुभुक्षा (क्षुधा या भोजन करने की आन्तरिक इच्छा) प्रतीत हो वही भोजनकाल है जैसा कि लिखा है—'बुभुक्षितोऽन्नमश्नीयान्मात्रावद् विदितागमः' (सु० सू० अ० ४६)। अन्य आचार्यों ने तो यहाँ तक कहा है कि वास्तव में क्षुधित व्यक्ति आधी रात में भी भोजन करे तो वह रोगग्रस्त नहीं होता है—'अर्धरात्रेऽपि भुञ्जानः परमार्थं बुभुक्षितः । क्षुधी वैद्यपरित्यागी व्याधिभिर्नाभिभूयते ॥ अन्यत्र भी कहा है कि रस, दोष और मलों के पाक हो जाने पर तथा क्षुधा की प्रतीति होने पर आहार देना चाहिए, चाहे वह अन्य दृष्टि से भोजन का काल हो या न हो परन्तु रस-दोष-मलादि का पाक और भूख लगना बस यही आहार काल है—क्षुत्सम्भवति पक्वेषु रसदोषमलेषु च । काले वा यदि वाऽकाले सोऽन्नकाल उदाहृतः ॥ तथापि महर्षियों ने मनुष्यों के स्वास्थ्य की दृष्टि से तथा सुखसुविधा और व्यवहार को नियमित करने के लिये दिनचर्या एवं निशाचर्या के वर्णन में सायङ्काल और प्रातःकाल को भोजन का द्विविध काल माना है तथा आहार-ग्रहण को अग्निहोत्र के समान प्रातः-सायं भोजन करना यह प्रशस्त माना है। जिस तरह लौकिकाग्नि में घृत, तिल और यवों का हवन प्रातः और सायङ्काल ऐसे दो समय में ही किया जाता है वैसे ही अन्न तथा अन्नग्रहणकाल समझना चाहिए—सायं प्रातर्मनुष्याणामशनं श्रुतिचोदितम् । नान्तरा भोजनं कुर्यादग्निहोत्रसमो विधिः॥ सुश्रुताचार्य ने भी कालभोजन की महिमा लिखी है—'काले भुक्तं प्रीणयति सात्म्यमन्नं न बाधते । काले सात्म्यं लघु स्निग्धं क्षिप्रमुष्णं द्रवोत्तरम् ॥ प्रायः शास्त्र का मत है कि प्रातःकाल प्रथम याम (प्रहर) के मध्य अर्थात् ९ बजे के पूर्व भोजन नहीं करना चाहिए तथा दो याम अर्थात् १२ बजे के बाद भी भोजन नहीं करना चाहिए प्रथम प्रहर के पूर्व किया हुआ भोजन रसोद्वेग के कारण ठीक तरह से पचता नहीं है तथा दो प्रहर के बीत जाने पर भोजन करने से बल का विनाश होता है—याममध्ये न भोक्तव्यं यामयुग्मं न लंघयेत् । याममध्ये रसोद्वेगो युग्मेऽतीते बलक्षयः ॥ किन्तु जिन ऋतुओं में रात्रि बड़ी होती है उन हेमन्त, शिशिर ऋतुओं में तत्काल बलप्रवृत्त दोषों के प्रतीकार (संशमन) के लिये स्निग्ध भोजन पूर्वाह्न में ही कर लेना चाहिए तथा जिन (ग्रीष्म, प्रावृट्) ऋतुओं में दिन बड़े हों उनमें अपराह्न में ही भोजन कर लेना चाहिए—अतीवायतयास्तु क्षपा येष्वृतुषु स्मृताः । तेषु तत्प्रत्यनीकार्थं भुञ्जीत प्रातरेव तु ॥ येषु चापि भवेयुश्च दिवसा भृशमायताः । तेषु तत्कालविहितमपराह्णे प्रशस्यते ॥ और जिन ऋतुओं

(शरद, वसन्त) में रात्रि तथा दिवस समान होते हैं उनमें दिन और रात्रि का समान भाग करके उस समय मध्याह्न में भोजन करना चाहिए—रजन्यो दिवसाश्चैव येषु चापि समाः स्मृताः। कृत्वा सममहोरात्रं तेषु भुञ्जीत भोजनम्॥ इन दिनों में रात्रि का भोजन दोपहर के भोजन के सवा पहर के पश्चात् रात्रि के पहले प्रहर में करना चाहिए—रात्रौ तु भोजनं कुर्यात् प्रथमप्रहरान्तरे। किञ्चिदूनं समश्नीयाद् दुर्जरं तत्र वर्जयेत्॥ अप्राप्तकाल और अतीत काल में भोजन करने से अनेक प्रकार के रोग उत्पन्न होते हैं—नाप्राप्तातीतकालं वा हीनाधिकमथापि वा। अप्राप्तकालं भुञ्जानः शरीरे ह्यलघौ नरः॥ तांस्तान् व्याधीनवाप्नोति मरणं वा नियच्छति। अतीतकालं भुञ्जानो वायुनोपहतेऽनले। कृच्छ्राद्विपच्यते भुक्तं द्वितीयञ्च न कांक्षति। चरकाचार्य ने पूर्वकृत भोजन के जीर्ण हो जाने पर द्वितीय भोजन करना लिखा है तथा अजीर्णावस्था में कृत भोजन के दोष एवं जीर्णावस्था में कृत भोजन के अनेक गुण लिखे हैं यथा—'जीर्णेऽश्नीयात्, अजीर्णे हि भुञ्जानस्याभ्यवहृतमाहारजातं पूर्वस्याहारस्य रसमपरिणतमुत्तरेणाहाररसेनोपसृजत् सर्वान् दोषान् प्रकोपयत्याशु, जीर्णे तु भुञ्जानस्य स्वस्थानेषु दोषेष्वग्नौ चोदीर्णे जातायाञ्च बुभुक्षायां विवृतेषु च स्रोतसां मुखेषु विशुद्धे चोद्गारे हृदये विशुद्धे वातानुलोम्ये विसृष्टेषु च वातमूत्रपुरीषवेगेष्वभ्यवहृतमाहारजातं सर्वशरीरधातूनप्रदूषयदायुरेवाभिवर्धयति केवलं तस्माज्जीर्णेऽश्नीयात्' (च० वि० अ० १)

इति सुश्रुतसंहितायामुत्तरतन्त्रे विद्योतिनीभाषाटीकायां चतुःषष्टितमोऽध्यायः॥ ६४॥

पञ्चषष्टितमोऽध्यायः

अथातस्तन्त्रयुक्तिमध्यायं व्याख्यास्यामः॥ १॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः॥ २॥

अब इसके अनन्तर तन्त्रयुक्ति नामक अध्याय का वर्णन करते हैं जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने कहा है॥ १-२॥

विमर्श—तन्त्रयुक्ति शब्दार्थ—त्रायते शरीरमनेनेति तन्त्रं शास्त्रं चिकित्सा च तस्य युक्तयो योजनास्तन्त्रयुक्तयस्ता अधिकृत्य कृतोऽध्यायस्तम्। जिसके द्वारा शरीर की रक्षा होती है उसे तन्त्र कहते हैं। शरीर की रक्षा शास्त्र (उपदेश) तथा चिकित्सा उभय से होती है अतः तन्त्र शब्द से शास्त्र और चिकित्सा दोनों का ग्रहण होता है तथा उस शास्त्र और चिकित्सा की युक्ति (योजना) का वर्णन जहाँ हो उसे तन्त्रयुक्ति अध्याय कहते हैं। उस तन्त्रयुक्ति (तन्त्रयोजना) के भी दो भेद होते हैं। एक वाक्ययोजना तथा द्वितीय अर्थयोजना कहलाती है। वाक्ययोजना में योगोद्देश तथा निर्देश का ग्रहण होता है तथा अर्थयोजना में अधिकरण पदार्थ का विवेचन किया जाता है। इसका स्पष्टार्थ चौथे सूत्र में किया गया है। तन्त्रयुक्ति का विशेष विवरण अष्टाङ्गसङ्ग्रह के उत्तरतन्त्र के ५० वें अध्याय में तथा भट्टारहरिचन्द्र विरचित चरकन्यास के आरम्भ में एवं कालमेवभिषक् द्वारा रचित तन्त्रयुक्ति-विचार में पाया जाता है।

द्वात्रिंशत्तन्त्रयुक्तयो भवन्ति शास्त्रे। तद्यथा—अधिकरणं १, योगः २, पदार्थः ३, हेत्वर्थः ४, उद्देशः ५, निर्देशः ६, उपदेशः ७, अपदेशः ८, प्रदेशः ९, अतिदेशः १०, अपवर्गः ११, वाक्यशेषः १२, अर्थापत्तिः १३, विपर्ययः १४, प्रसङ्गः १५, एकान्तः १६, अनेकान्तः १७, पूर्वपक्षः १८, निर्णयः १९, अनुमतं २०, विधानम् २१, अनागतावेक्षणम् २२, अतिक्रान्तावेक्षणं २३, संशयः २४, व्याख्यानं २५, स्वसंज्ञा २६, निर्वचनं २७, निदर्शनं २८, नियोगः २९, विकल्पः ३०, समुच्चयः ३१, ऊह्यम् ३२, इति॥ ३॥

तन्त्रयुक्तिभेदाः—शास्त्र में तन्त्रयुक्तियाँ ३२ कही गई हैं जैसे—(१) अधिकरण, (२) योग, (३) पदार्थ, (४) हेत्वर्थ, (५) उद्देश, (६) निर्देश, (७) उपदेश, (८) अपदेश, (९) प्रदेश, (१०) अतिदेश, (११) अपवर्ग, (१२) वाक्यशेष, (१३) अर्थापत्ति, (१४) विपर्यय, (१५) प्रसङ्ग, (१६) एकान्त, (१७) अनेकान्त, (१८) पूर्वपक्ष, (१९) निर्णय, (२०) अनुमत, (२१) विधान, (२२) अनागतावेक्षण, (२३) अतिक्रान्तावेक्षण, (२४) संशय, (२५) व्याख्यान, (२६) स्वसंज्ञा, (२७) निर्वचन, (२८) निदर्शन, (२९) नियोग, (३०) विकल्प, (३१) समुच्चय और (३२) ऊह्य॥ ३॥

विमर्श—अधिकरण से लेकर ऊह्य तक के संख्येयों के निर्देश से ही द्वात्रिंशत् (३२) संख्या का ज्ञान हो सकता था पुनर्द्वात्रिंशत् शब्द लिखने का तात्पर्य अन्य तन्त्र अर्थात् चरक में निर्दिष्ट ३६ तथा भट्टारहरिचन्द्र मत में लिखित ४० तन्त्रयुक्तियों को बत्तीस में ही अन्तर्भावित कर शेष का निषेध करने का अभिप्राय है। चरकाचार्य ने सुश्रुतोक्त बत्तीस तन्त्रयुक्तियों के अतिरिक्त प्रयोजन, प्रत्युत्सार, उद्धार और सम्भव ये चार अधिक मान कर छत्तीस तन्त्रयुक्तियाँ मानी हैं। भट्टारहरिचन्द्र ने चरकोक्त ३६ के अतिरिक्त परिप्रश्न, व्याकरण, व्युत्क्रान्ताभिधान और हेत्वाख्य ये चार अधिक मान कर तन्त्रयुक्तियों की संख्या ४० कर दी हैं। चरकाचार्य ने परिप्रश्न का उद्देश में, व्याकरण का व्याख्यान में, व्युत्क्रान्ताभिधान का निर्देश में और हेतु का हेत्वर्थ में अन्तर्भाव कर इन्हें ३६ ही मानी है और सुश्रुताचार्य ने और संक्षेप कर के चरकोक्त चार को घटा कर ३२ ही तन्त्रयुक्तियाँ स्वीकार की हैं।

अत्रासां तन्त्रयुक्तीनां किं प्रयोजनम्? उच्यते—वाक्ययोजनमर्थयोजनञ्च॥ ४॥

तन्त्रयुक्तिप्रयोजनम्—अब इन तन्त्रयुक्तियों का क्या प्रयोजन है इस प्रश्न के उत्तर में सुश्रुताचार्य ने वाक्ययोजन और अर्थयोजन ये दो इनके प्रयोजन लिखे हैं॥ ४॥

विमर्श—अत्र चिकित्साशास्त्रे अर्थात् इस चिकित्सा शास्त्र में वाक्ययोजन अर्थात् असम्बद्ध (असङ्गत) वाक्य का सम्बन्धन (सङ्गति) करना वाक्ययोजन कहलाता है तथा अर्थयोजन से लीन या असङ्गत अर्थ का प्रकाशन या सङ्गतिकरण अर्थयोजन कहलाता है। योगोद्देश, निर्देश आदि

कुछ तन्त्रयुक्तियों में वाक्ययोजन करना पड़ता है एवं अधिकरण, पदार्थ और ऊह्यादि तन्त्रयुक्तियों में अर्थयोजन करना पड़ता है। वाक्ययोजनम्—असम्बद्धवाक्यस्य सम्बन्धनम्। अर्थयोजनं लीनस्य असङ्गतस्य वार्थस्य सङ्गतिकरणम्।

भवन्ति चात्र श्लोकाः।

असद्वादि-प्रयुक्तानां वाक्यानां प्रतिषेधनम्।
स्ववाक्यसिद्धिरपि च क्रियते तन्त्रयुक्तितः॥ ५॥

तन्त्रयुक्तीनां प्रयोजनान्तराणि—इस विषय में यहाँ पर कुछ श्लोकों का उल्लेख है जैसे असद्वादियों (मिथ्यावादियों) के द्वारा प्रयुक्त हुए वाक्यों का प्रतिषेध करना तथा अपने वास्तविक सिद्धान्त का स्थापन या मण्डन करना यह तन्त्रयुक्ति का प्रयोजन है॥ ५॥

विमर्शः—असद्वादिनो हि प्रतिरसपाकवादिनः पाकत्रयवादिनो गुणकर्तृत्ववादिनो वा। प्रतिषेधनम्—अपदेशादिभिस्तन्त्रयुक्तिभिः परपक्षदूषणम्॥ अर्थात् असद्वादी मत वाले मधुरादि प्रत्येक रस का पाक होता है, अथवा त्रिविध पाक होता है एवं गुणों को ही कर्ता या प्रधान मानते हैं ऐसे उनके असद्वाक्य हैं, फिर उन वाक्यों का अपदेशादि तन्त्रयुक्ति से निराकरण या खण्डन अथवा प्रतिषेध किया जाता है पश्चात् निर्णय नामक तन्त्रयुक्ति के बल से अपने मत या पक्ष जैसे वीर्य द्विविध ही होता है—का स्थापन (मण्डन) करना ये तन्त्रयुक्ति के प्रयोजन हैं।

व्यक्ता नोक्तास्तु ये ह्यर्था लीना ये चाप्यनिर्मलाः।
लेशोक्ता ये च केचित्स्युस्तेषाञ्चापि प्रसाधनम्॥६॥

तन्त्रयुक्तिप्रयोजनान्तरम्—शास्त्र में जो अर्थ स्पष्ट नहीं कहे गये हों अथवा जो अर्थ लीन (गूढ) हों किंवा अनिर्मल (असम्यग्दर्शित या अस्पष्ट) हों तथा लेशमात्र (किञ्चिन्मात्र या नाममात्र) से प्रतिपादित हों उन सबको स्पष्ट करना यह तन्त्रयुक्ति का प्रयोजन है॥ ६॥

विमर्शः—प्रसाधनं=योगाख्यादितन्त्रयुक्तिभिः समाधानं क्रियते' चरकमत से भी समास (संक्षेप) से कहे हुये विषय का विस्तार करना तथा व्यास (विस्तार) से कहे हुये विषय का संक्षेप करना तन्त्रयुक्ति का प्रयोजन बताया है—तन्त्रे समासव्यासोक्ते भवन्त्येता हि कृत्स्नशः। एकदेशेन दृश्यन्ते समासाभिहितास्तथा॥ (च० सि० अ० १२)

यथाऽम्बुजवनस्यार्कः प्रदीपो वेश्मनो यथा।
प्रबोधस्य प्रकाशार्थं तथा तन्त्रस्य युक्तयः॥ ७॥

दृष्टान्तद्वारा तन्त्रयुक्तिकार्यम्—जिस प्रकार संकुचित कमलों के समूह का विकासन सूर्य करता है तथा दीपक घर के अन्दर अंधेरे में रखे हुये घट-पटादि वस्तुओं का प्रकाशन करता है उसी प्रकार तन्त्रयुक्तियाँ सङ्कुचित अर्थ का प्रबोधन (विस्तार) तथा हेत्वादिक तन्त्रयुक्तियाँ विद्यमान होते हुए पर गूढ हुए अर्थ का प्रकाशन करती हैं॥ ७॥

विमर्शः—प्रबोधस्य=यथार्थज्ञानस्येत्यर्थः। सुश्रुताचार्य प्रकाशार्थम्—ऐसा पाठ लिखते हैं किन्तु चरकाचार्य 'प्रबोधनप्रकाशार्थाः' ऐसा पाठ लिखते हैं। मुझे चरक का पाठ अच्छा लगता है अत एव मैंने मूलार्थ तदनुमत ही किया है। सुश्रुत मत से केवल प्रबोध (यथार्थज्ञान) का प्रकाशन तन्त्रयुक्ति का कार्य है किन्तु चरक मत से प्रबोधन (विस्तार) और गूढ अर्थ का प्रकाशन ये दो अर्थ होते हैं। एकस्मिन्नपि यस्येह शास्त्रे लब्धास्पदा मतिः। स शास्त्रमन्यदप्याशु युक्तिज्ञत्वात्प्रपद्यते॥ (च० सि० अ० १२) अन्यशास्त्राध्ययनप्रकारः—जिस पुरुष की प्रथम एक शास्त्र में बुद्धि स्थान प्राप्त कर लेती है। अर्थात् वह व्यक्ति प्रथम एक शास्त्र को भलीभाँति पढ़ लेता है तब वह शीघ्र ही अन्य शास्त्रों को भी युक्ति के बल से सम्यक्प्रकार से जान लेता है। शास्त्रार्थज्ञाने तन्त्रयुक्तीनामावश्यकता—अधीयानोऽपि शास्त्राणि तन्त्रयुक्त्या विना भिषक्। नाधिगच्छति शास्त्रार्थानर्थान् भाग्यक्षये यथा॥ (च० सि० अ० १२) तन्त्रयुक्ति के बिना शास्त्र को पढ़ता हुआ भी उसके वास्तविक अर्थ को ठीक तरह से नहीं समझ सकता है जिस तरह भाग्य के क्षीण होने पर पुरुषार्थ करता हुआ भी व्यक्ति धन को प्राप्त नहीं कर पाता है अत एव शास्त्रमर्म समझने के लिये तन्त्रयुक्तियों का जानना अत्यावश्यक है। दुर्ज्ञानसम्यग्ज्ञानयोर्दोषगुणौ—दुर्गृहीतं क्षिणोत्येव शास्त्रं शस्त्रमिवाबुधम्। सुगृहीतं तदेव ज्ञं शास्त्रं शस्त्रञ्च रक्षति॥ तस्मादेताः प्रवक्ष्यन्ते विस्तरेणोत्तरे पुनः। तत्त्वज्ञानार्थमस्यैव तन्त्रस्य गुणदोषतः॥ (च० सि० अ० १२) ठीक तरह से नहीं पकड़ा हुआ शस्त्र जिस तरह उस अज्ञानी के हस्ताङ्गुलि आदि का छेदन कर सकता है उसी तरह शास्त्र को ठीक तरह से नहीं पढ़ने से वह व्यक्ति मिथ्या अथवा विरुद्ध औषध प्रयोग करके अपने शरीर आत्मादि का ही नुकसान कर सकता है तथा जिस तरह अच्छी प्रकार से धारण किया (पकड़ा) हुआ शस्त्र तस्करादिक से उसकी रक्षा करता है उसी तरह अच्छी प्रकार से पढ़ा हुआ शास्त्र उसकी स्वयं की तथा रोगी की रक्षा करता है। इसलिये गुण और दोष की दृष्टि से इस तन्त्र (शास्त्र) के यथार्थ तत्त्व का ज्ञान करने के लिये उत्तरविभाग में विस्तारपूर्वक तन्त्रयुक्तियों का वर्णन किया जाता है।

तत्र यमर्थमधिकृत्योच्यते तदधिकरणम्। यथा—रसं दोषं वा॥ ८॥

अधिकरणलक्षणम्—जिस अर्थ का अधिकार करके जो कोई अर्थ विवेचन किया जाता है उसे अधिकरण कहा जाता है। जिस तरह रस और दोष का अधिकार करके उनके विषय में जो कोई भी विवेचन किया जाता है उसे अधिकरण कहते हैं॥ ८॥

विमर्शः—चरकटीकाकार चक्रपाणि ने लिखा है कि जिस अर्थ का अधिकार (या उद्देश्य) करके कर्ता प्रयुक्त होता है अधिकरण कहते हैं जैसे 'विघ्नभूता यदा रोगाः' इस प्रकरण में रोगादिक को अधिकरण बना कर अर्थात् रोगादि को नष्ट करने के लिये महर्षियों ने आयुर्वेद का प्रकाशन किया है इस लिये यहाँ पर रोगादिक अधिकरण कहलाते हैं 'अधिकरणं नाम यमर्थमधिकृत्य प्रवर्त्तते कर्ता, यथा—विघ्नभूता यदा रोगाः' (च० सू० अ० १) इत्यादि। अत्र रोगादिकमधिकृत्याऽऽयुर्वेदो महर्षिभिः कृत इति रोगा इत्यधिकरणम्। अन्यच्च—यमर्थमधिकृत्य येऽर्था अभिधीयन्ते तदधिकरणसंज्ञं सर्वस्याभिधेयस्येति। तमेवार्थमाह—यथा-रसं दोषञ्चेति। रसविज्ञाने रसमधिकृत्य दोषविज्ञाने च दोषमधिकृत्योच्यते इति। रसविज्ञान में रस तथा दोष-

विज्ञान प्रकरण में दोषों का अधिकार करके उनके विषय में विवेचन किया जाता है अत एव रस तथा दोष अधिकरण हैं।

येन वाक्यं युज्यते स योगः। यथा—

'तैलं पिबेच्चामृतवल्लिनिम्ब-
हिंस्राऽभयावृक्षकपिप्पलीभिः।
सिद्धं बलाभ्याञ्च सदेवदारु
हिताय नित्यं गलगण्डरोगे' ॥

इत्यत्र तैलं सिद्धं पिबेदिति प्रथमं वक्तव्ये तृतीयपादे सिद्धमिति प्रयुक्तम्, एवं दूरस्थानामपि पदानामेकीकरणं योगः ॥ ९ ॥

योगवर्णनम्—जिसके द्वारा वाक्य का प्रयोग होता है उसको योग कहते हैं। अर्थात् किसी वाक्य में व्यत्यास (विपरीत) रूप से सन्निकृष्ट (पास-पास) और विप्रकृष्ट (दूर-दूर) प्रयुक्त हुए पदों का अर्थान्वय (अर्थ ठीक समझाने) की दृष्टि से एकीकरण करना योग कहलाता है। जैसे अमृतवल्ली (गिलोय), निम्ब, हिंस की जड़, हरड़, इन्द्रयव, पिप्पली, दो प्रकार की बला और देवदारु इन औषधियों के कल्क और क्वाथ से सिद्ध किये हुए तैल को गलगण्डरोग में पान करना हितकारक होता है। इस श्लोक में-तैलं सिद्धं पिबेत्-ऐसा लिखना चाहिए किन्तु इनमें के सिद्ध-शब्द को तृतीय पाद में रख देने से उसका अन्वय (योग) करके अर्थ करना पड़ता है। इसी प्रकार अत्यन्त दूरस्थ पदों का एकीकरण भी योग कहलाता है ॥ ९ ॥

विमर्शः—चरकाचार्य के योग की टीका में चक्रपाणि लिखते हैं कि योजना को योग कहते हैं अर्थात् अलग-अलग रखे हुये पदों के एकीकरण को योग कहते हैं। उदाहरणार्थ-प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपनयनिगमनादिक। जैसे प्रतिज्ञा के लिये मातृजश्चायं गर्भः, हेतुः—मातरमन्तरेण गर्भानुपपत्तेः, दृष्टान्तः कूटागारः, उपनयः—यथा—नानाद्रव्यसमुदयात्कूटागारस्तथा गर्भनिर्वर्तनं, तस्मान्मातृजश्चायमित्येषां प्रतिज्ञायोगः, एवमन्येऽपि योगार्थां व्याख्येयाः।

योऽर्थोऽभिहितः सूत्रे पदे वा स पदार्थः, पदस्य पदयोः पदानां वाऽर्थः पदार्थः; अपरिमिताश्च पदार्थाः। यथा—स्नेहस्वेदाऽञ्जनेषु निर्दिष्टेषु द्वयोस्त्रयाणां वाऽर्थानामुपपत्तिर्दृश्यते, तत्र योऽर्थः पूर्वापरयोगसिद्धो भवति स ग्रहीतव्यः। यथा—वेदोत्पत्तिमध्यायं व्याख्यास्याम इत्युक्ते सन्दिह्यते बुद्धिः-कतमस्य वेदस्योत्पत्तिं वक्ष्यतीति, यतः ऋग्वेदादयस्तु वेदाः; विद् विचारणे विद्लृ लाभे, इत्येतयोश्च धात्वोरनेकार्थयोः प्रयोगात्, तत्र पूर्वापरयोगमुपलभ्य प्रतिपत्तिर्भवति-आयुर्वेदोत्पत्तिमयं विवक्षुरिति एष पदार्थः ॥ १० ॥

पदार्थाभिधायास्तन्त्रयुक्तेर्वर्णनम्—किसी सूत्र में अथवा पद में जो अर्थ (meaning) कहा गया हो उसे पदार्थ कहते हैं। किसी एक पद का अर्थ (तात्पर्य) दो पदों का अर्थ अथवा अनेक पदों का अर्थ पदार्थ कहलाता है। और संसार में पदार्थ असेय, अगणनीय अथवा अनन्त या अनेक हैं। जैसे स्नेहन, स्वेदन और अञ्जन इन पदों के उच्चारण करने से उनसे दो या तीन अर्थों का बोध हो सकता है जैसे स्नेह शब्द के गुण, प्रेम और घृत ये तीन अर्थ होते हैं। स्वेद शब्द से साग्निस्वेद और निरग्नि (अग्निरहित) स्वेद ऐसे दो अर्थ होते हैं। अञ्जन शब्द के भी नयनाञ्जन और अभ्यङ्ग ऐसे दो अर्थ उपस्थित होते हैं। इन में इन पदों या शब्दों से यहां कौन सा अर्थ ग्रहण करना इस शङ्का के उत्तर में लिखते हैं कि यहां पूर्वोक्त और परोक्त वाक्य के सम्बन्ध से जो अर्थ उपपन्न (युक्तियुक्त या सङ्गत) हो उसी का ग्रहण करना चाहिए। उदाहरण की दृष्टि से जैसे 'वेदोत्पत्तिमध्यायं व्याख्यास्यामः' ऐसा कहने पर बुद्धि में सन्देह होता है कि वेद तो चार या पांच हैं उनमें से किस वेद की उत्पत्ति (आविर्भाव) के विषय में चर्चा (वर्णन) करेंगे क्योंकि ऋग्वेदादिक तो वेद हैं और वेद पद (शब्द) में जो विद् धातु है वह विचारणार्थक विद् और लाभार्थक विद्लृ ऐसे अनेकार्थक धातु हो सकती है। ऐसे स्थल में उत्पन्न हुए सन्देह के निराकरणार्थ यहां पर पूर्वापर योग का अवलोकन करने से प्रतिपत्ति (ज्ञान या निश्चय) होती है कि यह आयुर्वेद की उत्पत्ति (आविर्भाव) के विषय में कुछ कहना चाहते हैं। यही वेदोत्पत्ति में वेद इस पद का अर्थ आयुर्वेद होता है॥

विमर्शः—पदार्थः—'ननु पदार्थलक्षणमन्तरा तद्विज्ञानस्यानुपपाद्यमानत्वात्प्राक् पदार्थत्वमुपवर्ण्यते' अर्थात् पदार्थ ज्ञान के बिना पदार्थों के विषय का अध्ययन अनुपयुक्त होता है अतएव प्रथम पदार्थ अर्थात् पद और अर्थ इन दो शब्दों के पृथक् पृथक् अर्थ तथा संयुक्त अर्थ का विवेचन किया जाता है। (१) वैयाकरणशास्त्रियों ने पद की परिभाषा में 'सुप्तिङन्तं पदम्' सूत्र द्वारा लिखा है कि सुप् और तिङ् (कारक और क्रियाओं के प्रत्यय) जिन शब्दों के अन्त में हों उन्हें पद कहते हैं। सुबादि सात विभक्तियों के २१ प्रत्यय सदैव प्रातिपदिक के बाद में लग कर शब्द सिद्धि करते हैं तथा प्रातिपदिक का अर्थ पाणिनीय ने 'अर्थवदधातुरप्रत्ययः प्रातिपदिकम्' इस सूत्र द्वारा धातु और प्रत्यय से भिन्न अर्थवान् शब्द को कहा है अतएव सुबन्त शब्द (पद) अर्थवान् या सार्थक होता है। प्रातिपदिक के अतिरिक्त कृदन्त, तद्धित और समास से भी सुबादि प्रत्यय होते हैं तथा कृदन्त, तद्धित और समास के शब्द सदैव अर्थवान् ही होते हैं। इस तरह वैयाकरणों की दृष्टि से पद का परिष्कृत लक्षण सुप्तिङन्तवर्ति यद्वर्णसमुदायमेकाक्षरं वाऽर्थविशिष्टं तत्पदं तेनार्थवत्त्वावच्छिन्नाक्षरसमाम्नायीयवर्णसमूहः सुप्तिङन्तावर्तिरित्यर्थः। (२) नैयायिकों ने पद की परिभाषा 'शक्तं पदम्' इस सूत्र द्वारा की है। अर्थात् जिस में अर्थ बोधन करने की शक्ति रहती हो उसे 'पद' कहते हैं। वास्तव में शब्द एक विशिष्ट सम्बन्ध द्वारा अर्थ का प्रतिपादन करता है। इस सम्बन्ध को 'शक्ति' कहते हैं। शक्ति के कारण ही भाषा का व्यवहार होता है। जैसे-गामानय (गाय को लाओ)-ऐसा कहने पर कोई व्यक्ति सास्नालाङ्गूल वाले पशुविशेष को लाता है और कोई बालक जो इस दृश्य को देख रहा हो वह उस पशु को लाता हुआ देखकर गौ शब्द से इस पशु का ही बोध होता है ऐसा समझ जाता है। तात्पर्य यह है कि इस गो शब्द में एक

विशेष आकृति वाले पशु को प्रकट (बोधित) करने की शक्ति है। वैयाकरण, साहित्यक और मीमांसक इस शक्ति को भी पदार्थ मानते हैं किन्तु नैयायिक इसे पदार्थान्तर न मान कर इच्छा नामक गुण में अन्तर्हित करते हैं। कुछ नैयायिकों ने इस शक्ति को ईश्वरेच्छा या ईश्वर-संकेत कहा है—'अस्मात्पदादयमर्थो बोद्धव्य इतीश्वरसङ्केतः शक्तिः' अर्थात् इस पद से इस अर्थ का बोध करना चाहिए इस प्रकार के ईश्वर-संकेत को शक्ति कहते हैं। शक्ति-परिष्कृत लक्षण—'अर्थस्मृत्यनुकूलपदपदार्थसम्बन्धत्वं शक्तेर्लक्षणम्' इस प्रकार किसी अर्थ विशेष को अभिव्यक्त करने में समर्थ शब्द को पद कहते हैं। या जिससे कोई अर्थ निकलता हो (Dealing some sense) उसे पद कहते हैं। सुप् और तिङ् प्रत्यय जिन शब्दों के अन्त में रहते हों उन्हें 'पद' कहते हैं। नैयायिकों ने इसके योग, रूढ, योगरूढ और यौगिकरूढ ऐसे चार भेद किये हैं। साहित्यिकों ने इसके योग, रूढ और योगरूढ ऐसे तीन ही भेद किये हैं। (१) यौगिकशब्द—यह अपनी अवयव शक्ति द्वारा अर्थ का बोध करता है जैसे पाचक। (२) रूढशब्द—यह अवयव शक्ति की अपेक्षा न करता हुआ समुदाय शक्ति द्वारा अर्थ का बोधन करता है जैसे मण्डप, डित्थ और कपित्थ। (३) योगरूढ—यह अवयव शक्ति और समुदाय शक्ति के संयुक्तरूप से अर्थ का बोध कराता है। जैसे पङ्कज। (४) यौगिकरूढ—यह अपनी अवयव शक्ति और समुदाय शक्ति दोनों से पृथक् पृथक् अर्थ का बोध करा सकता है जैसे उद्भिद। अन्य आचार्यों ने शक्ति या अभिधा के भेदों को स्वीकार नहीं किया है। वे कहते हैं कि समग्र शब्द अखण्ड और रूढि होते हैं। उनका समासान्तर्गत विभाग तथा तिङन्त, कृदन्त और तद्धितान्त प्रकृति तथा प्रत्यय का विभाग काल्पनिक है। पदशक्तिबोधकारणानि—शक्तिग्रहं व्याकरणोपमानकोशाप्तवाक्याद् व्यवहारतश्च। वाक्यस्य शेषाद्विवृते-र्वदन्ति सान्निध्यतः सिद्धपदस्य वृद्धाः॥ पद में शक्ति का बोध व्याकरण, उपमान, कोष, आप्तवाक्य, व्यवहार, वाक्यशेष, विवृति और सिद्धपद के सान्निध्य से होता है। अर्थ—'ऋच्छन्तीन्द्रियाणि यं सोऽर्थः' अर्थात् जिसे इन्द्रियां ग्रहण करती हैं उसे अर्थ कहते हैं। इस तरह पदार्थ का अर्थ है अभिधेय वस्तु। 'अर्थो नामाभिधेयः' यदाहुराचार्याः कोषेषु—'अर्थोऽभिधेयरैवस्तु-प्रयोजननिवृत्तिषु' तेनात्राभिधेयार्थकः पदार्थशब्दः। अभिधेयश्च सत्तारूपः, सतो भावः सत्ता तेन पदशक्यत्वं पदार्थत्वम्। अर्थात् पदनिष्ठशक्तिविषयत्वं पदार्थत्वम्। कोषकारों ने अर्थ शब्द के अनेक तात्पर्य लिखे हैं किन्तु यहाँ पर अभिधेय तात्पर्य अपेक्षित है तथा वह अभिधेय सत्तारूप होता है। अर्थात् किसी पद के अन्दर निष्ठ (निहित) शक्ति के द्वारा जिस तात्पर्य का बोध होता है उसे पदार्थ कहते हैं। शक्तिवाद में लिखा है कि 'वृत्त्या पदप्रतिपाद्यमान एव पदार्थः' वृत्ति के द्वारा पद से प्रतिपादनीय अर्थ को पदार्थ कहते हैं। पदार्थपरिष्कृतलक्षणम्—'वृत्तिज्ञानाधीनपदजन्यप्रतिपत्तीयविषयताश्रयत्वम् पदार्थत्वम्।' यही सुश्रुताचार्य का भी आशय है—'योऽर्थोऽभिहितः सूत्रे पदे वा स पदार्थः' पद को शब्द कहते हैं और यह शब्द वाचक, लाक्षणिक और व्यञ्जक ऐसे तीन प्रकार का होता है। इन तीनों प्रकार के शब्दों से जो अर्थ विदित होता है उसे पदार्थ कहते हैं। शब्द की तीन तरह की शक्तियाँ होती हैं। (१) अभिधा, (२) लक्षणा और (३) व्यञ्जना। उसी तरह अर्थ के भी तीन भेद माने हैं जैसे (१) वाच्यार्थ, (२) लक्ष्यार्थ और (३) व्यङ्ग्यार्थ। अभिधाशक्ति से वाच्यार्थ का ज्ञान होता है, लक्षणा शक्ति से लक्ष्यार्थ का ज्ञान होता है तथा व्यञ्जना शक्ति से व्यङ्ग्यार्थ का ज्ञान होता है—वाच्योऽर्थोऽभिधया बोध्यो लक्ष्यो लक्षणया तथा। व्यङ्ग्यो व्यञ्जनया तास्तु तिस्रः शब्दस्य शक्तयः॥ नैयायिक दृष्टि से प्रत्यक्ष, अनुमान आदि प्रमाणों द्वारा जो भी वस्तु का ज्ञान प्राप्त होता है उसे पदार्थ कहते हैं। जैसे स्थावर सृष्टि में घट, पट तथा मठादि तथा जङ्गम सृष्टि में पशु, पक्षी, मनुष्यादि ये सब उच्चरित पदों के द्वारा जाने जाते हैं। इसी लिये 'अभिधेयत्व पदार्थत्वम्' ऐसा कहा है। अर्थात् जो कुछ भी कहने योग्य वस्तु है उसे पदार्थ कहते हैं। 'प्रमितिविषयाः पदार्थाः' प्रमा (यथार्थज्ञानं प्रमा) के जो भी विषय हैं उन्हें पदार्थ कहते हैं। आचार्य प्रशस्तपाद ने पदार्थधर्मसंग्रह नामक पुस्तक में पदार्थ के लक्षण के विषय में लिखा है कि जगत् में जिसका अस्तित्व या विद्यमानता हो, जो ज्ञेय अर्थात् जानने योग्य हो एवं जो अभिधेय अर्थात् कथन या प्रतिपादन के योग्य हो उसे पदार्थ कहते हैं—'षण्णामपि पदार्थानां साधर्म्यमस्तित्वाभिधेयत्व-ज्ञेयत्वानि' तात्पर्य यह है कि संसार की कोई भी वस्तु पदार्थ कही जा सकती है। जब किसी शास्त्र या ग्रन्थादि में शिष्य या वाचक उसके विषय में कुछ जानने को उत्सुक हो तथा आचार्य या ग्रन्थकार उसके विषय में कुछ कहे या प्रतिपादन करें उसे पदार्थ कहते हैं। अर्थात् जिस शास्त्र या ग्रन्थ में जिस वस्तु का निरूपण या प्रतिपादन (विवेचन) किया जाता है वह वस्तु उस शास्त्र या ग्रन्थ का पदार्थ (प्रतिपाद्य विषय) है। पद्यते गम्यतेऽनेनार्थोऽस्मिन्निति पदार्थः। अर्थात् जिस वाक्य में विभिन्न पदों द्वारा अर्थ ज्ञात होता हो वह पदार्थ है।

यदन्यदुक्तमन्यार्थसाधकं भवति स हेत्वर्थः। यथा— मृत्पिण्डोऽद्भिः प्रक्लिद्यते तथा माषदुग्धप्रभृतिभिर्व्रणः प्रक्लिद्यत इति॥ ११॥

हेत्वर्थतन्त्रयुक्तिलक्षणम्—किसी अन्य वाक्य के उच्चारण करने से दूसरे अर्थ का समाधान हो जाय उसे हेत्वर्थ कहते हैं। जैसे कहा कि मिट्टी का पिण्ड जल से आर्द्र (गीला) हो जाता है उसी तरह उड़द और दुग्ध आदि कफवर्द्धक पदार्थों के सेवन करने से व्रण क्लेद (कीचड़, कफ) युक्त हो जाता है।

विमर्शः—यहाँ पर बाह्य मृत्पिण्ड दृष्टान्त से माष-दुग्धादि सेवन से आभ्यन्तरिक व्रणप्रक्लेद का होना सिद्ध किया गया है। कुछ आचार्यों ने 'यदन्यदुक्तमन्यार्थसाधकं भवति' के स्थान पर 'यदुक्तमुभयार्थसाधकम्' ऐसा पाठान्तर लिखा है। जिसका अर्थ स्पष्ट ही है। जो उभयार्थ का साधक हो उसे हेत्वर्थ कहते हैं। चरकटीकाकार चक्रपाणि ने हेत्वर्थ की निम्न व्याख्या की है—हेत्वर्थो नाम यदन्यत्राभिहितमन्यत्रोपपद्यते, यथा—'समानगुणाभ्यासो हि धातूनां वृद्धिकारणम्' (च० सू० अ० १२) इति वातमधिकृत्योक्तं, तत्र वातस्येति वक्तव्ये यदयं समानशब्दं धातूनामिति करोति, तेन यथा वायोस्तथा रसादीनामपि समानगुणाभ्यासो वृद्धिकारणमिति गम्यते।

समान गुणधर्मी पदार्थों का सेवन धातुओं की वृद्धि का कारण होता है। यहाँ पर यद्यपि यह वाक्य वात के विषय में कहा गया है परन्तु इससे धारणार्थक धातु शब्द वायु के अतिरिक्त रस-रक्तादि धातुओं का भी बोध करा देता है।

समासवचनमुद्देशः। यथा—शल्यमिति ॥१२॥

उद्देशतन्त्रयुक्तेर्लक्षणम्—संक्षेप से कोई बात कहनी हो उसे उद्देश कहते हैं जैसे 'शल्यम्' ऐसा संक्षेप में कहने से समस्त शरीर को बाधा पहुँचाने वाला शल्य होता है यह अर्थ हो जाता है। यहाँ पर मन को बाधा पहुँचाने वाला मानसिक तथा शरीर को बाधा पहुँचाने वाला शारीरिक ऐसा विस्तार न कर संक्षेप में कह दिया है इसी को उद्देश कहते हैं ॥ १२ ॥

विमर्शः—उद्देशस्य चक्रपाणिकृतवर्णनम्—'उद्देशो नाम संक्षेपाभिधानं यथा—'हेतुलिङ्गौषधज्ञानम्' (च० सू० अ० १) अनेन सर्वायुर्वेदाभिधेयोद्देशः। रोग के हेतु का ज्ञान, लिङ्ग का ज्ञान और रोग की औषध का ज्ञान त्रिसूत्री आयुर्वेद कहलाता है—हेतुलिङ्गौषधज्ञानं स्वस्थातुरपरायणम। त्रिसूत्रं शाश्वतं दिव्यं बुबुधे यं पितामहः॥ इस संक्षेपोक्ति से समस्त (अष्टाङ्ग) आयुर्वेद का बोध हो जाता है।

विस्तरवचनं निर्देशः यथा-शारीरमागन्तुकं चेति॥

निर्देशतन्त्रयुक्तेर्लक्षणम्—किसी वस्तु का विस्तार से वर्णन करना निर्देश कहलाता है जैसे शरीर में होने वाला दुःख शारीरिक शल्य तथा मन में होने वाला दुःख मानसिक शल्य कहलाता है। ऐसे शल्य के दो भेद होते हैं। यह शल्य का विस्तार से वर्णन होने से निर्देश कहलाता है ॥ १३ ॥

विमर्शः—निर्देशस्य चक्रपाणिकृतविवरणम्—'निर्देशो नाम संक्षेपोक्तस्य विवरणं, यथा—हेतुलिङ्गौषधस्य पुनः प्रपञ्चनं 'सर्वदा सर्वभावानां सामान्यं वृद्धिकारणम्' इत्यन्तेन कारणप्रपञ्चनमित्यादि। अर्थात् सामान्य धर्मयुक्त औषध सर्वभाव पदार्थों की वृद्धि में कारण होती है। यह सामान्य कारण भी गुणगत सामान्य, कर्मगत सामान्य और द्रव्यगत सामान्य ऐसे तीन प्रकार का होता है। यह सब विस्तृत विवेचन है।

एवमित्युपदेशः। यथा—'तथा न जागृयाद्रात्रौ दिवास्वप्नञ्च वर्जयेत्' इति ॥ १४ ॥

उपदेशतन्त्रयुक्तेर्लक्षणम्—इस प्रकार का आहार और विहार करना चाहिए। इसे उपदेश कहते हैं। जैसे रात्रि में ज्यादा नहीं जागना चाहिए एवं दिन में शयन वर्जित करना चाहिए॥

विमर्शः—इस प्रसङ्ग में टीकाकार डल्हण शङ्का करते हैं कि उपदेश और नियोग में क्या भेद है। उत्तर में कहा जाता है कि उपदेश प्रायिक (अवसर पालनीय) होता है। जैसे प्रायः रात्रि में नहीं जागना चाहिये किन्तु जिस व्यक्ति को कफ का प्रकोप हो उसे रात्रि जागरण कराना हितकर होता है। इसी तरह दिन में नहीं सोना चाहिए। यह भी प्रायिक ही है क्योंकि ग्रीष्म ऋतु तथा तृष्णा और हिक्का आदि होने पर दिवाशयन कराना प्रशस्त होता है। किन्तु नियोग में प्रायिकता नहीं होती है—यथा—'पथ्यमेव भोक्तव्यम्' पथ्य भोजन सभी को करना आवश्यकीय है। जो इस 'ज्वरितोऽहितमश्नीयाद्यद्यप्यस्यारुचिर्भवेत्' वाक्य में अहितकर भोजन भी पथ्यकारक ही माना जाता है। उपदेशस्य चक्रपाणिकृतवर्णनम्—'उपदेशो नामाप्तानुशासनम्' यथा—'स्नेहमग्रे प्रयुञ्जीत ततः स्वेदमनन्तरम्' (च० सू० अ० १३)। आप्त पुरुषों की आज्ञा को मानना उपदेश कहलाता है। जैसे प्रथम स्नेह का प्रयोग करना चाहिए पश्चात् स्वेदन करना चाहिए।

अनेन कारणेनेत्यपदेशः। यथाऽपदिश्यते—मधुरः श्लेष्माणमभिवर्द्धयतीति ॥ १५ ॥

अपदेशाख्यतन्त्रयुक्तेर्लक्षणम्—इस कारण से यह कार्य हुआ है इसको अपदेश कहते हैं। अर्थात् किसी कार्य के हेतु का कथन करना अपदेश कहलाता है। जैसा कि कारण बताया जाता है कि मधुर रस कफ का वर्धक होता है क्योंकि कफ भी मधुर होता है और मधुर रस भी मधुर अतः दोनों समानजातीय होने से सेवित मधुर-रस कफ रूप से परिणत हो जाता है ॥ १५ ॥

विमर्शः—अपदेशस्य चक्रपाणिकृतवर्णनम्—अपदेशो नाम यत्प्रतिज्ञातार्थसाधनाय हेतुवचनं, यथा—'वाताज्जलं जलाद्देशं देशात् कालंस्वभावतः। विद्याद् दुष्परिहार्यत्वात्' (च० वि० अ० ३) इत्यादि, तत्र प्रतिज्ञातार्थस्य हेतुवचनं दुष्परिहार्यत्वादिति। प्रतिज्ञात अर्थ की सिद्धि के लिये हेतु (कारण) वाक्यों का निर्देश करना। जल की दुष्टि में वात हेतु, देश की दुष्टि में जलहेतु और काल की दुष्टि में देश हेतु होता है। ये हेतुवचन हैं।

प्रकृतस्यातिक्रान्तेन साधनं प्रदेशः। यथा—देवदत्तस्यानेन शल्यमुद्धृतं तथा यज्ञदत्तस्याप्ययमुद्धरिष्यतीति ॥ १६ ॥

प्रदेशाख्यतन्त्रयुक्तेर्वर्णनम्—प्रकृत (प्रकरणागत या प्रस्तुत या वर्तमान) का अतिक्रान्त (व्यतीत या भूत) से साधन करना प्रदेश कहलाता है। जैसे—उदाहरण के लिये कहा जाता है कि इसने देवदत्त का शल्य निकाला है अतएव यज्ञदत्त का भी शल्य निकाल देगा ॥ १६ ॥

विमर्शः—प्रदेशस्य चक्रपाणिकृतवर्णनम्—प्रदेशो नाम यद्बहुत्वादर्थस्य कार्त्स्न्येनाभिधातुमशक्यमेकदेशेनाभिधीयते, यथा—'अन्नपानैकदेशोऽयमुक्तः प्रायोपयोगिकः' (च० सू० अ० २७) चक्रपाणि ने प्रदेश का अर्थ सुश्रुत से भिन्न किया है। अर्थ के अधिक होने से उसका समग्ररूप से वर्णन करना असम्भव होता है अतः उसके एकदेश के वर्णन करने को प्रदेश कहते हैं।

प्रकृतस्यानागतस्य साधनमतिदेशः। यथा—यतोऽस्य वायुरूर्ध्वमुत्तिष्ठते तेनोदावर्ती स्यादिति ॥१७॥

अतिदेशलक्षणम्—प्रकृत (उपस्थित या वर्तमान) वस्तु के द्वारा अनागत (भविष्य) का साधन करना अतिदेश कहलाता है। जैसे—उदाहरण के लिये इस व्यक्ति का वात ऊपर को उठ रहा है इससे प्रतीत होता है कि इसे उदावर्त रोग होगा ॥ १७ ॥

विमर्शः—अत्र वायोरूर्ध्वमुत्थानं प्रकृतम्। तेन प्रस्तुतेन अनागतं भविष्यदुदावर्तित्वं साध्यते। हाराणचन्द्रजी ने अन्यत्र कहे हुए विधान का अन्यत्र प्रयोग करना अतिदेश लिखा है जैसे हेमन्त ऋतु में कही हुई चर्या का ही प्रयोग शिशिर में भी करने को कहना अतिदेश है। 'इतरत्र विहितस्य विधेरितरत्र-

प्रयोगार्थोपदेशोऽतिदेशः, यथा—'एष एव विधिः कार्यः शिशिरे समुदाहृतः'। अतिदेशस्य चक्रपाणिकृतवर्णनम्—'अतिदेशो नाम यत्किञ्चिदेव प्रकाशयार्थमनुक्तार्थसाधनायैव एवमन्यदपि प्रत्येतव्यमिति परिभाष्यते, यथा—यच्चान्यदपि किञ्चित् स्यादनुक्तमिह पूजितम्। वृत्तं तदपि चात्रेयः सदैवाभ्यनुमन्यते॥ (च० सू० अ० ८) किसी वस्तु या अर्थ को यत्किञ्चित् (स्वल्प स्वरूप) प्रकार से कह कर उससे अनुक्त अर्थ का ज्ञान कर लेने का कह देना अतिदेश है। आत्रेय जी कहते हैं कि इस विषय में जो भी हमने नहीं कहा है किन्तु अन्यत्र इसी प्रकार का पूजनीय (योग्य, हितकारी) वृत्त (वस्तु या अर्थ या उपदेश) हो उसे मैं स्वीकृत कर लेता हूँ। 'बालादपि सुभाषितं ग्राह्यम्'। 'परेभ्योऽपि आगमयितव्यम्'। सर्वो हि लोको बुद्धिमतामाचार्यः शत्रुश्चाबुद्धिमताम्'। इस तरह आत्रेयमत से योग्य ज्ञान कहीं से भी ग्रहण कर लिया जाना स्पष्ट सिद्ध है। प्राचीन महर्षि सदा उदार रहे हैं। उन्होंने ज्ञानग्रहण में कभी संकोच नहीं किया है।

अभिव्याप्यापकर्षणमपवर्गः। यथा—अस्वेद्या विषोपसृष्टाः, अन्यत्र कीटविषादिति॥ १८॥

अपवर्गतन्त्रयुक्तेर्लक्षणम्—किसी वस्तु का व्यापक रूप से निषेध करके उसमें से किसी एकदेश के निषेध का विधान कर देना अपवर्ग कहलाता है। जैसे विष खाये हुए या विष से आक्रान्त सभी अस्वेद्य होते हैं किन्तु कीटविष को छोड़ कर। अर्थात् कीटविष वाले को स्वेदन कराया जाता है॥ १८॥

विमर्शः—अपवर्गस्य चक्रपाणिकृतवर्णनम्—'अपवर्गो नाम साकल्येनोद्दिष्टस्यैकदेशापकर्षणं यथा—'न पर्युषितान्नमाददीतान्यत्र मांसहरितकशुष्कशाकफलभक्ष्येभ्यः' (च० सू० अ० ८) इति। अत्र हि सामान्येन पर्युषितभक्षणनिषेधं कृत्वा मांसादेः पर्युषितस्यापि भक्षणमपकृष्य विधीयते। यह वर्णन सुश्रुत सदृश ही है। प्रथम सम्पूर्ण का निषेध कर फिर उसके एकदेश का विधान कर देना अपवर्ग है।

येन पदेनानुक्तेन वाक्यं समाप्यते स वाक्यशेषः। यथा—शिरःपाणिपादपार्श्वपृष्ठोदरोरसामित्युक्ते पुरुषग्रहणं विनाऽपि गम्यते पुरुषस्येति॥ १९॥

वाक्यशेषवर्णनम्—किसी पद के उच्चारण (या लेखन) न करने पर भी उसका अध्याहार होकर वाक्य समाप्त हो जाता हो उसे वाक्यशेष कहते हैं। जैसे शिर, पाणि, पाद, पार्श्व, पृष्ठ, उदर और उर ऐसा कहने पर यहाँ पुरुष शब्द के न लिखने पर भी ऐसा विदित हो जाता है कि पुरुष के शिर, पाणि, पाद आदि॥ १९॥

विमर्शः—वाक्यशेषस्य चक्रपाणिकृतवर्णनम्—वाक्यशेषो नाम यल्लाघवार्थमाचार्येण वाक्येषु पदमकृतं गम्यमानतया पूर्यते, यथा—'प्रवृत्तिहेतुर्भावानाम्' (च० सू० अ० १६) इत्यत्र 'अस्ति' पदं पूर्यते तथा 'जाङ्गलजैः रसैः' इत्यत्र मांसशब्दः पूर्यते। वाक्येषु चैत एव पदाः शेषाः क्रियन्ते, येऽनिवेशिता अपि प्रतीयन्ते। लाघवार्थ किसी वाक्य में किसी शब्द के न लिखने पर भी वह अर्थात् भासित हो जाय उसे वाक्यशेष कहते हैं।

यदकीर्तितमर्थादापद्यते साऽर्थापत्तिः, यथा—ओदनं भोक्ष्ये इत्युक्तेऽर्थादापन्नं भवति—नायं पिपासुर्यवागूमिति॥ २०॥

अर्थापत्तिवर्णनम्—बिना वर्णन किये ही जिस वस्तु या अर्थ का ज्ञान हो जाय उसे अर्थापत्ति कहते हैं। जैसे कोई व्यक्ति कहे कि मैं ओदन (भात या चावल) खाऊँगा तो अर्थात् (अनायास) ही यह ज्ञान हो जाता है कि यह यवागू के पान की इच्छा नहीं रखता है॥ २०॥

विमर्शः—नायं पातुमिच्छुर्यवागूमित्यर्थः। अर्थापत्तेश्चक्रपाणिकृतवर्णनम्—अर्थापत्तिर्नाम यदकीर्तितमर्थादापद्यते साऽर्थापत्तिः। यथा—नक्तं दधिभोजननिषेधः, अर्थाद्दिवा भुञ्जीतेत्यापद्यते।

यद्यत्राभिहितं तस्य प्रातिलोम्यं विपर्ययः। यथा—कृशाल्पप्राणभीरवो दुश्चिकित्स्या इत्युक्ते विपरीतं गृह्यते दृढादयः सुचिकित्स्या इति॥ २१॥

विपर्ययलक्षणम्—जो भी कुछ कहा गया हो या विधान हो उसके विपरीत जहाँ ग्रहण किया जाता हो उसे विपर्यय कहते हैं। जैसे दुर्बल, अल्पप्राणशक्तिवाले तथा भीरु (डरपोक) दुश्चिकित्स्य होते हैं ऐसा कहने पर उसका विपरीत ग्रहण किया है कि दृढ, महाप्राण वाले और निडर पुरुष सुचिकित्स्य होते हैं॥ २१॥

विमर्शः—प्रातिलोम्यं = विपरीतम्। अर्थापत्त्या अविपरीत एवार्थः प्रतीयते, इत्यनयोर्भेदः। विपर्ययस्य चक्रपाणिकृतवर्णनम्—'विपर्ययो नाम अपकृष्टात्प्रतीपोदाहरणम्—यथानिदानोक्तान्यस्य नोपशेरते विपरीतानि चोपशेरते' (च० नि० अ० ३) इति। यह भी सुश्रुतवत् ही है।

प्रकरणान्तरेण समापनं प्रसङ्गः। यद्वा, प्रकरणान्तरितो योऽर्थोऽसकृदुक्तः समाप्यते स प्रसङ्गः। यथा—पञ्चमहाभूतशरीरिसमवायः पुरुषस्तस्मिन् क्रिया सोऽधिष्ठानमिति वेदोत्पत्तावभिधाय भूतचिन्तायां पुनरुक्तं यतोऽभिहितं पञ्चमहाभूतशरीरिसमवायः पुरुष इति, स खल्वेष कर्मपुरुषश्चिकित्साऽधिकृत इति॥२२॥

प्रसङ्गतन्त्रयुक्तेर्वर्णनम्—अन्य प्रकरण में उल्लिखित किसी अर्थ का बार-बार उल्लेख करके समाप्त करना प्रसङ्ग कहलाता है। अथवा किसी अन्य प्रकरण (प्रसङ्ग) में बार-बार कहे हुए अर्थ की अन्य प्रकरण में उक्ति करके समाप्ति करना प्रसङ्ग कहलाता है। जैसे पृथिवी, जल, तेज, वायु और आकाश ये पञ्चमहाभूत तथा शरीरी (जीवात्मा) का समवाय (सम्बन्ध से सम्मेलन) ही पुरुष कहलाता है और उसी में सर्व प्रकार की शारीरिक क्रियाएँ होती हैं और वही सब का या चिकित्सा का अधिष्ठान (पात्र, स्थान, आधार) है ऐसा वेदोत्पत्ति नामक अध्याय (सु० सू० अ० १) में कह कर पुनः सर्वभूतचिन्ता शारीर नामक अध्याय (सु० शा० अ० १) में फिर से कहा कि जैसे कहा है कि पञ्च महाभूत तथा शरीरी (जीवात्मा) का समवाय सम्बन्ध से सञ्जात संयोग पुरुष कहलाता है और यही कर्म पुरुष निश्चयरूप से चिकित्सा में उपयोगी है॥ २२॥

विमर्शः—अपरे प्रसङ्गलक्षणं लिखन्ति—'अधिकरणान्तरितो योऽर्थोऽसकृदुक्त' इति पठित्वा व्याख्यानयन्ति-स्नेहविरेकाधिकारयोर्नवज्वरी निषिद्धः, पुनर्ज्वराधिकारे तरुणज्वरिणः स्नेहशोधने निषिद्धे इति अधिकरणेऽन्तरितस्यार्थस्यासकृदुक्तिः। अर्थात् किसी पूर्व अधिकरण में कहे हुए विषय का पुनरन्यत्र किसी अधिकरण या प्रसङ्ग में बार-बार कहना प्रसङ्ग कहलाता है। जैसे स्नेहन और विरेचन के प्रकरण में नवज्वरी के लिये स्नेहन और विरेचन का निषेध करके पुनर्ज्वराधिकार में कहना कि तरुणज्वरी को स्नेहन तथा शोधन निषिद्ध है। **प्रसङ्गस्य चक्रपाणिकृतवर्णनम्**—'प्रसङ्गो नाम पूर्वाभिहितस्यार्थस्य प्रकरणागतत्वादिना पुनरभिधानं, यथा—'तत्रातिप्रभावतां दृश्यानामतिमात्रदर्शनमतियोगः' (च० सू० अ० ११) एवमाद्यभिधाय पुनः 'अत्युग्रशब्दश्रवणाच्छ्रवणात्सर्वशो न च' (च० शा० अ० १) इत्यादिना पूर्वोक्त एवार्थोऽभिधीयते। पूर्वोक्त अर्थ का प्रकरण उपस्थित होने पर पुनर्वर्णन करना प्रसङ्ग कहा जाता है। जैसे अतिप्रभावाले दृश्यों का अतिदर्शन अतियोग कहलाता है। इसी बात को पुनः अत्यन्त उग्र शब्द का श्रवण अतियोग कहा जाता है ऐसा वर्णन करना प्रसङ्ग नामक तन्त्रयुक्ति है।

(सर्वत्र) यदवधारणेनोच्यते स एकान्तः। यथा—त्रिवृद्विरेचयति, मदनफलं वामयति (एव) ॥ २३ ॥

एकान्तलक्षणम्—सर्वत्र (सर्वावस्था में) जो बात निश्चयपूर्वक कही जाती है उसे एकान्त कहते हैं। जैसे त्रिवृत् (निशोथ) विरेचन करती ही है और मदनफल वामक होता ही है ॥ २३ ॥

विमर्शः—अवधारणेन अविकल्पेन नियमेनेत्यर्थः। **एकान्तस्य चक्रपाणिकृतलक्षणम्**—'एकान्तो नाम यदवधारणेनोच्यते, यथा—निजः शरीरदोषोत्थः, त्रिवृद्विरेचयतीत्यादि।

क्वचित्तथा क्वचिदन्यथेति यः सोऽनेकान्तः। यथा—केचिदाचार्या ब्रुवते द्रव्यं प्रधानं, केचिद्रसं, केचिद्वीर्य्यं, केचिद्विपाकमिति ॥ २४ ॥

अनेकान्तलक्षणम्—किसी स्थल पर वैसा और किसी स्थल पर अन्यथा हो उसे अनेकान्त कहते हैं। जैसे कुछ आचार्य कहते हैं कि द्रव्य प्रधान होता है, कुछ रस को प्रधान बताते हैं, कुछ वीर्य की प्रधानता प्रदर्शित करते हैं और कतिपय विपाक को प्रमुख मानते हैं। अर्थात् किसी एक विषय में अनेक मतमतान्तर हो उसे अनेकान्त कहते हैं ॥ २४ ॥

विमर्शः—अनेकान्तस्य चक्रपाणिकृतवर्णनम्—'अनेकान्तो नाम अन्यतरपक्षानवधारणं, यथा—ये ह्यातुराः केवलाद्भेषजादृते म्रियन्ते, न च ते सर्वे एव भेषजोपपन्नाः समुत्तिष्ठेरन्' (च० सू० अ० १०) इत्यादि।

आक्षेपपूर्वकः प्रश्नः पूर्वपक्षः। यथा—कथं वातनिमित्ताश्चत्वारः प्रमेहा असाध्या भवन्तीति ॥ २५ ॥

पूर्वपक्षलक्षणम्—किसी विषय का आक्षेप करते हुए प्रश्न करना पूर्वपक्ष कहा जाता है। उदाहरणार्थ जैसे किस प्रकार वातजन्य चार प्रकार के प्रमेह असाध्य होते हैं ॥ २५ ॥

विमर्शः—पूर्वपक्षस्य चक्रपाणिकृतवर्णनम्—'पूर्वपक्षो नाम प्रतिज्ञातार्थसन्दूषकं वाक्यं, यथा—'मत्स्यान्न पयसाऽभ्यवहरेत्' इति प्रतिज्ञातार्थस्य 'सर्वानेव मत्स्यान् पयसाऽभ्यवहरेदन्यत्र चिलचिमात्' (च० सू० अ० २६) इति यहाँ पर प्रथम प्रतिज्ञात करा दिया (घोषित कर दिया) कि दुग्ध के साथ मत्स्य नहीं खाना चाहिए पश्चात् इसे दूषित करने के लिये लिख दिया कि चिलचिम नामक मत्स्य को छोड़ कर अन्य मछलियों को दुग्ध के साथ सेवन न करें। अर्थात् चिलचिम नामक मत्स्य को दुग्ध के साथ खाने का विधान करने से दुग्ध सह मत्स्यभक्षण-निषेधसूचक प्रथम वाक्य दूषित हो जाता है।

तस्योत्तरं निर्णयः। यथा—शरीरं प्रपीड्य पश्चादधो गत्वा वसामेदोमज्जानुविद्धं मूत्रं विसृजति वातः, एवमसाध्या वातजा इति ॥ २६ ॥

निर्णयाख्यतन्त्रयुक्तेर्लक्षणम्—किसी प्रश्न के उत्तर को निर्णय कहते हैं जैसे प्रकुपित वात प्रथम शरीर को पीड़ित कर पीछे अधः प्रदेश में जा के वसा, मेद और मज्जा के साथ संयुक्त हो के उन्हें कुपित कर मूत्राशय में जा के मूत्र को भी दूषित कर वसादि के साथ मूत्र को बाहर निकालता है इस लिये वातजन्य प्रमेह असाध्य होते हैं ॥ २६ ॥

तथा चोक्तम्—

कृत्स्नं शरीरं निष्पीड्य मेदोमज्जावसायुतः।
अधः प्रकुप्यते वायुस्तेनासाध्यास्तु वातजाः ॥ २७ ॥

निर्णयतन्त्रयुक्तेरुदाहरणान्तरम्—मिथ्या आहार-विहार से प्रकुपित हुआ वात समग्र शरीर को निष्पीड़ित कर मेद, मज्जा और वसा के साथ संयुक्त हो के उन्हें भी दूषित कर नीचे के बस्ति प्रदेश में जा कर मूत्र को दूषित कर उसे मज्जादि के साथ बाहर निकालता है। इस लिये वातजन्य प्रमेह असाध्य होते हैं ॥ २७ ॥

विमर्शः—गम्भीर धातुओं में प्रकुपित वात के प्रविष्ट होने से मज्जादि का क्षय हो कर उसके पूर्व-पूर्व की अन्य धातुएँ भी नष्ट होती हैं इस लिये वातिक प्रमेह असाध्य माने गये हैं—साध्याः कफोत्था दश पित्तजाः षड् याप्या न साध्याः पवनाच्चतुष्काः। समक्रियत्वाद्विषमक्रियत्वान्महात्ययत्वाच्च यथाक्रमन्ते ॥ **निर्णयस्य चक्रपाणिकृतवर्णनम्**—'निर्णयो नाम विचारितस्यार्थस्य व्यवस्थापनं, यथा—चतुष्पदभेषजत्वादिविचारं कृत्वाऽभिधीयते—'यदुक्तं षोडशकलं पूर्वाध्याये भेषजं तद्युक्तियुक्तमलमारोग्याय' (च० सू० अ० १०) पूर्ण रूप से विचारित किये अर्थ की व्यवस्था करना निर्णय कहलाता है जैसे षोडश कलाओं से युक्त भेषज आरोग्य सम्पादन के लिये पर्याप्त है। चतुष्पाद—भिषग् द्रव्याण्युपस्थाता रोगी पादचतुष्टयम्। गुणवत्कारणं ज्ञेयं विकारव्युपशान्तये ॥ इन चारों में से प्रत्येक चार-चार गुणों वाला होने से सोलह गुण युक्त भेषज कहलाती है—वैद्यगुणाः—श्रुते पर्यवदातत्वं बहुशो दृष्टकर्मता। दाक्ष्यं शौचमिति ज्ञेयं वैद्ये गुणचतुष्टयम् ॥ **द्रव्यगुणाः**—बहुता तत्र योग्यत्वमनेकविधकल्पना। सम्पच्चेति चतुष्कोऽयं द्रव्याणां गुण उच्यते ॥ **परिचारकगुणाः**—उपचारज्ञता दाक्ष्यमनुरागश्च भर्तरि। शौचञ्चेति चतुष्कोऽयं गुणः परिचरे जने ॥ **आतुरगुणाः**—स्मृतिर्निर्देशकारित्वमभीरुत्वमथापि च। ज्ञापकत्वञ्च रोगाणामातुरस्य गुणाः स्मृताः ॥ **षोडश-**

गुणाः—कारणं षोडशगुणं सिद्धौ पादचतुष्टयम्। विज्ञाता शासिता योक्ता प्रधानं भिषगत्र तु ॥ (च० सू० अ० ९)

परमतमप्रतिषिद्धमनुमतम्। यथाऽन्यो ब्रूयात्—सप्त रसा इति, तच्चाप्रतिषेधादनुमन्यते कथञ्चिदिति ॥ २८ ॥

अनुमतलक्षणम्—दूसरे के मत का निषेध न करके उसे स्वीकृत कर लेना अनुमत कहलाता है। जैसे कोई कहे कि रस सात होते हैं। उसका प्रतिषेध न करके उसे यथाकथञ्चित् स्वीकार कर लेना अनुमत कहा जाता है ॥ २८ ॥

विमर्शः—अनुमतस्य चक्रपाणिकृतवर्णनम्—'अनुमतं नाम परकीयमतस्यानिवारणेनानुमननं, यथा—'गर्भशल्यस्य जरायुःप्रपातनं कर्म संशमनमित्येके' (च० शा० अ० ८) इत्यादेकीयमतं प्रतिपाद्याप्रतिषेधादनुमन्यते।

प्रकरणानुपूर्व्याऽभिहितं विधानम्। यथा-सक्थिमर्माण्येकादश प्रकरणानुपूर्व्याऽभिहितानि ॥ २९ ॥

विधानलक्षणम्—प्रकरण के अनुपूर्व (प्रकरणपुरस्सर या प्रकरणप्राप्त) किसी का वर्णन करना विधान कहा जाता है जैसे सक्थि (टाँग) के मर्म ग्यारह होते हैं, ऐसा प्रकरण पूर्वक कहा गया है ॥ २९ ॥

विमर्शः—सक्थिमर्माणि—'क्षिप्रतलहृदयकूर्चकूर्चशिरोगुल्फेन्द्रबस्तिजान्वाण्युर्विलोहिताक्षाणि विटपश्चेति'। **विधानस्य चन्द्रनन्दनकृतलक्षणम्**—'परिपाट्याऽर्थकथनं विधानम्'। **विधानस्य चक्रपाणिकृतलक्षणम्**—'विधानं नाम सूत्रकारश्च विधाय वर्णयति, यथा—'मलायनानि बाध्यन्ते दुष्टैर्मात्राधिकैर्मलैः' इत्यत्र दुष्टशब्देन मलानां हीनत्वमधिकत्वमाचार्यगृहीतमाचार्यो वर्णयति—मलवृद्धि गुरुतया लाघवान्मलसंक्षयम्। मलायनानां बुध्येत सङ्गोत्सर्गादतीव च ॥ (च० सू० अ० ७) इति केचित्तु प्रकरणानुपूर्व्याऽर्थाभिधानं विधानमाहुः, यथा—रसरुधिरमांसमेदोऽस्थिमज्जशुक्राणामुत्पादकमानुलोम्येनाभिधानम्।

एवं वक्ष्यतीत्यनागतावेक्षणम्। यथा श्लोकस्थाने ब्रूयात्-चिकित्सितेषु वक्ष्यामीति ॥ ३० ॥

अनागतावेक्षणम्—किसी अनागत (भविष्य) विषय का कार्यार्थं अवेक्षण (निरीक्षण या वर्णन या स्मरण) करना अनागतावेक्षण कहलाता है। जैसे श्लोकस्थान (सूत्र स्थान) में कहे कि यह विषय चिकित्सास्थान में विस्तार से कहा जायगा। यह अनागतावेक्षण है ॥ ३० ॥

विमर्शः—अनागतावेक्षणस्य चक्रकृतवर्णनम्—'अनागतावेक्षणं नाम यदनागतं विधि प्रमाणीकृत्यार्थसाधनं, यथा—'अथवा तिक्तसर्पिषः' इत्याद्यनागतावेक्षणेनोच्यते।

यत्पूर्वमुक्तं तदतिक्रान्तावेक्षणम्। यथा चिकित्सितेषु ब्रूयात्—श्लोकस्थाने यदीरितमिति ॥ ३१ ॥

अतिक्रान्तावेक्षणम्—जो बात पूर्व में कह दी हो उसका स्मरण करना अतिक्रान्तावेक्षण है। जैसे चिकित्सास्थान के वर्णन में कोई कहे कि यह विषय तो श्लोक स्थान (सूत्र स्थान) में कह दिया गया है। यही अतिक्रान्तावेक्षण है ॥

विमर्शः—चरक में इसको अतीतावेक्षण नाम से कहा है। 'अतीतावेक्षणं नाम यदतीतमेवोच्यते' यथा—'सा कुटी तच्च शयनं ज्वरं संशमयत्यपि' (च० चि० अ० ३) इत्यत्र स्वेदाध्यायविहितं कुट्यादिकमतीतमवेक्षते। चिकित्सा प्रकरण में सूत्रस्थानीय चौदहवें स्वेदाध्याय के कुटीस्वेद का स्मरण अतीतावेक्षण है।

उभयहेतुदर्शनं संशयः। यथा—तलहृदयाभिघातः प्राणहरः पाणिपादच्छेदनमप्राणहरमिति ॥ ३२ ॥

संशयवर्णनम्—दो प्रकार के असमान अर्थों के हेतु का वर्णन करना संशय कहा जाता है। जैसे तलहृदय नामक मर्म पर आघात होने से प्राणनाश (मृत्यु) होता है तथा पाणि (हस्त) और पाद का छेदन (आघात या काटना) प्राणहारक नहीं होता है ॥ ३२ ॥

विमर्शः—उभयोर्विसदृशयोरर्थयोर्हेतुस्तस्य दर्शनम्। डल्हण इस विषय में शङ्का करते हैं कि तलहृदयाभिघात नामक मर्म प्राणहर तथा पाणिपाद का छेदन अप्राणहर होता है ऐसा पृथक् पृथक् स्पष्ट है पुनः संशय ही नहीं होता? परन्तु जहां पर आघात और छेदन दोनों क्रियाएँ हों तो वहां सन्देह होगा कि आघात लगा है अतः मृत्यु होगी अथवा छेदन हुआ है अतः व्यक्ति जीवित रहेगा ऐसा संशय हो सकता है। **संशयस्य चक्रकृतवर्णनम्**—'संशयो नाम विशेषाकाङ्क्षानिर्धारितोभयविषयज्ञानं, यथा—'मातरं पितरञ्चैके मन्यन्ते जन्मकारणम्। स्वभावं परनिर्माणं यदृच्छाञ्चापरे जनाः ॥ (च० सू० अ० ११) इत्यादिनोक्तः संशयः। विशिष्ट ज्ञान करने की इच्छा से उभय (दोनों) प्रकार के उत्तर जहां हो वहां संशय कहलाता है जैसे कुछ लोग माता-पिता को जन्म का कारण मानते हैं, कतिपय स्वभाव को और अन्य पर (अन्य ईश्वरादि) से निर्मित होना तथा इतर यदृच्छा को जन्म का कारण मानते हैं। ऐसी स्थिति में यहां संशय ही संशय होता है कि वास्तव में जन्म होने के प्रति कारण क्या है।

तन्त्रेऽतिशयोपवर्णनं व्याख्यानम्। यथा—इह पञ्चविंशतिकः पुरुषो व्याख्यायते, अन्येष्वायुर्वेदतन्त्रेषु भूतादिप्रभृत्यारभ्य चिन्ता ॥ ३३ ॥

व्याख्यानलक्षणम्—अपने तन्त्र (शास्त्र) में किसी अतिरिक्त (अधिक या विशिष्ट) अर्थ (वस्तु) का वर्णन करना व्याख्यान कहा जाता है। जैसे यहां धन्वन्तरि या सुश्रुत तन्त्र (शास्त्र या सम्प्रदाय) में पच्चीसवां पुरुष (कर्मपुरुष, राशिपुरुष या क्षेत्रज्ञ) माना जाता है किन्तु अन्य आयुर्वेदिक तन्त्रों में भूतादि (तामसिक अहङ्कार) से प्रारम्भ कर सृष्टि के तत्त्वों का चिन्तन किया गया है। वहां अव्यक्त को मान कर चिन्तन नहीं होने से २४ तत्त्वों से ही यह चैतन्य सृष्टि बनी है ॥ ३३ ॥

विमर्शः—तन्त्रे = शास्त्रे। अतिशयस्यातिरिक्तस्यार्थस्योपवर्णनं स्थापनं व्याख्यानम्। पञ्चविंशतिकः = पञ्चविंशतितम इत्यर्थः। अव्यक्तादीनामष्टानां प्रकृतिविकारैः षोडशभिः सह चतुर्विंशतित्वात्। पुरुषः इति क्षेत्रज्ञः। प्राचीन सांख्य का अनुयायी सुश्रुत पुरुष को पच्चीसवां तत्त्व मानता है। अर्थात् अव्यक्त (मूल प्रकृति या प्रधान) महान् (बुद्धितत्त्व), अहङ्कार और पञ्चतन्मात्राएँ, (शब्दतन्मात्रा, स्पर्शतन्मात्रा, रूपतन्मात्रा, रसतन्मात्रा और गन्धतन्मात्रा) ये अष्ट प्रकृति कही जाती हैं तथा पञ्चज्ञानेन्द्रियां, पञ्चकर्मेन्द्रियां एवं उभयात्मक मन

और पञ्च महाभूत ये षोडश विकार कहे जाते हैं। इस तरह ये कुल २४ तत्त्व होते हैं किन्तु ये अव्यक्त या मूल प्रकृति जो कि जड़ मानी गई है उसके कारण कारणानुरूप कार्य होने से सभी अचेतन हैं। इनमें चैतन्य सम्पादन करने के लिये पच्चीसवें पुरुष तत्त्व की आवश्यकता है अतएव सुश्रुत ने २५ तत्त्वों का पुरुष स्वीकृत किया है। अष्टौ प्रकृतयः प्रोक्ता विकाराः षोडशैव तु। क्षेत्रज्ञश्च समासेन स्वतन्त्रपरतन्त्रयोः॥ 'तत्र सर्व एवाचेतन एष वर्गः, पुरुषः पञ्चविंशतितमः कार्यकारणसंयुक्तश्चेतयिता भवति' (सु० शा० अ० १) कार्येण = महदादिविकारगणेन, कारणेन = मूलप्रकृत्या संयुक्तः अर्थात् पुरुष (जीवात्मा) के सान्निध्य से ही जड़भूत मूलप्रकृति में सर्गोत्पत्ति, प्रारम्भ हो जाती है जैसे वत्स के सान्निध्य में गौ के जड़ क्षीर में प्रवर्तन की प्रवृत्ति जैसा कि सांख्यकारिका में भी लिखा है—'पङ्ग्वन्धवदुभयोरपि संयोगस्तत्कृतः सर्गः' नव्य सांख्यमतानुयायी चरकाचार्य ने २४ तत्त्वों को ही स्वीकृत किया है। उन्होंने पच्चीसवां पुरुष न मान कर अव्यक्त को ही आत्मा मान ली है—अव्यक्तमात्मा क्षेत्रज्ञः शाश्वतो विभुरव्ययः। तस्माद्यदन्यत्तद्व्यक्तं, वक्ष्यते चापरं द्वयम्॥ चरकाचार्य ने सुश्रुत की तरह अष्ट प्रकृति और षोडश विकार के समुदाय में से अव्यक्त को छोड़ कर शेष २३ को ही क्षेत्र माना है तथा उसका क्षेत्रज्ञ अव्यक्त है जहां से सर्गोत्पत्ति शुरू होती है—खादीनि बुद्धिरव्यक्तमहङ्कारस्तथाऽष्टमः। भूतप्रकृतिरुद्दिष्टा विकाराश्चैव षोडश॥ बुद्धीन्द्रियाणि पञ्चैव पञ्च कर्मेन्द्रियाणि च। समनस्काश्च पञ्चार्था विकारा इति संज्ञिताः॥ इति क्षेत्रं समुद्दिष्टं सर्वमव्यक्तवर्जितम्। अव्यक्तमस्य क्षेत्रस्य क्षेत्रज्ञमृषयो विदुः॥ जायते बुद्धिरव्यक्ताद् बुद्ध्याऽहमिति मन्यते। परं खादीन्यहङ्कारादुत्पद्यन्ते यथाक्रमम्॥ ततः सम्पूर्णसर्वाङ्गो जातोऽभ्युदित उच्यते॥ (च० शा० अ० १)

अन्यशास्त्रासामान्या स्वसंज्ञा। यथा—मिथुनमिति मधुसर्पिषोर्ग्रहणम्, लोकप्रसिद्धमुदाहरणं वा॥

स्वसंज्ञालक्षणम्—अन्य शास्त्रों से विचित्र तथा अपने शास्त्र में अनुकूल या प्रसिद्ध किसी वस्तु के नामकरण को स्वसंज्ञा कहते हैं जैसे मिथुन शब्द से आयुर्वेद में शहद और घृत का ग्रहण होता है। अथवा लोक (संसार) में जो प्रसिद्ध हो वह स्वसंज्ञा का उदाहरण समझ लेना चाहिए॥ ३४॥

विमर्शः—मिथुन शब्द लोक में शहद और घृत के लिये अधिक प्रसिद्ध नहीं है इसीलिये लोक प्रसिद्ध उदाहरण करने को लिखा है। महास्नेह शब्द के उच्चारण करने से घृत, तैल, वसा और मज्जा इन चार का बोध होता है—'सर्पिस्तैलं वसा मज्जा स्नेहोऽप्युक्तश्चतुर्विधः' इसके अतिरिक्त मिथुनीभूत (मिश्रीभूत) वातपित्त, वातकफ और पित्तकफ का द्वन्द्व शब्द से ग्रहण होना और मिथुनीभूत तैल-घृत का यमक शब्द से ग्रहण होना स्वसंज्ञा कहलाती है। स्वसंज्ञायाश्चक्रकृतवर्णनम्—'स्वसंज्ञा नाम या तन्त्रकारैर्व्यवहारार्थं संज्ञा क्रियते, यथा जेन्ताकहोलाकादिसंज्ञा। जेन्ताक और होलाक ये दोनों त्रयोदशविध स्वेदों में से हैं।

निश्चितं वचनं निर्वचनम्। यथा—आयुर्विद्यतेऽस्मिन्ननेन वा, आयुर्विन्दतीत्यायुर्वेदः॥ ३५॥

निर्वचनलक्षणम्—किसी विषय में निश्चित वचन कहना निर्वचन कहलाता है। जैसे आयु का वर्णन जिस शास्त्र में हो अथवा जिस शास्त्र के द्वारा मनुष्य आयु को प्राप्त कर सकता हो उसे आयुर्वेद कहते हैं॥ ३५॥

विमर्श—आयुर्वेद शब्द में आयु और वेद ऐसे दो शब्दों का संयोग है। दोनों का पृथक्-पृथक् अर्थ और फिर संयुक्त अर्थ जानना आवश्यक है। आयुर्लक्षणम्—'शरीरेन्द्रियसत्त्वात्मसंयोगो धारि जीवितम्। नित्यगश्चानुबन्धश्च पर्यायैरायुरुच्यते॥ शरीर, इन्द्रियाँ, मन और आत्मा के संयोग को आयु कहते हैं तथा धारि, जीवितम्, नित्यग और अनुबन्ध ये उसके पर्याय हैं। परिष्कृतलक्षणम्—'शरीरेन्द्रियसत्त्वात्मसंयोगविशिष्टत्वे सति धार्यादिपर्यायवाचकैर्नामभिरभिधीयमानत्वमायुष्ट्वम्' उस आयु के वेद को आयुर्वेद कहते हैं—तस्यायुषः पुण्यतमो वेदो वेदविदां मतः। वक्ष्यते यन्मनुष्याणां लोकयोरुभयोर्हितम्॥ अन्यच्च—हिताहितं, सुखं दुःखमायुस्तस्य हिताहितम्। मानञ्च तच्च यत्रोक्तमायुर्वेदः स उच्यते। चार प्रकार की हितायु, अहितायु, सुखायु और दुःखायु का वर्णन जहाँ हो तथा उस आयु के हितकारक और अहितकारक द्रव्य गुण कर्मों का जहाँ वर्णन हो और आयु का मान तथा जीवात्मा और परमात्मा का जहाँ वर्णन हो उसे आयुर्वेद कहते हैं। अन्यच्च—आयुष्याण्यनायुष्याणि च द्रव्यगुणकर्माणि यतो वेदयतीत्यायुर्वेदः। आयु के लिये हितकारी तथा अहितकारी द्रव्य, गुण और कर्मों का जिस शास्त्र में वर्णन हो उसे आयुर्वेद कहते हैं। अन्यच्च—आयुर्हिताहितं व्याधेर्निदानं शमनं तथा। विद्यते यत्र विद्वद्भिरायुर्वेदः स उच्यते॥ जिस शास्त्र में हित और अहित आयु, व्याधि (रोग) को जानने के उपाय और उसकी चिकित्सा (शमन) का उपाय जहाँ वर्णित हो उसे विद्वान् लोग आयुर्वेद कहते हैं। इस तरह वेद शब्द विद् ज्ञाने अर्थ में होने से आयुर्वेदयतीत्यायुर्वेदः, आयुषो वा वेदः, आयुर्वेदः, तथा विद-सत्तायाम् इस अर्थ में होने से आयुर्विद्यतेऽस्मिन्नित्यायुर्वेदः, एवं विद्लृ-लाभे इस अर्थ में होने से आयुर्विन्दति प्राप्नोति वाऽनेनेत्यायुर्वेदः ऐसा सिद्ध होता है। निष्कर्ष—भूमण्डल के समस्त शास्त्र जो भी आयु के हिताहित का वर्णन करते हों वे सब आयुर्वेद हैं। आयुर्वेद केवल चरक, सुश्रुत, वाग्भट आदि कतिपय पुस्तकों का नाम है ऐसा समझना महान् अज्ञानता है। संसार की समस्त पैथियाँ तथा ज्योतिष शास्त्र, धर्म शास्त्र, कर्मकाण्ड आदि सभी आयु का हित साधन करने की दृष्टि से आयुर्वेद कहलाते हैं। त्रिकालदर्शी महर्षियों के द्वारा आविर्भूत यह शब्द अत्यन्त विशाल अर्थ का बोधक है। इसको (Science of life) या जीवन का विज्ञान भी कह सकते हैं, इसलिये जो कोई भी औषध चाहे किसी देश में उत्पन्न हो, किसी पद्धति से बनी हो यदि वह आयु के लिये हितकर हो, रोगों का नाश करती हो, एक रोग को नष्ट कर अन्य उपद्रव उत्पन्न न करती हो तो उसका उपयोग अवश्य किया जाना चाहिये परन्तु यदि अपने देश के वातावरण में उत्पन्न हो तथा स्वदेश-पद्धति से बनी हो उससे रोग नाश हो जाता हो तो बाह्य देश की औषध न लेकर स्वदेश की ही ग्रहण करें किन्तु रोगी के प्राणों को बचाने के लिये बाह्य औषध न ग्रहण करना महान् मूर्खता है।

(१) प्रयोगः शमयेद् व्याधिं योऽन्यमन्यमुदीरयेत् । नासौ योगः शुद्धस्तु शमयेद्यो न कोपयेत् ॥ (चरक) (२) 'सर्वो हि लोको बुद्धिमतामाचार्यः शत्रुश्चाबुद्धिमताम्' (३) तदेव युक्तं भैषज्यं यदारोग्याय कल्पते । स एव भिषजां श्रेष्ठो रोगेभ्यो यः प्रमोचयेत् ॥ (४) 'नानौषधिभूतं किञ्चिज्जगत्' (५) 'परेभ्योऽपि आगमयितव्यम्' (६) बालादपि सुभाषितं ग्राह्यम्'। **निर्वचनस्य चक्रकृत वर्णनम्**—'निर्वचनं नाम पण्डितबुद्धिगम्यो दृष्टान्तः, **यथा**—नायते नित्यगस्येव कालस्यात्ययकारणम्' (च० सू० अ० १६) इति । **पण्डितों के द्वारा बुद्धिगम्य दृष्टान्त (उदाहरण) को निर्वचन कहते हैं जैसे संसार के भाव पदार्थों के नाश का कारण न होने से उनका विनाश जाना नहीं जाता है जैसे काल नित्य है फिर भी निमेषादि युगपर्यन्त काल क्षीण होता रहता है किन्तु उसके नाश का कारण ज्ञान न होने से वह जाना नहीं जाता है ।** न नाशकारणाभावाद्भावानां नाशकारणम् । ज्ञायते नित्यगस्येव कालस्यात्ययकारणम् ॥ शीघ्रगत्वाद्यथाभूतस्तथा भावो विपद्यते ॥ (च० सू० अ० १६)

दृष्टान्तव्यक्तिर्निदर्शनम् । यथा—अग्निर्वायुना सहितः कक्षे वृद्धिङ्गच्छति तथा वातपित्तकफदुष्टो व्रण इति ॥ ३६ ॥

निदर्शनलक्षणम्—**दृष्टान्त देकर किसी वस्तु या अर्थ का विशेष प्रकाशन (स्पष्टीकरण) करना निदर्शन कहलाता है । जैसे अग्नि, वायु के सम्पर्क होने से कक्ष (घास के समूह) में या कोष्ठ में वृद्धि को प्राप्त होती है उसी प्रकार वात, पित्त और कफ से दूषित व्रण भी वृद्धि को प्राप्त होता है ॥ ३६ ॥**

विमर्शः—निदर्शनं = दृष्टान्तेन व्यक्तिर्यस्मिन् वाक्ये तत्तथा । अथवा दृष्टान्तेन दर्शनं निदर्शनम् । एतेनैतदुक्तं भवति—दृष्टान्तेनार्थः प्रसाध्यते यत्र तन्निदर्शनम् । **अर्थात् दृष्टान्त से जहाँ अर्थ को दृढ किया जाता है उसे निदर्शन कहते हैं। निदर्शनस्य चक्रकृतलक्षणम्**—'निदर्शनं नाम मूर्खविदुषां बुद्धिसाम्यविषयो दृष्टान्तः, **यथा**—'विज्ञातममृतं यथा' (च० सू० अ० १) **इत्यादि । मूर्ख और विद्वानों के बुद्धि के समान विषय का जहाँ दृष्टान्त दिया जाय जैसे अच्छी प्रकार जानी हुई औषध अमृत के समान होती है। यह दृष्टान्त मूर्ख विद्वान् दोनों के समझने योग्य है। चरक का पूर्ण श्लोक निम्नानुसार है**—यथा विषं यथा शस्त्रं यथाऽग्निरशनिर्यथा। तथौषधमविज्ञातं विज्ञातममृतं यथा ॥ **(च० सू० अ० १) निदर्शननिर्वचनयोर्भेदः**—'यन्निदर्शनं मूर्खविदुषां बुद्धिसामान्यविषयं, निर्वचनन्तु पण्डितबुद्धिवेद्यमेव, किंवा निर्वचनं निरुक्तिः—यथा—'विविधं सर्पति यतो विसर्पस्तेन संज्ञितः' (च० चि० अ० २१) **इत्यादि । निदर्शन मूर्ख और विद्वानों के लिये समान ज्ञेय है किन्तु निर्वचन को पण्डितों की बुद्धि ही समझ सकती है। निर्वचन शब्द का अर्थ निरुक्ति भी है। इसे भी पण्डित ही समझ सकते हैं। उदाहरणार्थ विसर्प शरीर में चारों ओर विसर्पण करता (फैलता) है अतः इसे विसर्प कहते हैं। यह निरुक्ति भी पण्डित ही समझ सकते हैं।**

इदमेव कर्त्तव्यमिति नियोगः । यथा—पथ्यमेव भोक्तव्यमिति ॥ ३७ ॥

नियोगलक्षणम्—**यही करना चाहिए इस प्रकार की आज्ञा को नियोग कहते हैं। जैसे सदा पथ्य ही भोजन करना चाहिए ॥ ३७ ॥**

विमर्शः—कहीं-कहीं नियोग में व्यभिचार भी देखा जाता है जैसे ज्वरित पुरुष को अरुचि भी हो तो भी अपथ्य भोजन दिया जाना चाहिए जैसा कि कहा भी है—ज्वरितोऽहितमश्नीयाद्यद्यस्य स्यादरुचिर्भवेत् । अन्नकाले ह्यभुञ्जानः क्षीयते म्रियतेऽथवा ॥ **तन्त्रान्तरेऽप्युक्तम्**—उत्पद्यते हि साऽवस्था देशकालबलम्प्रति । यस्यां कार्यमकार्यं स्याद्वर्जितं कार्यमेव च ॥ **नियोगस्य चक्रकृतलक्षणम्**—'नियोगो नाम अवश्यानुष्ठेयतया विधानं, यथा—'न त्वया स्वेदमूर्च्छापरीतेनापि पिण्डिकैषा विमोक्तव्या' **(च० सू० अ० १४) इत्यादि । अवश्यकर्तव्य के विधान को नियोग कहते हैं जैसे स्वेद प्रकरण में कहा है कि स्वेदन होते-होते तुम्हें मूर्च्छा भी आजाय तो भी यह पिण्डी नहीं छोड़ना ।**

इदञ्चेदञ्चेति समुच्चयः । यथा—मांसवर्गे एणहरिणादयो लावतित्तिरिशारङ्गाश्च प्रधानानीति ॥ ३८ ॥

समुच्चयलक्षणम्—**यह, यह और यह भी ऐसे अनेक अर्थ एक साथ कहने को समुच्चय कहते हैं। जैसे मांसवर्ग में एण का मांस, हरिण का मांस, प्रधान होता है वैसे ही लाव, तित्तिर और शारङ्ग का मांस भी अच्छा होता है ॥ ३८ ॥**

विमर्शः—समुच्चयस्य चक्रपाणिकृतं लक्षणम्—समुच्चयो नाम यदिदं चेदं चेति कृत्वा विधीयते, यथा—'वर्णश्च, स्वरश्च' **(च० इ० अ० १) इत्यादि ।**

इदं वेदं वेति विकल्पः । यथा—रसौदनः सघृता यवागूर्वा (भवत्विति) ॥ ३९ ॥

विकल्पलक्षणम्—**यह अथवा वह श्रेष्ठ है ऐसा जहाँ कथन हो उसे विकल्प कहते हैं। जैसे मांसादि के रस के साथ भात का सेवन अथवा घृत के साथ यवागू का सेवन श्रेष्ठ होता है ॥**

विमर्शः—विकल्पस्य चक्रपाणिकृतं वर्णनम्—विकल्पः पाक्षिकाभिधानं, यथा—'सारोदकं वाऽथ कुशोदकं वा' **(च० चि० अ० ६) इत्यादि । अर्थात् प्रमेह रोगी खदिरादि सार से षडङ्गविधि द्वारा कृत उदक (पानी) पीवे अथवा कुशोदक पीवे अथवा मधु (शहद) और पानी पीवे अथवा त्रिफला का स्वरस पीवे इत्यादि विकल्प के उदाहरण हैं**—सारोदकं वाऽथ कुशोदकं वा मधूदकं वा त्रिफलारसं वा । सीधुं पिबेद्वा निगदं प्रमेही माध्वीकमग्र्यं चिरसंस्थितं वा ॥ **(च० चि० अ० ६)**

यदनिर्दिष्टं बुद्ध्याऽवगम्यते तदूह्यम् । यथा—अभिहितमन्नपानविधौ चतुर्विधञ्चान्नमुपदिश्यते—भक्ष्यं भोज्यं लेह्यं पेयमिति, एवञ्चतुर्विधे वक्तव्ये द्विविधमभिहितम् । इदमत्रोह्यम्—अन्नपाने विशिष्टयोर्द्वयोर्ग्रहणे कृते चतुर्णामपि ग्रहणं भवतीति, चतुर्विधश्चाहारः प्रविरलः, प्रायेण द्विविध एव; अतो द्वित्वं प्रसिद्धमिति । किञ्चान्यत्—अन्नेन भक्ष्यमवरुद्धं, घनसाधर्म्यात्; पेयेन लेह्यं, द्रवसाधर्म्यात् ॥ ४० ॥

ऊह्याख्यतन्त्रयुक्तेर्लक्षणम्—**जो वस्तु या अर्थ साक्षात् न कहा गया हो किन्तु बुद्धि से जिसका ऊह (तर्क या अवगमन)**

हो जाता हो उसे ऊह्यतन्त्रयुक्ति कहते हैं। जैसा कि अन्नपान विधि नामक अध्याय में चार प्रकार का अन्न कहा गया है—(१) भक्ष्य, (२) भोज्य, (३) लेह्य और (४) पेय किन्तु इस प्रकार कहीं चतुर्विध कहने की अपेक्षा यदि द्विविध (अन्न और पान) का ही उल्लेख किया हो तो वहाँ यह ऊह या तर्क किया जाता है कि यहाँ पर अन्न और पान इन विशिष्ट दो शब्दों के ग्रहण करने पर चारों (भक्ष्य, भोज्य, लेह्य, पेय) का ग्रहण कर लिया जाता है क्योंकि चार प्रकार का आहार क्वचित् (कहीं) कथञ्चित् (कैसे) प्राप्त होने से प्रविरल होता है। प्रायः द्विविध (अन्न और पान) आहार ही सर्वत्र सुलभ होता है। इसलिये आहार के विषय में द्वित्व संख्या प्रसिद्ध है और भी स्पष्ट ही है कि अन्न शब्द का उच्चारण करने से भक्ष्य आहार का बोध हो ही जाता है क्योंकि दोनों में घनतारूप साधर्म्य है और वैसे ही पेय शब्द के उच्चारण करने से लेह्य का बोध हो ही जाता है क्योंकि दोनों में द्रवतारूप समानता है ॥ ४० ॥

विमर्शः—ऊह्यस्य चक्रकृतं लक्षणम्—ऊह्यं नाम यदनिबद्धं ग्रन्थे प्रज्ञया तर्क्यत्वेनोपदिश्यते, यथा—'परिसंख्यातमपि यद्यद् द्रव्यमयौगिकं मन्येत तत्तदपकर्षयेत्' (च० वि० अ० ८) इति। अर्थात् किसी ग्रन्थ (पुस्तक या शास्त्र) में लिखी न हो किन्तु प्रज्ञा (विशिष्ट बुद्धि) से तर्क कर ग्रहण कर ली जाय उसे ऊह्य कहते हैं। जैसे शास्त्र में वमन या विरेचन किसी भी योग में कोई द्रव्य लिख भी दिया गया हो किन्तु वह उस बुद्धिमान् वैद्य को अयोग्य प्रतीत हो तो निकाल देवे। इसी प्रकार किसी योग में किसी श्रेष्ठ द्रव्य का उल्लेख न भी किया हो तो भी बुद्धिमान् वैद्य अपनी ऊह (तर्क) शक्ति से उसे ग्रहण करले—'तेभ्यो हि भिषग्बुद्धिमान् परिसंख्यातमपि यद्यद् द्रव्यमयौगिकं मन्येत, तत्तदपकर्षयेत्, यद्यच्चानुक्तमपि यौगिकं मन्येत तत्तद्विदध्यात्, वर्गमपि वर्गेणोपसंसृजेदेकमेकेनानेकेन वा युक्तिं प्रमाणीकृत्य। प्रचरणमिव भिक्षुकस्य, बीजमिव कर्षकस्य, सूत्रं बुद्धिमतामल्पमप्यनल्पज्ञानाय भवति, तस्माद्बुद्धिमतामूहापोहवितर्काः, मन्दबुद्धेस्तु यथोक्तानुगमनमेव श्रेयः। (च० वि० अ० ८)

भवन्ति चात्र।

सामान्यदर्शनेनासां व्यवस्था सम्प्रदर्शिता।
विशेषस्तु यथायोगमुपधार्यो विपश्चिता॥ ४१॥
द्वात्रिंशद्युक्तयो ह्येतास्तन्त्रसारगवेषणे।
मया सम्यग्विनिहिताः शब्दार्थन्यायसंयुताः॥ ४२॥
यो ह्येता विधिवद्वेत्ति दीपीभूतास्तु बुद्धिमान्।
स पूजार्हो भिषक्श्रेष्ठ इति धन्वन्तरेर्मतम्॥ ४३॥

इति सुश्रुतसंहितायामुत्तरतन्त्रे तन्त्रभूषणाध्यायेषु तन्त्रयुक्तिर्नाम (तृतीयोऽध्यायः, आदितः) पञ्चषष्टितमोऽध्यायः॥ ६५॥

तन्त्रयुक्तेरुपसंहारस्तज्ज्ञानफलञ्च—इस प्रकार सामान्यदर्शन (सामान्य लक्षणों) से इन तन्त्रयुक्तियों की व्यवस्था या व्याख्या कर दी गई है। इनके विषय में कोई वैशिष्ट्य जानकारी करने की इच्छा हो तो विद्वान् के द्वारा यथायोग या यथासम्बन्ध पूर्वक समझ के धारण करनी चाहिए। तन्त्रों (शास्त्रों) के सार भागों की गवेषणा (खोज) करके मैंने ये बत्तीस प्रकार की तन्त्रयुक्तियाँ शब्द और अर्थ के न्याय से सङ्गत कर लिखी हैं। जो बुद्धिमान् वैद्य दीपक के समान शास्त्रार्थ की प्रकाशक इन तन्त्रयुक्तियों को यथाविधि जान लेता है वह पूजा के योग्य है तथा वैद्यों में श्रेष्ठ गिना जाता है ऐसा धन्वन्तरि भगवान् का मत है॥ ४१-४३॥

विमर्शः—द्वात्रिंशत्—सुश्रुताचार्य ने तन्त्रयुक्तियों की संख्या ३२ ही मानी है किन्तु चरकाचार्य ने प्रयोजन, प्रत्युत्सार, उद्धार और सम्भव ये चार अधिक मान कर इन की संख्या छत्तीस कर दी है। भट्टारहरिचन्द्र ने चरक की ३६ तन्त्रयुक्तियों के भी अतिरिक्त परिप्रश्न, व्याकरण, व्युत्क्रान्ताभिधान और हेत्वाख्य ऐसी चार और अधिक मान के इनकी संख्या चालीस कर दी है। चरकोक्ताः षट्त्रिंशत्तन्त्रयुक्तयः—तत्राधिकरणं योगो हेत्वर्थोऽर्थः पदस्य च। प्रदेशोद्देशनिर्देशवाक्यशेषाः प्रयोजनम्॥ उपदेशापदेशातिदेशार्थापत्तिनिर्णयाः। प्रसङ्गैकान्तनैकान्ताः सापवर्गो विपर्ययः॥ पूर्वपक्षविधानानुमतव्याख्यानसंशयाः। अतीतानागतावेक्षास्वसंज्ञोह्यसमुच्चयाः॥ निदर्शनं निर्वचनं संनियोगो विकल्पनम्। प्रत्युत्सारस्तथोद्धारः सम्भवस्तन्त्रयुक्तयः॥ (च० सि० अ० १२) **प्रयोजनलक्षणम्**—प्रयोजनं नाम यदर्थं कामयमानः प्रवर्तते, यथा—'धातुसाम्यक्रिया चोक्ता तन्त्रस्यास्य प्रयोजनम्' (च० सू० अ० १) जिस अर्थ की इच्छा रखते हुए कोई किसी कार्य में प्रवृत्त होता है उसे प्रयोजन कहते हैं। जैसे इस तन्त्र (चरक शास्त्र) को लिखने की प्रवृत्ति में शरीर के घटे हुए या बढ़े हुए धातुओं (वातादि दोषत्रयतथा रसादि-शुक्रान्त सप्तधातुओं) को समान करना ही मुख्य प्रयोजन है। **प्रत्युत्सारलक्षणम्**—प्रत्युत्सारो नाम उपपत्त्या परमतनिवारणं, यथा—वार्योविदः प्राह—'रसजानि तु भूतानि रसजा व्याधयः स्मृताः' (च० सू० अ० २५) इत्यादि। हिरण्याक्षो निषेधयति—'न ह्यात्मा रसजः स्मृतः' इत्यादि। उपपत्ति (युक्ति) से दूसरे के मत का निवारण (खण्डन या निषेध) करना प्रत्युत्सार है, जैसे वार्योविद महर्षि कहते हैं कि रोगों की उत्पत्ति में रजोगुण और तमोगुण से युक्त केवल अकेला मन ही कारण नहीं है क्योंकि शरीर के बिना शारीरिक रोग उत्पन्न नहीं हो सकते तथा शरीर के बिना मन की भी स्थिति (आश्रय) नहीं हो सकती है तथा भूत या भूतों का शरीर अन्न रस से उत्पन्न हुआ है और भिन्न-भिन्न रोग भी मिथ्या प्रयुक्त रस से ही उत्पन्न होते हैं। अर्थात् रोग तथा पुरुष का जनक जो रस है उसका भी कारण जल है इसलिये जल ही रोगोत्पत्ति में मुख्य कारण है। अथवा रस युक्त ही जल होता है इस वास्ते भी रोगोत्पत्ति में मुख्य कारण जल ही है—शरलोमा ने रोगोत्पत्ति में मन को कारण माना किन्तु वार्योविद् ने उक्त युक्ति से उसके मत का निवारण कर रोगोत्पत्ति का कारण रस या जल माना यही प्रत्युत्सार नामक तन्त्र युक्ति है—रजस्तमोभ्यान्तु मनः परीतं सत्त्वसंज्ञकम्। शरीरस्य समुत्पत्तौ विकाराणाञ्च कारणम्॥ वार्योविदस्तु नेत्याह न ह्येकं कारणं मनः। नर्ते शरीराच्छारीररोगा न मनसः स्थितिः॥ रस-

जानि तु भूतानि स्थावरश्च पृथग्विधाः । आपो हि रसवत्यस्ताः स्मृता निर्वृत्तिहेतवः ॥ (च० सू० अ० २५) **उद्धारतन्त्रयुक्तेर्लक्षणम्**—उद्धारो नाम परपक्षदूषणं कृत्वा स्वपक्षोद्धरणं, यथा—'तेषामेव हि भावानां सम्पत् सञ्जनयेन्नरम् । तेषामेव हि भावानां विपद्व्याधीनुदीरयेत्' (च० सू० अ० २५) इत्यादिना स्वपक्षोद्धरणम् । दूसरे के पक्ष को दूषित करके अपने पक्ष (मत) की स्थापना करना उद्धार है । जैसे चरकसूत्र स्थान के यज्जःपुरुषीय नामक पचीसवें अध्याय में रोगों का कारण क्या है इस प्रश्न के उत्तर में अनेक मत उपस्थित होने पर सबका खण्डन करके पुनर्वसु ने कहा कि सुनो-जिन भावों (पदार्थों) की सम्पत् (अच्छाई या प्रशस्तगुणता) पुरुष को उत्पन्न करती है उन्हीं भावों की विपत् (विकृति या वैगुण्य) अनेक प्रकार के रोगों को उत्पन्न करती है। अर्थात् पञ्चमहाभूतों की प्रशस्तता पुरुष की उत्पादक है और उन्हीं की विकृति या वैगुण्य रोगों की भी उत्पादक है। **सम्भवाख्यतन्त्रयुक्तेर्लक्षणम्**—सम्भवो नाम यद्यस्मिन्नुपपद्यते स तस्य सम्भवः, यथा—मुखे पिप्लुव्यङ्गनीलिकादयः सम्भवन्तीत्यादि । अर्थात् जो वस्तु जहाँ उपयुक्त हो सकती हो उसका वहाँ होना सम्भव कहलाता है जैसे मुख के ऊपर पिप्लु, व्यङ्ग और नीलिका आदि रोग । भट्टारहरिचन्द्रोक्त अन्य चार तन्त्रयुक्तियों में से जो परिप्रश्न नामक तन्त्रयुक्ति कही है उसका उद्देश में, व्याकरण का व्याख्यान में, व्युत्क्रान्ताभिधान का निर्देश में और हेतु का हेत्वर्थ में अन्तर्भाव कर दिया जाता है ।

इति सुश्रुतसंहितायामुत्तरतन्त्रे तन्त्रभूषणाध्यायेषु विद्योतिनीभाषाटीकायां तन्त्रयुक्तिर्नाम पञ्चषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६५ ॥

षट्षष्टितमोऽध्यायः

अथातो दोषभेदविकल्पनामाध्यायं व्याख्यास्यामः ॥१॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥ २ ॥

अब इसके अनन्तर दोष-भेद-विकल्प नामक अध्याय का व्याख्यान करते हैं जैसाकि भगवान् धन्वन्तरि ने कहा है॥१-२॥

विमर्शः—दोषाः—धातून् दूषयन्तीति दोषा वातादयस्तेषां भेदः पृथक्संसर्गसन्निपातभेदेन, तस्य विकल्पनमेकैकानुगमनेन नानात्वकरणं प्रपञ्चनं दोषभेदविकल्पस्तमधिकृत्य कृतस्तं दोषभेदविकल्पमध्यायम् । अर्थात् मिथ्या आहार-विहार के सेवन करने से घट कर अथवा बढ़ कर शरीर की रस-रक्तादि धातुओं को जो दूषित करते हों उन्हें दोष कहते हैं जैसे वात, पित्त और कफ ये तीन दोष होते हैं—वायुः पित्तं कफश्चेति शारीरो दोषसंग्रहः । मानसः पुनरुद्दिष्टो रजश्च तम एव च ॥ **अन्यच्च**—वायुः पित्तं कफश्चेति त्रयो दोषाः समासतः । विकृताऽविकृता देहं घ्नन्ति ते वर्तयन्ति च ॥ इन वातादि दोषों के पृथक्-पृथक्, संसर्ग (द्वन्द्व रूप) और सन्निपात रूप से जो भेद किये गये हैं उनमें भी एक-एक का अनुगमन कर अनेक सूक्ष्म भेद करना दोषभेदविकल्प कहा जाता है। वात, पित्त और कफ इन तीनों की दोषसंज्ञा, धातुसंज्ञा और मलसंज्ञा शास्त्र में व्यवहृत है—शरीरदूषणाद्दोषा धातवो देहधारणात् । वातपित्तकफा ज्ञेया मलिनीकरणान्मलाः ॥ (शा० पू० ख० अ० ५) मिथ्या आहार-विहार से स्वयं प्रकुपित हो कर शरीर को दूषित करने से दोष तथा सात्म्य या हितकारी आहार-विहार के सेवन करने से ये समावस्था में रह कर शरीर की विविध क्रियाएँ करते हुए उसे धारण करते हैं अत एव इन्हें धातु एवं ये अत्यधिक प्रकुपित हो कर शरीर को मलिन कर देते हैं अत एव इन्हें मल भी कहा जाता है। चरकाचार्य ने मलों के विषय में लिखा है कि शरीर के धातुओं का मलभूत और प्रसादभूत ऐसे दो विभाग होते हैं । वहाँ त्रिदोषों को जब कि वे शरीर के बाधक होते हैं मल माना है—'शरीरधातवः पुनर्द्विविधाः संग्रहेण मलभूताः प्रसादभूताश्च, तत्र मलभूतास्ते ये शरीरस्य बाधकराः स्युस्तद्यथा—शरीरच्छिद्रेषूपदेहाः पृथग्जन्मानो बहिर्मुखाः परिपक्वाश्च धातवः प्रकुपिताश्च वातपित्तश्लेष्माणः, ये चान्येऽपि केचिद् शरीरे तिष्ठन्तो भावाः शरीरस्योपघातायोपपद्यन्ते सर्वांस्तान् मलान् संचक्ष्महे' (**चरक**) दोष शब्द का परिष्कृतलक्षण—'प्रकृत्यारम्भकत्वे सति दुष्टिकरत्वं दोषत्वम्' अर्थात् जो समावस्था में प्रकृति (स्वास्थ्यप्रकृतिश्च स्वास्थ्यम्) का आरम्भक होते हुए विषमावस्था में उसे दूषित करते हों उन्हें दोष कहते हैं । शरीरमूलकदोष—वैसे तो यह स्थावर और जङ्गम अथवा चेतन और अचेतन समस्त सृष्ट पदार्थ पाञ्चभौतिक माने गये हैं—'सर्वं खल्विदं पाञ्चभौतिकम्' किन्तु उनमें से इन त्रिदोषों का चिकित्सा की दृष्टि से विशेष महत्त्व है तथा शरीर के निर्माण में भी ये विशेष भाग लेते हैं इसी लिये शरीर को दोष, धातु तथा मल-मूलक माना गया है—'दोषधातुमलमूलं हि शरीरम्' यहाँ पर यद्यपि दोष शब्द से वात, पित्त और कफ तथा धातु शब्द से रस-रक्तादि-शुक्रान्त सप्त धातु, एवं मल से विष्ठा, मूत्र-स्वेद आदि का ग्रहण होता है क्योंकि देहधारक त्रिदोषों के समान रसरक्तादि पोषणवृत्ति से एवं मल देह के अवष्टम्भक होने से शरीर की स्थिरता में मूल (प्रधान) कारण माने जाते हैं जैसा कि कहा भी है—शुक्रायत्तं बलं पुंसां मलायत्तञ्च जीवनम् । तस्माद्यत्नेन संरक्ष्ये यक्ष्मिणो मलरेतसी ॥ तथापि चिकित्सा की दृष्टि से त्रिदोषों की धामक क्रिया होने से ही रस-रक्तादि धातुओं तथा विण्मूत्र-स्वेदादि मलों की क्रियाएं शरीर में सुसञ्चालित होती रहती हैं अतएव शरीर के संरक्षण में त्रिदोषों का विशेष महत्त्व है। जिस प्रकार लोक के समस्त क्रियाओं के सञ्चालन के लिये सोम (चन्द्र), सूर्य और अनिल (पवन) की प्रधान आवश्यकता है उसी प्रकार इस लोकसम्मित पुरुष (सजीव शरीर) को धारण करने के लिये त्रिदोषों की अत्यन्त आवश्यकता है—विसर्गादानविक्षेपैः सोमसूर्यानिला यथा । धारयन्ति जगद्देहं कफपित्तानिलास्तथा ॥ (सु० सू० अ० २१) इस तरह शरीर गत कफ, पित्त और वायु बाह्य जगत् के सञ्चालक चन्द्र, सूर्य और वायु के प्रतिनिधि हैं । तत्र वायोरात्मैवात्मा, पित्तमाग्नेयं, श्लेष्मा सौम्य इति । सोम एव शरीरे श्लेष्मान्तर्गतः । अग्निरेव शरीरे पित्तान्तर्गतः ।

अष्टाङ्गवेदविद्वांसं दिवोदासं महौजसम् ।
छिन्नशास्त्रार्थसन्देहं सूक्ष्मागाधागमोदधिम् ॥ ३ ॥

दोषभेदविषये सुश्रुतप्रश्नः—शल्य, शालाक्य आदि अष्टाङ्ग आयुर्वेद के विद्वान्, महान् ओजस्वी, शास्त्रार्थ के सन्देहों के छिन्न-भिन्न करने वाले तथा लीन अर्थयुक्त एवं दुःख से

जानने योग्य जो आगम (शास्त्र) हैं उनके अगाध समुद्र ऐसे दिवोदास से विश्वामित्र के पुत्र श्रीमान् सुश्रुत प्रश्न करते हैं ॥

विमर्शः—अष्टाङ्गेति-अष्टाङ्गानि शल्यादीनि वाजीकरणान्तानि तान्येव वेद आयुर्वेदः, तेन तत्र वा विद्वान् यस्तम्। शल्यादि से ले के वाजीकरण तक जो आयुर्वेद के अष्ट अङ्ग हैं तद्रूपी आयुर्वेद के विद्वान् अर्थात् पारङ्गत। अष्टाङ्गानि यथा—(१) शल्यं (Surgery), (२) शालाक्यं (E. N; T., Dentistry, opthalmology,) (३) कायचिकित्सा (Medical branch), (४) भूतविद्या, (५) कौमारभृत्य या बाल चिकित्सा (Science of paediatrics), (६) अगदतन्त्र या दंष्ट्राचिकित्सा, या विषगरवैरोधिकप्रशमन वा जाङ्गुलि (Toxicology), (७) रसायन तन्त्र और (८) वाजीकरण तन्त्र—कायबालग्रहोर्ध्वाङ्गदंष्ट्राशल्यजरावृषान्। अष्टावङ्गानि तस्याहुश्चिकित्सा तेषु संस्थिता ॥ महौजसं = महाप्रभावम्। सूक्ष्माः लीनार्थाः, अगाधा दुरवगाहा ये आगमा एवोदधयस्ते सन्त्यस्मिन्निति। श्रीमानिति राजश्रिया ब्राह्मया वाऽलङ्कृतः। ननु विश्वामित्रो गाधिराजः तत्सुतत्वेन राजश्रिया योगो युक्तः, कथं ब्राह्मया श्रियेति सत्यं, विश्वामित्रस्य ब्राह्मण्यं तपसा, ततो ब्राह्मया श्रिया योगो युक्त एव। अन्ये तु क्षत्रियाणां ब्रह्मविजातत्वेनोभययोग इति मन्यन्ते। अपरे तु विद्यासमाप्त्या ब्राह्मया श्रिया योग इति मन्यन्ते। तथा चोक्तम्—'विद्यासमाप्तौ ब्राह्मं वा सत्त्वमार्षमथापि वा। ध्रुवमाविशन्ति ज्ञानात्तस्माद्वैद्यो द्विजः स्मृतः ॥'

विश्वामित्रसुतः श्रीमान् सुश्रुतः परिपृच्छति।
द्विषष्टिर्दोषभेदा ये पुरस्तात्परिकीर्त्तिताः ॥ ४ ॥

एकशो द्विशस्त्रिशो वा कति दोषभेदाः—पूर्व में अर्थात् सुश्रुत उत्तरतन्त्र के रसभेदविकल्प नामक तिरसठवें अध्याय में दोषों के हीनाधिक भाव से या अंशांशकल्पना से रसभेदानुसार द्विषष्टि (६२) दोषभेद भी होते हैं ऐसा कहा गया है अतएव तत्कथनानुसार एक-एक दोष के कितने भेद, दो-दो दोषों के मिलने से कितने भेद तथा तीन-तीन दोषों के मिलने से कितने भेद होते हैं ॥ ४ ॥

विमर्शः—यहाँ पर शङ्का यह होती है कि त्रिषष्टि (६३) रसभेद दोषभेदों के अनुसार हैं तो फिर दोषों के भी रसभेदानुसार ६३ भेद होने चाहिए। इसके उत्तर में डल्हणाचार्य स्पष्टीकरण करते हैं कि दोषों के भेद ६२ तथा रसों के भेद ६३ ही होते हैं किन्तु दोषों का षड्रसों के समान मात्रा में उपयोग करने से स्वास्थ्य नामक तिरसठवाँ भेद होता है—द्विषष्टिर्दोषभेदाः स्युः रसभेदास्त्रिषष्टिधा। स्वास्थ्यं त्रिषष्टं विज्ञेयं तत्र षड्रसयोजनम्। अथवा एक-एक करके ६ भेद, दो-दो के २१ भेद और तीन-तीन के मिल जाने के ३६ ऐसे कुल दोषों के भी तिरसठ भेद होते हैं—एकशः षड् द्विशस्त्वेकविंशतिश्चतुरन्विता। त्रिशो द्वात्रिंशदित्येवं त्रयो दोषास्त्रिषष्टिधा ॥ इति (डल्हणः)

कति तत्रैकशो ज्ञेया द्विशो वाऽप्यथवा त्रिशः।
तस्य तद्वचनं श्रुत्वा संशयच्छिन्महातपाः ॥ ५ ॥

दोषभेदप्रश्नस्योत्तरम्—सुश्रुत के दोषभेद-विषयक पूर्वोक्त प्रश्न को सुन के संशय छेदन में समर्थ, महान् तपस्वी, प्रसन्न आत्मा वाले एवं राजाओं में श्रेष्ठ दिवोदास नामक नृपति शास्त्र के तत्त्वानुसार अथवा यथार्थ भावना से सुश्रुत के लिये उत्तर कहने लगे ॥ ५ ॥

प्रीतात्मा नृपशार्दूलः सुश्रुतायाह तत्त्वतः।
त्रयो दोषा धातवश्च पुरीषं मूत्रमेव च ॥ ६ ॥

त्रिदोषादीनां देहधारकत्वम्—वात, पित्त और कफ ये तीन दोष तथा रस-रक्तादि ये सात धातुएँ एवं पुरीष (मल) तथा मूत्र ये अविकृत (अदूषित) अवस्था में या समानावस्था में रह के हितकारक मधुरादि रसों के सहयोग से देह का धारण करते हैं ॥ ६ ॥

देहं सन्धारयन्त्येते ह्यव्यापन्ना रसैर्हितैः।
पुरुषः षोडशकलः प्राणाश्चैकादशैव ये ॥ ७ ॥
रोगाणान्तु सहस्रं यच्छतं विंशतिरेव च।
शतञ्च पञ्च द्रव्याणां त्रिसप्तत्यधिकोत्तरम् ॥ ८ ॥

पुरुषप्राणरोगादिसंख्यावर्णनम्—पुरुष षोडश कलायुक्त कहलाता है। अग्नि, सोम आदि प्राण एकादश कहलाते हैं। रोगों की संख्या ग्यारह सौ बीस है एवं द्रव्यों की संख्या पाँच सौ तिहत्तर। यह सब इस शास्त्र (सुश्रुतग्रन्थ) में विस्तार से वर्णित कर दिया है ॥ ७-८ ॥

विमर्शः—पुरुष षोडश कलाओं से युक्त होता है। पुरुष शब्द का विवेचन पूर्व स्थानों में आ जाता है। अर्थात् पञ्च महाभूत तथा आत्मा इनका समवाय सम्बन्ध से संयोग होना पुरुष कहा जाता है। इसी को कर्म-पुरुष भी कहते हैं—'पञ्चमहाभूतशरीरिसमवायपुरुषः, स एव कर्मपुरुषश्चिकित्साधिकृतः'। षोडशकलः—कला शब्द के अनेक अर्थ हैं। (१) कुछ लोगों के मत से पृथिव्यादि पञ्चमहाभूत और एकादश इन्द्रियाँ इन षोडश विकारों के अर्थ में कला शब्द प्रयुक्त हुआ है। इस लिये पुरुष इन सोलह विकारों से युक्त होता है। (२) कुछ लोगों ने कला शब्द को शरीर के अङ्ग तथा प्रत्यङ्ग के अर्थ में प्रयुक्त किया है। जैसे शिर, ग्रीवा, पाणि (हस्त), पाद (पांव), पार्श्व, पृष्ठ (पीठ), उदर और अंस (स्कन्ध) ये आठ अङ्ग तथा चिबुक (ठोडी या ढाढी), नासा, ओष्ठ, वङ्क्षण, अङ्गुष्ठ, अङ्गुलियाँ, पार्ष्णि (एडी) और गुल्फ ये आठ प्रत्यङ्ग हैं। इन दोनों को मिलाने से सोलह अङ्ग-प्रत्यङ्ग होते हैं तथा पुरुष इन सोलह कलाओं (अङ्ग-प्रत्यङ्गों) से युक्त होता है। (३) इतर आचार्यों ने कला शब्द को गुणवाची माना है तथा ये पुरुष के सुख-दुःखादि षोडश गुण हैं तथा पुरुष इन गुणों से युक्त होता है इसलिये 'षोडशकलः पुरुषः' ऐसा कहा गया है—'तस्य सुखदुःखे, इच्छाद्वेषौ, प्रयत्नः, प्राणापानावुन्मेषनिमेषौ बुद्धिर्मनः सङ्कल्पो विचारणा स्मृतिर्विज्ञानमध्यवसायो विषयोपलब्धिश्च गुणाः' (सु० शा० अ० १) एते कर्मपुरुषस्य षोडशगुणाः। अतएव कला इत्युच्यन्ते। जिस प्रकार चरकाचार्य ने 'चतुष्पादं षोडशकलं भेषजं भिषजो भाषन्ते' यह वाक्य लिखा है वहाँ भी षोडशकलम् का अर्थ षोडशगुणम् ऐसा किया है। अर्थात् भिषग्, द्रव्य, अधिष्ठाता (सेवक) और रोगी ये चिकित्सा के चार पाद हैं तथा इनमें से एक-एक पाद चार-चार गुणों से युक्त होने से

से सोलह गुण होते हैं और भेषजकर्म इन सोलह गुणों से युक्त होने पर उत्तम होता है। प्राणाश्चैकादशैव ये—प्राणाः जीवयन्तीति प्राणाः, प्राणनात् प्राणाः, पञ्चभूतात्मक जड़शरीर में जीवन या चैतन्य के लक्षण जिनके कारण उत्पन्न होते हैं वे तत्त्व प्राण कहलाते हैं। यद्यपि वास्तव में पुरुष या जीवात्मा चेतनता में कारण है, तथापि वह स्वयं अकेला उन लक्षणों को उत्पन्न नहीं कर सकता। उसको कुछ कारणों की आवश्यकता होती है-आत्मा ज्ञः करणैर्योगाज्ज्ञानं तस्य प्रवर्तते। करणानामवैमल्यादयोगाद्वा न वर्तते॥ नैकः प्रवर्तते कर्तुं भूतात्मा नाश्नुते फलम्। संयोगाद्वर्तते सर्वं तमृते नास्ति किञ्चन॥ (च० शा० अ० १) अतः पित्त, कफ, वायु, सत्त्वगुण, रजोगुण, तमोगुण, पञ्च ज्ञानेन्द्रियां और भूतात्मा (जीवात्मा) ये द्वादश प्राण हैं—'अग्निः सोमो वायुः सत्त्वं रजस्तमः पञ्चेन्द्रियाणि भूतात्मेति प्राणाः' (सु० शा० अ० ४) अर्थात् इनके संयोग होने से शरीर में चेतनता के निम्न लक्षण उत्पन्न होते हैं—'तस्य सुखदुःखे इच्छाद्वेषौ प्रयत्नः प्राणापानावुन्मेषनिमेषौ बुद्धिर्मनः सङ्कल्पो विचारणा स्मृतिर्विज्ञानमध्यवसायो विषयोपलब्धिश्चेति गुणाः' (सु० शा० अ० १) अन्यच्च—इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं प्रयत्नश्चेतना धृतिः। बुद्धिः स्मृतिरहङ्कारो लिङ्गानि परमात्मनः॥ यस्मात् समुपलभ्यन्ते लिङ्गान्येतानि जीवतः। न मृतस्यात्मलिङ्गानि तस्मादाहुर्महर्षयः॥ शरीरं हि गते तस्मिन् शून्यागारमचेतनम्। पञ्चभूतावशेषत्वात् पञ्चत्वं गतमुच्यते॥ (च० शा०) इन चेतनता के लक्षणों के होने से ही शरीर में आत्मा है, यह भी प्रमाणित किया जाता है। क्योंकि मृत शरीर में पञ्चभूतादि होते हुए भी उपर्युक्त चैतन्य लक्षण नहीं देखे जाते हैं। न्यायसूत्रोक्तपुरुषगुणाः—'इच्छाद्वेषप्रयत्नसुखदुःखज्ञानान्यात्मनो लिङ्गम्' (न्या० सू० १) वैशेषिकदर्शनोक्तपुरुषगुणाः—'प्राणापाननिमेषोन्मेषजीवनमनोगतीन्द्रियान्तरविकाराः सुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नाश्चात्मनो लिङ्गानि' (वै० द० ३, ४) आधुनिक काल में जीवन के पांच लक्षण माने गये हैं—(१) उद्दीप्यता या उत्तेजित्व (Irritability)—बाह्य उत्तेजना या आघात से उद्दीप्त होकर उसके प्रतिकार के लिये या शरीररक्षा के लिये उचित परिवर्तन करने की शक्ति जैसे कच्छप के मुख को स्पर्श करने का यत्न करने पर वह अपनी मुख तथा हस्त-पाद को भीतर सङ्कुचित कर लेता है। अमीबा भी अपने मिथ्यापाद (स्यूडोपोडिया) को स्पर्श करने से सङ्कुचित कर लेता है। (२) सात्म्यीकरण (Assimilation)—खाद्य-पेय पदार्थों को सेवन करके उनको हजम (पाचित) करना। (३) वर्धन (Growth)—दिन-प्रतिदिन शरीर की वृद्धि करना। (४) प्रजोत्पादन (Reproduction)—अपने समान जीवधारियों को जन्म देना। (५) मलोत्सर्जन (एक्सक्रियेशन)—शरीरगत त्याज्य पदार्थों का उत्सर्जन करना। यहां पर जो बारह प्राण दिये गये हैं उनमें त्रिदोष-सात्म्यीकरण, मलोत्सर्जन, वर्धन इत्यादि के द्वारा, त्रिगुण सुख-दुःखादि के द्वारा शरीर में चेतनता का प्रदर्शन करते हैं। पञ्च बुद्धीन्द्रियां विषयोपलब्धि के द्वारा वही कार्य करती हैं। इन द्वादशविध प्राणों के दश आयतन (आश्रयस्थान) बताये गये हैं—२ शङ्ख, हृदय, बस्ति और नाभि ये तीन मर्म, कण्ठ, रक्त, शुक्र, ओज और गुदा—दशैवायतनान्याहुः प्राणा येषु प्रतिष्ठिताः। शङ्खौ मर्मत्रयं कण्ठो रक्तं शुक्रौजसी गुदम्॥ प्राणशब्द से प्राणवायु का भी ग्रहण होता है—वायुर्यो वक्त्रसञ्चारी स प्राणो नाम देहधृक्। सोऽन्नं प्रवेशयत्यन्तः प्राणांश्चाप्यवलम्बते। प्रायशः कुरुते दुष्टो हिक्काश्वासादिकान् गदान्॥ (सु० नि० अ० १) तत्र प्राणो मूर्धन्यवस्थितः कण्ठोरश्चरो बुद्धीन्द्रियहृदयमनोधमनीधारणष्ठीवनक्षवथूद्गारप्रश्वासोच्छ्वासान्नप्रवेशादिक्रियः। (अ० सं०) नाभिस्थः प्राणपवनः स्पृष्ट्वा हृत्कमलान्तरम्। कण्ठाद्बहिर्विनिर्याति पातुं विष्णुपदामृतम्॥ पीत्वा चाम्बरपीयूषं पुनरायाति वेगतः। प्रीणयन् देहमखिलं जीवयन् जठरानलम्॥ (शार्ङ्गधर) अर्थात् प्रश्वासोच्छ्वास का कार्य जीवन के लिये नितान्त आवश्यक है और इस कार्य के साथ इस वायु का घनिष्ठ सम्बन्ध होने के कारण इसको प्राण वायु (Oxygen) कहते हैं। उदानादि शेष वायुओं को भी प्राणवायु कहा है। प्राणोऽपानो व्यान उदानः समानोऽनः इत्येतत् सर्वं प्राण इति (बृहदारण्यकोपनिषत्)

रोगाणान्तु—रोगों की संख्या ११२० है, जो कि सुश्रुत के छह स्थानों में निम्न श्लोकों द्वारा कही गई है—(१) हीनातिदग्धः क्षारेण, त्रयः प्लुष्टादयोऽग्निना। चतुर्थो धूमनिहतः पञ्च शोणितदुष्टयः॥ दोषधातुमलादीनां द्वात्रिंशत् क्षयवृद्धितः। द्वे स्थौल्यकार्श्ये त्रिविधो विस्रंसाद्यो बलक्षयः॥ षट् शोफाः षड् व्रणा वह्निस्त्रितयं विषमादिकम्। आमं विदग्धं विष्टब्धमजीर्णञ्च तथा त्रिधा। इति षट्षष्टिरातङ्काः सूत्रस्थाने निदर्शिताः॥ अर्थात् सुश्रुत के सूत्रस्थान में ६६ रोगों का वर्णन किया गया है। जैसे क्षार से हीनदग्ध तथा अतिदग्ध दो रोग, अग्नि से प्लुष्ट, दुर्दग्ध तथा अतिदग्ध ऐसे तीन रोग। नोट—यद्यपि अग्निदग्ध के सम्यग्दग्ध सहित चार भेद लिखे हैं, परन्तु सम्यग्दग्ध रोग नहीं है, अतः अग्निदग्धरोग तीन प्रकार का ही लिखा है। धूमयुक्त स्थान में बन्द हो जाने से मनुष्य के श्वासादि मार्गों में धूआँ भर कर श्वासकृच्छ्रतादि लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं, इसे धूमोपहत (Asphyxiation) नामक चौथा रोग कहा है। पांच प्रकार की रक्तदुष्टि होती है, जैसे १—वातदूषित रक्त, २—पित्तदूषित रक्त, ३—कफदूषित रक्त, ४—सन्निपातदूषित रक्त एवं ५—रक्त दोष से बिगड़ा हुआ रक्त। वातादि तीन दोष, रसादि सप्तधातु तथा मल, मूत्र और स्वेद ये तीन मल एवं आर्तव, दुग्ध और गर्भ ये तीन इस तरह ये कुल सोलह वस्तुएँ हैं। इनमें से प्रत्येक के क्षय से १६ विकार तथा प्रत्येक की वृद्धि से १६ विकार ऐसे कुल ३२ विकार इनकी क्षयवृद्धि-निमित्त होते हैं। स्थौल्य और कार्श्य नामक दो रोग होते हैं। इसी तरह बल (ओज) के विस्रंस, व्यापत् और क्षय के कारण इन्हीं नाम के तीन रोग होते हैं। सु० सू० अ० १५ में इनका वर्णन है। शोफरोग वात, पित्त, कफ, रक्त, सन्निपात और आगन्तु ऐसे ६ कारणों से उत्पन्न होने से ६ प्रकार का होता है—'स षड्विधो वातपित्तकफशोणितसन्निपातागन्तुनिमित्तः' (सु० सू० अ० १७)। इसी प्रकार व्रण भी ६ प्रकार के होते हैं। पाचकाग्नि की वात से विकृति के कारण विषमाग्नि, पित्त से विकृति के कारण तीक्ष्णाग्नि और कफ से विकृति होने के कारण मन्दाग्नि ऐसे पाचकाग्नि की दुष्टि से ३ रोग होते हैं—तैर्भवेद्विषमस्तीक्ष्णो मन्दश्चाग्निः समैः समः। विषमो वातजान् रोगांस्तीक्ष्णः पित्तनिमित्तजान्॥ करोत्यग्निस्तथा मन्दो विकारान् कफसम्भवान्॥ इसी तरह कफ के

प्रकोप से आमाजीर्ण, पित्त के प्रकोप से विदग्धाजीर्ण और वायु के प्रकोप से विष्टब्धाजीर्ण ऐसे तीन प्रकार के अजीर्ण होते हैं। कुछ आचार्य चौथा रसशेषाजीर्ण और पाँचवाँ दिनपाकी अजीर्ण एवं छठा प्राकृताजीर्ण ऐसे अजीर्ण के छः भेद मानते हैं—आमं विदग्धं विष्टब्धं कफपित्तानिलैस्त्रिभिः। अजीर्णं केचिदिच्छन्ति चतुर्थं रसशेषतः॥ अजीर्णं पञ्चमं केचिन्निर्दोषं दिनपाकि च। वदन्ति षष्ठमजीर्णं प्राकृतं प्रतिवासरम्॥ इस तरह सुश्रुत के सूत्रस्थान में १८ रोग वर्णित किये गये हैं। (२) निदानस्थानरोगवर्णनम्—आमपक्वाशये श्रोत्रे तथेन्द्रियचतुष्टये। त्वगामिषसिरास्नाय्वसन्ध्यस्थिमज्जसम्भवाः॥ शुक्रे चैकाङ्गसर्वाङ्गगताः सप्ताधिका दश। त्रयोदशावृतैरन्यैर्दोषैः स्युर्मारुतैः खलु॥ चतुर्विधं वातरक्तमाक्षेपश्चापतानकः। पक्षाघातोऽपतन्त्रश्च मन्यास्तम्भोऽर्दितस्तथा॥ गृध्रसी सह विश्वाच्या शिरःक्रोष्टुकपूर्वकम्। खञ्जः पङ्गुः कलायाख्यः कण्टकः पाददाहकृत्॥ पादहर्षोऽववाहुश्च मूकमिन्मिनगद्गदाः। तून्याध्मानद्वयेऽष्ठीलाद्वयमर्शांसि षट् तथा॥ चर्मकीलश्च तस्याश्मर्यः पञ्च भगन्दराः। तथाऽष्टादश कुष्ठानि किलासानि पुनस्त्रिधा॥ प्रमेहा विंशतिः प्रोक्ताः पिडिका नव तत्कृताः। उदराणि तथाऽष्टौ च मूढगर्भस्तथाऽष्टधा॥ बाह्या विद्रधयः षट् स्युस्तथान्तःस्थाः स्मृता दश। विसर्पनाडीस्तनजास्तथैव पञ्च पञ्च च॥ ग्रन्थयः सप्त चैका स्यादपची सप्तधाऽर्बुदम्। गलगण्डास्त्रयः सप्त वृद्धयः परिकीर्तिताः॥ उपदंशा मताः पञ्च श्लीपदञ्च तथा त्रिधा। भग्ना अष्टादश ज्ञेयाः शूकदोषास्तथैव च॥ चत्वारिंशत्तथाऽष्टौ च क्षुद्ररोगाः प्रकीर्तिताः। अष्टावोष्ठभवा दन्तमूलेषु दश पञ्च च॥ अष्टौ दन्तेषु जिह्वायां पञ्च तालुगता नव। कण्ठे चाष्टादश ज्ञेयाश्चतुःसर्वसरा गदाः॥ एवं मुखे सप्तषष्टिरिति स्थाने द्वितीयके। द्वाचत्वारिंशदधिका त्रिशती परिकीर्तिता॥ आमाशय (Stomach) पक्वाशय (Large intestine) अथवा पच्यमानाशय (ग्रहणी=Deodenum) कर्ण तथा शेष इन्द्रियचतुष्टय (नासा, नेत्र, रसनेन्द्रिय और त्वगिन्द्रिय) एवं त्वचा, मांस, सिरा, स्नायु, सन्धियाँ, अस्थियाँ, मज्जा और शुक्र तथा शरीर का कोई एकाङ्ग प्रदेश और सर्वाङ्ग प्रदेश ऐसे कुल १७ प्रदेशों में एक एक रोग होने से सप्तदश रोग संख्या होती है। इसी प्रकार भिन्न-भिन्न प्रकार के वात के भिन्न-भिन्न दोषों के द्वारा आवृत हो जाने पर तेरह प्रकार के आवृत वात नामक रोग होते हैं। जैसे १—पित्तावृत वात, २—कफावृत वात, ३—शोणितान्वित वात, ४—पित्तावृत प्राण, ५—कफावृत प्राण, ६—पित्तावृत उदान, ७—कफावृत उदान, ८—पित्तावृत समान, ९—कफावृत समान, १०—पित्तावृत अपान, ११—कफावृत अपान, १२—पित्तावृत व्यान और १३—कफावृत व्यान। आवृतवातलक्षणानि—दाहसन्तापमूर्च्छाः स्युर्वायौ पित्तसमन्विते। शैत्यशोफगुरुत्वानि तस्मिन्नेव कफावृते॥ सूचीभिरिव निस्तोदः स्पर्शद्वेषः प्रसुप्तता। शेषाः पित्तविकाराः स्युर्मारुते शोणितान्विते॥ प्राणे पित्तावृते छर्दिर्दाहश्चैवोपजायते। दौर्बल्यं सदनं तन्द्रा वैवर्ण्यञ्च कफावृते॥ उदाने पित्तसंयुक्ते मूर्च्छादाहभ्रमक्लमाः॥ अस्वेदहर्षौ मन्दोऽग्निः शीतस्तम्भौ कफावृते। समाने पित्तसंयुक्ते स्वेददाहौष्ण्यमूर्च्छनम्॥ कफाधिकञ्च विण्मूत्रं रोमहर्षः कफावृते। अपाने पित्तसंयुक्ते दाहौष्ण्ये स्यादसृग्दरः। अधःकायगुरुत्वञ्च तस्मिन्नेव कफावृते॥ व्याने पित्तावृते दाहो गात्रविक्षेपणं क्लमः। गुरूणि सर्वगात्राणि स्तम्भनञ्चास्थिपर्वणाम्। लिङ्गं कफावृते व्याने चेष्टाः स्तम्भस्तथैव च॥ (सु० नि० अ० १)

इस तरह सुश्रुताचार्य ने विभिन्न वायु का पित्तादि के साथ संसर्ग होने को आवरण कहा है तथा उसके उक्त त्रयोदश प्रकार लिखे हैं, किन्तु अष्टाङ्गसङ्ग्रहकार ने वायु के आवरणों के २२ भेद माने हैं—इति द्वाविंशतिविधं वायोरावरणं विदुः। एवं द्वाभ्यां दोषाभ्यां, रक्तादिभिः षड्भिर्धातुभिः, अन्नेन, मूत्रेण, विशा, सर्वधातुभिः, पुनः प्राणादिपञ्चकस्य पित्तेन, तद्वत् कफेन इति द्वाविंशतिविधं वायोरावरणमुक्तम्। (इन्दु) इनमें से नौ आवरणों का वर्णन सुश्रुत में नहीं हैं, जो अष्टाङ्गसङ्ग्रह में निम्नरूप से है—मांसेन कठिनः शोफो विवर्णः पिडिकास्तथा। हर्षः पिपीलिकानाञ्च सञ्चार इव जायते॥ चलः स्निग्धो मृदुः शीतः शोफो गात्रेष्वरोचकः। आढ्यवात इति ज्ञेयः स कृच्छ्रो मेदसावृते॥ स्पर्शमस्थ्यावृतेऽत्युष्णं पीडनञ्चाभिनन्दति। सूच्येव तुद्यतेऽत्यर्थमङ्गं सीदति शूल्यते। मज्जावृते विनमनं जृम्भणं परिवेष्टनम्। शूलञ्च पीड्यमाने च पाणिभ्यां लभते सुखम्। शुक्रावृतेऽतिवेगो वा नवा निष्फलताऽपि वा। भुक्ते कुक्षौ रुजाजीर्णे शाम्यत्यन्नावृतेऽनिले। मूत्राप्रवृत्तिराध्मानं बस्तेर्मूत्रावृते भवेत्। विडावृते विबन्धोऽधः स्वे स्थाने परिकृन्तति। व्रजत्याशु जरां स्नेहो भुक्ते चानह्यते नरः। शकृत् पीडितमन्नेन दुःखं शुष्कश्चिरात् सृजेत्। सर्वधात्वावृते वायौ श्रोणिवंक्षणपृष्ठरुक्। विलोमो मारुतोऽस्वास्थ्यं हृदयं पीड्यतेऽति च। (नि० अ० १६) चार प्रकार का वातरक्त रोग जैसे (१) वातिक वातरक्त, (२) पित्त और रक्त जन्य वातरक्त, (३) कफदूषित या कफाधिक वातरक्त, (४) सान्निपातिक वातरक्त एवं आक्षेप (Convulsions), अपतानक (Tetanus), पक्षाघात (Hemiplegia), अपतन्त्रक (Hysteria), मन्यास्तम्भ (Torticolis), अर्दित (Facial palsy Bell's paralysis) यह अष्टाङ्गसंग्रह की दृष्टि से एकायाम तथा व्यावहारिक भाषा में लकवा कहा जाता है। गृध्रसी (Sciatica), विश्वाची (Brachial paralysis or erb's paralysis, or monoplegia brachialis), क्रोष्टुकशीर्ष (Inflamation of the knee joint), खञ्ज (Monoplegia cruralis), पङ्गु (Diplegia), कलायखञ्ज (Lathyrism), कण्टक, पाददाह, पादहर्ष, अववाहुक, मूक, मिन्मिन तथा गद्गद रोग, तूनी (जो शूल, पक्वाशय या मूत्राशय या दोनों से नीचे की ओर गुदा या उपस्थ या दोनों में चला जाता है जैसे वृक्कशूल = Renal colic में होता है वह तूनी है। जब शूल का रुख ऊपर की ओर होता है जैसा कि कभी-कभी आन्त्रशूल में देखा जाता है तब उसे प्रतितूनी कहते हैं। आध्मान (Tympanites or meteorism) और प्रत्याध्मान Gastro tympanites), अष्ठीला और प्रत्यष्ठीला Enlargement of prostate अथवा Cancer of the rectum or prostate), छः प्रकार के अर्श (Piles), 'षडर्शांसि भवन्ति—वातपित्तकफशोणितसन्निपातैः सहजानि चेति' (सु० नि० अ० २) पृथग्दोषैः समस्तैश्च शोणितात् सहजानि च। अर्शांसि षट्प्रकाराणि विद्याद् गुदवलित्रये॥ प्रायः सहज (Congenital) और जन्मोत्तरकालज (Acquired) ऐसे अर्श के प्रधान विभाग हैं—'समासतस्तु द्विविधान्यर्शांसि सहजानि जन्मोत्तरकालजानि च' (अ० सं०) चर्मकील, कफ से, वात से, पित्त से

उसे श्लीपद कहते हैं—'शिलावत् पदं श्लीपदम्' 'शनैः शनैर्घनं शोफं श्लीपदं तदचक्षते' (अ० सं०)। इसे हिन्दी में फीलपाँव तथा डाक्टरी में (Filariasis or Elephantiasis) कहते हैं। इसका मुख्य कारण (Filaria) नामक कृमि है जो मच्छर के द्वारा काटने से शरीर में प्रवेश करता है—कुपितास्तु दोषा वातपित्तश्लेष्माणोऽधःप्रपन्ना वङ्क्षणोरुजानुजङ्घास्ववतिष्ठमानाः कालान्तरेण पादमाश्रित्य शनैः शोफं जनयन्ति, तं श्लीपदमित्याचक्षते। तत् त्रिविधं वातपित्तकफनिमित्तमिति। अन्यच्च—यः सज्वरो वङ्क्षणजो भृशार्तिः शोथो नृणां पादगतः क्रमेण। तच्छ्लीपदं स्यात् करकर्णनेत्रशिश्नौष्ठनासास्वपि केचिदाहुः। (माधवनिदान) श्लीपद अधिकतर टाँगों पर और फोतों पर होता है परन्तु हाथ, कर्ण, नेत्र, शिश्न, ओष्ठ, नासा, भग, स्तन और वृषण इत्यादि पर भी हो सकता है।

अट्ठारह प्रकार के भग्न रोग, प्रथम भग्न के दो प्रकार होते हैं—(१) सन्धिमुक्त या सन्धिविश्लेष (Dislocation) इसमें अस्थियों के सिरे अपना स्थान छोड़ कर दूर हट जाते हैं या सन्धिकोष के छिद्र में से बाहर निकल आते हैं। इस सन्धिमुक्त के पुनः निम्न छः भेद होते हैं—(१) उत्पिष्ट—Fracture dislocation. जिसमें अस्थि का चूर्ण हो जाय। (२) विश्लिष्ट—Subluxation or Incomplete dislocation. इसमें सन्धि का थोड़ा सा विश्लेष होता है। (३) विवर्तित—Lateral displacement. वाम या दक्षिण भाग में अस्थि का सरकना। (४) अवक्षिप्त—Downward displacement. अस्थि का नीचे सरकना। (५) अतिक्षिप्त—Complicated fracture. इसमें मांस, सिरा, धमनी इत्यादि अङ्ग विदीर्ण होते हैं। (६) तिर्यक्क्षिप्त—Complete dislocation. जिसमें सन्धि टेढ़ी हो गई हो। उक्त प्रकारों से अतिरिक्त पाश्चात्य शास्त्रशास्त्र में सव्रण (Open) विश्लेष और अव्रण (Closed) विश्लेष ऐसे दो भेद अधिक मिलते हैं। सव्रण में त्वचा विदीर्ण होकर सन्धि का सम्बन्ध बाह्य वायु के साथ हो जाता है। अव्रण में त्वचा विदीर्ण न होने से सन्धिविश्लेष का सम्बन्ध बाह्य वायु के साथ नहीं होता है। श्रीकण्ठदत्त ने इन दोनों का भी वर्णन किया है—'द्विविधं हि भग्नं सव्रणमव्रणञ्च' (२) काण्डभग्न—(Fracture) के यद्यपि अनेक भेद हो सकते हैं —'भग्नन्तु काण्डे बहुधा प्रयाति समासतो नामभिरेव तुल्यम्' तथापि सुश्रुताचार्य ने द्वादश प्रकार मुख्य लिखे हैं—(१) कर्कटक—दोनों तरफ से उठा हुआ, बीच में टूटा हुआ और गाँठ की भाँति उभरा हुआ भग्न कर्कटक होता है। (२) अश्वकर्ण—हड्डी टेढ़े रूप में टूटती है। इसे Oblique fracture कहते हैं। (३) चूर्णित—हड्डी के छोटे-छोटे टुकड़े हो जाते हैं, इसे (Comminuted) कहते हैं। (४) पिच्चित—जिसमें नाड़ियाँ, रक्तवाहिनियाँ और पेशियाँ टूट जाती हैं, उसे (Complicated fracture) कहते हैं। (५) अस्थिछल्लित—हड्डी लम्बाई में टूटती है। इसे अनुदैर्घ्य (Longitudinal fracture) कहते हैं। (६) काण्डभग्न—इसमें हड्डी चौड़ाई में टूट जाती है। यह (Transverse) भग्न कहलाता है। (७) मज्जानुगत—हड्डी का टूटा भाग दूसरे में प्रविष्ट हो जाता है। इसे (Impacted fracture) कहते हैं। (८) अतिपातित—इसमें पूरी हड्डी टूट जाती है। इसे (Complete fracture) कहते हैं। (९) वक्र—बच्चों में अस्थि मुलायम होने से टूटती नहीं अपितु टेढ़ी हो जाती है। इसे वक्र (Green stick) कहते हैं। (१०) छिन्न—इसमें हड्डी का कुछ भाग टूटता है। इसे (Incomplete fracture) कहते हैं। (११) पाटित और (१२) स्फुटित—इन दोनों में हड्डी टूटती नहीं है। इसमें दरारें पड़ जाती हैं। इन्हें पाटित या स्फुटित (Fissured fracture) कहते हैं।

इस तरह ६ प्रकार के सन्धिमुक्त तथा बारह प्रकार के काण्डभग्न मिलकर भग्न के अट्ठारह प्रकार होते हैं। अट्ठारह प्रकार के शूकदोष—अनुचित प्रकार से लिङ्गवृद्धिकर योगों के प्रयोग करने से निम्न अट्ठारह प्रकार के रोग उत्पन्न होते हैं—सर्षपिका, अष्ठीलिका, ग्रथित, कुम्भिका, अलजी, मृदित, सम्मूढपिडका, अवमन्थ, पुष्करिका, स्पर्शहानि, उत्तमा, शतपोनक, त्वक्पाक, शोणितार्बुद, मांसार्बुद, मांसपाक, विद्रधि और तिलकालक। शूकशब्दार्थः—(१) स जन्तुमलः, (२) लिङ्गवृद्धिकरयोगः, (३) ऊषरजलेषु बाहुल्येन दृश्यमानो जन्तुतुल्याकृतिः कश्चिदोषधिविशेषः शूकः। (४) एवं वृक्षजानां जन्तूनां शूकैरुपलिप्तं लिङ्गं दशरात्रं तैलेन मृदितम्। अर्थात् किसी जन्तु का मल अथवा लिङ्गवृद्धिकर योग, ऊषर जल में होने वाली जन्तुतुल्य स्वरूप की कोई विशिष्ट औषध शूक कहलाती है। वात्स्यायनमत से वृक्षों पर जन्म लेने वाले जन्तुओं के बाल शूक कहलाते हैं। ये शूक सविष और निर्विष भेद से दो प्रकार के होते हैं। इनमें से विषयुक्त शूक रोगकारक होते हैं—कृष्णानि चित्राण्यथवा शूकानि सविषाणि तु। पातितानि पचन्त्याशु मेढ्रं निरवशेषतः॥ अड़चास प्रकार के क्षुद्र रोग—(१) छोटे रोगों को क्षुद्ररोग कह सकते हैं। (२) विशेष वर्गीकरण के अनुसार जिनका कहीं भी समावेश नहीं हुआ हो ऐसे रोग। (३) दोष—दूष्यादि के अनुसार विस्तृत रूप में वर्णन न कर जिनका संक्षेप में वर्णन हो। (४) जिनकी हेतु, लक्षण और चिकित्सा बहुत साधारण हो।

सुश्रुत में क्षुद्र रोगों की संख्या चौवालिस है—'समासेन चतुश्चत्वारिंशत् क्षुद्ररोगा भवन्ति। तद्यथा—(१) अजगल्लिका, (२) यवप्रख्या, (३) अन्धालजी, (४) विवृता, (५) कच्छपिका, (६) वल्मीकम्, (७) इन्द्रवृद्धा, (८) पनसिका, (९) पाषाणगर्दभः, (१०) जालगर्दभः, (११) कक्षा, (१२) विस्फोटकः, (१३) अग्निरोहिणी, (१४) चिप्पम्, (१५) कुनखः, (१६) अनुशयी, (१७) विदारिका, (१८) शर्करार्बुदम्, (१९) पामा, (२०) विचर्चिका, (२१) रकसा, (२२) पाददारिका, (२३) कदरम्, (२४) अलसः, (२५) इन्द्रलुप्तम्, (२६) दारुणकः, (२७) अरुंषिका, (२८) पलितम्, (२९) मसूरिका, (३०) यौवनपिडका, (३१) पद्मिनीकण्टकः, (३२) जतुमणिः, (३३) मशकः, (३४) चर्मकीलः, (३५) तिलकालकः (३६) न्यच्छः, (३७) व्यङ्गः, (३८) परिवर्तिका, (३९) अवपाटिका, (४०) निरुद्धप्रकशः, (४१) सन्निरुद्धगुदः, (४२) अहिपूतनम्, (४३) वृषणकच्छूः, (४४) गुदभ्रंशश्च। वाग्भट ने क्षुद्ररोग छत्तीस और माधव ने सैंतालीस माने हैं। वाग्भट ने इनमें कुछ अपने विशिष्ट क्षुद्ररोगों के नाम लिखे हैं—

(१) गर्दभी, (२) गन्धनामा, (३) राजिका, (४) प्रसुप्ति या स्वाप (Local anesthesia, or Numbness,) (५) इरिवेल्लिका (६) उत्कोठ और (७) कोठ, इन्हें (Urticaria or Angioneurotic oedema) कहते हैं। उत्कोठ अलर्गी (Allergy) का एक प्रकट लक्षण है।

इनमें वल्मीक का सादृश्य Actinomycosis and mycetoma or madura fool इन विकारों के साथ हो सकता है। पाषाणगर्दभ को औपसर्गिक कर्णमूलिक शोथ या कर्णफेर (Epidemic parotitis or mumps) कह सकते हैं। पाषाणवत् काठिन्यात् पाषाणगर्दभः। कक्षा को हर्पिस जोस्टर (Herpes zoster) कह सकते हैं। सुश्रुत की कक्षा कक्षालसीकाग्रन्थिशोथ (Acute lymphadenitis of the axillary glands) है किन्तु चरक और वाग्भट की कक्षा वातपित्तजन्य तथा अनेक फुन्सियों से होती है—'यज्ञोपवीतप्रतिमाः प्रभूताः पित्तानिलाभ्यां जनितास्तु कक्षाः॥ (चरक) विस्फोटक को (Bullous eruptions or Pemphigus) पेम्फिगस कह सकते हैं। चिप्प या अङ्गुलिवेष्टक को (Onychia purulenta कहते हैं। इसमें नखमांस पकता है। इसी को सुश्रुत में चतरोग या उपनख भी कहा है किन्तु चरक ने जो चतरोग का वर्णन किया है उसमें चर्मनखान्तर पाक होता है जिसे पारोनीकिया या ह्विटलो (Paronychia or whitlow) कहते हैं। कुनख को ओनिकोग्रिफोसिस (onychogryphosis) कहते हैं। शर्करार्बुद को (Cock's peculiar tumour) कह सकते हैं। कदर को (Corn) और अलस को (Chilblain) कहते हैं। इन्द्रलुप्त को खालित्य या रुज्या या गञ्ज (Olopecia) कहते हैं। इस रोग के नामादि के विषय में अनेक मतान्तर हैं। वाग्भट का कथन है कि इन्द्रलुप्त में बाल सहसा गिरते हैं और खलति में धीरे-धीरे गिरते हैं। यही दोनोंमें फर्क है—'खलतेरपि जन्मैवं शदनं तत्र तु क्रमात्।'(अ० सं० उत्त० २३) रुज्या को अष्टाङ्गहृदय में रूह्या और माधवनिदान में रुह्या कहा है। इन तीनों के अतिरिक्त वाग्भट ने इसका पर्याय चार्य दिया है—'तदिन्द्रलुप्तं रूह्याञ्च प्राहुश्चाचेति चापरे।' माधवटीका में श्रीकण्ठदत्त कार्तिक के मतानुसार इन्द्रलुप्तरोग श्मश्रु (दाढ़ी) में खालित्य शिर में और रुह्या सारे देह में होती है ऐसा लिखते हैं—कार्तिकस्त्वाह—इन्द्रलुप्तं श्मश्रुणि भवति, खालित्यं शिरस्येव, रुह्या च सर्वदेहे इति, आगमस्त्वत्र नास्ति। इस मतानुसार रुह्या को (Alopecia universalis) कह सकते हैं। दारुणक में शिरः कपाल के बालों का स्थान कठिन, खाजयुक्त, रूखा और दरारयुक्त हो जाता है। वाग्भट ने इस का समावेश शिरोरोगों में किया है—कण्डूकेशच्युतिस्वापरौक्ष्यकृत् स्फुटनं त्वचः। सुसूक्ष्मं कफवाताभ्यां विद्याद्दारुणकन्तु तत्॥ इसे (Seborrhoea capitis or pityriasis capitis) कह सकते हैं। अरुंषिका सिर की छाजन है। इसे (Eczema of the face and scalp कहते हैं। पलित अर्थात् बालों का श्वेत होना। क्रोध, शोक और श्रम से उत्पन्न शरीर की गरमी और पित्त शिर में जाके बालों को पकाता है जिससे पलित रोग होता है—क्रोधशोकश्रमकृतः शरीरोष्मा शिरोगतः। पित्तञ्च केशान् पचति पलितं तेन जायते॥ (सु० नि० अ० १३) चरकाचार्य ने पित्त के साथ वात और कफ को भी इस रोग की उत्पत्ति में कारण माना है तथा खालित्य और पालित्य में भेद भी लिखा है—'तेजोऽनिलाद्यैः सह केशभूमिं दग्ध्वा तु कुर्यात् खलितिं नरस्य। किञ्चित्तु दग्ध्वा पलितानि कुर्याद्धरिप्रभत्वञ्च शिरोरुहाणाम्॥' (चरक) पालित्य को (Premature canities) कहते हैं।

मसूरिका—मसूर दाल के दाने के तुल्य आकार और वर्ण की पिटकाएँ इस रोग में प्रायः होती हैं, अतः इसे मसूरिका कहते हैं—(१) 'मसूरमात्रास्तद्वर्णास्तत्संज्ञाः पिटका घनाः।' (अ० सं०) (२) 'या सर्वगात्रेषु मसूरमात्रा मसूरिका पित्तकफात् प्रदिष्टा' (चरक) इसी को शीतला, माता, चेचक या वसन्त रोग (स्माल पॉक्स Small pox, या वेरिओला—Variola) कहते हैं। छोटी माता को त्वग्-मसूरिका (चिकन पॉक्स Chickenpox or varicella) कहते हैं।

मुखदूषिका—तरुण पुरुषों के मुख पर होने वाली पिडकाएँ—'शाल्मलीकण्टकप्रख्याः कफमारुतशोणितैः। जायन्ते पिडका यूनां वक्त्रे या मुखदूषिकाः॥' (सु० नि० अ० १३) 'मेदोगर्भा मुखे यूनां ताभ्याञ्च मुखदूषिका' (अ० सं०) इन्हें यौवनपिडका तथा हिन्दी में मुंहासा और अंग्रेजी में एक्निवुल्गेरिस (Acne vulgaris) कहते हैं। पद्मिनीकण्टक—यह एक प्रकार का त्वचा का सौम्य अर्बुद (Papilloma of the skin) है।

जतुमणि, माष और तिलकालक—ये त्वचा के विकार हैं। इन विकारों में त्वचा पर मेलेनिन (Melanin) नामक स्याही मायल रंग जम जाता है। इन्हें मोल (Mole) कहते हैं। सम या अनुन्नत (Non-elevated type) और उत्सन्न या उन्नत (Elevated type) करके इसके दो भेद होते हैं। सम को तिलकालक या तिल (Non-elevated mole) और उन्नत को मषक या मसा (Elevated mole) कहते हैं। जो तिल या मसा सहज होता है उसे जतुमणि (Congenital mole) कहते हैं। न्यच्छ इसी को लाञ्छन कहते हैं—'न्यच्छं लाञ्छनमुच्यते।' चर्मकील पहले अर्शोनिदान में कह आये हैं। 'शुक्लानुकृष्णवर्णं चर्मकीलं प्रकीर्तितम्' वाग्भट चर्मकील को मशक का ही एक अधिक उन्नत प्रकार मानते हैं—'मशेभ्यस्तून्नततरान् चर्मकीलान् सितासितान्' (अ० सं०)।

व्यङ्ग—जब मुख के अतिरिक्त अन्य स्थानों पर होता है तब उसे नीलिका कहते हैं—'श्यामलं मण्डलं व्यङ्गं वक्त्रादन्यत्र नीलिका' (अ० सं०) 'कृष्णमेवं गुणं गात्रे नीलिकां तां विनिर्दिशेत्' (भोज) व्यङ्ग, न्यच्छ और नीलिका वास्तव में एक विकृति के ही नाम हैं। धमनिकाओं, शिराओं और केशिकाओं का एक छोटा सा गुच्छ त्वचा में बनने से ये विकार उत्पन्न होते हैं। इन्हें केपिलरी एञ्जियोमेटा या नीवी (Caprillary angiomata or naevi) कहते हैं।

परिवर्तिका—मर्दन-पीडनादि कारणों से मेढ़ का चर्म मेढ़ (लिङ्ग) के ऊपर चढ़ कर शिश्नमणि के पीछे गठीला हो के लटकता है। इसमें शोथ, वेदना, दाह और पाक होते हैं। इसे पेराफायमोसिस (Paraphymosis) कहते हैं।

अवपाटिका—अल्पयोनि वाली बाला स्त्री के साथ गमन करने से अथवा हस्ताभिघात से, शिश्न दबाने से या मलने से

और शुक्र-वेग रोकने से जब शिश्नचर्म फट जाता है तो उसे अवपाटिका कहते हैं।

निरुद्धप्रकश—जब वात-दूषित शिश्न-चर्म शिश्नमणि को पूर्णतया आच्छादित कर देता है, जिससे चर्मद्वार छोटा होने से मणि के ऊपर आने वाला प्रकाश निरोधित हो जाता है, अतः इसे निरुद्धप्रकश (निरुद्धप्रकाशत्वान्निरुद्धप्रकशः) (मधुकोष) अथवा मणि के विकास के निरोध होने से निरुद्धमणि (मणेर्विकासरोधश्च स निरुद्धमणिर्गदः) (वाग्भट) कहा जाता है। अंग्रेजी में इसे फायमोसिस (Phimosis) कहते हैं।

सन्निरुद्धगुद—अधारणीय वेग के धारण से या अधो वायु और मल के वेगों को धारण करने से कुपित वात गुदा में जा कर महास्रोत का निरोध करके उसके नीचे का द्वार छोटा कर देती है, इसे सन्निरुद्धगुद (स्ट्रिक्चर ऑफ् दी रेक्टम्—Stricture of the rectum) कहते हैं। यह रोग प्रवाहिका, अतिसार, अर्श, भगन्दर, राजयक्ष्मा, फिरङ्ग, सोजाक इत्यादि से जो गुदा में व्रण होते हैं उनके स्थान पर सङ्कोच होने से उत्पन्न होता है।

अहिपूतना—यह बच्चों की गुदा में मल-मूत्रादि लगे रहने से वहाँ रक्त-कफजन्य कण्डू उत्पन्न होती है, तब खुजाने से वहाँ फुन्सियाँ उत्पन्न होती हैं और वे एक के फूट कर व्रण रूप में परिवर्तित हो जाती हैं, इसे अहिपूतन कहते हैं। इसी को कुछ लोग मातृकादोष, पूतनादोष, पृष्ठारु, गुदकुन्द और अनामिक भी कहते हैं—व्रणैः सर्वैकीभूतं तमेव घोरमहिपूतनं विद्यात्'। 'केचित्तं मातृकादोषं वदन्त्यन्येऽपि पूतनम्। पृष्ठारुर्गुदकुन्दञ्च केचिच्च तमनामिकम्॥ (अ० हृ०) दुष्ट स्तन्यपान तथा मल का अप्रक्षालन ये दो कारण भोज ने लिखे हैं—'दुष्टस्तन्यस्य पानेन मलस्याक्षालनेन च' (भोज) अंग्रेजी में इसे इन्फेण्टाइल एरिथीमा ऑफ् जाक्वेट—(Infantile erythema of jacquet, या नेप्कीनराश—Napkinrash अथवा सोअर बटक्स—Sore buttocks कहते हैं।

वृषणकच्छू—स्नान न करने तथा स्निग्धोत्सादन (उबटन) न करने से मल वृषण पर इकट्ठा हो के पिघल कर कण्डू उत्पन्न करता है और तब खुजलाने से वहाँ स्फोट, व्रण और स्राव हो जाता है, इसे वृषणकच्छू (एक्जीमा ऑफ् दी स्क्रोटम Eczema of the scrotum) कहते हैं।

गुदभ्रंश—प्रवाहण (कुन्थन = कांखना या कांजना) तथा अत्यधिक मल के अतिसरण से रूक्ष एवं दुर्बल शरीर वाले मनुष्य की गुदा बाहर निकलने लग जाती है इसको गुदभ्रंश (प्रोलेप्सस रेक्टाई—Prolapsus recti) कहते हैं। रोमान्तिका, कूकर खाँसी, अतिसार, प्रवाहिका आदि कारणों से शरीर का रूक्ष तथा कमजोर होना तथा गुदा का भी रूक्ष और कमजोर होना, गुदभ्रंश का कारण है। जिन-जिन रोगों में अधिक समय तक अतिसरण होता है, जैसे प्रवाहिका, अतिसार, केंचवे इत्यादि तथा जिनके कारण रोगी को अधिक देर तक प्रवाहण करना पड़ता है, जैसे कब्ज, अर्श, बस्तिगत अश्मरी, मूत्रमार्ग-सङ्कोच, अष्ठीलावृद्धि इत्यादि ये सब गुदभ्रंश के साक्षात् कारण हैं।

ओष्ठ में—उत्पन्न होने वाले आठ रोग होते हैं—'तत्राष्टावोष्ठयोः' इन्हें ओष्ठप्रकोप कहते हैं। (१) वातज ओष्ठप्रकोप—Cracked or chapped lips. (२) पित्तज ओष्ठप्रकोप, (३) कफज ओष्ठप्रकोप, (४) सन्निपातज ओष्ठप्रकोप, इन तीनों को Herpes labialis कह सकते हैं। (५) रक्तज और (६) मांसज ओष्ठप्रकोप ये दोनों ओष्ठ के Epithelioma हैं। (७) मेदोजन्य तथा (८) अभिघातजन्य ओष्ठप्रकोप। वाग्भट ओष्ठ में ग्यारह रोग मानते हैं—(१) खण्डौष्ठ (Harelip) 'तत्र खण्डौष्ठ इत्युक्तो वातेनौष्ठो द्विधा कृतः' (२) ओष्ठार्बुद (Epithelioma) 'खर्जूरसदृशश्चात्र क्षीणे रक्तेऽर्बुदं भवेत्' (३) जलार्बुद (Mucous cyst) 'जलबुद्बुदवद्वातकफादोष्ठे जलार्बुदम्'। दन्तमूल में उत्पन्न होने वाले पन्द्रह रोग होते हैं।

'पञ्चदश दन्तमूलेषु' ये निम्न हैं। (१) शीताद (Bleeding or Spongy gums) कारण—मुखशुद्धि का अभाव, पारदसेवन और स्कर्वी रोग। (२) दन्तपुप्पुटक (गम् बॉयल Gum boil)। (३) दन्तवेष्ट (पायोरिया एल्वियोलेरिस—Pyorrhoea alveolaris अथवा सुप्युरेटिव जिञ्जीवाइटिस or suppurative gingivitis। (४) सौषिर, (५) महासौषिर, (६) परिदर, (७) उपकुश, (८) वैदर्भ, सौषिर से लेकर दन्तवैदर्भ तक दन्तवेष्टप्रकोप (Gingivitis) के विविध प्रकार हैं। महासौषिर के इन लक्षणों 'ससन्निपातज्वरवान् सपूयरुधिरस्रुतिः' (अ० सं०), 'विवृद्धमनिशं दन्तान् तालवौष्ठमपि दारयेत्। महासौषिरमित्येतत् सप्तरात्रान्निहन्त्यसून्॥ (भोज) का विचार करने से यह बहुधा गेन्ग्रिनस स्टोमेटाइटिस, या केन्क्रम ओरिस = Gangrenous stomatitis or Cancrumoris होगा। इसमें गाल के भीतर अथवा मसूढ़ों पर एक व्रण बनता है जो जिह्वा, तालु इत्यादि पर फैलता है, तीव्रज्वर भी होता है। रोगी ७–१० दिन के भीतर मर भी जाता है। (९) वर्धन इसे अधिदन्त या खलवर्धन भी कहते हैं—'दन्तोऽधिकोऽधिदन्ताख्यः स चोक्तः खलवर्धनः॥' यह एक्स्ट्रा टूथ (Extra tooth) है। कुछ लोगों ने इसे अकलदाढ़ (wisdom tooth) मानी है, किन्तु इसे निकाल दिया जाता है, अतः अकलदाढ़ नहीं हैं—'उद्धृत्याधिकदन्तन्तु ततोऽग्निमवचारयेत्॥' (१०) अधिमांस (Impacted wisdom tooth), (११–१५) पांच प्रकार की दन्तनाडियां—वातज, पित्तज, कफज, सन्निपातज और शल्यजन्य। वाग्भट ने दन्तमूलगतरोगों में दन्तवेष्टक और परिदर का वर्णन नहीं किया है तथा वर्धन रोग को दन्त रोगों में लिखा है। दन्तविद्रधि—एल्वियोलर एब्सेस (Alveolar abscess) अधिक लिखा है—दन्तमांसे मलैः सास्रैर्बाह्यान्तःश्वयथुर्गुरुः। सरुग्दाहः स्रवेद्भिन्नः पूयास्रं दन्तविद्रधिः॥

दन्त में होने वाले आठ रोग होते हैं—'अष्टौ दन्तेषु' जैसे (१) दालन, इसे शीतदन्त भी कहते हैं—वाताद्युष्णासहा दन्ताः शीतस्पर्शाधिकव्यथाः। दाल्यन्त इव शूलेन शीताख्यो दालनश्च सः॥ (अ० सं०) अंग्रेजी में इसे टूथ एक या ओडण्टोडायनिया = Toothache or odontodynia कहते हैं। (२) क्रिमिदन्तक (Dental Caries)। (३) दन्तहर्ष (ओडन्टायटीज Odontitis)। (४) भञ्जनक, (५) दन्तशर्करा (Tarter)।

(६) कपालिका। दांतों के ऊपर दन्तवल्क (Enamel) का कवच या आवरण होता है। इसके ऊपर पथरी जम जाने से यह कवच निकल आता है। इसे कपालिका कहते हैं। (७) श्यावदन्तक। (८) हनुमोक्ष या हनुसन्धिविश्लेष (Dislocation of the lower jaw)। हनुसन्धिबन्धन ढीले होने से या हंसते और जंभाई लेते समय अधिक मुख खोलने से, या खुले मुख पर आघात लगने से हनुमुण्ड हनुखात के अर्बुद पर से फिसलता हुआ उसके आगे पहुँच जाता है। यह विश्लेष कभी एक ओर तथा कभी दोनों ओर होता है।

वाग्भट ने निम्न तीन दन्त रोग अधिक लिखे हैं—(१) कराल—'करालस्तु करालानां दशनानां समुद्भवः।' (२) चाल—'चालश्चलद्भिर्दशनैर्भक्षणादधिकव्यथैः'। (३) दन्तभेद—'दन्तभेदे द्विजास्तोदभेदरुक्स्फुटनान्विताः।' (अ० सं०)।

जिह्वागत पांच रोग होते हैं—'जिह्वागतास्तु—कण्टकास्त्रिविधास्त्रिभिर्दोषैः, अलास, उपजिह्विका चेति' (सु० नि० अ० १६) जिह्वाकण्टक रोग Chronic superficial glossitis रोग है तथा वातादिभेद से उसकी तीन अवस्थाएं हैं—जैसे (१) वातकण्टक—Cracked or fissured tongue (२) पित्तकण्टक—Red glazed tongue. (३) कफकण्टक—Ichthyosis. (४) अलास—Sublingual abscess. (५) उपजिह्विका—Ranula. इसमें जिह्वा के नीचे श्लेष्मद्रव (Glairy mucoid fluid) का सञ्चय होने से उत्सेध उत्पन्न होता है। प्रायः यह सञ्चय जिह्वाधरीय लालाग्रन्थि के स्रोतसों में होता है। सुश्रुत इसे कफ और रक्तजन्य मानता है किन्तु चरकानुसार उपजिह्विका केवल कफजन्य होती है—'यस्य श्लेष्मा प्रकुपितो जिह्वामूलेऽवतिष्ठते। आशु सञ्जनयेच्छोथं जायतेऽस्योपजिह्विका ॥ वाग्भटाचार्य इसे अधोजिह्वा कहते हैं—'अधिजिह्वः मकफ्.....' । तालुगत नौ रोग होते हैं—जैसे (१) गलशुण्डिका—इसे इलॉंगेटेड युवुला Elongated Uvula कहते हैं। इसमें कण्ठावरोध, तृषा, कास और वमन होवे हैं—'कण्ठोपरोधतृट्कासवमिकृद् गलशुण्डिका' (अ० सं०)। (२) तुण्डिकेरी—वनकार्पासीफल के समान शोथ होने से तुण्डिकेरी नाम रखा है—हनुसन्ध्याश्रितः कण्ठे कार्पासीफलसन्निभः। पिच्छिलो मन्दरुक् शोफः कठिनस्तुण्डिकेरिका ॥ (अ० सं०)। वाग्भटाचार्य इसे कण्ठ रोगों में मानते हैं। इसे Enlarged Tonsils कह सकते हैं। (३) अध्रुष—तालुप्रकोप (Palatitis). (४) मांसकच्छप—यह तालु का Sarcoma हो सकता है। (५) अर्बुद—यह तालु का Cancer हो सकता है। (६) मांससंघात—यह Adenoma of the palate हो सकता है। (७) तालुपुप्पुट—यह Epulis of the palate हो सकता है। (८) तालुशोष। (९) तालुपाक—यह Ulceration of the palate हो सकता है।

कण्ठ में अट्ठारह रोग होते हैं—किन्तु सुश्रुत ने प्रारम्भ में कण्ठ में सत्तरह रोग लिखे हैं—सप्तदश कण्ठे' किन्तु जहाँ उन्हें गिनाया है अट्ठारह ही पूर्ण हो जाते हैं। १–५ प्रकार की रोहिणी—(१) वातज, (२) पित्तज, (३) कफज, (४) सन्निपातज, (५) रक्तज। रोहिणी रोग को डिफ्थीरियल् इन्फ्लेमेशन ऑफ् दी थ्रोट (Diphtherial inflamation of the throat) कहते हैं। यह विकार (B. Diphtheria) नामक जीवाणु से होता है। इस रोग में गले के भीतर एक झिल्ली बनती है जो स्वरयन्त्र और नासा में फैल कर श्वासावरोध करती है जिससे रोगी मर जाते हैं। रोगी के गले की झिल्ली में जो जीवाणु होते हैं वे खाँसने, बोलने और छींकने के समय थूक और झिल्ली के सूक्ष्मकणों के साथ बाहर आते हैं और समीपस्थ मनुष्यों के गले में वायु के साथ प्रवेश करके रोग उत्पन्न करते हैं। यह रोहिणी बालकों में अधिक हुआ करती है। उनमें इनका संक्रमण प्रायः पेन्सिल, रूमाल, तौलिया, गिलास इत्यादि मुख के साथ सम्बन्ध रखने वाली चीजों से होता है। इसमें प्रधान लक्षण ज्वर १०४°, नाड़ी तेज और हृदय कमजोर तथा श्वासकृच्छ्र होता है—आयुर्वेदज्ञों को इसका पूर्णज्ञान है—'गलेऽनिलः पित्तकफौ च मूर्च्छितौ प्रदूष्य मांसञ्च तथैव शोणितम्। गलोपसंरोधकरैस्तथाङ्कुरैर्निहन्त्यसून् व्याधिरियन्तु रोहिणी।' दोषानुसार घातकता—'सद्यस्त्रिदोषजा हन्ति त्र्यहाच्छ्लेष्मसमुद्भवा। पञ्चाहात् पित्तसम्भूता सप्ताहात् पवनोत्थिता॥' (खरनाद) चरक में मारक कालसीमा त्रिरात्र कही है—'त्रिरात्रं परमं तस्य जन्तोर्भवति जीवितम्। कुशलेन त्वनुक्रान्तः क्षिप्रं सम्पद्यते सुखी ॥' (६) कण्ठशालूक—बड़े बेर की गुठली के बराबर, कफ से उत्पन्न हुई तथा काँटे के या शूक के समान खुरदरी, स्थिर, शस्त्रक्रिया-साध्य जो ग्रन्थि गले में होती है उसे कण्ठशालूक (Adenoides) कहते हैं। यह विकार गले के नासापश्चिम भाग में उत्पन्न होता है जिससे नासामार्ग का अवरोध होता है—'शालूको मार्गरोधनः।' अतएव रोगी मुख से श्वास लेता है। सोते समय खुर्राटे से साँस चलती है—'अन्तर्गले घुर्घुरिकान्वितश्च शालूकमुच्छ्वासविरोधकारी॥' (च० चि० अ० १२) (७) अधिजिह्व—इसको एपिग्लोटाइटिस (Epiglottitis) कहते हैं। चरक और वाग्भट जिह्वा के ऊपर होने वाले शोथ के लिए उपजिह्विका और नीचे होने वाले शोथ को अधिजिह्विका कहते हैं—'जिह्वोपरिष्टादुपजिह्विका स्यात् कफादधस्तादधिजिह्विका च' (च० चि० अ० १२) (८) वलय—इसी को चरक में विडालिका लिखा है, वाग्भटमतानुसार गलौघ और वलय प्रायः एक रोग हैं। केवल वलय में पीड़ा और शोफ की अल्पता होती है-'वलयं नातिरुक् शोफस्तद्वदेवायतोन्नतः।' (अ.सं.) (९) बलास, (१०) एकवृन्द, (११) वृन्द, (१२) शतघ्नी, (१३) गिलायु, (१४) गलविद्रधि, (१५) गलौघ, (१६) स्वरघ्न, (१७) मांसतान और (१८) विदारी। सर्वसर अर्थात् सारे मुख में होने वाले रोग चार हैं। सुश्रुत ने यहाँ पर भी मुखरोग के गणनारम्भ में सर्वसर रोगों की संख्या तीन ही मानी है—'त्रयः सर्वेष्वायतनेषु' किन्तु अन्त में जहाँ उन्हें पृथक् पृथक् गिनाया है, उनकी संख्या चार कर दी है—'सर्वसरास्तु वातपित्तकफशोणितनिमित्ताः' अर्थात् वातज, पित्तज, कफज और रक्तज ऐसे सर्वसर रोगों की संख्या चार है। किन्तु फिर अन्त में सुश्रुत कहते हैं कि जो रक्तज सर्वसर रोग है वह पित्तज के समान ही होने से तदन्तर्गत समझ लेना चाहिए—'रक्तेन पित्तोदित एक एव कैश्चित् प्रदिष्टो मुखपाकसंज्ञः'।

पित्तोदित-सर्वसरलक्षणं यथा—'मुखस्य पित्तजे पाके दाहोषौ तिक्तवक्त्रता। क्षारोक्षितक्षतसमा व्रणास्तद्वच्च रक्तजे।' वाग्भट ने सारे मुख में होने वाले रोगों की संख्या आठ मानी है। सर्वसर—(१) 'मुखगतौष्ठादिसप्तस्थानव्यापकतया सर्वसरत्व मैयम्' (मधुकोश)। (२) 'सर्वस्मिन् मुखे ये भवन्ति ते सर्वसराः' (डल्हण)। (३) 'सर्वमुखेषु सरतीति सर्वसरः' (आढमल्ल)। वाग्भट, शार्ङ्गधरादि ग्रन्थों में सर्वसर रोगों की मुखपाक (Stomatitis) संज्ञा की है। वाग्भट और शार्ङ्गधर में मुखपाक पाँच प्रकार का लिखा है—'मुखपाको भवेद्वातात् पित्तात्तद्वत्कफादपि। रक्ताच्च सन्निपाताच्च॥' (शार्ङ्गधर) इस तरह सुश्रुत के निदान नामक द्वितीय स्थान में तीन सौ बयालिस रोगों का वर्णन किया गया है। (३) शारीरस्थानरोगसंख्यावर्णनम्—'अष्टौ शुक्रगता रोगा अष्टावार्तवदुष्टयः। स्वचारोऽसृग्दराः प्रोक्ता अपातस्त्वपराकृतः॥ मक्कल्लीनशोषाश्च नैगमेषाहनस्तथा। नागोदरः सूतिगर्भे शारीरे सप्तविंशतिः॥'

शुक्रगत रोग आठ प्रकार के होते हैं—'वातपित्तश्लेष्मशोणितकुणपग्रन्थिपूतिपूयक्षीणमूत्रपुरीषरेतसः प्रजोत्पादने न समर्था भवन्ति' (१) 'वातवर्णवेदनं वातेन'—अर्थात् वात से दूषित वीर्य वातिक वर्ण और वेदना (पीडा या लक्षण) से युक्त होता है—'रूक्षं फेनिलमल्पमल्पविच्छिन्नं सरुजं चिराच्च निषिच्यते वातेन' (अ० सं०)। (२) 'पित्तवर्णवेदनं पित्तेन'—पित्त से दूषित वीर्य पित्त के वर्ण और वेदना वाला होता है—'सनीलमथवा पीतमत्युष्णं पूतिगन्धि च। दहल्लिङ्गं विनिर्याति शुक्रं पित्तेन दूषितम्॥' (च० चि० अ० ३०)। (३) 'श्लेष्मवर्णवेदनं श्लेष्मणा'—कफ से दूषित वीर्य कफ के वर्ण और वेदना(लक्षणों) वाला होता है। (४) 'शोणितवर्णवेदनं कुणपगन्ध्यनल्पञ्च रक्तेन'—रक्त से दूषित शुक्र या शुक्र में रक्त मिलने से या कामला उत्पन्न होने से शुक्र का वर्ण लाल, पीला, हरा इत्यादि हो जाता है इसको रक्तशुक्रता (Haemospermia) कहते हैं। अतिमैथुन से यह दशा होती है—'तस्य मैथुनमापद्यमानस्य न शुक्रं प्रवर्ततेऽतिमात्रोपक्षीणरेतस्त्वात्, तथाऽस्य वायुर्व्यायच्छमानशरीरस्यैव धमनीरनुप्रविश्य शोणितवाहिनीस्ताभ्यः शोणितं प्रच्यावयति, तच्छुक्रक्षयादस्य पुनः शुक्रमार्गेण शोणितं प्रवर्तते वातानुगतलिङ्गम्।' (च० नि० अ० ६)। (५) 'ग्रन्थिभूतं श्लेष्मवाताभ्याम्'—कफ और वात से दूषित वीर्य ग्रन्थिभूत या गाँठदार होता है। मूत्रमार्ग से बाहर निकलने वाले शुक्र में वृषणग्रन्थियों से शुक्राणु तथा अष्ठीला (Prostate), वीर्याशय, कौपर की ग्रन्थियों और लिटर की ग्रन्थियों का रस मिलकर शुक्र बनता है। जब शुक्र में इन रसों का मिलना अल्प होता है तब वह ग्रंथिभूत या गाढा हो जाता है। (६) 'पूतिपूयनिभं पित्तश्लेष्मभ्याम्'—पित्त और कफ से दुर्गन्धित तथा पूयदार वीर्य होता है। अष्ठीला, शुक्राशय या शुक्रोत्पादक संस्थान के किसी अङ्ग में पुराना शोथ होने से पूय के समान शुक्र निकलता है इसे पूयशुक्रता (Pyospermia) कहते हैं। (७) 'क्षीणं प्रागुक्तं पित्तमारुताभ्याम्'- पित्त और वात के कारण क्षीण शुक्र के लक्षण पूर्व में लिखे जा चुके हैं—'शुक्रक्षये मेढ्रवृषणवेदनाऽशक्तिर्मैथुने चिराद्वा प्रसेकः प्रसेके चाल्परक्तशुक्रदर्शनम्' (सु० सू० अ० १५)। (८) 'मूत्रपुरीषगन्धि सन्निपातेनेति' सन्निपात से दूषित वीर्य मूत्र और मल की गन्ध वाला होता है। शुक्राशय और शुक्रवाहिनियाँ मूत्राशय और मलाशय के बीच में होती हैं। यदि किसी कारण मलाशय का या मूत्राशय का या दोनों का सम्बन्ध हो जाय तो शुक्र में दोनों की गन्ध आ सकती है। जैसा कि भगन्दर रोग में होता है—'वातमूत्रपुरीषाणि क्रमयः शुक्रमेव च। भग-दरात् प्रस्रवन्ति यस्य तं परिवर्जयेत्॥'

वर्तमान काल में शुक्र में निम्न दोषों का होना प्रमाणित हुआ है—(१) अशुक्राणुता (Azoospermia) यह नपुंसकों में होती है। (२) अल्पशुक्राणुता (Oligozoospermia) इसमें शुक्राणु संख्या में कम और कमजोर होते हैं। (३)नष्टशुक्राणुता (Necrozoospermia) इसमें वीर्यगत जीवाणु मृत के समान होते हैं। (४) रक्तशुक्रता (Haemospermia) शुक्र में रक्त मिला रहता है। (५) अल्पशुक्रता (Oligospermia) इसमें शुक्र अल्प राशि में और मुश्किल से निकलता है। (६) शुक्रक्षय या अशुक्रता (Aspermia) इसमें शुक्र का उत्सर्ग होता ही नहीं है। चरकाचार्य ने शुक्र में निम्न आठ दोष माने हैं—'फेनिलं तनु रूक्षञ्च विवर्णं पूति पिच्छिलम्। अन्यधातूपसंसृष्टमवस दि तथाऽष्टमम्॥' (च० चि० अ० ३०) आर्तवगत रोग भी आठ प्रकार के होते हैं—'आर्तवमपि त्रिभिर्दोषैः शोणितचतुर्थैः पृथग्द्वन्द्वैः समस्तैश्चोपसृष्टमबीजम्भवति' अर्थात् (१) वात, (२) पित्त, (३) कफ, (४) रक्त, (५) श्लेष्मवात, (६) पित्तश्लेष्मा, (७) पित्तवात और (८) सन्निपात से दूषित आर्तव। आर्तव भी दोषानुसार मुर्दे की गन्ध वाला (कुणपगन्धी), ग्रन्थिभूत, दुर्गन्धित (पूति), पूयदार, क्षीणार्तव और मूत्र-मल युक्त आर्तव होता है। इनके अतिरिक्त असृग्दर, रजःकृच्छ्र आदि आर्तव-दोष होते हैं। आधुनिक चिकित्सा-विज्ञान में आर्तव के निम्न दोष माने गये हैं—आर्तवदर्शन (Menstruation) और आर्तव का अदर्शन (Amenorrhoea) ये दोनों स्त्रियों के शरीर के स्वाभाविक धर्म हैं परन्तु जब ये दोनों अपने उचित समय पर नहीं होते हैं तब वैकारिक कहे जाते हैं। (१) आर्तवदर्शन (Menstruation) का काल बारह वर्ष से ५० वर्ष तक का माना जाता है—'तद्वर्षाद् द्वादशात्काले वर्तमानमसृक् पुनः। जरापक्वशरीराणां याति पञ्चाशतः क्षयम्॥' (२) आर्तवादर्शन (Amenorrhoea)—आर्तव का अदर्शन बारह वर्ष के पहले, ५० वर्ष के पश्चात् तथा मध्य में गर्भधारण आदि कारणों से होता है। इसके तीन भेद मान लिये गये हैं—(१) अनार्तव, (२) नष्टार्तव और (३) आवृतार्तव। (१) अनार्तव (Primary amenorrhoea)—बारह वर्ष के पूर्व और पचास वर्ष के पश्चात् जो आर्तवादर्शन रहता है वह स्वाभाविक (Physiological) होता है। कभी-कभी योग्य काल के भी अनेक वर्षों बाद आर्तवदर्शन होता है। इसे कालातीत या विलम्बित (Delayed) अनार्तव कहते हैं। यह अवस्था प्रायः रक्तक्षय, राजयक्ष्मा तथा अन्य शरीर शोषक रोगों के कारण या गर्भाशय तथा बीजकोश (Ovary) के विलम्ब से परिपक्व होने के कारण उत्पन्न होती है। कभी-कभी ये दोनों सदा के लिये अपरिपक्व (अविकसित) रह जाते हैं, जिससे स्त्री में आर्तवदर्शन कदापि नहीं होता। इस

अवस्था को स्थायी (Permanant) अनार्तव कहते हैं। विलम्बित और स्थायी प्रकार वैकारिक हैं। (२) नष्टार्तव (Secondary amenorrhoea)—यह भी स्वाभाविक और वैकारिक दो प्रकार का है। सगर्भावस्था और प्रसूतावस्था इसके स्वाभाविक कारण हैं तथा वैकारिक कारणों में रक्तक्षय, राजयक्ष्मा, मधुमेह, दुष्टार्बुद, चित्तोद्वेग, उन्माद तथा अन्य मानसिक विकारों की गणना होती है। (१) आवृतार्तव—(Cryptomenorrhoea)—इसमें योग्य वय में आर्तवस्राव प्रारम्भ होता है परन्तु बाहर आने का मार्ग अवरुद्ध होने के कारण आर्तव रक्त भीतर ही आवृत या प्रच्छन्न रहता है। इसके कारण गर्भाशय-ग्रीवा में छिद्र न होना (Imperforate cervix), योनिमार्गाभाव (Absence of vagina), योनिद्वार के पर्दे में (Hymen) छिद्र न होना, इत्यादि सहज व्यङ्ग हैं। (३) क्षीणार्तव (Oligomenorrhoea) (४) कृच्छ्रार्तव (Dysmenorrhoea) (५) रजःप्रदर (Menorrhagia) ऋतुस्राव के दिनों में ही रक्त का अधिक निकलना। (६) गर्भाशयप्रदर (Metrorrhagia)—ऋतुकाल में रक्तस्राव होकर अनार्तव काल में भी रक्त का जाना।

असृग्दर चार प्रकार के होते हैं—जैसे वातिक, पैत्तिक, श्लैष्मिक और सान्निपातिक। अपरा के न गिरने से उत्पन्न १ रोग, मक्कशूल १, लीनगर्भ १, गर्भशोष या शुष्कगर्भ १, नैगमेष से अपहृत गर्भ १, नागोदर १ और गर्भस्रुति १ ऐसे शारीर स्थान में सत्ताईस रोग कहे गये हैं—मक्कल शूल—'प्रजातायाः प्रजननशोणितसञ्जनितशूलं मक्कल्लः।' यह गर्भजन्म हो जाने के पश्चात् गर्भदोष-निःसारक वेदना (After pains) है। लीनगर्भः—'वातोपद्रवगृहीतत्वात् स्रोतसां लीयते गर्भः, सोऽतिकालमवतिष्ठमानो व्यापद्यते' (सु० शा० अ० १०) अन्यच्च—'यस्याः पुनर्वातोपसृष्टस्रोतसि लीनो गर्भः प्रसुप्तो न स्पन्दते, तं लीनमित्याहुः' (अ० सं०) गर्भाशय आदि प्रजनन स्रोतसों में वात के प्रकुपित होने से गर्भ लीन होकर स्पन्दन-रहित हो जाता है। इसको Missed abortion कह सकते हैं। शुष्कगर्भः—'वाताभिपन्न एव शुष्यति गर्भः, स मातुः कुक्षिं न पूरयति, मन्दं स्पन्दते च।' (सु० शा० अ० १०) उक्त स्रोतसों में वातप्रकोप होने से गर्भ सूख जाता है तथा माता की उदरवृद्धि रुक जाती है और मन्द स्पन्दन होता है। नैगमेषापहृतगर्भः—'शुक्रशोणितं वायुनाऽभिप्रपन्नमवक्रान्तजीवमाध्मापयत्युदरं, तं कदाचिद्यदृच्छयोपशान्तं नैगमेषापहृतमिति भाषन्ते'-वायु से पीडित शुक्रशोणित (गर्भ) जीवात्मा के अवक्रान्त (अवतरण) करने के पश्चात् उदर में आध्मान उत्पन्न कर देता है। कभी यह आध्मान स्वेच्छा से ही शान्त हो जाता है। इसे नैगमेषापहृत गर्भ कहते हैं। नागोदरः—उक्त नैगमेषापहृत गर्भ धीरे-धीरे लीन हो जाने पर नागोदर कहलाता है—'तमेव कदाचित् प्रलीयमानं नागोदरमित्याहुः' अष्टाङ्गसंग्रह में इसी को उपशुष्कक कहा है—'तदुपशुष्ककं नागोदरञ्च'। 'तं गर्भमुपशुष्कनागोदरशब्दाभ्यामाचक्षते' (इन्दु)। गर्भस्रुतिः—गर्भधारण से चौथे मास तक जो गर्भ गिर जाता है उसे गर्भस्रुति या गर्भस्राव (Abortion) कहते हैं तथा पञ्चम और षष्ठ मास में जो स्थित शरीर का पात होता है उसे गर्भपात (Miscarriage) कहते हैं—'आचतुर्थात्ततो मासात्प्रस्रवेद्गर्भविद्रवः। ततः स्थितशरीरस्य पातः पञ्चम षष्ठयोः॥'

अथ चिकित्सितस्थानरोगाः—

अथ मेदोऽनिलावेगाच्छ्वयथुः सरुजश्च यः।
आढ्यवातः सर्वसराः शोफाः पञ्च प्रकीर्तिताः।
कर्णपाल्यामयाः पञ्च क्लैब्यमुक्तं चतुर्विधम्।
वान्तरेचितयोः प्रोक्ता व्यापदो दश पञ्च च।
षण्नेत्रप्रणिधानस्य नेत्रस्यैकादशैव तु।
पञ्च बस्तिकृतास्तत्र चत्वारः पीडने कृताः।
एकादश द्रव्यकृताः सप्त शय्याकृतास्तथा।
चत्वारिंशच्चतस्रश्च वैद्यतो व्यापदस्तथा॥
क्रोधायासादिकाः पञ्चदश चातुरहेतुकाः।
स्नेहस्य कारणान्यष्टावप्रत्यागमकृन्ति च॥
इति नेत्रादिदोषेण षष्टिः सप्त समासतः।
एवं चिकित्सितस्थाने रुजोऽष्टानवतिस्तथा॥

मेदोधातु तथा वायु के आवेग (विकार या प्रकोप) से रुजायुक्त शोथ, आढ्यवात, सर्वत्र घूमने वाले (सर्वदेह-प्रसरणशील) पाँच प्रकार के शोफ। पाँच प्रकार के कर्णपालि के रोग, चार प्रकार का क्लैब्य (नपुंसकता रोग), वमन और विरेचन के मिथ्या प्रयोग से उत्पन्न पन्द्रह प्रकार की व्यापत्, नेत्रप्रणिधान के द्वारा उत्पन्न षड् व्यापत्, नेत्र की ग्यारह प्रकार की व्यापत्, बस्तिजन्य पाँच प्रकार की व्यापत्, बस्तिपीडनकृत चार प्रकार की व्यापत्, द्रव्यकृत एकादश व्यापत्, सत्तरह प्रकार की शय्याव्यापत्, चौवालीस प्रकार की वैद्यकृत व्यापत्, क्रोध तथा आयासजन्य पञ्च प्रकार की व्यापत्, रोगिकृत दश प्रकार की व्यापत्, स्नेह के अशास्त्रीय प्रयोग से उत्पन्न अष्ट व्यापत्, इस तरह नेत्रादि दोष से उत्पन्न सतसठ प्रकार की व्यापत्तियाँ होती हैं। इस तरह चिकित्सा स्थान में अट्ठानवे प्रकार के रोगों का वर्णन किया गया है।

अन्नादिरक्षाविज्ञाने विंशतिर्विषहेतुकाः।
वेगाः स्युः स्थावरे दर्वीकरमण्डलिनां विषे॥
राजिलवैकरञ्जानां प्रत्येकं सप्त सप्त च।
मूषिकास्तु दशाष्टौ च सप्त वेगा अलर्कजाः॥
सप्तषष्टिशतञ्चात्र कीटानां विषदाधिनाम्।
सप्तचत्वारिंशद्युतं कल्पस्थाने शतद्वयम्॥

अन्नपान की रक्षा के ज्ञान के विषय में स्थावर-विषसंसर्ग हो जाने से उत्पन्न बीस प्रकार के वेग तथा दर्वीकर सर्प, मण्डलीसर्प, राजिलसर्प और वैकरञ्जसर्प इनमें से प्रत्येक के दंश करने के कारण उत्पन्न सात-सात प्रकार के विषवेग, मूषिक दश से उत्पन्न अट्ठारह प्रकार के वेग, कुत्ते के दश से उत्पन्न सात प्रकार के वेग तथा विषैले कीटों के दंश के कारण उत्पन्न एक सौ सतसठ रोग होते हैं। इस तरह कल्पस्थान में दो सौ सैंतालीस प्रकार के रोगों का वर्णन किया गया है।

नव सन्ध्याश्रयाः प्रोक्ता वर्त्मजाश्चैकविंशतिः।
शुक्लभागे दशैकश्च चत्वारः कृष्णभागजाः॥

सर्वाश्रयाः सप्तदश दृष्टिजा द्वादशैव तु।
बाह्यजौ द्वौ नेत्ररोगाविति षट्सप्ततिः स्मृताः॥
कुकूणकः शिशोरेव कर्णेऽष्टाविंशतिर्नृणाम्।
एकत्रिंशद् घ्राणगताः सप्ततिरायपञ्चकाः॥
एकादश शिरोरोगाः परं शालाक्यसञ्ज्ञिते।
आतङ्कानां शतं प्रोक्तं षट्चत्वारिंशता युतम्॥
नव बालग्रहा योनिव्यापदो विंशतिः स्त्रियाः।
एवं कुमारतन्त्रेऽस्मिंस्त्रेकोनत्रिंशदामयाः॥
अष्टौ ज्वरा ह्यतिसाराः षट् चतस्रः प्रवाहिकाः।
चत्वारो ग्रहणीदोषा यक्ष्मैको गुल्मपञ्चकम्॥
हृद्रोगाः पञ्च चत्वारः पाण्ड्वाख्याः कामलाद्वयम्।
हलीमकः पानकी च रक्तपित्तं चतुर्विधम्॥
षट्प्रकारा मता मूर्च्छा विकाराः सप्त मद्यजाः।
दाहाः पञ्च तृषः सप्त छर्दयः पञ्च देहिनाम्॥
हिक्काः श्वासास्तथा कासाः प्रत्येकं पञ्च पञ्च च।
स्वरभेदास्तथा षट् स्युर्विंशतिः कृमिजातयः॥
नवोदावर्तका दृष्टा विसूच्यस्तिस्र एव च।
आनाहौ द्वावामविट्कौ तथाऽरोचकपञ्चकम्॥
मूत्राघाता द्वादश स्युरिति कायचिकित्सिते।
आमयानां शतं प्रोक्तं चत्वारिंशच्च सप्त च॥
देवतादैत्यगन्धर्वयक्षपितृहिरक्षसाम्
पिशाचस्याभिषङ्गेण गदाश्चाष्टौ प्रकीर्तिताः॥
अपस्माराश्च चत्वार उन्मादाः षडुदीरिताः।
अष्टादश गदा भूतविद्यायां सूक्ष्मदर्शिभिः॥
एवं हि सौश्रुते तन्त्रे काशिराजेन कीर्तिताः।
रोगाणान्तु सहस्रं यच्छतं विंशतिरेव च॥

नेत्र की सन्धि में निम्न नव रोग होते हैं—'नव सन्ध्याश्रयास्तेषु' (१) पूयालस अथवा अश्रुवाशय शोथ (Acute or chronic dacryocystitis) अथवा अश्रुवाशयविद्रधि (Lacrymal abscess), (२) उपनाह (Lacrymal cyst), (३-६) चार प्रकार के नेत्रस्राव (अश्रुवाहकावयवरोग (Diseases of the lacrymal appuratus) (७) पर्वणिका, (८) अलजी और (९) क्रिमिग्रन्थि वर्त्मप्रान्त (Eyelids) में निम्न इक्कीस रोग होते हैं—'वर्त्मजास्त्वेकविंशतिः'—(१) उत्सङ्गिनी, (२) कुम्भिका और (३) अञ्जननामिका इन्हें (Diseases of the glands) कहते हैं, इनमें उत्सङ्गिनी तथा कुम्भिका को (Chalazion or meibomian cyst) कह सकते हैं। तथा (४) अञ्जननामिका को (Stye) कहते हैं। (५) पोथकी (Granular conjunctivitis), (६) वर्त्मशर्करा (Infection of the mei bomian gland), (७) अर्शोवर्त्म, (८) शुष्कार्श-शोणितार्श, (९) बहलवर्त्म, (१०) वर्त्मबन्धक, (११) क्लिष्टवर्त्म (Angioneurotic oedema), (१२) कर्दमवर्त्म (Non ulcerative blepharitis), (१३) श्याववर्त्म (Ulcerative blepharitis), (१४) प्रक्लिन्नवर्त्म, (१५) अपरिक्लिन्नवर्त्म, (१६) वातहतवर्त्म (Paralysis of VIIth cranial nerve), (१७) वर्त्मार्बुद (Tumour of the lyds), (१८) निमेष (Affections of the III cranial nerve), (१९) लगण, (२०) बिसवर्त्म तथा (२१) पक्ष्मप्रकोप (Trichiasis, districhiasis)।

नेत्र के शुक्ल भाग (Sclera) में निम्न ग्यारह रोग होते हैं—'शुक्लभागे दशैकश्च' (१) प्रस्तारि अर्म, (२) शुक्लार्म, (३) क्षतजार्म, (४) अधिमांसार्म और (५) स्नाय्वर्म, इन अर्मों को टेरिजियम (Pterygium) कहते हैं। (६) शुक्तिका (Zerosis), (७) अर्जुन (Ph'yctenular conjunctivitis), (८) पिष्टक (पीतबिन्दु Pinguicula), (९) जालसंज्ञक (Scleritis) (१०) सिराजपिडका (Deepscleritis), (११) बलासग्रथित (Perinands conjunctivitis)।

नेत्र के कृष्णभाग (Cornea) में निम्न चार रोग होते हैं—'चत्वारः कृष्णभागजाः' (१) सव्रणशुक्र (क्षत) (Inflamation of the cornea or keratitis or ulcerative keratitis or corneal ulcer), (२) अव्रण शुक्र (क्षत) (क्षतरहित Non ulcerative keratitis or corneal opacity), (३) अक्षिपाकात्यय (Hypopyon or keratomalacia), (४) अजकाजात (Anterior staphytoma)।

नेत्र के समस्त भाग में निम्न सत्तरह रोग होते हैं—'सर्वाश्रयाः सप्तदश' चार प्रकार के अभिष्यन्द (Conjunctivitis) जैसे वाताभिष्यन्द, पित्ताभिष्यन्द, कफाभिष्यन्द और रक्ताभिष्यन्द तथा चार प्रकार के ही अधिमन्थ (Glaucoma), (९) सशोफपाक तथा (१०) अशोफपाक, (११) हताधिमन्थ (Secondary Glaucoma), (१२) अनिलपर्यय या वातपर्यय (Afection or atrophy of the V cranial nerve), (१३) शुष्काक्षिपाक (Ophthalmoplegia), (१४) अन्यतोवात, (१५) अम्लाध्युषितदृष्टि, (१६) सिरोत्पात (Hyperemia of conjunctiva), (१७) सिराहर्ष (Acute orbital cellulitis)।

दृष्टि (Pupil or Vision or Lens) में निम्न बारह प्रकार के रोग होते हैं—'दृष्टिजा द्वादशैव तु' जैसे छः प्रकार के लिङ्गनाश (तिमिर की ही विशेषावस्था लिङ्गनाश कहे गये हैं, इन्हें Cataract कहते हैं) अर्थात् वातिक, पैत्तिक, श्लैष्मिक, रक्तज, सन्निपातजन्य और संसर्गजन्य लिङ्गनाश, (७) पित्तविदग्ध दृष्टि (Day blindness), (८) श्लेष्मविदग्ध दृष्टि (Night blindness), (९) धूमदर्शी (Glaucoma), (१०) ह्रस्वजाड्य (रेटिनाइटिस पिग्मेण्टोजा- (Retinitis pigmentosa), (११) नकुलान्धता, (१२) गम्भीरिका (Paralysis of the VI cranial nerve) एवं नेत्र में बाह्य दो कारणों से उत्पन्न होने वाले लिङ्गनाश अर्थात् सनिमित्त लिङ्गनाश और अनिमित्त लिङ्गनाश। इस प्रकार ये छिहत्तर (७६) नेत्रगत रोग इसमें कहे गये हैं। कुकूणक नामक रोग बच्चों में होता है।

कर्ण के विभिन्न भागों में निम्न अट्ठारह रोग होते हैं—(१) कर्णशूल (Ear ech), (२) कर्णनाद (Tinitus), (३) कर्णबाधिर्य (Deafness), (४) कर्णक्ष्वेड (Labrynthitis), (५) कर्णस्राव (otorrhoea), (६) कर्णकण्डू (Itching sensation in the Ear), (७) कर्णवर्च (Wax in the Ear), (८) कृमिकर्ण (Worms in the Ear),

(९) कर्णप्रतिनाह (Obstruction of the Eustachiun tube), (१०) दो प्रकार की कर्णविद्रधि (Furnculosis in the Ear or herpes in ext Ear), (११) कर्णपाक (Suppuration in the Ear), (१२) पूतिकर्ण (Foetid discharge from the Ear), (१३-१६) चार प्रकार के कर्णार्श (Polypus in the Ear), (१७-२३) सात प्रकार के कर्णार्बुद (Hard tumour in auditory meatus) (२४-२७) चार प्रकार का कर्णशोथ (Inflammatory condition of the Ear)। सप्तविध कर्णार्बुद—'वातेन पित्तेन कफेन चापि रक्तेन मांसेन च मेदसा च। सर्वात्मकं सप्तममर्बुदन्तु।' चतुर्विध कर्णशोफ—'दोषैस्त्रिभिस्तैः पृथगेकशश्च बूयात्तथाऽर्शांसि तथैव शोफान्॥'

घ्राण (नासा) में निम्न ३१ एकतीस रोग होते हैं—(१) अपीनस (Atrophic rhinitis), (२) पूतिनस्य (Ozaena), (३) नासापाक (Chronic rhinitis), (४) नासागत रक्तपित्त (Epistaxis), (५) पूयशोणित (Lupus in the nose), (६) कर्णक्षवथु (Vasomotor rhinorrhoea), कर्णभ्रंशथु (Mucoid discharge of the thickened lining membrane of the sinus), (८) दीप्त (Severe burning or irritation in the nose or coryza), (९) नासानाह (Deviatation of septum), (१०) नासापरिस्राव (Acute and chronic rhinorrhoea), (११) नासाशोष (Rhinitis sicca, (१२-१५) चार प्रकार के अर्श (Nasalpolypi), (१६-१९) चार प्रकार के नासाशोथ (Dermetitis, Fissures, boils in the vestibule), (२०-२६) सात प्रकार के अर्बुद (New growths in the nose), (२७-३१) पाँच प्रकार के प्रतिश्याय (Acute rhinitis) इस तरह इकतीस नासा रोग होते हैं।

शिर के अन्दर निम्न ग्यारह प्रकार के रोग होते हैं—(१) वातिक, (२) पैत्तिक, (३) श्लैष्मिक, (४) सान्निपातिक, (५) रक्तज, (६) क्षयज, (७) क्रिमिजन्य, (८) सूर्यावर्त, (९) अनन्तवात, (१०) अर्द्धावभेदक और (११) शङ्खक। इस प्रकार शालाक्यतन्त्र में १४६ एक सौ छियालीस रोगों की संख्या होती है।

निम्नलिखित नौ प्रकार के बालग्रह रोग होते हैं—(१) स्कन्दग्रह, (२) स्कन्दापस्मार, (३) शकुनी, (४) रेवती, (५) पूतना, (६) अन्धपूतना, (७) शीतपूतना, (८) मुखमण्डिका, (९) पितृग्रह नैगमेष।

स्त्रियों में योनिव्यापद् नामक निम्न बीस रोग होते हैं—(१) उदावर्त्ता, (२) वन्ध्या, (३) विप्लुता, (४) परिप्लुता, (५) वातला, ये पाँच योनिरोग वातजन्य होते हैं तथा (६) रुधिरक्षरा, (७) वामिनी, (८) स्रंसिनी, (९) पुत्रघ्नी और (१०) पित्तला, ये पाँच योनिरोग पित्त के प्रकोप से होते हैं तथा (११) अत्यानन्दा, (१२) कर्णिनी, (१३-१४) चरणा तथा अतिचरणा और (१५) श्लेष्मला ये पाँच रोग कफ के कारण होते हैं। इसी तरह (१६) षण्ढा, (१७) फलिनी, (१८) महती, (१९) सूचिवक्त्रा और (२०) सर्वजा ये पाँच सन्निपातजन्य योनिरोग हैं। इस तरह इस सुश्रुत ग्रन्थ के अन्तर्गत कुमारतन्त्र में २९ उन्तीस रोग कहे गये हैं।

अब निम्न आठ प्रकार के ज्वर—(१) वातिक, (२) पैत्तिक, (३) श्लैष्मिक, (४) सान्निपातिक, (५) वातपैत्तिक, (६ वातश्लैष्मिक, ७ पित्तश्लैष्मिक, ८ आगन्तुक।

निम्न ६ प्रकार के अतिसार—(१) वातिक, (२) पैत्तिक, (३) श्लैष्मिक, (४) सान्निपातिक, (५) शोकातिसार, (६) आमातिसार।

निम्न चार प्रकार की प्रवाहिका—(१) वातिक, (२) पैत्तिक, (३) श्लैष्मिक, (४) रक्तज। निम्न चार प्रकार के ग्रहणी रोग (Chronic Diarrhoea or Sprue)—(१) वातिक, (२) पैत्तिक, (३) श्लैष्मिक और (४) सान्निपातिक—'पृथक्कशः सर्वशश्चैव दोषैरत्यर्थमूर्च्छितैः। सा दुष्टा बहुशो भुक्तमाममेव विमुञ्चति॥' एक प्रकार का राजयक्ष्मा (Tuberculosis, T. B., or Pthisis) राजयक्ष्मा त्रिदोषजन्य व्याधि है। निम्न पाँच प्रकार के गुल्म रोग—(१) वातिक, (२) पैत्तिक, (३) श्लैष्मिक, (४) सान्निपातिक, (५) रक्तजगुल्म।

निम्न चार या पाँच प्रकार के हृद्रोग (Heart diseases) (१) वातिक, (२) पैत्तिक, (३) श्लैष्मिक, (४) सान्निपातिक और पाँचवाँ कृमिजन्य हृद्रोग—'चतुर्विधः स दोषैः स्यात् कृमिभिश्च पृथक् पृथक्।' तन्त्रान्तर में हृद्रोगों के पाँच भेद किये हैं किन्तु त्रिदोषजन्य हृद्रोग की उत्तरावस्था ही कृमिजन्य हृद्रोग होता है अतएव सुश्रुत में ४ प्रकार के हृद्रोग लिखे हैं।

निम्न चार प्रकार के पाण्डुरोग (Anaemia)—(१) वातिक, (२) पैत्तिक, (३) श्लैष्मिक और (४) सान्निपातिक—'पाण्ड्वामयोऽष्टार्धविधः प्रदिष्टः पृथक् समस्तैर्युगपच्च दोषैः।' यद्यपि तन्त्रान्तर में मृत्तिकाभक्षणजन्य पाँचवाँ पाण्डुरोग माना गया है—'पाण्डुरोगाः स्मृताः पञ्च वातपित्तकफैस्त्रयः। चतुर्थः सन्निपातेन पञ्चमो भक्षणान्मृदः॥' (च० चि० अ० १६) किन्तु उसका त्रिदोषजन्य पाण्डुरोग में अन्तर्भाव कर दिया है क्योंकि विभिन्न रसवाली मृत्तिकाओं के सेवन करने से प्रथम वातादि दोष कुपित होते हैं पश्चात् उन दोषों से पाण्डुरोग उत्पन्न होता है—'कषाया मारुतं पित्तमूषरा मधुरा कफम्। कोपयेन्मृद्रसादींश्च रौक्ष्याद्भुक्तञ्च रूक्षयेत्॥' तथापि चरकाचार्य ने जो पाँचवाँ मृद्भक्षणजन्य पाण्डुरोग माना है वह विशिष्ट चिकित्सा की दृष्टि से है। जैसे मूत्रवृद्धि और आन्त्रवृद्धि।

निम्न दो प्रकार के कामला रोग (Jaundice)—(१) कामला, (२) कुम्भकामला तथा कुम्भकामला की ही प्रवृद्धावस्था लाघरक या लाघवक मानी गई है। कुम्भकामला का ही विशिष्ट भेद हलीमक (Chronic obstructive Jaundice or Chlorosis) है। और कुम्भकामला का ही अवस्थाभेद पानकी या पालकी रोग है—'सन्तापो भिन्नवर्चस्त्वं बहिरन्तश्च पीतता। पाण्डुता नेत्ररोगश्च पानकीलक्षणं वदेत्॥' इस तरह सुश्रुत तथा चरक में पाण्डुरोग की विशिष्ट

अवस्था कामला तथा हारीतक ने भी कामला और हलीमक को पाण्डु का ही एक रूप मानकर पाण्डु के आठ भेद माने हैं—वातेन पित्तेन कफेन चैव त्रिदोषमृद्भक्षणसम्भवे च। द्वे कामले चैव हलीमकश्च स्मृतोऽष्टधैवं खलु पाण्डुरोगः॥

निम्न चार प्रकार के रक्तपित्त—(Haemorrhagic disease) (१) वातिक, (२) पैत्तिक, (३) श्लैष्मिक और (४) सान्निपातिक किन्तु द्वन्द्वज भी तीन होते हैं, ऐसे रक्तपित्त के सात भेद भी माने हैं—सान्द्रं सपाण्डु सस्नेहं पिच्छिलं च कफान्वितम्। श्यावारुणं सफेनञ्च तनु रूक्षञ्च वातिकम्॥ रक्तपित्तं कषायाभं कृष्णं गोमूत्रसन्निभम्। मेचकागारधूमाभमञ्जनाभञ्च पैत्तिकम्॥ संसृष्टलिङ्गं संसर्गात्त्रिलिङ्गं सान्निपातिकम्॥ (च. चि. अ. ४)

निम्न रोगों में रक्तस्राव होता है—(१) निलोहा (Purpura), (२) शोणितप्रियता (Haemophilia) (३) रक्तार्श (Bleeding piles), (४) नासागत रक्तस्राव (Epistaxis), (५) (Haematemesis) जो कि आमाशय तथा श्वासप्रणाली से विना खाँसी के होता है तथा जो केवल श्वासप्रणाली से कासपूर्वक होता हो उसे (६) रक्तष्ठीवन (Haemoptysis) कहते हैं। (७) कर्णरक्तस्राव (Otorrhagia = ओटोरेजिया) ये सब ऊर्ध्वग रक्तपित्त के प्रकार हैं। अधोग रक्तपित्त या रक्तस्राव निम्न रोगों में गुदा, मूत्रेन्द्रिय और योनि से होता है—(१) रक्तार्श (Bleeding piles), (२) Cancer या दुष्ट व्रण, (३) हीमेचूरिया (Haematuria), (४) मेनोरेजिया (Menorrhagia), आर्त्तवकाल में योनि से अधिक स्रुत होने वाला रक्त। (५) मेट्रोरेजिया (Metrorrhagia) आर्त्तवातिरिक्त काल में योनि से होने वाला अधिक रक्तस्राव।

निम्न ६ प्रकार की मूर्च्छा—सिनकोप (Sincope) and कोमा (Coma) (१) वातिक, (२) पैत्तिक, (३) श्लैष्मिक, (४) रक्तज, (५) मद्यजन्य और (६) विषजन्य मूर्च्छा। वातादिभिः शोणितेन मद्येन च विषेण च। षट्स्वप्येतासु पित्तं हि प्रभुत्वेनावतिष्ठते॥

मद्यजन्य निम्न सप्त रोग—(१) वातिक, (२) पैत्तिक, (३) श्लैष्मिक, (४-६) द्वन्द्वज तथा (७) सन्निपातज।

निम्न पाँच प्रकार के दाह—(१) मद्यपानजन्य दाह, (२) रक्तज दाह (३) तृष्णानिरोधजन्य दाह, (४) रक्तपूर्णकोष्ठजन्य दाह, (५) धातुक्षयजन्य दाह।

निम्न सात प्रकार के तृष्णा रोग—(१) वातिक, (२) पैत्तिक, (३) श्लैष्मिक, (४) क्षतजतृष्णा, (५) क्षयजन्य तृष्णा, (६) आमजन्य तृष्णा, (७) भक्तजन्य तृष्णा। कुछ लोगों ने सर्वज (सान्निपातिक) तृष्णा तथा श्रमजन्य तृष्णा और ह्रद्रोगजन्य तृष्णा भी मानी है।

निम्न पाँच प्रकार के छर्दि (वमन) रोग—(१) वातज छर्दि, (२) पित्तज छर्दि, (३) कफज छर्दि, (४) सान्निपातिक छर्दि तथा (५) बीभत्सदर्शनजन्य छर्दि। इनके अतिरिक्त दौहृद (गर्भ)-जन्यछर्दि, आमदोषजन्य छर्दि, सात्म्यप्रकोपजन्य छर्दि और कृमिरोगजन्य भी छर्दि होती है।

निम्न पाँच प्रकार के हिक्कारोग—(१) अन्नजा हिक्का, (२) यमला हिक्का, (३) क्षुद्राहिक्का, (४) गम्भीराहिक्का और (५) महाहिक्का।

निम्न पाँच प्रकार के श्वास—(१) महाश्वास, (२) ऊर्ध्वश्वास, (३) छिन्नश्वास, (४) तमकश्वास और (५) क्षुद्रश्वास।

निम्न पाँच प्रकार के कास—(१) वातिक, (२) पैत्तिक, (३) श्लैष्मिक, (४) उरःक्षतजकास और (५) क्षयजन्यकास।

निम्न ६ प्रकार के स्वरभेद—(१) वातिक स्वरभेद, (२) पैत्तिक स्वरभेद, (३) कफज स्वरभेद, (४) सान्निपातिक स्वरभेद, (५) क्षय जन्य स्वरभेद तथा (६) मेदोवृद्धिजन्य स्वरभेद।

निम्न बीस प्रकार के कृमिजन्य रोग—सात प्रकार के पुरीषजन्यकृमि—(१) अजवा, (२) विजवा, (३) किप्या, (४) चिप्या, (५) गण्डूपदा, (६) चुरव तथा (७) द्विमुख कृमि। छ प्रकार के कफज कृमि—(१) दर्भपुष्पा, (२) महापुष्पा, (३) प्रलून, (४) चिपिट, (५) पिपीलिकाकृति और (६) दारुण कृमि। सात प्रकार के रक्तज कृमि—(१) केशाद, (२) रोमाद, (३) नखाद, (४) दन्ताद, (५) किक्किश, (६) कुष्ठज और (७) परिसर्प कृमि। इस तरह सात पुरीषजकृमि, छ प्रकार के कफज कृमि और सात प्रकार के रक्तजकृमि मिलकर बीस प्रकार के कृमि रोग उत्पन्न होते हैं।

निम्न नौ प्रकार के उदावर्त रोग—यद्यपि यहाँ पर उदावर्त ९ होते हैं 'नवोदावर्तका दृष्टाः' ऐसा लिखा है, किन्तु भिन्न-भिन्न अनेक कारणों से उदावर्त उत्पन्न होने से उसके निम्न अनेक भेद किये गये हैं—वातविण्मूत्रजृम्भाश्रुक्षवोद्गारवमीन्द्रियैः। क्षुत्तृष्णोच्छ्वासनिद्राणां धृत्योदावर्तसम्भवः॥ ऐसे माधव ने तेरह भेद माने हैं। सुश्रुताचार्य ने भी उदावर्त के उक्त तेरह भेद माने हैं—त्रयोदशविधश्चासौ भिन्न एतैस्तु कारणैः। सुश्रुताचार्य ने अपथ्य भोजन से उत्पन्न होने वाला भी एक अन्य उदावर्त माना है—अपथ्यभोजनाच्चापि वक्ष्यते च तथाऽपरः। (१) वातजोदावर्त, (२) पुरीषजोदावर्त, (३) मूत्रोदावर्त, (४) जृम्भोदावर्त, (५) अश्रुजोदावर्त, (६) छिक्काजोदावर्त, (७) उद्गारजोदावर्त, (८) छर्दिजोदावर्त, (९) इन्द्रिय अर्थात् शुक्रवेगरोधजोदावर्त, (१०) क्षुज्जोदावर्त, (११) तृष्णाजोदावर्त, (१२) उच्छ्वासजोदावर्त, (१३) निद्राजोदावर्त।

तीन प्रकार के विसूचिका रोग—विसूचिका रोग प्रायः त्रिदोषजन्य एक ही प्रकार का होता है किन्तु त्रिविध अजीर्णों (आमाजीर्ण, विष्टब्धाजीर्ण और विदग्धाजीर्ण) से विसूचिका, अलसक और विलम्बिका ये तीन प्रकार के रोग उत्पन्न होते हैं। सम्भवतः एकोत्पत्तिकारण-समतावश विसूचिका को त्रिविध लिख दी हो।

दो प्रकार का आनाहरोग—जैसे (१) आमदोषजन्य आनाह तथा (२) पुरीषजन्य आनाह।

पाँच प्रकार के अरोचक—(१) वातिक अरोचक, (२) पैत्तिक अरोचक, (३) कफज अरोचक, (४) सान्निपातिक अरोचक, ५—कामशोकभयादिचित्तविपर्ययजन्य अरोचक।

बारह प्रकार के मूत्राघात—(१) वातकुण्डलिका, (२) अष्ठीला, (३) वातवस्ति, (४) मूत्रातीत, (५) मूत्रजठर, (६) मूत्रोत्सङ्ग, (७) मूत्रक्षय, (८) मूत्रग्रन्थि, (९) मूत्रशुक्र, (१०) उष्णवात तथा दो प्रकार के मूत्रौकसाद। अर्थात् पित्तजन्य और कफजन्य मूत्रौकसाद। इस तरह कायचिकित्सा प्रकरण में एक सौ सैंतालीस रोग लिखे गये हैं। इनके अतिरिक्त (१) देवता,

(१) दैत्य, (३) गन्धर्व, (४) यक्ष, (५) पितर, (६) भुजङ्ग, (७) राक्षस और (८) पिशाच के बहाने (नाम) से आठ प्रकार के रोग लिखे गये हैं तथा चार प्रकार के अपस्मार रोग—(१) वातिक, (२) पैत्तिक, (३) श्लैष्मिक और (४) सान्निपातिक।

६ प्रकार के उन्माद रोग—(१) वातिक, (२) पैत्तिक, (३) श्लैष्मिक, (४) सान्निपातिक, (५) मानसदुःखजन्य और (६) विषसेवनजन्य उन्माद। इस तरह शास्त्र की सूक्ष्मता का विवेचन करने वाले विद्वानों ने भूतविद्या के अन्तर्गत अट्ठारह रोगों का वर्णन किया है। इस तरह काशिराज (दिवोदास धन्वन्तरि) ने इस सुश्रुततन्त्र में कुल एक हजार एक सौ बीस रोगों के निदान चिकित्सादि का वर्णन किया है॥

व्यासतः कीर्तितं तद्धि—

यह सब इस शास्त्र (सुश्रुत) में विस्तार से वर्णित कर दिया है।

—भिन्ना दोषास्त्रयो गुणाः।
द्विषष्टिधा भवन्त्येते भूयिष्ठमिति निश्चयः॥ ९॥

वातादीनां द्विषष्टिभेदाः—यद्यपि वात, पित्त और कफ ऐसे दोषों की संख्या तीन है—'वायुः पित्तं कफश्चेति त्रयो दोषाः समासतः' तथापि तर-तम या क्षीण-वृद्धादिभेद से भिन्न (भेदित) होकर द्विषष्टि (बासठ) भेद होते हैं। ये तीनों वात, पित्त और श्लेष्मा गुणमय अर्थात् सत्त्वरजस्तमोमय होते हैं। जैसे वायु रजोगुणभूयिष्ठ होता है क्योंकि वायु गतिमान् है—पित्तं पङ्गु कफः पङ्गुः पङ्गवो मलधातवः। वायुना यत्र नीयन्ते तत्र गच्छन्ति मेघवत्॥ तथा रजोगुण भी सर्वभावों का प्रवर्तक माना गया है—(रजश्च प्रवर्तकं भावानाम्) अतः दोनों का एकगुणी होने से मिलना उत्तम है। पित्त सत्त्वोत्कट होता है क्योंकि पित्त (आलोचक) प्रकाशक होता है तथा सत्त्व गुण भी लघु और प्रकाशक होता है—'सत्त्वं लघु प्रकाशकञ्च' अतः दोनों समानधर्मियों का सम्मिलित होना आवश्यक है। कफ तमोबहुल होता है क्योंकि कफ अचल, आवरक आदि गुणयुक्त होता है एवं तमोगुण भी अज्ञान और आवरक आदि गुणों से युक्त होता है—सत्त्वादिलक्षणानि—प्रीत्यप्रीतिविषादात्मकाः प्रकाशप्रवृत्तिनियमार्थाः। अन्योऽन्याभिभवाश्रयजननमिथुनवृत्तयश्च गुणाः॥ सत्त्वं लघु प्रकाशकमिष्टमुपष्टम्भकं चलञ्च रजः। गुरुवरणकमेव तमः प्रदीपवच्चार्थतो वृत्तिः॥ (सांख्यकारिका)। अब यहाँ पर शङ्का यह होती है कि जब कफ तमोबहुल होता है तो कफप्रकृतिक पुरुष में सत्त्वगुणोपपन्नता देखने और शास्त्र में सुनने में कैसे आती है? इसका उत्तर यही है कि कफ में तम और सत्त्व दोनों गुण होते हैं ऐसा शास्त्र में लिखा है—'सत्त्वतमोबहुला आपः' यह निश्चय है कि ये वातादि दोष तर-तम या क्षय-वृद्ध्यादि भेद से द्विषष्टि (बासठ) प्रकार के होते हैं॥ ९॥

त्रय एव पृथक् दोषा द्विशो नव समाधिकैः।
त्रयोदशाधिकैकद्विसममध्योल्वणैस्त्रिशः॥ १०॥
पञ्चाशदेवन्तु सह भवन्ति क्षयमागतैः।
क्षीणमध्याधिकक्षीणक्षीणवृद्धैस्तथाऽपरैः॥
द्वादशैवं समाख्यातास्त्रयो दोषा द्विषष्टिधा॥ ११॥

दोषाणां द्विषष्टिभेदप्रकाराः—पृथक्-पृथक् अर्थात् एक-एक करके बढ़े हुए दोष तीन होते हैं। जैसे—(१) प्रवृद्ध वायु किन्तु स्वस्थ पित्त और श्लेष्मा। (२) प्रवृद्ध पित्त किन्तु स्वस्थ वात और श्लेष्मा। (३) प्रवृद्ध श्लेष्मा किन्तु स्वस्थ वात और पित्त। अब दो-दो दोषों के समान मात्रा में तथा अधिक मात्रा में प्रवृद्ध होने से नव भेद होते हैं। अर्थात् समान मात्रा में बढ़े हुए दो दोषों के कारण तीन भेद तथा अन्यतर अधिक वृद्ध दोषों के कारण छः भेद होते हैं, जैसा कि लिखा है—समवृद्धाभ्यां द्वाभ्यां द्वाभ्यां दोषाभ्यां त्रयो भेदाः, अन्यतराधिकवृद्धाभ्यां द्वाभ्यां द्वाभ्यां दोषाभ्यां षट्, इत्येवं प्रकारेण नव भेदाः। जैसे—(१) वात और पित्त सम प्रमाण में वृद्ध और श्लेष्मा स्वप्रमाणस्थ। (२) वात और श्लेष्मा समान प्रमाण में वृद्ध तथा पित्त स्वप्रमाणस्थ। (३) पित्त और श्लेष्मा समान प्रमाण में वृद्ध तथा वात स्वप्रमाणस्थ। ऐसे तीन भेद।

दोषों की अन्यतर अधिक वृद्धि से निम्न छः भेद होते हैं—अर्थात् दो बढ़े हुए दोषों में एक अधिक बढ़ा हुआ हो तथा दूसरा अपेक्षाकृत कम और तृतीय स्वप्रमाणस्थ हो जैसे (१) बढ़े हुए वात और पित्त इन दो में वात अधिक बढ़ा हुआ हो तथा पित्त उससे कम किन्तु श्लेष्मा स्वप्रमाणस्थ। (२) बढ़े हुए वात और पित्त में पित्त अधिक वृद्ध हो तथा वात उससे कम वृद्ध एवं श्लेष्मा स्वप्रमाणस्थ। (३) बढ़े हुए वात और श्लेष्मा में वात अधिक वृद्ध, श्लेष्मा कम वृद्ध तथा पित्त स्वप्रमाणस्थ। (४) बढ़े हुए वात और श्लेष्मा में श्लेष्मा अधिक वृद्ध हो, वात कम बढ़ा हो किन्तु पित्त स्वप्रमाणस्थ। (५) बढ़े हुए पित्त और श्लेष्मा में पित्त अधिक बढ़ा हो, श्लेष्मा कम बढ़ा हो तथा वात स्वप्रमाणस्थ हो। (६) बढ़े हुए पित्त और श्लेष्मा में श्लेष्मा अधिक बढ़ा हो, पित्त कम बढ़ा हो और वात स्वप्रमाणस्थ। तीनों दोषों के अधिक बढ़ने से तेरह भेद होते हैं। अर्थात् बढ़े हुए तीनों दोषों में से एक की अधिक वृद्धि होने से तीन भेद, हीन दोषों में से दो की अधिक वृद्धि से तीन भेद, दोषों की हीन अर्थात् क्षीण, मध्य और उल्बणस्थिति से छः भेद, तीनों दोषों की समान वृद्धि से एक, उदाहरणार्थ अधिक बढ़े हुए वात, पित्त और कफ में से (१) केवल वात अधिक बढ़ा हुआ होने से एक भेद तथा इनमें से (२) केवल पित्त अधिक बढ़ा हुआ होने से द्वितीय भेद और (३) केवल कफ अधिक बढ़ा हुआ होने से तृतीय भेद होता है। अब अधिक बढ़े हुए तीनों दोषों में से दो-दो दोषों की अधिक वृद्धि होने से भी तीन भेद होते हैं, जैसे बढ़े हुए तीनों दोषों में से (१) वात, पित्त अधिक बढ़े हुए हों, अथवा कभी (२) वात-कफ अधिक बढ़े हुए हों, किंवा इन तीनों में से (३) पित्त श्लेष्मा अधिक बढ़े हुए हों। (१) क्षीण वात किन्तु पित्तश्लेष्मा स्वप्रमाणस्थ। (२) क्षीण पित्त किन्तु वातश्लेष्मा स्वप्रमाणस्थ। (३) क्षीण कफ किन्तु वात-पित्त स्वप्रमाणस्थ।

हीनमध्योल्बणवृद्धाः षट्—(१) हीनवृद्ध वात, मध्य-वृद्धपित्त, अधिक-वृद्ध श्लेष्मा। (२) हीनवृद्ध वात, मध्यवृद्धश्लेष्मा, अधिकवृद्ध पित्त। (३) हीनवृद्ध पित्त, अधिकवृद्ध वात, मध्य-वृद्धश्लेष्मा। (४) मध्यवृद्ध वात, हीनवृद्धपित्त, अधिक वृद्ध-श्लेष्मा (५) हीनवृद्धश्लेष्मा, अधिकवृद्ध पित्त, मध्यवृद्धवात, (६) अधिकवृद्धवात, मध्यवृद्धपित्त, हीनवृद्धश्लेष्मा सर्व दोष

समान वृद्ध होने से एक जैसा कि तन्त्रान्तर में भी कहा है—
द्व्युल्बणैकोल्बणाः षट् स्युर्हीनमध्याधिकैश्च षट्। समैश्चैको विकारास्ते सन्निपातास्त्रयोदश ॥

इस तरह क्षयावस्था को प्राप्त हुए दोषों के पचीस भेदों के साथ मिलाने से पचास भेद होते हैं। जैसे—वात, पित्त और कफ इनमें से एक-एक के क्षीण होने पर तीन भेद होते हैं तथा इनमें से दो-दो के क्षीण होने पर नव भेद होते हैं। जैसे (२) वात-पित्त समप्रमाण में क्षीण किन्तु श्लेष्मा स्वप्रमाणस्थ, (२) वातश्लेष्मा समप्रमाण में क्षीण किन्तु पित्त स्वप्रमाणस्थ। (३) पित्तश्लेष्मा समप्रमाण में क्षीण किन्तु वातस्वप्रमाणस्थ।

अब अधिक क्षीण होने से ६ भेद होते हैं जैसे (१) वात-पित्त क्षीण होने पर उनमें वात अधिक क्षीण हो किन्तु श्लेष्मा स्वस्थ हो। (२) वात-पित्त के क्षीण होने पर उनमें पित्त अधिक क्षीण हो किन्तु श्लेष्मा स्वस्थ हो। (३) वात-श्लेष्मा क्षीण होने पर उनमें वात अधिक क्षीण हो किन्तु पित्त स्व-प्रमाणस्थ हो। (४) वात-श्लेष्मा क्षीण होने पर उनमें श्लेष्मा अधिक क्षीण हो किन्तु पित्त स्वप्रमाणस्थ हो। (५) पित्त-श्लेष्मा क्षीण होने पर उनमें पित्त अधिक क्षीण हो किन्तु वात स्वप्रमाणस्थ हो। (६) पित्त-श्लेष्मा क्षीण होने पर उनमें श्लेष्मा अधिक क्षीण हो किन्तु वात स्वप्रमाणस्थ हो।

अब क्षीण दोषत्रय भेद से भी तेरह प्रकार के भेद कहे जाते हैं, जैसे—उनमें से तीनों दोषों के समान क्षीण होने पर एक भेद तथा तीनों में से एक-एक के अधिक क्षीण होने पर तीन भेद होते हैं जैसे क्षीण हुए वात, पित्त और श्लेष्मा में (१) वात अधिक क्षीण, (२) कभी पित्त अधिक क्षीण और (३) कभी कफ अधिक क्षीण।

अब अधिक क्षीण द्विदोष होने पर भी तीन भेद जैसे—अधिक क्षीण हुए वात, पित्त और कफ में से कभी (१) वात-पित्त अधिक क्षीण हो, कभी (२) वातश्लेष्मा अधिक क्षीण हो तो कभी (३) पित्तश्लेष्मा अधिक क्षीण हो। अब हीन, मध्य और उल्बण (उत्कट) रूप से क्षीण हुए दोषों के ६ भेद लिखे जाते हैं। जैसे (१) हीनक्षीण वात, मध्यक्षीण पित्त और उल्बण (अधिक) क्षीण श्लेष्मा। (२) मध्यक्षीण वात, हीनक्षीण पित्त और अधिकक्षीण श्लेष्मा। (३) अधिक क्षीण वात, मध्यक्षीण पित्त और हीनक्षीण श्लेष्मा। (४) हीन-क्षीण वात, अधिकक्षीण पित्त, मध्यक्षीण श्लेष्मा। (५) अधिक क्षीण वात, हीनक्षीण पित्त और मध्यक्षीण श्लेष्मा। (६) मध्यक्षीण वात अधिकक्षीण पित्त और हीनक्षीण श्लेष्मा।

यहां पर मध्य शब्द से स्वस्थ दोष का ग्रहण होता है और अधिक शब्द से वृद्ध दोष का ग्रहण होता है इसलिये क्षीण, मध्य और अधिक भेद से भी दोषों के ६ भेद होते हैं, जैसे—(१) क्षीणवात, स्वस्थपित्त और वृद्धश्लेष्मा। (२) क्षीणवात, वृद्धपित्त और स्वस्थश्लेष्मा। (३) स्वस्थवात, क्षीणपित्त और वृद्ध श्लेष्मा। (४) वृद्ध वात, क्षीण पित्त और स्वस्थ श्लेष्मा। (५) स्वस्थवात, वृद्धपित्त और क्षीणश्लेष्मा। (६) वृद्धवात, स्वस्थपित्त और क्षीणश्लेष्मा। अब दो दोष क्षीण तथा एक दोष वृद्ध के तीन भेद लिखते हैं—(१) वातपित्तवृद्ध तथा क्षीणश्लेष्मा। (२) वातश्लेष्मा वृद्ध तथा क्षीण पित्त। (३) पित्त श्लेष्मा वृद्ध तथा क्षीण वात। इस प्रकार वात, पित्त और कफ इन तीन दोषों के बासठ भेद लिखे गये हैं किन्तु जब वात, पित्त और कफ एक साथ और एक समय में स्वस्थ (स्वप्रमाणस्थ) रहते हैं तब वह तिरसठवां स्वास्थ्य नाम का भेद कहा जाता है। यही बात निम्न श्लोकों के रूप में भी कही गई है—

पृथग्वृद्धैर्मरुत्पित्तकफैर्भेदत्रयं भवेत्।
संसर्गे तु भवन्त्येषां भेदस्तुल्याधिकेन च ॥ १ ॥
वातपित्ते समे वृद्धे समावेवं मरुत्कफौ।
समौ पित्तकफावेवं स्युस्त्रयस्तुल्यवृद्धितः ॥ २ ॥
वृद्धिङ्गते मरुत्पित्ते पवनस्त्वधिकस्तयोः।
अन्यस्मिन् पित्तमधिकं वृद्धयोर्वातपित्तयोः ॥ ३ ॥
वृद्धौ समीरणकफावेतयोरधिकोऽनिलः।
अधिके तु तयोरेव भवेद्भेदान्तरं कफे ॥ ४ ॥
वृद्धौ पित्तकफौ तद्वदेतयोः पित्तमुत्कटम्।
वृद्धयोरेतयोरेव बलासस्त्वधिकः पुनः ॥ ५ ॥
इत्येकाधिकसंसर्गदोषभेदा भवन्ति षट्।
एवमेतैः समुद्दिष्टा भेदास्तुल्याधिकैर्नव ॥ ६ ॥
पूर्वैः सह भवन्त्येवं विकल्पा द्वौ तथा दश।
सन्निपातेषु जायन्ते दोषभेदास्त्रयोदश ॥ ७ ॥
एकस्तत्र विकल्पः स्याद् वृद्धिं प्राप्तैः समैस्त्रिभिः।
वृद्धिङ्गतेषु सर्वेषु तेषु वृद्धतमो मरुत् ॥ ८ ॥
पुनः पित्तं पुनः श्लेष्मेत्येकाधिकतमैस्त्रयः।
प्रवृद्धे वातपित्ते च भेदोऽन्यस्मिन् बलासतः ॥ ९ ॥
मरुत्कफौ तथा पित्ताद्वातः पित्तकफादपि।
आधिक्येन द्वयोरेवं दोषभेदास्त्रयो मताः ॥ १० ॥
हीनमध्याधिकैर्दोषैर्विकल्पाः संभवन्ति षट्।
अन्योऽन्यापेक्षया तेषां हीनवृद्धः समीरणः ॥ ११ ॥
मध्यवृद्धं तथा पित्तं श्लेष्मा तत्राधिको मतः।
मध्यः समीरणोऽन्यस्मिन् हीनं पित्तं कफोऽधिकः ॥१२॥
मध्यं पित्तं मरुत्तीव्रः स्वल्पः श्लेष्माऽपरत्र तु।
मध्यः श्लेष्मोल्बणं पित्तं हीनो वातस्तथा स्थितः ॥१३॥
मध्यः श्लेष्मोल्बणो वायुः पित्तं हीनं तथा स्थितम्।
मध्यवातोऽधिकं पित्तं हीनवृद्धस्तथा कफः ॥ १४ ॥
एवमेते भवन्त्यत्र सन्निपातास्त्रयोदश।
पूर्वैर्द्वादशभिः सार्द्धं विकल्पाः पञ्चविंशतिः ॥ १५ ॥
यथा वृद्धैस्तथा क्षीणैर्दोषैः स्युः पञ्चविंशतिः।
क्षीणस्वस्थाधिकैर्भिर्दोषभेदा भवन्ति षट् ॥ १६ ॥
क्षीणः समीरणस्तत्र स्वस्थं पित्तं कफोऽधिकः।
क्षीणो वायुः कफः स्वस्थः पित्तमत्राधिकं तथा ॥ १७ ॥
क्षीणं पित्तं मरुत् स्वस्थो भेदोऽन्यस्मिन् बली कफः।
क्षीणं पित्तं कफः स्वस्थः प्रवृद्धस्त्वधिको मरुत् ॥ १८ ॥
श्लेष्मा क्षीणोऽनिलः स्वस्थः पित्तमत्र तथोल्बणम्।
कफः क्षीणः समं पित्तं प्रवृद्धस्तु समीरणः ॥ १९ ॥
क्षीणस्वस्थाधिकैरेवं भेदाः षट् परिकीर्तिताः।
क्षयङ्गते मरुत्पित्ते प्राप्तो वृद्धिं तथा कफः ॥ २० ॥
क्षीणौ समीरणकफौ तथा स्यात् पित्तमुत्कटम्।
क्षीणौ पित्तकफौ तद्वत्प्रभस्वान् स्यात्तु वृद्धिमान् ॥ २१ ॥
द्वौ क्षीणावेकवृद्धश्च भेदत्रयमिति स्मृतम्।
वातपित्ते गते वृद्धिं सम्प्राप्तश्च क्षयं कफः ॥ २२ ॥
वृद्धौ वातकफौ तद्वत् पित्तञ्चाथ क्षयङ्गतम्।
तद्वत् पित्तकफौ वृद्धौ प्रक्षीणः पवनः पुनः ॥ २३ ॥

एकक्षीणद्विवृद्धैश्च त्रयो भेदा भवन्त्यमी।
क्षीणमध्याधिकैस्त्वेवं भेदा द्वादश कीर्तिताः॥ २४॥
प्रकृतिस्थैः समीराद्यैस्तथैकः परिकीर्तितः।
त्रिषष्टिर्दोषभेदानामिति सम्यङ्निरूपिता॥ २५॥

वृद्धक्षीणवातपित्तश्लेष्मणां लक्षणानि—(१) वात वृद्धि होने पर व्यक्ति अधिक बोलता है, तथा वह दुबला और काला सा दिखाई देता है। उसके अङ्ग-प्रत्यङ्गों में फड़कन होती है। धूप में बैठने तथा उष्ण पदार्थ सेवन करने की इच्छा करता है। निद्रानाश, अल्पबलता और मल में गाढ़ापन ये लक्षण होते हैं। (२) पित्त की वृद्धि होने पर उस व्यक्ति का शरीर पीतवर्ण सा दीखता है अथवा उस व्यक्ति को प्रत्येक पदार्थ पीतवर्ण से भासित होते हैं। सारे शरीर में सन्ताप बना रहता है, शीत आहार और विहार की कामना करता है, उसे नींद कम आती है, कभी-कभी मूर्च्छित भी हो जाता है, बल की हीनता, इन्द्रियों की दुर्बलता तथा मल-मूत्र और नेत्रों में पीलापन हो जाता है। (३) कफ की वृद्धि होने पर उस व्यक्ति का शरीर श्वेत, शीत, स्थिर और गौरवयुक्त होता है। उसे अवसाद (सुस्ती), तन्द्रा और निद्रा आती है। उसकी सन्धि (जोड़)-प्रान्त की अस्थियाँ विश्लिष्ट (कुछ पृथक्) हो जाती हैं।

क्षीणवातादि लक्षण—(१) वात के क्षीण होने पर शरीर के अङ्ग-प्रत्यङ्गों की चेष्टा मन्द हो जाती है, वचन (बोलने) की शक्ति अल्प हो जाती है, शरीर में प्रहर्ष (खुशी) नहीं रहती है, तथा उसकी संज्ञा (चैतन्य शक्ति) मूढ (सुप्त सी) हो जाती है। (२) पित्त के क्षीण होने पर शरीर की गरमी तथा पाचकाग्नि मन्द हो जाती है एवं शरीर की प्रभा (कान्ति या तेज) फीकी पड़ जाती है। ३-श्लेष्मा के क्षीण होने पर सारे शरीर में रूक्षता और शरीर के अन्दर दाह होता है तथा आमाशय से अन्य जो श्लेष्मा के आशय हैं उनमें तथा शिर में शून्यता हो जाती है एवं सन्धियों में शिथिलता, वार-बार प्यास लगना एवं दुर्बलता ये लक्षण होते हैं। इस प्रकार इन उक्त लक्षणों से प्रकृतिसमसमवेत (कारणानुरूप कार्य) रूप से बढ़े हुए या क्षीण हुए वात, पित्त और कफ का ज्ञान करना चाहिए और इनमें से दो-दो दोषों के लक्षण दिखाई देते हों तो द्विदोषसंसर्ग तथा तीनों दोषों के मिश्रित लक्षण दिखाई देते हों तो सान्निपातिक (त्रिदोष) संसर्ग समझना चाहिए।

क्षीणमध्याधिकद्व्येकक्षीणवृद्धानां लक्षणानि—

एको वृद्धः समश्चैकः क्षीणस्त्वेको यदा भवेत्।
क्षीण एकः प्रवृद्धौ द्वौ क्षीणौ द्वौ वृद्धिमांस्तथा॥ १॥
एक एव स्थितस्तत्र व्यक्तरूपेण देहिनि।
प्रवृद्धो मारुतः पित्तं प्रकृतिस्थं कफक्षये॥ २॥
गृहीत्वा स्थानतो यत्र यत्राङ्गेषु विसर्पति।
तत्र तत्रास्थिरो दाहः श्रमः स्वेदो बलक्षयः॥ ३॥

अर्थात् कोई भी एक दोष वृद्ध, एक सम और एक क्षीण अथवा एक क्षीण, दो बढ़े हुए अथवा दो क्षीण और एक बढ़ा हुआ हो तो इनमें एक दोष मुख्य या व्यक्त रूप से रहता है जैसे—वृद्ध वायु, प्रकृतिस्थ पित्त को कफ के क्षीण होने पर पकड़ कर जिस-जिस अङ्ग में फैलता है वहाँ-वहाँ अस्थिर रूप से दाह, श्रम, स्वेद और बलक्षय ये लक्षण उत्पन्न होते हैं।

वृद्धवातावरुद्धकफलक्षणानि—

क्षीणे पित्ते यदा वायुर्वृद्धावस्थः समं कफम्।
विकर्षति तदा शूलं शैत्यमत्यन्तगौरवम्॥ ४॥

पित्त क्षीण होने पर बढ़ा हुआ वायु समानावस्था वाले कफ को खींच कर जहाँ फैलता है या स्थान-संश्रय करता है वहाँ शूल, शीतता और अत्यन्त गौरव ये लक्षण उत्पन्न होते हैं॥ ४॥

वृद्धपित्तावरुद्धवातलक्षणानि—

वृद्धं कफक्षये पित्तं प्रकृतिस्थं प्रभञ्जनम्।
यदा रुणद्धयस्य तदा दाहः शूलः प्रजायते॥ ५॥

कफ के क्षीण होने पर बढ़ा हुआ पित्त प्राकृतिक वात को जब घेर लेता है तब उस व्यक्ति के शरीर में दाह और शूल ये लक्षण उत्पन्न होते हैं॥ ५॥

वृद्धपित्तावरुद्धकफलक्षणानि—

वृद्धं वातक्षये पित्तं प्रकृतिस्थं यदा कफम्।
निरुणद्धि तदा तस्य स्युस्तन्द्रागौरवज्वराः॥ ६॥

वात के क्षीण होने पर बढ़ा हुआ पित्त जब प्राकृतिक कफ को रोक (घेर) लेता है तब तन्द्रा, गौरव और ज्वर ये लक्षण उत्पन्न होते हैं॥ ६॥

वृद्धश्लेष्मावरुद्धवातलक्षणानि—

श्लेष्मा वृद्धो यदा वायुः समः पित्तपरिक्षये।
निरुणद्धि तदा तस्य गौरवं शीतकज्वरम्॥ ७॥

पित्त के क्षीण होने पर बढ़ा हुआ कफ जब समप्रमाणस्थ वायु को घेर लेता है तब उस मनुष्य के शरीर में कफजन्य गौरव तथा शीतपूर्वक ज्वर का आगमन होता है॥ ७॥

वृद्धकफावरुद्धपित्तलक्षणानि—

कफोऽनिलक्षये पित्तं प्रकृतिस्थं यदा बली।
निरुणद्धि तदा तस्य मृद्वग्नित्वं शिरोव्यथा॥ ८॥

वात के क्षीण होने पर कफ जब प्रकृतिस्थ पित्त को निरुद्ध कर देता है तब अग्निमान्द्य और शिरोव्यथा ये लक्षण उत्पन्न होते हैं॥ ८॥

संयुक्तपित्तकफयोर्लक्षणानि—

प्रलापो गुरुता तन्द्रा निद्रा स्यात्तु सुहृद्रुजा।
ष्ठीवनं पित्तकफयोर्नखादीनाञ्च पीतता॥ ९॥

पित्त और कफ के संयुक्त होने पर प्रलाप, शरीर में भारीपन, तन्द्रा, निद्रा, हृदय में पीड़ा, बार-बार थूकना तथा नख, मल, मूत्र, त्वचा आदि में पीलापन ये लक्षण उत्पन्न होते हैं॥ ९॥

कफसंयुक्तपित्तलक्षणानि—

कफः पित्तेन संयुक्तो बलहानिं भृशं क्षयम्।
करोत्यपाकमरुचिं गौरवं गात्रसादताम्॥ १०॥

कफ पित्त के साथ संयुक्त होने पर शरीर में बल की हानि, धातुओं का अत्यन्त क्षय, अग्निमान्द्य, अरुचि, शरीर में भारीपन तथा शरीर का अवसाद (ग्लानि) ये लक्षण उत्पन्न होते हैं॥ १०॥

हीनपित्तवातयुक्तकफलक्षणानि—

मारुतेन युतः श्लेष्मा हीनपित्तः समाचरन्।
करोति मृदुतां वह्नेर्भक्ते नात्राभिलाषिताम्॥ ११॥

वेपनं गौरवं स्तम्भः शैत्यतोदास्तथाऽचिरात्।
शुक्लत्वञ्च नखादीनां पारुष्यं वपुषोऽपि च॥ १२॥

पित्त के हीन (क्षीण) होने पर वातयुक्त कफदोष से अग्निमान्द्य तथा भोजन के ग्रहण करने में अरुचि उत्पन्न होती है। इनके अतिरिक्त शरीर में कम्पन, भारीपन, जकड़ाहट, शीतता और सूई के चुभाने की सी पीड़ा और नख-मल-मूत्र-नेत्र और त्वचा आदि में श्वेतता और शरीर में खुरदरापन ये लक्षण उत्पन्न होते हैं॥ ११-१२॥

कुपितपित्तवातलक्षणानि—

कुपितौ पित्तपवनौ परिक्षीणकफे यदा।
उद्वेष्टनं भ्रमं तोदं कुरुते स्फोटनं तथा॥
तथाऽङ्गमर्ददाहौ च चोषं दूयनधूपने॥ १३॥

कफ के क्षीण होने पर पित्त और वात कुपित होकर शरीर में उद्वेष्टन (ऐंठन), थकान, सूई चुभोने की सी पीड़ा, त्वचा का फटना, अङ्गमर्द, दाह, चोष, दूयन (परिताप) और धूपन ये लक्षण उत्पन्न करते हैं॥ १३॥

क्षीणपित्तानिलवृद्धश्लेष्मलक्षणानि—

श्लेष्मा पिधत्ते स्रोतांसि यदा पित्तानिलक्षये।
चेष्टानाशं तदा कुर्यान्मूर्च्छां वाग्भङ्गमेव च॥ १४॥

पित्त और वात के क्षीण होने पर प्रवृद्ध कफ शरीर के स्रोतसों के मुखों को बन्द कर देता है, जिससे हस्त-पादादि अङ्गों की चेष्टा का नाश, मूर्च्छा और वाग्भङ्ग (वाणीस्खलन) ये लक्षण भी उत्पन्न होते हैं॥ १४॥

क्षीणवातश्लेष्मवृद्धपित्तलक्षणानि—

देहौजः स्रंसयत् पित्तं वातश्लेष्मक्षये तृषाम्।
कुर्यादिन्द्रियदौर्बल्यं मूर्च्छां ग्लानिं क्रियाक्षयम्॥ १५॥

वात और कफ के क्षीण होने पर प्रवृद्ध पित्त देह के ओज का स्रंसन (पात या क्षय) करता हुआ तृषा को बढ़ाता है तथा इन्द्रिय-दौर्बल्य, मूर्च्छा, ग्लानि और देह की समस्त क्रियाओं का विनाश करता है॥ १५॥

क्षीणश्लेष्मपित्तवृद्धवातलक्षणानि—

मर्माणि पीडयन् वायुः श्लेष्मपित्तपरिक्षये।
संज्ञाप्रणाशं कुरुते प्रकम्पं विदधाति च॥ १६॥

कफ और पित्त के क्षीण होने पर वृद्ध हुआ वायु मर्मस्थानों को पीड़ित करता हुआ संज्ञा का विनाश तथा देह का प्रकम्पन करता है॥ १६॥

प्रवृद्धक्षीणसमदोषलक्षणानि—

दर्शयन्ति प्रवृद्धाः स्वं लिङ्गं दोषा हि केवलम्।
क्षीणा जहति लिङ्गं स्वं समाः स्वं कर्म कुर्वते॥ १७॥

मिथ्या आहार-विहार किंवा स्वप्रकोपक कारणों से वृद्ध हुये वातादि दोष केवल अपने-अपने लक्षणों को दिखाते हैं अर्थात् वात बढ़ने पर उसके रूक्ष, शीत, लघु, सूक्ष्म, चल, विशद और खर जो ये लक्षण शास्त्र में कहे हैं, वे ही गुण शरीर में बढ़े हुए दीखते हैं। अर्थात् वायु के वृद्ध होने से शरीर में रूक्षता, शीतता, लघुता, सूक्ष्मता, चलता, विशदता और खरता बढ़ जाती है। इसी प्रकार पित्त के बढ़ने पर उसके स्नेह, उष्ण, तीक्ष्ण, द्रव, अम्ल, सर और कटु, जो ये लक्षण शास्त्र में कहे हैं वे ही गुण शरीर में बढ़ जाते हैं। वैसे ही कफ के बढ़ने पर उसके गुरु, शीत, मृदु, स्निग्ध, मधुर, स्थिर और पिच्छिल जो गुण शास्त्र में लिखे हैं वे ही गुण शरीर में बढ़ जाते हैं। जब उचित आहार न मिलने से तथा क्षयकारक विहार के करने से वातादि दोष क्षीण हो जाते हैं तब उनका इस शरीर में जो-जो अपना-अपना प्राकृतिक कर्म है, उसे छोड़ देते हैं तथा उचित आहार-विहार से अपने-अपने प्रमाण में स्थित वातादि दोष अपने-अपने कार्य को उचित रूप से करते-रहते हैं॥ १७॥

सुश्रुताचार्य ने सूत्रस्थान अध्याय पन्द्रह में इन दोषों की क्षय-वृद्धि आदि के विषय में उत्तम विवेचन किया है—इन दोषों की वृद्धि का कारण स्वयोनिवर्धक द्रव्यों का अतिसेवन माना गया है—'वृद्धिः पुनरेषां स्वयोनिवर्धनात्युपसेवनाद्भवति'।

वातवृद्धिलक्षणानि—'तत्र वातवृद्धौ वाक्पारुष्यं कार्श्यं,कार्ष्ण्यं-गात्रस्फुरणमुष्णकामिता निद्रानाशोऽल्पबलत्वं गाढवर्चस्त्वञ्च।' वातवृद्धि में बोलने में स्वर की रूक्षता, शरीर की कृशता और कृष्णता, देह में फड़कन, उष्ण आहार-विहारेच्छा, निद्रा न आना, निर्बलता तथा मल का गाढ़ा हो जाना ये लक्षण होते हैं।

पित्तवृद्धिलक्षणानि—'पित्तवृद्धौ पीतावभासता, सन्तापः, शीतकामित्वमल्पनिद्रता, मूर्च्छा, बलहानिरिन्द्रियदौर्बल्यं, पीतविण्मूत्रनेत्रत्वञ्च'। पित्त की वृद्धि होने पर सारे शरीर में पीलेपन का भास, देह-सन्ताप, शीत आहार-विहार की कामना, निद्रा की अल्पता, मूर्च्छा, बल की हानि, इन्द्रियों का दौर्बल्य, विष्ठा, मूत्र और नेत्रों में पीलापन हो जाता है।

श्लेष्मवृद्धिलक्षणानि—'श्लेष्मवृद्धौ शौक्ल्यं शैत्यं स्थैर्यं गौरवमवसादस्तन्द्रा निद्रा सन्धिविश्लेषश्च' कफ की वृद्धि होने पर शरीर में शुक्लता, शीतता, स्थिरता, गुरुता, अवसाद, तन्द्रा, निद्रा और सन्धि (जोड़ों) का विश्लेष (च्युति Dislocation) ये लक्षण होते हैं।

अथ क्षीणदोषलक्षणानि—'तत्र वातक्षये मन्दचेष्टताऽल्पवाक्त्वमप्रहर्षो मूढसंज्ञता च।' वात के क्षीण होने पर शरीर के अङ्ग-प्रत्यङ्गों की चेष्टाओं का मन्द हो जाना, बोलने की शक्ति कम हो जाना, शरीर में खुशी न रहना तथा संज्ञा का भान न रहना ये लक्षण होते हैं।

पित्तक्षयलक्षणानि—'पित्तक्षये मन्दोष्माग्निता निष्प्रभता च' पित्त के क्षीण होने पर शरीर की गरमी तथा पाचकाग्नि, पञ्चमहाभूताग्नियों तथा सप्त धात्वग्नियों का मन्द होना ये लक्षण होते हैं।

श्लेष्मक्षयलक्षणानि—'श्लेष्मक्षये रूक्षताऽन्तर्दाहः आमाशयेतरश्लेष्माशयशून्यता सन्धिशैथिल्यं (तृष्णा, दौर्बल्यं प्रजागरणं) च।' कफ की क्षीणता होने पर शरीर में रूक्षता, अन्तर्दाह, कफाशयों में शून्यता, सन्धियों में ढीलापन आदि लक्षण होते हैं। समाः स्वं कर्म कुर्वते—वातस्य कर्माण्यलिङ्गं यथा—'तत्र प्रस्पन्दनोद्वहनपूरणविवेकधारणलक्षणो वायुः पञ्चधा प्रविभक्तः शरीरं धारयति' अर्थात् वायु पाँच प्रकार का है, अतः उसके स्थान भी शरीर में पाँच हैं तथा सबके कर्म भी भिन्न भिन्न हैं। वातभेदाः—

प्राणोदानौ समानश्च व्यानश्चापान एव च।
स्थानस्था मारुताः पञ्च यापयन्ति शरीरिणम्॥

१—प्राण, २—उदान, ३—समान, ४—व्यान, ५—अपान।

हृदि प्राणो गुदेऽपानः समानो नाभिमण्डले।
उदानः कण्ठदेशस्थो व्यानः सर्वशरीरगः॥

हृदय में प्राणवायु, गुदा में अपानवायु, नाभिमण्डल में समान वायु, कण्ठदेश में उदानवायु तथा सारे शरीर में व्यान वायु रहती है। व्यानवायु शरीर का सञ्चालन (प्रस्पन्दन), उदानवायु इन्द्रियार्थों का धारण (उद्वहन), प्राणवायु आहार के द्वारा पूरणकार्य, समानवायु रस-मूत्र-पुरीषादि का पृथक्करण (विवेक) तथा अपान वायु शुक्र-मूत्रादिक को वेगकाल में खींच कर बाहर निकालने तथा अवेगकाल में उन्हें धारण करने का कार्य करती है।

प्राणवायुकार्यादिकम्—'प्राणितिति प्राणयतीति वा प्राणः'

वायुर्यो वक्त्रसञ्चारी स प्राणो नाम देहधृक्।
सोऽन्नं प्रवेशयत्यन्तः प्राणांश्चाप्यवलम्बते॥
प्रायशः कुरुते दुष्टो हिक्काश्वासादिकान् गदान्।

शार्ङ्गधरे प्राणवायुवर्णनम्—

नाभिस्थः प्राणपवनः स्पृष्ट्वा हृत्कमलान्तरम्।
कण्ठाद्बहिर्विनिर्याति पातुं विष्णुपदामृतम्॥
पीत्वा चाम्बरपीयूषं पुनरायाति वेगतः।
प्रीणयन्देहमखिलं जीवयञ्जठरानिलम्॥

उदानवायुकार्यादिकम्—

उदानो नाम यस्तूर्ध्वमुपैति पवनोत्तमः।
तेन भाषितगीतादिविशेषोऽभिप्रवर्तते॥
ऊर्ध्वजत्रुगतान् रोगान् करोति च विशेषतः।
उदानस्य पुनः स्थानं नाभ्युरः कण्ठ एव च॥
वाक्प्रवृत्तिप्रयत्नौजोबलवर्णादिकर्म च।

वाग्भटे—उरःस्थानमुदानस्य नासानाभिगलांश्चरेत्। 'उद् ऊर्ध्वमनितीत्युदानः'॥

समानवायुकार्यादिकम्—'भुक्तपीते समं नयतीति समानः' खाये तथा पीये हुए पदार्थों का पाचकाग्नि के सहयोग से पाचनादि कार्य करने वाली समान वायु कहलाती है—

आमपक्वाशयचरः समानो वह्निसङ्गतः।
सोऽन्नं पचति तज्जांश्च विशेषान् विविनक्ति च॥
गुल्माग्निसादातीसारप्रभृतीन् कुरुते गदान्॥

व्यानवायुकार्यादिकम्—'वीर्यवत्कर्म कुर्वन् विगृह्य वाऽनितीति व्यानः' जो वीर्यवान् कार्य करके अथवा स्वपराक्रम से सबको जीतकर शरीर में रससंवहनादिक विशिष्ट कार्य करता हो उसे व्यान कहते हैं।

कृत्स्नदेहचरो व्यानो रससंवहनोद्यतः।
स्वेदासृक्स्रावणश्चापि पञ्चधा चेष्टयत्यपि॥
क्रुद्धश्च कुरुते रोगान् प्रायशः सर्वदेहगान्॥

वाग्भट ने व्यान का स्थान हृदय माना है—'व्यानो हृदि स्थितः' रससंवहन से रक्तपरिभ्रमण (Blood cerculation) तथा रसपरिभ्रमण (Lymph cerculation) दोनों का बोध होता है। यह रक्तस्रावक भी है अर्थात् रक्त जब धमनियों से केशिकाओं (Capillaries) में पहुँचता है तो उनकी दीवारें अत्यन्त पतली होने से उनमें से रक्त, रस, प्राणवायु तथा अन्य पोषक तत्त्व स्रवित होकर भिन्न-भिन्न शारीरिक अङ्गों को तृप्त करते-रहते हैं, इसलिये कहा है कि—'स (रसः) तु व्यानेन विक्षिप्तः सर्वान् धातून् प्रतर्पयेत्। अपानवायुकार्यादिकम्—'मूत्रपुरीषाद्यपनयनप्रयोऽनितीत्यपानः' मूत्र-पुरीष आदि को नीचे की ओर धकेलता हुआ शरीर का जो हित करता हो उसे अपान कहते हैं।

पक्वाधानालयोऽपानः काले कर्षति चाप्ययम्।
समीरणः शकृन्मूत्रशुक्रगर्भार्तवान्यधः॥
क्रुद्धश्च कुरुते रोगान् घोरान् बस्तिगुदाश्रयान्॥

संक्षेपेणैषां स्थानकर्माणि—

हृदि प्राणो गुदेऽपानः समानो नाभिसंस्थितः।
उदानः कण्ठदेशे स्याद् व्यानः सर्वशरीरगः॥
अन्नप्रवेशनं मूत्राद्युत्सर्गोऽन्नविपाचनम्।
भाषणादिनिमेषादि तद्व्यापाराः क्रमादमी॥

वातनिरुक्तिः—'वातीति वातः' वा गतिगन्धनयोरित्यस्मिन्नर्थे वा धातोः क्तप्रत्यये कृते वात इति सिद्ध्यति। गति शब्द के गतिर्गमनं, गतिर्ज्ञानं, गतिः प्राप्तिः और गतिर्मोक्षः ऐसे चार अर्थ होते हैं तथा गति का गन्धन अर्थात् सूचन करना यह भी अर्थ है। इस विशाल अर्थ वाली 'वा' धातु से वात शब्द सिद्ध हुआ है अतः वर्तमान एलोपेथी सायन्स में नर्वस् सिस्टम के जितने कार्य हैं वे सब कार्य हमारी वात के हैं किन्तु उससे भी अधिक हैं। इसलिये नर्वस सिस्टम का वातसंस्थान ट्रान्सलेशन अत्यन्त उपयुक्त है। शरीर-सञ्चारी या शरीर में विद्यमान वात का ज्ञान कैसे हो? क्योंकि नैयायिकों ने इसे रूपरहित माना है तथा इसे जानने को स्पर्शनेन्द्रिय (त्वगिन्द्रिय) का उपयोग किया है—'रूपरहितस्पर्शवान् वायुः' वास्तव में लोक-सञ्चारी वायु भी चक्षुरिन्द्रिय से नहीं दीखता, स्पर्शनेन्द्रिय से ही उसका ज्ञान होता है तो फिर शरीरस्थ वात कैसे दीख सकता है. किन्तु उसके अनेक कार्यों से उसकी विद्यमानता माननी ही पड़ती है। छात्रों को समझाने के लिये मैं एक सुन्दर लौकिक उदाहरण देता हूँ। एक मकान में बिजली-तारों की फिटिङ्ग करा रखी है। बल्ब लगे हैं, उसका कनेक्शन सड़क की बिजली-तार की लाइन से होता है। पावर हाउस से इन तारों में विद्युत् करेण्ट दौड़ता आता है और कमरे के बल्ब जगमगाने लग जाते हैं। तारों में प्रवाहित होने (दौड़ने) वाली यह विद्युत् करेण्ट नेत्रों से दीखती नहीं किन्तु यदि कोई मनुष्य इन तारों को त्वगिन्द्रिय से छूए तो एकदम झटका या धक्का या शॉक लगने से उसे पता लग जायगा कि इन तारों में विद्युच्छक्ति दौड़ रही है। बस ठीक वैसे ही यह शरीर कमरा है, इसमें सर्वत्र ज्ञान तन्तुओं का प्रसार (फिटिङ्ग) विद्युत् के तारों के समान है। इन ज्ञान-तन्तुओं में जो वायु दौड़ती है उसे विद्युत् का करेण्ट समझ लो। मस्तिष्क एक प्रकार से पावर हाउस है। जैसे पावर हाउस से विद्युत् सारे नगर के तारों में प्रवाहित होती है वैसे ही मस्तिष्क से शरीररूपी नगरी में वातसूत्रों में वायु दौड़ती हुई शरीर की समस्त चेष्टाओं को उत्पन्न करती है। बस इन शारीरिक चेष्टाओं से ही जाना जाता है कि वात है। वात के कार्यों के ज्ञान के लिये चरकाचार्य ने बड़े सुन्दर ढङ्ग से वर्णन किया है—'वायुस्तन्त्रयन्त्रधरः, प्रवर्तकश्चेष्टानामुच्चावचानां, नियन्ता प्रणेता च मनसः, सर्वेन्द्रियाणामुद्योजकः, सर्वेन्द्रियार्थानामभिवोढा, सर्वशरीरधातुव्यूहकरः, सन्धानकरः शरीरस्य, प्रवर्तको वाचः, प्रकृतिः शब्दस्पर्शयोः, श्रोत्रस्पर्शनयोर्मूलं, हर्षोत्साहयोर्योनिः, समीरणोऽग्नेः, दोषसंशोषणः, क्षेप्ता बहिर्मलानां, स्थूलाणुस्रोतसां भेत्ता, कर्ता गर्भाकृतीनाम्, आयुषोऽनुप्रवृत्तिप्रत्ययभूतो भवत्यकुपितः' (च० सू० अ० १२) इस तरह यह

निर्विवाद है कि जो कार्य Nervous system का है वही कार्य वात का है। Brain या मस्तिष्क इसका मुख्य केन्द्र है। यहीं से शरीराङ्गों को चेष्टावह (Motor-Nerves) सूत्र द्वारा आज्ञाएं जाती हैं तथा समस्त शरीर से संवेदनी सूत्र (Sensory nerves) द्वारा यहां ही समाचार प्राप्त होते हैं इसलिये Brain (मस्तिस्क) को मानव राजधानी का राजा या शासक (King or Rular) कह सकते हैं—

प्राणाः प्राणभृतां यत्र श्रिताः सर्वेन्द्रियाणि च।
तदुत्तमाङ्गमङ्गानां शिर इत्यभिधीयते॥ (चरक)

सुश्रुताचार्य ने प्रकृतिभूत वात के निम्न कार्य लिखे हैं—

स्वयम्भूरेष भगवान् वायुरित्यभिशब्दितः।
स्वातन्त्र्यान्नित्यभावाच्च सर्वगत्वात्तथैव च॥
सर्वेषामेव सर्वात्मा सर्वलोकनमस्कृतः।
स्थित्युत्पत्तिविनाशेषु भूतानामेष कारणम्॥
अव्यक्तो व्यक्तकर्मा च रूक्षः शीतो लघुः खरः।
तिर्यग्गो द्विगुणश्चैव रजोबहुल एव च॥
अचिन्त्यवीर्यो दोषाणां नेता रोगसमूहराट्।
आशुकारी मुहुश्चारी पक्वाधानगुदालयः।
देहे विचरतस्तस्य लक्षणानि निबोध मे॥

दोषाणां नेता—अर्थात् यह पित्त, कफ, विष्ठा-मूत्रादि मल तथा रस-रक्तादि धातुओं में गति उत्पन्न करके उन्हें स्थानान्तरित करता है—

पित्तं पङ्गु कफः पङ्गुः पङ्गवो मलधातवः।
वायुना यत्र नीयन्ते तत्र गच्छन्ति मेघवत्॥

रोगसमूहराट्—

विभुत्वादाशुकारित्वाद्बलित्वादन्यकोपनात्।
स्वातन्त्र्याद्बहुरोगत्वाद्दोषाणां प्रबलोऽनिलः॥

अन्यच्च—शाखागताः कोष्ठगताश्च रोगा
मर्मोर्ध्वसर्वावयवाङ्गजाश्च
ये सन्ति तेषां न तु कश्चिदन्यो
वायोः परं जन्मनि हेतुरस्ति॥
(च० सि० अ० ९)

सुश्रुतेऽकुपितवातकार्याणि—

दोषधात्वग्निसमतां सम्प्राप्तिं विषयेषु च।
क्रियाणामानुलोम्यञ्च करोत्यकुपितोऽनिलः॥
(सु० नि० अ० १)

स्वप्रमाणस्थपित्तकर्माणि—'रागपक्तितेजोमेधोष्मकृत्पित्तं'—पञ्चधा प्रविभक्तमग्निकर्मणाऽनुग्रहं करोति' (सु० सू० नि० अ० १५)

१—रञ्जकपित्त (रञ्जकाग्नि) आहार रस को रञ्जित करने से 'रागकृत्' कहलाता है। 'यत्तु यकृत्प्लीह्नोः पित्तं तस्मिन् रञ्जकोऽग्निरिति संज्ञा स रसस्य रागकृदुक्तः'। 'आमाशयाश्रयं पित्तं रञ्जकं रसरञ्जनात्' रञ्जकपित्त का स्थान यकृत् और प्लीहा है। आमाशय (Stomach) इसका स्थान नहीं है। आहार के पाचन से जो रस बनता है, वह इस रञ्जक पित्त द्वारा रञ्जित होने पर रक्त कहलाता है—

रञ्जितास्तेजसा त्वापः शरीरस्थेन देहिनाम्।
अव्यापन्नाः प्रसन्नेन रक्तमित्यभिधीयते॥

आधुनिक शोध के अनुसार रक्त में लालकण (R. B. C.) होते हैं जो कि रस को रञ्जित करते हैं। इनका निर्माण शरीर की छोटी अस्थियों की मज्जा में होता है; किन्तु गर्भावस्था में भ्रूण के यकृत् तथा प्लीहा में इनका निर्माण होता है—ऐसा माना जाता है। कुछ भी हो यकृत् और प्लीहा प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप में अवश्य ही रक्त निर्माण में भाग लेते हैं। २–'पक्तिकृत्' आहार को पचाने वाला पाचकपित्त है—

पित्तं पञ्चात्मकं तत्र पक्वामाशयमध्यगम्।
पचत्यन्नं विभजते सारकिट्टौ पृथक् पृथक्॥
तत्रस्थमेव पित्तानां शेषाणामप्यनुग्रहम्।
करोति बलदानेन पाचकं नाम तत्स्मृतम्॥

आधुनिक क्रियाविज्ञान की दृष्टि से पाचन का कार्य कई स्थानों पर तथा अनेक पाचक रसों के द्वारा होता है। सर्वप्रथम मुख में लालारस (Saliva) के द्वारा भोजन के कार्बोहैड्रेट पर पाचक-कार्य शुरू होता है। फिर आमाशय की दीवालों में स्थित ग्रन्थियों से निकला हुआ आमाशयिक रस (Gastric juce) भोजन के विविध विभागों पर अपना प्रभाव कर उन्हें पचाता है। यहाँ से अन्नग्रहणी (Diodinum) में जाता है जहाँ पर यकृत् से पित्त (Bile) अग्न्याशय (Pancriase) से अग्निरस तथा आन्त्र का आन्त्रिकरस मिलकर उसके विविधावयवों को पचा कर अन्तिम ग्राह्य रस स्वरूप में कर देते हैं। आयुर्वेदमत से यह कार्य जाठराग्नि का है—जाठरो भगवानग्निरीश्वरोऽन्नस्य पाचकः। सौक्ष्म्याद्रसानाददानो विवेक्तुं नैव शक्यते॥ इस अग्नि का स्थान उदर माना है जैसा कि इसे जाठरः, उदर्यः, औदर्यः आदि नाम दिये हैं किन्तु आगे चलकर पक्वाशय और आमाशय के मध्य में स्थित पित्त को माना है तथा वही चतुर्विध अन्न को पचाता है—'तत्रादृष्टहेतुकेन विशेषेण पक्वामाशयमध्यस्थं पित्तं चतुर्विधमन्नपानं पचति'। इस पित्त को धारण करने वाली कला को 'पित्तधरा कला' कहते हैं—षष्ठी पित्तधरा नाम या कला परिकीर्तिता। पक्वामाशयमध्यस्था ग्रहणी सा प्रकीर्तिता॥ चरकाचार्य ने पाचन-प्रकार का वर्णन बहुत सुन्दर किया है—अन्नमादानकर्मा तु प्राणः कोष्ठं प्रकर्षति। तद्द्रवैर्भिन्नसङ्घातं स्नेहेन मृदुताङ्गतम्॥ समानेनावधूतोऽग्निरुदर्यः पवनोद्वहः। काले भुक्तं समं सम्यक् पचत्यायुर्विवृद्धये॥ एवं रसमलायान्नमाशयस्थमधः स्थितः। पचत्यग्निर्यथास्थाल्यामोदनायाम्बुतण्डुलम्॥ अर्थात् जिस प्रकार चूल्हे पर रखी हुई स्थाली (पतेली या भरतीया या बटलोई) में जल और तण्डुल (चावल) डालकर पकाने से भात पक जाते हैं वैसे ही आमाशय में स्थित अन्न को अधःस्थित पाचकाग्नि पचा कर रस और मल रूप में परिणत करती है। चरकाचार्य ने जो लौकिक उदाहरण देकर समझाया है उसे आज विज्ञान की सूक्ष्मता ने बहुत विस्तार से जान लिया है। आमाशय के नीचे अग्न्याशय अवश्य है तथा उसमें पाचनार्थ अग्निरस भी अवश्य है किन्तु वह रस आमाशय में न जाकर पार्श्वस्थित ग्रहणी (Deodinum) में जाकर पाचन का कार्य करता है। तेजःकृत्—तेज शब्द का यहाँ दृष्टि अर्थ है—'तेजो दृष्टिरिति ख्यातम्' दृष्टि में रहने वाले पित्त को आलोचक पित्त कहते कहते हैं—और वह दृश्य पदार्थों के रूप को ग्रहण करता है—यद्दृष्ट्यां पित्तं तस्मिन्नालोचकोऽग्निरिति संज्ञा स रूपग्रहणाधिकृतः। नेत्रगोलक में जो विविध अङ्ग होते हैं उनमें अभ्यन्तरीय

दृष्टिपटल में रूप ग्रहण का कार्य होता है, इसे (Retina) (रेटीना) कहते हैं। प्रकाश की या बाह्यवस्तु की किरणें नेत्र के भीतर कृष्णमण्डल (Cornea), तेजोमण्डल (Aqueous humour), दृष्टिमण्डल (Pupil), काच (Lens) और मेदोजल (Vitreous humour) में से होकर दृष्टिपटल (Retina) पर पड़ती हैं। और वहाँ वस्तु का उलटा प्रतिबिम्ब होता है। यह पटल नाडीसूत्रों से और विशेष प्रकार की सेलों से बनता है और इन सूत्रों का और सेलों का सीधा सम्बन्ध दृष्टिनाडी (Optic nerve) के साथ होता है जो मस्तिष्क में मिलती है। इस दृष्टि का रंग सेलों के भीतर विशेष प्रकार का रंग रहने के कारण नीललोहित होता है। प्रकाश की किरणों के दृष्टिपटल पर पड़ने से वहाँ एक विशेष रासायनिक प्रक्रिया होती है। इस क्रिया से पटल की प्रतिक्रिया अम्ल होती है और उसके रङ्ग में भी फर्क हो जाता है जिसका प्रभाव दृष्टिनाडी द्वारा मस्तिष्क को पहुँचता है और हम रङ्ग-रूपादिक का ग्रहण करते हैं। आलोचक पित्त दृष्टिपटलगत प्रक्रिया के साथ सम्बन्ध रखता है।

मेधाकृद्—'धीर्धारणावती मेधा' अर्थात् दृष्ट, श्रुत और अनुभूत ज्ञान को जो धारण करती हो उसे 'मेधा' कहते हैं तथा इस मेधा को उत्पन्न करने वाले पित्त को साधक पित्त, साधकाग्नि भी कहते हैं और इसका स्थान हृदय माना गया है तथा यह पित्त वाञ्छित मनोरथ का साधन करने वाला होता है—'यत्पित्तं हृदयसंस्थं तस्मिन् साधकोऽग्निरिति संज्ञा, सोऽभिप्रार्थितमनोरथसाधनकृदुक्तः' (सु० सू० अ० २१) यद्यपि साधक पित्त का स्थान हृदय बताया है किन्तु हृदय के रक्तसञ्चालन के कार्य से इसका कोई सम्बन्ध नहीं है। वह कार्य हृदयस्थ व्यान वायु का है। प्राचीन कल्पना के अनुसार हृदय रक्तसञ्चालन तथा सुख, दुःख, बुद्धि और मनका स्थान माना गया है—'हृदये चित्तसंवित्' (योगसूत्र)। अन्यच्च—देहिनां हृदयं देहे सुखदुःखप्रकाशकम्। तत्संकोचं विकासञ्च स्वतः कुर्यात् पुनः पुनः॥ (नाडीज्ञानम्)। आधुनिक वैज्ञानिक खोज से सुख-दुःखादि कार्य मस्तिष्क में होते हैं—ऐसा सिद्ध हुआ है, इस लिये कुछ लोग हृदय का अर्थ मस्तिष्क भी करते हैं। साधकपित्त बुद्धि, मेधा, अभिमानादि मानसिक कार्य साधन करता है, इसलिये इसे साधकपित्त कहते हैं—'बुद्धिमेधाऽभिमानाद्यैरभिप्रेतार्थसाधनात्। साधकं हृद्गतं पित्तम्' (वाग्भट) अर्थात् साधक पित्त का कार्य मानसिक है और इससे मस्तिष्क के विविध कार्य हुआ करते हैं।

ऊष्मकृत्—शरीर में उष्णता उत्पन्न करके उसे उष्ण (गरम) रखने वाला, इसे भ्राजक पित्त कहते हैं तथा इसका स्थान त्वचा है एवं त्वचा का भ्राजन करने से इसे भ्राजकाग्नि भी कहते हैं—'त्वक्स्थं भ्राजकं भ्राजनात्त्वचः' (वाग्भट)। 'यत्तु त्वचि पित्तं तस्मिन् भ्राजकोऽग्निरिति संज्ञा, सोऽभ्यङ्गपरिषेकावगाहावलेपनादीनां क्रियाद्रव्याणां पक्ता छायानाञ्च प्रकाशकः' (सु० सू० अ० २१) यह पित्तमर्दन, सेचन, अवगाहन और लेपनादि क्रियाओं में प्रयुक्त द्रव्यों को पकाता है और कान्ति का प्रकाशक है। वर्ण और प्रभा के आश्रित जो शरीर की कान्ति होती है, उसे छाया कहते हैं—'छाया वर्णप्रभाश्रया' (चरक) इस प्रकार की कान्ति का उत्पादक भ्राजक पित्त है। वास्तव में इस पित्त से त्वचा के विविध कार्य व्यवस्थित रूप से होते हैं, जैसे स्वेद उत्पन्न करना, तैलग्रन्थियों से तैल उत्पन्न करके त्वचा को मृदु, अक्षत और चमकीली करना, शरीर की उष्णता का नियमन करना इत्यादि—मात्रामात्रत्व मूष्मणः। (चरक), चरकाचार्य ने संक्षेप में पित्त के निम्न कार्य लिखे हैं—दर्शनं पक्तिरूष्मा च क्षुत्तृष्णादेहमार्दवम्। प्रभा प्रसादो मेधा च पित्तकर्माविकारजम्॥ (च० सू० अ० १८)

कफ या श्लेष्मा का वर्णन—'केन जलेन फलतीति कफः' अर्थात् जो जल (भूत) से उत्पन्न होता हो या पोषित होता हो उसे 'कफ कहते हैं। यद्यपि श्लेष्मा, जल और सोम (चन्द्रमा) तीनों भिन्न-भिन्न हैं, किन्तु इसमें कोई शक नहीं कि जलभूत से शरीर में कफ की उत्पत्ति होती है एवं कफ का दूसरा नाम श्लेष्मा भी है कारण कि शरीर के समस्त कोषाणुओं एवं अङ्ग-प्रत्यङ्गों को श्लिष्ट करने (जोड़ने) का कार्य करता है—'श्लिष्यतीति श्लेष्मा' सुश्रुताचार्य ने आलिङ्गनार्थक श्लिष् धातु से कृदन्तीय प्रत्यय करके श्लेष्मा शब्द सिद्ध किया है—'तत्र 'वा' गतिगन्धनयोरिति धातुः, 'तप' सन्तापे, 'श्लिष' आलिङ्गने, एतेषां कृद्विहितैः प्रत्ययैर्वातः, पित्तं, श्लेष्मेति च रूपाणि भवन्ति' (सु० सू० अ० २१), 'अत्र च आलिङ्गनार्थस्य श्लिष् धातोर्मनिन् प्रत्यये गुणे च कृते श्लेष्मेति रूपम्'। शरीर के विविध अङ्गों में सहयोग उत्पन्न करके शरीर को स्थिर करना श्लेष्मा का कार्य है। लोक में चन्द्र, सूर्य और अनिल (वात)—विसर्ग, आदान और विक्षेप इन अपनी-अपनी त्रिविध क्रियाओं से जैसे जगत् का धारण करते हैं वैसे ही ये तीनों दोष उनके प्रतिनिधि रूप में देह में स्थित होकर उक्त त्रिविध क्रियाएँ करके देह का धारण करते हैं—विसर्गादानविक्षेपैः सोमसूर्यानिला यथा। धारयन्ति जगद्देहं कफपित्तानिलास्तथा॥ (सु० सू० अ० २१) इसी लिये इनकी परस्पर अभेदता भी स्वीकार की है—'तत्र वायोरात्मैवात्मा, पित्तमाग्नेयं, श्लेष्मा सौम्य इति। सोम एव शरीरे श्लेष्मान्तर्गतः, अग्निरेव शरीरे पित्तान्तर्गतः।

श्लेष्मभेदकार्य—'सन्धिश्लेषणस्नेहनरोपणपूरणबलस्थैर्यकृच्छ्लेष्मा पञ्चधा प्रविभक्त उदककर्मणाऽनुग्रहं करोति' अर्थात् सन्धि-संश्लेषणकारक, स्निग्धताकारक, रोपक, पूरक, बल और स्थैर्यकारक ऐसे कफ पाँच प्रकार से विभक्त होकर जलीयकर्म (तृप्ति, शान्ति आदि) करके शरीर का उपकार करता है। (१) सन्धिसंश्लेषण—जोड़ों में रोगन करना अर्थात् जिस तरह अक्ष (गाड़ी के पहिये के धुरे) में स्नेह (घृत या तैल) लगाने से वह अच्छी प्रकार चलता है उसी तरह श्लेष्मा से संश्लिष्ट या अभ्यक्त सन्धियाँ अपनी गति उत्तम प्रकार से करती हैं—स्नेहाभ्यक्ते यथा ह्यक्षे चक्रं साधु प्रवर्तते। सन्धयः साधु वर्तन्ते संश्लिष्टाः श्लेष्मणा तथा॥ (सु० शा०) इस सन्धिगत श्लेष्मा को श्लेषक कफ कहते हैं—'सन्धिसंश्लेषाच्छ्लेषकः सन्धिषु स्थितः' (अ० हृदय) अन्यच्च—'सन्धिस्थस्तु श्लेष्मा सर्वसन्धिसंश्लेषात् सर्वसन्ध्यनुग्रहं करोति' (सु० सू० अ० २१) आधुनिक दृष्टि से जिस चल सन्धि में घर्षण या गति अधिक होती है वहाँ पर उस सन्धि को घर्षण से बचाने के लिये उनमें एक श्लेष्मल कला (Synovial membrane) होती है जिससे एक प्रकार का तरल स्राव निकलता है जिसे—सन्धिस्थश्लेष्मा

(Synovial fluid) कहते हैं। यह स्राव उस सन्धि में कार्य (गति) करनेवाले सभी उपाङ्गों को तर रखता है, जिससे जोड़ों में गति के समय आवाज नहीं होती है, घर्षण नहीं होता है, उष्णता पैदा नहीं होती है, अङ्ग कम घिसते हैं, अधिक काल तक काम देते हैं, उन्हें मोड़ने में कम कष्ट होता है और प्राणी तेजी से चल फिर सकता है या हरकत कर सकता है। (२) स्नेहनकृत—भोज्य पदार्थों का स्नेहन या क्लेदन करने वाला, इसे क्लेदक कफ कहते हैं। आमाशयगत कफ को अन्न का क्लेदन करने के कारण क्लेदक कफ कहते हैं—'क्लेदकः सोऽन्नसंघातक्लेदनात्'। आहार की मधुरता, चिक्कणता तथा अन्न की क्लिन्नता होने से आमाशय में जो सर्वप्रथम श्लेष्मा उत्पन्न होता है वह भी मधुर और शीतल होता है—माधुर्यात् पिच्छिलत्वाच्च प्रक्लेदित्वात्तथैव च। आमाशये सम्भवति श्लेष्मा मधुर-शीतलः॥ (सु० सू० अ० २१)। यही आमाशयस्थ श्लेष्मा आमाशय में स्थित रहता हुआ कफ के अन्य स्थानों को तथा समस्त शरीर को अपने प्रभाव से उदककर्म के द्वारा अनुगृहीत करता है। (३) रोपक-रोपण करने वाला। (४) पूरणकृत—अस्थिपूरण करने वाला, इसको तर्पक कफ कहते हैं। यह शिर में स्थित होकर नेत्र आदि ज्ञानेन्द्रियों का तर्पण करने से तर्पक कहलाता है—'शिरस्थः स्नेहसन्तर्पणाधिकृतत्वादिन्द्रियाणामात्मवीर्येणानुग्रहं करोति' (सु० सू० अ० २१)। (५) बलस्थैर्यकृत—बल तथा त्रिक सन्धि की स्थिरता करने वाला, इसे अवलम्बक कफ कहते हैं। इसका स्थान उर (छाती) है जो कि अपने प्रभाव से त्रिकस्थान का धारण करता है और अन्नरस के साथ मिलकर हृदय को अपने कार्य में सामर्थ्य देता है—'उरःस्थस्त्रिकसन्धारणमात्मवीर्येणान्नरससहितेन हृदयावलम्बनं करोति' (सु० सू० अ० २१)। वाग्भट के मतानुसार यह उरस्थ कफ अन्य कफस्थानों के अवलम्बन करने का कार्य करता है—'कफधाम्नाञ्च शेषाणां यत्करोत्यवलम्बनम्। ततोऽवलम्बकः श्लेष्मा'।

बोधक कफ जिह्वा के मूलभाग तथा कण्ठ में स्थित होता है तथा अपनी सौम्यता से जिह्वा इन्द्रिय को सर्वप्रकार के रसों के ज्ञान में प्रवृत्त करता है—'जिह्वामूलकण्ठस्थो जिह्वेन्द्रियस्य सौम्यत्वात् सम्यग्रसज्ञाने वर्तते' (सु० सू० अ० २१)। 'रसबोधनाद्बोधकोरसनास्थायी'। पञ्चविधकफनामकार्याणि -'श्लेष्मा तु पञ्चधोरःस्थः सत्रिकस्य स्ववीर्यतः। हृदयस्यान्नवीर्याच्च तत्स्थ एवाम्बुकर्मणा॥ कफधाम्नाञ्च शेषाणां यत्करोत्यवलम्बनम्। अतोऽवलम्बकः श्लेष्मा यस्त्वामाशयसंस्थितः॥ क्लेदकः सोऽन्नसंघातक्लेदनाद्रसबोधनात्। बोधको रसनास्थायी शिरःसंस्थोऽक्षितर्पणात्। तर्पकः सन्धिसंश्लेषाच्छ्लेष्मकः सन्धिषु स्थितः॥ श्लेष्मस्थानानि-उरःकण्ठशिरःक्लोमपर्वाण्यामाशयो रसः। मेदो घ्राणञ्च जिह्वा च कफस्य सुतरामुरः॥'

अविकृतकफकार्याणि—'स्नेहो बन्धः स्थिरत्वञ्च गौरवं वृषता बलम्। क्षमा धृतिरलोभश्च कफकर्माविकारजम्॥' (चरक)। सन्निपातचिकित्साप्रकारः—'समं रक्षयन् वृद्धं क्षीणं दोषञ्च वर्धयन्। विधिनाऽनेन विषमं सन्निपातञ्चवेद्भिषक्॥' सन्निपात की चिकित्सा करते समय जो दोष समप्रमाण में हो उसकी रक्षा करते हुए तथा जो बढ़ा हुआ हो उसे जीतते हुए तथा क्षीण दोष को बढ़ाते हुए वैद्य विषम सन्निपात की चिकित्सा करे।

मिश्रा धातुमलैर्दोषा यान्त्यसंख्येयतां पुनः॥ १२॥
तस्मात् प्रसङ्गं संयम्य दोषभेदविकल्पनैः।
रोगं विदित्वोपचरेद्रसभेदैर्यथेरितैः ॥ १३॥

दोषाणामसंख्येयत्वम्—ये दोष रक्तादि धातुओं तथा विष्ठा, मूत्र, स्वेद आदि मलों के साथ मिश्र होने पर असंख्येयता (बहुता) को प्राप्त होते हैं इसलिये दोष-धातु-मल-संसर्ग के प्रसङ्ग का संयमन (सङ्कोचन) कर दोषभेद-विकल्पना से रोग को समझ कर पूर्वोक्त रसभेद के आधार से रोग की चिकित्सा करनी चाहिये॥ १२-१३॥

विमर्शः-धातुगतवातलक्षणानि यथा-(१)त्वग्गतवातलिङ्गानि-'वैवर्ण्यं स्फुरणं रौक्ष्यं सुप्तिं चुमचुमायनम्। त्वक्स्थो निस्तोदनं कुर्यात् त्वग्भेदं परिपोटनम्॥' (२-३) रक्त-मांसगतवातलिङ्गानि-'व्रणांश्च रक्तगो, ग्रन्थीन् सशूलान् मांससंश्रितः।' (४) मेदोगतवातलिङ्गानि—'तथा मेदःश्रितः कुर्याद्ग्रन्थीन् मन्दरुजोऽव्रणान्॥' (५) सिरागतवातलिङ्गानि—'कुर्यात् सिरागतः शूलं सिराकुञ्चनपूरणम्।' (६) स्नायुगतवातलिङ्गानि—'स्नायुप्राप्तः स्तम्भकम्पौ शूलमाक्षेपणं तथा॥' (७) सन्धिगतवातलिङ्गानि—'हन्ति सन्धिगतः सन्धीन् शूलशोफौ करोति च।' (८) अस्थिगतवातलिङ्गानि-'अस्थिशोषञ्च भेदञ्च कुर्याच्छूलञ्च तच्छ्रितः॥' (९) मज्जगतवातलिङ्गानि—'तथा मज्जगते रुक् च न कदाचित् प्रशाम्यति।' (१०) शुक्रगतवातलिङ्गानि-'अप्रवृत्तिः प्रवृत्तिर्वा विकृतिः शुक्रगेऽनिले॥' (सु० नि० अ० १)। वायु का पित्तादि के साथ जो संसर्ग होता है उसे आवरण कहते हैं। ये आवरण बाईस होते हैं—'इति द्वाविंशतिविधं वायोरावरणं विदुः। (अ० सं०)। 'एवं द्वाभ्यां दोषाभ्यां, रक्तादिभिः षड्भिर्धातुभिः, अन्नेन, मूत्रेण, विशा, सर्वधातुभिः, पुनः प्राणादिपञ्चकस्य पित्तेन, तद्वत् कफेन, इति द्वाविंशतिविधं वायोरावरणमुक्तम्।' (इन्दुः)। (१) पित्तावृतवातलक्षणानि—'दाहसन्तापमूर्च्छाः स्युर्वायौ पित्तसमन्विते।' (२) कफावृतवातलिङ्गानि—'शैत्यशोफगुरुत्वानि तस्मिन्नेव कफावृते॥' (३) रक्तावृतवातलक्षणानि-'सूचीभिरिव निस्तोदः स्पर्शद्वेषः प्रसुप्तता॥ शेषाः पित्तविकाराः स्युर्मारुते शोणितान्विते॥' (४) पित्तावृतप्राणलक्षणानि—'प्राणे पित्तावृते छर्दिर्दाहश्चैवोपजायते।' (५) कफावृतप्राणलक्षणानि —'दौर्बल्यं सदनं तन्द्रा वैवर्ण्यञ्च कफावृते।' (६) पित्तावृतोदानलिङ्गानि-'उदाने पित्तसंयुक्ते मूर्च्छादाहभ्रमक्लमाः।' (७) कफावृतोदानलिङ्गानि—'अस्वेदहर्षौ मन्दोऽग्निः शीतस्तम्भौ कफावृते।' (८) पित्तावृतसमानलिङ्गानि—'समाने पित्तसंयुक्ते स्वेददाहौष्ण्यमूर्च्छनम्।' (९) कफावृतसमानलिङ्गानि—'कफाधिकश्च विण्मूत्रं रोमहर्षः कफावृते।' (१०) पित्तावृतापानलिङ्गानि-'अपाने पित्तसंयुक्ते दाहौष्ण्ये स्यादसृग्दरः।' (११) कफावृतापानलिङ्गानि—'अधःकायगुरुत्वञ्च तस्मिन्नेव कफावृते।' (१२)पित्तावृतव्यानलिङ्गानि-'व्याने पित्तावृते दाहो गात्रविक्षेपणं क्लमः॥' (१३) कफावृतव्यानलिङ्गानि-'गुरूणि सर्वगात्राणि स्तम्भनञ्चास्थिपर्वणाम्। लिङ्गं कफावृते व्याने चेष्टास्तम्भस्तथैव च॥' (१४) मांसावृतवातलिङ्गानि—'मांसेन कठिनः शोफो विवर्णः पिटिकास्तथा। हर्षः पिपीलिकानाञ्च सञ्चार इव जायते॥' (१५) मेदसावृतवातलिङ्गानि—'चलः स्निग्धो मृदुः शीतः शोफो गात्रेष्वरोचकः। आढ्यवात इति ज्ञेयः सकृच्छ्रो मेदसावृते।' (१६) अस्थ्यावृतवातलिङ्गानि—'स्पर्शमस्थ्यावृतेऽत्युष्णं पीडनञ्चाभिनन्दति। सूच्येव तुद्यतेऽत्यर्थमङ्गं

सीदति शूल्यते ॥' (१७) मज्जावृतवातलिङ्गानि—'मज्जावृते विनमनं जृम्भणं परिवेष्टनम्। शूलञ्च पीड्यमाने च पाणिभ्यां लभते सुखम् ।' (१८) शुक्रावृतवातलिङ्गानि—शुक्रावृतेऽतिवेगो वा न वा निष्फलताऽपि वा ।' (१९) अन्नावृतवातलिङ्गानि—'भुक्ते कुक्षौ रुजा जीर्णे शाम्यत्यन्नावृतेऽनिले ।' (२०) मूत्रावृतवातलिङ्गानि—'मूत्राप्रवृत्तिराध्मानं बस्तेर्मूत्रावृते भवेत् ।' (२१) विडावृतवातलिङ्गानि—'विडावृते विबन्धोऽधः स्वे स्थाने परिकृन्तति । व्रजत्याशु जरां स्नेहो भुक्ते चानह्यते नरः। शकृत् पीडितमन्नेन दुःखं शुष्कं चिरात् सृजेत् ।' (२२) सर्वधात्वावृतवातलिङ्गानि—'सर्वधात्वावृते वायौ श्रोणिवङ्क्षणपृष्ठरुक् । विलोमो मारुतोऽस्वास्थ्यं हृदयं पीड्यतेऽति च ॥ (अ० सं० नि० अ० १६) ।

पित्तश्लेष्मणोर्धातुमलमिश्रयोर्लक्षणानि वृद्धवाग्भटे यथा—(१) त्वग्गतपित्तलिङ्गानि—'पित्तं त्वचि स्थितं कुर्याद्विस्फोटकमसूरिकाः ।' (१-२) रक्तमांसगतपित्तलिङ्गानि—'रक्ते विसर्पं दाहञ्च मांसे मांसावकोथनम् ॥' (३) मेदोगतपित्तलिङ्गानि—'सदाहान् मेदसि ग्रन्थीन् स्वेदवृद्धमनं भृशम् ।' (४-५) अस्थिमज्जगतपित्तलिङ्गानि—'अस्थिदाहं भृशं मज्ज्ञि हारिद्रनखनेत्रताम् ।' (६) शुक्रगतपित्तलिङ्गानि—'पूतिपीतावभासञ्च शुक्रं शुक्रसमाश्रितम् ।' (७-८) सिरास्नायुगतपित्तलिङ्गानि—'सिरागतं क्रोधनतां प्रलापं स्नायुगं तृषाम् ।' (९) कोष्ठगतपित्तलिङ्गानि—'कोष्ठगं मदतृड्दाहान् व्यापिनोऽन्यांश्च यक्ष्मणः ॥'

(१) त्वग्गतश्लेष्मलिङ्गानि—'श्लेष्मा त्वचि स्थितः कुर्यात् स्तम्भं श्वेतावभासिताम् ।' (२-३) रक्तमांसगतश्लेष्मलिङ्गानि—'पाण्ड्वामयं शोणितगो मांसस्थश्चार्बुदापचीः ।' (४-५) मेदोऽस्थिगतश्लेष्मलिङ्गानि—'आर्द्रचर्मावनद्धाभगात्रतां त्वचि गौरवम्। मेदोगः स्थूलतां मेहमस्थ्नां स्तब्धत्वमस्थिगः ।' (६-७) मज्जशुक्रगतश्लेष्मलिङ्गानि—'मज्जगः शुक्लनेत्रत्वं शुक्रस्थः शुक्रसञ्चयम् ।' (८) सिरागतश्लेष्मलिङ्गानि—'विबन्धं गौरवञ्चाति सिरास्थः स्तब्धगात्रताम् ।' (९-१०) स्नायुकोष्ठगतश्लेष्मलिङ्गानि—'स्नायुगः सन्धिशूलत्वं कोष्ठगो जठरोन्नतिम्। अरोचकाविपाकौ च तांस्तांश्च कफजान् गदान् ।' (११-१२) विण्मूत्रगतश्लेष्मलिङ्गनिर्देशः—'विण्मूत्रयोः साश्रययोस्तत्र तत्रोपदिश्यते ।' (१३) विभिन्नेन्द्रियगतदोषलिङ्गनिर्देशः—'उपतापोपघातौ च स्वाश्रयेन्द्रियगैर्मलैः ।'

भिषक् कर्त्ताऽथ करणं रसा दोषास्तु कारणम् ।
कार्यमारोग्यमेवैकमनारोग्यमतोऽन्यथा ॥ १४ ॥

चिकित्सायां कर्तृकरणादिनिर्देशः—**चिकित्साव्यवसाय में भिषक् (चिकित्सक) कर्ता (प्रमुख) होता है तथा द्रव्याश्रित जो स्वादु, अम्ल, लवण, कटु, तिक्त, कषाय ये ६ रस—हैं वे करण (उपकरण या प्रमुख सामग्री) के रूप में माने जाते हैं। वात, पित्त और कफ ये तीन दोष रोगों की उत्पत्ति में कारण हैं और वैद्य के औषध प्रयुक्त करने का कार्य (उद्देश्य) आरोग्य (रोगमुक्ति या नीरोगता) सम्पादन है। इससे भिन्न को अनारोग्य कहते हैं ॥ १४ ॥**

विमर्शः—चिकित्सा—(१) 'याभिः क्रियाभिर्जायन्ते शरीरे धातवः समाः । सा चिकित्सा विकाराणां कर्म तद्भिषजां स्मृतम् ॥' **जिन क्रियाओं के करने से शरीर की बढ़ी हुई रस-रक्तादि धातुएँ घटकर तथा शरीर की घटी हुई धातुएँ बढ़कर स्वप्रमाणस्थ हो जाँय उसे चिकित्सा कहते हैं।** (२) 'चतुर्णां भिषगादीनां शस्तानां धातुवैकृते। प्रवृत्तिर्धातुसाम्यार्था चिकित्सेत्यभिधीयते ॥' **(च० सू० अ० ९) । भिषक्, द्रव्य (औषध), उपस्थाता (सेवक) और रोगी इन चारों की अपने-अपने गुणों से युक्त होकर शरीर की विकृत हुई रस-रक्तादि धातुओं को सम (स्वप्रमाणस्थ) करने में जो व्यापार है, उसे चिकित्सा कहते हैं। इस कार्य में जो चिकित्सा के चार पाद हैं**—'भिषग्द्रव्याण्युपस्थाता रोगी पादचतुष्टयम् । गुणवत्कारणं ज्ञेयं विकारव्युपशान्तये ॥' **अन्यच्च**-'वैद्यो व्याध्युपसृष्टश्च भेषजं परिचारकः । एते पादाश्चिकित्सायाः कर्मसाधनहेतवः ॥' **(सु० सू० अ० ३४) उनमें भिषक् को प्रधान माना गया है क्योंकि वैद्य इनमें विज्ञाता (जानने वाला), शासन करने वाला और औषधि आदि का प्रयोक्ता है, अतएव वह प्रधान है**—'विज्ञाता शासिता योक्ता प्रधानं भिषगत्र तु ।' **(च० सू० अ० ९) । जिस प्रकार पाचन व्यापार में पाचक के लिये पात्र, इन्धन (लकड़ी) और अग्नि कारण हैं तथा युद्धसम्बन्धी विजय में विजेता के लिये रणभूमि, सेना और प्रहरण (आयुध) कारण हैं उसी प्रकार रोग की चिकित्सा करने में वैद्य के लिये रोगी, औषध और उपचारक कारण माने गये हैं। कारण का तात्पर्य यहां उपकरण है**—'कारणमिति उपकरणम् । पक्तौ हि कारणं पक्तुर्यथा पात्रेन्धनानलाः । विजेतुर्विजये भूमिश्चमूः प्रहरणानि च ॥ आतुराद्यास्तथा सिद्धौ पादाः कारणसंज्ञिताः । वैद्यस्यातश्चिकित्सायां प्रधानं कारणं भिषक् ॥' **जिस प्रकार घट के निर्माण में प्रयुक्त होने वाली मिट्टी, दण्ड, चक्र और सूत्र (धागा या डोरा) ये सभी कुम्भकार के बिना घट-निर्माण नहीं कर सकते, उसी प्रकार चिकित्सा में प्रयुक्त होने वाली औषध, उपचारक और रोगी वैद्य के बिना कोई महत्त्व नहीं रखते** 'मृद्दण्डचक्रसूत्राद्याः कुम्भकारादृते यथा । नावहन्ति गुणं वैद्यादृते पादत्रयं तथा ॥' **(च० सू० अ० ९) । अब चिकित्सा-चतुष्पाद में प्रत्येक के गुण लिखते हैं—(१) उत्तमवैद्यगुणाः**—'श्रुते पर्यवदातत्वं बहुशो दृष्टकर्मता । दाक्ष्यं शौचमिति ज्ञेयं वैद्ये गुणचतुष्टयम् ॥' **(च० सू० अ० ९) । शास्त्र में निष्णात तथा अनेक बार जिसने प्रत्यक्ष कर्म (क्रियात्मक ज्ञान Practical) देखा हो तथा स्वयं किया हो तथा जो दक्ष (चतुर या प्रत्युत्पन्नमतियुक्त) हो एवं मन, वचन और कर्म से पवित्र हो वह गुण-चतुष्टय-युक्त उत्तम वैद्य है। सुश्रुताचार्य ने उत्तम वैद्य के निम्न लक्षण लिखे हैं**—'तत्त्वाधिगतशास्त्रार्थो दृष्टकर्मा स्वयं कृती । लघुहस्तः शुचिः शूरः सज्जोपस्करभेषजः ॥ प्रत्युत्पन्नमतिर्धीमान् व्यवसायी विशारदः । सत्यधर्मपरो यश्च स भिषक्पाद उच्यते ॥' **(सु० सू० अ० ३४) (२) उत्तमद्रव्यगुणाः**—'बहुता तत्र योग्यत्वमनेकविधकल्पना । सम्पच्चेति चतुष्कोऽयं द्रव्याणां गुण उच्यते ॥' **(च० सू० अ० ९) । अल्प प्रमाण में औषध देने से कार्य नहीं होता है, अतएव उसकी प्राप्ति अधिकता से हो सकती हो, उसमें रोग नष्ट करने की योग्यता हो, क्वाथ, चूर्ण, गुटिका, अवलेह आदि उसकी अनेकविध कल्पनाएं की जा सकती हों तथा उसमें रस, गुण, वीर्य, विपाक और प्रभाव इनकी सम्पत् (सम्यक्प्रकारेण विद्यमानता) होनी चाहिये ।**

सुश्रुते द्रव्यगुणाः—'प्रशस्तदेशसम्भूतं प्रशस्तेऽहनि चोद्धृतम् । युक्तमात्रं मनस्कान्तं गन्धवर्णरसान्वितम् ॥ दोषघ्नमग्लानिकरमविकारि विपर्यये । समीक्ष्य दत्तं काले च भेषजं पाद उच्यते ॥'

(सु० सू० अ० ३४)। औषध उत्तम भूमि में उत्पन्न हुई होनी चाहिए, जैसा कि सुश्रुताचार्य ने लिखा है—'श्वभ्रशर्कराश्मविषमवल्मीकश्मशानवधायतनदेवतायतनसिकताभिरनुपहतामनूषरामभङ्गुरामदूरोदकां स्निग्धां प्ररोहवतीं मृद्वीं स्थिरां समां कृष्णां गौरीं लोहितां वा भूमिमौषधार्थं परीक्षेत।' अर्थात् जो भूमि बिल, कंकड़, वल्मीक, श्मशान, वधस्थान और देवालय की न हो, ऊषर न हो, पानी जिसमें नजदीक हो, स्निग्ध हो एवं काली, श्वेत या रक्तवर्ण की हो ऐसी भूमि में उत्पन्न औषध श्रेष्ठ होती है। ऐसी भूमि में उत्पन्न होने पर भी उस औषध को कीड़ों ने न खाया हो, जिस पर विष का प्रभाव न हुआ हो, जो शस्त्र से कटी न हो, जो धूप से मुरझाई न हो, जो वायु से सूखी न हो, जो आग से जली न हो, जो अधिक जलवर्षण से गल न गई हो, चालू रास्ते पर होने से उपसर्ग (Infection) जिस पर न पहुँचा हो, जो उत्तम रसयुक्त और पुष्ट हो तथा जिसकी जड़ जमीन में गहराई तक गई हो वह श्रेष्ठ है उसे उत्तराभिमुख हो के उखाड़ कर संगृहीत करे—'तस्यां जातमपि कृमिविषशस्त्रातपपवनदहनतोयसम्बाधमार्गैरनुपहतमेकरसं पुष्टं पृथ्वगाढमूलमुदीच्यां चौषधमाददीतेत्यौषधभूमिपरीक्षाविशेषः सामान्यः।' (सु० सू० अ० ३७)। प्रशस्त दिन में औषध उखाड़नी चाहिए, इस विषय में सुश्रुताचार्य लिखते हैं—'अत्र केचिदाहुराचार्याः—प्रावृड्वर्षाशरद्धेमन्तवसन्तग्रीष्मेषु यथासंख्यं मूलपत्रत्वक्क्षीरसारफलान्याददीतेति, तत्तु न सम्यक् सौम्याग्नेयत्वाज्जगतः। सौम्यान्यौषधानि सौम्येष्वृतुष्वाददीताग्नेयान्याग्नेयेषु, एवमव्यापन्नगुणानि भवन्ति। सौम्यान्यौषधानि सौम्येष्वृतुषु गृहीतानि सोमगुणभूयिष्ठायां भूमौ जातान्यतिमधुरस्निग्धशीतानि जायन्ते। एतेन शेषं व्याख्यातम्।' (सु० सू० अ० ३७)। मतान्तर से जड़ प्रावृड् ऋतु में, पत्तियाँ वर्षा ऋतु में, छाल शरद् ऋतु में, दुग्ध हेमन्त ऋतु में, सार (काष्ठान्तर्भूत परिणत अंश) वसन्त ऋतु में और फल ग्रीष्म ऋतु में ग्रहण करने चाहिए। परन्तु यह मत ठीक नहीं है क्योंकि जगत् सौम्य और आग्नेय दो प्रकार का होता है इसलिये सौम्य (शीतवीर्य) औषधियों को सौम्य ऋतुओं में तथा आग्नेय (उष्णवीर्य) औषधियों को आग्नेय ऋतुओं में ग्रहण करना चाहिए। इस प्रकार ग्रहण की हुई औषधियाँ निर्दोष एवं गुणयुक्त होती हैं। सोमगुणभूयिष्ठ भूमि में उत्पन्न हुई तथा सौम्य ऋतु में ग्रहण की हुई सौम्य औषधियाँ अत्यन्त मधुर, स्निग्ध और शीतल होती हैं। ऐसे ही आग्नेय औषधियों के विषय में समझना चाहिए।

विसर्गकाल अथवा दक्षिणायन—इसमें वर्षा, शरद् और हेमन्त ये तीन ऋतुएँ होती हैं। श्रावण और भाद्रपद में वर्षा, आश्विन और कार्तिक में शरद् और मार्गशीर्ष तथा पौष में हेमन्त ऋतु होती है।

आदानकाल अथवा उत्तरायण—इसमें शिशिर, वसन्त और ग्रीष्म ये तीन ऋतुएँ होती हैं। माघ और फाल्गुन में शिशिर, चैत्र और वैशाख में वसन्त तथा ज्येष्ठ और आषाढ़ में ग्रीष्म ऋतु होती है। वास्तव में फाल्गुन और चैत्र में वसन्त, वैशाख और ज्येष्ठ में ग्रीष्म, आषाढ़ और श्रावण में वर्षा, भाद्रपद और आश्विन में शरद्, कार्तिक और अगहन में हेमन्त, पौष और माघ में शिशिर ऋतु होनी चाहिए, क्योंकि माघशुक्ल पञ्चमी को वसन्तपञ्चमी कहते हैं। यहाँ से वसन्ती बहार शुरू होकर बराबर फाल्गुन और चैत्र तक रहती है। इसी प्रकार वैशाख और ज्येष्ठ में गरमी अधिक पड़ने से ग्रीष्म तथा आषाढ़ और श्रावण में पानी बरसने से वर्षा। आजकल आषाढ़ में पानी कम बरसने लगा है। अतः यहाँ ऋतुमास अनुकूल नहीं है। भाद्रपद और आश्विन शरद्। यहाँ भी पित्त का प्रकोप अक्सर आश्विन और कार्तिक मास में होने से ऋतुमास अनुकूल नहीं है। कार्तिक और अगहन में हेमन्त एवं पौष तथा माघ में शिशिर ऋतु होती है। शिशिर ऋतु में शीत अधिक पड़ता है—'शिशिरे शीतमधिकम्।' इस वास्ते यहाँ भी यह ऋतुक्रम अत्यन्त उचित प्रतीत होता है।

औषधियाँ कब उखाड़ी जाँय—(१) 'तत्र वर्षास्वोषधयस्तरुण्योऽल्पवीर्याः' अर्थात् वर्षा ऋतु में औषधियाँ नवीनोत्पन्न और अल्पशक्तिक (अपरिणतरस-गुण-वीर्य विपाकवाली) होती हैं। (२) 'ता एवौषधयः कालपरिणामात् परिणतवीर्या बलवत्यो हेमन्ते भवन्त्यापश्च प्रसन्नाः स्निग्धा अत्यर्थं गुरव्यश्च।' (सु० सू० अ० ६)। वे ही औषधियाँ हेमन्त ऋतु में समय के परिणाम से परिपक्ववीर्य, बलवान्, अत्यन्त स्निग्ध और भारी हो जाती हैं। इसलिये हेमन्त ऋतु में औषधियों को उखाड़ के संगृहीत करें। वास्तव में जो औषध जिस ऋतु में उत्पन्न होती हो उसके २-३ मास बाद उस औषधि को उखाड़ने से वह उस समय में परिपक्व रस-गुण-वीर्य विपाक वाली होती है। यह साधारण नियम याद रखना चाहिए।

उपस्थाता या उपचारक के गुण—'उपचारज्ञता दाक्ष्यमनुरागश्च भर्तरि। शौचञ्चेति चतुष्कोऽयं गुणः परिचरे जने॥' (च० सू० अ० ९)। (१) रोगी की सेवा करने का जिसे ज्ञान हो, (२) दक्ष हो, (३) रोगी में अनुराग (श्रद्धा) हो और जिसमें (४) शौच (पावित्र्य आचार-विचार) हो ऐसा परिचारक श्रेष्ठ गुणयुक्त माना जाता है। सुश्रुताचार्य ने लिखा है कि—'स्निग्धोऽजुगुप्सुर्बलवान् युक्तो व्याधितरक्षणे। वैद्यवाक्यकृदश्रान्तः पादः परिचरः स्मृतः॥' (सु० सू० अ० ३४)। उसका स्वभाव स्निग्ध (मुलायम, कर्कशतारहित या चिड़चिड़ापन रहित या रोगी में प्रेम करने वाला) हो, उसे रोगी की निन्दा न करने वाला या रोगी से घृणा न करने वाला तथा बलवान् होना चाहिए, जैसा कि अन्यत्र भी कहा है—'परिकर्मिणश्च स्निग्धाः स्थिरा बलवन्तश्च' (सु० सू० अ० ५)। अर्थात् पूर्वकाल में संज्ञाहर (Anaesthetic) औषधियों का पूर्ण ज्ञान न था अर्थात् शस्त्रकर्म के समय रोगी को यन्त्रण करने की या कस कर रखने की आवश्यकता थी अथवा उन्मादादि के रोगी अथवा सन्निपात के बलवान् रोगी को भी पकड़ कर रखने के लिये परिचारक का बलवान् होना आवश्यक था। इसी कारण सुश्रुताचार्य ने सेवक का बलवान् होना लिखा है एवञ्च रोगी की केवल शुश्रूषा करने के लिये बल की कोई आवश्यकता नहीं होती है इसलिये चरकाचार्य ने परिचारक के गुणों में बल का निर्देश नहीं किया है। उसे व्याधित की रक्षा करने में युक्त अर्थात् यूषरसादिकरण, संवाहन (शिर-पाँव दबाना), स्वापनादि-परिचर्या (Nursing) में निपुण होना चाहिए क्योंकि रोगी की रक्षा करने के लिये उत्तम परिचर्या बहुत ही

आवश्यक होती है। इसी हेतु से चरक में 'उपचारज्ञता' गुण परिचारक के गुणों में पहले निर्दिष्ट किया गया है। पाश्चात्य देशों में परिचर्या के लिये पुरुषों की अपेक्षा परिचारिकाओं (Nurses) का प्रचार अधिक है क्योंकि उनमें पुरुषों की अपेक्षा परिचर्या के लिये आवश्यक गुणों की स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है एवं उनका स्वभाव कोमल तथा वे प्रियदर्शना होती हैं, जैसा कि परिवेषिका के गुणों में भी है—'स्नाता विशुद्धवसना नवधूपिताङ्गी, कर्पूरगौरमुखी नयनाभिरामा। बिम्बाधरा शिरसि बद्धसुगन्धिपुष्पा, मन्दस्मिता, क्षितिभृतां परिवेषिका स्यात्॥' (क्षे० कु०)

रोगिगुणाः—'स्मृतिर्निर्देशकारित्वमभीरुत्वमथापि च। ज्ञापकत्वञ्च रोगाणामातुरस्य गुणाः स्मृताः॥' (च० सू० अ० ९)। जिसकी स्मरणशक्ति ठीक हो, जो वैद्य की आज्ञा का पालन करता हो, जो डरपोक न हो तथा रोग के विषय का तथा अपने शरीर और मन का सब हाल ठीक-ठीक तरह से बता सकता हो वह गुणयुक्त रोगी है। कहीं-कहीं अस्मृति (पूर्व वस्तु को भूल जाना) भी गुण हो जाता है जैसे ज्वर वेग के आगमन काल का स्मरण न करना—'ज्वरवेगञ्च कालञ्च चिन्तयञ्ज्वर्यते तु यः। तस्येष्टैश्च विचित्रैश्च प्रयोगैर्नाशयेत् स्मृतिम्॥' (च० चि०अ० ३)। उसी प्रकार किसी का पुत्र, कलत्र आदि अनुरक्त या अभीष्ट व्यक्ति से विरह हो जाय तो उन्हें भूलने का प्रयत्न कर हृच्छोक शल्य को निकाल देना चाहिए। कहीं-कहीं रुग्ण का भीरुत्व होना गुण हो जाता है जैसे उन्माद रोग में 'सर्पेणोद्धृतदंष्ट्रेण' इत्यादि रूप से उसे डरा के चिकित्सा की जाती है।

सुश्रुते रोगिगुणाः—'आयुष्मान् सत्त्ववान् साध्यो द्रव्यवानात्मवानपि। आस्तिको वैद्यवाक्यस्थो व्याधितः पाद उच्यते॥' (सु० सू० अ० ३४)। दीर्घ आयुष्यवाला, सत्त्वसारयुक्त, साध्यरोग-लक्षणवाला, धनवान्, आत्मवान् (मनःसंयमी), आस्तिक (ईश्वर, गुरु, देवताओं पर श्रद्धा करनेवाला) तथा वैद्य के वाक्यों में विश्वास करने वाला रोगी व्याधितपाद (गुणयुक्त चौथाई पादयुक्त) होता है। वास्तव में चिकित्सा-व्यवसाय की सिद्धि में चिकित्सापाद-चतुष्टय का गुणयुक्त होना अत्यन्त आवश्यक है, क्योंकि गुणवान् वैद्य गुणयुक्त तीनों पादों की सहायता से महान् रोग को भी थोड़े ही समय में नष्ट कर सकता है—'गुणवद्भिस्त्रिभिः पादैश्चतुर्थो गुणवान् भिषक्। व्याधिमल्पेन कालेन महान्तमपि साधयेत्॥' (सु० सू० अ० ३४)। यदि वैद्य के बिना तीनों पाद गुणवान् भी हों तो वे निरर्थक हैं। इनमें अकेला गुणवान् वैद्य रोगी को रोग से मुक्त करा सकता है जैसे जल में फँसी हुई नौका का तारण कुशल कर्णधार (प्रधान नाविक) अन्य मल्लाहों की सहायता के बिना कर देता है—'वैद्यहीनास्त्रयः पादा गुणवन्तोऽप्यपार्थकाः। उद्गातृहोतृब्रह्माणो यथाऽध्वर्युं विनाऽध्वरे॥ वैद्यस्तु गुणवानेकस्तारयेदातुरान् सदा। प्लवं प्रतितरैर्हीनं कर्णधार इवाम्भसि॥ (सु० सू० अ० ३४)।

दोषास्तु कारणम्—शरीर को स्वस्थ रखने तथा विकृत करने में वात, पित्त और कफ ये तीन दोष मुख्य कारण हैं। यद्यपि सुश्रुत में शल्यतन्त्र की दृष्टि से रक्त को भी चौथा दोष माना है किन्तु वह भी वातादि त्रिदोष से ही दूषित होता है अतः चौथा दोष नहीं है। ये ही तीनों दोष शरीर की अस्वस्थता और स्वस्थता में प्रमुख कारण हैं—'वायुः पित्तं कफश्चेति त्रयो दोषाः समासतः। विकृताऽविकृता देहं घ्नन्ति ते वर्तयन्ति च॥' तथा इन्हीं तीनों दोषों में से कफ शरीर में बल का विसर्ग (बलसर्जन) और पित्त आदान (रसाकर्षण या रसशोषण) करके तथा वायु विक्षेप (रस-रक्तादि का एक स्थान से दूसरे स्थान में प्रक्षेपण और शरीर में मल-मूत्रादि का विक्षेप तथा स्रावण) करके देह का धारण करते हैं, जैसे बाह्य जगत् में, चन्द्र, सूर्य और वायु त्रिविध क्रिया करके जगत् का धारण करते हैं—'विसर्गादानविक्षेपैः सोमसूर्यानिला यथा। धारयन्ति जगद्देहं कफपित्तानिलास्तथा॥' (सु० सू० अ० २१)। अर्थात् बाह्य जगत् के चन्द्रमा, सूर्य एवं वायु और शरीरगत कफ, पित्त और वायु इनका स्वरूप भी एक है तथा क्रियाएँ भी एक हैं। इसीलिये चरक तथा सुश्रुत में इनके अभेद का वर्णन किया गया है—'तत्र वायोरात्मैवात्मा, पित्तमाग्नेयं, श्लेष्मा सौम्य इति। सोम एव शरीरे श्लेष्मान्तर्गतः, अग्निरेव शरीरे पित्तान्तर्गतः।' चरकाचार्य तो यहाँ तक मानते हैं कि बाह्य जगत् के चन्द्रमा, सूर्य और वायु शरीरगत वात, पित्त और कफ तथा बल के कारण हैं—'तावेतावर्कवायू सोमश्च कालस्वभावमार्गपरिगृहीताः कालर्तुरसदोषदेहबलनिर्वृतिप्रत्ययभूताः समुपदिश्यन्ते।' विसर्ग—'विसृजति जनयत्याप्यमंशमिति विसर्गः।' जैसे चन्द्रमा अपनी अमृततुल्य रश्मियों के द्वारा बाह्य जगत् को स्निग्ध और शीतल रखता है वैसे ही श्लेष्मा भी अपने प्रभाव से शरीर को स्निग्ध और शीतल रखता है। आदान—'आददाति क्षपयति पृथिव्याः सौम्यांशमित्यादानम्।' सूर्य अपनी प्रखर किरणों से पृथिवी का जलांश ग्रहण कर उसकी क्लिन्नता (गीलेपन) या आर्द्रता को दूर करता है, पुनः सहस्रगुणा पानी बरसा के लोक की रक्षा करता है—'सहस्रगुणमुत्स्रष्टुमादत्ते हि रसं रविः' (रघुवंश)। उसी प्रकार पित्त शरीर में अन्न रस का ग्रहण करता है—'पक्त्वा तस्यान्नरसस्याहरणमादानम्।' विक्षेप—'शीतोष्णवर्षादीनां यथायोगं प्रेरणम्।' बाह्य जगत् में जैसे वायु शीत, उष्ण, मेघादि का प्रेरण यथावश्यक करके जगत् की रक्षा करता है उसी प्रकार शरीरगत वात शरीर में मल-मूत्रादि का विक्षेप तथा पित्तादि रसों का स्रावण करके रक्षा करता है। सोम का बाह्य जगत् में कार्य—'सोमः शिशिराभिर्भाभिरापूरयञ्जगदाप्याययति शश्वत्।' (च० सू० ६)। शरीर में कार्य—'सन्धिसंश्लेषणस्नेहनरोपणपूरणबलस्थैर्यकृच्छ्लेष्मा पञ्चधा प्रविभक्त उदककर्मणाऽनुग्रहं करोति।' सूर्य का बाह्य जगत् में कार्य—'रविर्भाभिराददानो जगतः स्नेहम्।' (चरक)। शरीर में पित्त का कार्य—'रागपक्त्योजस्तेजोमेधोष्मकृत्पित्तं पञ्चधा प्रविभक्तमग्निकर्मणाऽनुग्रहं करोति।' वायु का बाह्य जगत् में कार्य—'धरणीधारणं ज्वलनोज्ज्वालनं सृष्टिश्च मेघानामपां विसर्गः प्रवर्तनं स्रोतसां पुष्पफलानाञ्चाभिनिर्वर्तनम्, उद्भेदनञ्चौद्भिदानाम्।' (चरक)। शरीर में कार्य—'समीरणोऽग्नेः, दोषसंशोषणः, क्षेप्ता बहिर्मलानां, विण्मूत्रपित्तादिमलाशयानां विक्षेपसंहारकरः स भोक्तः।' (चरक)। जिस प्रकार शरीर की उत्पत्ति और रक्षा में दोषों को कारण माना है तथा इसी अर्थ में उन्हें धातुसंज्ञा दी है उसी प्रकार मिथ्या आहार-विहार से कुपित होकर देह को रुग्ण बनाने में भी दोष कारण होते हैं—'शरीरदूषणाद्दोषा धातवो देहधारणात्। वातपित्त-

कफा ज्ञेया मलिनीकरणान्मलाः ॥' जैसा कि सुश्रुताचार्य लिखते हैं —'सर्वेषाञ्च व्याधीनां वातपित्तश्लेष्माण एव मूलं तल्लिङ्गत्वाद् दृष्टफलत्वादागमाच्च। यथा हि कृत्स्नं विकारजातं विश्वरूपेणावस्थितं सत्त्वरजस्तमांसि न व्यतिरिच्यन्ते एवमेव कृत्स्नं विकारजातं विश्वरूपेणावस्थितमव्यतिरिच्य वातपित्तश्लेष्माणो वर्तन्ते दोषधातुमलसंसर्गादायतनविशेषान्निमित्ततश्चैषां विकल्पः। दोषदूषितेष्वत्यर्थं धातुषु संज्ञा क्रियते रसजोऽयं, शोणितजोऽयं, मांसजोऽयं, मेदोजोऽयमस्थिजोऽयं, मज्जजोऽयं, शुक्रजोऽयं व्याधिरिति।' (सु० सू० अ० २४)। अर्थात् समस्त रोगों का मूल कारण वात, पित्त और कफ ही प्रतीत होते हैं क्योंकि उत्पन्न हुए रोगों में उन वात, पित्त और कफ का लिङ्ग (लक्षण) होने से, उन दोषों के लक्षणों के अनुसार चिकित्सा करने पर रोग-शान्ति रूप फल प्रत्यक्ष होने के कारण तथा शास्त्र का आधार होने से उक्त बात सिद्ध होती है। जिस प्रकार विश्व के रूप में प्रकट हुआ सारा जगत् सत्त्व, रज और तम इन गुणों से पृथक् नहीं है उसी प्रकार विश्व में उत्पन्न होने वाले समस्त रोग वात, पित्त और कफ के विना नहीं होते हैं। दोषों, धातुओं और मलों के संयोग से, स्थानभेद से तथा निमित्तभेद से इन रोगों के अनेक भेद होते हैं तथा दोषों से अत्यन्त दूषित हुए धातुओं की ही संज्ञा की जाती है कि यह व्याधि रसज है, रक्तज है, मांसज है, मेदोज है, अस्थिज है, मज्जोत्थ है अथवा शुक्रज है। इस तरह सुश्रुताचार्य ने रोगोत्पत्ति में त्रिदोषों की आदिकारणता प्रत्यक्षादि चतुर्विध प्रमाणों द्वारा सिद्ध की है।

(१) अनुमान प्रमाण—तल्लिङ्गत्वात्। जिसमें वातादि दोषों के लक्षण न हों तथा जिसमें वातादि दोषों के लक्षणों के अतिरिक्त अन्य लक्षण हों ऐसा कोई भी रोग नहीं दिखाई देता। इसलिये कार्यकारणन्याय अथवा अन्वयव्यतिरेकसिद्धान्त (तत्सत्त्वे = कार्यसत्त्वे, तत्सत्त्वं = कारणसत्त्वमन्वयः। तदभावे = कार्याभावे, तदभावः = कारणाभावो व्यतिरेकः) से यह कहा जा सकता है कि समस्त रोगों के आदि कारण त्रिदोष हैं—'कारणानुविधायित्वात् कार्याणां तत्स्वभावता।' इसी कारण से अज्ञात रोगों की चिकित्सा दोषानुसार करने के लिये लिखा है—'नास्ति रोगो विना दोषैर्यस्मात्तस्माद्विचक्षणः। अनुक्तमपि दोषाणां लिङ्गैर्व्याधिमुपाचरेत् ॥' (सु० सू० अ० ३५)। क्योंकि विना दोषों के रोग होते नहीं इस वास्ते किसी विचित्र प्रकार के उत्पन्न हुए रोग का नाम शास्त्र में न भी हो तो भी दोषों के लक्षणों को देख कर चिकित्सा करनी चाहिए क्योंकि अनुक्त रोग दो प्रकार से होते हैं—(१) ज्ञातरोग, परन्तु जिसका निदान (Diagnosis) हुआ नहीं, ऐसे उदाहरण व्यवहार में रात-दिन आया करते हैं। ज्वर का या अतिसार का निदान न होने पर भी सामान्य चिकित्सा शुरू कर दी जाती है, रोग का निदान बाद में होता है। (२) वैद्यक में अनिर्दिष्टनामधेय व्याधि या बिल्कुल नई व्याधि का वर्णन कहीं भी मिलता नहीं—'त एवापरिसंख्येया भिद्यमाना भवन्ति हि। रुजावर्णसमुत्थानस्थानसंस्थाननामभिः ॥ विकारनामाकुशलो न जिह्रीयात् कदाचन। न हि सर्वविकाराणां नामतोऽस्ति ध्रुवा स्थितिः॥ (चरक)। रोगों के नाम तो केवल व्यवहार के लिये उपयोगी हैं, चिकित्सा में तो दोषविज्ञान या प्रकृति-विकारज्ञान (Pathology) उपयोगी होता है। उसके अनुसार चिकित्सा करने से रोग अज्ञात होते हुए भी सफलता मिल सकती है इसलिये एलोपेथी में भी जब तक रोग का निदान (Diagnosis) नहीं होता तब तक आवस्थिकी या लाक्षणिकी चिकित्सा (Symptomatic treatment) ही की जाती है।

(२) प्रत्यक्ष प्रमाण—दोषों के अनुसार लक्षण प्रकट होते हैं। उनको देखकर कार्यकारणभाव से विकृत दोषों का निर्णय करके जब चिकित्सा की जाती है तब रोग की शान्ति हो जाती है, यह प्रत्यक्ष प्रमाण है। आयुर्वेद के निदानपञ्चक में से उपशय इस प्रत्यक्ष प्रमाण के ऊपर अधिष्ठित है। यथा—'स्नेहोष्णमर्दनाभ्याञ्च यः प्रणश्येत् स वातिकः।' (च० सू० अ० १८)।

(३) आगम प्रमाण—वेद, ज्यौतिष, उपनिषद्, योगशास्त्र और आयुर्वेद के विविध ग्रन्थों में भी रोगों का कारण त्रिदोष ही माना गया है। यथा—'त्रिर्नो अश्विना दिव्यानि भेषजा त्रिः पार्थिवानि त्रिरु दत्तमद्भ्यः। ओमानं शंयोर्ममकाय सूनवे त्रिधातु शर्म वहतं शुभस्पतिः।' (ऋग्वेद)। 'त्रिधातु वातपित्तश्लेष्मधातुत्रयशमनविषयं सुखं वहतम्।' (सायणाचार्य भाष्य)। 'बौध्यं दौत्यसुहृद्गुरुद्विजभवं विद्वत्प्रशंसा यशो-युक्तिद्रव्यसुवर्णवेसरमहीसौभाग्यसौख्याश्रयः। हास्योपासनकौशलं मतिचयो धर्मक्रियासिद्धयः—पारुष्यं श्रमबन्धमानमशुचः पीडा च धातुत्रयात् ॥' (वराहमिहिर)। 'हृदयेभ्योऽन्तरग्निरग्निस्थाने, पित्तं पित्तस्थाने, वायुर्वायुस्थाने, हृदयं प्राजापत्यात्क्रमात्। पित्तप्रस्थं कफस्याढकम्।' (गर्भोपनिषद्)। 'नाभिचक्रे संयमं कृत्वा कायव्यूहं विजानीयात्। वातपित्तश्लेष्माणस्त्रयो दोषाः। धातवः सप्त त्वग्लोहितमांसस्नाय्वस्थिमज्जाशुक्राणि। पूर्वं पूर्वमेषां बाह्यमित्येष विन्यासः।

(४) उपमान प्रमाण—'यथा हि कृत्स्नं विकारजातम्, इत्यादि तेषां विकल्पा भवन्ति।' दोषादि के कारण इन रोगों के असंख्य भेद होते हैं। जैसे—दोषों के कारण सप्तविध विसर्प, धातुओं के कारण सप्तविध कुष्ठ, मल के कारण आनाह या अतिसार, स्थान के कारण हृद्रोग, मुखरोग, नेत्ररोग और निमित्त के कारण मृज्जन्य पाण्डुरोग, कामज्वर, शोकातिसार, भयातिसार, कृमिज शिरोरोग, विषजन्य मदात्यय और क्रोधज्वर इत्यादि—'त एवापरिसंख्येया भिद्यमाना भवन्ति हि। रुजावर्णसमुत्थानस्थानसंस्थाननामभिः॥' (चरक)। 'स एव कुपितो दोषः समुत्थानविशेषतः। स्थानान्तरगतश्चैव विकारान् कुरुते बहून् ॥' (वाग्भट)। वस्तुतस्तु रसज, मांसज आदि व्याधियों के दूष्यों के नाम से उनका नामकरणमात्र है न कि वे व्याधियाँ रस या मांस आदि के कारण उत्पन्न हुई हैं किन्तु वे व्याधियाँ रस और मांसादि में स्थित दोष से ही होती हैं। व्यवहार में जिस धातु में दोष का अवस्थान होता है उसका नाम घृतघृध की भाँति रोग के लिये दिया जाता है, परन्तु धातु-मलों की रोगहेतुकत्वकल्पना औपचारिक है। रोगकर्तृत्व दोषों के अतिरिक्त और कहीं नहीं हो सकता—'रसादिस्थेषु दोषेषु व्याधयः सम्भवन्ति ये। तज्जानित्युपचारेण तानाहुर्घृतदाहवत् ॥' (अ० सं०)। अस्तु, उक्त चतुर्विध प्रमाणों से रोगों के प्रति वातादि दोषों की कारणता सिद्ध एवं स्वीकृत हो चुकी परन्तु अब यहाँ यह विचार किया जाता है कि ये दोष रोगोत्पत्ति में कौन से कारण हैं। अर्थात् कारण तीन प्रकार के होते हैं—समवायी, असमवायी और निमित्त, इनमें से इन्हें कौनसा कारण माना जाय?

(१) कुछ लोग कहते हैं कि विकृत वातादि दोष ही रोग हैं क्योंकि ये ही दुःख के कारण होते हैं और जो दुःख का कारण होता है वही रोग कहलाता है—ऐसा चरक में स्पष्ट लिखा है—'विकारो दुःखमेव च' किन्तु दुःख आत्मा का गुण होने से रोग नहीं कहला सकता अतएव वहाँ दुःख के कारण धातुवैषम्य को दुःख शब्द से समझना चाहिए और धातुवैषम्य ही रोग है—'विकारो धातुवैषम्यम्'। यहाँ भी धातु शब्द से वातादि का बोध होता है क्योंकि उनका वैषम्य भी दुःख का कारण होता है जैसा कि शास्त्र में स्पष्ट है—'विकृताविकृता देहं घ्नन्ति ते वर्तयन्ति च।' अस्तु, सुश्रुताचार्य ने व्याधि की परिभाषा करते समय लिखा है कि—'तद्दुःखसंयोगा व्याधयः'—'तेन पुरुषेण सह दुःखस्य दुःखकारणस्य विषमदोषस्य संयोग एव रोगो वाच्यः।' पुरुष के साथ दुःखसंयोग को व्याधि कहते हैं। वहाँ भी दुःख गुण के साथ पुरुष का संयोग होना असम्भव है क्योंकि गुण के साथ द्रव्य का समवाय सम्बन्ध होता है, संयोग सम्बन्ध नहीं होता, इसलिये पुरुष के साथ दुःख का अर्थात् दुःख के कारण विषम दोष के संयोग को व्याधि कहते हैं। जहाँ कुपित दोष से उत्पन्न रोग मालूम पड़ता है वहाँ ज्वरजन्य रक्तपित्त के समान रोगजन्य रोग समझना चाहिए। क्योंकि रोग से भी रोग की उत्पत्ति होती है और एक रोग दूसरे रोग को उत्पन्न कर स्वयं शान्त हो जाता है और कहीं वह दूसरे रोग की उत्पत्ति में हेतु हो कर स्वयं भी विद्यमान रहता है—'कश्चिद्धि रोगो रोगस्य हेतुर्भूत्वा प्रशाम्यति। न प्रशाम्यति चाप्यन्यो हेतुत्वं कुरुतेऽपि च॥' इस प्रकार विकृत वायु भी रोग है। उससे यदि ज्वर होता है तो वह ज्वर रोगज रोग होगा। इस मत में कुपित दोष ही रोग का स्वरूप है अतः वह रोग का कारण नहीं कहला सकता क्योंकि स्वरूप कभी कारण संज्ञा को प्राप्त नहीं कर सकता।

(२) द्वितीय सम्प्रदाय दोषों को निमित्त कारण मानता है। उनका कथन है कि प्रकृति का आरम्भक होकर जो दुष्टि का कर्ता होता है उसको दोष कहते हैं। इस प्रकार दोषलक्षण में दोष को दुष्टिकर्ता माना गया है। कार्य का कर्ता निमित्त कारण ही होता है अतः रोगरूपी कार्य का कर्ता भी निमित्त कारण ही होगा। यहाँ यह शंका होती है कि दोष यदि रोगों के लिये निमित्त कारण ही हैं तो दोष से उत्पन्न रोग के नाश के लिए वमनादि द्वारा दोष (निमित्त कारण) को क्यों दूर किया जाता है। जैसे घट के निमित्त कारण दण्ड, कुलाल (कुम्हार) आदि के नाश से कभी घट का नाश नहीं होता ऐसे ही दोष यदि निमित्त कारण हैं तो उनके उच्छेद से रोग का उच्छेद नहीं होगा। इस शङ्का के निराकरण के लिये कोई कहते हैं कि जहाँ कार्य यावन्निमित्तकारणस्थायी है वहाँ निमित्त कारण के नाश से भी कार्य का नाश होता है, जैसे प्रदीप के लिये वर्ति, तैल आदि निमित्त कारण हैं फिर भी उनके नाश से प्रदीप का नाश होता है, ऐसे ही निमित्तकारणभूत दोष के नाश से रोग का नाश हो सकता है।

(३) तृतीय सम्प्रदाय रोगोत्पत्ति में दोषों को समवायि कारण मानता है। वे लिखते हैं कि वातादि दोष तथा रसरक्तादि दूष्यों की सम्मूर्च्छना (विशिष्ट मिलन) जनित अवस्था विशेष को रोग कहते हैं—'दोषदूष्यसम्मूर्च्छनाजनितोऽवस्थाविशेषो व्याधिः।' इस लक्षण में दोष और दूष्य दोनों को रोग का आरम्भक माना गया है। जैसे घटारम्भक कपाल और कपालिका को घट का समवायि कारण माना जाता है वैसे ही रोग के आरम्भक दोष और दूष्य को भी समवायि कारण मानना चाहिए। इसलिए रोग-शान्ति के लिये उसके समवायि कारण दोषों (की क्षयावस्था या वृद्धावस्था) को निकाल देते हैं तथा साथ ही में दूष्यों (की क्षयावस्था या वृद्धावस्था या विकृतावस्था) को भी निकाल देते हैं। रोगों के समवायि कारण दोषों को निकाल देने से अपने आश्रय का नाश होने से असमवायि कारण भी नष्ट हो जाता है जिससे कार्यभूत रोग का नाश होना सम्भव होता है। द्रव्यरूप दोषों को असमवायि कारण कोई भी नहीं कह सकता क्योंकि गुण और कर्म ही असमवायि कारण हो सकते हैं। रोगों के लिये शरीर के अभ्यन्तर में रहने वाले वातादि दोष आभ्यन्तर कारण और उनके प्रकोपक मिथ्या आहार-विहारादि बाह्य कारण ऐसे दो प्रकार के कारण भी माने जाते हैं—'सर्वेषामेव रोगाणां निदानं कुपिता मलाः। तत्प्रकोपस्य तु प्रोक्तं विविधाहितसेवनम्॥' इस प्रकार के परस्पर विरुद्ध मतों से सन्देह होता है कि वास्तविकता क्या है। यदि विषम दोषों को ही रोग माना जाय तो दोष संज्ञा और रोग संज्ञा ऐसी द्विविध कल्पना निरर्थक हो जायगी। पूर्व में सिद्ध कर आये हैं कि विषम होकर वातादि जब दुष्टिकारक होते हैं तभी उनकी दोष संज्ञा होती है किन्तु जब साम्यावस्था में रहकर शरीर को धारण करते हैं तब इन्हें धातु कहते हैं—'शरीरदूषणाद्दोषा धातवो देहधारणात्' यदि सभी विषम दोषों को रोग तथा साम्यावस्था में भी स्थित वातादि को दोष न कहकर धातु ही कहा जावे तो फिर दोष संज्ञा ही लुप्त हो जायगी। दूसरी बात यह भी है कि विषम वातादि को ही रोग कहा जावे तो रोगों के पूर्वरूप तथा रोगों की सम्प्राप्ति नामक कोई वस्तु न रहने से रोगों के निदान पांच प्रकार के नहीं रहते क्योंकि भावी व्याधिबोधक लक्षणों को पूर्वरूप कहते हैं किन्तु विषम दोषमात्र को व्याधि कहने से भाविव्याधि का बोधक कुछ भी लक्षण नहीं हो सकता। ऐसे ही प्रकुपित दोषमात्र को व्याधि कहने से दोष-दूष्यों की विशिष्ट मिलनरूपा सम्प्राप्ति भी कुछ नहीं रहती तथा वातिक रोग, पैत्तिक रोग ऐसा भी प्रयोग नहीं कर सकते किन्तु वातरोग, पित्तरोग ऐसा प्रयोग करना चाहिये। चरकाचार्य ने भी लिखा है कि दोषों को छोड़कर रोग नहीं हो सकता इसलिये जिस रोग का उल्लेख शास्त्र में न हो उसकी चिकित्सा दोषों के लक्षणानुसार करनी चाहिये—'नास्ति रोगो विना दोषैर्यस्मात्तस्माद्विचक्षणः। अनुक्तमपि दोषाणां लिङ्गैर्व्याधिमुपाचरेत्॥' यहां रोग और दोषों के कार्यकारणता-बोधक शास्त्र-वाक्य को अप्रमाण कहना पड़ता है। इसी प्रकार और भी कहा है कि—जब तक दुर्बल दोष प्रधानता को प्राप्त नहीं करते तब तक उनसे रोग की उत्पत्ति नहीं हो सकती—'दोषा अबलीयांसो यदा नानुबध्नन्ते न तदा विकाराभिनिर्वृत्तिरिति' इस तरह दोष और रोग के भेदबोधक इस शास्त्र-वाक्य को अप्रमाण कहना पड़ेगा। अन्य भी कहा है कि जो किसी को दुष्ट न करे उसकी दोष संज्ञा ही नहीं हो सकती—'कस्यचिद्दूषणत्वमन्तरेण दोषसञ्ज्ञैव न जायते' और यदि विषम दोष को ही रोग

कहा जाय तो रात्रि, दिन, भोजन इत्यादि के प्रथम और मध्यादि समय में कुछ न कुछ दोष की विषमता रहती ही है जिससे सभी को सर्वदा के लिये रोगी ही मानना पड़ेगा अतएव विषम दोष को ही रोग कहना उचित नहीं है किन्तु दोष रोगों के कारण हैं यह तो शास्त्र, युक्ति तथा तर्कादि से प्रमाणित होता है । अब यदि दोषों को रोगों का केवल निमित्त कारण मात्र मान लिया जाय तो रोग की शान्ति के लिये दोषों का निर्हरण करना निरर्थक होता है क्योंकि निमित्त कारण के नाश होने से कार्य का नाश कभी नहीं होता। यदि दोषों को रोगों की उत्पत्ति में केवल कर्ता मान लिया जाय तो कार्योत्पत्ति के अनन्तर उसकी स्थिति के लिये कर्ता का सान्निध्य नियमतः सदा रहे ऐसा भी नहीं देखने में आने से दोषों का रोगों के साथ सान्निध्य नहीं रहेगा इसलिये दोष रोगोत्पत्ति में केवल निमित्त कारण नहीं हैं तथा दोष दुष्टि करते हैं इस वास्ते निमित्त कारण नहीं हैं ऐसा भी नहीं कह सकते। यदि दोषों को रोगों का केवल उपादान कारण मान लिया जावे तो दूष्य से इनका कुछ भेद ही नहीं रहेगा। जैसे घट के आरम्भक कपाल और कपालिका दोनों ही एक से उपादान हैं। ऐसे ही वातरक्त रोग के आरम्भक वायु और रक्त दोनों ही एक से उपादान होते तो फिर शास्त्र में किसी की दोष संज्ञा और किसी की दूष्य संज्ञा ही नहीं होती, अतएव दुष्टि का कर्ता दोष जैसा निमित्त कारण है ऐसे ही रोगावस्था में भी दूष्य में मिलित रहकर रोग की स्थिति के कारण होने वाले दोष उपादान कारण भी हैं अतः दोष दोनों प्रकार के कारण हैं। रोगोत्पत्ति प्रकार में प्रथम अपथ्य सेवन से दोष अपने अपने आशय में सञ्चित होते हैं। सञ्चय से जो दुःखदायी लक्षण उत्पन्न होते हैं उनका वर्णन कर उस समय को प्रथम क्रियाकाल (चिकित्सासमय) भी लिख दिया है परन्तु उसे रोग नहीं माना है। सञ्चय के बाद प्रकोप के लक्षण लिख कर उसे द्वितीय क्रिया (चिकित्सा) काल माना है परन्तु उसे रोग नहीं माना है। पश्चात् प्रसार का वर्णन कर उसे तृतीय क्रियाकाल भी लिखा किन्तु उसे भी रोग नहीं कहा। पश्चात् स्थानसंश्रय (दोषों का किसी दुर्बल स्थान में स्थित हो जाना) का वर्णन करके पूर्वरूप की व्यक्ति या रोग प्रादुर्भाव (रूप) का वर्णन किया है। इस तरह हम समझ सकते हैं कि सञ्चित, प्रकुपित और प्रसृत दोष किसी विशेष दूष्य का स्थानसंश्रय (अवलम्बन) करके उस दूष्य के साथ विशेष मिलन को प्राप्त होते हैं। जैसे घृत, मैदा और शर्करा के मिलन के वैशिष्ट्य से विभिन्न प्रकार के मिष्टान्न बनते हैं वैसे ही दोष और दूष्यों के विशिष्ट मिलन से विशिष्ट रोग उत्पन्न होते हैं। दोष और दूष्यों के विशिष्ट मिलन के समय जो दुःखदायी लक्षण उत्पन्न होते हैं उन्हें पूर्वरूप कहते हैं तथा दोष-दूष्यों की विशिष्ट सम्मूर्छनावस्था के बाद जो विशिष्ट लक्षण होते हैं उनकी ज्वरादि रोग संज्ञा होती है। जैसे घृत, मैदा और शर्करा का पाक हो जाने के पश्चात् ही विशिष्ट मिठाई का नाम पड़ता है। इस तरह वातादि दोष स्व-स्व कारणों से सञ्चित, स्वप्रकोपक कारणों से प्रकुपित और अपने आशय से शरीराङ्गों में प्रसृत होकर रसादि दूष्य पदार्थों को विकृत करके रोग उत्पन्न करते हैं तथा दूष्यों के साथ मिलकर रोगों के अवयवस्वरूप होकर उसी में रहते हैं। अतएव रोगों के कर्ता होने से निमित्त कारण तथा रोगों के आरम्भक (उत्पादक अवयव) होने से समवायि कारण हैं। अब यहाँ प्रश्न यह होता है कि एक ही दोष उभय कारण कैसे बन सकता है ? एक वस्तु की एक प्रकार की ही कारणता देखी जाती है, उभयविध कारणता नहीं देखी जाती। उत्तर में कहा जाता है कि कहीं-कहीं उभयविधकारणता भी देखी जाती है। जैसे क्विनाइन का मिश्रण बनाते समय क्विनाइन जल में अविलेय होने से उसमें सल्फ्यूरिक एसिड (गन्धक द्रावक) डाला जाता है। यहाँ द्रावण-क्रिया का कर्ता गन्धक द्राव है तथा क्विनाइन मिश्रण का गन्धक द्रावक उपादान कारण भी, क्योंकि यदि इस मिश्रण से गन्धकद्राव को हटा लें तो क्विनाइन मिश्रण ही नहीं रहेगा। दूसरा दृष्टान्त वेदान्त दर्शन का दिया जाता है—इस दर्शन में एक ही ब्रह्म को जगत् का उपादान (समवायि) कारण और निमित्त कारण दोनों मानते हैं। ऐसी जगह में कार्य के जो जो अंग (अवयव) हैं उनको समवायि कारण कहते हैं। कार्य के कर्ता को सर्वत्र निमित्त कारण कहा जाता है। यदि कर्ता ही कर्म का अङ्गीभूत बन जावे तो वह उभय प्रकार का (निमित्त और समवायी) हेतु अवश्य कहलाता है। दोष भी रोगों के कर्ता तथा अवयव हैं अतः उभयविध कारण हैं।

दोषों की संख्या तीन ही है या अधिक इस विषय में शङ्का है कि रक्त को दोषरूप से क्यों नहीं माना जाता, जब कि (१) यूनानी शास्त्र में भी उसको दोष रूप से माना गया है एवं (२) सुश्रुताचार्य ने भी लिखा है कि वात, पित्त, कफ और रक्त इन चार से उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय (विनाश) इन अवस्थाओं में भी शरीर रहित नहीं होता है—'तदेभिरेव शोणितचतुर्थैः सम्भवस्थितिप्रलयेष्वप्यविरहितं शरीरं भवति, भवति चात्र—नर्ते देहः कफादस्ति न पित्तान्न च मारुतात्। शोणितादपि वा नित्यं देह एतैस्तु धार्यते ॥' (सु० सू० अ० २१)। अर्थात् वातादि की तरह रक्त भी शरीर को धारण करता है इसलिये उसको चौथा दोष मानना चाहिये। इसी तरह (३) रोगवर्णन-प्रसङ्ग में भी वातपित्तादिजन्य रोगों की तरह रक्तजन्य रोगों का भी वर्णन मिलता है—'कुष्ठविसर्पपिडकामशकनीलिकातिलकालकन्यच्छव्यङ्गेन्द्रलुप्तप्लीहविद्रधिगुल्मवातशोणितार्शोऽर्बुदाङ्गमर्दासृग्दररक्तपित्तप्रभृतयो रक्तदोषजा गुदमुखमेढ्रपाकाश्च ।' (सु० सू० अ० २४)। चरकाचार्य ने भी निम्न मुख-पाकादि रक्त रोग लिखे हैं—'मुखपाकोऽक्षिरागश्च पूतिघ्राणास्यगन्धिता । गुल्मोपकुशवीसर्परक्तपित्तप्रमीलकाः। विद्रधी रक्तमेहश्च प्रदरो वातशोणितम् ॥ वैवर्ण्यमग्निनाशश्च पिपासा गुरुगात्रता। सन्तापश्चातिदौर्बल्यमरुचिः शिरसश्च रुक्। विदाहश्चान्नपानस्य तिक्ताम्लोद्गिरणं क्लमः। क्रोधः प्रचुरता बुद्धेः सम्मोहो लवणास्यता। स्वेदः शरीरदौर्गन्ध्यं मदः कम्पः स्वरक्षयः। तन्द्रा निद्रातियोगश्च तमसश्चातिदर्शनम्। कण्ड्वरुक् कोठपिडकाः कुष्ठचर्मदलादयः। विकाराः सर्व एवैते विज्ञेयाः शोणिताश्रयाः। शीतोष्णस्निग्धरूक्षाद्यैरुपक्रान्ताश्च ये गदाः। सम्यक्साध्या न सिद्ध्यन्ति रक्तजांस्तान् विभावयेत् ॥' (चरक)।

(४) ऐसे ही सु० सूत्रस्थान के २१ वें व्रण-प्रश्नाध्याय में भी 'दोषस्थानान्यत ऊर्ध्वं वक्ष्यामः' दोषों के स्थानों का व्याख्यान किया जाता है, इस प्रसङ्ग में वात, पित्त और कफ के

स्थानों का निर्देश करके तथा सञ्चय के कारणों का वर्णन कर रक्त के भी स्थानादिकों का वर्णन किया है। अर्थात् रक्त का स्थान यकृत् और प्लीहा को माना है—'शोणितस्य स्थानं यकृत्प्लीहानौ, एतानि खलु दोषस्थानानि, एषु सञ्चीयन्ते दोषाः।'

(५) वैसे ही वातादि दोषों के गुण-धर्म के समान रक्त के भी गुणधर्म लिखे हैं—'अनुष्णशीतं मधुरं स्निग्धं रक्तञ्च वर्णतः। शोणितं गुरु विस्रं स्याद्विदाहश्चास्य पित्तवत्॥' रक्त-दोष-खण्डन—(१) वास्तव में रक्त की गणना दोषों में नहीं हो सकती है क्योंकि व्रण-प्रश्नाध्याय के प्रारम्भ में ही कहा है कि वात, पित्त और श्लेष्मा ये तीन ही शरीर की उत्पत्ति में कारण हैं—'वातपित्तश्लेष्माण एव देहसम्भवहेतवः।' (२) शरीर के धारण में भी इन तीनों को प्रधान मान कर इनकी त्रिस्थूण संज्ञा की है—'तैरेवाव्यापन्नैरधोमध्योर्ध्वसन्निविष्टैः शरीरमिदं धार्यते। अगारमिव स्थूणाभिस्तिसृभिरतश्च त्रिस्थूणमाहुरेके।' (३) इसी प्रकार रोगोत्पत्ति-कारणों में भी वातादि तीनों का ही निर्देश किया—'सर्वेषाञ्च व्याधीनां वातपित्तश्लेष्माण एव मूलम्॥' (सु० सू० अ० २४) किन्तु जो रक्तज रोग लिखे हैं वे दोषों के द्वारा दुष्ट हुए रक्त के रोग उपचार से कहे गये हैं। जैसे उष्ण तैल, घृत या पानी से जले हुए को घृतादि दग्ध कहा जाता है किन्तु वह वास्तव में अग्निदग्ध होता है वैसे ही रक्तज रोग भी त्रिदोषजन्य ही होते हैं—'रसादिस्थेषु दोषेषु व्याधयः सम्भवन्ति ये। तज्जानीत्युपचारेण तानाहुर्घृतदाहवत्॥' (४) लोक में सोम, सूर्य और अनिल (पवन) जैसे तीन तत्त्व प्रधान हैं वैसे ही शरीर में भी उन तीनों के प्रतिनिधिभूत कफ, पित्त और वायु प्रधान हैं और विसर्ग, आदान तथा विक्षेप का कार्य करते हैं—'विसर्गादानविक्षेपैः सोमसूर्यानिला यथा। धारयन्ति जगद् देहं कफपित्तानिलास्तथा॥' (५) प्रकृति वर्णन में भी सुश्रुताचार्य ने लिखा है कि गर्भाधान के समय शुक्र और आर्त्तव में स्थित वात, पित्त और कफ इन त्रिदोषों में से जिस दोष की अधिकता हो उसी प्रकृति वाला वह मनुष्य होता है। यदि रक्त भी चौथा दोष होता तो चौथी रक्तज प्रकृति भी लिखते। 'शुक्रार्त्तवस्थैर्जन्मादौ विषेणेव विषक्रिमेः। तैश्च तिस्रः प्रकृतयो हीनमध्योत्तमाः पृथक्॥' (६) यदि रक्त भी दोष माना जाय तो मूत्रवृद्धि (Hydrocyle) में मूत्र कारण होता है तथा मेदोवृद्धि में मेद कारण होता है और शुक्राश्मरी में शुक्र कारण होता है अतः ये भी दोष माने जावेंगे तो दोषों की संख्या चार से भी अधिक हो सकती है इसलिए रोगोत्पत्ति के कारण कोई दोष नहीं माना जाता अपितु जो दोष शरीर की विविध क्रियाओं में कारण होते हों और प्रकृति तथा देह का निर्माण करते हों तथा समान अवस्था में स्वास्थ्य का कारण और देह का धारण करते हों तथा विषमावस्था में देह को रुग्ण करते हों, उन्हें ही दोष माना जाता है। ऐसे दोषों की संख्या तीन है—'शरीरे जायमानानां क्रियादीनां प्रवर्तकः। प्रकृतिं जनयेद्यस्तु विषमो रोगकारकः॥ समः सज्जनयेत्स्वास्थ्यं स दोषः परिकीर्त्यते। वातपित्तकफा ज्ञेया एवं लक्षणलक्षिताः॥ तस्मादेते त्रयो दोषाश्चतुर्थो नास्ति कश्चन।' (७) वात, पित्त और कफ ये पृथक् २ तत्त्व हैं किन्तु रक्त पाञ्चभौतिक माना जाता है, जैसे कि रक्त में विस्रता (आमगन्धिता) पृथ्वी का गुण, द्रवता जल का गुण, रक्तिमा तेज का गुण, स्पन्दन वायु का गुण और लघुता आकाश का गुण विद्यमान है—'विस्रता द्रवता रागः स्पन्दता लघुता तथा। भूम्यादीनां गुणाश्चैते दृश्यन्ते चात्र शोणिते॥' (८) जिस तरह हमारा शरीर या उसकी अन्य धातु त्रिदोषों से दूषित होती हैं वैसे ही रक्त भी वातादि दोषों से दूषित होता है। वात से दूषित रक्त झागदार, किञ्चित् लाल वर्ण, काला, रूखा, पतला, जल्दी बहने वाला और न जमने वाला होता है। पित्त से दूषित रक्त नीला, पीला, हरा, काला, मांसगन्धी, चींटी तथा मक्खियों के लिये अप्रिय तथा न जमने वाला होता है। कफ से दूषित रक्त गेरू के जल के समान वर्णवाला, चिकना, ठंढा, गाढा, चिपचिपा, मन्दगति से बहने वाला और मांसपेशी के समान दिखाई देता है। सन्निपात (त्रिदोष) दूषित रक्त उपर्युक्त सर्वलक्षणयुक्त तथा विशेष कर काञ्जी के समान दुर्गन्धयुक्त होता है—'तत्र फेनिलमरुणं कृष्णं परुषं तनु शीघ्रगमस्कन्दि च वातेन दुष्टं नीलं पीतं हरितं श्यावं विस्रमनिष्टं पिपीलिकामक्षिकाणामस्कन्दि च पित्तदुष्टं, गैरिकोदकप्रतीकाशं स्निग्धं शीतलं बहलं पिच्छिलं चिरस्रावि मांसपेशीप्रभञ्च श्लेष्मदुष्टं सर्वलक्षणसंयुक्तं काञ्जिकाभं विशेषतो दुर्गन्धि च सन्निपातदुष्टम्।' (सु० सू० अ० १४)। (९) जैसे वातादि दोषों के निजी प्रकोप के कारण हैं वैसे रक्त के प्रकोप के कारण भी नहीं बताये गये हैं अपितु आचार्य ने बिना दोषों के रक्त का प्रकोप नहीं होता—ऐसा स्पष्ट लिखा है—'यस्माद्रक्तं विना दोषैर्न कदाचित्प्रकुप्यति। तस्मात्तस्य यथाकालं दोषं विद्यात्प्रकोपणे॥' (१०) फिर भी शल्यतन्त्र में वर्णित रोगों में से किसी-किसी रोग में वास्तव में दूष्य रक्त को भी संशमनीय, संशोधनीय आदि रूप में जानना चिकित्सा के लिये आवश्यक है तथा दो कारणों से उत्पन्न रोग में जो कारण प्रधान होता है, व्याधि उसी के नाम से पुकारी जाती है। जैसे पिता-माता से उत्पन्न पुत्र कहीं पिता के नाम से और कहीं माता के नाम से परिचित होता है वैसे ही दोष और दूष्यों के मिलने से उत्पन्न होने वाले रोग भी कहीं दोषों के नाम से, जैसे वातज्वर, वातातिसार आदि और कहीं दूष्यों के नाम से, जैसे अन्त्रवृद्धि, शुक्रमेह, आदि। इस नियम के अनुसार ही जिस रोग में चिकित्सोपयोगी ज्ञान के लिये दूष्य रक्त की प्रधानता है वहां रक्त के अनुसार रक्तार्श आदि नाम रखे गये हैं। (११) दोषों की उत्पत्ति की दृष्टि से भी देखा जाय तो विदित होगा कि प्रथम मधुर पाक में कफ की उत्पत्ति, द्वितीय विदग्ध पाक में पित्त की उत्पत्ति और तृतीय कटुपाक में वायु की उत्पत्ति होती है—'अन्नस्य भुक्तमात्रस्य षड्रसस्य प्रपाकतः। मधुराद्यात्कफो भावात् फेनभूत उदीर्यते॥ परन्तु पच्यमानस्य विदग्धस्याम्लभावतः। आशयाच्च्यवमानस्य पित्तमच्छमुदीर्यते॥ पक्वाशयन्तु प्राप्तस्य शोष्यमाणस्य वह्निना। परिपिण्डितपक्वस्य वायुः स्यात्कटु भावतः॥' (च० चि० अ० १५)। यूनानी में भी कहा है कि भुक्त द्रव्यों के जले हुए अंश सौदा, अधकचे अधपके अंश से सफरा और ऊपर के झाग जैसे अंश से बलगम बनता है और भुक्त द्रव्यों के ठीक पके हुए अंश (रस) से रक्त बनता है। इस तरह सिद्ध है कि वातादि दोष तथा रक्त की उत्पत्ति-क्रम ही भिन्न है और जब तक यह रक्त किसी वातादि दोष से दूषित नहीं होता, रोगोत्पत्ति में भी हेतु नहीं हो सकता। (१२) सुश्रुताचार्य ने स्वयं वातादित्रय को दोषों में

माना है तथा रक्त की गणना सप्तधातुओं में की है 'वायुः पित्तं कफश्चेति त्रयो दोषाः समासतः। रसासृङ्मांसमेदोऽस्थिमज्जशुक्राणि धातवः॥' (१३) इसी प्रकार दोषों के सञ्चय, प्रकोप और प्रशमन की व्यवस्था में भी वातादि दोषत्रय का ही उल्लेख मिलता है। रक्त भी यदि चतुर्थ दोष होता तो उसके सञ्चयादि के समय का निर्देश करते—'ग्रीष्मे सञ्चीयते वायुः प्रावृट्काले प्रकुप्यति। वर्षासु चीयते पित्तं शरत्काले प्रकुप्यति॥ हेमन्ते निचितः श्लेष्मा वसन्ते कफरोगकृत्॥' अतएव यह निर्विवाद सिद्ध है कि वात, पित्त और कफ ये तीन ही दोष होते हैं तथा रक्त चतुर्थ दोष नहीं। (१४) कोई ऐसी भी शंका कर सकता है कि वात, पित्त और कफ यह शारीर दोषों का संग्रह (संक्षेप से निर्देश) है किन्तु विस्तार वचन से क्या और भी किसी दोष का होना सम्भव नहीं है? इसका उत्तर यह है कि किसी पदार्थ का वास्तविक विवेचन करने के लिये प्रथम उसका उद्देश्य (अर्थात् समास, संग्रह या संक्षेप कथन) किया जाता है और पश्चात् उसका निर्देश (विस्तृत वर्णन) किया जाता है तथा बाद में उसकी परीक्षा करते हैं। यहां भी वात, पित्त और कफ के नाम मात्र का उल्लेख करके उद्देश किया गया है। फिर उनका सामत्व, निरामत्व आदि विस्तृत वर्णनरूप निर्देश भी आगे किया जावेगा। अस्तु, जिसका उद्देश नहीं हुआ है उसका निर्देश भी नहीं हो सकता अतएव यदि वात, पित्त और कफ के अतिरिक्त और भी कोई चतुर्थ दोष होता तो उसका भी उद्देश करना चाहिये था। परन्तु शास्त्र में तीन दोषों के अतिरिक्त अन्य किसी रक्तादि दोष का उद्देश नहीं हुआ है, इसलिये तीन ही दोष हैं, चार नहीं। (१५) शल्यतन्त्र में उपदिष्ट रोगों में से किसी रोग में रक्त का भी प्राधान्य है अतः उसमें रक्तज रोग का वर्णन है किन्तु वातादि दोष जैसे सभी साधारण रोगों को उत्पन्न कर सकते हैं वैसा रक्त नहीं कर सकता। अतएव कायचिकित्सा-प्रधान तन्त्र में रक्त का प्राधान्य वर्णित नहीं हुआ है। वैसे ही यूनानी चिकित्सातन्त्र में भी कुछ ही रोगों के लिये रक्त को कारण माना गया है, सभी रोगों के लिये नहीं। जैसे कास, श्वास, आदि अनेक रोग हैं जो रक्तजन्य नहीं कहे गये। इससे जानना चाहिए कि जैसे सुश्रुत के कुछ रक्तदोषसमर्थक ऐसे अंश को पढ़कर अब भी किसी किसी को भ्रम हो जाता है कि रक्त भी चतुर्थ दोष होगा, उसी प्रकार चरक-सुश्रुतादि के अनुवाद से परिपुष्ट यूनानी तन्त्र में भी किसी अनुवादक के भ्रम से रक्त की दोष संज्ञा पड़ गई होगी किन्तु वास्तव में रक्त चौथा दोष नहीं है। वह तो शरीर की सप्तधातुओं में से एक धातु एवं वातादि द्वारा दूष्य है।

कार्यमारोग्यमेव—उपर्युक्त भिषक्रूपी कर्ता, द्रव्यस्थ षड्रसादिरूपी करण और वातादि त्रिदोष कारण हैं किन्तु शरीर का आरोग्य सम्पादन ही एक मुख्य कार्य है। दोषों की विषमता रोग है तथा दोषों की समता ही आरोग्य है—'रोगस्तु दोषवैषम्यं दोषसाम्यमरोगता।' यह आरोग्य धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चारों का मूल कारण है—'धर्मार्थकाममोक्षाणामारोग्यं मूलमुत्तमम्। रोगास्तस्यापहर्तारः श्रेयसो जीवितस्य च॥' रोग उस आरोग्य को नष्ट करने वाले होते हैं अतएव रोग को नष्ट करने के लिये बढ़े हुए दोष, धातु और मलों को घटाना, घटे (क्षीण) हुए को बढ़ाना तथा समान प्रमाण में स्थित दोषादि की रक्षा करनी चाहिये—'वृद्धाः क्षपयितव्याः, क्षीणा वर्धयितव्याः, समाः पालनीयाः।' अन्यच्च—'स्वस्थस्य रक्षणं कुर्यादस्वस्थस्य तु बुद्धिमान्। क्षपयेद् बृंहयेच्चापि दोषधातुमलान् भिषक्॥ तावद्यावदरोगः स्यादेतत्साम्यस्य लक्षणम्॥' (सु० सू० अ० १५)।

चिकित्सा तन्त्र का प्रयोजन भी धातुओं को साम्य करना माना गया है—'धातुसाम्यक्रिया प्रोक्ता तन्त्रस्यास्य प्रयोजनम्'। अनारोग्यमतोऽन्यथा—आरोग्य के विपरीत अनारोग्य भी रोग है—'रोगस्तु दोषवैषम्यं दोषसाम्यमरोगता।' अन्यच्च—'विकारो धातुवैषम्यं साम्यं प्रकृतिरुच्यते, सुखानां कारणं समः।' वास्तव में दोषादियों की समता तथा असमता को नापने के लिये हमारे पास कोई तराजू नहीं है किन्तु त्रिविध दोष तथा त्रयोदशविध अग्नि की समता एवं सप्तधातुओं तथा विष्ठा, मूत्र, स्वेद आदि मलों की क्रिया का यथावत् होना एवं आत्मा, इन्द्रियों और मन का प्रसन्न रहना यही आरोग्य को नापने का स्वस्थ लक्षणरूपी कांटा (तराजू) है—'समदोषः समाग्निश्च समधातुमलक्रियः। प्रसन्नात्मेन्द्रियमनाः स्वस्थ इत्यभिधीयते॥' दोषवैषम्यलक्षणानि—'दोषादीनां त्वसमतामनुमानेन लक्षयेत्। अप्रसन्नेन्द्रियं वीक्ष्य पुरुषं कुशलो भिषक्॥' (सु० सू० अ० १५)।

रोगोत्पत्ति में जीवाणु आदि कारण हैं या नहीं?—शास्त्र में दोषज और आगन्तुक ऐसे रोगों की उत्पत्ति की दृष्टि से दो भेद किये गये हैं। उनमें मिथ्या आहार-विहार-सेवन से सञ्चय-प्रकोपादि-व्यवस्थापूर्वक जो रोग उत्पन्न होते हैं, वे दोषज माने गये हैं किन्तु आगन्तुक रोग प्रथम स्वस्थ शरीर में व्यथा उत्पन्न करते हैं और पश्चात् उनका दोषों से सम्बन्ध होता है, जैसे लाठी, शस्त्र आदि द्वारा आघात होने पर प्रथम वहां क्षत (व्रण ulcer अथवा शोथ) उत्पन्न होता है पश्चात् दोषों का सम्बन्ध होने से वेदना, दाह आदि मालूम होते हैं। अन्त में आगन्तुक रोग भी दोषयुक्त हो जाते हैं। दोषज और आगन्तुक रोगों में उक्त सम्प्राप्ति तथा कारण और लक्षणादि की विभिन्नता होती है। कुछ नास्तिक एवं प्रत्यक्षप्रमाणवादियों का मत है कि वातादि दोष रोगों के कारण हैं इसमें कोई प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं है तथा वातादि दोषों का अस्तित्व भी प्रत्यक्षरूप से प्रमाणित नहीं होता तथा रोगावस्था में जो विकृत वात, पित्त और कफ का शरीर से निर्गमन होता है उनकी रोगकारणता भी प्रमाणसिद्ध नहीं है क्योंकि ऐसे मल पदार्थ स्वस्थ शरीर से भी निकलते रहते हैं। एवञ्च जल, वायु और अग्नि परस्पर विरुद्ध गुणविशिष्ट होने से एक दूसरे के घातक तो हो सकते हैं किन्तु शरीर का धारण तथा रोगोत्पत्तिरूप एक कार्य कैसे कर सकते हैं। यदि समान गुण से वातादि दोष की वृद्धि और असमान गुण से इनका ह्रास होता है तो वातसमान गुण के उपयोग से वातवृद्धि होगी या कफह्रास होगा यह भी निश्चय रूप से नहीं कह सकते। इसके अतिरिक्त वातादि दोष-साम्य से आरोग्य तथा उनके वैषम्य से यदि रोग होते हैं तो आयु, दिन, रात्रि और भोजन आदि के प्रारम्भ में कफ का, मध्य में पित्त का और अन्त में वायु का प्रकोप होने से कोई ऐसा समय ही नहीं जिसमें किसी दोष का प्रकोप न हो तो फिर सभी पुरुष सदा के लिये रोगी ही होंगे अतएव अनेक शङ्काओं और दोषों से

व्यास यह त्रिदोषकल्पना केवल कल्पनामात्र ही है। प्राचीन समय में सूक्ष्मदर्शक यन्त्र भी नहीं थे तथा चिकित्सा शास्त्र का प्रारम्भ था अतएव त्रिदोषों की ऐसी कल्पना कर ली गई किन्तु वर्तमान समय में (Science) पूर्ण समुन्नत है। सूक्ष्मदर्शकयन्त्र (Microscope) की सहायता से विभिन्न रोगों के उत्पादक, विभिन्न आकार-प्रकार वाले, विभिन्न स्वभाव वाले अनेक जीवाणुओं का पता लगा लिया गया है। वे जीवाणु तत्तद्रोग से ग्रसित मानव के मल, मूत्र, थूक, रक्त आदि में पाये जाते हैं। वहाँ से स्वयं या दूसरे की क्रिया (वाहकता) से दूसरों के शरीर में प्रवेश करके उसी रोग को उत्पन्न करते हैं जिस रोग के वे जीवाणु हैं तथा उस रोगी के शरीर में भी वे वैसे ही स्वरूप में पाये जाते हैं। ये जीवाणु किसी के भी शरीर में प्रविष्ट हो कर वहाँ अनुकूल परिस्थिति प्राप्त कर बहुसंख्या में शीघ्र बढ़ जाते हैं तथा एक प्रकार का विष भी उत्पन्न करते हैं जिससे शरीर के कोषाणु (Cell नष्ट होकर या अस्वस्थ होकर रोग में परिणत हो जाते हैं। यदि उस व्यक्ति का शरीर बलवान् हो तथा उसकी रोगप्रतिरोधकशक्ति (Immunity) प्रबल हो तो वे जीवाणु स्वयं हार जाते हैं एवं वहीं नष्ट हो जाते हैं और व्यक्ति रोगग्रस्त नहीं होता अथवा रोग हो जाने पर उन जीवाणुओं को नष्ट करने वाली औषधि का प्रयोग किया जाय किंवा स्वभावतः शरीर में उत्पन्न प्रतिविष अथवा कृत्रिमविष से कीटाणु एवं उनका विष नष्ट हो जाता है तो रोग भी नष्ट हो जाता है। यह सब अनुभव प्रत्यक्ष की कसौटी पर अनेक प्रयोगों द्वारा परीक्षित किये हुए हैं अतएव ऐसे प्रत्यक्ष-दृष्ट और सत्य जीवाणुसिद्धान्त को छोड़कर वात, पित्त और कफ को आरोग्य और रोग का कारण मानना ठीक नहीं है।

उत्तर या विवेचन—वर्तमान में कुछ उभयज्ञ विद्वान् ऐसे हैं जो कीटाणुजन्य रोगों की विष से उत्पन्न रोगों की तरह आगन्तुक रोग में गणना करते हैं, जैसे कि शृङ्गीविष, वत्सनाभ, अहिफेन। ये विष शरीर में प्रवेश करके दोष, धातु तथा मलादिकों को दूषित करके रोग उत्पन्न करके आगन्तुक कारण कहलाते हैं तथा वे रोग आगन्तुक रोग कहलाते हैं, उसी तरह कीटाणु भी शरीर में प्रविष्ट होकर अपने विष शरीर के दोष, धातु और मलादिकों को दूषित करके जब रोग उत्पन्न करते हैं तो आगन्तुक कारण कहलाते हैं तथा उनसे उत्पन्न रोग आगन्तुक रोग कहलाते हैं। यदि जीवाणुओं को कारण न माना जाय तो संक्रामक रोगों को संक्रामक भी नहीं मान सकते क्योंकि संक्रामक रोगग्रस्त किसी व्यक्ति को स्पर्श करने से ही शरीर में तीनों दोष प्रकुपित होकर ऐसे घातक रोग उत्पन्न कर देते हैं-ऐसा प्रमाणित नहीं होता, किन्तु स्पर्श द्वारा कुष्ठादि रोगों के जीवाणु शरीर में जाकर वहाँ त्रिदोष को कुपित करके रोग उत्पन्न कर सकते हैं।

निष्कर्षः— किसी भी कार्य की उत्पत्ति में अनेक कारण हो सकते हैं। कारण उसे ही कहते हैं जिसके बिना कार्य उत्पन्न नहीं हो सकता। निमित्त कारण का कारण घट के लिये कुम्भकार के पिता के समान कार्य के प्रति अन्यथासिद्ध है। इसी प्रकार उपादान कारण का उपादान भी कार्य का उपादान नहीं है। जैसे वस्त्र का उपादान कारण सूत्र ही है। कार्पासादि वस्त्र के लिये अन्यथासिद्ध है। कीटाणु साक्षात् रूप से रोग के जनक नहीं हैं क्योंकि इनके प्रविष्ट होते ही रोग उत्पन्न नहीं होता, किन्तु क्रमशः सञ्चय-प्रकोपादि पूर्वक दोषों में विकृति करके रोग उत्पन्न करते हैं। इस तरह रोगोत्पत्ति में दोषदुष्टि ही कारण है। उस दोष को विकृत करने वाला जीवाणु विष या उस विष का उत्पादक जीवाणु रोग के लिये अन्यथासिद्ध है। जिस व्यक्ति के शरीर में दोषविकृति से पहले ही शरीर कुछ अक्षम हो उसी में वे जीवाणु रोग पैदा कर सकते हैं। क्षम शरीर में तो जीवाणु जाकर वह्नि में पतङ्ग-प्रवेश सदृश स्वयं नष्ट हो जाते हैं, जैसा कि विषम-ज्वरोत्पत्ति में स्पष्ट किया है-'दोषोऽल्पोऽहितसम्भूतो ज्वरोत्सृष्टस्य वा पुनः। धातुमन्यतमं प्राप्य करोति विषमज्वरम् ॥' जीवाणु और रोगों का अन्वय-व्यतिरेक सिद्धान्त भी नहीं घटता क्योंकि अनेक रोगों में कीटाणु नहीं मिलते तथा अनेक स्वस्थ पुरुषों में जीवाणु होते हुए भी रोगोत्पत्ति नहीं देखी जाती। यदि जीवाणु को ही रोग का कारण माना जाय तो जिस रोगी के शरीर में जीवाणु नहीं हो वहां वह चिकित्सक किसको मारने की दवा देगा। वातादि दोषों को कारण मानने वाले तो उन दोषों के लक्षणों को देखकर चिकित्सा करते हैं। जीवाणु को रोग का कर्ता नहीं मान सकते क्योंकि कर्ता समवायिकारण नहीं होता। सदा साथ रहने वाले जीवाणु को केवल निमित्त कारण भी नहीं कह सकते क्योंकि निमित्त कारण के नष्ट होने से कार्य का भी नाश हो जाता है किन्तु कीटाणु के नष्ट होने के कुछ दिनों के पश्चात् भी जब तक उसका विष विद्यमान रहता है, रोग देखा ही जाता है। द्रव्यस्वरूप कीटाणु रोग का असमवायिकारण भी नहीं हो सकते अतएव जीवाणु रोगों के प्रति किसी भी प्रकार से कारण सिद्ध नहीं होते हैं।

दोषाभावखण्डन—(१) कोई पदार्थ इन्द्रिय द्वारा प्रत्यक्ष नहीं दिखाई देता हो तो 'वह है ही नहीं' ऐसा नहीं कह सकते इसलिये शास्त्र में वातादि दोषों के जो-जो लक्षण लिखे हैं उन्हें रुग्ण में उत्पन्न हुए देख कर उसके रोग के प्रति उन दोषों की कारणता एवं विद्यमानता सिद्ध की जाती है। (२) दोषों की शान्ति के लिये वमनादि पञ्चकर्म तथा अन्य चिकित्सा-प्रकार लिखे हैं। उनके करने से भी दोष-शान्ति और रोगशान्ति देखी जाती है अतः दोष हैं यह सिद्ध होता है। (३) यह हम देखते हैं कि वातादि के समान गुणवाले पदार्थों के सेवन से वृद्धि और विशेष से ह्रास होता है किन्तु व्यक्ति सदा एक-सा आहार नहीं लेता और उसे ज्ञान रहता है कि अमुक पदार्थ उसके लिये सात्म्य है और अमुक असात्म्य, अतः वह सदा हिताहारविहार से स्वस्थ ही रहता है। (४) परस्परविरोधी वातादि देहधारण कैसे करते हैं इसका उत्तर यह है कि विरोधियों का भी युक्तिपूर्वक सेवन और सह-अवस्थान धारकत्व होता है जैसे विष और मद्य दोनों शरीर के नाशक हैं किन्तु युक्तिपूर्वक अमृत का कार्य करते हैं। ये वातादि दोष परस्पर मिल कर रहते हैं तथा एक दूसरे के सहायक हैं। साधारण जल में भी जल, वायु और अग्नि मिल-कर रहते ही हैं। यदि जल की अग्नि कम हो जाय तो वह

अपना स्वरूप त्याग कर बर्फ बन जाता है। यदि जल में वायु न मिली हो तो जलचर प्राणियों की श्वास-प्रश्वास क्रिया सम्भव न हो। इस तरह जलादि में वायु, अग्नि आदि सम प्रमाण में रहने से एक दूसरे के हितकारी और वृद्ध या क्षीण प्रमाण में रहने से एक दूसरे के विनाशक होते हैं। ऐसे ही वातादि दोष समप्रमाण में एक दूसरे का हित ही करते हैं।

अध्यायानान्तु षट्षष्ट्या प्रथितार्थपदक्रमम्।
एवमेतदशेषेण तन्त्रमुत्तरमृद्धिमत् ॥ १५ ॥
स्पष्टगूढार्थविज्ञानमगाढं मन्दचेतसाम्।
यथाविधि यथाप्रश्नं भवतां परिकीर्त्तितम् ॥ १६ ॥

तन्त्रप्रशंसोपसंहारौ—छियासठ अध्यायों के द्वारा स्पष्ट अर्थ वाले पद जिसमें क्रमपूर्वक रखे हों ऐसा यह विषय-प्रतिपादनरूपी समृद्धि से परिपूर्ण उत्तरतन्त्र सम्पूर्णता से लिखा गया है। इस उत्तरतन्त्र में अत्यन्त स्पष्टरूप से गूढ़ (गम्भीर एवं गुप्त तथा जटिल) अर्थों का विशिष्ट ज्ञान वर्णित है जो कि निर्मल चित्त वाले मनस्वी पुरुषों के लिये अथवा मूर्खादियों की सङ्गति न करने वाले उदारहृदय विद्वानों के लिये यथाविधि और यथाप्रश्न (प्रश्नोत्तरपूर्वक) लिखा गया है ॥ १५-१६ ॥

सहोत्तरं त्वेतदधीत्य सर्वं ब्राह्मं विधानेन यथोदितेन।
न हीयतेऽर्थान्मनसोऽभ्युपेतादेतद्वचो ब्राह्ममतीव सत्यम् ॥

इति भगवता धन्वन्तरिणोपदिष्टायां तच्छिष्येण महर्षिणा सुश्रुतेन विरचितायां सुश्रुतसंहितायामुत्तरतन्त्रे दोषभेदविकल्पो नाम षट्षष्टितमोऽध्यायः ॥ ६६ ॥

एतत्तन्त्राध्ययनफलम्—पूर्व में ब्रह्मदेव के द्वारा प्रतिपादित आयुर्वेद के ज्ञान से परिपूर्ण इस उत्तरतन्त्र के सहित समग्र सुश्रुतग्रन्थ को यथाविधि पढ़ने वाला पुरुष अपने मन के अभीष्ट (आकाङ्क्षित) किसी भी (अष्टाङ्गायुर्वेद के) अर्थज्ञान से हीन (रहित या शून्य) नहीं होता है। यह सत्य ब्रह्मवाक्य है ॥ १७ ॥

इति श्रीसुश्रुतसंहितायां साहित्यायुर्वेदाचार्य-साहित्यरत्न-काव्य-पुराणतीर्थ, A. M. S. M. A. आदिलब्धानेकपदवीकेन, इन्दौर-रामगढ़-गुरुकुलकाङ्गडी-जयपुरादिविविधनगरायुर्वेदमहाविद्यालयेषु भूतपूर्वाध्यक्षेण, निखिल-भारतीयायुर्वेदविद्यापीठस्य जामनगरवर्तिकेन्द्राध्यक्षेण अनेकायुर्वेदग्रन्थसम्पादकेन जाम-नगरीयायुर्वेदमहाविद्यालयस्य प्राध्यापकेन राजस्थानप्रान्तवर्तिमेदपाट (मेवाड़)-प्रदेशस्य मण्डफिया-ग्रामवासिना श्रीकृष्णतनुजेन गुर्जरगौडेन तिवा-रीत्यवटङ्कभृता अम्बिकादत्तशास्त्रिणा विरचितायामायुर्वेद-तत्त्वसन्दीपिकाभाषायामुत्तरतन्त्रे दोषभेदविकल्पो नाम षट्षष्टितमोऽध्यायः ॥

इत्युत्तरतन्त्रं समाप्तम्।

समाप्तश्चायं ग्रन्थः।